22/4

[illegible]

Macdonell's Hister

Max Muller's

महर्षि–पाणिनि–प्रज्ञा–अनुसन्धान केन्द्र
तिथी
पु०सं०
भारती पुस्तकालय
1482/9

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान केन्द्र
तिथी.......
पु०सं०.......
भारती पुस्तकालय
1480/9

*** देवेन हरिहर विरचित [illegible]
(प्रकर्षौ ~~[illegible]~~ देवेन–[illegible]!
(कालीदेवी [illegible]
[illegible] ||[illegible] देवेन
[illegible] ([illegible]) 10.3.15
also in [illegible]

॥ श्रीः ॥

वेदशास्त्रानुसन्धानग्रन्थमालायाः

प्रथमस्पुष्पम्

वेदार्थपारिजातः

खण्ड २

('द्वितीय' [illegible] should be written

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसंधान केन्द्र
तिथी........
पु०सं० ~~2020~~
भारती पुस्तकालय
1480

प्रणेतारः

अनन्तश्रीस्वामिकरपात्रमहाराजाः

भाषानुवादकौ

पं० व्रजवल्लभद्विवेदो दर्शनाचार्यः

तथा

डॉ० पं० गजाननशास्त्रिमुसलगांवकरः

मीमांसा-वेदान्त-साहित्याचार्यः एम० ए०, पीएच० डी०

काशीहिन्दूविश्वविद्यालये मीमांसा-धर्मशास्त्र-विभागस्य भू० पू० अध्यक्षः

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्णधानुकाप्रकाशनसंस्थानम्, कलकत्ता

सञ्चालकः

वेदशास्त्रानुसन्धानकेन्द्रम्, केदारघाट, वाराणसी

प्रथमसंस्करणम्

२१०० प्रतयः

वाराणसी गंगादशहरा, २०३७ वि०

प्रकाशक
श्री राधाकृष्णधानुका प्रकाशनसंस्थान
१४ नेताजी सुभाष रोड, कलकत्ता

मूल्य (दोनों भाग)

सामान्य संस्करण १८०.००

विशिष्ट संस्करण ३००.००

पुनर्मुद्रण का अधिकार
वेदशास्त्रानुसन्धानकेन्द्र, केदारघाट, वाराणसी के अधीन है।

पुस्तक-प्राप्तिस्थान :—
१. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशनसंस्थान, वृन्दावनविहारी भवन, मिश्रपोखरा, वाराणसी।
२. श्री स्वामी सदानन्द सरस्वती (वेदान्ती जी), धर्मसंघ शिक्षामंडल, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी।

मुद्रक
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी

०२/५.

VEDAŚĀSTRA RESEARCH CENTRE SERIES

No. 1

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी [illegible]
पु०सं० [illegible]
भारती पुस्तकालय
1482

VEDĀRTHA-PĀRIJĀTA

Vol. 2

By

ANANTAŚRI KARAPĀTRA SVĀMĪ

Hindi Translation by

Pt. VRAJ VALLABH DWIVEDI
Darśanācārya

Dr. Pt. GAJANANA SHASTRI MUSALGAONKAR
Mimānsā-Vedānta-Sahityācārya, M. A., Ph. D.

Ex-Head, Department of Mimānsā-Dharmaśāstra. Banaras Hindu University, Varanasi

Publishers

SRI RADHA KRISHNA DHANUKA PRAKASHAN SANSTHAN, CALCUTTA

Sañcālaka

VEDAŚĀSTRA RESEARCH CENTRE, KEDARGHAT, VARANASI

FIRST EDITION

2100 Copies

VARANASI 1980

~~2080~~
महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी..........
पु०सं०.....1480
भारती पुस्तकालय

॥ श्रीहरिः ॥

प्रकाशकीय

'वेदार्थ पारिजात' के द्वितीय भाग को सुविज्ञ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है। धर्मसम्राट् पूज्यपाद् स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज की अनन्य कृपा से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है। श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशनसंस्थान का मुख्य उद्देश्य परमपूज्य स्वामी जी महाराज के सदुपदेशों, शास्त्रीय संदेशों तथा सनातनधर्म की मान्यताओं के सन्दर्भ में उनके बौद्धिक योगदान को जन-जन में प्रचारित कर लोक कल्याण एवं मंगलमय पथ के निर्माण में योगदान करना रहा है। हम इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील हैं। अनन्त श्री विभूषित परमपूज्य चरणों के स्नेहिल आशीर्वाद तथा सुविज्ञ पाठकों की सुरुचि के बल पर हम सदैव इस दिशा में अग्रसर होते रहेंगे।

द्वितीय भाग को बहुत पहले ही प्रकाशित हो जाना चाहिये था, पर बिजली की घोषित-अघोषित कटौती तथा अन्य तकनीकी कारणों से हम इस भाग को समय पर नहीं दे पाये, इसका हमें हार्दिक खेद है। हमें विश्वास है कि हमारी सीमाओं का ध्यान रखते हुए सुविज्ञ पाठक इस अनावश्यक विलम्ब के लिये हमसे रुष्ट नहीं होंगे और अपना स्नेह पूर्ववत् ही हमें देते रहेंगे।

सर्वप्रथम हम धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज के परम पावन चरणों में अपनी श्रद्धापूर्ण कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। उनकी अनुग्रहपूर्ण दृष्टि हमें ऐसे कार्यों में सदैव संलग्न रखे, यही उनके पवित्र चरणों में प्रार्थना है। हम सब उनके द्वारा प्रणीत इस महान् वैदिक ग्रन्थ को प्रकाशित कर धन्य हो गये हैं और स्वयं को कृत-कृत्य समझ रहे हैं।

इस महान् ग्रन्थ के सम्पादन, संशोधन तथा व्यवस्थितीकरण में विद्यासागर सर्वश्री पट्टाभिराम शास्त्री, पण्डित मार्कण्डेय ब्रह्मचारी, पण्डित गजानन शास्त्री मुसलगावकर तथा पण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हम उनके अत्यन्त आभारी हैं और उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी तथा पण्डित गजानन शास्त्री मुसलगावकर ने हिन्दी में प्रामाणिक अनुवाद कर ग्रन्थ को सर्व सुलभ बनाने का गम्भीर प्रयास किया है। उसके लिये हम उनके प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारी जी ने स्थल निर्देश का महत्वपूर्ण कार्य किया है। उसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

तारा प्रिंटिंग वर्क्स के व्यवस्थापक श्री रमाशंकर पण्ड्या, इक्ष्यशोधक श्री हरिवंश त्रिपाठी शास्त्री, श्री राधेश्याम खेमका, श्री संतोषकुमार केजरीवाल, श्री श्रीप्रकाश तथा अन्य उन सभी व्यक्तियों के प्रति हम अपना आभार व्यक्त करते हैं जिनकी जाने-अनजाने इस महत्वपूर्ण कार्य में सहभागिता है।

अन्त में हम अपने उन सभी सुविज्ञ पाठकों तथा विक्रेताओं के प्रति आभार व्यक्त करना अपना परम कर्तव्य समझते हैं जिन्होंने सभी कठिनाइयों एवं विपरीत परिस्थितियों के रहते हुए भी धैर्यपूर्वक इस खण्ड के प्रकाशन की प्रतीक्षा की है।

हम भगवान् काशी विश्वनाथ के चरणों में बार-बार अपनी श्रद्धामय कुसुमांजलि को अर्पित कर अपने कर्तव्य-पालन की शक्ति प्राप्त करने की प्रार्थना करते हुए अपनी बात समाप्त करते हैं।

हनुमानप्रसाद धानुका
अध्यक्ष
श्रीराधाकृष्णधानुकाप्रकाशनसंस्थान

गंगादशहरा
सं० २०३७

1480

विषय--सूची

पाश्चात्त्यमतखण्डनम्

बेवरविचारसमीक्षा	९०९
जयन्तभट्टानुसारमथर्ववेदस्य प्रामाण्यम्	९१९
ब्राह्मणग्रन्थविषयकं बेवरमतम्	९३१
मैकडानलविचारसमीक्षा	१०१२
पाश्चात्त्यमतसमीक्षणम्	११४६
ब्राह्मणानामपि वेदत्वम्	११५६

दयानन्दमतखण्डनम्

अथ ब्रह्मविद्याविषयः	११६४
अथ वेदोक्तधर्मविषयः	११७२
सृष्टिविद्याविषयः	१२१६
पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः	१२८७
आकर्षणानुकर्षणविषयः	१३००
प्रकाश्यप्रकाशकविषयः	१३०८
गणितविद्याविषयः	१३१२
ईश्वरस्तुतिप्रार्थना	१३२३
अथोपासनाविषयको विचारः	१३३७
मुक्तिविचारः	१३७२
नौविद्याविमानादिविद्याविषयो विचारः	१४०८
तारविद्यामूलविचारः	१४२०
वैद्यकमूलविचारः	१४२१
पुनर्जन्मविषयो विचारः	१४२२
विवाहविषयो विचारः	१४२८
नियोग विचारः	१४२९
राजप्रजाधर्मविचारः	१४३८
वर्णाश्रमधर्मविचारः	१४७७
पञ्चमहायज्ञविचारः	१५०४
श्राद्धविचारः	१५४३
स्वर्गो मनुष्यलोकाद्भिन्नः	१५५६
बलि–वैश्वदेवादिविवेचनम्	१५५७
ग्रन्थप्रामाण्यविचारः	१५६०
मूर्तिपूजासमर्थनम्	१६१६
अधिकारानधिकारविषयः	१६३९
पठनपाठनविषयः	१६५६
भाष्यकरणशङ्कासमाधानम्	१६७१

दयानन्दीयभाष्यप्रतिज्ञाविषयपर्यालोचनम् १७१६
प्रश्नोत्तरविषयकविचारः १७१८
वैदिकप्रयोगविषयविचारः १७२८
स्वरव्यवस्थाविषयो विचारः १७३३
व्याकरणनियमविषयो विचारः १७३७
अलङ्कारविषयो विचारः १७३९

परिशिष्टानि

१. विधवाविवाहनियोगमीमांसा १७४३
२. युधिष्ठिरमीमांसकमतखण्डनम् १८२४
    श्रुतिसंज्ञाविचारप्रत्याख्यानम् १९७५
    आम्नायसंज्ञाविचारनिरासः १९७६
    मन्त्रविनियोगविमर्शः १९८१
    देवयोनिः १९८६
    गोमेधः २०८२
    श्रौतयज्ञमीमांसा २१००
३. शास्त्रसंभवः शाब्दबोधप्रकारः २१४२
४. श्रीसूक्तभाष्यम् २२२८

1480
तिथि
पु०सं०
भारती पुस्तकालय

बेवरविचारसमीक्षा

वेदानामपौरुषेयत्वानादित्वसम्बन्धिनस्तर्काननवबुद्ध्यासमाधायैव च वेबरादिभिः पाश्चात्त्यैर्वेदानां सम्बन्धेऽनेके तर्काभासा उपस्थापिताः। तद्रीत्या 'ऋग्वेदसंहिताया अधिकप्राचीनेष्वंशेषु विज्ञायते चेदं यद् भारतीया भारतस्योत्तरपश्चिमसीमसु पञ्चनदप्रदेशेषु बहिश्च कुभा-काबुल-आदिप्रदेशेषु निवसन्ति स्म। सरस्वतीमुत्तीर्य गङ्गां यावदस्या जातेः क्रमिको विस्तारो दृश्यते। वैदिकीषु परवर्तिनीष्वपि रचनासु चैतद् द्रष्टुं शक्यते' (भारतीयसाहित्य-भूमिकायां २१ पृष्ठे), तत्तु न किञ्चित्, वैदिकशब्दानां नित्यत्वेन घटनापूर्वकोल्लेखासम्भवात्। समेषां कार्याणां जानातीच्छत्यथ करोतीति रीत्या ज्ञानेच्छापूर्वकत्वावश्यंभावित्वेन ज्ञानस्य च 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' (वा० प० १।११५) इति रीत्या शब्दपूर्वकत्वावश्यम्भावित्वेन जगन्निर्माणस्यापि वैदिकशब्दपूर्वकत्वमेवेति मन्तव्यम्। तस्माद् वेदेषु कुत्रचित् कुभा-सिन्धु-इरावतीत्यादिशब्दश्रवणमात्रेण न कश्चिदितिहासोऽवधारयितुं शक्यः। ऋग्वेदसंहितायाः कश्चित् प्राचीनो भागः कश्चिदर्वाचीन इति कल्पनापि निर्मूलैव।

'यथा महाकाव्यकाले भारतीयविजेतॄणामान्तरिकसङ्घर्षेषु यद्वर्ण्यते यथा महाभारते, अथवा ब्राह्मणधर्मस्य सुदूरदक्षिणे विस्तारो वर्ण्यते यथा रामायणे, एतत्सम्बन्धे ग्रीकस्रोतसा मेगस्थनीजस्य रीत्या, यः सिल्यूकसस्य राजदूतरूपेण चन्द्रगुप्तसभायां किञ्चित्कालमुवास, यस्य लेख एरियनकाले उपलभ्यते स्म, एरियनकालश्च ईसाद्वितीय-शताब्दी विज्ञायते, हिन्दुस्थाने ब्राह्मणसंस्कृतिविकासः पूर्तिमगात्। पेरिप्लससमये (लास्सेन इण्ड० अल्ट० २.१५०

बेवर विचार समीक्षा

वेदों की अपौरुषेयता और अनादिता को सिद्ध करने वाले तर्कों को बिना समझे और उनका समाधान किये बिना ही बेवर प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् वेदों के सम्बन्ध में अनेक कुतर्क उपस्थित करते हैं। बेवर के मत से—'ऋग्वेद संहिता के अधिक प्राचीन अंशों में इस भारतीय जातियों को भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर पंजाब में और पंजाब के बाहर काबुल में कुभा 'कोफीन' (ग्री०) पर बसे हुए पाते हैं। इस जाति का पूर्व की ओर सरस्वती को पार कर हिन्दुस्तान में गंगा नदी तक क्रमिक विस्तार वैदिक रचनाओं के परवर्ती काल के अंशों में प्रायः प्रत्येक अवस्था में देखा जा सकता है' (भूमिका, पृ० २१)। इस कथन में कुछ दम नहीं है। वैदिक शब्द नित्य हैं, अतः उसमें किसी घटना का उल्लेख नहीं हो सकता। कोई भी व्यक्ति पहले कुछ जानता है, तब इच्छा करता है और बाद में उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। प्रत्येक कार्य में मनुष्य की प्रवृत्ति इसी तरह होती है। 'लोक में ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है, जो कि बिना शब्द की सहायता से हो सकता हो' इस वाक्यपदीपकार की उक्ति के अनुसार कोई भी ज्ञान बिना शब्द के नहीं हो सकता। अतः इस जगत् का निर्माण भी वैदिक शब्दों की सहायता से ही होता है। इसलिये वेद में कहीं कुभा, सिन्धु, इरावती आदि शब्दों को सुनने मात्र से किसी इतिहास की बात को नहीं सिद्ध किया जा सकता। ऋग्वेद संहिता का कुछ अंश प्राचीन है और कुछ अंश अर्वाचीन, यह कल्पना ही निर्मूल है।

'महाकाव्य-काल की रचनाओं में स्वयं हिन्दुस्तान के विजेताओं के आन्तरिक संघर्ष का वर्णन किया गया है, जैसे महाभारत में। अथवा ब्राह्मण धर्म के सुदूर दक्षिण की ओर विस्तार का वर्णन किया गया है, जैसे रामायण में। यदि हम इनके साथ भारत के विषय में एक ग्रीक स्रोत, अर्थात् मेगस्थनीज से प्राप्त स्पष्ट जानकारी का सम्बन्ध जोड़ें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस लेखक के समय में हिन्दुस्तान में ब्राह्मण संस्कृति के विकास का कार्य पूरा हो चुका था, जब कि पेरिप्लस के समय में दक्षिण भारत

टिप्पणी इं स्टू० १.१९२) दक्षिणसुदूरवर्ती प्रदेशः शिवपत्न्याः पूजाकेन्द्रः संवृत्तः। अत्र विस्तृतप्रदेशे जाङ्गलिकास्तथा युद्धप्रिया जातयो निवसन्ति स्म। एतेषां ब्राह्मणधर्मप्रभावे समानयनात्पूर्वमनेकासां शताब्दीनां कियत्यो महत्यः परम्परा व्यतीता भवेयुः' (पृ० २१-२२) इत्यादि, परं सर्वमेतदसङ्गतमेव, ब्राह्मणधर्मस्य पाश्चात्यमस्तिष्कविलसितत्वात्। यतो हि वैदिकधर्म एव ब्राह्मणधर्मः, स एव वर्णाश्रमधर्मः। शिवपत्न्या दुर्गायाश्च पूजा वैदिकधर्मस्यैवाङ्गभूता, रात्रिसूक्तादीनां तद्बोधकत्वात्।

यत्तु टिप्पण्यां गोल्डस्टूकरविचाररीत्या—'कश्चिद् वैदिक ऋषिर्यः कण्ववंशीय उच्यते। ऋक्संहिता-(८।६।४६-४८)मन्त्रेष्वश्वादिपशुभिः सार्धं रथे नियुक्तानां चतुर्णामुष्ट्राणां प्रशंसा विद्यते। राथमहाशयेन सेंटपीटर्सवर्गडिक्शनरीग्रन्थे उष्ट्रशब्दस्य महिषः कुब्जो वृषभो वार्थ उक्तः। एतेषां पशूनां दानं तेन तिरिन्दिरात् पर्शुना च यादवेभ्यः प्राप्तम्, अत्र केवलस्य तिरिन्दिरस्यैवोल्लेखः। शांखायनश्रौतसूत्रे १६।११।२ इति स्थले स तिरिन्दिरः पारशव्य उक्तः। एतैर्नामभिः तिरिडेटीजस्य पर्सियनस्य च सङ्केतो लभ्यते, परन्तु साइरसानां पश्चात् पर्सियनानां सत्त्वं नाभ्युपेतव्यम्, एतेनात्यन्तपाश्चात्त्ये काले गता भविष्यामः। साइरससमयात्पूर्वमपि पारसीका जनाः पर्सियन्शब्देनाख्यायन्ते स्म, तेषां स्वीयो राजापि भवति स्म। अथवा यथा ओलशा-उजेनमहाशयेन वेर्लीनिन मोनाटस वेरिष्ट १८७४ पृ० ७०८ सूचितः। पर्सियनशब्दैः पार्थवाः पार्थिअना वा ग्राह्याः, येषां सम्बन्धे एचेमिनिडिसमये पार्शाजनैः सहोल्लेखो लभ्यते। तिरिडेटेसआदिषु तिरिशब्दस्य या व्युत्पत्तिः प्रचलिता सा पहलवीभाषास्थतीर-जेब्ड-तिस्त्र्यशब्देन व्युत्पाद्यत इति नोचितम्। व्युत्पत्तिरियं एम० ब्रीअलमहोदयेन डेपेर्शिसिस नोमिनिवस् १८६३ पृ० ९,१० इत्यत्र निगदिता' (पृ० २१-२२ टि०) इति, सर्वमेतत् कल्पनामात्रं निर्मूलत्वात्। मन्त्रस्तु—'शतमहं तिरिन्दिरे सहस्रं पर्शावाददे। राधांसि याद्वानाम्' (ऋ० सं० ८।६।४६) इति। सायणरीत्याऽत्र तिरिन्दिरस्य राज्ञो दानं स्तूयते।

का सुदूरवर्ती क्षेत्र शिव की पत्नी की पूजा का केन्द्र बन चुका था। इस विस्तृत देश को, जिसमें जङ्गली तथा लड़ाकू जातियां निवास किया करती थीं, ब्राह्मण-धर्म के प्रभाव में ले आने के पहले वर्षों और शताब्दियों की कितनी बड़ी परम्परा बीत चुकी होगी!' (पृ० २१-२२ भू०)। किन्तु यह सारा कथन असंगत है, क्योंकि ब्राह्मण धर्म की कल्पना पाश्चात्य विद्वानों के दिमाग की उपज है। वास्तव में वैदिक धर्म ही ब्राह्मण धर्म है और इसी को वर्णाश्रम धर्म भी कहते हैं। शिवपत्नी दुर्गा की पूजा भी वैदिक धर्म का ही अंग है, क्योंकि रात्रिसूक्त आदि में उसका विधान है।

यहां पृ० २१ की २ संख्या की टिप्पणी में बताया गया है—'एक वैदिक ऋषि, जिन्हें कण्व वंश का वत्स बताया गया है, ऋ० ८।६।४६-४८ में घोड़ों, पशुओं और एक साथ चार-चार जोते गये ऊँटों के दान की प्रशंसा करते हैं (राथ ने सेंट पीटर्सवर्ग डिक्शनरी में उष्ट्र का अर्थ भैंस या कूबड़ा बैल बताया है, सामान्यतः इसका अर्थ ऊँट है)—इन पशुओं का दान उन्होंने, तिरिंदिर और और पर्शु ने, यादवों से प्राप्त किया था या यहां केवल एक व्यक्ति तिरिंदिर पर्शु का ही उल्लेख है? शांखायन श्रौतसूत्र १६।११।२७ में उन्हें तिरिंदिर पारशव्य कहा गया है। इन नामों से तिरिडेटीज और पर्सियन्स् का संकेत मिलता है; निःसन्देह हमें साइरस के बाद पर्सियन लोगों को नहीं मानना चाहिये, इससे हम बहुत बाद के समय में चले जायेंगे, किन्तु साइरस के समय के पूर्व भी फारसी लोग इसी नाम से पुकारे जाते थे और उनके अपने राजा भी होते थे। अथवा जैसा ओल्शाउजेन ने वेर्लीनेर मोनाटस वेरिष्ट १८७४, पृ० ७०८ में सुझाया है, हमें पार्थवों या पार्थियन लोगों से अर्थ लेना चाहिये, जिनके एचेमीनिडी के समय में होने का उल्लेख पार्शाओं के साथ किया गया है? तिरिडेटेस आदि में 'तिरि' शब्द की जो व्युत्पत्ति प्रचलित है, उसे पहलवी तीर-जेब्ड-तिस्त्र्य से बताना उचित नहीं (यह व्युत्पत्ति एम० ब्रीअल ने डे पेर्शिसिस् नोमिनिबस् १८६३, पृ० ९-१० में दी है)' (भूमिका, पृ० २१-२२ टि०)। यह सारा कथन भी निर्मूल कल्पना मात्र है। इस मन्त्र का सायण ने यह अर्थ किया है—'यहां राजा तिरिन्दिर के दान की स्तुति की गई है।

तिरिन्दिरे राजनि । यदुरिति मनुष्यनाम । यदव एव याद्वास्तेषां मध्ये अहं शतं शतसंख्याकानि सहस्रं सहस्रसंख्याकानि राधांसि धनानि आददे । यद्वा यदुकुलजानामन्येषां राज्ञां स्वभूतानि धनानि बलादपहृतानि तिरिन्दिरे वर्तमानानि अहं प्राप्नोमि । 'उदानट् ककुदो दिवमुष्ट्राञ्चतुर्युजो ददत् । श्रवसा याद्वं जनम् ।।' (ऋ० सं० ८।६।४८) अयं राजा ककुदः उच्छ्रितः सन् श्रवसा कीर्त्या दिवं स्वर्गम् उदानट् उत्कृष्टतरं व्याप्नोत् । किं कुर्वन् ? चतुर्युजः चतुर्भिः स्वर्णभारैर्युक्तानुष्ट्रान् ददत् प्रयच्छन् तथा याद्वं जनं च दासत्वेन प्रयच्छन् । नात्र तिरिशब्दबलेन देशान्तरीयजना ग्रहीतुं शक्यन्ते । नहि शब्दसाम्येन प्रमाणमन्तरा वेदार्थोऽवधारयितुं शक्यः । तथा सति सकृत् शकृत्, सकलः शकलः, स्वजनः श्वजन इत्यादिषु शब्दसाम्येनानर्थोद्भवात् । गिर्जागृहमपि गिरिजागृहं स्यात् । तदेवमुक्तम्—'यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम् । स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलः शकलः सकृत् शकृत् ।।'

यदपि—'मेगस्थनीजो माडि-आण्डि-नोईनाम्नां जनानामुल्लेखं करोति, तन्नाम माध्यन्दिने लभ्यते, या च शुक्लयजुर्वेदिनां प्रमुखशाखास्ति' इति, तदपि विसङ्गतम्, माध्यन्दिने तन्नामानुल्लेखात् ।

To See

'सिकन्दरः सिन्धुनदीतटे यज्जातीयान् जनान् दृष्टवान् ते नितान्तवैदिक्यामवस्थायामासन् । ब्राह्मणसंस्कृतेर्धरातले नासन् । सत्यमिदमेव, परन्तु भारतस्य सम्बन्धे एतेन कश्चिन्निष्कर्षस्तर्कसङ्गतो न भविष्यति, यतः पञ्चनदीयाः कदाचिदपि ब्राह्मणीयव्यवस्थायाः प्रभावक्षेत्रे नागताः, ता जातयोर्वैदिकजीवनदृष्टौ स्थिरा आसन् । पुरोहितानां वर्णव्यवस्थायाः प्रभावात् सदैव बहिर्भूता आसन् । तत एव तज्जातीयास्तेषां स्वबान्धवानां घृणापात्रतामुपगताः, ये प्रभूतपुरःप्रसृताः, अर्थाद् दूरदेशं याताः । अत एव तेषु बौद्धधर्मस्य सारल्येन प्रवेशः सञ्जातः ।'

यदु यहाँ मनुष्य को कहा गया है । याद्व शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में हुआ है । राजा तिरिंदर के लिये मैं मनुष्यों से सैकड़ों और हजारों रुपये जुटा देता हूं । अथवा यदुकुल में उत्पन्न हुए तथा अन्य राजाओं से उनका धन जबरदस्ती छीन कर मैं तिरिंदिर को दे देता हूँ' । 'उदानट्' इत्यादि द्वितीय मन्त्र का सायण ने यह अर्थ किया है—'यह राजा तिरिंदिर धन से संपन्न होकर अपनी कीर्ति से भी उत्कृष्ट स्वर्गलोक को व्याप्त कर लेता है, जब कि यह चार स्वर्णभार से युक्त ऊँटों का और दासजनों का दान करता है' । यहाँ तिरि शब्द के आने से देशान्तर में विद्यमान मनुष्यों का उससे बोध होता हो, ऐसी बात नहीं है । शब्द की समानता को देखकर बिना प्रमाण के वेद का अर्थ नहीं निश्चित किया जा सकता । ऐसा मानने पर शब्द की समानता को देखकर यदि अर्थ का निश्चय किया जायगा तो सकृत् और शकृत् आदि शब्दों का एक ही अर्थ करने पर महान् अनर्थ हो जायगा । सकृत् शब्द का अर्थ एक बार और शकृत् शब्द का अर्थ विष्ठा होता है । इसी तरह से सकल का अर्थ संपूर्ण और शकल का अर्थ टुकडा तथा स्वजन का अर्थ अपने संबन्धी और श्वजन का अर्थ कुत्ता होता है । ऐसा मानने पर तो गिर्जाघर को गिरिजा (दुर्गा देवी) का मन्दिर भी कह सकेंगे । इसी लिये एक सुभाषित में कहा गया है—'हे पुत्र, यदि तुमको ज्यादा नहीं पढ़ना है, तो भी थोड़ी-बहुत व्याकरण तो अवश्य पढ़ लो, जिससे तुम स्वजन और श्वजन, सकल और शकल, सकृत् और शकृत् इस तरह के शब्दों के अर्थ को ठीक से समझ सको' ।

बेवर ने कहा है कि 'मेगस्थनीज 'माडि आण्डि नोई' नाम के लोगों का उल्लेख करता है और यह नाम 'माध्यन्दिन' में मिलता है जो कि शुक्ल यजुर्वेद की प्रमुख शाखा है' (पृ० ५) यह कथन भी असंगत है, क्योंकि माध्यन्दिन संहिता में यह शब्द नहीं मिलता ।

'सिकन्दर ने सिन्ध नदी के तट पर जिन जातियों और जनों को पाया, वे नितान्त वैदिक अवस्था में हैं, ब्राह्मण संस्कृति के धरातल पर नहीं । वस्तुतः यह सत्य भी है, किन्तु स्वयं भारत के संबन्ध में इससे कुछ भी निष्कर्ष निकालना तर्कसंगत न होगा । कारण, पंजाब की ये जातियाँ कभी भी ब्राह्मणीय व्यवस्था के प्रभाव में न आ सकीं । ये जातियाँ अपनी वैदिक जीवनदृष्टि पर स्थिर एवं पुरोहितों की वर्णव्यवस्था के प्रभाव से मुक्त बनी रहीं । इसी कारण से ये अपने उन बन्धुओं की घृणा का पात्र बन गई, जो आगे फैल चुके थे और इसी कारण उनमें बौद्ध धर्म को भी सहज ही प्रवेश मिल गया' (पृ० २२ मू०) । यह कथन भी कुछ सिद्ध नहीं

इत्यादि च यत्किञ्चित्, वर्णाश्रमधर्मस्य वैदिकधर्मानतिरिक्तत्वात् । ऋग्वेदादिषु—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' (ऋ० सं० १०।९०।१२) इत्यादिभिर्वर्णभेदस्य प्रतिपादितत्वात् । यथा परवर्तिकाले विपरीतप्रचारबाहुल्येन वर्णाश्रमनिष्ठाशैथिल्ये सति बौद्धादिधर्मप्रवेशस्तथैव तत्रापि सम्भवात् ।

यदपि च—'भारतीयसाहित्यस्योट्टङ्कितैर्विवरणैः स कालः सम्भाव्यते, यदा इण्डो-आर्यन् (भारतीया आर्याः) पर्सियन्-आर्यन् (पारसदेशीया आर्याः) च सहैव निवसन्ति स्म । तस्य साहित्यस्य प्राचीनत्वपुष्टिर्भौगोलिकैः प्रमाणैरपि भवति, तथापि तत्रत्यवर्ण्यविषयेषु तद्विषये आन्तराण्यपि प्रमाणानि नाल्पीयांसि' इति, तदपि निर्मूलम्, तादृशप्रमाणानामनुपस्थापितत्वात् ।

यदपि च—'ऋक्सूक्तेषु जनताया अप्रतिहता शक्तिः प्रकृत्या सह सम्बन्धभावनां सहजनवीनतया सरलतया चाभिव्यनक्ति, प्रकृतिशक्तीनां पूजा श्रेष्ठप्राणिनां रूपेण भवति, विभिन्नक्षेत्रेषु ताभ्यो दयापूर्णसाहाय्यं याच्यते । सा च प्रकृतिपूजा सर्वत्रैव प्रकृतेर्व्यक्तिगतेषु दृग्विषयेष्वेव, तत्राप्यतिमानवीयेष्वस्तित्वेषु सीमिता । तत आरभ्य भारतीयसाहित्येषु हिन्दुजनतायाः प्रगतिं धार्मिकविकासस्य च तासु सर्वास्ववस्थासु वयं पश्यामः, याभ्यो मानवमस्तिष्कं प्रगतिमुपगतम्, ते वैयक्तिका दृग्विषयाः प्रथमतोऽतिमानवीयत्वान्मस्तिष्कं प्रभावयन्ति । शनैःशनैर्विभिन्नक्षेत्रीयैर्वर्गैर्विभक्ताः, अनया रीत्या अनेका दैवीः सत्ताः समुपगच्छामः, यासु प्रातिस्विक्यः स्वीयेषु विशिष्टक्षेत्रेषु सर्वोच्चशक्तिसम्पन्ना भवन्ति । यासां प्रभावाः कालक्रमेण मानवजीवनस्य समरूपाः सर्वा घटनाः प्रभावयन्ति । एता देव्यः सत्तामानवीयगुणैरवयवैश्च युक्ता भवन्ति । एतासां प्राकृतिकदेवतानां प्रकृतिशक्तीनामधिष्ठातॄणां संख्याः प्रथमत एव पर्याप्ता आसन् । पुनश्च नैतिकसम्बन्धैरुद्भूतभावात्मकसत्ताभिः संयोजनेनेयं संख्या ततोऽपि वर्धते । एतास्तथान्या अपि देवता दैवीभिः शक्तिभिर्वैयक्तिकैर्जीवनैश्च विशिष्टकार्यैश्च युज्यन्ते । दैव्याः सत्तायाः सन्दर्भे जिज्ञासा-

कर पाता, क्योंकि वर्णाश्रम धर्म वैदिक धर्म से अतिरिक्त नहीं है । ऋग्वेद आदि में 'ब्राह्मण इस पुरुष का मुह था' इत्यादि मन्त्रों से वर्णभेद का प्रतिपादन हुआ है । जैसे परवर्ती काल में वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध जोरों का प्रचार होने से वर्णाश्रम धर्म में श्रद्धा कम हो जाने पर बौद्ध आदि धर्मों को जनता स्वीकार करती रही है, वही स्थिति उपर्युक्त काल में भी हो सकती है ।

'भारतीय साहित्य के लिखित विवरणों का समय संभवतः वह समय हो सकता है, जब इण्डो-आर्यन (भारतीय आर्य) पेर्सा आर्यन (फारस के आर्य) के साथ निवास करते थे । इस साहित्य के नितान्त प्राचीनता के दावे की पुष्टि वाह्य भौगोलिक प्रमाणों से होती है, फिर भी इस दिशा में उनके वर्ण्य-विषयों में ही पाये जाने वाले आन्तरिक प्रमाण भी कम निर्णायक नहीं हैं' (पृ० २२-२३ भू०) । यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि इस तरह के कोई प्रमाण यहाँ नहीं दिये गये हैं ।

'ऋक्-सूक्तों में जनता की अप्रतिहत शक्ति प्रकृति के साथ संबन्ध की भावना को सहज नवीनता और सरलता के साथ अभिव्यक्त करती है । प्रकृति की शक्तियों की पूजा श्रेष्ठ प्राणियों के रूप में होती है और विभिन्न क्षेत्रों में उनकी दयापूर्ण सहायता की याचना की जाती है । प्रकृति की यह पूजा सर्वत्र केवल प्रकृति के व्यक्तिगत दृग्विषयों और वह भी उनके अतिमानवीय अस्तित्वों तक ही सीमित है । इनसे प्रारम्भ कर हम भारतीय साहित्य में हिन्दू जनता की प्रगति धार्मिक विकास की उन सभी अवस्थाओं में देखते हैं, जिनसे होकर सामान्य मानव-मस्तिष्क गुजरा है । प्रकृति के व्यक्तिगत दृग्विषय, जो प्रथमतः अतिमानवीय होने से मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं, शनैः शनैः विभिन्न क्षेत्रीय वर्गों में विभक्त कर दिए जाते हैं । इस प्रकार हम अनेक दैवी सत्ताओं पर आ पहुँचते हैं, जिनमें से प्रत्येक अपने विशिष्ट क्षेत्र में सर्वोच्च शक्तिमान् है, जिसका प्रभाव समय के साथ-साथ मानव-जीवन की समरूप घटनाओं तक आ जाता है । ये दैवी सत्तायें भी मानवीय गुणों एवं अवयवों से युक्त हो जाती हैं । इन प्राकृतिक देवताओं या प्रकृति की शक्तियों के अधिष्ठाताओं की संख्या पहले ही काफी थी । पुनः नैतिक संबन्धों से उद्भूत भावात्मक सत्ताओं को जोड़ देने से यह संख्या और भी बड़ी हो जाती है । इन्हें अन्य देवताओं को दैवी शक्ति, व्यक्तिगत जीवन और विशिष्ट कार्य से युक्त कर दिया जाता है । इन दैवी

प्रवृत्तिर्नव्याया व्यवस्थायाः समानयनाय प्रयतते। तासां प्रमुखप्रभावानुसारेण वर्गीकरणं भवति। आकाशान्तरिक्षपृथिवी-सम्बधिन्यो देवता उपलभ्यन्ते, तासु सूर्य-वायु-वह्नयस्तत्स्वामित्वेन मन्यन्ते। एतास्तिस्रो देवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यः प्रधाना गण्यन्ते। अन्यास्तदनुयायिन्यो गण्यन्ते। एभिर्वर्गीकरणैः परिपोषमुपगम्य कल्पना पुरःसरति। एतासां स्थाननिर्धारणाय परमात्मनैक्यमुपगन्तुं च प्रयत्यते। ब्रह्मरूपनितान्तस्वतन्त्रसत्ताकल्पनया तत्सम्पद्यते। सूर्यादयश्च तदधीनस्थदेवता भवन्ति। एतासां मध्ये चैका सर्वोच्चदेवतारूपेग पूज्यते। सर्वप्रथममिदं संमानं सूर्याय प्रत्तम्। पारसीका आर्या इमं दृष्टिकोणमभिरक्ष्यैव विस्तारं कृतवन्तः। ब्राह्मणेष्वपि तत्र तत्र सूर्यदेवताया अन्यदेवताभ्य उत्कर्ष उपलभ्यते—'सविता देवानाम्' पूजाविधानेष्वेतत्सम्बन्धीनि चिह्नान्युपलभ्यन्ते। ब्रह्मणः पुल्लिङ्गरूपमप्यनेन सूर्येण परवर्तिकाले धारितम्। यद्यपि तस्य गौरवं पर्याप्तं क्षीणतामुपगतम्। इन्द्रियगोचरत्वादधिकप्रत्यक्षप्रभावत्वाद् वायुनाग्निना च शनैः शनैः पूर्णरूपेण सर्वोच्चसत्ताऽधिगता। यद्यपि तौ निरन्तरसङ्घर्षरतावेवास्ताम्। इयं पूजा विभिन्नास्ववस्थासु प्रलम्बमानया शृङ्खलया समुपगता, सैवावस्था मेगस्थनीजेन भारते दृष्टा। पेरिप्लसस्य समये सुदूरदक्षिणं यावत् प्रसृता। यद्यपि तस्याः स्वरूपं पर्याप्तमुपभ्रष्टं स्यात्।

एवं भारतीयसाहित्यस्य प्राचीनत्वं तु सिद्ध्यति, तथापि निश्चितकालक्रमानुसारिणीनां तिथीनां सम्बन्धेऽसन्तोषावहैव परिस्थितिरुपलभ्यते। स्ट्रवो (पृ० ११७) रीत्या डिओनुसस (रुद्रसोमशिवानां) पूजा पर्वतीयप्रदेशे प्रचलति स्म, हाक्लीज (इन्द्रविष्णु) पूजा च समतलप्रदेशे। वैदिकसूक्तानां भाषाया जनभाषापर्यन्तमागमनायानेकाः शताब्द्यो व्यतीताः। एतावता प्राचीनतैव सिद्ध्यति' इत्यादिकं सर्वमपि कल्पनाप्रसूतमेव, वैदिकशब्दैरेव वेदानामनादित्वस्य

सत्ताओं के सन्दर्भ में आगे चलकर जिज्ञासा की प्रवृत्ति एक नई व्यवस्था लाने का प्रयत्न करती है और उनके प्रमुख प्रभाव के अनुसार उनका वर्गीकरण करती है। हम ऐसे देवताओं को पाते हैं, जो आकाश में, अन्तरिक्ष में और पृथ्वी पर अपने कार्य में लगे हैं और इनमें सूर्य, वायु तथा अग्नि को क्रमशः प्रतिनिधि और स्वामी माना गया है। ये तीनों देवता शनैः शनैः अन्य देवताओं के ऊपर प्राधान्य प्राप्त कर लेते हैं, जिन्हें उनका अनुयायी या सेवक मान लिया गया है। इन वर्गीकरणों से पुष्ट होकर कल्पना आगे बढ़ती है और इन तीन देवताओं का आपेक्षिक स्थान निर्धारित करने एवं परमात्मा के ऐक्य पर पहुँचने का प्रयत्न करती है। यह कार्य या तो चिन्तन से वस्तुतः एक संप्रभु और नितान्त स्वतन्त्र सत्ता, अर्थात् ब्रह्मन् की कल्पना द्वारा सिद्ध होती है, जिससे आगे ये तीनों देवता अधीनस्थ देवों या सेवकों के रूप में आते हैं, अथवा इनमें से एक या दूसरे देवता की पूजा सर्वोच्च देवता के रूप में होने लगती है। सर्व प्रथम यह संमान सूर्य देवता को दिया गया है, फारस के आर्यों ने इस दृष्टिकोण को बनाये रखा और निःसन्देह उन्होंने इसका और आगे विस्तार किया। ब्राह्मण ग्रन्थों के अधिक प्राचीन अंशों में भी—जिनसे काल और वर्ण्य विषय की दृष्टि से अवेस्ता संहिता की अपेक्षा अधिक संबन्ध रखता है—हम स्थान-स्थान पर सूर्य देवता को अन्य देवताओं से बहुत ऊपर उठा हुआ पाते हैं (सविता देवानाम्)। हम इसके पर्याप्त चिह्न पूजा की विधाओं में भी पाते हैं, जिनमें प्रायः अतीत के अवशेष सुरक्षित हैं। यही नहीं, ब्रह्मन् (पुल्लिग) के रूप में उसने सिद्धान्ततः इस पद को बहुत बाद के समय तक धारण किया हं, यद्यपि उसका गौरव बहुत कुछ समाप्त हो चुका है। अधिक प्रत्यक्ष एवं इन्द्रिय-गोचर प्रभाव के कारण उसके सहयोगियों, वायु और अग्नि ने शनैः शनैः सर्वोच्च सत्ता का पद पूर्ण रूप से प्राप्त कर दिया, यद्यपि वे परस्पर निरन्तर संघर्षरत बने रहे। यह पूजा विभिन्न अवस्थाओं की लम्बी शृंखला से होकर गुजरती है और स्पष्टतः यह वही अवस्था है, जिसे मेगस्थनीज ने भारत में पाया है और जो पेरिप्लस के समय में सुदूर दक्षिण तक फैल चुकी थी, भले ही इसका स्वरूप पर्याप्त भ्रष्ट हो चुका था।

इस प्रकार भारतीय साहित्य का समय अत्यन्त प्राचीन मानना संगत तो है, किन्तु हिन्दू धर्म के इतिहास के साथ संबद्ध बाह्य भौगोलिक आधारों तथा आन्तरिक प्रमाणों की दृष्टि से जब हम निश्चित कालक्रमानुसारी तिथियों का अन्वेषण करते हैं, तो स्थिति पर्याप्त असन्तोषजनक सिद्ध होती है। 'स्ट्राबो (पृ० ११७) के अनुसार 'डिओनुसस' (रुद्र, सोम, शिव) की पूजा पर्वतीय क्षेत्रों में होती थी और 'हाक्लीज' (इन्द्र, विष्णु) की पूजा मैदानों में होती थी'। 'वैदिक सूक्तों की भाषा के इस भाषा तक पहुँचने

साधितत्वात्। न च विकासक्रमेण सूर्यवाय्वग्न्यादिषु देवतात्वं कल्पितम्, किन्तु नित्यसिद्धवैदिकैः शब्दैरेव सूर्यादीनां स्थूलसूक्ष्मरूपेण स्पष्टमुपवर्णनात्। सूर्यादीनां तत्प्रकृतीनां चोत्पत्तयोऽपि वेदे वर्णिताः। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० सं० १०।१९०।३)। तत्तदन्तर्यामिरूपस्य ब्रह्मणस्तत्तदधिष्ठातृदेवानां च देवताधिकरणादौ स्पष्टमुपवर्णनात्। वेबरप्रभृतयः पाश्चात्यास्तु भारतीयसाहित्यविवेचनप्रणालीपरिचयाभावादेव भ्राम्यन्ति, यत्किञ्चिच्च प्रजल्पन्ति। ब्रह्मात्मतत्त्वमपि न कल्पनाप्रसूतम्, किन्तु प्रत्यक्षावगतं विवेकविधूततमस्कानाम्।

यदुक्तम्—'वेदाश्चत्वारः। तत्र ऋग्वेद-सामवेद-यजुर्वेदा द्वाभ्यां पाठाभ्यां विभक्ताः, अथर्ववेदश्च त्रिधा विभक्तः। तेषु प्रत्येकः संहिता-ब्राह्मण-सूत्ररूपेण विभक्तः' इति, तदपि न युक्तम्, महाभाष्यादिरीत्या वेदचतुष्टयस्यैकत्रिंशदुत्तरैकादशशतशाखारूपेण विभक्तत्वात्। तत्रैकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकशतमध्वर्युशाखाः, नवधाथर्वणः। एता मानवबुद्धिग्राह्याः। स्वभावतस्तु 'अनन्ता वै वेदाः' (तै० ब्रा०)। साम्प्रतं लोके लुप्ता अपि ताः सूर्यलोके विद्यन्त इति वायुपुराणादिभिरवगम्यते। सूत्रग्रन्थास्तु न वैदिको भागस्तेषामपौरुषेयत्वाभावात्।

यदुक्तम्—'ऋग्वेदसंहिता गीतसंग्रहात्मिका। तेषां गीतभाण्डागारस्थानीया सा। यान् स्वनिवासस्थानात् सिन्धुतटादार्या आनीतवन्तः। यत्र स्वपशूनां समृद्धये उषसो विद्युद्धारिण्या देवतयाऽन्धकारेण च सङ्घर्षस्य प्रशस्तयः, युद्धप्रसङ्गे रक्षित्रीणां देवतानां धन्यवादप्रकाशनानि च सन्ति। कविकुलानुसारेण तेषां गीतानां वर्गीकरणानि। वर्गीकरणसिद्धान्तस्तु वैज्ञानिक इति वक्तुं शक्यते। येनेदं विज्ञायते यद्विवेचयिष्यमाणयोः संहितयोः परवर्तिकाले

में अवश्य ही अनेक शताब्दियाँ बीत चुकी होंगी। इससे इस भाषा की प्राचीनता ही सिद्ध होती है' (पृ० २३-२४ मूल व टिप्पणी)। यह सारा कथन की कल्पना का विलास मात्र है, क्योंकि हम भी वैदिक वाक्यों से ही वेद की अनादिता को सिद्ध कर चुके हैं। विकासवाद के क्रम से सूर्य, वायु, अग्नि आदि में देवता स्वरूप की कल्पना नहीं की गई है, किन्तु नित्य सिद्ध वैदिक शब्दों से ही इनका स्थूल और सूक्ष्म रूप में स्पष्ट वर्णन किया गया है। सूर्य प्रभृति की और इनकी प्रकृतियों की उत्पत्ति भी वेद में वर्णित है। ऋग्वेद में बताया गया है कि 'ब्रह्मा ने पूर्व कल्प के समान इस कल्प में भी सूर्य और चन्द्रमा की रचना की'। उस उस पदार्थ के अन्तर्यामी रूप ब्रह्मा की और उन उन पदार्थों के अधिष्ठाता देवताओं की चर्चा देवताधिकरण में की गई है। वेबर प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् भारतीय साहित्य की विवेचना पद्धति का ज्ञान न होने से भ्रम में पड़ जाते हैं और मनमानी बातें गढ़ने लग जाते हैं। ब्रह्मात्मतत्त्व भी कल्पना की उपज नहीं है, किन्तु विवेक के द्वारा अपने अज्ञान को दूर कर लेने वाले साधकों को उसका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

'वेद चार हैं : ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद—जो दो पाठों में हैं, तथा अथर्ववेद। इनमें से प्रत्येक अलग अलग तीन भागों में विभक्त है—संहिता, ब्राह्मण और सूत्र' (पृ० ३) यह कथन भी ठीक नहीं है। महाभाष्य के अनुसार चारों वेद ११३१ शाखाओं में विभक्त हैं। इनमें से ऋग्वेद की २१, सामवेद की एक सहस्र (१०००), यजुर्वेद की एक सौ एक (१०१) और अथर्ववेद की ९ शाखाएँ हैं। ये शाखाएँ मनुष्यों की बुद्धि में आने वाली हैं। वास्तव में तो वेद अनन्त हैं। ये सब शाखाएँ यद्यपि अब लोक में लुप्त हो गई हैं, किन्तु वायुपुराण आदि से ज्ञात होता है कि सूर्यलोक में वे सब शाखाएँ अब भी सुरक्षित हैं। सूत्र ग्रन्थों को वेद का भाग नहीं माना जाता, क्योंकि वे अपौरुषेय नहीं हैं।

ऋग्वेदसंहिता पूर्ण रूप से एक गीतात्मक संग्रह है और इसके अन्तर्गत गीतों का वह भाण्डार है, जिसे हिन्दू सिन्धु नदी के तट पर स्थित अपनी प्राचीन निवास भूमि से अपने साथ ले आये थे और जिसका प्रयोग वे वहाँ पर अपनी तथा अपने पशुओं की समृद्धि के लिये, उषा की वन्दना, विद्युत् धारण करने वाले देवता और अन्धकार के बीच संघर्ष के प्रशस्तिगान और युद्ध में रक्षा करने वाले देवताओं के प्रति धन्यवाद प्रकाशन के लिये करते थे। इनमें गीतों का वर्गीकरण उन कवियों के कुलों के आधार पर किया गया है, जिनकी ये रचना बताये जाते हैं। इस वर्गीकरण के सिद्धान्त को नितान्त वैज्ञानिक कहा जा सकता है। इस कारण यद्यपि अधिक तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी यह संभव है कि इस संहिता का संकलन आगे विवेचित की जाने वाली उन दो संहिताओं

संहितेयं संगृहीता। निश्चितविधानेन देवपूजनसंस्थाया अस्तित्वोद्गमकाले यस्यापेक्षासीत् तस्य पूर्त्तिर्जातेति, तत्सर्वमपि निर्मूलमेव, व्याप्तिग्रहाभावेन तादृशानुमानासम्भवात्, कल्पनामात्रस्याप्रामाणिकत्वात्।

यदुक्तम्—'सामवेदयजुर्वेदसंहितयोस्तादृशा एव ऋङ्मन्त्राः समायान्ति, येषां पाठाः सोमादियज्ञादिषु भवन्ति। येन क्रमेण यज्ञेषु मन्त्राणामुपयोगो भवति तेनैव क्रमेण तत्र पाठोऽपि भवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तावता संहितासङ्कलनस्य परवर्तित्वासम्भवात्। विकासक्रमाङ्गीकार एवैतत्सम्भवति। पूर्वमीमांसकानां दृष्ट्या वेदा अनादयोऽपौरुषेयाश्च। उत्तरमीमांसकानां दृष्ट्यापि सर्वज्ञात् परमेश्वरान्निःश्वासन्यायेन वेदाः प्रादुर्भवन्ति। निःश्वासस्य निद्राकालेऽपि सत्त्वाद् विशिष्टबुद्धिप्रयत्ननिरपेक्षत्ववद् वेदानामपि बुद्धिप्रयत्ननिरपेक्षतया पुरुषस्वातन्त्र्याभावेनापौरुषेयत्वोपगमात्। तेन वेदाः पशुपालकानामार्याणां कविनिर्मितगीतरूपास्तेषु कश्चिद् भागः प्राचीनः कश्चिदर्वाचीन इत्यादिकल्पनाः सारशून्या एव।

एतेन 'सामसंहितासु ऋक्संहिताया ऋचामेवोद्धरणम्, न तदतिरिक्तमन्यत्' इत्यपास्तम्, गीतिष्वेव सामशब्दप्रयोगात्। ऋचश्च यथा सामसु विद्यन्ते तथैव यजुःसंहितास्वथर्वसंहितासु च विद्यन्ते। अत एव ऋक्संहिताया एव ऋचः सर्ववेदेषूद्ध्रियन्त इत्यपि निर्मूलम्, यजुःसंहितादिषूपलभ्यमानानां बह्वीनामृचामृक्संहितास्वनुपलम्भात्। अत एव यदुक्तम् 'सामसंहितायां यजुःसंहितायां चोपलभ्यमानानामृचां परिवर्तितरूपेणोपलम्भनं भवति' इति, तदपि न युक्तम्, वेदानुपूर्वीणामेकरूपेण तत्र परिवर्तनासम्भवात्। किन्तु तत्रत्या ऋचस्तथाविधा एव नित्याः। पाठरक्षणाय पद-क्रम-जटा-मालादयो विकृतयोर्वैदिकेषु प्रचलिताः सन्ति। अत एव वेदेषु मात्रास्वरादिपरिवर्तनस्य

के समय से परवर्ती काल का है, जो एक व्यावहारिक अभाव की पूर्ति करने के कारण निश्चित विधि से युक्त देवपूजन संस्था के अस्तित्व में आते ही आवश्यक हो गई थी' (पृ० ३)। यह सारा कथन भी निर्मूल है, क्योंकि जहाँ पर व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो पाता, वहाँ अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। कोरी कल्पना प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती।

'सामवेद संहिता और यजुर्वेद की दोनों संहिताओं में केवल ऐसी ही ऋचाएँ (मन्त्र) और याज्ञिक (यजुस्) मन्त्र हैं, जिनका पाठ सोमयज्ञ और अन्य यज्ञों में किया जाता था और वे हैं भी उसी क्रम में, जिस क्रम में उनका व्यवहारतः उपयोग होता था' (पृ० ३) इस कथन में भी कुछ दम नहीं है। इतना मान लेने पर भी यह सिद्ध नहीं हो पाता कि संहिता का संकलन बाद में हुआ था। विकास का क्रम मानने पर ही वह संभव हो सकता है। यहाँ पर तो पूर्व मीमांसकों की दृष्टि से वेद अनादि और अपौरुषेय हैं और उत्तर मीमांसकों के मत से भी सर्वज्ञ परमेश्वर से वेदों का प्रादुर्भाव उसी तरह स्वाभाविक रूप से होता है, जैसा कि श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति होती है। श्वास-प्रश्वास की गति निद्रा की दशा में भी स्वाभाविक रूप से चलती रहती है। इसके लिये विशेष प्रयत्न की अथवा बुद्धि के विशेष व्यापार की आवश्यकता नहीं रहती, इसी तरह से वेदों के प्रादुर्भाव में परमेश्वर के प्रयत्न अथवा बुद्धि व्यापार की अपेक्षा न रहने से, अर्थात् इस वेद के प्रादुर्भाव के लिये परमेश्वर रूप परम पुरुष की भी स्वतन्त्रता न रहने से अपौरुषेयता मानी जाती है। इस तरह से वेदों के मन्त्र पशुओं को चराने वाले आर्यों के गीत मात्र हैं। इनमें से कुछ मन्त्र प्राचीन और कुछ नवीन हैं, इस तरह की सारी बातें सारहीन कपोल कल्पनाएँ हैं।

उक्त प्रतिपादन से इस बात का भी खण्डन हो जाता है कि 'सामवेद की संहिताओं में ऋक् संहिता की ऋचाओं के उद्धरण के सिवाय और कुछ नहीं है' (पृ० ३), क्योंकि साम शब्द का प्रयोग केवल गीतों में ही होता है। ऋचाएँ जैसे सामवेद में मिलती हैं, उसी तरह से यजुःसंहिता और अथर्वसंहिता में भी मिलती हैं। इसी लिये ऋग्वेद की ऋचाएँ ही सर्वत्र उद्धृत हैं, यह कथन सर्वथा निराधार है, क्योंकि यजुःसंहिता आदि में उपलब्ध होने वाली अनेक ऋचाएँ ऋक्संहिता में नहीं मिलती। इसी लिये यह कथन भी ठीक नहीं है कि—'सामसंहिता और यजुःसंहिता में पायी जाने वाली ऋचाएँ अंशतः बहुत बदले हुए रूप में मिलती हैं' (पृ० ४), क्योंकि वेद की आनुपूर्वी का एक ही रूप रहता है, उसमें किसी तरह का परिवर्तन नहीं हो सकता। जो ऋचा जहाँ जिस रूप में है, वहाँ वह उसी रूप में नित्य मानी जाती है। प्रत्येक संहिता के अपने पाठ की रक्षा के लिये पद, क्रम, जटा, माला

दोषत्वमङ्गीकृतम्। 'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥' (पा० शि० ५१) इत्यभ्युपगमः।

यदुक्तम्—'पाठपरिवर्तनं त्रिधा व्याख्यातुं शक्यते—इमे सामादिसंहितापाठा ऋग्वेदपाठापेक्षया अत्यन्तप्राचीना मौलिकाश्च। याज्ञिकप्रयोगवशादेव ते परिवर्तनात् सुरक्षिताः। अन्या ऋचो यज्ञक्रियाभिः प्रत्यक्षसम्बन्धाभावात् तादृशावधानराहित्ये परिवर्तनमुपगताः। यद्वा यज्ञप्रयोगानुसारेणार्थसाङ्गत्याय सामादिगताः पाठा एव पश्चात् सम्पन्नाः। अथवा ऋग्वेदपाठैः समाना एव संहितान्तरपाठा अपि प्रदेशानां कुलानां च वैविध्यात् तत्रासङ्गतय उत्पन्नाः। यत्रैतेषां मन्त्राणां प्रयोगाः प्रचलन्ति स्म, तत्र प्रदेशेषु कुलेषु चैतेषामेव सर्वाधिकं प्रामाणिकत्वमासीत्। यत्र प्रदेशेषु कुलेषु वा पश्चात्तेषां प्रचारः सञ्जातस्तत्र तेषां तादृशं प्रामाणिकत्वं नासीत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शाखाभेदेनैव मन्त्राणां भेदस्य वैदिकैरभ्युपगतत्वात्। यथा पुरुषसूक्तस्य शाखाभेदेन सर्वेषां पाठानां सर्वत्र समानरूपेण प्रामाणिकत्वम्, तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञातव्यम्। यच्च 'सामसंहितान्तर्गतानां मन्त्राणामतिप्राचीनव्याकरणनिष्पन्नरूपत्वेनाधिकप्राचीनत्वं मौलिकत्वं च, यजुर्वेदादिसंहितासु तद्वैपरीत्येन परिवर्तितत्वमवगम्यते' इति, तदपि न सङ्गतम्, यजुःसामसंहितयोरपि प्राचीनव्याकरणैर्निष्पन्नरूपस्य बाहुल्येनोपलम्भात्। वस्तुतस्तु छन्दसि दृष्टानुविधित्वेन व्याकरणान्येव मन्त्राननुसरन्ति न मन्त्रा अनुव्याकरणानि, नित्यत्वश्रुतिविरोधात्।

बेवरमहाशयेन यदुक्तम्—'मौखिकसंक्रमणद्वारा जनसाधारणभाषासु सूक्तेषु गीतेषु च यत्परिवर्तनं तदधिकमहत्त्वपूर्णमित्यत्र नाधिक बलमुपस्थापयितुं शक्यम्। यतो लेखनद्वारा चैतेषां स्वरूपं सुरक्षितमासीदिति कल्प-

प्रभृति विकृतियाँ वैदिक परम्परा में प्रचलित हैं। इसी लिये वेद में एक मात्रा या स्वर का परिवर्तन कर देने पर भी उसको दोष माना गया है। पाणिनि शिक्षा में यह स्वीकार किया गया है कि—'मन्त्र यदि एक मात्रा और स्वर से भी च्युत हो जाता है तो इस गलत प्रयोग के कारण वह अपने वास्तविक अभिप्राय को नहीं सिद्ध कर पाता। इस तरह का गलत प्रयोग एक प्रकार से वाणी रूपी वज्र का स्वरूप धारण कर यजमान को ही नष्ट कर देता है, जैसा कि 'इन्द्रशत्रु' इस समस्त पद में स्वर के उच्चारण में गलती होने से इन्द्र ने ही वृत्र का वध कर दिया।'

'इन पाठ परिवर्तनों की व्याख्या तीन प्रकार से संभव हो सकती है। पहले, ये पाठ ऋग्वेद के पाठों की अपेक्षा अधिक प्राचीन और मौलिक होंगे और उनके याज्ञिक प्रयोग ने इन्हें परिवर्तन से सुरक्षित रखा, जब कि सीधे-सादे गीत का यज्ञ-क्रिया से प्रत्यक्ष संबन्ध न होने से उसकी सुरक्षा उतनी सावधानी से न हो सकी। या दूसरे, वे ऋग्वेद के पाठों के बाद के पाठ होंगे और मन्त्र की याज्ञिक प्रयोगानुसारी अर्थ से संगति बैठाने के लिए उत्पन्न हुए होंगे। अथवा अन्ततः वे ऋग्वेद के पाठों के समान ही प्रामाणिक होंगे और वे असंगतियाँ उन प्रदेशों और कुलों की विविधता के कारण उत्पन्न हुई होंगी, जिनमें इन मन्त्रों का प्रयोग होता था। वह पाठ का उस प्रदेश या कुल में सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता था, जिसमें उसका उद्भव होता था और उनमें कम प्रामाणिक होता था, जिनमें उसका प्रचार बाद में होता था' (पृ० ४) यह कथन भी निराधार है, क्योंकि वैदिक परम्परा में शाखा के भेद के अनुसार मन्त्रों में भी भिन्नता मानी जाती है। जैसे शाखा के भेद से विद्यमान पुरुष सूक्त के सभी पाठों को सर्वत्र समान रूप से प्रामाणिक माना जाता है, उसी तरह से इन पाठभेदों के विषय में भी मानना चाहिये। 'सामसंहिता में आने वाली ऋचाएँ अधिक पुराने व्याकरण रूपों के कारण सामान्यतः अधिक प्राचीनता और मौलिकता की छाप लिये हुए है, किन्तु इसके विपरीत, यजुर्वेद की दोनों संहिताएँ कालान्तर में परिवर्तित होने का भान कराती हैं' (पृ० ४) यह कथन भी सही नहीं है, यजुःसंहिता और सामसंहिता में भी प्राचीन व्याकरण से निष्पन्न रूपों को बहुलता देखने को मिलती है। वास्तव में व्याकरण का यह सामान्य नियम है कि वेद में जैसा देखा जाता है, उसी रूप को व्याकरण की भी मान्यता मिल जाती है। इस तरह से व्याकरण ही मन्त्रों का अनुसरण करते हैं, मन्त्र व्याकरण का अनुसरण नहीं करते। यदि मन्त्रों को व्याकरण के नियमों का अनुसरण करने वाले मान लिया जाय तो उनकी नित्यता को बनाने वाली श्रुतियाँ बाधित हो जायेंगी।

यितुमपि न शक्यम्, ब्राह्मणानामपि कालसम्बन्धे नैतद्वक्तुं शक्यते, अन्यथैतत्सम्बद्धासु रचनास्वपि ये भेदा विभिन्नशाखासु बृहतीभिः संख्याभिरुपलभ्यन्ते, तेषां कारणनिर्देशो विषम एव स्यात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विद्यमानानामेव विभिन्न(शाखीय)मन्त्राणामेव व्यासादिभिः शाखाभेदेन विभागकरणात्। यदुक्तम्—'यद्यपि ऋग्वेदीयगीतानां रचना सिन्धुनद्यास्तटे सञ्जाता, तथापि तेषामन्तिमरूपेण सङ्कलनं भारत एव सम्पन्नम्' इति, तदपि निर्मूलम्, निष्प्रमाणत्वात्, 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं ८।७५।६), 'पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः', 'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३।२९) इति विरोधात्। एतेन कस्मिन् काले तत्सङ्कलनं जातमिति निर्धारणं कठिनमेव। केचिदंशास्तु वर्णव्यवस्थायाः स्थापनादप्यर्वाचीना एवेत्यपि कल्पनामात्रम्, वर्णव्यवस्थाया अपि वेदसिद्धत्वेन वेदवदेवानादित्वात्।

यदपि—'शाकल्य-पञ्चाल-बाभ्रव्यादि-ऋग्वेदीयपरम्परया महत्त्वपूर्णभागस्य विदेहानां पञ्चालानां च समृद्धियुगसूचकत्वात् तात्कालिकत्वम्' इति, तदपि न समीचीनम्, तेषां नाम्नामाख्यायिकारूपेण सुखावबोधार्थत्वेन तैः कालविशेषसंवद्धानां जातीनां व्यक्तीनां च बोधासम्भवात्, 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (ब्र० सू० १।३।२८) इति ब्रह्मसूत्रादिसिद्धान्तानभिज्ञानमूलत्वाच्च। अत एव सामसंहितायाः पूर्णतया ऋग्वेदादुद्धृतत्वात् तस्या उद्भवकालसम्बन्धे नान्यत् किञ्चित् सूत्रं शिष्यते' इति, तदपि न, पूर्वमेव खण्डितत्वात्। यदपि च—ऋग्वेदस्य परवर्तिकालसम्बद्धानामृचामनुद्धरणादिदमेव विज्ञातुं शक्यते यदेतेषामंशानां तदानीं रचनैव नासीदिति, तदपि तुच्छम्, पूर्वोत्तरविरोधात्। पूर्वं तु ऋग्वेदसंहिता अन्याभ्यः पूर्वत एव सिद्धेत्युक्तम्, इदानीं तद्विपरीतं तस्या अंशान्तराणामर्वाचीनत्वकथनं कल्पनाया निरङ्कुशत्वमेवावेदयति। नह्यन्यग्रन्थेष्वनुद्धरणादेव कस्यचित्प्राचीनग्रन्थस्य शाखान्तराणाम-

बेवर महाशय ने कहा है—'मौखिक संक्रमण द्वारा जन साधारण की बोली में इन गीतों और सूक्तों में जो परिवर्तन हुए; उन्हें किसी स्थिति में अधिक महत्त्वपूर्ण समझना चाहिये, क्योंकि इस युग में लेखन द्वारा इनका रूप सुरक्षित रहा हो, ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वस्तुतः हम ब्राह्मणों के काल के लिये भी ऐसी बात नहीं मान सकते, अन्यथा इन रचनाओं से संबद्ध विभिन्न रचनाओं के भेदों का तथा सामान्यतः विभिन्न शाखाओं की बड़ी संख्या का कारण बताना कठिन हो जायगा' (पृ० ४), किन्तु यह कथन भी सही नहीं है, क्योंकि पहले से विद्यमान मन्त्रों को ही व्यास प्रभृति ऋषियों ने अलग-अलग शाखाओं में बाँट दिया था। इसी तरह से बेवर का यह कथन भी निराधार है कि—'यद्यपि ऋग्वेद के गीतों की या उनमें से अधिकांश की रचना सिन्धु नदी के तटों पर हुई थी, तथापि उनका अन्तिम रूप में संकलन एवं विन्यास भारत में ही संभव हो सका' (पृ० ४), क्योंकि उन्होंने इसमें कोई प्रमाण नहीं दिया है। फिर उनका यह कथन 'वाचा विरूपनित्यया' इत्यादि श्रुति और सूत्रों में प्रतिपादित वेद की नित्यता के सिद्धान्त के विपरीत भी पड़ता है। इसी तरह किस काल में इन मन्त्रों का संकलन किया गया, इसको निश्चित कर पाना कठिन है। 'ऋग्वेदसंहिता के कुछ अंश वर्णव्यवस्था की स्थापना के बाद के हैं' (पृ० ४) यह कथन भी कल्पना मात्र है, क्योंकि वर्णव्यवस्था भी वेद से सिद्ध है, अतः वह भी वेद की तरह ही अनादि है।

'स्वयं परम्परा भी शाकल्य तथा पंचाल बाभ्रव्य को ऋक्संहिता के विन्यास में महत्त्वपूर्ण भाग लेने का श्रेय देकर विदेहों और पंचालों की समृद्धि के युग को इंगित करती है' (पृ० ४) यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ उन नामों का उल्लेख कहानी के पात्रों की तरह किसी विषय को सरलता से समझाने के लिये कल्पित है, उनसे कालविशेष से संबद्ध जातियों अथवा व्यक्तियों का बोध नहीं होता। पाश्चात्य विद्वान् 'शब्द इति०' इत्यादि ब्रह्मसूत्र में प्रतिपादित इस सिद्धान्त को नहीं समझ पाते कि सारे जगत् की उत्पत्ति वैदिक शब्दों से ही हुई है, वेद में शाकल्य, बाभ्रव्य आदि नाम देखकर लोक में भी ये नाम प्रचलित हो गये हैं। इसी लिये 'सामवेदसंहिता पूर्णतः ऋग्वेद से उद्धृत होने के कारण अपने उद्भव काल के विषय में कोई सूत्र नहीं छोड़ती' (पृ० ४-५) यह कथन भी गलत है, इसका हम पहले ही खण्डन कर चुके हैं। 'इसमें ऋग्वेद के परवर्ती काल के अंशों से कोई उद्धरण नहीं है, हमें संभवतः यह संकेत मिलता है कि इस समय तक ऋग्वेद के इन अंशों की रचना नहीं हुई थी' यह कथन भी तुच्छ एवं परस्पर विरोधी है। पहले कहा गया है कि ऋग्वेदसंहिता अन्य सब संहिताओं से प्राचीन है, अब उसके विपरीत कहा जाता है कि उसके कुछ अंश नवीन हैं। इस तरह की बातें कल्पना को बेलगाम छोड़ देने से ही कही जा सकती हैं। किसी अन्य ग्रन्थ में उद्धृत न होने मात्र से किसी

पेक्षयाऽर्वाचीनत्वं सिद्धयति, तथात्वे वायवलादिग्रन्थस्य ग्रन्थान्तरेष्वनुद्धृतानामंशानामर्वाचीनत्वापत्तेः। गीताभागवतादावनुद्धृतानां महाभारतांशानामर्वाचीनत्वापत्तेश्च।

यदप्युक्तम्—'यजुर्वेदीयसंहितयोर्गद्यांशानां निर्माणं हिन्दुस्थानस्य पूर्वीयकुरुपञ्चालादिदेशेषु जातम्, इमे तस्मिन् युगे विरचिते यत्र ब्राह्मणीयतत्त्वैः प्राधान्यं प्राप्तमासीत्। यद्यपि तदानीमप्येतैर्विषमाः सङ्घर्षाः कर्तव्यतयाऽवशिष्टा आसन्, ब्राह्मणानां पौरोहित्याधिपत्यं वर्णव्यवस्था च कस्यांचिद्दशायां पूर्णतः संस्थापिता आसीत्, नैतावदेव, किन्तु शुक्लयजुर्वेदसंहिताया वर्तमानरूपेण संग्रहकालस्तु ईसवीपूर्वतृतीयशताब्दीमारभ्य प्रवर्तत इत्यत्र बाह्यप्रमाणमुपलभ्यते। यतो मेगस्थनीजो माडि-आण्डिनोईनामकानां जनानामुल्लेखं करोति। इदं च नाम माध्यन्दिनसंहितायामुपलभ्यते' इति, तदप्यसङ्गतम्, तादृशानां जनानां माध्यन्दिनसंहितायां कुत्राप्यनुपलब्धेः।

यदपि—'ब्राह्मणधर्मप्राधान्यप्राप्त्यनन्तरमथर्वसंहिताया उद्भवः। अन्यदृष्टिकोणेनेयं संहिता ऋग्वेदसंहितया तुलनामर्हति। ब्राह्मणयुगीयगीतानां भाण्डागाररूपेयं संहिता। एतेषु गीतेषु सूक्तेषु चानेके ऋक्संहितायाः सर्वतोऽप्यर्वाचीनांशा दशमे मण्डल उपलभ्यन्ते। ऋग्वेदे चेमानि सूक्तानि तत्सङ्कलनानन्तरं योजितानि। तथापि ऋग्वेदे सजीवा प्राकृतिकभावना तथा प्रकृतिं प्रति प्रोद्दामप्रेमा दृश्यते। अथर्ववेदे तु तद्वैपरीत्येन आभिचारिकशक्तीनां चिम्ताकुलित आतङ्को दृश्यते। ऋग्वेदे जनता स्वच्छन्दा क्रियायां स्वतन्त्राऽवस्थायामुपलभ्यते। अथर्ववेदे जनता पौरोहित्यप्रभुतायामन्धविश्वासैर्निगडिता दृश्यते। अथर्वसंहितायामतिप्राचीनकालिका अप्यंशाः सन्ति, येषां सम्बन्धः सामान्यजनैः समाजस्य निम्नवर्गैश्चासीत्। ऋग्वेदस्य सूक्तानि तूच्चवर्गीयपरिवाराणां विशिष्टसम्पत्तयः प्रतीयन्ते' (पृ० ५) इति, तदेतत्सर्वं दुरभिसन्धिमूलककल्पनामात्रम्, सम्पूर्णस्यैव वेदस्य नित्यत्वेन कैश्चिद् व्यक्ति-

प्राचीन ग्रन्थ के अंशों को उसकी अन्य शाखाओं की अपेक्षा अर्वाचीन मान लेना सही नहीं हो सकता। ऐसा मान लेने पर बाइबिल के अंश अन्य ग्रन्थों में उद्धृत नहीं हैं, उनको नवीन मान लेना पड़ेगा। भगवद्गीता, भागवत आदि में अनुद्धृत महाभारत के अंश नवीन मानने पड़ेंगे।

'यजुर्वेद की दो संहिताओं के गद्यांशों का निर्माण हिन्दुस्तान के पूर्वीय भागों में कुरुपंचालों के देश में हुआ और वे उस युग की रचनाएँ हैं, जब ब्राह्मणीय तत्त्व प्राधान्य प्राप्त कर चुका था, यद्यपि इसे अनेक कठिन संघर्ष अभी करने थे और जब ब्राह्मणों का पौरोहित्य पद पर आधिपत्य तथा वर्णव्यवस्था किसी भी दशा में पूर्णतः स्थापित हो चुकी थी। यही नहीं, हमें इस बात को मानने का भी बाह्य प्रमाण मिलता है कि शुक्लयजुर्वेद संहिता के विद्यमान संग्रह का काल तीसरी शताब्दी ई० पू० से आरंभ होता है। कारण मेगस्थनीज 'माडिआण्डिनोई' नाम के लोगों का उल्लेख करता है और यह नाम 'माध्यन्दिन' में मिलता है, जो शुक्ल यजुस् की प्रमुख शाखा है' (पृ० ५) यह कथन भी सर्वथा असंगत है।

'अथर्वसंहिता का उद्भव उसी समय से प्रारंभ होता है, जब ब्राह्मण धर्म प्रधानता प्राप्त कर चुका था। अन्य दृष्टिकोणों से यह ऋक्संहिता से बिलकुल मिलती-जुलती है और ब्राह्मणीय युग के गीतों का भाण्डार है। इन गीतों या सूक्तों में से अनेक ऋक्संहिता के सबसे अर्वाचीन अंश अर्थात् दशम मंडल में उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में ये सूक्त उसके संकलन के समय सबसे बाद में जोड़े गये थे, अथर्ववेद में ये सूक्त स्वाभाविक रूप में तत्कालीन रचना है। निःसन्देह, दोनों संकलनों का मूल तत्त्व परस्पर नितान्त भिन्न है। ऋग्वेद में एक सजीव प्राकृतिक भावना है, प्रकृति के प्रति उत्कट प्रेम है; जब कि अथर्ववेद में इसके विपरीत उसके भयंकर रूपों और आभिचारिक शक्तियों का चिन्ताकुल आतंक फैला है। ऋग्वेद में हम जनता को स्वच्छन्द क्रिया और स्वतन्त्रता की अवस्था में पाते हैं, अथर्ववेद में हम उसे पौरोहित्य-प्रभुता और अन्वविश्वासों की बेड़ियों में जकड़ी हुई देखते हैं। किन्तु अथर्वसंहिता में भी बहुत प्राचीन काल के भी अंश हैं, जिनका संबन्ध सामान्य जनता से या समाज के निम्न वर्ग से रहा होगा, जब कि ऋग्वेद के सूक्त उच्च वर्ग के परिवारों की विशिष्ट संपत्ति प्रतीत होते हैं' (पृ० ५)। यह सारा कथन पाश्चात्यों की भारतीयों के प्रति योजनाबद्ध दुरभि-

जाति-पर्वतारण्य-नदी-समुद्रप्रान्तादिनामभिस्तेषामर्वाचीनत्वस्य साधयितुमशक्यत्वात् । ऋग्वेदीयदशममण्डलस्यार्वाचीनत्वकथनं प्रतिज्ञामात्रमकिञ्चित्करं च, प्रमाणानुपन्यासात् । विषयभेदाच्च वर्णनभेदो नार्वाचीनत्वं प्राचीनत्वं वा साधयितुमलम्, संसारे सर्वदैव सात्त्विक-राजस-तामसप्राणिनामाविर्भावो भवति । तेषां तेषां प्राणिनां हिताय वेदेषूपदेशभेदाः स्वाभाविका एव । अथर्ववेदोक्त-शान्तिक-पौष्टिक-आभिचारिकविधानानां प्रत्यक्षफलदत्वेनान्धविश्वासमूलकत्वकथनमपि निर्मूलमेव ।

यत्तु 'दीर्घकालीनसंघर्षानन्तरमेवाथर्वसूक्तानां चतुर्थवेदत्वपदप्राप्तिः, ऋग्वेदादिसम्बन्धिब्राह्मणग्रन्थेष्वथर्वसूक्तानामनुल्लेखात् । परवर्तिनामथर्वसूक्तानां ब्राह्मणैः सार्धमेवोत्पन्नत्वात्' इति, तदपि निर्मूलम्, वैदिकेषु यज्ञेष्वनादिकालादेवाथर्वणिकस्य ब्रह्माख्यस्यर्त्विजः प्रसिद्धत्वात् । ऋग्वेद एव—'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु । ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥' (ऋ०सं० १०।७१।११) अत्र मन्त्रे एको होतृनामक ऋत्विग् यज्ञकाले स्वकीयवेदगतानामृचां पुष्टिं कुर्वन्नास्ते । उद्गातृनामक एक ऋत्विग् गायत्रशब्दाभिधेयं स्तोत्रं शक्वरीशब्दाभिधेयासु ऋक्षु गायति । ब्रह्मनामक एक ऋत्विग् जाते जाते तदा तदोत्पन्ने यज्ञे प्रस्तुते प्रणयनादिकर्मणि विद्यामनुज्ञां वदति । ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामीति संबोधितः सन् ओम् प्रणय इत्यनुज्ञां ददाति । अध्वर्युनामक एक ऋत्विग् यज्ञस्य मात्रां स्वरूपं विमिमीते ।

जयन्तभट्टानुसारमथर्ववेदस्य प्रामाण्यम्

केचित् त्रय्याम्नातधर्मोपयोगानुपलब्धेस्त्रयीबाह्यत्वेनाथर्ववेदस्य न तत्समानयोगक्षेमत्वम् । लोके चतस्र इमा विद्याः प्राणिनामनुग्रहाय प्रवृत्ताः । आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति प्रसिद्धिः । श्रुतिस्मृती अपि तथैव दर्श्येते ।

सन्धि का अंग है, क्योंकि सभी वेद नित्य हैं, कुछ व्यक्ति, जाति, पर्वत, वन, नदी, समुद्र; प्रान्त आदि के नामों को देखकर उनकी अर्वाचीनता नहीं सिद्ध की जा सकती । ऋग्वेद के दशम मंडल को अर्वाचीन बताना केवल प्रतिज्ञा मात्र है, इससे वह नवीन सिद्ध नहीं हो सकता, जब तक कि उसके लिये कोई प्रमाण उपस्थित न किया जाय । विषय के भेद से वर्णन में भी भेद हो ही जाता है । इससे नवीनता और प्राचीनता का कोई संबन्ध नहीं है । संसार में सदा से सात्त्विक, राजस और तामस प्रकृति के जीवों की उत्पत्ति होती रही है । उन उन प्राणियों के हित के लिये वेदों में सभी तरह के उपदेश विद्यमान हों, यह स्वाभाविक बात है । अथर्ववेद में प्रतिपादित शान्तिक, पौष्टिक और आभिचारिक प्रयोगों का फल प्रत्यक्ष मिलता है, अतः इनको अन्धविश्वास मानना सर्वथा असंगत है ।

'अथर्ववेद के सूक्तों को दीर्घकालीन संघर्ष के बाद ही चौथे वेद के रूप में स्थान मिल सका । ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद के ब्राह्मणों के अधिक प्राचीन अंशों में अथर्ववेद के सूक्तों का कोई उल्लेख नहीं है । वस्तुतः उन सूक्तों की उत्पत्ति इन ब्राह्मणों के साथ-साथ ही हुई' (पृ० ५-६) । यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि वैदिक यज्ञों में अनादि काल से अथर्ववेद के जानकार ब्रह्मा नाम के ऋत्विग् की अनिवार्य उपस्थिति मानी गई है । ऋग्वेद में ही 'ऋचां त्वः' इत्यादि मन्त्र में बताया गया है कि एक होता नाम का ऋत्विक् (ऋग्वेदी) यज्ञ के समय अपने वेद की ऋचाओं की पुष्टि करता है । उद्गाता नाम का ऋत्विक् (सामवेदी) गायत्र शब्द से अभिहित होने वाले स्तोत्र का शक्वरी नाम की ऋचाओं में गान करता है । ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् (अथर्ववेदी) यज्ञ की विधि प्रारंभ होने पर प्रणयन आदि प्रत्येक कर्म के संपादन की अनुमति देता है, 'हे ब्रह्मन्, अब मैं जल का प्रणयन करूंगा' इस तरह पूछने पर 'हाँ प्रणयन करो' इस तरह से अनुमति देता है । अध्वर्यु नाम का ऋत्विक् (यजुर्वेदी) यज्ञ के स्वरूप का निर्धारण करता है ।

जयन्तभट्ट के अनुसार अथर्ववेद का प्रामाण्य

कुछ लोगों का कहना है कि 'वेदत्रयी में प्रतिपादित धर्मों का उपयोग अथर्ववेद में नहीं मिलता है, अतः वेदत्रयी (ऋक्, यजुः, साम) से बाहर होने से अथर्ववेद को, वेदत्रयी के समान प्रमाण नहीं माना जा सकता । लोक में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता

'ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्येऽह्नः । सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः ॥' 'प्रजापतिरकामयत । स तपोऽतप्यत । तपस्तप्त्वेमांस्त्रींल्लोकानसृजत, पृथिवीमन्तरिक्षं दिवमिति । तांल्लोकानभ्यतपत् । तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्त ।····अग्निरेव पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् दिव आदित्यः । तानि ज्योतींष्यभ्यतपत् । तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त । अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात् सामवेद इति । सैवा विद्यात्रयी तपति' इति । मानवी स्मृतिरपि प्रतिवेदं द्वादशवार्षिकं ब्रह्मचर्योपदेशिनो दृश्यते—'षट्त्रिंशद्वार्षिकं ब्रह्मचर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।' (२।१४५), श्राद्धप्रकरणे 'यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम् । शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं वा समाप्तिगम् ॥' इति त्रिवेदवादगाने श्राद्धभुजो ब्राह्मणान् दर्शयति नाथर्वणिकमिति ।

तदेतदप्यसङ्गतमेव, जैमिनिरीत्या 'तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' (मी० सू०) इति वेदप्रामाण्याभ्युपगमहेतोस्तत्रापि तुल्यत्वात् । तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमिति च गोतमकणादाभ्यामात्मप्रामाण्यहेतोरपि चतुर्षु वेदेषु समानत्वात् । पूर्वमीमांसारीत्या तथा त्रय्यनादिमती तथैवाथर्वणश्रुतिरपि, कर्तृस्मरणाभावात् । गोतमकणादमतेऽपि चतुर्णामप्याप्तप्रणीतत्वाविशेषात् चतुर्णामपि समानमेव प्रामाण्यम् । अत एव चतुर्भिर्वेदैश्चतुर्णां वर्णाश्रमाणां चतसृषु दिक्षु चतुरब्धिमेखलायामवनौ वैदिको व्यवहारः प्रचलति । श्रुतिस्मृतिमूलश्चायं भारतीयानां व्यवहारः । श्रुतिस्मृती चतुरो वेदान् समकक्षानेवाभिवदतः । तद्यथा शतपथे तृतीयेऽहनीत्युपक्रमस्याश्वमेधे पारिप्लवाख्याने सोऽयमाथर्वणो वेदः श्रूयते । छान्दोग्योपनिषदि ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इति ।

और दण्डनीति ये चार विद्याएं ही प्राणियों के कल्याण के लिये प्रवृत्त मानी गई हैं । श्रुति और स्मृति से भी यही बात सिद्ध होती है । जैसे कि—'सूर्य देवता प्रातःकाल आकाश में ऋग्वेद के साथ चलता है, मध्याह्न में यजुर्वेद के साथ रहता है और अस्ताचल को जाते समय सामवेद के साथ शोभा पाता है । इस तरह यह सूर्य भगवान् सदा किसी न किसी वेद के साथ ही रहते हैं', 'प्रजापति ने कामना की । उस कामना की पूर्ति के लिये उसने तप किया । तप करके उसने पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्गलोक इन तीन लोकों की सृष्टि की । बाद में प्रजापत्ति ने इन तीनों लोकों को तपाया । तपाने से तीन ज्योतियाँ उत्पन्न हुईं । पृथिवी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु और स्वर्ग से आदित्य । प्रजापति ने बाद में इन तीनों ज्योतियों को भी तपाया, तब उनसे तीन वेद निकले । अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद । इस तरह से यह त्रयी विद्या सर्वत्र प्रकाशित होती है । मनुस्मृति में प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिये बारह-बारह वर्ष के ब्रह्मचर्य का विधान बताया गया है—'तीनों वेदों के अध्ययन के लिये गुरु के समीप ३६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिये' । श्राद्ध के प्रकरण में—'श्राद्ध में ऋग्वेद के पारंगत को अथवा अपनी शाखा का ठीक से अध्ययन किये हुए अध्वर्यु को अथवा सम्पूर्ण सामवेद का अध्ययन किये हुए सामवेदी को प्रयत्न पूर्वक भोजन करावे' इस तरह से तीन वेदों के विद्वान् ब्राह्मणों को ही श्राद्ध में भोजन कराने का विधान है । यहाँ अथर्ववेदी ब्राह्मण का उल्लेख नहीं मिलता और यही स्थिति ऊपर उद्धृत श्रुति और स्मृति के वचनों में भी मिलती है' ।

किन्तु यह पूरा प्रतिपादन असङ्गत है, क्योंकि आचार्य जैमिनि के मत से वेदों के प्रामाण्य के लिये निर्धारित 'निरपेक्षत्व' हेतु वेदत्रयी के समान अथर्ववेद में भी विद्यमान है, अर्थात् अथर्ववेद को भी अपने प्रामाण्य के लिये किसी दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं है । 'ईश्वर का वचन होने से सब वेद प्रमाण हैं', 'मन्त्र और आयुर्वेद शास्त्र के समान वेदशास्त्र भी प्रामाणिक है' इन गोतम और कणाद के वचनों के अनुसार भी चारों वेदों की स्वयंप्रमाणता सिद्ध होती है । पूर्वमीमांसा की दृष्टि से जैसे वेदत्रयी अनादि है, उसी तरह से अथर्ववेद भी अनादि है, क्योंकि इन सभी के कर्ता की स्मृति किसी को नहीं है । गोतम और कणाद के मत से भी चारों वेद आप्त-प्रणीत हैं, अतः इन सबका समान रूप से प्रामाण्य माना जाता है । इसी तरह से यह व्यवहार भी सर्वत्र प्रचलित है कि चार वेदों से चार वर्णों, आश्रमों का विधान चारों दिशाओं में चारों समुद्रों की सीमा पर्यन्त विस्तृत पृथ्वी पर फैला हुआ है । भारतीयों का यह व्यवहार श्रुति और स्मृति के प्रमाण पर आधारित है । श्रुति और स्मृति में चारों वेदों का एक सा प्रामाण्य प्रतिपादित है । जैसे कि शतपथ ब्राह्मण में अश्वमेध यज्ञ के प्रसङ्ग में तीसरे दिन के पारिप्लव आख्यान के प्रसङ्ग में अथर्ववेद का स्मरण किया गया है । छान्दोग्य उपनिषद् में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के साथ चतुर्थ अथर्ववेद का भी उल्लेख है ।

नन्वितिहासपुराणानि पञ्चम इत्यत्र यथाऽवेदेनापीतिहासपुराणेन पञ्चसंख्यापूर्तिस्तथैवात्रापि किं न स्यादिति चेन्न, 'ऋचो वै ब्रह्मणः प्राणाः' इत्युपक्रम्य 'आथर्वणो वै ब्रह्मणः समानः, तथा येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता वास्योदीच्यो मधुनाड्यो अथर्वाङ्गिरस एव मधुकृतः' इति छान्दोग्ये, 'तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' इति प्रस्तुत्य 'तस्य यजुरेव शिरः, ऋग्दक्षिणः पक्षः, सामोत्तरः पक्षः, आदेश आत्मा, अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा' इति तैत्तिरीये, 'ऋचां प्राची महती दिगुच्यते दक्षिणामाहुर्यजुषां साम्नामुत्तरामथर्वणाङ्गिरसां प्रतीची महती दिगुच्यते' इत्यथर्ववेदस्यर्ग्वेदादेः समकक्षतावर्णनविरोधात् । शतपथे यज्ञविधिक्रमे—'मध्यमे पय आहुतयो वा एता देवानां यदृचः' इत्युपक्रम्य 'मेदआहुतयो वा एता देवानां यदथर्वाङ्गिरसः । स्म य एवं विद्वान् अथर्वाङ्गिरसोऽहरहः स्वाध्यायमधीते मेदआहुतिभिरेव देवान् स तर्पयति । त एनं तृप्तास्तर्पयन्ति' इति । मन्त्रा अपि तदर्थप्रकाशनपरा अनुश्रूयन्ते—'त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत' इत्यादयः । न चैषामथर्वा नाम कश्चिदृषिरित्येवंपरं व्याख्यानं युक्तम्, अन्यत्राप्यसमाश्वासप्रसङ्गात् । 'श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यात्' इति मनुरपि । 'पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥' इति याज्ञवल्क्योऽपि चतुरो वेदानावेदयते, अन्यथा चतुर्दशसंख्यापूर्त्यसम्भवः । स्मृत्यन्तरे च—'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः । पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥' शातातपोऽपि—'ऋक्सामयजुरङ्गानामथर्वाङ्गिरसामपि । अणोरप्यस्य विज्ञानाद्योऽनूचानः स नो महान् ॥', 'चत्वारश्चतुर्णां वेदानां पारगा धर्मज्ञाः परिषदुच्यते', 'ऋग्यजुःसामाथर्वविदः षडङ्गविद्धर्मविद् वाक्यविन्नैयायिको नैष्ठिको ब्रह्मचारी पञ्चाग्निरिति दशावरा परिषत्' इत्यूचतुः शङ्खलिखितौ । महाभाष्यकारः पतञ्जलिरथर्ववेदमेव प्रथममुदाजहार—'शन्नो देवीरभिष्टय' इति । पस्पशायां च—'चत्वारो वेदाः' इति, 'नवधाथर्वणो वेदः' इति च । मीमांसाभाष्यकारः शवरस्वाम्यपि वेदाधिकरणे काठकं कालापकमिति यजुर्वेदादिवदथर्ववेदेऽपि पैप्पलादकमुदाजहार ।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि 'इतिहासपुराणानि पञ्चमः, इस स्थल में इतिहास-पुराण के वेद न होने पर भी जैसे चार वेदों के बाद इतिहास-पुराण को पाचवां वेद मानते हैं, उसी तरह से उक्त छान्दोग्य श्रुति में अथर्ववेद को वेद की मान्यता न होने पर भी उसके लिये चौथी संख्या का विधान हो सकता है, किन्तु इसका उत्तर यह है कि 'ऋचो वै ब्रह्मणः प्राणाः' यहाँ से प्रारम्भ करके छान्दोग्य श्रुति में अथर्ववेद को ब्रह्म के समान बताया गया है। इसी तरह से तैत्तिरीय श्रुति में मनोमय आत्मा की प्रतिष्ठा के रूप में अथर्ववेद को मान्यता मिली है। इसी तरह से 'ऋचां प्राची' इत्यादि श्रुति में अथर्ववेद की ऋग्वेद आदि से समानता वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ की विधि का उपक्रम करते हुए 'मध्यमे पय आहु०' इत्यादि वचन भी अन्य वेदों के समान अथर्ववेद को भी वेद के रूप में ही मान्यता देते हैं। 'त्वामग्ने' इत्यादि मन्त्र भी इसी बात का प्रतिपादन करते हैं। इस मन्त्र में स्थित अथर्वा पद अथर्ववेद का वाचक न होकर 'अथर्वा' नामक ऋषि का बोधक है, यह कथन ठीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर तो वेदों में सर्वत्र अविश्वास हो जायगा कि इनमें कालान्तःपाती ऋषि-मुनियों के नाम हैं, तब इनको नित्य कैसे माना जा सकता है? मनु ने स्पष्ट ही अथर्वांगिरस को श्रुति माना है। याज्ञवल्क्य ने भी पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र के साथ १४ विद्याओं में चारों वेदों की गणना की है, अन्यथा चौदह संख्या पूरी नहीं हो सकती। एक दूसरी स्मृति में यह स्पष्ट बताया है—'छः अङ्ग, चार वेद, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र ये चौदह विद्याएं हैं'। शातातप स्मृति में कहा गया है—'ऋक्, साम, यजु और अथर्वाङ्गिरस इन चार वेदों और इनके अङ्गों को थोड़ा-बहुत भी पढ़कर जिसने इनका ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसको हम महान् अध्ययनशील ब्राह्मण मानते हैं। चार वेदों के पारङ्गत चार ब्राह्मणों की 'परिषत्' होती है, ऐसा धर्मशास्त्रकार मानते हैं। शंख और लिखित नाम के धर्मशास्त्र के आचार्यों ने बताया है कि 'ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद के जानकार एक-एक ब्राह्मण, षडङ्ग का जानकार एक ब्राह्मण, इसी तरह से धर्मशास्त्र, मीमांसाशास्त्र और न्यायशास्त्र के वेत्ता एक-एक ब्राह्मण, तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी और पंचाग्नि तापने वाला तपस्वी ये सब मिलकर दस व्यक्तियों की परिषत् बनती हैं'। महाभाष्यकार पतंजलि ने सबसे पहले 'शन्नो देवी' इस अथर्ववेद के मन्त्र को ही उद्धृत किया है। वहीं पस्पशाह्निक में चार वेदों और अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख मिलता है।

सर्वशाखाधिकरणेऽपि वेदान्तरशाखान्तरवन्मौदकपैप्पलादकाख्ये अथर्ववेदशाखे उदाहृत्य विचारितवान्। तस्मादृगादिवद् अथर्ववेदेऽपि न श्रुतिस्मृतिपुराणादिव्यवहारविदां विप्रतिपत्तिः।

यच्चोक्तम्—'अथर्ववेदस्य प्रामाण्ये विप्रतिपत्त्यभावेऽपि त्रयोवाह्यत्वमेवाथर्ववेदस्योच्यते' इति, तदपि तुच्छम्, तथात्वे त्रय्यप्यथर्ववाह्येत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्। नैतावदेव, किन्तु त्रय्यामपि परस्परवाह्यत्वमस्त्येव। यजूंषि ऋक्सामवाह्यानि। यजुःसामवाह्या ऋचः। ऋग्यजुर्वाह्यानि सामानीति। सर्वभावानामितरेतरसाङ्कर्यराहित्येन परस्परमसाङ्कर्यस्यादोषत्वात्। यदप्युक्तम्—'यत्कर्मत्रयी नोपदिशति तत्सम्वद्धमिति तस्य त्रयीवाह्यत्वम्' इति, तदपि तुच्छम्, इष्टिपश्वेकाहाहीनसत्रादिकर्मणां तत्रोपदेशदर्शनात्। सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मेति न्यायात्। सोमयागादीनामपि हौत्रमृग्वेदेन क्रियते, आध्वर्यवं यजुर्वेदेन, औद्गात्रं सामवेदेन; तथैव ब्रह्मत्वस्याथर्ववेदेन करणात्। गोपथब्राह्मणे च—'प्रजापतिः सोमेन यक्ष्यमाणो वेदानुवाच—कं वो होतारं वृणोयम्' इति प्रक्रम्य 'तस्मादृग्विदमेव होतारं वृणीष्व, स हि हौत्रं वेद। यजुर्वेदमेवाध्वयुं वृणीष्व, स हि आध्वर्यवं वेद। सामवेदमेवोद्गातारं वृणीष्व, स हि औद्गात्रं वेद। अथर्वाङ्गिरोविदमेव ब्रह्माणमिति। तथा यज्ञे य इमं च विशिष्टं च यातयामं करोति तदथर्वाणं तेजसाप्याययति। अथानन्ते भृग्वङ्गिरोभ्यः सोमः पातव्यः' इति।

नन्वेताः श्रुतीरथर्वाण एवाधीयते। ते तु यदृचा हौत्रं क्रियते यजुषाध्वर्यवं साम्ना औद्गात्रम्। अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति त्रय्या विद्ययेति ब्रूयादिति। तथा च यदृचैव हौत्रमकुर्वंत यजुषाध्वर्यवं साम्नौद्गात्रं यदेव त्रय्यै

मीमांसा भाष्यकार शबरस्वामी ने वेदाधिकरण में यजुर्वेद की काठक, कालापक शाखाओं के साथ अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा का भी उदाहरण देकर उस पर विचार किया है। इस तरह से ऋग्वेद आदि की तरह अथर्ववेद के भी वेद होने में श्रुति स्मृति, इतिहास-पुराण के जानकर विद्वानों में कोई मतभेद नहीं है।

न्यायमंजरी में पुनः आक्षेप उठाया जाता है कि अथर्ववेद की प्रामाणिकता में कोई संदेह या मतभेद न रहने पर भी हमारा यह कहना है कि अथर्ववेद को वेदत्रयी में स्थान नहीं दिया गया है। वहीं इसका समाधान भी दिया गया है कि ऐसा मानने पर तो हम उलट कर यह भी कह सकते हैं कि त्रयी अथर्ववेद की दृष्टि से बाह्य अर्थात् अप्रामाणिक है। इतना ही नहीं, तब तो त्रयी में भी परस्पर एक दूसरे की अप्रामाणिकता माननी पड़ेगी कि यजुर्वेद ऋक् और साम की दृष्टि से वाह्य है, ऋग्वेद यजुः और साम से बाह्य है और सामवेद ऋक् और यजुः से बाह्य, अर्थात् त्रयी में से प्रत्येक अन्य दो की दृष्टि से अप्रामाणिक है। वास्तव में बात यह है कि सभी पदार्थों का परस्पर सांकर्य न हो जाय, इसके लिये उनके विशेष लक्षण किये जाते हैं, इन लक्षणों की यदि एक दूसरे में प्रवृत्ति नहीं होती तो यह भी उनके लिये शोभा की बात है, यह कोई दूषण नहीं माना जा सकता। इस प्रकार त्रयी का लक्षण अथर्ववेद में नहीं जाता तो इसमें दोष की क्या बात है? इस पर पूर्वपक्षो कहता है कि त्रयीवाह्य शब्द का जो अर्थ आप करते हैं, वह हम को अभिप्रेत नहीं है। हमारा तो कहना यह है कि त्रयी जिन कर्मों का विधान करती है, उनसे भिन्न कर्मों का विधान अथर्ववेद में है, अतः हम अथर्ववेद को त्रयीवाह्य मानते हैं, किन्तु यह कथन भी कुछ सारवान् नहीं है, क्योंकि इष्टि, पशुयाग, सत्र आदि कर्मों का विधान त्रयी के समान अथर्ववेद में भी है, मीमांसा में सर्वशाखाप्रत्यय न्याय का प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् अलग-अलग शाखाओं में प्रतिपादित कर्म अलग-अलग न होकर एक ही माने जाते हैं। सोम आदि यागों में भी यही देखा गया है कि उसमें होता का कार्य ऋग्वेद से, अध्वर्यु का कार्य यजुर्वेद से, उद्गाता का कार्य सामवेद से और ब्रह्मा का कार्य अथर्ववेद की सहायता से किया जाता है। गोपथ ब्राह्मण में बताया गया है—'प्रजापति ने जब सोमयाग करने की इच्छा की, तो उसने वेदों से पूछा कि होता के रूप में किसका वरण करूँ' इस तरह से विषय का उपक्रम करते हुए वहाँ बताया गया है कि ऋग्वेदज्ञ को होता, यजुर्वेदज्ञ को अध्वर्यु और सामवेदज्ञ को उद्गाता तथा अथर्ववेदज्ञ को ब्रह्मा के रूप में वरण करना चाहिये। अथर्ववेदज्ञ ब्रह्मा ही यज्ञ में आये विघ्नों को दूर करता है और कर्म को तेजस्वी बनाता है। इसलिये अथर्ववेदज्ञ ब्राह्मण को सोमपान करना चाहिये।

पुनः प्रश्न उठता है कि इस तरह की श्रुतियां अथर्ववेद में ही मिलती है, अन्य तीन वेदों में नहीं। त्रयो में तो 'यदृचा हौत्रं' इत्यादि वचनों में ऋग्वेद में हौत्र कर्म, यजुर्वेद से आध्वर्यव कर्म का और सामवेद से उद्गाता के कर्मों का विधान बताकर

विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्वमिति चेन्न, प्रोक्तवाक्यानामप्यथर्वाङ्गिरोविदेव ब्रह्मेत्यत्रैव तात्पर्यात् । यतो न त्रयी नाम किञ्चिद्वस्त्वन्तरम्, किन्तु त्रयाणां वेदानां समाहार एव त्रयी । समाहारश्च समाह्रियमाणनिष्ठो भवति । समाह्रियमाणाश्च ऋग्वेदादय एव । ते च होत्रादिपरत्वेन चरितार्थाः । एकैकशश्चरितार्थानां समुदायोऽपि चरितार्थं एव । किन्त्वथर्ववेद एव त्र्यात्मकत्वात् त्रयी प्रोच्यते, तत्र ऋचां साम्नां यजुषां च सत्त्वात् । तेन ब्रह्मत्वं क्रियमाणं त्रय्या कृतं स्यात् ।

ननु यस्त्रीन् वेदानधीते तेन चेद् ब्रह्मत्वं क्रियते तत्किं त्रय्या न कृतं स्यादिति चेन्न, भावानवबोधात् । तथाहि—यथा एकस्मै कामायान्ये क्रतवोऽनुष्ठीयन्ते सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासाविति श्रुतावपि योगसिद्धचधिकरण (मी० सू० ४।३।२५-२८) न्यायेनान्यतममेव बुद्धावादाय विदध्यान्न समुदायं बुद्धावारोपयितुं शक्नोति, तथैव प्रकृतेऽपि । तथा चेत्येकेन कृतं भवति न त्रय्या कृतं स्यात् ।

नन्वन्ये वेदास्त्र्यात्मकाः सन्ति । यद्येवं तर्हि सुतरामथर्ववेदोऽपि न पृथक्करणीयः, सर्वेषां रूपाविशेषात् । तथापि तेषां पृथक्प्रतिष्ठैः स्वैः स्वैर्ऋगादिभिरेव व्यपदेश इति न ते समुदायपदव्यपदेश्याः । यत्तु वाक्यान्तरे त्रय्यै विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्वमिति तत्रेयं चतुर्थी षष्ठीस्थाने प्रयुक्ता । शुक्रमिति सारमाचक्षते । तेन त्रयीविद्यायाः सारेण ब्रह्मत्वं क्रियत इत्युक्तं भवति । न च त्रय्येव त्रय्याः शुक्रं सम्भवति । न च ततोऽर्थान्तरं सम्भवति । तेनाथर्ववेदात्मकमेव त्रय्याः शुक्रम् । शुक्रमिति गुह्यमाह । अत एव ब्रह्मवेदोऽथर्ववेद इति पूर्वोत्तरब्राह्मणे पठ्यते—'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो

पूछा गया है कि ब्रह्मा के कर्म का विधान कैसे होता है ? और उसका उत्तर दिया है कि त्रयी विद्या से ही । इस तरह से ऋग्वेद से जो होता के कर्म सम्पन्न हुए, यजुर्वेद से अध्वर्यु के और सामवेद की सहायता से जो उद्गाता के कर्म संपन्न हुए, यही त्रयी विद्या का सार है और इसी से यज्ञ में ब्रह्मा के कार्य भी संपन्न हो जाते हैं । यहाँ अथर्ववेद की कोई चर्चा नहीं है, किन्तु इसका समाधान इस तरह से किया जा सकता है कि उक्त वाक्यों का तात्पर्य इसी में है कि अथर्वांगिरस वेद का जानकार ही ब्रह्मा होता है, क्योंकि त्रयी कोई वेद से भिन्न वस्तु नहीं है, किन्तु तीन वेदों के समुदाय को त्रयी कहते हैं । समाहार की स्थिति उसमें रहती है, जिनको एक समुदाय में रखना हो । एक समुदाय में हमको ऋग्वेद आदि तीन वेदों को रखना है । इनकी अलग-अलग चरितार्थता होता आदि के कर्मों का प्रतिपादन करने से हो जाती है । जब ये एक-एक कर चरितार्थ हो गये तो समुदाय रूप में भी इनकी चरितार्थता मान ली जायगी । इसके विपरीत अथर्ववेद तो अकेला ही त्रयी कहलाता है, क्योंकि इसमें ऋक्, यजुः और साम तीनों की स्थिति है । इस तरह से उक्त वाक्य का यह तात्पर्य ठीक ही माना जायगा कि अथर्ववेद के रूप में विद्यमान त्रयी से ब्रह्मा के कर्म संपादित होते हैं ।

यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि जो तीन वेदों को पढ़कर ही ब्रह्मा का कार्य करता है, तो क्या यह त्रयी के द्वारा संपादित नहीं माना जायगा ? इसका उत्तर यह है कि आपने हमारे कथन का अभिप्राय ही ठीक से नहीं समझा । हमारे कथन का अभिप्राय तो यह है कि 'जैसे किसी एक-एक कामना की सिद्धि के लिये एक-एक यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है, किन्तु ज्योतिष्टोम का अनुष्ठान तो सभी कामनाओं की पूर्ति करना है और इसी तरह से दर्शपूर्णमास यागों के अनुष्ठान से भी सभी कामनाएं सिद्ध होती हैं' । इस श्रुति में योगसिद्धचधिकरण न्याय से किसी एक कर्म को ही करने का संकल्प मन में करता है, समुदाय को अपने बुद्धि में एक साथ नहीं बैठा सकता, उसी तरह से यहाँ पर भी समझना चाहिये कि ब्रह्मा का कार्य त्रयी समुदाय से संपादित न होकर एक ही अथर्ववेद से संपादित होगा, जिसमें कि तीनों ऋत्विजों के लिये भी ऋग्वेद आदि के मन्त्र विद्यमान हैं । इस तरह से जब एक अथर्ववेद से ही यह कर्म संपादित हो सकता है, तो उसके लिये ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद की समुदाय स्वरूप त्रयी तक जाने की आवश्यकता नहीं है ।

यहाँ फिर प्रश्न किया जाता है कि इस तरह से अथर्ववेद को त्रयी स्वरूप मानने पर तो अन्य प्रत्येक वेद भी इसी पद्धति से त्रयी स्वरूप माने जायेंगे ? इसका उत्तर यही है कि यदि इस बात को आप मानते हैं तो फिर अथर्ववेद को इससे कभी अलग नहीं मानना चाहिये, क्योंकि सबका स्वरूप एक सा है । ऐसा होते हुए भी उनकी अपनी अलग-अलग प्रतिष्ठा के अनुसार ऋग्वेद आदि पदों से उनका बोध होता है, उनका सामुदायिक त्रयी पद से बोध नहीं कराया जाता । ऐसा मान लेने पर पहले उदाहृत 'त्रय्यै विद्यायै'

ब्रह्मवेदः' इति। तथा च काठकशताध्ययने ब्राह्मणे ब्रह्मौदने श्रूयते—'ब्रह्मवादिनो वदन्ति पुरा वै औद्दालकिरारुणिरुवाच—ब्रह्मणे त्वा प्राणाय जुष्टं निर्वपामि, व्यानाय जुष्टं निर्वपामि' इत्युपक्रम्य 'आथर्वणे वै ब्रह्मणः समानोऽथर्वाणमेवैतज्जुहोति चतुःशरावो भवति। चत्वारो हीमे वेदास्तानेव भागिनः करोति। मूलं वै ब्रह्मणो वेदाः। वेदानामेव तन्मूलं यदृत्विजः प्राश्नन्ति तद्ब्रह्मौदनस्य ब्रह्मौदनत्वं भवति' इति। तथा सामवेदे पृष्ठ्यस्य चतुर्थेऽन्यार्भवे पवमाने आथर्वणसाम्नोद्गात्रं यत्तद्विधाने श्रूयते—चतुर्विधमाथर्वणं भवति। चतुरावृत्त्यै चतुष्पदामनुष्टुभानुष्टुभेवैतच्चतुर्थं भेषजं वाथर्वाणं तद्धि भैषज्यं करोत्यथर्वणानि यागभेषजानि' इत्येतदालम्वनेयं स्तुतिरत एव प्रागुक्तम्—'यज्ञे यदूनं यद्विरिष्टं च यातयामं च करोति तदथर्वाणं तेजसाऽप्याययति। तस्मादाथर्वण एव ब्रह्मेति' इति।

यदपि—'उच्चैरृचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषेतिवन्न तत्राथर्वधर्मः कश्चिदाम्नातः' इति, तदपि निःसारम्, तेषां मन्त्रधर्मत्वेन वेदधर्मत्वाभावात्। मन्त्रब्राह्मणसमुदायस्वभावा हि चत्वारो वेदाः। मन्त्रास्तु गद्यपद्यभेदाद् द्विधैव सन्ति। गीतिनिवन्धनं तु सामेति। तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुःशब्द इति जैमिनिना मन्त्राणां त्रैविध्यमेवोक्तम्। तेषामुच्चैस्त्वादिधर्माः। अथर्ववेदेऽपि त्रिविधैव मन्त्रजातिरिति तत्राप्येतद्धर्मजातमुपदिष्टमेव। मन्त्रविभागकृत एवायं त्रयीव्यपदेशः। सैषा त्रयी विद्या तपतीत्यत्रापि न विरोधः। एवमृग्यजुःसामसमुदायात्मकमन्त्रो निवन्धात् त्रय्यन्तर्गतश्च, पृथग्व्यवस्थितग्रन्थसन्दर्भस्वभावत्वाच्च भिन्न इत्यपि।

इत्यादि वाक्य में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग षष्ठी विभक्ति के अर्थ में माना जायगा। शुक्र का अर्थ यहाँ सार है। इस तरह से उक्त वाक्य का अर्थ होगा कि त्रयी विद्या के सार से ब्रह्मा का कार्य संपन्न होता है। स्वयं त्रयी ही त्रयी विद्या का सार नहीं हो सकती और किसी भिन्न वस्तु को भी त्रयी का सार नहीं बना सकते। इसलिये अथर्ववेद को ही त्रयी का सार मानना पड़ेगा। शुक्र शब्द का अर्थ गुप्त रहस्य की ओर संकेत करता है। इसीलिये पूर्वोत्तर ब्राह्मण में अथर्ववेद को ही ब्रह्मवेद कहा गया है—'ऋग्वेद, यजुर्वेद वेद, सामवेद और ब्रह्मवेद। इसी तरह से काठक शाखा के शताध्ययन ब्राह्मण में ब्रह्मौदन प्रकरण में बताया जाता है—'ब्रह्मवादियों का यह कहना है कि पहले उद्दालक ऋषि के पुत्र आरुणि ने कहा कि ब्रह्मा के रूप में विद्यमान प्राण, व्यान आदि को मैं हवि प्रदान करता हूँ' इस तरह से विषय का उपक्रम कर आगे अथर्ववेद को ही ब्रह्मा के समान मानकर उसको स्पष्ट रूप से चतुर्थ वेद के रूप में मान्यता दी है और अन्त में कहा है कि अथर्ववेद अकेला ही चारों वेदों का प्रतिनिधित्व करता है। इसीलिये अथर्ववेद की स्तुति अन्यत्र भी मिलती है, जैसा कि अभी-अभी उद्धृत एक श्रुतिवचन में बताया गया है कि कर्म में जो न्यूनता, दोष आदि तथा अन्य विघ्न उपस्थित हो जांय, तो वे अथर्ववेदवेत्ता ब्रह्मा के तेज से, अर्थात् उसके द्वारा की गई आथर्वण विधियों से समाप्त हो जाते हैं। इसलिये यही मानना उचित है कि ब्रह्मा अथर्ववेद-वेत्ता को ही माना जायगा, त्रयीसमुदाय के वेत्ता को नहीं।

यह भी कहा जाता है कि 'उच्चैरृचा' इत्यादि श्रुति वाक्य में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के उच्चारण का विधान तो मिलता है, किन्तु यहाँ अथर्ववेद के लिये कोई विधि नहीं बताई गई, अतः उसका त्रयी में समावेश नहीं माना जायगा', किन्तु यह कथन भी सारहीन है, क्योंकि उच्च या उपांशु ध्वनि मन्त्र का धर्म है, वेद का नहीं। चारों वेद मन्त्र और ब्राह्मण भागों को मिलाकर बनते हैं। मन्त्र गद्य और पद्य के भेद से दो तरह के होते हैं। गाये जाने के कारण वे ही मन्त्र साम कहलाते हैं। इनमें अर्थ के आधार पर जहाँ पादों की व्यवस्था है वे मन्त्र ऋक्, जो गाये जाते हैं वे साम और बचे हुए मन्त्र यजुः कहलाते हैं। इस तरह से जैमिनि ने मन्त्रों के तीन विभाग किये हैं। इन्हीं के धर्मों को 'उच्चैरृचा' आदि वचनों में बताया गया है। अथर्ववेद में भी इसी तरह के त्रिविध मन्त्र हैं, अतः वहाँ भी इन धर्मों का विधान स्वतः हो जाता है। मन्त्रों के उक्त विभाग के आधार पर ही त्रयी शब्द प्रचलित हो गया है। अतः 'यह त्रयी विद्या प्रकाशित हो रही है' इस वाक्य में भी कोई विरोध नहीं है। इस तरह से ऋक्, यजुः और साम के लक्षणों से युक्त मन्त्र का समावेश होने से अथर्ववेद त्रयी के अन्तर्गत भी है और अलग से एक व्यवस्थित ग्रन्थ के रूप में उसकी सत्ता रहने से वह उससे भिन्न भी है, यही सिद्धान्त रूप में माना जाता है।

केचित्तु ऋक्प्रचुरत्वात् प्रविरलयजुर्वाक्यत्वाद् गीयमानसाममन्त्रतावशाच्च ऋग्वेदमेवाथर्ववेदमाचक्षते। चतुर्वेदाध्यायी भारद्वाज इति तैत्तिरीयसंहितायाम्।

यदि पुनरौत्तराधर्येण विना न सन्तोषस्तदा अथर्ववेद एव प्रथमः, ततः परममन्त्रस्य प्रणवस्याभिव्यक्तेः। 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'अथर्वणं वेदमभ्यस्याश्नास्यदभ्यतपत् सन्तपत् तस्माच्छान्तात् सन्तप्तादोमिति मन एवोर्ध्वमक्षरमुदक्रामत्' इत्यादि, तथा महाव्याहृतीनां शाखान्तरप्रसिद्धानामसिद्धानां च बृहदित्यादीनां तत एवोत्थानम्। किञ्चाथर्ववेदकृतोपनयनसंस्कारमप्रापितस्याथर्ववेदाध्ययनेऽनधिकारः। भृग्वङ्गिरोविदा संस्कृतोऽन्यान् वेदानधीयीत नान्यत्र संस्कृतो भृग्वङ्गिरसोऽधीयीत। किञ्च, स्वकर्मभ्रंशेऽथर्ववेदविहितं प्रायश्चित्तमाचरद्भिरथर्ववेद एव ज्यायानिति त्रयीशरणैरप्यवश्यमाश्रयणीयः।

यत्तु षट्त्रिंशदाब्दिकम्, तत्त्रिवेदाध्ययनविषयकम्, यस्तु चतुरो वेदानधीते तस्याष्टचत्वारिंशद्वर्षं वेदब्रह्मचर्यमुपासीतेति स्मृत्यन्तरस्यापि सत्त्वात्। यदपि श्राद्धप्रकरणे 'यत्नेन भोजयेत्' इति त्रिवेदपारगकीर्तनम्, तद्वेदपारगमिति समाप्तिगमिति विशेषणपर्यालोचनया ऋग्वेदाद्येकदेशवेदाध्यायिनामनधिकारमेव श्राद्धे सूचयति। अथर्वणस्तु अथर्वशिरोऽध्ययनमात्रलब्धपङ्क्तिपावनभावस्यैकदेशपाठिनोऽपि तत्राधिकार उपपद्यते। दर्शितं चाथर्वशिरोध्ययनमात्रेण पङ्क्तिपावनत्वम्। यत्तु—ज्येष्ठसामगस्त्रिमधुस्त्रिसुपर्णिक इति वेदान्तरैकदेशाध्यायिनामपि श्राद्धभोजनस्याभ्यनुज्ञानम्, तत्त्वनुकल्परूपमेव, प्रथमकल्पेन समग्रवेदाध्ययनोपदेशात्। यच्च शान्तिपुष्टचभिचारादिदर्शनेनाथर्व-

कुछ लोगों का कहना है कि अथर्ववेद में अधिकतर ऋचाएं ही हैं, यजुः वाक्य बहुत कम हैं और इसके मन्त्रों का गान सामवेद की तरह नहीं होता, अतः यह ऋग्वेद ही है, उससे भिन्न नहीं। यह पक्ष भी स्वीकार किया जा सकता है, सामान्यतः इसमें कोई विरोध नहीं होना चाहिये, किन्तु 'चतुर्वेदाध्यायी भारद्वाजः' इस तरह के वाक्यों की तब कोई संगति न बैठ सकेगी, जब कि अथर्ववेद को अलग से चौथा वेद नहीं माना जायगा।

यदि आपको इन वेदों में कौन सा वेद श्रेष्ठ है, यह जाने बिना संतोष नहीं होता तो हमारे कथनानुसार आप अथर्ववेद को ही सर्वश्रेष्ठ मानिये, क्योंकि वेद का सर्वश्रेष्ठ मन्त्र प्रणव अथर्ववेद से ही प्रकट हुआ है। जैसा कि 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इस तरह से प्रारम्भ कर कही गई श्रुति में अथर्ववेद से ॐकार के प्रकट होने की बात मानी गई है। इसी तरह से शाखान्तर में प्रसिद्ध महाव्याहृतियों की अभिव्यक्ति भी अथर्ववेद से ही मानी गई है। दूसरी बात यह भी है कि अथर्ववेद के अध्ययन का अधिकारी वही माना जाता है, जिसका उपनयन किसी अथर्ववेदी ने ही किया हो, अन्य वेदों के अध्येता से उपनीत वटु को अथर्ववेद के अध्ययन का अधिकार नहीं प्राप्त होता। सबसे ऊपर बात यह है कि अपने-अपने वेदों के विधानों के अनुसार कर्म करने वाले व्यक्ति को उस समय अथर्ववेद का ही सहारा लेना पड़ता है, जबकि उस कर्म में कोई त्रुटि आ जाय, क्योंकि इसके प्रायश्चित्त के रूप में उसे अथर्ववेद विहित प्रायश्चित्त ही करना पड़ेगा। इस तरह से अथर्ववेद को ही सर्वश्रेष्ठ मानना पड़ेगा।

मनुस्मृति के आधार पर ३६ वर्ष के ब्रह्मचर्य के पालन की बात अभी बताई गई थी, मनुस्मृति का यह कथन तीन वेदों के अध्ययन से सम्बद्ध है। जिसको चारों वेदों का अध्ययन करना है, उसके लिये तो ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य की बात अन्य स्मृतियों में प्रतिपादित है। इसी तरह से श्राद्ध के प्रकरण में वेदत्रयी के अध्येता को ही भोजन कराने की बात भी ऊपर कही गई है, किन्तु 'समाप्तिगम्' इस विशेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ शास्त्रकार को वेद के पारंगत विद्वान् को ही श्राद्ध में निमन्त्रित करने की बात मान्य है। इससे जो ऋग्वेद आदि के एक अंश को ही पढ़ा है, ऐसे ब्राह्मण का श्राद्ध में अधिकार निषिद्ध किया गया है, ऐसी सूचना मिलती है। इसके विपरीत अथर्ववेद का अध्ययनकर्ता उसके एक अंश के पढ़ने से भी पंक्तिपावन हो जाता है, अतः उसको तो श्राद्ध में सुतरां अधिकार प्राप्त हो जाता है। अथर्वशीर्ष के अध्ययन मात्र से ब्राह्मण पंक्तिपावन हो जाता है, यह बात शास्त्रों में प्रतिपादित है। 'ज्येष्ठ सामगाः' इत्यादि वचनों से वेदान्तर के एक अंश के अध्येता को भी श्राद्ध-भोजन का अधिकारी बताया है, किन्तु यह केवल अनुकल्प के रूप में है। प्रथम कल्प के रूप में तो यहां समग्र वेद के अध्येता का ही विधान है। अनुकल्प का विधान तभी

वेदस्यापकर्ष उच्यते, तदपि तुच्छम्, श्येनयागस्य सामवेदोत्पन्नत्वात्। अद्भुतशान्त्यादीनां यजुर्वेदे दर्शनात्। यदुक्तम्—ब्रह्मर्त्विगाश्रिता अथर्वोक्तक्रियेति, तदपि न समीचीनम्, द्वे यज्ञवृत्ती भवतो वैहारिकी पाकयज्ञवृत्तिश्चेति। तत्र वैहारिकी नामानेकर्त्विगाश्रितानामेकक्रियाणामुपदेशः। श्रुतावेकब्रह्मर्त्विगाश्रितास्तु शान्त्यादिकाः क्रियाः। तस्मात् समानयोगक्षेमत्वात् सर्ववेदानामेकस्य पृथक्करणमसङ्गतमेव।

अस्य समस्तस्यैव वेदराशेर्मन्त्रायुर्वेदवच्चाप्तप्रोक्तत्वात् प्रामाण्यं नैयायिकैरुक्तम्, मीमांसकैरपि समस्तस्यैव वेदस्यापौरुषेयत्वादपास्तसमस्तपुंदोषशङ्काकलङ्कपङ्कस्य प्रामाण्यमुपेयते, सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य तुल्यत्वात्। न केवलं मन्त्रसंहितानाम्, किन्तु समस्तब्राह्मणारण्यकोपनिषदामपि तथैव तुल्यं साम्प्रदायिकमिति जैमिनिनाऽपौरुषेयत्वेन प्रामाण्यमुक्तम्। नैयायिकैश्च तथैवाभ्युपगतम्। अन्ते नैयायिकैरनादित्वपक्षोऽप्यङ्गीकृतः। 'वयमपि न विशिष्मोऽनादिसंसारपक्षं युगपदखिलसर्गध्वंसवादे तु भेदः। अकथि च रचनानां कार्यतां तेन सर्गात् प्रभृति भगवतेदं वेदशास्त्रं प्रणीतम्॥ अनादिरेवेश्वरकर्तृकोऽपि सदैव सर्गप्रलयप्रबन्धः। सर्गान्तरेष्वेव च कर्मबोधो वेदान्तरेभ्योऽपि जनस्य सिद्धयेत्॥' (न्या० मं०, भा० १, पृ० २३०-२३१)।

'मन्त्रायुर्वेदवच्च वेदानां प्रामाण्यमिति' (पृ० २२६) प्रसङ्गे न्यायमञ्जरीकारेणोक्तम्—'पिप्पलीपटोलमूलादेरौषधस्येत्थमुपयोगादिदमभिमतमवाप्यते, अस्य क्षीरतक्रादिविरोध्यशनस्य परिहारादिदमनिष्टोपशमनमित्याद्यायुर्वेदशास्त्रेषु प्रत्यक्षेण तस्यार्थस्य तथा निश्चयादविसंवादित्वं नाम प्रामाण्यं प्रतिपन्नम्। तच्चेदमाप्तवाद-

होता है, जबकि प्रथम कल्प उपलब्ध न हो। शान्ति, पुष्टि और अभिचार कर्मों की बहुलता के कारण अथर्ववेद को त्रयी की अपेक्षा अपकृष्ट नहीं माना जा सकता, क्योंकि हिंसाप्रधान श्येन याग का विधान सामवेद में मिलता है। यजुर्वेद में अद्भुत, शान्ति जैसे विधान विद्यमान हैं। तब इसके लिये अथर्ववेद को ही क्यों अपकृष्ट माना जायगा। अथर्ववेद की क्रियाएं केवल ब्रह्मा नाम के ऋत्विक् से ही संपादित हो सकती हैं, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि यज्ञ की दो तरह की प्रवृत्ति होती है, एक तो वैहारिकी और दूसरी पाकयज्ञ। इनमें से वैहारिक वृत्ति उसको कहते हैं, जिनमें कि अनेक ऋत्विजों से सम्पन्न होने वाली एक क्रिया का उपदेश हो। श्रुति में शान्ति, पुष्टि आदि क्रियाएं एक ऋत्विक् से संपाद्य मानी गई हैं। इस तरह से आपका उक्त आक्षेप यजुर्वेद आदि पर भी लागू हो सकता है। तब इन सब में से अकेले अथर्ववेद को दोषी नहीं बनाया जा सकता।

इस समस्त वेदराशि का प्रामाण्य नैयायिक लोग मन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य की तरह ही मानते हैं कि ये सब शास्त्र आप्त पुरुषों के द्वारा उपदिष्ट हैं। मीमांसक समस्त वेदराशि को अपौरुषेय मानते हैं। उनका कहना है कि वेद पुरुष-निर्मित नहीं हैं, अतः उनमें पुरुष में रहने वाले समस्त दोषों की शङ्का का लवलेश भी नहीं आ सकता। अतः उनका प्रामाण्य निःसंदिग्ध है। संप्रदाय के विच्छिन्न न होने पर भी वेद का कर्ता किसी की स्मृति में नहीं है। केवल मन्त्र संहिताओं का ही नहीं, किन्तु समस्त ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों का भी इसी अविच्छिन्न सम्प्रदाय परम्परा से प्रामाण्य चला आ रहा है, अतः जैमिनि आचार्य ने इन सबका अपौरुषेयता के आधार पर प्रामाण्य माना है। नैयायिक भी अन्ततः वेदों की अनादिता को मानते हैं। जैसा कि न्यायमंजरीकार ने कहा है—'संसार की अनादिता को मानने में हमारा कोई मतभेद नहीं है, हमारा मतभेद एक साथ सारी सृष्टि का विनाश मानने के विषय में ही है। इसके सिवाय इस सृष्टि की रचना को भी हम एक कार्य मानते। इसलिये हमारी यह मान्यता है कि सृष्टि के साथ ही भगवान् ने वेदशास्त्र की भी रचना की। ईश्वर के द्वारा प्रणीत होने पर भी यह सर्ग और प्रलय की परम्परा अनादि है। इस तरह से दूसरे सर्गों में भी दूसरे वेदों से मनुष्यों को अपने-अपने कर्मों का बोध हो सकता है' (भा० १, पृ० २३०-२३१)।

'मन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य की तरह वेदों को भी प्रमाण माना जाता है' (भा० १, पृ० २२६) इस प्रसङ्ग में न्यायमंजरीकार ने कहा है—'पीपल, परवल की जड़ आदि दवाओं का अमुक प्रकार से उपयोग करने पर यह फल होगा, दूध, दही आदि परस्पर विरोधी भोज्य पदार्थों के आहार को छोड़ देने से अमुक अनिष्ट शान्त हो जायगा, इस तरह के आयुर्वेद शास्त्र के वचनों का फल प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, अतः उस शास्त्र का प्रामाण्य बिना किसी विवाद के मान लिया जाता है। यह प्रामाण्य आप्त के वचन

प्रयुक्तम् । यतो यत्राप्तवाक्यत्वं तत्र प्रामाण्यमिति व्याप्तिर्गृह्यते । तथा मन्त्राणां प्रयोगे वृश्चिकभुजङ्गदष्टस्य भक्षितविषस्य वा निर्विषत्वम्, अपस्मारपिशाचरूपिकागृहीतस्य तदुन्मोचनम्, अतिरभसोज्जिहानेषु दुष्टमेघेषु सस्यरक्षणमित्येवमुपलब्धम् । अतस्तेषां विषभूताशनिशमनकुशलानामाप्ता उपदेष्टार इति तत्रापि व्याप्तिनिश्चयः ।

ननु तत्र प्रत्यक्षसंवादात् प्रामाण्यं नाप्तप्रामाण्यादतः कथमाप्तोक्तत्वस्य तत्र व्याप्तिग्रहणमिति चेन्न, प्रत्यक्षसंवादात् प्रामाण्यनिश्चयेऽपि तस्याप्तवादेनोत्थितत्वात् । प्रत्यक्षादावप्यर्थक्रियाज्ञानसंवादात् प्रामाण्यस्य ज्ञप्तिः, उत्पत्तिस्तु गुणवत्कारकक्रतेति न्यायसिद्धान्तात् । नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति विप्रलम्भकपुरुषभाषितानि विसंवादवन्ति भवन्ति । तस्मादाप्तप्रणीतत्वमेव तद्रीत्या प्रामाण्यकारणम्, कारणशुद्धिमन्तरेण सम्यक्प्रत्ययानुत्पादात् ।

नन्वन्वयव्यतिरेकमूलकमेवायुर्वेदादिप्रामाण्यम्, अन्वयव्यतिरेकौ च यावत्येवार्थे दृश्येते तावत्येवार्थे प्रामाण्यम् । यथा हरीतक्यादिवाक्यार्थे । यत्र तु तयोरदर्शनं तत्राप्रामाण्यम् । यथा सोमराज्युपयोगे समाः सहस्रं जीव्यते, आप्ते तु कल्प्यमाने अर्धजरतीयं स्यादिति चेन्न, अन्वयव्यतिरेकयोर्ग्रहीतुमशक्यत्वात् । तौ हि स्वात्मनि ग्रहीतुं शक्येते (१), व्यक्त्यन्तरे वा (२), सर्वत्र वा (३), क्वचिदेव वा (४), व्यक्तिविशेषे वा (५), सर्वथा सङ्कटपूर्णोऽयं पन्थाः । व्याधीनां तन्निदानानां तदुपचयानां तदुपशमनोपायानामौषधानां तत्संयोगवियोगादिशेषाणां तत्परिमाणानां तद्रसवीर्यविपाकानां देशकालपुरुषदशाभेदेन शक्तिभेदस्यैकेन जन्मना ग्रहीतुमशक्यत्वात् । जन्मान्तरानुभूतभावानामस्माभिर्ज्ञातुमशक्यत्वात् । तदेतत्सर्वं संगृह्योक्तं न्यायमञ्जरीकारेण जयन्तभट्टेन—'जनोऽनन्तस्ता-

के आधार पर स्वीकृत होता है, क्योंकि जहाँ-जहाँ आप्त का वाक्य रहता है, वहाँ-वहाँ वह प्रामाणिक ही होता है, इस तरह की व्याप्ति यहाँ बन जाती है । इसी तरह से मन्त्रों के प्रयोग से बिच्छू, साँप आदि के विष का अथवा किसी दूसरी तरह से पेट में पहुंचे विष का उपचार हो जाता है, अपस्मार, पिशाच आदि से पकड़े हुए आदमी को मन्त्रों की सहायता से लाभ पहुँचता है, बड़े वेग से मंडराते हुए और भयंकर वृष्टि करते हुए मेघों से खेती की रक्षा भी मन्त्रों की सहायता से होती देखी गई है । इस तरह से विष, भूत-प्रेत, वृष्टि-शमन आदि के लिये मन्त्रों के प्रयोग करने में कुशल आप्त ही उन मन्त्रों के उपदेष्टा हैं, इस तरह की व्याप्ति यहाँ भी बन जाती है ।

यहाँ प्रश्न उठता है कि उक्त स्थल में उक्त वाक्यों का प्रामाण्य प्रत्यक्ष के साथ संवाद हो जाने से माना जाता है, आप्त के वचन होने से उनको प्रमाण नहीं माना जाता, तब आपकी ऊपर बताई व्याप्ति कैसे बन सकती है ? इसका उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष के साथ संवाद होने से प्रामाण्य का निश्चय भले ही हो, किन्तु इसकी उत्पत्ति को आप्त के वचन होने से ही हुई है । प्रत्यक्ष आदि स्थल में भी अर्थक्रिया ज्ञान के संवाद से ही प्रामाण्य का ज्ञान ही होता है, प्रामाण्य की उत्पत्ति तो गुणवान् कारण सामग्री से होती है, न्याय का यही सिद्धान्त मान्य है । 'नदी के तीर पर फल हैं' इस वाक्य को यदि कोई वंचक बोलता है, तो तदनुसार नदी के तीर पर जाने से फल नहीं मिलते । इसलिये आप्त मनुष्य द्वारा प्रणीत वाक्यों को ही न्याय की पद्धति से प्रामाण्य का कारण माना जाता है । कारण की शुद्धि के बिना सही ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता ।

प्रश्न उठता है कि आयुर्वेद आदि का प्रामाण्य अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर ही मानना चाहिये । अन्वय-व्यतिरेक का संबन्ध जहाँ तक दिखाई पड़ता है, वहीं तक वह प्रमाण हो सकता है । जैसे कि हरीतकी (हरड़) आदि के सम्बन्ध में कहे गये आयुर्वेद शास्त्र के वाक्य । जहाँ अन्वय-व्यतिरेक नहीं दिखाई देते, वहाँ ये वाक्य प्रमाण नहीं माने जा सकते । जैसे कि सोमराजी का उपयोग करने से मनुष्य हजार वर्ष तक जीता है, यहाँ अन्वय-व्यतिरेक के न रहने से वह वाक्य प्रमाण नहीं माना जाता । यदि आप्त को ही प्रामाण्य का आधार माने तो यह प्रामाण्य और अप्रामाण्य का विभाग संभव नहीं हो सकता, क्योंकि आप्त के एक वचन को प्रमाण और दूसरे को अप्रमाण मानने में अर्धजरतीय न्याय की आपत्ति होगी । अर्थात् यह बात उसी तरह असंभव होगी, जिस तरह की मुर्गी का आधा भाग अंडा देने के लिये और आधा भाग खाने के लिये नहीं रक्खा जा सकता । इस प्रश्न का समाधान इस तरह से किया जाता है कि ऐसे स्थलों में अन्वय और व्यतिरेक को सब जगह पकड़ पाना बड़ा कठिन है । क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक का ग्रहण अपने में होगा या दूसरे व्यक्ति में ? सब जगह इनका ग्रहण होगा या किसी एक जगह ? अथवा व्यक्तिविशेष में ही इनका

वह्निरवधिरिह व्याधिनिवहो न संख्यातुं शक्या बहुगुणरसद्रव्यगतयः। विचित्राः संयोगाः परिणतिरपूर्वेति च कुतश्चिकित्सायाः पारं तरति युगलक्षैरपि नरः ।। यदेव द्रव्यमेकस्य धातोर्भवति शान्तये। योगान्तरात्तदेवास्य पुनः कोपाय कल्पते ।। या द्रव्यशक्तिरेकत्र पुंसि नासौ नरान्तरे ।। हरीतक्या विनोद्भूतवातकुष्ठे विरोध्यते। शरद्युद्रिक्तपित्तस्य ज्वराय दधि कल्पते ।। तदेव भुक्तं वर्षासु ज्वरं हन्ति दशान्तरे। न चोपलक्षणं किञ्चिदस्ति तच्छक्तिवेदने ।। येनैकत्र गृहीतासौ सर्वत्रावगता भवेत्। यो वा ज्ञातुं प्रभवति पुरुषस्तत्सामर्थ्यं निरवधिविषयम्। स्यात् सर्वज्ञः स इति न विमतिस्तस्मिन् कार्या स्ववचनकथनैः ।।' (पृ० २२७)।

अथोच्यते—अनादिरेवैषा चिकित्सकस्मृतिर्व्याकरणस्मृतिवत्, संक्षेपविस्तारविवक्षयेव चरकादयः कर्तारः, न तु ते सर्वदर्शिनः। न च स्मृतावन्धपरम्परादोषः, समूलत्वात्। यथा व्याकरणस्मृतेः शिष्टप्रयोगो मूलमेवमिहान्वयव्यतिरेकौ मूलम्। शिष्टविरोधे सति यथा मूलविरोधिनी पाणिन्यादिस्मृतिरप्रमाणम्। तथा चाहुरिह न भवत्यनभिधानादिति तथैव वैद्यस्मृतिरन्वयव्यतिरेकविरुद्धा न प्रमाणमिति, तदपि न, अन्वयव्यतिरेकयोर्यथोक्तन्यायेन परिच्छेदासम्भवेन तन्मूलत्वानुपपत्तेः। यदि ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामशेषद्रव्यशक्तीर्निश्चित्य चरकादिभिर्विरचितं शास्त्रमितीदृशमन्वयव्यतिरेकित्वमुच्यते, तत्त्वपाकृतमेव। अद्यत्वे यावन्तावन्वयव्यतिरेकौ वयमुपलब्धुं शक्नुमस्तावद्भ्यामेक-

ग्रहण होगा ? इन विकल्पों में से किसी को भी मानें, किन्तु प्रत्येक में कोई न कोई आपत्ति विद्यमान रहेगी। क्योंकि व्याधियों को, उनके निदान को, ये रोग कैसे बढ़ते हैं और उनको किस तरह से दूर किया जा सकता है, इसके उपायों को, औषधियों में से किसको निकालना और किसको मिलाना तथा इनकी मात्रा कितनी कितनी रहेगी इस बात को, उन दवाओं के रस, वीर्य और विपाक को तथा देश, काल और पुरुष की अवस्था के भेद से इन ओषधियों की अलग अलग शक्ति को एक जन्म में कोई भी व्यक्ति ठीक से नहीं समझ सकता। जिनका अनुभव जन्मान्तर में होता है, उनका हम इस जन्म में ज्ञान नहीं कर पाते। इस पूरे विषय को जयन्त भट्ट ने अपनी न्यायमंजरी में निम्न श्लोकों में संगृहीत कर दिया है—'जन संख्या का कोई पारावार नहीं है, व्याधियाँ भी नाना प्रकार की हैं, ओषधियों के गुण और परिपाक नाना प्रकार के होते हैं। इन ओषधियों के संयोग-वियोग (नुस्खे) और उनके परिणाम भी भाँति भाँति के होते हैं। तब इस चिकित्साशास्त्र को लाखों युगों में भी कोई व्यक्ति कैसे पार कर सकता है। कोई द्रव्य अकेला रहने पर किसी रोग को शान्त कर देता हैं, वही किसी दूसरे द्रव्य के साथ मिल जाय तो उस रोग को बढ़ा देता है। जो दवा एक व्यक्ति में असर करती है, वही दूसरे व्यक्ति को देने पर फायदा नहीं पहुँचाती। हरीतकी (हरड़) भी कभी कभी वात रोग और कोष्ठबद्धता को नहीं शमन कर पाती। शरद् ऋतु में जिसका पित्त प्रकुपित हो गया है, उसको दही खाने से बुखार आ जाता है। उसी दही को वर्षा ऋतु में जब कि पित्त प्रकुपित नहीं होता, खाने से ज्वर शान्त हो जाता है। ओषधियों की इस परिवर्तनशील शक्ति को पहचानने लायक ऐसा कोई लक्षण नहीं मिलता, जिसको कि एक जगह पहचान लेने पर सब जगह वह शक्ति पहचानी जा सके। जो पुरुष ओषधियों के और व्याधियों के इन सब स्वरूपों को जान सकता हो, उसकी अनन्त सामर्थ्य को स्वीकार करना पड़ेगा। वह पुरुष सर्वज्ञ ही हो सकता है। इस तरह के सर्वज्ञ पुरुष के द्वारा प्रतिपादित विषयों पर अल्पज्ञ पुरुष के कथनों के आधार पर संदेह उठाना ठीक नहीं है'।

यदि यहा कहा जाय कि 'यह चिकित्साशास्त्र भी व्याकरणशास्त्र की तरह अनादि है। उस शास्त्र का संक्षेप अथवा विस्तार से वर्णन करने के कारण ही चरक प्रभृति इस शास्त्र के कर्ता माने जाते हैं, किन्तु वे सर्वज्ञ नहीं है। शास्त्रों पर अन्धपरम्परा का दोष नहीं लगाया जा सकता है, क्योंकि उनका आधार प्रामाणिक रहता है, जैसे व्याकरणशास्त्र के संबन्ध में उसकी प्रामाणिकता मान्य है। वहाँ शिष्ट जनों के प्रयोग व्याकरण के आधार हैं और आयुर्वेद में अन्वय-व्यतिरेक इस शास्त्र की प्रामाणिकता के आधार हैं। शिष्ट प्रयोगों के विपरीत पाणिनि व्याकरण को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। जैसा कि कहा गया है—व्याकरण शास्त्र में वह प्रयोग मान्य नहीं होता, जो कि शिष्टजन प्रयुक्त न हो, उसी तरह से आयुर्वेद शास्त्र भी यदि अन्वय-व्यतिरेक के विपरीत है, तो उसको भी प्रमाण नहीं माना जायगा'। किन्तु यह सारा कथन गलत है, क्योंकि अभी अभी बताई गई पद्धति से अन्वय-व्यतिरेक को सब जगह पकड़ पाना बड़ा कठिन है, अतः अन्वय-व्यतिरेक को वैद्यक शास्त्र का आधार नहीं माना जा सकता। अन्वय और व्यतिरेक से सभी द्रव्यों की शक्ति को जान कर चरक प्रभृति आचार्यों ने इस शास्त्र की रचना की है, इस तरह के अन्वय-व्यतिरेक का हम

देशसंवादात् प्रामाण्यकल्पनात्। तत्र प्रवर्तनं न तु तौ तावन्तौ शास्त्रस्य मूलं भवितुमर्हतः, सर्वैरस्मदादिभिस्तादृशशास्त्रप्रणयनप्रसङ्गात्। चरकादिस्मृतेः कालिदासादिस्मृतिवदविगीतत्वात्। न चिकित्सास्मरणप्रबन्धोऽनादिः, तथात्वेऽन्धपरम्पराकारणानवधारणात्। तस्मात् सर्वज्ञप्रणीतमेवायुर्वेदशास्त्रम्।

मीमांसकैस्तु मन्वादिस्मृतिवद् वेदपूर्वकत्वमायुर्वेदस्याभ्युपगम्यते, तथापि नैयायिकरीत्या कर्तृतासामान्याभावान्न वेदमूलकत्वम्। अप्रमाणमपि न वक्तुं शक्यते, वहुकृत्वः संवाददर्शनात्। अतः परिशेषात् प्रत्यक्षीकृतदेशकालपुरुषदशाभेदानुसारिसमस्तव्यस्तपदार्थसार्थशक्तिनिश्चयाश्चरकादय इत्येव युक्तं कल्पयितुम्। ननु सोमराज्यादिवाक्येषु व्यभिचारः, व्यभिचारे चार्धजरतीयमिति; तदपि न, 'कर्तृ-कर्म-साधनवैगुण्यात्' (गो० सू० २।१।५८) इति निर्दिष्टव्यभिचारात्, पुत्रेष्टयादिवत्। तस्मान्मन्त्रायुर्वेदवच्चाप्तप्रामाण्याद् वेदानां प्रामाण्यम्।

मीमांसकरीत्या त्वनभ्युपगतपरलोकं प्रति तावदात्मनित्यतादिप्रतिपादनेन परलोकसमर्थनं कार्यम्, परलोकवादिनां तु सुखदुःखादिभेदेन जगतो वैचित्र्यं दृश्यते। तच्चावश्यं कर्मवैचित्र्यनिबन्धनम्, कर्माणि च नाननुष्ठितानि सत्तां लभन्ते, अलब्धात्मनां तु नभःकुसुमनिभानां कुतो विचित्रसुखदुःखादिफलसाधनत्वम्, तस्मादनुष्ठानमेषामेषितत्वम्। अनुष्ठानं च नाविदितस्वरूपाणां संभवति। न च तेषां ज्ञाने प्रत्यक्षं क्रमते, स्वर्गाद्यदृष्ट-

खण्डन कर चुके हैं। आज हम अपने से जितने अन्वय-व्यतिरेक को जानने में समर्थ हो सकें, उससे उस शास्त्र के एक अंश का ही संवाद हो सकता है और उसके आधार पर उस अंश को प्रामाणिक माना जा सकता है तथा तदनुसार कार्य भी किया जा सकता है, किन्तु इतने से तो सारे शास्त्र को प्रामाणिक नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि ऐसा मान लेने पर हममें से कोई भी उस शास्त्र की रचना करने लगेगा। इन शास्त्रों की वेद की तरह की अनादिता भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि कालिदास की रचनाओं के समान आयुर्वेद शास्त्र के कर्ताओं की स्मृति भी निर्विवाद रूप से मान्य है कि ये चरक प्रभृति आचार्यों की रचनाएँ हैं। आयुर्वेद शास्त्र की परम्परा को अनादि मानने पर उस पर अन्धपरम्परा के दोष की आपत्ति उठेगी कि अन्ततः इस परम्परा का आधार क्या है? अतः आयुर्वेद शास्त्र को इस अन्धपरम्परा के दोष से मुक्त रखने के लिये मानना पड़ेगा कि इस शास्त्र की रचना किसी सर्वज्ञ ने की है।

मीमांसक मनु आदि के स्मृति ग्रन्थों की तरह आयुर्वेद शास्त्र को भी वेदमूलक मानते हैं, किन्तु नैयायिकों की दृष्टि से यह मत उचित नहीं है, क्योंकि मनु, याज्ञवल्क्य आदि की तरह इस शास्त्र को किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं माना जाता। अतः इसको वेदमूलक नहीं माना जा सकता, साथ ही इसको अप्रामाणिक भी नहीं कह सकते, क्योंकि आयुर्वेद शास्त्र के विधान के अनुसार आचरण करने से उसमें बताई गई बातों की सत्यता अनेक बार परीक्षित है। अतः शेषवत् अनुमान के आधार पर यही कहा जा सकता है कि चरक प्रभृति आचार्यों ने देश, काल और पुरुष के भेद के अनुसार संमिलित रूप से अथवा अलग अलग द्रव्यों के सब तरह के परिपाकों का सही ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इस व्याप्ति का सोमराजी आदि ओषधियों में व्यभिचार मानकर अर्धजरतीय न्याय की आपत्ति ऊपर उठाई गई है, किन्तु यह भी गलत है, क्योंकि गोतम सूत्र में बताया गया है कि कर्ता, कर्म अथवा साधन में दोष आ जाने पर वैदिक यज्ञों का भी फल नहीं मिलता, जैसा कि 'पुत्रेष्टि' आदि के प्रसंग में देखा जाता है। इसी तरह से आयुर्वेद शास्त्र में भी कर्ता, कर्म अथवा साधन के वैगुण्य के आधार पर किसी ओषधि से अभीष्ट सिद्धि न हो, यह संभव हो सकता है, किन्तु इतने मात्र से यहाँ व्यभिचार की सिद्धि नहीं की जा सकती। इसलिये यह कहना ठीक ही है कि मन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य की तरह वेद का प्रामाण्य भी उसको आप्त की रचना मान कर किया जा सकता है।

मीमांसकों की पद्धति से तो परलोक को न मानने वालों को आत्मा की नित्यता आदि का प्रतिपादन करते हुए पहले परलोक का समर्थन करना पड़ेगा, किन्तु जो परलोकवादी हैं, उनको यह समझाना पड़ेगा कि सुख-दुःख आदि के कारण जगत् के प्राणियों में जो बड़ी विचित्रता देखने को मिलती है, उसका कारण उनके अपने कर्म ही हो सकते हैं। आचरण के बिना इन कर्मों की कोई स्थिति नहीं बन सकती और जब तक इनको कोई स्थिति नहीं होगी, तब तक आकाश के पुष्प से गन्ध की तरह इनसे विचित्र सुख-दुःख आदि की परिपूर्ण स्थितियाँ भी कैसे बन सकती हैं? इस लिये विचित्र सुख-दुःख आदि स्थितियों को देखकर यह मानना पड़ेगा कि इन्होंने उन उन कर्मों का अनुष्ठान किया था, जिनके आधार पर कि ये अब इस स्थिति में पड़े हैं। यह अनुष्ठान तब तक नहीं बन सकता,

साधनानां कर्मणां ज्ञातुमशक्यत्वात् । नाप्यनुमानं तृप्तिभोजनयोरिव स्वर्गयागयोः कार्यकारणभावानवधारणात् । जगद्वैचित्र्यानुपपत्त्या तु विचित्रं कारणमात्रमनुमीयते । तस्मादवश्यं शास्त्रात् कर्मवैचित्र्यबोधोऽभ्युपेयः । शास्त्रं च वेदाः । (पृ० २३०) ।

नैयायिकदृष्ट्या वेदाः परस्परव्यतिषक्तार्थोपदेशित्वादेककर्तृकाः । एकमेव कर्म वेदचतुष्टयोपदिष्टैः पृथग्भूतैरेकार्थसमवायिभिरङ्गैरन्वितं प्रयुज्यते । तदुक्तमेव—'हौत्रमृग्वेदेन यजुर्वेदेनाध्वर्यवं सामवेदेनौद्गात्रं ब्रह्मत्वमथर्ववेदेन पैप्पलादशौनकादितत्तत्शाखोपदिष्टं तत्तदङ्गजातं तत्रापेक्ष्यते । 'एकाभिप्रायवद्धत्वं तेन सर्वत्र गम्यते । भवेद्भिन्नाशयानां हि कथमेकार्थमीलनम् ॥' ननु यथा काव्यसमस्यापूरणे भिन्नकर्तृकता दृश्यते, तथैव वेदेऽपि भिन्नकर्तृकता किं न स्यादिति चेन्न, 'तत्रापि प्रथमस्यैव कवेस्तद्वस्तुदर्शनात् । तदभिप्रायवेदी तु सोऽन्यस्तदनुवर्तते । अन्यथानन्वितं काव्यं स्याद्विश्वावसुकाव्यवत् । अन्वितत्वे तु सा नूनमाद्यस्यैव कवेर्मतिः ॥ इहाप्तेकाशयाभिज्ञ द्वितीयेश्वरकल्पने । एकाभिप्रायतैव स्यात् किं स्यात्तत्कल्पने फलम् ॥' तस्मादेक एव कर्ता सर्वशाखानाम् । काठकादिव्यपदेशस्तु प्रकृष्टाध्ययननिबन्धनो भविष्यति (पृ० २२०) । तदेतद् जैमिनिनोक्तमेव—'समाख्या प्रवचनात्' (मी० सू०) इति ।

यथैकतरोर्विक्षिप्ताः शाखा भवन्ति, न च कृत्स्नं पुष्पफलपत्रमेकस्यां शाखायां सन्निहितम्, किन्तु कस्याञ्चित् किञ्चित् कस्याञ्चिच्च किञ्चित्, एवं वेदस्यापि शाखाः पृथगङ्गकर्मोपदेशिन्यो विक्षिप्ताश्च । 'तासां च

जब तक कि इन कर्मों का स्वरूप उन्हें ज्ञात न हो । किस कर्म के अनुष्ठान से क्या फल मिलेगा, इसकी जानकारी प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकती, क्योंकि कर्म स्वर्ग प्रभृति अदृष्ट के साधन हैं, इसका ज्ञान प्रत्यक्ष से कैसे हो सकता है ? यहाँ अनुमान की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जैसे हम भोजन और तृप्ति के कार्यकारणभाव का निश्चय कर लेते हैं, उस तरह का निश्चय स्वर्ग और याग के कार्यकारणभाव के विषय में नहीं कर सकते । जगत् की विचित्रता को देखकर केवल इतनी ही कल्पना की जा सकती है कि इसका कारण भी कोई विचित्र ही हो सकता है । इसलिये इस जगद्वैचित्र्य के कारण कर्मवैचित्र्य का ज्ञान शास्त्र से ही हो सकता है और यह शास्त्र वेद है ।

नैयायिकों की दृष्टि से सभी वेदों में परस्पर संबद्ध विषयों का प्रतिपादन मिलने से वे किसी एक की रचना माने जाते हैं । किसी एक ही कर्म का चारों वेदों में अलग अलग रूप से प्रतिपादित अंगों से परस्पर अन्वय किया जाता है । जैसा कि कहा गया है—होता के कर्म ऋग्वेद से, अध्वर्यु के कर्म यजुर्वेद से, उद्गाता के कर्म सामवेद से और ब्रह्मा के द्वारा संपादित होने वाले कर्म के अंगों का विधान अथर्ववेद में मिलता है । इनमें भी फिर पिप्पलाद, शौनक आदि उन उन शाखाओं के अनुयायियों का कार्य उन्हीं उन्हीं शाखा-ग्रन्थों से संपन्न होता है । 'इससे ऐसा प्रतीत होता है कि किसी एक ही व्यक्ति के अभिप्राय के अनुसार इन सबकी रचना हुई है । यदि इन सबके रचयिता अलग अलग व्यक्ति हों तो इन सब में एक ही अभिप्राय के अनुसार किसी वस्तु का प्रतिपादन कैसे मिल सकता है' । प्रश्न उठता है कि जैसे किसी कविता की समस्या-पूर्ति करते समय एक ही समस्या की पूर्ति अलग अलग कवि एक ही अभिप्राय से करते हैं, उसी तरह से वेद में भी एक ही अभिप्राय से भिन्न भिन्न कर्ताओं के द्वारा विभिन्न कर्मांगों का विधान क्यों न माना जाय ? किन्तु इसका समाधान यह है कि 'समस्या-पूर्ति में भी समस्या-वाक्य को उपस्थित करने वाले प्रथम कवि का अभिप्राय ही मुख्य माना जाता है । उस प्रथम कवि के अभिप्राय को जानकर दूसरा कवि भी उसका अनुवर्तन करता है । ऐसा न मानने पर सारी समस्या-पूर्तियाँ गन्धर्वाविष्ट व्यक्ति की कविताओं की तरह सर्वथा परस्पर असंबद्ध माननी पड़ेगी । यदि इनको परस्पर संबद्ध मानना है तो निश्चय ही इसको प्रथम कवि के अभिप्राय के साथ जोड़ना पड़ेगा । यहाँ भी वेदों के अलग अलग निर्माता के रूप में एक के अभिप्राय को जानने वाले दूसरे ईश्वर की कल्पना करने से क्या फायदा हो सकता है, जब कि दूसरे ईश्वर के अभिप्राय और पहले ईश्वर के अभिप्राय में कोई अन्तर नहीं है । इसलिये एक ही ईश्वर को सभी शाखाओं का कर्ता मानना उचित है । शाखाओं का काठक आदि नाम उनका विशेष अध्ययन करने वाले व्यक्ति से सम्बन्ध होने के कारण होता है । इसी बात को जैमिनि ने 'समाख्या प्रवचनात्' इस सूत्र से कहा है । इसका अर्थ है कि काठक आदि समाख्याएं उनके प्रवचन-कर्ताओं के नाम से सम्बद्ध होती है ।

जैसे एक वृक्ष की अनेक शाखाएँ होती हैं, सारे फल-फूल एक ही शाखा में नहीं लग जाते, किन्तु सभी में कुछ न कुछ फल-फूल लगते हैं, उसी तरह से वेद की शाखाओं में भी किसी में कुछ और किसी में कुछ इस तरह से अलग-अलग कर्म के अंगों का

वृक्षशाखानामेकस्याज्जन्म वीजतः । तथैव सर्वशाखानामेकस्मात् पुरुषोत्तमात् ।। कर्ता य एव जगतामखिलात्मवृत्तिकर्मप्रपञ्चपरिपाकविचित्रताज्ञः । विश्वात्मना तदुपदेशपदाः प्रणीतास्तेनैव वेदरचना इति युक्तमेतत् ।। आप्तं तमेव भगवन्तमनादिमीशमाश्रित्य विश्वसिति वेदवचःसु लोकः ।।'(पृ० २२०) ।

परमेश्वरोऽपि विश्वकर्तृतयैक एव निर्णीयते । 'विचित्रं प्राणिभृत्कर्मफलभोगाश्रयं जगत् । तत्कर्मफलसम्बन्धविदा तदुपदेशिना ।। तेनैव रचिता वेदा इति नान्यस्य कल्पना । एकेनैव च सिद्धेऽर्थे द्वितीयं कल्पयेम किम् ।। अनेककल्पनावीजं नहि किञ्चन विद्यते ।' जगत्सर्गे एक एवेश्वरो न द्वौ न वहवः । भिन्नाशयकल्पने एकत्र वैयर्थ्यात्, इतरत्र व्यवहारवैशसप्रसङ्गेन एकेश्वरत्वविघातात् । तदुक्तं जयन्तभट्टेन न्यायमञ्जर्याम् —'अनेकेश्वरवादो हि नातीव हृदयङ्गमः । ते चेत्सदृशसङ्कल्पाः कोऽर्थो वहुभिरीश्वरैः ।। सङ्कल्पयति यदेकः शुभमशुभं वापि सत्यसङ्कल्पः । तत्सिद्ध्यति तद्विभवादित्यपरस्तत्र किं कुर्यात् ।। भिन्नाभिप्रायतायां तु कार्यविप्रतिषेधतः । नूनमेकः स्वसङ्कल्पं विहत्याऽनीश्वरो भवेत् ।। एकस्य किल सङ्कल्पो राजायं क्रियतामिति । हन्यतामिति चान्यस्य तौ समाविशतः कथम् ।। राज्यसङ्कल्पसाफल्ये विहता वधकल्पना । तस्याः साफल्यतायां च राज्यसङ्कल्पविप्लवः ।। तेन चित्रजगत्कार्यसंवादानुगुणाशयः । एक एवेश्वरः स्रष्टा जगतामिति साधितम् ।।' (पृ० २१९)

ब्राह्मणग्रन्थविषयकं वेबरमतम्

ब्राह्मणानां सम्बन्धे संक्षेपतो वेबरमतमुद्ध्रियते । तद्रीत्या 'ब्राह्मणस्वरूपमेवं व्यक्तीकर्तुं शक्यते—यज्ञीयसूक्तानां मन्त्राणां च यज्ञकर्मभिरेकतः पारस्परिकसम्बन्धप्रदर्शनमन्यतस्तेषां प्रतीकात्मकपारस्परिकसम्बन्धनिर्देशेन संयोजनं

विधान मिलता है । वृक्ष की इन सभी शाखाओं की एक ही बीज से उत्पत्ति होती है, उसी तरह वेद की भी सभी शाखाओं की उत्पत्ति एक ही परमेश्वर से मानी जाती है । जो ईश्वर जगत् का कर्ता है, जो जगत् के सारे प्राणियों के कर्मपरिपाक की विचित्रता को जानता है, उसी विश्वात्मा ईश्वर ने प्राणियों को उपदेश देने के लिये इन वेदों की रचना की है, यही उचित माना जा सकता है । उसी परम आप्त, अनादि, सबके स्वामी ईश्वर की रचना वेद है, इस बात पर विश्वास करके ही लोक वेद-वाक्यों में विश्वास करते हैं' । (पृ० २२० न्या० म०)

इस सार जगत् के कर्ता के रूप में ईश्वर एक ही सिद्ध हो सकता है । प्राणियों के विचित्र कर्मफलों के उपयोग के सहारे बना हुआ यह विचित्र जगत् उनके कर्मफल के सम्बन्ध को जानने वाले ईश्वर के द्वारा ही रचित है । वेदों की रचना भी उसी ईश्वर ने की है, यह किसी दूसरे की कल्पना नहीं हो सकते । एक ही ईश्वर की कल्पना से जगत् की सृष्टि और वेद की रचना की समस्या का समाधान मिल जाने पर दूसरे ईश्वर की कल्पना करना व्यर्थ है, अतः दूसरे ईश्वर की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं । जगत् की सृष्टि करने वाला ईश्वर एक ही है । दो तीन या बहुत से ईश्वर नहीं माने जाते, क्योंकि दो या उससे अधिक ईश्वर मानकर इनके अभिप्राय को भी यदि भिन्न-भिन्न माना जाता है, तो जिसका अभिप्राय सिद्ध नहीं होगा, उसको ईश्वर मानना व्यर्थ हो जायगा । अब यदि सबके परस्परविरोधी अभिप्राय सिद्ध होने लगेंगे तो लोकव्यवहार में बड़ा विप्लव उठ खड़ा होगा । इस विषय को न्यायमंजरीकार ने इस तरह से स्पष्ट किया है—'अनेक ईश्वरों को मानने वाली बात कभी मन में नहीं बैठ सकती । क्योंकि इन सब ईश्वरों का संकल्प यदि एक सा ही है, तो फिर अनेक ईश्वर मानने से लाभ क्या है ? सत्य संकल्प वाला एक ईश्वर शुभ या अशुभ जिस बात को सोचेगा, उसकी अपनी सामर्थ्य से ही जब सब कुछ सिद्ध हो जायगा, तो फिर उसके लिये दूसरे ईश्वर की आवश्यकता ही क्या है ? यदि इनके अभिप्राय भिन्न-भिन्न हैं तो परस्पर विरोधी कार्य करते समय यह निश्चित है कि किसी एक का संकल्प पूरा नहीं होगा । जिसका सङ्कल्प पूरा नहीं हुआ, वह कैसे ईश्वर माना जायगा ? एक ईश्वर ने सङ्कल्प किया कि मैं इस व्यक्ति को राजा बना दूँ और दूसरे ने सङ्कल्प किया कि मैं इसको मार डालूँ । ये दोनों कार्य कैसे पूरे हो सकते हैं ? राजा बनाने के सङ्कल्प के पूरा होने पर उसको मार डालने का सङ्कल्प बाधित हो जायगा और मार डालने के सङ्कल्प के पूरा हो जाने पर राजा बनाने का सङ्कल्प बाधित हो जायगा । इसलिये इस विचित्र जगत् रूपी कार्य के निर्वाह के अनुरूप गुणों से युक्त एक ही ईश्वर जगत् का कर्ता माना जायगा' (पृ० २१९) ।

ब्राह्मणग्रन्थानां लक्ष्यम् । तदर्थं विशिष्टयज्ञक्रियाणां सविस्तरं वर्णनं तेषु । तेषां प्रतीकात्मकसम्वन्धप्रदर्शनाय व्याख्यानरूपाणि विश्लेषणरूपाणि वा ब्राह्मणानि । अथवा तत्सम्बन्धं परम्परया चिन्तनद्वारा वा स्थापयन्ति । एवं रीत्या ब्राह्मणेषु प्राचीनयज्ञभाषाविषयिकाः प्राचीनतमा व्याख्यास्तादृश्यः कथा दार्शनिकचिन्तनानि वोपलभ्यन्ते' इति, तदपि वैदिकसाहित्यविवेचनविज्ञानवैधुर्यमूलकम्, तद्रीत्या यज्ञविधानासिद्धेः । यज्ञविधानं क्व विद्यत इति तु नोक्तम् । तच्च जैमिनिमहर्षिणा स्पष्टमुक्तम्—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (मी० सू०), 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (मी० सू०) इति । यज्ञविधानमेव ब्राह्मणग्रन्थादन्यत्र नोपलभ्यते । तस्माद्येषां मन्त्राणां यज्ञैः सम्वन्धविधानमुच्यते, तेषु मन्त्रेषु यज्ञस्य स्वरूपविधानं नोपलभ्यते । वैदिकानां दृष्टचां विधायकेषु ब्राह्मणेष्वमुख्यमाम्नायत्वं भवति । तद्रीत्या मन्त्रा विधेया भवन्ति । येषु येषु कर्मसु मन्त्राणां विधानं क्रियते, मन्त्रैस्तेषां कर्मणां स्वरूपं न, किन्तु ब्राह्मणैरेव (ज्ञायते) विधीयते । अत एव 'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः' इति पारस्कररीत्या विधिर्विधायकानि ब्राह्मणानि विधेया मन्त्रास्तर्कश्चार्थवाद एते वेदा भवन्ति । उपपादनं निर्वचनं चार्थवादेष्वेव विद्यते । कर्मपरेषु वेदेष्वियं व्यवस्था, ब्रह्मपराणां मन्त्रब्राह्मणोपनिषदामपि वेदेषु सत्त्वात् । महातात्पर्यं तु समेषां वेदानां ब्रह्मण्येव ।

यद्यपि—'ब्राह्मणानामुत्तरोत्तरकाले महत्त्वं समाप्तप्रायम्, श्रौतसूत्रैस्तेषां स्थानस्य स्वायत्तीकृतत्वात्' इति, तदपि न किञ्चित्, भावानवबोधात् । पाश्चात्त्या नैतज्जानन्ति यत् सूत्राणि सर्वाणि पौरुषेयाणि । नास्ति स्वातन्त्र्येण

ब्राह्मण-ग्रन्थों के सम्बन्ध में बेवर का मत

ब्राह्मण-ग्रन्थों के संबन्ध में बेवर का मत संक्षेप में यह है—'ब्राह्मणों के स्वरूप को सामान्यतः इस प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—उनका लक्ष्य यज्ञीय सूक्तों और मन्त्रों को यज्ञ कर्मों के साथ एक ओर उनके प्रत्यक्ष पारस्परिक सम्बन्ध का और दूसरी ओर उनके प्रतीकात्मक पारस्परिक सम्बन्ध का निर्देश करते हुए संयुक्त करना है । उनका प्रत्यक्ष पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिये ब्राह्मण-ग्रंथ विशिष्ट यज्ञक्रिया का सविस्तार वर्णन करतें हैं । उनका प्रतीकात्मक सम्बन्ध दिखाने के लिये वे या तो प्रत्यक्षतः व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक हैं, अथवा उस सम्बन्ध को परम्परा या चिन्तन द्वारा स्थापित कराते हैं । इस प्रकार उनमे हमें सबसे प्राचीन यज्ञ, भाषाविषयक प्राचीनतम व्याख्याएं, प्राचीनतम कथाएं और प्राचीनतम दार्शनिक चिन्तन उपलब्ध होते हैं' (पृ० ६) । यह कथन भी वैदिक साहित्य की विवेचन-पद्धति का ज्ञान न होने के कारण है, क्योंकि उनकी बताई पद्धति से यज्ञ के विधि-विधानों की सिद्धि नहीं होती । उन्होंने यह नहीं बताया कि यज्ञ के विधि-विधान कहाँ बताये गये हैं ? इस सम्बन्ध में जैमिनि महर्षि का स्पष्ट मत है कि सारा आम्नाय (वेदशास्त्र) यज्ञ के विधि-विधानों के लिये ही उपदिष्ट हैं, अतः विधि-वाक्यों के अतिरिक्त सिद्धार्थक वेद-वाक्यों का प्रामाण्य नहीं हो सकता, उनका प्रामाण्य विधि-वाक्यों के साथ एकवाक्यता मानकर विधि-वाक्यों की स्तुति के रूप में माना जा सकता है । यज्ञ के विधि-विधान ब्राह्मण ग्रंथों के सिवाय अन्यत्र नहीं मिलते । इस तरह से वेवर आदि पाश्चात्य विद्वान् जिन मन्त्रों का यज्ञ की विधियों से सम्बन्ध मानते हैं, उनमें यज्ञ के स्वरूप का प्रतिपादन है ही नहीं । वैदिकों की दृष्टि से विधायक ब्राह्मण ग्रंथों को ही मुख्य आम्नाय (वेद) माना जाता है । ब्राह्मण वाक्यों के अनुसार ही मन्त्रों का विनियोग होता है । जिन-जिन कार्यों के लिये मन्त्रों का विनियोग किया जाता है, उन कर्मों का स्वरूप भी ब्राह्मण ग्रंथों से जाना जाता है, मन्त्रों से नहीं । इसीलिये 'विधिर्विधेय०' इस पारस्कर सूत्र के अनुसार विधि अर्थात् विधायक ब्राह्मण वाक्य, विधेय मन्त्र और अर्थवाद वाक्य इन सबकी 'वेद' संज्ञा होती है । अर्थवाद वाक्यों को तर्क शब्द से यहाँ इस लिये कहा गया है कि विधि-वाक्यों की उपपत्ति, निर्वचन और उनके रहस्य का ज्ञान अर्थवाद वाक्यों से ही होता है । यह व्यवस्था कर्मभाग के प्रतिपादक वेद वाक्यों के सम्बन्ध में ही मान्य है । इसके अतिरिक्त ब्रह्म के प्रतिपादक मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद् भी वेद में ही गिने जाते हैं । अन्ततः समस्त वेद का महातात्पर्य ब्रह्म में ही माना गया है ।

बेवर ने आगे लिखा है—'ब्राह्मणों का व्यावहारिक महत्त्व उत्तरोत्तर समाप्त होता गया और उनका स्थान सूत्रों आदि ने ग्रहण कर लिया' (पृ० ८), किन्तु यह कथन भी गलत है, क्योंकि इनका भाव उनकी समझ में नहीं आया है । पाश्चात्य विद्वान् यह

तेषां प्रामाण्यम्, अनपेक्षं प्रामाण्यं तु मन्त्रब्राह्मणयोरेवापौरुषेयत्वात्। श्रौतसूत्राणि तु श्रुतिमूलकत्वादेव प्रामाण्यमर्हन्ति। संक्षिप्तत्वादनुष्ठानक्रमेण निर्दिष्टत्वाद् अनुष्ठातृषु तेषामादरो युक्त एव, तथापि तेषु विप्रतिपत्तौ श्रुतित्वाद् ब्राह्मणमेव शरणं भवति। तत एव केषाञ्चित् संहिताब्राह्मणादीनां लोपे जातेऽपि तदीयानि सूत्राण्यवशिष्यन्ते। कानिचित्—वाष्कल-पैङ्गि-भाल्लवि-शाटचायनि-कालभावि-लामकायनि-शाम्बुवि-खाडायनि-शालङ्कायनिप्रभृतीनि संहिताब्राह्मणादीनि लुप्तानि, तेषां चोद्धरणानि क्वचित् क्वचिदुपलभ्यन्ते। (पा० सू० ४।३।१०६) इत्यत्र येषां छन्दोग्रन्थानां संहितानां च निर्देशो लभ्यते, तेषामुद्धरणमपि क्वचिन्नोपलभ्यते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पातञ्जलभाष्यनिर्दिष्टशाखा-संख्यासु तेषामन्तर्भूतत्वात्। तत्रापि सूत्राणि तावन्ति न सन्ति। शुक्लयजुर्वेदीयपञ्चदशशाखासु शाखीयकर्मणां कात्यायनसूत्रेण सङ्कलितत्वात्तासामेकमेव सूत्रमिति सम्प्रदायविदामतिरोहितमेव।

यदपि—'ऋग्वेदीयब्राह्मणानि तान्येव कर्माणि वर्णयन्ति, यानि होतृभिः कर्तव्यानि' इति, होतृणामिदं कर्तव्यमासीद्यद् विशिष्टावसरोपयोगिनो मन्त्रान् सूक्तेभ्य आचिन्वन्ति, येषां शास्त्ररूपेण प्रयोगो भवति स्म' इति, तदेतत्सर्वमज्ञानमूलकम्, स्तोत्रशस्त्रादिस्वरूपाणां ब्राह्मणैः सूत्रैः पारम्पर्येण च निर्धारितत्वात्। स्वेच्छयाभ्यूहेन वा नहि कर्माणि क्रियन्ते, तेषां शास्त्रैकसमधिगम्यत्वात्। श्रुतयो न पर्यनुयोक्तुं शक्याः। तदभिप्रायस्तु शिष्टनिर्दिष्टैरुपायैरवगन्तुं शक्यः। अतः 'सामवेदीयसंहिता यजुर्वेदीयसंहिताश्च कर्मणां सम्पादनक्रमेण निर्मिताः। ऋग्वेदीयसंहितासु तादृशः पाठक्रमो नास्ति' इत्यादिकमपि बालभाषितमेव, संहितासङ्कलनेऽपि पुरुषाणां स्वातन्त्र्येऽपौरुषेयत्वक्षतेः।

नहीं जानते कि सभी सूत्र ग्रन्थ पौरुषेय हैं। उनको स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नहीं माना जाता, सर्वथा निरपेक्ष प्रामाण्य मन्त्र और ब्राह्मण भाग का ही माना जाता है, क्योंकि ये अपौरुषेय हैं। श्रौत सूत्रों का प्रामाण्य श्रुति के आधार पर ही माना जा सकता है। ये ग्रन्थ अत्यन्त संक्षिप्त शैली में लिखे गये हैं और प्रत्येक विषय का यहाँ अनुष्ठान के क्रम से प्रतिपादन हुआ है, अतः वैदिकों की इनके प्रति आदर दृष्टि उचित ही है, किन्तु इनमें परस्पर विरोध हो तो उस परिस्थिति में श्रुति होने के कारण ब्राह्मण ग्रन्थों को ही प्रमाण मानना पड़ेगा। 'सूत्र ग्रन्थों के प्रति आदर दृष्टि होने का ही यह परिणाम है कि कुछ शाखाओं के संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों के लुप्त हो जाने पर भी उनके सूत्र ग्रन्थ अब भी बचे हुए हैं। इस प्रकार जिन ब्राह्मणों या संहिताओं के पाठ नष्ट हो गये, उनके अन्तर्गत ही वाष्कल, पैङ्गिन्, भाल्लविन्, शाट्यायनिन्, कालभविन्, लामकायनिन्, शाम्बुवि, खाडायनिन् और शालङ्कायनिन् शाखा की रचनाएँ आती हैं, जिनके उद्धरण इस वर्ग की रचनाओं में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। इसके अतिरिक्त शौनकादि गण (४।३।१०६) में उद्दिष्ट सभी छन्दस् ग्रन्थ या संहिताएँ भी नष्ट हो चुकी हैं, जिनके नामों का उल्लेख अन्यत्र नहीं हुआ है' (पृ० ८) यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि पातंजल महाभाष्य में निर्दिष्ट शाखाओं का संख्या में वे भी अन्तर्भूत हैं। यह विशेष उल्लेखनीय है कि सूत्रों की संख्या उतनी नहीं है, क्योंकि शुक्ल यजुर्वेद की १५ शाखाओं में शाखा के सभी कर्मों का अकेले कात्यायन श्रौतसूत्र में ही संकलन किया हुआ है, अतः इन सब शाखाओं का सूत्र-ग्रन्थ एक ही है, यह बात साम्प्रदायिक परम्परा को जानने वालों से छिपी नहीं है।

'ऋग्वेद के ब्राह्मण सामान्यतः केवल उन्हीं कर्मों का वर्णन करते हैं. जो होता या ऋचाओं के गायक को करने होते हैं। होता का काम यह था कि वह विशिष्ट अवसरों के उपयुक्त मन्त्रों को विविध सूक्तों से चुनता था और उनका 'शस्त्र' रूप में प्रयोग करता था' (पृ० ८) यह सारा कथन भी वक्ता के अज्ञान का ही उदाहरण है, क्योंकि स्तोत्र, शस्त्र आदि का स्वरूप ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों तथा परम्परा से भी निर्धारित है। अपनी इच्छा से या मनमाने तरीके से कोई वैदिक कर्म नहीं सम्पन्न होता, उनकी पद्धति केवल शास्त्रों से ही जानी जा सकती है। श्रुतियों को हम मनमाने तरीके से कहीं नहीं लगा सकते। उनका अभिप्राय शिष्ट पुरुषों के द्वारा बताये गये उपायों से ही जाना जा सकता है। इसी लिये 'सामवेद और यजुर्वेद की संहिता यज्ञ आदि कर्मों के संपादन के क्रम से संकलित की गई है, ऋग्वेद की संहिता में इस तरह का क्रम नहीं है' यह कथन भी बच्चों की सी बात लगती है, क्योंकि संहिताओं का संकलन करने में भी पुरुषों की स्वतन्त्रता मानने पर वेदों की अपौरुषेयता नष्ट हो जायगी।

यदुक्तम्—'शुक्लयजुर्वेदीयं ब्राह्मणं संहितायाः परम्परानुगामिनी टीकैव मन्तुं शक्यते। यत्र ब्राह्मणेन केचिन्मन्त्रा न व्याख्यातास्ते मन्त्राः पश्चान्निर्मिता इत्येव निष्कर्षो वक्तुं शक्यते' इति, तदपि निर्मूलम्, व्याख्यातमन्त्रेष्वपि बहूनां पदानामव्याख्यातत्वेन तेषामपि पश्चाद्भवत्वापत्तेः। वस्तुतस्तु ब्राह्मणश्रुतय एव तानि तानि कर्माणि विधाय तत्र विहितानां व्रीहियवादिद्रव्याणां यथा प्रोक्षणादीन् संस्कारान् विदधति, तथैव विहितानां मन्त्राणां तदनुगुणव्याख्यारूपान् संस्कारानेव विदधति। अत एव न ब्राह्मणं मन्त्राणां व्याख्यानमात्रम्। ब्राह्मणानां विधातृत्वेन प्राधान्यात्, विधेयत्वेन च मन्त्राणामप्राधान्यात्। परिशिष्टयोजनमपि न पाश्चात्त्यम्, किन्त्वपौरुषेयत्वेनानाद्येव। तस्यापि शताध्यायात्मकशतपथान्तर्गतत्वात्। यथा प्रधानकर्मणामनुष्ठानानन्तरं प्रतिपत्तिकर्माणि शिष्यमाणानि पश्चादनुष्ठीयन्ते, तथैवाश्वमेधादिसम्बन्धीनि विशिष्टानि शिष्यमाणानि विज्ञानानि यानि परिशिष्यन्ते, तान्येव परिशिष्टानीत्युच्यन्ते। अत एव कृष्णयजुर्वेदीयं ब्राह्मणं शतपथेन समानमपि कालदृष्ट्या विशेषवत्। तच्च स्वसंहिताया एव पूरकम्।

यदप्युक्तम्—'अथर्ववेदस्य ब्राह्मणमिदानीं यावदज्ञातम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पाश्चात्त्यानामविज्ञातत्वेऽपि गोपथब्राह्मणरूपेण तस्य प्रसिद्धत्वात्। यदपि—'ब्राह्मणीयश्रवणविवेचनाध्यापनेषु वैदुष्यपूर्णं तेषां विशुद्धं ज्ञानमुपलभ्यते, तत्र निम्नवर्गेभ्य एतन्न देयमित्यपि चेतितम्' इति, तत्तु युक्तमेव, अधिकारमन्तरा प्राप्तज्ञानानामनिष्टकरत्वात्। तन्नियमाननुरोधादेव बेवरप्रभृतिभिर्बहवोऽनर्था वेदेषूद्भाविताः।

यदुक्तम्—'वैदिकसाहित्यसम्बन्धितृतीययुगस्य प्रतिनिधित्वं सूत्राणि कुर्वन्ति। एतानि ब्राह्मणानां स्वाभाविकविकासरूपाणि। अत्रैव टिप्पण्यां सूत्रशब्दः सर्वप्रथमं मधुकाण्डे लभ्यते। यश्च यजुर्ब्राह्मणस्य पश्चाद्भाव्यंशः।

'शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण को इसकी संहिता पर एक चलती हुई और परम्परानुगामिनी टीका मान सकते हैं। शुक्ल यजुर्वेद संहिता के क्रम का इसका ब्राह्मण इतनी कठोरता के साथ पालन करता है कि जहाँ ब्राह्मण ने एक या अधिक मन्त्रों को छोड़ दिया है, वहाँ हमारा यह निष्कर्ष निकालना कदाचित् संगत होगा कि उस समय वे मन्त्र संहिता में थे ही नहीं' (पृ० ८)। यह कथन भी निराधार है, क्योंकि जिन मन्त्रों की वहाँ व्याख्या की गई है, उनमें भी बहुत से पदों की व्याख्या छोड़ दी गई है, आपकी तर्क शैली से इन अव्याख्यात पदों को भी प्रक्षिप्त मानना पड़ जायगा। वास्तव में तो ब्राह्मण ग्रन्थ ही जैसे उन उन कर्मों का विधान कर बाद में व्रीहि, यव आदि विहित द्रव्यों के प्रोक्षण प्रभृति संस्कारों का विधान करते हैं, उसी तरह से विहित मन्त्रों की भी अनुरूप व्याख्या करते हुए वे एक तरह का उनका संस्कार ही करते हैं। इसी लिये ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों की मात्र व्याख्याएँ ही नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थ विधायक होने से प्रधान हैं और मन्त्रों की विधेयता के कारण वे अप्रधान हैं। परिशिष्टों का संयोजन भी बाद में नहीं हुआ है, किन्तु अपौरुषेयता के आधार पर ये भी अनादि हैं, क्योंकि ये भी सौ अध्यायों के शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत हैं। जैसे प्रधान कर्मों के अनुष्ठान के बाद बचे हुए प्रतिपत्ति कर्मों का अनुष्ठान बाद में किया जाता है, उसी तरह से अश्वमेध आदि कर्मों से संबद्ध बचे हुए विशिष्ट विज्ञानों का परिशिष्ट के रूप में वर्णन बाद में हुआ है। इसी लिये कृष्णयजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ से मिलता-जुलता होने पर भी कुछ अपनी विशेषता रखता है। ऐसा होने पर भी इसमें कालिक दृष्टि से कोई विशेषता नहीं मानी जा सकती। वह अपनी संहिता का पूरक ही माना जाता है।

'अथर्ववेद का ब्राह्मण आज तक अज्ञात है' (पृ० ८), यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह पाश्चात्यों को भले ही अज्ञात रहा हो, किन्तु गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद के ब्राह्मण के रूप में ही प्रसिद्ध है। 'ब्राह्मण साहित्य के लिये प्रचलित नाम है 'श्रुति' या सुनना, अर्थात् वह जो श्रवण, विवेचन और अध्यापन का विषय हो। इस नाम के द्वारा उनके वैदुष्यपूर्ण विशुद्ध स्वरूप का पर्याप्त बोध होता है। इसके अनुसार हम स्वयं रचनाओं से इस बात की चेतावनी पाते हैं कि उनका ज्ञान किसी निम्न वर्ग के व्यक्ति को न प्रदान किया जाय' (पृ० ९), यह बात तो ठीक ही है, क्योंकि बिना अधिकार के किसी ज्ञान को प्राप्त करने से अनिष्ट की ही संभावना रहती है। इन नियमों का पालन न हो पाने से ही बेवर प्रभृति विद्वानों ने वेदों में अनेक अनर्थों की उद्भावना कर दी है।

'वैदिक साहित्य के तीसरे युग का प्रतिनिधित्व 'सूत्र' करते हैं। सामान्यतः ये सूत्र ब्राह्मण-ग्रन्थों के स्वाभाविक विकास की कड़ी हैं' (पृ० ९), 'सूत्र शब्द सर्वप्रथम मधु काण्ड में आता है, जो शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण का सबसे बाद का अंश है। इसके

पश्चादृग्वेदीययोर्गृह्यसूत्रयोरन्ते पाणिनिसूत्रेऽयं शब्द उपलभ्यते। पाश्चात्त्या लैटिनजर्मनादिशब्दैः सूत्रादिग्रन्थानां कालक्रमं निर्धारयन्ति। अन्ते सङ्केतमार्गः सङ्केतो वा सूत्रपदस्यार्थ इति वदन्ति।' सेण्टपीटर्स-डिक्शनरी इत्यादावयमर्थं उक्तः। विस्तृतव्याख्याविषयाणां विषयश्रृङ्खलाविलोपभयात् सूक्ष्मविषयाणां विस्तृतविवेचनापेक्षया सारगर्भितानां संक्षिप्तविवरणानां रक्षणार्थं स्मृतेर्भारातिशयनिवारणाय च संक्षिप्तरूपेण सङ्कलनमेव सूत्राणामुद्देश्यमासीत्। तत्परिणामेन गूढशैल्या आविर्भावो जातः। तत एव प्राचीनसूत्राणि सुबोधानि नवीनानि च दुर्बोधानीत्यादिकं बहु जल्पितम्, तत्सर्वमपि निःसारमेव, ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि सूत्रानुकारिणां वाक्यानां बाहुल्येन दर्शनात्। 'आत्मेत्येवोपासीत, आत्मानं लोकमुपासीत' इति बृहदारण्यके, 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० उ० २।१।१) इत्यादिसूत्राणां तद्व्याख्यारूपाणामपि ब्राह्मणानां दर्शनात्। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यस्य व्याख्यानरूपं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥' ब्राह्मणं मन्त्ररूपं तस्यापि व्याख्यानम्—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादिब्राह्मणम्। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेद' इति बृहदारण्यकस्थवाक्येषु सूत्राण्यनुव्याख्यानानि सूत्रादिपदानि ब्राह्मणविशेषबोधकान्येवेति मन्तव्यम्। कात्यायनपाणिन्यादिसूत्राणि न तत्र सूत्रपदेन ग्राह्याणीति तद्विदां स्पष्टमेव। बेवरादयस्त्वज्ञानादेव साङ्कर्यमापादयन्ति। श्रौतगृह्यभेदेन श्रौतस्मार्तकर्मभेदात् सूत्रद्वैविध्यमपि मन्तव्यम्। न गृहस्थजीवनसम्बन्धित्वेन गृह्यत्वव्यपदेशः, श्रौतसूत्रोक्तक्रियाणामपि गृहस्थैकसम्पादनीयत्वात्। ✓

'यत्स्मरणीयं सा स्मृतिः' इत्यपि यत्किञ्चित्, मन्त्रब्राह्मणानामपि स्मर्तव्यत्वाविशेषात्। वस्तुतस्तु पौरुषेयग्रन्थाः स्मृतिपदव्यपदेश्या भवन्ति नापौरुषेयाः। श्रौतानर्थान् स्मृत्वा स्वशब्दैः स्मर्तारो महर्षयो यन्निरूपयन्ति

उपरान्त यह शब्द ऋग्वेद के दो गृह्यसूत्रों में और अन्त में पाणिनि में आता है' (पृ० ९ टिप्पणी) (पाश्चात्य विद्वान् इस सूत्र शब्द की इसी अर्थ के लेटिन-जर्मन आदि भाषाओं के शब्दों से तुलना करके सूत्र-ग्रन्थों के कार्यक्रम को निर्धारित करते हैं और अन्त में इस शब्द का मौलिक अर्थ वे 'संकेत मार्ग' या 'संकेत' ठहराते हैं। सेण्ट पीटर्स वर्ग डिक्शनरी में यही अर्थ दिया गया है—पृ० ९ टिप्पणी)··· विस्तृत व्याख्याओं में कहीं सम्पूर्ण विषय-शृंखला का लोप न हो जाय, अतः सूक्ष्म विषयों के विस्तृत विवेचन के स्थान पर ठोस और सारगर्भित संक्षिप्त विवरणों को रखने की आवश्यकता पड़ी। इस विस्तृत विषय-भाण्डार को संक्षिप्त रूप देने के लिये अत्यन्त सूक्ष्मता की आवश्यकता थी, जिससे स्मृति पर अधिक बोझ न पड़े। इस सूक्ष्मता का अन्ततोगत्वा परिणाम यह हुआ कि एक नितान्त संक्षिप्त और गूढ शैली का विकास हुआ, जिसका प्रयोग सूत्रों के उत्तरोत्तर स्वतन्त्र होने और उसकी उपादेयता प्रकट होने पर बढ़ता गया। अतः जो सूत्र जितना प्राचीन है, वह उतना ही अधिक बोधगम्य होगा और जो सूत्र जितना अधिक दुर्बोध है, वह उतना ही अधिक अर्वाचीन सिद्ध होगा' (पृ० १०)। इस तरह की बहुत सी बातें यहाँ कही गई है, किन्तु वे सब भी निःसार हैं, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी बहुत से वाक्य ऐसे मिलते हैं, जो कि सूत्रों की तरह ही अत्यन्त संक्षिप्त हैं। 'आत्मेत्येवोपासीत' इस तरह के सूत्र रूप में और उनकी व्याख्या के रूप में अत्यन्त संक्षेप में किसी बात का प्रतिपादन करने वाले अनेक वाक्य ब्राह्मण-ग्रन्थों में विद्यमान हैं। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस सूत्ररूप ब्राह्मणवाक्य की व्याख्या 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' इत्यादि मन्त्ररूप ब्राह्मण में की गई है और इसकी भी व्याख्या 'तस्माद्वा एतस्मा' इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों से की गई है। 'अस्य महतो भूतस्य' इत्यादि बृहदारण्यक वाक्य में सूत्र, अनुव्याख्यान आदि पदविशेष ब्राह्मणों के अंशों के ही बोधक हैं। यहाँ कात्यायन, पाणिनि आदि के सूत्र-ग्रन्थों का ग्रहण नहीं किया जाता, यह बात इस विषय के विद्वानों को ज्ञात है। बेवर प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् अपने अज्ञान के कारण ही ऐसे स्थलों में आपस में घोल-मेल कर देते हैं। इसी तरह से श्रौत और स्मार्त कर्मों के भेद के आधार पर ही श्रौत और गृह्यसूत्रों को अलग अलग माना जाता है। गृहस्थ जीवन से संबद्ध कर्मों का विधान होने से गृह्यसूत्र नाम पड़ा हो सो बात नहीं है, क्योंकि श्रौतसूत्रों में प्रतिपादित विधि-विधानों का संपादन भी केवल गृहस्थ ही करते हैं।

'स्मृति का अर्थ है वह जो याद किया जाने योग्य हो' (पृ० १६), यह बात भी गलत है, क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मण भी याद किये जाने योग्य है ही। वास्तव में तो पौरुषेय ग्रन्थों को 'स्मृति' शब्द से बोधित किया जाता है, अपौरुषेय वेदों को नहीं।

सा स्मृतिः । श्रुतिस्तु केवलं गुरुपारम्पर्येण श्रूयत एव न केनापि क्रियते । श्रुतिविरोधे स्मृतीनामप्रामाण्यं श्रुत्यनुगुणानयनं वा । अविरोधे तु श्रुतिमूलकत्वानुमानेन मन्वादिस्मृतिवत् प्रामाण्यमेव । 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (मी० सू०) इति जैमिनिसूत्रात् । यत्तु स्मृतयः स्मरणशक्तिं प्रभावयन्तीति, तत्तुच्छम्, तासामनुभूतिभिः प्रभावितत्वेन स्मृतित्वापत्तेः ।

यदपि—'याज्ञिकक्रियासु यथा यथा पावित्र्यं निष्पन्नं तथैव शनैः शनै तासां पद्धतयः सुनिश्चिता जाताः । तथैव तासां सूक्तैः सम्वन्धस्य महत्त्वमपि वृद्धिमुपगतम् । तत्सिद्ध्यै सूक्तानां पाठा निर्धारितास्तथैव शुद्धोच्चारणानां पाठानां च स्थापनया तासामुत्पत्तिपारम्पर्यंसुरक्षणाय यत्न आस्थितः । कालान्तरेण तेषां शाब्दिका अर्था भाषारूपं च प्राचीनरूपदृष्ट्या वैदेशिकत्वमुपगतानि । तदानीं तद्रक्षणायात्यन्तमवधानमपेक्षितमासीत् । तत्सिद्धये विशेषज्ञानामुपरि शिक्षाप्रदानस्योत्तरदायित्वमागतम् । तेषां चतुर्दिक्षु पर्यटनशीलानां विदुषां समुदायो निर्मितः । य एकस्मादाचार्याद् आचार्यान्तरस्य ख्यातिमाकर्ण्याध्ययनार्थं यात्रां कुर्वन्ति स्म । ते चानुसन्धातारो भाषासम्वन्धिप्रश्नेष्वेव न सीमिता आसन्, किन्तु ब्राह्मणीयानामध्यात्मविद्यानां सर्वेषु क्षेत्रेष्वन्वेषणं कुर्वन्ति स्म । पूजनविधानानां चिन्तनानां प्रश्नाश्च समानरूपेण सर्वक्षेत्रेषु समायान्ति स्म । परस्परं सुसम्वद्धाश्च ते । इदं तु स्वीकर्तव्यमेव यत्तदानीन्तनेषु ब्राह्मणेषु नितान्तमुत्साहपूर्णानि वौद्धानि जीवनान्यासन् । स्त्रियश्च तस्मिन् विषये सक्रियं भागं गृह्णन्ति स्म । इदं वौद्धिकश्रेष्ठ्यमेव ब्राह्मणानां शेषाज्जनसमूहात् प्राधान्यस्य कारणत्वमुपगतम् । क्षत्रिया अपि वाह्ययुद्धेभ्यो विश्रमणकालेषु शान्तिलाभायैवैभ्योऽन्वेषणेभ्यो न दूरेऽवस्थातुं समर्था आसन् । राज्ञां सदांसि वौद्धिकजीवनस्य केन्द्रभूतान्यासन् । यत्र

श्रौत अर्थों को स्मरण करके उनकी स्मृति को ताजा रखने के अभिप्राय से महर्षिगण अपने शब्दों में जिन ग्रन्थों की रचना करते हैं, उनको स्मृति कहा जाता है । श्रुति केवल गुरु-परम्परा से सुनी जाती है, उसकी कोई रचना नहीं करता । श्रुति से विरोध होने पर स्मृति अप्रामाणिक मानी जाती है । इसके प्रामाण्य के लिये श्रुति के अनुसार उसकी व्याख्या करनी पड़ती है । यदि विरोध नहीं है तो अनुमान के आधार पर स्मृति के अनुगुण श्रुति की कल्पना कर उसको मनु प्रभृति की स्मृतियों की तरह प्रमाण माना जाता है, जैसा कि 'विरोधे त्वनपेक्षं' इस जैमिनि सूत्र में प्रतिपादित है । 'स्मृति सीधे स्मरण शक्ति पर छाप डालती है' (पृ० ११) यह कथन भी गलत है, क्योंकि स्मृति-ग्रन्थों की रचना उनके प्रणेता महर्षियों की अनुभूति पर आधारित रहती है ।

'याज्ञिक क्रियाएं जितनी हो पवित्र होती गईं और धीरे-धीरे पूजा को पद्धति जितनी ही अधिक सुनिश्चित होती गई, उतना ही इनसे सम्बद्ध सूक्तों का महत्त्व भी बढ़ता गया और यथासंभव पवित्रता और सुरक्षा का उनका दावा भी प्रबल होता गया । इसे सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक था कि पहले सूक्तों के पाठ का निर्धारण हो, दूसरे शुद्ध उच्चारण और पाठ की स्थापना हो और अन्ततः उनकी उत्पत्ति की परम्परा सुरक्षित रक्खी जाय । कालान्तर में उनका शाब्दिक अर्थ भाषा के उस रूप के लिये विदेशी हो गया, जिस रूप में यह पहुँच चुकी थी । आगे चलकर यह स्थिति सामान्य जनता की अपेक्षा उन पुरोहितों की हो गई, जिन्हें इनका ज्ञान था । ऐसी दशा में अर्थ की भी सुरक्षा और स्थापना के लिये सावधानी बरतने की आवश्यकता पड़ी । इन सभी प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिये विषय का उत्तम ज्ञान रखने वाले विद्वानों को अज्ञात व्यक्तियों को शिक्षा प्रदान करने का बोड़ा उठाना पड़ा और उनके चारों ओर पर्यटनशील विद्वानों के ऐसे समुदाय बन गये जो एक आचार्य से दूसरे आचार्य के पास उसके विशिष्ट ज्ञान की ख्याति सुनकर अध्ययन करने के लिये यात्राएँ किया करते थे । ये अनुसन्धान कर्ता स्वभावतः भाषा-संबन्धी प्रश्नों तक ही सीमित नहीं थे, अपि तु ब्राह्मणीय आध्यात्मिकता के समूचे क्षेत्र में खोज किया करते थे । इस क्षेत्र में पूजन, विधि और चिन्तन के प्रश्न समान रूप से आते थे, जो वस्तुतः परस्पर सुसंबद्ध थे । कुछ भी हो, हमें यह मानना पड़ेगा कि इस युग के ब्राह्मणों में एक नितान्त उत्साहपूर्ण बौद्धिक जीवन था, जिसमें स्त्रियाँ भी सक्रिय भाग लेती थीं । यह बौद्धिक श्रेष्ठता ही आगे जाने वाले युग में भी ब्राह्मणों को शेष जन-समुदाय के ऊपर प्रधानता का कारण बनी रही । क्षत्रिय वर्ण भी विशेषतः बाह्य युद्धों से विश्राम और शान्ति प्राप्त कर लेने पर इन अन्वेषणों से दूर न रह सका । यहाँ हम मध्य-युगों के पाण्डित्य-प्रधान काल का एक यथार्थ चित्र देते हैं—राजा जिनकी सभाएँ

सोत्साहं ब्राह्मणाः प्रतिस्पर्धया मानवमस्तिष्कैः प्रतिपादितानां प्रश्नानां समाधाने संल्लग्ना आसम् । स्त्रियश्चोत्साहैः प्रतिभाभिश्च चिन्तनानां रहस्येषु निमज्जन्ति स्म । स्वीयविचारगाम्भीर्यैरौदात्यैश्च पुरुषान् प्रभावयन्ति विस्मापयन्ति स्म । ये विषया वर्णनेषु स्वप्नलोकगता इव भान्ति स्म, धार्मिकविषयसम्वद्धान् समादधति स्म इत्यादिकम् ।

पाश्चात्त्याः कूटनीत्या भारतीयग्रन्थानालोडयितुं यथाशक्ति प्रयतन्ते । यद्यपि ते तत्त्वाद्विदूर एव तिष्ठन्ति, आपातरमणीयवर्णनेन पाश्चात्त्यान् तादृशानेव सामान्यभारतीयजनानपि प्रभावयन्ति, अन्ते महत्त्वहीनतामेव प्रदर्शयन्ति । तथैव वेबरोऽपि कथयति तेषां समाधानानां महत्त्वसम्वन्धे सामान्यतयाऽन्वेषणानां मूल्यसम्वन्धे त्वन्यैव वार्ता, किन्तु पाण्डित्यपूर्णेषु सूक्ष्मविवेचनेष्वपि तेषामखण्डयोग्यता नासीत् केवलं प्रयत्नमात्रं तत् । तदपि तादृशं यस्य कस्यापि युगस्य महत्त्वं प्रख्यापयति ।

② मैक्समूलरादीनामपीयमेव दशा । सर्वमेतद्रामायणमीमांसायां प्रदर्शितम् । ऋगादिमन्त्राणामतिगाम्भीर्यात् तदवगमसामग्र्यभावाच्चैते वराकास्तद्विषये न किमपि जानन्ति । क्वचिदुत्तानार्थलेशान् परिगृह्य बाला इव यत्किञ्चित् प्रमाणविधुरमसम्वद्धं प्रलपन्ति कल्पयन्ति च । मन्त्राणां व्यवस्थितान् पाठानालोक्य स्वाभ्यूहमात्रेण तेषां पाठानामर्वाचीनत्वं कल्पयन्ति, मूलं तु न किमपि प्रस्तुवन्ति । सर्वमेतद्विकासक्रमसापेक्षा कल्पना । स च विकासवादोऽस्माभिर्मार्क्सवाद एवं रामराज्यपुस्तके निराकृतः । इदानीं पाश्चात्त्या अपि विकासवादं खण्डयन्तोऽवलोक्यन्ते । अचेतनायाः प्रकृतेरचेतनानां परमाणूनां च विद्युत्कणानां च बुद्धीच्छाप्रयत्नवदात्मसाध्यानां विलक्षणकार्याणां निर्माणेऽसामर्थ्यमालोक्य सर्वोऽपि सहृदयः सर्वज्ञसर्वशक्तिमत्परमेशपूर्वकमेव जगन्निर्माणं मनुते । तदपि चेहैवान्यत्र प्रदर्शितम् । तद्रीत्या च ह्रासवाद

बौद्धिक जीवन का केन्द्र थीं, ब्राह्मण उत्साहपूर्ण प्रतिस्पर्धा के साथ मानव मतिष्क द्वारा प्रतिपादित नितान्त गूढ प्रश्नों के समाधान में लगे थे, स्त्रियाँ उत्साह और प्रतिभा के साथ चिन्तन के रहस्यों में गोते लगाती थीं, अपने विचारों के गाम्भीर्य और औदात्य से पुरुषों को प्रभावित और विस्मित करती थीं, ऐसी स्थिति में रह कर जो वर्णनों के आधार पर स्वप्नलोक की बात प्रतीत होती है, धार्मिक विषयों से संबद्ध प्रश्नों का समाधान करती थीं' (पृ० १४-१५) ।

पाश्चात्य विद्वान् कूटनीति की दृष्टि से ही भारतीय ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं । यद्यपि उनके वास्तविक अभिप्राय तक वे नहीं पहुँच पाते, तो भी ऊपर ऊपर से देखने में बहुत ही सुन्दर प्रतीत होने वाले अपने निष्कर्षों से न केवल पाश्चात्य जनों को ही, अपि तु इसी तरह के सामान्य भारतीयों को भी वे प्रभावित कर लेते हैं और अन्ततः उन शास्त्रों को महत्त्वहीन सिद्ध कर देते हैं । बेवर भी इसी पद्धति का अनुसरण कर कहते हैं—'जहां तक उनके समाधानों के महत्त्व और सामान्य रूप में इन सभी अन्वेषणों के मूल्य का प्रश्न है, वह विलकुल दूसरी बात है । किन्तु पांडित्यपूर्ण सूक्ष्म विवेचनों में भी कोई अखण्ड योग्यता नहीं है । वह केवल प्रयत्न मात्र है और वह भी ऐसा कि इस प्रकार के किसी भी युग के महत्त्व को निखार देता है' (पृ० १५) ।

मैक्समूलर प्रभृति विद्वानों की भी यही पद्धति है । इस बात को हम 'रामायण मीमांसा' में विस्तार से बता चुके हैं । ऋग्वेद आदि संहिताओं के मन्त्र अत्यन्त गूढ अर्थ वाले हैं । उसको समझने का साधन इनके पास नहीं है, अतः वे कुछ सही रूप से समझ नहीं पाते । कहीं कहीं से उलटे-सीधे अर्थ को पकड़ कर बच्चों की तरह बिना प्रमाण के मनमाने असंबद्ध अर्थों की कल्पना करने लगते हैं । मन्त्रों के व्यवस्थित पाठों को देखकर भी उनका महत्त्व घटाने के लिये अपनी कल्पना से उनको प्राचीन तथा नवीन बताते रहते हैं, किन्तु इसमें कुछ ठोस प्रमाण नहीं दे पाते । उनका यह सारा वाग्जाल विकासवाद के क्रम की दृष्टि से विछाया जाता है । इस विकासवाद का खण्डन हम अपनी पुस्तक 'मार्क्सवाद और रामराज्य' में कर चुके हैं । आज कल तो पाश्चात्य विद्वान् भी इस विकासवाद को अस्वीकार करने लगे हैं । अचेतन प्रकृति अचेतन परमाणु और विद्युत्कण उन विलक्षण कार्यों को नहीं कर पाते, जिनको कि बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न आदि गुणों वाला चेतन प्राणी ही कर सकता है । चेतन अचेतन की इस विलक्षणता के आधार पर सभी समझदार व्यक्ति यह मानते हैं कि सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् ईश्वर ही इस जगत् की सृष्टि कर सकता है । इस बात को इसी ग्रन्थ में अन्यत्र हम विस्तार से बता चुके हैं । इस पद्धति से ह्रासवाद ही सिद्ध होता है, विकासवाद नहीं । उत्पत्ति, स्थिति, बुद्धि, परिणाम, क्षय

एव सिद्धयति, न विकासवादः। जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यतीति रीत्या तु ह्रासविकासपारम्पर्यं सर्वत्रैव दृश्यते। तथात्वे परमेश्वरादुद्भूतानां ब्रह्म-प्रजापति-महर्षीणां परमेश्वरापेक्षयाऽल्पज्ञानशक्तीनामाधुनिकजनापेक्षया चापरिमितज्ञानक्रियाशक्तीनां प्रभावातिशयः स्फुट एव। किमुत परमेश्वरादेव निःश्वासन्यायेन प्रवृत्तानां मन्त्रब्राह्मणात्मकानां वेदानां लोकोत्तरमाहात्म्यसम्बन्धे तेषां च सम्बन्धेऽर्वाचीनत्वं विकासं च पश्यतां पाश्चात्यानां बुद्धिमान्द्यातिशय एव सिद्धयति।

आध्यात्मिकतत्त्वान्वेषणसमाधानादिविषयेषु स्पर्धापूर्वकं पुरुषाणां स्त्रीणां च सोत्साहप्रवृत्तिसम्बन्धिन्यः कथा बृहदारण्यकादिग्रन्थेभ्य एव कथञ्चिदाचिताः। ताभ्योऽपि वेदानां कालावधारणमितिहासकल्पनं च जले वालुकाभित्तिसमानमेव, आख्यायिकानां सुखावबोधार्थमुपकल्पितानामितिहासवर्णने सामर्थ्याभावस्यासकृदावेदितत्वात्।

यदपि च 'केषाञ्चिदंशानां प्रक्षेपमन्तरा कथञ्चिदपि परिवर्तनमसम्भवमेव तदानीमासीत्। शब्दोच्चारणानां गानसम्बन्धिनियमानां च प्रातिशाख्यसूत्रेषूपलम्भात्। केनचिद्वेदेन सम्बद्धानि प्रातिशाख्यसूत्राणि स्वसम्बद्धाः सर्वाः शाखा विवेचयन्ति। ध्वनीनां सन्धिनियमानां स्वराणां परिवर्तनेषु ध्वनिसामञ्जस्याय प्रातिशाख्यानि नियमान् प्रस्तुवन्ति। यत्र विशिष्टानि परिवर्तनानि भवन्ति, तेषां विशेषतो निर्देशोऽत्रोपलभ्यते। एतैरेवंविधान्यालोचनात्मकानि साधनान्युपलभ्यन्ते यैः प्रातिशाख्यरचनाकालिकान् संहितापाठान् उपगन्तुं प्रभवामः। यदि कासुचित्संहितासु कस्मिंश्चिद् भागे ध्वनिविषयं वैलक्षण्यमुपलभामहे, तर्ह्येवं विश्वासो भवति यत्स भागस्तदानीं संहितासु नासीदेव' इति, एतदपि सर्वं कल्पनामात्रम्, पदक्रमादिभिर्वेदानभ्यस्यतां प्रक्षेपस्याभ्यासासम्भवात्। अतिप्राचीनकाले रामायणेऽप्येवं ज्ञायते—

और विनाश निरुक्त में प्रदर्शित इन छः प्रकार के प्रत्येक वस्तु के विकारों को देखकर यह ह्रास और विकास का क्रम निरन्तर चलता रहता है। इस तरह से परमेश्वर से आविर्भूत ब्रह्मा, प्रजापति और महर्षिगण यद्यपि परमेश्वर की अपेक्षा ज्ञान, शक्ति आदि गुणों में कुछ कम हैं, किन्तु आजकल के मनुष्यों की अपेक्षा उनकी ज्ञान-क्रिया शक्ति अपरिमित होने से उनका महत्त्व मानना ही पड़ेगा। इस तरह से परमेश्वर से श्वास-प्रश्वास को गति की भाँति स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदों का लोकोत्तर महत्त्व क्या है? इसके संबन्ध में बिना कुछ विचार किये पाश्चात्य विद्वानों का उनमें अर्वाचीनता और विकासवाद की बात ढूंढना, बुद्धि का पूरा अजीर्ण ही माना जायगा।

आध्यात्मिक तत्त्वों के अन्वेषण और समाधान के लिये पुरुषों और स्त्रियों की स्पर्धा और उत्साह के साथ लगे रहने की बात बृहदारण्यक उपनिषद् प्रभृति ग्रन्थों से ही किसी तरह से निकाली गई है। इनसे भी वेदों का काल-निर्धारण करना अथवा उनमें इतिहास ढूंढ निकालने का काम जल में बालू की भीत खड़ी करने के समान है। यह बात हम अनेक बार बता चुके हैं कि वेदों में आख्यायिकाएँ विषय को सरलता से समझाने के लिये कल्पित हैं, उनसे किसी तरह का सत्य इतिहास नहीं बनाया जा सकता।

बेवर ने आगे कहा है—'यह प्रायः असंभव प्रतीत होता है कि उस समय से इन पाठों में प्रक्षिप्त अंशों के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार का परिवर्तन कभी हुआ हो। ये निर्देश, शब्दों के उच्चारण और गान से संबद्ध नियम प्रातिशाख्य-सूत्रों में दिये गये हैं। इस प्रकार का प्रातिशाख्य सूत्र किसी एक वेद की संहिता से संवद्ध तो होता ही है, अपनी सभी शाखाओं का विवेचन भी करता है। यह प्रयुक्त ध्वनियों के रूप, सन्धि के नियमों, स्वरों और उसके परिवर्तनों, ध्वनि का सामंजस्य आदि विषयों पर सामान्य नियम प्रस्तुत करता है। अपरंच, ऐसे सभी उदाहरण, जिनमें विशिष्ट ध्वनि संबन्धी या अन्य प्रकार के परिवर्तन देखे जाते हैं, विशेष रूप से निर्दिष्ट होते हैं। इस प्रकार हमें ऐसे उत्तम आलोचनात्मक साधन मिलते हैं, जिनके द्वारा हम प्रातिशाख्य की रचना के समय के प्रत्येक संहिता के पाठ तक पहुँच सकते हैं। यदि हम संहिता के किसी भाग में कोई ऐसी ध्वनि विषयक विलक्षणताएँ पाते हैं, जो उसके प्रातिशाख्य में अप्राप्य हैं, तो हमें यह विश्वास कर लेना चाहिये कि उस प्रातिशाख्य के समय में वह भाग संहिता के अन्तर्गत नहीं था' (पृ० १६-१७)। किन्तु यह सारा कथन कोरी कल्पना है, क्योंकि वेदों का अध्ययन पद, क्रम आदि की पद्धति से किया जाता है। उसमें एक भी नये पद के प्रक्षेप की कोई कल्पना कर ही कैसे सकता है? अतिप्राचीन काल की रचना रामायण में कहा गया

'हृदयेष्ववतिष्ठन्ति वेदा ये नः परं धनम्' (वा० रा० २) । अनया रीत्या प्राणादपि प्रियतमानां वेदानां रक्षणे तेषामवधानवत्त्वात् । अनध्यायादावध्ययनादिप्रमादादेव मर्त्यलोके तासां तासां शाखानां विलोपो जातः । विलुप्तानामपि शाखानां सूर्यब्रह्मलोकादिषु विद्यमानत्वात् । व्याकरण-निघण्टु-निरुक्त-प्रातिशाख्यादिग्रन्थानां वेदेषूपलब्धस्वरूपदर्शनायैवोपयोगः । व्याकरणादीनि वेदाननुसरन्ति, नहि वेदकर्तृकं व्याकरणादिशास्त्रानुसरणम् ।

१६ पृष्ठीयटिप्पण्यां हागमहाशयविचारमनुरुध्य—'ये ब्राह्मणा बौद्धधर्ममङ्गीकृतवन्तस्तैः सर्वतः प्रथमं विवादाय वेदा लेखबद्धाः कृताः । तेषामेवानुसरणमन्यैर्ब्राह्मणैः कृतम् । गोल्डस्टचूकेर-वेटलिंग्क-हिटनी-रोथप्रभृतय एतन्मतविरोधिनः । एतेषां मतानुसारं प्रातिशाख्यरचयितृभिः प्रथमत एव वेदा लेखबद्धाः कृताः । बेनफीमहाशयस्यापि पूर्वमिदमेव मतमासीत्, किन्तु पश्चात्—'वैदिकग्रन्था बहोः कालादनन्तरं प्रक्षेपाणामनन्तरमेव लेखबद्धा जाताः ।' (आइन लाइटुंग इन दो ग्रामाटिक डेर वेदस्प्राख, पृ० ३१) । वस्तुतो भारतीयानां यन्त्रविद्याऽतीव प्राचीना । यत्र रेखाणामिवाक्षराणामपि सन्निवेश आसीत् ।

एवमेव छन्दसामपि सम्बन्धे पाश्चात्त्यानां भ्रमात्मका एव विचाराः । वेदज्ञास्तपोनिर्धूतकल्मषा ऋषय ऋतम्भराभिः प्रज्ञाभिरधिगतयाथातथ्या ऋचां साम्नां यजुषामथर्वाङ्गिरसां ब्राह्मणानां च छन्दांसि स्वरांश्च पारम्पर्यानुरोधेनैव निर्धारितवन्तः । यथा लतावक्रतापि स्वाभाविकत्वात् शोभावहा, तथैव वेदानां तद्भागविशेषाणां च प्रकृति-प्रत्यय-स्वर-च्छन्दोभेदेषु व्याकरणादिशास्त्रवैपरीत्येऽपि शोभा नापैति । अत एवाह पतञ्जलिः—'छन्दसि दृष्टानुविधिः' इति । ब्राह्मणेषु स्वरवैचित्र्याभावो न ज्ञानाभावात्, किन्तु स्वाभाविकत्वादेव । नहि स्वभावः पर्यनुयोज्यो भवति,

है—'वेद हमारे सर्वोत्कृष्ट धन हैं, इनको हम अपने हृदय में सुरक्षित रखते हैं' । इस तरह से अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय वेदों की रक्षा में ये वैदिक गण सदा सावधान रहे हैं । अनध्याय के दिनों में पढ़ना आदि दोषों के कारण ही उन उन शाखाओं का इस मृत्युलोक में विलोप हो गया है । इन विलुप्त शाखाओं की भी स्थिति सूर्यलोक, ब्रह्मलोक आदि में विद्यमान है । व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों का उपयोग यही है कि इनसे वेदों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो सके । व्याकरण प्रभृति शास्त्र वेदों का ही अनुसरण करते हैं, वेद इनके अनुसार चलें, इसकी कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

वेबर ने अपनी एक टिप्पणी में लिखा है—'हॉग का विचार है कि जिन ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया, उन्होंने ही सर्वप्रथम वेद को विवाद के लिये लेखबद्ध किया और उनका अनुसरण दूसरे ब्राह्मणों ने किया । इसके विपरीत गोल्डस्टघूकर, वेटलिंग, ह्विटनी और रोथ प्रभृति इस मत के विरोधी हैं । उनका विचार है कि प्रातिशाख्यों के रचयिताओं ने पहले ही ग्रन्थों को लेखबद्ध किया होगा । पहले बेनफी का भी यही मत था, किन्तु बाद में उनका यह मत बना कि वैदिक ग्रन्थों को बहुत बाद के समय में उनके प्रक्षेपों के बहुत बाद लिखा गया था' (पृ० १६) । वास्तव में तो भारतीय यन्त्रविद्या अत्यन्त प्राचीन है । इन यन्त्रों में रेखाओं के साथ अक्षरों का संयोजन रहता था ।

इसी तरह से छन्दों के संबन्ध में भी पाश्चात्य विद्वानों के विचार बड़े भ्रमपूर्ण हैं । तपस्या करके अपने सारे दोषों को धो लेने वाले वेदज्ञ ऋषियों ने ऋतम्भरा प्रज्ञा (यौगिक दृष्टि) से यथार्थ वस्तु स्थिति को जानकर ऋक्, साम, यजुः, अथर्व वेदों के और ब्राह्मणों के छन्दों और स्वरों को परम्परा के अनुसार ही निर्धारित किया है । जैसे लता का टेढामेढापन उसकी स्वाभाविक शोभा को बढ़ाता है, उसी तरह से वेदों और उनके भाग ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रकृति, प्रत्यय, स्वर, छन्द आदि में व्याकरण, छन्द आदि शास्त्रों की दृष्टि से दिखाई पड़ने वाला विपर्यय (उलटापन) उसकी शोभा ही है । इसी लिये पतंजलि ने माना है कि वेदों में जो प्रयोग जैसा देखा जाता है, वही उसको विधि है, अर्थात् व्याकरण शास्त्र को तदनुसार ही उस प्रयोग को सही सिद्ध करना पड़ता है, सही माना जाता है । ब्राह्मणों में स्वरों की विभिन्नता स्वरों का ज्ञान न होने से नहीं है, किन्तु स्वाभाविक रूप से ब्राह्मणों में अनेक स्वर नहीं रहते । स्वभाव को कोई क्या टोकेगा कि अग्नि गरम क्यों होती है ? अर्थात् जैसे अग्नि की उष्णता के विषय में कोई यह प्रश्न नहीं कर सकता कि यह गरम ही क्यों होती है, उसी तरह से इस विषय पर भी कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता कि ब्राह्मणों में कुछ ही स्वर क्यों

अग्नेरौष्ण्यादिवत् । उपासनासु वैदिकानि सच्छन्दस्कानि पदान्यपि भवन्ति । कयाचिदपेक्षया सांसारिकैर्वस्तुभिस्तेषामैक्यानुसन्धानादिकं भवति । तदेतदज्ञात्वैव वेवरोऽन्यथा जल्पति—'ब्राह्मणेषु छन्दसामेषां नामभिः संसारस्य सामञ्जस्याय रहस्यमय्या रीत्या सम्बन्धः स्थापितः' इति ।

यदपि च भारतीयसाहित्यस्य ११ पृष्ठे उक्तम्—यद्यपि रीतयो नियमाश्च सर्वेषां सम्पत्तयें भवन्ति, सर्वैर्गम्याश्च भवन्ति, तथापि तद्वैपरीत्येन यज्ञक्रियासमानप्रकारेण मूलतः सामान्यचेतनादुद्भूतास्तद्विस्तारविकासा विशिष्टव्यक्तीनां चिन्तनपरामर्शादिभिर्भवन्ति । तत एव यज्ञक्रियाः केषाञ्चिदल्पसंख्यजनानामधिकारविषयवस्तुभूता भवन्ति । ते च बाह्यपरिस्थित्यनुरोधेनानुकूल्यमवाप्येदं ज्ञातुं यतमाना भवन्ति यत् कया रीत्याऽस्याः संस्थाया माहात्म्यं पावित्र्यं यथोचितश्रद्धा तथातङ्कश्च समुत्पद्येत । बाह्यदेशादागताया आर्यजातेस्तैः पराभूतानामादिवासिनां पराभवानन्तरमपि बहवोऽनेके विषया आसन् येषु ते व्यासज्जमाना भवेयुः । प्रथमतः सम्पूर्णशक्तिभिः शत्रुभ्यः स्वात्मरक्षणमावश्यकमासीत् । प्रतिरोधपूर्त्यनन्तरं सहसा प्रबोधात्तैरिदं ज्ञातं यद्वयं शक्तिशालिनां शत्रूणामस्त्रैर्निगडिता असहायाः स्मः । अथवा निद्राभङ्ग एवादिवासिनां नासीदित्यपि वक्तुं शक्यते । तेषां शारीर्यः शक्तयो बहोः कालात् समग्ररूपेण सक्रियत्वात् क्षीणा जाताः । बौद्धशक्तिरपि महती विनष्टिमुपगता कुण्ठिता । नवीनशत्रूणा (आर्याणा) मितिहास एवमासीत् । प्राचीनगीतानां ज्ञानान्यासन्नेषाम्, ये स्वप्राचीननिवासस्थलेषु प्रकृतिशक्तीः पूजयन्ति स्म । एभिर्गीतैः सम्बद्धानां यज्ञानां च ज्ञानान्यासन्नेषाम्, येषां पूर्वजैस्तानि गीतानि रचितानि तद्वंशीयानां परम्परागतानि तानि तानि जातानि । एतेषामेव परिवारेषु ता अपि परम्परा आसन् यासां व्याख्या अपेक्षिता आसन् । एवं गीतानां रचयितॄणां परिवाराः संवृत्ताः । यथा यथा स्वप्राचीननिवासस्थानादेते दूरमुपगता बाह्यसङ्घर्षाणां प्रभावात् तेषां मस्तिष्केभ्यः

होते हैं, क्योंकि यह तो उनका स्वभाव है । उपासना विधियों में कभी कभी छन्दोबद्ध वैदिक पदों का भी उपयोग होता है और कभी कभी इनकी किसी दृष्टि से सांसारिक वस्तुओं के साथ एकता भी स्थापित की जाती है । इस बात को बिना समझे ही बेवर कहते हैं—'ब्राह्मणों में इन छन्दों के नामों के साथ अजीबोगरीब युक्तियाँ भिड़ाई गई हैं, तथा उनके सामंजस्य को रहस्यमय ढंग से संसार के सामंजस्य के साथ संबद्ध किया गया है और वस्तुतः उसे उसका कारण बताया गया हैं' (पृ० १७) ।

इससे पहले बेवर ने अपनी दृष्टि से पौरोहित्य परम्परा के विषय में विस्तार से लिखा है—'रीति और नियम सबकी सम्पत्ति होते हैं और सभी द्वारा गम्य हैं, किन्तु इसके विपरीत यज्ञ-क्रिया यद्यपि समान प्रकार से मूलतः सामान्य चेतना से उद्भूत होती है, तथापि उसके विस्तारों का विकास विशिष्ट व्यक्तियों के चिन्तन और परामर्शों द्वारा होता है और इस कारण यज्ञक्रिया कुछ ऐसे अल्पसंख्यक लोगों के अधिकार की वस्तु होती है, जो बाह्य परिस्थितियों की अनुकूलता प्राप्त कर यह बात जानते रहते हैं कि किस प्रकार जनता में अपनी संस्थाओं के माहात्म्य और पवित्रता के विषय में यथोचित श्रद्धा एवं आतंग उत्पन्न किया जाय । इससे यही समझ लेना चाहिये कि स्मृति रीति, नियम अथवा विधि में समय के साथ-साथ पर्याप्त परिवर्तन नहीं हुआ । बाहर से आने वाली जाति के हाथों में, आदिवासी जातियों को पराभूत करने के उपरान्त, इतने विषय विद्यमान थे कि वे दूसरे विषयों में उलझे रह सकते थे । पहले तो उन्हें अपनी समूची शक्ति लगाकर शत्रु से अपनी रक्षा करनी थी । जब यह कार्य पूरा हो गया और उनका प्रतिरोध पूर्ण हो गया तो सहसा जाग्रत् होने पर उन्होंने अपने को दूसरे और अधिक शक्तिशाली शत्रु के हाथों में बद्ध और असहाय पाया । अथवा यों कहा जा सकता है कि उनकी निद्रा टूटी ही नहीं । उनकी शारीरिक शक्तियाँ इतने दीर्घकाल से एवं समग्र रूप से सक्रिय थीं और खप रही थीं कि उनकी बौद्धिक शक्तियों को भी महान् हानि पहुँची और वे शनैः-शनै पूर्ण तथा कुण्ठित हो गईं । इन नये शत्रुओं का इतिहास इस प्रकार था—प्राचीन गीतों का ज्ञान, जिनके द्वारा भारतीय अपने प्राचीन निवास स्थानों पर प्रकृति की शक्तियों की पूजा किया करते थे, और उन गीतों से सम्बद्ध यज्ञों का ज्ञान, दोनों ही उत्तरोत्तर उन लोगों के अधिकार में आते गये, जिनके पूर्वजों ने संभवतः उनकी रचना की थी और जिनके वंश में यह ज्ञान परम्परागत होता था । इन्हीं परिवारों के अधिकार में वे परम्पराएँ भी थीं, जो उनकी व्याख्या के लिये आवश्यक थीं । विदेश में बाहर से आये हुए व्यक्तियों के लिये अपनी मातृभूमि से लाई

प्राचीनाः संस्था विनिःसृताः । तथा तथा पुरोहितानां प्रभावा अपि दाढर्च मुपगताः । पैतृकरीतीनां नियमानां देवपूजनानां च संरक्षकैरेतैर्निरन्तरं विकासोन्मुखं महत्त्वपूर्णं पदमासादितम्, तेषां च पारलौकिकशक्तीनां प्रतिनिधयः सञ्जातास्ते पुरोहिताः । तैरनुकूलावसरस्य चातुर्येणोपयोगं कृत्वा तादृश्याः पुरोहितप्रधानाया व्यवस्थायाः स्थापने साफल्यमवाप्तम्, यादृशी व्यवस्था केनापि न दृष्टा, एतत्पदप्राप्तिरसम्भवैव स्याद्यदि हिन्दुस्थानस्यास्वास्थ्यकरौ जलवायू न स्याताम् । तत्प्रभाविता जीवनप्रणाली च न स्यात् । यथा चानभ्यस्ताया जातेरुपरि हानिकारकः प्रभावः पातित इति (पृ० ११-१२) ।

तदेतत्सर्वं पाश्चात्त्यानां कौटिल्यमेव बेवरमुखादुद्गतम् । सर्वं चैतन्निर्मूलम् । वेदसाहित्यमाश्रित्यैतत्सर्वं तेन जल्पितं परं तादृशं वचनमेकमपि न समुद्धृतम्, यतो हि वचनसमुद्धरणेन सुतरां निःसारतैव स्यात् । वचनानामर्थावगमप्रणाल्यपि तैर्न ज्ञायते । मन्त्रार्थावगमस्तु दूरापेत एव । एवंविधैर्विषाक्तैर्विचारैरेवात्रार्यानार्यसवर्णासवर्णभेदा उत्थापिताः कलहश्चोत्पादितः । बहिर्देशादार्या भारतमुपगता इत्ययं पक्षोऽपि निर्मूल एव । वेदादिभारतीयसाहित्येषु तद्वर्णनानुपलम्भात् । विवेचितं चैतद् रामायणमीमांसायां चातुवर्ण्यसंस्कृतिविमर्शे च । यज्ञाश्च न रीतिमात्रप्रसूता न वा सामान्यचेतनाया उद्भूता न वा तेषां विस्तारा विशिष्टव्यक्तीनां चिन्तनपरामर्शैः समुद्भूताः, किन्त्वनादेरपौरुषेयाद्वेदादेव । वेदाश्च न कैश्चिद्रचिता गीतरूपास्तत्र प्रमाणाभावात् । केवलं कल्प्यते पाश्चात्त्यैः । न च कल्पनाः प्रामाण्यमुपगच्छन्ति निरङ्कुशत्वात् । नैयायिकैस्तु परमेश्वरकर्तृकत्वमेव वेदानामनुमीयते । मीमांसकैस्तान्यप्यनुमानानि निरस्याविच्छिन्नपारम्पर्येण 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६) इत्यादिप्रमाणैश्च

हुई कोई भी वस्तु पवित्रता से परिवृत प्रतीत होने लगती है और इस प्रकार ऐसा हुआ कि गीतों की रचना करने वालों के ये परिवार पुरोहितों के परिवार बन गये तथा जैसे-जैसे इस जाति के लोग अपने प्राचीन निवास-स्थान से दूर होते गये एवं बाह्य संघर्षों के फलस्वरूप उनके मस्तिष्क से अपनी प्राचीन संस्थाएँ निकलती गईं, वैसे-वैसे इन पुरोहितों के परिवारों का भी प्रभाव जमता गया। पैतृक रीति-रिवाजों और देवपूजन के इन संरक्षकों ने निरन्तर विकासोन्मुख महत्त्व का पद प्राप्त किया। वे इनके प्रतिनिधि हो गये और अन्त में स्वयं पारलौकिक शक्ति के ही प्रतिनिधि बन बैठे। उन्होंने अपने अनुकूल अवसरों का इतनी चतुराई के साथ उपयोग किया कि वे इस प्रकार की पुरोहित-प्रधान व्यवस्था स्थापित करने में सफल हुए, जिसके समान संसार ने कभी देखी ही नहीं। इस पद तक पहुँचना उनके लिये असंभव हुआ होता, यदि हिन्दुस्तान जैसी अस्वास्थ्यकर जलवायु और उस जलवायु से प्रभावित जीवन-प्रणाली न रही होगी, जिसने इनसे अनभ्यस्त जाति के ऊपर हानिकारक प्रभाव छोड़ा' (पृ० ११-१२)।

पाश्चात्य विद्वानों की कुटिलता ही इस तरह से वेबर के मुंह से प्रकट हो रही है। ये सब बातें निराधार हैं। वैदिक साहित्य के संबन्ध में ही बेवर ने यह सब कुछ कहा है, किन्तु इसके लिये कोई प्रमाण नहीं दिया। क्योंकि यदि ये लोग वचनों को उद्धृत करें तो उनसे ही इनके कथन की निःसारता सिद्ध हो जायगी, इस बात को वे भी जानते हैं। इन वैदिक वचनों के अर्थ को समझने की पद्धति का भी उनको ज्ञान नहीं है, तब ये लोग मन्त्रों का अर्थ कैसे समझ सकते हैं? इस तरह के विषाक्त प्रचार से ही आज देश में आर्य-अनार्य, सवर्ण-असवर्ण आदि के भेदों को उभाड़ कर परस्पर वर्गों में संघर्ष की स्थिति पैदा कर दी गई है। बाहर के किसी देश से आर्य यहाँ आये, इस तरह की बातें भी सर्वथा निराधार हैं। वेद आदि किसी भी भारतीय ग्रन्थ में इस बात का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इस बात पर हमने 'रामायण मीमांसा' और 'चातुर्वर्ण्य-संस्कृति विमर्श' नामक ग्रन्थों में विस्तार से विवेचन किया है। यज्ञों का विस्तार केवल रीति या परम्पराओं से अथवा मनुष्य की सामान्य चेतना से या विशिष्ट व्यक्तियों की चिन्तन-परामर्श पद्धति से नहीं हुआ है, किन्तु अनादि अपौरुषेय वेद से ही उनकी विधि-विधानों की पद्धति भी ज्ञात होती है। वेद किन्हीं के द्वारा रचे गये गीत हैं, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है। यह पाश्चात्यों की कोरी कल्पना है। कल्पना कभी प्रमाण नहीं मानी जाती, क्योंकि कल्पना पर कोई कभी यह अंकुश नहीं लगाया जा सकता कि इस तरह की कल्पना करनी चाहिये और इस तरह की नहीं। नैयायिक अनुमान के द्वारा ईश्वर को वेदों का कर्ता सिद्ध करते हैं। मीमांसक इन नैयायिकों की युक्तियों का खण्डन कर अविच्छिन्न परम्परा के आधार पर तथा 'वाचा

वेदानामनादित्वं स्थाप्यते । पाश्चात्यास्तु—'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' इति न्यायमनुसृत्य यत्किञ्चित् प्रलपन्ति । येषां नास्तिकप्रायाणां परमेश्वरे धर्मे परलोके च विश्वासो नासीत् तैरेव तत्कल्पना विश्वासमापादिता । पैतृकरीतिसमुद्भूता देवपूजादिकल्पना इति त एव प्रजल्पन्ति । वैदिकैस्तु प्रत्यक्षानुमानागमादिप्रमाणान्यनुसृत्यैव किमप्युच्यतेऽभिप्रेयते च । लोकव्यवहारनिर्वाहाय शब्दप्रामाण्यं सर्वैरप्यभ्युपेयते । वक्तृदोषेणैव शब्दानामप्रामाण्यं भवति । येषां शब्दानां प्रथमवक्ता निर्माता वा प्रमाणैर्न सिद्ध्यति, ये च व्यवहारारूढा अविच्छिन्नपारम्पर्यास्तेषाम-पौरुषेयत्वेनापास्तसमस्तपुंदोषत्वात् प्रामाण्यमेव । भारतस्य यादृशौ जलवायू स्वास्थ्यकरौ न तादृशस्वास्थ्यकरौ पाश्चात्यदेशेषु, भारतस्य सर्वर्तुसुखकरत्वात् । फलानि विविधान्यन्नानि पयोदध्यादीनि स्वास्थ्यकराणि वस्तूनि यथा भारते तदानीमपि यथासन्न तथान्यत्रेति स्पष्टमेव । विश्वासनीतिरीतीनां नियमानां च न प्रामाण्यम्, न वा तेषां परिगणितप्रमाणेष्वन्तर्भावः । तदाश्रिता यज्ञाः कथमुपादेयाः स्युः ।

एवं लघुभी राजभिः प्रथमं जातिषु वैयक्तिकं शासनं कृतम् । तदानीं तेऽपि विस्तृतानां राज्यानां स्वामिनः सन्तः शक्तिशालिनो जाताः । एवं क्षत्रियवर्णस्योदयः । सर्वत्र वसन्तो जनसाधारणा विशः । विशोऽपि सङ्घटिताः सन्तश्चतुर्थवर्णेषु स्वाधिकारान् सुरक्षितान् कृतवन्तः । अन्तिमस्य शूद्रवर्णस्य सङ्घटनमनेकैर्मिश्रितैस्तत्त्वैः संवृत्तं यस्मिन्नंशत एका आर्यजातिरप्यासीत् । या प्रथममेव भारतमागतेति । ते चांशतो मूलनिवासिनोंऽशतो वहिर्देशादा-गताः, अथवा पश्चिमदेशादागतानामार्याणां वान्धवसमुदायैकदेशिन एव यैर्ब्राह्मणीयव्यवस्थाया अनुगमनमस्वीकृतम्, योद्धारो राजपरिवाराश्च यैर्ब्राह्मणानां तावत्पर्यन्तं प्राणपणैः समर्थनं कृतम्, यावत्तेषामधिकारापहरणप्रश्न आसीत्, तत्सिद्धौ तेऽपि पूर्वमित्रैर्विरुद्ध्यमानाः स्वस्कन्धस्थयुगमुत्तार्य शूद्रवर्गं एव समवेताः । सर्वमेतत् परवर्तिषु गूढाख्यानेषु

विरूपनित्यया' इस तरह के वैदिक वचनों के प्रमाणों से भी वेदों की अनादिता को सिद्ध करते हैं । पाश्चात्य विद्वान् 'अंगूर खट्टे हैं' इस कहावत के अनुसार जब वेदों का अर्थ कुछ समझ नहीं पाते तो मनमानी बकवास करने लगते हैं । प्रायः उन नास्तिकों को, जिनका कि परमेश्वर, धर्म या परलोक में विश्वास नहीं था, इस तरह की पाश्चात्यों की कल्पना पर विश्वास हो गया । उन्हीं लोगों का यह कहना है कि देवपूजा आदि की कल्पनाएँ केवल परम्परा प्रसूत हैं । इसके विपरीत वैदिक विद्वान् प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों के अनुसार ही कुछ कहते हैं या मानते हैं । लोक-व्यवहार के निर्वाह के लिये भी सभी लोगों को शब्द को प्रमाण मानना पड़ता है । वक्ता के दोष से ही शब्द में अप्रामाण्य आता है । जिन शब्दों का कोई प्रथम वक्ता या निर्माता प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो पाता और जिनका व्यवहार अविच्छिन्न परम्परा से निरन्तर चला आ रहा है, वे अपौरुषेय माने जाते हैं । उनमें समस्त पुरुष दोषों की संभावना न रहने से उनकी प्रामाणिकता में भी कोई शंका नहीं बनती । वेबर की भारत के जलवायु के संबन्ध में कही गई बात भी सर्वथा निराधार है । भारत का जलवायु सारी दुनियां के लोगों के लिये जिस तरह का स्वास्थ्यप्रद है, उस तरह का जलवायु पाश्चात्य देशों का नहीं है । भारत की सभी ऋतुएँ सुखद हैं । भाँति-भाँति के फल, अन्न, दूध, दही आदि स्वास्थ्यवर्धक पदार्थ जैसे यहाँ होते रहे हैं, वह स्थिति अब भी कहीं की नहीं है । विश्वास, नीति-रीति और नियमों को कोई प्रमाण नहीं मानता और न इनका किन्हीं प्रमाणों में अन्तर्भाव ही माना जाता है । तब यज्ञों की स्थिति यदि इनके आधार पर मानी जाय तो उनको कैसे प्रमाण माना जा सकता है ?

'छोटे छोटे राजाओं के परिवारों ने भी, जिन्होंने पहले व्यक्तिगत जातियों पर शासन किया था, अब हिन्दुस्तान में आवश्यक रूप से स्थापित किये गये अधिक विस्तृत राज्यों के स्वामी बनकर और भी शक्तिशाली हो गये । इस प्रकार क्षत्रिय वर्ग का उदय हुआ । अन्ततः सामान्य जनता ने, जो 'विश्' या 'बसने वाले' कहलायी, मिलकर तीसरे वर्ग का संगठन किया और उन्होंने भी स्वभावतः चौथे वर्ण या शूद्रों के ऊपर अपने विशेषाधिकार सुरक्षित कर लिये । इस अन्तिम वर्ण का संगठन अनेक मिश्रित तत्त्वों से हुआ, जिनमें आंशिक रूप से संभवतः एक ऐसी आर्य जाति थी, जो पहले भारत में आकर बस गई थी; आंशिक रूप में स्वयं मूल निवासी थे और आंशिक रूप में बाहर से आई हुई जातियों के या उनके पश्चिमी बान्धवों के समुदाय के ऐसे लोग थे, जिन्होंने नवीन ब्राह्मणीय व्यवस्था का अनुगमन करना अस्वीकार कर दिया था । राज-परिवार या योद्धा जिन्होंने उस समय तक पुरोहितों का जी-जान से समर्थन किया था, जब तक कि लोगों के अधिकारों का अपहरण करने का प्रश्न था । अब इस कार्य के सिद्ध हो जाने पर अपने पहले

वर्णितमिति, तदपि न क्षोदक्षमम्, निर्मूलत्वात् । वैदिकसाहित्येषु नास्याः कपोलकल्पनाया आधारो विद्यत इतीत एव सिद्ध्यति । केचिद्रामायणगतं वशिष्ठविश्वामित्रसङ्घर्षमाश्रित्य भारतगतं भृगुवंशीयानां ब्राह्मणानां हैहयवंशीयैः क्षत्रियैर्जातं सङ्घर्षं च तत्र प्रमाणयन्ति । परन्तु रामायणमहाभारताद्युक्तहेतुजातमुपेक्ष्यानुक्तस्वाभ्यूहितहेतुकल्पनं सर्वथा निराधारमेव । श्रुतहानिरश्रुतकल्पना च न युक्ता । तत्राप्यन्ते समन्वय एव दृश्यते ।

'येषु परिवारेषु प्राचीनरीतीनां स्मृतीनां च रक्षणे यत्न आसीत्, ब्राह्मणानां प्रभावात्तेष्वपि पर्याप्तानि परिवर्तनानि परिष्कृतयश्च जातानि । तथाप्ययं प्रभावो राजनीतिकमान्यतास्वेव प्रतिफलितः । गृहस्थजीवनसम्बन्धिन्यो रीतयस्तु प्राचीनरूपेणास्पृष्टा एवासन् । स्मार्तसूत्रेषु प्राचीनविचाराणां बृहद्भाण्डागाराणां समावेशो दृश्यते । एतेष्वेव हिन्दूनां विधिसाहित्यस्योद्गमो लभ्यते । (पृ० १३) अत्रैव टिप्पण्यां जातकर्मसंस्कारसम्वन्धे स्पाइजेरस्य विवाहसंस्कारसम्वन्धे हासमहाशयस्य, अन्त्येष्टिसंस्कारसम्बन्धे रोथप्रभृतीनाम्, पिण्डपितृयज्ञसम्बन्धे च आ०डोन्नेरमहाशयस्य संकेताः सूचिताः । गृह्यसूत्र-धर्मसूत्र-समयाचारिकसूत्रैः श्रौतसूत्राणां च सम्वन्धा उक्ताः । तदपि न किञ्चित्, ग्रन्थस्वारस्यानवगमात्, गुरुपारम्पर्याभावाच्च । वस्तुतः सम्यक्संस्कृताध्ययनाभावात् मन्त्राणां ब्राह्मणानामुपनिषदां सूत्राणां चाशयं न मनागप्यवगच्छन्ति पाश्चात्याः, किन्तु वाह्यं किमपि स्थूलांशमाधृत्य कल्पनाबहुलां वाचं जल्पन्ति ।

यदपि च—'वर्धमानया बौद्धशक्त्या ब्राह्मणीयव्यवस्थाया उपर्युग्रमाक्रमणमारब्धम् । तदानीं सङ्करमेघच्छन्ना सा व्यवस्था । क्षत्रियैर्वर्णसामान्यैश्च पौरोहित्यप्रभुतायाः शक्तिशालियुगं प्रक्षेप्तुं बौद्धधर्मसाहाय्यमुद्गृही-

के मित्रों के विरुद्ध हो गये और उस जुए को फेंकने का प्रयत्न करने लगे, जो उनके कन्धों पर भी समान रूप से रखा हुआ था। इनका विवरण परवर्ती रचनाओं के गूढ़ आख्यानों में मिलते हैं' (पृ० १२)। यह कथन भी तर्क के सामने नहीं टिक पाता, क्योंकि निराधार है। वैदिक साहित्य में इस तरह की कल्पनाओं को पुष्ट करने वाला कोई आधार नहीं मिलता, जिनसे ये बातें सिद्ध हो सकें। कुछ लोग ब्राह्मण और क्षत्रियों के संघर्ष के प्रमाण के रूप में रामायण में वर्णित वसिष्ठ और विश्वामित्र के संघर्ष को और महाभारत में वर्णित भृगुवंशी ब्राह्मणों और हैहय वंशी क्षत्रियों के संघर्ष को उद्धृत करते हैं। परन्तु रामायण और महाभारत में वर्णित इन संघर्षों के कारणों की उपेक्षा करके उनके मनमाने कारणों की कल्पना करना सर्वथा निराधार है। शास्त्रों में जो कहा गया हो उसको न मानना और जो न कहा गया हो उसकी कल्पना कर लेना दोष माना जाता है। अन्त में रामायण और महाभारत में इन परिवारों में सौमनस्य भी बताया गया है।

'उन परिवारों में भी, जो कि प्राचीन रीतियों और स्मृतियों की रक्षा कर रहे थे, ब्राह्मणों के प्रभाव से इसमें पर्याप्त परिवर्तन और परिष्कार हो चुके थे, फिर भी यह प्रभाव विशेष रूप से इसकी राजनीतिक मान्यताओं पर पड़ा और गृहस्थ जीवन के रिवाज तथा रीतियां अपने प्राचीन रूप में अछूती ही रह गईं। इस कारण इन रचनाओं में (स्मार्त सूत्र) नितान्त प्राचीन काल के विचारों एवं मान्यताओं के वृहत् भण्डार का समावेश है। इनमें ही हम हिन्दू विधि-साहित्य का उद्गम पाते हैं' (पृ० १३) इस कथन के साथ ही इसी पृष्ठ की टिप्पणियों में कहा गया है—'जातकर्म संस्कार के सम्बन्ध की 'स्फाइजेर' की पुस्तक, विवाह संस्कार के लिये 'हास' महाशय का लेख, अन्त्येष्टि संस्कार के सम्बन्ध में 'रॉथ' प्रभृति के लेख, पिण्डपितृयज्ञ के सम्बन्ध में 'ओ० डोन्नेर' का लेख देखिये'। 'साथ ही वहीं गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और समयाचारिक सूत्रों का और श्रौत सूत्रों का परस्पर सम्बन्ध भी बताया गया है (पृ० १३), किन्तु ये सब मान्यताएं भी निराधार हैं। पाश्चात्य विद्वान् एक तो ग्रन्थ के अभिप्राय को नहीं समझ पाते और फिर इनको गुरुपरम्परा से इस सम्बन्ध में कोई जानकारी भी नहीं मिल पाती। वास्तव में तो इनको संस्कृत का अध्ययन सही पद्धति से नहीं हो पाता, अतः ये मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद् और सूत्र ग्रन्थों का आशय कुछ भी नहीं समझ पाते, किन्तु ऊपर-ऊपर की कुछ मोटी बातों को पकड़ कर मनमानी कल्पनाएं करते रहते हैं।

'बौद्ध धर्म की धीरे-धीरे बढ़ती हुई शक्ति ने ब्राह्मणीय व्यवस्था के ऊपर जो उग्र आक्रमण प्रारम्भ किये, उनसे और भी अधिक वास्तविक संकट के बादल उन पर मंडराने लगे। क्योंकि क्षत्रिय वर्ण और सामान्य पीड़ित जन-समूह ने पौरोहित्य प्रभुता के

तम्। अत एव मेगस्थनीजस्येदं कथनं सत्यमेव यत् स्मृतिद्वारैव व्यवहरन्ति स्मेति (अथोम्बीग्निस)। बौद्धधर्मस्य ब्राह्मणधर्मविरोधित्वात् तदानीमवश्यं परिवर्तनं कल्पयितुं शक्यते। तदानीं मानवगृह्यसूत्राश्रितस्य मनुस्मृतिसदृशस्य विधिग्रन्थस्य प्रादुर्भावः सम्भाव्यते। अत एव नायं मनुस्मृतिग्रन्थो वैदिककालिकः, किन्तु बौद्धधर्मपरवर्तिकालिक एव' इति, तदेतदपि भारतीयसाहित्यगौरवासहिष्णुतामूलकमेव, ब्राह्मणात्मके वेदे—'यद्वै मनुरवदत्तद्भेषजम्' इति शतपथे तैत्तिरीयब्राह्मणे च यस्य मनुवचनस्य माहात्म्यं जोघुष्यते, तस्य बौद्धधर्मार्वाचीनकालिकत्वसाधनं दुरभिसन्धिमूलकमेव, नात्र किमपि प्रामाणिकं वचनं तैरुपन्यस्तं तथानुपलम्भात्। नाप्यनुमानं व्याप्त्यभावात्, साध्यसम्बन्धहेत्वनुपलम्भाच्च। प्रत्यक्षं तु दूरापास्तमेव। मेगस्थनीजलेखस्य प्रामाण्येऽपि तदानीं स्मृतिग्रन्थसत्त्वं सिद्ध्यति, न तदानीन्तननिर्मितस्य स्मृतिग्रन्थस्येति। ईदृशा अनर्गला बेवरस्य विचारा उपेक्षणीया एव।

१७ पृष्ठेऽनुक्रमणीसम्बद्धविचारोऽपि तदीयग्रन्थचुम्बकत्वमेव ख्यापयति। सूक्तसम्बन्धिनामृषिच्छन्दोदेवतानां निर्धारणमपि न स्वाच्छन्द्येनानुक्रमणी बृहद्देवता वा कर्तुं प्रभवति, आर्षेयब्राह्मणादावृष्यादिज्ञानस्यानिवार्यत्वोक्तेः। 'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति' (आर्षेयब्राह्मणम्), ब्राह्मणानुरोधेन पारम्पर्येण च महर्षिभिस्तन्निर्धारणात्। अत एव बृहद्देवताग्रन्थस्य निर्माणं यास्कस्य निरुक्तमाधृत्य जातमित्यपि न सङ्गतम्, निर्वचनस्य ब्राह्मणेऽपि विद्यमानत्वात्, निरुक्तस्यापि ब्राह्मणमूलकत्वोपपत्तेः।

शक्तिशाली जुए को दूर फेंकने के लिये बौद्ध धर्म की सहायता का लाभ उठाया। अत एव मेगस्थनीज के इस कथन को कि उसके समय में भारतवासी विधि का व्यवहार 'स्मृति द्वारा ही' (अथोम्बीग्निस) करते थे, मैं पूर्णतः यथार्थ मानता हूँ। बौद्ध धर्म के ब्राह्मण-विरोधी धर्म के रूप में विकास होने के परिणाम स्वरूप शीघ्र ही स्थिति में परिवर्तन आया होगा और कोई विधि ग्रन्थ, उदाहरण के लिये मनु का विधि ग्रन्थ (जो मानव गृह्यसूत्र पर आधारित है) रचा गया होगा। किन्तु यह ग्रन्थ वैदिक काल के अवसान के समय का नहीं, अपितु उसके अनुवर्ती काल के आरम्भ का है' (पृ- १३-१४)। यह सारा कथन भी भारतीय साहित्य के गौरव के प्रति पाश्चात्य विद्वानों के असहिष्णु दृष्टिकोण को ही प्रकट करता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में मनु के वचनों का सर्वोच्च प्रामाण्य माना गया है। उसक बौद्ध धर्म के आविर्भाव के बाद का मानना पाश्चात्यों की दुरभिसन्धि का ही एक उदाहरण मानना चाहिये। इस विषय में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया है और न ऐसा प्रमाण मिलता ही है। इसमें अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि न तो यहाँ व्याप्ति बन पाती है, न उसका साध्य से सम्बन्ध बनता है और न कोई हेतु ही इस बात की सिद्धि करने वाला दिखाई देता है। प्रत्यक्ष की बात तो बहुत दूर की है। मेगस्थनीज के ऊपर दिये प्रमाण से उस समय स्मृति ग्रन्थ विद्यमान थे, इतनी ही बात सिद्ध हो पाती है। उसके सामने या उस समय किसी स्मृति ग्रंथ की रचना हुई हो, यह उससे सिद्ध नहीं हो पाता। बेवर के इस तरह के अनर्गल विचार सर्वथा उपेक्षणीय हैं।

१७ वें पृष्ठ पर बेवर ने अनुक्रमणियों के संबन्ध में जो कुछ कहा है, उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि वह ग्रंथों को केवल ऊपर ही ऊपर से देख पाया है। सूक्तों के ऋषि, छन्द और देवताओं का निर्णय कोई भी अनुक्रमणी या बृहद्देवता जैसे ग्रंथ मनमाने तरीके से नहीं कर पाते, ये भी वैदिक अनादि परम्परा से ही प्राप्त है। आर्षेय ब्राह्मण आदि में ऋषि आदि का ज्ञान अनिवार्य माना गया है। वहाँ बताया है—'जो व्यक्ति किसी मन्त्र या ब्राह्मण का छन्द, देवता और ऋषि का बिना ज्ञान प्राप्त किये इनसे यज्ञ कराता है अथवा इनका अध्ययन करता है, उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, वह किसी सङ्कट में पड़ जाता है, उसकी मृत्यु तक हो सकती है, वह भयंकर पाप का भागी होता है और इसको वेद का ज्ञान निष्फल हो जाता है'। इसीलिये ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार और परम्परा के आधार पर ही ऋषियों ने अनुक्रमणी आदि में इनका विधान किया है। इसीलिये यह कथन भी उचित नहीं है कि यास्क के निरुक्त के आधार पर बृहद्देवता का निर्माण हुआ, क्योंकि इस तरह के निर्वचन ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विद्यमान है और निरुक्त की रचना भी इन ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर ही हुई है।

यत्तु निघण्टुसम्बन्धे गदितं यत् शब्दानां सङ्ग्रहो युगपद्ग्रथितत्वाद् निग्रन्थुरेवापभ्रष्टत्वाद् निघण्टुरिति जातमिति, तदप्यशुद्धम्, निघण्टुशब्दस्य संस्कृतत्वेनापभ्रंशत्वाभावात्। 'तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते' (नि० १।१) इति निरुक्तविरोधाच्च। अत्रैव निघण्टवः कस्मात्? निगमा इमे भवन्ति, छन्दोभ्यः समाहृत्य समाम्नातास्ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्ते। छन्दांसि मन्त्रास्तेभ्य उपलक्षितसामर्थ्याद् ग्रन्थीकृता इत्यर्थः। कस्मात्पुनरेतावन्त एव ग्रन्थीकृताः? एतेषु परिज्ञातेष्वप्रतिबन्धेन शक्यते मन्त्रार्थोऽवगन्तुम्। ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टवः, मन्त्रार्थनिगमयितृत्वाद् अतिपरोक्षवृत्तिना वाकारस्थाने घकारं कृत्वा तकारस्थाने टकारं कृत्वा अथाप्यादिविपर्ययम्' (नि० २।१)। वर्णविपर्ययाद् उत्कटवृत्तयः प्रत्यक्षवृत्तयः, अन्तर्लीनक्रियाः परोक्षवृत्तयः, अतिपरोक्षवृत्तिशब्देषु निर्वचनाभ्युपायः। निघण्टवः अतिपरोक्षवृत्तिः, निगन्तवः परोक्षवृत्तिः, निगमयितार इति प्रत्यक्षवृत्तिः। 'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥' एवमेव निरुक्तव्याकरणादिसम्बन्धेऽपि बेवरस्य कल्पना भारतीयपरम्पराविपरीतैव। इदमभ्युपगतं बेवरेण यद् दर्शनानां व्याकरणानां च सम्बन्धे भारतीयानां बुद्धेरुर्वरता चरमसीमामुपगतेति, तथापि तत्र दोषप्रदर्शनाय दुर्बोधता दाक्षिण्यहीनता वाङ्मात्रेणोक्तैव। (पृ० १९)

यदप्युक्तम्—'ऋक्संहिताया अन्तिममण्डले समागतदार्शनिकचिन्तायुक्तानामनेकेषां सूक्तानां दर्शनाद् विश्वस्यादिकारणविषयकचिन्तनस्य गम्भीरता तत्सम्बन्धिन्येकाग्रता चेदं प्रमाणयति यदतिप्रलम्बकालाद् दार्शनिकानुसन्धानानि प्रचलन्ति स्म। भारतीयज्ञानस्य प्राचीनख्यात्या भारतीययोगाभ्यासिनां विषये

निघण्टु के सम्बन्ध में बेवर ने कहा है—'इन शब्दों के संग्रह को एक साथ 'गुंथे होने के कारण' 'निग्रन्थु' कहा गया, जिससे भ्रष्ट होकर 'निघण्टु' बना' (पृ० १८)। यह कथन भी गलत है, क्योंकि निघण्टु शब्द संस्कृत भाषा का है। अपभ्रंश शब्द से इसको व्युत्पत्ति बताना नितान्त गलत बात है। निरुक्त में भी इसको 'निघण्टु' ही कहा गया है। वहाँ प्रश्न किया गया है कि इनको 'निघण्टु' क्यों कहा जाता है? और फिर उसका उत्तर दिया गया है कि पहले इनको निगम कहा जाता है, क्योंकि छन्दों से चुन-चुन कर इनका उपदेश दिया जाता है। ये निगम ही निगमन के आधार पर बाद में निघण्टु कहे जाने लगते हैं। छन्द शब्द यहाँ मन्त्र का पर्यायवाची है, उनसे चुने गये शब्दों के संग्रह को निघण्टु कहा जाता है। पुनः प्रश्न हो सकता है कि 'निघण्टु' में इतने थोड़े से ही शब्द क्यों ग्रथित किये गये? इसका उत्तर यह है कि इन शब्दों को जान लेने पर व्यक्ति बिना बाधा के मन्त्रों का अर्थ समझ सकता है। इसी बात को निरुक्त में 'ते निगन्तव' इत्यादि वाक्य से कहा गया है। अपनी अतिपरोक्ष वृत्ति के आधार पर गकार के स्थान में घकार और तकार के स्थान में टकार, इस तरह वर्णों का व्यत्यय करके निघण्टु शब्द बनाया जाता है। उत्कट वृत्ति शब्द को प्रत्यक्ष वृत्ति और जिनमें क्रिया छिपी हुई हो उसको परोक्षवृत्ति कहा जाता है। अतिपरोक्ष वृत्ति शब्द में वर्णों का व्यत्यय किया जाता है। निघण्टु इसका निर्वचन अतिपरोक्ष वृत्ति से, 'निगन्तु' का परोक्ष वृत्ति से और 'निगमयिता' की व्युत्पत्ति प्रत्यक्ष वृत्ति के आधार पर होती है। एक श्लोक में निरुक्त (निर्वचन) के पांच प्रकार बताये गये है—वर्णों का आगम (नये वर्णों का समावेश), वर्णों का विपर्यय (अदला-बदली), वर्णों का विकार और उनका नाश तथा धातु का किसी विशेष अर्थ से सम्बन्ध, इस तरह से पांच प्रकार से शब्दों की निरुक्ति की जाती हैं'। इसी तरह से निरुक्त, व्याकरण आदि के सम्बन्ध में भी बेवर की कल्पनाएं भारतीय परम्परा के विपरीत हैं। अन्ततः बेवर को भी यह मानना पड़ा है—'दर्शन और व्याकरण के क्षेत्र में ही तो भारतीय मस्तिष्क ने सूक्ष्म भेद करने में बुद्धि की उर्वरता को चरम सीमा तक पहुँचा दिया' (पृ० १९)। साथ ही यहाँ भी दोष दर्शन में वह चूका नहीं है, जब कि वह कहता है—'भले ही समय-समय पर उनकी यह प्रणाली दुर्बोध और दाक्षिण्य रहित है' (पृ० १९)।

'ऋग्वेद संहिता के अन्तिम मण्डल में आए हुए दार्शनिक चिन्तन से युक्त अनेक सूक्त विश्व के आदि कारण के विषय में चिन्तन की गंभीरता और एकाग्रता का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इनसे अनिवार्यतः यह अर्थ निकलता है कि इनके पूर्ववर्ती युग में लम्बे अर्से से दार्शनिक अनुसन्धान चले आ रहे थे। इसका प्रमाण भारतीय ज्ञान की प्राचीन ख्याति से और भारतीय योगाभ्यासियों के संबन्ध

सिकन्दरसहकारिणां लेखनेन चैतत्प्रमीयते' (पृ०२०) इति, यद्यपीदमंशतः सत्यमेव, तथापि दशममण्डलस्य दार्शनिकविषयास्त्वपौरुषेयवेदैकसमधिगम्या न तु पौरुषेयविचारमाश्रित्य प्रसूताः, दृढप्रमाणैस्तेषामपौरुषेयत्वस्य साधितत्वात् ।

'आरम्भिककाले चिन्तनेषूत्साहः सञ्जातः, विभिन्नैर्मतैर्विभिन्ना मान्यताः स्थापिताः । सृष्टयुत्पत्तिविषयेऽनेके विचारा उद्भूता अत्यन्तरहस्यमयत्वात् कठिनत्वाल्लोकप्रियत्वाच्च ब्राह्मणेषु तत्सम्बन्धे नैकविधानि विवरणान्युपलभ्यन्ते । तत्र मतभेदस्य मुख्योऽयं विषय उपस्थितः । भौतिकपदार्थानामादिकारणत्वमात्मनो वा तदभ्युपगन्तव्यम् । शनैः शनैरात्मसम्बन्धिवादः शास्त्रसमर्थितः सञ्जातः । जडकारणवादिनो नास्तिकत्वेन शास्त्रद्रोहित्वेन च प्रसिद्धिमुपगताः । क्रमेण शास्त्रप्रतिपादितमतानां घोरविरोधिनो जाताः । एतेषां पूर्वं सिद्धान्तांश एव विरोध आसीत् । कालक्रमेण शीघ्रव्यावहारिकप्रश्नेष्वप्येतैर्विरोध उद्भूतः । अत एव तेषां स्थापनापि जाता । स एव बौद्धधर्म इत्याख्यायते । बुद्धश्रमणादिशब्दा यद्यपि धात्वर्थयोगाद् ब्राह्मणादिविद्वत्सु समादरसूचकतया प्रयुज्यन्ते स्म, पश्चाद् बौद्धेष्वेव । मेगस्थनीजेन दार्शनिकानां वर्गद्वयमुक्तम् । ब्रकमानीज-शर्मानाईरूपेण तद्भेद उक्तः । तद्रीत्या उलोविओई ब्रह्मचारिवानप्रस्थौ शर्मानाई इत्यस्याङ्गरूपेणोक्तौ । एवं वा सम्भाव्यते यज्जन्मजातदार्शनिका गृहस्था ब्रकमानीजपदवाच्याः । तद्विपरीताः शर्मानाईपदवाच्या भवन्ति स्म' (पृ० २०-२१) इति, तदपि यत्किञ्चित्, कल्पनामूलत्वात् । वेदानामनादित्वाद् बौद्धधर्मस्यार्वाचीनत्वात् तयोः समकक्षतानुपपत्तेः । वेदानुप्राणिता आस्तिकाः परमात्मकारणवादिनः । तद्विशेषाश्च नैयायिक-वैशेषिक-सांख्य-योगादयः प्रकृति-परमाणुकारणवादिनोऽपि निमित्तादि-

में सिकन्दर के साथियों के लेखों इत्यादि से भी लिया जाता है' (पृ० २०)। बेबर का यह कथन यद्यपि ठीक ही है, तथापि दशम मण्डल के दार्शनिक विषय केवल एकमात्र अपौरुषेय वेद से ही ज्ञात होते हैं, इनका आधार कोई पुरुष का ज्ञान नहीं है, इस बात को हम अनेक स्थलों पर दृढ़ प्रमाणों से स्थापित कर चुके हैं ।

'यह स्वाभाविक था कि आरम्भिक काल में ज्यों ही चिन्तन में कुछ उत्साह आया, विभिन्न मतों और नवीन मान्यताओं की स्थापना हुई, विशेषतः सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में त्यों ही अनेक विचारों का उदय हुआ, क्योंकि यह सबके लिये अत्यन्त रहस्यमय और कठिन समस्या होने के साथ-साथ लोकप्रिय भी थी । प्रत्येक ब्राह्मण में इस विषय पर कम से कम एक या अधिक विवरण पाये जाते हैं । इस सन्दर्भ में स्वभावतः मतवैचित्र्य का एक विषय यह था कि भौतिक पदार्थ को आदि कारण माना जाय या आत्मा को । आत्म-विषयक सिद्धान्त शनैः शनैः शास्त्र-समर्थित सिद्धान्त बन गया और इस कारण उनका ब्राह्मणों में प्रायः विवेचन है । जड़ पदार्थ को आदि कारण बताने वाले मत के अनुयायियों को शास्त्रद्रोही या नास्तिक कहा जाने लगा । इनके विचारों के विकास के साथ ही साथ ऐसे प्रतिपक्षियों का उदय हुआ, जो शास्त्रप्रतिपादित मतों के और भी कट्टर विरोधी थे । इन्होंने यद्यपि पहले अपने को एकमात्र सिद्धान्तों तक ही सीमित रखा, किन्तु शीघ्र ही ये व्यावहारिक प्रश्नों पर भी आ गये और अन्ततोगत्वा इन्होंने एक विशेष प्रकार के धर्म की स्थापना कर दी । जिसे हम बौद्ध धर्म के नाम से जानते हैं । बुद्ध, श्रमण आदि शब्द यद्यपि व्युत्पत्ति के आधार पर आदरसूचक उपाधि के रूप में विद्वान् ब्राह्मणों के लिये भी ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु बाद में इन शब्दों का प्रयोग बौद्धों में ही रूढ़ हो गया । मेगस्थनीज ने दार्शनिकों के दो वर्गों 'ब्रकमानीज' और 'शर्मानाई' में स्पष्ट भेद किया है । उसने स्पष्टतः 'उलोविओई' का—ब्रह्मचारी और वानप्रस्थ, जो ब्राह्मण जीवन के चार आश्रमों में प्रथम और तृतीय आश्रम हैं—'शर्मानाई' के अंग के रूप में उल्लेख किया है । दार्शनिकों के उपर्युक्त दो वर्गों में अन्तर संभवतः यह था कि 'ब्रकमानीज' जन्मजात दार्शनिक थे और गृहस्थ थे, इसके विपरीत 'शर्मानाई' वे लोग थे जो विशेष रूप से त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे और जिनमें अन्य वर्गों के लोग भी संभावित थे' (पृ० २०-२१) । यह सारा कथन भी केवल कल्पना का मायाजाल है । वेद अनादि हैं, बौद्ध धर्म एक नया वाद है । इन दोनों में तुलना कैसे की जा सकती है । वेदों को सर्वथा प्रमाण मानने वाले आस्तिकजन परमात्मा को ही जगत् का कारण मानते हैं । नैयायिक, वैशेषिक एवं सांख्य और योग दर्शन के अनुयायी भी आस्तिक ही हैं । ये यद्यपि प्रकृति और परमाणु को जगत् का कारण मानते हैं,

रूपेण परमेश्वरमङ्गीकुर्वन्ति स्म। नास्तिकास्तु निमित्तेनापीश्वरं नाङ्गीकुर्वन्ति स्म। यद्यप्यसदादिकारणवादिनोऽपि सत्कारणवादिन इवानादय एव, वेदेषु (मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु) समेषां वर्णनदर्शनात्। अत एव लङ्कावतारसूत्रादौ बुद्धोऽपि स्वस्यानेकानवतारानुक्तवान्।

उपनिषदामारण्यकानां सम्वन्धेऽपि (२१ पृष्ठे) बेवरस्य भ्रामका विचाराः सन्ति, सिद्धान्ते समेषामेषां ब्राह्मणत्वेन वेदत्वाविशेषात्। उलोविओई-जनानां कृते आरण्यकानामुत्पत्तिरपि न युक्ता, अरण्ये पठनीयत्वादेव तत्रारण्यकपदप्रयोगात्। यदुक्तम्—'इमास्ता उपनिषदो याः प्राचीनानां वेदत्रयाणां मध्ये कस्यचिदेकस्य वेदस्य ब्राह्मणेन आरण्यकेन वा सम्बद्धाः, तथाप्यधुनाथर्वपाठ एव ता उपलभ्यन्ते' इति, तदपि न किञ्चित्, बृहदारण्यक-छान्दोग्ययोर्यजुःसामसम्बद्धत्वात्। उपनिषद्गतानामृषीणां नाम्नां यज्ञीयसूत्रेषूपलम्भात् तदभिन्नत्वोपपत्तौ तासामर्वाचीनत्वकल्पनमपि निर्मूलमेव। सुखाववोधार्थाख्यायिकान्तर्गतत्वेन तैर्नामभिर्व्यक्तिविशेषस्य वोधासम्भवात्। न केवलमुपनिषत्सु परं संहितास्वप्युर्वशीपुरूरवसोर्यमयम्योश्च संवादैरपि नेतिहासः सिद्धयति, कंमर्थ्याकाङ्क्षावशात् तत्तदाख्यायिकानां नित्यार्थवोधन एव तात्पर्येण स्वार्थेऽतात्पर्यात्।

यच्च (२२ पृष्ठे) उक्तम्—'नक्षत्रविद्याया ओषधिशास्त्रस्य च यद्यपि स्वतन्त्रशाखा नोपलभ्यते, तथापि यज्ञानामग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यादीनां तत्तत्कालनियतत्वाद् यज्ञेषु चौषधीनामुपयोगात् विकासो जातः' इति, तदपि न, ज्योतिषशास्त्रायुर्वेदशास्त्रयोरपि प्राचीनत्वाविशेषात्। गोतमाचार्यं आयुर्वेदप्रामाण्यदृष्टान्तेन वेदानां प्रामाण्यमप्युक्तवान्। वात्स्यायनश्च—य एव मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदस्येति

तथापि निमित्त कारण के रूप में ईश्वर को स्वीकार करते ही हैं। नास्तिक जन तो निमित्त कारण के रूप में भी ईश्वर को स्वीकार नहीं करते थे। सत्कारणवादियों की तरह ये असत्कारणवादी भी अनादि काल से चले आ रहे हैं, क्योंकि मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद में इन सबका वर्णन मिलता है। इसीलिये लंकावतार सूत्र आदि ग्रन्थों में बुद्ध ने भी अपने अनेक अवतारों का वर्णन किया है।

उपनिषदों और आरण्यकों के संबन्ध में बेवर ने अनेक भ्रामक विचार व्यक्त किये हैं (पृ० २१), यह सब बातें सिद्धान्ततः गलत हैं, क्योंकि उपनिषद् और आरण्यक भी ब्राह्मण ग्रन्थों के भाग होने से वेद ही माने जाते हैं। उलोविओई (वानप्रस्थ) जीवन व्यतीत करने वालों के लिये आरण्यकों की रचना हुई, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'आरण्यक' पद का अर्थ अरण्य (वन) में पढ़े जाने वाले ग्रन्थ हैं। बेवर ने कहा है—'ये उपनिषद् वे हैं, जो यद्यपि तीन प्राचीन वेदों में किसी एक के ब्राह्मण या आरण्यक से संबद्ध हैं, तथापि इस समय अथर्वन् पाठ में ही उपलब्ध हैं' (पृ० २१) किन्तु यह कथन भी गलत है, क्योंकि बृहदारण्यक यजुर्वेद से और छान्दोग्य उपनिषद् सामवेद से संबद्ध है। उपनिषद् में आये नाम यज्ञीय सूत्रों में भी उपलब्ध होते हैं और जब इनकी एकता मान ली जाती है तो उसी आधार पर ये उपनिषद् अर्वाचीन काल के माने जायगें, इस तरह की बातें भी सर्वथा निराधार ही मानी जायंगी। क्योंकि किसी विषय को सरलता से समझाने के लिये दिये गये ये नाम कहानी के कल्पित पात्रों की तरह किसी विशेष ऐतिहासिक व्यक्तित्व को नहीं सिद्ध कर पाते। केवल उपनिषदों में ही नहीं, किन्तु संहिता में भी उर्वशी-पुरूरवा, यम-यमी के संवाद से भी कोई इतिहास नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि इन आख्यायिकाओं का क्या प्रयोजन है? इस तरह की आकांक्षा की निवृत्ति नित्य (सनातन) अर्थ के प्रतिपादन से जब हो जायगी, तब इन वाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं रह जायगा।

'इन दो शाखाओं से मेरा तात्पर्य है—नक्षत्रविद्या और ओषधिशास्त्र। दोनों को, पूजा या यज्ञ में आवश्यकता होने से फलने-फूलने का अवसर मिला। यद्यपि पहले नक्षत्र विद्या की जानकारियाँ निःसन्देह अस्पष्ट रूप वाली थीं, फिर भी उनकी आवश्यकता यज्ञों के नियमन के लिये पड़ती थी, क्योंकि अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य आदि कर्म समय के अनुसार किये जाते थे। यज्ञों में ओषधियों का भी उपयोग होता है। इन्हीं के आधार पर उक्त दोनों शास्त्रों का विकास हुआ' (पृ० २२-२३) यह कथन भी सर्वथा निराधार है, क्योंकि ज्योतिष शास्त्र और आयुर्वेद भी समान रूप से अत्यन्त प्राचीन शास्त्र है। न्यायसूत्रकार आचार्य गोतम ने तो आयुर्वेद के दृष्टान्त से ही वेदों का भी प्रामाण्य सिद्ध किया है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन का कहना है कि मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद के

तस्यातीव प्राचीनत्वमाह। ज्योतिषशास्त्रस्य प्राचीनत्वमपि छान्दोग्योपनिषदि नक्षत्रविद्योल्लेखाद्धि ज्ञायत एव। श्रुतिचोदितकर्माङ्गकालपरिज्ञानाय ज्योतिषम्, अनुषङ्गतश्चातोऽपि प्राणिनां शुभाशुभकर्मफलविपाककालपरिज्ञानम्। यज्ञीयपशुशरीरस्यान्तरावयवज्ञानैरथर्ववेदवर्णितानां रोगाणामोषधीनामृग्वेदवर्णितानामोषधीनां च मूलत्वमुपजीव्यायुर्वेदशास्त्रस्यापि निष्पत्तिः। न केवलमेतदेव, किन्तु सर्वप्रथमं शिक्षा वेदाङ्गत्वेनोपयुज्यते 'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥' इति स्वरव्यञ्जनाभिव्यक्तिलक्षणं पूर्वाह्ण-मध्यन्दिना-पराह्णेषु यथाध्येयमधीतस्य स्वरसौष्ठवयुक्तस्य यज्ञकर्मणि प्रयोगः। इत्येवादिकं शिक्षायामुक्तम्। यथा ह्यधीतः प्रयुज्यमानश्चापूर्वाङ्गभावाय नान्यथेति तस्याः सार्थक्यम्। 'मन्त्रो हीनः स्वरतः' इत्युक्तमेव। एवं शिक्षाधिगताध्ययनविधेर्वेदस्याक्षरकोशपादव्यवस्थालक्षणपरिज्ञाने छन्दोविधिराद्रियते। इयताक्षरपादं छन्दस्त्रिष्टुबित्यादिकम्। नह्यविज्ञातच्छन्दसा प्रयुज्यमानो मन्त्रः कर्मणि समृद्धिकारकः। व्याकरणाद्विभक्त्यादिज्ञानमपि यज्ञ उपयुज्यते। प्रयाजाः सविभक्तिकाः कर्तव्याः। ऊहोऽपि व्याकरणादेव कर्तुं शक्यते संख्यादयो न वर्धन्त इति। न च व्याकरणानभिज्ञो विभक्तीर्जानीयादूहितुं वा मन्त्रानिति। छन्दस्येवं भाषायामेव। कल्पे कात्यायनादिश्रौतसूत्रादिषु विनियोगश्चिन्त्यते। यो यमर्थमभिधातुं संस्कर्तुं च समर्थो मन्त्रः स तत्र विनियुज्यते। तदुक्तम्—'अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्' (मी०सू० ९।१।३६) इति। किं वहुना, ग्रन्थचुम्बकैः पाश्चात्त्यैर्वेदार्थज्ञानयोग्यसामग्रीविधुरैः स्वाच्छन्द्येन पूतिकूष्माण्डीकृतं सर्वमपि भारतीयसाहित्यमिति तत्समाधातुं किञ्चिदिवोक्तम्।

द्रष्टा और प्रवक्ता ऋषिगण ही आयुर्वेद शास्त्र के भी द्रष्टा और प्रवक्ता हैं। इस तरह से यह सिद्ध हो जाता है कि यह शास्त्र अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है। ज्योतिष शास्त्र की प्राचीनता का ज्ञान भी छान्दोग्य उपनिषद् में नक्षत्र विद्या का उल्लेख होने से हो जाता है। श्रुति प्रतिपादित कर्म के अङ्ग किस समय किये जायें, इसके लिये ज्योतिष शास्त्र की आवश्यकता रहती है। प्रसंगतः इससे प्राणियों के शुभ-अशुभ कर्मों के फल का ज्ञान भी हो जाता है। यज्ञीय पशु के शरीर के भीतरी अवयवों के ज्ञान से अथर्ववेद में वर्णित रोगों और औषधियों तथा ऋग्वेद में वर्णित ओषधियों के सहारे आयुर्वेद शास्त्र की रचना मानी जाती है। इतना ही नहीं, सबसे पहले वेदांग के रूप में 'शिक्षा' को स्वीकार किया जाता है। 'आत्मा बुद्धि की सहायता से अर्थों का ज्ञान कर उस ज्ञान को प्रकट करने की इच्छा से मन को नियुक्त करता है। मन शरीर में निवास करने वाली अग्नि को और वह अग्नि पवन को प्रेरित करता है' इस तरह से शिक्षाशास्त्र स्वर और व्यंजनों की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को वताता है और पूर्वाह्ण, मध्याह्न तथा सायंकाल में किस तरह से पढ़ना चाहिये एवं पूरी तरह से अभ्यस्त मन्त्रों का सुन्दर तरीके से यज्ञों में कैसे प्रयोग किया जाता है, यह सब विषय शिक्षा ग्रन्थों में बताये गये हैं। शिक्षा ग्रन्थों में बताई गई पद्धति से पढ़े गये और प्रयोग में लाये गये मन्त्रों से ही अपूर्व की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं। इसलिये इस शास्त्र की सार्थकता है। मन्त्र का गलत स्वरों में उच्चारण होने से क्या हानि होती है, इस बात का प्रतिपादन 'मन्त्रो हीनः' इत्यादि से किया गया है, जो कि पाणिनि शिक्षा का ही एक श्लोक है। इसी तरह से शिक्षा शास्त्र से अध्ययन की पद्धति के मालूम हो जाने पर किस तरह से अक्षरों का संयोजन करने पर मन्त्रों के पाद आदि की व्यवस्था होती है, इसको जानकारी के लिये छन्दःशास्त्र का सहारा लेना पड़ता है कि इतने अक्षरों से अमुक छन्द का पाद बनेगा। मन्त्रों के छन्द को बिना जाने उनका यों ही प्रयोग करने से यज्ञों से समृद्धि नहीं मिलती। यज्ञ में विभक्ति आदि का ज्ञान आवश्यक है, जो कि व्याकरण शास्त्र से प्राप्त होता है। प्रयाजों का विभक्ति के साथ ही प्रयोग होना चाहिये। ऊह भी व्याकरण की सहायता से ही हो सकता है कि ऐसा करते समय संख्या आदि की वृद्धि नहीं होनी चाहिये। जो व्याकरण नहीं जानता, वह न तो विभक्तियों को ही जान सकता है और न मन्त्रों का ऊह ही कर सकता है। इसके लिये वेद की तरह लोक में ही समान रूप से व्याकरण की अपेक्षा रहती है। कात्यायन श्रौतसूत्र आदि ग्रन्थों में विनियोगों का विचार किया जाता है। जो मन्त्र जिस अर्थ को कहने में अथवा उसका संस्कार करने में समर्थ है, उसका वहाँ विनियोग इन कल्प सूत्रों की सहायता से ही किया जाता है। इसी बात का प्रतिपादन 'अर्थाभिधान०' आदि मीमांसा सूत्र में है। इस तरह इन सब शास्त्रों की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। ऐसी परिस्थिति में ग्रन्थों का ऊपर-ऊपर से अध्ययन करने वाले ये पाश्चात्य विद्वान् वेदार्थ को समझने लायक सामग्री का बिना उपयोग किये, अपने मनमाने अर्थों से सारे भारतीय साहित्य को सड़े कद्दू की भांति दुर्गन्ध से, अपने दुर्विचारों से भर दिया है। उसके समाधान के लिये यहाँ कुछ बातें बताई गई हैं।

द्वितीयप्रकरणे ऋग्वेदाख्येऽपि वेदे वाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विधा विभागमुक्त्वा अष्टकात्मकविभागस्याधिकमर्वाचीनत्वमुक्त्वा द्वितीयस्याभ्यन्तरधरातलाधृतस्य प्राचीनत्वमुक्तम्। द्वितीयविभागे गृत्समद-विश्वामित्र-वामदेव-भारद्वाज-वशिष्ठाङ्गिरसादिनामभिः सम्वद्धानां मण्डलानामनुवाकसूक्तमन्त्राणां च रचितत्वमुक्तम्, तत्तु निर्मूलमेव, 'ऋषिर्दर्शनात्', 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' इत्यादिवचनविरोधात्। वस्तुतस्तु वैदिकानां तूभयविधविभागोऽभिमतः, प्रथमविभागस्यापि कात्यायनादिभिरङ्गीकृतत्वात्। ऐतरेयशाङ्खायनाश्वलायनयास्कादिसम्मतत्वेन द्वितीयस्यापि मान्यताऽस्त्येव।

यत्तु—'शाकलशाखाया वाष्कलशाखायाश्च पाठेषु विशेषभेदो नासीत्। तत्र वाष्कलशाखायामष्टमे मण्डलेऽष्टसंख्याकान्यतिरिक्तानि सूक्तानि सन्ति, येन तत्र शतं सूक्तानि भवन्ति। शाकलानां सम्बन्धः शाकल्येन ज्ञायते। स च शाकल ऋषिरासीत्, यस्योल्लेखो ब्राह्मणेषु सूत्रेषु च दृश्यते। शतपथे विदग्धेति तद्विशेषणं दृश्यते। याज्ञवल्क्येन साकं जनकसभायां तस्य शास्त्रार्थो जातः। याज्ञवल्क्यशापात्तस्य शिरश्छिन्नं तदीयास्थीनि च चौरैरपहृतानि। शतपथोक्तेष्वाचार्येषु वार्कलिसंज्ञकोऽपि कश्चिदाचार्य आसोत्। वाष्कलिशब्दस्य तद्देशजं रूपं प्रतीयते'। (पृ० २५-२६) इतीदृशेषु विवेचनेष्वेव पाश्चात्यानां बुद्धया व्याप्रियन्ते। अत्रैव टिप्पण्यां हाग-म्युल्लेर-आउफ्रेष्ट-राथप्रभृतीनां सम्मतय उदाहृताः।

'शाकलानां शुनकानां च घनिष्ठः सम्वन्धो दृश्यते। अनुक्रमणी-बृहद्देवता-ऋग्वेदीयप्रातिशाख्य-ऐतरेय-सम्वन्धिकल्पप्रभृतिग्रन्थानां स्वपितृत्वेनापि शौनकस्य चर्चा दृश्यते। तदीयशिष्येणाश्वलायनेन यदा कल्पसूत्रं रचितं तदा तेन स्वसूत्रं नाशितम्। यद्यप्येते ग्रन्था एकेनापि शौनकेन निर्मिता इत्यसम्भवो नास्ति, तथापि शौनकस्य स्वासम्वद्धा अपि तन्नाम्ना व्यपदिश्यन्ते स्मेत्यपि सम्भाव्यते। एकत्र संहिताया द्वितीयमण्डलस्य निर्माणश्रेयोऽपि तस्मा

वेवर ने अपने ग्रन्थ के दूसरे प्रकरण में ऋग्वेद के भी वाह्य और आभ्यन्तर दो विभाग बताकर अष्टक विभाग को अर्वाचीन तथा मण्डल विभाग को प्राचीन तथा आभ्यन्तर धरातल पर आधारित बताया है। द्वितीय विभाग में गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, भारद्वाज, वसिष्ठ और अङ्गिरस् ऋषियों के नाम से रचित मण्डल, अनुवाक, सूक्त और मन्त्रों का समावेश माना है (पृ० २४)। किन्तु यह सारा कथन भी निर्मूल है, क्योंकि ऊपर उद्धृत वाक्यों से ऋषि मन्त्रद्रष्टा ही माने जाते हैं। वास्तव में वैदिकों की दृष्टि से उक्त दोनों ही विभाग समान रूप से प्रामाणिक माने जाते हैं, क्योंकि अष्टक विभाग को भी कात्यायन प्रभृति आचार्यों ने स्वीकार किया है। द्वितीय विभाग की मान्यता भी ऐतरेय, शांखायन, आश्वलायन और यास्क आदि को अभिप्रेत है।

'शाकल शाखा और वाष्कल शाखा के पाठों में विशेष अन्तर नहीं है। वाष्कल शाखा के आठवें मण्डल में आठ अतिरिक्त सूक्त हैं, जिससे सूक्तों की संख्या कुल मिलाकर १०० हो जाती है। शाखाओं का नाम स्पष्टतः शाकल्य से सम्बन्ध रखता है। शाकल्य एक ऋषि थे, जिनका उल्लेख प्रायः ब्राह्मणों और सूक्तों में हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में इनका विशेषण विदग्ध दिया है। जनक की सभा में याज्ञवल्क्य के साथ इनका शास्त्रार्थ हुआ था। उन्हें याज्ञवल्क्य ने पराजित किया और शाप दे दिया। जिसके फलस्वरूप उनका सिर कट गया और उनकी अस्थियों को चोर उठा ले गये। शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित आचार्यों में एक का नाम वार्कलि भी है, जो वाष्कलि का देशज रूप है' (पृ० २५-२६)। इस तरह की ऊटपटांग बातों में ही पाश्चात्य विद्वानों को बुद्धि लगी रहती है। इन्हीं पृष्ठों में हाग, म्युल्लेर, आउफ्रेष्ट, राथ प्रभृति विद्वानों की संमतियां भी जुटाई गई हैं।

आगे 'शाकल शुनकों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध दिखाई पड़ते हैं। अनुक्रमणी, बृहद्देवता, ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य, ऐतरेय सम्बन्धी कल्पसूत्र प्रभृति ग्रन्थों के रचयिता के रूप में शौनक प्रसिद्ध हैं। उनके शिष्य आश्वलायन ने एक दूसरे कल्पसूत्र की रचना कर डाली, तब उन्होंने अपने कल्पसूत्र को नष्ट कर दिया। यह असम्भव नहीं है कि ये सभी ग्रन्थ एक ही व्यक्ति शौनक की रचना रहे हों, फिर भी वे संभवतः और कुछ अंशों में निश्चित रूप से केवल उसी शाखा से संबद्ध है, जो उनके नाम से अभिहित हुई है। स्वयं संहिता के द्वितीय मण्डल की रचना का श्रेय भी उन्हें दिया गया है और उन्हें उस शौनक से अभिन्न बताया गया है, जिसके यज्ञ के

एव । अन्यतः स तस्माच्छौनकादभिन्न उच्यते, यस्य यज्ञे वैशम्पायनपुत्रेण सौतिना महाभारतकथोक्ता । शुनकानां वंश ऋग्वेदीयप्राचीनर्षिकुलैः सम्बद्ध आसीत् । पश्चादपि वहुकालपर्यन्तं विद्वत्ताक्षेत्रे तेषां सर्वोच्चस्थानमक्षुण्णमासीत् । आश्वलायनगुरुः शौनको नैमिषवने यज्ञकर्ता शौनकश्चाभिन्नौ इति कथनेऽपि विरोधो न दृश्यते । इत्यादिकं बहु जल्पनं तेषामाधुनिकत्वसिद्धिद्वारा तन्निर्मितानां वेदानां पौरुषेयत्वसिद्धये कृतम्, तच्च निरर्थकमेव मन्तव्यम् । यथा महाभारतं द्वैपायनेनोक्तम्, रामायणं वाल्मीकिना कृतम्, तथाऽमुकेनेयं संहिता अष्टकं मण्डलं सूक्तानि मन्त्रा वा विरचितानीत्यनुक्त्या कल्पनानामप्रमाणत्वात् । ऋषयश्च द्रष्टार एव भवन्ति न कर्तारः । ऋषयश्च प्रतिकल्पं भिद्यमाना अपि समाननामानः सम्भवन्ति, तेषां प्राड्विवाकादिपदवत् स्थाननामत्वात् । तत्समाननामानश्चैतिहासिका अपि सम्भवन्त्येवर्षयः । 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६), 'पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः', 'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३।२९) इत्यादिप्रमाणानुरोधात् । तेनानुक्रमणीकारादयोऽन्ये मन्त्रब्राह्मणनिर्दिष्टाः शाकल्यशाकलादयोऽन्य इति ।

यदुक्तम्—(२८ पृष्ठे) सूक्तानामुत्पत्तिगवेषणायास्माभिरतिप्राचीनयुगे गन्तव्यं भवति । तदेतत्तदागतदेवशास्त्रीयभौगोलिकतथ्यैः परिलक्ष्यते । देवशास्त्रीयसम्बन्धानां प्रतिनिधित्वं येषु सूक्तेषु जातं तैरिण्डोजर्मनकालं वयमुपगच्छामः । यत्र प्रचलितानां बालसुलभानां दाक्षिण्यहीनानां कल्पनानामवशेषो लभ्यते । यथा ट्यूटनेषु ग्रीकेषु लभ्यते । आत्मा वायुरूपेण परिणमते स्वामिभक्तश्वेव वायुः पक्षधरो गन्तव्यस्थानं नयति । 'शरमेय्, एर्माइअस' तथा 'शवलकेर्वेरोस' इत्येतयोस्तादात्म्येन विज्ञायते । स्वर्गस्थितः समुद्रः, संसारप्रावरकस्य वरुणत्वम्, द्युलोकस्य पितृत्वम्, जिउसडीपिटेर-माता पृथिवी-डिमीटिर-आदिशब्दानां समानार्थकत्वम् । स्वर्वेश्यारूपेणाकाशनदीनां गोचारणक्षेत्रे समागतानां गवामिव सूर्यकिरणानां वर्णनम्, युवतीनां गवां चापहारकाणां दस्यूनामिव श्याममेघानां विद्युतां

भोज में वैशम्पायन के पुत्र सौति ने महाभारत की कथा कही थी । शुनकों का वंश ऋग्वेद के प्राचीन ऋषि-कुलों से भी सम्बन्ध रखता था, बहुत बाद तक भी ब्राह्मणों के विद्वता के क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान ग्रहण कर अक्षुण्ण बना रहा । आश्वलायन के गुरु शौनक और नैमिष वन में यज्ञ करने वाले शौनक ऋषि दोनों एक ही हैं, इस कथन में कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ता' (पृ० २६-२७) । इस तरह की बहुत सी बातें ऋग्वेद को आधुनिक सिद्ध करने के लिये और उन ऋषियों की कृति के रूप में उनको पौरुषेय बताने के लिये कही गई हैं, किन्तु यह सारा प्रतिपादन निरर्थक है । यहाँ कहीं भी यह नहीं बताया गया है कि जैसे महाभारत की रचना ऋषि द्वैपायन व्यास ने की, रामायण की रचना ऋषि वाल्मीकि ने को, उसो तरह से अमुक ऋषि ने अमुक संहिता, अमुक मण्डल, सूक्त या मन्त्र की रचना की है । ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा मात्र माने जाते हैं, कर्ता नहीं । ऋषि प्रत्येक कल्प में भिन्न-भिन्न होते हैं, किन्तु उनके नाम वे ही रहते हैं । न्यायाधीश आदि की तरह के ये नाम व्यक्तिपरक न होकर पद के साथ जुड़े रहते हैं । इन्हीं नामों वाले कुछ ऋषि इतिहास काल में भी हुए हैं, इसको मानने में कोई बाधा नहीं है । इनकी प्रवाहनित्यता में 'वाचा विरूप०' इत्यादि श्रुतियां प्रमाण हैं । इस तरह से अनुक्रमणी आदि ग्रन्थों के रचयिता आचार्य शौनक आदि भिन्न हैं और मन्त्र-ब्राह्मण भाग के द्रष्टा शाकल्य, शाकल प्रभृति ऋषि उनसे सर्वथा भिन्न हैं ।

'स्वयं सूक्तों की उत्पत्ति ढूंढने के लिये हमें बहुत पहले के युग में जाना होगा । यह बात उनमें आये हुए देवशास्त्रीय एवं भौगोलिक तथ्यों से स्पष्टतः परिलक्षित होती है । इनमें प्रथम था देवशास्त्रीय सम्बन्ध, जिसका प्रतिनिधित्व ऋग्वेद के अधिक प्राचीन सूक्तों में हुआ है, अंशतः हमें आदिम इण्डो-जर्मन काल में खींच ले जाते हैं । उनमें उस समय प्रचलित ऐसी बालसुलभ और दाक्षिण्यहीन कल्पनाओं के अवशेष हैं, जैसी ट्यूटन और ग्रीक लोगों में भी पाई जा सकती है । इसी प्रकार का उदाहरण गत आत्मा के वायु में परिणत होने की कल्पना है, जिस आत्मा को स्वामिभक्त कुत्ते के समान पंखधारी पवन गन्तव्य तक ले ज़ाता है । यह बात 'शरमेय्' और 'एर्माइअस' तथा शबल और 'केर्बेरोस' के तादात्म्य से प्रकट होती है । अपरंच, स्वर्गस्थित समुद्र, संसार को परिवृत करने वाला वरुण, पिता द्युलोक द्यौष्पितर, जिउस डीपिटेर की, माता पृथिवी डिमीटिर को, चमकती हुई परियों के रूप में आकाश की नदियों की, चरागाह में चरने वाली गायों जैसी सूर्य की किरणों, इन युवतियों और गायों को उठा ले जाने वाले लुटेरे के समान

वज्राणां च धारयितृषु दुष्टदमयितृषु नोलमेघभेत्तृषु शक्तिशालिदेवत्वकल्पना अपि तादृश्य एव। तोलनात्मकस्य देवकथाशास्त्रस्येदानीं यावत् सामान्यं रूपरेखामात्रं द्रष्टुं शक्यते। यत्स्थानं तोलनात्मकप्राचीनदेवकथाशास्त्रसन्दर्भे इण्डोजर्मन-व्याकरणेन शास्त्रीयव्याकरणस्य सन्दर्भेऽवाप्तम्, यस्मिन्नाधारे देवकथाशास्त्रमिदानीं यावत्स्थिरमासीत्, तदेव दोलायमानं भवति। एतदुपरि यो नवीनः प्रकाशः समेष्यते तदर्थं वयमृग्वेदस्यैवाधमर्णाः। अनेनैव वेदेन तस्या उद्योगशालाया दृश्यमालोकितं यतोऽस्य मूलमुदेतीति। (पृ० २८-२९)

तदेतत् सर्वं वेदार्थविश्लेषणप्रक्रियानभिज्ञानमूलकमेव, अनादित्वापौरुषेयत्वादिभिरपास्तसमस्तपुंदोषे वेदे तेषां तेषां विषयाणां सुखावबोधार्थं तत्तत्कालिकभावानां वर्णनेऽपि तस्य तादात्विकत्वासिद्धेः। वैदिकानां भावानामनादित्वात्तेषामन्यत्रापि सङ्क्रमणसम्भवात्। केषाञ्चिद्भावानां कदाचित् समानरूपाणामेकत्र सद्भावेऽपि न काचिदनुपपत्तिः। न च तथात्वेऽपि तस्य वैदिककालनिर्धारणौपयिकव्यभिचरितहेतुत्वमुपपद्यते। न चैताः कल्पना वालसुलभा न वा दाक्षिण्यहीनाः। दार्शनिकप्रवरा अपि सोपाधिकस्यात्मनः प्राणमयत्वमङ्गीकुर्वन्ति, प्राणस्य वायुविशेषत्वानतिरेकात्। 'न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्' (ब्र० सू० २।४।९) इति न्यायात्।

वस्तुतः पाश्चात्त्या मूलं मन्त्रं तदर्थं च नावगच्छन्ति न वोद्धरन्ति, तथात्वे तदुक्तीनां निःसारत्वस्य शीघ्रमेव प्राकट्यापातात्। रूपकवर्णनं तु पाण्डित्यापादकमेव न वाल्यावगमकम्। गमनशीलत्वे पवने पक्षकल्पनापि नानुपपन्ना। छान्दोग्यबृहदारण्यकादौ दक्षिणायनोत्तरायणमार्गाभ्यां पितृलोकदेवलोकप्रापका अनेके पदार्था वर्णिताः। गीतायामपि—'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्' (श्री० भ० गी० ८।२५), 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः

श्याम वर्ण के मेघ देवता की और विद्युत् एवं वज्र को धारण करने वाले तथा दुष्टों को दण्ड देने वाले, उन पर प्रहार करने वाले शक्तिशाली देवता की कल्पनाएं भी इसी प्रकार की हैं। इस तुलनात्मक देवकथाशास्त्र की अब तक सामान्य रूप-रेखा मात्र ही देखी जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि यह क्रमशः प्राचीन देवकथाशास्त्र के सन्दर्भ में उसी स्थान का अधिकारी होगा और वही स्थान प्राप्त करेगा, जो स्थान वस्तुतः तुलनात्मक इण्डो-जर्मन व्याकरण ने शास्त्रीय व्याकरण के सन्दर्भ में प्राप्त कर लिया है। जिस आधार पर वह देवकथाशास्त्र अब तक स्थिर रहा है, वह इसके नीचे लड़खड़ा उठता है और इस पर जो नया प्रकाश पड़ने वाला है, उसके लिये हम ऋग्वेद के ऋणी हैं। इस वेद ने ही हमें मानों उस उद्योगशाला की झांकी दिखलाई, जहां से इनका मूलतः उदय हुआ' (पृ० २८-२९)।

यह सारा कथन भी सभी वेदों के अर्थ का विश्लेषण करने वाली प्रक्रिया का ठीक से सही ज्ञान न होने के कारण है। वेद अनादि और अपौरुषेय हैं। इनके पुरुष के दोषों के संक्रमण की संभावना ही नहीं हो सकती। उन-उन विषयों को समझाने के लिये कुछ सामयिक घटनाओं का वर्णन भी यहां प्रतीत होता है, किन्तु वे कथामात्र हैं। इससे कोई इतिहास सिद्ध नहीं हो सकता.। वैदिक विषय अनादिकाल से चले आ रहे हैं। उनका अन्य देशों में भी समयानुसार प्रचार-प्रसारण हो गया हो, ऐसा मानने में हमें कोई बाधा नहीं है। कुछ वस्तुओं की स्थिति अनेक स्थलों पर एक सी हो, इसमें क्या आपत्ति हो सकती है। किन्तु इससे ये घटनाएं वैदिक काल के निश्चय करने में कभी अव्यभिचारी हेतु का कार्य नहीं कर सकतीं। ये कल्पनाएं न तो बालसुलभ ही हैं और न दाक्षिण्य हीन। बादरायण जैसे महान् दार्शनिक भी 'न वायु' इत्यादि सूत्रों में सोपाधिक आत्मा को प्राणमय ही मानते हैं और यह प्राण वायु का ही एक प्रकारविशेष है।

वस्तुतः पाश्चात्य विद्वान् अपनी बात की पुष्टि में किसी प्रमाण या मन्त्र को उद्धृत नहीं करते और न वेद के मन्त्रों का ठीक से अर्थ ही समझ पाते हैं। यदि वे ऐसा करें तो उनके कथनों की निःसारता शीघ्र ही प्रकट हो जाय। किसी बात का रूपक शैली में वर्णन कोई पंडित ही कर सकता है, इसमें बचकानापन कैसे सिद्ध हो सकता है। पवन गतिशील है, इसके लिये पंख की कल्पना करने में अनौचित्य कहां है? छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में दक्षिणायन और उत्तरायण मार्ग से पितृलोक और देवलोक तक पहुंचाने वाले अनेक पदार्थ वर्णित हैं। गीता में भी 'धूमो रात्रिः', 'अग्निर्ज्योति०' यहां इन पदार्थों को गिनाया गया है। ब्रह्मसूत्र में यह स्पष्ट

षण्मासा उत्तरायणम्' (श्री० भ० गी० ८।२४) अयं पदार्थो वर्णितः। ब्रह्मसूत्रेषु च धूमाग्न्यादितत्तत्पदार्थाभिमानिनो देवास्तत्र प्रापका इत्युक्तम्। शङ्करभगवत्पादादयः सर्वेऽपि दार्शनिकास्तत्पक्षं सम्यगुपपादयन्त्येव। देवतासिद्धान्तानभिज्ञाः पाश्चात्यास्तदनुगा भारतीयाश्च सामाजिकास्तत्र भ्राम्यन्ति। परं 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' इति न्यायेन देवताधिकरणादौ ब्रह्मसूत्रभाष्ये भामत्यादौ न्यायरक्षामणौ प्रकृतग्रन्थे च तद् याथात्म्यं सम्यगुक्तमेव।

स्वर्गस्थितसमुद्रवर्णनमपि नासङ्गतम्, द्युलोके सोमात्मकानां सूक्ष्मरसानां सत्त्वे वाधानुपपत्तेः। सूर्यरश्मिषु मेघेषु च जलसत्त्वेऽपि सचेतसामनुपपत्त्यभावात्। सांख्यैस्तमसः प्रावरणावष्टम्भात्मकत्वोपगमनेन सर्वधारकस्य सर्वावरकस्य वरुणत्वेऽपि न कापि विप्रतिपत्तिः। द्यावापृथिव्योः परमेशप्रकृतिप्रतीकत्वेन पितृत्वं मातृत्वं च सूपपन्नमेव। 'सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥' (श्री० भ० गी० १४।४) इति गीतोक्तेः। पञ्चाग्निविद्यायां पृथिव्याश्चतुर्थ्याहुत्याधारत्वेन मातृत्वमन्तरिक्षस्थपर्जन्यस्याहुतिप्रदत्वेन पितृत्वमुक्तम्। व्रीहियवादिद्वारा भरणहेतुत्वात् पृथिव्या मातृत्वं द्युलोकस्य तदुपोद्वलकरससेचकत्वेन पितृत्वमपि नानुपपन्नम्। किरणेषु गोपदप्रयोगस्तु निरुक्तकारैरपि कृत एव। मेघेषु तदपहारकत्वेन तत्र तादृशी कल्पनापि युक्तैव। विद्युतां वज्रत्वं मेघविदारकस्येन्द्रत्वमपि सङ्गतमेव। ऐतिहासिकदृष्ट्या मेघाद्यावरणाभिमानिनि वृत्रत्वं तद्घातकप्रकाशाद्यभिमानिनि इन्द्रत्वमपि सङ्गच्छते, मन्त्राणामाधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकभेदेनानेकार्थप्रतिपादकत्वात्।

यदपि—'फारसी-जेन्दावेस्ताग्रन्थे तथा महाभारतरामायणमहाकाव्ययोर्वर्णितायाः कथायाश्चक्रद्वयरूपेण निरूपितयोः पक्षयोः क्रमिकविकासस्य सूचनाप्रदानेन तत्सम्बन्धीनि ऋक्सूक्तानि स्वप्राचीनतायां प्रचुरं प्रमाणमुपस्था-

किया गया है कि धूम, अग्नि आदि पदार्थों के अधिष्ठाता देवता गतात्मा को वहाँ पहुँचाते हैं। शंकर भगवत्पाद प्रभृति सभी बड़े-बड़े दार्शनिक इसी पक्ष का समर्थन करते हैं। भारतीय देवतावाद को न समझ पाने वाले पाश्चात्य विद्वान् और उनका आँख मूंद कर अनुसरण करने वाले भारतीय विद्वान् और आर्यसमाजी यहाँ चक्कर में पड़ जाते हैं। किन्तु 'स्थाणु (खंभा) का यह अपराध थोड़े ही है कि उसको अन्धा नहीं देख पाता' इस न्याय के अनुसार आचरण करने वालों को भी विषय का ज्ञान कराने के लिये देवताधिकरण में, उसके भाष्यों में, भामती, न्यायरक्षामणि प्रभृति ग्रन्थों में और प्रस्तुत पुस्तक में भी देवतावाद को सही तरीके से समझाने का प्रयत्न किया गया है।

स्वर्ग में स्थित समुद्र का वर्णन कोई असंगत बात नहीं है, क्योंकि अन्तरिक्ष में सोमात्मक सूक्ष्म रसों की सत्ता मानने में कोई बाधा नहीं है। सूर्य की किरणों और मेघों में जल की सत्ता मानने में किस समझदार व्यक्ति को आपत्ति हो सकती है। सांख्य तमोगुण को ढकने वाला (प्रावरक) और धारण करने वाला (अवष्टम्भक) मानते हैं। इस तरह से सबको धारण करने वाला और सबको ढक देने वाला देवता वरुण पाया जाता है, इसमें क्या आपत्ति हो सकती है। आकाश और पृथ्वी परमेश्वर और प्रकृति के प्रतीक हैं, अतः इनको माता-पिता मानना भी ठीक ही है। 'सर्वयोनिषु' इत्यादि गीता वचन में इसी बात को कहा गया है। पञ्चाग्नि विद्या में चौथी आहुति को धारण करने वाली पृथिवी को माता और अन्तरिक्ष स्थित पर्जन्य को आहुति द्रव्य का जनक होने से पिता कहा गया है। व्रीहि-यव आदि अन्न को उत्पन्न कर जीवों का भरण-पोषण करने वाली पृथिवी को माता और इन अन्नों को वर्षा से रस-सिक्त करने वाले अन्तरिक्ष को पिता मानना कोई अनुचित भी नहीं है। किरणों के लिए 'गो' (गाय) शब्द का प्रयोग निरुक्तकार ने भी किया है। मेघ इन किरणों को छिपा देते हैं, अतः इनको गायों का हरण करने वाला कहना ठीक ही है। विद्युत् की वज्र के रूप में और इन्द्र की मेघों को छिन्न-भिन्न कर देने वाले के रूप में कल्पना भी उचित ही है। ऐतिहासिक दृष्टि से मेघ आदि आवरक द्रव्यों के अभिमानी की वृत्र के रूप में और आवरक द्रव्य के कारण फैले अन्धकार को नष्ट कर पुनः प्रकाश को फैला देने वाले की इन्द्र के रूप में कल्पना भी सही है, क्योंकि मन्त्रों के आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक आदि के भेद से अनेक अर्थ किये जा सकते हैं।

बेवर आगे लिखते हैं—'ऋग्वेद के सूक्त फारसी और महाकाव्यीय कथाओं के दो चक्रों के उद्भव और क्रमिक त्रिकास के सम्बन्ध में बहुमूल्य सूचनाएँ देकर अपनी प्राचीनता का प्रचुर प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। ऋग्वेद के गीतों में हम अन्धकार और प्रकाश के

पयन्ति । ऋग्वेदीयगीतेष्वन्धकारप्रकाशयोः स्वर्गीयसङ्घर्षस्य काव्यीयरङ्गरञ्जितं वर्णनं दृश्यते । एतन्नितान्तसारल्येन प्रतीकपरिवेशेन वा दैवव्यक्तीनां रूपकं चित्रितम् । अवेस्ताग्रन्थेऽयमेव सङ्घर्षः स्वर्गात् पृथिव्यां प्राकृतिकदृश्यप्रदेशेभ्यो नैतिकजगति वावतरति । अस्य विजेता कश्चिदेकः पुत्रो यश्चैकस्मै पित्रे लभ्यते, यश्च सोमयज्ञस्य पवित्रक्रियायां पुरस्काररूपेण पृथिव्या रक्षकत्वेन नियुज्यते, यं दैत्यं स हन्ति। स पापशक्तिः सृष्टिसंसारस्य पावित्र्यप्रध्वंसनायापारदानवीयवलयुक्तः । अन्ते फारसीमहाकाव्यमितिहासक्षेत्रं प्रविशति । युद्धमार्याणां देशे भवति । सर्पो जेण्डेय आजिदहकरूपेण वेदे आहि(दासक)रूपेण वर्ण्यते । स जोकफरूपेण ईरानप्रदेशे सिंहासनासीनः सन्नत्याचारं करोति । युद्धरताय वेदे त्रैतनाय 'जेण्डे थ्रे इताओनो' इत्यस्मै जनतायाः कल्याणाय यानि वरदानानि लभ्यन्ते, तानि पैतृकभूमौ स्वातन्त्र्यलाभः सन्तोषप्राप्तिश्चेति । फारसीकथानकेन विकासस्येमा अवस्था ज्ञायन्ते । कदाचित्ता द्विसहस्रवर्षैरतिक्रान्ताः । प्रकृतिराज्यात् काव्यक्षेत्रं प्रविश्येतिहासक्षेत्रप्रवेशः । फेरेदूनस्य विभिन्नाभिर्दशाभिस्तुल्य एव दशाक्रमो जेमशीदस्य (यम = यिम) विषयेऽपि द्रष्टुं शक्यते । इतीदृश्य एव कथाः कैववश(काव्य उसनस कवउश)विषये खोस्रू(सुश्रवसहश्रवह्ल) विषयेऽपि । विकासदृष्टया भारतीयमाख्यानं फारसीकथासमानान्तरमेव । यजुर्वेदस्य समयेऽस्याः कथाया महत्त्वपूर्णं रूपं लुप्तमेव । तत्र त्विन्द्रः कलहप्रियः कश्चिदीर्ष्यालुर्देवः, योऽजेयान् दैत्यान् निम्नस्तरीयया धूर्ततया पराजयति । महाभारते सा कथा तेनैव रूपेणागता, अर्जुननाम्ना वा यश्चेन्द्रस्यावताररूप आसीत् । स तान् महाशक्तिशालिनो राज्ञः पराजयते, ये दैत्यावतारभूता आसन् । महाभारतरामायणयोः प्रमुखपात्राणि फिरदूसीराजमिश्रसमानमेव नश्यन्ति' इत्यादिकम् ।

तदपि कपोलकल्पनामात्रम्, इन्द्रवृत्रादिकथानामाधिभौतिकादिरूपेणार्थभेदस्योक्तत्वात् । परवर्तिषु ग्रन्थेषु तस्या रूपान्तरणं नासम्भवि । नामरूपघटनानां वैरूप्ये तु प्रत्यभिज्ञानमैक्यं च दुर्लभमेव, केनचिदंशेन साधर्म्यस्य

स्वर्गीय संघर्षों का काव्यीय रंगों में रंजित वर्णन पाते हैं, जिन्हें या तो नितान्त सरल और स्वाभाविक रूप में या प्रतीकात्मक परिवेष में दैवी व्यक्तियों के रूप में चित्रित किया गया है । दूसरी ओर फारसी वेद अवेस्ता में यह संघर्ष स्वर्ग से पृथ्वी पर, किं वा प्राकृतिक दृश्यों के प्रदेश से नैतिक जगत् में उतरता है । इसका विजेता एक पुत्र है, जो एक पिता को प्राप्त होता है और जो पृथ्वी का रक्षक नियुक्त कर सोमयज्ञ की पवित्र क्रियाओं के पुरस्कार के रूप में प्रदान किया गया है । वह जिस दैत्य का वध करता है, वह पाप की एक शक्ति की सृष्टि है और संसार की पवित्रता को ध्वस्त करने के लिये अपार दानवीय वल से युक्त है । अन्त में फारसी महाकाव्य इतिहास के क्षेत्र में प्रवेश करता है । युद्ध आर्यों के देश में होता है । सर्प जो जेण्ड में अजिदहक है और वेद में अहि (दासक) है, जोकफ के रूप में ईरान के सिंहासन पर अत्याचारी शासक बनकर बैठता है । युद्धरत फेरेदून—वेद में त्रैतन् और जेण्ड में थ्रेइताओनो को पीड़ित जनता के कल्याण के लिये जो वरदान मिलते हैं, वे हैं पैतृक भूमि पर जीवन में स्वतन्त्रता एवं संतोष की प्राप्ति । फारसी आख्यान ने विकास की इन अवस्थाओं को कदाचित् २००० वर्षों में पार किया और प्रकृति के राज्य से महाकाव्य के राज्य में पहुँच कर वहाँ से इतिहास के क्षेत्र में प्रवेश किया । फेरेदून की विभिन्न दशाओं से मिलती-जुलती दशाओं का क्रम जेमशोद (यम, यिम) के विषय में भी देखा जा सकता है । इसी प्रकार की कथाएँ कैकवक्ष (काव्य उशनस् कवउश्) के और सम्भवतः कैखोस् (सुश्रवस्, हुश्रवस्) के विषय में भी है । विकास की दृष्टि से भारतीय आख्यान फारसी कथा का समानान्तर है । यहाँ तक कि यजुर्वेद के समय में कथा का स्वाभाविक महत्त्वपूर्ण रूप लुप्त हो गया था । उसमें इन्द्र केवल एक कलहप्रिय और ईर्ष्यालु देवता है, जो अजेय दैत्यों को निम्नकोटि की धूर्तता से पराजित करता है और भारतीय महाकाव्य में यह कथा या तो उसी रूप में आई है या इन्द्र को मनुष्य रूप में अर्जुन नाम से उपस्थित किया गया है, जो इन्द्र का ही अवतार है और उस महाशक्तिशाली दैत्य एवं राजाओं का नाश करता है, जो दैत्यों के अवतार के रूप में संमुख आते हैं । महाभारत और रामायण के प्रमुख पात्र फिरदूसी के राजाओं के समान नष्ट होते हैं' (पृ० २९-३०) ।

ये सारी बातें खाली कपोल-कल्पनाएँ हैं । इन्द्र-वृत्र आदि की कथाएँ आधिभौतिक आदि अर्थों के अनुसार अनेक अभिप्रायों से कही गई हैं । परवर्ती ग्रन्थों में उसका दूसरा स्वरूप हो जाय, यह कोई असंभव बात नहीं है । नाम, रूप और घटनाओं की भिन्नता

वैधर्म्यस्य च सर्वत्रापि कल्पयितुं शक्यत्वात्। अहिवत् कुटिलत्वाद् दस्युवदपहारकत्वाद् अहिदस्युप्रभृतिशब्दा वृत्रादिष्वसुरेषु वेदे प्रयुज्यन्ते। धर्मब्रह्मपर्यवसितानां वेदानामाख्यानेतिहासादिवर्णने तात्पर्यं नास्त्येव। आख्यानेतिहासादिरूपकं तु विषयबोधसौकर्यार्थं वेत्युक्तमेव। नामसाम्यान्वेषणप्रयासस्तु निरर्थक एव, स्व-श्व-सकृत्-शकृत्-स्वजन-श्वजनादिस्थलेषु व्यभिचारात्। यजुर्वेदसमयेऽस्याः कथाया महत्त्वपूर्णो भागो नष्ट इत्यपि न विचारचारु, ऋक्संहिताया विद्यमानत्वेन तादृशकल्पनायोगात्। किञ्च, जीवनेऽनेका अनुकूलाः प्रतिकूलाश्च घटना घटन्ते। न तावतापि व्यक्तिभेदः सम्भवति, वाल्मीकिप्रभृतीनां कालान्तरेऽन्यादृशानामपि महर्षित्वप्राप्तिस्मरणात्। समन्वयमन्तरा श्रीरामस्य श्रीकृष्णस्य चाभिन्नस्याप्यनेके भेदाः कल्प्येरन्। तत एव कैश्चिन्महाभारतस्य गीताया भागवतस्य च भिन्नाः श्रीकृष्णा अभ्युपेयन्ते। महाभारतरामायणपात्रसम्बन्धिन्यः कल्पनास्तु महाभारतादिविरुद्धत्वादेवोपेक्ष्याः। रामायणमहाभारतादयस्तु भारतीयानां नित्येतिहासरूपाः। तत्पात्रेष्वनेका आध्यात्मिकादिकल्पना अपि सम्भवन्ति। सति कुड्ये चित्रोल्लेखो नासति। ऐतिहासिकेषु पात्रेषु सत्स्वेव तत्राध्यात्मिकादिकल्पनाः सम्भवन्ति। 'मायाचारो मायया वर्तितव्यः' (म० भा०) इति न्यायं प्रदर्शयितुमेत्र क्वचिच्छद्मनापि दुष्टानां पराजयो नानुचितः, असत्यवर्त्मनापि सत्यप्राप्तिप्रयत्नसम्भवात्। रामायणानुसारेणैव रामस्य परब्रह्मरूपविष्ण्ववतारत्वेन रावणस्य शापवशात् तत्पार्षदप्रमुखस्यावगतत्वेन त्वदुक्तकल्पनानुपपत्तेः। अर्जुनस्य जीवनपावित्र्यसूचकनामत्वादपि तदनुपपत्तिः। तस्य शौर्यं यथा लोकोत्तरमासीत्तथैव चरित्रशुद्धिरप्यनुपमैवासीत्। स्वर्गलोके उर्वश्या प्रार्थितस्यापि निष्ठाधैर्यम्,

होने पर उनको पहचान पाना कि यह एक ही है, बड़ा कठिन है। किसी अंश में समानता और असमानता तो सभी जगह खोजी जा सकती है। सांप की तरह कुटिल स्वभाव के कारण और लुटेरे की तरह प्राणों को ले लेने वाला होने से 'अहिदस्यु' प्रभृति शब्द वृत्र आदि असुरों के लिये वेद में प्रयुक्त हुए हैं। वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय धर्म और ब्रह्म है, अतः इनका तात्पर्य आख्यान या इतिहास के प्रतिपादन में नहीं है। आख्यान और इतिहास के रूप में रूपक अलंकार की पद्धति से विषय को सरलता से समझाया जाता है। नाम की समानता की खोज करने का सारा प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि हम बता चुके हैं कि स्व और श्व, सकृत् और शकृत्, स्वजन और श्वजन शब्दों में समानता होने पर भी अर्थ में बहुत भेद हो जाता है। यजुर्वेद के समय में इस कथा का महत्त्वपूर्ण अंश नष्ट हो गया था, यह कथन भी विचार करने से भला नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि ऋग्वेद में भी यह कथा विद्यमान है, अतः आपकी कल्पना सही नहीं मानी जा सकती। जीवन में अनेक तरह की घटनाएँ घटती रहती हैं, उनमें से कुछ अनुकूल और प्रतिकूल होती हैं। इनसे व्यक्ति में भिन्नता नहीं आ जाती। वाल्मीकि प्रभृति के विषय में यह प्रसिद्ध है कि पहले वे डाकू का जीवन बिताते थे, किन्तु बाद में वे महर्षि कहलाने लगे। व्यक्ति के जीवन को यदि समन्वित न किया जाय तो श्रीराम और श्रीकृष्ण जैसे व्यक्तियों के अनेक भेद मानने पड़ेंगे। कुछ लोग यह मानते भी हैं कि महाभारत के कृष्ण, गीता के उपदेशक कृष्ण और भागवत के कृष्ण भिन्न-भिन्न थे। महाभारत और रामायण में वर्णित पात्रों से संबद्ध वे कल्पनाएँ सर्वथा निराधार ही हैं, जो कि इनमें प्रतिपादित स्वरूप के विपरीत बताई जाती हैं। रामायण और महाभारत जैसे ग्रन्थ भारतीयों के लिए सनातन इतिहास ग्रन्थ हैं। उनके पात्रों के सम्बन्ध में आध्यात्मिक आदि कल्पनाएँ भी की ही जा सकती हैं। दीवाल के रहने पर ही उस पर चित्रकारी की जा सकती है, खाली आकाश में चित्रकारी नहीं होती। इसी तरह से ऐतिहासिक पात्रों की सत्ता मानने पर ही उनसे संबन्ध में ईश्वर, भगवान् आदि की आध्यात्मिक कल्पनाएँ संभव हो सकती हैं। 'मायावी व्यक्ति के साथ उसी तरह का व्यवहार करना चाहिये' इस राजनीतिक सिद्धान्त के अनुसार कभी-कभी छल-कपट से भी दुष्टों को हटाया जाता है, इसमें कोई अनुचित बात नहीं है। असत्य मार्ग से भी सत्य तक पहुँचा जा सकता है। रामायण के अनुसार ही राम परब्रह्म स्वरूप विष्णु के अवतार हैं और उनका पार्षद ही शाप के कारण रावण के रूप में अवतरित हुआ था। इससे भी आप जैसे लोगों को निराधार कल्पनाएँ सही नहीं मानी जा सकती। अर्जुन का नाम उसके जीवन की पवित्रता का सूचक है। इससे उसके संबन्ध में कही गई आपकी बात सही नहीं मानी जा सकती। उसकी वीरता जैसे लोकोत्तर थी, उसी तरह से उसका चरित्र भी परम पवित्र और अनुपम था। स्वर्गलोक में उर्वशी के प्रार्थना करने पर भी उसमें मातृत्व भावना की निष्ठा और धैर्य, एकान्त में उत्तरा को नृत्य आदि

रहस्युत्तरायाः शिक्षणादिकार्यरतत्वेऽपि तस्यां दुहितृबुद्धिः, पाशुपतब्राह्मादिदिव्यास्त्रसम्पन्नस्यापि विपद्यपि तदप्रयोगः, तस्यानृशंस्यत्वादिकमेवावगमयन्ति ।

यदपि—'ऋग्वेदीयानि गीतानि स्वसमयं स्थानमुत्पत्ति विकासावस्थाविवरणमुद्घाट्य पुरः स्थापयन्ति । यथा तेष्वधिकप्राचीनसूक्तेष्विदं विज्ञायते यत्तदानीं भारतीया जनता सिन्धुनद्यास्तटे वसन्ती प्रतीयते । तदानीमनेकासु लघ्वीषु जातिषु विभक्ता परस्य शत्रुभावमापन्ना कर्षकाणां निश्चितस्थानराहित्येन बम्भ्रम्यमाणानां यायावराणां (खानावदोश) जीवनं यापयति स्म । एता जातयोऽल्पाल्पसमुदायरूपेण यत्र निवसन्ति स्म । एतासां प्रतिनिधित्वं राजा करोति स्म । परस्परं युध्यमानाः पृथक् पृथक् स्थिता देवतानामुपस्थितौ समानरूपेण यज्ञान् सम्पादयन्ति स्म । परिवाराणां पितरः पौरोहित्यं कुर्वन्ति स्म, गृह्यकर्माणि च निर्वर्तयन्ति स्म । देवताभ्यः स्तुतीः प्रार्थनाश्च समर्पयन्ति स्म । महतां सार्वजनिकयज्ञानां सिद्ध्यर्थं ये जात्युत्सवरूपेण निर्वर्त्यन्ते निर्वर्त्यानां तेषां कृते ऋत्विजां नियुक्तयो भवन्ति स्मार्ते च ऋत्विजः कर्मणां ज्ञानाध्ययनादिभिरतियोग्या बुद्ध्यन्ते स्म । तेष्वेकजातीयानां भिन्नजातीयानां वा यज्ञैरधिसमृद्धिमत्त्वेन प्रतिद्वन्द्विता विकासमुपगता । यथा वशिष्ठविश्वामित्रवंशीयानां परस्परं शात्रवं सम्पूर्णे वैदिकयुगेऽक्षुण्णरूपेण चलति स्म । अस्यासहिष्णुतापूर्णविद्रोहस्योत्पत्तिः केवलमेकं लघुकारणमुपजीव्य संभूता यत् कश्चिन्नृपो विश्वामित्रस्य स्थाने स्वयज्ञे वशिष्ठं ऋत्विक्त्वे नियुक्तवान् । तस्मिन् काले राजवंशीयानां पुरोहितानां प्रभावो यज्ञादुपरि न प्रसरति स्म । तस्मिन् काले वर्णानामुत्पत्तिर्नैवासीत् । जनता तदानीमप्येकेनैव सङ्घटितसमूहरूपेणासीत् । इदानीं यावत्तस्या विश इत्येव नामासीत् । निर्वाचितो राजा विश्पतिरुच्यते स्म । स चाद्यापि लिथूनियनभाषायामुपलभ्यमान एक उपाधिरस्ति । एवंविधान्यनेकानि सूक्तान्युपलभ्यन्ते येषां रचना कवयित्रीभिर्महिषीभिः कृता । एतास्वत्रिपुत्री अग्रणीरासीत् । प्रेमसम्बन्धिनि कोमलायादर्शतत्त्वायाधिकं महत्त्वं न प्रदीयते । यत्राद्योपान्तमपरिष्कृतस्वाभाविके-

की शिक्षा देते रहने पर भी उसमें अपनी पुत्री के समान दृष्टि, पाशुपत, ब्राह्म आदि दिव्य अस्त्रों के धनी होने पर भी उनका कभी निरर्थक प्रयोग न करना, ये सब बातें उनकी महानता को बताती हैं ।

'ऋग्वेद के सूक्त हमारे संमुख अपने समय, स्थान और उत्पत्ति तथा विकास की अवस्थाओं के विवरण को खोल कर रख देते हैं । इनमें से अधिक प्राचीन सूक्तों में भारतीय जनता सिन्धु नदी के किनारों पर बसी हुई प्रतीत होती है । इस समय यह अनेक छोटी जातियों में बँटी हुई है, जो परस्पर शत्रुता रखती हैं, कृषकों और खानाबदोशों का जीवन व्यतीत करती हैं । ये जातियां अलग-अलग या छोटे समुदायों में निवास करती हैं, इनका प्रतिनिधित्व इनके राजा करते हैं । ये जातियाँ एक दूसरे से युद्ध करती हुई पृथक् बनी रहती हैं और देवताओं की उपस्थिति में समान ढंग के यज्ञों का संपादन करती हैं । परिवार का प्रत्येक पिता अपने घर में पुरोहित का कार्य करता है, गृह्य कर्मों का संपादन करता है और देवताओं की स्तुति या प्रार्थनाएं अर्पित करता है । केवल बड़े सार्वजनिक यज्ञों के लिये ही, जो एक प्रकार का जातिगत उत्सव होता है और राजा द्वारा संपादित होता है, विशेष ऋत्विजों की नियुक्ति होती है, जो आवश्यक कर्मों के पर्याप्त ज्ञान एवं अध्ययन के कारण योग्य समझे जाते हैं और जिनमें एक या दूसरी जाति के यज्ञों द्वारा कम या अधिक समृद्ध होने के आधार पर शनैः-शनैः एक प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता का विकास होता है । यहाँ विशेष महत्त्वपूर्ण है वसिष्ठ और विश्वामित्र के वंशों की आपसी शत्रुता, जो सम्पूर्ण वैदिक युग में चलती रहती है । इस असहिष्णुतापूर्ण द्रोह की उत्पत्ति इस छोटी बात से होती है कि इस काल के एक छोटे राजा ने विश्वामित्र के स्थान पर वसिष्ठ को अपने यज्ञ का प्रधान ऋत्विक् नियुक्त कर लिया । इस आरम्भिक काल में राजवंशी ऋत्विजों का प्रभाव यज्ञ से आगे नहीं फैलता । इस समय तक वर्णों की उत्पत्ति नहीं हुई है, जनता अब भी एक संगठित समूह के रूप में है और इस समय तक इसका केवल एक नाम है 'विशः' या बसने वाले । राजा जो संभवतः निर्वाचित होता है, 'विश्पति' कहा जाता है, जो अब भी लिथूनियन भाषा में पाई जाने वाली एक उपाधि है । इस समय में स्त्रियों को जो स्वतन्त्र स्थान प्राप्त है, वह ध्यान देने योग्य है । हम ऐसे अनेक उत्कृष्ट सूक्त पाते हैं, जिनकी रचना का श्रेय कवियित्रियों तथा रानियों को दिया गया है और इन कवियित्रियों में अत्रि की पुत्री अग्रणी है । जहाँ तक प्रेम का सम्बन्ध है, इसके कोमल

न्द्रियसुखाय भोगस्य प्रभावमुद्रा निपतिता, तथापि विवाहस्य पवित्रता बुद्धयते स्म, पतिपत्न्यौ गृहशासकौ दम्पती मिलित्वा देवानाराध्नुतः स्म । अनेन तथ्येन धार्मिकभावना व्यज्यते । मनुष्याः प्राकृतिकतत्त्वानां तदधिष्ठातृरूपेण कल्पितसत्तानामुपरि समाश्रिताः । तथैवेदमप्युच्यते यत् प्रकृतितत्त्वानामुपरि शासनकर्त्र्यः सत्ता अपि मानवीयसहयोगमपेक्षन्ते । अनेनैकसन्तोलनं स्थाप्यते । अत एव पापकल्पना सर्वथा वैदेशिकी भवति । भारतीयस्य देवताः प्रति नम्रताव्यवहारोऽद्यापि नितान्तं वैदेशिकः । भारतीयाः कथयन्ति यन्मह्यं देहि तुभ्यमहमिदं करिष्यामीति । एकदैव सहयोगाय स स्वाधिकारं प्रदर्शयति । आदानप्रदानरूपस्तु व्यापारः । अस्मिन् मुक्तजीवने ओजस्विन्यामात्मचेतनायां भारतवासिनस्ततो नितान्तभिन्नान्यधिकपौरुषयुक्तान्युदात्तचित्राणि पुरस्तादुपयान्ति । पूर्वंप्रदर्शितावस्था शनैः शनैः परिवर्तनमुपगता । विस्तारप्रभावादस्वस्थताकरजलवायुप्रभावान्नवीनशक्तिर्भग्नतामुपगच्छन्ती क्रमेण लोपं गता । किं तत्कारणं येनैतावत्या संख्यया सिन्धोः सकाशात् सरस्वत्याः पारं गत्वा गङ्गामनुलक्ष्य पुरःसरणायेयं जनता प्रेरिता । प्रमुखकारणमद्याप्यनिश्चितमेव । नवीनानां वसितॄणां चापाद्वा जनसंख्यावृद्धेर्वा भारतीयसुन्दरप्रदेशदिदृक्षया वा सम्मिलितकारणेभ्यः स्वमूलस्थानत्यागेन दूरदेशमुपगता । शतपथीयाख्यानानुसारेणास्य विस्तारस्य पुरोहिताः कारणम् । राज्ञामिच्छाविरुद्धमपि विस्ताराय तैः प्रेयन्ते स्म राजानः । बहुकालं यावत् सिन्धुतटवर्तिभिस्तेषां घनिष्ठः सम्बन्ध आसीत् । किन्तु पश्चाद् भारते ब्राह्मणीयसमाजस्य स्थापनायां जातायां तेषु कटुतायाः प्रबलं तत्त्वं सन्निविष्टम् । यतो ब्राह्मणैः स्वप्राचीना बान्धवा यैः स्वपूर्वजानां रीतयो यथार्थतया पाल्यन्ते स्म, नास्तिकरूपेण विधर्मिरूपेण च बुद्धयते स्म' (पृष्ठे ३०-३२) इति ।

तदेतत् कल्पनामात्रं निर्मूलमेव, प्रमाणानुपलम्भात् । नहि मन्त्रेषु सिन्धुनद्या नामनिर्देशादेव सिन्धुतटे वैदिकजनताया निवासः कल्पयितुं शक्यते, पाश्चात्त्यैरपि पौरस्त्यदेशनदीपर्वतादिवर्णनदर्शनात् । स्तोत्रशस्त्ररूपेण

और आदर्श तत्त्व को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है, अपि तु इस पर आद्योपान्त अपरिष्कृत स्वाभाविक इन्द्रिय सुखोपभोग की छाप पड़ी है । तथापि विवाह को पवित्र समझा गया है, पति और पत्नी दोनों घर के शासक (दम्पती) है और दोनों मिलकर देवताओं की प्रार्थना करते हैं । धार्मिक भावना इस तथ्य से अभिव्यक्त होती है कि मनुष्य प्राकृतिक तत्त्वों और उनके अधिष्ठाता के रूप में कल्पित सत्ताओं के ऊपर आश्रित है, किन्तु साथ ही साथ कहा गया है कि प्रकृति के तत्त्वों पर शासन करने वाली ये सत्ताएं भी मानवीय सहयोग की अपेक्षा रखती हैं । इस प्रकार एक सन्तुलन स्थापित होता है । अत एव पाप की धार्मिक कल्पना बिलकुल विदेशी है और भारतीय के लिये देवताओं के प्रति नम्रता का व्यवहार अब भी नितान्त विदेशी बना हुआ है । वह कहता है 'मुझे दो और मैं तुम्हारे लिये यह करूँगा' इस प्रकार वह दैवी सहयोग के लिये अपना अधिकार प्रदर्शित करता हैं, जो आदान-प्रदान का सौदा है, कोई एहसान नहीं । इस मुक्त जीवन में, इस ओजस्वी आत्मचेतना में भारतवासी का उससे नितान्त भिन्न और अधिक पौरुष युक्त एवं उदात्त चित्र सामने आता है. जैसा कि हम बाद के समय से देखते आ रहे हैं । मैंने ऊपर यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार यह अवस्था शनैः-शनैः परिवर्तित हुई, किस प्रकार हिन्दुस्तान पर विस्तार तथा नयी जलवायु के अस्वास्थ्यकर प्रभाव के कारण नवीन शक्ति भङ्ग हो गई और क्रमशः लुप्त हो गई । किन्तु वह कौन सी वस्तु थी ? जिसने इतनी बड़ी संख्या में इन्हें सिन्धु से सरस्वती को पार कर गङ्गा की ओर बढ़ने के लिये प्रेरित किया ? इसका प्रमुख कारण क्या था यह अब भी अनिश्चित ही है । क्या यह नये बसने वालों के दबाव के कारण था ? क्या जनसंख्या की वृद्धि के कारण था ? या भारत के सुन्दर प्रदेशों की देखने की इच्छा ने उन्हें प्रेरित किया था ? या संभवतः इन सभी कारणों से ऐसा हुआ ? शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण में पाये जाने वाले एक आख्यान के अनुसार इस विस्तार के बहुत कुछ कारण पुरोहित थे, जो राजाओं को उनकी इच्छा के विरुद्ध भी आगे फैलने के लिये प्रेरित करते थे । सिन्धु के तटवर्ती पैतृक भूमि से सम्बन्ध पहले तो बहुत घनिष्ठ बना रहा, किन्तु बाद में जब नये ब्राह्मणीय समाज की हिन्दुस्तान में पूर्णरूप से स्थापना हो गई, तो उसमें कटुता का एक प्रबल तत्त्व प्रविष्ट हुआ, क्योंकि ब्राह्मणों ने अपने पुराने बान्धवों को, जो अपने पूर्वजों की रीति-रिवाजों का यथार्थतः पालन करते थे, नास्तिकों और विधर्मियों के रूप में देखना आरम्भ कर दिया' (पृ० ३०-३२) ।

विनियुक्तानां मन्त्राणां यज्ञाङ्गद्रव्यदेवतादिस्तवेषूपक्षीणत्वेनान्यत्र तात्पर्याभावात् । तस्यामनेका लघ्व्यो जातय इत्यत्र मन्त्रा उद्धरणीयाः । परस्परशत्रुत्वमपि न तद्गतं वैशेष्यम्, सामान्येन समानस्थानवासिनां साम्मनस्यवैमनस्ययोरुभयोरपि दर्शनात् । नहि सततगन्तारः कर्षका भवन्ति । ता जातयो निवसनशीलत्वाद्विशः सञ्जाता इत्यपि निर्मूलम्, समेषामपि निवसनशीलत्वात् । तेषां प्रतिनिधिभूतो राजा विश्पतिरित्यपि निर्मूलम्, भारतीयसंस्कृतौ वैश्यजातीयेषु प्रजासामान्येषु च विश्पदप्रयोगदर्शनात् । राजा च तेषां स्वामित्वाद् विश्पतिव्यपदेश्यो भवति स्म 'एष वो राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' इत्यादिमन्त्रात् । तासां जातीनां परस्परं युद्धं समानरूपेण यज्ञसम्पादनमित्यपि निर्मूलम्, प्रमाणवैधुर्यात् । प्रतिगृहं पितेव पुरोहितकार्यं गृह्यकर्माणि करोति स्मेत्यपि निर्मूलम्, निष्प्रमाणत्वात् । उपनयनमारभ्य समेषां द्विजातीनां सन्ध्यास्वाध्यायादिविधानान्नैकः पितैव गृहगतानां समेषां प्रतिनिधित्वेन गृह्याणि कर्माणि कर्तुं शक्नोति स्मेति । ज्योतिष्टोमादिमहान्ति कर्माणि राजकर्तृकाण्येवासन्नित्यपि निर्मूलम्, वैदिकविधानविरोधात् । वाजपेयाख्यं कर्म ब्राह्मणानामेव भवति । राजसूयश्च क्षत्रियस्य सतो राज्ञ एव नान्येषाम् । ज्योतिष्टोमादयस्तु प्रातिस्विका यागा न सामूहिकाः, ब्राह्मणेषु सूत्रेषु तथैव विधानात् । तद्भिन्नविधाने त्वदीयनिरङ्कुशकल्पनातिरिक्तप्रमाणानुपलम्भात् । वशिष्ठविश्वामित्रयोर्वैयक्तिको द्वेषः कादाचित्क एव, अन्ते रामायणादौ तयोः सामञ्जस्यवर्णनात् । तद्वंशीयानां विरोधस्तु सर्वथा प्रमाणशून्यः । वस्तुतस्तु वशिष्ठविश्वामित्रौ आधिकारिकपुरुषौ दीर्घजीविनौ । विश्वामित्रस्य ब्राह्मण्यप्राप्तेः पूर्वमपि तौ ब्रह्मक्षत्ररूपेण सहयोगिनावभूताम् । कदाचिद्विश्वामित्रस्यातिथ्यप्रसङ्गे वशिष्ठस्य होमधेनुप्रभावैश्वर्यं वीक्ष्य विश्वामित्रस्य लोभो जातः । पश्चात् सङ्घर्षे

इन बातों के लिये कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, अतः ये सब निराधार कल्पनाएं हैं । मन्त्रों में सिन्धु नदी के नाम का उल्लेख होने मात्र से यह बात नहीं सिद्ध हो जाती कि वैदिक जनता सिन्धु नदी के तट पर निवास करती थी । पाश्चात्य लेखकों ने भी पूर्वी देशों के नदी, पर्वत आदि का वर्णन किया है । इतने से उनको प्राच्य नहीं कहा जा सकता । स्तोत्र और शस्त्र के रूप में विनियुक्त मन्त्रों का तात्पर्य यज्ञ के अङ्गभूत द्रव्यों का बोध कराने और देवताओं की स्तुति करने में पूरा हो जाता है । उसके बाद उनका नदी-पर्वत आदि के वर्णन से कोई सम्बन्ध नहीं रहता । उस समय अनेक छोटी-छोटी जातियां थी, इस बात का प्रमाण देना पड़ेगा । परस्पर शत्रुता होना कोई विशेष बात नहीं है । सामान्यतः एक जगह रहने वालों में परस्पर सौमनस्य और वैमनस्य बन ही जाता है । कृषक जनता एक जगह स्थिर रह कर खेती-बाड़ी करती है । उसका यह स्वभाव नहीं हो सकता कि वह एक स्थान छोड़कर दूसरी जगह निरन्तर बदलती रहे । ये जातियां 'विशः' इसलिये कहलाई कि ये एक जगह बस गई थी, यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि यह तो मनुष्य का स्वभाव ही है कि यह कहीं न कहीं बस जाता है । जनता का राजा के रूप में चुना गया प्रतिनिधि 'विश्पति' कहलाता था, यह बात भी गलत है, क्योंकि भारतीय संस्कृति में केवल वैश्य जाति की प्रजा के लिये ही इन शब्दों का प्रयोग हुआ है । राजा इन वैश्यों का भी स्वामी होने से 'विश्पति' कहलाता था । 'यह राजा तुम लोगों का है । हम ब्राह्मणों का राजा तो सोम है' इस मन्त्र में स्पष्ट ही वैश्य आदि से ब्राह्मणों का अलग से निर्देश किया गया है । ये जातियां परस्पर युद्ध भी किया करती थी और यज्ञ-यागादि का संपादन भी करती थीं, इस बात में भी कोई प्रमाण नहीं है । परिवार का प्रत्येक पिता पुरोहित का कार्य और गृह्य कर्मों का सम्पादन करता था, यह कथन भी निराधार है । उपनयन से लेकर द्विजाति के लिये निर्धारित आवश्यक सन्ध्यावन्दन, वेदाध्ययन आदि कर्मों को परिवार के सभी सदस्यों को करना पड़ता है, अकेला पिता ही पूरे परिवार के लिये सन्ध्यावन्दन आदि नहीं कर लेता । ज्योतिष्टोम जैसे बड़े-बड़े यज्ञ केवल राजा ही किया करते थे, यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि वैदिक विधान इसके विपरीत भी है । वाजपेय यज्ञ केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं । राजसूय यज्ञ वही क्षत्रिय कर सकता है, जो कि क्षत्रिय के साथ राजा भी हो । ज्योतिष्टोम प्रभृति यज्ञों को एक-एक व्यक्ति ही सम्पादित करते हैं, इसको सामूहिक रूप से नहीं किया जा सकता । ब्राह्मण और श्रौतसूत्र ग्रन्थों में इसी तरह का विधान है । इसके अतिरिक्त आपके कथन में निराधार कल्पना के सिवाय और कोई प्रमाण नहीं मिल सकता । वसिष्ठ और विश्वामित्र का व्यक्तिगत कलह सीमित काल में ही रहा है । अन्त में रामायण आदि में उनके परस्पर सौहार्द का भी वर्णन मिलता है । वसिष्ठ और विश्वामित्र के वंशजों में परस्पर कलह की बात सर्वथा निराधार है । वास्तव में तो वसिष्ठ और विश्वामित्र दीर्घजीवी अधिकारी पुरुष हैं । विश्वामित्र

पराजितो विश्वामित्रो ब्राह्मण्यलाभाय लोकोत्तरं तपस्तेपे। तत्तपःप्रभावेण च ब्राह्मण्यमासादितवान्। रामायणीयकथायां तु तयोः परस्परमत्यन्तं सौहार्दमेव दृश्यते। बेवरेण सर्वत्रार्धजरतीयत्वमेवाश्रितम्। महाभारतीयप्रसङ्गा ऋक्सूक्तकथार्थतया योजिताः। निर्वाचितो राजा भवति स्मेत्यपि निर्मूलम्, पितृपितामहादिपारम्पर्येणैवाभिषेकेण राजपदप्राप्तेरेव वेदेषु वर्णनात्। वैदिकानि सूक्तानि मन्त्रा ब्राह्मणानि च नित्यानि। न तानि केनचित्क्रियन्ते। अतः कवयित्रीभिर्महाराज्ञीभिर्निर्मितानि सूक्तानीत्यपि प्रतिज्ञामात्रम्, हेतुमन्तरा प्रतिज्ञासिद्ध्यसम्भवात्। एवमेवादर्शप्रेमतत्त्वोपरि अपरिष्कृतेन्द्रियसुखोपभोगप्रभावादिकथनमपि निर्मूलम्। जनसामान्यजीवने यद्यपि तन्नासम्भवि, तथापि न तद्वैधम्, वैदिकविवाहादिविधानेषु पातिव्रत्यवैभवस्य वर्णितत्वाद्। किञ्च, प्रमाणान्यनुद्धृत्य वैदिकप्रणाल्या तदर्थाननिरूप्य निष्प्रमाणमेव यत्किञ्चिज्जल्पनं न कठिनम्, परं न तत्रादरो युक्तः। यश्चैकस्यापि ग्रन्थस्य समन्वयेन समञ्जसमर्थमभ्युपैति, तस्य लोकवेदबाह्यत्वात् सर्वथाऽनादर एव युक्तः। मीमांसका वैदिकाश्च मन्त्राणां समेषां ब्राह्मणानां च समन्वयेनैवार्थं बुद्ध्यन्ते। समन्वितानां समेषां मन्त्राणां ब्राह्मणानां चोपक्रमादिभिर्निर्णीता एवार्था ग्राह्या भवन्ति। मनुष्या देवाश्रिता देवाश्च मनुष्याश्रिताः। 'देहि मे ददामि ते' इत्यादिवैदिकाः सिद्धान्ता न कादाचित्काः, अद्यापि तेषां तथैव राजमानत्वात्। 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥' (श्री० भ० गी० ३।११) इति वचनस्याद्यापि जागरूकत्वात्। तथापि देवान् प्रति नम्रताव्यवहारो वैदेशिक इति कथनं भारतीयभावनया नितान्तमपरिचितस्य कस्यचिद् वैदेशिकस्यैव शोभते। 'स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये' (वा० सं० ३।२४) इति वचनस्य जाज्वल्यमानत्वाच्च।

जब ब्राह्मण नहीं बने थे, इससे पहले वे ब्राह्मण और क्षत्रिय के रूप में परस्पर एक दूसरे के सहयोगी थे। किसी समय विश्वामित्र ने अपने लिये किये गये अतिथि सत्कार के आयोजन में वसिष्ठ की गाय के प्रभाव और ऐश्वर्य को देखकर विश्वामित्र को उस गाय को अपने पास रखने का लोभ आ गया। इसी बात पर आपस में संघर्ष हो गया और उसमें विश्वामित्र हार गये। पराजित होकर विश्वामित्र ने ब्रह्मतेज की प्राप्ति के लिये कठिन तपस्या की। तप के प्रभाव से उसको ब्राह्मण्य की प्राप्ति हो गई। रामायण में वर्णित कथा में तो इनमें परस्पर अत्यन्त स्नेह दिखाई पड़ता हैं। वेबर सब जगह अर्धजरतीय न्याय का अनुसरण करते हैं। अपने मतलब की बात मान लेते हैं और जो बात अपने मन्तव्य के विपरीत पड़ती है, उसको नहीं मानते। उन्होंने महाभारत में आये प्रसंग को तो ऋग्वेद के सूक्तों के साथ जोड़ दिया है और इस रामायण के प्रसङ्ग को छोड़ दिया है। उस समय राजा का निर्वाचन होता था, यह भी गलत बात है, अपनी कुल परम्परा से आये व्यक्ति का ही राजा के पद पर अभिषेक किये जाने की बात वेदों में मिलती हैं। वैदिक सूक्त मन्त्र और ब्राह्मण ये सब नित्य हैं। इनको कोई बनाता नहीं। इसलिये सूक्तों की रचना विदुषी स्त्रियों और राजमहिषियों ने की, यह कथन भी गलत ही है। बिना प्रमाण के कह देने मात्र से कोई बात सच नहीं मानी जाती। इसी तरह आदर्श प्रेम के उदाहरणों पर अपरिष्कृत इन्द्रिय सुख को भोगने का आक्षेप भी निराधार है। जन सामान्य के जीवन में यद्यपि यह असंभव नहीं है, किन्तु उसको वैध कभी नहीं माना गया। वैदिक विवाह के प्रसङ्ग में पातिव्रत्य धर्म की पवित्रता का विशद वर्णन मिलता है। बिना प्रमाणों को उद्धृत किये और वैदिक प्रणाली का बिना अनुसरण किये वैदिक वाक्यों का मनमाना अर्थ कर लेना कोई कठिन बात नहीं है, किन्तु उसमें विश्वास करना उचित नहीं है। जो व्यक्ति एक ही ग्रन्थ को प्रमाण मान कर अन्य ग्रन्थों का परस्पर समन्वय कर एक समंजस अर्थ नहीं स्वीकार करता, वह लोक और वेद की पद्धति से भी परिचित न होने के कारण कभी प्रमाण नहीं माना जा सकता। मीमांसक और वैदिक सभी मन्त्रों और ब्राह्मणों का समन्वय कर एक समंजस अर्थ स्वीकार करते हैं। इन समन्वित मन्त्रों और ब्राह्मणों का उपक्रम आदि छः प्रकार के उपायों से निर्णीत अर्थ को ही प्रमाण माना जाता है। मनुष्य देवताओं के आश्रित हैं और देवता मनुष्यों के आश्रित हैं, देने और लेने का यह वैदिक सिद्धान्त किसी एक समय का न होकर आज भी उसी तरह से मान्य है, जैसा कि पहले था। 'देवान् भावयताऽनेन' इस गीता वचन में यही बात कही गई है। इस स्थिति में भी देवताओं के प्रति नम्रता का व्यवहार भारतीयों ने विदेशियों से सीखा है, यह कहना भारतीय भावना से एकदम अपरिचित किसी विदेशी के मुँह से भी शोभा दे सकता है। वाजसनेय संहिता के इस मन्त्र में भारतीय नम्रता स्पष्ट झलकती है—'हे अग्ने, आप हमारे लिये उसी तरह से मंगलदायक होइये और हमारे कल्याण के लिये लगे रहिये, जैसे कि एक पिता अपने पुत्र के लिये लगा रहता है'।

यत्तु—'ब्राह्मणीयव्यवस्थायां स्थापितायां ब्राह्मणैः स्वपूर्वबान्धवा नास्तिकतया विधर्मतया च बुद्धयन्ते स्म' इति, तत्सर्वथा निर्मूलम्, गम्भीरतमेऽस्मिन् विषये प्रमाणस्यावश्यं वक्तव्यत्वात्। टिप्पण्यां निरर्थकानि बहूनि वस्तून्युक्तानि, किन्तु स्वोक्तिपोषकाणि मूलवचनानि तु क्वचिदपि नोक्तान्येव। यदपि—'ब्राह्मणीयपुरोहितवादस्य पूर्णविकासानन्तरम् ऋक्संहितायाः सङ्कलनं जातम्' इति, तत्तु प्रतिज्ञामात्रं निरर्थकमेव, प्रमाणानामनुपस्थापितत्वात्। 'कोसला विदेहाः कुरुपाञ्चालाः पुरोहितवादविकासेऽग्रगामिनो मन्यन्ते स्म। यदा च ते चरमोत्कर्षमुपगता आसन् तदेयं संहिता संकलितेति प्रलापमात्रं प्रमाणशून्यत्वात्। 'हिन्दुस्तानागमनान्तरं कानिचित्सूक्तानि रचितानि' इत्यपि प्रलापमात्रम्, प्रमाणस्यानुक्तत्वात्। यदपि सूक्तानामालोचनात्मकाध्ययनेन सूक्तसम्बद्धा विषयाः कल्पना भाषाः परम्परा आधाराश्च निश्चेतुं शक्यन्ते। कानि सूक्तानि कस्मिन् युगे विरचितानीति ज्ञातुं शक्यन्ते' इति, तदपि कथनमात्रम्, विपरीतस्यापि सुवचत्वात्। कस्यचित् सूक्तस्य तादृशालोचनात्मकाध्ययनस्य प्रमाणरूपेणोपस्थापयितव्यत्वाच्च।

यत्तु—'ऋक्संहितायां दशममण्डले ९८ सूक्ते देवापेः शन्तनोश्च संवादो दृश्यते। देवापिः शन्तनुश्च यास्कानुसारेण कौरव्यौ भ्रातरौ, महाभारतरीत्या च शन्तनुर्भीष्मस्य विचित्रवीर्यस्य च पितासीत्। अम्बिकाम्बालिकयोर्विचित्रवीर्यस्य पत्न्योर्व्यासेन धृतराष्ट्रः पाण्डुश्चोत्पादितौ। अतः शन्तनुर्महाभारतीयस्य पक्षद्वयस्यापि प्रपितामहो भवति। अनया रीत्या ऋक्संहिताया अन्तिमसङ्कलनस्य बहोः कालात्पूर्वमेव महाभारतवर्णितं युद्धं वृत्तमिति मन्तव्यम्। महाभारतवर्णितः शन्तनुर्ऋग्वेदीय एवान्यो वेति सन्देहास्पदमेव। अभिन्नत्वे किं महाकाव्येन तत्सम्बन्धो गौरववर्णनाय स्थापितः। देवापेस्तु पिता ऋग्वेदवर्णितो महाकाव्यवर्णिताद्भिन्न एव' (पृ० ३३ टि०) इति, तदपि न किञ्चित्, 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (ब्र० सू० १।३।२८) इति ब्रह्मसूत्रे तथाभूतानां समेषां चोद्यानां

'ब्राह्मणीय व्यवस्था के स्थापित हो जाने पर ब्राह्मणों ने अपने पुराने बान्धवों को नास्तिकों और विधर्मियों के रूप में देखना आरम्भ कर दिया' (पृ० ३२), यह कथन सर्वथा निराधार है। इस तरह के गंभीर विषयों में प्रमाण अवश्य दिये जाने चाहिये। यहाँ टिप्पणियों में निरर्थक बातें बहुत कही गई हैं, किन्तु अपने कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण कहीं भी नहीं दिया गया है। 'ऋक्संहिता का संकलन उसी युग में जाकर हुआ, जब ब्राह्मणीय पुरोहितवाद का पूर्ण विकास हो चुका था' (पृ० ३२) यह भी निरर्थक प्रतिज्ञामात्र है, क्योंकि यहाँ कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। 'कोसल-विदेह और कुरु-पंचाल पुरोहितवाद को फैलाने में अगुआ माने जाते थे। जब ये अपने चरम उत्कर्ष पर थे, जब ऋग्वेद संहिता का संकलन हुआ था' (पृ० ३२) यह कथन भी एक प्रलापमात्र है, क्योंकि यहाँ भी कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। 'हिन्दुस्तान में आने के बाद कुछ सूक्तों की रचना हुई' (पृ० ३२) यह भी केवल प्रलाप ही है, क्योंकि प्रमाणों से रहित है। 'प्रत्येक सूक्त के विषय में केवल आलोचनात्मक अध्ययन करने वाला व्यक्ति ही उस सूक्त से संबद्ध विषय, कल्पना, भाषा और परम्परा के आधार पर यह निश्चित कर सकता है कि उसे किस युग की रचना माना जाय' (पृ० ३२) यह कथन भी कोरी प्रतिज्ञा है, क्योंकि हम इसके विपरीत भी कह सकते हैं कि उक्त बातों में कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। इस बात को पुष्ट करने के लिये किसी सूक्त का इस तरह का समालोचनात्मक अध्ययन प्रमाण के रूप में उपस्थित किया जाना चाहिये था।

'मण्डल १० का ९८वाँ सूक्त देवापि और शान्तनु का संवाद है। इन दोनों को यास्क ने 'कौरव्यौ' कहा है। महाभारत में शान्तनु भीष्म और विचित्रवीर्य के पिता का नाम है, जिसकी दो पत्नियों अम्बिका और अम्बालिका से व्यास ने धृतराष्ट्र और पाण्डु को उत्पन्न किया। अत एव ये शान्तनु इन दोनों के पितामह या महाभारत के युद्ध के दो पक्षों कौरवों और पाण्डवों के पितामह हैं। इस प्रकार हमें यह मानना होगा कि इस महाकाव्य में वर्णित युद्ध ऋक्संहिता के अन्तिम संकलन के बहुत पहले हो चुका था। यह प्रश्न संदेहास्पद है कि 'महाभारत' के शान्तनु ऋग्वेद में उल्लिखित शान्तनु ही हैं या नहीं, या यदि हम उन्हें अभिन्न मान लें तो प्रश्न उठता है कि महाकाव्य के साथ उनका नाम उसका गौरव बढ़ाने के लिए तो नहीं जोड़ दिया गया है। कम से कम देवापि के, जो यास्क के अनुसार शान्तनु के भाई हैं, पिता का जो नाम ऋग्वेद में बताया गया है, वह महाकाव्य के नाम से भिन्न है' (पृ० ३२ टि०)। इस कथन में भी कोई सार नहीं है, 'शब्द इति' इत्यादि ब्रह्मसूत्र में इस तरह के सभी कुतर्कों का समाधान कर

A similar argument gi
by Farquhar

समाधानस्योक्तत्वात्। सामान्येष्वितिहासेषु पुस्तकेषु वा लिखितनाम्नां व्यक्तिविशेषाणामुत्पत्त्यनन्तरं तत्पुस्तकानां निर्माणं सम्भवति। वेदस्य तु नित्यत्वाज्जगत्सृष्टेर्वैदिकशब्दपूर्वकत्वाच्च न वैदिकाः शब्दास्तादात्विकव्यक्तिविशेषपूर्वका भवितुमर्हन्ति, तेषामनादित्वात्। वैदिकशब्दानुसारेण कदाचित् तन्नामकानां व्यक्तिविशेषाणामुत्पत्तावपि न तेन वैदिकशब्दानां तादात्विकत्वं सिद्धयति, आख्यायिकामात्रत्वात्। तद्गतैः शब्दैर्नावश्यं व्यक्तिविशेषाः कल्पयितव्याः, अभूतस्याप्याख्यायिकार्थत्वसम्भवात्। एवमेव शतपथादिगतयाज्ञवल्क्यमैत्रेयीगार्गीजनकादिनामभिरपि न शतपथस्य तदनन्तरभावित्वं सिद्धयति, तदुल्लेखस्य नित्यत्वेन घटनापूर्वकत्वाभावात्। घटनास्तु तदनुगुणा भवन्त्यो न निवार्यन्ते, सृष्टेर्वैदिकशब्दप्रभवत्वात्। 'स भूरिति व्याहरत्तस्माद्भुवमसृजत् असृग्रमिति मनुष्यान् तिरःपवित्रमिति पितॄन्', 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे' (म० १।२१) इत्यादिप्रत्यक्षा(श्रुति)नुमाना(स्मृति)भ्याम्।

एतेन ३३ पृष्ठे वर्णितमपि यत्किञ्चिदेव, सूक्तानां लौकिकाग्निविद्युदुषादिवर्णने तात्पर्याभावेनाग्न्यादिद्वारा तदभिमानिदेवविशेषाणां स्तवे विनियोगात्। नहि भ्रान्तिमूलकानि यज्ञादिकर्माणि तदङ्गदेवस्तवनानि, मन्त्रब्राह्मणसूत्राणामपि तत्रैव समन्वयात्। व्यासजैमिनिगोतमवात्स्यायनशङ्करकुमारिलादिदार्शनिकैरपि तत्समर्थनात्। देवताधिकरणादौ देवतावादस्य समर्थितत्वाच्च। नहि जडोऽग्निर्देवानाह्वातुं तेभ्यो हविश्च प्रापयितुं शक्नोति। प्राकृतिकानि विद्युदादीनि यत्र यज्ञादिकं न सम्भवति, तत्रापि स्वकार्याणि कुर्वन्त्येव। विद्युतामुषसां तेजःपिण्डस्य सूर्यस्य च वर्णनं न प्राकृतत्वेनापि तु विशिष्टैश्वर्यशालिदैवतरूपेणैव, तत्रैव पर्यवसानात्।

यदपि च—'आध्यात्मिकविचाराणां नैतिकार्थानां च प्रतीकतया यत्प्रकृतिशक्तिषु पूजनं भवति तत्परवर्तिकालिकी कल्पना' इति, तदपि तुच्छम्, मन्त्रब्राह्मणोपनिषदामनादित्वेन ब्राह्मणादिसिद्धानां पदार्थानामाधुनिकत्वानुप-

दिया गया है। इतिहास आदि के ग्रन्थों में सामान्य रूप से आये नामों के आधार पर विशेष व्यक्तियों के नाम रक्खे जा सकते हैं और उन विशेष व्यक्तियों की ऐतिहासिक स्थिति के बाद उनका महाकाव्य आदि ग्रन्थों में भी उल्लेख माना जा सकता है। वेद तो नित्य हैं। इस जगत् की सृष्टि वैदिक शब्दों के आधार पर ही मानी जाती है। इसलिये वैदिक शब्द इन ऐतिहासिक व्यक्तियों के बोधक कभी नहीं माने जा सकते, क्योंकि ये शब्द तो अनादिकाल से चले आ रहे हैं। वैदिक शब्दों के अनुसार कभी उस नाम के व्यक्तिविशेष भी हो सकते हैं, किन्तु इससे वैदिक शब्दों की तात्कालिकता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वे तो कहानी के पात्रों की तरह कल्पित नाम हैं। उन शब्दों के आधार पर यह आवश्यक नहीं कि इनको विशेष ऐतिहासिक व्यक्ति माना जाय, क्योंकि कहानियों में तो जो बात हुई न हो, वह भी गढ़ ली जाती है। इसी तरह से शतपथ आदि ब्राह्मणों में वर्णित याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी, जनक आदि नामों से भी उनकी रचना बाद में हुई हो, ऐसा नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि ये नाम और घटनायें प्रवाहरूप से नित्य हैं, अतः इनको अभी नई घटी घटना मान कर उसके आधार पर इनकी ऐतिहासिकता नहीं सिद्ध की जा सकती। कभी-कभी इस तरह की घटनायें हो भी सकती हैं, उनका निषेध नहीं किया जाता, क्योंकि यह सारी सृष्टि ही वैदिक शब्दों के आधार पर होती है। इस बात में 'स भूरिति॰ इत्यादि श्रुतिवचन और 'वेदशब्देभ्यः' इत्यादि स्मृतिवचन प्रमाण हैं।

इस कथन से बेवर के द्वारा पृ॰ ३३ में कही गई बातों की भी असारता सिद्ध हो जाती है। वैदिक सूक्तों का लौकिक अग्नि, विद्युत्, उषाकाल आदि के वर्णन में तात्पर्य न होकर अग्नि आदि के माध्यम से इनके अभिमानी उन-उन विशेष देवताओं की स्तुति में विनियोग माना जाता है। यज्ञादि कर्मों के अंग के रूप में देवताओं की स्तुति करना कोई भ्रान्त धारणा नहीं है, क्योंकि मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थ भी एक स्वर से इसी बात का प्रतिपादन करते हैं। व्यास, जैमिनि, गोतम, वात्स्यायन, शङ्कर, कुमारिल आदि दार्शनिकों ने भी इसका समर्थन किया है। देवताधिकरण आदि में देवतावाद का स्पष्ट समर्थन किया गया है। जड़ अग्नि देवों को बुलाने में अथवा उनके लिये हवि ले जाने में समर्थ नहीं हो सकता। प्राकृतिक विद्युत्, उषाकाल आदि जिन देशों में यज्ञ-यागादि नहीं होते, वहाँ भी अपना कार्य करते ही हैं। वेदों में इनका तथा प्रकाश के पिण्ड सूर्य का वर्णन प्राकृतिक वस्तु के रूप में न होकर विशिष्ट ऐश्वर्य के धनी देवताओं के रूप में किया गया है। इसी में उनका वास्तविक अभिप्राय माना जाता है।

पत्तेः। सन्तुष्यतुदुर्जनन्यायेन तथात्वाभ्युपगमेऽपि वेदार्थपरिनिष्ठिता वेदार्थरहस्यज्ञाने महर्षय एव तन्निर्मातारो मन्तव्याः। तथा च ते यथा वेदार्थमवगन्तुं सक्षमा न तथाधुनिकास्तादृशसंस्कारशून्या वेदानभिज्ञा इति वेदार्थनिर्णये त एव प्रमाणभूता नान्ये। कोलब्रूकमहाशयस्य 'आन द वेदाज' ग्रन्थः प्रसिद्धः। मैक्समूलरेण सायणभाष्यसहिता ऋक्संहिता प्रकाशिता, तथाप्येते सर्वे सायणादिभारतीयपरम्परागताचार्यादिविरुद्धमेव मतं पोषयन्ति। सायणादयो मन्त्रब्राह्मणोपनिषदामनादित्वमपौरुषेयत्वमङ्गीकुर्वन्ति। पाश्चात्त्यास्तु समेषां पौरुषेयत्वं तेषु च संहितायाः प्राचीनत्वं ब्राह्मणोपनिषदां ततोऽप्यर्वाचीनत्वमूरीकुर्वन्ति। न केवलं ब्राह्मणानां सम्बन्धे, किन्तु संहितास्वपि ऋक्संहितायाः प्राचीनत्वमन्यासामर्वाचीनत्वमृक्संहितायामपि कतीनाञ्चिन्मण्डलानामर्वाचीनत्वं दशममण्डलस्यात्यन्ताधुनिकत्वं कथयन्ति। वेदार्थनिरूपणेऽपि ते सायणं विरुन्धन्ति। देवतावादे यज्ञवादे च ते सर्वथा विरुद्धाः। दयानन्दोऽपि तन्मतमेवानुससार। वेदानां नित्यत्वं सर्वेश्वरपरत्वं वायुजलशुद्ध्यर्थं यज्ञहोमादिकमेव पाश्चात्त्येभ्यस्तन्मतवैशिष्ट्यम्। कैश्चिदार्यसामाजिकैस्तु पाश्चात्त्यानां सायणानुवर्तित्वं ब्रुवाणैस्तदीयदोषा अपि सायणोपर्यारोप्यन्ते, तच्च तेषां बुद्धिलाघवं द्वेषादिवशंवदत्वं वा।

बेवरस्तु ऋग्वेदीयमैतरेयब्राह्मणं शाङ्खायनब्राह्मणं च चर्चयति। तत्रापि शाङ्खायनब्राह्मणं निश्चितयोजनानुसारेण संपूर्णयज्ञविधीन् विवेचयतीति वदति, तदपि न युक्तम्, ब्राह्मणं यज्ञं विदधात्येव न विधीन् विवेचयति, किन्तु तांस्तान् यज्ञान् ब्राह्मणमेव विधिरूपेण विदधाति, अर्थवादरूपेण चोपपादयति। ऐतरेयब्राह्मणस्यान्तिमदशाध्या-

'प्रकृति की शक्तियों के अतिरिक्त हम विकास की अवस्थाओं के रूप में आध्यात्मिक विचारों एवं नैतिक अर्थों के भी प्रतीक पाते हैं, किन्तु प्रकृति की शक्तियों की पूजा की अपेक्षा इनकी पूजा परवर्ती काल की है' (पृ० ३३), यह कथन भी निःसार है, क्योंकि मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद् अनादि काल से चले आ रहे हैं, अतः इनमें प्रतिपादित पदार्थों को नया नहीं माना जा सकता। थोड़ी देर के लिये आपको सन्तुष्ट करने के अभिप्राय से यह बात मान भी ली जाय तो वेदार्थ के पारंगत और इसके रहस्यों से परिचित महर्षि ही इन सूक्तों के निर्माता माने जायँगे। इस स्थिति में भी ये महर्षिगण जिस तरह से इनके अर्थों को समझ पावेंगे, क्या आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी उसी तरह से इनको समझ सकेंगे, जिनमें कि वैदिक संस्कारों का नितान्त अभाव है? वास्तव में वेदार्थ के निर्माण में ये महर्षिगण ही प्रमाण माने जा सकते हैं, पाश्चात्य विद्वान् नहीं। कोलब्रुक महाशय का 'आन द वेदाज्' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। मैक्समूलर ने सायण भाष्य के साथ ऋग्वेदसंहिता का संपादन किया है। तो भी ये सब विद्वान् सायण प्रभृति आचार्यों की भारतीय परम्परा के विरुद्ध ही अपने मत को पुष्ट करते हैं। सायण प्रभृति आचार्य मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषदों को अनादि और अपौरुषेय मानते हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य विद्वान् इन सबको पौरुषेय मानते हैं। इतना ही नहीं, वे संहिता को प्राचीन और ब्राह्मणों तथा उपनिषदों को अर्वाचीन बताते हैं। केवल ब्राह्मणों को नहीं, अपितु संहिताओं को भी वे प्राचीन तथा अर्वाचीन मानते हैं। यहाँ तक कि सबसे प्राचीन ऋक्संहिता के भी कुछ अंशों को प्राचीन और कुछ को अर्वाचीन बताते हैं। दशम मण्डल को तो वे अत्यन्त आधुनिक मानते हैं। वेदार्थ का निरूपण करते समय भी वे सायण के विरुद्ध बोलते हैं। देवतावाद और यज्ञवाद के तो ये सर्वथा विरोधी हैं। इस बात में दयानन्द भी इन्हीं का अनुसरण करते हैं। पाश्चात्यों से इनकी इतनी ही विशेषता है कि दयानन्द वेदों को नित्य मानते हैं और कहते हैं कि इनमें ईश्वर की स्तुति की गई है। यज्ञ-होम आदि का उपयोग वे जल-वायु की शुद्धि तक ही मानते हैं। कुछ आर्यसमाजी विद्वान् पाश्चात्य विद्वानों को सायण का अनुवर्ती घोषित कर सायण के ऊपर उन सब दोषों को भी मढ़ देते हैं, जो कि पाश्चात्यों की निजी कल्पनाएँ हैं। यह सब या तो बुद्धि की कमी के कारण है, अथवा द्वेषवश किया जाता है।

बेवर ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण और शांखायन ब्राह्मण की चर्चा करते हैं। वे कहते हैं—'शांखायन ब्राह्मण अच्छी प्रकार व्यवस्थित रचना है और एक निश्चित योजना के अनुसार संपूर्ण यज्ञविधि का विवेचन करता है' (पृ० ३७), यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों का विधान ही करते हैं, विधि का विवेचन नहीं करते। उन-उन यज्ञों का ब्राह्मण ही विधि के रूप में विधान भी करते हैं और अर्थवाद के रूप में उनका उपपादन भी करते हैं। 'आन्तरिक प्रमाणों से यह माना जा सकता है कि ये

यानामनुरूपा एव शाङ्खायनस्य विषया एते ऐतरेयब्राह्मणे पश्चाद् योजिताः। ऐतरेयस्य चत्वारिंशदध्याया अष्टाभिः पञ्चिकाभिर्विभक्ताः। शाङ्खायनस्य त्रिंशदध्यायाः सन्ति। इति तु पाश्चात्त्यप्रवृत्तिदुष्परिणामरूपमेव। पारम्पर्येण ये ग्रन्था यथैवोपलभ्यन्ते तथैव मन्तव्या इति भारतीया पद्धतिः। पाश्चात्त्यास्तदनुवर्तिनः सामाजिकाश्च सर्वत्रैव प्रक्षेपकल्पनां निराधारामेव कुर्वन्ति। शाङ्खायनब्राह्मणे नैमिषीययज्ञस्योल्लेखो दृश्यते, परन्तु स तस्माद्यज्ञाद् भिन्न एव यस्मिन् महाभारतस्य कथा द्वितीयवारं सूतेनोक्ता। ब्राह्मणानामपि मन्त्राणामिवानादित्वेन तत्रत्या कथा सुखावबोधार्थाख्यायिकारूपा एव नेतिवृत्तरूपा।

'अत्र द्वितीयानुच्छेदे शिवस्य सर्वोपरि स्थानं तस्मै ईशान-महादेवादय उपाधयः प्रदत्ता दृश्यन्ते। यद्ययमनुच्छेदः क्षेपको न स्यात् तदा शाङ्खायनब्राह्मणं शुक्लयजुःसंहिताया अन्तिमाध्यायानां तद्ब्राह्मणस्य, अथर्ववेदस्य यस्मिन् भागे शिवादिनामान्युपलभ्यन्ते, तस्य च पङ्क्तौ मान्यतामर्हति। तृतीयानुच्छेदपरिशीलनेनेदं विज्ञायते यद् भारतस्योत्तरभागेषु भाषायाः क्षेत्रे विशिष्टमनुशीलनं चलति स्म। ततः प्रत्यावर्तमानानां भाषासम्बद्धेषु प्रश्नेषु प्रामाण्यमासीत्। तत्र—आख्यानविदो गाथा अधियज्ञगाथाः स्मरणीयाः श्लोका निर्दिष्टाः। शाङ्खायने पैङ्ग्यकौषीतक्यादीनां सम्मानं दृश्यते। शाङ्खायनब्राह्मणस्य च रचना ऐतरेयापेक्षया परवर्तिकालिकी। ऐतरेयापेक्षया तस्य सुसंघटितक्रमयोजनयेदं निर्णीयते' इति, एतदपि सर्वथा निर्मूलं कल्पनामात्रम्, रचनायामभ्युपगम्यमानायामपि सर्वज्ञकल्पानामृषीणां सम्बन्धे ज्ञानदुर्भिक्षता कल्पयितुं न शक्यते, प्राचीनानामपि सुसङ्घटितक्रमबद्धग्रन्थनिर्माणसामर्थ्यसम्भवात्। अपौरुषेयत्वमनादित्वं तूक्तमेव ब्राह्मणानामपि। अत एव यास्क-पैङ्गी-पिङ्गलादीनां पैङ्गिब्राह्मणेन

विवादग्रस्त अध्याय 'ऐतरेय ब्राह्मण' में बाद में जोड़े गये थे। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के वर्तमान पाठ में ४० अध्याय हैं, जो आठ पञ्चिकाओं में बंटे हुए हैं; जब कि 'शांखायन ब्राह्मण' में ३० अध्याय हैं' (पृ० ३७) यह कथन भी पाश्चात्यों की दुष्प्रवृत्ति का ही प्रमाण है। परम्परा से जो ग्रन्थ जिस तरह से उपलब्ध होते हैं, उनको उसी रूप में स्वीकार करना ही भारतीय पद्धति है। पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुयायी आर्यसमाजी सभी जगह प्रक्षेपों की निराधार कल्पनाएं करते रहते हैं। शांखायन ब्राह्मण में नैमिषारण्य में संपन्न यज्ञ का उल्लेख मिलता है, परन्तु यह यज्ञ उससे भिन्न ही है जिसमें कि महाभारत की कथा का उल्लेख मिलता है। मन्त्रभाग की तरह ब्राह्मणभाग भी अनादि हैं, अतः वहाँ आई कथाएं प्रतिपाद्य वस्तु को सरलता से समझाने के लिये दी गई कहानी के रूप में मानी जायगी, इसमें कोई ऐतिहासिक घटना का उल्लेख नही माना जा सकता।

'दूसरे अनुच्छेद में सभी देवताओं में एक ऐसे देवता को सर्वोपरि स्थान दिया गया है, जो आगे चलकर पूर्णरूप से शिव नाम से ख्यात होता है। अनेक अन्य उपाधियों के साथ उसे 'ईशान' और 'महादेव' उपाधियाँ दी गई हैं। यदि यह अनुच्छेद क्षेपक न हो तो किसी भी स्थिति में हमारा यह निष्कर्ष उपयुक्त होगा कि काल की दृष्टि से शांखायन ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद संहिता के अन्तिम अध्यायों की तथा इसके ब्राह्मणों और अथर्वसंहिता के उन अंशों की पंक्ति में आता है, जिनमें यह नाम समान रूप से उपलब्ध होता है। 'शांखायन ब्राह्मण' के एक अनुच्छेद से यह अर्थ निकलता है कि भारत के उत्तरी भागों में भाषा के क्षेत्र में विशेष अनुशीलन चल रहा था। लोग भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये इस प्रदेश का आश्रय लेते थे और वहाँ से लौटने पर इस विषय से सम्बद्ध प्रश्नों पर उन्हें प्रमाण माना जाता था। उक्त दोनों ब्राह्मणों में 'आख्यानविदः' या परम्परा का ज्ञान रखने वालों का उल्लेख किया गया है और गाथाओं, अधियज्ञ गाथाओं, स्मरणीय श्लोकों का भी प्रायः उल्लेख किया गया है और उनके उद्धरण दिये गये हैं। 'शांखायन ब्राह्मण' में पैङ्ग्य और कौषीतकि को विशेष सम्मान दिया गया है। शांखायन ब्राह्मण की रचना ऐतरेय ब्राह्मण की अपेक्षा परवर्ती काल की है, यह बात पहले ही इसकी सुगठित क्रम योजना से सम्भव प्रतीत होती है' (पृ० ३८-३९)। यह सारा कथन भी सर्वथा निर्मूल कल्पना मात्र है, क्योंकि रचना मान लेने पर भी सर्वज्ञकल्प ऋषियों के सम्बन्ध में ज्ञान की कमी की कल्पना नहीं की जा सकती। प्राचीन ऋषिगण सुसंगठित क्रमबद्ध ग्रन्थों का निर्माण कर ही सकते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों की अपौरुषेयता और अनादिता हम बता चुके हैं। इसीलिये पैङ्गि ब्राह्मण के साथ यास्क, पैङ्गि और पिङ्गल आदि का सम्बन्ध जोड़ना भी असङ्गत है। पैङ्गि और

सम्बन्धयोजनमप्यसङ्गतमेव, पैङ्गिकौषीतक्यादिब्राह्मणानामनादित्वेन तात्कालिकमनुष्याणां सम्बन्धायोगात्। अपि चैते तत्तद्ग्रन्थानां व्यक्तीनां च सम्बन्धे कालनिर्धारणे स्वयं सन्दिहाना निश्चप्रचं वक्तुमसमर्थाः सम्भावनामात्रमाहुः। वेदेभ्यश्च वेदानां नित्यत्वं सिद्धयति।

४० पृष्ठे बेवरः कथयति—'आरण्यकं वनेषु ते तदीयाः शिष्यगणाश्चाधीयन्ते स्म, यान् मेगस्थनीजो 'उलोविओइ' संज्ञया निर्दिशति। ते रहस्यमययोगसाधनायां तल्लीना आसन्। यत्र हिन्दवः सर्वोच्चामुन्नतिं प्राप्तवन्तः। अस्या विकासावस्थायाः परिणामभूतमारण्यकम्। सुतरां तद्रीत्यापि तेषां सूक्तमन्त्रार्थज्ञानमपि निर्भ्रान्तमासीदिति मन्तव्यम्। तथा च तद्विरुद्धा सूक्तादिसम्बन्धिनो पाश्चात्यकल्पना तद्रीत्यापि त्याज्या भवितुमर्हति।

यदपि—'ऐतरेयब्राह्मणैतरेयारण्यकैतरेयोपनिषदां निर्माता महीदास ऐतरेय आसीत्। इतरायाः पुत्र ऐतरेय इति नामनिर्देशस्तद्ग्रन्थ एव दृश्यते' इति, तदपि न, महीदासस्यैतरेयस्य तद्ब्राह्मणद्रष्टृत्वमेव मन्तव्यम्, ब्राह्मणानां वेदत्वेनापौरुषेयत्वात्। ऐतरेये सम्भावनैव तत्सम्बन्ध उच्यते। तेन पाश्चात्यैः किञ्चिदपि निश्चेतुं न पार्यते, केवलं कल्पनया सम्भावनया च यत्किञ्चिदुच्यते।

ऐतरेयारण्यकस्य चतुर्थारण्यकं शौनकशिष्येणाश्वलायनेन निर्मितम्। ऐतरेयारण्यकस्य 'इण्डिया आफिस लाइब्रेरी' ९८६ स्थितपाण्डुलिपिग्रन्थेऽन्ते आश्वलायनोक्तम् आरण्यकम्, शौनकनिर्मितं पञ्चममारण्यकमित्यत्र प्रमाणम्, कोलब्रुकमिस० एसे० १-४७ टिप्पणी, तत्तु निर्मूलमेव, ऐतरेयसमाख्याविरोधात्। यदपि—'ब्राह्मणेष्वैतरेयनाम नोपलभ्यते, सर्वप्रथमं छान्दोग्योपनिषदि तन्नामोल्लेखः, ऐतरेयशाखायाः सर्वप्राचीनोल्लेखः सामसूत्रेषु लभ्यते। तृतीया-

कौषीतकि प्रभृति ब्राह्मण ग्रन्थ अनादि हैं, अतः उनका किसी समय विशेष के मनुष्यों के साथ संबन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। पाश्चात्य विद्वान् उन-उन ग्रन्थों और व्यक्तियों का काल-निर्धारण निश्चित नहीं कर पाते। इस विषय में वे संदेह में पड़े रहते हैं, अतः भांति-भांति की संभावनाएं प्रकट करते रहते हैं। वेदों से तो वेद की नित्यता का स्पष्ट प्रतिपादन हो जाता है।

पृ० ४० पर बेवर लिखते हैं—'आरण्यक ऐसे अंश हैं, जिनका अध्ययन वनों में वे लोग और उनके शिष्यगण किया करते थे, जिन्हें मेगस्थनीज ने 'उलोविओइ' कहा है। विचार की गम्भीरता और रहस्यमय योग साधना में तल्लीनता, जिसमें हिन्दुओं ने सर्वोच्च उन्नति प्राप्त की है, इसी विकास की अवस्था की देन है, जिन्हें सीधे 'आरण्यक' नाम दिया गया है' (पृ० ४०)। इस कथन के आधार पर इसी पद्धति से इन ऋषियों का सूक्त और मन्त्रों का ज्ञान भी निर्भ्रान्त मानना पड़ेगा। तब इसके विपरीत सूक्तों और मन्त्रों के सम्बन्ध में पाश्चात्यों की कल्पना उन्हीं की बताई पद्धति से छोड़ देनी पड़ेगी।

'ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेय आरण्यक और ऐतरेय उपनिषद् का रचयिता महीदास ऐतरेय है। उन्हें विशाल और इतरा का पुत्र कहा गया है और इतरा से ही उनका नाम ऐतरेय पड़ा है। स्वयं इस ग्रन्थ में ही यह नाम अन्तिम मान्य प्रमाण के रूप में अनेक बार उद्धृत है' (पृ० ४१) यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि महीदास ऐतरेय को उस ब्राह्मण का द्रष्टा ही मानना पड़ेगा। ब्राह्मण भी वेद ही हैं और वेद अपौरुषेय हैं। 'ऐतरेय के सिद्धान्त विशेष रूप से लोकप्रिय रहे होंगे और उनके शिष्यों की संख्या भी विशेषतः बहुत अधिक रही होगी, क्योंकि हम उनका नाम ब्राह्मण और आरण्यक दोनों से ही संबद्ध पाते हैं' (पृ० ४१) इस तरह की सम्भावना के आधार पर ही इन ग्रन्थों के साथ महीदास ऐतरेय का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। यद्यपि पाश्चात्य विद्वान् कुछ निश्चित नहीं कर पाते, तो भी केवल कल्पना और संभावना के आधार पर जो मन में आया कहते रहते हैं, 'ऐतरेय आरण्यक' का चौथा आरण्यक शौनक के शिष्य आश्वलायन की रचना है। (ऐतरेय आरण्यक की एक पाण्डुलिपि [इण्डिया आफिस लाइब्रेरी ९८६] में समूचे ग्रंथ के अन्त में 'आश्वलायनप्रोक्तम् आरण्यकम्' बताया गया है) स्वयं शौनक, इस विषय पर कोलब्रूक के अनुसार पांचवें आरण्यक के रचयिता के रूप में प्रख्यात हुए (पृ० ४१ टि० मी०)। यह कथन भी सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि ऐसा मानने पर इसके 'ऐतरेय' नाम के साथ विरोध पड़ेगा, प्रवचनकर्ता के नाम के साथ ही ग्रन्थ को जोड़ने की परम्परा व्याकरण सिद्ध रही है। बेवर ने यह भी कहा है—'ब्राह्मणों में ऐतरेय का नाम सही नहीं मिलता। उनका सर्व प्रथम उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् में किया गया है।

रण्यके मण्डूकानां माण्डूकेयानां शाखा बहुधोल्लिखिता, तेनैतरेयारण्यकप्रतिपादितविचाराणां विकासे ता अपि सक्रिया इति विज्ञायते' इति, तदेतत्सर्वं बालचापलमेव, अपौरुषेयत्वादिनिश्चयविरोधात्, निर्मूलकल्पनानामनवकाशात् । ब्राह्मणान्तरेष्वनुल्लेखोऽपि नास्य ब्राह्मणस्यार्वाचीनत्वं साधयितुं शक्नोति, तस्यातन्त्रत्वात् ।

कौषीतकारण्यककौषीतक्युपनिषदादिसम्वन्धिवर्णनैः शतपथीयबृहदारण्यकवर्णितारुणि-श्वेतकेतु-अजातशत्रु-गार्ग्य-वालाकिवर्णनैश्च बेवरः केवलकालनिर्धारण एव व्यग्रो दृश्यते । तदप्यकिञ्चित्करम्, कल्पनामात्रसारत्वात् । यत्तु—'काण्वं मेधातिथिं मेषो भूत्वेन्द्रो जहार, परिचयप्रश्ने—त्रयं विश्वेदेवा विश्वतादात्म्यवन्त इतीन्द्रेणोक्तम् । अपहरणकारणवर्णनप्रसङ्गे तत्तपस्यया तोषात् सन्मार्गप्रापणायैवेत्येन्द्रेणोक्तम् । मेडीजसम्बन्धिना ग्रीकाख्यानेनैतत्तुलनामर्हतीति चोक्तम्', तदपि यत्किञ्चित्, अनादौ संसारे वेदोक्ताख्यानतुल्यघटनानां सत्त्वेऽपि वेदानां तात्कालिकत्वसाधनासम्भवात् । श्रीशङ्कराचार्यसम्बन्धिरुपनिषद्व्याख्यानैश्च पाश्चात्त्यानां सर्वा दुष्कल्पनाः समूलमुन्मूल्यन्ते । तैः सर्वत्र वेदानां नित्यत्वापौरुषेयत्वप्रतिपादनात् । 'तेषां व्याख्यानं बलपूर्वकम्' (पृ० ४४) इति कथनं तु प्रतिज्ञामात्रम्, हेत्वनुपन्यासात् ।

एवमेव सामसम्वन्धेऽपि बेवरस्य विचारास्तद्बाह्यस्वरूपसम्वन्धिन एव । सामसंहिताया मन्त्रा ऋक्संहिताया उद्धृता एवेति कथनमपि न किञ्चित्, अनेकेषां मन्त्राणामृक्संहितास्वनुपलम्भात् । सामान्यतया 'ऋच्यध्यूढं साम' इति छान्दोग्यरीत्या 'गीतिषु सामाख्या' इति जैमिनिरीत्या च ऋक्ष्वेव सामानि गीयन्ते । यस्मिन् वेदे ये मन्त्रा विद्यन्ते, तत्र ते तेनैव धर्मेणाधीयन्ते । यजुःसंहितास्वप्यनेके ऋङ्मन्त्राः सन्ति, परन्तु ते तत्र यजुर्धर्मेणैवाधीयन्ते ।

ऐतरेयों की शाखा का सबसे प्राचीन निर्देश साम सूत्रों में आया है। तीसरे आरण्यक में मण्डूकों या माण्डूकेयों की शाखा का अनेक बार उल्लेख होने के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाय, तो यह शाखा भी इस आरण्यक में प्रतिपादित विचारों के विकास में सक्रिय रही होगी' (पृ० ४१) यह सब भी बच्चों की सी बातें हैं। प्रमाणों से यह सिद्ध किया जा चुका है कि वेद अपौरुषेय हैं। अतः इस निश्चय के विपरीत निराधार कल्पनाओं को कोई अवसर नहीं दिया जा सकता। अन्य ब्राह्मणों में उल्लेख न होने से भी इस ब्राह्मण को अर्वाचीन नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि किसी ब्राह्मण में किसी ब्राह्मण का उल्लेख न होना उसके अभाव का साधक प्रमाण नहीं माना जा सकता।

कौषीतकि आरण्यक, कौषीतकि उपनिषद् आदि के वर्णनों के आधार पर और शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित श्वेतकेतु, अजातशत्रु, गार्ग्य, वालाकि आदि को लेकर बेवर केवल इनके काल के निर्धारण में ही व्यग्र दिखाई पड़ते हैं। यह सब भी सारहीन है, क्योंकि केवल कल्पना के सिवाय इनमें कोई प्रमाण नहीं है। 'कण्व के पुत्र मेधातिथि को मेष का रूप धारण कर इन्द्र स्वर्ग ले जाते हैं। यात्रा के समय मेधातिथि इन्द्र का परिचय पूछते हैं। उत्तर में इन्द्र मुस्कराते हुए अपने को विश्वेदेव बताते हैं और अपना तादात्म्य विश्व से स्थापित करते हैं। इस अपहरण का कारण वे यह बताते हैं कि मेधातिथि की तपस्या से प्रसन्न होकर उन्होंने उसे सन्मार्ग में पहुँचाने का विचार किया था। यह आख्यान तत्त्वतः और नामतः भी 'गनीमेडीज' के ग्रीक आख्यान से मिलता-जुलता है' (पृ० ४४-४५) यह कथन भी सारहीन है। यह संसार अनादि काल से चला आ रहा है। यहाँ इस तरह की समान घटनाओं के मिलने से वेदों की तात्कालिकता नहीं सिद्ध की जा सकती। श्रीशङ्कराचार्य के द्वारा किये गये उपनिषदों के व्याख्यानों से पाश्चात्य विद्वानों की सारी कल्पनाएं जड़ से धराशायी हो जाती हैं, क्योंकि उन्होंने सभी ग्रन्थों में वेदों की नित्यता और अपौरुषेयता को अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है। यह कहना कि—'यह सत्य है कि उनकी व्याख्याएं प्रायः बलपूर्वक की गई हैं' (पृ० ४४), इसलिये गलत है कि यह वक्ता की कोरी प्रतिज्ञा है, इसमें कोई प्रमाण नहीं दिया गया है।

इसी तरह से सामवेद के संबन्ध में भी बेवर के विचार उस वेद के बाह्य स्वरूप पर ही प्रकाश डालते हैं। 'सामवेद-संहिता ऋक्संहिता से उद्धृत की गई एक रचना है' (पृ० ५५), यह कथन भी एकदम निराधार है, क्योंकि सामसंहिता के अनेक मन्त्र ऋक्संहिता में नहीं मिलते। सामान्यतः सामवेदियों की परम्परा में और जैमिनि की परिभाषा के अनुसार भी ऋङ्मन्त्रों का ही गान करने पर वे साम बन जाते हैं। जिस वेद में जो मन्त्र हैं, वहाँ उसी वेद की प्रकृति के अनुसार उनका विनियोग होता है। यजुःसंहिता

यत्तु—'मन्त्राणां वास्तविकार्थास्तदानीमेव ज्ञायन्ते यदा ते विशिष्टक्रियासन्दर्भे पठ्यन्ते, यतस्तत्सम्बन्धाः सन्ति' (पृ० ५५) इति, तदपि यत्किञ्चित्, यजुर्मन्त्राणामपि तत्तत्क्रियासम्बन्ध एव मन्त्रार्थसङ्गतेः ।

राणायनीयशाखायाः कौथुमशाखायाश्च सम्प्रदायो वाराणस्यां तथा दक्षिणदेशे गुर्जरदेशे च यत्र तत्रोपलभ्यते । सामवेदीयतलवकारीयकेनोपनिषच्छान्दोग्योपनिषदोः श्रीशङ्कराचार्याणां भाष्याण्युपलभ्यन्ते । ताण्ड्य-सामविधान-षड्विंशादिब्राह्मणान्यपि नित्यान्येव । तदनुसारीणि यज्ञादिकर्माणि नान्वेषणादिप्रभवाणि, किन्तु श्रौतानि (श्रुतिसिद्धानि) एव । (पृ० ५८) सूत्राणि न केवलं ब्राह्मणकर्तृकाणि, किन्तु समानकल्पीयसोमयाजिब्राह्मणकर्तृकाणि, तथैव श्रुतिसूत्रेषु विधानात् । यत्तु (५९ पृष्ठे) गानार्थं सुरक्षिता ऋङ्मन्त्राः शस्त्रपदेनाख्यायन्ते, तदपि न, गानस्य सामविषयत्वात् । यत्तु 'साम्नां तथाविधं चयनम्—उक्थ-स्तोभ-पृष्ठादिनामभिराख्यायते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शस्त्रस्तोभादिविधानस्य श्रुति-सूत्र-पारम्पर्यमूलकत्वात् । यदपि व्रात्यस्तोमविधानाद् ब्राह्मणसमुदाये ब्राह्मणीयव्यवस्थामननुसरन्तोऽपि प्रवेशं लभन्ते स्मेति, तदपि तुच्छम्, त्रैवर्णिकानां यथाकर्मदीक्षितानामेव व्रात्यस्तोमादिविधानात् । जन्मना द्विजातीनामेवातिक्रान्तसंस्कारकालानां व्रात्यस्तोमविधानात् । युद्धरथचारित्वधनुरादिशस्त्रास्त्रधारकत्वोष्णीषपादत्राणादिधारकत्वं स्वाचारकृतं वैषम्यं ब्राह्मणादिषु विपद्भेदेषु तदनुमतत्वात् ।

यत्तु—'ऐतरेयनिष्कर्षेण ज्ञायते यत्तत्रत्यानां ब्राह्मणानामार्यैः सम्बन्धो वेगेन चलति स्म । ताण्ड्यब्राह्मणीया सा सभ्यता पश्चिमभारतसम्बद्धा, तथापि पौरस्त्यसम्बन्धबोधकानामपि संकेतानां संख्या नाल्पीयसी ।

में भी अनेक ऋङ्मन्त्र हैं, परन्तु वहाँ उनका विनियोग और उच्चारण भी यजुर्वेद की पद्धति के अनुसार ही होता है । यह कहना भी सारहीन है कि 'मन्त्रों का वास्तविक अर्थ उसी समय निकलता है, जब हम उसे उस विशिष्ट क्रिया के सन्दर्भ में लेते हैं, जिनसे उसका संबन्ध है' (पृ० ५५), क्योंकि सभी मन्त्रों का अर्थ विभिन्न वेदों की क्रियापद्धति से उनका जिस तरह का सम्बन्ध रहता है, उसी को दृष्टि में रखकर किया जा सकता है ।

राणायनीय शाखा का और कौथुम शाखा का संप्रदाय आज भी वाराणसी में, दक्षिण देश में और गुजरात में जहाँ-तहाँ मिलता है । सामवेद की तलवकार शाखा के केनोपनिषद् और छान्दोग्य उपनिषद् का शांकर भाष्य उपलब्ध है ही । ताण्ड्य ब्राह्मण, सामविधान और षड्विंश प्रभृति ब्राह्मण-ग्रन्थ भी नित्य ही हैं । उनके अनुसार सम्पन्न होने वाले यज्ञादि कर्म अन्वेषण (खोज) की परिणति न होकर श्रुतिसिद्ध हैं, अर्थात् अनादि अनिधन श्रुति (वेद) ही उनका विधान करती है । मन्त्रों का अनुष्ठान केवल ब्राह्मण ही कर सकते हों (पृ० ५८) सो बात भी नहीं है, क्योंकि इन सूत्रों के अनुष्ठान का अधिकार केवल समान कल्पसूत्र वाले सोमयाजी ब्राह्मण को ही था । श्रुति में और श्रौतसूत्रों में यह अधिकार उन्हीं को दिया गया था । इसी तरह से—'गान के लिए एक साथ रखे गये ऋग्वेद के मन्त्रों के समूह को 'शस्त्र' कहा गया है' (पृ० ५९) यह कथन भी सही नहीं है, क्योंकि गान सामवेद का विषय है, इसके साथ ऋग्वेद का संबन्ध कराना गलत है । 'विभिन्न सामों के उसी प्रकार के चयन को प्रायः उक्थ, स्तोम या पृष्ठ नाम से अभिहित किया गया है' (पृ० ५९) यह कथन भी गलत है, क्योंकि शस्त्र, स्तोम आदि का विधान श्रुति और श्रौतसूत्रों की परम्परा के अनुसार ही होता है, इनका नये सिरे से चयन करने का कोई प्रश्न ही नहीं है । इसी तरह से—'व्रात्यस्तोमों के द्वारा आर्य जाति के होते हुए भी ब्राह्मणीय व्यवस्था के अनुसार जीवन व्यतीत न करने वाले भारतीयों ने ब्राह्मण समुदाय में प्रवेश प्राप्त किया' (पृ० ५९) यह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि विधिपूर्वक दीक्षित त्रैवर्णिक को ही व्रात्यस्तोम करने का अधिकार है । जन्म से जो द्विजाति हैं, किन्तु कारणवश जिनका उपनयन संस्कार का काल बीत गया है, उन्हीं को व्रात्यस्तोम का अधिकारी माना गया है । विभिन्न परिस्थितियों में यह अनुमति दी गई है कि वे खुले हुए युद्ध के रथों में चलें, धनुष और बरछे धारण करें, विशेष प्रकार की पगड़ी और जूते पहनें । यह सब केवल आचारगत भिन्नता है, इनसे जातिगत भेद नहीं सिद्ध किया जा सकता ।

'इन कथनों से हमें यही निष्कर्ष निकालना होगा कि पश्चिम से, विशेषतः वहाँ के अब्राह्मण आर्यों से, सम्बन्ध अब भी तेजी से चल रहा था और इस कारण इसकी रचना का स्थान अधिक पश्चिम की ओर रखना होगा, फिर भी ऐसे आकड़ों का अभाव

कोसलाधिपतेराट्णारस्य, ऋक्संहितागतत्रसद्दस्युपुरुकुत्सयोः, विदेहराजनिमिकुरुक्षेत्रयमुनादीनामुल्लेखाच्च। यच्च ताण्डचब्राह्मणे कुरुपञ्चालसम्बन्धिनां राज्ञां नामोल्लेखाज्जनकस्यानुल्लेखात् तस्य रचना क्वचिदन्यप्रदेशे ज़ाता' इत्यादिकम्, तत्सर्वमपि निर्मूलम्, कपोलकल्पितत्वात्। नामोल्लेखानुल्लेखाभ्यां ग्रन्थानां देशकालनिर्धारणासम्भवात्। आख्यायिकास्वविद्यमानदेशकालव्यक्तीनामपि वर्णनदर्शनात्। यदपि 'चास्मिन् ब्राह्मणे महत्त्वपूर्णमिदं तथ्यं यद् विविधानामाचार्याणां क्वचिदेव मतभेदवर्णनं दृश्यते, केवलं कौषीतकिनां विरोधे व्रात्ययज्ञावकीर्णादिशब्दप्रयोगो दृश्यते। अस्य ताण्डचब्राह्मणस्य शुक्लयजुर्वेदीयब्राह्मणे नामोल्लेखात् ताण्डचब्राह्मणस्य शुक्लयजुर्वेदीयब्राह्मणपूर्वकालिकत्वं सिद्धचति' इत्यादिकमपि कुशकाशावलम्बनमेव, हेतोरव्यभिचारित्वाभावात्। आख्यायिकावृत्तान्तस्यानैतिहासिकत्वात्। यदपि—'षड्विंशब्राह्मणं पञ्चविंश (ताण्डच) ब्राह्मणस्य परिशिष्टरूपम्' इति, तदपि न किञ्चित्, वैदिकानां सम्प्रदाये षड्विंशब्राह्मणस्य स्वातन्त्र्येण गणनात्।

यदपि—छान्दोग्योपनिषदि महीदासस्य ऐतरीयस्य नामोल्लेखाद् बृहदारण्यकापेक्षया तस्या अर्वाचीनत्वं सिद्धचतीति, तदपि यत्किञ्चित्, बृहदारण्यकस्यापि नित्यत्वेन कालविशेषासिद्धचा तदसिद्धेः। यदपि छान्दोग्ये देवकीपुत्रस्य कृष्णस्योल्लेखादपि कालविशेषकल्पना, सापि निर्मूलैव। अनादिषु मन्त्रब्राह्मणात्मकेषु वेदेषु सुखावबोधार्थतयाऽऽख्यायिकानां स्वार्थे तात्पर्याभावात्। वेदशब्दानुसारेण सृष्टिसिद्धान्ताभ्युपगमेनातीतानागतानां नाम्नां देशकालवस्तूनां सत्त्वेऽपि तैर्वेदकालनिर्धारणासम्भवात्। अत एव छान्दोग्यबृहदारण्यकयोः प्रवाहणजैवलि-उषस्तिचाक्रायण-शाण्डिल्य-सत्यकामजाबाल-उद्दालक-आरुणि-श्वेतकेतु-अश्वपतिनाम्नां सत्त्वेऽपि न कालनिर्धारणं सम्भवति। छान्दोग्ये सनत्कुमार-

नहीं है जो पूर्व की ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार कोसल के राजा पर-आट्णार का, त्रसदस्यु पुरुकुत्स का, जो ऋक्-संहिता में भी आये हैं, विदेह के राजा नमिनशाप्य (महाकाव्य के निमि) का, कुरुक्षेत्र, यमुना आदि का उल्लेख आया है। ताण्डच-ब्राह्मण में कुरु-पंचालों या उनके राजाओं के नामों के उल्लेख का तथा जनक के किसी उल्लेख के अभाव का कारण यही माना जा सकता है कि इनकी रचना किसी भिन्न प्रदेश में हुई थी' (पृ० ५९-६०) यह सब भी निराधार कपोल कल्पना मात्र है, क्योंकि नाम का उल्लेख होने और न होने मात्र से किसी ग्रन्थ के देश और काल का निर्धारण नहीं किया जा सकता। कहानियों में ऐसे व्यक्तियों (कल्पित व्यक्तियों) का भी वर्णन रहता है, जिनका किसी देश या काल से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। बेवर ने आगे कहा है—'इस ब्राह्मण का बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि शायद ही कहीं विविध आचार्यों में किसी मत-वैभिन्य का वर्णन किया गया। केवल कौषीतकियों के विरुद्ध ही थोड़े द्रोह के साथ विरोध प्रकट किया गया है। उन्हें व्रात्य (धर्मभ्रष्ट) और यज्ञावकीर्ण (यज्ञ के अयोग्य) कहा गया है। अन्ततः इस ब्राह्मण के साथ संयुक्त नाम अर्थात् ताण्डच का उल्लेख शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण में एक आचार्य के नाम के रूप में आया है। अत एव इन सभी बातों को मिलाकर कम से कम हमें इसे शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण से पूर्वकाल का मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये' (पृ० ६०) किन्तु उसका यह सारा कथन बाढ़ में बहते व्यक्ति के कुश और काश के तिनकों का सहारा लेने के समान निष्फल है। उनकी ये सब बातें दोषपूर्ण हैं। कहानियों के वर्णन में आये व्यक्तियों को कहीं ऐतिहासिक नहीं माना जाता। इसी तरह से यह कहना कि 'षड्विंश ब्राह्मण पञ्चविंश ब्राह्मण का परिशिष्ट है' (पृ० ६०) बेवर महाशय का निरा भ्रम है, क्योंकि वैदिक संप्रदाय में षड्विंश ब्राह्मण की एक स्वतन्त्र सत्ता मानी गई है।

'छान्दोग्य उपनिषद् में महीदास ऐतरेय के नाम का उल्लेख है, अतः बृहदारण्यक की अपेक्षा अधिक अर्वाचीन है' (पृ० ६२) यह कथन भी सही नहीं है, क्योंकि बृहदारण्यक भी उपनिषद् होने से नित्य और अपौरुषेय है, अतः उसके आधार पर छान्दोग्य का भी कोई विशेष समय निश्चित नहीं किया जा सकता। इसी तरह से 'छान्दोग्य में कृष्ण देवकीपुत्र के उल्लेख के आधार पर' (पृ० ६२) भी काल विशेष की कल्पना करना निराधार ही सिद्ध होगा, क्योंकि मन्त्रब्राह्मणात्मक अनादि वेद-ग्रन्थों में आये इस तरह के प्रसंग सरलता से किसी विषय को समझाने के लिये कही गई कहानियों से है, उनका स्वार्थ में कोई तात्पर्य नहीं माना जाता। वैदिक शब्दों के अनुसार सृष्टि का सिद्धान्त हमें मान्य है, अतः वेदों में अतीत और अनागत काल में हुए या होने वाले नामों की तथा देश, काल और वस्तुओं की सत्ता मानने पर भी उनके आधार पर वेद के काल का निर्धारण नहीं किया जा सकता। इसीलिये छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में प्रवाहण जैबलि, उषस्ति चाक्रायण, शाण्डिल्य, सत्यकाम जाबाल, उद्दालक आरुणि, श्वेतकेतु,

स्कन्दनारदसम्बन्धी नवमाध्यायः पश्चाद्योजितः, इत्यपि निर्मूलमेव, वैदिकानां सम्प्रदाये तस्याध्ययनाध्यापनदर्शनात्, हेत्वनुपन्यासाच्च । वैदिकसाहित्येऽन्यत्र सनत्कुमारस्य नाम नोपलभ्यत इत्यपि यत्किञ्चित्, अस्यापि वैदिकसाहित्यानतिरिक्तत्वात् । छान्दोग्यादौ समागतयोरितिहासपुराणयोरपि निर्देशेनापि यथा न तयोरितिहासपुराणवर्तित्वं युष्माभिरभ्युपगम्यते, तथैवान्यनाम्नामपि सत्त्वं न तदर्वाक्कालिकत्वं साधयितुं शक्नोति । वस्तुतस्तु पुराणानामप्यनादित्वेन तद्वर्णनेऽपि न क्षतिः ।

यदपि—६४ पृष्ठे 'वैदिकसाहित्यानुल्लिखितं चौर्यापराधे मनुप्रोक्तप्राणदण्डतुल्यं तप्तपरशुग्रहणं तथैव बृहदारण्यके मनुसंस्कृतिशृङ्खलायोजकमात्मपुनर्जन्मसिद्धान्तं दृष्ट्वा तयोरर्वाचीनत्वसाधनायोपक्रमस्तदपि विरुद्धमेव, स्मृतीनां श्रुतिमूलकत्वस्य स्पष्टत्वात्, 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् (र० म० का० २।२) इति महाकविकालिदासोक्तेः । यथाधुनिकाः पातञ्जलमहाभाष्यस्यैकामपि पङ्क्तिं विवदितुमक्षमाः केवलं तत्रत्यनदीपर्वतजनपदनामानि सङ्कलय्य तदाधारेणेतिवृत्तं प्रकल्प्य निबध्नन्ति, तथैव पाश्चात्त्या अपि रहस्यमभिप्रायं सामान्यार्थं चोपनिषदामज्ञात्वा केवलं नामानि सङ्कलय्य तासामर्वाचीनत्वसाधनायैव व्यग्रा भवन्ति । कौषीतक्युपनिषदि राहुनामग्रहणेन कथं तस्या अर्वाचीनत्वमित्यत्र न किमपि कारणमुक्तमिति । सामविधानसंहितोपनिषत्केनोपनिषदामपि वैदिकानां दृष्ट्याऽपौरुषेयत्वमेव ।

यदपि 'जनकसप्तरात्रक्रियायाः प्रवर्तको जनकः, पञ्चविंशब्राह्मणेऽस्योल्लेखाभावात् । पञ्चविंशमशकब्राह्मणयोर्मध्यकाल एव तज्जीवनकालः' (पृ० ६७) इति, तदपि न किञ्चित्, काठकादिसमाख्यावत् तस्य कर्मणस्तन्नाम्ना

अश्वपति प्रभृति नामों के रहते हुए भी उनके समय का निर्धारण नहीं किया जा सकता । 'छान्दोग्य में सनत्कुमार, स्कन्द तथा नारद के प्रसंगों से भरा नवां अध्याय बाद में जोड़ा गया' (पृ० ६३) यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि वैदिक सम्प्रदाय में इसका अध्ययन-अध्यापन छान्दोग्य उपनिषद् के अङ्ग के रूप में ही किया गया है । अपनी बात को पुष्ट करने लायक आपके कोई प्रमाण भी नहीं दिया है । 'वैदिक साहित्य में अन्यत्र कहीं सनत्कुमार का नाम नहीं मिलता' (पृ० ६३) यह कथन भी गलत है, क्योंकि छान्दोग्य भी तो वैदिक साहित्य का ही अङ्ग है । छान्दोग्य आदि में इतिहास और पुराण का उल्लेख रहते हुए भी जैसे आप इनको इतिहास-पुराण से नवीन नहीं मानते, किन्तु प्राचीन ही मानते हैं, उसी तरह से दूसरे नामों के रहने पर भी ये ग्रन्थ उनसे नवीन नहीं माने जा सकते । हमारे मत से तो वास्तव में पुराण भी नित्य हैं, अतः उनका यह वर्णन मिलने से हमारे किसी सिद्धान्त की कोई क्षति नहीं हो सकती ।

पृ० ६४ पर वेबर लिखते हैं—'इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद् में हम विधि-व्यवहारों का वह उदाहरण भी पाते हैं, जिसका वैदिक साहित्य में शायद ही कहीं उल्लेख हुआ हो । वह है चोरी के अपराध के लिये प्राणदण्ड, जो इस विषय में मनुस्मृति में दिये गये कठोर दण्ड के विधान से पूर्णतः साम्य रखता है । अपराध या निर्दोषता का निर्धारण लाल तपते हुए फरसे को उठाकर किया जाता था, यह भी मनु के नियमों के अनुकूल है । इसके अतिरिक्त मनुकालीन संस्कृति को जोड़ने वाली एक और शृंखला बृहदारण्यक के एक अनुच्छेद में मिलती है, वह है आत्मा के पुनर्जन्म का सिद्धान्त' (पृ० ६४) और इसके आधार पर वे बृहदारण्यक को नवीन कृति सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु उनका यह सारा प्रयत्न व्यर्थ है, क्योंकि स्मृतियाँ श्रुतिप्रतिपादित विषयों का ही अनुकरण करती हैं । महाकवि कालिदास ने इस बात का स्पष्ट प्रतिपादन किया है । जैसे आजकल के विद्वान् पातञ्जल महाभाष्य की एक पंक्ति का भी अर्थ ठीक से नहीं कर सकते, किन्तु केवल उसमें आये नदी, पर्वत, जनपद आदि नामों के सहारे इतिहास की कल्पना करते हैं, उसी तरह से पाश्चात्य विद्वान् भी उपनिषदों के रहस्य को और विशेष अभिप्राय को तो समझना दूर की बात है, वे उनके सामान्य अर्थ को भी सही रूप में समझ नहीं पाते, किन्तु केवल उनमें वर्णित नामों के संकलन कर उनको अर्वाचीन बताने में ही आतुर दिखाई पड़ते हैं । कौषीतकि उपनिषद् में राहु का नाम आने से वह किस तरह से अर्वाचीन कृति हो जाता है, इसमें कोई प्रमाण वहाँ (पृ० ६४) नहीं दिया गया है । सामविधान, संहितोपनिषद् केनोपनिषत् ये सब ग्रन्थ भी वैदिकों की दृष्टि से अपौरुषेय ही हैं ।

'जनक सप्तरात्र क्रिया के प्रवर्तक जनक का पञ्चविंश ब्राह्मण में कोई उल्लेख नहीं है । अत एव स्पष्टतः उनके जीवन और प्रसिद्धि का काल पञ्चविंश ब्राह्मण और मशक सूत्र के बीच का है' (पृ० ६७) यह कथन भी सारहीन है, क्योंकि काठक आदि की

समाख्यातत्वेऽपि तया न श्रुतीनां कालनिर्धारणं सम्भवति। यथास्मिन् कल्पे कठेन विशिष्टप्रवचनात् काठकेति समाख्या, 'समाख्या प्रवचनात्' (मी० सू०) इति, यथा वा नचिकेतसा विदितत्वादग्निविद्याया अग्नेश्च नचिकेतसेति समाख्यानम्, तद्वदेव प्रकृतेऽपि ज्ञातव्यम्। एवमेव लाटचायनसूत्रसम्बन्धे यदुक्तम्—'लाटटोलेमीडारिकी' इत्यस्य पश्चिमसौराष्ट्रदक्षिणीयदेशसूचकम्' इति, तदपि तादृशमेव, आख्यायिकाभिरानुषङ्गिकरूपेण तादृशार्थवोधकत्वेऽपि बाधाभावात्। न तावत्तेन पञ्चविंशब्राह्मणस्य पश्चिमभागे रचना सिद्धचति।

यत्तु—'आर्षेयकल्पे विभिन्नगौतमद्वयोल्लेखः। द्वयोरेकतरस्य स्थविरोपाधिः (यो बौद्धानां पारिभाषिकः।) शौचिवृक्षेः (यः पाणिनिपरिचित आचार्यः), क्षैरकलम्भेः, कौत्सस्य, वार्षगण्यस्य, माण्डितायनस्य, लामकायनस्य, राणायणीपुत्रप्रभृतीनां विशेषतः शाटचायनानां तथा तै रचितस्य शाटचायनकस्य, शालङ्कायनैः सह ये निश्चप्रचं भारतस्य पश्चिमभागनिवासिन आसन्, उल्लेखो जातः (पृ० ६८)। एतैरन्यवेदापेक्षया सामवेदीयसूत्राणां प्राक्कालिकता सिद्धचति' इति, तच्च निरर्थकम्, आख्यायिकानां स्वार्थे तात्पर्याभावस्य वहुधोक्तत्वात्। स्थविरादिशब्दा न केवलं बौद्धानां पैतृकाः, किन्तु वैदिकेष्वपि प्रसिद्धा एव। तत एव बौद्धैर्गृहीताः। 'पुत्रास्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (म० ९।३) इति मनुस्मृतिप्रयोगदर्शनात्।

यच्च—'एतेषां रचनासमयेऽनेके मतभेदा आसन्। अन्यवेदेषु पूजाविधिषु कठोरता एकता चागताऽऽसीत्। शूद्रनिषादादयो ये भारतस्यादिवासिनः, पूर्वं तेषां दशा दुःखमयी शोषणयुक्ता च नासीत्, परवर्तिकाले यादृशी जाता। ते मण्डपाद् बहिर्यज्ञेषु समागन्तुं शक्नुवन्ति स्म। क्वचिद्यज्ञेषु तेषां शूद्राणामपि याज्ञिकत्वमासीत्, यद्यपि तानि

समाख्या (नाम) के समान उस कर्म का नाम भी जनक के नाम के साथ जुड़ गया है, इससे श्रुति के काल का निर्धारण नहीं किया जा सकता। जैसे इस कल्प में कठ ऋषि के द्वारा विशेषत: प्रवचन हुआ है, इस आधार पर उस शाखा का नाम काठक हो गया है, इसमें प्रमाण 'समाख्या प्रवचनात्' यह सूत्र है। तथा जैसे नचिकेता के द्वारा जानी गई विद्या और अग्नि का नाम 'नाचिकेतस' हो गया है, उसी तरह से इस क्रिया का नाम जनक सप्तरात्र इसलिये हो गया है कि इसका अनुष्ठान सर्वप्रथम जनक ने किया था। इसी तरह से लाट्यायन श्रौतसूत्र के सम्बन्ध में कहा गया है— लाट्यायन का नाम मेरे विचार से 'लाट' या टोलेमी के 'डारिकी' की ओर संकेत करता है, जो पश्चिम में सौराष्ट्र के सीधे दक्षिण की ओर एक देश था' (पृ० ६७) यह कथन भी सारहीन ही है, क्योंकि कहानियों में प्रसंगवश इस तरह की बहुत सी बातें आ जाया करती हैं। इससे पञ्चविंश ब्राह्मण की रचना पश्चिम में हुई हो, यह किसी तरह से सिद्ध नहीं हो सकता।

इसी तरह से—'आर्षेयकल्प का, दो विभिन्न गौतमों का, जिनमें एक ही विशिष्ट उपाधि स्थविर (बौद्धों की एक पारिभाषिक उपाधि) है, शौचिवृत्ति का (जो पाणिनि द्वारा ज्ञात आचार्य है), क्षैरकलम्भि, कौत्स, वार्षगण्य, भाण्डितायन, लामकायन, राणायणीपुत्र इत्यादि का और विशेषत: शाट्यायनियों एवं उनकी रचना शाट्यायनक का शालंकायनियों के साथ, जो निश्चित रूप से भारत के पश्चिमी भाग के थे, उल्लेख हुआ है।…ये उल्लेख अन्य वेदों के सूत्रों की अपेक्षा सामवेद के सूत्रों की प्राक्कालीनता के प्रमाण हैं' (पृ० ६७-६८), यह कथन भी निरर्थक है, क्योंकि यह बहुत बार कहा जा चुका है कि आख्यायिकाओं का स्वार्थ में कोई तात्पर्य नहीं होता। स्थविर प्रभृति शब्दों पर कोई बौद्धों की बपौती नहीं है, ये सब शब्द वेदों में भी प्रसिद्ध हैं और उनको वहीं से बौद्धों ने भी लिया है। 'वृद्धावस्था में पुत्र उसकी रक्षा करते हैं, इस तरह से स्त्री कभी स्वतन्त्र नहीं रक्खी जाती' इस मनुस्मृति के वचन में स्थविर शब्द का प्रयोग हुआ है।

'सामवेद के सूत्रों की रचना के समय अनेक प्रकार के मतभेद बने हुए थे, जबकि अन्य वेदों के सूत्रों के समय सिद्धांतों और पूजन-विधियों में अधिक एकता और कठोरता आ गई थी। शूद्रों और निषादों की दशा जो आदिम भारतवासी थे, वैसी दुःखमय और शोषणयुक्त नहीं थी, जैसी कि आगे चलकर हो गई। वे स्वयं भी यज्ञ मण्डप के बाहर यज्ञों में उपस्थित हो सकते थे। यत्र तत्र उन्हें स्वयं याज्ञिक क्रियाओं में भी भाग लेते हुए दिखाया गया है, हालांकि वे निम्न कोटि के कर्म का ही सम्पादन करते हैं। उस

निम्नकोटिगतान्येव कर्माण्यासन्। तदानीं कठोरेषु ब्राह्मणीयसिद्धान्तेषु प्रतिवेशिन आर्यजातीया अपि मान्यतां न प्रयच्छन्ति स्म। शूद्रजातीया अपि ब्राह्मणीयसंस्कृतिनिष्ठा ब्राह्मणा इव स्वपूर्वजानां गीतेषु प्रथासु च बहु सम्मानं रक्षन्ति, तथैव च तद्विषयाननुशीलयन्ति स्म। कदाचिद् कदाचित् ब्राह्मणा अपि तत्क्रियाः सर्वसमक्षमेवाश्रयन्ते स्म। यथा श्येनयागः षड्विंशब्राह्मणे वर्णितः, लाटचायनेन विस्तरशो वर्णितः' इति, तदपि निर्मूलम्, चातुर्वर्ण्ये शूद्राणामप्यन्तर्भावात्। सवर्णासवर्णभेदोत्पादनेन कलहबीजारोपणकौटिल्यमेव पाश्यात्त्यैरुप्तम्। पाकयज्ञेषु सर्वैरपि वैदिकैः शूद्राणामधिकाराभ्युपगमात्। इष्टिविशेषे निषादस्थपतिशूद्रस्यैवाधिकारोऽपि मीमांसायां निर्णीतः। श्येनादियागः शूद्रकर्तृक इति तु निर्मूलमेव, तस्य ब्राह्मणैर्ऋत्विग्भिर्निर्वर्तनात्। नाप्याभिचारिक्यः क्रिया अथर्वैकविषयाः श्येनस्य सामवेदेन विधानात्। तान्त्रिकाणि तु कर्माणि तन्त्रविहितानि, श्येनादीनां वेदविहितत्वात्। अथर्वसूक्तान्यब्राह्मणैः परिशीलितानीत्यपि निष्प्रमाणमेव, अथर्वाध्ययनस्यापि तदुक्तोपनयनादिसापेक्षत्वात्।

यदपि च—'लाटचायनरीत्या पुरोहितानां रक्तवर्णानि वासांसि, रामायणीयलङ्कागतपुरोहितानां च तादृक्षाण्येव। वौद्धानां काषायवस्त्राण्यपि तथाविधान्येव' इति, तदपि न किञ्चित्, आभिचारिककर्मसु तादृशवस्त्रपरिधानविधानेन तादृशकर्मस्वेव तदुपयोगात्। लङ्कागतयज्ञस्याप्यभिचाररूपत्वंवासीत्। लङ्काधिपस्य महाराजरावणस्य साधारण्यामवस्थायामपि तादृग्वस्त्रस्यैव परिधानं वर्णितम्, 'शशक्षतजकल्पेन' (वा० रा०) इत्यादीनां। वौद्धानां भिक्षूणां त्वभिचाराभावेऽपि तदीयसाधनविशेषाभिप्रायेण तथा वर्णनम्। किमेतावता ? क्वचिदारक्षि(पुलीस)जनानां लौहपथगामिनो(रेलगाड़ी)सम्बन्धिषु गमनागमनादिषु रक्तहरितादीनि वासांस्युपयुज्यन्ते।

समय कठोर ब्राह्मणीय सिद्धान्तों को अभी प्रतिवेशी आर्य जातियों में भी मान्यता नहीं मिली थी। ये जातियाँ भी ब्राह्मणीय संस्कृति के भारतीयों के समान ही अपने पूर्वजों के गीतों एवं प्रथाओं को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखती थीं और उनका उतना ही अनुशीलन करती थीं, जितना ब्राह्मणीय भारतीय करते थे, प्रत्युत ब्राह्मण भी कभी-कभी सीधे उनका आश्रय लेते थे और उनकी क्रियाओं को भी खुले आम अपना लेते थे। जैसे कि षड्विंश ब्राह्मण में श्येन याग का वर्णन है और लाट्यायन श्रौत सूत्र में इसकी विस्तार से व्याख्या की गई है' (पृ० ६८) यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि चार वर्णों में शूद्रों की भी गणना की ही गई है। सवर्ण और असवर्ण का भेद पैदा करके पाश्चात्यों ने अपनी कुटिलता से इनमें परस्पर कलह का बीज बो दिया है। सभी वैदिक पाक यज्ञों में शूद्रों को भी अधिकार प्राप्त है। कुछ ऐसी भी इष्टियां हैं, जिनमें निषाद और स्थपति (बढ़ई) जैसे शूद्रों को ही अधिकार दिया गया है। श्येन प्रभृति याग शूद्रों के द्वारा संपादित होते हैं, यह कथन सर्वथा निराधार है, क्योंकि ब्राह्मण ऋत्विक् ही इनका सम्पादन करते हैं। यह कहना भी समीचीन नहीं है कि सभी आभिचारिक क्रियाएं अथर्ववेद में ही वर्णित हैं, क्योंकि श्येन याग जैसी क्रियाएँ सामवेद में वर्णित है। अन्य तान्त्रिक कर्मों का विधान तन्त्रशास्त्र में हुआ है और श्येन याग प्रभृति का विधान वेदों में है। अथर्ववेद के सूक्तों का परिशीलन अब्राह्मणों ने किया, यह कथन भी प्रमाणहीन है, क्योंकि अथर्ववेद का अध्ययन भी वेदोक्त उपनयन संस्कार के बाद ही हो सकता था। जब यह अब्राह्मणों के द्वारा कैसे परिशीलित माना जा सकता है।

इसी तरह से—'लाटचायन के अनुसार इन पुरोहितों की पगड़ी और वेशभूषा लाल (लोहित) रंग की होनी चाहिये। रामायण में लंका के राक्षसों के पुरोहितों का याज्ञिक वस्त्र भी इसी वर्ण का बताया गया है और इस रंग के वस्त्रों के साथ बौद्धों के गेरुआ वस्त्र की भी तुलना की जा सकती है' (पृ० ६९)। यह कथन भी निःसार है, क्योंकि आभिचारिक प्रयोगों में इसी तरह के वस्त्रों को पहिनने का विधान है। लंका में प्रायः इसी तरह के उद्वेजक क्रियाकलापों का ही अनुष्ठान हुआ करता था, अतः यहाँ भी उन्हीं वस्त्रों का वर्णन मिलता है। वाल्मीकि रामायण में यह वर्णन मिलता है कि लंकाधिपति महाराज रावण सामान्य स्थिति में भी इसी तरह के वस्त्र पहना करता था। बौद्ध भिक्षुगण यद्यपि इस उद्वेजक आभिचारिक कर्मों का अनुष्ठान नहीं करते, तो भी उनकी विशेष प्रकार की साधना के लिये इन वस्त्रों को धारण करने का विधान है। इससे क्या निकलने वाला है? कहीं पुलिस की भी पगड़ी लाल होती है और रेलगाड़ी को चलाने और रोकने के लिये हरे-लाल कपड़ों का उपयोग किया जाता है।

कम्युनिस्टानां ध्वजवस्त्राणि च तादृशानि भवन्ति। केचित्तत्रापि सम्बन्धमन्वेषयन्ति। वौद्धानां न काषायं किन्तु रक्तं वासः, काषायं तु वैदिकसंन्यासिनामेव। व्रात्यस्तोमेनातीतसंस्कारकाला द्विजवन्धव एव संस्क्रियन्त इत्यज्ञात्वैव बेवरो यत्किञ्चित् प्रलपति।

यदपि 'पाश्चात्त्यान् ब्राह्मणेतरान् व्रात्यान् व्रातीनांश्च पौरस्त्यैर्ब्राह्मणेतरैर्वौद्धैराचार्यैश्च समकक्षतया मन्यन्ते स्म' इति पञ्चविंशब्राह्मणवर्णितव्रात्यस्तोमेन ज्ञायते। तत्र ब्राह्मणसमाजप्रविष्टैर्व्रात्यैः पूर्वसम्वन्धिभ्यः सर्वे सम्वन्धा विच्छेतव्याः। स्वानि धनादीनि स्वपूर्ववन्धुभ्यो दातव्यानि, यद्वा मगधदेशीयेभ्यो ब्रह्मवन्धुभ्यः सम्पत्तयो देयाः, एतेन विज्ञायते यद् ब्राह्मणविरोधिनीभिः प्रवृत्तिभिः सह वौद्धधर्मस्तत्र पुष्पितः फलितश्चासीत्। पञ्चविंशब्राह्मण एतादृशविषयस्यानुल्लेखः पञ्चविंशब्राह्मणलाटचायनसूत्रयो रचनाकालविषयेऽन्तरमवद्योतयितुं पर्याप्तं महत्त्वपूर्णः' (पृ० ६९७) इति, तदपि तुच्छम्, सूत्रस्य पौरुषेयत्वेन रचितत्वेऽपि ब्राह्मणस्य नित्यत्वेन रचनाऽसम्भवात्। तेन ब्राह्मणेषु विधिवशादिष्टप्रेप्सूनामनिष्टपरिजिहीर्षूणामिष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारायैवोपदेशाः सन्ति। व्रात्यानां वौद्धैः सम्वन्धकल्पनमव्यापारेषु व्यापारमात्रम्। एवमेव सरस्वतीतटीययज्ञानां व्रात्यस्तोमानां प्राक्तनेभ्यो महत्त्वपूर्णपरिवर्तनादिकल्पनमपि वैदिकपद्धत्यज्ञानमूलकमेव। वैदिकास्तु विविधशाखोपवृंहितानि सर्वाणि मन्त्रब्राह्मणात्मकानि शास्त्राणि सूत्राणि धर्मशास्त्राणि पुराणेतिहासादीनि च पर्यालोच्य सर्वेषां समन्वयं कृत्वैकमप्यर्थं निश्चिन्वन्ति। नहि निन्दायै निन्दावचनानि प्रवर्त्तते 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपि तु विधेयं स्तोतुम्' इति न्यायात्। निन्दातात्पर्यं कस्यचन विहितपक्षस्य प्रशंसायामेव। पाश्चात्त्यास्तु विश्रृङ्खलं विचारयन्ति परस्परं विरोधमुद्भाव्यैवात्मानं कृतार्थयन्ति।

आजकाल कम्युनिष्ट पार्टी का झण्डा और टोपी लाल रंग के होते हैं। क्या इनके साथ भी आप की पद्धति से कोई संबन्ध जोड़ा जा सकता है? बौद्ध भिक्षुओं का वस्त्र काषाय रंग का न होकर लाल वर्ण का होता है। काषाय वस्त्र वैदिक संन्यासी धारण करते हैं। व्रात्यस्तोम से भी उन द्विजों का ही संस्कार किया जा सकता है, जिनका समय से उपनयन संस्कार नहीं किया जा सका हो। इस बात को बिना जाने ही बेवर अपना अनाप-शनाप निष्कर्ष निकालते हैं।

'इन पश्चिमी अब्राह्मणीय व्रात्यों और व्रातीनों को पूर्वदेशीय अब्राह्मण बौद्धों और आचार्यों के समकक्ष रखा गया था, यह बात पञ्चविंश ब्राह्मण में व्रात्य स्तोमों के वर्णन के साथ लाटचायन द्वारा दिये गये एक अतिरिक्त विवरण से स्पष्ट होती है। इसमें यह बताया गया है कि जिन व्रात्यों को ब्राह्मण समाज में प्रविष्ट कर दिया गया है, उन्हें पिछले व्रात्य जीवन से सभी संबन्ध तोड़ने के लिये अपना धन अपने उन बन्धुओं को दे देना चाहिए, जो व्रात्य का जीवन व्यतीत कर रहे हों। इस प्रकार वह अपने पूर्वजीवन की अपवित्रता को अपने वर्ग के लोगों के पास स्थानान्तरित कर देता है, अथवा वह 'ब्रह्मबन्धु मगधदेशीय' को अपनी सारी सम्पत्ति दान कर दे। ब्रह्मबन्धु मगधदेशीय की व्याख्या तभी संभव हो सकती हैं, जब हम यह मान लें कि अपनी ब्राह्मण विरोधी प्रवृत्तियों के साथ बौद्ध धर्म इस समय मगध में फला-फूला हुआ था और पञ्चविंश ब्राह्मण में इस प्रकार के किसी उल्लेख का अभाव इस रचना और लाटचायन सूत्र के बीच बीते हुए समय के लिए पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं' (पृ० ६९) यह कथन भी सारहीन है, क्योंकि सूत्र-ग्रन्थ तो पौरुषेय हैं, अतः उनकी रचना की बात मानी जा सकती हैं, किन्तु ब्राह्मण तो नित्य हैं, अतः उनकी रचना नहीं हो सकती। इन ब्राह्मण ग्रन्थों में विधिवाक्यों के द्वारा इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार चाहने वाले व्यक्तियों के लिये उनकी अभीष्ट सिद्धि के उपाय बताये गये हैं। व्रात्यों का बौद्धों से संबन्ध जोड़ना एक व्यर्थ का प्रयास है। इसी तरह से सरस्वती नदी के तट पर होने वाले यज्ञों की और व्रात्य स्तोमों की इनसे पहले संपादित होने वाले यज्ञीय क्रिया काण्डों से विलक्षणता की बात करना, यह कहना कि इन सबमें परस्पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये थे, वैदिक पद्धति को ठीक से समझ न पाने के कारण ही हो सकता है। वैदिक विद्वान् तो विविध शाखाओं में उपबृंहित समस्त मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र का, सूत्र, धर्मशास्त्र, पुराण-इतिहास आदि का ठीक से परिशीलन कर और इनमें परस्पर समन्वय स्थापित कर किसी भी विषय का निर्णय करते हैं।' 'निन्दापरक अर्थवाद किसी की निन्दा करने के लिये नहीं, किन्तु विधि की स्तुति करने के लिए होते हैं' इस न्याय के अनुसार

यदपि—'अनुपदसूत्रे ब्राह्मणीयकर्मकाण्डीयेतिहासस्योत्तमभाण्डागारो विद्यते, यतोऽत्र विभिन्नग्रन्थानामुल्लेखा उद्धरणानि च सन्ति। अत्रानेकासामृग्वेदीयशाखानामुद्धरणानि। एतस्याध्ययनमपेक्षितम्' इत्यादि, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशाध्ययनस्य तदीयाभिप्रायावेदकत्वाभावात्। ईदृशान्यन्यान्यपि तदीयान्यध्ययनानि दुरुद्देश्यपूर्णानि।

यजुर्वेदसम्बन्धी तदीयविचारोऽपि तादृश एव। अयं कृष्णशुक्लभेदेन तस्य द्वैविध्यं मनुते। सामाजिकास्तु तदनुयायिनोऽपि सन्तः कृष्णयजुर्वेदस्य वेदत्वमेव न मन्वते। ब्राह्मणानामवेदत्वं पाश्चात्त्याः सामाजिकाश्च मन्यन्ते। पाश्चात्त्यास्तु ब्राह्मणानामपेक्षया मन्त्रसंहितानां प्राचीनत्वं तात्कालिकजननिर्मितत्वं चाहुः। यच्च शुक्लयजुर्वेदीयब्राह्मणेऽध्वर्युनामनिर्देशः शुक्लयजुःशाखिनामेव कृते। तेषां दृष्टया चरकाध्वर्यवो निन्द्या एवेति, तत्त्वज्ञानविजृम्भितमेव, स्वपक्षदार्ढ्ये निन्दायास्तात्पर्यात्। यत्तु शुक्लयजुर्वेदिनामेकस्मिन्ननुच्छेदे पुरुषमेधस्य बलिरूपेण दुष्कृताय चरकाचार्यार्पणमुक्तम्, तद्विलक्षणमेव, यतोऽन्यत्र पर्यटनशीलेषु विद्वत्स्वेवायं शब्दः प्रयुक्त इति व्याख्यानात्। 'एतेन विज्ञायते यदेतेषु कृष्णशुक्लशाखीयेषु प्रत्यक्षमेव शात्रवम्' इति, तदप्यज्ञानमूलकमेव, दुष्कृताय चरकाचार्यम्' (वा० सं० ३०।१८) इत्यस्य चरकाणां कुष्ठरोगाक्रान्तानामाचार्यं याजकं गुरुमुपकल्पयेदित्यर्थत्वेनाविरोधात्।

यत्तु तित्तिरिणा प्रोक्तत्वात्तैत्तिरीयकमिति वैशम्यायनशिष्येषु यदा केनचिदेकेन गुरोः क्रोधेन यजुर्मन्त्रा भक्षयित्वोद्वान्तास्तदान्यैः शिष्यैस्तित्तिरिभूतैर्भक्षिता इत्यादिकथनम्, तदप्यज्ञानमूलकम्, ब्राह्मणेषु पुराणेषु कथाया अन्यथा वर्णनात्। तत्र हि कदाचित् कस्यचिदंहसः क्षालनाय व्रतचरणाय गुरुणा वैशम्यायनेनोक्तेषु शिष्येषु

निन्दापरक वाक्यों का तात्पर्य किसी विधि की स्तुति के लिये ही होता है। पाश्चात्य विद्वान् इस बात को बिना जाने ऊटपटांग विचार प्रकट करते रहते हैं और शास्त्रों में परस्पर विरोध को दिखाने में ही अपने को कृतार्थ मानते हैं।

'अनुपदसूत्र ब्राह्मणीय कर्मकाण्ड के इतिहास का उत्तम भण्डार सिद्ध होगा, क्योंकि यह अनेक विभिन्न ग्रन्थों का उल्लेख करता है और उनके उद्धरण भी देता है। उदाहरण के लिये ऋग्वेदीय शाखाओं में यह अनेक शाखाओं का उद्धरण प्रस्तुत करता है। इसका अधिक अध्ययन करने की आवश्यकता है' (पृ० ७१) यह कथन भी कुछ ऐसा ही है, क्योंकि इसका अध्ययन करने से उन लोगों का अभिप्राय नहीं सिद्ध होने वाला है। इसी तरह के अन्य ग्रन्थों के अध्ययन भी उनके बुरी नीयत से भरे हुए ही हैं।

इसी तरह से बेबर के यजुर्वेद संबन्धी विचार (पृ० ७६-१३१) भी प्रमाणों से रहित हैं। बेबर कृष्ण और शुक्ल के नाम से यजुर्वेद को दो भागों विभक्त मानता है। पाश्चात्य विद्वानों का अनुसरण करने वाले आर्यसमाजी विद्वान् तो यहाँ कृष्ण यजुर्वेद को वेद मानते ही नहीं। ब्राह्मणों को वेद न मानने में आर्यसमाजी और पाश्चात्य विद्वान् एकमत हैं। पाश्चात्य विद्वान् ब्राह्मणों की अपेक्षा मन्त्रसंहिताओं को प्राचीन मानते हैं और यह मानते हैं कि यह उस समय के मनुष्यों की रचना है। बेबर ने यह भी कहा है—'शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण में अध्वर्यु नाम का प्रयोग उसी ब्राह्मण के अनुयायियों के लिये हुआ है तथा चरकाध्वर्यु को निन्दित एवं अध्वर्यु लोगों का विरोधी बताया गया है' (पृ० ७७), किन्तु यह कथन उनके अज्ञान को ही उजागर करता है, क्योंकि यहाँ निन्दा का तात्पर्य अपने पक्ष में दृढतामात्र के प्रदर्शन में है। इसी तरह से—'इस प्रकार की शत्रुता शुक्ल यजुर्वेदीय संहिता के भी एक अनुच्छेद से प्रकट होती है, जिसमें पुरुषमेध की एक बलि के रूप में 'चरकाचार्य' को दुष्कृत या बुरे कर्म को अर्पित किया गया है। यह बात बड़ी विलक्षण प्रतीत होती है, क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर चरक पद का प्रयोग अच्छे अर्थ में 'पर्यटनशील विद्वान्' के लिये हुआ है। इससे यही प्रतीत होता है कि चरकों और शुक्ल यजुर्वेद के अनुयायियों में सीधी शत्रुता थी' (पृ० ७७), यह कथन भी बेबर के अज्ञान को ही उजागर करता है, क्योंकि उक्त स्थल में चरक शब्द का अर्थ कुष्ठ रोगी को यजन कराने वाला आचार्य है। अतः आपकी सारी कल्पना व्यर्थ हो जाती है।

'कृष्ण यजुर्वेद का दूसरा नाम तैत्तिरीय है। जब वैशम्यायन के शिष्यों में से एक ने अपने गुरु से क्रुद्ध होकर यजुस् मन्त्रों को निगल लिया और फिर उगल दिया, तब शेष शिष्यों ने 'तित्तिर' बन कर उसे चुन लिया था या एकत्र किया था' (पृ० ७७) यह कथन भी बेबर के अज्ञान का ही द्योतक है, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों और पुराणों में यह कथा दूसरी तरह से वर्णित है। वहाँ बताया

किमेभिरल्पसारैरहमेव व्रतं चरिष्यामीत्युक्तवति याज्ञवल्क्ये विप्रावमाननाद् गुरुः क्रुद्धः सन्नुक्तवान् मदधीतानि यजूंषि त्यक्त्वा गच्छेति। तच्छ्रुत्वा याज्ञवल्क्यस्तानि यजूंष्युद्गीर्णवान्। वैशम्पायनशिष्यास्तु तित्तिरयो भूत्वा तानि जगृहुः। तेन तित्तिरिरूपैर्ऋषिभिर्गृहीतत्वात् तैत्तिरीयकं नाम सम्पन्नम्। याज्ञवल्क्यस्तु त्रयीमयं भगवन्तमादित्यमाराध्यायातयामानि यजूंषि प्राप्तवान्। तान्येव पञ्चदशशाखोपबृंहितानि शुक्लयजूंष्याख्यायन्ते। तत्र मन्त्रब्राह्मणभेदस्य विविक्तत्वात् शुक्लत्वम्, कृष्णयजुर्वेदे तयोर्भागयोरविविक्तत्वात् कृष्णत्वमिति। यत्तु—खण्डैर्निर्मितत्वात् खाण्डिकीयेत्यस्याः शाखाया नामेति, तदप्यशुद्धम्, पाणिनिविरुद्धत्वात्। खण्डिकर्षिणा दृष्टत्वात् एतच्छाखानामोपपत्तेः। काठक-हारिद्रविक-आपस्तम्ब-मैत्रायणीप्रभृतयः कृष्णयजुःशाखा अपि नित्यत्वादपौरुषेयत्वान्नेतिवृत्तनिर्णायिका भवितुमर्हन्ति।

यदुक्तम्—'श्वेताश्वतरोपनिषदि सांख्यसिद्धान्तोऽद्वैतवादिना योगदर्शनेन योजितः। अत्र यजुःसंहितादिभ्यः समाहृतानामनेकेषामप्रासङ्गिकानामंशानां विलक्षणो दुरुपयोगः कृतः। तत एवात्मनो यजुःसम्बद्धत्वम् अभिमन्यतेऽयं ग्रन्थः। सांख्यप्रवर्तकः कपिलोऽत्र देवतापदे स्थापितः। बादरायणस्य ब्रह्मसूत्रेऽप्ययमुद्धृतः। शङ्कराचार्येणात्र भाष्यमपि कृतम्। शङ्कराचार्यात् किञ्चित्कालपूर्वमेवास्या निर्माणमिति त्वस्य महासाहसम्। बादरायणस्य सूत्रेऽपि यस्योद्धरणम्, शङ्कराचार्यादिभिराचार्यैर्यस्योपनिषत्त्वं वेदत्वं चाङ्गीकृतम्, तस्य सम्बन्धेऽनर्गलं प्रलपतस्तस्य सर्वथा वेदस्पर्शानधिकारित्वमेव साधयति। तस्या आधुनिकत्वसाधकं प्रमाणं तु नोपस्थापितम्। कपिलस्तु भगवदवतारत्वेन श्रीमद्भागवतेऽपि वर्णितः। विष्णुसहस्रनामपाठेऽपि 'कपिलः कपिरव्ययः' इति पाठो विद्यते। यस्यातिप्राचीनत्वं रामायणमीमांसायां साधितम्।

गया है कि किसी पाप का प्रायश्चित करने के लिये, किसी व्रत का अनुष्ठान करने के लिये शिष्यों को वैशम्पायन का निर्देश मिलने पर उनके एक शिष्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि इतने सारे प्रभावहीन शिष्यों को आप इस कार्य में क्यों लगाते हैं, मैं अकेला ही इस कार्य को कर सकूंगा। याज्ञवल्क्य के द्वारा इस तरह से उन ब्राह्मण शिष्यों का अपमान हुआ देख गुरु वैशम्पायन ने क्रुद्ध होकर याज्ञवल्क्य से कहा कि तुम मेरे पढ़ाये यजुर्मन्त्रों को छोड़ दो और मेरे यहाँ से चले जाओ। यह सुनकर याज्ञवल्क्य ने उन यजुर्मन्त्रों को उगल दिया और वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने तित्तिरि बन कर उसको निगल लिया। ऋषियों ने तित्तिरि का रूप धारण कर इनको निगल लिया, इसलिये ये मन्त्र 'तैत्तिरीयक' नाम से प्रसिद्ध हो गये। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने त्रयी स्वरूप भगवान् आदित्य (सूर्य) की आराधना करके नये यजुर्वेद को प्राप्त किया। पन्द्रह शाखाओं में विभक्त यह वेद शुक्ल यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इनमें शुक्ल यजुर्वेद में मन्त्र और ब्राह्मण भाग अलग-अलग हैं और कृष्ण यजुर्वेद में ये मिले हुए हैं। यह कहना कि—'कृष्ण यजुर्वेद खण्डों में बना है, अतः इसकी एक प्रमुख शाखा का नाम खाण्डिकीय है' (पृ० ७७), इसलिये गलत है कि यह बात पाणिनि व्याकरण के विरुद्ध है, क्योंकि तदनुसार खण्डिक ऋषि के द्वारा दृष्ट होने से इसका यह नाम पड़ा है। काठक, हारिद्रविक, आपस्तम्ब, मैत्रायणी प्रभृति कृष्ण यजुर्वेद की शाखाएँ भी नित्य और अपौरुषेय हैं, अतः उनकी सहायता से भी कोई इतिहास नहीं निकाला जा सकता।

आगे चलकर वेबर ने लिखा है—'श्वेताश्वतर उपनिषद् में सांख्य सिद्धान्त अद्वैतवादी योगदर्शन के साथ मिला दिया गया है। इस प्रकार इसमें यजुस् की संहिता आदि के नितान्त अप्रासंगिक अनुच्छेदों का विलक्षण दुरुपयोग किया गया है और इस आधार पर ही यह यजुस् से संबद्ध होने का दावा करता है। सांख्य दर्शन के प्रवर्तक स्वयं कपिल को इसमें देवताओं के स्थान तक पहुँचा दिया गया है और यह स्पष्टतः एक बहुत बाद के काल की रचना है। यद्यपि यह बादरायण के ब्रह्मसूत्र में उद्धृत है और शंकराचार्य ने इस पर भाष्य भी किया है, किन्तु शंकराचार्य से कुछ पहले ही इसका निर्माण हुआ होगा (पृ० ८६), किन्तु उसका यह पूरा कथन दुःसाहस मात्र है। बादरायण के ब्रह्मसूत्र में जो उद्धृत है और आचार्य शंकर प्रभृति ने जिसको उपनिषद् और वेद माना है, उसके संबन्ध में इस तरह की अनर्गल बात कहते हुए यह सिद्ध कर देता है कि ऐसे व्यक्तियों को वेदों को छूने का अधिकार भी नहीं होना चाहिये। इसकी आधुनिकता को सिद्ध करने के लिए यहाँ कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। कपिल भगवान् के अवतार हैं, यह बात तो श्रीमद्भागवत में भी वर्णित है। विष्णु के सहस्रनाम में भी कपिल नाम आता है। इसकी प्राचीनता 'रामायण मीमांसा' में सिद्ध की गई है।

एवमेव मैत्रायण्युपनिषत्सम्बन्धे ब्राह्मणस्य भाषातो भेद उक्तः। ईदृशदीर्घसमासान्तपदानि महाकाव्येषूपलभ्यन्ते न ब्राह्मणेष्विति, तदपि निर्मूलमेव, पारम्पर्येण तस्या उपनिषत्त्वे सिद्धेऽन्यहेतोरतन्त्रत्वात्, प्रसङ्गानुसारेण भाषाभेदस्य सर्वत्रोपलब्धेः। एवं 'यक्षोरगभूतगणग्रहध्रुवताराप्रचलनादिवर्णनमपि तादृशस्य युगस्य संकेतं ददातीति यो ब्राह्मणेभ्योऽतिप्राक्कालिकः। मगधदेश एव शाक्यमुनेर्बौद्धधर्मस्य च स्वागतं वृत्तम्। बौद्धानां रीत्या मैत्रेयो भावी बुद्धो वर्णितः। तस्मादस्या उपनिषदो बौद्धैः सार्धं गम्भीरः सम्बन्धोऽस्ति' इत्यादि, तदपि न युक्तम्, मुक्तिकोपनिषदादावस्या अपि उपनिषत्त्वेन वर्णनात्, वैदिकसम्प्रदाये तदादराच्च। छान्दोग्यादौ 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यसद्वादस्य वर्णनान्नासदीयसूक्तेऽसद्वादस्य निषेधात् ततोऽपि पूर्वमसद्वादापरपर्यायः शून्यवाद आसीदित्यस्य वक्तुं शक्यत्वेऽपि 'भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति' इति मनुस्मृतिरीत्या वेदेष्वतीतानागतवर्तमानवर्णनेऽपि ततः कालनिर्धारणायोगात्। तथैव प्रकृतेऽपि वक्तुं शक्यत्वात्।

यदपि—'कृष्णयजुर्वेदीयप्रातिशाख्यसूत्रे आत्रेयकौण्डिन्यादिनामनिर्देशो महत्त्वपूर्णः, वाल्मीकिनामनिर्देशोऽप्यत्राश्चर्यपूर्णः। अग्निवेश्यः, अग्निवेश्यायनः, पौष्करसादिरिति तुल्यानि नामानि बौद्धरचनासु बौद्धशिष्याणां सम्बन्धे लभ्यन्ते' इति, तदपि तुच्छम्, वैदिकनाम्नां पूर्ववर्तित्वेन परवर्तिबुद्धकाले समुपलम्भस्यानाश्चर्यत्वात्। बौद्धशिष्येषु कात्यायनादिनाम्नामपि दर्शनात्।

अत एव शुक्लयजुःप्रातिशाख्ये काण्वमाध्यन्दिनभेदो दृश्यते। वेबरदृष्ट्या काण्वपाठोऽधिकप्राचीनः। यतः काण्वस्य नाम ऋग्वेदीयासु प्राचीनर्षिशाखास्वेकस्याः शाखाया नाम। शुक्लयजुर्वेदस्य सम्पूर्णं साहित्यं माध्यन्दिन-

इसी तरह से—'मैत्रायणी उपनिषद् की भाषा भी ब्राह्मणों की भाषा से स्पष्टतः भिन्न है, कारण इसमें पर्याप्त दीर्घ समासों का प्रयोग है, जिनका कि प्रयोग केवल महाकाव्य काल की भाषा में ही पाया जाता है, ब्राह्मणों की भाषा में नहीं' (पृ० ८७) यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि परम्परा से जब यह सिद्ध हो गया कि यह उपनिषद् ग्रन्थ है, तो फिर अन्य किसी हेतु से इसकी सकर्तृकता आदि नहीं सिद्ध हो सकते। प्रसङ्ग के अनुसार भाषा में भिन्नता आ जाती है, यह बात क्या वेद और क्या लोक सभी जगह समान रूप से लागू होती है। इसी प्रकार का—'सुर, यक्ष, उरग, भूतगण इत्यादि का, ग्रहों का और ध्रुवतारा का उल्लेख भी ऐसे युग का सङ्केत देता है, जो ब्राह्मणों से बहुत पहले का है। मगध देश में ही शाक्यमुनि के उपदेश बौद्ध धर्म का स्वागत हुआ था। बौद्धधर्मावलम्बियों में मैत्रेय भावी बुद्ध का नाम है। इसलिये इस उपनिषद् का दर्शन भी बौद्धों के मतों से गहरा सम्पर्क रखता है' (पृ० ८७-८८), किन्तु यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि मुक्तिकोपनिषद् में इसकी गणना उपनिषदों में की गई है और वैदिक सम्प्रदाय में उसका आदर भी है। छान्दोग्य उपनिषद् आदि में असद्वाद का वर्णन मिलता है, नासदीय सूक्त में असद्वाद का निषेध है, अतः यह असद्वाद के नाम से प्रसिद्ध शून्यवाद बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है, ऐसा भी कहा जा सकता है, किन्तु 'जो कुछ हो चुका है, जो होने वाला है। अथवा जो हो रहा है, यह सब कुछ वेद से ही सिद्ध हो जाता है' इस मनुस्मृति के वचन के अनुसार वेद में अतीत, अनागत और वर्तमान सभी वस्तुओं का वर्णन हो सकता है, अतः उसके आधार पर काल का निर्धारण नहीं किया जा सकता। यही बात प्रकृत प्रसङ्ग में भी लागू होती है।

इसी प्रकार— कृष्ण यजुर्वेद के प्रातिशाख्य सूत्र में आत्रेय, कौण्डिन्य आदि का नाम-निर्देश विशेष महत्त्व का है। वाल्मीकि का भी नाम आया है, जो इस सम्बन्ध में विशेष आश्चर्यजनक है। अग्निवेश्यायन, पौष्करसादि सरीखे नाम बौद्ध रचनाओं में बुद्ध के शिष्यों या उनके समकालीन व्यक्तियों के हैं' (पृ० ९२) यह कथन भी व्यर्थ की बकवास मात्र है, क्योंकि ये वैदिक नाम बहुत पहले से चले आ रहे हैं, इन्हीं के अनुकरण कर रक्खे गये ये नाम बुद्धकालीन व्यक्तियों के भी हो सकते हैं। इसमें आश्चर्य की क्या बात है। बौद्ध के शिष्यों के तो कात्यायन आदि नाम भी मिलते हैं।

'शुक्लयजुःसंहिता और ब्राह्मण समग्र रूप से दो विभिन्न पाठों में उपलब्ध होते हैं। इसमें एक पाठ का नाम है काण्व और दूसरे का माध्यन्दिन। सबसे पहले शुक्लयजुःप्रातिशाख्य में इनका उल्लेख है। इनमें काण्व पाठ को अधिक प्राचीन मानना सम्भव

शाखापेक्षया काण्वशाखयैव सम्बद्धं दृश्यते (पृ० ९५)। सामाजिकास्तु माध्यन्दिनीयां शाखामेव वेदं मन्वते, न काण्वशाखाम्। वेबरदृष्टचोभयोः शाखयोः साम्येऽपि भौगोलिको भेदोऽस्ति। वस्तुतस्तु पाश्चात्त्यानां सामाजिकानां च मतमनर्गलमेव। महाभाष्यकारादिदृष्टचा एकशतमध्वर्युशाखा अपि इतरवेदशाखावदनादिवेदरूपा एव।

यत्तु 'मेगस्थनीजस्योद्धरणेन एरियनमहाशयेन 'मादिआन्दिनोई' (ग्रीक) (यस्य देशे अन्धोमती नदी वहति) तादृशी जनताभ्युपगता। एते माध्यन्दिना ज्ञातव्या इति मया परामर्शो दत्तः, तेषां नाम्नैव माध्यन्दिनी शाखा प्रचलति। तत इयं शाखा तदानीमस्तित्वमुपगताऽथवा तदनन्तरमेवोदिता। तथापि नायमसन्दिग्धो विषयः। माध्यन्दिननामप्रयोगो दक्षिणादिग्भवायां जनतायां तादृश्यां शाखायां वा सम्भाव्यते। परन्तु माध्यन्दिनकौथुमा दक्षिणकौथुमा इत्यादीनामुल्लेखो लभ्यते। यथा विनायकेन स्वीयकौषीतकिब्राह्मणभाष्यं माध्यन्दिनकौथुमानुगमिति नाम्नोक्तम्' इति, तदपि निर्मूलम्, 'माडिआण्डिनोई', 'मादिआन्दिनोई' इति पाठयोः क्वचिदपि माध्यन्दिनशाखायामनुपलम्भात्। न चान्यस्थलीयेन नाम्ना माध्यन्दिननाम्नः साम्यं कल्पयितव्यम्, प्रत्यासत्त्यभावात्। अन्यथा यथा 'ईशावास्यम्' (वा० सं० ४०।१) इत्यनेन ईसामहानुभावस्य सम्बन्धः कल्पितः स्यात्, 'अहमन्नाद' इत्यनेन 'अहमद' इत्यस्य च सम्बन्धः कल्पितः स्यात्, तादृगेवोपहासास्पदमेतत्।

यदुक्तम्—'माध्यन्दिनपाठः ३०३ अनुवाकैः १९७५ कण्डिकाभिश्च विभक्तः। प्रथमतः पञ्चविंशत्यध्यायेषु (१-२) पौर्णमास्ययज्ञस्य, (३) प्रातःसायंहोमस्य, चातुर्मास्यारम्भे क्रियमाणस्य यज्ञस्य, (४-८) सोमयज्ञस्य, (९-१०) सोमपरिष्कारयोः, (११-१८) यज्ञाग्न्यर्थं वेदिविधानस्य, (१९-२१) सौत्रामण्याः, (२२-२५) अश्वमेधयज्ञस्य च विधानं वर्णितम्। तत्रापि प्राक्तनैरष्टादशाध्यायैः सहान्तिमाः सप्ताध्यायाः पश्चाद्योजिताः। ततः परं

है, कारण काण्व नाम ऋग्वेद की प्राचीन ऋषि शाखाओं में एक शाखा का नाम है। शुक्ल यजुर्वेद का शेष सम्पूर्ण साहित्य माध्यन्दिन शाखा की अपेक्षा काण्व शाखा से सम्बद्ध प्रतीत होता है' (पृ० ९४-९५) बेवर का यह कथन है। इसके विपरीत आर्यसमाजी माध्यन्दिन शाखा को ही वेद मानते हैं, काण्व शाखा को नहीं। बेवर के मत से इन दोनों शाखाओं में समानता होते हुए भी भौगोलिक भेद है। वास्तव में तो यह पाश्चात्यों और आर्यसमाजियों का मत निराधार है। महाभाष्यकार की दृष्टि में यजुर्वेद की सभी १०१ शाखाएं अन्य वेदों की शाखाओं के समान अनादि वेद रूप हैं।

बेवर आगे लिखते हैं—'मेगस्थनीज का उद्धरण देते हुए एरियन ने मादिआन्दिनोई (ग्रीक) 'जिनके देश से अन्धोमती नदी बहती है' नाम की जनता का उल्लेख किया है और मैंने यह सुझाव देने का साहस किया है कि हमें उन्हें माध्यन्दिन समझना चाहिये, जिनके नाम पर इन शाखाओं में से एक शाखा का नाम पड़ा है। अत एव यह शाखा या तो उस समय अस्तित्व में आ चुकी थी, या उसी समय में अथवा उसके तत्काल बाद ही उसका उदय हुआ। निश्चय ही इस विषय को असंदिग्ध नहीं माना जा सकता, कारण माध्यन्दिन नाम का प्रयोग सामान्यतः किसी दक्षिणी जनता या दक्षिणो शाखा के लिये हो सकता है और वस्तुतः हम माध्यन्दिन कौथुम और दक्षिणी कौथुमों का उल्लेख पाते भी हैं। जैसे कि विनायक ने अपने कौषीतकि-ब्राह्मण भाष्य को 'माध्यन्दिन-कौथुमानुगम्' कहा है' (पृ० ९५-९६ टि० भी) यह सारा कथन भी निर्मूल है, क्योंकि 'माडिआण्डिनोई' और 'मादिआन्दिनोई' ये पाठ माध्यन्दिन शाखा में कहीं नहीं मिलते। दूसरी जगहों में प्रसिद्ध नामों से माध्यन्दिन नाम की तुलना करना ठीक नहीं है, क्योंकि इनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्यथा जैसे कोई 'ईशावास्य' इस मन्त्र में आये ईशा शब्द की ईसामसीह से तुलना करने लगे और 'अहमन्नाद' यहाँ अहमद का सम्बन्ध खोजने लगे, वह व्यक्ति उपहासास्पद बनेगा, उसी तरह से यह कल्पना भी उपहासास्पद क्यों न होगी?

बेवर आगे लिखते हैं—'माध्यन्दिन पाठ में ये ४० अध्याय ३०३ अनुवाकों तथा १९७५ काण्डिकाओं में विभक्त हैं। प्रथमतः २५ अध्यायों में सामान्यतः यज्ञों के लिये मन्त्र और विधियाँ है—पहले (१-२) पौर्णमास्य यज्ञ, तब (३) प्रातः और सायं अग्नि में किये जाने वाले होम और प्रत्येक चातुर्मास्य के आरम्भ में किये जाने वाले यज्ञ, तब (४-८) सामान्य सोम यज्ञ और (९-१०) उसके दो परिष्कार, फिर (११-१८) यज्ञाग्नि के लिये वेदि का निर्माण, तब (१९-२१) सौत्रामणी और अन्त में (२२-२५) अश्वमेध यज्ञ के विधान दिये गये हैं। इनमें अन्तिम सात अध्यायों को पहले के अठारह अध्यायों के साथ बाद में जोड़ा गया माना जा सकता है। किसी

पञ्चदशाध्यायास्तु बहोः कालादनन्तरं योजिताः। शुक्लयजुषोऽनुक्रमण्यां महोधरभाष्ये (२६-३५) षड्विंशमध्यायमारभ्य पञ्चत्रिंशदध्यायं यावत् खिलत्वेनोक्ताः। पश्चाद्योजिता अंशाः खिला उच्यन्ते। षट्त्रिंशमध्यायमारभ्यैकोनचत्वारिंशमध्यायं यावत् चत्वारोऽध्यायाः शुक्रियपदव्यपदेश्याः। तत्रापि (२६-२९) चतुर्ष्वध्यायेषु तानि यजूंषि सन्ति येषां पूर्वोक्तैर्यज्ञैः सम्वन्धः। तानि च यथास्थानं प्रयोक्तव्यानि। इतः परं (३०-३९) पर्यन्तं दशस्वध्यायेषु नितान्तनवीनैर्यज्ञैः सम्बद्धानि यजूंषि। ते च पुरुषमेध-सर्वमेध-पितृमेध-प्रवर्ग्य (प्रायश्चित्तकर्म) रूपाः। अन्तिमाध्यायस्य कथञ्चिदपि यज्ञसम्बन्धो नास्ति। अत्र चिन्तनस्य पर्याप्तविकसितावस्थोपलभ्यते। अत्र विश्वस्य स्वामी ईशोऽभ्युपगम्यते' इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, कात्यायनानुक्रमविरोधात्। 'मण्डलं दक्षिणमक्षि हृदयं चाधिष्ठितं येन शुक्लानि यजूंषि भगवान् याज्ञवल्क्यो यतः प्राप तं विवस्वन्तं त्रयोमयमर्चिष्मन्तमभिध्याय माध्यन्दिनीये वाजसनेयके यजुर्वेदाम्नाये सर्वे सखिले सशुक्रिय ऋषिदैवतछन्दांस्यनुक्रमिष्यामः' इत्यारम्भ एव सर्वेषां शुक्लयजुषां सूर्यात्प्राप्तत्वकथनेन सर्वेषामपौरुषेयत्वोक्तेः। 'इषेत्वादि खंब्रह्मान्तं विवस्वानपश्यत्ततः' (२) इति तत्रैव इषेत्वादि खंब्रह्मान्तस्य सर्वस्यैव माध्यन्दिनपाठस्य विवस्वद्दृष्टत्वोक्तेश्च। ततश्च केषाञ्चिदध्यायानां मन्त्राणां च पश्चाद्योजितत्वादिकथनं प्रमाणविरुद्धमेव। नह्यपौरुषेया वेदाः पर्यनुयोक्तुं शक्यास्तेषामपुरुषतन्त्रत्वात्। अभिप्रायस्तु वैदिकपारम्पर्यैरुपक्रमोपसंहारादिभिश्च तेषामवगन्तुं शक्यः। मन्त्रेषु खिला ब्राह्मणेषु परिशिष्टा न पश्चान्निक्षिप्तत्वाभिप्रायेण, किन्तु भागविशेषाभिप्रायेणैव मन्तव्याः। यथा—'शेषे यजुःशब्दः, (मी० सू०   ), 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (मी० सू०   ) इति। इषे त्वेति प्रारभ्य दर्शपौर्णमासपितृयज्ञाग्निहोत्रोपस्थानपशुचातुर्मास्याग्निष्टोमवाजपेयराजसूयसौत्रामण्यश्वमेधसम्बद्धा मन्त्रा व्याख्याताः। इदानीं खिलान्युच्यन्ते। कुतः खिलत्वमित्यपेक्षायामुक्तम्, क्वचिद्विनियोगानुक्तेः। तत्रैव तेषां विवस्वानपि ऋषिः। आदित्यानीमानि यजूंषि व्याख्यायन्ते' (बृ० ५।५।३३) इति श्रुतेः। याज्ञवल्क्यो

भी स्थिति में यह निश्चित है कि अन्तिम पन्द्रह अध्याय जो उनके बाद आते हैं, बाद के और संभवतः बहुत बाद के काल के हैं। शुक्ल यजुस् की अनुक्रमणी में, जिसके साथ कात्यायन का नाम जुड़ा है, तथा इसके परिशिष्ट में एवं आगे चलकर संहिता पर महोधर के भाष्य में भी अध्याय २६-३५ को स्पष्टतः 'खिल' या बाद में जोड़ा गया अंश कहा है। अध्याय ३६-४० को 'शुक्रिय' कहा गया है। बाद में जोड़े गये इन अध्यायों में प्रथम चार में (२६-२९) ऐसे यजुस् हैं, जो पूर्व के अध्यायों में विवेचित यज्ञों से सम्बन्ध रखते हैं और उन्हें उनमें यथास्थान प्रयुक्त कर लेना चाहिये। इसके आगे के दस अध्यायों (३०-३९) में नितान्त नवीन यज्ञों के यजुस् हैं। ये यज्ञ हैं पुरुषमेध, सर्वमेध, पितृमेध और प्रवर्ग्य (प्रायश्चित कर्म)। अन्तिम अध्याय यज्ञों से किसी भी प्रकार का सीधा सम्बन्ध नहीं रखता। यह चिन्तन की एक पर्याप्त विकसित अवस्था से सम्बद्ध है, क्योंकि यहाँ विश्व का एक स्वामी (ईश) मान्य है' (पृ० ९६-९७), किन्तु यह सारा कथन जब तक इसको तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जाता, तभी तक अच्छा लगता है और कात्यायन की अनुक्रमणी से यहाँ बताये गये क्रम का स्पष्ट विरोध भी है। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के प्रारम्भ में ही शुक्ल यजुर्वेद की सभी शाखाओं की प्राप्ति भगवान् सूर्य से बताई गई है, अतः ये सभी शाखाएँ अपौरुषेय घोषित की गई हैं। बाद में वही 'इषे त्वा' से लेकर 'खं ब्रह्म' पर्यन्त पूरा माध्यन्दिन शाखा का पाठ भगवान् सूर्य के द्वारा परिदृष्ट बताया गया है। इस स्थिति में कुछ अध्यायों और मन्त्रों को बाद का बताना सर्वथा प्रमाण-विरुद्ध है। अपौरुषेय वेद के सम्बन्ध में यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि ऐसा क्यों हुआ, ऐसा क्यों नहीं हुआ, क्योंकि वे पुरुषों के पराधीन नहीं हैं। इनका अभिप्राय भी उपक्रम, उपसंहार प्रभृति षड्विध लिङ्गों के आधार पर ही समझा जा सकता है। मन्त्रों में खिल भाग और ब्राह्मणों में परिशिष्ट भाग बाद में जोड़े गये हों, ऐसी बात इन शब्दों से प्रकट नहीं होती, किन्तु ये उनके विशिष्ट भाग हैं, इतना ही इनका अभिप्राय है। जैसे 'शेषे यजुः शब्दः, शेषे ब्राह्मण शब्दः' इत्यादि सूत्रों में यजुस् अथवा ब्राह्मण परिशिष्ट या परवर्ती के रूप में न होकर वेद के भागविशेष का ही द्योतक है। 'इषे त्वा' इस प्रथम मन्त्र से प्रारम्भ पर इस संहिता में दर्श-पूर्णमास, पितृयज्ञ, अग्निहोत्र, उपस्थान, पशुयाग, चातुर्मास्य याग, अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी और अश्वमेध से सम्बद्ध मन्त्रों का विधान है। इसके बाद कहा गया है कि अब खिलों का वर्णन किया जाता है। इनको खिल क्यों कहा जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में बताया गया है कि इनको खिल इसलिये कहा गया है कि इनका कहीं विनियोग नहीं बताया गया है।

कै ?

वा ऋषिः, 'याज्ञवल्क्येन व्याख्यायन्ते' इति श्रुतेः। शुक्राध्याया अपि न प्रक्षिप्ता न वा पश्चाद् योजिताः, 'दध्यङ् ह वाथर्वणः एतं शुक्रमेतं यज्ञं विदांचकार' (श० १४।१।१।२०) इति श्रुतेः। पाप्मभिरसंस्पृष्टं शोचिष्मत शुक्लं शुक्रमुच्यते। अत एव प्रायश्चित्तकर्मविवेचकत्वात् शोधकत्वात् प्रकाशकत्वाच्च शुक्रियत्वमेतेषामध्यायानां नासङ्गतम्। न तावतापि तेषामर्वाचीनत्वं सिद्धयति। महावीरसम्भरणरूपं प्रवर्ग्यं द्वितीयादिसोमानामङ्गमेव, प्रथमसोमे तन्निषेधात्। तथैवान्तिमाध्यायस्य विश्वस्वामिप्रतिपादकत्वेऽपि नाधुनिकत्वं सिद्धयति। न च चिन्तनस्य विकसितावस्थायामेकेश्वरवादस्य सत्त्वेनाधुनिकत्वं सम्भवतीति विकासवादस्यासिद्धेः। सर्वेशितुः शास्तुर्वचनं शास्त्रमिति सिद्धान्तस्यैव वेदे सर्वत्र दर्शनात्।

यदपि—'यजुर्मन्त्राणां स्वब्राह्मणसम्बन्धेनैतत्तथ्यं प्रमीयते। तैत्तिरीयसंहितायां तान्येव यजूंषि लभ्यन्ते यान्यष्टादशाध्यायेषु लभ्यन्ते। केचिदश्वमेधीयमन्त्रा अपि। अश्वमेधयज्ञसम्बन्धिनः शेषमन्त्राः सौत्रामणीपुरुषमेधमन्त्रैः सार्धं तैत्तिरीयब्राह्मणेन विवेचिताः। सर्वमेधयज्ञस्य प्रायश्चित्तकर्मणां पितृयज्ञानां च मन्त्रास्तैत्तिरीयारण्यके समायान्ति। तथैव शुक्लयजुर्ब्राह्मणे प्रथमाध्यायमारभ्याष्टादशाध्यायपर्यन्तं समागतानां मन्त्राणां पूर्णरूपेण समुद्धरणं शब्दशो व्याख्या च दृश्यते, किन्तु सौत्रामण्यश्वमेधपुरुषमेधसर्वमेधपितृयज्ञानां (१९-३५) षोडशाध्यायगताः कतिचिन्मन्त्राः शतपथब्राह्मणस्य द्वादशत्रयोदशकाण्डयोरुद्धृता दृश्यन्ते। तत्रापि व्याख्यामन्तरैव मन्त्राणामनुवाकानां वारम्भिकशब्दैरेवोद्धरणं दृश्यते। अन्तिमाध्यायात् पूर्वतनानाम् (३७-३९) त्र्यध्यायानां व्याख्या चतुर्दशकाण्डस्यारम्भे कृता दृश्यते। येषां मन्त्राणामारम्भिकशब्दैरेव निर्देशः कृतः, येषां च व्याख्या न कृताः, ते मन्त्राः सामान्यवोधगम्या

यहीं इनका ऋषि विवस्वान् (सूर्य) ही बताया गया है। बृहदारण्यक श्रुति में स्पष्ट बताया गया है कि ये यजुस् आदित्य (सूर्य) से प्राप्त है। अथवा इनका ऋषि याज्ञवल्क्य है, क्योंकि श्रुति में यह भी बताया गया है कि इनका व्याख्यान याज्ञवल्क्य करते हैं। शुक्राध्याय भी न तो प्रक्षिप्त हैं और न बाद में ही जोड़े गये हैं। इसमें 'दध्यङ्' इत्यादि शतपथ श्रुति प्रमाण है। सभी तरह के कलुषों से असंपृक्त प्रकाशयुक्त शुक्ल यजुस् यहाँ 'शुक्र' नाम से अभिहित हैं। इसीलिये प्रायश्चित्त कर्मों के विवेचक, पापों के शोधक, ज्ञान के प्रकाशक इन अध्यायों का नाम शुक्रिय रखना कोई असंगत बात नहीं है और न इतने से इनकी अर्वाचीनता ही सिद्ध हो सकती है। महावीर संभरण रूप प्रवर्ग्य द्वितीयादि सोमों का अङ्ग ही है, क्योंकि प्रथम सोम में वह निषिद्ध है। इसी तरह से अन्तिम अध्याय विश्व के एक स्वामी का प्रतिपादक होते हुए भी आधुनिक (नवीन) नहीं सिद्ध किया जा सकता। चिन्तन की विकसित अवस्था में ही एकेश्वर वाद आता है, यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वयं विकासवाद ही एक असिद्ध कल्पना मात्र है। सबके स्वामी सबके शासक एक भगवान् का वचन ही शास्त्र है, यह एकेश्वर वाद का सिद्धान्त ही सदा से वेद के द्वारा प्रतिपादित है और सर्वत्र मान्य है।

इसके बाद वेबर ने लिखा है—'इन पन्द्रह अध्यायों के परवर्ती काल की रचना होने के ऊपर उल्लिखित बाह्य प्रमाण के अतिरिक्त भी उनकी उत्तरकालीनता उनके कृष्ण यजुस् तथा स्वयं अपने ब्राह्मण के साथ संबन्ध द्वारा और स्वयं इन्हीं में पाये जाने वाले तथ्यों से पर्याप्त रूप से प्रमाणित है। तैत्तिरीय संहिता में केवल वे ही यजुस् मन्त्र आते हैं, जो पहले १८ अध्यायों में पाये जाते हैं। उनके साथ कुछ मन्त्र अश्वमेध यज्ञ के भी हैं। अश्वमेध यज्ञ के शेष मन्त्रों का सौत्रामणी और पुरुषमेध यज्ञ के मन्त्रों के साथ केवल तैत्तिरीय ब्राह्मण ने विवेचन किया है तथा सर्वमेध यज्ञ एवं प्रायश्चित्त कर्मों तथा पितृयज्ञों के मन्त्र केवल तैत्तिरीय आरण्यक में आते हैं। इसी प्रकार शुक्ल यजुस् के ब्राह्मण में प्रथम अठारह अध्यायों का पूर्ण रूप से उद्धरण दिया गया है और उनकी व्याख्या शब्दशः की गई है, किन्तु सौत्रामणी, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध और पितृयज्ञों के कुछ ही मन्त्रों (१९-३५) का उल्लेख बारहवें और तेरहवें अध्यायों में हुआ है और वह भी अधिकांशतः केवल आरम्भिक शब्दों द्वारा अथवा केवल अनुवाकों के प्राथमिक शब्द द्वारा बिना किसी व्याख्या के उनकी उद्धरण दिया गया है। केवल अन्तिम अध्याय के पहले के तीन अध्यायों (३७-३९) की ही चौदहवें अध्याय के आरम्भ में पुनः व्याख्या हुई है। जिन मन्त्रों का केवल आरंभिक शब्दों द्वारा निर्देश कर दिया गया है, उनकी व्याख्या अनावश्यक समझी गई है। संभवतः इसका कारण यह है कि उस समय ये सामान्यतः बोधगम्य थे। अत एव हमें इस बात

मताः। अतो ब्राह्मणरचनाकाले ते मन्त्रास्तेनैव रूपेणासन् यथेदानीमुपलभ्यन्त इत्यत्र किमपि प्रमाणं नोपलभ्यते। येषां च मन्त्राणां ब्राह्मणेषूल्लेखो नास्ति ते ब्राह्मणरचनाकाले मन्त्रसंहितायां न युक्ता आसन्निति कल्पना स्वतः समुदेति—एतादृशा मन्त्रा ऋग्वेदीया अन्ये च ब्राह्मणस्वरूपाः। यथा कृष्णयजुर्वेदीयानि ब्राह्मणानि यानि मन्त्राणां व्याख्यां न कुर्वन्ति यथैकोनविंशेऽध्यायेऽनेकेऽनुच्छेदाः, चतुर्विंशेऽध्याये वाश्वमेधीयबलिपशुसूचकाः, अष्टादशेऽध्यायेऽपि कानिचिद्यजूंषि तादृशानि सन्ति यानि ब्राह्मणं नोल्लिखति, येषां मन्त्राणामनुवाकानां वारम्भिकशब्दानुद्धरति। एवं षोडशे सप्तदशेऽष्टादशे चाध्याये ब्राह्मणानि दृश्यन्ते' इति।

तदपि वैदिकस्वरूपाज्ञानमूलकमेव, अनेकभेदभिन्नानां शाखानामन्यशाखाभिः सर्वथा सारूप्यासम्भवात्। तस्मान्नावश्यं तैत्तिरीयपाठैर्माध्यन्दिनपाठानां सारूप्यमावश्यकम्। मन्त्रा ब्राह्मणानि च वेदा एव। तेन ब्राह्मणं न मन्त्राणां भाष्यं व्याख्यानं वा, किन्तु यथा कर्माङ्गत्वेन व्रीह्यादीनि द्रव्याणि विधाय तत्संस्कारं विधत्ते, तथैव कर्माङ्गत्वेन मन्त्रान् विधाय संस्काररूपेण तद्व्याख्यानं विधत्ते। यज्ञादिकर्मणां विधानं ब्राह्मणेष्वेव विद्यते। तत्र मन्त्राणां द्रव्यदेवतास्मारकत्वेनादृष्टविशेषायैव विधानं भवति। कुत्र केषां विधानं स्यादित्यत्र श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्या एव प्रमाणानि। अत एव क्वचिद् ब्राह्मणमन्तरापि मन्त्रलिङ्गबलादपि मन्त्रविनियोगो भवति। ब्राह्मणं श्रुतित्वात् स्वतः प्रमाणमतोऽपर्यनुयोज्यम्। यथावचनं तु तात्पर्यमवगन्तव्यम्। अन्यथाग्निहोत्रादिकमपि कथं विधीयेत? पाश्चात्त्या अन्ये च प्रत्यक्षानुमानमूलकत्वाच्छब्दानां प्रामाण्यमुपयन्ति न स्वातन्त्र्येण? वैदिकानां तु प्रत्यक्षानुमानमूलकत्वं शब्दानामप्रामाण्यप्रयोजकम्, अनुवादकत्वेनानधिगतगन्तृत्वाभावात्। अज्ञातज्ञापकत्वेनैव प्रमाणानां प्रामाण्यात्।

का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ब्राह्मण के रचयिता के समय में वे मन्त्र उसी रूप में थे, जिस रूप में वे इस समय उपलब्ध होते हैं। इसके विपरीत जहां तक ऐसे मन्त्रों का प्रश्न है, जिनका उल्लेख बिलकुल नहीं किया गया है, यह कल्पना स्वतः ही उत्पन्न होती है कि वे उस समय तक ब्राह्मणों की रचना के समय जो संहिता थी, उसमें जोड़े नहीं गये थे। ऐसे मन्त्र या तो ऋग्वेद से लिये गये थे या ब्राह्मण स्वरूप वाले थे, जो कृष्ण यजुर्वेद के समान अपने पूर्व आने वाले मन्त्रों की व्याख्या नहीं करते। उदाहरण के लिये उन्नीसवें अध्याय के अनेक अनुच्छेद और चौबीसवें अध्याय में अश्वमेध के समय बलिरूप में मारे जाने वाले अनेक पशुओं की सूची। प्रथम अठारह अध्यायों में भी कुछ ऐसे यजुर्मन्त्र हैं, जिनका या तो ब्राह्मण उल्लेख नहीं करता अथवा केवल उनके आरंभिक शब्दों का उद्धरण देता है या केवल अनुवाक के प्रथम शब्द का ही निर्देश देकर उल्लेख करता है, किन्तु ऐसी बात केवल सोलहवें, सत्रहवें, और अठारहवें अध्यायों में देखी जाती है' (पृ० ९७-९८)।

किन्तु यह पूरा कथन भी वैदिक वाङ्मय के स्वरूप को न समझ पाने के कारण ही है, क्योंकि वैदिक शाखाओं में परस्पर अनेक भिन्नतायें हैं, इनकी एक दूसरी शाखा से परस्पर सर्वात्मना कोई समानता नहीं रह सकती। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि तैत्तिरीय शाखा का पाठ माध्यन्दिन शाखा के पाठ से मिलता-जुलता ही हो। मन्त्र और ब्राह्मण दोनों वेद हैं। इसलिये ब्राह्मण मन्त्रों के भाष्य या व्याख्यान नहीं हैं। किन्तु जैसे ये कर्म के अंग के रूप में व्रीहि प्रभृति द्रव्यों का विधान कर उनका संस्कार करते हैं, उसी तरह से कर्म के अंग के रूप में मन्त्रों का विधान कर उनकी व्याख्या भी उनके संस्कार के रूप में ही करते हैं। यज्ञादि कर्मों का विधान ब्राह्मण ग्रन्थों में ही मिलता है। यहाँ मन्त्रों का विनियोग द्रव्य और देवता के स्मारक के रूप में अदृष्ट विशेष की उत्पत्ति के लिये ही होता है। किसका कहाँ विधान होगा, इस विषय में श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या स्वरूप षड्विध लिंग ही प्रमाण है। इसीलिये कभी-कभी ब्राह्मण वाक्यों के अभाव मे भी मन्त्र रूपी लिङ्ग की सामर्थ्य से मन्त्रों का विनियोग किया जाता है। ब्राह्मण स्वयं श्रुति है, अतः वह भी स्वतन्त्र रूप से प्रमाण है। उन पर किसी तरह का आक्षेप नहीं किया जा सकता। उनका तात्पर्य उन्हीं के वचनों के अनुसार समझना चाहिये। अन्यथा अग्निहोत्र प्रभृति कर्मों का विधान कैसे हो सकेगा? पाश्चात्य तथा अन्य विद्वान् प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर ही शब्दों को प्रमाण मानते हैं, स्वतन्त्र रूप से नहीं। इसके विपरीत वैदिक विद्वान् शब्दों की प्रत्यक्ष और अनुमान पर आधारित मान्यता को प्रमाण नहीं मानते, क्योंकि इस परिस्थिति में शब्द

अनधिगताबाधितार्थविषयज्ञानत्वं प्रमात्वमित्येव प्रमालक्षणम्। अत एव श्रोत्राद्यनुपलब्धरूपज्ञापकत्वेनैव चक्षुष उपयोगः। अन्यथा तद्वैयर्थ्यापत्तेः। तदुक्तम्—'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥' (श्लो० वा०) इति।

न च मनुष्याः प्रत्यक्षानुमानागम्यं वस्तु विदन्ति स्वातन्त्र्येण। तस्माच्छ्रोत्रादिव्यतिरिक्तचक्षुरादिवत् प्रत्यक्षानुमानादिव्यतिरिक्तं शब्दप्रमाणमभ्युपेयते। शब्दानां प्रामाण्यं सर्वैरुपेयते। वक्तृदोषादप्रामाण्यं वक्तृगुणाच्च प्रामाण्यम्। वैदिकैस्त्वपौरुषेयत्वात् पुरुषाश्रितदोषदूषितत्वासम्भवेन वैदिकशब्दानां चक्षुरादिवत् स्वतन्त्रं स्वतः प्रामाण्यमुपेयते। अत एव ब्राह्मणरचनाकाले केचिन्मन्त्रा न रचिताः केचिद्रचिता इत्यादिवचनं वैदिकान् प्रति सर्वथा रिक्तमेव, तैर्ब्राह्मणानां मन्त्राणां च रचनानभ्युपगमात्, साध्यहेत्वप्रसिद्धेश्च। न च सर्वे मन्त्राः कर्मार्था एव, येन सर्वेषामवश्यं विनियोगो भवेत्। यतो ह्यकर्मशेषा ब्रह्मपरा अपि मन्त्राः। उपासनाशेषा ब्रह्मयज्ञाद्यर्थाश्चान्ये। तस्मादग्निहोत्रादिषु ब्राह्मणविहितेषु कर्मसु येषां विनियोगो व्याख्यानं चापेक्षितम्, तेषामुद्धरणं व्याख्यानं च ब्राह्मणे युक्तम्। येषां यज्ञेषु विनियोगो नापेक्षितस्तेषां नोद्धरणम्। येषां व्याख्यानसंस्कारनैरपेक्ष्येणैव विधानं तेषां मन्त्राणामनुवाकानां च प्रतीकोद्धरणम्। मन्त्राणां ब्राह्मणेष्वनुद्धरणेऽपि सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वमभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा ब्राह्मणसत्त्वेऽपि किं प्रमाणमिति पर्यनुयोगोऽपि तुल्य एव। यजुर्वेदीयमन्त्रेषु केषाञ्चनार्थवशान्नियताक्षरावसानत्वेन ऋक्त्वेऽपि यजुर्धर्मेण पाठाद् यजुर्वेदत्वमेव। के मन्त्राः कानि ब्राह्मणानीत्यत्र सम्प्रदाय एव शरणम्। अन्यथा त्वदभि-

प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा ज्ञात अर्थ के अनुवादक मात्र रह जाते हैं, अतः उनमें अज्ञात अर्थ की ज्ञापकता रूप प्रामाण्य का बोधक चिह्न नहीं रह जाता। प्रमाणों की प्रामाणिकता यही है कि वे किसी अन्य प्रमाण से अज्ञात वस्तु के बोधक हों। अनधिगत और अबाधित वस्तुविषयक ज्ञान को ही प्रमाण कहा जाता है। इसीलिए श्रोत्र आदि से उपलब्ध न होने वाले रूप के ग्रहण में चक्षुरिन्द्रिय का उपयोग माना जाता है। अन्यथा वह व्यर्थ हो जायगा। जैसा कि कहा गया है—'प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण से जिन स्वर्गादि के साधक उपायों का ज्ञान नहीं हो सकता, उसको वेद से जाना जाता है। इसी में 'वेद' शब्द की सार्थकता है'।

मनुष्य प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रतीत न होने वाली वस्तु का ज्ञान बिना किसी प्रमाण की सहायता के स्वतन्त्र रूप से नहीं प्राप्त कर सकते। इसलिये जैसे श्रोत्र प्रभृति इन्द्रियों से अतिरिक्त रूप को ग्रहण करने वाली चक्षुरिन्द्रिय का अस्तित्व है, उसी तरह से प्रत्यक्ष और अनुमानादि से अतिरिक्त शब्द प्रमाण का भी अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। शब्दों का प्रामाण्य सभी को अभिप्रेत है। वक्ता के दोष से इनमें अप्रामाण्य और वक्ता के गुण के आधार पर ये प्रमाण माने जाते हैं। वेद तो अपौरुषेय है। ये पुरुष में रहने वाले दोषों से दूषित नहीं हो सकते। अतः वैदिक शब्द रूप के ग्रहण में चक्षुरिन्द्रिय के समान स्वतन्त्र रूप से स्वतः प्रमाण माने जाते हैं। इसीलिए ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना के समय कुछ मन्त्र निर्मित हो चुके थे और कुछ नहीं, इस तरह की बातें वैदिकों की दृष्टि से सर्वथा व्यर्थ हैं, क्योंकि वे ब्राह्मणों और मन्त्रों की रचना की बात मानते ही नहीं। न तो यहाँ साध्य ही सिद्ध हो पाता है और न हेतु ही। सभी मन्त्र केवल क्रियाकाण्ड के लिये हैं भी नहीं, जिससे कि सभी का विनियोग अवश्य हो, क्योंकि कुछ मन्त्र ब्रह्मपरक भी हैं, जो कि कर्मांग किसी भी तरह नहीं बनते। इसके अतिरिक्त कुछ मन्त्र उपासना और ब्रह्मयज्ञ आदि के भी अंग हैं। इसलिये ब्राह्मण विहित अग्निहोत्र प्रभृति कर्मों में जिन मन्त्रों का विनियोग होता है, या जिनकी व्याख्या अपेक्षित रहती है, उनका उद्धरण और व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों में मिले यह तो ठीक है, किन्तु जिसका यज्ञों में विनियोग अपेक्षित नहीं है, उनका उद्धरण न मिले इसमें क्या अनौचित्य है? जिनका विधान बिना व्याख्या रूपी संस्कार के ही हो सकता है, उन मन्त्रों और अनुवाकों को प्रतीक रूप में ही उद्धृत कर दिया गया है। जो मन्त्र ब्राह्मणों में उद्धृत नहीं हैं, उनकी भी अविच्छिन्न साम्प्रदायिक परम्परा माननी पड़ेगी और यह भी मानना पड़ेगा कि इनका कर्ता कौन है? इसका अविच्छिन्न परम्परा के रहते भी किसी को ज्ञान नहीं है। अन्यथा यह भी आक्षेप किया जा सकता है कि ब्राह्मण की सत्ता में भी क्या प्रमाण है? यजुर्वेद में आये मन्त्रों में से कुछ का अर्थ के अनुसार नियत अक्षरों में बंधान होने से उनमें ऋक् के लक्षण घटते हैं, तो भी यहाँ उनका पाठ यजुस् की तरह ही होगा और इसलियें ये मन्त्र यजुर्वेद के ही कहे जायेंगे। मन्त्र किसको कहते हैं और ब्राह्मण किसको? इसमें साम्प्रदायिक परम्परा ही प्रमाण

मतमन्त्राणामेव कुतो मन्त्रत्वमिति पर्यनुयोगे तवैव किमुत्तरम् ? इमानि वायविलवाक्यानीत्यत्रापि किं प्रमाणमिति प्रश्नस्य तुल्यत्वात् । विभिन्नशाखीया मन्त्राः स्वतन्त्रा एव, अंशतः प्रत्यभिज्ञानेऽप्यंशतो वैरूप्योपलब्धेः । क्वचित् सारूप्येऽपि सम्प्रदायभेदेन भिन्नत्वात् । 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।' इति मन्त्रे दृष्ट एवात्मनीश्वरे इत्यन्तिमपदभेदेनैव मन्त्रभिन्नत्वाभ्युपगमात् । अत एवान्यतोऽन्यत्रोद्धरणं नाभ्युपेयते, समेषां सम्प्रदायानामनादित्वात् स्वतन्त्रत्वाच्च ।

यदप्युक्तम्—'माध्यन्दिनपाठस्य षोडशाध्याये प्रथमं प्रज्वलिताग्नेर्देवतारूपेण रुद्रस्यानेकानि विशेषणानि । ततः परं तान्येव शिवस्य विशेषणत्वेनोक्तानि, तथापीशान-महादेवेत्येते महत्त्वपूर्णे विशेषणे शिवे न प्रयुक्ते । तयोः पुनरेकोनचत्वारिंशेऽध्याये संकरवर्णने या संख्या दृश्यते, सा षोडशाध्यायगतसंख्याया अप्यधिका दृश्यते । तेनेदं ज्ञायते यत् त्रिंशेऽध्याये या वर्णिताः सङ्करजातयस्तासां सत्त्वं षोडशाध्यायरचनाकाले नासीदिति । संहितायाः षोडशत्रिंशाध्याययो रचनाकालस्य प्रभावः सर्वाधिको दृश्यते । तैत्तिरीयसंहितागतषोडशाध्यायस्य परवर्तिकाल उपनिषत्संज्ञा जाता । शैवानां प्रधानतया नेकविधचौराणां पाटच्चराणां इत्यादिकर्मनिरतानां रात्रौ बम्भ्रम्यमाणानां रुद्रसेवकत्वेन तत्र वर्णनं दृश्यते, तत्राराजकताया हिंसाप्रचुरायाश्चित्रं दृश्यते, भारतीयवर्णसङ्कराणां विवेचनस्य वर्णव्यवस्थाया राजव्यवस्थायाश्च पूर्णविकासकालः सङ्केत्यते । ये वलान्निम्नवर्गेषु पातितास्तेषां प्रबलविरोध-प्रतिरोधमन्तरा वर्णव्यवस्थादीनां संस्थापनं न सम्भाव्यते स्म । एते विरोधाः प्रत्यक्षेण शोषितानां शोषकैः सह प्रकटिताः । सङ्घर्षेण वा व्यक्ताः । तेनैवं निश्चिनुमो यद् रुद्राध्यायस्य तदानीमुत्पत्तिर्जाता यदा आदिवासिभिर्व्रात्यैश्च ब्राह्मणधर्मानङ्गीकर्तृभिरार्यैश्च ब्राह्मणधर्मविरोधे प्रत्यक्षमान्दोलनं कृतम् । पश्चाच्च तेषां विरोधः पदाक्रान्त्या

मानी जायगी । अन्यथा आप जिनको मन्त्र मानते हैं, उनको मन्त्र क्यों कहा जाता है ? इस प्रश्न का आपके पास भी क्या उत्तर है ? ये वाक्य बाइबिल के हैं, इसमें क्या प्रमाण है ? इस प्रश्न को भी उसी तरह से उठाया जा सकता है । विभिन्न शाखाओं के मन्त्र स्वतन्त्र हैं । किसी अंश में ये समान होते हुये भी इनमें पर्याप्त असमानता भी दिखाई पड़ती है । कहीं-कहीं समानता है भी, तो वहाँ भी संप्रदाय की भिन्नता रहती है । 'भिद्यते हृदयग्रन्थि०' इत्यादि मन्त्र में अन्तिम पाद में भेद होने से ही मन्त्र की भिन्नता मानी गई है । इसीलिये वैदिक परम्परा में यह मत मान्य नहीं है कि एक जगह का मन्त्र दूसरी जगह उद्धृत किया गया है, क्योंकि सभी संप्रदाय अनादि भी हैं और एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र भी हैं ।

'वेवर आगे लिखते हैं—'माध्यन्दिन पाठ के सोलहवें अध्याय में प्रज्वलित अग्नि के देवता के रूप में रुद्र को अनेक विशेषण दिये गये हैं, जो आगे चलकर शिव के लिये प्रयुक्त हुए हैं । इनमें दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषणों, ईशान और महादेव, का प्रयोग शिव के लिये नहीं हुआ है । तीसवें अध्याय में संकर वर्णों की जो संख्या दी गई है, वह सोलहवें अध्याय में दी गई संख्या से काफी अधिक है । इससे ज्ञात होता है कि तीसवें अध्याय में जिन संकर वर्णों का उल्लेख किया गया है, उन सभी वर्णों का सोलहवें अध्याय के समय में अस्तित्व नहीं रहा होगा । संहिता के चालीस अध्यायों में सोलहवें और तीसवें अध्यायों पर रचना काल की छाप सर्वाधिक स्पष्ट रूप में पड़ी है । सोलहवां अध्याय, जिसके तैत्तिरीय पाठ को आगे चलकर उपनिषद् कहलाने का तथा शैव धर्म का प्रधान ग्रन्थ होने का सम्मान मिला, रुद्र की स्तुति का विवेचन करता है और अनेक प्रकार के चोरों, लुटेरों, हत्यारों, रात्रि में घूमने वालों और बटमारों की गणना कर, जिन्हें रुद्र का सेवक माना जाता है, यह हमारे संमुख अराजकता और हिंसा के काल का चित्र प्रस्तुत करता है । इसमें उपलब्ध विविध वर्णसंकरों का विवेचन भी यह संकेत देता है कि भारतीय वर्ण तथा राजव्यवस्था का पूर्णतः विकास हो चुका था । इनकी स्थापना उन लोगों के उग्र विरोध का सामना किये बिना नहीं हुई, जिन्हें निम्न कोटि के वर्गों में बलात् ढकेल दिया गया था । ये विरोध प्रत्यक्षतः शोषकों के साथ हुए होंगे या सङ्घर्षों से प्रकट हो चुके होंगे । अतः एव मैं यही मानूंगा कि यह रुद्राध्याय उस समय का है, जब विजित आदिम जातियों तथा व्रात्यों या ब्राह्मण धर्म को न स्वीकार करने वाले आर्यों के आन्दोलन

महर्षि-पाणिनि-आर्ष भारती पुस्तकालय
तिथी......
पु०सं०......
1480

चूर्णिताः । एवंविधस्यातङ्कस्योपद्रवस्य मूर्तरूपायाः प्रत्यक्षदेवतायाः पूजा नितरां स्वाभाविकीति । पुरुषमेधे वलिरूपेण ये विभिन्नवर्गीयाः पुरुषाः समर्प्यत्वेन परिगणितास्ते प्रायेण भारतीयसङ्करजातीया एव । एतेन स्पष्टमिदं ज्ञायते यत्तदानीं ब्राह्मणीया राज्यव्यवस्था पूर्णरूपेण परिपुष्टिमगासीदिति । तत्र कानिचिन्नामान्यतीव रोचकानि । यथा मागधस्य वलिरतिक्रुष्टाय दत्ता । अत्र महीधररीत्या घोरकोलाहलोऽतिक्रुष्टः । मागधशब्दस्य महाकाव्यीयदृष्ट्या चारणोऽर्थो गृह्यते, यश्च क्षत्रियस्त्रियां वैश्याज्जायते । नृत्याय शैलूषमित्यन्तरेण सङ्गतिश्च सङ्गच्छते । यद्यपि तत्पूर्वभाविभिः क्लीव-अयोगू-पुंश्चलूनां तादृशो सङ्गतिर्नास्ति । यद्यपि भरतसङ्गीतविदां नर्तकानां सर्वोच्चसम्मानं कदाचिदपि नासीत्, तथापि मागधशब्दस्यान्यथापि व्याख्यानं सम्भवति । यथाऽथर्वसंहितायां व्रात्यकाण्डे श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागध उक्तः । तथा च निन्दिताचरणस्य चारणस्यैव मागधशब्देन ग्रहणं स्यात् । एवंविधासु स्थितिष्वपि लाट्यायनद्राह्यायणादिसामसूत्रादिरीत्या व्रात्यानां मागधदेशीयब्रह्मवन्धूनां यः सम्वन्ध आसीत् तस्मात्, अथर्वसंहितायां च मगधानां यथाऽनादरेणोल्लेखस्तस्माच्चेदं विज्ञातुं शक्यते यद् व्रात्यकाण्डीयमागधशब्दस्य विधर्मी नास्तिकाचार्योऽर्थः । एतेन मागधपुंश्चलीद्यूतकारादयो न शूद्रा न ब्राह्मणा आसन् । मागधा नास्तिका वौद्धा इत्यर्थः' (पृ० ९९-१०६) इत्यादिकम् ।

तत्सर्वमपि वेदार्थाज्ञान-भारतीयशास्त्र-धर्म-विद्वेषमूलकम्, उभयोरध्याययोर्विषयभेदेन तद्वर्णनभेदस्य युक्तत्वात् । षोडशाध्याये शतरुद्रियाख्यहोममन्त्रा उक्ताः । अथातः शतरुद्रियं जुहोतीत्युपक्रम्य स एषोऽत्राग्निश्चितो बुभुक्षमाणो रुद्ररूपेणावतिष्ठते । तस्य देवैस्तर्पणं कृतम् । अत्र रुद्रपदाभिधेयस्य परमेश्वरस्य सार्वात्म्यं विवक्षितम्, सर्वरूपेण तस्यैव नमस्करणीयत्वात् । त्वदाविष्कृतकुकल्पनावोधकं त्वेकमपि पदं रुद्राध्याये न दृश्यते, व्रात्यादिभिर्ब्राह्मण-

उनके खुले आम विरोध के उपरान्त कुचल दिये गये थे । ऐसे समय में आतंक और उपद्रव के मूर्तरूप में प्रसिद्ध देवता की पूजा नितान्त स्वाभाविक है । पुरुषमेध में बलि के रूप में अर्पित किये जाने वाले विभिन्न वर्गों के पुरुषों को गिनाते हुए तीसवें अध्याय में अधिकांश भारतीय संकर वर्णों के नाम दे दिये गये हैं, जिससे हम स्पष्ट रूप से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उस समय ब्राह्मणीय राजव्यवस्था पूर्णरूप से पुष्ट हो चुकी थी । इनमें दिये गये कुछ नाम विशेष रोचक हैं । उदाहरण के लिये 'मागध' की बलि 'अतिक्रुष्ट' के लिये दी गई है । यदि हम अतिक्रुष्ट का अर्थ 'घोर कोलाहल' लें तो महीधर के अनुसार 'मागध' का महाकाव्यीय अर्थ के सन्दर्भ में 'चारण' अर्थ होगा, जो क्षत्रिया स्त्री से उत्पन्न वैश्य का पुत्र होता था । इसकी पूर्ण संगति इसके तत्काल बाद आने वाली नृत्य के लिये शैलूष की बलि से बैठती है । यद्यपि इसकी सङ्गति इतने उत्तम ढङ्ग से इसके पूर्व आने वाली क्लीब (नपुंसक), अयोगू (जुआड़ी) और पुंश्चालू (वेश्या) की बलियों से नहीं बैठती । यद्यपि भारत में भी संगीतविज्ञों, नर्तकों और गायकों (शैलूष) को कभी भी सर्वोच्च सम्मान नहीं प्राप्त हुआ था, तथापि मागध शब्द को दूसरी व्याख्या भी सम्भव है । अथर्वसंहिता के पन्द्रहवें काण्ड में, जिसे व्रात्यकाण्ड कहते हैं, व्रात्यों का पुंश्चली और मागध के साथ विशेष सम्बन्ध दिखाया गया है । श्रद्धा को पुंश्चली और मित्र को उसका मागध कहा गया है । यहाँ मागध शब्द से निन्दित जीवन व्यतीत करने वाले चारण को ही अभिहित किया गया है । इन सभी स्थितियों के होते हुए भी लाट्यायन और द्राह्यायण के साम-सूत्रों एवं अथर्वसंहिता आदि में मगधों का जिस प्रकार अनादर के साथ उल्लेख किया गया है, इनसे हमें व्रात्यकाण्ड के 'मागध' का विधर्मी या नास्तिक आचार्य का अर्थ लेना होगा । इससे यह स्पष्ट होता है कि मागध, पुंश्चली, द्यूतकार प्रभृति न तो शूद्र थे और न ब्राह्मण ही । 'मागध' शब्द का अर्थ हम नास्तिक (बौद्ध) ले सकते हैं' (पृ० ९९-१०१) ।

यह सारा कथन वेदों का अर्थ ठीक से न समझ पाने के कारण और जान-बूझकर भारतीय शास्त्र और धर्म का विरोध करने की प्रवृत्ति के कारण है, क्योंकि उक्त दोनों अध्यायों का विषय भिन्न है, अतः इनका वर्णन भी भिन्न प्रकार का हो, यह उचित ही है । सोलहवें अध्याय में शतरुद्रिय होम के मन्त्र बताये गये हैं । 'अब शतरुद्रिय होम का अनुष्ठान करता है' इस तरह से उपक्रम करके आगे बताया गया है कि यहाँ जिस अग्नि का चयन किया गया है, वह भूखा होने से रौद्र रूप धारण किये हुए है । उसको देवगण तृप्त करते हैं । यहाँ 'रुद्र' पद से प्रतीत हो रहे परमेश्वर की सर्वात्मकता विवक्षित है, सभी रूपों में केवल वही वन्दनीय है । आपके द्वारा

धर्मसङ्घर्षस्य तत्रानुल्लेखात्। न खलु चौरादिनामनिर्देशमात्रेणाराजकता कल्पयितुं शक्या, समेषां रुद्ररूपत्वेन नमस्करणीयत्वेन वर्णनात्। नहि शोषकाः शासका विरोधिनामान्दोलनकारिणामातङ्कवादिनामान्दोलनविरोधादिसञ्चूर्णनानन्तरं तेभ्यो नमन्ति, न वा नमस्करणीयत्वेन स्तुवन्ति। त्रिंशेऽध्याये तु पुरुषमेधसंज्ञको यज्ञ उक्तः, ब्राह्मणक्षत्रिययोरतिष्ठाकामयोस्तद्विधानात्। सर्वभूतान्यतिक्रम्य स्थितिरतिष्ठा। अत्र त्रयोविंशतिर्दीक्षा भवन्ति द्वादशोपसदः पञ्च सुत्या इति चत्वारिंशद्दिनैः पुरुषमेधः सम्पद्यते। यूपैकादशिनीपक्षे एकादशाग्नीषोमीयाः पशवो भवन्ति, तेषां च प्रतियूपं मध्यमे वा यूपे यथेच्छं नियोजनम्। आज्येन सकृद्गृहीतेन देवसवितरिति प्रत्यृचं तिस्र आहुतीराहवनीये जुहोति। ब्रह्मणे ब्राह्मणमित्यारभ्याध्यायसमाप्तिपर्यन्तं ब्राह्मणादीनष्टचत्वारिंशत्संख्यान् पुरुषान् यूपे नियुनक्ति। अत्र समेषामुत्सर्गो भवति। चतुर्थ्यन्तं देवतापदम्। नात्र सङ्करजातीयानामेव नियोजनम्, ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्य मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रमिति ब्राह्मणादिवर्णानामपि नियोजनदर्शनात्। तत्र ब्रह्मणे देवाय जुष्टमभिरुचितं ब्राह्मणं नियुनज्मि, तथैव क्षत्राय क्षत्रसंज्ञाय देवविशेषाय राजन्यं क्षत्रियम्, मरुद्भ्यो देवेभ्यो वैश्यम्। एवं तपस्तमोनारकपाप्माऽक्रयकामातिक्रुष्टादयोऽपि देवविशेषा एव, तदुद्देश्येनैव तत्तत्पुरुषाणां नियोजनात्। न च तेषां देवत्वे मानाभावः, प्रकृतमन्त्राणामेव तत्र मानत्वात्। नह्यत्र जातिगणना विवक्षिता, अविहितत्वादप्रकृतत्वान्निरर्थकत्वाच्च। यथा षोडशाध्याये मन्त्राणां प्रामाण्यादेव रुद्ररूपेभ्यस्तद्भावापन्नेभ्यस्तेभ्यस्तेभ्यो रुद्रमन्य्विषुबाहुशिवाघोरतनुबाह्वादिभ्यो वञ्चक-स्तायु-तस्करादिभ्यश्च नमनम्, तथैव त्रिंशेऽध्याये तत्तद्देवतोद्देश्येन तेषां तेषां पुरुषाणां नियोजनम्। तत्र वर्गसङ्घर्षविरोधप्रतिरोधादिकल्पनं सर्वथा निर्मूलमेव। यथा ब्राह्मणादिशब्दानां प्रसिद्धा एवार्था गृह्यन्ते, तथैव मागधादिशब्दानामपि लोकशास्त्रप्रसिद्धा एवार्था ग्राह्याः। ततो महीधरेण सम्यगेवोक्तम्—मागधं मगधदेशजं क्षत्रियायां वैश्य-

उठाई गई व्यर्थ की कल्पनाओं का समर्थक तो एक भी पद रुद्राध्याय में नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि वहाँ व्रात्य आदि से ब्राह्मणों के धार्मिक संघर्ष का कोई उल्लेख नहीं है। केवल चोर आदि का नाम आ जाने मात्र से अराजकता की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि ये सब रुद्र के ही रूप हैं, अत एव वन्दनीय हैं, इतनी ही बात वहाँ बताई गई है। शोषण करने वाले शासक विरोधी आन्दोलन करने वालों और आतंक फैलाने वालों के आन्दोलन और विरोध को दबा देने के बाद उनके सामने न तो झुकते हैं और न वन्दनीय के रूप में उनकी स्तुति ही करते हैं। तीसवें अध्याय में पुरुषमेध नामक यज्ञ का वर्णन है, जिसका कि विधान अतिष्ठा की कामना वाले ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिये है। अतिष्ठा शब्द का अर्थ सभी प्राणियों के ऊपर की स्थिति है। २३ दिन की दीक्षा १२ दिन का उपसद और ५ दिन की सुत्या, इस तरह से वह पुरुषमेध ४० दिन में सम्पन्न होता है। एकादश यूप (यज्ञ स्तम्भ) के पक्ष में ग्यारह अग्नीषोमीय पशु होते हैं। इनमें से प्रत्येक का एक-एक यूप में अथवा बीच के यूप में इच्छानुसार नियोजन होता है। एक बार घृत लेकर 'देव सवितः' इस मन्त्र से तीन आहुतियाँ आहवनीय अग्नि में दी जाती हैं। 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' यहाँ से लेकर अध्याय की समाप्ति तक ब्राह्मण प्रभृति अड़तालीस पुरुषों का यूप में नियोजन किया जाता है। यहाँ बाद में उन सबको छोड़ दिया जाता है। चतुर्थ्यन्त पद देवता का बोधक है। यहाँ केवल संकर जातियों का ही नियोजन नहीं किया जाता, अपि तु ब्रह्म के लिये ब्राह्मण का, क्षत्र के लिये राजन्य का, मरुतों के लिये वैश्य का और तप के लिये शूद्र का भी नियोजन विहित है। यहाँ वर्णित तप, तम, पाप्मा आदि भी देवविशेष ही हैं, क्योंकि उन्हीं को उद्दिष्ट कर यहाँ उन-उन पुरुषों का नियोजन विहित है। ये देवता हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रकृत मन्त्र ही इस बात में प्रमाण हैं। यहाँ जातियों की गणना नहीं की गई है, क्योंकि उनका यहाँ न तो कोई विधान है, न प्रकृत में कोई उपयोग ही है और यहाँ उनको कोई प्रयोजन ही है। जैसे सोलहवें अध्याय में मन्त्रों के प्रमाण पर ही रुद्रस्वरूप एवं उन-उन मन्यु (क्रोध), इषु (बाण), बाहु, शिव तनु (शरीर), अघोर तनु, बाहु आदि शिव के विभिन्न भावों और अवयव आदि को तथा वंचक, चोर, तस्कर आदि को नमस्कार किया गया है, उसी तरह से तीसवें अध्याय में भी उस-उस देवता को उद्दिष्ट कर उन-उन पुरुषों का नियोजन किया गया है। यहाँ वर्गों के परस्पर संघर्ष, विरोध, प्रतिरोध आदि की कल्पनाएं सर्वथा निराधार हैं। जैसे ब्राह्मण प्रभृति शब्दों का प्रसिद्ध अर्थ ही यहाँ गृहीत है, उसी तरह से मागध प्रभृति शब्दों का भी लोक और शास्त्र में प्रसिद्ध अर्थ ही किया

पुंसो जातं वा। सङ्गतयोऽप्यत्र मन्त्रानुसारेण ज्ञेयाः, यज्ञादिकर्मणां शास्त्रैकगम्यत्वात्। 'ईशानं मन्युना' (वा० सं० ३९।८), 'महादेवस्य यकृत् (वा० सं० ३९।९) इतीशानमहादेवशब्दयोरपि रुद्रस्यैव वोधकत्वात्। नात्र कश्चिन्नियमोऽस्ति, येन सर्वैर्विशेषणैः सर्वसङ्करनामभिश्चैकत्रैव भाव्यम्, तस्मादेतैर्हेतुभिस्तत्तदध्यायरचनाकालनिर्धारणेनोत्पत्तिसाधनं निरालम्बनमेव, इषेत्वादि खंब्रह्मान्तस्य सर्वस्यैव विवस्वद्दृष्टत्वेनापौरुषेयत्वोक्तेः।

यदपि—'अथर्वणे वन्ध्याया वलिः' इत्यादिकम्, तदपि मोहमूलकमेव, प्रकृते सर्वेषां पशूनामुत्सर्गविधानात्, वधाऽविधानाच्च। त्रिंशाध्यायनिर्माणकालेऽथर्वसूक्तानां विद्यमानत्वसाधनं तु सिद्धसाधनमेव, वैदिकैः समस्तवेदानामपि नित्यत्वेन सर्वदा सत्त्वाभ्युपगमात्।

माध्यन्दिनपाठे 'इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठचाय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा'॥ (वा०सं० १७।१८) इति राज्ञोऽभिषेककाले सर्वनाम्ना निर्देशः। काण्वपाठे तु (१९।३-३) हे कुरवः हे पञ्चाला अयं ते राजा इत्युक्तम्। एतेन कुरुपञ्चालसमृद्धिकाल एवैषां मन्त्राणां निर्माणकालो ज्ञायते। तथैवाश्वमेधयज्ञप्रसङ्गे महिषी काम्पीलवासिन्याः कस्याश्चित्सुभद्राया नाम गृह्णाति—'सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्'(वा० सं० २३।१८) इति। काम्पील इति पञ्चालदेशीयस्य नगरस्य नाम। सुभद्रानाम्नी काचित्तदीयजनपदराज्ञो राज्ञी आसीत्। अश्वमेधकर्तुः पट्टमहिषी कथयति—यद्यहमस्याश्वस्य शयनं नागच्छामि, तदाश्वमेधफलं काम्पीलजनपदराज्ञो भविष्यति। तेन पट्टमहिषी कुरुदेशीयराज्ञः पत्नीति निर्धार्यते। तत्रैवाम्विकाम्वालिकानामनिर्देशोऽपि विधीयते। यदि ते कुरुराज्ञः पत्न्यौ स्यातां तदा महाभारतीयानां धृतराष्ट्रपाण्डवादीनां मातरौ भवेताम्।

जायगा। इस तरह से महीधर ने ठीक ही लिखा है कि मागध शब्द का अर्थ मगध देश में उत्पन्न हुआ अथवा क्षत्रिया स्त्री में वैश्य पुरुष से पैदा हुआ व्यक्ति है। मन्त्र के अनुसार ही इस प्रकरण की सङ्गति बैठानी चाहिये, क्योंकि यज्ञ-यागादि की पद्धति केवल शास्त्र से ही जानी जा सकती है। ईशान और महादेव शब्द भी केवल रुद्र के ही बोधक हैं। यह कोई नियम नहीं है कि किसी देवता के सभी विशेषण या संकर जातियों के सभी नाम एक साथ ही रहने चाहिये। इसलिये इस तरह के हेतुओं की सहायता से उन-उन अध्यायों की रचना का समय निर्धारण करना सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि माध्यन्दिन संहिता के 'इषे त्वा' से लेकर 'खं ब्रह्म' पर्यन्त सभी मन्त्र सूर्य के द्वारा परिदृष्ट होने से अपौरुषेय ही माने जाते हैं।

'वन्ध्या स्त्री की वलि अथर्वन् के लिये बताई गई है' (पृ० १०१) यह कथन भी अज्ञानमूलक ही है, क्योंकि प्रकृत प्रकरण में किसी की वलि नहीं दी जाती, सभी का उत्सर्ग कर दिया जाता है। 'तीसवें अध्याय की रचना के समय अथर्व सूक्तों की सत्ता थी' (पृ० १०२) इस कथन में भी सिद्धसाधन दोष है, क्योंकि वैदिकों को दृष्टि से तो समस्त वेदों को नित्यता के आधार पर उनकी सदा ही सत्ता मानी जाती है।

'आरंभ के अध्यायों में विशेषतः दो ऐसे अंश हैं, जो उनकी रचनाकाल का संकेत करते हैं। इनमें से पहला केवल काण्व पाठ में पाया जाता है और उसमें राजा के अभिषेक के समय का विवेचन है। माध्यन्दिन पाठ में उसका मूल पाठ इस प्रकार है—हे अमुकनामा, यह तुम्हारा राजा है। यहाँ सर्वनाम 'अमी' का ही प्रयोग किया गया है, किन्तु काण्व पाठ में इस प्रकार कहा गया है—हे कुरुओं, हे पंचालों, यह तुम्हारा राजा है। दूसरा अंश अश्वमेध यज्ञ के संबन्ध में आता है। इस कर्म को करने वाली महिषी या राजा की पटरानी कहती है—हे अम्बा, हे अम्बिका, हे अम्बालिका, मुझे बलात् कोई (इस अश्व के पास) नहीं ले जा रहा है, (किन्तु यदि मैं अपनी इच्छा से न जाऊं) तो यह अश्व काम्पील में निवास करने वाली सुभद्रा जैसी किसी दूसरी दुष्ट स्त्री के साथ सोवेगा। काम्पील पंचाल में एक नगर है। अत एव सुभद्रा उस जनपद के राजा की रानी रही होगी और रानी इस कर्म को करने के लिये प्रस्तुत नहीं होती, तो ऐसा माना गया है कि अश्वमेध का फल काम्पील जनपद के राजा को मिलेगा। यदि हम महिषी को कुरु देश के राजा की पत्नी मानें—और अम्बिका तथा अम्बालिका नाम इस संबन्ध में वस्तुतः महाभारत में धृतराष्ट्र और पाण्डु

कुरवः पञ्चालैर्विरुद्ध्यन्ते स्म । तद्वैमनस्यमेव महाभारतीययुद्धरूपेण परिणतम् । तेनायं मन्त्रोऽध्यायो वा तैत्तिरीयब्राह्मणसमकालं पञ्चालदेशे निर्मितः । राजसूययज्ञप्रसङ्गे माध्यन्दिनपाठे (वा० सं० १०।२१) अर्जुनशब्दो लभ्यते, काण्वपाठे फाल्गुनशब्दः । एतेनापि कुरुपाञ्चालेषु प्रसिद्धस्य वीरस्य पार्थस्यैव सूचकावेतौ शब्दाविति विज्ञायते । इन्द्रावतारभूतोऽर्जुन इति मन्त्रयोरनयोः पञ्चालदेशेऽर्जुनोत्पत्त्यनन्तरमेव समुत्पत्तिः कल्पयितुं शक्यते । (पृ० १०२-१०४) इति ।

तदेतत्सर्वमपि कुशकाशावलम्वनमेव, मन्त्रार्थानवगमात्, दुर्भावनामूलत्वाच्च । तथाहि—अभिषेकमन्त्राणां समेषामास्तिकानां क्षत्रियाणां राज्ञामभिषेक उपयुक्तत्वात् सर्वनाम्ना निर्देशो युक्त एव । काण्वपाठे 'कुरवः' इत्यादिप्रजाविशेषनिर्देशस्तूपलक्षणमेव ज्ञातव्यम् । यथा वालकानां बुद्धौ गणिताद्यवताराय आख्यायिकारूपेण व्यक्तिविशेषो वोध्यते, रामनगरनिवासिना रामदत्तेन पञ्चरूप्यकैः सेटकत्रयमन्नं क्रीतं तर्हि लक्षरूप्यकैः कियदन्नं लप्स्यते । अत्र सुखाववोधार्थाख्यायिका न व्यक्तिविशेषवोधपर्यवसायिनीति, तद्वत् प्रकृतेऽपि ज्ञेयम् । तथैव अम्बे अम्बिके अम्बालिके इति सम्वोधनान्यपि पट्टमहिष्यादीनां परस्परकर्तृकाणि, अश्वमेधस्य तत्तदधिकारिकर्तृकत्वेन देशकालव्यक्तिविशेषनिष्ठत्वाभावात् । सुभद्रापदमपि न व्यक्तिविशेषपर्यवसायि, किन्तु सुलक्षणानारीपर्यवसायि । काम्पीलवासिनीपदेनापि सुभगाः सुरूपा विदग्धा विनीता नार्यो लक्ष्यन्ते, तथैवोव्वटमहीधराभ्यां व्याख्यातत्वात् । तथा च हे अम्बे अम्बिके अम्वालिके, न कश्चन मामश्वं प्रति नयति । तर्हि किमर्थं गम्यत इति तत्राह—अश्वकः कुत्सितोऽश्वः प्रजापतिरूपत्वादकुत्सितोऽप्यश्व ईर्ष्यया कुत्सित उच्यते । कुत्सिता सुभद्रा सुभद्रिका सापीर्ष्यया कुत्स्यते । मदगमने तामादाय स सप्तिः

की माताओं के नाम के रूप में आये भी हैं—तो हम संभवतः यह अनुमान कर सकते हैं कि कुरु लोग पंचालों से वैमनस्य रखते थे। संभवतः यह वैमनस्य की भावना उस समय धुआं रही थी, किन्तु महाभारत के महाकाव्यीय आख्यान में युद्ध के रूप में प्रज्वलित होकर भड़क उठी । जो कुछ हो काम्पील का उल्लेख यह प्रदर्शित करता है कि यह मन्त्र या सम्पूर्ण अध्याय (तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण का समरूप अंश) पंचालों के देश में रचा गया । राजसूय यज्ञ के प्रसंग में माध्यन्दिन पाठ में 'अर्जुन' शब्द तथा काण्व पाठ में 'फाल्गुन' शब्द मिलता है । इससे भी कुरु-पंचालों में प्रसिद्ध वीर के सूचक ही ये शब्द हैं, ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है । यह संबन्ध इस तथ्य से भी सिद्ध है कि आख्यान में इन्द्र के इन नामों का प्रयोग पाण्डवों के प्रधान वीर के लिये किया गया है, जिसे प्रमुख रूप से इन्द्र का अंश माना गया है । अतः यह कहा जा सकता है कि पंचाल देश में अर्जुन की उत्पत्ति के बाद ही इन मन्त्रों की रचना हुई' (पृ० १०२-१०४) ।

यह सारा कथन भी कुश और काश का सहारा लेने के समान है, क्योंकि वेवर न तो मन्त्रों का अर्थ ही ठीक से समझ पाये हैं और साथ ही भारतीय शास्त्रों के प्रति द्वेष की भावना भी इसकी जड़ में है । अभिषेक-मन्त्रों का सभी आस्तिक क्षत्रिय राजाओं के अभिषेक के समय उपयोग होता है, अतः यहाँ सर्वनाम शब्द का प्रयोग उचित ही है । काण्व पाठ में कुरु देश की प्रजा का विशेष रूप से उल्लेख विषय को सरलता से समझाने के लिये है । जैसे बच्चों को गणित समझाने के लिए व्यक्तिविशेष से संबद्ध कहानी गढ़ ली जाती है कि रामनगर के रहने वाले रामदत्त ने पाँच रुपये से तीन सेर अन्न खरीदा तो बताओ कि एक लाख रुपये से कितना अन्न खरीदा जायगा । यहाँ यह कहानी विषय को सरलता से समझाने के लिये है, इससे रामनगर या रामदत्त की सत्ता नहीं मानी जाती, उसी तरह से प्रकृत में भी समझना चाहिये । अम्बे, अम्बिके, अम्बालिके ये संबोधन भी राजाओं की पटरानियों के लिए परस्पर वार्तालाप के लिये प्रयुक्त हैं । अश्वमेध यज्ञ को अधिकारी राजा करते रहे हैं, अतः इनका भी किसी देश या काल के व्यक्ति से कोई संवन्ध नहीं बन पाता । सुभद्रा पद भी यहाँ किसी व्यक्तिविशेष का बोधक न होकर सुलक्षणा नारी के लिये प्रयुक्त है । 'काम्पील वासिनी' इस पद से भी सौभाग्यशालिनी, सुन्दर, चतुर और विनयशील नारी का बोध होता है । उव्वट और महीधर ने यही व्याख्या की है । ऊपर उद्धृत मन्त्र का वास्तविक अभिप्राय यह है—हे अम्बे, हे अम्बिके, हे अम्बालिके, मुझे कोई जबरदस्ती घोड़े के पास नहीं ले जाता । तव तुम क्यों उसके पास जाती हो? इसीलिये कि यह कुत्सित घोड़ा, घोड़ा यद्यपि प्रजापति का प्रतीक है, तो भी ईर्ष्या से भरा होने से वह कुत्सित कहलाता है, और कुत्सित सुभद्रा, इसको भी ईर्ष्या से भरी होने से कुत्सित कहा गया

शेते शयिष्यते । कीदृशीं काम्पीलवासिनीम् । काम्पीलनगरे वसतीति काम्पीलवासिनी तां तत्रत्यानां नारीणां वैदग्ध्यसौरूप्यसौभाग्यविनम्रत्वादिभिः प्राशस्त्यप्रसिद्धेः । यथा शिक्षायां रङ्गप्रयोगे सौराष्ट्रनारी उदाह्रियते, कविताः कामिन्यश्च काश्मीरत्वेन प्रशस्यन्ते तद्वत् । अश्वमेधीयः प्रजापतिरूपोऽश्वः पतिरूपेणोपास्यते, यथा शालग्रामो विष्णुर्बुद्धयते, अनुरागातिशयेन स सेव्य इति बहुवल्लभत्वकल्पनया स च सा च कुत्स्यते । सर्वमेतद्भावनामयं न बाह्यम्, अश्वस्य बाह्यदृष्टया मृतत्वात् । अतः पञ्चालदेशीया सुभद्रिका तज्जनपदीयस्यैकस्य राज्ञो महिषी कुरुराजपत्नी च पट्टमहिषी कुरुपञ्चालानां च विरोध इत्यादिकल्पनं मौर्ख्यमेव, यज्ञफलस्य यजमानगामित्वेन तदसम्भवात् ।

यदप्युक्तम्—'सुभद्रा पञ्चालानां प्रतिनिधिभूतस्यार्जुनस्य पत्नी, यस्या अपहरणकारणान्महायुद्धमेकमभूत्' इत्यादिकं तदपि निर्मूलम्, अर्जुनस्य कुरुवंशीयत्वे पञ्चालप्रतिनिधित्वासिद्धेः । सुभद्रापि न पञ्चालसम्बद्धा न वा काम्पीलसम्बन्धिनी, किन्तु वृष्णिवंशीययोर्हरिहलधरयोर्भगिनी । न च तत्सम्बन्धे महायुद्धमासीत्, द्रौपद्याः पाञ्चालीत्वेऽपि न सुभद्रेति नाम । काम्पीलशब्देन श्लक्ष्णो वस्त्रविशेष उच्यत इति सायणोक्तिरपि युक्तैव । तेन शोभनवस्त्रावृता सुभगा सुरूपा विदग्धा विनीता नारी काम्पीलवासिनी सुभद्रेति व्याख्यानं युक्तमेव । महीधरस्तु काण्वसंहितासायणभाष्यमनुसृत्यैव भाष्यं करोति ।

यत्तु—'राजसूयप्रसङ्गे माध्यन्दिनकाण्वपाठयोरर्जुनफाल्गुननामनिर्देशादर्जुनादर्वाचीनत्वमस्य मन्त्रस्य सिद्धयति' इति, तदपि तुच्छम्, वशिष्ठविश्वामित्रादिवदर्जुनफाल्गुनादिपदस्यापि जातिवाचकत्वेन स्थानवाचकत्वेन वा वेदानादित्वाक्षतेः । अत एव—'अर्जुनो ह वै नामेन्द्रः' (श० ५।४।३।७) इति श्रुतौ 'पारीक्षितो ह वै' इत्यादि-

है, मेरे न जाने पर उस सुभद्रा को लेकर सो जायगा । कैसी सुभद्रा ? काम्पीलवासिनी । काम्पील नगर में निवास करने वाली । इस नगर की स्त्रियों के लिए यह प्रसिद्ध है कि वे बड़ी चतुर, सुन्दर, सौभाग्यशालिनी और विनम्र होती हैं । जैसे कि शिक्षा और अभिनय के प्रसंग में सौराष्ट्र देश की नारियों की प्रशंसा की जाती है, कविता और कामिनी काश्मीर देश की बहुत प्रसिद्ध है, उसी तरह से यहाँ भी समझना चाहिये । अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा प्रजापति का स्वरूप है, उसकी यहाँ पति के रूप में उपासना की जाती है, जैसे कि शालग्राम को विष्णु का प्रतिनिधि मान उसकी उपासना की जाती है । अत्यन्त अनुराग के साथ उसकी सेवा करनी चाहिये । यहाँ अनेक प्रेमियों की कल्पना कर उस अश्व की और महारानी की निन्दा भी की जाती है, किन्तु यह सब भावनामय है, ऊपरी दिखावा मात्र है, क्योंकि बाह्य दृष्टि से यह घोड़ा बलि दे देने से मर चुका होता है । इस तरह से व्याख्या करने पर पाश्चात्यों की यह कल्पना कि सुभद्रिका पंचाल देश की रानी का नाम है, कुरु जनपद के किसी राजा की पट्टमहिषी उसका उल्लेख कर रही है, इससे यह प्रतीत होता है कुरुओं और पंचालों में परस्पर विरोध था, सर्वथा उनकी मूर्खता को उजागर करती है । यज्ञ का फल तो यजमान को मिलता है, अतः यहाँ यह कल्पना ही नहीं उठ सकती कि अश्वमेघ का फल दूसरे जनपद के राजा को मिल जायगा ।

यह भी कहा गया है कि—'महाभारत में सुभद्रा पंचालों के प्रतिनिधि अर्जुन की पत्नी है, एक सुभद्रा के कारण (संभवतः महाभारत में वर्णित उसके अपहरण के कारण ?) एक महायुद्ध हुआ' (पृ० १०३ टि०), किन्तु यह कथन भी सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि अर्जुन कुरुवंश का है, यह किसी तरह सिद्ध नहीं हो सकता कि यह पंचालों का प्रतिनिधि था । सुभद्रा भी न तो पंचालों से संबद्ध है और न काम्पील नगर की रहने वाली ही है, क्योंकि वह तो वृष्णिवंश के कृष्ण और बलदेव की बहिन है । सुभद्रा को लेकर कोई महायुद्ध हुआ भी नहीं था । द्रौपदी यद्यपि पंचाल देश की है, किन्तु उसका नाम सुभद्रा नहीं है । काम्पील शब्द से चिकने वस्त्र का बोध होता है । सायण की यह व्याख्या ठीक ही है । अतः सुन्दर वस्त्र पहिने हुए सौभाग्यशालिनी सुन्दर रूप वाली चतुर नारी को काम्पीलवासिनी सुभद्रा कहा जाय, यह उचित ही है । महीधर ने भी काण्वसंहिता के सायण भाष्य की सहायता से ही अपने भाष्य की रचना की है ।

'राजसूय यज्ञ के एक मन्त्र में माध्यन्दिन पाठ में अर्जुन शब्द तथा काण्व पाठ में फाल्गुन शब्द मिलता है, अतः यह मन्त्र अर्जुन से अर्वाचीन काल का सिद्ध होता है' (पृ० १०३) यह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि वसिष्ठ, विश्वामित्र प्रभृति शब्दों की तरह अर्जुन, फाल्गुन प्रभृति शब्द भी या तो जाति के वाचक हैं या स्थान के, अतः वेदों की अनादिता के ऊपर कोई आक्षेप नहीं उठाया जा

श्रुतौ च पारीक्षितजनमेजयस्यापि जातिस्थानवाचकत्वेन न क्षतिः। अन्यथा—इन्द्रवरुणादिनामभिरपि व्यक्तिविशेषवोध्यत्वेऽनादित्वभङ्गप्रसङ्गेन 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' (मी० सू० १।१।५) इति न्यायविरोधापत्तेः। सम्पूर्णोऽयं मन्त्रः—'इन्द्रस्य वज्रोऽसि मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रो प्रशिषा युनज्मि। अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वारिष्टो अर्जुनो मरुता प्रसवेन जयापाम मनसा समिन्द्रियेण॥' (वा० सं० १०।२१) इति। हे रथ! त्वमिन्द्रस्य वज्रोऽसि। युनक्ति रथदेवत्यं प्रशास्त्रोर्मित्रावरुणयोर्देवयोः प्रशिषा प्रशासनेन हे रथ त्वां युनज्मि योजयामि। अरिष्टोऽनुपहिंसितः, अर्जुनोऽर्जुनतुल्य इन्द्र इत्यर्थः। अर्जुनो ह वै नामेन्द्रः। एवं भूतोऽहं हे रथ, त्वा त्वामव्यथायै अभयाय अचलनाय स्वधायै अन्नरसाय च त्वामधितिष्ठामि।

यत्तु—'शतपथसम्वन्धे पाणिनिकात्यायनाभ्यामुल्लेखेन कालनिर्धारणम्, तदप्यसङ्गतम्, मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति कात्यायनोक्तरीत्या शतपथब्राह्मणस्यापि नित्यत्वाभ्युपगमात्। शताध्यायात्मकत्वेन शतपथत्वं माध्यन्दिनकाण्वसम्वन्धिनोरुभयोरपि। यदपि—प्रथमनवकाण्डानां प्राचीनत्वमन्तिमपञ्चकाण्डानां पश्चाद्भावित्वम्। महाभारते (१२।११७।३४) शतपथे एकं रहस्यं (१०) काण्डम्, एकः सङ्ग्रहः (११) एकः परिशेषः (१२।१३।१४) इत्युल्लेखात् शतपथसम्वन्धे कात्यायनवार्त्तिके षष्टिपथनामोल्लेखाच्च षष्टिपथप्रयोगो नवकाण्डाभिप्रायेणैव द्रष्टव्यः, तत्र षष्टयध्यायोपलब्धेः। द्वादशस्य काण्डस्य मध्यमेतिनामनिर्देशान्मध्यमपदं तदैव स्वारस्यं भजेत यद्यस्य मध्यवर्तित्वं स्यात्, यदि वान्तिमात् पूर्वेषां त्रयाणां मध्यवर्तित्वं स्यात् पञ्चकाण्डमध्यवर्तित्वं वा स्यात्' (पृ० १०७) इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, तथात्वेऽपि पञ्चकाण्डानामर्वाचीनत्वानुपपत्तेः। कयाचिद् व्यपेक्षया कस्यचित् काण्डस्य मन्त्रस्य वा मध्यवर्तित्वेऽपि येषामपेक्षया मध्यमत्वं तेषां पाश्चात्त्यत्वानुपपत्तेः।

सकता। इसी तरह से शतपथ श्रुति में भी अर्जुन, पारीक्षित जनमेजय प्रभृति नाम भी जातिवाचक अथवा स्थानवाचक ही हैं। ऐसा न मानने पर इन्द्र, वरुण प्रभृति नामों को भी व्यक्तिपरक मानना पड़ जायगा और वेदों की अनादिता का तथा शब्द और अर्थ के संबन्ध को नित्य मानने वाले मीमांसक मत का भी विरोध हो जायगा। 'इन्द्रस्य' इत्यादि मन्त्र का शास्त्रसंमत अर्थ इस तरह से है—हे रथ! तुम इन्द्र के वज्र हो। इतना कह कर देवताबुद्धि से उसको जोतता है—मित्र और वरुण नामक सब प्राणियों के प्रशासक देवताओं की आज्ञा के अनुसार हे रथ! मैं तुमको जोतता हूँ, तुम मुझे किसी तरह की हानि मत पहुँचाओ और अर्जुन अर्थात् इन्द्र के समान अर्थात् इन्द्र के वज्र के समान तुम दृढ़ रहो। यहाँ अर्जुन इन्द्र का पर्यायवाची है। हे रथ! मैं भी इन्द्र के तुल्य बनकर, तुमको किसी तरह का कष्ट न हो, तुमसे किसी तरह का भय न हो और अन्न और रस की प्राप्ति निरन्तर होती रहे, इस अभिप्राय से तुम पर चढ़ता हूँ।

आगे पाणिनि और कात्यायन के आधार पर शतपथ ब्राह्मण के रचनाकाल के निर्धारण का प्रयत्न किया गया है (पृ० १०५), किन्तु यह भी असंगत कल्पना है, क्योंकि कात्यायन के मत के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं, अतः शतपथ ब्राह्मण भी वेद होने के नाते नित्य एवं अनादि है। माध्यन्दिन और काण्व शाखा के ब्राह्मण में सौ अध्याय होने से इन दोनों को ही शतपथ कहा जाता है। यह भी कहा गया है कि—'इसके प्रथम नौ काण्ड सर्वाधिक प्राचीन हैं और इसके विपरीत अन्तिम पाँच काण्डों की उत्पत्ति बाद के समय की है। महाभारत के एक उल्लेख में यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण शतपथ में एक रहस्य (दसवाँ काण्ड) एक संग्रह (ग्यारहवाँ काण्ड) और एक परिशेष (१२-१४ काण्ड) है। शतपथ नाम के संबन्ध में ऊपर उद्धृत वार्तिक में भी हम एक रचना का नाम 'षष्टिपथ' पाते हैं और मुझे इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि यह नाम प्रथम नौ काण्डों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिनमें कुल मिलाकर ६० अध्याय हैं। यहाँ बारहवें काण्ड का 'मध्यम' नाम तभी सार्थक कहा जा सकता है, जब हम इसे अन्तिम कांड के पहले के तीन कांडों का या सभी पाँचों कांडों का मध्यवर्ती मानें' (पृ० १०७), किन्तु यह कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि ऐसा होने पर भी पाँच काण्डों की अर्वाचीनता नहीं सिद्ध होती। किसी दृष्टि से किसी काण्ड या मन्त्र के मध्यवर्ती होने पर भी जिनकी अपेक्षा से इनमें मध्यम होने की बात कही जाती है, उनको बाद का नहीं माना जा सकता।

यत्तु—'पञ्चस्वपि काण्डेषु क्रमेण पूर्ववर्तिकाण्डापेक्षयोत्तरवर्तिनामल्पप्राचीनत्वं दशमस्य काण्डस्य पूर्ववर्तिभिः काण्डैर्घनिष्टः सम्वन्धः, यतोऽत्राग्निचयनसम्वन्धिप्रमुखाचार्यस्य शाण्डिल्यस्य वहु सम्मानं प्रदर्शितम्। (१,५) इत्यादिषु ततः पूर्वतनेषु काण्डेषु प्रदर्शितानां यज्ञानामुचितक्रमेण परिगणनं कृतं तेषां चाग्निचयनक्रियानुरूपतोक्ता। तेषु येषामाचार्याणां नामोल्लेखस्तेषां नाम्नामन्ते 'आयन'शब्दो योजितः। एतादृशोदाहरणं सप्तमे अष्टमे नवमे च काण्डे एकवारमेव केवलमायाति' (पृ० १०८) इत्यादिकम्, तदपि न क्षोदक्षमम्, सर्वत्रापि ग्रन्थेषु पौर्वापर्यस्य घनिष्ठसम्वन्धस्याभ्युपगमात्। अपौरुषेयेष्वपि ग्रन्थेषु व्याख्यानव्याख्येयभावो न विरुद्धचते। तथैव पौर्वापर्यविरोधात्। यथा नित्येष्वपि द्रव्येषु द्रव्यत्वस्य गुणप्रयुक्तत्वं न विरुध्यते, तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्। केन केन पुरुषेण कस्मिन् युगे कस्मिन् कल्पे कस्मिन् मासे कस्यां तिथौ के ग्रन्थाः का मन्त्रसंहिताः कानि ब्राह्मणानि रचितानि कैश्च साक्षिभिस्तत्सर्वं दृष्टं त्वया च तत्कथं ज्ञातमित्येतेषां प्रश्नानां समाधानमन्तरा सम्भावनामात्रेण रचनाकालासिद्धेः। नानाविधानि चाख्यानानि सुखाववोधार्थानि सम्भवन्ति। तत्र काल्पनिक(गल्प)कथासु नानाविधानि देशकालवस्तून्यतीतानागतवर्तमानानि चीयन्ते। कश्चित्तद्ग्रन्थस्य निर्माणकालनिर्धारकाणि मन्यते, अपरस्तु तेषामाख्यानानां काल्पनिकत्वेन तानि तदक्षमाणि मन्यते। कानिचिदैतिहासिकान्यप्याख्यानान्यनैतिहासिकानि मन्यते। पाश्चात्त्याः स्वार्थसिद्धयेऽनैतिहासिकान्यप्यैतिहासिकत्वेन वर्णयन्ति। वेदादिग्रन्थेषु वेदानां नित्यत्वानादित्वबोधकानि वचनानि सन्ति, तान्यसम्भवान्नाभ्युपगच्छन्ति। अन्यत्र सम्भावनयापि हेत्वाभासै रचनाकालमनुमिन्वन्ति। तेन शाण्डिल्यं प्रति सम्मानप्रदर्शनं रौहिणायन-सामकायन-वामकक्षायण-राजस्तम्बायन-शाण्डिल्यायन-शाटचायनिप्रभृतिनामग्रहणं च न शतपथीयकाण्डानां कालभेदसाधकं सम्भवति।

'पाचों काण्डों में से प्रत्येक काण्ड क्रमानुसार अपने पूर्ववर्ती काण्ड से कम प्राचीन है। दसवां काण्ड अब भी अपने पूर्ववर्ती काण्डों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। विशेषतः इसलिये कि इसमें अग्निचयन कर्म के प्रमुख मान्य आचार्य शाण्डिल्य के प्रति बहुत सम्मान दिखाया गया है। १।५।१ इत्यादि में इसके पूर्व के काण्डों में विवेचित सभी यज्ञों को उनके उचित क्रम में गिनाया गया है और उन्हें अग्निचयन की अनेक क्रियाओं के अनुरूप बनाया गया है। इसमें जिन आचार्यों के नामों का उल्लेख किया गया है, उनमें अनेक नामों के अन्त में 'आयन' आता है। इस प्रकार के प्रत्यय का उदाहरण हम सातवें, आठवें और नवें काण्डों में क्रमशः केवल एक बार पाते हैं' (पृ० १०८) यह सारा कथन भी तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता, क्योंकि सभी ग्रन्थों में पूर्वापर प्रकरणों का घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। अपौरुषेय ग्रन्थों में भी कुछ अंश व्याख्यानात्मक हों और कुछ अंश व्याख्येय हों, इसमें कोई विरोध नहीं हो सकता। इसी तरह से पौर्वापर्य भाव में भी कोई विरोध क्यों होगा? जैसे नित्य द्रव्यों में भी द्रव्यत्व गुणों के कारण होने में भी कोई विरोध नहीं है, उसी तरह से प्रकृत में भी समझना चाहिये। किन-किन पुरुषों ने किस-किस युग में, किस कल्प, किस मास, किस तिथि में किन किन ग्रन्थों को, मन्त्र संहिताओं को, ब्राह्मण ग्रन्थों को बनाया, किन्होंने उनको बनाते हुए देखा और आपको यह कैसे मालूम हुआ, इन प्रश्नों का समाधान किये बिना केवल सम्भावना मात्र से रचना काल का निर्णय नहीं किया जा सकता। सरलता से किसी विषय को समझाने के लिये कथाएं होती हैं। यहाँ गल्प-कथाओं में भी भांति-भांति की विभिन्न देश और काल की वस्तुओं का वर्णन मिलता है। इनको कोई उस ग्रन्थ के निर्माण का समय निश्चित करने में सहायक मानता है, इसके विपरीत दूसरे के मत से ये अपनी काल्पनिकता के कारण असमर्थ माने जाते हैं। कुछ स्पष्ट रूप से ऐतिहासिक प्रतीत हो रहे आख्यान अनैतिहासिक माने जाते हैं। पाश्चात्य विद्वान् अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये इन सबके विपरीत अनैतिहासिक स्थलों को भी ऐतिहासिक सिद्ध करने लगते हैं। वेद प्रभृति ग्रन्थों में वेद की नित्यता, अनादिता को बताने वाले वचन उपलब्ध हैं। उनको ये पाश्चात्य लोग असंभव बात कह कर अस्वीकार कर देते हैं। इसके विपरीत केवल संभावना के आधार पर कुतर्कों से वेदों को रचना का समय निश्चित करने लगते हैं। इस तरह से शाण्डिल्य के प्रति सम्मान दिखाने मात्र से और रौहिणायन, सामकायन, वामकक्षायण, राजस्तम्बायन, शाण्डिल्यायन और शाट्यायनि प्रभृति नामों के आ जाने से शतपथब्राह्मण के काण्डों की रचना भिन्न-भिन्न समय में हुई, यह नहीं सिद्ध किया जा सकता।

यदप्यस्य ग्रन्थस्य याज्ञवल्क्येन सम्बन्धं योजयित्वा शाण्डिल्येन तुरकावषेयेण सम्बन्धो योजितः (यस्य पूर्वजः कवषः सरस्वत्यास्तटे यज्ञं कुर्वन्नुल्लिखित ऐतरेये), 'अत्र यासां जातीनामुल्लेखस्ताः सल्वाः केकयाः सन्ति। विशेषतो यासां राजाश्वपतिः। एतासां पाश्चात्त्यजातीनामितः पूर्वं ब्राह्मणेषूल्लेखो नासीत्। अस्मिन् काण्डे परस्ताच्च काण्डेष्वाख्यानान्यधिकांशत ऐतिहासिकानि' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, तत्र कानिचिदनैतिहासिकान्याख्यानानीति त्वयाप्यभ्युपगमात्। अस्माभिस्तु सर्वाणि तान्यनैतिहासिकान्येवाङ्गीक्रियन्ते, अनादिवेदघटनापूर्वकस्याख्यानस्योल्लेखासम्भवात्। क्वचिदनुल्लेखस्तु न तदानीमसत्त्वे तन्त्रम्, अनुपयोगादपि तत्सम्भवात्।

यदपि—'कानिचिदाख्यानानि तादृशैराचार्यैः सम्बद्धानि ये चाख्यानसमयान्नातिप्राग्भवाः। पूर्वेषु काण्डेषु कल्पनाप्रधानानि पुराकथोपेतानि प्रायेणाख्यानानि लभ्यन्ते, यद्वाऽतिप्राचीनकालिकीर्घटनाः सङ्केतयन्ति' इति, तत्तु न नः प्रतिकूलम्, समेषामाख्यानानामस्माभिस्तथैवाभिप्रायाभ्युपगमात्। काश्चिद् घटनास्तु वैदिकशब्दानुसारं घटमाना अपि न निवार्यन्ते। यदपि—'अत्रैव ऋक्सामयजुषामपि बहुधा विवेचनम् अध्वर्यु-बह्वृच-छन्दोगोपनिषद्-मीमांसादीनां सर्वप्रथमोल्लेखः' इति, तदपि न किञ्चित्, कालनिर्धारणमन्तरापि प्राथम्याप्राथम्यनिर्णयासम्भवात्। यदपि—'एकादशं काण्डं नवकाण्डानां परिशिष्टरूपम्' इति, तदपि तथैव, समासव्यासाभ्यां वर्णनस्यानादौ वेदेऽपि सम्भवात्। यथा महाभारतस्य खिलांशो हरिवंशः, यथा वा ऋग्वेदे ऋक्परिशिष्टा यजुर्वेदे च खिलाध्यायास्तथैव ब्राह्मणेष्वपि परिशिष्टानां सम्भवात्! यथा आधुनिकेषु ग्रन्थेषु मूलानि परिशिष्टानि चैकस्मिन्नेव वर्षे एकेनैव पुरुषेण निर्मातुं शक्यन्ते, तथैवानादिषु वेदेष्वपि मूलानि परिशिष्टानि च न न सम्भाव्यन्ते।

यह भी कहा गया है—'इस ग्रन्थ का सम्बन्ध याज्ञवल्क्य से न जोड़कर शाण्डिल्य और तुरकावषेय से जोड़ा गया है (जिसके पूर्वज कवष को हम ऐतरेय ब्राह्मण में सरस्वती के तट पर यज्ञ करते हुए उल्लिखित पाते हैं)। एक मात्र जिन जातियों का उल्लेख किया गया है, वे हैं सल्व और केकय (विशेषतः उनके राजा अश्वपति केकय)। ये दोनों ऐसी पश्चिमी जातियां हैं, जिनका उल्लेख अन्यत्र ब्राह्मणों में नहीं हुआ है। इस काण्ड में तथा आगे के चार काण्डों में आख्यान प्रायः अधिकांशतः ऐतिहासिक हैं' (पृ० १०९)। किन्तु यह भी कुछ सिद्ध नहीं कर पाता, क्योंकि यह आपने भी मान लिया है कि इनमें से कुछ आख्यानों का ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। हम तो सभी आख्यानों को अनैतिहासिक ही मानते हैं, क्योंकि अनादि वेद में किसी घटी हुई घटना के आधार पर बना हुआ कोई आख्यान विद्यमान हो, ऐसा माना ही नहीं जा सकता। कहीं किसी बात का उल्लेख न हो तो उस समय उसकी सत्ता का अभाव नहीं सिद्ध किया जा सकता। ऐसा इस लिये भी हो सकता है कि यहाँ उसका कोई उपयोग न हो।

आगे कहा गया है—कुछ आख्यान ऐसे आचार्यों से सम्बद्ध हैं, जो स्वयं आख्यानों के समय से बहुत पहले नहीं हुए होंगे। इसके विपरीत इसके पहले के काण्डों में आख्यान अधिकांशतः कल्पना-प्रधान पुरा-कथा के रूप में हैं या यदि ऐतिहासिक हैं तो वे प्रमुख रूप से बहुत प्राचीन काल की घटना का सङ्केत करते हैं' (पृ० १०९)। यह कथन हमारे मत से अधिक प्रतिकूल नहीं है, क्योंकि इन आख्यानों का अभिप्राय हमारे मत से यही है। कुछ घटनाएं वैदिक साहित्य में वर्णित घटनाओं के समान घटित हुई हों, इसमें क्या आपत्ति हो सकती? किन्तु यह जो कहा गया है—'यहीं त्रयी विद्या (ऋक्, साम और यजुस्) का अनेकशः विशेष ढङ्ग से विवेचन किया गया है। इसी में सर्वप्रथम अध्वर्यु, बह्वृच और छन्दोग नाम एक साथ आते हैं और उपनिषद्, मीमांसा प्रभृति शब्द भी सर्वप्रथम पाये जाते हैं' (पृ० १०९)। यह बात एकदम व्यर्थ है, क्योंकि काल का निर्धारण हुए बिना क्या पहले का है और क्या बाद का, यह नहीं जाना जा सकता। 'ग्यारहवां कांड प्रथम नो काण्डों का परिशिष्ट है' (पृ० १०९) यह कथन भी उसी तरह का है, क्योंकि वेद भी किसी विषय का एक जगह संक्षेप में और दूसरी जगह विस्तार से वर्णन हो सकता है। जैसे महाभारत का खिल भाग हरिवंश है, ऋग्वेद में परिशिष्ट हैं और यजुर्वेद में भी खिल अध्याय हैं, उसी तरह से ब्राह्मणों में भी परिशिष्ट भाग हो, इसमें क्या आपत्ति है? जैसे आजकल के ग्रन्थों में मूल और परिशिष्टों का निर्माण एक ही समय में एक ही व्यक्ति करता है, उसी तरह से अनादि वेद में भी मूल और परिशिष्ट दोनों की सत्ता अवश्य मानी जा सकती है।

यदपि च—ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽनुशासनं विद्या वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं नाराशंसी गाथा अत्रोपदिष्टाः। चतुर्दशे काण्डे ईदृशा विषया उपलभ्यन्ते। वाकोवाक्यमित्येकवारं सप्तमे काण्डे इतिहासशब्द एकधा एकादशे काण्डे। तत्र पुराणनाराशंसीशब्दौ नोपलभ्येते। तत्स्थाने तत्राख्यानव्याख्यानशब्दा उपलभ्यन्ते। एतत्कथनानीदं प्रमाणयन्ति यदेकादशकाण्डरचनासमये विविधवेदानामनेकाः संहिता ब्राह्मणानि अथर्वसंहिता च विद्यमानान्यासन्निति, तदपि पिष्टपेषणप्रायम्, दत्तोत्तरत्वात्। नित्यसिद्धस्य शतपथस्य याज्ञवल्क्येन सूर्यादुपलब्धत्वात्तत्र पूर्वोक्तनाम्नामुपलब्धौ बाधाभावात्। सर्वज्ञकल्पा ऋषयस्ते च ऋतम्भरायाः प्रज्ञाया वैशारद्यादतीतानागतादि सर्वं ज्ञातुं वर्णयितुं च प्रभवन्ति। ईश्वरे तद्विज्ञानानुविद्धेषु वेदेषु चातीतानागतादिवर्णने का नामासम्भावना? योगिनां ज्ञानापेक्षया ज्ञेयमात्रमल्पं सम्पद्यते। तथात्वेऽपि च न केषाञ्चिद्वर्णने तेषामविज्ञानं तेषां वस्तूनां वाऽविद्यमानत्वं सिद्धयति, वस्तूनां सत्त्वेऽपि ज्ञातॄणां तज्ज्ञानसत्त्वेऽपि हेत्वन्तरैरवर्णनोपपत्तेः।

यदपि—'प्रथमकाण्डेषु तदेतदृषिणाभ्यनूक्तमिति तत्तद्विषयप्रकाशनाय मन्त्रा उद्ध्रियन्ते, एकादशे च तत्, एतत्, उक्तम्, प्रत्युक्तम्, पञ्चदशर्चम्, बह्वृचाः प्राहुः—इति विशिष्टोद्धरणमुपलभ्यते। इदमुद्धरणमेकस्य अन्यस्य सूक्तस्य यस्यैभिः शब्दैः प्रारम्भो भवति तद् एतत् उक्तं प्रत्युक्तं पञ्चदशर्चं बह्वृचाः प्राहुः। आलोचकानां कृते रोचकमिदं तथ्यं यदस्मदीये ऋग्वेदपाठेऽस्मिन् सूक्ते (१०।५) न पञ्चदश मन्त्राः, किन्त्वष्टादश। पुष्टचर्थमेकः श्लोक उद्ध्रियते—यथा जनमेजयस्य प्रासादेऽश्वेषु दीयमानं विशेषध्यानं लोकोक्तिविषयत्वमुपगतम्। अस्य राज्ञः सर्वप्रथमोल्लेखोऽप्यत्रैव दृश्यते। अत्र सर्वप्रथमं रुद्रे महादेवशब्दः प्रयुक्तः। (५।३।५, ३।३।२)। प्रथमवारं ब्रह्मचारिभिक्षाया विशेषनियमाः। अस्याः प्रथाया अतिरिक्तोल्लेखः। (५।१८) संहितायामुल्लेखः। अस्य काण्डस्य रचनाकालप्रकाशक-

इसी तरह से—'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस्, अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास-पुराण, नाराशंसी और गाथा यहाँ उपदिष्ट है। इसी प्रकार की गणना चौदहवें काण्ड में भी मिलती है। इसी प्रकार शास्त्रीय विवाद के अर्थ में 'वाकोवाक्य' सातवें काण्ड में आया है और इतिहास शब्द कम से कम एक बार स्वयं ग्यारहवें काण्ड में आया है। पुराण और नाराशंसी शब्द नहीं मिलते, जनके स्थान पर कथा के अर्थ में आख्यान, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, उपाख्यान शब्द आये हैं। इन कथनों से हमें यह प्रमाण मिलता है कि इस ग्यारहवें काण्ड की रचना के समय विविध वेदों की कतिपय संहिताएं और ब्राह्मण तथा स्वयं अथर्वसंहिता भी विद्यमान थीं' (पृ० १०९-११०) यह कथन भी पिष्टपेषण मात्र है। इसका उत्तर दिया जा चुका है। नित्य सिद्ध शतपथ ब्राह्मण को याज्ञवल्क्य ने सूर्य से प्राप्त किया था। इसमें इस तरह के नाम विद्यमान हों, इसमें आपत्ति की क्या बात है? ऋषि सर्वज्ञ ईश्वर के तुल्य होते हैं। अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा की सहायता से ये अतीत और अनागत की सभी घटनाओं का वर्णन कर सकते हैं। तब ईश्वर और ईश्वर के विज्ञान से भरे वेदों में अतीत और अनागत घटनाओं का वर्णन हो तो इसमें क्या आश्चर्य की बात हो सकती हैं? योगियों के ज्ञान की अपेक्षा ज्ञेय पदार्थों की ही कमी पड़ जाती है। ऐसा होने पर भी यदि उन्होंने कुछ का वर्णन नहीं किया तो इससे वे अज्ञानी नहीं माने जा सकते, अथवा न उन वस्तुओं का अभाव ही सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि वस्तुओं की सत्ता के रहते हुए भी, उनका ज्ञान रहते हुए भी, एक या दूसरे कारण से उनका वर्णन न किया जाय, इसमें कोई बेतुकापन नहीं दिखाई पड़ता।

'यहाँ भी पहले के काण्डों की तरह ही कई बार 'तदेतदृषिणाभ्युक्तम्' इस वाक्य के बाद उस-उस विषय के प्रकाशक मन्त्र उद्धृत किये गये हैं। ग्यारहवें काण्ड में एक विशिष्ट उद्धरण भी मिलता है। यह उद्धरण एक दूसरे सूक्त का है और इन शब्दों से प्रारम्भ होता है—'तदेतदुक्तप्रत्युक्तं पञ्चदशर्चं बह्वृचाः प्राहुः'। आलोचक के लिये यह एक रोचक तथ्य है कि हमारे ऋग्वेद के पाठ में इस सूक्त में पन्द्रह नहीं, अपि तु अठारह मन्त्र हैं। पुष्टि के लिये अकेले श्लोकों का भी प्रायः उद्धरण दिया गया है। इनमें एक श्लोक से यह पता चलता है कि जनमेजय के प्रासाद में घोड़ों पर जो विशेष ध्यान दिया जाता था, वह एक लोकोक्ति बन गया था। इस राजा का सर्वप्रथम उल्लेख भी यहीं पाया जाता है। इसी में सर्वप्रथम रुद्र को महादेव नाम दिया गया है। यहीं पहली बार 'ब्रह्मचारिन्' आदि की भिक्षा के विषय में विशेष नियम दिये गये हैं। इस प्रथा का उल्लेख संहिता के ३० वें अध्याय में किया गया है। किन्तु

मत्रेदं तथ्यं याज्ञवल्क्याश्रयदातृत्वेन विदेहसम्राजो जनकस्य सर्वप्रथमवर्णनम्' इति, तदेतदपि न किञ्चित्, दत्तोत्तरत्वात् । वेदे कुत्रापि प्राथम्याप्राथम्यवर्णनासम्भवात् । 'तद् एतत्…… पञ्चदशर्चं वह्वृचाः प्राहुः' इत्युद्धरणमपि नास्यार्वाचीनत्वसाधकम् । यथा लौकिकेषु ग्रन्थेषु क्वचिदन्यादृशं क्वचित्तद्विलक्षणं चोद्धरणमेकवारमनेकवारं वाऽनियतं दृश्यते, तथैव वेदेऽपि तत्सत्त्वे तदनादित्वाव्याघातात् । यदि शाकलीसंहितायामेतत्सूक्तमष्टादशर्चं न पञ्चदशर्चं तदान्यस्यां वाह्वृच्यां संहितायामीदृशं पञ्चदशर्चं सूक्तं भविष्यतीति कल्पयितुं शक्यते, महाभाष्यकारैः 'एकविंशतिधा वाह्वृच्यम्' इति प्रोक्तत्वात् । कात्यायनसूत्रेष्वनुपलब्धशाखीयमन्त्राणामपि सूचनात् । जैमिनिनापि 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (मी० सू० १।३।५) इति प्रत्यक्षश्रुत्यविरोधे स्मृतीनामनुमितश्रुतिमूलकत्वाभ्युपगमात् ।

यदपि—'द्वादशे काण्डे सृञ्जयानां राज्यविनाशोल्लेखो द्वितीये च सृञ्जयानां समृद्धिदशायां कुरुभिः सम्बन्ध उक्तः, इहापि स सम्बन्धो दृश्यते । कौरव्य-वाह्लीक-प्रातिपेयैस्तदीयशत्रोश्चरकस्य विरोधेन तदीयः पक्षो जिघृक्षितः, किन्तु तत्प्रयत्नो वैफल्यमगात्' इति, तदपि न किञ्चित्, कथञ्चित्तद्वर्णनेऽपि न ग्रन्थस्य तदनन्तरभावित्वं सिद्धयति, लौकिकदृष्टया कथञ्चिदैतिहासिकवर्णनस्यापि वेददृष्टया आख्यायिकामात्रत्वात् । यदपि—'वार्कलिनाकमौद्गल्ययोरुल्लेखोऽपि समयसूचकः, बृहदारण्यकतैत्तिरीयोपनिषद्भ्यामन्यत्रानुपलम्भात्' इति, तदपि नोचितम्, तस्यातन्त्रत्वात् । यदपि—'वासिष्ठेभ्यः कस्याश्चित्क्रियायाः रहस्यमिन्द्रेणोपदिष्टमासीत्, तेन तस्याः सम्पादने वासिष्ठानामेव ब्रह्मत्वं भवति स्म । पश्चात् कश्चिदपि तदधीत्य ब्रह्मत्वं कर्तुं क्षमो भवति स्म' इति, तदपि न किञ्चित्,

ग्यारहवें काण्ड के समय पर जो बात विशेष प्रकाश डालती है, वह है पहली बार और अनेक बार विदेह के सम्राट् जनक का याज्ञवल्क्य के आश्रयदाता के रूप में उल्लेख'। (पृ० ११०-१११)। यह सब भी व्यर्थ की बातें है, इन सबका उत्तर दिया जा चुका है। वेद में कभी यह पहले का है और यह बाद का, इस तरह का वर्णन नहीं हो सकता। बह्वृच (ऋग्वेदी) के मत से पन्द्रह ऋचाओं के सूक्त की बात भी इसकी अर्वाचीनता को नहीं सिद्ध कर पाते। जैसे लौकिक ग्रन्थों में कहीं एकसा और कहीं उससे विलक्षण उद्धरण एक बार या अनेक बार किसी नियम के बिना उपलब्ध हो जाता है, उसी तरह से वेद में भी इस तरह की स्थिति रहने पर भी उसकी अनादिता में कोई बाधा नहीं पहुँचती। यदि शाकली संहिता में यह सूक्त १८ ऋचाओं का है, पन्द्रह का नहीं है, तो इससे यह कल्पना करने में कोई बाधा नहीं है कि ऋग्वेद कि किसी दूसरी शाखा में यह सूक्त १५ ऋचाओं का रहा होगा। महाभाष्यकार ने ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं का उल्लेख किया है। कात्यायन श्रौतसूत्र में अनुपलब्ध शाखाओं के मन्त्रों की भी सूचना मिलती है। जैमिनि ने भी 'विरोधे' इत्यादि सूत्र में यह प्रदर्शित किया है कि किसी स्मृतिवचन का प्रत्यक्ष श्रुति से विरोध प्रतीत हो तो उसकी आधारभूत श्रुति की अनुमान के सहारे कल्पना करनी पड़ती है।

यह कथन भी—'बारहवें काण्ड में सृञ्जयों के राज्य के विनाश का उल्लेख किया गया है। दूसरे काण्ड में सृञ्जयों को समृद्धि की चोटी पर तथा कुरुओं से सम्बद्ध बताया गया है। यह सम्बन्ध यहाँ भी देखा जा सकता है, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि कौरव्य वाह्लीक प्रातिपेय ने उनका पक्ष उनके शत्रु चरक के विरुद्ध लेना चाहा था जो रेवा के उत्तर के देश का निवासी और दशपुरुष राज्य के राजा दुष्टरीतु का पुरोहित था, किन्तु उनके प्रयत्न विफल हो गये थे' (पृ० १११), व्यर्थ की बकवास मात्र है, क्योंकि यहाँ इन सबका वर्णन हुआ है, ऐसा मान लेने पर भी उक्त ग्रन्थ इन वर्णित घटनाओं के बाद का है, यह सिद्ध नहीं हो सकता। लौकिक दृष्टि से किसी तरह से ऐसे स्थलों में इतिहासात्मक वर्णन मान भी लिया जा सकता है, किन्तु वैदिक दृष्टि से तो इन तरह की घटनाएं कल्पित आख्यायिकाओं के समान ही मानी जाती है। इसी तरह से—'वार्कलि (अर्थात् वाष्कलि) और नाक मौद्गल्य नाम भी संभवतः एक बाद के समय की ओर संकेत करते हैं। नाक मौद्गल्य नाम बृहदारण्यक और तैत्तिरीयोपनिषद् के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता' (पृ० १११) यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि कहीं किसी का नाम होने न होने से कुछ सिद्ध नहीं हो सकता। 'इन्द्र द्वारा एक बार वासिष्ठों को बताई गई एक क्रिया पहले केवल वासिष्ठों को ज्ञात थी, जिसके कारण पहले इस यज्ञ क्रिया के संपादन के समय केवल वासिष्ठ ही ब्रह्मन् हो सकता था, अब इच्छानुसार कोई भी उसका अध्ययन कर सकता था और उसके संपादन के समय 'ब्रह्मन्'

यथा पञ्चाग्निविद्या पूर्वं क्षत्रियाणामेवासीत् पश्चादुद्दालकोऽश्वपतेस्तां जग्राहेतिवत्तथा सत्त्वेऽपि विद्याया नित्यत्वे वाधाभावात् । ब्राह्मणे तु दौर्लभ्यसूचनद्वारा तत्प्रशंसार्थमर्थवादरूपेण वर्णनात् ।

यदपि—'पुरुषनारायणस्यात्र प्रथमं नामोपलम्भः । प्रीतिकौशाम्बेयकौसुरिविन्दिनामनिर्देशात् पाञ्चालानां कौशाम्वीनगरस्य ततः पूर्वं निर्माणं कल्प्यते । त्रयोदशे काण्डे पुरुषनारायणस्योल्लेखः, ऋचां सूक्तानि यजुषामनुवाकाः साम्नां दशतानि अथर्वाङ्गिरसां पर्वाणि सर्पविद्या देवजनविद्या प्रथमोल्लिखितास्तेनेयं भिन्ना रचना' इति, तदपि तथाविधमेव, वेदेऽतीतानागतवर्तमानवस्तूनां वर्णनस्य सुखाववोधार्थाख्यायिकारूपेण वर्णनेऽपि रचनाकालविशेषयोरसिद्धेः । 'तस्योक्तो वन्धुः', 'तस्योक्तं ब्राह्मणम्' इत्यादिनिर्देशवैलक्षण्येनापि न किञ्चित्सिद्धयति । आधुनिकलेखेष्वपि लेखकेच्छया लेखानां सालक्षण्यवैलक्षण्ययोरुपलम्भेन कर्तृ-काल-भेदव्यभिचारात् ।

यदपि—'अत्रैतिहासिकमहत्त्वपूर्णा गाथाः सर्वाधिकसंख्ययोपलभ्यन्ते । यैः पूर्वमश्वमेधयज्ञा अनुष्ठितास्तेषां राज्ञामश्वमेधवर्णनान्ते नामान्युक्तानि । तेष्वेका—'अस्माकमत्र पितरस्त आसन् सप्त ऋषयो दौर्गहे वध्यमाने । त आयजन्त त्रसद्दस्युमस्या इन्द्रं न वृत्रतुरमर्धदेवम् ।।' (ऋ० सं० ४।४२।८), 'पुरुकुसत्स्य महिषी दौग्रहे वन्धनस्थिते । पत्यावराजकं दृष्ट्वा राष्ट्रं पुत्रस्य लिप्सया ।। यदृच्छया समायातान् सप्तर्षीन् पर्यपूजयत् । ते च प्रीताः पुनः प्रोचुर्यजेन्द्रावरुणौ भृशम् ।। सा चेन्द्रावरुणाविष्ट्वा त्रसद्दस्युमजीजनत् । इतिहासमिमं जाननृषिर्व्रतऋचाविह ।।' अस्माकमत्राराजके देशेऽस्यां पृथिव्यां पितरः पालका उत्पादका ते अभवन्(ये)एते सप्त ऋषयः प्रसिद्धाः । दुर्गहस्य पुत्रे दौर्गहे

ऋत्विक् का कार्य कर सकता था' (पृ० १११) यह कथन भी कुछ सिद्ध नहीं कर पाता, क्योंकि जैसे पंचाग्निविद्या पहले क्षत्रियों के ही पास थी, बाद में अश्वपति से उद्दालक ने उसको प्राप्त किया, ऐसा माने जाने पर भी विद्या की नित्यता में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती, वैसी ही स्थिति यहाँ भी समझनी चाहिये । ब्राह्मण में इस बात का उल्लेख इसकी दुर्लभता को बताने और इस तरह अर्थवाद द्वारा उसकी प्रशंसा करने के लिये किया गया है ।

बेवर ने आगे लिखा है—'यहाँ पुरुष नारायण का पहली बार नाम आया है । प्रीति कौशाम्बेय कौसुकविन्दि के नाम से भी संभवतः पंचालों की नगरी कौशाम्बी के इसके पहले बसे होने का संकेत मिलता है । तेरहवाँ काण्ड 'पुरुषनारायण' का अनेकशः उल्लेख करता है । इसमें ऋक् के सूक्तों, यजुस् के अनुवाकों, सामन् के दशतों और आथर्वण तथा अङ्गिरस के पर्वों का पहली बार नाम पाते हैं । सर्पविद्या और देवयजनविद्या के संवन्ध में भी पर्वों के विभाजन का वर्णन है । इसलिये किसी भी दशा में इन नामों द्वारा एक भिन्न रचना समझनी चाहिये' (पृ० १११) यह कथन भी वैसा ही है, क्योंकि वेद में अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुओं का वर्णन विषय को सरलता से समझाने के लिये कल्पित कथाओं के समान होने से इससे इनकी रचना का कोई विशेष काल निर्धारित नहीं किया जा सकता । 'तस्योक्तो बन्धुः', 'तस्योक्तं ब्राह्मणम्' (पृ० ११२) इस तरह से विलक्षण उल्लेखों से भी कुछ सिद्ध नहीं हो पाता, क्योंकि आधुनिक लेखों में भी लेखक की इच्छा के अनसार कहीं समानता और कहीं विलक्षणता रहती है, इससे उसके कर्ता और समय की भिन्नता नहीं मान ली जाती ।

'इस काण्ड की एक अनोखी विशेषता यह है कि इसमें ऐतिहासिक महत्त्व को गाथायें सबसे अधिक संख्या में आई हैं । ये गाथाएँ अश्वमेध वर्णन के अन्त में उद्धृत हैं और उनमें उन राजाओं के नाम दिये हैं, जिन्होंने प्राचीन काल में अश्वमेध यज्ञ किया था । इनमें से केवल एक गाथा ऋक् संहिता में मिलती है । 'अस्माकमत्र' इस ऋचा का प्रसंग और अर्थ इस प्रकार है—दौर्ग्रही पुरुकुत्स की महिषी ने अपने पति को जब पाशों में बंधा हुआ देखा और देखा कि इससे राष्ट्र में अराजकता फैल रही है तो उसने पुत्र-प्राप्ति की कामना से अकस्मात् चले आये सप्तर्षियों का पूजन किया । इस सत्कार से प्रसन्न हो सप्तर्षियों ने उससे कहा कि तुम इन्द्र और वरुण का यजन करो । तब इन्द्र और वरुण का यजन कर उसने त्रसदस्यु नामक पुत्र प्राप्त किया । इस इतिहास के जानकार व्रत इस ऋचा के ऋषि हैं । इस मन्त्र में महिषी कहती है—हमारे इस अराजकता से भरे राष्ट्र में इस पृथ्वी को उत्पन्न करने वाले और पालन करने वाले के रूप में सप्तर्षिगण प्रसिद्ध हैं । दुर्ग्रह के पुत्र पुरुकुत्स के पाशों से मजबूती से बंध जाने पर उन्होंने

पुरुकुत्से वध्यमाने दृढं पाशैर्यस्माद् अस्यै पुरुकुत्सान्यै त्रसद्दस्युमायजन्त प्रादुरिन्द्रावरुणयोरनुग्रहात् कोदृशं तं वृत्रतुरं वृत्रस्य शत्रोर्दरन्तारमर्धदेवं देवानां समोपे वर्तमानं यद्वा देवानामर्वभूतमिन्द्रं न इन्द्रमिव स्थितं पुत्रं दत्तवन्त इति तदर्थः । तथैवैतरेयस्यान्तिमे ब्राह्मणे महाभारते (१२।९।१०) इति स्थले च ता गाथा उपलभ्यन्ते । तस्मादेता गाथाः प्रलम्बमानसूक्तानामंशाः स्फुटश्लोकरूपा वा भवन्तु, ऐतिहासिकाः पुरुषा अत्रोपवर्णिताः' (पृ० ११२) इति, तदपि न चारु, ऐतिहासिकवस्तूनामपि सुखाववोधार्थमाख्यायिकारूपेण प्रयोगसम्भवात् । द्रष्टॄणां पठितॄणां वा दृष्टचा तेषामैतिहासिकत्वेऽपि नित्यश्रुतिदृष्टचा आख्यायिकानतिरेकात् । वेदानामनादित्वेन वैदिकशब्देषु प्राचीनत्वनवीनत्वव्यवस्थाप्यध्येतृदृष्टचैव मन्तव्या ।

यत्तु—'प्रशस्तिसूचकान्यतिशयोक्तिपूर्णानि वाक्यानि यानि तेषां राज्ञां सम्बन्धे दृश्यन्ते तेषामुत्पत्तिरपि तत्र वर्णितानां राज्ञां समय एव मन्तव्याः, तस्याः स्थितेर्व्याख्यानं विषममेव' इति, तदपि न किञ्चित्, आधुनिककाव्येष्वतिप्राचीननायकादिवर्णनेऽपि प्राशस्त्यादिपूर्णवाक्यनिर्माणादर्शनेन व्यभिचारात् । यदपि दुष्यन्त-शकुन्तला-भरत-काशिराज-धृतराष्ट्र- शतानीक -सात्राजित-पुरुकुत्स-ऐक्ष्वाक-हैरण्यगर्भ- कौशल्य-जनमेजय- पारीक्षित-भीमसेन-उग्रसेन- श्रुतसेनप्रभृतीनां वर्णनमत्र काण्डे दृश्यते, इन्द्रोतो दैवापः शौनको यो महाभारतेऽपि (१२।५५।९५) तत्पुरोहितत्वेन वर्णितः' (पृ० ११३) इति, तदपि न किञ्चित्, नित्यत्ववोधकश्रुतिस्मृतिप्रामाण्यादनादो वेदे सर्वाणि नामानि घटना इतिवृत्तानि च सर्वथाख्यायिकारूपेणैव मन्तव्यानि । यथा 'ववरः प्रावाहणिरकामयत' इत्येकस्य घटनाद्युल्लेखस्य समाधानं तथैव घटनासहस्रस्यापि तदेव समाधानम्, 'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि । बालाग्रशतभागोऽपि न प्रमाणं विना क्वचित् ।।' इत्युक्तेः । इन्द्रोतः शौनको यस्य पुरोहित आसीत् स पारीक्षित जनमेजयो भोष्मादपि प्राचोन

कृपा कर पुरुकुत्स को पत्नी को इन्द्र और वरुण का अनुग्रह प्राप्त कर पुत्र प्राप्ति का आशोर्वाद दिया है कि तुम्हारा वह पुत्र इन्द्र के समान अपने शत्रुओं का नाश करने वाला होगा और वह देवताओं के समीप भो जा सकेगा अथवा इसका यह भी अर्थ किया जा सकता है कि वह पुत्र आधे देवता अर्थात् इन्द्र के समान पराक्रमी होगा । अधिकांश गाथाएँ ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम ब्राह्मण में और महाभारत आदि में आई हुई हैं और दोनों स्थलों पर इनमें कई पाठान्तर हैं । इन गाथाओं को अधिक लम्बे सूक्तों का अंश मानें या उन्हें केवल स्फुट स्मरणीय श्लोक मानें, यह स्पष्ट है कि यहाँ ऐतिहासिक पुरुषों का वर्णन किया गया है' (पृ० ११२) यह कथन भी ठोक नहीं है, क्योंकि ऐतिहासिक वस्तुओं का भी सरलता से विषय को समझाने वालो कथा के रूप में उपयोग हो सकता है । इनको देखने वालों और पढ़ने वालों को ये घटनाएँ ऐतिहासिक प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु नित्य वेद की दृष्टि में ये केवल कल्पित कथाएँ ही मानो जाती हैं । वेद तो अनादि हैं, अतः वैदिक शब्दों में प्राचीन और नवीन व्यवस्था अध्येताओं के प्राचीन और नवीन होने से ही वन पाती है ।

'उन राजाओं के प्रशस्तिसूचक वाक्य भी नितान्त अतिशयोक्ति पूर्ण है, अत एव हमें अंशतः उनकी उत्पत्ति उनमें वर्णित राजाओं के समय में माननी होगो, अन्यथा इस स्थिति की सरलता से व्याख्या नहीं की जा सकती' (पृ० ११२-११३) । यह कथन भी व्यर्थ है, क्योंकि आधुनिक काव्यों में प्राचीन नायकों का वर्णन मिलता है, तब भी उनको प्रशंसा के पुल बाँध दिये जाते हैं, इस तरह से इस बात का खण्डन हो जाता है कि प्रशंसा भरे वाक्य वर्तमान राजाओं के समय में ही कहे जा सकते हैं । इसी तरह से—'इसमें जिन राजाओं के नाम आये हैं, उनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—'दुष्यन्त, शकुन्तला, भरत, काशिराज, धृतराष्ट्र, शतानीक, सात्राजित, पुरुकुत्स, ऐक्ष्वाक, हैरण्यगर्भ, कौशल्य, जनमेजय पारीक्षित, भीमसेन, उग्रसेन और श्रुतसेन । इन्द्रोत दैवाप शौनक को महाभारत में अन्तिम राजाओं का पुरोहित बताया गया है' (पृ० ११३) यह कथन भी निःसार है, क्योंकि वेदों की नित्यता का बताने वाले श्रुति और स्मृति के वचनों के प्रमाण पर अनादि वेद में वर्णित सभी नाम और घटनाएँ कल्पित कथाओं की तरह ही मानी जानी चाहिये । जैसे 'ववर प्रावाहणि ने इच्छा की' इस स्थल पर घटना के उल्लेख का समाधान किया जाता है, उसी तरह से अन्य सभी घटनाओं का समाधान भी हो सकता है । किसी ने ठीक ही कहा है—यदि प्रमाण विद्यमान हैं तो उनकी सहायता से अनेकों अदृष्ट पदार्थों की भी कल्पना की जा सकती है, किन्तु प्रमाण न मिलने पर केशों के सौवें भाग जैसी सूक्ष्म वस्तु की भी सत्ता नहीं मानी

आसीत् । अत्र भीष्मः प्राचीनमितिहासं वर्णयति—'अत्र ते वर्णयिष्यामि पुराणमृषिसंस्तुतम् । इन्द्रोतः शौनको विप्रो यदाह जनमेजयम् ॥' (म० भा० शा० प० १५०।२) इति । अर्जुनपौत्रो जनमेजयस्तु भीष्मात्पश्चाद्भावी । 'एतेन हैन्द्रोतो देवापः शौनको जानमेजयं पारीक्षितं याजयाञ्चकार । तेनेष्ट्वा सर्वां पापकृत्यां सर्वां ब्रह्महत्यामुपजघान सर्वां ह वै पापकृत्यां सर्वां ब्रह्महत्यामुपहन्ति योऽश्वमेधेन यजते' (श० १३।५।४।१) इत्यादिभिरर्थवादैरश्वमेधप्रशंसा कृता । अत्रैवानेकाभिर्गाथाभिरितिहासमुखेनाश्वमेधाप्रशंसार्थमनेकेषामश्वमेधयाजिनामुल्लेखः । अत्रैव भीमसेनोग्रसेनश्रुतसेनानां चर्चा । एते भीमसेनादयः पारीक्षितीयाः, तत्सम्बन्धिनी च गाथा 'पारीक्षिता यजमाना अश्वमेधैः परोऽवरम् । अजहुः कर्मपापकं पुण्याः पुण्येन कर्मणा ॥' (श० १३।५।४।३) एते पारीक्षिता यजमाना अश्वमेधैः परोऽवरं सततं यजमानाः पुण्याः पुण्यमयाः सन्तः पापकं कर्म अजहुस्त्यक्तवन्तः । परे परे अवरे अवरे इत्येतस्मिन्नर्थे अव्ययीभावसमासेन परोऽपरमिति रूपम् । कुरूणां सृञ्जयानां च इन्द्रोतः शौनकः पुरोहित आसीद् इति समानपुरोहितत्वमेव तेषां सम्बन्धः । कालान्तरे पुरोहितभेदादेव विरोधोऽपि जातः । तदपि काण्डान्तरे स्पष्टम् ।

यदपि च—'महाभारतीयकथाभिर्जनमेजयस्य तद्भ्रातॄणां च कुरूणां प्रपौत्रत्वम्, पाण्डवस्यार्जुनस्य वा प्रपौत्रत्वमुक्तम् । अस्यैव जनमेजयस्य सर्पसत्रे कुरूणां पाण्डवानां च महायुद्धं वैशम्पायनेनोक्तम् । एतेन महाभारतयुद्धादनन्तरमस्य ब्राह्मणस्योत्पत्तिरवसीयते' (पृ० १२२) इति, तदपि तुच्छम्, पूर्वप्रमाणबलाद् भीष्मोक्तजनमेजयस्य पारीक्षितस्यार्जुनप्रपौत्रजनमेजयस्य च भिन्नत्वसिद्धेः । मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य नित्यत्वेऽप्याख्यायिकारूपेणातीतानागतघटनावर्णनसम्भवेन ब्राह्मणेषु तत्तन्नामाद्युपलम्भबलाद् ब्राह्मणोत्पत्तिकालासिद्धेः । यदपि—'पाण्डवानामेभिराख्यानैर्मौलिकः सम्बन्धो नासीत्, किन्तु पश्चादयं सम्बन्धो योजितः । ब्राह्मणेषु सूत्रेषु च पाण्डवानां सम्बन्धादर्शनात्' (पृ० १२३) इति, तदपि तुच्छम्, पूर्वमर्जुनफाल्गुनसुभद्रादिशब्दानां संहितासु प्रदर्शनेन त्वयैव संहिताया

जा सकती, इन्द्रोत शौनक जिस पारीक्षित जनमेजय का पुरोहित था, वह भीष्म से भी प्राचीन राजा था । महाभारत में भीष्म ने इस प्राचीन इतिहास की चर्चा की है । अर्जुन का पौत्र जनमेजय तो भीष्म के बाद हुआ था । 'एतेन हैन्द्रोत देवापः' इत्यादि शतपथ श्रुति में अर्थवाद के द्वारा अश्वमेध की प्रशंसा की गई है । इसी स्थल पर अनेक गाथायें उद्धृत कर इतिहास के रूप में अश्व की प्रशंसा करने के लिये उन अनेक राजाओं का वर्णन किया है, जिन्होंने कि अश्वमेध यज्ञ किये थे । यहीं भीमसेन, उग्रसेन और श्रुतसेन की चर्चा है । ये भीमसेन प्रभृति परीक्षित के पुत्र थे । इनसे संबद्ध गाथा का अर्थ यह है कि ये पारीक्षित यजमान निरन्तर अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर पुण्यश्लोक हो गये और सभी पापों से मुक्त हो गये हैं । यहाँ 'परोऽवरम्' इस पद में अव्ययीभाव समास है । इसका विग्रह करने पर यह अर्थ होता है—पहले और बहुत पहले हुए और बाद में और सबके बाद हुए । कुरुओं और सृंजयों का पहले इन्द्रोत शौनक ही पुरोहित था । एक पुरोहित होने से ही वे परस्पर संबद्ध थे । बाद में जब इनके पुरोहित बदल गये तो इनमें विरोध हो गया । दूसरे काण्ड में यह बात स्पष्ट है ।

'महाभारत में इन नामों के संबन्ध में अनेक अस्तव्यस्त कथायें हैं । पूर्वोल्लिखित जनमेजय और उसके भाइयों को या तो कुरुओं का प्रपौत्र बताया गया है या पाण्डव अर्जुन का प्रपौत्र बताया गया है । इसी जनमेजय के सर्पयज्ञ के समय में कुरुओं और पांडुओं के महायुद्ध की कथा वैशम्पायन ने कही है । इससे यह सिद्ध है कि महाभारत युद्ध के बाद इस ब्राह्मण की रचना हुई है' (पृ० १२२) यह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि अभी ऊपर बताये प्रमाण के आधार पर भीष्म द्वारा वर्णित जनमेजय पारीक्षित और अर्जुन का प्रपौत्र जनमेजय भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं । मन्त्र-ब्राह्मणात्मक संपूर्ण वेद यद्यपि नित्य है, तो भी वहाँ आख्यायिका के रूप में अतीत और अनागत काल की घटनाओं का वर्णन मिल सकता है, किन्तु इनमें से ब्राह्मणों में उन-उन नामों के मिलने मात्र से, ब्राह्मणों की रचना का समय नहीं सिद्ध किया जा सकता । 'पाण्डवों का इस आख्यान से मौलिक संबन्ध नहीं था, किन्तु वे बाद के काल में ही इससे संबद्ध हुए, क्योंकि ब्राह्मणों और सूत्रों में उनके चिह्न का अभाव है' (पृ० १२३) यह कथन भी गलत है, क्योंकि आपकी इस बात का पहले कही इस काल से विरोध पड़ेगा कि अर्जुन, फाल्गुन, सुभद्रा आदि शब्द शुक्ल यजुर्वेद की संहिता में उपलब्ध

आधुनिकत्वसाधनविरोधात् । इदानीं त्वर्जुनशब्दस्येन्द्रपरत्वाभ्युपगमेन तत्रत्यस्य स्वीयस्यैव पक्षस्य स्वेनैव खण्डितत्वाच्च । यदपि—मेगस्थनीजेन वर्णितानां भारतीयानां हेराक्लोज-तत्पुत्रादीनामाश्रयेण लास्सेन-महाशयेनायं निष्कर्षो निर्धारितो यन्मेगस्थनीजविवरणलेखकाले कृष्णपाण्डवसम्बद्धकथानां शास्त्रीयः सम्बन्धः स्थापित आसीदिति तन्मण्डनखण्डनादिकमुभयमपि निर्मूलम्, महाभारतीयप्रत्यक्षोक्तिविरुद्धत्वात्, तद्विरुद्धकल्पनानामप्रमाणत्वात् ।

दुष्टरीतुर्ह पौंसायनो दशपुरुषं राज्यादपरुद्ध आस । रेवोत्तरमु ह पाटवं चाक्रं स्थपतिं सृञ्जया अपरुरुधुः' (श० १२।९।३।१) इत्यत्रापि सौत्रामणीयागाङ्गदर्शनानीतिहासमुखेनोच्यन्ते । दुष्टरीतुनामकः पुंसोऽपत्यं पौंसायनो दशपुरुषं दशपुरुषादेव राज्यादपरुद्धः अपनीतस्वामित्वो वभूव । अथ तस्मिन्नेव काले रेवोत्तरसं नाम ब्राह्मणं पटोरपत्यं चाक्रं चक्रे तन्नामके ग्रामे ब्रह्मसमुदाये वा भवं चाक्रं सृञ्जया अपरुरुधुः स्वराष्ट्रान्निष्काशितवन्तः । रेवोत्तरसमिति नाम, न तस्य रेवोत्तरनिवासीत्यर्थः । 'स होवाच । दुष्टरीतुं पौंसायनं सौत्रामण्या त्वा याजयानि, यदिदं सृञ्जयेषु राष्ट्रं तत्त्वयि धास्यामीति तथेति तयैनमयाजयत् ।' (श० १२।९।३।२) । स रेवोत्तरा ब्राह्मणो दुष्टरीतुं पौंसायनमाह सौत्रामण्या त्वां याजयानि । तया यदिदं सृञ्जयेषु राष्ट्रं तत्त्वयि धास्यामि । तेन तथेत्युक्तो तयैनं दुष्टरीतुं सोऽयाजयत् । तत्सर्वं वाह्लिकः प्रातिपीयः शुश्राव—यदयं कौरव्यो राजा दुष्टरीतुर्यो दशपुरुषाद्राज्यादपरुद्धोऽभूत् तमयं चाक्रः स्थपतिः सौत्रामण्या याजयिष्यति । सृञ्जयेषु यद्राष्ट्रं तदस्मिन् धास्यति । स होवाच तमहं तन्वा वेदिष्यामि शरीरेण प्रत्यक्षं कृत्वा वेदिष्यामि । स यस्यां वेलायां ग्रहा गृह्यन्ते तदानीं तत्र जगाम । स होवाच स्थपते चाक्र नाहवनीये सुरा होतव्येत्याहुर्नान्यत्राहवनीयाद्यद्याहवनीये सुरां होष्यसि पापवस्यसं करिष्यसि । जामि यज्ञस्य यद्यन्यत्राहवनीयाद् वहिर्धौमं राष्ट्राद्धास्यसि नैनं राष्ट्रे धास्यसि नास्मिन् राष्ट्रं धास्यसीति ।' (श० १२।९।३।५) । स वाह्लिक उवाच स्थपते चाक्र आहवनीये सुरा न होतव्येति याज्ञिकाः प्राहुः, आहवनीयादन्यत्रापि सुरा न होतव्येति नियमः । आहवनीये तस्या होमे निषिद्धाचरणात् पापवस्यसं करिष्यसि । आहवनीयादन्यत्र सुराहोमे एनं यजमानं दुष्टरीतुं राष्ट्राद्धास्यसि ।

होने से यह संहिता आधुनिक है । वहाँ आपने इन शब्दों का संबन्ध पाण्डवों से जोड़ा था और अब यहाँ अर्जुन शब्द को इन्द्र का बोधक मानते हैं । इस तरह से आपकी बात परस्पर विरुद्ध होने से अपने आप निरस्त हो जाती है । इसी तरह से—'मेगस्थनीज ने भारतीय हेराक्लीज तथा उनके पुत्रों के विषय में जो कुछ कहा है, उससे लास्सेन ने निष्कर्ष निकाला है कि जिस समय मेगस्थनीज ने अपना विवरण लिखा, उस समय कृष्ण का पाण्डवों के साथ कथाशास्त्रीय संबन्ध स्थापित हो चुका था' (पृ० १२३) इस कथन का भी मण्डन या खण्डन करना सर्वथा व्यर्थ सा लगता है, क्योंकि पाश्चात्यों की यह उक्ति महाभारत के साक्षात् विरुद्ध पड़ती है और इस तरह की शास्त्रविरुद्ध कल्पनायें कभी प्रमाण नहीं मानी जातीं ।

'दुष्टरीतुर्ह पौंसायनः' इस शतपथ श्रुति में सौत्रामणी याग के अंगों का विधान इतिहास के द्वारा बताया गया हैं । दुष्टरीतु नाम का कोई मानवपुत्र दस पीढ़ी पहले से राज्य-भ्रष्ट कर दिया गया था । उसी समय रेवोत्तरस नाम के ब्राह्मण को जो पटु का पुत्र तथा चक्र नाम के ग्राम में अथवा ब्राह्मणों के समुदाय में उत्पन्न हुआ था, सृंजयों ने अपने राष्ट्र से निकाल दिया । 'रेवोत्तरस' उस ब्राह्मण का नाम है, इसका अर्थ नर्मदा नदी के उत्तर तट का निवासी नहीं है । उस निकाले हुए ब्राह्मण ने कहा कि मैं दुष्टरीतु पौंसायन को सौत्रामणी याग के लिये अभिषिक्त करूँगा और यह सृंजयों का राज्य मैं उसको दिला दूंगा । ऐसा कह कर उससे सौत्रामणी का अनुष्ठान कराया । इन दोनों की बातों को वाह्लिक प्रातिपीय सुन रहा था कि कुरु वंश का यह राजा दुष्टरीतु दस पीढ़ी पहले राज्य से च्युत कर दिया गया था, उसको यह चाक्र स्थपति सौत्रामणी याग में अभिषिक्त करेगा और सृंजयों के राज्य का इसको स्वामी बना देगा । उसने सोचा कि मैं प्रत्यक्ष अपने से इस बात को देखूँगा कि वह इस कार्य को कैसे पूरा करता है । उस सौत्रामणी याग में जब पात्रों का ग्रहण होने लगा, तब वह (वाह्लिक) वहाँ पहुँचा और उसने पूंछा—हे चाक्र स्थपति, याज्ञिकों का यह कहना है कि आहवनीय में सुरा की आहुति नहीं देनी चाहिये । आहवनीय से अन्यत्र भी सुरा की आहुति नहीं देनी चाहिये, ऐसा नियम है । आहवनीय अग्नि में यदि तुम सुरा की आहुति दोगे तो इस निषिद्ध वस्तु का आचरण कर तुम यजमान को पाप में डालोगे

एवं श्रुत्वा 'स होवाच नाहवनीये सुरां होष्यामि नान्यत्राहनीयान्न पापवस्यसं करिष्यामि....नैनं वहिर्धा राष्ट्राद्धास्यामि ....'(श० १२।९।३।६) । स चाक्रस्तत्प्रतिवादं चकार । स होवाच कथं करिष्यसीति । स हैतदुवाच सुरेषु वा एषोऽग्रे यज्ञ आसीत् सौत्रामणी स देवानुपप्रैत् सोऽप आगच्छत् । तमापः प्रत्यनन्दन् । तस्मादु श्रेयांसमागतं प्रत्येव नन्दति । तं होचुरेह्येव भगव इति'(श० १२।९।३।७)। स होवाच विभेमि वै प्रणयत मेति कस्माद्भगवो विभेषीत्यसुरेभ्य इति तथेति तमापः प्राणयंस्तस्माद्यो वधत्रो भवति स विभ्यतं प्रणयति यदापः प्राणयंस्तदापः प्रणीतास्तत्प्रणीतानां प्रणीतात्वम्....(श० १२।९।३।८)। अयं यज्ञः पुरा असुरेष्वासीत् । स देवानुपागच्छत् । तमापः प्रत्यनन्दन् । स यज्ञ उवाच विभेमि वै मां प्रणयत । कस्मादिति प्रश्ने असुरेभ्य इत्याह । तमापः प्राणयन् । तस्माद्यो वधत्रः स विभ्यतं प्रणयति । यदापः प्राणयंस्तस्मादापः प्रणीतास्तत्प्रणीतानां प्रणीतात्वम् । तदिष्टाः प्रयाजा आसुः । अपर्यग्निकृतमथासुरा अन्वाजग्मुस्ते देवाः पर्यग्निनैवासुरान् सपत्नान् भ्रातृव्यान् यज्ञादन्तरायंस्तथो एवैषा एतत्पर्यग्निनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यं यज्ञादन्तरेति ।' (श० १२।९।३।९) । पर्यग्निकृता देवा असुरानपाघ्नन् । देवयोनिर्वा एष आहवनीयः । तस्यैतावमृतपक्षौ यावेतावभितोऽग्नी तद्यदाहवनीये यज्ञं तन्वते देवयोनावेवैतद्देवेभ्यो यज्ञं तन्वते । उप हैनं पुनर्यज्ञो नमति । नास्माद्यज्ञो व्यवच्छिद्यते । य एवमेतद्वेद यस्य वैवं विदुष.... । देवानां योनिः स्थानमाहवनीयः । तस्येतावमृतपक्षौ यावेतावभितोऽग्नी । तस्माद्यदाहवनीये यज्ञं तन्वते देवयोनावेतद्देवेभ्यो यज्ञं तन्वते । सौत्रामणी त्वाहवनीयाच्चोपाहृताग्न्योरुत्तरदक्षिणयोस्तायते । तौ त्वाहवनीयायतनौ द्वौ तेनाभिन्नावेव । दक्षिणाग्नौ सुरायां हूयमानायामुभावपि दोषौ न भविष्यतः । दक्षिणाग्नौ होमादाहवनीये होमरूपो नास्ति । दक्षिणोत्तरयोराहवनीयाभिन्नत्वादाहवनीयादन्यत्र होमरूपोऽपि दोषो नास्तीत्युवाच चाक्रः स्थपतिः । तदेव स्पष्टमुक्तं ब्राह्मणेन—'उत्तरेऽग्नौ पयोग्रहान् जुह्वति...... उत्तरेऽग्नौ पशून् श्रपयन्ति । पशूनेव तन्मर्त्यान् सतोऽमृतयोनौ दधाति । मर्त्यांस्ततोऽमृतयोनेः प्रजनयत्यप ह वै मृत्युं जयति नास्माद्यज्ञो व्यवच्छिद्यते । य एवमेतद्वेद यस्य वैवंविदुष एतत्कर्म क्रियते'(श० १२।९।३।११) । दक्षिणेऽग्नौ सुराग्रहान् जुह्वति । दक्षिणेऽग्नौ पावयन्ति पवित्राभिस्त्रियुक्ताभिः पितॄनेव तन्मर्त्यान् सतोऽमृतयोनावमृतयोनेः प्रजनयत्यथ ह वै पितॄणां मृत्युंजयति नास्माद्यज्ञो

और आहवनीय अग्नि से अन्यत्र यदि तुम सुरा का हवन करोगे तो यह तुम्हारा यजमान दुष्टरीतु राष्ट्र को प्राप्ति से वंचित हो जायगा । उस बाह्लिक की बात सुन कर चाक्र स्थपति ने कहा कि मैं आहवनीय अग्नि में सुरा का हवन नहीं करूँगा और न आहवनीय के सिवाय अन्य किसी अग्नि में इसका हवन करूँगा । इस तरह से मेरा यजमान न तो पाप का भागी ही होगा और न वह राष्ट्र के अधिपतित्व की प्राप्ति से वंचित ही होगा । तब बाह्लिक ने पूछा कि यह तुम कैसे करोगे ? चाक्र स्थपति ने उत्तर दिया कि यह सौत्रामणी याग पहले असुरों के ही पास था । जब वह देवताओं के पास आया तो जलाभिमानी देवताओं ने उसका स्वागत किया, क्योंकि जब श्रेष्ठ व्यक्ति आता है, तो उसका सत्कार किया जाता है । देवताओं के पास आकर और स्वागत सत्कार पाकर सौत्रामणी याग ने देवताओं से कहा कि आप लोग मेरा अनुष्ठान करेंगे, इसलिये मुझे भय लग रहा है । तुमको किससे भय है ? ऐसा पूछने पर उसने उत्तर दिया कि असुरों से । तब देवताओं ने असुरों से यज्ञ की रक्षा के लिये प्रणीता पात्र का प्रणयन किया । जब तक देवताओं ने इस प्रणीता पात्र को अग्नि से परिष्कृत नहीं किया था, तभी असुर गण आ धमके । देवताओं ने प्रणीता पात्र को अग्नि से परिष्कृत कर अपने शत्रु असुरों को मार भगाया, उसी तरह से यजमान भी अपने शत्रुओं को मार भगाने में समर्थ हो जाता है । आहवनीय अग्नि देवताओं का प्रमुख स्थान है। इसके दोनों तरफ विद्यमान गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि इसी के अमृत भरे पंख है । इसलिये आहवनीय में जो यज्ञ किया जाता है, वह देवताओं के स्थान में ही निष्पन्न होता है । सौत्रामणी का अनुष्ठान आहवनीय अग्नि से उद्धृत कर उसकी उत्तर और दक्षिण दिशा में स्थित अग्नि-स्थान में अग्नि की स्थापना कर किया जाता है । इस तरह से इन दोनों में भी आहवनीय के ही स्थान बन जाते हैं और उससे अभिन्न माने जाते हैं । दक्षिणाग्नि में सुरा की आहुति देने पर उक्त दोनों दोष नहीं होंगे, क्योंकि दक्षिणाग्नि में हवन करने से आहवनीय में सुरा की आहुति नहीं देनी चाहिये, इस निषेध का भी पालन हो गया और

व्यवच्छिद्यते । (श० १२।९।३।१२) । तद्यदेतावग्नी आहवनीयाद्विह्रियेते तेनाहवनीयावथ यदाहवनीय ··· र्नाश्नुवाते तेनानाहवनीयो तेनेभौ होमा उपाप्नोति यश्चाहवनीये यश्चानाहवनीये यच्च हुतं यच्चाहुतं स पुनर्हायमित्वोवाच न तदस्ति यत्सृञ्जयानां राष्ट्रं दुष्टरीतोस्तदद्य तथायं चाक्रस्थपतिर्यज्ञेऽकारीति' (श० १२।९।३।१३)। पूर्वोक्तं रेवोत्तरसा चाक्रेण स्थपतिना प्रोक्तं दोषपरिहारं श्रुत्वा वाह्लिकः स्वगृहमागत्योवाच । न तदस्ति यदस्माभिः समीहितं सृञ्जयानां राज्यमिति शेषः । यत्सृञ्जयानां राष्ट्रं तद् दुष्टरीतोः कथं जातमित्यत आह—तथा अयं चाक्रः स्थपतिर्यज्ञं कृतवान् आहवनीयप्रभवाग्न्योरुत्तरदक्षिणयोः सौत्रामणीगतपयोग्रहसुराग्रहहोमौ ।

यत्तु—'याज्ञवल्क्यप्रतिद्वन्द्विना पृष्टस्य प्रश्नस्य समाधानज्ञानं याज्ञवल्क्येन गन्धर्वात् प्राप्तं यो गन्धर्वो मद्रराजस्य पतञ्जलस्य दुहितरमपहृतवान् । प्रश्न आसीत् पारिक्षिताः क्व गताः । एतस्यायं निष्कर्षो यत्तदानीं पारिक्षितानां पूर्णो विलोप आसीत्, तथापि तेषामन्तकालस्य स्मृतिर्जनानां मस्तिष्केष्वासीत् । तत एव ते सामान्यजिज्ञासागोचरा आसन् । एवं प्रतीयते यद् ब्रह्महत्यायाः पातकमेवं घोरमासीद् यस्माद्यज्ञैरपि मुक्तिरसम्भाव्यासीत् । यद्वा तैर्यज्ञादिसाधनैः स्वल्पपातकवतां निर्धारितानि फलान्यवाप्तानि । एवमपि विज्ञायते यद् ब्राह्मणैस्तेषां स्मृतिरक्षणाय बहु श्रान्तम् । अथवा पारिक्षितानां प्रभुताशक्तिरेवं गौरवान्वितासीद् येन तेषां विनाशे सरलतया विश्वास एव न भवति स्म' (पृ० ११३-११४) इति, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, अक्षरार्थानवबोधात् । तत्र गन्धर्वाद्याज्ञवल्क्येन समाधानज्ञानं न प्राप्तम्, किन्तु प्रष्ट्रा भुज्युना लाह्यायनिना तस्माज्ज्ञानं प्राप्तम् । गन्धर्वेण काप्यस्य दुहिता नापहृता, किन्तु सा गन्धर्वाविष्टासीत् । तथा च तत्रत्यं वाक्यम्—'अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ, याज्ञवल्क्येति होवाच—मद्रेषु चरकाः पर्य्यव्रजाम ते पतञ्जलस्य गृहानैम । तस्यासीद् दुहिता गन्धर्वगृहीता । तमपृच्छाम कोऽसीति । सोऽब्रवीत् सुधन्वाङ्गिरस इति । तं यदा लोकानामन्तानपृच्छामाथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति' (बृ० उ० ३।३।१) । किञ्चात्र पारिक्षिता इत्यनेन जनमेजयो वा तद्भ्रातरः परिक्षित्पुत्रा वा पारिक्षिताः क्व विद्यन्ते

आहवनीय से अन्यत्र सुरा का होम करने का नियम नहीं है, इस बात का भी पालन इस तरह से हो गया कि दक्षिण और उत्तर स्थान में स्थित अग्नि आहवनीय अग्नि में से ही लाकर रखी गई है। शतपथ ब्राह्मण में यहाँ उत्तर अग्नि और दक्षिण अग्नि में संपन्न होने वाले कार्यकलापों को विस्तार से समझाया है। रेवोत्तरस् चाक्र स्थपति के इस समाधान को सुनकर वाह्लिक अपने घर चला आया और उसने निश्चय कर लिया कि हमारे चाहते हुए भी अब सृंजयों की सत्ता टिक नहीं पावेगी। सृजयों का राज्य दुष्टरीतु को कैसे प्राप्त हुआ ? इसके उत्तर में बताया गया है कि इस चाक्र स्थपति ने यज्ञ किया और आहवनीय अग्नि से प्रज्वालित अग्नि को दक्षिण और उत्तर स्थान में स्थापित कर उनमें सौत्रायणी याग के अंग के रूप में क्रमशः दुग्ध और सुरा की आहुतियाँ दी ।

बेवर कहता है—'याज्ञवल्क्य के एक प्रतिद्वन्द्वी उनसे एक प्रश्न पूछ कर उनकी योग्यता की परीक्षा लेते हैं। उस प्रश्न के समाधान का ज्ञान याज्ञवल्क्य ने एक गन्धर्व से प्राप्त किया था, जिसने मद्र देश के राजा काप्य पतंजल की पुत्री का अपहरण कर लिया था। प्रश्न था—पारिक्षित लोग कहाँ चले गये ? इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय तक पारिक्षितियों का पूर्ण लोप हो गया था, फिर भी उनके जीवन और अन्तकाल की स्मृति लोगों के मस्तिष्क में ताजी रही होगी और वे सामान्यतः जिज्ञासा के विषय बने रहे होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका 'ब्रह्महत्या का पाप' इतना घोर था कि उससे उन्हें यज्ञों के द्वारा भी मुक्ति नहीं मिल सकती थी, या उन्होंने इन साधनों से अन्य अल्प पाप करने वालों के लिये निर्धारित फल को प्राप्त किया था। ऐसा भी प्रतीत होता है मानों ब्राह्मणों ने उनकी स्मृति को बनाये रखने के लिये विशेष श्रम किया। अथवा ऐसा भी हो सकता है कि पारिक्षितों की प्रभुता और शक्ति इतनी महान् और गौरवपूर्ण थी कि लोगों को उनके विनाश पर सरलता से विश्वास नहीं होता था' (पृ० ११३-११४)। यह कथन भी बेवर के अज्ञान का ही द्योतक है, क्योंकि इन पंक्तियों का अर्थ ही उसकी समझ में नहीं आया है। यहाँ गन्धर्व से याज्ञवल्क्य को समाधान का ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है, किन्तु प्रश्नकर्ता भुज्यु लाह्यायनि ने उससे ज्ञान प्राप्त किया था। गन्धर्व ने किसी की पुत्री का अपहरण नहीं किया था, किन्तु वह गन्धर्व से आविष्ट थी। वहाँ का वाक्य ऊपर उद्धृत कर दिया गया है। यहाँ

क्व गता वेति न प्रश्नस्तस्य निरर्थकत्वात् । पुरुषार्थनिरूपणायायं संवादः प्रवृत्तः । नहि व्यक्तिविशेषाणां क्वावस्थानमिति विज्ञानेन पुरुषार्थः सिद्धयति । प्रतिवचने तदनुक्तेश्च । किन्तूत्तररूपेण याज्ञवल्क्योऽश्वमेधयाजिनां गन्तव्यस्थानं वर्णयति । तस्मात् परितो दुरितं क्षीयते येन स परिक्षिदश्वमेधः, तद्याजिनः पारिक्षितास्तेषां वायुः समष्टिसूत्रात्मरूपो हिरण्यगर्भ एव गन्तव्यस्थानमिति प्रतिवचनार्थः । तथैव श्रुत्योक्तत्वात् । तथाहि—'स होवाच वै सोऽगच्छन् वै तद्यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति । क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति । द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तं समन्तं पृथिवी पर्येति तां समन्तं पृथिवी द्विस्तावत् समुद्रः पर्येति तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत् । तान् वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमिव वै स वायुमेव प्रशशंस । तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरेष पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद । ततो भज्युर्लाह्यायनिरुपरराम' । (बृ० उ० ३।३।२) ।

अस्याः कण्डिकाया अयमर्थः शङ्करभगवत्पादसम्मतः—स याज्ञवल्क्य उवाच वै स गन्धर्वस्तुभ्यं यत्र वै अश्वमेधयाजिनो गच्छन्ति पारिक्षितास्तत्राभवन् । क्व नु अश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति तेषां गतिविवक्षया भुवनकोशं वर्णयति–द्वात्रिंशतमिति । द्वे अधिके त्रिंशतं द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यानि देव आदित्यस्तस्य रथो देवरथस्तस्य गत्याऽह्ना यावत्परिच्छिद्यते देशपरिमाणं तद्देवरथाह्न्यम्, तद्द्वात्रिंशद्गुणितं द्वात्रिंशतं देवरथाह्न्यानि तावत्परिमाणोऽयं लोको लोकालोकगिरिणा परिक्षिप्तः । यत्र वैराजं शरीरं यत्र च कर्मफलोपभोगः प्राणिनां स एष लोकः । एतावांल्लोकोऽतः परमलोकः । तं लोकं समन्तं समन्ततो लोकविस्ताराद् द्विगुणपरिमाणविस्तारेण परिमाणेन पृथिवी परिक्षिप्ता पर्येति । तां पृथिवीं तथैव समन्तं द्विगुणेन परिमाणेन समुद्रः पर्येति यं घनोदमाचक्षते पौराणिकाः । अर्थाद् अहोरात्रमादित्यरथगत्या यावान् पन्थामितस्तावान् देशो द्वात्रिंशद्गुणितस्तत्किरणव्याप्तः । स च चन्द्ररश्मिव्याप्तेन देशेन साकं पृथिवीत्युच्यते । तदुक्तम्—'रविचन्द्रमसोर्यावन्मयूखैरवभास्यते । ससमुद्रसरिच्छैला तावती पृथिवी स्मृता ।। अण्डस्यास्य समन्तात्त

पारिक्षित अर्थात् जनमेजय अथवा उसके भाई या परिक्षित् के पुत्र कहाँ हैं अथवा कहाँ गये ? यह प्रश्न नहीं है, क्योंकि ऐसा प्रश्न निरर्थक है । पुरुषार्थ का निरूपण करने के लिये यह संवाद चला है, कुछ व्यक्ति कहाँ चले गये, इसको जानने से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होगी । साथ ही उत्तर में इनको कोई चर्चा भी नहीं की गई है । उत्तर में याज्ञवल्क्य ने अश्वमेघ यज्ञ करने वालों के गन्तव्य स्थान का वर्णन किया है । जिससे सब तरह से पापों का क्षय हो जाता है, वह अश्वमेघ यज्ञ परिक्षित् कहलाता है । इस यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले पारिक्षित कहलाते हैं । इनका समष्टि सूत्रात्मा रूप हिरण्यगर्भ ही गन्तव्य स्थान है, यह याज्ञवल्क्य के उत्तर का अभिप्राय है । ऊपर उद्धृत श्रुति में यही बात बताई गई है ।

इस कण्डिका का भगवान् शंकराचार्य संमत अर्थ इस तरह से है—याज्ञवल्क्य ने कहा कि उस गन्धर्व ने तुमको बताया है कि जिस स्थान पर अश्वमेघ यज्ञ करने वाले पहुँचते हैं, वहीं पारिक्षित गये हैं । अश्वमेघ यज्ञ करने वाले कहाँ जाते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में उनके गन्तव्य स्थान को बताने के अभिप्राय से भुवनकोश का वर्णन किया गया है । यहाँ सूर्य के रथ को देवरथ कहा गया है । उसकी गति से एक दिन में जितना देश व्याप्त होता है, उसको 'देवरथाह्न्य' कहा जाता है । इसको जब बत्तीस गुना बढ़ा दिया जायगा तो यह इस लोक का पूरा परिमाण होगा । इसके चारों ओर लोकालोक पर्वत फैला हुआ है । जहाँ वैराज शरीर होता है और जहाँ प्राणियों के द्वारा कर्म-फल का उपभोग किया जाता है, वह यही लोक है । लोक के अन्तर्गत ही यह सब क्षेत्र आता है । इसके बाद परम लोक की स्थिति है । इस लोक के चारों तरफ लोक के विस्तार से दुगुनी विस्तार की पृथिवी फैली हुई है । इस पृथ्वी के भी चारों तरफ उससे दुगुने विस्तार का समुद्र फैला हुआ है । इस समुद्र को पौराणिक लोग 'घनोद' नाम से जानते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि दिन और रात में सूर्य के रथ की गति से जितना रास्ता नापा जाता है, उससे बत्तीस गुने प्रदेश में सूर्य की किरणें व्याप्त हो जाती हैं । चन्द्रमा की किरणों से व्याप्त देश के साथ यह सारा स्थान पृथिवी कहलाता है । जैसा कि कहा गया है—'सूर्य और चन्द्रमा की किरणों से जितना प्रदेश व्याप्त हो जाता है, समुद्र, नदी, पर्वत आदि से संबन्धित वह सारा स्थान पृथिवी कहलाता है । इस अण्डाकार पृथिवी के चारों तरफ

सन्निविष्टोऽमृतोदधिः । समन्ताद् घनतोयेन धार्यमाणः स तिष्ठति ।।' अण्डकपालयोर्विवरपरिमाणमुच्यते—येन विवरेण मार्गेण वहिर्निर्गच्छन्तो व्याप्नुवन्त्यश्वमेधयाजिनस्तत्र यावती क्षुरस्य धारा अग्रं यावद्वा सौक्ष्म्येण युक्तं मक्षिकायाः पत्रं तावान् तावत्परिमाणोऽन्तरेण मध्येऽण्डकपालयोराकाशछिद्रं तेनाकाशेन तान् पारिक्षितानश्वमेधयाजिनः प्राप्तानिन्द्रः परमेश्वरः । योऽश्वमेधोऽग्निश्चितः सुपर्णो यद्विषयं दर्शनमुक्तम्, तस्य प्राची दिक् शिर इत्यादिना । सुपर्णः पक्षी भूत्वा पक्षपुच्छाद्यात्मकः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत् । मूर्तत्वात् सुपर्णस्याण्डाद् वहिर्जनिर्न सम्भवति । तान् पारिक्षितान् वायुरात्मनि धित्वा स्थापयित्वा स्वात्मभूतान् कृत्वा तत्रागमयत् । क्व यत्र पूर्वेऽर्थात् क्रान्ताः पारिक्षिता अश्वमेधयाजिनोऽभवन् । एवमिव एवमेव स गन्धर्वो वायुमेव प्रशशंस पारिक्षितानां गतिम् । आख्यायिका समाप्ता । आख्यायिकानिर्वृतमर्थमाख्यायिकातोऽपसृत्य स्वेन रूपेणाचष्टे श्रुतिः । यस्माद्वायुः स्थावरजङ्गमानां भूतानामन्तरात्मा वहिश्च स एव तस्मादध्यात्माधिभूताधिदैवभावे विविधाष्टिर्व्याप्तिः स वायुरेव । तथा समष्टिः केवलेन सूत्रात्मना वायुरेव । एवं वायुमात्मानं समष्टिव्यष्टिरूपात्मकत्वेनोपगच्छति य एवं वेद । तस्य फलमाह—अपमृत्युं जयतीति । सकृन्मृत्वा पुनर्न म्रियते । ततः प्रश्नस्य यथावदुत्तरितत्वाद् भुज्युरुपरराम । एवं श्रौतमर्थमज्ञात्वा वेवरादयः पाश्चात्त्याः स्वयं भ्राम्यन्ति भ्रमयन्ति चेतरान् मृदुमतीन् ।

यदपि चतुर्दशकाण्डस्य पूर्वभागविवेचनप्रसङ्गे विष्णुसम्बन्धे इन्द्र ईर्ष्यया विष्णोः शिरश्चिच्छेदेत्युक्तम्, तत्तु सर्वथा मिथ्यैव, तत्प्रसङ्गस्य तत्रानुपलम्भात् । टिप्पणे तत्रैव ११४ पृष्ठे तस्य मिथ्यात्वोक्तेश्च । देवानां प्रेरणया वम्रीभिर्दीमकपदवाच्यैर्विष्णोर्धनुषो ज्याकर्तनेन तत्कोटिमाटीक्य शिरःस्थितवतो धनुष्कोट्यैव तच्छिन्नम्, तत्तु यज्ञस्य प्रवर्ग्यात्मशिरःप्रतिसन्धानस्यार्थवादत्वे तत्प्रशस्तिः पर्यवस्यति, न तच्छिरश्छित्तिपरमिति । एवमेव मधुविद्याप्रसङ्गेन

अमृत का समुद्र विद्यमान है, जो कि चारों तरफ लबालब पानी से भरा हुआ है ।' अण्ड और कपाल के विवर का परिमाण इस तरह बताया गया है—जिस विवर अर्थात् मार्ग से बाहर निकलते हुए अश्वमेधयाजी व्याप्त हो जाते हैं, वहाँ छुरे की धार के अगले हिस्से के जितना अथवा मक्षिका के पत्र के जितना सूक्ष्म परिमाण वाला अन्तर अण्ड और कपाल के छिद्र के बीच में रहता है । उस आकाश में से निकल कर अपने पास आये हुए अश्वमेधयाजी पारिक्षितों को, जिन्होंने कि अश्वमेध यज्ञ की अग्नि का चयन किया, इन्द्र अर्थात् परमेश्वर सुपर्ण पक्षी बनकर दर्शन देता है । उस सुपर्ण का स्वरूप—पूर्व दिशा उनका शिर है, इत्यादि वचनों से बताया गया है । इन्द्र अर्थात् परमेश्वर पक्षी बनकर उस अश्वमेधयाजी को वायु देवता को सौंप देता है । मूर्त होने से सुपर्ण की उत्पत्ति इस अण्ड के बाहर नहीं हो सकती । इन अश्वमेध यज्ञ करने वालों को वायु अपने में स्थापित कर, अर्थात् अपना अंग बनाकर वहाँ पहुँचा देता है, जहाँ कि इससे पहले के अश्वमेधयाजी पहुँचे रहते हैं । इस तरह से वह गन्धर्व वायु की ही प्रशंसा करता है, जो कि यज्ञमेधयाजियों को उस लोक में पहुँचा देता है । यहाँ आख्यायिका समाप्त होती है । इस आख्यायिका से निकलने वाले अभिप्राय को आख्यायिका से अलग करके स्वयं श्रुति ही इस तरह से बताती है—क्योंकि वायु स्थावर और जंगम सभी प्राणियों का अन्तरात्मा है और वही उनके बाहर भी विद्यमान है, इसलिये वही अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत रूपों में, नाना प्रकार से अलग अलग रूपों में, तथा समष्टि रूप में केवल सूत्रात्मा के रूप से वायु ही सर्वत्र व्याप्त रहता हैं । इस तरह से जो वायु को जान लेता है, वह अपने ही समष्टि, व्यष्टि और सूत्रात्मा रूप स्वरूप को जान लेता है । अन्त में इसको जान लेने से क्या फल मिलता है, यह बताया गया है—अपमृत्यु को जीत लेता है । एक बार मरकर पुनः नहीं मरता । इस तरह से अपने प्रश्न का यथोचित उत्तर मिल जाने से भुज्यु चुप हो गया । इस तरह के श्रौत अर्थ को बिना जाने वेवर प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् स्वयं तो भ्रम में पड़ ही जाते हैं, वे सरल बुद्धि के अन्य व्यक्तियों को भी भ्रम में डाल देते हैं ।

वेवर ने शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड के प्रथम भाग के विवेचन के प्रसंग में विष्णु के संबन्ध में कहा है कि इन्द्र ने ईर्ष्यावश विष्णु का शिर काट लिया (पृ० ११४), किन्तु यह कथन सर्वथा गलत है । इस तरह का प्रसंग यहाँ है ही नहीं । स्वयं वेवर ने ही उसी पृष्ठ की टिप्पणी में इसको गलत बताया है । देवताओं ने दीमकों को विष्णु के धनुष की डोरी काटने के लिये भेजा, विष्णु चढ़ाये हुए धनुष के सहारे झुककर खड़े थे । कटी हुई धनुष की डोरी उछल कर विष्णु का शिर काट देती है । यहाँ विष्णु के

दधीचोऽथर्वणः कथयापि कालनिर्धारणमयुक्तमेव। यत्तु—याज्ञवल्क्यकाण्डे याज्ञवल्क्यप्रशस्तिरुक्ता। खिलकाण्डस्य बृहदारण्यकान्तिमकाण्डस्य सर्वैरप्याचार्यैः परिशिष्टत्वमेवाभ्युपेतमिति बृहदारण्यकस्यान्तिमाध्याये गृह्यसूत्रसम्बद्धपुत्रोत्पत्तिप्रसङ्ग उक्त इति। अत एवास्य प्रवर्ग्यकाण्डमित्यवान्तरनामधेयम्। देवा ह वै सत्रं निषेदुः, अग्निरिन्द्रमखो विष्णुः विश्वेदेवा····ते होचुर्यो नः श्रमेण तपसा श्रद्धया···यज्ञस्योद्यं पूर्वोऽवगच्छत् स नः श्रेष्ठोऽसत्। तद्विष्णुः स देवानां श्रेष्ठोऽभवत्····विष्णुर्न शशाक यशः संयन्तुं स तिसृ धन्वमादायापचक्राम। स धनुरात्न्या शिर उपस्तभ्य तं देवा अनभिघृष्णुवन्तः समन्तं परिण्यविशन्त ता ह वम्र्य ऊचुः। इमा वै वम्र्यो यदुपदीका योऽस्य ज्यामप्यधात् किमस्यै प्रयच्छतेति। अन्नाद्यमस्यै प्रयच्छेम···तस्योपरासृत्य ज्यामपि जक्षुः। तस्यां छिन्नायां मात्न्यौ विस्फुरन्त्यौ विष्णोः शिरः प्रचिदतुः॥' (श० १४।१।१।१-९) शिरःपतनादित्यादि, तदपि तुच्छम्, आर्षग्रन्थानां सर्वेषामपि वेदमूलकत्वेन गृह्यसूत्राणामपि श्रुतिमूलकत्वाविशेषात्। ततो गृह्यसूत्राणामपि मूलं वेद एवेति तत्र गृह्यसम्बद्धकर्मवर्णनं नानुपपन्नम्।

यदपि १२१ पृष्ठेऽर्वाचीनप्राचीनभाषाभेदेन कालभेदसाधनम्, तदप्यकिञ्चित्करम्, लौकिकपुरुषेष्वपि समानकालेऽपि विषयादिभेदेन भाषावैविध्यदर्शनात्। वेदे तु—'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति' (म० १२।९७) इति मनूक्तदिशा सर्वविधभाषासत्त्वेऽपि न निर्माणकालभेदसिद्धिः। यदपि १२० पृष्ठे अरुण-औपवेशि-आरुणि-श्वेतकेतु-आरुणेय-इन्द्रद्युम्न-प्रभृतिनाम्नामुल्लेखेन चरकाध्वर्यूणां निन्दया चेदं ज्ञायते यद् ब्राह्मणानामनेकभेदभिन्नानां सहैवैकदा ग्रन्थरूपेण व्यवस्थापनं जातम्। ब्राह्मणोद्धृतविधिषु मन्त्रेषु च पाठान्तरदर्शनं केषाञ्चित् पाठानामसाधुत्वप्रदर्शनम्, अष्टमे काण्डे काण्वशाखायाः पाठम् एके इत्युद्धृत्य खण्डयतीत्यादिकं च, तदपि तुच्छम्, वेदे नाम्नामुल्लेखेन कालनिर्धारणासम्भवात्। अन्यशाखानिन्दनं तु स्वशाखीयप्रशस्तिपर्यवसायि, 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुम्' इति न्यायात्।

प्रवर्ग्य स्वरूप शिर का वर्णन है, जिसका पुनः प्रतिसन्धान होने से यह पूरा प्रकरण प्रशंसात्मक अर्थवाद में पर्यवसित हो जाता है। इसका अभिप्राय शिर के छेदन में नहीं है। इसी तरह से मधुविद्या के प्रसंग में दध्यंच आथर्वण की कथा से समय का निर्धारण करना भी गलत है (पृ० ११५)। इसी तरह से—'याज्ञवल्क्यीय काण्ड का उद्देश्य याज्ञवल्क्य की प्रशस्ति है।···खिलकाण्ड या बृहदारण्यक के अन्तिम काण्ड को सभी भाष्यकारों ने खिल या परिशिष्ट कहा है।···इसका अन्तिम ब्राह्मण अपने वर्ण्य विषय के स्वभाव के कारण आश्चर्यजनक रूप में एक गृह्यसूत्र से अधिक संबद्ध दिखाई पड़ता है, कारण इसमें गर्भाधान के पूर्व और उस समय के तथा पुत्रोत्पत्ति के उपरान्त किये जाने वाले कर्मों का वर्णन है। इसीलिये इसका अवान्तर नाम प्रवर्ग्यकांड भी है' (पृ० ११६-११८)। यह सारा कथन भी गलत है, क्योंकि सभी आर्ष ग्रन्थों का आधार वेद ही है, अतः गृह्यसूत्र भी इस तरह के श्रुति प्रसङ्गों से मिलते-जुलते हों, इसमें आश्चर्य की क्या बात है? इस तरह से गृह्यसूत्रों के आधार भी वेद ही हैं, अतः वेद में गृह्य सम्बन्धी कर्मों का वर्णन हो, इसमें अनौचित्य नहीं है।

इसी तरह से पृ० १२१ पर प्राचीन और अर्वाचीन भाषा के आधार पर विभिन्न आख्यानों को विभिन्न काल की रचना बताना भी गलत है, क्योंकि लौकिक पुरुषों की एक ही समय की रचनाओं में भी विषय के भेद के आधार पर भाषा की विविधता देखने को मिलती है। 'सब कुछ वेद से ही प्राप्त होता है' इस मनु के वचन के आधार पर वेद में तो सब तरह की भाषाओं की भी स्थिति मानी जाती है, किन्तु इससे इनकी रचना का काल भिन्न है, ऐसा नहीं सिद्ध किया जा सकता। इसी तरह से पृ० १२० में 'अरुण, औपवेशि, आरुणि, श्वेतकेतु-आरुणेय, इन्द्रद्युम्न प्रभृति नामों का उल्लेख होने से तथा चरकाध्वर्युओं की बार-बार निन्दा होने से यह मालूम होता है कि ब्राह्मण के विभिन्न भाग एक साथ एक ही व्यक्ति के द्वारा व्यवस्थित किये गये थे। ब्राह्मणों में उद्धृत यज्ञ की विधियों और पाठों में बहुत अन्तर दिखाई पड़ता है। कहीं-कहीं कुछ पाठों को अशुद्ध बताया गया है। आठवें कांड में काण्व शाखा के पाठ को उद्धृत कर उसका खण्डन किया गया है' (पृ० १२०) यह सब कथन भी तुच्छ है, क्योंकि वेद में नामों का उल्लेख होने मात्र से काल का निर्धारण नहीं किया जा सकता। अन्य शाखा की निन्दा का अभिप्राय केवल अपनी शाखा की प्रशंसा में है, मीमांसा का यह नियम है कि निन्दापरक अर्थवाद किसी की निन्दा के लिये नहीं, किन्तु विधेय की स्तुति के लिये होते हैं।

'अनेकेषु जलप्लावनेन मनो रक्षणम्, च्यवनस्य पत्न्याः शर्यातिकन्यायाः सुकन्यायाः प्रार्थनयाऽश्विभ्यां च्यवनाय यौवनप्रदानम्, कद्रूसुपर्ण्योः सङ्घर्षकथा, उर्वशीपुरूरवसोः प्रेमविप्रलम्भादिकथा। ता एव कथाश्छन्दसां परिवेशेन महाकाव्येष्वपि विद्यन्ते पर्याप्तं रूपपरिवर्तनं च दृश्यते। अन्यब्राह्मणापेक्षयास्य शतपथस्य महाकाव्येना (महाभारतेन)-धिकघनिष्ठः सम्बन्धो दृश्यते। बाह्लिक-जनमेजय-नग्नजिदादयो महाभारते प्रत्यक्षं निर्दिष्टाः। संहितायाम् अम्बा-अम्बिका-अम्बालिका-सुभद्रा-अर्जुन-फाल्गुनादिनाम्नामुल्लेखदर्शनात् कुरुपाञ्चालेषु ब्राह्मणस्यास्योत्पत्तिः सिद्ध्यति। कोसलविदेहेष्वस्यान्तिमं रूपं निष्पन्नम्। अस्मिन् ब्राह्मणे यस्य जनकस्य पवित्रविद्यानां रक्षकत्वेन वर्णनं तस्यैव रामायणे सीतापितृरूपेण वर्णनम्। मम विचारे सर्वथा तयोरैक्यमेव। सीता काचित् कल्पनैव या प्रख्यातेन जनकेन सम्बद्धा' इत्यादिकम्, तदपि न किञ्चित्, वेदात्मके ब्राह्मणे सर्वेषामाख्यानानां सुखावबोधार्थत्वेन तैः कालकल्पनाया निरवकाशत्वात्। महाकाव्यस्यार्षत्वेन पौरुषेयत्वात् तत्र ब्राह्मणार्थग्रहणेऽपि नानुपपत्तिः। देवताधिकरणे सृष्टेर्वैदिक-शब्दमूलकत्वसमर्थनेन वैदिकशब्दानुसारेण केचित्पुरुषादयो घटनाश्च कदाचित्सृष्टावाविर्भवन्ति, तथात्वेनैव तेषा-मैतिहासिकत्वमपि सम्भवत्येव। रामायणीयसीतातत्पितृजनकादीनां ब्राह्मणीयजनकसम्बन्धयोजनं तु त्वदीयदृष्ट्या विरुद्धमेव। त्वया ब्राह्मणीयजनकस्य महाभारतकालिकत्वाभ्युपगमात्। सिद्धान्ते तु तन्नासङ्गतम्, ब्राह्मणग्रन्थस्यापि संहिताग्रन्थवदनादित्वात्।

यदपि—'विदग्धशाकल्यस्य कष्टदण्डादिकथा यथैवैकादशे काण्डे तथैव याज्ञवल्क्यकाण्डेऽपि दृश्यते' इति, तदपि न किञ्चित्, पौर्वापर्यानुरोधेन समन्वयस्यैव विवक्षितत्वात्। यच्च—'पाण्डित्य-मुनि-मौनशब्दा इह काण्डे विशेषाः (३।२।१-४।२।२५)। एकहंस-श्रमण-तापस-प्रव्राजिन्-भिक्षाचर्य-प्रतिबुद्ध-चण्डाल-पौल्कसादिविशिष्टशब्दानां

'इस ब्राह्मण के अनेक आख्यानों में जलप्लावन और मनु के बचने की कथा, अश्विनों द्वारा च्यवन को उनकी पत्नी सुकन्या की प्रार्थना पर युवावस्था प्रदान करने की कथा, कद्रू और सुपर्णो के संघर्ष की कथा, पुरूरवस् और उर्वशी के प्रेम और वियोग की कथा प्रमुख हैं। उनमें से अनेक कथाएँ छन्दों के परिवेश में महाकाव्य में भी आयी हैं और प्रायः उनका रूप पर्याप्त परिवर्तित है। यह स्पष्ट है कि अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा इस ब्राह्मण से महाकाव्य का संबन्ध अधिक घनिष्ठ है। बाह्लिक, जनमेजय और नग्नजित् नाम महाभारत के आख्यानों का प्रत्यक्ष निर्देश करते हैं। संहिता में अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका, सुभद्रा, अर्जुन, फाल्गुन प्रभृति नामों का उल्लेख मिलता है। किसी भी स्थिति में इसका कारण यही है कि इस ब्राह्मण की उत्पत्ति कुरुपंचाल देश में हुई है। कोसल-विदेह देश में इसको अन्तिम रूप मिला है। कोसल-विदेह के राजा जनक का जिन्हें इसमें इस ब्राह्मण की पवित्र विद्या के रक्षक के रूप में वर्णित किया गया है, वही नाम है जो रामायण में सीता के पिता और राम के श्वसुर का है। मैं सीता के पिता और इस विशिष्ट धर्मात्मा जनक को अभिन्न समझता हूँ और मेरा यह विचार है कि सीता स्वयं एक कल्पना थी और उसे जनक जैसे प्रख्यात पिता से संबद्ध किया गया था' (पृ० १२१) यह कथन भी कुछ नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण भी वेद ही है, अतः इनमें आये सभी आख्यान सरलता से प्रतिपाद्य विषय को समझाने के लिए कल्पित है। इनसे समय की कल्पना नहीं की जा सकती। महाकाव्य (महाभारत) महर्षि वेदव्यास की रचना है। पौरुषेय होने से इसमें ब्राह्मणों में प्रतिपादित विषयों का समावेश किया ही जा सकता है। देवताधिकरण में इस बात का समर्थन किया गया है कि सारी सृष्टि वैदिक शब्दों के आधार पर ही संपन्न होती है, अतः इस सृष्टि में कुछ व्यक्तियों के नाम अथवा घटनाएँ वेदों में वर्णित नामों तथा घटनाओं के समान हो सकती हैं। इतने से इनको ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता। रामायण में वर्णित सीता और उसके पिता जनक का ब्राह्मण में वर्णित जनक से संबन्ध जोड़ना, आपकी दृष्टि से विरुद्ध ही पड़ेगा, क्योंकि आप ब्राह्मण में वर्णित जनक को महाभारत के समय का मानते हैं, जब कि सीता रामायण काल की है। इनमें परस्पर संबन्ध कैसे हो सकता है? हमारे मत से तो यह असंगति नहीं हो पाती, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थ भी संहिता के समान अनादि वेदस्वरूप है।

'विदग्ध शाकल्य के कष्ट एवं दण्ड की कथा जैसे एकादश काण्ड में है, वैसे ही याज्ञवल्क्य काण्ड में भी वर्णित है' (पृ० ११६) यह कथन भी कुछ नहीं है, क्योंकि यहाँ पूर्वापर ग्रन्थ का केवल समन्वय किया गया है। इसी तरह से—'पाण्डित्य, मुनि और मौन शब्द जो इस काण्ड में आये हैं, नवीन होने के कारण विशेष, ध्यान देने योग्य हैं। इनके अतिरिक्त एकहंस, श्रमण,

प्रयोगादपि कालविशेषः कल्प्यते' इति, तदपि न, वैयाकरणानां मीमांसकानां च दृष्टचा समेषां शब्दानां नित्यत्वानादित्वाभ्यां नित्यानित्येषु ग्रन्थेषु तेषां प्रयोगसम्भवेन तद्वलात् कालकल्पनाऽयोगात्। यदपि—(पा० ४।३।१०) इति स्थलीयें कात्यायनवार्त्तिके यत्र याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानीति साधितम्, तदर्थं पुराणप्रोक्त इत्यस्य स्थाने तुल्यकाले, अर्थात् पाणिनिसमकाल इत्युक्तम्। विशेषतोऽत्र याज्ञवल्कीयकाण्डनिर्देशः, वार्त्तिकशब्दैर्न तदनिवार्यतया प्रतीयते यदेतानि ब्राह्मणानि रचितानि, तत्र याज्ञवल्क्यस्य वर्णितत्वात् तन्नाम सम्भवत्येव। द्वितीयमतमेव युक्तम्। सम्पूर्णस्य शतपथस्य केवलस्य वा याज्ञवल्क्यकाण्डस्य याज्ञवल्क्यनाम्ना 'याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि' इति स्वीकारे काठिन्यमेव। पाणिनिसमकालिकत्वकथनमपि कठिनमेव, तदीयाः सिद्धान्तास्तत्र निहिता इति तु सम्भवति (पृ० ११७)।

'समानमा सांजीवीपुत्रात् सांजीवीपुत्रः सांजीवीपुत्रादुपरि त्रिपुरुषेभ्य उपरि याज्ञवल्क्यस्य नामोपलभ्यते। दशमकाण्डीयायामस्यामेव विद्यायां याज्ञवल्क्येन सम्बन्धो न योजितः। तत्र संजीवीपुत्रात् पञ्चमेन पूर्वपुरुषेण शाण्डिल्येन ततः पुरुषद्वयात् पूर्वपुरुषेण तुरकावषेयेण सम्वन्धो योजितः। एवं काण्डोत्पत्तिदृष्टचा शतपथषष्टिपथेतिविभागापेक्षया चतुर्थोऽपि विभागः सम्भवति। पूर्वस्मिन् काण्डपञ्चके याज्ञवल्क्यस्य वहुधा नामनिर्देशः, निर्णायकरूपेण च तत्रत्यानि मतानि निश्चितानि'। यदपि च—'याज्ञवल्क्यीयकाण्डत्रयोदशकाण्डस्थान्याख्यानानि परित्यज्य विचारे क्रियमाणे इमे विशेषाः प्रतीयन्ते—कुरु-पञ्चाल-कोशल-विदेह-शिक्न-सृञ्जया हिन्दुस्थानमध्यनिवासिन्यो जातयः। एकदा पौरस्त्य-वाहीकजातीयानां पाश्चात्त्यजातीयैर्विरोधित्वे प्रदर्शिताः। उदीच्यानां दाक्षिणात्यस्य नैषधस्य नलस्य निषधिपदेन निर्देशो दृश्यते। एतेन षष्ठमारभ्य दशमकाण्डं यावत् प्रभूतभेदभिन्ना दृश्यन्ते। तानि याज्ञवल्क्यस्थाने शाण्डिल्यविचाराणां मान्यतां प्रयच्छन्ति। तानि च नग्नजित्-गान्धार-साल्व-कैकयादिभिन्न-

तापस, प्रव्राजिन्, भिक्षाचार्य, प्रतिबुद्ध, चाण्डाल, पौल्कस प्रभृति विशिष्ट शब्दों के प्रयोग से भी इस ब्राह्मण की नवीनता सिद्ध होती है' (पृ० ११६) यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि वैयाकरणों और मीमांसकों की दृष्टि से सभी शब्द नित्य और अनादि माने जाते हैं। इनका प्रयोग नित्य और अनित्य, वैदिक एवं लौकिक ग्रन्थों में समान रूप से होता है, किन्तु इनसे किसी विशेष काल की कल्पना नहीं की जा सकती।—'मेरा विचार है कि पाणिनि के वार्त्तिक में, जहाँ 'याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि' को 'पुराण प्रोक्त' के स्थल पर 'तुल्यकाल' अर्थात् पाणिनि का समकालीन कहा गया है, इसी याज्ञवल्क्यीय-काण्ड का निर्देश किया है। वार्त्तिक के शब्दों से यह अनिवार्यतः अर्थ नहीं निकलता कि इन ब्राह्मणों की रचना स्वयं याज्ञवल्क्य ने की थी। उनका यह नाम इसलिये पड़ा होगा कि वे याज्ञवल्क्य का वर्णन करते हैं। मैं दूसरे मत को अधिक ठीक समझता हूँ, क्योंकि यह स्वीकार करना कठिन है कि संपूर्ण शतपथ ब्राह्मण का या केवल उसके अन्तिम काण्डों का नाम सीधे याज्ञवल्क्य के नाम से पड़ा है। इसे पाणिनि का समकालीन मानना भी कठिन है' (पृ० ११६-११७)।

'समानम् आसांजीवीपुत्रात्' सांजीवीपुत्र तक आचार्य पहले के समान हैं। कारण, इस सांजीवीपुत्र के ऊपर जाने पर वंश में याज्ञवल्क्य तीन पीढ़ी पहले पड़ते हैं, जब कि दसवें काण्ड में इस विद्या का संबन्ध याज्ञवल्क्य से नहीं जोड़ा गया है, अपितु उसे सांजीवीपुत्र से पाँच पीढ़ी पहले होने वाले शाण्डिल्य से और उनसे भी दो पीढ़ी पहले के तुर कावषेय से संबद्ध किया गया है। इस स्थिति से विभिन्न काण्डों की उत्पत्ति की दृष्टि से शतपथ और षष्टिपथ के अतिरिक्त एक तीसरा विभाजन भी संभवतः हो सकता है। कारण, प्रथम पांच और अन्तिम चार काण्डों में याज्ञवल्क्य का नाम वहुशः आया है और जिन-जिन स्थलों पर उनका नाम आया है, वहाँ उनके मतों को निर्णयात्मक माना गया है।⋯अपरं च, यदि हम याज्ञवल्क्यीय-काण्ड और तेरहवें काण्ड की गाथाओं को छोड़ दें, तो इन काण्डों में जिन जातियों का उल्लेख किया गया है, वे पूर्वीय एवं मध्य हिन्दुस्तान में निवास करने वाली जातियाँ हैं। वे हैं—कुरुपंचाल, कोसलविदेह, शिक्न तथा सृंजय। केवल एक बार प्राच्य (पूर्वी जातियाँ) बाहीकों (पश्चिमी जातियों) के विरोधी दिखाये गये हैं। पुनः एक बार उदीच्यों (उत्तर के निवासियों) का उल्लेख किया गया है और अन्त में (दक्षिणी) निषधों का नाम उसके राजा नल नैषध के साथ आया है। इससे शेष काण्ड, अर्थात् छठे से दसवें तक के काण्ड स्पष्टतः पर्याप्त भेद रखते हैं। वे याज्ञवल्क्य के स्थान पर शाण्डिल्य के विचारों को मान्यता देते हैं और याज्ञवल्क्य का नाम नहीं लेते। वे उत्तर-पश्चिमी जातियों, यथा

पश्चिमोत्तरजातीयानामुल्लेखमपि न कुर्वन्ति। किमिदं न सम्भाव्यते यदुपर्युल्लिखितो वंशो न केवलस्य दशमस्य, किन्तु षष्ठादिदशमपर्यन्तकाण्डपञ्चकेन सम्बद्धः स्यात्। तेषु यज्ञवेदिनिर्माणाग्निचयनविधीनां विशेषेण तत्र वर्णनं दृश्यते। तेषां चोत्पत्तिरुत्तरपश्चिमक्षेत्रेषु वक्ष्यमाणतथ्येन निश्चीयते। यद्यपि तद्विषयिणी विद्या पेर्साआर्यन्-विद्याया भिन्नासीत्, तथाप्येतेषां सान्निध्याद् उत्तरपश्चिमक्षेत्रेष्वक्षुण्णासीत्।

यदपि च—'सांख्याचार्यस्यासुरेः शतपथे बहुधोल्लेखः। मद्रदेशीयस्य काप्यपतञ्जलेश्चर्चा दृश्यते, यश्च ब्राह्मणीयतत्त्वज्ञाने नितरामुत्कर्षमारूढ आसीत्। तत्र कपिलस्य पतञ्जलेश्च नामसाम्यं प्रतीयते। यौ सांख्ययोगाचार्यत्वेन प्रसिद्धौ' (पृ० १२३) इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथोल्लेखेऽपि कालनिर्धारणासम्भवात्, अर्जुनफाल्गुनादिशब्दवलात् कालनिर्धारणायोगात्। नामसाम्येनाभेदनिर्णयस्तु स्वजन-श्वजनादिशब्दवलेन क्रियमाणनिर्णय इव बाधित एव। यदपि—'कपिलवस्तुगतशाक्येन दशमकाण्डीयस्य शाकायनिन इत्यस्य मैत्रायणोपनिषदीयशाकायनेन च सम्बन्धो योजयितुं शक्येत। शाक्योऽपि गौतमं स्वात्मानं गदति स्म। वंशनामेदं तस्येति' इति, तदपि पूर्वोक्तहेतुनैवापास्तम्। चित्रमिदं यत् स्वाभिमतविरुद्धत्वादर्जुनफाल्गुनादिनामभिः पाण्डवार्जुनस्य साम्येऽपि भेदः साध्यते। अत्र तु वैषम्येऽप्यभेदः साध्यते। यदपि—'कोशलेषु विदेहेषु च वौद्धधर्मस्य जन्मवृद्धिदर्शनात् शतपथीयस्य श्वेतकेतोस्तुल्यमेव शाक्यस्य पूर्वभवीयं नामासीत्'। तथैव अर्हन्त-श्रमण-महाब्राह्मण-प्रतिवुद्ध-अजातशत्रु-ब्रह्मदत्तादिनाम्नामपि वौद्धाचार्यादितत्तन्नामभिस्तुल्यत्वमपि (पृ० १२५) न शतपथस्य वौद्धकालिकत्वसाधनायालम्, मन्त्रब्राह्मणात्मकवेदप्रोक्तयज्ञादिविरोधिवौद्धेभ्यो वेदस्य पूर्वकालिकत्वसिद्धया वैदिकनाम्नामेव तैः स्वीकरणसम्भवात्।

राजा नग्नजित् के साथ गान्धारों, साल्वों और कैकयों के अतिरिक्त किसी दूसरी जाति का कहीं उल्लेख भी नहीं करते। क्या यह संभव नहीं है कि ऊपर उल्लिखित वंश केवल दशवें काण्ड का नहीं है, अपितु इन पाँचों कांडों से संबद्ध है? चूँकि इन पाँचों कांडों में यज्ञीय वेदि का निर्माण और अग्निचयन की विधियों का विशेष रूप से वर्णन है, अतः उनकी संभावित उत्तरपश्चिमी क्षेत्र की उत्पत्ति इस तथ्य द्वारा स्पष्ट होती है कि यद्यपि इस विषय की विद्या 'पेर्सा-आर्यनों' की विद्या से भिन्न थी, फिर भी इन लोगों के सान्निध्य के कारण वह उत्तर-पश्चिम में विशेष रूप से अक्षुण्ण बनी रही' (पृ० ११८-११९)।

वेवर ने यह भी कहा है—'सांख्य के एक प्रमुख आचार्य आसुरि के नाम के ही एक आचार्य का शतपथ ब्राह्मण में बहुशः उल्लेख है। हम मद्र देश के एक काप्य पतंजलि का उल्लेख पाते हैं, जो ब्राह्मणीय तत्त्वज्ञान में अपने प्रयत्नों द्वारा विशेष रूप से बढ़े-चढ़े थे। उनके नाम में हम कपिल और पतंजलि के नामों को झलक पाते हैं, जो परम्परा से सांख्य और योग दर्शनों के प्रवतक कहे गये हैं' (पृ० १२३)। किन्तु इससे भी कुछ बनता नहीं, क्योंकि ऐसा उल्लेख होने पर भी उससे काल का निर्धारण नहीं किया जा सकता। अर्जुन, फाल्गुन आदि शब्दों के सहारे समय का निर्धारण नहीं हो पाता। नाम की समानता के आधार पर इनमें अभेद मानना उसी तरह की उपहासास्पद बात है, जैसा कि स्वजन और श्वजन आदि शब्दों को समानता के आधार पर एक माना जाय। इसी तरह से—कपिलवस्तु के शाक्य (जिसके नाम का संबन्ध संभवतः दसवें कांड के शाकायनिन् और मैत्रायण-उपनिषद् के शाकायन से जोड़ा जा सकता है) अपने को गौतम कहा करते थे। यह उनका वंश नाम था' (पृ० १२४)। यह कथन भी पूर्वोक्त कारणों से ही निरस्त हो जाता है। यह आश्चर्य की ही बात है कि अपने अभिप्राय के विरुद्ध होने से अर्जुन और फाल्गुन नामों से पाण्डव अर्जुन की समानता होते हुए भी भिन्नता सिद्ध की जाती है और यहाँ असमानता रहते हुए भी उनमें अभेद सिद्ध किया जाता है। इसी तरह से—'कोसलों और विदेहों के देश को ही बौद्ध धर्म के जन्म और फलने-फूलने का स्थान मानना चाहिये। श्वेतकेतु (आरुणि के पुत्र) जो शतपथ में प्रायः उल्लिखित आचार्यों में एक का नाम है, बौद्धों में शाक्यमुनि के पूर्वकालीन जन्म का नाम है। इसी तरह से अर्हन्त, श्रमण, महाब्राह्मण, प्रतिबुद्ध, अजातशत्रु, ब्रह्मदत्त प्रभृति नाम भी बौद्ध आचार्यों के समान हैं' (पृ० १२४)। इस कथन से भी नामों की समानता होते हुए भी शतपथ ब्राह्मण को बौद्धकालीन कृति नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद के द्वारा उपदिष्ट यज्ञादि कर्मों के विरोधी होने से बौद्धों का समय निश्चित रूप से उनके बाद का ही मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में यह सरलता से कहा जा सकता है कि बौद्धों ने पहले-से चले आ रहे नामों को ले लिया।

वस्तुतस्तु शतं पन्थानो मार्गा अध्यायरूपा यस्य तस्य शताध्यायात्मकस्य शतपथब्राह्मणस्य शतपथेति संज्ञान्वर्थैव, अत एव शतपथवत्ताण्डचभाल्लविनां ब्राह्मणस्वरा इति भाषिकसूत्रव्याख्यानावसरे 'शतपथश्च शताध्यायैः' इत्युक्तं तद्भाष्यकृता। काण्वीयशतपथस्य चतुरुत्तरशताध्यायवत्त्वेऽपि शतपथेति तत्रापि छत्रिन्यायेन रूढेयं संज्ञा। षष्टिपथ-शतपथेति भेदस्तु न वेबरादिभिरभ्यूहितः, किन्तु प्रतिज्ञापरिशिष्टे षष्टिपथोऽशीतिपथोऽनवद्यः सम्मितः पञ्चदशपथ इत्यनेनानेकेषामवान्तरविभागानां संज्ञाः प्रदर्शिताः। तत्र षष्टचध्यायसम्मितो भागः षष्टिपथः, अशीत्यध्यायपर्यन्तो भागोऽशीतिपथः, पञ्चदशाध्यायपरिमितो भागः पञ्चदशपथः। प्रथमं द्वितीयं च काण्डं पञ्चदशाध्यायाः। अत्र हविर्यज्ञियनामकमैष्टिकं याज्ञिकं सर्वं निरूपितम्। प्रथमहविर्यज्ञकाण्डादारभ्य सचितिनामकनवमकाण्डपर्यन्तं षष्टचध्यायाः षष्टिपथेतिसंज्ञया प्रसिद्धाः। तत्र तृतीयकाण्डान्नवमं यावत्सौमिकं सर्वं निरूपितम्। प्रथमकाण्डादारभ्य द्वादशकाण्डीयषडध्याय्यन्तमशीत्यध्यायाः सन्त्यतस्तत्परिमितभागस्याशीतिपथेति संज्ञा युक्तैव। अग्निरहस्याख्यदशमकाण्डमारभ्य मध्यमसंज्ञकद्वादशकाण्डीयषडध्याय्यन्तेन ग्रन्थेनोत्तरक्रतुयाज्ञिकं सर्वं निरूपितम्। अवशिष्टैरध्यायैः सौत्रामण्यश्वमेधादियागा पूर्वमनुक्ता ब्रह्मविद्या च निरूपिताः। तेनादितोऽध्यायगणनया समग्रो ग्रन्थः शतपथेति प्रसिद्धः। शतपथ-षष्टिपथशब्दाभ्यां 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्' (पा० सू० ४।२।६०) इति स्थलीयेन 'शतषष्टेः षिकन् पथः' शतशब्दात् षष्टिशब्दाच्च परो यः पथिन्शब्दस्तदन्तात् षिकन्प्रत्ययो वाच्य इत्यर्थकेन वार्त्तिकेन षिकनि शतपथमधीते शतपथिकः, षष्टिपथमधीते षष्टिपथिक इति रूपसिद्धिः। अशीतिपथः, पञ्चदशपथ इति। तेन पाणिनेरपि पूर्वतना नित्या वैदिकाः शतपथादिशब्दाः।

महाभारतेऽपि शतपथादिविभागा उक्ताः। 'ततः षष्टिपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम्। चक्रे सपरिशेषं च सोत्तरं च प्रहर्षतः॥' (शा० प० मोक्षधर्मपर्व ४३।१६)। षष्टिपथः शतपथ इति पूर्वोक्तमेव। दशमं काण्डं रहस्यमग्नि-

वास्तव में तो जिसके सौ मार्ग अर्थात् अध्याय हैं, उस सौ अध्याय वाले शतपथ ब्राह्मण का यह नाम उसके अर्थ के अनुरूप है। इसीलिये शतपथ के समान ही ताण्डच और भाल्लवियों के ब्राह्मणों के भी स्वर होते हैं, इस भाषिक सूत्र की व्याख्या करते समय उसके भाष्यकार ने कहा है कि—सौ अध्याय होने से इसको शतपथ कहा जाता है। काण्व शाखा के शतपथ में यद्यपि १०४ अध्याय हैं, किन्तु माध्यन्दिन शतपथ में सौ अध्याय होने से इसके साथ काण्व शाखा के ब्राह्मण को भी शतपथ ही कहा जाता है, जैसा कि कई छत्रधारियों के साथ चलने पर जिसके पास छत्र नहीं होता, उसके लिये भी इस शब्द का प्रयोग लक्षणा से किया जाता है। षष्टिपथ और शतपथ की भेद-कल्पना वेबर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने नहीं की है, किन्तु प्रतिज्ञापरिशिष्ट में षष्टिपथ, अशीतिपथ, पञ्चदशपथ प्रभृति अनेक प्रशंसनीय अवान्तर विभाग परिकल्पित हैं। इनमें साठ अध्याय वाला भाग षष्टिपथ, अस्सी अध्याय पर्यन्त भाग अशीतिपथ और पन्द्रह अध्याय पर्यन्त भाग पञ्चदशपथ कहलाता है। प्रथम और द्वितीय काण्ड में मिलकर पन्द्रह अध्याय होते हैं। यहाँ हविर्यज्ञ के नाम से इष्टि और यज्ञ संबन्धी सारी बातें वर्णित हैं। प्रथम हविर्यज्ञ काण्ड से आरम्भ कर सचिति नामक नवम काण्ड पर्यन्त शतपथ के भाग में साठ अध्याय होने से यह षष्टिपथ के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ तृतीय काण्ड से लेकर नवम काण्ड पर्यन्त सोमयाग संबन्धी सभी बातें बताई गई हैं। प्रथम काण्ड से लेकर बारहवें काण्ड के छः अध्याय पर्यन्त शतपथ में अस्सी अध्याय पूरे होते हैं, अतः वहाँ तक का शतपथ अशीतिपथ के नाम से प्रसिद्ध है। अग्निरहस्य नाम के दसवें काण्ड से प्रारम्भ कर मध्यम नाम के बारहवें काण्ड के छठे अध्याय तक के ग्रन्थ में यज्ञ के संपन्न हो जाने के बाद की जाने वाली क्रियाओं का निरूपण किया गया है। बचे अध्यायों में सौत्रामणी, अश्वमेध प्रभृति उन यागों का वर्णन है, जिनका कि वर्णन पहले नहीं हुआ है और अन्त में ब्रह्मविद्या निरूपित है। इस तरह से सब जगह प्रारंभ से अध्यायों की गणना करने पर पूरे ग्रन्थ में सौ अध्याय होने से यह ब्राह्मण शतपथ कहलाता है। शतपथ और षष्टिपथ शब्दों से ४।२।६० संख्या के पाणिनि सूत्र में विद्यमान वार्तिक से शत और षष्टि शब्द से आगे आये पथिन् शब्द से षिकन् प्रत्यय का विधान होता है। षिकन् प्रत्यय होने पर शतपथ को पढ़ने वाला शतपथिक और षष्टिपथ को पढने वाला षष्टिपथिक कहलाता है। अशीतिपथ और पञ्चदशपथ में यह प्रत्यय नहीं होता। इस तरह से यह सिद्ध है कि शतपथ प्रभृति शब्द पाणिनि से भी प्राचीन हैं और ये वैदिक शब्द नित्य एवं अनादि हैं।

रहस्यसंज्ञकम्, प्रागुक्तकर्मणां रहस्यावेदकत्वात्। एकादशं काण्डं संग्रहप्रागुक्तकर्मापेक्षितानुक्तसंग्राहकत्वात् तत्सहितं ससंग्रहम्। द्वादशत्रयोदशे काण्डे चतुर्दशकाण्डान्तर्गतप्रवर्ग्यकाण्डं च परिशेषः, उक्तकर्मणां परिशिष्टांशाभिधायकत्वात्। तत्सहितं सपरिशेषम्। चतुर्दशकाण्डगता षडध्यायी मधुयाज्ञवल्क्यखिलात्मकावान्तरकाण्डत्रयवती बृहदारण्यकोपनिषद्। उत्तरं कर्मोत्तरकालिकब्रह्मात्मज्ञानप्रतिपादकत्वात् तत्सहितं सोत्तरं समग्रं शतपथं याज्ञवल्क्यश्चक्रे। प्रवचनेन पृथिव्यां तत्सम्प्रदायं प्रवर्तितवानित्यर्थः। द्वादशस्य काण्डस्य मध्यमकाण्डसंज्ञात्वेन एगलिङ्महाशयरीत्या (१०-१४) इमान्येव पञ्च काण्डानि प्रधानानि प्राचीनानि च समासन्। तदनन्तरं १-९ काण्डानि संयोजितानि स्युः। बेवररीत्या तु १-९ काण्डान्येव प्राचीनानि, १०-१४ पञ्च काण्डानि तूत्तरोत्तरमर्वाचीनान्येवेति, तदेतत्सर्वमप्यज्ञानविजृम्भितमेव, पूर्वोक्तमहाभारतश्लोकरीत्या १-९ प्रधानानि, तदितराणि १०-१४ च तत्परिपोषकानीत्यनुपदमेव प्रतिपादितत्वात्। द्वादशकाण्डस्य मध्यमसंज्ञा तु तद्गतप्रतिपाद्यदीक्षादिविषयसाधारण्येन प्रधानपोषकाध्यायेषु पञ्चसु मध्यमत्वेन वा सङ्गच्छते।

महाभारते शान्तिपर्वणि ३१८ अध्याये स्पष्टमेवोक्तं यद् याज्ञवल्क्यस्य मुखे तपःप्रीतेन भगवतादित्येन प्रेरिता सरस्वती वेदरूपा प्रविष्टा। 'सरस्वती ह वाग्भूता शरीरं ते प्रवेक्ष्यति। ततो मामाह भगवानास्यं स्वं विवृतं कुरु। विवृतं च ततो मेऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती॥' (६।७) तत्रैव भगवतो भास्करस्य वचनम्—'प्रतिष्ठास्यति ते वेदः सखिलः सोत्तरो द्विज। कृत्स्नं शतपथं चैव प्रणेष्यसि द्विजर्षभ॥ (११) एतेन सखिलो वेदो भगवत्कृपया प्राप्तः, न खिलांशः पश्चान्निर्मितः। नीलकण्ठानुसारं खिलं परशाखीयं स्वशाखायामपेक्षितं प्रेक्षावशात् पठ्यते। यथा

महाभारत में भी शतपथ प्रभृति विभाग बताये गये हैं—'इसके बाद रहस्य और संग्रह, परिशेष और उत्तर भाग के साथ याज्ञवल्क्य ने षष्टिपथ नामक ब्राह्मण का प्रवचन किया'। षष्टिपथ और शतपथ के बावत अभी बताया जा चुका है। यहाँ अग्निरहस्य नाम का दसवाँ काण्ड रहस्य नाम से अभिहित है, क्योंकि इसमें पूर्व प्रतिपादित क्रियाकाण्ड का रहस्य समझाया गया है। ग्यारहवाँ काण्ड संग्रह नाम से सूचित है, क्योंकि इसमें पूर्व प्रतिपादित क्रियाओं के संबन्ध में जो बातें छूट गई हैं, उनका संग्रह किया गया है। बारहवाँ, तेरहवाँ काण्ड पूरा और चतुर्दश काण्ड का प्रवर्ग्य काण्ड परिशेष नाम से यहाँ बोधित हुआ है, क्योंकि इनमें प्रतिपादित सभी क्रियाकलाप परिशिष्ट अंश के रूप में गिनाये गये हैं। उत्तर शब्द यहाँ क्रियाकाण्ड के बाद उत्तर काल में अनुष्ठेय ब्रह्मात्मज्ञान के प्रतिपादक उपनिषद् के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस तरह से रहस्य, संग्रह, परिशेष और उत्तर भाग के साथ समग्र शतपथ ब्राह्मण को याज्ञवल्क्य ने बनाया, अर्थात् उसका प्रवचन कर पृथिवी में इसके सम्प्रदाय को चलाया। बारहवें काण्ड का नाम 'मध्यम' है। इससे एगलिंग यह अभिप्राय निकालते हैं कि इस ब्राह्मण के १०-१४ अध्याय ही प्रधान और प्राचीन थे। १-९ अध्याय बाद में जोड़े गये। इसके विपरीत बेवर का कहना है कि १-९ काण्ड ही प्राचीन हैं और १०-१४ काण्डों की उत्तरोत्तर नवीन रचना हुई है। इस तरह की सारी बातें भी पाश्चात्य विद्वानों के अज्ञान को ही उजागर करती हैं। पूर्वोक्त महाभारत के श्लोक के प्रमाण पर हमने अभी स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि इस ब्राह्मण के १-९ अध्यायों में प्रधान विषय प्रतिपादित हैं और बाद के १०-१४ अध्यायों में इन पूर्व प्रतिपादित विषयों को ही पुष्ट करने वाले विषय वर्णित हैं। बारहवें काण्ड का नाम 'मध्यम' इसलिये है कि यहाँ दीक्षा प्रभृति उन विषयों का प्रतिपादन हुआ है, जिनकी कि मध्य में स्थिति होने से वे पूर्वापर उभय भाग से परिपोषक होते हैं अथवा 'मध्यम' नाम इसलिये भी सार्थक हो सकता है कि इन अप्रधान पाँच अध्यायों के बीच में इसकी स्थिति है।

महाभारत के शान्तिपर्व के ३१८ अध्याय में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि याज्ञवल्क्य के मुख में उनकी तपस्या से संतुष्ट होकर भगवान् भास्कर ने वेदवाणी सरस्वती को प्रविष्ट होने के लिये प्रेरित किया। 'तब भगवान् भास्कर ने मुझसे कहा कि तुम अपना मुँह खोलो, तुम्हारे शरीर में वाणी बनकर सरस्वती प्रविष्ट होगी। जब मैंने अपना मुँह खोला तो भगवान् सूर्य की आज्ञा के अनुसार सरस्वती मेरे मुँह में प्रविष्ट हो गई'। महाभारत में ही भगवान् भास्कर के ये वचन मिलते हैं—'हे द्विजश्रेष्ठ याज्ञवल्क्य, खिल और उत्तर भाग के साथ वेद तुममें प्रतिष्ठित होगा और हे द्विज, तुम सम्पूर्ण शतपथ ब्राह्मण का प्रवचन करोगे'। इससे यह स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य ने भगवान् भास्कर की कृपा से खिल भाग के साथ वेद को प्राप्त किया था, खिल भाग बाद में नहीं बनाया

बह्वृचानां हिरण्यवर्णां हरिणीमिति श्रीसूक्तम्। सोत्तरं सोपनिषत्कम्। कृत्स्नस्य शतपथस्य शताध्यायात्मकस्य याज्ञवल्क्यादेवाविर्भावः। पञ्चदशशाखा भास्करप्रभावादेव तेनावाप्ता इत्यपि तत्रैव वर्णितम्। 'शाखाः पञ्चदशेमास्तु विद्या भास्करदेशिताः' (२४) इति।

यत्तु माध्यन्दिनशब्दो मध्यमवाचकः, तेनेयं माध्यन्दिनी शाखा नातिप्राचीना' इति, तदपि यत्किञ्चित्, माध्यन्दिनशब्दस्य मध्यमवाचकत्वे मानाभावात्। किन्तु कण्वेन महर्षिणा दृष्टत्वान्माध्यन्दिनी शाखेति तन्निर्वचनविरोधाच्च। यदपि ६-१० काण्डेषु शाण्डिल्यस्य बहुवारोल्लेखात् तानि शाण्डिल्यप्रणीतानीति बेवरप्रभृतय इति, तदप्यसङ्गतम्, उक्तकाण्डेषु तन्नामोल्लेखपूर्वकं तन्मतस्यानूदितत्वेन तन्नाम्ना प्रख्यातायाः शाण्डिल्याग्निविद्यायाः प्रतिपादितत्वेन तत्कर्तृकत्वासिद्धेः। पूर्वमीमांसायां 'बादरायणस्यानेपक्षत्वात्' इति बादरायणनामोल्लेखेऽपि यथा न बादरायणकर्तृकत्वम्, यथा वोत्तरमीमांसायां जैमिनिमतोल्लेखेऽपि न जैमिनिकर्तृकत्वम्, तद्वत् प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्।

यदपि कैश्चित्—'अमुकया अमुकः पुत्र इति जननीप्राधान्येन शतपथे यजुर्वेदाचार्याः प्रतिपादिताः' इति, तदपि न किञ्चित्, 'अथेदानीं समस्तप्रवचनवंशः, स्त्रीप्राधान्याद् गुणवान् पुत्रो भवतीति प्रस्तुतम्' इति शङ्करभगवत्पादैस्तदभिप्रायस्य वर्णनात्।

कल्पाध्ययनेन स्वशाखातो विशेषतया भिन्नशाखास्ववस्थितपदार्थोपस्मारकं मन्त्राध्ययनं क्रियाप्रख्यायकं ब्राह्मणाध्ययनं च कृतं भवति। तेन यथाकथञ्चित् सकलशाखासमन्वितो वेदोऽप्यधीतो भवति। तेन सत्यां शक्तौ

गया था। नीलकण्ठ का कहना है कि खिल भाग में दूसरी शाखा के वे मन्त्र होते हैं, जिनका कि आवश्यकता के अनुसार अपनी शाखा में उपयोग होता है। जैसे ऋग्वेदी 'हिरण्यवर्णां' प्रभृति ऋचाओं से संबन्धित श्रीसूक्त को अपनी शाखा का खिल इसी अभिप्राय से मानते हैं। उत्तरपथ से उपनिषद् का ग्रहण किया जाता है। इस तरह से सौ अध्याय वाले संपूर्ण शतपथ ब्राह्मण का प्रथम प्रवचन याज्ञवल्क्य ने ही किया है। महाभारत में ही यह बात वर्णित है कि भगवान् भास्कर की कृपा से याज्ञवल्क्य ने शुक्ल यजुर्वेद की १५ शाखाएं प्राप्त कीं।

यह कहना कि माध्यन्दिन शब्द मध्यम का वाचक है, इसलिये यह माध्यन्दिनी शाखा बहुत प्राचीन नहीं है, इसलिये गलत है कि इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि माध्यन्दिन शब्द मध्यम अर्थ का बोधक हो। माध्यन्दिनी शाखा कण्व महर्षि के द्वारा परिदृष्ट है, यह बात भी उसके निर्वचन से विरुद्ध पड़ती है। बेवर प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् यह मानते हैं कि शतपथ ब्राह्मण के ६-१० काण्डों में शाण्डिल्य का अनेक बार उल्लेख होने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये काण्ड शाण्डिल्य के बनाये हुए हैं, किन्तु यह कथन असंगत है, क्योंकि इन काण्डों में शाण्डिल्य के नाम का उल्लेख करते हुए उनका मत बताया गया है और शाण्डिल्य के नाम से प्रसिद्ध अग्निविद्या का प्रतिपादन किया गया है। इससे यह भाग उनकी कृति नहीं माना जा सकता। पूर्व मीमांसा में बादरायण के और उत्तर मीमांसा में जैमिनि के मत का उल्लेख किया गया मिलता है, किन्तु इतने मात्र से ये आचार्य उनके कर्ता नहीं माने जाते। यही बात शतपथ ब्राह्मण के इन अध्यायों में शाण्डिल्य के मत का उल्लेख होने में भी समझनी चाहिये, अर्थात् शाण्डिल्य के मत का उल्लेख होने मात्र से ये काण्ड उनकी कृति नहीं माने जा सकते।

कुछ लोग कहते हैं कि 'अमुक स्त्री का अमुक पुत्र है, इस तरह से माता को प्रधानता देकर शतपथ ब्राह्मण में यजुर्वेद के अनेक आचार्यों का उल्लेख किया गया है', किन्तु यह कथन भी वास्तविक अभिप्राय को न समझने के कारण है। भगवान् शंकराचार्य ने अपने बृहदारण्यक भाष्य में यह स्पष्ट कहा है कि अब शाखाओं के समस्त प्रवचनकर्ताओं का वंश इस अभिप्राय से प्रस्तुत किया जा रहा है कि माता को प्रधानता देने पर पुत्र गुणवान् होता है।

कल्प अर्थात् श्रौतसूत्र आदि के अध्ययन से अपनी शाखा में, विशेषतया भिन्न शाखाओं में विहित पदार्थों के स्मारक मन्त्रों का अध्ययन और क्रिया काण्ड के परिचायक ब्राह्मणों का अध्ययन भी ठीक से संपन्न होता है। इससे एक तरह से वेद की सभी शाखाओं का अध्ययन पूरा हो जाता है। अपनी सामर्थ्य के अनुसार सभी शाखाओं के साथ समग्र वेद का अध्ययन करना चाहिये।

सर्वशाखायुक्तः समग्रो वेदोऽध्येतव्यः। अन्यथा कल्पेन सहितां स्वशाखामधोत्यैव यथाकथंचित् समग्रं वेदाध्ययनं सम्पादयितव्यम्। स्वाध्यायो वेदश्चेत्यनर्थान्तरम्। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यध्ययनविधेश्चारितार्थ्याय कल्पोऽवश्यमध्येतव्यः। 'वेदं समाप्य स्नायात्' (पारस्करगृह्यसूत्र २।६।1) सहस्रं शाखा (साम्नो) ह्यर्थतो वेदशब्द इति प्रसिद्धेश्च। सर्वशाखोपबृंहितस्य वेदस्याध्ययनं मुख्यम्। समुदायेषु प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्त इति महाभाष्योक्तदिशा स्वाध्यायो वेद इत्यादिशब्दाः स्वावयवभूनासु शाखास्वपि प्रवर्तिताः। एकवेदशाखानामपि परस्परापेक्षत्वमेव, अन्यथा कर्मासिद्धेः। अत एव दर्शपूर्णमासयागोयेषु मन्त्रेषु यो मन्त्रजातो माध्यन्दिनशाखायां नासीत् 'यस्ते प्राणः पशुषु प्रविष्टः', 'आप्यायतां ध्रुवा हविषा', 'ततोऽसि तन्तुरसि' इत्यादिः, स कण्वशाखातः पूरितः सूत्रकृता।

यदपि कात्यायनादिसूत्राण्याश्रित्य लौगाक्षि-भारद्वाज-जातुकर्ण्य-वात्स्य-बादरि-काशकृत्स्न-कार्ष्णाजिनि-प्रभृतिनाम्नामारण्ये प्रातिशाख्ये चोल्लेखान्मन्त्रब्राह्मणादिकालनिर्धारणायासः, सोऽप्यपार्थक एव, सूत्रादिपौरुषेयग्रन्थानां कालनिर्धारणेऽपि नित्येषु मन्त्रब्राह्मणेषु तन्न सम्भवत्येव, तेषामनादित्वात्। यदपि अत्रिपुत्र्या वंशजानां हालेय-वालेय-कौद्रेय-शौभ्रेय-वामरथ्य-गौपवनान् प्रत्याक्रोशस्तथा अत्रिवंशजान् प्रति सम्मानादिकल्पनम्, तदपि निर्मूलमेव, ब्राह्मणनिर्दिष्टनाम्नामेव तत्राप्युल्लेखेन स्वातन्त्र्याभावात्। विजयशब्दोल्लेखस्तु यागादिसम्बन्धेनैव मन्तव्यः। कात्यायनपरिशिष्टान्यपि भाष्यादिसम्मतत्वात् प्रमाणान्येव। निगमपरिशिष्टप्रवराध्यायादीनि नामान्यपि वेदार्थनिर्णयानुष्ठानोपयोगित्वात् प्रमाणान्येव।

यच्च—'अथर्ववेदे दैवीशक्तीनामशुभप्रभावाद् विषधरजीवेभ्यो रक्षणार्थमेते मन्त्रा निर्मिताः' इति, तदपि तुच्छम्, हेत्वाभासैरनुमानासम्भवस्योक्तत्वात्। निःश्वसितत्वादिनाऽथर्वाङ्गिरसामपि नित्यत्वाभ्युपगमात्। यदपि

अन्यथा कल्पसूत्र के साथ अपनी शाखा का अध्ययन करके भी समग्र वेदाध्ययन संपादित किया जा सकता है। स्वाध्याय और वेद परस्पर पर्यायवाची शब्द हैं। इसलिये 'स्वाध्याय करना चाहिये' इस अध्ययन विधि की चरितार्थता के लिये कल्प का अध्ययन अवश्य करना चाहिये। पारस्कर गृह्यसूत्र में बताया गया है कि वेद का अध्ययन पूरा करके ही स्नातक बनना चाहिये। यह प्रसिद्धि चली आ रही है कि शबरस्वामी सामवेद की एक हजार शाखाओं के अर्थतः जानकार थे। वेद की सभी शाखाओं का अध्ययन किया जाय, यह मुख्य पक्ष है। समुदाय के लिये प्रवृत्त हुए शब्द अवयवों के भी बोधक होते हैं, इस महाभाष्य की उक्ति के अनुसार स्वाध्याय, वेद इत्यादि शब्द अपनी अवयवभूत शाखाओं के लिये भी प्रवृत्त हैं। एक ही वेद की विभिन्न शाखाओं की भी परस्पर सापेक्षता रहती है, अन्यथा कोई अनुष्ठान पूरा नहीं हो सकता। इसी लिये दर्शपूर्णमास याग के मन्त्रों में जो मन्त्र माध्यन्दिन शाखा में नहीं हैं, उनकी पूर्ति कल्पसूत्रकार ने काण्व शाखा से लेकर की है।

कात्यायन श्रौतसूत्र के आधार पर लौगाक्षि और भारद्वाज तथा जातूकर्ण्य, वात्स्य, बादरि, काशकृत्स्न और कार्ष्णाजिनि प्रभृति नामों का आरण्यक और प्रातिशाख्य में उल्लेख देखकर मन्त्र और ब्राह्मण भाग का समय निर्धारित करने का प्रयत्न भी व्यर्थ ही है, क्योंकि श्रौतसूत्र प्रभृति पुरुष रचित ग्रन्थों का समय निर्धारित किया भी जा सकता है, किन्तु नित्य मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद का उनके आधार पर कालनिर्णय नहीं किया जा सकता, क्योंकि वेद तो अनादि हैं। वेबर ने आगे कहा है—'अत्रि की पुत्री के वंशजों (हालेय, वालेय, कौद्रेय, शौभ्रेय, वामरथ्य, गोपवन) के प्रति कुछ आक्रोश व्यक्त करता है, जब कि स्वयं अत्रि के वंशजों को विशेष संमान प्रदान किया गया है' (पृ० १२६), किन्तु यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि ब्राह्मण भाग में निर्दिष्ट नामों का ही कल्पसूत्रों में भी उल्लेख है, स्वतन्त्र रूप से इनकी विधायकता नहीं मानी जाती। कल्पसूत्रों में विजय शब्द का उल्लेख भी यज्ञ संबन्धी दिग्विजयों से संबद्ध है। कात्यायन के परिशिष्ट भी महाभाष्यकार प्रभृति की संमति के आधार पर प्रमाण माने जाते हैं। निगमपरिशिष्ट, प्रवराध्याय प्रभृति ग्रन्थ भी वेदार्थ के निर्णय और यज्ञीय अनुष्ठानों में सहायक होने से प्रमाणभूत हैं।

अथर्ववेद के संबन्ध में वेबर का कहना है—'इसमें प्रमुख रूप से इस प्रकार के मन्त्र हैं, जो दैवी शक्तियों के अशुभ प्रभाव से तथा रोगों एवं विषधर जीवों से रक्षा करने के लिये रचे गये हैं (पृ० १३२-१३३), किन्तु यह कथन व्यर्थ ही है, क्योंकि

च अथर्वसूक्तानां सामान्यजनैरेव प्रायेण संवन्ध इति, तदपि यत्किञ्चित्, तज्ज्ञानामेव ब्रह्मत्वावधारणात्। आभिचारिक्यस्तु क्रियाः सामादिष्वप्युपलभ्यन्ते। यदुक्तम्—'अथर्वसंहिताया अधिकांशा भागा ब्राह्मणीययुगेषूत्पन्नास्तथापि तादृशान्यपि सूक्तानि पश्चात्तत्र योजितानि, यानि पाश्चात्त्यैरब्राह्मणीयैरार्यैः सम्वद्धानि' इति, तदपि निर्मूलम्, तादृशप्रमाणानुपलम्भात्, तादृशसम्भावनामात्रस्य पाश्चात्त्यैराविष्करणात्। अव्यभिचरितहेतुमन्तरा सम्भावनाया अकिञ्चित्करत्वात्। यदपि च—'व्रात्यजातीयैः पञ्चदशकाण्डीयव्रात्येन विशिष्टः सम्वन्धो दृश्यते। अत्र परमात्मा व्रात्य उक्तः। स च तैर्विशेषैर्योजितो ये सामवेदीयव्रात्यलक्षणरूपेणोक्ताः। एवमथर्वाङ्गिरसामुपनिषत्सु व्रात्यशब्दः स्वतः पवित्रपरमार्थे प्रयुक्तः' इति, तदपि निर्मूलम्, वैदिकानां शब्दार्थसम्वन्धानामौत्पत्तिकत्वेनागन्तुकसम्वन्धासिद्धेः। ब्राह्मणीययुगेषु ब्राह्मणानां प्रभुत्वमुपेयते पाश्चात्त्यैः। तेषां स्वीयव्यवस्थायामादरातिशयोऽपि तैरुपेयते। तथा सति स्वातन्त्र्यकथनैरपौरुषेयत्वेनाभिमतेषु निम्नकोटिकनिर्मितसूक्तानां तदभिमतव्रात्यतल्लक्षणानां च परमात्मनि योजनं सम्भवति। किञ्चोभयसम्मताप्तजनसाक्षित्वाभावेन प्रत्यक्षानुमानागमानामन्यतमस्यापि प्रमाणस्याभावान्निर्मूलैवैषा कल्पना। 'मागधपदं ब्राह्मणीयव्यवस्थाविरोधिवौद्धाचार्यपरम्' इत्यपि निर्मूलमित्युक्तमेव।

यदपि व्रात्यसूक्तेषु पाश्चात्त्यानां पञ्चजातीनां पौरस्त्ययोश्च द्वयोरेव जात्योर्वर्णनात् तेषां प्रभावकाल एव तेषां निर्माणमित्यादिकल्पनमपि निरर्थकम्, वेदे नाम्नामुल्लेखस्य निर्माणकालनिर्धारणेऽतन्त्रत्वात्। यत्तु—'कृष्णकेशिन उल्लेखो महत्त्वपूर्णो यस्य वधाद् आङ्गिरसदेवकीपुत्रो महाकाव्येषु केशिहन्केशिसूदनादिविशेषणैर्भूष्यते' (पृ० १३४) इति, तदपि तुच्छम्, श्रीमद्भागवतादिषु केशिदैत्यस्यान्यस्य प्रसिद्धत्वेन तद्धन्तृत्वेनैव केशिसूदन-

हम पहले ही कह चुके हैं कि गलत हेतुओं से अनुमान नहीं बन सकता। परमेश्वर के निःश्वासस्वरूप अन्य वेदों की तरह अथर्ववेद भी नित्य ही माना जाता है। 'अथर्व सूक्तों का प्रायः सामान्य जनता से संबन्ध है' (पृ० १३३) यह कथन भी गलत है, क्योंकि यज्ञयागादि में ब्रह्मा का प्रधान स्थान अथर्ववेदी के लिये हो नियत है। आभिचारिक क्रियाएँ अथर्थवेद में ही नहीं, सामवेद आदि में भी मिलती हैं। यह भी लिखा गया गया है कि 'यद्यपि अधिकांश अथर्वसंहिता की उत्पत्ति ब्राह्मणीय युग में हुई थी, फिर भी इसमें इस प्रकार के सूक्त और मन्त्र संमिलित कर लिये गये होंगे, जो वस्तुतः इन पश्चिम के अब्राह्मणीय आर्यों से संवद्ध थे' (पृ० १३३), किन्तु यह लिखना भी निर्मूल है, क्योंकि इस तरह का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इस तरह की संभावनाएँ केवल पाश्चात्यों के दिमाग की उपज हैं। अव्यभिचारी हेतु के बिना इस तरह की संभावनाएँ कुछ सिद्ध नहीं कर पातीं। 'इन जातियों के साथ एक विशेष प्रकार का संबन्ध पन्द्रहवें काण्ड में नितान्त स्पष्ट रूप से प्रकट है। इसमें परमात्मा को स्पष्टतः व्रात्य कहा गया है और उन विशेषताओं से संबद्ध किया गया है, जो सामवेद में व्रात्य के लक्षण के रूप में दी गई है। इसी प्रकार हम अथर्व उपनिषदों में इस 'व्रात्य' शब्द को 'स्वयं में पवित्र' अर्थ में परमात्मा का बोध कराने के लिये प्रयुक्त पाते हैं' (पृ० १३३-१३४) यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि वैदिक शब्द, अर्थ और उनके संबन्ध नित्य माने जाते हैं। इनको कल्पित नहीं माना जाता। ब्राह्मणीय युग और ब्राह्मणों के प्रभुत्व की बात पाश्चात्य विद्वान् करते हैं। अपनी व्यवस्था के प्रति वे बड़ा आदर भी प्रदर्शित करते हैं। इस मनोवृत्ति के अनुकूल वे अपने स्वतन्त्र विचारों के आधार पर वेदों को पौरुषेय मानकर उनमें निम्न कोटि के सूक्तों की रचना तथा उनके द्वारा कल्पित व्रात्य के लक्षणों को परमात्मा के साथ जोड़ने की बात कह सकते हैं, किन्तु उभयवादीसंमत मान्य विद्वानों की साक्षी अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों में से किसी भी प्रमाण के अभाव में इस तरह की कल्पनाएँ सर्वथा निर्मूल ही मानी जायंगी। 'मागध' शब्द ब्राह्मणीय व्यवस्था के विरोधी बौद्ध आचार्यों की ओर संकेत करता है' (पृ० १३४) इस कथन की निःसारता पहले ही बताई जा चुकी है।

'व्रात्य सूक्त में पश्चिम में बसी हुई जातियों में पाँच का और पूर्व की केवल दो जातियों का उल्लेख होने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके प्रभाव काल में ही इनकी रचना हुई थी' (पृ० १३४) इस तरह की कल्पनाएँ भी निरर्थक हैं, क्योंकि वेदों में नामों का उल्लेख मात्र होने से उनका रचनाकाल की सिद्धि में कोई उपयोग नहीं हो सकता। यह जो कहा गया है कि—'विशेषतः रोचक है असुर कृष्णकेशिन् का उल्लेख, जिसका वध करने के कारण कृष्ण (आंगिरस ? देवकीपुत्र) को महाकाव्य और पुराणों में

त्वाद्युपपत्तेः । राथप्रभृतोनां भाषाविज्ञानानुसारेण वैदिकनाम्नां पाश्चात्त्यनाम्नामपि साम्यदर्शनेनैक्यापत्तेः । न च तद्युक्तम्, गिरिजागृहगिर्जागृहादीनामैक्यस्यानिष्टत्वात् । यदुक्तम्—शतपथब्राह्मणस्य ११।१३।१४ काण्डानां छान्दोग्योपनिषदस्तैत्तिरीयारण्यकस्य च रचनाकालेऽथर्वसूक्तानामथर्ववेदस्य च प्रसिद्धिः सञ्जातेति सामवेदस्य निदानसूत्रेष्वथर्ववेदस्याथर्वाङ्गिरसस्य चोल्लेखाद्विज्ञायते' इति, तदपि तुच्छम्, हेत्वसिद्धेः । अथर्ववेदशाखानामपि कौशिकसूत्रमपहायान्यत्रानुपलब्धिकथनमपि निर्मूलम्, मुक्तिकोपनिषत्सीतोपनिषदादिषु तच्छाखोल्लेखदर्शनात् ।

यदपि '१३६ पृष्ठे ब्रह्मवेद इत्यथर्ववेदस्य प्रसिद्धिः परवर्तिकाले जाता' इति, तदप्यशुद्धम्, ऋग्वेदादिरीत्या तस्य ब्रह्मवेदत्वप्रसिद्धेः, ब्रह्माख्यस्य ऋत्विजस्तत्र प्रसिद्धेः । मन्त्राणां ब्राह्मणानां वेदानां च परस्परं सम्बन्धदर्शनात् समेषामनादित्वमेव, क्रमिकाणां तदनुपपत्तेः । यत्तु—'ब्रह्मवेद ऋत्विजां प्रमुखस्य ब्रह्मणो वेदत्वं स्वात्मानमभिमन्यते, अन्ये तु वेदा होत्रादीनां तत्सहकारिणां वेदा उच्यन्ते । महता चातुर्येणाथर्ववेदस्येदं प्राधान्यं साधितं यद् ब्रह्मणः कश्चिद्विशिष्टो वेदो नासीत्, तेन ब्रह्मणा त्रयोऽपि वेदा ज्ञातव्या आसन् । कौषीतकिब्राह्मणे (२।३०५) अन्यः कोऽप्याधारो नास्ति । तत्प्राधान्यस्य एता धारणा यावत्या मात्रया दुर्वलास्तावद्भिरेवाडम्वरैरथर्वरचनासु प्रस्तुता, यैरन्यान् वेदान् प्रति घोरं वैमनस्यं व्यज्यते' (पृ० १३६) इति, तदेतत् सर्वं वेवरादीनां पाश्चात्त्यानां दौर्मनस्यमूलकमेव, वैदिकविचारसरण्यज्ञानात् । सर्वत्र वेदेषु नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुमिति न्यायस्य जागरूकत्वात् । न केवलमत्रैव, सर्वत्र वेदेषु तादृशवाक्यानां दर्शनात् । भार्गवपैप्पलादशौनकादय एव

केशिहन् ओर केशिसूदन विशेषण दिये गये हैं' (पृ० १३४), किन्तु यह सारा कथन सारहीन है, क्योंकि श्रीमद्भागवत प्रभृति ग्रन्थों में एक भिन्न ही केशी नामक दैत्य प्रसिद्ध है । उसी को मारने के कारण कृष्ण केशिसूदन कहे जाते हैं । राथ प्रभृति की भाषाविज्ञान की पद्धति से तो वैदिक नामों की और पाश्चात्य नामों की भी समानता के आधार पर एकता सिद्ध होने लगेगी, किन्तु यह बात ठीक नहीं होगी, क्योंकि तब तो गिरिजाघर और दुर्गा मन्दिर की एकता के आधार पर महान् अनर्थ की सृष्टि होने लगेगी । वहीं कहा गया है—'शतपथ ब्राह्मण का ग्यारहवाँ, तेरहवाँ और चौदहवाँ कांड, छान्दोग्योपनिषद् तथा तैत्तिरीय आरण्यक जिस काल की रचना है, उस समय तक अथर्व सूक्तों और अथर्ववेद का अस्तित्व पूर्णतः पुष्ट हो चुका था । सामवेद के निदानसूत्र में भी अथर्ववेद या अधिक स्पष्ट रूप में अथर्वांगिरस 'आथर्वणिक' का उल्लेख हुआ है' (पृ० १३५) किन्तु यह कथन भी गलत है, क्योंकि यहाँ हेतु ही सिद्ध नहीं हो पाता । 'अथर्वत्रेद को शाखाओं के नाम भी वैदिक साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलते, हाँ कौशिक नाम अपवाद है' (पृ० १३५), यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि मुक्तिकोपनिषद्, सीतोपनिषद् आदि में इन शाखाओं का उल्लेख मिलता है ।

वेवर ने १३६ पृष्ठ पर कहा है कि 'ब्रह्मवेद के रूप में अथर्ववेद की प्रसिद्धि परवर्ती काल में हुई थी' (पृ० १३६) । किन्तु यह बात भी गलत है, क्योंकि ऋग्वेद आदि की दृष्टि से भी उसको ब्रह्मवेद के रूप में ही प्रसिद्धि मिली है । ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध ऋत्विक् अथर्ववेद का ज्ञाता ही माना जाता है, अतः उसको 'ब्रह्मवेद' कहा जाय, यह उचित ही है । वेदों की विभिन्न शाखाओं के मन्त्रों और ब्राह्मणों में परस्पर संबन्ध देखा जाता है ? अतः इन सबको अनादि ही मानना पड़ेगा, क्योंकि इनका क्रमिक विकास मानने पर यह संभव न हो सकेगा । यह कहना कि—'इसका आधार यह है कि यह प्रमुख याज्ञिक ऋत्विक् ब्रह्मन् का वेद होने का दावा करता था, जब कि अन्य वेदों को उसके सहायक ऋत्विजों—होता, उद्गाता और अध्वर्यु का कहा गया है । अथर्ववेद के इस दावे का अधिकार बड़ी चतुराई के साथ यह बताया गया है कि ब्रह्मन् के लिये कोई विशिष्ट वेद नहीं था, अतः उसे तीनों वेदों का ज्ञान रखना पड़ता था, जैसा कि कौषतकि ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से कहा गया है । इसके अतिरिक्त इस कथन का कोई आधार नहीं । ये धारणायें जितनी ही दुर्वल हैं, उतने ही आडम्बर के साथ उन्हें अथर्वन् रचनाओं में प्रस्तुत किया गया है, जो स्पष्टतः अन्य वेदों के प्रति घोर वैमनस्य प्रकट करती हैं' (पृ० १३६), किन्तु यह सारा कथन वेवर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के ही वैमनस्य को प्रकट करने वाला है, उनको वेद-विचार की पद्धति का परिज्ञान नहीं है । वेद में सर्वत्र यह न्याय माना जाता है कि जहाँ कहीं भी निन्दा वाक्य प्रतीत हो, तो उनका तात्पर्य किसी की निन्दा में न होकर विधेय की स्तुति में माना जाता है । केवल यही नहीं, वेदों में सभी जगह इस तरह के वाक्य मिलते हैं और उनका यही तात्पर्य मान्य भी है । भार्गव, पैप्पलाद और शौनक ब्राह्मण को ही राजा का

राजपौरोहित्याय योगिन इति कथनमपि तद्वंशीयेषु राजोपयुक्ताथर्वणिकप्रयोगवित्त्वेन तेषां प्राशस्त्याभिधाने तात्पर्यात् । किञ्च, यदि वैदिकसाहित्येषु वस्तुभूतं वैमनस्यं स्यात्, तदा वैदिकेष्वपि तत् स्यात् । वैदिकेषु तु सौमनस्यमेवास्ते । ब्रह्मणश्च प्राधान्यं सर्वेष्वपि याज्ञिकेषु यज्ञबोधकग्रन्थेषु विद्यत एव । तस्मात् पाश्चात्त्यानां भ्रान्तिरेव तादृशी ।

अत एव ब्राह्मणयुगेऽथर्ववेदस्य प्रतिनिधित्वमल्पमेवासीत् (पृ० १३७) इति वेवरजल्पितमप्यसत्, ब्राह्मणयुगस्य तत्कपोलकल्पितत्वात् । वेदतत्प्रतिपाद्ययज्ञादीनामेव प्रामाणिकत्वात् । गोपथब्राह्मणस्य वैदिकेषु पारम्पर्येणाध्ययनाध्यापनादिकमद्याप्यास्त एव । कोलब्रुकरीत्या यदुक्तम्—'अत्र ३६० दिनैर्द्वादशमासैस्त्रयोदशमासैर्वा वर्षव्यवस्था त्रिंशन्मुहूर्तैर्दिनव्यवस्था च विशेषेणोल्लेखनीया' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यजुरादिषु च तदुपलम्भात् । यदपि तत्रैव टिप्पण्याम्—'मैक्समूलररीत्या अत्र वर्ण्यविषया अस्तव्यस्ताः, आधिक्येनान्यरचनाभ्य एव गृहीताः । पूर्वार्धे सृष्ट्यादिविषयाणि दार्शनिकविवेचनानि विविधाख्यानैः पूर्णानि शतपथानुकारीणि, उत्तरार्धे श्रौतयज्ञसम्बद्धा विचारास्ते च ऐतरेयब्राह्मणाद् गृहीताः' (पृ० १३७) इति, तदपि मैक्समूलरस्याज्ञानविलसितम्, मन्त्रब्राह्मणात्मकानां वेदानां समेषामपौरुषेयत्वानादित्वनित्यत्वेभ्यः । तत्कल्पनायां प्रमाणाभावाच्च ।

यदपि—'पाण्डुलिपिषूपलब्धा चतुरध्यायिकाऽथर्वसंहितायाः प्रातिशाख्यग्रन्थः । शुक्लयजुःप्रातिशाख्ये तस्य नामोल्लेखः, ऋक्प्रातिशाख्यमप्ययमुपस्पृशति । चरणव्यूहे च शौनकीयशाखाऽथर्वशाखात्वेनोल्लिखिता । अत्र शाकटायनस्यान्येषां च वैयाकरणानामुल्लेखो विद्यते' इति, तत्तथास्तु, सर्वज्ञकल्पानामृषीणां परस्परोल्लेखेऽपि बाधाभावात् । शौनकीयशाखा च प्रसिद्धैव विद्यते । अथर्वसंहितानुक्रमणी चेतरवेदानामिव युक्तैव । यदपि पृ० १३९

पुरोहित होने योग्य घोषित करने वाले वचनों का तात्पर्य इतना ही है कि इन वंशों में उत्पन्न हुए आथर्वणिक प्रयोगों के जानकार ब्राह्मणों को प्रशस्त माना जाय । मूल बात यह है कि वैदिक साहित्य में इस तरह का वैमनस्य यदि विद्यमान होता, तो उसकी झलक वैदिकों में दिखाई पड़ती, किन्तु ऐसा तो कुछ है नहीं । इसके विपरीत वैदिकों में तो परस्पर सद्भाव ही दिखाई पड़ता है । सभी याज्ञिक ग्रन्थों में और याज्ञिकों में भी ब्रह्मा को प्रधान मानने की परम्परा चली आ रही है । पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य और वैदिकों के प्रति इसी तरह की अनेक भ्रान्तियाँ पाल रक्खी हैं ।

इसलिये—'ब्राह्मण युग को अथर्ववेद में बहुत अल्प प्रतिनिधित्व मिला' (पृ० १३७) वेवर का यह कथन भी गलत है, क्योंकि ब्राह्मण युग उनकी कपोलकल्पना है । वेद और वेद द्वारा प्रतिपादित यज्ञ-यागादि का ही सर्वोच्च प्रामाण्य भारतीयों को आज भी मान्य है । गोपथ ब्राह्मण के अध्ययन की परम्परा वैदिकों में आज भी अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है । वर्ष का ३६० दिनों के बारह (या तेरह) मासों में और प्रत्येक दिन का तीस मुहूर्तों में विभाजन, जिसे कोलब्रूक ने इसमें उल्लेखनीय बताया है, यजुस् के ब्राह्मणों आदि में भी समान रूप से पाया जाता है । इसी पृष्ठ (१३७) की टिप्पणी में—'मैक्समूलर के मत के अनुसार इस गोपथ-ब्राह्मण के वर्ण्य विषय अस्त-व्यस्त हैं और अधिकांशतः दूसरी रचनाओं से उद्धृत हैं । पूर्वार्ध में सृष्टि की उत्पत्ति का दार्शनिक विवेचन है और यह विशेषतः आख्यानों से परिपूर्ण है, जिनमें से अनेक उसी रूप में शतपथ ब्राह्मण में आते हैं और इसलिए संभवतः शतपथ से ही नकल किये गये हैं । उत्तरार्ध में श्रौत यज्ञों से संबद्ध अनेक विषयों पर संक्षेप में विचार किया गया है, जो विशेषतः ऐतरेय ब्राह्मण से लिया गया प्रतीत होता है' (पृ० १३७) । इस तरह से दिया गया यह मैक्समूलर का मत भी उसके अज्ञान को ही उजागर करता है, क्योंकि मन्त्रब्राह्मणात्मक समस्त वेदराशि अपौरुषेय, अनादि अत एव नित्य भी है, अतः मैक्समूलर की इस तरह की कल्पनाओं का कोई आधार नहीं है ।

'पांडुलिपि के रूप में उपलब्ध चतुरध्यायिका अथर्वसंहिता का एक प्रकार का प्रातिशाख्य है । यह संभवतः ऋक्-प्रातिशाख्य के रचयिता तक पहुँचती है, जिसका नाम शुक्लयजुस् के प्रातिशाख्य में भी आया है । चरणव्यूह में शौनक शाखा का नाम अथर्वन् की शाखा के रूप में आया है । यहाँ शाकटायन तथा अन्य वैयाकरणों का भी उल्लेख किया गया है' (पृ० १३८) । हमें वेवर की यह बात मान्य है, क्योंकि ऋषिगण सर्वज्ञकल्प हैं, वे त्रिकालदर्शी हैं, अतः उनके ग्रन्थों में परस्पर एक दूसरे का उल्लेख मिलना

कौशिकसूत्रप्रसङ्ग उक्तम्—'अत्र भूमिकायां मन्त्राणां ब्राह्मणानां चासामर्थ्ये सति सम्प्रदायस्य परम्पराया वा प्रामाण्यं स्थापितम्। पुस्तके 'इति ब्राह्मणम्' इति रीत्या ब्राह्मणान्युद्धृतानि। गोपथब्राह्मणनिर्देशोऽन्यस्य वेति वक्तुमसमर्थोऽहमित्यादिकम्, तदपि तुच्छम्, सम्प्रदायस्य परम्पराया वा वैदिकेषु सर्वेषु प्रामाण्याभ्युपगमात्। सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वेनैव वेदापौरुषेयत्वनिर्धारणात्। यदपि—'तृतीयेऽध्याये निर्ऋति (दुर्भाग्यदेवी) यज्ञविधानं चतुर्थे भैषज्यं षष्ठादिषु जादूमन्त्राः सन्तीति। दशमे विवाहः, एकादशे पितृयज्ञः, १३-१४ उत्पातानामशुभघटनानां च वर्णनमुपलभ्यते। यथा सामवेदस्याद्भुतब्राह्मणे' इत्यादिकम्, तदपि न वैदिकसिद्धान्तप्रतिकूलम्, वैदिकग्रन्थानां परस्परसंवादस्य समन्वयसूचकत्वात्।

नक्षत्रकल्प-शान्तिकल्प-वितानकल्प-संहिताकल्प-अभिचारकल्प-आङ्गिरसकल्पानां चतुःसप्ततिपरिशिष्टानां च चर्चा कृता। तथैव तत्र बृहस्पति-अथर्वन्-भृगु-भार्गव-अङ्गिरस-आङ्गिरस-काव्य-उशनस-शौनक-नारद-गौतम-काङ्कायन-कर्मघ-पिप्पलाद-भादवि-वृद्धगर्ग-आत्रेय-पद्मयोनि-क्रौष्टुकिप्रभृतिनाम्नामुल्लेखो दृश्यते। ज्योतिषसाहित्येष्वप्येतेष्वनेकनाम्नामुल्लेखो दृश्यते' इति, तदपि न कालनिर्धारणायालम्, बृहस्पत्यादिदेवानामपरिमितायुषां प्राचीनार्वाचीनकालेष्वपि सत्त्वे बाधाभावात्।

यदपि—आथर्वणिकोपनिषदां सम्बन्ध उक्तम्—इतरा उपनिषदः परमात्मस्वरूपादिवर्णन एव पर्यवस्यन्ति। एतास्तु साम्प्रदायिकोद्देश्यपूरणाय प्रयतन्ते। एतासां संख्या ५२। ताश्च भेदभावमन्तरैवोपनिषत्सु योजिता दृश्यन्ते।

स्वाभाविक है। अथर्ववेद की शौनकीय शाखा तो प्रसिद्ध ही है। अन्य वेदों की तरह अथर्ववेद की भी अनुक्रमणी होनी ही चाहिये। कौशिक सूत्र के विषय में वेबर ने कहा है—'यहाँ भूमिका में मन्त्रों और ब्राह्मणों को और उनके असमर्थ होने पर संप्रदाय या परम्परा को प्रमाण ठहराया गया है। पुस्तक के काय में भी बार-बार ब्राह्मण का उद्धरण ('इति ब्राह्मणम्' द्वारा) दिया गया है। इससे गोपथ-ब्राह्मण की ओर निर्देश किया गया है या नहीं, यह कहने में मैं असमर्थ हूँ' (पृ० १३८-१३९), किन्तु यह सारा कथन भी व्यर्थ का ही है, क्योंकि सम्प्रदाय अथवा परम्परा को वैदिकों ने सर्वत्र प्रमाण रूप में स्वीकार किया है। वेद की अपौरुषेयता इसी आधार पर निर्धारित की जाती है कि संप्रदाय की अविच्छिन्न प्रवृत्ति रहते हुए भी उसके कर्ता की स्मृति किसी को नहीं है। आगे का 'इस सूत्र के तीसरे अध्याय में निर्ऋति (दुर्भाग्य की देवी) के लिये यज्ञ का विधान है। चौथे में भैषज्य या रोग को दूर करने वाली औषधियाँ, छठें और उसके आगे के अध्यायों में अभिचार और जादू के मन्त्र हैं। दसवें में विवाह का और ग्यारहवें में पितृयज्ञ का वर्णन आता है। तेरहवां और चौदहवां अनेक अशुभ घटनाओं और उत्पातों के लिये विहित प्रायश्चित्त कर्मों का वर्णन करते हैं, जैसा कि सामवेद के 'अद्भुत ब्राह्मण' में हुआ है' (पृ० १३९), वेबर का यह कथन भी वैदिक सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है, क्योंकि वैदिक ग्रन्थों में एक दूसरे का संवाद उनकी समन्वय दृष्टि का सूचक है।

इसके आगे वेबर ने नक्षत्रकल्प, शान्तिकल्प, वितानकल्प, संहिताकल्प, अभिचारकल्प, आंगिरसकल्पों की तथा चौहत्तर छोटे परिशिष्टों की चर्चा की है। चरणव्यूह परिशिष्ट में जिन आचार्यों का उल्लेख किया गया है, उनमें निम्नलिखित नाम मुख्य हैं—पहले बृहस्पति अथर्वन्, स्वयं भगवन्त अथर्वन्, भृगु, भार्गव, अङ्गिरस, आङ्गिरस, काव्य (या कवि), उशनस्, तब शौनक, नारद, गौतम, काङ्कायन, कर्मघ, पिप्पलाद, भादवि, गर्ग, गार्ग्य, वृद्धगर्ग, आत्रेय, पद्मयोनि, क्रौष्टुकि। इनमें से अनेक नाम हम ज्योतिष-शास्त्र में भी पाते हैं' (पृ० १३९-१४०)। किन्तु इससे समय का निर्धारण करने में कोई सहायता नहीं मिल सकती, क्योंकि बृहस्पति प्रभृति देवताओं और ऋषियों की बड़ी लम्बी आयु मानी गई है, अतः उनकी प्राचीन काल के समान नवीन काल में भी स्थिति मानने में कोई बाधा नहीं है।

वेबर ने आगे अथर्ववेद के उपनिषदों की चर्चा चलाते हुए कहा है—'अन्य उपनिषदें किसी साम्प्रदायिक उद्देश्य को सिद्ध न करके परमात्मा के स्वरूप-विवेचन के क्षेत्र में ही रहती हैं। इसके विपरीत अथर्वन् उपनिषद् साम्प्रदायिक उद्देश्य को सिद्ध करने

तासु मुक्तिकोपनिषदपि विद्यते' इत्यादिकम्, तदपि निरर्गलमेव, त्वदीयग्रन्थेषु वायवलादिषु तादृशस्यैव कुचोद्यस्य सम्भवात् । शतरुद्रियमपि साम्प्रदायिकमित्यपि कथनमशुद्धमेव, सर्वस्यैव वेदस्य साम्प्रदायिकत्वाविशेषात् । 'तुल्यं साम्प्रदायिकम्' (मी० सू०) इति जैमिनिसूत्रप्रामाण्यात् । यदपि—'श्वेताश्वतरोपनिषद्भ्रान्त्यैव कृष्णयजुर्वेदेन सम्बद्धा । तत्र कृष्णयजुर्मन्त्राणामनेकेषां समावेशात् कैवल्योपनिषत्कोटावेवेयमुपनिषद् । मैत्रायणीयोपनिषदोऽपि कृष्णयजुःसम्बन्धस्तर्कसङ्गतो नास्ति' इति, तदपि निर्मूलम्, प्रमाणानुपस्थापनात् । मुक्तिकोपनिषदि तासामुल्लेखात् । ब्रह्मसूत्रतद्भाष्यकृद्भिः शङ्कराचार्यरामानुजाचार्यादिभिरुपनिषत्त्वेन तदङ्गीकाराच्च ।

यदपि—'उपनिषदां प्रथमो वर्गः परमात्मस्वरूपनिरूपणे संल्लग्नः, द्वितीयो वर्गो योगसमाधिनिरूपणं कुर्वन् परमात्मसायुज्यसाधनानि वर्णयति, तृतीयस्त्वौपनिषदात्मस्थाने शिवविष्ण्वादीन् स्थापयति । तेन शिवविष्ण्वोः पूजा प्रचलिता' इति, तदपि तुच्छम्, उपनिषच्छब्दस्य ब्रह्मविद्यार्थकत्वेन ब्रह्मविद्यायास्तदुपयोगिसाधनानां च तत्र वर्णने दोषाभावात् । नहि क्वचिदपि ब्रह्मविद्या चित्तैकाग्र्यमन्तरा सम्पद्यते । चित्तैकाग्र्याय च ध्यानादिकमपेक्षितमेव । शिवविष्ण्वादिस्वरूपं च तेषु तेषु ऋग्यजुरादिमन्त्रेषु वर्णितं संस्तुतं च दृश्यत एव । पाश्चात्त्यैस्तु निर्मूलमपि नित्येषु मन्त्रेषु संहितास्ववर्वाचीनत्वादिकं कल्प्यते, तेषां साहित्यस्यार्वाचीनत्वात् तत्तुल्यतैव तैः सर्वत्र व्यवस्थाप्यते, 'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' इति न्यायात् ।

यदपि—'केनोपनिषदि हैमवती-उमानाम्नः सर्वप्रथमोल्लेखात् शैवमतेन समानत्वादेवाथर्वसाहित्येऽस्याः सन्निवेशः' इति, तदपि नोचितम्, त्वदनुमानस्याव्यभिचरितहेत्वभावेनानुमानाभासत्वात् । यत्तु—'बृहन्नारायणोपनि-

में लग जाते हैं । इनकी संख्या ५२ है । बिना भेदभाव के इन सबको उपनिषदों में गिना गया है । इनमें एक मुक्तिकोपनिषद् भी है' (पृ० १४०-१४१) । इस तरह की बेलगाम कही गई बातों का कोई मूल्य नहीं हो सकता, क्योंकि इस तरह के कुतर्क आपके धर्मग्रन्थ बाइबिल प्रभृति के संबन्ध में भी किये जा सकते हैं । केवल शतरुद्रिय अध्याय को साम्प्रदायिक बताना भी गलत है, क्योंदि वेद तो पूरा ही सम्प्रदाय परम्परा से प्राप्त होने से साम्प्रदायिक है हो । इसमें 'तुल्यं साम्प्रदायिकम्' यह जैमिनि सूत्र भी प्रमाण है । यह कहना कि—'श्वेताश्वतर उपनिषद् को गलती से कृष्ण यजुर्वेद के अनेक मन्त्रों का समावेश होने के कारण ही उससे जोड़ दिया गया है । यह उसी कोटि और समय का है, जिस कोटि और समय का कैवल्योपनिषद् है । मैत्रायणी उपनिषद् को भी कृष्णयजुस् के साथ रखना तर्कसंगत नहीं होगा' (पृ० १४२) सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं दिया गया है । मुक्तिकोपनिषद् में इन सबकी नामावली मिलती है और ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार शंकराचार्य, रामानुजाचार्य प्रभृति ने इन सबको उपनिषद् माना भी है ।

बेवर आगे लिखते हैं—'प्रथम वर्ग के उपनिषद् प्रत्यक्षतः आत्मा या परमात्मा के स्वरूप के विवेचन में रत हैं, दूसरे वर्ग के उपनिषद् योग और समाधि का वर्णन करते हैं और मनुष्य जिन साधनों द्वारा और जिस अवस्था में पहुँच कर परमात्मा से सायुज्य प्राप्त कर सकता है, उनका विवेचन करते हैं, अन्ततः तीसरे वर्ग के उपनिषद् आत्मा के स्थान पर शिव और विष्णु के अनेक रूपों में किसी रूप को ला बैठाते हैं । इस प्रकार इन दोनों प्रमुख देवताओं की पूजा चल पड़ी' (पृ० १४२) किन्तु यह भी गलत बात है, क्योंकि उपनिषद् शब्द की प्रवृत्ति ब्रह्मविद्या के अर्थ में होती है, अतः ब्रह्मविद्या के लिये उपयोगी साधनों की भी चर्चा वहाँ हो, इसमें कोई दोष नहीं माना जा सकता । चित्त की एकाग्रता के बिना ब्रह्मविद्या की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती । चित्त की एकाग्रता के लिये ध्यान प्रभृति की अपेक्षा रहती है । इस ध्यान की स्थिरता के लिये ही शिव और विष्णु प्रभृति के स्वरूपों का वर्णन ऋग्वेद, यजुर्वेद प्रभृति के मन्त्रों में मिलता है और उस स्वरूप की वहाँ स्तुति भी की गई है । पाश्चात्य विद्वान् नित्य मन्त्रों, सूक्तों और संहिताओं को नवीन काल की रचना बनाने का अथक प्रयास इसलिये करते हैं कि उनके यहाँ उपलब्ध साहित्य बहुत नया है । अपने साहित्य की ही तरह वे दुनिया भर के सारे साहित्य को भी नया ही घोषित करते हैं । वे पाश्चात्य विद्वान् 'अंगूर खट्टे हैं' इस कहावत को ही चरितार्थ करते हैं ।

'केनोपनिषद् का अथर्वन् पाठ सामवेदीय पाठ से बहुत थोड़ा अन्तर रखता है । इस उपनिषद् को अथर्वन् साहित्य के संग्रह में क्यों संमिलित कर लिया गया है ? इसका यही कारण प्रतीत होता है कि इसमें उमा हैमवती का (पहली बार) उल्लेख उसी

षदपि तैत्तिरेयारण्यकतुल्या, अधिकप्राचीनानां दुर्बोधानां चोपनिषदां स्थानानि परकालवर्तिन्यस्तत्समकक्षा उपनिषदो जगृहुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नित्यासु परापरकालिकत्वायोगात्। यदपि च भाषाणां प्राचीनत्वार्वाचीनत्वाभ्यां कासाञ्चित् प्राचीनत्वमन्यासामर्वाचीनत्वमिति, तदप्यशुद्धम्, संस्कृतशब्दानां नित्यत्वेन तत्समुदायरूपवाक्यानामेव भाषात्वेन तत्राप्यर्वाचीनत्वाद्यसम्भवात्। काठिन्यसारल्यादिनापि न भाषाभेदः, विषयभेदेन तदुपपत्तेः। समानदेशकालवर्तिपुरुषेष्वपि यथेच्छाशक्त्यादिभेदेन भाषाकाठिन्यसारल्यसम्भवस्तथैव वेदेष्वपि तत्सम्भवेन नित्यत्वेन निरनुयोज्यत्वात्।

यत्तु मुण्डक-प्रश्नसम्बन्धे प्रोक्तम्—'आधिक्येन छन्दोबद्धत्वात् कठोपनिषत्साम्याच्च तुल्यकालिकत्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नित्यत्वेनापि तुल्यकालत्वोपपत्तेः। ब्रह्मसूत्रेषु तद्विचारणाच्च तासां वेदत्वमेव, श्रुतिकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्। यदपि च १४४ पृष्ठे वैदिकसाहित्यस्यावरकोटिकत्वकथनेन मुण्डकस्य परकालवर्तित्वं कथनं तदपि तुच्छम्, ब्रह्मण एव वैदिकसाहित्यविषयत्वेन तद्भिन्नकर्मादिपर्यवसायित्वेनावरत्वकथनस्याविरुद्धत्वात्। 'त्रैगुण्यविषया वेदाः' (श्री० भ० गी० २।४५), 'दृष्टवदानुश्रविकः' (सां० का० २), 'वेदवादरताः पार्थ' (श्री० भ० गी० २।४२) इत्यादिवचनानामिव तत्सङ्गतेः। छन्दोबद्धता त्वीशोपनिषद्यप्युपलभ्यते।

यत्तु नृसिंहतापनीयरामतापनीययोरुपनिषदोर्विषये गदितं यत् 'अत्रत्या बहवो मन्त्रा माण्डूक्योपनिषद उद्धृताः' इति, तदपि तुच्छम्, शाखाभेदेन समानपाठानामपि सत्त्वे बाधाभावात्। पुरुषसूक्तश्रीसूक्तेषु शाखाभेदेन

अर्थ में हुआ है, जिस अर्थ में उन्हें शैवमत में समझा जाता था' (पृ० १४२-१४३)। यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि आपका अनुमान सही तर्क पर आधृत न होने से अनुमानाभास मात्र है। इसी तरह से—'बृहदारायणोपनिषद् भी तैत्तिरीय आरण्यक के समरूप है। इसमें यह पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि अधिक प्राचीन और दुर्बोधगम्य उपनिषदों का स्थान उनके समकक्ष परवर्ती काल के और नियन्त्रित उपनिषदों ने ले लिया है' (पृ० १४३) यह कथन भी कुछ नहीं सिद्ध कर पाता, क्योंकि नित्य उपनिषदों में यह पहले की है, यह बाद की है, इस तरह की कल्पना संभव नहीं है। इसी तरह से भाषा की प्राचीनता और अर्वाचीनता के आधार पर कुछ उपनिषदों को प्राचीन और कुछ को नवीन बताना भी गलत है, क्योंकि संस्कृत भाषा के शब्द नित्य हैं। शब्दों के समुदाय से ही वाक्य बनते हैं और इन्हीं को भाषा के नाम से जाना जाता है। तब नित्य शब्दों से बनी वाक्यात्मक इस भाषा में नवीनता का आरोप कैसे किया जा सकता है? भाषा की कठिनता और सरलता के आधार पर भी उसमें भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि विषय के भेद से भाषा का भेद हो ही जाता है। एक ही स्थान और एक ही समय में रहने वाले पुरुषों में भी जैसे उसकी इच्छा और सामर्थ्य के अनुसार भाषा कठिन और सरल हो जाती है, उसी तरह से वेद में भी यह हो ही सकता है। इस तरह से वेद की नित्यता पर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता।

मुण्डक और प्रश्न उपनिषद् के संबन्ध में बेवर ने कहा है—'मुण्डकोपनिषद् अधिकांशतः छन्दोबद्ध है। यह सिद्धान्त और शैली की दृष्टि से कठोपनिषद् से बहुत साम्य रखती है। ये एक ही समय की हैं' (पृ० १४४) इस कथन से भी कुछ बनता नहीं, क्योंकि दोनों उपनिषदों की नित्यता के आधार पर भी तो समकालिकता बनती ही है। (पृ० १४४-१४५) में वैदिक साहित्य को अपर कोटि की विद्या बता कर मुण्डक उपनिषद् को परवर्ती काल की रचना सिद्ध किया गया है, किन्तु यह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि वैदिक साहित्य का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म ही है, अतः ब्रह्म से भिन्न क्रियाकाण्ड के प्रतिपादक साहित्य को अवर कह दिया गया है। यह कोई विपरीत बात नहीं है। इसकी संगति 'वेद त्रिगुणात्मक विषय की व्याख्या करते हैं', 'दृष्ट उपाय के ही समान वेदविहित उपाय भी सदोष हैं', 'हे अर्जुन, इस तरह के लोग वेद की खाली दुहाई देते रहते हैं' इन वचनों की तरह की जा सकती है। ईशोपनिषद् भी छन्दोबद्ध है। अतः छन्दोबद्धता के आधार पर भी प्राचीनता-नवीनता नहीं सिद्ध की जा सकती।

नृसिंहतापनीय और रामतापनीय उपनिषदों के संबन्ध में कहा गया है (पृ० १५२-१५४) कि इनमें अनेक मन्त्र माण्डूक्य उपनिषद् से उद्धृत हैं, किन्तु यह भी गलत ही है, शाखा के भेद से समान पाठ होने में कोई बाधा नहीं मानी जाती।

समानपाठानामुपलम्भात् । ऋग्वेदे काण्वमाध्यन्दिनपाठेष्वथर्ववेदे च पुरुषसूक्तेषु किञ्चिद्वैषम्येऽपि साम्यस्य बाहुल्येनोपलब्धेः । यत्तु—'अध्यात्मरामायणीयाः श्लोका रामतापनीय उद्धृताः' इति, तदपि तुच्छम्, रामतापनीयोपनिषद एव रामायणे समुद्धरणोपपत्तेः । यत्तु—शिवविष्णुरामकृष्णादिनामनिर्देशाद् अर्वाचीनत्वमुक्तम्, तदपि तुच्छम्, तेषां नाम्नामृग्वेदादिषूपलम्भेनार्वाचीनत्वायोगात् । उपनिषदामपि वेदत्वेन तत्र नाम्नामुपलम्भेऽप्युर्वशीपुरूरवसादीनामिव सादित्वाप्रयोजकत्वात् । अत एव रामशिवादिप्रतिपादकत्वेन साम्प्रदायिकत्वादाधुनिकत्वोक्तिरपि निर्मूलैव, साम्प्रदायिकत्वस्य भूषणत्वेनादोषात् । ज्ञानभक्तिकर्मादीनामविच्छिन्नाचार्यपारम्पर्येणोपलम्भलक्षणं साम्प्रदायिकत्वं हि प्रामाण्यप्रयोजकं भवति, नाप्रामाण्यप्रयोजकम् । अतो रामानुजनिर्मितत्वोक्तिरपि न समञ्जसा, प्रमाणानुपलम्भात् । शिवविष्ण्वोरभेदेऽपि परस्परोपास्योपासकभावेन शिवकर्तृकरामोपासनस्यापि सङ्कीर्णताप्रयोजकत्वाच्च ।

एवं गोपालतापनीयोपनिषदि मथुरायमुनादिमाहात्म्यवर्णनमपि न तस्या अवेदत्वप्रयोजकम्, अथर्ववेदेऽप्ययोध्याया वर्णनदर्शनात् । गङ्गायमुनादिवर्णनस्य दर्शनाच्च । एवमेव नारायणबृहन्नारायणकैवल्याद्युपनिषदामप्यर्वाचीनत्वापादनं निर्मूलमेव, मौक्तिकोपनिषद्रीत्या तासां प्रामाण्योपपत्तेः। महाभारतरामायणादिविषयाण्यपि वेबराद्युद्भावितानि कुचोद्यानि रामायणमीमांसायां चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्शे च विस्तरेण निरस्तानि । संक्षेपेणेहापि वक्ष्यन्ते ।

मैकडानलविचारसमीक्षा

'रामायणे संस्कृतशब्द उपलभ्यते । जनभाषायाः प्राकृतायाः सकाशाद् भिन्नाया भाषायाः संस्कृतमिति संज्ञा । इममेव भेदं पुरस्कृत्य षष्ठशत्यां निर्मिते काव्यादर्शे भाषाभेदो विचारितः । ईशवीयपूर्वपञ्चम्यां शत्यां महा-

पुरुषसूक्त और श्रीसूक्त में शाखा के भेद से समान पाठ मिलते ही हैं। पुरुषसूक्त ऋग्वेद में, काण्व और माध्यन्दिन संहिताओं में और अथर्ववेद में भी उपलब्ध है। इनमें थोड़ा-बहुत अन्तर रहने पर भी समानता ही अधिक है। 'रामतापनीय उपनिषद् में अध्यात्म रामायण के श्लोक उद्धृत हैं' (पृ० १५४) यह कथन भी गलत है, क्योंकि इसके विपरीत यही मानना उचित है कि रामतापनीय के श्लोक ही अध्यात्म रामायण में उद्धृत हैं। इसी तरह से शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि के नामों का उल्लेख होने से इस उपनिषद् को नवीन सिद्ध करना भी गलत बात है, क्योंकि ये नाम तो ऋग्वेद आदि में भी उपलब्ध होते हैं, अतः इनको नवीन नहीं माना जा सकता। उपनिषद् भी वेद ही हैं, अतः यहाँ यदि कुछ नाम मिलते हैं तो उनसे उर्वशी-पुरूरवा आदि के नामों से ऋग्वेदादि की तरह इनकी भी सादिता नहीं सिद्ध की जा सकती। इसी लिये इन उपनिषदों को राम, शिव आदि के प्रतिपादक मान कर उन पर साम्प्रदायिकता और आधुनिकता का आरोप भी नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि अविच्छिन्न साम्प्रदायिक परम्परा तो इनके लिये भूषण की बात है। ज्ञान, भक्ति, उपासना आदि की अविच्छिन्न आचार्य परम्परा का उपलब्ध होना ही यहाँ सम्प्रदाय की अविच्छिन्नता मानी जाती है। इससे उनकी प्रामाणिकता ही सिद्ध होती है, अप्रामाणिकता नहीं। रामतापनीय उपनिषद् को रामानुज की रचना मानना सर्वथा असंगत है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। शिव और विष्णु का यद्यपि परस्पर कोई भेद नहीं है, तो भी परस्पर इनमें उपास्य-उपासक भाव की कल्पना कर कहीं शिव को राम का उपासक माना जाय तो इसमें संकीर्णता का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

इसी तरह से गोपालतापनीय उपनिषद् में मथुरा, यमुना आदि के माहात्म्य का वर्णन देखकर इसको वैदिक साहित्य से बाहर का ग्रन्थ मानना भी गलत है, क्योंकि अथर्ववेद में भी अयोध्या का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में भी गंगा और यमुना का वर्णन है। इसी तरह से नारायण, बृहन्नारायण, कैवल्य आदि उपनिषदों को भी अर्वाचीन मानना सर्वथा निराधार है, क्योंकि मुक्तिकोपनिषद् की नामावली में इनकी स्थिति रहने से ये सब उपनिषद् प्रामाणिक ही माने जायँगे। महाभारत और रामायण के विषय में उठाये गये सभी कुतर्कों का समाधान हमने 'रामायण मीमांसा' और 'चातुर्वर्ण्य संस्कृति-विमर्श' नामक ग्रन्थों में विस्तार से किया है। इनके विषय में यहाँ भी कुछ कहा जायगा।

मैकडानल विचारसमीक्षा

'भाषा के अर्थ में 'संस्कृत' पद का सर्वप्रथम प्रयोग आदि काव्य रामायण में मिलता है। 'संस्कृत' यह संज्ञा जनभाषा प्राकृत से भिन्न है। इसी भेद को रख छठी शताब्दी में प्रणीत काव्यादर्श नामक ग्रन्थ में भाषाभेद पर विवेचन उपलब्ध होता है।

वैयाकरणाद्यास्कादारभ्य प्राक्तनैर्विद्वद्भिरियं साहित्यिकी वचनव्यक्तिर्भाषापदेनोच्यते स्म, या वैदिक्या भाषाया भिन्ना स्यात्' (पृ० १९) इत्यादिकमपि न युक्तम्, आदिकाव्यस्य रामायणस्य चतुर्विंशतितमत्रेतायुगीयरामसमकालिकस्य यास्कादिभ्योऽपि प्राचीनत्वात्। महाभाष्यकारेण पतञ्जलिना अपशब्देभ्यो विविक्तेषु साधुशब्देष्वेव संस्कृतमिति संज्ञा प्रयुक्ता। यथा तितउनाऽग्राह्यपदार्थेभ्यो ग्राह्यपदार्थानां पृथक्करणं संस्कारोऽभिधीयते, तथैव पाणिनीयादिलक्षणैरपशब्देभ्यः साधुशब्दानां विवेचनमेव संस्कारः, तेनैवानादिभूतानामपि साधुशब्दानां संस्कृतत्वमुच्यते। न त्वत्र मलापनयनमतिशयाधानं वा संस्कारः, नित्येषु तदयोगात्। अत एव विकारागमादिकल्पना बालव्युत्पादनायैव। यथा 'सुधी उपास्य' इति स्थितौ सुद्ध्युपास्य इत्येवोच्चारणीयमिति स्थितिः।

यदपि—'पतञ्जलिना लोके' इत्युक्त्या संस्कृतं बोध्यते, भाषाशब्देन च व्यवहारभाषोच्यते। पाणिनिना तादृशा नियमा रचिता येषां व्यवहारभाषातोऽन्यत्र तात्पर्यमेव नास्ति। यथा प्लुतस्वरव्यवहारो दूराद्धानेऽभिवादन एव प्रयुज्यते' (पृ० १९) इति, तदपि न किञ्चित्, विदुषां व्यवहारस्यापि व्यवहारत्वाविशेषेण तत्रापि भाषाशब्दप्रयोगसम्भवात्। वेदेऽप्याख्यायिकारूपेण व्यवहारा उपलभ्यन्ते। ब्राह्मणेषूपनिषत्स्वपि तादृशव्यवहारेषु प्लुतव्यवहारोऽपि भवत्येव।

यदपि च—'संस्कृतभाषा केवलं पण्डितानां साहित्यिकी पठन-पाठनभाषैव नासीत्। यास्कपाणिनिभ्यां पौरस्त्यानामौदीच्यानां च प्रयोगेषु वैशेष्यमपि दर्शितम्। कात्यायनेनापि प्रान्तीयप्रयोगभेदाः प्रदर्शिताः। पतञ्जलिना तेषु तेषु जनपदेषु प्रयुज्यमानानां शब्दानामुल्लेखोऽपि क्रियमाणो दृश्यते' (पृ० १९) इति, तदपि न किञ्चित्, विदुषामपि प्रान्तभेदभिन्नानां धात्वादिप्रयोगभेददर्शनात्।

ईसापूर्व पाँचवीं शताब्दी के महावैयाकरण यास्क से लेकर पिछले विद्वानों ने इस साहित्यिक बोली को 'भाषा' कहा है, जो वैदिक वाणी से विभिन्न समझी जाती थी' (पृ० १९) मैकडानल का यह कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि आदिकाव्य रामायण २४वें त्रेतायुग में उत्पन्न राम के समय की रचना है, अतः इसका समय यास्क प्रभृति आचार्यों से प्राचीन माना जायगा। महाभाष्यकार पतंजलि ने अपशब्दों से भिन्न साधु शब्दों के लिये 'संस्कृत' संज्ञा का प्रयोग किया है। जैसे चलनी की सहायता से अग्राह्य पदार्थों को अलग कर देना उनका संस्कार कहलाता है, उसी तरह से पाणिनि प्रभृति के लक्षणसूत्रों की सहायता से अपशब्दों से साधु शब्दों को अलग कर देना ही उनका संस्कार है। इसीलिये साधु शब्द अनादि काल से चले आ रहे हैं, तो भी उनमें इस संस्कार के आधार पर 'संस्कृत' पद का प्रयोग उचित ही है। यहाँ पर किसी मल का, दोष का परिहार अथवा किसी अतिशय का आधान रूप संस्कार अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि नित्य शब्दों में यह संभव नहीं हो सकता। इसीलिये नित्य शब्दों में विकार, आगम आदि की कल्पना बालकों के, अबोध व्यक्तियों के समझाने के लिये कल्पित है। जैसे कि 'सुधी + उपास्यः' इसके स्थान में 'सुद्ध्युपास्यः' इस तरह का उच्चारण करना चाहिये। वास्तविक स्थिति यही है।

'पतंजलि ने 'लोके' (लोक-व्यवहार में) ऐसा कह कर 'संस्कृत' उस भाषा का नाम बताया है, जिसमें ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है, जो व्यवहार में प्रचलित थे। स्वयं पाणिनि ने भी ऐसे कई नियम बनाये हैं, जिनका बोलचाल की भाषा के अतिरिक्त अन्यत्र कोई तात्पर्य नहीं। उदाहरणार्थ, स्वरों की मात्रा का वर्णन करते हुए पाणिनि प्लुत का भी उल्लेख करते हैं, जो केवल दूर से बुलाने में, अभिवादन में तथा प्रश्नोत्तर में ही काम में आता है' (पृ० १९) यह कथन भी गलत है, विद्वानों के द्वारा किया गया व्यवहार भी सामान्य व्यवहार से पृथक् नहीं माना जा सकता, अतः विद्वानों के द्वारा व्यवहृत भाषा में भी इसका प्रयोग संभव हो सकता है। वेदों में भी आख्यायिका के रूप में इस तरह का व्यवहार देखा जाता है। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों में भी इस तरह के व्यवहार में प्लुत उच्चारण प्रयुक्त होता है।

'संस्कृत केवल पठन-पाठन की अथवा साहित्यिक या पंडितों की ही भाषा न थी। यास्क और पाणिनि पौरस्त्य एवं औदीच्य प्रयोगों की विशेषतायें भी बतलाते हैं। कात्यायन तो प्रान्तीय प्रयोगभेद भी बतलाते हैं और पतंजलि ने खास-खास जनपदों में प्रयुक्त शब्दों का भी उल्लेख किया है' (पृ० १९) यह भी गलत है, आज भी विद्वानों में भी प्रान्त के भेद से धातु प्रभृति के प्रयोग के भेद के आधार पर इस तरह का भाषाभेद देखा जा सकता है।

Non Brahmin, educated Ch. spoke in Sans.

यदपि च—'विन्ध्यहिमालयमध्यवर्तिनामार्यावर्तवर्तिनां च संस्कृतभाषैव व्यवहारभाषा, शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेषु भाष्यते विकारमेनमार्या भाषन्ते…' (पृ० १९) इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथात्वेऽपि विशिष्टानां संस्कृतानामेव व्यवहाराभ्युपगमेऽपि सर्वसाधारणानां तथा व्यवहारासिद्धेः। ब्राह्मणेतरेषामपि संस्कृतज्ञानां संस्कृतभाषया व्यवहारो न विरुद्धयते।

यदपि च—'क्षौरकाराणामपि संस्कृतव्यवहारः' (पृ० १९) इति, तदपि च न शोभनम्, संसर्गातिशयात् क्वचित्तथा सम्भवेऽपि नाटकेषु द्विजातिव्यतिरिक्तेषु प्राकृतभाषया व्यवहारदर्शनात्। न केवलं नाटकेभ्य एव, किन्तु धर्मशास्त्रदृष्टचापि द्विजातीनामेव व्याकरणाद्यध्ययनेऽधिकारनिर्धारणात्। संस्कृतज्ञैः सह व्यवहारबाहुल्येन प्राकृतभाषाभाषिणोऽपि संस्कृतभाषणतात्पर्यमवगच्छन्ति स्मेति।

[illegible] ?

यत्तु—'संस्कृतभाषा कृत्रिमनियमबद्धत्वाल्लोकव्यवहारभाषा कदाचिदपि नासीत्' (पृ० २०) इति, तत्तु प्रामादिकमेव, संस्कृतभाषाया एव स्वाभाविकत्वात्। अत एव प्राकृतव्याकरणकारा अपि प्रकृतिः संस्कृतं तस्माद् भवं प्राकृतमिति व्युत्पाद्य प्राकृतस्यैव संस्कृतभवत्वमूरीकुर्वन्ति। अनया पद्धत्या प्रकृतित्वेन संस्कृतस्याकृत्रिमत्वं सिद्धचति। धर्मशास्त्रीयनियमेनैव सर्वसाधारणानां सर्वदैव संस्कृतभिन्नाया मानुष्या वाचः सत्त्वाभ्युपगमात्। अत एव यज्ञप्रसङ्गे मानुषीवाग्व्याहारेण प्रायश्चित्तविधानं श्रूयते। 'स यदि मानुषीं वाचं व्याहरेद् वैष्णवीमृचं यजुर्वा जपेत्' इति श्रुतेः। अनेका अन्या भारतीया भाषाः संस्कृतादुद्भूता इति तु सत्यमेव।

यदपि—'विद्धातुनिष्पन्नो वेदशब्दो ज्ञानार्थको यद्यपि, तथापि पदमिदं समस्तधार्मिकं भूत्वा तत्सम्बन्धि साहित्यं लक्षयति। सामान्यार्थातिरेकेण संकीर्णतया धार्मिकग्रन्थमपि बोधयति' (पृ० २४) इति, तदप्यल्पमेव,

'हिमालय और विन्ध्य के मध्यवर्ती समस्त आर्यावर्त में संस्कृत बोलचाल की भाषा रही हो, जैसे कि इस प्रयोग से सिद्ध होता है कि कम्बोज में शव धातु का प्रयोग गति के अर्थ में होता है, आर्यजन इसका प्रयोग विकार के अर्थ में करते हैं' (पृ० १९) यह भी कथन उचित नहीं है, क्योंकि विशिष्ट संस्कृत व्यक्तियों के द्वारा इस तरह का व्यवहार किया जाता है, ऐसा मान लेने से भी उक्त वाक्यों का अर्थ विरुद्ध नहीं पड़ सकता। अतः इससे सर्वसाधारण का व्यवहार सिद्ध नहीं किया जा सकता। उक्त व्याख्या के आधार पर ब्राह्मणों से भिन्न कुछ संस्कृतज्ञ भी इस भाषा का व्यवहार करते थे, इसमें कोई विरोध नहीं पड़ता।

किन्तु इससे यह सिद्ध करना कि 'क्षौरकार (नापित) भी संस्कृत भाषा से व्यवहार चलाते थे' (पृ० १९), अशोभन बात है। यह हो सकता है कि अत्यन्त संपर्क के कारण कहीं-कहीं ऐसा संभव हो सकता हो, किन्तु नाटकों में द्विजाति से भिन्न पात्रों के लिये सर्वत्र प्राकृत भाषा का ही व्यवहार होता है। यह बात केवल नाटकों से ही नहीं सिद्ध होती, किन्तु धर्मशास्त्र की दृष्टि से भी व्याकरण प्रभृति के अध्ययन का अधिकार केवल द्विजातियों के लिये ही निर्धारित है। यह दूसरी बात है कि इस तरह के अधिकार संपन्न संस्कृतज्ञों के साथ अतिशय संपर्क और व्यवहार के कारण कुछ प्राकृत भाषा बोलने वाले व्यक्ति भी संस्कृत भाषण की सामर्थ्य अर्जित कर लेते थे, या उसका अर्थ समझ लेते थे।

'लौकिक संस्कृत प्रारंभ से ही एक साहित्यिक, अथवा यों कहिये, एक कृत्रिम, नियमबद्ध भाषा क्यों न रही हो, वह लोक व्यवहार की भाषा नहीं थी' (पृ० २०) यह उक्ति सर्वथा प्रामादिक है, क्योंकि वास्तव में तो संस्कृत भाषा ही स्वाभाविक है। इसीलिये प्राकृत भाषा के व्याकरणों के निर्माता संस्कृत को प्रकृति मानते हैं और उससे उत्पन्न हुई भाषा प्राकृत है, इस तरह की व्युत्पत्ति के आधार पर प्राकृत की ही उत्पत्ति संस्कृत से मानते हैं। इस पद्धति से संस्कृत के प्रकृति होने से ही उसकी अकृत्रिमता सिद्ध हो जाती है। धर्मशास्त्रीय नियम के अनुसार भी सर्वसाधारण के लिये संस्कृतभिन्न मानुषी वाणी की सत्ता स्वीकार्य होती है। इसी लिये यज्ञ के अवसरों पर इस तरह की मानुषी वाणी के उच्चारण करने पर प्रायश्चित्त का विधान मिलता है कि यदि 'यज्ञ का अनुष्ठान करते समय कोई मानुषी वाणी का उच्चारण करे, तो उसको वैष्णवी ऋचा का अथवा किसी यजुर्मन्त्र का जप करना चाहिये'। संस्कृत से अन्य अनेक भारतीय भाषाएँ उत्पन्न हुई, यह बात तो सच ही है।

सनत्सुजातीयभाष्ये शङ्करभगवत्पादव्वदशब्दस्य बहुधा व्युत्पादितत्वात् । वेद्यन्ते वोध्यन्ते प्रमाणान्तरानधिगताबाधिता- दृष्टदृष्टादृष्टफलकाः क्रियाकलापा एभिरिति वेदा इति करणव्युत्पत्त्या । वेदयति धर्मंब्रह्मणी इति वेदः 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (पा० सू० ३।१।१३४) इत्यच्प्रत्ययात् सिद्धिः । अलौकिकाबाधितानधिगतार्थबोधकवाक्यराशिलक्षणो ग्रन्थोऽपि वेदः । 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः', 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' इत्यादौ । 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' (का० श्रौ० सू०) इत्यत्र वेदः कुशमुष्टिवचनोऽपि । एकस्य वेदस्य वेद्यमिदं वेदरूपम्, वेदनं वेदो ज्ञानम् । एकस्य द्वितीयस्य संविद्रूपस्येत्यर्थः । तस्यैकस्य वेदस्य ब्रह्मणोऽवगमादृगादयो वेदा वहवोऽभवन् । तेन तत्प्रतिपत्त्यर्थविचारं कुर्वन्तीति वेदाः । (विद् ज्ञाने) इति धातोः । अथवा तत्सद्भावं साधयन्ति । अथवा विदन्ति । वेदनभूता वा वेदाः । अथवा ब्रह्माधीनं परमात्मानं लभन्त इति वेदाः । ब्रह्मण आवृतस्य लाभहेतवः । एवं विद् विचारणे, विद् सत्तायाम् विद् ज्ञाने, विद्लृ लाभे—एतेषां धातूनां विषये वर्तन्ते यस्मात्ततो वेदा इत्युक्ताः । भट्टपादैरप्यभाणि—'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते । एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥' (श्लो० वा०) । नेन्द्रियाणि नानुमानं वेदा एवैनं वेदयन्ति तस्मादाहुर्वेदाः ।

यदप्युक्तम्—'वैदिकसंहिता तदानीन्तनानामृषीणां कवित्वशक्तेः परिणामभूताः' (पृ० २४) इति, तदपि न युक्तम्, 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६), 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० उ० ६।१८), 'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्', 'पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः' इत्यादिश्रुतिषु वेदस्य प्राप्तिरेवोक्ता न निर्माणम् । 'ऋचामग्निर्दैवतम् । तदेव ज्योतिर्गायत्रं छन्दः पृथिवीस्थानम् । तदेव····

'वेद शब्द 'विद्' धातु से बना है और इसका मुख्य अर्थ 'ज्ञान' है, परन्तु यह पद समस्त धार्मिक ज्ञान का वाचक होकर तत्संबन्धी साहित्य को लक्षित करता है । सामान्य अर्थ के अतिरिक्त वेद शब्द 'धार्मिक ग्रन्थ' रूप संकीर्ण अर्थ को भी बोधित करता है' (पृ० २४) वेद के संबन्ध में यह कथन बहुत अधूरा है । सनत्सुजातीय भाष्य में शंकर भगवत्पाद ने वेद शब्द की अनेक प्रकार की व्युत्पत्ति दी है । प्रमाणान्तर से अनधिगत, अबाधित, अदृष्ट तथा दृष्टादृष्ट फल वाले क्रियाकलाप जिनके द्वारा बोधित होते हैं, वे वेद हैं, इस करण व्युत्पत्ति के आधार पर धर्म और ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र वेद कहलाता है । 'नन्दिग्रहि०' प्रभृति सूत्र से अच् प्रत्यय होने पर इसकी सिद्धि होती है । अलौकिक, अबाधित, अनधिगत अर्थ का बोधक वाक्यराशि स्वरूप ग्रन्थ भी वेद कहलाता है । 'अस्य महतो भूतस्य०', 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' इत्यादि स्थल में वेद शब्द का यही अर्थ है । 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' यहाँ पर वेद शब्द कुश की मुष्टि का बोधक होता है । एक वेद का 'यह' रूप वेद्य होता है और 'वह' दूसरा वेद । यहाँ पर 'वेदनं वेदः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है । एक पद का अर्थ है अद्वितीय, अर्थात् संविद्रूप ज्ञान । उस अद्वितीय ब्रह्म की अवगति हो जाने पर ऋगादि अनेकों वेद हो जाते हैं । ये सब वेद उस ब्रह्म की प्रतिपत्ति किस तरह से हो सकती है, इस बात पर विचार करते हैं, इसी लिये ये वेद कहलाते हैं । 'विद् ज्ञाने' इस धातु से यहाँ पर वेद शब्द की निष्पत्ति होगी । अथवा उस ब्रह्म के सद्भाव को सिद्ध करते हैं, अथवा जानते हैं । अथवा वेद स्वयं वेदनभूत हैं । अथवा वेद ब्रह्माधीन परमात्मा को प्राप्त कराते हैं । अज्ञान से आवृत ब्रह्म की प्राप्ति में ये कारणभूत होते हैं । इस तरह से 'विद् विचारणे, विद् सत्तायाम, विद् ज्ञाने, विद्लृ लाभे' इन चार धातुओं के अर्थ में जिनकी प्रवृत्ति होती है, वे वेद कहलाते हैं । भट्ट कुमारिल ने भी कहा है—'जिस उपाय की अवगति प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से नहीं होती, उसको वेद से जानते हैं । इसी विशेषता के आधार पर वेद शास्त्र की अपनी विशिष्ट सत्ता है' । इन्द्रियाँ और अनुमान जिसकी जानकारी नहीं दे सकते, उस पदार्थ को वेद से जानते हैं, यही वेदों की विशेषता है ।

'वैदिक संहिताएँ तत्कालीन ऋषियों की रचनात्मक कवित्व शक्ति की देन हैं' (पृ० २४) यह कथन भी युक्त नहीं है, 'वाचा विरूपनित्यया', यो ब्रह्माणं विदधाति', 'यज्ञेन वाचः', 'पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः' इन श्रुतियों के प्रमाण से वेदों की प्राप्ति ही सिद्ध हो पाती है । उनका निर्माण हुआ, यह किसी तरह से नहीं सिद्ध हो सकता । ऊपर उद्धृत गोपथ ब्राह्मण में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के देवता, छन्द और स्थान का विवरण देते हुए उनके गुरुपरम्परा प्राप्त अध्ययन की चर्चा की गई है । ऐतरेय ब्राह्मण के

इत्यैवमादि कृत्वा ऋग्वेदमधीयते । यजुषां वायुर्दैवतं त्रैष्टुभं छन्दोऽन्तरिक्षं स्थानम् । इषे त्वा'''एवमादिं कृत्वा यजुर्वेदमधीयते । साम्नामादित्यो दैवतम्, तदेव ज्योतिः, जागतं छन्दः, द्यौः स्थानम् । अग्न आयाहि'''सामवेदमधीयते । अथर्वणां चन्द्रमा दैवतं तदेव ज्योतिः सर्वाणि छन्दांसि आपः स्थानम् । शन्नो देवी''''अथर्ववेदमधीयते । (गोपथ-ब्रा० १।२९), 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा । आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ (ऐतरेय-ब्राह्मणसायणभाष्ये उपोद्घाते), 'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ॥' (म० भा० शा० प० ऐतरेयब्राह्मणभाष्ये) । 'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुः-सामलक्षणम् ॥' (म० १।२३) । दोहनमध्यापनम् । 'न कश्चिद्वेदकर्ता स्याद्वेदस्मर्ता चतुर्मुखः । वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुम ॥' इति पराशरः, श्रीमद्भागवतं च । 'ब्रह्म स्वयम्भ्वस्यनार्षत्' इत्यादिप्रमाणपुञ्जविरोधात् ।

यदपि च—'चिरन्तनसङ्घर्षस्य पश्चाद् अथर्ववेदेन संहितासु स्थानमवाप्तम्, वहवश्चाथर्वमन्त्रा ऋग्वेदस्य दशममण्डलादुद्धृताः' (पृ० २५) इति, तदपि बेवरमतनिराकरणेन निराकृतं वेदितव्यम् । सर्वेषामेव वेदानां भगवन्निःश्वसितत्वेन नित्यत्वापौरुषेयत्वाभ्युपगमात् । 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इतिहासः पुराणम् (बृहदारण्यको० २।४।१०) इति श्रुतेः ।

यदपि—'व्यावहारिकदृष्टया सामवेदस्य स्वातन्त्र्येण न किमपि मूल्यम् । पञ्चसप्ततिसूक्तान्यपहाय सर्वे मन्त्रा ऋग्वेदादेवोद्धृताः' (पृ० २५) इति, तदपि न युक्तम्, समेषां वेदानां स्वातन्त्र्येणास्तित्वात् । अन्यस्मादन्यत्रोद्धरणकल्पनायोगात् । शाखाभेदेन मन्त्राणां सारूप्येऽपि भिन्नत्वात् । तत्तद्वेदधर्मभेदादपि मन्त्राणां भेदः । यजुर्वेदे त एव मन्त्रा यजुर्वेदधर्मेणाधीयन्ते, ऋग्वेदे ऋग्वेदधर्मेणाधीयन्ते । यजुरादिधर्मभेदस्तु प्रातिशाख्यशिक्षादिपरिशीलिनां न तिरोहितः । अत एव काण्वमाध्यन्दिनतैत्तिरीयकपाठानां सारूप्येऽपि धर्मभेदेन भेदोऽभ्युपगम्यत एव, विशेषणभेदेन भेदस्याभ्युपगमात् । किञ्च, ब्राह्मणानि तु सामवेदस्य सर्वथापि भिन्नान्येव, अनेकविधीनामनितरसाधारण्यात् ।

भाष्य के उपोद्घात में सायण ने उद्धृत किया है कि 'इस सृष्टि के आरंभ में स्वयंभू ब्रह्मा ने अनादिनिधन, नित्य, दिव्य, वेदमयी वाणी को प्रकाशित किया। उसी के आधार पर जगत् का सारा व्यवहार चलता है' । 'स्वयंभू ब्रह्मा की आज्ञा के अनुसार महर्षियों ने अपनी तपस्या के प्रभाव से प्रलय काल में अन्तर्हित वेदों को अपने इतिहास प्रभृति अंगोपांगों के साथ पुनः प्राप्त कर लिया' । मनु ने बताया है कि—'स्वयंभू ब्रह्मा ने यज्ञ की सिद्धि के लिये अग्नि, पवन और सूर्य से सनातन ब्रह्मस्वरूप ऋक्, यजु और सामवेद को दुह लिया'। पराशर का कहना है कि—'वेदों का कर्ता कोई भी नहीं है। चतुर्मुख ब्रह्मा वेदों का मात्र स्मरण करते हैं। वेद साक्षात् नारायण हैं, ये स्वयं उद्भूत होते हैं, ऐसा हमने सुना है' । यही बात भागवत में भी प्रतिपादित है । 'ब्रह्म अर्थात् वेद स्वयं अपने आप प्रकट हुए' इस तरह के शतशः शास्त्रवचनों से आपकी बात का विरोध पड़ता है ।

'अथर्ववेद को चिरन्तन संघर्ष के पश्चात् संहिताओं में स्थान प्राप्त हुआ है, जिसका अधिकतर भाग ऋग्वेद के दशम मण्डल से उद्धृत है' (पृ० २५) । इसी तरह के विचार बेवर के भी हैं, जिनका कि निराकरण हम कर चुके हैं। उसी से उक्त बात भी निराकृत हो जाती है । सभी वेद भगवान् के निःश्वास से एक साथ प्रादुर्भूत हुए हैं । इसी लिये वे नित्य एवं अपौरुषेय हैं। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्०' यह बृहदारण्यक श्रुति इसमें प्रमाण है ।

'व्यावहारिक दृष्टि से सामवेद का कोई स्वतन्त्र मूल्य नहीं है। इसमें ७५ सूक्तों (मन्त्रों) को छोड़कर सभी ऋग्वेद से उद्धृत हैं' (पृ० २५) यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि सभी वेदों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। अन्य वेदों से अन्य वेद के उद्धरण लिये गये हैं, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती । शाखारूप में मन्त्रों की समानता मिलने पर भी ये भिन्न ही हैं । उस उस वेद के द्वारा प्रतिपादित धर्म के भेद के कारण भी इनमें भिन्नता है । यजुर्वेद के ही मन्त्र यजुर्वेदसंमत धर्म का प्रतिपादन करते हैं और ऋग्वेद के ऋग्वेदसंमत धर्मों का । यजु प्रभृति का धर्मभेद प्रातिशाख्य, शिक्षा प्रभृति ग्रन्थों का परिशीलन करने वालों के सामने छिपा नहीं है । इसी लिये काण्व, माध्यन्दिन, तैत्तिरीय प्रभृति शाखाओं में मन्त्रों के पाठ की समानता रहने पर भी धर्मभेद के आधार पर इनमें भेद स्वीकार

यत्तु—'सामवेदीयमन्त्राणां क्रमिकरचनापि सोमयागविनियोगक्रमेणैव कृता। मन्त्राश्चैते विशिष्टस्वरतालैर्गीयन्ते, तत एव साममन्त्रा उच्यन्ते। सामवेदयजुर्वेदयोस्तात्त्विकमन्तरमिदं यद्यजुर्वेदे न केवलमृग्वेदीयानामेव मन्त्राणामुद्धरणमपि तु गद्यमन्त्रा अपि तत्र सन्ति। विभिन्नयज्ञेषु प्रयुक्तमन्त्राणां क्रमवद्धं सङ्कलनं तु सामवेदयजुर्वेदयोः साम्यम्। यज्ञियमन्त्रा एव यजुर्मन्त्रा उच्यन्ते। अत्र यजुर्वेदसंहितायां रूपद्वयमुपलभ्यते, एकत्र यज्ञप्रयोगविषयः, अन्यत्र च प्रयोगविधिविवेचनानि' (पृ० २५) इति, तदप्यसङ्गतम्, वेदानामपौरुषेयत्वेन रचनानुपपत्तेः। अत एव यजुषां गद्यरचनाप्यपास्ता। यज्ञे मन्त्राः केन प्रयुक्ताः ? न च मन्त्रैरेवेति युक्तम्, तत्र विध्यदर्शनात्। अत एव यजुर्मन्त्रेषु यज्ञप्रयोगविधयस्तद्विवेचनानि च न सन्त्येव, ब्राह्मणग्रन्थेष्वेव विध्यर्थवादोपलम्भात्। यदि तु यजुर्वेदपदेन मन्त्रा ब्राह्मणानि वोच्यन्ते, तदा तु त्वदभ्युपगमविरोधः, मन्त्रसंहितानामेव वेदत्वाभ्युपगमात्। सिद्धान्ते तु मन्त्रब्राह्मणसमुदायस्यैव वेदपदार्थत्वम्।

यदपि च—'प्रार्थनासमूहा एव सूक्तानि विशेषतः सोमवल्लीरसनिष्कासनकाले प्रयुज्यन्ते। मन्त्रसमूहा एव संहिता उच्यन्ते' (पृ० २४) इति, तदपि यत्किञ्चित्, नित्यमन्त्राणामेव सन्निकर्षस्य संहितापदार्थत्वात्। तथाहि—'परः सन्निकर्षः संहिता' (पा० सू० १।४।१०९) इति अज्भिरव्यवहितहलां च परस्परं स्वभावतोऽर्धमात्रात् किञ्चिदधिककालव्यवधानेनोच्चारणं संहितोच्यते। 'पदप्रकृतिः संहिता' (नि० १।६) इति निरुक्तरीत्या तत्पुरुषाश्रयेण पदानां सन्धीयमानानामेकत्रीकरणमूलकारणं प्रकृतिः संहितोच्यते। पदान्येव प्रकृतिर्यस्या इति बहुव्रीहिरीत्यापि स एवार्थः। पाश्चात्त्यैस्तु—संहन्यन्ते एकत्रीक्रियन्ते विभिन्नैर्ऋषिभिः कृता मन्त्राः सूक्तानि वा यस्यां सा संहिता।

किया जाता है, क्योंकि विशेषण का भेद होने पर तद्विशिष्ट वस्तु में भेद स्वीकार किया गया है। अपि च, सामवेद के ब्राह्मण तो सर्वथा भिन्न ही हैं। इनमें ऐसी अनेक विधियाँ है, जो कि अन्यत्र नहीं मिलतीं।

'सामवेद के मन्त्रों की क्रमिक रचना भी सोमयाग में विनियोग के अनुक्रम से की गई है। ये मन्त्र विशेष प्रकार के स्वर-ताल से गाये जाते हैं। इसी कारण ये 'साम' कहलाते हैं। सामों के संकलन का नाम ही सामवेद है। सामवेद और यजुर्वेद में एक तात्त्विक अन्तर है। यजुर्वेद में न केवल ऋग्वेद से उद्धृत मन्त्रों का समावेश ही है, अपितु गद्य में रचित अंश भी अनेक हैं। यजुर्वेद और सामवेद में यह साम्य है कि विभिन्न यज्ञों में प्रयुक्त मन्त्रों का क्रमबद्ध संकलन यजुर्वेद में भी पाया जाता है। यज्ञिय मन्त्रों को 'यजुष्' कहते हैं और याजुष मन्त्रों के संकलन के कारण इस संहिता की संज्ञा 'यजुर्वेद' है। इस संहिता के हमें दो रूप दिखाई देते हैं—एक वह, जिसमें केवल यज्ञिय प्रयोग विधि दी हुई है और दूसरा वह, जिसमें जहाँ तहाँ प्रयोग विधि का विवेचन भी दिया है' (पृ० २५)। यह कथन भी असंगत है। वेद अपौरुषेय हैं, उनकी रचना नहीं हो सकती। इसी तरह से यजुर्वेद में गद्य की रचना की बात भी खण्डित हो जाती है। यज्ञ के लिये मन्त्रों का विनियोग किसने किया ? मन्त्रों ने किया, यह उत्तर नहीं हो सकता, क्योंकि मन्त्रों में विधि नहीं दिखाई पड़ती। इसी लिये यजुर्वेद के मन्त्रों में यज्ञ के प्रयोगों की विधियाँ और उनका विवेचन नहीं मिलता। विधि और अर्थवाद ब्राह्मण ग्रन्थों में ही उपलब्ध होते हैं। यदि आप यजुर्वेद पद से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ग्रहण करें, तो यह आपके सिद्धान्त के विपरीत पड़ेगा, क्योंकि आप तो मन्त्रसंहिताओं को ही वेद मानते हैं। हमारे मत से तो मन्त्र और ब्राह्मण मिलकर ही वेद माने जाते हैं।

'संहिताओं में सूक्तों एवं प्रार्थनाओं का समूह है, जिनका विनियोग विशेष कर सोमवल्ली का रस निकालते समय तथा देवताओं को सोमरस या घृत अर्पण करने की विधि के साथ कल्पित है। चारों वेदों के मन्त्र-समुदाय को संहिता कहते हैं' (पृ० २४)। यह कहना भी गलत है। वास्तव में तो नित्य मन्त्रों की संनिधि ही 'संहिता' पद का अर्थ है। 'परः संनिकर्षः संहिता' इस पाणिनि सूत्र में अच् और उनसे अव्यवहित हल् वर्णों के परस्पर, स्वभावतः आधी मात्रा के काल के व्यवधान से उच्चारण को 'संहिता' कहते हैं। 'पद-प्रकृतिः संहिता' इस निरुक्त के वचन के अनुसार तत्पुरुष समास का सहारा लेकर सन्धीयमान पदों को एकत्र कर देने का मूल कारण जो प्रकृति, उसको 'संहिता' कहते हैं। 'पद ही जिसकी प्रकृति है' इस तरह से बहुव्रीहि समास करने पर भी वही अर्थ होगा। इसके

मन्त्राश्च तत्तदृषिकृता एव तैः स्वीक्रियन्ते । तच्च—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।' (श्वे० ६।१८) इत्यादिश्रुतिविरुद्धमेव, विद्यमानानामेवान्यत्र प्रेषणसम्भवात् । अत एव न मन्त्रकर्तार ऋषयः, किन्तु मन्त्रद्रष्टार एव, 'ऋषिर्दर्शनात्' इति निरुक्तविरोधात् । 'तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि' (मु० उ० २।१) इति मुण्डकोपनिषद्रीत्या द्रष्टृत्वमपि तेषां विनियोगे प्रयोज्यप्रयोजककार्यकारणभावादेव ज्ञायते । तस्मात् 'पदानि संहन्यन्ते यस्यां सा संहिता' इति श्रुत्यनुगुणैव व्युत्पत्तिर्युक्ता ।

यदपि च—'प्रतिपाद्यविषयदृष्टया ऋग्वेदापेक्षयाऽथर्ववेदोऽत्यन्तं भिन्नः । ऋग्वेदस्य विचारा उच्चकोटिका अथर्ववेदस्य निम्नकोटिका एव । अत एव ऋग्वेदस्य कल्पना विप्रजातीयैर्विशिष्टैर्विद्वद्भिः कृता । ऋग्वेदीया स्तुत्यदेवताऽप्युच्चतमा । अथर्ववेदस्तु आसुराणां देवानां सन्तोषणोपयोगिमन्त्रतन्त्रपूर्णो भूतप्रेतादीनां च वशीकरणप्रयोगबहुलश्च हीनजातिसन्तोषप्रदः, तथापि ता उभौ अन्योन्यपूरकावेव । पुरातनयुगीनान्यसाहित्यकृत्यपेक्षयाऽधिकमात्रया मानवानां धार्मिकविचारधारोद्बोधकौ द्वावेवेमौ ग्रन्थौ । मानवजातीयधार्मिकविश्वासविकासाध्येतॄणां कृतेऽनयोरपरिमितं महत्त्वमस्त्येव' (पृ० २५-२६) इति, तदपि निर्मूलमेव, वैदिकेषु कर्मसु वेदचतुष्टयोपयोगस्य वर्णितत्वात् । आथर्वणिकब्राह्मणोपनिषदादिषु धर्मब्रह्मणोः प्रतिपादनावैशेष्यात् । न केवलं संहिता एव वेदाः, ब्राह्मणानामपि वेदत्वात् । कर्मविधीनां तत्रैव सत्त्वात् । तथैवाथर्वब्राह्मणेष्वेव कर्मविधीनां सत्त्वम् । माण्डूक्याद्युपनिषत्सु ब्रह्मविद्यानिरूपणं तूपनिषदन्तरापेक्षयापि तत्र वैशिष्टयमेव । 'एक आसीद्यजुर्वेदस्तं चतुर्धा व्यकल्पयत् । चातुर्होत्रमभूत्तस्मिंस्तेन यज्ञमकल्पयत् ।। आध्वर्यवं यजुर्भिस्तु ऋग्भिर्वै होत्रमेव च । औद्गात्रं सामभिश्चैके ब्रह्मत्वं चाप्यथर्वभिः । ब्रह्मत्वमकरोद्यज्ञे

विपरीत पाश्चात्य विद्वान् संहिता पद का अर्थ इस तरह से करते हैं कि विभिन्न ऋषियों के द्वारा रचित मन्त्र अथवा सूक्तों को जहाँ पर इकट्ठा किया जाता है, वह संहिता है । मन्त्रों को वे उन-उन ऋषियों की कृति मानते हैं । यह कथन 'जो पहले ब्रह्मा की सृष्टि करता है और बाद में उसको सारे वेदों की जानकारी देता है' इस श्वेताश्वतर श्रुति के विपरीत है, क्योंकि पहले से विद्यमान वस्तु का ही अन्यत्र प्रेषण संभव हो सकता है । इसी लिये ऋषियों को हम मन्त्रों का कर्ता न मानकर द्रष्टा मानते हैं, अन्यथा 'ऋषिर्दर्शनात्' इस निरुक्त वाक्य से विरोध उपस्थित हो जायगा । 'यह बात सही है कि पुरातन क्रान्त-द्रष्टा ऋषियों ने जिन कर्मों को देखा, उनका त्रेता युग में बड़ा विस्तार हुआ' इस मुण्डकोपनिषद् के वचन के अनुसार उन ऋषियों का द्रष्टृत्व भी उनके विनियोग के लिये प्रयोज्यप्रयोजकभाव और कार्यकारणभाव के निर्धारण तक ही सीमित है । इस तरह से पूरे प्रकरण पर विचार करने से यही उचित है कि जिसमें पदों का आनुपूर्वी से संनिवेश मिलता है, उसकी संज्ञा 'संहिता' है । यह व्याख्या उक्त श्रुतिवचनों के अनुकूल है ।

'प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद से बहुत भिन्न है । अथर्ववेद में प्रतिपादित विचार बहुत ही प्राथमिक कोटि के हैं । ऋग्वेद में प्रायशः उच्च कोटि के देवताओं की स्तुति है, जिनकी कल्पना अपेक्षाकृत अधिक विद्वान् एवं सुसंस्कृत विप्र जाति के द्वारा की गई है, परन्तु अथर्ववेद बहुशः आसुरी जगत् के जीवों को सन्तुष्ट करने वाले मन्त्र-तन्त्रों से परिपूर्ण है । साथ ही साथ इसमें भूत-प्रेत आदि निम्न कोटि की शक्ति को जादू-टोने से वश में करने के वे प्रयोग बताये गये हैं, जो अधिकांश हीन जाति की साधारण जनता को संतोष देने वाले हो सकते हैं । तथापि कहना होगा कि ये दोनों वेद एक दूसरे के पूरक हैं और इस दृष्टि से ये दो ही वेद चारों वेदों में मुख्य कहे जा सकते हैं । पुरातन युग की अन्य साहित्यिक कृतियों की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में मानवों की धार्मिक विचारधारा को अंकित करने वाले ये ही दो ग्रन्थ कहे जा सकते हैं और इनका महत्त्व उन पाठकों के लिये अपरिमित है, जो मानव जाति के धार्मिक विश्वासों के विकास का अध्ययन करना चाहते हैं.....' (पृ० २५-२६) । यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि वैदिक कर्मों के लिये चारों वेदों का समान उपयोग है, यह बात बताई जा चुकी है । अथर्ववेद के ब्राह्मणों और उपनिषदों की यह विशेषता है कि वहाँ पर धर्म और ब्रह्म का विशेष रूप से प्रतिपादन मिलता है । केवल संहिता भाग ही वेद नहीं है, अपितु ब्राह्मण भाग भी वेद ही है । सारे यज्ञ-यागादि की विधियाँ वहीं पर वर्णित हैं । उसी तरह की विधियाँ अथर्ववेद के ब्राह्मणों में भी वर्णित हैं । माण्डूक्य प्रभृति उपनिषदों में ब्रह्मविद्या का निरूपण अन्य उपनिषदों की अपेक्षा विलक्षण पद्धति से किया गया है । 'पहले यजुर्वेद एक ही था, उसके

वेदेनाथर्वणेन तु । ततः स ऋचमुद्धृत्य ऋग्वेदं समकल्पयत् ।। होतृकं कल्पते तेन यज्ञवाहं जगद्धितम् । सामभिः सामवेदं च तेनौद्गात्रमरोचयत् ।। राज्ञस्त्वथर्ववेदेन सर्वकर्माण्यकारयत् ।' (वायुपुराण ६०।१७-२०) इति वायुपुराणरीत्या अविविक्तस्य वेदस्य यजुर्वेदत्वं विज्ञायते । तस्मादेव ऋग्वेदादयो विभज्यन्ते । 'यदृचा हौत्रं क्रियते यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथोऽथ केन ब्रह्मत्वमित्यनया त्रय्येति ह ब्रूयात् ।' (श० ११।५।८।७), 'ऋचो यजूंषि सामानि अथर्वाङ्गिरसस्तथा । चातुर्होत्रप्रधानत्वाल्लिङ्गादिस्त्रितये त्रयी ।। अथर्वाङ्गिरसां रूपं सामऋग्यजुरात्मकम् । तथा दिशन्त्यभिचारसामान्येन पृथक् पृथक् ।।' अथर्वमन्त्रेष्वपि महता समारोहेण परमात्मप्रतिपादनं दृश्यते । तत एव ऋगादीनामाविर्भावः । सर्वसामञ्जस्याय साम्मनस्यसूक्तानि पितृपुत्रभ्रातृपत्नीपत्यादिसामञ्जस्यावहानि चातीवोपयोगितत्त्वानि तत्र निर्दिष्टानि सन्ति । शरीरेन्द्रियमनसां स्वास्थ्यकराणि जपहोमश्राद्धादीनि च तत्र निर्दिष्टानि सन्ति । त्रिगुणात्मके जगति तत्तदधिकारभेदेन कर्मोपासनादिभेदस्य युक्तत्वात् । वेदानां निर्माणासिद्ध्या ब्राह्मणाब्राह्मणादिनिर्माणभेदोऽप्यपास्तो वेदितव्यः । परस्परपूरकत्वं तु चतुर्णामपि वेदानां न तु द्वयोरेव, हौत्रौद्गात्राध्वर्यवब्रह्मत्वहेतुत्वेन समेषामेव यज्ञोपकारकत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'वेदानां रचनाकालमारभ्य पूर्वमहर्षिनिर्मितानां सूक्तानां पारायण एवाधिकः समादरो जातः । पुरोहितानां परिवारेषु वंशपारम्पर्येण मन्त्राः प्राप्यन्ते स्म । परिणामे वैदिकसंहितासूक्तानां सन्निवेशः संवृत्तः । नवीनमन्त्ररचनातो निवृत्ताः पुरोहिताः स्वस्वप्रतिभानां प्रयोगं यज्ञविधिविधानवितता एव कृतवन्तः । तत्परिणामरूपेण तादृशस्य प्रयोगविधेः प्रादुर्भावो जातो यस्य सौक्ष्म्यं चक्रव्यूहसदृशं विकटं सञ्जातम्, यस्य जटिलतायाः प्रतिभटे

चार विभाग किये गये । इन चारों विभागों में चातुर्होत्र को स्थिति के आधार पर यज्ञ की कल्पना की गई । यजु से आध्वर्यव, ऋक् से हौत्र, साम से औद्गात्र और अथर्व से ब्रह्मा के कर्मों का विधान हुआ । उसके बाद ऋचाओं का उद्धार कर ऋग्वेद की कल्पना हुई । इस ऋग्वेद से जगत् के हित के लिये यज्ञ-कर्मों के वाहक होता की कल्पना की जाती है । साम से सामवेद और उद्गाता की रचना की गई और राजा के सारे कार्यों का विधान अथर्ववेद की सहायता से किया गया' इस प्रकार के वायुपुराण के वचनों के अनुसार अविविक्त वेद का नाम यजुर्वेद मालूम पड़ता है । उसी से बाद में ऋक्, साम आदि विभागों की निष्पत्ति होती है । 'ऋचा से हौत्र, यजु से आध्वर्यव, साम से उद्गीथ कर्म किये जाते हैं, तो यह ब्रह्मा का कार्य किससे किया जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में बतावे कि इस त्रयी से' इस शब्दश्रुति के अनुसार और 'ऋक्, यजुः, साम और अथर्वांगिरस इनसे चातुर्होत्र प्रधान कार्यों का निरूपण होता है । प्रथम तीन का प्रतिपादन त्रयी के आधार पर होता है और चतुर्थ अथर्वांगिरस का स्वभाव इस त्रयी से भिन्न नहीं है । अतः इनमें सामान्य रूप से अलग अलग सभी कार्यों का विधान विद्यमान है' इस वचन के अनुसार यद्यपि यहाँ पर अथर्ववेद की पृथक् सत्ता नहीं प्रतिपादित है, तो भी अथर्ववेद के मन्त्रों में भी बड़े विस्तार से परमात्मा का प्रतिपादन मिलता है । उसी से ऋगादि के आविर्भाव की बात भी कही गई है । सभी प्राणियों में सामंजस्य की स्थापना के लिये यहाँ सांमनस्य सूक्त में पिता, पुत्र, भाई, पत्नी, पति प्रभृति से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये, इस बात का बड़ा ही उपयोगी वर्णन मिलता है । इसी तरह से शरीर, इन्द्रिय और मन को स्वस्थ बनाने वाले जप, होम, श्राद्ध आदि का विधान भी वहाँ मिलता है । इस त्रिगुणात्मक जगत् में अधिकार के भेद के अनुसार कार्य, उपासना आदि का भेद ठीक ही है । वेदों की रचना ही जब सिद्ध नहीं होती तो उसको ब्राह्मणों ने बनाया, उसको अब्राह्मणों ने बनाया, इस तरह की सारी कल्पनाएँ निराधार हो जाती हैं । परस्पर पूरकता चारों वेदों में मानी जायगी, केवल दो में ही नहीं, क्योंकि होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा के कर्मों के प्रतिपादक होने से चारों वेदों की मिलकर ही परस्पर यज्ञोपकारकता सिद्ध होती है ।

'वेदों का रचनात्मक काल यहाँ समाप्त हुआ । तत्पश्चात् एक ऐसा युग आया, जिसमें देवताओं के प्रति नई प्रार्थनाओं को नये सूक्तों द्वारा उपस्थित करने की अपेक्षा प्रतीत नहीं हुई, परन्तु यह कहीं अधिक प्रगुण समझा गया कि प्राचीन महर्षियों के द्वारा निर्मित सूक्तों का ही पारायण किया जाय, जो अनेक पुरोहित परिवारों में वंश परम्परा से प्राप्त होते रहे हैं । परिणाम यह हुआ कि पूर्वनिर्मित सूक्तों का क्रमशः वैदिक संहिताओं में समावेश हो चला और उन्हें भी प्रतिदिन श्रद्धेय गौरव प्राप्त होता गया । नवीन सूक्तों की रचना से यों विरत होने पर पुरोहित वर्ग ने अपनी प्रतिभा का प्रयोग यज्ञ के विधिविधान को विस्तृत बनाने में किया ।

स्थातुं संसारे कोऽपि धार्मिकप्रयोगो नासीत्। तदानीं प्राचीनवैदिकसूक्तानां प्रयोगाणां च महत्त्वं याज्ञिककर्मकाण्डविनियोगे केन्द्रितमभूत्। सूक्तानां विनियोगेन सम्बन्धे स्थापिते पौरोहित्यविधिषु नवीनमेकं विधानं प्रादुर्बभूव, यस्य विवरणं ब्राह्मणग्रन्थेषूपलभ्यते' (पृ० २६) इति, तदेतत्सर्वं मैकडानलमहाशयस्य वैदिकसम्प्रदायाज्ञानविजृम्भितमेव, तादृशार्थस्यातीतत्वेन प्रत्यक्षप्रमाणासम्भवात्। नापि तत्रानुमानं सम्भवति, तादृशव्याप्तेरभावात्। नाप्यागमस्तत्र क्रमते, तदनुपलम्भात्। मन्त्राणां ब्राह्मणानां च नित्यत्वापौरुषेयत्वाभ्युपगमात्। विदुषां च निरर्थकेषु कार्येषु प्रतिभाप्रयोगासम्भवात्। यदि तु तादृशविकटविधिविधानैः किञ्चिददृष्टं पुण्यादिकमुत्पद्यत इत्युच्यते, तर्हि तत्रापि किमपि प्रमाणं वक्तव्यम्। वैदिकैस्तु प्रत्यक्षानुमानानधिगतार्थप्रतिपादकत्वेन रूपे नेत्रस्येव तादृशेऽर्थे मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्यैव प्रामाण्यमुपगम्यते।

यदपि २६ पृष्ठे तेनोक्तम्—'तेषु ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रार्थनोपासनादिभिः सार्धं ब्रह्मसम्बन्धिनो विचारा अप्यासन्, तादृशग्रन्थराशेर्ब्राह्मणमिति संज्ञा संजाता' (पृ० २६) इति, तदपि न, ब्राह्मणेषु कर्मोपासनादिविधीनां सत्त्वेऽपि प्रार्थनास्तुतीनां क्वाचित्कत्वात्। ब्रह्मविचारास्तूपनिषत्स्वेवेति, उपनिषदश्च मन्त्रब्राह्मणविशेषा एवेति न तिरोहितं तद्विदाम्।

यदप्युक्तम्—'सूक्तानामतिप्राचीनतायाः सनातनतायाः पौरुषेयतायाश्च यावत्प्रतिष्ठा सुस्थिरा नासीत्तावत् ब्राह्मणानामुत्पत्तिर्नासीत्। तदिदं युगं यत्र धार्मिकपरम्पराया एकमात्रप्रतिनिधिः पुरोहितजातिरनुदिनं प्रवर्तमानभाषागतपरिवर्तनात् सूक्तानां तात्पर्यं विसस्मार। ब्राह्मणग्रन्थो गद्यभाषयाद्योपान्तो रचितः, यत्र तत्रैतेषामपि पाठः सूक्तानामिव स्वराङ्कितो भवति। तेषां सविशेषत्वस्येदं कारणं यद् भारोपीयभाषापरिवारे ब्राह्मणानां गद्यलेखाः प्राचीनतमाः, एतेषां शैली नीरसा खेदकरी विकीर्णाऽसङ्घटिता च' (पृ० २६-२७) इति, तदपि निःसारम्, अति-

फलतः एक ऐसी प्रयोगविधि का प्रादुर्भाव हुआ, जिसकी सूक्ष्मता का चक्रव्यूह इतना विकट है कि हिन्दुओं की यज्ञीय विधि के सदृश संसार में और कोई धार्मिक प्रयोग उतना जटिल नहीं कहा जा सकता। अब पुराने वैदिक सूक्तों और प्रयोगों का सविशेष महत्त्व केवल यज्ञीय कर्मकाण्ड के विनियोग में केन्द्रित हो चला। सूक्तों का विनियोग के साथ संबन्ध स्थापित हो जाने पर पौरोहित्य विधि में एक नये विधान का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका विवरण ब्राह्मण नाम के धार्मिक ग्रन्थों में पाया जाता है' (पृ० २६)। मैकडानल महाशय का यह सारा कथन वैदिक सम्प्रदाय की उनकी अनभिज्ञता का द्योतक है। जो कुछ उन्होंने प्रतिपादित किया है, वह सब अतीत की घटना है। इसमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण तो है नहीं। किसी व्याप्ति के अभाव में इस तरह का अनुमान भी नहीं किया जा सकता। न कोई आगम (शास्त्र) ही इस बात को सिद्ध करने वाला मिलता है। हम लोग मन्त्र और ब्राह्मण भाग को नित्य और अपौरुषेय मानते हैं। विद्वान् पुरुषों की निरर्थक कार्यों में प्रतिभा लगेगी, ऐसा कोई मान नहीं सकता। यदि इस तरह के विकट विधि-विधानों से कोई अदृष्ट उत्पन्न होने की बात हो, तो उसमें भी प्रमाण देना होगा। वैदिकगण तो इस तरह के प्रत्यक्ष और अनुमान से अनधिगत अर्थ में मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद को ही प्रमाण मानते हैं, जैसे कि रूप के ग्रहण में चक्षुरिन्द्रिय को प्रमाण माना जाता है।

'इन ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रार्थना एवं उपासना के साथ साथ ब्रह्म संबन्धी विचार भी प्रस्तुत किये गये हैं। अतः इस ग्रन्थराशि को 'ब्राह्मण' संज्ञा दी गई' (पृ० २६) यह कथन भी गलत है। ब्राह्मणों में यद्यपि कर्म और उपासना की विधियाँ वर्णित हैं, किन्तु उनमें प्रार्थनाएँ और स्तुतियाँ कहीं कहीं पर ही हैं। ब्रह्म संबन्धी विचार तो उपनिषदों में ही हैं और ये उपनिषदें मन्त्र और ब्राह्मणों से अतिरिक्त नहीं है, यह बात जानकारों से छिपी नहीं है।

'यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना तब तक न हुई थी, जब तक सूक्तों की प्रतिष्ठा अतिप्राचीन, सनातन एवं अपौरुषेय रचना के रूप में स्थिर न हो चुकी थी। यह वह युग था, जब धार्मिक परम्परा के एकमात्र निधि पुरोहित जाति अनुदिन प्रवर्तमान भाषागत परिवर्तनों के कारण सूक्तों के यथार्थ तात्पर्य को भी भूल चुकी थी। ब्राह्मण ग्रन्थ आद्योपान्त गद्य में रचित हैं। यत्र तत्र इनका पाठ भी सूक्तों की भाँति स्वर से अंकित है। उनकी सविशेष महत्ता इस कारण है कि भारोपीय भाषा-परिवार में ये

प्राचीनताया अपौरुषेयत्वसनातनत्वाभ्यामसमन्वयात् । अपौरुषेयता सनातनता चानादित्वप्रयोजिका, अनादित्वरचितत्वयोश्च विरोध एवास्ते। यद्यप्यानुपूर्व्या निर्माणे स्वातन्त्र्याभावेन गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणकत्वेनाप्यपौरुषेयता सिद्ध्यति, अत एव पूर्वकल्पीयानुपूर्वीसव्यपेक्षतया कल्पादौ परमेश्वरोपदिष्टत्वेनाप्यपौरुषेयता सिद्ध्यति, तथापि पाश्चात्यैस्तन्नानुमन्यते । पुरोहितास्तात्पर्यं सूक्तानां विस्मृतवन्त इत्यत्र हेतुर्नोक्तः । नहि प्रतिज्ञामात्रेणाभीष्टसिद्धिः सम्भवति । वैदिकानां दृष्ट्या तु गद्यपद्यात्मका मन्त्रा ब्राह्मणानि वाऽपौरुषेयाण्येव, अतस्तेषां कालनिर्धारणमशक्यमेव ।

यदपि च—'मन्त्रग्रामाणां विनियोगैः परस्परं सम्बन्धस्थापनमेव ब्राह्मणानामुद्देश्यम्' (पृ० २७) इति, तदपि न, ब्राह्मणानामेव प्राधान्येन विनियोगवर्णनात् । यद्यपि लिङ्गादिभिरपि विनियोगः कल्प्यते, तथापि 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (मी० सू०   ) इति सूत्ररीत्या श्रुतेरेव प्राबल्यनिर्णयात् ।

'ब्राह्मणं मन्त्राणां विधिविधानानि साङ्केतिकरहस्यानि च प्रकाशयति, तदर्थमाख्यानानि कथानकानि च तत्समर्थनायाद्रियन्ते । क्वचित् क्वचिद् गम्भीरविषयानपहाय तत्र साहित्यिकदृष्ट्या कांचिद्रोचकता नोपलभ्यते । यज्ञियविषयावगमाय क्वचिच्छब्दार्थभाषाशब्दव्युत्पत्त्यादिसम्बन्धि ऊहापोहादिकं करोति । क्वचिदीश्वरवादादिसिद्धान्तान् स्थापयितुं चेष्टते । वस्तुतो निःसाराः पाण्डित्याडम्बरपूर्णाः पुरोहितानां धार्मिकधारणानां प्रतिबिम्बरूपा ब्राह्मणगता विचाराः, अधिकांशतया कल्पितास्तर्कशून्याः सन्ति । क्वचित्तु रूपकमय्यो बुद्धिशून्या असङ्गताः संसारे क्वचिदप्यदृष्टचराः विद्यन्ते, तथापि विश्वधर्मेतिहासाध्येतृभिरत्यन्तमुपादेयाः' (२७ पृ०) इति, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, 'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' इति रीत्या ब्राह्मणानां महतो भूतस्य परमेश्वरस्य निःश्वसितानां

प्राचीनतम गद्य-लेख के प्रतीक हैं । इन ग्रन्थों की शैली अवश्य नीरस, खेदकर, विकीर्ण एवं असंघटित हैं' (पृ० २६-२७) । यह कथन भी निःसार है । अतिप्राचीनता का अपौरुषेयता और सनातनता से समन्वय नहीं बन सकता । अपौरुषेयता और सनातनता अनादिता के आधार पर ही सिद्ध की जा सकती है । अनादिता और कर्तृता परस्पर विरोधी हैं । यद्यपि आनुपूर्वी के निर्माण में स्वतन्त्रता न होने से और गुरुमुख से उच्चरित बात को ही पुनरुच्चरित करने से भी अपौरुषेयता सिद्ध होती है, इसी तरह से पूर्वकल्पीय आनुपूर्वी की अपेक्षा इस कल्प में भी रहने से परमेश्वर कल्प के आदि में तदनुसार ही वेद का उपदेश करता है, अतः इस तरह से भी वेद की अपौरुषेयता सिद्ध होती है, तथापि पाश्चात्य विद्वान् इसको स्वीकार नहीं करते । पुरोहित सूक्तों के तात्पर्य को भूल गये, ऐसा कहते समय मैकडानल ने इसका कारण नहीं बताया । केवल प्रतिज्ञा कर लेने से वस्तु की सिद्धि नहीं हो जाती । वैदिकों की दृष्टि से तो गद्यपद्यात्मक मन्त्र और ब्राह्मण सभी अपौरुषेय हैं, अतः इनका काल निर्धारित कर पाना अशक्य है ।

'ब्राह्मण-ग्रन्थों का मुख्य ध्येय मन्त्रग्राम और विनियोग के बीच परस्पर संबन्ध को प्रकट करने का है' (पृ० २७)। यह भी गलत है, क्योंकि प्रधानतः ब्राह्मण ही विनियोग को बताते हैं । यद्यपि लिंग प्रभृति से भी विनियोग की कल्पना की जाती है, किन्तु 'श्रुतिलिङ्ग०' प्रभृति मीमांसा सूत्र के आधार पर विनियोग के निर्णय में श्रुति का ही प्रामाण्य सर्वोपरि माना जाता है ।

'साथ ही साथ वे (ब्राह्मण ग्रन्थ) मन्त्रों का और विधि-विधान का सांकेतिक रहस्य भी उद्घाटित करते हैं । इस प्रकार के विवरण के समर्थन में दिये हुए कुछ कथानक या उपाख्यानों को तथा कहीं-कहीं गंभीर विचारों को छोड़, ये ग्रन्थ सामान्यतः साहित्यिक दृष्टि से किसी तरह भी रोचक नहीं हैं । यज्ञीय विधि को समझाने के लिये ये बीच-बीच में शब्दार्थ-संबन्धी, भाषा-संबन्धी अथवा शब्द-व्युत्पत्ति संबन्धी अनेक ऊहापोह करते रहते हैं । विचार-विमर्श द्वारा ये जगत्-सृष्टि तथा ईश्वरवाद के अपने सिद्धान्तों को स्थापित करने की चेष्टा भी करते हैं । जो भी हो, वस्तुतः ये निःसार एवं पण्डिताऊ विवेचनमात्र हैं । इनमें पुरोहित वर्ग की जो धार्मिक धारणाएँ प्रतिबिम्बित हैं, वे अधिकांश कल्पित तथा तर्कहीन प्रतीत होती हैं । कहीं कहीं तो इनकी रूपकमयी कल्पनाएँ ऐसी बुद्धिशून्य और असंगत सी लगती हैं, जैसी संसार में और कहीं ढूंढने पर मिल नहीं सकतीं । तथापि विश्व के किसी भी साहित्य में उपलब्ध धार्मिक विधियों पर रचित ग्रन्थों में से सर्वप्राचीन होने के नाते ये ग्रन्थ विश्व-धर्म के इतिहास के अध्येता के लिये अत्यन्त

तात्पर्यमुत्तानार्थं वाज्ञात्वैव तथा जल्पनात् । जैमिनि-व्यास-उपवर्ष-शवरस्वामि-भट्टपाद-शङ्कराचार्यादिभिर्ब्राह्मणानामपौरुषेयत्वस्य वेदत्वस्य चाभ्युपगमाच्च । अपि च, सर्वेऽपि वैदिका महर्षयो विद्वांस एव, ब्राह्मणानां विधिप्रधानानामेव प्राधान्यम्, तत्रैव चोपनिषदामपि सन्निवेशं मन्वते, यासां लोकोत्तरं विचारगाम्भीर्यं विश्वविश्रुतम् । एतादृशानां ब्राह्मणग्रन्थानां सम्बन्धे तादृशः प्रलापः प्रमाद एव । 'नह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' इति न्यायमनुसरति मेकडानलमहाशयः ।

'संहिता पद्यरचिता स्तुतिपरा, ब्राह्मणग्रन्थश्च विवरणात्मको गद्यमयः' (पृ० २७) इत्यपि निर्मूलम्, ब्राह्मणगतविधिभागस्य संहितास्वदर्शनात् । मन्त्रसंहितास्वपि यजुषां गद्यपद्योभयात्मकत्वात् । अत एव 'स्वस्वसंहिताविहितकर्मकाण्डानां विध्यनुसारेण ब्राह्मणानां प्रतिपाद्यविषयाः पृथक्-पृथक् सन्ति' (पृ० २७) इत्यपि ब्राह्मण-संहितयोरज्ञानमूलकमेव, संहितासु कर्मविधानाभावात् । ब्राह्मणेष्वेव विधिदर्शनाच्च ।

ऋग्वेदसम्बद्धब्राह्मणानि होतृकर्तव्यप्रतिपादन एव पर्यवस्यन्ति, होता च प्रत्येककर्मापेक्षितशास्त्रमुल्लिख्य तदुपयुक्तान् मन्त्रानुद्धृत्य विनियोगान् निर्णयति, सामब्राह्मणानि औद्गात्रप्रतिपादकानि' (पृ० २८) इति, तदेतत्सर्वमज्ञजनप्रतारणमेव, ऋग्वेदीयैतरेयब्राह्मणे शतपथादिवदेव कर्मविधानोपलम्भात् । शास्त्रोल्लेखस्तत्र नावश्यकः, किन्तु मन्त्रसमूहा एव शंसनसाधनत्वात् शस्त्रपदव्यपदेश्या भवन्ति । यस्य शस्त्रमपि शास्त्रं प्रतीयते, शस्त्रपदार्थमपि यो न जानाति, स ब्राह्मणग्रन्थसम्बन्धे किं ज्ञास्यतीति स्पष्टमेव ।

Macdonell's
History
[illegible]

उपादेय हैं' (पृ० २७) यह पूरा कथन भी वक्ता के अज्ञान को उजागर करता है । 'अंगूर खट्टे हैं' इस कहावत के अनुसार महान् भूत परमेश्वर के निःश्वासभूत ब्राह्मणों के तात्पर्य को और उनके उदात्त अर्थ को न समझ करके ही यह सब कहा गया है । जैमिनि, व्यास, उपवर्ष, शबरस्वामी, भट्टपाद, शंकराचार्य प्रभृति ने ब्राह्मणों की अपौरुषेयता और वेदत्व को स्वीकार किया है । दूसरी बात, सभी वैदिक महर्षिगण और विद्वान् ब्राह्मणों में वर्णित विधि-विधानों को ही प्रधानता देते हैं और उन्हीं में उपनिषदों का संनिवेश मानते हैं, जिनका कि लोकोत्तर विचारगाम्भीर्य विश्वविश्रुत है । इस तरह के ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में इस तरह का प्रलाप सर्वथा प्रमाद कोटि में ही गिना जायगा । 'यह स्थाणु का अपराध नहीं है कि उसको अन्धा नहीं देख पाता' इसी न्याय का अनुसरण करते से मैकडानल महाशय मालूम पड़ते हैं ।

'संहिताएँ पद्य में रचित हैं और उनका अर्थ स्तुतिपरक है । ब्राह्मण ग्रन्थ विवरणात्मक हैं और गद्य में रचित' (पृ० २७) यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि ब्राह्मणगत विधिभाग के दर्शन संहिताओं में नहीं होते । मन्त्र संहिताओं में भी अनेक यजुर्वेद संहिताएँ गद्य और पद्य उभयात्मक हैं । इसी लिये—'प्रत्येक वेद के अपने अपने ब्राह्मण भिन्न हैं और उनका प्रतिपाद्य विषय भी अपनी अपनी संहिता में विहित कर्मकाण्ड की विभिन्न विधियों के अनुसार पृथक् पृथक्' (पृ० २७) यह कथन भी ब्राह्मण और संहिताओं के स्वरूप को ठीक से न समझ पाने के कारण है । संहिताओं में कहीं भी कर्मकाण्ड का विधान नहीं मिलता, यह केवल ब्राह्मण ग्रन्थों में ही मिलता है ।

'ऋग्वेद से संबद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थ प्रयोगों का विवरण करते हुए प्रायः 'होता' नामक ऋत्विक् के ही कर्तव्यों को बतलाने में सीमित हैं । होता वह ऋत्विक् है, जो कि प्रत्येक कर्म के लिये शास्त्र का उल्लेख कर उसमें उपयुक्त मन्त्रों को सूक्तों से उद्धृत कर विनियोग का निर्णय करता है । सामवेद के ब्राह्मण-ग्रन्थ केवल उद्गाताओं के कर्तव्यों का ही प्रतिपादन करते हैं' (पृ० २८) यह सारा कथन अबोध व्यक्तियों के ठगने के लिये हैं । ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में शतपथ ब्राह्मण के समान ही सारे कर्मविधान उपलब्ध होते हैं । इसके लिये शास्त्र का उल्लेख आवश्यक नहीं है, किन्तु मन्त्रसमूह को ही शंसन के साधन के रूप में 'शस्त्र' पद से अभिहित किया जाता है । जिस व्यक्ति को शस्त्र और शास्त्र एक ही प्रतीत होता है, जो 'शस्त्र' पद के अर्थ को भी ठीक से नहीं जानता, वह ब्राह्मण-ग्रन्थों के संबन्ध में क्या जानेगा ?

यदपि—'ब्राह्मणयुग एव वर्णव्यवस्था निश्चितं रूपं धारितवती। यत्र जातीयताया जटिलजालं निर्मितम्, पौरोहित्यपद्धत्या यद्यपि वैदिकयुग एव पर्याप्तं प्रतिष्ठोपलब्धा, तथापि ब्राह्मणयुगे तया सा सत्ताधिगता या अद्य यावत् स्थिरास्ते। विश्वस्मिन् कोऽपि मानवसमाजः पौरोहित्येनैवं न प्रभावितो यथा हिन्दूसमाजः। यतो हिन्दुजातौ धार्मिकविद्याध्ययने वंशपारम्पर्येण पुरोहितानामेवैकाधिकारः। अन्यत्र तु समाजस्योपरि योद्धॄणां कुलीनवर्गस्य हस्तगता सत्ता। भारते पुरोहितानां वर्चस्वकारणमिदमासीद् यद् वैदिकयुगस्य प्रारम्भ एव दिग्विजयसम्बन्धिशौर्यमयं जीवनं समाप्तमासीत्। तत्पश्चाद् भारतस्य समरेखभूमौ विजेतॄणां जीवनं शारीरकश्रमहीनत्वादकर्मण्यमिव समपद्यत। तादृशपरिवर्तितपरिस्थितौ यज्ञविधिरहस्यज्ञानां शिष्टजनानां बुद्धिबलप्राधान्यस्थापनायावसरो लब्धः' (२८ पृष्ठे) इति, तदेतत्सर्वं पाश्चात्यकौटिल्यमेव, निष्प्रमाणत्वात्। पौरोहित्ययुगस्याप्रामाणिकत्वात्। पौरोहित्यसत्तापि तथाविधैव, मन्त्रब्राह्मणयोरविशेषेण दिग्विजयमाहात्म्यस्य प्रख्यातत्वात्। राजसूयाश्वमेधयोर्वेदविहितकर्मप्रमुखयोर्विशेषतो दिग्विजयापेक्षणात्। रामायणमहाभारतयोस्तत्प्रसङ्गेनानेकयुद्धवर्णनात्। मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च राजसूयाश्वमेधप्रसङ्गे विश्वजितो वर्णनाच्च।

यत्तु—'समयमुपलभ्य ब्राह्मणग्रन्थानामपि धार्मिकसाहित्येषु परिगणना श्रुतिसंज्ञा च सञ्जाता' इति, तदपि तुच्छम्, हेतुशून्यायाः प्रतिज्ञाया निरर्थकत्वात्। मन्त्रेष्वपि ब्राह्मणानां वर्णनेनानादित्वसिद्धेः। धार्मिकग्रन्थेषु ब्राह्मणानां परिगणना जातेति कथनं तु साहसमेव, धर्मस्वरूपतद्विधानादीनां ब्राह्मणेष्वेव सत्त्वात्। ब्राह्मणमन्तरा तदवगमासम्भवाच्च। मन्त्राणामपि ब्राह्मणविधेयत्वावगमाच्च।

यदपि च—'श्रवणसाक्षात्कारेण श्रुतित्वम्, महर्षिभिः स्वयमाविष्कृतग्रन्थराशेरेव वा श्रुतित्वम्, तत्कक्षायामेव पश्चाद्भाविनिर्मितिमतां ब्राह्मणानामपि सन्निवेशः, वस्तुतस्तु ब्राह्मणग्रन्था आध्यात्मिका एव'

'भारतीय समाज के इतिहास में ब्राह्मण युग बड़े महत्त्व का है। इसी युग में वर्णव्यवस्था ने निश्चित रूप धारण किया, जिसके अन्तर्गत आज जातीयता का सबसे बड़ा जटिल जाल बन गया है। पौरोहित्य-पद्धति ने यद्यपि वैदिक युग में ही पर्याप्त प्रतिष्ठा पा ली थी, तथापि कहना होगा कि ब्राह्मण युग में उसे वह सत्ता प्राप्त हुई, जो आज तक स्थिर है। विश्व में किसी अन्य देश का मानव समाज पौरोहित्य से इतना प्रभावित नहीं, जितना हिन्दुओं का है। कारण, हिन्दू जाति में धार्मिक विद्या के अध्ययन पर वंश-परम्परा से केवल पुरोहितों का ही एकाधिकार रहा है। इसके विपरीत, अन्य देशों में प्राथमिक समाज पर सत्ता योद्धाओं तथा कुलीन वर्ग के हाथ बनी रही। भारतवर्ष में पुरोहितों के वर्चस्व का कारण यह रहा कि वैदिक युग के प्रारंभ में ही दिग्विजय का शौर्यमय जीवन समाप्त हो गया था और तत्पश्चात् भारत की समरेख भूमि पर विजेताओं का जीवन शारीरिक श्रम से हीन एवं अकर्मण्यता का बन गया था। ऐसी परिवर्तित परिस्थितियों में यज्ञ-यागादि विधियों के रहस्य को जानने वाले शिष्ट जनों को शारीरिक बल के ऊपर बुद्धि बल का प्राधान्य स्थापित करने का अवकाश प्राप्त हुआ' (पृ० २८) यह सारा कथन पाश्चात्यों की कुटिलता का सूचक और प्रमाण शून्य है। पौरोहित्य युग की बात सर्वथा अप्रामाणिक है। पुरोहितों की सत्ता की बात भी इसी तरह से सर्वथा कल्पित है। मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही भागों में समान रूप से दिग्विजय का माहात्म्य वर्णित है। राजसूय और अश्वमेध ये दो मुख्य याग वेदों में प्रतिपादित हैं। अश्वमेध और राजसूय यज्ञ को पूरा करने के प्रसंग में हुए अनेक युद्धों का वर्णन रामायण और महाभारत में मिलता है। मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों में राजसूय और अश्वमेध के प्रसंग में विश्वविजय की बात कही गई है।

'समय पाकर ब्राह्मण ग्रन्थ भी धार्मिक साहित्य में गिने जाने लगे और आगे चलकर इनकी गणना भी 'श्रुति' के अन्तर्गत हो गई' (पृ० २८)। यह कहना भी गलत है, क्योंकि बिना कारण बताये प्रतिज्ञा मात्र कर लेने से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती। मन्त्र भाग में भी ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है, अतः इनको अनादि ही मानना पड़ेगा। धार्मिक साहित्य में ब्राह्मण ग्रन्थों की गणना होने लगी, यह कहना दुःसाहस मात्र है, क्योंकि धर्म का स्वरूप और उसका विधान प्रधानतया ब्राह्मणों में ही विद्यमान है। बिना ब्राह्मण-ग्रन्थों के इनकी अवगति नहीं हो सकती। मन्त्रों का विनियोग भी ब्राह्मण-ग्रन्थों के ही अधीन है।

(पृ० २८-२९) इति, तदप्यज्ञानमूलकमेव, तेन मन्त्राणामपि कृतकत्वाभ्युपगमेनाविर्भूतत्वानभ्युपगमात्। ब्राह्मणानां कृतकत्वे कथं श्रुतिप्रवेशः स्यात्? यदि ब्राह्मणग्रन्था अध्यात्मग्रन्थास्तर्हि धर्मग्रन्थाः के? वस्तुतस्तु ब्राह्मणग्रन्था एव धर्मग्रन्थाः, धर्मविधीनां तत्रैव सत्त्वात्। पाश्चात्त्यास्तु सर्वथापि तदनभिज्ञा एव। यथा कस्यचित् कुरानवायविलाद्यनभिज्ञस्य इस्लामादिधर्मोपदेष्टृत्वमनभिज्ञतैव, तथैव मैकडानलप्रभृतीनां वैदिकधर्मोपदेष्टृत्वमपि साहसमेव। श्रूयत एव परं न केनचित्क्रियत इति हि श्रुतिशब्दार्थः। आरण्यकान्युपनिषदश्च ब्राह्मणान्येव, न तु तेषामपि कृतकत्वं पश्चात्कृतत्वं वा। वेदान्तादिदर्शनानि तु पौरुषेयाण्येव।

यदपि—'श्रुतेर्नैरपेक्ष्येण प्रामाण्यम्, धार्मिकसामाजिकरूढिप्रतिपादकपरवर्तिग्रन्थापेक्षया तेषां प्रबलत्वात्। परवर्तिन्यो रचनाः स्मृतय उच्यन्ते। या रूढयो महर्षीणां पारम्पर्येण प्राप्तास्तासां स्मारकत्वात्' (पृ० २९) इति, तदपि तादृगेव, कृतकानां पौरुषेयत्वेन निरपेक्षत्वासम्भवात्। प्रामाण्यस्वतस्त्ववादिनां समेषामपि प्रमाणानां स्वार्थावेदने प्रामाणान्तरनैरपेक्ष्याभ्युपगमात्। वेदानां त्वपौरुषेयत्वेनैव निरपेक्षत्वसम्भवात्।

यत्तु—'एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः' इति गोपथब्राह्मणेन ब्राह्मणादीनां वेदातिरिक्तत्वोक्त्या ब्राह्मणानामवेदत्वमनुमीयते' इति, तन्न, 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदो···· इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि। अस्यैवैतानि निःश्वसितानि' (बृ० उ० २।४।१०) इति श्रुत्योपनिषदादीनां वेदकुक्षिप्रविष्टत्वज्ञापनात्। अत्र ऋग्वेदादिविशेषा एवेतिहासादिरूपेणोच्यन्ते, निःश्वसित-

'श्रुति' उसे कहते हैं, जिनका 'श्रवण' साक्षात् हुआ हो। अथवा हम यों कहें कि प्राचीन महर्षियों को स्वयं आविर्भूत ग्रन्थराशि 'श्रुति' है। इसी कक्षा में ब्राह्मण ग्रन्थों के युग की पिछली कृतियों का समावेश है, जो वस्तुतः आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं' (पृ० २८-२९) यह कथन भी अज्ञानमूलक है, आप तो मन्त्रों को भी ऋषियों की कृति मानते हैं, ऐसी अवस्था में उनका आविर्भाव आप कैसे मानेंगे? फिर ब्राह्मण भी किसी के द्वारा रचित हैं, तो उनका आविर्भूत श्रुति में समावेश कैसे होगा? यदि ब्राह्मण ग्रन्थ आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं, तो वे धर्म ग्रन्थ कैसे होंगे? वास्तव में तो ब्राह्मण ग्रन्थ ही धार्मिक ग्रन्थ माने जा सकते हैं, क्योंकि धार्मिक विधियों का प्रतिपादन प्रधानतः इन्हीं में किया गया है। पाश्चात्य इस विषय से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। जैसे कोई कुरान, बाइबिल आदि से अनभिज्ञ व्यक्ति इस्लाम, ईसाई आदि धर्मों का उपदेश करे, तो यह उसकी गलती मानी जायगी, उसी तरह से मैकडानल प्रभृति का वैदिक धर्म का उपदेश देना भी केवल दुःसाहस ही माना जायगा। वास्तव में 'श्रुति' पद का अर्थ यह है कि यह केवल सुना जाता है, लेकिन इसकी कोई रचना नहीं करता। आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मण भाग के ही अंग हैं। इनको भी हम न तो किसी की रचना ही मानते हैं और न यही मानते हैं कि इनकी रचना परवर्ती काल में हुई थी। वेदान्त प्रभृति दर्शनों को तो हम पौरुषेय ही मानते हैं।

'श्रुति' को निरपेक्ष प्रमाण माना जाता है। धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों का प्रतिपादन करने वाले परवर्ती ग्रन्थों की अपेक्षा यह प्रबल प्रमाण है। परवर्ती रचनाएँ 'स्मृति' कहलाती हैं। कारण, ये उस रूढ़ि का स्मरण कराती हैं, जो प्राचीन महर्षियों की परम्परा से प्राप्त हैं' (पृ० २९) यह कथन भी लेखक के अज्ञान को ही प्रदर्शित करता है, क्योंकि पौरुषेय रचना का कभी भी निरपेक्ष प्रामाण्य नहीं हो सकता। प्रामाण्य का स्वतस्त्व मानने वाले सभी विद्वानों के मत से प्रमाण अपने अर्थ को प्रकट करने में सदा ही किसी दूसरे प्रमाण की अपेक्षा के बिना स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होता है। वेद अपौरुषेय हैं, इसलिये इनका प्रामाण्य भी प्रमाणान्तर की अपेक्षा से रहित है।

'इस तरह से ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषदों के साथ सभी वेदों की रचना हुई' इस गोपथ ब्राह्मण के वचन के अनुसार ब्राह्मण और उपनिषदों का अलग निर्देश होने से ये वेद के अन्तर्गत उस समय नहीं पाये जाते थे, ऐसा अनुमान से प्रतीत होता है' यह कथन भी गलत है। 'इस महान् भूत परमात्मा के ऋग्वेद, यजुर्वेद प्रभृति निःश्वासभूत हैं ···· ···· इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान ये सब भी उसी परमात्मा के निःश्वास से प्रादुर्भूत हैं' इस बृहदारण्यक श्रुति के अनुसार उपनिषद् भी वेद के पेटे में ही समाविष्ट हैं, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। यहाँ पर ऋग्वेद आदि को ही आगे इतिहास आदि के विशेष नाम से कहा गया है,

त्वेनाकृत्रिमत्वेनापौरुषेयत्वाविशेषात् । तथाहि—इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादरूपः, 'उर्वशी हाप्सरा' इत्यादि ब्राह्मणमेवेत्यादिना सन्दर्भेण शङ्कराचार्यैस्तथैव व्याख्यातत्वात् । यथा विद्यमानस्यैव निःश्वासस्याभिव्यक्तिर्भवति, तथैव नियतरचनावतो विद्यमानस्यैव वेदस्याभिव्यक्तिर्भवति, निःश्वासस्येव पुरुषबुद्धिप्रयत्नानपेक्षत्वात् । शब्दोपात्तानुमितयोरर्थयोः शब्दोपात्तोऽर्थो ज्यायानिति न्यायेन गोपथश्रुत्यनुमितोऽर्थः प्रत्यक्षया बृहदारण्यकश्रुत्या तत्समानार्थकया गोपथश्रुत्या च वाध्यते ।

यदपि—'सूत्राणां भाषा परुषाऽपरिमार्जिता च, प्रतिपादनशैली दुरूहा नीरसा च' (पृ० ३१) इति, तदपि यत्किञ्चित्, सूत्राणामर्थाज्ञानमूलकत्वात् । सूत्राण्याश्रित्यैव व्यासभाष्य-वात्स्यायनभाष्य-पातञ्जलभाष्य-शावरभाष्य-शाङ्करभाष्यादिप्रवृत्तेः । यत्तु—'ईसातः पूर्वमष्टमशत्या अर्वाक्तनकालिकानि सूत्राणि' (पृ० ३०) इति, तदपि यत्किञ्चित्, वादरायणसूत्राणां पञ्चसहस्रवर्षादपि प्राचीनत्वात् । यदपि—'विश्वस्मिन् जगत्यन्यमानवजात्यपेक्षया हिन्दूनां जीवनं वैदिकयुगेऽपि विभिन्नधार्मिकविधिमहाजालैरावृतम्, तेषां दैनिकी चर्या, गृह्यविधिव्यवहारसम्बन्धीनि सूत्राणि प्राचीनभारतीयसामाजिकस्थित्यध्ययनेषु महत्त्वपूर्णानि, तदीयरूढिपरम्परागतानां सर्वविषयाणां सुसंगृहीतकोषस्थानीयं सूत्रसाहित्यम्' इत्यादिकम्, तदपि सूत्राभिप्रायाज्ञानविजृम्भितमेव, श्रौत-गृह्य-धर्मादिसूत्राणामनादिवैदिकविधिमूलकत्वेनापास्तसमस्तपुंदोषशङ्कापङ्कतयाऽनाशङ्कनीयत्वात् । सूत्राणामध्ययनेन हिन्दूनां सामाजिकस्थितिरपि तज्ज्ञानामेव सम्भवति । वाह्यानां तु तदर्थज्ञानं दुरूहमेव । तृतीयाध्याये ऋग्वेदसम्बन्धे यदुक्तं तदप्यनधिकारचेष्टाविलसितमेव ।

क्योंकि निःश्वास के समान ये भी अकृत्रिम अत एव अपौरुषेय हैं । जैसे कि 'उर्वशी अप्सरा थी' इस तरह का, उर्वशी और पुरूरवा के संवाद के रूप में वर्णित इतिहास ब्राह्मण ही है, इस तरह का सन्दर्भ देते हुए शंकराचार्य ने उसकी इसी तरह की व्याख्या की है । जैसे पहले से विद्यमान निःश्वास की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह से नियत रचना वाले पहले से विद्यमान वेद की ही अभिव्यक्ति होती है । जैसे श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया प्राणियों में स्वाभाविक रूप से चलती रहती है, उसी तरह से वेद की अभिव्यक्ति भी पुरुष के बुद्धि, प्रयत्न आदि की अपेक्षा के बिना ही स्वाभाविक रूप से कल्पादि में होती है । साक्षात् शब्द से उपात्त और अनुमान के द्वारा उपात्त अर्थों का जहां परस्पर विरोध उपस्थित होता है, वहाँ पर शब्दोपात्त अर्थ प्रबल होता है, इस न्याय के अनुसार गोपथ श्रुति के द्वारा अनुमित अर्थ प्रत्यक्ष बृहदारण्यक श्रुति और उसके समान अर्थ वाली अन्य गोपथश्रुति से बाधित हो जायगा ।

'सूत्रों की भाषा अत्यन्त परुष एवं अपरिमार्जित है, उनकी प्रतिपादन शैली दुरूह एवं नीरस है' (पृ० ३१) यह कथन भी कुछ दमवाला नहीं है, क्योंकि इन लोगों के पल्ले सूत्रों का अर्थ किसी भी तरह से नहीं पड़ता । व्यासभाष्य, वात्स्यायनभाष्य, पातंजलभाष्य, शाबरभाष्य, शांकरभाष्य प्रभृति सभी भाष्य ग्रन्थों की रचना सूत्रों पर ही हुई है । यह कहना कि—'सूत्र साहित्य के विकास का काल ईसा पूर्व ८०० से लगाकर २०० तक रहा हो' (पृ० ३०) इस लिये गलत है कि बादरायण के वेदान्तसूत्र आज से पाँच हजार वर्ष पहले निर्मित हो चुके थे । यह भी कहा गया है कि—'विश्व की किसी भी अन्य मानव जाति की अपेक्षा हिन्दुओं का जीवन वैदिक युग में भी विभिन्न धार्मिक विधियों के महाजाल से कहीं अधिक घिरा हुआ था । अतः उनकी दैनिक चर्या, उनकी गृह्यविधि और व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले सूत्र ही प्राचीन भारत की सामाजिक स्थिति के अध्ययन में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण आधार कहे जा सकते हैं । रूढ़ि अथवा परम्परा के अन्तर्गत आने वाले समस्त विषय का सुसंगृहीत कोष यदि कहीं है, तो वह यही सूत्र साहित्य है' (पृ० ३२) । इससे भी यही प्रतीत होता है कि वक्ता को सूत्रों का अभिप्राय ठीक से समझ में नहीं आया है, क्योंकि श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्र अनादि वैदिक विधि के प्रतिपादक हैं, अतः इनमें पुरुष कृत दोष की शंका की आशंका किसी प्रकार से भी नहीं उठाई जा सकती । सूत्रों के अध्ययन से हिन्दुओं की सामाजिक स्थिति का परिज्ञान भी तज्ज्ञ लोगों को ही हो सकता है । बाहरी लोगों के लिये इसको समझ पाना बड़ा कठिन है । मैकडानल ने अपने ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में जो कुछ कहा है, वह भी उसकी इस अनधिकार चेष्टा का ही प्रमाण है ।

यदुक्तम्—'पश्चिमोत्तरप्रदेशात् केचिद्वीरा आर्या हिन्दुस्थानविजेतारः समागताः । तत एव मार्गादागामिकालेऽप्यनेके आक्रामका भारतभूमिमाक्रान्तवन्तः । एतेषां प्राचीनतमरचनाभिः स्वभाषासंस्कृतिभिः समस्तदेशस्योपरि प्रभुत्वं स्थापितम् । तदिदं तद्युगं यदा सिन्धुनद्या उभयपार्श्वेष्वार्यजात्या स्वाधिकाराः संस्थापिता आसन् । आर्याणां ताः प्राचीनारचना ऋग्वेदाख्यसूक्तसञ्चयरूपेण पारम्पर्यात् प्राप्ताः । सूक्तानां संग्रहस्य कारणं न सामवेदयजुर्वेदयोरिव व्यावहारिकम्, किन्तु वैज्ञानिकमैतिहासिकं च । पुरातनस्यास्य साहित्यस्यास्मिन् युगे परिवर्तनाद्विनाशाच्च रक्षणमभिलक्ष्यैव तत्सङ्कलनम् । अद्य शाकली संहितोपलभ्यते, यत्र १०१७ सूक्तानि सन्ति । वालखिल्याख्यानामेकादशसूक्तानामपि संयोजने १०२८ सूक्तसंख्या सम्पद्यते । दशभिर्मण्डलैस्तेषां सङ्कलनम् । गणनायाम् ऋग्वेदीयसूक्तानां तावानेवाकारो यावान् महाकविहोमरस्य कवितानामुपलब्धांशानामाकारः ।

मण्डलानां रूपाणि समानि न सन्ति, (२-७) सर्वप्रथमं तु विभिन्नैर्ऋषिभिस्तद्गोत्रजैर्वा विरचितानि । तदिदमन्तःसाक्ष्येन प्रमीयते । निःसंशयं दीर्घकालात् पृथक् पृथग् ऋषिकुलेभ्यस्तानि प्राप्तानि । तत्कुलेष्वेव तानि रचितानि, तत्तत्कुलग्रन्थग्रथितसूक्तानां रचना एकरूपा इतरग्रन्थरचनाभ्यो भिन्नैव । प्रथममष्टमं दशमं च मण्डलमेकेनैवार्षिकुलेन रचितानि प्रतीयन्ते । अत्रापि मिश्रणानि सन्ति । तेषां वर्गीकरणं रचयितॄनावृत्यैव जातम् । नवममण्डलसूक्तानां रचना न निर्मातृभिः सम्बद्धा, किन्तु सोमदेवतया सम्बद्धा । एकदेवतासम्बद्धत्वात् तेषामेकत्र सङ्कलनम् । छन्दःसाम्यानुरोधेनाप्यस्य वर्गीकरणम् । कुलवर्गेष्वप्यनेके वर्गाः सन्ति, परन्तु सोमदेवतां सम्बोध्य प्रवृत्तत्वेनैकत्र संकलनं जातम् । ऋग्वेदीयमण्डलानां परस्परसम्बन्धे मूलाधारविचारे विज्ञायते । द्वितीयमण्डलमारभ्या सप्तमं सूक्तसंख्योत्तरोत्तरं वर्धमानोपलभ्यते । एतेषां मण्डलानामाभ्यन्तररचनया सार्धं सूक्तसंख्यानां क्रमेण विवर्ध-

वहाँ पर कहा गया है कि—'ये आदिवीर पश्चिम से आये हुए हिन्दुस्तान के विजेता हैं । ये भी पश्चिमोत्तर घाटियों से ही देश में घुसे हैं । यह वही मार्ग था, जिसके द्वारा आगामी युगों में सतत आक्रमण होते रहे । इस विजेता जाति की प्राचीनतम रचनाओं ने अपनी भाषा और संस्कृति के साथ समस्त देश पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया । यह उस युग की बात है, जब कि सिन्ध नदी के उभय तट की सीमाओं पर, पूर्वी काबुल और पंजाब के नाम से प्रसिद्ध प्रदेश पर, आर्य जाति ने अपना अधिकार जमा रखा था । आर्यों की यह प्राचीन रचना हमें ऋग्वेद नामक सूक्त-संचय के रूप में परम्परा से प्राप्त हुई । ये सब सूक्त एक ग्रन्थ में संकलित क्यों कर हुए, इसका कारण सामवेद और यजुर्वेद की भाँति व्यावहारिक नहीं, परन्तु वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक है । वह कारण है, इस प्राचीन साहित्य के संपादकों का निस्सन्देह लक्ष्य रहा कि अपना साहित्य इस पुरातन युग में परिवर्तन एवं विनाश से बचा रहे । आज के युग में ऋग्वेद की केवल शाकल शाखा की संहिता ही उपलब्ध है, जिसमें १०१७ सूक्त हैं । यदि इस संख्या में बालखिल्य नामक ग्यारह परिशिष्ट सूक्त, जो अष्टम मंडल के मध्य प्रसिद्ध हैं, जोड़ दिये जाँय तो ऋग्वेद की सूक्त संख्या १०२८ होती है । इन सूक्तों का संकलन दस मण्डलों में किया गया है । यह गिना गया है कि ऋग्वेद के सूक्तों का आकार ठीक उतना ही है, जितना कि महाकवि होमर की कविताओं के उपलब्ध अंश का है ।

दसों मण्डलों का स्वरूप एक सा नहीं, उनमें से ६ मंडल, संख्या २ से ७ विविध रूप वाले हैं । सर्वप्रथम तो ये विभिन्न ऋषियों के द्वारा या उनके गोत्रजों द्वारा रचित हैं । यह बात अन्तःसाक्ष्य से प्रमाणित है । निःसन्देह ये दीर्घकाल से पृथक् पृथक् ऋषिकुलों को प्राप्त हुए और उन्हीं कुलों में इनकी रचना भी ग्रथित हुई । इन कुल-ग्रन्थों में ग्रथित सूक्तों की रचना एकरूप है और वह इतर ग्रन्थों की रचना से भिन्न है । पहिला, आठवाँ ओर दसवाँ मण्डल एक ही ऋषिकुल के द्वारा रचित प्रतीत नहीं होते । इनमें कहीं कहीं मिश्रण है । इनका वर्गीकरण रचयिता के आधार है । नवम मंडल के सूक्तों की रचना किसी भी तरह अपने निर्माताओं से संबन्ध नहीं रखती । उनका संकलन एक जगह इस कारण से हुआ कि ये सभी सूक्त एक ही सोम देवता को संबोधित हैं । इस मंडल का वर्गीकरण छन्दःसाम्य पर आधारित है । कुल-ग्रन्थों में भी अनेक वर्ग हैं, परन्तु यह वर्गीकरण एक ही देवता को संबोधित सूक्तों को एकत्र संकलन करने के अभिप्राय से किया गया है । ऋग्वेद के समस्त मंडलों की रचना में परस्पर संबन्ध के मूलाधार पर विचार करने से यह विदित होता है कि २ से ७ वें मंडल तक संकलन का क्रम एक जैसा है, जिसमें सूक्त संख्या उत्तरोत्तर वर्धमान पाई जाती

मानताया विचाराद् ऋग्वेदीयं मौलिकं रूपं षण्मण्डलात्मकमेवासीदिति सम्भाव्यते। पश्चाद्यथासमयमवशिष्टमण्डलानि योजितानि। एतदपि सम्भाव्यते यत्प्रथममण्डलस्य द्वितीयभागान्तर्गता अल्पाल्पा नव संग्रहा एकेनैव निर्मितत्वात् पश्चात् सम्पूर्णग्रन्थस्य पूर्वत्र योजिताः।

अष्टममण्डलस्य सूक्तेषु सामान्यतया पारस्परिकमैक्यं न तथा स्पष्टं यथा सम्पूर्णग्रन्थस्योपलभ्यते, शब्दानामुक्तीनां च पुनरावृत्तिदर्शनात्। अत एव तदीया रचना न सम्पूर्णग्रन्था रूपा। एकेनैव कविकुलेन कृता रचनात्राधिक्येनोपलभ्यते। तस्य शैली स्वीयैव। सप्तममण्डलापेक्षया सूक्तान्यल्पान्येव। तेनाष्टमं मण्डलं कुलप्रणीतमण्डलानां वर्गे न विद्यते।

प्रथममण्डलस्य प्रथमभागे १०-५० सूक्तेऽष्टमण्डलेन साम्यमुपलभ्यते। तत्रार्धाधिकानि सूक्तानि कण्वकुलेन रचितानि कथ्यन्ते। तत्र तेषां प्रियं त्रिष्टुप्छन्दो लभ्यते यदष्टममण्डले दृश्यते।

नवमसूक्तसम्बन्धे निश्चप्रचं वक्तुं शक्यते यदष्टममण्डलानां सुसंघटनानन्तरमेव तन्निर्माणं जातम्। अष्टमण्डलानां सङ्कलनस्य तत्साक्षात् फलमेव, सोमपवमानरचयिता तस्यैव कुलस्य ऋषिः, यत्रत्यैः २-६ मण्डलानि रचितानि। नवममण्डलस्य सूक्तेषु तानि ध्रुवपदान्युपलभ्यन्ते यत्समस्तमण्डलानां वैशेष्यम्। पवमानसूक्तेषु प्रथमाष्टममण्डलाभ्यामपि साम्यं दृश्यते। विभिन्नर्षिकुलप्रणीतानां सङ्कलनसमये समस्तपवमानसूक्तानि संगृहीतानि। सोमसूक्तानामवेस्तासूक्तैरनेकांशेषु तौल्यमेव। तत्र कश्चन तादृशो विधिरस्ति यस्मोद्गमो हिन्द-ईरानीययुगे संवृत्तः। तदेव च वैदिकपाठकानामारम्भकालादद्य यावदागच्छति। नवममण्डलसूक्तानां कालसम्बन्धिभेदो लुप्त इवास्ते। अधुनातनेनान्वेषणेनाद्यावध्यस्य संग्रहस्य निर्णये साफल्यं नाधिगतम्।' (पृ० ३४-३६) इति, तदपि प्रमाणशून्यसम्भावनामात्रम्,

है। इन मंडलों की एकरूपता एवं आभ्यन्तर रचना के साथ यदि सूक्त-संख्या की क्रमशः वर्धमानता पर विचार करें, तो यह संभावित है कि ऋग्वेद का मौलिक रूप इन छः मण्डलों का ही रहा हो, जिसमें समय समय पर शेष मंडल जोड़ दिये गये हैं। यह भी संभव प्रतीत होता है कि प्रथम मंडल के द्वितीय भाग के अन्तर्गत नौ छोटे-छोटे संग्रह एक ही रचयिता के द्वारा निर्मित होने के कारण बाद में कुल-ग्रन्थों में पूर्वत्र जोड़ दिये गये हों।

अष्टम मण्डल के सूक्तों में सामान्यतः पारस्परिक एकता उतनी स्पष्ट नहीं है, जितनी कुल-ग्रन्थों में मिलती है। कारण, इनमें कई शब्दों और उक्तियों को कई जगह दुहराया गया है। अत एव अष्टम मंडल की रचना कुल-ग्रन्थों के सुसदृश नहीं कही जा सकती। इस मण्डल में एक ही कवि-कुल के द्वारा अधिकांश रचनाएँ की गई हैं, यद्यपि इसकी एक अपनी ही शैली है। साथ ही साथ अष्टम मंडल में सातवें मण्डल की अपेक्षा सूक्त बहुत कम हैं। इससे यह स्पष्ट है कि आठवाँ मंडल कुलप्रणीत मण्डलों के वर्ग में नहीं है।

प्रथम मण्डल के प्रथम भाग (सूक्त १०-५०) में अष्टम मण्डल के साथ बहुत कुछ साम्य दीखता है। आधे से अधिक सूक्त कण्व-कुल के द्वारा रचित बताये गये हैं और कण्व-कुल द्वारा प्रोक्त सूक्तों में वही उनका प्रिय त्रिष्टुप् छन्द मिलता है, जो अष्टम मंडल का है।

नवम सूक्त के संबन्ध में तनिक भी सन्देह नहीं है कि वह आठों मंडल सुघटित हो जाने के पश्चात् ही रचा हुआ है। वास्तव में आठ मंडलों के संकलन का ही यह साक्षात् फल है। सोम पवमान के रचयिता उसी कुल के ऋषि हैं, जिन्होंने २-६ मंडलों की रचना की है। इतर साम्य के अतिरिक्त यही पर्याप्त प्रमाण है कि नवम मंडल के सूक्तों में उन ध्रुवपदों को हम पाते हैं जो कुल-मंडलों की विशेषता है। पवमान सूक्तों में प्रथम एवं अष्टम मंडल के साथ साम्य भी मिलता है। विभिन्न ऋषि-कुलों द्वारा प्रणीत सूक्तों के संकलन के समय समस्त पवमान सूक्त एकत्र कर संगृहीत किये गये थे। यह मान लेना उपयुक्त है कि सोम-सूक्तों की रचना की अवेस्ता के साथ अनेक अंशों में समानता है। उनमें एक ऐसी विधि है, जिसका उद्गम हिन्द-ईरानी युग में हुआ और वह वैदिक पाठकों के प्रारंभिक समय तक चली आ रही थी। नवम मंडल के सूक्तों में कालसंबन्धी भेद लुप्त सा है। जो भी हो, आधुनिक अन्वेषण को अद्यावधि इस संग्रह के पौर्वापर्य को निश्चित करने में किसी तरह सफलता प्राप्त नहीं हुई है' (पृ० ३४-३६)। ऊपर का

आधुनिकैककर्तृकासु कृतिष्वपि वैलक्षण्यदर्शनेन भाषावैषम्येण कर्तृभेदकल्पनस्य निर्मूलत्वात्। वेदस्य वाक्यसमूहत्वेऽपि सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वेनापौरुषेयत्वाभ्युपगमेन कर्त्रसिद्ध्या कर्तृवैलक्षण्यकल्पनस्य दूरतो निरस्तत्वात्। अन्यत् सर्वं कल्पनामात्रम्, प्रमाणानुपलम्भात्। वाल्मीकीयरामायणस्यैककर्तृकत्वेऽपि सुन्दरकाण्डे तदितरकाण्डापेक्षया वैलक्षण्यदर्शनात्। साधर्म्यवैधर्म्यप्रयोजकानि तु नानाविधानि भवन्ति। ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो भवन्ति न तु कर्तार इत्यसकृदुक्तत्वात्। यथा द्रष्टृैक्यं साधर्म्यं तथैव प्रतिपाद्यदेवतैक्यमपि साधर्म्यं सम्भवत्येव। ताभ्यां वर्गीकरणे वाधाभावात्। वर्धमानसंख्यायाः साधर्म्यहेतुत्वेऽपि न कर्तृसिद्धिः, तस्यास्तदप्रयोजकत्वात्। शब्दानामुक्तीनां पुनरावृत्तिरपि न कर्तृसिद्धिप्रयोजिका, न वाधुनिकत्वप्रयोजिका। अत एव षण्णां मण्डलानामेव मौलिकत्वोक्तिरप्यपार्थैव। अविच्छिन्नानादिपारम्पर्येण दशमण्डलात्मकस्य सर्वस्यैव ऋग्वेदस्य मौलिकत्वावगमात्। न च तावता पारम्पर्यविच्छेदः कल्पयितुं शक्यते, प्रमाणाभावात्। न च वाक्यत्वेन सकर्तृकत्वानुमानम्, स्मर्यमाणकर्तृकत्वेन सोपाधिकत्वात्। अत एव शैलीभेदोऽप्यकिञ्चित्करः। सूक्तानां केषाञ्चित् काण्वस्यार्षत्वेऽपि न तेन काण्वकर्तृकत्वं सिद्ध्यति। पवमानसूक्तानामपि न कर्तारः, केचिद् ऋषयस्तु द्रष्टार एव।

यत्तु—'दशममण्डलप्रणेतारो नव मण्डलानि परिचिन्वन्ति स्म। यथास्थानं तथाभासात्, २०-२६ सूक्तेषु 'अग्निमीळे' इत्यस्य प्रयोगदर्शनात्। तेन प्रकीर्णसूक्तानां समुदाय एव दशममण्डलम्। स्फुटानि कानिचित्सूक्तानि। रचनारूपात् प्रतिपाद्यविशेषाच्च दशममण्डलस्येतरमण्डलापेक्षया वहुकालपश्चाद्भावित्वम्। ऋषीणामुपरि देवतानां प्रभावो न्यूनतामुपगतः। उषस्देवतायाः प्रभावस्तु सर्वथा तदानीं लुप्त आसीत्। इन्द्राग्न्योस्तु प्रभावोऽक्षुण्ण आसीत्।

यह सारा प्रतिपादन कल्पना की उड़ान मात्र है और प्रमाण से सर्वथा शून्य है। आजकल भी एक ही कर्ता को रचनाओं में विलक्षणता देखने को मिलती है, अतः भाषा की विलक्षणता के आधार पर कर्ता के भेद की कल्पना सर्वथा निराधार है। वेद यद्यपि वाक्यसमूहात्मक ही हैं, तो भी इसमें विना संप्रदाय का विच्छेद हुए कर्ता की कोई स्मृति विद्यमान नहीं है, अतः इसको अपौरुषेय ही माना जाता है। जब इसका कोई कर्ता नहीं सिद्ध हो पाता, तो उस अवस्था में अनेक विलक्षण कर्ताओं की कल्पना तो बहुत दूर की बात है। ये सारी बातें कल्पना की उड़ान मात्र हैं, क्योंकि उसके लिये कोई प्रमाण नहीं दिये गये हैं। वाल्मीकि रामायण एक ही व्यक्ति की कृति है, किन्तु उसमें भी अन्य काण्डों की अपेक्षा सुन्दर काण्ड का अपना वैशिष्ट्य है। साधर्म्य और वैधर्म्य के बोधक अनेक होते हैं। ऋषिगण मन्त्रों के द्रष्टा मात्र हैं, कर्ता नहीं, यह बात अनेक स्थलों पर कही जा चुकी है। जैसे द्रष्टा की एकता के आधार पर ऋचाओं में साधर्म्य माना जाता है, उसी तरह से प्रतिपाद्य देवता के साम्य से भी इनमें साधर्म्य रह सकता है। इन दोनों आधारों पर वर्गीकरण करने में कोई बाधा नहीं हो सकती। बढ़ती हुई संख्या को साधर्म्य का कारण मानने पर भी उसके आधार पर मण्डलों की कर्तृकता नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि संख्यावृद्धि कर्तृत्व की प्रयोजक नहीं है। शब्दों की और उक्तियों की आवृत्ति से भी कर्ता की सिद्धि नहीं हो सकती और न उससे उनकी आधुनिकता ही सिद्ध की जा सकती है। इस तरह से छः मण्डल ही मौलिक प्राचीन ऋग्वेद है, इस तरह का कथन सर्वथा निराधार है। अविच्छिन्न अनादि परम्परा से दस मण्डलों से युक्त पूरा ऋग्वेद मौलिक माना जाता है। बिना प्रमाण के परम्परा का विच्छेद नहीं माना जा सकता। वाक्यत्व हेतु से वेदों की सकर्तृकता का अनुमान भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस हेतु में स्मर्यमाणकर्तृकता उपाधि है। यदि यह सकर्तृक होता तो उसके कर्ता की स्मृति अवशिष्ट रहती। सूक्तों की शैली के भेद से भी आप अपने मन की बात नहीं सिद्ध कर सकते। कुछ सूक्तों के ऋषि कण्व हैं, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कण्व इन सूक्तों के रचयिता हैं। पवमान सूक्तों के भी कर्ता कोई ऋषि नहीं हैं। वे मात्र उनके द्रष्टा हैं।

'दशम मण्डल के प्रणेताओं को इसके पूर्व के नौ मण्डलों के साथ भली-भाँति परिचय था, जिसका आभास हमें दशम मण्डल में स्थान स्थान पर मिलता है। दशम मण्डल का रचयिता २० से २६ सूक्तों के प्रारम्भ में 'अग्निमीळे' का प्रयोग करता है, जो ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है। इससे यह मालूम पड़ता है कि दशम मण्डल प्रकीर्ण सूक्तों का समुदाय है। इस मण्डल में कई तो नये स्फुट सूक्त हैं। दशम मण्डल की रचना काफी बाद की है। इसके लिये रचना का रूप और प्रतिपाद्य दोनों ही प्रमाण हैं। जहाँ तक देवता का सम्बन्ध है, हमें पता चलता है दशम मण्डल के ऋषियों पर पूर्ववत् वैदिक देवताओं का प्रभाव बहुत कुछ कम हो गया था। उषस्

विश्वेदेवानां वर्गस्त्वधिकमहत्त्वमुपगत आसीत् । रोषश्रद्धादिभावात्मकदेवतानां नव्यानामपि तदानीमाविर्भावो जातः। अत्र मण्डले विविधनूत्नविषयाणां येषां पूर्वमण्डलेषु चर्चाऽपि नागता, तादृशजगदुत्पत्त्यादिविषयाणामप्यत्र चर्चा दृश्यते। अन्त्येष्टिविवाहादिसम्बन्धोऽप्यनेकानि सूक्तानि दृश्यन्ते' (पृ० ३६-३७) इति, तत्सर्वमपि निरर्थकमेव, तादृशरचनारूपप्रतिपाद्यभेदानामाधुनिकत्वाप्रयोजकत्वात् । नित्येऽपि तद्वर्णने बाधाभावात् । आत्मादिविषया विचारा आधुनिका न प्राचीना इति कुतो विज्ञायते ? देहातिरिक्तात्मास्तित्वेऽविज्ञाते परलोकमात्रैकफलेषु यज्ञादिषु प्रवृत्त्यसम्भवात् । अपि च, परमेश्वरादृष्टादिसत्त्वानभ्युपगमे कथं यज्ञादिफलं सेत्स्यति? सर्वोऽपि चेतनः किञ्चित्प्रयोजनमुद्दिश्यैव प्रवर्तते । प्रयोजनमपि प्रयोज्यप्रयोजकभावावगमपूर्वकमेवेष्यते । यज्ञयागादौ प्रवृत्तिः कार्यकारणभावमूलिकैव मन्तव्या। सा च तादृशकार्यकारणभावे प्रत्यक्षानुमानाप्रसरात् तन्मूलकपौरुषेयवचनाप्रसराच्च स्वतन्त्रापौरुषेयवेदवाक्यमूलिकैव सम्भवति । वेदवाक्यस्य च नैयायिकादिरीत्या सर्वज्ञेश्वरहेतुकत्वेन पूर्वोत्तरमीमांसकरीत्या सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वेनापौरुषेयत्वेन पुरुषास्वातन्त्र्येणानादित्वेन च प्रमाणमनतिशङ्कनीयम् । वैदिका बालसुलभमौग्ध्येनैव कार्यकारणभावनिर्णयमन्तरा तेषु तेषु कर्मकलापेषु प्रवृत्ता इति कल्पनं तु मुग्धानां दुराशयानां धूर्तानां वा शोभते नान्येषाम् । तथा च सृष्टिप्रलयतत्कारणादिविचारो नाधुनिको येन दशममण्डले तद्दर्शनेन तस्याधुनिकत्वं सिद्ध्येत्, मन्त्रब्राह्मणात्मकेऽनादौ वेदे भूतभवद्भविष्यद्वस्तूनामपि प्रतिपादनात् । सर्वज्ञदृष्टौ सर्वभासनाच्च न दशममण्डलस्यानादित्वभङ्गः ।

तथैव न प्रथमाष्टमनवमानामपि कालभेदकल्पनं युज्यते । सोमसूक्तानामवेस्ताग्रन्थस्यानेकांशैस्तुल्यत्वं त्ववेस्ताग्रन्थकर्तृकर्क्सूक्तानुकरणादपि सम्भवत्येव । न चावेस्ताग्रन्थस्यैव तत्सूक्तापेक्षया प्राचीनत्वं समकालिकत्वं वा

देवताओं का तो बिलकुल लोप हो गया था । इन्द्र और अग्नि जैसे लब्धप्रतिष्ठ देवता ही अपना स्थान बनाये रहे। विश्वेदेवों का वर्ग अवश्य अधिक महत्त्व पा गया है । कुछ नये भावात्मक देवताओं का प्रादुर्भाव भी हुआ, जैसे रोष और श्रद्धा का देवरूप में प्रथमावतार दशम मण्डल में ही पाया जाता है । इतना ही नहीं, परन्तु इस मंडल में विविध नवीन विषयों पर अनेक सूक्त हैं, जिनकी चर्चा पहले कभी न हुई । उदाहरणार्थ, जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में, विवाह और अन्त्येष्टि के सम्बन्ध में आदि आदि' (पृ० ३६-३७) । यह सारा कथन भी निरर्थक है, इस तरह से रचनाभेद और प्रतिपाद्य का भेद ऋग्वेद के इस मंडल की नवीनता को नहीं सिद्ध कर सकते । पूरे ऋग्वेद को नित्य मानने पर भी इन सबकी संगति बैठ सकती है । आत्मादि विषयक विचार आधुनिक हैं, प्राचीन नहीं, यह कैसे आप जानते हैं ? देह से अतिरिक्त आत्मा का जब तक परिज्ञान नहीं होगा, तब तक परलोक की अवगति मात्र ही जिसका फल है, ऐसे यज्ञ आदि कर्मों में मनुष्य की प्रवृत्ति कैसे होगी ? अपि च, परमेश्वर, अदृष्ट आदि की सत्ता को माने बिना यज्ञादि के फल की सिद्धि कैसे होगी? सभी प्राणी किसी न किसी प्रयोजन को सामने रखकर ही किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं । प्रयोज्यप्रयोजक भाव के आधार पर ही प्रयोजन का निर्धारण होता है । इस तरह के कार्यकारणभाव में प्रत्यक्ष और अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती और एतन्मूलक पौरुषेय वाक्यों की भी प्रवृत्ति नहीं होती । फलतः स्वतन्त्र, अपौरुषेय वाक्य से ही यह जाना जा सकता है। इस वेद वाक्य में नैयायिक प्रभृति के मत से सर्वज्ञ ईश्वर प्रणीत होने से और मीमांसा एवं वेदान्त की दृष्टि से सम्प्रदाय की अविच्छिन्न परम्परा के रहते हुए भी कर्ता का स्मरण न होने से अपौरुषेयता के आधार पर इसके उच्चारण में पुरुष का स्वातन्त्र्य न होने से और अनादिता के आधार पर भी अप्रामाण्य की किसी प्रकार की शंका नहीं उठाई जा सकती । वैदिक ऋषिगण बालसुलभ मूढ़ता के कारण कार्यकारणभाव का विचार किये बिना ही उन उन यज्ञ-याग आदि कर्मों में प्रवृत्त होते थे, इस तरह की कल्पना हतबुद्धि, दुराशय व्यक्तियों अथवा धूर्तों के लिये ही शोभा की बात हो सकती है । इस तरह से सृष्टि, प्रलय और इनके कारण आदि का विचार नवीन नहीं कहा जा सकता, जिसके आधार पर कि दशम मंडल की नवीनता सिद्ध की जा सके । मन्त्र-ब्राह्मणात्मक अनादि वेद में भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल की सभी वस्तुओं का प्रतिपादन मिलता है और सर्वज्ञ की दृष्टि में सब कुछ भासित होता रहता है, इस तरह से दशम मंडल की अनादिता को भी नष्ट नहीं किया जा सकता ।

प्रथम, अष्टम और नवम मंडलों की अलग अलग कालों की रचना हुई, यह कल्पना भी उचित नहीं मानी जा सकती । सोम सूक्तों की अनेक अंशों में अवेस्ता ग्रन्थ से तुलना अवेस्ता ग्रन्थ के रचयिता के द्वारा ऋग्वेद के सूक्तों का अनुसरण करने

सिद्धयति, अवेस्ताग्रन्थस्य सम्प्रदायविच्छेदाभ्युपगमात्। अवेस्तासङ्कलनकर्तृभिस्तल्लोपाङ्गीकारात्। जेन्दावेस्ताग्रन्थसम्बन्धे कथेयं प्रसिद्धा यद् मज्दधर्मस्य संस्कृतं शुद्धरूपम् ईरानप्रदेशे मगनामकंर्जनैः प्रचारितम्। मगा मीडियाप्रदेशे निवसन्ति स्म। मीड़िया ईरानस्योत्तरपश्चिमप्रदेश आसीत्। त एवोपासनाकाले आप्रवना (आथर्वणिकाः) सम्भाव्यन्ते। अवेस्तापुस्तकप्रतय इस्कन्दरूमी (सिकन्दरस्य) इत्यस्याक्रमणकाले दग्धा जाताः। पश्चाद् येषां यावन्तोंऽशाः कण्ठस्था आसन् ये वांशा इतस्ततः प्राप्ताः, तेषामुल्लेखा जाताः। ततस्तत्तदंशानां सङ्कलनं जातम्। एतद्वृत्तान्तेन स्पष्टं विज्ञायते यत् प्राचीनस्य अवेस्ताग्रन्थस्य वहवोंऽशा विगलिता एवेति (आर्यों का आदिदेश पुस्तके ७८ पृष्ठे)।

अत एव मेकडानलमहाशयोऽगत्या वदति यदन्वेषणेनाप्यस्य संग्रहस्य पौर्वापर्यविचारणे साफल्यं नाधिगतम् (पृष्ठे ३६)। इदमेव सत्यं यद्विरोधिनां मुखादपि बलान्निःसरति। सर्वज्ञेश्वरनिर्मितवेदे नित्यसिद्धे वाऽज्ञातांशकल्पनापि नोपपद्यते। तस्मादपि दशममण्डले नवमण्डलीयवर्णनांशोल्लेखो नासम्भवी। न तावता तस्याधुनिकत्वं सिद्धयति। यथा कथञ्चित् पौर्वापर्यं तु मण्डलेषु सूक्तेषु मन्त्रेषु वाक्येषु चाभ्युपगम्यत एव, पौर्वापर्यमन्तरा वर्णेषु पदवाक्यत्वाद्यसम्भवात्।

यदुक्तम्—'न्यूनान्न्यूनं त्रीणि पञ्च वा निर्माणयुगानि कल्पयितुं शक्यन्ते ऋक्संहितायाः' इति, तदप्यशुद्धम्, एकस्यापि युगस्यासिद्धेः, सम्भावनामात्रस्याप्रमाणत्वात्। यदपि—'परिवर्तनयुगे प्राचीनानेकसूक्तानां शैलीविकासोऽपि सम्भाव्यते, यत ऋग्वेदनिर्मातृभिः स्वयमेवाग्रगामिनामृषीणां वर्णनं क्रियते। तेऽपि तथैव सूक्तानि कथयन्ति स्म। सूक्तानां प्राचीनपरम्परासु रक्षणायोत्सुका आसन्' इति, तदपि सम्भावनामात्रम्, कानि सूक्तानि कदा कस्मिन् युगे

के आधार पर भी संभव हो सकती है। इससे अवेस्ता ग्रन्थ की उन सूक्तों से प्राचीनता अथवा समकालिकता किसी भी तरह से नहीं सिद्ध की जा सकती। अवेस्ता ग्रन्थ का संप्रदाय विच्छिन्न हो गया है, इस बात को अवेस्ता का संकलन करने वाले ही स्वीकार करते हैं। जेन्दावेस्ता ग्रन्थ के संबन्ध में यह कथा प्रसिद्ध है कि 'मज्द' धर्म का शुद्ध संस्कृत रूप ईरान प्रदेश में 'मग' नाम से प्रसिद्ध जनों ने प्रचारित किया। ये मग 'मीडिया' प्रदेश में रहते थे। 'मीडिया' ईरान का उत्तर-पश्चिम दिशा में वर्तमान एक प्रदेश है। कल्पना की जाती है कि ये आथर्वणिक उपासक थे। अवेस्ता ग्रन्थ की प्रतियाँ सिकन्दर के आक्रमण के समय जला दी गईं। बाद में जिसको जितना अंश याद था, अथवा जो अंग इधर-उधर से प्राप्त हो सका, उसको इकट्ठा किया गया और उसी के आधार पर इस ग्रन्थ का पुनः संकलन किया गया। इस वृत्तान्त से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन अवेस्ता ग्रन्थ के अनेक अंश नष्ट हो गये (द्रष्टव्य-आर्यों का आदि देश, पृ० ७८)।

अन्ततः इसीलिये मैकडानल महाशय को भी अगत्या कहना पड़ता है कि 'आधुनिक अन्वेषण को अद्यावधि इस संग्रह के पौर्वापर्य को निश्चित करने में किसी तरह सफलता प्राप्त नहीं हुई है' (पृ० ३६)। सचाई, वास्तविकता इसी को कहते हैं कि विरोधियों के मुँह से भी वह निकल ही पड़ती है। सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा प्रणीत अथवा नित्यसिद्ध वेद में अज्ञात अंश की कल्पना कभी संभव ही नहीं हो सकती। इस तरह से भी दशम मण्डल में पहले नौ मंडलों में वर्णित अंशों का उल्लेख असंभव नहीं माना जा सकता। इतने मात्र से उस अंश को आधुनिक नहीं सिद्ध किया जा सकता। जिस किसी तरह का पौर्वापर्य तो मंडल, सूक्त, मन्त्र और वाक्यों में मानना ही पड़ेगा। इस पौर्वापर्य के बिना वर्णों में पद, वाक्य प्रभृति व्यवहार की उपपत्ति भी नहीं बन सकती।

'इस दिशा में इतनी प्रगति हो गई है कि हम ऋग्वेद संहिता के कम से कम तीन या पाँच निर्माण युगों का पृथक्करण कर सकते हैं' (पृ० ३८)। यह कथन भी गलत है, क्योंकि इस तरह का एक भी युग सिद्ध नहीं किया जा सकता। संभावना को कोई प्रमाण नहीं मानता। 'इस परिवर्तन युग में कई और प्राचीन सूक्तों की निर्मिति हुई होगी, जो नष्ट हो गये हैं और उनमें उपलब्ध प्राचीनतम सूक्तों की शैली का विकास भी अवश्य हुआ होगा। ऋग्वेद के प्राचीनतम अंश के निर्माता स्वयं ही अपने अग्रगामी ऋषियों का वर्णन करते हैं। वे भी उसी तरह से सूक्त कहते थे और सूक्तों की प्राचीन परम्परा को जीवित रखने को उत्सुक थे' (पृ० ३८)।

कस्मिन् संवत्सरे कस्मिन् मासे कस्मिन् पक्षे कस्यां तिथौ केषां समक्षं किंनामधेयैः किंगोत्रैः कथं रचितानीति प्रमाणस्य वक्तुमशक्यत्वात् । ऋषीणां नूतनत्वप्रत्नत्वादिकं त्वध्येत्रपेक्षया न मन्त्रनिर्माणापेक्षया, निर्माणासिद्धेः ।

यदुक्तम्—'दशममण्डले स्वराणां लोपा अधिकाधिका दृश्यन्ते, अवग्रहा अपि लौकिकसंस्कृतस्येव । रेफस्थाने लकारप्रयोगास्तदानीं प्राचलन् । प्रत्ययेषु प्रथमाबहुवचनस्य आसस्प्रयोगा न्यूनतामुपगताः । अनेकपुरातनशब्दा लुप्ता जाताः । तेषां स्थानेऽन्ये शब्दा आयाताः । यथा सिमशब्दो दशमातिरिक्ते मण्डले ऋग्वेदे पञ्चाशद्वारं प्रयुक्तः । दशममण्डले त्वेकवारमेव । लभ्-काल-लक्ष्मी-एवमित्यादिलौकिकसाहित्यिकसम्बन्धिनः शब्दा दशममण्डले बाहुल्येनोपलभ्यन्ते । बुद्धिपूर्वकमार्षप्रयोगचेष्टा अपि तत्र स्पष्टं व्यज्यते' (पृ० ३७) इति, तदपि कुशकाशावलम्बनमेव, नित्यत्वान्निर्माणासम्भवात् । अपौरुषेयत्वाद्वेदेषु विशिष्टशब्दप्रत्ययादिप्रयोगा अपर्यनुयोज्या एव । केवलमुपक्रमादिभिरभिप्रायमेवैषामवगन्तुं प्रभवामो न पर्यनुयोक्तुं शक्ष्यामः । अत एव पाणिनिरपि छन्दसि दृष्टानुविधानमनुशास्ति । कात्यायनपतञ्जली अपि तत्समर्थयेते । नहि लौकिकेभ्यः शब्देभ्योऽत्यन्तविलक्षणा वेदशब्दाः, तथात्वे शक्तिग्रहासम्भवादप्रामाण्यं स्यात् । देशकालपरिस्थितिपरवशाः पुरुषास्तत्तद्देशकालगतान् शब्दान् प्रयुञ्जते । किञ्च, वैयाकरणानां मीमांसकानां च दृष्टया लौकिका वैदिकाश्च सर्वेऽपि शब्दा नित्या एव ।

यदपि—'इतरवेदानां समीक्षयापि कालविशेषनिर्धारणं शक्यम्' इति, तदप्यसङ्गतम्, इतरवेदानामपि नित्यत्वाविशेषात् । यदपि—'वैदिकपरम्परासारभाग ऋग्वेद उपलभ्यते, स निश्चप्रचं मौलिकपाठरूपेण ई० पू० १००० वर्षेभ्यो याथातथ्येन लभ्यते' (पृ० ३९) इति, तदप्यशुद्धम्, नित्यानामनादीनां वेदानां कतिचित्संवत्सरकालिकत्वकल्पनस्यायुक्तत्वात् । अत एवेतरवेदापेक्षया ऋग्वेदस्य प्रामाण्याधिक्यमपि निर्मूलमेव, समेषामेव वेदानामपौरुषेयत्वा-

यह कथन भी संभावनामात्र है, क्योंकि किन सूक्तों को कब किस युग में किस वर्ष, मास, पक्ष और तिथि में किसके सामने किस नाम के किस गोत्र के ऋषियों ने बनाया, इस बात को सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता । ऋषियों की नूतनता और प्राचीनता तो अध्येता के क्रम के आधार पर सिद्ध हो सकती है, इससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि उन उन प्राचीन और नवीन ऋषियों ने नूतन मन्त्रों की रचना की है ।

'दशम मण्डल में स्वरों का लोप अधिकाधिक होने लगा और अवग्रह कम होने लगे । लौकिक संस्कृत की तरह रेफ के स्थान में लकार का प्रयोग होवे लगा । प्रत्ययों में प्रथमा बहुवचन का वैदिक प्रत्यय 'आसस्' धीरे धीरे कम हो चला । कई पुरातन शब्दों का प्रयोग समाप्त हो गया और उनके स्थान पर दूसरे शब्द साधारण से बन गये । जैसे 'सिम' जो शेष ऋग्वेद में पचास बार आया है, दशम मण्डल में केवल एक ही स्थान पर दीख पड़ता है । इसके अतिरिक्त लभ्, काल, लक्ष्मी और एवम् जैसे लौकिक साहित्य के शब्द दशम मंडल में बहुधा मिलते हैं । जान बूझकर प्रयोगों को आर्ष रूप देने की चेष्टा भी दशम मंडल में स्पष्ट झलकती है' (पृ० ३७) । यह कथन भी कुश-काश का सहारा लेने सरीखा है, क्योंकि वेद तो नित्य हैं, उनका निर्माण नहीं होता । वेद अपौरुषेय हैं, अतः उनमें कुछ विशिष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ न हुआ, इस तरह की बातें विचारार्ह नहीं हो सकतीं, केवल उपक्रम प्रभृति प्रमाणों के आधार पर उनके अभिप्राय को हम समझ भर सकते हैं । इसी लिये पाणिनि ने भी छन्द में जैसा देखा गया है, तदनुरूप ही प्रकृति-प्रत्ययादि के विधान को स्वीकृति दे दी है । कात्यायन और पंतजलि भी इसी बात का समर्थन करते हैं । लौकिक शब्दों से वैदिक शब्द अत्यन्त विलक्षण नहीं हैं, यदि ऐसा हो तो उनसे शक्तिग्रह के अभाव में अर्थ का बोध न होने से उनका अप्रामाण्य होने लगेगा । देश, काल और परिस्थिति के परवश पुरुष उस देश और काल में प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग करते हैं । तो भी वैयाकरण और मीमांसकों के मत के अनुसार लौकिक एवं वैदिक सभी शब्द नित्य हैं ।

'इतर वेदों की समीक्षा से भी हम ऋग्वेद के काल का निर्धारण कर सकते हैं', यह कथन भी असंगत है, क्योंकि इतर वेद भी ऋग्वेद की ही तरह समान रूप से नित्य हैं । 'वैदिक परम्परा का सारभाग जो हमें ऋग्वेद में मिलता है, बहुत सीमा तक निश्चित एवं मौलिक पाठ के रूप में ईसा पूर्व १००० वर्ष से ज्यों का त्यों मिला है' (पृ० ३९) यह भी गलत है, क्योंकि नित्य, अनादि

विशेषात् । यदुक्तम्—'उत्तरकाले ऋग्वेदस्यांशान् गृहीत्वा नवोन्मेषितपौरोहित्यपद्धत्यपेक्षितसौकर्यपूर्तये येषां रचना जाता, तदपेक्षया प्रामाण्याधिक्यमिति' (पृ० ३९), तदपि यत्किञ्चित्, तदसिद्धेः । यदप्युक्तम्—'ऋग्वेदीयमन्त्रानुद्धृत्य स्वरचनासु निवेशयितॄणामृषीणां कृते प्राचीनपाठरक्षणं तथा नावश्यकमासीद्यथा मौखिकपरिपाट्या ऋक्संहितायाः स्वरूपरक्षणचेष्टावताम् । नूत्नपरम्परायाः प्रादुर्भावे स्वभावतोऽन्यपरम्पराया नियन्त्रणे शैथिल्यं भवतीति' (पृ० ३९), तदपि यत्किञ्चित्, वदमन्त्राणां तदसिद्धेः, वैदिकानां स्वस्वपरम्परारक्षणे धर्मतः प्रवृत्तिसिद्धेश्च । स्वरवर्णव्यत्यासे वाग्वज्रत्वभियापि तद्रक्षणप्रवृत्तिदार्ढ्यसिद्धेः ।

यदपि—'कतिपयान् अपवादानपहाय सामवेदयजुर्वेदसंहितयोः सङ्कलनकाले ऋग्वेदस्तथैवासीद् यथाद्यत्वे' (पृ० ३९), यदपि 'प्रारम्भिकयुगकालनिर्णये यद्यपि हस्तलिखितग्रन्थानां साहाय्यं नोपयोगि, तथापि ऋग्वेदार्थं सहस्रद्वयवर्षादपि पूर्वकालात् प्रचलितविभिन्नपाठान्तराणां प्रभूता सामग्री विद्यत एवास्माकं सविधे, या चेतरवेदेषूपलभ्यते, येषां रचना ऋग्वेदीयसूक्तमन्त्राणां पङ्क्तिभिः सम्पन्ना । ऋग्वेदसमीक्षायामितरे वेदास्तथैव कार्यकरा यथा साहित्यिकविषयेषु हस्तलिखितग्रन्थाः । ते च पाठभेदा यास्कप्रातिशाख्योल्लिखितपाठेभ्योऽपि सत्यं पुरातनाः' (पृ० ३८-३९) इति, तदपि न किञ्चित्, निर्मूलत्वात् । कैश्चिदृग्वेदीयसूक्तमन्त्राणां साहाय्येनेतरवेदा निर्मिता इत्यस्यार्थस्य साधने मानाभावात् । सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वेन तेषामप्यनादित्वात् । यदपि—'मौखिकपारम्पर्येण यस्यार्षग्रन्थस्य स्वरूपं सुरक्षितमितरवेदानां रचनातः प्रयोगविधिनिर्धारणाच्च पूर्वमेवासीत्, तस्य प्रामाणिकतोत्तरग्रन्थाद् विशिष्टैवेति' (पृ० ३९), तदपि निरस्तम्, निर्माणासिद्धयोक्तोत्तरत्वात् ।

वेदों को कुछ वर्षों पहले की रचना मानना सर्वथा असंगत है । इसी लिये अन्य वेदों की अपेक्षा ऋग्वेद को अधिक प्रामाणिक मानना भी निराधार है, क्योंकि सभी वेद समान रूप से अपौरुषेय हैं । 'यह स्वाभाविक है कि ऋग्वेद की प्रामाणिकता शेष उन ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक रहे, जिनकी रचना उत्तर काल में उसी (ऋग्वेद) के अंशों को ग्रहण कर केवल नवोन्मेषित पौरोहित्य पद्धति की अपेक्षाओं को सौकर्य से पूर्त करने के लिये हुई हो' (पृ० ३९) यह कथन भी गलत है, क्योंकि यह बात सिद्ध नहीं हो पाती । 'ऋग्वेद से मन्त्रों को उद्धृत कर अपनी रचनाओं में निवेश करने वाले ऋषियों के लिये यह कोई आवश्यक न था कि वे प्राचीन पाठ को यथावत् सुरक्षित रखने के लिये सतर्क रहें । कारण, उनका उत्तरदायित्व पाठ की सुरक्षा के लिये इतना अधिक न था, जितना उन विद्वानों का, जो संहिता को मौखिक परिपाटी से जीवित रखने के लिये सचेष्ट थे । सामान्य नियम है कि परम्परा का नियन्त्रण उस स्थान पर शिथिल हो जाता है, जहाँ नई परम्परा का प्रादुर्भाव होता है' (पृ० ३९) यह कथन भी गलत है, क्योंकि वेद-मन्त्रों के संबन्ध में यह बात लागू नहीं हो सकती । वैदिक अपनी अपनी परम्परा की रक्षा में धर्मतः प्रवृत्त रहते हैं। स्वर और वर्ण का विपर्यय हो जाने पर उच्चारण कर्ता के ऊपर वाणी रूपी वज्र का प्रहार होता है, इस डर से भी वैदिक विद्वान् सदा उनकी रक्षा में दृढता से प्रवृत्त रहते हैं ।

'कतिपय अपवादों को छोड़ वर्तमान ऋग्वेद संहिता ठीक ऐसी ही उस समय भी थी, जब सामवेद तथा यजुर्वेद संहिताओं का संकलन हुआ' (पृ० ३९), 'यद्यपि हस्तलिखित ग्रन्थों की सहायता प्रारम्भिक युग के काल-निर्णय में बिलकुल अनुपयोगी है, तथापि यह सुख की बात है कि ऋग्वेद के लिये हमारे पास दो हजार वर्ष से पूर्व प्रचलित विभिन्न पाठान्तरों की प्रभूत सामग्री है । यह सामग्री हर वेदों में है, जिनकी रचना ऋग्वेद के अनेक सूक्त, मन्त्र एवं पंक्तियों से निर्मित है । ऋग्वेद की समीक्षा के लिये वास्तव में इतर वेद ठीक वही काम करते हैं, जो अन्य साहित्यिक विषयों के लिये हस्तलिखित ग्रन्थ कर सकते हैं । ये पाठभेद यास्क एवं प्रातिशाख्यों में उल्लिखित विभिन्न पाठों से भी सचमुच पुरातन हैं' (पृ० ३८-३९) यह कथन भी निराधार है। कुछ लोगों ने ऋग्वेदीय सूक्त एवं मन्त्रों की सहायता से अन्य वेदों का निर्माण किया, इस बात को सिद्ध करने के लिये आपके पास कोई प्रमाण नहीं है । सम्प्रदाय के विच्छिन्न न होने पर उसके कर्ता की स्मृति के अभाव में उनकी भी अनादिता ही माननी पड़ेगी । 'यह स्वाभाविक है कि वह आर्ष ग्रन्थ जिसका मूल ऐतिहासिक होकर इतर वेदों की रचना तथा प्रयोग विधि के निर्धारण से भी पूर्व इस प्रकार मौखिक परम्परा से सुरक्षित रहा हो, उसकी प्रामाणिकता शेष उन ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक रहे' (पृ० ३९) यह कथन भी इस तरह से निरस्त हो जाता है कि इन वेदों की भी रचना की बात किसी तरह से सिद्ध नहीं हो पाती ।

यदपि—'संहितायाः पाठसमीक्षात ऋग्वेदस्य युगद्वयं प्रतीयते—प्रथमं तु यदेतरवेदानामस्तित्वमेव नासीत्, द्वितीयं यत्र स्वरानुसारेण वैयाकरणानां परिश्रमात् संहितापाठो निर्धारितः' इति, तदपि तुच्छम्, त्वदुक्तोभयपक्षस्याप्यप्रामाणिकत्वात्। समेषां वेदानामनादित्वात्। वैयाकरणैश्छन्दसि दृष्टविधानाङ्गीकारेण स्वरपाठादिपरिवर्तनानङ्गीकारात्। मौखिकपरिपाटचा युगयुगान्तराद्वेदप्राप्त्यङ्गीकारेणापि परिवर्तनासम्भवाच्च। यत्त्वितरग्रन्थैर्वेदानामपि समानयोगक्षेमत्वमिति, (पृ० ३९) तदपि न, पारम्पर्याविच्छेदस्यान्यत्रासत्त्वात्, विकासक्रमेणान्यत्र परिवर्तनाङ्गीकारेऽपि वेदे तदनङ्गीकारात्, नियतानुपूर्वीकत्वविशिष्टवाक्यसमूहस्यैव वेदस्वरूपत्वाभ्युपगमात्।

यदपि—'ऋग्वेदे नैकविधास्त्रुटयः समासन्, परन्त्वन्ते संहितासङ्कलनसमये मौलिकताया उच्चस्तरेण निर्वाहः, सूक्तनिमातॄणां मूलपाठेषु संहितापाठात् शतशो भेदा उपलभ्यन्ते। शब्दाः प्रायेण त एव विद्यन्ते। उदाहरणार्थं सुम्नं वा द्युम्नं वा पाठेऽनिश्चितता न प्रतीयते। अयं भेदस्तु लौकिकभाषासु सन्धिनियमाद्धेतोर्ध्वन्यात्मकपरिवर्तनफलम्। यत्प्रथमं 'तु अम् हि अग्ने' इति पठन्ति स्म, तदिदानीं 'त्वं ह्यग्ने' इति कथयन्ति। एतद्रूपेणापि पाठस्याधुनिकरूपदानाय प्रयत्नः पाक्षिक एवं क्वाचित्क एव आसीत्। एवं सन्धिनियमे संहितापाठेऽनेकेषु छन्दस्स्वस्तव्यस्तता जाता। छन्दोऽनुसारं पाठेन प्राचीनपाठानां सहजतया ज्ञानं जायते। संहितापाठे स्वररूपादिषु सूक्ष्मातिसूक्ष्मविषयेषु ध्यानं दीयते स्म, यदन्यत्र सरलतया त्यक्तुं शक्यमासीत्। वेदपाठस्य शाब्दिकमौलिकतारक्षणाय सावधानतोपयुज्यते स्म। प्रथमयुगे पारम्पर्यवशात् काश्चित् त्रुटयो जाताः। द्वितीययुगे व्याकरणनियमवशात् काश्चित् त्रुटयो जाताः। ता अपहाय ऋग्वेदस्य प्राचीनतमो ग्रन्थ एतावतो दीर्घात् कालाद् याथातथ्येन सुरक्षित आसीदित्या-

'संहिता के पाठ की समीक्षा से भी ऋग्वेद की रचना के दो युग स्पष्ट होते हैं। पहला तो वह, जिसमें इतर वेद का अस्तित्व न था; दूसरा वह, जिसमें स्वरों के अनुसार वैयाकरण संपादकों के परिश्रम से संहिता पाठ निर्धारित किया गया' (पृ० ३९), यह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि आपके दिखाये गये ये दोनों पक्ष अप्रामाणिक हैं। हमारे मत से सभी वेद अनादि हैं। वैयाकरण वेदों में जो जैसा देखा गया है, उसको उसी रूप में सिद्ध करने के पक्षपाती हैं, अतः उनके द्वारा स्वर और पाठ में परिवर्तन किया गया, इस बात को नहीं माना जा सकता। मौखिक परिपाटी से युग-युगान्तर से वेद की परम्परा चली आरही है, इस बात को सभी मानते हैं, इस कारण से भी इनमें किसी परिवर्तन की बात नहीं सोची जा सकती। 'इसकी भी गति अवश्य वैसी ही हुई, जैसी और प्राचीन ग्रन्थों की होती है' (पृ० ३९) यह भी गलत है, क्योंकि वेदों की तरह अन्य प्राचीन ग्रन्थों की अविच्छिन्न परम्परा आज उपलब्ध नहीं है। विकासक्रम से अन्यत्र परिवर्तन को स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु वेद के विषय में इसको नहीं माना जा सकता। वेद का स्वरूप ही नियत आनुपूर्वी से विशिष्ट वाक्यसमूहात्मक माना जाता है।

'प्राचीन युग में निश्चय ही ऋग्वेद के पाठ में कई त्रुटियाँ हुई हों, परन्तु अन्त में संहिता के संकलन के समय, मालूम होता है, मौलिकता का निर्वाह बड़े ऊँचे स्तर से किया गया। सूक्त निर्माताओं के मूल पाठ में सैकड़ों जगह संहिता के पाठ से भेद पाया जाता है, परन्तु शब्द प्रायः वे ही रहे हैं। उदाहरणार्थ, इसमें कोई अनिश्चितता प्रतीत नहीं होती कि वास्तविक शब्द 'सुम्नम्' था या द्युम्नम्। यह भेद तो लौकिक भाषा में प्रचलित सन्धि-नियमों के कारण ध्वन्यात्मक परिवर्तन का फल है, जिसे पहले 'तु अम् हि अग्ने' पढ़ते थे, उसे अब 'त्वं ह्यग्ने' कहते हैं। इस रूप में भी पाठ को आधुनिक रूप देने का प्रयत्न पाक्षिक एवं क्वचित् ही हो पाया है। संधि-नियमों को लागू कर देने से संहिता पाठ में कई जगह छन्द अस्तव्यस्त हुए हैं। यदि हम छन्द के अनुसार पढ़ें तो प्राचीन पाठ का हमें पता सहज लग जाता है। साथ ही साथ संहिता पाठ में छोटी से छोटी बारीकी की ओर ध्यान दिया गया है। स्वर के सम्बन्ध में तथा रूपान्तर के सम्बन्ध मे भी उन सूक्ष्मताओं पर ध्यान दिया गया है, जो आसानी से छोड़ दी जा सकती थीं। ये सब बातें वेदपाठ की शाब्दिक मौलिकता को सम्हाले रखने के लिये बहुत पहले से ही बड़ी सावधानी से काम में लाई जाती थी। प्रथम युग में परम्परा के कारण कुछ गलतियां और द्वितीय युग में व्याकरण के नियमों के कारण त्रुटियाँ हुई हैं, जिन्हें छोड़, ऋग्वेद का प्राचीनतम ग्रन्थ इतने लम्बे समय तक हर सूरत में ठीक ठीक सुरक्षित रखा गया—यह एक आश्चर्य की बात है' (पृ० ४०)।

श्रयंमेव' (पृ० ४०) इति, तदेतत्सर्वं पाश्चात्त्यानामनधिकारचेष्टाविलसितमेव, प्रमाणशून्यत्वात्। द्युम्नं सुम्नम् इत्यादि पाठभेदास्तु शाखामूलका एव। तु अम् हि अग्ने त्वं ह्यग्ने इति पाठभेदस्तु विकृतिमूलकोऽभ्यासाय, व्याकरणानि तु छन्दांस्येवानुसरन्तीत्यसकृदुक्तम्। यथा लताया वक्रता न दूषणं किन्तु भूषणमेव, तथैव व्याकरणसूत्रादिविरुद्धो वैदिकः प्रयोगोऽपि न दूषणं किन्तु भूषणमेव, वैयाकरणैरपि तदभ्युपगमात्। संहितापदक्रमादिपाठा अप्यनादय एवेत्यैतरेयब्राह्मणे तदुपासनाविधानात्।

यत्तु—'संहितापाठकालनिर्धारणप्रसङ्गे ब्राह्मणेषु ऋग्वेदसम्बन्धिविवेचनेन निश्चीयते यत्तदानीं यजुर्वेदीयगद्यभागापेक्षयापि ऋग्वेदपाठः पूर्णतया स्थिरतामुपागमत्। अत एव शतपथे प्रयोगविध्यनुसारेण मन्त्रपाठपरिवर्तनप्रस्तावप्रसङ्गे ऋग्वेदे पाठान्तरकल्पनापि न कर्तुं शक्यत इत्युक्तम्। ब्राह्मणग्रन्थेष्विदमप्युल्लिखितं यदमुकसूक्तेऽमुकप्रयोगकल्पसम्बन्धितसूक्तेषु कियन्तो मन्त्राः सन्तीति। यत्तु क्वचित्क्वचिन्मन्त्राणां पौर्वापर्येऽन्तरं दृश्यते, केचिन्मन्त्रा इतस्ततो दृश्यन्ते त्यक्ताः, तस्य कारणं न पाठभेदः, किन्तु प्रयोगविधेरावश्यकतैव। सूत्रेष्वपि यदृचां रूपान्तरं दृश्यते, तदपि न पाठभेदमूलकम्, किन्तु प्रयोगविधिसामञ्जस्यायैव। सूत्रेषु काश्चिदेवंभूता उक्तयः सन्ति याः संहिताया उपलब्धरूपाणां वास्तविकतां प्रमाणयन्ति। यथा यस्य सूक्तस्य यस्य मन्त्रस्य सांख्यायनसूत्रे यत्स्थानमुल्लिखितम्, तथैव ऋग्वेदसंहितायामुपलभ्यते' (पृ० ४०-४१) इति, तदप्यशुद्धम्, सर्वासु संहितास्वपि पाठभेदस्य तथैव नियतत्वात्। ऊहानुसारेण पाठपरिवर्तनं तु तत्तत्कर्मानुसारेण तात्कालिकमेव भवति। तदपि सर्वत्र समम्। सूत्रेषु ब्राह्मणेषु च क्वचिदृचां रूपान्तरोपन्यासस्तु शाखाभेदेन मन्तव्यः। तच्च शाखानां वेदत्वसमर्थनप्रसङ्गे सनिदर्शनमुपन्यस्तमेव।

यह सब पाश्चात्य विद्वानों की अनधिकार चेष्टा का तमाशा है। ये सारी बातें मनगढ़न्त हैं। द्युम्नम्, सुम्नम् प्रभृति पाठभेद शाखामूलक माने जाते हैं। 'तु अम् हि अग्ने' और 'त्वं ह्यग्ने' यह पाठ विकृति पाठ के आधार पर अभ्यास के लिये किया गया है। व्याकरण ग्रन्थ छन्दों की पद्धति का ही अनुसरण करते हैं, यह बात अनेक स्थलों पर सप्रमाण कही जा चुकी है। जैसे लता का टेढ़ापन दूषण न होकर उसके लिये भूषण ही माना जाता है, उसी तरह से व्याकरण के नियमों के विरुद्ध वैदिक प्रयोग भी दूषण न होकर भूषण ही माना जाता है। वैयाकरण भी इस बात से सहमत हैं। संहिता, पद, क्रम आदि पाठ भी अनादि ही हैं। इसी लिये ऐतरेय ब्राह्मण में उनकी उपासना विहित है।

'ब्राह्मणों में ऋग्वेद संबन्धी विवेचन से यह निश्चित होता है कि उस समय ऋग्वेद का पाठ पूर्णतः स्थिर हो गया था और वह भी उस विशेष रूप में, जैसा यजुर्वेद के गद्यभाग में भी नहीं पाया जाता। शतपथ ब्राह्मण में प्रयोग विधि के अनुसार मन्त्र-पाठ में कहीं कहीं परिवर्तन करने के प्रस्ताव पर यह कहा गया है—ऋग्वेद के पाठ में अन्तर करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह भी लिखा है—अमुक सूक्त में अथवा अमुक प्रयोग कल्प से संबन्धित सूक्तों में कितने मन्त्र हैं। इस प्रकार के संख्या संबन्धी उल्लेख वर्तमान ऋग्वेद के संहिता पाठ से शब्दशः मिलते हैं, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं कहीं ऋग्वेद के मन्त्रों के पौर्वापर्य में अन्तर है, अथवा कुछ मन्त्र इधर उधर छूट गये हैं, जिसका कारण पाठभेद नहीं, परन्तु प्रयोगविधि की आवश्यकताएँ हैं। सूत्रों में ऋग्वेद की ऋचाओं के रूपान्तर भी दिये गये हैं, परन्तु उसका कारण भी कोई प्राचीन पाठभेद नहीं, परन्तु वही प्रयोग-विधि के साथ सामंजस्य है। सूत्रों में कई उक्तियाँ ऐसी हैं, जो संहिता के उपलब्ध रूप की वास्तविकता को प्रमाणित करती हैं। उदाहरणार्थ—जिस सूक्त के जिस मन्त्र का जो स्थान सांख्यायन सूत्र में उल्लिखित है, अथवा जिस सूक्त में जितनी मन्त्र संख्या बताई गई है, वह ऋग्वेद संहिता में ठीक ठीक वैसी ही मिलती है' (पृ० ४०-४१)। यह कथन भी अशुद्ध है, क्योंकि सभी संहिताओं का अपना अपना पाठभेद नियत है। ऊह के अनुसार किया गया पाठ परिवर्तन केवल उस उस कर्म के संपादन तक तात्कालिक रूप से रहता है। वह भी सर्वत्र समान है। सूत्र अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं कहीं देखा गया मन्त्र के पाठ का परिवर्तन शाखा भेद के अनुसार मानना चाहिये। इस बात को हम शाखाओं को वेद सिद्ध करने के प्रसंग में उदाहरण पूर्वक समझा चुके हैं।

यदप्युक्तम्—'ब्राह्मणभागेष्वेवंविधाः साक्षादुक्तयः सन्ति या एकस्मिन् पदसमूहे कियन्तो वर्णाः सन्तीति निर्धारयन्ति, परं संहितापाठे तथा नोपलभ्यते, सन्धिनियमानुसारेणाक्षरन्यूनत्वोपगमात्। तेन ब्राह्मणसाहित्यस्य प्राचीनभागे वैदिकग्रन्थसम्वद्धध्वन्यात्मकप्रश्नसम्वन्धिविचारो न प्रतीयते। अतो ब्राह्मणग्रन्थरचना संहितापाठपूर्णतानिर्धारणं यावन्नासीत्' (पृ० ४१) इत्ययमंशोऽशुद्धः संहितापाठपूर्णतानिर्धारणात् पूर्वमेव जातः।

'ब्राह्मणग्रन्थपूरकेष्वारण्यकोपनिषद्ग्रन्थेषु केषाञ्चिद्वर्णसमुदायानां कृते न केवलं पारिभाषिकाः शब्दा लभ्यन्ते, अपि तु वैदिकपाठसम्वद्धध्वनिनियमानामपि विस्तृतं वर्णनमुपलभ्यते। एतेषु ग्रन्थेषु कतिपयेषां भाषाशास्त्रिणामपि प्रथमोल्लेखो दृश्यते, यथा शाकल्यमाण्डूकेयादीनाम्, ये प्रातिशाख्येषु प्रमाणभूता अवगम्यन्ते। अत इदं मन्तव्यं यद् व्याकरणसम्वन्धिप्रश्नविचारका आरण्यकोपनिषदादिग्रन्था ब्राह्मणग्रन्थयुगस्य यास्कप्रातिशाख्ययुगस्य चान्तरालवर्तिनः। तेन संहितापाठोऽवश्यमेतन्मध्यसन्धिकाले ई० पू० ५००,६०० वर्षेभ्यः प्राङ्निर्मितः स्यात्' (पृ० ४१) इति, तदपि निर्मूलमेव, वैदिकसिद्धान्ते मन्त्रब्राह्मणारण्यकोपनिषदामपौरुषेयत्वेनानादित्वोपगमेन कालभेदकल्पनाया निर्मूलत्वात्। शाकल्यमाण्डूकेयादीनामुल्लेखेनापि न कालनिर्धारणं सम्भवि, उर्वशीपुरूरवसादिसंहितास्थनामोल्लेखात्तस्यापि स्थानजात्यादिवाचकत्वेन व्यक्तिविशेषाबोधकत्वात्। अक्षरसंख्यापूर्तिस्तु सन्ध्यभावमादायैव कर्तव्या। यथा सावित्र्याः प्रथमपादस्याष्टाक्षरत्वपूर्तिर्णकारमिकारान्तं मत्वा क्रियते।

यदपि—'पदपाठनिर्माणानन्तरमृषिभिः संहितापाठरक्षणायासाधारणः प्रयत्नः कृतः। तत्परिणाम एष यद् विश्वसाहित्येतिहासेषु कस्यचिदपि प्राचीनग्रन्थस्य शुद्धः पाठोऽनेकाः शतीर्यावद् नैवमुपलभ्यते, यथा ऋग्वेदसंहितायाः। पदपाठपद्धत्या तत्प्रयासोपक्रमः। पदपाठात्संहितायाः प्राचीनं रूपमप्यवगम्यते। संहितापाठेन सार्धमेव

हम देख चुके हैं कि ब्राह्मणों में कई साक्षात् उक्तियाँ ऐसी हैं, जो एक पदसमूह में जितने वर्ण हैं, उनका भी उल्लेख करती हैं; परन्तु आज के संहिता पाठ में वैसा नहीं मिलता, क्योंकि सन्धि-नियमों के कारण कई वर्ण कम हो गये हैं। ब्राह्मण साहित्य का प्राचीन भाग वैदिक ग्रन्थों से संवद्ध ध्वन्यात्मक प्रश्नों का किसी प्रकार विचार करते प्रतीत नहीं होता। इससे यह निर्णय किया जा सकता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना संहिता पाठ के पूर्णतः निर्धारित होने तक नहीं हुई थी' (पृ० ४१) यह कथन भी गलत है, क्योंकि संहिता पाठ की पूर्णता के निर्धारण के पहिले ही नित्यता के आधार पर उनकी स्थिति सुव्यवस्थित रूप से मानी जाती है।

'ब्राह्मण साहित्य के पूरक ग्रन्थ आरण्यक और उपनिषदों की बात कुछ भिन्न है। इन ग्रन्थों में कुछ वर्णों के समुदाय के लिये न केवल पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख ही मिलता है, अपितु वैदिक पाठ संबन्धी ध्वनि नियमों का भी विस्तृत विवरण है। इन्हीं ग्रन्थों में कतिपय वैदिक भाषाशास्त्रियों का भी पहली बार नाम निर्देश है, जैसे शाकल्य और माण्डूकेय, जो प्रातिशाख्यों में भी प्रमाण समझे जाते है। अतः यह कहना होगा कि व्याकरण-संबन्धी प्रश्नों पर आरण्यक और उपनिषद् ऐसे ग्रन्थ हैं, जो ब्राह्मण ग्रन्थों के युग एवं यास्क और प्रातिशाख्य के युग के मध्यवर्ती हैं। अत एव संहिता-पाठ निश्चय ही इस मध्य सन्धिकाल में, ईसा पूर्व ६०० वर्ष के लगभग निर्मित हुआ होगा' (पृ० ४१) यह कथन भी निराधार है, क्योंकि वैदिक सिद्धान्त में मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदात्मक सारा साहित्य अपौरुषेय और अनादि माना जाता है, अतः इसमें कालभेद की कल्पना सर्वथा प्रमाणहीन है। शाकल्य, माण्डूकेय आदि का उल्लेख होने से भी काल का निर्धारण नहीं हो सकता, उर्वशी, पुरूरवा आदि का नाम ऋक् संहिता में उल्लिखित है, किन्तु यहाँ पर भी ये नाम स्थान, जाति के ही वाचक माने जाते हैं, अतः ये व्यक्तिविशेष के बोधक नहीं माने जाते, उसी तरह से यहाँ भी समझना चाहिये। अक्षर संख्या की पूर्ति सन्धि न करके की जा सकती है। जैसे गायत्री मन्त्र के प्रथम पाद के आठ अक्षरों की पूर्ति णकार को इकारान्त मानकर की जाती है।

'पद-पाठ बना चुकने पर ऋषियों ने संहिता-पाठ को सुरक्षित रखने के लिये असाधारण प्रयत्न किया। प्रयत्न का फल यह हुआ कि विश्व साहित्य के इतिहास में कोई भी प्राचीन ग्रन्थ इतना पाठ-शुद्ध सदियों तक सुरक्षित न रहा, जैसा वैदिक संहिता का पाठ है। इस दिशा की ओर पहला उपक्रम यह था कि ऋषियों ने पद-पाठ की पद्धति प्रस्तुत की। इसके अनुसार संहिता का प्रत्येक पद

other 6 stanzas
(1) 7. 57. 12
(2) 10. 20. 1
(3) 10. 141. 1-3
(4) 10. 121. 10

पदपाठरचना जातेति वक्तुं न शक्यते, यतो हि तत्र निश्चितभ्रान्तीनां मिथ्याग्रहाणां च निदर्शनानि लभ्यन्ते। तथापि संहितापाठरचनातः किञ्चित्कालानन्तरमेव पदपाठरचना जाता स्यात्। ऐतरेयारण्यकरचयित्रा पदपाठस्योल्लेखात् स्थाने स्थाने शाकल्यमुल्लिखतो यास्कात् सर्वथापि पदपाठमुपजीव्य निर्मितस्य प्रातिशाख्यस्य निर्मातुः शौनकाच्च पदपाठरचयिता शाकल्योऽधिकप्राचीनः' (पृ० ४१-४२) इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, संहिता-पदपाठ-क्रमादीनामपि नित्यत्वाभ्युपगमेन त्वत्कल्पनाया निर्मूलत्वात्। पदपाठे भ्रान्तिमिथ्याग्रहकल्पनैव भ्रान्तिमूलिका। पदपाठादिकर्तृकत्वं तु मन्त्राणामिव तत्सम्प्रदायप्रवर्तकत्वमेव। क्वचिदसन्धिः क्वचिल्लौकिकव्याकरणविपरीतसन्धिप्रत्ययादिकं तु सहजत्वाल्लतावक्रतादिवद् भूषणमेव।

7. 57.12

यदुक्तम्—'ऋग्वेदमन्त्राणां प्रामाणिकतायाः पदपाठ एव मानदण्डः। येषां मन्त्राणां (६।५९।१२, १०।१९०।१०३) पदपाठो नोपलभ्यते, मन्त्राश्च संहितायामुपलभ्यन्ते, ते मन्त्रा न ऋग्वेदीयाः' (पृ० ४२) इति, तदपि तुच्छम्, अङ्गानामङ्गिनियामकत्वायोगात्। तेषां परिशिष्टत्वेन पदपाठेऽनिवेशात्। येऽन्यशाखीया मन्त्रास्ते परिशिष्टखिलादिशब्देन व्यपदिश्यन्ते। यथा वालखिल्यनामका एकादशमन्त्रा आश्वलायनानां मौलिका इति मैकडानलोऽप्यङ्गीकरोति। पदक्रमपाठौ पुरातनौ ऐतरेयारण्यकपरिचिताविप्यप्यसावभ्युपगच्छत्येव।

यदपि—(४२ पृष्ठे) 'क्रमपाठे प्रत्येकं पदस्य द्विरुच्चारणेन पूर्ववर्तिपरवर्तिनोः शृङ्खला सम्पद्यते। जटापाठे प्रत्येकं पदं त्रिरावर्त्यते। मध्यमावृत्तिकाले पदसमूहो व्युत्क्रमेण पठ्यते। घनपाठे च पदानां चतुर्धा वर्तनं भवति। एवं प्रातिशाख्यस्यापि निर्माणं वेदसुरक्षार्थमेव जातम्। तत्र पदपाठस्य संहितापाठात्मना विपरिणामेऽपेक्षितपरि-

सन्धि-विश्लेषण कर पृथक् पृथक् रखा गया। पद-पाठ से संहिता के प्राचीन रूप का भी पता चल जाता है। संहिता पाठ के साथ ही साथ पद-पाठ की रचना भी हुई हो, यह नहीं कहा जा सकता; कारण, उसमें कुछ निश्चित भ्रान्तियाँ एवं मिथ्याग्रह के निदर्शन मिलते हैं। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि पद-पाठ की रचना संहिता के पाठ से कुछ ही बाद हुई होगी; कारण ऐतरेय आरण्यक का रचयिता पद-पाठ से भलीभाँति परिचित प्रतीत होता है; साथ ही साथ यह भी ध्यान देने योग्य है कि स्थान स्थान पर शाकल्य का उल्लेख करने वाले यास्क से तथा पद-पाठ पर सर्वदा आधारित ऋक्-प्रातिशाख्य के निर्माता शौनक से, पद-पाठ का रचयिता शाकल्य कहीं अधिक प्राचीन है' (पृ० ४१-४२) यह कथन भी अकिंचित्कर है। संहिता, पद-पाठ, क्रम-पाठ प्रभृति भी हमारे मत से नित्य हैं। अतः इस सम्बन्ध की आपकी सारी कल्पनाएँ निराधार हैं। पद-पाठ में भ्रान्ति एवं मिथ्याग्रह की कल्पना भ्रान्तिपूर्वक ही मानी जायगी। पद-पाठ का कर्तृत्व भी मन्त्रों के समान उस सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में ही माना जा सकता है। कहीं पर सन्धि न होना और कहीं पर लौकिक व्याकरण के नियम के विपरीत सन्धि का होना वेद में साम्प्रदायिकता के आधार पर लता की वक्रता के समान भूषण ही माना जायगा।

'निम्नलिखित कारणों से यह लक्षित होता है कि ऋग्वेद के मन्त्रों की प्रामाणिकता के लिये पद-पाठ सही माप-दण्ड है। ऋग्वेद में कुछ मन्त्र ऐसे हैं (६।५९।१२; १०।१९०।१०३) जिनका पद-पाठ बनाया नहीं गया, परन्तु वे केवल संहिता के रूप में ही मिलते हैं। इससे पता चलता है कि शाकल्य ने उन्हें सचमुच ऋग्वेद के मन्त्र नहीं माने' (पृ० ४२)। यह कथन भी सारहीन है, क्योंकि अङ्ग अङ्गी का नियामक नहीं माना जा सकता। ये मन्त्र परिशिष्ट हैं, अतः इनका पदपाठ में समावेश नहीं किया गया। अन्य शाखाओं के मन्त्र परिशिष्ट अथवा खिल नाम से कहे जाते हैं। जैसे वालखिल्य नामक ग्यारह मन्त्र आश्वलायन शाखा के मौलिक मन्त्र हैं, इस बात को मैकडानल भी स्वीकार करते हैं। इस बात को भी वे मानते हैं कि 'पद और क्रम पाठ पुरातन है और ऐतरेय आरण्यक को इनका ज्ञान था' (पृ० ४२)।

'क्रम पाठ में प्रत्येक पद को दुहराते हैं, जिससे वह पूर्ववर्ती और परवर्ती पदों में शृंखलित हो जाता है।···· ··· जटा-पाठ में प्रत्येक पद की तीन बार आवृत्ति होती है। मध्यम आवृत्ति के समय पद-समूह को व्युत्क्रम से पढ़ा जाता है। घनपाठ में पदों की चार बार आवृत्ति होती है।···· प्रातिशाख्य भी वेद-पाठ को सुरक्षित रखने के लिये रचे गये हैं। उनका लक्ष्य प्रधानतः पद-पाठ को

वर्तननिदशः। एवमेवानुक्रमणोपदव्यपदेश्या अनेके परिशिष्टग्रन्थाः प्रतिपाद्यविषयाणां विशिष्टदृष्टिकोणैर्वर्गीकरणे पर्यवस्यन्ति। संहितायां कियन्ति सूक्तानि कियन्तो मन्त्रा वर्णाश्च कियन्त इति परिगणयन्ति' (पृ० ४२-४३) इत्यादि, तत्तु वेदस्वरूपरक्षणोपयोग्येव। अत एव वेदेपु मात्रास्वरादिव्यत्यासेनापि दोषप्राप्तिरुक्ता। तस्मान्न केवलं दृष्टार्था वेदाः, किन्त्वदृष्टार्था एव, प्राधान्येन स्वर्गाग्निहोत्रहोमयोः कार्यकारणभावस्य वेदैकसमधिगम्यत्वात्। तत एव वेदानां मनुष्यबुद्धिपूर्वकत्वमपास्यते, प्रत्यक्षानुमानाविषये मनुष्यबुद्ध्यसङ्क्रान्तेः।

यदपि 'शाकलवाष्कलाश्वलायनशाङ्खायनमाण्डूकेयादिनाम्नामुल्लेखश्चरणव्यूहग्रन्थे दृश्यते। तेषां शाकलपाठादयं भेदः—ये वालखिल्यमन्त्राः ११ संख्याकाः शाकलपाठे खिला उपेयन्ते, त आश्वलायनपाठेषु मौलिका उपेयन्ते। शाङ्खायनपाठेऽपि कतिचिन्मन्त्रानपहाय वालखिल्या मन्त्रा मौलिका उपेयन्ते। अत एव पुराणेषु तदनन्तरीयास्वाख्यायिकासु ऋग्वेदस्य तिस्रः शाखाः शाकल-वाष्कल-माण्डूकेया अभ्युपेयन्ते। यदि माण्डूकेयशाखायाः स्वतन्त्रं रूपं स्यात्तथापि तल्लुप्तम्। वाष्कल-शाकलपाठयोस्त्वियानेव भेदः—वाष्कलशाखायामष्टौ सूक्तान्यधिकानि। प्रथममण्डले च सूक्तेषु स्थानभेदो दृश्यते। तस्मात् शाकलपाठ एव वास्तविकः पाठः' (पृ० ४३-४४) इति, तदपि न युक्तम्, 'एकविंशतिधा वाह्वृच्यम्' इति महाभाष्यवचनात् पुराणादिवचनेभ्य ऋग्वेदीयमन्त्राणां ब्राह्मणानां च भेदस्य प्रामाणिकत्वात्।

'क्वचित् सूक्तानां मन्त्राणां च स्वरूपभेदाः क्वचिदांशिकपाठभेदा आसन्निति यास्कमहाभाष्याद्युद्धरणेन विज्ञायते। क्वचिद् ब्राह्मणलोपः क्वचित्संहितालोपः क्वचित्तदुपनिषदतिरिक्तमन्त्रसंहिताब्राह्मणानां च लोपो जातः। वायुपुराणरीत्या लुप्तांशानामपि सूर्यलोकेऽवस्थानमस्ति। तत एव याज्ञवल्क्येन शुक्लयजुर्वेदीयाः

संहिता-पाठ में परिणत करने के लिये अपेक्षित परिवर्तनों का निर्देशन है। अन्त में कतिपय परिशिष्ट ग्रन्थ हैं, जिन्हें अनुक्रमणी कहते हैं। इनका लक्ष्य भी ऋग्वेद में प्रतिपादित विपयों का विभिन्न दृष्टि-कोणों से वर्गीकरण करना है। इसके अतिरिक्त, संहिता में कितने सूक्त, कितने मन्त्र, कितने पद और यहाँ तक कि कितने वर्ण हैं, इसकी परिगणना भी अनुक्रमणिका में की गई है' (पृ० ४२-४३) यह सब वेदों के स्वरूप की रक्षा के लिये अत्यन्त उपयोगी है। इसी लिये वेदों में मात्रा और स्वर का व्यत्यास हो जाने पर भी दोष बताया गया है। इसी लिये वेद केवल दृष्ट प्रयोजन के लिये हो न होकर अदृष्टार्थक भी हैं। स्वर्ग और अग्निहोत्र होम का कार्यकारणभाव प्रधानतः केवल वेद से ही जाना जा सकता है। इसीलिये वेदों को मनुष्य की बुद्धि से उत्पन्न रचना नहीं माना जाता, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान का जो विषय नहीं है, वहाँ पर मनुष्य की बुद्धि नहीं पहुँचती।

'चरणव्यूह नामक संग्रह-ग्रन्थ में ऋग्वेद की पाँच शाखाओं का उल्लेख है—शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, सांख्यायन और माण्डूकेय। उनमें और शाकलों में एकमात्र अन्तर यह है कि आश्वलायनों ने बालखिल्य नामक ११ प्रक्षिप्त मन्त्रों को भी मौलिक माना है। इसी तरह सांख्यायनों ने भी कुछ मन्त्रों को छोड़ बालखिल्यों को मौलिक स्वीकृत किया है। यही कारण है कि पुराणों में और उनके बाद की आख्यायिकाओं में ऋग्वेद को तीन ही शाखाएँ मानी गई हैं। ये हैं—शाकल, वाष्कल और माण्डूकेय। मान भी लिया जाय कि माण्डूकेय शाखा का कहीं स्वतन्त्र पाठ हो भी, तो वह प्राचीन भारत के आदि युग में ही सम्भवतः लुप्त जान पड़ता है।… वाष्कल और शाकलों की शाखा में इतना ही अन्तर था कि वाष्कल शाखा में आठ सूक्त अधिक हैं और प्रथम मण्डल के सूक्तों में स्थान भेद है। अत एव यह सिद्ध है कि शाकलों की संहिता ऋग्वेद का सर्वोत्तम परम्परा-प्राप्त पाठ ही नहीं, अपितु हमारे मत में तो वही एक वास्तविक पाठ कहा जा सकता है' (पृ० ४३-४४) यह कथन ठीक नहीं है, 'ऋग्वेद की २१ शाखाए हैं' इस महाभाष्य के वचन से और अन्य पुराणों के वचन से ऋग्वेदीय शाखाओं और ब्राह्मणों का भेद प्रामाणिक रूप से माना जाता है।

यास्क के निरुक्त और पतंजलि के महाभाष्य के प्रमाण पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि कहीं कहीं सूक्तों और मन्त्रों के स्वरूप में परिवर्तन हो गया है, अथवा आंशिक रूप से पाठ भिन्न हो गया है। किसी शाखा का ब्राह्मण भाग लुप्त हो गया है, तो कहीं मन्त्रभाग का लोप हो गया है और कहीं कहीं उपनिषद् को छोड़कर मन्त्र और ब्राह्मण भाग दोनों लुप्त हो गये हैं। यह

पञ्चदश शाखा उपलब्धाः। यदपि मन्त्रब्राह्मणानां स्वरसम्बन्धे ग्रीकभाषास्वरेण तुलना कृता, तदपि यत्किञ्चित्, वैदिकानामिव तेषामविच्छिन्नपारम्पर्येण हस्तादिस्वरानुपलम्भात्। एवमेव वैदिकच्छन्दसां ग्रीकलैटिनछन्दसां साम्यवैषम्यविचारोऽपि निरर्थक एव, साधर्म्यवैधर्म्ययोरंशतः सर्वत्र सम्भवात्। अत एव 'ऐतिहासिकदृष्ट्या परवर्तिसाहित्यप्रयुक्तच्छन्दोविधानानामाधारभूतानि वैदिकानि छन्दांसि हिन्द-इरानीयुगस्य लौकिकसंस्कृतयुगस्य लौकिकसंस्कृतप्रचलितच्छन्दःपद्धतेश्च मध्यवर्तीनि' इति, तदपि निर्मूलम्, 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६), 'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३।२९) इत्यादिप्रमाणैर्वैदिकमन्त्राणां नित्यत्वावगमाच्छन्दसामपि सुतरां नित्यत्वेन हिन्द-इरानीयुगादिकालिकत्वे मानाभावात्।

यदपि—'अवेस्ताग्रन्थेऽष्टाक्षरैरेकादशाक्षरैर्वा पादा भवन्ति। मात्राणां महत्त्वं तत्र नास्ति। ऋग्वेदस्येव अवेस्ताग्रन्थेऽपि चरणैरेव वृत्तानि सम्पद्यन्ते। एतावतेदमायातं यद् भारतीयाः पारसीकाश्च यदैकत्रासन् तदानीं वृत्तनिर्माणपद्धतिर्वर्णसंख्यासिद्धान्ताश्रितासीदिति। लौकिकसंस्कृतयुगे तु प्रत्येकं पङ्क्तेः प्रत्येकमक्षरस्य मात्रानुसारेण छन्दःसु गणना भवति स्म। प्राचीनेतिहासेषु प्रयुक्तश्लोकनामधेयेषु पद्येष्वस्यापवादो दृश्यते। वस्तुतस्त्विदं स्वच्छन्दमेव छन्दः। एवं चरणानामाद्योपान्तं मात्राबद्धतानियमाः परवर्तिषु छन्दःसु सर्वत्र दृश्यन्ते। वैदिकचरणस्यान्ते नियमितस्वरप्रयोगो वृत्तमुच्यते। वृत्तशब्दस्य शाब्दिकोऽर्थः परिवर्त उच्यते। वृत्तशब्दो लैटिन् 'ह्वरसस्' इत्यनेन समानान्तरः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदतच्छन्दसामनादित्वेन कालविशेषेण सम्बन्धायोगात्। कथञ्चित्साम्यं तु सर्वत्र सङ्गच्छत एव।

मैकडानलमहाशयः प्रथमं सायणभाष्यं प्रशशंस। यथा—'सायणभाष्यं स्थाने स्थाने प्राचीनविदुषां प्रमाणान्युल्लिखति। अत एव पुरातनकालात् प्रचलितपरम्परानुसारेण ऋग्वेदस्य तात्त्विकोऽर्थो ज्ञातुं शक्यते।

ठीक है, किन्तु इतना हमें स्मरण रखना चाहिये कि वायुपुराण प्रभृति में प्रतिपादित पद्धति के अनुसार ये लुप्त अंश भी सूर्यलोक में अवस्थित रहते हैं। वहीं से याज्ञवल्क्य ने शुक्ल यजुर्वेद की १५ शाखाओं को प्राप्त किया था। मैकडानल ने मन्त्र और ब्राह्मणों के स्वर के संबन्ध में ग्रीक भाषा के स्वरों से तुलना की है (पृ० ४४), यह भी गलत है, क्योंकि भारतीय वैदिक विद्वानों को अविच्छिन्न परम्परा से हाथ के द्वारा अभिव्यक्त किये जाने वाले स्वरों की तरह पाश्चात्यों को यह स्वर-परम्परा प्राप्त नहीं हुई है। इसी तरह से वैदिक छन्दों का ग्रीक और लेटिन छन्दों से साम्य और वैषम्य का विचार करना (पृ० ४५-४८) भी निरर्थक है, क्योंकि किसी न किसी रूप में इस तरह का साधर्म्य और वैधर्म्य सर्वत्र मिल सकता है। इसी लिये 'ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर परवर्ती साहित्य में प्रयुक्त छन्दोविधि के आधारभूत ये वैदिक छन्द ही माने जायँगे, जो कि हिन्द-ईरानी युग और लौकिक संस्कृत में प्रचलित छन्दःपद्धति के मध्यवर्ती हैं' (पृ० ४६) यह कथन भी निर्मूल है, 'वाचा विरूपनित्यया', 'अतएव च नित्यत्वम्' इत्यादि प्रमाणों से वैदिक मन्त्रों की नित्यता की अवगति होती है, तो इनके छन्द भी सुतरां नित्य ही माने जायँगे, अतः इनको हिन्द-ईरानी युग के आदि काल का मानने में कोई तुक नहीं है।

'अवेस्ता ग्रन्थ में भी ८ अथवा ११ अक्षरों के पाद मिलते हैं, जिनमें मात्राओं का कोई महत्त्व नहीं होता। अवेस्ता में भी ऋग्वेद की भांति चरणों से ही वृत्त बनते हैं। इससे यह विदित होता है कि जब पारसी और भारतीय एक ही राष्ट्र के निवासी थे, उस समय वृत्त-निर्माण की पद्धति वर्ण-संख्या के सिद्धान्त पर आधारित थी। लौकिक संस्कृत युग में हर पंक्ति का हर अक्षर मात्रा के अनुसार हर छन्द में गिना जाता है। इसका एक मात्र अपवाद पुराने इतिहास में प्रयुक्त 'श्लोक' नामक पद्य में पाया जाता है। वास्तव में यह एक स्वच्छन्द छन्द है। चरण के इस प्रकार आद्योपान्त मात्राबद्ध होने का नियम आगे चलकर सर्वत्र लागू हो गया। वैदिक चरण के अन्त में नियमित स्वर का प्रयोग 'वृत्त' कहलाता है। वृत्त शब्द का शाब्दिक अर्थ 'मोड़' है। वृत्त शब्द लैटिन 'ह्वरसस्' के समानान्तर है' (पृ० ४६) यह सारा कथन भी गलत है, क्योंकि वैदिक छन्द तो अनादि हैं, उनका किसी कालविशेष से सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। कुछ न कुछ समानताएँ तो सर्वत्र मिल ही सकती हैं।

एतदधिकसामग्रचन्वेषणमृग्वेदार्थज्ञानाय नापेक्षितमासीत्। आक्सफोर्डविश्वविद्यालयीयसंस्कृतप्रथमाचार्येण हेनरीविल्सनेन १८५० ईसवीयवर्षे ऋग्वेदानुवादप्रारम्भे पूर्वोक्तविचारो व्यञ्जितः। तदनन्तरं वैदिकभाषाविज्ञानसंस्थापकेन स्वर्गीयाचार्यराथमहाशयेन तद्भिन्न एव विचारः प्रकटितः। तद्रीत्या वैदिकसाहित्यस्यार्थं इतो द्वादशशतीपूर्वतनस्य सायणस्य यास्कस्य वानुसारेण ज्ञातुं न योग्यः। प्राचीनैर्ऋषिभिर्यानर्थानभिसन्धाय सूक्तानि रचितानि तज्ज्ञानमेवास्माकं लक्ष्यं युक्तम्, भाष्यकारपद्धत्यनुसरणेन न तत्सम्भवि। भाष्यकारा यद्यपि वेदोत्तरकालिकयाज्ञिकदार्शनिकविषयविशेषज्ञास्तात्कालिकप्रचलितविचाराणां कर्मकाण्डस्य चाभिज्ञत्वाद् वैदिकसाहित्यस्यार्थज्ञाने सहायकास्तथापि तेषां भाष्यं सूक्तनिर्मातॄणां समयात् प्रसूतपारम्पर्येणाविच्छिन्नधाराया निर्वाहं न करोति, यतस्तेषां भाष्योपक्रमस्तदानीं जातो यदा सूक्तानामर्थज्ञानं पूर्णतयाऽसम्भवं जातम्। वस्तुतस्तदानीं काचित्परम्परैव नासीत्। तदैव भाष्योपक्रमप्रसङ्गः सञ्जातो यदा सूक्तानां यथावदर्थो दुर्बोधः संवृत्तः। तदैवोपस्थितकाठिन्यसमाधानार्थं भाष्यकारैः प्रयतितम्। तैर्वैदिकभाषाः प्राचीनसमयात् प्रचलितधार्मिकविश्वोत्पत्त्यादिसम्बन्धिविचाराश्च स्वसमयप्रचलितविचारानुसारेणावगन्तुं चेष्टा कृता, वैदिकसाहित्यस्य यथार्थमर्थं त्रोटयित्वा मोटयित्वा च भाष्यं कृतम्।

यास्केन सप्तदशाचार्याणां विदुषां नामानि निरुक्ते प्रोक्तानि, येषां वेदार्थसम्बन्धे गम्भीरमतभेदा आसन्। उदाहरणार्थं केनचिदाचार्येण नासत्याविति पदस्य सत्यं मिथ्या नेत्यर्थः कृतः। अन्येन सत्यनेतेत्यर्थः कृतः। यास्करीत्या नासिकासमुद्भूत इत्यर्थः। तस्माद् मन्त्ररचयितॄणां भाष्यकाराणां च मध्ये महानपूरणीयः खातो विद्यते। यास्कपूर्ववर्तिना कौत्सेन तु निरुक्तविज्ञानं व्यर्थमेव, यतो वैदिकसूक्तानि निरुक्तोक्तप्रयोगाश्च दुर्बोधा निरर्थकाः परस्पर-

मैकडानल महाशय पहले सायण के भाष्य की प्रशंसा करते हैं। जैसे कि—'उनके भाष्य में स्थान स्थान पर प्राचीन विद्वानों के प्रमाणों का उल्लेख मिलता है। अत एव यह माना गया कि पुरातन काल से प्रचलित परम्परा के अनुसार ऋग्वेद का सही अर्थ उक्त भाष्य के द्वारा जाना जा सकता है। इससे अधिक सामग्री को देखना मूल ग्रन्थ को समझने के लिये आवश्यक प्रतीत न हुआ। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रथम आचार्य हेनरी विल्सन ने सन् १८५० ई० में ऋग्वेद का अनुवाद प्रारम्भ किया, जिसमें उन्होंने पूर्वोक्त मत प्रकट किया है। इसके बाद वैदिक भाषा-विज्ञान के संस्थापक स्वर्गीय आचार्य रॉथ इस अभिप्राय से सहमत न थे और उन्होंने अपने विचार भिन्न रूप से प्रकट किये हैं। उनका अभिप्राय है कि वैदिक साहित्य का अर्थ आज से लगभग १२ शताब्दी पूर्व के सायण एवं यास्क के अनुसार समझना उचित न होगा, परन्तु प्राचीन ऋषियों ने जिस अर्थ को लेकर सूक्तों की रचना की है, उसी को समझना हमारा मुख्य लक्ष्य होना चाहिये। इस लक्ष्य की सिद्धि केवल भाष्यकारों की पद्धति के अनुसरण करने से संभव नहीं। कारण, ये भाष्यकार वेदोत्तर काल के याज्ञिक एवं दार्शनिक विषयों के विशेषज्ञ और तत्कालीन प्रचलित विचार एवं कर्मकाण्ड के अभिज्ञ होने से वैदिक साहित्य के अर्थबोध करने में विशेष सहायक यद्यपि हो सकते हैं, तथापि उनका भाष्य सूक्तों के निर्माताओं के समय से प्रसूत परम्परा की अविच्छिन्न धारा का निर्वाह नहीं करता, क्योंकि उनके भाष्य का उपक्रम उस समय हुआ, जब सूक्तों का अर्थ पूर्णतः समझना असंभव हो चुका था। सच पूछा जाय तो उस समय कोई परम्परा ही न थी, भाष्य करने का प्रसंग तब ही आया, जब सूक्तों का यथार्थ अर्थ दुर्बोध हो गया था। अत एव भाष्यकारों ने उपस्थित कठिनाइयों के समाधान के लिये यत्न किया और उन्होंने वैदिक भाषा को तथा प्राचीन समय में प्रचलित धार्मिक एवं विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रकट किये हुए विचारों को अपने अपने समय में प्रचलित विचारों के अनुसार समझने की चेष्टा कर वैदिक साहित्य के यथार्थ अर्थ को तोड़-मोड़ कर रख दिया।

यास्क ने लगभग १७ ऐसे प्राचीन विद्वानों के नाम दिये हैं, जिनका वेदार्थ के संबन्ध में गंभीर मतभेद है। उदाहरणार्थ एक आचार्य 'नासत्यौ' इस पद का अर्थ 'सत्य, मिथ्या नहीं; और दूसरा आचार्य 'सत्य के नेता' —ऐसा करते हैं, परन्तु स्वयं यास्क का मत है कि उक्त पद का अर्थ है—'नासिका से उद्भूत। मन्त्रों के रचयिता और उनके प्रारंभिक भाष्यकारों में इतनी बड़ी खाई है कि यास्क के पूर्ववर्ती कौत्स ने तो इतना तक कह डाला कि वैदिक निरुक्त एक व्यर्थ का विज्ञान है, क्योंकि वैदिक सूक्त और उनमें

विरुद्धाश्चेति कथितम्। यास्कस्तदुत्तरणे नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति इत्येव वक्ति। यास्केन कतिचित्सूक्तानामेव निर्वचनं कृतम्, तदपि शाब्दिकव्युत्पत्त्यधीनमेव। क्वचित्त्वेकस्यैव शब्दस्य वैकल्पिका अनेकेऽर्थाः प्रदर्शिताः। एतेन तत्पथप्रदर्शनाय प्रारम्भिक आधारो नोपलब्धः, तेन निजकल्पनयैवार्थाः सामञ्जस्यं नीताः। सूक्तनिर्मातॄणां मनःस्वेकस्मादधिका अर्था आसन्निति न कोऽपि मंस्यते' (पृ० ४९-५१) इति, तदपि वेदिकसंस्कारवैधुर्यमूलकमेव, असमन्वयात्। वैदिकास्तु ग्रन्थानां तात्पर्यं समन्वयेनावधारयन्ति। पाश्चात्त्यास्त्वेकस्मिन्नपि ग्रन्थे वैलक्षण्यं वैषम्यं चावलोक्य कर्तृभेदमनुमिन्वन्ति। व्यासनिर्मितं भारतमिति तद्वचनसिद्धमपि प्रत्यक्षं बाधित्वाऽनुमानात्तत्र वैशम्पायनसूतादिकर्तृकत्वं कल्पयन्ति। वाल्मीकिनिर्मितमपि वाल्मीकीयं रामायणं रामायणसिद्धमप्यपलप्य तत्र रामायणमादिरामायणं च कल्पयन्ति। पारम्पर्यप्राप्तमपि शतपथं सकर्तृकमनेककर्तृकं च कल्पयन्ति। तथैवानादिपारम्पर्याविच्छेदेन प्राप्तामपि ऋग्वेदसंहितां विभिन्नकालिकसूक्तमण्डलादिसमवेतामूरीकुर्वन्ति। साम्प्रतिकन्यायवादिनोऽपि समन्वयेनैव संविधानानां तदनुगुणसाम्प्रतिकनियमानां च तात्पर्यमध्यवस्यन्ति। वैदिकास्तु प्रत्यक्षविरुद्धमनुमानमेवासमानयोगक्षेमं निगदन्ति। मन्त्रा ब्राह्मणानि च तद्दृष्ट्या वेदा एव। व्याकरणनिरुक्तकल्पादीनि वेदाङ्गानि, तानि च प्रतिकल्पं तत्तन्महर्षिभिः प्रादुर्भावितान्यप्यनादीन्येव। मन्त्रब्राह्मणानामनादित्वं नित्यत्वं तु मन्त्रब्राह्मणव्यासजैमिनिकणादगोतमपतञ्जलिवात्स्यायनशवरशङ्करादिवचनसिद्धम्। तस्मात् सूक्तमन्त्राणामर्थज्ञानपारम्पर्यं लुप्तमासीदिति कथनं मूर्खजनप्रतारणमेव। मन्त्राणामनेकत्र ब्राह्मणानि क्वचित्तात्पर्यशः क्वचिच्छब्दशोऽर्थं वर्णयन्ति। कल्पसूत्राणि च ब्राह्मणानुसारेणैव विनियोजयन्ति।

तत्र जैमिनिः पूर्वकाण्डस्य समस्तमन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य मीमांसां विदधाति, बादरायणश्चोत्तरकाण्डस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकस्यैव वेदस्य। यास्कस्तु मन्त्राणां विषमस्थलानि पारम्पर्येणैव व्याख्याति। मीमांसा-

बताये गये प्रयोग दुर्बोध, निरर्थक एवं परस्पर विरोधी हैं। इस आलोचना के उत्तर में यास्क तो इतना ही कहते हैं कि लकड़ी का क्या दोष, यदि उसे अन्धा न देख सके। यास्क ने ऋग्वेद के कुछ ही सूक्तों का निर्वचन किया है, मगर जितना भी कुछ किया है, वहाँ अर्थ-ग्रहण के लिये शाब्दिक व्युत्पत्ति पर ही वह अधिकांश निर्भर रहे हैं। कई स्थान पर तो एक ही शब्द के उन्होंने दो-चार वैकल्पिक अर्थ भी बताये हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि उन्हें पथप्रदर्शन में कोई प्रारंभिक आधार न मिला और उन्होंने निज की कल्पना से ही अर्थ बैठाया है। कारण, यह कोई भी न मानेगा कि सूक्तकारों के मन में कहीं एक से अधिक अर्थ रहा हो' (पृ० ४९-५१)। यह सारा कथन वैदिक संस्कारों के न होने के कारण है, क्योंकि इनमें परस्पर समन्वय का अभाव है। वैदिक विद्वान् ग्रन्थों का तात्पर्य समन्वय के आधार पर निर्धारित करते हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य विद्वान् एक ग्रन्थ में भी विलक्षणता और वैषम्य के मिलने पर उन उन अंशों के कर्ताओं का भेद मानने लगते हैं। महाभारत व्यास की कृति है, उस ग्रन्थ में इसका प्रत्यक्ष उल्लेख मिलने पर भी उसको न मान कर अनुमान के आधार पर वैशम्पायन, सूत प्रभृति को उसके कर्ता के रूप में कल्पित करते हैं। वाल्मीकि की रचना वाल्मीकि रामायण को रामायण से सिद्ध होने पर भी उसका अपलाप कर उसमें रामायण, आदिरामायण आदि की कल्पना करते हैं। परम्परा से प्राप्त शतपथ ब्राह्मण को किसी एक ही रचना नहीं, अनेक व्यक्तियों की रचना मानते हैं। इसी तरह से अविच्छिन्न अनादि परम्परा से प्राप्त ऋग्वेद संहिता को विभिन्न कालों के रचित सूक्त, मण्डलों का समुदाय मात्र मानते हैं। आज कल के विधिवेत्तागण समन्वय के आधार पर ही संविधान की और तदनुवर्ती नवीन नियमों की व्याख्या करते हैं। वैदिक विद्वान् प्रत्यक्ष विरुद्ध अनुमान को कभी प्रमाण नहीं मानते। उनकी दृष्टि में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों वेद ही हैं। व्याकरण, निरुक्त, कल्प प्रभृति वेदांग कहे जाते हैं। प्रत्येक कल्प में उन उन महर्षियों के द्वारा प्रादुर्भूत होने से ये भी अनादि हैं। मन्त्र और ब्राह्मण भाग की अनादिता और नित्यता मन्त्र, ब्राह्मण, व्यास, जैमिनि, कणाद, गोतम, पतंजलि, वात्स्यायन, शबर, शंकर प्रभृति के प्रमाण से सिद्ध है। अतः ऋग्वेदादि के सूक्तों और मन्त्रों के अर्थज्ञान की परम्परा लुप्त हो गई थी, यह कथन सर्वथा भोले आदमियों को ठगने वाला है। अनेक स्थलों में ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रों के अर्थ को उनका तात्पर्य समझाते हुए अथवा शब्दशः उनका अर्थ करके समझाते हैं और कल्पसूत्र ब्राह्मणों की इसी व्याख्या के अनुसार मन्त्रों का विनियोग बताते हैं।

भाष्यकारः शवरस्वामी सहस्रशाखात्मकं सामवेदं जानाति स्मेति प्रसिद्धिः। शङ्करावतारभूताः श्रीशङ्कराचार्याः शवरस्वामिनं 'तथा चाहुः शास्त्रतात्पर्यविदः' इति शब्दैः स्मरन्ति। कार्तिकेयावतारभूताः कुमारिलभट्टपादाः सर्वज्ञकल्पाः शङ्कराचार्याश्च पूर्वोत्तरमीमांसाव्याख्यानप्रसङ्गेन समस्तमेव वेदार्थमाञ्जस्येन निरूपयन्ति। एवं वस्तुस्थितौ सत्यामपि मुख्यवेदार्थसम्प्रदायो लुप्त आसीदिति कथनमसङ्गतमेव। निरुक्तवृत्तिकारदुर्गाचार्योव्वटसायण-महीधरादिकाः पारम्पर्येणैव वेदार्थं निरूपयन्ति। वात्स्यायनदृष्ट्या य एव ऋषयो मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवेतिहासपुराणादीनां स्मर्तारश्च। रामायणभारतेतिहासैः पुराणैश्च वेदाः स्पष्टं व्याख्यायन्ते। सामान्यतया मन्त्राणां सूक्तानां च तात्पर्यैक्येऽपि क्वचिदनेकार्थतापि न विरुद्ध्यते। यथा प्रजापतिना द् द् द् इत्येकविधेन दकारोपदेशेनैव दाम्यत दत्त दयध्वमित्यभित्यभिप्रायभेदेन देवा मानवा असुराश्च प्रबोधिताः, तथैवाध्यात्माधिदेवाधिभूतादिभेदेनैतिहासिकादिभेदेन चार्थभेदोऽपि नानुचितः, प्रजापतेरिव महर्षीणामप्यभिप्रायभेद-सम्भवात्। अनादिरपौरुषेयो वेद एव तत्तत्प्रजापत्यृष्यादिरूपधरः, क्वचित् क्वचिच्च स्वेन रूपेण तत्तदर्थान् प्रतिपादयति। यदि वेदस्वरूपैर्ब्राह्मणैर्वेदाङ्गैर्व्याकरणनिरुक्तकल्पैर्निर्धारितः सूक्तार्थो मन्त्रार्थश्चासङ्गतः स्यात्तदा वेदाचारविरुद्धजीवनानां पाश्चात्यानां शब्दसाम्येन यत्किञ्चिद् अनुमिन्वानानां हार्दो भावः कथं तात्पर्यतया दृढमूलः स्यात्, स्वजन-श्वजनयोरपि साम्यदर्शनेन शब्दसाम्यस्यार्थावगमाहेतुत्वात्। क्वचिच्छब्दार्थभेदेऽपि तात्पर्याभेदो भवत्येव। शाखाभेदेन क्वचिन्मन्त्रभेदः कर्मभेदश्च भवत्येव। शाखासु क्वचित् परस्परं खण्डनमण्डननिन्दास्तुत्यादिक-मपि दृश्यते, तदपि स्वस्वपक्षनिष्ठादाढर्यायोपयुक्तमेव। श्रुतिद्वैधे विकल्पपक्षोऽप्यनुमत एव। अत एव—'अतिरात्रे

आचार्य जैमिनि समस्त मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के कर्मकाण्ड की मीमांसा करते हैं और बादरायण मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के उत्तर काण्ड की। आचार्य यास्क मन्त्रों के कठिन स्थलों की परम्परा प्राप्त व्याख्या उपस्थित करते हैं। यह प्रसिद्धि है कि मीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी सहस्र शाखा वाले सामवेद को जानते थे। भगवान् शंकर के अवतारभूत शंकराचार्य शबरस्वामी को शास्त्रों के मर्मज्ञ के रूप में बड़े आदर से स्मरण करते हैं। कार्तिकेय के अवतार स्वरूप कुमारिल भट्टपाद और सर्वज्ञकल्प शंकराचार्य पूर्व और उत्तर मीमांसा के प्रसंग में समस्त वेदार्थ की बड़ी सरलता से व्याख्या करते हैं। वस्तुस्थिति के ऐसा होने पर भी मुख्य वेदार्थ का संप्रदाय लुप्त हो गया, इस तरह का कथन सर्वथा असंगत ही माना जायगा। निरुक्त के वृत्तिकार दुर्गाचार्य, उव्वट, सायण, महीधर प्रभृति विद्वान् परम्परा के अनुसार ही वेदार्थ का निरूपण करते हैं। वात्स्यायन की दृष्टि से जो ऋषिगण मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के द्रष्टा हैं और प्रवक्ता हैं, वे ही इतिहास-पुराण आदि के स्मर्ता भी माने जाते हैं। रामायण, महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों और पुराण आदि में भी वेदों की स्पष्ट व्याख्या मिलती है। सामान्य रूप से मन्त्रों और सूक्तों का एक ही तात्पर्य रहता है, तो भी कभी कभी उनके अनेक अर्थ होते हों, इसमें भी कोई विरोध की बात नहीं है। जैसे कि प्रजापति ने एक ही दकार का तीन बार उच्चारण किया, किन्तु देवों, मनुष्यों और असुरों को उसका क्रमशः दम, दान और दया इस तरह से अलग अलग अर्थबोध हुआ। इस तरह से एक मन्त्र का आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक के भेद से अथवा ऐतिहासिक आदि के भेद से अलग अलग अर्थ हो, इसमें भी कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। प्रजापति की तरह महर्षियों का अभिप्राय भी भिन्न भिन्न हो सकता है। यद्यपि वेद अनादि और अपौरुषेय है, तो भी वह प्रजापति, ऋषि आदि का रूप धारण करके ही अभिव्यक्त होता है। ऐसी परिस्थिति में वह कभी कभी अपने अपने स्वरूपभेद के अनुसार अर्थभेद की भी सृष्टि करता रहता है। यदि वेदस्वरूप ब्राह्मण ग्रन्थों, वेदांगों, व्याकरण, निरुक्त और कल्प सूत्रों के आधार पर निर्धारित सूक्तार्थ और मन्त्रार्थ असंगत है, तो वेदाचार के विरुद्ध जीवन बिताने वाले पाश्चात्य विद्वानों का शब्द की समानता को देख कर अनुमान के आधार पर किया गया मनमाना अर्थ किस तरह से संगत माना जा सकता है? समानता तो 'स्वजन' और 'श्वजन' शब्दों की भी है, तो क्या इसके आधार पर अर्थ का निर्णय हो सकता है? कहीं कहीं शब्दार्थ के भिन्न रहने पर भी तात्पर्य में एकता दृष्टिगोचर होती है। शाखा के भेद के अनुसार कहीं कहीं पर मन्त्र का और कर्म का भेद होता ही है। शाखाओं में कहीं कहीं खण्डन-मण्डन, निन्दा-स्तुति आदि भी दिखाई पड़ते हैं, यह भी अपने अपने पक्ष में निष्ठा को दृढ़ करने के लिये आवश्यक है। एक ही विषय पर दो या उससे अधिक श्रुतियों की विद्यमानता में विकल्प पक्ष को भी स्वीकार किया

षोडशिनं गृह्णाति', 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति', 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति, समयाध्युषिते जुहोति' इत्याद्यनेकविकल्पदर्शनम् ।

यत्तु कौत्समतेन नैरुक्तनिर्वचनविज्ञानं व्यर्थमेवेत्युक्तम्, तदसत्, कौत्सरीत्या पाठमात्रेणानर्थका अपि मन्त्रा अदृष्टार्था उपयुज्यन्ते, अतस्तदर्थनिर्वचनायारभ्यमाणमपि शास्त्रं निरर्थकं स्यात् । मन्त्रार्थप्रत्यायनायानर्थकं भवतीति कौत्सः । इत्थं कौत्समतमुपस्थाप्य खण्डितमेव यास्केन । 'तदेतेनोपेक्षितव्यम्' इति । अर्थादुपगम्य वेदं शास्त्रं चेक्षितव्यम्, किमसौ सत्यमाचष्टे वृथा वेति परीक्ष्यम् ? अर्थवत्त्वे मन्त्राणां यद्धेतुज्ञानं वक्ष्यमाणं तदुपगम्यार्थवत्त्वं मन्त्राणामीक्षितव्यम् ।

कया पुनरुपपत्त्या कौत्सो मन्त्राणामानर्थक्यमाहेति तदप्युच्यते—'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्तीति' अर्थान्मन्त्रानर्थक्ये कारणानि नियतवाचोयुक्तयो निरूढवाचोयुक्तयः । अभिधाननियता हि ते मन्त्रा भवन्ति 'अग्न आ याहि वीतये'(ऋ० सं० ६।१६।१०) । न पुनर्विभावसो आगच्छ पानायेति । नियतानुपूर्व्या नियतनिष्ठानुपूर्वी पदप्रयोगस्य, तद्यथा अग्न आयाहीति न पुनर्भवति—आ याह्यग्ने इति । लोकेऽर्थवतां शब्दानामनियमेन पर्यायवचनता दृष्टा, गवादिप्रयोगे तथा न पौर्वापर्यं दृष्टम् । तद्यथा—गोणीमभ्याज गामभ्याज, आहर पात्रं पात्रमाहर, न च तथा मन्त्रेषु । तस्मादर्थवच्छब्दवैधर्म्यादनर्थका मन्त्राः ।

अपरोऽपि हेतुरानर्थक्ये मन्त्राणाम् । कतमो हेतुरित्याह—ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते । 'उरु प्रथस्वेति प्रथयति' । अर्थाद् एते मन्त्रा ब्राह्मणेन हि रूपसम्पन्ना अपि सन्तो विधीयन्ते । रूपं नाम लिङ्गं तेन सम्पन्ना लिङ्गसंयुक्ताः

जाता है । इसी लिये 'अतिरात्र में षोडशी पात्र का ग्रहण करते हैं', 'अतिरात्र में षोडशी पात्र का ग्रहण नहीं करते' इन परस्पर विरुद्ध दो श्रुतियों की विद्यमानता में अथवा उदित, अनुदित अथवा समयाध्युषित होम की विधायक तीन परस्पर विरोधी श्रुतियों की विद्यमानता में दो या अनेक विकल्प स्वीकार किये जाते हैं ।

कौत्स के मत से निरुक्त के द्वारा निर्वचन का ज्ञान व्यर्थ है, यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि कौत्स के मत से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि मन्त्रों का अर्थ न जानकर केवल पाठ करने मात्र से भी अदृष्ट की उत्पत्ति होती है, अतः उसके अर्थ के निर्वचन के लिये प्रारंभ किये गये शास्त्र की इस दृष्टि से निरर्थकता सिद्ध होती है । उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि केवल मन्त्रों के पाठ से ही जब अदृष्ट की उत्पत्ति हो जाती है, तो उसके अर्थ को जानने का प्रयत्न व्यर्थ ही है । इस तरह के कौत्स के मत को उपस्थापित कर निरुक्तकार यास्क ने उसका खण्डन किया है कि 'तदेतेनोपेक्षितव्यम्' । इसका मतलब यह है कि वेद शास्त्र के प्रमाण के आधार पर इस बात की परीक्षा करनी चाहिये कि कौत्स की यह उक्ति ठीक है या नहीं ? मन्त्रों की अर्थवत्ता में आगे हेतु दिये गये हैं, उनके आधार पर मन्त्रों की अर्थवत्ता को स्वीकार करना चाहिये ।

किस युक्ति के सहारे कौत्स मन्त्रों को अनर्थक मानते हैं, यह भी निरुक्त में बताया गया है—नियतवाचोयुक्तयो० इत्यादि । अर्थात् मन्त्र अनर्थक इसलिये होते हैं कि इनमें वचन क्रम निश्चित, रूढ़ि के अनुसार नियत रहता है, ये मन्त्र नियत अभिधान वाले ही रहते हैं, इनमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता । जैसे कि 'अग्न आ याहि वीतये' इस मन्त्र के स्थान पर 'विभावसो आगच्छ पानाय' यह नहीं कहा जा सकता । नियतानुपूर्वी का अर्थ है पद प्रयोग की निश्चित आनुपूर्वी, जैसे कि 'अग्न आ याहि' इसके स्थान पर 'आयाह्यग्ने' ऐसा नहीं हो सकता । लोक में अर्थवान् शब्दों को बिना नियम के रख सकते हैं और उसके पर्यायवाची शब्दों का भी प्रयोग कर सकते हैं । लौकिक गो प्रभृति शब्दों में उच्चारण में पौर्वापर्य देखा जाता है । जैसे कि 'गोणीमभ्याज' के साथ में 'गामभ्याज' और 'आहर पात्रम्' के स्थान में 'पात्रमाहर' ऐसा प्रयोग होता है । यह बात मन्त्रों में नहीं लागू हो सकती । इस तरह से अर्थवान् शब्दों से इनकी समानता न होने से मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं होता ।

कौत्स के मत से मन्त्रों को अनर्थक मानने का एक दूसरा कारण भी बताया जाता है । वह हेतु है—'ब्राह्मणेन रूपसंपन्ना विधीयन्ते—उरु प्रथस्वेति प्रथयति' । इसका अर्थ है कि इन स्वरूपसंपन्न मन्त्रों का विनियोग ब्राह्मण ग्रन्थों से ज्ञात होता है ।

प्रकटलिङ्गा अपि सन्तस्तदविवक्षितं कृत्वा कर्मसु विधीयन्ते। एवं यदि ह्येतेऽर्थवन्तोऽभविष्यन् स्वेनैव लिङ्गेन स्वात्मानमेते विनियोक्तुं समर्था इति कृत्वा न ब्राह्मणेन तेषु तेषु कर्मसु व्यधास्यन्त, विहिताश्च। तद्यथा 'उरु प्रथस्वेति' (श० १।१।६।८) प्रथनलिङ्गो मन्त्रो विहितः प्रथनकर्मणि। 'उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्' (वा० सं० १।२२) यजुरिदं पुरोडाशं प्रत्युच्यते। हे पुरोडाश, त्वं विस्तीर्णप्रथनः सन् विस्तारयात्मानम्। ते तव यज्ञपतिश्चायं यजमानः प्रजापशुहिरण्यादिभिश्चोरु प्रथतां विस्तीर्णताम्। तथा 'प्रोहाणीति प्रोहति' इति ब्राह्मणं द्रोणकलशप्रोहणविधायि। इदमहमात्मानमेव प्राञ्चं प्रोहामि तेजसे ब्रह्मवर्चसायेति। तेजोऽर्थं ब्रह्मवर्चसार्थं चात्मानं प्रोहामि प्राञ्चं प्रेरयामीति 'प्रोहाणीति प्रोहति' इति प्रोहणलिङ्गो विहितः प्रोहणकर्मणि। तस्माल्लिङ्गसम्पन्नविधानात् पश्यामो ब्राह्मणेनानर्थकस्वरूप एव सन् विनियुक्तो मन्त्रः। एवं सति मन्त्रं पुनर्विदधद्ब्राह्मणमर्थवदनर्थका मन्त्राः। नह्यर्थवन्तः सन्तो दासवद् ब्राह्मणेन विधीयेरन्, विहिताश्च। तस्मादनर्थका मन्त्राः। अपि च, ब्राह्मणस्यानर्थक्ये देशकालकर्तृदक्षिणादिकर्माङ्गभूतं कुत उपलभ्येत? तथा च ब्राह्मणस्यानर्थक्ये ह्यभ्युपगम्यमाने वेदैकदेशस्यात्यन्तमेवानर्थकत्वमभ्युपगतं स्यात्। नहि ब्राह्मणस्य विधिस्तुत्यर्थत्वादृतेऽर्थं नास्ति। मन्त्राणां तु वाच्यवाचकत्वेनानर्थकानामपि सतां विनियोगमात्रेणाप्यर्थवत्ता स्यादेव। तस्मात् काममनर्थका मन्त्राः, वाच्यवाचकत्वेन सन्तो विनियोगमात्रेणार्थवन्तः, विधेयत्वात्। विधायकत्वाच्च ब्राह्मणमर्थवदस्त्विति।

अपरोऽपि मन्त्रानर्थकत्वे तत्रैव हेतुरुक्तः। अनुपपन्नार्था ह्येते 'ओषधे त्रायस्वैनम्' (वा० सं० ५।४२)। न चौषधिरात्मानमपि त्रातुं समर्था किमुत वृक्षम्? तथा 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (वा० सं ५।४२) इत्यात्मनैव हिंसनम्।

रूप का अर्थ है लिंग, इससे संपन्न प्रकट लिंग वाले मन्त्रों के अर्थ को अविवक्षित करके प्रत्यक्ष ब्राह्मण श्रुति के आधार पर इनका अन्यत्र विनियोग किया जाता है। यदि ये अर्थवान् होते तो अपने लिंग से स्वयं इनका विनियोग हो सकता था, इस अवस्था में इनका ब्राह्मण वाक्यों के द्वारा उन उन कर्मों में विनियोग क्यों किया जाता? यह तो किया गया है, जैसे कि 'उरु प्रथस्व' इस शतपथ श्रुति से प्रथन लिंग मन्त्र प्रथन कर्म के लिये विनियुक्त हुआ है। 'उरु प्रथस्व' प्रभृति यजुर्मन्त्र पुरोडाश को संबोधित है। हे पुरोडाश, तुम अपना प्रथन अर्थात् विस्तार करो। तुम जो अपना विस्तार करोगे, उससे तुम्हारा यह यजमान भी प्रजा, पशु, हिरण्य प्रभृति से विस्तीर्ण होगा। इसलिये मैं प्रोहण करता हूँ, ऐसा कह कर ऋत्विक् प्रोहण करता है'। इस प्रकार यह ब्राह्मण वाक्य द्रोणकलश के प्रोहण का विधायक है। 'इदमहमात्मानमेव०' इस श्रुति का अभिप्राय है कि तेज अर्थात् ब्रह्मवर्चस के लिये मैं अपने को प्रोहण के लिये प्रेरित करता हूँ। इस तरह से प्रोहण लिङ्ग के विद्यमान रहते हुए भी प्रत्यक्ष शतपथ श्रुति द्वारा इसका पुनः प्रोहण में विनियोग बताया गया है। इस तरह से लिंग से संपन्न मन्त्रों का भी विनियोग ब्राह्मण वचनों से पुनः बताया जाता है, इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मण वाक्यों की दृष्टि में मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं होता, अतः ब्राह्मणों के द्वारा उनका विनियोग बताया जाता है। इस तरह से मन्त्र का पुनर्विधान करने वाले ब्राह्मण के वचनों के प्रमाण से मन्त्रों की अनर्थकता सिद्ध हो जाती है। यदि इनका कोई अर्थ होता जो दास की तरह ब्राह्मण वाक्यों से इनका विनियोग नहीं किया जाता। यह किया गया है, अतः स्पष्ट है कि मन्त्र अनर्थक हैं। अपि च, यदि हम ब्राह्मण वाक्यों को अनर्थक मानें तो देश, काल, कर्ता, दक्षिणा प्रभृति यज्ञांगों की उपलब्धि कहाँ से होगी? इस तरह से ब्राह्मण भाग को अनर्थक मानने पर वेद के एक भाग की अत्यन्त व्यर्थता सिद्ध हो जायगी। विधि की स्तुति के अतिरिक्त ब्राह्मणभाग की दूसरी कोई उपयोगिता नहीं है। मन्त्रों की तो अनर्थकता होने पर भी वाच्यवाचकभाव के आधार पर विनियोग की कल्पना कर लेने से किसी तरह से सार्थकता बन सकेगी। इसलिये मन्त्रों को भले ही अनर्थक मान लिया जाय, वे वाच्यवाचकभाव के आधार पर विनियोग मात्र से अर्थवान् होते हुए भी विधेय ही रहेंगे और उनकी विधायकता के आधार पर ब्राह्मण वाक्य ही वस्तुतः अर्थवान् माने जायेंगे।

मन्त्रों की अनर्थकता में वहाँ एक दूसरा भी कारण बताया गया है कि इन मन्त्रों का कोई अर्थ बन भी नहीं सकता। एक मन्त्र में ओषधि से वृक्ष की रक्षा की प्रार्थना की गई है। ओषधि स्वयं अपनी रक्षा करने में भी असमर्थ है, वह वृक्ष की रक्षा

को हि नामैवमुक्त्वा स्वयमेव हिंस्यादात्मानम् ? हिनस्ति च ? लोके यान्येवंविधानि वाक्यानि उन्मत्तप्रभृतीनां तान्यनर्थकानि। तथैवेमानि, तस्मादनर्थकानि। अपरोऽपि तत्र हेतुः—विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति। अन्यस्य अन्येन विरुद्धार्थेन प्रतिषेधोऽन्यस्य चान्येन विप्रतिषेध इतरेतरव्याघात इत्यर्थः। तद्यथा—'एक एव रुद्रोऽवतस्थे', 'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्' (वा० सं० १६।५४), 'अशत्रुरिन्द्र यज्ञिषे' (ऋ० सं० १०।१३३।२), 'शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः' (ऋ० १०।१०३।१) इत्यादीन्युदाहरणानि। यद्येको नासंख्यातानि सहस्राणि, अथासंख्यातानि नैकः। यद्यशत्रुः कथं शतं सेना अजयत्, अथ शतं सेना अजयत् कथमशत्रुः ? इत्युन्मत्तवाक्यानीवानर्थकानीमानि मन्त्रवाक्यानि।

अपरोऽपि हेतुः—जानन्तं सम्प्रेष्यत्यध्वर्युर्होतारम्—'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' (श० १।३।२।२)। होता हि विधिज्ञ एव भवति, नह्यविद्वान् विहितोऽस्तीति। स विजानात्येवामुष्मिन् विधाविदं मयानुष्ठातव्यमिति। तद्विज्ञातुरस्य सतः सम्प्रेषणमनर्थकमेव भवति। एवम्—'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १।८९।१०)। यैव द्यौः सान्तरिक्षम्, यैव माता स एव पुत्रः, स एव च पितेति परस्परासम्बद्धमुच्यते। तस्मादनर्थका मन्त्राः। अम्यग् यादृश्मिन् जारयायि काण्डवेति एवमादयः। न ह्येतेषां विस्पष्टार्थता। न च केचिदर्थवन्तः केचिदनर्थका इति न्याय्यम्, अर्धवैशसं हि स्यात्। तस्मात् सर्व एवानर्थका मन्त्रा इत्येतत्कौत्समतमविज्ञायैव मैकडानलराथप्रभृतिभिः प्रलपितम्।

यास्केन च न केवलम्—'नह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' इत्येवोत्तरितम्, किन्तु तादृशं पूर्वपक्षमुपस्थाप्योपपाद्य च अर्थवन्तः शब्दसामान्यादेतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति

क्या करेगी ? इसी तरह से स्वधिति से अपनी हिंसा न करने की प्रार्थना की गई है। ऐसा कौन है जो कि इस तरह से कह कर स्वयं अपनी हिंसा कर ले, किन्तु यहाँ ऐसा विधान है। लोक में इस तरह के वाक्यों का प्रयोग पागल व्यक्ति ही कर सकता है और उनको अनर्थक माना जाता है। उसी तरह के ये वाक्य भी अनर्थक ही माने जायेंगे। मन्त्रों की अनर्थकता में एक दूसरा भी कारण है कि इनमें परस्पर विरोधी बातें कही गई है। एक मन्त्र दूसरे मन्त्र में प्रतिपादित बात का निषेध करता है और इस तरह से ये परस्पर व्याहत हो जाते हैं। जैसे कि एक मन्त्र में कहा गया है कि रुद्र एक ही है, दूसरा मन्त्र कहता है कि रुद्र असंख्य हैं; एक मन्त्र में बताया जाता है कि इन्द्र का कोई शत्रु नहीं है, इसके विपरीत दूसरा मन्त्र इन्द्र के सौ सेनाओं के जीतने की बात करता है। इस तरह के परस्पर विरोधी उदाहरण और भी दिये जा सकते हैं। यहाँ पर यदि रुद्र एक है, तो वह असंख्य सहस्र संख्या वाला नहीं हो सकता और यदि असंख्य रुद्र माने जाते हैं तो फिर वह एक कैसे माना जायगा। यदि इन्द्र के कोई शत्रु नहीं है तो सौ सेनाओं पर विजय पाने की बात का क्या तुक है ? अब यदि वह सेनाओं पर विजय प्राप्त करता है, तो शत्रुरहित कैसे माना जा सकता है ? इस तरह से उन्मत्त (पागल) के वाक्यों की तरह ये मन्त्र-वाक्य भी अनर्थक हैं।

मन्त्रों की अनर्थकता में एक दूसरा भी कारण बताया गया है—अध्वर्यु सब बातों से सभी तरह से जानकार होता को बताता है कि समिध्यमान अग्नि की तुम स्तुति करो। होता यज्ञ की सारी विधि को जानने वाला ही होता है, अविद्वान् व्यक्ति को होता के रूप में नहीं रखा जाता। वह जानता है कि अमुक विधि में मुझे अमुक-अमुक कर्मों का अनुष्ठान करना है। जो पहले से सब बातें जानता है, उसको पुनः उन्हीं बातों के लिये कहना व्यर्थ ही है। इसी तरह से एक मन्त्र में अदिति को द्यौ और अन्तरिक्ष भी बताया गया है। जो अदिति द्योस्थानीय है वह अन्तरिक्षस्थानीय कैसे हो सकती है ? इसी तरह से जो अदिति माता है, वही पुत्र या पिता कैसे हो सकती है ? ये सब परस्पर विरोधी बातें मन्त्रों में वर्णित हैं। इसलिये इन मन्त्रों को अनर्थक ही मानना पड़ेगा। अम्यग्, यादृश्मिन्, जाययामि, काण्डवेति—इस तरह के अनेक शब्दों का अर्थ स्पष्ट नहीं है। कुछ शब्दों को अर्थवान् तथा कुछ को निरर्थक मानना उचित नहीं होगा, क्योंकि यह तो अर्धजरतीय न्याय का अनुसरण करना माना जायगा, जो कि अनुचित है। इसलिये सभी मन्त्र अनर्थक हैं। कौत्स के इस मत को इस तरह से निरुक्तकार यास्क ने विस्तार से पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत किया है। लगता है मैकडानल, राथ प्रभृति विद्वानोंने इस विस्तृत पूर्वपक्ष को और निरुक्तकार यास्क के द्वारा दिये गये उसके विस्तृत उत्तर को देखे बिना ही उन पर आक्षेप कर दिया है।

यास्क ने केवल 'नह्येष स्थाणोरपराधो०' इतना ही उत्तर नहीं दिया है, किन्तु उपर्युक्त विस्तृत पूर्वपक्ष को उपस्थापित कर उनके प्रत्येक तर्क का उत्तर भी दिया है—'अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्०' इत्यादि। यहाँ पर 'अर्थवन्तः शब्दाः' यह प्रतिज्ञा वाक्य

च ब्राह्मणमित्यादिभिरुत्तरितम्। तथाहि—अर्थवन्तो मन्त्रा इति प्रतिज्ञा, शब्दसामान्यादिति हेतुः। समान एव हि शब्दो लोके मन्त्रेषु च। तद्यथा य एव गोशब्दो लोके स्वरसंस्कारसंयुक्तः सन् स एव मन्त्रेष्वपि। तथा च स एवार्थवांल्लोके स एव चानर्थको मन्त्रेष्विति विशेषहेतुर्नास्ति। असति च विशेषहेतावर्थवन्त एव मन्त्राः शब्दसामान्यादिति।

यत्तु प्रयोगानियमाल्लोकेऽर्थवत्त्वम्, प्रयोगनियमाच्च मन्त्राणामानर्थक्यमिति, तदपि न, पितापुत्रौ इन्द्राग्नी इति प्रयोगनियमदर्शनात्। यत्तु ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्तेऽतोऽनर्थका मन्त्रा इत्युक्तम्, तदप्ययुक्तम् 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति' (गोपथब्राह्मणे २।२।६, २।४।२) इति रीत्या एतदेव हि कर्मसमृद्धं भवति यज्ञस्य कर्मणो यद्रूपसमृद्धं मन्त्रलिङ्गैरभिधीयते। तदेवमिह समस्तऋद्ध्या युक्तं भवति नान्यत्। तदेव स्पष्टयति—यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वा वदति। तथा च शब्दसामान्याद् ब्राह्मणप्रामाण्याच्चार्थवन्तो मन्त्राः। ब्राह्मणमपि मन्त्राणामर्थवत्त्वं दर्शयति—अनर्थका हि कथं कर्माभिवदेयुः? कथं चानभिवदन्तः समर्धयेयुः। अर्थवत्त्वं चाभ्युपगतं भवता ब्राह्मणस्य। अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्त इति, ब्राह्मणेन सिद्धमेवार्थवत्त्वमुक्तं मन्त्राणाम्। किं पुनः समृद्धरूपत्वे मन्त्राणामुदाहरणमिति, तत्रोच्यते—'क्रीडन्तो पुत्रैर्नप्तृभिरिति इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥' (ऋ० सं० १०।८६।४२)। सूर्याया आर्षम्, विवाहे विनियुक्ता अनुष्टप्। इहैव स्तं भवतं युवाम्। स्वे गृहे मोदमानौ मा वियौष्टं मा च वियुज्यतम्। सर्वमायुर्व्यश्नुतं क्रीडन्तौ पुत्रैश्च सहेत्याशीराशास्यते। अनेन मन्त्रेण विवाहकर्मण ऋद्धियुक्तता भवति। परपक्षहेतवश्च निराक्रियन्ते। नियतवाचोयुक्तित्वं नियतानुपूर्व्यं च लौकिकेष्वपि वाक्येषु दृष्टमेव। यथा इन्द्राग्नी.पितापुत्राविति च। अतः प्रयोगनियमादनर्थका मन्त्रा इत्यनैकान्तिको हेतुः। यदुक्तम्—ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्त इति, उदितानुवादः स भवति। नासमर्था

हैं, शब्दसामान्यात् यह हेतु है। लोक और मन्त्र में विद्यमान शब्द एक सरीखे हैं। जैसे कि लोक में विद्यमान गो शब्द ही स्वर से संस्कृत होकर मन्त्र में प्रयुक्त होता है। ऐसी अवस्था में एक ही गो शब्द लोक में अर्थवान् होगा और वेद में अर्थवान् नहीं होगा, इसमें कोई विशेष कारण नहीं प्रतीत हो रहा है। विशेष कारण के न रहने पर मन्त्रों को अर्थवान् ही माना जायगा, क्योंकि उनमें भी सामान्य रूप से लौकिक शब्द ही हैं।

प्रयोग की नियतता न रहने से लौकिक शब्दों की अर्थवत्ता और प्रयोग की नियतता रहने से मन्त्रों की अनर्थकता की बात इसलिये गलत है कि लौकिक प्रयोगों में भी अनेक स्थलों पर, जैसे कि पितापुत्रौ, इन्द्राग्नी इत्यादि स्थलों में यह प्रयोग की नियतता देखी जाती है। ब्राह्मण वाक्यों के द्वारा मन्त्रों का विनियोग बताये जाने से भी मन्त्रों की अनर्थकता की बात इसलिये गलत है कि 'एतद्यज्ञस्य०' इत्यादि गोपथ ब्राह्मण के वचन के अनुसार वही कर्म समृद्ध माना गया है, जिसका कि स्वरूप मन्त्रों के आधार पर निर्धारित होता है। वही समस्त ऋद्धियों से युक्त होता है, दूसरा नहीं। 'यत्कर्म क्रियमाण०' इत्यादि वाक्य से इसी को स्पष्ट किया जाता है। इस तरह से शब्दसामान्य हेतु के आधार पर और ब्राह्मण वचन के प्रमाण से भी मन्त्रों को अर्थवान् ही मानना पड़ेगा। ब्राह्मण भी मन्त्रों की अर्थवत्ता को बताते हैं, क्योंकि यदि मन्त्र अनर्थक होंगे तो उनमें कर्मों का प्रतिपादन कैसे माना जायगा? यदि कर्मों का प्रतिपादन नहीं करते तो उनको समृद्ध कैसे कर पावेंगे? आप ब्राह्मण वाक्यों की अर्थवत्ता को स्वीकार करते हैं। ब्राह्मण मन्त्रों की रूपसंपन्नता का विधान करते हैं, इस तरह से ब्राह्मण वाक्य मन्त्रों की स्वतःसिद्ध अर्थवत्ता को बताते हैं। मन्त्रों की समृद्धरूपता का उदाहरण क्या है? इसका उत्तर है—'क्रीडन्तो पुत्रैर्नप्तृभिरिति०' इत्यादि। यहाँ पर उद्धृत मन्त्र की ऋषि सूर्या है, इस मन्त्र का विनियोग विवाह में है, छन्द अनुष्टुप् है। इसका अर्थ है—'तुम दोनों यहीं रहो, अपने घर में प्रसन्नतापूर्वक रहते हुए तुम दोनों का कभी वियोग न हो। तुम दोनों की सारी आयु पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलते हुए बीते'। इस प्रकार से इस मन्त्र में आशीर्वाद की आकांक्षा की जाती है। इस मन्त्र से विवाह कर्म ऋद्धिसंपन्न होता है। इस तरह से इन सबकी सहायता से कौत्स के अपने पक्ष में दिये गये कारणों का, तर्कों का खण्डन हो जाता है कि नियत वाचोयुक्ति और नियत आनुपूर्वी लौकिक वाक्यों में भी दिखाई देती है, जैसे कि इन्द्राग्नी, पितापुत्रौ इत्यादि स्थलों में। अतः 'प्रयोगनियमात्' इस हेतु के आधार पर मन्त्रों की अनर्थकता इसलिये सिद्ध नहीं होगी कि उक्त हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास से ग्रस्त है, क्योंकि उक्त नियम एकान्ततः वैदिक मन्त्रों में ही न रहकर

आत्मानमेते स्वेन रूपेण विधातुमित्यतो ब्राह्मणेन विधीयन्ते, किन्तर्हि—आत्मनियोगाश्रयमुक्तमेव सन्तं मन्त्रेणार्थं ब्राह्मणमनुवक्ति विस्तरेण प्रकृतार्थसंतुष्टूषया, नह्यनुक्तं स्तोतुं शक्यते। सोऽयमुदितानुवाद एव भवति। अपि चानेके समानलिङ्गा मन्त्राः प्रकरणे भवन्ति। ते ह्यहंपूर्विकयैकं प्रयोगं प्रति खलेकपोतन्यायेन युगपत् सम्पतन्ति। तेषां समुच्चये विकल्पे च प्राप्तेऽभिमत एको नियमार्थं ब्राह्मणेन विधीयते। एवमुभयोर्मन्त्रब्राह्मणयोरर्थवत्वं सम्पद्यते।

यदुक्तम्—'ओषधे त्रायस्वैनम्', 'स्वधिते मैनं हिंसीः' एवमादयो मन्त्रा अनुपपन्नार्था इति, तत्रोच्यते—हे ओषधे, त्रायस्वैनं त्वत्पूर्वको ह्येष वृक्षश्छिद्यमानः सम्यक्छिन्नो भविष्यति। ततश्च यज्ञे विनियुक्तो विशिष्टमुत्कर्षमेतस्मात् स्थावरात् प्राप्स्यत इत्येवात्र त्राणमभिप्रेत्योक्तमोषधे त्रायस्वैनमिति। न छेदनं प्रतिपत्स्यतेऽयं तस्मादुपपन्न एवार्थः। यदपि चोक्तम्—स्वधिते मैनं हिंसीरिति, तत्राप्याह—आम्नायवचनादहिंसा एषा प्रतीयते। कथमहिंसा प्रत्यक्षतो हि छिद्यते वृक्षः? शृणु—इयमहिंसेयं हिंसेत्यागमादेव प्रतीयते। प्रतिविशिष्टश्चायमेव वैदिक आम्नाय आगमः, एतत्पूर्वकत्वादन्यागमानाम्। स एव कृत्स्नस्य जगतः प्रतिविशिष्टाय श्रेयसेऽभ्युद्यतः सन् हिंसायां विनियोक्ष्यत इति कुत एतत्। तस्मान्नूनमियमहिंसैव यतोऽस्यां नियुनक्ति कर्तारम्। तदेतदागमप्रत्यक्षमेव यथेयमहिंसेति। अपि चैतदोषधिवनस्पतिपशुमृगपक्षिसरीसृपाः सम्यगुपयुक्ताः सन्तो यज्ञे परमुत्कर्षं प्राप्नुवन्ति, सोऽयमभ्युदय एव सम्पद्यते, न हिंसा तत्र, यदुक्तं मैनं हिंसीरिति। हिंसन्नपि नह्यसौ हिनस्ति, किं तर्हि अनुगृह्णाति यज्ञविनियोगार्थविधानतश्छिन्दन्। तस्मादुपपन्नार्था मन्त्रा इति।

लौकिक वाक्यों में भी रहता है। 'ब्राह्मणेन रूपसंपन्ना विधीयन्ते' यह उत्तर भी इस तरह से दिया गया है कि इसको उदितानुवाद कहा जाता है। ये मन्त्र अपने अर्थ को स्वरूपतः बताने में असमर्थ हैं, ऐसा मान कर ब्राह्मण वाक्यों के द्वारा इनका विनियोग विहित नहीं होता, किन्तु मन्त्र के द्वारा अपने से अपने विनियोग को बता देने के बाद भी ब्राह्मण वाक्य उसकी प्रशंसा आदि के साथ पुनः उसके विनियोग को विस्तार से बताते हैं। अनुक्त अर्थ की स्तुति नहीं की जा सकती। इस तरह से ब्राह्मण वाक्यों में बताया गया विनियोग मन्त्र द्वारा प्रतिपादित अर्थ की प्रशंसा के लिये किया गया उदितानुवाद, पहले कही गई बात को स्थूणानिखनन न्याय से पुष्ट करने के लिये पुनः कहना मात्र है। अनेक समान लिंग के मन्त्र प्रकरण में विद्यमान रहते हैं। उन सबको किसी एक प्रयोग में एक साथ अहंपूर्विका प्रवृत्ति होती है। उनको एक साथ ग्रहण किया जाय अथवा विकल्प पूर्वक? इस तरह की समस्या उपस्थित होने पर एक अभिमत अर्थ का नियमन ब्राह्मण वाक्यों से किया जाता है। इस तरह से मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग दोनों की समान रूप से अर्थवत्ता संपन्न होती है।

यह कहना कि औषधि और स्वधिति को संबोधित मन्त्रों का अर्थ किसी तरह से संगत नहीं हो सकता, इसलिये गलत है कि इसका अभिप्राय यह है कि हे ओषधि, इस वृक्ष की तुम रक्षा करो, तुम्हारे साथ इस वृक्ष को काटने से यह अच्छी तरह से कटेगा और तब यज्ञ में इसका विनियोग विशिष्ट उत्कर्ष की सिद्धि में सहायक होगा। इसी अभिप्राय में यहाँ पर त्राण शब्द को मान कर ओषधि से त्राण करने की बात कही गई है। इस तरह से वृक्ष का छेदन न होने से ओषधि से वृक्ष के त्राण की बात ठीक ही है। 'स्वधिते मैनं हिंसि' इस वेद वाक्य पर जो आपत्ति उठाई गई है, उसका उत्तर इस प्रकार से है—यहाँ पर शास्त्र के प्रमाण पर अहिंसा मानी जाती है। प्रश्न उठता है कि जब प्रत्यक्षतः वृक्ष का छेदन होता है, तो इसको अहिंसा कैसे माना जायगा? उत्तर है कि यह अहिंसा है, यह हिंसा है, इसका बोध आगम से ही होता है। अन्य प्रत्येक आगम को अपेक्षा यह वैदिक आम्नाय ही सर्वश्रेष्ठ है, अन्य आगमों की प्रवृत्ति इसका प्रामाण्य मान कर ही होता है। जो शास्त्र समस्त जगत् को विशिष्ट कल्याण के लिये प्रवृत्त करता है, वह व्यक्ति को हिंसा में कैसे प्रवृत्त करेगा। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि जिस कार्य में वेद किसी की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है, वह हिंसा नहीं हो सकती। अतः यह आगमसिद्ध अहिंसा मानी जायगी। एक बात और भी है कि ओषधि, वनस्पति, पशु, मृग, पक्षी, संरीसृप का यदि यज्ञ के लिये उपयोग होता है, वे परम उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं। इससे यहाँ पर उनका अभ्युदय सिद्ध होता है। इसमें हिंसा का कोई प्रश्न ही नहीं है। यहाँ पर हिंसा के निषेध की जो बात कही गई है, उसका अभिप्राय यह है कि यहाँ हिंसा होते हुए भी वह हिंसा नहीं कही जायगी, किन्तु यज्ञ को संपत्ति के लिये विधिपूर्वक किया गया छेदन उस पर अनुग्रह ही माना जायगा। इस तरह से यह कथन सर्वथा असंगत है कि मन्त्रों के अर्थ को उपपत्ति नहीं बन सकती।

यदुक्तम्—'विप्रतिषिद्धार्था मन्त्रा' इति, तदपि न, 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे', 'असंख्याताः' इति नैष विप्रतिषिद्धोऽर्थः। देवता हि माहाभाग्ययोगादेकापि सतो अनेकधा भवति। अनेकोऽपि चैकधा भवति, माहाभाग्याद्देवतायाः' (नि० ७।४)। यदपि 'अशत्रुरिन्द्र', 'शतंसेना अजयत् साकमिन्द्रः' इति विप्रतिषिद्धार्थतेति, तदप्ययुक्तम्, लौकिकेष्वप्यर्थवत्सु वाक्येषु तथा प्रयोगदर्शनात्। असपत्नोऽयं ब्राह्मणोऽनमित्रोऽयं राजेति। नहि कश्चिदसपत्नो भवति लोके। 'मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः। उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः॥' इति, तथापि स्वल्पसपत्नत्वादसपत्नोऽयमित्युच्यते। एवमेव कस्मिंश्चिदतिप्रवृद्धे संशातिते मेघेऽन्येषामसारतामभिप्रेत्येदमुक्तम् 'अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे' यस्त्वमेतमेवमतिप्रवृद्धमहन्नहिमिति। यदुक्तं शतं सेना अजयद् इत्यनेन विरोधः, नहीन्द्रस्य शत्रवः सन्ति कुतः पुनः शतं सेना या जेतव्या इति, तत्रोच्यते—रूपककल्पनयैवैषा युद्धप्रवादा स्तुतिः। वक्ष्यति हि—'अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति' (नि० २।१६) इति। तदेतन्न भवता दृश्यते, सम्यगन्विष्यतां देवतासतत्त्वं नैरुक्तेभ्यस्ततो मन्त्रार्थानविरोधेन सम्यगवभोत्स्यते। नैगमवाक्यतत्त्वज्ञेन मन्त्रार्थोऽवगाहितुं शक्यः। तस्मादर्थवन्तो मन्त्राः।

यदुक्तं जानन्तं सम्प्रेष्यतीति, तदपि यत्किञ्चित्, लौकिकेष्वर्थवत्सु शब्देष्वप्येवं स्वाभाव्यदर्शनात्। यथा जानन्तं गुरुमभिवादयते स्वगोत्रमभिवदन्। तथा जानते मधुपर्कं प्राह त्रिर्मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः' (आश्वलायनगृह्यसूत्रे १।२४।७)। तदेतदर्थवत्सु लौकिकेष्वपि वाक्येषु विहितार्थख्यापनार्थशब्दसामान्यादर्थवन्तो मन्त्राः। अथाप्याह—अदितिः

मन्त्रों में परस्पर विरोधी बातें हैं, यह कथन भी इसी तरह से असंगत है। एक ही रुद्र है और असंख्य रुद्र हैं, इसमें परस्पर विरोध की कोई बात नहीं है, क्योंकि देवता अपनी महान् ऐश्वर्य शक्ति के आधार पर एक होते हुए भी अनेक रूप धारण करते रहते हैं और आवश्यकतानुसार अनेक से पुनः एक स्वरूप में ही लीन हो जाते हैं। इन्द्र के शत्रुरहित होने और सैकड़ों सेनाओं को जीतने की बात को लेकर मन्त्रों पर परस्पर विरोधी बातों के प्रतिपादन का जो आक्षेप किया जाता है, वह भी अयुक्त है, क्योंकि लौकिक अर्थवान् वाक्यों में भी इस तरह का व्यवहार देखा जाता है। जैसे कि—इस 'ब्राह्मण का कोई शत्रु नहीं है, इस राजा का कोई मित्र नहीं है'। लोक में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं मिलेगा, जिसका कि कोई शत्रु न हो। कहा गया है कि—'वन में एकान्त में रहकर अपने काम में ईश्वराराधन, तपस्या आदि में लगे हुए तपस्वी के लिये वन में भी मित्र, शत्रु और उदासीन ये तीन पक्ष उठ खड़े होते हैं'। इस परिस्थिति में जिसके शत्रु कम हो, उसको 'असपत्न' कहा जाता है। इसी तरह से किसी अत्यन्त प्रभावशाली मेघ की अपेक्षा अन्य मेघों की असारता को देखकर यह कहा गया है कि हे इन्द्र, अब तुम्हारा कोई शत्रु नहीं है, क्योंकि तुमने अपने प्रबल शत्रु को मार डाला है। सैकड़ों सेनाओं को जीतने की बात में भी कोई विरोध नहीं है। जब इन्द्र के कोई शत्रु नहीं है तो सेनाओं को जीतने की बात का क्या तुक हैं? अतः इसका अभिप्राय यह है कि रूपक की कल्पना के आधार पर यहाँ पर इन्द्र की स्तुति की गई है। निरुक्त में आगे बताया गया है कि जल और तेज के संयोग से वृष्टि होती है। इस वृष्टि की तुलना युद्ध से करके इन्द्र की स्तुति की जाती है कि जैसे कोई पराक्रमी राजा अपनी सेनाओं की सहायता से सारे शत्रुओं को आच्छादित कर देता है. निस्तेज कर देता है, उसी तरह से इन्द्र अपनी मेघ रूपी, वृष्टि रूपी सेनाओं की सहायता से सबको आच्छादित कर देता हैं। इस अभिप्राय तक आप पहुँच नहीं पाते। निरुक्त वचनों की सहायता से आप देवता के वास्तविक स्वरूप को पहचानिये, तब आपको मन्त्रों के अर्थ में कोई परस्पर विरोध नहीं दिखाई पड़ेगा। निगम वाक्यों के तत्त्व को जानने वाला ही मन्त्रों के अर्थ को ठीक से समझ सकता है। अतः सभी मन्त्र अर्थवान् हैं।

जानकर व्यक्ति को ही पुनः उसी कर्म में प्रवृत्त कराने का जो आक्षेप है, उसमें भी कोई दम नहीं है, क्योंकि इस तरह का स्वभाव लौकिक अर्थवान् वाक्यों में भी देखा जाता है। जैसे कि गुरु शिष्य का नाम जानते हैं, तो भी उनको अभिवादन करते समय अपना नाम बताने की परम्परा है। इसी तरह जिसको मधुपर्क दिया जाता है, वह इस बात को जानता है, कि मुझे मधुपर्क दिया जा रहा है, तो भी मधुपर्क देते समय 'मधुपर्क' शब्द के तीन बार उच्चारण करने की परम्परा है। इस तरह से लौकिक अर्थवान् वाक्यों में भी

सर्वमिति, तत्राप्युच्यते। द्विविधा शब्दवृत्तिः—मुख्या गौणी च। मुख्यासम्भवे गौण्याश्रीयते स एव भक्तिवादः स्याद् अदितिः सर्वमिति । यथा कश्चिदनेकोपकारे प्रवृत्तं ब्रूयात् त्वमेव मे माता त्वं पिता, एवमेतदपि । यथा वा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयमिति व्यवह्रियते, ततस्तेषां प्रभवत्वादेवमिहापि। यत्पुनरुक्तम्—अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्तीति नैष स्थाणोरपराध इति, नह्यत्र स्थाणुरपराध्यति यदेनं स्थाणुमन्धो न पश्यति । एवमिहापि नैष मन्त्राणामपराधो यदशिक्षितेन भवता न विज्ञायन्ते मन्त्रार्थाः । किञ्च, नहि पूर्वपक्षे तथा कौत्समतोपन्यासेन निरुक्तविज्ञानस्य व्यर्थत्वं सिद्धयति, पूर्वोत्तरमीमांसयोः सर्वत्राधिकरणेषु पूर्वपक्षोपन्यासस्याधिकरणाङ्गत्वेनानिवार्यत्वात् । न च तावता पूर्वपक्षस्योपादेयता सिद्धयति ।

यदपि नासत्यौ इत्यत्र सत्यं मिथ्या नेत्यादिपक्षा उपस्थापिता इति, तदपि न युक्तम्, 'नासत्यौ चाश्विनौ सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः, सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रायणः, नासाप्रभवौ बभूवतुरिति वा' (नि० ६।१३) इति विरोधात् । तत्रायमभिप्रायः—'ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमाः सधस्थं विश्वे अभि सन्ति देवाः । ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरन्धिम् ।।' (ऋ०सं० ७।३९।४)। वशिष्ठस्यार्षम्, वैश्वदेवी । ते ये विश्वेदेवा यज्ञेषु यज्ञियासः यज्ञसम्पादिनः ऊमा अवितारः रक्षितारः अवनीया वा तर्पणीया वा सधस्थं वैश्वदेवं समानं स्थानमभितिष्ठन्ते, तान् विश्वेदेवान् हे अग्ने, एतस्मिन्नध्वरे यज्ञे उशतः स्वमंशं कामयमानान् श्रुष्टी क्षिप्रम् अविलम्बमानो यक्षि यज, भगं च यज, नासत्यौ अश्विनौ च यज, पुरन्धिं च यज । एवमत्र यागस्य विघ्नभयात् क्षिप्रस्येष्टत्वात् श्रुष्टीति क्षिप्रनामेत्युपपद्यते । तत्र सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभो मन्यते । तौ हि सत्यमेव ब्रूतो न कदाचिदसत्यमिति । तस्मान्नासत्यावित्युच्यते । द्विः प्रतिषेधः प्रकृतिदार्ढ्यमापादयति । अथवा सत्यस्योदकस्य प्रणेतारौ नासत्यौ इत्याग्रायण आचार्यो मन्यते । अथवा ऐतिहासिकपक्षेण नासिकाप्रभवौ तौ बभूवतुः ।

विहित अर्थ के ही पुनः ख्यापन की बात देखी जाती है, अतः इस समानता के आधार पर वैदिक मन्त्रों को भी अर्थवान् ही माना जायगा । 'अदिति ही सब कुछ है' यह श्रुति वाक्य पर भी आपत्ति उठाई जाती है। इसका उत्तर यह है कि शब्द की मुख्य और गौण—दो तरह की प्रवृत्ति होती है । मुख्य प्रवृत्ति के अभाव में गौणी वृत्ति का सहारा लिया जाता है। इसी को भक्तिवाद कहा जाता है कि अदिति ही सब कुछ है । जैसे कोई व्यक्ति अपने ऊपर अनेक उपकार करने वाले व्यक्ति को 'आप ही मेरे माता-पिता हैं' इस तरह के वाक्यों का प्रयोग करता है, अथवा जैसे कहा जाता है कि जल से ही सब रसों की प्राप्ति होती है, क्योंकि उनकी उत्पत्ति जल से ही होती है, उसी तरह का गौण प्रयोग 'अदितिः सर्वम्' यह भी है। मन्त्रों के अर्थ के विस्पष्ट न होने की बात भी गलत है, इसी का निरुक्तकार ने उत्तर दिया है—नैष स्थाणोरपराध इति । यह स्थाणु का अपराध नहीं है कि उसको अन्धा नहीं देख पाता । इसी तरह से यह मन्त्रों का अपराध नहीं है कि अपने अज्ञान के कारण आप मन्त्रों का अर्थ नहीं जान पाते । अपि च, पूर्वपक्ष के रूप में इस तरह से कौत्स के मत का उल्लेख मिलने से निरुक्त के विज्ञान की व्यर्थता नहीं सिद्ध हो सकती । पूर्व और उत्तर मीमांसा में सभी अधिकरणों में पूर्वपक्ष का उपन्यास अनिवार्य अङ्ग के रूप में किया जाता है । इससे यह नहीं सिद्ध हो जाता कि पूर्वपक्ष भी उपादेय है ।

'नासत्यौ' इस शब्द की व्युत्पत्ति के लिये अनेक पक्षों को उपस्थापित करने वाला आक्षेप भी सही नहीं है । निरुक्त में यहाँ पर तीन पक्ष बताये गये हैं--और्णवाभ नाम के आचार्य का कथन है कि अश्विनीकुमार नामक युगल देव असत्य नहीं, सत्य ही है । आग्रायण आचार्य का मत है कि ये सत्य के प्रणेता हैं, अथवा इस शब्द की व्युत्पति यह भी हो सकती है कि इनकी उत्पत्ति नासिका से हुई है । इसका वास्तविक अभिप्राय यह है—'ते हि यज्ञेषु०' इस ऋङ् मन्त्र के ऋषि वसिष्ठ हैं और विश्वदेव देवता हैं । इस मन्त्र का अर्थ है कि जो विश्वदेव यज्ञों का संपादन करते हैं, उनकी रक्षा करते हैं, अथवा उनके माध्यम से जो तर्पणीय हैं और जो समान स्थान में निवास करते हैं, उन विश्वेदेवों को हे अग्ने, तुम इस यज्ञ में अपने-अपने अंशों को चाहने पर विना विलम्ब किये उनकी सहायता करो, तुम भग, नासत्य और पुरन्धि की सहायता करो । इस तरह से यहाँ पर यज्ञ में विघ्न के भय से क्षिप्रता अभीष्ट है, अतः 'श्रुष्टि' यह क्षिप्रता का पर्यायवाची शब्द माना जाता है, यहाँ पर 'और्णवाभ' ऋषि का कहना है कि 'नासत्यौ' नामक युगल देवता सदा सत्य बोलते हैं, असत्य कभी नहीं बोलते, इसीलिये इनका यह नाम पड़ा है । किसी बात का दो बार प्रतिषेध उसकी दृढ़ता का सूचक माना जाता है । अथवा सत्य उदक का पर्यायवाची है । आग्रायण आचार्य का मत है कि 'नासत्यौ' उदक के प्रणेता देवयुगल हैं । अथवा

यदपि च—'सकलोपलब्धसामग्रीवलाद् यास्कोऽनेकान् गूढानर्थानुद्घाटयितुं सक्षमोऽभूत्, यांश्चावगन्तुं सायणो न क्षमो वभूव' इति, तदपि तुच्छम्, यास्कस्य सायणपूर्वभावित्वेन तदानीं तादृशार्थानां यास्केन समाहितत्वात्, सायणसमक्षे तत्समस्याया एवाभावात्। यदपि—'सायणेनानेकस्थलेषु यास्कोक्तार्थाद्भिन्नोऽप्यर्थः कृतः। तादृशार्थमवलोक्य प्रश्न उदेति किं प्राचीनाचार्यैः पारम्पर्यं नानुसृतम् ? अनेकेषु स्थलेषु यास्काश्रयमन्तरेणैकस्मिन् प्रकरणे प्रकरणान्तरे वाऽनेकेऽर्थाः कृताः। ते च परस्परमसङ्गताः प्रतीयन्ते। यथा शारदपदस्यैकत्र एकवर्षावरुद्धोऽर्थः कृतोऽन्यत्राभिनवोऽर्थः कृतः, तृतीयस्थले शरन्नामकराक्षससम्वद्धोऽर्थोऽभिप्रेतः। वस्तुतस्तु सायणस्यायं महान् दोषो यत्स उपस्थितं मन्त्रमभिलक्ष्य शब्दार्थं कर्तुं प्रयतते। एवं सायणभाष्यं यास्कीयनिर्वचनं च सूक्ष्मेक्षिकया पर्यालोच्येत तदा स्पष्टमाभाति यदृग्वेदेऽनेकानि विषमपदान्येवंविधानि सन्ति येषां समुचितोऽर्थ उभाभ्यामपि कर्तुं नापारि, तेनोभयोरपि पारम्पर्यव्युत्पत्त्योर्यथार्थज्ञानं नासीदिति। अतः सूक्तेष्वप्रचलितानि दुर्वोधानि तादृशानि कानिचिदपि स्थलानि न सन्ति, यत्र भाष्यकाराणां मतं निर्णायकं स्यात्, यावत्प्रकरणवशात् समानान्तरसूक्तैर्वा तत्पुष्टिर्न स्यात्' इति, तदपि न किञ्चित्, पौर्वापर्यप्रकरणात् प्रमाणान्तरसंवादाच्चार्थावधारणस्यादोषत्वात्। अनेकार्थसम्भवादेव तात्पर्यनिर्धारणायोपक्रमोपसंहारादितात्पर्यनिर्धारकषड्विधलिङ्गविचारापेक्षा भवति। सायणः प्रायेण ब्राह्मण-सूत्र-निरुक्तानुसारेणैव मन्त्रान् व्याख्याति। सति प्रमाण एव यास्कोक्तातिरिक्तार्थमपि व्याख्याति। शारदपदस्य तु प्रकरणानुसारेण भिन्नार्थता न दोषाय। सैन्धवपदस्य प्रकरणानुरोधेनैव क्वचिल्लवणं क्वचिदश्वोऽर्थो गृह्यत एव। न केवलं सायण एव, किन्तु सर्वोऽपि जन उपस्थितं पदं वा वाक्यं वाभिलक्ष्यार्थमन्वेष्टि। श्रुतिपारम्पर्य-व्याकरण-निरुक्त-निघण्टु-कल्पादय एव मन्त्रार्थगवेषणामूलानि। यद्यपि परमेश्वरीयवेदस्य वास्तवमर्थं परमेश्वर एव जानाति, तथापि

ऐतिहासिक पक्ष से तीसरी व्याख्या इस शब्द की यह है कि इस देव युगल की उत्पत्ति नासिका से हुई है। अतः इन पक्षों में कोई परस्पर विरोध नहीं दिखाई पड़ता।

'सकल उपलब्ध सामग्री के बल पर यास्क अनेक गूढ शब्दों का अर्थ निकाल सके, जिन्हें सायण जैसे आचार्य न निकाल सके' (पृ० ५१) यह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि यास्क सायण से पहले हुए थे, सायण के समय से बहुत पहले ही यास्क ने इस तरह की समस्याओं का समाधान कर दिया था, अतः सायण के सामने इस तरह की समस्याएं थी ही नहीं। 'सायण कई स्थानों पर शास्त्र से भिन्न अर्थ करते हैं। यह देख हमारे सामने समस्या उठ खड़ी होती है कि क्या प्राचीन आचार्यों ने परम्परा का अनुगमन न किया ? ऐसे भी अनेक स्थान हैं, जहाँ यास्क का कोई आश्रय न लेते हुए सायण ने एक ही शब्द के, एक ही प्रकरण में अथवा प्रकरणान्तर में, अनेक अर्थ दिये हैं, जो परस्पर असंगत प्रतीत होते हैं। यथा 'शारद' पद का एक स्थान पर उन्होंने 'एक वर्ष के लिये अवरुद्ध' ऐसा अर्थ किया है, तो दूसरी जगह 'अभिनव' और तीसरी जगह तो 'शारद नामक राक्षस से सम्बन्ध रखने वाला' अर्थ बताया है। सच पूछो तो सायण का यह महान् दोष है कि वह अपने संमुख आये हुए एक ही मन्त्र का ध्यान रखते हुए शब्दार्थ निकालने की चेष्टा करते हैं। यदि सायणभाष्य और यास्क के निर्वचनों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि ऋग्वेद में ऐसे अनेक कठिन पद हैं, जिनका समुचित अर्थ दोनों ही नहीं निकाल सके और दोनों को ही न सही परम्परा और न व्युत्पत्ति का निश्चित ज्ञान था। अत एव हम ऐसा कह सकते हैं कि सूक्तों में अप्रचलित, कठिन अथवा दुर्बोध ऐसा कोई स्थान नहीं, जिसके सम्बन्ध में भाष्यकारों का मत अन्तिम रूप से निर्णायक मान लिया जाय, जब तक प्रकरणवश अथवा समानान्तर अन्य सूक्तों के आधार पर उसकी पुष्टि न हो जाय' (पृ० ५१), यह कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि पूर्वापर प्रकरण और प्रमाणान्तर से संपुष्ट किया गया अर्थ का अवधारण निर्दोष माना जाता है। प्रत्येक पद के अनेक अर्थ हो सकते हैं, इसीलिये उनके तात्पर्य की अवधारणा करने के लिये उपक्रम, उपसंहार आदि तात्पर्य के निर्धारक षड्विध लिंग का विचार अपेक्षित रहता है। सायण प्रायः ब्राह्मण ग्रंथों, सूत्र ग्रन्थों और निरुक्त की सहायता से मन्त्रों की व्याख्या करते हैं। प्रमाण मिलने पर ही वह यास्काचार्य की व्याख्या से भिन्न अर्थ भी करते हैं। शारद पद के प्रकरण के अनुसार अलग-अलग अर्थ करने में कोई दोष प्रतीत नहीं होता। सैन्धव पद का प्रकरण के अनुसार ही कहीं लवण और कहीं अश्व अर्थ गृहीत होता है। केवल सायण ही नहीं, 'किन्तु प्रत्येक व्यक्ति उपस्थित पद या वाक्य को लक्षित करके ही अर्थ करता है। श्रुति-परम्परा, व्याकरण,

तदनुग्रहवशात् पारम्पर्येणान्ये व्यासजैमिनिप्रभृतयो जानन्त्येव वेदार्थम्। तत्पारम्पर्येणान्येऽप्याचार्या वेदज्ञा आसन् सन्ति चाद्यापि। 'किं विधत्तेऽभिधत्ते च किमनूद्य विकल्पयेत्। इत्यस्य हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन॥' इत्यादिश्रीमद्भागवतवचनम्।

अपरमिदमपि विज्ञेयं यदेकस्यैव शब्दस्य प्रकरणानुरोधेनार्थभेदा नासङ्गताः। यथा 'विदुष्टे अस्य वीर्यस्य पूरवः पुरो यदिन्द्र शारदीरवातिरः सासहानो अवातिरः' (ऋ० सं० १।१३१।४) अत्र शारदीरिति पुरोविशेषणम्। शरच्छब्दश्च वर्षार्थे दृष्टो यथा जीवेम शरदः शतमित्यादौ। तेन शारदीः शरत्सम्बन्धिनीः। विशेष्यानुरोधेन च संवत्सरपर्यन्तं प्राकारपरिखादिभिर्दृढीकृत इत्यर्थो युक्त एव। 'दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्त' (ऋ० १।१७४।२) अत्र सप्तानां पुरां विशेषणत्वेनोपात्तः शारदीशब्दः प्रत्यग्रार्थकः। यद्वा सप्त पुरः शारदीः सर्पणस्वभावात् प्रत्यग्रान् वृष्टचा जगत्पूरकान् मेघानदारय इति तदर्थो युक्त एव। एवमेव 'सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्तन्दाशीः पुरुकुत्साय शिक्षन्' (ऋ० सं० ६।२१।१०) अत्रापि शारदीरिति पुरोविशेषणम्। तत्रापि दर्त इति विदारितवानसीति क्रियासम्बन्धादिन्द्रकर्तृकं तासां विदारणं विज्ञायते। नहि मित्रपुर्यो विदार्यन्ते। तस्माच्छरन्नाम्नोऽसुरस्य विदारयितव्याः पुर्योऽभिप्रेयन्ते।

यदपि—'सायणं प्रमाणीकृत्य वेदार्थनिर्धारणं तथैवासङ्गतम्, यथा हिब्रूभाषाया रचितं बायबलपूर्वभागं तल्मूदं रब्बीसं चाधारीकृत्यागवन्तुं चेष्टा सङ्गता स्यात्' इति, तदपि वेदार्थपद्धत्यज्ञानमूलकम्, सायणभाष्याधारभूतश्रुतिसूत्रादीनामेव वेदार्थनिर्धारणहेतुत्वात्। नहि तल्मूदरब्बीसौ बायबलपूर्वभागज्ञानदत्वमुपगच्छतः। प्रकृते तु वैदिकानां सर्वसम्मत्या श्रुतिसूत्रसम्मतं व्याख्यानं निर्विवादम्।

निरुक्त, निघण्टु, कल्पसूत्र प्रभृति ग्रंथों की सहायता से ही मन्त्रों का अर्थ खोजा जा सकता है। यद्यपि परमेश्वर के निःश्वासभूत वेद का वास्तविक अर्थ तो परमेश्वर ही जान सकते हैं, तथापि उनकी कृपा होने पर परम्परा से व्यास, जैमिनि प्रभृति अन्य ऋषि गण भी वेदार्थ को जान पाते हैं। उसी परम्परा में अन्य आचार्य भी वेदों के अर्थ को जानते आये हैं और अब भी हैं। श्रीमद्भागवत पुराण में बताया गया है कि—'यह ईश्वर क्या करता है, क्या कहता है और किसका अनुवाद अथवा विकल्प के रूप में विधान करता है, ईश्वर की इस हृदय की बात को ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जो कि यथार्थ रूप में जान सके'।

इस प्रसङ्ग में एक बात यह भी जान लेने लायक है कि एक ही शब्द के, विशेष कर सम्बन्धी शब्द के प्रकरणवश अनेक अर्थ असङ्गत नहीं माने जाते। जैसे कि 'विदुष्टे अस्य वीर्यस्य०' इस ऋचा को हम उदाहरण के रूप में देखें। यहाँ पर 'शारदीः' पद नगर का विशेषण है। शरत् शब्द का अर्थ वर्ष होता है, जैसा कि 'जीवेम शरदः शतम्' इत्यादि स्थलों में देखा गया है। किन्तु यहाँ पर 'शारदीः' पद का 'नगर संबन्धिनी' यह अर्थ होता है। यहाँ पर विशेष्य के अनुरोध से 'संवत्सर पर्यन्त प्राकार, परिखा प्रभृति से सुरक्षित नगर' यह अर्थ करना उचित ही है। 'दनो विश इन्द्र' इस मन्त्र में सात नगरों के विशेषण के रूप में स्वीकृत 'शारदी' शब्द 'प्रत्यग्र' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है कि 'इन सातों नगरों में सर्पण स्वभाव वाले और वृष्टि से जगत् को भर देने वाले मेघों का तुमने विदारण कर दिया'। इसी तरह से 'सप्त यत्पुरः' इस मन्त्र में भी 'शारदी' पद पुर का विशेषण है। यहाँ पर भी 'दर्त' अर्थात् विदारित किया है, इस क्रिया के सम्बन्ध से 'इन्द्रकर्तृक पुरों का विदारण' यह अर्थ ज्ञात होता है। मित्र की पुरियों का विदारण नहीं किया जाता। अतः यहाँ पर 'शरत्' नाम के असुर की पुरियों के विदारण वाला अर्थ किया जाता है।

'सायण को प्रमाण मानकर चलना उतना ही असंगत होगा, जितना हिब्रू भाषा में रचित 'बायबल' के पूर्व भाग को तल्मूद और रब्बीस के आधार पर समझने की चेष्टा करना' (पृ० ५१)। यह कथन भी वेदार्थ की पद्धति को न समझ पावे के कारण है, क्योंकि सायणभाष्य के आधारभूत ग्रंथ श्रुति, सूत्र प्रभृति ही हैं, जिनकी सहायता से कि वेदार्थ का निर्धारण होता है। बायबल के पूर्वभाग का ज्ञान तल्मूद और रब्बीस की सहायता से नहीं मिल सकता, किन्तु प्रकृत स्थल में तो वैदिक गण सर्वसंमति से यह मानते हैं कि वेदों का श्रुति-सूत्र संमत अर्थ ही प्रामाणिक है।

यदप्युक्तम्—'सायणेन तादृशं किमपि महत्त्वपूर्णं तत्त्वं नोपदिष्टं यत् संस्कृताध्ययनेन प्राचीनसाहित्यावशेषेण भाषाविज्ञानसम्बन्धिविविधसिद्धान्तैर्न ज्ञातुं शक्येत' इति, तदपि तुच्छम्, अनुक्तोपालम्भात् । यः पारम्पर्येण मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदमधीते, निरुक्तव्याकरणादिकं च पारम्पर्येण पठति, स सायणभाष्यमन्तरा वेदार्थं न वेत्तीति को वक्ति? सायणरीत्या स्वल्पप्रयासेनापि वेदार्थो ज्ञातुं शक्यत इत्येव तूच्यते । पारम्पर्यमन्तरा पाणिनीयं व्याकरणशास्त्रं पातञ्जलभाष्यमपि पौरस्त्याः पाश्चात्त्या वा केऽपि नावगन्तुं शक्नुवन्तीति तु निश्चप्रचं निशङ्कं च वक्तुं शक्यते, किमुत ऋग्वेदमिति । यदपि 'राथमहाशय ऋग्वेदार्थज्ञानाय भाष्यकारानेकभागे विन्यस्यति । तद्रीत्या ऋग्वेदो न केवलं भारतीयानामेव, किन्तु समग्राया आर्यजातेर्ग्रन्थः' इति, तदपि प्रमादविलसितमेव, निर्मूलत्वात् । केयमार्यजातिस्तत्र च किं प्रमाणं कथं च तस्या एव तत्राधिकारः, समग्रमानवजातेरेव वा तत्र कथं नाधिकार इत्यस्य प्रश्नस्यासमाधानात् । वस्तुतस्त्वपौरुषेयत्वेन मन्त्रब्राह्मणानि वेदास्तेष्वन्यतमो ग्रन्थ ऋग्वेदः । सूत्रादीनि वैदिकसाहित्यानि तत्सम्बद्धानि । तद्रीत्योपनीता एव वेदाध्ययनाधिकारिणः । उपनयनं च ब्रह्मक्षत्रविशामेव विहितम्, नान्येषामिति कुतः पाश्चात्यानामुपनयनादिसंस्कारहीनानां तत्राधिकारः ।

यदपि राथमहाशयो दविष्ठप्राचीनताया निर्जनशिखरस्योपरि एकल एव स्थित ऋग्वेदस्य कठिनस्य गूढांशस्यार्था निराधारतया तैरेव ज्ञातव्या इति वदति, तदपि निरर्थकमेव, विकल्पानुपपत्तेः । किं दुर्बोधसूक्तमन्त्राणामर्था दुर्बोधसूक्तमन्त्रैरेव कर्तव्या इत्यर्थः ? अन्यसूक्तमन्त्रैर्वा तदर्थाः कर्तव्या इति वा ? नाद्यः, दुर्बोधसूक्तादयः स्वयं दुर्बोधाश्चेत् कथं तर्हि तैर्दुर्बोधसूक्तादिज्ञानं संभवति ? सूक्तान्तरैश्चेत्तदापि किं तत्सम्बद्धैस्तदर्थबोधसूक्तसामान्यैर्वा ?

'सायण ने ऐसी कोई महत्त्व की बात नहीं बताई जो हमें संस्कृत के अध्ययन से तथा प्राचीन साहित्य के अवशेषों से और भाषा-विज्ञान-संबन्धी विविध सिद्धान्तों के सहारे स्वयं समझ में न आय' (पृ० ५१-५२)। यह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि सायणभाष्य पर यह जबर्दस्ती का आरोप है । जो परम्परा से मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद को पढ़ता है और निरुक्त, व्याकरण प्रभृति को परम्परा से पढ़ता है, वह सायण भाष्य के बिना वेदार्थ को नहीं जान सकता, ऐसी बात कौन कहता है ? हमारा केवल इतना ही कहना है कि सायण भाष्य की पद्धति से थोड़े से प्रयास से वेदार्थ जाना जा सकता है । बिना परम्परा के पाणिनीय व्याकरणशास्त्र और पातंजल महाभाष्य को भी प्राच्य या पाश्चात्य कोई भी विद्वान् नहीं समझ सकते, यह बात निश्चयपूर्वक, निःशंक कही जा सकती है, तब ऋग्वेद की तो बात ही दूसरी है । 'ऋग्वेद का अर्थ करने लिये रॉथ ने इन भाष्यकारों को एक तरफ रख दिया । कारण, ऋग्वेद भारतीयों का ही नहीं, बल्कि समग्र आर्य जाति का ग्रन्थ है' (पृ० ५२) यह कथन भी निराधार और प्रमाद से भरा है । यह आर्य जाति नाम की क्या वस्तु है ? इसकी सत्ता में क्या प्रमाण है ? वेदों पर केवल आर्य जाति का ही क्यों अधिकार है ? समग्र मानव जाति का अधिकार उस पर क्यों नहीं माना जायगा ? इन सब प्रश्नों का कोई समाधान सुलभ नहीं है । वस्तुतस्तु मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदराशि अपौरुषेय है । उसी का एक ग्रन्थ ऋग्वेद है । सूत्र प्रभृति वैदिक साहित्य भी उससे संबद्ध हैं । इन सबके अनुसार उपनयन-संस्कार से संपन्न व्यक्ति ही वेद के अध्ययन का अधिकारी है । उपनयन संस्कार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का ही विहित है, अन्य का नहीं । इस परिस्थिति में उपनयन संस्कार से रहित पाश्चात्य विद्वानों का वेदों के अध्ययन में कैसे अधिकार माना जा सकता है ?

'राथ महाशय का यह भी कहना है—'वह अत्यन्त दविष्ठ प्राचीनता के निर्जन शिखर के ऊपर एकदम अकेला खड़ा हुआ है । ऋग्वेद के कठिन और गूढ अंशों के संबन्ध में यही कहा जा सकता है कि उनका अर्थ उन्हीं के द्वारा निराधार रूप में करना चाहिये' (पृ० ५२) यह कथन भी निरर्थक है, क्योंकि इस विकल्प का उनके पास कोई उत्तर नहीं है कि क्या दुर्बोध सूक्तों का, मन्त्रों का अर्थ दुर्बोध सूक्तों और मन्त्रों की सहायता से किया जाय अथवा अन्य सूक्तों और मन्त्रों की सहायता से किया जाय ? इनमें पहला पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि दुर्बोध सूक्त और मन्त्र यदि स्वयं दुर्बोध हैं तो उनकी सहायता से दुर्बोध सूक्तादि का ज्ञान कैसे हो सकता है ? यदि सूक्तान्तर अथवा मन्त्रान्तर की सहायता से इसका बोध माना जाय, तो वे उससे संबद्ध अर्थ के बोधक होते हैं या सामान्य

नास्त्योऽसम्बन्धात् । नाप्याद्यस्तथात्वे तद्व्याख्यानभूतसूक्तान्तरलाभे दुर्बोधतानापत्तेः । सामान्येन सजातीयज्ञानं सजातीयज्ञानान्तरे सहकारितामापद्यत एव । यदपि—'भारतीयभाष्यकारशब्दैर्वेदः स्वज्योतिषैव स्वयं व्यज्यते' इति, तदपि न, तथात्वे सूर्यादिवत् स्वज्योतिषैव वेदार्थस्य समानत्वे दुर्बोधताकथनासङ्गतेः । लौकिका वैदिकाः सर्वेऽपि शब्दाः स्वमहिम्नैव स्वार्थबोधका भवन्त्येव, तथापि शक्तिग्रहापेक्षा तत्र भवति, अत्यन्तशक्तिग्रहानपेक्षत्वे जनसामान्यस्यापि वेदार्थज्ञत्वापत्तेः ।

यदपि राथ एकः सुयोग्यो यूरोपवासी ऋग्वेदस्य सत्यार्थावगमे कस्यचिद् ब्राह्मणभाष्यकारस्यापेक्षयाऽधिकं सक्षमः, तन्निर्णयस्येश्वरवादिपरम्परयाऽनिगडितत्वात् । तस्य सविधे भाषाप्रकृतिमानदण्डस्य विद्यमानत्वाच्च । तस्य बौद्धक्षितिजस्याधिकविस्तृतत्वाद् वैज्ञानिकरीत्या भासमानत्वाच्च शास्त्रज्ञतावलवत्त्वाच्चेति । तदपि बालचापलमेव, हेतूनामाभाससमानयोगक्षेमत्वात् । अन्यथा ईसायीजनापेक्षया नास्तिकानां भाषाविज्ञानवतामेव वायवलविज्ञानवत्त्वापत्तेः । यदीश्वरवादिपारम्पर्यसंस्कारो वेदार्थज्ञाने बाधकस्तर्हि नास्तिक्यसंस्कारस्य वेदार्थनिर्णये बाधकत्वमेवं कुतो न स्यात् ? वस्तुतस्तु क्रिया पुरुषतन्त्रा भवति ज्ञानं तु वस्तुतन्त्रम् । यद्यास्तिक्यनास्तिक्यनैरपेक्ष्येण शब्दः स्वार्थमावेदयति, तर्हि ब्राह्मणत्वभारतीयत्वाभ्यामेव किमपराद्धम् ? सिद्धान्ते तु निरवद्यचक्षुरुदयापि मच्छविषया मतिर्यथा पुरुषापराधमलिना सती फलाय न कल्पते, तथैवासम्भावनाविपरीतभावनादिमलिना निर्दोषवेदजनितापि मतिरात्मादिविषयिणीं भ्रान्तिं न निवर्तयति । रागद्वेषाभिनिवेशादयो न कम्बलादिवदावरकाः, किन्तु भावनायामेव बाधका भवन्ति, न पदार्थज्ञाने । तस्मादेवास्तिकनास्तिका उभावप्यविशेषेणैव 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इति वाक्यश्रवणेन विदितपदतदर्थौ कार्यकारणभावमग्निहोत्रहोमस्वर्गयोर्ज्ञातुं प्रभवतः । विषयाबाधात्

अर्थ के बोधक होंगे ? यहाँ पर अन्तिम पक्ष स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि सामान्य अर्थ का इनसे कोई संबन्ध नहीं है । प्रथम पक्ष भी इसलिये नहीं माना जा सकता कि यदि एक सूक्त के अर्थ का व्याख्यान करने वाला अन्य सूक्त विद्यमान है, तो उसके अर्थ की दुर्बोधता कैसे मानी जा सकती है । सामान्य रूप से सजातीय का ज्ञान सजातीय ज्ञानान्तर का सहायक हो जाता है । 'एक भारतीय भाष्यकार के शब्दों में कहा जा सकता है कि वेद अपनी ही ज्योति से स्वयं प्रकट होने वाला है' (पृ० ५२) यह कथन भी गलत है, क्योंकि सूर्य के समान यदि अपनी ज्योति से ही वेदार्थ प्रकाशित होता है, तो फिर उसको दुर्बोध कैसे माना जा सकता है ? लौकिक और अलौकिक सभी शब्द अपनी महिमा से ही स्वार्थ के बोधक होते हैं, तो भी वहाँ पर शक्तिग्रह की अपेक्षा रहती है । शक्तिग्रह की अत्यन्त अनपेक्षा मानने पर सामान्य जन को भी वेदार्थ का ज्ञान क्यों न होने लगेगा ?

राथ ने तो यह अभिप्राय प्रकट किया है कि एक सुयोग्य यूरपवासी ही ऋग्वेद का सच्चा अर्थ समझने में किसी भी ब्राह्मण भाष्यकार की अपेक्षा कहीं अधिक क्षम है । कारण, उसका निर्णय ईश्वरवादी परम्परा से जकड़ा हुआ नहीं है, उसके पास भाषा की प्रकृति का मापदण्ड है । उसका बौद्धिक क्षितिज कहीं अधिक विस्तृत और वैज्ञानिक रीति से भासमान है । शास्त्रज्ञता का बल उसके पास पर्याप्त है' (पृ० ५२) । यह कथन बालचापल मात्र है, क्योंकि यहाँ पर दिये गये सभी हेतु गलत हैं । अन्यथा ईसाई धर्म के अनुयायियों की अपेक्षा नास्तिक व्यक्तियों को ही बायबिल के अर्थ का सही ज्ञान है, यह भी कोई कहने लगेगा । यदि ईश्वरवादी परम्परा का संस्कार वेदार्थ के ज्ञान में बाधक है, तो उसी तर्क से नास्तिकता के संस्कार को वेदार्थ के ज्ञान में बाधक क्यों न माना जाय ? सही बात यह है कि क्रिया पुरुष के अधीन होती है और ज्ञान वस्तु के अधीन होता है । यदि आस्तिकता और नास्तिकता का विचार किये बिना शब्द निरपेक्ष रूप से अपने अर्थ का बोधन करता है, तो ब्राह्मणत्व और भारतीयत्व ने ही क्या अपराध किया है कि वेद के सही अर्थ का बोध इनको न होकर पाश्चात्यों को होगा ? हमारे सिद्धान्त के अनुसार तो निर्दोष चक्षुरिन्द्रिय से उत्पन्न 'मच्छं' विषयक बुद्धि पुरुष के किसी दोष से आवृत होने पर जैसे यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न नहीं करती, उसी तरह से निर्दोष वेद से उत्पन्न मति भी असंभावना, विपरीतभावना प्रभृति दोषों से मलिन हो जाने पर आत्मादि विषयक भ्रान्ति को नहीं दूर कर सकती । राग, द्वेष, अभिनिवेश प्रभृति दोष कंबल आदि की तरह किसी के आवरक नहीं होते, किन्तु ये भावना में ही बाधक होते हैं, पदार्थ के ज्ञान में नहीं । इसी लिये आस्तिक और नास्तिक दोनों ही समान रूप से 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस वेदवाक्य के सुनने के

प्रमाणदोषानवगमाच्चाप्रामाण्यमपि न निश्चेतुं प्रभवतः। भाषाविज्ञानमात्रेणार्थावगमश्चेदसंस्कृतज्ञानामपि वेदार्थावगमः स्यात्। भाषासाम्यस्य वेदार्थावगमेऽहेतुत्वमुक्तमेव। बौद्धिकक्षितिजविस्तारस्य न पाश्चात्त्येष्वेव योगः, भारतीयेष्वपि तत्सत्त्वात्। विज्ञानमात्रं तु सर्वत्रैव समानम्। भौतिकविज्ञानमपि न भारतीयेष्वल्पम्, भारतोच्छिष्टविज्ञानस्यैवान्यैरुपजीव्यमानत्वात्। यथा शिल्पादिज्ञानं वेदार्थज्ञानम् अल्पमेवोपकरोति, तथैव भौतिकविज्ञानमपि। शास्त्रज्ञता तु पारम्पर्याभावात् पाश्चात्त्येषु सीमितैव। भारतीयेषु पारम्पर्येण वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानसत्त्वेन व्याकरणनिरुक्तपूर्वोत्तरमीमांसादिवेदार्थनिर्णयसंस्काराधिक्यम्। पाश्चात्त्येषु च तदभाव एव। ते चैकमपि मन्त्रं सस्वरं शुद्धमुच्चारयितुमपि न प्रभवन्ति। मीमांसाज्ञानमपि तेषां दुर्घटम्। राथः पारम्पर्यहीनत्वं भारतीयवेदभाष्यकारेष्वारोपयति, परन्तु पूर्वोक्तनीत्या पारम्पर्यं साधितमेव। पाश्चात्त्येषु तु पारम्पर्यं कल्पयितुमपि न शक्यते। ब्राह्मणानि सूत्राणि मन्त्राणां नेदिष्ठानीति तु पाश्चात्त्यैरपि मन्यते। यदि तेष्वपि पारम्पर्यं नासीत्, तर्हि पाश्चात्त्येषु तु दूरतोऽपि पारम्पर्यसम्बन्धो नास्ति। तस्माद् यूरोपनिवासी मन्त्रार्थमवगन्तुं ब्राह्मणभाष्यकारापेक्षयाऽधिकं क्षम इति मनोरथमात्रमेव।

यदपि 'राथेन ऋग्वेदादेवंविधाः सर्वेंऽशाः पृथक् संकलिता य आकारेण समाना इवाभान्ति। व्याकरणेन निर्वचनेन च तेषां तुलनात्मकमध्ययनं कृतम्, परन्तु परम्पराप्राप्तोऽर्थो न तथाऽनुशीलित इति संभाव्यते। एवं संस्कृतस्य माध्यमेन ऋग्वेदस्यैतिहासिकरीत्याऽध्ययनं कृतम्। पश्चात्तयैव पद्धत्या भाषाविषययोर्दृष्ट्या ऋग्वेदसाम्यापन्नस्य न केवलमवेस्ताग्रन्थस्याध्ययनं कृतम्, किन्तु भाषाविज्ञानाश्रिताः सिद्धान्ता अपि तत्रोपयोजिताः, ये भारतीयानां भाष्यकाराणां

बाद उसके पदों और उनके अर्थों को जानकर अग्निहोत्र और होम का कार्यकारणभाव जानने में समर्थ हो जाते हैं। विषय का बाध न होने से और प्रमाण में किसी दोष की भी उपलब्धि न होने से वे अप्रामाण्य का निश्चय भी नहीं कर पाते। भाषाविज्ञान मात्र से यदि वेद के अर्थ की अवगति होती हो तो वह संस्कृत न जानने वाले व्यक्ति को भी होनी चाहिये। भाषा के साम्य को वेदार्थ की अवगति में कारण नहीं माना जा सकता। बौद्धिक क्षितिज का विस्तार केवल पाश्चात्य विद्वानों के साथ ही जुटा हो, ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि यह प्रतिभा भारतीयों में भी विद्यमान है। विज्ञान मात्र सर्वत्र समान है। भौतिक विज्ञान का विकास भी भारतीयों में कम नहीं हुआ है। भारतीयों के उच्छिष्ट विज्ञान का ही दूसरों ने सहारा लिया है। जैसे शिल्प प्रभृति विज्ञान वेदार्थ के ज्ञान के लिये ज्यादा सहायक नहीं हो सकता, उसी तरह से भौतिक विज्ञान भी इसमें अधिक सहायक नहीं हो सकता। परम्परा के अभाव में पाश्चात्यों की शास्त्रज्ञता सीमित ही मानी जायगी। भारतीयों में परम्परा से वेद का अध्ययन और उसके अर्थ का ज्ञान तदनुसार अनुष्ठान की प्रवृत्ति विद्यमान है और व्याकरण, निरुक्त, पूर्व और उत्तर मीमांसा की सहायता से वेदार्थ का निर्णय करने के संस्कार भी इनमें अधिक हैं। पाश्चात्यों में इन सबका अभाव है। वे वेद के एक मन्त्र का भी शुद्ध सस्वर उच्चारण कर सकने में असमर्थ हैं। इनके लिये मीमांसा का ज्ञान कर पाना भी बड़ा कठिन है। राथ भारतीय वेदभाष्यकारों पर परम्परा के अभाव का मिथ्या आरोप करते हैं, परन्तु हमने पूर्वोक्त पद्धति से वेदभाष्यकारों में प्राचीन काल से चली आ रही अनुस्यूत परम्परा को सिद्ध कर दिया है। पाश्चात्य विद्वानों में इस प्रकार की परम्परा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थ मन्त्रों के बहुत समीप हैं, इस बात को पाश्चात्य विद्वान् भी मानते हैं। यदि उनमें भी परम्परा विद्यमान न थी तो पाश्चात्यों में तो सुतरां इस परम्परा का नितान्त अभाव मानना पड़ेगा। इसलिये यूरोपीय विद्वान् ब्राह्मण भाष्यकारों की अपेक्षा मन्त्रार्थ को समझ पाने में अधिक समर्थ हैं, यह कहना मनोरथ मात्र है।

'राथ ने इसी कारण ऋग्वेद से ऐसे सब अंश अलग छांटे जो विषय और आकार में लगभग इक सा दीख पड़े और प्रकरण, व्याकरण और निर्वचन की ओर ध्यान देते हुए उनका तुलनात्मक अध्ययन किया; परन्तु संभवतः उन्होंने पारम्परिक अर्थ की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया हो। इस तरह उन्होंने संस्कृत भाषा के दायरे में ही ऋग्वेद का ऐतिहासिक रीति से अध्ययन किया। इसके पश्चात् उन्होंने तुलनात्मक पद्धति की भी सहायता ली और भाषा तथा विषय में ऋग्वेद से बहुत कुछ मिलती-जुलती अवेस्ता का ही नहीं, अपितु तुलनात्मक भाषाविज्ञान से बने हुए सिद्धान्तों का भी उपयोग किया, जिनका सहारा भारत के प्राचीन टीकाकारों

नोपलब्धा आसन्। एकैकस्य शब्दस्य सम्यङ्निर्वचनं कृत्वा राथेन वैदिकसंहितानां वैज्ञानिकार्थलापनपद्धतिर्विकासं नीता। राथ-वोहलिंकसंस्कृतशब्दकोषरूपेण तस्या एव परिणतिः। सप्तभिर्भागैः स ग्रन्थः १८५२ ईसवीयकाले प्रकाशितः। वैज्ञानिकार्थजिज्ञासुभिरद्यापि सैव पद्धतिरङ्गीक्रियते' (पृ० ५२) इति, तदपि यत्किञ्चित्, भाषान्तरीयवाक्यार्थनिरूपणे भाषान्तरीयशब्दानामुपयोगे भ्रान्तिसम्भवस्यैव बाहुल्येन दर्शनात्। तच्च 'गिरिजा' 'गिर्जा' 'अहमन्नाद' 'अहमद् नाद' इत्यादिस्थलेषु। तथापि यदि दुरुद्देश्यता दोषो न स्यात्तदाऽस्य परिश्रमस्तु प्रशंसनीयः।

विज्ञानमपि न भारतीयविदुषां कृते नवीनम्। शिल्पज्ञानात्मकं विज्ञानमनुभवयुक्तं ज्ञानं विज्ञानं वा, उभयोरपि भारतीयैरधिगतत्वात्। कलारूपेण विविधभाषाज्ञानमपि भारतीयैर्बहोः कालाद् ज्ञायते स्म।

यदपि—'नवीनपद्धत्या वैदिकसाहित्येषूपस्थितानेकग्रन्थिनिवारण आश्चर्यमयी प्रगतिर्जाता, अल्पसंख्याकानां पाश्चात्यविदुषां प्रयासात्। तेनैतिहासिकप्रतिभया भारतीयप्राचीनसाहित्यस्य हार्दज्ञाने पर्याप्तं साफल्यमधिगतम्। यद्भारतवासिनां विदुषामस्तव्यस्तार्थकरणेन युगेभ्यस्तिरोहितमासीत्। नूनमागामिविदुषां कृतेऽद्यापि कर्तव्यमवशिष्यते, विशेषतः सूक्ष्मसाङ्गोपाङ्गान्वेषणे। इदं च वैदिकाध्ययनं पञ्चाशद्वार्षिकम्। अन्यत्र हिब्रूविद्वद्भिरनेकाः शतीः परिश्राम्यद्भिरपि वायबलस्य पूर्वभागीयाध्यायानामद्यापि विवादग्रस्तानि विषमस्थलानि मन्यन्ते। नूनं तान्यपि विषमस्थलानि यान्यद्ययावदसमाहितानि तैर्विद्वद्भिः समाधास्यन्ते यैः परशियासम्बन्धिन्यः कीलाकृतयो लिपयो भारतीयशिलालेखाश्च पठितुं शिक्षिताः। दुर्बोधलिपीनां निगूढभाषास्वरूपं च प्रत्यभिज्ञानम्' (पृ० ५३) इति, तदपि यत्किञ्चित्, विषयान्तरपाण्डित्यस्य विषयान्तरेऽत्यल्पोपकारकत्वेनाव्यापारेषु व्यापारत्वाविशेषात्। यथा भारतीयानां वेदार्थविषये

को उपलब्ध न था। एक एक शब्द का ठीक-ठीक निर्वचन कर रॉथ ने वैदिक संहिताओं के वैज्ञानिक अर्थ निकालने की नींव खड़ी की, जो कि 'रॉथ और बोहलिंग कृत संस्कृत शब्दकोश' के रूप में परिणत हुई। यह सात भागों का ग्रन्थ सन् १८५२ ई० से सन् १८७५ ई० बीच प्रकाशित हुआ। आज वेद को वैज्ञानिक ढंग से समझने की चेष्टा करने वाला प्रत्येक विद्यार्थी रॉथ की पद्धति को अपनाता है' (पृ० ५२)। यह कथन भी केवल इधर-उधर हाथ मारने के समान है, एक भाषा के वाक्यार्थ के निरूपण के लिये दूसरी भाषा के शब्दों का उपयोग करने से भ्रान्ति पैदा हो जाने की ही अधिक संभावना रहती है। 'गिरिजा' शब्द का 'गिर्जा' से सम्बन्ध जोड़ा जाय अथवा 'अहमन्नाद' शब्द का 'अहमद नाद' अर्थ किया जाय तो वहाँ पर यही स्थिति होगी। इतना होने पर भी यदि इनका उद्देश्य बुरा न हो तो इस तरह के परिश्रम की प्रशंसा करनी ही पड़ेगी।

विज्ञान भारतीय विद्वानों के लिये कोई नई बात नहीं है, शिल्पज्ञानात्मक विज्ञान हो, अथवा अनुभवात्मक विशेष ज्ञान रूप विज्ञान हो, इन दोनों का भारतीयों को पर्याप्त ज्ञान था। कला के रूप में विविध भाषाओं के ज्ञान को भी भारतीय विद्वान् बहुत पहले से जानते रहे हैं।

'इन सिद्धान्तों को लक्ष्य में रखते हुए वैदिक साहित्य में उपस्थित अनेक ग्रन्थियों के सुलझाने में जो प्रगति हुई है, वह आश्चर्यजनक है, विशेष कर जब इस ओर ध्यान दें कि कितने थोड़े विद्वानों ने मिलकर इस कार्य को किया। इसका साधारण परिणाम यह हुआ कि इस ऐतिहासिक प्रतिभा ने भारत के प्राचीन साहित्य का हृदय समझने में काफी सफलता प्राप्त की, जो भारतवासियों के उलट-पुलट अर्थ करने के कारण युगों से तिरोहित हो गया था। निश्चय ही विद्वानों की आती हुई पीढ़ियों के लिये बहुत कुछ काम करना शेष है, विशेषतः सूक्ष्म एवं सांगोपाङ्ग अन्वेषण के सम्बन्ध में स्मरण रहे कि वैदिक अनुसन्धान पिछले पचास वर्षों की ही उपज है, जहाँ कई शताब्दियों तक अनेक हिब्रू विद्वानों के परिश्रम करने पर भी आज बायबल के पूर्वभाग के अध्यायों में अनेक स्थल ऐसे हैं, जो अगम्य एवं विवादग्रस्त हैं। निःसन्देह वे सब ग्रन्थियाँ जो अभी तक नहीं सुलझी थी, वे वर्तमान विद्वानों के द्वारा अवश्य सुलझाई जा सकती है, जिन्होंने परशिया की कीलाकृति लिपि और भारत के शिलालेखों को पढ़ना सीख लिया है और इन दुर्बोध लिपियों में निगूढ भाषा का स्वरूप पहचान लिया है' (पृ० ५३)। यह भी इधर-उधर की उड़ान मात्र है, विषयान्तर का पांडित्य विषयान्तर के लिये अधिक उपयोगी नहीं हो सकता, यह सारा व्यापार उसी तरह से अहितकर हो सकता है, जैसा कि पञ्चतन्त्र की कीलोत्पाटक

क्वचिन्मतान्तराणि दृश्यन्ते, तथैव पाश्चात्यविचारेष्वपि वैमत्यदर्शनेन सर्वसम्मत्या विवादग्रस्तार्थानां वेदसूक्तानां हार्दावगमस्य वक्तुमशक्यत्वात्। मोमांसकदृष्टचा तु वैज्ञानिकम्मन्यानां वेदार्था आभाससमानयोगक्षेमा एव। अत एवान्ते मैकडानलोऽप्यङ्गीकरोति—'तथापि भारतीयपरम्पराया उपयोगोऽद्यान्यपद्धत्यपेक्षयाऽऽधिक्येन क्रियते' (पृ० ५२) इति। दुर्वोधलिप्यध्ययनतद्विषये साफल्ये सत्यपि वेदार्थज्ञानविषये तादृशी शिक्षा पङ्गुप्रायेव।

यदपि ऋग्वेदस्वरूपशीर्षकेण विद्वत्तास्वर्णकुञ्चिकया वेदमन्दिरद्वारोद्घाटनेन वेदार्थवर्णनं प्रस्तुत्योक्तम्—'ऋग्वेदस्याधिकां अंशा धार्मिकसूक्तैः पूर्णाः। केवलं दशममण्डले ऐहिकविषयाणि सूक्तानि। मुख्यतया तत्रत्यानि सूक्तानि वैदिकदेववर्गीया नैकविधा देवताः सम्वोध्य विरचितानि। तत्र देवतानां पराक्रमा महत्त्वं कृपालुत्वं च वर्णितानि। यत्र देवताभ्यो गोधनपुत्रधनाभ्युदयदीर्घायुष्ट्वशत्रुविजयादीनि याच्यन्ते स्म। एतद्देशीयसंस्कृताध्ययनपारिपाट्या ऋग्वेदो महता कौशलेन निर्मितानां सूक्तानां विशालः सङ्ग्रहोऽस्ति। स च सोमयागसहकारी यत्र घृतं हूयते। सोमयागविधानं न तादृशं सरलं यथा कदाचिन्मान्यतासीत्, तथापि ब्राह्मणकालप्रचलितसविस्तरयाज्ञिकपद्धत्यपेक्षया निःसंशयं सरलमासीत्' इति, तत्तु वालचापलमेव, भावानवबोधात्। तथाहि कोऽयं धर्मः किं च तल्लक्षणम्? कथं च सूक्तेषु धार्मिकत्वमिति ज्ञात्वैव सूक्तार्थनिरूपणं सुशकं स्यात्। ब्राह्मणेभ्योऽन्यत्र यागानां स्वरूपविधानं क्वोपलभ्यते? किं मन्त्रेषु किमपि यागविधानं वर्णयितुं शक्यते? घृतं कथं हूयते? कीदृशेऽग्नौ हवनम्? निर्मन्त्रकं समन्त्रकं वा? हवने मन्त्रोच्चारणस्य किं प्रयोजनम्? किं च तत्प्रयोजनसिद्धौ प्रमाणम्? यागयज्ञयोश्च को भेदः? पारम्पर्यज्ञानशून्या राथप्रभृतयः पाश्चात्या नात्र किमपि वक्तुं शक्नुवन्ति। वस्तुतस्तु मीमांसकानां मन्त्रब्राह्मणात्मके वेदे ब्राह्मणेष्वेव यज्ञादि-

वानर की कथा में वर्णित है। जैसे भारतीय विद्वानों के वेदार्थ के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर हैं, उसी तरह से पाश्चात्य विचारों में भी विभिन्नता देखने को मिलती है। इस तरह से तो वैदिक सूक्तों के विवादग्रस्त स्थलों का सर्वसम्मत निगूढ अभिप्राय भी समझ में आवेगा ही नहीं। मीमांसक की दृष्टि से तो वैज्ञानिक बनने का दम्भ भरने वाले यूरोपीय विद्वानों का किया गया अर्थ मात्र कल्पना-प्रसूत है। इसीलिये अन्त में मैकडानल को भी स्वीकार करना पड़ता है—'तथापि भारतीय परम्परा का उपयोग आज उससे कहीं अधिक किया जाता है, जितना रॉथ ने किया था' (पृ० ५२)। दुर्बोध लिपि के अध्ययन के विषय में सफलता मिल जाने पर भी वेदार्थ के ज्ञान के विषय में इस तरह की शिक्षा लंगड़ी ही मानी जायगी।

'ऋग्वेद का स्वरूप' यह शीर्षक देकर कहा गया है कि—'वैदिक विचार सीमा के निकट पहुँच जाने पर अब हम उस मन्दिर के द्वार में प्रवेश कर सकते हैं, जो कि विद्वत्ता की स्वर्णतालिका से उद्घाटित किया गया है। ऋग्वेद का अधिकांश धार्मिक सूक्तों से भरा हुआ है। केवल दशम मण्डल में ही कुछ रचनाएँ ऐहिक विषयों पर हैं। ऋग्वेद के सूक्त मुख्यतः वैदिक देववर्ग के विभिन्न देवताओं को संबोधित किये गये हैं। इनमें उनके पराक्रम, उनकी महत्ता तथा उनकी कृपालुता का वर्णन है, जिनसे गोधन, पुत्रधन, अभ्युदय, दीर्घायु और शत्रुविजय के लिये याचना की गई है। वास्तव में ऋग्वेद प्राथमिक लोकगीतों का संकलन नहीं, जैसा कि इस देश में संस्कृत अध्ययन करने की परिपाटी में समझा जाता है। ऋग्वेद बड़ी कुशलता के साथ निर्मित सूक्तों का विशाल संग्रह है, जिसकी रचना एक निष्णात याज्ञिक वर्ग ने की। ऋग्वेद सोमयाग का साथी है, जिसमें घृत की आहुति अग्नि में दी जाती है। इसकी विधि इतनी सरल नहीं, जैसा कभी मानी जाती थी। जो भी हो, वह ब्राह्मण काल में प्रचलित सविस्तर याज्ञिक पद्धति की अपेक्षा निःसन्देह सरल है' (पृ० ५३-५४) यह सब बच्चों की सी बातें हैं, पाश्चात्य विद्वानों को वेदों का मोटा अभिप्राय भी समझ में नहीं आया है। यह धर्म क्या है? इसका क्या लक्षण है? सूक्तों में धार्मिकता कैसे है? इन सबको जान लेने पर ही सूक्तों का अर्थ सरलता से किया जा सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के सिवाय यज्ञ-यागादि के स्वरूप का विधान अन्यत्र कहाँ मिलता है? क्या मन्त्रों में कहीं पर भी यागविधि का वर्णन बताया जा सकता है। घृत का हवन कैसे किया जाता है? किस तरह की अग्नि में हवन किया जाता है? हवन मन्त्र के साथ किया जाता है, अथवा विना मन्त्र के? हवन करते समय मन्त्र का उच्चारण करने का क्या प्रयोजन है? उस प्रयोजन की सिद्धि इससे होती ही है, इसमें क्या प्रमाण है? याग और यज्ञ में क्या अन्तर है? इन सब प्रश्नों का उत्तर भारतीय परम्परा के ज्ञान से सर्वथा शून्य राथ प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् कुछ भी नहीं दे सकते। वस्तुतस्तु मीमांसकों की दृष्टि के अनुसार मन्त्र-

विषयः सन्ति। तान्येव विधायकानि, मन्त्रास्तु विधेयाः। यज्ञानुष्ठानापेक्षितद्रव्यदेवतास्मारकत्वेन नियमादृष्टार्थं मन्त्रा विनियुज्यन्ते। ब्राह्मणैः सूक्तैः पारम्पर्यपद्धत्या च यागस्वरूपज्ञानवन्तः सुशिक्षिता ऋत्विजो ब्राह्मणा एवताननुतिष्ठन्ति।

यदपि च—'पुनः पुनर्यज्ञियाग्निसोमयोर्द्वयोर्देवतयोः स्तवनेन सूक्तानां सौन्दर्यं नष्टं जातम्, तच्च परिस्थित्यालोचनेन स्वाभाविकमिव भवति। देवतास्तु प्रायेण प्राकृतिकवस्तूनां मूर्तरूपा एव, अत एवानेकस्थलेष्वतीवोदात्तरूपकाणि मनोहारिण्यः कल्पनाश्च प्रयुज्यन्ते। सूक्तानां भाषाः सरलास्तत एव तत्रालङ्कारिकताया भारो न लक्ष्यते। समासाभावात् समस्तपदानां भारोऽपि तत्र नास्ति। लौकिकसंस्कृते तु बृहत्समासबाहुल्यं दृश्यते। सूक्तेषु प्रतिपाद्यविषयाणां साक्षाद्वर्णनात्तत्र गूढार्थता नास्ति। क्वचिद्देवतास्वरूपवर्णने रहस्यमयानि रूपकाण्यालङ्कारिकता चाङ्गीकृतानि। विषयस्य सङ्कुचितत्वाद् याज्ञिकवर्गैरवश्यं प्रयत्नः सम्भाव्यते यत्संक्षिप्तपदैरेकैव कल्पनाऽनेकधाऽवर्त्येत' (पृ० ५४) इति, तदपि न युक्तम्, अभिमतदेवस्तवस्य सौन्दर्याव्याघातकत्वात्। प्राकृतवस्तूनां मूर्तरूपा देवता इत्यप्यशुद्धम्, प्राकृतिकवस्तूनामपि मूर्तत्वाविशेषात्। यदि तु मूर्तशब्देन विग्रहवत्त्वमभिप्रेयते तदा तु युक्तमेव। देवताधिकरणे बादरायणेन देवानां विग्रहवत्त्वप्रतिपादनात्। तदैव चेतनावद्भ्य ऐश्वर्यशालिभ्यो देवेभ्योऽभीष्टप्रार्थनमपि युज्यते। रूपका अन्ये चालङ्कारा वेदमुपजीव्यैव प्रवर्तन्ते, तेन यथायोग्यं सारल्यं वैषम्यं निगूढार्थत्वं च वेदेषु युक्तमेव। मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च सामान्यतया धर्मब्रह्मपरत्वाभ्युपगमेऽपि ज्ञातव्यसर्वविषयसन्निवेशादेव सर्वविद्यास्थानमूलत्वं सर्वविद्योपबृंहितत्वं च सङ्गच्छते। तस्मात् संकुचितत्वविषयत्वकल्पनमपार्थमेव। अत एवोक्तिवैचित्र्यवक्रोक्त्यभिरुच्यादय उत्तरकालिकसाहित्येषूत्कृष्टरूपेणोपलभ्यमानाः सूक्तोपलब्धवक्रोक्त्यादिमूलका एवेति त्वयाऽप्यभ्युपगम्यते। अत एवोच्चकोटिककाव्यरचनानिपुणता ऋग्वेदे सर्वत्रोपलभ्यत इति मैकडानलप्रभृतयोऽप्यङ्गीकुर्वन्त्येव।

ब्राह्मणात्मक वेद में से याज्ञिक विधियों का वर्णन केवल ब्राह्मण भाग में ही है। यज्ञानुष्ठान के लिये अपेक्षित द्रव्य और देवता के स्मारक के रूप में नियमादृष्ट की उत्पत्ति में मन्त्रों का विनियोग माना जाता है। ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों तथा परम्परा के द्वारा भी याग के स्वरूप को जानने वाले सुशिक्षित ऋत्विक् ब्राह्मण ही इनका अनुष्ठान कर सकते हैं।

'इसकी रचना की सुन्दरता बारंबार यज्ञों की ओर संकेत के कारण नष्ट हो गयी है। तथापि यह कहा जा सकता है कि उस समय की परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए वह स्थिति स्वाभाविक सी थी। देवता प्रायः प्राकृतिक वस्तु के मूर्तरूप हैं। इस कारण कई स्थानों पर बड़े उदात्त रूपक एवं मनोहर कल्पनाएँ प्रयोग में आ जाती हैं। सूक्तों की भाषा बहुधा सीधी-सादी और स्वाभाविक है। उस पर आलङ्कारिकता का बोझ प्रायः नहीं सा पाया जाता है। प्रायः समास के अभाव के कारण समस्त पदों का बोझ कम है। लौकिक संस्कृत में तो बड़े-बड़े समासों का भारी बोझ पाया जाता है। सूक्तों में प्रतिपादित विषय का साक्षात् शब्दों द्वारा कथन है और उसमें कोई पेचीदापन नहीं। कहीं-कहीं, देवताओं के स्वरूप का वर्णन जहाँ पाया जाता है, वहाँ रहस्यमय रूपक और आलंकारिकता अपनाई गई है। विषय के संकुचित होने से याज्ञिक वर्ग को यह अवश्य प्रयत्न करना पड़ा होगा कि संक्षिप्त पदों के द्वारा एक ही कल्पना अनेक बार दुहराई जाय' (पृ० ५४)। यह कथन भी ठीक नहीं है, अभिमत देवता की स्तुति सौन्दर्य की नाशिका नहीं मानी जा सकती। देवता प्राकृत वस्तु का मूर्त रूप है, यह कथन भी गलत है, क्योंकि प्राकृत वस्तुएं भी समान रूप से मूर्त हैं। यदि मूर्त शब्द का अर्थ शरीरधारी आपको अभिप्रेत है, तो इसको तो हम भी मानते हैं। देवताधिकरण में बादरायण ने देवताओं को शरीरधारी माना है। उनके शरीरधारी होने से ही चेतना संयुक्त एवं ऐश्वर्यशाली देवताओं से अभीष्ट वस्तु को पाने की प्रार्थना उचित मानी जा सकती है। रूपक अथवा अन्य अलङ्कारों की प्रवृत्ति साहित्य में वेदों के सहारे से ही हुई है। इसलिये वेद में उचित स्थान पर सरलता, विषमता, निगूढार्थता आदि का रहना ठीक ही होगा। मन्त्र और ब्राह्मणों में सामान्यतया धर्म और ब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है, तो भी सभी ज्ञातव्य विषयों का यथोचित संनिवेश होने से वेद को सभी विद्याओं का मूल स्थान और इन सबकी सहायता से उपबृंहित माना जाता है। इस तरह से वेद कुछ संकुचित विषयों का ही प्रतिपादक है, यह कथन सर्वथा व्यर्थ है। इसीलिये उक्ति-वैचित्र्य, वक्रोक्ति प्रभृति परवर्ती साहित्य में उपलब्ध होने वाले उत्कृष्ट गुण वेदों के सूक्तों में उपलब्ध उक्तियों का ही अनुसरण करते हैं, इस बात को आपने भी स्वीकार किया है। इसीलिये उच्च कोटि की काव्यरचना का नैपुण्य ऋग्वेद में सर्वत्र उपलब्ध होता है, इस बात को मैकडानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् भी मानते हैं।

यदपि—'प्राकृतवस्तूनां मानवीकरणपद्धत्या देवतारूपप्रदानं यदन्यत्र साहित्येषु नोपलभ्यते तन्मानवजातिविचाराणां प्रारम्भिकं रूपं सूक्ताख्यायिकाभिः प्रदर्श्यंते। काभिश्चिद्देवताभिः सूक्तकारेभ्यः काव्यकलाप्रतिभा प्रदत्ता, परन्तु वेदानां स्वयं भासमानतासिद्धान्तसम्बन्धे ऋग्वेदरचयितृभिर्न किञ्चिदवबुद्धम् (५५ पृ०) इति, प्राकृतपदार्थेषु मानवोचितकर्तृत्वरूपं दत्तमृषिभिरिति, तदपि तुच्छम्, 'तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया। वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्' (ऋ० सं० ८।७५।६), 'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्' (ऋ० १०।७१।३), 'पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः' इत्यादिमन्त्रवर्णैर्वेदानां नित्यत्वस्वयंभासमानत्वसिद्धान्तावगमवर्णनात्। अत एव सूक्तान्यृषिभी रचितानीत्यशुद्धमेव, मन्त्रद्रष्टृत्वेनैव ऋषित्वप्रसिद्धेः। तादृशैरपौरुषेयैः सूक्तैर्देवतासम्बोधनान्मानवोचितव्यवहाराणां तासां विग्रहवत्त्वं चेतनावत्त्वमैश्वर्यवत्त्वञ्च प्रतिपादितम्। तच्च तथैव प्रतिपत्तव्यमिति त्वत्कल्पना निर्मूलैव।

यदपि 'प्रकृतिचेष्टानां बालस्वभावविस्मयेनावलोकनम्, यथा कश्चित् कविः पृच्छति सूर्यः कथमाकाशान्न पतति। तारा नक्षत्राणि ग्रहाश्च प्रतिदिनं क्व गच्छन्ति, इत्यालोक्य कश्चिदाश्चर्यचकितो भवति। अन्यस्तु नदीनां जलानि सततं प्रवहमानानि समुद्रमुपयन्ति, न च तं पूरयितुं पारयन्तीति चकितो भवति। सूर्यचन्द्रयोरपरिवर्तितां गतिमुषसोऽस्खलितमुदयं च वीक्ष्य पुरातनानामृषीणां प्रकृतिचेष्टास्वेकरूपता भाति स्म। अयं नियमः 'ऋत'—शब्देन तैर्व्यवह्रियते स्म। यज्ञानुष्ठानविधिषु शाश्वतनियमेषु चायं शब्दः प्रयुज्यते स्म। ऋग्वेदस्य कथानकान्यपेक्षाकृतमानवविकासस्यात्यन्तप्राथमिकावस्थां निर्दिशन्ति, तथापि पूर्वतनयुगच्छाया अपि तत्राङ्किता दृश्यन्ते। अवेस्ताग्रन्थ उपलब्धा अनेके सुसदृशाः सन्दर्भा इदं प्रकटयन्ति यत्तदानीमनेका देवता ऊरीक्रियन्ते स्म, यदा पारसीकानां भारतीयानां च पूर्वजाः समानस्थानवास्तव्या एकजातीयाश्चासन्। तासु देवतासु मृत्युदेवो यम उल्लेखनीयो यः स्वर्गाधिपतेर्यिमादभिन्नः। तथा मित्रं यः पारसीकानां मिथ्रनाम्ना प्रख्यातः। मित्रस्य मिथ्रस्य वा रोमराज्ये २००–४०० ईसवीयवर्षेषु

'ऋग्वेद के सूक्तों और आख्यायिकाओं में प्राकृतिक पदार्थों को मानवोचित स्वभाव के अनुसार जिस तरह से देवता मान लिया गया है, वह अन्य किसी प्राचीन साहित्य में उपलब्ध नहीं है। यह मानव जाति के विचारों का प्रारम्भिक रूप है। कई देवताओं ने, यह सत्य है, सूक्तकारों को काव्य-कला की देन दी है, परन्तु वेदों की स्वयं भासमानता के सिद्धान्त के सम्बन्ध में ऋग्वेद के रचयिता ऋषियों को बोध न था' (पृ० ५५), 'ऋषियों ने प्राकृतिक पदार्थों को मानवोचित कर्तृत्व का रूप दे दिया है' (पृ० ५५), यह कथन भी सर्वथा तुच्छ है, क्योंकि 'तस्मै नूनमभिद्यवे', 'यज्ञेन वाचः पदवी', 'पूर्वे पूर्वेभ्यो' इत्यादि मन्त्रपदों के द्वारा वेदों की नित्यता और स्वयं भासमानता का सिद्धान्त प्रतिपादित है। इसीलिये ऋषियों ने सूक्तों की रचना की, यह कथन गलत है, क्योंकि ऋषिगण मन्त्रों के द्रष्टा के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। इस तरह के अपौरुषेय सूक्तों के द्वारा ये देवता सम्बोधित हैं, अतः इनमें मानवोचित व्यवहार, विग्रहवत्त्व, चेतनावत्त्व, ऐश्वर्यवत्त्व का जो प्रतिपादन मिलता है, उसको यथार्थ रूप में ही स्वीकार करना पड़ेगा और तब आपकी कल्पना सर्वथा निर्मूल मानी जायगी।

'वह प्रकृति की चेष्टाओं को बालसुलभ विस्मय की भावना से देखता है। एक कवि प्रश्न करता है, 'क्योंकर सूर्य आकाश से गिर नहीं पड़ता'? तो दूसरा इसी अचम्भे में है 'रोज रोज तारे कहाँ जाते रहते हैं'? तीसरा तो इससे चकित है 'सकल नदियों का जल सन्तत बहता हुआ समुद्र में गिरता है, पर उसको भर नहीं पाता'। सूर्य और चन्द्र की अपरिवर्तित गति, उषा के अस्खलित उदय जैसी बातों से इन पुरातन कवियों को प्रतीत हुआ कि प्रकृति की चेष्टा में एकस्वरूपता है और उसका क्रम परिवर्तनशील नहीं। इस सामान्य नियम को प्राचीन महर्षियों ने 'ऋत' के नाम से प्रकट किया है, जिस शब्द का प्रयोग उन्होंने पहिले यज्ञानुष्ठान की निश्चित विधि और उसके पश्चात् सदाचार के शाश्वत नियमों के लिये किया। ऋग्वेद के कथानक अपेक्षाकृत मानव विकास की बहुत प्रारम्भिक अवस्था का निर्देशन करते हैं। तत्रापि यह स्पष्ट है कि उनमें और भी पूर्वतन युगों की प्रतिच्छाया अङ्कित है। अवेस्ता में उपलब्ध अनेक सुसदृश सन्दर्भ यह प्रकट करते हैं कि अनेक देवता उस काल में भी माने जाते थे, जब पारसियों और भारतीयों के पूर्वज एक ही जाति के थे। ऐसे देवताओं में मृत्युदेव यम उल्लेखनीय हैं, जो अवेस्ता के स्वर्गाधिपति यिम से अभिन्न हैं और खासकर मित्र जो पारसियों के धर्म में मिथ्र के नाम से ख्यात है। मित्र अथवा उसके पारसी पर्याय मिथ्र का प्रसार सम्पूर्ण रोम राज्य में २००-४०० ई०

सम्यक् प्रचार आसीत् । ईश्वरवादकोटिं यावत् तस्य व्यापकता सिद्धयति स्म, यथा ग्रीकधर्मेऽन्यस्याः कस्याश्चिदपि देवतायास्तथा व्यापकता न जाता ।

तस्यैव पूर्वतनयुगस्यानेकानि धार्मिकानुष्ठानानि वैदिककालेऽपि प्रचलितान्यासन् । यथाग्निपूजा, सोमवल्लीयागः । अवेस्ताग्रन्थे हओमारूपेण यः प्रसिद्धः । गाः प्रति पूज्यभावस्तत एव युगादद्ययावत्प्रचलितो विद्यते । धार्मिकसूक्तानां कृतेऽवश्यं तस्मिन् युगे एकदशाक्षरा चतुष्पात् त्रिष्टुप् अष्टाक्षरा चतुष्पदी त्रिपदी वा गायत्री प्रचलितासीदिति सम्भाव्यते, अवेस्ताग्रन्थे ऋग्वेदे च तेषां छन्दसां प्रयोगदर्शनात्' इति, तदपि न किञ्चित्, प्रातीतिकदृष्टयैव सूक्ष्मतत्त्वबुबोधयिषयैवानादिना वेदेन ऋषिरूपधारिणा तथा व्यवहारेऽपि वेदानां तात्कालिकत्वासिद्धेः । वेदो यथा क्वचिद् गुरुशिष्यरूपधरो वादकथया तत्त्वमवबोधयति, क्वचिच्च स्वेन रूपेण निगमयति, तथैव प्रकृतेऽपि बोध्यम् । 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० १०।१९०।३) इति सूर्यचन्द्रयोः परमेश्वरकर्तृकत्वमपि वेद एव ऋषिरूपेण वक्ति । परमेश्वरस्य सर्वान्तर्यामित्वरूपेणैकत्वं तत्तद्देवतारूपेण नानात्वं च वेद एव वक्ति । यथाऽद्यत्वे बाला विद्वांसश्चोभयेऽपि दृश्यन्ते । अद्यापि बाला बालस्वभावसुलभां चेष्टां कुर्वते, वृद्धा विद्वांसस्तु पाण्डित्योचिताम्, न तावताप्यद्य कालभेदकल्पना युक्ता । अद्यत्वेऽपि ग्रामेषु वलीवर्दैरुह्यमाना शकटी वायुयानं च दृश्येते । जाङ्गलिकयुगव्यञ्जकोऽग्निव्यञ्जकः पाषाणो दीपशलाका चोपलभ्येते । नान्यतरदर्शनेन युगकल्पना प्रामाणिकी, तथैव सर्वज्ञवेददृष्टया सर्वे भावा अर्वाचीनाः प्राचीनाश्च द्रष्टुं शक्यन्ते । न तावतापि कस्यचिदेकस्य दर्शनेन वेदस्य प्राचीनत्वमर्वाचीनत्वं वा शक्यावगमम्, हेतोर्व्यभिचारित्वात् । अवेस्ताग्रन्थस्य तु पौरुषेयत्वेन कालिकत्वमृग्वेदानुकारित्वं तद्देवतातुल्यदेवानुवादि-

सन् के मध्य हो गया था और लगभग एकेश्वरवाद की कोटि तक उसकी ऐसी व्यापकता सिद्ध हो गई थी, जैसी ग्रीक धर्म में और किसी देवता को प्राप्त नहीं हुई थी ।

उसी पूर्वतन युग के अनेक धार्मिक अनुष्ठानों की परम्पराएं वैदिक काल में प्रचलित रहीं, उदाहरणार्थ—अग्निपूजा और और सोमवल्ली का याग, जिसे अवेस्ता में 'हओमा' कहते हैं । गौ के प्रति पूज्यभाव उसी युग से चला आ रहा है । धार्मिक सूक्तों के लिये एकादशाक्षरी चार पाद का त्रिष्टुप् अथवा अष्टाक्षरी चतुष्पदी या त्रिपदी (अनुष्टुप् और गायत्री) अवश्य ही उस युग में प्रचलित होगी, जैसा अवेस्ता और ऋग्वेद इन दोनों प्राचीन ग्रन्थों में इन छन्दों का प्रयोग प्रमाणित करता हैं' (पृ० ५५-५६) । यह सारा कथन गलत है, क्योंकि प्रातीतिक दृष्टि से ही सूक्ष्म तत्त्वों का बोध कराने की मंशा से अनादि वेद ऋषियों के स्वरूप में आविर्भूत होकर इस तरह के व्यवहार को प्रवृत्त कराते हैं । वेदों की तात्कालिकता किसी तरह से सिद्ध नहीं की जा सकती । वेद जैसे गुरु और शिष्य का स्वरूप धारण करके वादकथा से तत्त्व का बोध कराता है और कहीं स्वरूपतः उसका निगमन करता है, उसी तरह से प्रकृत स्थल में भी जानना चाहिये । 'सूर्याचन्द्रमसौ' इस मन्त्र में सूर्य और चन्द्र को ईश्वर की कृति माना गया है । यहाँ पर वेद ऋषि के स्वरूप में ही इस बात को कहता है । परमेश्वर सर्वान्तर्यामी के रूप में एक है और उस-उस देवता का स्वरूप धारण करने पर अनेक हो जाता है, इस बात को भी वेद ही बताता है । जैसे आजकल बालक (मूर्ख) और विद्वान् दोनों ही दिखाई पड़ते हैं । आज भी बालक बालकों के स्वभाव के अनुकूल चेष्टाएं करते हैं और विद्वान् पांडित्योचित । इस स्वभाव भेद के आधार पर काल भेद की कल्पना उचित नहीं मानी जा सकती । आज भी गावों में बैलों से जुती हुई गाड़ियाँ और वायुयान साथ-साथ देखे जाते हैं । जङ्गली युग की याद दिलाने वाला चकमक पत्थर और दियासलाई आज साथ ही साथ मिलते हैं । जैसे इनमें से किसी एक चीज को देखकर किसी युग की कल्पना प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती, उसी तरह से सर्वज्ञ वेद की दृष्टि से सभी प्राचीन और अर्वाचीन पदार्थों को देखा जा सकता है, किन्तु इससे किसी एक के दर्शन के आधार पर वेद की प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता का समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस तरह का हेतु व्यभिचारी होता है । अवेस्ता ग्रन्थ तो पौरुषेय माना जाता है, अतः उसका कोई समय निर्धारित किया जा सकता है । ऋग्वेद का अनुकरण कर उसमें ऋग्वेद के समान नाम वाले देवताओं का उल्लेख भी माना जा सकता है । इसीलिये ऋग्वेद में प्राचीन

त्वमपि सम्भवत्येव । अत एव प्राचीनयुगच्छायाङ्कनमृग्वेद इत्यादिकल्पना दुष्कल्पनैव । न केवलमवेस्तायां किन्त्वद्यतनेष्वपि ग्रन्थेष्वनुवादिच्छन्दसां प्रयोगो दृश्यत एव ।

यदपि—'देवकल्पना ततोऽपि प्राचीने भारोपीयकाल उपलभ्यते, दिवस्पतिकल्पनापि तथैव । देवस् लॅटिन देउस; द्यौस्पिता ग्रीक झेउस् पेटर, लॅटिन जुपिटर सम्भाव्यते । ततोऽपि पूर्वतनभावना नूतनस्वर्गसम्बन्धिनी द्यावापृथिव्योर्विश्वस्य मातापितृत्वकल्पना च तथैव मन्त्रतन्त्रेषु विश्वासोऽप्यतिप्राचीनपरम्परया लभ्यते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनाद्यपौरुषेयवैदिकसंस्कारादेव सर्वत्र देवादिकल्पनाप्रसरसम्भवात् ।

यदपि—ऋग्वेदीयमहर्षिभिर्विश्वं भूपवनाकाशरूपेण त्रिधा विभक्तं प्रतीयते । ग्रीकैरपि तज्ज्ञायते स्म । त्रिलोकीकल्पनाभीष्टा ऋग्वेदस्य । नक्षत्रमण्डलस्याकाशेन सम्बन्धो विद्युद्वर्षादीनां वायोः । बृहन्तो निर्जला मेघाः क्वचिच्छिलारूपेण क्वचित्पर्वतरूपेण वर्ण्यन्ते, क्वचिदसुरदुर्गरूपेण कल्प्यन्ते, यत्रासुराः सुरैर्युद्ध्यन्ते । गर्जन्तो मेघा हम्भारवं कुर्वन्तीभिर्गोभिरुपमीयन्ते, यासां पयांसि भूमिं पोषयन्ति ।

सूर्य-उषस्-अग्नि-मरुत्प्रभृतयो बृहन्तो देवास्तु प्राकृतिकवस्तूनां मूर्तरूपा एव । प्राचीनयुगावशेषभूतान् कतिपयानपहायाधिकांशा देवा भौतिकाधारसम्बन्धा एव । अत एव तेषां पूर्णतया विकासो न जातः । तेषां रूपरेखा चरित्रगतव्यक्तित्वं न स्पष्टम् । तन्मूलभूतेषु प्राकृतिकवस्तुषु भेदका धर्मा अल्पा एव । सामान्यगुणधर्माश्च तत्रावलोक्यन्ते । यथा उषस् सूर्यः अग्निश्चैते सर्वे दीप्तिमन्तोऽन्धकारनाशकाश्च प्रातर्दृश्यन्ते । तेजो दयाभावो बुद्धिश्चेत्येते साधारणा धर्माः सर्वेषां देवानामुपलभ्यन्ते । असाधारणान् गुणानप्येते तिरोधापयन्ति, यतो विनयपूर्णसूक्तेषु साधारणा

युग की छाया की बात करना, दुष्कल्पना मात्र है । न केवल अवेस्ता में, किन्तु आजकल के ग्रन्थों में भी ऋग्वेद के अनुकरण पर इन्हीं छन्दों का प्रयोग मिलता है ।

'देव' की कल्पना तो इससे भी कहीं अधिक प्राचीन भारोपीय काल से हमें उपलब्ध हुई है और दिवस्पति की कल्पना भी उतनी ही पुरानी है (देव-स्, लैटिन-देउस; द्यौस्-पिता, ग्रीक-झेउस-पेटर, लैटिन जुपिटर) । संभवतः इससे भी अधिक पूर्वतन भावना भूतल और स्वर्ग के सम्बन्ध में (द्यावापृथिवी) रही होगी, जो विश्व के परम माता-पिता माने जाते हैं । इसी तरह से मन्त्र-तन्त्र में विश्वास भी एक अतिशय प्राचीन परम्परा है' (पृ० ५६) यह कथन भी गलत है, क्योंकि अनादि, अपौरुषेय वैदिक संस्कारों से ही सब जगह इस तरह की देवताविषयक कल्पनाओं का प्रसार हुआ है ।

'ऋग्वेद के ऋषियों को विश्व तीन विभागों में विभाजित प्रतीत हुआ, जो क्रमशः भू, पवन और आकाश हैं । यह विभाजन संभवतः ग्रीक लोगों को भी विदित था । यह त्रिलोकी ऋग्वेद का अभीष्ट विषय है । नक्षत्र मण्डल का सम्बन्ध आकाश से बताया गया है । विद्युत्, वर्षा और वायु का सम्बन्ध पवन से है । बड़े-बड़े निर्जल मेघ कहीं-कहीं चट्टान के रूप में तो कहीं पहाड़ के रूप में, तो कहीं वे असुरों के दुर्ग के रूप में कल्पित हैं, जहाँ वे सुरों से युद्ध करते हैं । गरजते हुए जलद रम्भाती हुई गायों के रूप में माने गये हैं, जिनका पय भूमि पर बरसता है और भूतल को परिपुष्ट करता है ।

ऋग्वेद के बड़े देवता तो प्राकृतिक वस्तुओं के मूर्तरूप मात्र हैं, जैसे सूर्य, उषस्, अग्नि और मरुत् । प्राचीन युग के अवशेष कतिपय देवताओं को छोड़ शेष अधिकांश देवता अपने भौतिक आधार से स्पष्टतः सम्बद्ध प्रतीत होते हैं । इसी कारण उनका मूर्तरूप पूर्णतया विकसित नहीं हो पाया । इनकी रूपरेखा और चरित्रगत व्यक्तित्व में स्पष्टता नहीं है । इस मूर्तरूप के पीछे जो प्राकृतिक वस्तु है, उनमें सच पूछो तो बहुत ही कम विभेदक धर्म हैं: प्रत्युत वे अपने वर्ग की अन्य वस्तुओं से बहुत कुछ सामान्य गुण धारण करते हैं । उदाहरणार्थ, उषस्, सूर्य एवं अग्नि—ये सभी देदीप्यमान हैं, अन्धकार को दूर करने वाले हैं और प्रातः दिखाई पड़ते हैं । तेज, दयाभाव और बुद्धि ये साधारण धर्म इन सभी देवताओं में पाये जाते हैं । ये साधारण गुण देवताओं के असाधारण गुणों को तिरोहित कर देते हैं । कारण, स्तुतिपरक और विनयपूर्ण सूक्तों में स्वभावतः साधारण गुण ही विशेष महत्त्व धारण कर लेते हैं ।

गुणा एव विशेषमहत्त्वं धारयन्ति । अनेकत्र युगलदेवान् सहैव वैदिका वर्णयन्ति । तत एव युग्मदेवेषु यत्राप्यतरस्यापि वर्णनं दृश्यते, तत्रैकगुणा अन्यतरस्मिन्नारोप्यन्ते । यथाग्निदेवस्य स्वतन्त्रोपासनवर्णनप्रसङ्गेऽपि वृत्रहन्तृत्वमुक्तम् । तत एव समानशक्तित्वभावनया देवेषु परस्परमभेदभावना सहजतामुपगता । एवं तादात्म्यमृग्वेदे बहुधोपलभ्यते । यथाग्निस्तवनप्रसङ्ग उक्तम्—हे अग्ने ! जन्मसमये वरुणोऽसि, धूमितावस्थायां मित्रो भवसि, हे शक्तिपुत्र ! त्वय्येव सर्वे देवाः केन्द्रिताः, यजमानाय त्वमेवेन्द्रोऽसि ।

एवमग्निसम्प्रदायभक्तैः परमपूज्येऽग्निदेवे तत्स्वभावे च न कानि रूपकाणि कल्पितानि ! स एवाकाशे विद्युद्रूपेण सूर्यमध्यगततेजोरूपेण दीप्यते । सूक्तनिर्मातृभिरिमान्येव रूपाण्यन्यत्रापि देवेषूपस्थापितानि, येनैवं प्रतीयते यद् विभिन्ना देवता कस्यचिदेकस्य देवस्य विविधरूपमात्रम् । प्रथममण्डले केनचित्सूक्तनिर्मात्रा प्रोच्यते—पुरोहितैरेक एव पदार्थो यमोऽनेकै रूपैर्वर्ण्यंते । ते तमेवाग्निं यमं मातरिश्वानं च वदन्ति । अन्यत्र च कविभिः पुरोहितैश्च एको विहङ्गमः सूर्य एव नानाशब्दैर्वर्ण्यंते (ऋ० सं० १०।११४) । एवंविधाभिरुक्तिभिर्विज्ञायते यद् ऋग्वेदस्य समाप्तिकाले बहुदेववाद एकेश्वरवादरूपेण परिणतः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, साधर्म्यवैधर्म्यवशात् कल्पनाबाहुल्योपपत्तेः । ऋग्वेदस्यानादित्वेन वैदिकजनानां संसर्गादन्यत्रापि त्रिलोकीकल्पनासत्त्वे बाधकाभावात् । मेघेषु पर्वतादिकल्पनास्तु पर्वतसाधर्म्यान्नानुपपन्नाः । एवं पयःसेक्तृत्वसामान्याद् गोभिरुपमानमपि नासम्भवि, वायुवेगैस्तेषु विद्यमानावरोधशक्तिभिश्च संघर्षानन्तरमवरोधशक्तिनिरोधाद्वृष्टिर्जायत इति देवासुरसंग्रामकल्पनापि युक्तैव । सूर्यादयो देवता भौतिकप्रकृतिसम्बद्धा अपि न भौतिकपदार्थमात्रम्, तत्तदधिष्ठातृदैवतरूपेण स्तूयमानत्वात् । अपौरुषेयत्वादीश्वरज्ञानमयत्वाच्च वेदोक्तयो

वैदिक ऋषियों ने अनेक जगह युगल देवों का साथ-साथ वर्णन किया है । इसीलिये युग्म देवताओं से पृथक् भी अन्यतर का जहाँ-कहीं वर्णन किया गया, वहाँ भी एक के गुण दूसरे में आरोपित हो गये हैं । उदाहरणार्थ—अग्निदेव की स्वतन्त्र उपासना के समय भी उसे वृत्रहन्ता बताया गया है । वास्तव में यह गुण वज्रधारी इन्द्र का है, जिसके साथ प्रायः अग्निदेव रहा करते हैं । प्रायः सभी देवताओं को समान शक्तिसंपन्न मानने की भावना ने एक देवता को दूसरे से अभिन्न समझने की धारणा को सहज बना लिया । ऐसा तादात्म्य ऋग्वेद में बहुधा उपलब्ध होता है । यथा, अग्निदेव की स्तुति करते हुए एक सूक्त में कहा गया है कि--'हे अग्नि, तुम जन्म के समय वरुण हो, सुगलने पर तुम मित्र हो, और ए शक्ति के पुत्र, तुम्हारे में सभी देवता केन्द्रित हैं, यजमान के लिये तो तुम इन्द्र ही हो' ।

अग्नि-सम्प्रदाय के भक्तों की दृष्टि में परम पूज्य अग्निदेव और उनके स्वभाव के सम्बन्ध में अनेक रूपकों की कल्पना की गई है । भूतल पर कई रूपों में उनके आविर्भाव कल्पित किये गये हैं । आकाश में उन्हें विद्युत् रूप और सूर्य के मध्य तेज के रूप में माना गया है । ये रूपक सूक्त-निर्माताओं के द्वारा अनेकत्र उपस्थित किये गये हैं, जिससे यह कल्पना होने लगती है कि ये विभिन्न देवता किसी एक दिव्य वस्तु के विविध रूपमात्र हैं । ऋग्वेद के पिछले सूक्तों में यह भाव अनेक स्थानों पर अभिव्यक्त होता है । प्रथम मंडल के एक सूक्त निर्माता ने कहा है—पुरोहित एक ही पदार्थ 'यम' का अनेक रूप से वर्णन करते हैं; वे उसे अग्नि, यम और मातरिश्वा कहते हैं । इसी तरह दशम मंडल के एक ऋषि ने कहा है—पुरोहित और कवि शब्दों के द्वारा एक ही विहंगम (सूर्य) का अनेक तरह से वर्णन करते हैं । इस प्रकार की उक्तियाँ यह स्पष्ट करती हैं कि ऋग्वेद काल के समाप्त होते-होते ऋषियों का बहुदेववाद एकेश्वरवाद में परिणत हो रहा था' (पृ० ५७-५८) । यह कथन भी प्रमाण रहित है, क्योंकि इस तरह से तो साधर्म्य और वैधर्म्य को देखकर नाना प्रकार की कल्पनाएं की जा सकती हैं । ऋग्वेद तो अनादि है । वैदिक जनों से सम्पर्क के कारण अन्य देशों में भी त्रिलोकी प्रभृति की कल्पना में कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ती । मेघों के लिये पर्वतादि की कल्पना उनके साधर्म्य को देखते हुए गलत नहीं मानी जा सकती । इसी तरह से गाय जैसे दूध देती है, उसी तरह से मेघ जल देता है, अतः इस समानता के आधार पर मेघ की गाय से तुलना करना भी ठीक ही है । वायु के वेग और मेघों में विद्यमान जल की अवरोधक शक्ति में संघर्ष होने के बाद ही अवरोध शक्ति के निरुद्ध हो जाने पर वृष्टि होती है । इस तरह से इसकी तुलना देवासुर संग्राम से करना भी ठीक ही है । सूर्य प्रभृति देवगण भौतिक प्रकृति से सम्बद्ध होते हुए भी केवल भौतिक पदार्थ मात्र नहीं हैं, क्योंकि उनकी स्तुति तत्तद् भौतिक पदार्थों के अधिष्ठाता देवता के

नोपचारपर्यवसायिन्यः, निरर्थकत्वे शास्त्रत्वानुपपत्तेः । हितशासनात् शास्तुर्वचनत्वाच्च शास्त्रत्वमृग्वेदादेः, 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र०सू० १।१।३) इति वादरायणसूत्रात्, शास्त्रमृग्वेदादिरिति शाङ्करभाष्यवचनाच्च । सर्वा देवताः परमेश्वरस्य महतो देवस्य विभिन्नरूपमात्रमिति तु वैदिकानां सिद्धान्त एव । अनेकदेववादो विकासक्रमेणैकेश्वरवादरूपेण परिणत इति कल्पना त्वसङ्गतैव, विकासवादस्य निरस्तत्वात् । अनादिकालादेवाधिकारिभेदेन यथा कर्मोपासनज्ञानानि वैदिकान्येव, तथैवानेकदेवैकदेववादादयोऽपि नित्या एवाधिकारिभेदेन वर्ण्यन्ते । साधर्म्येणैवाग्नेर्वज्रधरत्वोक्तिरपि गौण्या वृत्त्या सङ्गच्छते नाभेदमूलिका, भेदकानां गुणानां सत्त्वेऽभेदानुपपत्तेः । अग्नेर्वरुणमित्रत्वादिकमपि गौण्यैव वृत्त्या शौर्यक्रौर्यादिगुणयोगादसिंहेऽपि देवदत्ते सिंहत्वव्यपदेशवत्, तत्तद्विशेषणसापेक्षत्वेन देवतानां भिन्नत्वेऽपि तद्विशेषणोपलक्षितसच्चिदानन्दब्रह्मात्मना तु सर्वत्रैक्यमेव । 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।' (ऋ० सं०१।१६४।४६) । अमुमादित्यमैश्वर्यादिविशिष्टमिन्द्रमाहुः, तथा मित्रं मरणात् त्रातारमहरभिमानिनं वरुणं पापस्य निवारकं रात्र्यभिमानिनमग्निमेतन्नामकमाहुः । दिवि भवो दिव्यः सुपर्णः सुपतनो गरुत्मान् पक्षवान् पक्ष्यस्ति, सोऽप्ययमेव । एकमेव वस्तुतः सन्तं विप्रा मेधाविनो बहुधा वदन्ति कार्यकारणेनाग्निं वैद्युतं यमं नियन्तारं सूर्यस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वात् सार्वात्म्यमुक्तम् । केषाञ्चिद्रीत्याऽत्राग्निरेवोद्देश्यः ।

यदपि—'देवानामेव न बहुरूपता, किन्तु प्रकृतावपि सा प्रतीयते । यथाऽदितेस्तादात्म्यं न केवलं सकलदेवगणैरेव कृतम्, किन्तु मानवैस्तथाकाशवायुमण्डलवर्तिभिः सर्वभूतवर्तमानभाविप्राणिभिरपि वर्णितं दृश्यते (ऋ० सं० १।८९) । विश्वोत्पत्तिप्रतिपादके नासदीयसूक्ते (ऋ० सं० १०।१२१) सर्वस्रष्टा न केवलं देवाधिदेवत्वेनैव वर्णितः,

रूप में की जाती है । वेदवचन अपौरुषेय और ईश्वर के ज्ञान स्वरूप हैं, इनका केवल औपचारिक प्रयोग मानने पर निरर्थकता के आधार पर शास्त्रता ही नहीं बन पावेगी । हितावह उपदेश देने से और शास्ता ईश्वर का वचन होने के कारण ऋग्वेदादि में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग होता है । 'शास्त्रयोनित्वात्' इस वादरायण सूत्र पर शङ्कराचार्य का भाष्य है कि 'ऋग्वेदादि शास्त्र कहे जाते हैं' । अन्य सभी देवगण महान् देव परमेश्वर के विभिन्न स्वरूप मात्र हैं, यह तो वैदिकों का सिद्धान्त है ही । अनेकदेववाद विकास के सिद्धान्त के अनुसार एकदेववाद में परिणत हो गया, यह कल्पना सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि विकासवाद को हम अस्वीकार कर चुके हैं । अनादिकाल से अधिकारी के भेद के अनुसार जैसे कर्म, उपासना और ज्ञान काण्ड की सब पद्धतियाँ वैदिक ही मानी जाती हैं, उसी तरह से अनेकदेववाद और एकदेववाद भी अधिकारी के भेद के अनुसार सदा से चले आ रहे हैं । साधर्म्य के आधार पर ही अग्नि के लिये 'वज्रधर' शब्द का प्रयोग भी गौण वृत्ति के आधार पर किया जा सकता है, अग्नि और इन्द्र की अभिन्नता के आधार पर नहीं, क्योंकि जब इनमें परस्पर भेदक अनेक गुण विद्यमान हैं, तो एक दो समानताओं के आधार पर अभेद नहीं स्थापित किया जा सकता । अग्नि का वरुण प्रभृति देवताओं से अभेद भी गौणी वृत्ति की सहायता से उसी तरह से स्थापित किया जा सकता है, जैसा कि शौर्य, क्रौर्य प्रभृति गुणों के आधार पर देवदत्त प्रभृति माणवक में सिंह पद का आरोप किया जाता है । उन-उन विशेषणों की सापेक्षता में देवताओं का भेद रहते हुए भी इन सभी विशेषणों से उपलक्षित सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म के रूप में ये सब एक ही हैं । 'इन्द्रं मित्रं वरुण' इत्यादि ऋङ्मन्त्र का अर्थ यह है—उस ऐश्वर्य प्रभृति गुणों से विशिष्ट आदित्य को इन्द्र कहा जाता है, उसी को मृत्यु से त्राण के रूप में मित्र; पापों से निवारक के रूप में वरुण और रात्रि के अभिमानी देवता के रूप में अग्नि कहते हैं । यही आदित्य आकाश में स्वच्छन्द विचरण करने वाला दिव्य पक्षी है । वस्तुतः यह एक ही है, किन्तु मेधावी विप्र इसकी अनेक रूपों में स्तुति करते हैं । कार्यकारणभाव के आधार पर इसको वैद्युत अग्नि, नियन्ता यम कहते हैं ।' इस तरह से यहाँ पर ब्रह्म से अभिन्नता के आधार पर सूर्य की सर्वात्मकता का वर्णन है । कुछ लोगों के मत से यहाँ पर सूर्य के स्थान पर अग्नि वर्णित है ।

'कभी-कभी हमें प्रतीत होता है कि देवत्व की बहुरूपता केवल देवताओं तक ही सीमित नहीं, परन्तु वह प्रकृति तक जा पहुँचती है । जैसे अदिति का तादात्म्य न केवल सकल देवगण से ही किया गया है, परन्तु मानवों तथा उन सब प्राणियों के साथ भी किया गया है, जो आकाश और वायुमण्डल में उत्पन्न हुए हैं, या होंगे (ऋ० १।८९) । विश्वोत्पत्ति के प्रतिपादक नासदीय सूक्त (ऋ०

किन्तु सर्वात्मत्वमपि तस्योक्तम्। सर्वत्र वैदिकसाहित्येषु बहुदेववादस्य वीजं विकसितं जातम्, परन्तु तस्यान्तिमं रूपं वेदान्तदर्शनरूपेण परिणतम्। यद्धिन्दूनां सर्वाधिकजनप्रियं दर्शनम्। ऋग्वेदस्य पूर्वरचितेष्वंशेष्वपि सैव पद्धतिर्दृश्यते, यत्र प्रत्येकं देवस्य स्तुतिः सर्वेश्वररूपेण कृता दृश्यते। अनया पद्धत्यैव मैक्समूलरस्य सर्वेश्वरवादो जन्म लेभे, यत्रेदमुक्तम्। ऋषिगणः सर्वान् देवान् यथाक्रमं सर्वोपरि देवं मन्यते स्म। तत्क्षणे तं देवं तथा स्तुवन्ति यथाऽयमेव पूर्णस्वतन्त्रः सर्वसत्ताशालीति प्रतीयेत। वस्तुतस्तु ऋग्वेदरचयितॄणामियं पद्धतिः केवलमत्युक्तिप्रायैव। सैव पद्धतिर्होमरगीतेषु लभ्यते। भक्तः स्वोपास्यमेव सर्वोत्कृष्टरूपेण पश्यतीति सामान्यभावना दृश्यते। एतत्तथ्यं सोमयागे दृश्यते, यत्र सर्वेषां देवानां भागाः कल्पिताः। हिन्दूनां सर्वे देवा यज्ञे स्वं स्वं भागं लभन्ते' (पृ० ५८-५९) इति, तदपि न किञ्चित्, अदितिपदेनाखण्डितायाः प्रकृतेर्देवमातुः प्रकृतिप्रकृतेः परमेश्वरस्य वा विवक्षितत्वेन तत्कार्याणां तदनयत्वेन तत्तादात्म्योपपत्तौ बाधाभावात्। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१), 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४), 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (ब्र० सू० १।२४।३) इत्यादिश्रुतिसूत्रादिवचनशतेभ्यः। एवं सकलजगदात्मनाऽदितिः स्तूयते। उक्तं च यास्केन 'इत्यदितेर्विभूतिमाचष्टे' (नि० ४।३) इति। नासदीयं सूक्तं त्विहैव व्याख्यातम्। देवस्यैकत्वनानात्वादिकं तु वैदिकानामधिकारभेदादेव वर्णितम्, पारमार्थिकव्यावहारिकभेदेनोभयोरपि सत्त्वात्। 'एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्' (भ० गी० ९।१५) इति गीतोक्तेश्च। मैक्समूलरस्य सर्वेश्वरवादस्तु तदीयभ्रान्तिनिबन्धन एव। नहीश्वरः क्रमेण निष्पद्यते, तस्य नित्यसिद्धत्वात्।

यदपि—'वैदिकसूक्तरीत्याऽनादिरजन्मा देवो नास्ति; द्यावापृथिव्योरपत्यत्वात्। केचित्तु देवा देवान्तरेभ्य उत्पद्यन्ते। एतेन देवतासु पितृपितामहादिपुरुषा अपि भवन्ति। पूर्ववर्तिनोऽपि देवाः सूक्तेषु वर्ण्यन्ते। मूलतो नैतेऽमृताः। अमरत्वं देवताविशेषात्तेषां प्राप्यते, यथाऽग्नेः सवितुश्च सोमपानेनामरत्वं जातम्। इन्द्रादयोऽजरास्ते सदैवामरा इत्यत्र

१०।१२१) में स्रष्टा न केवल देवाधिदेव बताये गये हैं, परन्तु उन्हें सर्वात्मक भी कहा है। बहुदेववाद का यह बीज सर्वत्र वैदिक साहित्य में विकसित होता रहा, परन्तु उसका अन्तिम रूप जाकर वेदान्तदर्शन में परिणत हुआ, जो हिन्दुओं का सर्वाधिक जनप्रिय दर्शन है। ऋग्वेद के पूर्वरचित अंशों में भी ऋषियों की यही पद्धति पाई जाती है, जिसमें हर देवता की स्तुति सर्वेश्वर के रूप में की गई है। इस पद्धति ने आचार्य मैक्समूलर के सर्वेश्वरवाद को जन्म दिया, जिसमें यह माना गया है कि ऋषिगण प्रत्येक देवता को बारी-बारी से सर्वोपरि देव मानते रहे हैं और उस-उस क्षण उस देवता की इस प्रकार स्तुति करते हैं, मानों वह देवता बिलकुल स्वतन्त्र एवं सर्वसत्ताशाली हो। वास्तव में ऋग्वेद के रचयिताओं की यह पद्धति केवल अत्युक्तिमय है, जो होमर के गीतों में भी पाई जाती है। यह एक सामान्य भावना है भक्त की, जो अपने उपास्य देव को सर्वोत्कृष्ट रूप में देखता है। इस बात का तथ्य तो सोमयाग की विधि में स्पष्ट हो जाता है, जहाँ प्रत्येक देवता के लिये यज्ञ में अपना-अपना भाग कल्पित है और लगभग हिन्दुओं के सभी देवता यज्ञ में भाग पाते हैं' (पृ०५८-५९)। यह कथन भी कुछ नहीं है, अदिति पद से यहाँ पर देवमाता अखण्डित प्रकृति, जो कि प्रकृति की भी प्रकृति है, अथवा परमेश्वर है, विवक्षित है, अतः उसके कार्य उससे भिन्न नहीं होते, अत एव तदात्मक ही हैं, इसमें क्या विरोध हो सकता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'तदनन्यत्व०, प्रकृतिश्च०' इत्यादि श्रुतियों एवं सूत्रों में इसी बात का प्रतिपादन किया गया है। इस तरह से सकल जगत् स्वरूप में अदिति की स्तुति की जाती है। इसीलिये यास्क ने कहा है—'इस तरह से अदिति की विभूति का वर्णन किया जाता है।' नासदीय सूक्त की अन्यत्र व्याख्या की गई है। एक ही देव का नानात्व अधिकार भेद के अनुसार व्याख्यात है। पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप में एकत्व और नानात्व दोनों ही देवताओं का मान्य है। यही बात 'एकत्वेन पृथक्त्वेन' इस गीता वचन में प्रतिपादित है। मैक्समूलर का सर्वेश्वरवाद उसकी भ्रान्त धारणा पर आधारित है, नित्यसिद्ध ईश्वर की क्रम से निष्पत्ति का कोई प्रसंग ही नहीं उठ सकता।

'वैदिक सूक्तकारों के मत से तो देवता अनादि नहीं, न वे अजन्मा हैं, कारण वे द्यावापृथिवी के अपत्य कहे जाते हैं और कुछ देवता तो दूसरे देवताओं से उत्पन्न भी माने जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि देवताओं में पीढ़ियाँ होती हैं। कई सूक्तों में तो पूर्ववर्ती देवताओं का भी वर्णन मिलता है। ये देवता मूलतः अमर नहीं माने जाते थे। कारण, अमरत्व तो उन्हें देवताविशेष के द्वारा

प्रमाणं नोपलभ्यते। वेदोत्तरविचारधारायां त्वेषामजरामरत्वमाभूतसम्प्लवस्थायित्वेनापेक्षिकमेव' (पृ०५९) इति; तदपि यत्किञ्चित्, आजानकर्मदेवादिभेदेन देवानामनेकविधत्वात्। सर्वथानाद्यनन्तत्वलक्षणममृतत्वं तु परमेश्वरस्यैव। प्रकरणानुसारेणेन्द्राग्निशब्दैरपि स एवाभिधीयते। विष्णुरुद्रादिशब्दैरपि स एवाभिधीयते। तस्य च निर्गुणसगुण-निराकारसाकारभेदा अपि सन्ति। नित्या अपि ते देवानां कार्यसिद्धयर्थमुत्पद्यन्ते। 'देवानां कार्यसिद्धयर्थमाविर्भवति सा यदा। उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते॥' (दु० स० १।६५) इत्युक्तेः। वेदोत्तरकालिकत्वं वेदान्तानामिति कल्पनापि निर्मूलैव, तेषामप्यपौरुषेयत्वेन नित्यत्वात्।

यदपि—'वैदिकदेवतानां मूर्तस्वरूपं मानवीयम्, तेषां हस्तपादघ्राणमस्तकमुखादिमानवावयववर्णनात्। परन्तु देवानां प्रतिमा छायात्मिकैव मन्यते। तेषां गात्राण्यङ्गानि वा प्रायेणालङ्कारिकाण्येव तत्तत्क्रियाद्योतकानि। यथाग्नेर्देवस्य जिह्वाऽङ्गानि च ज्वालारूपाण्येव। नेत्रं तु बिम्बमात्रम्। तस्माद् बाह्यं रूपं प्रकल्पितमेव, तथाप्यान्तरिक-शक्तीनां प्राकृतिकतत्त्वैः सम्बन्धोऽन्यत्र स्पष्टमुक्तः। अत एव ऋग्वेदे देवप्रतिमामन्दिरादीनां वर्णनं नोपलभ्यते। सर्वप्रथमं सूत्रेषु प्रतिमावर्णनं दृश्यते' (पृ० ५९-६०) इति, तदप्यपास्तम् विप्रतिषिद्धत्वात्। त्वयाऽङ्गीकृतस्य तेषां हस्तपादादेर्वर्णनं तद्राहित्यं चेति विप्रतिषिद्धमेव। 'नमो हिरण्यबाहवे', 'नीलग्रीवाः', 'शितिकण्ठाः' इत्यादिवर्णनेन मूर्तिमत्त्वमुक्तमेव। मन्त्रेषु सूत्रभूतमेवोच्यते। यज्ञस्यापि साङ्गोपाङ्गवर्णनं क्व मन्त्रेषूपलभ्यते? ब्राह्मणेषु पुराणेषु च तदुपबृंहितमेव, न तु नवीनं किञ्चिदुच्यते। अग्नेर्ब्राह्मणरूपेण खाण्डवदहनेऽर्जुनं प्रति साहाय्ययाचनाद् देवताधिकरणे बादरायणेन विग्रहवत्त्वमैश्वर्यवत्त्वं चोक्तमेव। विस्तरेणैतदुपपादितं शङ्करभगवत्पादैः।

प्राप्त हुआ है। उदाहरणार्थ—अग्नि और सविता को सोमपान से अमरता मिलती है। इन्द्र और कुछ देवता अजर बताये गये हैं, परन्तु 'वे सदा अमर हैं' इसके लिये कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। वेदोत्तर विचारधारा में तो इनका अजरत्व और अमरत्व केवल अपेक्षाकृत है। कारण, वह एक कल्प तक सीमित है' (पृ० ५९) यह कथन भी कुछ नहीं है, क्योंकि आजानदेव, कर्मदेव प्रभृति के भेद से देवता अनेक तरह के होते हैं। सर्वथा अनादि, अनन्त. लक्षण अमरत्व केवल परमेश्वर में ही विद्यमान है। प्रकरण के अनुसार इन्द्र, अग्नि प्रभृति शब्दों से यह परमेश्वर ही अभिहित होता है। इस परमेश्वर के निर्गुण, सगुण; निराकार, साकार प्रभृति भेद भी होते हैं। ये नित्य हैं, तो भी देवताओं के कार्य को पूरा करने के लिये उत्पन्न होते रहते हैं। दुर्गा सप्तशती में कहा गया है कि—'देवताओं के कार्य की सिद्धि के लिये जब यह भगवती आविर्भूत होती है, तब इसकी नित्यता के रहते हुए भी इसमें उत्पन्न हुई, इस प्रकार का व्यवहार होता है'। वेदों की रचना के बाद वेदान्त दर्शन की कल्पना की गई, यह बात भी सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि ये उपनिषद् भी अपौरुषेय हैं, अत एव नित्य हैं।

'वैदिक देवताओं का मूर्त स्वरूप मानवीय है। उनके हाथ, पाँव, नाक, भुजा, सिर, मस्तक, मुख आदि मानव शरीर के अवयव बताये गये हैं। परन्तु उनकी प्रतिमा केवल छायात्मक मानी जाती है। उनके गात्र या अङ्ग प्रायः आलङ्कारिक रूप में वर्णित हैं, जो उन-उन क्रियाओं के द्योतक हैं। उदाहरणार्थ—अग्निदेव की जिह्वा और गात्र केवल ज्वालाएं और उनकी आँख तो बिम्ब मात्र हैं। इस तरह इनका बाह्य स्वरूप स्पष्ट रूप से प्रकल्पित था! परन्तु इनकी आन्तरिक शक्ति का प्राकृतिक तत्त्व से सम्बन्ध कई जगह बिल्कुल स्पष्ट है। यही कारण है कि ऋग्वेद में न कहीं देवताओं की प्रतिमा का वर्णन है और न कहीं मन्दिरों का उल्लेख है। प्रतिमा का वर्णन सबसे पहले हमें सूत्रों में ही मिलता है' (पृ० ५९-६०)। इस तरह के परस्पर विरुद्ध वचन अपने आप खंडित हो जाते हैं। आप उन देवताओं के हस्तपादादि का वर्णन भी करते हैं और फिर उनका निषेध भी करते हैं। यह बात परस्पर विरुद्ध है। 'नमो हिरण्यबाहवे', 'नीलग्रीवा', शितिकण्ठा' इन वर्णनों में देवताओं की मूर्तिमत्ता स्पष्ट प्रतिपादित है। मन्त्रों में सूत्र रूप में ही, संक्षेप से ही कोई बात कही जाती है। कहीं-कहीं यज्ञों का सांगोपाङ्ग वर्णन भी मन्त्रों में मिलता है। ब्राह्मण और पुराणों में उनका ही उपबृंहण किया जाता है। कोई नवीन विषय इनमें प्रतिपादित नहीं है। अग्नि खाण्डव वन को जलाने में सहायता करने के लिये अर्जुन के पास ब्राह्मण के स्वरूप में आता है। देवताधिकरण में बादरायण ने देवताओं की विग्रहवत्ता और ऐश्वर्यवत्ता का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में इसका विस्तार से प्रतिपादन किया है।

यदपि च—'केचिद्वीरभटरूपेण वर्ण्यन्ते ये कवचं शिरस्त्राणं परशुं धनुर्बाणादीनि शस्त्राणि धारयन्ति दिव्यरथारूढा आकाशे चरन्ति। तेषां रथवाहकाः क्वचिदश्वाः क्वचिद्वृषभा अजा हरिणाश्च। यज्ञभागग्रहणार्थं ते यज्ञमुपगच्छन्ति। क्वचिदग्निनैव भागा उह्यन्ते। ते स्नेहवन्तः साम्मनस्येन तिष्ठन्ति। क्वचिदिन्द्रो युद्ध्यमानो दृश्यते' (पृ० ६०) इति, तदपि त्वद्रीत्या पूर्वापरविरुद्धमेव, सिद्धान्ते तु महाभाग्यात्तेषां तदुपपद्यत एव।

यदपि—'वैदिका देवा उपकारका दीर्घायुष्यादिकं प्रयच्छन्ति। बलाद्रुद्रादेवापत्तयः सम्भवन्ति। व्याध्यादयस्तु क्षुद्रेभ्यो दानवेभ्यः समायान्ति। अनावृष्ट्यादयस्तु वृत्रादिव शक्तिशालिनोऽसुरादेव भवन्ति। देवाः सत्यवादिनो धर्मन्यायपक्षपातिनः। सर्वापेक्षया सुशीलो वरुणस्तथा नीतिमानस्ति यश्छद्मप्रायैः शत्रुभिरपि छलकरणे सङ्कुचति। सामान्यतया नैतिकोच्चतायास्तथा न महत्ता यथा तेषां शक्तेर्महत्ता' (पृ० ६०) इति, तदपि यत्किञ्चित्, देवानां सौशील्यस्य बहुधा वर्णनात्। रुद्रस्तु परमेश्वर एव। तस्य प्राणिकर्मानुरूपेण घोरायास्तन्वा भयहेतुत्वेऽप्यघोरायाः शिवायास्तन्वाः सर्वकल्याणकरत्वोपपत्तेः।

यदपि च—'कामनासिद्ध्यर्थं देवताभ्यो बलिप्रदानं सोमरसाहुतिश्च क्रियते। अत्रैव पौरोहित्यदम्भस्य बीजमुपलभ्यते, यद्वैदिकयुगे शनैः शनैर्वृद्धिमुपागमत्। शुक्लयजुर्वेदे एवमपि वचनमुपलभ्यते यद् देवता यथार्थज्ञानवतां ब्राह्मणानां वशे तिष्ठन्तीति। ब्राह्मणग्रन्थेषु ततोऽप्यधिकतया दम्भो वृद्धिमुपागात्। जगति द्विविधा देवताः सन्ति, एको देवोऽन्यो ब्राह्मणः। ब्राह्मणो भूदेवः। ब्राह्मणग्रन्थे यागः सर्वशक्तिमत्त्वेन वर्णितः। यागद्वारा न केवलं देवताः, किन्तु प्राकृतनियमा अपि वशीक्रियन्ते' (पृ० ६१) इति, तदपि पाश्चात्यानां दुरभिसन्धिरेव, वेदस्वरूपतन्माहात्म्यानवगमविजृम्भितत्वात्। मन्त्रब्राह्मणात्मकाः सर्वे वेदा अपौरुषेयत्वादपास्तसमस्तपुंदोषशङ्काकलङ्कपङ्कत्वेनानाशङ्कनीयत्वाद्

'कुछ देवता हमारे सामने वीर भट के रूप में उपस्थित होते हैं, जो कवच पहिनते हैं, शिरस्त्राण धारण करते हैं, भाले लिये हुए हैं, उनके पास फरसे हैं और धनुर्बाण भी हैं। वे दिव्य रथों में आरूढ़ होकर आकाश में संचार करते हैं। उनके रथ प्रायः घोड़े हांकते हैं। कहीं-कहीं वृषभ, अज और हरिण भी रथ हांकते हुए बताये गये हैं। इन रथों पर आरूढ़ होकर के यज्ञ में भाग लेने जाते हैं, जो अन्यथा उन्हें स्वर्ग में भी अग्नि देव द्वारा पहुंचा दिया जाता है। आम तौर पर ये देवता आपस में स्नेहपूर्वक रहते बताये गये हैं। हां, कभी-कभी लड़ते-भिड़ते इन्द्र पाये जाते हैं' (पृ० ६०)। यह सारा कथन आपकी पहले कही गई बात से विरुद्ध पड़ता है। हमारे मत से तो यह सब इसलिये सम्भव हो सकता है कि देवतागण महान् ऐश्वर्यशाली होते हैं।

'वैदिक युग के देवता हमेशा उपकारक और दीर्घायु तथा अभ्युदय प्रदान करने वाले थे। एकमात्र देवता जिससे हानि का भय हो सकता था, वह रुद्र थे। मानव में छोटी-बड़ी आपत्तियां, व्याधि आदि तो क्षुद्र दानवों के कारण उत्पन्न होती थीं और अनावृष्टि आदि विपत्तियां वृत्र जैसे शक्तिशाली असुर से पैदा होती थीं। देवता सत्यवादी, कभी छल न करने वाले और सदा धर्म तथा न्याय के पक्षपाती माने गये हैं। सबसे सुशील देवता वरुण का नीति के साथ इतना संयोग है कि वह कपटी शत्रु के साथ भी छल करने से हिचकिचाते हैं। सामान्यतः नैतिक उच्चता में देवताओं को उतना ऊँचा स्थान नहीं दिया गया है, जितना उनकी शक्ति की महत्ता को दिया है' (पृ० ६०)। यह कथन भी सारहीन है, क्योंकि देवताओं के सुशील स्वभाव का अनेक स्थानों में वर्णन है। रुद्र तो स्वयं परमात्मा है। प्राणियों के कर्म के अनुसार रुद्र का घोर स्वरूप भयङ्कर और अघोर स्वरूप कल्याणकर होता है।

'यह आशय भी बहुधा प्रकट किया गया है कि देवताओं को बल और स्फूर्ति इन सूक्तों, बलिदानों से और विशेषकर सोमरस की आहुति से प्राप्त होती है। यहीं हमें पौरोहित्य के दम्भ का बीज प्राप्त होता है, जो कि वैदिक युग में धीरे-धीरे बढ़ता ही गया। शुक्ल यजुर्वेद में ऐसा वचन भी मिलता है कि देवता उस ब्राह्मण के वश में हैं, जिसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त है। ब्राह्मण ग्रन्थ तो इससे भी अधिक आगे बढ़ गये हैं और कहते हैं कि दुनियां में दो प्रकार के देवता हैं—एक देव और दूसरे ब्राह्मण, जिन्हें नरदेव अथवा भूदेव समझना चाहिये। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यज्ञ की महत्ता सर्वोपरि है। वे याग को सर्वशक्तिमान् मानते हैं, जिसके द्वारा न केवल देवता ही, अपितु प्राकृतिक नियम भी वश में किये जा सकते हैं' (पृ० ६१) यह सब पाश्चात्यों की दुरभिसन्धि मात्र है। मूलतः वे वेद के स्वरूप और उसके माहात्म्य को ठीक से समझ ही नहीं पाये हैं। मन्त्रब्राह्मणात्मक समस्त वेद अपौरुषेय हैं, अतः पुरुषकृत दोषों की

दोषशून्याः परमप्रमाणभूताः। दम्भस्य को वा हेतुः? ये कठिनतपस्यया शिलोञ्छवृत्त्या जीवनं यापयन्ति, अश्वस्तनिकवृत्त्यैव च तुष्यन्ति। अपरिग्रहा लोककल्याणपरायणाः संन्यासेन सर्वत्यागेन सर्वमुपेक्ष्य परमार्थतत्त्वमेवाभिलषन्ति। राज्यशासने धनाध्यक्षत्वेऽन्यान् योजयन्ति ते किमभिलक्ष्य दम्भं कुर्वन्तीति चेति न्यायकुसुमाञ्जलौ महताटोपेनोदयनाचार्यैर्निराकृतत्वात्। मैकडानलाद्वर्षसहस्रादपि प्राचीना उदयनाचार्याः। मा कश्चिन्मन्दधीर्मैकडानलात् परभावित्वमुदयनाचार्यस्य शङ्किष्टेति। पूर्वमपि तथाविधानां नास्तिकशङ्कानामुदयात् तत्समाधानाच्च। सदा नास्तिकानां शङ्का जाग्रति सदैव च तन्निराकरणार्थमास्तिकाः प्रयतन्ते। सृष्टावेवं चक्रं परिभ्राम्यत्येव। इहाप्यपौरुषेयत्वं समर्थितमेव।

ब्राह्मणवादकल्पना तु पाश्चात्त्यानां दुरभिसन्धिमूलिका, तादृशवादस्य वैदिकसाहित्ये क्वाप्यदर्शनात्। किञ्च, यदि वेदाः पौरुषेयाः स्युस्तदैव कस्यचित्पुरुषस्य दम्भो वेदे व्यक्तिमियात्। ऋषयस्तु मन्त्रद्रष्टार एव न कर्तार इत्यसकृदुक्तम्। अपि च, देवतानां बलं स्फूर्तिश्चैतैः सूक्तैः सोमरसाहुत्या च जायत इत्यनेन, यथार्थज्ञानवतां ब्राह्मणानां देवता वशे भवन्ति इत्यनेन, ब्राह्मणानां भूदेवत्वमित्यनेन च कथनेन कथं दम्भस्त्वया ज्ञायते? तथार्थस्य बाधाद्दम्भेन तत्कथनं मिथ्येति वक्तुं शक्यते, बाधस्तु कथं त्वया ज्ञायते? यस्य देवता प्रत्यक्षा तद्बलं स्फूर्तिश्च प्रत्यक्षे स्याताम्, तेनैव तदभावोऽपि ज्ञातुं शक्यते। न च युष्माकं देवता प्रत्यक्षा तत एव तदभावोऽपि न प्रत्यक्षस्तथा च कथं बाधः? नाप्यागमेन तद्बाधस्तथाविधागमादर्शनात्, नाप्यनुमानेन लिङ्गाभावात्। सूक्तैः सोमाहुत्या देवानां बलस्फूर्त्यभावोऽपि युष्माभिः कथं ज्ञायते? मनुष्यविलक्षणेषु देवेषु युष्माकं विश्वासो नास्ति। तथा च लौकिका एव देवा न ब्राह्मणा

आशंका का लवलेश भी प्रसर इनमें नहीं माना जा सकता। इस तरह से समस्त दोषों से रहित होने से ये परम प्रमाणभूत माने जाते हैं। यहाँ दम्भ का प्रसंग ही कहा उठता है। जो कि ऋषिगण कठिन तपस्या करते हैं, शिलोञ्छ वृत्तियों से जीवन यापन करते हैं और कल की, आगे की चिन्ता नहीं करते। अपरिग्रही, लोक के कल्याण में सदा निरत, संन्यास के द्वारा सर्वस्व का त्याग करने वाले ये ऋषिगण सभी सांसारिक सुखों की उपेक्षा कर परमार्थ तत्त्व के अन्वेषण में ही सदा लगे रहते हैं। जो राज्य का शासन चलाने के लिये और धनाध्यक्ष के पद पर अन्य व्यक्तियों की नियुक्ति करते हैं, वे क्या सोचकर दम्भ करेंगे? इस तरह के आक्षेपों का न्यायकुसुमाञ्जलि के रचयिता उदयनाचार्य ने प्रबल युक्तियों के सहारे खंडन किया है। उदयनाचार्य मैकडानल से एक हजार वर्ष पहले हो चुके हैं। किसी को यह शंका नहीं रहनी चाहिये कि उदयनाचार्य मैकडानल के बाद हुए। इस तरह की नास्तिक जनों की शंकाएँ पहले भी उठती रही हैं और उनका यथोचित समाधान भी किया जाता रहा है। इस तरह नास्तिक जन सदा शंका उठाते रहते हैं और आस्तिक जन उनके निराकरण का उपाय करते रहते हैं। इस तरह का चक्र सृष्टि में निरन्तर चलता रहता है। इसीलिये हमने इस ग्रन्थ में वेदों की अपौरुषेयता का पुनः पुनः समर्थन किया है।

ब्राह्मणवाद की कल्पना पाश्चात्य विद्वानों की एक दुरभिसन्धि मात्र है। वैदिक साहित्य में इस तरह का ब्राह्मणवाद कहीं नहीं दिखाई पड़ता। अपि च, यदि वेदों को पौरुषेय माना जाय, तभी किसी पुरुष का दम्भ वहाँ दिखाई पड़ सकता है। यह हम बार बार कह चुके हैं कि ऋषिगण मन्त्रों के द्रष्टामात्र हैं, कर्ता नहीं। दूसरी बात देवताओं को बल और स्फूर्ति इन सूक्तों से और सोमरस की आहुति से प्राप्त होती है, 'देवता उस ब्राह्मण के वश में रहते हैं, जिसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त है', 'ब्राह्मण भूदेव हैं' इन वाक्यों में दम्भ की गन्ध आपको कैसे मिलती है? यहाँ पर प्रतिपादित अर्थ का यदि बाध हो तो उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह कथन मिथ्या है, दम्भ-प्रयुक्त है। किन्तु इस अर्थ का बाध होता है, इस बात को आप कैसे जान सकते हैं? जिस व्यक्ति को देवता का प्रत्यक्ष ज्ञान होता हो और जो उनमें बल और स्फूर्ति का भी दर्शन करता हो, वही उसके अभाव को जान सकता है। आपको तो देवता का प्रत्यक्ष है नहीं, तब उसके अभाव की प्रतीति आपको कैसे हो सकती है और यह बाध-ज्ञान भी आपको कैसे हो सकता है? आगम प्रमाण से भी इसका बाध नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा कोई आगम उपलब्ध नहीं है। हेतु के अभाव में अनुमान प्रमाण से भी इसका ज्ञान नहीं हो सकता। सूक्तों और सोम की आहुति से देवों में स्फूर्ति का संचार नहीं होता, इस बात को भी आप कैसे जानते हैं? मनुष्यों से विलक्षण देवताओं में आप विश्वास नहीं करते। इस परिस्थिति में यद्यपि देवगण लौकिक ही हैं, तो भी वे ब्राह्मण नहीं हैं,

इत्यपि युष्माभिः कथं वक्तुं शक्यते ? एवमेवान्या अपि पाश्चात्त्यानां दुष्कल्पना वेदापौरुषेयत्व-देवतातत्त्वनिरूपण-प्रसङ्गे निराकृता एव ।

यदपि मैकडानलो वक्ति—'वर्तमाने हिन्दूधर्मे शिवविष्णू समकोटिकत्वेन वर्ण्येते, किन्तु त्रिसहस्रवर्षप्राचीने ऋग्वेदे प्रमुखदेवताभ्यो निम्नस्तरीयत्वेनोक्तौ । ऋग्वेदे शिवस्य प्रथमं रूपं रुद्र एव । तेनैव रूपेणाद्यापि रुद्रो भयङ्करो देवो विष्णुश्च दयासागरत्वेन वर्ण्यते' (पृ० ६१) इति, तदपि वेदार्थाज्ञानविजृम्भितमेव, कर्मकाण्डविषयबाहुल्येन तत्सम्बद्धदेवानां स्तवनबाहुल्येऽपि विष्णुशिवयोरपकर्षाभावात् । न च विष्णुशिवयोः सम्बन्धिसूक्तानामल्पत्वेऽपि तदपकर्षः सम्भवति, कर्मकाण्डोपासनाकाण्डसम्बन्धिसूक्तानां मन्त्राणां च बाहुल्येऽपि ज्ञानकाण्डसम्बन्धिसूक्तानामल्पत्वेऽपि तयोरपेक्षया ज्ञानकाण्डस्यैवोत्कर्षाभ्युपगमात् । साध्यापेक्षया साधनानां बाहुल्यमिवान्यदेवसूक्तबाहुल्यमपि न विष्णुशिवयोरपकर्षसाधकम् ।

यदपि—'आकाशदेवतासु पूर्वं प्राचीनो देवो द्यौस्, ग्रीकाणां तदेव झेउस्पदेनोच्यते' (पृ० ६२) इति, तदपि तुच्छम्, नामसाम्यस्याभेदव्यभिचारित्वात् । 'तत्र पितृत्वभावनात् प्रारम्भिकरूपान्न तद्वर्णनविस्तरः । जगज्जननी-रूपेण द्यावापृथिव्योः सम्बन्धीनि षट् सूक्तानि लभ्यन्ते । कस्मिंश्चित् सूक्ते पीनपुङ्गवरूपेण तद्वर्णनम्, स पीतवर्णः सदैव निम्नाभिमुखो रौति । अनेन रूपकेण वर्षणशक्तिः सङ्केत्यते । तेन साकं विद्युद् गर्जनशीलं गगनं च भवतः । क्वचिन्मुक्तालङ्कृताऽश्वेनापि द्यौरुपमिता । तेन तारकाङ्कितं सन्तमसाच्छन्नं नभोऽनुसूच्यते । केनचिदृषिणा वज्रधरोऽयं देव उक्तः । यथा लौकिकसंस्कृते स्मितमित्यनेन शुभ्रश्वेतिमा लक्ष्यते तद्वत्' (पृ० ६२) इति, तदपि न किञ्चित्, दिवः पृथिव्याश्च जडत्वेन पूज्यत्व-स्तुत्यत्वाभावेऽपि तत्तच्छक्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्यैश्वर्यवत्त्वेन तदधिष्ठातृदेवानां स्तुत्यत्वो-

इस बात को आप कैसे कह सकते हैं ? इस तरह की पाश्चात्यों की अनेक दुष्ट कल्पनाओं का खण्डन हमने वेदों की अपौरुषेयता के और देवताओं के निरूपण के प्रसंग में किया है ।

मैकडानल का यह कथन भी कि—'वर्तमान हिन्दू धर्म के प्रधान देवता, विष्णु और शिव समकोटि के होते हुए भी तीन हजार वर्ष पूर्व ऋग्वेद के प्रमुख देवताओं में बहुत निम्न स्तर पर रखे गये थे । ऋग्वेद में शिव का प्रथम रूप रुद्र ही वर्णित है और उसी रूप में आज भी रुद्र एक भयंकर देवता और विष्णु दया के सागर माने जाते हैं' (पृ० ६१), वेदार्थ का ज्ञान न होने के कारण है, क्योंकि वेद में कर्मकाण्ड का विशेष प्रपंच होने से कर्मकाण्ड से सम्बद्ध देवताओं की ही स्तुति विशेष रूप से मिलती है, किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि शिव और विष्णु उनकी अपेक्षा अपकृष्ट कोटि के देवता हैं । विष्णु और शिव सम्बन्धी सूक्तों की अल्पता के कारण भी इनका अपकर्ष नहीं सिद्ध किया जा सकता । कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड सम्बन्धी सूक्तों और मन्त्रों का बाहुल्य रहते हुए भी और ज्ञानकाण्ड सम्बन्धी सूक्तों की अल्पता होते हुए भी इन दोनों की जब तुलना की जाती है, तो ज्ञानकाण्ड का ही उत्कर्ष माना जाता है । साध्य की अपेक्षा साधनों की बहुलता रहती है, अतः साधनस्थानीय अन्य देवताओं के सूक्तों की बहुलता के आधार पर साध्यस्थानीय विष्णु और शिव का अपकर्ष नहीं सिद्ध किया जा सकता ।

'आकाश के देवताओं में सबसे पुराना देव 'द्यौस्' है, जो कि ग्रीक 'झेउस्' से अपृथक् है' (पृ० ६२), यह कथन भी सारहीन है, क्योंकि नाम की समानता के आधार पर किसी वस्तु का अभेद नहीं सिद्ध किया जा सकता । 'आकाश का यह मूर्त रूप ऋग्वेद में वर्णित प्रारम्भिक रूप से आगे न बढ़ सका, कारण उसके सम्बन्ध में भावना केवल पितृत्व की रही । जगत् के जनक-जननी के रूप में वर्णित द्यावापृथिवी पर छः सूक्त हैं । कुछ सूक्तों में 'द्यौस्' को एक पीन पुंगव (वृषभ) कहा गया है, वह पीला और सदा नीचे की ओर रंभाता है । इस रूपक से वर्षण शक्ति की ओर संकेत है और उसके साथ विद्युत् और गर्जनशील गगन रहते हैं । एक स्थान पर मुक्ता से अलंकृत घोड़े से भी तुलना की गई है, जिसका स्पष्ट संकेत तारकांकित तमसाच्छन्न नभ की ओर है । एक ऋषि ने इसे वज्रधारी देवता बताया है । किसी दूसरे ने 'द्यौस्' को मेघों द्वारा मुस्कराते हुए वर्णन किया है । जैसे लौकिक संस्कृत में 'स्मित' शुभ्र श्वेतिमा का द्योतक माना गया है' (पृ० ६२) यह कथन भी तथ्यहीन है, क्योंकि आकाश और पृथिवी दोनों जड़ हैं, इनमें पूज्यत्व

पपत्तेः । तदभिप्रायेणैव—'मृदब्रवीत्', 'आपोऽब्रुवन्' इति श्रुतिवचनानि प्रवृत्तानि । 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' (२।१।५) इति ब्रह्मसूत्रेण तद्व्याख्यातृभिः श्रीशङ्करभगवत्पादादिभिश्च तदेव समर्थितम् । अत एवाद्यापि यज्ञयागादौ पृथिवीपूजनं प्रचलति । 'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः' इति युक्त्यनुगृहीतेन पौराणिकवचनेन दिवः पृथिव्याश्च सर्वमातापितृत्वेन तदधिष्ठातृचैतन्ययोरपि देवत्वं पूज्यत्वमभीष्टफलदातृत्वं च न विरुद्धचते ।

'नभोमण्डलस्यान्यो देवो वरुणः, तस्य मूर्तं रूपमेवं व्यापकं विद्यते यस्य प्राकृतिकं दृश्यं रूपं कतिपयैर्लक्षणैर्विज्ञायते । भारतीयकथाया अविषयत्वादेवास्य गूढता प्रतीयते । पुरातनयुगीयदेवत्वादप्यस्य गूढत्वम् । दिव्शब्दवद् वरुणशब्दः कस्यचित्प्राकृतिकतत्त्वस्य वाचको न भवति, ततोऽप्यस्य गूढार्थता । मूलतोऽयं वरुणशब्दो व्यापकस्याकाशस्य वाचकः, सम्भवतः ग्रीक 'ओरेनोज्' इत्यस्य तत्समः प्रतीयते । यद्यपि ध्वनिनियमानुसारेणोभयोस्ताद्रूप्यं विषममिवाभाति । इन्द्राग्निसोमापेक्षया स्वल्पान्येव सूक्तानि वरुणं सम्बोधयन्ति, तथापीन्द्रसहचरेषु वैदिकदेवेषु निःसंशयोऽयं महान् देवः । इन्द्रो महान् योद्धा । वरुणस्तु शारीरिकनैतिकशक्तिरूपस्य ऋतस्य महान् पोषकः । इतरसूक्तापेक्षया वरुणपराणि सूक्तानि नैतिकानि भक्तिबोधकानि च । तानि चात्यन्तमुदात्तानि । अधिकांशतया तानि हिब्रूस्तोत्रैस्तुलनामर्हन्ति । वरुणस्य प्रशान्ताधिकार आकाशीयनक्षत्रमण्डलभ्रमणेन तत्सदृशैरन्यैश्च यथाकालनियमितदृश्यैः स्फुटचते । इन्द्रस्य स्वच्छन्दो युयुत्सुस्वभावः सदा परिवर्तनशीलैरनिश्चितैः प्राकृतिकैस्तत्त्वानां व्यवहारैर्व्यज्यते । वरुणस्वभावस्तु निम्नोक्तवैदिकपदावलीभिर्वर्ण्यते—

'वरुणस्य शासनेन द्यावापृथिव्यौ पृथगवस्थितौ । तेनैवाकाशद्योतनाय स्वर्णचक्रं (सूर्यः) निर्मितम् । एतच्चक्रार्थमेव विस्तृतपथनिर्मितिः । गगने प्रवहमाणः पवनो वरुणस्य निःश्वासः । तदध्यादेशेनैव दीप्यमानश्चन्द्रो

और स्तुत्यत्व के अभाव में भी उस उस शक्ति से अवच्छिन्न चैतन्य की ऐश्वर्यवत्ता के आधार पर उनके अधिष्ठाता देवताओं की स्तुति संभव हो पाती है । इसी अभिप्राय से वेदों में 'मृदब्रवीत्', 'आपोऽब्रुवन्' इस तरह के वचन प्रवृत्त होते हैं । 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' इस ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य में इसी का समर्थन किया गया है । इसीलिये आज भी यज्ञ-यागादि के अनुष्ठान में पृथ्वीपूजन की परम्परा प्रचलित है । 'सभी पदार्थों की शक्तियाँ अचिन्त्य होती हैं, इनका परिचय अतीन्द्रिय ज्ञान से ही मिल सकता है' तर्क के सहारे संपुष्ट इस पौराणिक वचन के प्रमाण पर आकाश और पृथिवी को सबके माता-पिता के रूप में माना जाता है और इनके अधिष्ठाता चैतन्य में देवत्व, पूज्यत्व और अभीष्ट फलदातृत्व मानने में कोई विरोध नहीं है ।

'नभोमण्डल का और एक देवता वरुण है । उसका मूर्त रूप इतना व्यापक है कि उसके प्राकृतिक दृश्य का केवल कतिपय लक्षणों के द्वारा ही अनुमान किया जा सकता है । इस गूढ़ रूप का कारण यह है कि वह भारतीय कथाओं का ही विषय नहीं रहा, परन्तु वह उससे भी पुरातन युग की देन है । यह भी एक कारण है कि उनका नाम 'द्यौस्' की तरह किसी प्राकृतिक तत्त्व का वाचक नहीं । मूलतः वरुण यह शब्द 'व्यापक' आकाश का वाचक है । संभवतः यह ग्रीक 'ओरेनोज्' का तत्सम प्रतीत होता है, यद्यपि ध्वनि-नियमों के अनुसार इन दो शब्दों का ताद्रूप्य कुछ कठिन मालूम पड़ता है । इन्द्र, अग्नि और सोम की तुलना में, वरुण को बहुत ही कम सूक्त संबोधित किये गये हैं । तथापि इन्द्र के सहचर वैदिक देवताओं में यह निःसन्देह सबसे बड़ा देव है । जहाँ इन्द्र महान् योद्धा है, वहाँ वरुण शारीरिक और नैतिक शक्ति अर्थात् ऋत का महान् पोषक है । वरुण को सम्बोधित सूक्त कुछ अधिक नैतिक हैं और इतर सूक्तों की अपेक्षा अधिक भक्तिपरक हैं । वेद में संकलित सूक्तों में वरुण-सूक्त बहुत उदात्त हैं । अधिकांश ये हिब्रू (यहूदी) स्तोत्रों से मिलते-जुलते हैं । वरुण का प्रशान्त अधिकार (शासन) आकाश में नक्षत्रमण्डल के भ्रमण और तत्सदृश अन्य यथाकाल नियमित रूप से प्रकट होने वाले दिव्य दृश्यों से स्फुट लक्षित होता है और इन्द्र का स्वच्छन्द एवं युयुत्सु स्वभाव सदा परिवर्तनशील एवं अनिश्चित प्राकृतिक तत्त्वों के व्यवहार से प्रकट होता है । वरुण के स्वभाव और सामर्थ्य का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित वैदिक पदावली में किया गया है :—

'वरुण के शासन से द्यौः और पृथिवी पृथक्-पृथक् रहते हैं । उसी ने स्वर्णचक्र (सूर्य) आकाश को चमकाने के लिये बनाया और इसी चक्र के लिये विस्तृत पथ का निर्माण किया । गगन मण्डल में जो पवन बहता है, वह वरुण का निःश्वास है । उसी के

रात्रौ सञ्चरति। रात्रावेव च नक्षत्राणि दीप्यन्ते दिवा च लुप्यन्ते। वरुण एव नदीः प्रवाहयति, तच्छासनेनैव ताः प्रवहन्ति। तच्छक्त्यैव रहस्यमय्यो नद्यो वेगेन समुद्रमुपयान्ति। तथापि समुद्रो न वर्धते। स एव परिवर्त्य स्थापितात्पात्रात् पानीयं बिन्दुशश्च्यावयति भूमिं चार्द्रयति। तत्प्रेरणयैव पर्वता मेघैश्छाद्यन्ते। समुद्रेणास्याल्प एव सम्बन्धः'।

'वरुणस्य सार्वज्ञ्यं बाहुल्येनोल्लिख्यते। स उत्पततां पक्षिणामुड्डयनमवगच्छति। स कृतानि क्रियमाणानि च गुप्तानि कर्माणि पश्यति। मानवानां सत्यासत्यसाक्षी च। एतमन्तरा कश्चित् चलितुमपि न शक्नोति। नैतिक-प्रशासकरूपेण वरुणस्यान्यदेवापेक्षयाऽत्युच्चस्थानम्। स पापात् कुप्यति। यतः पातकं तच्छासनभङ्गः। तदर्थं स उग्रं शास्ति दण्डयति च। पातकिबन्धनार्था वरुणपाशा बहुधा वर्ण्यन्ते। सोऽसत्यं विप्रकर्षयति। असत्याद् घृणां करोति। पाश्चात्तापाच्च दयते। तान् पूर्वजन्मपातकेभ्योऽपि मोचयति। तन्नियमोल्लङ्घनशीलाननुतापशीलांश्च प्राणिनो रक्षति। अविवेकेनाविदिततया चादेशपालनबहिर्मुखान् प्रत्यपि स कारुण्यं दर्शयति। वरुणसूक्तेष्वेकमपि तादृशं सूक्तं नोपलभ्यते यत्र कृतानां पातकानां सम्बन्धे क्षमा न प्रार्थिता स्यात्, यथान्येभ्यो देवेभ्यः सर्वत्र सम्पत्तयो याच्यन्ते। विश्वस्रष्टुः प्रजापतेः सर्वोत्कृष्टत्वमान्यतावृद्धौ जातायां वरुणस्य सार्वभौमिकता शनैः शनैर्विगलिता। तस्य निजक्षेत्रजलपर्यन्तमेव साम्राज्यं शिष्टमथर्वकाले। पुराणकाले च स समुद्रदेवतामात्रशेषः सञ्जातः।' (पृ० ६२-६४) इति।

अत्र चोदाहरणरूपेण निम्नोक्ता मन्त्रा उद्धृत्य व्याख्याताः—'मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्। मृळा सुक्षत्र मृळय ॥', 'अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदं जरितारम्। मृळा सुक्षत्र मृळय ॥', 'यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये

अध्यादेश से चमकीला चांद रात में संचार करता है और रात में तारे चमकते हैं, जो दिन में लुप्त हो जाते हैं। वरुण ही नदियों को प्रवाहित करता है, उसी के शासन से वे सतत बहती हैं। उसी की रहस्यमयी शक्ति के कारण नदियाँ वेग से समुद्र में जा मिलती हैं और फिर भी समुद्र में बाढ़ नहीं आती। वह उलटे रखे हुए पात्र से पानी टपकाता है और भूमि को आर्द्र करता है। उसी की प्रेरणा से पर्वत मेघ से आच्छन्न होते हैं। समुद्र से तो इसका सम्बन्ध बहुत स्वल्प है'।

'वरुण की सर्वज्ञता का बहुत उल्लेख मिलता है। वह उड़ने वाले पक्षियों की उड़ान को समझता है, समुद्रगामी पोत का मार्ग जानता है और दूर-दूर तक बहने वाली वायु का पथ भी पहचानता है। वह कृत एवं क्रियमाण सकल गुप्त कार्यों को देखता रहता है। वह मानवों के सत्यासत्य का साक्षी है। वस्तुतः कोई भी प्राणी इसके बिना हिल भी नहीं सकता। नैतिक प्रशासक के रूप में वरुण का स्थान अन्य देवताओं की अपेक्षा कहीं उच्च है। वह पाप से कुपित हो जाता है। कारण पाप इसके शासन का अंग है, जिसके लिये वह कठोर दण्ड देता है। पापियों को बाँधने वाले वरुण के पाश का बहुधा वर्णन मिलता है। वह असत्य को दूर करने वाला, दंड देनेवाला और असत्य से घृणा करनेवाला है। परन्तु वह पश्चाताप करनेवाले पर दया भी करता है और न केवल अपने ही, परन्तु उन्हें अपने पूर्वजों के पापों से भी मुक्त करता है। उसके नियमों का भंग करनेवाले परन्तु अनुतापशील व्यक्ति की वह रक्षा भी करता है। वह ऐसे लोगों की ओर करुणा भी दर्शाता है, जिन्होंने अविवेक के कारण अविदित रूप से उसके आदेशों का पालन नहीं किया। सच पूछो तो, ऋग्वेद में वरुण को सम्बोधित एक भी ऐसा सूक्त नहीं, जिसमें कृत पापों के लिए क्षमा-याचना नहीं की गई हो, ठीक उसी तरह, जैसे अन्य देवताओं को संबोधित सूक्तों में लौकिक सम्पत्ति के लिये सर्वत्र याचना दिखाई पड़ती है। विश्वस्रष्टा प्रजापति को सर्वोपरि देवता मानने की धारणा बढ़ते ही वरुण की सार्वभौमिकता धीरे-धीरे विगलित हुई और अपने निजी क्षेत्र, जल-पर्यन्त ही उसका साम्राज्य शेष रह गया। यह स्थिति अंशतः अथर्ववेद के काल में बन चुकी थी, पर वेदोत्तर पुराणकाल में तो वरुण केवल समुद्र का देवता, अर्थात् भारतीय नेप्च्यून मात्र रह गया।' (पृ० ६२-६४)।

मैकडानल ने अपने इस कथन के समर्थन में उदाहरण के रूप में निम्न मन्त्रों को उद्धृत कर उनकी व्याख्या की है। वे मन्त्र हैं—'मो षु वरुण०', 'अपां मध्ये०', 'यत्किंचेदं वरुण०'। इनकी व्याख्या इस तरह से की गई है—'हे राजन् वरुण, मृत्तिका से

जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि । अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥' हे राजन् वरुण, त्वदीयं मृत्तिकानिर्मितं गृहं मह्यं न प्राप्नोतु, परन्तु सुन्दरं गृहं प्राप्यताम् । हे ईश्वर, मां सुखिनं कुरु मयि दयां कुरु । हे वरुण, जलमध्ये स्थितमपि त्वद्भक्तं तृषा तापयति । हे ईश्वर, मां सुखिनं कुरु । हे वरुण, मर्त्यत्वाद्देवगणान् प्रति यदपराद्धं यच्चाविवेकवशान्नियमा अतिक्रान्तास्तदर्थं क्षम्यताम् । सकलकल्मषेभ्यो मां मोचय' (पृ० ६४) इति ।

तदेतत्सर्वं पारम्पर्यशून्यस्वैरावैधाध्ययनदुष्परिणाममात्रम्, वेदेषु कर्मकाण्डप्रसङ्गे परमेश्वर एव तत्तदैश्वर्यवद्देवतारूपेण सूक्तेषु स्तूयते । अत एव क्वचिद् व्यापकत्वं परमेश्वरत्वं च वर्ण्यते । सायणरीत्या मन्त्रार्था उच्यन्ते— हे राजन्नीश्वर वरुण, त्वदीयं मृण्मयं मृदादिभिर्निर्मितं गृहं मा उ मैव अहं गमम् गतोऽस्मि, अपि तु सुशोभनं सुवर्णमयमेव त्वदीयं गृहं प्राप्तवानस्मि । स त्वं मां मृडय सुखय । हे सुक्षत्र शोभनधन वरुण, मृडय दयाञ्च कुरु । (ऋ० सं० ७।८९।१) । अपां समुद्राणामुदकानां मध्ये तस्थिवांसं स्थितवन्तमपि जरितारं तव स्तोतारं मां तृष्णा पिपासा अविदत् आप्तवती, लवणोत्कटस्य समुद्रजलस्य पानानर्हत्वात् । अतस्तादृशं मां मृडय सुखय । अन्यत् पूर्ववत् । (ऋ० सं० ७।८९।४) । हे वरुण, दैव्ये देवसमूहरूपे जने यद् इदं किञ्चन अभिद्रोहं अपकारजातं मनुष्या वयं चरामसि चरामः निर्वर्तयामः । तथा अचित्त्या अज्ञानेन तव त्वदीयं यद् धर्मं धारकं कर्म युयोपिम वयं विमोहितवन्तः । हे देव, तस्मादेनसः पापाद् नः अस्मान् मा रीरिषः मा हिंसीः । (ऋ० सं० ७।८९।५) इति ।

अत्र विचार्यते—वेदानामपौरुषेयत्वानादित्वाभ्यां पूर्वयुगीयत्वकथनमसंगतमेव । वरुणशब्दस्य 'ओरेनोज्' इति शब्दसमत्वकल्पनमप्यसङ्गतमेव निर्मूलत्वात् । वरुणशब्दस्य व्यापकाकाशवाचकत्वमपि न सङ्गतम्, निर्मूलत्वात् । धात्वर्थानुरोधेन तु पापवारकत्वात् सर्वावरकत्वाद्वा वरुणः । जलस्य सर्वकारणत्वात् सर्वावरकत्वं तदधिष्ठातृदेवत्वाद् वरुणस्य तत्र साम्राज्यं स्वाभाविकमेव । जलस्य शामकत्वात् शान्तप्रकृतित्वेन वरुणस्याक्रोधनत्वं क्षमाशीलत्वमपि

निर्मित आपका गृह मुझे प्राप्त न हो (परन्तु मुझे सुन्दर घर मिले) । हे ईश्वर, तू मुझे सुखी बना, मुझ पर दया कर । हे वरुण, जल के मध्य स्थित होते हुए भी तुम्हारे भक्त को तृषा सता रही है । हे ईश्वर, तू मुझे सुखी बना, मुझ पर दया कर ॥ हे वरुण, मर्त्य होने के नाते जो भी कुछ अपराध देवगण के प्रति हमसे हुए हों और अविवेकवश जो भी कुछ नियमों का उल्लंघन हमने किया हो, हमें क्षमा करो । हे ईश्वर, सकल कल्मष से मुक्त करो' (पृ० ६४) ।

यह सारा कथन बिना परम्परा के अवैध पद्धति से मनमाने ढंग से वेदों के अध्ययन का दुष्परिणाम मात्र है । वेदों में कर्मकाण्ड के प्रसङ्ग में परमेश्वर की ही उस-उस ऐश्वर्य से युक्त देवता के रूप में उन-उन सूक्तों में स्तुति की जाती है । अत एव इनकी व्यापकता और परमेश्वरता का वर्णन भी कहीं-कहीं मिल जाता है । वस्तुतः सायण की पद्धति से इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार से है— हे राजन्, परमेश्वर वरुण, आपके मृण्मय घर पर मैं नहीं गया हूँ, किन्तु सुन्दर सुवर्णमय गृह में ही मैं आया हूँ । आप मुझे सुखी बनाइये । हे शोभन धन वाले वरुण, आप मेरे ऊपर दया कीजिये। समुद्र के जल के बीच में निवास करने वाले और तुम्हारी स्तुति करने वाले इस भक्त को प्यास सता रही है, क्योंकि समुद्र का खारा पानी पिया नहीं जा सकता, अतः इस अवस्था में आप मुझे सुखी बनाइये, हे शोभन धन वाले वरुण, आप मेरे ऊपर दया कीजिये ॥ हे वरुण, हम मनुष्यगण देवगणों के प्रति जो जाने अनजाने अपकार करते हैं, अज्ञान से आपके धर्मों से जो हम विमोहित हो जाते हैं, हे देव, उस पाप से आप हमारी रक्षा कीजिये' ।

यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि वेद जब अपौरुषेय और अनादि हैं, तो उनमें परस्पर पूर्व युग और उत्तर युग की कल्पना कैसे की जा सकती है ? वरुण शब्द की ग्रीक 'ओरेनोज्' शब्द से तुलना करना भी सर्वथा असङ्गत है, निर्मूल है । वरुण शब्द को व्यापक आकाश का वाचक मानना भी गलत है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है । धातु के अर्थ के अनुसार पापवारक अथवा सर्वावरक ही वरुण शब्द का अर्थ है । जल इस सारी सृष्टि का कारण है, अतः वह सर्वावरक माना जाता है । उस जल के अधिष्ठातृ देवता वरुण हैं; अतः जल पर सर्वत्र वरुण का साम्राज्य माना जाय, यह स्वाभाविक है । जल अग्नि का शामक है । जल को इस शान्त प्रकृति के कारण वरुण क्रोध से रहित एवं क्षमाशील हो, यह उचित ही है । वेद में विकास क्रम के अनुसार परवर्ती काल में विश्व के

युक्तमेव। वेदे न विकासक्रमेण विश्वस्रष्टुः परवर्तिकाले सर्वोत्कृष्टत्वमान्यता, तस्य सर्वदैव सर्वोत्कृष्टत्वाविशेषात्। तदभेदविवक्षयैवेन्द्रवरुणादिष्वपि सर्वोत्कृष्टत्वाद्युक्तिः।

यदपि—'ऋग्वेदे सौराः पञ्च देवाः सूर्यस्य विभिन्नचेष्टास्वरूपाणां प्रतीकतया वर्ण्यन्ते। सर्वप्राचीनो मित्रो देवः, येन सूर्यस्य मङ्गलमयी शक्तिर्व्यज्यते। भारतीय-ईरानीयुगस्य सिंहावलोकनेन विज्ञायते यद्वेदे मित्रेण स्वव्यक्तित्वं लोपितम्, वरुणकल्पनायामन्तर्भावितत्वात्। अत एव सर्वत्र वरुणेन सार्धमेव मित्रस्यावाहनं क्रियते। केवलस्य मित्रस्यावाहनबोधकमेकमेव सूक्तम् (ऋ० सं० ३।५९)' (पृ० ६५) इति, तदप्यसङ्गतम्, कर्माङ्गतया दैवतस्वरूपनिर्णयात्। यत्र कर्माङ्गतया मित्रावरुणौ स्तोतव्यौ, तत्र सम्मिलितयोरेव दैवत्यम्। यत्र केवलस्यैकस्यैव कर्माङ्गता तत्र तस्यैव स्तुतिः। 'मित्रो जनान्' इति नवर्चं षष्ठं वैश्वामित्रं त्रैष्टुभम्। अग्निहोत्रार्थे पयसि बिन्दुपतने समिदाधाने विनियुक्तम्, 'मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाण इति समिदाधानम्' (३।११) इत्याश्वलायनसूत्रात्।

यदपि—'सूर्यो ग्रीक 'हेलियास' पर्यायः सौरदेवेषु सर्वाधिकसत्ताशाली, तन्नामैव प्रकाशबोधकम्, प्रकाशेन तस्य शाश्वतः सम्बन्धः, सूर्यस्यापि चक्षुरस्ति। स सर्वस्य गूढो द्रष्टा। सूर्योदयेन प्रबोधितो मानवः स्वस्वकार्येषु युज्यते। स च जगतस्तस्थुषश्चात्मा अभिभावकश्च। स रथारूढो भवति। तस्य रथे सप्ताश्वा युज्यन्ते। यस्यां वेलायामश्वा मुच्यन्ते, तदा रजनी चतुर्दिक्षु स्वात्मानं प्रसारयति। 'यदेदयुक्त हरितः सधस्थाद् आद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै'। सूर्यश्चन्द्रवदन्धकारमपनयति। तारागणाश्चौरवन्निलीयन्ते। सन्ध्याया अङ्कात्सूर्यः समुत्तिष्ठते। अत एव स उषस्पतिरुच्यते। अग्नेरेकमूर्तित्वाद्देवैर्गगने तस्मै स्थानं दीयते। तस्य विहङ्गमगरुडरूपेण वर्णनम्। यस्मादेकस्थानात् स्थानान्तर-

स्रष्टा परमात्मा की सर्वोत्कृष्ट मान्यता नहीं निश्चित हुई है, किन्तु वह तो सदा से ही सर्वोत्कृष्ट देव माना जाता रहा है। उस परमात्मा से अभेद को आरोपित करके ही इन्द्र, वरुण प्रभृति में सर्वोत्कर्ष मान्य होता है।

'ऋग्वेद में सौर देवता पाँच हैं, जो सूर्य की विभिन्न चेष्टाओं के स्वरूपों के प्रतीक हैं। इनमें सबसे प्राचीन है—मित्र (सुहृत्), जिसकी भावना सूर्य की मङ्गलमय शक्ति को प्रकट करती है। यदि हम भारतीय-ईरानी युग का सिंहावलोकन करें, तो यह पता चलेगा कि मित्र ने अपना व्यक्तित्व खो दिया था और वह वरुण की कल्पना में अन्तर्भावित सा हो चुका था। अत एव मित्र का आवाहन सर्वत्र वरुण के साथ पाया जाता है। अकेले मित्र का आवाहन करता हुआ केवल एक ही सूक्त (३।५९) है' (पृ० ६५)। यह कथन भी असङ्गत है, क्योंकि देवता के स्वरूप का निश्चय कर्म के अङ्ग में होता है। जहाँ पर कर्माङ्ग के रूप में मित्र और वरुण की एक साथ स्तुति की जाती है, वहाँ पर वे सम्मिलित रूप से ही उस कर्माङ्ग के देवता माने जायेंगे और जहाँ पर केवल एक की कर्मांगता होगी, वहाँ पर उनकी अलग-अलग स्तुति की जायगी। 'मित्रो जनान्' यह नौ ऋचाओं वाला सूक्त है। इसमें छठी ऋचा का ऋषि विश्वामित्र और छन्द त्रिष्टुप् है। अग्निहोत्र करते समय दूध की बूंद गिर जाने पर समिधा के ग्रहण में इसका विनियोग होता है, जैसा कि आश्वलायन सूत्र में कहा गया है कि 'मित्रो जनान्' इस ऋचा से समिधा का आधान किया जाय।

'सूर्य, जो ग्रीक 'हेलियास' का पर्याय है, सौर देवताओं में सबसे अधिक सत्ताशाली है। उसका नाम ही प्रकाश को दर्शाता है। उसका सम्बन्ध प्रकाश से शाश्वत है। सूर्य को चक्षु भी है। वह समस्त विश्व का गूढ द्रष्टा है। वह सकल प्राणियों की तथा उनके सुकृत और दुष्कृतों की परीक्षा करता रहता है। सूर्योदय के द्वारा प्रबोधित हो मानव अपने-अपने काम में जुटता है। सूर्य समस्त चराचर का आत्मा और अभिभावक है। वह एक रथ पर आरूढ़ रहता है, जिसमें सात घोड़े जुड़े होते हैं। अस्तमयन वेला पर वह अपने घोड़ों को खोलता है। तब चारों ओर रजनी आवरण को प्रसारित करती है। जैसा कि 'यदेदयुक्त' इस मन्त्र में कहा गया है कि 'ज्यों ही सविता देवता अपने घोड़ों को विश्राम देने लगता है, रात एक दम अपने प्रावारक (आवरण) को सर्वत्र प्रसारित कर देती है।' सूर्य चन्द्र की भाँति अन्धकार को गोल कर देता है और तारागण तो उसके सामने चोर की भाँति छिप जाते हैं। वह सन्ध्या की गोद से उठ खड़ा होता है। उसे उषस्पति भी कहा है। देवताओं ने उसे अग्नि की ही मूर्ति होने के नाते गगन में स्थान दिया। उसका वर्णन प्रायः एक विहंग अथवा गरुड़ के रूप में किया जाता है, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर संचार करता है।

मुपगच्छति सः। सूर्य एव दिनस्य परिणामम्, स एव जीवननियामको व्याधिनाशको दुःस्वप्ननाशकः। उदयकाले स स्तूयते यत्स मित्रावरुणयोः समक्षे मानवस्य निर्दोषत्वमुद्घोषयेत। प्राणिजातं तदाश्रितमतः स विश्वस्रष्टोच्यते' (पृ० ६५) इति।

तदप्यापातरमणीयम्, वैदिकानां रीत्या सूर्यस्य हिरण्यगर्भरूपेण सर्ववेदमयत्वात् सर्वान्तिर्यामिरूपत्वाच्चानितरसाधारणत्वात्। सूर्यस्यैव ग्रीकैरन्यैश्च स्वस्वभाषायामनेकानि नामानि निर्दिश्यन्ताम्, तथापि वेदप्रामाण्यमन्तरा तस्य हिरण्यगर्भान्तिर्यामिरूपत्वं न ज्ञातुं शक्यते। सम्पूर्णो मन्त्रश्चेत्थम्—'तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सञ्जभार। यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥'(ऋ० सं० १।११५।४)। तदर्थस्तु सूर्यस्य सर्वप्रेरकस्यादित्यस्य तद्देवत्वमीश्वरत्वं स्वातन्त्र्यं महित्वं माहात्म्यं च। तत एव अत्र मन्त्रे तत्पदश्रवणाद् यत्पदमध्याहृत्य व्याख्येयम्। यत् कर्तोः (कर्मनामैतत्) प्रारब्धापरिसमाप्तस्य कृष्यादिलक्षणस्य कर्मणो मध्येऽपरिसमाप्त एव तस्मिन् कर्मणि विततं विस्तीर्णं स्वकीयं रश्मिजालम् अस्तं गच्छन् सूर्यः सञ्जभार अस्माल्लोकात् स्वात्मन्युपसंहरति, कर्मकरश्च प्रवृत्तमपरिसमाप्तमेव विसृजति, अस्तं यन्तं सूर्यं दृष्ट्वा। ईदृशं स्वातन्त्र्यं महिमा च सूर्यव्यतिरिक्तस्य कस्यास्ति? न कस्याप्यस्तीत्यर्थः। सूर्य एवेदृशं स्वातन्त्र्यं महिमानं चावगाहते। अपि च, इत् इत्यवधारणे यदेतस्मिन्नेव काले हरितः रसहरणशीलान् रश्मीन् हरिद्वर्णानश्वान् वा सधस्थात् सहस्थानाद् अस्मात्पार्थिवाल्लोकादादाय अयुक्त अन्यत्र संयुक्तान् करोति। यद्वा युजिः केवलोऽपि वियुक्तो द्रष्टव्यः। तथा च यदैवासौ स्वरश्मीनश्वान् वा सधस्थाद् रथात्, सह तिष्ठन्त्यस्मिन्निति सधस्थो रथः, अयुक्त अमुञ्चत्, आत् अनन्तरमेव रात्री निशा वासः आच्छादयितृतमः सिमस्मै, सिमशब्दः सर्वशब्दपर्यायः सप्तम्यर्थश्च, सर्वस्मिन् लोके तनुते विस्तारयति। यद्वा वासः वासरं महः तत् सर्वस्मात् लोकादपनीय रात्री तमस्तनुते। (नि० ४।११) इत्यत्रायमर्थः समर्थितः।

सूर्य दिन का परिणाम है, जीवन का नियामक है, आयु का वर्धक है। वह व्याधि को दूर करता है और दुःस्वप्न को मिटाता है। उसके उदय होते ही उससे प्रार्थना की जाती है कि वह मानव को मित्रावरुण के समक्ष निर्दोष घोषित करे। समस्त प्राणी सूर्य पर ही निर्भर रहते हैं। इसी कारण वह विश्व का स्रष्टा कहलाता है' (पृ० ६५)।

ऊपर-ऊपर देखने से ही यह कथन अच्छा लगता है कि वैदिक पद्धति से तो सूर्य हिरण्यगर्भ स्वरूप है, यह सर्ववेदमय और सर्वान्तिर्यामी है, अतः इसका अपना वैशिष्ट्य है। सूर्य के हो ग्रीक तथा अन्य भाषाओं में अनेक नाम हो सकते हैं, तथापि वेद के प्रमाण के बिना उसकी हिरण्यगर्भता और अन्तर्यामिता का बोध नहीं हो सकता। पूरा मन्त्र मूल में उद्धृत किया गया है और उसका अर्थ यह है—'सूर्य, सर्वप्रेरक आदित्य का ही यह देवत्व, ईश्वरत्व, स्वातन्त्र्य और माहात्म्य है, इस मन्त्र में 'तत्' पद के श्रवण से 'यत्' पद का अध्याहार कर उसकी व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये कि मनुष्य कृषि प्रभृति अपने कार्यों को प्रारम्भ करके बीच में ही उसको बिना पूरा किये ही, जब सूर्य अस्त होते समय चारों तरफ फैली हुई अपनी किरणों को समेट लेता है, तो उसको वह कार्य अधूरा ही छोड़ देना पड़ता है। अस्ताचल की ओर जाते हुए सूर्य को देखकर ही व्यक्ति अपने अधूरे काम को छोड़ता है, अन्यथा नहीं। इस तरह का स्वातन्त्र्य और महिमा सूर्य को छोड़कर और किसमें है? अर्थात् किसी की भी नहीं है। केवल सूर्य में ही इस तरह की स्वतन्त्रता और महिमा विद्यमान है। 'इत्' शब्द यहाँ अवधारण के अर्थ में प्रयुक्त है कि इसी समय यह सूर्य पृथ्वी से रस को ग्रहण करने का जिनका स्वभाव है, ऐसी अपनी किरणों को अथवा हरित वर्ण के घोड़ों को इस पार्थिव लोक से उठा ले जाकर अन्यत्र नियुक्त कर देता है। अथवा यहाँ पर 'युजि' धातु का केवल प्रयोग होते हुए भी उसको 'वि' उपसर्ग के सहित माना जाना चाहिये। इस तरह से जब यह सूर्य अपनी किरणों अथवा घोड़ों को अपने रथ से विमुक्त कर देता है, तो उसके बाद ही रात्रि तप से इस सारे जगत् को ढँक देती है। यहाँ पर सधस्थ शब्द रथ का और सिम शब्द सर्व शब्द का पर्यायवाची है। अथवा 'वासः' शब्द का अर्थ है दिन का तेज, उसको सारे जगत् से हटाकर रात्रि सब जगह तप का विस्तार कर देती है। निरुक्तकार (४।११) ने भी इस अर्थ का समर्थन किया है।

यदपि—'सौरमण्डलस्यान्यो देवः सविता प्रेरयिता स सूर्यस्य गतिं त्वरयते। अयं च स्वर्णमयः, स्वर्णमया अस्य भुजाः, सौवर्णश्च रथः। स च सुदृढैः स्वर्णभुजैर्भुजानुत्थाप्य प्राणिनः प्रबोधयति सद्भावनाश्च वर्धयते। अस्य बाहवो भूतलं स्पृशन्ति, कनकरथारूढः परिभ्राम्यति, प्राणिनश्च निरीक्षते। अस्योर्ध्वमधश्च पन्थानौ वर्तेते। उषसः पन्थानमनुसरति। सौरैर्भास्वरैर्मयूखैर्देदीप्यमानः पीतकेशः सविता प्राच्याः स्वद्युतीः सातत्येन प्रसारयति। सोऽपि दुःस्वप्नान् दानवान् मायाविनश्च नाशयति। स देवानमृतान्मनुष्यांश्चायुष्मतः करोति, प्रेतात्मनः संयमनीं पुरीं नयति। अन्ये देवास्तमनुसरन्ति। इन्द्रवरुणादयोऽपि तदिच्छां नातिक्रामन्ति। प्रदोषवेलायां स सूर्यसहचरो भवति। एकस्मिन् सूक्तेऽस्तं गच्छतः सूर्यस्य रूपेण तस्य वर्णनम्। 'आशुभिश्चिद्यान् वि मुचाति नूनमरीरमदतमानं चिदेतोः। अह्यर्षूणां चिन्न्ययाँ अविष्यामनु व्रतं सवितुर्मोक्यागात् ॥' (ऋ० सं० २।३८।३), 'पुनः समव्यद् विततं वयन्ती मध्या कर्तोर्न्यधाच्छक्म धीरः' (ऋ० सं० २।३८।४); 'विश्वो मार्ताण्डो व्रजमा पशुर्गात् स्थशो जन्मानि सविता व्याकः' (ऋ० सं० २।३८।८), 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्' (ऋ०सं० ३।६२।१०)। तद्रीत्या मन्त्राणामयमर्थः—वेगवद्भिस्तीव्रगतिभिरश्वैः परिभ्राम्यन् सवितेदानीं विश्राम्यति। शीघ्रगामिनामश्वानां रश्मीनाचकर्ष। सर्पवत्सर्पतामश्वानां गतिं रोधयति। सवितुरादेशाद् रात्रेरुपस्थितत्वात्। वस्त्रं वयन्ती नारीव रात्रिः पूर्वेद्युरद्यापि प्रकाशं तमसाच्छादयति। धीराः कर्मकरणसमर्था अपि सर्वे स्वस्वकार्यमवरुद्धं कृतवन्तः। यावद्दिनं परिभ्राम्यन्तः पक्षिणः स्वस्वनीडमुपागम्यावस्थितवन्तः। समस्तपशुवृन्दोऽपि स्वस्वगोष्ठमुपजगाम। सर्वनियन्त्रा सवित्रा सकलभूतानि यथास्थानं पृथक्कृतानि। अहमोजस्विनः सवितुर्देवस्य तत् श्रेष्ठौजः प्रेप्सया ध्यायामि। स नो धियः प्रचोदयात्। प्रेरकत्वात्तस्य स्मरणं वेदारम्भसमये प्राचीनकालेषु क्रियते स्म। अद्यापि हिन्दवोऽस्य मन्त्रस्य सन्ध्याकाले जपं कुर्वन्ति। सावित्रीनाम्नास्य मन्त्रस्योपास्यदेवता प्रसिद्धा' इत्यादिकम्, तदपि यत्किञ्चित्, सवितुः सूर्यस्य चाभेदेन सूर्यगति-

सौर-मण्डल के दूसरे देवता सविता, प्रेरयिता हैं, जो सूर्य की गति को त्वरित करता है। यह देवता स्वर्णमय है। सोने की भुजाएँ और सोने का इसका रथ है। यह सुदृढ़ स्वर्णभुजाओं को उठाकर प्राणिवर्ग को प्रबोधित करता है और उन्हें सद्भावनाओं से संवर्धित करता है। इसकी बाँह भूतल तक स्पर्श करती हैं। यह कनक रथ में आरूढ़ होकर परिभ्रमण करता है और प्राणिवर्ग का निरीक्षण करता है। इसका पथ ऊर्ध्व एवं अधः दोनों ओर है। उषा के चल पड़ने पर सविता भी उसी पथ का अनुसरण करता है। सूर्य की भास्कर मयूखों से देदीप्यमान पीतकेश सविता अपनी द्युति को प्राची से सन्तत फैलाता है। यह दुस्वप्नों को दूर करता है, दानवों और मायावियों का नाश करता है। यह देवताओं को अमर करता है और मानव की आयु को बढ़ाता है। यहाँ सविता प्रेतात्माओं को धर्मराज की पुरी में ले जाता है। अन्य देवता सविता का ही अनुसरण करते हैं। इन्द्र, वरुण जैसे अत्यन्त प्रभावशाली देवता भी इसकी इच्छा का अतिक्रमण नहीं कर सकते और न इसके स्वतन्त्र शासन का ही उल्लंघन कर सकते हैं। सविता को बहुधा प्रदोष वेला में सूर्य का सहचर माना है। एक सूक्त में उसका वर्णन अस्तंगत होने वाले सूर्य के रूप में किया है। इस सूक्त के तीन मन्त्र ऊपर मूल में उद्धृत हैं, साथ ही प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र भी उद्धृत है। इन मन्त्रों का अर्थ यह है—'वेगवान् घोड़ों पर तीव्र गति से परिभ्रमण करता हुआ सविता अब विश्राम करता है, उसने अपने शीघ्रगामी घोड़ों की रास खींच ली है, वह सर्प की तरह भागते हुए घोड़ों की गति को रोक रहा है। कारण, सविता का आदेश पाकर रात्रि उपस्थित हो गई है। वस्त्र को बुनती हुई नारी के समान यह रात्रि कल की तरह फिर आज भी प्रकाश को तम से आच्छादित कर रही है। धीर और काम करने में समर्थ होते हुए भी सब लोग अपने-अपने काम को बन्द कर चुके हैं। सारे दिन चक्कर करते हुए सब पक्षी अब अपने-अपने घोसलों पर जा बैठे हैं। समस्त पशुवृन्द भी अपनी-अपनी गोशाला में पहुँच गये हैं'। सर्वनियन्ता सविता देवता ने सकल भूतप्राणियों को यथास्थान पृथक् पृथक् कर दिया है। हम ओजस्वी सविता देवता के उस सर्वश्रेष्ठ ओज को प्राप्त करने की लालसा से उसका ध्यान करते हैं। वह हमारी बुद्धि को प्रेरणा प्रदान करे।' प्रेरक के नाते उसका स्मरण वेदारम्भ के समय प्राचीनकाल में किया जाता था। इस मन्त्र का जाप आज भी प्रत्येक आस्तिक हिन्दू सन्ध्या-वन्दन के समय करता है। यह मन्त्र आराध्य देवता के नाम पर 'सावित्री' कहलाता है' (पृ० ६६-६७)

प्रेरकत्वायोगात्। तस्य च रश्मय एव कराः। तैरेव स प्राणिनः प्रबोधयति। स च सत्तामात्रेण प्रेरकः। न च कश्चनोत्थापयति स्वापयति वा। तस्मात्मैव रथः। आत्मैवाश्वाः। माहाभाग्याद्देवतायाः। तथापि तस्य लीलाविग्रहोऽपि भवति। 'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः। केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः॥' इति पुराणैर्गीयमानत्वात्।

मन्त्रार्थस्तु—यान् गच्छन् सविता आशुभिश्चित् शीघ्रगामिभिरपि रश्मिभिः विमुचति विमुच्यते। नूनम् अतमानं चित् गच्छन्तमपि जनम् एतोः गमनात् अरीरमत् उपरमयति। किञ्च, अहर्षूणाम् अहिमाहन्तारं शत्रुमर्षन्त्यभिगच्छन्तीत्यघ्वर्षवः, तेषामपि अविष्यां गमनेच्छां न्ययान् नियच्छति। सवितुः प्रेरकस्य सूर्यस्य व्रतं कर्म अनु पश्चात्। मोकी रात्रिः (नि० १।७।१८), रात्रिनामसु पाठात्। आगात् सवितुश्चेष्टोपरतौ रात्रिरागच्छतीत्यर्थः। पूर्वोक्तो मैकडानलाभिप्रेतस्त्वर्थोऽशुद्ध एव, मन्त्रेऽश्वादिबोधकपदाभावात्। रश्मीनाचकर्ष इत्यस्यापि बोधकं पदं नास्ति मूले। सर्पवत्सर्पतामश्वानां गतिं रुरोध इत्यस्यापि बोधकं पदं नास्त्येव, पूर्वेणैव गतार्थत्वाद् व्यर्थत्वाच्च। अहर्षूणामित्यस्य तु अहिमाहन्तारं शत्रुमृषन्ति अभिगच्छन्ति ये शत्रवस्तेषामपि अविष्यां गमनेच्छां न्यायाद् नियच्छतीत्येवार्थः। सवितुरादेशं प्राप्य रात्रिरागतेत्यपि निर्मूलम्, आदेशार्थकपदाभावात्।

द्वितीयमन्त्रार्थस्तु—वयन्ती वस्त्रं वयन्ती नारीव विततमालोकं पुनः समव्ययत संवेष्टयते। पुनःशब्दः पूर्वेद्युरप्येवमेवाकार्षीदिति द्योतयति। धीरः प्राज्ञोऽपि सर्वो लोकः कर्तोः क्रियमाणं कर्म शक्यकर्तुः शक्यमपि मध्या मध्ये उपक्रान्तं कर्मासमाप्य न्यधात् निहितवान्। सवितर्युपरते इति शेषः। 'उत्संहायास्थाद् व्यृतूँरदर्धररमतिः सविता देव आगात्' इति मन्त्रार्धः, तस्यायमर्थः—सर्वो लोकः संहाय शय्यां विहाय उत् अस्थात्। अवशिष्टं कर्म कर्तुं

यह कथन भी सर्वथा निरर्थक है। सविता और सूर्य दोनों एक ही हैं, अतः सविता को सूर्य की गति का प्रेरक नहीं माना जा सकता। किरणें ही उसके हाथ हैं। उन्हीं की सहायता से वह प्राणियों को जगाता है। अपनी उपस्थिति मात्र से वह प्रेरणा प्रदान करता है। न तो वह किसी को जगाता है और न सुलाता ही है। वही अपने रथ और घोड़े के रूप में भी परिणत होता है, क्योंकि देवता महान् ऐश्वर्यशाली होते हैं। इसीलिये वह लीला करने के लिये शरीर भी धारण करता है। पुराणों में इसकी इस तरह से स्तुति की गई है—'सूर्यमण्डल के मध्य में निवास करने वाले, कमल के आसन पर विराजमान, केयूर, मकरकुण्डल, किरीट और हार को धारण करने वाले, सुवर्ण के समान देदीप्यमान शरीर वाले, शंख और चक्र को धारण किये हुए नारायण का सदा ध्यान करना चाहिये।'

उक्त मन्त्रों का अर्थ यह है—'जब सूर्य चलने लगता है, तो वह अपनी तीव्र गतिवाली रश्मियों को भी पीछे छोड़ जाता है। यह चलते हुए मनुष्य की गति को भी रोक देता है और हिंसक मनोवृत्तिवाले शत्रुओं की गति को भी रोक देता है। सारे जगत् के प्रेरक इस सविता के इन क्रियाकलापों के बाद ही रात्रि का आगमन होता है'। मैकडानल के द्वारा किया गया पूर्वोक्त अर्थ सर्वथा गलत है, क्योंकि मन्त्र में अश्व प्रभृति के बोधक पद विद्यमान नहीं हैं। 'अपनी किरणों को खींच लिया' इस अर्थ के बोधक पद भी उस मन्त्र में नहीं है। 'सर्प के समान सरपट भागते हुए घोड़ों की गति को अवरुद्ध कर दिया' इस अर्थ के बोधक पद भी वहाँ नहीं है। इस अर्थ की प्रतीति पूर्वपद से ही हो जाती है, अतः पुनः इस तरह का अर्थ करना व्यर्थ भी है। 'अहर्पूणाम्' इस पद का अर्थ यही हो सकता है कि 'सब तरह से हिंसा करने के लिये उद्यत शत्रु की गति को रोक देने वाला है'। 'सविता का आदेश पाकर रात्रि आ गई' यह अर्थ भी सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि यहाँ पर कोई आदेशार्थक पद नहीं दिखाई पड़ता।

दूसरे मन्त्र का अर्थ इस तरह से किया जाता है—'वस्त्र को बुननेवाली नारी जैसे तन्तुओं का विस्तार करती है, उसी तरह से यह सूर्य भी कल की तरह आज भी सारे संसार पर अपनी किरणों के द्वारा फैलाए गए प्रकाश को पुनः समेट लेता है। यह देखकर सभी समझदार मनुष्य हाथ में लिये अपने काम को बीच में अधूरा ही छोड़कर बैठ जाते हैं, क्योंकि सूर्य अब अस्ताचल की ओर चला गया है'। 'उत्संहायास्थाद्' यह मन्त्र का आधा भाग है। इसका अर्थ यह है—'संपूर्ण प्राणी वर्ग अब शय्या को छोड़कर उठ खड़ा

पुनरुत्तिष्ठति । संपूर्वो जहातिः शय्यापरित्यागे वर्तते । यथा—'कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः' (ऐ० ब्रा० ७।१५) । सविता सर्वस्य प्रसविता सूर्यः अरमतिः अनुपरतिः देवः द्योतमानः आगात् आगच्छति, उदेतीत्यर्थः । ऋतून् कालविशेषांश्च वि अदर्दः विदारयति । विश्वः सर्वः मार्ताण्डः मृताद्धिरण्मादण्डादुत्पद्यमानः पक्षी आगात् आगच्छति । आकाशान्नीडमिति शेषः । विश्वः पशुरपि व्रजं गोष्ठमागात् । सविता प्रेरकः रथशः स्थाने स्थाने जन्मानि जातानि भूतानि व्याकः पृथगकार्षीत् । ततः पूर्वार्धो मन्त्रः 'याद्राध्यं वरुणो योनिमप्यमनिशितं निमिषि जर्भुराणः' (ऋ० सं० २।३८।८) तदर्थस्तु—यातां गच्छतां राध्यं संराधनोयम्, अप्यम् आप्तुं योग्यमनिशितमतीक्ष्णं सुखकरं योनिं स्थानं निमिषि निमेषे सवितुरस्तमये सति विश्रामार्थं प्राणिभ्यः प्रयच्छति, वरुणस्य रात्रेर्निर्वाहकत्वात् । जर्गुराणः भृशं गच्छन् । पूर्वोक्तोऽर्थस्तु काल्पनिक एव ।

यः सविता नः अस्माकं धियः कर्माणि धर्मादिविषया बुद्धीर्वा प्रचोदयात् प्रेरयेत् । तत् तस्य देवस्य सवितुः सर्वान्तर्यामितया प्रेरकस्य जगत्स्रष्टुः परमेश्वरस्य वरेण्यं सर्वैरुपास्यतया ज्ञेयतया च संभजनीयं भर्गः अविद्यातत्कार्ययोर्भर्जनाद् भर्गः स्वयंज्योतिः परब्रह्मात्मकं तेजः धीमहि ध्यायामः । यद्वा तद् इति भर्गो विशेषणं सवितुर्देवस्य तादृशं भर्गो धीमहि । किं तत् इत्यपेक्षायामाह—य इति । अत्र लिङ्गव्यत्ययः । यद्भर्गः धियः प्रचोदयात्, तत् ध्यायेमेति । यद्वा यः सविता सूर्यो धियः कर्माणि प्रचोदयात् । तस्य सवितुः सर्वस्य प्रसवितुः देवस्य द्योतमानस्य सूर्यस्य तत् सर्वैर्दृश्यमानतया प्रसिद्धं वरेण्यं सर्वैः संभजनीयं भर्गः पापान्तं तापकं तेजोमण्डलं धीमहि ध्येयतया मनसा धारयेम । यद्वा यः सविता धियः प्रचोदयति तस्य प्रसादात् भर्गोऽन्नादिफलं धीमहि धारयामः । भर्गशब्दस्यान्नपरत्वे धीशब्दस्य कर्मपरत्वे आथर्वणम्—'वेदांश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽन्नमाहुः । कर्माणि धियस्तदु ते प्रब्रवीमि । प्रचोदयात् सविता चाभिरेति' (गोपथ० १।३२) इति सायणाचार्यः ।

हुआ है कि अब कल के बचे हुए कार्य को पूरा कर दिया जाय । संपूर्वक 'हा' धातु का अर्थ 'शय्या का परित्याग' होता है । जैसे कि ऐतरेय ब्राह्मण के इस वाक्य में कि 'कलि सोया रहता है और द्वापर जागता रहता है' । सविता अर्थात् सभी प्राणियों को उत्पन्न करने वाला यह सूर्य बिना विश्राम किये सारे जगत् को प्रकाशित करते हुए उदित होता है । यह सभी ऋतुओं को तहस-नहस कर देता है । यह विश्वमय मार्तण्ड सविता सुवर्णमय अण्ड से उत्पन्न पक्षी की तरह यहाँ पर उसी तरह से आता है, जैसे कि आकाश में विचरण करने वाला पक्षी अपने घोंसले में आ जाता है । सारा पशु समुदाय भी इस समय अपने बाड़े में आ जाता है । यह प्रेरक सविता स्थान-स्थान पर उत्पन्न प्राणियों को पृथक् करता है । 'याद्राध्यं' इत्यादि मन्त्र का पूर्वार्ध है । इसका अर्थ इस तरह से किया जाता है—'सविता जब अस्ताचल की ओर चलता है, तो वह यात्रा करनेवाले पथिकों के विश्राम के लायक, अनुद्वेजक, सुखकर स्थान की व्यवस्था करता है । यहाँ पर वरुण रात्रि का निर्वाहक माना जाता है, अर्थात् रात्रि में वरुण सब प्राणियों की देखभाल करता है । 'जर्भुराणः' पद का अर्थ 'बहुत चलने वाला' होता है । पूर्वोक्त मैकडानल प्रदर्शित अर्थ कोरा काल्पनिक है ।

'जो सविता हमारे क्रिया कलाप को अथवा धर्मादि विषयक बुद्धि को प्रेरित करता है, उस सविता, सर्वान्तयामी होने से सबके प्रेरक, जगत् के स्रष्टा परमेश्वर के सबके उपास्य, ज्ञेय और संभजनीय स्वयंज्योतिःस्वरूप परब्रह्मात्मक तेज का हम ध्यान करते हैं' अथवा 'तत्' शब्द भर्ग का विशेषण है, उस सविता देव के उस तरह के तेज का हम ध्यान करते हैं । वह किस तरह का है ? इस तरह की आकांक्षा होने पर बताया गया है—य इति । यहाँ लिङ्ग में परिवर्तन हो जाता है । जो भर्ग हमारी बुद्धि का प्रेरक होता है, उसका हम ध्यान करते हैं । अथवा जो सविता अर्थात् सूर्य हमको कार्य में प्रवृत्त कराता है, सब प्राणियों के प्रसविता द्योतमान सविता देव के सभी प्राणियों से परिदृश्यमान, प्रसिद्ध, सबके लिये वरणीय, पापों के नाशक, भर्ग अर्थात् तेजोमण्डल का हम मन से ध्यान करते हैं । अथवा जो सविता हमारी बुद्धि को अच्छे कामों में लगाता है, उसके ही प्रसाद से हम अनादि लक्षण फल की प्राप्ति करते हैं । भर्ग शब्द का अर्थ अन्न है और धी शब्द का अर्थ कर्म है, इसके प्रमाण में अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण के ऊपर उद्धृत वचन को सायणाचार्य ने उद्धृत किया है ।

यदपि—'ऋग्वेदस्याष्टसु सूक्तेषु पूष्णो देवस्य स्तुतिः। पूषाभ्युदयहेतुः सूर्यान्तर्हितां पशुपालिनीं शक्तिं सङ्केतयति। तस्य रथे अजा युज्यन्ते। सोऽङ्कुशधरः गगनमार्गपरिचितः प्रेतात्मनः पितॄणां पार्श्वं प्रापयति। मार्गाणां संरक्षको मर्त्यान् लोकान्तरेषु सुखमयानि स्थानानि प्रापयति।

विष्णुस्तुरीयश्रेणीगतो देवः, ऋग्वेदे तत्स्तुतेः सूर्यसवितृपूषस्तुत्यपेक्षयाप्यल्पत्वात्। तथाप्यैतिहासिकदृष्ट्या सौरमण्डले स सर्वापेक्षया महत्त्वपूर्णो देवः। स त्रिविक्रमत्वेन निःसंशयं लोकत्रयसञ्चारिणः सूर्यस्य प्रतीको भवति। तस्य सर्वोत्कृष्टः पदक्रमः स्वर्गः, यत्र पितृगणा निवसन्ति। यस्य स्थानस्य प्राप्तये निम्नोक्तशब्दैर्ऋषिभिः स्वाभिलाषो व्यञ्जितः—'तदस्य प्रियमभिपाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति। उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥' (ऋ० १।१५४।५) मूलतो विष्णुकल्पना सूर्यरूपेण प्रचलति। तस्येदं लाक्षणिकं रूपं येन स उरुभिः पदक्रमैस्त्रिलोक्यां द्रुतगत्या भ्राम्यति। मानवहितार्थं तस्य त्रयः क्रमाः। ब्राह्मणग्रन्थेष्वेकस्मिन्नाख्याने विष्णुर्वामनरूपं धृत्वा त्रिभिः पदक्रमैः पृथिवीं दानवाधिकारान्मोचयामास। संसारपालको विष्णुर्वेदोत्तरे पुराणेऽवतारवादाधाररूपेण विकासमुपगतः। मानवकल्याणार्थमनेकधाऽवततार' (पृ० ६७-६८) इति।

तदपि न युक्तम्, सूर्यान्तर्यामिणः परमेश्वरस्यैव वेदे विष्णुरूपेण वर्णनात्। तस्यैव ब्राह्मणग्रन्थैर्विवृतत्वेन सूर्यस्यैव विष्णुप्रतीकत्वोपपत्तेः। यद्यपीन्द्रादिस्तुतिसूक्तसंख्यापेक्षया विष्णुस्तुतिसूक्तसंख्याल्पीयसी, तथापि यथैकयैव सावित्र्या तिसृभिरेव व्याहृतिरेकेनैव प्रणवेन परमार्थतत्त्वं निरूप्यते, तथैव कतिचिद्भिरेव सूक्तैः कतिपयैरेव मन्त्रैर्विष्णोः सर्वदेवापेक्षया परमोत्कर्षो वर्णितः। तथाहि—'विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।

'ऋग्वेद के कोई आठ सूक्तों में पूषा की स्तुति है। उसका नाम 'अभ्युदय कारक' इस अर्थ का वाचक है। उसके स्वरूप में अन्तर्हित सूर्य की उस उपकारक शक्ति की ओर संकेत है, जो मुख्यतः पशुपालन सम्बन्धी देवता के रूप में अभिव्यक्त होती है। उसके रथ में बकरे जोते जाते हैं और वह अंकुश धारण किये हुए होता है। गगन मार्ग से परिचित होने के कारण वह प्रेतात्माओं को पितरों के पास पहुंचाता है। वह मार्गों का संरक्षक है, वह कल्याणमयी शक्ति का परिचय देता है और वही मर्त्य प्राणियों को लोकान्तर में सुखमय स्थानों पर पहुँचने के लिये पथ प्रदर्शित करता है।

संख्या की दृष्टि से निर्णय किया जाय तो विष्णु तुरीय श्रेणी के देवता प्रतीत होते हैं। कारण, ऋग्वेद में उनकी स्तुति सूर्य, सविता और पूषा की अपेक्षा कम की गई है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वह सौर मण्डल में सबसे अधिक महत्त्व के देवता हैं। वर्तमान हिन्दू-धर्म के दो बड़े देवताओं में उनकी गणना है। उनके स्वरूप की यह एक विशेषता है कि वे त्रिविक्रम हैं, जो निःसन्देह विश्व के तीन लोकों में संचरण करने वाले सूर्य का प्रतीक है। इसका सबसे ऊँचा पदक्रम स्वर्ग है, जहाँ देवता और पितृगण निवास करते हैं। इस स्थान की प्राप्ति के लिये ऋग्वेद के ऋषि ने निम्नलिखित शब्दों में अपनी अभिलाषा प्रकट की है—'तदस्य प्रियमभि०'। मूलतः विष्णु की कल्पना सूर्यरूप में ही प्रचलित हुई थी। यह उसका सामान्य रूप न था, परन्तु वह रूप लाक्षणिक था, जिसके द्वारा अपने लम्बे-लम्बे पदक्रमों के बल पर वह त्रिलोकी में द्रुत गति से परिभ्रमण करता है। कई सूक्तों में तो यह भी कहा है कि उसने मानव हित के लिये तीन कदम उठाये थे। इसी स्वरूप को लेकर ब्राह्मण ग्रंथों में एक आख्यान कहा है, जिसमें विष्णु ने वामन का रूप धारण कर तीन पदक्रम के द्वारा पृथ्वी को दानवों के अधिकार से मुक्त किया था। संसार के पालनकर्ता विष्णु का यह रूप वेदोत्तर पुराणों में अवतारवाद का आधार बनकर विकसित हुआ। भगवान् विष्णु मानव कल्याण के लिये अनेक बार भूमि पर अवतार लेते हुए बताये गये हैं' (पृ० ६७-६८)।

यह कथन भी ठीक नहीं है, सूर्य के अन्तर्यामी परमेश्वर को ही वेद में विष्णु के रूप में वर्णित किया है। इसी का विस्तार ब्राह्मण ग्रंथों ने भी किया है, अतः सूर्य ही विष्णु के प्रतीक माने जाते हैं। यद्यपि इन्द्रादि की स्तुति करने वाले सूक्तों की अपेक्षा से विष्णु की स्तुति करने वाले सूक्तों की संख्या थोड़ी है, तो भी जैसे एक ही सावित्री मन्त्र से, तीन ही व्याहृतियों से और एक ही प्रणव से परमार्थ तत्त्व का निरूपण सम्पूर्ण हो जाता है, उसी तरह से कुछ ही सूक्तों से और कुछ ही मन्त्रों से विष्णु का अन्य

यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥' (ऋ० सं० १।१५४।१), 'प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥' (ऋ० सं० १।१५४।२) हे नराः, विष्णोर्व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नुकं अतिशीघ्रं प्रवोचं प्रब्रवीमि। यद्यप्यत्र 'नु कम्' इति-पदद्वयम्, तथापि यास्केन नवोत्तराणि पदानि (नि० ३।१३) इत्युक्तत्वात् शाखान्तरे एकत्वेन पाठाच्च न इत्येतस्मिन्नर्थे नुकम् इति पदद्वयम्। कानि तानि वीर्याणीति तत्राह—यः विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि रञ्जनात्मकानि क्षित्यादिलोकत्रयाभिमानीन्यग्निवाय्वादित्यरूपाणि रजांसि विममे विशेषेण निर्ममे। अत्र त्रयो लोका अपि पृथिवीशब्दवाच्याः। 'यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुत स्थः।' (ऋ० सं० १।१०८।९) योऽस्यां पृथिव्यामस्या इत्युपक्रम्य 'यो द्वितीयस्यां तृतीयस्यां पृथिव्यां' (तै० सं० १।२।१२।१) इति मन्त्रयोः पृथिव्यामेव अवमो मध्यमः परम इति लोकत्रयमन्तर्भवति। तस्माल्लोकत्रयस्य पृथिवीशब्दवाच्यत्वं युक्तमेव। यश्च विष्णुः उत्तरम् उद्गततरम् अतिविस्तीर्णं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयाश्रयभूतमन्तरिक्षम् अस्कभायत् तेषामाधारत्वेन स्तम्भितवान्, निर्मितवानित्यर्थः। अनेनान्तरिक्षाश्रितं लोकत्रयमपि सृष्टवानित्युक्तं भवति। यद्वा यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि पृथिव्या अधस्तात् लोकान् विममे विविधं निर्मितवान्। रजःशब्दो लोकवाची, 'लोका रजांस्युच्यन्ते' इति यास्कोक्तेः। किञ्च, यश्चोत्तरम् उद्गततरम् उत्तरभाविनं सधस्थं सहस्थानं पुण्यकृतां सहनिवासयोग्यं भूरादिलोकं सप्रजम् अस्कभायत् स्कम्भितवान्, सृष्टवानित्यर्थः। स्कम्भेः 'स्तम्भुस्तुम्भु' इति विहितस्य श्नः 'छन्दसि शायजपि' इति व्यत्ययेन शायजादेशः। अथवा पार्थिवानि पृथिवीनिमित्तकानि रजांसि लोकान् विममे भूरादिलोकत्रयमित्यर्थः। भूम्यामुपार्जितकर्मभोगार्थत्वादितरलोकानां तत्कारणत्वम्। किञ्च, यश्चोत्तरमुत्कृष्टतरं सर्वेषां लोकानामुपरिभूतम्, अपुनरावृत्तेस्तस्योत्कृष्टत्वम्। सधस्थम् उपासकानां सहस्थानं सत्यलोकमस्कभायत् स्कम्भितवान्, ध्रुवं स्थापितवानित्यर्थः। किं कुर्वन्? त्रेधा विचक्रमाणः, त्रिप्रकारं स्वसृष्टान् विविधं क्रममाणः। विष्णोस्त्रे-

सभी देवताओं की अपेक्षा उत्कर्ष बोधित हो जाता है। जैसा कि 'विष्णोर्नुकं०' और 'प्र तद्विष्णुः०' इन दो मन्त्रों से सूचित होता है। इनका अर्थ यह है—'हे मनुष्यों, विष्णु अर्थात् व्यापनशील देव के पराक्रम से भरे हुए कार्यों का मैं अतिशीघ्र वर्णन कर रहा हूं। यद्यपि यहां पर 'नु कम्' ये दो पद है, तो भी यास्क ने इनको एक ही माना है और शाखान्तर में भी इनको एक ही माना है, अतः 'नहीं' इस अर्थ में यहां पर 'नुकम्' इस पदद्वय का प्रयोग माना गया है। विष्णु के ये पराक्रम के कार्य क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है—जो विष्णु पृथिवी संबन्धी रंजनात्मक, पृथिवी प्रभृति लोकत्रय के अभिमानी अग्नि, वायु और आदित्य रूप रज को विशेष रूप से निर्मित करता है। यहां पर पृथिवी शब्द से तीनों लोकों का बोध होता हैं। 'यदिन्द्राग्नी०' इस ऋग्वेद की ऋचा में वर्णित पृथिवी को उपक्रम में रखकर तैत्तिरीय श्रुति के दो मन्त्रों में पृथिवी में ही मध्यम और उत्तम लोक का भी अन्तर्भाव माना गया है। इस तरह से पृथिवी शब्द को लोकत्रय का वाचक मानना ठीक ही है। जो विष्णु अति विस्तीर्ण लोकत्रय के आश्रतभूत सहस्थान अन्तरिक्ष को उनके आधार के रूप में बनाता है। इससे यह अर्थ निंकलता है कि विष्णु ने अन्तरिक्ष के आश्रित तीनों लोकों की सृष्टि की है। अथवा इस मन्त्र का यह अर्थ भी हो सकता है—जिस विष्णु ने पृथिवी सम्बन्धी रजों की, पृथिवी के नीचे विद्यमान नाना लोकों की नाना प्रकार की सृष्टि की। यहां पर रज शब्द का अर्थ लोक है। यास्क ने यह निरुक्ति स्वीकार की है। जिस विष्णु ने उत्तर, उद्गततर अर्थात् उत्तरभावी सहस्थान, प्राणवान् पुरुषों के निवास योग्य भू प्रभृति लोकों की, उनमें निवास करने वाली प्रजा के साथ सृष्टि की है। यहां पर स्कम्भ धातु से 'स्तम्भुस्तुम्भु०' इस सूत्र से विहित श्न प्रत्यय का 'छन्दसि शायजपि' इस सूत्र के द्वारा व्यत्यय और शायच् आदेश हो जाता है। अथवा पृथिवी निमित्तक लोक, भूरादि लोक की सृष्टि विष्णु ने की, यह इसका अर्थ होगा। भूमिलोक में उपार्जित कर्मों के भोग के लिये ही अन्य लोकों की सृष्टि की जाती है, अतः उनकी कारणता मानी गई है। अपि च, जो उत्कृष्टतर अर्थात् सभी लोकों के ऊपर विद्यमान है। यह विष्णुलोक इसलिये उत्कृष्टतर है कि वहां गया व्यक्ति पुनः लौटकर नहीं आता। यह विष्णुलोक उपासकों का सहस्थान, सत्यलोक है, विष्णु ने इसको निश्चल स्थान के रूप में स्थिर किया है। ऐसा उसने कब किया? उस

धाक्रमणम् 'इदं विष्णुर्विचक्रमे·····'(ऋ० सं० १।२२।१७) इति श्रुतिप्रसिद्धम्। अत एवोरुगायः उरुभिर्महद्भिर्गीयमानः, अतिप्रभूतं गीयमानो वा। य एवं कृतवान् तादृशस्य विष्णोर्वीर्याणि प्रवोचम्। एवमनेन मन्त्रेण विष्णोः सर्वकारणत्वम्, तत्प्राप्तेरपुनरावृत्तिहेतुत्वात्। निरतिशयमहत्त्वं व्यापकत्वं च विष्णोरेव सम्भवति, अग्निवाय्वादिपृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकादिनिर्मातृत्वात्। तदेतदविज्ञायैव मैकडानलादयः पाश्चात्त्या विष्णोः साधारण्यं प्रलपन्ति।

यस्येति वक्ष्यमाणत्वात् स इत्यध्याहर्तव्यम्। स महानुभावो वीर्येण स्वकीयेन वीरकर्मणा पूर्वोक्तेन स्तवते स्तूयते सर्वैः। कर्मणि व्यत्ययेन शप्। वीर्येण स्तूयमानत्वे दृष्टान्तः—मृगो न सिंहादिरिव यथा स्वविरोधिनो मृगयिता सिंहो भीमो भीतिजनकः कुचरः कुत्सितहिंसाकर्ता दुर्गमप्रदेशगन्ता वा गिरिष्ठाः पर्वताद्युन्नतप्रदेशस्थायी सर्वैः स्तूयते, तद्वदयमपि मृगोऽन्वेष्टा शत्रूणां भीमो भयानकः, 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः'(तै०आ० ८।८।१) इति श्रुतेः। कुचरः शत्रुवधादिकुत्सितकर्मकर्ता, कुषु सर्वासु भूमिषु लोकत्रये सञ्चारी वा। तथा गिरिष्ठाः गिरि मन्त्रादिरूपायां वाचि सर्वदा वर्तमानः। ईदृशोऽयं स्वमहिम्ना स्तूयते। किञ्च, यस्य विष्णोः, उरुषु विस्तीर्णेषु त्रिसंख्याकेषु विक्रमणेषु पादप्रक्षेपेषु विश्वा सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि अधिक्षियन्ति आश्रित्य निवसन्ति स विष्णुः स्तूयते।

'प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षिते उरुगायाय वृष्णे। य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः॥' (ऋ० सं० १।१५४।३) विष्णवे सर्वव्यापकाय शूषम् अस्मत्कृत्यादिजन्यं वलं महत्त्वं मन्म मननं स्तोत्रं मननीयं शूषं वलं वा विष्णुमेतु प्राप्नोतु। कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। कीदृशाय विष्णवे ? गिरिक्षिते वाचि गिरिवदुन्नतप्रदेशे वा तिष्ठते, उरुगायाय वहुभिर्गीयमानाय, वृष्णे वर्षित्रे कामानाम्, एवं महानुभावं शूषं बलं प्राप्नोतु। तथा

समय किया, जब कि वह अपनी सृष्टि को तीन पैरों से नाप रहा था। विष्णु का यह तीन डग से संसार को नापना 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इस श्रुति में प्रसिद्ध है। इसीलिये इस विष्णु की स्तुति हृदय से निकलती है, अथवा इसकी प्रभूत स्तुति की जाती है। जिसने ऐसा किया, उस विष्णु के पराक्रम का मैं वर्णन कर रहा हूँ। इस तरह से इस मन्त्र से विष्णु की सर्वकारणता प्रतिपादित है, क्योंकि उसकी एक बार प्राप्ति हो जाने पर प्राणी की पुनरावृत्ति नहीं होती, पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता। इस तरह से निरतिशय महत्त्व और व्यापकत्व विष्णु में ही संभव हो सकता है, क्योंकि वही अग्नि, वायु प्रभृति और पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक प्रभृति का निर्माता है। इन सब बातों को जाने बिना ही मैकडानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् विष्णु को साधारण देवता मानने लगते हैं।

'प्र तद्विष्णुः०' इस मन्त्र में 'यस्य' पद कहा गया है, अतः यहाँ पर 'सः' पद का अध्याहार करना पड़ता है। वह महानुभाव विष्णु अपने पूर्ववर्णित पराक्रम के आधार पर सबकी स्तुति का पात्र बनता है। यहाँ पर व्यत्यय के द्वारा कर्म में यप् प्रत्यय का विधान माना जाता है। अपने पराक्रम के कारण इसकी स्तुति कैसे होती है, इसको दृष्टान्त के द्वारा समझाया गया है—जैसे अपने विरोधियों को ढूंढने वाला सिंह बड़ा भयंकर होता है, वह बड़ी निर्दयता से किसी को भी मार डालता है, दुर्गम स्थानों में भी पहुंच जाता है और पर्वत आदि उन्नत स्थानों में गुफा आदि में रहता है, इसीलिये उसकी सब स्तुति करते हैं, उसी तरह से यह विष्णु भी दुष्ट जनों को ढूंढता रहता है और उनके लिये भयजनक माना जाता है, 'इसी के डर से पवन नित्य प्रति बहता रहता है और सूर्य प्रति दिन उगता है' यह श्रुति इस बात में प्रमाण है। यह विष्णु कुचर इसलिये कहलाता है कि शत्रुवध जैसे कुत्सित कार्य को वह करता है, अथवा सभी भूमियों में, सभी लोकों में यह संचरण करता है। यह गिरिष्ठा इसलिये कहलाता है कि मन्त्रादि के रूप में विद्यमान वाणी में यह सदा निवास करता है। इस तरह की अनेक महिमाओं से मण्डित इस विष्णु की स्तुति की जाती है। अपि च, इस विष्णु के विस्तीर्ण तीन पदक्रमों से यह सारा विश्व, सारे भुवन और उनमें निवास करने वाले प्राणी वर्ग नाप लिये जाते हैं, अर्थात् उन तीन पदक्रमों में ये सब अवस्थित हैं, इसलिये इस विष्णु की स्तुति की जाती है।

'प्र विष्णवे०' विष्णु की स्तुति में कही गई यह तीसरी ऋचा है। इसका अर्थ यह है—'हमारे द्वारा किये गये सत्कार्यों से उत्पन्न बल, महत्त्व, मननीय स्तोत्र आदि उस सर्वव्यापक विष्णु को प्राप्त हो। कर्म का सम्प्रदान होने से यहाँ चतुर्थी विभक्ति का विधान हुआ है। यह विष्णु कैसा है ? वह वाणी अथवा पर्वत सदृश उन्नत प्रदेश में निवास करता है। उसकी सब लोग स्तुति करते हैं।

च रामायणं 'प्रव्याहरत विश्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम्' (वा०रा० ७)। कोऽस्य विशेष इत्युच्यते—यः विष्णुः इदं प्रसिद्धं दृश्यमानं दीर्घम् अतिविस्तृतं प्रयतं नियतं सधस्थं लोकत्रय एकः इत् एवाद्वितीयः सन् त्रिभिः पदेभिः पादैः विममे विशेषेण निर्मितवान्।

'यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणो स्वधया मदन्ति। य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥' (ऋ० सं० १।१५४।४) यस्य विष्णोः, मधुना मधुरेण दिव्येनामृतेन पूर्णा पूर्णानि त्रीणि पदानि पादप्रक्षेपाणि, अक्षीयमाणा अक्षीयमाणानि, स्वधया अन्नेन मदन्ति मादयन्ति तदाश्रितजनान्, य उ य एव पृथिवीं प्रख्यातां भूमिं द्यां द्योतनात्मकमन्तरिक्षं विश्वा भुवनानि सर्वाणि भूतजातानि चतुर्दश लोकांश्च, यद्वा पृथिवीशब्देन अधोवर्तीन्यतलवितलादिसप्तभुवनानि द्युशब्देन तदवान्तराणि एवं चतुर्दशलोकान् विश्वा भुवनानि सर्वाण्यपि तत्रत्यानि भूतजातानि त्रिधातु त्रयाणां धातूनां समाहारस्त्रिधातु पृथिव्यप्तेजोरूपधातुत्रयविशिष्टं यथा भवति तथा दाधार धृतवान्, तुजादित्वादभ्यासस्य दीर्घत्वम्, उत्पादितवान् त्रिवृतं कृतवान्, 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० उ० ६।३।२) इति श्रुतेः।

'तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति' (ऋ० सं० १।१५४।५)। अस्य महतो विष्णोः प्रियं प्रियभूतं तत् सर्वैः सेव्यत्वेन प्रसिद्धं पाथः अन्तरिक्षनामैतत्। पाथोऽन्तरिक्षम्, पथा व्याख्यातत्वात् (नि० ६।७) इति यास्कोक्तेः। अविनश्वरं ब्रह्मलोकमित्यर्थः। अस्यां व्याप्नुयाम्। तदेव विशेष्यते—यत्र स्थाने देवयवः देवं द्योतनस्वभावं विष्णुमात्मन इच्छन्तो यज्ञदानादिभिः प्राप्तुमिच्छन्तः नरो मनुष्या मदन्ति तृप्तिमनुभवन्ति, तदश्यामित्यन्वयः। पुनः कीदृशम्? उरुक्रमस्यात्यधिकं सर्वं जगदाक्रममाणस्य तत्तदात्मना अत एव विष्णोर्व्यापकस्य परमेश्वरस्य परमे उत्कृष्टे निरतिशये केवलसुखात्मके पदे स्थाने मध्वः मधुरस्य उत्सः निष्यन्दो वर्तते तदश्याम्। यत्र क्षुत्तृष्णा-

वह सबकी कामनाओं को पूरा करनेवाला है। इस तरह के उस महानुभाव को बल प्राप्त हो। इस बात को रामायण में भी कहा गया है—'विष्णु का बल बढ़े इस बात को आप लोग विश्वास पूर्वक, निश्चिन्तता से कहें'। इसकी ऐसी क्या विशेषता है? यह है कि इस विष्णु ने परिदृश्यमान इस प्रसिद्ध, अतिविस्तृत, नियत स्थानवाली त्रिलोकी को अकेले ही, बिना किसी की सहायता से तीन डग से भलीभाँति नाप लिया है'।

'यस्य त्री पूर्णा०' जिस विष्णु के मधुर, दिव्य अमृत से परिपूर्ण तीन डग अक्षय स्वधा, अन्न के रूप में उसके आश्रित जनों को सदा सन्तुष्ट रखते हैं और जो इस प्रसिद्ध पृथिवी को, द्योतनात्मक अन्तरिक्ष को तथा सभी प्राणियों और चौदह भुवनों को; अथवा पृथिवीपद से अतल, वितल आदि अधोवर्ती सात भुवनों का और द्युशब्द से ऊपर के सात भुवनों का ग्रहण करना चाहिये, इस तरह से चौदह लोक और उनमें रहनेवाले समस्त प्राणियों को तीन धातु अर्थात् पृथिवी, जल और तेज इन तीन धातुओं की विशिष्ट निर्मिति के रूप में धारण करता है, तुजादि में पाठ होने से यहाँ (दाधार) अभ्यास का दीर्घ हुआ है, त्रिवृत्करण प्रक्रिया के आधार पर उत्पादित करता है, 'तासां त्रिवृतं०' यह छान्दोग्य श्रुति इसमें प्रमाण है'।

'तदस्य प्रियमभि पाथो०' इस महान् विष्णु का प्रिय वह सर्वजन सेवनीय प्रसिद्ध मार्ग, 'पाथ' यह अन्तरिक्ष का नाम है, यास्क ने इसी अर्थ में इसकी व्याख्या की है, अर्थात् अविनश्वर ब्रह्मलोक है, उसको मैं प्राप्त कर सकूं। उसी स्थान का विशेष रूप से वर्णन इस तरह से किया जाता है—उस स्थान में द्योतन स्वभाव विष्णु की प्राप्ति की इच्छा से यज्ञ-दानादि का अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य आनन्दपूर्वक रहते हुए तृप्ति का अनुभव करते हैं। यह स्थान पुनः कैसा है? इस सारे जगत् के तत्तदात्मना अधिष्ठाता, व्यापक, परमेश्वर विष्णु के इस परम उत्कृष्ट, केवल निरतिशय सुखात्मक स्थान में मधुर रस सदा बहता रहता है, उसको मैं प्राप्त कर सकूँ। इसका अभिप्राय यह है कि इस विष्णुलोक में क्षुधा-तृषा, जरा-मरण, पुनरावृत्ति आदि का कोई भय नहीं है, संकल्प के अनुसार यहाँ पर अमृत की नहरें आदि भोग सुलभ हैं। इससे बढ़ कर और कोई स्थान नहीं है, इस बात को इस तरह से कहा गया है—इस तरह से वह

जरामरणपुनरावृत्त्यादिभयं नास्ति, सङ्कल्पमात्रेणामृतकुल्यादिभोगाः प्राप्यन्ते, तादृशमित्यर्थः। ततोऽधिकं नास्तीत्याह—इत्था इत्थमुक्तप्रकारेण स हि बन्धुः स खलु सर्वेषां सुकृतिनां बन्धुः बन्धुभूतो हितकरः, तस्य पदं प्राप्तवतामपुनरावृत्तेः। 'न च उ स पुनरावर्तते' इति श्रुतेः। हिशब्दः सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासादिप्रसिद्धिद्योतनार्थः।

X Acc 540

'ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यंत्र गावो भूरिश्शृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ॥' (ऋ० सं० १।१५४।६)। सोमवाजपेययज्ञे बिनियुक्तत्वाद् हे पत्नीयजमानौ, वां युष्मदर्थं तानि गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धानि वास्तूनि सुखनिवासयोग्यानि स्थानानि गमध्यं युवयोर्गमनायोश्मसि कामयामहे तदर्थं विष्णुं प्रार्थयामहे। तानि कानि ? यत्र येषु वास्तुषु गावो धेनवो रश्मयो वा भूरिश्शृङ्गा अत्यन्तोन्नत्युपेता भूरिभिराश्रयणीया वा अयासः अयना गन्तारोऽतिविस्तृताः। यद्वा यासो गन्तारः अतादृशा अत्यन्तप्रकाशयुक्ताः स्थिराः। अत्राह—अत्र खलु वस्त्वाधारभूते द्युलोके उरुगायस्य महात्मभिर्गातव्यस्य स्तुत्यस्य वृष्णः सर्वकामप्रदस्य विष्णोस्तत्तादृशं पुराणेषु गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धं परमं निरतिशयं पदं स्थानं भूरि अतिप्रभूतमवभाति स्वमहिम्ना स्फुरति। किं बहुना, एकैकेन मन्त्रेणानितरसाधारणेन विष्णोः परमेश्वरत्वमेव स्फुटमुक्तम्। सर्वप्रपञ्चजन्मस्थितिलयकारणत्वमेव ब्रह्मणो लक्षणं वेदान्तेषु प्रसिद्धम्। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० १।१।२२), 'प्राणस्तथानुगमात्' (ब्र० सू० १।१।२८) इत्यादिषु तद्ब्रह्मलक्षणयोगित्वेन आकाशप्राणादिशब्दानामपि भूतभौतिकाकाशप्राणपरत्वमपनोद्य ब्रह्मपरत्वमुपपादितम्। तथैव शिवविष्ण्वादिशब्दानामपि ब्रह्मपरत्वमेव मन्तव्यम्, तल्लिङ्गस्यायात्।

यदपि च—'उषस्देवताया लैटिनभाषागतेन अरोराशब्देन ग्रीकशब्देन 'ई ओस' इत्यनेन च पर्यायत्वमुक्तम्, तदपि न किञ्चित्, लैटिनग्रीकभाषागतयोस्तयोः कालविशेषपरत्वेऽपि देवताविशेषपरत्वाभावेन पर्यायत्वायोगात्। 'सुन्दरीकन्यकारूपेण उषस्देवताया वर्णनम्, सा च दिवः पुत्री। श्यामाया रजन्याः भगिनी, सा प्रणयिसूर्यप्रभया देदीप्यमाना सूर्येणानुगम्यमाना गोरथेनाश्वरथेन वा गच्छति। सा चान्धकारं भूतप्रेतादींश्चापस्तरयति। सा च प्रत्येकं

विष्णु सबका बन्धु है, सभी पुण्यकर्मा व्यक्तियों का हित-संपादक है, क्योंकि जो व्यक्ति उस स्थान तक पहुँच जाता है, उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। 'न च उ स पुनरावर्तते' इस श्रुति में भी यही बात कही गई है। यहाँ पर हि शब्द इस बात को सूचित करने के लिए दिया गया है कि यह बात श्रुति, स्मृति पुराण, इतिहास आदि में सर्वत्र प्रसिद्ध है'।

'ता वां वास्तू०' यह मन्त्र सोम वाजपेय में विनियुक्त है। यहाँ पर यजमान और उसकी पत्नी को संबोधित करके कहा जाता है कि हम ऋत्विग् गण आप लोगों को उन प्रसिद्ध सुखपूर्वक निवास करने योग्य स्थानों की प्राप्ति हो, इसके लिये कामना करते हैं, विष्णु से प्रार्थना करते हैं। वे लोक कैसे हैं ? वहाँ, उन लोकों में बड़े-बड़े सींग वाली गायें अथवा अनेक व्यक्तियों के द्वारा आश्रयणीय ज्ञान की किरणें चारों तरफ विचरण करती रहती हैं। अथवा 'अयासः' पद का अर्थ गाये स्थिर रूप में और ज्ञान की किरणें अत्यन्त प्रकाश के साथ वहाँ रहती हैं। सभी भुवनों और प्राणियों के आधारभूत इस द्युलोक में महात्माओं के द्वारा स्तवनीय, सभी कामनाओं को पूरी करने वाले उस विष्णु का पुराण-प्रसिद्ध वह निरतिशय उत्कृष्ट स्थान अपनी महान् महिमा से प्रकाशित होता रहता है। अधिक उद्धरण देने से क्या लाभ है? यहाँ उद्धृत प्रत्येक मन्त्र में विष्णु का अनितर साधारण, (अन्यत्र दुर्लभ) पारमैश्वर्य स्पष्ट प्रतीत होता है। सारे प्रपंच के जन्म, स्थिति और लय का कारण ही ब्रह्म का लक्षण वेदान्त शास्त्र में प्रसिद्ध है। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्', 'प्राणस्तथानुगमात्' इत्यादि सूत्रों में ब्रह्म के लक्षण का अनुगम होने से ही आकाश, प्राण प्रभृति शब्दों में भूत, भौतिक आकाश, प्राण आदि की वाचकता न मानकर उनकी ब्रह्मपरता का प्रतिपादन किया गया हैं, उसी न्याय से शिव, विष्णु प्रभृति शब्दों के विषय में भी समझना चाहिये।

मैकडानल ने उषा देवता की लैटिन भाषा के 'अरोरा' तथा ग्रीक 'ईओस' से तुलना की है (स० ६८), यह भी गलत है, क्योंकि लैटिन और ग्रीक भाषा के उक्त दोनों शब्द केवल कालविशेष के वाचक हैं, देवताविशेष के नहीं, तब उनकी पर्यायता कैसे मानी जा सकती है ? द्यौः की पुत्री उषा देवी एक परम सुन्दरी कन्या है। उसका जन्म आकाश में हुआ और वह श्याम रजनी की भास्वर भगिनी है। वह अपने प्रणयी सूर्य की प्रभा से देदीप्यमान होती है। सूर्य उसी के मार्ग का अनुसरण करता है और किसी

वस्तुनो जीवनं प्राणश्च । तत्सत्तयैव पक्षिणो नीडेभ्य आहारार्थमुत्पतन्ति । मानवा भोजनार्थमुपगच्छन्ति । मधुरस्वराणां रम्यगीतानां जनयित्री सा प्रतिदिनं सङ्केतितस्थानेष्वेव व्यज्यते । सा दैवीशक्तिपरिचिता प्राचीनकालवदद्य द्योतते, भविष्यकाले च द्योतिष्यते । अत्रैवानेके सूक्तमन्त्रा उद्धृताः । मन्त्राणां तु बाह्या उत्ताना एवार्था अवगताः । तेषु केचन मन्त्रा व्याख्यायन्ते ।

'इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात् चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा । यथा प्रसूता सवितुः सवाय एवा रात्र्युषसे योनिमारैक् ॥' (ऋ० सं० १।११३।१) प्रातरनुवाके उषस्ये क्रतौ त्रैष्टुभे छन्दस्येतत् सूक्तम् । ज्योतिषां ग्रहनक्षत्रादीनां मध्ये इदं उषआख्यं ज्योतिः प्रशस्यतमम् । अस्य कोऽतिशय इत्याह—नक्षत्रादिकं ज्योतिः स्वात्मानमेव प्रकाशयति, नान्यत् । चन्द्रस्तु यद्यप्यन्यदपि प्रकाशयति, तथापि न विस्पष्टप्रकाशः । औषसं तु ज्योतिर्युगपदेव सर्वस्य जगतोऽन्धकारनिराकरणेन विशेषेण प्रकाशकम् । अतः प्रशस्यतमम् । तादृशं ज्योतिरागात्, पूर्वस्यां दिशीति शेषः । आगते च तस्मिन् चित्रः चायनीयः प्रकेतः अन्धकारावृतस्य सर्वस्य पदार्थस्य प्रज्ञापकः, तदीयो रश्मिः विभ्वा विभुर्व्याप्तः सन् अजनिष्ट । किञ्च, यथा रात्रिः स्वयं सवितुः सूर्यसकाशात् प्रसूत उत्पन्नः । सूर्यो हि अस्तं यत् रात्रि जनयति, तस्मिन्ननस्तमिते रात्रेरुत्पत्त्यभावात् । एवमेव रात्रिरपि उषसे सवाय उषस उत्पत्तये तदर्थं योनिं स्थानं स्वकीयापरभागलक्षणम् आरैक् आरेचितवती कल्पितवती । यद्वा प्रसूता रात्रिसकाशादुत्पन्नोषा सवितुः सूर्यस्य सवाय प्रसवाय जन्मने यथा भवति, एवं रात्रिरप्युषसो यज्जन्म तदर्थं स्वापरभागलक्षणं स्थानं कृतवती ।

यत्तु 'सा कालत्रये देदीप्यमानत्वादजरामरा च' इति, तदसत्, प्रवाहरूपेण नित्यत्वेऽपि व्यक्तिशः क्षणभङ्गुरत्वाविशेषात् । तदधिष्ठातृचैतन्यरूपेण त्वजरामरत्वमेव ।

नवयुवा की भांति उस कन्या के पीछे लग जाता है। वह एक चमकीले रथ में बैठकर निकलती है, जिसमें लाल घोड़े या बैल जोते जाते हैं। वह रजनी के अन्धकार को दूर करती है और भूत-प्रेत आदि नीच योनि के जीवों को भगाती है। संक्षेपतः, वह प्रत्येक वस्तु का जीवन एवं प्राण है। उषा के उदित होने पर पक्षी अपने-अपने घोसलों से उड़ते हैं और मानव अपने भोजन की तैयारी के लिये उद्यत होता है। वह मधुर स्वरों को छेड़ती है। वह रम्य गीतों की जननी है। वह दिन-प्रतिदिन संकेतित स्थान पर प्रकट होती है। वह दैवी शक्ति से भली-भाँति परिचित है। जिस तरह वह प्राचीनकाल में चमकती थी, उसी तरह आज भी चमकती है और भविष्य में भी चमकती रहेगी' (पृ० ६९-७०)। यहीं पर अनेक सूक्त-मन्त्र उद्धृत हैं। उनके अर्थ भी पहले के जैसे ही ऊपरी सतह के एवं अस्त-व्यस्त हैं। उनमें से कुछ मन्त्रों की सही व्याख्या यहाँ प्रस्तुत की जाती है—

'इद श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योति०' इत्यादि मन्त्र प्रातरनुवाक में उषा सम्बन्धी क्रतु में विनियुक्त है। पूरे सूक्त में त्रिष्टुप् छन्द है। यह, नक्षत्र आदि ज्योतियों के बीच में यह उषा नामक ज्योति सबसे अधिक प्रशस्य है। इसकी क्या विशेषता है ? यह कि नक्षत्र आदि ज्योति केवल अपने को प्रकाशित करती है, दूसरे को नहीं। चन्द्रमा यद्यपि अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है, किन्तु वह उनको स्पष्ट प्रकाशित नहीं कर पाता। इसके विपरीत यह उषा का प्रकाश एक साथ ही सारे जगत् के अन्धकार को दूर कर सभी वस्तुओं को भलीभाँति प्रकाशित कर देता है। इसलिये इसको प्रशस्यतम कहा जाता है। इस तरह का यह प्रकाश पूर्व दिशा में आ गया है। इसके आ जाने से इसकी चित्र-विचित्र रश्मियाँ अन्धकार में डूबे सब पदार्थों को प्रकाशित कर देती है, ये रश्मियाँ सब जगह व्याप्त हो जाती हैं। ये रश्मियाँ स्वयं सूर्य से उत्पन्न होती हैं। सूर्य जब अस्त हो जाता है, तो वह रात्रि को पैदा करता है, क्योंकि सूर्य के अस्त न होने तक रात्रि का आगमन नहीं हो सकता। इसी तरह से रात्रि भी उषा की उत्पत्ति के लिये अपने एक भाग के रूप में स्थान की परिकल्पना करती है। अथवा रात्रि से उत्पन्न हुई उषा सूर्य के प्रसव की जैसे सूचना देती है, उसी तरह रात्रि भी उषा के जन्म की सूचना देने के लिये अपने एक भाग को, स्थान को अलग कर देती है।

'वह उषा तीनों कालों में प्रकाशमान, अजर और अमर है' (पृ० ७०) पर यह व्याख्या भी गलत है, क्योंकि उषा सम्बन्धी उक्त वर्णन में प्रवाहनित्यता की विद्यमानता में भी व्यक्तिशः प्रत्येक उषा क्षणभंगुर होती है। उस उषा की अधिष्ठातृ देवता में ही, जो कि चैतन्य स्वरूप है, अजरत्व और अमरत्व माना जा सकता है।

'समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे । न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे ॥' (ऋ० सं० १।११३।३) । स्वस्रोर्भगिन्योः रात्र्युषसोः अध्वा सञ्चरणसाधनभूतो मार्गः समान एक एव । येनैवाकाशमार्गेणोषा निर्गच्छति तेनैव रात्रिरपि । अनन्तोऽवसानरहितः । तं मार्गं देवशिष्टे देवेन द्योतमानेन सूर्येणानुशिष्टे सत्यौ अन्याऽन्या एकैका चरतः क्रमेण गच्छतः । अपि च सुमेके शोभनमेहने सर्वेषामुत्पादकत्वात् शोभनप्रजनने नक्तोषासा रात्रिरुषाश्च विरूपे तमःप्रकाशलक्षणाभ्यां विरुद्धरूपाभ्यां युक्ते अपि समनसासमानमनस्के ऐकमत्यं प्राप्ते सत्यौ न मेथेते परस्परं न हिंस्तः । तथा न तस्थतुः क्वचिदपि न तिष्ठतः । सर्वदा लोकानुग्रहार्थं गच्छतः । अन्यान्येति कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवत इति वक्तव्यम् समासवच्च बहुलम् (पा० सू० ८।१) अन्यशब्दस्य द्विर्भावः । सुष्ठु मेहो ययोस्ते सुमेके व्यत्ययेन हस्य ककारः ।

'भास्वती नेत्री सूनृतानामचेति चित्रा वि दुरो न आवः। प्रार्प्या जगद्व्यु नो रायो अख्यदुषा अजीगर्भुवनानि विश्वा ॥' (ऋ० सं० १।११३।४) । भास्वती विशिष्टप्रकाशनयुक्ता सूनृतानां वाचां नेत्री उत्पादयित्री । उषसः प्रादुर्भावानन्तरमेव पशुपक्षिमृगादयः शब्दं कुर्वन्ति । एवंभूता उषा अचेति अस्माभिरज्ञायि । चित्रा चायनीया ज्ञाता । सा नः दुरः द्वाराणि तमसा तिरोहितानि वि आवः व्यवृणोत् । यथास्माभिर्दृश्यन्ते तथा तमो निवार्य प्रकाशयतीत्यर्थः । अपि च, जगत् सर्वं भुवनं प्राप्यं प्रकाशं गमयित्वा नः रायः धनानि वि अख्यत् विशिष्टप्रकाशयुक्तान्यकरोत् । सैषा विश्वा भुवनानि तमसा तिरोहितत्वेन अविद्यमानकल्पानि अजीगः उद्गिरति स्वमुखान्निर्गमयति स्वकीयेन प्रकाशेन तमो निःसार्य पुनरुत्पन्नानीव करोति । नेत्रीति प्रतीत्यभिप्रायेणोक्तिः ।

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः । विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषो अद्येह सुभगे व्युच्छ ॥' (ऋ० सं० १।११३।७) । दिवो दुहिता दुहितृस्थानीया । तस्य हि पूर्वार्धे उषा उत्पद्यते । युवतिः

'समानो अध्वा०'। रात्रि और उषा इन दोनों बहनों का चलने का रास्ता एक ही है। जिस आकाश मार्ग से उषा निकलती है, उसी मार्ग पर रात्रि भी चलती है । यह मार्ग अनन्त, अवसान रहित है । इस मार्ग पर ये दोनों देदीप्यमान स्वभाव सूर्य के अनुशासन पर ही एक-एक कर क्रम से चलती हैं । अपि च, ये उषा और रात्रि सभी वस्तुओं की प्रकाशिका, उत्पादिका मानी जाती हैं, इसीलिये अपने परस्पर विरोधी तम और प्रकाश रूपी स्वभाव से युक्त होती हुई भी ये अपनी समान मनःस्थिति के आधार पर कभी किसी को हानि नहीं पहुँचाती । हिंसक रूप में वे कहीं भी नहीं रहती । वे सदा लोककल्याण में ही लगी रहती हैं । 'अन्यान्य' यहाँ पर कर्मव्यतिहार में सर्वनाम का द्वित्व हो जाता है और वह प्रायः समस्त पद माना जाता है। इस तरह से सूत्र और वार्तिक के आधार पर यहाँ पर अन्य शब्द का द्विर्भाव हो जाता है । 'सुमेके' इस पद की व्युत्पत्ति 'सुष्ठु मेह वाले' यह है । व्यत्यय के आधार पर यहाँ पर 'ह' के स्थान में ककार हो जाता है ।

'भास्वती नेत्री०'। विशिष्ट प्रकाश से युक्त, मीठी वाणी की उत्पादयित्री उषा को हमने जान लिया है । उषा के प्रादुर्भाव के बाद ही पशु, पक्षी, मृग आदि की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं । उस उषा को जब हम इस रूप में जान लेते हैं तो वह हमारे तम से आवृत द्वारों को खोल देती है । अर्थात् वह जब जगत् के सारे अन्धकार को दूर कर देती है, तो हम उन सब पदार्थों को देखने में समर्थ हो जाते हैं । अपि च, यह उषा सारे जगत् को प्रकाशित करके हमारे लिये धन-प्राप्ति के साधनों को भी विशेष रूप से बतला देती है । यह उषा तम, अन्धकार से ढके होने के कारण हमारे लिये न होने के बराबर विद्यमान विश्व के समस्त पदार्थों को प्रकाशित कर देती है, मानो अपने मुह में से उनको निकाल रही हो । अपने प्रकाश से अन्धकार को दूर कर मानों यह उनको पुनः उत्पन्न कर देती है । नेत्री पद का अर्थ यहाँ प्रतीति है । .

'एषा दिवो दुहिता०' । यह उषा आकाश की पुत्री के समान है, क्योंकि इसी आकाश के पूर्वार्ध में उषा उत्पन्न होती है । यह उषा पुरुषों को उनके किये हुए कर्मों का फल देने वाली है, अथवा नित्य यौवन से युक्त है । यह श्वेत वस्त्र धारण किये हुए है;

यावयित्री फलानां प्रापयित्री पुरुषैः नित्ययौवनोपेता वा शुक्लवासाः श्वेतवसना निर्मलदीप्तिर्वा तथा विश्वस्य सर्वस्य पार्थिवस्य पृथिव्याः सम्बन्धिनो वस्वः धनस्य ईशाना ईश्वरी हे सुभगे शोभनधने उषः, अद्य अस्मिन् काले इहास्मिन् देवयजनदेशे व्युच्छ तमांसि विवासय वर्जयेत्यर्थः ।

'उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति । आरैक् पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥' (ऋ० सं० १।११३।१६) । हे मनुष्या उदीर्ध्वं शयनं परित्यज्योद्गच्छत । नः अस्माकं असुः शरीरस्य प्रेरयिता जीवः आगात् तम अप प्रागात् अपक्रान्तम् । उषसः प्रकाशे सति सर्वजीवनव्यापारयोगः । तस्मात्परमात्मरूपतया स च जीवस्तदेव ज्योतिः आ एति आगच्छति । सूर्याय सूर्यस्य पन्थां मार्गं आरैक् विविक्तीकरोति यातवे गमनाय तस्मिन् देशे अगन्म गच्छामः, यत्र आयुरन्नं प्रतिरन्ते उदारा दानेन वर्धयन्ति । प्रपूर्वस्तरतिर्वर्धनार्थः ।

यदपि—'अश्विनोर्युगलदेवतारूपेण वर्णनम् । तावपि दिवःपुत्रौ तरुणौ सुन्दरौ रथारूढौ सूर्यकुमार्याः सूर्यायाः सहचरौ स्वर्णमयौ सुन्दरीकन्यकारूपे अरुणोदयवेलायां तौ व्यज्येते । तदीयस्थे सज्जे उषसः प्रादुर्भावः । लोकरक्षकयोस्तयोरनेका गाथाः प्रसिद्धाः । आपत्काले विशेषतः समुद्रे नौयातॄणां रक्षकौ वैद्यौ अन्धपङ्ग्वोरक्षिचरणदातारौ विश्पलाला लौहचरणसन्धातारौ पौत्रग्रीकपुराणवर्णित 'दिआस—क्यूरोझेउस' पुत्रेण तथा हेलनसम्बन्धिना प्रसिद्धाश्वारोहिभ्यां तुल्यौ अन्धकारप्रकाशवत्प्रदोषप्रतीकौ प्रातःसायंगतनक्षत्रद्योतकौ' (पृ० ७२-७३) इति, तदपि बाह्यार्थानुवादमात्रमेव, सिद्धान्ते तयोर्देवविशेषत्वेन कर्माङ्गत्वात् । आर्तजनोपास्यत्वाच्च परमात्मांशभूतावेव, प्रातःसवनेऽर्धरात्रोत्तरवेलामारभ्याश्विनसूक्तैः प्रातर्यावत् स्तूयमानत्वात् । च्यवनस्य वृद्धस्य यौवनदानेन तुग्रस्य भुज्योर्महाजलयानस्य समुद्रात् स्वीयान्तरिक्षगामिन्या शतारित्रया दिव्यनावा परित्राणेन च प्रख्यातमाहात्म्यौ ।

अथवा निर्मल दीप्ति वाली है । यह सम्पूर्ण पार्थिव धन की स्वामिनी है । ऐसी शोभन धन वाली हे उषे, आज इस समय इस यज्ञ स्थल में तुम सारे अन्धकार को दूर दो ।

'उदीर्ध्वं जीवो०' । हे मनुष्यों, शय्या का परित्याग कर अब उठो । हमारे शरीर में प्राणों का संचार करने वाला अब आ गया है, अन्धकार दूर भाग गया है । उषा के प्रकाश होने के उपरान्त सारे प्राणियों में जीवन का संचार हो जाता है । इसलिये इसको परमात्मस्वरूप माना गया है । तो भी है यह जीव ही, किन्तु यह जीव ज्योतिर्मय है । उस ज्योतिर्मय जीव के आगमन का यहाँ वर्णन है । यह उषा आगे आकर सूर्य के आगमन के पथ को प्रशस्त करती है । हम भी उसी स्थान पर चलें, जहाँ पर उदार प्रकृति के दानी पुरुष दान के द्वारा अन्न की वृद्धि करते हैं । यहाँ पर प्र उपसर्ग पूर्वक तिरति धातु वर्धन के अर्थ में प्रयुक्त है ।

'अश्विनीकुमार भी प्रातःकाल के युगल देवता हैं । वे भी द्यौः के पुत्र हैं । वे सदा तरुण एवं सुन्दर रहते हैं ; वे भी रथारूढ रहते हैं और सूर्यकुमारी सूर्या के सहचर हैं । उनका रथ सदा भास्वर है, जिसके अंग स्वर्णमय हैं । बड़े सबेरे ये देवता प्रकट होते हैं, जब कुछ अन्धेरा अरुण की किरणों में विद्यमान रहता है । उनका रथ तैयार होते ही उषा का आविर्भाव होता है । लोकरक्षक देवता के नाते अश्विन के सम्बन्ध में कई गाथाएँ प्रचलित हैं । वे सामान्य रूप से आपत्ति के समय सुरक्षा करते हैं, विशेष कर उनकी जो जहाजों पर समुद्र में यात्रा करते हैं वे देवताओं के वैद्य माने जाते हैं । वे अन्धे को आँख और पंगु को पैर देते हैं । एक अद्भुत कहानी इस सम्बन्ध में कही जाती है । उन्होंने विश्पला को लोहे का पैर लगा दिया था, जब वह किसी द्वन्द्व में कट गया था । वे बहुत कुछ ग्रीक पुराणों में वर्णित डिऑक्सक्यूरी नामक झेउस के पुत्र तथा हेलन के दो प्रसिद्ध अश्वारोहियों से मिलते-जुलते हैं । युगल देवता की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त संभावित हैं । एक यह कि ये युगल देवता कुछ अन्धकार और कुछ प्रकाश वाले प्रदोष के प्रतीक हैं । दूसरा यह कि प्रातः और सायंकाल के नक्षत्र के द्योतक हैं' (पृ० ७२-७३) । यह केवल ऊपरी अर्थ का अनुवाद मात्र है । सिद्धान्त में वे युगल देवता यज्ञ के अंग के रूप में स्वीकार किये गये हैं । आर्त जन इनकी उपासना करते हैं, अतः ये परमात्मा के अंशस्वरूप हैं । प्रातःसवन में अर्धरात्रि के उपरान्त प्रातःकाल पर्यन्त आश्विन सूक्तों से इनकी स्तुति की जाती है । च्यवन ऋषि को यौवन दिलाने के कारण तथा तुग्र भुज्यु के समुद्र में फँसे हुए महान् जलयान को अपनी अन्तरिक्षगामिनी सौ डांडे वाली दिव्य नाव से बचा लेने के कारण इनकी महिमा सर्वत्र प्रसिद्ध है ।

यदपि—'इन्द्रो वैदिकयुगे भारतवासिनां राष्ट्रियदेवतासीत्, ऋग्वेदस्य चतुर्थांशभागस्तस्य स्तूयमानत्वात् तन्माहात्म्यातिशयः स्फुट एव। स च पुरातनयुगादेव मानवरूपेण वर्णितः। वायुमण्डलस्य सर्वप्रथमं स पर्जन्यदेवः, अनावृष्टेरन्धकारस्य मूर्तरूपो यो वृत्रासुरस्तं विजित्य स प्रख्यातिं लब्धवान्। इयं कथा वैदिकमहर्षिभ्यः स्तुतिगाथाभ्योऽमितसामग्रीं प्रदत्तवती। वज्रमादाय प्रचुरमात्रया सोममापीय मरुद्भिः सहेन्द्रो दानवैर्युद्धयते। भीषणदेवदानवसङ्ग्रामे वज्रेण वृत्रं प्रहरति। तेन द्यावापृथिव्यौ प्रकम्पेते। तस्यामाख्यायिकायामन्तर्निहितं भौतिकतत्त्वमेव वर्ण्यते। इन्द्रपराक्रमवर्णनप्रसङ्गे वात्याया भौतिकं रूपं क्वचिदेव वर्ण्यते। वर्षत इन्द्रस्य वर्णनं नोपलभ्यते, किन्त्ववरुद्धजलस्य नदीनां च प्रवाहयितृत्वेनैव तच्छक्तिवर्णनं दृश्यते। विद्युतां प्रपात एव वज्रपातः। मेघानां गर्जनं गवां हम्भारवोऽसुराणां चोत्कारः। मेघानामनेकैर्नामभिरुल्लेखः क्वचिद् गवां क्वचिदूधसां क्वचिन्निर्झराणां क्वचिज्जलपात्राणां क्वचित् पर्वतानां रूपेण वर्णनं दृश्यते। एते मेघपर्वता दानवानां पुराणि। दानवानां संख्यापि क्वचिन्नवतिरेकोनशतं शतं वा। क्वचित् शारदरूपाणि क्वचिल्लोहमयानि पाषाणमयानि च मेघस्वरूपाणि पुराणि वर्ण्यन्ते। दशमे मण्डले तासामाख्यायिकानां संग्रहो लभ्यते। इन्द्रो वृत्रं जघान, दुर्गाणि विभेद, नदीधाराः प्रवाहयामास, पर्वतान् भित्त्वा स्वसहकारिभ्योऽनेका धेनूर्दत्तवान्, वृत्रकथागौरवादेवेन्द्रो वृत्रहोच्यते' (पृ० ७३-७४) इति, तदपि वाह्यार्थज्ञानमात्रविजृम्भितम्, निरुक्तकारैस्त्वाष्ट्रो वृत्र इत्यैतिहासिकपक्षस्यापि वर्णनात्। यथा प्रकाशाधिष्ठातृचैतन्यात्मको देव इन्द्रस्तथैवान्धकारावरोधाद्यधिष्ठातृशक्तिविशिष्टश्चेतनो वृत्रः। तयोश्च रोमहर्षणं तुमुलं युद्धं वेदेषु पुराणेतिहासादौ च वहुधा वर्णितम्। तत्सम्वन्धिनोऽनेके मन्त्रा भूमिकायां व्याख्याता एव।

'इन्द्र वैदिक युग के भारतवासियों के लोकप्रिय एवं राष्ट्रीय देवता हैं। उनका महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि ऋग्वेद की एक चतुर्थांश से अधिक भाग उनकी ही स्तुति में निबद्ध है। पुरातन युग से प्रचलित यह देवता क्रमशः अधिकाधिक मानव रूप को लिये हुए वर्णित है। सर्व प्रथम तो यह वायुमण्डल के पर्जन्य देव हैं, अनावृष्टि और अन्धकार के मूर्तरूप वृत्रासुर पर इन्होंने विजय पाई है। इस कथा ने वैदिक ऋषियों को अपनी स्तुति गाथा के लिये अधिक सामग्री दी है। अपना वज्र लेकर, सोम रस का प्रचुर मात्रा में पान कर, मरुत देवता का साथी इन्द्र सदा दानवों से युद्ध करने के लिये उद्यत हो जाता है। यह देव-दानव का संग्राम बड़ा भीषण होता है। जब इन्द्र अपने वज्र से वृक्ष की भांति वृत्र पर प्रहार करता है, तब स्वर्ग और पृथ्वी भय से प्रकम्पित हो जाते हैं। उनका वर्णन अनेक बार ऐसे युद्ध को करते हुए किया गया है। इस आख्यायिका में जो प्राकृतिक तथ्य अन्तर्निहित हैं, उसका शाश्वत सन्दर्भ हमें मिलता है। इन्द्र के पराक्रमों का वर्णन करते हुए ऋषियों ने आँधी के समय भौतिक तत्त्वों का क्वचित् ही उल्लेख किया है। इन्द्र को वर्षा करते हुए बहुत ही कम बताया है। परन्तु अवरुद्ध ज़ल अथवा नदियों को प्रवाहित करने की उनकी शक्ति का बहुधा वर्णन है। बिजली का कड़कना ही उसका वज्रपात है। मेघों की गर्जना गायों का रम्भाना अथवा असुरों का चीत्कार है। मेघों का नये नामों से उल्लेख है—कहीं गाय, कहीं ऊधस्, कहीं झरना और कहीं जलपात्र के रूप में। अद्रियों (पर्वत) का भी वर्णन है, जो इन्द्र के द्वारा विमोचित गायों को घेर लेते हैं। ऐसे पर्वतों का वर्णन पाया जाता है, जिनके शिखर से वहाँ के निवासी दानवों को इन्द्र नीचे गिराता है। वास्तव में ये पर्वत दानवों के पुर हैं। इन दानवों की संख्या ९०, ९९ या १०० है। उनका वर्णन विविध रूप में किया है। कहीं वे सदा गतिशील हैं, कहीं शारद रूप, तो कहीं लोहमय या पाषाणमय। ऋग्वेद के दशम मण्डल में उक्त आख्यायिका की सब बातों का संग्रह मिलता है। 'इन्द्र ने वृत्र को मारा, दुर्गों को तोड़ा, नदियों की धारा बहाई, पर्वतों का भेदन किया और अपने साथियों को अनेक गौ का दान दिया'। वृत्रकथा के गौरव के कारण इन्द्र का प्रमुख नाम वृत्रहण रक्खा गया' (पृ० ७३-७४)। यह सब बातें भी केवल ऊपरी अर्थ को जानकर ही कही गई हैं। निरुक्तकार ने त्वष्टा के पुत्र वृत्र की ऐतिहासिक कथा की भी व्याख्या की है। जैसे प्रकाश के अधिष्ठाता चैतन्यात्मक देवता के रूप में इन्द्र का वर्णन है, उसी तरह से अन्धकार, अवरोध आदि शक्तियों से विशिष्ट चेतन के रूप में वृत्र वर्णित है। इन दोनों का रोमहर्षण, तुमुल युद्ध वेदों में और पुराणेतिहास ग्रन्थों में बहुधा वर्णित है। इन कथाओं से सम्बद्ध अनेक मन्त्रों की हम व्याख्या कर चुके हैं।

यदपि—'अधिकाधिकमानवरूपेणेन्द्रस्य चरित्रचित्रणाद् यत्र तत्रानैतिकतालक्षणानि दृश्यन्ते। इन्द्रः क्वचित् स्वच्छन्दमाचरति। तेन पितरो हताः, उषसो रथो भग्नः, यश्च सोमपानव्यसनः सोममदेनैव वीरविक्रमणायोत्तेजितो भवति स्म। एकस्मिन् सूक्ते सोमपानमदोन्मत्ततया स्वशौर्यं स्वयं वर्णयति। यद्यप्यत्र काव्यगुणा अत्यल्पा एव, तथापि मदोन्मत्तोन्मादस्य काव्यमयवर्णनसम्बन्ध्याद्योदाहरणत्वात् सविशेषं रोचकम्। एतादृशोदाहरणानां नैतिकतां विचारयद्भिरेतत्तथ्यं न विस्मर्तव्यं यद्वैदिकैर्ऋषिभिः सोमपानस्य धार्मिकमहत्ता स्वीकृता' (पृ० ७५-७६) इति, तदपि प्रमत्तप्रलपितम्, त्वन्मतेन कस्यचिच्चेतनस्येन्द्रस्याभावेन वायुमण्डलीयवात्यादिरूपत्वे तस्य सोमपातृत्वपितृहन्तृत्वाद्यसम्भवात्। सिद्धान्तरीत्या तु परमैश्वर्यशालिनो देवराजस्य ब्रह्मविद्वरिष्ठत्वेन लोकानुग्रहार्थं युद्धोपकरणवत्त्वेन तज्जन्यमदस्य वर्णनीयत्वात्। सोमश्च लताविशेषो न मद्यमुपटीकते। कथञ्चित्तु मादकत्वस्यान्नादावपि दर्शनात्। पितृवधस्तु निर्मूल एव। इन्द्रस्य गोत्रभित्त्वं तु पक्षवतां पर्वतानां पक्षभेत्तृत्वेन न तु पितृहन्तृत्वेन। यत्तु 'त्रिशीर्षत्वाष्ट्रवधोऽरुन्मुखयतीन् हत्वा शालावृकेभ्यः प्रदानम्, यानि चाहल्यागमनादीनि कार्याणि तानि ब्रह्मविज्ञानस्तुत्यर्थवादरूपाण्येव, ब्रह्मसूत्रे शास्त्रदृष्टयधिकरणे 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्', 'एष महिमा नित्यो ब्राह्मणस्य न ह वै केन कर्मणाऽस्य लोको मीयते' इत्यादिवत्। क्वचित्त्विन्द्रपदेन मुख्य एवेश्वरोऽभिधीयते, 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (२।५।१५) इति बृहदारण्यकादौ। देवराजः शतक्रतुरिन्द्रः परमैश्वर्यवान् वृत्रहन्ता नमुचिहन्ता ब्रह्मविद्वरिष्ठो जीवन्मुक्तो यथेष्टचेष्टोऽपि मुक्त एव, युगपदनेकत्र यज्ञेषु रथेन सोमादिहविर्भागार्थं गच्छति। प्रमाणान्तराविरुद्धप्रमाणान्तरासिद्धार्थबोधकमन्त्रब्राह्मणादीनां भूतार्थवादित्वेन 'वज्रहस्तः पुरन्दरः', 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' इत्यादिभिरिन्द्रस्य विग्रहवत्त्वं वज्रधरत्वं च देवताधिकरणादौ साधितम्। इह ग्रन्थेऽपि च तन्निरूपितम्।

'इन्द्र की प्रकृति को अधिकाधिक मानव रूप देने के कारण उसके चरित्र में यत्र-तत्र अनैतिकता के लक्षण प्रवेश कर गये हैं। कभी-कभी इन्द्र स्वच्छन्द अत्याचार करने में प्रवृत्त होता है—उसने पितृवध किया तथा उषस् के रथ को तोड़ डाला। उसे सोमपान का व्यसन है। वह अत्यधिक मात्रा में सोमरस का पान करता है, जिसके मद से वह वीर विक्रमों के करने में उत्तेजित होता है। ऋग्वेद में एक समग्र सूक्त है, जिसमें इन्द्र सोम के नशे में चूर होकर अपने शौर्य एवं प्रताप का उल्लेख स्वयं ही करता है। यद्यपि इस सूक्त में काव्य-गुण बहुत ही कम हैं, तथापि यह मानव के मनोभाव—विशेष कर मदिरामत्त उन्माद के काव्यमय वर्णन का आद्य उदाहरण होने के नाते सविशेष रोचक है। इन्द्र के इस तरह के अतिक्रमणों की नैतिकता को तोलते समय इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिये कि वैदिक ऋषियों की दृष्टि में सोमपान की धार्मिक महत्ता स्वीकृत हो चुकी थी' (पृ० ७५-७६) यह भी प्रमत्त का प्रलापमात्र है। आपके मत में जब कोई चेतन इन्द्र नहीं है, वह यदि केवल वायुमंडलीय वात्या प्रभृति का ही एक रूप है, तो उस पर सोमपान, पितृ-हत्या आदि दोषों का आरोप कैसे किया जा सकता है? हमारे मत से तो परम ऐश्वर्यशाली देवराज इन्द्र ब्रह्मवेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं। लोक के कल्याण के लिये वह युद्ध भी करता है, अतः उसके युद्धजन्य उन्माद का वर्णन स्वाभाविक है। सोम एक लता है। उसको मद्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। थोड़ी-बहुत मादकता तो अन्न में भी विद्यमान है। पितृवध की बात सर्वथा निर्मूल है। इन्द्र को 'गोत्रभित्' कहा गया है। इसका अर्थ है पंख वाले पर्वतों के पंखों को काट लेने वाला। इसका अर्थ पितृहन्ता नहीं है। तीन शिर वाले त्वष्टा के पुत्र का वध करना, अरुन्मुख यतियों को मारकर भेड़ियों को खिला देना, अहल्या के साथ व्यभिचार करना, इस तरह की बातें इन्द्र के विषय में कही जाती हैं, किन्तु ये सब ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये अर्थवादमात्र हैं। ब्रह्मसूत्र के 'शास्त्रदृष्टि' अधिकरण में बताया गया है कि ब्रह्मवेत्ता किसी भले-बुरे कार्य को करके न तो बढ़ता है और न घटता है। ब्रह्मवेत्ता की यह विशिष्ट महिमा है कि उसको किसी भले-बुरे कार्य के आधार पर नहीं नापा जा सकता। बृहदारण्यक प्रभृति उपनिषदों में तो इन्द्र पद से मुख्य परमेश्वर का ही ग्रहण किया गया है। देवराज, शतक्रतु इन्द्र परम ऐश्वर्यशाली है। इसने वृत्र और नमुचि का वध किया है, तो भी यह ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ है। जीवन्मुक्त होने के कारण यह नाना प्रकार की चेष्टा करते हुए भी उनसे मुक्त है। यह एक साथ अनेक यज्ञों में अपने सोमादि हविर्भाग को ग्रहण करने के लिये रथ पर चढ़ कर जाता है। प्रमाणान्तर से अविरुद्ध, प्रमाणान्तर से असिद्ध अर्थ के बोधक मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्य भूतार्थ के प्रतिपादक माने जाते हैं, अतः 'इन्द्र वज्रधर है', इन्द्र ने वृत्र को मारने के लिये वज्र को उठाया' इस तरह के वाक्यों से इन्द्र की विग्रहवत्ता और वज्रधारिता की सिद्धि देवताधिकरण में की गई है, जिसका कि प्रतिपादन इस ग्रन्थ में भी हुआ है।

यत्तु—'अवेस्ताग्रन्थे इन्द्रः कस्यचिदसुरस्य नाम' इति, तस्य तु भाषाभेदेन समाधेयत्वात्। तद्रीत्याऽसुरशब्दस्य प्राणवत्त्वबलबोधकत्वेनोत्कृष्टार्थबोधकत्वात्। वेदेऽपि क्वचिदिन्द्रस्यासुरत्वमुक्तमेव। अशोमनेऽनात्मनि असुषु प्राणेषु प्राणोपलक्षितेषु देहादिषु वा रमणादसुरशब्दस्तु निकृष्टार्थबोधकः।

यदपि—'भारतीय-ईरानीयुगे इन्द्रापेक्षया वरुणस्याधिकं महत्त्वमासीत्। वैदिकयुगे त्विन्द्रस्य माहात्म्यातिशयो जातः। पुराणकाले तस्य त्रिमूर्त्यधीनता जाता' इत्यादिकम्, तत्तुच्छम्, वेदस्यापौरुषेयत्वनित्यत्वाभ्यां तदसङ्गतेः। इन्द्रस्य देवराजत्वेनोपेन्द्राग्रजत्वेन प्रख्यातमाहात्म्यवत्त्वाच्च। सर्वे देवाः परमेश्वरांशत्वेन माहात्म्यातिशयवन्त एव। त्रितोऽवैदिकदेवः। नारायणीयोपाख्यानेऽपि द्वितत्रितसंज्ञौ महर्षी वर्णितौ। तदनुकरणेन ग्रीक-ट्रीटोज-प्रतिमादिकमपि सङ्गच्छते। एवमपान्नपात्-मातरिश्वादिदेवता अपि भारतीया एव, क्वचिदन्यत्रापि तदपभ्रष्टपदैः स्मर्यन्ते। वेदे परवर्तिता पूर्ववर्तिता च बाह्यानामेव भासते, नित्यत्वानवगमात्। 'यस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' इत्यत्र तु मातरिश्वपदेन सूत्रात्मा हिरण्यगर्भो विवक्षितः।

'अत एव ऋग्वेदे रुद्रदेवतायाः स्थानं परवर्तिसाहित्ये वर्णितरुद्रात् सर्वथा भिन्नमेव, विष्ण्वपेक्षया तन्नामोल्लेखः किञ्चिदल्पः, स धनुर्बाणधरः क्वचिद् वज्रैर्विद्युन्मयैरस्त्रैश्च सज्जितो वर्ण्यते। वन्यश्वापदवत्तदीयं रूपं भीषणं घातकं च। वस्तुतोऽन्तरिक्षस्य लोहितवराहः स उच्यते। रुद्रसूक्तेषु तस्य दारुणान्यस्त्राणि तथा भीषणकोपाद् भयमुपवर्णितम्। तस्य भयावहमुग्रं रूपं संहारकमत्र व्यज्यते। वेदोत्तरयुगे तस्य शिवः कल्याणकरः स्वभावो विकासमुपगतः। शङ्कररूपमपि परवर्तिनि वेदेऽपि विकसितमिति। तथापि दानवानामिव तस्य रूपं न केवलं भयकारकम्, किन्तु

'अवेस्ता में 'इन्द्र' यह नाम किसी असुर का है' (पृ० ७६)। इसका समाधान भाषाभेद के आधार पर किया जा सकता है। अवेस्ता की भाषा के अनुसार असुर शब्द प्राणवान् और बलवान् व्यक्ति का बोधक होने से उत्कृष्ट अर्थ का ही वाचक है। वेद में भी कहीं पर इन्द्र को असुर कहा गया है। असुर शब्द की जब यह निरुक्ति की जाती है कि वह अशोभन अर्थात् अनात्मा में, अथवा असु अर्थात् प्राण, प्राणोपलक्षित देह प्रभृति में रमण करता है, तभी वह निकृष्ट अर्थ का बोधक होता है।

'भारत-ईरानी युग में इन्द्र की अपेक्षा वरुण की महत्ता कहीं अधिक थी, परन्तु वैदिक युग के उत्तरार्ध में इन्द्र की महत्ता अपेक्षाकृत वरुण से अधिक हो चली थी। पुराणकाल में उसकी सत्ता त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) के अधीन हो गई' (पृ० ७६) यह कथन भी सर्वथा निरर्गल है, क्योंकि वेद की अपौरुषेयता और नित्यता के कारण इस कथन की कोई संगति नहीं बैठ सकती। इन्द्र की देवराज के रूप में और विष्णु के अग्रज के रूप में महिमा प्रख्यात है। सभी देवगण परमेश्वर के अंशभूत हैं, अतः ये अतिशय माहात्म्य वाले हैं। त्रित भी वैदिक देवता है। नारायणीय उपाख्यान में द्वित और त्रित नाम के महर्षियों का वर्णन है। इसी के अनुकरण पर ग्रीक 'ट्रिटोज' की प्रतिमा वर्णित है (पृ० ७६)। इसी तरह से अपान्नपात्, मातरिश्वा प्रभृति देवता भी भारतीय ही हैं, कहीं अन्यत्र भी इनका स्मरण इनके अपभ्रंश पदों से हो सकता है (पृ० ७७)। वेद में परवर्तिता और पूर्ववर्तिता बाह्य दृष्टिप्रधान पाश्चात्य विद्वानों को ही प्रतीत होती है, क्योंकि वे वेद की नित्यता को नहीं जान पाते। 'यस्मिन्नपो मातरिश्वा' इस श्रुति में मातरिश्वा पद सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ का बोधक है।

इसलिये 'ऋग्वेद में रुद्र देवता का स्थान परवर्ती युग के साहित्य में वर्णित रुद्र से बिलकुल भिन्न है। ऋग्वेद में रुद्र का नामोल्लेख विष्णु की अपेक्षा कुछ कम ही मिलता है। रुद्र देवता प्रायशः धनुष-बाण लिये हुए वर्णित हैं, कहीं कहीं अवश्य उन्हें वज्र तथा विद्युन्मय अस्त्र से भी संबद्ध बताया है। उनका स्वरूप वन्य श्वापद की तरह भीषण एवं घातक है, वस्तुतः वह 'अन्तरिक्ष के लोहित वराह' कहे जाते हैं। रुद्र-सूक्तों में प्रधानतः उनके दारुण अस्त्र तथा भीषण कोप से भय ही वर्णित है। परवर्ती वैदिक साहित्य में तो उनका उग्र रूप और अधिक भयावह तथा संहारकारी प्रकट होता है। यह तो वेदोत्तर युग में ही उनका शिव अर्थात् कल्याणकारी रूप विकसित हुआ है। यद्यपि ऋग्वेद में भी 'शिव' यह नाम रुद्र के विशेषणों में पाया जाता है और उनसे शंकर रूप का आविर्भाव परवर्ती वेदों में हो चुका था, यह निश्चित है कि रुद्र का रूप दानव की तरह केवल अपकारी कहीं नहीं है। उनकी स्तुति न केवल अरिष्ट

तदीयस्तुतिरनिष्टशमनार्थमिष्टप्राप्त्यर्थं मानवानां पशूनां च कल्याणार्थं प्रस्तुता । रोगहन्त्र्याः स्वास्थ्यप्रदायाः शक्तेस्तु बहुधोल्लेखो दृश्यते । अत एव वैद्येषु श्रेष्ठो वैद्यनाथरूपेण स एव वर्ण्यते' (पृ० ७७) इति, तदपि वैदिकसंस्कारवैधुर्यमूलकम्, वेदानां समेषां मन्त्रब्राह्मणरूपाणां नित्यत्वात् तत्र विकासकल्पना सर्वथैव पराहता वेदितव्या । रुद्रस्य परमेश्वरत्वेन शुभाशुभकर्मफलदातृत्वेनाशुभफलदानसमये तस्य घोरं रूपमेवानुभूयते । शुभकर्मोपासनादिफलदानकाले तस्याघोर-शिव-शङ्कर-भवरोगवैद्य-वैद्यनाथादिरूपमेवानुभूयते । स्वतस्तु तस्याशेषविशेषातीतब्रह्मरूपत्वमेव । 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः', 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्', न त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' इत्यादिश्रुतेः । 'एको रुद्रोऽवतस्थे', 'असंख्याता रुद्राः' इत्यादिमन्त्रै रुद्रस्यैवाद्वितीयपरमेश्वरत्वम्, तस्यैवानेकरूपत्वं चोक्तम् ।

मरुतामपि प्रसिद्धविविधवायूनामधिष्ठातृचेतनत्वेन देवत्वमैश्वर्यवत्त्वं च तत्र तत्र श्रूयते । समणिसूत्राभिमानिनस्तु हिरण्यगर्भरूपत्वमेव । यज्ञेषु 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इत्यादिवचनैर्वायव्यश्वेतविधानम् । वायोश्च शीघ्रगामित्वं शीघ्रमेव भूतिगमयितृत्वमुक्तम् । एवं पृथिवीदेवतापि तत्र तत्र वर्ण्यते ।

यदपि—'अग्निदेवस्य पार्थिवदेवेषु सर्वतः प्राधान्यमेव । तस्य स्तुत्यर्थमृग्वेदे द्विशतसंख्यानि सूक्तानि सन्ति, तस्यापि पुरुषाकारत्वमुपकल्पितम् । लैटिनभाषाप्रचलित इग्निसशब्दस्तत्तुल्यः । घृतेन प्रज्वलितस्याग्निदेवस्य घृतपृष्ठ-घृतमुख-घृतकेशादिसंज्ञाभिर्निर्देशः । तस्य मुखमतीव देदीप्यमानम्, यत्र कठोराः किन्तु शुभ्रसुवर्णतुल्या दीप्तायसोपमा दन्ताः । क्वचिदेकाः क्वचिदनेकाश्च जिह्वा वर्णिताः । देवेभ्यो हविर्नयनाय स गरुडवद्वेगेन देवान् प्रति संयाति । अरणिद्वयात्तस्योत्पत्तिरुक्ता । तादृशः शिशुः स य उत्पन्नः सन्नेव पितरौ संहरति । दशकुमारीभ्योऽपि

शमन के लिये है, अपितु वर-प्राप्ति लिये भी तथा मानव एवं पशु वर्ग के कल्याण के लिये भी प्रस्तुत की गई है । विशेषकर उनकी रोगहन्त्री एवं स्वास्थ्य-प्रदायिनी शक्ति का तो बहुधा उल्लेख मिलता है और उन्हें वैद्यों में श्रेष्ठ 'वैद्यनाथ' कह कर भी संबोधित किया है' (पृ० ७७) । वैदिक संस्कारों के न होने से ही इस तरह की बातें कही जाती हैं । मन्त्रब्राह्मणात्मक सारा वैदिक साहित्य नित्य अपौरुषेय है, वहाँ पर विकासवाद की बात कहना सर्वथा निष्प्रमाण है । रुद्र परमेश्वर हैं । वे शुभ और अशुभ सभी कर्मों का फल देते हैं । जब वे अशुभ कर्मों का फल देते हैं तो उनको घोर और जब वे शुभ कर्मों का फल देते हैं तो उनको अघोर, शिव, शंकर, भवरोग का वैद्य और वैद्यनाथ आदि नामों से पुकारा किया जाता है । वे स्वतः समस्त विशेषताओं से रहित केवल ब्रह्मस्वरूप हैं । 'भीषाऽस्माद्वातः पवते' प्रभृति श्रुतियाँ इसमें प्रमाण है । 'एको रुद्रोऽवतस्थे' इत्यादि श्रुतियों में रुद्र की ही एकमात्र परमेश्वर के रूप में और उनकी अनेकरूपता का भी वर्णन है ।

पवन भी प्रसिद्ध विविध वायुओं के अधिष्ठाता चेतन देव हैं । इसीलिये उनके ऐश्वर्य का श्रुतियों में जहाँ-तहाँ वर्णन है । सूत्रात्मा की समष्टि का अभिमानी तो हिरण्यगर्भ स्वरूप ही है । यज्ञों में 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इत्यादि श्रुतिवचनों से वायुदेवता के लिये श्वेत छाग का विधान है । वहां पर वायु को अतितीव्र गति वाला, पृथ्वी पर शीघ्र पहुँचाने वाला कहा गया है । इसी तरह से पृथिवी देवता का भी वर्णन जहाँ-तहाँ है (पृ० ७८-८३) ।

'भूलोक के पार्थिव देवताओं में सबसे प्रधान अग्नि है । ऋग्वेद में अग्निदेव को संबोधित लगभग २०० से अधिक सूक्त हैं । अग्निदेव के स्वरूप में पुरुषोचित आकार की कल्पना करना ऋषियों को अत्यधिक आवश्यक प्रतीत होना चाहिये था, किन्तु लेटिन भाषा में प्रचलित 'इग्निश' शब्द के तुल्यरूप 'अग्नि' शब्द ऋग्वेद में केवल अग्नि का ही वाचक है । घृत से प्रज्वलित होने वाले अग्निदेव का घृतपृष्ठ, घृतमुख, घृतकेश आदि संज्ञा से निर्देश किया है । अग्निदेव के मुख देदीप्यमान हैं, जिनमें कठोर परन्तु शुभ्र सुवर्ण जैसे अथवा चमकीले इस्पात की तरह दांत शोभायमान हैं । अग्निदेव के मुख में एक जिह्वा की, कहीं-कहीं अनेक जिह्वाओं की भी कल्पना की गई है । वह देवताओं के समीप हवि ले जाते हुए गरुड़ की गति से पहुँचता है । दो अरणियों के परस्पर घर्षण से अग्नि की प्रतिदिन उत्पत्ति मानी गई है । यह ऐसा शिशु है जो उत्पन्न होते ही अपने जनक-जननी का संहार कर देता है । उसका प्रसव दस कुमारियों

तस्योत्पत्तिरुक्ता ताश्च दशाङ्गुलिरूपा एव। बलपुत्रत्वेनापि स उक्तः, अग्निप्राकट्यायारणिमन्थने बलस्यावश्यकत्वात्। प्रातर्जागरणात् स उषर्बुध उच्यते। तत एव स देवेष्ववमोऽन्यत्र सर्वश्रेष्ठ उच्यते। एकस्मिन्नेव सूक्ते तस्य कनिष्ठता श्रेष्ठता चोक्ता। आकाशप्रभूताज्जलात्तदुत्पत्तिरुक्ता। स्वर्गात्तस्यागमनं चोक्तम्। तस्य सर्वप्रथममाकाशजन्यत्वमुक्तम्, पश्चाद् भूतले तृतीयं तज्जन्म जले। सवितृ-मरुदग्निरूपेण सूर्येन्द्राग्निरूपेण वा तस्य त्रिरूपता प्रकल्पिता। सैव ब्रह्म-विष्णु-रुद्रत्रिमूर्तिकल्पनाबीजत्वमुपगता। त्रिमूर्तिरेव यज्ञियाग्नेस्त्रयो भागाः कल्पिताः। त एव पौरोहित्यसम्प्रदायस्याङ्गतामुपगताः, अग्नेर्विविधरूपाणां दर्शनात्। बहुदेववादे व्याप्तस्यैकेश्वरवादस्य भावना प्रसूता। अग्निरमरो गृहस्थगृहेष्वतिथिरूपेण पूज्यते। गृहपतिशब्देन च सम्बोध्यते। देवानां यज्ञियभागप्रापणात् स दूत उच्यते। स चाहुतिं दत्तवन्तं यजमानं सहस्रनयनैः पश्यति। वृक्षेषु विद्युदिवापकारिणोऽमित्रान् हन्ति। ऐहिकानामुष्मिकांश्च मनोरथान् पूरयति। अग्निपूजासम्प्रदाये भूतप्रेतापसारणपरतन्त्रमन्त्राणां नैरर्थक्यापादनम्……' (पृ० ८३-८६) इत्यादि, तदपि यत्किञ्चित्, सिद्धान्तेऽग्निशब्दस्य लोकप्रसिद्धाग्निबोधकत्वेऽपि तद्द्वारा दिव्यैश्वर्यसम्पन्नदेवताबोधपारम्पर्येण सर्वान्तर्यामिब्रह्मपर्यवसायित्वात्। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' इत्यादिमन्त्रवर्णात्। नहि वैदिका जडमेवाग्निं यजन्ति स्तुवन्ति च, तस्य फलदातृत्वायोगात्। तत्तदुद्दिष्टदेवताभ्यो हविःप्रापकत्वमपि जडे न सम्भवति। अत एव सूक्तेषु क्वचिल्लौकिकाग्निरूपेण क्वचिद्देवविशेषरूपेण क्वचित्परमात्मरूपेणाग्नेर्वर्णनं दृश्यते।

द्वारा भी माना गया है, जो वास्तव में दस अंगुलियाँ हैं। अग्नि को बल का पुत्र (सहसस्पुत्र) माना है। कारण, ज्वाला को प्रज्वलित करने में बल ही अरणि का मन्थन कर अग्नि को प्रकट करता है। प्रतिदिन प्रातः अग्नि के प्रज्वलित किये जाने से कहा जाता है कि अग्निदेव सुबह जगते हैं और उनका नाम 'उषर्बुध' है। इसी कारण अग्नि को देवताओं में कनिष्ठ माना जाता है। कहीं-कहीं अग्नि को सबसे श्रेष्ठ भी बताया है, क्योंकि उनके द्वारा सर्व प्रथम यज्ञ की प्रसूति हुई है। अग्नि आकाश के जल से प्रसूत होता है, यह भी कहा गया है। बहुधा कहा जाता है कि स्वर्ग से अग्नि को लाया गया। पृथ्वी पर उत्पन्न, वायु से प्रसूत तथा आकाश में वर्तमान होने के नाते बहुधा अग्नि त्रिरूप माना जाता है। कहा जाता है कि 'सर्व प्रथम अग्नि का जन्म आकाश में हुआ, दूसरी बार हमारे लिये भूतल पर और तीसरी बार जल में हुआ'। सविता, मरुत् और अग्नि के रूप में अथवा सूर्य, इन्द्र और अग्नि के रूप में त्रिमूर्ति की कल्पना ऋग्वेद में विद्यमान है। संभवतः यही त्रिमूर्ति की कल्पना ऐतिहासिक परम्परा में आगे चलकर ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप हिन्दू त्रिमूर्ति की जननी हो। अग्नि की इस त्रिमूर्ति ने ही शायद यह सुझाया हो कि यज्ञिय अग्नि के तीन भाग कल्पित किये जाँय, जो पौरोहित्य सम्प्रदाय का एक मुख्य अङ्ग है। अग्नि की बहुरूपता के कारण अग्नि के अनेक जन्म कल्पित किये गये हैं। यहाँ हम इस तत्त्व को पाते हैं कि अग्नि के विविध रूपों की उक्त कल्पना ने बहुदेववाद में व्याप्त एकेश्वरवाद की भावना को प्रसूत किया है। अग्नि अमर है। गृहस्थों के घर उसका रूप अतिथि के समान पूज्य माना जाता है। वही एक देवता है, जिसे गृहपति कह कर संबोधित किया गया है। यज्ञिय बलि को अग्निदेव ले जाते हैं, अत एव उन्हें दूत की संज्ञा भी दी गई है। वह आहुति देने वाले यजमान की तरफ सहस्र नयन से दृष्टिपात करते हैं। अपकारी पर तो वह ऐसे टूट पड़ते हैं, जैसे वृक्ष पर बिजली टूटती है। इस लोक के और परलोक के समस्त मनोरथों को यह पूरा करते हैं। अग्निपूजा के संप्रदाय में अग्नि का मुख्य कर्म भूत-प्रेतादि को भगाना और उन्हें भस्म करना तथा विपक्षियों में द्वारा प्रयुक्त मन्त्र-तन्त्र को व्यर्थ करना रहा है' (पृ० ८३-८६)। यह सारा कथन व्यर्थ की बकवास है। हमारे मत में भी यद्यपि अग्नि शब्द लोक में भी प्रसिद्ध अग्नि का भी बोधक है, तथापि इस लौकिक अग्नि के द्वारा परम्परा से दिव्य, ऐश्वर्य सम्पन्न देवता का भी बोध होता है और इस तरह से अन्ततः यह शब्द सर्वान्तर्यामी ब्रह्म में पर्यवसित हो जाता है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' इस तरह की श्रुतियाँ प्रमाण हैं। वैदिकगण केवल जड़ अग्नि का ही यजन अथवा स्तवन नहीं करते, क्योंकि जड़ अग्नि उनको इनका फल कैसे दे सकता है। उन-उन देवताओं के निमित्त दी गई हवि को भी जड़ अग्नि उनके पास कैसे पहुँचा सकती है? इसीलिये सूक्तों में कहीं पर लौकिक अग्नि के रूप में, कहीं देवविशेष के रूप में और कहीं परमात्मा के रूप में अग्नि का वर्णन दिखाई पड़ता है।

यदपि च सोमसम्बन्ध उक्तम्—'ऋग्वेदस्य सम्पूर्णे नवमे मण्डले यत्र तत्र कतिपयस्थले प्रकीर्णरूपेण सोमस्तुतिपराणि सूक्तानि दृश्यन्ते । बहुधोल्लेखदृष्ट्या तु वैदिकदेवतासु सोमस्य तृतीयं स्थानम् । सोमलतायाः पेषणे ऊर्णामयीभिर्गालिनीभिः क्षालनेन तत्तद्ग्रहेषु तत्प्रवहणे बहूनि सूक्तान्युपयुज्यन्ते । रहस्यमयै रूपकैश्च तत्र सोमस्तवनम् । विवस्वतो दक्षस्य वासोदरीभिः कुमारीभिः सोमस्य पवित्रीकरणे दशाङ्गुलीभिः शोधनं लक्षितम् । चर्ममय आस्तरणे ग्रावभिः सोमाभिषवणम् । मेषोर्णाभिः क्षालितस्य सोमस्य भाण्डेषु निर्गलनविधयो नैकधा महर्षिभिर्वर्णिताः । भाण्डेषु गच्छन्ती सोमधारा वनेषु वेगेन धावन्त्या महिष्योपमिता । देवाः सोमभाण्डोपरि पक्षिण इव संहता भवन्ति । सोमरसे जलमपि पात्यते । तस्योपमानं स्वयूथं महानादेन प्रविशता वृषभेण कृतम् । उद्गातॄणां सामगानप्रेरणया जलपरिधानेन सोमरसो भाण्डे नृत्यति । दारुमयेषु ग्रहेषु क्रीडमानः सोमो दशकुमारीभिः शोध्यते । सोऽपां पुत्रो दुग्धमिश्रणेन गोपरिधानेन परिहितो भवति ।

सोमरसस्य ग्रहप्रवहणध्वनिर्योद्धृनादैर्घनगर्जनैर्गवां हम्भारवैर्विद्युतां पातशब्दैरुपमितः । सोमपानमानन्ददायकमुत्तेजकममरत्वप्रदं च भवति, यः ग्रीक 'एम्ब्रोसिया' समकक्षतयोच्यते । सोमसुरा देवतानाममरत्वप्रदायिका । सा यजमानं स्वर्गं गमयति । सोमः सर्वरोगान्नाशयति, अन्धेभ्यो दृष्टिं प्रयच्छति । इन्द्रस्तवनप्रसङ्गे सोमगुणाः प्रायेण वर्ण्यन्ते । याजका घोषयन्ति 'अपाम सोमममृता अभूम' (ऋ० सं० ८।४८।३) इति । सोमलता पर्वतश्रेणीषु निवसति । अवेस्ताग्रन्थे होमानां वर्णनेन तत्प्रमीयते । वस्तुतस्तु स्वर्ग एव तत्स्थानम् । तत एव सोमलता पृथिवीमानीतेति श्येनकथातोऽवगम्यते । विद्युतां पर्जन्यानां वर्षणस्य प्राकृतिकं यद् दृश्यं तस्यैवेदं पौराणिकं रूपम् ।

सोम के सम्बन्ध में मैकडानल ने कहा है—'ऋग्वेद का पूरा नवां मण्डल और यत्र-तत्र कतिपय प्रकीर्ण सूक्त सोम के स्तुतिपरक हैं । यों बहुधा उल्लेख के माप-दण्ड से निर्णय किया जाय तो वैदिक देवताओं में तीसरा प्रधान स्थान सोम को दिया जा सकता है । नवम मण्डल में वे अधिकांश मन्त्र हैं, जो सोम की उस अवस्था का वर्णन करते हैं, जब वह पत्थरों पर पीसा जाता है और उसका रस ऊन के छन्ने से लकड़ी के पात्रों में बहता है । यहाँ पर सोम की स्तुति रहस्यमय रूपकों के द्वारा की गई है । विवस्वान् की पुत्रियों अथवा दक्ष की सोदर कुमारियों द्वारा सोम के पवित्रीकरण का वर्णन करते समय ऋषियों का आशय दस अंगुलियों से है । सोमवल्ली को चर्म के आस्तरण पर रख सिल पर घिसने और भेड़ के ऊन के छन्ने से छानकर सोम रस के भाण्ड में गिराने की विधि का ऋषियों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है । सोम रस की धारा को वनों में वेग से दौड़ती हुई महिषी की भांति बताया है । देवता सोम-भाण्ड पर पक्षियों की भांति जमा होते हुए बताये गये हैं । पात्र में सोम रस के साथ पानी मिलाया जाता है । इसकी तुलना अपने झुण्ड में वेग से घुसते हुए, जोर से ध्वनि करते हुए वृषभ से की है । सोम-साम के गायकों द्वारा प्रेरित वह सोम रस जल का परिधान पहने भाण्ड में नृत्य करता है । उस दारुमय पात्र में क्रीड़ा करता हुआ वह सोम-रस दस कुमारियों के द्वारा शुद्ध किया जाता है । वह 'आपस्' (जल) का पुत्र है, जो उसकी जननी है । जब पुरोहित सोम को दूध से मिश्रित करता है, तब उसे गो-परिधान से परिहित बताया है ।

पात्रों में बहते हुए सोमरस की ध्वनि का वर्णन कहीं योद्धाओं के निनाद के रूप में, कहीं बादल के गर्जन के रूप में, कहीं गायों के रम्भाने के रूप में, तो कहीं बिजली के कड़कने के रूप में किया है । सोमपान आनन्ददायक एवं उत्तेजक होता है । अत एव उसे अमरत्व प्रदान करने वाला दैवी मेघ बताया है । उसे अमृत भी कहा है, जो ग्रीक 'एम्ब्रोसिया' का समकक्ष है । सोम वह सुरा है, जिसने देवताओं को अमर बनाया । सोम यजमान को अक्षय लोक में पहुँचा देता है । सोम हर रोग को दूर करता है, अन्धे को दृष्टि देता है और पंगु को गति । इन्द्र की स्तुति के प्रसङ्ग में प्रायः सोम के गुणों का वर्णन मिलता है । याजक घोषणा करते हैं कि 'हमने सोम पान किया है, हम अमर हो गये हैं, हम दिव्य ज्योति में मिल गये हैं और हमने देव का साक्षात्कार किया है' । सोमलता का निवास स्थान पर्वत-श्रेणी है । यह बात अवेस्ता ग्रन्थ में होमा के वर्णन से प्रमाणित होती है । वास्तव में इसका स्थान तो स्वर्ग है, जहाँ वह उत्पन्न होती है । वह पृथ्वी पर स्वर्ग से ही लाई जाती है, यह धारणा स्वर्ग से सोम को लाने वाली श्येन-कथा में वर्णित है । संभवतः यह कथा विद्युत् और उसके साथ ही पर्जन्य (वर्षा) के सामान्य प्राकृतिक दृश्य का एक पौराणिक रूप है ।

ऋग्वेदस्य पश्चाद्भवेषु सूक्तेष्वथर्ववेदसूक्तेषु च सोमशब्दश्चन्द्रवाचकत्वेनोक्तः। यजुर्वेदे नक्षत्ररूपा ओषधयः सोमपत्नीत्वेन वर्णिताः। सर्वत्र ब्राह्मणग्रन्थेषु सोमश्चन्द्ररूपेण वर्णितः। तस्यैकस्मिन् पक्षे एकैककलाक्षयात् ह्रासोऽपरपक्षे कलापूरणाद् वृद्धिर्जायते। सोमचन्द्रमसोस्तादात्म्यं सोमस्य दिव्यतायास्तिमिरभेदशक्तेरत्युक्तिपूर्णाद् वर्णनाद् व्यज्यते। जले क्लेदनात् सोमवल्ली प्रफुल्लिता भवति। ततो विन्दवो निपतन्ति तस्मादेव तस्येन्दुत्वोक्तिः। सूक्तेषूक्तम्—भाण्डे निहितः सोमो जलप्रतिविम्बितचन्द्रवद् भाति। अवेस्ताया वेदस्य च तुलनात्मकेनाध्ययनेन भारतीय-इरानी-युगे पौराणिकीषु गाथासु सोमस्य विशिष्टं स्थानमासीत्। तत्रोभयत्रोक्तम्—सोमः पर्वतेषूत्पद्यते। तं पक्षिणो नयन्ति। सोमोऽमरतामापादयति। उभयत्र तद्रसं निश्चोत्य दुग्धे मिश्रणमुक्तम्। स्वर्गस्तज्जन्मस्थानम्, ततः पृथिव्यामानीतः। तस्य स्वल्पमपि पानं शक्त्याधायकं भवति। उभयत्र दिव्यः सोमो देवतारूपोऽत्रत्यो रसरूपः। एवमत्यन्तं साम्यं दृश्यते' (पृ० ८६-८९) इति।

तदपि यत्किञ्चित्, वेदस्यानादित्वेन तदुक्तसोमव्यवहारस्य वैदिकानां सहवासवशात् पारसीकेष्वपि कैश्चिदंशैः साम्येऽपि सोमयागविधायकमन्त्रब्राह्मणानां तत्रासत्त्वेन स्वर्गप्रापकवैदिकज्योतिष्टोमादीनां तत्रासम्भवेन वैषम्यात्। सिद्धान्ते तु न दृश्यचन्द्ररूप एव सोमः, किन्त्वग्नीषोमात्मकस्य जगतः कारणत्वेन सोमस्य परमात्मरूपत्वमपि। प्रकृतिपुरुषौ शक्तिशिवौ जगतः। यथा शीतोष्णतन्त्रीभ्यां विद्युद्विद्योतते, तथैव ताभ्यां जगदुत्पद्यते। प्रकृतिपुरुषयोः शक्तिशिवयोरिवाग्नीषोमयोरपि व्यापकत्वात् तद्रूपत्वम्। यथाग्निर्व्यापकस्तथैव सोमोऽपि व्यापकः। अग्नेः प्रतीकोऽन्तरिक्षे सूर्यस्तथैव सोमप्रतीकश्चन्द्रोऽपि। सोमाहुत्यैव सूर्यः प्रज्वलति, तथा घृतसोमादिहोमादग्निः। तत्रापि

ऋग्वेद के पिछले कुछ सूक्तों में सोम स्पष्टतः चन्द्र रूप वर्णित है। अथर्ववेद में सोम कई स्थान पर चन्द्रवाचक है। यजुर्वेद में सोम का ऐसा वर्णन है, जिसमें ओषधियाँ (नक्षत्र) उसकी पत्तियाँ बताई गई हैं। चन्द्र रूप सोम की यह कल्पना ब्राह्मण-ग्रन्थों में सर्वत्र है। जिसके एक पक्ष में क्षय का कारण बनाया गया है कि देवता और पितर उसके अमृत का पान करते हैं। अपर पक्ष में सूर्य पुनः अपने तेज से उसे परिपूर्ण कर देता है। सोम के चन्द्रमा से इस तादात्म्य की कल्पना का ऋषियों द्वारा सोम के दिव्य स्वरूप और तिमिर-भेदन की शक्ति के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन से उद्गम हुआ है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर ऐसा वर्णन पाया जाता है कि पानी में भिगोने से सोमवल्ली फूल उठती है और उससे बूँद टपकती है, अत एव उसे 'इन्दु' कहा जाता है। ऋग्वेद के सूक्तों में कहा गया है कि भाण्ड में रखा सोम ऐसा सुभग लगता है, जैसा जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र। अवेस्ता और वेद की तुलना करने पर यह स्पष्ट है कि भारतीय-ईरानी युग में और पौराणिक गाथाओं में सोम का विशेष स्थान था। ऋग्वेद में और अवेस्ता में कहा है कि सोम पहाड़ों पर उगता है, उसे पक्षी ले जाते हैं, यह वह वनस्पति है, जो दीर्घायु और अमरता प्रदान करती है। दोनों ही ग्रन्थों में कहा है कि उसका रस निचोड़ कर दूध में मिलाया जाता है। इसका जन्मस्थान स्वर्ग है, जहाँ से वह पृथ्वी पर लाया जाता है। दोनों ग्रन्थों में बताया गया है कि उसका एक घूँट व्यक्ति को शक्तिशाली देवता बना देता है, दोनों जगह दिव्य सोम भौमिक सोम से भिन्न माना गया है। दिव्य सोम देवता रूप है और यहाँ का सोम रसरूप है। दोनों में साम्य इतना अधिक है कि सोम और होम के नाम और गुण तथा विशेषण भी इकसार हैं' (पृ० ८६-८९)।

यह कथन भी गलत है। वेद अनादि हैं, अतः उनमें बताये गये सोम के उपयोग की विधि को वैदिकों के सहवास के कारण पारसीक जन भी जान सकते हैं और इसीलिये उनमें कुछ अंशों में परस्पर समानता भी मिल सकती है, किन्तु सोमयाग के विधायक मन्त्रों और ब्राह्मण वाक्यों के अभाव में स्वर्ग के प्रापक वैदिक ज्योतिष्टोम प्रभृति यागों को सम्पन्न करने की सामर्थ्य वहाँ नहीं है। यही वेद और अवेस्ता में सबसे बड़ी विषमता है। हमारे सिद्धान्त से तो सोम इस दिखाई पड़ने वाले चन्द्रमा को नहीं कहते, किन्तु अग्नीषोमात्मक इस जगत् के कारणभूत सोम साक्षात् परमात्मा ही हैं। इस जगत् के प्रकृति और पुरुष शिव और शक्ति से अभिन्न हैं। जैसे ठण्डे और गरम तार की सहायता से विद्युत का प्रकाश होता है, उसी तरह से शिव और शक्ति के सहयोग से ही यह जगत् उत्पन्न होता है। प्रकृति और पुरुष, शिव और शक्ति की तरह अग्नि और सोम भी सर्वत्र व्यापक हैं, अतः ये परब्रह्म स्वरूप हैं। जैसे अग्नि व्यापक है, उसी तरह से सोम भी व्यापक है। जैसे अन्तरिक्ष में सूर्य अग्नि का प्रतीक है, उसी तरह से चन्द्र भी सोम का

यथा साधिष्ठाना प्रकृतिः प्रकृतिविशिष्टश्चेतनो वाऽनर्थान्तरम्, केवलायाः प्रकृतेः केवलस्य पुरुषस्य च कारणत्वायोगात्, तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्। सोमस्य गवादिभिरुत्तमोत्तमद्रव्यैः समन्त्रकं क्रयणं तत्स्तवनदृष्टया तद्यजनम्, गायत्र्या स्वर्गादानयनम्। तत्पतितपर्णैः पवित्रपलाशवृक्षोत्पत्तिः। सोमेन देवानां तर्पणम्। सोमस्य किञ्चिन्मादकत्वेऽपि न सुरारूपत्वम्, तस्य परमपावनत्वात्। ब्राह्मणानां कृते सुरा सर्वथा निषिद्धा। सोमपानं तु ब्राह्मण्यापादकम्। यस्य पित्रा पितामहेन सोमपानं न कृतं स दुर्ब्राह्मणः, दुर्ब्राह्मणतानिवृत्त्यै हविर्विशेषविधानात्। चन्द्रवत् सोमस्यापि शुक्लपक्षे पत्राणि वर्धन्ते कृष्णपक्षे तु क्षीयन्ते। सोमकल्पानुष्ठानेन देहस्याभिनवत्वं सम्पाद्यते। अद्यत्वे तु कलिप्रभावात् सोमो नोपलभ्यते। तत्प्रतिनिधिभूता पूतिका लता सोमयागादावुपयुज्यते। नित्यापौरुषेयवेदवर्णितमाहात्म्यस्य सोमस्य तत्साध्ययागस्य वेदैकसमधिगम्यत्वमेवेति न तस्यावेस्तागम्यत्वं सम्भवति। प्रत्यक्षाद्यगम्यानां ज्योतिष्टोमतत्फलानां कार्यकारणभावस्य पुरुषमूलकपौरुषेयवचनमूलकत्वासम्भवेनापौरुषेयवेदमूलकत्वस्याभ्युपगन्तव्यत्वात्। श्येनकथापि मानान्तराविरोधान्मानान्तराप्राप्तार्थबोधकत्वात् स्वार्थपर्यवसायिन्येव।

यदपि—'ऋग्वेदीयविचारधाराया विकासाद् भारतीयमूर्तदेवतापेक्षया भावात्मकदेवताः परिकल्पिताः। दशममण्डले श्रद्धामन्त्योरथर्ववेदे च कामदेवताया अपि वर्णनं दृश्यते कुसुमशरस्य रतीशस्य पूर्वरूपम्। ततः कर्तृत्वशक्तेः प्रतीकतया धाता प्रजापतिश्च वर्णितः। मूलतः प्रजापतिः सूर्यस्य सवितुश्च नामान्तरमासीत्। अन्तिममण्डले विश्वसृष्टिभारग्रहणाय पृथग् देवतारूपेण प्रजापतिरुपस्थितः। वाजसनेयिसंहितायामथर्ववेदे विशेषतो ब्राह्मणेषु देवानां

प्रतीक है। सोम की आहुति को प्राप्त करके ही सूर्य तपता है, जैसे कि घृत आदि के होम से अग्नि। जैसे अधिष्ठान सहित प्रकृति अथवा प्रकृति से युक्त चेतन एक ही वस्तु है, क्योंकि केवल प्रकृति अथवा केवल पुरुष में किसी कार्य को करने की सामर्थ्य नहीं है, उसी तरह से अग्नि और सोम के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिये। सोम को गो प्रभृति उत्तम द्रव्यों से मन्त्रोच्चार पूर्वक खरीदा जाता है, उसकी स्तुति की जाती है और इष्टि के द्वारा उसका यजन किया जाता है। गायत्री उसको स्वर्ग से ले आती है। उसके गिरे हुए पत्तों से पलाश वृक्ष की उत्पत्ति हुई है। सोमरस से देवताओं को तृप्त किया जाता है। यद्यपि सोम कुछ मादक है, तो भी उसको सुरा नहीं कहा जा सकता। वह परम पवित्र वस्तु है। ब्राह्मणों के लिये सुरा का पान सर्वथा निषिद्ध है। इसके विपरीत सोमरस के पान से ब्राह्मण पुष्ट होता है। जिसके पिता-पितामह आदि ने सोमपान नहीं किया, वह खरा ब्राह्मण नहीं है। इस दोष की निवृत्ति के लिये भी यज्ञ में हवि दी जाती है। चन्द्रमा के समान सोमलता के भी शुक्ल पक्ष में पत्ते बढ़ते है और कृष्ण पक्ष में घटते है। सोमकल्प का अनुष्ठान करने से शरीर एकदम नया हो जाता है। आजकल तो कलि के प्रभाव से सोमलता उपलब्ध नहीं होती। उसके स्थान पर आजकल सोमयाग में पूतिका लता काम में लाई जाती है। नित्य और अपौरुषेय वेद में वर्णित माहात्म्य वाली सोमलता की और उसकी सहायता से सम्पन्न होने वाले याग की अधिगति केवल वेद से ही हो सकती है, अतः उसकी अनधिगति का कोई प्रश्न ही नहीं है। प्रत्यक्ष प्रभृति प्रमाणों के अगम्य ज्योतिष्टोम याग और उसके फल के कार्यकारणभाव की अवगति पुरुषमूलक पौरुषेय वचनों से भी नहीं हो सकती, अतः यह मानना पड़ेगा कि इस कार्यकारणभाव की अवगति केवल अपौरुषेय वेद वचनों से ही हो सकती है। श्येन की ऊपर सूचित कथा को यथार्थ मानने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि इसका किसी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से कोई विरोध नहीं है और विधिवाक्य की तरह यहाँ पर भी किसी अन्य प्रमाण से अप्राप्त नई बात का प्रतिपादन है।

'ऋग्वेदीय विचारधारा का विकास यह प्रमाणित करता है कि क्रमशः भारतीय लोग मूर्त देवताओं की अपेक्षा भावरूप देवताओं की कल्पना करने लगे। ऋग्वेद के दशम मण्डल में श्रद्धा और मन्यु (रोष, अमर्ष) को तथा अथर्ववेद में काम को देवता माना है। वस्तुतः लौकिक साहित्य में सुपरिचित कुसुमशर रतीश का यह काम पूर्वरूप है। कर्तृत्व शक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक भावप्रधान देवता हैं, जैसे धाता और प्रजापति। मूलतः प्रजापति सविता और सूर्य देवताओं का नामान्तर था। परन्तु ऋग्वेद के अन्तिम मंडल में विश्वसर्जन का भार लिये प्रजापति पृथक् देवता के रूप में उपस्थित होते हैं। यह अथर्ववेद में, बहुधा वाजसनेयी संहिता में और अधिक नियमित रूप से ब्राह्मण-ग्रन्थों में देवताओं के पिता के रूप में एक मुख्य देवता मान लिये गये हैं। सूत्रों में प्रजापति और

पितृत्वेन मुख्यदेवतारूपेण प्रजापतिः कल्पितः । सूत्रेषु प्रजापतिर्वेदोत्तरयुगे चतुर्मुखब्रह्मरूपेण कल्पितः । दशममण्डले यथा—'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः । यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥' अत्र चतुर्थ्यां पङ्क्तौ प्रजापतिमज्ञातं मत्वा प्रश्नवाचिना सर्वनाम्ना सङ्केतितः सः । वैदिकसाहित्योयः कः परवर्तिकाले सृष्टिकर्तुः प्रजापतेरेव केवलं पर्यायवाचको जातः, किन्तु प्रजापतेः स्वातन्त्र्येण नामैव सम्पन्नम्' (पृ० ८९-९०) इति, तदपि न, मन्त्रे सूक्ते चात्र प्रजापतिरूपस्य परमात्मनो विवक्षितत्वात् । येन द्यौरन्तरिक्षं उग्रा उद्गूर्णं विशेषाद् गहनरूपं वा । पृथिवी भूमिश्च दृढा येन स्थिरीकृता स्वः स्वर्गश्च येन स्तभितं स्तब्धं कृतं यथा द्यौर्न पतति तथोपर्यवस्थापितं तथा नाक आदित्यश्च येन अन्तरिक्षे स्तभितः, यः अन्तरिक्षे रजस उदकस्य विमानो निर्माता तस्मै कस्मै अविज्ञातस्वरूपाय परमात्मने हविषा विधेम परिचरेम । 'कस्मै' इत्यत्र कःशब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते । यद्वा सृष्टचर्थं कामयत इति कः, कमेर्डः प्रत्ययः ।

एकस्मै (शब्द)

एवमेव सूर्याग्नीन्द्रादिदेवतानामपि भावदेवतात्वमेव । नहि केवलं दृश्यस्वरूपाणां भौतिकपदार्थानामेव देवतात्वं तेषां स्तुतिहविरादिभाक्त्वायोगात्, किन्तु सूर्यादिगतशक्तिविशेषविशिष्टानाममूर्तचेतनानामेव देवतात्वम् । तेषां चैश्वर्यविशेषवत्त्वेन स्तुत्यत्वादिसम्भवात् । न च दृश्यमानभौतिकरूपाण्येव तेषां मूर्तरूपाणि, तत्रैश्वर्यवत्त्वायोगात् । तेषां लीलाविग्रहवत्त्वं स्वैच्छिकं विशिष्टैश्वर्यवच्च । मन्त्रब्राह्मणपुराणेतिहाससिद्धत्वात् श्रद्धा-मन्यु-कामादयश्च समष्टिरूपेणैव देवताः, व्यष्टिरूपेण तु परिच्छिन्नत्वदर्शनम् । प्रजापतेः श्रद्धा रुद्रस्य मन्युर्जगत्सिसृक्षोः कामश्च देवताभावेन पूज्यन्ते, तदधिष्ठातृचेतनानां विशिष्टैश्वर्यवत्त्वात् । सवितरि सूर्ये च तदधिष्ठातृचेतनरूपेणैव प्रजापतित्वम् । देवानां जनकः कश्यपोऽपि तदभेदभावनयैव प्रजापतिः । चतुर्मुखो ब्रह्मापि तदभिव्यक्तिविशेषत्वेन

वेदोत्तर युग के ब्रह्मा एक रूप माने गए हैं । दशम मंडल के एक सूक्त में हमें एक ऐसा रोचक निदर्शन मिलता है, जिससे पता चलता है कि भावस्वरूप देवताओं की मान्यता क्यों कर हुई । एक मन्त्र है—'येन द्यौरुग्रा०' । यहाँ की चौथी पंक्ति आगे आने वाले नौ मन्त्रों का ध्रुवपद है, जिसमें प्रजापति को अज्ञात मानकर प्रश्नवाची सर्वनाम 'कः' के द्वारा उन्हें संकेतित किया है । वैदिक साहित्य का यह 'कः' आगे चलकर न केवल सृष्टिकर्ता प्रजापति का पर्याय हो गया, अपि तु वह प्रजापति का एक स्वतन्त्र नाम ही बन गया (पृ० ८९-९०) । यह कथन भी गलत है, क्योंकि इस मन्त्र में और पूरे सूक्त में प्रजापतिरूप परमात्मा ही विवक्षित है । मन्त्र का अर्थ यह है—जिसने इस गहन रूप अन्तरिक्ष को चारों तरफ फैला दिया, इस भूमि को दृढ़ आधार दिया और जिससे स्वर्ग को स्थिर कर दिया कि वह अपने स्थान से गिरता नहीं है, जिसने केवल स्वर्ग को ही नहीं, सूर्य को भी अन्तरिक्ष में ऐसा ठहरा दिया है कि जो अन्तरिक्ष में रहकर वृष्टि के जल का निर्माण करता है, उस अज्ञात स्वरूप परमात्मा को हम हवि प्रदान करते हैं । 'कस्मै' यहाँ का 'कः' शब्द अनिर्ज्ञात स्वरूप प्रजापति का निर्देशक है । अथवा जो सृष्टि की कामना करता है, उसको 'कः' कहा जाता है । यहाँ पर कम धातु से ड प्रत्यय होता है ।

इसी तरह से सूर्य, अग्नि, इन्द्र प्रभृति भी भाव देवता ही हैं । केवल दृश्य स्वरूप भौतिक पदार्थों को ही देवता नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनमें अपनी स्तुति सुनने अथवा उनके निमित्त दी गई हवि को ग्रहण करने की सामर्थ्य कहाँ से आवेगी ? अतः सूर्यादिगत शक्तिविशेष से संपन्न अमूर्त स्वरूप ही चेतन देवताओं को मानना पड़ेगा । ये ऐश्वर्यविशेष से संयुक्त हैं । अतः इनमें स्तुति को सुनने और हवि को ग्रहण करने की भी सामर्थ्य है । दृश्यमान भौतिक रूप ही मूर्तरूप नहीं माने जा सकते, क्योंकि उनमें वह ऐश्वर्य नहीं है । ये जो लीलाविग्रह धारण करते हैं, वह उनकी अपनी इच्छा है । वह उनके विशिष्ट ऐश्वर्य का ही द्योतक है । मन्त्र, ब्राह्मण, पुराण, इतिहास प्रभृति ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि श्रद्धा, मन्यु, काम प्रभृति समष्टि देवता है, व्यष्टिरूप में तो ये किसी न किसी जीव से परिच्छिन्न हैं । प्रजापति की श्रद्धा, रुद्र का मन्यु और जगत्स्रष्टा ईश्वर का काम देवता के रूप में पूजनीय है । क्योंकि इनके अधिष्ठाता चेतन विशिष्ट ऐश्वर्य से संयुक्त हैं । सविता और सूर्य में उनके अधिष्ठाता चेतन को ही प्रजापति कहा जाता है । देवताओं के जनक कश्यप को इस प्रजापति से अभिन्न मानकर ही प्रजापति कहते हैं । चतुर्मुख ब्रह्मा भी विशिष्ट अभिव्यक्ति के कारण

प्रजापतिः। विश्वस्रष्टा परमेश्वरस्तु कस्याश्चिद्विचारधाराया न विकासः, किन्तु वस्तुस्थितिमूलकः सर्वविधकल्पनानामाधारभूतः। अपौरुषेयोऽनादिश्च वेदस्तन्निःश्वासभूतः, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः' इति श्रुतेः। विकासवादस्तु तिलशः खण्डितोऽस्माभिः 'मार्क्सवाद और रामराज्य' इति ग्रन्थे। अत एवानादिकालादेव वैदिका देवाः प्रजापतिः कश्यपश्चतुर्मुखो ब्रह्मा विष्णू रुद्रः शिवश्च। विष्णुसूक्तेऽग्निवायुसूर्यपृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकादिस्रष्टृत्वेन विष्णोः परमेश्वरत्वमुक्तम्। आश्चर्यमेतद्यद् वैदिका मन्त्राणां ब्राह्मणानामारण्यकोपनिषदां सूत्राणां धर्मशास्त्रेतिहासपुराणानां समन्वयेनैकवाक्यतया तात्पर्यं निर्धारयन्ति, परं पाश्चात्त्यास्त्वेकस्यापि ग्रन्थस्यैकरूपतामेककर्तृकतामेकपर्यवसायितां च नाङ्गीकुर्वन्ति, विकासवादसंस्कारेण तैरेकस्मिन्नपि देहे ऐकात्म्याभ्युपगमासम्भवात्। वैदिकानां रीत्या परमेश्वरोऽनाद्यनन्तः सर्वज्ञस्तच्छासनात्मकं मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदशास्त्रमप्यनादि। तच्चरणाश्रितं पौरुषेयमप्यार्षशास्त्रमानुपूर्वीभेदवत्त्वेऽपि मूलतोऽनाद्येवातः समन्वयेनैव मीमांसापद्धत्याऽर्थो ज्ञातव्यः। पाश्चात्यास्तु न केवलमृक्संहितायां किन्त्वेकस्मिन्नपि मण्डले सूक्तेष्वपि प्रक्षिप्ततां भिन्नकालतां चाभ्युपयन्ति। तेन तद्रीत्या समन्वयकथापि दूरे। तथैव तदीयबायविलादिग्रन्थेऽपि दुष्कल्पनाः सम्भवन्त्येव। तस्माद्वैदिकानां दृष्टचा कस्मै देवायेत्यत्रापि न प्रश्नवाची कस्मैशब्दः, किन्तु प्रजापतिबोधक एव।

यदपि—'ऋग्वेदस्य सर्वप्राचीने तथा पाश्चात्त्येंऽशे' भावस्वरूपा बृहस्पतिदेवता लभ्यते। सा प्रार्थनापतिरुच्यते। राथप्रभृतिभिर्भक्तेर्मूर्तस्वरूपो बृहस्पतिरभ्युपेयते। प्रस्तुतलेखकस्य सम्मत्या तु बृहस्पतिरग्निदेवस्य याज्ञिकक्रियाणां पारम्परिकरूपे दैवीकरणरूपः, यतो बृहस्पतेरग्नेश्च पर्याप्तं सौसादृश्यम्। बृहस्पतेर्मुख्यं कार्यं पौरोहित्यम्। अग्नेरिवेन्द्रोपाख्याने बृहस्पतेरपि सन्निवेशः। स तत्र स्थायिस्थानं प्राप्तवान्। बृहस्पतिना बलं

प्रजापति कहा जाता है। विश्वस्रष्टा परमेश्वर किसी विचारधारा का विकास न होकर वस्तुस्थितिमूलक है। सारी कल्पनाओं का आधार यह परमेश्वर ही है। अपौरुषेय और अनादि वेद उस परमेश्वर का ही निःश्वास है। श्रुति ने स्पष्ट कहा है कि 'ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि इस महान् भूत के निःश्वास स्वरूप हैं'। विकासवाद का हमने विस्तार से अपने ग्रन्थ 'मार्क्सवाद और रामराज्य' में खण्डन किया है। इसीलिये अनादि काल से प्रजापति, कश्यप, चतुर्मुख ब्रह्मा, विष्णु और शिव वैदिक देव हैं। विष्णु सूक्त में अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक प्रभृति के स्रष्टा के रूप में विष्णु को परमेश्वर माना गया है। आश्चर्य की बात यही है कि वैदिक विद्वान् मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र, धर्मशास्त्र, इतिहास-पुराण प्रभृति ग्रन्थों का समन्वय कर इनकी एकवाक्यता के आधार पर तात्पर्य का निर्धारण करते हैं, किन्तु पाश्चात्य विद्वान् एक भी ग्रन्थ की एकरूपता, एककर्तृकता और एक अर्थ की प्रतिपादकता नहीं सिद्ध कर पाते। विकासवाद के संस्कार के कारण ही वे एक देह में एक आत्मा को नहीं स्वीकार कर पाते। वैदिक विद्वानों के मत से परमेश्वर अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ है। परमेश्वर का शासनस्वरूप मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र भी अनादि है। उस परमेश्वर की चरणों को कृपा से प्राप्त आर्षशास्त्र यद्यपि पौरुषेय हैं और इनमें आनुपूर्वी का भेद भी विद्यमान है, तो भी मूलतः यह अनादि है, अतः समन्वय के आधार पर ही मीमांसा की पद्धति से इनका अर्थ जानना चाहिये। पाश्चात्य विद्वान् न केवल ऋग्वेदसंहिता में, किन्तु एक एक मण्डल और सूक्तों में भी प्रक्षेप और कालभेद को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इसलिये इनकी पद्धति से समन्वय की बात करना ही कठिन है। इस तरह की गलत कल्पनाएं उनके बाइविल प्रभृति धर्मग्रन्थों के सम्बन्ध में भी की जा सकती हैं। वस्तुतः वैदिकों की दृष्टि से 'कस्मै देवाय' यहां पर भी 'कस्मै' शब्द प्रश्नवाची न होकर प्रजापति का ही बोधक है।

'ऋग्वेद के सबसे प्राचीन तथा पिछले अंशों में एक और भावस्वरूप देवता पाये जाते हैं, जिनका नाम है बृहस्पति, अर्थात् प्रार्थनाओं के स्वामी। राथ तथा अन्य प्रसिद्ध वैदिक विद्वानों ने बृहस्पति को साक्षात् भक्ति का मूर्तरूप माना है। परन्तु प्रस्तुत लेखक की सम्मति में वह अग्निदेव की यज्ञिय क्रियाओं का पारम्परिक रूप से दैवीकरण है। कारण बृहस्पति और अग्नि में पर्याप्त सौसादृश्य है। बृहस्पति का मुख्य कार्य पौरोहित्य है। अग्नि की भांति इन्द्र के उपाख्यान में बृहस्पति का भी समावेश हुआ और उन्होंने वहाँ एक स्थायी पद पा लिया। अनेकधा यह वर्णन मिलता है कि बृहस्पति ने वलासुर को जीतकर गो ग्रहण किया। यज्ञ में ब्रह्मा नामक

विजित्य गावो गृहीताः । यज्ञे ब्रह्माख्यश्चैक ऋत्विग् बृहस्पतिस्तत्कार्यं करोति । एतद्रूपेण हिन्दूनां त्रिमूर्तिषु मुख्यस्य ब्रह्मदेवस्य पूर्वरूपम् । स वेदोत्तरपुराणेषु ऋषिरूपेण वर्तमानः सुरगुरुः सन् बृहस्पतिग्रहस्याधिष्ठातृदेवत्वेन पूज्यते' (पृ० ९०-९१) इति, तदपि न सङ्गतम्, यतो 'वाग्वै बृहती तस्याः पतिर्बृहस्पति' इत्यादिछान्दोग्योपनिषद्रीत्या वेदलक्षणाया वाचः पतिर्बृहस्पतित्वेनोक्तः, ऋग्वेदस्यापौरुषेयत्वेन तत्र पौरस्त्यपाश्चात्त्यकल्पनायोगात्, पुराणेतिहासयोर्वेदव्याख्यानत्वात् । वेदोक्तबृहस्पतेः स्वरूपजिज्ञासायां तद्विवरणरूपाभ्यां ताभ्यां तस्य सुरगुरुत्वेन वर्णनात् । यज्ञेषु तु ब्रह्मा बृहस्पतिस्थानीयस्तत्कार्यंकरत्वात् । त्रिमूर्तिगतो ब्रह्मा तु ततोऽन्य एव, तस्य सृष्टयधिकारित्वात् । ऋषिरूपतापि सुरगुरावेव सम्भवति, नारदस्येव तस्य देवर्षित्वोपपत्तेः ।

यदपि—'अदितिर्मुक्तिमाता । सा चादित्यानां माता । वरुणवत् सापि शरीरकष्टनिवारयित्री तापबन्धमोचयित्री । मोचयित्रीत्वादेव स्वतन्त्रता रूपा सा । क्वचित्सूक्ते कश्चिदृषिस्तस्याः सकाशादसीमं वरं वृणोति । आदित्येषु मुक्तिपुत्रार्थेऽदितिशब्दः प्रयुक्तः । ऋग्वेदशब्देषु तादृशो व्यत्ययो बहुधा दृश्यते । अत्र प्रकरणे स्त्रीलिङ्गमिदं पदं क्रमेण कस्याश्चिद्देवमूर्तेर्बोधकं जातम् । संस्कृतभाषायामेवममूर्तस्य मूर्तरूपप्रदानपद्धतिः प्रचलति । एवं भारतीयदेवीरूपेणोद्गमवती सा ऐतिहासिकक्रमेण स्वस्याः केषुचित्पुत्रेष्ववश्यं कनिष्ठा या प्राग्भारतीये प्रचलति स्म' (पृ० ९१) इति, तदपि निर्मूलम्, प्रमाणानुपन्यासात् । 'दोऽवखण्डने' इति धातोर्निष्पन्नस्यादितिशब्दस्य स्त्रीलिङ्गस्याखण्डनीया पूज्या देवमाता वाच्या, तदुपलक्षिता अखण्डनीया चितिस्तूपलक्षणीया, तस्याः सर्वात्मतावर्णनात् । अदितिर्द्यौरन्तरिक्षमित्यादिमन्त्रवर्णात् । इन्द्रोपेन्द्रमातृत्वादपि सा समर्हणीया । नहि विकासक्रमेण शब्दानामर्थाः परिवर्त्यन्ते, शब्दार्थ-

एक ऋत्विक् होता है । बृहस्पति इस कार्य को करते हैं । इस रूप में उत्तरकालिक हिन्दू त्रिमूर्ति के मुख्य देवता ब्रह्मा के वह पूर्व रूप हैं । वेदोत्तर पुराणों में बृहस्पति ऋषि के रूप में वर्तमान है । वह सुरगुरु कहलाते हैं और बृहस्पति नामक ग्रह के अधिष्ठाता के रूप में पूजे जाते हैं' (पृ० ९०-९१) । यह कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि 'वाग् बृहती कहलाती है, उसका पति बृहस्पति है' इस छान्दोग्य श्रुति के अनुसार वेदस्वरूप वाणी के पति को बृहस्पति कहा जाता है । ऋग्वेद तो अपौरुषेय है, अतः उसमें पूर्वकाल और उत्तरकाल का आरोप नहीं किया जा सकता । पुराण और इतिहास भी वेद में प्रतिपादित बात की ही पुष्टि करते हैं । वेदोक्त बृहस्पति के स्वरूप को जब जानने की इच्छा होती है, तो वेदों के विवरण स्वरूप इन इतिहास-पुराण ग्रन्थों से ही बृहस्पति का सुरगुरु के रूप में वर्णन मिलता है । यज्ञों में ब्रह्मा का पद बृहस्पति का ही प्रतिनिधि माना जाता है, क्योंकि यज्ञ का ब्रह्मा वहाँ पर बृहस्पति के ही सारे कार्य करता है । ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति में परिगणित ब्रह्मा इससे भिन्न हैं, क्योंकि त्रिमूर्तिगत ब्रह्मा सृष्टि का अधिकारी है । बृहस्पति की ऋषिरूपता उसको सुरगुरु मानने पर ही सम्भव हो सकती है, क्योंकि नारद की तरह बृहस्पति भी देवर्षि माने जाते हैं ।

'अदिति देवताओं के एक छोटे से वर्ग की माता है, जो आदित्य कहलाते हैं और जिनमें वरुण मुख्य है । अदिति अपने पुत्र वरुण की तरह मानव को शारीरिक कष्ट एवं ताप के बन्धन से मुक्त करा देने की शक्ति से सम्पन्न है । बन्धन से मुक्त करा देने के कारण ही यह स्वतन्त्रता के रूप में मानी गई है । ऋग्वेद के एक सूक्त में कोई ऋषि अदिति से असीम वरदान माँगता है । 'अदिति पुत्र' यह संज्ञा कई बार आदित्यों को दी गई है । संभवतः इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 'मुक्ति के पुत्र' इस अर्थ में हुआ होगा । ऋग्वेद की भाषा में इस प्रकार तोड़-मोड़ बहुधा पाया जाता है । इस प्रकरण में प्रयुक्त 'अदिति' यह स्त्रीलिंग पद क्रमशः किसी देवमूर्ति का बोधक बन गया । संस्कृत भाषा में इस प्रकार के अमूर्त को मूर्त रूप देने का प्रकार बहुत कुछ प्रचलित है । यों अदिति, जिसका उद्गम भारतीय देवी के रूप में है, ऐतिहासिक क्रम में अपने कुछ पुत्रों से अवश्य कनिष्ठ है, जो प्राग्भारतीय युग में प्रचलित थे' (पृ० ९१) यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि इसके लिये कोई प्रमाण नहीं दिया गया है । 'दोऽवखण्डने' इस धातु से निष्पन्न स्त्रीलिंग अदिति शब्द का अर्थ अखण्डनीया पूज्या देवमाता है । इससे द्योतित होती है—अखण्डनीय चिति, क्योंकि उसका सर्वात्मक रूप में वर्णन मिलता है । जैसा कि 'द्यौ अदिति है, अन्तरिक्ष अदिति है' इत्यादि मन्त्र में है । इन्द्र और उपेन्द्र की माता होने के कारण भी वह विशेष रूप से पूजनीय है । विकास क्रम से शब्दों के अर्थ में परिवर्तन नहीं हो सकता, क्योंकि मीमांसा की दृष्टि से शब्द, अर्थ और उनका

सम्बन्धानां मीमांसकनये नित्यत्वावगमात् । 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' (मी० सू० १।१।५) इति जैमिनीयन्यायात् । तदर्थमेव मीमांसकैर्जातौ शक्तिरङ्गीक्रियते, व्यक्तीनामनित्यत्वेऽपि तस्या नित्यत्वात् । अत एव मैकडानलादिपाश्चात्यानां कल्पना सर्वथा वेदविरुद्धैव । अनेकार्थबोधकत्वं तु लक्षणाभिरेव ।

यदपि—'वैदिकसम्प्रदाये देवीनामत्यन्तं गौणमेव स्थानम्, जगदनुशासने तासामत्यल्पभागः, उषस एकस्या एव महत्त्वपूर्णं स्थानमस्ति । द्वितीयं स्थानं सरस्वत्याः । पृथिवीमपहायात्यल्पा एव देव्यः सन्ति यासां स्तुतौ समग्रमेकं सूक्तमुक्तं स्यात् । रात्रिसूक्ते स्वभगिन्योषसा सार्धमेव रात्रेर्वर्णनं दृश्यते । तत्र रात्रिर्न सर्वथा तमस्विनी, किन्तु ताराङ्कितोज्ज्वलैव सा । एका ताराभिः सुशोभिता, अन्यादित्यप्रभयोद्दीपिता' (पृ० ९१) इति, तदपि यत्किञ्चित्, भावानवबोधात् । सर्वैरपि सूक्तैर्वेदैश्च यावानर्थ उच्यते, तावानेकया सावित्र्या गायत्र्योच्यते, तावानेवैकेन प्रणवेन निरूप्यते । तथैवादितिमन्त्रेण अखण्डचिद्रूपाया भगवत्याः सर्वात्मताप्येकेनैव मन्त्रेणोक्ता । देवीसूक्तेऽपि न रात्रिसामान्यं वर्ण्यते । तत एवास्य सूक्तस्य भूमिकायां सायणाचार्योक्तम्—अहमित्यष्टर्चं त्रयोदशं सूक्तम् । अम्भृणस्य महर्षेर्दुहिता वाङ्नाम्नी ब्रह्मविदुषी स्वात्मानमेवानेनास्तौत् । अतः 'सैवर्षिः । सच्चित्सुखात्मकः सर्वगतः परमात्मा देवता । तेन ह्येषा तादात्म्यमनुभवन्ती सर्वजगद्रूपेण सर्वस्याधिष्ठानत्वेन चाहमेव सर्वं भवामीति स्वात्मानं स्तौति । द्वितीया जगती शिष्टास्त्रिष्टुभः । 'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः । अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥' (ऋ० सं० १०।१२५।१) । एतदर्थस्तु—अहं सूक्तस्य द्रष्ट्री वागाम्भृणी यद् ब्रह्म जगत्कारणं तद्रूपा भवन्ती रुद्रेभिरेकादशभिश्चरामि । इत्थंभावे तृतीया । तदात्मना चरामि । एवमेव वसुभिरित्यादौ तत्तदात्मना चरामीत्यर्थः ।

सम्बन्ध, ये सभी नित्य हैं । 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः०' इस सूत्र में जैमिनि ने इसी बात को प्रदर्शित किया है । इसीलिये मीमांसक जाति में शक्ति मानते हैं, क्योंकि व्यक्तियों के अनित्य होने पर भी व्यक्तिगत जाति नित्य ही मानी जाती है । फलतः मैकडानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों की इस तरह की कल्पनाएं सर्वथा वेदविरुद्ध हैं । शब्दों से अनेक अर्थों की अवगति लक्षणा के द्वारा सम्भव होती है ।

'वैदिक सम्प्रदाय में देवियों को बहुत कुछ गौण स्थान दिया गया है । जगत् के शासन में वह बहुत कम भाग लेती हैं । एक ही देवी उषस् है, जो महत्त्व की कही जा सकती है । गौरव का दूसरा स्थान सरस्वती को प्राप्त है, जो अप्रधान देवताओं के मध्य रक्खी गयी है । पृथ्वी को छोड़कर बहुत कम ऐसी देवियां हैं, जिन पर एक सारा सूक्त कहा गया हो । उनमें से एक रात्रि है । रात्रिसूक्त में अपनी बहिन उषस् के साथ-साथ उसका वर्णन द्यौः की पुत्री के रूप में किया गया है । रात्रि के स्वरूप की कल्पना में वह एकदम तमस्विनी नहीं हैं, परन्तु तारकित उज्ज्वल रात्रिरूप है । इन युगल देवियों की तुलना करते हुए ऋषि ने कहा है कि इनमें एक ताराओं से सुशोभित है तो दूसरी सूर्य की आभा से' (पृ० ९१) यह कथन भी निःसार है, क्योंकि वक्ता को प्रकरण का अभिप्राय ही ठीक से समझ में नहीं आया है । सभी सूक्तों और वेदों से जितनी बात कही जाती है, उतनी बात एक सावित्री, गायत्री मन्त्र से कह दी जाती है और उतनी ही प्रणव, ओंकार से भी । इसी तरह से एक ही अदिति मन्त्र से अखण्ड, चिद्रूपा भगवती की सर्वात्मकता का प्रतिपादन हो जाता है । देवी-सूक्त में भी केवल सामान्य रात्रि का वर्णन नहीं । इसोलिये इस सूक्त की भूमिका में सायणाचार्य ने कहा है—'अहम्' इत्यादि आठ ऋचाओं वाला यह तेरहवाँ सूक्त है । इसमें अम्भृण महर्षि की वाक् नाम की दुहिता ने अपनी ही स्तुति की है, अतः वही इसकी ऋषि है । सत्, चित्, सुखात्मक, सर्वगत परमात्मा इसके देवता हैं । उस परमात्मा से तादात्म्य का अनुभव करने वाली इस सारे जगत् के रूप में और सबके अधिष्ठान के रूप में मैं ही सर्वत्र विद्यमान हूँ, इस तरह से वह वाक् अपनी ही स्तुति करती है । इस सूक्त के द्वितीय मन्त्र का जगती तथा बाकी मन्त्रों का छन्द त्रिष्टुप् है । 'अहं रुद्रेभिः०' इस मन्त्र का अर्थ यह है—इस सूक्त की द्रष्ट्री अम्भृण महर्षि की पुत्री मैं वाक् इस जगत् के कारणभूत ब्रह्म के स्वरूप में अवस्थित होकर एकादश रुद्रों के साथ विचरण करती हूँ । यहाँ पर इत्थंभाव में तृतीया है, अर्थात् मैं एकादश रुद्र बनकर विचरण करती हूँ । इसी तरह 'वसुभिश्चरामि' इत्यादि स्थलों पर भी उस-उस देवता का स्वरूप धारण कर मैं ही विचरण

तथा मित्रावरुणा मित्रं च वरुणं च 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति द्वितीयाया आकारः। उभा उभौ अहमेव ब्रह्मीभूता विभर्मि धारयामि। इन्द्राग्नी अपि अहमेव धारयामि। उभा उभौ अश्विनौ अपि अहमेव धारयामि। मयि हि सर्वं जगत् शुक्तौ रजतमिवाध्यस्तं सद् दृश्यते। माया च जगदाकारेण विवर्तते। तादृश्या मायाया आधारत्वेन असङ्गस्यापि ब्रह्मण उक्तस्य सर्वस्योत्पत्तिः। सर्वत्रैव वेदेषु पूर्वं कर्मकाण्डस्य विस्तरेण वर्णनं तदनन्तरं चित्तशुद्धौ समासेनोपासनादिवर्णनम्, ततोऽपि विक्षेपनिवृत्तौ अतिसंक्षेपेण ज्ञानकाण्डस्य वर्णनं दृश्यते। यजुर्वेदेऽप्यन्तिमेनाध्यायेन ईशावास्यमित्यादिना परमतत्त्वं वर्णितम्। तथैवान्तिमे दशमे मण्डले नासदीयसूक्तरात्रिसूक्तादिभिः परमतत्त्वं निरूपितम्। दुर्भाग्यहताः पाश्चात्यास्तु दशमं मण्डलं प्रक्षिप्तमर्वाचीनं वा मन्यन्ते। पूर्वतनैर्बहुभिः सूक्ते रुद्रा वसव आदित्या विश्वेदेवा मित्रावरुणौ उभावश्विनौ इन्द्राग्नी च वर्णिताः। ब्रह्मात्मिका रात्रिस्तु सर्वात्मभूता सर्वेषामुत्पादयित्री स्फूर्तिदात्री सर्वैरपि च तत्तत्सूक्तैः संस्तुता भवति। नहि रात्रिसामान्यस्य तद्रूपत्वं सम्भवति। एवमेवोत्तरत्र मन्त्रेषु आहन्तव्यस्याभिषोतव्यस्य सोमस्य दिव्यस्य चन्द्रात्मकस्य सोमस्य त्वष्टुः पूष्णो भगस्य धारयित्वेन रात्रिः स्तूयते। तस्या एव हविर्दातुः सोमाभिषवकर्तुर्यजमानस्य फलदातृत्वमुक्तम्। नहि परमेश्वरादन्यः फलप्रदाता सम्भवति, 'फलमत उपपत्तेः' (३।२।३२) इति ब्रह्मसूत्रे तथा साधितत्वात्।

'अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्। तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥' (ऋ० सं० १०।१२५।३)। अहं राष्ट्री ईश्वरी सर्वस्य जगतः, तथा धनानां संगमनी गमयित्री कर्मोपासनादिनिष्ठानां चिकितुषी यत्साक्षात्कर्तव्यं ब्रह्म तज्ज्ञातवती अत एव यज्ञियानां यज्ञार्हाणां मुख्या तां मां भूरिस्थात्रां बहुभावेन प्रपञ्चात्मनाऽवतिष्ठमानां भूरि भूरीणि बहूनि भूतजातानि आवेशयन्तीं जीवभावेनात्मानं

करती हूँ, ऐसा अर्थ करना चाहिये। तथा मित्र और वरुण इन दोनों को भी मैं ही ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित होकर पालती हूँ। 'मित्रावरुण' यहां पर 'मित्र और वरुण' इस द्वन्द्व समास के होने पर 'सुपां सुलुक्' इत्यादि पाणिनि सूत्र से आकार हो जाता है। इन्द्र और अग्नि का पालन मैं ही करती हूँ। दोनों अश्विनीकुमारों की भी रखवाली मैं ही करती हूँ। मुझ में ही यह सारा जगत् उसी तरह से अध्यस्त दिखाई पड़ता है, जैसे कि शुक्ति में रजत का आभास होता है। माया ही जगत् के रूप में बदलती है। यद्यपि ब्रह्म असंग है, किन्तु जब वह इस तरह को माया का आधार बनता है, तभी इस पूरे जगत् की सृष्टि होती है। वेद में सर्वत्र पहले कर्मकाण्ड का विस्तार से वर्णन मिलता है। उससे चित्त की शुद्धि हो जाने पर संक्षेप में उपासना की विधि बताई जाती है और इससे भी जब चित्त के विक्षेप की निवृत्ति हो जाती है, तो अतिसंक्षेप में ज्ञानकाण्ड का वर्णन मिलता है। यजुर्वेद में भी अन्तिम अध्याय में ईशावास्य उपनिषद् के द्वारा परम तत्त्व का वर्णन मिलता है। उसी तरह से ऋग्वेद के अन्तिम दशम मंडल में नासदीय सूक्त, रात्रिसूक्त प्रभृति में परमतत्त्व का निरूपण मिलता है। यह पाश्चात्य विद्वानों के लिये दुर्भाग्य की बात है कि वे इस दशम मंडल को प्रक्षिप्त तथा अर्वाचीन रचना मानते हैं। इससे पहले विद्यमान अनेकों सूक्तों में रुद्र, वसु, आदित्य, विश्वेदेव मित्रावरुण, अश्विनीकुमार युगल और इन्द्राग्नी का वर्णन किया गया है। ब्रह्मात्मिका रात्रि इन सब की आत्मा है, उसी से इन सबकी उत्पत्ति होती है और सबको स्फूर्ति मिलती है। अतः इन सभी सूक्तों से इसकी स्तुति की जा सकती है। सामान्य रात्रि का यह स्वरूप नहीं हो सकता। इसी तरह से आगे के मन्त्रों में अभिषवणीय (जिसका रस निकालना है) सोम, दिव्य चन्द्रमात्मक सोम, त्वष्टा, पूषा और भग देवताओं की धारयित्री के रूप में रात्रि की स्तुति की गई है और यह रात्रि ही हवि को अर्पित करने वाले तथा सोम का रस निकाल कर उसको अर्पित करने वाले यजमान को फल भी देती है, ऐसा वर्णन किया गया है। परमेश्वर के सिवाय अन्य किसी में फलदान की सामर्थ्य नहीं है। 'फलमत उपपत्तेः' इस बादरायण सूत्र में इसको सिद्ध किया गया है।

'अहं राष्ट्री०' इस द्वितीय मन्त्र अर्थ है—'मैं सारे जगत् की स्वामिनी हूँ तथा मैं उनको धन की प्राप्ति कराने वाली हूँ, जो कि कर्म और उपासना में लगे हुए हैं। मुझे साक्षात्करणीय ब्रह्म का भी ज्ञान है। इसीलिये यज्ञीय विधि-विधान में मेरी ही प्रमुखता है। इस तरह से नाना स्वरूपों में प्रपंचात्मना विद्यमान होकर जब मैं सभी प्राणियों में जीवभाव से प्रवेश करती हूँ, तो मुझे अनेक व्यक्ति देवता के रूप में पूजते हैं। इस तरह से जब मैं ही इन सारे परिदृश्यमान रूपों में अवस्थित हूँ, तो अन्य देवगण जो

प्रवेशयित्रीं मां पुरुत्रा बहुषु व्यदधुः देवा विदधति कुर्वन्ति। उक्तरूपेण वैश्वरूप्येणावस्थानाद् यद् यत् कुर्वन्ति देवा मामेव कुर्वन्ति। नहि तादृश्या ब्रह्मरूपाया रात्रिदेवताया महत्त्वपूर्णं स्थानं नास्ति।

'मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्। अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुतश्रद्धिवं ते वदामि ॥' योऽन्नमत्ति स भोक्तृशक्तिरूपया मयैवात्ति, यो विपश्यति यश्च प्राणिति सोऽपि मयैव। यश्चोक्तं शृणोति सोऽपि मयैव 'येनेक्षते शृणोतीति जिघ्रति व्याकरोति च। स्वाद्वस्वादू विजानाति' इति काठकश्रुतेः। ईदृशीमन्तर्यामिरूपेणावस्थितां येन जानन्ति ते अमन्तव एव अजानन्तस्ते उपक्षियन्ति उपक्षीणा भवन्ति। हे श्रुत विश्रुत साधक, श्रुधि शृणु। श्रद्धिवं श्रद्धिः श्रद्धा तया युक्तं श्रद्धया लभ्यं ब्रह्मात्मकं वस्तु तुभ्यं वदामि अहमेव।

'अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः। यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥' अहं स्वयमेव ब्रह्मात्मकं तत्त्वं वदामि। कीदृशं तत्त्वम्? देवेभिर्देवैरिन्द्रादिभिर्जुष्टम्, उतापि मानषेभिर्मनुष्यैरपि जुष्टं सेवितम्। ईदृग्वस्तुरूपाहं यं कामये रक्षितुं वाञ्छामि तं पुरुषमुग्रं सर्वेभ्योऽप्यधिकं करोमि। तमेव ब्रह्माणं स्रष्टारं कृणोमि करोमि। तमृषिमतीन्द्रियार्थदर्शिनं करोमि। तमेव सुमेधां शोभनप्रज्ञं करोमि, 'एष उ साधु कर्म कारयति तं यमेभ्य उन्निनीषते' इति श्रुतेः।

'अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ। अहं जनाय समदं कृणोमि…'। अहं पुरा त्रिपुरविजयसमये रुद्राय रुद्रस्य महादेवस्य धनुः चापं आतनोमि। किमर्थमिति चेत्, ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणानां द्वेष्टारं शरवे शरुं हिंसकं त्रिपुरवासिनमसुरम् हन्तवै हन्तुं हिंसितुम्, 'तुमर्थे सेसेन०' (पा० सू० ३।४।९) इति वैप्रत्ययः। अहमेव समदं समानं माद्यन्त्यस्मिन्निति समत् संग्रामः, तं स्तोतृजनरक्षार्थं शत्रुभिः शुम्भनिशुम्भमहिषासुरादिभिः संग्रामं करोमि। तथा द्यावापृथिवी चान्तर्यामितया अध्याविवेश प्रविष्टवती। नह्येतादृश्या रात्रिसूक्तप्रतिपाद्याया ब्रह्मात्मिकाया भगवत्या अनितरसाधारणं रूपमन्यदेवेषु सम्भाव्यते।

कुछ करते हैं, वह मेरी सहायता से ही करते हैं। इस तरह की ब्रह्मस्वरूपिणी रात्रि देवता का महत्त्वपूर्ण स्थान न हो, ऐसा कैसे हो सकता है?

'मया सो०' व्यक्ति जो अन्न खाता है, उसको वह मेरी भोक्तृ शक्ति की सहायता से ही पचा पाता है। वह जो प्राणियों को देखता है, उसमें भी मेरी सहायता रहती है। जो सुनता है, उसमें भी मैं ही सहायक हूँ। काठक श्रुति में भी कहा गया है कि 'जिससे देखता है, सुनता है, सूंघता है, विवेचन करता है और स्वाद तथा अस्वाद को जानता है'। इस तरह से अन्तर्यामी स्वरूप में अवस्थित मुझ वाणी को जो नहीं जानते, वे कुछ भी नहीं जानते। अपने इस अज्ञान के कारण वे नष्ट हो जाते हैं। हे विश्रुत साधक, तुम सुनो, श्रद्धा से संयुक्त, श्रद्धापूर्वक उपासना करने से प्राप्य, ब्रह्मात्मक वस्तु का मैं तुमको उपदेश करती हूँ'।

'अहमेव०'। मैं स्वयं ही ब्रह्मात्मक तत्व का उपदेश करती हूँ। यह तत्त्व कैसा है? इन्द्र प्रभृति देवगण और मनुष्य भी इसी तत्त्व की उपासना करते हैं। इस स्वरूप में अवस्थित होकर मैं जिसकी रक्षा करना चाहती हूँ, उसको मैं सर्वोच्च स्थान पर बिठा देती हूँ। उसको मैं सृष्टिकर्ता ब्रह्मा बना देती हूँ, अतीन्द्रिय अर्थ का द्रष्टा ऋषि बना देती हूँ। उसको मैं भली बुद्धि प्रदान करती हूँ। श्रुति में कहा भी गया है कि 'परमेश्वर जिसको यम की बाधा से उठा लेना चाहता है, उसको भले कार्यों में लगाता है।'

'अहं रुद्राय०'। मैं पहले त्रिपुरासुर पर विजय प्राप्त करते समय रुद्र महादेव के धनुष को तानती हूँ, जिससे कि ब्राह्मणों के द्वेष्टा हिंसक स्वभाव के त्रिपुरासुर का वध किया जा सके। 'हन्तवै' यहाँ पर 'तुमर्थे सेसेन०' इस पाणिनि सूत्र से 'तवै' प्रत्यय होता है। मैं ही स्तुति करने वाले मनुष्यों की रक्षा करने के लिये मदमत्त शुम्भ, निशुम्भ, महिषासुर प्रभृति दैत्यों के साथ युद्ध करती हूँ। तथा मैं ही अन्तर्यामी के रूप में आकाश और पृथ्वी में प्रवेश करती हूँ। रात्रिसूक्त की प्रतिपाद्य ब्रह्मात्मिका भगवती का यह अत्यन्त दुर्लभ माहात्म्य किसी अन्य देवता में नहीं मिल पाता।

'अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे । ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ।।' अहमेव पितरं दिवं सुवे प्रसुवे । 'आत्मन आकाशः सम्भूतः'(तै० आ० ८।१)इति श्रुतेः । कुत्रेति तदाह— अस्य परमात्मनः मूर्धन् मूर्धन्युपरिभागे कारणभूते । तस्मिन् हि वियदादिकार्यजातं तन्तुषु पट इव वर्तते । मम च योनिः कारणं समुद्रे समुद्द्रवन्त्यस्माद् भूतजातानीति समुद्रः परमात्मा तस्मिन् । अप्सु व्यापनशीलासु चित्तवृत्तिषु अन्तर्मध्ये यद् ब्रह्म चैतन्यं तन्मम कारणम्, समष्टिचैतन्यस्यैव प्रत्यक्चैतन्यरूपेणावस्थानात् । यत ईदृग्भूता अहमस्मि ततो देवो विश्वा विश्वानि सर्वाणि भूतजातानि अनुप्रविश्य वितिष्ठे विविधं व्याप्य तिष्ठामि । उत अपि अमू द्यां उपलक्षणमेतत् । एतदुपलक्षितं कृत्स्नं विकारजातं वर्ष्मणा कारणभूतेन मायात्मकेन मदीयेन देहेनोपस्पृशामि । यद्वा अस्य भूलोकस्य मूर्धन् मूर्धन्युपरि अहं पितरमाकाशं सुवे समुद्रे जलधावप्सूदकेष्वन्तर्मध्ये मम योनिः करणभूतोऽम्भृणाख्य ऋषिर्वर्तते । यद्वा समुद्रेऽन्तरिक्षेऽप्स्वम्मयेषु देवशरीरेषु मम कारणभूतं चैतन्यं ब्रह्म वर्तते । ततोऽहं कारणात्मिका सती सर्वाणि भुवनानि व्याप्नोमि ।

'अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा । परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना संबभूव ।।' विश्वा विश्वानि भूतानि कार्याणि आरभमाणा कारणरूपेणोत्पादयन्ती अहमेव परेणानधिष्ठिता स्वयमेव प्रवामि वात इव । उक्तं सर्वं निगमयति—दिवः परः परस्तात् । द्यावापृथिव्योरुपलक्षणम् । सर्वस्माद्विकारजातात् परस्ताद्वर्तमानाऽसङ्गोदासीनकूटस्थब्रह्मचैतन्यरूपाहं महिना महिम्ना एतावती सम्बभूव । सर्वजगदात्मनाहं सम्भूतेत्यर्थः ।

रात्रिसूक्तेऽपि रात्र्यधिष्ठात्री मायाविशिष्टा चिच्छक्तिरेव स्तूयते । 'रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः । विश्वा अधि श्रियोऽधित ।।' (ऋ० सं० १०।१२७।१)। आयती आगच्छन्ती अक्षभिः अक्षिस्थानीयैः प्रकाशमाननक्षत्रैः, यद्वा अक्षभिरञ्जकैस्तेजोभिः पुरुत्रा बहुषु देवी देवनशीला 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः' (पा० सू० ५।४।५६) इति पुरुशब्दात् त्राप्रत्ययः । रात्री इयं रात्रिदेवता व्यख्यद्' विशेषेण पश्यति विश्वाः सर्वाः श्रियः शोभा अधित ।

'अहं सुवे०' । मैं ही सबके पिता आकाश को उत्पन्न करती हूं । 'परमात्मा से आकाश की उत्पत्ति होती है' ऐसा अन्य श्रुति में भी कहा गया है । कहां उत्पन्न करता हूं ? इस परमात्मा के मूर्धस्थानीय कारणभूत भाग में, क्योंकि उसी परमात्मा में यह सारा आकाशादि प्रपंच विद्यमान है, जैसा कि तंतुओं में पट विद्यमान है । वह परमात्मा मेरा भी कारण है । समुद्र शब्द से यहां परमात्मा अभिप्रेत है, क्योंकि उसी में से यह सारा जगत् निकलता है । अप् का अर्थ है व्यापनशील चित्तवृत्तियां । इन वृत्तियों में ही ब्रह्म चैतन्य की अवस्थिति रहती है, जो कि मेरी भी जननी हैं । समष्टि चैतन्य ही प्रत्यक् चैतन्य के रूप में भी अवस्थित रहता है, क्योंकि मैं इस तरह की हूं, इसीलिये मैं सभी प्राणियों में प्रविष्ट होकर देवस्वरूप में अवस्थित रहती हूं । मैं इस आकाश को ही नहीं, किन्तु इस समस्त विकारात्मक प्रपंच को अपने मायात्मक शरीर से धारण करती हूं । अथवा इस भूलोक से ऊपर मैं इसके पिता आकाश की सृष्टि करती हूं । समुद्र की ओर दौड़ रहे जल के मध्य में मेरे जनक अम्भृण नामक ऋषि रहते हैं । अथवा समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष में स्थित जलमय देवशरीर में मेरा कारणभूत ब्रह्मचैतन्य निवास करता है । तब मैं कारणात्मिका बन कर सारे भुवनों में व्याप्त हो जाती हूं ।

'अहमेव वात इव०' जगत् के सभी कार्यों को मैं ही उत्पन्न करती हूं । मैं ही जगत् की कारणात्मिका प्रकृति हूं । मैं स्वयं ही बिना किसी की सहायता से पवन की तरह प्रवाहित होती रहती हूं । अब उपसंहार करते समय ऊपर की सारी बातों को संक्षेप में इस तरह से कहा गया है—इस द्यावापृथिवी से, विकारात्मक जगत् से बहुत दूर रहनेवाली असंग, उदासीन, कूटस्थ, ब्रह्म, चैतन्य स्वरूपिणी मैं अपनी ही महिमा से जगत् के रूप में उत्पन्न होती हूं ।

रात्रिसूक्त में भी रात्रि की अधिष्ठात्री मायाविशिष्ट चिच्छक्ति की ही स्तुति की गई है । जैसे कि 'रात्री व्यख्यदायती०' इस मन्त्र में वर्णित है कि प्रकाशमान नक्षत्रों के साथ आती हुई अथवा अपने रमणीय तेज से अनेक प्रकार से देदीप्यमान देवी रात्रि विशेष रूप से सबकी देख भाल करती हुई शोभा को प्राप्त करती है । पुरुत्रा पद में 'देवमनुष्य०' इत्यादि पाणिनि सूत्र से पुरु शब्द से त्राप्रत्यय होता है ।

यदपि—'देवतानां पत्नीरूपाणां देवीनां तु ततोऽपि गौणं स्थानम्' (पृ० ९३) इति, तदपि न, ब्रह्म-विष्णु-शिवपत्नीनां भारती-लक्ष्मी-गौरीणां श्रीसूक्तादौ वर्णनात्। श्रीसूक्तं तु परिशिष्टे विद्यते। शाखान्तरीयपाठ एव खिलपरिशिष्टादिशब्दैरुच्यते। युगलदेवतावर्णनं तु कर्माङ्गतयैव भवति। यथा 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यत्र मिलितयोरेव देवतात्वम्। एवमेव 'अश्विनौ', इन्द्राग्नी' इत्यादिषु द्रष्टव्यम्। तथैव द्वादशादित्या एकादश रुद्रा अष्टौ वसव इत्यादिसमूहानामेव देवतात्वात् तथैव तेषां स्तवः। वसवस्तु पृथिव्यादीनामधिष्ठातारः। एवमेव विश्वेदेवादिसम्बन्धेऽपि पाश्चात्त्यानां भ्रमः। तथैव ऋभवोऽपि देवविशेषाः। अप्सरसश्च उर्वश्यादयः सूक्तेषु वर्ण्यन्ते। तेषां स्वरूपाणि पाश्चात्त्यैर्विकृतरूपेण वर्ण्यन्ते। ब्राह्मणेतिहासपुराणव्याख्यानरीत्या तेषां रूपमधिगन्तव्यम्।

यदुक्तम्—'ऋग्वेदेऽतिप्रारम्भिकयुगादेव भारतीयजीवनेषूपयोगितावशाद् गवां महत्तासीत्। उषःकालीनेषु किरणेषु मेघेषु गोपदानि प्रयुज्यन्ते। पृष्णिरूपा पर्जन्यदेवता गोरूपा, सा च मरुतां जननी। प्रचरवृष्टिमतां मेघानामुपरि भारतीया समृद्धिर्निर्भरा आसीत्, अथर्ववेदे सर्वकामपूरका मेघा गोपदेन व्यपदिष्टाः। तत एव दोग्ध्री गौः परिकल्पिता। उर्वी चापि गोरूपोक्ता। गौश्चादितिरूपेणोक्ता। ऋग्वेदे अघ्नियाशब्देन गौरुक्ता। तन्नाम्नापि तस्या अवध्यता बोध्यते। अवेस्तारीत्यापि सा पूज्या। अथर्ववेदे सर्वत्र गोपूजा स्वीकृता। शतपथे गोमांसभक्षणेन महापातकमुक्तम्। अद्ययावत् सा श्रद्धा उत्तरोत्तरं दृढा भवति' (पृ० ९७-९८) इति, तत्सत्यम्, तथापि नोपयोगितामात्रेण गौः पूज्यते, किन्तु गवां देवतारूपत्वमपि विज्ञायते। वैदिकानां समेषामेव कर्मणां गोदुग्धदधिघृतपञ्चगव्यादीनामुपयोगात्, गोदानस्य लोकोत्तरमाहात्म्याच्च सर्वत उत्कर्षः सिद्धः।

'देवताओं की पत्नी रूप देवियों का और भी गौण स्थान है' (पृ० ९३)। यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु और महेश की क्रमशः भारती, लक्ष्मी और गौरी नाम की पत्नियों का वर्णन श्रीसूक्त प्रभृति में विशिष्ट रूप में मिलता है। श्रीसूक्त ऋग्वेद के परिशिष्ट में विद्यमान है। दूसरी शाखा के पाठों का ग्रहण खिल अथवा परिशिष्ट के नाम से किया जाता है। युगल देवता का वर्णन भी कर्मांग के लिये आवश्यक होता है। जैसे कि 'अग्नोषोमीयं पशुमालभेत' यहाँ पर अग्नि और सोम दोनों मिलकर ही देवता माने जाते हैं। इसी तरह 'अश्विनौ', 'इन्द्राग्नी' इत्यादि में भी समझना चाहिये। इसी तरह से बारह आदित्य, एकादश रुद्र, आठ वसु ये सब मिलकर ही देवता होते हैं, अतः उनकी एक साथ स्तुति की जाती है। आठ वसु पृथिवी प्रभृति के अधिष्ठाता माने जाते हैं। इसी तरह से विश्वेदेव प्रभृति के सम्बन्ध में भी पाश्चात्य विद्वान् भ्रम में ही पड़े हुए हैं। इसी तरह से 'ऋभुगण' भी देवता विशेष ही हैं। उर्वशी प्रभृति अप्सराएं सूक्तों में वर्णित हैं। उनका स्वरूप पाश्चात्य विद्वान् विकृत रूप में उपस्थित करते हैं। ब्राह्मण, इतिहास, पुराण इत्यादि में ही वेद की व्याख्यानपद्धति के आधार पर इनका सही स्वरूप जाना जा सकता है।

'ऋग्वेद में अति प्रारम्भिक युग से ही गाय की महत्ता अपनी सर्वोत्कृष्ट उपयोगिता के कारण सिद्ध थी। उस काल में किरणों तथा मेघों को गोरूप माना है। पृश्नि नामक पर्जन्य देवता गोरूप है और वह मरुत् नामक देवों की जननी है। प्रचुर वर्षा करने वाले मेघों पर ही भारत की समृद्धि निर्भर थी। मेघों को अथर्ववेद में स्वर्ग में सफल कामना को पूर्ण करने वाली गौ कहा है। वास्तव में यही धारणा वेदोत्तर काल में प्रचलित कामदुघी की पुरोगामिनी है। ऋग्वेद के ऋषियों ने बहुधा उर्वी को भी गोरूप माना है। वहाँ पर गौ का अदिति के रूप में भी वर्णन है। ऋग्वेद में गौ को बार-बार 'अघ्निया' कहा है। यह नाम भी उसकी अवध्यता को ही प्रमाणित करता है। अवेस्ता से भी यही प्रमाणित होता है कि गौ के प्रति पूज्यभाव हिन्द-ईरानियन युग में भी प्रचलित था। अथर्ववेद में तो गौपूजा पूर्ण रूप से स्वीकृत हो चुकी थी और शतपथ ब्राह्मण में गोमांस-भक्षण को महापातक माना गया है। गौ के प्रति यह प्रीतिभाव न केवल आज तक चला आ रहा है, अपि तु कालक्रम से वह अत्यन्त दृढ़ और रूढ हो चुका है' (पृ० ९७-९८)। यह कथन एकदम सही है, किन्तु गौ की पूजा केवल उपयोगिता के आधार पर न होकर उनमें देवता-बुद्धि होने के नाते की जाती है। सभी वैदिक कर्म गाय के दूध, दही, घृत, पंचगव्य आदि की सहायता से निष्पन्न होते हैं। गोदान का लोकोत्तर माहात्म्य शास्त्रों में वर्णित है। इससे भी गाय का सर्वाधिक उत्कर्ष सिद्ध होता है।

यत्तूक्तम्—'अस्मिन् भारतवर्षेऽत्रत्यैरादिवासिभिर्नागाः पूज्यन्ते स्म। तत एवार्यैरपि नागपूजा गृहीता' (पृ० ९८) इति, तदपि तुच्छम्, आर्याणामन्यत आगमनासिद्धेरुक्तत्वात्। वेदानां च कालभेदोऽपि निराकृत एव। अथर्ववेदे नागानां महत्त्ववर्णनान्नागपूजापि वैदिक्येव।

यदुक्तम्—'अतिप्राचीनयुगे मानवैः स्वरचितेष्वपि वस्तुषूपयोगितावशाद्देवत्वं प्रदत्तम्। यथा यज्ञियोपकरणेषु देवत्वकल्पना। तृतीयमण्डलस्याष्टमे सूक्ते यूपो वनाधिपतित्वेन सम्बोधितः। दशमे सोमरसनिश्च्योतनाय ग्राव्णां देवत्वं कल्पितम्। केषुचिन्मन्त्रेषु हलस्यापि देवत्वमुक्तम्। एकस्मिन् समग्रे सूक्ते शस्त्रास्त्राणि स्तुतानि। अथर्ववेदे पटहगुणगानमपि दृश्यते' (पृ० १००) इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदरहस्यानवगमात्। यथा प्रमाणानामज्ञातज्ञापकत्वेनैव प्रामाण्यम्, तथैव प्रत्यक्षानुमानादिभिरज्ञातार्थज्ञापकत्वेनैव वेदानां प्रामाण्यमभ्युपेयते वैदिकैः। तेनैव तत्तदभिमानिदेवानां सम्बोधनेन तत्र संस्तवो दृश्यते। तत एव दृषद्-मुसल-व्रीहि-यव-पुरोडाशादीनां सम्बोधनं जीवदानं पूजनं च तत्र तत्र वेदेषु दृश्यते, जडमात्रस्य चेतनाधिष्ठितत्वेन सर्वत्र देवत्वसम्भवात्।

असुरशब्दसम्बन्धे तु पूर्वमेवोक्तम्। बलप्राणवत्त्वेन निगूढशक्तिमत्त्वेन चेन्द्रवरुणादयोऽप्यसुरा उच्यन्ते। असुषु प्राणेषु तदुपलक्षितेषु देहादिषु, अशोभनेऽनात्मनि वा रमणाच्च दानवादिष्वसुरशब्दः प्रयुज्यते। यदपि—'गगनचारिषु दानवेष्वेको वर्गः पणिनाम्नोच्यते। सोऽपीन्द्रस्य शत्रुरासीत्। पणिशब्देन कृपण उच्यते। तस्मिन्नेवार्थे दानवशब्दोऽपि' (पृ० १०१) इति, तदपि तुच्छम्, पणिशब्दस्य कृपणार्थत्वे प्रमाणाभावात्। 'पण व्यवहारे' इति प्रयोगात्। क्रयविक्रयादिव्यवहारपरा वञ्चका लुण्ठका एव धर्मविमुखाः पणय उच्यन्ते। दानवास्तु दनोरपत्यान्यु-

'भारतवर्ष में यहाँ के आदिवासी नागों की पूजा करते थे। उन्हीं से आर्यों ने नागपूजा सीख ली' (पृ० ९८) यह कथन भी गलत है, क्योंकि आर्य कहीं बाहर से यहाँ आये, यह बात किसी तरह से भी सिद्ध नहीं की जा सकती, इस बात को हम पहले ही कह चुके हैं। वेदों के प्रति कालभेद की दृष्टि का भी हम खण्डन कर चुके हैं। अथर्ववेद में नागों के महत्त्व का वर्णन मिलता है, अतः नागपूजा भी वेदसम्मत ही है।

'अतिप्राचीन युग की एक विचित्र धार्मिक धारणा यह है कि मानव ने स्वरचित वस्तुओं को भी उपयोगिता के कारण पूज्य-भाव प्रदान किया है और उनमें देवत्व की कल्पना की है। ऐसी वस्तुओं में मुख्यतः यज्ञिय उपकरण हैं। उदाहरणार्थ, तृतीय मण्डल के अष्टम सूक्त में यूप को वनाधिपति कह कर सम्बोधित किया है। दशम मण्डल के तीन सूक्तों में सोम रस को निकालने वाले पाषाणों की देवरूप में गणना की है। कुछ मन्त्रों में हल को भी देवरूप कहा है। एक समग्र सूक्त में युद्ध के विविध शस्त्रास्त्रों की स्तुति है। अथर्ववेद के एक सूक्त में पटह का भी गुणगान किया है' (पृ० १००)। वेदों का गूढ़ अभिप्राय न समझ पाने के कारण ऐसा कहा गया है। जैसे प्रमाणों की प्रमाणता इसी में है कि वह अज्ञात का ज्ञापन करे, इसी तरह से वैदिक गण वेदों का प्रामाण्य इसी लिये मानते हैं कि वेद से प्रत्यक्ष, अनुमान प्रभृति प्रमाणों से अज्ञात वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है। इसीलिये उस-उस वस्तु के अभिमानी देवता की स्तुति वहाँ मिलती है। इन अभिमानी देवताओं को उपलक्षित करके ही दृषत्, मुसल, व्रीहि, यव, पुरोडाश प्रभृति द्रव्यों को सम्बोधित कर इनमें प्राणप्रतिष्ठा, पूजन आदि की विधि वेद में बताई गई है। इस जगत् में जडमात्र चेतन से अधिष्ठित है, अतः सर्वत्र देवता में पूज्य-बुद्धि रखना उचित ही है।

असुर शब्द के सम्बन्ध में हमने पहले ही बताया है कि बल और प्राणवत्ता के कारण तथा अपनी निगूढ शक्तियों के आधार पर इन्द्र, वरुण प्रभृति देवता भी असुर कहे जाते हैं और प्राण अर्थात् प्राण से उपलक्षित होने वाले देह, इन्द्रिय प्रभृति में अथवा अशोभन कार्य या अनात्मा में मन लगाने से दानव भी असुर कहलाते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना कि—'गगनचारी दानवों का एक वर्ग पणि नामक दानवों का है, जो कि इन्द्र के शत्रु हैं। पणि शब्द वस्तुतः कृपण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी अर्थ में दानव शब्द का भी प्रयोग होने लगा' (पृ० १०१), इसलिये गलत है कि पण शब्द कृपण के अर्थ में प्रयुक्त होता हो. इसमें कोई प्रमाण नहीं है। पण का प्रयोग व्यवहार के अर्थ में प्रयुक्त है। खरीद-बिक्री के काम में लगे हुए दूसरों को ठगने वाले धर्मविमुख लुटेरे ही पणि के

च्यन्ते । एवमेव वृत्र-बलि-शुष्णादिसम्बन्धिन्यो ब्राह्मणादिव्याख्या एवादरणीयाः । भूतपिशाचराक्षसादयस्तु विशिष्टशक्तयोऽपि भवन्ति, इत्यप्यन्यत्रोक्तमेव ।

यदपि—'ऋग्वेदे कतिपयसूक्तेषु मृत्युजन्मसम्बन्धी स्वल्पोल्लेखो दृश्यते । अन्तिममण्डले यमसूक्ते तूक्तं यदग्निः शरीरमेव दहति मृतस्यात्मा त्वमर एव । आत्मा देहात् पृथगेव । न केवलं मृत्योः पश्चात्, किन्तु समष्टिसुषुप्ता (प्रलये) वपि तत्सत्ता भवत्येव । ऋग्वेदे वान्यत्र वा वेदेषु पुनर्जन्मसङ्केतो नास्ति । यद्यपि बौद्धधर्मप्रादुर्भावात्पूर्वम् ईसवीपूर्वषष्ठ्यां शत्यां पुनर्जन्मसिद्धान्तो बद्धमूलतामुपगत आसीत् । ऋग्वेदस्यैकोंऽशो यत्रात्मनो जलं वनस्पतीन् वाभिलक्ष्य प्रमाणमुक्तम्, पुनर्जन्मसिद्धान्तस्य बीजं वक्तुं शक्यते' (पृ० १०२) इति, तदपि न सङ्गतम्, नासदीयसूक्तदेवीसूक्तादिषु प्रपञ्चातीतस्य प्रलयकालेष्वपि सत्त्वाभ्युपगमवर्णनात् । तथाहि—ऋग्वेदे दशममण्डले ५७ तमे सूक्ते पितर उपस्थेयाः—'आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे । ज्योक् च सूर्यं दृशे ।। पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः । जीवं व्रातं सचेमहि ।।' इत्यादिषु पुनर्जीवनप्राणादीन्द्रियसङ्घातदानप्रार्थना दृश्यते । ५८ तमे सूक्ते च—'यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम् । तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ।। इत्यत्र वैवस्वतं गतस्य मनसः चिरजीवनायावर्तनमुक्तम् । 'यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनो जगाम दूरगम्, यत्ते चतस्रः प्रदिशः, यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरगम् । तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे' इत्यादिभिः पुनर्जन्मप्रपञ्चनं दृश्यते । श्राद्धवर्णनं यजुर्वेदेऽथर्ववेदे च दृश्यते । पुनर्जन्मवर्णनं च स्पष्टमुक्तम् । तच्चेहैव ग्रन्थेऽन्यत्र स्फुटमेव ।

अत एव दार्शनिकतत्त्वप्रसङ्गे मैकडानलेनापि पितृसूक्ते प्रेतात्मानः सम्बोध्यन्त इत्यभिमतमेव । यथा—'प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः । उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यामि वरुणं च देवम् ।।' (ऋ० सं० १०।१४।७) । यत्र नः पूर्वे पुरातनाः पितरः पितामहादयः परेयुः पूर्वस्मिन् काले भवैः पूर्व्येभिः

नाम से प्रसिद्ध हैं । दानव तो दनु को पुत्रों को कहा जाता है । इसी तरह से वृत्र, बलि, शुष्ण प्रभृति शब्दों की ब्राह्मणादि ग्रंथों में वर्णित व्याख्या ही स्वीकार करनी चाहिये, मैकडानल की नहीं (पृ० १०१) । भूत, पिशाच, राक्षस प्रभृति भी विशिष्ट शक्तियों से सम्पन्न होते हैं, यह बात हमने अन्यत्र बताई है ।

'ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों में मृत्यु और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में बहुत थोड़ा सा उल्लेख मिलता है । ऋग्वेद में अन्तिम मण्डल के यमसूक्तों में कहा गया है कि अग्नि शरीरमात्र का दाह करती है, पर मृत की आत्मा तो अमर है । आत्मा शरीर से पृथक् है । इसका अस्तित्व केवल मृत्यु के पश्चात् ही नहीं, अपि तु सुषुप्ति अवस्था में भी माना गया है । ऋग्वेद में अथवा अन्य वेदों में कहीं भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त की ओर संकेत नहीं मिलता । यद्यपि बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के पूर्व, ईसापूर्व छठी शताब्दी में यह बद्धमूल हो गया था । ऋग्वेद का एक मात्र अंश, जहाँ आत्मा को जल अथवा वनस्पतियों की ओर प्रयाण करते हुए बताया गया है, पुनर्जन्म के सिद्धान्त का बीज कहा जा सकता है' (पृ० १०२) । यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि नासदीयसूक्त, देवीसूक्त प्रभृति में प्रपंचातीत ब्रह्म की प्रलय काल में भी सत्ता स्वीकार की गई है । इसी तरह से ऋग्वेद के दशम मण्डल के ५७ वें सूक्त में पितरों का उपस्थान किया जाता है । 'आ त एतु मनः', 'पुनर्नः पितरो' इत्यादि मन्त्रों में पुनः पुनः जीवन, प्राण, इन्द्रियसंघात को देने की प्रार्थना की गई है और ५८ वें सूक्त में 'यत्ते यमं वैवस्वतं' इस मन्त्र में वैवस्वत यम के पास गये मन के चिरकाल पर्यन्त जीवित रहने के लिये पुनः लौटने की प्रार्थना की गई । 'यत्ते दिवं', यत्ते चतस्रः' इत्यादि मन्त्रों में भी पुनर्जन्म का प्रपंच वर्णित है । यजुर्वेद और अथर्ववेद में श्राद्ध का वर्णन मिलता है । वहाँ पर पुनर्जन्म का भी स्पष्ट प्रतिपादन है । इस बात को हमने इसी ग्रंथ में अन्यत्र विस्तार से बताया है ।

इसीलिये ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले प्रकरण में (पृ० १०३) मैकडानल ने भी यह स्वीकार किया है कि पितृसूक्त में प्रेतात्माओं को संबोधित किया गया है । जैसा कि 'प्रेहि प्रेहि' इस मन्त्र में है । इसमें कहा गया है कि जहाँ पर हमारे पितामह प्रभृति पूर्वपुरुष अनादिकाल से प्रवृत्त मार्ग के द्वारा पहले गये हुए हैं, वहीं पर हे पिता, आप भी शीघ्र चले जाइये

अनादिकालप्रवृत्तैः पथिभिर्मार्गैः, हे मत्पितः, तत्स्थानं प्रेहि शीघ्रं गच्छ। गत्वा च स्वधयान्नेन मदन्तौ। मदन्तौ तृप्यन्तौ राजानौ उभौ यमं देवं वरुणं च पश्यामि पश्य। तथैव 'सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥' (ऋ० सं० १०।१४।८)। हे पितः, परमे व्योमन् स्वर्गाख्ये स्थाने स्वभूतैः पितृभिः सह सङ्गच्छस्व, इष्टापूर्तेन श्रौतस्मार्तकर्मफलेन च सङ्गच्छस्व। तत इष्टापूर्तैः सहागम्य अवद्यं पापं हित्वा अस्तं व्रियमाणाख्यं गृहमेहि। ततः सुवर्चाः सुवर्चसा शोभनदीप्तियुक्तेन तन्वा स्वशरीरेण सङ्गच्छस्व। तत्रैवानेकैर्मन्त्रैः परलोकसम्बन्धिनोऽनेके भावा वर्णिताः। तथैवाथर्ववेदेऽपि परलोके दण्डभोगस्थानानि वर्णितानि। राथप्रभृतयस्तु कुत्सितभावनया प्रेरितास्तत्सर्वमपलपन्ति। अत एव मैकडानलः स्वीकरोति—ऋग्वेदे पितृमार्गदेवमार्गौ वर्णितौ (पृ० १०४)।

पितॄणां प्रमुखो यमः प्रेतात्मनां शासको राजा त्रिभिः सूक्तैर्वर्णितः। 'अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अथो पितॄन् सुविदत्रां उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥' (ऋ० सं० १०।१४।१०), उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु। तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥' (ऋ० सं० १०।१४।१२) इत्यादिषु यमस्य श्वानौ दूतौ च प्रतिपादिताः। 'परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनु पस्पशानम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ॥' (ऋ० सं० १०।१४।१)। हे यजमान, त्वं राजानं पितॄणां स्वामिनं हविषा दुवस्य परिचर। कीदृशं तम्? प्रवतः प्रकृष्टकर्मवतां भूलोकवर्तिभोगसाधनं पुण्यमनुष्ठितवतः पुरुषान् महीः तत्तद्भोगोचितदेशविशेषान् अनुपरेयिवांसं क्रमेण मरणादूर्ध्वं प्रापितवन्तं तथा बहुभ्यः स्वर्गार्थिभ्यः पुण्यकृतामर्थे पन्थां स्वर्गस्योचितं मार्गम् अनुपस्पशानं आबाधमानं पापिन एव पुरुषान् स्वर्गमार्गबाधेन नरकं प्रापयति न तु पुण्यकृतः। वैवस्वतं सूर्यस्य पुत्रं जनानां पापिनां सङ्गमनं गन्तव्यस्थानरूपम्।

यदपि यमयमीसंवादे—'न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति। अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥' (ऋ०सं० १०।१०।८,१४)। यम्या प्रख्यातो यमः पुनराह—इह लोके देवानां सम्बन्धिनः

और वहाँ जाकर स्वधा रूपी अन्न से तृप्त हो रहे यम और वरुण दोनों देवताओं को देखिये। इसी तरह से 'संगच्छस्व पितृभिः' इस मन्त्र में कहा गया है कि हे पिता, उस परम आकाश में स्थित स्वर्गलोक में आप अपने पूर्व पुरुषों से मिलिये और इस जन्म के किये इष्टापूर्त श्रौत-स्मार्त कर्म का फल-भोग कीजिये। तब इष्टापूर्त के साथ आकर पाप को अलग छोड़कर अपने वरणीय गृह में प्रवेश कीजिये और सुन्दर कान्ति वाले शरीर से संयुक्त होइये। वहाँ पर इसी तरह के अन्य मन्त्रों से भी परलोक सम्बन्धी अनेक बातों का वर्णन किया गया है। इसी तरह से अथर्ववेद में भी परलोक में इस जन्म में किये गये अपराधों का दण्ड भुगतने के लिये बने हुए स्थानों का वर्णन है। कुत्सित भावना से प्रेरित होकर ही रॉथ प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् इस तरह की बातों का अपलाप करते रहते हैं। किन्तु मैकडानल को यह स्वीकार करना पड़ा है कि ऋग्वेद में पितृमार्ग और देवमार्ग का वर्णन है (पृ० १०४)।

पितरों में प्रमुख यम हैं, जो प्रेतात्माओं पर शासन करते हैं। इनके नाम पर ऋग्वेद में तीन सूक्त हैं। 'अति द्रव सारमेयौ', 'उरूणसावसुतृपा' इत्यादि मन्त्रों में यम के दूतों का और कुत्तों का वर्णन मिलता है। 'परेयिवांसं' इत्यादि मन्त्र में कहा गया है कि हे यजमान, तुम पितृगणों के स्वामी यम की हविप्रदान द्वारा परिचर्या करो। वह यम कैसा है? प्रकृष्ट कर्म वाले अर्थात् भूलोकवर्ती भोग के साधनभूत पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करने वाले पुरुषों को वह यम मृत्यु के उपरान्त क्रम से उन उन भोगों के लिये उचित रूप से निर्धारित स्थानों में पहुंचा देता है तथा स्वर्ग चाहने वाले अनेक पुण्यवान् पुरुषों को वह स्वर्ग का उचित मार्ग दिखाता है। वह पापी पुरुषों को ही स्वर्ग जाने वाले मार्ग में रोकता है, पुण्यवानों को नहीं। वह पापियों को नरक में पहुंचा देता है, जिसको कि सूर्यपुत्र वैवस्वत ने पापियों के गन्तव्य स्थान के रूप में ही निर्मित किया है।

यमयमीसंवाद में 'न तिष्ठन्ति' इस मन्त्र में यम यमी से कहता है कि इस लोक में देवताओं के चर, जासूस रात और दिन के रूप में सदा घूमते रहते हैं और वे सभी प्राणियों के शुभ और अशुभ कर्मों को देखते रहते हैं। वे बिना पलक झपकाये प्राणी

थे स्पशः अहोरात्रादयश्चरन्ति सर्वेषां शुभाशुभलक्षणकर्मप्रत्यवेक्षणरहिता न तिष्ठन्ति न निमिषन्ति । शुभमशुभं वा यः करोति तं निरीक्षन्ते । हे आहनः मामपहन्त्रि, असह्यभाषणेन दुःखयित्रि, त्वं मत् मत्तः अन्येन त्वत्सदृशेन तूपं क्षिप्रं याहि । तेन विवह धर्मार्थकामानुपयच्छ । तत्र दृष्टान्तः—रथ्येव चक्रा यथा रथावयवभूते चक्रे रथमुद्यच्छतः । संवादसूक्तेषु वृषाकपि—इन्द्रेन्द्राणीसंवादे वृषाकपिं पतिं कुपिता सतीन्द्राणीन्द्रस्य स्वस्य चोत्कर्षं वर्णयति । अन्यत्र दूत्या सरमया पृथिभिरपहृतानां गवामन्वेषणं कृतम् । उर्वशीपुरूरवसोः संवादश्च ।

यत्तु—'यमयमीसंवादोर्वशीपुरूरवःसंवादसम्बन्धीनि गीतानि कल्पितानि परवर्तियुगीयमहाकाव्यनाटकपूर्वाभासरूपाणि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सिद्धान्तरीत्या सर्वासामाख्यायिकानां कल्पितत्वाविशेषात् । प्रमाणान्तराविरुद्धप्रमाणान्तरासिद्धविषयकत्वेन भूतार्थवादित्वेऽपि बाधाभावाच्च ।

यत्तु—'यन्त्रमन्त्रादिविषयका मन्त्रा अथर्ववेदसम्बन्धिनः' इति, तदपि भ्रान्तिमूलकमेव, ऋग्वेदीयपरम्परायामपि तदुपलम्भात् । यक्ष्मनिवृत्ति-निद्राप्राप्ति-पुत्रप्राप्ति-तत्प्राप्तिप्रतिबन्धनिवृत्तिसम्बन्धिनां मन्त्राणामृग्वेदे दर्शनादेवाथर्ववेदस्येमे विषया इत्यपास्तमेव । 'अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि । यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ।।' (ऋ० सं० १०।१६३।१), 'य आस्ते यश्च चरति यश्च पश्यति नो जनः । तेषां सं हन्यो अक्षाणि यथेदं हर्म्यं तथा ।।' निद्रामन्त्रः—'अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वीयां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम् । उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे ।।' (ऋ० सं० १०।१८३।२), 'प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि' (ऋ० सं० १०।१६२।५)। १०।४५ सपत्नीमर्दनसूक्तम्, १०।१५९ विजयगीतम् ।

यदुक्तम्—'सप्तममण्डले १०३ तमसूक्तस्य लौकिकसाहित्यशैलीदर्शनात् तस्य मौलिकत्वे सन्देहो भवति' इति तदपि बालचापलमेव, अपौरुषेये वेदे तादृश्या अपि शैल्या दर्शनात् । पाश्चात्त्यानां वेदशैलीनिर्धारणपद्धतिरसाध्वी । तस्य

जो कुछ अच्छा या बुरा काम करते हैं, उनको देखते रहते हैं । इसलिये हे असह्य वाणी को बोलने वाली और मुझे उससे पीड़ित करने वाली यमी, तुम मेरे सिवाय तुम्हारे जैसे किसी दूसरे व्यक्ति के पास शीघ्र चली जाओ और उसी के साथ रहकर धर्म, अर्थ और काम का उपभोग करो । इसमें दृष्टान्त दिया गया है—जैसे कि रथ के अवयवभूत चक्र के सहारे रथ चलता है । एक अन्य संवाद सूक्त में (इन्द्र-इन्द्राणी संवाद) इन्द्राणी अपने पति वृषाकपि इन्द्र पर कुपित होकर इन्द्र के और अपने उत्कर्ष का वर्णन करती है । एक दूसरे सूक्त में इन्द्र सरमा दूती के माध्यम से पणियों के द्वारा अपहृत गायों का पता लगाते हैं । इसी तरह का संवाद सूक्त उर्वशी और पुरूरवा का भी है ।

'वस्तुतः यम-यमी संवाद, उर्वशी-पुरूरवा संवाद संबन्धी गीत कल्पित हैं, जो कि परवर्ती काल के महाकाव्य एवं नाटक साहित्य के पूर्वाभास हैं' (पृ० १०६-१०७) । यह कथन भी गलत है, सिद्धान्ततः वेद में सभी आख्यायिकायें कल्पित मानी जाती हैं । इसके साथ ही प्रमाणान्तर से अविरुद्ध और प्रमाणान्तर से असिद्ध विषय का प्रतिपादन करते समय इनको भूतार्थवादपरता मानने में भी कोई बाधा नहीं है ।

'यन्त्र, मन्त्र आदि से संबद्ध मन्त्र केवल अथर्ववेद में ही हैं' यह मानना भी भ्रान्तिमूलक है, क्योंकि ऋग्वेद की परम्परा में भी ये समान रूप से मिलते हैं । क्षय रोग की निवृत्ति के लिये, निद्रा-प्राप्ति, पुत्र-प्राप्ति के लिये और इनकी प्राप्ति के बीच आवे वाले विघ्नों की निवृत्ति के लिए अनेक मन्त्र ऋग्वेद में भी उपलब्ध होते हैं, अतः यह विषय केवल अथर्ववेद से ही संबद्ध है, यह कथन सर्वथा भ्रामक ही माना जायगा । 'अक्षिभ्यां ते', 'य आस्ते यश्च चरति', 'अपश्यं त्वा', 'प्रजां यस्ते' इत्यादि मन्त्र उक्त विषयों से ही संबद्ध हैं । सपत्नीमर्दन सूक्त, विजयगीत प्रभृति को भी निदर्शन के रूप में उपस्थित किया जा सकता है ।

इस प्रसंग में मैकडानल ने कहा है—'सप्तम मंडल में सूक्त संख्या १०३ की शैली लौकिक साहित्य जैसी है । इसी कारण इसकी मौलिकता में सन्देह होता है' (पृ० ११०) यह बच्चों की सी बात है, अपौरुषेय वेद में इस तरह की शैली के होने में

सूक्तस्य केचिन्मन्त्रा उद्ध्रियन्ते—'संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥' (१), 'वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव। तं मण्डूका अन्वमोदन्त। स मण्डूकाननु मोदमानान् तुष्टाव' (नि० ९।६) व्रतचारिणः संवत्सरसत्रात्मकमाचरन्तो ब्राह्मणाः, लुप्तोपममेतत्, एवंभूता ब्राह्मणा इव संवत्सरं शरत्प्रभृति आवर्षर्तोरेकं संवत्सरं शिश्याना वर्षणार्थं तपश्चरन्तो विल एव सन्तो मण्डूकाः पर्जन्यजिन्वितां पर्जन्येन प्रीतां यया वाचा पर्जन्यः प्रीतो भवति तादृशीं वाचमवादिषुः प्रवदन्ति।

'यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः। सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु ॥' (ऋ० सं० ७।१०३।५)। एनोः एनयोः, मण्डूकयोरन्योऽन्यमनुगम्य गृभ्णाति गृह्णाति। अपामुदकानां प्रसर्गे प्रसर्जने वर्षणे सति यद् यदा अमन्दिषाताम् हृष्टावभूताम्, यद् यदा च अभिवृष्टः पर्जन्येनाभिषिक्तः कनिष्कन् भृशं स्कन्दन्नुत्प्लवं कुर्वन् पृश्निः पृश्निवर्णो मण्डूको हरितेनान्येन वाचं संपृक्ते संयोजयति, उभावप्येकविधं शब्दं कुर्वाते, तदानीमन्योऽन्यमनुगृह्णाति। हे मण्डूकाः, यदा युष्माकं मध्येऽन्योऽन्यस्य वाचमनुवदति शिक्षमाणः शिक्ष्यमाणः शिष्यः शाक्तस्येव शक्तिमतः शिक्षकस्य वाचं यथानुवदति तद्वत्। यदा सुवाचो यूयमप्सु अधि उपरि प्लवन्तः वदथन वदत तदा एव युष्माकं सर्वं पर्वं परुष्मच्छरीरं समृधे समृद्धमेवाविकलावयवमेव भवति। घर्मकाले मृद्भावमापन्ना मण्डूकाः पुनर्वर्षणे सत्यविकलाङ्गाः प्रादुर्भवन्ति। रामचरितमानसे—'दादुर धुनि चहुँ ओर सुहायी। वेद पढ़ें जिमि वटु समुदायी ॥'

यदपि—'ऐहिकसूक्तेषु विवाहसूक्तमस्ति। तत्र सोमरूपस्य चन्द्रस्य सूर्यया विवाहो वर्णितः! अन्यत्र यद्यपि अश्विनौ तत्प्रियौ परमत्र सहचरसाधारण्येनैव तयोर्वर्णनम्। सूर्यायाः पिता सविता सौम्यैः सूर्यायाः पाणिग्रहणार्थं प्रार्थितः। स चाङ्गीकृत्य शाल्मलीवृक्षनिर्मिते द्विचक्रे रथे सूर्यामारोप्य पतिगृहं प्रेषयामास। स च रथः किंशुकपुष्पैर्विभूषितः श्वेतवृषभयुग्मेनोह्यते स्म। सूर्यचन्द्रौ मानवविवाहप्रतीकौ 'पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तौ

बाधा क्या है। पाश्चात्यों की वेद की शैली के निर्धारण की पद्धति सर्वथा गलत है। उस सूक्त के कुछ मन्त्रों को हम यहाँ उद्धृत करते हैं—'संवत्सरं शशमाना'। इस सूक्त में वर्षा की कामना लिये वसिष्ठ पर्जन्य की स्तुति करता है। उसका अनुमोदन मेंढक करते हैं। तब अपनी बात का अनुमोदन करने वाले मेंढकों की भी वह स्तुति करते हैं कि संवत्सर सत्र के व्रत का आचरण करने वाले ब्राह्मण की तरह ये मेंढक शरत् ऋतु से लेकर वर्षा ऋतु के आरंभ होने तक लगभग एक वर्ष तक वर्षा के लिये मानों तपस्या कर कर रहे हैं, वे सोये नहीं हैं। अपने बिल में रहते हुए ही वे पर्जन्य को प्रिय लगने वाली वाणी बोलते हैं।

'यदेषामन्यो अन्यस्य०'। ये दो मेंढक एक दूसरे का पीछा कर आपस में एक दूसरे को पकड़ते हैं। जब जल बरसने लगता है तो ये दोनों परम प्रसन्न हो उठते हैं और जब जल बरस चुकता है और ये जब जल से खूब अच्छी तरह से नहा लेते हैं तो ये एक दूसरे के ऊपर कूदते हैं। पृश्नि वर्ण, चित्तीदार मेंढक हरे रंग के मेंढक से बोली मिलाता है, अर्थात् दोनों एक ही तरह की बोली बोलते हैं। तब ये दोनों एक दूसरे की सहायता करते हैं। हे मेंढकों, जब आप लोग एक दूसरे की बोली का अनुसरण करते हैं, तब ऐसा मालूम होता है कि शिष्यगण अपने शक्तिमान् शिक्षक की वाणी का अनुसरण कर रहे हों। जब आप मधुर वाणी बोलते हुए जल के ऊपर तैरने लगते हैं, तो आपका यह शरीर सर्वावयवसंपूर्ण हो जाता है। ग्रीष्म ऋतु में मिट्टी के रूप में परिवर्तित हो गया मेंढकों का शरीर वर्षाकाल में पुनः पूर्ववत् हो जाता है। इसी तरह का वर्णन रामचरित मानस में भी मिलता है—'दादुर धुनि चहुं ओर सुहायी। वेद पढ़ें जिमि बटु समुदायी।

'ऐहिक सूक्तों में हम विवाह सूक्त को रख सकते हैं। इसमें सोमरूप चन्द्र का सूर्यकुमारी सूर्या के साथ विवाह-प्रसंग वर्णित है। यद्यपि अन्यत्र अश्विनीकुमार उनके प्रिय बताये गये हैं, पर इस सूक्त में उनकी स्थिति बहुत साधारण सहचरों में दी गई है। वे सोम की ओर से सूर्या के पिता सविता देव से सूर्या के पाणिग्रहण की प्रार्थना करते हैं। इस प्रस्ताव को सविता देव स्वीकार करते हैं और उक्त विवाह के लिए संस्तुत अपनी कन्या को शाल्मली वृक्ष से निर्मित द्विचक्र रथ में बिठाकर अपने पतिगृह के लिये बिदा करते हैं। वह रथ किंशुक के रक्त पुष्पों से विभूषित तथा सफेद बैलों की जोड़ी से प्रेरित है। सूर्य-चन्द्र, जो मानव जगत् में विवाह के

परि यातोऽध्वरम् । विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः ।। गृम्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः । भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ।।' (ऋ० सं० १०।८५।१८,३६)

'तुभ्यमग्रे पर्यवहन् सूर्यां वहतुना सह। पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ।। इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् । क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ।। समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ । सम्मातरिश्वा संधाता समु देष्ट्री दधातु नौ ।।' पश्चात् वरयात्रार्थं मङ्गलकामना प्रस्तुता ततो विवाहवर्णनम्' इत्यादिकम्, तत्तु सत्यमेव, भारतीयानामास्तिकानां वेद एव यद्यपि सर्वविधानमूलम्, तथापि विधानानि ब्राह्मणे वर्णितानि, संहितायां तु तदुचिता मन्त्रा उपदिष्टाः ।

मन्त्रार्थस्तु—पूर्वापरं कश्चित्पूर्वं गच्छति, अन्यश्चन्द्रस्तमनुसरति । एवं पौर्वापर्येण मायया स्वप्रज्ञानेन एतौ दिवि चरतां तस्मात् पाश्चात्यानामिव न जडौ चन्द्रसूर्यौ, चेतनाधिष्ठितत्वात् । तौ शिशू शिशुवद् भ्रमणाज्जायमानत्वाच्च क्रीडन्तौ विहरन्तावन्तरिक्षेऽध्वरं प्रति यातः । तयोरन्य आदित्यो विश्वानि भुवनान्यभिचष्टे अभिपश्यति ऋतून् वसन्तादीन् अन्यश्चन्द्रो विदधत् मासानर्धमासांश्च पुनर्जायते । यद्यप्युभयोरपि जनिरस्ति, तथापि सूर्यस्य सर्वदा प्रवृद्धेरुदयो नाभिप्रेतः, चन्द्रस्य तु ह्रासवृद्धिसद्भावात् पुनर्जायत इत्युक्तिः । हे वधु, ते तव हस्तं गृह्णामि किमर्थं सौभाग्याय मया पत्या त्वं यथा जरदष्टिः प्राप्तवार्धका असः भवसि भगः अर्यमा सविता पुरन्धिः पूषा एते देवास्त्वां मह्यमदुः । किमर्थं गार्हपत्याय यथाहं गृहपतिः स्याम् । हे गन्धर्वाः, तुभ्यमग्रे पर्यवहन् प्रायच्छन् कामं सूर्यां वहतुना सह त्वं च वहतुना सह सोमाय प्रायच्छः । तद्वदिदानीमपि हे अग्ने, पुनः पतिभ्योऽस्मभ्यं जायां प्रजया जनयित्र्या शक्त्या सह दाः देहि । इहैव लोके स्तं भवतं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् । पुत्रादिभिर्मोदमानौ स्वे गृहे भवतम् । विश्वेदेवाः सर्वे देवाः, नौ हृदयानि मानसानि समञ्जन्तु सम्यगञ्जन्तु अपगतदुःखादिक्लेशानि कृत्वा लौकिकवैदिकविषयेषु

प्रतीक हैं, सदा सहचर (साथी) बताये गये हैं—'पूर्वापरं चरतो०', 'गृम्णामि ने सौभगत्वाय', 'तुभ्यमग्रे', 'इहैव स्तं मा', 'समञ्जन्तु' इत्यादि मन्त्रों में वैवाहिक कर्मकाण्ड का विधान है। इस सूक्त में वर-यात्रा के लिये मंगलकामना की गई है और विस्तार से विवाह का वर्णन किया गया है' (पृ० ११२-११५) यह सारा कथन सही है। आस्तिक भारतीयों के लिये यद्यपि वेद ही सब विधि विधानों का मूल है, तथापि इनकी विधियां ब्राह्मणों में ही वर्णित है और संहिताओं में उन विधियों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्र उपदिष्ट हैं।

उक्त मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—ये चन्द्र और सूर्य पूर्वापरभाव से चलते हैं। पहले सूर्य चलता है, चन्द्रमा उसका अनुसरण करता है। इस तरह से पूर्वापरभाव से अपनी प्रज्ञा के अनुसार चलते हुए ये सूर्य पाश्चात्यों की पद्धति के अनुसार जड नहीं माने जा सकते, क्योंकि इनमें चैतन्य विद्यमान है। ये दोनों शिशु हैं, शिशु की तरह भ्रमण करते हैं, अतः ये अन्तरिक्ष में खेलते हुए यज्ञस्थल में जाते हैं। इनमें से एक आदित्य सारे भुवनों को देखता है और वसन्त प्रभृति ऋतुओं का निर्माण करता है तथा दूसरा चन्द्रमा मास और पक्ष का विधान करता रहता है एवं बार बार उत्पन्न होता रहता है। यद्यपि उत्पत्ति दोनों की ही होती है, तो भी सूर्य की प्रवृत्ति सदा बनी रहती है, अतः यहाँ पर उसके उदय का उल्लेख नहीं किया गया है। इसके विपरीत चन्द्रमा तो सदा घटता-बढ़ता रहता है, अतः उसके पुनः उत्पन्न होने की बात का यहाँ उल्लेख है। हे वधू, मैं तेरा हाथ पकड़ता हूं। किसलिये ? सौभाग्य के लिये कि मुझ पति के साथ तुम वृद्धावस्था पर्यन्त रहो। भग, अर्यमा, सविता, पूषा, इन सब देवगणों ने तुमको मुझे सौंपा है कि मैं गृहस्थधर्म का ठीक से निर्वाह कर सकूं ।। हे गन्धर्वो, तुम लोगों के सामने जैसे सूर्या को सोम के लिये सौंपा गया था, उसके आप लोग साक्षी थे। हे अग्नि, तुम भी हमको प्रजनन शक्ति के साथ इस पत्नी को हमारे लिये देने के साक्षी बनो। तुम दोनों इसी लोक में रहो, कभी तुम्हारा वियोग न हो, तुम दोनों पूरी आयु का उपभोग करो, पुत्र-पौत्रादि के बीच सदा आनन्द-पूर्वक गृहस्थाश्रम का उपभोग करो। सभी देवगण हम

प्रकाशयुक्तानि कुर्वन्त्वित्यर्थः। आपं च समञ्जन्तु। तथा मातरिश्वा नौ हृदयानि सन्दधातु, आवयोर्बुद्धीः परस्परानुकूलाः करोत्वित्यर्थः। धाता च सन्दधातु। देष्ट्री दात्री फलानां सरस्वतीत्यर्थः, सा च सन्दधातु सन्धानं करोतु।

यदपि—'दशममण्डले अन्त्येष्टिसंस्कारसम्बन्धीनि पञ्च सूक्तानि सन्ति। तानि च प्रायेण भाविजन्मसम्बन्धिदेवप्रार्थनायुक्तानि यमपित्राग्निपूषसरस्वतीसम्बद्धानि। वस्तुतस्त्वन्तिममेव सूक्तमन्त्येष्टिसम्बन्धि। तस्य रचनाशैली विषयश्च लौकिकौ। देवतायास्तत्र वर्णनं नास्ति। भाषा प्रौढा भावोद्बोधिका गम्भीरोदात्ता च। अत्रैव सूक्ते सर्वाधिकप्राचीनाया अन्त्येष्टिपद्धतेः परिचयो भवति। तैः सूक्तैरेवं ज्ञायते यत्तदानीमग्निदाहभूप्रवेशरूपौ द्विविधौ शव्यौ संस्कारौ भवतः स्म। सप्तममण्डलीये वरुणसूक्ते मृतार्थे मृत्तिकानिर्मितगृहनिर्माणोल्लेखो दृश्यते, तथापि शवदहनपद्धतिरधिकैवासीत्। वैदिकसंस्कारे दाह एव विहितः। यतीनां द्विवर्षन्यूनायुषां बालानामेव भूसंस्कारः। शवदाहसमयेऽजस्य बलिर्भवति। अथर्वानुसारमजः प्रेतात्मनः पुरतश्चलति। तथैव ऋग्वेदे मध्यस्याश्वस्य पुरतो बलिदानाय दत्तोऽजोऽग्रदूतो भूत्वा देवान् सूचयति। प्राचीनपारम्पर्येण प्रेतात्मनां भाविजन्मन्युपभोगार्थमाभूषणानि वासांसि च समर्प्यन्ते।

ऋग्वेदानुसारेणान्त्येष्टिसमये मृतव्यक्तेः स्त्री मृतेन सार्धं सतीत्वमुपगच्छति। मृतस्य वीरस्य हस्ताद्धनुरपसार्यते। प्राचीनकालादेवोभौ प्रेतात्मना सार्धं जन्मान्तरीयसंसारं गच्छतः। अथर्ववेदीयेन चैकेन मन्त्रेण विधवायाः सतीत्वप्रथापुरातनत्वं घोषितम्। मानवविकासशास्त्रमिदं सतीप्रथा सेनानायकानामन्त्यसंस्कारसमये प्रचलति स्म। प्रथा चेयं भारोपीययुगादागच्छति। अन्त्येष्टिसूक्तस्याष्टमो मन्त्रः सतीं सम्बोद्धय चितायाः उत्थाप्य नव्यपतिना सह

दोनों के मन को दुःख आदि क्लेश से दूर रखकर लौकिक और वैदिक कार्यों के लिये प्रकाश भर दें। तथा मातरिश्वा पवन देवता, हम दोनों की बुद्धि को परस्पर अनुकूल कर दे। धाता अर्थात् ब्रह्मा और सभी फलों को देनेवाली सरस्वती भी हमारे हृदय को परस्पर मिला दे।

'ऋग्वेद के दशम मंडल में ५ सूक्त हैं, जो अन्त्येष्टि संस्कार से सम्बन्ध रखते हैं। एक को छोड़कर शेष सभी भावी जन्म से सम्बन्ध रखने वाले देवताओं की प्रार्थनाओं से युक्त हैं। पहला सूक्त यम को, दूसरा पितरों को, तीसरा अग्नि को, चौथा पूषा को और अन्तिम सरस्वती को सम्बोधित हैं। वास्तव में अन्तिम सूक्त ही सचमुच अन्त्येष्टि सूक्त है। इसकी रचनाशैली और विषय दोनों ही लौकिक हैं। इसमें किसी देवता का वर्णन नहीं है। इसकी भाषा प्रौढ़, भावोद्बोधक तथा गम्भीर एवं उदात्त है। इस सूक्त में सर्वाधिक परिचय उस युग की अन्त्येष्टि-पद्धति के सम्बन्ध में मिलता है। इन सूक्तों से ऐसा लगता है कि वैदिक काल में भारतीयों में अग्निदाह तथा भूप्रवेश दोनों ही तरह शव बर्ताया जाता था। सप्तम मंडल में वरुणसूक्त के निर्माता ने मृत्यु के सम्बन्ध में मृत्तिका निर्मित गृह का उल्लेख किया है। तथापि अधिकतर प्रचलित प्रथा शवदहन की ही थी। आगे चलकर वैदिक संस्कार में अग्निदाह ही विहित है। केवल यतियों और दो वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिये भूमि-संस्कार बताया है। शवदाह के समय एक बकरे का बलिदान किया जाता था। अथर्ववेद के अनुसार वह बकरा प्रेतात्मा के आगे-आगे चलता है, ठीक उसी तरह जैसे ऋग्वेद के मेध्य अश्व के आगे-आगे बलिदान में दिया गया बकरा अग्रदूत बनकर देवताओं को सूचना देता है। प्राचीनकाल से चली आ रही परम्परा के अनुसार आज भी प्रेतात्मा के अगले जन्म में उपयोगार्थ कुछ आभूषण तथा परिधान अर्पित किये जाते हैं।

ऋग्वेद के अनुसार अन्त्येष्टि के समय मृत व्यक्ति की स्त्री अपने पति के साथ सती हो जाती थी। मृत वीर के हाथ से उसका धनुष हटा लिया जाता था। ये दोनों प्रथाएँ इस ओर संकेत करती हैं कि प्राचीन काल में ये दोनों प्रेतात्मा के साथ दूसरी दुनियाँ तक जाते थे। अथर्ववेद में तो एक ऐसा मन्त्र है, जो विधवा के सती होने की प्रथा को पुरातन घोषित करता है। मानव विकास शास्त्र यह प्रमाणित करता है कि सती-प्रथा प्रायः सर्वत्र सेनानायकों के अन्त्य संस्कार के समय प्रचलित थी। यह सिद्ध किया जा सकता है कि यह प्रथा भारोपीय युग से चली आ रही है। अन्त्येष्टि सूक्त का आठवाँ मन्त्र सती को सम्बोधित करता है, जिसमें उसे

पाणिग्रहणायादिशति। स च नव्यपतिर्मृतस्य भ्रातैव भयति। एतादृशी प्रथाऽप्यत्यन्तपुराणी 'उदीर्ष्वेत्यादिना' (पृ० ११५-११७) इति।

तदपि तुच्छम्, वेदार्थानवबोधात्। किञ्च, साम्प्रतं त्वयैव ऋग्वेदे परलोकगमानुगुणाः क्रिया अभ्युपेताः। तेन पुनर्जन्मचर्चा वेदे नास्तीति पूर्वोक्तकथनमपास्तमेव। मृतस्य सकाशात् पत्नीमुत्थाप्य तस्याः पत्यन्तरस्वीकारखण्डनं तु दयानन्दीयमतखण्डनप्रसङ्गे पूर्वमुक्तमेव। सायणाचार्यरीत्या देवरः प्रेतपत्नीम् 'उदीर्ष्व नारि' इत्यनया भर्तृसकाशादुत्थापयेत्। 'तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वोदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकम्' (आश्व०गृ०सू० ४।२।१८) इति। मन्त्रस्तु—'उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं यत्पत्युर्जनित्वमभिसम्बभूथ॥' (ऋ० सं० १०।१८।८)। अथ मन्त्रार्थः—हे नारि, मृतस्य पत्नि, जीवलोकं जीवादीनां पुत्रपौत्रादीनां लोकं स्थानं गृहमभिलक्ष्य उदीर्ष्व अस्मात् स्थानादुत्तिष्ठ। गतासुमपक्रान्तप्राणमेतं पतिमुपशेषे तस्य समीपे स्वपिषि। तस्मात्त्वमेहि आगच्छ। हस्तग्राभस्य पाणिग्राहं कुर्वतः दिधिषोर्गर्भस्य निधातुस्तव अस्य पत्युः सम्बन्धादागतमिदं जनित्वं जायात्वमभिसम्बभूथ संभूतासि अनुमरणनिश्चयमकार्षीः, तस्मादागच्छ। एतेन प्राचीनकालादेवानुमरणनिश्चयाद् देवरादयस्तां मृतपत्नीमुत्थापयन्ति।

सत्यां जीवनेच्छायां जीवेदन्यथाऽनुमरणेन पतिसहगमनमेव कुर्यात्। अन्त्येष्टिसम्बन्धिनोऽन्तिमसूक्तस्य शैलीभेदाद्विषयभेदाच्चामौलिकत्वकथनमपि साहसमात्रमेव, सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वेन तस्याप्यपौरुषेयत्वाविशेषात्। एवमेव यद् दानस्तुतिसम्बन्धिसूक्तसम्बन्धेऽर्वाचीनत्वं शङ्कितम्, तत्तु पौरोभागित्वमेव, अनुपदमपौरुषेयत्वेन समाहितत्वात्।

चिता से उठकर अपने नये पति के साथ पाणिग्रहण के लिये आदेश है। यह नया पति निश्चित ही मृत पति का भाई होता था। इस प्रकार की प्रथा बहुत पुरानी है' इत्यादि।

यह सारा कथन वेदार्थ का ठीक से परिज्ञान न होने के कारण है। यह भी आश्चर्य हो है कि अभी यहाँ पर तो आप ऋग्वेद में परलोक गमन के अनुगुण क्रियाकलापों की सत्ता स्वीकार करते हैं, किन्तु इससे पहले आप ही कह आये हैं कि वेद में कहीं भी पुनर्जन्म की चर्चा नहीं है। आपका यह मत इस तरह की परस्पर विरुद्ध उक्तियों से अपने आप खंडित हो जाता है। मृत व्यक्ति के पास से पत्नी को उठाकर उसका पत्यन्तर को स्वीकार कराना जैसी बातों का खण्डन हम दयानन्द के मत का खण्डन करते समय कर चुके हैं। सायणाचार्य के अनुसार इस प्रसंग का विवरण इस प्रकार से हैं—देवर प्रेत की पत्नी को 'उदीर्ष्व नारि' इस मन्त्र से अपने पति के पास से उठावे। आश्वलायन गृह्यसूत्र में कहा गया है कि 'उदीर्ष्व नारि' इस मन्त्र से पतिस्थानीय देवर, अन्तेवासी अथवा कोई वृद्ध दास उस प्रेत की पत्नी को उठावे। मन्त्र का अर्थ यह है—हे नारि, हे मृत व्यक्ति की पत्नी, जीवलोक अर्थात् पुत्र-पौत्रादि के लोक निवासस्थान अपने घर को जाने के लिये इस स्थान से तुम उठो। तुम इस गतासु, प्राणरहित अपने पति के पास सोई हुई हो। इसलिये तुम आ जाओ। पाणिग्रहण करने वाले, तुममें गर्भ को स्थापना करने वाले इस पति के सम्बन्ध से आये हुए इस जायात्व का निर्वाह तुमने अनुमरण का निश्चय करके सफल कर दिया है, इसलिये अब तुम आ जाओ। प्राचीन काल से ही इस तरह का अनुमरण का निश्चय करने वाली मृतक की पत्नी को इसी तरह से उठाते चले आ रहे हैं।

इससे यही सिद्ध होता है कि यदि मृतक की पत्नी को जीने की इच्छा है, वह इनके कहने से उठ जाय, अन्यथा अनुमरण से द्वारा पति के साथ जाने का निश्चय करे। अन्त्येष्टि सम्बन्धी अन्तिम सूक्त की शैली और विषयभेद के आधार पर उसको अमौलिक अर्थात् नवीन सिद्ध करना भी दुःसाहसमात्र है, क्योंकि सम्प्रदाय की अविच्छिन्नता और अस्मर्यमाणकर्तृकता अपौरुषेयता के प्रयोजक हैं, ये दोनों लक्षण इस सूक्त में भी समान रूप से विद्यमान हैं। इसी तरह से दानस्तुति से संबद्ध सूक्तों को नवीन मानना भी (पृ० ११८-११९) स्वेच्छाचार मात्र है। अपौरुषेयता के आधार पर अभी हमने उसका समाधान कर दिया है।

only half quoted for expl.

यदपि हितोपदेशसूक्तसम्बन्धे द्यूतकृद्विलापसम्बन्धे चोक्तम्—'नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते। दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥ स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।' (ऋ०सं० १०।३४।९,११)यच्च तद्रचनासु प्राचीनत्वार्वाचीनत्वादिकं कल्पितम्(पृ० ११९-१२०), तदपि न किञ्चित्, साम्प्रदायिकत्वेन समस्तस्य ऋग्वेदस्यानादित्वात्। 'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः। तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥' इत्यादयो वैदिका उपदेशास्तु प्रसिद्धा एव। मन्त्रार्थस्तु—एते अक्षा नीचा नीचीनस्थले वर्तन्ते तथापि उपरि पराजयात् भीतानां द्यूतकाराणां हृदयस्योपरि स्फुरन्ति। अहस्तासो अप्यक्षा हस्तवन्तं कितवं सहन्ते पराजयकरणेनाभिभवन्ति। दिवि भवा अपकृता अङ्गारास्तत्सदृशा अक्षा इरिणे इन्धनरहिते आस्फारे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति पराजयजनितेन सन्तापेन भस्मीकुर्वन्ति।

यदपि—जगदुत्पत्तिबोधकसूक्तानां विचाराः स्पष्टा न सन्तीति, तदपि यत्किञ्चित्, वैदिकपारम्पर्यमन्तरा वेदार्थावगमासम्भवात्। यदुक्तम्—'प्राचीनर्षीणां मतेन देवताभिर्मिलित्वा जगदुत्पादितम्, परमियं दृष्टिर्द्यावापृथिव्योर्जगन्मातापितृत्वोक्त्या विरुद्ध्यते। ऋषिगणाः परस्परं विरुद्धानर्थानुक्तवन्तः। यथा पुत्रो मातापित्रोर्जनकः। उदाहरणार्थमिन्द्रस्य मातापितरौ तद्देहादुत्पन्नौ। पुरोहितैर्विषयाणां रोचकत्वाय तादृश्यः कल्पनाः कृताः। कथञ्चित्तदाकर्षणविकर्षणैस्तेषां मन्त्राणामर्था लाप्यन्ते। अदितेर्दक्षोऽजनिष्ट, अदितिश्च दक्षादुत्पन्नेति (पृ० १२५), तदपि व्यामोहमूलकमेव, पारम्पर्येण वैदिकैस्तत्स्वारस्यवर्णनात्। तथाहि—क उ नु ते महिमनः समस्याऽस्मत् पूर्व ऋषयोऽन्तमापुः। यन्मातरं च पितरं च साकमजनयथास्तन्वः स्वायाः ॥' (ऋ० सं० १०।५४।३)। अस्यायमर्थः—हे इन्द्र, ते महिम्नः समस्य सर्वस्यापि अन्तं पारं अस्मत् अस्मत्तः पूर्वं ऋषयः के आपुः आप्नुवन्? न केऽपीत्यर्थः। यद्यपि अद्यापि महत्त्वं प्रख्यापयन्ति तथापि न कात्स्न्र्येन। तत्र कारणमाह—यत् यस्मात् मातरं च 'द्यौः पिता पृथिवी माता' (तै०ब्रा० ३।७।५।

मैकडानल ने हितोपदेश सूक्तों के सम्बन्ध में 'द्यूतकार का विलाप' नामक सूक्त की चर्चा की है और 'नीचा वर्तन्त' इस मन्त्र को उद्धृत कर इनकी प्राचीनता-अर्वाचीनता का विचार किया है (पृ० ११९-१२०)। यह कथन भी गलत है। साम्प्रदायिक रूप से समस्त ऋग्वेद अनादि है। 'अक्षैर्मा दीव्यः' इत्यादि मन्त्रों से निर्दिष्ट वैदिक उपदेश सर्वसाधारण में प्रसिद्ध हैं। उक्त मन्त्र का अर्थ यह है—ये अक्ष, जुआ खेलने के साधनभूत पासे यद्यपि नीचे रहते हैं, तो भी ये पराजय से भयभीत जुआड़ी के हृदय पर पैर धरे रहते हैं। यह पासे बिना हाथ के हैं, तो भी हाथ वाले जुआड़ी को पराजित कर देते हैं। आकाश में उत्पन्न उल्का के समान ये पासे जब इन्धन रहित चौसर पर गिराये जाते हैं, तो उस समय शीतल रहते हुए भी ये पराजय से उत्पन्न सन्ताप से जुआड़ी के हृदय को जला डालते हैं।

मैकडानल ने यह भी कहा है कि जगत् की उत्पत्ति के बोधक सूक्तों में विचार स्पष्ट नहीं है (पृ० १२५)। यह कथन भी गलत है, वैदिक परम्परा के बिना वेदार्थ की अवगति सही रूप से नहीं हो सकती। 'प्राचीन महर्षियों के मत से समस्त देवताओं ने मिलकर जगत् की उत्पत्ति की, परन्तु यह दृष्टि उस धारणा के साथ असमंजस लगती है, जिसमें द्यावापृथिवी को देवताओं के माता-पिता बताया है। यों कहना होगा कि इस विषय में ये ऋषिगण कुछ परस्परविरोधी ऐसी बातें कह गये हैं, जैसे पुत्र अपने पिता का जनक हो। उदाहरणार्थ, स्पष्ट शब्दों में बताया गया है कि इन्द्र के माता-पिता स्वयं इन्द्र के शरीर से प्रादुर्भूत हुए हैं। इस प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ पुरोहितों की कल्पना के लिये एक रोचक विषय बन जाता था। इनमें बड़ी खींचातानी से अर्थ निकालने पड़ते हैं। वहाँ यह भी कहा गया है कि दक्ष अदिति से पैदा हुए और अदिति दक्ष से पैदा हुई (पृ० १२५) यह सारा कथन अज्ञानमूलक है, वैदिक विद्वानों ने इन सब स्थलों का परम्परागत अभिप्राय बताया है। जैसे कि 'क उ नु ते' इस मन्त्र का अर्थ यह है—हे इन्द्र, तुम्हारी सारी महिमा को हमसे पहले उत्पन्न हुए ऋषिगण भी कहाँ जान सके हैं? यद्यपि वे आज भी आपकी महिमा का वर्णन करते हैं, किन्तु वे आपकी पूरी महिमा को नहीं बता पाते। इसमें कारण यह है कि तुमने अपने माता और पिता को तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार आकाश और पृथ्वी को, दोनों को एक साथ

४-५) ते उभे अपि साकं सहैव स्वायास्तन्वाः स्वकीयाच्छरीरात् अजनयथा उदपादयः। अतो नापुरिति। अस्मिन्नेव सूक्ते 'चत्वारि ते असुर्याणि नामादाभ्यानि महिषस्य सन्तीति मन्त्रे इन्द्रस्य चत्वारि नामान्युक्तानि। तत्रैव ५५ सूक्ते 'महत्तन्नाम गुह्यं पुरुस्पृग् येन भूतं जनयो येन भव्यम्। प्रत्नं जातं ज्योतिर्यदस्य प्रियं प्रियाः समविशन्त पञ्च।।' इत्युक्तम्। हे इन्द्र, तद् गुह्यं गोपनीयमन्यैरविज्ञातं पुरुस्पृक् वहुभिर्वृष्टचर्थिभिः स्पृहणीयमाकाशात्मकं नाम शरीरं महत् अत्यन्तं प्रवृद्धं येन नाम्ना भूतं भव्यं च पूर्वं जनयः उत्पादितवानसि। आकाशात्मकाद्धि परमेश्वरस्वरूपाद् भूतभव्यात्मकं जगदुत्पद्यते। 'आकाशाद्वायुः' (तै० आ० ८।१) इति श्रुतेः। किञ्च, प्रत्नं पुराणं पूर्वकालीनं यज्ज्योतिः द्योतमानमादित्याख्यमुदकाख्यं वा अस्य इन्द्रस्य प्रियं प्रियभूतं तत्त्वं जातम्। प्रियाः प्रीयमाणाः पञ्चजना इति शेषः। भीमसेनभीमवदेकदेशलक्षणा निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णाः समविशन्त स्वनिर्वाहार्थं भजन्त इत्यर्थः। तथा चेन्द्रस्याकाशात्मकात् परमेश्वररूपाद् भूतभव्यात्मकं सर्वं जगदुत्पद्यते। आसमन्तात् काशते इत्याकाशं ब्रह्म। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इति न्यायात्। तस्मादेवेन्द्रशरीरान्मातापितृरूपौ द्यावापृथिव्या उत्पद्येते इति। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ०सं०६।४७।१८)इत्यत्रेन्द्रपदेन परमेश्वरस्य ग्रहणात्, परमेश्वरस्य सर्वदेवात्मकत्वात्। परमेश्वरात् प्रपञ्चोत्पत्तिः सर्वदेवेभ्योऽपि जगदुत्पतिः सिद्धयति। त्रयस्त्रिंशत्संख्याकानां देवानां प्राणेऽन्तर्भाव उक्तो बृहदारण्यके। प्राणश्च परब्रह्मरूपमेव। परब्रह्मणः परमकारणत्वेऽप्यवान्तरकाणत्वं तु तत्तद्देवतानामेव। तत एव द्यावापृथिव्योरपि सर्वमातापितृत्वं सङ्गच्छते।

'भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त। अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि।।' (ऋ०सं० १०।७२।४) अत्र सायणाचार्यः—भूः उत्तानपदोऽजायत। ततः पूर्वं देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि। पूर्वे युगे नामरूपवर्जितत्वेनासत्समानाद् ब्रह्मणः सकाशात् सत् नामरूपविशिष्टं देवादिकम् अजायत।

ही अपने शरीर से उत्पन्न किया है। इसलिये वे आपकी महिमा का पार नहीं पा सके हैं। उसी सूक्त के 'चत्वारि ते' इस मन्त्र में इन्द्र के चार नाम बताये गये हैं। ऋग्वेद में ही दशम मण्डल के ५५वें सूक्त में एक मन्त्र है—'महत्तन्नाम गुह्यं०। इसका यह अर्थ है—हे इन्द्र, आपका अत्यन्त गुह्य नाम, जिसको कोई जान नहीं पाता, किन्तु जो सबके लिये स्पृहणीय इसलिये है कि आप ही वृष्टि करने वाले आकाश हैं। यही आपका शरीर है। आपका यह अत्यन्त तेजस्वी नाम ही भूत और भव्य सारी सृष्टि का जनक है। 'आकाशाद्वायुः' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति के प्रमाण से यह सिद्ध है कि परमेश्वर के आकाशात्मक स्वरूप से ही भूत और भव्यात्मक यह सारा जगत् उत्पन्न होता है। अपि च, इस इन्द्र का अत्यन्त प्रिय तत्त्व, जो कि बहुत प्राचीनकाल से द्योतमान आदित्य के रूप में अथवा उदक के रूप में अवस्थित है, इसी से उत्पन्न हुआ है। प्रिय अर्थात् प्रीयमाण पंचजन अपने निर्वाह के लिये आपकी ही स्तुति करते हैं। यहाँ पर जैसे भीमसेन पद का बोध उसके एक देश भीम से भी हो जाता है, उसी तरह से पंचजन पद से निषाद सहित चार वर्णों का बोध होता है। इस मन्त्र से स्पष्ट है कि इन्द्र के आकाशात्मक परमेश्वर स्वरूप से भूत और भावी सारे जगत् की उत्पत्ति होती है। जो चारों ओर प्रकाशित होता है, इस व्युत्पत्ति के आधार पर यहाँ पर आकाश ब्रह्म को ही कहा गया है। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस ब्रह्मसूत्र में इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है। इसी आकाशात्मक ब्रह्मस्वरूप इन्द्र के शरीर से सबके पिता और माता स्थानीय द्यौ और पृथिवी का जन्म होता है। 'इन्द्रो मायाभिः' यहाँ पर भी इन्द्र पद से परमेश्वर का ही ग्रहण किया गया है। परमेश्वर सर्वात्मक है। परमेश्वर से प्रपंच की उत्पत्ति होती है, तो यह भी कहा जा सकता है कि सभी देवताओं से जगत् की उत्पत्ति होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में ३३ देवताओं का प्राण में अन्तर्भाव बताया गया है। यह प्राण भी परब्रह्म स्वरूप ही है। परब्रह्म यद्यपि सारे प्रपंच का परम कारण है, तथापि उन-उन देवताओं की अवान्तरकारणता भी मानने में कोई बाधा नहीं है। इस तरह से द्यौ और पृथिवी को सबके माता-पिता माना ही जा सकता है।

'भूर्जज' इत्यादि मन्त्र अदिति से दक्ष की और दक्ष से अदिति की उत्पत्ति बताता है। इसका सायणाचार्य संमत अर्थ यह है—पृथ्वी की उत्तानपाद से उत्पत्ति हुई। यहाँ पर प्रसंग यह है कि पुराकाल में देवयुग में पहले असत् से सत् की उत्पत्ति हुई, उसके बाद दिशाएं और तब वृक्षादि की सृष्टि हुई। इसका अभिप्राय यह है कि यह पूर्वयुग नाम और रूप से रहित होने से असत् के बराबर

'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत' (तै० उ० २।७), कथमसतः सज्जायेतेत्यसत्कारणत्वमाक्षिप्य 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० उ० ६।२।२) इत्यवधारितत्वात्। तर्हि कथमदितेर्देवाद्युत्पत्तिरिति चेन्न, अदितेरवान्तरकारणत्वोपपत्तेः। एवमसत उपादानकारणाद् ब्रह्मणो देवादिकं सदजायत। तत उत्तानपदो वृक्षा अजायन्त। यद्वोत्तानपाद्राजा य ऐतिहासिकः सोऽजायत। तस्माद् भूस्तद्वदचलो ध्रुवोऽजायत। तस्माद् ध्रुवाद् आशा अजायन्त। तस्य निःसाधनस्य बालस्यापि तपोबलाद् ध्रुवपदप्राप्तिदर्शनेन जनेष्वाशासञ्चारात्। ध्रुवतारायाः स्थिरत्वात् तदपेक्ष्यैव दिक्परिज्ञानसम्भवाद्वा। आशा दिशस्तस्मादजायन्त इत्यौपचारिको व्यवहारः। उत्तानमूर्ध्वतानं पद्यन्ते इत्युत्तानपदो वृक्षाः। तथा चोत्तानपदो वृक्षाद् भूरजायत। भुवः सकाशादाशा अजायन्त। तथा अदितेर्दक्षोऽजायत दक्षादु दक्षादपि अदितिः परि अजायत। ननु न स्वोत्पन्नं कार्यं स्वस्यैव कारणमिति विप्रतिषिद्धमिति चेन्न, माहाभाग्येन देवेषु परस्परप्रकृतित्वेन दोषाभावात्। तदुक्तं यास्केन—'समानजन्मानौ स्यातामित्यपि वा, देवधर्मेणेतरेतरजन्मानौ स्यातामितरेतरप्रकृती' (नि० ११।२३)। समनन्तरजन्मानौ समानजन्मानौ। महदात्मना हिरण्यगर्भात्मनाऽदितेः कारणत्वं दक्षस्य च कार्यत्वम्। अथवा महदात्मना दक्षमपेक्ष्यादितेः कार्यत्वम्।

यदुक्तम्—'ऋग्वेदप्रतिपादितधार्मिकविचारविकासपरिणामवशात् सर्वदेवताभ्यः श्रेष्ठस्यैकपुरुषस्य कल्पना प्रसूता। नासदीयसूक्तेषु पुरुषविश्वकर्महिरण्यगर्भप्रजापतिनामभिः स एव सङ्केतितः। प्राचीनमतेषु जगत्सृष्टेरुत्पत्तिः प्रकृतेः सकाशादधिगता। जायत इति क्रियया जगदभिधानम्। परन्त्वेतेषु सूक्तेषु जगत् कस्माच्चिन्मौलिकात्तत्वात् प्रादुर्भूतं विकासं वोपगतम्। पुरुषसूक्ते देवताः केवलमुपकरणभूता एव। यस्मादुपादानाज्जगदुत्पद्यते तत्पुरुषशरीरमेव।

था। उस समय असत्स्वभाव ब्रह्म से सत्स्वभाव अर्थात् नाम और रूप से विशिष्ट देवादि की सृष्टि हुई। 'तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया गया है कि पूर्वयुग में सब कुछ असत्स्वभाव था, उससे सत् की उत्पत्ति हुई। छान्दोग्य उपनिषद् में असत्कारणता पर यह आक्षेप किया है कि असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? फिर उसका समाधान किया गया है कि हे सोम्य, पूर्वयुग में भी यह सब कुछ सत्स्वभाव ही था। जब सत् से सब कुछ उत्पन्न हुआ है तो फिर अदिति से देवादि की उत्पत्ति की बात का क्या होगा? उत्तर है कि यहां पर अदिति को अवान्तर कारण माना जायगा। इस तरह से उक्त मन्त्र के असत् पद का अर्थ सारे जगत् का उपादानकारण ब्रह्म है, उस ब्रह्म से सत् अर्थात् देवादि की उत्पत्ति होती है। देवताओं से वृक्षों की अथवा उत्तानपाद नाम के ऐतिहासिक राजा की उत्पत्ति हुई। तथा इससे पृथ्वी के समान अचल ध्रुव की उत्पत्ति हुई। उस ध्रुव से दिशाएं पैदा हुई। दिशाओं का नाम आशा इसलिये है कि इस बिना साधन-सहायता वाले ध्रुव नाम के बालक को अपने तपोबल से हुई ध्रुव स्थान की प्राप्ति को देखकर साधारण मनुष्यों के मन में भी आशा का संचार हुआ था। ध्रुव तारा स्थिर है, अथवा उसको देखकर ही दिशाओं का सही परिज्ञान होता है, इसलिये दिशाएं ध्रुव से पैदा हुई, यह औपचारिक व्यवहार किया जाता है। जो ऊपर की ओर अपना विस्तार करते हैं, इस व्युत्पत्ति के अनुसार वृक्ष उत्तानपाद कहलाते हैं। इस व्युत्पत्ति के आधार पर वृक्षों से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी से दिशाएं पैदा हुई तथा अदिति से दक्ष तथा दक्ष से अदिति उत्पन्न हुए। प्रश्न है कि अपने से उत्पन्न हुआ कार्य अपना ही कारण कैसे हो सकता है? यह तो परस्परविरुद्ध बात है? इसका उत्तर है कि देवता महान् भाग्यशाली, ऐश्वर्यवान् होते हैं। इनमें परस्पर एक दूसरे के कार्यकारणभाव को मानने में भी कोई दोष नहीं है। यास्क ने 'समानजन्मानौ' इत्यादि से देवताओं के इस माहाभाग्य का ही विवरण दिया है। यहां पर 'समानजन्मानौ' का अभिप्राय समनन्तर जन्म से है, अर्थात् अदिति और दक्ष की अपने अपने महदैश्वर्य के कारण एक दूसरे के बाद उत्पत्ति होती है। महत् अर्थात् हिरण्यगर्भात्मक अदिति से दक्ष की उत्पत्ति होती है। इस तरह से अदिति कारण और दक्ष कार्य होते हैं और जब दक्ष को महदात्मक स्वीकार किया जाता है तो दक्ष कारण और अदिति कार्य हो जाती है।

ऋग्वेद में प्रतिपादित धार्मिक विचारों के विकास का परिणाम यह हुआ कि सब देवताओं से श्रेष्ठ एक परम पुरुष की कल्पना प्रसूत हुई। उसका वर्णन नासदीय सूक्त में पुरुष, विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ और प्रजापति के नाम से दिया है। प्राचीन मत में जगत् की सृष्टि एक प्राकृतिक उत्पत्ति मानी गई है। जगत् का अभिधान 'जायते' इस क्रिया पद से किया है। परन्तु इन सूक्तों में जगत् को किसी आधारभूत मौलिक तत्त्व से विकसित अथवा प्रादुर्भूत माना है। पुरुष सूक्त में देवता केवल सहायक उपकरण हैं और

स च सहस्रशीर्षा सहस्रपात्। स च समस्तपृथिवीं व्याप्यापि ततोऽतिरिच्यते। एतस्मात् पुरुषाज्जगत्सर्गभावना वस्तुतोऽतिप्राचीना। प्राचीनकथास्वनेकासु तदुल्लेखः। तथाप्यस्मिन् सूक्ते यथा सा भावनाऽभिव्यक्तिमुपगता, सात्यन्तमर्वाचीनैव। ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो यज्ञो विष्णुरवगम्यते, जगदुत्पत्तिश्च यज्ञियविधिः। मूलपुरुषस्तत्र वलिरूपेणावस्थापितः। तस्यावयवा आलम्भनानन्तरं जगतो विभिन्नभागाः सम्पन्नाः। तस्य शीर्षा आकाशो नाभिर्वायुः पादौ पृथिवी। मनसश्चन्द्रस्य चक्षुषः सूर्यस्य निःश्वासात् पवनस्योत्पत्तिः। अनया रीत्या देवताभिस्त्रिलोकी निर्मिता। उत्तरकालीना पुरुषसूक्तस्य रचना। वहुदेववादस्तल्लिङ्गम्। पुरुष एव जगत्। यद् भूतं यच्च भाव्यं तस्यैकचतुर्थांशे मर्त्यप्राणिनस्तिष्ठन्ति। त्रयोंऽशाः स्वर्गवासिनाममराणां लोकाः। ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रजापतिरेकः। उपनिषत्सु स एव जगद्रूपः। तदनन्तरं द्वैतवादिसांख्यशास्त्रे आत्मनः पुरुष इत्याख्या। स च प्रकृतेः पृथक्। पुरुषसूक्ते विराड्रूप एक आत्मा यस्योत्पत्तिः पुरुषाज्जाता। स एव पुरुष उत्तरमीमांसायां सोपाधिको जगत्स्रष्टा भवति। स च सर्वव्यापिनो ब्रह्मणो भिन्नो भवति। तस्मात् पुरुषसूक्तं भारतीयवहुदेववादिसाहित्यस्य सर्वप्राचीनः कल्पः, ऋग्वेदस्यान्तिमरचना च। वेदत्रय्याः परिचितोऽयं ग्रन्थो यतस्तत्र तेषामुल्लेखः। अस्मिन्नेव सूक्ते सर्वप्रथममन्तिमं च यत्तत्र कण्ठतश्चातुर्वर्ण्यस्योल्लेखः। पुरुषस्य मुखाद् ब्राह्मणो वाहुभ्यां राजन्यो वैश्य ऊरूभ्यां पद्भ्यां शूद्रोऽजायत। सृष्टिसम्वद्धेषु सर्वेष्वेव सूक्तेषु प्रजापतेरेव सृष्टिरुक्ता। देवानां समष्टेः कर्तृत्वं तत्र नाभ्युपगतम्। क्वचित्सूर्यो मुख्यः कर्ता, स एव च सकलस्य जगत आत्मास्ति। एकः सन्नपि सोऽनेकः। तेन तदानीं प्रजापतिरूपेण सवितुः सूर्यस्य कल्पना निर्माणप्रक्रियायामासीत्' (पृ० १२६-१२८) इति।

उपादान कारण, जिससे जगत् की उत्पत्ति हुई, वास्तव में पुरुष का शरीर है। वह सहस्रशीर्ष तथा सहस्रपात् है। यह समस्त पृथ्वी को व्याप्त करने पर भी शेष है। इस महापुरुष से जगत्सर्ग की मूलभावना वास्तव में बहुत पुरातन है। इसका उल्लेख कई प्राचीन कथाओं में मिलता है। तथापि इस सूक्त में जिस तरह इस भावना को अभिव्यक्त किया है, वह बहुत कुछ अर्वाचीन प्रतीत होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु यज्ञस्वरूप हैं और जगदुत्पत्ति यज्ञिय विधि है। मूल पुरुष यहाँ बलि के रूप में स्थायी हैं। उसके विभिन्न अवयव आलम्भन के पश्चात् जगत् के विभिन्न भाग बन गये हैं। कहा जाता है कि उसका मस्तक आकाश बना, उसकी नाभि वायु, उसके चरण पृथ्वी बने। उसके मन से चन्द्रमा की, चक्षु से सूर्य की तथा निःश्वास से पवन की सृष्टि हुई। इस प्रकार देवताओं ने त्रिलोकी का निर्माण किया। यह सूक्त एक उत्तरकालीन रचना है। उसका एक चिह्न बहुदेववाद है। इस सूक्त में कहा है—पुरुष ही जगत् है, जो पहले था और भविष्य में होगा; उसके एक चतुर्थांश मर्त्यलोक के प्राणी हैं और उसका तीन चतुर्थांश स्वर्गवासी अमरों का लोक है। ब्राह्मण ग्रन्थों में पुरुष और प्रजापति एक हैं। उपनिषदों में वह जगत् स्वरूप है और आगे चलकर द्वैतवादी सांख्यदर्शन में पुरुष आत्मा का ही नाम है, जो प्रकृति से पृथक् है। पुरुष सूक्त में एक आत्मा विराज रूप है, जिसकी उत्पत्ति पुरुष से मानी गई है। यही पुरुष उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त दर्शन में उपाधि रूप से जगत्-स्रष्टा है, जो सर्वव्यापी ब्रह्म से भिन्न है। अत एव पुरुष सूक्त भारतवर्ष के बहुदेववादी साहित्य का सबसे प्राचीन कल्प है। साथ ही साथ यह भी सिद्ध है कि ऋग्वेद की यह सबसे अन्तिम रचना है। कारण, यह वेदत्रयी से परिचित है, जिनका नामोल्लेख इसमें मिलता है। यही एक ऐसा सूक्त है, जिसमें पहले पहल और अन्तिम बार चार वर्णों का कण्ठतः उल्लेख है। कहा है—ब्राह्मण पुरुष के मुख हैं, उसके बाहु राजन्य, वैश्य उसके ऊरु, और शूद्र उसके चरण हैं। जगत्सृष्टि से संबद्ध लगभग सभी सूक्तों में प्रजापति को ही प्रायः कर्ता बतलाया गया है। देवताओं की समष्टि को कर्तृरूप नहीं माना है। अन्य सूक्तों में कई सन्दर्भ ऐसे हैं, जिनमें ऋषियों ने जगदुत्पत्ति का मुख्य कर्ता सूर्य को बताया है। उसे सकल जगत् की आत्मा कहा है और यह भी कहा है कि वह एक होते हुए भी उसके नाम अनेक हैं। यह उक्ति इस बात को प्रकट करती है कि उस समय प्रजापति के रूप में सविता सूर्य की कल्पना निर्माण की प्रक्रिया में थी' (पृ० १२६-१२८)।

तदपि भारतीयवैदिकपारम्पर्यवैधुर्यमूलकमेव, समन्वयपद्धत्यनवगमात् । वेदस्य 'अनुश्रव' इति नामान्तरम् । गुरोर्मुखादनुश्रूयत इत्यनुश्रवो वेद इति तदर्थः । तस्मान्न वेदानामुत्पत्तिः क्वचिदप्यभिप्रेता । श्रूयत एव परं न केनापि क्रियते । यत्र यज्ञात्तदुत्पत्तिः श्रूयते, सापि सम्प्रदायप्रवर्तनारूपैव विज्ञातव्या, नित्यत्वश्रवणात् । नहि नित्यस्य सम्भवत्यन्यादृशी उत्पत्तिः । तस्मादन्तिमरचना पुरुषसूक्तमित्यपार्थकं वचनम् । पुरुषसूक्तस्य नासदीयसूक्तानां च समन्वय एवास्ते, सायणादिभिस्तथैव व्याख्यातत्वात् । नहि वैदिकात् सिद्धान्तात् प्राचीनं किमपि मतमासीत्, तस्यानादित्वात् । तस्मात् प्राचीनमते प्रकृतेर्जगदुत्पत्तिर्मन्यते स्मेति कथनमपि निर्मूलम् । वैदिकसिद्धान्तरीत्यापि शक्तिविशिष्टस्यैव ब्रह्मणो जगदुपादानत्वम्, कूटस्थस्य ब्रह्मणस्तदसम्भवात् । सा शक्तिरेव कैश्चित् प्रकृतित्वेनाभिप्रेता । वैदिकानां रीत्या सा तत्त्वान्यत्वाभ्यां निर्वक्तुमनर्हाऽनिर्वचनीया, सांख्यरीत्या तु सा स्वतन्त्रेत्येतावान् विशेषः ।

सोपाधिकं ब्रह्मैव मूलतत्त्वमुपाधिरपि तच्छक्तिरेव । शक्तिदृष्ट्या जगत् तत्परिणामभूतम् । कूटस्थब्रह्मापेक्षया विवर्तात्मकम् । पुरुषशब्देनान्यत्र कूटस्थ आत्मा विवक्षितः । यथा—'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठो० ३।११) । पूर्षु शयनात् पूर्णत्वाद्वा पुरुषः । तादृश एव पुरुषः सांख्यैरप्यभ्युपगम्यते । नानात्वेन वस्तुपरिच्छित्तिस्तु तत्राधिका । हिरण्यगर्भोऽपि पुरुषशब्दवाच्यः, तस्यापि पूर्णत्वात् । समष्टिसूक्ष्मशरीराभिमानी चेतनो हिरण्यगर्भः, सूक्ष्मशरीरेषु प्राणस्य बुद्धेश्च प्राधान्यात् । प्राणप्राधान्येन सूत्रात्मा बुद्धिप्राधान्येन हिरण्यगर्भश्चोच्यते । विश्वकर्मप्रजापत्यादिशब्दाश्च तत्र प्रयुज्यन्ते । यद्यपि प्रजापतिशब्दः कश्यपादौ चतुर्मुखे ब्रह्मणि च प्रयुज्यते, हिरण्यगर्भे

यह सब भारतीय वैदिक परम्परा के अज्ञान के कारण है, क्योंकि वैदिक वाक्यों का परस्पर समन्वय कैसे किया जाता है, इसको पाश्चात्य विद्वान् समझ नहीं पाते हैं । वेद को अनुश्रव भी कहा जाता है । उसका अर्थ यह है कि जिसको गुरु के मुख से उच्चारित होने के बाद सुना जाता है । इस तरह से वेदों की उत्पत्ति किसी भी तरह से अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि वेद केवल सुना जाता है, उसकी कोई रचना नहीं करता । जहाँ पर यज्ञ से वेद की उत्पत्ति मानी गई है, उसका अभिप्राय केवल वैदिक सम्प्रदाय की प्रवृत्ति से है, क्योंकि वेद तो सर्वथा नित्य है । सम्प्रदाय की प्रवृत्ति के सिवाय अन्य किसी तरह की उत्पत्ति नित्य की नहीं मानी जा सकती । इसलिये पुरुष सूक्त को ऋग्वेद की अन्तिम रचना मानना सर्वथा निरर्थक बात है । पुरुष सूक्त और नासदीय सूक्त एक समन्वित ब्रह्म के ही बाधक हैं, इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, सायण प्रभृति आचार्यों ने इनकी व्याख्या इसी पद्धति से की है । वैदिक मत से प्राचीन अन्य कोई सिद्धान्त नहीं था, क्योंकि उसको अनादि माना जाता है । इसलिये प्राचीन मत में प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति मानी जाती थी, यह कथन निराधार है । वैदिक सिद्धान्त के अनुसार भी शक्तिविशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का उपादान माना जाता है, क्योंकि कूटस्थ ब्रह्म सृष्टि में प्रवृत्त नहीं होता । उस शक्ति को ही कुछ दार्शनिक प्रकृति मान लेते हैं । वैदिकों की पद्धति से ब्रह्म की वह शक्ति तत्त्व तथा अन्यत्व के रूप में नहीं समझाई जा सकती, अतः अनिर्वचनीय मानी जाती है और सांख्य दर्शन की पद्धति से वह स्वतन्त्र है । वेदान्त और सांख्य में शक्ति या प्रकृति के स्वरूप में मात्र इतना ही भेद है ।

सोपाधिक ब्रह्म ही इस जगत् का मूल तत्त्व है । उपाधि उसकी शक्ति ही है । शक्ति की दृष्टि से जगत् उसका परिणाम है और कूटस्थ ब्रह्म की दृष्टि से विवर्तात्मक है । एक अन्य मन्त्र में पुरुष शब्द से कूटस्थ आत्मा विवक्षित है । जैसे कि कठोपनिषत् में कहा गया है कि 'पुरुष से आगे और कोई वस्तु नहीं है, यहाँ तक आकर तत्त्वों की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है और संसारी जीवों के लिये यही परम गति है' । इसको पुरुष इसलिये कहा जाता है कि वह इन्द्रिय नाम की पुरियों में अथवा पुरीतत् नाडी में जाकर सो जाता है, अपने स्वरूप को भूल जाता है अथवा इसलिये कहते हैं कि यह स्वयं अपने में पूर्ण है । इसी तरह के पुरुष को सांख्य दर्शन स्वीकार करता है । उसमें इतनी विशेषता है कि वह नाना है और उसी आधार पर वस्तु की परिच्छित्ति में भेद माना जाता है । हिरण्यगर्भ को भी पुरुष कहा जाता है, क्योंकि वह भी पूर्ण है । समस्त सूक्ष्म शरीरों का अभिमानी चेतन हिरण्यगर्भ कहलाता है । सूक्ष्म शरीर में प्राण और बुद्धि का प्राधान्य होता है । जब प्राण का प्राधान्य होता है तो सूत्रात्मा और बुद्धि का प्राधान्य होने पर हिरण्यगर्भ कहलाता है । विश्वकर्मा, प्रजापति प्रभृति शब्दों से भी उसका बोध होता है । प्रजापति शब्द का प्रयोग कश्यपादि के लिये और चतुर्मुख

विराजि परमेश्वरे चापि विश्वं कर्म यस्येति व्युत्पत्त्या प्रयोक्तुं शक्यते। पुरुषसूक्ते देवतानामुपकरणत्वं च यदुक्तम्, न तन्मुख्यकारणत्वेन, किन्त्ववान्तरकारणत्वेनैव। तच्चान्यत्राप्यभ्युपगतम्। पुरुषशरीरं तु न जगदुपादानं सम्भवति, तच्छरीरस्यापि सावयवत्वेनोपादानसापेक्षत्वात्। यथा घटादीनां क्षित्युपादानकत्वं तथाऽवान्तरोपादानकत्वं पुरुषस्यापि सम्भवत्येव, तथापि सहस्रशीर्षापुरुषस्तु परमात्मैव विवक्षितः। सहस्रमिति त्वनन्तस्योपलक्षणम्, सर्वप्राणिशिरआदीनां तस्यैव शीर्षादित्वात्। 'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' (भ० गी० १३।१३) इति गीतोक्तेः। प्रकरणी पुरुषः परमात्मैव, तज्ज्ञानस्यैवामृतत्वसाधनत्वोपपत्तेः। प्रकृते च 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (वा० सं० ३१।१८) इति प्रकरणिज्ञानेनैवामृतत्वप्राप्तिरुक्ता। हिरण्यगर्भविराजावपि तदुपाधिभूतावेव। नैतावदेव, तयोरुपादानभूता मायाप्रकृत्यादिशब्दव्यवहार्या शक्तिरपि तदुपाधिरेव, केवलस्यैव तस्य निरुपाधिकत्वात्।

तदेव सर्वाधिष्ठानभूतं वस्तु सर्वमावृत्य दशाङ्गुलमतिक्रम्य तिष्ठति। दशाङ्गुलमित्यप्यनन्तोपलक्षणम्, अनन्ताकाशस्यैकदेशे मेघखण्डस्येव परमात्मैकदेश एव प्रपञ्चस्य स्थितत्वात्। अत एव सहस्रशीर्षेति षोडशर्चं षष्ठं सूक्तम्। नारायणो नामर्षिरन्त्या त्रिष्टुप् शेषा अनुष्टुभः। अव्यक्तमहदादिविलक्षणश्चेतनो यः पुरुषः 'पुरुषान्न परं किञ्चित्' (कठो० ३।११) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धः, स देवतेति सायणाचार्यः। तस्यैव पुरुषस्य 'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' इति भूतभव्यादिसर्वप्रपञ्चरूपत्वम्, तस्यैवामृतत्वेशानत्वम्, तस्यैव प्राणिनां कर्मफलभोगाय कारणावस्थामतिक्रम्य जगदवस्थास्वीकारेण विराड्रूपत्वमपि। एतावान् सर्वोऽपि प्रपञ्चः तस्य पुरुषस्य महिमा सामर्थ्यविशेष एव।

ब्रह्मा के लिये भी होता है, उसी तरह से 'यह सारा विश्व जिसका कर्म है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विश्वकर्मा शब्द का प्रयोग भी हिरण्यगर्भ, विराट् और परमेश्वर के लिये हो सकता है। पुरुषसूक्त में देवताओं का उपकरण के रूप में वर्णन है। ये देवगण मुख्य कारण के रूप में न होकर अवान्तर कारणता के आधार पर इस जगत् के उपकरण माने जाते हैं। इस बात को अन्यत्र भी स्वीकार किया गया है। पुरुष का शरीर तो जगत् का उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि पुरुष का यह शरीर भी सावयव है। अतः इसके लिये उपादान की आवश्यकता है। जैसे घटादि का उपादान क्षिति को माना है, उसी तरह का अवान्तर उपादान पुरुष को भी माना जा सकता है। सहस्रशीर्षा पुरुष तो परमात्मा ही है। यहां पर सहस्र शब्द अनन्त संख्या का बोधक है, क्योंकि सभी प्राणियों के शिर आदि अवयव उसी के तो शिर आदि हैं। गीता में कहा भी गया है कि 'वह परमात्मा सब तरह से हाथ पैर वाला आंख-शिर वाला है'। इस प्रकरण में स्थित पुरुष परमात्मा ही है, क्योंकि इस पुरुष का ज्ञान ही अमृतत्व की प्राप्ति का साधन है। यहां पर 'उसी परमात्मा को जानकर व्यक्ति मृत्यु से दूर चला जाता है, अमृतत्व प्राप्ति का इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है' इस प्रकार से परमात्मा के ज्ञान से ही अमृतत्व की प्राप्ति बताई गई है। हिरण्यगर्भ और विराट् भी उसी की उपाधियां हैं। केवल इतना ही नहीं, इन दोनों की उपादानभूत माया अथवा प्रकृति शब्द से व्यवहृत होनेवाली शक्ति भी उस परमात्मा की ही उपाधि है। केवल ब्रह्म ही निरुपाधिक माना जाता है।

यह सर्वाधिष्ठानभूत वस्तु ही सारे जगत् को अपने में समेटे रहती है और इनसे दस अंगुल बढ़कर रहती है। यहां दशांगुल पद अनन्त का उपलक्षक है। अनन्त आकाश के एक कोने में जैसे कोई बादल का टुकड़ा रहता है, उसी तरह से इस परमात्मा के एकदेश में यह सारा प्रपंच अवस्थित है। इसी परमात्मा की स्तुति के लिये 'सहस्रशीर्षा' प्रभृति सोलह ऋचाओं वाला यह छठा सूक्त है। इसके ऋषि नारायण हैं। अन्तिम ऋचा का छन्द त्रिष्टुप् तथा अन्य का अनुष्टुप् है। अव्यक्त, महान् आदि से विलक्षण चेतन पुरुष, जिसका कि वर्णन 'पुरुषान्न परं किंचित्' इस अभी अभी उद्धृत काठक वाक्य में है, वही इस सूक्त का देवता है। यह सायणाचार्य का कथन है। यही पुरुष 'पुरुष एवेदं' इस मन्त्र के अनुसार भूतभव्यात्मक सारे जगत् के रूप में दिखाई पड़ता है, वही अमृतत्व पद को देने में समर्थ है और वही प्राणियों को उनके कर्मों का फलोपभोग कराने के लिये कारणावस्था को छोड़कर जगदवस्था को स्वीकार कर विराट् रूप हो जाता है। यह सारा प्रपंच उस पुरुष की ही विशेष सामर्थ्य का सूचक है। वह पुरुष तो उसकी इस महिमा के सूचक

पुरुषस्तु अतो महिम्नोऽपि ज्यायानतिशयेनाधिकः। विश्वानि कालत्रयवर्तीनि भूतानि प्राणिजाताान्यस्य पादश्चतुर्थांशः। अवशिष्टमस्य त्रिपात् स्वरूपममृतमविनाशि दिवि स्वप्रकाशस्वरूपे व्यवतिष्ठते। अत्रापि न प्रपञ्चस्य तच्चतुर्थांशत्वं न वाऽवशिष्टस्य पादत्रयात्मकत्वं विवक्षितम्, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० आ० ८।१) इत्याम्नातस्य ब्रह्मण इयत्तासम्भवात्। किन्तु जगदिदं ब्रह्मस्वरूपपुरुषापेक्षयात्यल्पं ब्रह्म चानन्तमित्येव विवक्षितम्। त्रिपादूर्ध्वं उदैदित्यनयापि त्रिपात् पुरुषः संसाररहितोऽज्ञानतत्कार्यमयात् प्रपञ्चाद् वहिर्भूतस्तदीयैर्गुणदोषैरसंस्पृष्टः। तस्य पादो लेश इह मायायां पुनरभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति। 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (भ० गी० १०।४२) इति गीतोक्तेः। ततो मायामागत्यानन्तरं विष्वङ्देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण व्यक्रामत् साशनानशने चेतनाचेतने प्राणिजातं गिरिनद्यादिकं चाभिलक्ष्य तदुभयं यथा स्यात्तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवान्।

'तस्माद्विराडजायत' इत्यनया तदेव प्रपञ्चितम्। तस्मादादिपुरुषाद् विराड् ब्रह्माण्डदेहोऽजायत। विराजोऽधि विराड्देहस्योपरि पुरुषस्तद्देहाभिमानी कश्चित्पुरुषोऽन्योऽजायत। स च पुरुषो वेदान्तवेद्यः परमात्मैव। मायया ब्रह्माण्डदेहं विराजं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत्। 'स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव' (नृसिंहोत्तरतापनीय० २।१९) इत्याथर्वणिकश्रुतेः। स जातः विराट् पुरुषः अत्यरिच्यत विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभवत्। पश्चाद् देवादिजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेति शेषः। अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं पुरः तेषां जीवानां शरीराणि ससर्जेति। यत्पुरुषेण हविषेति मन्त्रेऽपि यद् यदा पूर्वोक्तक्रमेण शरीरेषूत्पन्नेषु देवा उत्तरसृष्टिसिद्ध्यर्थं वाह्यद्रव्यस्यानुत्पन्नत्वेन व्रीह्यादिद्रव्यान्तराभावाद् विराट्पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन सङ्कल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येण हविषा यज्ञं मानसं यज्ञमतन्वत, तदानीं यज्ञस्य वसन्त ऋतुः आज्यं घृतमासीत्। वसन्तमेवाज्यत्वेन सङ्कल्पितवन्तः। ग्रीष्म ऋतुः इध्मः

प्रपंच से ऊपर है। तीनों कालों में पैदा हुए प्राणी समुदाय उसके एक चतुर्थांश हैं। इसके अवशिष्ट तीन पाद अविनाशी हैं। उनकी स्थिति स्वर्गलोक में स्वयंप्रकाश स्वरूप में रहती है। यहां पर भी प्रपंच की चतुर्थांशता और अवशिष्ट भाग की पादत्रयात्मकता विवक्षित नहीं है, क्योंकि 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है' इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म की इयत्ता का अवधारण नहीं हो सकता। किन्तु यहां पर केवल इतना ही विवक्षित है कि यह जगत् ब्रह्मस्वरूप पुरुष की अपेक्षा से बहुत थोड़ा सा है और ब्रह्म अनन्त है। 'त्रिपादूर्ध्वं उदैत्' इस मन्त्र से भी यही अभिप्रेत है। त्रिपात् पुरुष संसार से रहित अर्थात् अज्ञान और उसके कार्यस्वरूप प्रपंच से बाहर है, उसके गुण और दोष से असंपृक्त है। उसका एक पाद, एक अंश यहीं माया में पड़ जाता है, अतः वह जन्म और मृत्यु के चक्कर में पड़कर बार बार पुनर्जन्म लेता रहता है। गीता में कहा भी गया है कि 'मैं इस सारे प्रपंच को अपने अधीन रखकर एक अंश में जगत् के रूप में अवस्थित होता हूँ'। तब माया में अवतरित होकर देव, मनुष्य और तिर्यक् के रूप में, चेतन और अचेतन, पर्वत-नदी आदि के रूप में सब तरह से वह स्वयं ही विविध रूपों में व्याप्त हो जाता है।

'तस्माद्विराडजायत' इत्यादि से इसी प्रपंच को बताया गया है। उस आदिपुरुष से विराट् अर्थात् ब्रह्माण्डदेह उत्पन्न हुआ। इस ब्रह्माण्डदेह के उत्पन्न होने के बाद उस देह का अभिमानी कोई पुरुष पैदा हुआ। यह पुरु वेदान्तवेद्य परमात्मा ही है। माया से ब्रह्माण्ड देह विराट् की सृष्टि करने के बाद वह उसमें जीव रूप से प्रविष्ट होकर ब्रह्माण्ड का अभिमानी देवता अर्थात् जीव बन जाता है। 'वह परमात्मा भूत, इन्द्रिय, विराट्, देवता और कोशों की सृष्टि कर उन्हीं में प्रविष्ट हो जाता है और तब माया के कारण अमूढ़ होता हुआ भी अज्ञानी का सा आचरण करने लगता है' यह आथर्वणिक श्रुति इसमें प्रमाण है। वह विराट् पुरुष उत्पन्न होते ही देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि अनेक रूपों को धारण कर लेता है। जब वह देवादि जीवभाव में अवस्थित हो जाता है, तो बाद में पृथ्वी की सृष्टि करता है। अब पृथ्वी की सृष्टि के बाद उन जीवों के नाना प्रकार के शरीरों की सृष्टि की। 'यत्पुरुषेण हविषा' इस मन्त्र में भी बताया गया है कि जब पूर्वोक्त क्रम से शरीरों की उत्पत्ति हो गई, तो देवताओं ने आगे को सृष्टि करने के लिये बाह्य द्रव्य की उत्पत्ति न होने से व्रीहि प्रभृति द्रव्यान्तर के अभाव में विराट् पुरुष के स्वरूप को ही मन से हवि के रूप में संकल्पित कर उस पुरुष रूपी हवि से ही मानस यज्ञ का अनुष्ठान आरंभ किया। उस समय वसन्त ऋतु यज्ञ का घृत था, अर्थात् वसन्त ऋतु को घृत के रूप में संकल्पित

समित् आसीद् तमेवेध्मत्वेन सङ्कल्पितवन्तः। तथैव शरद् हविः तामेव पुरोडाशादिहविष्ट्वेन कल्पितवन्तः। पूर्वं पुरुषस्य तु हविःसामान्यत्वेनैव पश्चाद् वंसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूपत्वेन सङ्कल्प इति भेदो द्रष्टव्यः।

तं यज्ञं वर्हिषि। तमग्रतो जातं पुरुषं पशुभावनया यूपे वद्धं वर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः। तेन पुरुषेण पशुना साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयो देवा अयजन्त मानसं यज्ञं कृतवन्तः, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्चायजन्त। तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सर्वात्मकः पुरुषो यस्मिन् यज्ञे हूयते तादृशात् सर्वहुतः मानसाद्यज्ञात् पृषदाज्यं संभृतम्। दधि चाज्यं चेत्येवमादिभोग्यजातं ततः सम्पादितवन्तः। तथा वायव्यान् वायुदेवताकांल्लोकप्रसिद्धान् आरण्यान् हरिणादीन् ग्राम्यान् गवाश्वादीन् चक्रे। 'वायवः स्थ' (वा० सं० १।१), 'वायुर्वाऽन्तरिक्षस्याध्यक्षः, अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः' इति श्रुतिभ्यः। तस्मादेव सर्वहुतो यज्ञात् ऋचः सामानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि जज्ञिरे यजुश्च। तस्मादश्वा इति पशुविशेषा उत्पन्ना इत्युक्तम्।

ब्राह्मणादिसृष्टिः प्रश्नोत्तररूपेणोच्यते—प्रजापतेः प्राणरूपा देवा यद् यदा पुरुषं विराड्रूपं व्यदधुः सङ्कल्पेनोत्पादितवन्तः, तदानीं कतिधा व्यकल्पयन्? अस्य मुखं किमासीत्? कौ वाहू कौ पादौ उच्येते? प्रश्नोत्तराणि—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्। वाहू राजन्यः। ब्राह्मणत्वादिजातिविशिष्टः पुरुषो मुखादुत्पन्नः। क्षत्रियत्वादिजातिमान् पुरुषो वाहुभ्यामुत्पादितः। अस्य यद् ऊरू तद्रूपो वैश्यः सम्पन्नः ऊरुभ्यामुत्पन्नः। तस्यास्य पद्भ्यां शूद्रत्वजातिमान् पुरुष उत्पन्नः। 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' (तै० सं० ७।१।१।४) इत्यादिश्रुतेः। 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इति वाक्यशेषानुसारेणैव ब्राह्मणादीनामपि मुखादिभ्य उत्पत्तिरेवाभिप्रेता। चन्द्रमा मनसो जात इति। ब्राह्मणादिवदेव चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोत्पन्नाः। प्रजापतेर्मनसः चन्द्रमा चक्षुषः सूर्यो जातः। मुखादग्निरिन्द्रश्च देवावुत्पन्नौ। अस्य प्राणाद्वायुः। तथैव तस्य नाभ्या अन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः पद्भ्यां भूमिः श्रोत्राद्दिश उत्पन्नाः।

किया। इसी तरह ग्रीष्म ऋतु को समिधा के रूप में तथा शरद् ऋतु को पुरोडाशादि हवि के रूप में कल्पित किया। यहाँ पर पहले पुरुष का सामान्य हवि के रूप में तथा बाद में वसन्त आदि की आज्यादि हविविशेष के रूप में कल्पना की गई है। यही दोनों की विशेषता है।

'तं यज्ञं बर्हिषि'। उस सर्वप्रथम पैदा हुए पुरुष को देवताओं ने पशु के रूप में कल्पित कर यज्ञीय यूप में बांध दिया और मानस यज्ञ में मानस बर्हि से उसका प्रोक्षण किया। उस पुरुष रूपी पशु से साध्यगण अर्थात् सृष्टि के साधन में समर्थ प्रजापति प्रभृति देवगण और मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण मानस यज्ञ करने लगे। उस यज्ञ से जिसमें कि सर्वात्मक पुरुष को मानसिक हवि के रूप में अर्पित किया जाता है, देवताओं ने पृषदाज्य, दही और घृत की तथा वायु देवता को अर्पित किये जाने वाले लोक प्रसिद्ध आरण्य हरिणा आदि की तथा ग्राम्य अश्व प्रभृति पशुओं की सृष्टि की। 'वायवः स्थ' इस वाजसनेय श्रुति तथा 'अथवा वायु अन्तरिक्ष का अध्यक्ष है, पशु अन्तरिक्ष के देवताओं को अर्पित किये जाते हैं' इस शतपथ श्रुति के अनुसार भी उक्त श्रुति का समर्थन होता है। इसी सर्वहुत यज्ञ से ऋचाएं, साम, गायत्री प्रभृति छन्द तथा यजु की उत्पत्ति हुई और उसी से अश्व नामक पशुविशेष भी उत्पन्न हुए।

यहीं पर प्रश्नोत्तर के रूप में ब्राह्मणादि की सृष्टि बताई गई है—प्रजापति के प्राणरूप देवताओं ने जब उस विराट् पुरुष को संकल्प से उत्पन्न किया, तब उसके कितने भेद किये? इसका मुंह क्या था? बाहू, ऊरू और पाद क्या थे? ब्राह्मण इसका मुंह था और राजन्य बाहू थे अर्थात् ब्राह्मणत्व जातिविशिष्ट पुरुष मुंह से और क्षत्रियत्व जातिविशिष्ट पुरुष भुजाओं से उत्पन्न हुआ। इस पुरुष का ऊरू स्वरूप वैश्य का था, अर्थात् ऊरू से वैश्य उत्पन्न हुआ और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई। 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' इत्यादि श्रुतियां उक्त अर्थ का समर्थन करती हैं। 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इस अन्तिम वाक्य के अनुसार पूर्व वाक्यों में भी ब्राह्मणादि की उत्पत्ति ही अभिप्रेत है। 'चन्द्रमा मनसो जातः'। ब्राह्मणादि की तरह ही इस पुरुष से ही चन्द्र आदि देवताओं की भी उत्पत्ति हुई। प्रजापति के मन से चन्द्रमा, चक्षु से सूर्य, मुख से अग्नि और इन्द्र देवता की उत्पत्ति हुई। इसके प्राण से वायु, नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से आकाश, पैर से भूमि और श्रोत्र से दिशाओं की उत्पत्ति हुई।

सप्तास्यासन्। अस्य सङ्कल्पितस्य यज्ञस्य सप्त छन्दांसि परिधय ऐषिकस्याहवनीयस्य त्रयः परिधयः उत्तरवेदिकास्त्रयः आदित्यश्च सप्तमः परिधिप्रतिनिधिरूपः। तथा त्रिःसप्त त्रिगुणीकृतसप्तसंख्याका एकविंशतिः द्वादश मासाः पञ्चर्तवः त्रय इमे लोका असावादित्य इति पदार्था एकविंशतिदारुमयेध्मत्वेन भाविताः। यद् यः पुरुषो वैराजोऽस्ति तं पुरुषं देवाः प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपा यज्ञं तन्वानाः पशुमबध्नन् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः। पूर्वं प्रपञ्चेनोक्तमर्थं संक्षिप्य यज्ञेन यज्ञमयजन्त इत्यत्र देवाः प्रजापतिप्राणरूपा यज्ञेन मानसेन सङ्कल्पेन यज्ञं यथोक्तयज्ञरूपं प्रजापतिम् अयजन्त पूजितवन्तः। तस्मात् पूजनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यानि आसन्। अथोपासनतत्फलानुवादभागार्थः सङ्गृह्यते। यत्र विराट्प्राप्तिरूपे नाके पूर्वे साध्याः पुरातना विराडुपास्तिसाधका देवाः सन्ति तन्नाकं विराट्प्राप्तिरूपं स्वर्गं ते महिमानः महात्मानः सचन्त समवयन्ति प्राप्नुवन्ति।

यद्यपि यज्ञस्वरूपं ब्राह्मणग्रन्थेषूक्तम्, तथापि जगदुत्पत्तिर्न यज्ञियविधित्वेनोक्ता। विराट्पुरुषस्तु न बलित्वेन स्थापितः, किन्तु यज्ञपशुत्वेन भावित एव, यज्ञस्य मानसत्वेन पशोरपि मानसत्वात्। अत एव तस्य विभिन्नावयवाः आलम्भनानन्तरं जगतो विभिन्नभागरूपतामुपजग्मुः। मस्तकमाकाशम्, नाभिर्वायुः, पादौ पृथ्वीत्यादिकम्। तदसत्, मानसे यज्ञे प्रत्यक्षालम्भनायोगात्। शीर्ष्णो द्यौः समवर्ततेत्यादिना न शीर्षादीनामेवाकाशत्वादिकम्, किन्तु शीर्ष्णो दिव उत्पत्तिश्रवणेन प्रकृतित्वावगमाद् ब्राह्मणग्रन्थानामुपनिषदां पुरुषसूक्तस्य च समन्वय एव पूर्वोक्तरीत्या। बहुदेववादस्य कश्चित् कालविशेषो न नियतः, अद्यापि बहुदेववादस्य सत्त्वात्। वेदे चैकेश्वरवादेन बहुदेववादस्याविरोधात्। ते चानेके देवा न स्वातन्त्र्येण जगत्कारणतामुपगच्छन्ति, किन्तु मानसिकयज्ञद्वाराऽवान्तरजगत्कारणत्वमेव भजन्ते। परमात्माव्यक्तहिरण्यगर्भविराजामेव कारणत्वात्। ते तु प्रजापतेः प्राणरूपत्वात् तदन्तर्गता एव।

'सप्तास्यासन्'। इस संकल्पित यज्ञ की परिधियाँ सात छन्द बने। सात परिधियों में ऐषिक आहवनीय की तीन परिधियां, तीन उत्तर वेदिका और सातवीं परिधि के रूप में सूर्य उसका प्रतिनिधि माना जाता है। उसी यज्ञ की बारह मास, पांच ऋतु, ये तीन लोक और वह आदित्य यह सब मिलकर इक्कीस समिधाएं बनीं। अर्थात् इन देवताओं को यज्ञिय समिधा के रूप में कल्पित किया गया। उस विराट् पुरुष को ही इस मानसिक यज्ञ का अनुष्ठान करते समय प्रजापति, प्राण, इन्द्रिय रूप देवताओं ने पशु के रूप में भावित किया। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' यहां पर प्रपंचित अर्थ को ही संक्षेप में बताया गया है कि प्रजापति, प्राण प्रभृति देवगण ने अपने मानस संकल्प से यथोक्त यज्ञरूप प्रजापति का पूजन किया। उस पूजन के कारण ही वे देवगण इस प्रसिद्ध धर्मों के अर्थात् जगत् रूप विकारों के मुख्य धारणकर्ता हो गये। यहीं पर उपासना और उसके फल के अनुवाद भाग का अर्थ संक्षेप में वर्णित है—उस विराट् के प्राप्ति स्थान स्वर्ग में पूर्व के साध्यगणं, अर्थात् विराट् स्वरूप के पुरातन उपासक देवगण निवास करते हैं, अर्थात् विराट् पुरुष की प्राप्ति स्वरूप उस स्वर्ग को वे महात्मागण प्राप्त करते हैं।

यद्यपि यज्ञों का स्वरूप ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित है, तथापि यज्ञ की विधि से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन वहाँ नहीं है। यहाँ पर विराट् पुरुष को बलि के लिये कल्पित नहीं किया है, किन्तु यज्ञीय पशु के रूप में केवल उसकी भावना की गई है। यहाँ का यज्ञ मानस है, तो पशु भी मानस ही माना जायगा। इसीलिये उसके विभिन्न अवयव आलम्भन के अनन्तर जगत् के विभिन्न भागों में परिणत हो जाते हैं। मस्तक आकाश बन जाता है, नाभि वायु बनता है और पैर पृथ्वी बन जाता है, इत्यादि। यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि मानस यज्ञ में प्रत्यक्ष आलम्भन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। शिर से आकाश की उत्पत्ति हुई, इसका अर्थ यह नहीं है कि उस विराट् पुरुष का शिर ही आकाश बन गया, किन्तु शिर से आकाश की उत्पत्ति होने के कारण वह विराट् पुरुष का शिर आकाश की प्रकृति मानी जाती है। इस तरह से पूर्वोक्त पद्धति से ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद् और पुरुषसूक्त की समन्वय के आधार पर एकवाक्यता ही माननी पड़ती है। बहुदेववाद की सृष्टि का कोई कालविशेष निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह तो आज भी विद्यमान है। वेद में एकेश्वरवाद के साथ बहुदेववाद का कोई विरोध नहीं माना गया है। ये अनेक देवता स्वतन्त्र रूप से जगत् के कारण नहीं माने जाते, किन्तु मानसिक यज्ञ के आधार पर ये जगत् के अवान्तर कारण ही बनते हैं। परमात्मा, अव्यक्त, हिरण्यगर्भ और

सूर्योऽपि प्रजापतिरूपेणैव जगतः कारणमात्मा च भवति। नासदीयादिसूक्तानामपि पूर्वोक्तरीत्या समन्वय एव युक्तः।

'किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत्। यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥' (ऋ० सं० १०।८१।२), 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥' (ऋ०सं० १०।८१।३), 'किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥' (ऋ० सं० १०।८१।४) इत्यादयो मन्त्रा अपि पुरुषसूक्तेन समन्वितमेवार्थं वदन्ति। 'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत पिता नः' (ऋ० सं० १०।८१।१) इति पूर्वोक्तमन्त्रोक्तरीत्या 'विश्वकर्मा सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति' (नि० १०।२६) इति निरुक्तरीत्या च विश्वकर्मनामर्कार्षिर्होता विश्वानि भुवनानि जुह्वत् होमं कुर्वन् प्रथमं सर्वं जगद्धुत्वा पश्चादग्नौ न्यषीदत। पिता जनकः। आत्मकृतेन कर्मणा देहोत्पत्तेस्तस्य पितृत्वमपि। न चैकस्य जन्यजनकभावो विरुद्धयते, तपोबलेन शरीरद्वयस्वीकारात्। अध्यात्मप्रसिद्धया तु यो विश्वकर्मा परमेश्वर इमा भुवनानि जुह्वत् प्रलयकाले पृथिव्यादीन् सप्तलोकान् स्वात्मन्याहुतिप्रक्षेपवत् संहरन्नृषिरतीन्द्रियद्रष्टा सर्वज्ञो होता संहाररूपस्य होमस्य कर्ता नोऽस्माकं पिता जनको निषसाद स्वयं स्थितवान् संहृत्य पश्चात् सिसृक्षायां सर्वं सृष्ट्वा तत्र प्रविष्ट इत्युक्तम्।

तत्रायं प्रश्नः—तत्र द्वितीयस्याधिष्ठानजगदुपादानकारणाद्यसम्भवात् सृष्टिः कथमुपपद्यत इत्याक्षिपति किंस्विदासीत्। यथा कुलालो घटचिकीर्षुर्गृहादिकमधिष्ठाय मृद्रूपेणारम्भकद्रव्येण चक्रादिरूपैरुपकरणैर्घटं निष्पादयति, तद्वदीश्वरस्य जगदाश्रयद्यावापृथिव्योरुत्पादनवेलायामधिष्ठानं किंस्विदासीत् किं नामाभूत्, न किञ्चि-

विराट् ये ही वस्तुतः जगत् के कारण हैं। ये सब भी प्रजापति के प्राणस्वरूप हैं, अतः इनका भी अन्तर्भाव प्रजापति में हो जाता है। सूर्य भी प्रजापति के रूप में ही जगत् का कारण और आत्मा माना जाना है। नासदीय सूक्त का भी पूर्वोक्त पद्धति से समन्वय के आधार पर अर्थ करना चाहिये।

'किंस्विदासीत्०', 'विश्वतश्चक्षु०', किंस्विद्वनं०' इत्यादि मन्त्रों का भी पुरुष सूक्त से मिलता-जुलता ही अर्थ किया गया है। 'य इमा विश्वा०' इस पूर्वोक्त मन्त्र का आशय यह है कि विश्वकर्मा ने सर्वमेध यज्ञ में सभी प्राणियों की आहुति देने के बाद स्वयं अपने को अन्ततः समर्पित कर दिया। इसी बात का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है। निरुक्त के अनुसार विश्वकर्मा नाम का ऋषि होता के रूप में पहले इस सारे जगत् को और बाद में स्वयं अपने शरीर को भी यज्ञीय अग्नि को समर्पित कर देता है। यहां पर वह स्वयं अपना जनक माना गया है, क्योंकि अपने द्वारा संपादित इस यज्ञीय कर्म से उसका नवीन देह उत्पन्न हुआ था। एक ही व्यक्ति जन्य और जनक भी हो, इसमें कोई विरोध नहीं पड़ सकता, क्योंकि अपनी तपस्या के बल से वह इस तरह के दो शरीर धारण कर सकता है। आध्यात्मिक प्रसिद्धि के अनुसार तो विश्वकर्मा परमेश्वर ही है। वह प्रलय बेला में पृथिवी प्रभृति सात लोकों को अपने में ही आहुति दे देता है, अर्थात् अग्नि में जैसे आहुति लीन हो जाती है, उसी तरह से इस परमात्मा के शरीर में यह सारा जगत् लीन हो जाता है। अपने में सारे जगत् को लीन करने वाला यह ऋषि अतीन्द्रियार्थ द्रष्टा सर्वज्ञ परमात्मा इस संहार रूप होम का कर्ता होने से पिता है। अर्थात् संहारावस्था में यह सारे जगत् को अपने में समेट कर रखता है, किन्तु जब इसकी पुनः सिसृक्षा होती है तो इस सारे जगत् की यह पुनः सृष्टि करता है और स्वयं उसी में प्रविष्ट हो जाता है।

इस अवस्था में यह प्रश्न उठता है कि जब कोई इस जगत् का अधिष्ठाता या कारण विद्यमान नहीं है, तब सृष्टि की उत्पत्ति कैसे होती है? इसी प्रश्न को 'किंश्विदासीत्' इत्यादि मन्त्रों में उठाया गया है। जैसे कुम्हार जब घड़ा बनाना चाहता है, तो घर में बैठकर मृद्रूप (मिट्टी) सामग्री को सामने रखकर चक्र प्रभृति उपकरणों की सहायता से घट का निर्माण करता है, उसी तरह से

दित्यर्थः। तथा तयोरारम्भणं कतमत्स्वित् आरम्भतेऽनेनेत्यारम्भणमुपादानम् तदपि कतमत्, नेत्यर्थः। तत्सत्त्वेऽपि कथासीत् कथमभूत् किं स्वयं सदसद्वाभवदित्यर्थः। नोभयमपि। सच्चेदद्वैतभङ्गः, असच्चेत् तस्य सदात्मकयोर्द्यावापृथिव्योरुत्पादनानर्हत्वात्। 'नान्यत् किञ्चन मिषत्' (ऐ० आ० २।४।१) इति श्रुतेश्च। यतो यस्मादधिष्ठानादारम्भणाच्च विश्वचक्षा सर्वद्रष्टा विश्वकर्मा परमेश्वरो भूमिं जनयन् वर्तते। तथा द्यां दिवं वि और्णोत् व्यवृणोत् सृष्टवान् महिना स्वमहत्त्वेन किंस्विदासीत्।

द्वितीयया तूत्तरम्—सर्वात्मकत्वेन कुलालादिविलक्षणत्वादधिष्ठानाद्यभावेऽपि स्रष्टुं शक्नोतीत्याह—विश्वतश्चक्षुः सर्वतो व्याप्तचक्षुः, उत अपि, विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुः उत विश्वतस्पात् स एवंविधः परमेश्वरः स्वस्मिंस्त्रैलोक्यमुत्पादयति। सहस्रशीर्षादिवदयमपि। कथमिति तत्राह—बाहुभ्यां दिवं संधमति। धमतिर्गतिकर्मा। सम्यक् प्रेरयति। तथा पतत्रैः गमनशीलैः पादैः पृथिवीं सन्धमति। द्यावापृथिव्योः प्राधान्याभिप्रायेण वचनम्। एवं द्यावाभूमी जनयन् देवः स्वयंप्रकाशः एकः असहाय एव वर्तते। स मायामयेन सङ्कल्पेन स्वात्मानमेव द्यावापृथिव्यादिरूपेण विवर्तयति। प्रजापतेः प्राणात्मका देवास्तु मानसयज्ञद्वाराऽवान्तरकारणत्वमुपगच्छन्ति, कर्मद्वारा च ते कारणम्। जीवादृष्टानां सृष्टे साधारणकारणत्वात्। तदभावे विषमसृष्टिनिर्माणेन परेशस्य वैषम्यनैर्घृण्यापातात्। 'वैषम्यनैर्घृण्ये इति चेन्न कर्मसापेक्षत्वात्' (ब्र० सू० २।१।३४) इति न्यायात्।

पूर्वं ब्रह्मैव भूम्यादिकारणमित्युक्तम्, तदेवानया प्रश्नव्याजेनोच्यते। लोके हि प्रौढं प्रासादं निर्मिमाणः कस्मिंश्चित् प्रौढे वने कञ्चिन्महान्तं वृक्षं छित्वा तक्षणादिना स्तम्भादिकं सम्पादयति। इह तु परमेश्वरप्रेरिता जगत्स्रष्टारो यस्माद्वनाद्यं वृक्षमादाय द्यावापृथिवी निष्टतक्षुस्तक्षणेन द्यावापृथिव्यौ निष्पादितवन्तस्तद्वनं किंस्वित्

जब ईश्वर इस जगत् के आश्रयभूत आकाश, पृथ्वी आदि की सृष्टि करता है, तो वह कहाँ बैठता है, उसका क्या नाम है? वास्तव में ऐसा कोई पदार्थ उस समय विद्यमान नहीं है, जिस पर कि वह बैठकर इस सृष्टि की निष्पत्ति करे। इसी तरह से पृथ्वी और आकाश के निर्माण के लिये उसके पास सामग्री क्या थी? वास्तव में ऐसी सामग्री भी उस समय विद्यमान न थी। उसकी विद्यमानता में भी वह सब कैसे हुआ, अर्थात् वह स्वयं क्या सत् अथवा असत् रूप में उत्पन्न हुआ? यह दोनों बातें नहीं हो सकती। क्योंकि यदि वह सत् है, तो अद्वैत नष्ट हो जायगा और यदि वह असत् है, तो वह सदात्मक द्यावापृथिवी की उत्पत्ति कैसे कर सकता है? श्रुति भी इस बात का समर्थन करती है कि 'उस समय कुछ भी हलचल नहीं थी'। जिस अधिष्ठान और कारण सामग्री की सहायता से सर्वद्रष्टा परमेश्वर ने भूमि और आकाश की उत्पत्ति की, उसकी अपनी क्या महिमा थी?

इस प्रश्न का उत्तर दूसरी ऋचा में दिया गया है—परमेश्वर सर्वात्मक है, अतः इसकी कुम्हार प्रभृति से विलक्षणता माननी पड़ेगी। वह अधिष्ठान आदि के न रहने पर भी सृष्टि कर सकता है। उस परमेश्वर के चक्षु, मुख, बाहु और पाद सारे विश्व में व्याप्त हैं। इस विराट् स्वरूप वाला यह परमेश्वर 'सहस्रशीर्षा' इत्यादि के रूप में वर्णित पुरुष के समान सारी त्रिलोकी को उत्पन्न करने में समर्थ है। वह किस तरह से सृष्टि करता है? इसीको बताया गया कि वह अपनी भुजाओं से और पैरों से आकाश और पृथ्वी को गति प्रदान करता है। वह इस तरह से सारी सृष्टि को गति प्रदान करता है, इसमें प्रधान पृथिवी और आकाश है। अतः यहाँ पर केवल दो प्रधान पदार्थों की सृष्टि सारे जगत् की सृष्टि का ज्ञान कराने में समर्थ हैं। इस तरह से द्यावापृथिवी की सृष्टि करते समय यह स्वयंप्रकाश परमात्मा विना किसी की सहायता लिये अकेला रहता है। वह अपने मायारूपी संकल्प से अपने आप को द्यावापृथिवी के रूप में बदल लेता है। प्रजापति के प्राणस्वरूप देवगण मानस यज्ञ के द्वारा अवान्तर कारण और कर्म के द्वारा कारण बनते हैं। जीवों के अदृष्ट सृष्टि के साधारण कारण हैं। इसके अभाव में विषम सृष्टि का निर्माण होने से परमेश्वर पर विषमता और निर्दयता का आरोप हो सकता है, जिसका कि परिहार 'वैषम्यनैर्घृण्ये' इस बादरायण सूत्र में किया गया है।

पहले ब्रह्म को ही पृथिवी प्रभृति का कारण बताया गया है। उसी बात को तीसरी ऋचा में प्रश्नों के बहाने समझाया गया है। लोक में यह देखा गया है कि यदि कोई व्यक्ति विशाल प्रासाद खड़ा करना चाहता है, तो वह किसी विशाल वन में जाकर

किं नाम स्यात्। तथा क उ वृक्ष आस। हे मनीषिणः मनस ईश्वराः, तदुभयं मनसा जिज्ञासायुक्तेन पृच्छतेदु पृच्छतैव। किञ्च, ईश्वरः भुवनानि धारयन् यत्स्थानमध्यतिष्ठत् तदपि पृच्छत। एतस्य सर्वस्योत्तरं ब्रह्म स वृक्ष आसीदित्यादिकम्।

यदपि १०।८२ सूक्ते—'अद्भ्यः सर्ववस्तूनां बीजमुत्पन्नं तदेव जगतो देवतानां च मूलम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तदर्थानवगमात्। तथाहि—'यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥' (ऋ० सं० १०।८२।३), 'परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति। कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ॥' (ऋ० सं० १०।८२।५), 'तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे। अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥'(ऋ० सं० १०।८२।६) 'न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥' (ऋ० सं० १०।८२।७)। यो विश्वकर्मा नः पालयिता जनिता न केवलमस्माकं किन्तु यो विधाता सर्वस्योत्पादकः, यश्चास्माकमुत्पन्नानि धामानि तेजःस्थानानि वेद, किंबहुना विश्वानि भुवनानि भूतजातानि वेद, यश्च देवानामग्निवाय्वादीनां नामधा नाम्नां धाता इन्द्रादिदेवान्निर्माय तेषां नाम कृत्वा तत्पदेषु स्थापयिता एक एव तं देवम् अन्या अन्यानि भूतजातानि प्रश्नं कः परमेश्वर इति पृच्छां यन्ति प्राप्नुवन्ति। यदीश्वरतत्त्वं देवा द्युलोकादपि पुरस्ताद् वर्तमानं तथा एना अस्याः पृथिव्याः परः परस्ताद्वर्तमानं तथा देवेभिः देवेभ्यः असुरेभ्यश्च परस्ताद्वर्तमानं यदस्ति तद्गुहायामवस्थितं कंस्विद्गर्भं गर्भवत्सर्वस्य ग्राहकं तत्त्वम् आपः प्रथमं दध्रे घृतवत्यः। यत्र गर्भे देवा इन्द्रादयो विश्वे सर्वेऽपि समपश्यन्त सङ्गताः परस्परं पश्यन्ति। एवं जानन्नेव कश्चित्तत्त्ववित् प्रश्नं करोति।

तमिदित्यनया तदुत्तरमाह—तमित् तमेव विश्वकर्माणं गर्भं गर्भस्थानीयं प्रथममितरसृष्टेः प्राग् आपः दध्रे घृतवत्यः। यत्र गर्भे विश्वेदेवा इन्द्रादयः समगच्छन्त संगता भवन्ति। तस्य अजस्य नामावधि अधीति सप्तम्यर्था-

किसी बड़े वृक्ष को खोजकर और काट लेने के बाद छील-छालकर पहले मजबूत खम्भे बनाता है। यहाँ पर भी, प्रकृत स्थल में भी परमेश्वर से प्रेरित होकर जगत् की सृष्टि में लगे हुए देवगण जिस वन से जिस वृक्ष को लेकर और उसका तक्षण कर द्यावापृथिवी का संपादन करते हैं, उस वन का नाम क्या है? और वह वृक्ष कौन सा है? हे मनीषियों, इन दोनों की मानसिक जिज्ञासा आप लोगों में होनी चाहिये। ईश्वर ने इन भुवनों की सृष्टि करते समय किस स्थान का आश्रय लिया, इसकी जिज्ञासा भी आपके मन में उठनी चाहिये। इन सबका उत्तर यही है कि ब्रह्म ही वह वृक्ष था, इत्यादि।

'अगले सूक्त (१०।८२) में कहा है कि आप (जल) से समस्त वस्तु का बीज उत्पन्न हुआ और वही जगत् का और देवताओं का मूल है' (पृ० १२९)। यह भी गलत बात है, क्योंकि उस सूक्त का अर्थ मैकडानल ठीक से समझ नहीं पाये हैं। यहाँ पर 'यो नः पिता' इत्यादि चार ऋचायें उद्धृत हैं। उनका क्रमशः यह अर्थ है--'जो विश्वकर्मा केवल हमारा जनक और पालक ही नहीं है, किन्तु जो सारे जगत् का विधाता है और जो हमारे लिये उत्पन्न हुए सभी दिव्य तेजोमय स्थानों को जानता है, इतना ही नहीं, वह सभी लोकों और उनमें निवास करने वाले प्राणियों को जानता है और जो अग्नि, वायु प्रभृति देवताओं के नाम और कर्म का निर्धारक है, अर्थात् जो इन्द्र प्रभृति देवताओं की सृष्टि कर उनके नाम का निर्धारण कर उचित स्थान पर उनको प्रतिष्ठित करता है, वह देव एक ही है। उसी देव को अन्य प्राणी प्रश्नप्रणाली से जानकर जान पाते हैं। 'परो दिवा'। वह ईश्वर तत्त्व द्युलोक से परे वर्तमान है, यह पृथ्वी लोक से भी परे वर्तमान है तथा देवताओं और असुरों से भी यह बहुत दूर है। यह किसी गुहा, अत्यन्त गुप्त स्थान में छिपा हुआ है। वहाँ पर यह सबसे पहले सभी पदार्थों के संग्राहक किसी तत्त्व को जल गर्भ के समान धारण करता है, जिसमें कि इन्द्र प्रभृति सभी देवगण परस्पर एक दूसरे को देखते हैं? कोई जानकार ऋषि यह प्रश्न करता है।

'तमिद्गर्भं' यहाँ पर उसका उत्तर दिया गया है—जल अन्य पदार्थों की सृष्टि से पहले इस विश्वकर्मा को ही गर्भ के रूप में सबसे पहले धारण करते हैं। इसी गर्भ में इन्द्र प्रभृति सभी देवगण संगत हो जाते हैं। उस अजन्मा जल की नाभि में एक

नुवादी । एकमण्डमर्पितम् । अण्डं हि प्राक्सर्गाद् नाभिस्थाने तिष्ठति । यस्मिन्नण्डे विश्वानि भुवनानि तस्थुः तिष्ठन्ति । यद्वा अजस्य जन्मरहितस्य ब्रह्मणः स्वसृष्टे जले शयानस्य नाभौ सर्वं जगद्बन्धक उदक एकं ब्रह्माण्डमर्पितं स्थापितम् । शिष्टं समानम् । अर्थाद् आपः परमात्मरूपमेव गर्भं गर्भवत्सर्वस्य ग्राहकं धृतवत्यः । स एव दिवः पृथिव्या देवादिभ्यश्च परस्ताद्वर्तते । तस्य परमात्मरूपगर्भस्य नाभौ एकमण्डमर्पितम् । यत्राण्डे भुवनानि तिष्ठन्ति । अजस्य ब्रह्मणो वा स्वसृष्टे जले शयानस्य नाभौ सर्वजगद्बन्धने उदके एकमण्डमर्पितमित्यादि । हे नराः, तं विश्वकर्माणं न विदाथ न जानीथ य इमानि भुवनानि जजान उत्पादितवान् । यत्तु—'वयमात्मानं विश्वकर्माणं जानीमः' इति, तदसत्, नह्यहंप्रत्ययगम्यं जीवरूपं परमेश्वरस्य तत्त्वम्, किन्तु युष्माकमहंप्रत्ययगम्यानां जीवानामन्तरन्यत् अहंप्रत्ययगम्यादतिरिक्तं सर्ववेदान्तवेद्यमीश्वरतत्त्वं बभूव विद्यते । ननु तदपि कुतो न विद्म इति चेत् तत्राह—नीहारतुल्येनाज्ञानेनाच्छन्ना अतो न जानीथ । यथा नीहारो नात्यन्तमसन्, दृष्टेरावरकत्वात् । नाप्यत्यन्तं सन्, काष्ठपाषाणादिरूपान्तरेण सम्बन्धुमयोग्यत्वात् । एवमज्ञानमपि नात्यन्तमसत्, परमेश्वरतत्त्वावरकत्वात् । नापि सत्, बोधमात्रनिवर्त्यत्वात् । न केवलं प्रावृता किन्तु जल्प्या देवोऽहं मनुष्योऽहमित्याद्यनृतजल्पनेन प्रावृता असुतृपः कथञ्चित् प्राणांस्तृप्यन्तो न तु परमेश्वरं विचारयन्तः, उक्थशासः नानायज्ञेषूक्थं प्रउगनिष्केवल्यादिकं शंसन्तः परलोकगतभोगवासनया चरन्ति वर्तन्ते, अतो विश्वकर्माणं न जानीथेति नात्र मन्त्रेषु अद्भ्यः समस्तबीजमुत्पद्यत इत्युक्तम् ।

यदप्युक्तम्—'परमसुन्दरं सूक्तं हिरण्यगर्भस्य तात्पर्यं सुवर्णबीजमुदीयमानं सूर्यमाधृत्य तत्कल्पितम्, अत्राग्निजनकस्य जलतत्त्वस्यैव जीवनाधारत्वमुक्तम्' (पृ० १३०) इति, तदप्यसत्, भावार्थानवगमात् । तथा हि—'हिरण्यगर्भः

अण्ड अर्पित होता है, बनता है । सृष्टि से पहले नाभि में अण्ड की स्थिति रहती है, जिस अण्ड में कि यह सारा विश्व विद्यमान रहता है । अथवा अज अर्थात् जन्मरहित ब्रह्मा जब अपने द्वारा सृष्ट जल में सोया रहता है, तब उसकी नाभि में उस सारे जगत् के बन्धकभूत जल में एक ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है । इसका अभिप्राय यह है कि जल गर्भ के समान सभी पदार्थों को अपने में समेटे परमात्मा को ही सबसे पहले गर्भ के रूप में धारण करता है । वही आकाश, पृथिवी और देवादि से भी पहले विद्यमान रहता है । उस परमात्मस्वरूप गर्भ की नाभि में एक अंड बनता है, जिसमें कि ये सारे भुवन विद्यमान रहते हैं । अज अथवा ब्रह्मा जब अपने द्वारा सृष्ट जल में सोये रहते हैं, तब उनकी नाभि में सारे जगत् को बाँध लेने वाले उदक में एक अण्ड बनने लगा । 'न तं विदाथ०' । 'हे मनुष्यों, तुम उस विश्वकर्मा को नहीं जानते, जिसने कि इन सारे भुवनों को बनाया । 'हम अपने को विश्वकर्मा के रूप में जानते हैं' यह व्याख्या गलत है, क्योंकि 'अहम्' इस प्रतीति से ज्ञात होने वाला जीवरूप परमेश्वर तत्त्व नहीं हो सकता, किन्तु तुम लोगों के लिये अपने अपने स्वरूप में जीवरूप में अहंप्रत्ययगम्यता से भिन्न सर्ववेदान्तवेद्य ईश्वरतत्त्व सर्वथा भिन्न है । प्रश्न होता है कि उस ईश्वरतत्त्व को हम क्यों नहीं जान सकते ? उत्तर है कि तुम लोग कुहरे के समान सब जगह छाये हुए अज्ञान के कारण उस ईश्वरतत्त्व को नहीं जान पाते । जैसे कुहरा अत्यन्त असत् नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह दृष्टि की शक्ति को अवरुद्ध कर देता है; और न उसको अत्यन्त सत् ही मान सकते हैं, क्योंकि काष्ठ, पाषाण आदि के समान उसको किसी से संबद्ध नहीं किया जा सकता । इसी तरह से अज्ञान भी अत्यन्त असत् नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को ढक देता है और इसी तरह से यह सत् भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ज्ञानमात्र से उसकी निवृत्ति हो जाती है । इन जीवों को दृष्टि अज्ञान से आवृत ही नहीं है, किन्तु ये मैं देव हूँ, मैं मनुष्य हूँ, इस तरह की असत्य जल्पनाओं से भी आवृत हैं । ये केवल अपने प्राणों को किसी तरह से तृप्त करने में लगे रहते हैं, परमेश्वर का चिन्तन नहीं करते । केवल नाना प्रकार के यज्ञों में उक्थ, साम आदि का उच्चारण करते हुए परलोक की भोगवासनाओं में लीन होकर रहते हैं । इन्हीं सब कारणों से सभी जीवस्थानीय तुम लोग विश्वकर्मा को नहीं जान पाते' । इस प्रकार इन मन्त्रों में जल से समस्त वस्तुओं के बीज की उत्पत्ति का वर्णन नहीं है ।

'परमसुन्दर सूक्त है हिरण्यगर्भ का । हिरण्यगर्भ का तात्पर्य है सुवर्ण का बीज, जिसकी कल्पना निश्चय उदीयमान सूर्य के आधार पर की गई है । यहाँ भी अग्नि के जनक जल-तत्त्व को ही जीवनाधार बताया है' (पृ० १३०) यह कथन भी गलत है, क्योंकि

समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥' (ऋ० १०।१२१।१) हिरण्यगर्भः हिरण्यमयस्याण्डस्य गर्भभूतः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः, 'प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरूपत्वाय' (तै० सं० ५।५।१।२) इति श्रुतेः। यद्वा हिरण्मयोऽण्डो गर्भवद्यस्योदरे वर्तते सोऽसौ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ उच्यते। सोऽग्रे प्रपञ्चोत्पत्तेः प्राक् समवर्तत। स च हिरण्यगर्भो मायाध्यक्षात् सिसृक्षोः परमात्मनः समजायत। यद्यपि परमात्मैव हिरण्यगर्भोऽपि, तथापि तदुपाधिभूतानां वियदादीनां ब्रह्मण उत्पत्तेस्तदुपहितो हिरण्यगर्भोऽपि परमात्मन उत्पद्यत इति व्यवहारः। स च जातमात्र एव एकोऽद्वितीयो भूतस्य विकारजातस्य ब्रह्माण्डादेः सर्वजगतः पतिरीश्वर आसीत्। न केवलं पतिरासीत्, किन्तु स पृथिवीं विस्तीर्णां द्यां दिवम् उत अपि तु इमां दृश्यमानां भूमिं दाधार। यद्वा पृथिवीत्यन्तरिक्षनाम। तथा चान्तरिक्षं दिवं भूमिं च दाधार धारयति। 'छन्दसि लुङ्लुङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति सार्वकालिको लिट्। तस्मै कस्मै प्रजापतये वयमृत्विजो हविषा विधेम परिचरेम।

'य आत्मदा वलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥' (ऋ० सं० १०।१२१।२)। य आत्मदा आत्मनां दाता अग्नेः सकाशाद्विस्फुलिङ्गा इव तस्मात् सर्वे आत्मानो जायन्ते। घटोत्पत्त्या घटाकाश इव बुद्ध्याद्युपाध्युत्पत्त्या तदुपहिता जीवात्मानोऽप्युत्पद्यन्ते। यद्वा 'दैप् शोधने' इति धातोस्तद्रूपनिष्पत्त्या आत्मां शोधयिता वलदा वलस्य दाता शोधयिता वा। यस्य प्रशिषं प्रकृष्टं शासनं विश्वे प्राणिनः उपासते प्रार्थयन्ते देवा अपि यस्य प्रशासनमुपासते। अपि च, अमृतम् अमृतत्वम्, भावप्रधानो निर्देशः। यद्वा नास्ति मृतं मरणं यस्मात्तदमृतं सुधा यस्य छाया छायेव वशवर्तिनी भवति, मृत्युः यमस्य प्राणापहारी छायेव भवति, तस्मै कस्मै देवाय हविषा विधेम।

मैकडानल इसका अभिप्राय हो ठीक से नहीं समझ पाये हैं। जैसे कि 'हिरण्यगर्भः' इस मन्त्र का अर्थ यह है—हिरण्मय अण्ड के गर्भभूत प्रजापति यहाँ पर हिरण्यगर्भ कहलाते हैं 'प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः' यह तैत्तिरीय श्रुति इसमें प्रमाण है। अथवा हिरण्मय अण्ड गर्भ के समान जिसके उदर में रहता है, वह सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ कहलाता है। यह हिरण्यगर्भ अर्थात् सूत्रात्मा प्रपंच की उत्पत्ति के पहले विद्यमान था। यह हिरण्यगर्भ माया के अध्यक्ष, सृष्टि करने की इच्छा वाले परमात्मा से पैदा हुआ। यद्यपि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ भी है, तथापि उसके अधिभूत आकाशादि की भी उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है, अतः तदुपहित हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति भी परमात्मा से ही होती है, ऐसा व्यवहार में चल पड़ा है। वह उत्पन्न होने के साथ ही अकेला बिना किसी की सहायता से सभी भूतों का विकारमात्र का ब्रह्माण्ड प्रभृति पूरे जगत् का स्वामी था, ईश्वर था। वह केवल ईश्वर ही नहीं था, किन्तु उसने इस पूरी पृथ्वी को और विशाल आकाश को भी धारण कर लिया था। अथवा पृथिवी यह अन्तरिक्ष का नाम माना जायगा, तो यह अर्थ होगा कि वह हिरण्यगर्भ अन्तरिक्ष, आकाश और पृथ्वी को भी धारण करता है। 'छन्दसि०' इस पाणिनि सूत्र से यहाँ पर सार्वकालिक लिट् प्रत्यय का विधान माना जायगा। उस प्रजापति की हम हविःप्रदान द्वारा उपासना करते हैं।

'य आत्मदा' जो सभी आत्माओं का दाता है, अर्थात् अग्नि से जैसे विस्फुलिंग निकलते हैं, उसी तरह से जिससे सारी आत्माएं उत्पन्न होती हैं, घट की उत्पत्ति से जैसे घटाकाश की उत्पत्ति का उपचरित प्रयोग होता है, उसी तरह से बुद्धि प्रभृति उपाधि की उत्पत्ति के आधार पर उस बुद्धि से उपहित जीवात्माओं में भी उत्पत्ति का व्यवहार माना जाता है। अथवा 'दैप् शोधने' इस धातु से इस पद की निष्पत्ति मानी जायगी। तब उसका अर्थ होगा कि आत्माओं की शुद्धि करने वाला। इसी तरह से 'बलदा' का भी अर्थ बल का दाता अथवा शोधयिता होगा जिसके प्रकृष्ट शासन को सभी प्राणी चाहते हैं, देवता भी जिसके शासन की कामना करते हैं। अपि च, वह अमृत है, अमृतस्वभाव है। यहाँ पर भावप्रधान निर्देश किया गया है। अथवा जिससे मृत्यु की प्राप्ति नहीं होती, जिसके पीने से मनुष्य मरता नहीं, वह सुधा यहां पर अमृत कहलाती है। यह सुधा जिसकी छाया के समान वशवर्तिनी होती है और इसी तरह से मृत्युमय की प्राणहारिणी शक्ति भी जिसकी छाया के समान वशवर्तिनी है, उस प्रजापति की हम हविःप्रदान द्वारा उपासना करते हैं।

'आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् । ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै० ॥' न बृहतीः बृहत्यो महत्यो अग्निम् अग्न्युपलक्षितं सर्वं वियदादिकं जनयन्त्यः तदर्थं गर्भं हिरण्यमयाण्डस्य गर्भभूतं प्रजापतिं दधाना आप एव विश्वमायन् सर्वं जगद् व्याप्नुवन् । ततो गर्भभूतात् प्रजापतेर्देवादीनां प्राणात्मको वायुरजायत । अथवा यदित्यत्र लिङ्गवचनयोर्व्यत्ययः । या उक्तलक्षणा आपो विश्वमावृत्य स्थितास्ततस्ताभ्योऽद्भ्यः सकाशादेकोऽद्वितीयोऽसुः प्राणात्मकः प्रजापतिः समवर्तत निश्चक्राम । कस्मै देवाय हविषा विधेम । (१०।१२१।७)

'यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्। यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै० ॥' यज्ञं यज्ञोपलक्षितं जनयन्तीः तदर्थं दक्षं प्रपञ्चात्मना वर्धिष्णुं प्रजापतिमात्मनि दधाना ईदृशीः आपः, व्यत्ययेन प्रथमा, अपः प्रलयकालीनाः महिना महिम्ना यश्च प्रजापतिः पर्यपश्यत् परिदृष्टवान् यश्च देवेष्वधि मध्ये देवस्तेषामीश्वरः सन् एकोऽद्वितीय आसीद् भवति । अस्तेश्छान्दसो लङ् । तस्मै कस्मै हविषा विधेम ।

अत्र मन्त्रेषु समष्टिसूक्ष्मप्रपञ्चावच्छिन्नः परमेश्वरो हिरण्यगर्भपदेनोच्यते । विराट्, हिरण्यगर्भः, अव्याकृतः, तुरोय इति भेदेन परमेश्वरस्य चातुर्विध्योक्तेः । तस्मान्नैषां मन्त्राणां पुरुषसूक्तवैरूप्यमिति वृथैव मैकडानलस्य तत्रार्वाचीनत्वकल्पनोद्भावनम् ।

यदप्युक्तम्—'जगत्सृष्टिसम्बद्धयोरन्यसूक्तयोरसतः सद्विकाश उक्तः । १०।७२ सूक्ते सृष्टेरवस्थात्रयं प्रतीयते—प्रथमं जगद्रचना, पश्चाद्देवानामन्ते सूर्यरचना । तत्रापि सृष्टिवादेन सार्धं विकासवाद ओतश्च प्रोतश्चेति' (पृ० १३१) तदपि न संगतम्, भावार्थानवबोधात् । तथाहि—तदुदाहरणरूपेण 'ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत् । देवानां पूर्व्ये युगे असतः सदजायत ॥' (ऋ० सं० १०।७२।२) इति मन्त्र उद्धृतः । मैकडानलेन प्रायेण मन्त्राः क्वापि यथावन्न व्याख्यायन्ते, कथञ्चिदुत्तानार्थं लिखित्वा तद्बलेनैव सायणाचार्यादिप्रोक्तान् अखण्डसिद्धान्तान् खण्डयितु-

'आपो ह०'। यह महान् सलिल न केवल अग्नि, किन्तु आकाश प्रभृति जगत् के सभी पदार्थों को उत्पन्न करता है। इसके लिये हिरण्मय अण्ड के गर्भभूत प्रजापति को धारण करते हुए यह सलिल ही सारे जगत् में व्याप्त हो जाता है। तब उस गर्भभूत प्रजापति से देवादि का प्राणभूत वायु उत्पन्न हुआ। अथवा 'यत्' पद में लिंग और वचन का व्यत्यय हो जाता है। ऊपर बताये लक्षण वाला सलिल सारे विश्व को आवृत करके विद्यमान रहता है। इसी सलिल से एक एवं अद्वितीय प्राणात्मक प्रजापति उद्भूत होता है। उसी प्रजापति की हम हविः प्रदान द्वारा उपासना करते हैं।

'यश्चिदापो०'। यज्ञ अर्थात् यज्ञोपलक्षित यावत् पदार्थों को उत्पन्न करने वाला और यज्ञ की निष्पत्ति के लिये दक्ष प्रभृति प्रपंच की वृद्धि करने वाला, प्रजापति को अपने में धारण किये हुए सलिल, यहाँ पर व्यत्यय के द्वारा 'आपः' पद को प्रथमान्त मान लिया जाता है, यह प्रलयकालीन सलिल अपने माहात्म्य से प्रजापति को देखता है, जो कि देवताओं का भी अधिपति है और जो एक एवं अद्वितीय है। यहां पर अस्ति धातु से छान्दस लङ् होता है। उसी प्रजापति की हम हविःप्रदान द्वारा उपासना करते हैं।

इस मन्त्रों में सूक्ष्म प्रपंच को समष्टि से अवच्छिन्न परमेश्वर 'हिरण्यगर्भ' पद से अभिहित होता है। विराट् 'हिरण्यगर्भ, अव्याकृत और तुरीय के भेद से परमेश्वर के चार प्रकार हैं। इस तरह से इन मन्त्रों की भी पुरुषसूक्त के मन्त्रों के साथ कोई भिन्नता देखने को नहीं मिलती। इस तरह से मैकडानल का यह कथन सर्वथा गलत है कि वे सूक्त नवीन हैं।

'जगत् की सृष्टि से संबन्ध रखने वाले दो सूक्त हैं, जो दार्शनिक दृष्टि से जगत् को असत् से सद्रूप में विकसित बताते हैं। कुछ अस्पष्ट रूप में दिये गये वर्णनों से (१०।७२) सृष्टि की तीन अवस्थाएं पृथक्-पृथक् प्रतीत होती हैं—पहले जगत् की रचना, बाद में देवताओं की और अन्त में सूर्य की। यहाँ पर भी सृष्टिवाद के साथ विकासवाद ओतप्रोत है' (पृ० १३१)। यह कथन भी भावानवबोध प्रयुक्त एवं असंगत है। जैसे कि यहाँ पर उदाहरण के रूप में 'ब्रह्मणस्पति०' इस मन्त्र को उद्धृत किया है। मैकडानल प्रायः कहीं भी मन्त्रों का सही अर्थ नहीं करते। उलटा-सीधा अर्थ लिखकर उसी के आधार पर सायण प्रभृति प्राचीन आचार्यों के द्वारा

मव्यापारेषु व्यापारमिव क्रियते। अस्य मन्त्रस्याभिप्रायस्तु पूर्वमेवोक्तः, तथापि मन्त्रोऽत्र व्याख्यायते सायणरीत्या। देवानामिति नवर्चमानुष्टुभं देवदेवत्यम्। लोकनाम्नः पुत्रो बृहस्पतिराङ्गिरस एव वा बृहस्पतिर्ऋषिः, अथवा दक्षस्य दुहिता अदितिर्ऋषिः। तथैवानुक्रान्तम्—'देवानां नवलौक्यो वा बृहस्पतिर्दाक्षायण्यदितिर्वा दैवमानुष्टुभम्' इति। तत्र—'देवानां नु वयं जानाप्रवोचाम विपन्यया। उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे॥' इति प्रथमो मन्त्रः। अदितिर्दाक्षायण्यनेन सूक्तेन स्वयं यथादित्यानजनयत् तद् ब्रवीति। बृहस्पत्यृषिपक्षे स ऋषिरदितेः सकाशादादित्योत्पत्तिप्रकारमाह—वयंदेवानामादित्यानां जाना जन्मानि। प्रवोचाम विपन्यया विस्पष्टया वाचा। पूजार्थं बहुवचनम्। यो देवानां गणः पूर्वे युग उत्पन्नोऽप्युक्थेषु शस्यमानेषु यागे शस्त्रेषु पठ्यमानेषूत्तरे युगे वर्तमानं स्तुवन्तं स्तोतारं पश्यात् पश्यति। अनेकेष्वपि युगेषु गतेषु कर्मसु स्तूयमानो वर्तत इत्यर्थः। ब्रह्मणोऽन्नस्य पतिरदितिर्ब्रह्मणस्पतिः। एता एतानि देवानां जन्मानि कर्मार इवाधमत्। यथा कर्मारो लौहकारः भस्त्रयाग्नि प्रज्वलनार्थं धमति तथा अधमत् उदपादयत्। एतानि देवजन्मानि उदपादयदित्यर्थः। देवानां पूर्व्ये युगे आदिसृष्टौ तेषामुपादानकारणाद् असतो नामरूपरहितत्वेनासत्तुल्याद् ब्रह्मणः सकाशात् सद् नामरूपविशिष्टं देवादिकमजायत। अत्रासदिति पदेन न शून्यं न वा अभावमात्रं विवक्षितम्, किन्तु नामरूपातीतं ब्रह्मैवाव्यवहार्यत्वेनासत्तुल्यत्वाद् गौण्या वृत्त्याऽभिधीयते। तदेवोपनिषत्सूक्तम्—'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' (तै० उ० २।७)। न सदात्मकस्य प्रपञ्चस्यासत्कारणकत्वं सम्भवति, तथात्वे मृद्घटः सुवर्णकुण्डलमित्यादिवदसदुपादानकत्वेनासन् प्रपञ्च इति प्रतीत्यापातात्, कथमसतः सज्जायेतेत्यसत्कारणत्वाक्षेपश्रुतेः। तस्मादव्याकृतत्वाभिप्रायेणैवासत्कारवादो मन्तव्यः। 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (श० १४।५।२।१५) इति श्रुतेः। ननु तर्हि कथमदितेः सकाशाद्देवाद्युत्पत्तिरिति चेन्न, वायोरित्यादिवददितेरवान्तरकारणत्वोपपत्तेः। अत्र मन्त्रे प्रथमं जगदुत्पत्तिः पश्चाद्देवानां ततः सूर्यस्योत्पत्तिरुक्ता।

प्रतिपादित अखण्डनीय सिद्धान्तों का खण्डन करने में व्यर्थ का परिश्रम करने लगते हैं। इस मन्त्र का अभिप्राय तो पहले ही बताया जा चुका है। यहाँ पर सायण की पद्धति से इस मन्त्र का अर्थ किया जाता है। 'देवानाम्' इत्यादि नौ ऋचाओं वाला यह सूक्त अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध है और देवगण इसके देवता है। लोक नाम का पुत्र बृहस्पति अथवा आंगिरस बृहस्पति इसके द्रष्टा ऋषि हैं। अथवा दक्ष की दुहिता अदिति इसको ऋषि है। सर्वानुक्रमणी में इसी तरह से इसका विनियोग प्रदर्शित है। इसका पहला मन्त्र है—देवानां नु०। दाक्षायणी अदिति इस सूक्त से स्वयं जैसे आदित्यों को उत्पन्न करती है, उसका वर्णन है। बृहस्पति ऋषि के पक्ष में अर्थ करने पर वह ऋषि अदिति से आदित्य की उत्पत्ति का प्रकार बताते हैं कि हम आदित्य प्रभृति देवताओं के जन्म की बात स्पष्ट रूप से बताते हैं। यहाँ पर बहुवचन पूजा के लिये है। जो देवताओं का गण पूर्वयुग में उत्पन्न हुआ है और जो बाद में उक्थ याग में स्तुत होने पर, शस्त्र प्रभृति सामगान में पाठ क्रिये जाने पर स्तोता को देखते हैं, अर्थात् अनेक युगों के बीत जाने पर भी जिनकी यागादि कर्मों में निरन्तर स्तुति होती रहती है। ब्रह्म अर्थात् अन्न की स्वामिनी अदिति जब ब्रह्मणस्पति कहलाती है, तब वह इन देवताओं की उत्पत्ति के लिये लोहकार जैसे अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये धौंकनी चलाता है, उसी तरह से यह अदिति भी देवताओं को उत्पन्न करती है। देवताओं के उस पूर्व युग में सृष्टि की आदि बेला में उन देवताओं के उपादानकारणभूत असत् से, अर्थात् नाम और रूप से रहित होने से असत् के समान विद्यमान ब्रह्म से नाम और रूप से विशिष्ट देवादि की सृष्टि होती है। यहाँ पर 'असत्' पद से न तो शून्य विवक्षित है और न अभावमात्र ही, किन्तु नाम और रूप से अतीत होने से अव्यवहार्य होने के कारण असत् के तुल्य ब्रह्म ही गौणी वृत्ति से अभिहित होता है। इसी को उपनिषद् में इस तरह से कहा गया है—'आगे यह सब कुछ असत् था, उसी से सत् की उत्पत्ति हुई। सदात्मक प्रपंच असदात्मक कारण से उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय तो घड़ा जैसे मिट्टी है, कुण्डल जैसे सुवर्ण है, उसी तरह से यह प्रपंच असत् है, ऐसी प्रतीति माननी पड़ जायगी। इसीलिये असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? यह आक्षेपात्मक श्रुति गतार्थ मानी जाती है। इसलिये अव्याकृत अर्थात् नाम और रूप से विभक्त न होने के कारण ही प्रारंभ में असत्कारणवाद की संगति माननी चाहिये, 'यह उस समय अव्याकृत था' ऐसी शतपथ श्रुति मिलती भी है। प्रश्न है कि तब अदिति से

यदपि 'नासदासीन्नो सदासीत्' इति नासदीयसूक्तसम्बन्धे उक्तम्—'साहित्यिकैर्गुणैर्महत्त्वपूर्णमिदं सूक्तम्, प्रौढविचारैरप्यस्य माहात्म्यातिशयः। तत्रापि भारतीयदर्शनस्य कतिपये दोषा दृश्यन्ते यथा—अस्पष्टता, एकवाक्यताया अभावः, विचारेषु तर्काः शब्दमात्रावलम्बनाः। इदमेव तथाविधं सूक्तमृग्वेदे यत्राद्योपान्तं सुसम्बद्धा विचारा दृश्यन्ते। इदं प्राकृतिकदर्शनानां प्रारम्भविन्दुः। विकासवादिसांख्यदर्शनं तदङ्कुरपल्लवादिरूपम्। आर्यदर्शनविचारधारायाः प्रतीकरूपमिदम्। अत्र सृष्टिगीतप्रतिपादितसत्कार्यवादानुसारेण सर्वप्रथमं जलसृष्टिरुक्ता। पश्चात्तैजसतत्त्वबलाद् महत्तत्त्वस्य विकासो जातः। परवर्तिब्राह्मणग्रन्थेषूपलभ्यमानाः सृष्टिसिद्धान्ता उक्तविचारधारयाऽनुगुणा एव। अत्राप्यसदेव सद्रूपतामुपगतम्। प्रथमं च जलसत्ता तदुपरि हिरण्यगर्भः समवर्तत। स च विश्वरूपसुवर्णाणुरूपमेव। तत्र सा शक्तिरुत्पन्ना यया प्रजापतिर्जगन्निर्माणसमर्थः सञ्जातः। एतावान् भेदोऽत्र प्रजापतिः पूर्वतनः पश्चाच्छक्तिः। अयं मौलिको विसंवादो विकासवादसृष्टिवादयोर्मिश्रणाज्जातः। सांख्यवादे पुरुषस्य कूटस्थद्रष्टृत्वाभ्युपगमेन प्रकृतेर्महदाद्यवस्थया परिणामाभ्युपगमेन च तद्विसंवादनिराकरणम्। तेन नासदीयसूक्तं न केवलं भारतीयदर्शनानामग्रदूतरूपमपि तु पुराणानामपि, येषां लक्षणेषु सर्गो मुख्यमेकं लक्षणं वर्णितम्' (पृ० १३३) इति।

तदपि न सङ्गतम्, भारतीयदर्शनेषु नासदीयसूक्ते च तात्पर्यानवगमेनैव अस्पष्टताया एकवाक्यताभावस्य च प्रतीतेः। उत्तरमीमांसायां वादरायणसूत्रेषु तादृग्विरोधाभासस्य निराकरणात्। उपनिषत्सु क्वचिद्वियदादिक्रमेण सृष्टिरुक्ताः, क्वचिच्च तेजोऽबन्नपूर्विका सृष्टिः, क्वचिच्चाक्रमेणैव सृष्टिरुक्ता। यथा—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, अकाशाद्वायुः, वायोरग्निः' (तै० उ० २।१।१), यथा वा—'तत्तेजोऽसृजत' (छा० उ० ६।२।३), यथा वा—'स

देवताओं की उत्पत्ति की संगति कैसे बैठेगी? उत्तर है कि वायु प्रभृति की तरह अदिति की भी अवान्तरकारणता मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इस मन्त्र में प्रथम जगत् की उत्पत्ति, बाद में देवताओं की और अन्ततः सूर्य की उत्पत्ति का वर्णन है।

मैक्डानल ने 'नासदासीन्नो' इत्यादि नासदीय सूक्त के संबन्ध में कहा है—'न केवल साहित्यिक गुणों की दृष्टि से ही यह सूक्त महत्त्व का है, वरन् इससे भी अधिक इसकी महत्ता उन प्रौढ़ विचारों के कारण है, जिनका प्रतिपादन आज से इतने प्राचीन युग में पाया जाता है। परन्तु वहां पर भी भारतीय दर्शन के कतिपय प्रमुख दोष दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें स्पष्टता तथा एकवाक्यता का अभाव है और विचारों में तर्क प्रायः शब्दमात्र पर अवलम्बित है। परन्तु ऋग्वेद में यही एक अंश ऐसा है, जिसमें सुसंबद्ध दार्शनिक विचार आद्योपान्त मिलते हों। यों कहना चाहिये कि प्राकृतिक दर्शन का यह प्रारम्भ बिन्दु है, जिसका अंकुर आगे चलकर विकासवादी सांख्यदर्शन में पल्लवित हुआ। यह सूक्त आर्यों के दार्शनिक विचारों का एक नमूना है और इसी कारण यह सदा अपने महत्त्व को बनाये रखेगा। सृष्टिगीत में प्रतिपादित इस सत्कार्यवाद के अनुसार जल की सृष्टि सबसे पहले हुई और उसके पश्चात् तैजस तत्त्व के बाद महत्तत्त्व का विकास हुआ। परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थों में दिये गये सृष्टि संबन्धी सिद्धान्त उक्त विचारधारा से सहमत हैं। इनमें भी असत् ही सद्रूप हुआ और प्रथम सत्ता जल की ही थी। इस जल पर हिरण्यगर्भ तैरता रहा। हिरण्यगर्भ विश्वरूप सुवर्णाण्ड है और उससे वह शक्ति उत्पन्न हुई जिसके द्वारा प्रजापति जगत् का निर्माण कर सके। इतना अवश्य अन्तर है कि प्रजापति पहले, फिर वह शक्ति। यह मौलिक विसंवाद सृष्टिवाद का विकासवाद के साथ संमिश्रण करने से हुआ है और उसका निराकरण सांख्यदर्शन में पुरुष को एक कूटस्थ द्रष्टा के रूप में मानते हुए केवल प्रकृति को ही विकास की विभिन्न दशाओं में परिणत होते बतला कर किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद का नासदीय सूक्त न केवल भारतीय दर्शन का ही अग्रदूत है, वरन् पुराणों का भी, जिनके कि मुख्य लक्षणों में एक लक्षण सर्गवर्णन भी है' (पृ० १३३)।

यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि भारतीय दर्शनों और नासदीय सूक्त का तात्पर्य ठीक से न समझ पाने के कारण ही इनमें अस्पष्टता और एकवाक्यता के अभाव की प्रतीति पाश्चात्य विद्वानों को होती है। उत्तरमीमांसा अर्थात् बादरायणकृत ब्रह्मसूत्रों में इस तरह के विरोध का परिहार किया गया है। उपनिषदों में कहीं पर आकाशादि के क्रम से सृष्टि वर्णित है, कहीं पर तेज, जल अथवा अन्न के क्रम से तो कहीं पर बिना क्रम के ही सृष्टि प्रतिपादित है। जैसे कि—'इस लिये उस आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई,

इमांल्लोकानसृजत' (ऐ० उ०१।२), तथापि तैत्तिरीयानुसारेण समन्वय उक्तः। तद्रीत्या छान्दोग्यश्रुतेरप्याकाशवायुसृष्टिपूर्वकं तेजोऽसृजदित्यर्थः क्रियते। तथैवाकाशादिभूतसृष्ट्यनन्तरं स इमांल्लोकानसृजदिति समन्वीयते। तथैव सूक्तोक्तीनामपि समन्वय एव योग्यः। अत एव धर्मब्रह्मप्रमयोर्वेदवेदान्तानां करणत्वं पूर्वोत्तरमीमांसयोश्चेतिकर्तव्यतारूपत्वमुक्तम्—'धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना। इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति॥' तदुक्तं 'न वियदश्रुतेः' (ब्र० सू० २।३।१) इत्यत्र भगवत्पादैः शङ्कराचार्यैः—वेदान्तेषु भिन्नप्रस्थाना उत्पत्तिश्रुतय उपलभ्यन्ते, केचिद्वायोरुत्पत्तिमामनन्ति केचिन्न। एवं जीवस्य प्राणानां च। एवमेव क्रमादिद्वारकोऽपि विप्रतिषेध इत्यभिहितम्।

सांख्यदर्शनं तूत्तरमीमांसायां वादरायणेन खण्डितमेव, तत्र प्रकृतेः स्वातन्त्र्येण कारणत्वप्रतिपादनात् सृष्टेस्त्वीक्षणपूर्वकत्वश्रवणाच्च। स्थूलकार्योत्पत्तावेव च जलस्य पूर्वभावित्वम्, मूलसृष्टौ जलात्पूर्वमाकाशवायुतेजसामुत्पत्तिश्रवणात्। सांख्यीयं महत्तत्त्वं तु प्रकृत्यनन्तरभावि, न तैजसतत्त्वात्तद्विकासः। तैजसतत्त्वमपि न जलानन्तरभावि, तस्य जलकारणत्वात्। 'अग्नेरापः' इति श्रुतेश्च। हिरण्यगर्भरूपं महत्तत्त्वमपि समष्टिसूक्ष्मशरीरमयं वेदान्तसम्मतमपि जलोत्पत्तेः पूर्वाभावि, अपां तदीयतपःश्रमरूपत्वात्। 'नैतत्किञ्चन अग्र आसीत्', 'मृत्युनैवेदमावृतमासीत्' इत्यादिश्रुतेः। ब्राह्मणग्रन्थानां परवर्तित्वमप्यसिद्धम्, तेषामप्यनादित्वप्रतिपादनात्। वैदिकरीत्या ब्रह्मण एव पुरुषत्वं कूटस्थत्वं निर्विकारत्वं च। तदीययाऽनिर्वचनीयया मायाशक्त्यैव कल्पितं तस्य कारणत्वमप्यनिर्वचनीयमेव। नासदीयानि सूक्तानि दर्शनानां पुराणानां च मूलमिति तु युक्तमेव। नासदीयसूक्तमन्त्राणां व्याख्यानं त्विहैवान्यत्र द्रष्टव्यम्।

आकाश से वायु, वायु से अग्नि······', अथवा 'उसने तेज की सृष्टि की' या 'उसने यह सारा विश्व बनाया', तथापि तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार इनमें परस्पर समन्वय भी बताया गया है। उसके अनुसार छान्दोग्य श्रुति का भी यह अर्थ किया जाता है कि आकाश और वायु की सृष्टि करके ही उसने तेज की सृष्टि की। इसी तरह से आकाशादि भूतों की सृष्टि के बाद उसने इन सारे भुवनों की सृष्टि की, यह वाक्य भी समन्वित हो जाता है। इसी तरह उक्त नासदीय सूक्त में कही गई बातों का भी इसी तरह से समन्वय करना ही उचित मार्ग है। इसी लिये धर्म और ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का साधन वेद और वेदान्त ही है। पूर्व और उत्तर मीमांसा, जैमिनि और बादरायण के सूत्र यह समझाते हैं कि वेद और वेदान्त से धर्म और ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान किस प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। भट्ट कुमारिल ने कहा है—'वेद रूपी साधन की सहायता से धर्म की यथार्थ प्रतीति हो जाने पर इस धर्म की इतिकर्तव्यता को, अर्थात् किस तरह से किन साधन सामग्रियों की सहायता से किसका आचरण किया जाय कि जिससे धर्म की उत्पत्ति हो, इस बातको मीमांसा बताती है'। 'न वियदश्रुतेः' इत्यादि सूत्रों में बादरायण के मत को स्पष्ट करते हुए भगवत्पाद शंकराचार्य कहते हैं कि वेदान्तों में इस सृष्टि की उत्पत्ति के संबन्ध में विभिन्न प्रस्थान (दृष्टियां) देखने को मिलते हैं। कुछ में वायु की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है, कुछ में नहीं। इसी तरह से जीव और प्राण के सम्बन्ध में भी विभिन्न मत मिलते हैं। कहीं पर क्रमपूर्वक सृष्टि का भी वर्णन मिलता है।

सांख्यदर्शन का तो उत्तरमीमांसा में बादरायण ने खण्डन ही किया है। सांख्यदर्शन में प्रकृति की जगत् के प्रति स्वतन्त्र रूप से कारणता प्रतिपादित है, किन्तु उपनिषदों में ब्रह्म के ईक्षण के अनन्तर ही सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है। स्थूल कार्य की उत्पत्ति की अपेक्षा से ही जल की पूर्ववर्तिता मानी जा सकती है, क्योंकि मूल सृष्टि में जल से पहले आकाश, वायु और तेज की उत्पत्ति हुई रहती है। सांख्य का महत्तत्त्व प्रकृति के अनन्तर उत्पन्न होता है, उसका विकास तैजस तत्त्व से नहीं होता। तैजस तत्त्व भी जल के अनन्तर नहीं होता, क्योंकि वह तो स्वयं जल का कारण है। श्रुति में यह स्पष्ट कहा गया है कि 'अग्नि से जल की सृष्टि होती है'। हिरण्यगर्भ के नाम से प्रसिद्ध महत्तत्त्व भी, जो कि सूक्ष्म शरीरों का समष्टि स्वरूप है, वेदान्त में यद्यपि स्वीकृत है, किन्तु वह भी जल की सृष्टि से पहले ही विद्यमान रहता है, क्योंकि श्रुति में जल को हिरण्यगर्भ के तप के श्रम से उत्पन्न माना गया है। 'पहले यहां पर कुछ भी नहीं था', 'मृत्यु से ही यह सब कुछ आवृत था' इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों की परवर्तिता को नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि हमने उनकी भी अनादिता का प्रतिपादन किया है। वैदिक मत के अनुसार ब्रह्म ही पुरुष है, कूटस्थ है और निर्विकार है। उसकी अनिर्वचनीय माया शक्ति से ही सब कुछ कल्पित होता है। उसकी कारणता को भी अनिर्वचनीय ही माना जाता है। नासदीय सूक्त दर्शनों के और पुराणों के मूल हैं, यह कथन तो उचित ही है। हमने इसी ग्रन्थ में अन्यत्र नासदीय सूक्त के मन्त्रों की व्याख्या की है।

वेदान्तिनां ब्रह्मणि सांख्यानां प्रकृतौ चानन्तानन्तप्रपञ्चबीजानि भवन्ति । कारणावस्थायां वर्तमानाः कार्यशक्तयः सहकारिसव्यपेक्षा यथाकालं विकासमुपयन्तीत्ययं विकासस्तु शास्त्रीय एव । डार्विन-स्पेन्सर-हैकलप्रभृतीनां विकासवादस्त्वसङ्गत एव । अध्यात्मवादिनां कर्मवैचित्र्यं सम्भवति । कर्मसिद्धान्तमन्तरा जगद्वैचित्र्यं तु कथमपि नोपपद्यते । कार्यकारणानां प्रकृतिभावोऽपि नियत एव । आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः सम्भवन्ति । परन्तु निम्बाम्रपनसानां कार्यकारणभावस्त्वसिद्ध एव । वृक्षसरीसृपखगदंशमत्स्यानामपि परस्परं प्रकृतिविकृतिभावोऽसिद्ध एव । तत एव अमीवाहाइड्रासरीसृपमत्स्यकूर्मपक्षिवानरादिक्रमेण मनुष्योत्पत्तिरप्यसिद्धा । देशकालजलवायुवैशेष्येण गुणाकृत्यादिषु किञ्चिद्ध्रासविकाससम्भवेऽपि न निःसीमपरिवर्तनं संभवति । यथाकथञ्चित् साधर्म्यवैधर्म्यसारूप्यवैरूप्यादिकं तु सर्वत्रैव सुलभम् । यदि बीजादङ्कुरविकासनियमोऽस्ति पुष्पात्फलविकासः । नहि पुष्पात् पुष्पविकासो भवति । नहि मत्स्याद्विहङ्गमादयो विकासमुपयन्ति । नहि मत्स्यान्मत्स्यविकासः क्वचिद् दृश्यते । यदि प्राचीनकाले यथा वानराद्वानरा एव जायन्ते बीजादङ्कुरा एव जायन्ते तथैवाद्यापि भवन्ति । यदि पूर्वं वानरेभ्यो मनुष्या उत्पन्नास्तर्ह्यद्यापि कथं न वानरेभ्यो मनुष्या उत्पद्यमाना दृश्यन्ते ? दृश्यन्ते तु वानराद्वानरा मत्स्याच्च मत्स्या उत्पद्यमानाः। डार्विनरीत्या तु प्रतिद्वन्द्विता सङ्घर्षश्च शाश्वतिकः सार्वत्रिकश्च । दृश्यते तु तद्विपरीतम् । क्वचिन्मनुष्या वर्बराः संहारका भवन्ति क्वचिच्च वानरा अपि स्वाम्यर्थे प्राणानपि परित्यजन्ति । डार्विनरीत्या यदि कश्चित्परमकारुणिकः सर्वज्ञो जगन्निर्माता शासकः स्यात्तदा दुःखरहितमेव जगत् स्यान्न दुःखबहुलम् । अध्यात्मवाद-

वेदान्ती द्वारा स्वीकृत ब्रह्म में और सांख्यदर्शन की प्रकृति में असंख्य प्रपंच सृष्टि के बीज विद्यमान हैं। कारण अवस्था में विद्यमान कार्य की शक्तियाँ अपने-अपने सहकारी द्रव्यों की सहायता से समयानुसार विकसित होती हैं, यह बात शास्त्रसंमत है। डार्विन, स्पेन्सर, हैकल प्रभृति पाश्चात्य दार्शनिकों का विकासवाद तो असंगत है। अध्यात्मवादी दार्शनिकों के मत से कर्म की विचित्रता के आधार पर सृष्टि की विचित्रता हो सकती है। इस कर्मसिद्धान्त को बिना माने इस जगत् की विचित्रता कैसे बन सकती है ? कार्य और कारण का प्रकृतिभाव भी निश्चित है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी और पृथिवी से ओषधियों की उत्पत्ति इसी कार्यकारण की प्रक्रिया से होती है। परन्तु निम्ब (नीम) आम और पनस (कटहल) का परस्पर कार्यकारणभाव नहीं सिद्ध किया जा सकता। इसी तरह से वृक्ष, सरीसृप (सर्प आदि), पक्षी, मच्छर, मछली आदि का भी परस्पर प्रकृति-विकृतिभाव नहीं सिद्ध किया जा सकता। इसीलिये अमीवा, हाइड्रा, सरीसृप, मत्स्य, कूर्म, पक्षी, वानर के रूप में क्रम से विकसित होते हुए प्राणी अन्त में मनुष्य बना, यह मत भी नहीं सिद्ध हो सकता। देश, काल और जल, वायु की विशेषता के कारण किसी प्राणी की गुण, आकृति आदि में कुछ ह्रास या विकास देखा जा सकता है, किन्तु इनमें भारी परिवर्तन कभी संभव नहीं है। जिस किसी तरह खींचातानी करके एक दूसरे में समानता और असमानता बता देना कोई भारी बात नहीं है। यदि यह नियम देखा जाता है कि बीज से अंकुर का विकास होता है और पुष्प से फल का, तो यह कभी नहीं हो सकता कि पुष्प से ही पुष्प का विकास होने लगे। यदि मत्स्य से पक्षी आदि का विकास होने लगे तो फिर मत्स्य से मत्स्य का विकास होना बन्द हो जायगा। जैसे प्राचीन काल में यदि वानरों से वानर ही पैदा होते थे और बीज से अंकुर पैदा होते थे, तो वैसा ही आज भी देखा जाता है। यदि पहले के वानरों से मनुष्यों की उत्पत्ति होती थी तो आज भी वानरों से मनुष्यों की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? देखा तो यही जाता है कि वानरों से वानर ही पैदा होते हैं और मत्स्य से मत्स्य की ही उत्पत्ति होती है। डार्विन के मत के अनुसार प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष प्राणियों में सर्वत्र निरन्तर चलता रहता है। किन्तु देखा इसके विपरीत ही जाता है। कहीं पर मनुष्य ही पशु के समान बर्बर होकर एक दूसरे के प्राणों के प्यासे हो उठते हैं और कहीं पर वानर भी स्वामी के लिये अपने प्राणों को निछावर कर देते हैं। डार्विन के मत के अनुसार यदि कोई परम कारुणिक, सर्वज्ञ, ईश्वर इस जगत् का निर्माता हो तो उसको दुःख से रहित ही इस दुनियाँ को बनाना चाहिये, प्रायः दुःखों से भरी हुई नहीं। अध्यात्मवादियों के मत से तो परमेश्वर की तरह उसके अंशभूत जीव भी अविद्या से उपहित हैं और यह स्थिति अनादिकाल से चली आ रही है। अविद्या की इस उपाधि से ग्रस्त इन अनादि जीवों की अनादि कर्मों

रीत्या तु परमेश्वरवदेव तदंशभूता जीवास्तदविद्योपाधयश्चानादय एव । तेषामविद्यावतां जीवानां कर्मानुसारेणैव सृष्टौ वैषम्यं भवति। विवेकवैराग्यतत्त्वसाक्षात्कारार्थं सुखापेक्षयापि दुःखान्युपकारकतमानि। विस्तरेण विकासवादखण्डनम् 'मार्क्सवाद और रामराज्य' पुस्तके द्रष्टव्यम् ।

यदप्युक्तम्—'सूक्तोल्लिखितभूगोलानुसारेणाक्रमणकारिणामार्याणां हिन्दूकुशपर्वतानां पाश्चात्याभिर्दरीभिः समतलप्रदेशमवतीर्णा यश्च भारतस्यैशानो भागः सम्भाव्यते । ऋग्वेदीयसूक्ते २५ नदनदीनामुल्लेखो दृश्यते। तत्र पञ्चनद्यस्तु पञ्चनददेश एव प्रसिद्धाः, यथा—वितस्ता, असिक्नी, परुष्णी, इरावती, विपाशारूपाः । अन्याश्च सिन्धुसहकारिण्यः कुभा-सुवास्तु-गोमतोप्रभृतयोऽपि तत्र वर्णिताः । सिन्धुभास्वत्योस्तु बाहुल्येन तत्र वर्णनम् । 'सप्तसिन्धवः' इति पदावली तु निश्चयेनार्याणां वसत्यभिप्रायेण प्रयुक्ता। अवेस्ताग्रन्थे हप्तहिन्दुप्रयोगोऽपि लभ्यते । रोट्प्रभृतयो विद्वांसस्तु सूक्तकारैः सिन्धोरेव सरस्वतीति नामकरणं कृतम्' इति, तदपि कुशकाशावलम्बनमेव, वेदे ग्रामनद्यादीनां वर्णनेऽपि तत्र तेषामाक्रमणासिद्धेः । तद्वर्णनेन वर्णयितॄणां तज्ज्ञानमासीदित्येव वक्तुं शक्यते नान्यत् । मेकडानल-बेवरप्रभृतीनां ग्रन्थे तत्तद्वर्णनेऽपि तेषां तत्रत्यताऽनिश्चयात् । वेदे क्वापि बहिर्देशादार्याणामागमनं तु न श्रुतमेव । ऋग्वेदयजुर्वेदादिरचनासिद्धान्तस्तु खण्डित एव ।

यदपि—'वर्तमानकाले पञ्जाबदेशो यत्र सामान्यवर्षणं भवति तत्रातीव भव्यः सूर्योदयो भवति, यथान्यत्र भारते न दृश्यते । तत्र स्थितैरेवार्यैरुषस्सूक्तानि रचितानि' इत्यध्यापकहाकिन्समहोदयस्य मतम्, शेषसूक्तानां रचना तु

की परम्परा के अनुसार ही सृष्टि में भारी विषमता दिखाई पड़ती है। विवेक, वैराग्य और तत्त्व (ब्रह्म) के साक्षात्कार के लिये सुख की अपेक्षा दुःख अधिक सहायक होता हैं । अतः सृष्टि में दुःखों की बहुलता जीवों के उपकार के लिये ही है। विकासवाद का खण्डन हमने 'मार्क्सवाद और रामराज्य' नामक ग्रन्थ में विस्तार से किया है।

'सूक्तों में उल्लिखित भौगोलिक विषयों से उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि आक्रमणकारी आर्य संभवतः हिन्दुकुश की पश्चिमी घाटियों से समतल मैदान में उतर आये और भारतवर्ष के ऐशान्य भाग, जिसे फारसी में पंजाब कहते हैं, वहां आ बसे । ऋग्वेद के सूक्तों में कुल २५ नद-नदियों का उल्लेख है, जिनमें से दो तीन को छोड़कर सभी सिन्ध नदी से संबद्ध हैं। उनमें से पांच नदियां पंजाब में ही प्रसिद्ध है। वे नदियां वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चिनाव), परुष्णी [इरावती (अर्थात् श्रमनाशी रावी)] और विपाश् (व्यास) और सबसे बड़ी एवं अधिकतर पूर्व की ओर बहने वाली शुतुद्री (सतलज)। सिन्धु की सहायक अन्य कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात), गोमती (गोमन) आदि का भी वर्णन मिलता है। तथापि सिन्धु और सरस्वती नदियों का बहुत वर्णन मिलता है। •••ऋग्वेद में 'सप्त सिन्धवः' इस पदावली का प्रयोग एक प्रकरण में निश्चित रूप से भारतीय आर्यों की बस्ती के अर्थ में हुआ है। यह एक रोचक वस्तु है कि अवेस्ता में भी 'सप्तसिन्धु' का प्रयोग मिलता है। अत एव अध्यापक रोट तथा अन्य प्रसिद्ध विद्वानों ने यह निर्णय किया कि ऋग्वेद के सूक्तकारों ने सिन्धु नदी का ही पवित्र नाम सरस्वती रख दिया है' (पृ० १३४-१३६) यह पूरा कथन भी नदी की बाढ़ में बहते व्यक्ति के कुश और काश का सहारा लेने की तरह है। वेद में ग्राम, नदी आदि का वर्णन हो सकता है, किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध हो पाता कि इन पर आर्यों ने आक्रमण किया था। इस वर्णन से इतना ही ज्ञात होता है कि इनका वर्णन करने वालों को इनका ज्ञान था। इन नदी, ग्राम आदि का वर्णन तो अभी मेकडानल, वेवर प्रभृति के ग्रन्थों में भी मिलता है, किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध हो सकता कि ये लोग उन स्थानों के निवासी थे। वेद में यह कहीं नहीं सुना गया है कि आर्य कहीं बाहर से भारत में आये। फिर ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि की रचना की बात का खण्डन हम कर चुके हैं।

'वर्तमानकालीन पंजाब में वर्षा ऋतु में बहुत हल्की सी बरसात होती है और यहाँ के सूर्योदय की छटा इतनी भली होती है, जितनी उत्तर भारत में अन्यत्र कहीं नहीं पाई जाती। संभवतः इसी आधार पर अध्यापक हॉप्किन्स ने यह समझा कि आर्यों ने उषस् सूक्तों जैसे पुरातन सूक्तों की रचना यहीं की और शेष की रचना सरस्वती के निकट पवित्र भूमि में हुई' (पृ० १३९)। यह कथन

सरस्वत्यास्तटे' इति, तदपि निर्मूलमेव, कस्मिन् काले कस्मिन् देशे कस्य समक्षं केन कानि सूक्तानि रचितानीत्यत्र प्रमाणानुल्लेखात् । कथञ्चित् सकर्तृकत्वं तु वाक्यत्वादेव सिद्ध्येद् यदि स्मर्यमाणकर्तृकस्योपाधित्वं न स्यात् ।

यदुक्तम्—'तत्र वर्णितपशुपक्षिपुष्पफलादिवर्णनात्तत्रार्याणां निवासस्थानं विज्ञायते । प्राधान्येन सोमस्य तत्र वर्णनम्, पर्वतेषु तदुत्पत्तिः । तस्योपयोग आह्निककर्मकाण्डे प्रचुरमात्रयोपलभ्यते । ब्राह्मणकाले तु दूरादानीयते स्म । तदनुपलब्धौ तत्प्रतिनिधिभिः पूतिकादिभिर्निर्वाहः क्रियते स्म । फलतस्तत्परिचितिरेव भारते लुप्ता । पारसीकैश्च होमादियागार्थं पारसदेशाल्लताऽऽनीयतेस्मेत्यपि न वक्तुं शक्यते । ऋग्वेदीयसोमरसास्वादात् प्रतिनिधिद्रव्याणां पानेन चित्तमुद्विजते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भारतीयैः सोमादियाग एव सोमोपयोगस्य वेद उपलम्भात् । नहि सोमयागादय आह्निकाः, कालविशेषेष्वेव तेषां विधानात् । सोमस्य न परिचित्यभावः, ओषधिविशेषाणां कलौ लोपस्यायुर्वेदग्रन्थेषु स्मरणात् । पूतिकादिषु यद्यपि सामस्त्येन सोमगुणा न सन्ति, तथापि बहूनां तादृशानां गुणानां सोमयाज्यनुभवसिद्धत्वान्नाधिकमन्तरम् ।

यदपि—'परवर्तिषु वेदेषु यागस्य परमोपयोगिनां व्रीहिणामृग्वेद उल्लेख एव नास्तीति । एवं सम्भाव्यते यत् सिन्धुनद्या क्षेत्रेषु व्रीहयो न भवन्ति स्म यदा ऋग्वेदस्य रचना जाता । धान्योत्पादनचर्चा वेदे विद्यते, यच्चान्नसामान्यस्य बोधकमासीत्' इत्यादिकमपि निरर्थकमेव, सर्वेषां वेदानामनादित्वस्य वर्णनात् । नहि कस्मिंश्चिद् ग्रन्थे तदानीन्तनानां सर्वेषामपि वस्तूनां वर्णनं सम्भवति । तेन व्रीहीणां वर्णनाभावेऽपि तत्सत्त्वसम्भवः । अन्यथा यजुर्वेदकाले

भी निर्मूल है, क्योंकि किस काल और देश में किसके सामने किसने कौन से सूक्तों की रचना की, इसमें कोई प्रमाण नहीं मिलता । वेदों का कर्ता तो वाक्यत्व हेतु से ही सिद्ध हो सकता है, यदि उसमें स्मर्यमाणकर्तृत्व उपाधि न हो । इसका अभिप्राय यह है कि वाक्यों का कोई न कोई कर्ता होता है, वेद भी वाक्यात्मक हैं, इसलिये इनका भी कोई कर्ता अवश्य होना चाहिये । इस तरह से वाक्यत्व हेतु से वेदों का कर्ता सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु हेतु साध्य की सिद्धि तभी कर सकता है, जब कि वह सोपाधिक न हो । यहाँ पर तो वाक्यत्व हेतु में स्मर्यमाणकर्तृत्व उपाधि है, अर्थात् कोई वाक्य तभी सकर्तृक माना जा सकता है, जब कि उसके कर्ता की स्मृति विद्यमान हो । वेदों का कोई कर्ता किसी की भी स्मृति में विद्यमान नहीं है, अतः इस सोपाधिक वाक्यत्व हेतु से वेदों की सकर्तृकता सिद्ध नहीं हो सकती ।

'ऋग्वेद के समय में पूर्वोक्त प्रदेश ही आर्यों का निवास-स्थान था' यह बात ऋग्वेद में वर्णित पशु-पक्षी, फल-फूल और अन्य उपज के द्वारा अधिक प्रमाणित होता है । उदाहरणार्थ, ऋग्वेद का मुख्य पदार्थ सोम है । सोम के विषय में कहा गया है कि वह पहाड़ों पर उगता है । उसका उपयोग आह्निक कर्मकाण्ड में प्रचुर मात्रा में किया जाता था । ब्राह्मण काल में सोम दूर-दूर से लाया जाता था और उसके अनुपलब्ध होने पर अनेक पूतिका प्रभृति द्रव्य प्रतिनिधि रूप में ग्रहण किये जाते थे । फल यह हुआ कि असली सोम की पहचान भारत में न रही । यह भी नहीं कहा जा सकता कि पारसी लोग होमा याग के लिये पारस से जिस वल्ली को मंगवाते हैं, वह कहीं ऋग्वेद का सोम ही है । आजकल जो सोम के रूप में प्रयुक्त है, वह तो कोई भिन्न ही पदार्थ है, कारण उसके रस के पीने से जी घबराने लगता है और उसका स्वाद ऋग्वेद में वर्णित सोमरस के स्वाद से बिलकुल भिन्न है (पृ० १३९) । यह कथन भी व्यर्थ की बकवास है, क्योंकि भारतीय केवल सोम याग में ही सोम का उपयोग करते रहे हैं, यह बात वेदों से ही सिद्ध है । सोमादि याग आह्निक कृत्य न होकर विशेष अवसरों पर किये जाने वाले अनुष्ठान हैं । सोम लता परिचित न हो, सो बात नहीं है, किन्तु वह अब लुप्त हो गई है । आयुर्वेद के ग्रन्थों में यह स्पष्ट बताया गया है कि अनेक औषधियां कलिकाल में लुप्त हो जाती हैं । पूतिका प्रभृति प्रतिनिधि द्रव्यों में यद्यपि पूरे गुण नहीं रहते, तो भी मूल सोम द्रव्य से इनके अनेक गुण समान हैं, यह बात सोम याग करने वाले अनेक याज्ञिकों के अनुभव से सिद्ध है । अतः इनमें ज्यादा अन्तर नहीं माना जा सकता ।

'यह भी स्मरण रहे कि परवर्ती वेदों में बहुधा उल्लिखित तथा जीवन के परम उपयोगी साधन 'व्रीहि' का उल्लेख ऋग्वेद में कहीं भी नहीं है । संभवतः चावल की उपज सिन्धु नदी की तलेटियों में न होती होगी, जब कि ऋग्वेद की रचना हुई । ऋग्वेदकालीन कृषकगण धान्य अवश्य पैदा करते थे, जिसका उल्लेख 'यव' शब्द से किया जाता है । परन्तु उस समय 'यव' शब्द धान्य-

गङ्गाया अवर्णनात्तदानीं गङ्गाया अभावापातात् । वस्तुतस्तु नहि मन्त्रसंहिताया एव वेदत्वम्, किन्तु मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयत्वमुक्तम् । यथा मन्त्रभागमन्तरा ब्राह्मणभागस्यापूर्णत्वम्, अन्यथा ऋक्संहितायां सोमादियागानां विधानादर्शनात् तत्र वर्णितानां सोमशंसनादीनां नैरर्थक्यापातात् । अन्यवेदानां परवर्तित्वे ऋक्संहिताया चतुर्विधानामृत्विजां कार्यवर्णनं निरालम्बनमेव स्यात् । किञ्च, मैकडानलरीत्या ऋक्संहितायां खनिजलवणोपयोगवर्णनं नास्ति । तावतापि न तदानीं तदभावः, पञ्चनदोत्तरभागे सिन्धुवितस्तयोर्मध्ये पर्याप्ततया तदुपलम्भात् । रजतस्यापि तत्रोल्लेखो नास्ति । अत एव यथा न्यग्रोधस्य तत्रावर्णनेऽपि न तदभावः शक्यसमर्थनः, तस्य भारते सर्वत्र दर्शनात् । वृकस्य वर्णनसत्त्वेऽपि व्याघ्रवर्णनाभावात् किं तदानीं व्याघ्राभावः कल्पयितुं शक्यते ?

यदुक्तम्—'शुक्लयजुर्वेदे गोवधार्थं प्राणदण्डो विहितः, तथापि ऋग्वेदे न नितान्तप्रतिषेधः, विवाहसूक्तेषु गवालम्भनविधानात् । वृषभाणां बलिरिन्द्राय विहितः' इति, तदपि वेदार्थाज्ञानविजृम्भितम्, 'मा गामनागामदितिं वधिष्ट (ऋ० सं०) इति प्रत्यक्षमेव गोवधनिषेधदर्शनात् । विवाहसूक्तेष्वपि गवालम्भनप्रतिपादनमसदेव, अघ्नियेति तन्नामनिर्देशात् ।

यदपि—'ऋग्वेदे हंसवर्णनम्, यजुर्वेदे सोमजलयोर्विभाजनशक्तिर्हंसे लिखिता । क्षीरनीरविश्लेषणशक्तिर्यजुर्वेदानुसारेण क्रौञ्चेषु भवति' इति, एवमेव यदप्युक्तम्—'कुभार(काबुलनदी)मारभ्य यमुनां यावद् भारतस्य वायव्यप्रदेशे आर्याणां वसतय आसन् । तदानीमार्यास्तत्रत्यैरादिवासिभिः संघर्षरता आसन्, तेषां पराजयस्यानेकत्र वर्णनात् ।

सामान्य का बोधक है, न कि 'जौ' के संकीर्ण अर्थ का' (पृ० १३९-१४०) यह सब कथन भी निरर्थक है, क्योंकि सभी वेद अनादि हैं, इसका वर्णन किया जा चुका है । किसी भी ग्रन्थ में उस समय विद्यमान सभी वस्तुओं का वर्णन नहीं मिल सकता । इसलिये ऋग्वेद में व्रीहि का वर्णन न होने पर भी उसकी सत्ता में कोई बाधा नहीं उठ सकती । अन्यथा यजुर्वेद में गंगा का वर्णन न होने से उस समय गंगा का अभाव मानना पड़ जायगा । वास्तव में केवल मन्त्र संहिता ही वेद नहीं है, किन्तु मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद माना गया है । जैसे मन्त्र भाग के बिना ब्राह्मणभाग अपूर्ण है, उसी तरह से मन्त्रभाग भी ब्राह्मणभाग के बिना अधूरा माना जायगा । ऋग्वेद में सोमादि यागों का विधान नहीं मिलता, यह विधान ब्राह्मण ग्रन्थों में ही मिलता है । इस तरह से ऋग्वेद की ब्राह्मण निरपेक्षता मानने पर ऋग्वेद में वर्णित सोम की स्तुति आदि विषय निरर्थक हो जायंगे । अन्य वेद यदि परवर्ती हैं, तो ऋक्संहिता में चार तरह के ऋत्विजों के अलग-अलग कार्यों का वर्णन व्यर्थ हो जायगा । मैकडानल की पद्धति को यदि माना जाय तो ऋग्वेद में खनिज लवण के उपयोग का भी कहीं वर्णन नहीं मिलता । इससे उस भाग में तब खनिज लवण नहीं मिलता था, यह नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि पंजाब से उत्तर सिन्धु और वितस्ता (झेलम) की घाटियों में पर्याप्त मात्रा में खनिज लवण प्राचीनकाल से मिलता आ रहा है । रजत (चांदी) का भी वर्णन वहाँ नहीं मिलता । इसलिये जैसे न्यग्रोध (वट वृक्ष) का ऋग्वेद में वर्णन न होने पर भी कभी उसका अभाव नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि पूरे भारत में यह उपलब्ध होता है, उसी तरह से व्रीहि आदि के विषय में भी समझना चाहिये । ऋग्वेद में वृक (भेड़िया) का तो वर्णन है, व्याघ्र का नहीं, तो क्या इससे कभी भारत में व्याघ्र नहीं थे, ऐसी कल्पना की जा सकती है ?

'यद्यपि शुक्ल यजुर्वेद में गोवध के लिये मृत्यु दण्ड विहित है, ऋग्वेद में गोवध का नितान्त प्रतिषेध नहीं पाया जाता, कारण विवाह सूक्त में विशेष महोत्सवों पर गो का आलम्भन विहित है और वृषभों की बलि इन्द्र को अर्पित करने का प्रकरण कई जगह वर्णित है' (पृ० १४२) यह कथन भी वेदों का अर्थ ठीक से न समझ पाने के कारण ही है, क्योंकि 'अदिति स्वरूपिणी निरपराध गाय को कभी नहीं मारना चाहिये' इस मन्त्र में स्पष्ट ही गोवध का निषेध किया गया है । विवाह सूक्त में भी गो का आलम्भन विहित नहीं है, क्योंकि उनका नाम वहाँ पर 'अघ्निया' दिया गया है, जिसका कि अर्थ होता है कि ये कभी वध करने योग्य नहीं हैं ।

'ऋक् संहिता में इसका अनेक बार उल्लेख मिलता है । शुक्ल यजुर्वेद में सोम को जल से विभक्त करने की शक्ति हंस में बताई है, जिस तरह परवर्ती साहित्य में नीर-क्षीर (दूध और पानी) के विवेक के लिए हंस की महिमा गाई गई है' (पृ० १४३), 'यह प्रमाणित होता है कि ऋग्वेद के रचयिता भारत के वायव्य कोण में बसे हुये लोग थे । यह भाग काबुल नदी से लगाकर यमुना तक का प्रदेश था । वे उस समय आदिवासियों के साथ संघर्ष में जुटे हुये थे, कारण आदिवासियों की पराजय का वर्णन कई जगह मिलता

विजेतार आर्या नवनवप्रदेशानां स्वायत्तीकरणाय यतमाना आसन् । नद्य एव तत्र प्रतिरोधिका आसन् । आदिवासिनामनेका उपजातय आसन् । तासां धर्मभावना परस्परैकत्वभावनाप्यासीत् । तदा ते दस्युशब्दैः पश्चादनार्यशब्दैश्च व्यवह्रियन्ते स्म । तेषां कृष्णो वर्ण आसीत् । आर्याश्च गौरवर्णा आसन् । रङ्गभेद एव जातिभेदकारणमासीत् । पर्वतेषु निलीयमाना अपि ते नात्मानं रक्षितुं क्षमा आसन् आर्यैर्निगृहीता एव । यथा कश्चित् प्रस्तोता स्वाश्रयदातू राज्ञो दानस्तुतिप्रसङ्गे शतसंख्याकानां दासानां दानं वर्णयति । सर्वथाऽऽर्याणामधीनतास्वीकारानन्तरं तेषां शूद्रेति चतुर्थी संज्ञा विहिता । ऋग्वेदे दस्यवोऽयाज्ञिका नास्तिका अधार्मिका उच्यन्ते स्म । तस्मादेव सूक्तद्वये लिङ्गपूजकत्वेन ते सङ्केत्यन्ते । कालान्तरे आर्यैश्च लिङ्गपूजाऽङ्गीकृता । महाभारतरचनाकाले शिवार्चा प्रचलितासीत् । दस्यूनां दुर्गाणि पुरशब्देनोच्यन्ते' इत्यादिकम्, तत्सर्वं पाश्चात्यानां कूटनीतिमयदुर्भावनामूलकम्, ऋग्वेदेऽन्यत्र वा वैदिकसाहित्ये आर्याणां वहिर्देशादागमनावर्णनात् । वैदिकास्तु सर्वथा भारतीया एव । ऋगादयो वेदास्त्वनादय एव । तत्र चाख्यायिकारूपेण पुरुषाः पर्वता नद्यो युद्धानि च वर्ण्यन्ते । मनुव्यासादिभिः सृष्टेर्वैदिकशब्दपूर्वत्ववर्णनेन सृष्टेः प्रागपि तेषां विद्यमानत्वाङ्गीकारान् । भारतस्य वर्षस्य सर्वर्तुसुखावहत्वात् । ब्रह्मावर्त एव मानवादिमसृष्टिस्थानत्वावगमात् । भारते च प्रदेशभेदेन गौराः कृष्णा उभयविधा अपि मनुष्या उत्पद्यन्ते । रङ्गभेदे प्रदेशभेदजलवाय्वादिभेद एव कारणं न जातिः । दक्षिणे ब्राह्मणानामपि कृर्णवर्णत्वदर्शनात् । नहि पाश्चात्त्येषु गौरवर्णा दस्यवो न भवन्ति । दासाश्च कर्मकराः सर्वत्र भवन्ति, मनुष्यादिषु सर्वत्र गौणमुख्यभेदेन सेव्यसेवकभावदर्शनात् । सूक्तद्वये तु न शिवलिङ्गपूजका अयाज्ञिका

है । विजेता जाति नये-नये प्रदेश को हस्तगत करने में संनद्ध थी । यह वात 'आगे बढ़ने में नदियाँ भारी रुकावट डालती थीं' इस उक्ति के द्वारा प्रतीत होती है । आक्रमणकारी जाति अनेक अवान्तर जातियों में विभक्त अवश्य थीं, परन्तु उनमें धर्म और वर्गीय भावना में एकत्व था । वे अपने आपको आर्य (बन्धु) कह कर उन आदिवासियों से भिन्नता स्थापित करते थे, जिन्हें वे दस्यु अथवा दास कहा करते थे । आगे चलकर तो इस दस्यु जाति को अनार्य भी कहा है । इन दो जातियों में दैहिक विभेद वर्णगत था । आदिवासी को काले रंग का (अर्थात् दासों के रंग का) बताया है और अपना रंग आर्य (गौर) वर्ण घोषित किया है । निःसन्देह भारत में जातियों का मूल कारण यही रंग का भेद है । पराजित जाति के लोग जो पहाड़ियों में जाकर छिप न सके विजेताओं के द्वारा बन्दीकृत कर लिये गये । उदाहरणार्थ, एक प्रस्तोता को अपने आश्रयदाता राजा से भेंट में १०० गर्दभ, १०० मेष और १०० दास प्राप्त हुए थे । भारत के आदिवासी जब आक्रमणकारियों से अभिभूत हो सर्वथा उनके अधीन हो गये, तब वे दस्यु नहीं कहे जाते थे, परन्तु उसका वर्ग एक चौथा बना दिया गया, जिसे शूद्र कहते हैं । ऋग्वेद में दस्यु यज्ञ न करने वाले नास्तिक अधार्मिक बताये गये हैं । निश्चय ही दो सूक्तों में लिंग-पूजकों के नाम से उन्हीं का संकेत किया गया है । परन्तु समय बीतने पर आर्यों ने भी उक्त संप्रदाय को अपना लिया । महाभारत में अनेक सन्दर्भ ऐसे हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि महाभारत के रचनाकाल में लिंग के स्वरूप में शिव की अर्चा प्रचलित थी ।.....ऐसे दस्युओं के दुर्ग को पुर कहा गया है' (पृ० १४४-१४५) इस तरह का सारा प्रतिपादन पाश्चात्य विद्वानों की कूटनीति का अंग है । इस तरह की बातों से वे भारत में परस्पर दुर्भावना फैलाना चाहते हैं । ऋग्वेद में अथवा वैदिक साहित्य में अन्यत्र कहीं भी आर्यों के वाहर से आने की बात नहीं कही गई है । वैदिक सब तरह से केवल भारतीय ही हैं । ऋग्वेद आदि सभी वेद ग्रन्थ अनादि हैं । इनमें कहानी के रूप में पुरुष, पर्वत, नदी, युद्ध आदि का वर्णन मिल सकता है, किन्तु यह वास्तविक नहीं है । मनु, व्यास प्रभृति ने बताया है कि इस सृष्टि की रचना वैदिक शब्दों के आधार पर ही हुई है, अतः सृष्टि से पहले भी वेदों की स्थिति थी, उनका यह मत स्पष्ट हो जाता है । भारतवर्ष का मौसम सभी ऋतुओं में सुखदायक रहता है । मानव की प्रथम सृष्टि ब्रह्मावर्त में ही मानी जाती है । भारत में प्रदेश के भेद से गौर वर्ण और कृष्ण वर्ण दोनों तरह के मनुष्य होते हैं । इस वर्ण के भेद में प्रदेश का और जल-वायु का भेद ही कारण है, इसमें जाति को कारण नहीं माना गया है, क्योंकि दक्षिण भारत के ब्राह्मण भी कृष्ण वर्ण के देखे जाते हैं । पाश्चात्य देशों में गौर वर्ण के व्यक्ति दस्यु (चोर-लुटेरे) न होते हों सो बात नहीं है । दास सभी जगह मालिक का काम करते हैं । मनुष्य आदि सभी जातियों में गौण और मुख्य के भेद से मालिक और सेवक होते हैं । उक्त ऋग्वेद

नास्तिका उच्यन्ते। शिश्नदेवशब्देन शिश्नोदरपरायणा नास्तिका एव सर्वत्रोच्यन्ते, तत्र शिवलिङ्गपूजाबोधकशब्दाभावात्। किञ्च, पूर्वत्र तु मेघा एव वृत्रादिशब्देनोक्ताः, मेघा एव दुर्गपुरादिशब्दैरुक्ताः। इदानीं तु कूटनीत्या आदिवासिनः शत्रवस्तेषां पुराणि दुर्गाणीत्युच्यते। तत्तु केवलं धौर्त्यमेवं।

पुरु-तुर्वसु-यदु-यनु-द्रुह्युनामकाः पञ्चविधा आर्या आसन्नित्युक्तिस्तु भारतीयपारम्पर्याज्ञानमूलिकैव, भारतीयपुराणादिषु तेषां ययातिपुत्रत्वेन क्षत्रियत्वावगमात्। वशिष्ठ-विश्वामित्र-सुदासप्रभृतीनामृग्वेद उल्लेखेऽपि तेषामाख्यायिकारूपेणैवोल्लेखः। तादृशैः शब्दैस्तु सृष्टौ कदाचित्तादृशानां पुरुषाणामुत्पत्त्या महाभारतादौ तेषामैतिहासिकत्वेनापि वर्णनं सम्भवत्येव। घटनानुसारिण्यो न वैदिक्य आख्यायिकाः। आख्यायिकानुसारिण्यो घटनास्तु भवन्त्यो न निवार्यन्ते। अत एव ब्राह्मणयुगे कुरु-तुर्वशादिजातयो लुप्ता इत्यपि निर्मूलम्, ब्राह्मणयुगस्य निर्मूलत्वात्।

एवमेव 'तासां मिश्रणेन नवीनानि नामानि जातानि, भरतजातौ कौरवादयः पाञ्चाल-सृञ्जय-मत्स्यादयो जाताः' इति, तदपि तुच्छम्, निर्मूलत्वात्, अनुमानाभासमूलत्वाच्च। शास्त्रविरुद्धानि त्वनुमानानि त्याज्यान्येव, (यथा मनुष्यमूत्रं पवित्रं मूत्रत्वात् गोमूत्रवत्, परस्त्री गम्या स्त्रीत्वात् स्वस्त्रीवत्, नरशिरःकपालं शुचि प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खशुक्तिकादिवत्) उपजीव्यविरोधात्। शुचित्वादिकं तु शास्त्रगम्यमेव, तदेव च साध्यम्। तथा च शास्त्रविरुद्धेनानुमानेन

के दो सूक्तों में शिवलिंग के पूजक अयाज्ञिक नास्तिकों का वर्णन नहीं है। यहाँ सब जगह शिश्न शब्द से शिश्न और उदर की तृप्ति में लगे हुए नास्तिकों को ही संबोधित किया गया है। यहाँ कहीं भी शिवलिंग की पूजा करने वालों का उल्लेख नहीं है। अपि च, पहले आपने वृत्र आदि शब्दों को और दुर्ग, पुर आदि शब्दों को वेद में सर्वत्र मेघों का बोधक माना है। अब यहाँ कूटनीति में पड़कर आदिवासी को शत्रु बताकर उनके पुरों और दुर्गों का उल्लेख यहाँ मानते हैं, यह सब धूर्तता के सिवाय क्या हो सकता है?

'पुरु, तुर्वसु, यदु, अनु और द्रुह्यु नाम की जातियों में ये सब आर्य विभक्त थे' (पृ० १४६) इस तरह की उक्तियां भी भारतीय परम्परा के अज्ञान को ही सूचित करती हैं, भारतीय पुराणों में ये सभी ययाति के पुत्र थे और सब क्षत्रिय जाति के थे। वसिष्ठ, विश्वामित्र, सुदास आदि का ऋग्वेद में उल्लेख कहानी के पात्रों की तरह ही माना जाता है। इन शब्दों के आधार पर किसी समय सृष्टि में उत्पन्न हुए पुरुषों के ये नाम रक्खे जा सकते हैं और तब महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों में उनका वर्णन भी ऐतिहासिक माना जा सकता है। वैदिक आख्यान घटना का अनुवर्तन नहीं करते, किन्तु इन आख्यानों के आधार पर बाद में इस तरह की घटनाओं की संभावना को कौन रोक सकता है? इसलिए 'ब्राह्मण युग में कुरु, तुर्वश आदि जातियाँ लुप्तप्राय हो चली थीं' (पृ० १४८) यह कथन भी निराधार है, क्योंकि ब्राह्मण युग की कल्पना ही सर्वथा निर्मूल है।

'वैदिक युग की अनेक जातियां आपस में घुल-मिल गयीं और उन्होंने नया नाम रख लिया। उदाहरणार्थ—भरत जाति में कुरु, पाञ्चाल, सृंजय, मत्स्य आदि जातियां समाविष्ट हो गई' (पृ० १४८-१४९) यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि यह गलत अनुमान पर आधारित है। शास्त्रविरोधी अनुमान सर्वथा वर्जित है, (जैसे कि मनुष्य का मूत्र गोमूत्र के समान पवित्र है, अपनी स्त्री की तरह परस्त्री भी गमनयोग्य है, मनुष्य का कपाल शंख और शुक्ति के समान प्राणी का अंग होने से पवित्र है, इस तरह ये अनुमान कभी प्रामाणिक नहीं माने जाते), क्योंकि इनमें जिस शास्त्र के आधार पर इनकी प्रवृत्ति होती है, उसी का विरोध स्पष्ट है। अर्थात् शास्त्र गोमूत्र को पवित्र और मनुष्य के मूत्र को अपवित्र बताता है। इसी तरह से शास्त्र से ही यह ज्ञात होता है कि अपनी स्त्री के साथ ही गमन करना चाहिये, परस्त्री के साथ नहीं और इसी तरह से प्राणि का अंग होते हुए भी शंख और शुक्ति ही पवित्र माने जाते हैं, मनुष्य की खोपड़ी नहीं। अनुमान से उक्त शास्त्रवचनों के विरुद्ध मनुष्य के मूत्र को पवित्र, परस्त्री को गम्य और मनुष्य की खोपड़ी को यदि पवित्र माना जाता है, तो स्पष्ट ही अनुमान के द्वारा अपने उपजीव्य शास्त्र का विरोध हुआ। फलतः ऐसे अनुमानों को प्रमाण नहीं माना जाता। कोई वस्तु पवित्र है या अपवित्र, इसका निर्णय शास्त्र के आधार पर होता है। उक्त अनुमान में उसी को साध्य माना गया है। इस तरह से शास्त्रविरोधी अनुमान से पवित्रता, अपवित्रता का निर्णय कैसे हो सकता है? प्रकृत स्थल

कथं शुचित्वं सिद्धयेत ? प्रकृते त्वव्यभिचरितहेतुव्याप्त्याद्यभावादपि जातिलोपादिकल्पना न युक्ता। ब्राह्मणक्षत्रियादिजातिलोपे तन्मूलककर्मणामप्यसत्त्वेन वेदाध्ययनतदर्थानुष्ठानाभावापातात्।

तदपि—'तासु तासु जातिषु गायककुलानि भवन्ति स्म, तानि राजकुलसेवासंलग्नानि भवन्ति स्म। राजकीयवीरगाथावर्णनं यज्ञादिषु देवतास्तोत्रगानं च तेषां कार्यमासीत्। राजकार्यार्थं यस्य पुरोहितस्य ऋत्विजो वा नियुक्तिः स्यात् स राजपुरोहितत्वेन प्रशस्यते। महाराजसुदासस्य राजकुले वशिष्ठस्य तन्महत्त्वमासीत्। ऋ० ७।७३ इत्यत्र तेनोक्तं यत् तत्स्तुतिप्रभावादेव त्रित्सूनां विजयो जातः। दानस्तुतिषु राज्ञो दानश्लाघाऽत्युक्तिपूर्णा भवति स्म। अत्युक्तयस्तु प्रोत्साहनार्था एव भवन्ति स्म। तेन हिरण्यगवाश्वरथवस्त्राभरणादिवस्तूनि राजभिः पुरोहितेभ्यो दीयन्ते स्म। परिवर्तियुगे ब्राह्मणानां गौरवे सविशेषं स्थापिते पुरोहितेभ्यो दानं राज्ञां धर्मो जातः।

यज्ञानुष्ठाने पौरोहित्यनियुक्त्यैव पौरोहित्यपरम्परोपक्रमः। तत्फलस्वरूपमेव समाजे पुरोहितवर्गस्य महत्त्वपूर्णं स्थानं स्थापितम्। राज्यमेव धर्माधिकारिवर्गायत्तं जातम्। मध्ययुगे पाश्चात्त्यदेशेऽपि कैथलिकचर्चस्थानस्य स एवादर्श आसीत्। परन्तु यूरोपदेशे कदापि न स आदर्शः कार्यान्वितोऽभूत्, यथा भारते। पौरोहित्यं पारम्पर्येणात्रानुवंशिकं संगृहीतम्। तदानीमेव जातिवादविकासश्रीगणेशो जातः। ऋग्वेदीयप्राचीनांशरचनाकाले वशिष्ठस्य पौरोहित्यमानुवंशिकं नासीत्। अत एव पञ्चनदीया भटाः पुरोहिताश्च न जातिविशेषरूपेण परिणताः। तत्प्रमाणं महाभारतयुगे समुपलभ्यते। मध्यभारतनिवासिनो ब्राह्मणाः स्वब्राह्मणत्वस्य गौरवाद् वायव्यभागीयान् जनान् बर्बरत्वेन गणयन्ति स्म।

में तो व्यभिचार दोष से रहित हेतु, व्याप्ति आदि की उपलब्धि न होने से भी जातियों के नष्ट हो जाने की कल्पना नहीं की जा सकती। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियों के लुप्त हो जाने पर उनके द्वारा किये जाने वाले कर्मों का भी लोप मानना पड़ जायगा और इस तरह से वेद के अध्ययन और उनके अनुष्ठान का भी उच्छेद मान लेना पड़ेगा, जो कि सही नहीं है।

'हर जाति में अवश्य ही एक गायकों का कुल हुआ करता था, जो राजसेवा में आसक्त होता था। वह राजा की वीरगाथाओं का वर्णन करता अथवा यज्ञानुष्ठान के समय देवताओं के स्तोत्रों की रचना कर गान करता था। राजा के द्वारा अपने स्थान पर धार्मिक विधि को पूरा करने के लिये जिस पुरोहित या ऋत्विक् की नियुक्ति की जाती थी, वह राजपुरोहित कहलाता था। महाराज सुदास के यहाँ वसिष्ठ को यह मान प्राप्त था और ऋग्वेद के एक सूक्त (७।३३) में वह यह कहे बिना न रह सके कि त्रित्सुओं का विजय उनकी ही स्तुतियों के कारण हुआ था। अपने उदार आश्रय-दाताओं के प्रति श्लाघा के वचन अधिकांश अत्युक्तिपूर्ण हुआ करते थे। अंशतः ये अत्युक्तियां निःसंदेह इन राजाओं को प्रोत्साहित करने के लिये हुआ करती थी। जो भी कुछ हो स्वर्ण, गौ, अश्व, रथ एवं वस्त्राभरण के उपहार जो राजाओं के द्वारा अपने मुख्य पुरोहित को दिये जाते थे, अवश्य ही बहुमूल्य हुआ करते थे। परवर्ती युग में जब ब्राह्मण का गौरव सविशेष स्थापित हो चुका था, पुरोहितों को दान देना राजा का एक धर्म बन गया था।

राजाओं के द्वारा यज्ञानुष्ठान में अपने स्थान पर पुरोहितों की नियुक्ति से ही भारतवर्ष में पौरोहित्य-परम्परा का उपक्रम हुआ। यह वह आरंभ था जिससे विश्व के इतिहास में एक अनूठी परम्परा चल पड़ी और जिसके फलस्वरूप समाज में पौरोहित्य वर्ग का सर्वोत्कृष्ट स्थान बना और राज्य एक दम धर्माधिकारी वर्ग पर अवलम्बित हो गया। मध्ययुग में पाश्चात्य देशों में भी कैथलिक चर्च का यही आदर्श बना हुआ था, परन्तु यूरप में यह आदर्श कभी भी कार्यान्वित न हो पाया, जिस तरह भारत में हुआ। पौरोहित्य परम्परा ने आनुवंशिक रूप ग्रहण किया, ज्यों ही भारत में जातिवाद के विकास का श्रीगणेश किया। ऋग्वेद के प्राचीन अंश के रचनाकाल में, जब सुदास और वसिष्ठ हुए थे, पौरोहित्य-प्रथा आनुवंशिक न थी और न कभी वीर भटों के और पुरोहितों के वर्ग पंजाब में बसे हुए आर्यों के साथ जातिविशेष के रूप में परिणत हो पाये थे। इस बात का प्रमाण हमें महाभारत युग में मिलता है कि मध्यदेश के वासी अपने ब्राह्मणत्व के गौरव के कारण देश के वायव्य भाग में रहने वाले लोगों को बर्बरप्राय ही समझते थे।

तथापि जातिव्यवस्था पूर्वं जटिला नासीत्। यथा यथा आर्या विभिन्नप्रदेशेषु विस्तारमुपगतास्तथा तथा पराक्रमणशङ्कयाऽऽदिवासिनामभिभवाय सैनिकसंगठनमावश्यकं जातम्। तदानीं सैनिकदलानि सेनानायकानुशासने सङ्घटितानि। कृषकवर्गा निर्विघ्नतया औद्योगिकव्यवसायसम्पादनाय सन्नद्धाः। धार्मिकानुष्ठानान्यपि क्रमेण जटिलतामुपगतानि। तेन पुरोहितवर्गाः सम्पूर्णशक्तिभिर्धार्मिककार्याणां निर्वाहाय स्ववंशगम्यपवित्रपारम्पर्योपदेशे संलग्ना जाताः।

तेनैवार्यजातिषु प्रमुखास्त्रयो विभागा अधिकाधिकतया पार्थक्यमुपगताः। एवं प्रतीयते यत् पराजितानामादिवासिनामार्यधर्माङ्गीकारेऽपि तत्समाजे तेषां दासवृत्तिरेवासीत्। तयोरार्यानार्यजात्योरार्यदासजात्योश्च महान् भेदखातः साम्प्रतिकेषु गौरकृष्ण (गोरा-काला हब्शी) जनापेक्षयाऽप्यधिक एवासीत्। जातिवादस्य वंशोत्पत्त्यधीनत्वे जाते पुरोहितवर्गस्य स्वोच्चताप्राप्तौ साफल्यं जातम्। अत एव तेषां सम्मानमनतिक्रम्यं जातम्। यथा दासेभ्य आर्याः स्वात्मानमुच्चतमं मन्यन्ते, तथैव पुरोहिताः क्षत्रियादिभ्य आत्मानमुत्कृष्टतमं मन्यन्ते स्म। तिसृष्वार्यजातिषु शूद्रस्यापि सन्निवेशेन चातुर्वर्ण्यं स्थापितम्। यजुर्वेदे तस्योल्लेखो दृश्यते। तस्मिन्नेव युगेऽथर्ववेदस्य केचिदंशा निर्मिताः ८।१३, केचिच्च ऋग्वेदस्याप्यंशा निर्मिता यत्र चतुर्णां वर्णानामुल्लेखः। ऋग्वेदेऽष्टकृत्वो ब्राह्मणशब्दोऽस्मिन्नर्थे आगतः' (पृ० १५०-१५२) इत्यादिकम्।

तत्सर्वमपि दुष्टतामूलकमेव, ऋग्वेदीयसूक्तेषु तत्सूचकशब्दाभावात्। यथा कश्चित् क्वचिदेकं ताम्रखण्डं विलोक्य तदाधारेण कञ्चिद्राजानं तस्य चतस्रो भार्याः पञ्चदश पुत्रान् पञ्चामात्यान् सेनाः सेनापतिं च कल्पयेत्, तद्वदेवेयं कल्पना। कल्पनासु व्यभिचारबाहुल्यसम्भवात्। ८।३३ सूक्ते तु सपुत्रस्य वशिष्ठस्येन्द्रेण संवाद इत्यनुक्रमणि-

तथापि यह जातिव्यवस्था प्रारंभ में उतनी जटिल न थी। जब देश के विभिन्न भागों में आर्य जाति फैल गयी, तब यह अवश्यकता प्रतीत हुई कि सहसा आक्रमणों का सामना करने के लिये तथा कभी-कभी एकाएक सिर उठाते हुए अधीन आदिवासियों को दबाने के लिये एक सदा तत्पर सेना का संगठन किया जाय। सेना का मूल भाग छोटे छोटे दलों के मुखियों के परिवार से प्राप्त हुआ जो एक सेनानायक के अधीन जुटकर खड़े हो गये। इस तरह कृषक वर्ग एवं औद्योगिक वर्ग निर्विघ्नता से अपने अपने व्यवसाय को करने में समर्थ हुए। उन्हीं दिनों धार्मिक अनुष्ठान का स्वरूप क्रमशः जटिल होता गया और उससे होने वाली सिद्धि शुद्ध प्रयोग पर निर्भर होने लगी। साथ ही साथ प्राचीन सूक्तों की सुरक्षा अत्यधिक आवश्यक प्रतीत होने लगी। अत एव पुरोहित वर्ग को अपना सारा समय एवं संपूर्ण शक्ति अपने धार्मिक कार्यों के निर्वाह तथा उस पवित्र परम्परा को अपने वंशजों को सिखाने में लगानी पड़ी।

इन कारणों से आर्य जातियों में ये तीन प्रमुख विभाग अधिकाधिक पृथक् हो गये। ऐसा लगता है यह कठोर पारस्परिक दुर्भाव पराजित आदिवासियों के प्रति पृथक् व्यवहार के कारण उत्पन्न हुआ, क्योंकि आर्य धर्म को स्वीकार कर लेने पर भी इन आदिवासियों को आर्यों के समाज में केवल दास-वृत्ति ही उपलब्ध हुई थी। इन दो जातियों नें खाई उससे कहीं अधिक न होगी, जितनी आज संयुक्त राष्ट्र की जनता में गोरे और काले हब्शियों के बीच दीख रही है। जातिभेद के वंशोत्पत्ति पर आधारित हो जाने के बाद पुरोहित वर्ग को उच्च एवं पुनीत सामाजिक स्थिति प्राप्त करने में सफलता मिली। इसी कारण उनका संमान अनतिक्रम्य हो गया। वे शेष आर्यों से ठीक उसी तरह ऊंचे समझे जाने लगे, जिस तरह इतर आर्य दासों से कहीं उच्च समझे जाते थे। तीन आर्य जातियों में शूद्रों को संमिलित करने पर चातुर्वर्ण्य स्थापित हुआ, जिसका मूलाधार यजुर्वेद में पाया जाता है। उसी युग में अथर्ववेद का अधिकांश (अध्याय ८-१३) तथा कुछ भाग ऋग्वेद का भी रचा गया, जिसमें चार वर्णों का नामतः स्पष्ट उल्लेख मिलता है। प्रथम वर्ण के व्यक्ति के लिये 'ब्राह्मण' पद का प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है। केवल आठ ही बार ब्राह्मण शब्द का प्रयोग इस अर्थ में किया गया है तथा ब्राह्मण शब्द का प्रयोग कोई ४६ बार हुआ है जिसका अर्थ ऋषि तथा प्रधान ऋत्विक् हैं' (पृ० १५०-१५२)।

यह सारा प्रतिपादन दुष्टतामूलक है, ऋग्वेद के सूक्तों में इस विषय के प्रतिपादक शब्दों का नितान्त अभाव है। जैसे कोई व्यक्ति किसी एक तांबे के सिक्के को देखकर उसी के आधार पर किसी राजा की, उसकी चार रानियों की और उसके पन्द्रह पुत्र, पांच मन्त्री, सेना, सेनापति आदि की भी कल्पना करले, इसी तरह की यह भी कल्पना है। इस तरह की

कातो ज्ञायते । तस्य वशिष्ठऋषिस्तत्पुत्राणामेव स्तूयमानत्वात् त एव देवताः । तत्र—'दूरादिन्द्रमनयन्ना सुतेन तिरो वैशन्तमति पान्तमुग्रम् । पाशद्युम्नस्य वायतस्य सोमात् सुतादिन्द्रोऽवृणीता वशिष्ठान् ॥' (ऋ० सं० ७।३३।२) इति मन्त्रे यदा वशिष्ठस्य पुत्राः सुदासं राजानमयाजयन् तदैव पाशद्युम्नाख्योऽपि राजा सोमान् यष्टुमुद्यमं चकार । वशिष्ठ-पुत्रास्तं तिरस्कृत्य तदीययागे सोमं पिबन्तमिन्द्रं मन्त्रबलेन तस्मादाच्छिद्य सुदासो यज्ञे स्थापयामासुः । तदेतद् वृत्तान्तं कीर्तयन् वशिष्ठः स्वसुताननेन मन्त्रेण स्तौति—वेशन्तः पल्वलः । प्रकृते च सोमाधारश्चमसो लक्ष्यते । तत्स्थं सोमं पिबन्तम् उग्रम् उद्गूर्णमिन्द्रं सुतेन सुदासो यज्ञेऽभिषुतेन सोमेन हेतुना तिरः पाशद्युम्नं तिरस्कृत्य दूरात् आ आनयन् वाशिष्ठा मन्त्रबलेनानीतवन्तः । इन्द्रोऽपि वायतस्य वयतः पुत्रस्य पाशद्युम्नस्य द्वितीयार्थे षष्ठी । तमतिहाय सुदासो यज्ञे सुतात् सोमाद् हेतोः वासिष्ठान् वसिष्ठपुत्रानवृणीत । पाशद्युम्नस्य सोमयागे चमसस्थं सोमं पिबन्नपीन्द्रस्तं तिरस्कृत्य मन्त्रसामर्थ्ये(बले)न सुदासो यज्ञ आवाहनकाले वासिष्ठानाजगाम । दशमं मन्त्रमारभ्य चतुर्दशं यावत्तु वशिष्ठपुनर्देहग्रहणादिकमुक्तम् । नात्र त्रित्सूनां विजयो मन्त्रबलेन जात इत्युक्तम् ।

अयं मंकडानलोऽन्येऽपि पाश्चात्यास्तदनुयायिनश्च यान् ग्रन्थानाश्रित्यैव किञ्चित् प्रकल्पयन्ति, तेषां च स्वकल्पनानुकूलांशानां प्रामाण्यमप्रामाण्यं चेतरांशानामभ्युपयन्ति । तच्च कुक्कुट्या अर्धो भागः पाकायापरश्च प्रसवाय यथा कल्पेत, तथार्धजरतीयमनुसरन्तो दृश्यते । यदि ऋग्वेदस्य प्रामाण्यमभ्युपेयते तदा तदन्तर्गतस्य दशम-मण्डलस्यापि प्रामाण्यमेव । तत्र च पुरुषसूक्ते चातुर्वर्ण्यं जन्मनैवोक्तम् । यथा परमेश्वरस्य मुखबाहुभ्यां ब्राह्मणक्षत्रिययो-रुत्पत्तिस्तथैव शूद्रस्यापि परमेश्वरस्य पद्भ्यामुत्पत्तिरुक्तैव । तथा च पूर्वं जातयो नासन् पश्चात् कल्पिता इति च कल्पनैव । यदि च दशमस्य प्रामाण्यं नास्ति तदान्यांशानामप्यप्रामाण्यापत्त्या त्वत्कल्पनापि निर्मूलैव । त्वदभिमता

कल्पनाओं में अनेक प्रकार के दोष देखने को मिलते हैं । ऋग्वेद के ८।३३ सूक्त में वसिष्ठ और उसके पुत्रों के साथ इन्द्र का संवाद है, यह बात अनुक्रमणिका के आधार पर ज्ञात होती है । इसका ऋषि वसिष्ठ है । वसिष्ठ के पुत्रों की स्तुति होने से वे ही इस सूक्त के देवता हैं । 'दूरादिन्द्र०' इस मन्त्र में बताया गया है कि जब वसिष्ठ के पुत्र राजा सुदास का यज्ञ करा रहे थे, उसी समय पाशद्युम्न नाम का राजा भी सोम याग करने लगा । वसिष्ठ के पुत्रों ने उसके याग का तिरस्कार कर दिया और उसके याग में सोमपान के लिये आये इन्द्र को अपने मन्त्रों के बल से उस याग से हटा कर सुदास के यज्ञ में बुला लिया । इसी बात की चर्चा करते हुए वसिष्ठ अपने पुत्रों की इस मन्त्र से स्तुति करते थे । यहाँ पर वेशन्त पद से सोम जिसमें रक्खा जाता है, उस चमस पात्र का ग्रहण किया जाता है । उस चमस पात्र में सोमपान करते हुए उग्र स्वभाव वाले इन्द्र को पाशद्युम्न के यज्ञ से दूर कर राजा सुदास के लिये किये जाने वाले यज्ञ में वशिष्ठ के पुत्रों ने अपने मन्त्रबल से बुला लिया । इन्द्र भी वयत के पुत्र पाशद्युम्न के यज्ञ को छोड़ कर सुदास के यज्ञ में सोम की आहुति दे रहे वशिष्ठ पुत्रों के पास चला आया । अर्थात् पाशद्युम्न के सोम याग में चमस पात्र में स्थित सोम का पान करता हुआ भी इन्द्र उसको छोड़कर मन्त्र की सामर्थ्य से सुदास के यज्ञ में आवाहन करते ही चला आया । इस सूक्त के दसवें मन्त्र से चौदहवें मन्त्र तक वशिष्ठ के पुनः देह-ग्रहण की बात है । यहाँ पर मन्त्र के बल से त्रित्सुओं पर विजय पाने की बात की कहीं भी कोई चर्चा नहीं है ।

मैकडानल और इसी तरह के इसके अनुयायी अन्य पाश्चात्य विद्वान् जिन ग्रन्थों के आधार पर कुछ कल्पनाएं करते हैं, उनमें से अपनी कल्पना के अनुकूल अंशों को तो प्रमाण मानते हैं और विपरीत अंशों को अप्रमाण घोषित कर देते हैं । उनका यह व्यापार अर्धजरतीय न्याय का उदाहरण है । जैसे कि कोई मुर्गी का आधा भाग पकाने के लिये और आधा भाग अंडा देने के लिये रखना चाहता हो, उसी तरह का इन पाश्चात्यों का यह प्रयत्न भी उपहास का ही विषय हो सकता है । यदि आप ऋग्वेद को प्रमाण मानते हैं, तो उसके अन्तर्गत विद्यमान दशम मण्डल को भी प्रमाण मानना ही पड़ेगा । वहाँ पर पुरुष सूक्त में जन्म से ही चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है । जैसे परमेश्वर के मुँह और बाहु से ब्राह्मण और क्षत्रिय की उत्पत्ति बताई गई है, उसी तरह से शूद्र की भी उत्पत्ति परमेश्वर के पैर से बताई गई है । इस तरह से यह कहना कि पहले जातियाँ नहीं थी, बाद में उनकी कल्पना की गई, यह बात कोरी कल्पना के सिवाय क्या हो सकती है ? यदि दशम मण्डल का प्रामाण्य नहीं है, तो अन्य अंशों का भी प्रामाण्य क्यों

अंशा: सत्यार्थप्रतिपादका अन्ये चातथाभूता इत्यत्र शपथमन्तरा किं प्रमाणम्। तत्रैव ऋग्वेदे 'वाचा विरूप नित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६) इति मन्त्रे वेदवाचां नित्यत्वमुक्तम्। स एक एव मन्त्रः सर्वा अपि त्वत्कल्पनाः समूलमुन्मूलयति। पूर्वोक्तः ७।३३ मन्त्रस्तु त्वद्रीत्यापि प्राचीनांशगतः। द्वितीयमारभ्य सप्तमं यावत् षण्णां मण्डलानां त्वयापि प्राचीनत्वाभ्युपगमात्। तत्र च मन्त्रबलेनैवेन्द्रस्य दूरादानयनमुक्तम्। इन्द्रश्च देवराजो महैश्वर्यवान्। स कथमन्यथा मनुष्येच्छया बलादन्यत्र नीयेत। तस्मादार्याणामभारतीयत्वमादिवासिनामुपरि तेषामाक्रमणं पराजित्य तेषां दस्युत्वेन दासत्वेन शूद्रत्वेन च तिरस्करणं तेभ्य आत्मनामुत्कृष्टतमत्वव्यवस्थापनमित्यादिकं सर्वमपि मैकडानलस्यानल्पजल्पनं निर्मूलं प्रलपनमेव, प्रमाणाभावात्। नहि प्रतिज्ञामात्रेण वस्तुसिद्धिः।

यदपि—'विवाहे उत्सवे च गोमांससमर्पणम्' तदपि निर्मूलम्, 'मा गामनागामदितिं वधिष्ट (ऋ० सं० १०।१०१।१५) इति गोवधनिषेधात्। अघ्न्या (ऋ० सं० १।२२।२७), अघ्न्या (ऋ० सं० ७।७।४) इत्यृग्वेद एव गवामघ्न्यत्वोक्तेः। तथा च महाभारतम्—'अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति' इति। एवमेवान्यां अप्यनुमानाभासमाश्रिता मैकडानलस्य बह्व्यः कल्पना निरस्ता वेदितव्याः।

एवमेव सामवेदसम्बन्धेऽपि तत्कल्पना निराधारा एव।

यदप्युक्तम्—'यजुर्वेदस्य भौगोलिकं क्षेत्रमृग्वेदाद्भिन्नतयैव परिचीयते। तत्रत्यं भारतीयं धार्मिकं सामाजिकं जीवनमेव नवयुगं सङ्केतयति। यजुर्वेदसमये वैदिकसभ्यतायाः केन्द्रं सुदूरपूर्वभागेऽवस्थितमुपलभ्यते। सिन्धुतत्सहगामिनीनां सरितां वर्णनमत्र नोपलभ्यते। यजुर्वेदीयसंहितायां ब्राह्मणग्रन्थेषु कुरुक्षेत्रं शतद्रुयमुनयोर्मध्यस्थिता भूमिः पवित्रतमाऽभ्युपेयते' इत्यादिकम्, तदपि यत्किञ्चित्, वेदानां धर्मब्रह्मप्रतिपादकत्वेन भूगोलनिघण्टुशब्दकोषरूपत्वाभावेन तददोषात्।

माना जाय और इस तरह से उनके आधार पर की गई आपकी कल्पना भी कैसे प्रमाण मानी जा सकेगी ? आपके अभिमत अंश तो प्रमाण हैं और अनभिमत अंश प्रमाण नहीं हैं, इसमें आपकी बात के सिवाय और क्या प्रमाण है। उसी ऋग्वेद में 'वाचा विरूप नित्यया' यहाँ पर वेद वाणी को नित्य माना गया है। यह एक मन्त्र ही आपकी सारी कल्पनाओं को जड़ से उखाड़ फेंकता है। पूर्वोक्त मन्त्र आपके मत से भी प्राचीन अंश में विद्यमान है। आप दूसरे से सातवें तक के मण्डलों को प्राचीन मानते हैं। वहाँ पर मन्त्र की सामर्थ्य से इन्द्र को दूर से बुला लेने की बात कही गई है। देवराज इन्द्र महान् ऐश्वर्य वाला है। वह मनुष्य की इच्छा से कैसे अन्यत्र ले जाया जा सकता है ? इसलिये आर्य अभारतीय हैं, उन्होंने यहाँ के आदिवासियों पर आक्रमण कर उनको पराजित किया और दस्यु, दास और शूद्र नाम देकर उनको अपमानित किया, तथा उनसे अपने को उच्च घोषित किया, इस तरह की मैकडानल की सारी बातें प्रमाण के अभाव में प्रलापमात्र हैं। केवल प्रतिज्ञा कर लेने से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो जाती।

इसी तरह से विवाह और अन्य बड़े उत्सवों पर अभ्यागतों को गोमांस प्रस्तुत करने की (पृ० १५२) बात भी निर्मूल है। 'मा गामनागा०' इस मन्त्र में गोवध का स्पष्ट निषेध है। ऋग्वेद में गाय को अवध्य माना गया है। महाभारत में भी कहा गया है कि 'अघ्न्या यह गायों का नाम है, इनको कौन मार सकता है'। इसी तरह के गलत अनुमानों के आधार पर कल्पित मैकडानल की अन्य बहुत सी बातें भी प्रमाणरहित ही मानी जायगी।

सामवेद संबन्धी (पृ० १६०-१६२) उसकी कल्पनाएँ भी इसी तरह निराधार माननी चाहिये।

यजुर्वेद के संबन्ध में मैकडानल ने कहा है—'यजुर्वेद न केवल ऋग्वेद से भिन्न भौगोलिक क्षेत्र से ही हमें परिचित कराता है, अपितु भारतीय धार्मिक एवं सामाजिक जीवन के एक बिलकुल नये युग की सूचना देता है। अब वैदिक सभ्यता का केन्द्र देश के सुदूर पूर्वभाग में अवस्थित पाया जाता है। अब हमें सिन्धु नदी तथा उसकी सहगामिनी सरिताओं का वर्णन नहीं मिलता। यजुर्वेद संहिता तथा तत्संबन्धी ब्राह्मण ग्रन्थों में जिस भूमि को परम पवित्र बताया है, वह है कुरुक्षेत्र, जो सतलज और यमुना के मध्य स्थित है' (पृ० १६२)। यह पूरा कथन भी गलत है, क्योंकि वेद तो धर्म और ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, अतः उनमें भूगोल आदि का वर्णन हो अथवा निघण्टु, शब्दकोष आदि का वे प्रतिपादन करते हों, ऐसा न होने से उक्त दोषों का यहाँ कोई प्रसंग ही नहीं है।

मैक्समूलरप्रभृतिभिः संस्कृतजेन्दलेटिनग्रीकप्रभृतिभाषासु साम्यबाहुल्योपलम्भात् तद्भाषाभाषिणां पूर्वजाः क्वचिदेकत्रैव देशे निवसन्ति स्मेति परिकल्पितम्। तत एव ये समूहा यावतांशेन विप्रकर्षमुपगताः क्रमेण तद्भाषासु वैषम्यमुपगतम्। संस्कृतादयो भाषा भगिन्य एव। आसां मातृभूता काचिदार्यभाषासीत्, तद्भाषिणश्चार्या आसन्। तत एव केचित्सुदूरपश्चिमाभिमुखा यूरोपमुपगताः। केचिदीरानदेशमुपगताः। अपरे सप्तसिन्धूनुपागम्य हिन्दवः सञ्जाताः। तद्रीत्या भारतवर्षे आर्याः ३५००-४००० वर्षेभ्यः प्राक् पश्चिमोत्तरस्मादेशियाप्रदेशात् समागताः। ततः प्राग् मध्य-एशियाप्रदेशवास्तव्या आसन्। संख्यावृद्धया खाद्यसामग्रीणां न्यूनतादिहेतोस्तत्रावासकाठिन्यात्ते ततः सङ्घबद्धास्तत्र तत्र गताः। हिन्दूनां सर्वोत्तमो निधिर्वेदा विशेषत ऋग्वेदो न केवलमार्याणां किन्तु समस्तभूमण्डलस्य सर्वप्राचीनो ग्रन्थः। येन चतुःसहस्रवर्षप्राचीनजीवनविषयेषु बहूनि ज्ञातव्यानि ज्ञायन्ते। तद्रीत्या वेदाद् अवेस्ताग्रन्थाच्च आर्यसंस्कृतेः परिचयो जायते। येषामिमौ ग्रन्थौ प्रसिद्धौ तेषां बहुकालपर्यन्तं सहवासः समानश्चेतिहास आसीत्। प्राचीना आर्या गवादिपशून् पालयन्ति स्म। तदर्थं विस्तृतप्रदेश आवश्यक आसीत्। तदानीं हिमाधिक्याद् हिमशब्देन वर्षगणना भवति स्म। ग्रीकदेशेऽपि हिमशब्द उपलभ्यते। हिमतरणं दुर्गममासीत्। अत एव पूर्वं 'शतं हिमाः' इति, पश्चात् 'शरदः शतम्'। ऋग्वेदे—'तद्वो यामि द्रविणं सद्य ऊतयो येना स्वर्ण ततनाम नॄँरभि। इदं सु मे मरुतो हर्यता वचो यस्य तरेम तरसा शतं हिमाः॥' (ऋ० सं० ५।५४।१५)। एवमेव 'शतं हिमाः तरेम'। ऋग्वेदे बृहतीनां नावां चर्चा दृश्यते। तेन नावां गमनागमनानुकूलजलसमूहोऽपि कल्पयितुं शक्यते। अश्व-पिप्पल-सोमवर्णनात् यूरोपीयैस्तदनुगुणो देशो हिन्दुकुशपर्वतस्य परस्ताद् भागः कस्पियन्-समुद्रस्य निम्नभागो वा पामीरपर्वतोपत्यकास्थानमेव वा निश्चीयते। तत एव शकादिजातीयैराक्रमणं कृतम्। पारसीकानां धर्मग्रन्थे अवेस्ताख्ये प्रथममानवसृष्टिर्बाह्लीकप्रदेशे वर्णिता। अत एव आर्याणां मूलदेशः स एव मन्यते। वेदे तु तच्चर्चा न दृश्यते। 'गान्धारीणामिवाविका' (ऋ० सं०)

मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत, जेन्दावेस्ता, लैटिन, ग्रीक प्रभृति भाषाओं में परस्पर बहुत समानता देखकर यह कल्पना की है कि इन भाषाओं को बोलने वालों के पूर्वज कभी किसी एक ही स्थान में रहते थे। इनमें से जो समूह जितनी दूर चला गया उनकी भाषाओं में उतना ही अन्तर आ गया। संस्कृत आदि ऊपर निर्दिष्ट भाषाएँ परस्पर बहिनें हैं। इन सबकी जननी कोई आर्य-भाषा थी, जिसके बोलने वाले आर्य कहलाते थे। इन्हीं में से कुछ सुदूर पश्चिम यूरोप चले गये, कुछ ईरान चले गये, और अन्य सात नदियों के देश भारत में आकर हिन्दू कहलाने लगे। इनके मत से आर्य आज से कोई ३५००-४००० सौ वर्ष पहले पश्चिमोत्तर एशिया से यहाँ आये। इससे पहले वे मध्य एशिया में रहते थे। जनसंख्या बढ़ जाने पर और खाद्य सामग्री की कमी पड़ जाने से वहाँ बसना कठिन हो जाने से वे अनेक समूहों में इधर-उधर चले गये। हिन्दुओं की सर्वोत्तम निधि वेद, विशेषतः ऋग्वेद न केवल आर्यों का, किन्तु समस्त भूमण्डल का सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। इससे चार हजार वर्ष पहले के जीवन के विषय में अनेक तरह की जानकारी मिलती है। उनके मत से वेद से और अवेस्ता से आर्य संस्कृति का परिचय प्राप्त होता है। जिनके ये दोनों ग्रन्थ हैं, वे बहुत समय तक एक साथ रहे हैं और इन दोनों का इतिहास एक सरीखा है। प्राचीन आर्य गाय प्रभृति पशुओं को पालते थे। इसके लिए बड़े-बड़े मैदानों की आवश्यकता थी। उस समय हिम (बर्फ) की अधिकता थी, अतः हिम शब्द से ही वर्ष की गणना होती थी। ग्रीक देश में भी हिमकाल शब्द मिलता है। हिम को पार करना कठिन कार्य था। इसीलिए पहले हिम शब्द का और बाद में शरत् शब्द का प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद में 'तद्वो यामि', 'शतं हिमाः' आदि अनेक मन्त्रों में हिम शब्द इसी अर्थ में मिलता है। ऋग्वेद में बड़ी-बड़ी नावों का उल्लेख मिलता है। इससे इन बड़ी-बड़ी नौकाओं के जाने-आने लायक जल की भी कल्पना की जा सकती है। अश्व, पिप्पल और सोम का वर्णन देखकर यूरोपीय विद्वान् इसी तरह के हिन्दूकुश पर्वत के आगे के प्रदेश को, किसी समुद्र के किनारे की नीची भूमि को, अथवा पामीर पर्वत की तलहटी को ही यह स्थान मानते हैं। बाद में भी यहीं से शक आदि जातियों ने भी भारत पर आक्रमण किया था। पारसियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता में मानव की प्रथम सृष्टि बाह्लिक (बलख) प्रदेश में मानी गई है। इसीलिये उसी को आर्यों का मूल देश माना जाता है। वेद में इसकी चर्चा नहीं है। 'गान्धारीणामिव' इस

इत्यादा ऊर्णावतीनां मेषीणां वर्णनात् सप्तसिन्धूनां गङ्गायमुनासरस्वत्यादीनां च वर्णनाद् एकलया अवेस्ताग्रन्थस्य गाथया सन्दिग्धार्थनिर्णयोऽशक्य एव। कुतश्चाचार्यैः स देशस्त्यक्तः? सर्वथा चार्यशून्यः स देशः कुतः संवृत्तः? सप्तसिन्धवस्तु वेदे बाहुल्येन वर्ण्यन्ते। वायविलदृष्ट्या ८५०० वर्षीयैव विश्वसृष्टिरभ्युपेयते पाश्चात्त्यैस्तत एव ते न ततः परस्ताद्वेदकालमभ्युपगन्तुं शक्नुवन्ति। अविनाशचन्द्रदासमहोदयस्य दीनानाथचुलेटप्रभृतीनां त्वनेकलक्षवर्षेभ्यः प्राग्वेदानामुत्पत्तिरभिप्रेता। मनुव्यासप्रभृतयस्त्वनादिनिधनं नित्यं वेदमङ्गीकुर्वन्ति।

'सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्। अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्य्युह्यते ॥' (ऋ० सं० १०।८५।१३)। मघानक्षत्रे सूर्यस्य द्वे गावो सोमगृहनयनाय फाल्गुन्योः दण्डैः प्रताड्येते। अनेन ज्यौतिषसम्बन्धितत्त्वेन मन्त्रस्यातिप्राचीनता सिद्ध्यति। जनश्रुतिभिर्ऋषीणां दीर्घाभिः स्मृतिभिश्च प्रलम्बमानकालः स्मर्यते। वृत्रं हत्वा सप्तसिन्धुष्विन्द्रेण जलं प्रवाहितम्, एष इन्द्रस्य प्रथमः पराक्रमः। एवं सत्यपि वेदमन्त्रेषु वैदिकानां देशान्तरादागमनं न स्मर्यते। सिन्धु-विपाशा (व्यास)-शुतुद्रि (सतलुज)-वितस्ता (झेलम)-असिक्नी (चिनाव)-परुष्णी (रावी)-सरस्वती-दृषद्वती-गङ्गा-यमुनाद्याश्च वेदे वर्ण्यन्ते। पाश्चात्त्यानां दृष्ट्या वेदे समुद्रवर्णनं नास्ति। सिन्धुशब्दस्तु सिन्धुनदीबोधको न समुद्रबोधक इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'वातस्याश्वो वायोः सखाऽथो देवेषितो मुनिः। उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः ॥' (ऋ० सं० १०।१३६।५) वायुभोक्ता द्योतमानसूर्यसदृशदेहो वायोः सखा करिक्रतनामकर्षिरुभौ समुद्रौ गच्छति। कौ द्वौ समुद्राविति तत्राह—यश्च पूर्व उतापि अपरः। 'रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः। आ पवस्व सहस्रिणः ॥' (ऋ० सं० ९।३३।६) हे सोम! धनपूर्णान् चतुरः समुद्रान् सहस्रिणः कामानामस्मभ्यम् आपवस्व देहि। 'यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्। यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः ॥' (ऋ० २।१२।२) हे जनासः, स इन्द्रो यो व्यथमानां पृथिवीमदृंहद् यः प्रकुपितान् पर्वतान् अरम्णात् योऽन्तरिक्षं विममे यश्च द्यामस्तभ्नात्।

अवेस्ताग्रन्थेऽपि—'ह्यत ता उर्वाता सशया वामञ्च दाद्यो ददाता वीति चा अनीति चा अत एपि ताईश अंघहती उश्ता गाथा मजूदेव मह्यम् ॥' द्वावात्मानौ प्रत्तौ तयोर्य उत्कृष्टः स धर्मं सङ्केतयति। यो निम्नः सोऽनीतिं

ऋङ्मन्त्र में ऊन वाली भेड़ों का वर्णन मिलने से, सात नदियों और गंगा-यमुना-सरस्वती आदि नदियों का वर्णन मिलने से अकेले अवेस्ता ग्रन्थ के आधार पर संदिग्ध अर्थ का निर्णय नहीं हो सकता। आर्यों ने उस देश को क्यों छोड़ दिया? वह प्रदेश सर्वथा आर्यों से शून्य कैसे हो गया? सात नदियों का ही वर्णन वेद में ज्यादा मिलता है। बाइबिल के अनुसार पाश्चात्य विद्वान् इस सृष्टि की आयु ८५०० वर्ष की मानते हैं। इसलिये इससे पहले वे वेद का समय कभी नहीं मान सकते। अविनाशचन्द्रदास और दीनानाथ चुलेट प्रभृति भारतीय विद्वानों की दृष्टि में तो लाखों वर्ष पहले वेदों की उत्पत्ति हुई थी। मनु, व्यास प्रभृति प्राचीन आचार्य तो वेद को अनादि, अनन्त अत एव नित्य मानते हैं।

'सूर्याया वहतुः' इस ऋङ्मन्त्र में मघा नक्षत्र मे सूर्य की दो गायों को सोम के घर ले जाने के लिए दो फाल्गुनी नक्षत्रों के दण्ड से ताडित कराने का वर्णन है। इस ज्योतिष संबन्धी तात्त्विक वर्णन से इस मन्त्र की अतिप्राचीनता सिद्ध होती है। जनश्रुति के आधार पर और ऋषियों की लम्बी स्मृतियों के आधार काल की बड़ी लम्बी सीमा मानी जाती है। वृत्र को मारकर इन्द्र ने सातों नदियों में जल भर दिया। यह इन्द्र का पहला पराक्रम का कार्य था। इन सब बातों के रहते हुए भी यह कहीं भी नहीं सुना गया है कि वैदिक आर्य कहीं बाहर से यहाँ आये हैं। सिन्धु, व्यास, सतलज, झेलम, चिनाव, रावी, सरस्वती, दृषद्वती, गंगा, यमुना का वर्णन वेद में मिलता है। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि से वेद में समुद्र का वर्णन कहीं नहीं है। सिन्धु शब्द से सिन्धु नदी का बोध होता है, समुद्र का नहीं, यह कथन भी व्यर्थ की बात है, क्योंकि 'वातस्याश्वो०', 'रायः समुद्रा०', 'पृथिवीं व्यथमाना०' इत्यादि ऋङ्मन्त्रों में स्पष्ट ही समुद्र का वर्णन मिलता है। यहाँ पर प्रथम मन्त्र में दो समुद्रों का और द्वितीय मन्त्र में चार समुद्रों का वर्णन है।

अवेस्ता ग्रन्थ में भी 'ह्यत ता' इत्यादि गाथा में दो तरह की आत्माओं का वर्णन है। इनमें जो उत्कृष्ट है, उसकी धर्म की ओर तथा निकृष्ट आत्मा की पाप की ओर प्रवृत्ति बताई गई है। वेद की तरह अवेस्ता में भी सोमपान की प्रथा विद्यमान है। वहाँ

नयति। सोमपानप्रथा वेद इव अवेस्ताग्रन्थेऽपि। हौमशब्देन सोमोऽत्र वर्णितः। ऋग्वेदेऽग्निवरुणादयोऽनेके देवाः सन्ति, परन्तु—'एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति' (ऋ० सं०) इत्येकेश्वरवादे सर्वेषामन्तर्भावः श्रूयते। सर्वथापि वेदे वहिर्देशादार्याणामागमनं न विद्यते। तद्रीत्यापि बहिर्देशादागमनं न सिद्ध्यति। पाश्चात्त्यानां रीत्या आर्याणां भारतागमनकालः ३५००-४००० वर्षेभ्यः प्राक्। स एव च वेदनिर्माणकालः। तथा च कथं न तत्स्मरणं वेदे तद्वर्णनं च कथं न स्यात्। तस्मान्मिथ्यैव सा कल्पनेति मन्तव्यम्।

यदुक्तम्—'यजुर्वेदसंहिता मूलतोऽष्टादशाध्यायात्मिकैवासीत्' इति, तत्तु बेवरमतसमीक्षाप्रसङ्गे निराकृतमेव। रुद्रशिवमहादेवादिसम्बन्धिनी दुष्कल्पनापि तत्रैव निरस्ता। यदपि—'अप्सरसां वर्णनं वेदोत्तरकालीनपौराणिकसाहित्येषु विख्यातम्। ऋग्वेदे यद्वर्णनमत्यल्पमेव, परन्तु यजुर्वेदे तद्गौरवं विस्तृतम्' इति, तत्तुच्छम्, वेदानां प्रामाण्यस्वतस्त्ववर्णनेन तत्प्रतिपादितस्यार्थस्य तथैवाभ्युपगन्तव्यत्वात्। अन्यथा नेत्रदृष्टे रूपेऽपि शङ्कासम्भवात्। यदुक्तम्—'ऋग्वेदे ब्रह्मशब्दस्य तात्पर्यं भक्तावेवासीत्, परस्तात् तु तदर्थो विस्तरेण पवित्रताया वन्दनायाश्च मूलतत्त्वबोधकता जाता' इति, तदपि तुच्छम्, ब्रह्मशब्दस्य भक्त्यर्थत्वे मानाभावात्। शब्दार्थसम्बन्धानां नित्यत्वाभ्युपगमेन विकासायोगाच्च।

यदपि—'ऋग्वेदकालापेक्षया यजुर्वेदकाले देवपूजाप्राधान्य-यज्ञानुष्ठानप्राधान्ययोः प्रातिलोम्यं जातम्। ऋग्वेदेऽर्चाविषया देवता भवन्ति स्म। यासां हस्ते मानवजातेरनुग्रहसामर्थ्यमासीत्। यज्ञयागादयस्तु तत्प्रसादप्राप्तिसाधनमात्रम्। यजुर्वेदे तु यज्ञविचारानुष्ठानानामेव प्राधान्यं जातम्, तेषामनुष्ठानसूक्ष्मताया एव सर्वोपरि मान्यता

हौम शब्द से सोम का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में अग्नि, वरुण प्रभृति अनेक देवताओं का वर्णन है, किन्तु 'एकं सद्विप्राः' इस ऋङ् मन्त्र के अनुसार एकेश्वरवाद में उन सबका अन्तर्भाव हो जाता है। इन सब वर्णनों के रहते हुए भी कहीं भी वेद में आर्यों के बाहर से आने की बात की चर्चा नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों के मत के अनुसार भी आर्यों के बाहर से आने की बात सिद्ध नहीं हो पाती। उनके मत से आर्यों के भारत आगमन का काल आज से ३५००-४००० वर्ष पहले का है। यही काल उनके मत से वेद की रचना का भी है। आर्यों के आगमन का और वेद की रचना का जब एक ही समय है, तब इन मन्त्रों के रचयिताओं को इसका स्मरण रहना चाहिये था और उनमें इस बात का उल्लेख भी मिलना चाहिये था। ऐसा नहीं है, अतः पाश्चात्यों की यह सारी कल्पना झूठी है।

'यजुर्वेद संहिता मूलतः केवल १८ अध्यायों की थी' (पृ० १६५) इस बात का खण्डन हम बेवर के मत की समीक्षा करते समय कर चुके हैं। रुद्र, देव, महादेव संबन्धी निराधार कल्पनाओं का भी खण्डन हम वहीं कर चुके हैं। इसी तरह से—'अप्सरा नाम की जलजात देवियाँ अपने ललनोचित मोहक सौन्दर्य के लिये वेदोत्तरकालीन पौराणिक साहित्य में सुविख्यात हैं, इनका ऋग्वेद में बहुत ही कम उल्लेख है, परन्तु वे भी यजुर्वेद में अधिक गौरव पा गई हैं' (पृ० १६८) यह कथन भी गलत है, क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण है, अतः उसमें प्रतिपादित अर्थ को उसी रूप में स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा अपनी आंखों से देखे गये रूप में शंका होने लगेगी। 'ऋग्वेद में 'ब्रह्म' शब्द का तात्पर्य केवल 'भक्ति' होता था और आगे चल कर उसका अर्थविस्तार हो यह पद 'पवित्रता एवं वन्दना मूलतत्त्व' इस तात्पर्य का बोधक बन गया' (पृ० १६८-१६९) यह बात भी गलत है, क्योंकि 'ब्रह्म' शब्द का तात्पर्य 'भक्ति' है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध ये सब नित्य माने जाते हैं। अतः इनके विकास का कोई प्रसंग ही नहीं रह सकता।

'ऋग्वेद काल की अपेक्षा यजुर्वेद काल में देवताओं की पूजा के प्राधान्य और यज्ञानुष्ठान के प्राधान्य में प्रातिलोम्य हो गया—जो ऋग्वेद काल में गौण था वह उत्तर काल में प्रधान हो चला तथा जो पूर्वकाल में प्रधान था परवर्ती काल में वह अप्रधान हो गया। ऋग्वेद में अर्चा के विषय देवता होते थे, जिनके हाथ में मानव जाति पर पर अनुग्रह करने का सामर्थ्य था और यज्ञ-याग आदि

जाता। यज्ञशक्तिरेवं वृद्धिमुपगता यया न केवलं देवताः प्रभाव्यन्ते स्म, किन्तु पुरोहितानां सङ्कल्पानुसारेणाभीप्सितफलप्रदानार्थं देवता बाध्यन्त इत्यवगम्यते। देवतास्तु ब्राह्मणानां प्रायो मुष्टिगताः' इति, तत्सर्वमपि प्रतिज्ञामात्रम्, हेत्वभावेनैव निरस्तत्वात्। अपौरुषेयत्वेनापास्तसमस्तपुंदोषत्वेन यजुर्वेदस्यापि वेदत्वाविशेषात्। समन्वितार्थावगमाय यत्नकर्तव्यत्वौचित्यात्। व्यास-जैमिनि-शवर-शङ्कर-कुमारिल-सायणादिभिः समस्तस्यैव वेदराशेः समन्वयेनार्थावधारणाच्च। देवताश्च न स्वत एव निग्रहमनुग्रहं वा कुर्वन्ति, तेषामाप्तकामत्वेन वैषम्याद्यभावात्। यजनादिभिरनुकूलिता इष्टं सम्पादयन्ति, प्रतिषिद्धाचरणेन प्रतिकूलिता निगृह्णन्तीति। यज्ञानुष्ठानमपि न देवार्चातिरिक्तम्, 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इति धातोर्निष्पन्नत्वात्।

यदपि—'पुरोहिता वाह्यविधिभिः प्रलम्बमानजटिलप्रयोगान् कुर्वन्ति स्म। यस्य महत्त्वं रहस्यमयादृष्टरूपेण परिकल्प्यते स्म। एतेष्वनुष्ठानानां लघुलघुषु विधिषु बहुबलं दीयते स्म। एवं निरन्तरं यागानुष्ठानगलग्रहवातावरणेन ऋग्वेदप्रतिपादितायाः सत्यधर्मभावनाया जीवनं दुःशकं जातम्। देवतानां शक्तिपूजनं देवानुग्रहमहत्ता निजापराधचेतनाश्च परिलोपं गतानि। सर्वा अपि प्रार्थनाः कस्यचिदनुष्ठानस्य सहकारिण्यस्तथा भौतिकाभ्युदयमेवाभिलक्ष्यानुप्राणिता जाताः। तत्परिणामे यजुर्वेदस्य प्रयोगेषु पदानां भीषणा आवृत्तयः प्रवृत्ताः। यत्रैकस्यैवार्थस्य प्रकारान्तरेण पुनरुक्तयश्चलन्ति। दुर्बोधव्यञ्जनानामर्धवर्णानां प्रणवसहितानां पुनरुच्चारणप्रायं प्रयोगस्वरूपं सम्पन्नम्। यथा मैत्रायणीसंहितायां निम्नोद्धरणम्—'निधायो वा निधायो वा ओं वा ओं वा ओं वा ओं वा ए ऐ ओं स्वर्णज्योतिः' इति। अत्रार्थप्रतिपादकं स्वर्णज्योतिरित्येव पदम्।

देवताओं का प्रसाद प्राप्त करने के साधन मात्र थे, परन्तु यजुर्वेद में यज्ञ ही विचार एवं अनुष्ठान का केन्द्र हो चला और उसी के विधिवत् अनुष्ठान तथा प्रयोग की सूक्ष्मता सर्वोपरि मान्यता का विषय बन गई। यज्ञ की शक्ति इतनी बढ़ गई कि उनके द्वारा न केवल देवता प्रभावित ही होते थे, परन्तु पुरोहित के संकल्प के अनुसार देवता अभीप्सित वर-प्रदान के लिये बाध्य भी समझे जाते थे। यज्ञ के द्वारा, यों कहा जा सकता है, देवता तो ब्राह्मणों की मुट्ठी में थे' (पृ० १६९) यह सारा कथन भी केवल कहना ही कहना है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। बिना प्रमाण की कोई बात कैसे मानी जा सकती है? यजुर्वेद भी अपौरुषेय है, अतः इसमें पुरुषों में विद्यमान किसी दोष को कैसे माना जा सकता है? जहां परस्पर विरोध प्रतीत होता हो, वहां पूर्वापर प्रकरण में समन्वय करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। व्यास, जैमिनि, शबर, शंकर, कुमारिल, सायण प्रभृति ने समस्त वेदराशि का समन्वय के आधार पर ही अर्थ निर्धारित किया है। देवता स्वतः निग्रह या अनुग्रह नहीं करते। वे तो आप्तकाम हैं, अर्थात् उनके सभी मनोरथ स्वतः सिद्ध हो जाते हैं, अतः उनमें वैषम्य दृष्टि, अर्थात् किसी जीव पर अनुग्रह करना और किसी पर नहीं, इस तरह की विषमता नहीं मानी जा सकती। यज्ञ आदि पुण्य कार्यों के अनुष्ठान से प्रसन्न होकर ये अनुष्ठाता की इच्छा को पूरी करते हैं और निषिद्ध पाप कर्मों के आचरण से नाराज होकर ये पापी को उसके दुष्कृत्यों की सजा देते हैं। यज्ञ का अनुष्ठान भी देवता की पूजा के सिवाय और कुछ नहीं है, क्योंकि यज्ञ शब्द की निष्पत्ति 'यज्' धातु से होती है, जिसका कि एक अर्थ 'देवपूजा' भी होता है।

'पुरोहितों का दल कई बाह्य विधियों के लम्बे एवं जटिल प्रयोगों को करता था, जिसका महत्त्व रहस्यमय अदृष्ट के रूप में परिकल्पित होता था और इसी कारण अनुष्ठान-विधि की छोटी से छोटी प्रक्रिया पर भी बहुत बल दिया जाता था। इस प्रकार के निरन्तर यज्ञ-यागादि अनुष्ठान के गलाघोट् वातावरण के द्वारा ऋग्वेद में प्रतिपादित सच्ची धार्मिक भावना का जीवित रहना संभव न रहा। देवताओं की शक्ति की अर्चा, उसके अनुग्रह की महत्ता तथा निज अपराध की चेतना सर्वथा लुप्त हो चली और हर प्रार्थना किसी न किसी अनुष्ठान की सहचारिणी हो भौतिक अभ्युदय के एकमात्र लक्ष्य से अनुप्राणित हो गई थी। इसका सहज परिणाम यह हुआ कि यजुर्वेद के प्रयोगों में पदों की भीषण आवृत्ति तथा एक ही अर्थ की प्रकारान्तर से पुनरुक्ति ने अपना घर कर लिया था, यहाँ तक कि दुर्बोध व्यंजनों अथवा अर्ध वर्णों का प्रणव सहित पुनरुच्चारण मात्र ही प्रयोग का स्वरूप बन गया। मैत्रायणी संहिता में उद्धृत निम्नलिखित अंश एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है—'निधायो०' इत्यादि। इस पद समूह में अन्तिम पद स्वर्णज्योति' ही अर्थप्रतिपादक कहा जा सकता है, जिसका मतलब 'सुनहला प्रकाश' है।

अब्राह्मणानां कृते दुरूहमेतदासीत् । अनेके प्रयोगा विजयप्राप्त्यर्थं निर्दिष्टाः । इन्द्रः सर्वदाऽसुरैर्युद्धयत इति प्रचारितम् । वारुणप्रयोगेण मुसलाधारवृष्टिरपि प्रचार्यते स्म । एवमलौकिकाद्भुतशक्तीनां मान्यता ब्राह्मणधर्मेषु तपोयोगसाधनेषु प्रचारिता । तथैव मणिमन्त्रौषधीनां चोपयोगाः सामान्यलौकिकपशुपुत्रग्रामादिप्राप्त्यर्थं प्रचारिताः । वस्तुतस्त्वेतैः प्रयोगैः प्राप्या वरा बालसुलभमूढताप्रदर्शनमात्रम् ।

जातिव्यवस्थाया दाढर्चाद् ब्राह्मणानां सामाजिकधार्मिकवर्चस्वं वर्धिष्णु जातम् । यस्य बन्धने भारतवर्षं सार्धद्विसहस्रवर्षेभ्यो निबद्धं जातम् । यजुर्वेद एव चातुर्वर्ण्यव्यवस्था दृश्यते । वाजसनेयिसंहिताया उत्तरस्मिन् भागे वर्णसंकरसंकरादिभेदेनानन्तानां जातीनामस्तित्वमुपलभ्यते । यजुर्वेदीयं भारतीयानां सामाजिकं धार्मिकं स्वरूपमृग्वेदीयसूक्तप्रतिबिम्बितस्वरूपात् तत्त्वतो भिन्नमेवेति ।

तदप्यनधिकारचेष्टाविलसितम्, विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि यजुर्वेदे नूतनधार्मिकमान्यतानां विकासः, प्राचीनाश्च मान्यताः परिवर्तिताः, नव्यप्रयोगकल्पानां तत्र सन्निवेशः । यजुर्वेदे यज्ञानुष्ठानप्राधान्यं जातम्, यजुर्वेदीयविधानानि ब्राह्मणवर्गेण दुरूहरहस्यमयादृष्टरूपाणि परिकल्पितानि । तस्मादृग्वेदीया सत्यधर्मभावना लुप्तेत्यादिवाग्जालस्य कोऽभिप्रायः ? कथमृग्वेदः सत्यार्थप्रतिपादकः, कथं च यजुर्वेदोऽसत्यार्थप्रतिपादकः ? त्वद्दीया पौरुषेयत्वं तूभयत्र सममेव । ततः पुरुषाश्रितभ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवादयो दोषा उभयत्रापि सम्भाव्यन्ते । अत ऋग्वेदेऽपि त्वया त्वदनुगुणैश्च प्रथमाष्टमनवमदशममण्डलानामर्वाचीनत्वमभ्युपेयते । तेष्वपि दशमस्यात्यन्तार्वाचीनत्वमभ्युपेयते । द्वितीयादिसप्तमान्तेष्वप्यत्युक्तयो राजादिप्रशंसापरा अभ्युपेयन्ते । ततश्च केवलं प्रतारणामात्रमेतद्

यह विधिकल्प उन सबके लिये एक दुरूह रहस्य हो चला था, जो ब्राह्मण वर्ग के न थे । कई प्रयोग विजय-प्राप्ति के लिये निर्दिष्ट हैं, जिनके द्वारा कहा जाता है कि इन्द्र सर्वदा असुरों पर विजय प्राप्त किया करते हैं । यह भी हमें पता चलता है कि यदि पुरोहित किसी आहुति-विशेष का होम कर वारुण प्रयोग का अनुष्ठान करे तो मूसलाधार वर्षा होने लगती थी । इसी प्रकार की अलौकिक अद्भुत शक्ति की मान्यता ब्राह्मण धर्म में तप एवं योग साधनों में भी परिकल्पित की गई थी । मन्त्र-प्रयोग के साथ साथ कई ऐसी मणि, ओषधि आदि वस्तुओं के उपयोग का भी विधान है, जो सहज सामान्य लौकिक कल्याण की अवाप्ति, पशु, गाय आदि की वृद्धि जैसे कतिपय विशेष मनोरथ की पूर्ति के साधन हैं । वास्तव में देखा जाय तो इन प्रयोगों द्वारा प्राप्य वर बाल-सहज मूढता के निदर्शन मात्र हैं ।

जाति-व्यवस्था की नींव जम जाने पर ब्राह्मणों का सामाजिक एवं धार्मिक वर्चस्व बढ़ता गया, जिसके बन्धन में भारतवर्ष लगभग ढाई हजार वर्ष से जकड़ा हुआ है । भारतीय समाज के चार प्रमुख भेदों के फलस्वरूप चातुर्वर्ण्य की कल्पना हमें यजुर्वेद से मिलती है । इतना ही नहीं, बल्कि वाजसनेयी संहिता के उत्तर अध्यायों में हमें वर्णसंकर से जनित अनन्त जातियों का अस्तित्व भी प्रतीत होता है । इससे यह कहना होगा कि भारतीयों का सामाजिक एवं धार्मिक स्वरूप इस युग में ऋग्वेद सूक्तों में प्रतिबिम्बित स्वरूप से तत्त्वतः भिन्न है' (पृ० १६९-१७१) ।

यह सारी बातें मैकडानल की अनधिकार चेष्टा मात्र हैं, क्योंकि आगे किये जाने वाले प्रश्नों का उनके पास कोई उत्तर नहीं है । यजुर्वेद में नई धार्मिक मान्यताओं का विकास हुआ, प्राचीन मान्यताएँ बदल गई और उनके स्थान में नवीन कर्मकाण्ड पद्धति का दखल हो गया । यजुर्वेद में यज्ञों के अनुष्ठान को प्रधानता हो गई । ब्राह्मण वर्ग ने यजुर्वेद में दुरूह रहस्यात्मक अदृष्ट फल वाले विधि-विधानों की कल्पना कर ली । इससे ऋग्वेदीय सत्य धर्म की भावना लुप्त हो गई, इत्यादि बढ़-चढ़ कर कही गई बातों का मतलब क्या है ? ऋग्वेद तो सत्य धर्म का प्रकाशक है और यजुर्वेद असत्य धर्म का, यह बात आप किस प्रमाण के आधार पर कहते हैं ? आपके मत से तो ऋग्वेद और यजुर्वेद दोनों ही पौरुषेय हैं । पुरुष में विद्यमान भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (ठगने की इच्छा), करणापाटव (इन्द्रियों की असामर्थ्य) आदि दोष दोनों ही वेदों में मिल सकते हैं । ऋग्वेद में भी आप और आपके अनुयायी प्रथम, अष्टम, नवम और दशम मण्डल को नवीन मानते हैं । इनमें भी दशम मंडल अत्यन्त नवीन माना जाता है । द्वितीय से सप्तम मण्डल तक के अंश में भी

यदृग्वेदीया धर्मभावना सत्यभूता यजुर्वेदीया च पुरोहितप्रकल्पनारूपा। युष्माभिस्तत्र तत्र स्पष्टमुक्तं यत् प्राकृतिकपदार्था एव देवतात्वेन स्तूयन्ते स्म प्राचीनैर्ऋषिभिः। ततश्च का देवताशक्तयः कथं च तासामनुग्रहः सम्भाव्यते ? त्वद्रीत्या सोमयागादिचर्चा ऋग्वेदे युष्माभिरप्यभ्युपेयते। तत्रापि घृतसोमादीनामग्नौ निःक्षेपोऽभ्युपेयते। त्वद्रीत्यापि तेन कथमनुग्रहो देवतानां सम्भवति। स्तुतिपाठेनापि जडेभ्यः किं प्राप्यते ? यदि काश्चिद् देवता विशिष्टैश्वर्यशालिन्यः सन्ति तर्हि तत्र किं मानमित्यपि वक्तव्यम्। नहि तत्र प्रत्यक्षमनुमानं च प्रवर्तते, लोके तथाविधानां पदार्थानामदर्शनात्। यदि ऋग्वेदसूक्तानि तत्र प्रमाणं चेत्तदापि वक्तव्यं किं तानि सामान्यमनुष्यनिर्मितानि विशिष्टनिर्मितानि वा ? नाद्यः, अद्यत्वेऽपि तथाऽदृष्टार्थवचननिर्माणप्रसङ्गात्। नाप्यन्त्यः, वैशिष्ट्यप्राप्तिहेतोर्वक्तव्यत्वात्। यदि धर्मानुष्ठानमूलकं वैशिष्ट्यं तर्हि धर्मवैशिष्ट्ययोः कार्यकारणभावज्ञानं कथम् ? यदि ऋग्वेदीयसूक्तान्याप्तप्रणीतानि तदापि तेषामाप्तत्वे प्रमाणं वक्तव्यम्। यजुर्वेदकारा नाप्ता इत्यत्रापि प्रमाणं वाच्यम्, प्रतिज्ञामात्रेण वस्त्वसिद्धेः।

वायवलकुरानादीनामपि तथैव प्रामाण्याप्रामाण्यप्रश्नपारम्पर्यम्। तत्रत्यानि कृत्यानि प्रार्थनाश्च परमेश्वरं प्रसादयन्तीत्यत्र किं मानम्। ईसा-मुहम्मदादिगतचमत्कृतीनां विषयेऽपि किं मूलम् ?

वैदिकानां रीत्या तु वर्णा नित्याः, प्रत्युच्चारणं त एवेम इति प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। तत्समुदायभूताः संस्कृतशब्दा अपि प्रवाहरूपेण नित्याः, व्यवहाराविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्। तथैव वैदिकानि वाक्यान्यपि नित्यानि, सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्, व्यतिरेकेण महाभारतवत्। न च वायविलकुरानादिष्वपि तथैव

अत्युक्तियाँ, राजा आदि की प्रशंसा जैसे विषय माने जाते हैं। आपकी दृष्टि से ऋग्वेद की इस पूरी अव्यवस्था के बीच ऋग्वेद की धर्मभावना सत्य पर आधारित है और यजुर्वेद की धर्मभावना पुरोहितों की कल्पना है, यह कथन केवल अबोध व्यक्तियों को ठगने के समान है। आपने अनेक स्थलों पर यह स्पष्ट रूप से माना है कि प्राचीन ऋषिगण प्राकृतिक पदार्थों को ही देवता मानकर उनकी स्तुति किया करते थे। तब इन देवताओं की शक्ति की या इनके अनुग्रह की बात ही कहाँ उठ सकती है ? सोम याग आदि की चर्चा ऋग्वेद में आप भी मानते हैं। यहाँ भी घृत, सोम आदि की अग्नि में आहुति देना ही यज्ञ नाम से अभिप्रेत है। आपके मत से इनसे भी देवता के अनुग्रह की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? स्तुति करने से भी जड़ पदार्थों से क्या मिल सकता है ? कुछ देवता विशिष्ट ऐश्वर्य वाले हैं, ऐसा कहने पर इसके लिये प्रमाण देना पड़ेगा। प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति यहाँ नहीं हो सकती, क्योंकि इस तरह के अदृष्टपरक पदार्थों की लोक में सत्ता नहीं है। यदि ऋग्वेद के सूक्तों को इसमें प्रमाण मानना है, तो यह बताना पड़ेगा कि ये सूक्त सामान्य मनुष्यों के बनाये हुए हैं या विशिष्ट पुरुषों के द्वारा ? सामान्य मनुष्यों को इनका निर्माता नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर यह आपत्ति उठेगी कि तब आज भी इस तरह के अदृष्टजनक सूक्तों की रचना सामान्य मनुष्यों के द्वारा होनी चाहिये। विशिष्ट मनुष्यों को भी उनका रचयिता नहीं माना जा सकता, क्योंकि उन मनुष्यों में यह विशेषता कहाँ से आती है ? इसका कारण बताना पड़ेगा। यदि यह विशेषता धर्म का अनुष्ठान करने में प्राप्त होती है, तो यह बताना पड़ेगा कि इसका ज्ञान कैसे होता है कि मनुष्य में धर्म के अनुष्ठान से विशिष्टता उत्पन्न होती है ? यदि ऋग्वेद के सूक्त आप्त पुरुषों के द्वारा प्रणीत माने जाते हैं, तो इसमें प्रमाण देना पड़ेगा और यजुर्वेद के रचयिता आप्त नहीं थे, इसमें भी प्रमाण देना होगा। केवल प्रतिज्ञा कर लेने मात्र से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो जाती।

वाइविल, कुरान आदि ग्रन्थों को प्रमाण माना जाय या न माना जाय, इस विषय में भी इसी तरह के प्रश्न किये जा सकते हैं। इन ग्रन्थों में बताई गई बातों को करने से अथवा प्रार्थना करने से परमेश्वर प्रसन्न हो जाते हैं, इसमें क्या प्रमाण हैं ? ईसा और मुहम्मद के विषय में अनेक चमत्कारपूर्ण बातें प्रचलित हैं, इसमें क्या प्रमाण है ?

वैदिकों के मत से तो वर्ण नित्य हैं, क्योंकि प्रत्येक उच्चारण में 'ये वे ही वर्ण हैं, जो कि पहले बोले गये थे' इस तरह की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) विद्यमान है। इन वर्णों के समुदाय से बने संस्कृत भाषा के शब्द भी प्रवाह रूप से नित्य हैं, क्योंकि इन शब्दों से निरन्तर व्यवहार चलता आ रहा है और इनके कर्ता की स्मृति हमें नहीं है। इसी तरह वैदिक वाक्य भी नित्य हैं, क्योंकि वैदिक सम्प्रदाय का कभी विच्छेद नहीं हुआ है, तो भी इसके कर्ता के रूप में किसी को किसी तरह की स्मृति नहीं है। इसका व्यतिरेकी

नित्यत्वं वक्तुं शक्यम्, युष्माभिस्तथानुपगमात्। तेषां कालकर्त्रादिप्रसिद्धेः। एवं वेदानां नित्यत्वापौरुषेयत्वाभ्यां कर्त्रसिद्धया वेदेषु कर्तृगतदोषासंस्पर्शात् स्वतःसिद्धमेव प्रामाण्यम्।

ते च वेदा न केवलमृक्संहितामात्रम्, किन्त्वेकत्रिंशदुत्तरैकादशशतशाखात्मकाः। यत्र मन्त्रसंहिताभागा ब्राह्मणभागा आरण्यकोपनिषदश्च सन्ति। तत्र ब्राह्मणगतविधिभिरेव कर्माण्युपासनानि च विहितानि। विधिभिरेव मन्त्रा अपि विहिताः। केषां मन्त्राणामुच्चारणेन केषां कर्मणामनुष्ठानेन कथं किं फलं भवतीत्यत्र विधय एव प्रमाणं नान्यत्। ऋग्वेदेऽपि चातुर्वर्ण्यं ब्राह्मणानां चार्त्विज्यमृगादिवेदचतुष्टयसम्बन्धिनामृत्विजां चातुर्विध्यं चोक्तमन्यत्र च तत्स्पष्टम्। जातयः संकरास्तेषां तारतम्यं च विस्तरेण चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्शे निरूपितम्। तत्रैव कणेहत्यालोचनीयम्। तत्र स्वरमात्रामात्रार्धभेदेनाप्यनेकानर्थत्वमुक्तम्, 'यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' इत्यादौ। किमुत निघायो निघायो इत्यादिपदसमुदायव्यत्यासेन।

वस्तुतस्तु भारते ब्राह्मणानां लोकोत्तरं सम्मानं दृष्ट्वा पाश्चात्त्या आश्चर्यचकिता भवन्ति। सरसुन्दरलालनिर्मिते 'भारत में अंग्रेजी राज्य' पुस्तके लिखितम्—'कश्चिदुच्चाधिकारस्थ आङ्गलः कदाचित् स्वस्माद् निम्नपदस्थितं क्षत्रियं निम्नतमं किं द्वारपाल(चपरासी)पदस्थितं ब्राह्मणं श्रद्धया प्रणमन्तं दृष्ट्वा पृष्टवान्—अहं तवोच्चाधिकारी त्वं च मह्यं तथाविधं सत्कारं नार्पयसि यथात्यन्तनिम्नपदस्थाय ब्राह्मणाय सम्मानमर्पयसि। तत्र किं कारणमिति पृष्टः क्षत्रियोऽवोचत्—तुभ्यं तूदरपोषणायैवाल्पतरमपि सम्मानं करोमि। अयं तु ब्राह्मणो जन्मनैव मम

उदाहरण महाभारत को दिया जा सकता हैं। महाभारत के कर्ता व्यास हैं, यह बात स्मृति परम्परा से चली आ रही है। इस तरह की स्मृति परम्परा वेद के संबन्ध में नहीं चली आ रही है, अतः वेद अपौरुषेय अत एव नित्य माने जाते हैं। इस तरह की नित्यता बाइबिल, कुरान आदि की नहीं मानी जा सकती, क्योंकि आप स्वयं इस बात को नहीं मानते और उनका रचना काल और कर्ता भी प्रसिद्ध है। इस तरह वेदों की नित्यता और अपौरुषेयता के कारण उनके कर्ता की सिद्धि न होने से वेदों में मनुष्य में विद्यमान दोषों का स्पर्श न होने से उनकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध मानी जाती है।

केवल ऋग्वेदसंहिता ही वेद नहीं मानी जाती, किन्तु वेद की ११३१ शाखाएँ हैं। इनमें से प्रत्येक शाखा में मन्त्रसंहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् का समावेश होता है। इनमें से ब्राह्मण भाग में बताई गई विधियों से ही कर्म और उपासना का विधान होता है। विधि वाक्यों से ही मन्त्रों का भी विनियोग होता है। किन मन्त्रों के उच्चारण से किन कर्मों के करने से क्या फल होता है, इन सब में ब्राह्मणभाग में विद्यमान विधि वाक्य ही प्रमाण माने जाते हैं। ऋग्वेद में भी चातुर्वर्ण्य का वर्णन है। ब्राह्मण ही ऋत्विक् होते हैं और चारों वेदों के चार अलग अलग ऋत्विक् होते हैं, यह बात भी स्वयं ऋग्वेद में तथा अन्यत्र भी वर्णित है। नाना प्रकार की जातियों का, उनमें संकर से उत्पन्न हुई उपजातियों का वर्णन हमने 'चातुर्वर्ण्य संस्कृति विमर्श' नामक ग्रन्थ में किया है। अपने मन को संतुष्ट करने के लिये इस विषय को वहीं विस्तार से देखना चाहिये। वेद के उच्चारण में स्वर, मात्रा, अर्धमात्रा का अन्तर हो जाने पर भी अनर्थ हो जाता है, यह बात 'इन्द्रशत्रु' शब्द के गलत उच्चारण से हुई घटना का उदाहरण देकर समझाई गई है। तब 'निघायो निघायो' इत्यादि ऊपर उद्धृत मैत्रायणी संहिता के पद-समुदाय को उलट-पलट देना, अथवा उसको व्यर्थ बता पाना तो बड़ी दूर की बात है।

वास्तव में बात यह है कि भारत में ब्राह्मणों का लोकोत्तर संमान देखकर पाश्चात्य लोग आश्चर्यचकित हो जाते हैं। सर सुन्दरलाल के ग्रन्थ 'भारत में अंग्रेजी राज' में लिखा हुआ है कि—'कोई अंग्रेज उच्चाधिकारी अपने अधीन कार्य कर रहे क्षत्रिय को उस क्षत्रिय के अधीन चपरासी के पद पर काम करने वाले ब्राह्मण को श्रद्धा से प्रणाम करते हुए देख कर पूछने लगा कि मैं तुम्हारा उच्च अधिकारी हूँ, तुम मुझे उतना आदर नहीं देते, जितना कि अत्यन्त निम्न पद (चपरासी) पर कार्य कर रहे इस ब्राह्मण को दे रहे हो। इसमें क्या कारण है? उस अंग्रेज के ऐसा पूछने पर क्षत्रिय ने जबाब दिया कि मैं अपना पेट भरने के लिये आपका संमान करता हूँ। ब्राह्मणों की तो हमारे पूर्वज भी जन्म से ही पूजा करते हैं, क्योंकि हमारे इहलोक और परलोक दोनों इन्हीं की कृपा पर

पूर्वजैरपि स्वाभाविक्या श्रद्धया वन्द्यते, अस्माकं लोकपरलोकयोरेतदायत्तत्वात् । तच्छ्रुत्वा तेन विचारितम्—यावत्पर्यन्तमत्र देशे ब्राह्मणानां स्वाभाविक उत्कर्षः स्थास्यति, तावत्पर्यन्तमास्माकीनं बाह्यशासनमकिञ्चित्करमेवेति । तदर्थमेव पाश्चात्त्या ब्राह्मणवादकल्पनया तानाक्रोशन्ति ।

यदप्यथर्ववेदसमबन्धेऽस्य प्रलपितम्, तदपि बेवरादिप्रसङ्गेनोक्तोत्तरत्वात् पिष्टपेषणतुल्यम् । यदुक्तम्—'यज्ञियविधानानि ऋक्सामयजुःसंहितास्वेव' (पृ० १७१) इति, तदपि तुच्छम्, कस्याञ्चिदपि संहितायां यज्ञादिविधानादर्शनात् । पाश्चात्त्यास्तु यथाकथञ्चिदुत्तानार्थं गृहीत्वा पदार्थंतत्पर्यायादिकमजानाना एव जल्पन्ति । प्रायेण लिङ्लोट्तव्यान्तक्रियापदोत्तराणि विधिवाक्यानि भवन्ति । न च तादृशानि वाक्यानि मन्त्रेषु दृश्यन्ते । अपूर्वद्रव्यदेवताश्रवणादपि विधयः परिकल्प्यन्ते । न च मन्त्रा अपूर्वद्रव्यदेवताप्रतिपादकाः सन्ति, किन्तु ब्राह्मणनिहितानां स्मारका एव । तेन नापूर्वद्रव्यदेवताप्रतिपादकाः । तस्मान्न मन्त्रेषु यागादिविधानम् । ब्राह्मणानि च यथा ऋग्वेदीयानि तथैव याजुषाणि । सामवेदे यान्याथर्वणानि विधिसमन्वितानि सन्ति, तेनाथर्ववेदे यज्ञियविधानाभावान्न वेदत्वमित्युक्तिरनभिज्ञानामेव शोभते ।

यदुक्तम्—'ऋग्वेदापेक्षया निश्चयेनाथर्ववेदोऽधिकमूढग्रहैरनुप्राणितः' (पृ० १७१) इति, तदपि पूर्वापरविरुद्धमेव । एतेन वाक्येनेदं ज्ञायते यद् ऋग्वेदोऽपि मूढग्रहैरनुप्राणितः, अथर्ववेदस्तु तदपेक्षयाऽधिकमूढग्रहैरनुप्राणित इति । एतेनास्य पाश्चात्त्यस्य ऋग्वेदीयसत्यधर्मभावनेति कथनं दम्भ एव ।

यदपि—'अयं वेदः प्रागैतिहासिकयुगीयाभिरपरिष्कृतभावनाभिरनुप्राणितः' (१७१ पृ०) इति, तदपि नास्तिक्यमूलकमेव, वेदानामपौरुषेयत्वेन प्राचीनार्वाचीनपरिष्कृतभावनामूलकत्वाभावात् । एतेन 'एडलवर्टरीत्या

निर्भर हैं । यह उत्तर सुन कर उस अंग्रेज ने विचार किया कि जबतक इस देश में ब्राह्मणों का स्वाभाविक उत्कर्ष बना रहेगा, तब तक हम बाहरी लोगों का शासन यहाँ कारगर नहीं हो सकता । इसी लिये पाश्चात्य लोग ब्राह्मणवाद की कल्पना कर उनको भला-बुरा कहते रहते हैं ।

अथर्ववेद के संबन्ध में कही गई ऊल-जलूल बातों का जवाब हम बेवर के मत का खण्डन करते समय दे चुके हैं, अब पुनः यहाँ उनका पिष्टपेषण करना व्यर्थ है । 'केवल ऋक्, यजुः और साम का ही यज्ञिय विधि-विधान से संबन्ध पाया जाता है' (पृ० १७१) यह कहना भी व्यर्थ है, क्योंकि यज्ञादि का विधान तो किसी भी संहिता में नहीं है । पाश्चात्य विद्वानों की आदत है कि वे जिस किसी तरह से उलटा-सीधा अर्थ जानकर किसी पद के अर्थ को और उसके पर्यायों को बिना जाने ही मनमानी बातें गढ़ते रहते हैं । प्रायः देखा जाता है विधि वाक्यों के अन्त में लिङ्, लोट् या तव्यत् प्रत्ययों वाले क्रियापद रहते हैं । इस तरह के वाक्य मन्त्रों में उपलब्ध नहीं है । अपूर्व द्रव्य और देवता के सुनाई पड़ने पर भी विधि वाक्यों की कल्पना की जाती है, किन्तु मन्त्रों में किसी अपूर्व द्रव्य या देवता का प्रतिपादन नहीं मिलता, वे तो ब्राह्मणवाक्यों के विहित द्रव्य और देवता के स्मारक मात्र होते हैं । इस लिये ये अपूर्व द्रव्य और देवता के प्रतिपादक नहीं माने जाते । तब मन्त्रों में याग आदि का विधान कैसे माना जा सकता है ? ब्राह्मण तो जैसे ऋग्वेद के हैं, वैसे ही यजुर्वेद के भी हैं । जिस तरह के विधान सामवेद के ब्राह्मणों में हैं, वैसे ही अथर्ववेद के भी । अतः अथर्ववेद में विधि-विधानों का अभाव होने से वह वेद नहीं है, यह कथन मैकडानल जैसे वैदिक पद्धति के अनजान व्यक्ति को ही शोभा दे सकता है ।

'अथर्ववेद निश्चय ही ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक मूढग्रहों से अनुप्राणित है' (पृ० १७१), यह कथन भी परस्पर विरुद्ध है । इस वाक्य का तात्पर्य यह निकलता है कि ऋग्वेद भी मूढग्रहों से अनुप्राणित है, किन्तु अथर्ववेद में तो उससे भी ज्यादा मूढग्रह विद्यमान हैं । इस परिस्थिति में इस पाश्चात्य विद्वान् का यह पूर्व कथन दम्भ के सिवाय और क्या हो सकता है कि ऋग्वेदीय धर्म की भावना सत्य पर आधारित थी ।

'यह वेद प्रागैतिहासिक युग की अपरिष्कृत भावनाओं से अनुप्राणित है' (पृ० १७१), यह कथन भी वक्ता की नास्तिकता का ही प्रतिपादक है । वेद तो अपौरुषेय हैं । उनके विषय में प्राचीनता-नवीनता, अथवा परिष्कार और अपरिष्कार की

अथर्ववेदे शारीरकष्टनिवारणाय विहितानि कतिपयानि मन्त्रतन्त्राणि 'जर्मन-लेटिकं-रूसी जादूटोना' आदिभिस्तुल्यानि सन्ति। देवतासम्बन्धिनामुच्चतरधार्मिकविचाराणां दृष्ट्या तु ऋग्वेदापेक्षयाऽप्यथर्ववेदोऽर्वाचीनप्रगतिशीलयुगस्य प्रतिनिधित्वं करोति। अन्यसंहितापेक्षया आध्यात्मिका विचारा इहाधिक्येनोपलभ्यन्ते। अत एव सभ्यताया इतिवृत्ताध्ययनाय ऋग्वेदापेक्षया अथर्ववेद उपलभ्यमाना सामग्री अधिकरोचिका महत्त्वपूर्णा च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ऋग्वेदेऽपि मन्त्रतन्त्राणां वर्णनात्, प्राणिनां कल्याणाय नानाविधोपायानां निर्देशस्यापि शास्त्रत्वप्रयोजकत्वात्। शिष्यते हितमुपदिश्यतेऽनेनेति शास्त्रमिति तन्निर्वचनात्।

यदपि मूलतोऽथर्ववेदस्त्रयोदशकाण्डात्मक एव (पृ० १७३) इति, तदपि बालजल्पितम्, निर्मूलत्वात्। रचनाशैली तु फलबलकल्प्या। वैयाकरणा अपि वैदिकप्रयोगानुसारेण नियमान् कल्पयन्ति, न व्याकरणनियमानुसारेण वैदिकान् शब्दान् परिवर्तयन्ति। साधर्म्यवैधर्म्यादिकं यथाकथञ्चित् सर्वत्र लभ्यते। प्रथमकाण्डस्यापि द्वितीयादिकाण्डैर्वैलक्षण्यमेव। यत्तु 'अथर्ववेदसंहितायाः सत्ता शतपथब्राह्मणस्यान्त्योपान्त्याध्यायद्वयस्य तैत्तिरीयब्राह्मणस्य छान्दोग्योपनिषदश्च रचनाकालेऽवश्यं स्यात्। पातञ्जलभाष्यरचनाकाले त्वथर्ववेदो वेदानां शिरोमणिर्वेदानामेकमात्रं प्रतिनिधिरासीत्' इति, तदपि निर्लज्जतामूलकम्, शतपथतैत्तिरीयकादिभिर्ब्राह्मणैर्व्यासजैमिनिपतञ्जलिप्रभृतीनां विदुषामपेक्षयापि किं यूयमधिकं विवेचकाः? येन तेषां दृष्ट्या ऋग्वेदादीनामिवाथर्ववेदस्य वेदत्वापौरुषेयत्वेऽपि त्वद्रीत्याऽर्वाचीनत्वं स्वीक्रियेत? वस्तुतस्तु वैदिका एव वैदिकीं स्थितिं जानन्ति, न वैदिकाचारशून्या यूयं तदर्हाः।

भावना का आस्तिक हृदय में उदय ही कैसे हो सकता है? इसी लिये—'एडलवर्ट कुहन का कथन है कि अथर्ववेद में शारीरिक कष्ट को निवारण करने के लिये विहित कतिपय मन्त्र-तन्त्र ऐसे हैं, जिनका स्वरूप एवं उद्देश्य प्राचीन जर्मन, लेटिक और रूसी जादू-टोवे से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। जहाँ तक देवता-संबन्धी उच्चतर धार्मिक विचारों का सम्बन्ध है, ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद भारतीय धार्मिक विचारों के अर्वाचीन एवं प्रगतिशील युग का प्रतिनिधित्व करता है। निश्चय ही इसमें अन्य संहिताओं की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक विचार उपलब्ध होते हैं। अत एव सभ्यता के इतिवृत्त के अध्ययन के लिये ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में उपलभ्यमान सामग्री कहीं अधिक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण है' (पृ० १७२), यह कथन भी निरर्थक है। ऋग्वेद में भी मन्त्र-तन्त्रों का वर्णन है। प्राणियों के कल्याण के लिये सभी तरह के उपाय बताना भी शास्त्र का प्रयोजन है। 'शास्त्र' पद का जब निर्वचन किया जाता है, तब उनका अर्थ निकलता है कि जो हितकर बात का उपदेश करता है, वह शास्त्र कहलाता है।

'अथर्ववेद मूलतः केवल तेरह ही काण्डों का था' (पृ० १७३) यह भी बच्चों की सी बात है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। रचनाशैली की कल्पना फल के अनुसार की जानी चाहिये। वैयाकरण भी वैदिक प्रयोगों के अनुसार ही नियमों की कल्पना करते हैं, व्याकरण के नियमों के अनुसार वैदिक शब्दों में परिवर्तन नहीं करते। थोड़ी-बहुत समानता और असमानता तो सब जगह मिल सकती है। प्रथम काण्ड की भी अन्य काण्डों से विलक्षणता है ही। 'अथर्ववेद की संहिता का किसी न किसी रूप में अस्तित्व शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम अध्यायों तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं छान्दोग्य उपनिषद् के रचना काल में अवश्य रहा होगा। पातंजल महाभाष्य के समय में तो अथर्ववेद ने वह प्रतिष्ठा पा ली थी, जिसके कारण उसे वेदों का शिरोमणि अथवा वेदों का एकमात्र प्रतिनिधि भी कहीं-कहीं कहा गया है' (पृ० १७४), यह कथन भी वक्ता की निर्लज्जता को ही उजागर करता है। शतपथ, तैत्तिरीय प्रभृति ब्राह्मण ग्रन्थों के क्या आप लोग व्यास, जैमिनि पतंजलि प्रभृति विद्वानों की अपेक्षा भी अधिक विवेचक बनने का वादा करना चाहते हैं? उनकी दृष्टि में ऋग्वेद आदि की तरह अथर्ववेद भी वेद है और अपौरुषेय है। क्या उनकी बात को न मानकर आपकी पद्धति से इनको अर्वाचीन माना जाय? वास्तव में तो वैदिक विद्वान् ही वेदों की सही स्थिति को जान सकते हैं, वैदिक आचारों से सर्वथा शून्य आप जैसे लोग नहीं।

अन्यत् तदुद्भावितं सर्वमसम्बद्धममूलं दुष्टतामूलकं कुतर्कजालमुपेक्षणीयमेव। पारम्पर्याविच्छेदेनाथर्ववेदस्य स्वयं विद्यमानत्वेन ब्राह्मणेषूल्लेखानुल्लेखावकिञ्चित्करौ। ऋग्वेद एव चतुर्विधानामृत्विजामुल्लेखेन ब्रह्मवेदस्याथर्ववेदस्यार्थादुक्तिरस्ति। तत एव गोपथब्राह्मणेऽथर्ववेदस्य ब्रह्मवेदेति संज्ञोक्ता। अत एव सोमयागविधिषु प्रमादे प्रायश्चित्तविधानमथर्वसूक्तेष्वस्तीति १७७ पृष्ठे त्वयाप्यभ्युपेयते। गृह्यसूत्रेष्वथर्वपाठाः पाठान्तरितत्वेनोदघृता इत्यशुद्धम्, वेदानुपूर्व्याः परिवर्तने परमेश्वरस्याप्यनधिकारात्। किन्तु शाखान्तरीयास्ते पाठा इति मन्तव्यम्। गोतमवात्स्यायनाभ्यां महर्षिभ्यां मन्त्रायुर्वेदवद् वेदानां प्रामाण्यमुक्तम्। तद्रीत्या ये आयुर्वेदस्य स्मर्तारस्त एव वेदानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च। आयुर्वेदश्चाथर्ववेदस्यैवोपवेदः। धर्मशास्त्रेष्वथर्वविधोनां निन्दनमाभिचारिककर्मनिषेधाभिप्रायेणार्थवादमात्रमेव, मन्वादौ सामवेदध्वनेरप्यशुचित्वोक्तेः। सापि न निन्दा किन्त्वर्थवादः। सामवेदाध्ययनकालेऽन्यवेदानध्यायविवक्षया तादृश्युक्तिः। मनुस्मृति-रामायण-महाभारतादिष्वप्यथर्ववेदस्य मान्यतोक्तैव। ये व्यवहारे लौकिके वैदिके चाभीष्टा विषयाः सन्ति तेषां वर्णनं वेदे युक्तमेव। अन्यत् सर्वमथर्वसम्बन्धे यदुक्तं तत्पूर्वमुत्तरितमेव।

यदपि—'ब्राह्मणानामुत्पत्तिसम्बन्धे वैदिकसंहितानां पश्चादुत्पत्तिरुक्ता' इति, तदपि निर्मूलम्, परमेश्वरनिःश्वसितत्वेनाष्टविधब्राह्मणानामपौरुषेयत्वस्य बृहदारण्यकादौ प्रतिपादनात्। यदपि—'पञ्चविंश-तैत्तिरीय-जैमिनीय-कौषीतक्यैतरेयादिब्राह्मणापेक्षया शतपथस्य रचनाऽर्वाचीना' इति, तदपि निर्मूलम्, वैदिकेषु तत्सम्प्रदायाविच्छेदेनानादित्वात्। हरिश्चन्द्र-रोहित-शुनःशेपादिकथा तु सुखावबोधार्थाऽऽख्यायिकैवेति न तयाऽपीतिहासः सिद्ध्यति। ताण्ड्यपञ्चविंशादिब्राह्मणोक्तव्रात्यस्तोमेन ब्राह्मणेतरेषां प्रवेशो ब्राह्मणेषु भवति स्मेत्युक्तिस्तु तदज्ञानविजृम्भिता। यथाकाल-

इसी तरह की मैकडानल की अन्य कल्पनाएं भी असम्बद्ध एवं बिना प्रमाण की हैं। बुरी नियत से कुतर्कों के आधार पर गढ़ी गई ये सब बातें उपेक्षा के लायक हैं। अविच्छिन्न परम्परा से अथर्ववेद की सत्ता विद्यमान है, अतः ब्राह्मणों में इसका उल्लेख है या नहीं, इसकी कोई कीमत नहीं है। ऋग्वेद में ही चार तरह के ऋत्विजों का उल्लेख मिलता है, अतः ब्रह्मवेद के नाम से प्रसिद्ध अथर्ववेद का उल्लेख वहाँ है ही। इसीलिये गोपथब्राह्मण में अथर्ववेद को ब्रह्मवेद कहा है। इसीलिये पृ० १७७ पर स्वयं आप भी मानते हैं कि सोम याग आदि की विधि में कुछ गलती हो जाने पर अथर्ववेद में प्रायश्चित्त का विधान है। गृह्यसूत्रों में अथर्ववेद के पाठभेद उद्धृत हैं, यह कथन भी गलत है, क्योंकि—वेद की आनुपूर्वी को बदलने का अधिकार परमेश्वर को भी नहीं है। इसलिये वहां पर यह मानना चाहिये कि दूसरी शाखाओं के पाठ वहां उद्धृत हैं। महर्षि गोतम और वात्स्यायन मन्त्र और आयुर्वेद के समान वेदों को भी प्रमाण माना है। उनके मत से जो ऋषिगण आयुर्वेद का स्मरण करने वाले हैं, वे ही वेदों के द्रष्टा और प्रवक्ता हैं। आयुर्वेद अथर्ववेद का ही उपवेद है। धर्मशास्त्रों में कहीं कहीं अथर्व विधानों की निन्दा की गई है, इसका अभिप्राय आभिचारिक कर्मों का निषेध करने वाले अर्थवाद वाक्यों की तरह है। मनु आदि के स्मृति ग्रन्थों में सामवेद की ध्वनि को अशुचि बताया गया है। यह सामवेद की निन्दा न होकर अर्थवाद मात्र है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि सामवेद का अध्ययन करते समय अन्य वेदों का अध्ययन नहीं करना चाहिये। मनुस्मृति, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में अथर्ववेद की मान्यता स्वीकृत है। लौकिक और वैदिक व्यवहार के लिये आवश्यक सभी विषयों का वर्णन वेद में हो, यह उचित ही है। इसके अतिरिक्त भी अथर्ववेद के संबन्ध में जो कुछ कहा गया है, उसका उत्तर पहले दिया जा चुका है।

ब्राह्मणों की उत्पत्ति के संबन्ध में कहा गया है कि इनकी रचना वैदिक संहिता ग्रन्थों के बाद हुई (पृ० १८८), यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि परमेश्वर के निःश्वास से उद्भूत आठ तरह के ब्राह्मणों की अपौरुषेयता का प्रतिपादन बृहदारण्यक आदि में मिलता है। पंचविंश, तैत्तिरीय, जैमिनीय, कौषीतकि, ऐतरेय प्रभृति ब्राह्मणों की अपेक्षा शतपथ ब्राह्मण नवीन है यह कथन भी सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि सभी वैदिक ग्रन्थों की अविच्छिन्न संप्रदाय परम्परा के आधार पर अनादिता सिद्ध है। हरिश्चन्द्र, रोहित, शुनःशेप आदि की कथा विषय को सरलता से समझाने के लिये कल्पित आख्यान मात्र है, इनसे वेद में इतिहास नहीं सिद्ध हो जाता। ताण्ड्य ब्राह्मण में प्रतिपादित ब्राह्मण स्तोम से ब्राह्मणभिन्न जातियों का प्रवेश ब्राह्मणों में किया जाता था, यह कथन भी वक्ता के अज्ञान को ही उजागर

मसंस्कृतानां त्रैवर्णिकानामेव व्रात्यपदव्यपदेश्यत्वात् । बेवरमतनिराकरणप्रसङ्गेऽपि तन्निराकरणं द्रष्टव्यम् । शतपथसम्बन्धी मैकडानलविचारोऽपि बेवरमतनिराकरणेन निराकृतो वेदितव्यः ।

उपनिषदां विचारविषये पाश्चात्त्या वराका बालका एव, वेदान्तप्रख्यातग्रन्थेषु तदप्रवेशात् । यदपि—'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० उ० ३।४।२), 'य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व' (बृ० उ० ३।४।१) इति प्रश्नोत्तरतयोक्तो जीवब्रह्मैक्यसिद्धान्त आपत्तिमन्तरैव बौद्धैः स्वीकृतः' इति, तदपि न युक्तम्, बौद्धसिद्धान्ताज्ञानात् । बुद्धस्तु नैरात्म्यवादीति तदीयसर्वप्रस्थानेषु प्रसिद्धम्, क्षणिकत्वं तु सर्वपदार्थानां तैरभ्युपेयते । वेदान्तिनां ब्रह्मात्मतत्त्वं सर्वविधभावविकारवर्जितं कूटस्थनित्यमेव । एवमेव पुनर्जन्मसम्बन्धेऽपि तद्विचारा भ्रान्ता एव । श्रद्धा-ज्ञानान्वितो यतिर्देवयानेन परलोकयात्रया ब्रह्मणि विलीयत इति छान्दोग्याश्रयेण यदुक्तम्, तदप्यशुद्धम्, उपासकानां देवयानगत्युक्तेः । ज्ञानिनां सम्बन्धे तु 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते' (बृ० उ० ४।४।६) इत्येव सिद्धान्तः ।

एवमेव सूत्राणां रचनाकाला अपि तदुक्ता अशुद्धा एव । यदुक्तम्—'गोतमधर्मसूत्ररचना ईसवीयपूर्वपरवर्तिनी न सम्भवति' इति, तदपि न युक्तम्, गोतमकालस्य बादरायणपूर्वभावित्वेन तद्रचनाया अपि तत्कालत्वोपपत्तेः । बादरायणश्च महाभारतयुद्धपूर्वभावीति इहैवान्यत्रोक्तम् ।

एवमेव कल्पज्यौतिषशिक्षाप्रातिशाख्यछन्दोव्याकरणसमयोऽपि महाभारतात् प्राचीन एव, महाभारते तत्सम्बन्धदर्शनात् । व्याकरणनिरुक्तादिग्रन्था अपि यद्यपि वेदाङ्गत्वाद् वेदवदनादय एव, तथापि पौरुषेयत्वादेतेषां प्रतिकल्पं तत्तदृषिभिर्भिन्नानामानुपूर्वीणां निर्माणाभ्युपगमः ।

करता है, क्योंकि समय से जिनका संस्कार नहीं हुआ है, इस तरह के त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) व्यक्ति ही 'व्रात्य' शब्द से कहे जाते थे। इस बात का खण्डन हम बेबर के मत का निराकरण करते समय कर चुके हैं। शतपथ ब्राह्मण के संबन्ध में मैकडानल ने और भी जो कुछ कहा है, उसका खण्डन भी बेबर के मत के खण्डन से ही हो जाता है।

उपनिषदों पर विचार करते समय पाश्चात्य विद्वान् निरे बालक से लगते हैं, क्योंकि वेदान्त शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थों में उनका प्रवेश नहीं हो पाता। मैकडानल का कहना है कि 'हमें व्यक्त ब्रह्म का रूप समझाइये, अव्यक्त का नहीं—उस आत्मा का, जो सर्वत्र व्याप्त हैं' यहाँ पर प्रश्नोत्तर रूप में प्रतिपादित जीव और ब्रह्म की एकता का सिद्धान्त बुद्ध ने बगैर किसी आपत्ति के स्वीकार किया था' (पृ० २०८), किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। बौद्ध सिद्धान्तों का मैकडानल को ज्ञान ही नहीं है। बुद्ध नैरात्म्यवादी थे, यह बात उनके सभी प्रस्थानों में एकमत से मानी गई है। ये लोग सभी पदार्थों की क्षणिकता भी मानते हैं। इसके विपरीत वेदान्तियों का ब्रह्म, आत्मतत्त्व सभी प्रकार के (षड्विध) भाव विकारों से रहित कूटस्थ नित्य है। इसी तरह से मैकडानल के पुनर्जन्म संबन्धी विचार (पृ० २०९) भी भ्रमपूर्ण हैं। 'श्रद्धा और ज्ञान से समन्वित यति देह-त्याग के पश्चात् देवयान से परलोक यात्रा करता है और वहां ब्रह्म में विलीन हो जाता है' इस छान्दोग्य श्रुति का सहारा लेकर जो कुछ कहा गया है (पृ० २०९), वह भी गलत है, क्योंकि देवयान गति उपासकों को प्राप्त होती है, यह बात यहाँ बताई गई है। ज्ञानियों के संबन्ध में तो बताया गया है कि कि 'इस ज्ञानी के प्राण कहीं उड़ कर नहीं जाते, वे जहाँ के तहाँ ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं'। यही वेदान्त का सिद्धान्त है भी।

इसी तरह से उनका बताया गया सूत्रों का रचना काल भी गलत है। उसने बताया है कि गोतम धर्मसूत्र का रचना काल ई० पू० ५०० से परवर्ती नहीं कहा जा सकता (पृ० २४०)। यह कथन भी गलत है, क्योंकि गोतम बादरायण से पहले हुए हैं। इसलिये गोतम की रचना निश्चित ही बादरायण से पहले विद्यमान मानी जायगी। बादरायण का समय महाभारत युद्ध से पहले का है, इस बात को इसी ग्रन्थ में अन्यत्र बताया गया है।

इसी तरह से कल्प, ज्योतिष, शिक्षा, प्रातिशाख्य, छन्द, व्याकरण के सूत्र-ग्रन्थों का समय भी महाभारत से प्राचीन है। महाभारत में इनका उल्लेख मिलता है और इनका परस्पर संबन्ध बताया गया है। व्याकरण, निरुक्त आदि ग्रन्थ भी यद्यपि वेदांग होने से वेद की तरह अनादि ही हैं, तो भी ये पौरुषेय हैं और इसीलिये प्रत्येक कल्प में उन उन ऋषियों द्वारा उनका नई आनुपूर्वी से निर्माण होता है, यह बात मानी जाती है।

पाश्चात्यमतसमीक्षणम्

'राज्ञ एपिरसस्य नाम्ना 'एलेग्जेण्डर' एव वर्णितः' इति कथनमपि न समञ्जसम्। एवमेव 'केनचिद् भारतीयेन सम्राजा स्वीये धार्मिके शिलालेखे यूनानदेशीया राजान उल्लिखिताः' इति कथनमपि तथैव। वचनानीमानि स्पष्टयन्ति यद् यद्यपि वेदशास्त्राण्यनादीन्यपौरुषेयाणि च, तथापि पाश्चात्त्यानां विदुषामृषिप्रणीतानि प्राचीनेतिहास-पुराण-धर्मशास्त्राण्यपि भूयसीमीर्ष्यामेवोत्पादयन्तीति। अत एव ते पाश्चात्त्या विद्वांसो वेदान् ख्रीष्टपूर्वद्विसहस्राब्दीतः प्राचीनान् नैव कदाचिदङ्गीकुर्वन्ति। एतेषां मतेन कस्यचिद् ग्रन्थस्य ग्रन्थकारस्य वा नाम अन्यस्मिन् ग्रन्थेऽवलोक्यानवलोक्य वा तस्य रचनाकालविषये पूर्वापरतासम्वन्धे वा निर्णयो भवति। अथवा ग्रन्थेष्वेतेषु यवनादिजातीनाम् कस्यचिद्व्यक्तिविशेषस्य वा नामकर्मणोरुल्लेखं दृष्ट्वा, रविवासरादिनाम्नां राशीनां वा नामान्यवलोक्य, नक्षत्रगणनाक्रमं चैत्रप्रभृतिमासानां वा वर्णनं दृष्ट्वा तदा तेषां सत्ता आसीन्न वेति निर्णीयते। पाश्चात्त्यानां मतेनानयैव पद्धत्या महाभारतादिषु समागतानां नाम्नां ग्रन्थानां चाधारेण तत्समयनिर्धारणं भवति। अत्रास्माभिः पृच्छ्यते यद् यावन्नाम्नामेषामुत्पत्तिसमयो न निर्धार्यते, यावच्च ग्रन्थरचनाकालो न निश्चीयते, तावत् तेषामाधारेण महाभारतरचनाकालः कथं नाम निर्धारयितुं शक्येत ? पाश्चात्त्यानां मतेन भारतीयज्योतिर्विज्ञानगणना वेदाङ्गज्यौतिषापेक्षयातीव स्थूला वर्तते। तदनुसारमेव विराटपर्वणि भीष्मपितामहेन सौरमानेन त्रयोदशवर्षाणि चान्द्रसंवत्सरमानेन त्रयोदशवर्षपञ्चमासदिनद्वादशतुल्यानि स्वीकृतानि। पाश्चात्त्या वदन्ति यद् भारतीयैः सिद्धान्तज्यौतिषस्य ज्ञानं यूनानदेशनिवासिनां सकाशादधिगतमिति। नक्षत्रमण्डलस्य द्वादशराशिषु विभाजनं सर्वप्रथमं यूनानदेशनिवासिभिः कृतम्। भारते साम्प्रतं सप्ताहगणना प्रचलति, किन्तु प्राचीनकालेऽत्र षड्दिनानां गणना प्रचलिताऽऽसीत्। भारतीयैः सप्तवासराणां ज्ञानं काल्डियादेशनिवासिनां सकाशादधिगतम्। एवं च संस्कृतभाषाया विविधविषयकेषु येषु ग्रन्थेषु

पाश्चात्य मत की समीक्षा

राजा एपिरस के नाम से एलेग्जेंडर का ही वर्णन किया गया है, यह कथन भी ठीक नहीं है। किसी भारतीय सम्राट् ने अपने धार्मिक शिलालेख में यूनानी राजाओं का उल्लेख किया है, यह कथन भी सही नहीं है। ऐसे कथनों से यही स्पष्ट होता है कि यद्यपि हमारे वेदशास्त्र अनादि और अपौरुषेय हैं, किन्तु पाश्चात्य विद्वानों की हमारे ऋषिप्रणीत प्राचीन इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र आदि के प्रति कितनी ईर्ष्या है ? इसीलिये वे पाश्चात्य विद्वान् वेदों को ईसा पूर्व दो हजार वर्ष से अधिक प्राचीन मानने को तैयार नहीं हैं। इनके मत से किसी ग्रन्थ या ग्रन्थकार का नाम दूसरे ग्रन्थ में देखकर अथवा न देखकर इन ग्रन्थों का रचनाकाल और इनकी पूर्वापरता का निर्धारण किया जाता है। अथवा इन ग्रन्थों में यवन आदि जातियों के नाम का या किसी विशेष व्यक्ति के नाम का अथवा उसके कार्यों का उल्लेख देखकर, रविवार प्रभृति नामों को देखकर, राशि के नामों को देखकर, नक्षत्रों की गणना के क्रम को देखकर, चैत्र प्रभृति मासों के नामों को देखकर, इनकी उस समय सत्ता थी या नहीं, उनका क्या समय हो सकता है, इत्यादि बातों का ये लोग निश्चय करते हैं। इनके मत से इसी पद्धति से महाभारत में आये नाम और ग्रन्थों के सहारे महाभारत के समय का निर्धारण करने में उपयोग हो सकता है। किन्तु इस पर हमारा यह प्रश्न है कि जब तक इन नामों की उत्पत्ति के समय का निश्चय नहीं हो जाता और जब तक ग्रन्थों की रचना का समय निर्धारित नहीं कर दिया जाता, तब तक उनके आधार पर महाभारत की रचना का समय कैसे निर्धारित किया जा सकता है। पाश्चात्यों के मत के अनुसार भारतीय ज्योतिर्विज्ञान की गणना वेदांग ज्योतिष की गणना से भी बहुत स्थूल है। उसी का अनुसरण करके विराट पर्व में भीष्म पितामह ने सौर मान से पूरे तेरह वर्ष के समय को चान्द्र संवत्सर मान से तेरह वर्ष पाँच मास और बारह रात्रि का माना है। पाश्चात्यों का कहना है कि भारतीयों को सिद्धान्त ज्योतिष का ज्ञान यूनान देश के निवासियों से प्राप्त हुआ था। नक्षत्र मण्डल का बारह राशियों में विभाजित करना यूनान देश के रहने वाले ज्योतिषियों की निजी उपज है। भारत में आज कल सप्ताह की गणना प्रचलित है, किन्तु पहले यहाँ छः दिन की ही गणना प्रचलित

द्वादशराशीनां सप्तवासराणां चाधारेण कालगणना दृश्यते, सर्वे ते ग्रन्थाः ख्रीष्टपूर्वंचतुर्थशताब्दीतः प्राचीना नैव मन्तुं शक्यन्ते। चैत्रप्रभृतिमासानां येषु ग्रन्थेषूल्लेखो वर्तते, तेषां रचनाकालो वेदाङ्गज्योतिषात् प्राग्वर्ती ब्राह्मणग्रन्थेभ्यश्च पश्चाद्वर्ती मन्तव्यः। पाश्चात्त्यविदुषां दृष्टिकोणानुसारं महाभारत-पुराण-पातञ्जलमहाभाष्यप्रभृतयो ग्रन्था अथ च ज्यौतिःशास्त्रग्रन्थाः, येषु यवनानां विद्वत्ताया वीरताया आक्रमणशीलतायाश्च वर्णनानि विद्यन्ते, सर्वे ते सिकन्दराक्रमणानन्तरम्, अर्थात् ख्रीष्टपूर्वं ३२३ वर्षानन्तरं विरचिताः। पाश्चात्यानामेनां कालनिर्णायिकां पद्धतिमङ्गीकृत्यैव लोकमान्येन बालगङ्गाधरतिलकेन महाभारते द्वादशराशीनामुल्लेखमदृष्ट्वा तस्य कालः सिकन्दराक्रमणात् प्राग्वर्ती, मेष-वृषप्रभृतिराशिनामसत्त्वाच्च बौधायनगृह्यसूत्रं पश्चाद्वर्तीति प्रतिपादितम्। एतच्च सर्वं सारहीनं वितथं च, महाभारते प्रयुक्तस्य यवनशब्दस्य यूनानदेशनिवासिनां ग्रीकजनानां वाचकत्वाभावात्, किन्तु शब्दोऽयमत्र ययातिपुत्राणां तुर्वसुप्रभृतीनां बोधकः, ये हि पितुः शापाद् यवनाः समजायन्त। तत्र स्पष्टं प्रतिपाद्यते—'यदुभ्यो यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनाः स्मृताः' इति। एषामेव राज्यं महाभारते यवनराज्यनाम्ना प्रसिद्धम्।

ब्रह्मपुराणानुसारं सूर्यवंशीयो राजा बाहुर्यदा हैहयवंशीयै राजभिराक्रान्तस्तदा पञ्चगणानामधिपतयो यवना अपि तेषां सहायका आसन्। 'हे द्विजोत्तम! तालजङ्घीयानां हैहयानामाक्रमणसमये शकाः, यवनाः, पारदाः, कम्बोजाः, पह्लवाश्चेति पञ्चगणानां राजानो तेषां सहायका आसन्' इत्यभिप्रायकं ब्रह्मपुराणीयं वचनम् इन्द्रविजये ४४ पृष्ठे समुद्धृतं दृश्यते। नृपतेर्बाहोः सगरनामकेन पुत्रेण स्वपितुः शत्रव इमे पञ्चापि गणाः पराजिता युद्धे। यदा ते सर्वे महर्षिं वशिष्ठं शरणं ययुस्तदा तत्कथनेन प्राणदानेन रक्षिता अपि धर्मभ्रष्टत्वादाचारभ्रष्टत्वादार्यसंस्कृतिबहिर्भूता इमे स्वराज्याद् बहिर्निष्कासिताः। 'नृपस्य बाहोः सगरनामकेन पुत्रेण अर्धं शिरो मुण्डयित्वा शकाः परित्यक्ताः। यवनानां काम्बोजानां च सम्पूर्णं शिरो मुण्डितम्। पारदा विकीर्णकेशाः, पह्लवाश्च श्मश्रुलाः कृताः। सर्वे इमे पूर्वं

थी। सात वारों का ज्ञान भारतीयों को काल्डिया के निवासियों से प्राप्त हुआ था। इस दृष्टि से संस्कृत भाषा के जिन ग्रन्थों में, भले ही वे किसी भी विषय के हों, बारह राशियों के, रविवार प्रभृति सात वारों के आधार पर ज्योतिष सिद्धान्त की गणना मिलती हो, वे सभी ग्रन्थ ईसापूर्व चार सौ वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं हैं। चैत्र प्रभृति मासों का जिन ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है, उनकी रचना वेदांग ज्योतिष के रचनाकाल से पहले और ब्राह्मण ग्रन्थों के रचनाकाल के बाद हुई है। इन पाश्चात्य विद्वानों के इस दृष्टिकोण की कसौटी पर महाभारत, पुराण, पातंजल महाभाष्य प्रभृति ग्रन्थ, अथवा वे ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थ, जिनमें यवन जाति की विद्वत्ता, वीरता और आक्रमणशीलता की बात लिखी गई है, सभी सिकन्दर के आक्रमण के बाद, अर्थात् ईसापूर्व ३२३ वर्ष के बाद बनाये गये हैं। पाश्चात्यों की इसी पद्धति को स्वीकार कर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक भी महाभारत में बारह राशियों के विभाग का वर्णन न मिलने से इसको सिकन्दर के आक्रमण से पहले का और मेष, वृष आदि राशियों के नाम का उल्लेख मिलने से बोधायन गृह्यसूत्र को सिकन्दर के आक्रमण के बाद का बनाया गया ग्रन्थ मानते हैं। किन्तु इस तरह के सारे तर्क सारहीन हैं, क्योंकि महाभारत में आया यवन शब्द यूनान देश के रहने वाले ग्रीक लोगों के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ, किन्तु यहाँ यवन शब्द से महाभारत ययाति के तुर्वसु प्रभृति पुत्रों का बोध होता है, जो कि पिता के शाप से यवन हो गये थे। वहाँ स्पष्ट बताया गया है—'यदु से यादवों की उत्पत्ति हुई और तुर्वसु से यवनों की'। इन्हीं का राज्य महाभारत में यवन राज्य के नाम से प्रसिद्ध है।

ब्रह्मपुराण के अनुसार सूर्यवंश के राजा बाहु पर जब हैहय प्रभृति वंशों के राजाओं ने आक्रमण किया, उस समय पाँच गणों के अधिपति यवन भी उनके सहयोगी थे। वहाँ बताया गया है—'हे द्विजोत्तम, तालजंघ हैहयों ने शकों के साथ आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के समय शक, यवन, पारद, काम्बोज, पह्लव इन पाँच गणों के राजाओं ने भी हैहयों का साथ दिया। यह वचन इन्द्रविजय के पृ० ४४ पर उद्धृत है। राजा बाहु के सगर नामक पुत्र ने अपने पिता के शत्रु इन पाँचों गणों को पराजित कर दिया था। जब ये महर्षि वसिष्ठ की शरण में चले गये तो उनके कहने से उसने इनको प्राणदान देकर धर्मभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट और आर्यसंस्कृति से बहिष्कृत कर इनको अपने राज्य से निकाल दिया। वहाँ कहा गया है—'राजा बाहु के सगर नाम के पुत्र ने शकों को उनका

क्षत्रिया आसन्, किन्तु तेन धर्मच्युता इमे स्वराज्यान्निष्कासिताः' इत्यभिप्रायकं वचनमपीन्द्रविजय एव समुपलभ्यते। मनुसंहिताया दशमेऽध्यायेऽपि—'शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः। वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ।। पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः। पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ।।' तदभिप्रायकमेव वचनमेतद् दृश्यते। केवलं यवननामदर्शनेन तेषां यूनानदेशनिवासकल्पना भ्रमपूर्णैव विद्यते। अत एव 'शूद्राणा०' (२।४।१०) इति पाणिनिसूत्रभाष्ये भगवता पतञ्जलिना पात्रैरनिवसितानां शूद्राणामुदाहरणम् 'शकयवनम्' इति प्रदीयते।

एवमेव भारतीयज्योतिःशास्त्रप्रासादो ज्योतिर्विज्ञानकालगणनाधारो विराजते। भारतीया कालगणना सृष्ट्यारम्भात् प्रलयपर्यन्तं समानमाना। विराटपर्वणि भीष्मपितामहेन कृता कालगणना नैतद्विरुद्धा। भीष्मपितामहजीवनवेलायामपि सौरी चान्द्री चोभयविधा कालगणना प्रचलिताऽऽसीत्। अधिकमासव्यवस्थयाऽनयोः परस्परं समन्वयः कृतः। अनयैव दृष्ट्या भीष्मपितामहेन व्यवस्थेयं प्रदत्ताऽऽसीद् यत् पाण्डवानां वनवासकालोऽज्ञातवासकालश्च मासपञ्चकद्वादशरात्र्यधिको व्यतीत इति। भगवता रामचन्द्रेणापि स्वीयस्य वनवासस्य चतुर्दशवर्षाणि कालगणनयाऽनयैव भुक्तान्यासन्। पाण्डवा अपि वनवासावधिं त्रयोदशवर्षीयामनयैव कालगणनया सौरचान्द्रगणनाख्यया भुक्तवन्तः। अस्याः कालगणनाया वर्षं चैत्रशुक्लप्रतिपत्तिथितश्चैत्रकृष्णामावस्यापर्यन्तं परिगण्यते। अस्मिन् वर्षे न्यूनान्न्यूनं ३५४ दिनानि, अधिकादधिकं च ३८४ दिनानि भवन्ति। कौरवमतानुसारमिमां कालगणनामनुसृत्य चतुर्दशस्य वर्षस्य प्रथमो दिवसो वेदाङ्गज्योतिषकालगणनादृष्ट्या त्रयोदशवर्षपञ्चमासद्वादशदिनात्मको भवति। यदि द्यूतक्रीडायास्तिथिः १९९० वि० ज्येष्ठकृष्णाष्टमी बुधवासरान्विता कल्प्यते, तदा तस्मिन् दिने राश्यादिः सूर्यः १।३।३०।४१ तदनुसारं १७-५-१९३३ इत्याङ्लतिथिर्भवति। विराटनगरेऽर्जुनप्राकट्यतिथिः २००३ वि० ज्येष्ठ-

आधा सिर मूंड कर छोड़ दिया। यवनों और काम्बोजों का उसने सारा सिर मुँड़वा दिया। पारदों को बिखरे बाल वाला और पह्लवों को इसने दढियल बना कर छोड़ दिया। ये सब पहले क्षत्रिय थे, किन्तु उसने इन सब को धर्मच्युत कर दिया'। यह वचन भी इन्द्रविजय में ही उद्धृत है। मनुसंहिता के दसवें अध्याय में कहा गया है कि—'ब्राह्मणों के साथ सम्पर्क न हो पाने और धीरे धीरे यज्ञ-यागादि क्रियाकलापों और संस्कारों को भूल जाने से पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, खश, ये सभी क्षत्रिय जातियाँ म्लेच्छ प्राय हो गईं'। केवल यवन नाम देखकर ही उसको यूनान देश का रहने वाला मान लेने की कल्पना भ्रमपूर्ण ही है। इसीलिये 'शूद्राणां०' इत्यादि पाणिनि सूत्र के भाष्य में महाभाष्यकार पतंजलि ने पात्र से अबहिष्कृत शूद्रों के उदाहरण में 'शक-यवनम्' यह उदाहरण दिया है।

इसी तरह से भारतीय ज्योतिःशास्त्र ज्योतिर्विज्ञान की कालगणना के आधार पर खड़ा है। भारतीय कालगणना सृष्टि से लेकर प्रलय पर्यन्त एक सी है। विराट पर्व में भीष्म पितामह द्वारा की गई कालगणना भी इसके विरुद्ध नहीं है। भीष्म पितामह के समय में भी सौर और चान्द्र दोनों तरह की कालगणना प्रचलित थी। अधिक मास की व्यवस्था के द्वारा इन दोनों में समन्वय स्थापित कर दिया गया था। इसी दृष्टि से भीष्म पितामह ने यह व्यवस्था दी कि पाण्डवों को वनवास और अज्ञातवास करने पर पांच महीना और बारह रात्रि अधिक व्यतीत हो गये। भगवान् रामचन्द्र ने भी अपने वनवास की चौदह वर्ष की अवधि को इसी गणना के अनुसार बिताया था। पाण्डवों ने भी अपने वनवास की तेरह वर्ष की अवधि को इसी कालगणना के अनुसार पूरी किया था। इस गणना का नाम सौरचान्द्रगणना कहलाता है। इस कालगणना का वर्ष चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से लेकर चैत्र कृष्ण अमावास्या पर्यन्त रहता है। इस वर्ष में कम से कम ३५४ दिन और अधिक से अधिक ३८४ दिन होते हैं। कौरवों के विचार से इस कालगणना के अनुसार चौदहवें वर्ष का पहला दिन वेदांग ज्योतिष की कालगणना के हिसाब से तेरह वर्ष पाँच मास और बारह दिन होते हैं। यदि द्यूतक्रीडा की तिथि वि०सं० १९९० ज्येष्ठ कृष्ण अष्टमी बुधवार मान ली जाय तो उस दिन राश्यादि सूर्य १।३।३०।४१ तदनुसार १७ मई सन् १९३३ होता है। अर्जुन के विराट नगर में प्रकट होने की तिथि वि०सं० २००३ ज्येष्ठ कृष्ण अष्टमी शुक्रवार कल्पित की जाय तो उस दिन राश्यादि

कृष्णाष्टमी शुक्रवासरान्विता कल्पिता स्यात्तदा तस्मिन् दिने राश्यादिः सूर्यः १।९।५२।९ अर्थात् १४-५-१९४६ इत्याङ्ग्लतिथिः संपद्यते। अनया पद्धत्या द्यूतक्रीडातिथेः प्राकट्यतिथेश्चान्तरं सौरचान्द्रमानेन त्रयोदशवर्षैकदिनात्मकमर्थात् चतुर्दशवर्षस्य प्रथमदिनात्मकं भवति। एषैव कालगणना सौरमानानुसारं त्रयोदशवर्षषड्दिनात्मिका, अर्थात् चतुर्दशवर्षस्य षष्ठदिवसात्मिका भवति। आङ्ग्लकालगणनानुसारं त्रयोदशवर्षसप्तदिनात्मिका, अर्थात् चतुर्दशवर्षस्य सप्तमदिनं यावत् प्रचलति। एषैव कालगणना वेदाङ्गज्योतिषानुसारं चान्द्रमानेन त्रयोदशवर्षपञ्चमासद्वादशदिनात्मिका भवति। महाभारते भीष्मपितामहेन तदनुसारमेव व्यवस्था प्रदर्शिता। अनेन स्पष्टीभवति यद् महाभारतयुद्धकाले सिद्धान्तज्यौतिषानुसारं पञ्चाङ्गगणना भवति स्मेति, तत्र प्रदर्शितायाः कालगणनायाः सिद्धान्तज्यौतिषीयपञ्चाङ्गगणनामाधृत्य निश्चितत्वात्। चान्द्र-सावन-सौरभेदे त्रिविधा मासा भवन्ति। एवमेव वर्षाण्यपि चान्द्र-सावन-सौरभेदेन त्रिविधानि भवन्ति। चैत्रशुक्लप्रतिपत्तिथितः समारम्य फाल्गुनमासस्यामावस्यां यावच्चान्द्रकलानां वृद्धिह्लासामुसारं ३६० तिथ्यात्मको वर्षश्चान्द्रसंवत्सरनाम्ना प्रसिद्ध्यति। सौरसंवत्सरे सूर्यो द्वादशराशीन् सम्पूर्णं परिक्रामति। अस्यारम्भः सूर्ये मेषराशौ प्रविशति सति समाप्तिश्च मीनराशिभोगावधिर्भवति।

सोमयागे प्रतिदिनं प्रातःसवन-माध्यन्दिनसवन-सायंसवनाख्यानि त्रीणि सवनान्यनुष्ठीयन्ते। एकस्मिन्नहोरात्रे सवनानीमानि निष्पाद्यन्त इत्यहोरात्रं सावनमित्यभिधीयते। सावनः संवत्सर एवंविधैः ३६० दिनैः सम्पन्नो भवति। गोसत्रप्रभृतिष्वन्येषु लोकव्यवहारेषु च सावनसंवत्सर उपयुज्यते। एतच्च विष्णुधर्मोत्तरे प्रदर्शितम्। श्रुतौ गवामयननामकं सत्रं संवत्सरनाम्ना संबोध्यते। अत एव संवत्सरस्तस्याङ्गतया विधीयते। संवत्सरस्यैतद् रूपं यद् गोसत्रम्। य एवं विद्वान् समृद्धः स भवति। अत एव गोसत्रे सावनसंवत्सरस्यैव ग्रहणं भवति, न सौरस्य चान्द्रस्य वा संवत्सरस्य। अहोरात्रे निष्पाद्यमानः सोमयागो वेदेऽहःशब्देन व्यवह्रियते। एवं चाहर्विशेषाणां गणः 'षडह'

सूर्य १।९।५२।९ अर्थात् १४ मई सन् १९४६ होगा। इस तरह से द्यूतक्रीड़ा की तिथि और प्राकट्य तिथि का अन्तर सौरचान्द्रमान से १३ वर्ष १ दिन अर्थात् चौदहवें वर्ष का पहला दिन होगा। यही कालगणना सौर मान के अनुसार तेरह वर्ष छः दिन अर्थात् चौदहवें वर्ष का छठा दिन होगा। अंग्रेजी कालगणना के अनुसार तेरह वर्ष सात दिन अर्थात् चौदहवें वर्ष का सातवां दिन होगा। यही कालगणना वेदांग ज्योतिष के अनुसार चान्द्रमान से १३ वर्ष ५ मास बारह दिन होगी। महाभारत में भीष्म पितामह ने यही व्यवस्था दी है। इससे स्पष्ट है कि महाभारत के युद्ध के समय सिद्धान्त ज्योतिष के अनुसार पंचांग की गणना की जाती थी। क्योंकि ऊपर बताई गई कालगणना सिद्धान्त ज्योतिष गणना के पंचांग को आधार मान कर निश्चित की गई है। चान्द्र, सावन और सौर के भेद से तीन तरह के महीने होते हैं। इसी तरह से वर्ष भी चान्द्र, सावन और सौर के भेद से तीन तरह का होता है। चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से आरम्भ होकर फाल्गुन की अमावास्या तक चन्द्रकलाओं की वृद्धि और ह्रास के अनुसार प्रतिपदा से लेकर ३६० तिथियों का वर्ष चान्द्र संवत्सर कहलाता है। सावन संवत्सर में भी ३६० तिथियाँ होती हैं। सौर संवत्सर में सूर्य बारह राशियों का योग पूरा कर लेता है। इसका आरम्भ मेष राशि में सूर्य के प्रवेश के साथ होता है और जब तक सूर्य मीन राशि का योग पूरा नहीं कर लेता, तब तक यह चलता है।

सोम याग में प्रातः सवन, मध्याह्न सवन और सायं सवन ये तीन सवन एक दिन में किये जाते हैं। इस तरह से ये तीनों सवन ही दिन-रात में पूरे होते हैं, इसलिये अहोरात्र को सावन कहा जाता है। इस तरह के तीन सौ साठ सावन दिनों में पूरा होने वाला वर्ष सावन संवत्सर कहलाता है। गोसत्र प्रभृति सत्रों में और अन्य लोक व्यवहारों में भी सावन संवत्सर का उपयोग मान्य है। जैसा कि विष्णुधर्मोत्तर में कहा गया—'सत्रों का अनुष्ठान सावन कालगणना के आधार पर करना चाहिये और इसी तरह से अन्य लौकिक व्यवहार कर्मों का संपादन भी इसी कालगणना के अनुसार होना चाहिये'। श्रुति में गवानयन नामक सत्र को संवत्सर नाम से संबोधित किया गया है। इसलिये संवत्सर काल उसका अंग है। 'गोसत्र संवत्सर का ही स्वरूप है, जो विद्वान् इस बात को जानते हैं,

इत्यभिधीयते। अभिप्लव-पृष्ठ्यभेदेन स द्विविधो भवति। चत्वारोऽभिप्लवा एकः पृष्ठ्यश्चेति पञ्चभिः षडहैर्मास एकः सम्पन्नो भवति। षष्टिसंख्याकैश्च षडहैः सावनः संवत्सरो निष्पद्यते। अत्र षडहोरात्राणां न्यूनीकरणे ३५४ दिनात्मकश्चान्द्रः संवत्सरः सम्पन्नो भवति। सावने संवत्सरे सपादपञ्चदिनानां योजनेन सौरः संवत्सरो निष्पद्यते। अनया गणनापद्धत्या त्रयोदशसौरसंवत्सराणां कालगणना यदा चान्द्रमानेन परिगण्यते, तदा त्रयोदशवर्षेषु पञ्चमासद्वादशदिनाभ्यधिकानि भवन्ति।

'संवत्सरे संवत्सरे यजेत' इति श्रुतौ चान्द्रसंवत्सर एव परिगृह्यते। कल्पसूत्रकारैरमावास्यापौर्णमासीप्रभृतिषु चान्द्रतिथिष्वेव तेषामनुष्ठानं विधीयते। सुगतिप्राप्तये क्रियमाणानि व्रतानुष्ठानादीनि सौरसंवत्सरानुसारं विधीयन्ते। विष्णुधर्मोत्तरे तानि विहितानि। एवं च सूक्ष्मतमानामीदृशीनां कालगणनानां सत्त्वेऽपि वेदादिशास्त्रेषु पाश्चात्यानां कथनमेतद् वितथमेव यद् भारतीया विद्वांस नक्षत्रमण्डलस्य द्वादशराशिषु विभाजनम्, सप्तवासराणां च ज्ञानं यूनानदेशीयविद्वद्भ्योऽधिगतवन्त इति। अहर्गणनां विना वारज्ञानं नैव भवति। सिद्धान्तज्यौतिषीया गणनाऽहर्गणानां माध्यमेन मध्यमचन्द्रस्य सूर्यप्रभृतिग्रहाणां मन्दोच्च-शीघ्रोच्चादिसंस्कारान् विधाय संपाद्यते। 'एको अश्वो वहति सप्तनामा' इत्यस्मिन् ऋङ्मन्त्रे सप्तवासराणां निर्देशो विद्यते। हेमाद्रिग्रन्थस्य दानखण्डीये तृतीयप्रकरणे महाभारतीय एकः श्लोकः समुद्धृतः। तत्र वर्णितं यद् सोममङ्गलगुरुवासरेष्वेकतमेन युताऽमावस्या 'पुष्करपर्व' इत्यभिधीयते। पर्वण्यस्मिन् स्नानेन सूर्योपरागावसरे कृतेन स्नानेन शतगुणितं फलं लभ्यते। एवमेव देव्यथर्वशीर्षे 'भौमाश्विनो' इति पाठः समुपलभ्यते। अनेन स्पष्टीभवति यद् मङ्गलवासरो वेदेऽपि समुल्लिखित इति। एवमेव अयन (कर्क-मकर)—विषुव (मेष-तुला)—षडशीतिमुख—(मिथुन-कन्या-धन-मीन)—पर्व (विष्णुपद-वृषभ-कुम्भ-

उनकी समृद्धि होती है'। इसलिये गोसत्र में सावन संवत्सर ही लिया जाता है, सौर या चान्द्र संवत्सर नहीं। दिन-रात में पूरा होने वाला सोम याग वेद में अहः शब्द से व्यवहृत होता है। इस तरह के अहर्विशेषों का एक गण 'षडह' कहलाता है। यह षडह अभिप्लव और पृष्ठ्य के भेद से दो तरह का होता है। चार अभिप्लव और एक पृष्ठ्य इस तरह से इन पांच षडहों से एक मास संपन्न होता है। इस तरह के साठ षडहों से संपन्न होने वाले सावन संवत्सर में छः अहोरात्र निकाल देने पर ३५४ दिन होते हैं और यह चान्द्र संवत्सर कहलाता है। सावन संवत्सर में सवा पांच दिन जोड़ देने पर सौर संवत्सर हो जाता है। इस प्रकार की गणना के अनुसार तेरह सौर संवत्सरों की कालगणना जब चान्द्र कालगणना के अनुसार की जायगी, तो उसमें तेरह वर्षों में पांच मास और बारह दिन अधिक बढ़ जायेंगे।

'संवत्सरे संवत्सरे यजेत' इस श्रुति में चान्द्र संवत्सर का ही ग्रहण किया जाता है। कल्पसूत्रकारों ने अमावास्या, पौर्णमासी आदि चान्द्र तिथियों में ही उनके अनुष्ठान का विधान किया है। सुजन्म प्राप्ति के लिये व्रत के अनुष्ठान में सौर संवत्सर का विधान है। विष्णुधर्मोत्तर में इस तरह के व्रतों का विधान मिलता है। इस परिस्थिति में इस तरह की सूक्ष्म कालगणना का वेदादि शास्त्रों में उल्लेख मिलने पर भी पाश्चात्यों का यह कथन सर्वथा निराधार ही माना जायगा कि भारतीय विद्वानों को नक्षत्र मण्डल को बारह राशियों में बाँटने का तथा सात वारों का ज्ञान यूनान देश के विद्वानों से प्राप्त हुआ था। अहर्गणना के बिना वार का ज्ञान हो ही नहीं सकता। सिद्धान्त ज्योतिष की गणना अहर्गणों के माध्यम से मध्यम चन्द्र, सूर्य प्रभृति ग्रहों के मन्दोच्च, शीघ्रोच्च आदि संस्कारों के करने पर निष्पन्न होती है। 'एको अश्वो वहति सप्तनामा' इस ऋग्वेद के मन्त्र में सात वारों का संकेत मिलता है। हेमाद्रि के दान खण्ड के तृतीय प्रकरण में महाभारत का एक श्लोक उद्धृत है। उसका अभिप्राय यह है कि सोम, मंगल या गुरुवार से संयुक्त अमावास्या 'पुष्कर पर्व' के नाम से जानी जाती है। इसमें स्नान-दान करने से सूर्यग्रहण के अवसर पर स्नान-दान करने की अपेक्षा सौ गुना अधिक फल मिलता है। इसी तरह से देव्यथर्वशीर्ष में 'भौमाश्विनी' पाठ मिलता है। इससे स्पष्ट है कि मंगलवार का नाम वेद में भी उपलब्ध है। इसो तरह से अयन (कर्क-मकर), विषुव (मेष-तुला), षडशीतिमुख (मिथुन, कन्या, धन और मीन), पर्व (विष्णुपद अर्थात् वृषभ,

सिंह-वृश्चिक)प्रभृतिनाम्नां महाभारते समुल्लेखो द्वादशसंक्रान्तीनां सूचको वर्तते। अत्र अयन-विषुव-षडशीतिमुख-पर्वशब्दा द्वादशराशीन् सङ्केतयन्ति। संक्रान्तीनां तानीमानि नामानि वृद्धवशिष्ठस्मृतावपि स्मृतानि। द्वादशसंक्रान्तिषु अयनद्वयम्, विषुवद्वयम्, षडशीतिचतुष्टयम्, विष्णुपदीचतुष्टयं च तत्र वर्णितम्।

वंशपरम्पराप्राप्तानां भारतीयपञ्चाङ्गानामाधारेण स्पष्टमिदमुद्घोषयितुं शक्यते यदितः २०३१ वर्षेभ्यः प्राग् विक्रमसंवत्सरारम्भस्तथा ५०७५ वर्षेभ्यः प्राग् युधिष्ठिरसंवत्सरारम्भः संजात इति। युधिष्ठिरे राज्यं शासति धृतराष्टः परलोकं जगाम, महाभारतरचना च समजायत। ९७७वि० वत्सरे विद्यमानः शिशुपालवधमहाकाव्यस्य टीकाकारो वल्लभदेवः 'त्वया विप्रकृत०' इति श्लोकव्याख्यानावसरे सपादलक्षश्लोकपरिमितां महाभारतसंहितां स्मरति। वल्लभदेवस्य पुत्रश्चन्द्रादित्यस्तस्य च पुत्र कैयट आसीत्। देवीशतकविवृतौ तेन स्वसमयः ४०७८ कलिसंवत्सर उल्लिखितः। विक्रमसंवत्सरानुसारं १०३४ वत्सरे तेन ग्रन्थोऽयं रचितः। महाभारतेन सह खिलभागस्य हरिवंशस्य संयोजनेन सपादलक्षमिता श्लोकसंख्या निष्पद्यते। एवमेव ९३७ वि० वत्सरे विद्यमानो राजशेखरः स्वकीये काव्यमीमांसाख्ये ग्रन्थे तृतीयाध्याये लक्षश्लोकमितां महाभारतसंहितां स्मरति। विक्रमस्य नवम्यां शताब्द्यां विद्यमान आनन्दवर्धनाचार्यो ध्वन्यालोकवृत्तौ (३।१५) महाभारतशान्तिपर्ववर्णितं गृध्रगोमायुसंवादं चर्चयति। तस्मिन्नेव ग्रन्थे चतुर्थोद्योते 'महाभारतेऽपि०' इत्यादिवाक्यावलौ स अनुक्रमणिकाध्यायतो महाभारतग्रन्थारम्भो भवतीति, हरिवंशाख्यो भागोऽपि महाभारतस्यैवेति च वर्णयति। सप्तमशताब्दीभव आचार्यो महाकविश्च दण्डी स्वोयायामवन्तिसुन्दरीकथायां महाभारतं तन्निर्मातारं भगवन्तं वेदव्यासं च स्मरति। इतोऽपि प्राग्भवेन बाणभट्टेन हर्षचरिते कादम्बर्यां च महाभारतस्य भगवतो वेदव्यासस्य च नैकवारमुल्लेखः कृतः। तथाहि—कादम्बर्याः पूर्वभागे विन्ध्याटवीवर्णनावसरेऽर्जुनरथपताकाया विराटनगर्याश्च, शवरसेनापतिवर्णनावसरे वकराक्षस-भीष्मपितामह-शिखण्डि-पराशरप्रभृतीनाम्,

कुम्भ, सिंह और वृश्चिक, आदि नामों से महाभारत में बारह संक्रान्तियों का वर्णन मिलता है। जैसे कि ऊपर मूल में उद्धृत दो श्लोकों में आये अयन, विषुव, षडशीतिमुख प्रभृति शब्दों से उक्त बारह राशियों का संकेत मिलता है। संक्रान्तियों के ये ही नाम वृद्धवसिष्ठ स्मृति में इस तरह से वर्णित हैं—'इन बारह संक्रान्तियों में दो अयन, दो विषुव, चार षडशीति और चार विष्णुपदी कही जाती हैं'।

वंश परम्परा से प्राप्त हमारे पंचांगों के आधार पर यह स्पष्ट घोषणा की जा सकती है कि आज से २०३१ वर्ष पहले विक्रम के वर्ष का आरंभ हुआ था तथा ५०७५ वर्ष पहले युधिष्ठिर के वर्ष की प्रवृत्ति हुई थी। युधिष्ठिर के शासन काल में ही धृतराष्ट्र के परलोक वासी हो जाने पर महाभारत की रचना हुई। संवत् ९७७ में विद्यमान शिशुपालवध महाकाव्य का टीकाकार वल्लभदेव 'त्वया विप्रकृत०' इस श्लोक की टीका में महाभारत के सवा लाख श्लोकों की चर्चा करता है। वल्लभदेव का पुत्र चन्द्रादित्य और चन्द्रादित्य का पुत्र कैयट नाम से प्रसिद्ध हुआ। देवीशतक की विवृति में यह अपना समय ४०७८ कवि संवत् बताता है। विक्रम वर्ष के अनुसार यह १०३४ होता है। महाभारत के साथ हरिवंश को मिला देने पर उसकी श्लोक संख्या सवा लाख पूरी हो जाती है। संवत् ९३७ में विद्यमान राजशेखर अपने काव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में महाभारत को एक लाख श्लोकों की संहिता के रूप में स्मरण करता है। विक्रम की नवीं शताब्दी में विद्यमान आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक (३।१५) की वृत्ति में महाभारत के शान्तिपर्व में स्थित गृध्र-गोमायु संवाद की चर्चा करता है। उसी ग्रन्थ के चतुर्थ उद्योत मे 'महाभारतेऽपि०' इत्यादि वाक्यावली में आनन्दवर्धन अनुक्रमणिकाध्याय से महाभारत का आरंभ मानते हैं और हरिवंश को भी महाभारत का ही अंश कहते हैं। सातवीं शताब्दी का आचार्य और कवि दण्डी अपनी अवन्तिसुन्दरी कथा में महाभारत को और उसके निर्माता भगवान् वेद व्यास को स्मरण करता है। इससे भी पहले उत्पन्न हुए भट्ट बाण हर्षचरित और कादम्बरी में अनेक बार महाभारत और वेदव्यास का उल्लेख करते हैं। जैसे कि कादम्बरी के पूर्व भाग में विन्ध्याटवी का वर्णन करते समय अर्जुन के रथ की पताका का और विराट नगरी का; शबर सेनापति के वर्णन में वक राक्षस, भीष्म पितामह, शिखण्डी और पराशर का; आश्रम का वर्णन करते समय महाभारत में हुए शकुनि

आश्रमवर्णनावसरे शकुनिवधस्य, उज्जयिनीवर्णने कद्रूकथाया हरिवंशस्य च, राजगुणवर्णने दुःशासनकृतापराधस्य, शुकनासकृतोपदेशे जरासन्धभागद्वयसंयोजनकथायाश्चोल्लेखो विद्यते। एवमेव हर्षचरितस्य षष्ठोच्छ्वासे जामदग्न्यस्य रामस्य हिडिम्बायाश्च कथा महाभारतीयोल्लिखिता। हर्षचरितोपाद्धातश्लोकेषु महाकविना बाणभट्टेन सर्वविदे कविवेधसे व्यासाय नमस्कारनिवेदनमिषेण महाभारतकारस्य वेदव्यासस्य महाभारतकथायास्त्रिलोक्यां प्रसारस्य च वर्णनं कृतम्। बाणभट्टसमकालीनः काशिकाकारो जयादित्योऽपि 'द्रोण०' (४।१।१०३) इत्यादिसूत्रव्याख्यानावसरे वर्णयति यदत्र महाभारतकथावर्णितस्य द्रोणाचार्यस्य ग्रहणं न भवतीति। महाकविना कालिदासेन मेघदूते 'क्षेत्रं क्षत्र०' इत्यादिके श्लोके महाभारतं स्मर्यते। जयादित्यात् प्राग्भवेन भट्टपादकुमारिलेन औत्पत्तिकसूत्रश्लोकवार्त्तिके पाराशर्यो व्यासः समुल्लिखितः। कुमारिलसमकालीनो धर्मकीर्तिः स्वकीये प्रमाणवार्त्तिके महाभारतं चर्चयति। ६२७ वि० संवत्सरात् प्राग् विद्यमानो वाक्यपदीयकारो भर्तृहरिः स्वग्रन्थस्य ब्रह्मकाण्डीये १४२ तमे श्लोके महाभारतीयं 'गौरिव०' इत्यमुं श्लोकमितिहासवचनत्वेन समुद्धरति। सुबन्धुकृतायां वासवदत्तायां प्रसङ्गवशात् स्मृतेन न्यायवार्त्तिककारेणोद्योतकरेण ४।१।२१ संख्याकन्याय (गोतम) सूत्रव्याख्यानावसरे महाभारतीयवनपर्वणि विद्यमानः 'अज्ञो जन्तु०' इत्यादिकः श्लोकः समुद्धृतः। एवमेव योगभाष्ये 'प्रज्ञाप्रासाद०' इत्यादिको महाभारतीयः श्लोकः समुपलभ्यते। संवत् १९१ त आरभ्य २१४ यावत् तिथ्यङ्किता महाराजस्य सर्वनाथस्यानेके शिलालेखाः प्राप्यन्ते। पाश्चात्त्यपद्धत्यनुसारमत्र कलिसंवत्सरस्योल्लेखो वर्तते। तत्रैकस्मिन् ताम्रलेखे एकलक्षश्लोकात्मकं महाभारतं पराशरपुत्रेण व्यासेन रचितमिति स्पष्टमुल्लिखितम्। अस्मात् ताम्रलेखादपि प्राचीनेन शबरस्वामिना मीमांसासूत्र (८।१।२) भाष्ये महाभारतस्यादिपर्वणि स्थितः 'विस्तीर्य हि' इत्यादिकः श्लोकः समुद्धृतः। 'एष चाख्यानसमयः' इति निरुक्तवचनं व्याकुर्वता भाष्यकारेण दुर्गाचार्येणोक्तं यन्महाभारतमपि मतमेतत् पोषयति यत् पृथिवी स्त्रीरूपं धारयित्वा स्वभारतनूकरणार्थं ब्रह्माणं प्रार्थितवती, अग्निना ब्राह्मणरूपं धारयित्वा खाण्डववनदाहाय कृष्णार्जुनयोः साहाय्यं भिक्षितम्,

के वध का; उज्जयिनी के वर्णन में कद्रू की कथा का और हरिवंश का; राजा के गुणों का वर्णन करते हुए महाभारत में हुए दुःशासन के अपराध का; शुकनास के वर्णन में जरासन्ध के दो हिस्सों को जोड़ने की कथा का वर्णन मिलता है। इसी तरह से हर्षचरित के छठे उच्छ्वास में जामदग्न्य राम का और हिडिम्बा का उल्लेख मिलता है। हर्षचरित के उपोद्घात श्लोकों में महाकवि भट्ट बाण ने सभी कवियों की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा के रूप में महाभारतकार वेदव्यास का तथा महाभारत की कथा के त्रिलोकी में व्याप्त हो जाने का वर्णन किया है। काशिकाकार जयादित्य भी, जो कि बाण के समय का ही लेखक है, 'द्रोण०' इत्यादि पाणिनि सूत्र की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि इस सूत्र में द्रोण शब्द से महाभारत की कथा में वर्णित द्रोण का ग्रहण नहीं किया जाता। कालिदास ने मेघदूत के 'क्षेत्रं क्षत्र०' इत्यादि श्लोक में महाभारत को स्मरण किया है। जयादित्य से पहले हुए भट्टपाद कुमारिल औत्पत्तिक सूत्र के श्लोकवार्त्तिक में पाराशर्य व्यास का उल्लेख करते हैं। कुमारिल का समकालीन धर्मकीर्ति अपने प्रमाणवार्तिक में महाभारत की चर्चा करता है। संवत् ६२७ से पहले विद्यमान वाक्यपदीयकार भर्तृहरि अपने ग्रन्थ के प्रथम (ब्रह्म) काण्ड के १४२वें श्लोक में महाभारत के 'गौरिव०' इत्यादि श्लोक को इतिहास के वचन के नाम से उद्धृत करता है। सुबन्धु की वासवदत्ता में प्रसंगवश उल्लिखित न्यायवार्तिककार उद्योतकर (४।१।२१) संख्या के न्याय (गोतम) सूत्र में महाभारत के वनपर्व में विद्यमान 'अज्ञो जन्तु०' इत्यादि श्लोक को उद्धृत करते हैं। इसी तरह से योगभाष्य में योगभाष्यकार 'प्रज्ञाप्रासाद' इत्यादि महाभारत के श्लोक को उद्धृत करते हैं। संवत् १९१ से २१४ तक के महाराज सर्वनाम के अनेक शिलालेख मिले हैं। पाश्चात्य पद्धति के अनुसार इसको कलि संवत् माना गया है। इनमें से एक ताम्रलेख में एक लाख श्लोकात्मक महाभारत की रचना पराशर के पुत्र व्यास ने की, इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। शबरस्वामी, जिसका कि समय इस ताम्रलेख से भी प्राचीन है, मीमांसासूत्र (८।१।३) के भाष्य में महाभारत के आदि पर्व का एक श्लोक ('विस्तीर्य हि०' इत्यादि) उद्धृत करते हैं। 'एष चाख्यानसमयः' निरुक्त के इस वचन की व्याख्या करते हुए भाष्यकार दुर्गाचार्य कहते हैं कि महाभारत में भी इस बात की पुष्टि की गई है कि पृथिवी ने स्त्री का रूप धारण कर

अग्निपुरुषरूपेण तेन खाण्डववनं दग्धमिति। लङ्कावतारसूत्रनामके बौद्धग्रन्थे, यस्य चीनीभाषायामनुवादः ५७ ई० वर्षे संजातः, व्यासभारतयोरुल्लेखो वर्तते। तत्रोक्तं यद् भगवतो बुद्धस्य निर्वाणानन्तरं व्यास-कणाद-ऋषभ-कपिल-शाक्यनामका अन्ये च महापुरुषाः समुत्पत्स्यन्त इति। मम निर्वाणाच्छतवर्षानन्तरं व्यासो महाभारतं रचयिष्यति, यत्र कौरवपाण्डवयोर्युद्धं वर्ण्यते। तदनन्तरं मौर्या नन्दा गुप्ता म्लेच्छाश्च राजानो भविष्यन्ति। शस्त्रसंक्षोभ एष म्लेच्छराज्यपर्यन्तं प्रचलिष्यति। पर्यन्ते भविष्यति कलियुगस्य प्रवृत्तिरिति। वररुचेर्निरुक्तसमुच्चये दृश्यते—'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति' इति। श्लोक एष व्यासवचनत्वेन तत्र समुद्धृतः। महाभारतस्य सर्वेषु पुष्पिकावाक्येषु शतसाहस्री संहितेति समुल्लेखो वर्तते।

एवंप्रकारकैरुपर्युद्धृतैः प्रचुरैः प्रमाणैर्लक्षैकश्लोकमितं सम्पूर्णं महाभारतं व्यासस्यैव कृतिरिति स्पष्टं सिद्ध्यति।

यत्तु पाश्चात्त्यैरुक्तम्—'ब्राह्मणग्रन्थेषु ग्रन्थकारा मतभेदमपि वर्णयन्ति। ते परस्परं विवदन्ते स्म। एकेन ब्राह्मणग्रन्थेन बाधितस्यान्यब्राह्मणग्रन्थस्य लोपोऽपि जातः। शुक्लयजुर्वेदीयब्राह्मग्रन्थस्य पूर्वं षष्टिरध्याया आसन्, इदानीं शतमध्यायाः सन्ति' इति, तदपि तुच्छम्, कठादिसंज्ञावत् ताण्ड्य-शतपथादिसंज्ञानामप्यनादित्वेन तन्निर्माणकालकल्पनाया निर्मूलत्वात्। प्रवचनमूलिकाश्च संज्ञा न तु रचनामूलिका इति बहुश उक्तत्वात्। यद्यपि ताण्ड्यादिसंज्ञा अध्यापनमूलिका रचनामूलिकाश्चोभयथापि सम्भवन्ति, तथाप्यध्यापनमूलिका एव संज्ञा ग्राह्याः, उभयसम्मतत्वात्। रचनामूलिकाः संज्ञास्तु न वैदिकानां सम्मताः। ज्ञानधर्मोन्नत्यादयस्तु ब्राह्मणग्रन्थानां प्रचारमूलका न निर्माणमूलकाः।

यत्तु—'पूर्वं मुद्रणव्यवस्थाया अभावात् पाठभेदाः सञ्जाताः' इति, तदपि न क्षोदक्षमम्, वेदानामनुश्रवत्वप्रसिद्धेः। गुरोर्मुखादनुश्रूयत इत्यनुश्रवो वेदः। न केनचिन्निर्मीयते न वा तत्र पाठभेदसम्भवः। तत्र मात्रामात्रस्यापि

अपना भार हलका करने के लिये ब्रह्मा से प्रार्थना की थी, अग्नि ने ब्राह्मण का स्वरूप धारण कर खाण्डव वन को जलाने में कृष्ण और अर्जुन से सहायता माँगी थी और उसने अग्नि रूप में ही पुरुष के रूप में भी खाण्डव वन को जला डाला था। लङ्कावतार सूत्र नामक बौद्ध ग्रन्थ का चीनी अनुवाद ५७ ई० संवत् में हुआ था। यहाँ व्यास और भारत दोनों के नाम मिलते हैं। वहाँ कहा गया है—'मेरे निर्वाण प्राप्त कर लेने के उपरान्त व्यास, कणाद, ऋषभ, कपिल, शाक्य नाम के और इसी तरह के और भी व्यक्ति पैदा होंगे। मेरे निर्वाण के सौ वर्ष बाद व्यास भारत की रचना करेंगे, जिसमें कौरव और पाण्डवों के युद्ध का वर्णन होगा। इसके बाद मौर्य नन्द, गुप्त और म्लेच्छ राजा होंगे। यह शस्त्र संक्षोभ अर्थात् युद्ध, मारकाट आदि म्लेच्छ राजाओं के होने तक चलता रहेगा। अन्त में कलियुग की प्रवृत्ति होगी'। वररुचि के निरुक्तसमुच्चय में 'अल्पश्रुत (अल्पज्ञ) व्यक्ति से वेद डरता रहता है कि यह अपने अज्ञान से मेरा दुरुपयोग करेगा'। यह श्लोक व्यास के वचन के रूप में उद्धृत है। महाभारत के सभी पुष्पिका वाक्यों में शतसाहस्री (सौ हजार, अर्थात् एक लाख श्लोक की) संहिता के रूप में इसका उल्लेख है।

ऊपर उद्धृत इन सब प्रचुर प्रमाणों के आधार पर एक लाख श्लोक का यह पूरा महाभारत व्यास की ही रचना है, यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि 'ब्राह्मण ग्रन्थों में ग्रन्थकार परस्पर मतभेद प्रदर्शित करते हैं और उनमें विवाद भी होता है। एक ब्राह्मण ग्रन्थ के द्वारा खण्डित दूसरा ब्राह्मण ग्रन्थ लुप्त भी हो गया है। शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण में पहले ६० अध्याय थे, आजकल उसमें १०० अध्याय हैं' यह सब व्यर्थ की बात है। कठ प्रभृति संज्ञा के समान ताण्ड्य, शतपथ आदि संज्ञाओं के भी अनादि होने से इनसे ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण का समय निर्धारण नहीं किया जा सकता। यह हम अनेक बार कह चुके हैं कि ये नाम प्रवचनकर्ता के नाम के कारण पड़े हैं, ये ऋषिगण उनके रचयिता नहीं हैं। यद्यपि ताण्ड्य प्रभृति संज्ञाएं अध्यापन के कारण और रचना के कारण दोनों ही तरह से हो सकती हैं, तो भी अध्यापन अर्थात् प्रवचनमूलक ही ये संज्ञाएं मानी जानी चाहिये, क्योंकि यह बात दोनों ही पक्षों को मान्य है। ये संज्ञाएं रचनामूलक हैं, यह बात वैदिकों को स्वीकार्य नहीं है। एक की अपेक्षा दूसरे में ज्ञान, धर्म इत्यादि की जो उन्नति देखी जाती है, यह प्रचार के कारण है, निर्माण के कारण नहीं।

व्यत्यासो न सम्भवति । तदर्थमेव मन्त्रेषु पदक्रमादिदशविकृतयः । ताभिस्तत्स्वरूपरक्षाय वैदिकैर्यत्यते । अत एवाद्यत्वे मुद्रणप्रसारबाहुल्ययुगेऽपि शुद्धपाठनिर्धारणाय घनान्तिनो वैदिका एवाश्रियन्ते । अत एव कलिकालादिषु ग्रन्थानां विलोपेऽपीश्वरे ब्रह्मणि चतुर्मुखे ऋषिषु चाविच्छिन्नपारम्पर्येण वेदाः सर्वेऽपि तिष्ठन्ति । अद्यापि वैदिकेषु वेदाः कण्ठस्था एव भवन्ति । 'हृदयेष्ववतिष्ठन्ते वेदा ये नः परं धनम्' (वाल्मीकीयरामायणेऽयोध्याकाण्डे ४५।२५) ।

बेवरः कथयति 'शाकलीसंहितेति नाम्ना शाकल्यर्षेरस्याः सम्बन्धो विज्ञायते । ब्राह्मणग्रन्थेषु शाकल्यस्य चर्चा दृश्यते, तेन तस्याः पौरुषेयत्वं सिद्धयति' इति, तदपि तुच्छम्, निरुक्तकारेण शाकल्यस्य पदपाठकर्तृत्वाभ्युपगमात् । यदुक्तम्—'शतपथब्राह्मणे जनकसभायां याज्ञवल्क्येन स पराजितः शप्तश्च, तच्छिरो निपतितं तदस्थीनि च चौरैरपहृतानि । तस्मिन्नेव च ब्राह्मणे वाष्कलिमहर्षेरपि चर्चा विद्यते । पुराणेषु शाकलानां शुनकानां च सम्बन्धो ज्ञायते । शौनकेन ऋग्वेदस्य रक्षार्थमृषिच्छन्दोदेवतानामनुवाकसूक्तानां चानुक्रमणी निर्मिता । बृहद्देवता, ऋग्वेदप्रातिशाख्यम्, ऐतरेयसम्बन्धिस्मार्तसूत्रं कल्पसूत्रं च निर्मितम्, परन्तु स्वशिष्येणाश्वलायनेन निर्मितं कल्पसूत्रं दृष्ट्वा तन्नाशितम् । शाकलसंहिताया द्वितीयमण्डलं शौनकेन रचितमिति सम्भाव्यते । स एवायं शौनको यस्य यज्ञमहोत्सवे वैशम्पायनपुत्रेण सौतिना महाभारतं श्रावितम् । वैशम्पायनेन हरिवंशसहिता महाभारतकथा जनमेजयाय श्राविता । शुनकानां वंश ऋग्वेदीयैः प्राचीनैर्ऋषिवंशैः सम्बद्धः, नूतनकालेऽपि महर्षिसभासु समादरणीय आसीत् । आश्वलायनगुरुः शौनकः, नैमिषारण्यीययज्ञकर्ता शौनकश्चाभिन्न एव । शुक्लयजुर्वेदीयब्राह्मणानुसारेण शौनकौ द्वौ दृश्येते । इन्द्रोतः शौनकः, स्वैडायन औदीच्यः शौनकश्च । प्रथमेन जनमेजययज्ञस्यार्त्विज्यं कृतम्' इत्यादि ।

'पहले पुस्तकों के छपाने की व्यवस्था न होने से इनमें पाठ भेद हो गये' यह उक्ति भी तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती, क्योंकि वेदों की आनुश्रविकता प्रसिद्ध है । गुरु के मुख से जो सुना जाता है, इस प्रकार वेदों को अनुश्रव कहा जाता है । इसका कोई निर्माता नहीं है और न यहाँ कोई पाठभेद ही सम्भव है । यहाँ पर एक मात्रा का भी हेर-फेर नहीं हो सकता । इसी के लिये ग्रन्थों में पद, क्रम आदि दस विकृतियां प्रचलित हैं । इनके माध्यम से वैदिक गण उसके स्वरूप को ज्यों का त्यों रख पाने में समर्थ होते हैं । इसी लिये इस युग में भी जब कि छपाई का बहुत प्रसार हो गया है, शुद्ध पाठ का निर्णय करने के लिये घनान्ती वेदपाठी ही प्रमाण माने जाते हैं । इसीलिये कलियुग आदि में ग्रन्थों के लुप्त हो जाने पर भी ईश्वर, ब्रह्म, चतुर्मुख ब्रह्मा और ऋषियों में अविच्छिन्न परम्परा से सारे वेद विद्यमान रहते हैं । आज भी वैदिकों को वेद कण्ठस्थ है । वाल्मीकि रामायण में कहा गया है कि 'जो वेद सदा हृदय में अवस्थित रहते हैं, वे ही हमारी उत्कृष्ट सम्पत्ति हैं' ।

वेवर का कहना है कि—'शाकली संहिता इस नाम से शाकल्य ऋषि से इस संहिता का सम्बन्ध जुड़ता है । ब्राह्मण ग्रन्थों में शाकल्य की चर्चा है । इससे इस संहिता की पौरुषेयता सिद्ध होती है' यह भी कुछ नहीं है, निरुक्तकार ने शाकल्य को पदपाठ का कर्ता माना है । साथ ही बेवर ने यह भी कहा है कि—'शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि जनक की सभा में याज्ञवल्क्य ने शास्त्रार्थ में उसे हरा दिया और शाप दे दिया । उसका शिर गिर पड़ा और उसकी हड्डियां भी चोरों ने चुरा ली । उसी ब्राह्मण में वाष्कल ऋषि की भी चर्चा है । पुराणों से शाकल और शुनक वंशों का परस्पर सम्बन्ध था, यह ज्ञात होता है । शौनक ने ऋग्वेद की रक्षा के लिये ऋषि, छन्द, देवता, अनुवाक और सूक्तों की अनुक्रमणियां बनाई थीं । बृहद्देवता, ऋग्वेद प्रातिशाख्य, ऐतरेय सम्बन्धी स्मार्त सूत्र और कल्पसूत्र का निर्माण भी इन्होंने किया । अपने शिष्य आश्वलायन के बनाये कल्पसूत्र को देख कर इन्होंने अपना कल्पसूत्र नष्ट कर दिया । यह संभावना की जाती है कि शाकल संहिता का द्वितीय मंडल शौनक की रचना है । यह वही शौनक है, जिसके यज्ञ महोत्सव के अवसर पर वैशम्पायन पुत्र सौति ने महाभारत सुनाई थी । वैशम्पायन ने हरिवंश सहित पूरे महाभारत की कथा जनमेजय को सुनाई थी । शुनक वंश ऋग्वेद के प्राचीन ऋषि कुलों से सम्बद्ध है । नूतन काल में भी महर्षियों की सभा में उसका आदर होता था । आश्वलायन के गुरु शौनक और नैमिषारण्य में यज्ञ करने वाले शौनक एक ही ऋषि थे । शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण के अनुसार दो शौनक ज्ञात होते हैं । एक इन्द्रोत शौनक और दूसरे औदीच्य स्वैडायन शौनक । इनमें से पहले जनमेजय के यज्ञ के ऋत्विक थे' इत्यादि ।

तदेतत्सर्वं बेवरस्याज्ञानमूलकमेव, काठकादिसमाख्यावत् शाकलादिसमाख्याया अपि प्रवचनमूलकत्वाभ्युपगमेन तददोषात् । संहितासङ्कलनं तु व्यासकर्तृकमेव । शतपथीया कथापि सुखावबोधार्था आख्यायिकैव; वेदार्थाभ्यासिनः प्रशंसापरैव । ब्रह्मविदां समक्षेऽभिमानमपहाय नम्रव्यवहारः कर्तव्य इत्येवमुपदेशपरा । आश्वलायनगुरोः शौनकस्य नैमिषयज्ञकर्तुः शौनकस्याभेदे किञ्चिदपि मानं नोपलभामहे । पुराणेषु कानिचिच्चरित्राणि ब्राह्मणभागानुसारीणि कानिचित्पुराणकर्तृभिर्लोकशिक्षार्थमाख्यायिकारूपाणि कल्पितानि । प्रथमानि ब्राह्मणभागानुवादमात्राणि वेदाक्षरश्रवणानधिकारिणां वेदार्थज्ञानजन्यशिक्षार्थानि पुण्यलाभार्थानि च । तेषां स्वार्थे तात्पर्यं नास्त्येव । विधेयस्तुतिर्निषेध्यनिन्दैव तेषां मुख्योऽर्थः । तेन कस्यचिच्चरित्रविशेषस्य कालविशेषस्य न निर्णयो न भवति । अन्तिमस्य पुरञ्जनोपाख्यानरूपस्यापीयमेव स्थितिः । तदुभयभिन्नपौराणिकचरित्राण्यवश्यं व्यक्तिविशेषसम्बद्धानि भवन्ति । तेषु कानिचिद् ब्राह्मणभागीयनामभिश्चरित्रैश्च तुल्यानि, तथापि न तान्यभिन्नानि । कुतः ? पौराणिकव्यक्तिविशेषाः सादयः, ब्राह्मणभागरूपो वेदस्त्वनादिः । तथैव मन्त्रेष्वपि पौराणिकानां पुरूरवउर्वश्यहल्येन्द्रादीनां तुल्यान्येव नामानि चरित्राणि चोपलभ्यन्ते । तथापि न तान्यभिन्नानि । न च नामादिसाम्यमात्रेण वेदोक्तमेव चरित्रं पुराणेषूपनिबद्धमिति वक्तुं शक्यते, वैदिकनाम्नां जातिमात्रवाचकत्वेन व्यक्तिविशेषेषु तात्पर्याभावात् । पुराणानां च व्यक्तिविशेषेऽपि तात्पर्याभ्युपगमात् । किञ्चानादिसृष्टिप्रलयप्रवाहे समानानुपूर्वीकाणां नाम्नां वृत्तानां वा सत्त्वं नासम्भवम् । ततः केनचित्सम्बन्धेन वेदानां पुराणानां च काकतालीयन्यायेन क्वचित् संबन्धेऽपि न तेन वेदानां निर्माणकालो निर्णेतुं शक्यः ।

यद्वा सृष्टेः शब्दपूर्वकत्वसिद्धान्तरीत्या यदि वैदिकाख्यानानुसारिणी काचिद् घटना घटेतापि, तदापि न घटनानुसार्याख्यानोल्लेखोऽभ्युपेयते, तस्यानादित्वात् । लोक आख्यानस्य घटनापूर्वकत्वेऽपि न वेदे तथाभ्युपगमः, किन्तु तत्र

यह सब कथन अज्ञानमूलक है, काठक आदि की समाख्या के समान शाकल आदि समाख्या को प्रवचनमूलक मान लेने पर इन सारे दोषों का परिहार हो जाता है । संहिताओं का संकलन तो व्यास ने किया है । शतपथ की कथा विषय को सरलता से समझाने वाली एक कहानी है । इससे वेदाभ्यासी की प्रशंसा और प्रभाव ही प्रदर्शित होता है । ब्रह्मज्ञ के सामने अभिमान छोड़ कर नम्र व्यवहार करना चाहिये, यही उपदेश इससे मिलता है । आश्वलायन के गुरु शौनक और नैमिषारण्य में यज्ञ करने वाले शौनक की अभिन्नता में कोई प्रमाण नहीं है । पुराणों में कुछ चरित्र ब्राह्मण भाग का अनुसरण करते हैं और कुछ पुराणकर्ताओं के द्वारा लोकशिक्षा के लिये आख्यायिका के रूप में कल्पित हैं। प्रथम ब्राह्मण भाग के अनुवाद मात्र है । जो वेदाक्षरश्रवण के अधिकारी नहीं है, उनको वेदार्थ ज्ञान की शिक्षा इनसे दी जाती है, जिससे कि उनका भी पुण्य लाभ हो सके । उनका स्वार्थ में कोई तात्पर्य नहीं है । विधेय की स्तुति और निषेध्य की निन्दा करना ही उनका मुख्य प्रयोजन है । इससे किसी चरित्रविशेष का और कालविशेष का निर्णय नहीं होता । अन्तिम पुरंजन उपाख्यान की यही स्थिति है । इन दोनों से भिन्न पौराणिक चरित्र अवश्य ही व्यक्तिविशेष से सम्बद्ध हैं। इनमें से कुछ ब्राह्मण भाग में आये नाम और चरित्र से समान होने पर भी एक ही नहीं हैं, क्योंकि पौराणिक व्यक्ति विशेष तो सादि हैं और ब्राह्मण भाग रूप वेद अनादि । इसी तरह मन्त्रों में भी पौराणिक पुरूरवा-उर्वशी, अहल्या, इन्द्र प्रभृति समान नाम और चरित्र उपलब्ध होते हैं, तो भी ये एक ही नहीं हैं और न केवल नाम की सदृशता को लेकर यही कहा जा सकता है कि वेद में कहा गया चरित्र ही पुराणों में भी वर्णित है । वैदिक नाम जातिमात्र के वाचक हैं, अतः उनका किसी व्यक्तिविशेष में तात्पर्य नहीं माना जा सकता । पुराणों का तो व्यक्तिविशेष में भी तात्पर्य माना जाता है । सृष्टि और प्रलय के अनादि प्रवाह में समान आनुपूर्वी वाले नाम और वृत्त कथाओं का रहना असंभव नहीं है । इससे किसी प्रकार वेद और पुराणों का काकतालीय-न्याय से संबन्ध प्रतीत होता हो, तो भी उससे वेदों का निर्माणकाल नहीं निर्णीत हो सकता ।

अथवा शब्द से सृष्टि होती है, इस सिद्धान्त के अनुसार यदि वैदिक आख्यान का अनुसरण करने वाली कोई घटना हो तो उससे घटना के अनुसरण पर यह आख्यान वर्णित है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वेद का वह आख्यान तो अनादि है । लोक में किसी घटना के घटित हो जाने पर ही तदनुसारिणी कोई कथा बनती है, किन्तु वेद में ऐसा नहीं माना जा सकता । वहाँ

घटनाया एवाख्यानपूर्वकत्वमिति बहुशो निरूपितम् । लोके शब्दसृष्टेरर्थपूर्वकत्वेऽपि वैदिकशब्दानामर्थपूर्वकत्वाभावात् । तदेतत्सर्वं देवताधिकरणे मनोहृत्यालोचनीयम् ।

बेवरोऽप्यन्ते कथयति—'वेदानां निर्माणकालान्वेषणे बलादिदं वक्तव्यमापतति यदेते मन्त्रा अतिप्राचीनाः । पौराणिका इतिहासभूगोलादयोऽतिस्पष्टतयाऽत्र मन्त्रेषु वर्णिताः । ऋक्षु बह्व्चस्तादृश्य ऋचोऽप्युपलभ्यन्ते यासामुत्पत्तिसमयस्थानावस्था अपि ज्ञायन्ते । अतिप्राचीनाभिरृग्भिरिदं विज्ञायते यद् आर्याः सिन्धुनद्यास्तटे निवसन्तो विभिन्नजातिभिर्विभक्ताः परस्परं विरोधिनश्चासन्' इति, तदेतत्सर्वं सारशून्यमेव, सर्वासां कथानामाख्यायिकामात्रत्वेन स्वार्थे तात्पर्याभावस्योक्तत्वात् ।

ब्राह्मणानामपि वेदत्वम्

सामाजिका मन्त्राणामेव वेदत्वमङ्गीकुर्वन्ति, तेषामेव स्वतःप्रामाण्याभ्युपगमात् । परमत्रापि मन्त्राणामेव प्रामाण्यं वक्तव्यं तैः । अमुकामुका मन्त्रा वेदा इत्यपि वेदमन्त्रैरेव साधनीयम् । मन्त्राणां वेदत्वं प्रामाण्यसिद्ध्यायत्तमेव । मन्त्रैर्मन्त्राणां वेदत्वसाधनमपि सङ्गच्छते नान्यथा । स्वप्रामाण्यसिद्धये स्वघटकप्रामाण्योपस्थापने आत्माश्रयदोषोऽपि । यद्यार्षग्रन्थैस्तत्प्रामाण्योपपादनं तदा ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमार्षसूत्रैरुपपाद्यते । तत्तु समानयोगक्षेमम् । सूर्यदृष्टान्तेन स्वस्मिन् स्वस्यैव प्रामाण्योपपादनं तु खण्डितमेव । तथात्वे नास्तिकैरपि तत्प्रामाण्याभ्युपगमापातात् । वेदत्वप्रसिद्धिस्तु मन्त्राणामिव ब्राह्मणानामप्यस्त्येव । बहुविज्ञप्रसिद्धिर्बहुजनप्रसिद्धिरपि सनातनिपक्ष एवास्ते ।

ब्राह्मणानां वेदत्वनिषेधोऽपि प्राप्तावप्राप्तौ वा ? नान्त्यः, अप्राप्तस्य निषेधायोगात् । मन्वादिस्मृतीनामपि वेदत्वनिषेधापत्तेः । नाद्यः, विकल्पासहत्वात् । तथाहि प्रामाणिकी प्राप्तिरप्रामाणिकी वा ? नाद्या, प्रामाणिक-

पर तो घटना ही वेदोक्त आख्यान का अनुवर्तन करती है, यह बात हम अनेकशः कह चुके हैं। लोक में शब्द की सृष्टि अर्थ का अनुसरण करती है, किन्तु वैदिक शब्दों में अर्थपूर्वकता नहीं मानी जाती । ये सब बातें देवताधिकरण में मनलगा कर देखनी चाहिये ।

बेवर ने भी अन्त में यही कहा है कि 'वेदों के निर्माणकाल का अन्वेषण करते समय जबरदस्ती यह कहना ही पड़ता है कि ये मन्त्र अत्यन्त प्राचीन हैं। पौराणिक इतिहास, भूगोल आदि विषय इन मन्त्रों में अतीव स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हैं। ऋचाओं में अनेक ऐसी हैं, जिनसे कि उनकी उत्पत्ति के समय, स्थान और अवस्था का ज्ञान होता है। अतिप्राचीन ऋचाओं से यह ज्ञात होता है कि आर्य सिन्धु नदी के तट पर बसे हुए थे। वे विभिन्न जातियों में बँटे हुए परस्पर लड़ते-झगड़ते थे'। यह सब सारहीन कथन है। ये सारी कथायें कोरी कहानियाँ हैं। इनका स्वार्थ के प्रतिपादन में कोई तात्पर्य नहीं है, यह कहा जा चुका है।

ब्राह्मणग्रन्थ भी वेद हैं

आर्यसमाजी केवल मन्त्रों को ही वेद मानते हैं, क्योंकि ये मन्त्र ही स्वतः प्रमाण हैं। किन्तु यहाँ पर उनको मन्त्रों का भी प्रामाण्य सिद्ध करना पड़ेगा। अमुक-अमुक मन्त्र वेद हैं, यह भी उनको वेद मन्त्रों से ही सिद्ध करना पड़ेगा। मन्त्रों की वेदता प्रामाण्य सिद्धि के अधीन है। मन्त्रों से ही मन्त्रों की वेदता सिद्ध हो सकती है, अन्यथा नहीं। अपने प्रामाण्य की सिद्धि के लिये अपने में से ही प्रमाण खोजना आत्माश्रय दोष कहलाता है। यदि आर्ष ग्रन्थों से उसका प्रामाण्य उपपादित किया जाता है तो ब्राह्मण भाग की भी वेदता ऋषि प्रणीत सूत्रों से उपपादित है। इस प्रकार न केवल मन्त्रों की, ब्राह्मण भाग की भी वेदता समान योग-क्षेम से सिद्ध हो जायगी। सूर्य के दृष्टान्त से अपने से अपने में प्रामाण्य के उपपादन का पहले खण्डन किया जा चुका है। इसके उपरान्त भी यदि यह मान लिया जाय तो नास्तिक जन उसको क्यों नहीं प्रमाण मान लेते। मन्त्रों के समान ब्राह्मण भाग भी वेद नाम से प्रसिद्ध ही है। अनेक विद्वानों की और अनेक जनसमुदाय की प्रसिद्धि भी सनातनी के पक्ष में ही है।

ब्राह्मणों में वेदत्व का निषेध आप करते हैं। ब्राह्मणों में वेदत्व कहीं से प्राप्त है, इसलिए आप उसका निषेध कहते हैं, या बिना ही प्राप्त हुए ? इसमें अन्तिम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि बिना प्राप्ति के निषेध नहीं बनता। ऐसा मानने पर मनुस्मृति आदि में भी वेदत्व का निषेध क्यों न माना जाय ? पहला पक्ष भी इसलिये ठीक नहीं है कि आगे दिये गये विकल्प का वहाँ पर कोई

प्राप्तेर्निषेधासम्भवात् । न च व्यवहारात्प्राप्तिः, व्यवहारस्यानादित्वे तद्बाधायोगात् । सादित्वे कदारभ्य व्यवहारः प्रवृत्त इति वक्तव्यम् ? यत्तु यज्ञकालादारभ्येति, तदपि तुच्छम्, वैदिकस्य यज्ञस्य वेदवदेवानादित्वोपपत्तेः । यत्तु 'कात्यायनादिभिरयं व्यवहारः प्रवर्तितः' इति, तदपि तुच्छम्, ऋगादिसंज्ञावद् वेदसंज्ञाया अप्यनादित्वात् । सूत्रैस्तद्बोधनमेव कृतम्, न नवीनसंज्ञाविधानं कृतम् ।

'विधिशब्दाश्च' (मी० सू० १।२।५३) इदं मन्त्रलिङ्गाधिकरणस्यान्तिमं सिद्धान्तसूत्रम् । कर्मकाले उच्चारणमात्रादविवक्षितार्था एव मन्त्रा अदृष्टद्वारा क्रत्वङ्गतामुपगच्छन्ति, अनुष्ठेयार्थप्रकाशनद्वारा वेति संशये सिद्धान्तः—मन्त्रव्याख्यानाय प्रवृत्तवाक्यशेषरूपाद् अर्थवादादविवक्षितार्था एव मन्त्राः । यथाग्निहोत्रप्रकरणे महोपस्थाने 'अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वया' (वा० सं० २।२७)इति मन्त्रे 'शतं हिमाः' इदं वाक्यमस्ति । ब्राह्मणेन हिमा इति दुरवबोधपदव्याख्यानं 'शतं हिमा इत्याह शतं त्वा हेमन्तानिन्धिषोयेति वा वैतदाह(तै० सं० १।५।८।५)इत्यर्थवादद्वारा कृतम् । यदि मन्त्रोऽविवक्षितार्थः स्यात्, तदा विधिशब्दद्वारा तद्व्याख्यानमसंगतमेव स्यात् । अत्र ब्राह्मणस्य शब्दपदेन निर्देशाद् वेदत्वं सिद्धयति, 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' (ब्र० सू० २।१।२७), 'धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्षं स्यात्' (मी० सू० १।३।१) इत्यादौ शब्दपदस्य वेदपरत्वदर्शनात् ।

'नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात्' (मी० सू० ३।७।३६) अत्र 'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति' इत्युक्त्वा 'अग्नीध्रेऽग्रे दक्षिणां ददाति ततो ब्रह्मणे' इत्यादिश्रुतिद्वारा दक्षिणया सार्धं तत्तदृत्विजां नामनिर्देशः । अत्र सूत्रे उदाहरणभूते ब्राह्मणवाक्ये श्रुतिशब्दप्रयोगादपि ब्राह्मणस्य श्रुतित्वं सिद्धयति । 'विरोधे च श्रुतिविरोधादव्यक्तः शेषः (मी० सू० ३।८।३२) 'समावप्रच्छिन्नाग्रौ दर्भौ प्रादेशमात्रौ पवित्रे करोति', तथा 'अरत्निमात्रे विधृती करोति' इति ।

उत्तर नहीं है। जैसे कि ब्राह्मणों में वेदत्व की प्राप्ति प्रामाणिक है, या अप्रामाणिक ? पहला पक्ष इसलिये नहीं बन सकता कि यदि वेदत्व की प्राप्ति प्रामाणिक है, तो उसका निषेध नहीं हो सकता। व्यवहार से इसकी प्राप्ति है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि यदि व्यवहार अनादि है, तो उसका बाध नहीं होगा। यदि वह सादि है, तो यह बताना पड़ेगा कि वह कब से प्रारम्भ हुआ। यज्ञों के आरम्भ के साथ इसका आरम्भ हुआ, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वैदिक यज्ञ वेद के ही समान अनादि हैं। कात्यायन प्रभृति ने इस व्यवहार को प्रवृत्त किया, यह कथन भी सारहीन है, क्योंकि ऋग् आदि संज्ञा के समान वेद संज्ञा भी अनादि है, अतः सूत्र केवल उसका ज्ञान कराते हैं, नयी संज्ञा नहीं बनाते।

'विधिशब्दाश्च' यह मन्त्रलिङ्गाधिकरण का अन्तिम सिद्धान्त सूत्र है। यज्ञ करते समय मन्त्र बिना अर्थ की विवक्षा के केवल उच्चारण मात्र से यज्ञ के अंग होते हैं, या वे अनुष्ठेय अर्थ का प्रकाशन भी साथ में करते हैं ? इस संशय के उपस्थित होने पर सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि वाक्यशेष के रूप में मन्त्र का व्याख्यान करने के लिये अर्थवाद वाक्यों की प्रवृत्ति होती है, अतः मन्त्र अविवक्षितार्थ ही हैं। जैसे कि अग्निहोत्र प्रकरण में महोपस्थान में 'अग्ने गृहपते' इस मन्त्र में 'शतं हिमा' यह वाक्य है। यहाँ पर ब्राह्मण ने 'हिमा' इस दुरवबोध पद का अर्थ किया है—'शतं हिमा' का यह अर्थ है कि तुमको मैं सौ वर्ष तक प्रज्वलित रक्खूँ यह अर्थवाद वाक्य ही है। यदि मन्त्र विवक्षितार्थ होता, तो विधि शब्द के द्वारा उसकी व्याख्या करना असंगत होता। यहाँ पर ब्राह्मण का शब्द पद से निर्देश होने से वेदत्व सिद्ध होता है। 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्', 'धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्षं स्यात्' इत्यादि सूत्रों में शब्द पद का अर्थ वेद है।

'नियमास्तु०' इस मीमांसा सूत्र में 'ऋत्विग् को दक्षिणा देता है' ऐसा कहकर 'पहले अग्नीध्र को दक्षिणा देता है, उसके बाद ब्रह्मा को' इस श्रुति के द्वारा दक्षिणा के साथ उन उन ऋत्विग् जनों का नाम निर्दिष्ट है। इस सूत्र के उदाहरणभूत वाक्य में श्रुति शब्द का प्रयोग होने से ब्राह्मण भी वेद है, यह सिद्ध होता है। 'अविरोधे च०' इस सूत्र में 'समान आकार के और जिनके अग्रभाग कटे नहीं हैं, ऐसे प्रादेशमात्र दो दर्भों के दो पवित्र बनाता हैं', तथा 'अरत्निमात्र आकार के दो विधृति बनाता है' इन श्रुति

तत्र संशयः—वेदिस्तरणार्थाद्बर्हिषो विघृती पवित्रे कर्तव्ये उतान्यत इति। प्रकृतत्वाद् बर्हिष इति प्राप्ते पूर्वोक्तसूत्रद्वारा सिद्धान्त उक्तः। यथाविहितसंस्कारसंस्कृतकुशानां स्तरणादन्यत्र निषेधाद् विघृतयोऽव्यक्ताः संस्कारधर्मरहिता एव स्युरिति। कुतः ? संस्कृतकुशानां विघृतिषु विनियोगे बर्हिषा वेदिं स्तृणातीति श्रुतिविरोधात्। अत्र 'बर्हिषा वेदिं स्तृणाति' इति वचनस्य श्रुतित्वमुक्तम्।

'अविशेषात्तु शास्त्रस्य यथाश्रुतिफलानि स्युः' (मी० सू० ४।१।४) अनीक्षणसङ्कल्पस्य प्रजापतिव्रतत्वेन पुरुषार्थत्वे निश्चिते 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन' (म० ४।३७) इति शास्त्रवदेव 'समिधो यजति' (शा० ब्रा० ३।४) इत्यादीन्यपि शास्त्राणीति तेषामपि पुरुषार्थत्वेऽर्थवादश्रुतफलानि तत्फलानि स्युः। अत्र सूत्रेऽर्थवादस्य श्रुतित्वमुक्तम्।

'पृथक्त्वे त्वभिधानयोर्निवेशः श्रुतितोव्यपदेशाच्च (तत्पुनर्मुख्यलक्षणं यत् फलवत्त्वं) तत्सन्निधावसंयुक्तं तदङ्गं स्यात्, भागित्वात् करणस्याश्रुतेश्चान्यसम्बन्धः' (मी० सू० ४।४।३३)। दर्शपूर्णमासयोर्यावन्तो यागा विहितास्ते सर्वे प्रधानभूता अथवा तेषु केचिदङ्गभूता इति संशये सिद्धान्तपक्षदार्ढ्यायोक्तम्—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति श्रुतिद्वारा दर्शपूर्णमासाभ्यामिति द्विवचनेन त्रिकद्वयस्यानिर्देशेन स्वर्गफलसम्बन्धोक्तेः फलसम्बन्धित्वेन श्रूयमाणत्वं प्रधानत्वमिति लक्षणानुरोधेन द्वयोस्त्रिकयोरेव प्राधान्यं ज्ञायते। तत्सन्निधौ पठिताः फलासम्बन्धाः पञ्च प्रयाजास्त्रयोऽनुयाजाः प्रधानस्याङ्गभूताः। तत्र भाव्याकाङ्क्षायां प्रधानं भावयेदिति प्रधानभावनया पूरणम्। अत्र दर्शपूर्णमासाभ्यामिति ब्राह्मणवाक्ये श्रुतिशब्दप्रयोगाद् ब्राह्मणस्य वेदत्वं सिद्ध्यति।'

'कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद् विधिः कार्त्स्न्येन गम्येत' (मी० सू० ६।१।५) इति सूत्रेण—'दर्शपूर्णमासाभ्यां वा यजेत' (श० २।४।३।१३) इत्यादिविधिभिर्विहितानां कर्मणामधिकारोऽन्धादीनामङ्गविकलानां सर्वेषामथवाऽनुष्ठान-

वाक्यों के विषय में संशय उठता है कि वेदि पर बिछाने के लिये आई हुई कुशा से पवित्र और विघृति बनाना चाहिये, अथवा अन्य से। प्रकृत होने से यहाँ कुशा का ही ग्रहण होना चाहिये। पूर्वोक्त सूत्र में सिद्धान्त कहा गया है। विधि के अनुसार संस्कार से संस्कृत कुशाओं का आस्तरण के सिवाय अन्यत्र निषेध होने से विघृतियाँ अव्यक्त अर्थात् संस्कार से रहित ही रहेगी, क्योंकि संस्कृत कुशाओं का यदि विघृति में विनियोग होगा तो 'बर्हि से वेदि को ढकता है' इस श्रुति का विरोध होगा। यहाँ पर इस वचन को श्रुति शब्द से अभिहित किया गया है।

'अविशेषात्तु०' यह मीमांसा सूत्र है। अनीक्षण संकल्प की प्रजापति व्रत के रूप में पुरुषार्थता निश्चित हो जाने पर 'उदय होते हुए सूर्य को न देखे और न अस्त होते हुए को ही' इस मनु के वचन के समान ही 'समिधा से हवन करता है' इत्यादि शास्त्र वचनों की पुरुषार्थता की खोज में अर्थवाद श्रुति से अवगत फल उपस्थित होंगे। इस प्रकार इस सूत्र में अर्थवाद वाक्यों को श्रुति के अन्तर्गत माना है।

'पृथक्त्वे०' यह भी मीमांसा सूत्र है। यहाँ पर दर्श-पूर्णमास के प्रकरण में जितने याग विहित हैं, वे सब प्रधानभूत हैं, या इनमें से कुछ अंगभूत भी हैं ? इस प्रकार के संशय के उठने पर सिद्धान्त पक्ष की दृढ़ता के लिये कहा गया है कि 'दर्शपूर्णमास याग से स्वर्ग की कामना वाला यजन करे'। इस श्रुति के द्वारा द्विवचन से दो त्रिकों के निर्देश होने से स्वर्गफल का सम्बन्ध बताया गया है। फल सम्बन्ध से जो सुना गया हो वह प्रधान होता है, इस लक्षण के अनुसार दो त्रिक का ही प्राधान्य ज्ञात होगा। उसके साथ पठित फल से असम्बद्ध पांच प्रयाज और तीन अनुयाज प्रधान के अंगभूत होंगे। इनमें भाव्य की आकांक्षा में प्रधान की भावना से उसकी पूर्ति की जाती है। यहाँ पर भी 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्०' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य में श्रुति शब्द का प्रयोग किया गया हैं, इस लिये तदनुसार ब्राह्मणभाग भी वेद है।

'कर्तुर्वा०' इत्यादि मीमांसा सूत्र में अथवा 'दर्शपूर्णमास से यजन करे' इत्यादि विधिवाक्यों से विहित कर्मों में अंग विकल अन्ध आदि सभी का अधिकार है, अथवा अनुष्ठान में समर्थ अंग वैकल्य से रहित समस्त अंग वाले मनुष्यों का, इस संशय की अवस्था

समर्थानामङ्गवैकल्यरहितानां समस्ताङ्गानां वेति संशये सूत्रमिदं सिद्धान्तयति यत् समस्ताङ्गसहितस्य प्रधानानुष्ठानसमर्थस्यैवाधिकारः। फलवोधकविधिवाक्यस्येदमेव तात्पर्यं यत्समस्तेतिकर्तव्यताविशिष्टस्य प्रधानस्यानुष्ठानेनैव परमापूर्वं सम्पद्यते । परमापूर्वेणैव तत्फलोत्पत्तिः । अत्र ब्राह्मणवाक्यानां श्रुतिपदेन निर्देशात् तेषां श्रुतित्वं सिद्धयति ।

'अशब्दमपीति चेत्' (मी० सू० ६।३।२९) अग्नीषोमीयपशौ खादिरयूपो पलाशयूपश्च विकल्पेन विहितौ । यत्र प्रयोगे खादिरयूपस्य ग्रहणं कृतम्, पश्चाद् यूपः कथञ्चिन्नश्येत् तदा किं खादिरयूप एव तत्सदृशो ग्राह्यः पालाशो वेत्येवं संशये सिद्धान्तितम्—यत्र प्रयोगे वैकल्पिकद्रव्येषु यद् द्रव्यं गृहीतं तन्नाशे तत्सदृशमेवान्यद् ग्राह्यम् । अतः खादिर एव यूपो ग्राह्यस्तत्सदृशः। तत्र पुनराशङ्कितम्—पूर्वयूपद्रव्यसदृशं यद् द्रव्यान्तरं गृहीतं तदशब्दम्, अर्थाद् वैदिकशब्दप्रमाणैरविहितम् । अत्र पूर्वपक्षसूत्रे विधिवाक्यानां शब्दपदेन ग्रहणं कृतम् ।

'यथाश्रुतीति चेत्' (मी० सू० ६।४।१९), 'यस्योभयं हविरार्तिमार्छति, ऐन्द्रं पञ्च शरावमोदनं निर्वपेत्' (तै० ब्रा० ३।७।१।८) इत्येवं श्रुतम् । अयं पञ्चशरावोदनः सायङ्कालिकप्रातःकालिकोभयहविषां नाशे विहितः कस्यचिदेकस्य वा विनाशे विहित इति संशये यथाश्रुति कर्तव्यम्, अर्थाद् उभयनाशे सत्येवेति पूर्वपक्षः । तत्र ब्राह्मणवाक्यं श्रुतिपदेनोक्तम् ।

'आदेशार्थेतरश्रुतिः' (मी० सू० ६।५।२५) । 'यदि सत्राय दीक्षिताः साम्युत्तिष्ठेरन् सोमं विभज्य विश्वजिता यजेत' इत्येवं श्रुतम् । यदि सत्रे प्रवृत्ताः सत्रस्यैकदेशमनुष्ठायावशिष्टांशं परित्यज्य जिगमिषन्ति तदा सोमं विभज्य तेन सोमेन विश्वजिद्यागं कुर्यात् । अत्रेयं जिज्ञासा भवति सोमक्रयणानन्तरं जिगजिषायां विश्वजिद्यागानुष्ठानं

में सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि समस्त अंग वाले प्रधान कर्म के अनुष्ठान में समर्थ का ही इनमें अधिकार है । फलबोधक विधिवाक्य का यही तात्पर्य है कि समस्त इतिकर्तव्यता से युक्त प्रधान के अनुष्ठान से ही परम अपूर्व की उत्पत्ति होती है । परम अपूर्व से ही उसके फल की उत्पत्ति होती है । यहाँ पर भी ब्राह्मण वाक्य को श्रुतिपद से सम्बोधित किया गया है, अतः वे भी वेद हैं ।

'अशब्दमपीति चेत्' यह भी मीमांसासूत्र है । अग्निषोमीय पशु के लिये खदिर और पलाश का यूप विकल्प से विहित है । जिस प्रयोग में खदिर यूप बनाया गया है, किन्तु बाद में यह यूप किसी प्रकार नष्ट हो जाय तो ऐसी अवस्था में पहले की ही तरह खादिर यूप ही बनाया जाय, अथवा वह पलाश का भी बनाया जा सकता है ? इस संशय के उठने पर सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि जिस प्रयोग में वैकल्पिक द्रव्यों में जिस द्रव्य का पहले ग्रहण किया गया है, उसके नाश होने पर उसी के समान दूसरा द्रव्य लेना चाहिये । इस लिये उक्त प्रसंग में खादिर यूप ही ग्रहण करना चाहिये, पालाश नहीं । यहाँ पर पुनः शंका उठाई गई है कि पूर्व यूप के समान जो दूसरा यूप लिया गया है, उसमें कोई वैदिक शब्द प्रमाण रूप में नहीं मिलता । यहाँ पर पूर्वपक्ष सूत्र में विधि वाक्यों का शब्दपद से ग्रहण किया गया है ।

'यथाश्रुतीति चेत्' इस मीमांसा सूत्र में विचार किया गया है कि 'जिसकी दोनों समय की हवि आपत्ति में पड़ जाती है, वह इन्द्र देवता के लिये पंच शराव ओदन अर्पित करे' इस वाक्य में विहित पञ्च शराव ओदन सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय की हवि के नष्ट हो जाने पर विहित है, या किसी एक समय की हवि के नष्ट होने पर ? ऐसी संशय की अवस्था में श्रुति जैसा कहती है, वही करना चाहिये । अर्थात् दोनों समय की हवि के नाश होने पर यह करना चाहिये, ऐसा पूर्वपक्ष है । यहाँ पर ब्राह्मण वाक्य श्रुतिपद से अभिहित है ।

'आदेशार्थेतरश्रुतिः' इस मीमांसा सूत्र में 'यदि सत्राय०' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य के विषय में विचार किया गया है कि यदि किसी सत्र में लगे हुए ऋत्विक् सत्र के एक अंश का अनुष्ठान कर अवशिष्ट अंश को छोड़कर जाने लगे, तब सोम का विभाग कर उससे विश्वजित् याग का अनुष्ठान करे । यहाँ पर जिज्ञासा उठती है कि सोम की खरीद हो जाने पर ऋत्विक् जाना चाहे तब विश्वजित्

ततः पूर्वमपि वा? तत्र सिद्धान्तं स्थापयते—सोमं विभज्य विश्वजिता यजेतेति श्रुतिः केवलमादेशार्था, अर्थाल्लोकप्रसिद्धस्वीयांशविभागानुवादिका। अत्र सोमं विभज्येतीदं ब्राह्मणवचनं श्रुतिपदेन निर्दिष्टम्।

'माघी वैकाष्टकाश्रुतेः' (मी० सू० ६।५।३०)। अत्र चतुरहे पुरस्तात् पौर्णमास्यां दीक्षेरन् तेषामेकाष्टकायां क्रमः सम्पद्यते एवं श्रूयते। अत्र का पौर्णमासी ग्राह्येति संशये पूर्वोक्तसूत्रद्वारा माघी पूर्णिमा ग्राह्येति सिद्धान्तः। तेषामेकाष्टकायां क्रयः सम्पद्यते। इदं ब्राह्मणवाक्यं जैमिनिना श्रुतिशब्देन संस्मृतम्, तेनापि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमायाति।

'विभागश्रुतेः प्रायश्चित्तं यौगपद्येन विद्यते' (मी० सू० ६।५।४६) इति सूत्रे ज्योतिष्टोमे प्रातःसवनसमये बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणा ऋत्विजः परस्परं कच्छमवलम्बमानाः शालातो बहिर्निर्गच्छन्ति। यदि प्रमादादुद्गाता प्रस्तोता चापच्छिद्येत तदा प्रायश्चित्तं विधीयते। यदि प्रतिहर्ताऽपच्छिन्द्यात् तस्मिन्नेव सर्ववेदसं दद्यादिति। अत्र श्रुतिपरित्यागेनान्यतरकर्तृकापच्छेदे उभयकर्तृकापच्छेदे वा प्रायश्चित्तमिति संशये पूर्वपक्षोपस्थापने पूर्वसूत्रेण प्रायश्चित्तविधायकवाक्यं श्रुतिशब्देनाभिहितम्। एतेनापि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमेव निष्पद्यते।

'विधौ तु वेदसंयोगादुपदेशः स्यात्' (मी० सू० ६।७।२८)। 'तदु ह स्माहापि वर्कुर्वार्ष्णो माषान्मे पचत' (श० १।१।१।१०) इति ब्राह्मणवाक्यस्यार्थवादत्वसाधनप्रसङ्गे पक्षान्तरमुपस्थापयताऽस्य वाक्यस्य स्पष्टमेव वेदत्वमुक्तम्। विधौ त्वभ्युपगम्यमाने वेदसंयोगादुपदेशः स्यात्। 'न श्रुतिविप्रतिषेधात्' (मी० सू० ६।८।१५) उपनयनहोमो लौकिकेऽग्नौ स्यादिति विचारप्रसङ्गे 'स्नात्वोद्वहेत्' इति ब्राह्मणवाक्यं श्रुतिपदेनोक्तम्।

'अपि वा सत्रकर्मणि गुणार्थैषा श्रुतिः स्यात्' (मी० सू० ७।३।५)। अत्र प्रायणीय इति नामधेयो धर्मान्नातिदिशतीति साधयता द्वादशाहे प्रथममहः प्रायणीय इति ब्राह्मणवाक्यं श्रुतिशब्देनोद्धृतम्। प्रकृतिभूतेषु सर्वकर्मसु गुणविधात्रीयं श्रुतिः।

याग का अनुष्ठान किया जाय, अथवा उससे पहले भी ? ऐसी अवस्था में सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि यह श्रुति केवल आदेश के लिये है, अर्थात् लोकप्रसिद्ध अपने अंश के विभाग का केवल अनुवाद करती है। यहाँ पर उक्त ब्राह्मण वचन श्रुतिपद से निर्दिष्ट है।

'माघी वैकाष्टकाश्रुतेः' इस मीमांसा सूत्र में 'पूर्णमासी के चार दिन पहले जो दीक्षित हो, उनका एकाष्टका में क्रय किया जाता है' इस वाक्य में कौन सी पूर्णमासी अभिप्रेत है ? इस सशय के उठने पर माघी पूर्णिमा का विधान किया गया है। उक्त ब्राह्मण वाक्य को जैमिनि ने श्रुति शब्द से अभिदिष्ट किया है। इससे भी ब्राह्मण भाग वेद है, यह सिद्ध होता है।

'विभागश्रुतेः' इत्यादि मीमांसा सूत्र में बताया गया है कि 'ज्योतिष्टोम याग में प्रातः सवन वेला में बहिष्पवमान से स्तुति करते हुए ऋत्विक् परस्पर कच्छ पकड़े हुए जब शाला से बाहर निकलते हैं, उस समय यदि प्रमाद से उद्गाता और प्रस्तोता उसमें छूट जाय तो प्रायश्चित करना चाहिये। यदि प्रतिहर्ता छूट जाय तो उसीमें सर्ववेदस् आहुति दे' इस वाक्य में जो सुना गया है, उसको छोड़ देने पर एक के न रहने पर प्रायश्चित्त किया जाय, या दोनों के न रहने पर ? इस संशय की अवस्था में पूर्वपक्ष को उपस्थित करते समय पूर्वसूत्र में प्रायश्चित्त का विधायक यह वाक्य श्रुति शब्द से अभिहित है। इससे भी ब्राह्मणभाग वेद है, यह सिद्ध होता है।

'विधौ तु०' इत्यादि मीमांसा सूत्र में 'तदु ह स्माहापि०' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य की अर्थवादकता के साधन के प्रसंग में पक्षान्तर को उपस्थापित करते हुए इस वाक्य को स्पष्ट ही वेद माना गया है। यहां पर विधि मानने पर वेद के संयोग से उपदेश मानना पड़ेगा। इसी तरह 'न श्रुतिविप्रतिषेधात्' इस सूत्र में उपनयन होम लौकिक अग्नि में होना चाहिये, इस विचार के प्रसंग में 'स्नात्वोद्वहेत्' इस ब्राह्मण वाक्य को श्रुतिपद से कहा गया है।

'अपि वा सत्रकर्मणि' इस सूत्र में विचार किया गया है कि 'प्रायणीय' यह नामधेय धर्मों का अतिदेश नहीं करता। इस प्रसंग में 'द्वादशाह में प्रथम दिन प्रायणीय है' यह ब्राह्मण वाक्य श्रुति शब्द से उद्धृत है। प्रकृतिभूत सभी कर्मों में यह श्रुति गुण का विधान करती है।

'तस्मिश्च श्रपणश्रुतेः' (मी० सू० ८।१।३५) 'प्राजापत्यं शतकृष्णलं चरुं निर्वपेत्' इत्येवं श्रुतम् । अत्र सुवर्णशकलरूपेषु कृष्णलेष्वाज्यधर्मोऽनुष्ठेय ओषधिधर्मो वेति संशये पूर्वोक्तसूत्रद्वारा आज्यं श्रपयतीति ब्राह्मणवाक्यद्वारा ओषधिधर्म एवानुष्ठेय इति सिद्धान्तितम् । तदर्थमाज्यं श्रपयतीति वाक्यं श्रुतिपदेनोद्धृतम् ।

'न लौकिकानामाचारग्रहणत्वाच्छब्दवतां चान्यार्थाभिधानात्', (मी० सू० ८।४।६) । दर्विहोमः कर्मनामधेयो न गुणविधिरित्यस्य सिद्धान्तस्य स्थैर्याय शब्दपदेन 'जुह्वा नारिष्टान् जुहोति', 'स्रुवेण जुहोति' (श० ३।१।४।२) इत्यादि ब्राह्मणवाक्यं शब्दपदेनोदाहृतम् । शब्दपदेन वेद एव गृह्यत इति न विस्मरणीयम् ।

'शब्दसामर्थ्याच्च' (मी० सू० ८।४।१९) अत्र दर्विहोमोऽपूर्वं कर्मेति निश्चयप्रसङ्गे 'नारिष्टान् जुहोति', 'अग्निहोत्रं जुहोति' (श० १।७।१।१०) इत्यादिवाक्यं शब्दपदेनोदाहृतम् ।

'तृचे स्याच्छ्रुतिनिर्देशात्' (मी० सू० ९।२।१४) अत्र प्रत्यृचं सामसमाप्तिः स्यादिति सिद्धान्तपक्षवैपरीत्येनोक्तसूत्रद्वारैकस्य साम्नो विभागपूर्वकं तिसृणामृचां समाप्तिः स्यादिति साधनाय 'एकं साम तृचे क्रियते' इति ब्राह्मणवाक्यं श्रुतिपदेन निर्दिष्टम् । 'अभ्यासे नेतरा श्रुतिः' (मी० सू० ९।२।२०) इति सूत्रेण 'तिसृषु गायति' इति ब्राह्मणवाक्यं श्रुतिशब्देन निर्दिश्य सम्पूर्णसामगानाभ्यासेनेयं श्रुतिरुपपन्नेत्युक्तम् ।

'शङ्कते च निवृत्तेरुभयत्वं हि श्रूयते' (मी० सू० १०।३।३३) अत्र पुनरग्न्याधाने दक्षिणा निर्वर्तत इति विचारप्रसङ्गे 'तद् यद् वैकृतीर्ददाति दक्षिणा उभय्योऽपि तेन दक्षिणाः प्रत्ता भवन्ति' इति ब्राह्मणवाक्यं श्रूयत इतिपदेन स्मार्यते जैमिनिना । 'अपि वा श्रुतिमूलत्वात् सर्वासां तस्य भागो नियम्येत' (मी० सू० १०।३।७५) अत्राध्वर्यवे यजुर्युक्तो रथोऽवश्यं देय इति निश्चयाय पूर्वोक्तसूत्रेण 'सप्तदश रथाः सप्तदश निष्काः सप्तदश दास्यो दक्षिणाः' इति ब्राह्मणवाक्यं श्रुतिपदेन निर्दिष्टम् ।

'तस्मिश्च श्रपणश्रुतेः' इस सूत्र में 'प्राजापत्यं' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति पर विचार किया गया है। यहां पर सुवर्ण के टुकड़ों में, जो कि 'कृष्णल' कहलाते हैं, आज्य धर्म का अनुष्ठान विहित है, अथवा ओषधि धर्म का ? इस संशय में पूर्वोक्त सूत्र द्वारा आज्य श्रपण का विधान होने से यहां पर ओषधि धर्म का अनुष्ठान करना चाहिये, यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है। इस प्रकार यहां पर भी ब्राह्मण वाक्य ही श्रुति पद से उद्धृत है।

'न लौकिकाना०' इत्यादि मीमांसा सूत्र में दर्विहोम कर्म का नाम है, गुणविधि नहीं, इस सिद्धान्त की स्थिरता के लिये जुह्वा, स्रुवेण इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों का शब्द पद से निर्देश किया गया है। शब्द पद से वेद ही गृहीत होता है, यह नहीं भूलना चाहिये।

'शब्दसामर्थ्याच्च' इस सूत्र में भी दर्विहोम एक अपूर्व कर्म है, ऐसा निश्चय करते समय 'नारिष्टान् जुहोति', 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य 'शब्द' पद से उदाहृत हैं।

'तृचे स्याच्छ्रुतिनिर्देशात्' यहां पर प्रत्येक ऋचा में साम की समाप्ति होगी, इस सिद्धान्त पक्ष के विपरीत तीन ऋचाओं में जाकर एक साम की समाप्ति होगी, इस बात को सिद्ध करने के लिये 'एक साम तृच से किया जाता है' यह ब्राह्मण वाक्य श्रुति पद से निर्दिष्ट है। इसी प्रकार 'अभ्यासे नेतरा श्रुतिः।' इस सिद्धान्त सूत्र में 'तिसृषु गायति' इस ब्राह्मण वाक्य को श्रुतिपद से निर्दिष्ट कर बताया गया है कि सम्पूर्ण साम के गान के अभ्यास द्वारा ही यह श्रुति सार्थक हो सकती है।

'शङ्कते च०' इस सूत्र में अग्नि के आधान से दक्षिणा संपन्न हो जाती है, इस विचार के अवसर पर 'तद् यद्वै' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य को ही जैमिनि श्रुति पद से स्मरण कराते हैं। इसी तरह 'अपि वा०' इत्यादि सूत्र में भी अध्वर्यु को यजुः से युक्त रथ अवश्य देना चाहिये, ऐसा निश्चय करते समय 'सप्तदश रथाः०' यह ब्राह्मण वाक्य श्रुति पद से निर्दिष्ट है।

'प्राकृतस्य गुणश्रुतौ सगुणेनाभिधानं स्यात्' (मी० सू० १०।४।२६) अत्र पावकत्वगुणयुक्त एवाग्निराधानेऽभिहित इति साधनाय 'अग्नये पावकायाष्टाकपालम्' इति ब्राह्मणवाक्यं श्रुतित्वेनोपात्तम्। 'आरम्भसमवायाद्वा चोदितेनाभिधानं स्यादर्थस्य श्रुतिसमवायित्वादवचने च गुणशासनमनर्थकं स्यात्'(मी० सू० १०।४।२८) पूर्वोक्तविचारप्रसङ्ग एव ब्राह्मणभागीयानि विविवचनानि श्रुतित्वेनोपन्यस्तानि।

'उभयपानात् पृषदाज्ये दध्नोऽप्युपलक्षणं निगमेषु पातव्यस्योपलक्षणत्वात्' (मी० सू० १०।४।५१), 'दध्नस्तु गुणभूतत्वादाज्यपा निगमाः स्युर्गुणत्वं श्रुतेराज्यप्रधानत्वात्' (मी० सू० १०।४।५५)। चातुर्मास्ये आज्यशब्दस्याविकारेण प्राधान्यं भवतीति विचारप्रसङ्गे द्वाभ्यां सूत्राभ्यां 'देवाँ आज्यपाँ आवह' (श० २।६।१।२२) इति मन्त्रो निगमशब्देनोक्तः। एतावता सत्यार्थप्रकाशे सप्तमसमुल्लासे यदुक्तम्—'इत्यपि निगमो भवतीति ब्राह्मणम्' (नि० ५।३।४) इत्युद्धरणेन ब्राह्मणभाग एव निगमशब्दप्रयोगो भवति' इति, तदपास्तम्, पूर्वोक्तसूत्राभ्यां मन्त्रे निगमपदप्रयोगदर्शनात्। वस्तुतस्तु—'इत्यपि निगमो भवतीति ब्राह्मणम्' (नि० ५।३।४) इति पाठ एव नोपलभ्यते, किन्तु तत्र—'इत्यपि निगमो भवति' इत्येव पाठः। यदि निरुक्ते ब्राह्मणमुद्धृत्य 'इत्यपि निगमो भवति' इति पाठः स्यात्, तदैव तत्सिद्धयेत्। वस्तुतस्तु वेदनिगमशब्दौ पर्यायवाचकौ।

यदपि स्वामिदयानन्देनोक्तम्—'संहितापुस्तके आरम्भेऽन्ते च वेदशब्दः सनातनकालाल्लिख्यते, ब्राह्मणपुस्तकेष्वादावन्ते च तथा न लिख्यते' इति, तदपि निःसारम्, पूर्वोक्तजैमिन्यादिसूत्रैर्ब्राह्मणेषु वेद श्रुति-शब्दादिप्रयोगदर्शनात्। दयानन्देन मन्त्रभागेषु वेदपदप्रयोगे किञ्चिदेकमपि प्रमाणं नोपन्यस्तम्। दयानन्दीयमुद्रणालयेष्वेव संहितापुस्तकेष्वादावन्ते च वेदशब्दोल्लेखो नान्यत्र। तथैव 'मोतीलाल वनारसीदास'-द्वारा प्रकाशिते शतपथब्राह्मणे श्रीशुक्लयजुर्वेदशतपथब्राह्मणमिति ब्राह्मणपुस्तकेष्वपि वेदशब्दोल्लेखो दृश्यत एव। बेवरद्वारा बर्लिन (जर्मनी) नगरे सन् १८५५ प्रकाशिते शतपथब्राह्मणेऽपि श्रीशुक्लयजुर्वेदशतपथब्राह्मणम्। चौखम्भासंस्कृतसीरीजवाराणसीतः (१९३६) प्रकाशिते

'प्राकृतस्य०' इस सूत्र में पावकत्व गुण से युक्त अग्नि ही आधान में विहित है, इसकी सिद्धि के लिये 'अग्नये पावका०' इत्यादि ब्राह्मणवाक्य श्रुति पद से उपात्त है। इसी तरह 'आरम्भसमवायाद्वा' इत्यादि सूत्र में भी पूर्वोक्त विचार के अवसर पर ही ब्राह्मण भाग के अनेक वचन श्रुति पद से उपन्यस्त हैं।

'उभयपानात्०' तथा 'दध्नस्तु०' इन दो सूत्रों में चातुर्मास्य में आज्य शब्द की प्रधानता का निश्चय करने के प्रसंग में 'देवाँ आज्यपाँ आवह' इस मन्त्र को निगम शब्द से वोधित किया है। इससे सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में 'इत्यपि निगमो भवतीति ब्राह्मणम्' इस निरुक्त के वचन को उद्धृत करके यह जो सिद्ध किया गया है कि ब्राह्मण भाग के लिये ही निगम शब्द प्रयुक्त है, वह खण्डित हो जाता है, क्योंकि उक्त दोनों सूत्रों में मन्त्र के लिये निगम शब्द प्रयुक्त है। वास्तव में निरुक्त में उक्त पाठ उपलब्ध ही नहीं होता, 'इत्यपि निगमो भवति' यही पाठ वहां का है। यदि निरुक्त में ब्राह्मण को उद्धृत करके उक्त वात कही गई होती, तभी उनकी वात सिद्ध हो सकती थी। यथार्थतः वेद और निगम ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं।

स्वामी दयानन्द ने यह भी लिखा है कि 'संहिता पुस्तक के आदि और अन्त में सनातन काल से वेद शब्द लिखा जाता है, ब्राह्मण पुस्तकों के आदि और अन्त में ऐसा नहीं देखा जाता', यह उक्ति भी लचर है, क्योंकि ऊपर उद्धृत किये गये जैमिनि प्रभृति के सूत्रों में ब्राह्मणों के लिये वेद, श्रुति आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। दयानन्द ने मन्त्रभाग के लिये ही वेद शब्द प्रयुक्त किया है, यहां पर कोई प्रमाण नहीं दिया है। दयानन्दीय मुद्रणालयों में ही संहिता की पुस्तकों में आदि और अन्त में वेद शब्द का उल्लेख है, अन्यत्र नहीं। मोतीलाल वनारसीदास के द्वारा प्रकाशित शतपथ ब्राह्मण में 'श्रीशुक्लयजुर्वेदशतपथब्राह्मणम्' इस तरह ब्राह्मण पुस्तक में भी वेद शब्द का उल्लेख देखा जाता है। बेवर के द्वारा जर्मनी के बर्लिन नगर से सन् १८५५ में प्रकाशित शतपथब्राह्मण की पुस्तक में भी 'श्रीशुक्लयजुर्वेदशतपथब्राह्मण' छपा है। चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी से सन् १९३६ में प्रकाशित ताण्ड्यब्राह्मण में 'साम-

ताण्डचब्राह्मणे सामवेदीयताण्डचब्राह्मणमिति वेदशब्दोल्लेखो दृश्यत एव। वेददीपवेदभाष्यसहितायां शुक्लयजुःसंहितायां केवलं 'यजुःसंहिता' इत्येवोल्लेखोऽस्ति, न तत्र वेदशब्दप्रयोगः। माध्यन्दनीयसंहितापुस्तकेऽपि माध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां चत्वारिंशत्तमोऽध्याय इत्येवं प्रकाशितम्, तत्रापि वेदशब्दोल्लेखो नास्ति। संवत् १८९७ हस्तलिखिते वालकरामस्याग्निहोत्रिणः पुस्तके 'इतिश्रीसंहितायां दीर्घपाठे चत्वारिंशत्तमोध्यायः' एतावदेव लिखितम्। शुक्लयजुःकाण्वसंहिताभाष्येऽपि वेदशब्दमन्तरेव 'शुक्लयजुःकाण्वसंहिताभाष्यम्' इत्येव लिखितम्। तत्रैव 'माधवीये वेदार्थप्रकाशे काण्वसंहिताभाष्ये' इत्येवं लिखितम्। यदि वेदशब्दोल्लेखेनैव वेदत्वं कस्यचित्पुस्तकस्य स्यात्तदोपनिषदां पुस्तकेष्वमुकवेदस्यामुकोपनिषद् इत्युल्लेखो लभ्यत इत्युपनिषदां वेदत्वमङ्गीक्रियताम्।

'आम्नायवचनं तद्वत्' (मो० सू० ११।२।४१) अत्र उत्तरविहारदक्षिणविहारादिदेशभेदेऽप्यङ्गानां प्रतिदेशभेदेन पुनरनुष्ठानं भवतीति सिद्धान्तस्थापनाय पूर्वोक्तसूत्रद्वारा 'पदे वाध्वर्युः करोति तत्प्रतिप्रस्थाना करोति' इति ब्राह्मणवाक्यमाम्नायशब्देन निर्दिष्टम्। 'संख्यासु विकल्पः स्यात् श्रुतिषु विप्रतिषेधात्' (मी० सू० १२।४।९) इत्यत्र आधाने विविधदक्षिणानां विकल्प इति सिद्धान्तपक्षे 'एका देया षट् देया द्वादश देयाः' इति ब्राह्मणवाक्यमाम्नायशब्देनोक्तम्। 'आम्नायवचनाच्च' (मो० सू० १२।४।३६) इति सूत्रेऽञ्जनादयः संस्काराः सर्वेषां सत्रिणां कृते सन्तीति विचारप्रसङ्गे 'सत्रे भूयसां यजमानानां यो गृहपतिः स भूयिष्ठामृद्धिमवाप्नोति' इति ब्राह्मणवाक्यमाम्नायशब्देनोक्तम्।

किं वहुना 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यारभ्य 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' इति सूत्रं यावत् पूर्वमीमांसादर्शनस्य षष्टिपादेषु त्रयोदशोत्तरनवशताधिकरणेषु द्वादशाध्यायेषु प्रायः सर्वत्रैव ब्राह्मणभागीयवचनान्येव विचारतानि, मन्त्रभागस्तु ब्राह्मणविध्युक्तकर्मस्मारक एव, नवीनार्थवोधकत्वाभावादनुवादक एव। मानान्तराप्राप्तकर्मविधायकत्वाद् ब्राह्मणवाक्यस्य विचारेण मन्त्रभागस्य गतार्थत्वात्, तद्विचारार्थं पूर्वमीमांसायामवसर एव नासोत्। अर्थसन्देहे सत्येव

वेदीयं ताण्डचमहाब्राह्मणम्' इस तरह से वेद शब्द का उल्लेख दिखाई देता है। वेददीप नामक वेदभाष्य के साथ छपी शुक्लयजुःसंहिता में केवल 'यजुः संहिता' इतना ही उल्लेख है, यहां पर वेद शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। माध्यन्दिन संहिता की पुस्तक में भी 'माध्यन्दिनीय वाजसनेयिसंहिता में ४०वां अध्याय समाप्त हुआ' इस प्रकार छपा है। यहां पर भी वेद शब्द का उल्लेख नहीं है। संवत् १८९७ की हस्तलिखित बालकराम अग्निहोत्री की पुस्तक में 'इतिश्रीसंहितायां दीर्घपाठे चत्वारिंशोऽध्यायः' इतना ही लिखा है। शुक्लयजुर्वेद की काण्वसंहिता के भाष्य में बिना वेद शब्द के ही 'शुक्लयजुःकाण्वसंहिताभाष्यम्' यह लिखा गया है। वहीं पर 'माधवीये वेदार्थप्रकाशे काण्वसंहिताभाष्ये' यह लिखा गया है। यदि वेद शब्द के उल्लेख से ही किसी पुस्तक को वेद मान लेना है, तो उपनिषदों की पुस्तकों में अमुक वेद की अमुक उपनिषद् समाप्त हुई, इस उल्लेख के मिलने पर आप को उपनिषदों को वेद मान लेना चाहिये।

'आम्नायवचनं तद्वत्' इस सूत्र में उत्तर विहार, दक्षिण विहार आदि देशों के भेद रहने पर भी प्रत्येक देश के भेद से अंगों का पुनः अनुष्ठान होता है, इस सिद्धान्त की स्थापना के लिये पूर्वोक्त सूत्र में 'जो अध्वर्यु करता है, वही प्रतिप्रस्थाता भी करता है' इस ब्राह्मण वाक्य को आम्नाय शब्द से कहा है। इसी तरह 'संख्यासु विकल्पः०' इत्यादि सूत्र में भी आधान में विविध दक्षिणाओं का विकल्प होता है, इस सिद्धान्त के पक्ष में 'एक देना, छः देना, बारह देना' इस ब्राह्मण वाक्य को आम्नाय के नाम से उद्धृत किया है। 'आम्नाय०' इस सूत्र में भी अंजन प्रभृति संस्कार सत्र के सभी अनुष्ठाताओं के लिये हैं, इस विचार के प्रसंग में 'सत्र में अनेक यजमानों का गृहपति सर्वाधिक ऋद्धि को प्राप्त करता है' यह ब्राह्मण वाक्य आम्नाय शब्द से अभिदिष्ट है।

अधिक क्या कहा जाय, 'अथातो धर्मजिज्ञासा' से प्रारम्भ कर 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' इस अन्तिम सूत्र तक पूर्वमीमांसा दर्शन के ६० पाद, ९१३ अधिकरण और १२ अध्यायों में प्रायः सभी जगह ब्राह्मणभाग के वचनों की ही परीक्षा की गई है। यहाँ पर मन्त्रभाग ब्राह्मण के द्वारा उक्त विधि (कर्म) के स्मारक ही हैं। ये नवीन अर्थ को नहीं बनाते, अतः ये केवल अनुवादक हैं। मानान्तर से अप्राप्त कर्म के विधायक ब्राह्मण वाक्य ही हैं, अतः इन पर विचार करने से ही मन्त्रभाग भी गतार्थ है। फलतः मन्त्रभाग पर विचार करने का पूर्वमीमांसा में कोई अवसर ही नहीं था। अर्थ में सन्देह उपस्थित होने पर ही विचार का प्रसंग आता है। मन्त्र तो अनुवादक

विचारप्रसङ्गः समुदेति । अनुवादकमन्त्रेष्वर्थसन्देहस्य प्रसङ्ग एव नायाति । दार्शनिकेषु वेदवाक्यविचारो मीमांसापदेन व्यवह्रियते । तत्रापि मन्वादिधर्मशास्त्रेतिहासपुराणादिपौरुषेयवाक्येषु विचारमकृत्वाऽपौरुषेयब्राह्मणवाक्यान्येवोद्धृत्य तत्रैव प्राधान्येन पूर्वमीमांसाया विचारो भवति । तत्रैवं सति ब्राह्मणभागस्य पौरुषेयत्वकथनं मीमांसावृत्तान्तानभिज्ञस्यैव शोभते । विशेषतोऽयं प्रसङ्गः पण्डितप्रवरोमापतिकृते सनातनधर्मोद्धारग्रन्थे तथास्मदीये हिन्दीभाषामये 'वेद का स्वरूप और प्रामाण्य' नामधेये ग्रन्थे तथा गोर्वाणवाणोनिवद्धे 'वेदस्वरूपविमर्शः' इति ग्रन्थे च द्रष्टव्यः ।

वस्तुतस्तु ब्राह्मणभागस्य वेदत्वापलापेन मन्त्राणामीश्वरस्तुतिराजमन्त्रिसेनापत्यादिस्तुतिपरत्वमुपगम्य वायुशुद्धिप्रयोजनहोममात्रस्य यज्ञत्वमभ्युपगम्य वैदिककर्मोपासनज्ञानादिस्वरूपापलापार्थमेव दयानन्देन चत्वारि पुस्तकान्येव वेदत्वेनाभ्युपगम्य सप्तविंशत्युत्तरैकादशशतसंहिता एकत्रिंशदुत्तरैकादशशतब्राह्मणानामुपनिषदां च वेदत्वं प्रामाण्यस्वतस्त्वं चापलप्य महान् प्रमादः कृत इति विभावनीयम् ।

अथ ब्रह्मविद्याविषयः

यत्तु—'वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति ? अत्रोच्यते सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः । तत्रादिमा ब्रह्मविद्या संक्षेपतः प्रकाश्यते' (पृ० १०२) इत्युक्तम्, तदपि वालभाषितम्, सर्वैरप्यास्तिकैर्वेदानां सर्वविद्यास्थानत्वस्य स्वीकारेण तत्र विप्रतिपत्तेरभावात् । वेदोक्तधर्मनिरूपणमपि न केनापि निरुद्धचते, तथापि तत्र शास्त्रसिद्धान्तमुपेक्ष्य स्वकल्पितार्थनिरूपणं दुनोत्येव सचेतसां चेतांसि, अतः कानिचिदेव वाक्यानि समुद्धृत्य निराक्रियन्ते ।

ब्रह्मविद्या वेदेषु सर्वोत्कृष्टा महत्त्वपूर्णा विद्या, ब्रह्मण एव सर्ववेदानां महातात्पर्यविषयत्वात् । सपरिकरं ब्रह्म तल्लक्षणं च भगवता व्यासेन ब्रह्मसूत्रेषु 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इत्यादिभिश्चतुर्लक्षण्यां मोमांसायां

हैं, अतः यहाँ पर अर्थ का सन्देह हो ही नहीं सकता। दार्शनिकों में वेद के वाक्यों का विचार मीमांसा नाम से जाना जाता है। यहाँ पर भी मनु प्रभृति के धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण प्रभृति पुरुषनिर्मित वाक्यों में विचार न कर अपौरुषेय ब्राह्मण वाक्यों को ही उद्धृत कर उन्हीं के संबन्ध में पूर्वमीमांसा में विचार किया है। ऐसी अवस्था में ब्राह्मणभाग को पौरुषेय मानना मीमांसा के मर्म को न समझ पाने वाले के लिये ही शोभा की वस्तु हो सकती है। विशेषतः यह प्रसंग पंडितप्रवर उमापतिकृत 'सनातनधर्मोद्धार' नामक ग्रन्थ में तथा हमारे हिन्दी भाषा के ग्रन्थ 'वेद का स्वरूप और प्रामाण्य' में तथा 'वेदस्वरूपविमर्शः' नामक संस्कृत ग्रन्थ में देखना चाहिये।

वास्तव में ब्राह्मण भाग को वेद न मानकर, मन्त्रों की ईश्वर स्तुति को राजा, मन्त्री, सेनापति आदि की स्तुति मान कर, वायु की शुद्धि ही होममात्र का प्रयोजन है और इसी के लिये यज्ञ का विधान है, ऐसा मानकर वैदिक कर्म, उपासना, ज्ञान आदि के स्वरूप का अपलाप करने के लिये वेद की चार शाखाओं की पुस्तकों को ही वेद मान कर ११२७ संहिताओं की और ११३१ ब्राह्मण-उपनिषद् ग्रन्थों की वेदता और स्वतःप्रमाणता का अपलाप कर स्वामी दयानन्द ने महान् प्रमाद किया है, यह समझ लेना चाहिये।

ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन

'वेदों में सब विद्या हैं वा नहीं ? सब हैं, क्योंकि जितनी सत्यविद्या संसार में हैं, वे सब वेदों से ही निकली हैं। उनमें से पहिले ब्रह्मविद्या संक्षेप में लिखते हैं' (पृ० १०२) यह भी बच्चों की सी बात है। सभी आस्तिक वेदों को सभी विद्याओं की उत्पत्ति का स्थान मानते हैं, अतः इस विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं है। वेद प्रतिपादित धर्म का निरूपण किया जाय, इसमें भी किसी को विरोध नहीं हो सकता, तो भी जब वेद में शास्त्रों के सिद्धान्तों की उपेक्षा करके कल्पित अर्थों का निरूपण किया जाता है, तो समझदार व्यक्ति के मन में अवश्य दुःख होता है। अतः इस तरह के कुछ वाक्यों को उद्धृत कर हम उनका खण्डन करना चाहते हैं।

वेदों में ब्रह्मविद्या सर्वोत्कृष्ट महत्त्वपूर्ण विद्या है, क्योंकि सभी वेदों का ब्रह्म के प्रतिपादन में ही मुख्य तात्पर्य है। पूरी सामग्री के साथ ब्रह्म का निरूपण भगवान् व्यास ने ब्रह्मसूत्र में 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्रों के द्वारा चार अध्याय वाली ब्रह्ममीमांसा

प्रतिपादितमेव । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० उ० ३।९।२६) इति श्रुत्या ब्रह्मणः प्राधान्येनोपनिषत्स्वेव प्रतिपादनम्, तासामनन्यशेषत्वात् । ईशावास्यादिमन्त्रैः सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यतया ब्रह्मणः साक्षात्कारेण सर्वस्यैव नामरूपक्रियात्मकस्य प्रपञ्चस्य वाधरूपमाच्छादनमेव ज्ञायते । यथा साक्षात्कृतया रज्ज्वा तदध्यस्तानां सर्पधारामालाभूच्छिद्रादीनां वाधस्तथैवाधिष्ठानस्वरूपब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण तदध्यस्तप्रपञ्चस्यापि वाधः । तत्रानेकैः प्रत्यक्षानुमानैः कर्मोपासनपरैरागमैश्च द्वैतप्रतिपादकैर्विरोधे 'तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो वलीयांसि' इति न्यायेन तत्प्रधानेनाद्वैतागमेनातत्प्रधानान्यन्यानि वचनानि वाध्यन्ते । कर्मोपासनपराणां वाक्यानां लोकसिद्धद्वैताश्रयेणापि कर्मोपासनप्रतिपादनसम्भवाद् अतत्प्रधानत्वमेव तेषाम् । ईशावास्यादिवाक्यानां त्वद्वितीयब्रह्मात्मपरत्वेन तत्प्रधानत्वमेव । येषां ब्रह्मप्रतिपादकानामपि मन्त्राणां कर्मोपासनपरत्वमस्ति, तेषां स्वप्राधान्याभावेन तत्प्रधानत्वाभावान्नान्यवाधकत्वं सम्भवति ।

यदुक्तम्—'ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मसु विनियुक्ता मन्त्रत्वाद् इषे त्वेत्यादिमन्त्रवत्' इति, तत्तुच्छम्, विनियोजकप्रमाणसत्त्वस्योपाधित्वेनानुमानस्य सोपाधिकत्वेन दूषितत्वात् । 'इषे त्वेति शाखां छिनत्ति' इति ब्राह्मणवाक्येन 'इष त्वा' इति मन्त्रस्य शाखाच्छेदने विनियोगः श्रुतः । ईशावास्यमित्यादिमन्त्राणां तु न क्रत्वादिषु विनियोगः श्रुतः, न च कर्तृ-भोक्तृ-कर्मशेषात्मप्रतिपादकत्वेनापि तेषामन्यपरत्वं सिद्ध्यति, तेषामकर्मशेषस्य नित्यशुद्धबुद्धस्वभावस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वशून्यस्यात्मनः प्रतिपादकत्वेन तदनुपपत्तेः । नाप्युपासनाविधिशेषत्वं सम्भवति, 'यन्मनसा न मनुते

में किया है । 'उस उपनिषदों के द्वारा प्रतिपाद्य पुरुष के विषय में मैं पूछता हूँ' इस श्रुति में यह बताया गया है कि ब्रह्म का प्रतिपादन प्रधानतः उपनिषदों में ही मिलता है, क्योंकि इनका ब्रह्म के प्रतिपादन के अतिरिक्त और कोई विषय नहीं है । 'ईशावास्य' इत्यादि उपनिषद् के वाक्यों से सजातीय, विजातीय और स्वगत इस प्रकार त्रिविध भेदों से रहित ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर सभी नाम, रूप, क्रियात्मक प्रपंच की बाधरूपता और आच्छादकता का ज्ञान हो जाता है । जैसे रस्सी का साक्षात्कार हो जाने पर उसमें कल्पित सर्प, जलधारा, माला, भूच्छिद्र प्रभृति पदार्थों का बाध हो जाता है, उसी तरह से जगत् के अधिष्ठानभूत ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर उसमें कल्पित प्रपंच का भी बाध हो जाता है । प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा तथा कर्म और उपासना के प्रतिपादक शास्त्रों से द्वैत का प्रतिपादन होता है, अतः इनका अद्वैत प्रतिपादक वाक्यों से जब विरोध उपस्थित होता है, उस समय 'तत्प्रधान वाक्य अतत्प्रधान वाक्यों से बलवान् होते हैं' इस न्याय के अनुसार तत्प्रधान अद्वैत आगम से अतत्प्रधान द्वैत प्रतिपादक वचन बाधित हो जाते हैं । कर्म और उपासनापरक वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित विषय का प्रतिपादन लोकप्रसिद्ध द्वैतवाद के सहारे से भी किया जा सकता है, अतः इसको अतत्प्रधान कहा जा सकता है, क्योंकि इन शास्त्र वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित विषय के लोकसिद्ध होने से इन वाक्यों का विनियोग किसी नवीन विषय के प्रतिपादन में नहीं हुआ । ईशावास्य प्रभृति वाक्य तो अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादन में ही विनियुक्त हैं, इनका कोई अन्य विषय नहीं है और न किसी अन्य प्रमाण द्वारा इस विषय का प्रतिपादन संभव है । अतः ये तत्प्रधान कहलाते हैं । जो ब्रह्मप्रतिपादक मन्त्र कर्म और उपासना का भी प्रतिपादन करते हैं, वे भी ब्रह्मप्रतिपादन की प्रधानता न रहने के कारण तत्प्रधान नहीं रह जाते, अतः वे अन्य के बाधक नहीं हो सकते ।

'ईशावास्य' इत्यादि मन्त्रों का भी विनियोग कर्म के लिये ही है, क्योंकि ये भी 'इषे त्वा' इत्यादि के समान मन्त्र हैं' यह कथन भी गलत है, क्योंकि यह अनुमान सोपाधिक है । इस अनुमान में विनियोजक प्रमाणसत्त्व उपाधि है, अर्थात् आप इस अनुमान से यह सिद्ध करते हैं कि 'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्रों की तरह 'ईशावास्य' प्रभृति मन्त्रों का भी कर्म में ही विनियोग हो सकता है, इस पर हम कहते हैं कि 'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्रों का कर्म में विनियोग करने वाले 'इषे त्वा' इससे शाखा का छेदन करता है' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य उपलब्ध है, 'ईशावास्य' प्रभृति मन्त्रों का यज्ञ-यागादि में विनियोग करने वाला वाक्य कहाँ है । इस प्रकार विनियोजक प्रमाण के न मिलने से आपका उक्त अनुमान सोपाधिक हेत्वाभास से ग्रस्त होने से किसी वस्तु को सिद्ध करने में असमर्थ है । 'ईशावास्य' प्रभृति वाक्यों की किसी कर्ता, भोक्ता के कर्मशेष के प्रतिपादक के रूप में भी अन्यशेषता नहीं सिद्ध की जा सकती, क्योंकि ये किसी कर्म का प्रतिपादन कर नित्यशुद्धबुद्धस्वभाव कर्तृत्व-भोक्तृत्व-नानात्व से शून्य आत्मा का प्रतिपादन करते हैं, अतः इनकी अन्यशेषता किसी भी तरह से उपपन्न नहीं होती । इनको उपासना विधि का अंग भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'जिसका मन से अनुभव नहीं किया

येनाहुर्मनो मतम् । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥' (केनोप० १।५) इति ब्रह्मात्मतत्त्वस्य मनोवचनागोचरस्योपास्यत्वप्रतिषेधात् ।

यदपि च—'तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम् । पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥' (ऋ० सं० १।८९।५) इति मन्त्रमुल्लिख्यैवं व्याख्या कृता—'ईष्टेऽसावीशानः सर्वजगत्कर्ता जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च पतिः स्वामी (धियं जिन्वं) यो बुद्धेस्तृप्तिकर्ता (अवसे हूमहे वयम्) तमवसे रक्षणाय वयं हूमहे आह्वयामः (पूषा) पुष्टिकर्ता नः स एवास्माकं पुष्टिकारकोऽस्ति । यथा वेदसामसद्वृधे हे परमेश्वर ! यथा येन प्रकारेण वेदसां विद्यासुवर्णादीनां धनानां वृधे वर्धनाय भवानस्ति, तथैव कृपया रक्षिताऽसत् रक्षकोऽप्यस्तु । एवं (पायुरदब्धः) अस्माकं रक्षणे स्वस्तये सर्वसुखाय अदब्धः अनलसः सन् पालनकर्ता सदैवास्तु' (पृ० १०२) इति ।

तदिदं व्याख्यानं विश्रृङ्खलं पौर्वापर्यसङ्गतिशून्यं च । वस्तुतः 'आ नो भद्रा' इति पञ्चदशर्चं सूक्तं गोतमस्यार्षं वैश्वदेवम् । आदितः पञ्चर्चः सप्तमी च जगत्यः, षष्ठी स्वस्ति न इन्द्र इत्येषा विराट्स्थाना । नवकी वैराजस्त्रैष्टुभश्चेत्युक्तलक्षणयोगात् । अष्टम्याद्यास्तिस्रस्त्रिष्टुभः । तथैवानुक्रान्तत्वात् । 'आ नो दश वैश्वदेवं तु पञ्चाद्याः सप्तमी च जगत्यः षष्ठी विराट्स्थाना' इति । अग्निष्टोमे वैश्वदेवशस्त्रे उत्तमावर्जमेतत् सूक्तं । वैश्वदेवनिविद्धानीयम् । सा तु प्रकृतौ विकृतौ च वैश्वदेवशस्त्रस्य परिधानीया । तथा च सूचितम्—'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वत इति नव वैश्वदेवमिति । अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमिति परिदध्यात् सर्वत्र वैश्वदेवे' (आ० श्रौ० सू० ५।१८) इति । 'सदैवं पञ्चजनीयया परिदध्यात्' (ऐ० ब्रा० ३।३१) इति ब्राह्मणम् । महाव्रते निष्कैवल्ये एतत्सूक्तम् । तथा च पञ्चमारण्यके सूत्र्यते 'आनोभद्रीयं च तस्य स्थाने' (ऐ० आ० ५।३।२) इति ।

जा सकता, किन्तु जिसकी सहायता से मन अपने व्यापार में प्रवृत्त होता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो । ब्रह्म वह नहीं है, जिसकी तुम उपासना करते हो' इस श्रुति के प्रमाण पर ब्रह्मात्मतत्त्व मन-वाणी का अविषय होने से उपास्य हो ही नहीं सकता ।

'तमीशानम्' इत्यादि मन्त्र को उद्धृत कर उसकी इस तरह से व्याख्या की गई है—'जो सब जगत् का बनाने वाला है, (जगतस्तस्थुषस्पतिं) अर्थात् जगत् जो चेतन और तस्थुष जो जड़, इन दो प्रकार के संसार का जो राजा और पालन करने वाला है, (धियं जिन्वम्) जो मनुष्यों को बुद्धि और आनन्द से तृप्ति करने वाला है, उसकी (अवसे हूमहे वयम्) हमलोग आह्वान, अर्थात् अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं, (पूषा नः) क्योंकि वह हमको सब सुखों से पुष्ट करने वाला है । (यथा वेदसामसद् वृधे) हे परमेश्वर ! जैसे आप अपनी कृपा से सब पदार्थों और सुखों को बढ़ाने वाले हैं, वैसे ही (रक्षिता) सबकी रक्षा भी करें । (पायुरदब्धः स्वस्तये) जैसे आप हमारे रक्षक हैं, वैसे ही सब सुख भी दीजिये' (पृ० १०२-१०३) ।

यह पूरी व्याख्या विश्रृंखल और पूर्वापर संगति से शून्य अर्थात् असंगत है । वस्तुतः 'आ नो भद्रा' प्रभृति पन्द्रह ऋचाओं वाले इस सूक्त के गोतम ऋषि और विश्वेदेव देवता हैं । प्रथम पांच और सातवीं ऋचा का जगती छन्द है । छठी 'स्वस्ति न इन्द्रः' इसका विराट् छन्द है । आठवीं से दशवीं तक का छन्द त्रिष्टुप् है । नवीं ऋचा में विराट् और त्रिष्टुप् दोनों के लक्षण उपलब्ध होने से दोनों छन्द हैं । 'आ नो दश' इत्यादि से बताया गया है कि 'इस सूक्त में दस ऋचायें हैं और इसके देवता वैश्वदेव हैं । पहली पांच और सातवीं का छन्द जगती और छठी का विराट् है' । अग्निष्टोम के वैश्वदेव शस्त्र में अन्तिम ऋचा को छोड़कर यह पूरा सूक्त विश्वेदेव निविद् के लिये है । अन्तिम का विनियोग प्रकृति और विकृति में वैश्वदेव शस्त्र के लिये है । जैसा कि इस सूत्र में बताया गया है—'आ नो भद्रा' इत्यादि नव ऋचाओं का विनियोग विश्वेदेव के लिये हो । 'अदितिर्द्यौ' इसका सर्वत्र वैश्वदेव में विनियोग करे' । 'पञ्चजनीय ऋचा से सदा निधान करे' यह ब्राह्मण का कथन है । महाव्रत में निष्कैवल्य में इस सूक्त का विनियोग होता है । जैसा कि पञ्चम आरण्यक में बताया गया है—'इसके स्थान में आनोभद्रीय सूक्त का विनियोग करे' ।

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी..............
पु०सं०..............
पुस्तकालय

तमोशानमित्यनया तु पूर्वार्धेनेन्द्रः स्तूयते, उत्तरार्धे च पूषा, तथैव मन्त्राक्षरानुगुणत्वात् । ईशानम् ऐश्वर्यवन्तं अत एव जगतो जङ्गमस्य प्राणिजातस्य तस्थुषः स्थावरस्य च पतिं स्वामिनं धियं जिन्वं धीभिः सत्कर्मभिः प्रीणयितव्यम् । जिविः प्रीणनार्थः । कृत्यल्युटो वहुलमिति वहुलवचनात् खच् । 'इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च' (पा० सू० ६।३।६८) इत्यमागमः । एवंभूतमिन्द्रमवसे रक्षणाय वयं हूमहे आह्वयामः ।। पूषा नोऽस्माकं वेदसां धनानां वृधे वर्धनाय रक्षिता यथा येन प्रकारेण असत् भवति तेनैव प्रकारेण अदब्धः केनाप्यहिंसितः पूषा स्वस्तयेऽस्माकमविनाशाय पायुः रक्षिता भवतु । ईशान इत्यस्य जगत्कर्तेति न प्रामाणिकोऽर्थः, ईशतेरैश्वर्यार्थकत्वात् । धियं जिन्वमित्यस्य बुद्धेस्तृप्तिकर्तेत्यपि प्रमाणापेक्ष एवार्थः, पूषापदस्य देवविशेषपरत्वमपहाय यौगिकार्थाश्रयणमप्यसङ्गतम् । 'तद्विष्णोः' इत्यस्य व्याख्यानं त्वन्यत्र कृतम् ।

यच्च—'परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ।।' (वा० सं० ३२।११) यः परमेश्वरो भूतानि आकाशादीनि परीत्य सर्वतोऽभिव्याप्य सर्वा दिशः परीत्य आग्नेयादिप्रदिशश्च परीत्य परितः सर्वतः इत्वा प्राप्य विदित्वा च (उपस्थाय) यः स्वसामर्थ्यस्याप्यात्मास्ति, यश्च प्रथमानि सूक्ष्मभूतानि जनयति, तं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं परमेश्वरं यो जीव आत्मना स्वसामर्थ्येनान्तःकरणेनोपस्थाय तमेवोपगतो भूत्वा विदित्वा च आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्य स एव मोक्षाख्यं सुखमनुभवति' (पृ० १०३) इति, तदपि विशृङ्खलमेव, मूलमन्त्रे यः परमेश्वर इत्यंशस्याभावात् स्वकपोलकल्पितत्वात् । 'यः स्वसामर्थ्यस्यात्मास्ति' इति व्याख्यानमपि निर्मूलमेव । यश्च प्रथमानीत्यपि मूलमन्त्रवहिर्भूतमेव । सूक्ष्मभूतानीत्यपि निराधारम् । तं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं परमेश्वरं यो जीवः स्वसामर्थ्येनान्तःकरणेनेत्यंशोऽपि निर्मूलोऽक्षरासंस्पर्श्येव, पूर्वापरसङ्गतिविधुरं चेदं व्याख्यानम् ।

'तमीशानम्' इस ऋचा में पूर्वार्ध से इन्द्र की और उत्तरार्ध से पूषा की स्तुति की गई है, क्योंकि ऐसा करने से ही मन्त्राक्षरों की संगति बैठती है । ईशान अर्थात् ऐश्वर्यशाली अत एव जगत् अर्थात् जंगम प्राणियों के और तस्थुषः अर्थात् स्थावर प्राणियों के स्वामी को हमको अपने सत्कर्मों से प्रसन्न करना चाहिये । 'जिवि' धातु का अर्थ प्रीणन है । इस धातु से 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इस सूत्र में वहुल पद के ग्रहण के कारण खच् प्रत्यय होता है और 'इच एकाच०' इत्यादि सूत्र से आमागम होता है । इस प्रकार के इन्द्र को हम अपनी रक्षा के लिये बुलाते हैं । पूषा देवता हमारे धन को बढ़ाने के लिये और उस धन की किस तरह से रक्षा हो सकती हो, उसके लिये प्रयत्नशील हो । इस कार्य को संपन्न करते समय पूषा को कोई भी शत्रु किसी प्रकार का नुकसान न पहुँचा सके और वह पूषा हमारे कल्याण के लिये, हमारी शत्रु से रक्षा करने के लिये सदा तत्पर रहे । यहाँ पर 'ईशान' पद का अर्थ जगत्कर्ता किसी भी प्रकार से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि ईश धातु का अर्थ ऐश्वर्य है । 'धियं जिन्वम्' इसका अर्थ 'बुद्धि का तृप्ति कर्ता' करने के लिये कोई प्रमाण देना पड़ेगा । पूषा पद को देवविशेष का वाचक न मानकर यौगिक अर्थ को स्वीकार करना भी असंगत है । 'तद्विष्णोः' इत्यादि मन्त्र को व्याख्या अन्यत्र की गई है ।

इससे आगे 'परीत्य भूतानि०' इत्यादि मन्त्र को उद्धृत कर उसकी इस प्रकार से व्याख्या की गई है—'जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा (परीत्य लोकान्) सूर्यादि सब लोकों में व्याप्त हो रहा है, (परीत्य सर्वाः०) इसी प्रकार से जो पूर्वादि सब दिशाओं और आग्नेयादि उपदिशाओं में भी निरन्तर भरपूर हो रहा है, अर्थात् जिसकी व्यापकता से एक अणु भी खाली नहीं है, (ऋतस्या०) जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है, (प्रथमजाम्) और जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पत्ति करने वाला है, उस आनन्दस्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य अर्थात् मन से यथावत् जानता है, वही उसको प्राप्त हो कर (अभि०) सदा मोक्षसुख को भोगता है' (पृ० १०३) । इस अर्थ में भी विशृङ्खलता ही प्रतीत होती है । मूलमन्त्र में कहीं पर भी परमेश्वर की चर्चा नहीं है, अतः यह अर्थ केवल कपोलकल्पना है । 'जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है' यह व्याख्या भी निर्मूल है । 'यश्च प्रथमानि' ये शब्द भी मूलमन्त्र के बाहर के हैं । सूक्ष्म भूतों की चर्चा करना भी निराधार है । 'उस आनन्दस्वरूप (मोक्षरूप) परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य,

सिद्धान्तानुसारेण त्वतः परं द्वात्रिंशाध्यायमारभ्य ३३।५४ पर्यन्तं सर्वमेधमन्त्रा उच्यन्ते । उव्वटमहीधराद्यनुसारेण तु—'अथ सर्वमेधमन्त्राः प्रवायुमच्छेत्यस्मात्प्राक्' (३३।५५) इति कात्यायनवचनात् । ब्रह्मण आर्षम् । स्वयम्भुब्रह्मदृष्टा आत्मदेवत्याः सप्तमेऽहन्याप्तोर्यामसंज्ञके सर्वहोमे विनियुक्ताः । 'आप्तोर्यामः सप्तममहर्भवति' इत्युपक्रम्य 'सर्वं जुहोति सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै' (श० १३।७।१।९) इति श्रुतेः । यद्यप्यत्र ब्रह्मणः सर्वकारणस्य प्रतिपादनमस्ति, तथापि यत्रैते मन्त्रा विनियुक्तास्तत्प्रधाना एव न स्वप्रधानाः, अन्यशेषत्वात् । प्रथमं द्वे अनुष्टुभौ । विज्ञानात्मना परेणात्मना विशिष्टोऽग्न्यादिष्वोतप्रोतत्वेनोपास्योऽभिधीयते । 'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥' (श्वे० उ० ४।२) । तदिति कारणं ब्रह्मोच्यते । 'ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' (भ० गी० १७।२३) । वेदान्तेषु ब्रह्मवित्सु प्रसिद्धत्वाच्च । एवेति तदितरव्यावृत्तिः । तथा च तदेव कारणं ब्रह्मैवाग्निः, तदेवादित्यः, तदेव वायुः, तदेव चन्द्रमाः, तदु उ एवार्थः, तदेव शुक्रं शुक्लं तत्प्रसिद्धं ब्रह्म त्रयीलक्षणं ब्रह्मैव, ताः प्रसिद्धा आपः, स प्रसिद्धः प्रजापतिः, तदेव ब्रह्म सर्वकारणत्वात्तस्य सार्वात्म्यप्रसिद्धेः । नह्येवंविधं ब्रह्म सामाजिकैरभ्युपेयते, प्रकृतितत्कार्यस्य भोक्तॄणां च परमात्मनो भिन्नत्वाभ्युपगमेनाग्न्यादिभिर्ब्रह्मणः सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः ।

'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त (वा० सं० ३२।१०) इति मन्त्रेण तस्यैव कारणब्रह्मणो वर्णनम् । स परमेश्वरः, नोऽस्माकं बन्धुः बन्धुवन्मान्यः जनिता जनयिता 'जनिता मन्त्रे' (पा० सू० ६।४।५३) इति णिचो लोपः । स विधाता धारयिता स विश्वा सर्वाणि

अर्थात् मन से यथावत् जानता है, यह अंश भी निर्मूल है, मूल के अक्षरों से इसका कुछ भी संबन्ध नहीं है । इस व्याख्या की पूर्व और पश्चात् के मन्त्रों के अर्थ के साथ कोई संगति भी नहीं है ।

सिद्धान्ततः यजुर्वेद के ३२ वें अध्याय से आरम्भ कर ३३।५४ पर्यन्त सर्वमेध यज्ञ के मन्त्र हैं, जैसा कि उव्वट और महीधर ने कात्यायन के इस वचन के अनुसार कहा है कि 'अब सर्वमेध के मन्त्र प्रदर्शित किये जाते हैं । इनकी स्थिति 'प्रवायुमच्छ' (३३।५५) इस मन्त्र से पूर्व तक है । इनका ऋषि ब्रह्मा है, स्वयम्भु ब्रह्मा ने इनको देखा है । इनका देवता आत्मा है । सातवें दिन होने वाले आप्तोर्याम संज्ञक सर्वहोम में इनका विनियोग है । 'आप्तोर्याम सातवां दिन होता है' यहां से प्रारम्भ कर 'इसमें यजमान सब कुछ हविरूप में प्रदान कर देता है, जिससे कि उसको सब कुछ प्राप्त हो जाय, सभी प्रकार की विघ्न बाधाओं का अवरोध हो जाय' यह शतपथ श्रुति इसमें प्रमाण है । यद्यपि यहां पर सर्वकारणभूत ब्रह्म का प्रतिपादन है, तो भी जहां पर इन मन्त्रों का विनियोग हुआ, वही इनका प्रधान प्रतिपाद्य है, ब्रह्म का नहीं, क्योंकि इनका विनियोग अन्य के लिये ही हुआ है । इनमें पहली दो ऋचाओं का छन्द अनुष्टुप् है । विज्ञानात्मा के रूप में अग्नि प्रभृति में ओत प्रोत परमात्मा की यहां उपासना बताई गई है । 'वही अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु और चन्द्र है, वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही जल है और वही प्रजापति' इस श्वेताश्वतर श्रुति में तत्पद से कारण ब्रह्म ही कहा जाता है । 'ॐ, तत् और सत् इन तीन शब्दों से ब्रह्म का त्रिविध निर्देश होता है' इस गीता वचन के अनुसार वेदान्तशास्त्र में और ब्रह्मवेत्ताओं के सम्प्रदाय में तत्पद की कारणब्रह्म वाचकता प्रसिद्ध है । उक्त श्वेताश्वतर श्रुति में 'एव' पद ब्रह्मभिन्न की व्यावृत्ति करता है । अतः उक्त श्रुति का यह अर्थ होता है कि वह कारण ब्रह्म ही अग्नि, आदित्य, वायु और चन्द्रमा है । 'तदु' में विद्यमान 'उ' का अर्थ 'एव' होता है । वही शुक्र अर्थात् शुक्ल त्रयीलक्षण ब्रह्म के रूप में भी वही प्रसिद्ध है । वह प्रसिद्ध जल और प्रजापति भी ब्रह्म ही है । वह सबका कारण है, अतः वह सर्वात्मकरूप से प्रसिद्ध है । इस तरह का ब्रह्म आर्यसमाजियों को मान्य नहीं है । उनके मत में प्रकृति, प्राकृतिक कार्य और भोक्ता को परमात्मा से भिन्न माना गया है, अतः अग्नि प्रभृति के साथ ब्रह्म का सामानाधिकरण्य इनके यहां नहीं बन सकता ।

'सतो बन्धु०' इस मन्त्र में उसी कारणब्रह्म का वर्णन किया गया है । वह परमेश्वर हमको बन्धु-बान्धवों के समान मान्य है, क्योंकि वही सबको उत्पन्न करता है । 'जनिता' शब्द में 'जनिता मन्त्रे' इस पाणिनि सूत्र से णिच् का लोप हो जाता है । वही सबको धारण करता है । वह सभी भुवनों और स्थानों को जानता है । अग्नि प्रभृति देवतागण तृतीय स्थान अर्थात् स्वर्ग लोक में अपनी

भुवनानि धामानि स्थानानि च वेद। देवा अग्न्यादयः, तृतीये धामन् धामनि स्थाने स्वर्गरूपे अध्यैरयन्त स्वेच्छया वर्तन्ते। कथंभूता देवाः ? अमृतं मोक्षप्रापकं ज्ञानं यत्र ब्रह्मणि आनशाना व्याप्नुवाना अश्नुवते। 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इत्यशेर्ह्वादित्वेन द्वित्वे शानच्यभ्यासस्य नुगागमे आनशाना इति सिद्धम्। ब्रह्मज्ञानं प्राप्ताः सन्तः स्वर्गे लोके मोदन्ते इत्यर्थः।

'परीत्य' (वा० सं० ३२।११) इत्यनेन मन्त्रेण सर्वभूतेष्वहमस्मि सर्वाणि भूतानि मयि सन्तीति ज्ञानवतः सर्वमेधयाजिनो मुक्तिरुच्यते। ब्रह्मज्ञानवतो यजमानस्याग्निहोत्रादयोऽपि यज्ञाः सर्वमेधा एवेत्याह कण्डिकाभ्याम्। एवं ज्ञानवान् सर्वमेधयाजी आत्मना जीवरूपेण ऋतस्य यज्ञस्य आत्मानं यज्ञाधिष्ठातारं परमात्मानमभिसंविवेश प्रविशति, ब्रह्मैव प्रविशति। किं कृत्वा भूतानि सर्वभूतानि परीत्य ब्रह्मत्वेन विज्ञाय, लोकान् भूरादीन् परीत्य ब्रह्मरूपान् ज्ञात्वा, सर्वाः प्रदिशो विदिशो दिशश्च प्राच्यादीन् परीत्य ब्रह्मरूपान् ज्ञात्वा, प्रथमजां प्रथमोत्पन्नां त्रयीरूपां वाचमुपस्थाय संसेव्य वेदोक्तयज्ञादिकमनुष्ठाय, 'अपि हि तस्मात् पुरुषाद् ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत' (श० ६।१।१।१०) इति श्रुतेः। प्रथमजा वाग् वेदरूपा गुह्यं वस्तु पुनः पुनः कथिता चित्तमारोहतीति तदेव वस्तु 'परि द्यावापृथिवी सद्य' (वा० सं० ३२।१२) इत्यनयापि कण्डिकयोच्यते।

यदपि—'महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे। तस्मिञ्छ्रयते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः॥' (अथर्व० १०।४।३८)। यद् महत् सर्वेभ्यो महत्तरं यक्षं सर्वमनुष्यैः पूज्यं भुवनस्य सर्वसंसारस्य मध्ये परिपूर्णं तपसि विज्ञाने क्रान्तं वृद्धं सलिलस्यान्तरिक्षस्य कारणरूपेण कार्यस्य प्रलयानन्तरं पृष्ठे पश्चात् स्थितमस्ति तदेव ब्रह्म विज्ञेयम्। तस्मिन् ब्रह्मणि ये के चापि देवास्त्रयस्त्रिंशद् वस्वादयस्ते सर्वे तदाधारेणैव तिष्ठन्ति। कस्य का इव वृक्षस्य स्कन्धे परितः सर्वतः संलग्नाः शाखा इव' (पृ० १०३) इति। तदपि न मनोरमम्, यतो हि

इच्छा से निवास करते हैं। ये देवता कैसे हैं ? मोक्ष के प्रापक ज्ञान की अधिगति के कारण ये ब्रह्म में व्याप्त हो कर रहते हैं। 'बहुलं छन्दसि' इस सूत्र से अश् धातु के द्वित्व, शानच् और अभ्यास में नुक् आगम होने पर 'आनशाना' यह शब्द बनता है। अर्थात् ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर ये सब देवतागण स्वर्ग लोक में आनन्द का उपभोग करते हैं।

'परीत्य' इत्यादि मन्त्र में मैं सभी भूतों में विद्यमान हूँ और मेरे अन्दर सभी भूतों का निवास है, ऐसा जानने वाले सर्वमेधयाजी मनुष्य की मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्मज्ञानी यजमान के अग्निहोत्र प्रभृति यज्ञ भी सर्वमेध ही कहलाते हैं, यही बात दो कण्डिकाओं में बताई गई है। इस तरह ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति जब सर्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करता है, तो वह अपने जीवरूप से यज्ञ के अधिष्ठाता परमात्मा में, अर्थात् ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। क्या करके प्रविष्ट होता है ? सब भूतों को वह ब्रह्म के रूप में ही जानने लगता है, भूरादि लोकों को भी वह ब्रह्म के रूप में ही देखता है, प्राची आदि दिशाओं और आग्नेय प्रभृति प्रदिशाओं को भी वह ब्रह्म के रूप में ही देखने लगता है। साथ ही व्यक्तिसृष्टि के आरम्भ में प्रथम उत्पन्न त्रयीरूप वाणी को वेदोक्त यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान कर सेवा करता है। 'उस पुरुष से पहले ब्रह्म (वेद) की ही सृष्टि हुई' यह शतपथश्रुतित्रयी के प्रथम उत्पन्न होने में प्रमाण है। प्रथम उत्पन्न हुई यह वेदरूपी वाणी अत्यन्त गुह्य है। बार बार समझाने पर ही यह मन में बैठ सकती है, अतः इसी बात को 'परि द्यावा' इस कण्डिका से भी समझाया गया है।

इसी प्रसंग में 'महद्यक्षं' इत्यादि अथर्ववेद के मन्त्र को उद्धृत कर उसकी इस प्रकार व्याख्या की गई है—'ब्रह्म जो महत् अर्थात् सबसे बड़ा और सबका पूज्य है, जो सब लोकों के बीच में विराजमान और उपासना करने के योग्य है, जो विज्ञानादि गुणों में सबसे बड़ा है, सलिल जो अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश है, उसका भी आधार और उसमें व्यापक तथा जगत् के प्रलय के पीछे भी नित्य निर्विकार रहने वाला है, जिसके आश्रय से वसु आदि पूर्वोक्त तैंतीस देव ठहर रहे हैं, जैसे कि पृथिवी से वृक्ष का प्रथम अंकुर निकल कर और वही स्थूल होकर सब डालियों का आधार होता है, इसी प्रकार सब ब्रह्माण्ड का आधार वही एक परमेश्वर है' (पृ० १०४)। यह व्याख्या भी मनोरम नहीं है। यद्यपि इस स्कम्भ सूक्त में ब्रह्म के भी आदिभूत सनातन देव का वर्णन है, इसीलिये

यद्यप्यस्मिन् स्कम्भसूक्ते सनातनतमो ब्रह्मणोऽप्याद्यभूतो देव उक्तः, अत एव ज्येष्ठं ब्रह्मेति तस्य संज्ञा । तस्मिन् सर्वमेतत्तिष्ठति, तत्सर्वमेतेनाविष्टम्, विराडपि तत्रैव समाहितः, तस्मिन्नेव सर्वे देवाः समाहिताः । तथाप्यक्षरार्थोऽसङ्गत एव तद्रीत्या । परिपूर्णमित्यध्याहारापेक्षया भुवनस्य मध्ये तद् महद् यक्षं निरतिशयं यजनीयं पूजनीयमित्यर्थ एव युक्तः । यद्वा महदित्यनेन प्रपञ्चापेक्षया तस्य महत्त्वोक्त्या व्यापकत्वं परिपूर्णत्वं च स्वतः सिद्ध्यति । तपसि ज्ञानमये तपसि 'यस्य ज्ञानमयं तपः' (मुण्डकोप० १।१।९) इति श्रुतेः । क्रान्तं ज्ञेयम् अतिक्रान्तं सर्वं ज्ञेयं यज्ज्ञानापेक्षयाऽल्पमनन्तज्ञानवन्तमनन्तज्ञानरूपं वा, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'(तै० उ० २।१।१)इति श्रुतेः । सलिलस्य आपोमयस्य सर्वस्यैव कर्ममयस्य गतः पृष्ठेऽधिष्ठानभूते तस्मिन् ब्रह्मणि ये के च देवा द्योतनवन्तो ब्रह्मादयो देवा आन्तराणीन्द्रियमनोबुद्ध्यहङ्कारचिदाभासान्तानि बाह्यानि विद्युदग्न्यादित्यादीनि ज्योतींषि श्रूयन्ते तत्सत्तया सत्तावन्ति तत्स्फूर्त्या च स्फूर्तिमन्ति भवन्ति । यथा वृक्षस्य स्कन्धे परितः शाखाः श्रयन्ते, तथैव तस्मिन् सर्वे देवाः श्रयन्ते । यथा वृक्षस्यांशभूता एव शाखा भवन्ति, तथैव ब्रह्मेन्द्रादयो देवास्तादृशभूता एवेत्यर्थः ।

'न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते' 'तमिदं निगतं सहः स एक वृदेक एव सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति'(अथर्ववेदसंहिता १३।४।१६, १८, २०-२१) । व्याख्यातं चेत्थम्—'एतैर्मन्त्रैरिदं विज्ञायते यत् परमेश्वर एक एवास्ति, नैवातो भिन्नः कश्चिदपि द्वितीयः, तृतीयः, चतुर्थः, पञ्चमः, षष्ठः, सप्तमः, अष्टमः, नवमः, दशमश्चेश्वरो विद्यते । यतो नवभिर्नकारैर्द्वित्वादिसंख्यामारभ्य शून्यपर्यन्तेनैकमीश्वरं विधायास्माद् भिन्नेश्वरभावस्यातिशयतया निषेधो वेदेषु कृतोऽस्ति, अतो द्वितीयस्योपासनमत्यन्ते निषिद्धम् । सर्वान्तर्यामितया प्राप्तः सन् जडं चेतनं च द्विविधं सर्वं जगत् स एव पश्यति, नास्य कश्चिद् द्रष्टास्ति । न चायं कस्यापि दृश्यो भवतीति । येनेदं जगद् व्याप्तं तमेव परमेश्वरमिदं सकलं जगदपि निगतं निश्चितं प्राप्तमस्ति,

इसको ज्येष्ठ ब्रह्म कहा जाता है, उसी में यह सारा जगत् रहता है, यह सारा जगत् इसी से व्याप्त है, विराट् भी वहीं निवास करता है और उसी में सारे देवगण भी समाहित है, तो भी दयानन्द की पद्धति से मन्त्राक्षरों की संगति नहीं बैठती । परिपूर्ण पद के अध्याहार की अपेक्षा भुवन के मध्य में वह महान् यक्ष अर्थात् निरतिशय यजनीय, पूजनीय देवता विद्यमान है, यही अर्थ करना ठीक है । अथवा महत् पद से प्रपंच की अपेक्षा इसका महत्त्व बतलाया गया है, अतः इसकी व्यापकता और परिपूर्णता स्वतः सिद्ध होता है । तप का अर्थ यहां ज्ञानमय रूप है, 'जिसका तप ज्ञानमय है' यह मुण्डक श्रुति इसमें प्रमाण है । क्रान्त का अर्थ ज्ञेय है । यह सारा अर्थ ज्ञेय जगत् इस ज्ञान की अपेक्षा बहुत ही थोड़ा है, अतः ज्ञान इसको अतिक्रान्त कर जाता है, अर्थात् यह ब्रह्म अनन्त ज्ञानवान् और अनन्तज्ञानरूप है, 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है' यह श्रुति इसमें प्रमाण है । सलिल अर्थात् आपोमय, कर्ममय सारे जगत् के अधिष्ठानभूत ब्रह्म में ही ये सब द्योतमान ब्रह्म प्रभृति देवतागण, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त प्रभृति आन्तर इन्द्रियां, विद्युत्, अग्नि प्रभृति बाह्य तेज आश्रित हैं, अर्थात् इसी की सत्ता से वे सत्तावान् और इसी के स्फुरण से उनमें स्फूर्ति का संचार होता है । जैसे वृक्ष के तने पर उसकी सारी शाखाएं टिकी रहती हैं, उसी तरह से उस ब्रह्म का ही सहारा लेकर सब देवता अवस्थित हैं । जैसे शाखाएं वृक्ष का ही अंश होती हैं, उसी तरह से ब्रह्मा, इन्द्र प्रभृति देवतागण उस महान् यक्ष स्वरूप ज्येष्ठ ब्रह्म के ही अंश हैं ।

इसी प्रसंग में अथर्ववेद के ही 'न द्वितीयो०' इत्यादि मन्त्रों को उद्धृत कर उनकी व्याख्या इस प्रकार से की गई है—'इन सब मन्त्रों से यह निश्चय होता है कि परमेश्वर एक ही है. उससे भिन्न कोई न दूसरा, न तीसरा, न कोई चौथा परमेश्वर है । न पांचवां, न छठा और न कोई सातवां ईश्वर है । न आठवां, न नवां और न कोई दसवां ईश्वर है । इन मन्त्रों में जो दो से लेकर दस पर्यन्त अन्य ईश्वर होने का निषेध किया है, सो इस अभिप्राय से है कि सब संख्या का मूल एक (१) अंक ही है । इसी को दो, तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ और नौ बार गिनने से २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ और ९ अंक बनते हैं और एक पर शून्य देने से १० का अंक होता है । उनसे एक ईश्वर का निश्चय कराके वेदों में दूसरे ईश्वर के होने का सर्वथा निषेध ही लिखा है, अर्थात् उसके एकपने में

व्यापकाद् व्याप्यस्य संयोगसम्बन्धत्वात्। (सहः) यतः सर्वं सहते तस्मात् स एवैष सहोऽस्ति। स खल्वेक एव वर्तते, न कश्चिद् द्वितीयस्तदधिकस्तत्तुल्यो वा, एकशब्दस्य त्रिर्ग्रहणात्। अतः सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदराहित्यमीश्वरे वर्तते। एवं द्वितीयस्येश्वरस्यात्यन्तनिषेधात्। कस्मात् एकवृदेक एवेत्युक्तत्वात्। स एष एव एकवृत्, एकेन चेतनमात्रेण वस्तुनैव वर्तते। पुनरेक एवासहायः सन् य इदं सकलं जगद् रचयित्वा धारयतीत्यादिविशेषणयुक्तोऽस्ति, तस्य सर्वशक्तिमत्त्वात्। अस्मिन् सर्वशक्तिमति परमात्मनि सर्वे देवाः पूर्वोक्ता वस्वादय एकवृत एकाधिकरणा एव भवन्ति। अर्थात् प्रलयानन्तरमपि तत्सामर्थ्यं प्राप्यैकवृत्तयो भवन्ति' (पृ० १०४-१०५ इति)।

तदेतदप्यविचारितरमणीयम्, पूर्वापरसम्बन्धशून्यत्वात्। किञ्च, द्वित्वनिषेधेनैव तृतीयत्वादिनिषेधसम्भवेनेतरनिषेधस्य वैयर्थ्यं दुष्परिहरम्। एकपदेनैकत्वविधानसम्भवेनापि द्वितीयादिनिषेधेनैकेश्वरविधानस्यानुपयोग एव। किञ्चानेकेश्वराणामैकमत्येन कार्यकरत्वे समुदायस्यैवेश्वरत्वं न प्रत्येकस्य। प्रत्येकस्येश्वरत्वे वैमत्येन विरुद्धकार्यसम्भवः। नह्येकस्य प्रपञ्चस्य युगपत् परिपिपालयिषायां संजिहीर्षायां च सत्यां विरुद्धाभीष्टसिद्धिः सम्भवति। द्वितीयस्योपासननिषेधोऽपि गगनकुसुमायित एव, मन्त्रे तादृक्पदाभावात्। समुद्धृतमन्त्रेषु स एकः सर्वान् पश्यति न स कस्यापि दृश्यो भवतीत्यस्यार्थस्यापि वोधकः कश्चन शब्दो नास्ति। येनेदं सर्वं जगद् व्याप्तं तमेवेदं प्राप्तमस्तीत्यपि नाक्षरगम्योऽर्थः। एकशब्दस्य त्रिर्ग्रहणेनापि तदाधिक्यतत्तौल्यनिषेधकत्वं कथम्? नहि पुनरुक्त्या शब्दानामपर्यायवाचकता सम्भवति। नापि त्वदभिमते परमेश्वरे सजातीयविजातीयस्वगतभेदनिषेधः सम्भवति, तस्यान्योन्याभावप्रतियोगित्वात्। एकेन चेतनमात्रेण वस्तुनैव वर्तत इत्यपि त्वद्रीत्या न सम्भवति, परमेश्वरस्य भोक्तृवर्गेणेव भोग्यवर्गेणापि सह वर्तमानत्वात्। तदपेक्षया एक एव वर्तत इत्यस्यैव सुवचत्वात्। पुनरेक एवासहाय इत्यंशोऽपि निराधार एव।

भी भेद नहीं और वह शून्य भी नहीं है। किन्तु जो सच्चिदानन्द आदि लक्षणों से युक्त, एकरस परमात्मा है, वही सदा से जगत् में परिपूर्ण होकर, पृथिवी आदि सब लोकों को रचकर अपने सामर्थ्य से उनको धारण कर रहा है। वह अपने कार्य में किसी की सहायता नहीं लेता, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है। उसी परमात्मा के सामर्थ्य से वसु आदि सब देव, और पृथिवी आदि लोक ठहर रहे हैं और प्रलय में भी उसके सामर्थ्य से लय होकर उसी में कारण रूप से बने रहते हैं' (पृ० १०५)।

उक्त व्याख्या भी जब तक इस पर विचार नहीं किया जाता, तभीतक भली लगती है, क्योंकि इस व्याख्या में पूर्वापर प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस व्याख्या में यह भी दोष है कि जब द्वित्व का निषेध कर दिया गया तो उसी से त्रित्वादि का निषेध भी हो गया, तब पुन; इनका निषेध करना एक व्यर्थ का व्यापार हुआ। एक पद से भी जब एकत्व का विधान हो गया तो फिर द्वितीयादि का निषेध कर पुनः एकत्व का विधान करना भी उसी तरह से व्यर्थ है। अनेक ईश्वर यदि मिलकर कोई काम करते हैं, तो समुदाय में ही ईश्वरत्व मानना पड़ेगा, प्रत्येक में नहीं। प्रत्येक में यदि ईश्वरत्व माना जाय तो इनमें परस्पर विमति होने पर विरुद्ध कार्य होने लगेंगे। एक ही प्रपंच की परिपालन करने की और संहार करने की इच्छा यदि एक साथ होती है, तो ऐसी परिस्थिति में परस्पर विरोधी अभीष्ट कार्य कैसे सिद्ध हो सकते हैं? द्वितीय की उपासना का निषेध भी आकाशकुसुम के समान है। मन्त्र में इसका प्रतिपादक कोई पद है भी नहीं। ऊपर उद्धृत मन्त्रों में वह एक सबको देखता है, उसको कोई देख नहीं सकता, इस अर्थ के बोधक शब्द भी उपलब्ध नहीं हैं। जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उसी परमात्मा को यह प्राप्त करना है, यह अर्थ भी मन्त्राक्षरों से नहीं निकलता। एक शब्द के तीन बार ग्रहण करने पर भी उससे आधिक्य अथवा समानता का निषेध कैसे होगा? एक शब्द का बार बार उच्चारण करने पर उसकी अपर्यायता अर्थात् अर्थ में भेद नहीं हो जाता। आप ईश्वर को जल स्वरूप स्वीकार करते हैं, उसमें सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद का निषेध भी नहीं बन सकता, क्योंकि वह अन्योन्याभाव का प्रतियोगी है। केवल एक चेतन वस्तु की ही सत्ता है, यह बात भी आपके मत के अनुसार नहीं बन सकती, क्योंकि परमेश्वर भोक्ता वर्ग के साथ ही नहीं, भोग्य वर्ग के साथ भी रहता है। इसकी अपेक्षा से तो यही कहना ठीक था कि वह अकेला ही है। पुनः आगे यह लिखना कि वह अकेला असहाय है, यह भी निराधार ही है।

वस्तुतस्तु तृतीयेऽनुवाके—'स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽविचाकशत्' इत्यारभ्य 'तस्येमे नव कोशा विष्टम्भाहिताः' इत्यन्तैर्मन्त्रैः स परमेश्वरः सविता सन् दिवस्पृष्ठेऽविचाकशत् प्रकाशते, स एव रश्मिभिराभृतं पूर्णं नभो महेन्द्र आवृत आवर्तनशील एति। स एव विधर्ता वायुरुच्छ्रितं नभ एति। स एवार्यमा स वरुणः स महादेवो रुद्रः सोऽग्निः स एव सूर्यः स एव महायमः। तं परमेश्वरमेते दश वत्सा इवोपाश्रित्य तिष्ठन्ति। कीदृशास्ते एकशीर्षाण एकं प्रधानं परमात्मतत्त्वं शीर्षस्थानीयं येषु ते एकशीर्षाणः, ते चाधिष्ठानाधिष्ठेयभावेन युक्ता अधिष्ठानशीर्षसहिता दश भवन्ति। अधिष्ठानभूतमेकं परमात्मानं निगतम्। 'न द्वितीयो न तृतीयः' इत्यादिभिस्तेषामेव निषेधः क्रियते। 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' इति न्यायात्। 'स सर्वस्मै पश्यति यच्च प्राणति यच्च न' इत्यंशो दयानन्देन स्वामिना नोद्धृतः तस्यार्थ एव सङ्कलितः। यच्च प्राणति प्राणिजातं जङ्गमं यच्च न प्राणति भोग्यजातं स्थावरं वा सर्वस्मै पश्यति। सर्वहिताय पश्यति स्वरूपभूतया दृष्ट्या सर्वं पूर्वोक्तं भोग्यभोक्तृजातं सत्तावत्स्फूर्तिमच्च करोति। इदं सचेतनाचेतनं तमेव निगतं तस्मिन्नेवाश्रितम्, तस्मिन् कल्पितत्वात्। स एष एकः सर्वकारणत्वात्, सर्वस्य तदनतिरिक्तत्वात्, तद्भेदकत्वासम्भवात्। तदेवाहैक एको वर्तते भोक्तृभोग्यरूपेणेत्येकवृत्। एक एव भोक्तृभोग्यरूपेण भासमानोऽप्येक एकधिष्ठानस्यैव परमार्थत्वात्, तदितरस्य कल्पितत्वेनापरमार्थत्वात्। सर्वे पूर्वोक्ता देवा एकस्मिन् परमात्मन्येव वर्तन्त इत्येकवृतो भवन्ति सन्ति।

स पर्यगाच्छुक्रमिति मन्त्रस्त्वन्यत्र व्याख्यातः।

अथ वेदोक्तधर्मविषयः

वेदोक्तधर्मविषयप्रसङ्गे यदुक्तम्—'सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥' (ऋ० सं० १०।१९१।२)। व्याख्यातं चेत्थम्—'हे मनुष्याः मयोक्तं न्याय्यं पक्षपातरहितं सत्यलक्षणोज्ज्वलं

वस्तुतः तीसरे अनुवाक में 'स एति सविता' यहां से लगा कर 'तस्येमे नव कोशा' इस मन्त्र तक उस परमेश्वर की ही स्तुति की गई है। इसका अर्थ यह है कि 'वह परमेश्वर सविता के रूप में आकाश में प्रकाशित होता है। वही अपनी किरणों से आकाश को भर कर महेन्द्र के समान निरन्तर आता जाता रहता है। वही विधर्ता वायु होकर इस उन्नत आकाश में विचरण करता है। वही अर्यमा, वरुण, महादेव रुद्र, अग्नि, सूर्य और महायम है। उस परमेश्वर को ये दस प्राण बछड़े के समान आश्रित करके रहते हैं। ये प्राण कैसे हैं? एक प्रधान परमात्मतत्त्व इनके शीर्षस्थान में विद्यमान है। इनमें अधिष्ठान और अधिष्ठेय भाव है। इन में अधिष्ठान शीर्षस्थानीय है। उसके साथ ये दस होते हैं। अधिष्ठानभूत प्राण हा परमात्मा में स्थित है, द्वितीय तृतीय आदि नहीं। इस श्रुति में इन्हीं का निषेध किया गया है। 'अध्यारोप और अपवाद के द्वारा ही निष्प्रपंच ब्रह्म को प्रपंचमय बना दिया जाता है' यह न्याय यहां लागू होता है। इस प्रकरण का 'स सर्वस्मै०' इत्यादि मन्त्र दयानन्द ने उद्धृत नहीं किया, केवल उसके अर्थ का संकलन कर लिया। इसका अभिप्राय यह है कि जो जंगम प्राणी श्वास-प्रश्वास लेते हैं और जो स्थावर भोग्य वस्तु इस प्राणन क्रिया से रहित है, यह परमात्मा उन सबको देखता है। वह अपनी स्वाभाविक दृष्टि से इस लिये देखता है कि सबका कल्याण हो। वह इस भोक्ता और भोग्यस्वरूप पूरे संसार को अपनी दृष्टि से स्फूर्तिमान् बना देता है। यह सचेतन और अचेतन जगत् उसी परमात्मा में आश्रित है, क्योंकि यह उसी में कल्पित है। वह अकेला ही है, क्योंकि वही सबका कारण है। उसके अतिरिक्त और किसी की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, अतः उसका कोई भेदक नहीं हो सकता। वह अकेला ही भोक्ता और भोग्य रूप में विद्यमान है, अतः वह 'एकवृत्' कहलाता है। भोक्ता और भोग्य रूप में प्रतीत होने पर भी यह अकेला है, क्योंकि अधिष्ठान की ही यथार्थ स्थिति मानी जाती है। इस परमात्मा रूपी अधिष्ठान में अन्य सब भोक्ता-भोग्य रूप जगत् कल्पित है, अतः उसकी परमार्थ सत्ता नहीं मानी जाती। ये पूर्वोक्त सभी देव एक परमात्मा में ही रहते हैं, अतः वे भी 'एकवृतः' कहलाते हैं।

इसी प्रकरण के अन्त में स्वामी दयानन्द ने 'स पर्यगात्' इत्यादि मन्त्र को उद्धृत करके भी अपने मनोरथ को सिद्ध करने प्रयत्न किया है। इसकी व्याख्या हमने अन्यत्र की है।

धर्मं यूयं सङ्गच्छध्वं सम्यक् प्राप्नुत। अर्थात् तत्प्राप्त्यर्थं सर्वं विरोधं परिहाय परस्परं सङ्गता भवथ। येन युष्माकमुत्तमं सुखं सर्वदा वर्धेत, सर्वदुःखनाशश्च भवेत्। संवदध्वं सङ्गता भूत्वा परस्परं जल्पवितण्डादिविरुद्धवादं विहाय संप्रीत्या प्रश्नोत्तरविधानेन संवादं कुरुत। यतो युष्मासु सम्यक् सत्यविद्याद्युत्तमगुणाः सदा वर्धेरन्। सं वो मनांसि जानताम्। यूयं जानन्तो विज्ञानमन्तो भवत। जानतां वो युष्माकं मनांसि यथा ज्ञानवन्ति भवेयुस्तथा सम्यक् पुरुषार्थं कुरुत। अर्थाद् येन युष्मन्मनांसि सदानन्दयुक्तानि स्युस्तथा प्रयतध्वम्। युष्माभिर्धर्म एव सेवनीयो नाधर्म इत्यत्र दृष्टान्त उच्यते—देवा यथा पूर्वे सञ्जानाना ये सम्यग् ज्ञानवन्तो देवा विद्वांस आप्ताः पक्षपातरहिता ईश्वरधर्मोपदेशप्रिया आसन् युष्मत्पूर्वं विद्यामधीत्य वर्तन्ते, किं वा ये मृतास्ते यथाभागं यजनीयं सर्वशक्तिमदादिलक्षणमीश्वरं मदुक्तं धर्मं चोपासते, तथैव युष्माभिरपि स एव धर्म उपासनीयः। यतो वेदप्रतिपाद्यो धर्मो निःशङ्कतया विदितश्च भवेत्' (पृ० १०६) इति।

यद्यप्ययमुपदेशोऽतिसुन्दरस्तथापि नायं मन्त्रस्यार्थो भवति। सर्वैः सर्वोपकारः कर्तव्यः, धर्मेण परस्परं रक्षन्तु, इत्याद्युपदेशो नायुक्तस्तथाप्यसौ नोक्तमन्त्रार्थत्वेन वर्णयितुं शक्यः, मन्त्राक्षराननुगमात्। तथाहि—नास्मिन् मन्त्रे केनचिदपि शब्देन धर्मश्चर्च्यते, न वात्र धर्मस्य लक्षणं दृश्यते। पक्षपातरहितः, न्याय्यः, सत्याचरणयुक्तो धर्म इत्यंशस्य दूरतोऽपि बोधकः कश्चन शब्दो मन्त्रे नोपलभ्यते। येन युष्माकमुत्तमं सुखं वर्धेत दुःखविनाशश्च भवेदित्यपि न मन्त्रगम्योऽर्थः। जानन्तो विज्ञानवन्तो भवत इत्यंशोऽपि मन्त्रार्थबहिर्भूतः। जानतां वो युष्माकं मनांसि यथा ज्ञानवन्ति भवेयुस्तथा पुरुषार्थं कुरुत, येन युष्मन्मनांसि सदानन्दयुक्तानि स्युस्तथा प्रयतध्वमित्यपि निर्मूलम्।

वेदों की रीति से धर्म के लक्षण

वेदों की रीति से धर्म के लक्षण बताने के प्रसंग में दयानन्द ने 'संगच्छध्वं०' इत्यादि मन्त्र को उद्धृत कर उसकी इस तरह से व्याख्या की है—'देखो, परमेश्वर हम सभी के लिये धर्म का उपदेश करता है कि हे मनुष्यों! जो पक्षपातरहित, न्याय, सत्याचरण से युक्त धर्म है, तुम लोग उसी को ग्रहण करो, उससे विपरीत कभी मत चलो, किन्तु उसी की प्राप्ति के लिये विरोध को छोड़ कर परस्पर संगति में रहो, जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता जाय और किसी प्रकार का दुःख न हो। तुम लोग विरुद्ध वाद को छोड़ कर परस्पर अर्थात् आपस में प्रीति के साथ पढ़ना-पढ़ाना, प्रश्न-उत्तर सहित संवाद करो, जिससे तुम्हारी सत्यविद्या नित्य बढ़ती रहे। तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो, जिससे तुम्हारा मन प्रकाशयुक्त होकर पुरुषार्थ को नित्य बढ़ावे, जिससे तुम लोग ज्ञानी होकर नित्य आनन्द में बने रहो। तुम लोगों को धर्म का ही सेवन करना चाहिये, अधर्म का नहीं। जैसे पक्षपात रहित धर्मात्मा विद्वान् वेदरीति से सत्य धर्म का आचरण करते हैं, उसी प्रकार से तुम भी करो। क्योंकि धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है—एक तो धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा, दूसरा आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा और तीसरा परमेश्वर की कही वेदविद्या को जानने से ही मनुष्यों का सत्य-असत्य का यथावत् बोध होता है, अन्यथा नहीं' (पृ० १०६-१०७)।

यद्यपि यह उपदेश बहुत सुन्दर है, किन्तु यह मन्त्र का अर्थ नहीं है। सब सब का उपकार करें। धर्मानुसार एक दूसरे की रक्षा करें। इस तरह का उपदेश अनुचित नहीं है, किन्तु यह अर्थ उस मन्त्र में से निकलता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस अर्थ के बोधक पद उसमें नहीं है। जैसे कि इस मन्त्र में किसी भी शब्द से धर्म की चर्चा अथवा उसका लक्षण यहाँ किया जा रहा है, ऐसी प्रतीति नहीं होती। पक्षपात से रहित, न्याय्य, सत्याचरण से युक्त धर्म है, इस बात को खेंचतान करके भी बतावे वाला कोई अंश मन्त्र में नहीं मिलता। जिससे आपका उत्तम सुख बढ़े और दुःख का विनाश हो, इस बात की भी मन्त्र में कोई चर्चा नहीं है। आप इसको ठीक तरह से जाने, यह अंश भी मन्त्र के बाहर का ही है। इस सत्यविद्या को जानकर तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो, जिससे कि तुम्हारा मन सदा आनन्द से भर जाय, ऐसा प्रयत्न करो, यह कथन भी निर्मूल है। तुमको धर्म का ही सेवन करना चाहिये अधर्म का नहीं। इसमें देवताओं का दृष्टान्त देकर देवता पद का अर्थ विद्वान् किया गया है। इसका हम खण्डन कर

युष्माभिर्धर्म एव सेवनीयो नाधर्मश्चेत्यत्र दृष्टान्तः, देवा विद्वांस इत्यपि खण्डितमेव। भागं सर्वशक्तिमदादिलक्षणमीश्वरमित्यपि निर्मूलम्। तस्मात् सायणसम्मत एवार्थो युक्तः।

तथाहि—हे स्तोतारः (नात्र सर्वे मानवाः सम्बोधनार्हाः, उपनयनादिसंस्कारवतामेव वेदाध्ययनश्रवणाद्यधिकारात्) यूयं सङ्गच्छध्वं सङ्गता भवत। 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' (पा० सू० १।३।२९) इत्यादिना तदर्थमेवात्मनेपदविधानात्। धर्मरूपस्य कर्मणोऽश्रवणादपि नात्र प्राप्त्यर्थो गमिः। संवदध्वं सह वदत परस्परं विरोधं परित्यज्यैकविधमेव वाक्यं ब्रूतेति यावत्। नात्र जल्पवितण्डापरित्यागेन वादकथाद्विधानं क्रियते, वादकथायाः शिष्याचार्यपूर्वकत्वात्। शिष्याचार्यसंवादस्तु 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० उ० २।४।५), 'तद्विजिज्ञासस्व' (तै० उ० ३।१।१) इत्यादिश्रुतिभिर्विहित एव। अत एव 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' (पा० सू० १।३।४८) इति वदेरात्मनेपदम्। वो युष्माकं मनांसि संजानतां समानमेकरूपमेवावगच्छन्तु वैमत्यमपहाय धर्मनीत्यादिकार्येष्वैकमत्यमेव युष्माकं भवत्वित्यर्थः। 'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने' (पा० सू० १।३।४६) इति जानातेरात्मनेपदम्। यथा पूर्वे पुरातना देवा सञ्जानाना ऐकमत्यं प्राप्ता भागं हविर्भागं यथास्वं स्वीकुर्वन्ति, तथैव यूयमपि वैमत्यं परित्यज्य स्वीयं धनादिकं गृह्णन्त्वित्यर्थः। देवसम्बन्धाद् भागशब्देन हविर्भाग एवात्र ग्रहीतुमर्हः। भागशब्दस्य प्रसिद्धं हविर्भागमर्थमपहाय सर्वशक्तिमदादिलक्षण ईश्वरोऽर्थोऽप्रसिद्धोऽप्रासङ्गिकश्चेति। एवमेव देवशब्दस्य मुख्यं विशिष्टैश्वर्योपेतयोनिविशेषमर्थं विहाय जीवन्तो मृता वा विद्वांस एव देवा इत्यर्थग्रहणमपि न युक्तम्, प्रसिद्धपरित्यागेन प्रसिद्धकल्पनस्यान्याय्यत्वात्। यथेति दृष्टान्तसूचकः शब्दो भवति। दृष्टान्तश्चाविसंवाद्येव भवति। नहि मनुष्याणां जीवतां मृतानां वा देवत्वं प्रसिद्धम् अविसंवादि वा। न वा भागपदस्य धर्म ईश्वरो वार्थः प्रसिद्धोऽविसंवादी वा। किञ्च, यान् प्रत्ययमुपदेशस्तेऽपि विद्वांस एवेति न तान् प्रति त एव दृष्टान्ताः सम्भवन्ति, अविदुषां मन्त्रार्थग्रहणसामर्थ्यासम्भवात्। तस्मात् सायणसम्मत एवार्थो विजयते।

चुके हैं। भाग पद का अर्थ सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर किया गया है, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये सायण संमत अर्थ ही यहाँ उचित माना जायगा। सायण का अर्थ इस प्रकार है—

हे स्तुति करनेवालों, (यहाँ पर सभी मानव संबोधित नहीं हो सकते, क्योंकि उपनयन आदि संस्कार से संस्कृत व्यक्तियों को ही वेदाध्ययन, श्रवण आदि का अधिकार है) तुम लोग एक साथ हो जाओ। इसी अर्थ को द्योतित करने के लिये यहाँ पर 'समो गम्यृ०' इत्यादि पाणिनि सूत्र से आत्मनेपद का विधान होता है। धर्मरूप कर्म का श्रवण संभव नहीं है, इसलिये भी यहाँ पर गम् धातु का अर्थ प्राप्ति नहीं किया जा सकता। तुम लोग परस्पर विरोध छोड़ कर एक तरह की बात करो। यहाँ पर जल्प-वितण्डा को छोड़ कर वाद कथा का विधान नहीं किया गया है, क्योंकि वाद कथा शिष्य और आचार्य के बीच होती है। शिष्य और आचार्य का संवाद 'श्रोतव्यो मन्तव्यः, तद्विजिज्ञासस्व०' इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है। इसी लिये यहाँ पर 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' इस पाणिनि के नियम के अनुसार आत्मनेपद का विधान हुआ है। तुम्हारे मन एक तरह की बात जानें, अर्थात् धर्म, नीति आदि कार्यों में तुम लोगों में परस्पर ऐकमत्य हो। यहाँ पर भी 'सम्प्रतिभ्या०' इत्यादि पाणिनि सूत्र के अनुसार ज्ञा धातु से आत्मनेपद हुआ है। जैसे पुरातन देवतागण एकमत होकर अपने अपने हविर्भाग को स्वीकार करते हैं, उसी तरह से तुम लोग भी परस्पर वैमनस्य छोड़कर अपने भाग में प्राप्त धनादि का ग्रहण करो। देवता के सम्बन्ध से भाग शब्द से यहाँ पर हवि का ही ग्रहण किया जा सकता है। भाग शब्द के इस प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर उसका सर्वशक्तिमान् ईश्वर, यह अर्थ करना अप्रसिद्ध और अप्रासंगिक है। इस तरह से देव शब्द के भी 'विशिष्ट ऐश्वर्य से युक्त योनिविशेष' इस मुख्य अर्थ को छोड़कर जीवित अथवा मृत विद्वान्, यह अर्थ करना भी उचित नहीं है। प्रसिद्ध को छोड़कर अप्रसिद्ध की कल्पना करना अनुचित है। यथा यह दृष्टान्त सूचक शब्द है। दृष्टान्त ऐसा दिया जाता है, जिसमें किसी को विवाद न हो। जीवित अथवा मृत मनुष्यों के लिये देवता शब्द का प्रयोग न तो प्रसिद्ध है और यह सर्वसंमत ही है। इस तरह से भाग पद का भी धर्म अथवा ईश्वर अर्थ न तो प्रसिद्ध ही है और न सर्वसंमत ही है। दूसरी बात यह भी है कि जिनको यह उपदेश

'समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् । समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥' (ऋ० सं० १०।१९१।६) हे मानवाः ! वो युष्माकं मन्त्रोऽर्थान्मामीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां गुप्तप्रसिद्धसामर्थ्यगुणानां पदार्थानां भाषणमुपदेशनं ज्ञानं वा भवति यस्मिन् येन वा स मन्त्रो विचारो भवितुमर्हति । तद्यथा राज्ञो मन्त्रो सत्यासत्यविवेककर्ता सोऽपि सत्यज्ञानफलः सर्वोपकारकः समानस्तुल्योऽर्थाद्विरोधरहित एव भवतु । यदा बहुभिर्मनुष्यैर्मिलित्वा सन्दिग्धपदार्थानां विचारः कर्तव्यो भवेत् तदा प्रथमतः पृथक् पृथगपि सभासदां मतानि भवेयुः । तत्रापि सर्वेभ्यः सारं गृहीत्वा यद्यत्सर्वमनुष्यहितकारकं सद्गुणलक्षणान्वितं मतं स्यात् तत्सर्वं ज्ञात्वैकत्र कृत्वा नित्यं समाचरत, यतः प्रतिदिनं सर्वेषां मनुष्याणामुत्तरोत्तरं सुखं वर्धेत । तथा समितिः सामाजिकनियमव्यवस्था, अर्थाद् या न्यायप्रचाराढ्या सर्वमनुष्याणां मान्यज्ञानप्रदा ब्रह्मचर्यविद्याभ्यासशुभगुणसाधिका शिष्टसभया राज्यप्रबन्धाद्याह्लादिता परमार्थव्यवहारशोधिका बुद्धिशरीरबलारोग्यवर्धिनी शुभमर्यादापि समानी सर्वमनुष्यस्वतन्त्रदानसुखवर्धनायैकरसैव कार्या। मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकम्, सङ्कल्पोऽभिलाषेच्छेत्यादि, विकल्पोऽप्रीतिर्द्वेष इत्यादि। शुभगुणान् प्रति सङ्कल्पः, अशुभगुणान् प्रति विकल्पश्च रक्षणीयः । एतद्धर्मकं युष्माकं मनः समानमन्योऽन्यमविरुद्धस्वभावमेवास्तु । यच्चित्तं पूर्वापरानुभूतस्मरणात्मकं धर्मेश्वरचिन्तनं तदपि समानमर्थात् प्राणिनां दुःखनाशाय सुखवर्धनाय च स्वात्मवत् सम्यक् पुरुषार्थेनैव कार्यम् । युष्माभिः परस्परस्य सुखोपकाराय सर्वं सामर्थ्यं योजनीयम् । ये ह्येवं सर्वजीवानां स्वात्मवद् वर्तन्ते तादृशानां परोपकारिणां परसुखदातॄणामुपर्यहं कृपालुर्भूत्वा युष्माकं पूर्वपरोक्तधर्ममाज्ञापयामि—इत्थमेव सर्वैः कर्तव्यमिति । येन युष्माकं मध्ये नैव कदाचित्सत्यनाशोऽसत्यवृद्धिश्च भवेत् । समानेन वो हविर्दानं ग्रहणं च, तदपि सत्येन धर्मेण युक्तमेव कार्यम् । तेन समानेन हविषा वो युष्माकं जुहोमि सत्यधर्मेण सदैवाहं नियोजयामि, अतो यदुक्त एव धर्मो मन्तव्यो नान्यः' (पृ० १०७) इति ।

दिया गया है, वे भी तो विद्वान् ही हैं, तो फिर वे अपने ही प्रति कैसे दृष्टान्त रूप में उद्धृत किये जा सकते हैं ? जो विद्वान् नहीं है, वह मन्त्र के अर्थ को समझ ही नहीं सकता। इस प्रकार इस मन्त्र का सायण का किया अर्थ ही सही माना जायगा ।

'समानो मन्त्रः' इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'हे मनुष्य लोगों, जो तुम्हारा मन्त्र, अर्थात् सत्य-असत्य का विचार है, वह समान हो, उसमें किसी प्रकार का विरोध न हो और जब तुम लोग मिल के विचार करो, तब तब सबके वचनों को अलग अलग सुन के जो जो धर्मयुक्त और जिसमें सबका हित हो, सो सो सब में से अलग करके, उसी का प्रचार करो, जिससे तुम सभों का बराबर सुख बढ़ता जाय । इसी तरह से जिसमें सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य आदि आश्रम अच्छे अच्छे काम, उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना और जिससे बुद्धि, शरीर, बल, पराक्रम आदि गुण बढ़े तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों, ऐसी जो उत्तम मर्यादा है, सो भी तुम लोगों को एक ही प्रकार की हो, जिससे तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम सिद्ध होते जायें । हे मानवों, तुम्हारा मन भी आपस में विरोध रहित, अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये अपने आत्मा के समतुल्य पुरुषार्थ वाला हो । शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को 'संकल्प' और दुष्ट गुणों के त्याग की इच्छा को 'विकल्प' कहते हैं, जिससे जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है, उसका नाम 'मन' है । उससे सदा पुरुषार्थ करो, जिससे तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो । 'चित्त' उसको कहते हैं, जिससे कि सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार हो, वह भी तुम्हारा एक सा हो । 'सह' जो तुम्हारा मन और चित्त हैं, ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न में रहें । इस प्रकार से जो मनुष्य सबका उपकार करने और सुख देने वाले हैं, मैं उन्हीं पर सदा कृपा करता हूँ । अर्थात् मैं उसके लिये आशीर्वाद और आज्ञा देता हूँ कि सब मनुष्य मेरी इस आत्मा के अनुकूल चलें, जिससे उनका सत्य धर्म बढ़े और असत्य का नाश हो । हे मनुष्य लोगों, जब जब कोई पदार्थ किसी को देना हो अथवा किसी से लेना हो, तब तब धर्म से युक्त ही करो । उससे विरुद्ध व्यवहार को मत करो । यह बात निश्चय पूर्वक जान लो कि मैं सत्य के साथ तुम्हारा और तुम्हारे साथ सत्य का संयोग करता हूं । इसलिये कि तुम लोग इसी को धर्म मान के सदा करते रहो और इससे भिन्न को धर्म कभी मत मानों' (पृ० १०७-१०८)।

अत्रापि व्याख्याने यद्यप्युपदेशोऽयं नानुचितस्तथापि न स मन्त्रार्थः, मन्त्राक्षराननुगमात् । यथा—'यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः । मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ।।' (म० भा० उ० प० ३७।७) इत्यस्यार्थस्य ग्राह्यत्वेऽपि नास्योक्तमन्त्रार्थतेति, तद्वत् । मनुधातोर्विचारबोधकत्वेऽपि मन्त्रयतेर्गुप्तभाषणार्थकत्वेऽपि प्रकरणानुसारेण यथायोग्यमेव ज्ञानमन्त्रणादिरूपोऽर्थो गृह्यते, सर्वेषां ज्ञानस्य गुप्तभाषणस्य समानत्वे जगद्व्यवहारविलोपापत्तेः । तद्यथेत्यादि राजमन्त्रिदृष्टान्तेन मन्त्रस्य सत्यज्ञानफलत्वसर्वोपकारकत्वसाधनमप्युदक्षरमेव । नहि राजा वा राजमन्त्री वा सत्यज्ञानफल एव सर्वोपकारक एव वा भवति । 'यदा बहुभिः' इत्यादिकमपि न विचारचारु, मन्त्रेषु संख्याधिक्यस्यानपेक्षत्वात्, मतभेदनिराकरणेन सर्वसुहितसुभगनिष्कर्षस्यैव मन्त्रणाफलस्य लोकसिद्धत्वात् । समितिपदस्य सामाजिकनियमव्यवस्था शुभमर्यादा वा नार्थः, निष्प्रमाणत्वात् । यद्यप्युक्तविशेषणा सामाजिकव्यवस्था शुभमर्यादा वा समादरणीयैव ।

शुभगुणान् प्रति सङ्कल्पोऽभिलाषेच्छादि, अशुभगुणान् प्रति विकल्पोऽप्रीतिद्वेषादिरूपो नानुचितस्तथापि त्वद्रीत्या मनःपदार्थस्यैव तत्त्वे समानपदं व्यर्थमेव स्यात् । एवमेव चित्तं पूर्वापरानुभूतं स्मरणात्मकं धर्मेश्वरचिन्तनमित्यपि विश्रृङ्खलम्, अनुभूतस्मरणं भवति नहि स्मरणमनुभूतं भवति, धर्मेश्वरचिन्तनं सर्वप्राणिनां दुःखनाशाय सुखवर्धनाय च स्वात्मवत् सम्यक् पुरुषार्थेन कर्तव्यमित्यपि न मन्त्रार्थः, तद्बोधकपदाभावात् । सह युष्माभिः परस्परसुखोपकारायैव सर्वं सामर्थ्यं योजनीयमित्यप्युदक्षरमेव । 'अभिमन्त्रये' इत्यस्य 'आज्ञापयामि' इति कथमर्थः ? समानं मन्त्रमित्यस्य युष्मानिति कथमर्थः ?

इस व्याख्या के अनुसार यहाँ जो उपदेश दिया गया है, वह यद्यपि अनुचित नहीं है, किन्तु वह मन्त्र का अर्थ नहीं है, मन्त्राक्षरों से यह बात निकलती नहीं। जैसे कि—'जो मनुष्य जिसके साथ जिस तरह का व्यवहार करता है, उसके साथ उसी के अनुसार बर्ताव करना चाहिये। कपट आचरण करने वाले के साथ कपटाचरण और भला व्यवहार करने वाले के साथ भला बर्ताव करना चाहिये'। महाभारत के इस श्लोक का अर्थ हमारे लिये ग्राह्य हो सकता है, किन्तु वह ऊपर उद्धृत मन्त्र का अर्थ नहीं माना जायगा, उसी तरह आपका किया गया अर्थ भी मन्त्र का अर्थ नहीं माना जा सकता। 'मनु' धातु यद्यपि विचार का बोधक है और इसका अर्थ गुप्त भाषण भी होता है, तो भी प्रकरण के अनुसार यथोचित ज्ञान अथवा मन्त्रणादि रूप अर्थ गृहीत होता है, सभी व्यक्तियों के ज्ञान अर्थात् गुप्त भाषण की समानता में सारा व्यवहार ही विलुप्त हो जायगा। यहाँ पर राजमन्त्री के दृष्टान्त से मन्त्र की सत्यज्ञानफलता और सर्वोपकारकता सिद्ध करना भी मन्त्राक्षरों के अनुरूप नहीं है, राजा अथवा राजमन्त्री सत्यज्ञानफल अथवा सर्वोपकारक ही नहीं होता। सबके वचनों की बात भी विचार करने पर अच्छी नहीं लगती, क्योंकि मन्त्रणा में अधिक संख्या अपेक्षित नहीं मानी जाती। मतभेद का निराकरण करके सबके लिये हितकर एवं सुन्दर निष्कर्ष ही मन्त्रणा का फल लोक में माना जाता है। 'समिति' शब्द का अर्थ सामाजिक नियम की व्यवस्था अथवा शुभ मर्यादा नहीं है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं दिया गया। यद्यपि इस तरह की सामाजिक व्यवस्था अथवा शुभ मर्यादा हमारे लिये भी समादरणीय है।

शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को 'संकल्प' और दुष्ट गुणों के त्याग की इच्छा को 'विकल्प' कहते हैं, यह कथन भी अनुचित नहीं है, तो भी आपके मत के अनुसार यह सब अर्थ 'मन' पद का ही है, तो इस परिस्थिति में समान पद व्यर्थ हो जायगा। इस तरह 'चित्त' उसको कहते हैं, जिससे कि सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्म, धर्म, ईश्वर आदि का यथावत् विचार हो, यह कथन भी अटपटा सा है, अनुभूत वस्तु का स्मरण होता है, स्मरण की अनुभूति नहीं होती। धर्म और ईश्वर का चिन्तन सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये उसी तरह से लगन से करना चाहिये, जैसे कि कोई अपने लिये करता हो, यह भी मन्त्र का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इसके प्रत्यायक पद वहाँ नहीं है। तुम लोगों को परस्पर सुख देने और उपकार करने में ही सदा अपनी सामर्थ्य लगानी चाहिये, यह बात भी मन्त्राक्षरों के विपरीत है। 'अभिमन्त्रये' इस क्रिया का अर्थ आज्ञा देता हूं, यह कैसे हो सकता है ? 'समानं मन्त्रम्' इन पदों का 'तुम लोगों से' यह अर्थ कैसे हो सकता है ?

सिद्धान्तरीत्या तु साम्मनस्यसम्पादनाय वृतोऽध्वर्युराचार्यो वात्र कथयति—अत्र पूर्वोऽर्धर्चः परोक्षकृतः, उत्तरः प्रत्यक्षकृतः। एषामेकस्मिन् कर्मणि प्रवृत्तानामृत्विजां स्तोतॄणां वा मन्त्रः स्तुतिः शस्त्रस्तोत्रादिरूपा गुप्तभाषणं वा समान एकविधोऽस्तु, अत एव हे मनुष्या इति संबोधनं न युक्तम्, अनुपनीताद्यनधिकारात्। न च सर्वेषां मन्त्राणां विचाराणां गुप्तभाषणानां वा समानत्वमिष्टम्, तथात्वे विश्ववैचित्र्यविलोपापत्तेः। तथा समितिः प्राप्तिरपि समानी एकरूपास्तु। यद्यपि स्तोतॄणामृत्विजां वेदानुसारेण दक्षिणाप्राप्तौ भेद एवास्ते नैकरूपता, तथापि तदतिरिक्तप्राप्तौ समानत्वमिह विवक्षितम्। सामाजिकन्यायव्यवस्थायां मर्यादायां च समितिशब्दो न प्रसिद्धः, न वा तत्र समानता सम्भवति, वर्णाश्रमभेदेन तत्र वैरूप्यस्य शास्त्रसम्मतत्वात्। समितिशब्देन सभापीह न विवक्षिता, कार्यभेदेन सभाया नानात्वसम्भवात्। स्तोतॄणामृत्विजां वा समाने कर्मणि समानाप्राप्तिरेवेह विवक्षिता। मनः मननसाधनमन्तःकरणं चैषां समानमेकविधमस्तु। चित्तं विचारजं ज्ञानं सह सहितं परस्परस्यैकार्थेनैकीभूतमस्तु। लक्ष्यमेकं निश्चित्य तदुद्देश्येन विचारजन्यज्ञानानामेकार्थविषयत्वमेवैकरूप्यम्। अहं च वो युष्माकं समानमेकविधं मन्त्रमभिमन्त्रये ऐकविध्याय संस्करोमि। तथा वो युष्माकं स्वभूतेन समानेन साधारणेन हविषा चरुपुरोडासादिना अहं जुहोमि। अत्र 'होश्छन्दसि' (पा० सू० २।३।३) इति सूत्रेण कर्मणि कारके तृतीया। वषट्कारेण हविः प्रक्षिपामीत्यर्थः।

सोमादौ यथा घृतस्पर्शनैकमत्येन कार्यकरणाय तानूनप्त्रं कर्म क्रियते, तथैव स्तोतॄणामृत्विजामन्येषां वाभीष्टजनानामैकमत्याय साम्मनस्याय वा जपहोमाभिषेकादौ एषां मन्त्राणामुपयोगो भवति, वाञ्छाकल्पलतादावपि तथा प्रयोगदर्शनात्। यद्यत्र सर्वे मनुष्याः सम्बोध्याः, यदि च जुहोमीत्यत्र परमेश्वरस्य कर्तृत्वमभ्युपगम्य हे मानवाः, समानेन हविषा सत्यधर्मेण सहैवाहं सदा नियोजयामीत्यर्थः स्यात्, तदा सङ्कल्पत्वाद् ईश्वरेण तथा नियोगे सति कथं तदन्यधर्मे मनुष्याणां प्रवृत्तिः स्यात्, दृश्यते च विविधधर्मेषु जनानां प्रवृत्तिः, तस्मात् पूर्वोक्त एवार्थो न त्वदुक्तोऽर्थः।

सिद्धान्ततः यह मन्त्र सांमनस्य संपादन के लिये वृत अध्वर्यु अथवा आचार्य की उक्ति है। इसका पूर्वार्ध परोक्षकृत और उत्तरार्ध प्रत्यक्षकृत है। इसका अर्थ है—सांमनस्य संपादन में प्रवृत्त ऋत्विजों अथवा स्तोताओं की मन्त्र-स्तोत्रादि रूप स्तुति अथवा गुप्त भाषण एक तरह का हो। इसीलिये 'हे मनुष्यों' यह संबोधन यहाँ उचित नहीं माना जा सकता, क्योंकि अनुपनीत व्यक्ति का वेदाध्ययन में अधिकार नहीं माना जाता। अपि च, सभी मन्त्रों, विचारों अथवा गुह्यभाषणों की समानता मानी भी नहीं जा सकती, ऐसा मानने पर विश्व के वैचित्र्य की उपपत्ति न हो सकेगी। इसी तरह समिति अर्थात् प्राप्ति भी समान एक रूप हो। यद्यपि स्तोता ऋत्विजों की दक्षिणा प्राप्ति में वेद के अनुसार भेद ही रहता है, एकरूपता नहीं, तो भी अन्य प्राप्तियों की समानता यहाँ अभिप्रेत है। सामाजिक न्याय व्यवस्था अथवा मर्यादा में 'समिति' शब्द प्रसिद्ध नहीं है। यहाँ समानता हो भी नहीं सकती, वर्ण और आश्रम के भेद से इसमें वैषम्य शास्त्रसंमत है। स्तोता अथवा ऋत्विजों के समान कार्य में समान प्राप्ति की बात ही यहाँ विवक्षित है। मन अर्थात् मनन का साधन अन्तःकरण इनका समान हो। चित्त अर्थात् विचार से उत्पन्न हुआ ज्ञान मन के साथ परस्पर समानार्थक होकर रहे। यहाँ पर ऐकरूप्य का अर्थ है एक लक्ष्य को निश्चित करके उसकी पूर्ति के लिये विचारपूर्वक एकाग्रता की स्थापना। मैं भी तुम्हारे लिये एक ही तरह की बात सोचता हूँ, एक तरह के संस्कार की कल्पना करता हूं तथा तुम लोगों की सर्वसाधारण हवि, चरु-पुरोडाश आदि से हवन करता हूं। यहाँ पर 'होश्छन्दसि' इस सूत्र से कर्म कारक में तृतीया विभक्ति का विधान है। अतः यह अर्थ हुआ कि वषट्कार का उच्चारण करते हुए आहुति प्रदान करता हूं।

सोमादि याग में जैसे घृत-स्पर्शपूर्वक ऐकमत्य से 'तानूनप्त्र' कर्म किया जाता है, उसी तरह स्तोता, ऋत्विक् अथवा अन्य अभीष्ट जनों के ऐकमत्य अर्थात् सांमनस्य के लिये जप, होम, अभिषेक आदि के प्रसंग में इन मन्त्रों का उपयोग होता है। वाञ्छाकल्पलता आदि में भी इस तरह के प्रयोग देखे जाते हैं। यदि यहाँ पर सभी मनुष्यों को संबोधित करना हो और यदि 'जुहोति' इस क्रिया का कर्ता परमेश्वर को मानकर यह अर्थ किया जाय कि हे मनुष्यों, समान हवि और सत्य धर्म में मैं तुम लोगों को नियुक्त करता हूं, तो ईश्वर तो सत्यसंकल्प है, वह यदि सब मनुष्यों को सत्यधर्म में नियुक्त करता है, तो मनुष्य की तब असत्य और अधर्म

'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।' (ऋ०सं०१०।१९१।४) हे मानवाः ! युष्माकं यत्सामर्थ्यमस्ति तद्धर्मसम्बन्धे परस्परमविरुद्धं कृत्वा सर्वैः सुखं वर्धनीयम् । आकूतिरध्यवसायः, उत्साह आप्तरीतिर्वा । सापि वो युष्माकं परस्परोपकारकरणेन सर्वेषां जनानां सुखायैव भवतु । यथा मदुपदिष्टस्य धर्मस्य विलोपो न स्यात्, तथैव कार्यम् । वो युष्माकं मानसानि प्रेमप्रचुराणि कर्माणि निर्वैराय समानान्यविरुद्धान्येव सन्तु । अत्र प्रमाणम्—'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव । तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति' (श० का० १४।४।१३।९) । मनसा विविच्य पुनरनुष्ठातव्यम् । शुभगुणानामिच्छा कामः, तत्प्राप्त्यनुष्ठानेच्छा सङ्कल्पः, पूर्वं संशयं कृत्वा पुनर्निश्चयकरणेच्छारूपः संशयो विचिकित्सा, ईश्वरसत्यधर्मादिगुणानामुपर्यत्यन्तं विश्वासः श्रद्धा, अनीश्वरवादाधर्माद्युपरि सर्वथा ह्यनिश्चयोऽश्रद्धा, सुखदुःखप्राप्त्यापि ईश्वरधर्माद्युपरि सदैव निश्चयरक्षणं धृतिः । अशुभगुणानामाचरणं नैव कार्यमित्यधैर्यमधृतिः । सत्यधर्मानाचरणेऽसत्याचरणे मनसः सङ्कोचो घृणा ह्रीः, शुभगुणान् शीघ्रं धारयेदिति धारणावती वृत्तिर्धीः । असत्याचरणादीश्वराज्ञाभङ्गात् पापाचरणाद् ईश्वरो नः सर्वत्र पश्यतीति मत्वा भयवृत्तिर्भीः । एतद्धर्मकं मनो वो युष्माकं समानं तुल्यमस्तु । यथा वः सुसहासति । हे मनुष्याः, युष्माकं यथा परस्परं सुसहायेन सति सम्यक् सुखोन्नतिः स्यात् तथा सर्वैरपि प्रयत्नो विधेयः । सर्वान् सुखिनो दृष्ट्वा चित्त आह्लादः कार्यः । नैव कञ्चिदपि दुःखिनं दृष्ट्वा सुखं केनापि कर्तव्यम्, किन्तु यथा सर्वे स्वतन्त्राः सुखिनः स्युस्तथैव सर्वैः कार्यम्' (पृ० १०८-१०९) इति ।

तदेतदपि विशृङ्खलमेव । अत्रेदं विचारणीयम्—'अत्र प्रमाणम्' इति कस्मिन्नर्थे प्रमाणमुपन्यस्तम्, मनसः साम्ये मनसि वा ? नाद्यः, अत्र प्रमाणे मनःसाम्यस्याप्रतिपादनात् । नान्त्यः, प्रकरणविरोधात् । मनःस्वरूपस्य

में प्रवृत्ति कैसे संभव हो सकती है ? यह देखा जाता है कि मनुष्य की प्रवृत्ति विविध कार्यों में होती है । इसीलिये इस मन्त्र का सिद्धान्ती संमत अर्थ ही ठीक है, आपका बताया हुआ नहीं ।

'समानी वः' इत्यादि मन्त्र का दयानन्द संमत अर्थ यह है—'ईश्वर इस मन्त्र का प्रयोजन कहता है कि हे मनुष्यों ! तुम्हारा जितना सामर्थ्य है, उसको धर्म के साथ मिलाकर सब सुखों को सब दिन बढ़ाते रहो । निश्चय, उत्साह और धर्मात्माओं के आचरण को 'आकूति' कहते हैं । हे मनुष्यों, तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिये सदा हो, जिससे मेरे कहे धर्म का कभी त्याग न हो । सदा वैसा ही प्रयत्न करते रहो, जिससे कि तुम्हारे हृदय अर्थात् मन के सब व्यवहार आपस में सदा प्रेमसहित और विरोध से अलग रहे । मन शब्द का अनेक बार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि मन के अनेक अर्थ जाने जांय । इसमें 'कामः संकल्पः' इत्यादि श्रुति प्रमाण है । प्रथम विचार करके सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड़ देने का नाम 'काम' है । सुख और विद्यादि शुभ गुणों को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा को 'संकल्प' कहते हैं। जो जो काम करना हो, उस उसको प्रथम शंका कर करके ठीक निश्चय पर पहुँचने के लिये जो संदेह उठाया जाता है, उसको 'विचिकित्सा' कहते हैं । ईश्वर और सत्य धर्म आदि शुभ गुणों में निश्चयात्मक विश्वास को स्थिर करना ही 'श्रद्धा' कहलाती है । अविद्या, कुतर्क, बुरा काम करना, ईश्वर को न मानना और अन्याय आदि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम 'अश्रद्धा' है । सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि के होने पर भी अपने धीरज को न छोड़ना 'धृति' कहलाती है । बुरे कामों में दृढ़ न होने को 'अधृति' कहते हैं । झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को न करने में मन को लज्जित करने को 'ह्री' कहते हैं। श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करने वाली वृत्ति 'धी' कहलाती है । ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उससे उलटे पाप के आचरण से नित्य डरते रहना 'भी' कहलाती है । इन सब गुणों वाली वस्तु का नाम 'मन' है । इसको सब तरह से सबके सुख के लिये युक्त करो । हे मनुष्यों, जिस प्रकार पूर्वोक्त धर्मसेवन से तुम लोगों को उत्तम सुखों की बढ़ती हो और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में एक दूसरे का सुख बढ़े, ऐसा काम सदा करते रहो । किसी को दुःखी देखकर अपने मन में सुख मत मानो, किन्तु सबको सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो । जिस प्रकार से स्वाधीन होकर सब लोग सदा सुखी रहें, वैसा ही यत्न करते रहो' (पृ० १०९-११०) ।

अप्रक्रान्तत्वात्। 'शुभगुणानामिच्छा कामः' इत्यपि न युक्तम्, शुभेतरगुणानामिच्छाया अकामत्वापत्तेः। इच्छामात्रं कामपदाभिलप्यमिति शास्त्रप्रसिद्धिः। अत एव पाशविककामकर्मज्ञानानां मृत्युपदाभिलप्यानां वैदिककामकर्मज्ञानलक्षणयाऽविद्यया अतितरणं श्रुतम्। 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' (वा० सं० ४०।१४)। 'पूर्वं संशयं कृत्वा पुनर्निश्चयकरणेच्छारूपः संशयो विचिकित्सा' इति विचिकित्सालक्षणं किंमूलकं किंप्रमाणकमित्येतदपि वक्तव्यमासीत्। संशयमात्रस्य विचिकित्सापरत्वे बाधाभावात्। निश्चयकरणेच्छायाः संशयरूपत्वे मानाभावश्च। निश्चयकरणेच्छाया जिज्ञासानतिरिक्तत्वेन विचिकित्सायाः संशयापरपर्यायाया जिज्ञासाजनकत्वेऽपि जिज्ञासारूपत्वासम्भवात्। गुरुशास्त्रवाक्येषु विश्वासः श्रद्धेत्यनेनैवोपपत्तौ ईश्वरसत्यधर्माद्युपरि इत्यादिलक्षणं गौरवावहमेव।' क ईश्वरः किं सत्यं कः सत्यधर्मं इत्यादिजिज्ञासायाः शास्त्रमन्तराऽनिवृत्तेः। न च प्रत्यक्षानुमानाभ्यां तन्निर्णयः सम्भवति, 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७), 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० उ० ३।९।२६), 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मी० सू० १।१।२), 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥' (भ० गी० १६।२३) इति वचनशतविरोधाच्च। एवमेवाश्रद्धालक्षणमप्यपूर्णमेव, अनीश्वरवादाधर्माद्युपरि सर्वथा निश्चयाभावेऽपि कथञ्चिन्निश्चयस्याश्रद्धात्वानापत्तेः। अनीश्वरवादाधर्मादिष्वविश्वासोऽश्रद्धेत्यस्यैव सुवचत्वाच्च। (ईश्वरवादे धर्मादिषु चाविश्वासोऽश्रद्धेति प्रतिभाति)। एवं धृतिलक्षणमपि न सङ्गतम्, सर्वत्र धारणाशक्तेरेव धृतित्वसम्भवेऽमुकांशे धैर्यरक्षणस्य धृतित्वानुपपत्तेः। शरीरादिधारणे धृतिप्रयोगानुपपत्तेश्च। एवमधैर्यलक्षणमपि न सङ्गतम्, अशुभगुणानामाचरणं नैव कार्यमित्यस्याधैर्यत्वाप्रसिद्धेः। किञ्च, धैर्यं

यह व्याख्या भी अस्त-व्यस्त है। यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि 'अत्र प्रमाणम्' इस वाक्य से किस विषय में प्रमाण उपस्थित किया गया है? मन के साम्य में अथवा मन के विषय में? इसमें प्रथम पक्ष नहीं बनता, क्योंकि यहां पर मन की समानता का प्रतिपादन नहीं किया गया है। अन्तिम पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि उसका प्रकरण से विरोध होगा। यहां पर मन का स्वरूप नहीं वर्णित है। 'काम' शुभ गुणों की इच्छा को कहते हैं, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अशुभ गुणों की इच्छा को 'काम' न कह सकेंगे। इच्छा मात्र कामपद से कही जाती है, ऐसी शास्त्र की प्रसिद्धि है। इसीलिये पाशविक काम, कर्म और ज्ञान 'मृत्यु' पद से बोधित होते हैं और वैदिक काम, कर्म और ज्ञानलक्षण अविद्या से इस 'मृत्यु' का अतितरण 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा०' इत्यादि श्रुति में प्रतिपादित है। 'पहले शंका उठा कर बाद में किसी एक निश्चय पर पहुँचने की इच्छा को 'विचिकित्सा' कहते हैं, विचिकित्सा के इस लक्षण में प्रमाण क्या है? इसको बताना चाहिये था। संशय मात्र को विचिकित्सा मानने में भी कोई बाधा नहीं है। किसी निश्चय पर पहुँचने की इच्छा भी संशयात्मक होती है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। निश्चय पर पहुँचने की इच्छा जिज्ञासा से अतिरिक्त नहीं है। विचिकित्सा संशय का ही दूसरा नाम है। इससे जिज्ञासा की उत्पत्ति होती है, वह स्वयं जिज्ञासात्मक नहीं होती। गुरु और शास्त्रवाक्यों में विश्वास को 'श्रद्धा' कहते हैं, इतना ही कहना पर्याप्त है। इसके बाद श्रद्धा के लक्षण में ईश्वर, धर्म और सत्य आदि का संनिवेश करना गौरवावह ही हो सकता है। ईश्वर, सत्य, सत्यधर्म आदि क्या हैं?' इस जिज्ञासा की निवृत्ति बिना शास्त्र के नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से भी इसका निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर ऊपर उद्धृत तथा अन्य सैकड़ों शास्त्रवचनों से विरोध उपस्थित हो जायगा। इसी तरह से अश्रद्धा का लक्षण भी यहां अधूरा ही है, क्योंकि अनीश्वर वाद, अधर्म आदि में सर्वथा अनिश्चय न होने पर भी किसी प्रकार से निश्चय हो जाने पर उसको अश्रद्धा नहीं कह सकते। इसकी अपेक्षा यही कहना अधिक सरल है कि अनीश्वरवाद, अधर्म आदि में अविश्वास को अश्रद्धा कहते हैं। धृति का लक्षण भी संगत नहीं है, क्योंकि सर्वत्र धारणा-शक्ति ही धृति नाम से कही जाती है। इस अवस्था में अमुक अंश में धैर्य की रक्षा धृति नहीं कही जा सकती और शरीरादि के धारण में धृति शब्द का प्रयोग देखा भी नहीं जाता। इसी तरह से अधैर्य का लक्षण भी असंगत है, क्योंकि अशुभ गुणों को आचरण में नहीं लाना चाहिये, इस बात को कोई अधैर्य पद से अभिव्यक्त नहीं करता। धैर्य को धृति कहते हैं, धैर्य के अभाव को अधृति कहते हैं, ऐसा कहने पर भी धर्म, परमेश्वर आदि के निश्चय में धैर्य का होना धृतित्व और अशुभ गुणों के आचरण में धैर्य का न होना अधृतित्व

धृतिस्तदभावोऽधृतिरित्युक्त्यापि धर्मपरमेश्वरादिनिश्चये धैर्यस्य धृतित्वमशुभगुणानामाचरणे धैर्याभावस्याधृतित्वमायात्येव। ह्रीपदं लज्जार्थकमेव। आस्तिकानां शुभकर्मानाचरणेऽशुभकर्माचरणे च लज्जा भवत्येव। इदमत्रावधेयम्,—कर्मणामेव शुभानामशुभानां वाऽऽचरणं सम्भवति, न गुणानामिच्छादीनाम्। यतो हि ते कृत्यगोचरत्वेन आचरणाभूमयः। 'जानाति, इच्छति, अथ करोति' इति रीत्या ज्ञानेच्छानन्तरमेव कृत्युदयेन ज्ञानेच्छाऽगोचरस्य कृत्यविषयतैव। एवं धीपदस्य निश्चयात्मिका वृत्तिरेवार्थः। शुभगुणान् शीघ्रं धारयेति कारणावती वृत्तिरिव परधनस्त्र्यादिकं शीघ्रं प्राप्स्यामीति धारणावत्या वृत्तेरपि धीत्वाविशेषात्। भीलक्षणमपि स्वात्माश्रयदोषदुष्टम्, भयवृत्तिभियोरभेदात्।

श्रीशाङ्करभाष्यानुसारी कामसङ्कल्पादीनामयमर्थः—कामः स्त्रीव्यतिकराभिलाषादिः। सङ्कल्पः प्रत्युपस्थितविषयविकल्पनं शुक्लनीलादिभेदेन। विचिकित्सा संशयज्ञानम्। श्रद्धा अदृष्टार्थेषु कर्मस्वास्तिक्यबुद्धिः। अश्रद्धा तद्विपरीता बुद्धिः। धृतिर्धारणम्, देहाद्यवसाद उत्तम्भनम्। अधृतिस्तद्विपर्ययः। ह्रीर्लज्जा। धीः प्रज्ञा। भीर्भयम् इत्येवमादिकं सर्वं मन एव। (वृ० उ० १।५।३) स्वेच्छया यस्य कस्यचिच्छब्दस्य यत्किञ्चिदर्थकरणे शाब्दबोधेऽराजकतैव स्यात्।

यथा वः सुसहायेन सम्यक् स्वसति सुखोन्नतिः स्यात्, तथा सर्वैः प्रयत्नः कर्तव्य इत्यपि निष्प्रमाणक एवार्थः।

सायणादिसम्मतोऽस्य मन्त्रस्यार्थस्तु—हे ऋत्विग्यजमाना अधिकारिजना वा, वो युष्माकम् आकूतिः सङ्कल्पोऽध्यवसायः समानी एकविधास्तु। वो युष्माकं हृदयानि समानान्येकविधानि सन्तु। यथा येन प्रकारेण वः युष्माकं सुसहः शोभनं साहित्यम् असति भवति तथा वो युष्माकं मनः अन्तःकरणं प्रत्येकापेक्षया एकवचनम्, समानमेकरूपमस्तु। अस्तेर्लेटि 'वहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुगभावे 'असति' इति रूपम्।

है, यह बात आ ही जाती है। 'ह्री' पद का प्रयोग लज्जा के अर्थ में होता है। शुभ कर्म का आचरण न करने और अशुभ कर्मों को करने में आस्तिक जनों को लज्जा का अनुभव होता है। यहाँ पर ध्यान देने की वात यह है कि अशुभ अथवा शुभ कर्मों का ही आचरण हो सकता है, इच्छादि गुणों का आचरण कथमपि संभव नहीं हो सकता। मनुष्य के कार्यों से ही उसके गुणों की प्रतीति हो सकती है, अतः वे आचरण के विषय नहीं हो सकते। 'जानता है, इच्छा करता है, तब कार्य में प्रवृत्त होता है' इस नियम के अनुसार ज्ञान और इच्छा के बाद ही कृति का उदय होता है, अतः जो ज्ञान और इच्छा का विषय न हो, वह कृति का विषय भी नहीं बन सकता। इसी तरह से धी शब्द का अर्थ भी निश्चयात्मक वृत्ति होगा, आपका किया अर्थ नहीं, क्योंकि शुभ गुणों को शीघ्र धारण करो इस धारणावती वृत्ति की तरह दूसरे के धन, स्त्री आदि को शीघ्र प्राप्त कर लूं, इस तरह की धारणा वाली वृत्ति में भी तो आपका लक्षण जा सकता है। आपका 'भी' शब्द का लक्षण भी स्वात्माश्रयदोष से दुष्ट है, क्योंकि भय की वृत्ति और भय ये दोनों अभिन्न हैं।

शांकरभाष्य के अनुसार काम, संकल्प आदि पदों का अर्थ यह है—'काम' स्त्री आदि पदार्थों की अभिलाषा को कहते हैं, सामने उपस्थित विषय के बारे में सोचने को 'संकल्प' कहते हैं, 'विचिकित्सा' संशय ज्ञान कहलाता है, अदृष्टार्थक कर्मों में आस्तिक्य बुद्धि 'श्रद्धा' है। इससे विपरीत बुद्धि 'अश्रद्धा' कही जाती है। 'धृति' धारणा अर्थात् देहादि के अवसाद से मन को उठाना है, इसका विपर्यय 'अधृति' है, 'ह्री' को लज्जा, 'धी' को प्रज्ञा और 'भी' भय को कहते हैं। ये सब मन के ही व्यापार हैं। अपनी इच्छा के अनुसार जिस किसी शब्द का मनमाना अर्थ करने पर शाब्द बोध में अराजकता उत्पन्न हो जायगी।

जैसे तुम लोगों की अच्छे सहायकों के मिल जाने से सुखपूर्वक उन्नति हो, उस तरह से सब लोगों को मिलकर प्रयत्न करना चाहिये, यह अर्थ भी प्रमाण रहित ही है।

इस मन्त्र का सायणादि संमत अर्थ यह है—'हे ऋत्विजों, यजमानों, अथवा अधिकारी जनों, आप लोगों का संकल्प, अध्यवसाय एक तरह का हो, आप लोगों के हृदय समान विचार वाले हों, जिस तरह से आप लोगों का यह सुन्दर साहित्य, सहयोग

यदपि—'दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥' (यजु० १९।७७) इत्यस्य भाष्य उक्तम्—'प्रजापतिः सत्यानृते धर्माधर्मौ प्रसिद्धलक्षणौ दृष्ट्वा व्याकरोत् सर्वज्ञया स्वया विद्यया विभक्तौ कृतवानस्ति। कथमित्याहेति सर्वेषां मनुष्याणामनृतेऽसत्येऽधर्मेऽश्रद्धामदधात्, अर्थादधर्मेऽश्रद्धां कर्तुमाज्ञापयति, तथैव वेदशास्त्रप्रतिपादिते सत्ये प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षिते पक्षपातरहिते न्याय्ये धर्मे प्रजापतिः श्रद्धामदधात्। एवं सर्वैर्मनुष्यैः परमप्रयत्नेन स्वकीयं चित्तं धर्मे प्रवृत्तमधर्मे निवृत्तं च सदैव कर्त्तव्यम्' (पृ० ११०) इति।

तदपि न युक्तम्, गौणार्थाश्रयणस्यायुक्तत्वात्। प्रजापतिरीश्वरः सत्यसङ्कल्पः, अमोघकर्मा च। त्वदुक्तव्याख्यानदृष्ट्या यदीश्वरः सर्वेषां मनुष्याणामनृतेऽश्रद्धामदधात् सत्ये धर्मे च श्रद्धामदधात् तदा कुतो न सर्वे मनुष्या असत्येऽधर्मेऽश्रद्धावन्तः सत्ये धर्मे श्रद्धावन्तश्च जाताः। श्रद्धामदधादित्यस्य सत्ये श्रद्धां कर्तुमाज्ञापयतीत्यर्थस्तु मुख्यार्थत्यागेन गौणार्थाश्रयणमेव। तस्मान्महीधरादिसम्मत एवार्थोऽत्राक्षरमर्यादालभ्यः। स च—प्रजापतिः सत्यानृते भूतिमती दृष्ट्वा व्याकरोत्। नहि सर्वे सत्यानृतयोर्विविक्तं रूपं द्रष्टुं शक्नुवन्ति, अतः प्रजापतिरेव तयोरिदं सत्यमिदमनृतमिति पृथक्त्वं कृतवान्। इदं विवेचनमेव व्याकरणम्। विविच्यानृतेऽश्रद्धां नास्तिक्यमदधात्, अनृतस्याश्रद्धाया निमित्तत्वात्। सत्ये श्रद्धामदधात्, सत्यस्य श्रद्धानिमित्तत्वात्। श्रद्धा आस्तिकबुद्धिः। अत्र मन्त्रेषु नेश्वराज्ञा प्रकृता। विशेषतश्चायं विषयो मन्त्राणां व्याख्यानावसरे निरूपयिष्यते।

यदपि—'दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥'. (यजु० ३६।१८)। अस्यायमभिप्रायः—सर्वे मनुष्याः सर्वथा सर्वैः

बनता हो, तदनुरूप आप लोगों का अन्तकरण एक रूप बन जाय। यहां पर अस् धातु के लट् लकार में 'बहुलं छन्दसि' इस सूत्र से शप् प्रत्यय का लुक् न होने पर 'असति' यह रूप बनता है।

'दृष्ट्वा रूपे०' इस मन्त्र का भाष्य दयानन्द ने इस प्रकार किया है—'सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है, उसने सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है, जिसके प्रकट और गुप्त लक्षण हैं, उनको सर्वज्ञ विद्या से ठीक ठीक देख कर सत्य और असत्य को अलग अलग किया है। उसने कहा है कि—हे मानवों, तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ, अन्याय के करने में अश्रद्धा अर्थात् प्रीति कभी मत करो। वैसे ही सत्य अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त हो, जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षा की गई हो या की जाय, वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है, उसके आचरण में सब दिन प्रीति रक्खो। जो जो तुम लोगों के लिये मेरी आज्ञा है, तदनुसार अपने आत्मा, प्राण और मन को सब पुरुषार्थ और कोमल स्वभाव से युक्त करके धर्म में सदा प्रवृत्त और अधर्म से निवृत्त करो' (पृ० ११०)।

यह अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि मुख्यार्थ की उपलब्धि में गौण अर्थ को स्वीकार करना अयुक्त है। प्रजापति अर्थात् ईश्वर सत्य संकल्प वाला और अमोघ कर्म वाला है। आपकी व्याख्या के अनुसार यदि ईश्वर ने सभी मनुष्यों में अनृत में अश्रद्धा और सत्य धर्म में श्रद्धा उत्पन्न कर दी है, तो फिर सभी मनुष्यों की असत्य, अधर्म में अश्रद्धा और सत्य, धर्म में श्रद्धा स्थिर क्यों नहीं रहती। इसका यह अर्थ करना कि ईश्वर सत्य में श्रद्धा करने की आज्ञा देता है, मुख्यार्थ का त्याग कर गौण अर्थ का ग्रहण करने पर ही संभव हो सकता है। इसलिये यहां पर महीधर प्रभृति का किया गया अर्थ ही अक्षरों की मर्यादा से प्राप्त होता है। वह इस प्रकार है—'प्रजापति ने सत्य और अनृत की व्याख्या की। सभी मनुष्य सत्य और अनृत का विशद स्वरूप समझने में असमर्थ हैं, ऐसा सोचकर प्रजापति ने ही यह अलग अलग बतलाया कि यह सच है और यह झूठा। यह इस प्रकार का विवेचन ही यहां पर व्याकरण पद से कहा गया है। इस तरह का विवेचन कर ईश्वर ने अनृत में अश्रद्धा उत्पन्न की, क्योंकि अनृत अश्रद्धा का निमित्त है। उसने सत्य में श्रद्धा उत्पन्न की, क्योंकि सत्य श्रद्धा को उत्पन्न करता है। श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धि और अश्रद्धा नास्तिक्य बुद्धि कही जाती है। यहां पर मन्त्रों में ईश्वर की आज्ञा का प्रसंग नहीं है। इस बात को विशेष रूप से मन्त्रों की व्याख्या करते समय स्पष्ट किया जायगा।

सह सौहार्देनैव वर्तेरन्निति सर्वैरीश्वरोक्तोऽयं धर्मः स्वीकार्यः। ईश्वरश्च प्रार्थनीयो यतो धर्मनिष्ठा स्यात्। हे सर्वदुःखविनाशकेश्वर! मदुपरि कृपां विधेहि, यतोऽहं सत्यधर्मं यथावद्विजानीयाम्। पक्षपातरहितस्य सुहृदश्चक्षुषा प्रेमभावेन सर्वाणि भूतानि मां सदा समीक्षन्ताम् अर्थाद् मम मित्राणि भवन्तु, इतीच्छाविशिष्टं मां दृंह सत्यसुखैः शुभगुणैश्च सह सदा वर्धय। एवमहमपि मित्रस्य चक्षुषा निर्वैरो भूत्वा वयमन्योन्यं समीक्षामहे सुखसम्पादनार्थं वर्तामहे, इतीश्वरोपदिष्टो धर्मो हि सर्वैर्मनुष्यैरेक एव मन्तव्यः (पृ० १११)।

अयमप्यर्थः पूर्वापरसम्बन्धशून्योऽविचारितरमणीयः, प्रकरणविरोधात्। यतो हि द्यौः शान्तिरित्यारभ्य (३६।१७)। यजूंषि 'संदृशि जीव्यासमित्यन्यानि। अग्नि हृदयेनेत्याद्यध्यायसमाप्तिपर्यन्तमाश्वमेधिकम्। (वा० सं० ३९।८-१३)। स्वाध्याये मन्त्रपाठे प्रवर्ग्यमन्त्रादावस्याध्यायस्य दर्शनात्। तथा च प्रकरणानुसारेण हे महावीर दृते, दृ विदारणे। विदीर्णेऽपि जरया शरीरे मा मां त्वं दृंह दृढीकुरु। यद्वा दृते विदीर्णे कर्मणि मां दृह अच्छिद्रं कुरु, देवताप्रसादात् कर्मणां व्यङ्गत्वनिराकरणस्मरणात्। 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥' (शाण्डिल्यसूत्रे द्वितीयेऽध्याये द्वितीयाह्निके विंशे सूत्रे टीकायामुद्धृता) इति स्मृतेः। यद्वा ससुषिरत्वात् सेक्तृत्वाद् दृतिर्महावीरः। हे दृते हे महावीर, मा दृंह दृढीकुरु। कथं दार्ढ्यमित्याह-सर्वाणि भूतानि प्राणिनो मा मां मित्रस्य स्नेहवतः सुहृदश्चक्षुषा समीक्षन्तां सम्यक् पश्यन्तु। सर्वे मां मित्रदृष्ट्या पश्यन्तु नारिदृष्ट्या, सर्वेषां प्रियो भूयासमित्यर्थः। अहमपि सर्वाणि भूतानि मित्रस्य चक्षुषा पश्यामि, सर्वे मे प्रियाः सन्त्वित्यर्थः। मित्रचक्षुः शान्तं भवति मित्रं कञ्चन न हन्ति। न च कश्चन मित्रं हन्ति। एवं परस्पराद्रोहेण सर्वा

स्वामी दयानन्द ने आगे 'दृते दृंह मा' इत्यादि मन्त्र को उद्धृत कर उसकी व्याख्या इस तरह से की है—'मनुष्य लोग आपस में सब प्रकार के प्रेमभाव से सब दिन रहे। मनुष्यों के लिये यह उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म है, उसी को ग्रहण करें और वेद रीति से ही ईश्वर की उपासना करें, जिससे कि मनुष्यों की धर्म में ही प्रवृत्ति हो। हे सब दुःखों के नाश करने वाले ईश्वर, आप हम पर कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग आपस में बैर को छोड़ कर एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से रहें, सब प्राणी परस्पर एक दूसरे को मित्र जानकर बन्धु के समान व्यवहार करे, ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को आप सत्य, सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये। इसी तरह से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपना मित्र समझूं और हानि-लाभ, सुख-दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को जानूँ। हम सब लोग आपस में मिलकर सदा मित्रभाव से रहें और सत्य-धर्म के आचरण में सत्य-सुखों को नित्य बढ़ावें। इस तरह से जो ईश्वर का कहा धर्म है, वही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है' (पृ० १११)।

यह अर्थ भी पूर्वापर सम्बन्ध से रहित और अविचारित रमणीय है और प्रकरण के विरुद्ध भी है। 'द्यौः शान्तिः' इस मन्त्र से आरम्भ करके 'संदृशि जीव्यासम्' यहाँ तक यजुर्मन्त्र हैं।' अग्नि हृदयेन' यहाँ से अध्याय समाप्ति पर्यन्त अश्वमेध संबन्धी मन्त्र है। स्वाध्याय, मन्त्रपाठ और प्रवर्ग्य मन्त्रों के प्रारम्भ में इस अध्याय का विनियोग किया जाता है। इस तरह से प्रकरण के अनुसार यह अर्थ होता है—'हे महावीर, वृद्धावस्था से इस शरीर के जीर्ण हो जाने पर भी तुम मुझे मजबूत बनाओ। अथवा मेरे इस कर्म में विघ्न पड़ जाने पर भी तुम उसको पूरा करो। देवताओं के प्रसाद से कर्मों का वैगुण्य दूर हो जाता है, ऐसा शास्त्रों में कहा गया है। यह स्मृतिवचन प्रसिद्ध है—'जिसका स्मरण करने से और नाम का उच्चारण करने से तप, यज्ञ तथा अन्य क्रियाओं की न्यूनता तत्काल पूरी हो जाती है, उस अच्युत को मैं प्रणाम करता हूं'। अथवा मशक में छिद्र रहता है और उससे पानी खींचा जाता है, अत; यहाँ पर उसी को महावीर कहा गया है। हे दृते, हे महावीर, तुम मुझे मजबूत बनाओ। मुझे तुम दृढ़ किस तरह से बनाओगे? इसका उपाय यह है कि सभी प्राणी मुझे मित्र के स्नेह से भरी दृष्टि से देखें। सभी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, शत्रु की दृष्टि से नहीं। अर्थात् मैं सबका प्रिय हो सकूं। मैं भी सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि देख सकूँ, अर्थात् सभी के प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित कर सकूं। मित्र की दृष्टि शान्त होती है। मित्र किसी को नुकसान नहीं पहुंचाता और न कोई व्यक्ति ही मित्र को नुकसान पहुंचाता है। इस तरह से परस्पर सब कोई प्रेम से रहते हुए किसी को बिना नुकसान पहुँचाये हम मित्र की दृष्टि से देखें। यहाँ पर प्रकरण के अनुरोध से

नहिंसन्तो मित्रस्य चक्षुषा वयं समीक्षामहे पश्यामः । अत्र प्रकरणानुसारेण महावीर एव सम्बोधनीयः । तत्रापि न पात्रविशेषमहावीरमात्रस्य सम्वोधनम्, किन्तु तदन्तर्यामिणः परमेश्वरस्यैव सम्वोधनमायाति । मदुपरि कृपां विधेहि यतोऽहं सत्यधर्मं यथावद्विजानीयामिति मन्त्रार्थंबहिर्भूतमेव । सत्यसुखैः शुभगुणैश्च सह सदा वर्धयेत्यप्युदक्षरमेव । दृंह इत्यस्य तु दृढीकरणं दीर्घायुष्यारोग्यादिप्रदानेनातरन्तु धर्मब्रह्मनिष्ठादाढर्चात् सम्भवति । सुखसम्पादनार्थं सर्वेषां स्वाभाविकी प्रवृत्तिरिति न सा विधेया, विधेरप्रवृत्तप्रवर्तकत्वनियमात् । ईश्वरोपदिष्टो धर्मः सर्वैर्मनुष्यैरेक एव मन्तव्य इत्यपि न मन्त्रार्थः, तद्बोधकपदाभावात् ।

'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् । इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि' ।।' (यजु० १।५) । सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरसहायेच्छा सदा कार्येति । नैव तस्य सहायेन विना सत्यधर्मज्ञानं तस्यानुष्ठानपूर्तिश्च भवतः (पृ० १११) । अत्रापीच्छायाः कृत्यविषयत्वाद्विधेयता न सम्भवति, इच्छाया वस्तुसौन्दर्यज्ञानजनित्वनियमात् ।

यदुक्तम्—'हे अग्ने व्रतपते सत्यपते व्रतं सत्यधर्मं चरिष्यामि । अत्र प्रमाणम्—सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्, सत्याचरणाद् देवा असत्याचरणान्मनुष्याश्च भवन्ति, अतः सत्याचरणमेव धर्ममाहुः । तच्छकेयं यथा तत् सत्याचरणं धर्मं कर्तुमहं शकेयं समर्थो भवेयम्, तन्मे राध्यताम्, तत्सत्यधर्मानुष्ठानं मे मम भवता राध्यताम् । कृपया सम्यक् सिद्धं क्रियताम् । किञ्च तद्व्रतमित्यत्राह—इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि । यत्सत्यपालनस्यैवाचरणम् अनृतादसत्याचरणाद् अधर्मात् पृथग्भूतं तदेवोपैमि । अस्यैव धर्मस्यानुष्ठानम् ईश्वरप्रार्थनया स्वपुरुषार्थेन च कर्तव्यम् । नापुरुषार्थिनमीश्वरोऽनुगृह्णाति । यथा चक्षुष्मन्तं दर्शयति नान्धमेवमेव धर्मं कर्तुमिच्छन्तं

महावीर को ही सम्बोधित किया जा सकता है । यह केवल महावीर नामक एक पात्रविशेष का सम्बोधन नहीं है, किन्तु उस पात्रविशेष में विद्यमान अन्तर्यामी परमेश्वर को ही यहाँ सम्बोधित किया जाता है । 'मेरे ऊपर आप कृपा कीजिये, क्योंकि मैं सत्य और धर्म को यथोचित जानता हूँ' यह अर्थ मन्त्राक्षरों से बाहर का है । सत्य, सुख और शुभ गुणों के साथ मुझे सदा बढ़ाओ, यह बात भी उन अक्षरों से प्राप्त नहीं होती । दृंह इस क्रिया का अर्थ मजबूत बनाओ, यही हो सकता है । दीर्घायुष्य, आरोग्य आदि के प्रदान द्वारा बाह्य दृढ़ता और धर्म-ब्रह्मविषयक निष्ठा के द्वारा आन्तर दृढ़ता प्राप्त होती है । सुख के संपादन के लिये सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, अतः उसका यहाँ विधान नहीं है, क्योंकि विधि का यह नियम है कि वह वहीं प्रवृत्त कराती है, जहाँ पर कि मनुष्य की स्वभावतः प्रवृत्ति नहीं होती । ईश्वर के उपदिष्ट धर्म को सभी मनुष्य एक ही मानें, यह भी अर्थ मन्त्र से नहीं निकलता, क्योंकि इस अर्थ के बोधक पद वहाँ विद्यमान नहीं हैं ।

आगे 'अग्ने व्रतपते' इस मन्त्र का अभिप्राय बताया गया है कि सब मनुष्य ईश्वर की सहायता की सदा इच्छा करे, क्योंकि उसकी सहायता के बिना सत्य धर्म का पूर्ण ज्ञान और उसका अनुष्ठान कभी पूरा नहीं हो सकता । यहाँ पर भी इच्छा के कृति का विषय हुए बिना विधेयता संभव नहीं हो सकती । इच्छा का यह नियम है कि वह वस्तु के सौन्दर्य के ज्ञानमात्र से भी उत्पन्न होती है ।

इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की गई है—'हे सत्यपते परमेश्वर, मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान करना चाहता हूं, उसकी सिद्धि आपकी कृपा से ही हो सकती है । इस मन्त्र का अर्थ शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है कि—'जो मनुष्य सत्य के आचरण रूप व्रत को करते हैं, वे देव कहाते हैं और जो असत्य का आचरण करते हैं, उनको मनुष्य कहते हैं ।' इससे मैं उस सत्यव्रत का आचरण किया चाहता हूं । मुझ पर आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे मैं सत्यधर्म का अनुष्ठान पूरा कर सकूँ । उस अनुष्ठान की सिद्धि करने वाले एक आप ही हैं, अतः आपकी कृपा से सत्यरूप धर्म का अनुष्ठान मेरे लिये सदा के लिये सिद्ध हो । मैं इस व्रत का पालन करना चाहता हूँ कि उन सब असत्य कार्यों से छूटकर मैं सत्य के आचरण में सदा दृढ़ रहूँ । मनुष्य को यह कहना उचित है कि ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ्य रक्खा है, उतना पुरुषार्थ अवश्य करे । उसके उपरान्त ईश्वर की सहायता की इच्छा करनी चाहिये । मनुष्यों में सामर्थ्य रखने का ईश्वर का यही प्रयोजन है कि मनुष्यों को अपने पुरुषार्थ से ही सत्य का आचरण अवश्य करना चाहिये । जैसे कोई मनुष्य आँख वाले पुरुष को ही किसी चीज को दिखला सकता है, अन्धे को नहीं; इसी रीति से जो मनुष्य सत्यभाव,

पुरुषार्थकारिणमीश्वरानुग्रहाभिलाषिणं प्रत्येवेश्वरः कृपालुर्भवति, नान्यं प्रति चेति जीवे तत्सिद्धि कर्तुं साधनानामीश्वरेण पूर्वमेव रक्षितत्वात्, तदुपयोगाकरणाच्च। येन पदार्थेन यावानुपकारो ग्रहीतुं शक्यस्तावान् स्वेनैव ग्रहीतव्यस्तदुपरीश्वरानुग्रहेच्छा कर्तव्या' (पृ० ११२) इति।

तत्रेदं विचारणीयम्—यद्यपि सत्यं परमादरणीम्, तथापि न तदेव धर्मोऽग्निहोत्रादिधर्माणामपि विहितत्वात्। पूर्वं मनुष्या एव देवा इति मतमपाकृतमेव। श्रुत्यर्थस्तु—देवाः सत्याचरणशीलाः मनुष्या अनृताचरणशीला भवन्ति। देवानां यजनाय मनुष्यैरपि सत्याचरणाद्देवत्वमात्मनि सम्पादनीयम्, 'देवो भूत्वा देवान् यजेत्' इति श्रुतेः। अत एव सत्यधारणात् 'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि' (श० १।१।१।४) इति श्रुतेः सार्थक्यम्। यच्चोक्तमस्यैव धर्मस्याष्ठानमीश्वरकृपया स्वपुरुषार्थेन कर्तव्यमिति, तदुभयमपि प्रकरणविरुद्धम्, इहाध्याये दर्शपूर्णमासेष्टिविषयाणां मन्त्राणां प्रकृतत्वात्। येन पदार्थेन यावानुपकारो ग्रहीतुं शक्यस्तावान् स्वेनैव ग्रहीतव्यस्तदुपरीश्वरानुग्रहेच्छा कार्येत्यपि विरुद्धमेव, मन्त्राक्षरार्थबहिर्भूतत्वात्। अनुग्रहस्य माहात्म्यज्ञानेनानुग्रहेच्छायाः स्वतःसम्भवेन विधेयत्वानुपपत्तेः। कदाऽनुग्रहेच्छा कर्तव्येति नियमानुपपत्तिश्च पूर्वस्मादेव हेतोः। अनुग्रहस्तु पुरुषार्थप्रवृत्तावप्यपेक्षणीय एव, 'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते' (कौ० ब्रा० उ० ३।९) इति श्रुतेः। विविदिषापीच्छैव। तथा च सा यज्ञतपोदानादिभिः सम्पादनीया भवति। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति। यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (क० उ ४।४।२२) इति श्रुत्या यज्ञादिद्वारेश्वरानुग्रहादेव वेदनसौन्दर्यज्ञानादिभिरिच्छा सम्पाद्यते। आत्मान्तःकरणादीनामप्यन्तर्याम्यनुग्रहेणैव प्रवृत्तिसम्भवाच्च। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमयति, आत्मा यं वेद, आत्मा यस्य शरीरम्, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (श० १४।६।७।३०), 'यो विज्ञाने तिष्ठन्'

पुरुषार्थ से धर्म को करना चाहता है, उसी पर ईश्वर भी कृपा करता है, अन्य पर नहीं; क्योंकि ईश्वर ने धर्म करने के लिये बुद्धि आदि बढ़ने के साधन जीव के साथ रक्खे हैं। जब जीव उनसे पूर्ण पुरुषार्थ करता है, तब परमेश्वर भी अपने पूरे सामर्थ्य से उस पर कृपा करता है, अन्य पर नहीं। जिस पदार्थ से जितना उपकार लिया जा सकता है, उतना अवश्य लेना चाहिये। इसके बाद ही ईश्वर की कृपा की आकांक्षा रखनी चाहिये। उसका उपयोग न करने पर ईश्वर का अनुग्रह नहीं प्राप्त हो सकता' (पृ० ११२-११३)।

यहां पर विचारणीय बात यह है कि यद्यपि सत्य परम आदरणीय है, तो भी केवल सत्य ही धर्म नहीं है, सत्य के अतिरिक्त अग्निहोत्रादि धर्मों का भी विधान है। पहले के मनुष्य ही देव हैं, इस मत का खण्डन हम कर चुके हैं। श्रुति का यह अर्थ है कि देवगण सत्य का आचरण करने वाले और मनुष्य असत्य का आचरण करते हैं। देवताओं का यजन करते समय मनुष्यों को भी सत्याचरण द्वारा अपने में देवत्व का संपादन करना चाहिये। श्रुति कहती है कि 'स्वयं देवता बनकर देवताओं का पूजन करे'। इसी लिये मनुष्य जब सत्य को धारण करता है, तब श्रुति की यह उक्ति सार्थक मानी जाती है कि 'मैं अब अनृत को छोड़कर सत्य को प्राप्त करता हूं'। यह कहना कि इस धर्म का अनुष्ठान ईश्वर की कृपा और अपने पुरुषार्थ के आधार पर करना चाहिये, ये दोनों ही बातें प्रकरण विरुद्ध हैं, क्योंकि इस अध्याय मे दर्श-पूर्णमास इष्टि से संबद्ध मन्त्र ही प्रकृत हैं। जिस पदार्थ से जितना उपकार लिया जा सकता है, उतना अवश्य लेना चाहिये। इसके बाद ही ईश्वर की कृपा की आकांक्षा रखनी चाहिये, यह बात भी विरुद्ध है, क्योंकि मन्त्राक्षरों में इसका कोई संकेत नहीं है। अनुग्रह के माहात्म्य का ज्ञान होनें पर अनुग्रह की इच्छा स्वतः उत्पन्न होती है, अतः उसमें विधेय भाव की उपपत्ति ही नहीं होगी। इसी कारण से अनुग्रह की इच्छा कब करनी चाहिये, इसमें भी किसी नियम की उपपत्ति नहीं बन सकती। पुरुषार्थ में प्रवृत्त होने में भी ईश्वर के अनुग्रह की आवश्यकता है। कौषीतकि श्रुति का स्पष्ट कथन है कि 'भगवान् जिसको इस संसार से मुक्त करना चाहता है, उसको साधु कर्मों में प्रवृत्त कराता है'। ब्रह्म को जानने की इच्छा भी एक इच्छा ही है। यज्ञ, तप, दान आदि से विविदिषा सम्पादित होती है। 'इस ब्रह्म को ब्राह्मण वेदों के उपदेश से, यज्ञ, दान और अनश्वर तप के बल से जानना चाहते हैं' इस श्रुति के अनुसार यज्ञादि के अनुष्ठान से ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करके ही, मनुष्य ब्रह्म के वेदन सौन्दर्य का ज्ञान होने पर ही इच्छा करता है। अन्तर्यामी का अनुग्रह होने पर ही आत्मा, अन्तःकरण प्रभृति की ब्रह्मवेदन में प्रवृत्ति हो सकती है। 'य आत्मनि तिष्ठन्'.......'यो

(बृ० उ० ३।७।२२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अतो धर्मं कर्तुमिच्छन्तमेव परमेश्वरोऽनुगृह्णातीत्यपि निरर्थकम्, इच्छादीनामपि परमेश्वरानुग्रहहेतुकत्वात् । 'परात्तु तच्छ्रुतेः (ब्र० सू० २।३।४१)इति न्यायात् । न चैवं वैषम्यनैर्घृण्यादिकम्, पूर्वपूर्वकर्मसापेक्षत्वात् । तदुक्तम्—'वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात्' (ब्र० सू० २।१।३४), 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' (ब्र० सू० २।३।४२) इत्यादिप्रमाणेभ्यः। 'सक्रियस्य च यः प्रैषः स प्रैषो विषयो णिचः'। अत एव यदा पूर्वसंस्कारेण पठन्तं देवदत्तं यज्ञदत्तः प्रेरयति, तदैव पाठयतीति णिचः सार्थक्यं भवति। अत एव न काष्ठं पाठयतीति सम्भवति।

वस्तुतो मन्त्रार्थस्त्वित्थम्—'अपरेणाहवनीयं प्राङ्निष्ठमग्निमीक्षमाणोऽप उपस्पृश्य व्रतमुपैम्यग्ने व्रतपत इदमहमिति वा' (का० श्रौ० २।१।८६) इति कात्यायनस्मरणाद् यजमानः प्राङ्निष्ठमग्निमीक्षमाणोऽप उपस्पृश्यानेन मन्त्रेण व्रतं गृह्णाति। हे अग्ने, तन्नामकदेवताविशेष व्रतपते व्रतपालक, अत्र व्रतपदेन दर्शपूर्णमासाङ्गसत्यादिनियमग्रहणमेव मन्तव्यम् । अतः कर्मपूर्त्यनन्तरं व्रतत्यागोऽपि विहितः। 'व्रतं विसृजते येनोपेयात्' (का० श्रौ० ३।८।३)। व्रतग्रहणे मन्त्रद्वयमुक्तम्। तयोर्मध्ये येन व्रतादानं प्रथमेन द्वितीयेन वा तदनुसारेण व्रतं विसृजेत्। 'अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषम्, तदशकम्, तन्मेऽराधीदमहं य एवास्मि सोऽस्मि' (यजु० २।२८)। पूर्वस्मिन् मन्त्रे चरिष्यामीति भविष्यत्प्रयोगोऽत्र त्वचारिषमिति भूतार्थबोधकलकारप्रयोगः। अराधीदित्यपि भूतार्थकलकारप्रयोगः। पूर्वं व्रतग्रहणेनानृतान्मानुषभावात् सत्यं दिव्यं भावमुपगत आसम्, इदानीं व्रतविसर्गेण य एव मानुषोऽहमासं स एवाहमस्मीति केवलं सत्यस्यैव ग्रहणं तत्त्यागश्च नोपपद्यते। तस्मात् सायणादिसम्मतो मदुक्त एवार्थो युक्तः। त्वदाज्ञया व्रतं चरिष्यामि कर्मानुष्ठास्यामि। कर्मरूपस्य व्रतस्यैवाचरणं सम्भवति। नहि सत्यरूपस्य धर्मस्यानुष्ठानमिह प्रकृतं न वा

विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं। इसी लिये धर्म का आचरण करने में प्रवृत्त मनुष्य पर ही ईश्वर अनुग्रह करता है, यह कथन भी निरर्थक है, क्योंकि यह धर्म के आचरण की इच्छा भी परमेश्वर के अनुग्रह पर ही निर्भर है। 'परात्तु तच्छ्रुतेः' यह बादरायण सूत्र इसमें प्रमाण है। यदि कहा जाय कि इस तरह से तो ईश्वर पर वैषम्य और नैर्घृण्य का दोष आवेगा, सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जीवों के पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ही ईश्वर सृष्टि करता है, अतः ईश्वर पर विषम सृष्टि अथवा निर्दयता का आरोप नहीं किया जा सकता। 'वैषम्यनैर्घृण्ये०' इस बादरायण सूत्र में इस बात को स्पष्ट किया गया है। 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु०' इत्यादि सूत्र भी इसमें प्रमाण हैं। 'क्रिया में निरत व्यक्ति को जो आदेश दिया जाता है, वही आदेश णिच् प्रत्यय का भी विषय होता है' इस नियम के अनुसार जब पूर्व संस्कार के अनुसार पढ़ने में प्रवृत्त देवदत्त को यज्ञदत्त प्रेरित करता है, तभी 'पढ़ाता है' इस णिच् प्रत्यय की सार्थकता मानी जाती है। अतः काष्ठ को पढ़ाता है, ऐसा प्रयोग नहीं बनता। इसका अभिप्राय यह है कि जीव अपने पूर्वार्जित कर्मों के संस्कार के अनुसार जब प्रवृत्त होता है, तभी ईश्वर की प्रेरणा सार्थक हो सकती है और इससे ईश्वर पर उक्त दोषों की कोई संभावना भी नहीं रह जाती।

वस्तुतः इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—'अपरेणाहवनीयं०' इस कात्यायन श्रौतसूत्र के बताये विनियोग के अनुसार यजमान अपने सामने रखी हुई अग्नि को देखते हुए आचमन करने के बाद इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए व्रत का ग्रहण करता है कि हे अग्ने, आप व्रत के रक्षक हैं। यहां पर व्रत पद से दर्श-पूर्णमास कर्म के अंगभूत सत्याचरण आदि नियमों को ग्रहण करना ही माना जाना चाहिये। इसीलिये कर्म की समाप्ति के बाद इन नियमों का त्याग भी विहित है। 'व्रतं विसृजते येनोपेयात्' इस कात्यायन श्रौतसूत्र के वचन का अभिप्राय यह है कि व्रत का ग्रहण करते समय दो मन्त्रों का विधान है। इनमें से प्रथम या द्वितीय जिस मन्त्र का उच्चारण कर व्रत ग्रहण किया हो, उसी मन्त्र से व्रत का विसर्जन भी करे। व्रत का ग्रहण करते समय जो मन्त्र बोला जाता है, उसमें 'चरिष्यामि' यह भविष्यत्काल की क्रिया का प्रयोग है और विसर्जन मन्त्र में 'अचारिषम्' इव भूतकाल की क्रिया का। 'अराधीत्' यह भी भूतार्थक लकार का प्रयोग है। पहले व्रत ग्रहण के द्वारा अनृत मनुष्यभाव को छोड़कर सत्य दिव्यभाव को मैंने प्राप्त किया था, अब जब मैं व्रत विसर्जन कर रहा हूं तो जैसे मैं पहले मनुष्य था, उसी तरह पुनः मनुष्यभाव को ही प्राप्त कर रहा हूं। यहां पर केवल सत्य का ग्रहण अथवा उसका त्याग ही विहित नहीं है, किन्तु व्रत का ग्रहण और विसर्जन विहित है। इस लिये सायणादि संमत हमारा अर्थ ही इस मन्त्र का उचित है। आपकी आज्ञा से मैं व्रत का आचरण, कर्म का अनुष्ठान करूंगा। कर्मरूप व्रत का ही आचरण

व्रतमचारिषमित्यतः प्राक् तदाचरणं सम्पन्नम्। दर्शपूर्णमासाख्यस्य कर्मणस्त्वनुष्ठानं सम्पन्नम्। तच्छकेयम्, तत्कर्मानुष्ठातुं शक्तो भूयासं त्वत्प्रसादात्। तन्मे राध्यतां मदीयं तत्कर्म निर्विघ्नं फलपर्यन्तं सिद्धयतु। अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः' (श० १।१।१।२) इति श्रुत्याग्नेर्देवविशेषस्य व्रतपालकत्वश्रवणात् सर्वान्तिर्यामिणः परमेश्वरस्य तु सर्वदेव-प्रकृतित्वात् सर्वशक्तित्वात् सर्वपालकत्वेन व्रतपालकत्वमपि। इदमहं यजमानोऽस्मादनृतान्मनुष्यजन्मनो मनुष्यभावाद्वा उद्गत्य सत्यं देवशरीरं देवभावं वा उपैमि प्राप्नोमि। सत्यमनुष्ठीयमानकर्मरूपेण प्रत्यक्षमिति मत्वान इदमिति विशिनष्टि। अनृतं मनुष्यजन्म, शीघ्रविनाशित्वात्। स्वाप्निको गजाश्वादिः प्रपञ्चो वोधमात्रेण शीघ्रं निवर्तमान-त्वादनृत उच्यते। तथैव मनुष्यजन्मापि। सत्यं देवजन्म वहुकालस्थायित्वात्, यथा जागरगजादयः। 'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि' (श० १।१।१।४) इति शातपथश्रुतेश्च। यद्यपि वेदान्तरीत्या चिरकालस्थायिनो जागरगजादिप्रपञ्चस्यापि ब्रह्मवोधान्निवर्तमानत्वाद् अनृतत्वमेव, तथापि प्रकृते स्थायित्वास्थायित्वाभ्यां दिव्यत्वादिव्यत्वाभ्यामेवानृतसत्यत्वोक्ति।

यदपि—'व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्। दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥' (यजुर्वेदे १९।३०)। 'यदा मनुष्यो धर्मं जिज्ञासते सत्यं चिकीर्षति तदैव सत्यं विजानाति, तत्रैव मनुष्यैः श्रद्धेयं नासत्ये चेति। यो मनुष्यः सत्यं व्रतमाचरति तदा दीक्षामुत्तमाधिकारमाप्नोति, यदा दीक्षितः सन् उत्तमगुणैरुत्तमाधिकारी भवति तदा सर्वतः सत्कृतः फलवान् भवति। सास्य दक्षिणा भवति। तां दीक्षया शुभगुणाचरणेनैवाप्नोति सा दक्षिणा। यदा ब्रह्मचर्यादिसत्यव्रतैः सत्काराढ्यः स्वस्यान्येषां च भवति, तदा चरणे श्रद्धां दृढं विश्वासमुत्पादयति। कुतः? सत्याचरण-मेव सत्कारकमस्त्यतो यदोत्तरोत्तरं श्रद्धा वर्धते, तदा तया श्रद्धया मनुष्यैः परमेश्वरो मोक्षधर्मादिकं च प्राप्यते नान्यथेति। अतः किमायातम्? सत्यप्राप्त्यर्थं सर्वदा श्रद्धोत्साहादिपुरुषार्थो वर्धयितव्यः' (पृ० ११३) इति, तन्न, यतो

किया जा सकता है। सत्यरूप धर्म का अनुष्ठान यहाँ प्रकृत नहीं है और न 'व्रतमचारिषम्' ऐसा कहने से पहले उसका आचरण ही संपन्न हुआ है। हां, दर्श-पूर्णमास कर्म का अनुष्ठान अवश्य संपन्न हुआ है। 'तच्छकेयम्' का अर्थ है कि आपकी कृपा से मैं उस कर्म के अनुष्ठान में समर्थ होऊं। मेरा वह कर्म फलपर्यन्त निर्विघ्न संपन्न हो। 'देवताओं में अग्नि व्रतपति कहलाता है' इस श्रुति के अनुसार अग्निनामक देवताविशेष ही यहां पर व्रत का पालक माना जाता है। सर्वान्तर्यामी परमेश्वर तो सभी 'देवताओं की प्रकृति हैं, वह सर्व-शक्तिमान् है, वह सबका पालक है, अतः व्रत का पालक भी है। मैं यजमान इस अनृत मनुष्यजन्म अथवा मनुष्यभाव से उठकर सत्य अर्थात् देवशरीर अथवा देवभाव को प्राप्त करता हूं। यहां पर सत्य अनुष्ठीयमान कर्म के रूप में प्रत्यक्ष है, ऐसा मानकर उसको 'इदम्' पद से विशिष्ट किया गया है। मनुष्य का जन्म अनृत इसलिये है कि वह शीघ्र विनाशी है। स्वप्न में देखे गये हाथी-घोड़ा आदि प्रपंच जगने के साथ ही शीघ्र निवृत्त हो जाने से अनृत कहे जाते हैं, उसी तरह से मनुष्य का जन्म भी अनृत है। देवता का जन्म सत्य कहा जाता है, क्योंकि वह चिरकाल तक स्थिर रहता है, जैसे कि जाग्रदवस्था के हाथी-घोड़ा प्रभृति पदार्थ अपेक्षाकृत स्थायी हैं। 'इदमहमनृतात्' इत्यादि शतपथ श्रुति भी इसमें प्रमाण है। यद्यपि वेदान्त की पद्धति से चिरस्थायी जाग्रदवस्था के गजादि प्रपंच की निवृत्ति भी ब्रह्म का अवबोध होने के साथ ही हो जाती है, अतः यह भी अनृत ही है, तो भी प्रकृत में स्थायित्व और अस्थायित्व, दिव्यत्व और अदिव्यत्व ही सत्य और अनृत के आधार माने गये हैं।

इसके आगे 'व्रतेन दीक्षाम्' इत्यादि मन्त्र को उद्धृत कर कहा है कि 'इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है, तभी सत्य को जानता है। उसी सत्य में मनुष्यों को श्रद्धा करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं। जो मनुष्य सत्य के आचरण को दृढ़ता से करता है, तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को पाता है। जब मनुष्य उत्तम गुणों से युक्त होता है, तब सब लोग सब प्रकार से उसका सत्कार करते हैं। क्योंकि धर्म आदि शुभ गुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त करता है, अन्यथा नहीं। जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतों से अपना और दूसरे का अत्यन्त सत्कार होता है, तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है, क्योंकि सत्यधर्म का आचरण ही मनुष्यों का सत्कार कराने वाला है। फिर सत्य के आचरण में जितनी अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है, उतना ही मनुष्य व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त करता जाता है, अधर्म के आचरण से नहीं। इससे

यदा धर्मं जिज्ञासते तदा सत्यं चिकोर्षति । एतेन धर्मजिज्ञासासत्यचिकीर्षयोर्हेतुहेतुमद्भावो ज्ञायते । स च किं प्रमाणक इत्यद्याप्यनिश्चितमेव । धर्मसत्योरभेदे धर्मजिज्ञासाधर्मचिकीर्षयोः कार्यकारणभावोऽधिगन्तुं शक्यः, इच्छायाः सर्वत्र सौन्दर्यज्ञानजनितत्वानपायात् । 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' इतिन्यायेन सत्यज्ञाने सत्यचिकीर्षाया जन्यत्वसम्भवेऽपि सत्यचिकीर्षाया धर्मजिज्ञासाजन्यत्वाप्रसिद्धेः । सत्यचिकीर्षानन्तरं सत्यं विज्ञानमिति कथमुपपद्यते ? सत्यज्ञानानन्तरमेव सत्यचिकीर्षासम्भवात् । ज्ञानानन्तरमेव तद्विषयकेच्छासम्भवात् । सत्यज्ञानानन्तरं दीक्षामुत्तमाधिकारं प्राप्नोतीत्यपि प्रमाणापेक्षमेव, दीक्षापदस्योत्तमाधिकारार्थत्वे मानाभावात् । दीक्षित उत्तमाधिकारी सत्कृतः फलवान् भवति । सास्य दक्षिणा भवति । दक्षिणा उत्तमाधिकारप्राप्तेः फलत्वेनोक्ता । इह तु शुभाचरणेनैव तत्प्राप्तिरुच्यत इति कथं न परस्परव्याहतिः । पूर्वं सत्कारप्राप्तिरेव दक्षिणोक्ता । पुनश्चात्र दक्षिणायाः सत्काराढ्यतोच्यते । सत्काराढ्यया दक्षिणया श्रद्धा वर्धते श्रद्धया मोक्षादिकं प्राप्यते । इत्थं त्वदुक्तेरेतावान्निष्कर्षः—सत्यभाषणादिभिः सत्यादिव्यवहर्तुः सत्कारो जायते । तेनैव सत्यभाषणादौ श्रद्धा वर्धते । तथैव सत्यं मोक्षादिकं प्राप्यत इति । तच्च न युक्तम्, क्वचिद्वैपरीत्यस्यापि दर्शनात् । किञ्चैवमन्वयव्यतिरेकादिभिः कार्यकारणे निर्णीयेते । येनाचरणेन सत्कारलाभस्तत्रैव विश्वासः स्यात् । तथात्वे ब्रह्मविद्यया सत्कारलाभः, तेन तत्र श्रद्धा, श्रद्धया च तत्प्राप्तिरिति चक्रकापत्तिः । किञ्च, नावश्यं सत्यब्रह्मचर्यादिभिः सत्कारलाभः, अतज्ज्ञेषु तदसम्भवात ।

वस्तुतस्तु नास्य मन्त्रस्यायमर्थः, किन्तु पञ्चविंशीं कण्डिकामारभ्यानेके कार्यकारणभावाः प्रदर्शिताः । 'अर्धर्चैरुक्थानां रूपं प्राप्नोति पदैः प्रणवैः निविदो न्यूङ्खानाप्नोति पयसा दुग्धेन सोम आप्यते । अश्विभ्यां प्रातः-

क्या सिद्ध हुआ ? यह कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायं, जिससे सत्यधर्म की यथावत् प्राप्ति हो।' यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि जब मनुष्य धर्म की जिज्ञासा करता है, तदुपरान्त सत्य का आचरण करता है। इससे धर्म की जिज्ञासा और सत्य की चिकोर्षा का कार्यकारणभाव प्रतीत होता है। इसमें क्या प्रमाण है, यह बात आजतक निश्चित नहीं हो पाई है। धर्म और सत्य का अभेद मानने पर धर्मजिज्ञासा और धर्मचिकीर्षा का कार्यकारणभाव जाना जा सकता है। इच्छा सर्वत्र सौन्दर्य के ज्ञान के बाद ही पैदा होती है, इस नियम का कहीं व्यभिचार नहीं देखा जाता। 'इच्छा ज्ञान से उत्पन्न होती है' इस नियम के अनुसार सत्यज्ञान में सत्य-चिकोर्षा की कारणता यद्यपि मानी जा सकती है, किन्तु इससे सत्यचिकीर्षा धर्मजिज्ञासा से उत्पन्न होती है, यह सिद्ध नहीं हो पाता। सत्य की चिकोर्षा के अनन्तर सत्य का ज्ञान कैसे उपपन्न हो सकता है, क्योंकि सत्य के ज्ञान के बाद ही तो सत्य की चिकीर्षा हो सकती है। किसी वस्तु के ज्ञान के बाद ही तद्विषयक इच्छा होती है। सत्यज्ञान के अनन्तर दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार को प्राप्त करता है, यह व्याख्यान भी प्रमाण को अपेक्षा रखता है, क्योंकि दीक्षापद उत्तम अधिकारार्थक है, इसमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। दीक्षित अर्थात् उत्तम अधिकारो जो सत्कृत अथवा फलवान् होता है, यही उसकी दक्षिणा है। दक्षिणा उत्तम अधिकार की प्राप्ति के फल के रूप में प्रदर्शित है। यहाँ पर शुभ आचरण के द्वारा उसको प्राप्ति बताई जाती है। इनमें परस्पर विरोध कैसे नहीं होगा ? पहले सत्कार प्राप्ति को ही दक्षिणा बताया गया है। अब यहाँ पर दक्षिणा की सत्कार से सम्पन्नता वर्णित है। सत्कार से सम्पन्न दक्षिणा से श्रद्धा से बढ़ती है और श्रद्धा से मोक्षादि की प्राप्ति होती है। इस तरह से आपकी उक्ति का यह निष्कर्ष निकलेगा कि—सत्य भाषण आदि के द्वारा सत्यादि का आचरण करने वाले व्यक्ति का समाज में सत्कार होता है। इसी से सत्य भाषण जैसे सत्कर्मों में श्रद्धा बढ़ती है और इसीसे सत्य मोक्षादि को प्राप्ति होती है। यह व्याख्या उचित नहीं है, क्योंकि कभी कभी इसके विपरीत भी देखने को मिलता है। अपि च, कार्यकारणभाव का निर्णय अन्वय-व्यतिरेक से होता है। जिस आचरण से सत्कार मिलेगा, उसी में विश्वास होगा। इस तरह से ब्रह्मविद्या से सत्कार मिलेगा, सत्कार मिलने से उसमें श्रद्धा होगी और श्रद्धा होने से उसकी प्राप्ति होगी, इस चक्रक दोष में आप घिर जायेंगे। सत्य ब्रह्मचर्य आदि के आचरण से सत्कार अवश्य मिलेगा, यह जरूरी नहीं है, क्योंकि जो इस बात को नहीं जानते-मानते, उनसे पर संमान मिलने की कोई संभावना नहीं रहती।

वस्तुतस्तु इस मन्त्र का आपका बताया यह अर्थ नहीं है, किन्तु इस प्रकरण की पचीसवीं कण्डिका से आरम्भ करके अनेक कार्यकारणभाव वर्णित हैं। जैसे कि—'ऋचाओं के अर्धभाग से उक्थों की प्राप्ति होता है, पद अर्थात् प्रणव से निविद और न्यूंख

सवनेनैन्द्रेण माध्यन्दिनं सवनं सरस्वत्या तृतीयं सवनं प्राप्यते। प्रकृते नियमितकर्मविशेषानुष्ठानेन व्रतेन दीक्षामाप्नोति। दीक्षात्र संस्कारविशेष उच्यते। दीयते ज्ञानमत्यन्तं क्षीयते पापसञ्चयः। यया दीक्षा तु सम्प्राप्ता परलोकप्रदायिनी ॥' इत्याप्तोक्तेः शतपथादौ सोमादावपि बहुविधा दीक्षा उक्ताः। तया दीक्षया दक्षिणां दाक्षिण्यं कर्मणामनुष्ठानपाटवं प्राप्नोति। तया दक्षिणया स्वान्तशुद्धया श्रद्धां श्रत् सत्यं धीयते यस्यां सा श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिस्तामाप्नोति। तया श्रद्धया सत्यं सत्यज्ञानादिलक्षणं ब्रह्म प्राप्यते।

'श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिताः। सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृताः ॥' (अथर्व० १०।१५।१-२)। यत्त्वस्याभिप्रायं वर्णयता श्रमेणेत्यादिमन्त्रेषु धर्मस्य लक्षणानि प्रकाश्यन्ते (पृ० ११४) इत्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, सर्वधर्मानुगतलक्षणस्येहादर्शनात्।

यदपि च—'श्रमः प्रयत्नः, पुरुषार्थं उद्यमः, तपो धर्मानुष्ठानम्, तेन श्रमेणैव तपसा च सहेश्वरेण सर्वे मनुष्याः सृष्टा रचिताः। अतो वेदेन परमेश्वरज्ञानेन युक्ताः सन्तो ज्ञानिनः स्युः। ऋते ब्रह्मणि पुरुषार्थे चाश्रिताः ऋतं सेवमानाश्च सदैव भवन्तु। वेदशास्त्रेण प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैश्च परीक्षितेनाव्यभिचारिणा सत्येनावृता युक्ताः सर्वे मनुष्याः सन्तु। श्रिया शुभगुणाचरणोज्ज्वलया चक्रवर्तिराज्यं सेवमानया प्रकृष्टया लक्ष्म्या वृता युक्ताः परमप्रयत्नेन भवन्तु। यशसा उत्कृष्टगुणग्रहणं सत्याचरणं यशः, तेन परितः सर्वतो वृता युक्ताः सन्तः प्रकाशयितारश्च सन्तु' (पृ० ११४)। अत्र परमेश्वरेण मनुष्या इत्याद्यध्याहारः किंमूलक इति वक्तव्यम्? वित्त इत्यस्य ज्ञानिनः स्युरिति कथमर्थः?

वस्तुतस्तु पारम्पर्येण ब्रह्मगवीविषयमेतत् सूक्तम्। ब्राह्मणस्य गौर्ब्रह्मगवी तां क्षत्रियो नादद्यात्। आदद्याच्चेद् वाग्वीर्यं लक्ष्मीस्तं जहाति। ओजआदि नङ्क्ष्यति। सायणादिरीत्या 'वित्तत्ते' इत्येवं पाठः शुद्धः। तथा

की प्राप्ति होती है, दूध से साम की प्राप्ति होती है। अश्विनी सम्बन्धी ऋचा से प्रातःसवन, ऐन्द्री से माध्यन्दिन सवन और सारस्वत ऋक् से तृतीय सवन की प्राप्ति होती है।' प्रकृत में 'नियमित कर्मविशेष के अनुष्ठान से अर्थात् व्रत से दीक्षा की प्राप्ति होती है।' यहाँ पर दीक्षा पद से संस्कारविशेष कहा जाता है। दीक्षा पद का प्रामाणिक संमत अर्थ यह है—'जिससे उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है, संचित पाप क्षीण हो जाते हैं, उसको दीक्षा कहते हैं। यह दीक्षा जिसको प्राप्त होती है, उसको उत्कृष्ट लोक की प्राप्ति होती है।' शतपथ प्रभृति ब्राह्मणों मे सोमादि के प्रकरणों में अनेक प्रकार की दीक्षा का विधान है। उक्त दीक्षा से दक्षिणा, अर्थात् कर्मों के अनुष्ठान में कुशलता प्राप्त होती है। इस कुशलता के आधार पर अपने अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा दीक्षित व्यक्ति आस्तिक्य बुद्धि को प्राप्त करता है। इस आस्तिक्य बुद्धि के सहारे वह सत्य-ज्ञानादि लक्षण ब्रह्म को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

इसके बाद 'श्रमेण तपसा' इत्यादि अथर्ववेद के मन्त्र का अभिप्राय वर्णन करते हुए कहा है कि 'सब मनुष्यों को धर्म के इन लक्षणों का ग्रहण अवश्य करना चाहिये' (पृ० ११४), यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि सभी धर्मों में अनुगत होने वाला कोई सामान्य लक्षण यहाँ नहीं वर्णित है।

आगे इसी की व्याख्या करते हुए जो यह बताया गया है कि—'ईश्वर ने परम प्रयत्न का करना और धर्म का आचरण करना, इन्हीं धर्मों से युक्त मनुष्य को रचा है। इस कारण से ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या और परमेश्वर के ज्ञान से युक्त होकर सब मनुष्य अपने अपने ज्ञान को बढ़ावें। सब मनुष्य ऋत जो ब्रह्म, सत्यविद्या और धर्माचरण इत्यादि शुभ गुणों का सेवन करें। सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों। हे मनुष्यों, तुम शुभ गुणों से प्रकाशित होकर, चक्रवर्ती राज्य आदि ऐश्वर्य को सिद्ध करके, अतिश्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त होकर, शोभा रूप 'श्री' को सिद्ध करके, उसके चारों ओर पहिन कर शोभित हो। सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिये' (पृ० ११४)। यहां पर 'परमेश्वर ने मनुष्यों को' इन पदों का अध्याहार किस प्रमाण के आधार पर किया गया है? 'वित्त' इस पद का अर्थ 'ज्ञानी होवें' यह किस प्रमाण से किया गया है?

वस्तुतस्तु परम्परा से यह सूक्त ब्राह्मण की गाय से संबद्ध है। ब्राह्मण की गाय को क्षत्रिय को नहीं लेना चाहिये। यदि क्षत्रिय ऐसा करता है, तो वाणी का बल और लक्ष्मी उसको छोड़ देती है, उसका तेज आदि भी नष्ट हो जाता है। सायणादि भाष्यकारों

च ब्रह्मणा ब्राह्मणेन श्रमेण लौकिकेनोद्यमेन तपसाऽनशनेन कृच्छ्रचान्द्रायणादिना सृष्टा प्राप्ता यद्वा ब्रह्मणा चतुर्मुखेन तपसा सृष्टा ब्राह्मणेन श्रमेणेयं वित्ता प्राप्ता ऋते ब्रह्मणि श्रिता। सा च सत्येन सत्यादिधर्महेतुत्वात् सत्येनावृता परिवेष्टिता, सत्यमयीति यावत्। श्रिया सम्पत्त्या सत्यादिहेतुगोमूत्रगोमयादिहेतुत्वात् प्रावृता युक्ता। यशसा परीवृता, यशोहेतुत्वात्।

'स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम्' (अथर्व० १२।५।३)। पितृतृप्तिहेतुपितृपिण्डादिकव्ययुक्तस्वधाकारहेतुत्वाद् इयं ब्रह्मगवी स्वधया परिहिता स्वधापरिधानवती श्रद्धया पर्यूढा श्रद्धयाऽस्तिक्यबुद्ध्या पर्यूढा परित उह्यमाना दीक्षया सोमदीक्षया गुप्ता सुरक्षिता यज्ञे प्रतिष्ठिता देवयजनरूपे यज्ञे प्रतिष्ठामुपगता, लोको आदित्सयाऽस्या अवलोकनमपि निधनं मृत्युहेतुः।

'तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य। अपक्रामति सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः॥' इति सूक्तान्तिमेन मन्त्रेण ब्रह्मगवीप्रसङ्गस्य स्पष्टतयावगमात्। एतदर्थस्तु—'तां पूर्वोक्तविशेषणां ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतस्तस्योद्वेगं जनयतः क्षत्रियस्य सूनृता वाग् वीर्यं पराक्रमः, पुण्या लक्ष्मीः समृद्धिश्च, अपक्रामति अपगच्छति। अत एषु मन्त्रेषु सृष्टाः श्रिता मनुष्या इत्यर्थनिर्धारणं पौर्वापर्यविचारवैधुर्यमूलकमेव, तां ब्रह्मगवीमित्युत्तरमन्त्रविरोधात्।

यत्तु—'स्वधया परिहिताः परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनैव सन्तुष्य सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिणः स्युः' (पृ० ११५) इत्युक्तम्, तत्तु तस्य स्वातन्त्र्यमात्रमेव, देवतृप्तिहेतोः स्वाहाशब्दस्येव पितृतर्पणहेतोः स्वधाशब्दस्यार्थानवगमात्। शुभगुणधारणेनैव मनुष्याणां सन्तुष्टिसर्वहितकारित्वसम्भवेन स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनेत्युक्तेर्निरर्थकत्वात्। स्वधेत्यत्र स्वपदसार्थक्याय तथा व्याख्यानमिति चेत्तथात्वेऽपि नैरर्थक्यानपायात्।

के मत से इस मन्त्र का 'वित्तन्ते' यह पाठ शुद्ध है। इस मन्त्र का सही अर्थ इस प्रकार है—'ब्राह्मण ने लौकिक उद्यम के सहारे और कृच्छ्र चान्द्रायण प्रभृति तपस्या करके इसको प्राप्त किया है। अथवा चतुर्मुख ब्रह्मा ने ब्राह्मण के सदृश तप करके इसको प्राप्त किया है। इसीलिये यह ऋतरूप ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। यह सत्य अर्थात् सत्यादि धर्म की कारणभूत होने से आवृत्त है, परिवेष्टित है, अर्थात् सत्यमयी हैं। यह गाय सत्यादि आचरण में कारणभूत गोमूत्र, गोमय आदि की जननी है, अतः यह यश से चारों तरफ घिरी हुई है, क्योंकि यह ब्राह्मण का यश बढ़ाने में कारणभूत है'।

'स्वधया' इत्यादि मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—'यह ब्राह्मण की गाय पितरों की तृप्ति के कारण पितृपिण्ड प्रभृति कव्य से युक्त स्वधाकार में की निष्पत्ति में प्रधान कारण होती है, इसलिये यह स्वधाकार से परिहित अर्थात् परिधान वाली होकर श्रद्धा-बुद्धि का आश्रय बनती है। यह सोमादि यागों में प्राप्त की गई दीक्षा से सुरक्षित होकर यज्ञ में प्रतिष्ठित होती है। इस गाय को जो व्यक्ति ग्रहण करने की इच्छा से देखता है, वह भी उसकी मृत्यु का कारण हो सकता है'।

इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र 'तामाददानस्य' में यह प्रसंग ब्राह्मण की गाय से संबद्ध है, इसकी स्पष्ट प्रतीति हो जाती है। इसका अर्थ इस प्रकार हैं—'पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त इस ब्राह्मण की गाय को जो क्षत्रिय लेना चाहता है और इस प्रकार उस ब्राह्मण को उद्विग्न करना चाहता है, उसको सूनृत वाणी, पराक्रम, पुण्यप्रद लक्ष्मी और समृद्धि छोड़कर चली जाती है। अतः इन मन्त्रों में 'सृष्ट' पद का 'सहारा लेने वाले मनुष्य' यह अर्थ करना पूर्वापर प्रकरण का विचार न कर पाने को ही सूचित करता है, क्योंकि आगे के मन्त्र में परिदृष्ट 'ब्रह्मगवी' पद से इसकी संगति किसी भी प्रकार से नहीं बैठती।

इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की जाती है कि 'सब प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा अर्थात् अपने ही पदार्थों का धारण करें। इस अमृत रूप व्यवहार से सदा युक्त हों' (पृ० ११५)। यह अर्थ व्याख्याकार की स्वतन्त्र प्रवृत्ति का द्योतक है, क्योंकि स्वाहा शब्द जैसे देवताओं की तृप्ति का द्योतक है, उसी प्रकार स्वधा शब्द पितृवर्ग की तृप्ति के लिये प्रयुक्त होता है, इस अर्थ की उनको प्रतीति नहीं है। शुभ गुणों के धारण करने से ही मनुष्यों की सन्तुष्टि और सर्वहितकारिता संभव हो सकती है, अतः स्वकीय पदार्थ अर्थात् शुभ गुण का धारण करना, यह कथन सर्वथा निरर्थक है। 'स्वधा' शब्द में स्वपद की सार्थकता के लिये ऐसी व्याख्या करने

स्वकीय-परकीय-साधारणपदार्थगुणधारणस्य तदपेक्षयाप्युत्कर्षाधायकत्वाच्च। परिहिता इत्यस्य हितकारिण इति व्याख्यानमपि निराधारमेव। श्रद्धया ऊढाः प्राप्तवन्त इत्यप्यसङ्गतम्, किं प्राप्तवन्त इत्यनुक्तेः। दीक्षापदस्य सद्भिः कृतः सत्योपदेश इत्यर्थेऽपि मूलमपेक्षितम्। यज्ञपदस्य देवयजनरूपं प्रसिद्धार्थमपहायेतस्ततो मुधैव परिधावनम्। लोको निधनमित्यस्य अयं लोकः सर्वेषां मनुष्याणां निधनं यावन्मृत्युर्न भवेत्तावत्सर्वोपकारकं सत्कर्मानुष्ठानं कर्तुं योग्यमस्तीति सर्वैर्मन्तव्यमिति व्याख्या तु सर्वथापि निरर्गला। लोकनिधनशब्दयोः सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः। यावन्मृत्युर्न भवेत् तावत्सत्कर्मानुष्ठानं कर्तुं योग्यमित्यस्यार्थस्य बोधकपदानुपलब्धेः।

यच्च—'ओजश्च सहश्च, सहश्च बलं च, वाक् चेन्द्रियं च, श्रीश्च धर्मश्च' (अथर्व० १२।५।३।७) इत्यस्य व्याख्याने उक्तम्—'ओजो न्यायपालनान्वितः पराक्रमः, तेजः प्रगल्भता धृष्टता निर्दीनता च सत्ये व्यवहारे कर्तव्या सहश्च सुखदुःखहानिलाभक्लेशप्रदवर्तमानप्राप्तावपि हर्षशोकाकरणं तन्निवारणार्थं परमप्रयत्नानुष्ठानं सहनं च सर्वैः सदा कर्तव्यम्। बलं च ब्रह्मचर्यादिनियमाचरणेन शरीरबुद्ध्यादिरोगनिवारणं दृढाङ्गता निश्चलबुद्धित्वसम्पादनं भीषणकर्मयुक्तं बलं च कार्यम्, वाक् च विद्याशिक्षासत्यमधुरभाषणादिशुभगुणयुक्ता वाणी कार्या। इन्द्रियं मनआदीनि वाग्भिन्नानि षड्ज्ञानेन्द्रियाणि सत्यधर्माचरणयुक्तानि पापाद् व्यतिरिक्तानि च सदैव रक्षणीयानि। श्रीश्च सम्राड्राज्यश्रीः परमपुरुषार्थेन कार्येति। धर्मश्चायमेव वेदोक्तो न्यायः पक्षपातरहितः सत्याचरणयुक्तः सर्वोपकारकश्च धर्मः सदैव सर्वैः सेवनीयः। अस्यैवेयं पूर्वापरा सर्वा व्याख्यास्तीति बोध्यम्' (पृ० ११५) इति।

सर्वमप्येतद् व्याख्यानं यादृच्छिकं मन्त्राक्षरार्थसम्बन्धशून्यम्। सर्वत्रैव च यदृच्छयैव क्रियापदाध्याहार इत्येतदपव्याख्यानमेव, पूर्वापरविरुद्धं चैतत्, तानि सर्वाण्यपक्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्ये-

पर भी उसकी निरर्थकता का अपाकरण नहीं हो पाता। स्वकीय और परकीय सर्व साधारण गुणों को धारण करना, उससे भी अधिक श्रेयस्कर है। 'परिहिता' इस पद का 'हितकारी' यह अर्थ करना भी निराधार है। 'श्रद्धा से प्राप्त किया' यह अर्थ भी असंगत है, क्योंकि क्या प्राप्त किया? इसका उत्तर नहीं दिया गया है। दीक्षा पद का अर्थ 'सज्जनों द्वारा किया गया सत्य उपदेश' यह करने में भी कोई आधार अपेक्षित है। यज्ञ पद का देवयजन रूप प्रसिद्ध अर्थ न कर इधर-उधर हाथ मारना व्यर्थ है। 'लोको निधनम्' इसका अर्थ यह लोक सब मनुष्यों का मृत्यु पर्यन्त उपकार और सत्कर्मों का अनुष्ठान करने के योग्य है, ऐसा सबको जानना चाहिये, यह व्याख्या भी सर्वथा निरर्गल हैं, क्योंकि लोक और निधन शब्द का सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता। जबतक मृत्यु नहीं होती, तब तक सत्कर्म का अनुष्ठान करते रहना चाहिये, इस अर्थ के बोधक पद यहां उपलब्ध नहीं हैं।

'ओजश्च सहश्च०' इस मन्त्र की व्याख्या में कहा गया है--'ओज धर्म के पालन से युक्त पराक्रम, तेज प्रगल्भता, अर्थात् भयरहित होकर दीनता से दूर रहना, सह सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि की प्राप्ति में भी हर्ष-शोकादि छोड़कर सत्यधर्म में दृढ़ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना, बल ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य, बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढ़ाना, वाक् सत्यविद्या की शिक्षा, सत्य-मधुर अर्थात् कोमल-प्रिय भाषण करना, इन्द्रिय मन, पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों को पाप कर्मों से रोक कर सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना; श्री चक्रवर्ती राज्य की सामग्री को सिद्ध करना, धर्म वेदोक्त न्याय से युक्त होकर पक्षपात को छोड़कर सत्य ही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करना तथा जो सबका उपकार करने वाला और जिसका फल इस जन्म और परजन्म में आनन्द है, उसी को धर्म और उनसे उलटा करने को अधर्म कहते हैं। उसी धर्म की यह सब व्याख्या है, जो कि 'संगच्छध्वं' इस मन्त्र से लेकर 'यतोऽभ्युदय०' इस सूत्र तक जितने धर्म के लक्षण लिखे हैं, वे सब लक्षण मनुष्यों के लिये ग्रहण करने के योग्य हैं। इससे पहले कही गई और आगे कही जाने वाली सब व्याख्याएं इसी की हैं' (११५-११६)।

यह पूरा व्याख्यान मनमाना है, मन्त्रों के अक्षरों के साथ इसका कोई संबन्ध नहीं है। सभी जगह अपने मन के माफिक क्रिया पद का अध्याहार कर लिया गया है। इसलिये यह पूरा गलत है। पूर्वापर से इसका कोई संबन्ध नहीं है। 'तानि सर्वाणि' इस

न्त्यन्तिमपञ्चममन्त्रविरोधात् । वस्तुतस्तु प्रासङ्गिकोऽयमर्थः—ओजो बलहेतुरष्टमो धातुः, तेजः प्रागल्भ्यम्, सहः पराभिभवसामर्थ्यम्, बलं शारीरं सामर्थ्यम्, वाक् वाक्शक्तिः, इन्द्रियं सर्वेन्द्रियशक्तिः, श्रीः साम्राज्यादिवैभवम्, धर्मः शास्त्रोक्तकर्मानुष्ठानम्, ब्रह्म वेदो ब्राह्मी शक्तिर्वा, क्षत्रं क्षात्रं तेजः, राष्ट्रं देशः, विशः राष्ट्रीयप्रजाः, त्विषिर्दीप्तिः, यशो दानादिजन्यप्रख्यातिः, वर्चः कर्म तपोऽनुष्ठानजं तेजः, द्रविणं धनम्, आयुः दीर्घायुष्यम्, रूपं सौन्दर्यम्, नाम प्रसिद्धिः, कीर्तिः कीर्तनीयगुणाश्रयता, प्राणः प्राणनहेतुरान्तरवायुवृत्तिः, अपानोऽपाननहेतुर्बाह्यवायुवृत्तिः, चक्षुः दर्शनशक्तिः, श्रोत्रं विशिष्टश्रवणशक्तिः, पयः शुद्धं जलम्, रसो घृतादिकम्, अन्नं व्रीहियवादि, अन्नाद्यं विविधभोज्यान्नम्, ऋतं सूनृता वाणी, सत्यमवितथभाषणं समदर्शनं वा, इष्टं दर्शपूर्णमासादिकम्, पूर्तं वापीकूपतडागादिनिर्माणम्, प्रजाः पुत्रादयः, पशवो हस्त्यश्वगवादयः । एतानि सर्वाणि अपक्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ओजश्च सहश्च वालं च, वाक् चेन्द्रियं च, श्रीश्च धर्मश्च (१) ब्रह्म च क्षत्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च (२) आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च (३) पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजाश्च पशवश्च (४) तानि सर्वाण्यपक्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य (५) ।

आश्चर्यमेतद् यत् छद्मना सूक्तान्तर्गतप्रकरणबोधकं मन्त्रं गोपायित्वा प्रकरणविरुद्धमर्थं बोधयन्नपि न जिह्रेति दयानन्दः । तानीतिपदेन स्पष्टम् ओजआदीनामपगम इह विवक्षितः । अयं तु विलक्षणो व्याख्याता, प्रकरणं विच्छिद्य ओजआदीनां विधानं मनुते ।

अत एव 'ब्रह्म च ब्राह्मणोपलक्षणं सर्वोत्तमविद्यागुणकर्मवत्त्वं सद्गुणप्रचारकरणत्वं ब्राह्मणलक्षणम् । तच्च सर्वदैव वर्धयितव्यम्' इत्यादिकमपास्तम्, प्रकरणेऽस्मिन् तदपाक्रमणस्य विवक्षितत्वात् । प्रचारणमित्यनेनैव समीहित-सिद्धौ करणपदवैयर्थ्यं च । ब्रह्मशब्दार्थमपहाय तद्गुणग्रहेन गौणार्थाश्रयणं च । मूले राष्ट्रमिति राष्ट्रशब्दमात्रं दृश्यते ।

अन्तिम पंचम मन्त्र से यह अर्थ सर्वथा विरुद्ध है । वास्तव में इसका प्रासंगिक अर्थ इस प्रकार है—'ओज बल के हेतु अष्टम धातु को कहते हैं, तेज प्रागल्भ्य, सह दूसरे को अभिभूत करने की सामर्थ्य, बल शारीरिक सामर्थ्य, वाक् वाणी को शक्ति, इन्द्रिय सभी इन्द्रियों का सामर्थ्य, श्री साम्राज्य का वैभव, धर्मशास्त्रोक्त कर्मों का अनुष्ठान, ब्रह्म वेद अथवा ब्राह्मी शक्ति, क्षत्र क्षत्रिय का तेज, राष्ट्र देश, विशः राष्ट्र की प्रजा, त्विषि दीप्ति, यश दानादि के देने से हुई ख्याति, वर्चस् कर्म, तप आदि के अनुष्ठान से उत्पन्न तेज, द्रविण धन, आयु दीर्घायुष्य, रूप सौन्दर्य, नाम प्रसिद्धि, कीर्ति कीर्तनीय गुणों की आश्रयता, प्राण जीवन हेतु आन्तर वायुवृत्ति, अपान अपानन की कारणभूत बाह्य वायुवृत्ति, चक्षु दर्शन की शक्ति, श्रोत्र श्रवण की विशिष्ट शक्ति, पय शुद्ध जल, रस घृतादि पदार्थ, अन्न व्रीहि यव आदि, अन्नाद्य विविध भोज्यान्न, ऋत मधुर वाणी, सत्य यथार्थ भाषण अथवा सबको समान देखना, इष्ट दर्शपूर्णमास प्रभृति कर्म, पूर्त = वापी, कूप तडाग आदि का निर्माण, प्रजा = पुत्र-पौत्रादि, पशु = हाथी, घोड़ा, गाय प्रभृति को कहते हैं । ये सब गुण उस क्षत्रिय को छोड़कर चले जाते हैं, जो कि ब्राह्मण के गोधन को उससे छीन लेना चाहता है । 'ओजश्च' प्रभृति पांच मन्त्रों का यही प्रकरण संगत अर्थ है ।

यह आश्चर्य की बात है कि चालाकी से सूक्त के अन्तर्गत प्रकरण के बोधक मन्त्र को छिपाकर प्रकरण विरुद्ध अर्थ करते समय दयानन्द सहमते नहीं, यहाँ पर 'तानि' पद से स्पष्ट ही ओज प्रभृति गुणों का अपगम विवक्षित है । यह वेदों का विलक्षण व्याख्याता है, जो कि प्रकरण को एक किनारे रख कर इन मन्त्रों में ओज प्रभृति गुणों का विधान बताते हैं ।

इसीलिये ब्रह्मपद का अर्थ ब्राह्मण पद से उपलक्षित होने वाला सर्वोत्तम विद्या, गुण और कर्म का आश्रय, सद्गुणों का प्रचारक ब्राह्मण होता है । इस ब्राह्मण्य की सदा अपने में वृद्धि करनी चाहिये' इस तरह की व्याख्या खण्डित हो जाती है, क्योंकि इस प्रकरण में उस ब्राह्मण्य का अपाकरण विवक्षित है। 'प्रचारकरणत्वम्' इस पद के स्थान पर 'प्रचारणम्' पद से वही अर्थ निकलता है, अन्तः-करण पद का अधिक प्रयोग यहाँ व्यर्थ है । ब्रह्म शब्द के मुख्य अर्थ को न गृहीत कर उसके गुण का ग्रहण करने में गौणार्थता भी आती

सत्पुरुषसभया सुनियमैः सर्वसुखाद्यं शुभगुणान्वितं राज्यं सदैव कार्यमिति राज्यनिर्माणविधानं कुतो लब्धमिति तु स एव जानीयादिति। एवं विश इतिपदेन वैश्यप्रजानां व्यापारकारिणां भूगोलेऽव्याहतगतिसम्पादनेन व्यापाराद् धनवृद्धयर्थं रक्षणं च कार्यमित्यादिकं सर्वमुदक्षरमेव। यद्यप्यप्राप्तस्य पदार्थस्य न्यायेन प्राप्तीच्छा प्राप्तस्य रक्षणं रक्षितस्य वृद्धिर्वृद्धस्य सत्कर्मसु व्यय इत्यर्थशास्त्रस्य सिद्धान्तः, तथापि द्रविणमिति पदस्य सोऽर्थो न भवत्येव। प्राणापानशब्दयोः प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां शुद्धिवले कार्ये इति व्याख्यानमपि मूर्खजनप्रतारणमेव। चक्षुरिति चाक्षुषं प्रत्यक्षं श्रोत्रं शब्दजन्यं प्रत्यक्षम्। चादनुमानादीन्यपि प्रमाणानि यथावद्वेदितव्यानि। तैः सत्यविज्ञानं च सर्वथा कार्यम्। इत्यहो अस्य प्रतारणपाटवम्। चक्षुःश्रोत्रशब्दयोश्चाक्षुषं श्रौत्रं च प्रत्यक्षं कथमर्थः? मुख्यार्थत्यागगौणार्थाश्रयणयोः किं बीजम्? तथात्वेऽपि त्वाचरासनप्रत्यक्षादीनां कथं बोधः स्यात्। त्वगादीनामेव कथं न बोधः स्यात्। अनेन च सत्यं विज्ञानं सदैव कर्तव्यमित्यर्थः कुतो लभ्यते?

एवमेव—'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च०। शमश्च०। अग्नयश्च०। अग्निहोत्रं च०। अतिथयश्च०। मानुषं च०। प्रजा च०। प्रजननश्च०। प्रजातिश्च०। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः' (तै० उ० १।९।१)।

'वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्।

है। मूल में केवल राष्ट्र शब्द दिखाई देता है। उस शब्द का सत्पुरुषों की सभा के द्वारा अच्छे नियमों का विधान कर सबके कल्याणदायक, सब गुणों से युक्त राज्य का निर्माण करना चाहिये, इस तरह का अर्थ कैसे किया गया, इस बात को स्वयं व्याख्याकार ही समझ सकता है, इसी तरह से 'विशः' पद का वैश्य प्रजा, अर्थात् व्यापारियों को पूरे भूमण्डल में अव्याहत गति के संपादन के द्वारा व्यापार से धन की वृद्धि और रक्षा करनी चाहिये, इस प्रकार का अर्थ सर्वथा उदक्षर है। यद्यपि अप्राप्त पदार्थ को न्याय से प्राप्त करने की इच्छा, प्राप्त पदार्थ की रक्षा, रक्षित की वृद्धि और बढ़े हुए धन का सत्कर्म में सही व्यय करना अर्थशास्त्र का सिद्धान्त है, तो भी यह अर्थ द्रविण पद का नहीं हो सकता। प्राण और अपान शब्द का प्रच्छर्दन और विधारण के द्वारा इनकी शुद्धि और सवलता संपादित करनी चाहिये, इस प्रकार का अर्थ कर केवल नासमझ लोगों को ही ठगा जा सकता है। चक्षु पद का अर्थ चाक्षुष प्रत्यक्ष और श्रोत्र पद का शब्दजन्य प्रत्यक्ष अर्थ करके इनके साथ ही अनुमान प्रभृति प्रमाणों को भी पूरी तरह से समझ लेना चाहिये और इनसे सत्य वस्तु का यथार्थ ज्ञान अवश्य करना चाहिये, इस प्रकार का अर्थ करना व्याख्याकार के प्रतारणापाटव को ही उजागर करता है। चक्षु और श्रोत्र शब्द का चाक्षुष और श्रोत्र प्रत्यक्ष अर्थ कैसे होगा? मुख्यार्थ को छोड़ने और गौणार्थ को ग्रहण करने का कारण क्या है? यदि ऐसा किया भी जाता है तो फिर इनसे त्वगिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय आदि का बोध कैसे होगा और त्वक् रसना आदि का बोध क्यों न होगा? अपि च, इनसे सत्यविज्ञान का सदा सहारा लेना चाहिये, यह अर्थ कैसे निकलता है?

इसी तरह से धर्म के विषय में तैत्तिरीय शाखा के निम्न वचन प्रमाण के रूप में उद्धृत किये गये हैं—ऋत और स्वाध्याय-प्रवचन, सत्य और स्वाध्याय-प्रवचन, तप और स्वाध्याय-प्रवचन, दम और स्वाध्याय-प्रवचन, शम और स्वाध्याय-प्रवचन, अग्नियाँ और स्वाध्याय-प्रवचन, अग्निहोत्र और स्वाध्याय-प्रवचन, अतिथि-सत्कार और स्वाध्याय-प्रवचन, मानुष और स्वाध्याय-प्रवचन, प्रजा और स्वाध्याय-प्रवचन, प्रजन और स्वाध्याय-प्रवचन, प्रजाति और स्वाध्याय-प्रवचन (ये सब धर्म के विषय में प्रमाण हैं, अर्थात् इनका आचरण करना ही धर्म है।) सत्य वचन पर जोर देने वाले राथीतर ऋषि का कहना है कि सत्य ही धर्म है। तप में सदा निरत रहने वाले पौरुशिष्टि ऋषि का मत है कि तप ही धर्म है। नाक मौद्गल्य स्वाध्याय और प्रवचन पर ही विशेष बल देता है, क्योंकि स्वाध्याय और प्रवचन ही सर्वोत्कृष्ट तप है।'

'आचार्य अपने शिष्य को वेद पढ़ा लेने के बाद इस प्रकार से उपदेश करता है—सच बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद मत करो। अध्ययन समाप्ति के बाद आचार्य को गुरु दक्षिणा समर्पित कर प्रजातन्तु का उच्छेद मत करो, अर्थात्

भूत्यै न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासने न:प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् । अथ ते कर्मविचिकित्सा वा स्यात् वृत्तविचिकित्सा वा स्याद् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेश एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।' (तै० आ० ७।९।११)

एतानि ब्राह्मणवचनानि वेदोक्तधर्मबोधनाय स्वामिना दयानन्देनोपन्यस्तानि । ब्राह्मणभागस्य च प्रामाण्यं नाभ्युपगम्यते । परतः प्रामाण्याभ्युपगमे तन्मूलभूतानि मन्त्रवचनानि प्रदर्शनीयानि । अर्थाश्चैषां वाक्यानां स्वमनःकल्पिता एव प्रदर्शिताः ।

सिद्धान्ते तु ऋतं यथाप्रमाणं यथार्थवस्तुचिन्तनम् । यथाविधि गुरुपारम्पर्येण वेदाध्ययनं स्वाध्यायः । प्रवचनमध्यापनं ब्रह्मयज्ञश्च । सत्यं यथार्थभाषणम्, तदुक्तं वार्त्तिककृता—'यथाशास्त्रं यथाकार्यं बुद्धौ सुपरिनिष्ठितम् । प्रयोगस्थं तदेवर्तं सत्यमित्यभिधीयते ॥' इति । तपः कृच्छ्रादि । दमो बाह्यकरणोपरमः । शमोऽन्तःकरणोपरमः । अग्नय आधातव्याः । अग्निहोत्रं होतव्यम् । अतिथयश्च पूज्याः । मानुषमिति लौकिकः संव्यवहारः, तच्च यथा प्राप्तमनुष्ठेयम् । प्रजा चोत्पाद्या । प्रजननमृतौ भार्यागमनम् । प्रजातिः पौत्रोत्पत्तौ पुत्रो निवेशितव्यः । सर्वैरेतैः

गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर पितृऋण से मुक्त होने का प्रयत्न करो । सत्य बोलने में प्रमाद नहीं करना चाहिये । धर्माचरण में प्रमाद नहीं करना चाहिये । कौशल में प्रमाद नहीं करना चाहिये । ऐश्वर्य को सदा बढ़ाने में प्रमाद नहीं करना चाहिये । पढ़ने पढ़ाने में कभी आलस्य नहीं करना चाहिये । देव और पितृ कार्य में प्रमाद नहीं करना चाहिये । माता, पिता और आचार्य को देवतुल्य मानो । जो हमारे सत्यभाषणादि शुभ कार्य हैं, उनका अनुसरण करो, असत्य भाषणादि का नहीं । जो हमारे सुचरित हैं, उन्हीं का तुमको आचरण करना चाहिये, विपरीत कर्मों का नहीं । जो हमसे श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उसके आसन पर तुमको नहीं बैठना चाहिये । श्रद्धा, अश्रद्धा से, श्री या लज्जा से, भय अथवा प्रतिष्ठा से सदा दान देते रहना चाहिये । जब तुम्हें किसी कार्य के विषय में अथवा व्यवहार के विषय में संदेह हो तो उस अवस्था में पूर्ण विद्वान् पक्षपात रहित धर्मात्मा मनुष्यों से शंका का निवारण करना चाहिये । वे लोग जिस जिस प्रकार से जिस जिस धर्म काम में चलते होवें, वैसे भी तुम भी चलो । यही आदेश, अर्थात् अविद्या को हटाकर उसके स्थान पर विद्या का और अधर्म को हटाकर धर्म का स्थापन करना है । इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं । इसी प्रकार शुभ लक्षणों को ग्रहण करके एक परमेश्वर की ही सदा उपासना करो ।'

ये वचन ब्राह्मण भाग के हैं । वेदोक्त धर्म की व्याख्या के प्रसंग में स्वामी दयानन्द ने इनको उद्धृत किया है । वे ब्राह्मण भाग का प्रामाण्य नहीं मानते । जब इन वचनों का प्रामाण्य वेदाधारित है, तो इनके मूलभूत वेदवचन भी उनको प्रमाण के रूप में दिखाने चाहिये थे । इन वाक्यों का अर्थ भी उन्होंने मनमाना किया है ।

इन वचनों का वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—ऋत का अर्थ है प्रमाणों से जैसा स्वरूप सिद्ध होता हो, तदनुरूप वस्तु के स्वभाव का निरूपण करना । विधि के अनुसार गुरुपरम्परा से वेद का अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है । अध्यापन और ब्रह्मयज्ञ को प्रवचन कहते हैं । सत्य यथार्थ भाषण को कहते हैं । जैसा कि वार्त्तिककार ने कहा है—'शास्त्र का अनुवर्तन करने वाले कार्य का जो स्वरूप बुद्धि में स्थिर होता है, वह ऋत कहलाता है । यही जब प्रयोग में लाया जाता है, तो उसको सत्य कहते हैं ।' कृच्छ्र-चान्द्रायणादि तप नाम से कहे जाते हैं । बाह्य इन्द्रियों के उपरम को दम और अन्तःकरण के उपरम को शम कहते हैं । जिनका आधान किया जाता है, वे अग्नियाँ कहलाती हैं । अग्निहोत्र हवन को कहते हैं । पूज्य व्यक्ति अतिथि कहलाते हैं । लौकिक भला व्यवहार मानुष के नाम से कहा जाता है । यह व्यवहार जिस तरह से परम्परा से प्राप्त हो, तदनुरूप उसका आचरण करना चाहिये और प्रजा सन्तति का उत्पादन करना चाहिये । प्रजनन ऋतुसमय में भार्या का अभिगमन कहलाता है । पौत्र की उत्पत्ति में पुत्र का संनियोजन प्रजाति

कर्मभिर्युक्तस्यापि स्वाध्यायप्रवचने यत्नतोऽवश्यमनुष्ठेये इत्येवमर्थं सर्वेण सह स्वाध्यायप्रवचनग्रहणम्। कुतः ? स्वाध्यायस्य परमात्मज्ञानं प्रति मुख्यकारणत्वात्। तदायत्तं परमं श्रेयः, प्रवचनस्य तदधिकरणधर्मप्रवृद्धिप्रयोजनकत्वात्। तस्मात् स्वाध्यायप्रवचनयोरत्यन्तमादरः कार्यं इत्यर्थः। तत्रापि सत्यवचा राथीतर आचार्यः सत्यमेवानुष्ठातव्यमिति मन्यते। तप एव कर्तव्यमिति तपोनित्यः पौरुशिष्टिराचार्यो मन्यते। स्वाध्यायप्रवचने एवानुष्ठेये इति मौद्गल्य आचार्यो मन्यते। तद्धि तपः, हि यस्मात् स्वाध्यायप्रवचने एव तपस्तस्मात् ते एवानुष्ठेये इति। उक्तानामपि सत्यतपःस्वाध्यायप्रवचनानां पुनर्ग्रहणमादरार्थम्। इति शाङ्करभाष्यसम्मतोऽर्थः।

यत्तु—'ऋतं यथार्थज्ञानम्' तन्न, ज्ञानस्य प्रमाणाधीनत्वेन विधेयत्वेनाकर्तव्यत्वात्। सत्यस्याचरणं तु सत्यभाषणमेव। यत्तु—'अधर्माचरणादिन्द्रियाणि सर्वथा निवर्त्य तेषां धर्माचरणे प्रवृत्तिः कार्या' इति, तदपि न, कस्याञ्चिदपि प्रवृत्तौ इन्द्रियोपरमलक्षणस्य दमस्यासम्पत्तेः। न च तावता दमकार्यनिर्वृत्तिः, ब्रह्मात्मसाक्षात्कारे तत्साधने समाधौ च सत्कर्मप्रवृत्तेरपि बाधकत्वात्। 'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥' (कठो० २।३।१०) इति श्रुतेः। ज्ञानेन्द्रियाणां चकारात्कर्मेन्द्रियाणां चावस्थानस्योक्तत्वात्। अवस्थानं च गतिर्निवृत्तिरेव 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' इति स्मरणात्। 'बुद्धिश्च न विचेष्टते' इति बुद्धेर्निर्विचेष्टतायां कर्मज्ञानेन्द्रियाणामपि निर्विचेष्टताया अपेक्षणात्।

यत्तु शमव्याख्यानप्रसङ्ग उक्तम्—'नैव मनसापि कदाचिद् अधर्मकरणेच्छा कार्या' इति, तदपि न सङ्गतम्, धर्माचरणेच्छायाः शमत्वापत्तेः, तस्मादन्तःकरणस्योपरम एव शमो युक्तः। 'अग्नय इत्यनेनाग्न्यादिपदार्थेभ्यश्च

कहलाता है। मनुष्य को इन सभी कार्यों में लगे रहने पर भी स्वाध्याय और प्रवचन का अनुष्ठान प्रयत्नपूर्वक अवश्य करते रहना चाहिये, इसी बात को दिखाने के लिये यहां पर सबके साथ स्वाध्याय और प्रवचन शब्दों को जोड़ा गया है। क्योंकि परमात्मा को जानने का मुख्य साधन स्वाध्याय ही है। इसी के अधीन परम कल्याण की प्राप्ति हैं। प्रवचन का उपयोग ज्ञान की जनकता के साधन धर्म में प्रवृत्ति के लिये होती है। इसलिये स्वाध्याय और प्रवचन के प्रति अत्यन्त आदर बुद्धि को रखना चाहिये, इस बात को बताने के लिये ही सर्वत्र इनका समावेश किया गया है। इनमें भी सत्य बोलने पर अधिक जोर देने वाले राथीतर आचार्य का कहना है कि सत्य का अनुष्ठान करना चाहिये। तप का ही नित्य अनुष्ठान करने वाले पौरुशिष्टि आचार्य का कहना है कि तप का ही अनुष्ठान सर्वश्रेष्ठ है। मौद्गल्य आचार्य के मत से स्वाध्याय और प्रवचन का अनुष्ठान ही सर्वोत्तम है। क्योंकि स्वाध्याय और प्रवचन एक प्रकार की तपस्या ही है, अतः इन्हीं का अनुष्ठान करना चाहिये। सत्य, तप, स्वाध्याय और प्रवचन के विषय में पहले ही कह दिया गया था। अन्त में उनका पुनः ग्रहण इसमें शम-दमादि की अपेक्षा आदरातिशय के प्रदर्शनं के लिये किया गया है। यह अर्थ शांकरभाष्य के अनुसार किया गया है।

'ऋत यथार्थ ज्ञान को कहते हैं' यह कथन गलत है, क्योंकि ज्ञान का विधान प्रमाण के अधीन होता है, वह कर्तव्य कोटि में नहीं आ सकता। ऋत का अर्थ जब हम सत्याचरण करते हैं, तो उसका अभिप्राय सत्यभाषण से होता है। 'अधर्माचरण से इन्द्रियों को सर्वथा हटाकर उनकी प्रवृत्ति धर्माचरण में करनी चाहिये' यह अर्थ भी गलत हैं, क्योंकि किसी भी प्रवृत्ति के रहते इन्द्रियों के उपरम-रूप दम की निष्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्मात्म साक्षात्कार और इस साक्षात्कार के साधन समाधि में सत्कर्म में प्रवृत्ति भी बाधक ही होती है। 'जब पांचों इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान मन में विलीन हो जाते हैं और जब बुद्धि भी अपना कार्य करना बन्द कर देती है, तो इस अवस्था को परम गति के नाम से कहा जाता है' यह श्रुति इसमें प्रमाण है। यहां पर ज्ञानेन्द्रियों का ही ग्रहण है, किन्तु यह कर्मेन्द्रियों के उपराम को भी बोधित करता है। अवस्थान गति की निवृत्ति को कहते हैं, क्योंकि 'ष्ठा' धातु का अर्थ गति की निवृत्ति है। जब बुद्धि भी निश्चेष्ट हो जाती है, तो उस अवस्था में ज्ञानेन्द्रियों के साथ कर्मेन्द्रियों के व्यापार की उपरति भी अपेक्षित रहती है।

शम की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि—'कभी मन से भी अधर्म के आचरण की इच्छा न करे' यह भी संगत नहीं है, क्योंकि इस व्याख्या के अनुसार धर्म के आचरण की इच्छा शम हो जायगी। इसलिये अन्तःकरण के उपरम को ही शम कहना ठीक

पारमार्थिकव्यावहारिकविद्योपकारकरणं वोध्यते' इत्यपि न युक्तम्, अग्नय इति पदे तादृगर्थबोधनशक्त्यभावात्। अग्न्यादिभ्य उपकारग्रहणे रागादेव प्रवृत्तिसम्भवेन तत्राप्राप्तप्रापकशास्त्रस्य नैरर्थक्यापत्तेः। तस्मादग्नय आधेया इत्येवार्थः, अग्न्याधानस्यैवाग्निहोत्रमूलत्वात्, 'अग्नय आधातव्याः' (तै० आ० १०।६२) इति श्रुतेश्च। अग्निहोत्रं नित्यहोममारभ्याश्वमेधपर्यन्तेन यज्ञेन वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वप्राणिनां सुखसम्पादनं कार्यमित्यपि निःसारम्, तदभिमतयज्ञप्रयोजनस्य खण्डितत्वात्। तस्मात् पूर्वोत्तरमीमांसादृष्ट्या सकामस्य स्वर्गादितत्तत्कामसिद्ध्यर्थं निष्कामस्य स्वान्तःशुद्धिविविदिषोत्पत्त्यर्थमेवाग्निहोत्रादिकर्मणामनुष्ठानं युक्तम्। अतिथयः पूर्णविद्यावतां धर्मात्मनां सङ्गसेवाभ्यां सत्यशोधनं छिन्नसंशयत्वं च कार्यमित्यपि न युक्तम्, तस्याध्ययनाध्यापनश्रवणमननादिभिरेव सम्पादयितुमर्हत्वात्। अतिथयस्तु यतिब्रह्मचारिव्यतिरिक्ता यदृच्छयागता अभ्यागता अनिश्चिततिथयः केवलान्नार्थिनोऽपि सम्भाव्यन्ते। मानुषं मनुष्यसम्बन्धिराज्यविद्यादिवित्तं सम्यक्सिद्धं कर्तव्यम् इति तु लौकिकव्यवहारानतिरिक्तमेव। प्रजेत्यस्य प्रजोत्पाद्येत्येवार्थः। यत्तु 'धर्मेणैव प्रजामुत्पाद्य सा सदैव सत्यधर्मविद्यासु शिक्षयान्विता कार्या' इति, तत्तु स्वाम्यूहितमेव, अपदार्थत्वात्। 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत' इत्यादिविधिभिर्गतार्थत्वाच्च। प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीरित्यनेन गतार्थत्वाच्च। प्रजनशब्दस्य पूर्वोक्त एवार्थः। वीर्यं वृद्धिः, पुत्रेष्ट्यादिकं तु नास्य शब्दस्यार्थः, रागप्राप्तमेव तु तन्न विधानमर्हति। गर्भरक्षा जन्मसमये संरक्षणं सन्तानशरीरवुद्धिवर्धनं चेति न प्रजातिशब्दार्थः, सर्वस्यैं तस्य रागप्राप्तत्वात्, किन्तु शाङ्करभाष्यतद्वार्त्तिकादिभिः पौत्रार्थं सुतस्य निवेशनमेव प्रजातिशब्दार्थो ज्ञायते'। तथा च वार्त्तिकम्—'निवेशनं सुतस्येह प्रजातिरिति गम्यताम्।' (शिक्षाध्याये नवमानुवाके)। अन्यत्तु न विरुद्धम्।

है। 'अग्नयः' इस पद का अर्थ 'वेदादि शास्त्रों और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करो' (पृ० १२१) यह ठीक नहीं हैं, क्योंकि इस पद में इस तरह का अर्थ व्यक्त करने की सामर्थ्य नहीं है। अग्नि प्रभृति से उपकार ग्रहण करने में राग से ही यह प्रवृत्ति होगी। इस अवस्था में अप्राप्त की प्रापकता रूप विधि का लक्षण उसमें घटित न होने से शास्त्र निरर्थक हो जायगा। इसलिये यहां पर अग्नियों का आधान करना चाहिये, यही अर्थ उचित है। अग्नि का आधान ही अग्निहोत्र का मुख्य साधन है। 'अग्नि का आधान करना चाहिये' ऐसा श्रुति वचन भी मिलता है। अग्निहोत्र का अर्थ 'वायु और वृष्टि-जल की शुद्धि द्वारा अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों से सब सृष्टि का उपकार सदा करते रहो' (पृ० १२१) यह करना भी सर्वथा निःसार है। दयानन्द के अभिमत यज्ञ के प्रयोजनों का हम खण्डन कर चुके हैं। इसलिये पूर्व और उत्तर मीमांसा की पद्धति के अनुसार सकाम व्यक्ति को स्वर्गादि उन उन कामनाओं की सिद्धि के लिये और निष्काम व्यक्ति की स्वान्तःशुद्धि और विविदिषा की उत्पत्ति के लिये ही अग्निहोत्र प्रभृति कर्मों का अनुष्ठान उचित है। 'अतिथयः' इस पद का अर्थ 'जो सब जगत् के उपकार के लिये सत्यवादी, सत्यकारी, पूर्ण विद्वान्, सबका सुख चाहने वाले हों, उन सत्पुरुषों के संग से करने के योग्य व्यवहारों को सदा बढ़ाते रहो' (पृ० १२१) यह नहीं हो सकता, क्योंकि यह स्थिति अध्ययन-अध्यापन और श्रवण-मननादि से ही प्राप्त की जा सकती है। अतिथि तो यति-ब्रह्मचारी के अतिरिक्त यदृच्छा से आये हुए अभ्यागतों को कहते हैं, क्योंकि उनकी कोई तिथि निश्चित नहीं रहती। केवल अन्न को चाहने वाले भी अतिथि कहे जा सकते हैं। मानुष अर्थात् सब मनुष्यों के राज्य और प्रजा के ठीक-ठीक प्रबन्ध से धन आदि पदार्थों को बढ़ाकर, रक्षा करके और अच्छे कार्यों में खर्च करके, उनसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों फल की सिद्धि द्वारा अपना जन्म सफल करो' (पृ० १२१) यह सब लौकिक व्यवहार से भिन्न है। प्रजापद का अर्थ प्रजा-उत्पत्ति है। इसका यह अर्थ करना मनमानी हो कही जायगी कि--'अपने सन्तानों का यथायोग्य पालन, शिक्षा से विद्वान् करके सदा धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते रहो', क्योंकि इन पदों से यह अर्थ नहीं निकलता। अपि च, उक्त बात 'आठ वर्ष के बालक का उपनयन करे, उसे पढ़ावे' इत्यादि विधियों से गतार्थ हो जाती है, 'प्रजातन्तु को विच्छिन्न मत करो' इस वाक्य से यह अर्थ प्राप्त है। प्रजन शब्द का भी पहले बताया गया अर्थ ही है। वीर्य की वृद्धि और पुत्रेष्टि प्रभृति व्यवहार इसका अर्थ नहीं है, यह तो राग से ही प्राप्त है, उसका विधान करने की क्या आवश्यकता है। गर्भ की रक्षा, जन्म के समय उसकी रक्षा और सन्तान के शरीर-बुद्धि आदि को बढ़ाना, यह सब प्रजाति शब्द का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि यह सब बातें राग से प्राप्त हैं, किन्तु शांकरभाष्य और वार्तिक प्रभृति के अनुसार पौत्र की उत्पत्ति के लिये पुत्र का विवाहादि में नियोजन ही उसका अर्थ है। जैसा कि वार्तिक में कहा गया है—'पुत्र का इस कार्य में नियोजन ही प्रजाति शब्द का अर्थ समझा'। इसके अतिरिक्त व्याख्यान विरुद्ध नहीं है।

वेदमनूच्येति ब्रह्मविज्ञानात्प्राङ् नियमेन कर्तव्यानि श्रौतस्मार्तकर्माणि, ब्रह्मविविदिषार्थं मुमुक्षुणाप्यनुष्ठेयानि। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० उ० ४।४।२२) इति श्रुतेः। अनुशासनश्रुतेः पुरुषसंस्कारार्थत्वात्। संस्कृतस्य विशुद्धसत्त्वस्यैवात्मज्ञानोत्पत्तिसम्भवात्। 'अनुशास्ति' इति शब्दादनुशासनातिक्रमे दोषोत्पत्तिः। पूर्वं तु विद्योत्पत्त्यर्थानि ऋतादीनि कर्माणि विहितानि। इह तु ज्ञानोपत्त्यर्थत्वात् कर्तव्यनियमार्थं वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनं शिष्यमनुशास्ति। ग्रन्थग्रहणमनु पश्चात् शास्ति तत्सारं ग्राहयति। अतोऽधीतवेदस्य धर्मजिज्ञासामकृत्वा गुरुकुलान्न समावर्तितव्यम्। 'बुध्वा कर्माणि चारभेत्' इति शाङ्करभाष्योद्घृतस्मृतेश्च।

'सत्यं वद' यथाप्रमाणं वचनं वक्तव्यम्। 'धर्मं चर' धर्म इत्यनुष्ठेयानां सामान्यवचनम्, सत्यादिविशेषनिर्देशात्। 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' प्रमादं मा कार्षीः। विद्यानिष्क्रयार्थमाचार्याय प्रियमिष्टं धनमानीय दत्त्वा आचार्येणानुज्ञातोऽनुरूपान् दारानाहृत्य प्रजातन्तुं प्रजासन्तानं मा व्यवच्छेत्सीः। प्रजासत्ततेर्विच्छेदो न कर्तव्यः। अनुत्पन्नेऽपि पुत्रे पुत्रकाम्यादिकर्मणा तदुत्पत्तौ यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः, अत्र प्रजा-प्रजन-प्रजातिशब्दत्रयनिर्देशसामर्थ्यात्। अन्यथा प्रजननश्चेत्येतदेकमेवावक्ष्यत्। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। सत्यात्प्रमादेऽनृतप्रसङ्गः। प्रमादशब्दसामर्थ्यात् विस्मृत्याप्यनृतं न वक्तव्यमित्यर्थः। अन्यथा असत्यवदनप्रतिषेध एव स्यात्। 'धर्मान्न प्रमदितव्यम्' धर्मशब्दस्यानुष्ठेयविषयत्वादननुष्ठानं प्रमादः, स न कर्तव्यः। अनुष्ठातव्य एव धर्म इति भावः। कुशलादात्मरक्षार्थात् कर्मणः न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। ते हि नियमेन कर्तव्ये। भूतिर्विभूतिस्तस्यै भूत्यैं भूत्यर्थान्माङ्गलिककर्मणो न प्रमदितव्यम्। यदुक्तम्—'आचार्यः

वेदमनूच्येति। ब्रह्म का ज्ञान होने से पहले नियमतः करणीय श्रौत और स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान ब्रह्म की विविदिषा की उत्पत्ति के लिये मुमुक्षु को भी संपादित करना चाहिये। 'उस ब्रह्म को ब्राह्मण वेद का स्वाध्याय कर जानना चाहते हैं, यज्ञ, दान और अनश्वर तप से भी उसको प्राप्त करना चाहते हैं' यह श्रुति इसमें प्रमाण है। अनुशासन श्रुति का उपयोग पुरुष के संस्कार के लिये है, संस्कृत, विशुद्धसत्त्व व्यक्ति को ही आत्मज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। 'अनुशास्ति' इस शब्द से यह प्रतीत होता है कि अनुशासन का अतिक्रमण करने पर दोष लगेगा। पहले विद्या की उत्पत्ति के लिये ऋत प्रभृति कर्मों का विधान किया गया। यहाँ पर ज्ञान की उत्पत्ति के लिये कर्तव्य नियमों का उपदेश करने के लिये आचार्य अन्तेवासी शिष्य को ग्रन्थों का अभ्यास कर लेने के बाद उनके सार को संक्षेप में समझाता है। इसलिये जिस व्यक्ति ने वेद का अध्ययन पूरा कर लिया है, उसको धर्म की जिज्ञासा किये बिना गुरुकुल से नहीं चले जाना चाहिये। 'धर्म को ठीक तरह से जानकर गृहस्थ धर्म के कर्मों का अनुष्ठान करे' यह शांकरभाष्य में उद्धृत स्मृति इसमें प्रमाण है।

'सत्यं वद' अर्थात् प्रमाणयुक्त वचन बोलो। 'धर्मं चर' यहां पर धर्म शब्द सामान्य रूप से सभी अनुष्ठेय कर्मों के लिये हुआ है, क्योंकि सत्यादि विशेष धर्मों का अलग से निरूपण किया गया है। स्वाध्याय अर्थात् वेद के अध्ययन में प्रमाद मत करो। विद्या प्राप्ति का मूल्य चुकाने के लिये आचार्य को उसका अभीष्ट धन लाकर देना चाहिये और आचार्य की आज्ञा मिल जाने पर अपने अनुरूप पत्नी का चुनाव कर प्रजातन्तु, अर्थात् प्रजा की सन्तति अर्थात् क्रम को उच्छिन्न नहीं होने देना चाहिये। इसका अभिप्राय है कि पुत्र के उत्पन्न न होने पर भी पुत्रकामेष्टि प्रभृति कर्मों को अनुष्ठान कर पुत्र की उत्पत्ति में सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये। यहां पर प्रजा, प्रजन और प्रजाति इन तीन शब्दों का अलग अलग प्रयोग इस अर्थ को स्पष्ट करता है। अन्यथा एक प्रजनन शब्द से भी काम चल सकता था। सत्य बोलने में प्रमाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि प्रमाद करने पर अनृत बोलने की आशंका हो सकती है। प्रमाद शब्द की सामर्थ्य से यह अभिप्राय निकलता है कि भूल करके भी व्यक्ति को असत्य नहीं बोलना चाहिये, अन्यथा असत्य बोलने का निषेध ही किया गया, सत्य बोलने में प्रमाद का नहीं। धर्म शब्द का अर्थ सामान्य अनुष्ठेय कर्म है, इनको न करना धर्म का प्रमाद कहलाता है। इसको नहीं करना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि धर्म का अनुष्ठान करना ही चाहिये। कुशल अर्थात् आत्मरक्षा के निमित्त किये जाने वाले कार्यों में भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद न करना चाहिये, उनका नियम से अनुष्ठान करना चाहिये। भूति विभूति को कहते हैं, उस ऐश्वर्य के उत्पादक मांगलिक कार्य के अनुष्ठान में किसी तरह का प्रमाद नहीं करना चाहिये।

शिष्याय वेदानध्याप्य धर्ममुपदिशति, तन्न युक्तम्, वेदाध्यापनेनैव धर्मोपदेशस्य गतार्थत्वात्। 'हे शिष्य' त्वया सदैव सत्यमेव वक्तव्यम्, सत्यभाषणादिलक्षणो धर्मश्च सेवनीयः' इत्यपि न युक्तम्, तथा सति धर्मं चरेत्यस्य वैयर्थ्यापातात्। आचार्यसेवा प्रजोत्पत्तिश्च सत्यधर्मकुशलतैश्वर्यसेवने सदैव कर्तव्ये इत्यपि विश्रृङ्खलम्, श्रुतिस्वारस्यविरोधात्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। दैवपित्र्ये कर्मणी कर्तव्ये दैवं देवयजनादिकं पैत्र्यं श्राद्धादि। यदुक्तं देवा विद्वांसः पितरो ज्ञानिनश्च। तेभ्यो ज्ञानग्रहणं तेषां सेवनं च सदैव कार्यमिति, तदपि तुच्छम्, मनुष्येभ्यः पार्थक्येन देवजातेः साधितत्वात्। तथैव पितरोऽपि श्रुतिस्मृत्यादिसिद्धा इति तेषामपलापायोगात्। माता देवता यस्य स त्वं मातृदेवो भव। एवं पितृदेव आचार्यदेवोऽतिथिदेवो भव। देवतावदुपास्या एते इत्यर्थः। एतेनापि मनुष्येभ्यो भिन्ना देवा ज्ञायन्ते। यानि चान्यान्यनवद्यानि अनिन्दितानि शिष्टाचारलक्षणानि कर्माणि तानि त्वया सेवितव्यानि नो इतराणि। सावद्यानि शिष्टकृतान्यपि न सेवितव्यानि। यानि चास्माकमाचार्याणां सुचरितानि शोभनचरितानि आम्नायाविरुद्धानि तान्येव त्वयोपास्यानि अदृष्टार्थानि अनुष्ठेयानि नियमेन कर्तव्यानि नो इतराणि विपरीतान्याचार्यकृतान्यपि न कर्तव्यानि।

यत्तु—वक्ष्यमाणरीत्या मात्रादय उपदिशेयुरिति, तत्तु निर्मूलम्, पूर्वोक्तरीत्याऽध्याहारमन्तरैव ग्रन्थसङ्गतिसिद्धेः। ये के च विशेषिता आचार्यत्वादिधर्मैरस्मत्तः श्रेयांसः प्रशस्यतरास्ते च ब्राह्मणा न क्षत्रियादयस्तेषामासनेन आसनदानादिना त्वया प्रश्वसितव्यम्, प्रश्वसनं प्रश्वासः श्रमापनयः, तेषां श्रमस्त्वयाऽपनेतव्यः। तेषां चासने गोष्ठीनिमित्ते समुदिते तेषु न प्रश्वसितव्यं प्रश्वासोऽपि न कर्तव्यः, केवलं तदुक्तसारग्राहिणा भाव्यम्। यत्तु—

दयानन्द ने इसका अर्थ इस प्रकार किया हैं—'जो आचार्य अर्थात् विद्या और शिक्षा को देने वाला हैं, वह विद्या पढ़ने के समय और जब तक न पढ़ चुके तब तक अपने पुत्र और शिष्यों को इस प्रकार धर्म का उपदेश करें' (पृ० १२१)। यह ठीक नहीं हैं, क्योंकि वेद के अध्ययन से ही धर्म का उपदेश भी गतार्थ हो जाता हैं। हे पुत्रों अथवा शिष्य लोगों, तुम सदा सत्य ही बोला करो। और धर्म का ही सेवन करके परमेश्वर की ही भक्ति किया करो' यह भी ठीक नहीं हैं, ऐसा होने पर 'धर्मं चर' यह वाक्य व्यर्थ हो जायगा। 'आचार्य को अनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो और युवावस्था में ही विवाह करके प्रजा की उत्पत्ति करो। सत्यधर्म कभी मत छोड़ो। कुशलता अर्थात् चतुराई और ऐश्वर्य को सदा बढ़ाते रहो' (पृ० १२२) यह अर्थ भी सही नहीं है, क्योंकि इसमें श्रुति का कोई स्वारस्य नहीं है। देवपितृ इस वाक्य का अर्थ है कि दैव और पित्र्य कर्म सदा करते रहना चाहिये। दैव का अर्थ देवताओं की पूजा-यज्ञ आदि और पित्र्य का अर्थ श्राद्धादि है। इसके विपरीत यह जो कहा गया है कि—'देवता विद्वान् लोग और पितृ ज्ञानी लोग हैं। इनसे ज्ञान का ग्रहण और इनकी सेवा सदा करनी चाहिये' यह व्यर्थ का अर्थ है, क्योंकि मनुष्यों से पृथक् देवजाति है, यह सिद्ध किया जा चुका है। इसी तरह से पितृगण भी श्रुति-स्मृति आदि प्रमाणों से सिद्ध हैं। इनका किसी तरह से अपलाप नहीं किया जा सकता। मातृदेव शब्द का अर्थ है तुम माता को देवता मानो, इस तरह से तुम पिता, आचार्य और अतिथि को भी देवता मानो। इन वाक्यों से भी देवता मनुष्यों से भिन्न है, यह सिद्ध होता है, क्योंकि माता-पिता की तुमको देवताओं की तरह उपासना करनी चाहिये, इससे देवताओं की पृथक् स्थिति स्पष्ट होती है। इनके अतिरिक्त हमारे जो अनिन्दित, शिष्टाचारसंमत कर्म हैं, उन सबका भी सेवन तुमको करना चाहिये। इतर कर्मों का नहीं, अर्थात् निन्दित कर्मों का अनुष्ठान तुमको नहीं करना चाहिये, भले ही उसका अनुष्ठान शिष्टजन करते हों। हमारे जो सुचरित हैं, अर्थात् शास्त्र के अविरोधी भले कार्य हैं, उन्हीं का तुमको अनुसरण करना चाहिये। अदृष्टार्थक कर्मों का अनुष्ठान तुम्हें अवश्य नियम से करना चाहिये, इसके विपरीत कर्मों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये, भले ही उनका आचरण आचार्य करते हों।

यहाँ पर स्वामी दयानन्द ने 'माता पिता और आचार्य आदि अपने सन्तानों और शिष्यों को ऐसा उपदेश करें' (पृ० १२२) यह व्याख्या की है, जो कि सर्वथा निर्मूल है, हमारी बताई गई पद्धति से बिना अध्याहार के ही ग्रन्थ की संगति बैठ जाती है। जो कोई हमसे विशिष्ट हैं, अर्थात् आचार्यत्व आदि की दृष्टि से हमसे उत्कृष्ट हैं और कल्याणकर हैं, इस तरह से ब्राह्मणों का, क्षत्रियादि का नहीं, आसन-दान आदि से श्रम को दूर करना चाहिये। वे जब समाज के बीच में ऊँचे आसन पर विराजमान हों, जब तुमको जोर से साँस भी नहीं लेना चाहिये, अर्थात् शान्तिपूर्वक बैठकर वे जो कहें, उसका सार तुमको ग्रहण करना चाहिये। 'जो हमारे

'येऽस्माकं मध्ये विद्वांसो ब्रह्मविदः स्युस्तत्सङ्गस्तदुक्तविश्वासश्च सदैव कर्तव्यो नेतरेषाम्' इति, तत्तु शब्दार्थानवबोधमूलकम्, अस्मच्छ्रेयांस इत्यत्रास्मदित्यस्यास्मत्त इत्येवार्थो नास्माकमिति। प्रश्वासशब्दोऽपि न विश्वासपरोऽप्रसिद्धत्वात्। तस्मात् पूर्वोक्तः शाङ्करभाष्यानुसार्येवार्थो युक्तः।

यत्किञ्चिद् देयं तच्छ्रद्धयैव देयम्। अश्रद्धयाऽदेयं न दातव्यम्। श्रिया विभूत्या देयम्। ह्रिया लज्जया च देयम्। भिया भयेन च देयम्। संविदा संविन्मित्रादिकार्यं तदर्थं देयम्। यदुक्तम्—'मनुष्यैर्विद्यादिपदार्थदानं प्रीत्याऽप्रीत्या श्रिया लज्जया भयेन प्रतिज्ञया व सदैव कर्तव्यम्, अर्थात् प्रतिग्रहाद्दानमतोव श्रेयस्करम्' इति, तदपि मन्दम्, श्रद्धाऽश्रद्धाशब्दयोः प्रीत्यप्रीत्यर्थकत्वे मानाभावात्। तथा चाश्रद्धाभाजनेष्वपि श्रद्धयैव देयमित्येवार्थः। तथैव शङ्करभगवत्पादैरुक्तत्वात्, 'श्रद्धयैव हि दातव्यमश्रद्धाभाजनेष्वपि' इति वार्त्तिककारवचनाच्च। यत्त्वत्र टिप्पणीकारेण मीमांसकम्मन्येनोक्तम्—'अश्रद्धया देयमित्यस्य दानप्रशंसायामेव तात्पर्यम्, तदेवाह—'प्रतिग्रहाद्दानमतीव श्रेयस्करमिति' इति, तदतीव तुच्छम्, 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति विधौ लक्षणाया निषेधात्। 'अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥' (भ० गी० १७।२८) इत्यश्रद्धापूर्वकस्य दानस्य निष्फलत्वस्मरणात्।

यच्च—'अदेयमिति पदच्छेदेऽन्तोदात्तस्वरपाठविरोधः, (पा० सू० ६।२।२) इत्यनेन आद्युदात्तस्वरापत्तेः' इति, तत्तुच्छम्, प्रश्लेषेऽन्तोदात्तत्वस्याव्याहतत्वात्। अर्थानुसारेण विभक्तिव्यत्ययवत् स्वरव्यत्ययेऽपि दोषाभावात्। 'येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्, तथा तानि निर्ब्रूयादथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन', 'यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्' (नि० २।१), 'कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात्,

बीच में विद्वान् और ब्रह्म के जानने वाले धर्मात्मा मनुष्य हैं, उन्हीं के वचनों में विश्वास करो, अन्य व्यक्तियों में नहीं' ऐसा अर्थ करने वाले को मालूम पड़ता है, शब्दों का अर्थ ठीक से अवगत ही नहीं था। यहाँ के अस्मत् शब्द का 'अस्मत्तः' यही विग्रह होगा, 'अस्माकम्' नहीं। प्रश्वास शब्द का विश्वास अर्थ भी कहीं प्रसिद्ध नहीं है। इसलिये यहाँ पर पूर्वोक्त शांकर भाष्य का अनुवर्ती अर्थ ही ठीक है।

जो कुछ देना हो, श्रद्धापूर्वक देना चाहिये, अश्रद्धा से कुछ न देना चाहिये। श्री (लक्ष्मी), ह्री (लज्जा) और भी (भय) का अनुवर्तन करते हुए भी देना चाहिये। सवित् अर्थात् मित्रादि के कार्य के लिये भी दान देना चाहिये। यहाँ पर भी—'मनुष्यों को विद्यादि पदार्थों का दान प्रीति या अप्रीति से श्री या लज्जा से, भय अथवा प्रतिज्ञा से सदा करना चाहिये। अर्थात् दान लेने की अपेक्षा दान करना अधिक श्रेयस्कर है' (पृ० १२२) ऐसा अर्थ किया गया है, यह भी गलत है, क्योंकि श्रद्धा और अश्रद्धा शब्द का अर्थ प्रीति और अप्रीति है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये इसका अर्थ इतना ही है कि अश्रद्धास्पद व्यक्तियों को भी दान श्रद्धापूर्वक ही देना चाहिये। शंकर भगवत्पाद ने ऐसी ही व्याख्या की भी है। 'अश्रद्धाभाजन व्यक्तियों को भी दान श्रद्धापूर्वक ही देना चाहिये' ऐसा वार्तिककार का वचन भी है। यहां पर अपने को मीमांसक मानने वाले टिप्पणीकार ने कहा है कि—'अश्रद्धया देयम्' इस वाक्य का तात्पर्य दान की प्रशंसा में है। इसी बात को व्याख्याकार ने 'प्रतिग्रह से दान अत्यन्त श्रेष्ठ है, यह कहकर सिद्ध किया है' (पृ० १२० टि०), यह उक्ति भी एकदम प्रमाणशून्य है, क्योंकि 'विधिवाक्य में शब्दार्थ लक्षणा के आधार पर नहीं किया जाता।' इस नियम के अनुसार विधि में लक्षणा निषिद्ध मानी गई हैं। 'अश्रद्धा से किया गया हवन, दान, तपोऽनुष्ठान अथवा अन्य कोई भी कार्य यह सब असत् (गलत) कहा जाता है। हे अर्जुन! इनका कोई उपयोग न तो यहाँ होता है और न जन्मान्तर में ही इनका कोई फल मिलता है' इस गीता वाक्य के प्रमाण पर अश्रद्धापूर्वक दिया गया दान सर्वथा निष्फल माना गया है।

उसी टिप्पणीकार ने यह भी कहा है कि 'अदेयम्' ऐसा पदच्छेद करने पर अन्तोदात्त स्वर पाठ का विरोध उपस्थित होगा, क्योंकि उस अवस्था में (६।२।२) संख्या के पाणिनि सूत्र से आद्युदात्त स्वर की आपत्ति उठ खड़ी होगी' (पृ० १२० टि०)। यह कथन भी व्यर्थ है, क्योंकि प्रश्लेष में अन्तोदात्तता में कोई बाधा नहीं आती। अर्थ के अनुसार जैसे वेद में विभक्ति का व्यत्यय माना जाता है, उसी तरह से स्वर का व्यत्यय करने में भी कोई बाधा नहीं मानी जा सकती। 'येषु पदेषु०' इत्यादि निरुक्त वाक्यों में

दृष्टव्यत्ययं तु भवति' (नि० ५।२३) इत्यत्र स्वरव्यत्ययोऽपीष्टः। तथाहि महाभाष्यम्—'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) 'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च। व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्धयति बाहुलकेन ॥' इति।

अथैवं वर्तमानस्य यदि कदाचित्ते तव श्रौते स्मार्ते च कर्मणि वृत्ते वा आचारलक्षणे विचिकित्सा संशयः स्यात्, ये तत्र देशे तस्मिन् देशे काले वा ब्राह्मणास्तत्र कर्मादौ युक्ता अभियुक्ताः कर्मणि वृत्ते वा आयुक्ता अपरप्रयुक्ताः, अलूक्षा अक्रूरमतयः, धर्मकामा अदृष्टार्थिनोऽकामहता भवेयुस्ते यथा येन प्रकारेण तस्मिन् कर्मणि वृत्ते वा वर्तेरन् तथा त्वमपि वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु केनचित्सन्दिह्यमानेन दोषेण योजितेषु यथा तथोक्ता ब्राह्मणा वर्तेरन् तथा त्वमपि वर्तेथाः। यत्तु—ब्रह्मविदां पक्षपातरहितानां योगिनामधर्मात् पृथग्भूतानां विद्यादिगुणैः स्निग्धानां विदुषां सकाशादुत्तरं ग्राह्यम्, तेषामेवाचरणं च यादृशेन मार्गेण ते विचरेयुस्तेनैव मार्गेण त्वया गन्तव्यमिति, तत्तु श्रुत्यक्षरासम्बद्धमेव।

एष आदेशो विधिः। एष उपदेशः पुत्रादिभ्यः पित्रादीनाम्। एषा वेदोपनिषत्। एतदेवानुशासनमीश्वरवचनम्। तस्मादेवं यथोक्तमुपासितव्यम्। अत्यादरार्थं पुनर्वचनम्। यत्तु—'अयमेव युष्माकं हृदये उपदेशो हि स्थाप्यते इत्यादिकम्, तत्तु सर्वमुदक्षरमेव।

'ऋतं तपः। सत्यं तपः। श्रुतं तपः। शान्तं तपः। दमस्तपः। शमस्तपः। दानं तपः। यज्ञस्तपः। भूर्भुवःसुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः।' (तै० आ० १०।८) (पृ० १२२)

विभक्ति के समान स्वर का व्यत्यय भी स्वीकार किया गया है। 'व्यत्ययो बहुलम्' इस पाणिनि सूत्र के भाष्य में सुप्, तिङ् आदि का व्यत्यय 'सुप्तिङुप०' इत्यादि श्लोक के प्रमाण पर शास्त्रकारों के बाहुलक द्वारा (बाहुतायत से देखे जाने के आधार पर) सिद्ध माना गया है।

इस प्रकार का आचरण करते रहने पर भी यदि किसी समय तुम्हारे सामने श्रौत-स्मार्त कर्म में, अथवा किसी आचार में किसी तरह का सन्देह उठ खड़ा हो, तो उस समय उस उस देश-काल में जो ब्राह्मण उस कार्य में स्वयं लगें हो अथवा अपने आचार्यों के द्वारा लगाये गये हों, जिनकी मति क्रूर न हो, अदृष्ट धर्म की प्राप्ति में जो सदा लगे हों, जो किसी कामना के वश में न हों, इस तरह के व्यक्ति इन कार्यों और व्यवहारों में जिस तरह का आचरण करते हों, उसी तरह का आचरण तुम भी करो। जब इस तरह के कर्मों और व्यवहारों की संदिग्ध व्याख्या उपस्थित की गई हो, उस अवस्था में भी उक्त ब्राह्मण जिस तरह का बर्ताव करे, उसी तरह का आचरण तुम भी करो। स्वामी दयानन्द ने इसकी व्याख्या इस प्रकार से की है—'जब पूर्ण विद्वान्, पक्षपातरहित, धर्मात्मा, मनुष्यों से पूछ कर शंका का निवारण सदा करते रहो। वे लोग जिस जिस प्रकार से जिस जिस धर्म-कार्य में चलते होवें, वैसे ही तुम भी चलो' (पृ० १२२)। यह अर्थ श्रुति में विद्यमान अक्षरों के सर्वथा विपरीत है।

यह आदेश, अर्थात् हमारी आज्ञा है। यह पुत्रादि के प्रति पिता प्रभृति का उपदेश है। यही वेद का रहस्य है। यही ईश्वर प्रदत्त अनुशासन है। इसलिये जैसा यहाँ कहा गया है, उसी तरह मनुष्य को अपना आचरण बनाना चाहिये। इसी अन्तिम बात पर अधिक जोर देने के लिये इस वाक्य की आवृत्ति की गई है। इसके स्थान पर—'यही आदेश, अर्थात् अविद्या को हटाकर उसके स्थान में विद्या का और अधर्म को हटाकर धर्म का स्थापन करना है। इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं' (पृ० १२२) इस तरह से किया गया सारा अर्थ श्रुति के अक्षरों के विपरीत है।

इसके आगे 'ऋतं तपः' इत्यादि श्रुतियों को उद्धृत कर उनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—'तप इसको कहते हैं कि जो ऋत, अर्थात् यथार्थ तत्त्व मानने, सत्य बोलने, श्रुत अर्थात् सब विद्याओं को सुनने, शान्ति अर्थात् उत्तम कर्म करने और अच्छे स्वभाव को धारने में सदा प्रवृत्त रहे। जो पूर्वोक्त दम, शम, दान यज्ञ और प्रेम-भक्ति से तीनों लोक में व्यापक ब्रह्म की उपासना करता है, उसको भी तप कहते हैं' (पृ० १२३)

'सत्यं परं परं सत्यं सत्येन न सुवर्णाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन। सतां हि सत्यम्। तस्मात् सस्ये रमन्ते तप इति। तपो नानशनात्परम्। यद्धि परं तपस्तद् दुर्धर्षं तद्दुराधर्षं तस्मात्तपसि रमन्ते। दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्माद्दमे रमन्ते। शम इत्यरण्ये मुनयस्तस्मात् शमे रमन्ते। दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशंसन्ति। दानान्नातिदुष्करम्। तस्माद्दाने रमन्ते। धर्म इति धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतम्। धर्मान्नातिदुश्चरं तस्माद्धर्मे रमन्ते। प्रजन इति भूयांसः, तस्माद् भूयिष्ठाः प्रजायन्ते। तस्माद् भूयिष्ठाः प्रजनने रमन्ते। अग्नय इत्याह तस्मादग्नय आधातव्याः। अग्निहोत्रमित्याह तस्मादग्निहोत्रे रमन्ते। यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवङ्गतास्तस्माद् यज्ञे रमन्ते। मानसमिति विद्वांस एव मानसे रमन्ते। न्यास इति ब्रह्मा। ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा। तानि वा एतान्यवराणि तपांसि। न्यास एवात्यरेचयत्। य एवं वेदेत्युपनिषद्।' (तै० आ० १०।६२)।

'प्राजापत्यो हारुणिः। सुपर्णेयः प्रजापतिं पितरमुपससार किं भगवन्तः परमं वदन्तीति। तस्मै प्रोवाच सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि। सत्यं वाचः प्रतिष्ठा। सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति। तपसा देवा देवतामग्र आयन्। तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्। तपसा सपत्नान् प्रणुदामरातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्मात्तपः परमं वदन्ति। दमेन दान्ताः किल्विषमवधुन्वन्ति। दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन्। दमो भूतानां दुराधर्षं दमे सर्वं प्रतिष्ठतम्। तस्माद् दमं परमं वदन्ति। शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयोऽन्वविन्दन्। शमो भूतानां दुराधर्षं शमे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माच्छमं परमं वदन्ति। दानं यज्ञानां

'अब सत्यका स्वरूप दिखाया जाता है, जिसका कि ऋत भी नाम है। सत्यभाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं है, क्योंकि सत्पुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है। सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है। जिससे छूट के वे दुःख में कभी नहीं गिरते। इसीलिये सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना चाहिये। (तप इति०) अन्याय से किसी के पदार्थ को ग्रहण न करना, जिसका ऋत आदि लक्षण कह चुके हैं, जो अत्यन्त उत्तम और यद्यपि करने में कठिन भी है, तथापि बुद्धिमान् मनुष्य को करना सब सुगम है। इससे तप में नित्य ही निश्चित रहना ठीक है। (दम इति०) जितेन्द्रिय होकर के जो विद्या का अभ्यास और धर्म का आचरण करना है, उसमें मनुष्यों को नित्य प्रवृत्त होना चाहिये। (दानमिति०) दान की स्तुति सब लोग करते हैं और जिससे कठिन कर्म दूसरा कोई भी नहीं है, जिससे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, इससे दान करने का स्वभाव सब मनुष्यों को नित्य रखना चाहिये। (धर्म इति०) जो धर्मलक्षण पहले कह आये हैं और जो आगे कहेंगे, वे सब इसी धर्म के हैं, क्योंकि जो न्याय अर्थात् पक्षपात को छोड़कर सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग करना है, उसी को धर्म कहते हैं। यही धर्म का स्वरूप और सबसे उत्तम धर्म है। सब मनुष्यों को इसी में सदा वर्तना चाहिये। (प्रजन इति०) जिससे मनुष्यों की बढ़ती होती है, जिसमें बहुत मनुष्य रमण करते हैं, इससे जन्म को प्रजन कहते हैं। (अग्नय इत्याह०) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से सब शिल्पविद्या सिद्ध करनी उचित है। (अग्निहोत्रं च०) अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त होम करके सब जगत् का उपकार करने में सदा यत्न करना चाहिये। (मान-समिति०) जो विचार करने वाले मनुष्य हैं. वे ही विद्वान् होते हैं। इससे विद्वान् लोग विचार में ही सदा रमण करते हैं, क्योंकि मन के विज्ञान आदि गुण हैं। इससे मन का बल और उसकी शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लक्षण है। (न्यास इति०) ब्रह्मा बन कर, अर्थात् चारों वेदों को जानकर, संसारी व्यवहारों को छोड़कर, न्यास अर्थात् संन्यास आश्रम में प्रवेश कर जो सब मनुष्यों को सत्यधर्म और सत्यविद्या का लाभ पहुंचाना है, यह भी विद्वान् मनुष्यों को धर्म का लक्षण जान कर करना उचित है।

(सत्येन वा०) सत्य को उत्तम इस लिये कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म है, उससे सब लोगों का प्रकाश और वायु आदि पदार्थों का रक्षण होता है। सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा और परब्रह्म को प्राप्त होकर मुक्ति का सुख भी मिलता है, तथा सत्पुरुषों में सत्याचरण ही सत्पुरुषपन है। (तपसा देवा०) पूर्वोक्त तप से ही विद्वान् लोग परमेश्वर देव को प्राप्त होकर सब काम, क्रोध आदि शत्रुओं को जीतकर, पापों से छूट कर धर्म में ही स्थिर रह सकते हैं, इससे तप को भी श्रेष्ठ कहते हैं। (दमेन०) दम से मनुष्य पापों से अलग होकर और ब्रह्मचर्य आश्रम का सेवन करके विद्या को प्राप्त होता है, इसलिये धर्म का दम भी श्रेष्ठ लक्षण है। (शमेन०) शम का लक्षण यह है कि जिससे मनुष्य कल्याण का ही आचरण करते हैं, इससे यह धर्म का लक्षण है। (दानेन०) दान से

दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति । दाने सर्वं प्रतिष्ठितम् । तस्माद्दानं परमं वदन्ति । धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा । लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति । धर्मेण पापमपनुदति । धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् । तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति । प्रजननं वै प्रतिष्ठा लोके । साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वानः पितॄणामनृणो भवति । तदेव तस्या अनृणम् । तस्मात् प्रजननं परमं वदन्ति' (तै० आ० १०।६३) ।

'अग्नयो वै त्रयी विद्या देवयानः पन्था गार्हपत्य ऋक् पृथिवीरथन्तरमन्वाहार्यपचनो यजुरन्तरिक्षं वामदेव्यमाहवनीयः साम सुवर्गो लोको बृहत् । तस्मादग्नीन् परमं वदन्ति । अग्निहोत्रं सायंप्रातर्गृहाणां निष्कृतिः स्विष्टं सुहुतं यज्ञक्रतूनां प्रायणं सुवर्गस्य लोकस्य ज्योतिस्तस्मादग्निहोत्रं परमं वदन्ति । यज्ञ इति । यज्ञेन हि देवा दिवं गताः । यज्ञेनासुरानपानुदन्त । यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम् । तस्माद् यज्ञं परमं वदन्ति । मानसं वै प्राजापत्यं पवित्रं मानसेन मनसा साधु पश्यति । मानसा ऋषयः प्रजा असृजन्त । मानसे सर्वं प्रतिष्ठितम् । तस्मान्मानसं परमं वदन्ति' (तै० आ० १०।६३) (पृ० १२३-१२४) ।

अत्रापि ब्राह्मणभागस्य प्रामाण्यस्वतस्त्वमनङ्गीकुर्वाणस्य मन्त्राणां तन्मूलत्वेनानुपस्थापयतः प्रमाणदारिद्र्यमेव सूच्यते । सनातनवैदिकानां तु ब्राह्मणभागस्यापि मन्त्रभागस्येव प्रामाण्यस्वतस्त्वमेव । धर्मे विधीनामेव प्रामाण्यम् । विधीनां च ब्राह्मणभाग एव सत्त्वाद् ब्राह्मणभागस्य धर्मे प्रामाण्यं युज्यत एव । तत्र प्रथमं सिद्धान्तानुसारेण पूर्वोक्तवचनव्याख्यानमुपस्थाप्यते ।

ही यज्ञ, अर्थात् दाता के आश्रय से सब प्राणियों का जीवन होता है और दान से ही शत्रुओं को भी जीत कर अपना मित्र बना लेते हैं, इससे दान भी धर्म का लक्षण है । (धर्मो०) सब जगत् की प्रतिष्ठा धर्म ही है, धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास है, धर्म से ही मनुष्य पापों से छुटकारा पाते हैं, जितने उत्तम काम हैं वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं, इससे उत्तम धर्म को ही जानना चाहिये । (प्रजननं०) जिससे मनुष्यों का जन्म और प्रजा में वृद्धि होती है और जो परम्परा से ज्ञानियों की सेवा से ऋण अर्थात् बदले को पूरा करना होता है, इससे प्रजनन भी धर्म का हेतु है, क्योंकि जो मनुष्यों की उत्पत्ति न हो तो धर्म को ही कौन करे । इस कारण से भी धर्म को ही प्रधान जानो ।

(अग्नयो वै०) अर्थात् जिससे तुम लोग सांगोपांग तीनों वेदों को पढ़ो, क्योंकि विद्वानों के ज्ञानमार्ग को प्राप्त होकर पृथिवी, आकाश और स्वर्ग ये तीनों प्रकार की विद्या सिद्ध होती है, इससे इन तीनों अग्नि अर्थात् वेदों को श्रेष्ठ कहते हैं । (अग्निहोत्रं०) प्रातः और सन्ध्या काल में [अग्निहोत्र द्वारा] वायु तथा वृष्टि-जल को दुर्गन्ध से छुड़ा कर सुगन्धित करने से सब मनुष्यों को स्वर्ग अर्थात् सुख की प्राप्ति होती है, इसलिये अग्निहोत्र को भी धर्म का लक्षण कहते हैं । (यज्ञ इति०) यज्ञ से ही विद्वान् लोग स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त होते हैं और शत्रुओं को जीतकर अपना मित्र कर लेते हैं, इससे यज्ञ को भी धर्म का लक्षण कहते हैं । (मानसं वै०) मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजाप्रति अर्थात् परमेश्वर को जानकर नित्य सुख को प्राप्त हो सकते हैं, पवित्र मन से सत्य का ज्ञान होता है और उसमें जो विज्ञान [और प्राण] आदि ऋषि अर्थात् गुण हैं, उनसे परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी अपनी सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं । अर्थात् परमेश्वर के विद्या आदि गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है । इससे मन को जो पवित्र और विद्यायुक्त करना है, यह भी धर्म का उत्तम लक्षण और साधन है । इससे मन के पवित्र होने से सब धर्म कार्य सिद्ध होते हैं । ये सब धर्म के ही लक्षण हैं । इनमें से कुछ तो पूर्व कह दिये और कुछ आगे भी कहेंगे' (पृ० १२४-१२७) ।

यहां पर भी ब्राह्मण भाग को स्वतः प्रमाण न मानने वाले दयानन्द के पास इनके प्रमाणभूत मन्त्रों को उपस्थित न कर पाने के कारण प्रमाणों की दरिद्रता ही प्रतीत होती है । वैदिक सनातन धर्म के अनुयायी तो ब्राह्मणभाग को भी मन्त्रभाग के समान स्वतः प्रमाण मानते हैं । धर्म में विधिवाक्य ही प्रमाण माने जाते हैं । ये विधिवाक्य ब्राह्मणभाग में ही ज्यादातर उपलब्ध होते हैं, अतः ब्राह्मणभाग की धर्म के प्रति प्रामाणिकता उचित ही है । यहां पर पहले हम इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्वोक्त श्रुतिवचनों की व्याख्या उपस्थित करते हैं ।

'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः' इति श्रुत्या यत्तपो ब्रह्मात्मसाक्षात्कारसाधनं तदेव श्रौतस्मार्तसर्वकर्मरूपतया प्रशस्यते। यद्वा तथाविधतपःसिद्ध्यर्थं जप्यं मन्त्रमाह। ऋतं मनसा यथार्थवस्तुचिन्तनं तपस्तपोरूपम्, सत्यं यथार्थभाषणमपि तपः। श्रुतं पूर्वोत्तरमीमांसाभ्यां वेदवेदान्ततात्पर्यावधारणपूर्वकं वेदार्थश्रवणं श्रुतम्, तदपि तपः पूर्वोक्तहेतुत्वात्। शान्तं शान्तिर्बाह्याभ्यन्तरेन्द्रियोपरमः। दानं स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं योग्यसम्प्रदानस्वत्वापादनम्। यज्ञोऽग्निहोत्रादि, तत्सर्वमपि तप एव। भूर्भुवःसुवरिति लोकत्रयात्मकं यद्विराड् ब्रह्म हे तत्त्वजिज्ञासो, तदुपास्व तद्विषये विजातीयप्रत्ययान्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहमादरेण कुरु। तदेतदुपासनमपि तपः।

यत्तु—'इदानीं तपसो लक्षणमुच्यते—ऋतं यत्तत्त्वं ब्रह्मण एवोपासनं यथार्थज्ञानं च सत्यं सत्यकथनं सत्यमाचरणं च श्रुतं सर्वविद्याश्रवणं श्रवणं च शान्तमधर्मात् पृथक्कृत्य मनसो धर्मे स्थापनं शान्तिः'(सायणभाष्यान्विते तैत्तिरीयारण्यके दमः शम इति पदद्वयपाठो नास्त्येव) (पृ० १२२) इति, तदपि न मनोज्ञम्, तपोलक्षणस्याननुगतत्वात्। मनसश्चेन्द्रियाणां च निग्रहस्यैव सर्वानुगतत्वोपपत्तेः। 'तपो नानशनात्परम्' इति कृच्छ्रादेरपि तत्रैव पर्यवसानात्। शमदमादिलक्षणं तु पूर्वमेव खण्डितम्।

सत्यं परं परं सत्यमिति। तत्र सायणरीत्येयं भूमिका—ज्ञानप्रतिबन्धकमहापातकोपपातकपरिहारेण योग्यतालक्षणां सिद्धिमुक्त्वा योग्यस्य पुरुषस्यापेक्षितेषु ज्ञानसाधनेषु न्यासस्य निरतिशयोत्कर्षं वक्तुं सत्यादीन्येव दश साधनानि प्रतियोगित्वेन वक्तव्यानि। तत्र प्रथमं साधनमुपन्यस्यति सत्यमिति। प्रमाणेन यथादृष्टं यथाश्रुतं तथैवाभिवदनं सत्यम्, तच्च परं पुरुषार्थसाधनेषूत्कृष्टम्। परं सत्यं पुनर्वचनमादरार्थम्। यद्वा परं ब्रह्म सत्यमत्यन्ता-

'मन और इन्द्रियों की एकाग्रता सर्वोत्कृष्ट तप हैं' इस श्रुति के अनुसार यही तप आत्मसाक्षात्कार का साधक है। इसलिये इसी की श्रौत-स्मार्त आदि सभी कर्मों के रूप में प्रशंसा की जाती है। अथवा इस तरह के तप की सिद्धि के लिये जप करने योग्य मन्त्र को बताते हैं—ऋत कहते हैं मन से यथार्थ वस्तु का चिन्तन करना, यह तपोरूप ही है। सत्य यथार्थ भाषण को कहते हैं। यह भी तप है। पूर्व और उत्तर मीमांसा की पद्धति से वेद और वेदान्त के तात्पर्य का अवधारण करने के साथ वेदार्थ के श्रवण को श्रुत कहते हैं, यह भी तप है। शान्त शब्द शान्ति का, बाह्य और आन्तर इन्द्रियों की उपरति का वाचक है। 'दान' किसी वस्तु से अपने स्वत्व को हटाकर उस पर किसी अन्य योग्य व्यक्ति का स्वत्व संपादन करना है। अग्निहोत्र प्रभृति यज्ञ हैं। ये सब तप ही कहलाते हैं। भूः, भुवः, और सुवः इन तीन पदों से लोकत्रयात्मक विराड् ब्रह्म बोधित होता है। हे तत्त्व की जिज्ञासा वाले मनुष्यों, तुम उसकी उपासना करो, उसको जानो, विजातीय प्रत्ययों को हटा कर निरन्तर उसीके सजातीय स्वरूप प्रत्ययप्रवाह को आदरपूर्वक सेवन करो। इस तरह की यह उपासना भी तप कहलाती है।

दयानन्द ने इसका जो यह अर्थ किया है कि—'तप इसको कहते हैं कि जो ऋत, अर्थात् यथार्थ तत्त्व मानने, सत्य बोलने, श्रुत अर्थात् सब विद्याओं को सुनने-सुनाने, शान्त अर्थात् उत्तम कर्म करने और अच्छे स्वभाव को धारने में सदा प्रवृत्त रहे (सायण भाष्य से युक्त तैत्तिरीय आरण्यक में शम और दम ये दोनों पद नहीं मिलते)' (पृ० १२३) यह अर्थ अच्छा नहीं है, क्योंकि इनमें तप का लक्षण अनुगत नहीं होगा। मन और इन्द्रियों का निग्रह ही सर्वत्र तप से अनुगत माना जाता है। 'अनशन से उत्कृष्ट और कोई तप नहीं हैं' यहाँ पर प्रदर्शित कृच्छ्रादि तप का भी अन्ततः इन्द्रियों के निग्रह में ही तात्पर्य पर्यवसित होता है। दयानन्दसंमत शम-दमादि के लक्षणों का खण्डन हम पहले ही कर चुके हैं।

'सत्यं परम्०' इत्यादि श्रुति-वाक्यों की सायण की पद्धति से भूमिका इस प्रकार है—ज्ञान के प्रतिबन्धक महापातक, उपपातक आदि के परिहार द्वारा योग्यता संपादन रूप सिद्धि को बताकर योग्य पुरुष के लिये अपेक्षित ज्ञान के साधनों में न्यास का निरतिशय उत्कर्ष बताने के लिये उसके प्रतियोगी के रूप में सत्य प्रभृति दस साधनों का वर्णन किया जाता है। उनमें से प्रथम साधन सत्य का उपस्थापन इस तरह से किया जाता है—प्रमाण से जैसा देखा गया और जैसा सुना गया, उसको उसी रूप में कहना सत्य

बाध्यम्। तद्वद् यथार्थवचनमपि व्यावहारिकबाधशून्यमिति दृष्टान्तरूपेण परं सत्यमित्युच्यते। सत्येनाजीवनं यथार्थभाषणलक्षणेन सत्येन स्वर्गात् लोकात् कदाचन न च्यवन्ते। अनृतवादिनस्तु केनचित्पुण्येन स्वर्गं प्राप्यापि मिथ्याभाषणदोषेण सम्पूर्णतया कर्मफलमननुभूयैव प्रच्यवन्ते। हि यस्मात् सतां सन्मार्गवर्तिनामृष्यादीनां सम्बन्धि सत्यं यथार्थभाषित्वं तस्मात् सतामिदं सत्यमिति व्युत्पत्त्यनुरोधेन सत्यवादित्वमेव परमं मोक्षसाधनमिति वदन्तः केचिन्महान्तः सत्ये रमन्ते क्रीडन्ते।

यत्तु—'सत्यभाषणात् सत्याचरणाच्च परं धर्मलक्षणं किञ्चिन्नास्त्येव, कुतः? सत्येनैव नित्यं मोक्षसुखं संसारसुखं च प्राप्य पुनः कदापि च्युतिर्न भवति। सत्पुरुषाणामपि सत्याचरणमेव लक्षणमस्ति। तस्मात् कारणात् सर्वैर्मनुष्यैः सत्ये खलु रमणीयम्' (पृ० १२४) इति, तत्तु पौर्वापर्यानवधारणमूलकमक्षरार्थबहिर्भूतं च, धर्मलक्षणस्याप्रकृतत्वात्। इह तु सत्यं परमित्युक्तम्। नहि सत्येन मोक्षसुखं संसारसुखं च प्राप्यत इत्युच्यत। सत्ये रमन्त इत्युक्तम्। नात्र विधिप्रत्ययो दृश्यते। किञ्च, सर्वैर्मनुष्यैः सत्य एव रमणीयं चेत् तदा तपसि रमन्ते दमे रमन्ते शमे रमन्ते इत्यादिविरोधश्च स्यात्, सत्यभाषणस्यैव मोक्षसुखप्रापकत्वे न्यास एवात्यरेचयद् इत्युपसंहारवाक्यविरोधश्च। तत्र तत्र सर्वत्यागलक्षणस्य न्यासस्यैव पूर्वोक्तसर्वसाधनापेक्षयातिरिक्तत्व (श्रेष्ठत्व) प्रतिपादनात्। तस्मात् सायणानुसारि पूर्वोक्तव्याख्यानमेव युक्तम्।

एवं सत्यमेव परमिति मतमुक्त्वा द्वितीयं मतमुच्यते तप इति। 'तपो नानशनात् परम्' इति तपः परं मोक्षसाधनमित्यपि केषाञ्चिन्मतम्। तीर्थयात्राजपहोमादीनि बहूनि तपांसि भवन्ति। तथापि तेष्वनशनाद् उपवासैक-

कहलाता है। यह पुरुषार्थ के साधनों में उत्कृष्ट माना जाता है। 'परं सत्यम्' इस तरह से उसी की पुनरुक्ति सत्य के प्रति आदर प्रकट करने के लिये है। अथवा इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि 'परब्रह्म सत्य है, अर्थात् उसका कभी बाध नहीं होता।' उसी तरह से यथार्थ वचन भी व्यावहारिक बाध से रहित होता है। इस तरह से दृष्टान्त के रूप में 'परं सत्यम्' इसकी व्याख्या की जा सकती है। सत्य से अर्थात् आजीवन यथार्थ भाषण रूप सत्य के प्रभाव से वक्ता स्वर्गलोक से कभी च्युत नहीं होता। असत्यवादी पुरुष किसी तरह से किसी पुण्य के प्रभाव से यदि स्वर्ग को प्राप्त कर भी लेता है, तो भी मिथ्याभाषणरूप दोष के कारण पूरी तरह से कर्मफल को भोगे बिना ही स्वर्गलोक से च्युत हो जाता है। इसलिये सत्यभाषण, सन्मार्ग में निरत ऋषि-मुनियों की सत्यवादिता सदा उनके साथ रहती है, अतः यह सत्यवादिता ही मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ साधन है, ऐसा मानकर कुछ महात्मा सत्य के साथ ही सदा निरत रहते हैं।

दयानन्द ने इस वाक्यखण्ड का अर्थ इस प्रकार किया है—'सत्य भाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं हैं, क्योंकि सत्पुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है। सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है, जिससे छूटकर वे दुःख में कभी नहीं गिरते। इसीलिये सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना चाहिये' (पृ० १२४-१२५)। यह व्याख्या पूर्वापर सम्बन्ध की बिना अवधारणा किये की गई है और मन्त्राक्षरों से इसका कोई सम्बन्ध भी नहीं है। यहाँ पर धर्म के लक्षण का कोई प्रसंग नहीं हैं। यहाँ पर सत्य की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। यहाँ पर यह नहीं कहा गया है कि सत्य से मोक्षसुख अथवा संसार का सुख प्राप्त होता है, किन्तु सत्य में रमण करते हैं, यह बात कही गई है। यहाँ पर कोई विधि का प्रत्यायक प्रत्यय नहीं है। अपि च, यदि सभी मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना है तो फिर तप, दम, शम आदि में रमण करने के विधान से इस वाक्य का विरोध होगा। सत्यभाषण से यदि मोक्षसुख की प्राप्ति हो जाती है, तो इस प्रकार के अन्तिम वाक्य में इन सभी मोक्ष के साधनों में न्यास सबसे बढ़कर है, इस प्रकार का उपसंहार करने से उससे इसका विरोध उपस्थित होगा। वेदान्त वाक्यों में सर्वत्र सर्वत्याग लक्षण संन्यास को ही मोक्ष के सभी साधनों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसलिये इस वाक्यखण्ड का सायण का किया गया अर्थ ही सही है।

इस तरह से सत्य की परमता का प्रतिपादन करने के बाद द्वितीय वाक्यखण्ड में तप की परमता का प्रतिपादक द्वितीय मत प्रदर्शित है—अनशन से बढ़कर कोई तप नहीं है, इस श्रुतिवाक्य के अनुसार कुछ लोगों के मत से तप ही मोक्ष का श्रेष्ठ साधन

भक्तादिरूपादशनवर्जनात् परमुत्कृष्टं तपो नास्ति। यद्धि अनशनरूपं कृच्छ्रचान्द्रायणपराकादि परं तपोऽस्ति तद् दुर्धर्षम्, धर्षितुं सोढुमशक्यम्। अत एव आसमन्तात् सर्वेषां प्राणिनां तत्तपो दुर्धर्षं दुःशकमित्यनुभूयते। तस्मात्केचन श्रद्धालवोऽनशनरूपे तपसि रमन्ते। तृतीयं मतमाह—दम इति। नियतं ब्रह्मचारिण इति। वाक्चक्षुरिन्द्रियाणां वाह्यान्तरनिषिद्धेभ्यो निवृत्तिर्दमः। स एवोत्तमो मोक्षहेतुरिति मन्यमाना नैष्ठिकब्रह्मचारिण नियतं वदन्ति तस्माद्दमे रमन्ते। अथ चतुर्थं मतमाह—शम इत्यरण्ये। अन्तःकरणक्रोधादिदोषराहित्यं शमः, स एवोत्तमो मोक्षहेतुरित्यरण्ये वर्तमाना मुनयो वनस्थाः शमे रमन्ते। अत्रापेक्षिकावेव दमशमौ निरतिशयौ इन्द्रियादीनामुपरमा एव।

पञ्चमं तत्र दानमिति। गोहिरण्यादीनां स्वकीयानां शास्त्रोक्तविधानेन स्वत्वपरित्यागपूर्वकयोग्यपात्रस्वत्वापादनं दानम्, तदेव सर्वोत्कृष्टमोक्षसाधनमिति मत्वा सर्वे प्राणिनः प्रशंसन्ति। दानादतिदुष्करं किञ्चिन्नास्ति। तनुत्यजापेक्षयापि धनत्यजानां दुर्लभत्वाद् धनार्थं प्राणानपि परित्यजतां पुरुषाणामुपलम्भात्। तस्माद् दाने रमन्ते।

षष्ठं मतं धर्म इति। अत्र धर्मपदेन स्मृतिपुराणादिप्रतिपाद्यो वापीकूपतडागादिनिर्माणरूपो धर्मो ग्राह्यः, श्रौतकर्मणामुपरिष्टाद् यज्ञरूपेण वक्ष्यमाणत्वात्। राजामात्यश्रेष्ठ्यादयो मन्यन्ते तडागादिरूपेण धर्मे सर्वमिदं रागात् परिगृहीतम्। सर्वेऽपि मनुष्यपश्वादयः स्नानपानादिभिस्तत्र तुष्यन्ति। तादृशाद् धर्मादन्यद् दुश्चरं नास्ति। तस्मात् कारणात् तादृशे धर्मे रमन्ते धनसम्पन्नाः।

सप्तमं मतं प्रजन इति। प्रजनः पुत्राद्युत्पादनं तस्यैवोत्तममोक्षसाधनत्वं भूयांसो बहवः प्राणिनो मन्यन्ते,

है। तीर्थयात्रा, जप, होम प्रभृति नाना प्रकार के तप होते हैं। इनमें अनशन से बढ़कर, उपवास, एक बार भोजन करना, आदि के रूप में भोजन का त्याग करने से बढ़कर दूसरा कोई तप नहीं है। यह अनशन रूप कृच्छ्र, चाद्रायण, पराक प्रभृति के विभेद से आचरित तप अत्यन्त दुर्धर्ष है, इसका आचरण कर पाना कठिन है। इसीलिये सभी प्राणियों के लिये इस प्रकार का तप बड़ा कठिन होता है। इसलिये कुछ श्रद्धालुजन अनशन रूप तप में निरत रहते हैं। तृतीय मत दम को उत्कृष्ट मानने वालों का है। ये नियत ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वाणी, चक्षु प्रभृति इन्द्रियों की बाह्य और आभ्यन्तर निषिद्ध विषयों से निवृत्ति को दम कहते हैं। यही मोक्ष का उत्तम साधन है, ऐसी निश्चित मान्यता नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालन करने वालों की है। इसलिये वे सदा दम के अभ्यास में ही निरत रहते हैं। चतुर्थ मत शमवादियों का है। साधक का अन्तःकरण जब क्रोधादि दोषों से उपरत हो जाता है, तो वह उसकी शमावस्था कहलाती है। यही मोक्ष का उत्तम साधन है, यह मत वन में निवास करने वाले मुनियों का है। वे वन में रह कर इसी का अभ्यास करते हैं। यहां पर शम और दम का आपेक्षिक विधान है। इनकी निरतिशय अवस्था इन्द्रियादि की उपरति ही है।

पंचम पक्ष दान की महत्ता को बताता है। अपने गाय, सुवर्ण आदि धन को शास्त्रोक्त विधि से उनके प्रति अपने स्वत्व को छोड़कर योग्य पात्र का स्वत्व संपादित करा देना दान कहलाता है। यही सर्वोत्कृष्ट साधन है, ऐसा मानकर सभी प्राणी दान करने वाले के प्रशंसक होते हैं। दान से कठिन और कोई वस्तु नहीं है। अपने शरीर का त्याग करने वाले मिल जायंगे, किन्तु धन का त्याग करने वाले दुर्लभ हैं। (इसके लिये 'चाम जाय पर दमड़ी न जाय' यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है)। धन के लिये प्राण दे देने वाले आदमी मिल जायंगे। इसलिये दान की महत्ता को मानने वाले इसी में निरत रहते हैं।

षष्ठ मत धर्म की उपासना का प्रतिपादक है। यहां पर धर्म पद से स्मृति-पुराणादि प्रतिपाद्य वापी, कूप, तडाग आदि के निर्माण का ग्रहण किया गया है, क्योंकि श्रौत कर्मों का आगे यज्ञरूप में वर्णन किया गया है। राजा, राजमन्त्री, सेठ-साहूकार इस बात को मानते हैं कि तडाग आदि का निर्माण धर्म में अनुराग का बोधक है। सभी मनुष्य, पशु-पक्षी आदि उनमें स्नान-पान आदि करके सन्तुष्ट होते हैं। इस तरह के धर्म से बढ़कर अन्य कोई दुष्कर कार्य नहीं है, इसलिये धन-सम्पन्न व्यक्ति इसी तरह के धर्म के कार्यों को करके सन्तुष्ट होते हैं।

सप्तम मत प्रजन संबन्धी है। प्रजन का अर्थ पुत्रादि का उत्पादन है। उसीको बहुत से व्यक्ति मोक्ष का उत्तम साधन

दरिद्रैराढ्यैः शिष्टैरशिष्टैः पण्डितैरितरैश्च पुत्रोत्पादनायातिशयेन प्रयतमानत्वात्। तस्मादेकैकस्य पुरुषस्य भूयिष्ठा अतिवह्वः प्रजोत्पादने रमन्ने।

अष्टमं मतमाह—अग्नय इति। अग्नयो गार्हपत्यादय आधातव्या इत्युत्तममोक्षहेतवः। तस्माद् गृहस्थैरग्नय आधातव्याः।

नवमं मतमाह—अग्निहोत्रमिति। तस्मादग्निहोत्रे रमन्ते। आहितेष्वग्निषु सायंप्रातश्चानुष्ठेयो होमोऽग्निहोत्रम्। तदुत्तममोक्षसाधनमिति केचित्। तस्मात्तेऽग्निहोत्रे रमन्ते।

दशमं मतमाह—यज्ञ इति। दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिको यज्ञ उत्तमो मोक्षहेतुरित्यपरे वैदिका मन्यन्ते। हि यस्मात् देवा वर्तमाना पूर्वानुष्ठितेन यज्ञेन दिवं गताः स्वर्गलोकं प्राप्ताः। तस्माद्वैदिकाः केचिद् यज्ञे रमन्ते। मानसमिति। मनसैव निष्पाद्यं मानसमुपासनमिति सगुणब्रह्मविदो वदन्ति। तस्मात् केचन वेदगतोपास्तिभागतात्पर्यविदो मानस उपासने रमन्ते।

द्वादशं मतं न्यास इति। पूर्वकाण्डोक्तानामग्निहोत्रादिकर्मणामारुणिजावालाद्युपनिषदुक्तप्रकारेण न्यासः परित्याग एवोत्तममोक्षहेतुरिति ब्रह्मा हिरण्यगर्भो मन्यते। स च ब्रह्मा परो हि, परमात्मरूपः। न तु पूर्वोक्तमतानुसारिण इव जीवः। यद्यप्यसावपि देहधारी, तथापि परो हि परमात्मैव ब्रह्मा हिरण्यगर्भ इति वक्तुं शक्यते, तच्छिष्यत्वेन तत्समानज्ञानत्वात्। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।' (६।१८) इति श्वेताश्वतरोक्तेः।

यानि पूर्वोक्तानि सत्यादीनि मानसान्तानि तानि तपांस्येव भवन्ति। तथापि पुत्रैषणा-वित्तैषणा-लोकैषणादिसर्वत्यागरूपन्यासापेक्षयाऽवराणि निकृष्टान्येव। तस्मान्न्यास एक एव सर्वाण्यत्यरेचयद् अतिक्रान्तवान्, उत्तमत्वतारतम्यस्य तत्रैव विश्रान्तत्वात्। 'न्यास इति ब्रह्मा······तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एव

मानते हैं। दरिद्र हो या धनी, शिष्ट हो या अशिष्ट, पण्डित हो या मूर्ख, सभी लोग पुत्र की प्राप्ति के लिये बड़ा प्रयत्न करते हैं। इस तरह से एक एक व्यक्ति बहुत से पुत्रों के उत्पादन में रमते रहते हैं।

अष्टम मत अग्नि संबन्धी है। गार्हपत्य प्रभृति अग्नियों का आधान ही मोक्ष का उत्तम साधन है। इसलिये गृहस्थ को अग्नियों का आधान करना चाहिये। नवम मत अग्निहोत्र संबन्धी है। इस मत को मानने वाले अग्निहोत्र के अनुष्ठान में निरत रहते हैं। अग्नियों का आधान कर लेने के बाद प्रातःकाल और सायंकाल इनमें किया जाने वाला होम अग्निहोत्र कहलाता है। यही मोक्ष का उत्तम साधन है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। इसलिये ये लोग अग्निहोत्र के अनुष्ठान में ही लगे रहते हैं।

दशम मत यज्ञवादियों का है। कुछ वैदिक मानते हैं कि दर्श-पूर्णमास, ज्योतिष्टोम प्रभृति यज्ञ ही मोक्ष के उत्तम साधन हैं। आज स्वर्ग में निवास करने वाले देवताओं ने पहले जो यज्ञों का अनुष्ठान किया था, उसी के फलस्वरूप वे वहां पहुंचे थे। इसलिये यज्ञों में रमते हैं। ग्यारहवां मत मानसवादियों का है। मानस उपासना मन से ही निष्पन्न होती है, ऐसा सगुण ब्रह्म को मानने वालों का मत है। इसलिये वेदगत उपासना-काण्ड का तात्पर्य समझने वाले कुछ मनीषी मानसिक उपासना पर ही जोर देते हैं।

न्यास संबन्धी बारहवां मत है। पूर्व काण्ड में प्रतिपादित अग्निहोत्र प्रभृति कर्मों का आरुणि-जावाल आदि आचार्यों के द्वारा उपनिषदों में प्रतिपादित पद्धति से परित्याग ही मोक्ष का उत्तम साधन है। यह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा का मत है। यह ब्रह्मा परम परमात्मस्वरूप हैं, पूर्वोक्त मत के अनुसार जीव नहीं है। यद्यपि यह भी देहधारी है, तथापि परम परमात्मा ही हिरण्यगर्भ ब्रह्मा भी है, ऐसा कह सकते हैं, क्योंकि उनके शिष्य होने से ब्रह्मा का भी ज्ञान परमात्मा के समान ही है। श्वेताश्वतर श्रुति कहती है—'जो पहले ब्रह्मा की सृष्टि करता है और बाद में उसको वेदों का उपदेश भी करता है'।

यहां पर पूर्वोक्त सत्य से लेकर मानस उपासना पर्यन्त सभी तप के अन्तर्गत आते हैं। तो भी पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि सब आकांक्षाओं के त्यागस्वरूप न्यास की अपेक्षा ये सब हीन कोटि के साधन हैं। इसलिये न्यास ही इन सबसे बढ़कर है। साधन की उत्तमता का तरतमभाव वहां आकर समाप्त हो जाता है। 'न्यास इति ब्रह्मा···अत्यरेचयत्' इस वाक्यखण्ड के अर्थ को बिना

अत्यरेचयत्' इति वचनरहस्यमज्ञात्वैव स्वामिदयानन्दो यत्किञ्चिदसम्बद्धमेवोक्तवान् । यत्तु—'ब्रह्मवर्चसेन विद्याग्रहणं ब्रह्मोच्यते' (पृ० १२४) इति, तत्तु सर्वं निर्मूलमेव । यदपि 'विदुषो लक्षणं मानसो व्यापारः' (पृ० १२४) इति, तदपि यत्किञ्चिदेव, निर्मूलत्वात् । तस्मात् सायणसम्मतं पूर्वोक्तव्याख्यानमेव युक्तम् ।

पूर्वोक्तमोक्षसाधनसमूहमुपपादयितुमाख्यायिकामाह—प्राजापत्यो हारुणिरिति (पृ० १२३) । प्रजापतेः पुत्रो प्राजापत्यो हारुणिः स एव सुपर्णाख्यायाः स्त्रियोऽपत्यत्वात् सुपर्णेयः । स स्वकीयं पितरं प्रजापतिमुपससार उत्तम-साधनजिज्ञासयोपसन्नवान् । उपसद्य चैवं पप्रच्छ । हे प्रजापते, भगवन्तो महर्षयः मोक्षसाधने किं साधनं परममुत्कृष्टं वदन्ति । एवं पृष्टः स तस्मै प्रोवाच—तत्र प्रथमं दर्शयति 'सत्येन वायुरावाति' । योऽयं वायुरन्तरिक्षे वाति सोऽयं पूर्वजन्मनि मनुष्यः सन् सत्यवादित्वं परिपाल्य तेनैव सत्येन वायुदेवतात्वं प्राप्य इदानीं लोकानुग्रहायान्तरिक्षे वाति । तथैवादित्योऽपि पूर्वजन्मानुष्ठितेन सत्येन दिवि रोचते द्युलोके प्रकाशते । तदेतत्सत्यं वाचो वागिन्द्रियस्य प्रतिष्ठा स्थिरावस्थानम् । अनृतं तु वाचोक्तमपि परैर्निराक्रियत इति न वाचः प्रतिष्ठा । सत्ये सत्यभाषणे सर्वं प्रामाणिकं व्यवहारजातं प्रतिष्ठितम् । तस्मात् सत्यमेव परमं साधनमित्येव केचिदनुष्ठातारो वदन्ति ।

तत्रारुणेर्मुखविकासराहित्येनापरितोषं परिलक्ष्य द्वितीयं साधनमाह—तपसा देवा इति । इदानीं स्वर्गे वर्तमाना अग्नीन्द्रादयो देवा . अग्रे पूर्वजन्मन्यनुष्ठितेनाशनपरित्यागरूपेण कृच्छ्रचान्द्रायणादितपसा देवतामायन् देवतात्वमिदानीन्तनं प्राप्ताः । तथा वशिष्ठादय ऋषयः पूर्वानुष्ठितेन तपसा सुवरविन्दन् स्वर्गलोकमनुक्रमेण लब्धवन्तः । वयमपीदानीमभिचाररूपेण तपसा सपत्नान् (शत्रून्) अस्मदीयलाभविरोधिनः पुरुषानपि प्रणुदाय निराकुर्मः । अन्यदपि सर्वं फलजातं तपसि प्रतिष्ठितम् । तस्मादनशनरूपं तपः परमं मोक्षसाधनं केचिद्वदन्ति ।

समझे स्वामी दयानन्द ने प्रकरण से असंबद्ध ऊल-जलूल व्याख्या कर दी है । 'ब्रह्मचर्य के सेवनपूर्वक विद्या का ग्रहण ब्रह्म कहलाता है' (पृ० १२४) इस तरह की उक्तियां भी निर्मूल हैं । 'विद्वान् का लक्षण एक मानस-व्यापार है' यह कथन भी विना आधार के व्यर्थ है । इसलिये इन वचनों का सायणसंमत अर्थ ही सही है ।

पूर्वोक्त मोक्षसाधनों के समूह की उपपत्ति के यहां पर एक आख्यायिका उद्धृत की गई है (पृ० १२३) । आरुणि ऋषि प्रजापति के पुत्र हैं, अतः प्राजापत्य कहलाते हैं । इनकी माता का नाम सुपर्णा था, इसलिये ये सुपर्णेय कहे गये हैं । ये एक बार मोक्ष के उत्तम साधनों को जानने की इच्छा से अपने पिता प्रजापति के पास पहुँचे और उनसे पूछा—हे प्रजापते, परम पूज्य महर्षि गण मोक्ष के साधनों में किसको सर्वोत्तम मानते हैं । ऐसा पूछने पर प्रजापति ने जो उत्तर दिया, उनमें यह भी है—सत्येन वायुरावाति । इसका तात्पर्य यह है कि यह जो वायु अन्तरिक्ष में बह रहा है, वह जब पूर्वजन्म में मनुष्य था, उस समय उसने सत्यवचन का पालन किया । उसी सत्यवादिता के प्रभाव से वायु देवता का पद मिला है और अब लोगों को अनुग्रह करने के लिये अन्तरिक्ष में बहता रहता है । इसी तरह से आदित्य भी पूर्वजन्म में अनुष्ठित सत्य के प्रभाव से ही अन्तरिक्ष में प्रकाशित हो रहा है । यह सब सच बोलने का ही प्रभाव है कि सत्य बोलने वाले की वाणी स्थिर रहती है, उसका कोई प्रतिवाद नहीं करता । अनृत वाणी का दूसरे लोग तत्काल खण्डन कर देते हैं, इसलिये अनृत बोलने में वाणी की प्रतिष्ठा नहीं रहती । सच बोलने में ही सारा प्रामाणिक व्यवहार प्रतिष्ठित रहता है । इसलिये मोक्ष के साधनों में सच बोलना ही उत्तम है, इस तरह का कुछ लोगों का विचार है ।

प्रजापति ने देखा कि आरुणि के मुंह पर प्रसन्नता के कोई चिह्न नहीं हैं, वह इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हैं, तो उन्होंने उसी प्रश्न का दूसरा उत्तर दिया—तपसा देवा इति । इस समय स्वर्ग में निवास करने वाले अग्नि, इन्द्र प्रभृति देवतागण पूर्वजन्म में अनुष्ठित भोजन का परित्याग कर कृच्छ्र-चान्द्रायण प्रभृति व्रतों के प्रभाव से इस पद को तप के प्रभाव से अभी प्राप्त किया है । इसी तरह से वशिष्ठ प्रभृति ऋषियों ने पूर्व काल में अनुष्ठित तप के प्रभाव से स्वर्गलोक को प्राप्त किया है । हम लोग भी इस समय अभिचार रूप तप के प्रभाव से हमारे लाभ के प्रतिबन्धक एवं विरोधी शत्रुओं का नाश करते हैं । इसके अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की उपलब्धियां तप में प्रतिष्ठित हैं । इसलिये अनशन रूप तप मोक्ष का श्रेष्ठ साधन है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं ।

तत्राप्यपरितोषं दृष्ट्वा साधनान्तरमाह—दमेन दान्ता बाह्येन्द्रियनियमयुक्ताः पुरुषा दमेन स्वकीयं किल्विषमवधुन्वन्ति नाशयन्ति। इमे ब्रह्मचारिणः स्वर्गमगच्छन्। स च दमो भूतानामाधर्षितुं सोढुं दुःशकः। अस्मिन् सर्वमपेक्षितं फलं प्रतिष्ठितम्। तस्माद् दमः परमं युक्तिसाधनं केचिद्वदन्ति। सर्वत्र पूर्वसाधने परितोषराहित्याद् उत्तरसाधनोक्तिर्मन्तव्या।

चतुर्थं साधनं शमेन शान्ता अन्तःकरणक्रोधादिदोषरहिताः पुरुषास्तेन शमेन शिवं कल्याणमयं पुरुषार्थमाचरन्ति। नारदाद्या मुनयः शमेन स्वर्गमलभन्त। तस्माच्छमः परमं साधनमिति।

पञ्चमं साधनमाह—दानं गोहिरण्यादिदानं यज्ञानां सम्बन्धिनी दक्षिणा भवति। तस्माद्वरुथं श्रेष्ठं लोकेऽपि दातारं वेदशास्त्रविदो मूढाश्च सर्वे उपजीवन्ति। तथा योद्धृणा धनदानेनारातीः शत्रून् अपानुदन्त राजानो निराकृतवन्तः। ये तु प्रबला द्विषन्तस्तेऽपि दानेन तुष्टा मित्राणि भवन्ति। तस्माद्दानं परमं वदन्ति।

साधनमाह—धर्मं इति। धर्मस्तडागप्रपादिरूपो विश्वस्य जगतः सर्वस्य प्राणिजातस्य प्रतिष्ठा इत्येतत्प्रसिद्धम्। तथा लोके धर्मिष्ठम् अतिशयेन धर्मे प्रवर्तमानं जनं प्रजा उपसर्पन्ति धर्माधर्मनिर्णयार्थं पुण्यविशेषलाभार्थं वा। धर्मेण प्रायश्चित्तरूपेण पापमधर्ममपनुदन्ति विनाशयन्ति।

सप्तममुच्यते—प्रजननं वै। प्रजननं पुत्रोत्पादनं गृहस्थानां प्रतिष्ठा, गृहकार्यनिर्वाहकत्वात्। 'सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा' इति श्रुत्यन्तरात्। किञ्च, प्रजायाः पुत्रपौत्रादिरूपायास्तन्तुं परम्परां साधुशास्त्रीयमार्गो यथा स्यात् तथा तन्वानः पितृणां मृतानां पितृपितामहादीनामनृणो भवति। तदीयमृणं पुत्रिणा प्रत्यर्पितं भवति यत्प्रजननम्। तदेव पुत्रिण ऋणापाकरणहेतुस्तस्मात्तदेव परमं वदन्ति।

इस उत्तर से भी आरुणि को सन्तुष्ट न देखकर प्रजापति ने पुनः कहा—दमेन। बाह्य इन्द्रियों को अपने वश में करने वाले पुरुष दम के द्वारा अपने सारे पापों को नष्ट कर देते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले दम की सहायता से ही स्वर्गलोग को प्राप्त करते हैं। सभी प्राणियों लिये इस दम का आचरण कर पाना बड़ा कठिन है। इस दम की सहायता से सभी इच्छित फल प्राप्त किये जा सकते हैं। इसलिये दम ही मुक्ति का श्रेष्ठ साधन है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। पूर्व की तरह ही यहां पर और आगे भी पूर्व साधन में प्रश्नकर्ता को परितोष की प्राप्ति न देखकर ही उत्तर उत्तर साधन बताने में प्रजापति की प्रवृत्ति हुई है।

चतुर्थ साधन शम है। शम के आचरण के द्वारा पुरुष अन्तःकरण के दोष क्रोधादि से मुक्त होकर कल्याणमय पुरुषार्थ को अधिगति में प्रवृत्ति होते हैं। नारद प्रभृति मुनियों ने शम से ही स्वर्गलोक को जीता है। इसलिये शम ही मोक्ष का उत्तम साधन है।

पञ्चम साधन दान है। गाय, सोना आदि अपने पदार्थों को किसी योग्य पात्र को देना दान कहलाता है। यज्ञ में ऋत्विजों को दी गई दक्षिणा भी दान ही है। इसलिये लोक में धनी सेठ के पास जाकर जो कि दान करता है, वेदशास्त्र के ज्ञाता और मूर्ख सभी व्यक्ति आश्रय लेते हैं। इसी तरह से सैनिकों को धन देकर राजा लोग अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं। प्रबल शत्रु भी दान से सन्तुष्ट होकर मित्र हो जाते हैं। इसलिये कुछ लोग दान को ही मोक्ष श्रेष्ठ साधन मानते हैं।

छठा साधन धर्म है। तालाब बनवाना, प्याऊ चलाना जैसे धर्म-कार्य जगत् के सभी प्राणियों की भलाई के लिये है। यह प्रसिद्ध बात है। इसी तरह से सदा धर्म के आचरण में निरत धर्मिष्ठ व्यक्ति के पास प्रजाजन धर्म और अधर्म निर्णय कराने के लिये अथवा पुण्यविशेष की प्राप्ति के लिये सदा पहुँचते रहते हैं। प्रायश्चित्त रूप धर्म के आचरण से अधर्म के स्वरूप पापसमूह का विनाश भी किया जाता है।

सातवां साधन प्रजनन है। प्रजनन का अर्थ है—पुत्रोत्पादन, गृहकार्य का निर्वाहक होने से वह गृहस्थों की प्रतिष्ठा है। श्रुति ने भी यही बताया है—'इस मनुष्यलोक को पुत्र के द्वारा ही जीता जा सकता है, अन्य किसी कर्म के द्वारा नहीं।' और भी—पुत्र-पौत्रादिरूप प्रजा की परम्परा का विस्तार शास्त्रप्रतिपादित सन्मार्ग को अपनाकर करने से ही अपने मृत पिता-पितामह आदि पूर्वजों के ऋण को चुका सकता है और उनसे अनृण हो पाता है। पुत्रोत्पादन ही पुत्रियों के ऋणापाकरण का एक मात्र साधन है, इसलिये पुत्रोत्पादन को अत्यन्त श्रेष्ठता दी गई है।

अष्टमं साधनमाह—अग्नय इति। गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीय इति येऽग्नयस्त एव त्रयी विद्या वेदत्रयोक्तकर्मसाधनत्वात्, वेदविहितत्वाच्च। देवयानो यागद्वारेण देवत्वप्रापको मार्गश्च। किञ्च, तेषामग्नीनां मध्ये गार्हपत्योऽग्निर्ऋग्वेदात्मकः पृथिवीलोकस्वरूपो रथन्तरसामात्मकश्चेति प्रशस्यते। अन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्निर्यजुर्वेदान्तरिक्षलोकवामदेव्यसामात्मकः। आहवनीयस्तु सामवेदस्वरूपस्वर्गलोकवृहत्सामात्मकः। तस्मादग्नीन् परमं वदन्ति।

नवमं साधनमाह—अग्निहोत्रमिति सायंप्रातश्चानुष्ठितमग्निहोत्रं गृहाणां निष्कृतिः क्रयसाधनं मूल्यम्। अग्निहोत्राभावे क्षुधितोऽग्निर्गृहान् दहेत्। अग्निहोत्रं स्विष्टं शोभनयागरूपं सुहुतं शोभनहोमरूपम्। देवतामुद्दिश्य द्रव्यत्यागो यागः, द्रव्यस्याग्नौ प्रक्षेपो होमः।

यद्वा याज्यापुरोऽनुवाक्यावान् वषट्कारप्रधानो यागः। स्वाहाकारप्रधान्ते होमः। एतद्यज्ञक्रतूनां प्रायणं प्रारम्भः। अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि निरूढपशुबन्धः सौत्रामणी सप्तहविर्यज्ञाः। क्रतुशब्दो यूपवत्सु सोमयागेषु रूढः। अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्र आप्तोर्यामश्चेति सप्त सोमसंस्थाः क्रतवः। तेषां सर्वेषां यज्ञक्रतूनां प्रारम्भकमग्निहोत्रम्। अत एव स्वर्गस्य लोकस्य ज्योति प्रकाशकम्। तस्मादग्निहोत्रं परमं वदन्ति।

दशमं साधनमाह—यज्ञ इति। यज्ञमुत्तमं साधनमिति केचिदाहुः। यज्ञेन देवा दिवं गताः। यज्ञेनैव देवा असुरान्तानपानुदन्त। किञ्च, सर्वकामप्राप्तिसाधनेन ज्योतिष्टोमेन द्वेषशान्तिकामस्य पूर्वं द्वेषं कुर्वतोऽपि शत्रवो मित्राणि भवन्ति। यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्मात्तत् परमं वदन्ति।

आठवाँ साधन बताते हैं—गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय—ये तीन अग्नियाँ ही वेदत्रयी में विहित तथा वैदिक कर्मानुष्ठान की साधन होने से, त्रयी विद्या कही जाती है। याग के द्वारा देवतात्व दिलाने वाले मार्ग को 'देवयान' कहते हैं। और भी, उन अग्नियों में गार्हपत्य अग्नि की प्रशंसा इसलिये की जाती है कि वह ऋग्वेद स्वरूप है, पृथिवीलोकस्वरूप है, तथा रथन्तरसामात्मक है। अन्वाहार्यपचन दक्षिणाग्नि की प्रशंसा इसलिये की जाती है कि वह यजुर्वेदस्वरूप है, अन्तरिक्षलोकस्वरूप है और वामदेव्य सामात्मक है। आहवनीय अग्नि की प्रशंसा इसलिये की जाती है कि वह सामवेदस्वरूप है, स्वर्गलोकरूप है और वृहत्साम स्वरूप है। इसलिये अग्नियों को अत्यन्त श्रेष्ठता दी गई।

नवम साधन बताते हैं—अग्निहोत्रमिति। सायं और प्रातः किया हुआ अग्निहोत्र, गृह खरीदने का मानो मूल्य है। उस मूल्य को न चुकाने पर, अर्थात् अग्निहोत्र न करने पर क्षुधित हुआ अग्नि बहुत संभव है कि गृह को जला देगा। अग्निहोत्र को स्विष्ट और सुहुत अर्थात् शोभनयागरूप तथा शोभनहोमरूप बताया गया है। देवता को उद्देश्य करके किये जाने वाले द्रव्यत्याग को याग और अग्नि में किये जाने वाले द्रव्य के प्रक्षेप को होम कहते हैं।

अथवा—याज्या, पुरोनुवाक्या से युक्त और वषट्कार की प्रधानता जिसमें हो, वह याग है और होम वह है, जिसमें स्वाहाकार की प्रधानता हो। इस अग्निहोत्र का अनुष्ठान करना मानो यज्ञ तथा क्रतुओं का ही प्रारम्भ करना है। अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणी—ये हविर्यज्ञ हैं। यूपविशिष्ट सोम यागों में क्रतु शब्द की प्रसिद्धि है। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम—ये सात सोम संस्था वाले क्रतु हैं। उन समस्त यज्ञ और क्रतुओं का प्रारम्भक अग्निहोत्र ही है। इसी कारण वह स्वर्गलोक का प्रकाशक है, इसलिये अग्निहोत्र को श्रेष्ठ कहलाता है।

दसवाँ साधन बताते हैं—यज्ञ इति। कुछ लोक यज्ञ को उत्तम-साधन कहते हैं। यज्ञानुष्ठान से ही देवताओं ने स्वर्ग पाया। यज्ञ के बल पर ही देवताओं ने असुरों को परास्त किया। और भी—समस्त कामनाओं की प्राप्ति कराने वाले ज्योतिष्टोम के बल पर ही द्वेष को शान्त करने की कामना करने वाले व्यक्ति के द्वेष करने वाले शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। यज्ञ में सब कुछ निहित है। इसीलिये उसे श्रेष्ठ कहा जाता है।

एकादशं साधनमाह—मनसा निष्पाद्यं मानसमुपासनं यत् तदेव प्राजापत्यं प्रजापतिपदप्राप्तिसाधनम्, अत एव पवित्रं चित्तशुद्धिकारणम् । मानसेनोपासनेन युक्तेन मनसान्तःकरणेन साधु पश्यति, अतीतानागतव्यवहितादि-वस्तुजातं योगी सम्यक् साक्षात्करोति । मानसा ऋषय एकाग्रमनोयुक्ता विश्वामित्रादय ऋषयः स्वसङ्कल्पेन प्रजा वह्वीरसृजन्त । मानसे सर्वं प्रतिष्ठितम् । तस्मान्मानसं परमं वदन्ति । पौर्वापर्यानवधारणादेव स्वामिदयानन्दो द्वादशं न्यासमुपेक्षितवान् । तथा च—'सम्यग् ब्रह्मचर्यसेवनेन विद्याग्रहणं ब्रह्मेत्युच्यते । सत्येन ब्रह्मणा वायुरागच्छति । सत्येनादित्यः । सत्येनैव मनुष्याणां प्रतिष्ठा । मानसा ऋषयः प्राणा विज्ञानादयश्च' (पृ० १२४) इत्यादिकं सर्वमज्ञान-विजृम्भितमेव, श्रुत्यक्षरप्रकरणासम्बद्धत्वात् ।

द्वादशं साधनमाह—न्यास इति । न्यास इत्युक्तो यो मोक्षहेतुस्तं ब्रह्माणं हिरण्यगर्भं मनीषिणो महर्षयः स्मृतिकर्तारः । तथा च 'संन्यासाद् ब्रह्मणः स्थानम्' इति स्मृतिः । हिरण्यगर्भप्रदप्राप्तेरन्तरङ्गसाधनत्वात् तद्रूपत्वम । तमेव स्तोतुं तत्प्राप्यस्य हिरण्यगर्भस्य स्वरूपं दर्शयति—ब्रह्मा विश्वः कतमः स्वयम्भूः प्रजापतिः संवत्सर इति संन्यासस्तुतये हिरण्यगर्भावयवस्य संवत्सरस्य माहात्म्यं दर्शयति—संवत्सरोऽसावादित्य इति । संवत्सरं प्रशस्य तमादित्यमण्डलद्वारेण सर्वव्यवहारहेतुतया च प्रशस्य यथोक्तं संन्यासमेव स्तोतुं संन्यासेन प्राप्ततत्त्वज्ञानं पुरुषं प्रशंसति—'स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं प्रोतं पृथिवी चान्तरिक्षं च द्यौश्च दिशश्चावान्तरदिशश्च सर्वं सर्वमिदं जगत् सभूतं सभव्यं जिज्ञासाक्लृप्त ऋतजा रयिष्ठाः श्रद्धा सत्यो महस्वान् तमसोपरिष्टात् । यः संन्यासपूर्वकं तत्त्वज्ञानं सम्पादयति, स एव पुरुषः सर्वात्मकः । स च पञ्चधा पञ्चात्मा पञ्चविधस्वरूपो भवति । शब्दादिपञ्चकं पृथिव्यादिपञ्चकं चक्षुरादिपञ्चकं ज्ञानेन्द्रियादिपञ्चकं वागादिपञ्चकं प्राणादिपञ्चकं भवति । सर्वेषामेतावता

ग्यारहवें साधन को बताते हैं—मन से निष्पन्न होने वाली जो मानसी उपासना है, वही प्रजापति पद की प्राप्ति का साधन है । इसीलिये अर्थात् चित्तशुद्धिकारक होने से ही उसे पवित्र कहा गया है । इस मानसी उपासना के बल पर ही योगी अपने अन्तरिन्द्रिय मन के द्वारा अतीत-अनागत-व्यवहित वस्तुओं को भी अच्छी तरह से ठीक ठीक प्रत्यक्ष कर लेता है । मन को एकाग्र कर विश्वामित्र आदि ऋषियों ने स्वसंकल्प से ही बहुत सी प्रजा को उत्पन्न कर दिया । इससे स्पष्ट है कि मन में सब कुछ प्रतिष्ठित है, इसलिये मानसिक बल को श्रेष्ठ कहा गया है । पौर्वापर्य का अवधारण न कर पाने से ही स्वामी दयानन्द ने बारहवें न्यास की उपेक्षा की । अर्थात् बारहवें साधन का उल्लेख नहीं किया । तथा च—'ब्रह्मचर्य के सम्यक् सेवन के साथ किये जाने वाले विद्याग्रहण को ही ब्रह्म शब्द से कहा जाता है । सत्यस्वरूप ब्रह्म के साथ वायु और आदित्य आते हैं, सत्य से ही मनुष्यों की प्रतिष्ठा है । मन से ही ऋषि, प्राण और विज्ञानादि हैं, यह सब कथन दयानन्द के अज्ञान का ही विलासमात्र है, क्योंकि श्रुति के अक्षरों तथा प्रकरण से उस कथन का कोई सम्बन्ध नहीं है ।

बारहवें साधन को बताते हैं—न्यास इति । जिसे न्यास कहते हैं वह मोक्ष का हेतु है । वह हिरण्यगर्भपद की प्राप्ति का अन्तरङ्ग साधन होने से स्मृतिकर्ता महर्षियों ने उसे हिरण्यगर्भ ब्रह्मा कहा है । 'संन्यास से ब्रह्म का स्थान प्राप्त होता है' इस प्रकार स्मृति का भी उल्लेख है । उसी की स्तुति करने के लिये उसके द्वारा प्राप्य हिरण्यगर्भ के स्वरूप को प्रदर्शित करते हैं—'ब्रह्मा, विश्व,……स्वयंभू, प्रजापति, संवत्सर' इस प्रकार संन्यास की स्तुति के लिये हिरण्यगर्भ के अवयवभूत संवत्सर के माहात्म्य को दिखाते हैं—'संवत्सरोऽसावादित्य इति । आदित्यमण्डल के द्वारा और समस्त व्यवहार का हेतु होने से उस संवत्सर की प्रशंसा कर यथोक्त संन्यास की ही स्तुति करने के लिये संन्यास के द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त किये हुए पुरुष की प्रशंसा की जा रही है—स वा एष पुरुष इति । जो संन्यासपूर्वक तत्त्वज्ञान का संपादन करता है, वही पुरुष सर्वात्मक होता हुआ पञ्चात्मा पंचविध स्वरूप का हो जाता है । अर्थात् शब्दादिपञ्चक, पृथिव्यादिपञ्चक, चक्षुरादिपञ्चक, ज्ञानेन्द्रियादिपञ्चक, वागादिपञ्चक और प्राणादिपञ्चक, ये सब स्वरूप उसके हो जाते

वस्तूनां स्वरूपभूतो भवति। येन ब्रह्मरूपेण सर्वं जगत् सूत्रे मणिगणा इव प्रोतं तदेव सर्वम्, तत्त्वदृष्ट्या तद्व्यतिरेकेणाभावात्। पृथिव्यादिकं सर्वं जगत् सभूतं सभव्यं सर्वं तदेव। यद्यपि तत्त्वविदपि मूढपुरुषवदेव देहादिरूपो दृश्यते, तथा जिज्ञासाक्लृप्तो जिज्ञासया वेदान्तविचारेण सर्वात्मकतया निश्चितो भवति। ऋतजा ऋतेन सत्येन प्रामाणिकेन ज्ञानेन सर्वात्मा जातः। स च रयिष्ठाः रयिर्धनं गुरूपदेशः, तत्रैव तिष्ठतोति रयिष्ठाः, न तूपदेशरहितानां तथा प्रतीतिरित्यर्थः। ईदृशस्वरूपविज्ञानस्य श्रद्धया लभ्यत्वादसौ श्रद्धारूपः। सत्यमवाध्यं यद् ब्रह्म तत्स्वरूपत्वादयं सत्यः, महस्वान् स्वयंप्रकाशः। अत एव तमसा संसारकारणेन विमुक्तत्वादुपरिष्टाद् वर्तते।

ज्ञानफलं दर्शयति—'ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो न मृत्युमुपयाहि विद्वान्' इति। हे आरुणे, त्वं तं पुरुषं परमात्मानं हृदा हृत्पुण्डरीके नियमितत्वात् हृदयरूपे मनसैवं पूर्वोक्तसर्वत्यागरूपसाधनप्रकारेण ज्ञात्वा विद्वान् तेनैव ज्ञानेन युक्तः सन् भूयः पुनर्मृत्युं नोपयाहि मा प्राप्नुहि। ज्ञानिनो वर्तमानदेहपाते सति जन्माभावात् पुनर्मृत्युर्नास्ति।

'तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः' (तै० आ० १०।६३)। यस्मात् परमपुरुषार्थस्यान्तरङ्गं साधनं तस्मादेषां सत्यादीनां तपसां मध्ये न्यासं सर्वत्यागरूपं संन्यासमतिरिक्तमुत्कृष्टसाधनं मनीषिण आहुः।

इत्थं प्रकरणपर्यवसितमर्थमबुद्ध्वैव यत्किञ्चिदनर्गलमुक्तवान् दयानन्दो महाशयः। किमर्थमेतद्वाक्यजातं स उद्धृतवान्, कथं च तद्वाक्यजातं तत्सिद्धान्तपोषकमिति सामाजिका विचारयन्तु। साधनोत्कर्षतारतम्यमजानन्नेव क्वचित् किमपि जल्पन् न संकुचतीत्येव दयानन्दस्य पाण्डित्यमाभाति।

हैं। इन समस्त वस्तुओं का स्वरूप उसी का स्वरूप है। सूत्र में पिरोये हुए मणियों के समान यह समस्त जगत् जिस ब्रह्मरूप से ओत-प्रोत है, अतः तात्त्विक दृष्टि से देखने पर यह जगत् तन्मय अर्थात् तद्रूप ही है, उसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। भूत और भव्य सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है। तत्त्ववेत्ता पुरुष भी यद्यपि मूढपुरुष के समान ही देहादिधारण किया हुआ दिखलाई देता है, तथापि जिज्ञासापूर्वक वेदान्तविचार के द्वारा उसकी सर्वात्मकता स्पष्ट हो जाती है। ऋतजा—प्रामाणिक सत्यज्ञान होने के कारण वह सर्वात्मरूप हो गया है। वह रयिष्ठ भी है, क्योंकि 'रै' का अर्थ होता है—धन अर्थात् गुरूपदेश, उसी में वह स्थित रहता है, इस कारण उसे रयिष्ठ कहा जाता है। उपदेश रहित लोगों को रयिष्ठ के रूप में प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार के स्वरूपविज्ञान की उपलब्धि, श्रद्धा से होती है, इसलिये वह श्रद्धारूप है। सत्य अर्थात् अबाध्य जो ब्रह्म है, तत्स्वरूप होने से इसे सत्य कहा गया है। यह महस्वान् अर्थात् स्वयंप्रकाश है, इसी कारण संसार के कारणभूत तम से रहित होने से वह सबसे ऊपर अर्थात् परे है।

ज्ञान का फल दिखाते हैं—ज्ञात्वा तमेवेति०। हे आरुणे! तुमने उस परम पुरुष परमात्मा को अपने हृदयकमल में नियमित कर लेने के कारण, अर्थात् पूर्वकथित संन्यास (सर्वत्याग) रूपसाधन के द्वारा मन में उसे जान लिया है, अतः तुम विद्वान् हो, इसी ज्ञान से अब तुम पुनः मृत्यु को प्राप्त होगे। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी के वर्तमान देह का पात होने पर पुनर्जन्म न होने से उसकी मृत्यु होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः। सर्वत्यागरूप यह संन्यास, परम पुरुषार्थ रूपमोक्ष का अन्तरङ्ग साधन होने से सत्यादि जितने तप हैं, उन सबकी अपेक्षा उसे विद्वानों ने उत्कृष्टतम साधन बताया है। यह प्रकरणपर्यवसित अर्थ है, किन्तु स्वामी दयानन्द प्रकरणपर्यवससित उक्त अर्थ को नहीं समझ पाये, इसलिये वे ऊटपटांग अनर्गल बकवास कर उठे।

स्वामी दयानन्द ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिये क्या समझकर उन वाक्यों को उद्धृत किया और वे उसके सिद्धान्त के कैसे पोषक हो पा रहे हैं? उस पर भी पाठकगण थोडा सा विचार कर लें। साधनों की उत्कृष्टता के तरतमभाव को समझे बिना ही चाहे जहाँ कुछ भी कह देने में संकोच न करना ही दयानन्द का पाण्डित्य है।

यदपि—'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् । अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ।।' (मु० उ० ३।१।५), 'सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः । येनाक्रामन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ।।' (मुण्डकोप० ३।१।६) (पृ० १२७) 'सत्येन सत्यधर्माचरणेनैवात्मा लभ्यो नान्यथेति' (पृ० १२७)। तत्तु सत्यम् । परमिदं वक्तव्यम्—किं धर्मोऽप्यसत्यो भवति? यत्तु वेदप्रमाणबोधितं कर्मोपासनादि तदेव धर्मपदव्यपदेश्यं भवति । तत्रासत्यत्वशङ्कैव नास्ति । पुनः सत्येत्यंशेन कस्य व्यावृत्तिः ? किञ्च, मूले सत्यशब्दो विद्यते । सत्यधर्माचरणमिति कुतो लब्धम् ? इति ।

यदपि—'सत्यमाचरितमेव जयते । तेनैव मनुष्यः सदा विजयं प्राप्नोति । अनृतेनाधर्माचरणेन पराजयं च : तथा सत्यधर्मेणैव देवयानो विदुषां यः सदानन्दप्रदो मोक्षमार्गोऽस्ति, सोऽपि सत्येनैव विस्तृतः प्रकाशितो भवति । येन च सत्यधर्मानुष्ठानप्रकाशितेन मार्गेणाप्तकामा ऋषयस्तत्राक्रामन्ति गच्छन्ति । यत्र सत्यस्य धर्मस्य परमं निधानमधिकरणं ब्रह्म वर्तते, तत्प्राप्य नित्यानन्दं मोक्षं प्राप्ता भवन्ति, नान्यथेति । अत एव सत्यधर्मानुष्ठानमधर्मत्यागश्च सर्वैः कर्तव्यः' (पृ० १२७) इति, तदपि न साधु, स्वयमेवापरिनिष्ठितत्वात् । तथाहि—'विचित्रोऽयं भाष्यकारः । एकमेव मन्त्रं संस्कृतेऽन्यथा व्याख्याति हिन्दीभाषायां चान्यथैव । 'सो सब आत्माओं का भी आत्मा है । उसको आज्ञापालन सब मनुष्यों को करना चाहिये' । अयमर्थो मूलात् संस्कृतभाष्याच्च बहिर्भूत एव ।

अत्र सत्यमित्यस्य सत्यधर्मोऽर्थः सत्यभाषणं वा ? नाद्यः, प्रामाणविरहात् । नान्त्यः, तथाऽव्याख्यानात् । ब्रह्म सत्यस्य धर्मस्य कथमधिकरणम् ? नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य परमात्मनो धर्माद्यतीतत्वात् ।

वस्तुतस्तु शाङ्करभाष्यसम्मतोऽयं मन्त्रार्थः—पूर्वं परमात्मतत्त्वज्ञानं प्रतिपादितमिदानीं सम्यग्ज्ञानसहकारीणि सत्यादिसाधनानि विधीयन्ते निवृत्तिप्रधानानि, विदुषां विविदिषूणां च सर्वकर्मसंन्यासविधानात् । अत एव

यह जो—'सत्येन लभ्यस्तपसा०'—(मु० उ० ३।१।५), 'सत्यमेव जयते नाऽनृतं—(मुण्डकोप० ३।१।६) सत्यधर्म का आचरण करने से ही आत्मा की उपलब्धि हो सकती है, अन्य कोई उपाय नहीं है, आपने कहा, वहाँ तक तो ठीक है । किन्तु आप यह तो बताइये कि क्या धर्म असत्य भी होता है ? वेद-प्रमाण से बोधित जो कर्म, उपासना आदि है, उसी को धर्म शब्द से कहते हैं, ऐसी स्थिति में असत्यता की शङ्का भी नहीं हो सकती, तब 'सत्यधर्म' के सत्य अंश से किसकी व्यावृत्ति आप कर रहे हैं ? दूसरी बात यह है कि मूल में (मूल ग्रन्थ में) सत्य शब्द है । 'सत्यधर्म का आचरण' यह अर्थ किस शब्द से निकला ?

यह जो सत्य आचरण की ही जय होती है, उसी से मनुष्य सर्वदा विजय प्राप्त करता है, और असत्य धर्म के आचरण से पराजय पाता है । उसी प्रकार देवयान जो विद्वानों का सदा आनन्दप्रद मोक्षमार्ग है, वह भी सत्यधर्म से ही प्रकाशित होता है । सत्यधर्म के अनुष्ठान से प्रकाशित हुए जिस मार्ग से आप्तकाम ऋषि लोग वहाँ जाते हैं । यहाँ सत्यधर्म का परम निधान अर्थात् अधिकरण ब्रह्म है, उसे प्राप्त कर नित्यानन्दरूप मोक्ष को प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नहीं है । इसलिये सत्यधर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग सभी को करना चाहिये । आपने कहा, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आप स्वयं ही अपने कथन पर स्थिर नहीं हैं । जैसे दयानन्द ने संस्कृत में मंत्र की व्याख्या कुछ की है । लेकिन उसी मंत्र की हिन्दी में व्याख्या कुछ और ही की है । 'सो सब आत्माओं का भी आत्मा है । उसकी आज्ञा का पालन सब मनुष्यों को करना चाहिये' यह हिन्दी अर्थ उन्हीं के मूल संस्कृतभाष्य से बिलकुल नहीं मिल रहा है । इन अनमेल भाष्यों को देखने से कहना पड़ रहा है कि यह स्वामी जी विचित्र भाष्यकार हैं ।

आप यह बताइये कि यहाँ पर 'सत्य' का अर्थ, सत्यधर्म है, या सत्यभाषण ? प्रमाण के न होने से प्रथम अर्थ तो हो नहीं सकता । और दूसरा अर्थ इसलिये नहीं कि वैसा आपने व्याख्यान नहीं किया है । सत्यधर्म का अधिकरण ब्रह्म को कैसे बनाया जा सकता है ? क्योंकि परमात्मा तो समस्त धर्मों से परे है । वह, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव है । मन्त्र का शाङ्कर भाष्यसम्मत वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

नात्र सत्यधर्माचरणं विधीयते, किन्तु सत्येनानृतत्यागेन मृषावदनत्यागेन लभ्यः प्राप्तव्य आत्मा, तपसेन्द्रियमन एकाग्रतारूपेण आत्मा प्राप्तव्यो ज्ञातव्यः, तत्त्वज्ञाने तादृशस्यैव तपस उपकारकत्वात्। 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः', 'समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' इत्यादि स्मृतिश्रुतिभ्यः।

तदेवात्मदर्शनाभिमुखी भावानुकूलम्, नेतरत् कृच्छ्रादि, एषामात्मा लभ्य इति सर्वत्रानुषङ्गः। सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण नित्यं सर्वदा ब्रह्मचर्येण स्त्रीव्यतिकराद्यभावेन। नित्यमिति सर्वत्रानुषज्यते। नित्यं सम्यग्ज्ञानेन नित्यं ब्रह्मचर्येण, 'न येषु जिह्ममनृतं न माया' (पृ० ११९६) इति वक्ष्यमाणत्वाच्च। कोऽसावात्मा य एतैः साधनैर्लभ्य इत्याह—अन्तःशरीरे शरीरस्य मध्ये हृत्पुण्डरीकाकाशे ज्योतिर्मयो हि रुक्मवर्णः शुभ्रः शुद्धो यमात्मानं पश्यन्ति यतयो यत्नशीला न्यासिनः क्षीणदोषाः क्षीणक्रोधादिचित्तमलाः स आत्मा नित्यं सत्यादिसाधनैर्न्यासिभिर्लभ्यते, न कादाचित्कैः सत्यादिभिरिति साधनस्तुत्यर्थोऽर्थवादः।

सत्यमेवेति। अत्र सत्यवानेव जयति नानृतवादीत्यर्थः। न च सत्यपदस्य सत्यवति लक्षणायां किं बीजमिति वाच्यम्, तात्पर्यानुपपत्तेरेव बीजत्वात्। नहि सत्यानृतयोः केवलयोः पुरुषानाश्रितयोर्जयः पराजयो वा सम्भवति। सत्यवादिनानृतवादी पराभूयत इति तु प्रसिद्धमेव। अतः सिद्धं सत्यस्य बलवत्साधनत्वम्। शास्त्रतोऽपि सत्यस्य साधनातिशयत्वं ज्ञायते। सत्येन यथाभूतवादव्यवस्थया पन्था देवयानाख्यो विततः सातत्येन प्रवृत्तः। नात्र प्रकाशित इत्यर्थः, धात्वर्थाननुगमात्। येन पथा आक्रमन्ति क्रमन्ते ऋषयो दर्शनवन्तः कुहकमायाशाठ्याहङ्कारदम्भानृतवर्जिता ह्याप्तकामा विगततृष्णाः, यत्र यस्मिन् तत्परमार्थतत्त्वं सत्यस्योत्तमसाधनस्य सम्बन्धि साध्यं परमं प्रकृष्टं निधानं पुरुषार्थरूपेण

परमात्मतत्त्व का ज्ञान पहिले बताया, अब यथार्थ ज्ञान के सहायक निवृत्तिप्रधान सत्यादि साधनों को बताया जा रहा है। क्योंकि विद्वान् और विविदिषुओं के सर्वकार्य संन्यास का विधान किया गया है। इस कारण 'सत्यधर्म के आचरण का विधान किया जा रहा है, यह नहीं कह सकते। किन्तु सत्य से अर्थात् अनृत (झूठ) भाषण के त्याग से आत्मा की प्राप्ति करनी चाहिये, अर्थात् मन और इन्द्रियों की एकाग्रतारूप तप के द्वारा आत्मा का ज्ञान हो सकता है। तत्त्वज्ञान के प्राप्त करने में उक्त प्रकार का तप ही उपकारक (सहायक) होता है। स्मृति ने भी कहा है—'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः'। श्रुति ने भी—कहा है 'समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्' इति। अर्थात् समाहित (एकाग्र) होकर अपनी आत्मा को अपने में ही देखे।

तप वही है, जो मानसिक भाव को आत्मदर्शन के अभिमुख बनावे, अर्थात् जो आत्मज्ञान प्राप्त कराने में मन को अनुकूल (सहायक) बनावे, उसके अतिरिक्त कृच्छ्र-चान्द्रायणादि वैसे तप नहीं हैं, जो आत्मज्ञान करा सकें। 'एषाम् आत्मा लभ्यः' (उन एकाग्र मनवालों को ही आत्म-ज्ञान होता है)। इस वाक्य का सर्वत्र सम्बन्ध करना चाहिये। सम्यक् ज्ञान अर्थात् ब्रह्मात्मसाक्षात्कार के द्वारा नित्य अर्थात् सर्वदा स्त्रीसम्बन्धराहित्यरूप ब्रह्मचर्य के द्वारा, 'नित्यम्' का सर्वत्र सम्बन्ध है। अर्थात् नित्य (सर्वदा) सम्यग् ज्ञान से नित्य (सर्वदा) ब्रह्मचर्य से। 'न येषु जिह्मम् अनृतं न माया' (प्र० ११९६) ऐसा आगे कहा गया है। जो इन साधनों से लभ्य है, वह आत्मा कौन है? इसके उत्तर में कहते हैं—शरीर के मध्य हृत्पुण्डरीक-आकाश में ज्योतिर्मय, श्वेत, शुद्ध जिस आत्मा को प्रयत्नशील और चित्त के क्रोधादि मल जिनके क्षीण हो गये हैं, ऐसे संन्यासी देखते हैं, वह आत्मा है। 'उसकी प्राप्ति (ज्ञान) नित्य अनुष्ठीयमान सत्यादि साधनों से संन्यासियों को होती है। कभी कभी अनुष्ठीयमान सत्यादि साधनों से नहीं—यह वाक्य साधन की स्तुति के लिये अर्थवाद है।

सत्यमेवेति—सत्यभाषी (सत्यवान्) की ही विजय होती है, असत्यभाषी की नहीं, यह अर्थ है। यहाँ पर 'सत्य' पद को 'सत्यवान्' में लक्षणा तात्पर्यानुपपत्ति के कारण की गई है। सत्य और अनृत की यदि किसी पुरुष में वे विद्यमान नहीं हैं, तो उनकी जय और पराजय का कोई अर्थ नहीं होता। सत्यवादी व्यक्ति असत्यभाषी को पराजित कर देता है, यह बात तो लोक में प्रसिद्ध है। अतः मोक्ष के प्रति सत्य बलवान् साधन है, यह बात सिद्ध हो जाती है। शास्त्र भी इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि सत्य मोक्ष का प्रबल साधन है। सत्य से अर्थात् जो जिस तरह से हुई है, उसको उसी रूप में उपस्थित करने से देवयान मार्ग सदा खुला रहता है। यहाँ पर वितत शब्द का अर्थ प्रकाशित है, यहीं नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस अर्थ में यह धातु कहीं प्रयुक्त हुआ नहीं देखा गया। जिस मार्ग से कि क्रान्त दृष्टि वाले और कल्पित माया, धूर्तता, अहङ्कार, पाखण्ड, असत्य आचरण, तृष्णा

निधीयत इति निधानं वर्तते। स पन्थाः सत्येन विततः, येन यथा ऋषयो ब्रह्मात्मदर्शनाय क्रमन्ते स पन्थाः सत्येन विततः सातत्येन प्रवृत्तः।

यच्च—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मी० सू० १।१।२), 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' (वैशेषिकसूत्रे १।१।२)। अनयोरर्थः—'वेदद्वारा या सत्यधर्माचरणस्य प्रेरणास्ति तयैव सत्यधर्मो लभ्यते। योऽनर्थाद् अधर्माचरणाद् वहिरस्ति, अतो धर्माख्यां लब्ध्वार्थो भवति। यस्येश्वरेण निषेधः क्रियते, सोऽनर्थरूपत्वाद् अधर्मोऽयमिति ज्ञात्वा सर्वैर्मनुष्यैस्त्याज्यः' (पृ० १२८) इति, तदपि विशृङ्खलम्, वेदद्वारा कीदृशी प्रेरणा ? किंप्रमाणिका च सा ? कथं च तया धर्मो लक्ष्यते ? लक्षणा तु शब्दधर्मः। प्रेरणा तत्र द्वारभूता ततो भिन्नैव स्यात्। नहि द्वारद्वारिणोरभेदः। योऽनर्थादधर्माद् वहिर्भूत्वा पूर्वं धर्माख्यां लभते, पश्चादर्थो भवति। धर्माख्यालाभेऽर्थभवनस्य किं प्रयोजनम् ? यस्येश्वरेण निषेधः क्रियते, सोऽनर्थरूपत्वादधर्मोऽयमिति चेत्, यस्य न निषेधः किन्तु विधानं स्यात्, तस्यानर्थत्वाभावात् सुतरामर्थत्वमित्यर्थपदस्य (सूत्रे) किं प्रयोजनम् ? ईश्वरेण कथं निषेधः क्रियते, वेदेनैव स्वातन्त्र्येण वा ? नान्त्यो मानाभावात्। नाद्यः, विकल्पासहत्वात्। वेदेन निषेधोऽपि प्रेरणापेक्षस्तदनपेक्षो वा ? प्रथमे प्रेरणया लक्षितत्वात् कथं न तस्यापि धर्मत्वमर्थत्वं च स्यात् ? नान्त्यः, धर्मस्यापि प्रेरणामन्तरापि कथं नाधर्मस्यैव वोधः स्यात् ?

यदपि—'यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिकमिष्टसुखं पारमार्थिकं मोक्षसुखं च सम्यक् प्राप्तं स्यात्, स धर्मो विज्ञेयः, अतो विपरीतो ह्यधर्मश्च' (पृ० १२८) इति, तदपि न मनोज्ञम्, इष्टसुखस्यानिर्वचनात्। सुखं नाम नानिष्टं भवति कस्यचित्। न च विषसम्पृक्तमधुरान्नवत् पापसम्पृक्तसुखस्यानिष्टत्वमस्त्येवेति वाच्यम्, तत्र विषसम्पर्कस्यैवानिष्टत्वात्।

आदि से रहित ऋषिगण उस परम तत्त्व तक पहुँचते हैं, जहाँ पर कि इस सावन स्वरूप सत्य का उत्कृष्ट साध्य खजाने के रूप में विद्यमान रहता है। यह पूरा मार्ग सत्य की सहायता से ही सदा खुला रहता है। इसी मार्ग से ऋषिगण सत्य के सहारे सदा उस परम तत्त्व तक पहुँचते रहे हैं।

इसके आगे 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस पूर्वमीमांसा के सूत्र को और 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' इस वैशेषिक दर्शन के सूत्र को उद्धृत कर उनकी व्याख्या इस तरह से की है—'ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की आज्ञा दी है, वही धर्म और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है, वह अधर्म कहलाता है। परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त, अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है, उससे अलग होता है। इससे धर्म का ही जो आचरण करता है, वही मनुष्यों में मनुष्यपन है' (पृ० १२८)। यह कथन भी अस्तव्यस्त है, क्योंकि इस व्याख्या में इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं बनता कि वेदों के द्वारा कैसी प्रेरणा मिलती है ? इसमें क्या प्रमाण है ? और उससे धर्म का वोध कैसे होता है ? लक्षणा तो शब्द का धर्म है और प्रेरणा धर्म की द्वारभूत है। इसलिये ये दोनों परस्पर भिन्न ही माने जायंगे। द्वार और द्वारी में अभेद नहीं बन सकता। जो अधर्म का आचरण जो अनर्थ है, उससे अलग होकर पहले धर्म कहलाता है और वाद में अर्थ होता है, इस व्याख्या में धर्म कहलाने के वाद अर्थ होता है, इसका क्या प्रयोजन है। जिसका ईश्वर निषेध करते हैं, वह अनर्थ रूप होने से अधर्म कहलाता है, ऐसी यदि उसकी व्याख्या करें, तो इससे जिसका निषेध नहीं है; अर्थात् विधान् है, उसके अनर्थ न होने से अपनेआप अर्थता की सिद्धि हो जायगी। इस परिस्थिति में सूत्र में अर्थ पद का क्या प्रयोजन है ? ईश्वर निषेध कैसे करता है ? वह स्वतन्त्र रूप से निषेध करता है या वेदों के माध्यम से। ईश्वर स्वतन्त्र रूप से ऐसा करता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अन्तिम पक्ष में भी यह विकल्प नहीं बन पाता कि ईश्वर वेद के द्वारा निषेध किसी की प्रेरणा से करता है या स्वतन्त्र रूप से ? प्रथम पक्ष में प्रेरणा लक्षित है, अतः उसमें भी धर्मत्व और अर्थत्व की सिद्धि क्यों न मानी जाय। यदि वह स्वतन्त्र रूप से ऐसा करता है, तो उस परिस्थिति में धर्म की भी प्रेरणा के विना ही अधर्म की तरह अवगति क्यों न मान ली जाय ?

वे आगे कहते हैं—'जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति होती है, उसी का नाम धर्म है। इसके विपरीत अधर्म कहलाता है' (पृ० १२८)। यह कथन भी गलत है, क्योंकि इष्ट सुख क्या है, इसका

तत्र मीमांसासूत्रस्य तु शाबरभाष्यसम्मतोऽयमर्थः—चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः, आचार्यचोदितः करोमीति दर्शनात्। प्रवर्तकमिति प्रवृत्त्यनुकूलव्यापाररूपप्रवर्तनाबोधकलिङादिप्रत्ययघटितवचनं 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिरूपम्। तदुक्तं भट्टपादैः—'किमाद्यपेक्षितैः पूर्णः समर्थः प्रत्ययो विधौ। तेन प्रवर्तकं वाक्यं शास्त्रेऽस्मिंश्चोदनोच्यते ॥' इति। अर्थात् किं केन कथमिति साध्यसाधनेतिकर्तव्यतांशैः पूर्णः सम्बद्धार्थको लिङादिः पुरुषप्रवर्तने समर्थो भवति। तत्पूरकं च वाक्यं प्रवर्तकं वाक्ये चोदनेत्युच्यते। चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं चार्थं शक्नोत्यवगमयितुम्, नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्। 'अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि' (श्लो० वा० १।२।६)। नन्वयथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदनेति चेन्न, कारणदोषविषयबाधज्ञानाभावेन चोदनाजनितस्य ज्ञानस्यातथाभूतत्वासम्भवात्। तथाहि—प्रामाण्यमप्रामाण्यं च स्वत एव निर्णीयत इति सांख्याः। उभयमपि कारणगुणदोषादिनेति तार्किकाः। अप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य च परतस्त्वमिति बौद्धाः। प्रामाण्यं स्वतोऽप्रमामाण्यं तु परत इति मीमांसकाः। तदुक्तम्—'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्। नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥' (श्लो० वा० १।१।२।४७)। उत्पन्नस्य ज्ञानस्य संशयात्मकत्वे उत्तरकाले बाधकप्रत्ययान्तरोत्पत्तौ कारणे दोषवत्ताज्ञाने च सत्यप्रामाण्यं भवति। प्रकृते वेदकर्तृस्मरणाभावादिनाऽपौरुषेयत्वे कारणदोषज्ञानमशक्यशङ्कम्। नापि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इति वाक्यात् संशयात्मकं ज्ञानं जन्यते। नाप्येतद्वाक्यजन्यज्ञानस्याग्निहोत्रहोमात् स्वर्गो न भवतीति बाधकज्ञानं कदापि कस्यापि जायते। अतीन्द्रियसाध्यसाधनभावबाधे प्रत्यक्षानुमानादीनामप्रवृत्तेः।

निर्वचन कर पाना कठिन है। सुख किसी को अनिष्ट नहीं होता। विष मिले भोजन की तरह पाप से मिला सुख भी अनिष्ट क्यों नहीं होगा? इसका उत्तर यही है कि भोजन में जैसे विष का संपर्क अनिष्ट है, उसी तरह से सुख में पाप का संपर्क भी अनिष्ट माना जायगा।

ऊपर उद्धृत दोनों सूत्रों में से प्रथम मीमांसासूत्र का शाबर भाष्य के अनुसार यह अर्थ है—'क्रिया के प्रवर्तक वचन को चोदना नाम से कहा जाता है, 'आचार्य के कहने से करता हूं' इस तरह का प्रयोग देखा जाता है। 'यजेत स्वर्गकामः' (स्वर्ग की कामनावाला यज्ञ करें) इस तरह के लिङ् आदि प्रत्ययों से घटित, प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापाररूप प्रवर्तना के बोधक वचन को प्रवर्तक कहा जाता है। जैसा कि भट्ट कुमारिल ने कहा है—'किं केन (क्या, किससे) इत्यादि अपेक्षित जिज्ञासाओं को पूर्ण करने और विधि में प्रवृत्ति कराने में समर्थ वाक्य को इस शास्त्र में 'चोदना' के नाम से कहते हैं'। इसका अभिप्राय यह है कि किं केन कथम् (क्या, किससे, कैसे) ये तीन प्रश्न साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता के अर्थ की पूर्ति करते हैं। इनकी यथावत् पूर्ति करनेवाला जो प्रकरण से संबद्ध लिङादि प्रत्यय पुरुष को प्रवृत्त कराने में समर्थ होता है और इसका पूरक वाक्य ही प्रवर्तक वाक्य अथवा 'चोदना' कहलाता है। चोदना ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान, सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थ को भी बता पाने में समर्थ होती है, अन्य किसी इन्द्रिय में यह सामर्थ्य नहीं है। यही बात श्लोकवार्त्तिक में भी कही गई है—'अत्यन्त असत् पदार्थ का भी ज्ञान शब्द के द्वारा कराया जा सकता है। यहां पर प्रश्न उठता है कि इस तरह से तो चोदना अयथार्थ पदार्थ का भी ज्ञान करावेगी? इसका उत्तर यह है कि कारण-दोष और विषय के बाघ का ज्ञान न होने से चोदना वाक्य से उत्पन्न हुआ ज्ञान अयथार्थ नहीं हो सकता। इस संबन्ध में सांख्यदर्शन का कथन है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का निर्णय स्वतः होता है। तार्किकों का कहना है कि कारणगत गुण और दोषों के आधार पर इसका निर्णय होता है। बौद्धों का कहना है कि अप्रामाण्य का निर्णय स्वतः तथा प्रामाण्य का निर्णय परतः होता है। मीमांसकों का कहना है कि प्रामाण्य का निर्णय स्वतः और अप्रामाण्य की प्रतीति परतः होती है। जैसा कि भट्ट कुमारिल ने कहा है—'सभी प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः ही माना जाना चाहिये, क्योंकि किसी वस्तु में अविद्यमान शक्ति को कोई उत्पन्न नहीं कर सकता'। उत्पन्न ज्ञान यदि संशयात्मक है और उत्तर काल में दूसरा बाधक प्रत्यय उत्पन्न हो जाता है और कारण में दोषवत्ता का ज्ञान हो जाता है, तो उसको अप्रमाण मान लिया जाता है। प्रकृत में वेद के कर्ता की तो कोई स्मृति नहीं है, अतः उसको अपौरुषेय मानना पड़ेगा। अपौरुषेय वेद में कारण में दोष के ज्ञान आदि को कोई आशंका ही नहीं उठ सकती और यहां पर 'स्वर्ग की कामनावाला व्यक्ति अग्निहोत्र करे' इस तरह के वाक्यों से संशयात्मक ज्ञान ही उत्पन्न होता है। इस वाक्य से उत्पन्न ज्ञान का अग्निहोत्र करने से स्वर्ग नहीं होता, इस तरह के किसी दूसरे वाक्य से कभी किसी का बाध भी नहीं होता। अतीन्द्रिय कार्यकारणभाव का बाध प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण से नहीं

नापि किञ्चिदपौरुषं वाक्यं तत्र प्रमाणं तदनुपलब्धेः। नापि ज्ञानमेव नोत्पद्यते, वाक्यादुत्पन्नस्य ज्ञानस्यापलापासंभवात्। तस्मात् स्वतःसिद्धं चोदनाजन्यं ज्ञानं निरपवादं तिष्ठति। तस्मान्न वेदादन्या चोदना। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादिर्वैदिकविधिवाक्यमेव चोदनाशब्दार्थः।

प्रकृते विधिवाक्यस्यैव चोदनापदार्थत्वात्। चोदनया चोभयमिह लक्ष्यतेऽर्थोऽनर्थश्च। यो निःश्रेयसाय ज्योतिष्टोमादिः स एवार्थः, यः प्रत्यवायाय श्येनादिः स एवानर्थः। तत्रानर्थो धर्मो मा भूदित्यर्थग्रहणं सार्थकम्। नात्र श्येनादिर्निषेधवाक्यगम्यः, तस्यापि विधिरूपचोदनाबोध्यत्वात्। न च तर्हि श्येनादिः कथमनर्थः कर्तव्यतयोपदिश्यत इति वाच्यम्, श्येनादीनां कर्तव्यत्वेनानुपदिष्टत्वेऽपि यो हिंसितुमिच्छेत्तस्याभ्युपायतयोपदेशात्। अत एव 'श्येनेन अभिचरन् यजेत' इत्युपदेशः। तथा च श्येनादिफलीभूतहिंसायाश्चोदनालक्षणत्वसम्भवेन धर्मत्वप्रसक्तौ तद्वारणार्थमर्थशब्दः। नन्वेकं हीदं वाक्यं चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मो नेन्द्रियादिलक्षणः, अर्थश्च धर्मो नानर्थ इति कथमर्थद्वयं बोधयिष्यति, वाक्यभेदापत्तेरिति चेदुच्यते, यत्र वाक्यादर्थद्वयं गम्यते तत्रैव वाक्यभेदप्रसङ्गः। तदपि वैदिकेषु सूत्रेष्वन्यतोऽवगतेऽर्थे सूत्रमेवमर्थं इदमित्यवगम्यते, भिन्नयोरेव वाक्ययोः सूत्रेणैकदेशस्यैव सूत्रणात्। अर्थो धर्म इत्येकं सूत्रम्, चोदनालक्षण इत्यपरम्। अस्य साकाङ्क्षत्वादनन्तरसूत्रगतो धर्मशब्दोऽनुषङ्गेण तदेकदेशतया कल्प्यते चोदनालक्षणो धर्मः। न चैवं धर्म इति सूत्रेणाचोदनालक्षणस्यापि धर्मत्वं स्यात्, चोदनालक्षण इत्यनर्थस्यापि धर्मत्वं स्यादिति वाच्यम्, 'अर्थो धर्मः' इति सूत्रादन्तर्णीतार्थस्यैव धर्मशब्दस्यानुषङ्गात्। तेनार्थत्वविशिष्ट एव चोदनालक्षणो धर्मः, अर्थोऽपि चोदनालक्षणत्वविशिष्ट एव धर्मो न त्वविशिष्टः।

होता। इसके विरोध में कोई दूसरा अपौरुषेय वाक्य भी प्रमाण रूप में उपलब्ध नहीं है। कोई ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि वाक्य से उत्पन्न ज्ञान का अपलाप नहीं किया जा सकता। इसलिये स्वतःसिद्ध चोदनाजन्य ज्ञान का कोई अपवाद उपलब्ध नहीं हैं। वेद से भिन्न अन्य कोई चोदना वाक्य उपलब्ध नहीं है, इसलिये 'अग्निहोत्रं०' प्रभृति वैदिक विधिवाक्य ही चोदना शब्द का अर्थ माना जा सकता है।

प्रकृत व्याख्यास्थल में भी विधिवाक्य ही चोदना शब्द का अर्थ है। यहां पर चोदना अर्थात् विधिवाक्य से अर्थ और अनर्थ दोनों का बोध होता है। ज्योतिष्टोम प्रभृति कर्म निःश्रेयस के लिये है, अतः वह अर्थ है। इसके विपरीत प्रत्यवाय हेतु श्येनादि कर्म अनर्थ है। यह अनर्थ भी धर्म न कहलाने लगे, इसके लिये 'अर्थ' पद के ग्रहण की सार्थकता है। यहां पर श्येनादि याग का बोध निषेधक वाक्यों से नहीं होता, अपितु इन आभिचारिक प्रयोगों का बोध भी विधिरूप चोदना वाक्यों से ही होता है। प्रश्न है कि जब श्येनादि कर्म अनर्थ रूप हैं, तो उनका बोध विधिवाक्यों से कर्तव्य के रूप में कैसे होता है? इसका उत्तर यह है कि श्येनादि का उपदेश कर्तव्य के रूप न होकर जो शत्रुओं का नाश चाहता है, उसके लिये उपाय के रूप में इनका विधान है। इसलिये 'जो व्यक्ति अभिचार कर्म करना चाहता है, उसको श्येन याग का अनुष्ठान करना चाहिये' यह उपदेश वाक्य है। इस प्रकार से श्येनादि याग की फलस्वरूप हिंसा चोदना वाक्य से विहित है, इसमें धर्म के लक्षण की प्रयुक्ति न हो, इस उद्देश्य से सूत्र में 'अर्थ' शब्द का समावेश किया गया है। यहां पर पुनः शंका उठती है कि यहां पर वाक्य तो एक ही है, उसके ये दो अर्थ कैसे हो सकते हैं कि चोदनालक्षण अर्थ धर्म है इन्द्रियादिलक्षण नहीं और अर्थ ही धर्म है, अनर्थ नहीं। इस तरह से तो यहां पर वाक्यभेद रूप दोष की आपत्ति होगी। इसका उत्तर यह है कि जहां पर वाक्य से दो अर्थों की प्रतीति हो, वहीं पर वाक्यभेदरूप दोष की प्रसक्ति हो सकती है। वैदिक सूत्रों में अन्य प्रमाण से अर्थ के अवगत होने से यह सूत्र इस तरह से है, उसका अर्थ इस तरह से है, इसकी अवगति होती है। दो भिन्न वाक्यों को भी सूत्र एक ही में मिलाकर कह देता है। 'अर्थ धर्म है' यह एक सूत्र है। यह चोदना लक्षण है, यह दूसरा सूत्र है। इसकी साकांक्षता के आधार पर अनन्तर सूत्रगत धर्म शब्द की अनुषंगतः उसके एक देश के रूप में अनुवृत्ति हो जाती है और यह अर्थ होता है कि धर्म चोदनालक्षण होता है। पुनः शंका उठती है कि इस तरह से तो इस सूत्र से अचोदना लक्षण वाक्य भी धर्म कहलावेगा और जो चोदना लक्षण है, उसमें अनर्थ के उत्पादक श्येनादि वाक्य भी धर्म कहलावेंगे। इसका उत्तर यह है कि 'अर्थो धर्म' इस सूत्र में अन्तर्निहित अर्थ शब्द के

यद्वा अर्थस्य सतश्चोदनालक्षणस्य धर्मत्वमुच्यत इत्येकार्थत्वमेव। अर्थाद् अस्मिन् सूत्रे यो धर्मः स चोदनालक्षण इत्येव वचनव्यक्तिः, न तु यश्चोदनालक्षणः स धर्मः, तथात्वेऽनर्थस्यापि चोदनालक्षणत्वापत्तेः। तस्य व्यावृत्त्यर्थमर्थग्रहणमावश्यकमित्यर्थद्वयप्रयुक्तोऽर्थभेदः स्यात्। तत्र धर्मेऽर्थत्वस्य नित्यसिद्धत्वात् तद्धर्ममात्रमुद्दिश्य चोदनालक्षणत्वं विधीयते। न त्वर्थस्याप्युद्देश्यविशेषणत्वम्, किन्त्वर्थशब्दस्य नित्यानुवादत्वमेव।

सृष्टिविद्याविषयः

यत्तु सृष्टिविद्यासम्बन्धेन नासदीयसूक्तव्याख्यानं कृतम्—'यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत् तदाऽसत् सृष्टेः प्राक् शून्यात्मकमाकाशमपि नासीत्। कुतः? तद्व्यवहारस्य वर्तमानाभावात्। नो सदासीत्तदानीं तस्मिन् काले सत् प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं सत्संज्ञकं यज्जगत्कारणं तदपि नो आसीन्नावर्तत। नासीद्रजः परमाणवोऽपि नासन्। नो व्योमावरो यत्। व्योमाकाशमवरं यस्मिन् विराडाख्यं सोऽपि नासीत्, किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव तदानीमवर्तत। किमावरीवः यत्प्रातः कुहकस्यावर्षाकाले धूमाकारेण वृष्टं किञ्चिज्जालं वर्तमानं भवति, नैतज्जलेन पृथिव्यावरणं भवति नदीप्रवाहादिकं च चलति। अत एवोक्तं तज्जलं गहनं गभीरं किं भवति। नेत्याह—किमावरीव आवरकमाच्छादकं भवति नैव कदाचित् तस्यातीवाल्पत्वात्, तथैव सर्वं जगत् सामर्थ्यादुत्पद्यास्ति। तच्छर्मणि शुद्धे ब्रह्मणि किं गहनं गभीरमधिकं भवति। नेत्याह—अतस्तद्ब्रह्मणः कदाचिन्नैवावरकं भवति। कुतः? जगतः किञ्चिन्मात्रत्वाद् ब्रह्मणोऽनन्तत्वाच्च' (पृ० १२९-१३०) इति, तदपि न युक्तम्, मन्त्राक्षरार्थाननुगमात्। तथाहि—'असत् आसीत्' इत्यत्र असदित्यस्य शून्याकाशं नासीदित्यर्थः कुतो लब्धः? शब्दगुणकस्याकाशस्यासत्त्वायोगात्।

आधार पर उसी के साथ धर्म शब्द का अन्वय होगा। इससे अर्थत्व विशिष्ट चोदना वाक्य ही धर्म कहलावेगा और अर्थ भी चोदनालक्षण से युक्त धर्म ही होगा। अविशिष्ट नहीं, इस प्रकार उक्त दोनों आपत्तियों का परिहार हो जायगा।

अथवा यहां पर चोदनालक्षण से युक्त अर्थ की ही धर्मता का प्रतिपादन अभिप्रेत है, इस तरह से एकार्थता होने से वाक्यभेद दोष की प्रसक्ति नहीं होगी। अर्थात् इस सूत्र में यह धर्म है, वह चोदना लक्षण ही है, इसी तरह का वाक्यार्थ अभिप्रेत है, जो चोदना लक्षण है वह धर्म है, इस तरह की नहीं, क्योंकि यह दूसरा अर्थ करने पर श्येनादि अनर्थ कर्म की भी चोदनालक्षणता के आधार पर धर्मता माननी पड़ जायगी। इसकी व्यावृत्ति के लिये 'अर्थ' पद का ग्रहण आवश्यक हो जायगा और इस प्रकार दो अर्थों के प्रयोग होने से अर्थभेद स्वतः हो जायगा। इसलिये यहां पर धर्म में अर्थता की स्थिति सदा विद्यमान रहती है, उसके आधार पर धर्म मात्र को उद्दिष्ट कर उसमें चोदना लक्षणता का विधान यहां अभिप्रेत है। अर्थ भी यहां पर उद्देश्य का विशेषण नहीं है, किन्तु अर्थ शब्द की नित्यानुवादकता ही उसमें है।

सृष्टिविद्या संबन्धी विचार

स्वामी दयानन्द ने सृष्टिविद्या के संबन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए नासदीय सूक्त की व्याख्या अपने ढंग से की है। जैसे कि 'नासदासीत्' इस मन्त्र की व्याख्या वे इस तरह से करते हैं—'जब यह कार्यसृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी। उस समय असत् शून्य नाम आकाश, अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता, वह भी नहीं था, क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था। (नो सदासीत्तदानीं) उस काल में 'सत्' अर्थात् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान बनता है, वह भी नहीं था। (नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे तथा (नो व्यो०) विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है, वह भी नहीं था। (किमा०) जो यह वर्तमान् जगत् है, वह भी अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढांक सकता और उससे अधिक या अथाह भी नहीं हो सकता। कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढक सकता, उस जल से नदी में प्रवाह भी नहीं चल सकता और न वह कभी गहरा या उथला हो सकता है। इससे यह जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है और जो यह उसका बनाया जगत् है, वह ईश्वर की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है' (पृ० १३०-१३१) किन्तु यह व्याख्या सही नहीं है, क्योंकि इसमें मन्त्राक्षरों का सही अर्थ नहीं किया गया है। जैसे कि 'नासदासीत्' इस वाक्य में असत् शब्द का

किञ्च, कारणस्वरूपनिरूपणपरेयं श्रुतिः कथं सृष्टिनिरूपणपरेत्युच्यते। नहि व्यवहाराभावेऽपि वस्तुसतोऽसत्त्वं सम्भवति, सुषुप्तौ व्यवहाराभावेन प्रपञ्चस्यासत्त्वापातात्। यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत् तदेत्युक्तेऽपि सृष्टेः प्रागिति कथनमपि निष्फलमेव। तस्मिन् काले प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं सत्संज्ञकं यज्जगत्कारणं तदपि नो आसीन्नावर्तत, परमाणवोऽपि नासन् इत्यादिभिः प्रथममन्त्रव्याख्याने सर्गात् प्राग् जगन्मूलकारणभूता प्रकृतिरपि नासीत् परमाणवोऽपि नासन् विराडपि नाभूत् केवलं शुद्धं ब्रह्मैवासीद् इत्युक्त्या निर्विशेषाद्वैतवाद एवाभिप्रेतः स्याद् दयानन्दस्य। सत्यार्थप्रकाशादिषु च तेन जीवेश्वरप्रकृत्यादीनां सत्यत्वमुक्तम्, तदेतत् परस्परविरुद्धमेव।

यत्तु केनचिदुक्तम्—'नात्र एवपदमन्यकारणानां व्यावृत्त्यर्थं प्रवृत्तम्, अपि तु परमकारणस्य प्राधान्यं प्रतिपादयितुम्, एतच्चातीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमित्यादिपदानामिहोपादानात्। इह सामर्थ्यशब्देन सर्वशक्तिमतः शक्तिरेवोच्यते' इत्यादि, तदप्यपास्तम्, यतो नैव शब्देनैव, सदादिपदैरपि प्रकृत्यादीनां निषेधात्।

यदप्युक्तम्—'१।४।१२' मीमांसादर्शने 'अपशवो वान्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वाः' (तै०सं०५।२।९।४)। इत्यत्र गोऽश्वादीनां प्रशंसार्थमेवान्येषां पशुत्वनिषेधो न निषेधे तात्पर्यम्, नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपि तु विधेयं स्तोतुमिति मीमांसकन्यायात्' इति, तदपि तुच्छम्, गोऽश्वेभ्योऽन्येषां पशुत्वबोधकप्रत्यक्षविरोधात्तत्रार्थवादस्य गौणार्थकत्वेन प्रशंसापर्यवसायित्वेऽपि प्रकृते तादृग्विरोधाभावेन तदयोगात्। अन्यथा 'न कदाचिदनीदृशं जगत्' इति

अर्थ शून्य आकाश किस आधार पर किया गया है? क्योंकि शब्द गुण वाला आकाश असत् नहीं माना जाता। दूसरी बात यह भी है कि इस श्रुति में जगत् के कारण का निरूपण किया है, इसका सृष्टि के निरूपण में विनियोग कैसे किया जा सकता है? व्यवहार न होने से किसी वस्तु का अभाव नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर तो सुषुप्ति अवस्था में जब किसी प्रकार का व्यवहार नहीं चलता, प्रपंच का अभाव मानना पड़ जायगा। 'जब यह कार्य जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था तब' इतना कह देने पर इसके साथ 'सृष्टि से पहले' इस कथन की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह तो स्वयं ही ज्ञात हो जाता है। उस समय जगत् का कारण प्रकृत्यात्मक अव्यक्त, जिसको कि सत् भी कहा जाता है, विद्यमान नहीं था, परमाणु भी विद्यमान नहीं थे और न उस समम विराट् की ही कोई सत्ता थी, इस प्रकार से इस प्रथम मन्त्र की व्याख्या करते हुए दयानन्द केवल शुद्ध ब्रह्म की ही सत्ता मानते हैं। इस व्याख्या के अनुसार वे निर्विशेष अद्वैतवाद को स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत सत्यार्थप्रकाश आदि में वे जीव, ईश्वर और प्रकृति की भी सत्यता स्वीकार करते हैं। इसमें स्पष्ट ही परस्पर विरोध है।

यहाँ टिप्पणीकार का कहना है कि 'यहाँ 'एव' पद अन्य का निषेधक न होकर परम कारण की प्रधानता का प्रतिपादक है, क्योंकि व्याख्याकार ने यह परब्रह्म की सामर्थ्य अत्यन्त सूक्ष्म है और इस सारे जगत् की मूल कारण है, इन शब्दों में उसकी व्याख्या की है। यहाँ सामर्थ्य शब्द से उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की शक्ति का ही ग्रहण होता है' (पृ० १३०), किन्तु यह प्रतिपादन भी उचित नहीं है, 'नैव' शब्द से सदादि पदों से गृहीत होने वाले प्रकृति, परमाणु आदि का निषेध स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि यह उन्हीं से सम्बद्ध है।

टिप्पणीकार ने आगे की टिप्पणी में लिखा है—'मीमांसा दर्शन में (१।४।१३) 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वा' इस तरह के वाक्यों पर विचार करते समय बताया गया है कि अन्य पशुओं में पशुत्व का निषेध गाय और घोड़े की प्रशंसा के लिये है। इस वाक्य का तात्पर्य अन्य पशुओं में पशुत्व का निषेध करने के लिये नहीं है। इसी प्रकार प्रकृत सूक्त में सदसत् आदि के अभाव का निर्देश परब्रह्म की जगदुत्पादक शक्ति की प्रशंसा या प्रधानता दिखाने में है, न कि सत्प्रकृति आदि के सर्वथा निषेध में। मीमांसकों का न्याय है कि निन्दा परक अर्थवाद निन्दा के लिये न होकर विधि की स्तुति के लिये माने जाते हैं। उसी तरह से यहाँ भी समझना चाहिये' (पृ० १३१), किन्तु यह कथन भी इसलिये तुच्छ है कि उक्त वाक्य में गाय और घोड़े के सिवाय अन्य पशुओं में पशुत्व का निषेध प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध पड़ता है। इसलिये ऐसे स्थलों में अर्थवाद को गौणार्थक मान कर उक्त पशुओं की प्रशंसा में उसका विनियोग किया जाता है, किन्तु प्रकृत में तो ऐसा विरोध है नहीं, तब उसको गौणार्थक कैसे माना जा सकता है? अन्यथा 'यह जगत् सदा इसी रूप में विद्यमान रहता है, इसके भिन्न रूप में कभी नहीं रहता, इस मीमांसक दृष्टि के अनुसार जगत् का अनीदृश रूप

मीमांसादृष्ट्या जगतोऽपि निषेधः कारणप्राधान्यप्रदर्शनार्थमेव स्यात् । न तु तत्त्वयाऽपीष्यते, सृष्टिप्रलयाङ्गीकारात् । एवमेव दयानन्दरीत्या प्रकृतिपरमाण्वादीनामपि प्रलयकालेऽसत्त्वप्रतिपादनाद् गोतमकणादकपिलपतञ्जल्यादीनां मतानि वेदविरुद्धान्येवापद्येरन् ।

एवमेव 'किमावरीवः कुह कस्य' इति मन्त्रपदे कुहकमित्येकं पदमभिप्रेत्य कुहकस्येति षष्ठ्यन्तरूपं मत्वा शीतकाले प्रभाते पतनीयस्य तुषारस्य कुहक इति संज्ञां मत्वा लोकप्रसिद्धस्य कुहराशब्दस्य साम्यमुपादाय तथार्थं प्रतिपादितवान् दयानन्दः । परन्तु तादृशः श्रुत्यर्थस्तु सर्वथा निराधार एव, कुहकशब्दस्य तादृशेऽर्थे कुत्रचिदपि प्रयोगादर्शनात् । 'यत्प्रातः कुहकस्य बर्षाकाले धूमाकारेण वृष्टं किञ्चिज्जलमित्यादिकमपि निर्मूलमेव ।

'न मृत्युरासीत्' (ऋ० सं० १०।१२९।२) इत्यस्य तु व्याख्यानं न कृतम् ।

'इयं विसृष्टिः' (ऋ० सं० १०।१२९।७) इत्यत्र चोक्तम्—'यतः परमेश्वरादियं प्रत्यक्षा विसृष्टिर्विविधा सृष्टिराबभूवोत्पन्नासीदस्ति च तां स एव दधे धारयति रचयति वा यदि वा विनाशयति यदि वा न रचयति । योऽस्याध्यक्षः स्वामी परमे व्योमन् तस्मिन् परमे प्रकृष्टे व्योमवद् व्यापके परमेश्वरे एवेदानीमपि सर्वा सृष्टिर्वर्तते । प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्मसामर्थ्ये प्रलीना च भवति । सोऽध्यक्षः परमेश्वरोऽस्ति । हे अङ्ग मित्र जीव, तं यो वेद स विद्वान् परमानन्दमाप्नोति । यदि तं सर्वेषां मनुष्याणां परमिष्टं सच्चिदानन्दलक्षणं नित्यं कश्चिन्नैव वेद, वा निश्चयार्थे, स परमं सुखं नैवाप्नोति' इति, तदपि विशृङ्खलमेव, यतो हि— 'यतः परमेश्वरादियं प्रत्यक्षा सृष्टिराबभूवोत्पन्नासीदस्ति तां स एव दधे' इत्यादि दयानन्दोक्त्या तन्मतेन ब्रह्मण उपादानकारणत्वमेवायाति, उत्पत्तिस्थितिलयाधारत्वस्यैवोपादानत्वात् । नहि घटादयः कुलालसामर्थ्ये विलीना भवन्ति । तदपि प्रकृत्युपादानत्ववादिनस्तस्य स्वमतविरुद्ध-

में निषेध भी कारण की प्रधानता को बताने के लिये ही माना जायगा, किन्तु ऐसा तो आप भी नहीं मानते, क्योंकि हमारी ही तरह आप भी सृष्टि और प्रलय की बात मानते हैं । इसी तरह दयानन्द के मत से जब प्रलयावस्था में प्रकृति, परमाणु आदि की सत्ता मानी जाती है, गोतम, कणाद, कपिल, पतंजलि प्रभृति ऋषियों के मत वेदविरुद्ध माने जायेंगे, किन्तु ऐसा माना नहीं जाता, अतः दयानन्द की व्याख्या ही शास्त्रविरुद्ध मानी जायगी ।

इसी तरह से 'किमावरीवः कुह कस्य' मन्त्र के इस अंश में 'कुहक' को एक पद मानकर उसको षष्ठी विभक्ति के एक वचन में यहाँ प्रयुक्त कर दयानन्द ने उसका शीतकाल में प्रातःकाल छा जाने वाला तुषार (कुहरा) अर्थ किया है, किन्तु इस तरह का अर्थ सर्वथा निराधार है, क्योंकि कुहक शब्द का कुहरा अर्थ कहीं भी देखने को नहीं मिलता । इसलिये जाड़े के दिनों में धुएँ के जैसा चारों तरफ बरसता हुआ जल इस तरह का मन्त्र का अर्थ सर्वथा निराधार माना जायगा ।

'न मृत्यु०' इत्यादि पाँच मन्त्रों को सुगमार्थ मानकर दयानन्द ने उसकी व्याख्या नहीं की है ।

'इयं विसृष्टिः' इस सातवें मन्त्र की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—'जिस परमेश्वर के रचने से यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है, वही इस जगत् को धारण करता है, इसका नाश करता है और वही इसका मालिक भी है । हे मित्रों, जो मनुष्य उस परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है, वही परमेश्वर को प्राप्त कर सकता है और जो उसको नहीं जानता, वहीं दुःख में पड़ता है । जो आकाश के समान व्यापक है, उसी ईश्वर में सब जगत् निवास करता है और जब प्रलय होता है, तब भी सब जगत् कारण रूप होकर ईश्वर के सामर्थ्य में रहता है और फिर भी उसी से उत्पन्न होता है । इस तरह से यह परमेश्वर ही सबका मालिक है' (पृ० १३१) । किन्तु यह व्याख्या भी परस्पर असंबद्ध है, क्योंकि जिस परमेश्वर से इस परिदृश्यमान सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, उसको वही धारण करता है, दयानन्द की इस उक्ति के अनुसार उनके मत में ब्रह्म को उपादान कारण ही माना जा सकता है, क्योंकि जो उत्पत्ति, स्थिति और लय का आधार है, उसको उपादान माना जाता है । घट-पट आदि पदार्थ कुम्हार, जुलाहे आदि की शक्ति में विलीन नहीं हो पाते, अपने अपने उपादानों में ही वे विलीन होते हैं, निमित्त में नहीं । दयानन्द तो प्रकृति को उपादान

मेव स्यात् । यदपि 'हे अङ्ग जीव' इति, तदपि निरर्थकम्, कथं जीवोऽङ्गपदार्थः ? अङ्गशब्दस्य सम्बोधनार्थकत्वात् । यस्तं विद्वान् स परमानन्दमाप्नोति, सच्चिदानन्दलक्षणं नित्यं कश्चिन्नैव वेद, स परमसुखमपि नाप्नोतीति कुतोऽर्थोऽवधारितः ? मन्त्रे तादृशपदस्याभावात् ।

सायणसम्मतो मन्त्रार्थस्त्वित्थम्—'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् । किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥' (ऋ० सं० १०।१२९।१) अस्मिन्नेव सूक्ते तन्महिना जायमानैकमिति मन्त्रे सृष्टिवर्णनदर्शनान्नासीदिति मन्त्रे निरस्तसमस्तप्रपञ्चा सृष्टेः प्रागवस्था (अर्थात् प्रलयावस्था) प्रतिपाद्यते । तदानीं प्रलयदशायामवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणम्, तत् असत् शशविषाणखपुष्पादितुल्यं निरुपाख्यं नासीत् । तादृशस्य सद्भूतप्रपञ्चोत्पत्तिं प्रति कारणत्वानुपपत्तेः । नो सत् तन्मूलकारणं सत् । आत्मवदत्यन्ताबाध्यं सदपि नासीत् । यद्यपि सदसतो परस्परविलक्षणे, तत एव भावाभावरूपयोस्तयोः सहावस्थानमपि न सम्भवति, तत एव तादात्म्यमपि तयोर्न सम्भवति, किन्तु सत्त्वासत्त्वाभ्यां निर्वक्तुमनर्हमनिर्वाच्यमेवासीत् तन्मूलकारणम् ।

ननु—'आनीदवातम्' (ऋ० सं० १०।१२९।२) इति तस्य सत्त्वमेवाग्रे विवक्ष्यत इति चेन्न, पारिशेष्यान्मायाया एव सत्त्वासत्त्वनिषेधेनानिर्वाच्यत्वोपपत्तेः । न च तथापि तत्र तदानीमिति विशेषणं निरर्थकम्, तादृशानिर्वाच्यत्वस्य मायायाः सृष्टिकालेऽपि पारमार्थिकसत्त्वाभावेनोपपत्तेरिति वाच्यम्, जिज्ञासुबुद्धावनायासेन तदारोहार्थं तदानीमित्युक्तेः सार्थक्यात् । यद्यपि मृण्मयस्यामत्रजातस्य स्वकालेऽपि मृण्मात्रत्वं तथापि स्वोत्पत्तेः प्राक् सर्वं मृत्तिकैवासीद् इति बुद्धावनायासेन यथायाति, न तथा वर्तमानकाले, तथैव यद्यपि सृष्टिकालेऽपि मायाया अनिर्वाच्यत्वमेव तथाप्याञ्ज-

मानते हैं, ब्रह्म को नहीं, अतः (ब्रह्म की उपादानता का सिद्धान्त) स्पष्ट ही उनके मत के विरुद्ध पड़ेगा । इसी तरह से 'अंग' पद का 'जीव' अर्थ कर 'हे मित्र लोगों, इस तरह से संबोधित करना भी निराधार है, क्योंकि 'अंग' पद का अर्थ 'जीव' कैसे हो सकता है ? वह तो केवल संबोधन के अर्थ में प्रयुक्त होता है । 'जो उसको जानता है, वह परमानन्द को प्राप्त करता है और जो इस सच्चिदानन्द लक्षण नित्य परमात्मा को नहीं जानता, वह परम सुख को भी नहीं पा सकता, मन्त्र का यह अर्थ भी कहाँ से निकलेगा ? क्योंकि मन्त्र में इस तरह के पद नहीं दिखाई पड़ते ।

सायण ने इस मन्त्र का अर्थ यह किया है—इस नासदीय सूक्त के ही 'तन्महिना' इत्यादि तृतीय मन्त्र में सृष्टि का वर्णन देखने को मिलता है, अतः 'नासदासीत्' इस मन्त्र में सृष्टि से पहले की प्रलयावस्था का, जिसमें समस्त जागतिक प्रपंच विलीन रहता है, वर्णन किया गया है । उस प्रलयावस्था में स्थित इस जगत् का मूल कारण खरगोश की सींग या आकाश के पुष्प की तरह निरुपाख्य (अलीक) नहीं था, क्योंकि इस तरह का मूल कारण सत्स्वभाव प्रपंच की उत्पत्ति नहीं कर सकता । इसी तरह से यह मूलकारण सत्स्वभाव का भी नहीं था, अर्थात् आत्मा के स्वरूप की तरह अत्यन्त अबाध्य स्वभाव वाला भी नहीं था । यद्यपि सत् और असत् ये दोनों परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं, इसलिये भाव और अभाव स्वभाव वाले इन दोनों की एक जगह स्थिति नहीं हो सकती । इसीलिये इन दोनों का परस्पर तादात्म्य नहीं माना जा सकता, किन्तु यहाँ इन शब्दों का अर्थ यही है कि वह मूलकारण प्रलयावस्था में सत् रूप से और असत् रूप से भी बताने लायक नहीं था ।

शंका उठती है कि 'आनीतदवातं' इस अगले मन्त्र में इस मूलकारण को सत्स्वभाव माना गया है, किन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि वस्तुतः यहाँ माया में ही सत्त्व और असत्त्व का निषेध किया गया है, अतः माया को ही अनिर्वाच्य माना जायगा । इस मन्त्र में अनिर्वाच्य माया को कहा गया है और अगले मन्त्र में सत्स्वभाव परब्रह्म की चर्चा है । इस पर पुनः शंका उठ सकती है कि यदि यहाँ माया का ग्रहण किया जाता है, तो उसके लिये 'तदानीं' इस शब्द का प्रयोग करना व्यर्थ होगा, किन्तु माया तो उस प्रलयावस्था में ही नहीं, सृष्टिदशा में भी अनिर्वाच्य ही मानी जाती है, क्योंकि उसकी पारमार्थिक सत्ता किसी भी अवस्था में नहीं मानी जाती । किन्तु इसका समाधान यह है कि जिज्ञासु को इस विषय का सरलता से ज्ञान हो जाय, इसके लिये 'तदानीं' इस पद की सार्थकता है । यद्यपि मिट्टी का बर्तन अपनी वर्तमान स्थिति में भी मिट्टी के सिवाय और कुछ नहीं है, तो भी अपनी उत्पत्ति के पूर्व

स्येन बुद्ध्यारोहाय तदानीमित्युक्तिः। न च व्यावहारिकसत्तावतां पृथिव्यादीनां शक्त्यात्मना तदानीमपि सत्त्वात् कथं नो सदासीदिति सत्त्वनिषेध इति वाच्यम्, तत्र पारमार्थिकसत्त्वस्यैव निषेधविषयत्वात्। तदेवोच्यते—'नासीद्रजः' (ऋ० सं० १०।१२९।१)। 'लोको रजांसीत्युच्यते' (नि० ४।१९) इति रीत्या रजःशब्देन लोका उच्यन्ते। रजांसीति स्थाने रज इति सामान्यापेक्षमेकवचनमपि सङ्गच्छते। तथा च व्योम्नः पृथङ्निर्देशाद् व्योम्नोऽधस्तनाः पातालादयः पृथिव्यन्ता नासन्निति रजःशब्देन त एव निषिद्धयन्ते। व्योमान्तरिक्षं नासीत्। पर इति सकारान्तं पदं परस्तादित्यर्थे। तथा च व्योम्नः परस्तादुपरि देशे द्युलोकप्रभृतिसत्यलोकान्तं यदस्ति तदपि नासीत्। अनेन चतुर्दशभुवनगर्भं ब्रह्माण्डं स्वरूपेण निषिद्धं भवति।

अथ तदावरकत्वेन पुराणेषु प्रसिद्धानि पृथिव्यादीनि महदन्तान्यावरणानि च आवरीवशब्देनोच्यन्ते। तान्यपि निषिद्धयन्ते। आवरीवः किमासीत्, नासीदित्यर्थः। अत्राक्षेपार्थकः किंशब्दः। तथा किमावरणीयं तत्त्वमावरकं पृथिव्यादिमहदन्तमावरीव अत्यन्तमावृणुयात्। आवार्याभावात्तदावरकमपि नासीदित्यर्थः। वृणोतेर्यङ्लुगन्तात् छान्दसे लङि तिपि रूपमेतत्। यद्वा किंतत्त्वमावरकं वृणुयात्? आव्रियमाणवत्तदपि स्वरूपेण नासीदित्यर्थः। आवृण्वत् तत्त्वं कुह कुत्र देशेऽवस्थायावृणोति। आधारभूतस्तादृशो देशोऽपि नासीदित्यर्थः। कस्य भोक्तुः शमन् शर्मणि सुखादिलक्षणे भोगे निमित्तभूते सति तदावरकं तत्त्वमावृणुयात्। जीवानामुपभोगार्था सृष्टिर्भवति। तस्यां सत्यामेव ब्रह्माण्डस्य पृथिव्यादिभिरावरणं भवति। प्रयलदशायां भोक्तारो जीवाः उपाधिप्रलयात् प्रलीना इति कश्चिद् भोक्ता न सम्भवती-

(पिण्डावस्था में) जैसे यह बात सरलता से समझ में आ जाती है कि सब कुछ मिट्टी है, वही स्थिति जब वह बरतन का आकार धारण कर लेता है, तब नहीं रह जाती। उसी प्रकार यद्यपि सृष्टि दशा में भी माया अनिर्वाच्य ही मानी जाती है, तो भी इस बात को सरलता से समझाने के लिये यहाँ बताया है कि उस प्रलयावस्था में भी यह अनिर्वाच्य ही रहती है। यदि यह पूछा जाय कि व्यावहारिक सत्ता वाले पृथिवी प्रभृति पदार्थों की शक्ति रूप में स्थिति प्रलयावस्था में भी मानी जाती है, तब उसकी सत्ता का निषेध कैसे किया जा सकता है, तो उसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि यहाँ उनकी पारमार्थिक सत्ता का ही निषेध किया गया है। 'नासीद्रजः' इस कथन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। निरुक्त के वचन के अनुसार यहाँ रज शब्द लोक का वाची है। यद्यपि लोक अनेक है, अतः बहुवचन में रजस् शब्द का प्रयोग होना चाहिये, तो भी लोकसामान्य का बोध कराने के लिये यहाँ एक वचन ही प्रयुक्त है। यहाँ आकाश का अलग से निर्देश किया गया है, इसलिये आकाश के नीचे स्थित पाताल से पृथिवी तक के लोकों का यहाँ रजस् शब्द से निषेध माना जायगा। अर्थात् न तो उस समय आकाश (अन्तरिक्ष) की कोई सत्ता थी और न इसके नीचे स्थित पातालादि पृथिव्यन्त लोगों की सत्ता थी। 'परस्' यह सकारान्त पद परस्तात् के अर्थ में प्रयुक्त है। इसलिये इसका यह अर्थ होगा कि अन्तरिक्ष से ऊपर स्थित स्वर्ग से लेकर सत्यलोक पर्यन्त भुवनों की भी उस समय कोई स्थिति नहीं थी। इस तरह से प्रलयावस्था में चौदह भुवनों को अपने पेट में समेटे समूचे ब्रह्माण्ड का निषेध यहाँ विवक्षित है।

आवरीव शब्द से पुराणों में आवरण के रूप में वर्णित पृथिवी से लेकर महत्तत्त्व पर्यन्त तत्त्वों का बोध होता है। प्रलयावस्था में इनका भी निषेध किया जाता है। क्या आवरीव की उस समय स्थिति थी? अर्थात् नहीं थी। यहाँ किं शब्द का अर्थ आक्षेप है कि यह पृथिव्यादि महत्तत्त्व पर्यन्त आवरक तत्त्व किसको आवृत करेगा? जब कोई आवरणीय पदार्थ नहीं हैं, तब आवरक की भी स्थिति कैसे हो सकती है? यङ्लुगन्त, वृणोति धातु से छान्दस लङ्लकार में तिप् प्रत्यय होने पर यह रूप बनता है। अथवा इसका यह अर्थ भी किया जा सकता है कि वह आवरक तत्त्व कौन है, जो कि आवरण डाले। आवरणीय पदार्थ की तरह आवरक की भी वस्तुतः उस समय कोई स्थिति नहीं रहती। यदि कोई पदार्थ ऐसा है कि जो आवरण डालेगा तो वह कहाँ रहकर ऐसा करेगा? अर्थात् इस तरह का कोई आधारभूत स्थान भी उस समय नहीं बच रहता, जहाँ ठहर कर कि यह आवरक पदार्थ आवरणीय वस्तु पर अपना आवरण डाले। उस प्रलयावस्था में किस भोक्ता के सुखादि स्वरूप उपभोगों का सहारा लेकर यह आवरण डालेगा? जीवों के सुख-दुःखादि उपभोग के लिये सृष्टि होती है। सृष्टि होने पर ही ब्रह्माण्ड पृथिवी प्रभृति से भरता है। प्रलयावस्था में भोक्ता जीवों की उपाधि के

त्यावरणस्य निमित्ताभावादपि तदावरणं न घटते । एतेन भोग्यप्रपञ्चवत् भोक्तृप्रपञ्चोऽपि तदानीं नासीदित्युक्तं भवति । एवमवस्थानप्रदेशमावरणनिमित्तं चाक्षिप्य तदावरणं निषिद्धम् । अम्भः किमासोदित्यम्भसो जलस्यापि निषेधः । यद्यपि ब्रह्माण्डनिषेधेन तदन्तर्गतस्याम्भसोऽपि निषेधः प्राप्त एव, तथा 'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्' (तै० सं० ७।१।५।१) इति श्रुत्यापां सद्भावं कश्चिदाशङ्केतेति पृथक् तत्प्रत्याख्यानं युक्तमेव । गहनं दुष्प्रवेशं गभीरं दुरवस्थानमत्यगाधमम्भोऽपि किमासोत्तदानीम्, तदपि नासीदित्यर्थः । न च तर्हि श्रुतेः का गतिरिति वाच्यम्, तस्या अवान्तरप्रलयपरत्वेन महाप्रलये तत्सद्भावासिद्धेः ।

'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः । आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥' (ऋ० सं० १०।१२९।२)। ननूक्तस्य प्रतिसंहारस्य प्रतिहर्त्रपेक्षत्वात् प्रतिसंहर्ता मृत्युरासोदिति चेत्, तदपि निषिद्धचते, 'न मृत्युरासीत्' इति संहारकस्य कालस्यापि तदानीं महाकारणे विलीनत्वात् । ननु यदि मृत्युर्नासीत्तदा तदभावकृतममृतं सर्वप्राणिनाममरणमेवास्तु । इति चेत्तत्राह—तर्हि तदानीममृतमपि नासीत् । सर्वप्राणिनां भोगहेतुभूतं परिपक्वं सर्वं कर्म यदोपभुक्तं भवति, तदा भोगाभावान्निष्प्रयोजनमिदं जगदिति परमेश्वरस्य मनसि सञ्जिहीर्षोपजायते। तथैव सर्वं जगदुपसंहरति । किमनेन मृत्युना संहर्त्रा तदभावकृतं वा कथममरणं स्यात् ? अत एव महाकारणे मृत्योरपि लयः श्रूयते । 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उमे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥' (कठोप० २।२५) । प्राणिनां पूर्वमेव संहृतत्वात् प्राणिनामवस्थानरूपममृतं तु कुतस्त्यम् ?

लीन हो जाने से भोक्ता जीव भी लीन हो जाते हैं । इस स्थिति में कोई भोक्ता बच नहीं रहता । इस अवस्था में जब आवरण के निमित्त की कोई स्थिति नहीं है, तो आवरक की स्थिति कैसे रह सकती है ? इस तरह से जैसे भोग्य प्रचंच की उस समय कोई स्थिति नहीं रहती, वैसे ही भोक्ता (जीव) के प्रपंच की भी सत्ता का निषेध. कर दिया जाता है। इस तरह से आवार प्रदेश का निषेध और आवरण के निमित्त का निषेध स्वयं आवरण का भी निषेध कर देता है । 'अम्भः किमासीत्' इससे प्रलयावस्था में जल की सत्ता का भी निषेध कर दिया जाता है । यद्यपि ब्रह्माण्ड का निषेध कर देने से उसके अन्दर स्थित जल का भी निषेध अपने आप हो जाता है, किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में जल की सत्ता का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों से विरोध की आशंका कहीं न उठ खड़ी हो, इसके परिहार के लिये यहाँ जल का अलग से उल्लेख कर दिया गया है कि उस प्रलयावस्था में जल की भी कोई सत्ता नहीं थी । क्या उस समय चारों तरफ फैला हुआ अगाध जल विद्यमान था ? नहीं, उस समय उसकी भी कोई सत्ता नहीं थी । तब जल की सत्ता का प्रतिपादन करने वाली श्रुति की क्या गति होगी ? उसकी यह गति होगी कि अवान्तर प्रलयावस्था में जल की सत्ता के प्रतिपादन में उसका तात्पर्य माना जायगा; क्योंकि महाप्रलय दशा में तो जल की भी कोई स्थिति नहीं रह जाती ।

'न मृत्युरासी०' इत्यादि मन्त्रों का अर्थ सायण ने इस प्रकार किया है—प्रश्न उठता है कि इस सूक्त के पहले मन्त्र में जिस प्रलयावस्था का वर्णन किया है, उस प्रतिसंहार को करनेवाले किसी कर्ता की सत्ता स्वीकार किये बिना यह कैसे संभव होगा ? अतः प्रतिसंहर्ता मृत्यु की सत्ता तो माननी पड़ेगी, किन्तु इस दूसरे मन्त्र के आरंभ में उसका भी निषेध किया गया है, क्योंकि संहारक काल भी उस समय महाकारण में विलीन हो जाता है । प्रश्न उठता है कि जब उस समय मृत्यु नहीं थी तो इसके अभाव में सभी प्राणियों की अमरता तो विद्यमान रहेगी, किन्तु श्रुति उसका भी निषेध करती है कि उस समय अमृत दशा की भी स्थिति नहीं थी । सभी प्राणियों के भोग का कारण कर्म जब परिपक्व हो जाता है, तब उसके उपभुक्त हो जाने से भोग बच नहीं रहते । जब ये बच नहीं रहते तो जगत् का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता । उस अवस्था में भगवान् के मन में इस जगत् का संहार करने की इच्छा होती है और वह जगत् का उपसंहार कर भी देते हैं । इस अवस्था में न तो मृत्यु का ही कोई प्रयोजन रह जाता है और न अमरता का ही । इसीलिये महाकारण में मृत्यु का भी लय माना जाता है, जैसा कि 'यस्य ब्रह्म च' इस कठ श्रुति में प्रतिपादित है । जब मृत्यु की कोई स्थिति नहीं है और मृत्यु सहित सभी प्राणियों का उपसंहार भी उस महाकारण में हो चुका है, तो उस अमरता की स्थिति कैसे रह सकती है, जो कि प्राणियों के रहने पर ही बन सकती है ?

ननु तथापि सर्वस्याधिकरणभूतः कालः स्यादित्यत आह 'रात्र्या अह्नश्च प्रकेतः प्रज्ञानं नासीत्, तद्धेतुभूतयोः सूर्याचन्द्रमसोरभावात् । एतेनाहोरात्रनिषेधेन तदात्मको मासर्तुसंवत्सरावयवकः कालोऽपि प्रत्याख्यातः । ननु तर्हि कथं तदानीमिति कालवाची प्रत्ययः ? इति चेन्न, तादृक्प्रत्ययस्योपचारात् । यथेदानीन्तननिषेधस्य कालोऽवच्छेदकस्तथा मायापि तदवच्छेदहेतुरित्यवच्छेदकसाम्येनाकालेऽपि कालवाचिप्रत्ययोपपत्तेः । नन्वेवं कस्यचित्परमार्थवस्तुनः सत्त्वाभावे शून्यपर्यवसाय्येव सर्वं स्यादिति चेत्तत्राह—आनीत्, तद् वेदान्तप्रसिद्धं ब्रह्मतत्त्वमानीत् अननं प्राणनं कुर्वत् आसीत् । ननु तर्हि प्राणनकर्तुर्जीवभावापन्नस्यैव ब्रह्मणोऽस्तित्वं सिद्धचतीति चेत्तत्राह—अवातम् । अप्राणं शुद्धं ब्रह्मेत्यर्थः, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० उ० २।१।२) इति श्रुतेः । यद्यपि 'आनीत्' इत्युक्त्या धात्वर्थक्रिया, तत्कर्ता तस्य च भूतकालसम्बन्ध इति त्रयोऽप्यर्थाः प्रतीयन्ते, तथापि न तत्र 'आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति' इतिवत् तत्समुदायो विधीयते, येन शुद्धब्रह्मणः सत्त्वं न सिद्धचति । किन्तु कर्तृत्वमनूद्य भूतकालसत्तालक्षणो गुणो विधीयते, 'दध्ना जुहोति' इतिवत् । तत्र च होममनूद्य दधिलक्षणो गुणो विधीयते । तत्राप्यनेन कर्तृत्वविशिष्टस्य न पूर्वकालसत्ता विधीयते, तन्निषेधानुपपत्तिप्रसङ्गात् । अतोऽनेनेदानीन्तनेन कर्तृत्वेनोपलक्षितं यन्निरुपाधिकं परं ब्रह्म तस्यैव भूतकालसत्ता विधीयते । तेन प्राणनादिक्रियातत्कर्तृत्वादिरहितं शुद्धं ब्रह्मैव बोध्यते ।

नन्वीदृशस्य ब्रह्मणो मायासम्बन्धासम्भवात् सांख्याभिमता स्वतन्त्रा प्रकृतिरेव सिद्धचतीति कुतः नो सदिति निषेधः ? तत्राह—स्वधया । स्वस्मिन् धीयते ध्रियते आश्रित्य वर्तत इति स्वधा माया तया सहाविभागापन्नं ब्रह्मैवासीत् । अत्र सहशब्दप्रयोगाभावेऽपि 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (पा० सू० २।३।१९) इति सहार्थयोगेऽपि तृतीया भवति,

इस पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि उस समय सबके अधिष्ठाता काल की तो स्थिति माननी ही पड़ेगी ? इसका उत्तर श्रुति ही देती है कि उस प्रलयावस्था में दिन और रात के सूचक सूर्य और चन्द्र की भी स्थिति न रहने से न तो अहोरात्र ही विद्यमान थे और उनकी समष्टि से संपन्न होने वाले मास, ऋतु, संवत्सर आदि अवयव वाले काल की ही कोई स्थिति थी । पुनः शंका उठाई जाती है कि 'तदानीम्' (उस समय) शब्द से भी तो काल ही बोधित होता है ? किन्तु इसका समाधान यह है कि इस तरह का प्रयोग उपचार मात्र है । जैसे इदानीन्तन (इस समय) निषेध का अवच्छेदक काल है, उसी तरह से माया भी उसकी अवच्छेदिका है । इसी अवच्छेदक की समानता के आधार पर अकाल में भी कालवाचक शब्द का प्रयोग हो सकता है । पुनः प्रश्न उठता है कि इस तरह से तो जब किसी परमार्थ वस्तु की सत्ता नहीं है, तो यह सारा जगत् शून्य में समाप्त हो जायगा ? किन्तु इसका उत्तर भी यही श्रुति देती है कि उस समय वेदान्त शास्त्र में प्रसिद्ध ब्रह्मतत्त्व निरन्तर श्वसनशील था । इस तरह से श्वास-प्रश्वास लेकर जीने वाले जीवभावापन्न ब्रह्म का ही अस्तित्व सिद्ध होगा, यह बात भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि उस प्रलयावस्था में शुद्ध ब्रह्म की ही स्थिति रह सकती है । 'अप्राण' इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है । यद्यपि श्रुति में विद्यमान 'आनीत्' इस पद से धात्वर्थ क्रिया, उसका कर्ता, तथा भूतकाल—इन तीनों अर्थों की प्रतीति होती है, तो भी वहां 'आग्नेय अष्टाकपाल' की तरह समुदाय का विधान नहीं माना जाता, जिससे कि शुद्ध ब्रह्म की सत्ता न सिद्ध हो सके । किन्तु 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य में जैसे होम का अनुवाद कर दधिलक्षण गुण का विधान किया जाता है, उसी तरह यहां कर्ता का अनुवाद कर उसकी भूतकाल की सत्ता वाले गुण मात्र का विधान किया जाता है । इस स्थिति में इस श्रुति वाक्य से कर्तृत्व विशिष्ट की पूर्वकालीन सत्ता नहीं बताई जाती, क्योंकि तब तो उसका निषेध न हो पावेगा । किन्तु इदानीन्तन कर्तृत्व से उपलक्षित निरुपाधिक परब्रह्म की ही भूतकाल की सत्ता विहित होती है । इस तरह से प्राणन प्रभृति क्रिया और कर्तृत्व से रहित शुद्ध ब्रह्म का ही यहां बोध होता है ।

प्रश्न उठता है कि इस तरह का ब्रह्म माया से संबद्ध नहीं माना जा सकता, तब तो उस प्रलयावस्था में सांख्यदर्शन अभिमत स्वतन्त्र प्रकृति की ही सत्ता मानी जायगी, तब सत् का निषेध कैसे बन सकता है ? इसका उत्तर श्रुति 'स्वधया' इत्यादि से देती है । स्वधा शब्द का अर्थ 'अपने में सबको समेट कर रहने वाली' इस व्युत्पत्ति के आधार पर माया है । उस माया से अविभागापन्न ब्रह्म ही उस समय विद्यमान था । यहां 'सह' शब्द का प्रयोग न होने पर भी 'सहयुक्ते०' इत्यादि पाणिनि सूत्र से सहार्थ के योग में तृतीया

'वृद्धो यूना' (पा० सू० १।२।६५) इति निदेशाल्लिङ्गात्। 'स्वधया' इत्यत्र प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां तस्याः स्वातन्त्र्यं निषिद्धयते। यथा गोधूमादिबीजेषु तत्तदङ्कुरादिजननानुगुणाः शक्तयः सन्ति, तथैव ब्रह्मणि प्रपञ्चोत्पादनानुगुणाः शक्तयः सन्ति। तासां समष्टिरेव माया भवति। सा च न जीवादिकार्याश्रया, कारणस्य कार्याश्रयत्वानुपपत्तेः। नापि स्वाश्रया, आत्माश्रयत्वायोगात्। पारिशेष्याद् ब्रह्माश्रयैव सा। भ्रमोपादानत्वेन सैवाविद्यापि जेगीयते। यद्यप्यसङ्गे ब्रह्मणि तत्सम्बन्धो न सम्भाव्यते, तथापि तस्मिन्नविद्ययैव तत्स्वरूपमिव सम्बन्धोऽपि कल्प्यते। यथा शुक्तिकायां रजतस्याध्यासिकसम्बन्धो भवति, तथैव मायाधिष्ठाने ब्रह्मणि मायाया आध्यासिकः सम्बन्धः। सम्बन्धोऽप्याध्यासिक एव। यथा वह्निशक्तिर्वह्निविलक्षणा भवति, तथैव सतः शक्तिरपि सद्विलक्षणैव। तत एव तस्याः सद्रूपता प्रत्याख्याता। यथा भेदो भेद्यं भिन्दन् स्वमपि ततो भिनत्ति, यथा वा नैयायिकानामात्मा प्रमेयजातमिव स्वमपि प्रमिणोति, तथैव सा माया विश्वप्रपञ्चं कल्पयन्ती स्वमपि कल्पयति, स्वपरनिर्वाहकाणां भावानां बहुलमुपलब्धेः।

ननु ब्रह्मणोऽविभागापन्नत्वेन तस्या अनिर्वाच्यत्वमिव ब्रह्मणाऽपि तथात्वं किं न स्यादिति? ब्रह्मणो वा सत्त्वे तस्या अपि सत्त्वप्रसङ्ग इति कुतो नो सदासीदिति सत्त्वनिषेधः? इति चेन्न, अयुक्तिदृष्टयैक्यावभासेऽपि युक्त्या विविच्यमाने मायांशस्यानिर्वाच्यत्वं ब्रह्मणश्च सत्त्वमिति प्रतिपादितत्वात्। न च दृग्दृश्यौ द्वावेव पदार्थौ आनीतदवातं स्वधयेति चेदङ्गीक्रियेते, तर्हि कुतो नासीद्रज इत्यादिना लोकानां निषेध इति तत्राह—तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास (ऋ० सं० १०।१२९।२)। तस्मान्मायासहिताद् ब्रह्मणोऽन्यत् भूतभौतिकं न आस न बभूव। ननु तदानीमन्यस्य सत्त्वे निषेधो न शक्यः, असत्त्वे चाप्रसक्तत्वान्न निषेधोपयोगः, इत्यत आह—परः सृष्टेः परस्तात् सृष्टेरूर्ध्वं वर्तमानमिदं जगत् तदानीं न बभूव। अन्यथोक्तरीत्या क्वचिदपि निषेधो न स्यादिति भावः।

विभक्ति होती है। 'वृद्धो यूना' इस पाणिनि सूत्र से यह सिद्ध होता है कि सहार्थ के योग में भी, तृतीया विभक्ति हो सकती है। 'स्वधया' इस पद में विद्यमान प्रकृति और प्रत्यय से उसका स्वातन्त्र्य निषिद्ध हो जाता है। जैसे गेहूं प्रभृति के बीजों में उस उस प्रकार के अंकुरादि को पैदा करने की शक्ति विद्यमान है, उसी तरह ब्रह्म में प्रपंच को उत्पन्न करने लायक शक्ति है। प्रपंच को उत्पन्न करने वाली शक्ति ही माया कहलाती है। यह शक्ति जीव में नहीं रह सकती, क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि कारण कार्य में रहे। स्वाश्रय भी इसको नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब इसकी आत्माश्रयता न बन पावेगी। इनके अतिरिक्त इसका आश्रय ब्रह्म ही हो सकता है। भ्रम का उपादान होने से यह अविद्या भी कहलाती है। यद्यपि असंग ब्रह्म के साथ उसका संबन्ध नहीं बन सकता, किन्तु उसी में अविद्या से ही उसके स्वरूप की तरह संबन्ध की भी कल्पना हो जाती है। जैसे सीप में रजत का आध्यासिक संबन्ध होता है, उसी तरह माया के अधिष्ठान ब्रह्म में माया का आध्यासिक संबन्ध भी हो जाता है। यह संबन्ध भी आध्यासिक ही है। जैसे अग्नि की शक्ति उससे विलक्षण होती है, उसी भांति सत् की शक्ति भी सत् से विलक्षण होती है। इसीलिये उसकी सत्स्वरूपता का प्रत्याख्यान किया जाता है। जैसे भेद, जिसका भेद दिखाना है, उसको अलग करते हुए, अपने भी उससे अलग हो जाता है, अथवा जैसे नैयायिकों का आत्मा प्रमेय का ज्ञान करने के साथ अपने स्वरूप को भी जान लेता है, उसी तरह से वह माया विश्वप्रपंच की कल्पना के साथ स्वयं अपनी भी कल्पना कर लेती है। इस तरह के अनेक प्रदीप प्रभृति पदार्थ मिलते हैं, जो कि दूसरे के साथ स्वयं अपना भी प्रकाश करते हैं।

प्रश्न है कि जब ब्रह्म भी अविभाग अवस्था में अनिर्वाच्य है, तो माया में और उसमें कोई अन्तर नहीं रह जायगा? अब ब्रह्म को यदि सत् माना जाता है, तो उसी पद्धति से माया को ,भी सत् मानना पड़ेगा, तब 'वह सत् नहीं था' इस श्रुति वाक्य से सत्त्व का निषेध कैसे किया जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि आपाततः इनमें एकता की प्रतीति होती है, किन्तु जब हम युक्तिपूर्वक विचार करते हैं, तो हमें प्रतीत होता है कि मायांश अनिर्वाच्य है और ब्रह्म सदा सत्त्व से संवलित है। पुनः प्रश्न उठता है कि 'आनीतदवातं स्वधया' इस श्रुतिवाक्य के अनुसार यदि दृक् और दृश्य ये दो पदार्थ माने जाते हैं, तब 'नासीद्रजः' इत्यादि वाक्य से लोकों का निषेध कैसे किया जाता है? इसका उत्तर 'तस्माद्धान्यत्' इसमें दिया गया है। इसका अर्थ है कि इस माया संवलित ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य किसी भूत एवं भौतिक पदार्थ की सत्ता उस प्रलयावस्था में नहीं थी। यदि कहा जाय कि उस प्रलयावस्था से किसी अन्य की सत्ता है, तब उसका निषेध नहीं किया जा सकता और यदि किसी की सत्ता नहीं है तो निषेध की कोई बात ही न होने से निषेध व्यर्थ हो जायगा, तो इसका

ननु यदि पूर्वमिदं जगन्नासीत् कथं तर्हि तस्य जन्म, जायमानस्य जनिक्रियायां कर्तृत्वेन कारकत्वात्। कारकत्वं च कारणावान्तरभेद इति कारकस्य सतो नियतपूर्वक्षणवर्तित्वेनावश्यभावात्। यदि तद्दोषपरिजिहीर्षया जनिक्रियायाः प्रागपि कार्यं विद्यते, तदापि कथं तस्य जन्म, कार्यस्य सत्त्वेन कारकव्यापारवैयर्थ्यात्। अत आह—'तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥' (ऋ० सं० १०।१२९।३)। अग्रे सृष्टेः प्राक् प्रलयदशायां भूतभौतिकं सर्वं जगत् तमो भावरूपमज्ञानमासीत्, मायापरनामकतमः-शबलितं ब्रह्मासीदित्यर्थः। यथा नैशं तमः सर्वं पदार्थजातमावृणोति, तद्वत् तदज्ञानात्मकं तम आत्मतत्त्वस्यावरकत्वाद् मायापरनामकं भावरूपं तम आसीदित्यर्थः। तेनैव तमसा सर्वं भूतं भौतिकं जगदपि गूढं संवृतं कारणभूतेन तेनाच्छादितं भवति। आच्छादकात्तस्मात्तमसो नामरूपाभ्यां यदाविर्भवनम्, तदेव तस्य जन्म भवति। ये तु कारणावस्थायामसदेव कार्यं कारणव्यापारादुत्पद्यत इति मन्यन्ते, तदेतेनापाकृतं भवति, असतो भावायोगात्। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (भ० गी० २।१६) इति भगवदुक्तेः।

ननु यदि कारणभूते तस्मिंस्तमसि तज्जगदात्मकं कार्यं विद्यते तर्हि कथं नासीद्रज इति पृथिव्यादिलोक-निषेधः? इति चेन्न, तम आसीदित्युक्त्या कार्यस्य भावरूपस्याज्ञानात्मकमूलकारणरूपतैवासीत्, यतः सर्वं तम आसीत् तमोरूपमेवासीदिति नासीद्रज इति स्वरूपेण कार्यनिषेधोऽपि युज्यते।

ननु तथापि तम आवरकत्वाद् आवरणकर्तृ भवति। जगच्चावार्यत्वाद् आवरणकर्म भवति, कथं तयोः कर्तृकर्मणोस्तादात्म्यमिति चेत् तत्राह—अप्रकेतम् अप्रज्ञायमानम्। यद्यपि तमसो जगतश्च कर्तृकर्मभावो यौक्तिकस्तथापि

उत्तर यह है कि सृष्टि होने के वाद जो जगत् सत्ता में आवेगा, उस जगत् की स्थिति प्रलयावस्था में नहीं रहती। यदि यह अर्थ न किया जाय, तो ऊपर की पद्धति से किसी निषेध की प्रसक्ति ही न हो सकेगी।

पुनः प्रश्न उठता है कि यदि पहले यह जगत् नहीं था, तब उसका जन्म कैसे हुआ? क्योंकि जो पैदा होता है, उसकी स्थिति उत्पन्न होने की क्रिया के कर्ता कारक के रूप में होती है। कारण का अवान्तर व्यापार ही कारक कहलाता है, इस लिये उस कारक की स्थिति उस क्रिया के उत्पन्न होने के पूर्व के निश्चित क्षण में आवश्यक है। इस दोष के परिहार के लिये यदि यह माना जाय कि जनि क्रिया के पहले भी कार्य की स्थिति है, तो फिर उसका जन्म कैसा? क्योंकि वह तो पहले से ही है। कार्य जब पहले से ही है, तो उसको पैदा करने वाले व्यापार व्यर्थ ही माने जायंगे? इस शंका का समाधान इस सूक्त के 'तम आसीत्' इस तृतीय मन्त्र से किया जाता है। सृष्टि से पहले प्रलयावस्था में यह सारा भूत-भौतिक जगत् तमोरूप था, अर्थात् भावरूप अज्ञानात्मक था। इसी का दूसरा नाम माया है। इस तम से शबलित मात्र ब्रह्म को ही उस समय स्थिति थो। जैसे रात्रि का अन्धकार सभी पदार्थों को ढक लेता है, उसी तरह यह अज्ञानात्मक अन्धकार आत्मतत्त्व को ढक देता हैं। इस प्रकार 'तम आसीत्' का अर्थ हुआ कि प्रलयावस्था में माया नाम का तम पदार्थ विद्यमान था, जो कि अभावात्मक न होकर भाव पदार्थ है, उसी अन्धकार से यह सारा भूत-भौतिक जगत् ढका हुआ था, क्योंकि इस जगत् का कारण वही है। इस आच्छादक अज्ञानात्मक तम से जब नाम-रूपात्मक जगत् का अविर्भाव होता है, तो यही उसका जन्म माना जाता है। कुछ दार्शनिक ऐसे कार्य को कारक व्यापार से उत्पत्ति मानते हैं, जिसकी कि कारणावस्था में कोई स्थिति नहीं रहती। उनका मत इस श्रुति के अनुसार गलत सिद्ध हो जाता है, क्योंकि असत् वस्तु की सत्ता कभी नहीं बन सकती। भगवान् ने गीता में स्पष्ट कहा है—'असत् की कभी सत्ता नहीं होती और सत् का कभी अभाव नहीं हो सकता'।

यदि यह प्रश्न किया जाय कि उस कारणभूत तप में यदि जगदात्मक कार्य विद्यमान है, तो फिर पूर्व श्रुति में 'नासीद्रजः' इत्यादि से पृथिवी प्रभृति लोकों का निषेध कैसे संगत होगा? तो इसका उत्तर यह होगा कि 'तम आसीत्' इसका अभिप्राय यह है कि उस समय कार्य की भावरूप अज्ञानात्मक मूलकारणता ही थी, क्योंकि उस समय सब कुछ तमोरूप ही था। इस स्थिति में 'नासीद्रजः' इस पूर्ववाक्य से नामरूपात्मक जगत् कार्य की स्थिति का निषेध सही ही माना जायगा।

पुनः यह शंका उठाई जा सकती है कि तम आवरक है, अतः वह आवरण क्रिया का कर्ता है। जगत् आवार्य होने से आवरण का कर्म है। इस तरह से कर्ता और कर्म में परस्पर तादात्म्य कैसे बन सकता है? इसका समाधान 'अप्रकेतम्' इस विशेषण से

व्यवहारदशायामिव तदानीं नामरूपाभ्यां विस्पष्टं न ज्ञायत इति तादात्म्यवर्णनमपि सङ्गच्छते । अत एव मनुरप्याह—'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥' (म० १।५) इति । कुतश्च न प्रज्ञायते तत्राह—सलिलमिति । षल गतावित्यस्माद् धातोर् इलचिप्रत्यये सलिलमिति रूपं भवति । इदं दृश्यमानं सर्वं जगत् सलिलं कारणेन सङ्गतमविभागापन्नम् आः आसीत् । अस्तेर्लङि तिपि 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ७।३।९७) इतीडभावे, 'हल्ङ्याभ्यः' (पा० सू० ६।१।६८) इति तिलोपे, 'तिप्यनस्तेः' (पा० सू० ८।२।७३) इति पर्युदासाद्दकाराभावः । यद्वा सलिलमिति लुप्तोपमं पदम्, सलिलमिवेत्यर्थः । यथा क्षीरेणाविभागापन्नं सलिलं दुर्विज्ञानं भवति, तथैव तमसाविभागापन्नं जगन्न शक्यविज्ञानं भवतीत्यभिप्रायः ।

ननु विविधवैचित्र्योपेतस्य प्रपञ्चस्य कथमतितुच्छेन तमसा क्षीरेण नीरस्येवाभिभवः ? यदि च क्षीरवत्तमोऽपि प्रबलमेवोच्येत, तर्हि दुर्बलस्य प्रपञ्चस्य सर्गसमयेऽपि कथमुद्भवसम्भवः ? इत्याशङ्कायामाह—तुच्छ्येनाभु, आसमन्ताद् भवतीत्याभु अज्ञानम्, तुच्छ्येनेत्यत्र छान्दसो यकारः । तुच्छकल्पेन खपुष्पादितुल्येन सदसद्विलक्षणेन आभुना अज्ञानेन अपिहितं छादितमासीत् । यद्यप्यज्ञानं बाध्यत्वान्न ब्रह्मवत् सत्, वियदादिप्रपञ्चोपादानत्वाच्च न खपुष्पवदसद् इति सदसद्विलक्षणत्वाद् अनिर्वाच्यमेव, तथापि बाधदशायां तत्खपुष्पवन्निरुपाख्यमेव भवतीत्यसत्कल्पतैव तस्य । एकमेकीभूतं कारणेन तमसाऽविभागापन्नमपि तत्कार्यंजातं तपसः पर्यालोचनरूपस्य महिना माहात्म्येन अजायतोत्पन्नम् । 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः' (मु० उ० १।१।९) इति श्रुत्या 'इदमिदानीमुत्पादयितव्यम्' इत्यादिज्ञानात्मकसङ्कल्पस्यैव तपोरूपत्वमुक्तम् ।

होता है, इसका अर्थ है अप्रज्ञायमान । यद्यपि तम और जगत् का कर्तृकर्मभाव युक्ति से सिद्ध है, तो भी उस प्रलयावस्था में वह नाम-रूप के अभाव में व्यवहार दशा की तरह स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता । इस स्थिति में इनका तादात्म्य भी नहीं माना जा सकता । इस स्थिति का वर्णन मनु ने भी किया है—'यह जगत् पहले तमस्वरूप अत एव अज्ञेय होने से सभी प्रकार के लक्षणों से हीन, अप्रतर्क्य और अनिर्देश्य था, मानों कि चारों तरफ सुषुप्ति का साम्राज्य हो'। यह क्यों अज्ञेय था? इसलिये कि सब कुछ सलिल था । गत्यर्थक 'षल्' धातु से इलच् प्रत्यय करने पर सलिल बनता है । यह दृश्यमान सारा जगत् सलिलात्मक अर्थात् कारण से मिला हुआ अविभागावस्था में पहले विद्यमान था । यहां 'आः' पद 'आसीत्' के अर्थ में प्रयुक्त है । अस् धातु से लङ् लकार में तिप् प्रत्यय करने पर 'बहुलं छन्दसि' सूत्र से इट् प्रत्यय न होने पर, 'हल्ङ्याभ्यः' इससे ति का भी लोप हो जाने पर और 'तिप्यनस्ते' इससे दकार के न होने से उक्त रूप बनता है । अथवा 'सलिलम्' इसको लुप्तोपमा वाला पद मानकर 'सलिल की तरह' यह अर्थ भी किया जा सकता है । जैसे दूध में मिला देने पर पानी को जान पाना कठिन है, उसी तरह तम के साथ मिल जाने पर इस जगत् को जान पाना भी कठिन है ।

प्रश्न होता है कि विविध विचित्रताओं से युक्त प्रपंच का अत्यन्त तुच्छ स्वभाववाला तम उस तरह का आवरक कैसे हो जाता है, जैसा कि दूध जल का आवरक हो जाता है ? यदि दूध की तरह तम को भी प्रबल माना जाय, तब यह दुर्बल प्रपंच सृष्टि के समय में भी कैसे पैदा हो सकेगा ? इसका समाधान 'तुच्छ्येनाभु' इत्यादि से किया जाता है । आभु शब्द अज्ञान का वाचक है, क्योंकि वह चारों ओर से पैदा होता है । 'तुच्छ्य' पद 'तुच्छ' का प्रतिरूप है, इसमें यकार अधिक जोड़ दिया गया है, जिसकी संगति इसकी वैदिकता से बैठाई जाती है । यह अज्ञान प्रपंच का बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि इसकी स्थिति आकाश के पुष्प की तरह तुच्छ है । सत् और असत् से विलक्षण इस अज्ञान से यह आच्छादित है । इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि अज्ञान की ब्रह्म के समान सत्ता नहीं है, क्योंकि अज्ञान परमार्थ दशा में बाधित हो जाता है । इसी तरह से यह अज्ञान आकाश-पुष्प की तरह असत् भी नहीं है, क्योंकि इस प्रपंचात्मक सारे जगत् का उपादान वही है, इसकी इस सदसद्विलक्षणता से ही यह अनिर्वाच्य होता है, तो भी बाह्य दशा में यह आकाश-कुसुम की भांति निरुपाख्य होने से असत् के समान ही है । इस प्रकार एकीभूत अर्थात् अपने कारण तम में अविभक्त रूप में स्थित होने से एक सा प्रतीत हो रहा यह सारा प्रपंचात्मक कार्यजगत् तप के प्रभाव से उत्पन्न होता है । 'यः सर्वज्ञः' इत्यादि श्रुतिवचन के प्रमाण से 'इस समय इस वस्तु को उत्पन्न करना चाहिये' इस तरह का भगवान् का ज्ञानात्मक संकल्प ही यहाँ 'तप' शब्द से अभिहित होता है ।

ननु जगतः पुनरुत्पत्त्यै यदीश्वरस्य स्रष्टव्यपर्यालोचनरूपं तपः कारणम्, तदेव किन्निवन्धनम्, इत्यत आह—'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥' (ऋ० सं० १०।१२९।४)। अग्रे अस्य विकारजातस्य सृष्टेः प्रागवस्थायां परमेश्वरस्य मनसि कामः समवर्तत सम्यगजायत। परमेशमनसि प्रपञ्चसिसृक्षा सञ्जातेत्यर्थः। तदीयसिसृक्षापि किंनिवन्धनेत्याकाङ्क्षायामाह—मनस इति। मनसोऽन्तःकरणस्य सम्बन्धिवासनाशेषेण मायायां विलीनेऽन्तःकरणे समवेतं प्रथममतीते कल्पे प्राणिभिः कृतं पुण्यापुण्यात्मकं कर्म तादृशं रेतो भाविनः प्रपञ्चस्य बीजभूतं यत् यतः कारणात् सृष्टिसमये आसीद् अभवत्, भूष्णु वर्धिष्णु अजायत परिपक्वं सत्फलोन्मुखमासीत्। ततो हेतोः फलप्रदस्य सर्वसाक्षिणः परमेश्वरस्य कर्माध्यक्षस्य मनसि सिसृक्षाऽजायत। तस्यां सत्यां स्रष्टव्यं पर्यालोच्य ततः सर्वं जगत् सृजति। अत्र कामाधिकरणत्वेन परमेश्वरस्य मायारूपं मन आक्षिप्तम्, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० उ० २।१।२) इति श्रुतेरन्यादृशस्य मनसोऽभावात्। मन्त्रे श्रुतस्य मनस इत्यत्रैकवचनं सामान्यापेक्षम्। तानि च सर्वजीवसम्बन्धीन्यन्तःकरणानि प्रलये वासनाशेषेण मायायां विलीनानि भवन्ति। तेषु सर्वप्राण्यन्तःकरणेषु प्राक्कल्पकृतं पुण्यापुण्यात्मकं कर्मादृष्टरूपेण समवेतं भवति। तदेव च भाविनः प्रपञ्चस्य रेतो बीज भवति। प्रलयप्राक्कालिकेनेश्वरसङ्कल्पेन तदेवादृष्टरूपं कर्म भूष्णु वर्धिष्णु परिपक्वं सत् फलोन्मुख भवति। तत एव परेशस्य मायावृत्त्यात्मके मनसि सिसृक्षा जायते। एतावता कामस्य कर्मादृष्टस्य च मन एवाधिकरणं नात्मेत्यपि सिद्ध्यति। तदेतत्सर्वमाम्नायते—'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वेदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च' (तै० आ० ८।६)।

मन्त्र इत्थं स्वात्मनावगमितेऽर्थे विद्वदनुभवं प्रमाणयति—सतः सत्त्वेनानुभूयमानस्य सर्वस्य जगतः बन्धुं बन्धकं हेतुभूतं वा कल्पान्तरीयप्राण्यनुष्ठितं कर्मसमूहं कवयः क्रान्तदर्शिनोतीतानागतवर्तमानज्ञा योगिनो हृदि हृदये

यदि जगत् की पुनः सृष्टि के लिये ईश्वर का सर्जनीय पदार्थ का ज्ञानात्मक संकल्प अर्थात् तप कारण है, तो इसके भी कारण का होना अनिवार्य है, वह कारण क्या है ? इस शंका का समाधान इस सूक्त के चतुर्थ मन्त्र 'कामस्तदग्रे' से दिया गया है। अग्रे अर्थात् इस विकारमय सृष्टि की उत्पत्ति से पहले परमेश्वर के मन में कामना उत्पन्न हुई। अर्थात् परमेश्वर के मन में प्रपंच को पैदा करने की इच्छा उत्पन्न हुई। इस सिसृक्षा का भी क्या कोई कारण था ? हाँ, मन में अन्त:करण में विद्यमान वासना का अवशेष इसमें कारण था, जो कि माया में विलीन अन्त.करण में समवेत थी। यह वासना प्रथम अर्थात् अतीत कल्प में प्राणियों के किये गये पुण्य-पापरूप कर्मों के माध्यम से बनी थी और यही भावी प्रपंच की उत्पत्ति में रेत अर्थात् वीर्य (बीज) का काम करती है। सृष्टि के समय यही कर्मसमूह परिपक्व होकर फलोन्मुख हो जाता है। इसीलिये सभी कर्मों के फल को यथासमय देने वाले सभी के साक्षी, सभी कर्मों के स्वामी परमेश्वर के मन में जगत् को पैदा करने की इच्छा होती है। इस सिसृक्षा के उत्पन्न होने पर वह सर्जनीय प्रपंच का पर्यालोचन कर तब सारे जगत् की सृष्टि करता है। यहाँ काम (इच्छा) के अधिष्ठाता के रूप में परमेश्वर के मायारूप मन का बोध होता है, क्योंकि 'अप्राण:' इत्यादि श्रुतिवचन के प्रमाण से इसके अतिरिक्त मन का कोई स्वरूप ईश्वर में नहीं माना जाता। मन्त्र में मनस् शब्द का एकवचन में प्रयोग सामान्यार्थक है, अर्थात् सामान्य मन का वाचक है। सभी जीवों के अन्त:करण उस प्रलयावस्था में अपनी वासनाओं के साथ भगवान् के इस मायारूप मन में विलीन हो जाते हैं। माया में विद्यमान इन प्राणियों के अन्त:करण में पूर्व कल्प के किये गये पुण्य-पाप रूप कर्म अदृष्ट के रूप में विद्यमान रहते हैं। ये ही कर्म भावी प्रपंच की उत्पत्ति में बीजभूत, कारणभूत हैं। प्रलयावस्था से पहले उत्पन्न हुए ईश्वर के संकल्प से यही अदृष्ट रूप कर्म बढ़कर पकने लगता है, और जब पक जाता है, तब फल देने के लिये तत्पर हो जाता है। इसी कारण परमेश्वर के मायावृत्तिरूप मन में सिसृक्षा होती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि काम (इच्छा) और कर्मादृष्ट का भी अधिकरण मन ही है, आत्मा नहीं। 'सोऽकामयत' इत्यादि श्रुतिवचनों भी यही बात विस्तारपूर्वक बताई गई है।

मन्त्र इसके आगे अपने द्वारा प्रतिपादित विषय की प्रामाणिकता के लिये विद्वानों के अनुभव की साक्षी देता है—सत् स्वरूप से अनुभूयमान इस सारे जगत् को बांधने वाले अथवा कारणभूत इस कल्पान्तरीय प्राणियों के कर्मसमूह को क्रान्तदर्शी, अतीत

निरुद्धया मनोषा मनीषया बुद्धचा 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति तृतीयाया लुक् । प्रतीष्य विचार्य, अन्वेषामपोति सांहितिको दोर्घः । असति सद्विलक्षणेऽव्याकृते कारणे निरविन्दन् निष्कृष्य अलभन्त । विविच्याजानन्नित्यर्थः । सतो व्यावहारिकसत्तावतः सर्वस्य जगतो बन्धकं हेतुभूतं वा कल्पान्तरीयप्राण्यनुष्ठितं कर्मसमूहं कवयो हृदि निरुद्धया मनीषया बुद्धचा प्रतीष्य विचार्य असति सद्विलक्षणे अव्याकृते कारणे विविच्य ज्ञातवन्तः । जगतः कारणभूतं प्राणिकर्मसमूहं महाप्रलयदशायां मायोपहिते ब्रह्मण्यन्तर्निलीनं योगिन एव विविच्य ज्ञातुं शक्नुवन्ति, नान्ये । अत्र व्यवहारार्हत्वेन जगतः सत्त्वमुक्तम् । व्यवहारानर्हत्वेन कारणस्याव्याकृतस्यासत्त्वमुक्तम् । प्राणिकर्मसमूहस्य बन्धनहेतुत्वाद् बन्धुत्वमुक्तम्, 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इति स्मृतेः । सतो जगतः कार्यस्याव्यवहितप्राक्क्षणवर्तित्वेन कारणभूतस्य प्राणिकर्मसमूहस्य कार्यहेतुत्वेन तत्सम्बन्धित्वाद् बन्धुत्वमुक्तम् ।

'तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् । रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥' (ऋ० सं० १०।१२९।५) । एवमविद्याकामकर्माणि सृष्टेर्हेतुत्वेनोक्तानि । साम्प्रतं तेषां स्वकार्यजनने शैघ्र्यं प्रतिपाद्यते । नासदासोदित्यादिनाऽविद्या प्रतिपादिता । कामस्तदग्रे इति कामः प्रतिपादितः । मनसो रेतः प्रथमं यदासीदित्यादिना कर्म प्रतिपादितम् । एषामविद्याकामकर्मणां वियदादिप्रपञ्चं सृजतां रश्मिः रश्मिसदृशः कार्यवर्गो वितत आसीत् । यथा सूर्यरश्मिरुदयानन्तरमेव निमेषमात्रेण युगपत्सर्वं जगद् व्याप्नोति, तथा शीघ्र सर्वत्र व्याप्नुवन कार्यवर्गो विततो विस्तृत आसीत् । 'विचार्यमाणानाम्' (पा० सू० ८।२।९७) इति प्लुतः । तत्रोदात्त इत्यनुवृत्तेः स चोदात्तः । स्वित् इति वितर्के । स कार्यवर्गः प्रथमतः तिरश्चीनः तिर्यगवस्थितो मध्ये स्थित आसीत् किं वा अधः अधस्तादासीत् आहोस्विदुपरि उपरिष्टात् किमासीत् 'उपरिस्विदासीदिति च' (पा० सू० ८।२।१०२) इत्यनुदात्तः प्लुतः । 'आत्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' (तै० आ० ८।१) इत्यादिपञ्चमीश्रुत्या तत

अनागत और वर्तमान तीनों कालों के ज्ञाता योगीगण अपने हृदय में स्थित बुद्धि से विचार कर असत् अर्थात् सद्विलक्षण अव्याकृत कारण को भी जान लेते हैं । 'मनोषा' यह पद तृतीयान्त है, 'सुपां सुलुक्' इस सूत्र से यहाँ विभक्ति का लोप हो जाता है । 'प्रतीष्या' में दीर्घ वैदिक व्याकरण के अनुसार हो जाता है । इसका भाव यह है कि जगत् के कारणभूत नाना प्राणियों के नाना कर्मों को, जो कि महाप्रलय दशा में माया से उपहित ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, केवल योगी जन ही भलीभाँति समझ सकते हैं, अन्य प्राणियों में यह सामर्थ्य नहीं हो सकती है । यहाँ व्यवहार की निष्पत्ति में समर्थ होने से जगत् को सत् कहा जाता है । व्यवहार की निष्पत्ति के अयोग्य होने से अव्याकृत कारण को असत् माना जाता है । 'कर्मों से जन्तु बँध जाता है' इस स्मृति वचन के अनुसार प्राणियों के कर्मसमूह को बन्धु कहा गया है, क्योंकि यह कर्म ही जीवों को जगत् के साथ बाँध देता है । अथवा इसको बन्धु इस अभिप्राय से कह सकते हैं कि यह कर्म सत्स्वरूप जगत्, जब कार्य का रूप धारण करता है, तो यह उसके अव्यवहित पूर्व क्षण में बन्धु-बान्धवों को तरह सहायक रूप में विद्यमान रहता है ।

इस प्रकार इस सूक्त के पूर्व मन्त्रों में अविद्या, काम और कर्म को सृष्टि का कारण बताया गया है । अब पाँचवें मन्त्र से यह बताया जाता है कि ये कारण अपने कार्य की उत्पत्ति में किस तरह से शीघ्रता करते हैं । 'नासदासीत्' इत्यादि मन्त्रों में अविद्या का प्रतिपादन हुआ है । 'कामस्तदग्रे' से काम का और 'मनसो रेतः' से कर्म का प्रतिपादन किया गया है । ये अविद्या, काम और कर्म जब प्रपंच की सृष्टि के लिये उन्मुख होते हैं, तब इनकी किरणों के रूप में कार्य जगत् चारों ओर उसी तरह फैल जाता है, जैसे कि सूर्य के निकलने पर उसकी किरणें क्षण मात्र में चारों ओर फैल जाती हैं । मन्त्र में प्लुतत्व, उदात्तत्व आदि का विधान वैदिक व्याकरण के नियमों के अनुसार होता है । 'स्वित्' शब्द वितर्क (संभावना) अर्थ में प्रयुक्त है । इसका अभिप्राय यह है कि यह जो अविद्या आदि कारणों की किरणों के रूप में कार्य वर्ग फैला, वह पहले तिरछा अर्थात् मध्यभाग में फैला, नीचे फैला या ऊपर को ओर फैला ? इसकी संभावना इसलिये नहीं की जा सकती कि यह सब बड़ी शीघ्रता में संपन्न हो गया । 'आत्मा से आकाश पैदा हुआ, आकाश से वायु' इत्यादि मन्त्रों में स्थित पंचमी विभक्ति के आधार पर और 'तब उद्गाता को उसके बाद होता को' इस श्रुति की पद्धति से भी

उद्गातारं ततो होतारमितिवत् क्रमप्रतिपत्तौ सत्यामपि विद्युत्प्रकाशवत् सर्गस्य शीघ्रव्यापनेन तस्य क्रमस्य दुर्लक्ष्यत्वात् त्रिषु स्थानेषूपर्यधोमध्यस्थानेषु प्राथम्यं कुत्रेति न निर्धारयितुं शक्यते। एवं नाम शीघ्रं सर्वतो दिक्षु सर्गो निष्पन्नः। तदेव विभज्यते। सृष्टेषु कार्येषु मध्ये केचिद् भावा रेतोधाः बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः कर्तारो भोक्तारश्च जीवा आसन्। अन्ये भावा महिमानः, स्वार्थिक इमनिच्, महान्तो वियदादयो भोग्या आसन्। एवं मायासहितः परमेश्वरः सर्वं जगत् सृष्ट्वा स्वयं चानुप्रविश्य भोक्तृभोग्यादिरूपेण विभागं कृतवान्। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० आ० ८।६) इति श्रुतेः। तत्र च भोक्तृभोग्ययोर्मध्ये स्वधा अन्नं भोग्यप्रपञ्चः, अवस्तात् अवरो निकृष्ट आसीत्। प्रयतिः प्रयतिता भोक्ता परस्तात् पर उत्कृष्ट आसीत्। ईश्वरः भोग्यप्रपञ्चं भोक्तृप्रपञ्चं च कृतवानित्यर्थः। 'विभाषा परावराभ्याम्' (पा० सू० ५।३।२९) इति प्रथमार्थेऽस्तातिः। 'अस्ताति च' (पा० सू० ५।३।४०) इत्यवरशब्दस्यावादेशः। अवस्तादिति संहितायाम् अक्षादित्वात् प्रकृतिभावः।

एषामविद्याकामकर्मणां रश्मितुल्यः कार्यवर्गः सूर्योदयानन्तरं रश्मिरिव विततो युगपदेव सर्वत्र विस्तृतः, तथा च प्रथमतः तिरश्चीनः तिर्यगवस्थितः मध्ये स्थित आसीत्। स्वित् आहोस्वित् अधस्तात् आसीत्। अथवोपरिष्टात् स्थित आसीद् इति वितर्क्यते। आकाशादिसृष्टौ क्रमप्रतिपत्तावपि शैघ्र्यातिशयाद् विद्युत्प्रकाशवत् क्रमस्य दुर्लक्ष्यत्वात् प्राथम्यं क्वेति विचार्यते। तत्र सृष्टेषु कार्येषु रेतोधा बीजभूतस्य कर्मणो धातारः कर्तारो जीवा आसन्। अन्ये महिमानो महान्त आकाशादयश्चासन्। एवं परमेश्वरो भोक्तृभोग्यादिरूपेण प्रपञ्चं निर्माय तदनुप्रविश्य भोक्तृभोग्यादिरूपेण विभागं कृतवान्। तयोश्च स्वधा अन्नं भोग्यजातम् अवस्तात् निकृष्टं प्रयतिः प्रयतिता भोक्ता परस्तात् पर उत्कृष्टः। उभयोर्भोक्तृभोग्यभावेन शेषशेषिभावेन शेषिणो भोक्तुरुत्कर्षः, शेषस्य भोग्यस्यापकर्षः। अत्र ऊर्ध्वमूलमधःशाखमित्यत्र कारणत्वाद् व्यापकत्वात् सूक्ष्मत्वात् स्वच्छत्वात् परमात्मन उत्कृष्टत्वाद् ऊर्ध्वत्वम्। कार्यत्वाद् व्याप्यत्वात् स्थूलत्वा-

इस सृष्टि प्रक्रिया में यद्यपि क्रम की सत्ता विद्यमान है, तो भी बिजली के प्रकाश की भाँति यह सारा जगत् एक क्षण में ही चारों तरफ चमक उठता है, अतः उसका यह क्रम हम नहीं देख पाते कि मध्य, नीचे और ऊपर स्थित तीनों स्थानों में से किसमें पहले यह सृष्टि होती है। इस तरह से पलक झपते ही यह सारी सृष्टि सभी दिशाओं में व्याप्त हो गई। अब उसी को अलग करके समझाते हैं—इन सृष्ट पदार्थों में से कुछ भाव बीजभूत कर्म के विधाता, कर्ता और भोक्ता जीव थे। अन्य भाव आकाशादि महान् आकार के के होते हुए भी भोग्य कहलाते हैं। 'महिमानः' इस पद में स्वार्थ में इमनिच् प्रत्यय होता है। इस तरह से माया की सहायता से परमेश्वर सारे जगत् की रचना कर स्वयं उसमें प्रविष्ट हो जाता है और इस तरह से अपने ही भोक्ता और भोग्य का भी रूप धारण कर लेता है। 'तत्सृष्ट्वा' इत्यादि श्रुतिवचन इसमें प्रमाण है। भोक्ता और भोग्य में स्वधा, अन्न अर्थात् भोग्यप्रपंच निम्न कोटि की सृष्टि थी और प्रयति अर्थात् प्रयत्न करने वाला भोक्ता उत्कृष्ट सृष्टि में परिगणित होता है। इन दोनों की सृष्टि ईश्वर ने ही की है। 'विभाषा' इत्यादि पाणिनि सूत्र में प्रथमा विभक्ति के अर्थ में अस्ताति प्रत्यय होता है। 'अस्ताति च' इस सूत्र से अवर शब्द का अव आदेश हो जायगा। 'अवस्तात्' यहाँ संहिता में अक्षादिगण में पठित होने से प्रकृतिभाव होगा।

इन अविद्या, काम और कर्म की किरणों के तुल्य यह कार्य वर्ग सूर्योदय के बाद उसकी किरणों की तरह एक साथ चारों तरफ व्याप्त हो जाता है। पहले इसकी स्थिति मध्य भाग में रहती है अथवा नीचे के हिस्से में भी, या यह ऊपर की ओर विद्यमान था, ऐसा तर्क-वितर्क उठता है। आकाश आदि की सृष्टि में यद्यपि क्रम का प्रतिपादन मिलता है, किन्तु बिजली की चमक के समान यह चराचर सारा जगत् एकाएक प्रकाशित हो जाता है, अतः इसमें क्रम को समझ पाना कठिन है। पहले सृष्टि कहां हुई, यह बात समझ में नहीं आती। इसी संबन्ध में यहां शंका उठती है। इस सृष्टि में बीजभूत कर्म के धारक जीव हैं और महान् आकाशादि पदार्थ हैं। इस तरह से परमेश्वर भोक्ता और भोग्य के रूप में इस प्रपंच का निर्माण कर स्वयं उसमें प्रविष्ट हो अपना ही भोक्ता और भोग्य के रूप में विभाग करता है। इसमें स्वधा, अन्न अर्थात् भोग्य वस्तु निकृष्ट कोटि की है और प्रयति भोक्ता उत्कृष्ट है। इन दोनों का परस्पर भोक्तृ-भोग्यभाव अर्थात् शेषशेषिभाव है और इसीलिये शेषी भोक्ता प्रधान है एवं शेष अर्थात् भोग्य अप्रधान। यहां 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्' इस

दस्वच्छत्वाद् महदादिकार्याणामपकृष्टत्वादधःपदवाच्यता, तथैव प्रकृतेऽपि भोग्यत्वात् अन्नापरपर्यायस्य स्वधापद-वाच्यस्य भोग्यस्य शेषत्वादवरत्वम्। रेतोधातुः कर्मकर्तुर्भोक्तुर्जीवस्य शेषित्वात् परत्वमुत्कृष्टत्वमुक्तम्।

'को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आ बभूव ॥' (ऋ० सं० १०।१२९।६)। एवं भोक्तृभोग्यरूपेण सृष्टिः संग्रहेणोक्ता। 'एतावद्वा इदं सर्वमन्नं चैवान्नादश्च। सोम एवान्नमग्निरन्नादः' (श० ब्रा० १४।४।२।१३) इतिवत्। अथेदानीं सा सृष्टिर्दुर्विज्ञानेति न विस्तरेणाभिहितेत्याह—को अद्धेति। कः पुरुषः, अद्धा पारमार्थ्येन वेद जानाति ? क इह अस्मिल्लोके प्रवोचत् प्रब्रूयात्, इयं दृश्यमाना विसृष्टिः विविधा भूतभौतिकभोक्तृभोग्यादिरूपेण बहुप्रकारा सृष्टिः कुतः कारणादुपादानात् कुतः कस्माच्च निमित्तकारणाद् आ जाता समन्तात् प्रादुर्भूता ? एतदुभयं सम्यक् को वेद ? को वा विस्तरेण वक्तुं शक्नुयाद् इत्यर्थः। ननु देवाः सर्वज्ञास्ते ज्ञास्यन्ति वक्तुं च शक्नुवन्तीत्यत आह—अर्वाग्देवाः, देवाश्चास्य जगतो विसर्जनेन वियदादिभूतोत्पत्त्यनन्तरं यद्विविधं सर्जनं सृष्टिः, तेन अर्वाग् अर्वाचीनाः कृताः भूतसृष्टेः पश्चाज्जाता इत्यर्थः। तथाविधास्ते स्वोत्पत्तेः प्राक्कालीनां सृष्टिं कथं जानीयुः ? अजानन्तो वा कथं प्रब्रूयुः। उक्तं दुर्वितर्क्यत्वं निगमयति—अथ एवं सति देवा अपि न जानन्ति किल, तद्व्यतिरिक्तः को नाम मनुष्यादिः, वेद तज्जगत्कारणं जानाति, यतः कारणात् कृत्स्नं जगद् आबभूव अजायत। न कोऽपि तज्जगत्कारणं वेदेत्यर्थः।

इयं दृश्यमाना विसृष्टिः बहुप्रकारा भूतभौतिकभोक्तृभोग्यादिरूपा सृष्टिः कस्माद् उपादानात् कारणात् कस्माच्च निमित्तकारणाज्जायते, एतदुभयं सम्यक् को वेद ? कश्च विस्तरेणं वक्तुं शक्नुयात् ? अस्य जगतो विसर्जनेन वियदादिभूतसृष्ट्यनन्तरं विविधभौतिकसर्जनसृष्टिस्तेन तेषां भौतिकत्वात् तेऽप्यर्वाचीनाः कृताः, भूतसृष्टेः पश्चाज्जाताः।

गीता वचन के अनुसार कारण, व्यापक, सूक्ष्म होने से परमात्मा उत्कृष्ट अर्थात् ऊर्ध्वस्थानीय है, और कार्य, व्याप्य, स्थूल, अस्वच्छ होने से महदादि कार्य अपकृष्ट अर्थात् अधःस्थानीय है। इसी पद्धति से प्रकृत में भी भोग्य होने से अन्न शब्द के पर्यायवाची स्वधा पद के वाच्य भोग्य पदार्थ शेष होने से अवर (अपकृष्ट) तथा रेत (वीर्य) का आधायक, कर्म का कर्ता, भोक्ता जीव शेषी होने से उत्कृष्ट कहलाता है।

इस तरह से भोक्ता और भोग्य के रूप में संक्षेप में सृष्टि का प्रतिपादन किया गया, जैसा कि—'अन्न और अन्नाद इन दो में ही सबका समावेश हो जाता है। इनमें अन्न सोम और अन्नाद अग्नि है' इस शतपथ श्रुति में संक्षेप में सृष्टि का वर्णन मिलता है। अब श्रुति यह बतलाती है कि इस सृष्टि को जान पाना कठिन है, इसी लिये इसका विस्तार से वर्णन नहीं किया जा सकता। इस विषय के प्रतिपादक छठे मन्त्र का अर्थ यह है—कौन पुरुष इसको वास्तविक रूप में जान सकता है ? इस लोक में इस विषय को कौन बता सकता है कि यह दिखाई पड़ने वाली विविध भूत-भौतिक, भोग्य-भोक्ता आदि आकार वाली सृष्टि किस उपादानकारण से और किस निमित्तकारण से पैदा हुई है ? इन दोनों बातों को भलीभांति कौन जान सकता है ? अथवा कौन इसको विस्तार से समझा सकता है ? देवगण तो सर्वज्ञ हैं, वे इसको जान जांयगे और समझा भी सकेंगे, किन्तु ऐसी बात है नहीं, क्योंकि देवगण तो बाद में हुए हैं, अर्थात् जगत् की जब विविध प्रकार से सृष्टि हुई, तब आकाश प्रभृति पंच महाभूतों की उत्पत्ति के बाद जो सृष्टि हुई उसमें उनकी गणना की जाती है। इस लिये देवगण अर्वाचीन हैं, अर्थात् भूत सृष्टि के बाद पैदा हुए हैं। जब ये बाद में पैदा हुए तो अपनी उत्पत्ति से पहले विद्यमान सृष्टि को कैसे जान सकते हैं ? और जब जान नहीं सकते तो उसका उपदेश भी कैसे कर सकते हैं ? इसी बात को पुनः सुदृढ़ करते हैं कि जब देवगण इसको नहीं जान पाते तो मनुष्य प्रभृति की यह सामर्थ्य कहां है कि वे उस जगत् के कारण को जान सके, जिससे कि यह सारा जगत् पैदा हुआ है। अर्थात् इस कारण को कोई भी नहीं जान सकता।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि यह परिदृश्यमान नाना प्रकार की भूत-भौतिक, भोक्ता-भोग्य रूप वाली सृष्टि किस उपादान कारण से पैदा होती है, इन दोनों कारणों को कोई नहीं जान सकता और न कोई इस बात को समझा ही सकता है। इस जगत् में पहले आकाश प्रभृति पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। उसके बाद देवगण प्रभृति विविध जीवों की सृष्टि होती है। अतः देवगण भी पंच महाभूत से उत्पन्न होने से अर्वाचीन सृष्टि के ही अंग हैं। वे उस प्राचीन सृष्टि को नहीं जान पाते।

अतो विशिष्टाः सर्वज्ञकल्पा अपि देवाः स्वोत्पत्तेः प्राक्कालीनां सृष्टिं कथं जानीयुः ? अजानन्तश्च कथं ब्रूयुः ? अतो देवा अपि न जानन्ति यदा तदा तद्भिन्नः कः मनुष्यादिः, यतः कृत्स्नं जगत् आवभूव तज्जगत्कारणं वेद जानाति, न कोऽपि वेदेत्यर्थः ।

'इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥' (ऋ० सं० १०।१२९।७) । उक्तप्रकारेण यथेदं सर्जनं दुर्विज्ञानमेवं सृष्टं जगत् दुर्धरमपीत्याह—यत उपादानात् परमात्मन इयं विसृष्टिः विविधा गिरिनदीसमुद्रादिरूपेण विचित्रा सृष्टिः, आवभूव आजाता सोऽपि किल यदि वा दधे धारयति यदि वा न धारयति एवं को नाम अन्यो धर्तुं शक्नुयात्, यदि धारयेदीश्वर एव धारयेन्नान्यः । एतेन कार्यस्य धारयितृत्वप्रतिपादनेन परमात्मन उपादानकारणत्वमुक्तं भवति, निमित्तमात्रस्य कुलालस्येव धारयितृत्वासम्भवात् । 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (ब्र० सू० १।४।२३) इति वादरायणेन ब्रह्मणः प्रकृतित्वस्यापि प्रतिपादनेनाभिन्ननिमित्तोपादानत्वमुक्तम् । यद्वानेनार्धर्चेन पूर्वोक्तं सृष्टेर्दुर्विज्ञानत्वमेव द्रढयति, को वेदेत्यनुवर्तते, इयं विविधा सृष्टिर्यत आवभूव इति को वेद, न कोऽपीत्यर्थः ।

ननु नास्त्येव जगतो जन्म 'न कदाचिदनीदृशं जगत्' इति वहवो वदन्ति, इति चेन्न, प्रकृते जनिकर्तुरेव दुर्ज्ञानत्वप्रतिपादनात् । 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा० सू० १।४।३०) इत्यपादानसंज्ञायां पञ्चम्यास्तसिल् । यस्मात्परमात्मन उपादानभूतात् सर्वं जगद् आवभूव तं परमात्मानं को वेद, न कोऽपीत्यर्थः । प्रकृतितः परमाणुभ्यो वा जगज्जन्मेति वहवो भ्रान्ताः । तथा स एवोपादानभूतः परमात्मा स्वयमेव निमित्तभूतोऽपि । स यदि दधे विदधे इदं जगत्ससर्ज यदि वा न ससर्ज, असन्दिग्धे सन्दिग्धवचनमेतत्, 'यदि वेदाः प्रमाणं स्युः' इतिवत् । स एव विदधे तं को वेद । अजानन्तो-

देवगण भले ही विशिष्ट कोटि के सर्वदा परमात्मा के सदृश जीव् हों, किन्तु वे अपनी उत्पत्ति से पहले की सृष्टि को कैसे जान सकते हैं ? और जब जान नहीं सकते तो वे इस बात को दूसरों को कैसे समझा सकते हैं । इस तरह से जब देवता भी इसको नहीं जान पाते तो उनसे भिन्न निम्न स्तर के मनुष्य उस बात को कैसे जान सकते हैं, जिससे कि यह सारा जगत् पैदा हुआ है । इस प्रकार इस जगत् के कारण को कौन जान सकता है ? कोई भी नहीं ।

जिस तरह से इस सृष्टि को जान पाना कठिन है, उसी तरह से इस जगत् को धारण कर पाना भी कठिन है, इस बात को इस सूक्त के सातवें अन्तिम मन्त्र में बताया गया है । जिस उपादान कारण परमात्मा से यह सृष्टि पैदा हुई, पहाड़-नदी-समुद्र आदि विचित्र रूपों में फैली, वह परमात्मा भी इसको धारण करने में समर्थ है या नहीं ? उस परमात्मा के सिवाय इसको दूसरा कौन धारण कर सकता है ? यदि कोई धारण कर सकता है तो वह ईश्वर के सिवाय और कोई नहीं हो सकता । यहां कार्य जगत् का धारक परमात्मा को माना गया है, इसलिये वही इस जगत् का उपादानकारण सिद्ध होता है, क्योंकि यदि वह कुम्हार की भाँति केवल निमित्तकारण हो तो वह उसका आधार नहीं हो सकता । बादरायण ने 'प्रकृतिश्च०' इत्यादि सूत्र में ब्रह्म को प्रकृति भी माना है । इस तरह से उसमें उपादानकारणता और निमित्तकारणता अभिन्न रूप से प्रतिपादित है । अथवा इस आधी ऋचा का यह भी अर्थ किया जा सकता है कि इससे पूर्वोक्त सृष्टि की दुर्ज्ञेयता को ही दृढ़ किया जाता है । 'को वेद' पद की अनुवृत्ति कर यह विविध सृष्टि कहाँ से पैदा हुई, यह कौन जानता है ? कोई भी नहीं ।

प्रश्न उठाया जाता है कि इस जगत् की उत्पत्ति कभी नहीं होती । बहुत लोग इस बात को मानते हैं कि यह जगत् कभी इससे भिन्न रूप में विद्यमान नहीं था । किन्तु यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ जगत् की उत्पत्ति के कर्ता की ही दुर्ज्ञेयता बताई गई है । 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' इस पाणिनि सूत्र के अनुसार अपादान संज्ञा होने पर यहाँ पंचमी विभक्ति का बोधक तसिल् प्रत्यय विहित है । जिस उपादानभूत परमात्मा से यह सारा जगत् पैदा हुआ, उसको कौन जानता है ? कोई भी नहीं । प्रकृति से अथवा परमाणु से जगत् की उत्पत्ति होती है, ऐसा बहुत लोगों का भ्रम है । परमात्मा ही जगत् का उपादानकारण भी है और वह स्वयं निमित्तकारण भी है । उस परमात्मा ने इस जगत् को बनाया है या नहीं बनाया है ? इस तरह से श्रुति असंदिग्ध वस्तु के प्रति भी शंका उठाती है । यह बात उसी तरह की है, जैसा कि 'यदि वेद प्रमाण हैं' इस वाक्य से ध्वनित होता है । वस्तुतः उस परमात्मा ने ही यह सब कुछ

ऽपि बहवो जडात् प्रधानाज्जगज्जातमिति वदन्ति, बहवश्चाकर्तृकमेवेदं जगत् स्वयमजायतेति विपरीतं प्रतिपन्नाः। विदधतो विधानमजानन्तोऽपि विप्रतिपद्यन्ते। स एवोपादानभूत इत्यपि को वेद, न कोऽपीत्यर्थः। उपादानादन्यस्तटस्थ एवेश्वरो विदधे इत्यप्यन्ये वदन्ति। देवा अपि यन्न जानन्ति ततोऽप्यर्वाचीनानामेषां तत्परिज्ञाने कैव कथा ?

यद्येवं जगत्सृष्टिरत्यन्तमेव दुरवबोधा स्यात्, तदा न प्रमाणपद्धतिमध्यास्त इत्याशङ्क्य तत्सद्भावे ईश्वरमेव प्रमाणयति—योऽस्याध्यक्ष इति। ईश्वरः परमे उत्कृष्टे सत्यभूते व्योमन् व्योम्न्याकाशे आकाशवन्निर्मले स्वप्रकाशे, यद्वा विपूर्वात् तर्पणार्थादवतेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति मनिन्प्रत्यये 'नेड्वशि कृति' (पा० सू० ७।२।८) इतीण्निषेधे 'ज्वरत्वर' (पा० सू० ६।४।२०) इत्यादिना वकारोपधयोरूठि सप्तम्या लुकि च व्योमन्निति। तथा च व्योमनि विशेषेण तृप्ते निरतिशयानन्दस्वरूप इत्यर्थः। यद्वा गत्यर्थादवतेः, व्योमनि विशेषेण गते व्याप्ते देशकालवस्तुभिरपरिच्छिन्ने, ज्ञानार्थाद्वावतेः, विशेषेण ज्ञातरि विशिष्टज्ञानात्मनि ईदृशे स्वात्मनि प्रतिष्ठितः, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० उ० ७।२४।१) इति श्रुत्यन्तरात्। ईदृशो यः परमेश्वरः सोऽङ्ग वेद। अङ्गेति सम्बोधने प्रसिद्धौ च। सोऽपि नाम वेद जानाति यदि वा न वेद न जानाति, को नामाऽन्यो जानीयात्। सर्वज्ञ ईश्वर एव तां सृष्टिं जानीयाद् नान्य इत्यर्थः। यथा—'वयं ब्राह्मणा वा अब्राह्मणा वा इत्यत्र न संशयप्रतिपादनम्, ब्राह्मणानिश्चये कर्मण्यनधिकारप्रसङ्गात्, किन्तु प्रवरानुमन्त्रणमन्त्रेण ब्राह्मण्यप्राप्तिप्रशंसायामेव तात्पर्यम्, यथा वा 'को हि तद्वेद यद्यमुष्मिल्लोके अस्ति वा न वा' (तै० सं० ६।१।१।१) इत्यत्र न परलोकसंशयः प्रतिपिपादयिषितः,

बनाया है, इसको कौन जानता है ? न जानते हुए भी बहुत से व्यक्ति जड़ प्रधान से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं और इसके विपरीत बहुत से यह मानते हैं कि यह जगत् अपने आप पैदा हो गया है, इसका कोई कर्ता नहीं है। जगत्स्रष्टा के विधान को न जानते हुए भी ये विवाद खड़ा कर देते हैं। यह परमात्मा ही उपादानकारण है इसको भी कौन जानता है ? कोई भी नहीं। कुछ लोगों का कहना है कि परमात्मा उपादानकारण नहीं है, किन्तु संसार की रचना में वह तटस्थ है। देवता भी जिसके संबन्ध में कुछ नहीं जानते, तब उससे बाद में पैदा हुए मनुष्य उसको जान पावेंगे, इसकी कोई संभावना ही नहीं हो सकती।

शंका उठती है कि यदि जगत् की यह सृष्टि इस तरह से अत्यन्त दुरवबोध है तो उसको फिर किसी भी प्रमाण से जान पाना कठिन है ? इसका समाधान स्वयं श्रुति ही 'योऽस्याध्यक्षः' इत्यादि से देती है कि इस सृष्टि के रहस्य को ईश्वर ही जान सकता है। ईश्वर परम सत्यस्वरूप आकाश के समान निर्मल स्वप्रकाश में स्थित होकर इस सृष्टि के रहस्य को जानता रहता है। विपूर्वक तर्पणार्थक अव धातु से मनिन् प्रत्यय होने पर, इट् का निषेध होने पर, ऊठ् एवं सप्तमी का लुक् होने पर 'व्योमन्' पद बनता है। इसका अर्थ होगा विशेष रूप से तृप्त, निरतिशय आनन्दस्वरूप। गत्यर्थक अव् धातु से इसी प्रक्रिया से व्योमन् पद बनाने पर उसका अर्थ होगा आकाश में विशेष रूप से व्याप्त अर्थात् देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न। ज्ञानार्थक अव् धातु से व्योमन् पद बनाने पर उसका विशेष रूप से ज्ञानात्मक स्वात्मा में प्रतिष्ठित, अर्थ होता है। 'हे भगवन्, वह किसमें प्रतिष्ठित है ? अपनी महिमा में' इस तरह प्रश्न-प्रतिवचनात्मक छान्दोग्य श्रुति में इसी अर्थ का प्रतिपादन हुआ है। ऊपर बताये स्वरूप वाला ईश्वर भी भला उसको जानता है नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। अंग शब्द संबोधन और प्रसिद्धि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जब परमेश्वर की यह स्थिति है, तो फिर उस रहस्य को दूसरा कोई कैसे जान सकता है ? इसका अभिप्राय यह है कि सर्वज्ञ ईश्वर ही उस सृष्टि को जान सकता है, दूसरा कोई नहीं। जैसे 'हम ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण' इस वाक्य का संशय उपस्थित करने में तात्पर्य नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर कर्म में अधिकार ही नहीं रह जायगा, किन्तु प्रवरानुमन्त्रण मन्त्र से जो ब्राह्मण्य की प्राप्ति होती है, उसकी प्रशंसा में उक्त वाक्य का तात्पर्य माना जाता है। इसी तरह से 'यह कौन जानता है कि परलोक कुछ है भी या नहीं' इस वाक्य का परलोक में संशय पैदा करने में तात्पर्य नहीं है, क्योंकि इस स्थिति में अतीकाश प्रभृति का विधान व्यर्थ हो जायगा, किन्तु अतीकाश के विधायक अर्थवाद से उसकी प्रशंसा में ही तात्पर्य है। अतीकाश का विधान न करने पर धूम के उपद्रव से यहीं मृत्यु हो सकती है, उस परिस्थिति में परलोक की स्थिति कहां रह जायगी ? इस लिये इस विषम परिस्थिति का, जिससे कि परलोक की स्थिति ही संशय में ही पड़ जाती है, परिहार

तथात्वेऽतीकाशादिविधानवैयर्थ्यापातात् । किन्तु 'दिक्ष्वतीकाशान् करोति' (तै० सं० ६।१।१।१) इत्यतीकाशविधानार्थवादेन तत्प्रशंसनमेव, अतीकाशाभावे धूमोपद्रवेणैव मरणं सम्भाव्यते, परलोककथां को वेद, अतस्तत्परिहारार्थमतीकाशानवश्यं कुर्यादित्यर्थः, तथैव प्रकृते सृष्टेः परमात्मनश्च दुर्ज्ञानत्वबोधनायैव वेदनावेदनविकल्पोपन्यासः, वस्तुतन्त्रे ज्ञाने विकल्पासम्भवात् । 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्डकोप० १।१।९) इति श्रुत्या परमात्मनः सामान्यविशेषाभ्यां सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं चोक्तम् । स एव विविधवैचित्र्योपेतामनन्तानन्तब्रह्माण्डतद्भोक्तृतत्कर्मादिविशिष्टां सृष्टिं वेद नान्ये प्रकृतिपरमाण्वादयो देवादिजीवा वा, जडत्वादसर्वज्ञत्वाच्च । विश्वविधातारं परमात्मानं तु सर्वद्रष्टृरूपत्वाद्, नान्यो जानाति, द्रष्टुर्दृष्टयविषयत्वात् । प्रत्यक्चैतन्याभिन्नत्वेन स्वात्मरूपेणैव तज्ज्ञानम्, तटस्थस्यापरोक्षत्वासम्भवात् । मनोवचनातीतत्वाद्वा दुर्ज्ञानत्वम्, 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० उ० २।४।१) इति श्रुतेः । लक्षणया वृत्तिव्याप्त्या ज्ञेयत्वेऽप्यभिधया फलव्याप्त्याऽव्याप्यत्वाच्च दुर्ज्ञानत्वम् ।

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥' (ऋ० सं० १०।१२१।१) । यत्त्वस्य मन्त्रस्य व्याख्यायामुक्तम्—'अग्रे सृष्टेः प्राग् हिरण्यगर्भः परमेश्वरो जातस्योत्पन्नस्य जगतो एकोऽद्वितीयः पतिरेव समवर्तत । स पृथिवीमारभ्य द्युपर्यन्तं सकलं जगद् रचयित्वा दाधार धारितवान् । तस्मै सुखस्वरूपाय देवाय हविषा वयं विधेम' इति, तदपि मन्दम्, अस्पष्टार्थत्वात्, तथाहि—हिरण्यगर्भः परमेश्वर इत्यत्र किं बीजम् ? हविषा किं विधेमेत्यपि सापेक्षमेव । जात इत्यस्य च कारणेश्वरपक्षे कथमुपपत्तिरिति चिन्त्यम् ।

सायणसम्मतस्त्वयमर्थोऽस्य मन्त्रस्य—हिरण्यगर्भो हिरण्मयाण्डस्य गर्भभूतः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः, 'प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरूपत्वाय' (तै० सं० ५।५।१।२) इति श्रुतेः । यद्वा हिरण्मयोऽण्डो गर्भवद् यस्योदरे

करने के लिये दिशाओं में अतीकाश का विधान अवश्य करना चाहिये, यही इस वाक्य का तात्पर्य निकलता है । उसी भांति प्रकृत में भी सृष्टि और परमात्मा इन दोनों के रहस्य को समझ पाना कठिन है, इसी बात को सूचित करने लिये यहां 'जानता है, नहीं जानता' इस विकल्प को रखा गया है । ज्ञान की सत्ता वस्तु के अधीन है, इसमें कोई विकल्प नहीं उठ सकता । 'यः सर्वज्ञः' इत्यादि मुण्डक श्रुति परमात्मा को सामान्यतः और विशेष रूप में भी सर्वज्ञ और सर्ववित् मानती है । वही विविध विचित्रताओं से भरे अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड, उनके भोक्ता और उन भोक्ताओं के कर्मों से संवलित सृष्टि को जान सकता है, अन्य प्रकृति, परमाणु प्रभृति अथवा देव आदि नाना योनियों के जीव इसको नहीं जान सकते, क्योंकि वे जड़ हैं और असर्वज्ञ हैं । विश्व के विधाता परमात्मा को तो दूसरा कोई नहीं जान पाता, क्योंकि परमात्मा तो सबका द्रष्टा है, वह दृश्य कैसे बन सकता है । वह प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न है, अतः उसको हम स्वात्मस्वरूप में ही जान सकते हैं, क्योंकि यदि उसको तटस्थ माना जाय, तो उसका अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान हो ही नहीं सकता । यह परमात्मा की सृष्टि मन और वचन से अतीत होने से भी दुर्ज्ञेय है । 'जहां से मन के साथ वाणी भी विना उसको प्राप्त किये वापस लौट आती हैं' यह तैत्तिरीय श्रुति भी इसी बात का प्रतिपादन करती है । लक्षणा वृत्ति की व्याप्ति के आधार पर यद्यपि यह ज्ञेय हो सकता है, किन्तु फल की व्याप्तिके अभाव में अभिधा वृत्ति से इसका बोध नहीं हो सकता ।

'हिरण्यगर्भः' इत्यादि मन्त्र का स्वामी दयानन्द ने यह अर्थ किया है—'हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है, वही एक सृष्टि के पहिले वर्तमान था । वही इस सारे जगत् का स्वामी है और वही पृथिवी से लेकर सूर्य पर्यन्त सब जगत् को रच कर धारण कर रहा है । इसलिये उसी सुखस्वरूप परमेश्वर देव की हम लोग उपासना करें, अन्य किसी की नहीं' (पृ० १३२) । किन्तु यह व्याख्या भी सही नहीं है, क्योंकि इस व्याख्या में कोई स्पष्ट अर्थ प्रतीत नहीं होता । जैसे कि हिरण्यगर्भ का अर्थ किस प्रमाण के आधार पर परमेश्वर हो सकता है ? हवि से क्या करें ? यह सापेक्ष वाक्य है । ईश्वर को जगत् का कारण मानने पर वह उत्पन्न कैसे माना जा सकता है, यह विचारणीय बात है ।

इस मन्त्र का सायणसंमत अर्थ यह है—सुवर्णमय अण्ड के गर्भ में विद्यमान प्रजापति हिरण्यगर्भ है । 'प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः' यह तैत्तिरीय श्रुति इसमें प्रमाण है । अथवा सुवर्णमय अण्ड गर्भ के समान जिसके उदर में रहता है, वह सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ

वर्तते सोऽसौ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भः परमेश्वर एव समष्टिसूक्ष्मशरीरोपहितः। (सामाजिकास्तु ईसायीमुस्लिमादिवत् परमेश्वरस्यावान्तररूपाणि नाभ्युपगच्छन्ति, तत एव हिरण्यगर्भोऽपि तन्मते मुख्य ईश्वर एव)। अग्रे स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तेः प्राक् समवर्तत। मायाध्यक्षात् कारणब्रह्मणः सकाशात् समजायत। यद्यपि परमात्मैव सोऽपि, तथापि तदुपाधिभूतानां वियदादीनां ब्रह्मण उत्पत्तेस्तदुपहितो हिरण्यगर्भोऽप्युत्पन्न इत्युच्यते। स च जातः जातमात्र एव। एकः अद्वितीयः सन्। भूतस्य विकारजातस्य ब्रह्माण्डादेः सर्वस्य जगतः पतिरीश्वर आसीत्। न केवलं राजादिवत् पतिरेव, किन्तु पृथिवीं विस्तीर्णां द्यां दिवम्। उतापि इमामस्माभिर्दृश्यमानां पुरोवर्तिनीं भूमिं दाधार धारयति। यद्वा पृथ्वीत्यन्तरिक्षनाम। तथा चान्तरिक्षं दिवं भूमिं धारयति। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति सार्वकालिको लिट्। तुजादित्वादभ्यासदीर्घः। कस्मै किंशब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतिवाचकः। यद्वा सृष्ट्यर्थं कामयत इति कः। कमेर्डः प्रत्ययः। यद्वा कं सुखं तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते। अथवा इन्द्रेण पृष्टः प्रजापतिर्मदीयं महत्त्वं तुभ्यं प्रदायाहं कः कीदृशः स्यामिति। स इन्द्रः प्रत्यूचे यदीदं ब्रवीम्यहं कः स्यामिति तदेव त्वं भवेति। अतः कारणात् क इति प्रजापतिराख्यायते। 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा सर्वा विजितीर्विजित्याऽब्रवीत्' (ऐ० ब्रा० ३।२१) इत्यादिब्राह्मणवचनात्। यदासौ किंशब्दस्तदा सर्वनामत्वात् स्मैभावः। कर्मणा सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। कस्मै प्रजापतये देवाय दानादिगुणयुक्ताय हविषा प्राजापत्यस्य पशोर्वपारूपेणैककपालात्मकेन पुरोडाशेन वा विधेम वयमृत्विजः परिचरेम। विदधातिः परिचरणकर्मा।

पुरुषसूक्तं चोद्धृत्य व्याख्यातम्—सहस्रशीर्षेति (ऋ० सं० १०।९०।१)। अत्र मन्त्रे पुरुष इति विशेष्यमस्ति सहस्रशीर्षेत्यादीनि विशेषणानि। 'पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन्' (नि० १।१३) पुरि संसारे सर्वमभिव्याप्य वर्तत इति पुरुष ईश्वरः, पुरुषः पुरिषादः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यान्तरपुरुषमभिप्रेत्य—'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्

कहलाता है। यह सूक्ष्म शरीर की समष्टि में उपहित परमेश्वर ही (आर्यसमाजी ईसाईयों और मुसलमानों की भांति परमेश्वर के अवान्तर साकार रूपों को नहीं मानते, इसलिये उनके मत में हिरण्यगर्भ मुख्य ईश्वर ही माना जाता है) स्थूलप्रपंच की उत्पत्ति से पहले विद्यमान था। यह हिरण्यगर्भ माया के स्वामी कारणब्रह्म से उत्पन्न हुआ था। यद्यपि यह भी परमात्मा ही है, तथापि इस सूत्रात्मा के उपाधिभूत आकाशादि की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है, अतः इनसे उपहित हिरण्यगर्भ भी उत्पन्न हुआ माना जाता है। यह हिरण्यगर्भ उत्पन्न होने के साथ ही अकेला ही सारे विकारात्मक ब्रह्माण्ड का, सारे जगत् का स्वामी बन गया। राजा के समान यह केवल स्वामी ही नहीं था, किन्तु विस्तीर्ण पृथिवी को और आकाश को भी, जो कि हमारी आंखों के सामने फैले हुए हैं, धारण करता है, अथवा यह पृथ्वी शब्द अन्तरिक्ष के अर्थ में प्रयुक्त है। तब यह अर्थ होगा कि हिरण्यगर्भ अन्तरिक्ष, स्वर्ग और पृथिवी को धारण करता है। 'दाधार' यहाँ वैदिक लिट् लकार सभी कामों के लिये प्रयुक्त है। तुजादि में पाठ होने से अभ्यास का दीर्घ हो जाता है। 'कस्मै' पद में किं शब्द अज्ञात स्वरूप वाले प्रजापति का वाचक है। अथवा 'कः' शब्द का अर्थ होगा सृष्टि के लिये कामना करने वाला। यहाँ कम् धातु से ड प्रत्यय होता है। अथवा 'क' शब्द सुख का वाचक है। सुखस्वरूप होने से प्रजापति 'कः' कहलाता है। अथवा इन्द्र के पूछने पर प्रजापति ने कहा कि यदि मैं तुम्हें अपनी सामर्थ्य दे दूँ तो मेरी स्थिति कैसी होगी? इस पर इन्द्र ने जबाब दिया कि यदि मैं कहूँ कि मैं कौन होऊँ, तभी तुम हो जाओ। इसीलिये प्रजापति को 'कः' कहा जाता है।' 'इन्द्र ने वृत्र को मारकर सभी तरह की विजय प्राप्त कर कहा' इत्यादि ब्राह्मणवचन इसी की ओर इंगित करते हैं। जब इस किं शब्द का प्रयोग होता है, तो सर्वनाम होने से 'स्मै' आदेश हो जाता है। कर्म का संप्रदान होने से चतुर्थी विभक्ति होती है। क अर्थात् प्रजापति देव को दान प्रभृति गुणों से युक्त परमात्मा को हवि अर्थात् प्रजापति सम्बन्धी पशु की वपा अथवा एककपालात्मक पुरोडाश हम ऋत्विक्गण प्रदान करते हैं, हवि प्रदान द्वारा हम प्रजापति की आराधना करते हैं।

स्वामी दयानन्द ने इस पुरुषसूक्त को उद्धृत कर उसकी व्याख्या की है—'इस मन्त्र में पुरुष शब्द विशेष्य है और अन्य सहस्रशीर्षा प्रभृति सभी पद उसके विशेषण हैं। पुरुष उसको कहते हैं, जो कि इस जगत् में पूर्ण हो रहा है, अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रखा है। पुर कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को। उसमें जो व्याप्त है और जो जीव के भीतर

यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् । वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरिषेण सर्वम् ।।' इत्यपि निगमो भवति' (नि० २।३) अत्र निरुक्ते श्वेताश्वतरोपनिषदः (३।९), महानारायणोपनिषदश्च (१०।४) वचनं निगमशब्देनोद्धृतम् । सामाजिकसम्मतवेदेषु नायं मन्त्र उपलभ्यते । पुरि सर्वस्मिन् संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्तत इति पूरयतेर्वा । यः स्वयं परमेश्वर इदं सर्वं जगत् स्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति, तस्मात् स पुरुषः । यो जीवस्यान्तर्मध्येऽभिव्याप्य पूरयति व्याप्नोति स पुरुषः, तमान्तरपुरुषमन्तर्यामिणं परमेश्वरमभिप्रेत्येयमृक् प्रवृत्तास्ति । यस्मात्परं यस्मात्परमेश्वरात्पुरुषाख्यात् परमुत्कृष्टं किञ्चिदपि नास्त्येव पूर्वं यस्मादर्वाचीनं तत्तुल्यमुत्तमं किञ्चिदपि वस्तु नास्त्येव । तथा यस्मादणीयः सूक्ष्मं ज्यायः स्थूलं महद्वा किञ्चिदपि द्रव्यं न भूतं न भवति नैव च भविष्यतीत्यवधेयम् । स स्तब्धो निष्कम्पः सर्वस्यास्थिरतां कुर्वन् सन् स्थिरो भवति । क इव वृक्ष इव । यथा वृक्षः शाखापत्रपुष्पफलादिकं धारयन् तिष्ठति, तथैव पृथिवीसूर्यादिकं सर्वं जगत् धारयन् परमेश्वरः अभिव्याप्य स्थितोऽस्ति । यश्चैकोऽद्वितीयः, नास्य कश्चित्सजातीयो विजातीयो वा द्वितीय ईश्वरोऽस्ति । तेन पुरिशयेन पुरुषेण परमात्मना यत इदं सर्वं जगत् पूर्णं कृतमस्ति, तस्मात्स पुरुषः परमेश्वर इत्युच्यते । इत्ययं मन्त्रो निगमनं परं प्रमाणं भवतीति वेदितव्यम् ।

'सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दाता स्वाम्यादि, सर्वमिदं जगत् सहस्रनामकमस्ति । सहस्राण्यसंख्यातानि शिरांसि यस्मिन् स सहस्रशीर्षा, अस्मदादीनां सहस्राण्यक्षीणि यस्मिन्, एवमेव सहस्राण्यसंख्याताः पादा यस्मिन् वर्तन्ते स सहस्राक्षः सहस्रपात्, स पूरुषः, सर्वेभ्यो वाह्यान्तरदेशेभ्यः । भूमिरिति भूतानामुपलक्षणम् । भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तं सर्वं जगत् स्पृत्वाभिव्याप्य वर्तते । दशाङ्गुलमिति ब्रह्माण्डहृदययोरुपलक्षणम् । अङ्गुलमित्यवयवोपलक्षणेन मितस्य जगतोऽत्र ग्रहणं भवति । पञ्चस्थूलभूतानि पञ्चसूक्ष्मभूतानि मिलित्वा दशावयवाख्यं सकलं जगदस्ति । अन्यच्च पञ्च

भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी है, वही पुरुष परमेश्वर है । जैसा कि निरुक्त में कहा गया है—'पुरुषः पुरिषादः' इत्यादि । (निरुक्त में इस स्थल पर श्वेताश्वतरोपनिषद् और महानारायणोपनिषद् उद्धृत है । इनको यहाँ निगम का वचन माना गया है । आर्यसमाजियों को अभिप्रेत वैदिक संहिताओं में यह निगम-वचन नहीं मिलता ।) इस निरुक्त वाक्य का अर्थ यह है—सारे संसार में व्याप्त होकर रहने वाला पुरुष कहलाता है, अथवा यह स्वयं परमेश्वर अपने स्वरूप से सारे जगत् को व्याप्त किये हुए है, इसलिये पुरुष कहलाता है । जो जीवों के बीच में, हृदय में व्याप्त होकर रहता है और उनको पूर्ण करता रहता है, वह पुरुष है । इस अन्तर्यामी पुरुष का ही वर्णन इस श्रुति में किया गया है—जिस पुरुष नाम से प्रसिद्ध पूर्ण परमेश्वर से उत्तम कोई भी वस्तु नहीं है, अथवा जिसके पहले किसी की सत्ता नहीं है और जिससे अर्वाचीन उसके समान उत्तम भी कोई वस्तु नहीं है, तथा जिससे अधिक सूक्ष्म और स्थूल द्रव्य कोई बड़ा भौतिक पदार्थ भी नहीं है और न होगा, जो स्वयं निष्कम्प होकर सभी पदार्थों की अस्थिरता को करता हुआ स्थिर है, जैसे वृक्ष शाखा, पत्र, पुष्प आदि को धारण कर रहता है, उसी तरह से जो पृथिवी सूर्य प्रभृति सारे जगत् को धारण कर रहता है, वही परमेश्वर इस सारे जगत् में व्याप्त है । यह परमात्मा स्वयं एक अर्थात् अद्वितीय है, इसका कोई न तो सजातीय पदार्थ है और न विजातीय ही । अतः इसमें द्वैत किसी तरह नहीं आ सकता । इस ब्रह्माण्डरूपी शरीर में विश्राम करने से यह पुरुष, परमात्मा इस सारे जगत् को व्याप्त कर भास्कर रूप में विद्यमान है । इसलिये यह पुरुष परमात्मा ही है । यह मन्त्र ही इस विषय में सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है ।

'सहस्र नाम है संपूर्ण जगत् का और असंख्यात का भी नाम है । जिसके बीच में सब जगत् के असंख्यात शिर, आँख और पैर ठहर रहे हैं, उसको सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् कहते हैं, क्योंकि वह अनन्त है । जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते हैं और आकाश सबसे अलग रहता है, अर्थात् किसी के साथ बंधता नहीं है, उसी प्रकार परमेश्वर भी है । (स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा) यह पुरुष सब जगह से पूर्ण होकर पृथिवी को तथा सब लोगों को धारण कर रहा है । (अत्यतिष्ठद्) दशांगुल शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है । अंगुलि शब्द अंग का अवयववाची है । [इसलिये अवयव के उपलक्षण से नपे हुए जगत् का यहां ग्रहण होता है] पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म ये दोनों मिलकर जगत् के दस अवयव होते हैं, तथा पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार अन्तःकरण,

प्राणाः, सेन्द्रियं चतुष्टयमन्तःकरणम्, दशमो जीवश्च, एवमेवान्यदपि। जीवस्य हृदयं दशाङ्गुलपरिमितं च तृतीयं गृह्यते। एतत् त्रयं स्पृत्वा व्याप्यातिष्ठत्। एतस्मात् त्रयाद्बहिरपि व्याप्तः सन्नवस्थितः। अर्थात् बहिरन्तश्च पूर्णो भूत्वा परमेश्वरोऽवतिष्ठते इति वेद्यम्' (पृ० १३२-१३३)। वस्तुतोऽत्र विनियोगानुसारेण सर्वमेधाङ्गभूतं पुरुषसूक्तम्। विनियोगानुसारेण तु मन्त्रव्याख्यानमुपरिष्टाद् द्रष्टव्यम्। पुरुषपदव्याख्यानं तु जीवपरमपि सम्भवत्येव, तस्यापि पुरि शयनात्। नैतावदेव, पूर्षु शेते इत्यनया रीत्या स्थूल-सूक्ष्म-कारणाख्येषु त्रिषु पूर्षु शयनात्तस्य पुरुषाख्या सम्भवत्येव। नैयायिकादिदृष्ट्या व्यापकत्वं चापि तस्य सम्भवत्येव, ततः स एव कुतो न गृह्यते? किञ्च, सामाजिकानां दृष्ट्या निमित्तकारणमेव परमेश्वरः, आत्मन्याकाशे निमित्तकारणे च व्यापकत्वं सम्भवतीति कुत ईश्वरस्यैव सहस्रशीर्षत्वादिकमुच्यते। यदीश्वरस्य सर्वव्यापकत्वेन तत्त्वं तर्हि जीवाकाशादीनां कुतो न तत् स्यात्? 'इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयं पवते सोऽस्यां पुरि शेते' (श० १३।६।२।१) इति हिरण्यगर्भेऽपि पुरुषपदप्रयोगात्। सिद्धान्तेत्वभिन्ननिमित्तोपादानकत्वेन परमेश्वरस्यं सर्वोपादानत्वात् सर्वमयत्वम्। न तु तन्निमित्तमात्रस्य सम्भवति। परमेश्वरस्यैव मायोपाधिकत्वेन कारणत्वमन्तर्यामित्वं च, समष्टिसूक्ष्मशरीरोपाधित्वेन हिरण्यगर्भत्वं समष्टिस्थूलप्रपञ्चोपाधित्वेनानन्तशीर्षत्वादिभिर्विराट्पुरुषत्वमिति मदुक्तं सायणादिसम्मतं च व्याख्यानं युक्तम्।

अत्र 'शीर्षश्छन्दसि' (पा० सू० ६।१।६०) इति शिरःशब्दस्य शीर्ष आदेशः। अत्र भूमिशब्दो भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तस्योपलक्षणमित्यप्यशुद्धम्, तत्र मानाभावात्। किन्तु भमिपदं पञ्चभूतोपलक्षकं सम्भवति, भूतत्वेन साजात्यात्। ततश्च पञ्चभूतानि व्याप्य, अथवा ब्रह्माण्डरूपां भूमिं मायाभूमिं वा स्पृत्वा व्याप्य, स्पृणोतेर्व्याप्तिकर्मत्वात्। अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् दशाङ्गुलमतिक्रम्यावस्थितः।

दशवां जीव और शरीर में जो हृदयदेश है, वह भी दस अंगुल के प्रमाण से लिया जाता है। जो इन तीनों में व्यापक होकर इनके चारों ओर भी परिपूर्ण हो रहा है, इससे वह पुरुष कहलाता है, क्योंकि जो उक्त (तीनों प्रकार के) दशांगुल स्थान का भी उल्लंघन करके सर्वत्र स्थिर है, वही सब जगत् का बनाने वाला है' (पृ० १३३-१३४)।

वस्तुतः विनियोग के अनुसार पुरुषसूक्त सर्वमेध यज्ञ का अंगभूत है। विनियोग प्रदर्शन पूर्वक इस सूक्त की व्याख्या आगे दी गई है। पुरुषपद की व्याख्या तो जीवपरक भी की जा सकती है, क्योंकि वह भी शरीर में विश्राम करता है। इतना ही नहीं, किन्तु 'पुरों में सोता है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीन पुरों (शरीरों) में विश्राम करने से इसका पुरुष नाम हो ही सकता है। नैयायिक प्रभृति की दृष्टि से यह जीवात्मा व्यापक भी है, तब उसी का यहां ग्रहण क्यों न किया जाय? दूसरी बात यह भी है कि आर्यसमाजियों की दृष्टि से परमेश्वर केवल निमित्तकारण है। आत्मा और आकाश में भी निमित्तकारणता मानने पर व्यापकता भी मिल जायगी, तब फिर ईश्वर के ही कैसे हजार सिर आदि माने जा सकते हैं। यदि सर्वव्यापकता के आधार पर ईश्वर में ये माने जाते हैं, तो आत्मा और आकाश भी तो सर्वव्यापक हैं, इनमें ये क्यों न मानें जाय? 'इमे वै लोकाः' इत्यादि शतपथ श्रुति में हिरण्यगर्भ के लिये पुरुष पद प्रयुक्त है। हमारे मत में तो परमेश्वर निमित्त के साथ उपादान कारण भी है, अतः सबकी उपादान कारणता के आधार पर इसको सर्वमय माना जाता है। यह बात इसको केवल निमित्तकारण मानने पर नहीं बन सकती। मायोपाधिक परमेश्वर ही सबका कारण भी है और अन्तर्यामी भी है। सभी सूक्ष्म शरीरों की समष्टि को उपाधि मान कर यह हिरण्यगर्भ है और स्थूल प्रपंच की समष्टि को उपाधि मान कर यह अनन्त शिर, पैर वाला विराट् पुरुष है। इस तरह की सायणसंमत व्याख्या हो इस मन्त्र की सही हो सकती है।

यहां 'शिरश्छन्दसि' इस पाणिनि सूत्र से शिरस् शब्द का शीर्ष आदेश होता है। भूमि शब्द को भूमि से लेकर प्रकृति पर्यन्त तत्त्वों का बोधक मानना गलत बात है, क्योंकि इनमें कोई प्रमाण नहीं है, किन्तु भूमि पद यहां केवल पंच महाभूतों का ही उपलक्षक माना गया है, क्योंकि भूतत्त्व इन सबमें विद्यमान है। तब यह अर्थ किया जा सकता है कि पांच महाभूतों को व्याप्त कर अथवा ब्रह्माण्ड रूप भूमि को अथवा मायाभूमि को व्याप्त कर। स्पृणोति धातु व्याप्ति के अर्थ है। 'अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्' इसका अर्थ है दस अंगुल का

यदुक्तम्—‘दशाङ्गुलमिति ब्रह्माण्डहृदययोरुपलक्षणम्’ इति, तदपि चिन्त्यम्, निर्मूलत्वात्। नहि पञ्चस्थूलपञ्चसूक्ष्मभूतान्येव जगत्, प्रकृतिमहदहङ्कारादीनां ततो भिन्नत्वात्। प्राणादिष्वपि न प्रकृत्यादीनामन्तर्भावः। हृदयमपि न दशाङ्गुलं भवति, तस्याङ्गुष्ठमात्रपरिमितत्वात्। किन्तु दशाङ्गुलं ब्रह्माण्डाद् वहिर्देशस्योपलक्षणम्, ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः। अत एव ‘विकारावर्ति च’ (ब्र० सू० ४।४।१९) इति वादरायणं सूत्रं प्रपञ्चाद् वहिर्ब्रह्मणो मुक्तोपसृप्यं रूपं दर्शयति। यद्वा नाभेः सकाशाद् दशाङ्गुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः। ननु नाभित इति कुत उपलभ्यत इति चेन्न, ‘कतम आत्मा’ (बृ० उ० ४।३।७) इप्युपक्रम्य ‘सोऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः’ (बृ० उ० ४।३।७) इति श्रुत्या विज्ञानात्मनः कर्मफलोपभोगाय हृद्यवस्थानोक्तेरन्तर्यामिणश्च नियन्तृत्वेनावस्थानोक्तेश्च। ‘द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनशनन्नन्योऽभिचाकशीति॥’ (मु० उ० ३।१।१)।

वस्तुतस्तु—सहस्रशीर्षेति षोडशर्चं षष्ठं सूक्तम्। नारायणो नाम ऋषिः। अन्त्या त्रिष्टुप्, शिष्टा अनुष्टुभः। अव्यक्तमहदादिविलक्षणश्चेतनो यः पुरुषः ‘पुरुषान्न परं किञ्चित्’ (कठ उ० ३।११) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धः स देवता। तथा चानुक्रान्तम्—‘सहस्रशीर्षा षोडश नारायणः पौरुषमानुष्टुभं त्रिष्टुबन्तं तु’ इति।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥
(वा० सं० ३१।१; ऋ० सं० १०।९०।१)

अर्थः—वेदवेद्यः परमेश्वरः सर्वान्तरात्मत्वात् समष्टिप्राणिदेहैरपि देहवानिति सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डात्मको विराड्रूपेण सहस्रशीर्पा। सहस्रशब्दोऽनन्तवचनः। अनन्तैः शिरोभिर्युक्तः। यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात् तदीयान्येव। एवमेव सहस्राक्षित्वं सहस्रपादत्वं च। स परमात्मरूपः पुरुषः भूमिं

अतिक्रमण कर अवस्थित है। दयानन्द की व्याख्या में दशांगुल को ब्रह्माण्ड और हृदय का उपलक्षक माना है, किन्तु यह गलत है, क्योंकि पांच स्थूल और पांच सूक्ष्म महाभूत ही सारा जगत् नहीं बन जाते, इसके अतिरिक्त प्रकृति, महत्, अहङ्कार जैसे तत्त्वों को भी अलग से सत्ता जगत् में मानी जाती है। प्राणादि में प्रकृति आदि तत्त्वों का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। हृदय भी दस अंगुल का नहीं है, क्योंकि उसका परिमाण तो अंगुष्ठमात्र माना गया है। किन्तु दशांगुल का अभिप्राय यहां ब्रह्माण्ड से बाहर स्थित प्रदेश से है कि पुरुष इस ब्रह्माण्ड से बाहर भी सारे देश को व्याप्त कर अवस्थित है। इसीलिये ‘विकारावर्ति च’ इस बादरायण सूत्र में प्रपंच से बाहर ब्रह्म का वह स्वरूप बताया गया है, जिसको कि मुक्त जीव प्राण कहते हैं। अथवा इसका यह अर्थ किया जा सकता है कि नाभि के पास से दस अंगुल हटकर हृदय में स्थित है। बृहदारण्यक उपनिषद् में ‘इसमें आत्मा कौन सा है’ इस तरह से इस विषय का उपक्रम कर विज्ञानमय आत्मा की कर्मफल के उपयोग के लिये हृदय में स्थिति वताई गई है और वहां अन्तर्यामी को सबका नियन्ता माना गया है। इस प्रतिपादन के आधार पर ‘अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्’ इस वाक्य की सार्थकता के लिये नाभि स्थान का आक्षेप किया जाता है। ‘द्वा सुपर्णा’ इस मुण्डक श्रुति में ईश्वर और जीव का इसी रूप में वर्णन किया गया है।

पुरुषसूक्त का तात्पर्य परब्रह्म में ही है। यह छठा सूक्त है। इसमें सोलह ऋचाएँ हैं। इस सूक्त का ऋषि नारायण है। इसकी अन्तिम ऋक् त्रिष्टुप् छन्द में और अतिरिक्त अन्य सभी ऋचाएँ अनुष्टुप् छन्द में हैं। ‘पुरुषान्न परं किञ्चित्’ (कठो० ३.११) इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध तथा अव्यक्त-महदादि जड़ तत्त्वों से विलक्षण चेतन पुरुष ही इस सूक्त की देवता है।

... . (ऋ० सं० १०.९०.१)

अर्थ—वेद से जिसका ज्ञान होता है, वह परमेश्वर सभी का अन्तरात्मा होने के कारण समस्त प्राणियों के देहों से वही देहवान है, अतः सम्पूर्ण प्राणियों की समष्टि का रूप धारण करनेवाला ब्रह्माण्ड भी वही है, इस प्रकार उसका विराट् स्वरूप होने से वही सहस्र-शीर्ष (मस्तक) वाला ‘सहस्रशीर्षा’ कहा गया है। यहाँ ‘सहस्र’ शब्द का अर्थ अनन्त है। इसलिये वह परमेश्वर अनन्त शिरों से युक्त है। अभिप्राय यह है कि समस्त प्राणियों के जो शिर हैं, वे सब उसी के शिर हैं। इसी प्रकार उसका

ब्रह्माण्डगोलकरूपां प्रकृतिमण्डलरूपां वा भूमिम्, वृत्वा परिवेष्टच, कारणत्वाद् अज्ञानं तत्कार्यात्मकं प्रपञ्चम् आध्यासिकतादात्म्यसम्बन्धेनैव व्याप्य। शाखान्तरे स्पृत्वेति पाठः, तत्रापि न संयोगमात्रमभिप्रेतम्। दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितं देशम्। अत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यवस्थितः। दशाङ्गुलं दशगुणं महापरिमाणं वा देशं अत्यतिष्ठत्। ब्रह्माण्डमण्डलाद् वहिरपि व्याप्य स्थित इत्यर्थः। सर्वकारणभूतः परमेशः सर्वविकारजातं व्याप्य ततो बहिरपि स्थितः, प्रकृतितद्विकाराणां तदेकदेशस्थितत्वात्। यथा अनन्ताकाशैकक्षुद्रप्रदेशे मेघमण्डलस्थितिस्तथैव भगवतोऽतिस्वल्पप्रदेशे प्रकृतितद्विकारजातं स्थितम्। 'विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह' (४।४।१९) इति सूत्रेण निर्णीतं श्रीबादरायणेनापि। यद्वा सहस्रशीर्षशब्देन शिरःस्थचक्षुरादिकरणग्रामस्यापि ग्रहणम्, यद्वा सहस्राक्षसहस्रपाच्छब्दाभ्यां ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां ग्रहणम्; तेन सर्वज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वमभिप्रेतम्। स्वतस्तस्य शीर्षाक्ष्याद्यभावेऽपि तत्तच्छक्तिमत्त्वं बोध्यते' 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च', 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥१॥

'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥' (वा० सं० ३१।२; ऋ० सं० १०।९०।२)। एतद्विशेषणयुक्तः पुरुषः परमेश्वरः, यद्भूतं यज्जगदुत्पन्नमभूत्, यद्भाव्यमुत्पस्यमानं चकाराद् वर्तमानं च तत् त्रिकालं सर्वं विश्वं पुरुष एव कृतवानस्ति, नान्यः। नैवातो हि परः कश्चिज्जगद्रचयितास्तीति निश्चेतव्यम्। उतापि स एवेशान ईशनशीलः सर्वस्येश्वरोऽमृतत्वस्य मोक्षभावस्य स्वामी दातास्तीति, नैवैतद्दाने कस्यापि सामर्थ्यमस्तीति पुरुषो यद्यस्माद् अन्नेन पृथिव्यादिना जगता सहातिरोहति व्यतिरिक्तः सन् जन्मादिरहितोऽस्ति, तस्मात् स्वयमजः सन् सर्वं जनयति स्वसामर्थ्यादिकारणात् कार्यमुत्पादयति। नास्यादिकारणं किञ्चिदस्ति। किञ्च, सर्वस्यादिनिमित्तकारणं पुरुष एवास्तीति वेद्यम्' (पृ० १३४)।

सहस्राक्षत्व और सहस्रपादत्व भी समझना चाहिये। वह परमात्मस्वरूपी पुरुष, ब्रह्माण्डगोलकरूप अथवा प्रकृतिमण्डलरूप भूमि को परिवेष्टित (आवृत) कर अर्थात् वह (पुरुष) सबका कारण होने से अज्ञान और उसके कार्यभूत प्रपञ्च को आध्यासिक तादात्म्य सम्बन्ध से ही व्याप्त कर लेने के पश्चात् भी दश अंगुल परिमित देश का अतिक्रमण कर अवस्थित रहता है। अथवा व्याप्त किये हुए कारण सहित प्रपञ्च के दशगुणित या महापरिमाण वाले देश में अवस्थित रहता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्माण्डमण्डल के बाहर भी व्याप्त होकर स्थित रहता है। क्योंकि प्रकृति और विकार तो उसके एक देश में स्थित हैं। जैसे अनन्त आकाश के एक क्षुद्रप्रदेश में मेघमण्डल की स्थिति रहती है, वैसे ही भगवान् के अतिस्वल्प प्रदेश में प्रकृति और उसका विकारस्वरूप कार्यसमूह स्थित रहता है। श्रीबादरायण ने भी यही निर्णय किया है।

अथवा 'सहस्रशीर्ष' शब्द से शिरःस्थित चक्षुरादि इन्द्रिय समुदाय का भी ग्रहण किया जा सकता है। अथवा 'सहस्राक्ष' 'सहस्रपात्' शब्दों से ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों का ग्रहण करके उस परमेश्वर की सर्वज्ञान-क्रियाशक्तिमत्ता की ओर संकेत हो सकता है। कुछ श्रुतियों के आधार पर कहा जाता है कि उसके स्वयं अपने शीर्ष, अक्षि आदि नहीं हैं, तथापि यहाँ उसको तत्तच्छक्तिमत्ता बताई जा रही है ॥१॥

'(पुरुष एवे०) जो पूर्वोक्त विशेषण सहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है, वही जो जगत् उत्पन्न हुआ था, जो होगा और जो इस समय में है, इस तीन प्रकार के जगत् को रचता है। इससे भिन्न कोई दूसरा जगत् का रचने वाला नहीं है, क्योंकि वह (ईशानः) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है। (अमृत०) जो मोक्ष है, उसका देने वाला एक वही है, दूसरा कोई नहीं। वही परमेश्वर (अन्न०) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होकर स्थित है और इससे अलग भी है, क्योंकि उसमें जन्म आदि व्यवहार नहीं है, अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता। इसका आदिकारण कोई नहीं है। सबका आदि निमित्तकारण पुरुष ही है, ऐसा जानना चाहिये' (पृ० १३४)

इत्यादि यद् व्याख्यातम्, तदपि न युक्तम्, अध्याहारादिदोषग्रस्तत्वात्। वस्तुतस्तु कृतवानिति पदाध्याहारनैरपेक्ष्येण सामानाधिकरण्यमेवाभिप्रेतम्। इदमहङ्कारास्पदं फलचैतन्यव्याप्तिविषयत्वेनानुभूयमानं सर्वं स्थूल-सूक्ष्म-कारणात्मकं जगद् भूतं जातं भव्यमुत्पत्स्यमानं वर्तमानं च पुरुष एव पुरुषानतिरिक्तमेव, सर्वस्य तदात्मकत्वात्। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० उ० ६।८।७), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० उ० ३।१४।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। मृदेव घटः, समुद्र एव तरङ्गादिकम् इत्यादिवत्कार्यकारणभावेन, रज्जुरेव सर्प इत्यधिष्ठानाधिष्ठेयभावेन च सामानाधिकरण्योपपत्तेः। तेनैव सोऽमृतत्वस्येशानोऽपि सम्भवति, अमृतत्वस्य तदधीनत्वात्। नहि मोक्षः फलादिवद्दातुं शक्यः, स्वरूपभूतत्वात्। अधिष्ठानसाक्षात्कारेण कल्पितदेहाद्युपाधिबाधेनाधिष्ठानावशेषत्वस्यैव मोक्षपदार्थत्वात्।

यदपि—'अन्नेन पृथिव्यादिना जगता सहातिरोहति व्यतिरिक्तः सन् जन्मादिरहितोऽस्ति' इति, तदपि मन्दम्, सहेत्यध्याहारे मानाभावात्। अतिरोहतीत्यस्य व्यतिरिक्तार्थताऽसिद्धेश्च। तस्मादन्नेन निमित्तभूतेन प्राणिनां भोग्येन अतिरोहति कारणावस्थामतिक्रम्य जगदवस्थां प्राप्नोतीत्येवार्थः। जगदवस्थाप्राप्तिमन्तरा प्राणिनां भोग्यान्नलाभासम्भवात्।

यद्वा—कालत्रयस्येशानः, उतापि, अमृतत्वस्य देवभावस्यापीशानः। यद्वा पुरुष एव चेत्सर्वं तर्हि प्राप्तं तस्य प्रकृतेरिव परिणामित्वमित्याशङ्कायामाह—अमृतत्वस्य। मरणधर्मस्येशानः मुक्तेरपीशः, यो हि मोक्षेश्वरो न स म्रियते। न परिणामोपादानत्वम्, किन्तु विवर्तोपादानत्वमिह विवक्षितम्। तेन न तस्य परिणामित्वम्, किन्तु कूटस्थनित्यत्वमेवेति मन्तव्यम्।

वास्तविकार्थः—पुरुष एवेदमिति। यदिदं वर्तमानं तत्सर्वं पुरुष एव। यद् भूतमतीतं जगत्, यच्च भव्यं भविष्यद् जगत् तदपि पुरुष एव। यथाऽस्मिन् कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेहाः सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्य अवयवास्तथैव अतीतागामिनो-

दयानन्द की यह व्याख्या भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें अध्याहार प्रभृति अनेक दोष हैं। वास्तव में 'कृतवान्' इस पद का अध्याहार किये बिना सामानाधिकरण्य से ही यहाँ अन्वय अभिप्रेत है। यह सारा कर्मफल और चैतन्य की व्याप्ति के रूप में अनुभूयमान सारा स्थूल-सूक्ष्म-कारणात्मक जगत् जो कुछ हो चुका है, जो कुछ होने वाला है, अथवा जो कुछ है, वह सब-कुछ पुरुष ही है। इससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस तरह के छान्दोग्य श्रुति के वचन इसमें प्रमाण हैं। मिट्टी ही घड़ा है, समुद्र ही तरंग है, इसी तरह ये कारण ही कार्य हैं। रज्जु ही सर्प है, इस तरह से अधिष्ठान और अधिष्ठेय के आधार पर सामानाधिकरण्य बन जाता है। इसीलिये वह अमृतत्व का स्वामी भी हो जाता है, क्योंकि अमृतत्व उसी के अधीन है। आम, अमरूद की तरह मोक्ष किसी को दिया नहीं जा सकता, क्योंकि वह तो अपना स्वरूप ही है। अधिष्ठान का साक्षात्कार हो जाने पर कल्पित देहादि उपाधि का बाध हो जाने से अधिष्ठानमात्र की स्थिति रह जाना ही मोक्ष पद का अर्थ है।

'अन्न अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होकर स्थित है और जन्मादि से रहित हैं' यह व्याख्या भी उचित नहीं है, क्योंकि 'सह' पद का अध्याहार करने में कोई प्रमाण नहीं है। 'व्यतिरोहति' पद इस अर्थ में प्रयुक्त होता भी नहीं। इसलिये इसका यही अर्थ करना पड़ेगा कि निमित्तकारणभूत प्राणियों के भोग्य कर्म के कारण यह कारणावस्था को छोड़कर जगत्-अवस्था को प्राप्त करता है। जगदवस्था को प्राप्ति के बिना प्राणियों को भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति नहीं हो सकती।

अथवा तीनों कार्यों का स्वामी या अमृतत्व अर्थात् देवभाव का भी स्वामी, यह अर्थ भी किया जा सकता है। अथवा इस शंका के उत्तर के रूप में भी इसका व्याख्या की जा सकती है कि यदि पुरुष ही सब कुछ है, तब वह भी प्रकृति के समान परिणामी हो जायगा? नहीं, क्योंकि वह तो अमृतत्व अर्थात् अमरणस्वभाव मुक्ति का भी स्वामी है। मोक्षावस्था के ईश्वर का जो स्वरूप है, वह कभी मरता नहीं, वह परिणमनशील उपादान कारण नहीं है, अपि तु विवर्तस्वभाव का उपादान है। इसलिये वह परिणाम स्वभाव का न होकर कूटस्थ नित्य ही माना जाता है।

.... (ऋ० सं० १०.९०.२)

रपि कल्पयोर्द्रष्टव्यमित्यभिप्रायः । यथा वा इदानीन्तनं कार्यं कारणाभिन्नं तथैव अतीतानागतान्यपि कार्याणि तथाभूतान्येवेत्यर्थः । उत अपि च अमृतत्वस्य देवत्वस्य मोक्षस्य वा अयम् ईशानः स्वामी । यद् यस्मात्कारणाद् अन्नेन निमित्तभूतेन प्राणिनां भोग्यान्नेन अतिरोहति स्वकीयां कारणावस्थामतिक्रम्य जगदवस्थां प्राप्नोति, तस्मात् प्राणिनां कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वीकाराद् नेदं तस्य वस्तुत्वम् ।

पुरुषसूक्तप्रकरणे मोक्षधर्मे—'अजाज्जातस्य भूतस्य मनुष्यादेरकारणात् । निर्वाणदायी भवति कृपया पुरुषोत्तमः ।।' इति । अमृतत्वस्य परमपदस्य ईशानो यत्परमपदम् अत्यन्तं नित्यापूर्वमिव प्रादुर्भवति लीलाविभूतिमतिक्रम्य रोहति प्रकाशते ।।२।।

'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।।' (वा० सं० ३१।३; ऋ०सं० १०।९०।३)। पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्तमानावस्थो यावान् संसारोऽस्ति तावान् महिमा वेदितव्यः। ननु एतावानस्य महिमास्ति चेत् तर्हि तस्य महिम्नः परिच्छेद इयत्ता जातेति गम्यते । अत्र ब्रूते—अतो ज्यायांश्च पूरुष इति। नैतावन्मात्र एव महिमास्ति, किं तर्हि—अतोऽप्यधिकतयो महिमाऽनन्तस्तस्यास्तीति गम्यते।अत्राह—(पादोऽस्य)। अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य विश्वानि प्रकृत्यादिपृथिवीपर्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः पादोऽस्ति, एकस्मिन् देशांशे सर्वं विश्वं वर्तते । त्रिपादस्यामृतं दिवि । अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वरूपे अमृतं मोक्षसुखमस्ति । तथास्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगदस्ति । प्रकाश्यमानं जगदेकगुणमस्ति, प्रकाशकं च तस्मात् त्रिगुणमिति । स्वयं च मोक्षस्वरूपः सर्वाधिष्ठाता सर्वोपास्यः सर्वानन्दः सर्वप्रकाशकोऽस्ति' (पृ० १३५)।

इति यद् व्याख्यातं तत्रोच्यते—यावान् संसार इत्यत्र संसारपदेन किं गृह्यते ? नित्यानित्यदृश्यादृश्यसाधारणं ब्रह्माण्डरूपमुत कार्यमात्रम् ? नाद्यः, नित्यानां जीवानां नित्यायाः प्रकृतेश्च परात्ममहिमत्वायोगात्, तन्निर्मितत्वे

अर्थ—पुरुष एवेदमिति । यह जो कुछ भी वर्तमान (विद्यमान) है, वह सब 'पुरुष' ही है । जो अतीत (भूतकालिक) था तथा भविष्यत्कालिक (आगामी) होगा, वह भी पुरुष ही है । तात्पर्य यह है कि इस कल्प (सृष्टि) में जैसे वर्तमान सभी प्राणियों के शरीर विराट् पुरुष के अवयव हैं, वैसे ही अतीत और आगामी कल्पों में भी समझना चाहिये । अथवा जैसे इस समय का कार्य अपने कारण से अभिन्न हैं, वैसे ही अतीत और अनागत के कार्यों को भी समझना चाहिये । दूसरी बात यह भी है कि देवत्व या मोक्ष का यह स्वामी है, क्योंकि प्राणियों के निमित्तभूत भोग्य अन्न के द्वारा अपनी कारणावस्था का अतिक्रमण कर जगदवस्था को प्राप्त करता है । जगदवस्था को उसका प्राप्त होना वास्तविक नहीं है, वह तो कर्मफल का भोग प्राणियों को प्राप्त हो सके, इस लिये जगदवस्था को स्वीकार करता है ।

पुरुष सूक्त प्रकरण में मोक्षधर्म में कहा है—'अजन्मा भगवान् से उत्पन्न हुए मनुष्यादि प्राणियों पर भगवान् पुरुषोत्तम अकारण ही कृपा करके उन्हें निर्वाण देता है ।' अमृतत्वरूप परमपद का स्वामी, अत्यन्त नित्य अपूर्व की तरह जो परम पद सहज आविर्भूत होता है, वही लीला विभूति का अतिक्रमण कर प्रकाशमान होता है ।।२।।

'(एतावानस्य) तीनों कालों में जितना संसार है, वह सब इस पुरुष की ही महिमा है । प्रश्न—जब उसकी महिमा का परिमाण है, तो अन्त भी होगा ? उत्तर—(अतो ज्यायांश्च पुरुषः) उस पुरुष की अनन्त महिमा है, क्योंकि (पादोऽस्य विश्वा भूतानि) यह जो सम्पूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो रहा है, वह इस पुरुष के एक देश में बसता है । (त्रिपादस्यामृतं दिवि) और जो प्रकाशगुण वाला जगत् है, वह उससे तिगुना है । मोक्षसुख भी उसी [पुरुष के द्योतनात्मक] ज्ञानस्वरूप प्रकाश में है और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला है' (पृ० १३५) ।

पुरुष के तृतीय मन्त्र की स्वामी दयानन्द की यह व्याख्या भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'यावान् संसारः' इस वाक्य में आये संसार पद से किसका ग्रहण होता है ? नित्य और अनित्य, दृश्य और अदृश्य साधारणतः सारा ब्रह्माण्ड इससे गृहीत होता है, अथवा

तेषां नित्यत्वविरोधात् । ननु सर्वेशितृत्वे तस्य माहात्म्यं नोत्पादकमिति चेन्न, विकल्पासहत्वात् । सर्वेशितृत्वं ब्रह्मणः स्वरूपं निर्धर्मके काल्पनिकधर्मापादनमुत वास्तविकधर्मापादनम् ? नाद्यः, विकल्पासहत्वात्, सर्वेशितृत्वं निरपेक्षं सापेक्षं वा ? नाद्यः, वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात् । वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति' (ब्र० सू० २।१।३४) इति न्यायविरोधाच्च । तस्माद् धर्माधर्मसापेक्षस्यैवेश्वरस्य प्रपञ्चनिर्मातृत्वं सम्भवति न निरपेक्षस्य । नान्त्यः, सापेक्षस्य निरङ्कुशेश्वरत्वासम्भवात् । नहि नित्यं परिपूर्णमप्रतिहतशक्ति कार्योत्पादने सहकार्यन्तरमपेक्षते । न च निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्यधर्मापादनं सम्भवति, वदतो व्याघातात् । तथा च न नित्यानित्यसाधारणस्य संसारस्य त्वद्रीत्या परमेशमहिमतोपपद्यते । न वा कार्यमात्रं प्रति स्वतन्त्रस्य निरपेक्षस्य परमेश्वरस्य महिमतेशितृते च सम्भवतः, उच्चावचमध्यमसुखदुःखभेदवत् प्राणभृत्प्रपञ्चं सुखदुःखकारणं सुधाविषादिमयं चानेकविधं विरचयतः कर्मसापेक्षस्यैव युक्तत्वेन वैषम्यनैर्घृण्यानापातात् ।

यदपि च महिम्न इयत्तामाशङ्क्य 'अतो ज्यायांश्च पूरुषः' इत्यनेन समाधानावसरे नैतावन्मात्र एव महिमा किं तर्हि अतोऽप्यधिकतमो महिमाऽनन्तस्तस्यास्तीति, तत्तु वेदार्थानभिज्ञस्यैव शोभते, तत्र पुरुषस्यैव ज्यायस्त्वोक्तेः । न च महिम्नोऽपि पुरुषत्वमेव, तथात्वे पुरुषद्वयप्रसङ्गापातात् । अत एव चकारो नात्र भिन्नक्रमः, किन्त्ववधारणार्थः । अतो ज्यायानेव महिमा ।

यदपि च—'विश्वानि प्रकृत्यादीनि पृथिवीपर्यन्तानि सर्वाणि भूतानि एकः पादोऽस्ति, एकस्मिन् देशांशे सर्वं जगद्वर्तते' इति, तदपि विशृङ्खलम्, प्रकृतिमहदादीनां भूतत्वाभावात् । न च प्राणिपदेन प्राणिन एव विवक्षिता इति वाच्यम्, तथात्वेऽपि प्रकृत्यादिपृथिवीपर्यन्तानामिति पदोपन्यासप्रयासवैयर्थ्यात् । एवमेव 'एकस्मिन् देशांशे सर्वं विश्वं

केवल कार्य जगत् ही ? इनमें पहला पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि नित्य जीव और नित्य प्रकृति को परमात्मा की महिमा नहीं माना जा सकता, क्योंकि इनको भी यदि परमेश्वर की रचना माना जायगा, तो ये अनित्य हो जायेंगे । इसका यदि यह उत्तर दिया जाय कि ईश्वर का माहात्म्य इनको उत्पन्न करने में नहीं है, किन्तु वह सबका स्वामी है, यही उसकी ईश्वरता है, तो ऐसा मानने पर भी आगे दिये गये विकल्प का उत्तर नहीं बनता । जैसे कि सर्वेश्वरता यदि ब्रह्म का स्वरूप है, तो यह उस धर्मरहित ब्रह्म में काल्पनिक धर्म का आरोप किया जाता है, अथवा वास्तविक ? ब्रह्म में काल्पनिक धर्म का आरोप नहीं हो सकता, क्योंकि यहां भी पुनः विकल्प उठ खड़ा होता है कि सर्वेश्वरता निरपेक्ष है, या सापेक्ष ? निरपेक्ष मानने पर ब्रह्म में विषम दृष्टि और निर्दयता का आरोप आवेगा और वेदान्तसूत्र से विरोध भी होगा । इसलिये धर्माधर्मसापेक्ष ईश्वर को ही प्रपंच का निर्माता माना जा सकता है, निरपेक्ष को नहीं । अब सापेक्ष ईश्वर को जगत् का कर्ता माना जाता है, तो उसमें अप्रतिहत ऐश्वर्य कैसे संभव होगा । नित्य, परिपूर्ण, अप्रतिहत शक्ति ईश्वर को किसी कार्य की उत्पत्ति में किसी की सहायता अपेक्षित नहीं रहती । निर्धर्मक (धर्म रहित) ब्रह्म में सत्य धर्म की स्थिति मानना परस्पर विरुद्ध बात हुई । इस तरह से आपके मत के अनुसार नित्यानित्य साधारण संसार परमेश्वर की महिमा नहीं माना जा सकता और न कार्यमात्र की सृष्टि के प्रति स्वतन्त्र, निरपेक्ष, परमेश्वर कारण ही माना जा सकता है, क्योंकि ऊँचा-नीचा, मध्यम श्रेणी का सुख-दुःख के भेद वाले प्राणियों से भरा यह विषम संसार किसी के लिये सुखकर किसी के लिये दुःखकर, किसी को अमृत की भांति और किसी को विष की भांति प्रतीत होता है । ऐसा संसार कर्मसापेक्ष यदि हो, तभी ईश्वर के ऊपर विषमता और निर्दयता का परिहार किया जा सकता है ।

व्याख्याकार ने शंका उठा कर उसका समाधान करते समय कहा है कि उस पुरुष की इतनी ही महिमा नहीं है, किन्तु उसकी तो इससे भी अधिक अनन्त महिमा है, किन्तु यह कथन वेदार्थ को न जानने वाले को ही शोभा दे सकता है, क्योंकि इस मन्त्र में पुरुष की ही महत्ता प्रतिपादित है । महिमा को ही पुरुष नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर पुरुष में द्वैत मानना पड़ जायगा । इसलिये चकार यहाँ अवधारण के अर्थ में माना जायगा, भेद का बोधक नहीं ।

'प्रकृति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त सभी जगत् उसका एक पाद है, वह इस पुरुष के एक देश में बसता है', यह कथन भी असंगत है, क्योंकि प्रकृति, महत् आदि को भूत नहीं कहा जाता । भूत पद को प्राणियों का वाचक मानने पर भी 'प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त' इन पदों को व्याख्या में रखना व्यर्थ हो जायगा । इसी प्रकार 'इस पुरुष के एक देश में सारा विश्व बसता है' यह कथन भी

वर्तते' इत्यपि निरर्थकम्, एकदेशनिखिलार्थबोधकदेश-सर्वशब्दाभ्यामेवोपपत्तौ 'अंश' 'विश्व' प्रयोगवैयर्थ्याच्च। यच्च—'अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वरूपे अमृतं मोक्षसुखमस्ति, तथास्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगदस्ति, प्रकाश्यमानं जगदेकगुणमस्ति प्रकाशकं च तस्मात्त्रिगुणमस्ति' इति, तदपि व्यामोहविजृम्भितम्, दिवोत्येकस्यैव शब्दस्यार्थद्वैविध्ये प्रमाणाभावात्, वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च। एवममृतमित्यस्य त्रिपाद्विशेषणत्वे सम्भवति प्रधानद्वयानुपपत्तेः। त्रिपादित्यस्य त्रिगुणत्वमर्थ इत्यत्रापि बीजं मृग्यम्। द्योतकः संसारः कीदृशः कथं च तत्र त्रिपाद् जगद्वर्तते, एकगुणं जगत्किं भवति, त्रिगुणं च जगत्कीदृशं भवति, तत्र च किं मानमिति वक्तव्यम्।

केचित्तु—'त्रिपात् पुनस्त्रयोंऽशा अस्य पुरुषस्य अमृतमृग्यजुःसामलक्षणम् आदित्यलक्षणं वा दिवि द्योतते' इत्याहुः।

वास्तविकार्थः—एतावानस्य महिमेति। अत्र केचिद् भूतानि अचित्संसृष्टा जीवास्तस्य पुरुषस्य पादस्तुरीयांशः। दिवि परमव्योमपदवाच्ये समस्तसमष्टितत्त्वबहिर्भूताप्राकृतस्थानविशेषरूपे परमपदे अमृतं जरामरणादिरहितं नित्यवस्तुजातमस्य त्रिपात् पादत्रयम्। भोग्य-भोगोपकरण-भोगस्थानरूपस्य त्रिविधस्य वस्तुनः सत्त्वात् तेषां पादत्रयव्यपदेशः। यद्वा—जगदन्तर्गतवस्त्वभिमानिनाम् अस्त्रभूषणादिरूपाणां नित्यानां भगवदनुभवमात्रपराणां नित्यानां मुक्तानां च परमपदे सत्त्वात्तेषां त्रिपात्त्वव्यपदेशः। अथवा—पादः भगवदाश्रयायाः सृष्टयादिशक्तेरेकदेशः। परमपुरुषशक्तिलेशविजृम्भितमिदं जगदित्यर्थः। तथा च पराशरः—'यस्यायुतायुतांशांशे विश्वसृष्टिरियं स्थिता' इति। अस्य त्रिपाद् अधिकांशस्तु अमृतम् अमरणधर्मकं नित्यमुक्तरूपं दिवि परमव्योम्नि, भासत इति शेषः, 'जागृवांसः समिन्धते'

निरर्थक है, क्योंकि एकदेश और सम्पूर्ण अर्थ के बोधक सर्वदेश शब्दों से ही इसकी उपपत्ति हो सकती थी, तब एक मन्त्र में अंश और विश्व पदों का ग्रहण करना व्यर्थ हो जायगा। 'इसके द्योतनात्मकस्वरूप में मोक्ष सुख विद्यमान है। इसके इस स्वरूप में तीन पाद वाला जगत् है। प्रकाश्यमान जगत् एक अंश वाला है और प्रकाशक उससे तिगुना है' यह कथन भी अज्ञान को ही उजागर करने वाला है, क्योंकि एक ही 'दिवि' शब्द के दो अर्थ किये जाय, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसमें वाक्यभेद दोष की भी प्रसक्ति होगी। इसी तरह अमृत पद त्रिपात् का विशेषण है, अतः यहाँ दो प्रधान विषय प्रतिपादित हैं भी नहीं। त्रिपात् पद का त्रिगुण अर्थ करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। द्योतक संसार कैसा है? उसमें त्रिपात् जगत् कैसे रहता है? एक गुण वाला जगत् क्या है, और त्रिगुणात्मक जगत् कैसा होता है? इसमें प्रमाण क्या है? इन सबका समाधान आपको बताना पड़ेगा।

कुछ लोगों का कहना है कि इस पुरुष का अमृत लक्षण त्रिपात् ऋक्, यजुः, साम लक्षण वेदत्रयी अथवा आदित्य लक्षण स्वरूप दिव्य लोक में प्रकाशित है।

... . (ऋ. सं० १०.९०.३)

अर्थ—एतावानस्य महिमेति। इसका अर्थ कुछ विद्वान् इस प्रकार करते हैं—अचित् से संसृष्ट जीव, उस पुरुष का तुरीय (चतुर्थ) अंश (पाद) है और 'परम व्योम' पद से जिसे कहा जाता है और जो सम्पूर्ण समष्टि तत्त्व से बहिर्भूत, अप्राकृत स्थानविशेषरूप परम पद है, उसमें जो जरामरण आदि से रहित नित्य वस्तुजात है, वह उस पुरुष के तीन पैर (पाद) हैं। भोग्य, भोग्योपकरण, भोगस्थानरूप तीन प्रकार की वस्तुएँ होती हैं, अतः उनके लिये 'त्रिपात्' (पादत्रय) शब्द का प्रयोग किया गया है।

अथवा—जगत् के अन्तर्गत वस्तुओं के अभिमानी और अस्त्र-भूषण आदि से युक्त भगवदनुभव की प्राप्ति में ही निरन्तर लगे हुए नित्य मुक्तों की सत्ता परम पद में होने से उनको 'त्रिपात्' शब्द से यहाँ बताया गया है।

अथवा—पाद का अर्थ है भगवान् के आश्रय से रहने वाली सृष्टयादि शक्ति का एकदेश। अर्थात् परम पुरुष की शक्ति के लेशमात्र से विजृंभित (विलसित) हुआ यह जगत् है। इसी आशय को पराशर कहते हैं—'जिसके अयुत के भी अयुतांश के एक अंश में यह विश्व सृष्टि स्थित है'। इस परम पुरुष का अधिक अंश (त्रिपात्) जो अमरण धर्मवाला तथा नित्यमुक्त है, वह परम व्योम में उद्भासित होता रहता है। इसी बात को 'जागृवांसः समिन्धते' यह श्रुति बता रही है।

इति श्रुतेः। अथवा—त्रिशब्दो बहुपरः, पादशब्दश्च गुणपरः। तथा च अनन्तज्ञानानन्दादिगुणविशिष्टमित्यर्थः। अथवा—वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्धात्मकस्य भगवतस्तुरीयोऽनिरुद्धांशः सर्वाणि भूतानि, अवशिष्टं च त्रिपाद्रूपं दिवि नाकपृष्ठे, निवसतीति शेष इत्यर्थमाहुः।

एतावानस्य महिमा सर्वं पूर्वोक्तमस्य पुरुषस्य महिमा वैभवम्। यद्यपि तद्वैभवेयत्ता तु नास्त्येव; तथापि अपरिच्छिन्नत्वस्य एतत्परिच्छेदे बाधाभावात्। अतः अपरिच्छिन्नज्ञानशक्त्यादिमत्त्वसर्वान्तर्यामित्वरूपाद् हेतोः पुरुषो ज्यायान्। अथवा—अस्य प्रपञ्चस्य एतावान् महिमा पुरुषश्चातो ज्यायानेव। अथवा सर्वमपि पूर्वोक्तस्य पुरुषस्य महिमा सामर्थ्यमात्रम्, अतः सर्वस्मादस्मात् पुरुषो ज्यायान्। ज्यायस्त्वमेव प्रपञ्चयति—पादोऽस्य विश्वा भूतानि अस्य पुरुषस्येति भावः।

सम्प्रदायविदस्त्वित्थं वर्णयन्ति—अतीताऽनागतवर्तमानरूपं जगद् यावदस्ति एतावान् सर्वोऽप्यस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः, न तु तस्य वास्तवं स्वरूपम्। वास्तवस्तु पुरुषः, अतः महिम्नोऽपि जगज्जालाद् ज्यायान् अतिशयेनाधिकः। तदेव प्रपञ्च्यते—अस्य पुरुषस्य विश्वा भूतानि कालत्रयवर्तीनि सर्वाणि भूतानि प्राणिजातानि पादश्चतुर्थांशः। अस्य पुरुषस्यावशिष्टं त्रिपात्स्वरूपम् अमृतं विनाशरहितं सद् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे, व्यवतिष्ठत इति शेषः। यद्यपि च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१) इत्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताभावात् चतुष्पात्त्वमपि निरूपयितुमशक्यम्, तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाऽल्पमिति विवक्षितत्वात् पादत्वोपन्यासः ॥३॥

'त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥' (वा० सं० ३१।४; ऋ० सं० १०।९०।४)। अयं पुरुषः परमेश्वरः पूर्वोक्तस्य त्रिपादुपलक्षितस्य सकाशाद् ऊर्ध्वमुपरिभागेऽर्थात्

अथवा—'त्रि' शब्द बहु (विपुल) परक है और 'पाद' शब्द 'गुण' परक है। निष्कर्ष यह है कि अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द आदि गुणों से विशिष्ट वह परम पद है।

अथवा—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध स्वरूप भगवान् के अनिरुद्धांश (तुरीयांश) रूप समस्त भूत (प्राणी) हैं और उनसे बचा हुआ (अवशिष्ट) त्रिपात् रूप अंश नाकपृष्ठ (स्वर्ग पृष्ठ) पर स्थित है। इस प्रकार कुछ लोक अर्थ करते हैं।

एतावानस्य महिमा। पूर्व वर्णित सब कुछ इस पुरुष का ही वैभव (महिमा) है; यद्यपि उसके वैभव की कोई मर्यादा (अवधि) नहीं, तथापि इस वर्णित मर्यादा (सीमा, अवधि) से उसके वैभव की निरवधिकता में कोई हानि नहीं हो पाती। अतः अपनी निःसीम ज्ञानशक्ति तथा अन्तर्यामिता के कारण वह पुरुष सबसे श्रेष्ठ है। अथवा—इस प्रपञ्च की इतनी महिमा है, किन्तु उससे भी अधिक महिमाशाली होने से पुरुष ही श्रेष्ठ प्रतीत होता है। अथवा पूर्व प्रतिपादित सभी कुछ इस पुरुष का ही सामर्थ्य (महिमा) है। अतः उस समस्त महिमा से विशिष्ट प्रपंच की अपेक्षा पुरुष की ही श्रेष्ठता (ज्यायस्त्व) समझ में आती है। समस्त भूत (समस्त भौतिक सृष्टि) इस पुरुष का एक (अंश) पाद मात्र है। यही उसकी श्रेष्ठता है, अर्थात् सम्पूर्ण प्रपञ्च उस पुरुष के एक पाद (अंश) में समा गया है।

किन्तु साम्प्रदायिक विद्वान् यह कहते हैं कि भूत-भविष्यत्-वर्तमान जितना भी जगत् है, वह सब इस पुरुष का अपना विशिष्ट सामर्थ्य है, वह उसका सच्चा स्वरूप नहीं है। वस्तुतः पुरुष तो अपनी इस महिमा (शक्ति) से भी कहीं अधिक श्रेष्ठ है। उसी को विस्तृत रूप से बताते हैं—कालत्रयवर्ती सभी प्राणिसमूह इस पुरुष का एक चतुर्थांश है। इस पुरुष के अवशिष्ट तीन अंश विनाश से रहित हैं, वह स्वप्रकाशस्वरूप में स्थित रहता है। यद्यपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा प्रतिपादित परब्रह्म की कोई इयत्ता न होने से उसके चतुष्पात्त्व का निरूपण करना असंभव है, तथापि यह जगत् ब्रह्मस्वरूप की अपेक्षा स्वल्प है, इस तात्पर्य से ही पाद शब्द का उपन्यास किया गया है ॥३॥

'त्रिपादूर्ध्वं०' इत्यादि मन्त्र का अर्थ इस तरह से किया गया है—'पुरुष जो परमेश्वर है, वह पूर्वोक्त त्रिपाद् जगत् से ऊपर भी व्यापक हो रहा है। यह सदा प्रकाशस्वरूप सबके भीतर व्यापक और सबसे अलग भी है। (पादोऽस्येहाभवत् पुनः) इस

पृथग्भूतोऽस्ति । एकपादुपलक्षितं यत्पूर्वं जगदस्ति तस्मादपीहास्मिन् संसारे स पुरुषः पृथगभवद् व्यतिरिक्त एवास्ति । स च त्रिपात् संसार एकपाच्च मिलित्वा चतुष्पाद् भवति । अयं सर्वः संसार इहास्मिन् परमात्मन्येव वर्तते, पुनर्लय-समये तत्सामर्थ्ये कारणे प्रलीनश्च भवति । तत्रापि स पुरुषः अविद्यान्धकारादज्ञानजन्ममरणज्वरादिदुःखाद् ऊर्ध्वं पर उदैत् उदितः प्रकाशितो वर्तते । ततस्तत्सामर्थ्यात् सर्वमिदं विश्वमुत्पद्यते । किञ्च, तत् (साशनानशने) यदेकमशनेन भोजनकरणेन सह वर्तमानं जङ्गमं जीवचेतनादिसंहितं जगद् द्वितीयमनशनमविद्यमानमशनं यस्मिन् तत्पृथिव्यादिकं च यज्जडं जीवसम्बन्धरहितं जगद् वर्तते तदुभयं तस्मात् पुरुषस्य सामर्थ्यकारणादेव जायते । यतः स पुरुष एतत् त्रिविधं जगद् विविधतया सुष्ठु रीत्या सर्वात्मतयाऽञ्चति । तस्मात् सर्वं द्विविधं जगदुत्पाद्य अभिव्यक्रामत् सर्वतो व्याप्तवानस्ति' (पृ० १३५-१३६) इति यद् व्याख्यातम्, अत्राप्युच्यते—मूले 'त्रिपात्' 'पुरुषः' इत्युभयोः पदयोर्भिन्नप्रवृत्ति-निमित्तकत्वात् समानविभक्तिकत्वाच्च एकार्थनिष्ठत्वलक्षणं सामानाधिकरण्यमेव युक्तम्, तदपहाय त्रिपात्पदस्योपलक्षणत्वं मत्वा तस्य विभक्त्यन्तरपरिणमने श्रुतत्यागाश्रुतकल्पने स्याताम् । एवं 'पादोऽस्येहाभवत् पुनः' इत्यस्याप्येक-पादुपलक्षितं यज्जगदस्ति, तस्मादपि पुरुषो व्यतिरिक्त इत्यत्रापि 'तस्मात् पृथक्' इत्युदक्षरमेव । एवं प्रकृतिप्रत्यया-नपेक्षेण स्वातन्त्र्यानुसरणे कस्यापि वाक्यस्य यथेष्टार्थकरणे सर्वत्राऽराजकतैव प्रसज्येत । तथात्वे त्वदीयभाष्यमपि त्वदभिमतवैपरीत्येन योजयितुं शक्येत । चतुष्पात् पुरुषो भवति न तु चतुष्पात् संसारः । अयं सर्वः संसार इहास्मिन् परमात्मन्येव वर्तत इत्यस्यार्थस्य बोधकमपि पदं मन्त्रे नास्ति । न चेहशब्देन परमात्मबोधः कर्तुं शक्यते, इहपदेना-स्मिन् संसारे इत्यर्थस्योक्तत्वात् । न चोभयमपि तदर्थः, 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृतदेवार्थं गमयति' इति शाब्दन्याय-विरोधात् । सामर्थ्ययुक्तात् कारणात् कार्यं जायते, तत्रैव च प्रलीयत इति तु प्रसिद्धम् । परमेश्वरस्य सामर्थ्यात् कार्यं

पुरुष की अपेक्षा से यह सब जगत् किंचिन्मात्र देश में है । इस संसार के जो चार पाद होते हैं, वे सब परमेश्वर के बीच में ही रहते हैं । इस स्थूल जगत् का जन्म और विनाश सदा होता रहता है । पुरुष तो जन्म-विनाश आदि धर्म से अलग और सदा प्रकाशमान है । (ततो विष्वङ् व्यक्रामत्) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है । (साशनान०) यह दो प्रकार का है—एक चेतन, जो कि भोजनादि के लिये चेष्टा करने वाला जीवसंयुक्त है और दूसरा अनशन, अर्थात् जड़, भोजन के लिये चेष्टा न करने वाला जीवसम्बन्ध रहित पृथिव्यादिक जड़ जगत् है । वह दोनों प्रकार का जगत् उस पुरुष के अनन्त सामर्थ्य से ही उत्पन्न होता है । वह पुरुष सर्वहितकारक होकर उस दो प्रकार के जगत् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है । वह पुरुष इसका बनाने वाला संसार में सर्वत्र व्यापक होकर धारण करके देख रहा है और वही सब जगत् का सब प्रकार से आकर्षण कर रहा है' (पृ० १३६) ।

इस पर हमारा कथन है कि मूल मन्त्र में त्रिपात् और पुरुष ये दोनों पद भिन्न प्रवृत्ति-निमित्त वाले हैं, साथ ही समान विभक्ति वाले भी हैं, अतः एक ही अर्थ में इनकी स्थिति होने से इनका सामानाधिकरण्य ही ठीक है । इस सामानाधिकरण्य को न मानकर त्रिपाद् पद की उपलक्षणता स्वीकार कर उसकी विभक्ति बदलने में श्रुत का त्याग और अश्रुत की कल्पना करनी पड़ेगी, जो कि उचित नहीं है । इस तरह से 'पादोऽस्ये०' यहाँ भी एक पाद से उपलक्षित जगत् से भी पुरुष व्यतिरिक्त है, यह अर्थ करना भी मन्त्र के अक्षरों से प्राप्त नहीं होता, क्योंकि व्यतिरिक्त अर्थ का बोधक कोई पद नहीं है । प्रकृति और प्रत्यय का विचार किये बिना इस तरह का मनमाना अर्थ करने पर किसी भी वाक्य का यथेष्ट अर्थ करने पर शास्त्रों में सर्वत्र अराजकता, अव्यवस्था हो जायगी । इस स्थिति में तो आपके भाष्य का भी आपके मत के विपरीत अर्थ किया जा सकता है । पुरुष चार पाद वाला माना जाता है, संसार नहीं । यह सारा संसार इस परमात्मा में विद्यमान है, इस अर्थ का बोधक पद भी मन्त्र में नहीं है । यहाँ 'इह' शब्द से परमात्मा का बोध नहीं हो सकता, किन्तु इससे तो संसार का ही बोध होता है । 'इह' पद संसार और ईश्वर दोनों का बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर 'एक बार बोला गया शब्द एक ही अर्थ का बोधक होता है' इस न्याय का विरोध होगा । सामर्थ्यवान् कारण से कार्य पैदा होता है और उसी में लीन हो जाता है, ऐसा लोक में प्रसिद्ध है । परमेश्वर के सामर्थ्य से कार्य पैदा होता है और उसी

जायते तत्रैव च प्रलीयत इति तु प्रमाणापेक्षमेव। नहि कुलालमन्तरा कुलालसामर्थ्येन घट उत्पद्यते न वा तत्र प्रलीयते। उपादानकारण एव पृथिव्यादौ घटादिकार्यलयो दृश्यते, न निमित्ते कुलालादौ। पूर्वमूर्ध्वंपदस्योपरिभाग इत्यर्थः कृतः, तस्यैवोर्ध्वंशब्दस्याविद्यादिदुःखादूर्ध्वः पर उदैत् इत्यर्थकरणमपि पूर्वोक्तशाब्दन्यायं विरुणद्धि। तत इति पदेन तत्सामर्थ्यात् सर्वं विश्वमुत्पद्यत इत्यप्यर्थो न युक्तः, सामर्थ्यस्याप्रकृतत्वात्। द्विविधं जगद् विविधतया सुष्ठुरीत्या सर्वात्मतयाऽञ्चतीत्यादि न युक्तम्, तस्यार्थस्याभिव्यक्रामदित्यनेनैव गतार्थत्वात्। आभिमुख्येन विविधतया क्रमणस्यापि तदर्थानतिरिक्तत्वात्। मूले तु 'व्यक्रामत्' इत्येव पाठः। त्वदीये ग्रन्थे 'अभिव्यक्रामत्' इति पाठः। स किंमूलक इत्यपि वक्तव्यम्।

वस्तुतस्तु मन्त्रस्यायमर्थः—योऽयं त्रिपात् पुरुषः संसारस्पर्शरहितब्रह्मरूपः, अयमूर्ध्वं उदैत्, अस्मादज्ञानकार्यात् संसाराद् बहिर्भूतोऽत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान्। तस्यास्य पादो लेशो जगद्रूप इह मायायां पुनरभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति। ततो मायायामागत्यानन्तरं विष्वङ् विषु सर्वत्राञ्चतीति विष्वङ् देवतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यक्रामत् व्याप्तवान्। किं कृत्वा—साशनानशने अभि अभिलक्ष्य। अशनेन सह वर्तमानं साशनमशनादिव्यवहारोपेतं चेतनप्राणिजातम्, अनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम्, ते अभिलक्ष्य स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः।

वास्तविकार्थः—त्रिपादूर्ध्वं उदैदिति। त्रिपात् अपरिच्छिन्नज्ञानशक्त्यादिमान् वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्नरूपो नित्यमुक्तादिभिः परिचर्यमाणः। ऊर्ध्वे प्रकृतिमण्डलादुपरि परमव्योम्नि वैकुण्ठे। उदैत् उदगच्छत्। तस्यैवंभूतस्य जगत्स्रष्टृत्वादिकं न स्वप्रयोजनाय भवति, न वाऽन्यनियमाधीनम्, किन्तु कृपामूलकम्। पादोऽस्य इह लीलाविभूतौ

में लीन हो जाता है, इसके लिये तो प्रमाण बताना पड़ेगा। कुलाल (कुम्हार) के न रहने पर केवल उसके सामर्थ्य से न तो घट पैदा ही होता है और न उसमें लीन ही होता देखा गया है। पृथिवी प्रभृति उपादानकारण में ही घट आदि कार्य का लय होता है। कुलाल आदि निमित्तकारण से नहीं। पहले ऊर्ध्व पद का अर्थ ऊपर वाला भाग किया गया है, उसी ऊर्ध्व शब्द का अर्थ अब अविद्या प्रभृति दुःखों से ऊपर स्थित परमात्मा अर्थ करना पूर्वोक्त शाब्द न्याय के विरुद्ध है। 'ततः' पद से उस परमात्मा के सामर्थ्य से सारा विश्व उत्पन्न होता है, यह अर्थ करना भी गलत है, क्योंकि सामर्थ्य का यहाँ कोई प्रसंग नहीं है। दो तरह का जगत् विविध रूपों में भलीभाँति सब रूपों में व्याप्त हो जाता है, यह अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह अर्थ तो 'अभिव्यक्रामत्' पद से ही प्राप्त हो जायगा, क्योंकि आभिमुख्य अर्थात् विविध रूप से आक्रमणशील हो गया, इस अर्थ में उससे कोई भिन्नता नहीं प्रतीत होती। मूल में तो 'व्यक्रामत्' पाठ है। इसके स्थान पर आपने 'अभिव्यक्रामत्' पाठ की कल्पना किस आधार पर की है?

वास्तव में मन्त्र का अर्थ यह है—यह त्रिपात् पुरुष, जो कि संसार के स्पर्श से रहित ब्रह्म का ही स्वरूप है, इस अज्ञान के कार्य संसार से बाहर रहकर, इसके गुण-दोष से असंपृक्त रह कर अपने उत्कृष्ट स्वात्मस्वरूप में अवस्थित है। उस पुरुष का एक लेश (पाद = अंश) यह जगत् माया (अविद्या = अज्ञान) में पड़कर बार-बार सृष्टि-संहार के चक्र में पड़ता है, पैदा होता है और मरता है। माया में आने के बाद यह देव, तिर्यक् आदि नाना रूपों में व्याप्त हो जाता है। क्या करके? साशन और अनशन को अभिलक्षित करके। अशन के साथ रहने वाला अर्थात् भोजन के सहारे जीवन-व्यवहार चलाने वाला चेतन प्राणी साशन कहलाता है और भोजन-व्यवहार से रहित अचेतन पर्वत, नदी आदि अनशन कहलाते हैं। वह पुरुष इन सब रूपों को धारण कर स्वयं ही विविध आकार में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है।

.... (ऋ० सं० १०. ९०. ४)

अर्थ—त्रिपादूर्ध्व उदैदिति। निःसीम ज्ञानशक्ति आदि से युक्त वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्नस्वरूपी त्रिपात् पुरुष जिसकी नित्यमुक्त योगिजन आदि सेवा किया करते हैं, वह प्रकृति मण्डल से ऊपर परम व्योमरूप वैकुण्ठ में उद्गत होता है। इस प्रकार के उस पुरुष का जगत् की सृष्टि करने में अपना कोई प्रयोजन नहीं और न ही वह उसके करने में अन्य किसी नियम के पराधीन है, बल्कि

अभवत् अवातरत् । तदुक्तं वैकुण्ठसंहितायाम्—'सर्वव्यापी विष्णुः स्वाच्छरीराद् जगत् त्रातुं सङ्कर्षणमभावयत्, स प्रद्युम्नं सोऽप्यनिरुद्धमभावयत् । तस्मात् जगत्स्रष्टुं ब्रह्माऽभवत् । एवं चतुर्धा संव्यूह्य स्वात्मानं पुरुषोत्तमः । अण्डेभ्यः परस्तो नित्यं त्रिपादेन विराजते ॥' इति । अनिरुद्धात्मा स भगवान् सृष्ट्यनुकूलं सङ्कल्पं करोति । ततो योगनिद्रावसाने स एव विष्वक् समन्तात् व्यक्रामत् स्वसङ्कल्पेन समाक्रान्तवान्, 'वहु स्यां प्रजायेय' इति श्रुतेः । साशनं जङ्गमं देवमनुष्यादिरूपम्, अनशनं स्थावरं वृक्षगुल्मलतादिरूपम्, ते अभि उद्दिश्य स्थावर-जङ्गमात्मक-कृत्स्नजगद्रूपेण वहुभवनसङ्कल्पमकरोत् ।

त्रिपात् पुरुषः संसाररहितो ब्रह्मस्वरूपः । ऊर्ध्वं उदैद् अस्मादज्ञानकार्यात् संसाराद् वहिर्भूतोऽत्रत्यैर्गुण-दोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान् । अस्य पादश्चतुर्थोंऽशो लेशो वा । इह मायायां पुनरभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति । सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताऽप्युक्तम्—'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (भ० गी० १०।४२) । ततो मायायामागत्य अनन्तरं विष्वङ् देव-मनुष्य-तिर्यगादिरूपेण विविधः सन्, व्यक्रामद् व्याप्तवान् । किं कृत्वा ? साशनानशने अभिलक्ष्य । साशनं भोजनादिव्यवहारोपेतचेतनम्, अनशनं तद्रहितं गिरिनद्यादिकम्, साशनं स्वर्गम् अनशनं मोक्षं वा, तदुभयं यथा स्यात्तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः ॥४॥

'ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः । स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥' (वा० सं० ३१।५; ऋ० सं० १०।९०।५) ।

'ततस्तस्माद् ब्रह्माण्डशरीरः सूर्यचन्द्रनेत्रो वायुप्राणः पृथिवीपाद इत्याद्यलङ्कारलक्षणलक्षितः सर्वशरीराणां समष्टिदेहो विविधैः पदार्थैं राजमानः सन् विराडजायतोत्पन्नोऽस्ति । विराजोऽधि पूरुषः । तस्माद्विराजोऽधि उपरि पश्चाद् ब्रह्माण्डतत्त्रावयवैः पुरुषः सर्वप्राणिनां जीवाधिकरणो देहः पृथक् पृथगजायत । स देहो ब्रह्माण्डावयवैरेव वर्धते,

जगत् के सर्जन में एक मात्र उसकी कृपा ही कारण है । उस त्रिपात् पुरुष भगवान् का अवशिष्ट चतुर्थ पाद ऐश्वर्य की इस लीला भूमि पर उतरा । इसी बात को वैकुण्ठसंहिता में भी कहा गया है—'सर्वव्यापी भगवान् विष्णु ने जगत् की रक्षा करने के लिये अपने शरीर से संकर्षण को, उसने (संकर्षण ने) प्रद्युम्न को, उसने अनिरुद्ध को निष्पन्न किया । तब जगत् की उत्पत्ति करने के लिये उसने (अनिरुद्ध ने) ब्रह्मा को पैदा किया । इस प्रकार भगवान् पुरुषोत्तम ने स्वयं अपने को ही चार रूपों में विभक्त किया । अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों से परे त्रिपाद रूप से वह नित्य विराजमान है और वह अनिरुद्ध स्वरूप भगवान् सृष्टि के अनुकूल संकल्प करता है । 'बहु स्यां प्रजायेय' इस श्रुति से प्रतीत होता है कि—योगनिद्रा के समाप्त होने पर वही चारों ओर सर्वत्र अपने संकल्पमात्र से ही व्याप्त हो जाता है । देव-मनुष्यादिरूप जंगम तथा वृक्ष-लता-गुल्म आदि स्थावर को लक्ष्य कर स्थावर-जंगमात्मक सम्पूर्ण जगत् के रूप में अपने को अनेक बनाने का संकल्प उसने किया ।

संसार से रहित वह त्रिपात् पुरुष ब्रह्म अज्ञान के कार्यभूत संसार से बहिर्भूत अर्थात् यहां के गुण-दोषों से असंस्पृष्ट रहकर अपने उत्कर्ष से स्थित रहा । उस पुरुष का चतुर्थ पाद (अंश या लेश) यहां माया में ही पुनः बना रहा, अर्थात् जगत् की सृष्टि और संहार करने लिये बार बार आता रहता है । 'यह समस्त जगत् परमात्मा का एक लेश है' । यह बात भगवान् ने स्वयं अपने श्रीमुख से कही है । 'इस समस्त जगत् को मैं अपने एक अंश से व्याप्त कर रहा हूं' (भ० गी० १०, ४२) । माया में आने के पश्चात् देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि रूपों से विविध होकर उसने इस जगत् को व्याप्त किया, अर्थात् भोजनादि व्यवहार करने वाले चेतन और उस प्रकार का व्यवहार न करने वाले पर्वत, नदी आदि दोनों प्रकार के चराचर जगत् में विविध रूप से स्वयं ही व्याप्त हो गया ॥४॥

'ततो विराडजायत०' पुरुष सूक्त के इस पांचवें मन्त्र का स्वामी दयानन्द ने यह अर्थ किया है—'विराट् जिसका ब्रह्माण्ड के अलंकार से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिसको मूलप्रकृति कहते हैं, जिसका शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य है, जिसके सूर्य और चन्द्रमा नेत्रस्थानीय हैं, वायु जिसका प्राण और पृथिवी जिसका पग है, इत्यादि लक्षण वाला जो यह समष्टि देह है, वही विराट् कहलाता है । वह प्रथम कला रूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न होकर प्रकाशमान हो रहा है । (विराजो

नष्टः संस्तस्मिन्नेव प्रलीयते। परमेश्वरस्तु सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽत्यरिच्यतातिरिक्तः पृथग्भूतोऽस्ति। पश्चाद् भूमिमथो पुरः। पुरः पूर्वं भूमिमुत्पाद्य धारितवांस्ततः पुरुषस्य सामर्थ्यात् स जीवोऽपि देहं धारितवानस्ति। स च पुरुषः परमात्मा ततस्तस्माज्जीवादप्यत्यरिच्यत पृथग्भूतोऽस्ति (पृ० १३६-१३७)।

इत्येवं व्याख्यातम्, तत्रोच्यते—ततस्तस्मादिति विशेषनिर्देशो युक्तः। एवं विराट्पुरुषः क इत्यपि वक्तव्यमासीत्। ब्रह्माण्डं शरीरं यस्य स ब्रह्माण्डशरीरः कः? किं समष्टिस्थूलशरीरोपहितचेतनरूप ईश्वरः, समष्टिप्रपञ्चाभिमानी विराड् जीवो वा स्वीक्रियते? आद्ये, ईश्वरानेकत्वापत्तिः। अन्त्येऽसम्भवः। त्वद्रीत्याणुजीवस्य समष्टिप्रपञ्चाभिमानासम्भवात्। विराज ईश्वरत्वे जीवत्वे वाऽनङ्गीक्रियमाणे विविधैः पदार्थैः को राजमानः स्यात्? ब्रह्माण्डशरीरस्य शरीरी च कः स्यात्? पुरुषशब्दस्यात्र जीवाधिकरणो जीवोऽर्थ इत्यत्रापि बीजं वक्तव्यम्? एकस्मिन्नेव प्रकरणे पुरुषशब्दस्यार्थद्वयाङ्गीकारेऽपि बीजमपेक्षितम्। स जात इत्यत्रापि जात इत्यनेन वर्धते नष्टः संस्तस्मिन्नेव प्रलीयत इत्यर्थवैचित्र्यं किमाधारकम्? पूर्वमत्यरिच्यतेत्यस्याश्रुतः परमेश्वरः कर्ता कुतोऽध्याह्रियते? 'स जातो अत्यरिच्यत' इति प्रत्यक्षं दृश्यमानः सम्बन्धः कुतोऽपनोद्यते? उपस्थितेन वेदनाकाङ्क्षापूर्तौ सम्भवन्त्यां कुतोऽनुपस्थितकल्पनयाकाङ्क्षा पूर्यते। एवं पुरः पूर्वं भूमिमुत्पाद्य धारितवानित्यत्र उत्पाद्य धारितवानिति कस्य शब्दस्यार्थः? जीवोऽपि तत्सामर्थ्याद्देहं धारितवान् इत्यपि निराधारम् तादृशार्थप्रतिपादकशब्दाभावात्। स च पुरुषः परमात्मा तस्माज्जीवादत्यरिच्यत पृथग्भूतोऽस्तीत्यपि निरर्गलम्, 'तत्' 'अत्यरिच्यत' इतिपदयोः स्वसन्निहितपदसम्बन्धेन शान्ताकाङ्क्षयोः पुनराकाङ्क्षानुत्थानेन 'तत' इत्यप्रकृतं जीवं परिकल्प्य तस्यात्यरिच्यतेतिपदेन सम्बन्धानुपपत्तेः। तस्मादत्रापि मदुक्त एवार्थो ग्राह्यः।

अधि०) उस विराट् के पश्चात् ब्रह्माण्ड के तत्त्वरूप अवयवों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक् पृथक् उत्पन्न हुआ है। जिसमें सब जीव वास करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है, (स जातो अत्यरिच्यत) सो विराट् परमेश्वर से अलग और परमेश्वर भी इस संसार रूप देह से सदा अलग रहता है। (पश्चाद् भूमिमथो पुरः) फिर भूमि आदि जगत् को उत्पन्न करके पश्चात् उनको धारण कर रहा है' (पृ० १३७)।

इस पर हमारा यह कहना है—'ततः' पद का 'तस्मात्' अर्थ करते समय उस विशेष का निर्देश होना चाहिये, जिससे कि विराट् की उत्पत्ति होगी। इसी तरह से वह विराट् पुरुष कौन है? इसको भी बताना चाहिये। ब्रह्माण्ड जिसका शरीर है, वह कौन है? यह समष्टि स्थूल शरीर से उपहित चेतन रूप वाला ईश्वर है या समष्टि प्रपंच का अभिमानी विराट् जीव है? प्रथम पक्ष में ईश्वर की अनेकता माननी पड़ेगी और अन्तिम पक्ष बन ही नहीं सकता, क्योंकि आपके मत से अणु जीव समष्टि प्रपंच का अभिमानी नहीं बन सकता। विराट् को ईश्वर अथवा जीव भी न मानने पर विविध पदार्थों से कौन शोभित होगा? इस ब्रह्माण्ड शरीर का शरीरी कौन होगा? इस मन्त्र में पुरुष शब्द का अर्थ जीव (प्राण) को धारण करने वाला प्राणी अर्थ होता है, इसमें भी प्रमाण बताना पड़ेगा। एक ही प्रकरण में पुरुष शब्द के दो तरह के अर्थ करने में कोई कारण होना चाहिये। 'स जातः' यहां भी 'जातः' पद का 'बढता है और नष्ट होकर उसी में लीन हो जाता है' यह विचित्र अर्थ करना किस तरह संभव हो सकता है। 'अत्यरिच्यत' इस पद से पहले अश्रुत 'कर्ता परमेश्वर' इनका अध्याहार कहां से होता है? 'स जातो अत्यरिच्यत' इन प्रत्यक्ष श्रूयमाण पदों के साथ उसका संबन्ध किस लिये छोड़ दिया गया है? उपस्थित पद से जब आकांक्षा की पूर्ति हो सकती है, तो फिर अनुपस्थित से आकांक्षा की पूर्ति करने का प्रयत्न किस आधार पर किया जाता है? इसी तरह से पहले भूमि को उत्पन्न किया और बाद में धारण किया, यहां भी 'उत्पन्न करके धारण किया' यह अर्थ किन शब्दों का है? जीव ने भी उसके सामर्थ्य से देह धारण किया, यह अर्थ भी निराधार है, क्योंकि इस तरह के अर्थ के बोधक शब्द वहां उपलब्ध नहीं हैं। वह पुरुष अर्थात् परमात्मा उस जीव से पृथक् है, यह अर्थ भी निराधार है, क्योंकि 'ततः' और 'अत्यरिच्यत' इन दोनों पदों की आकांक्षा जब अपने पास में विद्यमान पद के साथ संबन्ध होने से ही निवृत्त हो जाती है, फिर दुबारा आकांक्षा का उत्थान जब नहीं होगा, तो उस स्थिति में 'ततः' पद से अप्रकृत जीव की कल्पना कर उसका 'अत्यरिच्यत' पद से संबन्ध करना उचित नहीं है। इस लिये यहां भी हमारा अर्थ ही ठीक है। वास्तव में इसका अर्थ यह है—

... .। (ऋ० सं० १०, ९०, ५)

वास्तविकार्थः—ततो विराडजायतेति । ततः सङ्कल्पाद्धेतोः, विराड् महदादिरूपेण विविधं राजत इति विराट् प्रकृतिः, अजायत महदाद्यण्डपर्यन्तरूपेण अजायत । अद्वारका सृष्टिरेषा । अथ सद्वारकां सृष्टिं वक्तुं चतुर्मुखसृष्टिरुच्यते—विराजः अण्डपर्यन्तप्रकृतिमण्डलस्य, अधि अनन्तरम्, पुरुषः चतुर्मुखोऽजायत ।

अथवा—ततः परमपुरुषाद् विराड् विशेषेण राजत इति विराड् अनिरुद्धः, अजायत परमपुरुषोऽनिरुद्धरूपेण अवतीर्ण इत्यर्थः । तदुक्तं मोक्षधर्मे—'ईश्वरो हि जगत्स्रष्टा विभुर्नारायणो विराट् । अनिरुद्ध इति प्रोक्तः अंशानां प्रभवाप्यये' ।। इति । विराजो विराट्पुरुषादनिरुद्धाद् अधिपुरुषः अधिकारिपुरुषः चतुर्मुखः अजायत । स चतुर्मुखो भगवत्कृपया प्रवृद्धकायोऽभवत्, येन अतिमहदपि वस्तुं कर्तुं शक्नुयात् । तद्वृद्धिमेव दर्शयति—पश्चाद् भूमिं भूमेः पश्चादित्यर्थः, भूमेरधः । अथो भूमिं पुरः भूमेरूर्ध्वं च अत्यरिच्यत । भूमिशब्दो ब्रह्माण्डपर्यन्तस्य उपलक्षणम्, ब्रह्माण्डस्य बहिरन्तश्च व्यापकोऽभूत् । अथवा—'विष्वङ् व्यक्रामतेति पूर्वोक्तांशस्यैवात्र प्रपञ्चः । तस्मादादिपुरुषाद् विराड् ब्रह्माण्डदेहोऽजायत । विविधानि वस्तूनि राजन्तेऽत्रेति विराट् । विराजो अधि विराड्देहस्य उपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा, पुरुषः तद्देहाभिमानी कश्चित् पुमानजायत । सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वयमेव स्वकीयया मायया विराड्देहं ब्रह्माण्डाख्यं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत् । तदुक्तमाथर्वणे नृसिंहोत्तरतापनीये—'स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव' (नृ० ता० २।१।९) । स जातो विराट्पुरुषः अत्यरिच्यत अतिरिक्तोऽभूत्, विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत् । पश्चाद् देवादिजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेति शेषः । अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं पुरः तेषां जीवानां शरीराणि सप्तधातुभिः पूर्यन्त इति पुरः ससर्ज ।।५।।

'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् । पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ।।' (वा० सं० ३१।६; ऋ० सं० १०।९०।६) ।

अर्थ—ततो विराडजायतेति । उसके संकल्प करने के कारण प्रकृतिस्वरूप विराट्, क्योंकि महदादि विविध रूपों में विराजमान रहने से उसे विराट् कहते हैं, पैदा हुआ, अर्थात् महत् से लेकर अण्ड तक के रूपों को धारण किया । यह अद्वारका (बिना किसी द्वार = माध्यम के) सृष्टि है । इसके पश्चात् सद्वारका सृष्टि बताने के लिये चतुर्मुख सृष्टि को बताया जा रहा है । अण्ड तक के प्रकृतिमण्डल के अनन्तर वह पुरुष चतुर्मुख रूप से प्रकट हुआ ।

अथवा—उस परम पुरुष से अत्यधिक शोभा-संपन्न अनिरुद्ध उत्पन्न हुआ, अर्थात् वह परम पुरुष ही अनिरुद्ध रूप से अवतीर्ण हुआ । यही बात मोक्षधर्म में भी कही गई है—'जगत् का स्रष्टा व्यापक ईश्वर विराट् नारायण ही अनिरुद्ध है । विराट् पुरुष अनिरुद्ध से अधिकारी पुरुष चतुर्मुख हुआ । भगवत्कृपा से वह चतुर्मुख प्रवृद्ध शरीर (महान् शरीर) वाला बन गया, जिससे कि अत्यन्त महान् वस्तु के निर्माण में वह समर्थ हो सके । उसके शरीर की वृद्धि को बताते हैं—भूमि के नीचे और उसके ऊपर अर्थात् ब्रह्माण्ड के भीतर बाहर सर्वत्र व्याप्त हो गया । अथवा 'विष्वङ् व्यक्रामत्' इस पूर्वोक्त अंश को ही विस्तार से बताया जा रहा है । उस आदि पुरुष से विराट् अर्थात् ब्रह्माण्डदेह हुआ । जिसमें विविध प्रकार की वस्तुएँ विराजमान रहती हैं, उसे विराट् कहते हैं । विराट् देह के ऊपर अर्थात् उसी देह को आधार बनाकर उस देह का अभिमानी कोई पुरुष पैदा हुआ । वही सम्पूर्ण वेदान्तों का वेद्य परमात्मा स्वयं ही अपनी माया से ब्रह्माण्ड नामक विराट् देह को पैदाकर उसमें जीव रूप से प्रविष्ट होकर उस ब्रह्माण्ड का अभिमानी देवतात्मा जीव हुआ । इसी आशय को अथर्व वेद के नृसिंहतापनीय उपनिषद् में बताया गया है । 'उसी पुरुष ने भूतों को, इन्द्रियों को, विराट् को, देवताओं को और कोशों को पैदाकर तथा उसमें प्रविष्ट होकर उसमें माया के कारण मूढ़ हुआ सा व्यवहार करता रहता है' (नृ० ता० उ० २।१, ९) । उस उत्पन्न हुए विराट् पुरुष ने विराट् से व्यतिरिक्त होकर देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि रूपों को धारण कर लिया । उसके पश्चात् देवता आदि जीवभाव को ग्रहण करने के बाद उसने भूमि को पैदा किया । भूमि की सृष्टि करने के अनन्तर सप्त धातुओं के द्वारा उन जीवों के शरीरों की सृष्टि की ।।५।।

'तस्मात् परमेश्वरात् पृषदाज्यं 'पृषु सेचने' धातुः। वर्षन्ति सिञ्चन्ति क्षुन्निवृत्त्यादिकारकमन्नादिवस्तु यस्मिंस्तत् पृषद् आज्यं घृतं मधुदुग्धादिकम्। पृषदिति भक्ष्यान्नोपलक्षणम्। आज्यमित्यञ्जनोपलक्षणम्। यावद्वस्तु जगति वर्तते तावत्सर्वं पुरुषात् परमेश्वरसामर्थ्यादेव जातमिति बोध्यम्। तत्सर्वमीश्वरेण स्वल्पं स्वल्पं जीवैश्च सम्यग्धारितम्। अतः सर्वैरनन्यचित्तैः परमेश्वर एवोपास्यो नान्यश्चेति। य आरण्या वनस्थाः पशवः, ये च ग्राम्या ग्रामस्थास्तान् सर्वान् स एव चक्रे। स च परमेश्वरो वायव्यान् वायुसहचरितान् पक्षिणश्चक्रे। चकारादन्यान् सूक्ष्मदेहधारिणः कीटपतङ्गादीनपि कृतवान्' (पृ० १३७)।

इति यद् व्याख्यातम्, तत्रोच्यते—तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत इत्येषां शब्दानां पुरुषसामर्थ्यमित्यर्थः कुतो गृह्यते ? उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पने मानाभावात्। सर्वमीश्वरेण स्वल्पं जीवैश्च धारितमित्यप्युदक्षरम्, तथा मन्त्रार्थाभावात्। नहि सर्वं वस्तु जीवैर्धारयितुं शक्यम्। ईश्वर एवोपास्य इत्यनेनैवान्यनिषेधे सिद्धे नान्यश्चेति किमर्थमनुधावनायासः ? यद्यपि परमेश्वर उपास्यस्तथापि नानेन मन्त्रेण तद्बोधनं सम्भवति, तादृशशक्तेरभावात्।

वास्तविकार्थः—तस्माद्यज्ञाद् सर्वहुत इति। तस्माद् आत्मसमर्पणरूपेण यज्ञेनाराधितात् पुरुषाद् लब्धसृष्टयनुकूलज्ञानशक्त्यादिकश्चतुर्मुखो यथापूर्वं जगत् ससर्ज। सर्वं जुहोतीति सर्वहुत् तस्मात्, सर्वं भगवते हुतवतः स्वीयसर्वभरं भगवते समर्पितवतस्तस्मात्। अथवा—कौस्तुभस्थानीयस्य जीवात्मनोऽत्युत्तमतया तमेवानर्घतमं स्वात्मानं समर्पितवताऽनेन सर्वं समर्पितप्रायमिति सर्वहुत्। यद्वा—सर्वशब्दवाच्यो भगवान् तस्मै जुहोतीति सर्वहुद् भगवदुद्देश्यकात्मसमर्पणरूपयज्ञकृत्। यज्ञात् यजनीयात्। तस्मात् चतुर्मुखात्। पृषदाज्यं दधिमिश्राज्यस्थानीयतत्तद्विचित्ररूपं सृज्यवस्तुजननहेतुशुक्लनीलादि। संभृतम् उत्पन्नम्। यदा त्विदं वाक्यद्वयं न जगत्सृष्टिपरम्, तदा सर्वहुतः सर्वहोमा-

'तस्माद्यज्ञात्०' इस छठे मन्त्र का अर्थ स्वामी दयानन्द ने यह किया है—'पूर्वोक्त पुरुष से ही (संभृतं पृषदाज्यम्) सब भोजन, वस्त्र, अन्न, जल आदि पदार्थों को सब मनुष्य लोगों ने धारण अर्थात् प्राप्त किया है, क्योंकि उसी के सामर्थ्य से ये सब पदार्थ उत्पन्न हुए और उन्हीं से सबका जीवन भी होता है। इससे सब मनुष्य लोगों को उचित है कि उसको छोड़कर किसी दूसरे की उपासना न करें। (पशूंस्तांश्चक्रे०) ग्राम और वन के सब पशुओं को भी उसी ने उत्पन्न किया है, तथा सब पक्षियों को भी बनाया है। सभी सूक्ष्म देहधारी कीट, पतंग आदि जीवों के देह भी उसी ने उत्पन्न किये हैं' (पृ० १३७-१३८)।

इस पर हमारा यह कहना है—'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः' इन शब्दों का अर्थ आप पुरुष और पुरुष का सामर्थ्य किस आधार पर करते हैं ? प्रस्तुत अर्थ को छोड़कर अप्रस्तुत अर्थ की कल्पना में कोई प्रमाण होना चाहिये। ईश्वर ने सब कुछ धारण कर रक्खा है और इसमें का कुछ अंश जीवों ने भी धारण किया है, ऐसा अर्थ करना भी सर्वथा निरर्गल है, क्योंकि मन्त्र का यह अर्थ है ही नहीं, इस अर्थ के बोधक अक्षर उसमें विद्यमान ही नहीं हैं। जीव सब वस्तुओं को धारण कर भी नहीं सकते। ईश्वर ही उपास्य है, इसी से अन्य किसी की भी उपासना का निषेध सिद्ध हो जायगा, पुनः अन्य का निषेध करने के लिये 'नान्यः' इस तरह के शब्दों के प्रयोग तक दौड़ लगाना व्यर्थ ही है। यद्यपि परमेश्वर उपास्य है, किन्तु इस मन्त्र से उसका बोध नहीं हो सकता, क्योंकि इस अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ शब्दों का यहाँ अभाव है। वास्तव में इस मन्त्र का अर्थ इस तरह किया जाना चाहिये—

... ... (ऋ० सं० १०.९०.६)

अर्थ—तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत इति। उस आत्मसमर्पण रूप यज्ञ के द्वारा आराधित पुरुष से सृष्टि के अनुकूल ज्ञानशक्ति को प्राप्त कर चतुर्मुख ने यथापूर्व जगत् का सृजन किया। 'सर्वं जुहोतीति सर्वहुत् तस्मात्' भगवान् के लिये सबका हवन करने वाले, अर्थात् अपना समस्त भार भगवान् को समर्पण करने वाले उस चतुर्मुख से, अथवा—कौस्तुभ-स्थानापन्न जीवात्मा अत्युत्तम होने के कारण उसी बहुमूल्य अपनी आत्मा का अर्पण करने वाले चतुर्मुख से, अर्थात् इसने अपना सभी कुछ भगवान् को समर्पित कर दिया, इसलिये इसे सर्वहुत् कहते हैं। अथवा—'सर्व' शब्द का वाच्य जो भगवान् उसके लिये आहुति देवे वाला 'सर्वहुत्' कहा जाता है। अर्थात् भगवान् को उद्देश्य कर आत्म-समर्पण रूप यज्ञ करने वाला 'सर्वहुत्' कहा जाता है। उस यजनीय चतुर्मुख से पृषदाज्य अर्थात् दधि

घिष्ठानभूतात् पृषदाज्यं सम्भृतम् । यद्वा—सर्वं हूयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या सर्वहुत् नारायण एव । सर्वाय हूयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या तु तादृशयज्ञपरः । तस्मात् तादृशाद्यज्ञात्, यज्ञार्थं प्रयोजनस्य हेतुत्वविवक्षया पञ्चमी, अध्ययनाद् वसतीतिवत् । पृषदाज्यं दधिमिश्राज्यं सम्भृतं क्लृप्तम् । वायव्यान् वायुमार्गचरणशीलान् पक्षिरूपान् पशून् चक्रे । आरण्यान् अरण्ये भवान्, ये ग्राम्या ग्रामे भवाः, तान् च चक्रे । तथा च विष्णुपुराणे प्रथमांशे पञ्चमाध्याये—'गौरजः पुरुषो मेषश्चाश्वाश्वतरगर्दभाः । एतान् ग्राम्यान् पशूनाहुरारण्यांश्च निबोध मे ॥ श्वापदा द्विखुरा हस्तिवानराः पक्षिपञ्चमाः । औदकाः पशवः षष्ठाः सप्तमाश्च सरीसृपाः' ॥ इति ।

सर्वहुतः सर्वात्मकः पुरुषो यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत् । तादृशात् तस्मात् पूर्वोक्ताद् मानसाद् यज्ञात् पृषदाज्यं दधिमिश्रमाज्यं सम्भृतं सम्पादितम् । दधि चाज्यं चेत्येवमादिभोग्यजातं सर्वं सम्पादितम् । तथा वायव्यान् वायुदेवताकान् लोकप्रसिद्धान् आरण्यान् पशून् चक्रे उत्पादितवान् । आरण्या हरिणादयः, तथा ये च ग्राम्या गवाश्वादयः, तानपि चक्रे । पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेवत्यत्वं यजुर्ब्राह्मणे समाम्नायते—'वायवः स्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः । अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः । वायव एवैनान् परिददाति' (तै० ब्रा० ३।२।१।३) इति ॥६॥

'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥' (वा० सं० ३१।७; ऋ० सं० १०।९०।७) इत्यस्य दयानन्दीयं व्याख्यानं तत्खण्डनं च पूर्वमेवोक्तम् ।

अर्थः—तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋच इति । तस्मात् चतुर्मुखात्, ऋच एकविंशतिशाखाः, सामानि सामवेदाः सहस्रशाखाः, जज्ञिरे तत्सर्गीयप्रथमोच्चारणविषयत्वरूपाम् उत्पत्तिं प्रापुः । तस्मादेव छन्दांसि गायत्र्यादीनि, यजुः नवाधिकशतशाखो यजुर्वेदः अजायत । इतरसापेक्षोच्चारणेषु प्राथमिकत्वस्य विवक्षितत्वादेव तत्सर्गीयप्रथमोच्चारणविषयतैव उत्पत्तिः ।

मिश्रित आज्य के स्थान में तत्-तत् विचित्र स्वरूप में सर्जन की जाने वाली वस्तुओं को पैदा करने में हेतुभूत शुक्ल, नील आदि को उत्पन्न किया । जब इन दो वाक्यों को जगत-सृष्टि-परक न माना जाय, तब समस्त होम के अधिष्ठानभूत सर्वहुत् से पृषदाज्य उत्पन्न हुआ, अथवा—'सर्वं हूयतेऽस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से सर्वहुत् का अर्थ नारायण ही है । किन्तु 'सर्वाय हूयतेऽस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से पूर्वोक्त यज्ञपरक यह सर्वहुत् शब्द है । उस 'तस्माद् यज्ञात्' का अर्थ 'यज्ञार्थम्' अर्थात् यज्ञ के लिये ऐसा अर्थ करना चाहिये, क्योंकि यहाँ पर प्रयोजन की हेतुत्व के रूप में विवक्षा से पञ्चमी का प्रयोग किया गया है । जैसे—'अध्ययनाद् वसति' । पृषदाज्य का अर्थ दधिमिश्रित आज्य है । वायु मार्ग में चलने वाले पक्षि रूप पशुओं को बनाया । अरण्य में होने वाले और ग्राम में होने वाले पशुओं को बनाया । जैसा कि विष्णुपुराण के प्रथम अंश के पञ्चम अध्याय में कहा गया है—'गाय, अज, पुरुष, मेष, अश्व, अश्वतर, गर्दभ आदि इन पशुओं को ग्राम्य-पशु कहते हैं और श्वापद, द्विखुर, हस्ति, वानर, पक्षी, औदक (जल के) पशु और सरीसृप ये आरण्य-पशु कहे जाते हैं ।' सर्वात्मक-पुरुष जिस यज्ञ में हवन किया जाता है, उसे सर्वहुत् कहते हैं । उस पूर्वोक्त मानस यज्ञ से पृषदाज्य का सम्पादन किया गया अर्थात् दधि, आज्य आदि सभी भोग्य वस्तुओं का सम्पादन किया गया' । उसी तरह वायुदेवता के लोकप्रसिद्ध आरण्यक पशुओं को पैदा किया गया । आरण्य हरिण आदि और ग्राम्य गाय, अश्व आदि को भी बनाया गया । अन्तरिक्ष के माध्यम से पशुओं को वायु-देवताक यजुर्वेद के ब्राह्मण में बताया गया है—'वायु अन्तरिक्ष की अध्यक्ष है । तुम लोग वायुदेवताक हो । अतः ये पशु अन्तरिक्ष देवता वाले हैं । वायु ही इन्हें देता है ।' (तै० ब्रा० ३.२.१.३) ॥६॥

………………………………॥(ऋ० सं० १०,९०,७)

'तस्माद्यज्ञात्०' इत्यादि मन्त्र की दयानन्द कृत व्याख्या को उद्धृत कर उसका खण्डन पहले ही वेदोत्पत्ति प्रकरण में किया जा चुका है । इसका वास्तविक अर्थ यह है—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋच इति । उस चतुर्मुख से इक्कीस शाखाओं का ऋग्वेद, एक हजार शाखाओं का सामवेद उत्पन्न हुआ, अर्थात् उस सर्ग में प्रथमोच्चारण का विषय बना । उसीसे गायत्री आदि छन्द और एक सौ नौ शाखा का यजुर्वेद हुआ ।

तत्सर्गीयप्रथमोच्चारणविषयत्वरूपोत्पत्तिरेव सृष्टिः। तेन वेदानां तत्सर्गीयचतुर्मुखकर्तृकप्राथमिकोच्चारणविषयत्वरूपं चतुर्मुखजन्यत्वमपि यद्यपि न सम्भवति, तथापि इतरसापेक्षोच्चारणेषु प्राथमिकत्वस्य विवक्षितत्वान्न दोषः। तस्मात् परमपुरुषाद्वा वेदानां तादृशोत्पत्तिः। तस्यैव चतुर्मखं प्रत्युपदेष्टृत्वात्। प्रवाहानादित्वं च स्वसमान-जातीय-शब्दासमानकालीन-प्रागभावाप्रतियोगित्वम्। तादृशध्वंसाप्रतियोगित्वं च प्रवाहनित्यत्वम्। स्वसमानजातीयत्वं च स्ववृत्त्यानुपूर्वीवत्त्वरूपम्। तत्तदुच्चारणभेदेन आनुपूर्वीभेदे तु स्ववृत्त्यानुपूर्वीसजातीयानुपूर्वीसत्त्वमेव साजात्यम्। सर्वहुतस्तस्मात् पूर्वोक्ताद् यज्ञाद् ऋचः सामानि जज्ञिरे उत्पन्नाः। तस्मात् छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे। तस्माद् यजुः अपि अजायत ॥७॥

'तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥' (वा० सं० ३१।८; ऋ० सं० १०।९०।८)।

'तस्मात् परमेश्वरसामर्थ्यादिवाश्वास्तुरङ्गा अजायन्त। ग्राम्यारण्यपशूनां मध्येऽश्वादीनामन्तर्भावादेषामुत्तमगुणत्वप्रकाशनार्थोऽयमारम्भः। ये के चोभयादत उभयतो दन्ता येषां ते उभयादतः। ये केचिदुभयादत उष्ट्रगर्दभादयस्तेऽप्यजायन्त। गावो ह तथा तस्मात् पुरुषसामर्थ्यादेव गावो धेनवः किरणाश्चेन्द्रियाणि च जज्ञिरे जातानि। तस्मादेव चाजादयश्छागा अवयश्च जाता उत्पन्नाः' (पृ० १३८) इति दयानन्दीयं व्याख्यानम्। तदेतत् समालोच्यते—क उत्तमगुणा येषां प्रकाशनार्थोऽयमारम्भः? उभयादत इति दैर्घ्यं तु कथम्? तस्मादयमर्थोऽनुसन्धेयः—

तस्मादश्वा अजायन्त इति। वेदाविर्भाववर्णनात् तत्प्रतिपाद्यस्य यज्ञस्यापि सृष्टिरुक्ता भवति। तदर्थं यज्ञोपयोगिपदार्थसृष्टिरप्युच्यते। तस्माद् ब्रह्मणः। अत्र तस्मादित्यस्य जनिधातोश्च पुनः पुनरुपादानं स्थाना-

जहां उच्चारण अन्यसापेक्ष हो, वहां किसी उच्चारण विशेष की प्राथमिकता होना विवक्षित होने से 'उत्पत्ति' का अर्थ यहां पर 'तत्सर्गीय प्रथमोच्चारण विषयता' ही करना चाहिये।

उस सर्ग की प्रथमोच्चारणविषयतारूप उत्पत्ति ही वेद की सृष्टि है। इस कारण यद्यपि उस सर्ग के चतुर्मुख से किये गये प्राथमिकोच्चारण की विषयतारूप चतुर्मुखजन्यत्व वेदों में संभव नहीं हो पाता, तथापि अन्यसापेक्षोच्चारणों में उसकी प्राथमिकता विवक्षित होने से कोई दोष नहीं है। अथवा उस परम पुरुष से वेदों की उक्त प्रकार की उत्पत्ति होती है, क्योंकि चतुर्मुख का उपदेष्टा वही परम पुरुष है। अपने समान जाति वाले शब्दों के समकाल में न रहनेवाले प्रागभाव का प्रतियोगी न होना ही प्रवाह की अनादिता कही जाती है और तादृश ध्वंस का प्रतियोगी न हो पाना प्रवाह की नित्यता है। अपनी आनुपूर्वी से युक्त होना स्वसमानजातीयता है। प्रत्येक उच्चारण के भेद से आनुपूर्वी के भिन्न होने पर स्ववृत्ति आनुपूर्वी की सजातीय आनुपूर्वी का होना ही साजात्य है। पूर्वोक्त यज्ञ से ऋचाएँ तथा साम उत्पन्न हुए। उससे गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुए। उससे यजु भी हुआ ॥७॥

'तस्मादश्वा अजायन्त०' इत्यादि मन्त्र का अर्थ दयानन्द ने यह किया है—'उसी पुरुष के सामर्थ्य से अश्व अर्थात् घोड़े और बिजली आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। (ये के चोभयादतः) जिसके मुख में दोनों ओर दांत होते हैं, उन पशुओं को 'उभयदत' कहते हैं, वे ऊँट, गधा आदि उसी से उत्पन्न हुए हैं। (गावो ह ज०) उसी से गोजाति अर्थात् गाय, पृथिवी, किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं। (तस्माज्जाता अ०) इसी प्रकार छेरी और भेड़ें भी उसी कारण उत्पन्न हुई हैं' (पृ० १३८)। दयानन्द की इस व्याख्या की समालोचना में हमारा कहना है कि वे कौन से उत्तम गुण हैं? जिनका प्रकाशन करने के लिये यह उद्यम किया जा रहा है। 'उभयादतः' इस पद में दीर्घ कैसे हुआ? इसलिये दयानन्दीय अर्थ को छोड़कर भिन्न अर्थ का अनुसन्धान करना चाहिये—

••• ••• •••• •••• ••• •••• •••• ••••॥ (ऋ० सं० १०, ९०, ८)

अर्थ—तस्मादश्वा अजायन्त इति। वेद के आविर्भाव का प्रतिपादन करने से ही तत्प्रतिपाद्य यज्ञ की सृष्टि का प्रतिपादन भी अर्थात् हो जाता है। उसके लिये यज्ञोपयोगी पदार्थों की भी सृष्टि का प्रतिपादन किया जा रहा है। इस ऋक् में 'तस्मात्' और

वान्तरभेदप्रदर्शनार्थम् । तदुक्तं विष्णुपुराणे प्रथमांशे पञ्चमाध्याये—'गायत्रं च ऋचश्चैव त्रिवृत्स्तोमं रथन्तरम् । अग्निष्टोमं च यज्ञानां निर्ममे प्रथमान्मुखात् ।। यजूंषि त्रैष्टुभं छन्दः स्तोमं पञ्चदशं तथा । बृहत्साम तथोक्थ्यं च दक्षिणादसृजन्मुखात् ।। सामानि जगतीच्छन्दः स्तोमं सप्तदशं तथा । वैरूपमतिरात्रं च पश्चिमादसृजन्मुखात् ।। एकविंशमथर्वाणमाप्तोर्यामाणमेव च । अनुष्टुभं च वैराजमुत्तरादसृजन्मुखात् ।।' (५३-५६) इति । 'अवयो वक्षसश्चक्रे मुखतोऽजान् स सृष्टवान् । सृष्टवानुदराद् गाश्च पार्श्वाभ्यां च प्रजापतिः ।। पद्भ्यां चाश्वान् समातङ्गान् रासभान् गवयान् मृगान् । उष्ट्रानश्वतरांश्चैव न्यङ्कूनन्याश्च जातयः' ।।(४८-४९) इति । तस्मात् पूर्वोक्ताद् यज्ञात् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः । तथा ये के च अश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च, उभयादतः ऊर्ध्वाधोभागयोर्दन्तयुक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त, छान्दसं दैर्घ्यम् । तथा तस्माद् यज्ञाद् गावश्च जज्ञिरे । किञ्च तस्माद् अजावयश्च जाताः ।।८।।

'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः । तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ।।' (वा० सं० ३१।९; ऋ०सं० १०।९०।९)। 'यमग्रतो जातं जगत्कर्तारं पुरुषं यज्ञं सर्वपूज्यं परमेश्वरं बर्हिषि हृदयान्तरिक्षे प्रौक्षन् प्रकृष्टतया यस्यैवाभिषेकं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति चेत्युपदिश्यते परमेश्वरेण, तेन परमेश्वरेण पुरुषेण वेदद्वारोपदिष्टास्ते देवा विद्वांसः साध्या ज्ञानिन ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च ये चान्ये मनुष्यास्तं परमेश्वरमयजन्तापूजयन्त । अनेन किं सिद्धम् ? सर्वे मनुष्याः परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनपुरःसरमेव सर्वकर्मानुष्ठानं कुर्युरित्यर्थः' (पृ० १३९) इति दयानन्दीये व्याख्यान उच्यते—त्वद्रीत्या जगत्कर्ता कदा केन रूपेणाविर्भूतः, निराकारस्य तस्य सर्वदैकरूपत्वात् । अभिषेकश्च दुग्धजलादिभिर्भवति । सोऽपि कथं निराकारस्य सम्भवति ? बर्हिषीत्यस्य हृदयान्तरिक्षं कथमर्थः ? वस्तुतो मन्त्रार्थस्तु—यज्ञसाधने यज्ञशब्दः ।यज्ञं यज्ञसाधनभूतं पुरुषं पशुत्वमाभाव्यय यूपे बद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षणादिभिः संस्कारैः

'जनि' धातु का बार बार उपादान करने से स्थान के अवान्तर भेदों को बताया जा रहा है। जैसा कि विष्णुपुराण के प्रथम अंश के पंचमाध्याय में—'यज्ञों के प्रथम मुख से गायत्र, ऋचाएं, त्रिवृत्स्तोम, रथन्तर, और अग्निष्टोम निर्मित हुए। उनके दक्षिण मुख से यजुष्, त्रैष्टुभ् छन्द, पचदश स्तोम, बृहत्स्तोम, उक्थ्य पैदा हुए। तथा उनके पश्चिम मुख से साम, जगती छन्द, सप्तदश स्तोम, वैरूप और अतिरात्र पैदा हुए। उनके उत्तर मुख से इक्कीस शाखा वाला अथर्वण और आप्तोर्याम, अनुष्टुभ् छन्द तथा वैराज साम उत्पन्न हुए। (५३-५६)। उस प्रजापति ने अपने वक्षस्थल से भेड़ों को तथा मुख से बकरों को पैदा किया। उदर से गौओं को तथा दोनों पार्श्वभागों से और दोनों पैरों से हाथियों सहित घोड़ों को, गदहों को गवय, मृग, पशुओं को तथा ऊंट, अश्वतर, न्यंकु (मृगविशेष) आदि अन्य जातियों के पशुओं को पैदा किया।' (४८-४९)। उस पूर्वोक्त ब्रह्मरूप यज्ञ से अश्व उत्पन्न हुए, उसी प्रकार कतिपय जो अश्वव्यतिरिक्त गर्दभ, अश्वतर और ऊपर नीचे जिन्हें दांत होते हैं, ऐसे भी पशु उत्पन्न हुए। उसी प्रकार उसी यज्ञरूप ब्रह्म से गौएं पैदा हुईं और उसी से अज, अवि (भेड़) आदि पशु भी उत्पन्न हुए ।।८।।

'तं यज्ञं बर्हि०' जो सबसे पहले प्रकट था, जो सब जगत् का बनाने वाला है और सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, उस यज्ञ अर्थात् पूजने के योग्य परमेश्वर को जो मनुष्य हृदय रूपी आकाश में अच्छे प्रकार से प्रेमभक्ति, सत्य-आचरण करके पूजन करता है, वही उत्तम मनुष्य है। ईश्वर का यह उपदेश सबके लिये है। (तेन देवा अयजन्त सा०) उसी परमेश्वर के वेदोक्त उपदेशों से (देवाः) जो विद्वान्, (साध्याः) जो ज्ञानी लोग, (ऋषयश्च ये) ऋषि लोग, वेदमन्त्रों का अर्थ जाननेवाले और अन्य भी मनुष्य जो परमेश्वर के सत्कारपूर्वक सब उत्तम ही काम करते हैं, वे ही सुखी होते हैं। अतः सब श्रेष्ठ कर्मों के करने के पूर्व ही उसका स्मरण और प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये और दुष्ट कर्म करना तो किसी को भी उचित ही नहीं' (पृ० १३९) दयानन्द की इस व्याख्या के संबन्ध में हमारा कहना है कि आपकी बताई पद्धति के अनुसार जगत् का कर्ता परमेश्वर कब किस रूप में आविर्भूत हुआ ? वह तो निराकार है, सदा एकरूप रहता है। अभिषेक तो दूध, जल आदि से होता है, निराकार में यह कैसे संभव हो सकता है ? बर्हिषदः का अर्थ हृदयाकाश कैसे किया जा सकता है ? वास्तव में तो मन्त्र का संक्षिप्त अर्थ यह है—यज्ञ शब्द यहां यज्ञ के साधनों लिये प्रयुक्त है। यज्ञ अर्थात्

संस्कृतवन्तः । कीदृशम् ? अग्रतः सृष्टेः पूर्वं जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नम् । तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अयजन्त मानसयागं निष्पादितवन्तः । के ते देवा इत्याह—ये साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः । ये च तदनुकूला ऋषयो मन्त्रद्रष्टारस्ते सर्वेऽप्ययजन्त ।

वास्तविकार्थः—तं यज्ञं वर्हिषीति । तदेत्यध्याहार्यम्, तदा तं ब्रह्माख्यं यज्ञम्, यजन्त्यनेनेति यज्ञः, यजनीयहवीरूपमित्यर्थः । वर्हिषि प्रकृतौ, निधायेत्यध्याहार्यम् । प्रौक्षन् प्रोक्षणसंस्कारमकुर्वन्, द्रव्यत्यागयोग्यतापादकान् प्रोक्षणोपस्तरणावदानाभिधारणादिसंस्कारान् अकुर्वन्नित्यर्थः । अग्रतः स्थिरतरसृष्टेरग्रतः, जातमुत्पन्नम् । तेन पश्वादिसृष्टेः प्रागेवायं यज्ञः प्रवृत्तः, ततो मानसमेव सर्वमक्रियत । तेन ब्रह्मरूपेण हविषा । देवा इन्द्रियाणि । अयजन्त यागमकुर्वन् । अनिरुद्धाग्नौ ब्रह्मरूपं हविः प्रक्षिप्तवन्तः, आत्मसमर्पणं कृतवन्तः । साध्याः कर्मसाधनानि वागादीनि । ऋषयो ज्ञानसाधनानि चक्षुरादीनि । एतस्मिन्नर्थे पुरुषसूक्तव्याख्यानभूतं शावल्यब्राह्मणं चोदाहरन्ति —

'तस्मात्पादनारायणात् मूलप्रकृतिरजायत । सा प्रकृतिः पादनारायणशासनान्महदहङ्कारादीन् सूक्ष्मान् पदार्थानजनयत् । एवं सूक्ष्मायां सृष्टौ कृतायां स पादनारायणः स्थूलसृष्ट्यर्थं चतुर्मुखं पुरुषमभिदध्यौ । तद्ध्यानात् पश्चात् पुरुषश्चतुर्मुखाख्योऽजायत । स जातो भूमेः पश्चात् पुरतश्चातिरिच्यत । सर्वकार्यक्षमो वृद्धकायः सन् पुरुषस्तूष्णीमास । तमनिरुद्धनारायणोऽप्राक्षीत्—ब्रह्मंस्तूष्णीं भवसीति ? अज्ञानादिति होवाच । ब्रह्मंस्तवेन्द्रियाणि देवानृत्विजः कृत्वा त्वदीयं च कलेवरं हविः कृत्वा मां हविर्भुजं ध्यात्वा मय्यग्नौ निवेदय । मदङ्गस्पर्शमात्रेण जगत्कोशभूतस्त्वत्कायो वृंहिष्यते । तस्मादुद्भूतानि प्राणिजातानि यथापुरं निर्माय स्रष्टा भविष्यसि । य एवं सृष्टियज्ञं जानाति स जन्मनीह मुक्तो भवति' इति ।

यज्ञ के साधनभूत इस पुरुष को पशु के रूप में कल्पित कर उसको यूप में बांध कर मानस यज्ञ के अवसर पर प्रोक्षण प्रभृति संस्कारों से संस्कृत किया । कैसे ? सृष्टि से पहले पुरुष के रूप में उत्पन्न होकर । उस पुरुष रूप पशु से देवताओं ने मानस याग संपन्न किया । वे देवगण कौन थे ? वे थे सृष्टि को संपन्न करनेवाले प्रजापति प्रभृति । साथ ही प्रजापति की बताई पद्धति के अनुकूल चलने वाले मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण भी यज्ञ करने में इनके साथ थे । मन्त्र का विस्तृत अर्थ इस प्रकार है—

.... ॥ (ऋ० सं० १०, ९०, ९)

अर्थः—तं यज्ञं वर्हिषीति । 'तदा' का अध्याहार कर अर्थ किया जायगा । तब उस ब्रह्मसंज्ञक यज्ञ को (जिससे यजन करते हैं उसे यज्ञ कहते हैं, अर्थात् यजनीय हविःस्वरूप) प्रकृति पर रखकर ('रखकर' का अध्याहार किया गया है) उसका प्रोक्षण संस्कार किया, अर्थात् द्रव्य-त्याग की योग्यता के संपादक प्रोक्षण, उपस्तरण, अवदान, अभिघारण आदि संस्कारों को किया । स्थिरतर सृष्टि के पूर्व उत्पन्न होने के कारण प्रतीत होता है कि पश्वादि सृष्टि के पहिले ही यह यज्ञ प्रवृत्त हुआ है । इसलिये सब कुछ मानस ही किया गया । उस ब्रह्मरूप हवि से इन्द्रियरूप देवताओं ने याग किया । अनिरुद्ध रूप अग्नि में ब्रह्मरूप हवि का प्रक्षेप किया । अर्थात् आत्मसमर्पण उन्होंने किया । कर्म के साधनभूत वाक् आदि साध्य हैं और ज्ञान के साधन चक्षुरादि ऋषि हैं । इस विषय में पुरुषसूक्त के व्याख्यानरूप शावल्य ब्राह्मण को दे रहे हैं—'उस पादनारायण से मूलप्रकृति हुई । उस प्रकृति ने पादनारायण के शासन से महदहंकारादि सूक्ष्म पदार्थों को पैदा किया । इस प्रकार सूक्ष्म सृष्टि कर चुकने पर उस पादनारायण ने स्थूल सृष्टि की रचना के लिये चतुर्मुख पुरुष का ध्यान किया । उसके ध्यान करने के पश्चात् चतुर्मुख नाम का पुरुष हुआ । वह उत्पन्न हुआ पुरुष ब्रह्माण्डभूमि के पहले और पश्चात् भी रहा । समस्त कार्यों को करने में समर्थ महान् शरीर को धारण करता हुआ वह पुरुष चुपचाप रहा । उसे अनिरुद्धनारायण ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! आप चुपचाप क्यों हैं ? अज्ञान के कारण चुप हूँ, उसने कहा । तब अनिरुद्धनारायण ने कहा—हे ब्रह्मन् ! अपने इन्द्रियरूपी देवताओं को ऋत्विक् बनाकर तथा अपने कलेवर (शरीर) को हवि बनाकर और मुझ हविर्भुक् का ध्यान कर मुझ अग्नि में उसे अर्पण कर दो । मेरे अंगस्पर्श के होते ही जगत् का कोषभूत तुम्हारा शरीर वृद्धिगत होगा । उससे उद्भूत हुए प्राणियों को यथापूर्व निर्माण कर तुम स्रष्टा हो सकोगे । जो कोई इस सृष्टि यज्ञ को जान पाता है, वह इसी जन्म में मुक्त हो जाता है ।

यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्धम्, बर्हिषि मानसे यज्ञे, प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः। कीदृशम् ? अग्रतः सर्वसृष्टेः प्राग्जातं पुरुषत्वेन उत्पन्नम्, तस्माद्विराडजायत विराजोऽधिपूरुष इत्युक्तत्वात्। तेन पुरुषरूपेण पशुना, देवा अयजन्त मानसं यागं सम्पादितवन्तः। के ते देवाः ? साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः। तदनुकूला ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च ये सन्ति ते सर्वेऽप्ययजन्त ॥९॥

'यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥ (वा० सं० ३१।१०; ऋ० सं० १०।९०।१०)। 'यद्यस्मादेतं पूर्वोक्तलक्षणं पुरुषं परमेश्वरं कतिधा कियत्प्रकारैर्व्यकल्पयन् तस्य सामर्थ्यंगुणकल्पनं कुर्वन्ति करिष्यन्ति च। व्यदधुः तं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरं विविधसामर्थ्यकथनेनादधुरर्थादनेकविधं तस्य व्याख्यानं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च। मुखं किम्, अस्य पुरुषस्य मुख मुख्यगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत् ? किं बाहू बलवीर्यंगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत्, किमूरू व्यापारादिमध्यमगुणैः किमुत्पन्नमासीत् ? पादावर्थान्मूर्खत्वादिनीचगुणैः किमुत्पन्नं वर्तते' (पृ० १३९) इति दयानन्दीयं व्याख्यानम्। तत्रोच्यते—विदधातेर्व्याख्यानं कथमर्थः ? एवं मुखादिपदानां मुख्यमर्थमपहाय मुख्यगुणादयो लाक्षणिका अर्थाः किमर्थमाश्रियन्ते ? पादशब्देन मूर्खत्वादयो नीचगुणाः कथं गृह्यन्ते ? किं परमेश्वरेऽपि मूर्खत्वादयो नीचगुणा अपि सन्ति ? परमेश्वरस्य नित्यनिरवद्यसामर्थ्येषु मध्यमनीचगुणानां कल्पनं पामरोऽपि न कर्तुमीहते। किञ्च, यदि परमेश्वरे मुखादयो न सन्ति तदोत्तरे मन्त्रे परमेश्वरे मुखादीनि न सन्तीत्येव वक्तव्यमासीत्, न पुनर्ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीदित्येवम्। तस्मात् सायणादिसम्मतमस्मदुक्तमेव व्याख्यानं युक्तम्। तद्यथा—

यत्पुरुषमिति। यज्ञानुष्ठायिनां ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिरुच्यते। यद् यदा पुरुषं ब्रह्माख्यं व्यदधुः। पशुमित्यध्याहार्यम्। पशुत्वेन अकल्पयन्। तत् तदा। कतिधा कतिप्रकारविशिष्टम्। व्यकल्पयन्, बहुवचनं छान्दसम्।

यज्ञ के साधनभूत उस पुरुष में पशु की भावना कर उसे यूप से बाँध दिया और उस मानस-यज्ञ में उसका प्रोक्षण किया। वह पशु समस्त सृष्टि के पूर्वपुरुष के रूप में उत्पन्न हुआ था, उससे विराट् हुआ, क्योंकि 'विराजोऽधिपूरुषः' कारणरूप होने से पुरुष विराट् से श्रेष्ठ है, ऐसा कहा गया है। उस पुरुष रूप पशु से देवताओं ने मानस-याग को सम्पन्न किया। वे देवतागण सृष्टि-साधन करने के योग्य प्रजापति प्रभृति ही हैं और उनके अनुकूल मन्त्र-द्रष्टा जो ऋषि हैं उन सभी ने यजन किया ॥९॥

(यत्पुरुषं०) 'पुरुष उसको कहते हैं, जो कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहलाता है। (कतिधा व्य०) जिसके सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि उसमें चित्र-विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है। अनेक कल्पनाओं से जिसका कथन करते हैं। (मुखं किमस्यासीत्) उस प्रकार के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है ? (किं बाहू) बल, वीर्य, शूरता और युद्ध आदि विद्या गुणों से इस संसार में कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है ? (किमूरू) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किसकी उत्पत्ति हुई है ? (पादा उच्येते) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किसकी उत्पत्ति होती है ?' (पृ० १३९)। पुरुषसूक्त के दसवें मन्त्र की यह दयानन्द कृत व्याख्या है। इस पर हमारा कहना है कि 'विदधाति' पद का अर्थ व्याख्यान कैसे होगा ? इसी तरह से मुख प्रभृति शब्दों के मुख्य अर्थ को छोड़ कर मुख्य गुण आदि लाक्षणिक अर्थ का ग्रहण यहाँ किस अभिप्राय से किया जाता है ? पाद शब्द से मूर्खपन आदि नीच गुणों का ग्रहण कैसे होगा ? क्या परमेश्वर में भी मूर्खपन आदि नीच गुण हैं ? परमेश्वर तो सदा निर्दुष्ट सामर्थ्यवाला है, उसमें मध्यम, नीच कोटि के गुणों की कल्पना अबोध आदमी भी नहीं कर सकता। अपि च, यदि परमेश्वर के मुख आदि नहीं हैं, तो अगले मन्त्र में यही कहा जाना चाहिये था कि परमेश्वर के तो मुख प्रभृति हैं ही नहीं, न कि ब्राह्मण इसका मुख है आदि आदि। अतः इस मन्त्र का सायण प्रभृति भाष्यकारों के अनुकूल हमारा किया अर्थ ही युक्तियुक्त है। जो कि इस प्रकार है—

... . ॥ (ऋ. सं० १०.९० १०)

अर्थः—यत्पुरुषमिति। यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति को बताते हैं। जब ब्रह्मसंज्ञक पुरुष में पशु की कल्पना की (यहाँ पशु का अध्याहार किया गया है), तब कई प्रकारों से वह कल्पना की। (यहाँ बहुवचन छान्दस है)। अथवा

अथवा यद् यदा पुरुषं मनुष्यं व्यदधुः अकल्पयन् असृजन्तेत्यर्थः। तत् तदा। कस्मात् कस्मात् स्थानात् कीदृशकीदृशप्रकारविशिष्टमकल्पयन्। यद्वा पुरुषं मनुष्यं यद् यदा व्यदधुः, तत् तदा कतिधा व्यकल्पयन्। मनुष्याद्युपादानभूतं चतुर्मुखशरीरं कतिविभागविशिष्टमकल्पयन्। अस्य मुखं किंरूपमासीत्, कार्यकारणभावमूलकं सामानाधिकरण्यमत्र, मुखादुत्पन्नं किमित्यर्थः। एवं किं वाहू, किमूरू, किं पादौ उच्येते ?

प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। प्रजापतेः प्राणरूपा देवाः, यत् यदा, पुरुषं विराड्रूपं व्यदधुः सङ्कल्पेन उत्पादितवन्तः, तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैः व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः। अस्य पुरुषस्य मुखं किम् आसीत्। कौ वाहू अभूताम्। कौ ऊरू, कौ च पादा उच्येते। प्रथमं सामान्यरूपः प्रश्नः, पश्चान्मुखं किम् इत्यादिना विशेषविषयाः प्रश्नाः ॥१०॥

‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् वाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥’ (वा० सं० ३१।११; ऋ० सं० १०।९०।११)। ‘अस्य पुरुषस्य ये विद्यादयो मुख्यगुणाः सत्यभाषणोपदेशादीनि कर्माणि सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण आसीद् उत्पन्नो भवति। वाहू राजन्यः, वलवीर्यादिलक्षणान्वितो राजन्यः क्षत्रियस्तेन कृत आज्ञप्त आसीद् उत्पन्नो भवति। (ऊरू) कृषिव्यापारादयो गुणा मध्यमास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनोऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति वेद्यम्। पद्भ्यां शूद्रः पद्भ्यां पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जडबुद्धित्वादिगुणेभ्यः सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्तमानोऽजायतेति वेद्यम्’ (पृ० १४०) इति दयानन्दीयं व्याख्यानम्।

तदुपर्युच्यते—अत्र मुखवाहूरुपादशब्दानां लाक्षणिकार्थाश्रयणमेव दूषणम्। किञ्चोत्पन्ने पुरुषे विद्यादिभिर्गुणैर्ब्राह्मण्यादिकं जायते, तदा आसीद् उत्पन्न इति कथमर्थः सम्भवति ? नह्युत्पन्न एवोत्पद्यते। कृत आज्ञप्त उत्पन्न इति किमर्थमेकस्मिन्नर्थे शब्दत्रयप्रयोगः ? कृत इत्यस्य आज्ञप्त इति कथमर्थः ? वणिग्जनोऽस्योपदेशात् कथमुत्पन्नः ?

पुरुष में मनुष्य की कल्पना की, अर्थात् पुरुष को मनुष्य के रूप में पैदा किया। तब किस स्थान से किस प्रकार की कल्पना की ? अथवा पुरुष में मनुष्य की जब कल्पना की, तब कितने प्रकारों से कल्पना की। मनुष्य आदि के उपादानभूत चतुर्मुख शरीर की कितने विभागों में कल्पना की। उसके मुख का कैसा रूप था। यहाँ पर कार्यकारणभावमूलक सामानाधिकरण्य है, अर्थात् मुख से क्या (कौन) उत्पन्न हुआ। उसी प्रकार बाहू से कौन, ऊरुओं से कौन और पैरों से कौन उत्पन्न हुआ ? अर्थात् बाहू, ऊरु, पाद किन नामों से बोले जाते हैं। प्रश्नोत्तर के रूप में ब्राह्मण आदि की सृष्टि बताने के लिये ब्रह्मवादियों के ये प्रश्न कहे जा रहे हैं। प्रजापति के प्राणरूप देवताओं ने जब विराट्रूप पुरुष को अपने संकल्प से उत्पन्न किया, तब कितने ही प्रकारों से उसे कल्पित किया, अर्थात् अनेक प्रकारों से उसे कल्पित किया। इस पुरुष का मुख क्या था, बाहु कौन थे, ऊरु कौन थे, और पैर कौन कहे जाते हैं। पहिले सामान्यरूप से प्रश्न किया गया है, पश्चात् ‘मुखं किम्’ इत्यादि के द्वारा विशेषविषयक प्रश्न किया गया है ॥१०॥

‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्०’ इत्यादि मन्त्र की व्याख्या दयानन्द ने इस तरह से की है—‘पूर्व मन्त्र में उठाये गये चारों प्रश्नों के उत्तर ये हैं—इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार विद्या, सत्यभाषण आदि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मों से ब्राह्मण वर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है। (बाहू राजन्यः कृतः) ईश्वर ने बल, पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है। (ऊरु तदस्य) खेती, व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्य वर्ण सिद्ध होता है। (पद्भ्यां शूद्रो०) जैसे पग सबसे नीच अंग है, वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है’ (पृ० १४०)।

इस पर हमारा यह कहना है—इस व्याख्या में पहला दोष तो यह है कि यहाँ मुख, बाहु, ऊरु और पाद शब्दों के लाक्षणिक अर्थ का सहारा लेना पड़ता है। दूसरी बात यह है कि उत्पन्न हुए पुरुष में विद्या प्रभृति गुणों से ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति बाद में जब मानी जाती है, तो उसके लिये भूतकाल की क्रिया का प्रयोग कैसे संगत हो सकता है ? एक बार जिसकी उत्पत्ति हो गई, वह

नह्युपदेशात् कस्यचिदुत्पत्तिर्भवति। शुभगुणकर्मादिभिर्ब्रह्मयोनिषु जन्म भवति, मध्यगुणकर्मानुविद्धशुभगुणादिभिः क्षत्रियजन्मेत्यादिकं तु न विरुद्धचते। तत्तज्जन्मानन्तरं शुभगुणकर्मादिभिर्ब्राह्मण्यादिषु न व्यवस्था स्यात्, गुणकर्मादिपरिवर्तनेन ब्राह्मण्यादिपरिवर्तनापत्तेः। 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। तदेकं न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत् क्षत्रम। यान्येतानि देवत्राः क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशानः, तस्मात् क्षत्रं परं नास्ति। स नैव व्यभवत्। स विशमसृजत। यान्येतानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा मरुत इति। स नैव व्यभवत। स शौद्रं वर्णमसृजत' (बृ० उ० १।४) इति बृहदारण्यके ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्रादीनामुत्पत्तिः श्रूयते। 'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं क्षत्रिययोनिं वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं सूकरयोनिं चण्डालयोनिं वा' (छा० उ० ५।९) इत्यादिश्रुतिभिः स्पष्टं रमणीयकपूयचरणभेदेन ब्राह्मणादियोनिषु जन्मानि श्रूयन्ते। मनुना च ब्राह्मणादीनां मुखबाहूरुपज्जत्वं स्पष्टतयोक्तम्। 'लोकानां तु विवृद्धयर्थं मुखबाहूरुपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥' (म० १।३१), 'मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकारयत्' (म० १।८७), 'उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठयाद् ब्रह्मणश्चैव धारणात्' (म० १।९३) इति। विशेषस्त्वस्मदीये चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्शाख्ये ग्रन्थे वर्णव्यवस्थाविचारो द्रष्टव्यः।

अथ मन्त्रार्थः—ब्राह्मणोऽस्येति। अथैषां प्रश्नानामुत्तराण्याह। ब्राह्मणः अस्य चतुर्मुखस्य मुखम् आननम् आसीत्। मुखादुत्पन्नो ब्राह्मण इत्यर्थः। ब्राह्मणस्य वक्ष्यमाणसर्वावयवेषु उत्तमात् मुखादुत्पन्नत्वोक्त्या तस्यान्यवर्णापेक्षया स्वत एव उत्तमत्वं सूचितम्। मुखव्यापारभूतवेदाध्ययनादिप्रधानत्वं मुखवीर्यत्वं च व्यञ्जितम्। बाहुः राजन्यः क्षत्रियः कृतः। क्षत्रियो बाहोरजायतेत्यर्थः। बाहुजत्वाद् ब्राह्मणापेक्षया न्यूनत्वं बाहुव्यापारभूतयुद्धादिप्रधानत्वं

पुनः उत्पन्न नहीं होता। एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये कृत, आज्ञप्त और उत्पन्न इन तीन शब्दों का प्रयोग क्यों किया जाता है? कृत शब्द का अर्थ आज्ञप्त कैसे हो सकता है? इस पुरुष के उपदेश से वणिग्जन (वैश्य) कैसे उत्पन्न होगा? किसी के उपदेश से किसी की उत्पत्ति होती नहीं देखी गई है।

शुभ गुण, शुभ कर्म प्रभृति से ब्राह्मण योनि में जन्म होता है, मध्यम गुण और मध्यम कर्म आदि से क्षत्रिय वर्ण में जन्म होता है, ऐसा मानने में तो कोई विरोध प्रतीत नहीं होता। इसके विपरीत उन उन व्यक्तियों का जन्म हो जाने के बाद शुभ गुण-कर्म आदि से ब्राह्मण्य आदि की प्राप्ति की बात मानने पर कोई व्यवस्था नहीं बन पावेगी, क्योंकि व्यक्ति के गुण-कर्म आदि में परिवर्तन हो जाने पर ब्राह्मण्य आदि में भी परिवर्तन मानना पड़ेगा। 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्०' इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति में ब्रह्म, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण की उत्पत्ति की कथा वर्णित है। 'तद्य इह रमणीयचरणा०' इत्यादि छान्दोग्य श्रुति में स्पष्ट बताया गया है कि शुभ और अशुभ आचरण के आधार पर प्राणी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य योनियों को और कूकर, सूकर, चाण्डाल आदि योनियों को प्राप्त करता है। मनु ने स्पष्ट ही ब्राह्मण प्रभृति वर्णों की उत्पत्ति मुख, बाहु, ऊरु और चरण से मानी है—'प्रजापति ने प्रजा की वृद्धि के लिये अपने मुख, बाहु, ऊरु और चरण से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण को उत्पन्न किया', 'मुख, बाहु, ऊरु और चरण से पैदा हुए इन वर्णों को अलग-अलग कार्यों का विधान किया', 'उत्तम अंग मुख से उत्पन्न होने के कारण, सब वर्णों में श्रेष्ठ (बड़ा) होने के कारण और ब्रह्मज्ञान का धारक होने से ब्राह्मण इन वर्णों में श्रेष्ठ है' इत्यादि वचन इसमें प्रमाण हैं। इस विषय पर विशेष विचार हमारे 'चातुर्वर्ण्य संस्कृति-विमर्श नामक ग्रन्थ में देखना चाहिये।

इस मन्त्र का वास्तविक परम्परा-प्राप्त अर्थ इस प्रकार का है—

... ...॥ (ऋ० सं० १०.९०.११)

अर्थ—ब्राह्मणोऽस्येति। इसके अनन्तर उन प्रश्नों के उत्तरों को कहते हैं। ब्राह्मण इस चतुर्मुख का मुख था, अर्थात् ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ। वक्ष्यमाण समस्त अवयवों में उत्तम अवयवभूत मुख से ब्राह्मण की उत्पत्ति बताई गई है, इस कारण अन्य वर्गों की अपेक्षा ब्राह्मण की क्षमता स्वतः ही सूचित होती है। इससे मुख के व्यापारभूत अध्ययनादि में प्रधानता तथा मुख की तेजस्विता भी व्यञ्जित होती है। बाहु क्षत्रिय हुआ, अर्थात् बाहु से क्षत्रिय पैदा हुआ। बाहु से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण की

बाहुवीर्यत्वं च प्रतीयते। वैश्य इति यत् तदस्य ऊरू। अस्योरुभ्यां वैश्योऽजायतेत्यर्थः। ऊरुजत्वाद् वैश्यस्य क्षत्रियापेक्षया न्यूनत्वमवगतम्। पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः अजायत। शूद्रस्य पज्जातत्वात् सर्ववर्णापेक्षयापि निकृष्टत्वं लब्धम्। पादकार्यभूतगमनागमनादिव्यापारश्च सूचितो भवति।

इदानीं पूर्वोक्तानां प्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति—अस्य प्रजापतेः ब्रह्मणः ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः मुखम् आसीत्, मुखादुत्पन्न इत्यर्थः। योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिमान् पुरुषः, स बाहूकृतः वाहुत्वेन निष्पादितः, बाहुभ्यामुत्पादितः। तत् तदानीमस्य प्रजापतेर्यत् यौ ऊरू तद्रूपो वैश्यः, ऊरुभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः। तथाऽस्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषः अजायत। इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्यजुःसंहितायां सप्तमकाण्डे 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' (तै० सं० ७।१।१।४) इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता। अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परतयैव योजनीये ॥११॥

'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥' (वा० सं० ३१।१२; ऋ० सं० १०।९०।१२)। 'तस्यास्य पुरुषस्य मनसो मननशीलात् सामर्थ्यात् चन्द्रमा जात उत्पन्नः। तथा चक्षोर्ज्योतिर्मयात् सूर्योऽजायत। श्रोत्राकाशमयादाकाशान्नभ उत्पन्नमस्ति। वायुमयाद् वायुरुत्पन्नः। प्राणश्च सर्वेन्द्रियाणि चोत्पन्नानि सन्ति। मुखान्मुखज्योतिर्मयादग्निरजायतोत्पन्नोऽस्ति' (पृ० १४१) इति यद्व्याख्यातं दयानन्देन, तत्रोच्यते—यदि मनस इत्यस्य मननशीलात् सामर्थ्यादित्यर्थः कुतस्तदा चक्षोरित्यस्यापि दर्शनसामर्थ्यादित्यर्थो युक्तः। ज्योतिर्मयादित्यर्थः कुतः? एवं श्रोत्रादित्यस्यापि श्रवणसामर्थ्यादित्येवार्थो युक्तो न तु श्रोत्रमयादाकाशान्नभः, वायुमयाद्वायुरिति। मुखाज्ज्योतिर्मयादग्निरित्यपि न युक्तम्, वैरूप्यापातात्। तथा सति श्रोत्रादिसामर्थ्यान्येवेन्द्रियाणि रूपान्तरेणोक्तानि भवन्ति। तथात्वे 'ब्राह्मणोऽस्य मुखम्' इत्यत्रापि मुखबाहूरुपादानां सामर्थ्यान्येव ग्राह्याणि। ततश्च मुखादिभ्यो

अपेक्षा उसकी न्यूनता, किन्तु बाहु से होने वाले युद्धादि व्यापार में उसकी प्रधानता और बाहु की पराक्रमशालिता प्रतीत होती है। इसी प्रकार जो वैश्य है वह इसके ऊरु हैं, अर्थात् इसके ऊरुओं से वैश्य उत्पन्न हुआ। ऊरु से उत्पन्न होने के कारण क्षत्रिय की अपेक्षा उसकी न्यूनता अवगत होती है। दोनों पैरों से शूद्र पैदा हुआ। पैरों से पैदा होने के कारण सर्व वर्णों की अपेक्षा शूद्र की निकृष्टता लब्ध होती है। पैर का कार्यभूत गमनागमनादि व्यापार उसका सूचित होता है।

अब पूर्वोक्त प्रश्नों के उत्तरों को दिखाया जा रहा है। इस प्रजापति ब्रह्मा का ब्राह्मणत्व जाति से युक्त पुरुष मुख था, अर्थात् मुख से उत्पन्न हुआ था। जो यह राजन्य है, अर्थात् क्षत्रियत्व जातिमान् पुरुष है, उसे बाहु बनाया, अर्थात् बाहु के रूप में निष्पन्न किया, यानी बाहुओं से उत्पन्न किया। उस समय इस प्रजापति के जो ऊरु थे, उनके रूप में वैश्य हुआ, अर्थात् ऊरुओं से वैश्य उत्पन्न हुआ। उसी प्रकार इसके पैरों से शूद्रत्व जातिमान् शूद्र पुरुष पैदा हुआ। मुखादि अवयवों से ब्राह्मणादि की इस प्रकार की उत्पत्ति यजुःसंहिता के सप्तमकाण्ड में 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' (तै० सं० ७.१.१.४) स्पष्टतया बताई गई है। अतः प्रश्न और उत्तर दोनों को ही तत्परक ही लगाना चाहिये ॥११॥

(चन्द्रमा०) 'उस पुरुष के मनन, अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा और तेजस्वरूप से सूर्य उत्पन्न हुआ है। (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्र अर्थात् अवकाश स्वरूप सामर्थ्य से आकाश और वायुरूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है, तथा सब इन्द्रियाँ भी अपने अपने कारण से उत्पन्न हुई हैं और मुख्य ज्योतीरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है' (पृ० १४०)। दयानन्द की इस व्याख्या पर हमारा कहना है कि यदि 'मनसः' पद का अर्थ मननशील सामर्थ्य किया जाता है, तब 'चक्षोः' इस पद का अर्थ भी दर्शनशील सामर्थ्य किया जाना चाहिये। सूर्य के साथ ज्योतिर्मय विशेषण कहाँ से जोड़ा गया? इसी तरह से 'श्रोत्रात्' पद का अर्थ भी श्रवणशील सामर्थ्य होना चाहिये, न कि श्रोत्रमय आकाश से। इसी प्रकार 'वायोः' पद का वायुमय से और 'मुखात्' पद का ज्योतिर्मय से यह अर्थ भी नहीं होना चाहिये, किन्तु वयनशील सामर्थ्य और ज्वलनशील सामर्थ्य ही अर्थ होना चाहिये, अन्यथा कहीं सामर्थ्यपरक अर्थ करने और कहीं पदार्थपरक अर्थ करने में परस्पर विद्रूपता हो जायगी। सामर्थ्यपरक अर्थ मानने पर श्रोत्र प्रभृति का सामर्थ्य ही रूपान्तरित होकर इन्द्रियाँ कही जायगी और ऐसा यदि यहाँ माना जाता है, तो 'ब्राह्मणोऽस्य०' इस मन्त्र में भी मुख, बाहु, ऊरु प्रभृति के सामर्थ्य का ही

ब्राह्मणादीनामुत्पत्तयोऽभाक्ता एव भवेयुः। किञ्च, मूले नभस उत्पत्तिर्नोक्तास्ति, किन्तु श्रोत्राद्वायुश्चेति पाठोऽस्ति। तस्मात् श्रोत्रमयादाकाशादाकाशो नभ उत्पन्नमित्यशुद्धमेव तदीयं भाष्यम्। यदि निराकारस्य मुखमेव नास्ति, तदा कुतस्त्यं तस्य ज्योतिर्मयत्वमपि।

वास्तविकार्थः—चन्द्रमा मनस इति। एवं यज्ञकर्तॄणामुत्पत्तिमुक्त्वा यष्टव्यदेवतोत्पत्तिमाह—अस्य चतुर्मुखस्य मनसः चन्द्रमाः शीतांशुः जातः उत्पन्नः। चक्षोः चक्षुषः सूर्यः सर्वार्थप्रकाशकरो भानुः अजायत। इन्द्रश्च परमैश्वर्यवान् देवतासार्वभौमः शचीपतिः, अग्निश्च देवानां मुखस्थानीयः अनलः, अजायतामिति विपरिणतस्यानुषङ्गः। प्राणात् सर्वप्राणनहेतोश्चतुर्मुखरूपधरस्य भगवतः प्राणाद् वायुः सर्वप्राणनहेतुभूतः अजायत।

यथा दध्याज्यादिद्रव्याणि गवादयः पशव ऋगादिवेदा ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्नाः, एवं चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोत्पन्नाः। प्रजापतेः मनसः सकाशात् चन्द्रमा जातः। चक्षोः सूर्यो चक्षुषः सूर्योऽपि अजायत। अस्य मुखादिन्द्रश्च अग्निश्च देवौ उत्पन्नौ। अस्य प्राणाद् वायुरजायत। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्चेति शुक्लयाजुषपाठे श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्चाजायेताम् ॥१३॥

'नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥' (वा० सं० ३१।१३; ऋ० सं० १०।९०।१३)।

'अस्य पुरुषस्य नाभ्या अवकाशमयात् सामर्थ्याद् अन्तरिक्षमुत्पन्नमासीत्। एवं शीर्ष्णः शिरोवदुत्तमसामर्थ्यात् प्रकाशमयाद् द्यौः सूर्यादिलोकः प्रकाशात्मकः समवर्तत सम्यगुत्पन्नः सन् वर्तते। पद्भ्यां भूमिः पृथिवीकारणमयात् सामर्थ्यात् परमेश्वरेण भूमिरुत्पादितास्ति जलं च। दिशः शब्दाकाशमयात्तेन दिश उत्पादिताः। तथा तेनैव प्रकारेण सर्वलोककारणमयात् सामर्थ्यादन्यान् लोकान् तत्र स्थावरजङ्गमान् पदार्थान् अकल्पयन् परमेश्वर

ग्रहण होनी चाहिये। तब मुख प्रभृति से ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति वास्तविक माननी पड़ेगी, न कि आपकी उस मन्त्र की व्याख्या के अनुसार लाक्षणिक। अपि च, मूल में आकाश की उत्पत्ति नहीं बताई गई है, किन्तु श्रोत्र से वायु की उत्पत्ति कही गई है। इसलिये आपका यह अर्थ करना भी गलत है कि श्रोत्रमय आकाश से नभ की उत्पत्ति हुई। निराकार पुरुष का जब कोई मुख है ही नहीं, तब उसका ज्योतिर्मय विशेषण सुतरां निरर्थक ही माना जायगा। इस तरह से आपका सूर्य का 'ज्योतिर्मय' विशेषण का अध्याहार भी व्यर्थ ही है।

इस मन्त्र का वास्तविक परम्परागत अर्थ यह है—

.... (ऋ० सं० १०.९०.१२)

अर्थ—चन्द्रमा मनस इति। इस प्रकार से यज्ञकर्ताओं की उत्पत्ति को बताकर यष्टव्य देवताओं की उत्पत्ति को बताते हैं—इस चतुर्मुख के मन से शीतल किरणों वाला चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। चक्षु से समस्त पदार्थों का प्रकाशक सूर्य पैदा हुआ। परमैश्वर्यशाली, शचीपति, देवताओं में सार्वभौम इन्द्र और देवताओं का मुखस्थानीय अग्नि दोनों पैदा हुए। चतुर्मुख भगवान् के प्राण से सर्वप्राणनहेतुभूत वायु पैदा हुआ।

जिस प्रकार दधि, आज्य आदि द्रव्य, गो आदि पशु, ऋगादि वेद और ब्राह्मणादि मनुष्य, उससे उत्पन्न हुए, उसी प्रकार चन्द्र आदि देव भी उसीसे उत्पन्न हुए। प्रजापति के मन से चन्द्रमा पैदा हुआ। चक्षु से सूर्य भी पैदा हुआ। इस प्रजापति के मुख से इन्द्र और अग्नि ये देव उत्पन्न हुए। इस प्रजापति के प्राण से वायु पैदा हुआ ॥१२॥

(नाभ्या आसीदन्त०) 'इस पुरुष के अत्यन्त सूक्ष्म सामर्थ्य से अन्तरिक्ष, अर्थात् जो भूमि और सूर्य आदि लोकों के बीच पोल है, उसको भी नियत किया गया है। (शीर्ष्णो द्यौः) और जिसके सर्वोत्तम सामर्थ्य से सब लोकों के प्रकाश करने वाले सूर्य आदि लोक उत्पन्न हुए हैं। (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवी के परमाणु कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने पृथिवी उत्पन्न की है, तथा जल को भी उसके कारण से उत्पन्न किया है। (दिशः श्रोत्रात्) उसने श्रोत्ररूप सामर्थ्य से दिशाओं को उत्पन्न किया है। (तथा लोकानकल्पयन्) इसी प्रकार सब लोकों के कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने सब लोक और उनमें बसने वाले सब पदार्थों को उत्पन्न किया है' (पृ० १४१)।

उत्पादितवानस्ति' (पृ० १४१) इति यद् व्याख्यातं दयानन्देन, तत्रोच्यते—अनेन प्रायेण सर्वत्रैव व्याख्याने स्वेच्छाचारितैव प्रदर्शिता। नाभ्याः कथमवकाशमयत्वम् ? नाभ्युपलक्षितस्योदरस्य त्ववकाशमयत्वं युज्यते। शीर्ष्णं इत्यस्य लक्षणामाश्रित्य शिरोवदुत्तमसामर्थ्यमित्यर्थः कृतः, परन्तु सामर्थ्यस्य प्रकाशमयत्वं कुतस्त्यम् ? शक्त्यपरपर्यायस्य सामर्थ्यस्य रूपवत्त्वमेव नास्ति, कुतस्तरां प्रकाशमयत्वम् ? पद्भ्यामित्यस्य पृथिवीकारणमयत्वं कथमर्थः ? पूर्वं श्रोत्रादित्यस्याकाशमयत्वमर्थ उक्तः, इदानीं शब्दाकाशमयत्वं सर्वलोककारणमयत्वं चार्थ उच्यते। यदि शब्दवलात् तदा शब्दशक्त्या प्रसिद्ध एवार्थो ग्राह्यः।

वस्तुतस्तु विराट्पुरुषेऽप्यस्मदादीनामिव शिरःश्रोत्रचक्षुरादिकल्पनानुरोधेन तस्याङ्गेभ्य एव तेषां तेषां लोकादीनामत्रोत्पत्तय उक्ताः। छान्दोग्ये पञ्चमेऽध्याये—'दिवमेव भगवो राजन्निति' (१२), 'आदित्यमेव भगवो राजन्निति' (१३), 'वायुमेव भगवो राजन्निति' (१४), 'आकाशमेव भगवो राजन्निति' (१५), 'अप एव भगवो राजन्निति' (१६), पृथिवीमेव भगवो राजन्निति' (१७), 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' (१८) इति। मुण्डके च 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥' (२।१।४)। योऽपि प्रथमजात् प्राणाद्धिरण्यगर्भाज्जायतेऽण्डस्यान्तर्विराट् स तत्त्वान्तरितत्वेन लक्ष्यमाणोऽप्येतस्यादेव पुरुषाज्जायते। तं च विशिनष्टि—अग्निर्द्युलोकः, 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' इति श्रुतेः। मूर्धा यस्योत्तमाङ्गं शिरः। चक्षुषी चन्द्रश्च सूर्यश्च यस्य। यस्य दिशः श्रोत्रे। विवृता वाक्प्रसिद्धा वेदाः। वायुः प्राणः। यस्य हृदयं विश्वं समस्तं जगत् सर्वं ह्यन्तःकरणविकारमेव जगद् मनस्येव सुषुप्ते प्रलयदर्शनात्, जागरितेऽपि तत एवोदयात्। यस्य पद्भ्यां जाता पृथिवी 'एष देवो विष्णुरनन्तः प्रथमशरीरी त्रैलोक्यदेहोपाधिः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा' इति शाङ्करभाष्यम् (मुण्डक० १।२।४)। एतस्यैव विवरणं पुराणेषूपलभ्यते—

पातालमेतस्य हि पादमूलं पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम्।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे॥२६॥

दयानन्द की इस व्याख्या के विषय में हमारा यह कहना है—इन्होंने व्याख्या करते समय प्रायः सर्वत्र मनमानी की है। नाभि का अर्थ अवकाशरूप सामर्थ्य कैसे हो सकता है ? नाभि से उपलक्षित होने वाले उदर (पेट) में अवकाश माना जा सकता है। शीर्ष्ण शब्द में लक्षणा का सहारा लेकर शिर के समान उत्तम सामर्थ्य अर्थ किया है, किन्तु सामर्थ्य की प्रकाशमयता कैसे हो सकती है ? सामर्थ्य शक्ति का ही दूसरा नाम है। जब उसमें रूप ही नहीं, है तो उसकी प्रकाशमयता का कहां प्रसंग है ? 'पद्भ्याम्' पद का अर्थ पृथिवी को पैदा करने वाला सामर्थ्य कैसे होगा ? पहले श्रोत्र पद का अर्थ आकाशमय किया गया है, अब यहां उसका अर्थ शब्दाकाशमय और सर्वलोककारणमय किया जाता है, यह कैसे संभव है ? शब्द की शक्ति के अनुसार तो प्रत्येक शब्द का प्रसिद्ध अर्थ ही किया जाना चाहिये।

वास्तव में विराट् पुरुष में हमारी ही तरह शिर, श्रोत्र, चक्षु आदि की कल्पना कर उन्हीं अंगों से उन उन लोक आदि की उत्पत्ति यहां बताई गई है। छान्दोग्य उपनिषद् के पांचवें अध्याय में द्यौ, आदित्य, वायु, आकाश, जल, पृथिवी आदि को उस ब्रह्म का ही प्रकाश बताकर उस वैश्वानर प्रकाशमय ब्रह्म के विभिन्न अंगों की कल्पना कर उनसे विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति बताई गई है। इसी प्रकार मुण्डक श्रुति में भी अग्नि, चन्द्र, सूर्य प्रभृति से उस ब्रह्म के विभिन्न अवयवों की कल्पना की गई है और तदनुसार ही शांकर भाष्य में इसकी व्याख्या भी की गई है। श्रुतियों में प्रतिपादित यही विषय विस्तार से पुराणों में भी उल्लिखित है। जैसा कि भागवतपुराण में वर्णित है—

'श्रुतियां पाताल को इस विराट् पुरुष का पादमूल बताती है, रसातल उसका एड़ी और पंजा है, महीतल उस विश्वस्रष्टा

द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्तेरूरुद्वयं वितलं चातलं च ।
महीतलं तज्जघनं महीपते नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति ।।२७।।
उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य ।
तपो रराटीं विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः ।।२८।।
इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः ।
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः ।।२९।।
द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत् पतङ्गः पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च ।
तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यमापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा ।।३०।।
छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि ।
हासो जनोन्मादकरो च माया दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः ।।३१।।
व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभो धर्मः स्तनोऽधर्मपथोऽस्य पृष्ठः ।
कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घाः ।।३२।।
नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र ।
अनन्तवीर्यः श्वसितं मातरिश्वा गतिर्वयः कर्मगुणप्रवाहः ।।३३।।
ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान् वासस्तु सन्ध्यां कुरुवर्य भूम्नः ।
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च स चन्द्रमाः सर्वविकारकोशः ।।३४।।
विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम् ।
अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजा नखानि सर्वे मृगाः पशवः श्रोणिदेशे ।।३५।।
वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं मनुर्मनीषा मनुजो निवासः ।
गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः स्वरस्मृतीरसुरानीकवीर्यः ।।३६।।

के टखने हैं, तलातल उस पुरुष की पिण्डलियां हैं, सुतल उस विश्वमूर्ति भगवान् के घुटने हैं, वितल और अतल उसकी दोनों जंघाएं हैं, हे राजन्, महीतल उसका नितम्ब भाग है, नभस्तल को श्रुतियां उस पुरुष का नाभितल बताती हैं, स्वर्लोक इसका उरःस्थल (वक्षस्थल) है, महर्लोक ग्रीवा और जनलोक वदन (मुह) है, तपोलोक इस आदि पुरुष का ललाट है और उस हजारों शिर वाले विराट् पुरुष का शिर सत्यलोक है। इन्द्र प्रभृति देवगण इसकी भुजाएं हैं, दिशाएं कान और शब्द श्रवण-शक्ति है। अश्विनीकुमार इस विराट् पुरुष की नासिका और गन्ध गुण इसकी घ्राण शक्ति है। प्रज्वलित अग्नि इसका मुंह, आकाश अक्षिगोलक और सूर्य इसकी दर्शन शक्ति है। इस विराट् पुरुष विष्णु की दिन और रात पलकें हैं। विष्णुलोक इस विराट् का भ्रूविलास है, जल इसकी तालु और रस जिह्वा है। छन्द इस अनन्त भगवान् के शिर कहलाते हैं, यमराज इसकी डाढें हैं और स्नेहकला इसके दांत हैं। इसका हास मनुष्यों को पागल बना देने वाली माया है और इसके कटाक्ष ही यह दुर्गम सृष्टि कहलाती है। इसका ऊपर के होठ लज्जा से और अधरोष्ठ लोभ से बना है, धर्म इसका स्तन है और पाप पृष्ठ भाग (पीठ) है। ब्रह्मा इसका लिंग और मित्र देवता अण्डकोश हैं। समुद्र कुक्षि (कांख) और पहाड़ इसकी हड्डियां हैं। नदियां इसकी नाडियां हैं और हे राजन्, इस विश्वशरीर विराट् पुरुष के रोम वृक्ष कहलाते हैं। अनन्त शक्तिवाला पवन इसके श्वासोच्छ्वास और कर्म तथा गुण के अनुसार चलनेवाली गति इसकी अवस्था है। मेघ इसके केश कहे गये हैं और हे कुरुश्रेष्ठ, सन्ध्या इस विराट् पुरुष के वस्त्र है। इसका हृदय अव्यक्त और मन कलंक चिह्नांकित चन्द्रमा है। पृथ्वी इसकी विज्ञान शक्ति और गिरित्र इस सर्वात्मा का अन्तःकरण है। घोड़ा, खच्चर, ऊंट, हाथी इसके नख हैं और इसकी कमर में सब तरह के मृग और पशु निवास करते हैं। इसकी विविध बोलियां पक्षीगण, बुद्धि मनु और निवास मनुज (मनुष्य) कहलाते हैं। गन्धर्व, विद्याधर चारण,

ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा विड्रुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः ।
नानाभिधाभीज्यगुणोपपन्नो द्रव्यात्मकः कर्मवितानयोगः ॥३७॥
इयानसावीश्वरविग्रहस्य यः सन्निवेशः कथितो मया ते ।
सन्धार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे मनः स्वबुद्धया नयतोऽस्ति किञ्चित् ॥३८॥
स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः ।
तं सत्यमानन्दविधिं भजेत नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः ॥३९॥ (श्री० भा० २।१)
इति ।

वास्तविकार्थः—नाभ्या आसीदन्तरिक्षमिति । एतावता उपास्यदेवतामुक्त्वा उपासीनानां भोगस्थानभूतस्य अन्तरिक्षादिलोकस्य सृष्टिमाह—नाभ्या इति । अन्तरिक्षं सूर्याण्डगोलयोः मध्यदेशरूपः अन्तरिक्षलोकः आसीत् । शीर्ष्णः शिरसः द्यौः द्युलोकः समवर्तत । इदमुपरितनानां सर्वेषां लोकानामुपलक्षणम् । पद्भ्यां चरणाभ्यां भूमिः पृथिवीमण्डलम् । इदं च सर्वेषामधोलोकानामुपलक्षणम् । श्रोत्रात् कर्णात् दिशः आशाः, इदं च सप्तद्वीपोपलक्षणम् । तथा यथा पूर्वस्मिन् कल्पे आसन् तथा लोकान् अन्तरिक्षादीन् पृथिव्यादींश्च चतुर्दशलोकान् । अकल्पयन् अकल्पयत् चकार । बहुवचनं कतिधा व्यकल्पयन्निति प्रश्नानुरूपमत्र विवक्षितम् । यथा चन्द्रादीन् प्रजापतेर्मनःप्रभृतिभ्योऽकल्पयन् तथा अन्तरिक्षादीन् लोकान् प्रजापतेर्नाभ्यादिभ्यो देवा अकल्पयन् उत्पादितवन्तः । एतदेव दर्शयति—नाभ्याः प्रजापतेर्नाभेः । अन्तरिक्षमासीत् । शीर्ष्णः शिरसः द्यौः समवर्तत उत्पन्ना । अस्य पद्भ्यां पादाभ्यां भूमिः उत्पन्ना । अस्य श्रोत्राद् दिश उत्पन्नाः ॥१३॥

'यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत । वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥' (वा० सं० ३१।१४; ऋ० सं० १०।९०।१४)। 'देवां विद्वांसः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं शिल्पविद्यामयं

अप्सराएं ये सब इसके पराक्रम के विलास हैं । ब्राह्मण इसका मुंह, क्षत्रिय भुजाएं, वैश्य जांघ और कृष्णवर्ण शूद्र इसके पैर हैं । नाना नाम और प्रशंसनीय गुणों से युक्त द्रव्यात्मक कर्म के चंदवे से ढका हुआ यह विराट् ईश्वर के शरीर का विस्तार मैंने तुमको बताया । इस स्थूल शरीर में ही मन अपनी बुद्धि के साथ निवास करता है। वस्तुतः इनकी अपनी कोई सत्ता नहीं है । वह विराट् पुरुष ही सभी प्राणियों की बुद्धियों की वृत्ति के माध्यम से इस संसार के सभी पदार्थों को देखता है, जैसे स्वप्नदशा में अकेला आत्मा ही सब कुछ अपनी कल्पना के सहारे ही देख सकता है । सत्य और आनन्द के खजाने उस भगवान् का ही सबको भजन करना चाहिये, इसके सिवाय अन्यत्र कहीं मनुष्य को अपने मन को लिप्त न करना चाहिये, जिनमें लिप्त होने से कि उसका पतन होता हो ।

इसलिये इस मन्त्र का सायण प्रभृति के द्वारा किया गया पुराना अर्थ ही ठीक है । जो कि इस प्रकार है—
... ... ॥ (ऋ० सं० १०, ९०, १३)

अर्थ—नाभ्या आसीदन्तरिक्षमिति । अभी तक किये गये वर्णन से उपास्य देवताओं को बताया गया, अब उपासीन भोगस्थानभूत अन्तरिक्ष आदि लोक की सृष्टि को बताया जा रहा है—नाभ्या इति । उस प्रजापति की नाभि से सूर्य और अण्डगोल के मध्य का देश अन्तरिक्षलोक हुआ । शिर से द्युलोक हुआ । ऊपर के सभी लोकों का यह उपलक्षण है । चरणों से पृथ्वीमण्डल हुआ । नीचे के सभी लोकों का यह उपलक्षण है । कान से दिशाएँ उत्पन्न हुई । सातों द्वीपों का यह उपलक्षण है । पूर्व कल्प में जिस प्रकार की रचना थी, उसी प्रकार अन्तरिक्ष आदि और पृथिवी आदि चतुर्दश लोकों की रचना की । 'कतिधा व्यकल्पयन्' यहां बहुवचन की विवक्षा प्रश्न के अनुरूप है । जिस प्रकार प्रजापति ने मन प्रभृति अवयवों से चन्द्रादि को पैदा किया, वैसे ही देवताओं ने प्रजापति की नाभि आदि अवयवों से अन्तरिक्षादि लोकों को पैदा किया । इसी को दिखाते हैं—नाभ्याः । प्रजापति की नाभि से अन्तरिक्ष हुआ । शिर से द्यौः द्युलोक उत्पन्न हुआ । इसके पैरों से भूमि उत्पन्न हुई । इसके श्रोत्र से दिशाएँ उत्पन्न हुई ॥१३॥

(यत्पुरुषेण) 'देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं, उनको भी ईश्वर ने अपने अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है । वे ईश्वर के दिये पदार्थों को ग्रहण करके पूर्वोक्त यज्ञ का विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं । ब्रह्माण्ड की रचना, पालन और प्रलय

यत् प्रकाशितवन्तः विस्तृतं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च। इदानीं जगदुत्पत्तौ कालस्यावयवाख्या सामग्र्युच्यते। अस्य यज्ञस्य पुरुषादुत्पन्नस्य ब्रह्माण्डमयस्य वसन्त आज्यं घृतवदस्ति। ग्रीष्मः ग्रीष्मर्तुरिध्म इन्धनान्यग्निर्वा शरद्धविः पुरोडाशादिवद्धविः हवनीयमस्ति' (पृ० १४१-१४२) इति दयानन्दीयं व्याख्यानम्। अत्रोच्यते—अत्र पुरुषस्यं हविष्ट्वं स्पष्टमुच्यते। 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं तेन देवा अयजन्त' इत्युभयोः कश्चन सम्बन्धः प्रतीयते। त्वया तु तत्र हृदयान्तरिक्षे पुरुषस्याभिषेक एवोक्तः। तस्य हविष्ट्वेन प्रोक्षणादिसंस्कारो नाङ्गीकृतः, न वा पुरुषरूपेण द्रव्येण यजनमङ्गीकृतम्। तेनायजन्तेति यजनसाधनत्वेन सम्बन्धार्हाया अपि तृतीयायास्तेनेत्युपदेशक्रियायाः कर्तृत्वेन सम्बन्ध उक्तः, यद्यप्युपदेशक्रियायास्तत्र चर्चापि नास्ति। इदमप्युपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पनाया उदाहरणम्। परमत्र पुरुषेण हविषेति सामानाधिकरण्येन पुरुषरूपेण हविषेत्येवायाति, तथापि पुरुषेण दत्तेन पुरुषेण गृहीतेन वा हविषेत्यर्थः कृतः। तदेतदप्युपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पनारूपो दोष एव, गृहीतेन दत्तेनेत्यनयोः शब्दयोरश्रवणात्।

अग्निहोत्राश्वमेधपर्यन्तं यज्ञं पुरुषेण गृहीतेन हविषाऽतन्वत कृतवन्तः, कर्तारस्त्वत्र देवा विद्वांस एव। यद्येवं तर्हि त एव ग्रहीतारोऽपि स्युः, किमन्तर्गडुना पुरुषेण ग्रहीत्रा? ये यज्ञमतन्वत त एव हविर्गृह्णन्ति। यदि तु पुरुषेण दत्तेनेत्येवोच्यते तदापि प्रत्यक्षविरोधः। नहि क्वचिदपि यजमानेभ्यः पुरुषो हविर्यच्छन्नुपलभ्यते। यदि तु सर्वस्यात्माज्यादिहविषः परेशसृष्टत्वादेव तेन दत्तमित्युच्यते, तदपि न युक्तम्, सृष्ट्युक्त्यैव गतार्थत्वात्। अग्निहोत्रादिक्रियामयं ब्राह्मणसूत्रादौ यजमानैः क्रियमाणं च प्रसिद्धम्, शिल्पमयं तु तन्न क्वाप्युक्तम्, न वा प्रसिद्धमिति तु मुधैव तत्प्रलापः।

करना यही इस यज्ञ का स्वरूप है। इस जगत् लक्षण यज्ञ को जिस सामग्री से संपादित किया गया, वह इस प्रकार थी—(वसन्तो०) पुरुष के द्वारा उत्पन्न किया गया जो यह ब्रह्माण्डरूप यज्ञ है, इसमें वसन्त ऋतु अर्थात् चैत्र और वैशाख घृत के समान हैं। (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्म ऋतु, ज्येष्ठ और आषाढ़, इन्धन है। श्रावण और भाद्रपद वर्षा ऋतु, आश्विन और कार्तिक शरद ऋतु, मार्गशीर्ष और पौष हिम ऋतु तथा माघ और फाल्गुन शिशिर ऋतु कहलाती हैं, यह सब इस यज्ञ में आहुति हैं। इस तरह से यहाँ रूपकालंकार से सब ब्रह्माण्ड का व्याख्यान जानना चाहिये' (पृ० १४२)।

दयानन्द की इस व्याख्या के सम्बन्ध में हमारा यह कहना है—यहाँ स्पष्ट रूप से पुरुष को हवि बताया गया है। 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रोक्षन् पुरुषं' और 'तेन देवा अयजन्त' इन दोनों मन्त्रों का परस्पर कुछ संबन्ध अवश्य मालूम होता है। आपने तो वहाँ हृदयाकाश में पुरुष को अभिषिक्त करने की बात मानी है, उसको हवि मानकर प्रोक्षण आदि संस्कारों की बात आपने नहीं मानी है और न पुरुषरूप द्रव्य से यज्ञ को निष्पन्न करने की बात ही आपने मानी है। 'तेन अयजन्त' यहाँ यजन के साधन के रूप में सम्बन्ध जोड़ने लायक तृतीया का आपने उपदेश क्रिया के कर्ता से सम्बन्ध जोड़ा है, यद्यपि उपदेश क्रिया की वहाँ कोई चर्चा नहीं है। यह भी उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित की कल्पना करने वाला उदाहरण है, जो कि मीमांसा में दोष माना जाता है। इस मन्त्र में भी 'पुरुषेण हविषा' इनकी समान अधिकरणता के आधार पर 'पुरुष रूप हवि से' यह अर्थ होता है, तो भी आपने 'पुरुष के द्वारा दी गई अथवा पुरुष से गृहीत हवि से' यह अर्थ किया है। यह भी उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित कल्पना वाला दोष ही माना जायगा, क्योंकि मन्त्र में गृहीत अथवा दत्त शब्द हैं ही नहीं।

अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों का अनुष्ठान पुरुष के द्वारा गृहीत हवि से किया, यहाँ कर्ता विद्वान् पुरुष माने जाते हैं। यदि ऐसी बात है, तो ग्रहीता भी उन्हींको क्यों न मान लिया जाय, बीच में व्यर्थ ही ग्रहीता के रूप में पुरुष की कल्पना क्यों की जाय? जो अनुष्ठान का अनुष्ठान करते हैं, वे ही हवि को ग्रहण करते हैं। हवि पुरुष द्वारा प्रदत्त है, ऐसा मानने पर यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध पड़ेगी, क्योंकि कहीं भी यह पुरुष यजमानों को हवि-द्रव्य प्रदान करता हुआ दिखाई नहीं पड़ता। यदि यह माना जाय कि घृत प्रभृति सभी हवन की सामग्री परमेश्वर की सृष्टि होने से परमेश्वर के द्वारा दी गई ही मानी जायगी, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह सब भगवान् की ही सृष्टि है, यह तो बता ही दिया गया है, तब आप यहाँ पुनः उसको हमारे द्वारा दी गई है, ऐसा क्यों कहते हैं? ब्राह्मण एवं सूत्र ग्रन्थों में यज्ञ को यजमानादि से अनुष्ठेय अनुष्ठान (कर्म) के रूप में ही माना गया है, यज्ञ को शिल्प कहीं नहीं कहा गया और न कहीं यज्ञादि शिल्प के रूप में प्रसिद्ध ही है। इस तरह से आपकी यज्ञादि को शिल्प मानने की बात भी

किञ्च, यदि परमेश्वरेण प्रसिद्धमाज्यादि हविर्दत्तमेव, तर्हि किमर्थं वसन्तस्याज्यत्वं शरदश्च हविष्ट्वं ग्रीष्मस्येध्मत्वमुच्यते। ब्राह्मणसूत्राद्युक्ते प्रत्यक्षे च क्रियमाणे यज्ञेन वसन्तादीनामाज्यत्वेनोपयोगो न दृश्यते न वा सम्भाव्यते, अग्निना सिच्यत इतिवत् अयोग्यत्वापाताच्च।

अत एव 'ब्रह्मरूपिणा यजमानेन सम्पाद्यमानस्य यज्ञस्यैव मुख्यरूपेण वेदेषु यज्ञपदेन व्यवहारः' इत्यप्यपास्तम्, तस्य परमेश्वरकर्तृकत्वेन जीवानां कृते विधानानर्हत्वात्। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादिविधिसहस्रवाधापाताच्च। देवा अयजन्त इति मूलविरोधात्। 'देवा विद्वांसः' इति वेदभाष्यविरोधाच्च। भूगोल-खगोलज्ञानाय चित्राणि दृश्यन्ते पठ्यन्ते वा न विधीयन्ते न वा क्रियन्ते। अत्र त्वग्निहोत्रादीनि फलविशेषाय विधीयन्ते क्रियन्ते च।

'याज्ञदैवते पुष्पफले, 'देवताध्यात्मे वा पुष्पफले' (नि० १।१९) इति निरुक्तवचनोपस्थानं तु धूलिप्रक्षेपेण मूर्खजनवञ्चनमेव। अत एव २० इति स्थाने १९ इति सङ्केतितम्। वचनमिदं विंशतितमखण्डीयम्। 'याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा' (नि० १।२०) अत्र रूपकपरिकल्पनया पुष्पफलविभागेन द्विधा प्रविभज्यते। तत्राभ्युदयलक्षणधर्मापेक्षया याज्ञं पुष्पं दैवतं फलम्। यज्ञज्ञानं याज्ञं देवताज्ञानं दैवतम्। पुष्पं फलार्थं भवति तथैव याज्ञं देवतार्थं भवति। निःश्रेयसलक्षणे धर्मेऽभिप्रेयमाणे याज्ञदैवते पुष्परूपे भवतः। दैवते याज्ञमन्तर्भवति। तत्र दैवतं पुष्पं भवति, अध्यात्मं फलं भवति। कर्मविशिष्टदैवतोपासनस्य पुष्पत्वं ब्रह्मात्मज्ञानस्य फलत्वमुक्तम्। न च शास्त्रसिद्धयज्ञस्यापलाप उक्तः। अधिकं तु पूर्वमुक्तमेव।

व्यर्थ का प्रलाप है। अपि च, परमेश्वर ने जब प्रसिद्ध याज्यादि हवि दे ही दी, तब पुनः वसन्त को यहाँ घृत, शरद् को हवि और ग्रीष्म को इन्धन के रूप में क्यों उपस्थित किया गया है? ब्राह्मण और सूत्रादि ग्रन्थों में उपदिष्ट प्रत्यक्ष किये जाने वाले यज्ञ में वसन्त प्रभृति का न तो घृत आदि के रूप में उपयोग देखा ही जाता है और न ऐसा संभव ही है। यह बात आग से सींचने की तरह असंभव है।

इसीलिये टिप्पणीकार (पृ० १४१) की यह बात भी गलत सिद्ध हो जाती है कि ब्रह्मरूपी यजमान से संपन्न किया जाने वाला यह यज्ञ ही मुख्य रूप में वेदों में 'यज्ञ' पद से अभिहित होता है, क्योंकि इस यज्ञ को तो केवल परमेश्वर ही कर सकता है, तब जीवों के लिये इसका विधान कैसे हो सकता है? इस तरह से तो 'अग्निहोत्र' आदि का विधान करने वाले सहस्रों वेदवाक्य बाधित हो जाएंगे। इस बात का 'देवताओं ने यज्ञ किया' यह मूल श्रुति से और 'देवता' पद को 'विद्वान्' का पर्याय मानने वाले दयानन्दीय भाष्य से भी विरोध पड़ेगा। भूगोल और खगोल के ज्ञान के लिये चित्र देखे जाते हैं अथवा पढ़े जाते हैं, उनका विधान या अनुष्ठान नहीं किया जाता। यहाँ तो अग्निहोत्र प्रभृति का विशेष फल की प्राप्ति के लिये अनुष्ठान किया जाता है।

टिप्पणीकार (पृ० १४१) ने 'याज्ञदैवते' इत्यादि निरुक्त के दो वचनों को प्रमाणरूप में उपस्थित किया है, यह धूलिप्रक्षेप मात्र है, बेवकूफों को ही इससे बहकाया जा सकता है। निरुक्त का स्थलनिर्देश भी यहाँ इसीलिये गलत कर दिया गया है। इन निरुक्त वाक्यों में रूपक की परिकल्पना के सहारे यज्ञ के फल को पुष्प और फल के रूप में दो विभागों में बाँट दिया है। इनमें अभ्युदय लक्षण धर्म की दृष्टि से याज्ञ पुष्प और दैवत फल है। यज्ञ के ज्ञान को याज्ञ और देवता के ज्ञान को दैवत कहा जाता है। पुष्प जैसे फल के लिये होता है, उसी भाँति याज्ञिक कर्मकाण्ड के ज्ञान का उपयोग देवता के स्वरूप के परिज्ञान के लिये होता है। निःश्रेयस् (मोक्ष) लक्षण धर्म अभिप्रेत होने पर याज्ञ और दैवत दोनों ज्ञान पुष्पस्थानीय माने जाते हैं। निरुक्त के द्वितीय वाक्य के दैवत शब्द में याज्ञ शब्द भी अन्तर्भूत है। इस तरह से दैवत ज्ञान इस अवस्था में पुष्पस्थानीय है और अध्यात्म ज्ञान फलस्थानीय। इस तरह से निरुक्त के द्वितीय वाक्य में कर्मविशिष्ट देवतातत्त्व के ज्ञान को, उपासना को पुष्पस्थानीय और ब्रह्मात्मतत्त्व के ज्ञान को फलस्थानीय माना है। शास्त्रों से भली प्रकार प्रतिपादित यज्ञादि कर्मकाण्ड का अपलाप किसी भी तरह से नहीं किया जा सकता। इस विषय पर हम विस्तार से विचार पहले ही प्रकट कर चुके हैं।

वास्तविकार्थः—यत्पुरुषेणेति । स जातश्चतुर्मुखः स्वयं जगत्सृष्टिमजानानो भगवदुपदिष्टमार्गेण भगवन्तमात्मसमर्पणरूपेण मानसयागेन आराध्य तत्प्रसादाल्लब्धविज्ञानो जगत्सृष्टिमकरोदिति वक्तुं भगवदाराधनात्मकं यागमाह—यत् यदा, पुरुषेण चतुर्मुखात्मकेन, हविषा देवास्तदिन्द्रियाणि, यज्ञं मानसं ध्यानरूपम् अतन्वत, तदेत्यध्याहारः । अस्य यज्ञस्य वसन्त आज्यम्, वसन्तकालस्य आज्यप्रचुरत्वेन तत्राऽऽज्यकल्पनम् । ग्रीष्म इध्मः, तदानीं पलाशादीनां बाहुल्योपलम्भात् । शरद् हविः, तत्कालस्य सस्यप्रचुरत्वात् । एवं वसन्तादीनां मानसयज्ञे आज्यादित्वेन ध्यानम् । यद् यदा पूर्वोक्तक्रमेणैव शरीरेषु उत्पन्नेषु सत्सु । देवा उत्तरसृष्टिसिद्धयर्थं बाह्यद्रव्यस्य अनुत्पन्नत्वेन हविरन्तराऽसम्भवात् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन सङ्कल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येण हविषा, मानसं यज्ञम्, अतन्वत अन्वतिष्ठन् । तदानीं अस्य यज्ञस्य, वसन्तः वसन्तर्तुरेव, आज्यम् आसीद् अभूत् । तमेवाऽऽज्यत्वेन सङ्कल्पितवन्तः । ग्रीष्मः ग्रीष्मर्तुः, इध्म आसीत् । तमेव इध्मत्वेन भावितवन्तः । तथा शरद्धविः पुरोडाशादिहविष्ट्वेन शरदं भावितवन्तः । पूर्वं पुरुषस्य हविःसामान्यरूपत्वेन सङ्कल्पः, अनन्तरं वसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूपत्वेन सङ्कल्पः ॥१४॥

'सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः । देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥' (वा० सं० ३१।१५; ऋ० सं० १०।९०।१५) । अस्य ब्रह्माण्डस्य सप्त परिधयः सन्ति । परिधिर्हि गोलस्योपरिभागस्य यावता सूत्रेण परिवेष्टनं भवति स परिधिर्ज्ञेयः । अस्य ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डान्तर्गतलोकानां सप्त परिधयो भवन्ति, समुद्र एकः । तदुपरि त्रसरेणुसहितो वायुर्द्वितीयः । मेघमण्डलं तत्रस्थो वायुस्तृतीयः । वृष्टिजलं चतुर्थः । तदुपरि वायुः पञ्चमः । अत्यन्तसूक्ष्मो धनञ्जयः षष्ठः । सूत्रात्मा सर्वत्र व्याप्तः सप्तमश्च । एवमेकैकस्योपरि सप्तावरणानि स्थितानि । तस्मात्ते परिधयो विज्ञेयाः । त्रिःसप्त समिधः कृताः । एकविंशतिपदार्थाः सामग्र्यस्य चास्ति प्रकृतिर्महद्बुद्ध्याद्यन्तःकरणं

इस मन्त्र का वास्तविक परम्परा प्राप्त अर्थ यह है—

... ... ॥ (ऋ० सं० १०, ९०, १४)

अर्थ—यत्पुरुषेणेति । उत्पन्न हुए उस चतुर्भुज ने जगत् का सर्जन करना स्वयं न जानने के कारण भगवान् के द्वारा बतलाये गये मार्ग से आत्मसमर्पणरूप मानस याग के द्वारा भगवान् की आराधना कर उनके प्रसाद से ज्ञान प्राप्त करके जगत् को उत्पन्न किया, यह बतलाने के लिये भगवत्-आराधना रूप याग को बता रहे हैं—जब चतुर्मुख पुरुष रूप हवि के द्वारा उसके इन्द्रिय रूप देवताओं ने मानस व्यापाररूप यज्ञ किया, तब उस यज्ञ का आज्य (घृत) वसन्त ऋतु को बनाया । वसन्त के समय आज्य अधिक होता है, इसलिये उसमें आज्य की कल्पना की गई है । ग्रीष्म ऋतु को इध्म (लकड़ी) बनाया, क्योंकि उस समय पलाशादि लकड़ियां अधिक मात्रा में होती हैं । शरद् ऋतु को हवि बनाया, क्योंकि उस समय धान्य की उत्पत्ति प्रचुर मात्रा में होती है । इस प्रकार इस मानस-यज्ञ में उन वसन्त आदि का आज्य आदि के रूप में ध्यान किया गया । जब पूर्वोक्त क्रम से ही शरीर उत्पन्न हुए, तब आगे की सृष्टि के लिये देवताओं ने किसी बाह्य द्रव्य के उत्पन्न न होने के कारण अन्य हवि के न मिलने से मन ही मन में पुरुषस्वरूप को ही हवि के रूप में संकल्पित कर, अर्थात् पुरुषस्वरूप हवि के द्वारा उस मानस यज्ञ को किया । उस समय उस यज्ञ का वसन्त ऋतु ही आज्य बना । अर्थात् उसी का आज्य के रूप से ध्यान किया । ग्रीष्म ऋतु इध्म बना, अर्थात् उसका इध्म रूप से ध्यान किया । उसी प्रकार शरद् ऋतु हवि बना, अर्थात् पुरोडाशादि हवि के रूप में शरद् का ध्यान किया । पहले पुरुष का हवि सामान्य रूप से ध्यान किया । तदनन्तर वसन्तादि का आज्यादि विशेष रूप से ध्यान किया ॥१४॥

'सप्तास्यासन्०' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या दयानन्द ने इस तरह से की है—'ईश्वर ने एक एक लोक के चारों ओर सात सात परिधि ऊपर ऊपर रची है । गोल चीज के चारों ओर एक सूत से नाप के जितना परिमाण होता है, उसको परिधि कहते हैं । सो जितने ब्रह्माण्ड में लोक हैं, ईश्वर ने उन एक एक के ऊपर सात सात आवरण बनाये । एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टिजल, पांचवां वृष्टिजल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु, जिसको धनंजय कहते हैं, सातवां सूत्रात्मा वायु, जो कि धनंजय से भी सूक्ष्म है, ये सात परिधि कहे जाते हैं । (त्रिःसप्त समिधः) इस ब्रह्माण्ड की सामग्री इक्कीस

जीवश्चैषैका सामग्री परमसूक्ष्मत्वात्, दशेन्द्रियाणि श्रोत्रं त्वक् चक्षुः जिह्वा नासिका वाक् पादौ हस्तौ पायुः उपस्थं चेति। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्च तन्मात्राः। पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति पञ्चभूतानि मिलित्वा दश भवन्ति। एवं सर्वा मिलित्वा एकविंशतिर्भवन्ति। अस्य ब्रह्माण्डरचनस्य समिधः करणानि विज्ञेयानि। एतेषामवयवरूपाणि तत्त्वानि तु बहूनि सन्तीति वोध्यम्। देवास्तदिदं येन पुरुषेण रचितं तं यज्ञपुरुषं पशुं सर्वद्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं देवा विद्वांसो ध्यानेन बध्नन्ति तं विहायेश्वरत्वेन कस्यापि ध्यानं नैव बध्नन्ति नैव कुर्वन्तीत्यर्थः' (पृ० १४२)।

अहो धाष्टर्यं दयानन्दस्य यदयं सर्वथा स्वैरं व्याख्याति। एतदीयं भाष्यं सर्वथा स्वैरचारिताया उदाहरणम्। नात्र मूलाक्षरार्थचिन्ता मनागपि, न वा पौर्वापर्यसङ्गतिविचारः। तथाहि—अस्येति पदेन ब्रह्माण्डग्रहणं कथम्? न चेह सन्निधानं ब्रह्माण्डपदस्य। नहि समुद्रो ब्रह्माण्डस्य परिधिस्तस्य ब्रह्माण्डान्तर्गतत्वात्। यदि लोकापेक्षया तदुच्यते तदा सप्त समुद्राणामेव सप्तपरिधित्वं कुतो नोच्यते? मेघमण्डलस्यापि ब्रह्माण्डपरिधित्वं न सम्भवति, तदन्तर्गतत्वात्। सप्तावरणानि तु ब्रह्माण्डस्योपर्येव सम्भवन्ति, न सर्वलोकानाम्, तेषां व्यापकत्वेन सर्वलोकावरणत्वे तु लोकान्तर्गतवस्तूनामपि सप्तावरणत्वं वाच्यम्। वृष्टिजलम घनञ्जयः, सूत्रात्मा च यथा बहिर्भवन्ति, तथैवान्तरपि तानि सन्तीति कथं परिधित्वम्?

तदिदं येन रचितं तस्य यज्ञपुरुषस्य सर्वद्रष्टृत्वेन पशुत्वमुच्यते चेत्तदा यज्ञीयपशुबुद्ध्यापि पशुत्वं कुतो नोच्यते? ब्राह्मणसूत्रादिषु च यज्ञपशोर्यूपे बन्धनप्रोक्षणादयश्च संस्कारा विहिता एवेति कथं तेषामपलापः क्रियते। सर्वद्रष्टुस्तु पशुत्वमसिद्धमेव। पूजनीयत्वेनैव यज्ञत्वे पित्रादीनामपि यज्ञत्वं कुतो नोच्यते? 'यूपे पशुं बध्नाति', 'यूपे

प्रकार की कही जाती हैं। जिसमें से प्रकृति, बुद्धि और जीव ये तीनों मिलकर एक हैं, क्योंकि ये अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ हैं। दूसरा श्रोत्र, तीसरी त्वचा, चौथा नेत्र, पाचवीं जिह्वा, छठीं नासिका, सातवीं वाक्, आठवां पग, नवां हाथ, दसवीं गुदा, ग्यारहवां उपस्थ जिसको लिंग इन्द्रिय कहते हैं, बारहवां शब्द, तेरहवां स्पर्श, चौदहवां रूप, पन्द्रहवां रस, सोलहवां गन्ध, सत्रहवीं पृथिवी, अठारहवां जल, उन्नीसवां अग्नि, बीसवां वायु, इक्कीसवां आकाश, ये इक्कीस समिधा कहाती हैं। (देवा य०) जो परमेश्वर पुरुष सब जगत् का रचने वाला, सबको देखने वाला पूज्य है, उसको विद्वान् लोग सुनकर और उसी के उपदेश से उसी के कर्म और गुणों का कथन, प्रकाश और ध्यान करते हैं। उसको छोड़कर दूसरे को किसी ने ईश्वर नहीं माना और उसी के ध्यान में अपनी आत्मा को दृढ़ता से बांधने में कल्याण जानते हैं' (पृ० १४२-१४३)।

दयानन्द किस तरह से मन्त्रों का मनमाना अर्थ करते हैं, उसकी धृष्टता देखने योग्य है। इस मन्त्र का भाष्य इनकी मनमानी का, धृष्टता का उत्कृष्ट उदाहरण है। मूल मन्त्र के अक्षरों की उनको कुछ भी चिन्ता नहीं है और न पूर्वापर संगति का ही वे कुछ विचार रखते हैं। जैसे कि इस मन्त्र में आये 'अस्य' पद से ब्रह्माण्ड का ग्रहण किस आधार पर होगा? यहां आस-पास में कहीं किसी मन्त्र में 'ब्रह्माण्ड' पद तो है नहीं। समुद्र ब्रह्माण्ड का परिधि नहीं माना जाता, क्योंकि समुद्र तो स्वयं ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत है। यदि पृथ्वीलोक को ध्यान में रखकर ऐसा कहा जाता है, तब तो सात समुद्रों को ही सात परिधि क्यों नहीं माना? इसी तरह से मेघमण्डल भी ब्रह्माण्ड की परिधि नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी ब्रह्माण्ड के भीतर ही है, बाहर नहीं। सात आवरण ब्रह्माण्ड के ऊपर ही माने जायंगे, सभी लोकों के ऊपर नहीं। इनकी व्यापकता के आधार पर इनको यदि सभी लोकों का आवरक माना जाता है तो, लोक के अन्तर्गत विद्यमान अन्य वस्तुओं के भी सात आवरण बताने पड़ेंगे। वृष्टि, जल, घनञ्जय और सूत्रात्मा जैसे बाहर रहते हैं, उसी तरह से वे भीतर भी स्थित हैं, तब इनको परिधि कैसे कहा जा सकता है?

इस ब्रह्माण्ड की जिसने रचना की वह यज्ञपुरुष सबका द्रष्टा होने पशु कहा गया है, तब यज्ञीय पशु की दृष्टि से भी उसको पशु क्यों नहीं माना जाय? ब्राह्मण और सूत्रादि ग्रन्थों में यज्ञीय पशु के यूप में बांधने, प्रोक्षण करने जैसे अनेक संहार विहित है, तब उनका अपलाप (निषेध) कैसे किया जा सकता है। सर्वद्रष्टा को पशु मानना ही आपके मन में असंगति है। यज्ञ में यदि पूजनीय का ही विनियोग आप मानते हैं, तब आप पिता आदि का भी यज्ञ में विनियोग क्यों नहीं करते? 'यूप में पशु को बांधना है' इस श्रुति वाक्य

पशुं नियुञ्जन्ति' (ता० म० ब्रा० १७।१३।१६) इत्यत्र बन्धनस्य योऽर्थः स एव प्रकृतेऽपि ज्ञेयः। तं विहायेश्वरत्वेन कस्यापि ध्यानकरणेनापि न ध्येयस्य बद्धता भवति, किन्तु ध्यातुश्चित्तस्यैव बन्धनं भवति। बध्नन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः, इत्येवंजातीयकानि सर्वाण्यपि व्याख्यानानि श्रुतिषु बलात्कार एव। वस्तुतो यज्ञप्रसिद्धान्येव वस्तूनीह भावनीयत्वेनोक्तानि, यथा ज्ञानयज्ञेऽग्निहविरादीनि कल्पितानि। तस्मादस्मदुक्तमेव व्याख्यानं द्रष्टव्यम्। तद्यथा—

सप्तास्यासन्निति। अस्य यज्ञस्य परिधयः परितो धीयन्त इति परिधयः। आहवनीयादीनां त्रिषु पार्श्वेषु प्रथममेखलाया उपरि निधीयमानानि मेखलापरिमितायामानि काष्ठानि परिधय उच्यन्ते। सप्त आसन्, न त्रय एव। 'उत्तरवेदिपरिधयस्त्रयः, आहवनीयस्य त्रयः, आदित्यः सप्तमः' इति शतपथानुसारेण सप्तसंख्याकाः परिधय आसन्। यद्यप्यत्र वसन्तादीनामाज्यादित्वमिव न परिधित्वेन केषाञ्चिद् ध्यानमुक्तम्; तथापि पूर्वसृष्टिषु सप्तसंख्याकानां पदार्थानामेव परिधित्वेन भावनं युज्यते। तथा च महदहङ्कारौ पञ्चतन्मात्राश्च सप्त पदार्थाः परिधित्वेन ध्याताः। अस्य यज्ञस्य। त्रिःसप्त त्रिगुणितसप्तसंख्याः, एकविंशतिसंख्याका इत्यर्थः। समिधः = अग्नेर्दीप्तिसाधनोभूतानि काष्ठानि दशेन्द्रियाणि, मनः, पञ्चतन्मात्राः, पञ्च महाभूतानि च मिलित्वा एकविंशतिसंख्याका समिद्रूपेण भाव्यन्ते। देवा इन्द्रियरूपाः साध्याश्च, यद् यदा, यज्ञं देवतोद्देशेन द्रव्यात्यागरूपम्, तन्वानाः पुरुषं चतुर्मुखाख्यम्, पशुं पशुस्थानीयम्, अबध्नन् हृदयाख्ये यूपे अध्यवसायरूपया रशनया अनन्यगतिं चक्रुः। मूलप्रकृतिरूपे वा यूपे भगवदाज्ञारूपया रशनया न्ययुञ्जन्।

अस्य साङ्कल्पिकयज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि परिधय आसन्। ऐष्टिकस्य आहवनीयस्य त्रयः परिधय उत्तरवेदिकास्त्रय आदित्यश्च सप्तमः परिधिप्रतिनिधिरूपः। अत एवाऽऽम्नायते—'न पुरस्तात् परिदधात्या-

में बन्धन पद का जो अर्थ है, वही अर्थ प्रकृत स्थल में भी समझना चाहिये। उस परमात्मा को छोड़कर अन्य किसी का ईश्वर बुद्धि से ध्यान न करने पर भी ध्येय बन्धन में नहीं पड़ता, किन्तु ध्याता का चित्त ही बन्धन में पड़ता है। बध्नाति पद का अर्थ कुर्वन्ति करना और इसी तरह के दयानन्द के अन्य मनमाने अर्थ भी वेद मन्त्रों के साथ जबर्दस्ती ही है। वास्तव में तो इस मन्त्र में यज्ञीय कर्मकाण्ड में प्रसिद्ध वस्तुओं की ही भावना करने की बात कही गई है, जैसे कि ज्ञान यज्ञ में अग्नि, हवि आदि की कल्पना की जाती है। इसलिये इस मन्त्र का हमारा बताया अर्थ ही ठीक है, जो कि इस तरह से है—

......................................॥ (ऋ० सं० १०.९०.१५)

अर्थ—सप्तास्यासन्निति। इस यज्ञ की परिधियाँ सात थीं, तीन ही नहीं। 'परितो धीयन्ते' इति परिधयः। आहवनीय आदि कुण्डों के तीन पार्श्वों में (तीनों ओर) प्रथम मेखला के ऊपर रखी जाने वाली मेखलापरिमित लंबाई की लकड़ियों को 'परिधि' कहते हैं। 'उत्तर वेदि की तीन परिधियाँ, आहवनीय की तीन, सातवाँ आदित्य' इस शतपथ ब्राह्मण के अनुसार परिधियों की संख्या सात हुई। यहाँ पर यद्यपि वसंतादि में आज्यादि की भावना की तरह किसी में परिधि की भावना करना नहीं बताया गया है, तथापि पूर्व सृष्टियों में सात पदार्थों में ही परिधि की भावना करना उचित प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि महत्, अहंकार, और पंच तन्मात्रायें, इन सात पदार्थों का परिधि के रूप में ध्यान किया। इस यज्ञ की इक्कीस समिधायें, अर्थात् अग्नि को प्रदीप्त करने में साधनभूत लकड़ियों के स्थान में दस इन्द्रियों को ही समझ लिया। मन, पञ्च तन्मात्रा, पञ्च महाभूत, इन सबको मिलाकर इक्कीस संख्या पूर्ण होती है, इस प्रकार इक्कीस समिधाओं के रूप में उपर्युक्त पदार्थों का ध्यान किया गया। इन्द्रियरूप तथा साध्यरूप देवता जब देवताओं के उद्देश से द्रव्यत्यागरूप यज्ञ कर रहे थे, तब चतुर्मुखसंज्ञक पुरुष को पशु के स्थानापन्न कर उसे हृदयसंज्ञक यूप में अध्यवसायरूप रशना से बाँध दिया, अर्थात् अनन्यगतिक कर दिया। अथवा मूलप्रकृतिरूप यूप में भगवदाज्ञा रूप रशना से उस पशु को जोड़ दिया (बाँध दिया)।

इस सांकल्पिक यज्ञ की परिधियाँ गायत्री आदि सात छन्द ही थे। ऐष्टिक आहवनीय की तीन परिधियाँ, उत्तरवेदि की तीन, सातवाँ आदित्य, परिधि के प्रतिनिधि के रूप में था। इसीलिए कहा गया है—'सामने परिधि नहीं रखनी चाहिये, क्योंकि

दित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद्रक्षांस्यपहन्ति' (तै० सं० २।६।६।३) इति । तदेते आदित्यसहिताः सप्त परिधयोऽत्र सप्तच्छन्दोरूपाः । तथा समिधः त्रिःसप्त त्रिगुणीकृतसप्तसंख्याका एकविंशतिः कृताः । 'द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश:' (तै० सं० ५।१।१०।३) इति श्रुताः पदार्था एकविंशतिदारुयुक्तेध्मत्वेन भाविताः । यद् यः पुरुषो वैराजोऽस्ति तं पुरुषं देवाः प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपा यज्ञं तन्वाना मानसं यज्ञं तन्वानाः कुर्वाणाः पशुम् अबध्नन् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः । एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वत्र 'यत्पुरुषेण हविषा' इत्युक्तम् ॥१५॥

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥' (वा० सं० ३१।१६, ऋ० सं० १०।९०।१६) । ये विद्वांसो यज्ञं यजनीयं पूजनीयं परमेश्वरं यज्ञेन स्तुतिप्रार्थनोपासनरीत्या पूजनेन तमेवायजन्त यजन्ते यक्ष्यन्ति च तान्येव धर्माणि प्रथमानि सर्वकर्मभ्य आदौ सर्वैर्मनुष्यैः कर्तव्यान्यासन् । न च तैः पूर्वकृतैर्विना केनापि किञ्चित्कर्तव्यम् । त ईश्वरोपासकाः । हेति प्रसिद्धं नाकं सर्वदुःखरहितं परमेश्वरं मोक्षं च महिमानः पूज्याः सन्तः सचन्त समवेता भवन्ति । कीदृशं तत्? यत्र साध्याः साधनवन्तः कृतसाधनाश्च देवा विद्वांसः पूर्वे अतीता यत्र मोक्षाख्ये पदे सुखिनः सन्ति, न तस्माद् ब्रह्मणः शतवर्षसंख्यातात् कालात् कदाचित्पुनरावर्तन्ते, किन्तु तमेव सेवन्ते ।

अत्राहुर्निरुक्तकाराः—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाऽग्निमयजन्त देवाः, अग्निः पशुरासीत्, तमालभन्त, तेनायजन्त' इति च ब्राह्मणम् । तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त । यत्र पूर्वे सन्ति देवाः साधना द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः' (नि० ११।४१) इति ।

अग्निना जीवेनान्तःकरणेनैवाग्निमयजन्त । अग्निः पशुरासीत् । तमेव देवा आलभन्त । सर्वोपकारकमग्निमग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं भौतिकाग्निनापि यज्ञं देवाः समसेवन्तेति वा । साध्याः साधनवन्तो यत्र पूर्वे पूर्वभूता मोक्षाख्य आनन्दे पदे सन्ति तमभिप्रेत्यात एव द्युस्थानो देवगण इति निरुक्तकारा वदन्ति । द्युस्थानः प्रकाशमयः परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थं यस्य सः । यद्वा सूर्यः प्राणस्थानो विज्ञानकिरणस्तत्रैव देवगणो देवसमूहो वर्तते' (पृ० १४३-१४४) ।

इति यद्व्याख्यातं दयानन्देन, तत्रोच्यते—देवा विद्वांस इत्यशुद्धमेव, मनुष्येभ्यः पृथग् योनिविशेषा देवा इत्यस्य साधितत्वात् । यज्ञपदस्य ज्योतिष्टोमादयो यज्ञा एवार्थः, मुख्यार्थपरित्यागे मानाभावात् । नहि ब्राह्मणसूत्रादिषु

आदित्य भगवान् उदित होने के समय सामने पड़ने वाले राक्षसों का नाश कर देते हैं ।' (तै० सं० ३.६.६.३) । ये आदित्य के सहित सात परिधियाँ यहाँ पर सात छन्द ही हैं । उसी तरह समिधाएं इक्कीस की गई हैं । 'बारह महीने, पांच ऋतुएँ, तीन ये लोक, और यह इक्कीसवाँ आदित्य' (तै० सं० ५.१.१०.३) ये श्रूयमाण पदार्थ, लकड़ी की इक्कीस इध्मों के स्थान में कल्पित हुए । और जो वैराज पुरुष है, उस पुरुष को प्रजापति, प्राण, इन्द्रियरूप देवों ने मानस यज्ञ करने के समय पशु के रूप में समझा । अर्थात् विराट् पुरुष का ही पशु के रूप में ध्यान किया । इसी अभिप्राय से पहिले 'यत्पुरुषेण हविषा' कहा गया था ।

(यज्ञेन यज्ञम०) 'विद्वानों को देव कहते हैं और वे सबके पूज्य होते हैं, क्योंकि वे सब दिन परमेश्वर की ही स्तुति, प्रार्थना, उपासना और आज्ञापालन आदि विधान से पूजा करते हैं । इससे सब मनुष्यों को उचित है कि वेद मन्त्रों से प्रथम ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना करके शुभ कर्मों का आरम्भ करें । (ते ह नाकं०) जो जो ईश्वर की उपासना करने वाले लोग हैं, वे वे सब दुःखों से छूटकर सब मनुष्यों में अत्यन्त पूज्य होते हैं । (यत्र पूर्वे सा०) जहाँ विद्वान् लोग परम पुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त होकर आनन्द में रहते हैं, उसीको मोक्ष कहते हैं, क्योंकि उससे ब्रह्मा के सौ वर्ष पूर्व संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते । इस अर्थ में निरुक्तकार का भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वर के अनन्त प्रकाश में मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, वे परमेश्वर के प्रकाश में ही सदा रहते हैं, उनको अज्ञानरूप अन्धकार कभी नहीं होता' (पृ० १४४) ।

स्तुतिप्रार्थनोपासनैव विहिता । 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिविधानेभ्यः । अयजन्त यजन्ते यक्ष्यन्ति चेत्यशुद्धम् । सति वाधे 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति कालसामान्ये लुङादीनां प्रयोगः । नहि वर्तमानकालोऽपि तदर्थ इति सूत्रार्थः । इह तु तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्निति सृष्टिपूर्वकालिकमानसयज्ञविवक्षयैव लङ्प्रयोगः । अन्यथा प्रथमानीत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः । सर्वकर्मभ्यः पूर्वं तानि मनुष्यैः कर्तव्यानीत्यपि रिक्तं वचः, विधिप्रत्ययादर्शनात् । तस्मादतीतानुवाद एवात्र मन्तव्यः । प्राथम्यं चेद्विधित्सितं स्यात्तदा प्रथमानीति धर्मविशेषणतया बहुवचनं न स्यात्, एकवचनेनैव तदुपपत्तेः । एवमेव साध्याः साधनवन्त इत्यप्यशुद्धम्, साध्यपदेन सिषाधयिषितस्यैव ग्रहीतुमुचितत्वात् । नैयायिकादिष्वपि पक्षे सिषाधयिषितस्याग्न्यादिपक्षधर्मस्यैव साध्यपदव्यपदेश्यत्वदर्शनात् । प्रकृते तु साध्यसंज्ञका गणदेवा एव साध्यपदव्यपदेश्याः, 'आदित्यविश्ववसवस्तुषिता भास्वरानिलाः । महाराजिकसाध्याश्च रुद्राश्च गणदेवताः ॥' (१।१०) इत्यमरकोषात् । नह्यनुन्मत्तः कश्चिदसति वाधके साध्यशब्देन साधनवन्तं गृह्णाति । 'न तस्मात्पुनरावर्तन्ते' इत्यर्थस्य बोधकं पदं मन्त्रे नास्त्येव । सचन्त इत्यस्य तु सेवमाना इत्येवार्थः, 'न ब्रह्मणः शतवर्षसंख्यातात् कालात् कदाचित् पुनरावर्तन्ते' इत्यादिकं सर्वथा वेदमन्त्रेषु स्वैरचारितैव, शाब्दन्यायातिवृत्तेः । मुक्तिकालस्यापि सावधिकत्वे स्वर्गमोक्षयोर्भेदलोपापत्तेः । कोऽयं ब्रह्मा परमेश्वर एव वा देवविशेषो वा ? नाद्यः, परमेश्वरस्य नित्यत्वेन शतायुषत्वासिद्धेः । नान्त्यः, त्वया विद्वन्मनुष्यभिन्नदेवानभ्युपगमात् ।

एवमेवाग्निना जीवेनान्तःकरणेन वाग्निं परमेश्वरमित्यपि स्वैरचारितैव, निर्मूलत्वात् । सर्वोपकारकमग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तमित्यपि खण्डितमेव, स्वर्गादिविविधफलोद्देश्येनाग्निहोत्रादीनां विधानात् । द्युस्थानः प्रकाशमयः

दयानन्द की इस व्याख्या पर हमारा यह कहना है—देव पद का अर्थ विद्वान् करना गलत है । यह सिद्ध किया जा चुका है कि देव मनुष्यों से पृथक् एक योनिविशेष है । यज्ञ पद का अर्थ भी ज्योतिष्टोम प्रभृति यज्ञ ही मानना उचित है, क्योंकि बिना प्रयोजन के मुख्य अर्थ का त्याग नहीं किया जाता। ब्राह्मण सूत्र प्रभृति ग्रन्थों में केवल स्तुति, प्रार्थना, उपासना ही नहा विहित है, क्योंकि 'सर्ग की कामना वाला ज्योतिष्टोम यज्ञ करें' इस तरह की विधियाँ भी वहाँ वर्णित हैं । 'अयजन्त' पद का अर्थ यजन्ते और यक्ष्यन्ति करना भी गलत है । किसी प्रकार की बाधा होने पर वेद में काल सामान्य में लुङ्, लङ् और लिट् का प्रयोग पाणिनि ने बताया है । किन्तु उससे वर्तमान काल का विधान नहीं होता । प्रकृत में 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' यहाँ सृष्टि के पहले संकल्पित मानस यज्ञ का ज्ञान कराने के लिये ही लङ् का प्रयोग किया गया है, अन्यथा 'प्रथमानि' इस पद की व्यर्थता हो जायगी । मनुष्यों को अपने सभी कार्यों से पहले इनका अनुष्ठान करना चाहिये, यह व्याख्या भी गलत है, क्योंकि यहाँ कोई विधायक वाक्य नहीं है । इसलिये अतीत का अनुवाद ही यहाँ मानना पड़ेगा । यदि यहाँ प्राथम्य बताना होता तो धर्म के विशेषण के रूप में वहाँ बहुवचन की आवश्यकता न थी, क्योंकि वह तो धर्म शब्द में एकवचन का प्रयोग होने पर भी बोधित हो जाता । इसी तरह साध्य पद का साधनवान् अर्थ करना भी गलत है, क्योंकि साध्य पद से जिसको सिद्ध करने की इच्छा हो, यही अर्थ बोधित हो सकता है । न्यायदर्शन में पक्ष में जिसको सिद्ध करने की इच्छा है, ऐसे पक्ष के धर्म अग्नि प्रभृति को ही साध्य कहते हैं । प्रकृत स्थल में साध्य पद से इस नाम के गणदेव अभिप्रेत हैं । अमरकोश में आदित्य, रुद्र आदि गण देवों के साथ ये परिगणित हैं । कोई भी समझदार आदमी, जिसका दिमाग खराब नहीं हुआ है, साध्य शब्द से साधनवान् अर्थ का ग्रहण नहीं करेगा । 'वे फिर संसार के दुःखों में नहीं पड़ते' इस अर्थ का बोधक पद मन्त्र में नहीं है । 'सचन्त' क्रिया का अर्थ 'सेवा करते हुए' होता है । ब्रह्मा के सौ वर्ष पूर्व संसार के दुखों में कभी नहीं पड़ते, इस तरह का अर्थ करना वेदमन्त्रों के साथ मनमानी ही मानी जायगी, क्योंकि इसमें शब्दार्थ की सही प्रक्रिया का स्पष्ट उल्लंघन है । मुक्ति (मोक्ष) का समय भी यदि सावधि (अवधि वाला) है, तो फिर स्वर्ग और मोक्ष में अन्तर ही क्या रह जायगा । मोक्ष को निरवधि माना जाता है । आप यह बताइये कि यह ब्रह्मा कौन है ? स्वयं परमात्मा ही है या कोई देवविशेष ? यह परमेश्वर हो नहीं सकता, क्योंकि परमेश्वर तो नित्य है, वह सौ वर्ष का नहीं हो सकता । अन्तिम पक्ष भी आपके मत में नहीं बनेगा, क्योंकि आप विद्वान् मनुष्यों से भिन्न कोई देवता नहीं मानते ।

इसी तरह से 'अग्निना' इत्यादि निरुक्त वाक्य का 'अन्तःकरण में परमात्मा की उपासना को' इस तरह का अर्थ करना भी मनमानी ही है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त कृत्य सर्वोपकारक हैं, इस बात का खण्डन किया

परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थं यस्येत्यपि विशृङ्खलम्, तथात्वे निरुक्तार्थज्ञानार्थं निरुक्तान्तरापेक्षणापत्तेः। यदि प्रसिद्धं द्युस्थानमुपेक्ष्यार्थान्तरान्वेषणं स्वेच्छया वा कल्पनं स्यात्तदा शब्दार्थज्ञानेऽराजकतैव स्यात्। दुर्गाचार्यरीत्या निरुक्तस्यायमर्थः—'तं वश्वराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम्' (ऋ० सं० १।६६।५) इत्यत्र यजमाना ऋत्विग्भिरुच्यन्ते—चराथा चरन्त्या जङ्गमया पश्वाहुत्या वसत्या निवसन्त्या ओषधाहुत्या जङ्गमेन स्थावरेण च हविषा अस्तं न गावो अस्तं गृहं यथा गावो अवश्यं नक्षन्ते आप्नुवन्ति स्वेनोपकारेण सायं वासाय, तथेममग्निमुभयलक्षणेन हविषा वयमाप्नुयाम। इद्धं सर्वभोगानामीश्वरम् (नि० १०।२१)। तस्माद् दर्शनवतः प्रयोक्तुः सर्वमिदमग्निरित्यभिप्रेत्य ब्रवीति—अग्निना स्थावरजङ्गमभावापन्नेन हविर्भूतेन अग्निमेव सर्वदेवताभूतमादित्यप्रणाडिकया महान्तमात्मानमयजन्त देवा देवभाविनः पूर्वे ज्ञानकर्मसमुच्चयकारिणो यजमानभावमापन्नाः साध्या विश्वसृजः, ऋषयः प्राणाः, तानि धर्माणि तानि कर्माणि तथाविधज्ञानयुक्तानि प्रथमानि मुख्यमहदात्मभावप्राप्तये आसन्। तैरप्यक्रियन्तेत्यर्थः। ते च तानि कृत्वा नियमेनैवानन्यभावित्वात् तत्फलस्य महिमानस्तदानुपूर्व्येण जातमहदात्मभावाः सन्तस्तमेव नाकं महान्तमात्मानमेकान्तसुखमसचन्त तद्भावमेव ते आपेदिरे। यत्र पूर्वे सन्ति साध्याः सन्ति देवाः। शब्दार्थोपदेशनित्यत्वाद् यत्र पूर्वे पूर्वतरे च ज्ञानकर्मसमुच्चयकारिण आसते, 'विश्वसृजः प्रथमे सत्रमासत' (तै० ब्रा० ३।१२।९) इति श्रुतेः। शिरो ह्यध्यात्मं द्युस्थानभक्तिः, अतः सप्त ऋषयो देवा विश्वेदेवाः साध्या इति सर्वेऽप्येते प्राणा रश्मयो वेत्युपपद्यते। 'अग्निः पशुरासीत्' इति ब्राह्मणमपि तमेवानुविदधाति। तस्मात् सायणादिसम्मतोऽस्मदर्थ एव युक्तः।

तद्यथा—यज्ञेनेति। यजनीयदेवतोद्देश्यकद्रव्यत्यागरूपेण कर्मणा परमपुरुषोद्देश्यकप्रणवकरणकात्मसमर्पणरूपमानसयज्ञेन, मुमुक्षूणामात्मसमर्पणस्यैव अवश्यकर्तव्ययज्ञरूपत्वात्। 'अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा', 'इदमहं माममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि', 'ओमित्यात्मानं युञ्जीत' इत्यादिभिरात्मसमर्पणस्य यागरूपता च विज्ञायते।

जा चुका है, क्योंकि स्वर्गादि नाना कामनाओं की पूर्ति के लिये इनका विधान है। द्युस्थान पद का अर्थ प्रकाशमय परमेश्वर जिसकी स्थिति के लिये है, यह अर्थ भी निराधार है, ऐसा मानने पर तो निरुक्त के समझने के लिये भी दूसरे निरुक्त की जरूरत पड़ जायगी। यदि प्रसिद्ध द्युस्थान को छोड़कर मनमाने तरीके से दूसरे अर्थ का अन्वेषण होने लगेगा, तो शब्दार्थ प्रक्रिया में अराजकता मच जायगी। दुर्गाचार्य ने निरुक्त के इस अंश का यह अर्थ किया है—'तं वश्वराथा०' इस मन्त्र में यजमान से ऋत्विग्गण कहते हैं—जंगम पशु की आहुति से, स्थावर ओषधियों की आहुति से रात्रि में निवास (विश्राम) के लिये हमारा गोधन हमारे घर अवश्य पहुँच जाय। इसके लिये हम इस समृद्ध अग्नि को उभयविध हवि प्रदान करते हैं। इस तरह से यह ऋत्विक् हवि को भी अग्नि के रूप में देखता हुआ कहता है कि इस उभयविध स्थावरजंगमात्मक अग्निरूप हवि से सभी देवताओं के प्रतिनिधिभूत उस परमात्मा तक सूर्य की किरणों के सहारे पहुँच कर ज्ञान और कर्म का समुच्चय करनेवाले देवगण यजमान के रूप में विश्वस्रष्टा साध्यों का, प्राणरूप ऋषियों का रूप धारण कर उन ज्ञान युक्त कर्मों का सर्वप्रथम अनुष्ठान करते हैं। उनको निष्पन्न कर वे महान् महिमाशाली होकर उस महान् आत्मा में ही लीन होकर उसके महान् सुखस्वरूप में लीन हो जाते हैं, जहाँ कि पहले के साध्यगण निवास करते हैं। शब्द, अर्थ और उनका उपदेश ये सब नित्य हैं, अतः पहले के और उनसे भी पहले के ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी उसी स्थान में जाकर लीन हो जाते हैं। 'विश्वसृजः' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति भी इसमें प्रमाण हैं। इस तरह से सात ऋषिगण, विश्वेदेव, साध्य ये सब उसी परमात्मा की रश्मियाँ हैं। ब्राह्मणों में अग्नि का पशु के रूप में वर्णन मिलता है। इसलिये इस मन्त्र का सायणादि संमत अर्थ इस प्रकार होगा—

………………॥ (ऋ० सं० १०.९०.१६)

अर्थः—यज्ञेनेति। यजनीय देवता को उद्देश कर द्रव्य का त्याग किये जाने वाले कर्म के द्वारा आत्मसमर्पण करना मुमुक्षुओं के लिए आवश्यक है, उनका वह आत्मसमर्पण करना यज्ञ ही है। परम पुरुष के उद्देश से प्रणव का उच्चारण करते हुए आत्मसमर्पण करना मुमुक्षुओं का मानस यज्ञ है। आत्मसमर्पण के यज्ञरूप होने में श्रुति का प्रमाण देते हैं—'अहमेवाहं मां जुहोमि

यज्ञ यजनोयदेवतारूपं भगवन्तं परमपुरुषम्, 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः। अयजन्त भगवन्तमुद्दिश्य आत्मसमर्पणरूपं यज्ञमकुर्वन्नित्यर्थः। तान्येव धर्माणि स धर्म एव। प्रथमानि प्रधानः। आसन् आसीत्। लिङ्गवचनव्यत्ययश्छान्दसः। तेषां फलमुच्यते—ते यज्ञानुष्ठातारः, नाकं निरतिशयानन्दैकतानं मोक्ष-परमपद-अक्षर-परमधामादिशब्दितं नाकाख्यं वैकुण्ठलोकम्। कमिति सुखम्, अकं दुःखम्, तन्न विद्यते यत्र तद् नाकमिति व्युत्पत्त्या दुःखशून्यवाचकस्य नाकशब्दस्य योगरूढ्या तादृशपरमव्योमबोधकत्वम्। 'नाकोऽम्बरे रवौ स्वर्गे परमव्योम्नि च स्मृतः' इति निघण्टुवचनात्। महिमानः परमसाम्यापत्तिरूपमहिमवन्तः, 'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' इति श्रुतेः। अथवा भगवन्महिमभूता भगवद्विभूतिभूताः। परब्रह्मोपसम्पत्त्या निवृत्ताविद्यातिरोधानस्य सुविदिताऽऽत्मयाथात्म्यस्य परमात्मात्मकस्वात्मानुसन्धानेन 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्येव ह्यनुभवस्तद्युक्तस्य। अथवा महिमानो भगवन्तमर्चयन्तः। 'मह पूजायाम्' इति धातोस्तद्रूपनिष्पत्तेः। अथवा महिमानः पूज्यमानः, अर्चिरादिभिरातिवाहिकैः। प्राप्येति अध्याहार्यम्। सचन्ते समवेता भवन्ति नित्यसूरिपरिषदा सह एकीभवन्ति। हेति प्रसिद्धौ। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।' कैरेते समवेता भवन्ति? अत्र ह वैकुण्ठे लोके पूर्वे पुरातनाः। 'यत्रर्षयः प्रथमजा ये पुराणाः' सर्वदा भगवन्नित्यसङ्कल्पेन अस्खलितज्ञानाः साध्याः प्राप्यभूताः। चेतनस्वरूपस्य तदीयशेषत्वपर्यन्तत्वेन प्राप्यस्यापि तदीयैकपर्यन्तत्वेन नित्यसूरिपरिषदामपि परमप्राप्यत्वात् ते साध्या इत्युच्यन्ते। यद्वा—साध्याः साध्याख्याः देवा भगवत्स्तुतिपरायणा अनन्त-गरुड-विष्वक्सेनप्रभृतयो नित्याः, दीव्यन्ति क्रीडन्ति भगवत इति देवाः सन्ति समिन्धते। तं नाकं ते महिमानः सचन्ते अनन्तादिभिः सह भगवदनुभवं कुर्वन्ति, 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' इति श्रुतेः।

स्वाहा,' 'इदमहं माममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि', 'ओमित्यात्मानं युञ्जीत' इत्यादि। उक्त प्रकार के मानस यज्ञ के द्वारा यजनीय देवतारूप भगवान् ने यज्ञरूप परमपुरुष का यजन किया। अर्थात् भगवान् के उद्देश्य से आत्मसमर्पणरूप यज्ञ किया। भगवान् के यज्ञरूप होने में 'यज्ञो वै विष्णुः' श्रुति प्रमाण है। इस प्रकार से यज्ञ का यजन करना धर्म ही है। वह धर्म ही प्रधान पुरुषार्थ था। मंत्र में 'तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्' इस प्रकार का लिङ्ग, वचन का व्यत्यय छान्दस है। इस यज्ञ के अनुष्ठाताओं को जो फल उपलब्ध हुआ, उसे बताते हैं—वे यज्ञानुष्ठाता लोग निरतिशय आनन्दरूप नाकसंज्ञक वैकुण्ठलोक को—जिसे मोक्ष, परमपद, अक्षर, परमधाम शब्दों से भी कहा जाता है—प्राप्त करते हैं। 'नाक' शब्द, दुःखशून्य परमव्योम के अर्थ में योगरूढ है। 'क' का अर्थ है सुख, अतः 'अक' का अर्थ हुआ दुःख, वह दुःख नहीं है जहाँ पर उसे 'नाक' कहते हैं। निघण्टु में 'नाक' शब्द के अर्थ इस प्रकार दिए गए हैं—'नाकोऽम्बरे रवौ स्वर्गे परमव्योम्नि च स्मृतः' इति। वे यज्ञानुष्ठाता लोग परमसाम्यापत्तिरूप महिमा वाले हैं। क्योंकि श्रुति कहती है—'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति'। अथवा 'महिमानः' का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—भगवन्महिमभूत अर्थात् भगवान् के विभूतिस्वरूप, क्योंकि परब्रह्म की उपासना से अविद्यारूपी तिरोधान के निवृत्त हो जाने से आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, अर्थात् आत्मा का परमात्मा के रूप में अनुसन्धान करने से 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ—यह अनुभव होने लगता है। अथवा 'महिमानः' का अन्य अर्थ है—भगवान् की अर्चा करने वाले, क्योंकि 'मह पूजायाम्' इस पूजार्थक 'मह' धातु से उक्त शब्द की निष्पत्ति होती है। अथवा 'महिमानः' का अर्थ है पूज्यमान, अर्थात् अर्चिरादि आतिवाहिकों के द्वारा जिनकी पूजा की जाती हो। तात्पर्य यह है कि वे यज्ञानुष्ठाता लोग उस परम पद को प्राप्त कर सन्मानपूर्वक नित्य सूरिपरिषद् के अर्चिरादि आतिवाहिकों के साथ सम्मिलित होते हैं, यह प्रसिद्ध मन्त्र में 'ह' शब्द का अर्थ प्रसिद्धि है। उपर्युक्त आशय में 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्,' 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।' श्रुति प्रमाण है। ये लोग किनके साथ समवेत होते हैं? वैकुण्ठलोक में प्राचीन ऋषिगण 'यत्रर्षयः प्रथमजा ये पुराणाः' भगवान् के नित्य संकल्प से जिनका ज्ञान सदैव अस्खलित रहता है, वे ही प्राप्य हैं। उनके शेषत्व के रूप में यद्यपि चेतन स्वरूप को ही प्राप्त करना है, तथापि मुख्य तात्पर्य उसमें होने से नित्यसूरि परिषदों के लिए भी वही परम प्राप्य होने से उन्हें साध्य कहा जाता है। अथवा भगवत्स्तुति में ही परायण अनन्त, गरुड, विष्वक्सेन प्रभृति साध्यसंज्ञक नित्य देवों को ही साध्य शब्द से कहा जा सकता है। देव उन्हें कहते हैं जो भगवान् के साथ क्रीडा करते हैं। ऐसे देव, जो अपनी कान्ति से दमकते रहते हैं। वे

पूर्वं प्रपञ्चेन उक्तमर्थं संक्षिप्यात्र दर्शयति—देवाः प्रजापतिप्राणरूपाः। यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन सङ्कल्पेन। यज्ञं यथोक्तयज्ञस्वरूपं प्रजापतिम् अयजन्त पूजितवन्तः। तस्मात् पूजनात्, तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यानि आसन्। एतावता सृष्टिप्रतिपादकसूक्तभागार्थः संगृहीतः। अथ उपासनतत्फलानुवादकभागार्थः संगृह्यते—यत्र यस्मिन् विराट्प्राप्तिरूपे नाके पूर्वे साध्याः पुरातना विराडुपास्तिसाधका देवाः सन्ति तिष्ठन्ति तद् नाकं विराट्प्राप्तिरूपं स्वर्गं ते महिमानः तदुपासका महात्मानः सचन्त समवयन्ति प्राप्नुवन्ति ॥१६॥

केषाञ्चित् शाखिनां मते षोडशी ऋगियम्—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे। सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते ॥

अर्थः—'अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्। वशिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे तपसि स्थिताः ॥' इत्यादिवत् तादृशतत्त्वस्य स्वीयसाक्षात्कारविषयत्वं वेदपुरुष आह—'अहमेतं परमात्मानं महान्तम् अपरिच्छेद्यं पुरुषं वेद वेद्मि। आदित्यवर्णं सूर्यसमानवर्णम् 'नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा', 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः', 'सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि' इति श्रुतिभ्यः। तमसो मूलप्रकृतेः पारे ऊर्ध्वप्रदेशे त्रिपाद्विभूतौ 'अक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देवे एकीभवति।' पाद्मोत्तरखण्डे (१२७ अध्याये)—'असंख्यप्रकृतेः स्थानं निबिडध्वान्तमव्ययम्। ऊर्ध्वं तु सीम्नि विरजा निःसीमाधः सनातनी॥ प्रधानपरमव्योम्नोरन्तरे विरजा नदी। वेदाङ्गस्वेदजनिततोयैः प्रस्राविता शुभा॥ तस्याः पारे परे व्योम्नि त्रिपाद्भूतिः सनातनो' इति। धीरो यत्सर्वाणि रूपाणि विचित्य नामानि कृत्वाऽभिवदन् तमसः पारे आस्ते एतमहं वेद। धिया रममाणो धीरः, धीमतामग्रेसरो भगवान् स्वानभिज्ञानामपि

पूजनीय देव उस नाक संज्ञक स्वर्ग में अनन्त आदि के साथ भगवान् का अनुभव करते हैं। इसमें 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' यह श्रुति प्रमाण है।

विस्तार के साथ बताये गये उपर्युक्त अर्थ को ही अब संक्षेप से बताते हैं—प्रजापति के प्राणस्वरूप देवताओं ने पूर्वोक्त मानसिक संकल्परूप यज्ञ के द्वारा पूर्वोक्त यज्ञस्वरूप प्रजापति का पूजन किया। पूजन के परिणामस्वरूप जगद्रूप विकारों को धारण करने वाले प्रसिद्ध मुख्य धर्म हुए। इस कथन से सृष्टि प्रतिपादक सूक्त भाग का अर्थ संगृहीत हुआ।

इसके अनन्तर उपासना और उसके फल के प्रतिपादक भाग का अर्थ संगृहीत किया जा रहा है—जिस विराट् प्राप्तिरूप नाक (स्वर्ग) में प्राचीन विराट् की उपासना करने वाले देव रहते हैं, उस विराट् प्राप्तिरूप स्वर्ग में विराट् के उपासक वे महात्मा गण जाकर प्राप्त होते हैं ॥१६॥

अन्य शाखा वालों के मत से निम्नांकित ऋक् सोलहवीं बताई जाती है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं ···· ··· ॥

अर्थ—'सत्यपराक्रमशाली महात्मा राम को मैं जानता हूं, महान् तेजस्वी वशिष्ठ तथा तपस्या में स्थित रहनेवाले जो ये मुनि हैं वे भी जानते हैं' इस उक्ति के समान वेद पुरुष कहता है कि वह प्रसिद्ध अद्भुत तत्त्व मेरे साक्षात्कार का विषय है, अर्थात् मैं उसे जानता हूं। मैं उस अपरिच्छेद्य परमात्मा पुरुष को जानता हूं। 'नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा', 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः', 'सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि' इत्यादि श्रुतियां उक्त आशय को प्रमाणित करती हैं। मूल प्रकृति के त्रिपाद विभूति-रूप ऊर्ध्व-प्रदेश में वह धीर पुरुष समस्त रूपों को एकत्रित कर, उनका नामकरण करके उन्हें बताता हुआ कहता है, उसे मैं जानता हूँ। उक्त आशय का समर्थन श्रुति ने भी किया है—'अक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देवे एकीभवति।' पाद्मोत्तरखण्ड के १२७वें अध्याय में 'असंख्यप्रकृतेः स्थानं निबिडध्वान्तमव्ययम्। ऊर्ध्वं तु सीम्नि विरजा निःसीमाधः सनातनी'॥ प्रधानपरमव्योम्नोरन्तरे विरजा नदी। वेदाङ्गस्वेदजनिततोयैः प्रस्राविता शुभा॥ तस्याः पारे परे व्योम्नि त्रिपाद्भूतिः सनातनी' इति। धी से (बुद्धि से) रममाण होने वाला वह धीर पुरुष, अर्थात् बुद्धिमानों में अग्रेसर भगवान् अपने को न पहचानने वाले संसारियों को भी उनके योग्य

संसारिणां योग्यकरणकलेवरप्रदानेन स्वानुभवयोग्यतां सम्पादयति । अभिवदन् स्वप्राप्तिपर्यन्तामाशिषं वदन् 'देवानां पूरयोध्या', 'तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो लोको ज्योतिषाऽऽवृतः' इत्यादिश्रुति-स्मृति-प्रसिद्धेऽतिरमणीये नित्यज्ञानानन्दमये निरतिशयसौगन्ध्यसौकुमार्यादिविशिष्टानन्तभोगपर्यङ्के श्रीभूनीलाभिः परिचरितचरणयुगलो विराजते तमहं वेद ।

धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार शक्रः प्रविद्वान् प्रदिशश्चतस्रः । तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥

अर्थः—धाता चतुर्मुखः पुरस्तात् सृष्टिकाले यं परमपुरुषम् उदाजहार अस्तोषीत् । यद्वा—धाता पुरस्तात् पूर्वकाले यमुदाजहार 'तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच, प्रजापतिर्मनवे, मनुः प्रजाभ्यः' इत्युक्तरीत्या उपादिशदित्यर्थः । प्रविद्वान् भगवतो वामदेवादवाप्ततत्त्वज्ञानः प्रतर्दनाय ब्रह्मविद्योपदेष्टा च शक्रो यमुदाजहारेत्यनुषज्यते । प्रदिशश्चतस्रः प्रधानभूताश्चतस्रो दिशस्तदुपलक्षिता एकत-द्वित-त्रित-सनकादयश्च यमुदाहरन्तीति विपरिणतस्यानुषङ्गः । तमेवं विद्वानमृत इह भवति । नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ।

इत्थं विस्तृतेन विवेचनेन स्वप्रकाशे परस्मिन् ब्रह्मण्येव पुरुषसूक्ततात्पर्यं स्फुटीभवति ।

'अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे । तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥' (वा० सं० ३१।१७) । तेन पुरुषेण पृथिव्यै पृथिव्युत्पत्त्यर्थमद्भ्यो रसः सम्भृतः संगृह्य तेन पृथिवी रचिता । एवमग्निरसेनाग्नेराप उत्पादिताः । अग्निश्च वायोः सकाशाद् वायुराकाशादुत्पादितः । आकाशः प्रकृतेः, प्रकृतिः स्वसामर्थ्यात् । विश्वं सर्वं कर्म क्रियमाणमस्य विश्वकर्मा तस्य परमेश्वरस्य सामर्थ्यमध्ये कारणाख्येऽग्रे सृष्टेः प्राग् जगत् समवर्तत वर्तमानमासीत् । तदानीं सर्वमिदं जगत् कारणभूतमेव नेदृशमिति तस्य सामर्थ्यस्यांशान् गृहीत्वा

करण-कलेवर (इन्द्रिय-शरीर) आदि उन्हें प्रदान कर अपने अनुभव करने की योग्यता को सम्पादित कर देते हैं । वह भगवान्, अपनी प्राप्ति होने तक का आशीर्वाद देने वाले भगवान्—'देवानां पूरयोध्या', 'तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो लोको ज्योतिषाऽऽवृतः' इत्यादि श्रुति-स्मृतियों के द्वारा प्रसिद्ध अत्यन्त रमणीय, नित्यानन्दमय, निरतिशय सौगन्ध्य, सौकुमार्य आदि विशिष्ट भोगसम्पन्न पर्यङ्क पर विराजते हैं, जिनकी चरण-परिचर्या श्री, भू, नीला आदि किया करती हैं, उस भगवान् को मैं जानता हूँ ॥१६॥

.... ॥१६॥

अर्थ—सृष्टि के समय चतुर्मुख ने जिस परम पुरुष की स्तुति की थी । अथवा पहले किसी समय चतुर्मुख धाता ने जिसे निम्नाङ्कित रीति से उपदेश दिया था—तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच, प्रजापतिर्मनवे, मनुः प्रजाभ्यः' । भगवान् वामदेव से जिसने तत्त्वज्ञान प्राप्त किया और प्रतर्दन के लिये ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया, उस शक्र ने जिसे उपदेश दिया था, प्रधानभूत चारों दिशाएं और उससे उपलक्षित एकत, द्वित, त्रित नाम के ऋषि तथा सनकादिक जिसका उदाहरण देते हैं, इस प्रकार विपरिणाम करके अर्थ करना चाहिये । इस प्रकार के उस भगवान् को जानने वाला विद्वान् यहां अमृत हो जाता है । अयन के लिये अन्य मार्ग नहीं है ।

इस विस्तृत विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि स्वप्रकाश परब्रह्म में ही पुरुषसूक्त का तात्पर्य है ।

(अद्भ्यः संभृतः०) 'उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिये जल के सारांश रस को ग्रहण करके पृथिवी और अग्नि के परमाणुओं को मिला कर पृथिवी रची है। इसी प्रकार अग्नि के परमाणु के साथ जल के परमाणुओं को मिलाकर जल की, वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिला के अग्नि की और वायु के परमाणुओं से वायु की रचना की है । वैसे ही अपने सामर्थ्य से आकाश को भी रचा है, जो कि सब तत्त्वों के ठहरने का स्थान है । ईश्वर ने प्रकृति से लगाकर घास तक सारे जगत् को रचा है । इससे ये सब पदार्थ ईश्वर के रचे होने से उसका नाम विश्वकर्मा है । जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारण रूप से वर्तमान था । (तस्य०) जब जब ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्य रूप जगत् को रचता है, तब तब कार्य जगत् रूप गुण वाला होकर स्थूल बन के देखने में आता है । (तन्मर्त्यस्य देवत्वमा०) जब परमेश्वर ने मनुष्य शरीर आदि को रचा है, तब

त्वष्टा रचनकर्तेयं सकलं जगद् विदधद् आजानमग्रे वेदाज्ञापनसमये परमात्माज्ञप्तवान् वेदरूपामाज्ञां दत्तवान् मनुष्याय धर्मयुक्तेनैव सकामेन कर्मणा कर्मदेवत्वयुक्तं शरीरं वृत्वा विषयेन्द्रियसंयोगजन्यमिष्टं सुखं भवतु तथा निष्कामेन विज्ञानपरमं मोक्षाख्यं चेति' (पृ० १४४) इति ।

दयानन्दीयं व्याख्यानम्, तत्रोच्यते—न पूर्वस्मिन् मन्त्रे पुरुषः प्रकृत इति तेन पुरुषेणेत्यस्य कथं परामर्शः ? न चात्र पृथिवीरचनोक्ता, मूले सृजे रचेर्वाऽदर्शनात् । 'अद्भ्यः पृथिवी' (तै० उ० २।१) इति श्रुत्या तु अद्भ्यः पृथिव्या उत्पत्तिः श्रूयते, नाद्भ्यः सम्भृताद्रसात्तदुत्पत्तिस्तत्र मानाभावात् । एवमग्नेराप इत्यग्नेरप उत्पत्तिः श्रुता, नाग्निरसात् । अग्न्याकाशादीनां नामाप्यत्र न श्रूयते । प्रकृतेराकाशस्योत्पत्तौ 'तस्माद्वैतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इति श्रुतिविरोधश्च । प्रकृतिवादिनः प्रकृतेरुपादानत्वमङ्गीकुर्वन्ति । तथैव प्रकृतेरपि परमेश्वरस्य सामर्थ्यादुत्पत्त्यङ्गीकारे सामर्थ्यस्य च परमेश्वररूपत्वाङ्गीकारे ब्रह्मोपादानकत्वेन प्रपञ्चस्य ब्रह्माभिन्नत्वापत्त्याऽद्वैतमतप्रवेशस्तवापसिद्धान्तापत्तिश्च । विश्वकर्मणः परमेश्वरसामर्थ्यस्य मध्येऽन्ते वा जगद्वर्तेत इत्यपि प्रमाणसापेक्षम् । सामर्थ्यमपि ब्राह्मणो मध्येऽन्ते वा वर्तेत इत्यपि वक्तव्यम् । सामर्थ्यस्यैव कारणाख्या, परमेश्वरस्य सामर्थ्यस्यांशवत्त्वे सांशत्वेन घटादिवत् कुतो नानित्यत्वम् ? सामर्थ्यस्य कारणत्वे कोऽयं त्वष्टा यः सामर्थ्यांशान् गृहीत्वा सकलं जगद्विदधाति ? सामर्थ्यस्य सांशत्वे सामग्र्यन्तरवदादीयमानत्वे ध्रुवं तस्यानित्यत्वं स्यात् । पुनश्चेदं विश्वं रूपवत्त्वमेति तदेव विश्वस्य च मर्त्यस्य च रूपवत्त्वमिति वाक्यात् किमुक्तमिति तु न स्पष्टम् । पुनःपदस्य च कथं सार्थक्यम् ? पूर्वं तु पुरुषेण प्रकृत्याकाशादिकं निर्मितमित्युक्तम्, तच्च सर्वं जगत् परमेश्वरसामर्थ्यमध्ये कारणभूतमासीदित्युक्तम् । तस्य सामर्थ्यांशान् गृहीत्वा सकलं

मनुष्य भी दिव्य कर्म करके देव कहाते हैं और जब ईश्वर की उपासना से विद्या, विज्ञान आदि अत्युत्तम गुणों को प्राप्त होते हैं, तब भी उन मनुष्यों का नाम देव होता है, क्योंकि कर्म से उपासना और ज्ञान उत्तम है। इसमें ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो मनुष्य उत्तम कर्म में शरीर आदि पदार्थों को चलाता है, वह संसार में उत्तम सुख पाता है, तथा जो परमेश्वर की ही प्राप्तिरूप मोक्ष की इच्छा करके उत्तम कर्म, उपासना और ज्ञान में पुरुषार्थ करता है, वह उत्तम देव होता है' (पृ० १४५)।

'अद्भ्यः संभृतः' इत्यादि मन्त्र की यह दयानन्द की व्याख्या है। इस पर हम पूछते हैं कि इससे पहले के मन्त्र में पुरुष का कोई उल्लेख नहीं है, तब यहाँ पुरुष शब्द की अनुवृत्ति कहाँ से आवेगी ? यहाँ पृथिवी की रचना का उल्लेख है भी नहीं, क्योंकि मन्त्र में सृज् अथवा रच् धातु विद्यमान नहीं है। तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार जल से पृथिवी की उत्पत्ति बताई गई है, जल के सारांश को ग्रहण कर रस की उत्पत्ति मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इसी तरह अग्नि से जल की उत्पत्ति श्रुति प्रतिपादित है, अग्नि के रस से नहीं। अग्नि, आकाश आदि का यहाँ नाम भी नहीं सुनाई पड़ता। प्रकृति से आकाश की उत्पत्ति मानने में आत्मा से आकाश की उत्पत्ति बताने वाली श्रुति से स्पष्ट विरोध पड़ता है। प्रकृतिवादी दार्शनिक प्रकृति को उपादानकारण मानते हैं। उसी तरह से प्रकृत स्थल में भी परमेश्वर की सामर्थ्य से सबकी उत्पत्ति मानने पर और सामर्थ्य को परमेश्वर का स्वरूप ही मानने पर ब्रह्म ही सबका उपादानकारण होगा। इस स्थिति में प्रपंच ब्रह्म से अभिन्न ही रहेगा और यदि इसको आप स्वीकार करेंगे तो आप का अद्वैत मत में अगत्या प्रवेश हो जायगा, जिसको कि आप सही नहीं मानते। विश्व के निर्माता इस ईश्वर के सामर्थ्य के मध्य अथवा अन्त में इस जगत् की स्थिति है, इसमें भी प्रमाण देना पड़ेगा। सामर्थ्य भी ब्रह्म के मध्य या अन्त में रहती है, इसको भी बताना पड़ेगा। कारण ईश्वर की सामर्थ्य ही है, अथवा परमेश्वर भी है ? यदि सामर्थ्य को ही कारण मानना है तो ब्रह्म को कारण बताने वाले श्रुतिवचनों की क्या स्थिति होगी ? सामर्थ्य को यदि सावयव मानना है, तो वह घट-पट आदि की तरह अनित्य क्यों नहीं मानी जायगी ? सामर्थ्य को कारण मानने पर वह बढ़ई कौन है, जो कि सामर्थ्य के अंशों को ग्रहण कर सारे जगत् का निर्माण करता है ? सामर्थ्य को सावयव मानने पर अन्य सामग्री की तरह उसके अवयवों को लेकर वस्तु का निर्माण होने से निश्चित ही उसको अनित्य मानना पड़ेगा। आगे इस विश्व की रूपवत्ता का विधान किया गया है। यही इस विश्व की और मनुष्य की भी रूपवत्ता है, इस वाक्य से आप क्या कहना चाहते हैं, कुछ स्पष्ट नहीं होता। पुनः पद की यहाँ क्या सार्थकता है ? पहले आपने बताया कि पुरुष ने प्रकृति से आकाश आदि का निर्माण किया और यह भी कहा कि सारा जगत् परमेश्वर की सामर्थ्य में कारणावस्था में विद्यमान था, बाद में आपने बताया कि

जगद्विदधातीत्युक्तम् । तेनैव सर्वस्य रूपवत्त्वं चेत् प्रकृत्याकाशादीनां पूर्वमुत्पत्तिः किमर्थमुक्ता ? वेदाज्ञापनसमये परमात्माज्ञप्तवानिति कस्य शब्दस्यार्थः ? नह्याजानमित्यस्यायमर्थः सम्भवति । सकामेन कर्मणा कर्मदेवत्वयुक्तं शरीरं धृत्वा विषयेन्द्रियसंयोगजनितमिष्टं सुखं भवतु, निष्कामेन विज्ञानपरमं मोक्षाख्यं चेति कस्य वेदाक्षरस्य भाष्यम् ? कर्मदेवत्वं किं भवति ? तद्युक्ते शरीरे शरीरान्तरापेक्षया किं वैलक्षण्यम् ? इदं वाक्यं निरर्थकमभिप्रेत्यैव सुखमनुभवत्विति पाठं कल्पयति टिप्पणीकारः । सर्वथाप्युच्छृङ्खलमिदं दयानन्दीयं भाष्यमुपेक्षणीयमेव वेदार्थजिज्ञासुभिः ।

वस्तुतस्तु--'अद्भ्यः सम्भृत इत्युत्तरनारायणेनादित्यमुपस्थायेति' (का० श्रौ० सू० १।३।६।२।२०) इति कात्यायनश्रौतसूत्ररीत्या इमाः षट् कण्डिका उत्तरनारायणाभिधानाः । उपान्त्ये द्वे अनुष्टुभौ शेषास्त्रिष्टुभ आदित्यदेवत्याः' इति महीधरः । पूर्वकल्पीयपुरुषमेधयाजी आदित्यरूपं प्राप्तोऽत्र स्तूयते । अद्भ्यो जलात् पृथिव्याश्च सकाशात्, उपलक्षणमेतद् भूतपञ्चकस्य । तथा च भूतपञ्चकाद् यो रसः सम्भृतः पुष्टः । तथा विश्वं कर्म यस्य तस्य विश्वकर्मणः कालस्य रसात् प्रीतेः यो रसोऽग्रे प्रथमं समवर्तत समभवत्, भूतपञ्चकस्य कालस्य च सर्वकारणत्वात् पुरुषमेधयाजिनः कर्मोपासनाभाविते लिङ्गशरीरे पञ्चभूतानि कालश्च तुष्यन्ति । तुष्टेभ्यस्तेभ्यः कश्चिद्रसविशेषफलरूप उत्तमजन्मप्रद उत्पद्यते । तस्य रसस्य रूपं विदधद् धारयन् त्वष्टा आदित्य एति प्रत्यहमुदेति । अग्ने प्रथमं मर्त्यस्य मनुष्यस्य सतः स्वस्य पुरुषमेधयाजिन आजानदेवत्वं मुख्यं देवत्वं सूर्यरूपेण । कर्मदेवा आजानदेवाश्चेति द्विविधा देवाः । ये कर्मणोत्कृष्टेन देवत्वं प्राप्तास्ते कर्मदेवाः, ये सृष्ट्यादावुत्पन्नास्ते आजानदेवाः । ते कर्मदेवेभ्यः श्रेष्ठाः । ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दः । सूर्यादयश्चाजानदेवाः । पूर्वकाले मर्त्यस्य सतः कर्मोपासनाबलाद्

उस सामर्थ्य के अंशों को लेकर ईश्वर सारे जगत् को बनाता है और इसी से सब की रूपवत्ता का विधान बताया गया है । यदि ऐसी बात है तो प्रकृति; आकाश आदि की पहले उत्पत्ति मानने का तात्पर्य क्या है ? मनुष्यों को वेद का ज्ञान देते हुए परमात्मा ने बताया, यह अर्थ कहाँ से निकलता है ? 'आजान' पद का यह अर्थ नहीं हो सकता। धर्मयुक्त सकाम कर्म के कारण कर्मदेवता का शरीर धारण कर विषय और इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न इष्ट सुख को भोगे और निष्काम कर्म से विज्ञानमय मोक्ष सुख को प्राप्त करे, यह अर्थ वेद के इस मन्त्र के किन अक्षरों से निकलता है ? कर्मदेवता किसको कहते हैं ? इसके शरीर में अन्य शरीरों की अपेक्षा क्या विशेषता रहती है ? इस वाक्य को निरर्थक मान कर ही टिप्पणीकार 'सुख का अनुभव करें" (पृ० १४४ टि०) इस पाठ की कल्पना करता है । इस प्रकार दयानन्द के सर्वथा ऊटपटांग इस भाष्य की वेदार्थ के जिज्ञासु के लिये कोई उपयोगिता नहीं है । अर्थात् वेदार्थ के जिज्ञासु को इस भाष्य की सर्वथा उपेक्षा कर देनी चाहिये ।

वास्तव में कात्यायन के बताये विनियोग के अनुसार 'अद्भ्यः संभृतः' इत्यादि छः कण्डिकाएं 'उत्तरनारायण' नाम से प्रसिद्ध हैं । अन्तिम कण्डिका से पहले की दो कण्डिकाएं अनुष्टुप् छन्द में और शेष त्रिष्टुप् छन्द में निबद्ध है । इन सब का देवता आदित्य है । इस तरह से महीधर ने इन कण्डिकाओं का ऋषि, देवता, छन्द बताकर विनियोग दर्शाया है । पूर्व कल्प में पुरुषमेध यज्ञ के संपादक तथा अब आदित्य मण्डल में प्रविष्ट पुरुष की यहाँ स्तुति की जाती है । जल और पृथिवी से, ये दोनों शब्द भूतपंचक के सूचक हैं, अर्थात् पंच महाभूतों से जिसका रस पुष्ट हुआ है तथा विश्व जिसका कर्म है, ऐसे काल की प्रीति से जो सृष्टि के आदि काल में रस संपन्न हुआ, इसका अभिप्राय यह है कि भूतपंचक और काल सारे जगत् के कारण हैं, अतः पुरुषमेध यज्ञ करने वाले व्यक्ति के कर्म और उपासना से परिष्कृत लिंगशरीर में पञ्च महाभूत और काल संतुष्ट होकर पुरस्कार के रूप में उसे उत्तम जन्म को देने वाले रसविशेष का संचार करते हैं । उस रस के स्वरूप को धारण करने वाला त्वष्टा अर्थात् आदित्य (सूर्य) प्रतिदिन उदित होता है । यही प्रारम्भ में कर्मदेवता का स्वरूप धारण करने वाले मनुष्य का आजानदेवता बन जाने पर स्वरूप हो जाता है कि वह भी सूर्य के रूप में प्रविष्ट होकर उसी रूप में प्रतिदिन प्रकाशित होता रहता है । कर्मदेव और आजानदेव के भेद से देवता दो तरह के होते हैं । अपने उत्कृष्ट कर्मों के आधार पर देवता बनने वाले कर्मदेव कहलाते हैं और सृष्टि के आरंभ में उत्पन्न हुए आजानदेव कहे जाते हैं । आजानदेव कर्मदेवों की अपेक्षा श्रेष्ठ माने जाते हैं । कर्मदेवों के सौ आनन्दों की बराबर आजानदेवों का एक आनन्द श्रुति में माना गया है ।

आजानदेवत्वप्राप्तिः । आदित्यमण्डले अद्भ्यः पृथिव्या विश्वकर्मणो रसाच्च सम्भूतत्वम् । प्रजापतिरूपविश्वकर्मणश्च सर्वकारणत्वात् तद्रसात्तत्प्रीतेः सूर्यस्य निर्मितरूपत्वम् । तदभिमानिनो देवस्याजानदेवत्वम् । त्वष्टा सर्वस्यैव रूपस्य निर्माता, 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते' (ऋ० सं० १०।१८४।१) इति मन्त्रवर्णात् । सूर्यस्य च विशेषतः संज्ञायाः पित्रा त्वष्ट्रा 'शाणमारोप्य तेजःशातनेन रूपं कृतमिति पुराणप्रसिद्धम् । बृहदारण्यके सूर्यमण्डलस्य सर्वमूर्तसारत्वमुक्तम् । आदित्यमण्डलान्तर्गतस्य व्याहृत्यवयवात्मनो हिरण्यगर्भरूपप्रजापतित्वम् । तस्यैव हिरण्यश्मश्रुत्वहिरण्यकेशत्वादिरूपेण परमेश्वरत्वम् । तस्यैव चाशेषविशेषातीतत्वेन मुक्तोपसृप्यत्वमपि, उत्तरमन्त्राणां तदनुगुणत्वात् । अत एवादित्यस्याजानदेवत्वं प्रजापतित्वमन्तर्यामित्वं निर्गुणनिर्विशेषब्रह्मरूपत्वं तत्र तत्रोक्तं सङ्गच्छते ।

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥' (वा० सं० ३१।१८) । 'किं विदित्वा ज्ञानी भवसीति पृच्छ्यते ? तदुत्तरमाह—यतः पूर्वोक्तलक्षणविशिष्टं सर्वेभ्यो महान्तं बृहत्तममादित्यवर्णं स्वप्रकाशविज्ञानस्वरूपं तमसोऽज्ञानादविद्यान्धकारात् परस्तात् पृथग्वर्तमानं परमेश्वरं पुरुषमहं वेद जानाम्यतोऽहं ज्ञान्यस्मीति निश्चयः । नैव तमविदित्वा कश्चिद् ज्ञानी भवतीति निश्चयः । कुतः? तमेवेति । मनुष्यस्तमेव पुरुषं परमात्मानं विदित्वा अतिमृत्युं मृत्युमतिक्रान्तं मृत्योः पृथग्भूतं मोक्षाख्यमानन्दमेति प्राप्नोति । नैवातोऽन्यथेति । एवकारात्तमीश्वरं विहाय नैव कस्यचिदन्यस्य लेशमात्राप्युपासना केनचित् कदाचित् कार्येतिं गम्यते । कथमिदं ज्ञायतेऽन्यस्योपासना नैव कार्येति, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति वचनात् । अयनाय व्यावहारिकपारमार्थिकसुखायातोऽन्यः पन्था मार्गो न विद्यते । किन्तु तस्यैवोपासनमेव सुखस्य मार्गोऽतो भिन्नस्येश्वरगणनोपासनाभ्यां मनुष्यस्य दुःखमेव भवतीति निश्चयः । अतः कारणादेव पुरुषः सर्वैरुपासनीय इति सिद्धान्तः'

सूर्य प्रभृति आजानदेव कहे जाते हैं । पहले मनुष्य के रूप में उत्पन्न व्यक्ति कर्म और उपासना के बल से आजानदेव बन जाते हैं । आदित्य (सूर्य) मण्डल में जल, पृथिवी और विश्वकर्मा का रस इकट्ठा होता रहता है । प्रजापति रूप विश्वकर्मा सबका कारण है, अतः उसकी प्रीति (रस) से ही सूर्य का भी निर्माण होता है और उसको आजानदेवता का पद प्राप्त होता है । त्वष्टा जगत् के सभी स्वरूपों के निर्माता को कहते हैं । 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु' इत्यादि ऋङ्मन्त्र में त्वष्टा इसी रूप में वर्णित है । सूर्य और संज्ञा के पिता त्वष्टा ने शाण पर चढ़ा कर सूर्य का तेज कम कर दिया था, इस तरह की कथा पुराणों में प्रसिद्ध है । बृहदारण्यक उपनिषद् में सूर्यमण्डल को सभी मूर्त पदार्थों में श्रेष्ठ माना गया है । आदित्यमण्डल में व्याहृति के अवयव के रूप में रहने वाले हिरण्यगर्भ को ही प्रजापति कहा जाता है । वही हिरण्यश्मश्रु और हिरण्यकेश वाला परमेश्वर माना जाता है और वही समस्त विशेषताओं से रहित होने से मुक्त पुरुषों के द्वारा प्राप्य ब्रह्म भी है । आगे के मन्त्र इसी ब्रह्म का वर्णन करते हैं । इसीलिये श्रुतियों में यत्र तत्र आदित्य (सूर्य) को जो आजानदेव, प्रजापति, अन्तर्यामी और निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप बताया गया है, वह सब सही ही है ।

'(वेदाहमेतं०) प्रश्न—किस पदार्थ के ज्ञान से मनुष्य ज्ञानी होता है ? उत्तर—उस पूर्वोक्त लक्षण सहित परमेश्वर को यथावत् जानकर ही मनुष्य ठीक ठीक ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं । जो सबसे बड़ा, सबका प्रकाश करने वाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है, उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूं । उसको जाने बिना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो सकता, क्योंकि (तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जानकर और प्राप्त कर मनुष्य जन्म-मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूट कर परमानन्द स्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है, अन्यथा किसी प्रकार से मोक्ष सुख नहीं हो सकता । इससे क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है । उससे भिन्न की उपासना करना किसी मनुष्य को न चाहिये, क्योंकि मोक्ष का देने वाला एक परमेश्वर के बिना दूसरा कोई भी नहीं है । इसमें यह प्रमाण है कि (नान्यः पन्था०) । व्यवहार और परामर्श के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उसका जानना है, क्योंकि इसके बिना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो

(पृ० १४५) इति दयानन्दीयं भाष्यम् । तदुपर्युच्यते—स्वल्पाक्षरैरप्येतद्वक्तुं शक्यते, तथापि यथा तथाभूतैः शब्दैस्तस्यैवार्थस्य पिष्टपेषणममनोज्ञमेव ।

किञ्च, त्वदीयमोक्षस्य ब्राह्मशतवर्षमितस्य स्वर्गादिवत् क्षयिष्णुत्वेन कुतोऽतिमृत्युत्वं सम्भवति ? चिरस्थायित्वेन तु स्वर्गस्यापि तथात्वं वक्तुं शक्यत एव । वेदनमन्यदुपासनं चान्यत् । मानसक्रियारूपमुपासनं पुरुषतन्त्रम्, तच्च पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्यते । यथा पद्भ्यां गच्छति, अश्वेन गच्छति, न वा गच्छतीति गमनक्रिया इच्छानुसारं भवति । ज्ञानरूपं वेदनं तु न पुरुषतन्त्रं भवति, किन्तु वस्तुतन्त्रं भवति । वस्तुज्ञानं तु यथावस्त्वेव प्रमाणेनावेद्यते । प्रमाणप्रमेयसम्बन्धे वस्तु नाप्रमातुं न वान्यथा प्रमातुं शक्यते ।

किञ्च, मोक्षसाधनायात्रान्यः पन्था निषिद्ध्यते, नहि स्वर्गपशुपुत्रादिसुखप्राप्तयेऽप्यन्योपासनं निषिद्ध्यते ? सनातनिसम्मतमिदमस्य व्याख्यानं यथा—

एतं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नमत एवापरोक्षं महान्तं भूमानं देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं तत्पदलक्ष्यं व्यापकं परमात्मानं न तु देहादिपरिच्छिन्नमल्पमादित्यवर्णमादित्यस्येव वर्णो यस्य तम्, आदित्यो यथोपमानान्तराभावात् स्वोपमस्तथा निरुपमम्, आदित्यवत् स्वप्रकाशं वा । आदित्यः स्वसमानजातीयप्रकाशानपेक्षोऽयं तु सजातीयविजातीयसर्वविधप्रकाशनिरपेक्षोऽवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारार्हत्वेन स्वप्रकाशस्तम् । तमसोऽज्ञानतत्कार्यलक्षणात्तमसः परस्ताद् दूरतरम् । तादृशं तमोऽविद्यादिरहितं पुरुषं पूर्षु शयनात् पूर्णं वा सर्वमनेनेति पुरुषं सर्वधीवृत्तिसाक्षिणमहं वेद स्वप्रकाशत्वेन

सकता (पृ० १४६) । यह दयानन्द का भाष्य है । इस पर हमारा कहना है—थोड़े शब्दों में इसी बात को कहा जा सकता है, तो भी उन्हीं शब्दों को बार बार इधर-उधर घुमाकर एक ही बात का पिष्ट-पेषण करना कोई अच्छी बात नहीं है ।

अपि च, आपका अभिमत मोक्ष ब्रह्मा के सौ वर्ष तक ही रहता है, बाद में यह भी स्वर्ग की तरह क्षयिष्णु है, तब इसको मृत्यु से अतीत कैसे माना जा सकता है ? इस मोक्ष को चिरस्थायी होने से ऐसा माने तो स्वर्ग को भी क्यों न ऐसा माना जाय ? ज्ञान और उपासना दो भिन्न बातें हैं । मानस क्रियारूप उपासना प्रत्येक पुरुष के अधीन है । इसको पुरुष चाहे तो कर सकता है, नहीं करता अथवा किसी अन्य प्रकार से भी कर सकता है । जैसे कि जो व्यक्ति जाना चाहता है, वह घोड़े से जा सकता है, पैदल जा सकता है अथवा नहीं भी जा सकता, यह सब जाने वाले की इच्छा पर निर्भर है । इसके विपरीत ज्ञान स्वरूप वेदन पुरुष के अधीन न होकर वस्तु के अधीन होता है । वस्तु का ज्ञान जैसे वह वस्तु है, वैसे ही प्रमाण के द्वारा भी ज्ञात होती है । प्रमाण और प्रमेय का संबन्ध हो जाने पर वस्तु का ज्ञान न हो अथवा अन्यथा ज्ञान हो, यह संभव नहीं है ।

अपि च, इस मन्त्र में मोक्ष के साधन के रूप में दूसरे मार्गों का निषेध किया गया है, इसी तरह से स्वर्ग, पशु, पुत्र आदि की प्राप्ति के लिये अन्य उपासनाओं का निषेध नहीं किया जाता । सनातन पद्धति से इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—

प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न, अत एव प्रत्यक्ष, देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित इस व्यापक परमात्मा को, न कि देहादि से परिच्छिन्न जीवात्मा को, जो कि आदित्य के समान प्रकाशमान है, अर्थात् जैसे आदित्य के सदृश कोई उपमान न होने से यह स्वयं ही अपने में उपमा बनता है, उसी तरह उस परमात्मा को समझाने के लिये भी कोई उपमान न होने से वह अपने ही उपमा बनता है । अथवा यह परमात्मा आदित्य (सूर्य) की तरह ही स्वयं प्रकाशित होने वाला है । आदित्य (सूर्य) अपने समानजातीय किसी प्रकाश की सहायता के बिना ही प्रकाशित होता है, उसी तरह से यह परमात्मा सजातीय, विजातीय सभी तरह के प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता, उनके बिना ही यह स्वयं प्रकाशित होता रहता है, अतः यह स्वप्रकाश कहा जाता है । यह परमात्मा तप से अर्थात् अज्ञान और उसके कार्य स्वरूप अन्धकार से बहुत दूर है । इस तरह से अविद्या प्रभृति से रहित उस पुरुष को, जो कि नाना पुरों (शरीरों) में विश्राम करता है, अथवा जिसके कारण सब पूर्ण दिखाई पड़ते हैं तथा जो सभी व्यक्तियों की बुद्धि रूपी वृत्तियों का साक्षी है, उसे मैं जानता

संशयविपर्ययाज्ञानराहित्येनं वेद जानामि न तु वृत्तिविषयत्वेन, 'अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि', 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः' इत्यादिश्रुतिभ्यः। तमेव पुरुषं विदित्वा प्रत्यगात्मतत्त्वेन साक्षात्कृत्याविकृतः साधको मृत्युमेति जननमरणाविच्छेदलक्षणां संसृतिमतिक्रम्य सच्चिदानन्दब्रह्मात्मभावं गच्छति। अयनाय सुखमयायतनाय आश्रयणाय सर्वाश्रयभूतं ब्रह्मैव सर्वाश्रयस्तस्मै ब्रह्मप्राप्तये वा अन्यः पन्था मार्गो न विद्यते सूर्यमण्डलान्तःपुरुषरूपप्रत्यगभिन्नब्रह्मसाक्षात्कार एव मुक्तिसाधनमित्यर्थः।

'प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो वहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥' (वा सं० ३१।१९)। 'स एव प्रजापतिः सर्वस्य स्वामी जीवस्थान्यस्य च जडस्य जगतोऽन्तर्मध्येऽन्तर्यामिरूपेणाजायमानोऽनुत्पन्नोऽजः सन् नित्यं चरति। तत्सामर्थ्यादेवेदं सकलं जगद् वहुधा विजायते विशिष्टतयोत्पद्यते। तस्य ब्रह्मणो योनिं सत्यधर्मानुष्ठानं वेदविज्ञानमेव प्राप्तिकारणं धीरा ध्यानवन्तः परिपश्यन्ति सर्वतः प्रेक्षन्ते। तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि सर्वाणि सर्वे लोकास्तस्थुः स्थितिं चक्रिरे। हेति निश्चयार्थे। तस्मिन्नेव परमे पुरुषे धीरा ज्ञानिनो मोक्षानन्दं प्राप्य तस्थुः स्थिरा भवन्ति' (पृ० १४६) इति दयानन्दीयं भाष्यम्।

तदेतदपि शब्दमर्यादयाऽशुद्धमेव। तत्सामर्थ्यादिदं सकलं भवतीतीमेंऽशाः स्वाभ्यूहिता मन्त्राक्षरासंस्पृष्टा एव। अन्तरित्यनेनैवोपपत्तौ गर्भ इत्यस्य किं प्रयोजनम्? तेनैव वापपत्तौ अन्तरित्यस्य ध्रुवं वैयर्थ्यम्, यथाकथञ्चिदध्याहारादिनाऽर्थकरणमपि भाष्यं चेत् तदा—'सर्वंविदं स्वामिदयानन्दोक्तं वेदविरुद्धमिति शेषः' इत्यपि भाष्यं स्यात्। मूले—'तस्य सामर्थ्यादिदं सकलं जगदित्यादिपदानामभावाद् एतानि पदानि कल्पितान्येव। 'योनिम्' इत्यस्यापि सत्यधर्मानुष्ठानं वेदविज्ञानं प्राप्तिकारणमित्यादिव्याख्यानमुदक्षरमेव। तस्य कारणार्थकत्वेऽपि प्राप्तिकारणमुत्पत्तिकारणं नाशकारणं वा नार्थः, मानाभावात्। धीरा इत्यस्य ध्यानवन्त इत्यपि नार्थः, प्रमाणविरहादेव। पूर्वं

हूं, उसके स्वप्रकाश होने से संशय, विपर्यय और अज्ञान से असंस्पृष्ट स्वरूप से जानता हूं। यह परमात्मा चित्त-वृत्तियों का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुतियां उसको विदित और अविदित अवस्था से भिन्न ही बताती है। उसी पुरुष को जान कर अर्थात् उसका प्रत्यगात्मतत्त्व के रूप में साक्षात्कार कर साधक जन्म-मरण की अविच्छिन्न परम्परारूप संसृति (संसार) को लांघकर सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मात्मभाव को प्राप्त कर लेता है। अयन के लिये, सुखमय आयतन (स्थान) की प्राप्ति के लिये, सवका आश्रयभूत ब्रह्म ही सवके लिये आश्रयणीय है, अतः उस ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि सूर्यमण्डल के अन्दर रहने वाले स्वयंप्रकाश पुरुषरूप प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म के साक्षात्कार से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

'(प्रजापति०) जो प्रजा का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है, वही जड़ और चेतन के भीतर तथा बाहर अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। जो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है, (तस्य योनिं०) जो उस परब्रह्म की प्राप्ति का कारण, सत्य का आचरण और सत्य विद्या है, उसको विद्वान् लोग ध्यान से देख कर परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं। (तस्मिन् ह त०) जिसमें ये सब भुवन अर्थात् लोक ठहर रहे हैं, उसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चय से मोक्षसुख को प्राप्त होकर, जन्म-मरण आदि से छूट कर आनन्द में सदा रहते हैं' (पृ० १४६) यह हुआ दयानन्द का भाष्य।

शाब्दिक प्रक्रिया के अनुसार यह भी अशुद्ध ही है। उसी परमात्मा की सामर्थ्य से यह सारा जगत् उत्पन्न होता है, इस तरह की सारी बातें अपनी कल्पना है, मन्त्र के अक्षरों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। 'अन्तः' शब्द से ही जब अर्थ की प्राप्ति हो गई तो 'गर्भ' शब्द की क्या आवश्यकता है और गर्भ शब्द से गतार्थता हो जाने पर 'अन्त' शब्द की व्यर्थता निश्चित है। जिस किसी तरह से अध्याहार आदि के द्वारा अर्थ करना भी यदि भाष्य कहा जाय तो 'दयानन्द का कहा गया सब कुछ वेदविरुद्ध है, इस वाक्य का अध्याहार भी मन्त्र के भाष्य का अंग हो जायगा। मूल मन्त्र में 'उसी परमात्मा के सामर्थ्य से यह सारा जगत्' इस अर्थ के बोधक पदों के अभाव में ये पद कल्पित ही माने जायेंगे। 'योनिम्' इस पद का सत्य धर्म का अनुष्ठान, वेद का विज्ञान उसकी प्राप्ति का कारण है, ऐसा अर्थ भी अक्षरों से प्राप्त नहीं होता। योनि शब्द कारणार्थक है अवश्य, किन्तु उसका अर्थ प्राप्ति का कारण, उत्पत्ति का कारण अथवा नाश का कारण हो, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। प्रमाण के अभाव में ही 'धीर' पद का ध्यानवान् अर्थ नहीं हो

मोक्षस्य सच्चिदानन्दरूपत्वमुक्तम्, इदानीं मोक्षं प्राप्य तस्मिन् स्थितिरुच्यते । तदपि न सम्यक्, तस्य गृहादिवदधिकरणत्वेन विकारित्वापत्तेः ।

वैदिकसनातनिसिद्धान्तानुसारेण मन्त्रस्यार्थो लिख्यते—कीदृशः स आदित्यवर्णो महाव्यापकः पुरुष इत्याह—प्रजापतिः सर्वस्य जगतस्तस्थुषश्च प्रजायाः पतिः पालकः परमेश्वरः अन्तर्हृदि स्थितः सन् गर्भे मध्ये चरति प्रविशति, जीवरूपेण जीवान्तर्यामिरूपेण वा तस्य सर्वात्मस्वरूपत्वात् । स चाजायमानोऽनुत्पद्यमानो नित्यः सन् बहुधा कार्यकारणप्रपञ्चरूपेण विजायते माययोत्पद्यते । सर्वथा कूटस्थस्याजस्य मायया कार्यकारणप्रपञ्चरूपेण जनिः, तस्य प्रपञ्चविवर्ताधिष्ठानत्वात् । अधिष्ठानस्यातात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः, रज्जुसर्पादिवत् । तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणामः, दुग्धस्य दध्यादिभाववदिति विवेकः । 'कृपणधीः परिणाममुदीक्षते क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तताम् । स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते व्यपगतद्वितयं परमं पदम् ।।' इति संक्षेपशारीरकोक्तेः ।

यद्वा अजायमानोऽनुत्पद्यमानोऽजः सन् बहुधा रामकृष्णादिरूपेण मायया विजायते मायामनुष्याकारेण प्रादुर्भवति, 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ।।' इति भगवद्गीतास्मरणात् । 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।' इत्यादिवचननिचयान्यत्रानुसन्धेयानि । सर्वथापि यः प्रजापतिर्यश्चाजायमानः स एव बहुधा विजायते, इत्येव मन्त्रार्थः ।

समानसत्ताकयोर्भावाभावयोर्विरोधान्नैकत्र सन्निवेशः सम्भवति, तत एव विषमसत्ताकयोर्भावाभावयोः सामञ्जस्यं वक्तव्यम् । व्यावहारिकसत्ताकरूप्यात्यन्ताभाववत्यां शुक्तिकायां व्यावहारिकसत्ताकरूप्यत्वस्यासम्भवदुक्ति-

सकता । पहले मोक्ष को सच्चिदानन्द स्वरूप माना गया है । अतः आप कहते हैं कि मोक्ष को प्राप्त कर उसमें स्थिति होती है । यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि मोक्ष को गृह आदि की तरह अधिकरण माना जायगा, तो वह विकारी हो जायगा ।

वैदिक सनातन पद्धति के अनुसार मन्त्र का अर्थ यह होगा--आदित्य के समान वर्णवाला महान् व्यापक वह पुरुष कैसा है ? इसके उत्तर में श्रुति कहती है कि वह प्रजापति है, अर्थात् स्थावर-जंगमात्मक इस सारी जगत् रूपी प्रजा का पति अर्थात् पालक वह परमेश्वर ही है । यह परमेश्वर हृदय में निवास करता हुआ सबके गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है । यह परमात्मा सर्वात्मस्वरूप है, अतः सब जीवों के रूप में अथवा अन्तर्यामी रूप से यह सब जगह रहता है । यह परमात्मा पैदा न होता हुआ नित्य एकरस रहता हुआ कार्यकारण के प्रपंच के रूप में माया के द्वारा अनेक रूप धारण कर लेता है । सर्वथा कूटस्थ इस अजन्मा परमात्मा की माया के द्वारा कार्यकारण रूप से उत्पत्ति मान ली जाती है, क्योंकि इस जागतिक प्रपंच के सभी तरह के विकारों का वही अधिष्ठान है । अधिष्ठान का अवास्तविक अन्यथाभाव ही विवर्त कहा जाता है, जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम रज्जु का अवास्तविक अन्यथाभाव ही है । तात्त्विक (वास्तविक) अन्यथाभाव परिणाम कहलाता है, जैसे कि दूध का दही बन जाना वास्तविक है । परिणाम और विवर्त का यही भेद है । संक्षेपशारीरक में इस बात को इस तरह से स्पष्ट किया गया है—'मन्दबुद्धि पुरुष परिणामवाद को ही देख पाता है, क्षीणपाप निर्मलबुद्धि विवर्तवाद को भी समझ सकता है, किन्तु स्थिरप्रज्ञ पुरुष तो परिणाम और विवर्त से परे विद्यमान परमवाद को ही देखता है' ।

अथवा 'अजायमान' इत्यादि का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि यह अजायमान परमात्मा अज अर्थात् अनुत्पन्न रहते हुए ही राम, कृष्ण आदि नाना रूपों में अपनी माया के द्वारा मनुष्य का मायामय शरीर धारण कर आविर्भूत होता है । भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—'मैं अज (अजन्मा) और अव्ययात्मा (अविकार स्वभाव) तथा सभी प्राणियों का स्वामी होते भी अपनी प्रकृति का सहारा लेकर अपनी माया से ही नाना रूपों को धारण करता हूँ' । इस प्रसंग में—'हे अर्जुन, जब-जब धर्म का ह्रास और अधर्म की बढ़ोतरी होती है, तब-तब मैं अवतार ग्रहण करता हूँ । सज्जनों की रक्षा के लिये और दुर्जनों का विनाश करने के लिये तथा धर्म की पुनः प्रतिष्ठा के लिये मैं प्रत्येक युग में अवतार लेता हूँ' गीता के इन वचनों को भी याद रखना चाहिये । सभी दृष्टियों से देखने पर जो प्रजापति है और जो अजायमान है, वही नाना रूपों में प्रकट होता है, यही मन्त्र का अर्थ हो सकता है ।

कत्वेऽपि प्रातिभासिकसत्ताकस्य रूप्यत्वस्य सत्त्वे यथा न बाधः, तथैव प्रकृतेऽपि परमेश्वरे समानसत्ताकयोर्जायमानत्वाजायमानत्वयोरसम्भवेऽपि विषमसत्ताकयोस्तयोर्विरोधाभावात् । एतेन पारमार्थिकजायमानत्वात्यन्ताभाववति ब्रह्मणि पारमार्थिकसत्ताकजायमानत्वासम्भवेऽपि व्यावहारिकसत्ताकजायमानत्वे वाधाभावः । तेन न केवलं परब्रह्मणो रामकृष्णादिरूपेण जायमानत्वम्, किन्तु सर्वप्रपञ्चरूपेणापि तस्यैव जायमानत्वमुपपद्यते । परमार्थतः शुद्धकूटस्थरूपेणाजायमानत्वमेव ।

इयांस्तु भेदः—यथा काष्ठ-कुड्य-मेघादिव्यवहितस्य सूर्यस्य प्रावृतत्वेऽपि सूक्ष्मदूरवीक्षणयन्त्रव्यवधानव्यवहितस्य तस्य न स्वरूपमाव्रियते, किन्तु केवलनेत्रादृष्टस्यापि महामहिमवैभवस्याभिव्यक्तिर्भवति; तथैव कार्यकारणात्मकप्रपञ्चोपहितस्य ब्रह्मणः सच्चिदानन्दादिस्वरूपस्यावरणं जायते । रजस्तमोलेशानुविद्धविशुद्धसत्त्वोपाधिकस्याचिन्त्यदिव्यलीलाशक्त्युपहितस्य ब्रह्मणस्तेन व्यवधानेन न स्वरूपमाव्रियते, किन्तु तस्याचिन्त्यमहामहिमवैभवमेव स्फुट्यते ।

धीराः धियं बुद्धिमीरयन्ति नियमयन्ति ये ते धीरा योगाभ्यासनियन्त्रितबुद्धिसत्त्वा योगिनो ब्रह्मविदस्तस्य प्रजापतेर्योनिं स्वरूपाभिव्यक्तिस्थानम् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति महावाक्यजन्यामखण्डाकारां वृत्तिं प्राप्य तयाऽसत्त्वापादिकामज्ञानापादिकां चाविद्यावृत्तिमपोह्य निरावरणस्वप्रकाशात्मस्वरूपं परिपश्यन्ति, तद्विषयकाज्ञानविपर्ययसंशयविप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिशून्या भवन्ति । विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि तस्मिन् ह तस्मिन्नेव तस्थुः स्थितानि ।

समान सत्ता वाले पदार्थों का भाव और अभाव परस्पर विरुद्ध होने से एक साथ नहीं रह सकता, इसलिए विषम सत्ता वाले भाव और अभाव को मानकर इनमें परस्पर समन्वय करना पड़ेगा। व्यावहारिक सत्ता वाली चाँदी का जहाँ अत्यन्त अभाव है, ऐसी शुक्तिका में व्यावहारिक सत्ता वाली चाँदी की स्थिति बताना यद्यपि अत्यन्त असंभव है, किन्तु प्रातिभासिक सत्ता वाली चाँदी की सत्ता मानने में कोई बाधा नहीं रहती, उसी तरह से प्रकृत में भी परमेश्वर में समान सत्ता वाले जायमानत्व और अजायमानत्व की एक साथ स्थिति रहने पर भी विषम सत्ता वाले जायमानत्व और अजायमानत्व की स्थिति मानने में कोई बाधा नहीं होगी। इस तरह से पारमार्थिक दृष्टि से जायमानता के अत्यन्त अभाव वाले ब्रह्म में पारमार्थिक सत्ता वाले जायमानता धर्म के न रहने पर भी व्यावहारिक सत्ता वाली जायमानता के रहने में कोई बाधा नहीं है। अतः परब्रह्म केवल राम, कृष्ण आदि के रूप में ही नहीं, किन्तु इस सारे प्रपंच के रूप में भी पैदा होता है और पारमार्थतः शुद्ध, कूटस्थ रूप में वह अजन्मा भी है।

विशेषता इतनी ही है कि जैसे लकड़ी, दीवाल, बादल आदि से व्यवहित सूर्य-नक्षत्र आदि ढक जाते हैं, नहीं दिखाई पड़ते, किन्तु बहुत सूक्ष्म वस्तुओं को दूर से ही देख लेने की सामर्थ्य वाली दूरबीन का व्यवधान होने पर, आँखों का और सूर्य का व्यवधान इससे पड़ जाने पर भी नक्षत्र आदि का स्वरूप उससे ढकता नहीं, इसके विपरीत केवल आँखों से न दिखाई पड़ने वाला इनका महान् वैभवशाली रूप उस मन्त्र की सहायता से आँखों के सामने प्रकट हो जाता है, उसी तरह से कार्यकारणात्मक प्रपञ्च से उपहित ब्रह्म का सच्चिदानन्दमय स्वरूप तो ढक जाता है, किन्तु रज और तम के लेश से भी रहित विशुद्धसत्त्व उपाधि वाले अचिन्त्य, दिव्य लीलाशक्ति से संपन्न ब्रह्म का स्वरूप इस उपाधि से आवृत नहीं होता, इसके विपरीत उसकी यह अचिन्त्य महिमा इसकी सहायता से अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होने लगती है।

'धीर' पद का व्युत्पत्ति की सहायता से प्राप्त होने वाला अर्थ धी=बुद्धि को नियमित करने वाला है। योगाभ्यास से अपनी बुद्धि को नियन्त्रण में रखने वाले ब्रह्मवेत्ता योगी उस प्रजापति के स्वरूप को कि वह कैसे कहाँ अभिव्यक्त हो सकता है, 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित महावाक्यों के अभ्यास से उत्पन्न अखण्ड आकारवाली अन्तःकरण की वृत्ति को पकड़कर और उसकी सहायता से ब्रह्म की असत्ता, अज्ञान को पैदा करने वाली अविद्या की वृत्ति को दूर कर यथार्थ रूप से देख पाते हैं कि वह प्रजापति का स्वरूप निरावरण प्रकाश स्वरूप है और यह जानकर वे ब्रह्मविषयक, अज्ञान, विपरीत ज्ञान अथवा संशय से मुक्त हो जाते हैं। ये सारे भुवन और उनमें निवास करने वाला यह स्थावर-जंगमात्मक सारा जगत् उसी परमात्मा में अवस्थित हैं, सब कुछ

सर्वं तदात्मकमेव, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तायाः कल्पितसत्ताया अनङ्गीकारात् । भक्तिदृष्ट्या योनिं तस्याभिव्यक्तिस्थानं भक्तियोगं पश्यन्ति, तद्द्वारा भजनीयं भगवन्तं सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदं च विष्णु-शिव-राम-कृष्णादिरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपेण च पश्यन्ति । तस्मिन् ह तदधीनास्तदाश्रयास्तदेकाश्रयाश्च तस्थुस्तिष्ठन्ति ।

'यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः । पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥' (वा० सं० ३१।२०) । 'य पूर्णः पुरुषो देवेभ्यो विद्वद्भ्यस्तत्प्रकाशार्थमातपति आसमन्तात्तदन्तःकरणे प्रकाशयति नान्येभ्यः । यश्च देवानां विदुषां पुरोहितः सर्वैः सुखैः सह मोक्षे विदुषो दधाति (पूर्वो यो) देवेभ्यो विद्वद्भ्यो यः पूर्वः पूर्वमेव सनातनत्वेन वर्तमानः सन् जातः प्रसिद्धोऽस्ति (नमो रुचाय) तस्मै रुचाय रुचिकराय ब्रह्मणे नमोऽस्तु । यच्च देवेभ्यो विद्वद्भ्यो ब्रह्मोपदेशं प्राप्य ब्रह्मरुचिर्ब्राह्मिः ब्रह्मणोऽपत्यमिव वर्तमानोऽस्ति, तस्मा अपि ब्राह्मये ब्रह्मसेवकाय नमोऽस्तु' (पृ० १४७) इति दयानन्दीयं व्याख्यानम् ।

अत्रोच्यते—देवेभ्य इत्यस्य विद्वद्भ्य इत्यशुद्धोऽर्थः, विशिष्टैश्वर्यमहाभाग्यस्य परमेश्वरविभूतिरूपस्य देवस्य साधितत्वात् । आतपतीत्यस्य प्रकाशयितृत्वार्थकत्वे कर्मनिर्देशेनापि भाव्यम्, न च तन्निर्देशोऽस्ति । विदुषां सर्वैः सुखैः सह मोक्ष आहितत्वेऽपि पुर इति पदमव्याख्यातमेव स्यात् । परमात्मनो नित्यत्वेन देवेभ्यः पूर्वं जातत्वमपि नोपपद्यते । तथैव ब्राह्मिविशेषणत्वेन प्रतीयमानस्य रुचस्य रुचिकरत्वमपि प्रमाणसापेक्षम् । एवं ब्रह्मरुचिरिति पदमपि नास्त्येव मूले । तेन तस्य ब्रह्मरुचेर्ब्रह्मभक्तस्य ब्राह्मित्वं ब्रह्मापत्यत्वमपि कुतस्त्यम् ?

वैदिकसनातनिसम्मतं त्विदमस्य मन्त्रस्य व्याख्यानम्—य प्रजापतिरादित्यरूपो देवेभ्योऽर्थाय आतपति द्योतते, आदित्योदयस्य दैव्यकर्मयज्ञयागादिप्रवृत्तिहेतुत्वात् प्रजापतिरादित्यरूपेण द्योतते, रात्रावसुराणां प्राधान्य-

भगवन्मय ही है, क्योंकि अधिष्ठान की सत्ता के अतिरिक्त कोई कल्पित सत्ता यहाँ स्वीकार नहीं की गई है । भक्तिशास्त्र की दृष्टि से यहाँ योनि पद का अर्थ है उस परमात्मा का अभिव्यक्ति स्थान, इसको भक्तियोग की सहायता से देख पाता है । इस भक्तियोग के द्वारा भक्त अपने-अपने भजनीय भगवान् को, जो कि सभी प्राणियों के परम प्रेम का अधिकारी है, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण आदि रूपों में सबके हृदय में अन्तर्यामी के नाम से जानता है । वे भक्तगण एकमात्र उसी अपने भजनीय भगवान् का सहारा लेकर निश्चित हो जाते हैं ।

'(यो देवेभ्य०) जो परमात्मा विद्वानों के लिये सदा प्रकाशस्वरूप है, अर्थात् उनके आत्माओं को प्रकाश में कर देता है और वही उनका पुरोहित अर्थात् अत्यन्त सुखों से धारण और पोषण करने वाला है, इससे वे फिर दुःखसागर में कभी नहीं गिरते । (पूर्वो यो देवभ्यो जातः) जो सब विद्वानों से आदिविद्वान् और जो विद्वानों के ही ज्ञान से प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष होता है, (नमो रुचाय) उस अत्यन्त आनन्द स्वरूप और सत्य में रुचि कराने वाले ब्रह्म को हमारा नमस्कार हो । साथ ही जो विद्वानों से वेदविद्या आदि को यथावत् पढ़कर धर्मात्मा अर्थात् ब्रह्म को पिता के समान मान कर सत्यभाव से प्रेम-प्रीति करके सेवा करने वाला विद्वान् मनुष्य हैं, उसको भी हमलोग नमस्कार करते हैं' (पृ० १४७) यह हुई 'यो देवेभ्य' इत्यादि वेदमन्त्र की दयानन्द कृत व्याख्या ।

इस पर हमारा यह कहना है—देव शब्द का अर्थ विद्वान् करना गलत है । विशिष्ट ऐश्वर्ययुक्त, महाभाग्यशाली, परमेश्वर की विभूतिस्वरूप देवताओं की सत्ता सिद्ध की जा चुकी है । 'आतपति' इस क्रिया का अर्थ प्रकाशयिता माना जाता है, तो उसके कर्म का निर्देश भी करना पड़ेगा, किन्तु यहाँ कोई कर्ता निर्दिष्ट नहीं है । विद्वानों के लिये सब तरह के सुखों के साथ मोक्ष देने वाला भगवान् ही है, ऐसा अर्थ करने पर पुरोहित पद का पुर शब्द अव्याख्यात ही रह जाता है । परमात्मा तो नित्य है, अतः उसके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि देवताओं से पहले उसकी उत्पत्ति हुई । इसी तरह से 'ब्राह्मि' के विशेषण के रूप में प्रतीयमान रुच शब्द का अर्थ रुचिकर करने के लिये प्रमाण की अपेक्षा है । इसी तरह से मूल मन्त्र में ब्रह्मरुचि शब्द भी उपलब्ध नहीं है । तब उस ब्रह्मरुचि अर्थात् ब्रह्म के भक्त की ब्राह्मिता अर्थात् ब्रह्म की पुत्रता कहाँ से आवेगी ? अर्थात् वह विद्वान् भक्त ब्रह्म का पुत्र किस प्रमाण की सहायता से सिद्ध किया जा सकेगा ?

वैदिक सनातन पद्धति के अनुसार इस मन्त्र का यह अर्थ होगा—जो आदित्यरूप प्रजापति देवताओं के प्रयोजन के लिये प्रकाशित होता है, सूर्य का उदय देवों के निमित्त किये जाने वाले यज्ञ-यागादि कर्मों में मनुष्यों को प्रवृत्त कराने के लिये होता है, अतः

मादित्योदये दिने देवानां प्राधान्यमिति श्रवणात्। यश्च देवानामग्नीन्द्रादिपुरोगमानां पुरोहितः सर्वकार्येषु पुरः अग्रे हितः स्थितः, नीत इत्यर्थः। आदित्यस्य देवानामिन्द्ररूपेण पुरोहितत्वं ब्रह्मरूपेण पूर्वजातत्वं च। यद्वादित्यस्य विष्णुप्रधानत्वेन विष्णोश्चेन्द्रादीनां सर्वकार्येष्वग्रेहितत्वमिति पुराणादिषु स्फुटमेव, देवानां कार्यार्थमेव रामकृष्णवामनादिरूपेण विष्णोरवतारप्रसिद्धेः। यश्चादित्यरूपेण देवेभ्यः सकाशात् पूर्वं जातः प्रथममुत्पन्नः, तस्मै आदित्याय परमात्मपुरुषाय नमः प्रह्वीभावः स्वात्मसमर्पणमस्तु। कीदृशाय रुचाय रोचतेऽसौ रुचस्तस्मै दीप्यमानाय। 'इगुपध' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कप्रत्यये रूपम्। पुनः कीदृशाय ? ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्यापत्यं ब्राह्मिर्हिरण्यगर्भपुत्रस्तस्यै ब्रह्मावयवभूताय वा नमः, कारणभूतास्वप्सु हिरण्यगर्भतेजोनिक्षेपेण ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डाच्चादित्यस्याविर्भावश्रवणात्।

'रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्। यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात् तस्य देवा असन् वशे ॥' (वा० सं० ३१।२१)। 'रुचं प्रीतिकरं ब्रह्मणोऽपत्यमिव ब्रह्मणः सकाशाज्जातं ज्ञानं जनयन्तो देवा उत्पादयन्तो विद्वांसोऽन्येषामग्रे तज्ज्ञानं तज्ज्ञानसाधनं वाऽब्रुवन् उपदिशन्तु च। यस्त्वमुना प्रकारेण तद्ब्रह्म ब्राह्मणो विद्यात् पश्चात्तस्यैव ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य देवा इन्द्रियाणि वशे आसन् भवन्ति नान्यस्य' (पृ० १४७) इति दयानन्दीयं व्याख्यानम्। तत्रापीदमुच्यते—ब्रह्मणोऽपत्यमिवेत्यादिना गौणार्थतैवास्य व्याख्यानस्य सिद्ध्यति न मुख्यार्थता। रुचिकरब्रह्मज्ञानस्योत्पादनमप्युपदेशेनैव सम्भवति, नह्युपदेशादन्यो ज्ञानोत्पादनप्रकारः श्रूयते स्मर्यते वा युष्माभिः। तेन जनयन्तोऽब्रुवन्नित्यन्यतरस्य वैयर्थ्यमेव स्यात्। कर्मिणां योगिनां चापीन्द्रियाणि वशे भवन्त्येव, सर्वेषामेव कृते दमस्य विधानात्। तस्मादनेवंविदो देवा इन्द्रियाणि वशे न भवन्तीत्यपि रिक्तं वचः।

यहाँ कहा गया है कि यह प्रजापति आदित्य के रूप में प्रकाशित होता है। पुराण प्रभृति में यह प्रसिद्ध है कि रात्रि वेला में असुरों का प्राधान्य रहता है और दिन में सूर्योदय के बाद देवताओं का प्राधान्य हो जाता है। यह आदित्य सब कार्यों में अग्नि, इन्द्र प्रभृति पुरोगामी देवताओं के आगे आगे वर्तमान रहता है। आदित्य इन्द्र के रूप में देवताओं का पुरोहित और ब्रह्म के रूप में प्रथम उत्पन्न माना जाता है। अथवा आदित्य प्रथम इस लिये माना जाता है कि १२ आदित्यों में विष्णु का प्राधान्य है। यह विष्णु देवताओं के सभी कार्यों में आगे आगे रहता है, यह बात पुराणादि ग्रन्थों में प्रसिद्ध ही है। देवताओं के कार्य को पूरा करने के लिये ही राम, कृष्ण, वामन आदि के रूप में विष्णु अवतार लेते हैं। जो आदित्य के रूप में सभी देवताओं से पहले उत्पन्न हुआ, उस आदित्य को, परमात्मा परम पुरुष को मेरा नमस्कार, विनम्रता निवेदन, आत्मसमर्पण प्राप्त हो। वह परम पुरुष कैसा है ? वह देदीप्यमान है। 'रुच' शब्द 'इगुपध०' इत्यादि पाणिनि सूत्र से क प्रत्यय होने पर बनता है। पुनः वह पुरुष कैसा है ? वह 'ब्राह्मि' है, अर्थात् ब्रह्म हुआ हिरण्यगर्भ, उस हिरण्यगर्भ का यह पुत्र 'ब्राह्मि' कहलाता है। उस हिरण्यगर्भ के पुत्र अथवा ब्रह्म के अवयवभूत उस आदित्य को मेरा नमस्कार पहुचे। कारणभूत जल में हिरण्यगर्भ के तेज के आधान से ब्रह्माण्ड की और ब्रह्माण्ड से आदित्य की उत्पत्ति शास्त्रों में बताई गई है। उसी की ओर इस मन्त्र में इङ्गित है।

'(रुचं ब्राह्मं०) जो ब्रह्म का ज्ञान है, वही अत्यन्त आनन्द करने वाला और उस मनुष्य की उसमें रुचि बढ़ाने वाला है। जिस ज्ञान को विद्वान् लोग अन्य मनुष्यों के आगे उपदेश करके उनको आनन्दित कर देते हैं। (यस्त्वैवं ब्राह्मणो०) जो मनुष्य इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है, उसी विद्वान् के सब मन आदि इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं, अन्य की नहीं' (पृ० १४७) यह है दयानन्द की व्याख्या। इस पर हमारा यह कहना है—'ब्राह्म' पद का 'ब्रह्म के पुत्र के समान' यह अर्थ गौणी वृत्ति से ही प्राप्त होगा, मुख्य अभिधा वृत्ति से नहीं। रुचिकर ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति उपदेश से ही हो सकती है, उपदेश के सिवाय ज्ञान की उत्पत्ति का दूसरा कोई उपाय न तो कहीं श्रुति में सुना गया है, न स्मृति में स्मरण किया गया है और न कोई आप ही इस तरह का कोई स्वतन्त्र उपाय मानते हैं। इस तरह से ज्ञान की उत्पत्ति और उपदेश में से एक की व्यर्थता माननी पड़ेगी। कर्मयोगी तथा योगाभ्यासी की भी इन्द्रियां वश में रहती है, क्योंकि दम का विधान शास्त्रों में सभी के लिये किया जाता है। इसलिये जो ब्रह्मवेत्ता नहीं है, उसके देव अर्थात् इन्द्रियाँ वश में नहीं रहतीं, यह कहना गलत है।

मन्त्रार्थस्तु—देवा दीप्यमानाः प्राणा रूपं शोभनं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमादित्यं जनयन्तः उत्पादयन्तः, अग्रे प्रथमं तद्वचोऽब्रुवन् । 'ब्राह्मोऽजातौ' (पा० सू० ६।४।१७१) इति निपातनात् । हे आदित्य, यो ब्राह्मणस्त्वामेवमुक्तविधिनोत्पन्नं विद्याज्जानीयात्तस्य देवाः सर्वे इन्द्रादय इन्द्रियाणि च असन् वशे वश्या भवन्ति । आदित्योपासको देवानामपि वश्यतामापादयतीत्यर्थः ।

'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम् । इष्णन्निषाणामुम्म इषाण सर्वलोकं म इषाण ।।' (वा० सं० ३१।२२) 'हे परमेश्वर, ते तव श्रीः सर्वा शोभा लक्ष्मीः शुभलक्षणवती धनादिश्च द्वे प्रिये पत्न्यौ पत्नीवत्सेवमाने स्तः । तथाहोरात्रे द्वे तव पार्श्वे पार्श्ववत् स्तः । ये च कालचक्रस्य कारणभूतस्यापि कक्षात्रयवद् वर्तेते सूर्याचन्द्रमसौ नेत्रे वा तवैव नक्षत्राणि तवैव सामर्थ्यस्यादिकारणस्यावयवाः सन्ति, तत्त्वयि रूपवदस्ति, अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ तवैव व्यात्तं विकसितं मुखमिव वर्तेते । तथैव यत्किञ्चित् सौन्दर्यगुणयुक्तं वस्तु जगति वर्तते, तदपि तव रूपं तवैव सामर्थ्याज्जातमिति जानीमः । हे विराडधिकरणेश्वर, मे ममामुं परलोकं मोक्षाख्यं पदं कृपाकटाक्षेण इष्णन् इच्छन् सन् स्वेच्छया निष्पादय । तथा सर्वलोकं सर्वलोकसुखं सर्वलोकराज्यं वा मदर्थं कृपया त्वमिषाण सिद्धं कुरु । एवमेव सर्वाः शोभा लक्ष्मीश्च शुभलक्षणवतीः सर्वाः क्रियाः मे मदर्थमिषाण । हे भगवन् पूर्णपरमेश्वर सर्वशक्तिमन्, कृपया सर्वान् शुभान् गुणान् मह्यं देहि, दुष्टानशुभान् दोषांश्च विनाशय, सद्यः स्वानुग्रहेण सर्वोत्तमगुणभागिनं मां भवान् करोत्विति ।

अत्र प्रमाणानि—'श्रीर्हि पशवः' (श० १।८।१।३६), 'श्रीर्वै सोमः' (श० ४।१।३।९), 'श्रीर्वै राष्ट्रम्' (श० १३।२।९।२), 'श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः' (श० १३।२।९।३), 'लक्ष्मीर्लाभाद्वा लक्षणाद्वा लाञ्छनाद्वा लषतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणो लज्जतेर्वा स्यात् श्लाघाकर्मणः शिप्रे इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः' (नि० ४।१०) । अत्र श्रीलक्ष्म्योः पूर्वोक्तयोरर्थसङ्गतिरस्तीति बोध्यम्' (पृ० १४८) इति दयानन्दीयं व्याख्यानम् ।

वस्तुतः मन्त्र का अर्थ यह होगा—देव अर्थात् देदीप्यमान प्राण ने उस सुन्दर स्वरूप वाले ब्रह्म के पुत्र आदित्य को पैदा करते हुए यह बात पहले पहल कही । 'ब्राह्मोऽजातौ' इस पाणिनि सूत्र से ब्राह्म पद निपात द्वारा सिद्ध है । हे आदित्य, जो ब्राह्मण तुम्हारी इस प्रकार से हुई उत्पत्ति के रहस्य को जान लेता है, इन्द्र प्रभृति सभी देवगण एवं इन्द्रियाँ उसके वश में हो जाती हैं । इसका अभिप्राय यह हुआ कि आदित्य का उपासक देवताओं को भी अपने वश में कर लेता है ।

'(श्रीश्च ते०) हे परमेश्वर, जो आपकी अनन्त शोभा रूप श्री और अनन्त शुभलक्षण युक्त लक्ष्मी है, वे दोनों स्त्री के समान हैं । अर्थात् जैसे स्त्री पति की सेवा करती है, इसी प्रकार आपकी सेवा आप को ही प्राप्त होती है, क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा और शुभ लक्षणों से युक्त रक्खा है । परन्तु ये सब शोभा और सत्यभाषण आदि धर्म के लक्षणों से लाभ आपकी सेवा के लिये ही हैं । सब पदार्थ ईश्वर के आधीन होने से उसके विषय में यह पत्नी शब्द रूपकालंकार से वर्णित है । वैसे ही दिन और रात्रि ये दोनों आप की बगल के समान हैं तथा सूर्य और चन्द्रमा भी दोनों आपके बगल के समान अथवा नेत्रस्थानीय हैं । जितने नक्षत्र हैं, वे सब आपके रूपस्थानीय हैं । द्यौः अर्थात् सूर्य आदि का प्रकाश और विद्युत अर्थात् बिजुली ये दोनों मुखस्थानीय हैं । ओठ के तुल्य और जैसा खुला मुख होता है, उसी प्रकार पृथिवी और सूर्य लोक के बीच में जो लोक है, सो मुख के सदृश है । (इष्णन्०) हे परमेश्वर, आप की दया से (अमुम्) परलोक जो मोक्ष सुख है, उसको हमलोग प्राप्त होते हैं । इस प्रकार की कृपा दृष्टि से हमारे लिये इच्छा करो । तथा मैं सब संसार से सब गुणों से युक्त होकर सब लोकों के सुखों का अधिकारी जैसे होऊँ, वैसी कृपा और इस जगत् में मुझको सर्वोत्तम शोभा और लक्ष्मी से युक्त सदा कीजिये । यह आपसे हमारी प्रार्थना है, सो आप कृपा कर पूरी कीजिये ।

श्री और लक्ष्मी शब्दों के ऊपर किये गये अर्थों के विषय में यहाँ शतपथब्राह्मण और निरुक्त के वचनों के प्रमाण दिये गये हैं । इनसे इन दोनों शब्दों के उक्त अर्थ संगत सिद्ध होते हैं' (पृ० १४८-१४९) ।

तत्रोच्यते—अत्रेववदादिप्रयोगाभावात् प्रसिद्धपरित्यागाप्रसिद्धकल्पनयोरसामञ्जस्याच्च श्रीलक्ष्मीपत्नीपदानां गौणार्थताश्रयणं न युक्तम् । सौन्दर्यादिगुणयुक्तं वस्तु तदपि रूपं तवैव सामर्थ्याज्जातमित्यप्युदक्षरमेव ।

वस्तुतस्तु मन्त्रस्यायमर्थः—हे आदित्य आदित्यान्तःपुरुष परमेश्वर विष्णो, 'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः । केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥' इति वर्णित । श्रीः लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ भार्ये तद्वश्ये यया जनः सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्रीः, श्रीयतेऽनया श्रीः सम्पदित्यर्थः । यया लक्ष्यते दृश्यते जनैः सा लक्ष्मीः सौन्दर्यमित्यर्थः । अत्र तत्तदधिष्ठात्र्यौ देव्यौ विष्णोः पत्न्यौ प्रसिद्धे स्तः । यद्वा सर्वनैरपेक्ष्येण श्रयते हरिं या सा श्रीः क्षीरसमुद्रमन्थादाविर्भूता भगवती श्रीः, सर्वानभिलाषिणोऽपि देवान् दैत्यानृषींश्चोपेक्ष्य निरपेक्षमपि हरिमेव वव्रे, तेन साश्रयणाच्छ्रीरुच्यते, तदाश्रयणादेव श्रीयते सर्वैर्गुणैः सौन्दर्यमाधुर्यादिभिर्या सा श्रीः । यद्वा श्रीयते श्रीहरिणापि या सा श्रीः । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनात् । लक्ष्यते दृश्यते सर्वैर्या सा लक्ष्मीः शोभा, अथवा लष्यतेऽभिलष्यते सर्वैर्या सा लक्ष्मीः । यद्वा लष्यते हरिणापि या सा लक्ष्मीः । श्रीर्लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ भार्ये निराकारस्य भगवतो द्वे भार्ये भार्यावद्वश्ये । अहोरात्रे तवादित्यरूपस्य पार्श्वे पार्श्वस्थानीये । नक्षत्राणि गगनस्थास्तारास्तव रूपम्, तवैव तेजसा भासमानत्वात् । 'तेजसो गोलकः सूर्यो नक्षत्राण्यम्बुगोलकाः' इति ज्यौतिषशास्त्राच्च । अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ तव व्यात्तं (विकसितं) मुखं विकसितमुखस्थानीयम् । अश्नुवाते व्याप्नुतस्तावश्विनौ, 'इमे हीदं सर्वमश्नुवाताम्' इति श्रुतेः । एवं कर्मफलमिष्णन् इच्छन् सन् महामहिमवैभवं भगवन्तं त्वामहं याचे, इषाण इच्छ, किमेषणीयं तत्राह—अमुं परलोके मे मम समीचीनो-

यह हुई दयानन्द की इस मन्त्र की व्याख्या । इस पर हमारा यह कहना है—इस मन्त्र में 'इव' 'वत्' जैसे शब्द प्रयुक्त नहीं हैं, अतः उनके अभाव में भी प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग और अप्रसिद्ध अर्थ की कल्पना करने में कोई तुक नहीं है और न लक्ष्मी, पत्नी प्रभृति शब्दों को गौणार्थक ही माना जा सकता है । जो कुछ सौन्दर्य प्रभृति गुणों से युक्त वस्तुएँ हैं, वह सब तुम्हारे ही सामर्थ्य से उत्पन्न हुई हैं, इस तरह का अर्थ भी मन्त्रों के अक्षरों से प्राप्त नहीं होता ।

वास्तव में मन्त्र का अर्थ यह होगा—हे आदित्य, आदित्यमण्डल के भीतर निवास करने वाले पुरुष, विष्णु भगवान्, आपका स्वरूप इस तरह से वर्णित है—'सूर्य मण्डल के मध्य निवास करने वाले नारायण का ध्यान इस रूप में करना चाहिये कि ये कमल के आसन पर विराजमान हैं, केयूर, मकरसदृश कुण्डल, किरीट और हार पहने हुए हैं, सुवर्ण के समान देदीप्यमान शरीरवाले हैं और शंख-चक्र धारण किये हुए हैं' । श्री और लक्ष्मी नाम की आपकी दो पत्नियाँ हैं, जो कि सदा आपकी आज्ञा के पालन में लगी रहती हैं । जिसके रहने से मनुष्य सबका सहारा हो जाता है, उसको श्री कहते हैं । इसका अर्थ है सम्पत्ति । जिसके रहने से मनुष्य लोगों के लिये दर्शनीय हो जाता है, उसको लक्ष्मी कहते हैं । लक्ष्मी का अर्थ है सौन्दर्य । सम्पत्ति और सौन्दर्य की ये दोनों अधिष्ठात्री देवियाँ विष्णु की पत्नी के रूप में प्रसिद्ध हैं । अथवा सब की उपेक्षा करके जो केवल विष्णु को अंगीकार करती है, वह क्षीरसमुद्र के मथने से उत्पन्न हुई देवी श्री कहलाती है । सभी चाहने वाले देवों, दैत्यों और ऋषियों की उपेक्षा करके जिसने केवल हरि का ही वरण किया, हरि का इस तरह से आश्रयण करने से ही यह श्री कही जाती है । उस भगवान् विष्णु का सहारा लेने से ही यह भी सौन्दर्य, माधुर्य प्रभृति सभी गुणों का आश्रय बनती है । अथवा जिसका विष्णु भी सहारा लेते हैं, उसको श्री कहते हैं । गीता में बताया गया है कि 'जो मुझे जिस रूप में प्राप्त करना चाहते हैं, उनको मैं उसी रूप में प्राप्त होता हूँ' । जो सबके द्वारा देखी जाती है, उस शोभा को लक्ष्मी कहते हैं, अथवा जिसको सब लोग चाहते हैं, उसको लक्ष्मी कहा जाता है । इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि जिसको विष्णु भी देखना चाहते हैं, उसको लक्ष्मी कहते हैं । श्री और लक्ष्मी ये दो आपकी पत्नियाँ हैं । भगवान् यद्यपि निराकार है, तथापि ये दोनों भार्या के समान उसके वश में रहने वाले स्वभाव हैं । दिन और रात आदित्य स्वरूप भगवान् के दोनों पार्श्व (बगल) के समान हैं । आकाश में दिखाई पड़ने वाले तारागण आपके ही स्वरूप हैं, क्योंकि ये आपके प्रकाश से ही प्रकाशित हैं । ज्योतिष शास्त्र में यह बताया गया है कि 'सूर्य तेज का गोलक और नक्षत्र आकाश के गोलक हैं' । अश्विनी अर्थात् द्यावापृथिवी आपके विकसित मुख का स्थान ग्रहण करते हैं । 'अश्विनौ' पद की व्युत्पत्ति यह है कि यह सबको व्याप्त कर लेते हैं । स्वयं श्रुति इस व्युत्पत्ति का प्रतिपादन करती

ऽस्त्विच्छ । ननु त्वयैवेष्यतां किं मदीयेच्छयेति चेन्न, तव परमेश्वरस्यामोघेच्छत्वात् । मम तु जीवत्वान्मोघेच्छत्वमपि सम्भवति, अतो याचे, अस्य परलोकः समीचीनोऽस्त्विति त्वमेवेच्छ । सर्वं मे मम इषाण सर्वलोकात्मकोऽहं भवेयमितोच्छ । मुक्तो भवेयमित्यभिप्रायः, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति श्रुतेः । 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' (भ० गी० ९।३१) इत्यत्र भगवानर्जुनं भक्तं प्रेरयति । हे कौन्तेय, त्वमेतत्प्रतिजानीहि मम वासुदेवस्य भक्तो न प्रणश्यतीत्येतां प्रतिज्ञां कुरु । ननु त्वयैव सर्वशक्तिमता प्रतिज्ञायतामिति चेन्न, तव भक्तस्यामोघप्रतिज्ञत्वात् त्वं प्रतिज्ञां कुरु । मम तु प्रतिज्ञा भीष्मस्य भक्तस्य समक्षे भज्यते, तेन त्वमेव प्रतिजानीहि येन न कदाचिदाप्यनाश्वासाशङ्का स्यात् । यथा भक्तप्रतिज्ञाऽमोघा भवति, तथैव भगवत इच्छा सर्वथाऽमोघा भवति ।

'श्रीर्हि पशवः' (श० १।८।१।३६), 'श्रीर्वै सोमः' (श० ४।१।३।९), 'श्रीर्वै राष्ट्रम्' (वा० १३।२।९।२), 'श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः' (श० १३।२।९।३) इत्यादिवचनैः पश्वादीनां श्रीत्वम्, श्रीहेतुत्वादौपचारिकमेव श्रीत्वम् । लाभाल्लाभहेतुत्वात् लक्षणत्वात् सौलक्षण्यहेतुत्वाल्लक्ष्म्यां लक्ष्मीशब्दप्रयोगः । उपासिताया लक्ष्म्या अनुग्रहादेव लाभादिसम्भवात्, तस्या लक्ष्म्या एव विभूतिरूपस्य सुवर्णरत्नादिवैभवस्य लप्स्यमानत्वात्तत्र लक्ष्मीशब्दः । विष्णोर्वामवक्षसि वामावर्तसुवर्णवर्णरोमराजिरूपलाञ्छनरूपत्वादपि लक्ष्म्या लक्ष्मीत्वम् । 'हारहास उरसि स्थिरविद्युत्' इति श्रीमद्भागवतवचनात् । सुरासुरादिभिः सर्वैर्लष्यत्वादभिलषणीयत्वादपि लक्ष्मीत्वम् । लषति भगवन्तं कामयत इति वा लक्ष्मीः । 'ब्रह्मादयो वहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः । सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादपङ्कजमलं भजतेऽनुरक्ता ॥' इति श्रीमद्भागवतवचनात् । लक्ष्मीर्लाभाद्वा, लक्ष्मीवन्त एव लभन्ते नेतरे । आलक्ष-

है । कर्मफल की इच्छा रखता हुआ महामहिमाशाली आपसे मैं याचना करती हूँ कि आप ही हमारे लिये इच्छा कीजिये । क्या इच्छा की जाय ? यह कि वह परलोक मेरा सुधर जाय । अरे भाई, यह तो तुम्हारे चाहने से ही हो जायगा, इसमें मेरी क्या आवश्यकता है ? आपकी इसलिये आवश्यकता है कि आपकी इच्छा कभी व्यर्थ नहीं होती । मैं तो जीव हूँ, मेरी इच्छा तो कभी व्यर्थ भी हो सकती है । इसलिये मैं याचना करता हूँ कि वह परलोक मेरा सुधर जाय, इसलिये आप कामना कीजिये । मुझे सब कुछ प्राप्त हो जाय, ऐसी आप इच्छा कीजिये, जिससे कि मैं इस संसार से मुक्त हो सकूँ । श्रुति में बताया गया है कि 'यह सब कुछ ब्रह्म है' । 'कौन्तेय०' इत्यादि गीता वचन में भगवान् ने अपने भक्त अर्जुन को प्रेरित किया है कि 'हे कौन्तेय, तुम इस बात को प्रतिज्ञापूर्वक जान लो कि मुझ वासुदेव का भक्त कभी नष्ट नहीं होता' । प्रश्न होता है कि प्रस्तुत मन्त्र में भक्त भगवान् से इच्छा करने की प्रार्थना करता है, इसके विपरीत गीता के इस वचन में भगवान् ही भक्त से प्रतिज्ञा करने के लिये क्यों कह रहे हैं ? इसका उत्तर यह है कि भक्त की प्रतिज्ञा अमोघ होती है, अतः भगवान् भक्त से ही प्रतिज्ञा करने के लिये कहते हैं । भगवान् की प्रतिज्ञा तो अपने भक्त भीष्म के आगे टूट जाती है । इसलिये भगवान् कहते हैं कि भक्त ही प्रतिज्ञा करे, जिससे कि उसके टूटने की कोई आशंका न रह जाय । जिस तरह से भक्त की प्रतिज्ञा अमोघ होती है, उसी तरह से भगवान् की इच्छा भी कभी व्यर्थ नहीं होती ।

'श्रीर्हि पशवः' इत्यादि श्रुतिवचनों में पशु प्रभृति में श्रीत्व का आरोप औपचारिक (लाक्षणिक है), क्योंकि पशु प्रभृति श्री के कारण हैं । लाभ का कारण होने से अथवा अच्छे लक्षणों का कारण होने से लक्ष्मी के लिये यह शब्द प्रयुक्त हुआ है । लक्ष्मी की उपासना करने पर उसकी प्रसन्नता प्राप्त होने से ही मनुष्य को व्यापार आदि में लाभ होता है, अर्थात् उस लक्ष्मी के विभूतिस्वरूप सुवर्ण, रत्न आदि वैभव की प्राप्ति होती है । इस कारण से भी इसको लक्ष्मी कहा जाता है । विष्णु के वाम वक्ष में वामावर्त सुवर्ण के वर्ण वाली रोमराजि रूप लाञ्छन के रूप में अवस्थित रहने से भी इसको लक्ष्मी कहते हैं । भागवत में इसका इसी रूप में वर्णन है । सुर और असुर सभी इसको चाहते हैं, इस लिये भी यह लक्ष्मी कहलाती है । अथवा इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि यह भगवान् को चाहती है । इसमें भी भागवत का यह वचन प्रमाण है—'ब्रह्म प्रभृति देवगण जिसके कृपाकटाक्ष की कामना करके लम्बे समय तक तपस्या करने के बाद उसको प्राप्त करते हैं, उन्हीं भगवान् के चरणकमलों में यह लक्ष्मी अपने निवास स्थान कमलवन को छोड़कर सदा अनुरक्त रहती है' । लभ् धातु से लक्ष्मी शब्द बनता है, क्योंकि लक्ष्मीवान् ही सब तरह से लाभान्वित होते हैं । अथवा जो व्यक्ति सब

णाद्वा, आलक्षित एव हि लक्ष्मीवान् । लाञ्छनाद्वा, तया लाञ्छित इव भवति । प्रेप्साकर्मणो लषतेर्वा, सर्व एव हि तामभिलषति । लग्यतेर्वाश्लेषकर्मणः, आश्लिष्येव हि भवति सा पूरुषम् । लज्जतेर्वा स्यात् श्लाघाकर्मणः, ये हि लक्ष्मीवन्तो भवन्ति ते स्वयमात्मानं श्लाघन्ते । अत्र सर्वानुगता लक्ष्मीर्विविधैश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्तिरेव लक्ष्मीर्भवति । अत एव क्वचिद्धनधान्यादियोगाल्लक्ष्मीवत्त्वमुच्यते । वाचि विराजमाना लक्ष्मीरन्यादृश्येव । फलदानोन्मुखे शुभकर्मोपासनादौ सौभाग्यापरपर्यायेऽपि लक्ष्मीवत्त्वप्रतिपत्तिर्भवति । सौभाग्य-सौशील्य-सौकुमार्य-सौन्दर्य-सौस्वर्य-सौरस्य-सौगन्ध्यादिभिर्लाञ्छनैरपि लक्ष्मीवत्त्वं प्राप्यते । सैव महाशक्तिरिच्छाज्ञानक्रियाशक्तित्रयरूपा भवति । सैव वाङ्मयबीज-प्रणवरूपेण प्रकृतिरूपेण च व्यज्यते । सैव सोमामृतावयवदिव्यालङ्कारस्रङ्मौक्तिकाद्याभरणालङ्कृता व्यज्यते । प्रणवरूपा शब्दब्रह्ममयी स्वाध्यायकाले प्रसीदति । द्वितीया भूतले हलाग्रे समुत्पन्ना । सैव सर्ववेदमयी सर्वदेवमयी सर्वलोकमयी सर्वकीर्तिमयी सर्वधर्ममयी सर्वाधारकार्यकारणमयी भवति । प्रकारान्तरेण सैव श्री-भू-नीलात्मिका भद्ररूपिणी प्रभावरूपिणी सोमात्मिका कल्पवृक्ष-कामधेनु-मणि-शङ्ख-पद्मनिधिश्च भवति । पुष्प-मूल-फल-लता-गुल्मात्मिका औषधभेषजात्मिका अमृतरूपा देवानां महत्स्तोमप्रदा अमृतेन तृप्तिं जनयन्ती मनुष्याणामन्नेन पशूनां तृणेन तृप्तिमापूरयन्ती सैवाभयवरपद्मधरा किरीटाभरणयुक्ता सर्वदेवैः परिवृता कल्पतरुमूले चतुर्भिर्गजैः रत्नघटैरमृतजलैरभिषिच्यमाना ब्रह्मादिभिः सर्वदैवतैर्वन्द्यमाना अणिमाद्यैश्वर्ययुक्ता सम्मुखे कामधेन्वा स्तूयमाना वेदशास्त्रादिभिः स्तूयमाना जयाद्यप्सरःस्त्रीभिः परिचर्यमाणा आदित्यसोमाभ्यां दीपाभ्यां प्रकाश्यमाना तुम्बुरुनारदादिभिर्गीयमाना राकासिनीवालीभिच्छत्रेण ह्लादिनीमायाभ्यां चामरेण स्वाहास्वधाभ्यां व्यजनेन भृगुपुण्यादिभिरर्च्यमाना मणिरत्न-

तरह के गुणों से सम्पन्न होता है, उसको लक्ष्मीवान् कहते हैं । लाञ्छन के आधार पर भी लक्ष्मी शब्द बन सकता है, क्योंकि लक्ष्मी से लाञ्छित व्यक्ति सब जगह आदर पाता है । उत्कृष्ट प्राप्ति के अर्थ वाले लष् धातु से भी यह बन सकता है, क्योंकि सभी व्यक्ति उसकी प्राप्ति के लिये उत्कृष्ट अभिलाषा रखते हैं । अथवा श्लेषार्थक लग् धातु से लक्ष्मी शब्द बन सकता है, क्योंकि वह पुरुष से अश्लिष्ट सी रहती है । अथवा श्लाघार्थक लज्जति धातु से लक्ष्मी शब्द बन सकता है, क्योंकि लक्ष्मीवान् मनुष्य स्वयं अपने मुँह से डींक हांकते रहते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में इन सब लक्षणों में निवास करनेवाली, विविध ऐश्वर्यों की स्वामिनी, महाशक्ति ही लक्ष्मी कही गई है । इसीलिये कहीं-कहीं धन-धान्य आदि की बहुलता में भी लक्ष्मीवान् शब्द का प्रयोग देखा जाता है। वाणी में रहने वाली लक्ष्मी इससे भिन्न ही प्रकार की होती है । फल दान के लिये उन्मुख शुभ कर्म, उपासना प्रभृति में भी, जिसको कि सौभाग्य के नाम से जाना जाता है, इस शब्द का प्रयोग होता है । सौभाग्य, सौशील्य, सौकुमार्य, सौन्दर्य, सौस्वर्य, सौरस्य, सौगन्ध्य प्रभृति गुणों से भी व्यक्ति लक्ष्मीवान् कहलाता है। यही महाशक्ति इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति के रूप में शास्त्रों में वर्णित है । यही सारे वाङ्मय के कारणभूत प्रणव(ॐकार) के रूप में और सारे जगत् की प्रकृति के रूप में अभिव्यक्त होती है । यही लक्ष्मी सोम और अमृत के अंशभूत दिव्य अलङ्कार, माला, मुक्तामणि के आभरणों से अलंकृत होकर रहती है । शब्दब्रह्मस्वरूपिणी प्रणवरूपा लक्ष्मी स्वाध्यायशील व्यक्तियों पर प्रसन्न होती है। दूसरी इस पृथ्वीतल'पर हल के अग्रभाग से उत्पन्न होती है । यही सर्ववेदमयी, सर्वदेवमयी, सर्वलोकमयी, सर्वकीर्तिमयी, सर्वधर्ममयी और सबकी आधारभूत अर्थात् कार्यकारण स्वरूपिणी कहलाती है । प्रकारान्तर से यही लक्ष्मी श्री, भू, नीला देवियों के रूप में सबका कल्याण करने वाली; अपने प्रभाव से सोम, कल्पवृक्ष, कामधेनु, मणि, शंख और पद्मनिधि बन जाती है । पुष्प, मूल, फल, लता, गुल्म, औषध, भेषज सब उसी के रूप हैं, वहीं अमृतमयी है. देवताओं को महत्ता प्रदान करने वाली है, अमृत से उनको तृप्त करती रहती है । वह लक्ष्मी मनुष्यों को अन्न से, पशुओं को तृण से तृप्त करती रहती है । यह लक्ष्मी अपने हाथों में अभय और वरमुद्रा तथा पद्मों को धारण करती है । किरीट धारण किये है । सभी देव इसको घेरे रहते हैं । कल्पतरु के पास चार हाथी रत्नजटित कलशों से, जिनमें कि अमृत भरा है, इनका अभिषेक करते हैं । ब्रह्मा प्रभृति सब देवगण इसकी स्तुति करते हैं । यह अणिमा प्रभृति आठ ऐश्वर्यों से संयुक्त है । इसके सामने कामधेनु और वेद खड़े हैं और इसकी स्तुति कर रहे हैं । जया प्रभृति अप्सराएं इसकी सेवा में लगी हैं । आदित्य (सूर्य) और चन्द्रमा इन दो दीपकों से यह प्रकाशित है । तुम्बुरु, नारद प्रभृति इसके सामने गान कर रहे हैं । राका और सिनीवाली छत्र से, ह्लादिनी और माया चामर से, स्वाहा और स्वधा व्यजन (पंखा) से इसकी सेवा में निरत है, भृगु प्रभृति ऋषि इसकी पूजा कर रहे हैं, ऐसी मणि, रत्न, कामधेनु,

धनकामधेनुकल्पवृक्षफलमूलसस्यादिधनलक्ष्मी-वीरलक्ष्मी-साम्राज्यलक्ष्मी-स्वाराज्यलक्ष्मी - मोक्षलक्ष्मी - सौभाग्यलक्ष्मी - त्यादिरूपेण सीतोपनिषदि गीयते । निरुक्तोक्तानि सर्वाण्यपि निर्वचननिमित्तान्यत्रैवान्तर्भवन्ति ।

'यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् । कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद् बभूव ॥' (अथर्ववेदसंहिता १०।७।८), 'देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः ॥' (अथर्ववेदसंहिता ११।९।२५) । यत्परमं सर्वोत्कृष्टं प्रकृत्यादिकं जगत्, यच्च अवमं निकृष्टं तृण-मृत्तिका-क्षुद्रकृमिकीटादिकमस्ति, यन्मनुष्यादिदेहाद्याकाशपर्यन्तं तत् त्रिविधं सर्वं जगत् प्रजापतिरेव ससृजे स्वसामर्थ्यरूपकारणाद् उत्पादितवानस्ति । योऽस्य जगतो विविधं रूपं सृष्टवानस्ति । एतस्मिंस्त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः स परमेश्वरः कियता सम्बन्धेन प्रविवेश । न चैतत् परमेश्वरे (यन्न) यत्त्रिविधं जगन्न प्राविशत्, तत्कियद् बभूव । तदिदं जगत् परमेश्वरापेक्षयाऽल्पमेवास्ति । देवा विद्वांसः सूर्यादयो लोकाश्च, पितरो ज्ञानिनः, मनुष्या मननशीलाः, गन्धर्वा गानविद्याविदः, सूर्यादयो वा अप्सरस एतेषां स्त्रियश्च ये चापि जगति मनुष्यादिजातिगणा वर्तन्ते ते सर्वे उच्छिष्टात् सर्वस्मादूर्ध्वं शिष्टात् परमेश्वरात् सामर्थ्यात् जज्ञिरे जाताः सन्ति । ये दिवि देवा दिवि श्रिता दिवि देवाः सूर्यादयो लोका ये च दिवि श्रिताश्चन्द्रपृथिव्यादयो लोकास्तेऽपि सर्वे तस्मादेवोत्पन्नाः' (पृ० १४९-१५०)इति दयानन्दीयं व्याख्यानम् । इदमपि विश्रृङ्खलमेव, प्रकृतिस्त्वन्मते नित्याऽनादिश्च । सा कथमुत्पद्यते ? प्रकृतिरपि चेत्प्रजायते तदा प्रकृतिजन्यस्य सर्वस्य प्रकृतेश्च ब्रह्मणः कार्यत्वेन ब्रह्मात्मकमेवायाति । 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'(ब्र० सू० २।१।१४) इति बादरायणसूत्रानुसारं सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य ब्रह्मानन्यत्वेन ब्रह्मैकदेशत्वमेव सिद्ध्यति । अधिष्ठानस्य सत्तास्फूर्तिरूपेण कार्ये प्रवेशः । निरावरणाधिष्ठानरूपे त्वप्रवेश एव, निरावरणे तस्मिंस्तदनुपलब्धेः । न चैवं त्वयाऽभ्युपगम्यते । तस्माद्यत्परमुत्कृष्टं देवादिकं यच्चावमं निकृष्टं पश्वादिकं यच्च मध्यमं मनुष्यादिकं जन्यते (जगत्येव त्रैविध्योपलम्भात्) । प्रजापतिर्विश्वरूपं सर्वरूपं जगत्ससृजे । तत्र स्कम्भः सर्वाश्रय-

कल्पवृक्ष, फल, मूल, धान्य, धनलक्ष्मी, वीरलक्ष्मी, साम्राज्यलक्ष्मी, स्वाराज्यलक्ष्मी, मोक्षलक्ष्मी, सौभाग्यलक्ष्मी आदि रूपों में यह लक्ष्मी ही सीतोपनिषद् में वर्णित है । निरुक्त में बताये गये सभी निर्वचन इसमें गतार्थ हो जाते हैं ।

'(यत्परम०) जो उत्तम, मध्यम और नीच स्वभाव से तीन प्रकार का जगत् है, उस सबको परमेश्वर ने ही रचा है । उसने इस जगत् में नाना प्रकार की रचना की है । एक वही इस सब रचना को यथावत् जानता है । इस जगत् में जो कोई विद्वान् होते हैं, वे भी कुछ-कुछ परमेश्वर की रचना के गुणों को जानते हैं । वह परमेश्वर सबको रचता है और आप रचना में कभी नहीं आता ।

(देवाः) विद्वान् अर्थात् पण्डित लोग और सूर्यलोक भी, (पितरः) अर्थात् यथार्थ विद्या को जानने वाले, (मनुष्याः) अर्थात् विचार करने वाले, (गन्धर्वाः) अर्थात् गानविद्या के जानने वाले, सूर्य आदि लोक और (अप्सरसः) अर्थात् इन सबकी स्त्रियाँ, ये सब लोग और दूसरे लोग भी, (उच्छि०) उसी ईश्वर की सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं । (दिवि देवाः) अर्थात् जो प्रकाश करने वाले और प्रकाश स्वरूप सूर्य आदि लोक और (दिवि श्रितः) अर्थात् चन्द्रमा और पृथिवी आदि प्रकाश रहित लोक, वे भी उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं' (पृ० १५०) यह है इस मन्त्र की दयानन्द की व्याख्या ।

यह भी ऊटपटांग ही है । प्रकृति को जब आप नित्य और अनादि मानते हैं, तो उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है । प्रकृति भी जब उत्पन्न होती है, तब प्रकृति से उत्पन्न सारा संसार और स्वयं प्रकृति भी ब्रह्म का ही कार्य होने से यह सब ब्रह्मात्मक ही माना जायगा । 'तदनन्त्व०' इत्यादि बादरायण सूत्र के अनुसार सारा प्रपंच ब्रह्म से अभिन्न है, अतः यह सब उस ब्रह्म का ही एक अंश माना जायगा । अधिष्ठान की सत्ता स्फूर्ति के रूप में इसके कार्य में प्रवेश को ही कहते हैं । अधिष्ठान को यदि निरावरण माना जाता है, तो उसका इस तरह से कार्य रूप में प्रवेश नहीं बन पावेगा, क्योंकि निरावरण ब्रह्म में इस तरह की स्थिति नहीं मानी जाती । इस तरह की स्थिति को आप स्वयं भी नहीं मानते । इसलिये जो उत्कृष्ट देव प्रभृति की, निकृष्ट पशु आदि की और मध्यम मनुष्य प्रभृति की, इस तरह की यह तीन प्रकार की सृष्टि जगत् में ही देखी जाती है, अतः प्रजापति इस सब प्रकार की सृष्टि का कर्ता माना जाता है । इसमें

भूतः परमात्मा कियतांशेन तत्र विवेश कियतांशेन न प्रविवेश ? यत्र स न प्राविशत् तत् कियद् वभूव ? तदुत्तरं तु सामान्यरूपेणाधिष्ठानं कार्ये प्रविशति । अपरोक्षयाथात्म्यज्ञानविषयीभूतेन तु न प्रविवेश, तस्य तद्वाधकत्वात् । यत्राधिष्ठानसामान्यस्य प्रवेशो न भवति तन्न कियच्चिद् भवति, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तायाः कल्पितसत्ताया अनङ्गीकारात् ।

'देवाः पितर' इत्यस्य व्याख्यानमप्यपव्याख्यानमेव । देवा विद्वांसः सूर्यादयो लोकाश्चेत्यस्याप्रामाणिकत्वात् । द्युलोकादय एव प्रसिद्धा न सूर्यादयो लोकाः । अत्र शरीरमादित्यलोके प्रसिद्धमिति प्रशस्तपादभाष्यविरोधोऽवधेयः । आदित्यलोके तद्भिन्नादित्यादिदेवतानां शरीरवतीनां सिद्धेः । पितरो ज्ञानिन इत्यपि निर्मूलम्, प्रसिद्धदेवपित्रादीनामपलापायोगात् । यदि गन्धर्वादयो गानविद्याविदो मनुष्या एव तदा मनुष्या इत्यनेनैव कार्यसिद्धौ किमर्थं देवाः पितरो मनुष्या इत्यादिनिर्देशः । यदि तेषां स्त्रिय एवाप्सरसस्तदा मनुष्यादिग्रहणेनैव ता अपि गृहीता एवेति पृथक् तासां ग्रहणमनर्थकमेव स्यात् । किञ्चैवं ब्राह्मणक्षत्रियादिपत्न्योऽप्यप्सरस इत्याख्यायेरन्, न चैवं व्यवहारोऽस्ति न वा तादृशो व्यवहार इष्टः । 'देवाः' इत्यनेनैव विद्वांसः सूर्यादयश्च गृहीता एव पुनर्दिवि देवा इत्यनेन किमुच्यते ? सूर्यादयोऽपि दिवि श्रिता एव, पुनश्चन्द्रपृथिव्यादय कथं दिवि श्रिता इति न वक्तुं शक्यते । तस्मादस्य मन्त्रस्यायमर्थः—

देवा अष्टौ वसवः, एकादश रुद्रा इत्येवं गणशो वर्तमानाः, पितरः पितृलोकनिवासिनः पूर्वपुरुषाः, मनुष्या मनोः सकाशादुत्पन्ना मनुष्यत्वजातिमन्तः, 'मनोर्जातावञ्यतोषुक् च' इति मनुशब्दाद् यत्प्रत्ययः षुगागमश्च । गन्धर्वा विश्वावसुप्रभृतयः, अप्सरस उर्वशीप्रभृतयः, ये चैते देवाद्या अनुक्रान्ताः सर्वे ते उच्छिष्टाद् ब्रह्मौदनोच्छेषणाद् उच्छिष्यमाणाद् ब्रह्मणः सकाशाद् जज्ञिरे उत्पन्नाः । तथा दिवि द्युलोके वर्तमाना ये चान्ये देवाः, तथा दिवि श्रिता दिवमाश्रित्य वर्तमाना ये देवजनाः, तेऽप्युच्छिष्टाद् जज्ञिरे उत्पन्ना इति सायणसम्मतं व्याख्यानमेव विजयते ।

सबका आश्रयभूत परमात्मा कितने अंश से प्रविष्ट हुआ और कितने अंश से नहीं ? जहां वह नहीं प्रविष्ट हुआ, वह अंश कितना था ? इसके बाद तो अधिष्ठान सामान्य रूप से कार्य में प्रविष्ट होता है, अपरोक्ष यथार्थ ज्ञान का विषय होकर वह प्रविष्ट नहीं होता, क्योंकि यह स्वरूप अधिष्ठानता का बाधक है । जहां अधिष्ठान सामान्य का प्रवेश नहीं होता, वह कुछ भी नहीं माना जाता, क्योंकि अधिष्ठान की सत्ता के अतिरिक्त कल्पित सत्ता की कोई वास्तविक स्थिति नहीं मानी जाती ।

'देवाः पितरः' इसकी व्याख्या भी गलत है, क्योंकि देव पद का अर्थ विद्वान् और सूर्य प्रभृति लोक करना सर्वथा असंगत है । द्युलोक आदि की ही लोक के रूप में प्रसिद्धि है, सूर्यलोक आदि की नहीं । आदित्य लोक में भी सूर्य से भिन्न शरीरधारी देवताओं की स्थिति मानी जाती है, जो कि आपकी अभीष्ट नहीं है । पितृ शब्द का अर्थ ज्ञानी करना भी ठीक नही है, क्योंकि प्रसिद्ध देवता, पितृगण आदि का अपलाप नहीं किया जा सकता । यदि गन्धर्व गानविद्या के जानकार मनुष्य ही हैं, तब मनुष्य पद से ही इनकी सिद्धि हो जाने से देवता, पितृगण, मनुष्य आदि का अलग-अलग निर्देश व्यर्थ हो जायगा । यदि इनकी स्त्रियां ही अप्सराएँ हैं, तव मनुष्य आदि पदों से ही इनका भी ग्रहण हो जायगा, तब अलग से इनका ग्रहण करना व्यर्थ ही है । इस तरह से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की पत्नियां अप्सराएं कहलावेंगी । ऐसा व्यवहार न तो देखा ही गया है और न किसी को अभीष्ट है । 'देवाः' इस पद से ही जब विद्वान् मनुष्यों का और सूर्यलोक प्रभृति का ग्रहण हो गया, तब फिर 'दिवि देवाः' इन शब्दों से किस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है ? सूर्य प्रभृति भी आकाश में अवस्थित है, तब चन्द्रमा, नक्षत्र, पृथ्वी प्रभृति भी आकाश में ही अवस्थित क्यों न माने जांय । अतः इस मन्त्र का दयानन्दीय अर्थ न होकर वस्तुतः यह अर्थ होगा—

आठ वसु देवता, एकादश रुद्र देवता, इसी तरह से गणों में रहने वाले देवता इस मन्त्र में स्थित प्रथम देव शब्द का अर्थ है । ये देवगण, पितृलोक में निवास करने वाले हमारे पूर्व पुरुष पितृगण, मनु से उत्पन्न हुए मानव जाति के प्राणीगण । मनु शब्द से यत्प्रत्यय और षुक् का आगम होने से मनुष्य शब्द बनता है । विश्वावसु प्रभृति गन्धर्वगण, उर्वशी प्रभृति अप्सरोगण, ये सब ब्रह्मरूपी ओदन के उच्छिष्ट के रूप में स्थित ब्रह्मा से उत्पन्न हुए हैं । इसी तरह से स्वर्गलोक में निवास करने वाले अन्य देवगण तथा स्वर्ग को अपने कर्म से अधिष्ठित करने वाले देवगण ये सभी उस उच्छिष्ट ब्रह्मा से ही उत्पन्न हुए है । यह सायणसंमत अर्थ ही सही होने के कारण सर्वमान्य हो सकता है ।

वस्तुतस्तु या या विद्या उक्ता उच्यन्ते वक्ष्यन्ते वा सर्वास्ता अपूर्णा एव, तासां हेतु-फल-स्वरूपनिरूपणात्, सृष्टिवर्णनस्य किं प्रयोजनमित्यनुक्तेः। नहि सृष्टिप्रकरणे क्वापि सृष्टिज्ञानस्य किञ्चित् फलमुक्तम्। न च स्वाध्यायाध्ययनविधिगृहीतस्य वेदराशेर्मात्रामात्रस्याप्यानर्थक्यं वक्तुं युक्तम्। तस्माद्यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति फलवद्वाक्यस्य सन्निधौ पठितानां 'इडो यजति', 'समिधो यजति' इत्येवमादीनां प्रयाजानामफलानां फलवदङ्गत्वेनैव फलवत्त्वम्, 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायात्, तथैव 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० उ० २।१) इति फलवत्या ब्रह्मविद्यायाः सन्निधौ पठितायाः, सृष्टेरफलाया ब्रह्मविद्याङ्गत्वेनैव फलवत्त्वम्, सृष्टेरद्वैतात्मब्रह्मबोधपर्यवसायित्वात्। यथा समुद्रादुत्पन्नानां तरङ्गफेनबुद्बुदादीनां समुद्रादनन्यत्वं तथैव ब्रह्मण उत्पन्नानां ब्रह्मानन्यत्वमित्यद्वैतात्मब्रह्मसाक्षात्कारे एव तस्या उपयोगः।

पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

यदपि 'वेदादिशास्त्रोक्तरीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे भ्रमन्त्येव' (पृ० १५१) इत्युक्तम्, यच्च तत्र प्रमाणरूपेण 'आयं गौः' (वा० सं० ३।६) इति मन्त्र उद्धृतः, तत्तु सर्वं पाश्चात्यप्रभावमूलकमेव।

'आयं गौः पृश्निरक्रमीदासदन् मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥' (वा० सं० ३।६) 'अयं गौः पृथिवीगोलः सूर्यश्चन्द्रोऽन्यो लोको वा पृश्निमन्तरिक्षमक्रमीदाक्रमणं कुर्वन् सन् गच्छति, तथान्येऽपि। तत्र पृथिवी मातरं समुद्रजलमासदत् समुद्रजलं प्राप्ता सती तथा स्वः सूर्यं पितरमग्निमयं च पुरः पूर्वं प्रयन् सन् सूर्यस्य परितो याति। एवमेव सूर्यो वायुं पितरमाकाशं मातरं च तथा चन्द्रोऽग्निं पितरमपो मातरं च मातरं प्रति चेति योजनीयम्' इति दयानन्दीयं व्याख्यानमुच्छृङ्खलमेव।

वास्तव में तो दयानन्द ने अब तक जिन विद्याओं का वर्णन किया है, यहाँ कर रहे हैं और आगे भी करेंगे, वे सब अपूर्ण हैं, क्योंकि उनके कारण का, उनके फल का और स्वरूप का वे ठीक से प्रतिपादन नहीं कर पाये हैं। प्रस्तुत स्थल में भी सृष्टि के वर्णन का क्या प्रयोजन है, यह उन्होंने नहीं बताया। सृष्टि को जान लेने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा, यह भी उन्होंने कहीं नहीं कहा है। विधिपूर्वक वेदाध्ययन करने से उसकी एक भी मात्रा का ज्ञान निरर्थक नहीं माना जाता। इसलिये जिस तरह से दर्शपूर्णमास का फल स्वर्ग की प्राप्ति होने से उसके अङ्ग के रूप में पढ़े गये प्रयाज आदि के प्रतिपादक वाक्य भी उसी से फलवान् मान लिये जाते हैं, उसी तरह से 'ब्रह्मवेत्ता अपने परब्रह्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है' इस फलवती ब्रह्मविद्या की सन्निधि में पठित सृष्टिविद्या का अपना कोई फल न होते हुए भी ब्रह्मविद्या के सन्निधान के कारण ब्रह्मविद्या के फल से ही यह भी फलवती हो जाती है, क्योंकि सृष्टिविद्या का पर्यवसान अन्ततः अद्वैत ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान में ही होता है। जैसे समुद्र से उत्पन्न तरंग (लहर), फेन, बुद्बुद (बुदबुदे) प्रभृति समुद्र से भिन्न नहीं हैं, उसी तरह से ब्रह्म से उत्पन्न यह सारी सृष्टि ब्रह्म से भिन्न नहीं है। इस तरह से अद्वैत ब्रह्मात्मतत्त्व के साक्षात्कार में ही सृष्टिविद्या का उपयोग है।

पृथिवी प्रभृति का भ्रमण

स्वामी दयानन्द ने इस विषय में कहा है कि—'वेदादि शास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और सूर्य आदि सब लोक घूमते हैं' (पृ० १५२)। इसके प्रमाण में उन्होंने 'आयं गौ' इस मन्त्र को उद्धृत किया है। यह सब पाश्चात्य प्रभाव के सिवाय और कुछ नहीं है। इस मन्त्र का अर्थ स्वामी दयानन्द ने इस तरह से किया है—'गौ नाम है पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा आदि लोकों का। वे सब अपनी अपनी परिधि में, अन्तरिक्ष के मध्य में सदा घूमते रहते हैं। परन्तु जो जल है, वह पृथिवी की माता के समान है, क्योंकि पृथिवी जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है। सूर्य उसके पिता के समान है, इससे यह सूर्य के चारों ओर घूमती है। इसी प्रकार सूर्य का पिता वायु और आकाश माना गया है तथा चन्द्रमा का पिता अग्नि और माता जल है। उनके प्रति वे घूमते हैं। इसी प्रकार से सब लोक अपनी अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं' (पृ० १५२)। यह व्याख्या सर्वथा निराधार है।

स्वाच्छन्द्यायैवायं व्याख्याता पारम्पर्यं ब्राह्मणानि सूत्राणि याज्ञिकपद्धतीश्चोपेक्ष्य स्वैरचारितां प्रदर्शयति। गौरितिपदेन कथञ्चित् पृथिवी ग्रहीतुं शक्यते न पृथिवीलोकः। यथा व्रीहिपदेन व्रीहित्वजातिविशिष्टमन्नं ग्रहीतुं शक्यते, न तन्निर्मितास्तण्डुला वा ओदना वा। पृथिवीवाचको गोशब्दस्तु न पुल्लिङ्गः, किन्तु स्त्रीलिङ्गः, अत्र त्वयमिति पुल्लिङ्गनिर्देश एव तद्व्याख्यानमुपहन्ति।

यत्तु 'गौः, ग्मा' इत्याद्येकविंशतिपृथिवीनामसु गौरिति पठितं यास्ककृते निघण्टौ! स्वः पृश्निर्नाक इति षट्सु साधारणनामसु पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तं निरुक्ते' (पृ० १५१) इति, तदपि तुच्छम्, अन्तरिक्षनामसु निरुक्ते पृश्निनामानुपलम्भात्।

टिप्पणीकारदृष्टया निघण्टुपाठस्य व्याख्याने २।१३।१४ स्वरादय आदित्यस्य दिवश्च साधारणनामानीत्युक्तं यास्केन—'पृश्निरादित्यो भवति, प्राश्नुत एव वर्णा इति नैरुक्ताः' (२।१४) 'प्रकर्षेण व्याप्नोत्येनमादित्यं वर्णः प्रोज्वलः' इति नैरुक्ता मन्यन्ते। 'संस्प्रष्टा रसान् अथास्य कर्म रसादानम्' (७।११), संस्पृष्टा भासं ज्योतिषां संस्पृष्टा भासेति वा। अथ द्यौः कस्मात् पृश्निरिति सापि संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च। तथात्वेऽपि दिवशब्देनान्तरिक्षस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्, दिवः पार्थक्येनान्तरिक्षस्य प्रसिद्धत्वात्। अत एव निघण्टौ स्वरादिभ्यः साधारणनामभ्यः प्रागन्तरिक्षनामानि पृथक् पठचन्ते।

'गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति' (नि० २।५) (पृ० १५१)। अत्रापि गौरिति पृथिव्या नामधेयमुक्तम्, न पथिवीलोकस्य पृथिवीति नामधेयम्। विवरेण च दूरं गतेत्युक्तम्, न दूरं गत इत्युक्तम्। दूरं गतेत्यनेनापि न पृथिव्या गमनमुक्तम्, दूरमध्वानं प्रति दूरं गता भवति, नह्यस्या अन्त उपलभ्यत इति तदभिप्राय इति दुर्गाचार्यः। 'सुष्ठु रातुं दातुमृतो गतो भवति' (नि० २।१४) नह्यत्रापि वस्तुभूतं गमनं विवक्षितम्,

अपना मनमाना अर्थ करने के कारण ही यह व्याख्याकार परम्परा, ब्राह्मण ग्रन्थ, सूत्र ग्रन्थ और याज्ञिक पद्धति की सर्वथा उपेक्षा कर स्वतन्त्र अर्थ करने लगता है। गो पद से किसी तरह से पृथ्वी का ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु पृथिवी लोक का नहीं। जैसे कि व्रीहि शब्द से व्रीहित्व जाति से विशिष्ट अन्न का ग्रहण हो सकता है, उससे बनने वाले तण्डुल अथवा भात का नहीं। पृथिवी अर्थ का वाचक गो शब्द पुल्लिग न होकर स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है। इस मन्त्र में 'गो' शब्द का प्रयोग पुल्लिग में हुआ है, क्योंकि उसका विशेषण 'अयं' पद पुल्लिग है। इससे दयानन्द की उक्त व्याख्या गलत सिद्ध हो जाती है।

यास्क कृत निघण्टु में 'गौः, ग्मा' प्रभृति पृथिवी के इक्कीस नामों में 'गौः' शब्द भी पढ़ा गया है और 'स्वः पृश्नि, नाक' प्रभृति छः साधारण नामों में वहाँ 'पृश्नि नाम अन्तरिक्ष का दिया गया है' यह कथन भी निराधार है, क्योंकि अन्तरिक्ष के नामों में पृश्नि शब्द निरुक्त में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

टिप्पणीकार (पृ० १५१) की दृष्टि से निघण्टु के पाठ की व्याख्या करते समय निरुक्तकार ने स्वः प्रभृति शब्दों को आदित्य और द्यौ के समान नाम माने हैं। जैसे कि—'पृश्नि आदित्य को कहते हैं, क्योंकि इस आदित्य का उज्ज्वल वर्ण सहारा लेते हैं, ऐसा निरुक्त संप्रदाय वालों का कहना है। अथवा यह सब प्रकार के रसों का या कर्मफलों का आदाता है, इसलिये भी आदित्य को पृश्नि कहा जाता है। यह आदित्य प्रकाश का वितरक है अथवा प्रकाश से संयुक्त है, इसलिये भी यह पृश्नि नाम से प्रसिद्ध है। द्यौ को पृश्नि इसलिये कहते हैं कि यह भी ज्योति से अथवा पुण्य करने वाले पुरुषों से संसृष्ट रहती है' (२।१३-१४)। इस व्याख्या में भी द्यौ शब्द से अन्तरिक्ष का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि अन्तरिक्ष द्यौ से सर्वथा पृथक् रूप से भी प्रसिद्ध है। इसीलिये निघण्टु में भी 'स्वः' प्रभृति साधारण नामों से पहले ही अन्तरिक्ष के नाम पढ़े गये हैं।

'गो' यह पृथ्वी का नाम है, क्योंकि यह बहुत दूर तक चली जाती है और इस पर सब प्राणी चलते-फिरते हैं' इस निरुक्त निर्वचन में भी पृथिवी को 'गो' बताया गया है, किन्तु पृथ्वीलोक को यहाँ 'गो' नहीं कहा गया है। विवरण में 'दूरं गता' यह स्त्रीलिंग में निर्देश है, लोक अर्थ होने पर 'दूरं गतः' ऐसा विवरण मिलता। 'दूरं गता' इस विवरण में भी पृथिवी का गमन विवक्षित नहीं है। दुर्गाचार्य ने इसका अभिप्राय यह बताया है कि यह पृथिवी सुदूर मार्ग पर बहुत दूर तक चली जाती है, अर्थात् मनुष्य चलते चलते थक

यथा वा स्वतो भासेति वा सुष्ठु परिगतो भासेति वा सर्वतो ह्येष परिगतो दीप्त्या भवति। निरुक्तदृष्ट्या—गौरादित्यो भवति। 'गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षे' (नि० २।१४) इति सूर्यस्य गन्तृत्वं विज्ञायते। तथैव द्यौरपि गौर्भवति यद्यस्मात्कारणात् पृथिव्यधिदूरं गता, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति। सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते। स्वरादित्यो भवति' (पृ० १५२)। यच्चात्रोक्तम्—'गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी। अद्भ्यः पृथिवीति तैत्तिरीयोपनिषदि। यस्माज्जायते सोऽर्थस्तत्र मातापितृवद् भवति। तथा स्वःशब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितृविशेषणत्वाद् आदित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते। यद् दूरं गता दूरं दूरं सूर्याद् गच्छतीति विज्ञेयम्। एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य स्वस्य कक्षायां वाय्वात्मनेश्वरसत्तया च धारिताः सन्तो भ्रमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः' (पृ० १५२) इति दयानन्दीयं व्याख्यानम्। तदप्यविचारितरमणीयम्, गच्छतीति व्युत्पत्त्या पृथिव्या गोनामानुक्तेः, किन्तु दूरं गतेति व्युत्पत्तिरुक्ता। यथा पृथिव्याः सकाशाद्दिवो गमनेऽपि पृथिव्या दूरे वर्तमानत्वादधिदूरं गतेत्युच्यते, तथैवाध्वानं प्रति दूरं दूरं विद्यमानत्वाद् दूरं गतेत्युच्यत इत्युक्तमेव। सूर्यस्य गमनं तु सम्मतमेव, अत एव तत्र गच्छत्यन्तरिक्ष इति व्युत्पत्तिरुक्ता।

किञ्च, मन्त्रे पृश्निरिति प्रथमान्तं पदम्। दयानन्दीये भाष्ये तत्पदं द्वितीयान्तत्वेन परिवर्तितम्, तदपि बलात्करणमेव।

यदपि 'अद्भ्यः पृथिवी' इति श्रुत्याऽपां पृथिव्याः कारणत्वात् पृथिवी मातरं समुद्रजलं असदत् प्राप्ता स्वः सूर्यं पितरमग्निमयं च पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन् सन् सूर्यस्य परितः यातीति, तदपि निर्मूलम्। 'अद्भ्यः पृथिवी' इति रीत्या अपञ्चीकृतानामपां पृथिव्याः कारणत्वेऽपि न समुद्रजलं कारणम्, तस्य पञ्चीकृतरूपत्वात्। पृथिव्यामेव समुद्रजलं

जाता है, किन्तु इसका अन्त नहीं पाता। 'सुन्दर वस्तुओं को लेने-देने के लिये इस पृथ्वी पर मनुष्य चलता रहता है' इस निरुक्त वाक्य में भी वास्तविक गमन क्रिया विवक्षित नहीं है। जैसे कि 'यह आदित्य प्रकाश अथवा दीप्ति से परिवेष्टित रहता है' इस निरुक्त वाक्य की दृष्टि से 'आदित्य भी गौ कहलाता है, क्योंकि यह मेघों को आप्यायित करता है अथवा अन्तरिक्ष में चलता है' इस तरह के निर्वचन के आधार पर सूर्य की भी गतिशीलता कही गई है, उसी तरह से 'द्यौ' को भी 'गौ' इस लिये कहा गया है कि इसमें पृथिवी बहुत दूर तक चली जाती है और इसमें नक्षत्र, तारा प्रभृति ज्योतियाँ चलती हैं, सूर्य, चन्द्र की किरणें आदि भी इसी में चलती हैं, इसलिये इस को भी 'गौ' कहते हैं। स्वः आदित्य को कहा जाता है, इस तरह से निरुक्त के वचनों को उद्धृत कर आगे दयानन्द ने कहा है—'जो प्रतिक्षण घूमती रहती है, उसको 'गौ' अर्थात् पृथिवी कहते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया गया है कि जल से पृथिवी पैदा होती है। जिससे जो वस्तु पैदा होती है, वह पैदा करने वाली वस्तु पैदा होने वाली वस्तु की माता-पिता के समान कही जाती है। इसी तरह से 'स्वः' शब्द से आदित्य का ग्रहण होने से सूर्य को भी इस पृथ्वी का पितृस्थानीय माना जाता है। 'दूरं गता' का अभिप्राय यहाँ सूर्य से यह पृथ्वी बहुत दूर चली जाती है, मानना चाहिये। इसी प्रकार सूत्रात्मा जो वायु है, उसके आधार और आकर्षण से सब लोकों का धारण और भ्रमण होता है। परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण, भ्रमण और पालन कर रहा है' (पृ० १५२) दयानन्द की यह सारी व्याख्या भी अविचारित रमणीय है, क्योंकि निरुक्त में 'गच्छति' (चलती है) इस अर्थ में पृथिवी को 'गौ' नहीं कहा है, किन्तु 'दूरं गता' इस अर्थ में 'गौ' कहा गया है। जैसे कि जब पृथिवी से आकाश की तरफ जाया जाय तो इनमें बहुत दूरी होने से ऐसा कहा जाता है कि पृथिवी आकाश से बहुत दूर है, उसी तरह से मार्ग की दृष्टि से भी यह बहुत दूर तक चली गई है। इसलिए इसको बहुत दूर तक गई हुई कहा जाता है, ऐसा अभी-अभी बताया जा चुका है। सूर्य की गतिमत्ता तो मान्य ही है, इसीलिए उसके अन्तरिक्ष में चलने वाली व्युत्पत्ति निरुक्त में बताई गई है।

मन्त्र में 'पृश्नि' पद प्रथमान्त है, किन्तु दयानन्द ने अपने भाष्य में उसको द्वितीया विभक्ति में बदल दिया है। यह जबरदस्ती ही है।

इसी तरह से 'जल से पृथिवी की उत्पत्ति बताने वाली श्रुति के अनुसार पृथिवी अपने कारणभूत, अत एव मातृस्थानीय समुद्र के जल को प्राप्त करती है और अग्निमय सूर्य उसके पिता के समान है, इसलिये वह सूर्य के चारों ओर घूमती है' (पृ० १५२) यह कथन भी सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि उक्त श्रुति के अनुसार अपंचीकृत जल यद्यपि पृथिवी का कारण है, किन्तु समुद्र का जल उसका

भवतीति न पृथिवी जलं प्राप्नोति, तस्य तदाश्रितत्वेन नित्यप्राप्तत्वात् । सूर्यस्य पितृत्वं किंमूलकमिति तु नोक्तम् । किञ्च, यदि पृथिव्याः कारणत्वादपां तस्या मातृत्वमुक्तम्, तदा तथैव वायोस्तेजःकारणत्वात् सूर्यस्य वायुर्मातेत्युच्यताम् । अत्राकाशस्य मातृत्वं कथमुक्तम्, चन्द्रमसश्च कथमग्निः पिता कथं च जलं तस्य माता सिद्ध्यति । यथाकथञ्चित् तदभ्युपगमेऽपि कार्यं कारणात्मकं भवतीत्यभिन्नत्वात् कथं कारणं परितः कार्यस्य भ्रमणं सिद्ध्यति । तस्मात् सर्वथा पाश्चात्त्यानां दृष्टचा मन्त्राणां वलात्तत्पुच्छग्राहकत्वेन तद्भ्रमणसाधनम् ।

किञ्च, सूत्रानुसारेण मन्त्रोऽयमग्न्युपस्थाने विनियुक्तः । 'आयं गौरिति चोपतिष्ठते सर्प्पराज्ञोभिर्दक्षिणाग्निमुपदधाति' (का० ४।९।१८-१९) इति इति वचनात् । तिसृणामृचां सार्पराज्ञोति नामवेयम्, सर्पराज्ञ्या कद्र्वा दृष्टत्वात् । तथा चाग्निरेवात्र परापररूपेण स्तूयते । अयं दृश्यमानोऽग्निः, आ अक्रमीत् सर्वत आहवनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्निस्थानेषु क्रमणं पादविक्षेपं कृतवान् । आक्रमीत् आक्रमते वा । कोदृशोऽग्निः? गौः गच्छतीति गौः, तत्तद्यजमानगृहेषु गन्ता । तथा पृश्निः चित्रवर्णः, लोहितशुक्लादिवहुविधज्वालोपेतः । आक्रमणमेव प्रपञ्चयति—पुरः प्राच्यां दिशि मातरं पृथिवीम्, आसदत् आसोदत्, आहवनोयरूपेण प्राप्तवान्, तथा प्रयन् आदित्यरूपेण स्वर्गे सञ्चरन् पितरं द्युलोकमप्यासदत्, 'स्वःशब्देन सूर्यो ग्राह्यः' (१।४।१) इति निरुक्तवाक्यात् । पृथिव्या मातृत्वं द्युलोकस्य पितृत्वं तु 'द्यौः पिता पृथिवो माता' इति श्रुतौ प्रसिद्धम् ।

'या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनोरवारतः । सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ।।' (ऋ० सं० १०।६५।६) । 'या पूर्वोक्ता गौर्वर्तनिं स्वकोयं मार्गम्, अवारतः निरन्तरं भ्रमती सतो पर्येति विवस्वते, अर्थात् सूर्यस्य परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति । निष्कृतं कथंभूतं मार्गम् ? तद्गमनार्थमीश्वरेण

कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो पंचीकृत प्रक्रिया के अन्तर्गत आ जाता है। इस पंचीकृत प्रक्रिया के अन्तर्गत तो पृथिवी में ही समुद्र का जल रहता है, अतः पृथिवी जल को प्राप्त नहीं करती, क्योंकि वह तो पृथिवी में ही रहता है, अतः सदा ही उसके पास ही है। सूर्य इसका पिता कैसे है ? यह बात उक्त भाष्य में स्पष्ट नहीं की गई। अपि च, आपके मत के अनुसार जल यदि पृथिवी का कारण होने से उसकी माता है, तो उसी पद्धति से वायु के तेज का कारण होने से वायु को सूर्य की माता मानना चाहिये। तब यहाँ आकाश को उसकी माता कैसे कहा गया है ? इसी तरह से अग्नि को चन्द्रमा का पिता और जल को माता कैसे कहा जा सकता है ? कुछ देर के लिये ऐसा मान भी लिया जाय तो कार्य तो कारणात्मक होने से उससे अभिन्न ही माना जाता है, तब कारण के चारों ओर कार्य का भ्रमण कैसे सिद्ध होगा ? इसलिये यह सारा प्रयत्न पाश्चात्यों की दृष्टि के अनुसार उनकी पूछ पकड़ कर चलने वाली उस बुद्धि का परिणाम है, जिससे कि मन्त्रों का जबरदस्ती इस तरह का अर्थ कर पृथिवी के भ्रमण की बात सिद्ध की जाती है।

वस्तुतस्तु श्रौतसूत्रों की पद्धति से यह मन्त्र अग्नि के उपस्थान में विनियुक्त है। 'आयं गौ' इत्यादि कात्यायन सूत्र का अभिप्राय यह है कि यहाँ के तीन ऋचाएं सार्पराज्ञी' कहलाती हैं, इसलिये कि सर्पों की रानी कद्रू ने इन मन्त्रों को देखा था। पर और अपर रूप में यहाँ अग्नि की स्तुति की गई है। यह दिखाई पड़ने वाला अग्नि यहाँ सब जगह आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के स्थानों में अपना पैर जमाता है, अथवा सब स्थानों पर आक्रमण करता है। यह अग्नि कैसा है ? चलने वाला है, उन-उन यजमानों के घरों में चलता-फिरता रहता है। साथ ही यह चित्र वर्ण का है, इसकी लाल, सफेद आदि अनेक वर्णों की ज्वालाएँ उठती रहती हैं। यह किस तरह से आक्रमण करता है ? पहले यह प्राची (पूर्व) दिशा में अपनी माता पृथिवी पर आहवनीय के रूप में अधिकार करता है, तथा बाद में आदित्य के रूप में स्वर्ग में संचरण करता हुआ अपने पिता द्युलोक पर भी अधिकार कर लेता है। निरुक्त के प्रमाण पर यहाँ 'स्वः' शब्द से सूर्य का ग्रहण किया जाता है। श्रुति में पृथिवी को माता और द्युलोक को सबका पिता बताया गया है।

'या गौर्वर्तनिं पर्येति०' इत्यादि मन्त्र का अर्थ दयानन्द ने इस तरह से किया है—'(या गौर्व०) जिस जिस का नाम 'गौ' कह आये हैं, सो सो लोक अपने अपने मार्ग में घूमता है और पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमती है। अर्थात् परमेश्वर ने जिस जिस के घूमने के लिये जो जो मार्ग निष्कृत अर्थात् निश्चित किया है, उस उस मार्ग में सब लोक घूमते हैं। (पयो दुहाना०)

निष्पादितम् । अवारतो निरन्तरं पयो दुहाना अनेकरसफलादिभिः प्राणिनः प्रपूरयती तथा व्रतनीः व्रतं स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्ती । दाशुषे दानकर्त्रे श्रेष्ठकर्मकारिणे सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति । किं कुर्वती ? प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हेतुभूता सतीयं वर्तते' (पृ० १५३) इति दयानन्दीयं व्याख्यानम् ।

तत्रोच्यते—'या पूर्वोक्ता गौः' इति निरर्थक वचः, अस्मान्मन्त्रात् पूर्वेषु प्रकृतसूक्तमन्त्रेषु पृथिवीलक्षणाया गोरनुक्तेः । अत्र गौरितिपदेन पृथिवी गृह्यत इत्यत्र किं बीजम् ? गोपदस्य बहुष्वर्थेषु प्रसिद्धत्वात् । वर्तनिपदस्यापि भ्रमणमार्गोऽर्थ इत्यपि निर्मूलम्, 'वृतु वर्तने' इति धातोरर्थाननुगमात् । अवारत इत्यस्य निरन्तरं भ्रमतीति कथमर्थः ? पर्येति विवस्वते इत्यत्रापि चतुर्थ्यन्तस्य षष्ठ्यन्तविपरिणामे हेतुर्वक्तव्यः । निष्कृतमित्यस्य परमेश्वरनिष्पादितमित्यपि निर्मूलम्, सर्वस्यैव विश्वस्य परमेश्वरनिष्पादितत्वेन विशेषायोगात् । 'पयो दुहाना' इत्यत्र पयःशब्दस्यानेकरसफलाद्यर्थोऽपि बलात्कार एव, गोसम्बन्धेन पयःशब्दस्य क्षीरादन्यत्राप्रवृत्तेः । व्रतनीत्यस्यापि व्रतं स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्तीत्यपि निर्मूलम् । प्रकृताः पदार्थाः वायुसूर्यसमुद्रनद्यादयः सर्वेऽपि स्वीयं प्राकृतं नियमं पालयन्तीति तेऽपि किन्न व्रतनीशब्देनोच्यन्ते ? किञ्च, व्रतनीशब्देन व्रतनेतेत्यर्थो युक्तः, प्रापकत्वार्थस्य प्रकृतेऽसङ्गतेः । किञ्च, पृथिवी दाशुषेऽदाशुषे विद्वद्भ्योऽविद्वद्भ्यः सर्वेभ्यो हविर्दानेन सुखानि दाशति । ततो दाशुषे देवेभ्य इति विशेषवचनं निरर्थकमेव । प्रब्रुवाणापदमपि पृथिव्याः पक्षे नोपपद्यते, तस्या व्यक्तवाण्या हेतुत्वे मानाभावात । ततोऽस्मादपि मन्त्रात् पृथिव्या भ्रमणं न सिद्ध्यति ।

वस्तुतस्तु सायणरीत्या मन्त्रस्यास्यायमर्थः—वसुकपुत्रस्य वसुकर्णस्यार्षम्, वैश्वदेवमिदं पञ्चदशर्चं सूक्तम् । या मदीयेयं पयः क्षीरादिकं दुहाना व्रतनी पयःप्रदानेन कर्मरूपस्य व्रतस्य नेत्री गौर्धेनुः, निष्कृतं संस्कृतं वर्तते यत्र तं

वह गौ अनेक प्रकार के रस, फल, फूल, तृण और अन्नादि पदार्थों से सब प्राणियों को निरन्तर पूर्ण करती है, तथा अपने अपने घूमने के मार्ग में सब लोक सदा घूमते-घूमते नियम ही से प्राप्त हो रहे हैं । (सा प्रब्रुवाणा०) जो विद्या आदि उनमें गुणों का देने वाला परमेश्वर है, उसी के जानने के लिये सब जगत् दृष्टान्त है । जो विद्वान् लोग है, उनको यह भूमि उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों को देती है और पृथिवी, सूर्य, वायु, चन्द्रमा प्रभृति सब प्राणियों की वाणी का निमित्त भी यही है' (पृ० १५३) ।

इस पर हमारा यह कहना है—व्याख्या में 'जो पूर्वोक्त गौ' यह वाक्य निरर्थक है, क्योंकि प्रकृत सूक्त में इससे पहले के मन्त्रों में पृथिवी लक्षण गौ का कहीं उल्लेख नहीं है । यहाँ 'गो' पद से पृथिवी का ग्रहण करने में क्या प्रमाण है ? गो पद तो बहुत से अर्थों में प्रसिद्ध है । 'वर्तनि' पद का अर्थ भ्रमण का मार्ग करना भी गलत है, क्योंकि 'वृतु वर्तने' इस अर्थ की उसमें अनुवृत्ति नहीं हो पाती है । 'अवारतः' इस पद का अर्थ निरन्तर घूमती है, यह कैसे होगा ? 'पर्येति विवस्वते' यहाँ भी चतुर्थ्यन्त शब्द का षष्ठ्यन्त में परिवर्तन का कारण बताना पड़ेगा । निष्कृत पद का अर्थ 'परमेश्वर के द्वारा उत्पादित' करना भी निर्मूल है, क्योंकि यह सारा जगत् परमेश्वर की ही तो रचना है, तब यहाँ उसका पुनः निर्देश निरर्थक है । 'पयो दुहाना' यहां पयः शब्द का अनेक प्रकार के रस और फल करना जबर्दस्ती ही है । गो शब्द के साथ यह शब्द दूध के सिवाय अन्यत्र नहीं प्रयुक्त होना चाहिये । 'व्रतनीः' इस पद का भी व्रत अर्थात् अपने भ्रमण प्रभृति सत्य नियमों को बताती हुई, यह अर्थ करना सर्वथा निर्मूल है । वायु, सूर्य, समुद्र, नदी प्रभृति सभी प्राकृत पदार्थ अपने अपने प्राकृत नियमों का पालन करते हैं, उनको भी व्रतनी क्यों नहीं कहा जाता ? व्रतनी शब्द का अर्थ व्रत ही धात्वर्थ के अनुकूल हो सकता है । इसका अर्थ प्रापक कहना प्रकृत में संगत नहीं होता । यह पृथिवी अविद्वान् और विद्वान् सभी को उत्तम पदार्थों को देकर सुखी बनाती है, तब दाशुषे पद का विद्वान् के साथ सम्बन्ध जोड़ना निरर्थक है । 'प्रब्रुवाणा' यह विशेषण भी पृथिवी के पक्ष में नहीं बनता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि पृथ्वी स्पष्ट वाणी बोलती है । इस तरह से इस मन्त्र से भी पृथिवी का भ्रमण सिद्ध नहीं हो पाता ।

वास्तव में सायण प्रभृति की पद्धति से इस मन्त्र का अर्थ इस तरह से होगा—वसुक के पुत्र वसुकर्ण इस सूक्त के द्रष्टा ऋषि हैं । इस सूक्त में पन्द्रह ऋचाएं हैं, इसके देवता वैश्वदेव हैं । मेरी यह गाय दूध आदि देती हुई मेरे यज्ञ-यागादि व्रतों को संपन्न

वर्तनिमावासस्थानं यज्ञम् अवारतोऽप्रार्थनेनैव, 'वृञ् सम्भक्तौ', पर्येति परिगच्छति स्वयमेव पुनः पुनरागच्छति। प्रब्रुवाणा मया प्रस्तूयमाना प्रकर्षेण स्तूयमाना सा गौः दाशुषे अन्नादिहविर्दत्तवते वरुणाय वरुणनामकदेवाय देवेभ्योऽन्येभ्य इन्द्रादिदेवेभ्यश्च हविषाऽन्नेन विवस्वते देवान् परिचरते मह्यं मां रक्षितुं दाशत् पयः प्रयच्छतु। नात्र मन्त्रे पृथिव्या गमनसाधकं किञ्चित् पदमस्ति, किन्तु वेदेष्वाधुनिकविज्ञानसाधनायैवायमसफलप्रयासो दयानन्दस्य।

'त्वं सोम पितृभिः संविदानो नु द्यावापृथिवी आततन्थ। तस्मै त इन्द्रो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥' (ऋग्वेदसंहिता ८।४८।१३)। 'अस्मिन् मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनु भ्रमतीत्ययं विशेषोऽस्ति। अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत्पालकैः गुणैः सह संविदानः ज्ञातः सन् भूमिमनुभ्रमति। कदाचित् सूर्यपृथिव्योर्मध्येऽपि भ्रमन् सन्नागच्छतीत्यर्थः' इति दयानन्दीयं व्याख्यानम्। तत्राप्युच्यते—सर्वथाप्ययमर्थो मन्त्राक्षराननुगतः। अत्र मूले सोमेति सम्बोधनपदम्। तच्च कथं चन्द्रलोके सङ्गच्छते? जडस्य लोकस्य सम्बोधनानर्हत्वात्। त्वमिति पदस्यापि न तत्र सङ्गतिः। पृथ्वीमनु भ्रमतीत्यंशोऽपि निर्मूलः, मूलेऽनूपसर्गसंसृष्टस्य पृथिवीपदस्याभावात्। न च द्यावापृथिवीति समस्तपदगतेन पृथिवीशब्देन तत्सम्बन्धः, शाब्दन्यायविरोधात्।

वस्तुतस्त्वत्र लतारूपः सोमः स्तूयते, सूक्तस्यास्य सोमदेवताकत्वात्, 'अपाम सोममममृता अभूम' (ऋ० सं० ८।३८।३) इति तृतीयमन्त्रेण तत्पानावगमात्। नहि चन्द्रलोकस्य पानं सम्भवति। तस्मादनेन मन्त्रेण चन्द्रलोकभ्रमणसाधनमल्पज्ञजनप्रतारणमेव। मन्त्रार्थस्तु—हे सोम सोमाधिष्ठातृ देवत, त्वं पितृभिः कारणैः संविदानः सङ्गच्छमानः, द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अनु आततन्थ क्रमेण विस्तारयसि। तस्मै तुभ्यं सोमाय हविषा परिचरेम यथा वयं रयीणां धनानां पतयः स्याम भवेम।

करने के लिये, पूरा करने के लिये मेरे संस्कृत आवास स्थान में, यज्ञमण्डप में बिना प्रार्थना किये अपने आप बार बार चली आती है और मेरा यज्ञ संपन्न कराती है। मेरे द्वारा स्तुति किये जाने पर यह गाय अन्नादि को देने वाले वरुण देव तथा इन्द्र प्रभृति अन्य देवों को भी हवि प्रदान करने वाले मेरे जैसे यजमानों की रक्षा करने के उद्देश्य से दूध देती रहे। इस तरह से इस मन्त्र में पृथिवी के भ्रमण को सिद्ध करने वाला कोई पद विद्यमान नहीं है, किन्तु वेदों में आधुनिक विद्वान् को सिद्ध करने लिये ही दयानन्द का यह असफल प्रयास है।

'त्वं सोम' इत्यादि मन्त्र का दयानन्द ने इसी प्रसंग को सिद्ध करने के अभिप्राय से यह अर्थ किया है—'इस मन्त्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों ओर घूमता है। यह चन्द्रलोक पिता के समान पालक गुणों से युक्त होकर भूमि के चारों ओर घूमता है। घूमता-घूमता यह कभी कभी सूर्य और पृथ्वी के बीच में भी आ जाता है' (पृ० १५४) इस पर हमारा कहना है कि यह सारा अर्थ मन्त्राक्षरों के सर्वथा विपरीत है। मूल में 'सोम' यह संबोधन है, इसका अर्थ चन्द्रलोक कैसे हो सकता है? क्योंकि जड़ लोक संबोधन के योग्य हो ही नहीं सकता। 'त्वम्' पद की भी यहाँ कोई संगति नहीं बैठती। पृथिवी के चारों ओर घूमने वाली बात भी निर्मूल है, क्योंकि मन्त्र में अनु उपसर्ग से संबद्ध पृथिवी पद विद्यमान नहीं है। 'द्यावापृथिवी' इस समस्त पद में विद्यमान पृथ्वी शब्द से भी उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि यह शाब्दिक नियमों की परम्परा के विपरीत पड़ेगा कि समस्त पद में से एक के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाय और दूसरे के साथ नहीं।

वास्तव में इस मन्त्र में लता रूप सोम की स्तुति है, क्योंकि इस सूक्त का देवता सोम है। 'अपाम सोमममृता अभूम' (सोम पीकर हम अमर हो जाय) इस तृतीय मन्त्र से सोमपान की बात ज्ञात होती है। चन्द्रलोक का तो पान हो नहीं सकता। इस लिये इस मन्त्र से चन्द्रलोक के भ्रमण की बात सिद्ध करना अल्पज्ञ व्यक्तियों को ठगने के लिये ही हो सकता है। मन्त्र का अर्थ वस्तुतः यह है—हे सोम अर्थात् सोम के अधिष्ठातृ देवता, तुम अपने कारणभूत पिता से मिल कर द्यावापृथिवी का विस्तार करते हो। तुम को हम हवि प्रदान द्वारा अपनी सेवा से सन्तुष्ट करना चाहते हैं, जिससे कि हम वरणीय सम्पत्ति के स्वामी हो जाँय।

'द्यावापृथिवी एजेते' इति कम्पनमुच्यते, तच्चेष्यत एव, 'एजृ कम्पने' इति स्मरणात् । न तावता पाश्चात्याभिमतं भूभ्रमणादिकं सिद्धयति । किञ्च, प्रत्यक्षानुमानाभ्यामवगतेऽर्थे न वेदस्य तात्पर्यम्, अधिगतगन्तृत्वाभावात् ।

'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः । योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥' (वा० सं० ३२।६) । येन पुरुषेण द्यौरुग्रा उद्गूर्णा वृष्टिदा कृता, पृथिवी च दृढा स्थिरा सर्वप्राणिधारणाय वृष्टिग्रहणायान्ननिष्पादनाय च कृता । येन च स्वः आदित्यमण्डलं स्तभितं स्तम्भितं येन नाकः स्वर्गोऽपि स्तभितः । योऽन्तरिक्षे नभसि रजसो जलस्य वृष्टिरूपस्य विमानः विमिमीते निर्माता । तं विहाय कस्मै देवाय हविषा विधेम परिचरेम न कस्मैचिदित्यर्थः । अनेन पृथिव्याः स्थिरता विज्ञायते ।

'आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च । हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥' (वा० सं०) । अनेन मन्त्रेण सूर्यस्य रथेन गमनं प्रतीयते । 'यथोष्णतार्कानलयोश्च शीतता विधौ द्रुतिः के कठिनत्वमश्मनि । मरुच्चलो भूरचला स्वभावतो यतो विचित्रा बत वस्तुशक्तयः ॥' (सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याये,) यथा सूर्याग्न्योरुष्णता, विधौ चन्द्रे शीतता, जले द्रवः, अश्मनि कठिनत्वम्, तथैव स्वभावतो मरुच्चलो भूश्चाचला, यतो वस्तुशक्तयो विचित्रा भवन्ति ।

'ब्रह्माण्डमध्ये परिधिर्व्योमकक्षाभिधीयते । तन्मध्ये भ्रमणं भानामधोऽधः क्रमशस्तथा ॥३॥', 'मन्दामरेज्यभूपत्रसूर्यशुक्रेन्दुजेन्दवः । परिभ्रमन्त्यधोऽधःस्थाः सिद्धविद्याधरा घनाः ॥३१॥ मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति । बिभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम् ॥३२॥' (सूर्यसिद्धान्त, अध्याय १२) इत्येतैरार्षवचनैराकाशे नक्षत्राणां भ्रमणं शनि-जीव-भौम-सूर्य-शुक्र-बुध-चन्द्रमसां ततोऽधोऽधो भ्रमणं विज्ञायते । ब्रह्माण्डस्य मध्ये ब्रह्मणो धारणात्मिकां शक्तिं बिभ्राणो भूगोलस्तिष्ठति ।

'द्यावापृथिवी एजेते' इस श्रुतिवचन से द्यावापृथिवी के कम्पन की बात हमें भी स्वीकार है, क्योंकि 'एजृ' धातु कम्पन अर्थ में प्रयुक्त होती है । किन्तु इससे पाश्चात्यों के द्वारा स्वीकृत पृथ्वी के भ्रमण की बात नहीं सिद्ध हो पाती । प्रत्यक्ष और अनुमान से अवगत हो सकने वाले अर्थ में वेद की प्रवृत्ति मीमांसा सिद्धान्त के अनुसार नहीं मानी जाती, क्योंकि वेद तो किसी भी प्रमाण से अवगत न होने वाले अर्थ की अवगति के लिये ही प्रवृत्त होता है, दूसरों प्रमाणों से अवगत अर्थ में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती ।

'येन द्यौ०' इस मन्त्र का अर्थ यह है कि जिस पुरुष ने आकाश को वर्षा करने वाला और पृथिवी को स्थिर बनाया है, अर्थात् जिस परमात्मा ने सभी प्रणियों का पालन-पोषण करने के निमित्त वर्षा के लिए आकाश की और अन्न पैदा करने के लिए पृथिवी की रचना की है । जिसने आदित्य मण्डल और स्वर्ग को भी एक जगह स्थिर कर दिया है, जो अन्तरिक्ष में वर्षा के लिए जल का संचय करता रहता है, उस परम पुरुष परमात्मा को छोड़कर हम अन्य किस देवता को हवि प्रदान करें ! इस मन्त्र में पृथिवी को स्थिर बताया गया है ।

'आकृष्णेन रजसा०' इस मन्त्र में सूर्य के रथ में बैठकर चलने की बात कही गई है । ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थ सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय में बताया गया है कि जैसे स्वभावतः सूर्य और अग्नि में उष्णता, चन्द्रमा में शीतलता, जल में द्रवता, पत्थर में कठोरता विद्यमान है, उसी तरह से स्वभावतः पवन चल है और पृथिवी अचल है । वस्तुओं का स्वभाव बड़ा विचित्र होता है, इसको कोई बदल नहीं सकता । सूर्यसिद्धान्त के इन वचनों में बताया गया है कि इस ब्रह्माण्ड के बीच में एक परिधि है, जो कि व्योम-कक्षा के नाम से प्रसिद्ध है । इसी परिधि अर्थात् व्योम-कक्षा में सभी ग्रह-नक्षत्र क्रमशः एक दूसरे के नीचे शनि, बृहस्पति, मंगल, सूर्य, शुक्र, बुध और चन्द्रमा ये सब घूमते रहते हैं । इस ब्रह्माण्ड के बीच में ब्रह्म की धारणात्मिका शक्ति की सहायता से यह भूगोल स्थिर है ।

त्रयोदशीं शतीमारभ्य पैथागोरास-केप्लर-न्यूटनप्रभृतिभिर्भूभ्रमणसिद्धान्त उत्थापितः। भारते आर्यभट्टेनार्यभट्टयां पृथिव्या अचलत्वं सूर्यादिग्रहाणां च भ्रमणमुक्तम्। लल्ल-वराहमिहिराद्दीनां समक्षे तस्य प्रतिष्ठा नाभूत्, ततस्तेन प्रतिष्ठार्थमेवार्यभट्टिनाम्नैव ग्रन्थान्तरं लिखितम्। तत्र पैथागोरसादिरीत्या भूभ्रमणं साधितम्। लल्ल-वराहमिहिरादिभिश्च प्रबलयुक्तिभिस्तदीयः पक्षो धूलिसात्कृतः। तथापि केप्लर-न्यूटनादीनां प्रयासात्तन्मतप्रचारो रूढिं गतः। पाश्चात्त्यप्रभावितशिक्षासु तत्सन्निवेशात् पाश्चात्त्येषु तदनुयायिषु च नितरां प्रसृतः। तत्प्रभावितत्वादेव दयानन्देन वेदमन्त्रानवष्टभ्य तन्मतं साधयितुं प्रयतितम्।

अत्र यदुच्यते—'यथा नौकारूढानां नौः स्थिरा तटस्था वृक्षाश्च चलाः प्रतीयन्ते, तथैव पृथिव्यां स्थितानां पृथिवी स्थिरा ग्रहाश्च भ्राम्यन्तः प्रतीयन्ते' इति, तदतीव मन्दम्, निरुक्तदृष्टान्तस्य मिथ्यात्वेन साध्यसाधकत्वासम्भवात्। अत एव भ्रान्तानां तथा भानेऽपि नाभ्रान्तानां तथा भानं सम्भवति। वस्तुतस्तु यथा वृत्ताकारे चत्वरे स्थिता मनुष्याः परितो धावमानानां हयानां भ्रमणमनुभवन्ति, तथैव भूमिष्ठा जनाः परितो भ्रममाणानां ग्रहाणां भ्रमणमनुभवन्ति। नात्र भ्रान्तिकल्पनापि सम्भवति।

भूभ्रमणवादिभिरुच्यते—अपरिगणिता ग्रहतारादयः पृथिव्या विप्रकृष्टतमेषु देशेषु तिष्ठन्ति। बहोः कालात्तद्रश्मयो भूमावागच्छन्ति। रश्मीनां गतिगणनया तेषामितः कोटियोजनविप्रकर्षो ज्ञायते। तेषां पृथिव्याः परितो भ्रमणाभ्युपगमे तेषां गतिः कीदृशी स्यादिति निश्चयः कथं स्यादिति। तच्च न किञ्चित्, सूर्यसिद्धान्ते येषां ग्रहाणां नामोल्लेखः स्पष्टतया कृतस्तेषामेव भ्रमणाभ्युपगमात्। समासां ताराणां भ्रमणाभ्युपगमे प्रमाणाभावात्। अत एव केचिद् धूमकेतवः (पुच्छलतारा) पृथिव्याः कस्मिंश्चिद् भाग एव शतवर्षानन्तरमपि दृश्यन्ते, तेन तेषां स्थैर्यमेव

ईसा का तेरहवीं शताब्दी के बाद पैथागोरस, केप्लर, न्यूटन प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने पृथिवी के भ्रमण का सिद्धान्त माना। भारत में आर्यभट ने अपने ग्रन्थ आर्यभटी में पृथिवी को अचल और सूर्य प्रभृति ग्रहों को चल माना है। लल्ल, वराहमिहिर प्रभृति के सामने जब उसकी प्रतिष्ठा न जमी तो उसने दूसरा ग्रन्थ लिखा, जिसमें कि पैथागोरस की पद्धति से ही पृथ्वी के भ्रमण का सिद्धान्त सिद्ध किया है। लल्ल, वराहमिहिर प्रभृति ने उसके इस पक्ष को प्रबल युक्तियों के सहारे धूल में मिला दिया है, तो भी बाद में केप्लर, न्यूटन आदि के प्रयास से उसका मत जनता में पुनः प्रसिद्ध हो गया है। पाश्चात्य प्रभावित शिक्षा में उसका सन्निवेश हो जाने से इसका प्रसार पाश्चात्यों में और उनके अनुयायियों में बहुत हो गया है। इन सबसे प्रभावित होकर ही स्वामी दयानन्द भी वेद मन्त्रों के सहारे इसी मत को सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयत्न करते हैं।

कहा जाता है कि 'जैसे नाव पर बैठे हुए व्यक्ति को नाव स्थिर और तट के वृक्ष चलते हुए नजर आते हैं, उसी तरह से पृथिवी पर रहने वालों को पृथिवी स्थिर और दूसरे ग्रह चलते हुए दिखाई पड़ते हैं' किन्तु यह कथन गलत है, क्योंकि इसमें दिया गया दृष्टान्त भी सही नहीं है, अतः वह किसी नई बात को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसीलिये भ्रान्त व्यक्ति को ही ऐसी प्रतीति होती है। जिस व्यक्ति को किसी प्रकार का भ्रम नहीं है, उसको इस तरह की प्रतीति नहीं होती। वस्तुतः देखा जाय तो जैसे गोल चबूतरे पर बैठे हुए मनुष्य चारों तरफ दौड़ रहे घोड़ों को घूमते हुए देखते हैं, उसी तरह से भूमि पर रहने वाले मनुष्य अपने चारों तरफ घूम रहे ग्रहों को सही रूप में देखते हैं, इसमें भ्रम की कोई बात ही नहीं है।

पृथिवी के भ्रमण का सिद्धान्त मानने वाले कहते हैं कि अनगिनत ग्रह-नक्षत्र पृथिवी से बहुत दूर तक फैले हुए हैं। इनमें से कुछ का प्रकाश तो अनगिनत वर्षों में यहाँ आता है। प्रकाश की इस गति को गिन कर यह पता लगाया गया है कि इनमें से कुछ करोड़ों योजन दूर हैं। यदि ये पृथिवी के चारों तरफ घूमते रहते हों, तो उनकी गति के सहारे उनकी दूरी का निश्चय कैसे हो सकता है? किन्तु इन सब बातों से भी कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, क्योंकि सूर्यसिद्धान्त में जिन ग्रहों के नाम स्पष्ट रूप से गिनाये गये हैं, इन्हीं का भ्रमण माना जाता है। सभी तारों को भ्रमणशील मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इसीलिए कुछ धूमकेतु (पुच्छल तारे) पृथिवी के जिस भाग पर एक बार दिखाई पड़ते हैं, सौ वर्ष बाद भी वहीं देखे जाते हैं। इससे उनको स्थिर ही मानना उचित

मन्तव्यम् । वर्षास्वाकाशगङ्गायामनेकास्तारा: प्रतीयन्ते, हेमन्तग्रीष्मादौ तु न प्रतीयन्ते । तस्मात्तासां भ्रमणे न किञ्चिदपि मानमस्ति ।

'भ्रमति भ्रमस्थितेव क्षितिरित्यपरे वदन्ति नोडुगणः । यद्येवं श्येनाद्या न खात् पुनः स्वनिलयमुपेयुः ।।' अन्यच्च—'भवेद् भूमेरह्ना भ्रमरंहसा ध्वजादीनां नित्यं पश्चात्प्रेरणमथाल्पगा स्यात् कथं भ्रमति' इति । यदि भ्रमेण स्थितेव भासमानापि भूर्नौरिव भ्रमति नोडुगुणो भ्रमतीति स्यात्तदोड्डीनः श्येनः खात् पुनः स्वनिलयं नोपेयात् । किञ्च, यदि भूमिः पूर्वाभिमुख्येन गतिमती स्यात्, तदा तद्रंहसा ध्वजादीनां नित्यं पश्चिमाभिमुख्येन गतिः स्यात् । यदि मन्दगत्यैव भ्रमणं स्यात्तदाऽहोरात्रैस्तद्भ्रमणपूर्तिर्न स्यात् । 'यदि च भ्रमति क्ष्मा तदा स्वकुलायं कथमाप्नुयुः खगाः । इषवोऽभिनभः समुज्झिता निपतन्तः स्युरपांपतेर्दिशि' ।। पूर्वाभिमुखे भ्रमे भ्रुवो वरुणाशाभिमुखो व्रजेद् घनः । अथ मन्दगमा तदा भवेत्कथमेकेन दिवा परिभ्रमः ।।' भुवो भ्रमणे पक्षिणः कथं पुनः स्वनीडमुपेयुः । अभिनभः समुज्झिता इषवः प्रतीच्यामेव निपतेयुः । पूर्वाभिमुखे भ्रमे मेघाः सदा पश्चिमाभिमुखा एव चलेरन् । मन्दगतौ चैकेनाह्ना भ्रमणपूर्तिर्न स्यात् ।

पृथिव्याः परिधिः सार्धद्वादशसहस्रक्रोशपरिमितः । यथा महता वेगेन काष्ठकन्दुकः कुलालचक्रं वा चलति, तथैव पृथिव्या अपि भ्रमणं मन्तव्यम् । गच्छतां मृत्तरयान(मोटर)-धूमयाना(रेलगाड़ी)दीनां वेगेन समुत्थितो वायुर्यानगमनविपरीतां दिशं तावतैव वेगेन गच्छति । गणनया प्रतिघण्टम् एकचत्वारिंशदधिकसहस्रमीलवेगेन प्रतिकलं च (प्रति मिनट) सप्तदशमीलवेगेन पृथिव्या गतिर्मन्तव्या । तथा च पञ्चविंशतिसहस्रमीलपरिमितायाः प्रतिघण्टमेकचत्वारिंशदधिकसहस्रमीलवेगेन परिभ्रमन्त्या धरण्या अपि वेगेन महान् वायुरुत्पद्येत । तेन पृथिव्यां महती वात्या प्रतिक्षणं समुत्पद्येत । न च तथा दृश्यते, अतो भूभ्रमणवादो भ्रान्तिमूलक एव । तथात्वे च ध्वजानां मेघानां च पृथिवी-

है । वर्षा के दिनों में आकाश गंगा में अनेक तारे दिखाई पड़ते हैं और हेमन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओं में कम । इन सबसे यही सिद्ध होता है कि ये सब भ्रमणशील नहीं हैं, इनको भ्रमणशील बताने वाला कोई प्रमाण भी हमारे सामने नहीं है ।

'भ्रमति भ्रमस्थितेव०', 'भवेद् भूमे०', 'यदि च भ्रमति' इत्यादि वचन भूमि के भ्रमण सिद्धान्त का खण्डन कर देते हैं। इनका अभिप्राय यह है कि यदि यह मान लिया जाय कि भ्रम से प्रतीति तो ऐसी ही होती है कि वस्तुतः पृथ्वी स्थिर है, किन्तु वास्तविकता यह है कि नदी के पानी में नाव स्थिर प्रतीत होती हुई भी जैसे चलती रहती है, पेड़-पौधों की तरह तारागण नहीं चलते, तो ऐसा मानने पर दोष यह होगा कि यदि पृथ्वी को चल मान लिया जाय, तो सुबह अपने घोंसले में से निकला बाज पक्षी सायंकाल फिर अपने घर नहीं आ सकेगा, क्योंकि सायंकाल तक तो चलने के कारण पृथ्वी कहीं की कहीं चली गई हुई रहेगी, बाज पक्षी अपने घोंसले में तभी वापस आ सकता है, जब कि वह एक जगह स्थिर हो । दूसरा दोष इसमें यह है कि यदि पृथ्वी पूरब की ओर चलती हो तो उसके वेग से पताका आदि का मुँह सदा ही पश्चिम की ओर रहना चाहिये, किन्तु सदा ऐसा होता नहीं । पताका कभी पश्चिमाभिमुख और कभी पूर्वाभिमुख उड़ती रहती है । यदि पृथ्वी की गति बहुत धीमी मानी जाय तो दिन रात में वह पूरा चक्कर कैसे मार सकती है ? इसी तरह से आकाश में फेंके गये बाण सदा पश्चिम की ओर ही गिरने चाहिये और बादल भी सदा पश्चिम की ओर ही उड़ने चाहिये । ऐसा कुछ नहीं होता, इससे सिद्ध है कि पृथ्वी चलती नहीं है ।

पृथिवी का व्यास साढ़े बारह हजार कोश परिमित है । जैसे कोई काठ की गेंद या कुम्हार का चाक बड़ी तेजी से घूमता है, उसी तरह से पृथिवी को भी घूमती हुई मानना पड़ेगा । मोटर या रेलगाड़ी जब तेजी से दौड़ती है, तो उसकी गति से उत्पन्न वायु गाड़ी की गति की विपरीत दिशा में उतनी ही तेजी से दौड़ता है । गणना के अनुसार पृथिवी की गति प्रति घंटा १०४१ मील और प्रति मिनट १७ मील मानी जाती है । इस तरह से २५ हजार मील व्यास वाली पृथिवी के प्रति घंटा १०४१ मील की गति से चलने पर उससे एक भयंकर वायु का बवंडर उत्पन्न होना चाहिये । इससे पृथिवी पर प्रत्येक क्षण एक भयंकर झंझावात उठता रहेगा, किन्तु ऐसा अनुभव तो नहीं होता । इससे भी पृथ्वी के भ्रमण का सिद्धान्त गलत सिद्ध हो जाता है । ऐसा मानने पर यह दोष भी आयेगा, जिसका कि ऊपर भी उल्लेख हो चुका है कि पताका और मेघ आदि की गति ऐसी स्थिति में सदा पृथिवी की

गमनविपरीतदिशि वेगेन गमनमापद्यते। पश्चिमदिग्गामिनो मेघास्तु प्रतीचीमुपयास्यन्त्येव, किन्तु प्राचीमुपयान्तोऽपि घना वेगेन प्राचीमुपयान्त्यां भूमौ स्थितानां प्रतीचीमुपयान्तो द्रक्ष्यन्ते, पृथिवीगतेस्ततोऽधिकतमत्वात्। एवमेवोर्ध्वमुत्क्षिप्ताः शरा ऊर्ध्वं गत्वा यावता कालेनाधस्तात् प्रत्येष्यन्ति, तावता कालेन पृथिव्याः पूर्वस्यां दिशि बहुदूरं गमनं भविष्यति। तेन सर्वेऽपि शराः प्रतीच्यामेव निपतिष्यन्ति। यदि शराणां गमनागमनयोः कलायाश्चतुर्थांशो व्यत्येष्यति तदा तावता कालेन पृथिवी पूर्वस्यां दिशि किञ्चिदधिकक्रोशद्वयमितं देशं गमिष्यति। तथा यतः शराः क्षिप्तास्ततः प्रतीच्यां क्रोशद्वयपरिमिते देशे निपतिष्यन्ति। एवमेव घण्टाद्वयमाकाशमुत्पततां कपोतानां प्रत्यागमने तन्नीडप्राप्तिर्दुर्लभैव स्यात्, तावता कालेन पृथिव्याः पूर्वस्यां दिशि क्रोशसहस्रपरिमितदेशमतिक्रान्तत्वापत्तेः।

यदुक्तमत्र भूभ्रमणवादिभिः—'भूवायोः कर्षणेन ध्वजादयो न विपरीतगामिनो भविष्यन्ति। यथा यानस्थितेन कन्दुकप्रेषणे कन्दुकस्यापि धूमयानेनाकर्षणं दृश्यते, तथैव पूर्वाभिमुख्ये वेगेन गतिमत्याः पृथिव्या वेगेन तत्समीपाकाशस्थितवस्तूनामप्याकर्षणं युज्यते' इति, तदपि न युक्तम्, धूमयानस्थितानां हस्तप्रेरणया धूमयानगमनदिश्यपि कन्दुकगमनसम्भवेन कन्दुकस्य द्विगुणितगत्यभ्युपगमापातात्।

यदप्युच्यते—'यथा धूमयान-मृत्तरयान-प्रकाशाकृष्टानां पतङ्गानामाकर्षणं नहि तेषां तादृशी गतिः सम्भवति, तथैव भूवायुना तत्समीपस्थानां मेघादीनामपि तत्राकर्षणं सम्भवत्येव' इति, तदपि न सङ्गतम्, यतः पतङ्गानां धूमयानान्तर्गतत्वात् तदाधाराधृतत्वात् तेन तेषामाकर्षणं सम्भवत्येव। न तु तद्बहिर्भूतानां तेनाकर्षणं सम्भवति। यथा कुलालचक्रनिविष्टानां पिपीलिकादीनां चक्रभ्रमणेन भ्रान्तत्वेऽपि न तद्वहिर्भूतानां भ्रमणम्, तथैव भूनिविष्टानां

गति की विपरीत दिशा में ही उतनी ही तीव्र गति से होगी, किन्तु ऐसा देखा तो नहीं जाता। पश्चिम दिशा में जाने वाले मेघ तो उस दिशा में जावेंगे ही, किन्तु पूर्व दिशा की ओर जाने वाले मेघ भी पूर्व दिशा की ओर जाने वाली पृथ्वी के वेग से पश्चिम दिशा की ओर जाते हुए नजर आने चाहिये, क्योंकि इन मेघों की गति से पृथ्वी की गति अधिक तीव्र है। इसी तरह से ऊपर की ओर फेंके गये बाण ऊपर जाकर जब तक नीचे आवेंगे, तब तक तो पृथ्वी पूर्व दिशा की तरफ बहुत दूर चली जायेगी। इस दशा में सारे बाण सदा पश्चिम दिशा में ही गिरने चाहिये। यदि बाण के ऊपर जाने और नीचे आने में चौथाई मिनट लगता है, तव तक तो पृथ्वी पूर्व दिशा में दो कोश से अधिक ही आगे निकल जायगी। इस दशा में जहाँ से बाण फेंका गया है, वहाँ से पश्चिम की ओर दो कोस दूर जाकर उसको गिरना चाहिये। इसी तरह से दो घंटे तक आकाश में उड़ते रहने के बाद पृथ्वी पर पुनः वापस आने पर उसका अपना घोंसला नहीं मिलना चाहिये, क्योंकि उतने समय में तो वहाँ से पृथ्वी पूर्व दिशा की ओर एक हजार कोस आगे निकल चुकी होगी, जहाँ कि उसने अपना घोंसला बनाया था।

पृथ्वी का भ्रमण मानने वालों का इस पर कहना है कि पृथ्वी के वायु के आकर्षण के कारण पताका प्रभृति की गति विपरीत दिशा में नहीं होगी। जैसे रेलगाड़ी में बैठा कोई व्यक्ति गेंद फेंकता है, किन्तु रेलगाड़ी की गति उसको अपनी ओर खींच लेती है, उसी तरह से पूर्व दिशा की ओर वेग से चलती हुई पृथ्वी के वेग से उसके आसपास के आकाश में विद्यमान वस्तुएँ भी उसके साथ ही खिंची हुई चली जाती है। किन्तु यह कथन इसलिये ठीक नहीं है कि रेलगाड़ी में बैठा हुआ व्यक्ति अपने हाथ से रेलगाड़ी जिस ओर जा रही है, उस तरफ भी गेंद फेंक सकता है। इस तरह से तो गेंद में द्विगुणित गति मानने की नई आपत्ति आपके सामने उठ खड़ी होगी।

भूभ्रमणवादी इसका उत्तर देते हैं कि जैसे रेलगाड़ी, मोटरगाड़ी आदि में जलती हुई बिजली की बत्ती के पास मंडराते हुए फतिंगे इनकी गति से आकृष्ट होकर उनके साथ ही उड़ते चले जाते हैं, क्योंकि उनकी स्वतः उतनी गति नहीं होती, उसी तरह से पृथ्वी की वायु से उसके पास मंडराने वाले मेघ आदि का भी आकर्षण होता रहता है। किन्तु यह उत्तर भी इसलिये सही नहीं है कि फतिंगे तो रेलगाड़ी आदि के भीतर उड़ते रहते हैं, उनका आधार रेलगाड़ी होने से उसकी गति से वे आकृष्ट हो सकते हैं। किन्तु मेघ आदि के सम्बन्ध में तो ऐसा है नहीं। ये तो पृथ्वी से बाहर अन्तरिक्ष में उड़ते हैं, उनका आकर्षण पृथ्वी की गति से नहीं हो सकता। जैसे कुम्हार के चक्के पर चढ़ी हुई चींटी चक्के के घूमने के साथ ही घूमती रहती है, किन्तु चक्के के आसपास घूमती हुई चींटी उसके

तत्समीपस्थानां च भूवायुनाकृष्टौ सत्यामपि नाकाशमुड्डीनानां श्येनादीनां भूवायुनाऽऽकर्षणं सम्भवतीति। नहि घूमयानाप्रभावितानां तदसंसष्टानां मनुष्याणां पक्षिणां वा घूमयानवायुनाऽऽकर्षणं सम्भवति। यथा घूमशकटीस्थितानां प्रकाशस्तम्भानामुपरि पतङ्गा नोत्पतन्ति, तथैव ध्वजाः पताका वाणा मेघाः कपोतश्येनादयः पृथिव्या असंसृष्टा न भूवायुनाकृष्टुं शक्यन्ते।

केश्चिदुच्यते—'घूमयानस्थेन निक्षिप्तानि वस्तूनि यत्र निक्षिप्यन्ते ततोऽग्रे वायुनाकृष्टाः पतन्ति, तथैव पृथिवीस्थाः सर्वेऽपि पदार्था भूवायुनाकृष्यन्ते' इति, तदपि न सङ्गतम्, घूमयानस्थेन निक्षिप्तानि वस्तूनि वायुवेगेन पश्चादेवापसरिष्यन्ति। वस्तुलघुत्वे तदुत्पतनं विज्ञायते, वस्तुगुरुत्वे तु पश्चादपसरणं न विज्ञायते। यतश्चक्राघातेन वायुर्घूमयानगमनाभिमुख्येनैव गच्छति। घूमयानगतानां चक्रेषु प्रथमचक्राघातजनितो वायुः पश्चात्पदो गच्छति, परन्तु द्वितीयादिचक्राघातेन स पुनः परावर्त्यते। एतत्सिद्धान्तानुसारेणैव समस्तानि चक्राणि वायुं घूमयानगन्तव्यदिशमेवोपनयन्ति। चक्राणां शक्त्याधिक्यात् चक्रसमीपस्थो वायुः पश्चाद्देशमगत्वा पुरोदेशमेवाभिगच्छति। परं घूमयानगवाक्षाद्धोतवस्त्रदशां गृहीत्वोड्डयनेन तत्पश्चात्प्रदेशमेवाभिधावति, परन्तु चक्रसमीपस्थानि लघूनि वस्तूनि चक्रवायुवशात् पुरोदेशमुपयास्यन्ति। अतश्चक्रेभ्य उपरि गतो वायुर्वस्तूनि पश्चान्नयति, चक्रोत्थितश्च वायुर्वस्तूनि पुरोदेशमुपनयति। एवमेव घूमयानस्थेन मनुष्येण नद्यां प्रेषितः पाषाणो नियतं लक्ष्यं नो गच्छति, किन्तु पुरोदेशमुपैति। तस्माद् घूमयानवायुना वस्त्वाकृष्यते पुरोदेशाभिमुखमिति। तदपि न सङ्गच्छते, घूमयानवायुर्यतस्तद्यानमायाति तामेव दिशमुपयाति, न गमनाभिमुखां दिशम्। अत एव गवाक्षनिःसृतानि वस्त्राणि ध्वजपताकादयश्च पश्चात्प्रदेशाभिमुखा एवोत्पतन्ति। पाषाणस्या-

साथ नहीं घूमती, उसी तरह से पृथ्वी पर निवास करने वाले अथवा उसके आसपास रहने वाले पदार्थों के उसकी गति से आकृष्ट होने पर भी आकाश में उड़ते बाज आदि के उसकी गति से आकृष्ट होने का कोई कारण नजर नहीं आता। जो मनुष्य अथवा पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि रेलगाड़ी में नहीं बैठे हैं, उनको घूमयान का वायु अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता। जैसे रेलगाड़ी के पास बिजली की बत्तियों पर उड़ने वाले फतिंगे उसकी गति से आकृष्ट नहीं होते, उसी तरह से पताका, बाण, मेघ, कबूतर, बाज प्रभृति भी जब पृथिवी से दूर उड़ने लगते हैं, तब उनका आकर्षण पृथ्वी की वायु नहीं कर सकता।

कुछ लोगों का कहना है कि रेलगाड़ी में बैठा हुआ आदमी जिस जगह कोई चीज गिराता है, वह वस्तु वायु के वेग के कारण कुछ आगे जाकर गिरती है, उसी तरह से पृथिवी पर विद्यमान सभी पदार्थ पृथिवी की वायु के आकर्षण में रह कर उसके साथ ही घूमते रहते हैं। किन्तु यह कथन भी सही नहीं है। रेलगाड़ी से गिराई गई वस्तुएं वायु के वेग के कारण पीछे की तरफ ही गिरेंगी। यदि वस्तु हलकी होती है तो वह उड़ने लगती है और यदि वह भारी है तो उसका पीछे की ओर खसकना नहीं दिखाई पड़ता। चक्कों से टकरा कर वायु रेलगाड़ी की गति की तरफ ही चलती है। यह देखा जाता है कि रेलगाड़ी के पहले चक्के से टकरा कर वायु पीछे की ओर घूमती है, किन्तु बाद के चक्कों से टकराकर वह पुनः आगे लौट आती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार रेलगाड़ी के सभी चक्के रेलगाड़ी जिस दिशा में चलती है, उसी दिशा की ओर वायु को भी ढकेलते हैं। चक्कों की गति में अधिक शक्ति रहती है, इसलिये इनके पास का वायु पीछे की तरफ न जाकर आगे की ओर ही चलता है, किन्तु रेलगाड़ी की खिड़की में जब वस्त्र फैलाया जाता है, तो वह पीछे की ओर ही उड़ेगा। साथ ही चक्कों के पास उड़ रही छोटी-मोटी चीजें चक्कों की गति के कारण आगे की ओर ही उड़ेंगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि चक्कों के ऊपर के हिस्से में विद्यमान पवन तो वस्तुओं को पीछे की ओर उड़ाता है, किन्तु चक्कों से उठा हुआ पवन वस्तुओं को आगे की ओर उड़ाता है। रेलगाड़ी में बैठा हुआ आदमी जब नदी में पत्थर फेंकता है, तो वह निश्चित लक्ष्य की ओर नहीं जाता, किन्तु कुछ आगे निकल जाता है। इस लिये रेलगाड़ी की वायु से वस्तु आगे की ओर ही आकृष्ट होती है, यह निष्कर्ष निकालना सही नहीं माना जा सकता। क्योंकि देखा यह जाता है कि रेलगाड़ी से टकरा कर वायु उसी दिशा की ओर जाता है, जिस दिशा से कि वह गाड़ी आ रही है। उस दिशा की ओर नहीं जाती, जिस दिशा में कि वह जा रही हो। इसीलिए उसकी खिड़की से निकाले गये वस्त्र, ध्वजा, प्रताका प्रभृति पदार्थ पीछे की ओर ही उड़ते है। रेलगाड़ी से फेंका गया पत्थर अपने लक्ष्य स्थान से जो दूर

भिमतप्रदेशाद् दूरपतनं तु यानस्य पुरोगामित्वेन लक्ष्यानुसन्धानप्रमादकृतमेव। एवमेव वायुयानान्निःक्षिप्तवस्तूनां लक्ष्यस्थानादग्रे पतनमपि न तद्वाय्वाकर्षणकृतम्, किन्तु वायुयानगतिवेगाल्लक्ष्यानुसन्धानप्रमादजनितमेव। वायुप्रभावोऽपि तत्र लक्ष्यानुसन्धाने बाधको भवति। पाश्चात्त्ये वायौ वस्तु पूर्वस्यां दिश्युत्सरिष्यति, प्राच्ये वायौ प्रतीच्यामुपसरिष्यति। स्पष्टं प्राच्ये वायौ प्रचलति ध्वजादयः प्रतीच्यामुत्पतन्ति। भूवायुस्तदा क्व गच्छति, कथं न तेन ध्वजादीनि प्राच्यां दिशि नाकृष्यन्ते ? किञ्च, यदि भूवायुना पृथिव्या असंस्पृष्टा अपि कपोताः पूर्वस्यां दिश्याकृष्यन्ते, तदा मेघा न कदाचिदपि प्रतीच्यां यास्यन्ति। कदाचिदेवमपि दृश्यते यन्निम्नप्रदेशे पौरस्त्यवायुप्रभावाद् घनाः प्रतीच्यां गच्छन्ति, तत उपरिष्टात् पाश्चात्त्यवायुप्रभावाद् घनाः पूर्वस्यां दिशि गच्छन्त उपलभ्यन्ते। भूवायुर्मेघान् पूर्वस्यां दिशि नाकर्षति, किन्तु स्वतन्त्रवाय्वनुरोधेनैव मेघानां गमनं भवति। तस्माद् भूवायुना मेघानामनाकर्षणाद् भूभ्रमणवादो मिथ्यैव मन्तव्यः।

किञ्चाधुनिकतमया भुशुण्ड्या प्रहिता गुलिका यावता कालेन पूर्वस्यां दिशि क्रोशपरिमितं देशमतिक्रम्य पतति, तावतैव कालेन प्रतीच्यामपि तावन्तमेव देशमतिक्रामति। भूवायोः प्रभावस्तत्र कथं न प्रतिफलति ? तथा सत्युपरिनिःक्षिप्तबाणोऽपि कथं भूवायुनाकृष्येत ? धूमयानमहायन्त्राद्युत्सृष्टो धूमो यावद्वाष्पवेगस्तावदूर्ध्वं गच्छति, तदनन्तरं वाय्वनुसारेणैव पूर्वस्यां प्रतीच्यामुदीच्यामवाच्यां वोपगच्छति। न स भूवायुना पूर्वस्यामेव दिशि नीयते। तेनापि भूभ्रमणकल्पना कल्पनैव। एवमेव वायुयानं यावत्या घटिकया प्रतीच्यां योजनसहस्रं याति, प्राच्यामपि योजनसहस्रं तावत्या घटिकया गच्छति। तत्र कथं न भुवः प्रभावः प्रतिफलति ?

जाकर गिरता है, उसका कारण यह है कि गाड़ी तेजी से आगे बढ़ती रहती है और उससे लक्ष्य का ठीक से अन्दाजा नहीं लग पाता। इसी तरह से वायुयान से फेंकी गई वस्तु लक्ष्य स्थान से जो आगे जाकर गिरती है, यह वायु के आकर्षण के कारण न होकर वायुयान की गति के कारण लक्ष्य का ठीक से अन्दाजा न बैठने की गलती के कारण ही होता है। लक्ष्य का ठीक से अन्दाजा बैठाने में वहां वायु की गति भी बाधक होती है। पछुआ हवा होने पर वस्तु पूरब की ओर गिरेगी और पुरवा हवा होने पर पश्चिम की ओर गिरेगी। यह स्पष्ट देखा जाता है कि जब पुरवा हवा चलती है, तब झण्डा पश्चिम दिशा की ओर ही उड़ता रहता है। उस समय पृथ्वी की वायु कहां चली जाती है कि जिससे यह झण्डा पश्चिम की ओर न उड़ कर पूरब की ओर ही उड़े। यदि पृथ्वी के वेग से उत्पन्न हुई वायु पृथिवी से बहुत दूर उड़ रहे कबूतर को पूरब दिशा की ओर खींचेगी तो इस दशा में मेघों की गति पश्चिम दिशा की ओर कभी नहीं होनी चाहिये। कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि नीचे की ओर उड़ रहे बादल पुरवा हवा के झोंको से पश्चिम की ओर उड़ने लगते हैं और कुछ ऊपर की ओर उठे हुए बादल ऊपर बह रही पछुआ हवा के झोंको से पूरब की ओर दौड़ते नजर आते हैं। यह तभी संभव हो सकता है, जब कि यह माना जाय कि पृथिवी की वायु के आकर्षण के अनुसार मेघों में गति सदा पूरब दिशा की ओर ही नहीं होती, किन्तु स्वतन्त्र वायु की गति के अनुसार ही मेघों की गति उस उस दिशा की ओर होती है। इस तरह से पृथिवी के भ्रमण से उत्पन्न हुई वायु का मेघ की गति से कोई सम्पर्क न माने जाने से उसके आधार पर सिद्ध किया गया पृथिवी के भ्रमण का सिद्धान्त सरासर गलत है।

एक बात और देखने की है। आजकल की नई से नई रायफल से चलाई गई गोली जितने समय में पूरब दिशा की ओर एक कोस दूर जाकर गिरती है, उतने ही समय में वह पश्चिम दिशा की ओर भी उतनी ही दूर जाकर गिरेगी। इस पर पृथिवी की वायु का प्रभाव क्यों नहीं पड़ता? ऐसी स्थिति में ऊपर फेंका गया बाण पृथिवी की वायु से क्यों आकृष्ट होता है? रेलगाड़ी या किसी बड़े कारखाने की ऊँची चिमनी से निकला धुंआ, जब तक उसका वेग रहता है, तब तक तो सीधे ऊँचा उठता है, किन्तु उसके बाद वह वायु की गति के अनुसार ही पूरब या पश्चिम की ओर उड़ता है। उसको पृथिवी की वायु सदा पूरब दिशा की ओर ही नहीं उड़ाती। इस उदाहरण से भी पृथ्वी के भ्रमण का सिद्धान्त गलत सिद्ध हो जाता है। इसी तरह से एक वायुयान जितनी देर में पश्चिम दिशा की ओर जितनी दूर उड़ता है, उतनी ही देर में वह पूरब दिशा की ओर भी उतनी ही दूरी तय करता है। इन दोनों विपरीत गतियों में पृथिवी की गति का प्रभाव क्यों नहीं पड़ता? इससे स्पष्ट है कि पृथिवी के भ्रमण का सिद्धान्त सही नहीं है। यदि पृथिवी घूमती रहती तो पूर्व दिशा की ओर रायफल की गोली और वायुयान जल्दी पहुँचता, क्योंकि पृथ्वी की गति उसमें सहायक रहती और पश्चिम दिशा की ओर पृथिवी की गति की बाधा के कारण वह देरी से पहुँचता। ऐसा नहीं देखा जाता। इससे यह सिद्ध होता है कि पृथिवी में कोई गति नहीं है।

किञ्चावन्तीक्षेत्रे वाराणस्यामिन्द्रप्रस्थे जयपुरे च ज्यौतिषसम्बन्धीनि यन्त्राणि निर्मापितानि विद्यन्ते। ततो ग्रहनक्षत्राणि सुखेन द्रष्टुं शक्यन्ते, दूरवीक्षणेन (दूरबीन) अतितरां स्पष्टम्। तेषु केनचिद् यन्त्रेण ध्रुवतारापि दृश्यते। तत्र निर्माणकालमारभ्याद्य यावत् तस्मात् स्थानादेकरूपेणैव ध्रुवतारा दृश्यते। ध्रुवताराया: पृथिव्या वा गतिमत्त्वं तन्नोपपद्यते। तथात्वेऽवश्यमेव तद्दर्शने वैरूप्यं स्यात्।

यत्तु केनचिदुच्यते पृथिव्याः कीलनस्थान एव ध्रुवो भवतीति, तदपि नोपपद्यते। भूभ्रमणवादिरीत्या सृष्टिमारभ्याद्ययावत् सूर्यो 'लिरा' ताराभिमुखमभियाति। भूगोलश्च वर्षेण सूर्यपरिक्रमणं करोति। सपादसप्तविंशतिदिवसैश्च चन्द्रमास्तां परिक्रामति। किं ध्रुवोऽपि पृथिव्या सार्धमेव सूर्यं परिक्राम्यति? दुर्जनतोषन्यायेन तथाभ्युपगमेऽपि ध्रुवाद्दक्षिणदिशि स्थितानि काश्यादिक्षेत्राणि भूभ्रमणात् कदाचिद् ध्रुवादुदीच्यामवश्यमेष्यन्ति। नैवं भवति, तस्माद् भूभ्रमणविचारो मिथ्यैव ज्ञातव्यः।

'मरुच्चलो भूरचला स्वभावतः' (सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्यायः)। भूमेः पिण्डः·····नान्याधारः स्वशक्त्यैव वियति नियतं तिष्ठति। 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' इति धातोः पृथिव्याः स्थैर्येण गतिनिवृत्तिरेव बोध्यते। निघण्टौ गौरिति पृथिव्या नामोक्तम्, तत्तु दूरं गता भवति (अर्थाद् विस्तृता भवति), यस्यां वा प्राणिनो गच्छन्तीत्युभयथा व्युत्पादयता यास्केनोपपादितम्। सूर्यसम्बन्धेन गोशब्दं व्युत्पादयता यास्केनोक्तम्—'गौरादित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे' (निरुक्त २।१४)। ये तु गच्छतीति गौः, अथवा गम्यतेऽनयेति गौरिति भूभ्रमणसिद्ध्यर्थं व्युत्पिपत्सन्ति, ते वेदं विरुन्धन्ति। तथाहि—'अस्थात् पृथिवी' (अथर्व० ६।४४।१), 'ध्रुवा पृथिवी' (अथर्व० ६।८८।१), 'तस्थतुः' (ऋ० संहिता ४।५६।२), 'द्यावापृथिवा' (ऋ० सं० ४।५६।१) सप्तर्चेऽस्मिन् सूक्त सर्वेष्वव मन्त्रेषु द्यावापृथिव्यौ

उज्जैन, वाराणसी, दिल्ली और जयपुर में बनी हुई वेधशालाओं में ओषधि संबन्धी अनेक यन्त्र लगे हुए हैं। इनसे ग्रह और नक्षत्रों को देखा जा सकता है। आजकल बनी दूरबीनों से ये सब अधिक स्पष्ट रूप में देखे जा सकते हैं। इनमें से किसी यन्त्र से ध्रुव को भी देखा जा सकता है। जब से इन वेधशालाओं का निर्माण हुआ, तब से लेकर अबतक ध्रुव तारा की एक ही स्थान पर स्थिति स्पष्ट होती है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि ध्रुव तारा में और पृथिवी में किसी तरह की गति नहीं है। यदि इनमें से किसी एक में भी गति होती तो उसके कारण निश्चित ही ध्रुवतारा की स्थिति में भी परिवर्तन अवश्य होता।

कुछ लोगों का कहना है कि पृथिवी की धुरी को ही तो ध्रुव नाम से जाना जाता है, किन्तु यह कहना भी सही नहीं है। पृथिवी के भ्रमण के सिद्धान्त को मानने वालों का मत यह है कि सृष्टि के आरम्भ काल से ही आज तक सूर्य 'लिरा' तारा की ओर खिसक रहा है और यह पृथ्वी एक वर्ष में सूर्य की पूरी परिक्रमा कर लेती है। सवा सत्ताईस दिनों में चन्द्रमा इस पृथिवी की परिक्रमा पूरी करता है। अब जानने की बात यह है कि क्या ध्रुवतारा भी पृथिवी के साथ ही सूर्य की परिक्रमा करता है। यदि कुछ देर के लिये इस बात को मान लिया जाय, तब तो ध्रुवतारा से दक्षिण दिशा में विद्यमान काशी प्रभृति स्थान पृथिवी के घूमने के कारण किसी समय ध्रुव से उत्तर दिशा में भी जा सकते हैं, किन्तु ऐसा कभी होता नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि यह पृथिवी के भ्रमण का सिद्धान्त पूरी तरह से गलत है।

सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय में बताया गया है कि पवन चल है और पृथिवी स्वभाव से ही अचल है। यह बताया गया है कि बिना किसी की सहायता के यह भूमि-पिण्ड अपनी शक्ति से ही आकाश में एक निश्चित स्थान पर ठहरा हुआ है। 'ष्ठा' धातु का अर्थ गति-निवृत्ति है। पृथिवी को स्थिर मानने पर ही उससे गति की निवृत्ति हो सकती है। निघण्टु में पृथिवी के नामों में एक नाम है गो। उसका अभिप्राय यह है कि यह पृथिवी बहुत दूर तक चली गई है, अर्थात् बहुत विस्तृत है। सारे प्राणी इस पृथ्वी पर चलते हैं, इसलिए भी उसको गो कहते हैं। ये दोनों ही निर्वचन निरुक्तकार यास्क ने बताये हैं। सूर्य के अर्थ में गो शब्द का विवेचन करते हुए निरुक्तकार बताते हैं कि यह सूर्य गो इसलिए कहलाता है कि यह रसों की सृष्टि करता है और अन्तरिक्ष में स्वयं चलता है। कुछ लोग पृथ्वी के भ्रमण के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिये गो शब्द की व्युत्पत्ति 'गच्छतीति गौः' ऐसी करते हैं, अर्थात् यह पृथ्वी चलती है, किन्तु उनकी यह यह व्युत्पत्ति अनेक वेदमन्त्रों के विपरीत पड़ती है। 'अस्थात् पृथ्वी' प्रभृति अथर्ववेद के

सम्बध्नीतः। 'द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः' (अथर्व० १०।८।२) इति मन्त्रवर्णः। एभिर्मन्त्रैर्भूमेः स्थैर्यमेवाभिधीयते। न चापि केनचिदपि मन्त्रेण भूमेर्गमनमभिधीयते।

यच्च केनचित् 'वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता' (अथर्व० १२।१।५२) इति मन्त्रेण वर्षपरिमितेन कालेन भूमिः स्वचक्रं पूरयतीत्यर्थमुपवर्ण्य पृथिव्या गतिः साधितेति, तत्तुच्छम्, भावार्थानवबोधात्। तदर्थस्त्वेवं ज्ञेयः—समग्रोऽयं मन्त्रः—'यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि। वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया धामनि धामनि' (अथर्व० १२।१।५२)। यस्यां पृथिव्यां कृष्णमरुणं चाहोरात्रे विहिते स्तः, या च भूमिर्वर्षेण वृष्ट्या वृता आवृता आच्छन्ना भवति। सा भद्रया वृत्त्या प्रियधामनि नोऽस्मान् दधातु। तत्र वर्षाशब्दः स्त्रीलिङ्ग ऋतुवाचकः। नपुंसकलिङ्गस्तु वर्षशब्दो वृष्टिवाचकः, 'वृष्टिर्वर्षम्' (अमरकोषः १।३।११) इत्यमराभिधानात्। वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं वृता आवृता गच्छति प्रत्यागच्छति इत्यर्थस्तु निर्मूल एव। तस्माद्युक्तिभिः श्रुतिभिश्च पृथिव्यादीनां भ्रमणकल्पना भ्रान्तिरेव सिद्ध्यति।

आकर्षणानुकर्षणविषयः

अथाकर्षणानुकर्षणसाधनाय, सूर्येण सह सर्वेषां लोकानामाकर्षणमस्ति, ईश्वरेण सह सूर्यादिलोकानां चेति साधनाय—'यदा ते हर्यता हरी वावृधाते दिवे दिवे। आदित्ते विश्वा भवनानि येमिरे॥' (ऋ० सं० ८।१२।२८) इत्युपन्यस्तम्, तदपि न सङ्गतम्, मन्त्रस्य तदसाधकत्वात्।

यदुक्तम्—'हे इन्द्रेश्वर वायो सूर्य, यदा यस्मिन् काले ते हरी आकर्षणप्रकाशनहरणशीलौ बलपराक्रमगुणौ अश्वौ किरणौ वा हर्यता प्रकाशवन्तावत्यन्तं वर्धमानौ भवतस्ताभ्या(मादित) तदनन्तरं दिवे दिवे प्रतिदिनं प्रतिक्षणं

मन्त्र और ऋग्वेद के एक सूक्त के अनेक मन्त्रों में भूमि की स्थिरता का ही प्रतिपादन किया गया है। इनमें से एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है, जिसमें कि पृथ्वी के भ्रमण की बात कही गई हो।

'वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता' इस अथर्ववेद के मन्त्र के आधार पर कुछ लोगों का कहना है कि एक वर्ष में पृथिवी अपनी परिक्रमा पूरी कर लेती है। इससे पृथिवी का भ्रमण सिद्धान्त वेदसंमत है, किन्तु उनका यह कथन इसलिये गलत है कि वे मन्त्र का अर्थ ही ठीक से समझ नहीं पाये हैं। मन्त्र का वास्तविक अर्थ यह है—जिस पृथिवी पर कृष्ण और अरुण वर्ण के रात और दिन विद्यमान हैं और जो भूमि समय-समय पर वृष्टि से आच्छन्न हो जाती है, यह पृथ्वी अपनी कल्पनाकारिणी वृत्ति से सदा हमारी प्रिय कामनाओं को पूरा करती रहे। इस मन्त्र में स्त्रीलिंग वर्षा शब्द ऋतु का वाचक है और नपुंसक लिंग का वर्ष शब्द वृष्टि का वाचक है। अमरकोश इसमें प्रमाण रूप से देखा जा सकता है। निरुक्त में भी बताया गया है कि वर्षा पृथिवी को आच्छादित कर देती है। इस तरह से यह सिद्ध हो जाता है कि एक वर्ष के काल से आवृत यह पृथिवी अपनी धुरी पर बार बार चलती रहती है, यह व्याख्या एक दम गलत है। इस तरह से अनेक युक्तियों के आधार पर और अनेक श्रुतिवचनों के आधार पर भी यह सिद्ध हो जाता है कि पृथिवी को भ्रमणशील मानने का सिद्धान्त निरा भ्रम है।

आकर्षणानुकर्षण पर विचार

आकर्षण और अनुकर्षण को, सूर्य के साथ सभी लोकों का और ईश्वर के साथ सूर्य आदि लोकों का परस्पर आकर्षण और अनुकर्षण होता रहता है, इस बात को सिद्ध करने के लिये दयानन्द ने 'यदा ते' इत्यादि मन्त्र को उपस्थित किया है। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह मन्त्र इस बात को सिद्ध नहीं करता।

'(यदा ते०) हे इन्द्र परमेश्वर, आपके अनन्त बल और पराक्रम गुणों से सब संसार का धारण, आकर्षण और पालन होता है। आपके ही सब गुण सूर्य आदि लोकों को धारण करते हैं। इस कारण से सब लोक अपनी-अपनी कक्षा और स्थान से इधर-उधर चलायमान नहीं होते। दूसरा अर्थ—इन्द्र जो वायु, सूर्य है, इसमें ईश्वर के रचे आकर्षण, प्रकाश और बल आदि बड़े-बड़े गुण हैं।

तव गुणा आकर्षणविकर्षणादयो विश्वा सर्वाणि सर्वान् लोकान् आकर्षणेन येमिरे नियमेन धारयन्ति, अतः कारणात् सर्वे लोकाः स्वां स्वां कक्षां विहायेतस्ततो नैव विचलन्ति' (पृ० १५५) इति दयानन्दीयं व्याख्यानं कुशकाशावलम्बनमात्रम्, प्रकृते हरिपदस्याश्वे प्रवृत्तत्वात् । इन्द्रपदेनापि मघवेन्द्रो ग्राह्यः, ऐन्द्रसूक्तस्य प्रकृतत्वात् । किञ्चात्र 'हरी' इति द्विवचनं कर्तृपदं 'वावृधाते' इत्यनेनान्वितत्वात् शान्ताकाङ्क्षम् । पुनश्च तद्बहुवचनेन विपरिणमय्य येमिरे इत्यनेन सम्बन्धापादनं बलात्कार एव । वस्तुतस्तु ते त्वया भुवनानि नियम्यन्ते स्मेत्येवार्थः । यदा हरी ववृधाते तदा । हर्यतेत्यपि 'हर्य गतिकान्त्योः' इति धातोर्निष्पन्नः । अस्मिन्नेव सूक्ते २६ मन्त्रे वृत्रवज्रिशब्दाभ्यां २७ मन्त्रे 'यदा ते विष्णुरोजसा त्रीणि पदा विचक्रमे । आदित्ते हर्यता हरी ववक्षतुः ॥' (ऋ० सं० ८।१२।२७) इतीन्द्रानुजविष्णुसम्बन्धाद् इन्द्रो गम्यते, ववक्षतुरिति वहधातुप्रयोगाच्चाश्वावेवात्र हरी ग्राह्यौ । मन्त्रार्थस्तु—हे इन्द्र, त्वदीयौ हर्यता हर्यतौ कान्तौ कान्तिमन्तौ कमनीयौ वा । हरी हरणशीलावश्वौ दिवे दिवे प्रतिदिवसं यदा यस्मिन् काले ववृधाते प्रवृद्धौ बभूवतुः, आदित् अनन्तरमेव त्वया विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि येमिरे नियम्यन्ते स्म ।

'यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे । आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥' (ऋ० सं० ८।१२।२९) । 'हे पूर्वोक्तेन्द्र, यदा ते तव मारुतीर्मारुत्यो मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना वा विशः प्रजास्तुभ्यं नियेमिरे तवाकर्षणधारणनियमं प्राप्नुवन्ति, तदैव सर्वाणि विश्वानि भुवनानि स्थितिं लभन्ते, तथा तवैव गुणैर्नियेमिरे आकर्षणनियमं प्राप्नुवन्ति सन्ति, अतः सर्वाणि भुवनानि यथाकक्षं भ्रमन्ति वसन्ति' (पृ० १५६) इति दयानन्दीयं व्याख्यानम् । अत्रोच्यते—प्रजा मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना विशः । 'येमिरे' इत्यस्य आकर्षणविकर्षणनियमं प्राप्नुवन्तीति कथमर्थः ? उपरमार्थस्य यमेरुपसर्गपूर्वकस्यापि नार्थे स्वैरिता युक्ता । तथैव भुवनानि येमिरे स्थितिं लेभिरे इत्यप्यर्थः कथमिति चिन्त्यम् । तवैव गुणैराकर्षणनियमं प्राप्नुवन्ति सन्तीत्यप्युदक्षरमेव ।

उनसे सब लोकों का दिन-दिन और क्षण-क्षण में धारण, आकर्षण और प्रकाश होता है। इस हेतु से सब लोक अपनी-अपनी ही कक्षा में चलते रहते हैं, इधर-उधर नहीं विचल सकते' (पृ० १५५)। दयानन्द की यह व्याख्या कुश और काश का सहारा लेने के समान है। प्रकृत मन्त्र में हरि पद की प्रवृत्ति अश्व के अर्थ में हुई है। इन्द्र पद से भी देवराज इन्द्र का ग्रहण होता है, क्योंकि प्रकृत सूक्त इन्द्र संबन्धी ही है। यहाँ 'हरी' यह द्विवचनान्त कर्ता है, इसका संबन्ध 'वावृधाते' क्रिया से होने से इसकी आकांक्षा शान्त हो जाती है। फिर भी दयानन्द भाष्य में द्विवचन को बहुवचन में परिवर्तित कर उसका 'येमिरे' पद से अन्वय करना जबर्दस्ती ही है। वास्तव में यहाँ अर्थ यह होगा कि तुम सारे जगत् का नियमन करते हो, जब कि तुम्हारे घोड़े आगे बढ़ते हैं। 'हर्यता' शब्द गति और कान्ति अर्थ वाली 'हर्य' धातु से बनता है। इसी सूत्र के २६वें मन्त्र में आये वृत्र और वज्रि शब्दों से और २७वें मन्त्र में भी इन्द्र के अनुज विष्णु के संबन्ध से यहाँ इन्द्र का ही संबन्ध बैठता है। 'ववक्षतुः' इस पद में 'वह' धातु का प्रयोग होने से 'हरी' पद से घोड़ों का ही ग्रहण होता है। मन्त्र का वास्तविक अर्थ यह है—हे इन्द्र, तुम्हारे कान्तिमान् अथवा सुन्दर वहनशील दो घोड़े प्रतिदिन जिस समय बढ़ चलते हैं, तभी तुम सारे भुवनों को और उसमें रहने वाले प्राणियों को ठीक तरह से अपने नियन्त्रण में लेने में समर्थ होते हो।

'यदा ते मारुती०' इस मन्त्र की दयानन्द ने यह व्याख्या की है—'इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है। हे परमेश्वर, आपकी जो प्रजा, उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय धर्मवाली है, तथा जिसमें वायु प्रधान है, वह आपके आकर्षण आदि नियमों से तथा सूर्यलोक के आकर्षण से भी स्थिर हो रही है। जब इन प्रजाओं को आपके गुण नियम में रखते हैं, तभी भुवन अर्थात् सब लोक अपनी-अपनी कक्षा में घूमते हुए रह रहे हैं' (पृ० १५६)। इस पर हमारा कहना है कि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय धर्मवाली प्रजा, जिसमें कि वायु प्रधान है, वह आपके आकर्षण-विकर्षण नियम से स्थिर है, यह अर्थ आप किन शब्दों से निकालते हैं। 'येमिरे' पद को तो उपराम अर्थ वाली 'यम' धातु से उप उपसर्ग लगाकर बनाया जाता है। उससे इस तरह का अर्थ जबर्दस्ती नहीं निकाला जा सकता। उसी तरह से 'भुवनानि येमिरे' का अर्थ सब लोक अपनी-अपनी कक्षा में घूमते हुए रह रहे हैं, यह करना भी विचारणीय है। तुम्हारे ही गुणों के कारण ये आकर्षण के नियम का पालन करते हैं, यह कहना भी अक्षरार्थ के अनुकूल नहीं है।

सायणादिसम्मतस्त्वयं मन्त्रार्थः—हे इन्द्र, ते तुभ्यं त्वदर्थं मारुत्यो मरुद्रूपाः प्रजाः, ते त्वदीया विशः, यदा यस्मिन् काले भूतजातानि नियेमिरे नियच्छन्ति, आदित् अनन्तरमेव ते त्वया भुवनानि येमिरे नियम्यन्ते स्म। सिद्धान्तरीत्या इन्द्रो देवेश्वरः, मरुद्गणास्तत्प्रजास्थानीयाः। दितेर्गर्भस्य सप्तसप्तधा खण्डितत्वात् तत एकोनपञ्चाशत्संख्याका मरुतो जाताः। ते चेन्द्रस्य सहकारिणो जाताः। अत एव यथा तदीययोर्हर्योरभिवृद्धचेन्द्रेण भुवनानि नियम्यन्ते, तथैव तदीयसहकारिणो मरुतो यदा भूतानि नियच्छन्ति तदैवेन्द्रेण लोका नियम्यन्ते। मरुतां सर्वान्तश्चारित्वात् सर्वनियामकत्वमपि प्रसिद्धमेव। सहकारिसाहाय्येनेश्वराणां नियामकत्वमपि प्रसिद्धमेव। तथा चात्रापि न सूर्यचन्द्रादीनामाकर्षणविकर्षणादिभिर्धारणादिकं सिद्धयति।

'यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥' (ऋ० सं० ८।१२।३०)। हे परमेश्वर, अमुं सूर्यं भवान् रचितवानस्ति, यद्दिवि द्योतनात्मके त्वयि शुक्रमनन्तं सामर्थ्यं ज्योतिः प्रकाशमयं वर्तते, तेन त्वं सूर्यादिलोकानधारयः धारितवानसि। तदनन्तरं विश्वा भुवनानि सर्वाणि भुवनानि सूर्यादयो लोका अपि येमिरे तदाकर्षणनियमेनैव स्थिराणि सन्ति। अर्थाद् यथा सूर्याकर्षणेन पृथिव्यादयो लोकास्तिष्ठन्ति, तथा परमेश्वरस्याकर्षणेन सूर्यादयः सर्वे लोका नियमेन सह वर्तन्ते' (पृ० १६५) इति दयानन्दीयं व्याख्यानम्। अत्रापि रचितवानिति क्रियापदं काल्पनिकमेव। भगवदीयं प्रकाशमयं सामर्थ्यं भगवत्येव सुतरां तिष्ठति, दिवि तद्धारणोक्तिरपार्थैव। किञ्च, यथा परमेश्वरस्याकर्षणेन सूर्यादयस्तिष्ठन्ति, तथैव तेनैव पृथिव्यादयोऽपि स्थास्यन्त्येव। किं सूर्यगताकर्षणकल्पनया? वचनं तु किमपि तादृशं नैवोपलभ्यते, येन त्वदुक्तं सिद्धयेत्।

मन्त्रार्थस्तु—हे इन्द्र, अमुं विप्रकृष्टं शुक्रं निर्मलं ज्योतिः द्योतमानं सूर्यं सर्वस्य प्रेरकं शोभनवीर्यं वादित्यं दिवि द्युलोके जगतः प्रकाशनाय यदा यस्मिन् काले अधारयः धारितवानसि, अनन्तरमेव त्वया विश्वा भुवनानि येमिरे

इस मन्त्र का सायण आदि का किया गया अर्थ यह है—हे इन्द्र, तुम्हारे लिये मरुद् देवता रूप तुम्हारी प्रजा सहायक के रूप में उपस्थित होकर जिस समय सब प्राणियों का नियमन करने लगती है, उसके बाद ही तुम इन भुवनों पर शासन करने में समर्थ होते हो। वैदिक पद्धति के अनुसार इन्द्र देवराज है, मरुद्गण उसकी सहायक प्रजा है। जैसा कि राजा के कर्मचारी उसकी सहायता करते हैं, वैसे ही मरुद्गण इन्द्र की सहायता में लगे रहते हैं। दिति के गर्भ को इन्द्र ने सात बार काटा था। पुनः उसमें से प्रत्येक टुकड़े के पुनः सात-सात टुकड़े किये थे। इसी से ४९ प्रकार के मरुद्गणों की उत्पत्ति हुई थी। ये सब इन्द्र के सहायक हो गये थे। इसीलिये जैसे अपने घोड़ों की सहायता से इन्द्र सब लोकों पर अपना नियन्त्रण स्थापित करता है, उसी तरह से अपने सहायक मरुद्गणों की मदद से भी वह प्रजा पर नियमन करता है। मरुद्गण सब प्राणियों के अन्दर भी संचरण करते रहते हैं, अतः उनकी सहायता से यह कार्य भलीभाँति होता रहता है। अपने कर्मचारियों की सहायता से ही राजा प्रजा पर नियन्त्रण कर सकता है, यह प्रसिद्ध बात है। इस तरह से इस मन्त्र में भी सूर्य-चन्द्र आदि के आकर्षण-विकर्षण की कोई चर्चा नहीं सिद्ध हो पाती।

'यदा सूर्यममुं' इत्यादि मन्त्र की दयानन्द संमत व्याख्या यह है—'इस मन्त्र में भी आकर्षण विचार है। हे परमेश्वर, जब उन सूर्यादि लोकों को आपने रचा, वे आपके ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं और आप अपने अनन्त सामर्थ्य से उनको धारण कर रहे हो, इसी कारण से सूर्य और पृथिवी आदि लोकों और अपने स्वरूप को धारण कर रहे है। इन सूर्य आदि लोकों का सब लोकों के साथ आकर्षण से धारण होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर ही सब लोकों का आकर्षण और धारण कर रहा है' (पृ० १५६)। यहाँ भी 'रचितवान्' यह क्रिया मूल मन्त्र में न होकर दयानन्द की कल्पना से पैदा हुई है। भगवान् का प्रकाशमय सामर्थ्य निश्चित रूप से भगवान् में ही रहेगा, आकाश में उसके रहने की बात व्यर्थ है। जब परमेश्वर की आकर्षण सामर्थ्य से सूर्य प्रभृति ठहरे रहते हैं, तो उसी सामर्थ्य से पृथिवी प्रभृति भी स्थिर रहेंगे, फिर सूर्य के आकर्षण की कल्पना व्यर्थ है। आपकी बात का समर्थन करने वाला कोई वचन वेद में उपलब्ध नहीं है।

वस्तुतः मन्त्र का अर्थ यह है—हे इन्द्र, बहुत दूर चमक रहे निर्मल प्रकाशवाले, सब के लिये प्रेरणादायक उत्तम सामर्थ्य वाले इस सूर्य को जब आपने सारे जगत् में प्रकाश को फैलाने के लिये आकाश में स्थापित किया, उसके बाद ही तुम सारे भुवनों तथा

नियम्यन्ते स्म । सूर्यस्यापि सहकारित्वात् तस्य दिवि धारणेन विश्वनियन्त्रणं युज्यत एव, सूर्यस्य देवबलवर्धकत्वात् ।

'व्यस्तम्नाद्रोदसी मित्रो अद्भुतोऽन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः । विचर्षणीव धिषणे अवर्तयद् वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम् ॥' (ऋ० सं० ६।८।३) । 'हे परमेश्वर, तव सामर्थ्येन वैश्वानरः पूर्वोक्तः सूर्यादिलोकः, रोदसी द्यावापृथिव्यौ भूमिप्रकाशौ व्यस्तम्नात् स्तम्भितवान् । अतो भवान् मित्र इव सर्वेषां लोकानां व्यवस्थापकोऽस्ति । अद्भुत आश्चर्यस्वरूपः सवित्रादिलोको ज्योतिषा तमोऽन्तः करोति तिरोहितं निवारितं तमः करोति, वावत् तथैव धिषणे धारणकर्त्र्यौ द्यावापृथिव्यौ धारणाकर्षणे व्यवर्तयद् विविधतयैतयोर्वर्तमानं कारयति । कस्मिन्निव ? चर्मण्याकर्षितानि लोमानीव । यथा त्वचि लोमानि स्थितानि आकर्षितानि भवन्ति, तथैव सूर्यादिलोकाकर्षणेन सर्वे लोकाः स्थापिताः सन्तीति विज्ञेयम् । अतः किमागतम् ? वृष्ण्यं वीर्यवद् विश्वं सर्वं जगच्च सूर्यादिलोको धारयति । सूर्यादेर्धारणमीश्वरः करोति' (पृ० १५७) इति दयानन्दीयं व्याख्यानम् ।

तत्राप्युच्यते—वैश्वानरः सूर्यलोक इति नह्यनुन्मत्तो वक्तुमर्हति । ननु 'विश्वानरस्यादित्यस्य तस्य शवसो महतः' (नि० १२।२१) इति निरुक्ते विश्वानरशब्दस्यादित्यपरत्वमस्त्येवेति चेन्न, तत्रादित्यपरत्वेऽपि प्रकृते वैश्वानरशब्दस्यादित्यपरत्वे मानाभावात्, 'विश्वानरस्य वस्पतिम्' (ऋ० सं० ८।६८।४) इति मन्त्रे पृश्निशब्देनेन्द्रवाचिना व्यपदेशात् । षष्ठयन्तस्य विश्वानरशब्दस्य द्युस्थानवाचित्वे सामर्थ्यमुपपद्यत इति दुर्गाचार्यः । अतो रजःशब्दो रजसि प्रसिद्धोऽपि यथा आकृष्णेन रजसेत्यत्र न गृह्यते, तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम् । हे परमेश्वर, तव सामर्थ्येनेत्यपि मन्त्रार्थबहिर्भूतम्, मन्त्रे तादृशपदाभावात्, वैश्वानराग्नेरेवात्र स्तूयमानत्वात् । परमेश्वरस्यात्र लोकव्यवस्थापकत्वमपि नोक्तम्, परमेश्वरस्याप्रकृतत्वात् । धिषणे धारणकर्त्र्यौ लोमानीत्यपि स्वाभ्यूहितमेव, मूले लोमपदस्य शशविषाणायितत्वात् ।

उनमें रहने वाली सारी प्रजा पर नियन्त्रण स्थापित करने में समर्थ हो सके हो । सूर्य भी इन्द्र का सहायक है । सूर्य देवताओं के बल को बढ़ाने वाला है, अतः इसको आकाश में स्थापित कर इन्द्र का प्रजा पर नियन्त्रण करना उचित ही माना जायेगा।

'व्यस्तम्नाद् रोदसी०' इत्यादि मन्त्र का दयानन्द ने यह अभिप्राय बताया है—'इस मन्त्र में भी आकर्षण विचार है । हे परमेश्वर, आपके प्रकाश से ही वैश्वानर अर्थात् सूर्य आदि लोकों का धारण और प्रकाश होता है । इस हेतु से सूर्य आदि लोक भी अपने-अपने आकर्षण से अपना और पृथिवी आदि लोकों को भी धारण करने में समर्थ होते हैं । इस कारण से आप सब लोकों के परम मित्र और स्थापन करने वाले हैं । आपका सामर्थ्य अत्यन्त आश्चर्य रूप है । सविता आदि लोक अपने प्रकाश से अन्धकार को निवृत्त कर देते हैं, तथा प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप इन दोनों लोकों का समुदाय इनके धारण और आकर्षण के व्यवहार का विषय बनता है । अर्थात् इससे नाना प्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है । वह आकर्षण किस तरह का है ? जैसे कि त्वचा में लोम का आकर्षण होता है, वैसे ही सूर्य आदि लोकों के आकर्षण के साथ सब लोकों का आकर्षण हो रहा है और परमेश्वर भी इन सूर्य आदि लोकों का आकर्षण कर रहा है' (पृ० १५७) ।

इस पर हमारा यह कहना है—पागल आदमी ही वैश्वानर को सूर्यलोक मान सकता है । यदि यह कहा जाय कि निरुक्त में वैश्वानर का अर्थ आदित्य किया गया है, तब आप ऐसी बात क्यों कहते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि निरुक्त में भले ही प्रसंगवश कहीं वैश्वानर का अर्थ आदित्य किया गया हो, किन्तु प्रस्तुत मन्त्र में तो वैश्वानर पद का अर्थ आदित्य करने में कोई प्रमाण नहीं है । 'विश्वानरस्य वस्पतिः' इस मन्त्र में इन्द्रवाची पतिशब्द के साथ इसका उल्लेख हुआ है । अतः दुर्गाचार्य का कहना है कि षष्ठी विभक्ति वाले विश्वानर शब्द का द्युस्थानवाचक आदित्य को बोधित करने का सामर्थ्य हो सकता है । इसलिये रज शब्द यद्यपि धूल अर्थ में प्रसिद्ध है, किन्तु इसका यह अर्थ 'आकृष्णेन रजसा' इस मन्त्र में नहीं ग्रहण किया जाता । इसी तरह से विश्वानर शब्द का आदित्यपरक अर्थ भी यहाँ नहीं दिया जा सकता । हे परमेश्वर, तुम्हारे सामर्थ्य से, यह अर्थ भी मन्त्राक्षरों से बाहर का है, क्योंकि मन्त्र में इस अर्थ के बोधक पद विद्यमान नहीं हैं। वस्तुतः इस मन्त्र में वैश्वानर पद से अग्नि का ही बोध होता है। परमेश्वर लोक की सब तरह की व्यवस्था करता है, यह बात भी मन्त्र में नहीं कही गई है । मन्त्र में परमेश्वर का कोई प्रसंग भी नहीं है । 'धिषणे' पद का अर्थ 'धारण करने

लोमपदाभावादेव चर्मणि स्थितानि लोमानीत्यपि कल्पनामात्रम्। सूर्यादिलोकः सर्वं जगद् धारयति तस्य धारणमीश्वरः करोतीत्यपि मन्त्रेऽस्मिन् खपुष्पायितमेव, तादृगर्थबोधकपदाभावात्।

मन्त्रार्थस्त्वेवं ज्ञातव्यः—मित्रः मित्रभूतः सर्वेषाम् अद्भुतो महान् आश्चर्यभूतो वा वैश्वानरोऽग्निः रोदसी द्यावापृथिव्यौ व्यस्तम्नात् अधः पतनात् स्वस्वस्थाने स्थापितवान् तथा ज्योतिषा प्रकाशेन तमोऽन्धकारम् अन्तर्वावत् अन्तर्हितं तिरोहितमकृणोत् अकरोत्, वा गतिगन्धनयोरिति धातोर्यङ्लुगन्तस्य रूपम्। किञ्च, स एव वैश्वानरः धिषणे धारयित्र्यौ द्यावापृथिव्यौ चर्मणीव यथा कश्चिच्चर्मकार्यकरः चर्मणी द्वे चर्मणी शोषणार्थं प्रसारयति तथा वि अवर्तयत् विवृते विस्तृते अकरोत्। किं बहुनायं वैश्वानरोऽग्निः विश्वं सर्वं वृष्ण्यं वीर्यमाधत्त धत्ते धारयति। इदं सप्तर्चमष्टमं सूक्तं भारद्वाजस्यार्षं वैश्वानराग्निदेवताकम्। महाभाग्याद्देवतायाः वैश्वानरस्य सर्वेषां मित्रभूतत्वमाश्चर्यमयत्वम्, रोदस्योर्धारकत्वं तमस्तिरोधायकत्वं चर्मवत् द्यावापृथिव्योः प्रसारकत्वं सर्वबलधारकत्वं च नानुपपन्नम्, अग्नेर्दार्ढ्यहेतुत्वाद् रोदस्योर्धारकत्वं वीर्यबलधारकत्वं अग्नेरूष्मायां सत्यामेव बलवत्सु बलदर्शनात्। प्रसारणहेतुत्वं ज्योतिष्मत्वाच्च तमोनिवारकत्वम्। स च महान् देवोऽग्निर्यस्य परमेश्वरस्यांशो भवति तस्य लोकोत्तरमाहात्म्यं नु सुतरां सिद्ध्यति।

यच्च—'आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च। हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥' (वा० सं० ३३।४३)। 'अत्राप्याकर्षणाविद्यास्तीति। सविता परमात्मा सूर्यलोको वा रजसा सर्वलोकैः सह आकर्षणगुणेन सह वर्तमानोऽस्ति। कथंभूतेन गुणेन हिरण्ययेन ज्योतिर्मयेन। पुनः कथंभूतेन गुणेन रमणानन्दादिव्यवहारसाधकज्ञानतेजोरूपेण रथेन। किं कुर्वन् मर्त्यं मनुष्यलोकममृतं सत्यविज्ञानं किरणसमूहं वा स्वकक्षायां निवेशयन्

वाले लोग' करना भी आपको मनमानी ही है। मन्त्र में लोम पद के अभाव में इस तरह की कल्पना खरहे के सींग की कल्पना की तरह मानी जायेगी। त्वचा में लोम का आकर्षण होता है, यह भी कोरी कल्पना है। सूर्य आदि लोक सारे जगत् को धारण करते हैं और इनका भी धारक ईश्वर है, यह अर्थ भी मन्त्र की दृष्टि से आकाश के पुष्प की कल्पना के सदृश है, क्योंकि इस अर्थ को बताने वाले पद मन्त्र में विद्यमान नहीं हैं।

मन्त्र का वास्तविक अर्थ इस प्रकार से है—सभी प्राणियों का मित्र अर्थात् सहायक, महान् आश्चर्यजनक स्वभाव वाला यह वैश्वानर अग्नि आकाश और पृथिवी को अपने अपने स्थान पर रोके हुए है। तथा अपने प्रकाश से अन्धकार को तिरोहित कर रखा है। 'वावत्' यह पद गति और गन्ध अर्थ वाली 'वा' धातु के यङ्लुगन्त प्रत्यय का रूप है। साथ ही यह अग्नि आकाश और पृथिवी को उसी तरह से फैलाये हुए है, जैसे कि कोई चर्मकार चमड़े को सुखाने के लिये फैला देता है। इस अग्नि का अधिक माहात्म्य क्या कहा जाय? यह वैश्वानर अग्नि ही सारे वीर्य को धारण करता है। यह सात ऋचाओं वाला आठवां सूक्त भरद्वाज ऋषि द्वारा परिदृष्ट है और वैश्वानर अग्नि इसका देवता है। देवता महान् ऐश्वर्य सम्पन्न होते हैं। अतः वैश्वानर अग्नि सभी का सहायक हो, उसका स्वरूप अथवा कार्य आश्चर्यजनक हो, यह आकाश और पृथिवी का धारक हो, अन्धकार का नाश करने वाला हो, चमड़े के समान आकाश और पृथ्वी को फैलाता हो, सब तरह के बल का धारक हो तो इसमें क्या अनुपपत्ति हो सकती है? अग्नि से दृढ़ता प्राप्त होती है। आकाश और पृथिवी की धारकता और वीर्य एवं बल की आधायकता अग्नि की गरमी के कारण ही होती है। यह देखा जाता है कि बलवान् के शरीर में गरमी अधिक रहती है। अग्नि प्रसारण का भी कारण है और अपने प्रकाश से अन्धकार का निवारक भी है। यह महान् देवता अग्नि जिस परमेश्वर का अंश है, उसका लोकोत्तर माहात्म्य तो स्वतः सुतरां सिद्ध हो जायेगा।

'आकृष्णेन०' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या करते हुए दयानन्द ने इसका यह अभिप्राय बताया है—'इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है। सविता जो परमात्मा, वायु और सूर्य लोक हैं, वे सब लोकों के साथ आकर्षण, धारण गुण से सहित रहते हैं। सो हिरण्मय अर्थात् अनन्त बल, ज्ञान और तेज के साथ 'रथेन' आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करने के योग्य ज्ञान और तेज से युक्त हैं। इसमें परमेश्वर सब जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात् सत्य विज्ञान को सदैव प्रकाशित करता है और सूर्य लोक भी रस आदि पदार्थों को मर्त्य अर्थात् मनुष्य लोक में प्रवेश कराता और सब लोकों को व्यवस्था से अपने अपने स्थान में रखता है। इसी तरह परमेश्वर धर्मात्मा ज्ञानी लोगों

व्यवस्थापयन् सन्, तथा मर्त्यं पृथिव्यात्मकं लोकं प्रत्यमृतं मोक्षम्, ओषध्यात्मकं वृष्ट्यादिकं रसं च प्रवेशयन् सूर्यो वर्तमानोऽस्ति। स च सूर्यो देवो द्योतनात्मको भुवनानि सर्वान् लोकान् धारयति, तथा पश्यन् दर्शयन् सन् रूपादिकं विभक्तं याति प्रयातीत्यर्थः। अस्मात् पूर्वमन्त्राद् द्युभिरक्तुभिरिति पदानुवर्तनात् सूर्यो द्युभिः सर्वैर्दिवसैरक्तुभिः सर्वाभी रात्रिभिश्चार्थात् सर्वाल्लोकान् प्रतिक्षणमाकर्षतीति गम्यते। एवं सर्वेषु लोकेष्वात्मिका स्वा स्वाप्याकर्षणशक्तिरस्त्येव। तथानन्ताकर्षणशक्तिस्तु खलु परमेश्वरेऽस्तीति मन्तव्यम्। रजो लोकानां नामास्ति। 'लोका रजांसि' (नि० ४।१९) इति निरुक्तवचनात्। 'रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा, रयतेर्वा, रसतेर्वा' (नि० ९।११), 'विश्वानरस्यादित्यस्य' (नि० १२।२१), (पृ० १५७-१५८) इति दयानन्दीयं व्याख्यानम्।

तदपि विश्रृङ्खलमेव, 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इति पाणिनीयाभिधानानुसारेण आङुपसर्गस्य वर्तमान इति क्रियापदेन सम्बन्धात्, कृष्णेनेत्यसम्बन्धात्, आकर्षणार्थाबोधकत्वाच्च। सविता परमात्मा सूर्यलोको वेति निर्मूलम्, सवितृदेवस्यात्र स्तूयमानत्वात्। रजःशब्दस्य लोकवाचकत्वमपि प्रकरणानुसारेणैव भवति, न तु स्वेच्छया, रजःशब्दस्यानेकार्थतास्वीकारात्। 'ज्योती रज उच्यते, उदकं रज उच्यते, लोका रजांस्युच्यन्ते, असृगहनी रजसी उच्येते, रजांसि चित्रा विचरन्ति तन्यव इत्यपि निगमो भवति' (नि० ४।१०) इत्यादिवचनेभ्यः। 'त्वया दृढानि सुक्रतो रजांसि' इति च। तच्च रज्जतेर्योगाद् ज्योतिः स्वेन प्रकाशेन द्रव्याणि रञ्जयति, तेन रज उच्यते। उदकं च स्नेहाख्येन गुणेनानुरञ्जयति। 'रजसश्च नेता' (ऋ० सं० १०।८।६)। लोकेष्वपि प्राणिनो रज्यन्त इति लोका रजांस्युच्यन्ते, 'असृगहनी रजसी उच्येते रञ्जकत्वात्' (नि० २।२१) इति निरुक्तवचनात्। 'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तते रजसी वेद्याभिः' (ऋ० सं० ६।९।१) अत्र कृष्णमहः रात्रिः, अर्जुनं शुक्लमहर्दिनम्। अत्र च रजसेत्येकवचनम्, अत एव रात्रिपरं रजः।

को अमृतरूप मोक्ष देता और सूर्यलोक भी रसयुक्त औषधि और वृष्टि के अमृतरूप जल को पृथिवी में प्रविष्ट करता है। परमेश्वर सत्य-असत्य का प्रकाश और सब लोकों का प्रकाश करके सबको जनाता है, तथा सूर्यलोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता है। इस मन्त्र से पहले के मन्त्र में से 'द्युभिरक्तुभिः' इस पद की अनुवृत्ति करने से यह अर्थ निकलता है कि दिन-रात अर्थात् सब समय में सब लोकों के साथ सूर्यलोक का और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है। सब लोकों में ईश्वर की ही रचना से अपना अपना आकर्षण है और परमेश्वर की तो आकर्षण रूप शक्ति अनन्त है। यहां लोकों का नाम 'रज' है। रथ शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जिससे रमण और आनन्द की प्राप्ति होती है, उसको रथ कहते हैं। रज और रथ शब्दों के इन अर्थों में प्रयुक्त होने का प्रमाण निरुक्त में बताया है। ऐसे धारण और आकर्षण विद्या को सिद्ध करने वाले मन्त्र वेदों में बहुत हैं' (पृ० १५८-१५९)।

यह सारी व्याख्या ऊटपटांग है। 'व्यवहिताश्च' इस पाणिनि सूत्र के अनुसार आङ् उपसर्ग का संबन्ध 'वर्तमान' क्रिया पद से है। 'कृष्णेन' इससे उसका कोई संबन्ध न बन पाने से वह आकर्षण अर्थ का बोधक नहीं हो सकता। सविता पद का अर्थ परमात्मा या सूर्यलोक कहना भी गलत है, क्योंकि इस मन्त्र में तो सविता देवता की स्तुति की गई है। 'रज' शब्द भी निरुक्त के अनुसार लोक शब्द का वाचक प्रकरण के अनुसार ही हो सकता है, मनमाने तरीके से नहीं, क्योंकि यह शब्द अनेक अर्थों का वाची होता है और जो शब्द अनेक अर्थों के वाची होते हैं, उनका प्रकरण के अनुसार ही कोई एक अर्थ लिया जाता है। निरुक्त में बताया गया है कि रज शब्द ज्योति, उदक, लोक, असृक् (रात्रि), दिन आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। ज्योति को रज इसलिए कहते हैं कि यह अपने प्रकाश से सभी पदार्थों को रंग देता है, जल अपने स्नेह गुण से सबको रंग देता है। लोक को रज इसलिये कहते हैं कि इसमें प्राणी बड़े आराम से रहते हैं, असृग् और अहन् अर्थात् दिन और रात्रि को रज इसलिये कहते हैं कि इनमें सब प्राणी निरन्तर गतिशील अवस्था में अनुरक्त रहते हैं। श्रुति में 'अहस्' शब्द के साथ कृष्ण और अर्जुन शब्द जुड़े हुए हैं। इनमें कृष्ण अहस् को रात्रि तथा अर्जुन (शुक्ल) अहस् को दिन कहा जाता है। वे भी रज शब्द से ही जाने जाते हैं। इस मन्त्र में 'रजसा' पद एक वचन में प्रयुक्त है, अतः कृष्ण रज शब्द से यहाँ रात्रि का ही बोध होगा।

किञ्च, त्वयाकर्षणं गुण उच्यते। न च गुणस्य हिरण्यत्वं ज्योतिर्मयत्वं वा सम्भवति, गुणे गुणानङ्गीकारात्। गुणत्वादेव ज्ञानवत्त्वमपि न सम्भवति। अत एव रमणानन्दादिव्यवहारसाधकज्ञानतेजोरूपत्वमाकर्षणगुणस्य न सम्भवति। न च ज्ञानरूपमेवाकर्षणमिति वाच्यम्, तथा सति सूर्यादिलोकस्य ज्ञानवत्त्वेन चेतनत्वापत्त्या लोकत्वव्याघातात्। ज्ञानमनधिगतगन्तृ न त्वकृतकर्तृ, तथाऽदर्शनात्।

किञ्च, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति रथो भवति। किञ्च, यः शब्दो यस्मिन्नर्थे प्रसिद्धः, तस्मिन्नेव कयाचिन्निरुक्त्या स शब्दो वर्तत इत्येव निरुक्तस्य कार्यम्। रथशब्दो गमनसाधनविशेषे प्रसिद्धः, तत्र कथं रथशब्दस्य प्रवृत्तिरिति निरुक्त्या प्रदर्श्यते। तेन रमणादिव्यवहारहेतुत्वाद् वाहनविशेषे रथशब्दो युज्यते। नहि रमणानन्दादिव्यवहारहेतुत्वेनाकर्षणगुणे रथशब्दस्य प्रवृत्तिः, अन्यथा रमणादिव्यवहारसाधनत्वाद् योषिदादिष्वपि रथशब्दप्रवृत्तिः स्यात्। न च तथेष्यते, शिष्टप्रयोगादर्शनात्। अत एव निरुक्तकारो निरुक्तशब्दस्याविप्रतिपन्नमुदाहरणमपि दर्शयति, यथाऽनुपदमेव रजःशब्दस्य तद्दर्शितम्। (९।११) निरुक्तस्थले 'यज्ञसंयोगाद्राजा स्तुतिं लभते, राजसंयोगाद् युद्धोपकरणानि, तेषां रथः प्रथमगामी भवति' इति युद्धोपकरणभूतस्य रथस्यैव 'रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति रमतेर्वा रसतेर्वा' इत्यादि निर्वचनम्। तस्माद्रथशब्दस्याकर्षणगुणे योजनमज्ञानविजृम्भितमेव। न चाकर्षणगुणे मनुष्यो रममाणः स्थातुं शक्नोति, गुणस्यामूर्तत्वेन स्थित्याधारत्वायोगात्। एवमेवामृतशब्दस्याप्यर्थान्तरकरणमसङ्गतम्। एवमेव देवशब्दस्य विशिष्टैश्वर्यवद्देवताविशेषार्थपरित्यागोऽपि दोष एव। पश्यन्नित्यस्यापि दर्शयन्नि-

अपि च, आप आकर्षण को गुण मानते हैं। गुणों में गुण की सत्ता मान्य नहीं है, तब इसमें हिरण्यत्व और ज्योतिर्मयत्व गुण कैसे रह सकते हैं। इसीलिये इसमें ज्ञानवत्त्व भी नहीं रह सकता। इसीलिये आकर्षण गुण को रमण, आनन्द आदि व्यवहारों के साधक ज्ञान और तेजोरूप भी नहीं माना जा सकता। आकर्षण को ज्ञानरूप मानने में यह भी दोष आवेगा कि उस परिस्थिति में सूर्यादि लोक भी ज्ञानरूप होने से चेतन हो जायँगे और इस तरह से उनमें लोकत्व का व्यवहार न हो सकेगा, क्योंकि लोक तो जड़ होते हैं, उनमें रहने वाले प्राणी ही चेतन माने जाते हैं। अनधिगत वस्तु की अधिगति को ज्ञान कहा जाता है, अकृत वस्तु के निर्माण को नहीं।

आनन्दपूर्वक इसमें रहता है, इस व्युत्पत्ति के आधार पर रथ शब्द बनता हैं। जो शब्द जिस अर्थ में प्रसिद्ध होता है, उसी अर्थ में किसी निर्वचन के आधार पर उस शब्द की निरुक्ति की जाती है, यही निरुक्त का कार्य है। रथ शब्द जब गमन क्रिया के साधन के रूप में प्रसिद्ध है, तो इस अर्थ में रथ शब्द की प्रवृत्ति कैसे हुई, यही बात निर्वचन के द्वारा समझायी जाती है। इसलिये आनन्दपूर्वक जिससे गमन क्रिया संपन्न हो सकती है, ऐसे वाहन के लिये रथ शब्द का प्रयोग उचित ही माना जायगा। रमण, आनन्द आदि व्यवहारों के कारणभूत आकर्षण गुण में रथ शब्द का प्रयोग कहीं देखा नहीं गया। यदि ऐसा मान लिया जाय तब तो रमण आदि व्यवहारों की साधनभूत रमणी में भी रथ शब्द की प्रवृत्ति होने लगेगी। किन्तु ऐसा माना नहीं जाता, क्योंकि ऐसा कोई व्यवहार शिष्टों में देखा नहीं गया है। इसीलिये निरुक्तकार निर्वचन के साथ ही निरुक्त शब्द का निर्विवाद उदाहरण भी देते हैं, जैसा कि अभी रज शब्द का उदाहरण दिया गया है। रथ शब्द के प्रसंग में भी निरुक्त में बताया गया गया है कि 'यज्ञ करने से राजा की स्तुति होती है, राजा के साथ युद्ध के उपकरणों की भी स्तुति की जाती है, जिनमें कि रथ का नाम सबसे पहले आता है'। इस तरह से युद्ध के साधन स्वरूप रथ शब्द की ही इस तरह से निरुक्ति वहाँ बताई गई है—गति अर्थ को बताने वाली रंहति धातु से अथवा स्थिरति धातु के वर्णों में व्यत्यय कर रथ शब्द बनाया जाता है। आनन्दपूर्वक इसमें बैठना है, इस निरुक्ति के आधार पर रम धातु से अथवा रस धातु से भी रथ शब्द बन सकता है। इन सब निर्वचनों को देखते हुए रथ शब्द का सम्बन्ध आकर्षण गुण से जोड़ना अपने अज्ञान को ही उजागर करना है। आकर्षण गुण में मनुष्य आनन्दपूर्वक बैठ नहीं सकता, क्योंकि गुण तो अमूर्त होते हैं, इनमें बैठने की जगह कहाँ मिलेगी? इसी तरह से अमृत शब्द के अर्थ को बदलना भी असंगत है। देव शब्द का विशिष्ट ऐश्वर्यशाली देवताविशेष ही अर्थ होता है, इसको छोड़ देना भी गलत बात है। 'पश्यन्' शब्द का अर्थ दिखाते हुए करना निराधार है। इसी तरह से 'यानि

त्यर्थकल्पनं निर्मूलम् । तथा यातीत्यस्य प्रापयतीत्यर्थोऽपि सदोष एव । 'रथेना देवो याति' इत्यत्र आ इत्यस्याव्याख्यानमपि दूषणम् । द्युभिरक्तुभिरिति पदद्वयं पूर्वमन्त्रे तु नोपलभ्यत इति कुतोऽनुवृत्तिः ?

भूमिकाखण्डनकारस्तु व्याख्यानेनानेन क्षुब्ध आह—अहो धार्ष्टयं मुण्डिनः । धार्ष्टयं वा एतदुच्यते लोकप्रतारकत्वं वा प्रकीर्त्येत, सर्वथापि मौर्ख्यं वा ख्यायेत । वयं तु किं वदामः ? सर्वत्राऽपि पाश्चात्त्यानां प्रभावादेव वेदार्थान्यथाकरणे प्रवृत्तोऽयमिति निश्चीयते ।

परमेश्वरस्य सर्वधारकत्वं तु सर्वास्तिकसम्मतमव । निर्विवादतया च तत् श्रुतिषु स्पष्टं प्रतिपाद्यते । 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापथिव्यौ विधृते तिष्ठतः' (बृ० ३।८।९), 'एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय' (बृ० उ० ४।४।२२) ।

मन्त्रार्थस्तु—सविता आदित्यो देवो दानादिगुणकः सर्वप्रसवहेतुत्वाद् हिरण्ययेन ज्योतिर्मयेन रथेन आयाति आगच्छति । किं कुर्वन् ? कृष्णेन रजसा रात्रिलक्षणेन, रजःशब्दस्यात्र रात्रिपरत्वम्, 'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च' (ऋ० सं० ६।९।१) इत्यादौ तथादर्शनात् । सह आवर्तमानः पुनः पुनर्भ्रमणं कुर्वन् । यद्वा मार्गेण आवर्तमानः, पुनः पुनरागच्छन् । अमृतं देवं मर्त्यं मनुष्यं निवेशयन् स्वस्वव्यवहारे प्रवर्तयन् व्यवस्थापयन् । यद्वा—'अमृतं मरणरहितं प्राणं मर्त्यं मरणसहितं शरीरं निवेशयन्, 'मर्त्यानि हीमानि शरीराणि अमृतैषा देवता' (ऐ० ब्रा० २।१) इति श्रुतेः । स सविता भुवनानि लोकान् पश्यन् अवेक्षमाणो ज्योतिर्मयेन रथेनायाति । अमृतं देवादिकं मर्त्यं मनुष्यादिकं च निवेशयन् स्वस्व-

क्रिया का अर्थ 'प्राप्त कराता है' करना भी गलत है । 'रथेना देवो' इन पदों में निहित 'आ' शब्द की दयानन्द ने कोई व्याख्या नहीं की । उनकी व्याख्या में यह भी एक दोष है । 'द्युभिरक्तुभिः' इन दोनों पदों को भी हम इससे पहले के मन्त्र में नहीं पाते, तब उनकी अनुवृत्ति इस मन्त्र में कैसे होगी ?

भूमिकाखण्डनकार को इस तरह की ऊलजलूल व्याख्याओं को देखकर परेशान होकर कहना पड़ता है कि माथा मुड़ा लेने के बाद भी दयानन्द की धृष्टता नहीं छूटी है । इसको धृष्टता कहा जाय या लोगों को ठगने का व्यापार कहा जाय ? अथवा यह सब दयानन्द ने किसी मूर्खता में पड़कर लिख दिया है ? हमारा तो यह कहना है कि पाश्चात्यों के प्रभाव में आकर स्वामी दयानन्द ने इस तरह से वेदों का यह दूसरा ही परम्परा विरुद्ध अर्थ किया है ।

सभी आस्तिक जन इस बात में एक मत हैं कि परमेश्वर इस सारे जगत् का आधार है । श्रुतियाँ विना विवाद के इस बात को स्वीकार करती हैं । 'हे गार्गि, इस अक्षर ब्रह्म के अनुशासन में यह पृथिवी और आकाश अवस्थित हैं', 'लोक में अव्यवस्था न फैल जाय अनुशासन भंग न हो जाय, इसके लिये यह ब्रह्म सेतु (बाँध) की तरह है' अर्थात् मजबूत बाँध बँध जाने पर जैसे जल का बहना रुक जाता है, उसी तरह से ईश्वर के अनुशासन में रहकर यह प्रजा नियमित आचरण करती है ।

इस मन्त्र का अर्थ यथार्थतः इस तरह से किया जाना चाहिये—दान आदि गुण संपन्न सविता अर्थात् आदित्य देवता अपने ज्योतिर्मय रथ में बैठकर हमारे सामने प्रति दिन आता है । आदित्य को सविता इसलिये कहते हैं कि यह सभी वस्तुओं का प्रसव (उत्पत्ति) करने वाला है । सूर्य क्या करता हुआ आता है ? वह कृष्ण वर्ण रात्रि के साथ बार-बार भ्रमण करता हुआ आता है । रज शब्द यहाँ रात्रि का वाचक है । 'अहश्च कृष्णम्' इत्यादि ऋङ् मन्त्र में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । अथवा रज शब्द का अर्थ मार्ग भी कर सकते हैं । तब इसका अर्थ होगा कि यह सूर्य अन्धकार से भरे मार्ग के बीच में से चल कर बार-बार हमारे सामने आता है । यह आते ही देवताओं और मनुष्यों को अपने-अपने काम में लगा देता है । अथवा इसका यह अर्थ भी किया जा सकता है कि यह आदित्य अमृत अर्थात् मरण (मृत्यु) से रहित प्राण को और मरणशील शरीर को अपने-अपने व्यापार में लगा देता है । ऐतरेय ब्राह्मण में शरीर को मर्त्य शब्द से और प्राण को अमृत शब्द से अभिहित किया गया है । वह सविता, सूर्य इन सब लोकों का निरीक्षण करता हुआ अपने ज्योतिर्मय रथ में बैठकर आता है । आते समय वह अमृत अर्थात् देव प्रभृति योनियों के प्राणियों को और मनुष्यों को अपने-

प्रदेशेषु निवेशयन् स्थापयन् भुवनानि पश्यन्, कानि साधु कुर्वन्ति कान्यसाधु कुर्वन्तीति जानन्। तस्य कर्मसाक्षित्वात् सूर्यस्य देवमर्त्यादिव्यवस्थापकत्वमपि सम्मतमेव, तन्मूलत्वात् कालविभागस्य वर्णाश्रमादिलक्षणस्य धर्मस्य च। पारम्पर्येण तु स्वर्गमोक्षादिहेतुत्वमपि। वृष्टि-फल-रसौषधिहेतुत्वमपि युक्तमेव। यद्वा सविता सूर्यः कृष्णवर्णेन रजसान्तरिक्षलोकेन। स हि सूर्यागमनात् पुरा कृष्णवर्णो भवति।

प्रकाश्यप्रकाशकविषयः

एवं सूर्येण चन्द्रादयः प्रकाश्यन्त इत्यस्मिन् विषयेऽपि यदुक्तम्—'सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः। ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः॥१॥ सोमेनादित्या वलिनः सोमेन पृथिवी मही। अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः॥२॥' (अथर्ववेदसंहिता १४।१)। 'कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः। किं स्विद्धिमस्य भेषजं किं वा आवपनं महत्॥ सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः। अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥ (वा० सं० २३।९-१०)। एषामभिप्रायः—'चन्द्रपृथिव्यादिलोकानां सूर्यः प्रकाशकोऽस्तीति नित्यस्वरूपेण सत्येन ब्रह्मणा उत्तभितोर्ध्वमाकाशमध्ये धारितास्ति। वायुना सूर्येण च तथा द्यौः सर्वः प्रकाशः सूर्येणोत्तभितो धारितः। ऋतेन कालेन सूर्येण वायुना वादित्या द्वादशमासाः किरणास्त्रसरेणवो वलवन्तः सन्तो वा तिष्ठन्ति। एवं दिवि द्योतनात्मके सूर्यप्रकाशे सोमश्चन्द्रमा अधिश्रितः आश्रितः। स न प्रकाशितो भवति। अर्थाच्चन्द्रादिलोकेषु स्वकीयः प्रकाशो नास्ति। सर्वे चन्द्रादयो लोकाः सूर्येणैव प्रकाशिता भवन्ति।

सोमेन चन्द्रलोकेन सहादित्याः किरणाः संयुज्य ततो निवृत्य च भूमिं प्राप्य बलिनो बलं कर्तुं शीला भवन्ति, तेषां प्रापकशीलत्वात्। तद्यथा यावत्यन्तरिक्षदेशे सूर्यप्रकाशस्यावरणं पृथिवी करोति, तावति देशेऽधिकं शीतलत्वं भवति, तत्र सूर्यकिरणपतनाभावात्। तदभावे चोष्णत्वाभावात् ते वलकारिणो भवन्ति। सोमेन चन्द्रमसः

अपने स्थानों में रहने की व्यवस्था करता हुआ आता है और उन भुवनों का निरीक्षण भी करता हुआ आता है कि कौन भले काम में लगा है और कौन बुरे कर्मों में प्रवृत्त है। इस तरह सभी प्राणियों के कर्मों का साक्षी होने से अर्थात् सभी प्राणियों के भले-बुरे कार्यों को देखते रहने से देवता और मनुष्य सभी का व्यवस्थापक माना जाता है। काल का विभाग सूर्य की इस गति के ही अधीन है। काल विभाग के आधार पर संपन्न होने वाले वर्णाश्रमधर्म का नियामक हो यही है और परम्परा से स्वर्ग और मोक्ष का भी कारण यह सूर्य ही है। तब यह वृष्टि, फल, रस और औषधि का उत्पादक माना जाय तो यह उचित ही है।

प्रकाश्यप्रकाशक विचार

इस प्रकरण में स्वामी दयानन्द ने 'सत्येनोत्तम्भिता' इत्यादि चार मन्त्रों को उद्धृत कर बताया है कि इन मन्त्रों में यही विषय और उनका यही प्रयोजन प्रतिपादित है कि लोक दो प्रकार के होते हैं—एक तो प्रकाश करने वाले और दूसरे वे जो प्रकाशित किये जाते हैं। इन मन्त्रों का अर्थ क्रमशः उन्होंने इस तरह से किया है—'(सत्येनो०) सत्यस्वरूप परमेश्वर ने ही अपने सामर्थ्य से सूर्य आदि सब लोकों को धारण किया है। उसी के सामर्थ्य से सूर्यलोक ने भी अन्य लोकों का धारण और प्रकाशित किया है। तथा ऋतु अर्थात् काल ने बारह महीने, सूर्य ने किरण और वायु ने भी यथायोग्य सूक्ष्म, स्थूल, त्रसरेणु आदि पदार्थों को यथावत् धारण किया है। (दिवि सोमो०) इसी तरह दिवि अर्थात् सूर्य के प्रकाश में आश्रित होकर चन्द्रमा प्रकाशित होता है। उसमें जितना प्रकाश है, वह सूर्य आदि लोक का ही है। ईश्वर का प्रकाश तो सबमें है। परन्तु चन्द्र आदि लोकों में अपना प्रकाश नहीं है, अतः सूर्य आदि लोकों से ही चन्द्र और पृथिवी आदि लोक प्रकाशित हो रहे हैं।

(सोमेनादित्याः) जब आदित्य की किरणें चन्द्रमा के साथ संयुक्त होकर उससे उलट कर भूमि को प्राप्त होकर बल वाली होती हैं, तभी वे शीतल भी होती हैं। क्योंकि आकाश के जिस-जिस देश में सूर्य के प्रकाश को पृथिवी की छाया रोकती है, उस-उस देश में शीत भी अधिक होता है। जिस-जिस देश में सूर्य की किरणें तिरछी पड़ती हैं, उस-उस देश में गर्मी भी कम होती है। फिर

प्रकाशेन सोमाद्योषध्यादिना च पृथिवी मही बलवती पुष्टा भवति । अथो अनन्तरमेषां नक्षत्राणामुपस्थे समीपे चन्द्रमा आहितः स्थापितः सन् वर्तत इति विज्ञेयम्' (पृ० १६०) इति दयानन्दीयं व्याख्यानम् ।

तदपि न विचारचारु, मन्त्राक्षराननुगमात् । सत्येन ब्रह्मणा भूमिर्धारिता इत्युक्तिरपार्थैव, सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य ब्रह्मणा धारितत्वात् । वायुना सूर्येण धारितेति न मन्त्रार्थः, तादृशपदाप्रयोगात् । द्यौः सर्वः प्रकाशः सूर्येणोत्तभित इत्यपि नार्थः, प्रकाशात्मकस्य सूर्यस्य तदात्मकत्वेन धारकत्वायोगात् । किञ्च, वेदेषु द्यावापृथिव्या इत्यादिस्थलेषु पृथिवीवदेव द्यौरपि लोकविशेष एव, न प्रकाशमात्रम् । ऋतेन कालेनेत्यपि न सङ्गतम्, कालस्यादित्यात्मकत्वात्, सूर्येणैव दिनमाससंवत्सरादिव्यवहारात् । मासरूपा आदित्या अपि कालात्मका एव । किरणास्त्रसरेणवः कथमादित्यपदवाच्याः ? कथं वा ते कालेन वलवन्त इति तु लेखक एव विजानातु । दिवि सूर्यप्रकाशे इत्यपि नार्थः, पूर्वोक्तविरोधात् । अधिश्रित इत्यस्य प्रकाशितो भवतीत्यपि नार्थः, निर्मूलत्वात् ।

शुद्धमन्त्रार्थस्तु—सत्येन परिनिष्ठितेन यथार्थभाषणेन भूमिरुत्तभिता धारितास्ति, 'गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः । अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही ॥' इति स्मरणात् । सूर्येणादित्येन द्यौर्द्युलोको धार्यते । आदित्योदये देवादितृप्तिहेतुयागादिप्रवृत्तेः । आदित्या द्वादशादित्या मासा वा ऋतेन यथाप्रमाणावगतवस्तुचिन्तनेन

गर्मी के कम होने और शीतलता के अधिक होने से सब मूर्तिमान् पदार्थों के परमाणु जम जाते हैं । उनके जमने से पुष्टि होती है । जब उनके बीच में सूर्य की तेज रूप किरण पड़ती है, तब उनमें से भाफ उठती है । उनके योग से किरण भी बलशाली होती है । जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब अत्यन्त चमकता है । चन्द्रमा के प्रकाश और वायु से सोमलता आदि ओषधियाँ भी पुष्ट होती हैं, तब उनसे पृथिवी पुष्ट होती है । इसीलिये ईश्वर ने नक्षत्र लोकों के समीप चन्द्रमा को स्थापित किया है ।

(कः स्वित्) इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं । उनके बीच में से पहला प्रश्न—कौन एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपने प्रकाश से प्रकाश वाला है ? दूसरा—कौन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है ? तीसरा—शीत का औषध क्या है ? और चौथा—कौन बड़ा क्षेत्र अर्थात् स्थूल पदार्थ रखने का स्थान है ? इन चारों प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं—(सूर्य एकाकी०) । १. इस संसार में सूर्य ही एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपनी ही कील पर घूमता है तथा प्रकाश स्वरूप होकर सब लोकों का प्रकाश करने वाली है । २. उसी सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है । ३. शीत का औषध अग्नि है । ४. और चौथा यह है—पृथिवी साकार बीजों के रखने का स्थान तथा सब बीज बोने का बड़ा खेत है । वेदों में इस विषय के सिद्ध करने वाले मन्त्र बहुत हैं । उनमें से यहाँ एक देश मात्र लिख दिया है । वेद भाष्य में सब विषय विस्तार पूर्वक आ सकेंगे' (पृ० १६१-१६२) ।

यह अर्थ भी विचार करने पर ठीक नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि मन्त्राक्षरों से इसका कोई मेल नहीं है । सत्य और ब्रह्म से भूमि धारित है, इस तरह का अर्थ करना व्यर्थ है, क्योंकि पृथिवी ही क्यों यह सारा प्रपंच ही ब्रह्म से धारित है । वायु और सूर्य के द्वारा यह धारित है, यह अर्थ भी गलत है, क्योंकि मन्त्र में इन पदों का अभाव है । द्यौ अर्थात् सारा प्रकाश सूर्य से धारित है, यह अर्थ भी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकाशात्मक सूर्य प्रकाश स्वरूप ही है, अतः इसमें उसकी धारकता कैसे बनेगी ? अपि च, वेद में 'द्यावापृथिवी' इत्यादि स्थलों में पृथिवी के समान ही द्यौ भी एक विशेष लोक है, केवल प्रकाश नहीं । ऋत का अर्थ काल करना भी सही नहीं है, क्योंकि काल तो आदित्य का स्वरूप माना जाता है । सूर्य के कारण ही दिन, मास, वर्ष आदि व्यवहार निष्पन्न होते हैं । प्रत्येक मास के अधिपति स्वरूप आदित्य भी कालात्मक ही हैं । किरण यदि त्रसरेणु हैं, तब वे आदित्य पद से कैसे बोधित हो सकते हैं और वे काल की सहायता से बलवान् कैसे होंगे, इस बात को यह व्याख्याकार ही जान सकते हैं । दिवि पद का अर्थ सूर्य के प्रकाश में, यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'द्यौ' एक लोकविशेष है, केवल प्रकाश नहीं, यह बात पहले ही कही जा चुकी है । 'अधिश्रित' पद का अर्थ 'प्रकाशित होता है' यह नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है ।

मन्त्र का सही अर्थ यह है—सत्य अर्थात् परिनिष्ठित यथार्थ भाषण से यह भूमि धारित है । 'गाय, ब्राह्मण, वेद, पतिव्रता, सत्यवादी, निर्लोभी, दानी इन सात वस्तुओं एवं व्यक्तियों की सत्ता के कारण ही यह पृथ्वी टिकी हुई है' यह स्मृतिवचन उपलब्ध है । सूर्य अर्थात् आदित्य से द्युलोक धारित है, क्योंकि सूर्य का उदय होने पर देवता आदि की तृप्ति करने वाले यज्ञ-याग आदि प्रवृत्त होते हैं । आदित्य अर्थात् बारह आदित्य अथवा बारह मास, ऋत अर्थात् प्रमाण से जो जैसा जाना जाय उसको उसी रूप में देखने वाली

तिष्ठन्ति, दिवि द्युलोके सामश्चापि ऋतेनैव श्रितः स्थितः। कौशिकसूत्रे दशमेऽध्याये मन्त्राणामेषां विनियोगा उक्ताः। ‘कुमार्याः पितृगृहे सत्येनोत्तभितेति षोडश पूर्वापरमिति’ (१।२३-२४) इत्यष्टादशभिराज्यहोमः। सत्येनर्तेन च विवाहो दृढो भवति। सत्यप्रतिज्ञाभ्यां वरवधूभ्यामेव विवाहसाफल्यं भवतीति सत्यमहिमैवात्र विवक्षितः।

‘सोमेनादित्या बलिनः’ इत्यपि यत्किञ्चित्। सोमेन चन्द्रलोकेन सहादित्याः किरणाः संयुज्य ततो निवृत्य भूमिं प्राप्य बलं कर्तुं शीला इति कस्य शब्दस्यार्थः? आदित्यपदेन किरणाः केन प्रमाणेन गृहीताः? तद्रीत्या किरणानां बलवत्त्वे च किं मानम्? किञ्च तेषां बलवत्त्वम्? पृथिव्यावृतान्तरिक्षप्रदेशे सूर्यकिरणपतनाभावात् तस्य अन्तरिक्षस्य शीतलत्वमस्तु, तदभावात्तत्रोष्णत्वाभावोऽप्यस्तु, तावता किरणानां कुतो बलवत्त्वम्? नोष्णत्वाभावस्तद्बलवत्त्वप्रयोजकः, तेषां स्वयमेवोष्णत्वात्।

मन्त्रार्थस्तु—सोमेनादितेः पुत्रा इन्द्रादयो बलिनो भवन्ति, ऐन्द्रवायवादिग्रहपरिग्रहादिति भावः। तथा सोमेनाहुत्यात्मना अग्नौ हुतेन पृथिवी मही महती भवति, आहुत्या वृष्ट्यादिद्वारेण सस्यादिसम्पत्तेः। अथोऽपि चायं सोमः, नक्षत्राणामेषां स्वर्गो न क्षीयते येन सः। स नक्षः सोमः, ‘अपाम सोमममृता अभूम’ इति मन्त्रवर्णात्। नक्षं सोमं त्रायन्ते नक्षत्रा ग्रहचमसादयः, तेषामुपस्थे सोमो रसात्मक आहितः। यद्वा प्रसिद्धानामेव नक्षत्राणामुपस्थे उपस्थाने द्युलोके सोम आहितः, ‘तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्तं गायत्र्याहरत्, (तै॰ ब्रा॰ ३।२।१।१) इत्यादिश्रुतेः। देवतारूपसोमपक्षे आदित्या देवा बलिनो बलवन्तो भवन्ति, तस्यैकैककलास्वादनात्, ‘प्रथमां पिबते वह्निर्द्वितीयां पिबते रविः’ इत्यादिस्मृतेः। सोमेन पृथ्वी मही, अमृतसेकेन ओषध्यादिवृद्ध्या वा पृथिव्या महत्त्वं सम्भवत्येव। नक्षत्राणामुपस्थाने चन्द्रस्थितिरपि प्रसिद्धैव।

चिन्तन शक्ति से धारित होते हैं और द्युलोक में सोम भी ऋत की सहायता से ही धारित है। कौशिक सूत्र के दसवें अध्याय में इन मन्त्रों का विनियोग बताया गया है। सत्य और ऋत के मार्ग से चलने पर विवाह दृढ़ होता है। अर्थात् विवाह के अवसर पर की गई अपनी प्रतिज्ञा का सही तरीके से पालन करने वाले वर-वधू का ही विवाह सफल होता है, इस बात को बताते हुए यह मन्त्र सत्य की महिमा का प्रतिपादन करता है।

सोम के कारण आदित्य बलवान् होते हैं, यह अर्थ भी निराधार है। सोम से अर्थात् चन्द्रलोक से मिलकर सूर्य की किरणें वहाँ से लौट कर पृथ्वी पर आती हैं और उसमें बल का आधान करती हैं, यह अर्थ किन शब्दों से निकलेगा? आदित्य पद से किरणों का ग्रहण किस प्रमाण से होगा? इस तरह से किरणें बलवती होती हैं, इसमें भी क्या प्रमाण है? किरणें बलवती होती हैं, इसका क्या अभिप्राय हुआ? पृथिवी से ढके हुए अन्तरिक्ष प्रदेश में सूर्य की किरणों के न पड़ पाने के कारण उतना अन्तरिक्ष शीतल हो सकता है और शीतलता के कारण वहाँ गर्मी न रहे यह भी मान लिया जा सकता है, किन्तु इन बातों से किरणों के बलवती होने का कोई प्रमाण या कारण उपलब्ध नहीं होता। सूर्य की किरणों का उष्ण न होना उनकी बलवत्ता का कारण नहीं बन सकता, क्योंकि वे तो स्वतः सदा उष्ण ही रहेंगी।

इस मन्त्र का भी सही अर्थ यह है—सोम लता की आहुति पाकर अदिति के पुत्र इन्द्र आदि देवता बलवान् होते हैं। तथा इस सोमलता के हवन से ही यह पृथिवी समृद्ध होती है, क्योंकि आहुति से वृष्टि आदि प्रक्रिया के संपन्न होने पर पृथ्वी धन-धान्य से भर जाती है। सोम को नक्ष भी कहा जाता है, क्योंकि यह जहाँ रहता है वहाँ स्वर्ग का क्षय कभी नहीं होता, सोम पान से अमृत पद की प्राप्ति की बात श्रुति में प्रसिद्ध है। इस नक्ष अर्थात् सोम की रक्षा करने वाले चमस प्रभृति मात्र नक्षत्र कहे जाते हैं। इन पात्रों में सोम रस बड़ी सावधानी से सुरक्षित रखा जाता है। अथवा आकाश में विचरण करने वाले प्रसिद्ध नक्षत्रों के निवास स्थान द्युलोक में सोम निवास करता है। श्रुति में यह बताया गया है कि यह सोमलता पहले स्वर्ग में थी। गायत्री मन्त्र की सहायता से उसको पृथिवी पर लाया गया। सोम पद से यदि यहां देवता रूप सोम का ग्रहण करना है, तो मन्त्र का अर्थ यह होगा कि आदित्य अर्थात् देवगण सोम की एक-एक कला का पान कर बलवान् होते हैं। स्मृति में बताया गया है कि चन्द्र की पहली कला का पान वह्नि करता है, दूसरी का सूर्य’। इसी तरह से इनकी अन्य कलाओं का पान भी निर्दिष्ट देवता करते हैं और ये सब उससे पुष्ट होते हैं।

यत्तु केनचित् सोमेनादित्यप्रकाशाभिज्वलमित्युक्तम्, तत्त्वक्षरवाह्यमेव। तेजसां राशेरादित्यस्य तेजसैव सोमस्याप्यायनात्।

यदपि कः स्विदेकाकी चरतीत्यादिव्याख्यानप्रसङ्ग उक्तम्—'को ह्येकाकी अस्मिन् संसारे चरति, स्वयं प्रकाशमानः सन् अन्यान् सर्वान् लोकान् प्रकाशयति। तस्यैव प्रकाशेन चन्द्रमाः पुनः प्रकाशितो भवति। नहि चन्द्रमसि कश्चित् स्वतः प्रकाशोऽस्ति' (पृ० १६१) इत्यादि, तदपि वेदाक्षरवाह्यमेव, एकाकी चरतीत्यस्य स्वयं प्रकाशमानः सन् अन्यान् प्रकाशयतीति कथमर्थः? एवं चन्द्रमास्तस्यैव प्रकाशेन पुनः पुनः प्रकाशितो भवतीत्यपि न मन्त्राक्षरार्थः, निर्मूलत्वात्।

कात्यायनमहर्षिरीत्याऽत्र ब्रह्मा होतारं पृच्छति—'ब्रह्मा पृच्छति होतारं यूपमभितः, कः स्विदेकाकी चरतीति' (का० श्रौ० २०।५।२०) इति सूत्रात्। यूपस्य दक्षिणत उदङ्मुखो ब्रह्मा दक्षिणाभिमुखं होतारं पृच्छति। ब्रह्मोद्ये कर्मणि होतुर्ब्रह्मणश्च पक्षप्रतिपक्षभूताश्चतस्रोऽनुष्टुभः। स्विदिति वितर्के। एकः असहायः। कः चरति गच्छति। उः पादपूरणार्थः। कः स्विद् विनष्टः सन् पुनर्जायते उत्पद्यते? किंस्विद् हिमस्य भेषजम्, किंस्विद् महत् आवपनम्, आसमन्तादुप्यते यस्मिंस्तद् आवपनम् आवपनस्थानम्। 'सूर्य इत्याचष्टे होता ब्रह्माणं प्रति वक्ति' (का० श्रौ० २०।५।२१) इति। सूर्योऽसहायो गच्छति, अनेन होतृब्रह्माणौ यजमाने ब्रह्मवर्चसं धत्तः। असौ वा आदित्य एकाकी चरति, 'एष ब्रह्मवर्चसं ब्रह्मवर्चसमेवास्मिंस्तद् धत्ते' (श० १३।२।६।१२) इति श्रुतेः। नहि निरर्थकप्रश्नप्रतिवचने वेदे सम्भवतः, स्वाध्यायाध्ययनगृहीतस्य वेदराशेर्मात्रामात्रस्याप्यानर्थक्यायोगात्। सूर्यस्य स्वप्रकाशत्वादिकं तु सर्वोऽपि जानात्येवेति न

इस चन्द्रमा के कारण ही पृथिवी अमृत से परिपूर्ण अर्थात् नाना प्रकार की अमृत के समान गुणवती औषधियों से भरी रहती है। इसी लिये चन्द्रमा को औषधियों का स्वामी माना गया है। नक्षत्रों के समीप ही यह चन्द्रमा स्थित है, यह बात भी अति प्रसिद्ध है।

कुछ विद्वानों ने यहाँ सोम पद का अर्थ सोम से सूर्य का प्रकाश उज्ज्वल होता है, ऐसा किया है। यह अर्थ मन्त्राक्षरों से नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि प्रकाश के समुद्र सूर्य के प्रकाश से ही सोम के आप्यायित होने की बात सभी मानते हैं।

'कः स्विदेकाकी' इस मन्त्र की व्याख्या करते समय यह जो कहा गया है कि इस संसार में कौन अकेला विचरण करता है, अर्थात् स्वयं प्रकाशित होकर दूसरों को भी प्रकाशित करता है? उसी के प्रकाश से चन्द्रमा भी प्रकाशित होता है। चन्द्रमा में अपना कोई प्रकाश नहीं है इत्यादि, किन्तु ये सारी बातें वेदाक्षरों के बाहर की हैं। 'एकाकी चरति' इन पदों का अर्थ स्वयं प्रकाशित होकर दूसरों को प्रकाशित करता है, यह कैसे हो सकता है? इसी तरह से चन्द्रमा उसीके प्रकाश से पुन. पुनः प्रकाशित होता है, यह भी मन्त्र के अक्षरों का अर्थ नहीं है, क्योंकि इनका यह अर्थ किसी भी प्रमाण से नहीं निकल सकता।

वस्तुतः इस मन्त्र में कात्यायन महर्षि के द्वारा प्रतिपादित विनियोग के अनुसार ब्रह्मा होता से पूछता है, जैसा कि 'ब्रह्मा पृच्छति' इत्यादि कात्यायन श्रौत सूत्र में प्रतिपादित है। इसका अभिप्राय यह है कि यूप के दक्षिण भाग में उत्तर दिशा की ओर मुँह किये ब्रह्मा दक्षिण दिशा की ओर मुँह किये होता से पूछता है। ब्रह्मोद्य की चर्चा करते समय इन चार अनुष्टुप् छन्द के मन्त्रों में होता और ब्रह्मा का वार्तालाप निबद्ध किया गया है। स्वित् शब्द यहाँ वितर्क के अर्थ में प्रयुक्त है कि अकेला बिना किसी की सहायता के कौन चलता है? उ शब्द केवल पाद की पूर्ति के लिये है। कौन विनष्ट होकर पुनः उत्पन्न होता है? हिम (जाड़ा) का इलाज क्या है? महान् आवपन क्या है? जिसमें सब जगह बोया जाय उस क्षेत्रादि को आवपन कहा जाता है? इन सबके उत्तर में होता ब्रह्मा से कहता है कि वह सूर्य है। सूर्य बिना किसी दूसरे की सहायता के अकेला चलता है। ऐसा कह कर होता और ब्रह्मा यजमान में ब्रह्मतेज का आधान करते हैं। शतपथ श्रुति में भी यह बात प्रतिपादित है कि वह आदित्य (सूर्य) अकेला चलता है, यही ब्रह्मतेज है। ऐसा कहकर ऋत्विक् यजमान में ब्रह्मतेज का आधान करते हैं। वेद के प्रश्न और प्रतिवचनात्मक संवाद निरर्थक नहीं हो सकते। स्वाध्याय विधि के द्वारा गृहीत वेदराशि की एक मात्रा भी निरर्थक नहीं हो सकती। सूर्य अपने से प्रकाशित होता है, इस बात को तो सब कोई जानते

तस्य मन्त्रतात्पर्यविषयता भवति। तस्माद् ब्रह्मवर्चसाधानैकप्रयोजने एव प्रस्तुतप्रश्नप्रतिवचने, 'चन्द्रमाः क्षीणः पुनर्जायते। चन्द्रमा वै जायते पुनरायुरेवास्मिंस्तद्धत्ते' (श० १३।२।६।१०) इति श्रुतेः। अग्निर्हिमस्य शीतस्य भेषजम्, 'हिमस्य भेषजमग्निः' अनेन तेजो धत्तः। 'अग्निर्वै हिमस्य भेषजं तेज एवास्मिंस्तद्धत्ते' (श० १३।२।६।१२) इति श्रुतेः। भूमिरयं लोको महदावपनम् अनेनास्मिन् प्रतिष्ठां धत्तः। 'अयं वै लोक आवपनं महत् अस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति' (श० १३।२।६।१३) इति श्रुतेः। सर्वथाप्यस्मिन् मन्त्रे सूर्येण चन्द्रमसि प्रकाशः समायातीत्यर्थो न प्रतिपाद्यते। शब्दार्थज्ञानं शब्दाधीनमेव प्रतिपत्तव्यम्। विज्ञानसिद्धमपि वस्तु नहि बलान्मन्त्रेण प्रतिपादयितव्यमेव, स्वेच्छाचारिताया अव्याहतप्रसरत्वात्।

गणितविद्याविषयः

यदपि च वेदे गणितविद्यासाधनाय 'एका च मे तिस्रश्च मे···। चतस्रश्च मे ···अष्टाचत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्' (वा० सं० १८) इति कण्डिके उद्धृत्यानयोर्मन्त्रयोर्मध्ये खल्वीश्वरेणाङ्कबीजरेखागणितं प्रकाशितमित्यभिप्रायो वर्णितः, यश्च—'एकार्थस्य या वाचिका संख्यास्ति सैकेन युक्ता द्वौ भवतः। यत्र द्वावेकेन संयुक्तौ सा त्रित्ववाचिका, द्वाभ्यां द्वौ युक्तौ चत्वारः, एवं तिसृभिस्त्रित्वसंख्या युक्ता षट्, एवं चतस्रश्च मे पञ्च च मे इत्यादि परस्परसंयोगादिक्रिययाऽनेकविधाङ्कैर्गणितविद्या सिद्धयति, चकारबाहुल्यादन्या अप्यनेकविधा गणितविद्याः सन्तीति''''ईदृशा मन्त्रा ज्योतिषशास्त्रस्य गणितविद्याया मूलमिति विज्ञायते' (पृ० १६३) इति दयानन्दीयं व्याख्यानम्।

हैं, अतः इसमें मन्त्र का तात्पर्य नहीं माना जा सकता। इसलिये यजमान में ब्रह्मतेज को आहित (स्थापित) करना ही इस प्रश्न-प्रतिवचनात्मक संवाद मन्त्रों का तात्पर्य हो सकता है। चन्द्रमा क्षीण होकर पुनः पैदा होता है। यह जो चन्द्रमा पुनः पुनः पैदा होता है, इसका तात्पर्य यह है कि इस मन्त्र से यजमान में आयु वृद्धि की कामना की जाती है। अग्नि हिम की औषधि है, यहाँ भी इस मन्त्र से यजमान में तेज का आधान करना ही उसका उद्देश्य है। शतपथ में भी यही बात कही गई है। भूमि को महान् आवपन बताने वाले मन्त्र का तात्पर्य यजमान में प्रतिष्ठा के आधान में है। शतपथ श्रुति से भी इस बात की पुष्टि होती है। वहाँ भी उक्त श्रुति के आधार पर इस लोक (पृथिवी) को महान् आवपन बताया गया है। किसी भी तरह से यह बात सिद्ध नहीं हो पाती कि इस मन्त्र में सूर्य से चन्द्रमा को प्रकाश मिलने की बात कही गई हो। शब्द के अर्थ का ज्ञान शब्द के ही अधीन मानना पड़ेगा। विज्ञान से सिद्ध वस्तु को वेद के द्वारा भी बलात् सिद्ध किया ही जाय, यह कोई जरूरी नहीं है, क्योंकि स्वेच्छाचारिता का सहारा लेने पर इसको रोक पाना बड़ा कठिन हो जाता है। अतः वेदों के साथ इस तरह की स्वेच्छाचारिता कथमपि मान्य नहीं हो सकती।

गणित विद्या पर विचार

इस प्रकरण में दयानन्द ने वेद में गणित विद्या की सिद्धि के लिये 'एका च मे०' इत्यादि दो कण्डिकाओं को उद्धृत कर इनका अभिप्राय यह बताया है कि इन दोनों मन्त्रों में ईश्वर ने अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित का प्रकाशन किया है। इनका अर्थ दयानन्द ने इस तरह से किया है—'(एका च मे०) इन मन्त्रों में यही प्रयोजन है कि अंक, बीज और रेखा भेद से जो तीन प्रकार की गणित विद्या सिद्ध की है, उनमें से प्रथम अंक (१) जो संख्या है, उसको दो बार गिनने से दो की वाचक होती है। जैसे १ = २ ऐसे ही एक के आगे एक तथा एक के आगे दो या दो के आगे एक आदि जोड़ने से भी समझ लेना। इसी प्रकार एक के साथ तीन जोड़ने से चार (४), तथा तीन (३) को तीन (३) के साथ जोड़ने से (६), अथवा तीन को तीन से गुणने से ३ × ३ = ९ हुए। इसी प्रकार चार के साथ चार, पांच के साथ पांच, छः के साथ छः, आठ के साथ आठ इत्यादि जोड़ने से या गुणने से तथा सब मन्त्रों के आशय को फैलाने से सब गणित विद्या निकलती है। जैसे पांच के साथ पांच (५५), वैसे ही पाँच-पाँच, छः-छः (५५), (६६) इत्यादि जान लेना चाहिये। ऐसे ही इन मन्त्रों के अर्थों की आगे योजना करने से अनेक प्रकार की गणित विद्या अवश्य जाननी चाहिये। यह गणित विद्या वेदांग ज्योतिष शास्त्र में प्रसिद्ध है, अतः यहाँ उसका विस्तार से उल्लेख नहीं किया जा रहा है, किन्तु उदाहरण के रूप में यहाँ यह बताया गया है कि इस तरह के वैदिक मन्त्र ज्योतिष शास्त्र में प्रतिपादित गणित विद्या के मूल स्रोत हैं' (पृ० १६४)।

तदुपर्युच्यते—नानयोः कण्डिकयोरयमर्थः, मन्त्रे संयोगगुणनादिशब्दाभावात् । अत्रोक्तसंख्या संख्येयनिष्ठा । मेपदावृत्तेर्यज्ञेन कल्पन्तामित्यस्य च कथं सङ्गतिः ? 'यत्र द्वावेकेन सा त्रित्ववाचिका'इत्यप्यशुद्धमेव, 'द्वे एकेन युक्ते' इति हि भाव्यम् । किञ्च, यद्यत्र गुणनमिष्टं स्यात्तदा एका चैका च द्वे इति सङ्कलनमुक्तं स्यात्, सङ्कलनं हि गुणनपर्यवसायि । एकमेकेन गुणितमेकमेव भवति । सङ्कलनान्तःपात्येव गुणनं संख्यान्तरमानयति एकसंख्यायाम् । इदं सर्वं विहाय मूले एका चेत्येव पाठः । तथैव तिस्रस्तिस्रः षड् इत्यपि स्यात्, न चैवं पाठः । 'एकसंख्या सैकेन युक्ता द्वौ भवतः' इति वाक्यमप्यनुपपन्नम्, सैकेन युक्ता द्वे भवत इति भाव्यम् । एका संख्या एकेन युक्ता कथम्, संख्येति गुणः, एकोऽर्थो द्रव्यादिरूपः । कथं तयोर्योगः ? योगे च कथं संख्याया एव वृद्धिर्न द्रव्यस्य ? संख्यावृद्धिदृष्ट्या तु द्वे इति वाच्यम्, अर्थयोगादेव संख्यावृद्धिदर्शनात् । चतस्रश्च मे पञ्च च मे इत्यादिसमुद्धरणं चाशुद्धमेव, तथा पाठाभावात् ।

यदपि च—'इयमङ्कसंख्या निश्चितेषु संख्यातपदार्थेषु प्रवर्तते । ये चाज्ञातसंख्याकाः पदार्थास्तेषां विज्ञानार्थं बीजगणितं प्रवर्तते । तदपि विधानम् 'एका च' इति मन्त्रे । अ + क इत्यादिसङ्केतेनैतन्मन्त्रादिभ्यो बीजगणितं निःसरतीत्यवधेयम्' (पृ० १६४) इति दयानन्द उक्तवान्, तदपि न किञ्चित्, एका चेत्यनेन अ + क इति सङ्केतो विधीयत इत्यत्र मानाभावात् ।

'वसोर्धारां जुहोत्यौदुम्बर्य्या पञ्चगृहीतं सन्ततं यजमानोऽरण्येऽनूच्येऽग्नि प्राप्ते वाजश्च म इत्यष्टानुवाकेन' (का० श्रौ० ८।५।१) इति रीत्या यजमान आज्यं संस्कृत्यार्थपरिमाणया महत्यौदुम्बर्या स्रुचा महता स्रुवेण पञ्चवारं गृहीतमाज्यमरण्येऽनूच्ये पुरोडाशेऽधिकरणे तदुपरि सन्ततमविच्छिन्नधारं यथा स्यात्तथा वसोर्धारासंज्ञामाहुतिं

इस पर हमारा कहना है कि इन कण्डिकाओं का यह अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि मन्त्र में जोड करने या गुणा करने जैसे शब्द नहीं मिलते । इसलिये इस मन्त्र के संख्यावाचक शब्द संख्येय द्रव्य के बोधक माने जाते हैं । इन मन्त्रों में 'मे' पद की बार-बार आवृत्ति होती है, उसकी 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' से संगति द्रव्यवाचकता में ही हो सकती है, आपके अर्थ के अनुसार इन पदों की परस्पर संगति नहीं बन सकती । 'द्वौ एकेन युक्तौ' यहाँ 'द्वौ' के स्थान पर 'द्वे' का प्रयोग आपको करना चाहिये था, क्योंकि आप उनको संख्यावाचक मानते हैं और यह शब्द तब स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होगा । अपि च, यदि यहाँ गुणन अभीष्ट होता, तो उसको भी बताया जाता, क्योंकि संकलन का ही गुणन में पर्यवसान होता है । एक को एक से गुणा करने पर एक ही होगा, संकलन करने के बाद ही किसी संख्या का गुणन करने पर दूसरी संख्या आती है । इन सबको छोड़कर मूल मन्त्र में केवल 'एका च' यही पाठ है । इसी तरह से तीन और तीन मिलाकर छः होते हैं, किन्तु मन्त्र में ऐसा पाठ नहीं है । 'एका संख्या सैकेन युक्ता द्वौ भवतः' यह वाक्य भी अशुद्ध है, इसके स्थान पर 'सैकेन युक्ता द्वे भवतः' ऐसा पाठ होना चाहिये । एक संख्या एक द्रव्य से कैसे संयुक्त होगी ? संख्या तो गुण है और एक वस्तु द्रव्य । इन दोनों का योग कैसे हो सकता है ? किसी तरह से योग मान भी लिया जाय तो संख्या की ही वृद्धि होगी, द्रव्य की नहीं, इसमें क्या विनिगमक है । आप यदि संख्या की वृद्धि मानते हैं तो उस दृष्टि से 'द्वे' शब्द का प्रयोग होना चाहिये, क्योंकि अर्थ के साथ योग होने से ही संख्या की वृद्धि होती है । प्रथम कण्डिका का अर्थ करते समय 'चतस्रः' पद का उद्धरण भी गलत है, क्योंकि वहाँ यह पाठ उपलब्ध नहीं है ।

आगे दयानन्द ने लिखा है—'इन अङ्कों से तो गणित विद्या निकलती है, वह निश्चित संख्यान पदार्थों में युक्त होती है । अज्ञात पदार्थों की संख्या जानने के लिये जो बीजगणित होती है, सो भी 'एका च मे०' इत्यादि मन्त्रों से ही सिद्ध होती है । जैसे $(अ^{२} \div क^{३})$ $(अ^{२} - क^{३})$ $(क^{३} \div अ^{३})$ इत्यादि संकेत से निकलता है । यह भी वेदों से ही ऋषि-मुनियों ने निकाला है' (पृ० १६४) यह कथन भी गलत है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि 'एका च' इत्यादि से (अ + क) इत्यादि संकेतों का विधान किया गया है ।

वस्तुतः 'वसोर्धारा जुहोति' इत्यादि कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार यजमान आज्य (घृत) का संस्कार कर अपने छोटे-बड़े अभीष्ट की सिद्धि के अनुसार परिमाण वाली बड़ी-छोटी स्रुचा में स्रुव से पांच बार घृत भर कर पुरोडाश के ऊपर निरन्तर अविच्छिन्न घृत की धारा से, जिसको कि 'वसोर्धारा' के नाम से जाना जाता है, आहुति दे और उस समय 'वाजश्च' इत्यादि मन्त्रों का

जुहोति। घृतेऽग्निं प्राप्ते वाजश्चेति होमारम्भः। चकाराः समुच्चयार्थाः। यज्ञनानेन मया कृतेन वाजादयः पदार्थाः कल्पन्तां क्लृप्ताः सम्पन्ना भवन्तु। स यज्ञो वाजादीनामस्मभ्यं दाताऽस्तु। यद्वा वाजादयो यज्ञेऽग्निं तर्पयन्तु अभिषिञ्चन्तु वा।

'अथो इदं च मे देहीदं च मे' (श० ९।३।२।५) इति प्रथमार्थस्य मूलम्, 'अनेन च त्वा प्रीणामि, अनेन चानेन च त्वाभिषिञ्चामि' (श० ९।३।२।५) इति द्वितीयार्थस्य मूलम्। 'एका च मे' अयुग्मस्तोममन्त्राः, 'अथायुजस्तोमान् जुहोति' (श० ९।३।३।२) इति श्रुतेः। 'विषमसंख्याकेन मन्त्रेणायुग्मान् स्तोमान् जुहुयात्' इति महीधरः। आदरातिशयार्थं पुनरुक्तिः। अयुग्मस्तोमहोमैः सर्वकामाप्तिः। 'एतद्वै देवाः सर्वकामान् आप्त्वाऽयुग्भिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमापन्, तथैवैतद्यजमानः सर्वान् कामानाप्त्वा अयुग्भिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमेति' (श० ९।३।३।२)। चतस्र इत्येतां संख्यामादाय चतुरुत्तरत्वेन स्थितायुग्मान् स्तोमान् अष्टाचत्वारिंशत्पर्यन्तान् जुहुयादित्यर्थः, 'अथ युग्मतो जुहोति चतस्रश्चेति' (श० ९।३।३।४) इति श्रुतेः। तत्फलं स्वर्गप्राप्तिम्, 'एतद्वै छन्दांस्यब्रुवन् यातयामा वा अयुजस्तोमाः। युग्भिर्वयं स्तोमैः स्वर्गं लोकमयामेति, तथैवैतद्यजमानो युग्मभिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमेति' (श० ९।३।३५) इति श्रुतेः। चतस्रश्च मेऽष्टौ च मे इति पूर्वपूर्वमुत्तरेण सम्बध्नाति, 'यथा वृक्षं रोहन्नुत्तरां शाखां समालम्भं रोहेत्तादृक्' (श० ९।३।३।६) इति श्रुतिरेव द्विरुक्तेः प्रयोजनं वक्ति।

यदपि च—^{2}'अग्न^{3} ^{1}आयाहि^{2} ^{3}वीतये^{2} गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि॥' (सा० ६। प्र०१।ख०१)। यथा 'एका क्रिया द्व्यर्थक्रिया प्रसिद्धा' इति न्यायेन स्वरसङ्केताङ्कर्बीजगणितमपि साध्यत इति बोध्यम्। एवं गणितविद्याया रेखागणितं तृतीयो भागः, सोऽप्यत्रोच्यते' (पृ० १६४) इत्यादिकमपि न किञ्चित्। हेतुमन्तरा प्रतिज्ञामात्रेण समीहितासिद्धेः, कथं सामस्वरैः किं गणितविज्ञानं सिद्ध्यतीत्यनुक्तेः। गणितज्ञास्तूपहसन्त्येवास्य चातुर्यं

पाठ करे। मन्त्रों में पठित चकार समुच्चय को बताने वाले हैं। 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' का अर्थ होता है कि मेरे द्वारा किये गये इस यज्ञ से 'वाज' (अन्न) प्रभृति पदार्थ मुझे प्राप्त हों, अर्थात् यह यज्ञ हमें अन्न प्रभृति पदार्थों से संपन्न बना दे। अथवा यह भी अर्थ हो सकता है कि ये अन्न प्रभृति पदार्थ यज्ञ में अग्नि को तृप्त करने वाले हो।

यहाँ किये गये प्रथम अर्थ का समर्थन 'अथो इदं च' इत्यादि शतपथ श्रुति से मिलता है और दूसरे अर्थ की भी पुष्टि 'अनेन च त्वा प्रीणामि' इस वचन से मिलता है। शतपथ श्रुति के प्रमाण पर ही इन मन्त्रों का विनियोग अयुग्म स्तोम में माना जाता है। महीधर ने भी अपने भाष्य में यहाँ बताया है कि विषय संख्या वाले मन्त्रों से अयुग्म स्तोम हवि प्रदान करे। अतिशय आदर प्रदर्शित करने के लिये मन्त्र में एक ही संख्या की पुनरुक्ति की गई है। इस अयुग्म स्तोम हवन से सभी कामनाएं पूरी हो जाती हैं। 'एतद्वै देवाः' यह शतपथ श्रुति इसमें प्रमाण है। चार संख्या से लेकर इस संख्या को चार-चार कर बढ़ाते हुए ४८ संख्या तक की युग्म स्तोम हवि भी इसी प्रकार दी जाती है। इससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। शतपथ ब्राह्मण में ही इसका भी प्रतिपादन है और वही प्रत्येक संख्या की द्विरुक्ति का प्रयोजन भी बताया गया कि जैसे मनुष्य वृक्ष की एक शाखा को पहले पकड़ता है, तब उसी के सहारे से दूसरी शाखा को भी पकड़ लेता है, उसी तरह से यहाँ भी एक संख्या के सहारे दूसरी संख्या तक पहुँचा जाता है।

दयानन्द ने आगे लिखा है—'^{2}अग्न^{3} आ^{1} याहि^{2}' इत्यादि मन्त्रों के संकेतों से 'एक ही क्रिया दो प्रयोजनों को सिद्ध कर देती है' इस लौकिक न्याय के अनुसार स्वरों के परिज्ञान के साथ ही बीजगणित भी निकलती है। इस तरह से गणित विद्या का तीसरा भाग, जो रेखागणित है, वह भी वेदों से ही सिद्ध होता है' (पृ० १६५), किन्तु यह कथन भी निराधार है। बिना हेतु के प्रतिज्ञा मात्र से कोई बात सिद्ध नहीं होती। सामवेद के इन स्वरों से गणित विद्या की सिद्धि कैसे होती हैं? इसकी पद्धति आपने नहीं बताई। गणित के विद्वानों को दयानन्द की इस बात से हंसी आती है कि वाह क्या चतुराई दयानन्द ने यहाँ दिखाई है। सिद्धान्ततः इन स्वरों का उपयोग केवल साम मन्त्रों का गान करते समय ही किया जाता है। मन्त्र का अर्थ है—हे वैश्वानर रूप अग्ने, आप हमारे द्वारा

दृष्ट्वा। सिद्धान्तरीत्या तु स्वराणां गीतिष्वेवोपयोगः। मन्त्रार्थस्तु—'हे अग्ने वैश्वानररूपाग्ने, वीतये हविषां भक्षणाय आयाहि आगच्छ। हव्यदातये हविर्दानार्थं गृणानः स्तूयमानः, आस्तीर्णे बर्हिषि निषत्सि निषीदेत्यर्थः।

'एका च मे' इत्यादिकण्डिकाया एवमर्थो विधातुं शक्यते—एका अद्वितीया स्वप्रकाशा चितिः। तत्रैव सर्वमध्यारोप्यते। अथवा सकलजगदुपादानमेकैव प्रकृतिः पूर्वमासीत्। 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा। पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः॥' (सप्तशती १०।५)। ततस्तिस्रः सत्त्वरजस्तमःशक्तयो मयि प्रसन्नाः सन्त्विति सर्वत्रान्वयः। ताभ्यश्च पञ्च महाभूतानि। तेभ्यश्चापञ्चीकृतेभ्यो ज्ञानेन्द्रियाणि मनोबुद्धिश्चेति सप्त। सप्त सागराः सप्त धातवो वा। पञ्चीकृतेभ्यः पञ्चमहाभूतेभ्यश्च नवद्वारोपलक्षितः स्थूलदेहः। वेदत्रयो षड् दर्शनानीति नव वा। ततो दशप्राणास्तदाधारभूता सुषुम्ना चैका—इत्येकादश। एकादश रुद्रा वा। एवमेकादशभूतसत्त्वांशेभ्यस्त्रयोदश देवताः। सप्त प्रकृतिविकृतयः पञ्च प्राणा विज्ञानात्मा च त्रयोदश। करणानां पुष्या-युगन्धरा-शङ्खिनीत्याद्याः श्रोत्रादिनाड्यश्चतुर्दश सुषुम्ना पञ्चदशीत्येवं पञ्चदश। अथवा ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि प्राणाश्चेति पञ्चदश। सप्तदश लिङ्गशरीरावयवाः। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च प्राणा अन्तःकरणचतुष्टयं चेति नवदश। यद्वा सञ्जीवनीव्रणविरोपणीव्रणघ्नीसहदेवीब्राह्मीमुण्डीत्याद्या एकोनविंशतिर्महौषध्यो नागार्जुनतन्त्रादौ प्रसिद्धाः। षोडश विकाराः पञ्च तन्मात्राश्चैकविंशतिः। यद्वा एकविंशतिर्मर्माणि वैद्यकप्रसिद्धानि। महदहङ्कारौ पञ्चतन्मात्राः षोडशविकारास्त्रयोविंशतिः। यद्वा ज्वरातिसारपाण्डुक्षयाद्यास्त्रयोविंशतिर्महारोगाः। प्रकृतिसहितैषा त्रयोविंशतिः क्षेत्रज्ञश्चेति पञ्चविंशतिः। यद्वा प्रसिद्धाः पञ्चविंशतिरप्सरसः स्वर्ग इव देहेऽपि विद्यमानाः। तथाहि—'पूर्वचित्तिश्चित्तं

दी जा रही हवि को ग्रहण करने के लिये यहाँ आइये। हवि देते समय आपकी स्तुति की जा रही है, उसको सुनने के लिये आप हमारे द्वारा बिछाये गये इस कुश के आसन पर बैठिये।

'एका च मे' इत्यादि कण्डिका का अर्थ इस तरह से किया जा सकता है—एक अद्वितीय स्वप्रकाश चिति में ही सबका आरोप किया जाता है। अथवा सारे जगत् की उपादानकरण प्रकृति भी सबसे पहले अकेली थी। दुर्गा सप्तशती में देवी ने कहा है—ए दुष्ट, इस जगत् में मैं अकेली ही हूँ, मेरे सिवाय यहाँ दूसरा कौन है? देख, ये सब बाहर दिखाई पड़ रही मेरी विभूतियाँ मेरे इस एक ही स्वरूप में विलीन हो रही हैं'। तब उसके बाद सत्त्व, रज और तम के कारण यह शक्ति त्रिगुणात्मिका हुई। इस तरह से एक संख्या वाली और तीन संख्या वाली ये शक्तियाँ मेरे ऊपर प्रसन्न हों। इस प्रकार सभी संख्याओं वाले पदार्थों के साथ सर्वत्र इस क्रिया को जोड़ना चाहिये। जैसे कि एकात्मिका और त्रिगुणात्मिका शक्तियों से पाँच महाभूत उत्पन्न हुए। अपंचीकृत महाभूतों से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन एवं बुद्धि ये सात पदार्थ हुए अथवा सात संख्या वाले सात सागर और सात धातुओं का भी यहाँ ग्रहण किया जा सकता है। पंचीकृत पंच महाभूतों से नव द्वार वाला स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। अथवा तीन वेद और छः दर्शनों का भी नौ संख्या से उल्लेख किया जा सकता है। दस प्राण और उनकी आधारभूत सुषुम्ना नाडी को एकादश संख्या के पदार्थों में परिगणित करना चाहिये। अथवा इस संख्या से एकादश रुद्रों का भी ग्रहण किया जा सकता है। एकादश भूतों के सत्त्वांश से त्रयोदश देवता उत्पन्न होते हैं। वे हैं—प्रकृति और विकृति के नाम से परिचित सात पदार्थ, पांच प्राण और तेरहवां विज्ञानात्मा। श्रोत्र आदि करणों को पुष्या, युगन्धरा, शंखिनी प्रभृति चौदह नाड़ियों और सुषुम्ना को लेकर पन्द्रह नाड़ियाँ होती हैं। अथवा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और प्राणों को लेकर के भी यह संख्या बन सकती है। लिंग शरीर के सत्रह अवयव माने जाते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण को लेकर उन्नीस संख्या बनती है। अथवा संजीवनी, व्रणविरोपिणी, व्रणघ्नी, सहदेवी, ब्राह्मी, मुण्डी प्रभृति उन्नीस महोषधियों का भी इस संख्या से बोध माना जा सकता है, जो कि नागार्जुनतन्त्र प्रभृति ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। षोडश विकार और पांच तन्मात्राओं का इक्कीस की संख्या से बोध होता है अथवा इस संख्या से वैद्यक शास्त्र में प्रसिद्ध इक्कीस मर्म स्थानों का भी बोध हो सकता है। महान्, अहङ्कार, पंचतन्मात्रा और षोडश विकार मिलकर तेईस संख्या की पूर्ति करते हैं। अथवा ज्वर, अतिसार, क्षय, पाण्डु आदि तेईस महारोग भी इस संख्या से गृहीत किये जा सकते हैं। ये तेईस तत्त्व प्रकृति और पुरुष के साथ मिलकर पचीस होते हैं। अथवा स्वर्ग

बुद्धिस्तिलोत्तमा मन उर्वशी अविद्या रम्भा परोक्षविद्या मेनका तत्कन्या गौरी अपरोक्षविद्या श्रोत्रं मञ्जुघोषा त्वगनुम्लोचा चक्षुः प्रम्लोचा रसनं सुकेशी घ्राणं सुरभिला वाग् वाग्वादिनी सपाणिर्हस्तेन्द्रियं श्यामला पादेन्द्रियं सुपेशा पायुरिन्द्रियं सुभगा' इत्यादियोगलतिकायां विस्तरः। सप्तविंशतिर्नक्षत्राणि चित्रसेन-विश्वावसु-नारदाद्या गन्धर्वा वा सप्तविंशतिः, 'वातो वा मनो वेति गन्धर्वाः सप्तविंशतिः' (श० ५।१।४।८) इति श्रुतेः। चतुर्विंशतितत्त्वानि, क्षेत्रज्ञः, हिरण्यगर्भः, विराट्, ईश्वरः, विभवः (रामकृष्णादिरूपः) इति नवविंशतिः। यद्वा ज्योतिष्मत्याद्या एकोनत्रिंशद् विद्युद्देवताः कृत्याशब्दवाच्याः श्रुतिप्रसिद्धाः। तथा च श्रुतिः—'ज्योतिष्मतीं त्वासादयामि ज्योतिर्विदं त्वासादयामि' (तै० आ० ३।१९।१)इत्यादि। नवविंशतिरेव अभ्युदयनिःश्रेयसाभ्यां सहिता एकत्रिंशत्। यद्वा—एकत्रिंशद् भुवनानि। तथाहि भूर्भुवरादिस्वर्गलोकान्तं सप्त, अतलादिपातालान्तं सप्त, वैकुण्ठलोकः, राधालोकः, गोलोकः मणिद्वीपम्, महाकालपुरम्, शिवपुरम्, गणेशलोकश्चेति सप्तोपस्वर्गाः। अयोध्या मथुरा मायेत्याद्या मोक्षदायिन्यः सप्त पुर्यः सप्त भूस्वर्गाः। कैलासो मानसं मेरुश्चेति ब्रह्मलोकावान्तरभेदाः। एवमेकत्रिंशत्। अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या अश्विनौ चेति त्रयस्त्रिंशद्देवताः, यद्वा नवविंशतिरेव पुरुषार्थचतुष्टयेन युक्ता त्रयस्त्रिंशत्। एतानि यज्ञेन कल्पन्ताम्।

एवं विषमाङ्कैर्देवच्छन्दोविस्तरशोऽभिधाय मनुष्यच्छन्दोविकल्पमाहापरया चतस्रश्चेत्यादिकण्डिकया। तथा च श्रूयते—'एका च मे तिस्रश्च म इत्याह देवच्छन्दसं वा एका च तिस्रश्च (५) मनुष्यच्छन्दसं चतस्रश्चाष्टौ च' (तै० सं० ५।४।८।६) इत्यादि। तत्र धर्मार्थकाममोक्षविद्याश्चतस्रः। यद्वा प्रणवस्य अकार उकारो मकारोऽर्धमात्रा चेति चतस्रः। चत्वारो वेदाश्चत्वार उपवेदाश्चेत्यष्टौ, अष्टौ अणिमाद्याः सिद्धयो वा। व्यष्टिसमष्टिरूपा विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयपादा मात्राभिर्युक्ता द्वादश। यद्वा षडङ्गानि षड् दर्शनानीति द्वादश। एते विश्वतैजसाद्याः पुरुषार्थ-

की तरह इस देह में भी पचीस अप्सराएँ प्रसिद्ध हैं। जैसे कि योगलतिका में विस्तार से बताया गया है—'चित्त ही पूर्वचित्ति, बुद्धि तिलोत्तमा, मन उर्वशी, अविद्या रम्भा, परोक्षविद्या मेनका, उसकी कन्या अपरोक्षविद्या गौरी, श्रोत्र मंजुघोषा, त्वगिन्द्रिय अनुम्लोचा, चक्षु प्रम्लोचा, रसना सुकेशी, घ्राण सुरभिका, वाणी वाग्वादिनी, हस्त श्यामला, पाद सुपेशा, पायु सुभगा' इत्यादि प्रकार से इस शरीर में भी स्वर्ग की २५ अप्सराओं की स्थिति बताई गई है। उनका भी पच्चीस संख्या से बोध माना जा सकता है। सत्ताईस संख्या से इतनी संख्या के नक्षत्रों अथवा चित्रसेन, विश्वावसु, नारद प्रभृति सत्ताईस गन्धर्वों का भी बोध हो सकता है। सत्ताईस गन्धर्वों का उल्लेख ऊपर उद्धृत शतपथ ब्राह्मण के वचन में मिलता है। चौबीस तत्त्वों के साथ क्षेत्रज्ञ, हिरण्यगर्भ, विराट्, ईश्वर और रामकृष्ण के अवताररूप विभव को लेकर उन्तीस संख्या बनेगी। अथवा ज्योतिष्मती प्रभृति उन्तीस विद्युत्स्वरूप देवता, जिनको कि कृत्या नाम से भी जाना जाता है, इस संख्या से गृहीत हो सकते हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में इनका उल्लेख मिलता है। ऊपर बताये उन्तीस तत्त्वों में ही अभ्युदय और निःश्रेयस् को मिला देने पर इकतीस पदार्थ बन जाते हैं। अथवा इस संख्या से भुवनों का भी बोध हो सकता है। जैसे कि भूः, भुवः आदि ऊर्ध्ववर्ती सात लोक, अतल, पाताल आदि अधोवर्ती सात लोक, वैकुण्ठलोक, राधालोक, गोलोक, मणिद्वीप, महाकालपुर, शिवपुर और गणेशलोक को मिलाकर सात उपस्वर्ग; अयोध्या, मथुरा, माया प्रभृति मोक्षदायिनी सात पुरियाँ सात भूस्वर्ग; इनके साथ मिलकर कैलास, मानस और मेरु, जो कि ब्रह्मलोक के अवान्तर भेद माने जाते हैं, इकतीस संख्या की पूर्ति करते हैं। आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य और अश्विनीकुमारयुगल मिलकर तैंतीस देवता होते हैं। अथवा ऊपर बताये उन्तीस तत्त्वों के साथ पुरुषार्थचतुष्टय को मिला देने पर भी तैंतीस की संख्या पूरी होती है। ये सब वस्तुएँ यज्ञ के द्वारा मुझे प्राप्त हों।

इस तरह विषम संख्याओं से देवताओं के विस्तार का उल्लेख कर दूसरी कण्डिका में सम संख्या के आधार पर मनुष्यों के विस्तार का उल्लेख किया जाता है, जैसा कि तैत्तिरीय संहिता में इनका उल्लेख है। इनमें से चार संख्या से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अथवा प्रणव की अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा का उल्लेख किया जाता है। चार वेद और चार उपवेद मिलकर आठ होते हैं। अथवा अणिमा प्रभृति सिद्धियाँ भी आठ ही होती हैं। व्यष्टि और समष्टि में विभक्त विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय पादमात्राओं से मिलकर बारह होते हैं। अथवा छः वेदांग और छः दर्शन मिलकर भी बारह होते हैं। ऊपर बताये विश्व, तैजस आदि के बारह

चतुष्टयेन युक्ताः षोडश । यद्वा षोडश महाविद्याः सिद्धिरूपाः । तद्यथा—दूरश्रवणदर्शनाद्याः पञ्चज्ञानेन्द्रियसिद्धयः, वाक्सिद्धयाद्याः पञ्च कर्मेन्द्रियसिद्धयः, स्थापत्यविद्या पर्जन्यविद्या ज्योतिर्विद्यायुर्विद्या परोक्षब्रह्मविद्या चेति पञ्च सिद्धयो द्विविधमनश्चित्तबुद्धयहङ्काराणां ज्ञेयाः । अपरोक्षब्रह्मविद्या तु महत्तत्त्वस्येति षोडश । महाभूतानि स्थूलसूक्ष्मभेदेन दश, विषया अपि स्थूलसूक्ष्मभेदेन दशेति विंशतिः । चतुर्विंशतितत्त्वानि प्रसिद्धानि । अष्टाविंशतिस्तिरश्चां भेदाः 'गौरजो महिषः कृष्णः' इत्यादिना भागवतादौ प्रसिद्धाः । अथवा दशेन्द्रियाणि प्राणापानव्यानसमानोदाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयेति दश प्राणाः, एकादशं मनः, हानोपादानोपेक्षाबुद्धयश्चेत्यष्टाविंशतिः । अष्टविधो देवसर्गः, षड्विधः स्थावरसर्गः, कौमारमानुषसर्गौ द्वौ, ऐन्द्रियसर्गो दशविधो ज्ञानक्रियात्मकः, अहङ्कारस्त्रिविधः, त्रयो गुणाश्चेति द्वात्रिंशत् । अथवा अलम्बुषा कूहूर्विश्वोदरा वारुणी हस्तिनी जिह्वा यशोवती पयस्विनी गान्धारी पूषा शङ्खिनी सरस्वती इडा पिङ्गला सुषुम्ना प्राणा इन्द्रियाणि अहङ्कारश्चेति द्वात्रिंशत् । यद्वा दन्ता द्वात्रिंशत् । प्रकृत्यहङ्कारबुद्धिमनस्त्वक्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाकाशवायुवह्निसलिलभूमिमायाकलाऽविद्यारागकालनियतिपुरुषशिवशक्तिसदाशिवेश्वरशुद्धविद्येतिश्रीविद्योपासनायां प्रसिद्धानि षट्त्रिंशत् तत्त्वानि । अथवा किमनया क्लिष्टकल्पनया चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, अष्टाविंशत्यक्षरा उष्णिक्, षट्त्रिंशदक्षरा बृहती, चत्वारिंशदक्षरा पंक्तिः, चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्, अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती । शेषाणामत्रैवान्तर्भावः । एतेषां च मनोमयत्वात् तल्लये मनसोऽपि लयः स्यादिति भावः । वाजादिरथन्तरान्ता यज्ञेन कल्पन्तामित्यर्थः ।

यच्च रेखागणितप्रकाशनायोक्तम्—'इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः । अयं सोमो वृष्णोऽश्वस्य रेतो ब्रह्मा यं वाचः परमे व्योमन् ॥' (वा० सं० २२।६२)। 'कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं

भेद चार पुरुषार्थ से मिलकर सोलह होते हैं। अथवा सिद्धि के रूप में वर्णित सोलह महाविद्याएँ भी इस संख्या से बोधित हो सकती है। सोलह महासिद्धियों में दूरश्रवण, दूरदर्शन प्रभृति पांच ज्ञानेन्द्रियों की सिद्धियाँ, वाक्सिद्धि प्रभृति पाँच कर्मेन्द्रिय की सिद्धियाँ, स्थापत्यविद्या, पर्जन्यविद्या, ज्योतिर्विद्या, आयुर्विद्या, परोक्ष ब्रह्मविद्या ये पांच महाविद्याएँ, द्विविध मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार की मानी जाती है। सोलहवीं अपरोक्ष ब्रह्मविद्या मह-तत्त्व की मानी जाती है। इस तरह से ये सोलह महासिद्धियाँ बनती हैं। स्थूल और सूक्ष्म के भेद से पंच महाभूत दस प्रकार के हो जाते हैं, विषय भी स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दस होते हैं। इनको मिलाने से बीस संख्या पूरी हो जाती है। चौबीस संख्या के तत्त्व तो प्रसिद्ध ही है। अट्ठाईस संख्या से भागवत आदि पुराणों में प्रसिद्ध गाय, बकरी, महिष प्रभृति अट्ठाईस प्रकार के प्राणियों के भेदों का ग्रहण होता है। अथवा दस इन्द्रियाँ, प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय ये दस प्राण मन के साथ मिलकर ग्यारह होते हैं। इनके साथ हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि को मिला देने पर ये भी अट्ठाईस हो जाते हैं। आठ प्रकार की देव सृष्टि, छः प्रकार की स्थावर सृष्टि, कौमार और मानुष सृष्टि दो, ज्ञान और क्रिया रूप दस प्रकार की इन्द्रिय सृष्टि, त्रिविध अहंकार और तीन गुण मिलकर बत्तीस संख्या की पूर्ति करते हैं। अथवा अलम्बुषा, कुहू, विश्वोदरा, वारुणी, हस्तिनी, जिह्वा, पयोवती, पयस्विनो, गान्धारी, पूषा, शंखिनी, सरस्वती, इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाम की पन्द्रह नाड़ियाँ, दस प्राण, मन के साथ छः इन्द्रियाँ और अहंकार मिलकर भी बत्तीस होते हैं। अथवा इस संख्या से बत्तीस दांतों को भी लिया जा सकता है। प्रकृति, अहंकार, बुद्धि, मन, त्वक्, चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, माया, कला, अविद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या मिलकर छत्तीस तत्त्व श्रीविद्या के उपासकों के संप्रदाय में प्रसिद्ध हैं। अथवा अधिक क्लिष्ट कल्पना करने से क्या लाभ है? गायत्री चौबीस अक्षरों वाली होती है, उष्णिक् छन्द अट्ठाइस अक्षरों का, छत्तीस अक्षरों की बृहती, चालीस अक्षरों की पंक्ति और त्रिष्टुप् छन्द चवालीस अक्षरों का तथा जगती छन्द अड़तालीस अक्षरों का होता है। मन्त्र में उक्त इन संख्याओं से इन्हीं का ग्रहण किया जाना चाहिये। बाकी का भी इन्हीं में अन्तर्भाव हो जायगा। ये सब मनोमय हैं। इनका लय हो जाने पर मन भी विलीन हो जायगा। इसी बात को बताने के लिए यहाँ उनका उल्लेख किया गया है। इस पूरे प्रकरण का सरल अर्थ यही है कि वाज से लेकर रथन्तर पर्यन्त सभी पदार्थ यज्ञ की सहायता से मुझे प्राप्त हो जायं। इसमें गणितविद्या का दूर का भी कोई संबन्ध नहीं है।

किमासीत् परिधिः क आसीत्। छन्दः किमासीत् प्र उगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥' (ऋ० सं० १०।१३०।३) ।

'इयं या वेदिस्त्रिकोणा चतुरस्रा श्येनाकारा वर्तुलाकारयुक्ता क्रियते, अस्या वेदेराकृत्या रेखागणितोपलक्षणं विज्ञायते। एवं पृथिव्याः परोऽन्तो यो भागोऽर्थात् सर्वतः सूत्रवेष्टनवदस्ति स परिधिरित्युच्यते । यश्चायं यज्ञो सङ्गमनीयो रेखागणिते मध्यो व्यासाख्यो मध्यरेखायाश्च सोऽयं भुवनस्य भूगोलस्य ब्रह्माण्डस्य वा नाभिरस्ति । सोमलोकोऽप्येवमेव परिध्यादियुक्तोऽस्ति । वृष्णो वृष्टिकर्तुः सूर्यस्याग्नेर्वायोर्वा वेगहेतोरपि परिध्यादिकं तथैवास्ति । रेतो वीर्यमोषधिरूपेण सामर्थ्यार्थं विस्तृतमप्यस्तोति वेद्यम् । यद् ब्रह्मास्ति तद्वाण्याः परमं व्योम, अर्थात् परिधिरूपेणान्तर्बहिः स्थितमस्ति ।

यथार्थज्ञानं यथार्थज्ञानवान् तत्साधिका बुद्धिः कासीत् ? सर्वस्येति शेषः । एवं प्रतिमा प्रतिमीयतेऽनया सा प्रतिमा यया परिमाणं क्रियते सा कासीत् ? एवमेवास्य किं निदानं कारणमस्ति ज्ञातव्यं घृतवत्सारभूतं चास्मिन् जगति किमासीत् ? सर्वदुःखनिवारकमानन्देन स्निग्धं सारभूतं च तथास्य सर्वस्य विश्वस्य पृष्ठावरणं किमासीत् ? गोलस्य पदार्थस्योपरि सर्वतः सूत्रवेष्टनं कृत्वा यावती रेखा लभ्यते स परिधिरित्युच्युते । छन्दः स्वच्छन्दं स्वतन्त्रं वस्तु किमासीत् ? प्र उगं ग्रहोक्थं स्तोतव्यं किमासोत् ? इति प्रश्नाः । एषामुत्तराणि । यद् यं देवं परमेश्वरं विश्वेदेवाः सर्वं विद्वांसः अयजन्त समपूजयन्त पूजयन्ति, स एव सर्वस्य प्रमा यथार्थतया ज्ञातास्ति । प्रतिमा परिमाणकर्ता । एवमेवाग्रे योजनीयः ।

अत्रापि परिधिशब्देन रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । सेयं विद्या ज्योतिषशास्त्रे विस्तरश उक्तास्ति । एवमेतद्विषयप्रतिपादका अपि वेदेषु वहवो मन्त्राः सन्ति' (पृ० १६५) इति दयानन्दीयं व्याख्यानम् ।

तत्रेदमेवोच्यते यदुक्तयोर्मन्त्रयोर्दयानन्दोक्तेनार्थेन न मनागपि सम्बन्धः । कश्चित् स्वातन्त्र्येण शिल्पविद्यां प्रतिपादयन् मयाऽऽभ्यां मन्त्राभ्यामयमर्थो निष्कासित इति वदितुं शक्नोति, प्रमाणाभावस्योभयत्र तुल्यत्वात् । रेखादिभिर्यत्किञ्चित्तुल्यत्वमप्युभयत्रैव । आश्चर्यमिदमल्पज्ञजनप्रतारणपाटवं दयानन्दस्य । पूर्वं तु प्रमाशब्दस्य बुद्धिरर्थं

इसके आगे दयानन्द ने वेदों में रेखागणित को सिद्ध करने के अभिप्राय से 'इयं वेदिः' और 'कासीत् प्रमा' ये दो मन्त्र उद्धृत कर उनकी इस तरह से व्याख्या की है—'इन मन्त्रों में रेखागणित का प्रकाश किया है, क्योंकि वेदि की रचना में रेखागणित का भी उपदेश है । जैसे तिकोन, चौकोन, श्येन पक्षी के आकार और गोल आदि वेदि का आकार किया जाता है, सो आर्यों ने रेखागणित ही का दृष्टान्त माना था । क्योंकि (परो अन्तः पृ०) पृथिवी का जो चारों ओर घेरा है, उसको परिधि तथा ऊपर से अन्त तक जो पृथिवी की रेखा है, उसको व्यास कहते हैं । इसी प्रकार से इन मन्त्रों में आदि, मध्य और अन्त आदि रेखाओं को भी जानना चाहिये । इसी रीति से तिर्यक्, विषुवत् रेखा आदि भी निकलती हैं ।

(कासीत् प्र०) अर्थात् यथार्थ ज्ञान क्या है ? (प्रतिमा) जिससे पदार्थों का तोल किया जाय, वह क्या चीज है ? (निदानम्) अर्थात् कारण जिससे कार्य उत्पन्न होता है, वह क्या चीज है ? (आज्यं) जगत् में जानने के योग्य सारभूत क्या है ? (परिधिः) परिधि किसको कहते हैं ? (छन्दः) स्वतन्त्र वस्तु क्या है ? (प्र० उ०) प्रयोग और शब्दों से स्तुति करने के योग्य क्या है ? इन सात प्रश्नों का उत्तर यथावत् दिया जाता है—(यद्देवा देव०) जिसको सब विद्वान् लोग पूजते हैं, वहीं परमेश्वर प्रमा आदि नाम वाला है । इन मन्त्रों में भी 'प्रमा' और परिधि' आदि शब्दों से रेखागणित साधने का उपदेश परमात्मा ने किया है । इस तरह से तीन प्रकार की गणितविद्या आर्यों ने वेदों से ही सिद्ध की है और इसी आर्यावर्त देश से सर्वत्र भूगोल में गई है' (पृ० १६६) ।

इस पर हमारा इतना ही कहना है कि इन दोनों मन्त्रों का दयानन्द के द्वारा किए गए अर्थ से थोड़ा सा भी संबन्ध नहीं है । कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से शिल्पविद्या का प्रतिपादन करते हुए कह सकता है कि मैंने इन्हीं मन्त्रों से यह अर्थ निकाला है क्योंकि प्रमाण का अभाव दोनों ही स्थलों में समान है । शिल्पशास्त्र में भी इसी तरह की रेखाएँ होती है । अबोध व्यक्तियों को ठगने का दयानन्द का यह अनोखा तरीका है । पहले प्रमा शब्द का अर्थ बुद्धि किया था और अब यहाँ परमात्मा प्रमा, अर्थात् यथार्थतया

उक्तः, उत्तरे तु परमात्मा प्रमा यथार्थतथा ज्ञाता, प्रतिमा परिमाणकर्ता इत्यर्थः कृतः, परिधिश्च पृष्ठावरणमुक्तम्। तत्कथं व्यापकं भवति ? वेदिश्च कथं सर्वतः सूत्रवेष्टिता परिधिः सम्भवति। सङ्गमनीयो यज्ञः कः ? वेद्यां क्रियमाणो ज्योतिष्टोमादिश्चेत् कथं स मध्ये व्यासाख्यो मध्यरेखाख्यो भवति। भूगोलस्य ब्रह्माण्डगोलस्य वा स कथं नाभिः ? सर्वथापि पदवाक्यप्रमाणवहिर्भूतो गणितज्ञानामुपहासास्पदमेवास्य भाष्यमिति विद्वांसो विचारयन्तु।

सूत्रादिसम्मतः प्रथममन्त्रस्यायमर्थः—अत्रापि ब्रह्मोद्यं (ऋत्विजामन्येषां च ब्रह्मवादिनां यद्विहितमभीष्टसिद्धिफलकं परस्परं धर्मब्रह्मादिसम्बन्धिप्रश्नप्रतिवचनरूपं कर्म) प्रकृतम्, पूर्वेण मन्त्रेण यजमानोऽध्वर्युं पृच्छति—'पृच्छामि त्वा परमन्तः पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः। पृच्छामि त्वा वृष्णोऽश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥' (वा० सं० २३।६१), 'यजमानोऽध्वर्युं पृच्छामि त्वेति' (का० श्रौ० सू० २०।७।१४) इति कात्यायनवचनात्। हे अध्वर्यो, पृथिव्याः परमन्तमवधिभूतं पर्यन्तं त्वामहं पृच्छामि (द्विकर्मको धातुः)। यत्र यस्मिन् स्थले भुवनस्य नाभिः कारणं तदपि त्वां पृच्छामि। वृष्णः सेक्तुः प्रकृतस्य प्रजापतिरूपस्याश्वस्य रेतो वीर्यं त्वां पृच्छामि। वाचो वाण्यास्त्रयीलक्षणायाः परममुत्कृष्टं व्योमस्थानं त्वां पृच्छामि। 'इमं वेदिरित्युत्तरमाहाध्वर्युः, 'इयं वेदिरित्यध्वर्युः' (का० श्रौ० २०।७।१५) इति कात्यायनसूत्रात्। इयमुत्तरवेदिः पृथिव्याः परोऽन्तः, वेदेः सर्वपृथ्वीरूपत्वात्। देवानां हिताय असुराणां सकाशाद् वामनो विष्णुर्मृगचर्मपरिमितं पृथिव्या भागं दानरूपेण प्रतिगृहीतवान्। स एव पृथिव्याः सारो देवयजनस्थानरूपः। तस्यापि साररूपा वेदिरिति ब्राह्मणाख्यानेषु श्रूयते। अयमश्वमेधाख्यो यज्ञः भुवनस्य प्राणिजातस्य नाभिः कारणम्, 'यज्ञाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' (श० १।९।१।५) इति श्रुतेः। यज्ञादेव पर्जन्यवृष्ट्यन्नरेतआदिपञ्चाग्निक्रमेणापः पूरुषवचसो भवन्तीति पञ्चाग्निविद्यायां सर्वप्राण्युत्पत्तिरुक्ता। वृष्णः प्रजापतिदृष्ट्योपास्यमानस्याश्वस्य रेतोऽयं सोमः, प्रजापतिरूपस्याश्वस्य रेतसो लताविशेषरूपस्य सोमस्य जातत्वात्। अयं ब्रह्मा

ज्ञाता, प्रतिमा अर्थात् परिमाणकर्ता, यह अर्थ किया जाता है। परिधि का अर्थ पृष्ठावरण किया गया है। यह व्यापक कैसे हो सकती है ? चारों तरफ सूत्र से वेष्टित वेदि को परिधि कैसे कह सकते हैं ? संगमनीय यज्ञ क्या है ? वेदि में क्रियमाण ज्योतिष्टोम आदि यदि यह है, तो वह मध्य में व्यास अर्थात् मध्यरेखा वाला कैसे हो सकता है ? यह भूगोल अथवा ब्रह्माण्डगोल का नाभि कैसे होगा ? दयानन्द का यह भाष्य पद, वाक्य और प्रमाण से बहिर्भूत है और गणितज्ञों को दृष्टि से सर्वथा उपहासास्पद है, इस पर विद्वद्गण स्वयं विचार करें।

प्रथम मन्त्र का सूत्रादि संमत अर्थ दूसरा ही है। यहाँ भी ब्रह्मोद्य अर्थात् ऋत्विक् और अन्य ब्रह्मवादियों के बीच अभीष्ट सिद्धि देने वाला परस्पर धर्म और ब्रह्मविषयक प्रश्न-प्रतिवचनात्मक संवाद ही प्रकृत है। प्रथम मन्त्र के द्वारा यजमान अध्वर्यु से पूछता है। वह मन्त्र है 'पृच्छामि त्वा'। इसका यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र में प्रतिपादित है। इसका अर्थ यह है—हे अध्वर्यो, मैं तुमसे यह पूछता हूँ कि इस पृथिवी की परम अवधिभूत परिधि क्या है ? यह धातु द्विकर्मक है। जिस स्थान में इस जगत् का कारण छिपा है, उसको भी मैं तुमसे जानना चाहता हूँ। प्रजापतिरूप अश्व का वीर्य क्या है ? यह भी मैं तुमसे जानना चाहता हूँ। इस त्रयीलक्षण वेदवाणी का जो उत्कृष्ट स्थान है, उसके संबन्ध में भी मैं तुमसे पूछता हूँ। इन प्रश्नों का उत्तर 'इयं वेदिः' इत्यादि मन्त्र में दिया गया है। कात्यायन श्रौतसूत्र में इस मन्त्र का यही विनियोग बताया गया है। इसका अर्थ है—यह उत्तर वेदि इस पृथ्वी की परिधि, परम अवधि है, क्योंकि वेदि सारी पृथ्वी का प्रतिनिधित्व करती है। देवताओं का हित साधन करने के लिए वामन रूप धारी भगवान् विष्णु ने असुरों के पास से मृगचर्म के बराबर पृथ्वी के भाग को दान के रूप में प्राप्त किया था। पृथिवी का यह सार भाग ही देवताओं के भजन का उत्कृष्ट स्थान है। वेदि इस उत्कृष्ट स्थान का भी सार है। यह कथा ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। यह अश्वमेध नामक यज्ञ सारे भुवनों और उनमें रहने वाले प्राणियों का कारण है। शतपथ श्रुति मे यह बताया है कि यज्ञ से प्रजा की उत्पत्ति होती है। यज्ञ से ही पर्जन्य, वृष्टि, अन्न, वीर्य आदि के क्रम से सारे प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन पंचाग्निविद्या में किया गया है। प्रजापति की दृष्टि से उपास्यमान अश्व का वीर्यस्वरूप यह सोम है, क्योंकि प्रजापति रूप अश्व के वीर्य से ही सोम

ऋत्विग्विशेषस्त्रयीरूपाया वाचः परमं व्योमस्थानम्, ब्रह्मणस्त्रिवेदसंयोगात्। अत एव त्रिवेदविदेव ब्रह्मा भवति। स्वदृष्ट्या वेदत्रयोक्तकर्मव्यङ्गतायाः समाधानकारकत्वात्। अश्वमेधप्रकरणगतोऽयं मन्त्रः। तस्मात् सूत्रब्राह्मणानुसार्यमेवार्थः। नात्र गणितविद्याया दूरतोऽपि सम्बन्धः।

द्वितीयस्य मन्त्रस्याप्यर्थं उच्यते—इतः पूर्वस्मिन्नासदीये सूक्ते सृष्टेर्विज्ञानत्वमुक्तम्। यो यज्ञ इति सप्तर्चे सूक्ते यज्ञादीनां केषाञ्चिद् भावानां सृष्टिः प्रतिपाद्यते। तत्र प्रथमेन मन्त्रेण प्रजापतेः सकाशाद् विस्तृतस्य यज्ञस्य सृष्टिरुक्ता। द्वितीयेन मन्त्रेण विश्वसर्जनोपायत्वेन प्रजापतिना सृष्टे यज्ञे विश्वस्य स्रष्टारो विश्वसृजो देवा विश्वसर्जनाय तं यज्ञमन्वतिष्ठन्नित्युक्तम्। तस्मिन् समये जगतोऽनुत्पत्तेर्जगदन्तःपातिनो यागोपकरणभूताः पदार्थाः कथमासन्नित्यनेन मन्त्रेण प्रश्नः क्रियते।

यद् यदा विश्वे सर्वे साध्या देवा देवं प्रजापतिमयजन्त तदानीं तस्य यज्ञस्य प्रमा प्रमाणमियत्ता का कथम्भूता आसीत्? तथा प्रतिमा हविष्प्रतियोगित्वेन मीयते निर्मीयत इति प्रतिमा देवता सा च यज्ञस्य का आसीत्? तथा निदानम् आदिकारणं यागेऽप्रवृत्तस्य प्रवृत्तिकारणं प्रवर्तकं फलं किमासीत्? आज्यं घृतमेतदुपलक्षितं हविर्वा तस्य यज्ञस्य किमासीत्? तथा परिधिः परितो धीयन्त इति परिधयो बाहुमात्राः पलाशादिवृक्षजास्त्रयः। परिपूर्वाद्धधातेः 'उपसर्गे घोः किः' (पा० सू० ३।३।९२) इति किप्रत्ययः। जातित्वादेकवचनम्। परिधय क आसन्नित्यर्थः। तस्य यज्ञस्य गायत्र्यादिकं छन्दः किमासीत्? तथा प्रउगं उक्थं आज्यप्रउगादीनां शस्त्राणामुपलक्षणमिदम्। तथा चाज्यप्रउगादीनि शस्त्राणि कान्यासन्?

प्रमापदस्य यथार्थज्ञानसाधिका बुद्धिरित्याद्यर्थस्तु पूर्वापरप्रसङ्गविधुर एव। 'विश्वेदेवा देवमयजन्नित्यनेन कथं सर्वेषां प्रश्नानामुत्तराणीति तु विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु। तस्माद् यदा विश्वेदेवा देवं प्रजापतिमयजन्त तदानीं

लता की उत्पत्ति मानी जाती है। यह ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् त्रयीस्वरूपिणी वाणी का परम उत्कृष्ट स्थान है, क्योंकि यह ब्रह्मा सभी वेदों का ज्ञाता होता है। तीनों वेदों का ज्ञाता ही ब्रह्मा बनाया जाता है, क्योंकि वह अपनी ओर से तीनों वेदों के द्वारा प्रतिपादिक कर्म में कोई कमी आ जाने पर उसका समाधान प्रस्तुत करता है। यह मन्त्र अश्वमेध के प्रकरण में पठित है। अतः इसका श्रौतसूत्र और ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर किया गया यह अर्थ ही सही माना जायगा। इस मन्त्र के साथ गणितविद्या का दूर का भी कोई संबन्ध नहीं है।

दूसरे मन्त्र का अर्थ भी हम बताते हैं। इससे पहले नासदीय सूक्त में सृष्टि का रहस्य समझाया गया है। 'यो यज्ञ०' इत्यादि सात ऋचा वाले इस सूक्त में यज्ञ जैसे कुछ भावों की सृष्टि का प्रतिपादन किया जाता है। इनमें से प्रथम मन्त्र में प्रजापति से विस्तृत यज्ञ की सृष्टि की बात बताई गई है। दूसरे मन्त्र में यह बताया गया है कि विश्व की सृष्टि के उपाय के रूप में प्रजापति ने जब यज्ञ की सृष्टि कर दी, तो विश्व की रचना करने वाले देवगण अपने इस कार्य की सफलता के लिये यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। उस समय जब जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब जगत् में ही पैदा होने वाले, गिने जाने वाले यज्ञीय उपकरणों की सत्ता कैसे मानी जा सकती है? इस दूसरे मन्त्र में इसी संबन्ध में प्रश्न उठाये गये हैं।

जब कि अभी सृष्टि नहीं हुई थी, उस समय सभी साध्य देवों ने प्रजापति यज्ञ का अनुष्ठान किया था, तो तब उस यज्ञ की प्रमा, प्रमाण अर्थात् इयत्ता किस तरह की थी? तथा जिसके लिये हवि दी जाती है, वह प्रतिमा अर्थात् देवता उस यज्ञ की कौन थी? तथा उस यज्ञ में प्रवृत्त कराने वाला आदि कारण अर्थात् प्रवर्तक फल क्या था? आज्य (घृत) अथवा इससे उपलक्षित होने वाला आहुति द्रव्य उस यज्ञ का क्या था? तथा एक निश्चित परिमाण वाली पलाश वृक्ष से बनाई जाने वाली परिधियां उस समय किससे बनाई गई थी? परिधि शब्द की निष्पत्ति परि उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु से 'कि' प्रत्यय के द्वारा होती है। यहां जाति में एक वचन है। उस यज्ञ के गायत्री प्रभृति छन्द क्या थे? और आज्य, प्रउग आदि शस्त्र भी क्या थे?

इस मन्त्र के प्रमा पद का अर्थ 'यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करने वाली बुद्धि' करना पूर्वापर प्रसंग के सर्वदा विपरीत है। 'विश्वेदेवाः' इस मन्त्र से उक्त सभी प्रश्नों का समाधान कैसे हो जाता है? इस बात को तो स्वयं विद्वान् ही जानने का प्रयत्न

जगतः सृष्टेरभावाद् यज्ञः कथं सम्पन्नः ? तत्र यज्ञप्रमा परिमाणमियत्ता कासीत्। यज्ञस्य प्रतिमा देवता कासीत् ? देवता द्रव्यं च यज्ञस्य स्वरूपं भवतीत्येव युक्तम्। बुद्धि-परिमाण-निदाना-ज्य(सार)गोलपृष्ठावरणस्वतन्त्रवस्तु-प्रयोगादिप्रश्नानां कः प्रसङ्गः ? प्रउगमित्यस्य ग्रहोक्थं स्तोतव्यमिति कथमर्थः ? भाषाभाष्ये च प्रयोगैः शब्दैश्च स्तोतव्यमिति कस्य शब्दस्यार्थः ? इति सर्वथोपहासास्पदमेव भाष्यम्।

अत एव हविः प्रतियोगित्वेन मीयमाना देवता प्रतिमा युक्ता। तदानीं जगत्सृष्टेः प्राग् यज्ञस्य देवता कासीत् ? निदानं प्रवर्तकफलं किमासोत् ? आज्यादिकं हविः किमासीत् ? परिधिः परिधय क आसन् ? गायत्र्यादि-छन्दः किमासीत् ? प्रउगादीनि शस्त्राणि कान्यासन् ? इतीमे प्रश्नास्तु प्रकरणानुसारेण सङ्गताः। एतेषु प्रश्नेषु त्रयाणामुत्तरं द्वाभ्यामृग्भ्यामुक्तम्। तथाहि—'अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता सम्बभूव। अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत् ॥'(ऋ० सं० १०।१३०।४) सयुग्वा अग्नेः सहायभूता गायत्री यष्टव्यात्प्रजा-पतेर्मुखादग्नेर्गायत्री जाता। देवासुरमध्येऽग्निः, छन्दस्सु गायत्री चोभावप्यजायेतामित्यर्थः। 'प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति। स मुखतस्त्रिवतं निरमिमीत। तमग्निर्देवतान्वसृज्यत गायत्री छन्दः' (तै० सं० ७।१।१।४) इति श्रुतेः। उष्णिहया उष्णिक्छन्दसा सह सविता देवः सम्बभूव। ततः प्रजापतेर्यज्ञे (आपं चैव हलन्तामिति टाप्) महस्वान् तेजस्वी सोमः, उक्थैः स्तुतशस्त्रैरनुष्टुप्छन्दसा च सार्धं तस्मादेव प्रजापतेरजायत। बृहस्पतेर्देवस्य वाचं वाक्यं बृहतीच्छन्दः आवत् अरक्षत् अगच्छद्वा। बृहत्या सार्धं बृहस्पतिरपि तस्मादेव जज्ञ इत्यर्थः।

'विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुविह भागो अह्नः। विश्वान् देवान् जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः ॥' (ऋ० सं०१०।१३०।५)। अपि च, मित्रावरुणयोर्देवयोर्विराट् छन्दः अभिश्रीः अभिश्रिता आसीत्। विराजा छन्दसा सह मित्रावरुणावपि प्रजापतेः सकाशाद् अजायेतामिति यावत्। इह अस्मिन् यज्ञे अह्नः सवनत्रयरूपस्य

करें। इसलिये जब विश्वेदेव प्रजापति देव का यजन कर रहे थे, तब जगत् की सृष्टि के अभाव में यज्ञ कैसे सम्पन्न हुआ ? वहाँ यज्ञ का परिमाण अर्थात् इयत्ता क्या थी ? यज्ञ की प्रतिमा अर्थात् देवता क्या थी ? देवता और द्रव्य ही यज्ञ के स्वरूप होते हैं। अतः ये ही प्रश्न इस मन्त्र के अर्थ के रूप में माने जाने चाहिये। ऐसा न कर इस मन्त्र में से बुद्धि, परिमाण, निदान, आज्यसार, गोलक पृष्ठ, आवरण, स्वतन्त्र वस्तु प्रयोग आदि अर्थों को निकालने का क्या प्रसंग है ? प्रउग शब्द का अर्थ स्तोतव्य ग्रहोक्थ कैसे हो सकता है और हिन्दी अनुवाद में इसका अर्थ प्रयोग और शब्दों से स्तुति करना चाहिये, यह कैसे किन शब्दों के आधार पर किया जा सकता है ? इस तरह से दयानन्द का यह भाष्य सर्वथा उपहास का ही विषय माना जायगा।

इसलिये जिसको हवि दी जाती है, वह प्रमीयमान देवता ही प्रतिमा शब्द से यहाँ बोधित माना जायगा। उस समय जगत् की सृष्टि होने से पहले यज्ञ की देवता क्या थी ? उस यज्ञादि की प्रवृत्ति का फल क्या था ? घृत प्रभृति आहुतियाँ क्या थीं ? परिधि क्या थी ? गायत्री प्रभृति छन्द क्या थे ? प्रउग प्रभृति शस्त्र क्या थे ? ये ही प्रश्न प्रसंग के अनुसार ठीक माने जा सकते हैं। इन प्रश्नों में से तीन का उत्तर दो ऋचाओं के द्वारा दिया गया है। जैसे कि 'अग्नेर्गायत्र्यभवत्' इस मन्त्र में बताया गया है कि अग्नि की सहायक गायत्री यष्टव्य प्रजापति के मुखभूत अग्नि से पैदा हुई थी। अर्थात् देव और असुरों में अग्नि तथा छन्दों में गायत्री ये दोनों पदार्थं एक ही प्रजापति के मुख से उत्पन्न हुए थे। तैत्तिरीय श्रुति में भी इसका प्रतिपादन मिलता है। उष्णिक् छन्द के साथ सविता देवता पैदा हुए। ये दोनों भी एक साथ उस प्रजापति के यज्ञ में ही पैदा हुए। उष्णिक् शब्द से टाप् होने पर 'उष्णिहा' शब्द बनता है। उसी प्रजापति से महान् तेजस्वी सोम उक्थ स्तुत शस्त्र तथा अनुष्टुप् छन्द के साथ पैदा हुआ। बृहस्पति देवता की वाणी का अनुसरण बृहती छन्द ने किया, अर्थात् बृहती छन्द के साथ वृहस्पति की उत्पत्ति भी उसी प्रजापति के यज्ञ में हुई।

मित्रावरुण देवताओं के साथ विराट् छन्द शोभा बढ़ा रहा था, अर्थात् विराट् छन्द के साथ मित्रावरुण देवता प्रजापति से ही पैदा हुए थे। इस यज्ञ में तीन सवन वाले दिन का एक भाग माध्यन्दिन सवन और त्रिष्टुप् छन्द के आश्रित थे, अर्थात् माध्यन्दिन सवन, त्रिष्टुम् छन्द और इन्द्र इन सबकी उत्पत्ति भी प्रजापति से ही हुई थी। तैत्तिरीय श्रुति में भी इसका वर्णन मिलता है। तथा

भागो मध्यन्दिनसवनाख्योंऽशः त्रिष्टुप्छन्दश्च इन्द्रस्याभिश्रयणीयौ आस्ताम् । अर्थान्मध्यन्दिनसवनेन त्रिष्टुप्छन्दसा सार्धमिन्द्रश्च प्रजापतेः सकाशादुत्पन्नः ।' 'उरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत तमिन्द्रो देवतान्वसृज्यत त्रिष्टुप्छन्दो बृहत्साम' (तै० सं० ७।१।१।४) इति श्रुतेः । तथा विश्वान् सर्वान् देवान् जगतीच्छन्द आविवेश प्रत्रिष्टवती विश्वेदेवा जगती च प्रजापतेरजायन्तेत्यर्थः ।' तं विश्वेदेवा अन्वसृज्यन्त जगती छन्दो वैरूपं साम' (तै० सं० ७।१।१।५) इति श्रुतेः ।

एवमुक्तेन प्रकारेण प्रतिमा कासीत् छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थमिति त्रयाणां प्रश्नानामुत्तरं जातम् । आज्यं किमासीत् परिधिः क आसीदित्यनयोरुत्तरं 'देवा यज्ञमतन्वत । वसन्तोऽस्यासदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः । सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः ॥' इति पुरुषसूक्तमन्त्रैरुक्तम् ।

तदर्थस्तु सर्वरसोत्पादको वसन्तः, तस्य जगत्सर्जनसाधनस्य यज्ञस्य आज्यं हविरासीत् । आज्यदध्यादिभी रसैः सार्धं वसन्तोऽजायत । .सर्वरसानां शोषको ग्रीष्म ऋतुरिध्म आसीत् । शुष्कैः काष्ठैः सार्धं ग्रीष्मोऽजायत । तथा पच्यमानव्रीहियुक्तः शरदृतुरस्य यज्ञस्य हविरासीत् । सप्त छन्दांसि त्रिःसप्तैकविंशतिधा भूत्वा अष्टादश समिधः त्रयः परिधयश्चासन् ।

आसीत्प्रमा किं निदानमित्यनयोरपि प्रश्नयोरुत्तरम्—'पूर्वे विश्वसृजोऽमृताः शतं वर्षाणि दीक्षिताः सत्रमासत । एतेन वै विश्वसृज इदं विश्वमसृजन्त' (तै० ब्रा० ३।१२।९।२) इत्यत्रोक्तम् । अतस्तस्य यज्ञस्य सहस्रसंवत्सरपरिमितः कालः प्रमाणम् इयत्ता वा। विश्वस्य जगतः सर्जनमादिकारणं प्रवर्तकं फलम् । अर्थाद् यदा विश्वसृजो देवा देवं प्रजापतिं विश्वसृजामयनाख्येन यागेनायजन् तदोक्ताः सर्वयागोपकरणाः प्रजापतेः सकाशादजायन्त, अग्न्यादिदेवताभिः सह गायत्र्यादीनां छन्दसां तत एव जातत्वात् । तत एव तेषां छन्दसामग्न्यादयो देवता इत्यपि छन्दोविचितौ सूचितम् ।

विश्वेदेवों का अनुगमन जगती छन्द ने किया, अर्थात् विश्वेदेवों के साथ जगती छन्द भी उसी प्रजापति से पैदा हुए । 'उसके बाद विश्वेदेवों की सृष्टि की गई, साथ ही जगती छन्द की भी' ऐसा तैत्तिरीय संहिता में भी कहा गया है ।

इस तरह से उक्त दो मन्त्रों में इन तीन प्रश्नों का उत्तर हो गया कि प्रतिमा छन्द और प्रउग उक्थ क्या थे ? आज्य क्या था ? परिधियाँ क्या थीं ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर 'देवा यज्ञमतन्वत' इत्यादि पुरुष सूक्त के मन्त्रों के द्वारा दिया गया है। इस मन्त्र का अर्थ इस तरह से होगा—

सभी तरह के रसों का उत्पादक वसन्त उस जगत् की सृष्टि के साधनभूत यज्ञ का आज्य, अर्थात् हवि था । अर्थात् घृत, दही आदि रसमय पदार्थों के साथ वसन्त पैदा हुआ । इन सभी प्रकार के रसों का शोषक सुखा देने वाला ग्रीष्म ऋतु इस यज्ञ का दृश्य (काष्ठ) था, अर्थात् सूखी यज्ञीय लकड़ियों के साथ ग्रीष्म ऋतु भी इसी यज्ञ से पैदा हुआ । तथा पके हुए अनाज के साथ विद्यमान शरद् ऋतु इस यज्ञ का हवि था । सात, छन्द तिगुने होकर अर्थात् इक्कीस भेदों में विभक्त होकर १८ समिधाएँ और तीन परिधियाँ बन गईं ।

प्रमा क्या थी और निदान क्या था ? इन दोनों प्रश्नों का भी उत्तर 'पूर्वे विश्वसृजो०' इत्यादि मन्त्र में दिया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के इस वचन का अभिप्राय है कि 'पहले के जगत् की सृष्टि करने वाले देवगण यज्ञीय दीक्षा ग्रहण कर सौ वर्ष तक यज्ञ करते रहे । इसी मन्त्र की सहायता से उन्होंने इस विश्व की रचना की' । इसलिए यह सौ वर्ष का काल ही इस यज्ञ का प्रमाण या इयत्ता है, .अर्थात् इतने समय में यह पूरा होता है । सारे जगत् की सृष्टि करना ही इस यज्ञ में देवताओं के प्रवृत्त होने का प्रथम कारण है और यही इसका फल भी है । अर्थात् जब विश्व की सृष्टि करने में लगे हुए देवगण विश्व के आदिकारण प्रजापति का अयनाख्य याग के द्वारा यजन करने लगे, तो उस समय ये सब याग के उपकरण उस प्रजापति से ही विभिन्न प्रकारों से उत्पन्न हुए । क्योंकि ऊपर बताई गई पद्धति से अग्नि प्रभृति देवताओं के साथ गायत्री प्रभृति छन्द उस प्रजापति से ही पैदा हुए हैं । उन-उन देवताओं के साथ पैदा होने के दो कारण उन-उन छन्दों के ही देवता छन्दोविचिति में बताये गये हैं, जिनके साथ कि ये छन्द पैदा

'अग्निः सविता सोमो बृहस्पतिर्मित्रावरुणाविन्द्रो विश्वेदेवा देवताः' (पिङ्गलसूत्र ३।६३) एवं प्राजापत्यो यज्ञोऽनुष्ठितः। तेन यज्ञेन ऋषयो मनुष्याः चाक्लृप्रे चक्लृपिरे क्लृप्ता सृष्टा आसन्। तेनैव यज्ञेन सर्वं जगद् असृजन्नित्यर्थः। अयमेव प्रामाणिकः प्रासङ्गिकश्च मन्त्रार्थो सायणादिभिराचार्यैरुक्तः।

ईश्वरस्तुतिप्रार्थना

'अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासनाविद्याविषयः' इति प्रलम्बमानशीर्षकेण प्रार्थनायाचनयोर्भेदोऽङ्गीकृतः, स च निर्मूल एव, अर्थ-याचधात्वोरैकार्थ्यात्। ग्रन्थादो निरूप्यमाणे प्रार्थनाविषये कुतो नेतद् व्यवस्थापितम्? प्रार्थनाप्रसङ्गे च 'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेहि ओजोस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोसि सहो मयि धेहि' (वा० सं० १९।९), 'मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवा नः सचन्ताम् ॥' (वा० सं० २।१०) अस्माकं सन्त्विति शेषः। 'यां मेधां पितृगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु ॥' (वा०सं० ३२।१४) एतेषां मन्त्राणां कल्पनाबहुलो गौण एवार्थः प्रतिपादितः, मूलार्थाद्विप्रकृष्टत्वात्।

'गोधूमकुवलचूर्णानि चावपति तेजोऽसीति' (का० श्रौ० सू० १६।२।१६) इति सूत्रानुसारेण आश्विनग्रहणानन्तरं सादनात् प्राग् द्वे दर्भतृणे प्रागग्रे पात्रोपरि कृत्वा गोधूमकुवलयाश्चूर्णानि सहैव क्षिपति। कुवलं स्थूलबदरीफलम्। अत्र कण्डिकायां त्रीणि यजूंषि पयोदेवत्यानि, आद्यं यजुर्बृहती। हे पयः, त्वं तेजोऽसि। अतो तेजो मयि धेहि स्थापय। अत्रापि पयःपदेन तदधिष्ठातृविशिष्टैश्वर्यदेवतस्य प्रार्थनम्। देवतानां च परमेश्वराभिन्नत्वात् परमात्मप्रार्थनापि नानुपपन्ना। यो यदात्मकः स तत्र प्रार्थ्यते। अनन्तविद्यादिगुणः प्रकाशमयोऽसि मय्यप्यसंख्यातं

हुए हैं। जैसा कि पिंगल सूत्र के 'अग्निः सविता' इस सूत्र में बताया है। इस तरह से यह प्राजापत्य यज्ञ संपन्न किया गया। इस यज्ञ की सहायता से ऋषियों और मुनियों को सृष्टि हुई। इसी यज्ञ को सहायता से देवताओं ने सारे जगत् की सृष्टि की। यही अर्थ प्रामाणिक है और प्रसङ्ग के अनुकूल भी है, जो कि सायण प्रभृति महान् भारतीय वैदिक विद्वानों के द्वारा परम्परागत पद्धति से किया गया है।

ईश्वर स्तुति प्रार्थना विचार

इस प्रकरण का 'ईश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासनाविद्याविषय' इतना लम्बा शीर्षक देकर दयानन्द ने प्रार्थना और याचना में भेद किया है। यह सर्वथा निराधार है, क्योंकि अर्थ और याच् दोनों धातुओं का अर्थ एक ही है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में, जहाँ लेखक ने प्रार्थना शब्द पर विचार किया, वहाँ इस बात को क्यों नहीं बताया गया? प्रार्थना शब्द का विचार करते हुए दयानन्द ने 'तेजोऽसि', 'मयीदमिन्द्र', 'यां मेधां' ये तीन मन्त्र उद्धृत किये हैं और इनका कल्पित गौण अर्थ किया है, जिसकी कि मूल मन्त्र के वास्तविक अर्थ से बहुत दूरी है।

'गोधूम०' इत्यादि कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार आश्विन पात्र को लेकर, सादन क्रिया के पूर्व दिशा में अग्र भाग वाले दो दर्भों को रखकर उन सब पर गोधूम (गेहूँ) और कुवल के चूर्ण को एक साथ जब छिड़का जाता है, तभी 'तेजोऽसि' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। बड़े बेर को कुवल कहा जाता है। इस कणिका में तीन यजुर्मन्त्र हैं और इनके देवता जल है। पहला मन्त्र बृहती छन्द में निबद्ध है। हे जल, तुम तेज हो, इसलिए मुझमें तेज की स्थापना करो, मुझे तेजस्वी बनाओ। यहाँ पय शब्द से उसके अधिष्ठाता विशिष्ट ऐश्वर्यवाले देवता की प्रार्थना की जाती है। सभी देवता परमेश्वर से अभिन्न हैं, अतः यहाँ परमेश्वर की प्रार्थना मान लेने में भी कोई हानि नहीं है। जो देवता जिस रूप में होता है, उसकी उसी रूप में प्रार्थना की जाती है। 'हे परमेश्वर, तुम अनन्त विद्या आदि गुणों से प्रकाशमय हो, अतः मुझमें, मेरे हृदय में भी कृपा कर विज्ञान रूप प्रकाश कीजिये'

तेजो विज्ञानं धेहीति गौणार्थ एव। 'उपवाकवदरचूर्णानि च वीर्यमसि' (का० श्री० सू० १९।२।१७) इत्यनुसारेण उपवाका इन्द्रयवा:। वदरं सूक्ष्मवदरीफलम्। तयोश्चूर्णानि सारस्वते पयोग्रहे निर्वपेत्। तथा च हे ग्रह, त्वं वीर्यमसि अतो वीर्यं मयि धेहि, वीर्यं सामर्थ्यम्। अनन्तपराक्रमवानसि कृपया मय्यपि शरीरबुद्धिशौर्यस्फूर्त्यादिवीर्यं पराक्रमं मयि धेहीति तु वेदार्थवाह्यमेव, शरीरबुद्धिपदवैयर्थ्यं च। वीर्यपदस्य सामर्थ्यपरत्वात्। 'यवकर्कन्धुचूर्णानि च वलमसीति' (का० श्री० सू० १९।२।१९)। यवः प्रसिद्धः, कर्कन्धुरतिस्थूलं वदरफलम्, तयोश्चूर्णानि पयोग्रहे क्षिपेदिति सूत्रार्थः। हे ग्रह, तदभिन्नपरमेश्वर, त्वं वलमसि निरतिशयवलरूपमेवासि मयि वलमुत्तमं धेहि। वलहेतुरष्टमो धातुर्वलमुच्यते। 'सुराग्रहान् श्रीणात्योजोऽसीति वृकव्याघ्रसिंहलोमभिः प्रतिमन्त्रं मिश्रैरेके यथासंख्यम्' (का० श्री० सू० १९।२।२२-२३) इति कात्यायनरीत्या वृकादीनां मिश्रैः केशैरोजोसीति प्रतिमन्त्रं सुराग्रहान् मिश्रयेत्। ओजोसीत्याश्विनं मन्युरसीति सारस्वतं सहोसीत्यैन्द्रम्। एके वृकादिकेशैर्यथासंख्यं ग्रहं मिश्रयन्ति। अर्थाद् वृककेशैराश्विनम् वैयाघ्रैः सारस्वतम् सिंहैरैन्द्रम्। त्रीणि यजूंषि सुरादेवत्यानि। हे सुरे, सुराधिष्ठातृदैवत, तन्मूलभूतपरदेव, ओजः कान्तिरुपोऽसि अतो मयि ओजः कान्ति धेहि। मन्युरसि मानसं प्रज्वलनं कोपोऽसि तादृशं मन्युं कोपं मयि धेहि। नहि निरुपाधिकस्य स्वप्रकाशचैतन्यरूपस्य भगवतः कोपरूपत्वम्। सोपाधिकस्य तु तस्य तन्नासम्भवि, प्रह्लादोद्धरणाय नृसिंहरूपेण भगवतो मन्युरूपेणाविर्भावस्मरणात्। सहोऽसि सहः शारीरं वलं सपत्नाभिभवितृत्वं वा। 'महद् भयं वज्रमुद्यतम्' (क० उ० २।३।२) इति परमेश्वरस्यैतन्मुख्यमतो मयि सहो धेहि। एवं परमात्मस्तुतिप्रार्थनाप्रतिपादकस्यापि मन्त्रस्य विनियोगानुसारेण तत्तदुपहितपरमात्मन उपाधिभेदेनोपहितस्वरूपभेदाद् अभ्यर्थनाभेद उपपद्यते। ब्राह्मणसूत्रादिविहितगोधूमकुवलकादिद्रव्याणि तत्सूचिताः शक्तिविशेषाश्चोपाधयः।

(पृ० १६८) इस तरह का अर्थ गौणी वृत्ति से ही मिल सकता है। कात्यायन श्रौतसूत्र में ही बताया है कि 'वीर्यमसि' इस मन्त्र कल्प का उच्चारण करते हुए सारस्वत पात्र पर उपवाक और वदर के चूर्ण का छिड़काव किया जाता है। उपवाक इन्द्रयव और वदर छोटे बेर को कहते हैं। इस तरह से इसका अर्थ होता है—हे ग्रह, तुम वीर्य हो, अतः मुझमें वीर्य की प्रतिष्ठा करो। वीर्य कहते हैं सामर्थ्य को। 'आप अनन्त पराक्रम वाले हैं, अतः कृपा कर मुझे भी शरीर, बुद्धि, शौर्य, स्फूर्ति आदि पूर्ण पराक्रम दीजिये' (पृ० १६८-१६९) इस तरह का अर्थ मन्त्र के पदों से नहीं निकलता। इस अर्थ में शरीर और बुद्धि का उल्लेख करना व्यर्थ ही है, क्योंकि वीर्य तो सामर्थ्य को कहते हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र में 'बलमसि' मन्त्रपद का भी विनियोग बताया है। यव (जो) और कर्कन्धू (बहुत बड़ा बेर) इन दोनों के चूर्ण का पयोदेवता वाले पात्र पर इस मन्त्र का उच्चारण कर छिड़काव किया जाता है। 'हे ग्रह के अधिष्ठाता परमेश्वर, आप निरतिशय बलशाली हैं, इसलिये आप मुझमें उत्तम बल का आधान कीजिये। इस बल का कारण आठवाँ धातु बल कहलाता है। 'सुराग्रहान्' इस कात्यायन के सूत्र के अनुसार वृक, बाघ और सिंह के मिले-जुले केशों से 'ओजोऽसि' इत्यादि मन्त्रांश का उच्चारण करते हुए सुरापात्रों का मिश्रण कर दे। 'ओजोऽसि' इससे आश्विन पात्र का, 'मन्युरसि' से सारस्वत पात्र का और 'सहोऽसि' से ऐन्द्र पात्र का यथाक्रम वृक, व्याघ्र और सिंह के केशों से मिश्रण किया जाय, ऐसा कुछ आचार्यों का कथन है। इन तीनों यजुर्मन्त्रांशों की देवता सुरा है। हे सुरे, सुरा की अधिष्ठातृ देवते, आप का मूल-भूत देवता कान्तिमय है, अतः आप मुझे कान्ति से पूर्ण कर दीजिये। आप मन्यु अर्थात् मानस कोपमय अग्नि हैं, इसलिये इस सात्त्विक कोप से आप मुझे भर दीजिये। यहाँ यदि परमेश्वर को निरुपाधिक स्वप्रकाशमय माना जाय तो उसमें लोप की सत्ता नहीं बन सकती। जब हम सोपाधिक परमेश्वर को मान्यता दें, तभी यह संभव हो सकता है, क्योंकि सोपाधिक रूप में ही भगवान् अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा के लिये नृसिंह रूप धारण अपना मन्यु रूप गुण प्रकट करते हैं। सह शब्द का अर्थ शारीरिक बल अथवा शत्रु को अभिभूत कर देने वाली शक्ति होता है। यह बल 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' इस कारक श्रुति के अनुसार मुख्यतया परमेश्वर में ही है। उसी परमेश्वर बल की प्राप्ति के लिये यहाँ तदधिष्ठान पात्र से प्रार्थना की जाती है। इस तरह से परमात्मा की स्तुति और प्रार्थना के प्रतिपादक मन्त्र का भी विनियोग के अनुसार उपाधिभेद से उपहित के स्वरूप के भेद मानकर अलग-अलग प्रार्थनायें उन-उन औपाधिक स्वरूपों से की जा सकती है। ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों में प्रतिपादित कुवलक प्रभृति द्रव्य और उन तेज आदि पदों से सूचित होने वाली शक्तियाँ, ये सब उपाधि के ही भेद हैं।

इन्द्रः परमश्वर इदमिन्द्रियं मयि दधातु । इदमस्मदपेक्षितं वोर्यमपि स्थापयन् रायो धनानि देवमानुषभेदेन द्विविधानि मघवानो धनवन्तश्च मां सचन्ताम् । किञ्चास्माकमाशिषोऽभीष्टशंसनानि सन्तु ताश्च सत्या अवितथाः सन्तु । श्रोत्रादिकं मनश्च सर्वोत्तमं सर्वोत्तमैः पदार्थैः सह वर्तमानान् अस्मान् सदा कृपया करोत्वित्यादिकं तु वेदार्थवाह्यमेव । मघवेत्यर्थस्तु इन्द्रपदेन गतार्थ एव, तस्मान्नानाविधानि दैवमानुषवित्तानि धनवन्तश्चास्मान् सेवन्तामित्येवार्थः ।

हे अग्ने, अग्रणीत्वादिविशिष्टदेवविशेष, अग्निरूपधारिन् परमेश्वर, यां मेधां धारणाशक्तिमतीं बुद्धिम् इन्द्रादयः प्रसिद्धा देवाः पितरोऽग्निष्वात्तादय उपासनैः पूजयन्ति तया तादृश्या मेधया प्रशस्तमेधया मामद्य वर्तमानजन्मन्येव न कालान्तरे मेधाविनं कुरु, देवपितृपूज्यबुद्धिरस्माकमस्त्विति यावत् । स्वाहा सुहुतमस्तु । 'स्वाहुतं हविर्जुहोतोति वा' (नि० ८।२) ।

यत्तु स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्व प्राहेति वा' इत्यादिनिरुक्तवचनान्याश्रित्य कल्याणकरप्रियभाषणे या ज्ञानमध्ये स्वकोया वाग्वर्तते सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाच्यम्, स्वकोयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यम्, न परपदार्थं प्रति चेति' (पृ० १६१) इत्यादिकम्, तत्त्वविचारितरमणीयमेव, प्रियभाषणादौ लोके स्वाहाशब्दाप्रयोगात् । स्ववागुक्त्यसारेण सदा वागिन्द्रियेण वक्तव्यमिति तु निरर्थकं वचनम् । वाचोवदनक्रियायाः करणत्वात्, कर्तृत्वस्य वक्तृनिष्ठत्वाच्च । वागुक्तिर्वाचानुसरणीयेत्यपार्थकमेव । स्वपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यमिति स्वाहापदार्थोऽपि न युक्तः, तथा प्रयोगादर्शनात् ।

इन्द्र अर्थात् परमात्मा मुझमें इन्द्रिय का आधान करे, अर्थात् हमारे लिये अपेक्षित वीर्य की स्थापना करे । साथ ही देव और मनुष्य के रूप में विद्यमान सहायक भी मुझे दे, जो कि मेरे लिये यह धरोहर है । साथ ही वह इन्द्र हमें इस प्रकार की शुभाशंसा से युक्त करे, जो कि सदा सच ही होने वाली हो, कभी मिथ्या न होने पावे । 'श्रोत्र प्रभृति उत्तम इन्द्रियों और श्रेष्ठ स्वभाव वाले मन को मुझमें स्थिर कीजिये' (पृ० १६९) इस तरह का अर्थ मन्त्राक्षरों से निकलता ही नहीं । मघवा शब्द का अर्थ भी यदि इन्द्र ही किया जाय, तो यह अर्थ तो इन्द्र पद से भी मिल जाता है, तब वह व्यर्थ हो जायगा । इसलिये मघवा पद का यहाँ नाना प्रकार का देव संबन्धी और मानुष संबन्धी धन हमें प्राप्त हो, यही अर्थ ठीक माना जायगा ।

हे अग्ने, सब देवताओं के आगे चलने वाली विशेष शक्ति से संपन्न अग्निरूपधारी परमेश्वर, जिस मेधा धारणा शक्ति वाली बुद्धि को इन्द्र प्रभृति प्रसिद्ध देवता और अग्निष्वात्त प्रभृति पितृगण आपकी उपासना करके प्राप्त करते हैं, उस प्रशस्त मेधा से आप मुझे इस जन्म में संयुक्त कर दीजिये, मुझे इसके लिये अधिक काल की प्रतीक्षा न करनी पड़े । इसका अभिप्राय यह है कि देवताओं और पितृगणों के प्रति हममें पूज्य बुद्धि उत्पन्न हो । स्वाहा का अर्थ है मेरी यह आहुति शुभ फल देने वाली हो । निरुक्त के अनुसार इसका यही अर्थ होता है ।

स्वामी दयानन्द ने 'स्वाहाकृतयः' इत्यादि निरुक्त के वचन को उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'इस शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्क मुनि जी ने अनेक प्रकार से कहा है, सो लिखते हैं—(सु आहेति वा) सब मनुष्यों को अच्छा, मीठा, कल्याण करनेवाला और प्रिय वचन सदा बोलना चाहिये । (स्वा वागाहेति वा) अर्थात् मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिये कि जैसी बात उनके ज्ञान के बीच में वर्तमान हो, जीभ से भी सदा वैसा ही बोले, उनसे विपरीत नहीं । (स्वं प्राहेति वा) सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना कहें, दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं । अर्थात् जितना-जितना धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको पदार्थ प्राप्त हो, उतने में ही सदा सन्तोष करें । (स्वाहुतं ह०) अर्थात् सब दिन अच्छी प्रकार सुगन्ध आदि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करने वाले होम को किया करें । स्वाहा शब्द का यह भी अर्थ है कि सब दिन मिथ्यावाद को छोड़ के सत्य ही बोलना चाहिये' (पृ० १६९-१७०) यह सारा कथन अविचारित रमणीय है, प्रिय भाषण आदि अर्थ में लोक में स्वाहा शब्द का प्रयोग कहीं देखा नहीं जाता । 'जैसी बात उनके ज्ञान के बीच में वर्तमान हो, जीभ से भी सदा वैसी ही बोलें, यह कहना सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि वागिन्द्रिय तो वदन क्रिया

तदेतदसकृदुक्तम्—ये शब्दा यस्मिन्नर्थे प्रसिद्धा निर्वचनेन त एव तदर्थत्वेन निरुच्यन्ते। प्रकृते देवताभ्य आहुतिप्रदाने स्वाहाशब्दः प्रवर्तते। यास्काचार्योऽपि 'वनस्पते रशनया नियूय पिष्टतमया वयुनानि विद्वान्। वह देवत्रा दिधिषो हवींषि प्र च दातारममृतेषु वोचः ॥' (मै० सं० ४।१३।७) इति व्याचक्षाण आह—'वनस्पते रशनया नियूय सुरूपतमया वयुनानि विद्वान्। प्रज्ञानानि प्रजानन् वह अनुत्थिते त्वयि नैतान्युह्यन्त इति त्वमेवैषां वोढेति। देवान् यज्ञे दातुं हवींषि प्रब्रूहि च दातारममृतेषु देवेषु स्वाहाकृतयः' इति। तदर्थस्त्वित्थम्—हे वनस्पते यूप, पिष्टतमयाऽत्यन्तदृढया रशनया नियूय अप्रध्वंसनाय निवद्धच वयुनानि स्वाधिकारयुक्तानि प्रज्ञानान्यस्मदुपकाराय विद्वान् जानानो वह, 'यूपेन वा आहुतयः स्वर्गं लोकं यन्ति' (मै०सं०४।८।८) इति श्रुतेः। एतान्यस्मत्प्रत्तानि हवींषि, अस्य दिधिषार्दातुर्यजमानस्याभिमतफलप्राप्तये देवत्रा देवान् प्रति प्रदातारममृतेषु वोचः कथयस्व। एनं दातारममृतेषु देवेष्वमुना यजमानेन एतानि हवींषि प्रत्तानि। अत्र यूपान्तर्गतोऽग्निरेव वनस्पतिशब्देन सम्बोध्यते, 'एष हि वनानां पाता पालयिता वा' (नि० ८।३) इति निरुक्तवचनात्। यस्मादन्तर्गतो वनानां वनानि न दहति तस्मादेष वनस्पतिः। काः पुनस्ताः स्वाहाकृतयः? या यागार्थमाहूयोत्तमे प्रयाजे स्वाहाकारेण संक्रियन्ते ताः स्वाहाकृतयः, 'स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः' (ऋ० सं० १०।११०।११) इति मन्त्रवर्णात्। अथ स्वाहा इत्येतत् कस्मात्? सुष्ठु आह—यदेव सम्प्रदानदेवतायै किञ्चिदाज्यस्येत्यनेन मन्त्रेणाह—तुभ्यमिदमिति तदेव सु आह शोभनमाह। सुः पूर्वपदम्, आह उत्तरपदम्। यद्वा ब्राह्मणानुसारि अन्यन्निर्वचनम्, 'स्वा वागाहेति तं स्वा वागभ्यवदत् जुहुधोति तत् स्वाहाकारस्य जन्म' (मै०सं० १।८।१)। एभिः प्रमाणैर्होमकरणार्थ एव स्वाहाशब्दस्य प्रवृत्तिः समर्थ्यते। अत्र स्वःशब्दः पूर्वपदम्, आहेत्युत्तरपदम्। अथवा—स्वं प्राहेति। तत्र स्वा वागाहेति कर्तरि स्वं वागाहेति कर्मणि। प्रपदं तूत्कर्षद्योतनाय। प्राणसंवादेषु यथा वागादीन्द्रियाणां

की साधन है और वक्तृत्व वक्ता का धर्म है। वागिन्द्रिय को वाणी का अनुसरण करना चाहिये, यह कहना भी गलत है। सब मनुष्य अपने पदार्थ को ही अपना कहे यह भी स्वाहा पद का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा प्रयोग देखा नहीं जाता।

यह बात हम अनेक बार बता चुके हैं कि जो शब्द जिस अर्थ में प्रसिद्ध है, निर्वचन से भी उन्हीं अर्थों की प्रतीति होती है, अपने मनमाने निर्वचन के आधार पर उसका एकदम नया अर्थ नहीं किया जा सकता। स्वाहा शब्द का प्रयोग देवताओं के प्रति आहुति देने में किया जाता है। यास्काचार्य भी 'वनस्पते०' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'हे वनस्पते यूप, तुम मजबूत रस्सी से बाँधकर, जिससे कि वे छटक कर गिर न जाय, अपने अधिकार में स्थित प्रज्ञान को हमारे कल्याण के लिए ढोकर ले आओ। मैत्रायणी संहिता में यह बताया गया है कि यूप की सहायता से ही आहुतियाँ स्वर्गलोक तक पहुँचती हैं। हमारे द्वारा दी गई ये आहुतियाँ इन आहुतियों को देने वाले यजमान की अभीष्ट सिद्ध करें, इसके लिये आप जिन देवों के लिये ये दी गई हैं, उनसे कहिये। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये ही इन देवताओं को यजमान ने ये आहुतियाँ दो हैं। यहाँ यूप में निवास करने वाला अग्नि ही वनस्पति पद से संबोधित है। निरुक्त में इसकी निरुक्ति इस तरह से की गई है कि वनों में यह अग्नि ही उनका रक्षक है, क्योंकि जब वन में रहकर यह अग्नि उनको जलाता नहीं, तभी वहाँ के वृक्ष-वनस्पति बच सकते हैं। स्वाहाकार शब्द से क्या जाना जाता है? उन आहुतियों की स्वाहाकार के द्वारा हवि दी जाती है, जो कि आह्वान पूर्वक उत्तम प्रयाज में याग के निमित्त संस्कृत की जाती है। ऋग्वेद के मन्त्र में बताया गया है कि स्वाहाकार के उच्चारण पूर्वक दी गई है हवि को देवगण स्वीकार करें। 'स्वाहा' यह शब्द कैसे बनता है? यह शब्द बनता है सुष्ठु (शोभन) अर्थ को बताने वाले उपसर्ग के साथ वच धातु के संयोग से, 'तुमको मैं यह हवि देता हूँ' इस तरह से देवता को आज्य आदि की हवि देने के लिये जो शब्द कहता है, उसी को 'शोभन कहा' कहा जाता है। इसमें पूर्व में 'सु' पद और उत्तर में 'आह' पद होता है। अथवा ब्राह्मण के अनुसार इसकी दूसरी निरुक्ति इस तरह से होगी—'अपनी वाणी बोली, उसको अपनी वाणी ने ही उत्तर दिया कि तुम आहुति दो, इसीसे स्वाहाकार का जन्म हुआ'। इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध है कि हवि देने के निमित्त ही 'स्वाहा' शब्द की प्रवृत्ति हुई है। इस निर्वचन में 'स्व' शब्द पूर्व पद है और 'आह' उत्तर पद। अथवा स्वं प्राह ये दो इसमें माने जायें। इनमें 'स्वा वागाह' यह कर्तृवाच्य प्रयोग है और स्वं वागाह कर्मवाच्य। इसमें 'प्र' पद उत्कर्ष का द्योतक है।

संवादः काल्पनिकः, तदधिष्ठातृदेवकर्तृको वा, तथैव प्रकृतेऽपि वाचो वदनकर्तृत्वं ज्ञेयम् । सामाजिकमते तु तन्नोपपद्यते, तैर्मनुष्यातिरिक्तदेवतानङ्गीकारात् । स्वं प्राहेत्यत्रापि श्रुत्यनुसारेण जुहुधीत्येवाध्याहर्तव्यम् । स्वाहुतं हविर्जुहोतोति यदनेनैव हविर्जुषतीति । तदेव सुष्ठ्वापाद्य यथाभिधानमग्नौ जुहोति । तासां स्वाहाकृतीनामेषा वक्ष्यमाणा ऋग्बोधिका—'सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत् पुरोगाः । अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥' तदर्थमपि यास्क आह—'योऽयमग्निः सद्योजातो जायमानोऽनन्तरमेव यज्ञं व्यमिमीत निवर्तयति । यश्च जायमान एव देवानां पुरोगाः पुरोगामी प्राधान्यमुपगतः । तस्य होतुर्देवानामाह्वातुः प्रदिशि प्रकृष्टदिशि प्राच्यामृतस्य गतस्य प्रणीतस्योत्तरवेदिकत्वेन वाचि आस्ये स्वाहाकृतं स्वाहाकारवता मन्त्रेण प्रक्षिप्तं हविर् एतदाज्यं तन्मुखेन अदन्तु पिबन्तु देवाः' इति दुर्गाचार्यसम्मतं व्याख्यानम्, तस्मान्निरुक्तव्याजेन स्वाहेत्यस्य मुधैवार्थान्तरकरणम् ।

'स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे । युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥' (ऋ० सं० १।३९।२) । 'इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्य क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व । धर्मासि सुधर्मा मेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय' (वा० सं० ३८।१४) ।

'यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति । दूरं गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥' (वा० सं० ३४।१) । 'वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे' (वा० सं० १८।१) इत्येषामपि मन्त्राणामयं शुद्धोऽर्थः, तदुक्तस्यासंगतत्वात् ।

प्र यदित्था इति दशर्चं सूक्तं घोरपुत्रस्य कण्वस्यार्षं मरुद्देवताकम्, तस्मादत्र मरुत एव सम्बोध्याः, 'प्रयद्दशप्रगाथं तु' इत्यनुक्रमणिकावचनात् । हे मरुतः, आयुधाः युष्माकमायुधानि पराणुदे शत्रूणामपनोदनाय पराजयाय स्थिराः स्थिराणि सन्तु । उत अपि च प्रतिष्कम्भे शत्रूणां प्रतिवन्धाय स्तम्भनाय वीळू दृढानि सन्तु । युष्माकं तविषी बलं पनीयसी

प्राणों के परस्पर संवाद में जैसे वाणी आदि इन्द्रियों का संवाद काल्पनिक, अथवा उन-उन इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं का माना जाता है, उसी तरह से प्रकृत में भी वाणी को वच् धातु का कर्ता जानना चाहिये । आर्य समाजियों के मत में यह संभव नहीं हो सकता, क्योंकि वे मनुष्यों से भिन्न देवता की सत्ता नहीं मानते । 'स्वं प्राह' इस निर्वचन में भी श्रुति के प्रमाण के अनुसार 'जुहुधि' (हवि प्रदान करो) इसी का अध्याहार करना चाहिये ।' 'स्वाहुतं हविर्जुहोति' इसका अर्थ यह है कि स्वाहा शब्द का उच्चारण करके ही हवि प्रदान करता है । उस हवि को इस स्वाहाकार के उच्चारण के साथ जो यह प्रदान करता है, यही इस हवि के प्रदान की सुन्दर पद्धति है । निरुक्तकार ने इस विषय में 'सद्यो जातो' इत्यादि ऋङ्मन्त्र जो उद्धृत कर उसका इस तरह से अर्थ किया है—यह तुरन्त उत्पन्न हुआ अग्नि उत्पन्न होने के साथ ही यज्ञ का संपादन करने लगता है । यही अग्नि उत्पन्न होने के साथ ही देवताओं में अपनी प्रधानता स्थापित कर लेता है, देवताओं को बुला कर ले आने वाले उस अग्नि के सब दिशाओं में उत्कृष्ट प्राची दिशा में विद्यमान उत्तर वेदि में विधिवत् प्रदत्त मुख में स्वाहाकार से युक्त मन्त्र से दी गई इस घृत आदि द्रव्यों से बनी हवि को सभी देवगण उस अग्नि के मुख से ही भक्षण करें, स्वीकार करें । दुर्गाचार्य ने इसी बात को विस्तार से समझाया है । इसलिये निरुक्त का सहारा लेकर दयानन्द का 'स्वाहा' शब्द का अन्यथा अर्थ करना व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि ऊपर बताई पद्धति से निरुक्त की सहायता से उसके विपरीत ही अर्थ निकलता है । निरुक्त के उक्त उद्धृत प्रमाण से दयानन्द की बात सिद्ध नहीं होने पाती ।

इसके आगे दयानन्द ने 'स्थिरा वः', 'इषे पिन्वस्यो०' 'यज्जाग्रतो०', 'वाजश्च०' इन चार मन्त्रों को उद्धृत कर उनका अर्थ किया है । यह भी गलत है । इन मन्त्रों का भी शुद्ध अर्थ क्रमशः इस तरह से होगा—

'प्र यदित्था' इत्यादि दस ऋचाओं का एक सूक्त है । घोर का पुत्र कण्व इनका ऋषि है और देवता मरुद्गण है । इसलिये मरुद्गण ही संबोधित होते हैं । 'प्र यद्दशप्रगाथं तु' इत्यादि अनुक्रमणिका के वचन इसमें प्रमाण हैं । हे मरुद्गण, आपके आयुध (अस्त्र-शस्त्र) शत्रु को हरा देने में स्थिर हों, समर्थ हो और साथ ही शत्रुओं को स्तम्भित कर देने में भी समर्थ हों । आप लोगों का

अतिशयेन स्तोतव्यं अस्तु भवतु। मन्त्रेणानेन मरुतां दृष्टान्तेन मनुष्याणां स्थिराणां दृढानामस्त्रशस्त्राणां संग्रहे प्रशस्तवलसम्पादनाय शत्रुवलक्षयाय प्रवृत्तिर्भवत्येव। ईश्वरो मनुष्यानुपदिशतीदमिति तु चिन्त्यमेव। विजयाय च सन्त्विति तु शव्दार्थवाह्यमेव। वीळूशव्दस्य प्रशंसितानीति तु नार्थः, दृढत्वेन गतार्थत्वात्। तविषीत्यस्य अत्यन्तप्रशंसनीया सेना अखण्डितं वलमस्तु इत्यपि न किञ्चित्, सेनाया अपि वलेऽन्तर्भावात्। येन युष्माकं चक्रवर्तिराज्यं स्थिरं स्यादिति दुष्टकर्मकारिणां युष्मद्विरोधिनां शत्रूणां पराजयश्च सदा भवेद् इति तु न वेदार्थः, वेदाक्षरवाह्यत्वात्। परन्त्वयम् आशीर्वादान् सत्यकर्मानुष्ठानिभ्यो ददामि मायिनोऽन्यायकारिणो मर्त्यस्य मनुष्यस्य च कदाचिद्वास्तु अर्थान्नैव दुष्टकर्मकारिभ्योऽहमाशीर्वादं कदाचिद्ददामि इत्यपि त्वत्कपोलकल्पितमेव, तादृगर्थवोधकपदाभावात्।

इषे पिन्वस्वेत्यस्य व्याख्यानमपि कल्पनावहुलमेव, हे भगवन्निति सम्वोधनपदस्य मन्त्रेऽभावात्। 'इषे पिन्वस्वेति पिन्वानमनुमन्त्रयते' (का०श्रौ०सू० २६।६।९) इति कात्यायनमहर्षिसूचितविनियोगानुसारेण त्वनेन मन्त्रेण पिन्वमानमतितप्तं धर्ममभिमन्त्रयते। अत एकघर्मदेवत्येयं पङ्क्तिर्घर्मेति। याज्ञिकप्रसिद्धं सन्तप्तघृते पयोनिक्षेपेणात्यन्तप्रज्वलितं महावीरपात्रमिह घर्मशव्देनोच्यते। तदधिष्ठातृदैवतं तद्द्वारा परमदैवतं चात्र प्रार्थ्यते। हे पिन्वमान धर्म, इषे वृष्ट्यै पिन्वस्व पुष्टो भव। तत्पुष्ट्या यज्ञसमृद्धिवृष्टिवलब्रह्मक्षत्रद्यावापृथिव्यादिपुष्टिसम्भवात्। 'उत्तमेच्छायै परमोत्कृष्टायान्नाय चास्मान् स्वतन्त्रतया पुष्टिमतः प्रसन्नान् कुरु' (पृ० १७१) इत्यपि काल्पनिकोऽप्रसङ्गतश्चार्थः, इच्छायाः सौन्दर्यज्ञानेन स्वयं जायमानत्वात् प्रार्थनीयत्वानुपपत्तेः, इच्छापेक्षयेष्यमाणस्यैव प्रार्थनीयत्वौचित्यात्। नान्नाद्यप्यर्थः, तस्य 'उर्जे' इत्यनेन वक्ष्यमाणत्वात्। णिजन्ताभावादस्मानिति कर्मणश्चाभावाद् अध्याहारे मानाभावाच्च। उत्तरत्राप्येवमेव विज्ञेयम्। ऊर्जेऽन्नाय पिन्वस्व अन्नं वर्धयेत्यर्थः।

वल अतिशय स्तुति के लायक हो। इस मन्त्र में वर्णित मरुद्गण के दृष्टान्त से मनुष्यों की भी स्थिर अर्थात् दृढ़ अस्त्र-शस्त्रों के संग्रह की, उत्कृष्ट वल के संपादन की और शत्रु के वल को नष्ट कर देने की प्रवृत्ति हो ही सकती है। ईश्वर मनुष्यों को ऐसा करने का उपदेश देते हैं, ऐसा अर्थ करना तो विचारणीय बन जाता है। यह सब विजय की प्राप्ति में सहायक हो, ऐसा अर्थ भी मन्त्र के अक्षरों से प्राप्त नहीं होता। वीळू शब्द का अर्थ प्रशंसित नहीं होता, किन्तु दृढ़ ही होता है। इसीलिए दृढ़ होने से ही वह प्रशंसित अपने आप हो जाता है। 'तविषी' शब्द का अर्थ अत्यन्त प्रशंसनीय सेना और अखण्डित वल ऐसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि सेना का भी तो बल में ही अन्तर्भाव माना जाता है। जिससे तुम लोगों का चक्रवर्ती राज्य स्थिर हो, इसके लिए दुष्टता करने वाले तुम्हारे विरोधी शत्रुओं की पराजय भी सदा हो, यह भी इस मन्त्र का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि यह अर्थ मन्त्राक्षरों से बाहर का है, अर्थात् मन्त्र में विद्यमान शब्द इस अर्थ को प्रकट करने में असमर्थ हैं। 'परन्तु यह मेरा आशीर्वाद केवल धर्मात्मा, न्यायकारी और श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये हैं और जो (मायि०) अर्थात् कपटी, छली, अन्यायकारी और दुष्ट मनुष्य हैं, उनके लिये नहीं। किन्तु ऐसे मनुष्यों का तो पराजय ही होता रहेगा। इसलिये तुम लोग सदा धर्म कार्यों को ही करते रहो' (पृ० १७२) यह सब भी आपकी कोरी कपोलकल्पना है, क्योंकि इस तरह के अर्थ के बोधक पद इस मन्त्र में विद्यमान नहीं है।

'इषे पिन्वस्व' इस मन्त्र की व्याख्या में भी ज्यादातर कल्पना का ही सहारा लिया गया है। 'हे भगवन्' यह संबोधन पद मन्त्र में विद्यमान नहीं है। कात्यायन महर्षि के बताये विनियोग के अनुसार इस मन्त्र से अत्यन्त तप्त धर्म को अभिमन्त्रित किया जाता है। अतः एक धर्म देवता वाली यह यजुष् पंक्ति छन्द में निबद्ध है। तपे हुए घृत में दूध के डालने से अत्यन्त प्रज्वलित हुआ महावीर पात्र याज्ञिक संप्रदाय में धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। उसके अधिष्ठाता देव से और उसके द्वारा परमेश्वर से भी यहाँ प्रार्थना की जाती है। हे पुष्टिशील धर्म, तुम वृष्टि के लिये पुष्ट हो जाओ। तुम्हारे पुष्ट होने से ही यज्ञ की समृद्धि होगी और उससे वृष्टि, वल, ब्रह्म, क्षत्र, द्यावापृथिवी आदि को पुष्टि होगी। हमारी शुभ कर्म करने की इच्छा हो और आप हमारे शरीरों को उत्तम अन्न से सदा पुष्टियुक्त रखिये' (पृ० १७२), यह अर्थ भी काल्पनिक और असंगत है, क्योंकि इच्छा तो सौन्दर्य का ज्ञान हो जाने पर अपने आप होती है, इच्छा के लिये किसी तरह की प्रार्थना नहीं करनी पड़ती। इच्छा की अपेक्षा इष्यमाण (वाञ्छित) वस्तु के लिये ही प्रार्थना की जा सकती है। अन्नादि अर्थ भी यहाँ नहीं होगा, क्योंकि 'उर्ज' पद से अलग से उसकी यहाँ चर्चा की गई है। यहाँ णिजन्त प्रत्यय

पराक्रमाय दृढप्रयत्नान् कृत्वा पिन्वस्वेत्यपि नार्थः, गौरवात्। ब्रह्मणे ब्राह्मणेभ्यः, क्षत्राय क्षत्रियेभ्यः, सामान्यापेक्षमेकवचनम्। द्यावापृथिवीभ्यां च पिन्वस्व तांस्तापयेत्यर्थः। ब्रह्मणे इत्यस्य वेदविद्याग्रहणाय परमप्रयत्नकारिणो ब्राह्मणवर्णयोग्यान्, क्षत्राय साम्राज्याय क्षत्रियस्वभावयुक्तान् चक्रवर्तिराज्यसहितानस्मान् कुरु इत्याद्यर्थस्तु निर्मूलो दुरभिसन्धिमूलकश्च, ब्रह्मक्षत्रपदयोर्जातिविशेषवाचकतया तादृगर्थबोधने सामर्थ्याभावात्, वर्णव्यवस्थायाश्च जन्ममूलकत्वेन कर्मस्वभावमूलकत्वे मानाभावाच्च। विस्तरस्तु अस्मत्कृते चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्शे द्रष्टव्यः।

एवं यथा द्यावापृथिवीभ्यां सूर्याग्निभूम्यादिभ्यः पदार्थेभ्यो जगते प्रकाशोपकारौ भवतस्तथैव कलाकौशलयानचालनादिविद्यां गृहीत्वा सर्वमनुष्योपकारं वयं कुर्मः। एतदर्थमस्मान् पिन्वस्वोत्तमप्रयत्नवतः कुरु, इत्येतदपि निर्मूलं स्वकपोलकल्पितमेव, मन्त्रे तादृशार्थबोधकपदाभावात्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकबोधकयथातथापदाभावाच्च। कला-कौशल-यानचालनोपकारादिबोधकपदाभावाच्च तथार्थकरणं स्वैरित्वमेव बोधयति। श्रुतिष्वयं बलात्कार एवास्य विचित्रपुरुषस्य।

'घर्मासीत्युत्क्रामत्युत्तरपूर्वार्धम्' (का० श्रौ० सू० २६।६।१०) इति विनियोगानुसारेण धर्मासीत्यनेन ऐशानीं दिशमुत्क्रामति यजमानः, 'अपातामिति यजमानः' (का० श्रौ० सू० २६।८।८) इति यजमानपदानुवृत्तेः। हे सुधर्म, सुष्ठु धारयतीति सुधर्मः, हे साधुधरणशील त्वं धर्मः असि। सर्वजगतो धारणमसि आहुतिपरिणामद्वारेण त्वं सर्वं जगद्धारयसि। यज्ञस्य धर्मरूपत्वेन तत्प्रधानधर्मस्य सुतरां धर्मत्वं मत्वा सुधर्मरूपेण तत्प्रार्थनोपपद्यते। 'अमेन्यस्मे इति खरे करोति' (का० श्रौ० सू० २६।६।११) इति विनियोगेनानेन मन्त्रेण महावीरं खरे अग्निकुण्डे करोति स्थापयति। हे घर्म, अमेनि मिनोति

का अभाव है और साथ ही 'अस्मात्' इस तरह के कर्मवाचक पद का भी अभाव है। इसका अध्याहार किया जाय, इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है। आगे भी इसी तरह से समझना चाहिये। अन्न की वृद्धि के लिये आप पुष्ट होइये यही मन्त्राक्षरों का अर्थ होगा, 'इसको सदा उत्तम पराक्रम के लिये दृढ़ प्रयत्न करने वाला कीजिये' (पृ० १७२) ऐसा अर्थ करने में गौरव है। ब्राह्मण और क्षत्रिय पदों में एकवचन ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति का सूचक है। आकाश और पृथिवी को भी आप तपाइये। ब्रह्मणे और क्षत्राय पदों का अर्थ 'सत्य शास्त्र अर्थात् वेद विद्या के पढ़ने-पढ़ाने और उससे यथावत् उपकार लेने में इसको अत्यन्त समर्थ कीजिये, अर्थात् जिससे हम लोग उत्तम विद्यादि गुणों और कर्मों को करके ब्राह्मण वर्ण हो जाय' तथा 'हे परमेश्वर, आपके अनुग्रह से हम लोग चक्रवर्ती राज्य और शूर-वीर पुरुषों की सेना से युक्त हों, इसके लिये क्षत्रिय वर्ण के अधिकारी हमको कीजिये' (पृ० १७२) ऐसा अर्थ करना भी निर्मूल है। इस तरह का अर्थ करने में एक दुरभिसन्धि भी छिपी हुई है। ब्रह्म और क्षत्र शब्द जातिविशेष के वाचक हैं, इनसे इस तरह का अर्थ निकल भी नहीं सकता। वर्णव्यवस्था का आधार जन्म है, अतः कर्म और स्वभाव को वर्णव्यवस्था का आधार नहीं माना जा सकता। इस विषय की विस्तार से चर्चा हमने 'चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्श' नामक ग्रन्थ में की है।

इसी तरह से 'जैसे पृथिवी, सूर्य, अग्नि, जल और वायु आदि पदार्थों से सब जगत् का प्रकाश और उपकार होता है, वैसे ही कलाकौशल, विमान आदि यान चलाने के लिये हमको उत्तम सुख सहित कीजिये, जिससे कि हमलोग सब सृष्टि के उपकार करने वाले हों' (पृ० १७२) यह अर्थ निर्मूल एवं कपोलकल्पित है, क्योंकि मन्त्र में इस अर्थ के बोधक पद नहीं है और साथ ही दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक के अभिव्यंजक यथा एवं तथा पद भी यहाँ नहीं है। साथ ही यहाँ कला-कौशल, यानचालक आदि उपकारों के बोधक पद भी नहीं है। इनके अभाव में भी इस तरह का अर्थ करना दयानन्द की स्वेच्छाचारिता को ही उजागर करता है। इस विचित्र पुरुष ने सब जगह इसी तरह से श्रुतियों के साथ जबरदस्ती की है।

कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार इस मन्त्र के उत्तर भाग 'घर्मा०' इत्यादि का उच्चारण करता हुआ यजमान ऐशान दिशा की ओर चलता है। यजमान पद की इस विनियोग बताने वाले सूत्र में पहले के सूत्र से अनुवृत्ति होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि हे सुधर्म, सबको भलीभाँति धारण करने के स्वभाव वाले तुम धर्म हो, इस सारे जगत् को धारण करने वाले हो, अर्थात् आहुतियों के परिणामस्वरूप तुम सारे जगत् को धारण करते हो। यह घर्म रूप माना है, जिस धर्म में यज्ञ की प्रधानता है, उसकी सुधर्म के रूप में प्रार्थना करना सब तरह से उचित ही है। अमेन्यस्मे' इत्यादि मन्त्रभाग का विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार

हिनस्तीति मेनिः, (मिञ् हिंसायाम्) न मेनिरमेनिः 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९)। अमेन्यहिंसन् अक्रुध्यन् सन् अस्मे अस्मासु नृम्णानि धनानि धारय स्थापय। नृन्नमयतीति नृम्णम्, 'अक्रुध्यन् नो धनानि धारय' (श० १४।२।२।३०) इति श्रुतेः। ब्रह्मक्षत्रविशं च धारय ब्रह्मक्षत्रादीनस्मद्वशान् कुरु इत्यभिप्रायः। हे सुधर्म परमेश्वर, त्वं न्यायकार्यसि अस्मानपि न्यायधर्मयुक्तान् कुरु, इति व्याख्यानेऽपि दयानन्दीये दृढ़ाऽरुचिर्धार्मिकाणाम्। यद्यपि सर्वदेवतानामात्मरूपत्वात् सुधर्मशब्दस्य पर्यवसानं परमेश्वरे सम्भवति, तथापि सुधर्मशब्दस्य न वाच्योऽर्थः परमेश्वरः। यथायं दयानन्दो निःशङ्कः सन् अग्निवरुणादिशब्दानामपि परमेशवाचकतामभ्युपैति, तथैव सुधर्मशब्दस्यापि। धर्मशब्दस्य न्यायकारित्वमर्थोऽपि तथैव।

अमेनिशब्दस्य हे सर्वहितकारकेत्यर्थः कृतः, सोऽपि तत्कल्पित एव, मूले तदभावात्। धात्वर्थानुसार्यर्थोऽस्य शब्दस्य तूक्त एव। नृम्णानीत्यस्यापि धनमर्थं उक्तः, सुराज्यसुनियमसुरत्नानीति कथं तदर्थं इति तु न वक्ति। ब्रह्मपदस्य वेदो ब्राह्मणजातिर्वार्थस्तु सम्भवति, किन्तु वेदविद्येत्यर्थस्तु तत्कल्पित एव। क्षत्रमित्यस्य राज्यार्थता कथमिति तु स एव जानातु। सर्वोत्तमान् मन्निष्ठान् कुर्वित्यादिकमभ्यर्थनं तु नानुचितम्, परं नास्य मन्त्रस्य सोऽर्थः।

'यज्जाग्रतः·····' (वा० सं० ३४।१) इत्यस्यापि तदीयोऽर्थः कल्पनाबहुलो मूलाक्षरानन्वित एव। सिद्धान्ते त्वस्यायमर्थः—यत्प्रसिद्धं मनःसङ्कल्पविकल्पात्मकं जाग्रत इन्द्रियैर्विषयानुपलभमानस्य। तत्तद्देवतानुगृहीतैरिन्द्रियैर्विषयोपलब्धिर्जागरितम्। दूरं विप्रकृष्टदेशमुदैति उद्गच्छति। चक्षुराद्यपेक्षयाऽतीव दूरगमनमेव तस्योद्गमनम्। यच्च दैवं दीव्यति प्रकाशत इति देवो विज्ञानोपहितः स्वात्मा, तत्र भवं दैवं स्वात्मग्राहकम्, न च—'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्' (केन उ० २।४।१), 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० उ० २।४।१) इति विरोधात् कथमात्मग्राहकत्वमात्मन

महावीर को अग्निकुण्ड में स्थापित करने में है। इसका अर्थ है—हे धर्म, तुम विना क्रुद्ध हुए, विना कुछ नुकसान पहुँचाये हमारे लिये धन संगृहीत कर दो। शतपथ ब्राह्मण में इसका यही अर्थ किया गया है। इसके साथ ही हे धर्म, तुम ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को भी हमारे वश में कर दो। इसके विपरीत—'हे सुधर्मन् न्याय करने वाले परमेश्वर, आप न्यायकारी हैं, वैसे ही हमको भी आप न्यायकारी कीजिये' (पृ० १७२) इस तरह के अर्थों में धार्मिक हृदय आस्तिक जनों की वड़ी अरुचि है। यद्यपि सभी देवगण आत्मस्वरूप हैं, अतः सुधर्म शब्द का भी पर्यवसान परमेश्वर में हो ही सकता है, तो भी सुधर्म शब्द का वाच्य अर्थ परमेश्वर नहीं हो सकता। स्वामी दयानन्द विना संकोच के जैसे अग्नि, वरुण प्रभृति शब्दों का अर्थ परमेश्वर करते हैं, उसी तरह से यह सुधर्म शब्द को भी परमेश्वर का ही वाचक मानते हैं। धर्म शब्द का अर्थ न्यायकारी करना भी इनकी विशेषता ही मानी जायगी।

'अमेनि' शब्द का अर्थ दयानन्द ने 'सर्व का हित करने वाला' किया है। यह भी उनकी कल्पना ही है, क्योंकि मूल मन्त्र में इस अर्थ को वताने वाला कोई पद नहीं है। धातु के अर्थ के अनुसार इस पद का जो अर्थ निकलता है, उसको ऊपर वताया जा चुका है। नृम्ण शब्द का अर्थ धन होता है, यह हमने वताया है। दयानन्द ने इसका अर्थ सुराज्य, सुनियम, सुरत्न किस आधार पर किया, यह उन्होंने नहीं बताया है। ब्रह्म पद का अर्थ वेद अथवा ब्राह्मण जाति तो हो सकता है, किन्तु 'वेदविद्या' उसका अर्थ करना कोरी कल्पना ही है। 'क्षत्र' शब्द का अर्थ उन्होंने 'राज्य' किस आधार पर किया, इस बात को तो वे ही जान सकते हैं। हमें आप सर्वोत्तम गुणों से संभूषित कीजिये, इस तरह की प्रार्थना करना अनुचित नहीं है, किन्तु इस मन्त्र से यह अर्थ नहीं निकलता।

'यज्जाग्रत०' इत्यादि मन्त्र का भी उसका किया गया अर्थ कल्पना पर ही आधारित है, मन्त्राक्षरों से उसका कोई संबन्ध नहीं है। सिद्धान्ततः उसका अर्थ इस तरह से होगा—यह जो संकल्प-विकल्प करने वाला प्रसिद्ध मन है, यह जाग्रत् अवस्था में इन्द्रियों की सहायता से विषयोपभोग करने वाली दशा से वहुत दूर आगे निकल जाता है। उन-उन देवताओं से अनुगृहीत इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करने वाली अवस्था जागरित के नाम से प्रसिद्ध है। इस अवस्था में ये इन्द्रियाँ तो केवल वर्तमान विषय का ही ग्रहण कर पाती है, किन्तु मन तो इन सवसे आगे अपने संकल्प-विकल्पात्मक व्यापार से तीनों 'कालों' तक पहुँच सकता है। यह मन वाह्य विषयों को ही नहीं, अपितु विज्ञान के रूप में प्रकाशित हो रहे आन्तर स्वात्मस्वरूप तक भी पहुँच सकता है। यदि कोई शंका करे कि अनेक श्रुतियाँ इस वात को वताती हैं कि मन स्वात्मस्वरूप तक नहीं पहुँच पाता, तो इसका समाधान यह है कि आत्मा के निरुपा-

इति वाच्यम्, निरुपाधिकस्यात्मनफलव्याप्त्यविषयत्वबोधने उक्तवाक्यतात्पर्येणादोषात्, मनोजन्याज्ञाननिवारकवृत्तिविषयतयाऽऽवरणभङ्गेन स्वप्रकाशतया तत्प्रकाशे बाधाभावात्, 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (बृ० उ० ४।४।१९) इति श्रुतेश्च। तत् उकारश्चार्थः। यच्च मनः सुप्तस्य पुंसो यथागतं तथैव पुनरागच्छति स्वापकाले, 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते' (छा० उ० ६।८।१) इति श्रुतेः। यच्च स्वप्ने दूरङ्गमम्, यद्यप्यन्तरेव स्वप्नदर्शनं न वहिस्तथापि दूरगमनप्रतीत्यभिप्रायमेतत्। दूराद् गच्छतीति दूरङ्गमम्, अतीतानागतवर्तमानविप्रकृष्टव्यवहितसर्वपदार्थग्राहकं स्वच्छं चित्तसत्त्वं सर्वार्थाविभासनशीलमिति पातञ्जलसिद्धान्तात्। यच्च मनो ज्योतिषां प्रकाशकानां श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणामेकं मुख्यं ज्योतिः प्रकाशकं प्रवर्तकम्, तत्प्रवर्तितानामेवेन्द्रियाणां स्वविषये प्रवृत्तेः। आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति न्यायशास्त्ररीत्या मनःसम्वन्धमन्तरा तेषां प्रवृत्त्यसम्भवात्। तन्मे मदीयं मनः शिवसङ्कल्पमस्तु। शिवः कल्याणकारी धर्मब्रह्मविषयः सङ्कल्पो यस्य तत्तादृशमस्तु। धर्मब्रह्मनिष्ठमेव मन्मनो भवतु न पापविषयमिति।

अधिष्ठातृत्वेन व्याप्नोतीति तु न सङ्गतम्, मनसोऽणुत्वेनाव्यापकत्वात्। यौगपद्येन विषयोपलब्धिप्रसङ्गाच्च। दैवं दिव्यगुणादियुक्तमित्यप्यसङ्गतम्, दुःखद्वेषाद्यदिव्यगुणवत्त्वेन तदनुपपत्तेः। स्वप्ने दिव्यपदार्थद्रष्टृ, इत्यप्यसङ्गतम्, स्वाप्नपदार्थानां मिथ्यार्थत्वेन दिव्यत्वायोगात्। शुभस्वप्नदर्शनाभिप्रायेणापि तन्न युक्तम्, अशुभपदार्थानामपि स्वप्ने दर्शनात्। ज्योतिषामिन्द्रियाणां सूर्यादीनां च ज्योतिः प्रकाशकमित्यपि नार्थः, इन्द्रियाणामतीन्द्रियत्वेन मनसोऽविषयत्वात्। 'रूपं दृश्यं

थिक स्वरूप की प्राप्ति में मन भले ही समर्थ न हो, किन्तु मन से उत्पन्न हुई अज्ञान वृत्ति को हटाने में और इस तरह से स्वात्मस्वरूप पर पड़े आवरण को दूर कर स्वप्रकाश स्वात्मस्वरूप को प्रकाशित करने में उसका उपयोग है ही। इस तरह से इस मन्त्र में और उक्त श्रुतियों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इस श्रुति में उकार का अर्थ (च) 'और' है। अर्थात् इसको मन से भी देखना चाहिये। यह मन सोये हुए मनुष्य का जैसे कहीं चला जाता है, वैसे ही जागने पर वापस चला आता है। छान्दोग्य श्रुति में बताया गया है कि स्वापावस्था में मन सदवस्था में लीन हो जाता है। इस अवस्था में भी यह बहुत दूर चला जाता है। यद्यपि स्वप्नदर्शन की प्रक्रिया मन के भीतर ही चलती है, बाहर नहीं, अतः वहाँ दूर जाने का कोई प्रसंग नहीं है, तथापि स्वप्नावस्था में ऐसा प्रतीत होता है कि मन कहीं दूर चला गया है। इसी अनुभव का अनुसरण कर स्वप्नावस्था में मन के दूरगमन का गौण व्यवहार कल्पित कर दिया जाता है। पातंजल योग का यह सिद्धान्त है कि यह स्वच्छ चित्त सत्त्व, अर्थात् सत्त्वगुणप्रधान मन अतीत, अनागत, वर्तवान, विप्रकृष्ट, व्यवहित, सभी पदार्थों को ग्रहण कर लेने में समर्थ हैं, इन सभी पदार्थों को वह प्रकाशित कर सकता है। इस सिद्धान्त के आधार पर मन के दूरगमन की कल्पना निराधार नहीं है। यही मन भिन्न-भिन्न विषयों की प्रकाशक श्रोत्रप्रभृति इन्द्रियों को प्रकाश देने के कारण मुख्य प्रकाशक, अर्थात् प्रवर्तक माना जाता है, क्योंकि मन के द्वारा प्रवृत्त कराये जाने पर ही ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के प्रकाशन में प्रवृत्त होती हैं। 'पहले आत्मा मन से संयुक्त होता है तो मन इन्द्रियों से संयुक्त होता है, मन के इन्द्रियों से संयुक्त होने के बाद ही ये, इन्द्रियाँ विषयों से संबद्ध होती हैं' इस न्यायदर्शन की पद्धति के अनुसार मन का संबन्ध हुए बिना इन्द्रियों की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती! ऐसा मेरा मन सदा शिव संकल्प हो। शिव संकल्प का अर्थ है कल्याणकारी संकल्प। कल्याणकारी संकल्प धर्मविषयक या ब्रह्मविषयक ही हो सकती है। अतः इसका अर्थ यह होगा कि मेरे मन में धर्मविषयक या ब्रह्मविषयक संकल्प ही उत्पन्न हो, पाप में इसकी प्रवृत्ति कभी न हो।

मेरा मन सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने से इनमें व्याप्त है, ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि मन तो अणु परिमाण है, यह सब इन्द्रियों में एक साथ व्याप्त नहीं रह सकता। ऐसा मानने पर तो, एक साथ ही मन से सब तरह के विषयों के ग्रहण की आपत्ति उठ खड़ी होगी। दैव पद का अर्थ दिव्य गुणादि से युक्त करना भी सही नहीं है, क्योंकि मन तो दुःख, द्वेष आदि अदिव्य गुणों से भी संवलित है। स्वप्नावस्था में दिव्य पदार्थों को देखने वाला, यह अर्थ भी असंगत है, क्योंकि स्वप्नावस्था के पदार्थ तो मिथ्या है, उनको दिव्य कैसे कहा जा सकता है। इसका अभिप्राय शुभ स्वप्नों से भी नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि स्वप्न तो शुभ के साथ अशुभ भी होते हैं। इन्द्रियों और सूर्य प्रभृति ज्योतियों का प्रकाशक, यह अर्थ भी संगत नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ तो अतीन्द्रिय हैं, अतः इसको इन्द्रियों का प्रकाशक नहीं माना जा सकता। वेदान्त शास्त्र के एक श्लोक में बताया गया है कि 'रूप दृश्य है और

लोचनं दृक् तद् दृश्यं दृक् च मानसम्। दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते ।।' इति वेदान्तिमतालोचनादिजन्यज्ञान-विषयकानुव्यवसायज्ञानजन्यत्वेन साद्युपाधित्वेनोपपद्यते। एकमसहायमित्यप्यशुद्धम्, असहायस्य मनसो वहिरप्रवृत्तेः।

'वाजश्च मे' इत्यादयस्तु वसोर्धारासम्वन्धिनो मन्त्राः, 'वसोर्धारां जुहोति' (का० श्रौ० सू० १८।५।१) इति कातीयसूत्रात्। 'महत्यौदुम्वर्या पञ्चगृहीत''''यजमानोऽरण्येऽनूच्येऽग्निप्राप्ते वाजश्च म इत्यष्टानुवाकेन' (का० श्रौ० सू०) सूत्रानुसारेणाज्यं संस्कृत्यार्थपरिमाणया महत्यौदुम्वर्या स्रुचा महता स्रुवेण पञ्चवारं गृहीतमाज्यमरण्येऽनूच्ये पुरोडाशेऽधिकरणे तदुपरि सन्ततमविच्छिन्नधारं यथा स्यात्तथा वसोर्धारामाज्याहुतिं जुहोति। घृतेऽग्निं प्राप्ते सति वाजश्चेत्यादिहोममन्त्रारम्भः।

वाजोऽन्नम्। चशब्दाः समुच्चयार्थाः। प्रसवोऽन्नदानाभ्यनुज्ञा, दीयतां भुज्यतामित्याद्याः। प्रयतिः प्रयतनम्, आज्ञा शुद्धिर्वा। प्रसितिर्वन्धनम्, अन्नविषयमौत्सुक्यम्, पिञ् वन्धने इति निष्पत्तेः। धीतिर्ध्यानम्, ध्यै चिन्तयाम्, सम्प्रसारणात्। क्रतुः सङ्कल्पो यज्ञो वा स्वरः साधुशव्दः श्लोकः पद्यवन्धः स्तुतिर्वा। श्रवः वेदमन्त्रा यशो वा श्रवणसामर्थ्यं वा। श्रुतिः ब्राह्मणं ज्योतिः प्रकाशः। स्वः स्वर्गः। एते मम यज्ञेन कल्पन्ताम्। समुदायापेक्षया वहुवचनम्। यज्ञेनानेन मया कृतेन वाजादयः पदार्थाः कल्पन्तां कृप्ताः सम्पन्ना भवन्तु। स यज्ञोऽस्मभ्यं वाजादीनां दातास्त्विति समुदायार्थः, 'अथो इदं च मे देहीदं च मे' (श० ९।३।२।५) इति श्रुतेः।

यद्वा वाजादयः पदार्था मम यज्ञेन कल्पन्ताम्, विभक्तिव्यत्ययेन यज्ञेऽग्निं तर्पयन्तु अभिषिञ्चन्तु, मम वाजादिभि-रग्निर्देवविशेषः परमात्मा वा तृप्यताम् अभिषिच्यतामित्यर्थः, 'अनेन च त्वा प्रीणामि अनेन चानेन च त्वाभिषिञ्चामि' (श० ९।३।३।५) इति श्रुतेः। श्रुतिद्वयसम्मतत्वाद् व्याख्यानद्वयमपि सङ्गतमेव।

नेत्र को दृक् अर्थात् देखने वाला कहा जाता है। यह दृश्य और दृक् दोनों ही मानस अर्थात् मन के ही व्यापार हैं, क्योंकि बुद्धि प्राप्त विभिन्न वृत्तियाँ ही दृश्य के रूप में परिणत हो जाती है और वे ही उनको ग्रहण भी करती हैं। इन सबका साक्षी तटस्थ रूप से सबका द्रष्टा हैं। वह इन्द्रियों अथवा मन का विषय नहीं हो सकता'। इस श्लोक में मन को दृक् और दृश्य दोनों माना है। दृक् के रूप में जब यह इन्द्रियों से अभिन्न है, तो ऊपर दी गई आपत्ति यहाँ भी उठेगी। किन्तु उसका समाधान यहाँ इस तरह से किया जाता है कि वस्तुतः मन दृगात्मक नहीं हैं, किन्तु लोचन आदि इन्द्रियों से उत्पन्न हुए घट आदि विषयों के ज्ञान के बाद 'मैं घट ज्ञान वाला हूँ,' 'मैं घट को जानता हूँ' इस तरह का एक अनुव्यवसायात्मक ज्ञान पैदा होता है। यह अनुव्यवसायात्मक ज्ञान साक्षी में इस मन की उपाधि के कारण ही पैदा होता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि मन से इन्द्रियों का ग्रहण होता है। मन को असहाय मानना भी सही नहीं है, क्योंकि बिना इन्द्रियों की सहायता के अकेली मनोवृत्ति बाहर की ओर नहीं प्रवृत्त हो सकती।

'वाजश्च में' इत्यादि मन्त्र वसोर्धारा से संवद्ध हैं। कातीय सूत्र में ऐसा ही कहा गया है। 'महत्यौदुम्बर्या' इत्यादि कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार घृत का संस्कार करके उदुम्बर की लकड़ी से वनी बड़ी सी स्रुचा और स्रुव से पाँच बार घृत लेकर पुरोडाश के ऊपर उसकी निरन्तर धारा गिरानी चाहिये। इसी को वसोर्धारा नाम की घृताहुति कहा जाता है। घृत की धारा जब अग्नि पर गिराई जा रही हो, उसके साथ ही 'वाजश्च' इत्यादि होम मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है।

वाजशब्द अन्न का वाची है। च शब्द समुच्चय का बोधक है। प्रसव शब्द का अर्थ है अन्न देने की अनुज्ञा। जैसे कि यह दो, यह खाओ इत्यादि। प्रयति का अर्थ प्रयतन (फैलाना), आज्ञा अथवा शुद्धि, प्रसिति का अर्थ है बन्धन अथवा अन्नविषयक उत्सुकता। बन्धन अर्थ वाले षिञ् धातु से यह शब्द बनता है। धीति ध्यान को कहते हैं। चिन्ता अर्थ वाली ध्यै धातु से संप्रसारण होने पर यह शब्द बनता है। क्रतु संकल्प अथवा यज्ञ को कहते हैं। शुद्ध शब्द स्वर और श्लोक पद्य में की गई रचना को कहते हैं, अथवा श्लोक का अर्थ स्तुति भी हो सकता है। वेदमन्त्र, यज्ञ अथवा सुनने की शक्ति को श्रव कहा जाता है। ब्राह्मण, ज्योति और प्रकाश श्रुति कहलाते हैं। स्व स्वर्ग को कहते हैं। यज्ञ की सहायता से ये सब वस्तुएँ मुझे प्राप्त हों। बहुवचन का प्रयोग इन सब वस्तुओं के समुदाय को लेकर किया गया है। इस प्रकार के अर्थ करने में शतपथ श्रुति ही प्रमाण है।

शतपथ ब्राह्मण में ही इसका दूसरी तरह से भी अर्थ किया गया है। वाज प्रभृति पदार्थ मुझे यज्ञ की सहायता से प्राप्त हों, यहां यज्ञ शब्द में तृतीया विभक्ति है। इसको सप्तमी में बदल कर यह अर्थ किया जाना चाहिये कि ये पदार्थ यज्ञ में अग्नि को तृप्त

यत्तु—'वाजश्च म इत्यष्टादशाध्यायस्थैर्मन्त्रैः सर्वस्वसमर्पणं परमेश्वराय कर्तव्यमिति वेदे विहितमिति तु निर्मूलमेव, एतेषु मन्त्रेषु तादृशविधेरदर्शनात्। नहि 'अग्निहोत्रं जुहोति' (तै० सं० १।५।९।१) इतिवत् परमेश्वराय स्वसर्वस्वं समर्पयेदिति विधिरिह मन्त्रेषु दृश्यते। अत्र तु 'कल्पन्ताम्' इत्याशिषि लोट्।

न च यज्ञेनेत्यत्र विभक्तिविपरिणामेन मम वाजादयः सर्वे यज्ञे परमेश्वरे कल्पन्तां समर्प्यन्तामित्यर्थोऽस्तु, धातूनामनेकार्थत्वाद् इति वाच्यम्, यथाश्रुतार्थोपपत्तौ विभक्तिविपरिणामेन गौणार्थाश्रयणानुपपत्तेः। परमेश्वरस्य तर्पणेऽभिषेके वाजादीनामुपयोगे नान्तरीयकतया तदापत्तेश्चेति दिक्।

यदुक्तम्—'परमोत्तमपदार्थं मोक्षमारभ्यान्नपानादिपर्यन्तमीश्वराद् याचितव्यम्' इति, तदपि चिन्त्यम्, याच्ञा-समर्पणयोर्विरोधात्। रागवैराग्यमूलकत्वादुभयोः। श्रुतिसम्मतपूर्वोक्तार्थद्वयेऽभ्युपगम्यमाने तु रागदशायां भगवतः सकाशात् सर्वे पदार्थाः काम्यन्ते। वैराग्यदशायां तत एवोपलब्धैः सर्वैः पदार्थैरन्यनैरपेक्ष्येण स एव तर्पणीयोऽभिषेचनीयश्च।

'आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्॥ स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च। स्वर्देवा अगन्मा मृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा॥' (वा० सं० १८।२९)। अस्याः कण्डिकाया अपि पूर्वोक्तश्रुत्यनुगुण एवार्थः। आयुर्जीवनं जीवनकालो वा यज्ञेन निमित्तेन कल्पतां साध्यताम्। प्राप्यतामित्यर्थः। प्राणश्चक्षुः श्रोत्रवाङ्मनांसि मम यज्ञेन क्लृप्तानि भवन्तु आत्मा देहो यज्ञेन कल्पताम्। यज्ञेन यज्ञोपलक्षितेन शुभकर्मणैवाभीष्टपुरुषार्थसाधकप्राणचक्षुःश्रोत्रवाङ्मनोदेहा

करें। अर्थात् मेरे द्वारा दिये जारहे वाज (अन्न) प्रभृति पदार्थों से देवविशेष अग्नि और परमात्मा तृप्तिलाभ करें। 'इससे मैं तुमको प्रसन्न (तृप्त) करता हूँ और इस पदार्थ से मैं तुमको अभिषिक्त करता हूँ' ऐसा शतपथश्रुति में इनका अर्थ किया गया है। ये दोनों ही व्याख्याएं दो प्रकार की शतपथ श्रुति से समर्थित होने से उचित ही हैं।

यहाँ स्वामी दयानन्द ने कहा है कि—'वाजश्च मे' इत्यादि शुक्लयजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में (वर्तमान) मन्त्र ईश्वर के अर्थ में सर्वस्व समर्पण करने का ही विधान में है' (पृ० १७३) किन्तु यह व्याख्यान निराधार है, क्योंकि इन मन्त्रों में इस तरह की कोई विधि नहीं देखी जाती। अग्निहोत्र की विधि की तरह परमेश्वर के लिये सर्वस्व समर्पण करने का विधान करने वाला कोई विधिवाक्य मन्त्रों में नहीं दिखाई पड़ता। इस मन्त्र में तो 'कल्पन्ताम्' इस आशीर्वादात्मक लोट् लकार का प्रयोग है।

'यज्ञेन' पद में विभक्ति का विपरिणाम कर मेरे सभी अन्न आदि पदार्थ यज्ञ में, परमेश्वर में समर्पित हों, ऐसा अर्थ क्यों न किया जाय, जब कि धातुओं की अनेकार्थता के कारण ऐसा आसानी से किया जा सकता है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जब हम विना विभक्ति को वदले ही एक उचित अर्थ कर सकते हैं, तो ऐसी अवस्था में गौणार्थ करने से कोई लाभ नहीं। परमेश्वर की तृप्ति और अभिषेक के लिये अन्न आदि का उपयोग मानने में अनायास उक्त अर्थ निकल आता है।

'सबसे उत्तम मोक्षसुख से लेकर अन्न-जल पर्यन्त सब पदार्थों की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर से ही करनी चाहिये' (पृ० १७३) यह कथन भी विचारणीय है, क्योंकि मांगना और समर्पण करना ये दो विरोधी स्वभाव की क्रियाएँ हैं। पहली का कारण राग और दूसरी का वैराग्य है। श्रुति समर्पित पूर्वोक्त दोनों अर्थों में तो संगति इस तरह से बैठ जाती है कि मनुष्य रागावस्था में भगवान् से सब कुछ मांगता है और वैराग्यावस्था में उससे उपलब्ध पदार्थों से विना किसी अपेक्षा के उसी को सन्तुष्ट करता है।

'आयुर्यज्ञेन' इत्यादि कण्डिका का भी पूर्वोक्त 'वाजश्च' इत्यादि श्रुति की तरह का ही अर्थ है। आयु अर्थात् जीवन अथवा जीवन काल वह यज्ञ की सहायता से प्राप्त हो। प्राण, चक्षु, श्रोत्र, वाणी और मन ये सब भी यज्ञ की सहायता से सदा स्वस्थ अवस्था में बने रहें। मेरा शरीर भी यज्ञ की सहायता से स्वस्थ रहे। इसका अभिप्राय यह है कि यज्ञ से अर्थात् यज्ञ से निष्पन्न होने वाले शुभ कर्म से ही अभीष्ट पुरुषार्थ को प्राप्त करने में समर्थ प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, और शरीर की प्राप्ति होती है। ब्रह्म वेद है और ज्योतिः स्वयंप्रकाश परमात्मा। ये भी यज्ञ से प्राप्त हों। यज्ञ, तप, दान आदि की सहायता से ही परम पुरुषार्थ के रूप में माने गये ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। ऊपर उद्धृत शतपथ श्रुति इसमें प्रमाण हैं। ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाना ही उसकी उपलब्धि

उपलभ्यन्ते। ब्रह्मा वेदः। ज्योतिः स्वयंप्रकाशः परमात्मा। यज्ञेन कल्पतां प्राप्यताम्। यज्ञतपोदानादीनामिष्यमाणब्रह्मवेदनहेतुत्वश्रवणात्। 'तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धयाऽनाशकेन' (श० १४।७।२।२५) तत्साक्षात्काररूपोपलब्धिरेव तत्प्राप्तिर्विस्मृतकण्ठमणेरिवेति। स्वः स्वर्गसुखं पृष्ठं स्तोत्रं स्वर्गस्थानं वा यज्ञेन कल्पतां प्राप्यताम्, स्वर्गादिसाधनतया यज्ञविधानात्। यज्ञोऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिर्यज्ञोऽपि यज्ञेन कल्पताम्, पूर्वपूर्वयज्ञैरेवोत्तरोत्तरयज्ञानुष्ठानसम्पत्तेः। तस्मादिदानीन्तनेनानुष्ठीयमानेन यज्ञेन भावी यज्ञः प्राप्यताम्। यथा धर्ममेघसमाधिना धर्मो वर्धते भक्त्या भक्तिर्वर्धते, तथैव यज्ञादिपुण्यानुष्ठानेनैव यज्ञादिपुण्यानुष्ठानं वर्धते। 'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमन्वानुनीषति' (कौ० ब्रा० उ० ३।९), 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' (ब्र० सू० २।३।४२) इति श्रुतिसूत्रादिभ्यः। अनौद्धत्यपरिहाराय वा तथोक्तिः। यज्ञेनैव यज्ञः कल्पते न मम सामर्थ्यं तत्क्लृप्तावित्यर्थः। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (वा० स० ३१।१६) इति श्रुतेश्च। स्तोमयजुर्ऋक्सामबृहद्रथन्तराणि यज्ञेन क्लृप्तानि प्राप्तानि भवन्तु, पुण्यवतामेव तत्प्राप्तिदर्शनात्। स्तोमस्त्रिवृत् पञ्चदशादिः, यजुरनियतपादो मन्त्रः, ऋक् नियतपादा, साम गीतिप्रधानम्, बृहद्रथन्तरे सामविशेषौ। सर्वाणि चैतान्यभीष्टपुरुषार्थसाधनानि यज्ञेन कल्पन्ताम्, प्राप्यन्तामित्यर्थः। वसोर्धारयैवाभिषिच्यात्मानं यजमानः प्रशंसति वयं यजमानाः स्वः स्वर्गमगन्म गतवन्तः। गमेर्लङि शब्लोपे मस्य नत्वम्। गत्वा चामृता अभूम भूताः। ततः प्रजापतेर्हिरण्यगर्भस्य प्रजा अभूमेति फलवचनम्। अनेन वसोर्धारायाः सर्वकामहेतुत्वमुक्तम्। वेट् स्वाहेति। वेडिति वषट्कारः, 'वषट्कारो हैष परोक्षं यद्वेट्कारः। वषट्कारेण वा वै स्वाहाकारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयते' (श० ९।३।३।१४) इति श्रुतेः।

द्वितीयशातपथीयश्रुत्यनुसारेणायुरादिभिः सर्वैः पुरुषार्थसाधनैरग्निं देवं तन्मूलभूतं परमदैवतं परमात्मानमहं प्रीणयामि तर्पयामि अभिषेचयामि वा। सर्वात्मना सर्वभावेन परमात्मसमर्हणमेवेहेष्टम्। कर्मकाण्डप्रसङ्गे तु श्रुत्या

अर्थात् प्राप्ति है, जैसे भूली हुई कण्ठमणि आदि वस्तु याद पड़ जाने पर पुनः प्राप्त हुई मान ली जाती है। स्वः स्वर्ग के सुख को पृष्ठ-स्तोत्र को अथवा स्वर्ग स्थान को कहा जाता है। यज्ञ की सहायता से यह भी मुझे प्राप्त हो जाय। यज्ञ का विधान स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिये ही किया जाता है। अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास प्रभृति यज्ञ भी मुझे यज्ञ की सहायता से ही प्राप्त हो, क्योंकि पहले किये गये यज्ञों के कारण ही भविष्य में भी यज्ञादि शुभ कर्मों में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। इसलिये इसका यह अभिप्राय होगा कि अभी किये जा रहे यज्ञ की सहायता से मुझमें भविष्यकाल में भी यज्ञ करने की प्रवृत्ति पैदा हो। जैसे धर्ममेघ समाधि से धर्म बढ़ता है, ईश्वर भक्ति से भगवान् में अनुराग बढ़ता है, उसी तरह से यज्ञ आदि पुण्य कर्मों के अनुष्ठान से यज्ञ आदि पुण्य कर्मों में भी वृद्धि होती हैं। इस विषय में ऊपर श्रुति एवं वेदान्तदर्शन के सूत्र प्रमाण के रूप में उद्धृत किये गये हैं। यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान कर मनुष्य उद्धत न हो जाय, इसके लिये ऐसा कहा गया है कि मनुष्य को सदा यज्ञ-यागादि शुभ कर्मों के अनुष्ठान में लगे रहना चाहिये। पूर्वकृत यज्ञ की सहायता से ही मैं इस यज्ञ को करने में समर्थ हुआ हूं, अन्यथा मुझमें यह सामर्थ्य कहाँ कि मैं इस तरह के शुभ कर्म कर सकूँ। इस तरह से निरभिमान अवस्था में रहने से मनुष्य उद्धत नहीं हो पाता। 'देवताओं ने भी यज्ञ की सहायता से ही यज्ञ किया' ऐसा श्रुतिवचन भी उपलब्ध है। सोम, यजुः, ऋक्, साम, बृहत् और रथन्तर ये सब भी यज्ञ की सहायता से मुझे प्राप्त हों, क्योंकि ये सब वस्तुएँ पुण्यवालों को ही मिल सकती हैं। त्रिवृत्, पंचदश आदि स्तोम कहे जाते हैं, अनियत पाद वाले मन्त्र को यजुः कहते हैं, जिसके पाद के अक्षर नियत हैं, वह मन्त्र ऋक् कहा जाता है, गीतिप्रधान मन्त्र साम कहलाता है, बृहत् और रथन्तर साम के ही भेद हैं। अभीष्ट पुरुषार्थ को देने वाले ये सब साधन यज्ञ की सहायता से ही मुझे प्राप्त हों। इन वसोर्धारा मन्त्रों से यजमान अपना अभिषेक करके अपनी ही प्रशंसा करता है कि हम यजमान स्वर्ग को प्राप्त कर चुके हैं और वहाँ जाकर अमर हो गये हैं। 'अगन्म' पद गम् धातु से लङ् लकार में शप् का लोप होकर मकार या नकार होने पर बनता है। तदनन्तर हम प्रजापति हिरण्यगर्भ को प्रजा के रूप में निवास करते हैं। यह सब फलश्रुति के बोधक बचन हैं। इससे यह बताया जाता है कि वसोर्धारा से सब कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। वेट् शब्द वषट्कार का बोधक है। शतपथ श्रुति में बताया गया है कि वेट्कार वषट्कार का ही छिपा हुआ रूप है। वषट्कार अथवा स्वाहाकार के द्वारा देवताओं को आहुति दी जाती हैं।

द्वितीय शतपथीय श्रुति के अनुसार इस कण्डिका का अर्थ यह होगा कि आयु प्रभृति सभी तरह के पुरुषार्थ की सिद्धि के साधनों से अग्नि देवता को और उसके भी कारणभूत परमदेव परमात्मा को मैं प्रसन्न हूं, तृप्त करता हूं अथवा अभिषिक्त करता

वाजादीनामायुःप्राणादीनां चाग्नेर्देवताविशेषस्य परमात्माङ्गभूतस्य तर्पणाभिषेकौ विहितौ। सुतरां तदङ्गिनः परमात्मनः समर्हणं सम्पद्यते, अङ्गपूजाया अङ्गिनि पर्यवसानात्। लोके गुर्वादीनां पादवन्दनेन शिरसि गन्धपुष्पमालादिसमर्पणेनाङ्गिपूजा दृश्यते, तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्। ज्योतिरत्राप्युपास्यं ज्ञेयं वा परब्रह्मैव, तदुपासनाज्ञानादिभिश्च तदेव समर्हणीयम्, सर्वनैरपेक्ष्येण मोक्षस्याप्यकाम्यत्वात्।

यत्तु—'यज्ञो वै विष्णुः' (श० १।१।२।१३), 'वेवेष्टि सर्वं जगद् व्याप्नोतीति विष्णुरीश्वरः' इति, तत्तु न सङ्गतम्, श्रुतौ व्यापकत्वगुणयोगेन यज्ञे विष्णुत्वमुक्तम्, शौर्यादियोगाद् देवदत्ते सिंहत्ववत्। तस्माद्यज्ञशब्दोऽत्र प्रकृतयज्ञपर एव।

यत्तु 'हे मनुष्या यज्ञेनेश्वरप्राप्त्यर्थं स्वकीयमायुः कल्पताम्....परमेश्वराय समर्पितं भवतु' इति, तन्न सङ्गतम्, मनुष्याणां सम्बोधनीयत्वे मानाभावात्। परमेश्वरायेति पदमपि मूले नास्त्येव, अध्याहारे च मानाभावात्। क्लृपेः समर्पणार्थत्वे मानाभावाच्च। ममायुरादयः पदार्था यज्ञेऽग्निं तर्पयन्तु, अभिषिञ्चन्त्विति श्रुतिसम्मतार्थस्वीकारेऽपि परमेश्वराराधनाङ्गतायामायुरादीनां तत्समर्पणं नान्तरीयकतयापततीत्युक्तमेव। आत्मेति तु प्रकृते देह एव न जीवः, तस्य कल्पनासङ्कल्पयितृत्वेन पृथङ्निर्देशानर्हत्वात्, 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इति गीतायामात्मपदेन शरीरग्रहणदर्शनाच्च। ब्रह्मेति वेद एवार्थो न चतुर्वेदविज्ञाता यज्ञानुष्ठानकर्ता वा, तत्र मानाभावाद् गौरवाच्च। ज्योतिः सूर्यादिप्रकाश इत्यपि न,

हैं। सब तरह से परमात्मा के प्रति समर्पण ही यहाँ अभिप्रेत है। कर्मकाण्ड के प्रसंग में श्रुति अन्नप्रभृति और आयु, प्राण प्रभृति की प्राप्ति के लिये देवताविशेष अग्नि के, जो कि परमदेव परमात्मा का अंगभूत है, तर्पण और अभिषेक का विधान करती है। अग्नि का तर्पण और अभिषेक करने से परमात्मा की पूजा अपने आप हो जाती है, क्योंकि अंग की पूजा का पर्यवसान अंगी की पूजा में हो ही जाता है। लोक में देखा जाता है कि गुरु का पादवन्दन करने से अथवा उसके सिर पर गन्ध, पुष्प, माला आदि समर्पित करने से, अंगपूजा से अंगी गुरु की पूजा हुई, ऐसा माना जाता है, उसी तरह से यहाँ भी समझना चाहिए। यहाँ भी ज्योति की ही उपासना करनी है, उसी को जानना भी है। यह ज्योति परब्रह्म ही है। ज्योति की उपासना और ज्ञान से उस परब्रह्म का ही समादर होता है। मोक्ष को सर्वथा निरपेक्ष माना जाय, तो वह भी कामना का विषय न होगा।

'यज्ञ नाम विष्णु का है, जो कि सब जगत् में व्यापक हो रहा है। उसी परमेश्वर के अर्थ सब चीज समर्पण कर देना चाहिये' (पृ० १७४) दयानन्द का यह अर्थ सही नहीं है, क्योंकि श्रुति में व्यापकता के आधार पर यज्ञ को गौण रूप से विष्णु कहा गया है, जैसे कि शौर्य प्रभृति गुणों के होने से देवदत्त को गौण रूप से सिंह कहा जाता है। इस तरह से प्रकृत मन्त्र में यज्ञ शब्द विष्णु अर्थात् परमात्मा का वाचक न होकर प्रकृत यज्ञ का ही वाचक माना जाता है।

'इस विषय में यह मन्त्र है कि सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और उसकी आज्ञा के पालन में समर्पित करें' (पृ० १७४) यह अर्थ भी संगत नहीं है, क्योंकि यहाँ मनुष्यों को संबोधन करने वाला कोई पद विद्यमान नहीं है। 'परमेश्वराय' यह पद भी मूल मन्त्र में नहीं है और न अध्याहार करने मे कोई प्रमाण है। क्लृप् धातु का समर्पण अर्थ करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि मेरे आयु प्रभृति पदार्थ यज्ञ में अग्नि को तृप्त करे, अभिषिक्त करें, इस श्रुतिसंमत अर्थ को स्वीकार करने पर भी परमेश्वर की आराधना में आयु प्रभृति का समर्पण अन्ततोगत्वा हो ही जाता है, क्योंकि अंगपूजा का विनियोग अन्ततः अंगी की पूजा में ही होता है। प्रकृत स्थल में आत्मा का अर्थ देह ही किया जा सकता है, जीव नहीं, क्योंकि कल्पना करने वाला और संकल्प करने वाला तो जीव ही है, अतः उसका अलग से निर्देश कैसे हो सकता है। 'आत्मा, इन्द्रिय और मन से संयुक्त जीव को ही मनीषीगण भोक्ता कहते हैं' इस गीता वचन में आत्म शब्द शरीर के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्म पद का अर्थ यहाँ वेद ही किया जाना चाहिये। चारों वेदों का जानकार अथवा यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला, ऐसा अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है और इसमें गौरव भी है। 'ज्योति' पद का अर्थ सूर्य प्रभृति का प्रकाश करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्योतियाँ तो अनेक प्रकार की है, अतः यहाँ किस ज्योति का ग्रहण किया जाय, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। सभी ज्योतियों को प्रकाशित करने वाला ब्रह्म तो एक ही है। अतः इसमें विनिगमक का अभाव नहीं है, अर्थात् अनेक श्रुतिवचन इसमें प्रमाण है कि यह ब्रह्म सभी प्रकार

ज्योतिषामनेकत्वेन विनिगमनाविरहात्। ज्योतिषां ज्योतिस्त्वेकं व्रह्मैव, तस्मान्न तत्र विनिगमनाविरहः। धर्मो न्याय इति तु प्रमाद एव, मूले धर्मपदस्यादर्शनात्। यज्ञः शिल्पादिरित्यप्यसङ्गतम्, प्रसिद्धिबाधात्। यजुर्यजुर्वेदाध्ययनम्, ऋग्वेदाध्ययनम् इत्यादिकमप्यसङ्गतम्, लक्षणापत्तेः। मम यजुरादयो यज्ञेन कल्पन्तामित्यनेन गतार्थता च, अध्ययनेनैव यजुरादिषु मदीयत्वोपपत्तेः।

यत्तु—'वृहच्च रथन्तरं च' महत् क्रियासिद्धिफलभोगः शिल्पविद्याजन्यं वस्तु' इति, तदपि वालभाषितम्, तथार्थत्वे मानाभावात्, ताण्ड्यमहाव्राह्मणस्थवृहद्रथन्तरादिसामविशेषनिर्वचनविरोधाच्च।

यदुक्तम्—'एवं कृते परमकारुणिकः परमेश्वरः सर्वोत्तमं सुखमस्मभ्यं दद्यात्' इति, तदपि न सङ्गतम्, सकामस्य सर्वस्वसमर्पणायोगात्। यावत्पर्यन्तं कामना अवशिष्यन्ते तावत्पर्यन्तं क सर्वस्वात्मनिवेदनम् ?

यत्तु—'येन वयं स्वर्देवाः सुखे प्रकाशिताः, अमृताः परमानन्दं मोक्षम् अगन्म प्राप्ताः, तथा वयं परमेश्वरस्य प्रजा अभूम, अर्थात् परमेश्वरं विहायान्यं मनुष्यं राजानं नैव मन्यामहे' इति, तदप्यसङ्गतम्, मोक्षस्य स्वात्मस्वरूपत्वेन गन्तव्यत्वाभावात्, व्रह्मात्मभावप्राप्त्या प्रजात्वानुपपत्तेश्च, 'व्रह्म वेद व्रह्मैव भवति' (मु० उ० ३।२।९) इति श्रुतेः।

वेट् स्वाहा, सदा वयं सत्यं वदाम, भवदाज्ञाकरणे परमप्रयत्नत उत्साहवन्तोऽभूम भवेम' इत्यप्यसङ्गतम्, सिद्धान्तव्याख्यानोद्धृतश्रुतिविरोधात्। तत्र हि देवताहुतिप्रदाने वेट्कार-वषट्कार-स्वाहाकाराणां विनियोगः स्पष्टमुक्तः। भवदाज्ञाकरण इत्यस्य स्थाने भवदाज्ञापालन इत्येव युक्तम्, परमेश्वरस्याज्ञायाः कृतेरविषयत्वात्।

के प्रकाशों का प्रकाशक है। 'धर्म का अर्थ न्याय है' (पृ० १७३) यह पाठ तो पूरा प्रामादिक है, क्योंकि मूल मन्त्र में धर्म पद है ही नहीं। यज्ञ का अर्थ शिल्प आदि करना भी असंगत है, क्योंकि इसमें लोकप्रसिद्धि का स्पष्ट वाध होता है। यजु आदि पदों का अर्थ यजुर्वेद का अध्ययन, ऋग्वेद का अध्ययन (पृ० १७४) आदि करना भी सही नहीं है, क्योंकि ऐसा करने के लिये लक्षणा का सहारा लेना पड़ेगा। मेरे यजु प्रभृति वेद यज्ञ की सहायता से कल्पित हो, इस लक्षणा रहित अर्थ से भी इसी अर्थ की प्राप्ति हो जायगी। क्योंकि यजु प्रभृति के साथ मदीयत्व की उपपत्ति उनका स्वयं अध्ययन करने पर ही की जा सकती है।

वृहत् और रथन्तर शब्दों का अर्थ वड़े वड़े सव पदार्थ और शिलविद्या आदि से जन्यफल (पृ० १७४) करना भी वच्चों की सी वात मालूम होती है, क्योंकि ऐसा अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। साथ ही ताण्ड्य महाव्राह्मण में किये गये सामविशेष के वोधक निर्वचन से इस अर्थका स्पष्ट ही विरोध पड़ता है।

इस प्रकार से जो मनुष्य अपनी सव चीजें परमेश्वर के अर्थ समर्पित कर देता है, उसके लिये परम कारुणिक परमात्मा सव सुख देता है, इसमें सन्देह नहीं'' (पृ० १७४) यह अर्थ भी संगत नहीं है, क्योंकि सकाम व्यक्ति सर्वस्व का समर्पण कर ही नहीं सकता। जव तक मनुष्य के मन में कामना वची रहती है, तव तक भला वह अपने सर्वस्व का समर्पण करने में कैसे समर्थ हो सकता है ?

'परमात्मा की कृपा की लहर और परम प्रकाश रूप विज्ञान प्राप्ति में शुद्ध होकर तथा सव संसार के वीच में कीर्तिमान् होकर हमलोग परमानन्द स्वरूप मोक्ष सुख को सव दिन के लिये प्राप्त हो। तथा हम सव मनुष्यों को उचित है कि किसी एक मनुष्य को अपना राजा न मानें, क्योंकि ऐसा कौन अभागा मनुष्य है, जो कि सर्वज्ञ, न्यायकारी अपने पिता एक परमेश्वर को छोड़कर दूसरे की उपासना करे और राजा माने '(पृ० १७४-१७५) यह सारा कथन भी असंगत है, क्योंकि मोक्ष तो स्वात्मस्वरूप है। उसमें कहीं जाना नहीं पड़ता। उस दशा में मुमुक्षु स्वयं व्रह्मात्मभाव को प्राप्त कर लेता है, अतः वह किसी की प्रजा के रूप में उस अवस्था में रहता नहीं, क्योंकि श्रुति का कहना है कि व्रह्म को जान लेने वाला स्वयं व्रह्म ही हो जाता है।

'(वेट् स्वाहा) अर्थात् हम लोग सर्वज्ञ, सत्यस्वरूप, सत्यन्याय करनेवाले परमेश्वर राजा की अपने सत्यभाव से प्रजा होकर यथावत् परम प्रयत्न पूर्वक, उत्साह के साथ, सत्य मानने, सत्य वोलने और सत्य कहने में समर्थ होवें (पृ० १७५) यह अर्थ भी असंगत है, क्योंकि इन मन्त्रों का अर्थ करते समय जिन श्रुतियों को हमने उद्धृत किया है, उनका इस अर्थ से स्पष्ट विरोध है। उन श्रुतियों में वेट्कार, वषट्कार और स्वाहाकार का विनियोग देवताओं को आहुति देने में किया गया है। 'भवदाज्ञाकरणे' इसके स्थान पर 'भवदाज्ञापालने' अर्थात् आपकी आज्ञा का पालन करने में, यही अर्थ उचित है, क्योंकि परमेश्वर की आज्ञा कृति का विषय नहीं हो सकती।

अथोपासनाविषयको विचारः

यदुक्तम्—'युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥' (ऋक् सं० ५।८१।१)। 'युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम्। अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥' (वा० सं० ११।१)। 'युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या''''युक्त्वाय सविता देवान् स्वर्यतो धिया दिवम्। बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्' (वा० सं० ११।३)। 'युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः। शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ (ऋ० सं० १०।१३।१)। अत्र जीवेन परमेश्वरस्यैवोपासना कर्तव्येति विधीयते' (पृ० १७६) इति दयानन्दकथनमसत्, विधिप्रत्ययादर्शनात्।

'युञ्ज पञ्च श्यावाश्वः सावित्रं तु जागतम्' इत्यनुक्रमणिकानुसारेणास्य सूक्तस्य श्यावो नामात्रेय ऋषिः जगती छन्दः, सविता देवता पृष्ठ्याभिप्लवषडहयोः प्रथमेऽहनि वैश्वदेवशस्त्रे सावित्रनिविद्धानमिदम्, 'युञ्जते मन उत युञ्जते धियः आ तून इन्द्र क्षुमन्तम्' (आ० श्रौ० सू० ५।१२) इति सूत्रात्। तथा चायं मन्त्रार्थः—विप्रा मेधाविनः, यज्ञप्रसङ्गानुसारेण ऋत्विग्यजमानाः, मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकं स्वीयं मनः, यागादिकर्मसु युञ्जते योजयन्ति, सवित्रनुग्रहाय सङ्कल्पं कुर्वन्तीति यावत्। उत अपि च, विप्रस्य मेधाविनः सर्वज्ञस्य बृहतो महतो महामहिमवैभवस्य विपश्चितः स्तुत्यस्य ज्ञानवतो वा सवितुरनुज्ञया, 'सविता वै प्रसवानामीशे' (ऐ० ब्रा० ७।१६) इति श्रुतेः, उतापि धियः कर्माण्यपि युञ्जते प्राप्नुवन्ति जानन्त्यनुतिष्ठन्ति च। स एव सविता होत्रा सप्तहोत्रकाणामुचिताः क्रियाः, वयुनावित् तत्तदनुष्ठानविषयप्रज्ञावेत्ता, प्रज्ञानामसु वयुनमित्यस्य पाठात्। अत एव एक इत् एक एव विदधे करोति पृथक् पृथगवधारयति सर्वाणि कर्माणि, सवितुः सर्वकर्मसाक्षित्वात्। तस्य सवितुर्देवस्य परिष्टुतिः स्तुतिः महती अतिप्रभूताऽपारेत्यर्थः।

अत्रेश्वरोपासका योगिन इति न विप्रपदार्थः, अप्रासङ्गिकत्वात्। 'विपश्चितः सर्वविद्यायुक्तस्य' इत्यप्यसङ्गतम्, सार्वज्ञ्येन गतार्थत्वात्। परमेश्वरस्य मध्ये मनः युञ्जान इत्यपि नार्थः, मध्ये इत्यस्य पदस्य मन्त्रेऽदर्शनात्।

उपासनाविषयक विचार

इस प्रकरण के प्रारंभ में 'युञ्जते मनः' इत्यादि पांच मन्त्रों को उद्धृत कर दयानन्द ने कहा है कि इन मन्त्रों में इस बात का विधान किया गया है कि जीव को परमेश्वर की ही उपासना करनी चाहिये। किन्तु यह कथन गलत है, क्योंकि इन मन्त्रों में कहीं भी विधि का प्रत्यायक प्रत्यय विद्यमान नहीं है।

'युञ्ज' इत्यादि अनुक्रमणिका सूत्र के अनुसार इस सूत्र का आत्रेय कुल का श्याव नाम का ऋषि है। छन्द जगती और देवता सविता है। पृष्ठ्य अभिप्लव और षडह के प्रथम दिन वैश्वदेव शस्त्र में सविता देवता संबन्धी निविद् का आधान इसके द्वारा किया जाता है। आश्वलायन श्रौतसूत्र में इसी कार्य में इसका विनियोग विहित है। मन्त्र का अर्थ इस तरह से होगा—बुद्धिमान् ब्राह्मण, जो कि यज्ञ के प्रसंग में ऋत्विक् और यजमान के रूप में विद्यमान रहते हैं, अपने संकल्प-विकल्पात्मक मन को यागादि शुभ कार्यों को संपन्न करने में लगाते हैं, अर्थात् हमारे ऊपर इन शुभ कार्यों के करने से सविता देवता का अनुग्रह हो, ऐसा संकल्प करते हैं। साथ ही मेधावी, सर्वज्ञ, महामहिमशाली, विद्वान् स्तुत्यर्ह अथवा ज्ञानवान् सविता देवता की आज्ञा के अनुसार, अपनी बुद्धि के अनुसार यज्ञादि कर्मों की पद्धति को जानते हैं और उनका यथावत् अनुष्ठान करते हैं। यह सविता ही सात प्रकार के होताओं के द्वारा संपन्न की जाने वाली क्रियाओं को जानता है। वयुन शब्द का निघण्टु में प्रज्ञा के पर्यायवाची शब्दों में पाठ किया गया है। अतः यह सविता ही उन उन अनुष्ठानों के करने की विधि को जानता है। यद्यपि ऋत्विक्, यजमान आदि इन क्रियाओं का अलग-अलग अनुष्ठान करते हैं, किन्तु वह सविता देवता अकेला ही इन सबका विधान करने वाला है, क्योंकि वही इन सब अनुष्ठानों का साक्षी है। उस सविता देवता की स्तुति अर्थात् महिमा अपार है।

यहां विप्र पद का अर्थ ईश्वर के उपासक योगी नहीं किया जा सकता, क्योंकि योगी का यहाँ कोई प्रसंग नहीं है। विपश्चित् का अर्थ सर्वविद्यायुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि इस अर्थ की प्राप्ति तो आपके द्वारा व्याख्यात सर्वज्ञ पद से ही हो गई। परमेश्वर

परमेश्वरस्यानाद्यनन्तत्वेन मध्यदेशासम्भवाच्च, 'धियो बुद्धिवृत्तीः' इत्यप्यसङ्गतम्, 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा''''ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव' (बृ० उ० १।५।३) इति श्रुत्या धियो मनोऽन्तर्गतत्वात्। मनोयोगेन गतार्थत्वात् सावित्रसूक्तत्वान्मूले सवितुरिति श्रवणाच्च सविता देव एवात्र परमेश्वरः। 'यः सर्वमिदं विदधे' इत्यप्यसङ्गतम्, मूलाक्षराननुगमात्। 'होत्रा' इत्युपस्थितं कर्म परित्यज्यानुपस्थितकर्मकल्पनाया अनौचित्यात्। तथा च सप्तहोत्रकाणामुचिताः क्रिया एव विदधातेः कर्म, वयुनाविदित्यस्यापि प्रासङ्गिकत्वात् तत्तदनुष्ठानविषयप्रज्ञावेत्ता इत्येवार्थः। न शुभाशुभानि प्रजाश्च यो वेत्ति स, सार्वज्ञेन तदुक्त्या पौनरुक्त्यापत्तेः। 'इत् सर्वत्र व्याप्तो ज्ञानस्वरूपश्च, नास्मात्पर उत्तमः कश्चित् पदार्थो वर्तते' इत्यपि यत्किञ्चित्, इदित्यव्ययस्यैवार्थकत्वात्, तथा च एक एवेत्यर्थः, व्याप्तिज्ञानार्थकधातुकल्पनापेक्षया प्रसिद्धस्याव्ययस्य त्यागानौचित्यात्, महत इत्यनेनैव व्यापकत्वार्थलाभाच्च। एवं कृते सति जीवाः परमेश्वरमुपगच्छन्तीत्यप्यवेदार्थ एव, वेदाक्षरबाह्यत्वात्, परमेश्वरस्य व्यापकत्वेन सर्वत्र स्थितस्योपगम्यत्वाभावाच्च।

युञ्जान इति व्याख्याने यदुक्तम्—'योगं कुर्वाणः सन् तत्त्वाववोधार्थं ब्रह्मादितत्त्वज्ञानाय प्रथमं मनो युञ्जानः सन् योऽस्ति तस्य धियं सविता कृपया परमेश्वरः स्वस्मिन्नियुङ्क्ते। यतोऽग्नेरीश्वरस्य ज्योतिःप्रकाशस्वरूपं निचाय्य यथावन्निश्चित्य अध्याभरत् स योगी स्वात्मनि परमात्मानं धारितवान् भवेत्। इदमेव पृथिव्या मध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणम्' (पृ० १७७) इति, तदपि न युक्तम्, मन्त्रे 'स्वस्मिन्नियुङ्क्ते' इत्यादिपदाभावात्। यदि सवित्राग्निशब्दयोरुभयोरपि परमात्मपरत्वमेव स्यात्, तदा भिन्नपदयोः प्रयोगस्य प्रयोजनं वक्तव्यम्। यस्याग्निरूपस्य परमेश्वरस्य ज्योतिर्निचाय्याभरत् स एव स्वस्मिन् धियं नियुञ्जीत। योगिनो लक्षणकथनमप्यप्रक्रान्तमेव।

के मध्य में अपना मन लगाते हैं, यह भी अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि मन्त्र में 'मध्य' पद नहीं है। परमेश्वर ता अनादि और अनन्त है। उसमें मध्यदेश की कोई सत्ता नहीं हो सकती। धी शब्द का अर्थ बुद्धि की वृत्तियां कहना भी गलत है, क्योंकि 'कामः संकल्पः' इत्यादि वृहदारण्यक श्रुति के अनुसार धी का भी अन्तर्भाव मन में ही किया जाता है। इस अर्थ की उपलब्धि 'युञ्जते मनः' इससे ही हो जाती है। यह सविता देवता सबन्धी सूक्त है, मूल मन्त्र में सविता पद सुना जाता है, अतः सविता देवता ही यहाँ परमेश्वर माना जायगा। इस सारे जगत् को जिसने बनाया, यह अर्थ भी असंगत है, क्योंकि मूल मन्त्र के अक्षरों से इसकी कोई संगति नहीं है। मन्त्र में उपस्थित होत्र कर्म को छोड़कर अनुपस्थित जगत् को कर्म के रूप में उपस्थित करने में कोई तुक नहीं हो सकता। इसलिये सप्त होताओं की उचित क्रियाएँ ही यहाँ विदधाति क्रिया का कर्म है। 'वयुनावित्' इस पद की भी संगति इसी में है कि उन-उन अनुष्ठेय विषयों को जानने वाला, इसका अर्थ किया जाय। शुभ और अशुभ प्रज्ञानों को और प्रजाओं को जानने वाला, यह अर्थ इसका नहीं किया जा सकता, क्योंकि पूर्वोक्त सर्वज्ञ पद से ही इसका कथन हो चुका है, पुनः इसी अर्थ को कहने में पुनरुक्ति दोष को आपत्ति आयेगी। 'वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है और ज्ञानस्वरूप है, इससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है' (पृ० १७८) यह अर्थ भी गलत है, क्योंकि 'इत्' यह अव्यय 'एव' के अर्थ में है। इसलिये इसका अर्थ 'अकेला ही' यह होगा। व्याप्ति और ज्ञानार्थक धातु की कल्पना करने की अपेक्षा प्रसिद्ध अव्यय को छोड़ देने में कोई औचित्य नहीं है। व्यापक अर्थ की उपलब्धि तो महदर्थक मही शब्द से ही हो जायगी। 'ऐसा करने से जीव परमेश्वर के सामीप्य को प्राप्त करते हैं' (पृ० १७८) यह भी इस मन्त्र का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि मन्त्र में इस अर्थ के बोधक शब्द नहीं हैं। परमेश्वर तो सर्वत्र व्याप्त है, वह तो सभी जगह विद्यमान है, अतः उसके पास जाने का कोई प्रसंग ही नहीं है।

'युञ्जान' इत्यादि द्वितीय मन्त्र की व्याख्या दयानन्द ने इस तरह से की है—'योग को करने वाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये (प्रथमं मनः) जब अपने मन को पहले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब (सविता) परमेश्वर उनकी (धियम्) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। (अग्नेर्ज्यो०) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं। (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है' (पृ० १७८). किन्तु यह भी सही नहीं है, क्योंकि मन्त्र में नियुक्त करता है, इस अर्थ के बोधक पद नहीं है। अर्थात् सविता और अग्नि ये दोनों शब्द परमात्मा के ही बोधक हैं, तब यह बताना पड़ेगा कि इन दोनों शब्दों का अलग अलग प्रयोग क्यों किया गया है? मन्त्र में योगी के लक्षण बताने का भी कोई प्रसंग नहीं है।

सिद्धान्तरीत्या तु—'प्रजापतिः प्रथमां चितिमपश्यत् । प्रजापतिरेव तस्या आर्षेयम् । देवा द्वितीयां चितिमपश्यन् । देवा एव तस्या आर्षेयम् । इन्द्राग्नी च विश्वकर्मा च तृतीयां चितिमपश्यंस्त एव तस्या आर्षेयम् । परमेष्ठी पञ्चमीं चितिमपश्यत् परमेष्ठ्येव तस्या आर्षेयम्' (श० ६।२।३।१०), 'अष्टागृहीतं जुहोति सन्ततमुद्गृह्णन् युञ्जानः' (का० श्रौ० सू० १६।२।७) गार्हपत्ये घृतं संस्कृत्य जुहूं स्रुवं च सम्मृज्य स्रुच्यष्टागृहीतमाज्यमाहवनीये परिस्तरणसमिदाधानपूर्वकं सन्ततमविच्छिन्नधारया स्रुचमूर्ध्वां कुर्वन्नध्वर्युर्जुहोति युञ्जान इत्यष्टकण्डिकाभिः । सान्तत्यं च स्वाहाकारपर्यन्तम् । आद्या अनुष्टुप् । तृतीयः सप्ताक्षरः । सविता ऋषिर्देवोऽपि सविता ।

मन्त्रार्थस्तु—सविता सर्वस्य प्रेरकः प्रजापतिः, अग्नेर्ज्योतिः चीयमानस्य वह्नेः सम्बन्धि तेजो निचाय्य पञ्चपशुषु प्रविष्टमुपलभ्य, यद्वा सफलानां कर्मणां साधनभूतं निश्चित्य पृथिव्याः पशुशरीरान्वितायाः भूमेः सकाशाद् अध्याभरत् अध्याहृतवान् इष्टकाः कृत्वाग्निं चितवानित्यर्थः । अत्र सवितृशब्देन प्रजापतिरुक्तः । 'प्रजापतिर्वै युञ्जानः' (श० ६।३।१।१२) । कीदृशः ? प्रथममग्न्यारम्भे मनो युञ्जानः समादधानः, धियो बुद्धीरिष्टकादिविषयाणि ज्ञानानि तत्त्वाय तनित्वा विस्तार्य मनसालोच्य बुद्ध्यावधार्य प्रथममग्न्यारम्भे मनो युञ्जानः समादधानः । तनु विस्तारे, क्त्वाप्रत्यये आगमविधेरनित्यत्वादिडभावः । 'अनुदात्तोपदेश' (पा० सू० ६।४।३७) इति नलोपे, 'क्त्वो यक्' (पा० सू० ७।१।४७) इति क्त्वाप्रत्ययान्तस्य यगागमे तत्त्वायेति रूपसिद्धिः । एतेन तत्त्वातत्त्वज्ञानायेत्यर्थस्त्ववैदिक एव । अग्निशब्दोऽपि क्वचिद् अग्निपरोऽपि लोकादिव्रजज्ञोऽग्निस्तदङ्गभूतोऽन्यः, 'ब्रह्म जज्ञं देवमी उपं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति' (का० सं० १।१७) इति श्रुतेः । न चायमपि परमेश्वर एवेति भ्रमितव्यम्, यमस्य सकाशादग्निविद्याप्राप्त्यनन्तरमपि ब्रह्मविद्यायै नचिकेतसा वरान्तरवरण-

हमारे मत में तो प्रजापति ने प्रथम चिति को देखा, अतः इसका ऋषि प्रजापति है । द्वितीय चिति को देवताओं ने देखा, अतः वे ही उसके ऋषि हैं । इन्द्राग्नि और विश्वकर्मा ने तृतीय चिति को देखा, अतः वे ही उसके ऋषि हैं । परमेष्ठी ने पाचवीं चिति को देखा, अतः परमेष्ठी ही उसके ऋषि हैं । 'अष्टागृहीतं जुहोति' इत्यादि कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार 'युञ्जान' इत्यादि आठ कण्डिकाओं से घृत की अविच्छिन्न धारा से आहुति दी जाती है । पहले गार्हपत्य अग्नि में घृत को तपाया जाता है, जुहू और स्रुव का भी संस्कार किया जाता है । स्रुचा में आठ बार घृत लिया जाता है और परिस्तरण, समिदाधान आदि करने के बाद स्रुचा को ऊंचा उठाकर अध्वर्यु उक्त आठ कण्डिकाओं से अग्नि में निरन्तर घृत को धारा डालता है । स्वाहाकार पर्यन्त इन कण्डिकाओं का निरन्तर पाठ किया जाता है । प्रथम कण्डिका में त्रिष्टुप् छन्द है । तृतीय पाद सात अक्षर का है । सविता इसके ऋषि हैं और देवता भी ।

मन्त्र का अर्थ यह है—सविता अर्थात् सब प्राणियों के प्रेरक प्रजापति ने चीयमान वह्निसंबन्धी तेज को चुनकर, अर्थात् पांच प्रकार के पशुओं में छिपे हुए तेज को प्राप्त कर, अथवा अग्निसंबन्धी तेज ही सभी सफल कर्मों का साधक है, ऐसा निश्चय करके पशु का शरीर धारण किये हुए पृथिवी में से उसको निकाल लिया, अर्थात् पृथिवी में उपलब्ध मिट्टी से इष्टकाओं का निर्माण कर उसमें अग्नि का चयन कर लिया । यहाँ सवितृ पद प्रजापति का वाचक है । शतपथ ब्राह्मण इसमें प्रमाण है । यह प्रजापति कैसा है ? पहले ही अग्नि का आधान करते समय अपनी सारी बुद्धि को मनोयोगपूर्वक इष्टका (ईंट) के निर्माण में ही, इन इष्टकाओं का निर्माण किस प्रकार होगा, इसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म जानकारी में ही लगा देता है । तत्त्वाय पद का अर्थ है तनित्वा । 'तनु विस्तारे' धातु से क्त्वा प्रत्यय होने के बाद आगम विधि की अनित्यता के कारण 'इट्' का आगम नहीं होगा । 'अनुदात्तोपदेश०' इत्यादि से नकार का लोप हो जाने पर क्त्वा प्रत्ययान्त 'तत्वा' शब्द के आगे 'यक्' का आगम होने पर 'तत्त्वाय' पद बनता है । इस तरह से 'तत्त्वाय' पद का अर्थ 'तत्त्व ज्ञान के लिये' यह करना वैदिक प्रक्रिया की अनभिज्ञता का ही सूचक है । अग्नि शब्द भी कहीं सामान्य अग्नि का बोधक होते हुए भी यहाँ पृथिवी आदि लोकों में प्रविष्ट हो जाने वाला अग्नि उससे भिन्न ही है, जो कि प्रजापति का ही अंगभूत है । काठक श्रुति में इसी अग्निविद्या की जानकारी मिल जाने पर शान्ति की प्राप्ति की बात कही गई है । यह अग्नि भी परमेश्वर का ही स्वरूप है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । क्योंकि यम के पास से अग्निविद्या के प्राप्त हो जाने के बाद भी ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के

श्रवणात्। 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥' (कठोप० १।१।२०) इति श्रुतेः। न चैष वरो जीवविद्यापर एव, 'देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ। वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥' (कठोप० १।१।२२) इति तस्य दुर्ज्ञेयत्वोक्तेः। यमेन च बहुधा प्रलोभ्यैतस्माद्वरादन्यं याचितुम्, अन्ततः 'नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः' (कठोप० १।१।२५) इत्युक्तम्। तस्य च सुस्थिरां तद्विषयिणीं जिज्ञासां दृष्ट्वा तं प्रशस्य वैराग्योपदेशपूर्वकं तत्पराङ्मुखान्निन्दित्वा तत्त्वस्य दुर्ज्ञेयतां चोक्त्वा ब्रह्मविद्यामुपदिदेश। तस्मादग्निविद्याया भिन्नैव ब्रह्मविद्या, तत्प्रतिपादन एव वल्लीनां पर्यवसानात्।

युक्तेन मनसेति। सवितुर्देवस्य प्रजापतेः सवे प्रसवे आज्ञायां वर्तमाना वयं यजमाना युक्तेनेन्द्रियेभ्यो नियमितेनैकाग्रेण मनसा स्वर्ग्याय स्वर्गसाधकाय कर्मणे शक्त्या यथाशक्त्या प्रयतामह इत्यर्थः।

यत्तु—'सर्वे मनुष्या एवमिच्छेयुः स्वर्ग्याय मोक्षसुखाय शक्त्या योगबलोन्नत्या देवस्य स्वप्रकाशस्यानन्दप्रदस्य सवितुः सर्वान्तर्यामिणः परमेश्वरस्य सवेऽनन्तैश्वर्ये युक्तेन मनसा योगयुक्तेन शुद्धेनान्तःकरणेन वयं सदोपयुञ्जीमहि' (पृ० १७७) इति, तत्तु आपातरमणीयम्, अप्रासङ्गिकत्वात्, पूर्वोक्तश्रुतिसूत्रानुसारेण कर्मकाण्डपरा इमाः कण्डिकाः। तस्मान्नात्र स्वर्गशब्दो मोक्षपरः, कर्मणा नित्यमोक्षानुपपत्तेः। अनित्यो मोक्ष इति दयानन्दीयमतस्याश्रौतत्वात्। सर्वे मनुष्या इच्छेयुरित्यपि वेदार्थबाह्य एव, मन्त्रे तादृशपदाभावात्। इच्छायाः कृत्यविषयत्वेन विधानानुपपत्तेश्च। शक्त्येत्यस्य योगबलोन्नत्येति

लिये नचिकेता के द्वारा दूसरे वर को प्राप्त करने की बात वहीं बताई गई है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अग्निविद्या और ब्रह्मविद्या दोनों पृथक्-पृथक् हैं, अतः अग्नि को ही ब्रह्म नहीं कहा जा सकता। नचिकेता ने यम से तृतीय वर इस तरह से माँगा है कि मनुष्यों को यह संदेह बना रहता है कि मरने के बाद यह आत्मा रहती है या नहीं? आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये कि मैं इस सन्देह को अपने मन से निकाल सकूँ। यह वर जीवविद्या का बोधक नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहीं पर स्पष्ट कर दिया गया है कि इसी प्रश्न को पहले यमराज के सामने देवताओं ने भी उपस्थित किया था, किन्तु यम ने उनको इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। नचिकेता कहते हैं कि इस विषय को समझाने वाला आपके जैसा मिलना कठिन है और इस वर से बढ़कर और कोई वर भी नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट ही प्रतीत होता है, जो प्रश्न पूछा गया है, वह बड़ा गूढ़, दुर्ज्ञेय है। इसीलिये यमराज अनेक प्रलोभन प्रश्नकर्ता के सामने रखकर उससे उसका मन हटाना चाहते हैं और अन्ततः कहते हैं कि ये नचिकेता, तुम मृत्युसंबन्धी प्रश्न मत करो। जब यमराज ने जान लिया कि नचिकेता को अपनी मूल जिज्ञासा से हटाना कठिन है, ता उन्होंने इसके लिये उसकी प्रशंसा की और वैराग्य का उपदेश करते हुए, ब्रह्मतत्त्व से पराङ्मुख लोगों की निन्दा करते हुए तथा ब्रह्मतत्त्व की दुर्ज्ञेयता, दुर्बोधता को बताते हुए अन्त में ब्रह्मविद्या का यथाविधि उपदेश किया। इस तरह से अग्निविद्या से ब्रह्मविद्या स्पष्ट रूप से भिन्न है और काठक उपनिषद् की आगे की वल्लियों में उसी का प्रतिपादन किया गया है।

'युक्तेन मनसा' इस तृतीय मन्त्र का अर्थ है—सविता देव प्रजापति की आज्ञा में रहने वाले हम यजमान इन्द्रियों के विषयों से मन को एकाग्र कर स्वर्ग के साधक यज्ञ-याग आदि कर्मों के यथाशक्ति अनुष्ठान में लग जाने के लिये प्रयत्नशील हैं।

दयानन्द ने इसका अर्थ यह किया है—'सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि (वयम्) हम लोग (स्वर्ग्याय) मोक्ष सुख के लिये (शक्त्या) यथा योग्य सामर्थ्य के बल से, (देवस्य०) परमेश्वर की सृष्टि में उपासना योग करके अपने आत्मा को शुद्ध करें कि जिससे (युक्तेन मनसा) अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों' (पृ० १७८) यह अर्थ भी ऊपर-ऊपर से देखने में ही अच्छा मालूम पड़ता है, क्योंकि प्रकरण से या प्रकृत प्रसंग से इसका कुछ भी संबन्ध नहीं है। पूर्वोक्त श्रुति और सूत्रों के अनुसार ये कण्डिकाएँ कर्मकाण्ड का निरूपण करती हैं। इसलिये इनमें स्वर्ग शब्द मोक्ष का वाचक नहीं माना जा सकता, क्योंकि कर्म से नित्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्ष को भी अनित्य मानने वाला दयानन्द का मत श्रुतिसंमत नहीं है। सब मनुष्य इच्छा करें, यह अर्थ भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि मन्त्र में इस तरह के अर्थ के बोधक पद विद्यमान नहीं हैं। इच्छा तो कृति का विषय नहीं हो सकती, अतः इच्छा का विधान नहीं किया जा सकता। शक्तिपद का अर्थ यौगिक बल से प्राप्त सामर्थ्य कैसे किया

कथमर्थः ? देवस्य सवितुरित्यनयोः पदयोरपि पूर्वोक्तश्रुतिप्रमाणेन प्रजापतिरूपो देव एवार्थः । सवेऽनन्तैश्वर्ये सदोपयुञ्जीमहीति निरर्थकमेव वाक्यम्, कर्मणोऽनिर्देशात् । हिन्दीभाषामयं व्याख्यानं तु सर्वथा बाह्यं न मन्त्रं न वा तत्संस्कृतव्याख्यानं स्पृशति । अहो जितं धाष्ट्र्येन ।

युक्त्वाय अग्निकर्मणि युक्त्वा ये ते सविता तान् प्रसिद्धान् देवान् संयोज्य प्रसुवाति प्रसौति अभ्यनुजानाति प्रेरयतीत्यर्थः । कीदृशान् देवान् ? धिया बुद्ध्या कर्मणा वा दीव्यमानं स्वर्गं यतो गच्छतः । शत्रन्तस्येणो यत इति रूपम् । धियोपासनात्मकेन ज्ञानेन शुभकर्मणा वा द्योतमानं स्वर्गं गच्छतो देवान् । पुनः कीदृशम् ? बृहत् महत्, ज्योतिरादित्यात्मकमात्मत्वेन करिष्यतः संस्कुर्वतः । आत्मत्वबुद्ध्या हि संस्क्रियते सविता, आदित्यदृष्ट्या दृष्ट्यूपवत् । कीदृशः सविता ? धिया ज्ञानकर्मणा स्वर्गं गच्छतो देवान् अग्निकर्मणि सविता प्रेरयिता । प्रजापतिस्तान् देवान् इन्द्रियविशेषान् युक्त्वा विषयेभ्यो नियम्य प्रसुवाति प्रकर्षेणाग्निकर्मणि प्रेरयति, कीदृशान् ? स्वर्गप्राप्त्यै समुद्यतान्, तथा बृहत् प्रौढं ज्योतिः, चीयमानस्याग्नेस्तेजो धिया दिवं करिष्यतः, तत्तदिष्टकादिविषयया प्रज्ञया द्योतमानं कर्तुमुद्यमान् देवान् सविता प्रसौति अभ्यनुजानाति प्रेरयतीत्यर्थः ।

यत्तु—'एवं योगाभ्यासेन कृतेन स्वर्यतः शुद्धभावप्रेम्णा देवानुपासकान् योगिनः सविता युक्त्वाय तदात्मनस्तु प्रकाशकरणेन सम्यग्युक्त्वा स्वकृपाधारवृत्त्या अनन्तप्रकाशं दिवं दिव्यं स्वरूपं प्रसुवाति प्रकाशयति । तथा करिष्यतः सत्यभक्ति करिष्यमाणान् सविता परमकारुणिकोऽन्तर्यामीश्वरो मोक्षदाने सदानन्दयति' (पृ० १७७) इति, तत्तु तन्मनोविलसितमेव, मन्त्राक्षराननुगमात् । 'स्वर्यत' इत्यस्य 'शुद्धप्रेम्णा' इति विवरणं शाब्दिकजगदुपहासास्पदमेव । देवानित्यस्यो-

जा सकता है ? 'देवस्य सवितुः' इन दोनों पदों का भी पूर्वोक्त श्रुति के आधार पर प्रजापति रूप देव ही अर्थ हो सकता है । सव का अर्थ अनन्त ऐश्वर्य कर भगवान् के अनन्त ऐश्वर्य में अपने मन को नियोजित करे, ऐसा कहना भी निरर्थक है, क्योंकि यहाँ कर्म का निर्देश नहीं किया गया है । हिन्दी भाषा में की गई व्याख्या तो और भी विलक्षण है । उसका न तो मन्त्र से ही कोई संबन्ध है और न उनकी अपनी संस्कृत व्याख्या से ही । इससे बढ़कर और क्या धृष्टता हो सकती है ?

(युक्त्वाय) सविता देवता उन प्रसिद्ध देवताओं का अग्निकार्य में अर्थात् यज्ञ-यागादि कर्मों में लगाकर उनमें निरन्तर इसी तरह की प्रेरणा भरता रहता है । ये देवगण अपनी बुद्धि अथवा कर्मों से प्रकाशमान स्वर्ग को प्राप्त करते हैं । इण् धातु से शतृ प्रत्यय होने पर 'यत्' शब्द बनता है । उपासनात्मक ज्ञान अथवा शुभ कर्मों के कारण प्रकाशमान स्वर्ग को जाते हुए देवताओं को अग्नि इन कार्यों में लगाता है । ये देवगण आदित्य स्वरूप महान् ज्योति को अपने ही स्वरूप की तरह संस्कृत करते रहते हैं । सविता देवता को अपना ही स्वरूप मानकर ये उसका संस्कार करते रहते हैं, जैसे कि यज्ञीय यूप को आदित्य मानकर उसका संस्कार किया जाता है । यह सविता कैसा है ? अपनी बुद्धि के व्यापार से स्वर्ग को जाने वाले देवताओं को अग्निकार्य यज्ञ-यागादि में लगाता है । प्रजापति इन देवताओं को, इन्द्रिय विशेषों को बाह्य विषयों की ओर बढ़ने से रोक कर मनोयोगपूर्वक उनको यज्ञ-यागादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त करता है । कैसे इन्द्रिय विशेषों को ? जो कि स्वर्ग की प्राप्ति के लिये उद्यत हैं तथा चीयमान प्रौढ़ अग्नि की ज्योति से यहीं स्वर्ग को उतार लाने के लिये प्रयत्नशील हैं । उन-उन इष्टका आदि के निर्माण में प्रवीण बुद्धि से चीयमान अग्नि को प्रज्वलित करने में लगे हुए उन-उन इन्द्रिय विशेषों के अधिष्ठाताओं को यह सविता प्रेरणा और अनुमति प्रदान करता है ।

'इसी प्रकार वह परमेश्वर देव भी (देवान्) उपासकों को (स्वर्यतो धिया दिवम्) अत्यन्त सुख को देकर (सविता) उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को करता है, तथा (युक्त्वाय) वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको युक्त करके उनके आत्माओं में (बृहज्ज्योतिः) बड़े प्रकाश को प्रकट करता है और (सविता) जो सब जगत् का पिता है, वही (प्रसुवा०) उन उपासकों को ज्ञान और आनन्द आदि से परिपूर्ण कर देता है । परन्तु (करिष्यतः) जो मनुष्य सत्य, प्रेम, शक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे, उन्हीं उपासकों को परम कृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्षसुख देकर सदा के लिये आनन्दयुक्त कर देगा' (पृ० १७८) यह व्याख्या मनोविलासमात्र है । मन्त्र के अक्षरों से इसका कोई संबन्ध नहीं है । 'स्वर्यतः' शब्द का अर्थ 'शुद्ध प्रेम से'

पासकान् योगिन इत्यपि निर्मूलम्। 'धिया' इत्यस्य 'स्वकृपाधारवृत्त्या' इत्यपि चिन्त्यम्। तथा 'करिष्यत सत्यभक्तिं करिष्यमाणान्' इत्यत्रापि सत्यभक्तेराक्षेपेऽध्याहारे वा किं मूलम् ? 'वृहज्ज्योतिः' इत्युपस्थितं कर्म परित्यज्य अनुपस्थितकल्पनायाः कथं न जिह्लेतीत्याश्चर्यम्।

युजे वामिति। अत्र वामितिपदेन दम्पती यजमानौ विवक्षितौ। हे पत्नीयजमानौ, वां युवयोरर्थे नमोभिरन्नैरिदानीं हुतैर्घृतैः सहितं पूर्व्यं पुरातनैर्महर्षिभिरनुष्ठितं ब्रह्म परिवृढम् अग्निचयनाख्यं कर्माहं युजे युनज्मि। ब्रह्मशब्देन प्राणा ऋषयो ब्राह्मणाश्च वक्तुं शक्यन्ते। तेन वामर्थे पूर्व्यं पुरातनं ब्रह्म ब्राह्मणजातिं नमोभिरन्नैर्युजे योजयामि, अन्नैर्ब्राह्मणान् तर्पयामि। किमर्थं सूरेः पण्डितस्य यज़मानस्य श्लोको यशो व्येतु विविधं लोकद्वयं व्याप्नोतु। तत्र दृष्टान्तः—पथ्या इव, पथोऽनपेताः पथ्याः। यज्ञभागप्रवृत्ता आहुतिर्यथा लोकद्वयं व्याप्नोति, एवं यजमानश्लोक उभयलोकसञ्चारी। किञ्च, अमृतस्य मरणधर्मरहितस्य प्रजापतेः परमात्मनः सर्वे देवा यजमानस्य श्लोकं शृण्वन्तु। ये दिव्यानि दिवि भवानि स्थानानि आतस्थुः अधिष्ठितवन्तः, तेऽस्य कीर्तिं शृण्वन्तु।

दयानन्दस्तु वामिति पदेनोपासनाप्रदोपासनाग्रहीतारौ प्रति परमेश्वरः प्रतिजानीत इत्यर्थयते। केन शब्देनैतज्ज्ञायते परमेश्वरोऽत्र वक्तेति च नोत्तरयति। सिद्धान्ते तु चयनयागसम्वन्धिन इमे मन्त्रा इति पारम्पर्येण श्रुत्या सूत्रेण च ज्ञायते। त्वद्दृष्ट्योपासनाप्रदाता परमेश्वर एव, तेनैव तदुपदेशात्। तेनोपदेशप्रदोऽन्य इति त्वन्धविश्वासित्वस्यैव पोषणम्। ब्रह्म पूर्व्यं यदा तौ पुरातनं सनातनं ब्रह्म नमोभिः स्थिरेण सत्यभावेन नमस्कारैरुपासाते, तदा तद् ब्रह्म ताभ्यामाशीर्वादं ददाति। 'यदा तौ' इतीमे पदे वेदबाह्ये त्वत्कपोलकल्पिते एव। अमृतस्य मोक्षस्वरूपस्य परमेश्वरस्य पुत्राः तदाज्ञानुष्ठातारस्तत्सेवकाः सन्ति। त एव दिव्यानि धामानि सुखस्वरूपाणि स्थानानि, आतस्थुः आसमन्तात् स्थिरा भवन्ति। अत्रापि

करना शाब्दिक जगत् में शास्त्रों की दृष्टि से हँसी का ही विषय हो सकता है। देव पद का अर्थ 'उपासक योगी' करना भी सर्वथा निराधार है। 'धिया' पद का अर्थ 'अपनी कृपा पर आधारित वृत्ति से' करना भी विचारणीय है। तथा 'करिष्यतः' पद के साथ सत्य भक्ति का आक्षेप अथवा अध्याहार किस प्रमाण के आधार पर किया गया है ? 'बृहज्ज्योतिः' इस मन्त्र में विद्यमान कर्म को छोड़कर अनुपस्थित की कल्पना करने में व्याख्याता को किसी संकोच का अनुभव नहीं होता, यह आश्चर्य की ही बात है।

'युजे वां॰' इत्यादि मन्त्र में भी 'वाम्' यह पद यजमान दम्पती का बोधक है। हे सपत्नीक यजमान, तुम दोनों के कल्याण के लिये मैं अन्न और घृत आदि की आहुति देकर पुरातन महर्षियों के द्वारा अनुष्ठित अग्निचयन नामक कर्म को संपन्न करता हूं। ब्रह्म शब्द यहाँ प्राण, ऋषि और ब्राह्मणों का भी बोधक हो सकता है। इसलिये यह भी अर्थ हो सकता है कि मैं तुम दोनों के लिये पुरातन ब्राह्मणों को अन्न से संपन्न कर दे रहा हूं, अर्थात् उनके लिये अन्न देकर उनको संतुष्ट कर रहा हूं। किस लिये ? इस लिये कि हमारे सुबुद्ध यजमान का यश सब तरफ, इस लोक और परलोक में सब जगह फैल जाय। इसमें दृष्टान्त देते हैं—जैसे यज्ञ के अंश के रूप में दी गई आहुति दोनों लोकों में व्याप्त हो जाती है, उसी तरह हमारे यजमान का यश भी सब जगह व्याप्त हो जाय। अपि च, मरणधर्म से रहित अमृतमय प्रजापति परमात्मा से सभी देवगण हमारे यजमान के यश की वृद्धि की कामना करें। जिन देवताओं ने दिव्य स्थानों को प्राप्त किया है, उन पर अधिकार स्थापित कर लिया है, वे भी हमारे यजमान की कीर्ति को सुनें।

इसके विपरीत दयानन्द 'वाम्' पद का अर्थ उपासना का उपदेश देने वाले और ग्रहण करने वाले दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है, ऐसा करते हैं। वे इसका कोई उत्तर नहीं देते कि उनको यह कैसे मालूम हुआ कि इस मन्त्र के वक्ता परमेश्वर हैं। हमारे मत में तो यह बात परम्परा से तथा श्रुति और सूत्र से भी ज्ञात होती है कि ये मन्त्र चयनयाग से संबद्ध हैं। आपके मत से उपासना को समझाने वाले, उसका उपदेश करने वाले परमेश्वर ही हैं। तब उससे भिन्न कोई उपदेश करने वाला माना जाय, यह तो अन्धविश्वास को बल देना ही हुआ। 'जब तुम (ब्रह्म पूर्व्यम्) सनातन ब्रह्म की (नमोभिः) सत्यप्रेमभाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कार आदि से उपासना करोगे, तब मैं तुमको आशीर्वाद दूंगा' (पृ॰ १७८-१७९) इस व्याख्या में भी 'यदा तौ' ये दोनों पद मन्त्र में नहीं हैं, आपकी कल्पना ने इनको पैदा किया है। 'अमृत अर्थात् मोक्षस्वरूप परमेश्वर के पुत्र तुम्हारी आज्ञा के पालन करने वाले सेवक हैं। वे ही दिव्यधाम को, सुखस्वरूप स्थानों को सब ओर से घेर कर रहते हैं' (पृ॰ १७९) यहाँ भी 'अमृतस्य

'अमृतस्य पुत्राः' (ऋ० सं० १०।१३।१) इत्यस्य अमृतस्याज्ञानुष्ठातार इति कथमर्थः ? शृण्वन्तु प्रख्यातं जानन्तु, इत्यादिकमपि क्लिष्टकल्पनमेव, 'उपासनां कुर्वाणौ वां युवां द्वौ प्रतीश्वरोऽहं युजे कृपया समवेतो भवामि' इत्यपि निराधारम्, मन्त्राक्षरार्थाननुगमात् । अनया रीत्या कस्यापि मन्त्रस्य स्वेच्छया स्वाभीष्टपरतया व्याख्यानेन सर्वत्र व्याख्यानेऽतिप्रसक्तिरेव स्यात् । वेद एवेश्वरस्य संविधानम्, तदनुसरणेन तदनुग्रहोऽतिलङ्घनेन निग्रहश्च भवति, ततः पृथग् एवं करिष्यसि तदाहमाशीर्वादं दास्यामीति कल्पनं बालजल्पनमेव ।

'सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथग् धीरा देवेषु सुम्नया' (वा० सं० १२।६७) इत्ययं मन्त्रोऽपि न तदर्थसाधकः । अत्र 'दक्षिणामग्निश्रोणिमपरेण तिष्ठन् युज्यमानमभिमन्त्रयते सीरा युञ्जन्तीति' (का० श्रौ० सू० १६।२।११) इति सूत्रानुसारेण चितेर्दक्षिणश्रोणेः पश्चिमे तिष्ठन्नध्वर्युः प्रतिप्रस्थात्रोत्तरां स पूर्वे षड्भिर्वा दशभिर्वा चतुर्विंशत्या वा वृषैर्युज्यमानमौदुम्बरं हलं द्वाभ्यामभिमन्त्रयते । सीरदेवत्ये सोमपुत्रबुधदृष्टे द्वे गायत्रीत्रिष्टुभौ । मन्त्रार्थस्तु—धीरा धीमन्तोऽग्निक्षेत्रविदः कवयः कृषिकर्माभिज्ञाः सीरा सीराणि हलानि युञ्जन्ति वृषैर्योजयन्ति, युगा युगानि पृथग् नाना वितन्वते विस्तारयन्ति, देवेषु सुम्नया देवानां सुखं कर्तुम्, 'सुम्नया' इत्यत्र चतुर्थ्या यादेशः । धीरा कवय इत्यत्र बहुवचनं पूजार्थम्, तयोरेकत्वात् । युगानि तु वृषभेदेन बहून्येव सन्ति ।

दयानन्दस्तु—हे कर्षकाः, सीराः सीराणि हलानि युनक्त युङ्क्त योजयत । 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति थस्य तनादेशे श्नसोरल्लोपाभावे युनक्तेति रूपम् । युगा युगानि वितनुध्वं सम्यग्योक्त्रादिभिर्विस्तारयत । ततः कृते कर्षणेन संस्कृते इह अस्मिन् योनौ क्षेत्रे बीजं व्रीह्यादिकं यूयं गिरा 'या ओषधीः' (वा० सं० १२।७५) इत्यादिकया वेदमन्त्रवाचा चकाराच्चमसेन च वपत, 'वाग् वै गीरन्नं श्रुष्टिः' (श० ७।२।२।५) इति श्रुतेः । श्रुष्टिः व्रीह्यादिकान्नजातिः सभरा असत, भरणं भरः पुष्टिः, भृजोऽसुन्, भरसा फलपुष्पादिभिः सह वर्तमाना, भरसाऽन्नव्रातेन वर्तत इति वा सभरा पुष्टा अस्तु ।

पुत्राः' इनका अर्थ अमृत को आज्ञा का पालन करने वाले कैसे होगा ? 'शृण्वन्तु' पद का अर्थ उस प्रख्यात परमात्मा को जानो, यह कहना भी एक कठिन कल्पना है। 'उपासना करने वाले तुम लोगों के प्रति मैं ईश्वर को कृपा से युक्त हो जाता हूं' यह अर्थ भी निराधार है, क्योंकि मन्त्र में विद्यमान अक्षरों से इसका कोई संबन्ध नहीं है। इस तरह से मनमानी पद्धति से किसी भी मन्त्र का कुछ भी अर्थ करने से सब जगह अव्यवस्था ही फैल जायगी। वेद ही ईश्वर का संविधान है। उसके अनुसार चलने से ईश्वर का अनुग्रह और विपरीत चलने पर ईश्वर का कोप होगा। इस अवस्था में ऐसा करोगे तब मैं तुमको आशीर्वाद दूंगा, इस तरह की कल्पना बच्चों की सी बात मानी जायगी।

'सीरा युञ्जन्ति०' इत्यादि मन्त्र भी उसके मत का समर्थक नहीं है। कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार चिति के दक्षिण कटि भाग के पश्चिम में अवस्थित होकर अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता के उत्तर में छः, दस अथवा चौबीस बैलों से जोते जानेवाले उदुम्बर वृक्ष से बनाये हल को इन दो मन्त्रों से अभिमन्त्रित करता है। इनका देवता सीर है और सोमपुत्र बुध इनका ऋषि है। गायत्री और त्रिष्टुप् क्रमशः इन दोनों का छन्द है। मन्त्र का अर्थ यह है—बुद्धिमान्, अग्नि के स्थान को जानने वाले, कृषिकर्म में निपुण लोग हलों के साथ बैलों को जोतते हैं। जब वे बैलों को इनमें जोतते हैं तो हलों को भांति भांति के जुओं से सजाते हैं, जिससे कि देवताओं का कल्याण हो, उनको सुख प्राप्त हो। 'सुम्नया' पद में चतुर्थी के अर्थ में 'या' का आदेश हुआ है। 'धीराः, कवयः' इन पदों में बहुवचन आदर का प्रदर्शन करने के लिये है। बैलों की भिन्नता पर जुएं भी भिन्न भिन्न बहुत से हो ही जायंगे।

'युनक्त सीरा०' इत्यादि द्वितीय मन्त्र का अर्थ यह है—हे कृषकों, तुम लोग हल जोतो। 'तप्तनप्तनथनाश्च' इस पाणिनि सूत्र से थ के स्थान में तन आदेश होने पर और अकार को लोप न होने से 'युनक्त' यह रूप बनता है। जुओं का विस्तार करो, अर्थात् बैलों की जोड़ियों को बढाओ। ऐसा करने के बाद कर्षण आदि संस्कारों से परिष्कृत इस खेत में व्रीहि आदि के बीजों को बोवो। ऐसा करते समय तुम वेदमन्त्रों का उच्चारण करो और चमस की सहायता से बीजों का वपन करो। ऋषि अर्थात् व्रीहि प्रभृति नाना प्रकार की अन्न की जातियां तुम्हारे खेतों में फल-पुष्प आदि से भरपूर हों। पके हुए अनाज को तुम लोग शीघ्र ही काट कर अपने

पक्वं धान्यं नेदीय इत् अतिशयेनान्तिकं नेदीय‥‥‥इद् एव, अन्तिकतममेवमत्यल्पकालमेव पक्वं धान्यं सृण्यो लवनसाधनेन दात्रेण, लूनमिति शेषः। दात्रेण छिन्नं सन् नः अस्मान् आ इयात् आगच्छतु। अल्पकालेन पक्वमन्नमस्मद्गृहमागच्छत्वित्यर्थः। यद्वा सृण्यो दात्रान् पक्वमोषधमा इयात्। दात्रैर्लूनं पक्वमोषधं नेदीयो निकटतमं यथा स्यात्तथा वपतेत्यर्थः।

मन्त्रोच्चारणपूर्वकाणि कर्माणि फलपर्यवसायीनि भवन्ति, मन्त्राश्च कर्मस्मारका भवन्ति। यद्यपि ब्राह्मणैरपि द्रव्यदेवतादयः स्मर्तुं शक्यन्ते, तथापि नियमादृष्टोत्पत्तये मन्त्रैरेव द्रव्यदेवते स्मर्तव्ये इति मीमांसकराद्धान्तः। तेन ब्राह्मणसूत्ररीत्या पूर्वोक्त एव मन्त्रार्थः।

यत्तु— कवयः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा धीरा ध्यानवन्तो योगिनः सीरा योगाभ्यासोपासनार्थं नाड़ी युञ्जन्ति, अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति। युगानि योगयुक्तानि कर्माणि वितन्वते विस्तारयन्ति। य एवं कुर्वन्ति ते देवेषु विद्वत्सु सुम्नया सुखेनैव स्थित्वा परमानन्दं युञ्जन्ति प्राप्नुवन्ति' (पृ० १७९) इति, तत्तु सर्वथाऽप्रासङ्गिकमसङ्गतं च, युञ्जन्तीति क्रियापदेन योगावगममूलकभ्रान्तिनिवन्धनत्वात्। सीरापदं हलेषु प्रसिद्धम्, तदपहायाप्रसिद्धनाड्यर्थकत्वे वीजाभावाच्च। युञ्जन्तीति क्रियापदस्यावृत्तौ मानाभावाच्च। सीरेति योगेन शान्ताकाङ्क्षत्वाच्च। परमानन्दमित्यध्याहारोऽपि सति गत्यन्तरे दोष एव।

युनक्त इत्यत्र तूक्तम्—'हे योगिनो यूयं योगाभ्यासोपासनेन परमात्मयोगेनानन्दं युनक्त तद्युक्ता भवत, एवं मोक्षसुखं सदा वितनुध्वम्। तथा युगा उपासनायुक्तानि कर्माणि प्राणादित्ययुक्ता नाडीः युनक्त उपासनकर्मणि योजयत। एवं कृते योनौ अन्तःकरणे शुद्धे कृते सति परमात्मयोनौ कारणे आत्मनि वपते ह वीजम्, उपासनाविधानेन योगोपासनया विज्ञानाख्यं वीजं वपत तथा गिरा च वेदवाण्या विद्यया युनक्त युक्ता भवत। किञ्च, क्षिप्रं शीघ्रं योगफलं नो नेदीयः

घर ले जाओ और हमारे घर भी पहुंचा दो। थोड़े से ही समय में पक कर यह अनाज हमारे घर भी पहुंच जाय। अथवा दराती से काटा हुआ अन्न शीघ्र घर पहुंच जाय, इसके लिये तुम उसको बहुत पास पास में बो दो।

जो कार्य मन्त्र का उच्चारण करते हुए किया जाता है, उसका फल शीघ्र प्राप्त होता है। ये मन्त्र यज्ञ में सम्पन्न होने वाले विविध क्रियाकलापों का स्मरण कराते हैं। यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थ भी द्रव्य, देवता इत्यादि का स्मरण कराने में समर्थ हैं, तो भी नियमतः अदृष्ट की उत्पत्ति के लिये मन्त्रों से ही द्रव्य और देवता का भी स्मरण किया जाता है। ऐसा मीमांसकों का सिद्धान्त है। इस तरह से ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों के अनुसार दयानन्द के द्वारा उद्धृत उक्त दो मन्त्रों का यही ठीक अर्थ है।

दयानन्द ने प्रथम मन्त्र का अर्थ किया है—'(कवयः) जो विद्वान् योगी लोग और (धीराः) ध्यान करने वाले हैं, वे (सीरा युञ्जुन्ति पृथक्) यथा योग्य विभाग से नाडियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं। (युगा) जो योगयुक्त कर्मों में तत्पर रहते हैं, (वितन्वते) अपने ज्ञान और आनन्द को सदा विस्तृत करते हैं (देवेषु सुम्नया) वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होकर परमानन्द को प्राप्त होते हैं' (पृ० १८०)। यह अर्थ सर्वथा अप्रासंगिक तथा असंगत है। 'युञ्जन्ति' इस क्रियावाचक पद के कारण व्याख्याकार को यहां योग की प्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया है, इस प्रकार की भ्रान्ति हो जाने से यह सब गड़बड़-घोटाला कर दिया गया है। 'सीर' पद हल के अर्थ में प्रसिद्ध है। उसको छोड़कर उसका अप्रसिद्ध नाडी अर्थ करने का कोई आधारभूत प्रमाण विद्यमान नहीं है। 'युञ्जन्ति' इस क्रिया पद की आवृत्ति करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। उसकी आकांक्षा तो 'सीर' पद के साथ उसका संवन्ध हो जाने से ही शान्त हो जाती है। जब ऊपर बताई पद्धति से मन्त्र का अर्थ बिना किसी पद का अध्याहार किये ही हो जाता है, तो 'परमानन्द' पद का अध्याहार करना भी दोष ही माना जायगा।

'युनक्त०' इत्यादि द्वितीय मन्त्र का अर्थ दयानन्द ने इस तरह से किया है—'हे उपासक लोगों, तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाडियों में ध्यान करके परमानन्द को (वितनुध्वम्) विस्तार करो। ऐसा करने से (कृते योनौ) योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्द स्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके उसमें उपासना विधान से विज्ञान रूप (वीजं) बीज को (वपत) अच्छी प्रकार से बोवो। तथा (गिरा च) पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी करके परमात्मा में (युनक्त) युक्त होकर

नोऽस्मान् नेदीयः अतिशयेन निकटं परमेश्वरानुग्रहेण असत अस्तु। कथंभूतं फलं पक्वं शुद्धानन्दसिद्धम् एयात् प्राप्नुयात्। इत्सृण्यः उपासनायुक्ता योगवृत्तयः सृण्यः सर्वक्लेशहन्त्र्य एव भवन्तु। इदिति निश्चयार्थः पुनः कथम्भूतास्ताः ? समनाः शस्त्रादिपुष्टा एव। एताभिर्वृत्तिभिः परमात्मयोगं वितनुध्वम्। अत्र प्रमाणं श्रुष्टीति। क्षिप्रनामसु श्रुष्टीति (नि० ६।१२) 'द्विविधा सृष्टिर्भवति भर्ता हन्ता च' (नि० १३।५) (पृ० १७९)। वस्तुतस्त्वयमर्थो महीधरार्थमनुसृत्य पदानामर्थान्तरमुपवर्ण्य कृतः, अतो यत्किञ्चिज्जल्पनमेव। तच्च प्रकरणसूत्रादिविरुद्धत्वादुपेक्ष्यम्।

आनन्दं युनक्त इति न विधानमर्हति, फलस्याविधेयत्वात्। मोक्षसुखस्य विस्तारोऽपि न सम्भवति, तथात्वे परिणामित्वेन तस्यानित्यत्वापातात्। सीराः प्राणादित्ययुक्ता नाडीश्चोपासनाकर्मणि युक्त इत्यत्र युनक्तेति क्रियापदस्यावृत्तिश्चिन्त्या, पूर्वान्वियेन शान्ताकाङ्क्षत्वात्। उपासनाकर्मणीत्यध्याहारोऽपि निर्मूलः। सीरा नाड्यस्ताभिः प्राणादित्ययोग इत्यर्थः। सीरा युनक्तेत्याभ्यां पदाभ्यां कथमयमर्थ आयाति ? कथं च तद्योग इति क्व केनोक्तम् ? इत्यपि नोक्तम्। यस्य क्षेत्रस्य संस्कारो भवति तत्रैव बीजमुप्यते। त्वया त्वन्तःकरणे शुद्धे कृते योनौ कारणे आत्मनि बीजवपनमुच्यते, उपासनाविधानेन योगोपासनाया बीजं विज्ञानाख्यबीजवपनमुच्यते। यः खलु परमानन्दरूपः कारणात्मास्ति, तत्र विज्ञानबीजवपनस्य किं प्रयोजनमिति न ज्ञायते। किञ्च, यो बीजं वपति योगफलं तन्निकटे युज्यते। अत्र तु सम्बोधनार्हा योगिनः कर्मबीजं वपन्ति। फलं तु सम्बोधकानां निकटमायातीति चित्रम्। पक्वमित्यस्य शुद्धानन्दसिद्धम्। शुद्धानन्दस्तु साध्यः प्राप्यो वा ? तस्य साधनत्वं कथम् ? तेन साध्यं फलं च किम् ? तस्मान्निरर्थकं धूलिप्रक्षेपप्रायमेव तद् व्याख्यानम्। हिन्दीभाष्यं तु संस्कृतव्याख्यानादपि भ्रष्टतरम्।

उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्ति करो। तथा (श्रुष्टिः) तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासना योग के फल को शीघ्र प्राप्त करें। और (नो नेदीयः) हमको ईश्वर के अनुग्रह से वह फल निकट हो (असत्) प्राप्त हो। कैसा वह फल है ? (पक्वम्) जो परिपक्व शुद्ध परम आनन्द से भरा हुआ और मोक्षसुख को प्राप्त कराने वाला है। (इत्सृण्यः) अर्थात् यह उपासना योगवृत्ति कैसी है ? सब क्लेशों को नाश करने वाली और (सभराः) सब शान्ति आदि गुणों से पूर्ण है। उन उपासना योगवृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो' (पृ० १८०)। वास्तव में यह अर्थ महीधर के द्वारा किये गये अर्थ के आधार पर किया गया है, किन्तु साथ ही पदों को तोड़-मरोड़ कर कुछ बदल भी दिया गया है। इसलिये यह सब उल-जलूल बकवास से भरा हुआ है। प्रस्तुत प्रकरण, ब्राह्मण, सूत्र आदि ग्रन्थों के विरुद्ध होने से दयानन्द कृत यह अर्थ सर्वथा उपेक्षणीय है।

आनन्द का विधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि फल विधेय नहीं होता। मोक्षसुख का विस्तार हो भी नहीं सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर उसकी परिणामशीलता के कारण उसमें अनित्यता आ जायगी। सीर पद का अर्थ प्राण और सूर्य से संचालित हो रही नाडियाँ करना और उनका उपासना के साथ योग करने के लिये 'युनक्त' इस क्रिया पद को आवृत्ति करना भी गलत है, क्योंकि उसका तो पहले ही योगी पद से आपने संबन्ध कर दिया है। 'उपासना कर्म' पद का अध्याहार करना भी निराधार ही है। सीरा वे नाडियाँ हैं, जिनका प्राण और आदित्य से योग होता है। यह अर्थ 'सीरा युनक्त' इन दो पदों से कैसे निकल सकता है और उनका योग कैसे होगा ? ऐसा किसने कहाँ कहा है, यह भी आपने बताया नहीं है। जिस क्षेत्र का संस्कार किया जाता है, जिसको जोता जाता है, वहीं बीज भी बोया जाता है। आप संस्कार तो करते हैं अन्तःकरण का और बीज वपन करते हैं अन्तःकरण के कारणभूत आत्मा में। उपासना के विधान के द्वारा योगोपासना का विज्ञान नामक बीज उस आत्मा में बोया जाता है। आत्मा तो परमानन्द स्वरूप है। सबके कारणभूत परमानन्दात्मक इस आत्मा में ज्ञान बीज को बोने का प्रयोजन क्या है, यह मालूम नहीं होता। अपि च, जो बीज बोता है, उसके योग का फल उसी के पास रहना चाहिये। आपके मत से संबोधनीय योगी कर्मरूपी बीज को बोते हैं और उनका फल संबोधक के पास आ जाता है, यह बड़ी विचित्र बात है। पक्व का अर्थ शुद्धानन्द से सिद्ध किया गया है। यह शुद्ध आनन्द साध्य है या प्राप्य ? वह साधन कैसे हो सकता है ? उससे साध्य फल क्या होगा ? इस तरह से विचार करने पर दयानन्द की यह व्याख्या सीधे आँखों में धूल झोंकने के समान है। हिन्दी भाष्य तो संस्कृत भाष्य से भी अधिक भ्रष्ट है।

'अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु, मे। योगं प्रपद्ये क्षेमं च क्षेमं प्रपद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु' (अथर्व० १९।८।२), 'भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम्। नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत। अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन' (अथर्व० १२।८।२-४)। तत्र प्रथममन्त्रार्थः—अष्टाविंशानि प्रत्येकमष्टाविंशतेः संख्यापूरणानि। पूरणार्थेऽट्प्रत्यये कृते रूपसिद्धिः। कृत्तिकेत्यादीनि भरण्यन्तानि नक्षत्राणि शिवानि, सुखदर्शनानि, शग्मानि सुखप्रदानि तानि सर्वाणि नक्षत्राणि मे मदर्थं फलं दातुं सहयोगं सहभावमैकमत्यं भजन्तु। नक्षत्राणामैकमत्येन सहयोगादहं योगमलब्धलाभं प्रपद्ये पूर्वमलब्धवस्तूनि नक्षत्रप्रसादाल्लभेय, क्षेमं लब्धवस्तुरक्षणात्मकं च प्रपद्ये। पूर्वमलब्धवस्तूनि नक्षत्रप्रसादाल्लभेय, क्षेमं लब्धवस्तुरक्षणात्मकं च प्रपद्ये। क्षेमस्यान्वाचयशिष्टत्वेनाप्राधान्यशङ्कामपाकर्तुं तत्प्राधान्येन चाह—क्षेमं च प्रपद्ये योगं च। एतेनोभयोरपि प्राधान्यं सिद्ध्यति। नमोऽस्त्वहोरात्राभ्यामहनि रात्रौ च नक्षत्राणां सञ्चरणात् तयोरानुकूल्यकरणम्।

दयानन्दस्तु—'हे परमेश्वर, कृपयाऽष्टाविंशति शिवानि कल्याणानि कल्याणकारकाणि सन्तु। अर्थाद् दशेन्द्रियाणि दश प्राणा मनो बुद्धिश्चित्ताहङ्कारविद्यास्वभावशरीरबलं चेति। शग्मानि सुखकारकाणि भूत्वा दिवसे च रात्रौ चोपासनव्यवहारं योगं मे मम भजन्तु सेवन्ताम्। तथा भवत्कृपयाहं योगं प्रपद्ये क्षेमं च प्रपद्ये। यतोऽस्माकं सहायकारी भवान् भवेदेतदर्थं सततं नमोऽस्तु' (पृ० १८०-१८१)। अत्र प्रकृतपरित्यागाप्रकृतप्रक्रिये स्पष्टं दृश्येते। 'चित्राणि साकं दिवि रोचनानि' (अथर्व० १९।७।१), 'यानि नक्षत्राणि' (अथर्व० १९।८।१) इति पूर्वसूक्तेऽस्मिश्च सूक्ते प्रथममन्त्रे स्पष्टतया नक्षत्राणि प्रकृतानि। तान्यपहाय प्राणेन्द्रियादिभिरष्टाविंशतिसंख्यापूरणमप्रकृतप्रक्रियैव। हे परमेश्वरेति सम्बोधनमपि निराधारम्। मन्त्रस्यायमेवार्थं इति कथं प्रत्ययः? चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैरात्मान्तरात्मपरमात्मज्ञानात्मभिरप्येतत्संख्यापूर्तिसम्भवात्। एवमनेकधा तत्पूर्तिः सम्भवति। उपासनाव्यवहारयोगं ज्ञानयोगमष्टाङ्गयोगं भजन्त्वित्यत्रापि विनिगमनाभाव एव।

इसके आगे दयानन्द ने 'अष्टाविंशति' इत्यादि चार मन्त्र उधृत किये हैं। उनमें से पहले मन्त्र का अर्थ यह है—एक-एक मिलकर अट्ठाईस संख्या को पूरा करने वाले कृत्तिका से लेकर भरिणी पर्यन्त नक्षत्र सुख का दर्शन कराने वाले और सुख को देने वाले हैं। ये सब नक्षत्र मेरे कल्याण के लिये, मुझे शुभ फल देने के लिये परस्पर एक मत हो जाय। इन नक्षत्रों का यदि इस विषय में ऐकमत्य हो जाय तो मैं इनके सहयोग से अलब्ध लाभ को प्राप्त कर सकता हूँ, ऐसी वस्तुओं को प्राप्त कर सकता हूँ, जो कि इससे पहले मुझे नहीं मिली थी, जिनको कि योग के नाम से जाना जाता है। योग ही नहीं, उसके साथ मैं क्षेम को भी प्राप्त करूं। प्राप्त वस्तु की रक्षा को क्षेम कहा जाता है। योग के बाद ही क्षेम की स्थिति हो सकती है। इसलिये योग प्रधान और क्षेम अप्रधान है. इस तरह की आशंका हो सकती है। इसको दूर करने के लिते श्रुति में योग और क्षेम दोनों की समप्रधानता बताई गई है। नक्षत्रगण दिन और रात्रि में निरन्तर संचरणशील रहते हैं, अतः उनकी अनुकूलता के लिये उनको दिन-रात नमन किया जाता है।

दयानन्द ने इसका अर्थ यह किया है—'(अष्टाविंशानि शिवानि०) हे परमैश्वर्य युक्त मंगलमय परमेश्वर, आपकी कृपा से मुझे उपासना योग प्राप्त हो तथा उससे मुझे सुख भी मिले। इसी प्रकार आपका कृपा से दस इन्द्रिय, दस प्राण, मन बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल ये अट्ठाईस सब कल्याणों में प्रवृत्त होकर उपासना योग को सदा सेवन करें तथा हम भी (योगं०) उस योगं के द्वारा (क्षेमं) रक्षा को और रक्षा से योग को प्राप्त हुआ चाहते हैं। इसलिये हम लोग रात-दिन आपको नमस्कार करते हैं' (पृ० १८३) इस अर्थ में प्रकृत विषय का परित्याग और अप्रकृत विषय का ग्रहण स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इसके पूर्व के सूक्त में और इस सूत्र के भी प्रथम मन्त्र में स्पष्ट ही नक्षत्रों का ग्रहण किया गया है। उनको छोड़कर प्राण, इन्द्रिय आदि से अट्ठाईस संख्या पूरी करना अप्रासंगिक ही माना जायगा। हे परमेश्वर, यह संबोधन भी मन्त्र में न होने से निराधार है। मन्त्र का आपका किया अर्थ ही कैसे सही माना जायगा? अट्ठाईस संख्या की पूर्ति चौबीस तत्त्वों के साथ आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा को मिलाने से भी सकता है। इसी तरह से इसकी पूर्ति के और भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। उपासना योग, ज्ञान योग और अष्टांग योग में से वह किस योग का सेवन करे, इसमें भी आपके पास कोई निश्चायक हेतु विद्यमान नही है।

यत्तु केनचिदुक्तम्—'शब्दार्थपरिच्छेदे उपक्रमोपसंहारावपि प्रमाणम्, तयोरनुरोधेन शब्दार्थस्य सङ्कोचविकासौ भवतः। तथा सति पूर्वसूक्ते नामनिर्देशपुरःसरं निर्दिष्टानि नक्षत्राणि ज्योतिःशास्त्रोक्तान्येव नक्षत्राणि ग्राह्याण्यन्यानि वेति सन्देहे 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' (मी० सू० ३।३।२) इति न्यायेनैतत्सूक्तस्य प्रथमयर्चा पूर्वसूक्तोक्तानां नक्षत्राणां भवत्यर्थनिश्चयः। तथा च यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु चेत्येवं षट्सु स्थानेषु स्थितिरुक्ता। इहैव च 'यानि' पदस्य द्विः पाठात् यानि दिवि नक्षत्राणि यान्यन्तरिक्षे यान्यप्सु इत्येवं प्रतिस्थानं नक्षत्राणां योजना करणीयेति द्योत्यते। एवं कृत्वा ज्योतिःशास्त्रोक्तान्येव नक्षत्राणि ग्राह्याणीत्याग्रहस्तु मन्त्रविरोधादेव प्रत्युक्तः। तत्र मन्त्रे नगशब्दो वृक्षार्थे प्रसिद्धः। मनुष्यशरीरं चोपनिषदि 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' (क० उ० २।३।१)। तेनैव मनुष्यशरीरेन्द्रियादीन्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि गृहीतानि ग्रन्थकृता। 'प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति' इत्यत्रापि यथास्थानं नक्षत्राणामनुरोधेन चन्द्रमसोऽपि वैविध्यं कल्पनीयमिति' (पृ० १८१ टि०) इति तूपहासास्पदम्। 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' (मी० सू० ३।३।२) इति न्यायस्य भिन्नविषयत्वात्। तस्य त्वयमभिप्रायः—'उच्चैर्ऋचा' क्रियते, उपांशु यजुषा, उच्चैः साम्ना' इत्यनुरोधेन ऋगादिमन्त्रेष्वेवोच्चैस्त्वादि कर्तव्यम्, अथवा 'अग्नेर्ऋग्वेदोऽजायत, वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात् सामवेदः' इत्युपक्रमानुरोधेन मन्त्रब्राह्मणात्मकेष्वृग्वेदादिषु उच्चैस्त्वादि कर्त्तव्यम्? तत्र सिद्धान्तः—वेदप्राये वाक्ये वेदोपक्रमे निगम्यमाना इमे शब्दाः। तस्मादृग्वेदादिष्वेव तद्विधानमित्यादिकम्। तद्रीत्या त्वत्रोपक्रमे ज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धानां नक्षत्राणां श्रवणाद् उपसंहारगतेऽष्टाविंशानीति वाक्ये तेषामेव ग्रहणं न्याय्यम्। न च 'यानि नक्षत्राणि' इत्यनेनैवोपक्रम इति मन्तव्यम्, तस्यापि सन्दिग्धत्वात्; असन्दिग्धेन सन्दिग्धनिर्णयो भवति न सन्दिग्धेन। तस्मान्नामनिर्देशकानां मन्त्राणामेवोपक्रमत्वं बोध्यम्। तेन तदनुरोधेनैव नक्षत्राणि

यहां टिप्पणीकार यह कहते हैं—शब्दार्थ का निर्णय करने में उपक्रम और उपसंहार भी प्रमाण माने जाते हैं। इनके अनुसार शब्दार्थ का संकोच अथवा विस्तार किया जाता है। इस स्थिति में पूर्व सूक्त में नाम का निर्देश कर बताये गये नक्षत्र ज्योतिःशास्त्र में प्रसिद्ध नक्षत्र ही हैं या उनसे भिन्न कोई नक्षत्र यहां गृहीत होंगे? ऐसा सन्देह उठने पर 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' इति मीमांसा सूत्र के अनुसार इस सूक्त की प्रथम ऋचा से पूर्व सूक्त में वर्णित नक्षत्र पद के अर्थ का निश्चय किया जाना चाहिये। यहां इन नक्षत्रों की स्वर्ग, अन्तरिक्ष, जल, भूमि, नग और दिशा इन छः स्थानों में स्थिति बताई गई है। यहीं 'यानि' पद का दो बार पाठ किया गया है। इससे यानि पद का प्रत्येक से संबन्ध किया जायगा। अर्थात् जो नक्षत्र स्वर्ग में हैं, जो अन्तरिक्ष में हैं, जो जल में हैं, इस तरह से प्रत्येक स्थान के साथ उनका संबन्ध माना जायगा। ज्योतिःशास्त्र के नक्षत्रों का इन सब स्थानों के साथ संबन्ध नहीं होता। अतः इस मन्त्र में वे ही नक्षत्र गृहीत होंगे, जो कि ज्योतिःशास्त्र में प्रसिद्ध हैं, यह आग्रह मन्त्र का विरोध होने से छोड़ देना पड़ेगा। मन्त्र में नगों में भी नक्षत्र की स्थिति बताई गई है। नग शब्द का लोक में वृक्ष भी अर्थ होता है। मनुष्य के शरीर को उपनिषदों में ऊपर जड़ और नीचे शाखा-पत्र वाला वृक्ष बताया है। इसीलिये ग्रन्थकार ने मनुष्य के शरीर, इन्द्रिय आदि का यहां पर अट्ठाईस नक्षत्रों के रूप में उपादान किया है। 'प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति' यहां भी नक्षत्रों के अनुरोध से चन्द्रमा की विविधता की कल्पना की जाती है' (पृ० १८१ टि०), किन्तु यह सारा कथन भी उपहासास्पद है। 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' इस न्याय की प्रवृत्ति का यहां कोई प्रसंग नहीं है। उसका वास्तविक अभिप्राय यह है—उच्चैर्ऋचा०' इत्यादि श्रुति से ऋक् और साम का ऊँचे स्वर से और यजु का धीमे स्वर से उच्चारण करने का विधान है। यहां सन्देह उठता है कि केवल ऋगादि मन्त्रों के लिये ही यह विधान है अथवा 'अग्नेर्ऋग्वेद०' इत्यादि उपक्रम श्रुति के अनुरोध से मन्त्रब्राह्मणात्मक समस्त वेदभाग का इस तरह से उच्चारण हो सकता है? इस स्थिति में उक्त मीमांसा सूत्र से यह सिद्धान्त स्थिर किया गया गया है कि उपक्रम में सामान्यतः वेद की चर्चा होने से ऋग्वेदादि के मन्त्रब्राह्मणात्मक समस्त भाग का एक ही पद्धति से उच्चारण किया जाना चाहिये। इस पद्धति से तो उपक्रम में ज्योतिःशास्त्र में प्रसिद्ध नक्षत्रों का वर्णन होने से उपसंहार में भी अष्टाविंशति संख्यावाचक पद से इन नक्षत्रों का ही ग्रहण होना चाहिये। 'यानि नक्षत्राणि' इसको उपक्रम वाक्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह भी संदिग्ध ही रह जाता है कि नक्षत्र पद से किसका ग्रहण किया जायगा। असंदिग्ध वस्तु के सहारे ही संदिग्ध वस्तु का निर्णय हो सकता है, संदिग्ध के सहारे से नहीं। इसलिये नाम का निर्देश करने वाले मन्त्रों से ही विषय का उपक्रम मानना पड़ेगा तथा

निर्णेतव्यानि। 'यानि' इत्यस्योपक्रमत्वाभ्युपगमेऽपि यानीति सर्वनाम्नः प्रकृतपरामर्शकत्वेन ततः पूर्वोक्तानां नक्षत्राणामेव ग्रहणं युक्तम्। नगपदेनाभिधया वृक्षाः पर्वता वा गृह्यन्ते। शरीरस्य गमनशीलत्वान्न तत्र नगपदलब्धतापि। 'एषोऽश्वत्थः सनातनः' (कठोप० २।३।१) इति वचनमपि तत्र न सङ्गतम्, तस्य क्षणभङ्गुरत्वेन सनातनत्वानुपपत्तेः।

किञ्च, दिव्यन्तरिक्षेऽप्सु भूमौ न पृथक् पृथग् नक्षत्राणि भवन्ति। नहीन्द्रियाणि नक्षत्राणि, तत्र मानाभावात्, प्रसिद्धिविरोधाच्च। तस्मादत्र सायणोक्त एवार्थो युक्तः। स च यथा—दिवि द्युलोके अन्तरिक्षे मध्यमलोके अप्सु नगेषु पर्वतेषु दिक्षु च यानि नक्षत्राणि दृश्यन्ते, द्युलोके देवतात्मना अन्तरिक्षे तेजोमण्डलाकारेण अप्सु प्रतिबिम्बेन उदये चास्तमये काले च भूमिसमानप्रदेशकाले पर्वतसमानप्रदेशे च प्रतीतेर्भूमिः पर्वताश्चाधिकरणत्वेनोच्यन्ते। दिक्षु प्रतीतिस्तु स्फुटा। चन्द्रमा यानि नक्षत्राणि प्रकल्पयन् सम्भोगसमर्थानि कुर्वन् प्रोत्साहयन् एति प्राप्नोति, एतानि सर्वाणि नक्षत्राणि मम शिवानि भवन्तु।

भूयानरात्या इति। हे इन्द्र, त्वम् अरात्या दानशक्तिप्रतिबन्धिकायाः शक्तेः, भूयान् श्रेष्ठः। इन्द्राण्याः पतिः स्वामी त्वमसि। विभुः व्यापकः प्रभावेण सर्वव्यापी प्रभुः प्रभविष्णुश्चासि। परमात्मस्वरूपे इन्द्रे निरुपचरितमेव विभुत्वं प्रभुत्वं च त्वा त्वां वयमधिकारिण उपास्महे, ते तुभ्यं नमोऽस्तु। पश्यत भक्त्या आलोकयतो माऽस्मान् पश्य अनुग्रहदृष्ट्या पश्य। पश्यतेऽनुग्रहदृष्ट्या पश्यते ते तुभ्यं नमोऽस्तु। अन्नाद्येन अद्येन भक्षणीयेन अन्नेन व्रीहियवादिना यशसा कीर्त्या तेजसा पराभिभवित्रा प्रभावेण ब्राह्मणवर्चसेन ब्राह्मणोचितेन तेजसा तद्दानेन मा पश्य अनुगृहाणेत्यर्थः। (सायणभाष्ययुक्ते पुस्तके १३ काण्डे, ८ सूक्ते, २, ३, ४ मन्त्राः)।

यत्तु—'हे इन्द्र परमेश्वर, त्वं शच्याः प्रजाया वाण्याः कर्मणो वा पतिरसि तथा भूयान् सर्वशक्तित्वाद् बहुरसि। तथा अरात्याः शत्रुभूताया वाण्याः, तादृशस्य कर्मणो वा शत्रुरर्थाद् भूयान् निवारकोऽसि। विभुः व्यापकः, प्रभुः समर्थश्चासि।

उन्हीं के अनुरोध से नक्षत्रों का निर्णय करना पड़ेगा। 'यानि' इससे भी विषय का उपक्रम माना सकता है, किन्तु 'यानि' पद तो सर्वनाम है। सर्वनाम प्रकृत विषय को ही पकड़ता है, अतः पूर्वोक्त नक्षत्रों को ही इससे समझा जा सकता है। नग पद से अभिधा वृत्ति से पहाड़ अथवा वृक्ष का ग्रहण होता है। शरीर तो गमनशील हैं, अतः उसको नग (न चलने वाला) नहीं कहा जा सकता। इसको सनातन अश्वत्थ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शरीर तो क्षणभंगुर है, इसको सनातन कैसे कह सकते हैं।

अपि च स्वर्ग, अन्तरिक्ष, जल, भूमि आदि में अलग-अलग नक्षत्र नहीं होते। इन्द्रियों को भी नक्षत्र नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण तो है ही नहीं, साथ में प्रसिद्धि का विरोध भी है। इसलिये यहाँ सायणसंमत अर्थ ही ठीक माना जा सकता है। सायण का अर्थ यह है—द्युलोक में, अन्तरिक्ष नाम के मध्यम लोक में, जल में, पर्वतों में दिशाओं में जो नक्षत्र दिखाई पड़ते हैं, द्युलोक में देवता के रूप में, अन्तरिक्ष में तेजोमण्डल के आकार में, जल में प्रतिबिम्ब के रूप में, उदय और अस्त के समय भूमि से लगे हुए प्रदेश में और पर्वत से लगे प्रदेश में ये नक्षत्र दिखाई पड़ते हैं, अतः भूमि और पर्वत को भी इनका अधिकरण माना जाता है। दिशाओं में तो इन नक्षत्रों की प्रतीति स्पष्ट ही होती है। चन्द्रमा ने जिन नक्षत्रों की कल्पना की, उनको संभोग के लिये अनुकूल समर्थन देता हुआ उनके पास पहुँचता है, वे सब नक्षत्र मेरे लिये मंगलमय हों।

'भूयानरात्या०' इत्यादि मन्त्रों का अर्थ यह है—हे इन्द्र, तुम दान शक्ति की प्रतिबन्धक शक्ति से अधिक बलवान् हो। तुम इन्द्राणी के पति हो। अपने प्रभाव के कारण तुम सर्वव्यापी और सबके प्रभु, सब कार्य करने में समर्थ हो। परमात्मा स्वरूप इन्द्र का प्रभुत्व और विभुत्व स्वाभाविक ही है। हम अधिकारी गण तुम्हारी उपासना करते हैं, तुमको नमस्कार करते हैं। भक्तिपूर्वक तुम्हारी आराधना करने वाले हम लोगों को तुम अनुग्रह दृष्टि, कृपादृष्टि से देखो। कृपा दृष्टि से हमारा अवलोकन करने वाले तुमको हम पुनः नमस्कार करते हैं। भक्षणयोग्य व्रीहि, यव आदि अन्न सम्पत्ति से, यश से, दूसरों को अभिभूत कर देने वाले प्रभाव से, ब्राह्मणोचित तेज से, अर्थात् इन सब गुणों को हमारे लिये देकर आप हम पर अनुग्रह कीजिये।

दयानन्द ने इनका अर्थ इस तरह से किया है—'हे जगदीश्वर, आप (शच्याः) सब प्रजा, वाणी और कर्म इन तीनों के पति हैं। तथा (भूयान्) सर्व शक्तिमान् आदि विशेषणों से युक्त हैं। जिससे आप (अरात्याः) अर्थात् दुष्ट प्रजा, मिथ्यारूप वाणी

अनेन प्रकारेण त्वां वयं सदैवोपास्महे तवैवोपासनं कुर्महे। वाचो नामसु शचीति पठितम् तथा कर्मणां नामसु (नि० १।११; नि० ३।९)। ईश्वरो वदति—यूयमुपासनारीत्या सदैव मां पश्यत। सम्यग्ज्ञात्वा चरत। उपासक एवं जानीयाद् वदेच्च—हे परमेश्वर, अनन्तविद्यायुक्त नमस्तेऽस्तु तुभ्यमस्माकं सततं नमोऽस्ति।

कस्मै प्रयोजनाय अन्नाद्येन अन्नादिराज्यैश्वर्येण यशसा सर्वोत्तमकर्मणामनुष्ठानोद्भूतसत्यकीर्त्या तेजसा निर्दीनतया प्रागल्भ्येण ब्राह्म····पूर्णया विद्यया सह वर्तमानान् हे परमेश्वर, त्वं कृपया सदैव पश्य सम्प्रेक्षस्वैतदर्थं वयं त्वां सदैवोपास्महे (पृ० १८१) इति।

तदपि यत्किञ्चित्, 'शत्रु' रिति मूले पदाभावात्। शचीपतित्वेनेन्द्रस्य प्रसिद्धत्वाद् अत्र शचीन्द्राण्येव। ईश्वरोऽभिवदतीत्यत्रापि बीजं वक्तव्यम्। न चेश्वरकर्तृकत्वाद् ईश्वरो वदतीति युक्तमेवेति वाच्यम्; तथात्वे सर्वत्रैव मन्त्रेषु तस्यैव वक्तृत्वापानात्। अतः क्वचिदीश्वरो वदति क्वचिदाचार्यो वदति क्वचित् प्रजा वदतीत्यादिकल्पनानां निष्प्रमाणत्वात्। पश्यतेत्यस्याचरणार्थकत्वे बीजं वक्तव्यम्। द्वितीय 'पश्यत' पदस्याव्याख्यातत्वाच्च।

'अम्भो' इत्यादीनां त्वयमर्थः—अम्भः अमः ज्ञानं महो भर्गः सहो बलं त्वोपास्महे। अम्भः गङ्गादिरूपं सोमं वा अरुणं लोहितं रुद्रं रजतं रजतनिभं कर्पूरगौरं शिवं रजः रञ्जकं स्वप्रभया सहः भक्तापराधसोढारं त्वामुपास्महे। उरुः बहुधा विराजमानः पृथुः व्यापकः सुभूः स्वयंभूः भूत्वा वसति सर्वं यस्मिन् स भुवः। तत्तद्रूपेण त्वामुपास्महे। प्रथः प्रसिद्धः वरः श्रेष्ठः व्यचो विविधरूपेण पूज्यः लोकः फलस्वरूपः, लोक्यते दृश्यते भुज्यत इति लोकः फलरूपः, सर्वतः सम्प्लुतोदकसमुद्रस्थानीये ब्रह्मणि वापीकूपतडागस्थानीयानामन्यफलानामन्तर्भावात् (अथर्व० १३।४।५-६)।

और पापकर्मों को विनाश करने में अत्यन्त समर्थ हैं। आपको (विभुः) सबमें व्यापक और (प्रभुः) सब सामर्थ्य वाले जानकर हम लोग आपकी उपासना करते हैं। वाणी, कर्म और प्रजा के अर्थ में शची शब्द का निघण्टु में पाठ किया गया है। (नमस्ते अस्तु०) अर्थात् परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि हे उपासक लोगों, तुम मुझे प्रेमभाव से अपनी आत्मा में सदा देखते रहो तथा मेरी आज्ञा और वेदविद्या को यथावत् जानकर उसी रीति से आचरण करो। फिर मनुष्य भी ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर, आप कृपादृष्टि से (पश्य मा) हमको सदा देखिये। इसलिये हमलोग आपको सदा नमस्कार करते हैं।

किस प्रयोजन के लिये? (अन्नाद्येन) अन्न आदि ऐश्वर्य (यशसा) सबसे उत्तम कीर्ति, (तेजसा) भय से रहित, (ब्राह्मणवर्चसेन) और सम्पूर्ण विद्या से युक्त हमलोगों को करके आप कृपापूर्वक हमको देखिये। इसीलिये हम लोग सदा आपकी उपासना करते हैं (पृ० १८२-१८३)

यह कथन भी कुछ नहीं है, क्योंकि मूल मन्त्र में 'शत्रु' पद है ही नहीं। शची के पति के रूप में इन्द्र ही प्रसिद्ध है तब शची का अर्थ इन्द्राणी ही हो सकता है। ईश्वर कहता है, इसमें कुछ तो प्रमाण बताना ही पड़ेगा। ईश्वर मन्त्रों का कर्ता है, अतः ईश्वर का कहना उचित ही माना जायगा, ऐसा कहने पर तो सभी मन्त्रों का वही वक्ता हो जायगा। इसलिये कहीं ईश्वर कहता है, कहीं आचार्य कहता है और कहीं प्रजा कहती है, इस तरह की अनेक तरह की कल्पनाएँ सब निराधार ही मानी जायगी। 'पश्यत' पद का अर्थ 'आचरण करो' यह कैसा होगा, इसमें भी हेतु बताना पड़ेगा। इस मन्त्र में पश्यत शब्द दो बार आया है, दूसरे का आपने कोई अर्थ नहीं किया है।

'अम्भः' इत्यादि चार मन्त्रों का भी दयानन्द कृत अर्थ गलत है। उनका सही अर्थ इस प्रकार से होगा—जल के समान व्यापक, ज्ञानस्वरूप, तेजोमय और बल के आगार के रूप में हम आपको उपासना करते हैं। गंगा आदि नदियों के पवित्र जल के रूप में अथवा सोम के रूप में लोहित वर्ण रजत के समान और कपूर के समान धवल, गौरवर्ण शिव की, जो कि अपने स्वभाव के कारण भक्तों के सभी अपराधों को क्षमा कर देते हैं, हम उपासना करते हैं। अनेक रूपों में विराजमान, व्यापक और स्वयंभू होकर आप सब प्राणियों में बसते हैं, उन सभी रूपों में हम आपकी उपासना करते हैं। आप सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं, सबसे श्रेष्ठ हैं, विविध रूपों में पूज्य हैं, फलस्वरूप हैं। लोक शब्द का अर्थ फल इस तरह से होगा कि यह लोक सबके द्वारा देखा जाता है, उपभुक्त होता है। इसके लिये इसको फलस्वरूप माना जाता है। चारों तरफ पानी से लबालब भरे समुद्र के समान ब्रह्म की उपलब्धि हो जाने पर

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि ॥' (ऋ० सं० १।६।१)। इन्द्रोऽत्र स्तूयते। इन्द्रो हि परमैश्वर्ययुक्तः। परमैश्वर्यं चाग्निवाय्वादित्यनक्षत्ररूपेणावस्थानात्। तदुच्यते—ब्रध्नमादित्यरूपेणावस्थितम्, अरुषमहिंसकाग्निरूपेणावस्थितम्, क्रोधरहिताग्निरूपेण वाऽवस्थितम्, चरन्तं वायुरूपेण सर्वतः प्रसरन्तम्, परितस्थुषः सर्वतोऽवस्थिताः प्राणिनः युञ्जन्ति, स्वकीये कर्मणि देवतात्वेन सम्बद्धं कुर्वन्ति। तस्यैवेन्द्रस्य मूर्तिविशेषभूतानि रोचना रोचनानि दिवि द्युलोके रोचन्ते प्रकाशन्त इति सायणोक्त एवार्थो युक्तः, 'युञ्जन्ति ब्रध्नमित्याह—असौ वा आदित्यो ब्रध्नः। आदित्यमेवास्मै युनक्ति अग्निनेवास्मै युनक्ति''''चरन्तमित्याह—वायुर्वै चरन्। परितस्थुष इत्याह—इमानेवास्मै लोकान् युनक्ति। रोचन्ते रोचना दिवीत्याह—नक्षत्राणि वै रोचना दिवि नक्षत्राण्येवास्मै रोचयन्ति' (तै० ब्रा० ३।९।४।१-२) इति श्रुतेः।

'यच्च—'योगिनो विद्वांसः परितस्थुषः सर्वान् जगत्पदार्थान् मनुष्यान् वा चरन्तं ज्ञातारं सर्वज्ञमरुषं करुणामयं ब्रध्नं विद्यायोगाभ्यासप्रेमभरेण सर्वानन्दवर्धकम्, महान्तं परमेश्वरमात्मना सह युञ्जन्ति रोचना आनन्दे प्रकाशिता रुचिमया भूत्वा द्योतनात्मके सर्वप्रकाशके परमेश्वरे रोचन्ते परमानन्दयोगेन प्रकाशन्ते' (पृ० १८३) इति, तन्न सङ्गतम्, अक्षराननुगतत्वात्। चरन्तं जानन्तमिति युक्तम्। न ज्ञातारमिति, शतुर्योगात्। यजुर्वेदे तु युनक्त्येन युञ्जन्ति ब्रध्नमिति (का० २।५।११) रीत्या अश्वे रथे युञ्जन्ति तस्थुषः तस्थिवांसः कर्मार्थमृत्विजः। अश्वोऽर्चादित्यरूपेण स्तूयते। ब्रध्नमादित्यमरुषा रोषरहितम्। चरतेर्ज्ञानार्थकत्वेन ज्ञेयार्थस्य प्रपञ्चस्याक्षेपलभ्यत्वेन परितस्थुष इत्यस्याल्पप्रयोजनत्वात्। तस्माद्योगिन इत्यनाहृत्य प्रथमान्तत्वेन परितस्थिवांस इति परिणमय्य युञ्जन्तीति कर्तृत्वेन योगोपपत्तेः। ब्रध्नमिति पदमादित्यमेवाह, पूर्वोक्ततैत्तिरीयश्रुतेः। रोचना आनन्दे प्रकाशिता इत्यप्यसङ्गतम्, आनन्दस्यानाधारत्वाद् अप्रकाशकत्वाच्च। महान्तं परमेश्वरं कथमात्मना

वापी, कूप, तडाग आदि के समान छोटे छोटे फलों का समावेश अपने आप हो जाता है। इसलिये उस परमफल स्वरूप शिव की हम उपासना करते हैं।

आगे चलकर दयानन्द ने इसी प्रसंग में 'युञ्जन्ति ब्रध्न०' इत्यादि मन्त्र को उद्धृत किया है। वस्तुतः इस मन्त्र में इन्द्र की स्तुति की गई है। इन्द्र परम ऐश्वर्यशाली देवता है। यह इसलिये है कि इन्द्र ही अग्नि, वायु, आदित्य, नक्षत्र आदि के रूप में अवस्थित है। इसी बात को इस मन्त्र में बताया गया है। ब्रह्म अर्थात् आदित्य के रूप में अवस्थित, अहिंसक अग्नि के रूप में अवस्थित अथवा क्रोधरहित अग्नि के रूप में अवस्थित, वायु के रूप में चारों तरफ फैले हुए इन्द्र को चारों तरफ रहने वाले प्राणी अपने सब कार्यों में देवता के रूप में संबद्ध कर लेते हैं। उसी इन्द्र की अनेक मूर्तियां अर्थात् प्रकाशमान स्वरूप स्वर्गलोक में प्रकाशित होते हैं। इस मन्त्र का यह अर्थ सायण ने किया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी ब्रह्म पद से आदित्य का और अग्नि का, चरन्तं शब्द से वायु का, 'परितस्थुषः' पद से इन लोकों का और रोचना दिवि पद से नक्षत्रों का का ग्रहण किया गया है।

दयानन्द ने इसके तीन अर्थ किये हैं। उनमें से पहला अर्थ यह है—'(युञ्जन्ति) मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है। इसी लिये जो विद्वान् लोग हैं, वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को उपासना की पद्धति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं। वह ईश्वर कैसा है कि (चरन्तम्) अर्थात् सबका जानने वाला, (अरुषम्) हिंसादि दोष रहित, कृपा का समुद्र, (ब्रध्नम्) सब आनन्दों का बढ़ाने वाला, सब रीति से बड़ा है। इसी से (रोचनाः) अर्थात् उपासकों के आत्मा, सब अविद्या आदि दोषों के अन्धकार से छूट कर (दिवि) आत्माओं को प्रकाशित करने वाले परमेश्वर में प्रकाशमय होकर (रोचन्ते) प्रकाशित रहते हैं' (पृ० १८५)। यह व्याख्या ठीक नहीं है, क्योंकि मन्त्राक्षरों से इसकी कोई संगति नहीं है। 'चरन्तम्' का अर्थ जानते हुए करना ही ठीक है, न कि जानने वाले। चर धातु ज्ञानार्थक है, अतः ज्ञेय अर्थ प्रपंच तो आक्षेप से ही प्राप्त हो जायगा। तब 'परितस्थुषः' इस पद की क्या आवश्यकता रह जायगी। इसलिये 'योगिनः' पद का अध्याहार किये बिना ही 'परितस्थुषः' इस द्वितीयान्त पद को 'परितस्थिवांसः' इस तरह से प्रथमान्त के रूप में परिणत करके उसके साथ 'युञ्जन्ति' इस क्रिया पद का अन्वय किया जा सकता है। पूर्वोक्त तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार 'ब्रध्न' पद आदित्य का ही वाचक है। 'रोचना' पद का अर्थ 'आनन्द में प्रकाशित करना भी असंगत है, क्योंकि आनन्द न तो आधार हो सकता है और न प्रकाशक ही। महान् परमेश्वर को आत्मा के साथ कैसे जोड़ते

युञ्जन्ति, इति नोक्तम्, अतोऽसङ्गतम्, परमेश्वरस्य व्यापकत्वेन नित्ययुक्तत्वात्। 'परितस्थुषश्चरन्तमग्निमयब्रध्नमादित्यं सर्वे लोकाः पदार्थाश्च युञ्जन्ति तदाकर्षणेन युक्ताः सन्ति, ते सर्वे तस्यैव दिवि प्रकाशे रोचना रुचिकराः सन्तो रोचन्ते (पृ० १८४) इति द्वितीयोऽप्यर्थोऽसङ्गत एव, सर्वलोकानां पदार्थानां युञ्जतेः कर्तृत्वे योजकत्वोपपत्त्या युक्तत्वासिद्धेः। 'सन्तुष्यतु' न्यायेन युक्तत्वेऽप्यादित्यरश्मियोगादेव युक्तत्वोपपत्त्याऽऽकर्षणकल्पनस्यान्यथासिद्धत्वात्।

'य उपासकाः परितस्थुषः सर्वान् पदार्थान् चरन्तमरुषं सर्वमर्मस्थं ब्रध्नं सर्वावयववृद्धिकरं प्राणमादित्यं प्राणायामरीत्या दिवि द्योतनात्मके परमेश्वरे वर्तमाना रोचना रुचिमन्तः सन्तो युञ्जन्ति युक्तं कुर्वन्ति आसते मोक्षानन्दे परमेश्वरे सदैव प्रकाशन्ते' (पृ० १८४) इति तृतीयोऽप्यर्थोऽसङ्गत एव, समष्टिप्राणस्य सर्वकर्मस्थत्वे सर्वावयववृद्धिकरत्वे च सत्यपि परमेश्वरस्य व्यापकत्वेन तत्र वर्तमानत्वेऽपि प्राणायामरीत्या तस्य परमेश्वरे योजनासम्भवात्। आधारत्वेन योगस्य स्वतःसिद्धत्वे तत्प्रयासवैयर्थ्याच्च। उपासकानां च स्वप्राणस्यैव प्राणायामेन क्वचिद्योगः सम्भवति। स्वप्राणस्य तु समष्टिरूपेण सर्वपदार्थचारित्वं सम्भवति। त्वन्मते मोक्षं गता न सदैव परमात्मनि प्रकाशन्ते, मोक्षात् पुनरावृत्त्यभ्युपगमात्।

यत्तु प्रमाणरूपेण 'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तमित्यसौ वा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषोऽमुमेवास्मा आदित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै' इति शतपथवचनमुप स्थापितम्, तत्तु न त्वदुक्तार्थपोषकम्, किन्तु पूर्वसमुद्धृततैत्तिरीयश्रुत्युक्तमेवार्थं समर्थयते।

वस्तुतस्तु क्वचिन्निघण्टावश्वस्यापि ब्रध्नारुषौ नामनी पठिते। तावता मोक्षमूलरस्य व्याख्याने पशोर्ग्रहणं भ्रान्तिमूलकम्, तथैव दयानन्दस्य व्याख्यानमपि भ्रान्तिमूलकमेव, तदर्थस्य पूर्वोद्धृतश्रुतिविरुद्धत्वात्। 'आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः' इति श्रुतिरपि न त्वदर्थपोषिका, ब्रध्नपदस्य प्राणपरत्वाभ्युपगमेऽपि तस्य ब्रह्मणि धारणानुपपत्तेः। वस्तुतस्तूपासनाविषयत्वेनोद्धृता व्याख्याताश्च मन्त्रा न तत्पोषकाः, तेषामन्यपरत्वोक्तेः।

हैं, यह आपने बताया नहीं। इसलिये यह भी संगत नहीं है। परमेश्वर तो व्यापक है, अतः वे सब आत्माओं के साथ सदा ही जुड़े हुए हैं, इसके लिये प्रयत्न करने का प्रसंग ही क्या है? (परितस्थुषः) अपनी किरणों से सब ओर व्याप्त होने वाले अग्निमय (ब्रध्नम्) आदित्य को सब लोक और सब पदार्थ जिसके आकर्षण से युक्त हो रहे हैं और उसी के प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं, विद्वान् लोग सब लोकों का आकर्षण जानते हैं' (पृ० १८५-१८६) यह द्वितीय अर्थ भी असंगत है, क्योंकि सभी लोगों और पदार्थों को यदि युज् धातु का कर्ता माना जायगा तो सब योजक ही होंगे, तब युक्त कौन होगा? यदि आपको संतुष्ट करने के लिये कुछ देर के लिये यह मान भी लिया जाय तो आदित्य की किरणों के संयोग से ही युक्तता बन जायगी, आकर्षण की कल्पना करने से क्या लाभ होगा? अर्थात् यह व्यर्थ ही होगा।

('युञ्जन्ति) इस मन्त्र का तीसरा यह भी अर्थ है कि सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेतु जो प्राण है, उसको प्राणायाम की रीति से अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं। इसी कारण वे लोग मोक्ष को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहते हैं' (पृ० १८६)। यह तृतीय अर्थ भी असंगत है, क्योंकि समष्टि प्राण सभी प्राणियों के मर्म स्थान में स्थित है और उसी के कारण प्राणियों के सब अवयव पुष्ट होते हैं। बढ़ते हैं, ऐसा होते हुए भी परमेश्वर तो व्यापक है, अतः वह इस प्राणियों में भी व्याप्त है ही। तब प्राणायाम की पद्धति से प्राणों में परमेश्वर का योग करने का क्या अर्थ हो सकता है? आधार रूप में वह परमेश्वर सबके साथ संयुक्त है, उसका योग तो स्वतःसिद्ध है, तब उसके लिये प्रयास करना व्यर्थ है। उपासकों के अपने प्राण का ही प्रायायाम के द्वारा कहीं योग हो सकता है। समष्टि रूप में स्थित यह प्राण कहीं भी जा सकता है। फिर आपके मत में तो मोक्ष को प्राप्त कर लेने के बाद भी जीव का सदा परमेश्वर में प्रकाश नहीं होता, क्योंकि आपने तो मोक्ष से जीवों के वापस लौटने की बात मानी है।

अपनी बातों की पुष्टि के लिये दयानन्द ने शतपथ ब्राह्मण के वचन को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। यह उद्धरण भी उनकी बात की पुष्टि न कर पूर्वोद्धृत तैत्तिरीय ब्राह्मण के वचन का ही पोषक है।

वास्तव में निघण्टु में कहीं ब्रध्न और अरुष शब्द घोड़े के अर्थ में भी प्रयुक्त माने गये हैं। उसके आधार पर जैसे मोक्षमूलर की व्याख्या में इस मन्त्र में पशु का ग्रहण करना भ्रमपूर्ण है, उसी तरह से दयानन्द की यह व्याख्या भी भ्रमजनक ही है, क्योंकि यह अर्थ भी पूर्व उद्धृत श्रुतियों के विरुद्ध पड़ता है। आदित्य को प्राण और चन्द्रमा को रयि बताने वाली श्रुति भी आपके

उपासना कथं रीत्या कर्तव्येति शीर्षके यल्लिखितं तदप्युपहासास्पदमेव। 'तस्यैव स्तुतिप्रार्थनानुष्ठाने सम्यक्कृत्वोपासनयेश्वरे पुनः पुनः संलगयेत्'। व्यापके परमेश्वरे स्वतः संलग्नस्य जीवस्य कथमिव पुनः संलगनमिति तु नोक्तम्। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इत्यादीनि सूत्राणि वेदव्यासभाष्यं च समर्थयमानेनापि विरुद्धार्थतयैव व्याख्यातानि। तथाहि—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (यो० सू० १।१।२) उपासनासमये व्यवहारसमये परमेश्वरादतिरिक्तविपयादधर्मव्यवहाराच्च मनसो वृत्तिः सदैव निरुद्धा रक्षणीया। वस्तुतोऽत्र सर्वासां क्लिष्टानामक्लिष्टानां च वृत्तीनां निरोधोऽभीष्टः।

अयं वराकस्तत्र तत्रेश्वरो वदतीति वक्ति। वदधातुस्तु व्यक्तवागर्थकः। व्यक्ता वाक् तु कण्ठताल्वाद्यभिघातादितन्त्रा। निराकारस्य परमेश्वरस्य कण्ठताल्वाद्यभावात् तत्सर्वथैव नोपपद्यते।

यदुक्तम्—'निरुद्धा सती क्वावतिष्ठते' इति तत्रोच्यते—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (यो० सू० १।३) यदा सर्वस्माद् व्यवहारान्मनोऽवरुद्ध्यते तदास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपेऽवतिष्ठते' (पृ० १८६) इति, तत्सर्वमुपहासास्पदम्, परकीयात्मसाक्षात्कारे मनसोऽहेतुत्वात्, अतो द्रष्टुः प्रत्यगात्मनः पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थानम्। द्रष्टृपदस्य ज्ञातृबोधकत्वमेव न सर्वज्ञातृबोधकत्वम्, 'स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिर्यथा कैवल्ये' इति व्यासभाष्यविरोधाच्च। यत्तूक्तम्—'परमात्मनः स्वरूपेऽवस्थानं नान्तरीयकमिति' (पृ० १८७ टि०) तत्तुच्छम्, अन्यस्यान्यस्वरूपेऽवस्थानेनात्मस्वरूपेऽवस्थानासम्भवात्, अन्यस्वरूपेऽवस्थानासम्भवात्, असङ्गत्वोक्तिव्याकोपाच्च। परमेश्वराराधनेनापि प्रत्यक्चेतनाधिगम एवेष्यते।

मत का समर्थन नहीं करती, क्योंकि ब्रह्म पद प्राण का वाचक भले ही हो जाय, किन्तु उस प्राण की ब्रह्म में धारणा का कोई अर्थ नहीं है।

यह उपासना किस तरह से करनी चाहिये? इस प्रश्न के उत्तर में जो कुछ दयानन्द ने लिखा है, वह भी उपहास का ही विषय है। 'उसी (परमात्मा) की स्तुति, प्रार्थना और उपासना को बार बार करके अपने आत्मा को भलीभांति से उसमें लगा दें' (पृ० १८८) यह बात को दयानन्द ने कही है, किन्तु व्यापक परमेश्वर के साथ जीव तो अपने आप सदा संलग्न है ही, वह परमात्मा में फिर किस प्रकार से लगे, यह बात उन्होंने नहीं बताई। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इत्यादि योगसूत्रों का और उनसे व्यासकृत भाष्य का समर्थन करते हुए भी दयानन्द ने उनका अर्थ विपरीत ही किया है। जैसे कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इस सूत्र का अर्थ यह किया गया है—'चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटाकर, शुभ गुणों में स्थिर करके, परमेश्वर के समीप में मोक्ष प्राप्त करने को 'योग' कहते हैं' (पृ० १८८)। वास्तव में तो इस सूत्र में क्लिष्ट अक्लिष्ट सभी प्रकार की चित्त की वृत्तियों का निरोध अभीष्ट है।

दयानन्द स्थान स्थान पर ईश्वर के बोलने की बात कहते रहते हैं। वद् धातु का प्रयोग वहां होता है, जहां कि उच्चारण का स्पष्ट बोध हो। इस तरह की वाणी कण्ठ, तालु आदि के अभिधान से ही उत्पन्न हो सकती है। आपके मत में जब ईश्वर निराकार है, तब इस तरह की वाणी बिना कण्ठ, तालु आदि की सहायता के कैसे बोल सकता है?

आगे दयानन्द ने लिखा है—'(प्रश्न) जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटाकर स्थिर की जाती है, तब वह कहां स्थिर होती है? इसका उत्तर पद यह है कि (तदा द्र०) जब उपासक की मनोवृत्ति सब तरह के बाहरी व्यवहारों से निरुद्ध हो जाती है, तो उसका मन सर्वज्ञ परमेश्वर के स्वरूप में स्थिर हो जाता है' (पृ० १८७) यह सब भी उपहासास्पद ही है, क्योंकि दूसरे की आत्मा का साक्षात्कार करने में मन समर्थ नहीं हो सकता। इसलिये द्रष्टा प्रत्यगात्मस्वरूप पुरुष की अपने स्वरूप में ही अवस्थिति हो सकती है। द्रष्टा पद केवल ज्ञाता का ही बोधक हो सकता है, सर्वज्ञ ज्ञाता का नहीं। व्यासभाष्य में बताया गया है कि कैवलावस्था में चिति अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। आपकी बात का इस भाष्य से स्पष्ट विरोध है। यहां टिप्पणीकार ने स्पष्टीकरण किया है कि परमात्मा को स्वरूप में अवस्थिति अपने आप हो जायगी। यह कथन भी निराधार है, क्योंकि यदि कोई दूसरा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाय तो सब कोई अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं हो सकते। दूसरे के स्वरूप में दूसरे की स्थिति हो नहीं सकता। यदि ऐसा माना जाय तो फिर परमात्मा की असंगता कैसे हो सकती है। परमेश्वर की आराधना से आराधक अपने में ही आन्तर स्वरूप की अभिव्यक्ति मांगता है।

यत्तु—'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (यो० सू० १।४) इति सूत्रव्याख्याने गदितम्—'इतरसांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य योगिनः शान्ता धर्मरूढा विद्याविज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठा तीव्रतीव्रा साधारणमनुष्यविलक्षणाऽपूर्वैव वृत्तिर्भवतीति। नैवेदृशी अनुपासकानामयोगिनां कदाचिद् वृत्तिर्जायते' इति, तदेतदुन्मत्तप्रलपितम्, सूत्राक्षरप्रकरणाद्यसङ्गतेः। इतरत्र व्युत्थानकाले पुरुषस्य वृत्तिसारूप्यमेवेहोक्तम्। यत्तु 'वृत्तित्वेन विशेष्यांशे सारूप्येऽपि क्वचिद्विशेषणांशे शान्तघोर-मूढरूपेण योग्ययोगिनो वैरूप्यमर्थादापततीति व्यासभाष्यपूरकमेव दयानन्दभाष्यम्' (पृ० १८७ टि०) इति, तदपि मूढजन-जल्पितमेव, प्रकृतसूत्रे योग्ययोगिनोः सारूप्यवैरूप्ययोरप्रस्तुतत्वात्।

अत्रैव कति वृत्तयः सन्ति कथं निरोद्धव्या इति भूमिकया क्लिष्टाक्लिष्टाः पञ्चतय्यो वृत्तयः। प्रमाणविपर्यय-विकल्पनिद्रास्मृतयस्तल्लक्षणबोधकानि पातञ्जलसूत्राण्युपन्यस्तानि, 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (यो० सू० १।१२) इति सूत्रमुक्तम्, व्याख्यानमस्य न कृतमित्येव शोभनम्, 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (यो० सू० १।२३) इति सूत्रं तद् भाष्यं चोद्धृतम्।

तदर्थस्तु वृत्तयश्चित्तस्य परिणामविशेषाः पञ्च वक्ष्यमाणास्ताश्च क्लिष्टाः, क्लेशैर्वक्ष्यमाणैराक्रान्ताः क्लिष्टाः, तद्वि-परीता अक्लिष्टाः। ताश्च प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः। अतिप्रसिद्धत्वात् प्रमाणानां भेदनिरूपणेनैव गतार्थत्वा-ल्लक्षणस्य न पृथग्लक्षणं कृतम्। तत्राविसंवादिज्ञानं प्रमाणम्। तत्रेन्द्रियद्वारिका विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्। गृहीतसम्बन्धाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि सामान्यात्मनाऽध्यवसायात्मिका वृत्तिरनुमानम्। आप्तवचनमागमः। यस्यार्थस्य यद्रूपं तस्मिन् रूपे न प्रतितिष्ठतीत्यतथाभूतेऽर्थे तथोत्पद्यमानं ज्ञानं विपर्ययः। यथा शुक्तिकायां रजतम्। स्थाणुर्वा पुरुषो वेति वस्तुन-

'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' इस सूत्र की व्याख्या में दयानन्द ने कहा है—'उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्ष-शोक रहित, आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्ष-शोकरूप दुःखसागर में ही डूबी रहती है। उपासक योगी की तो वृत्ति ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फँसती जाती है' (पृ० १८९)। यह सारा कथन भी पागलों के प्रलाप जैसा है, क्योंकि इसका सूत्र के अक्षरों से और प्रकरण से भी कोई संबन्ध नहीं है। वास्तव में इस सूत्र में व्युत्थान दशा में पुरुष की वृत्तियों की सदृशता का ही प्रतिपादन किया गया है। टिप्पणीकार ने यहां स्पष्टीकरण किया है कि 'वृत्ति के रूप में विशेष्य अंश में सादृश्य रहने पर भी विशेषण के अंश में शान्त, घोर और मूढ़ इन त्रिगुणात्मक वृत्तियों के कारण योगी और अयोगी में विलक्षणता आ जाती है। दयानन्द की यह योगसूत्र की व्याख्या व्यासभाष्य की पूरक ही मानी जायगी' (पृ० १८९ टि०)। यह सारा कथन भी मूढ व्यक्ति की ही उक्ति माना जायगा, क्योंकि प्रकृत सूत्र में योगी और अयोगी की सदृशता और विसदृशता के प्रतिपादन का कोई प्रसंग नहीं है।

यहीं वृत्तियां कितनी हैं और उनका निरोध कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन क्लिष्ट और अक्लिष्ट पांच वृत्तियों का उल्लेख कर इनके लक्षणों को बताने वाले पातंजल सूत्रों को उद्धृत करके 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से इन वृत्तियों का निरोध होता है, इस सूत्र को भी उद्धृत कर दिया है। यह अच्छा ही हुआ कि उन्होंने इनकी व्याख्या नहीं की। इसके बाद 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इस सूत्र को और इसके भाष्य को दयानन्द ने उद्धृत किया है।

इनका अर्थ यह है—वृत्तियां, अर्थात् चित्त की विशेष परिणतियां पांच प्रकार की होती हैं। ये क्लिष्ट और अक्लिष्ट के भेद से दो प्रकार की होती हैं। क्लेशों से आक्रान्त क्लिष्ट और उनसे मुक्त अक्लिष्ट कहलाती हैं। इनके पांच भेद—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रमाण अत्यन्त प्रसिद्ध है। अतः उनका यहाँ अलग अलग लक्षण न बता केवल उनके नामों का निर्देश कर दिया गया है। अविसंवादी अर्थात् जो कभी गलत न हो, उस ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। इन्द्रियों की सहायता से वस्तु के विशेष स्वरूप का निर्णय करने वाली वृत्ति प्रत्यक्ष कहलाती है। जिस लिंग का लिंगी के साथ संबन्ध पहले जाना जा चुका है, बाद में उस लिंग की सहायता से सामान्यरूप से जो लिंगी का निश्चयात्मक ज्ञान होता है, उसको अनुमान कहते हैं। आप्त पुरुष के वचन को आगम कहा जाता है। जिस वस्तु का जैसा रूप है, उस रूप में न रह कर जो उसके विपरीत रूप में उत्पन्न अर्थ को ग्रहण करता है, उसको विपर्यय कहते हैं, जैसे कि सीप में चाँदी का ज्ञान। स्थाणु है या पुरुष इस तरह से वस्तु के यथार्थ

स्तथात्वमनपेक्षमाणः शब्दज्ञानजनितः प्रत्ययो विकल्पः, यथा षष्ठ्यर्थं भेदमनपेक्ष्य चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपं राहोः शिरः। वस्तुतश्चैतन्यमेव पुरुषः, शिर एव राहुः, नास्त्युभयोर्भेदः। सम्प्रबोधे (जागरे) सुखमहमस्वाप्सम्, दुःखमहमस्वाप्सम्, गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम् इत्यादिप्रत्यवमर्शात्। न चासत्यनुभवे सम्भवत्यभावो वृत्तीनाम्। अभावस्य प्रत्ययः कारणं तमः, तदुद्रेक एव निद्रादर्शनात्, तमः अभावप्रत्यय आलम्बनं यस्या सा तमोऽवलम्बना वृत्तिर्निद्रा भवति। अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः प्रमाणेनानुभूतस्यासम्प्रमोषः संस्कारवशाद् बुद्धावुपारोहः। तेन कदाचित् कस्यचिदंशस्य बुद्धावनुपारोहेण सम्प्रमोषोऽपि विज्ञायते। यथा प्रमुष्टतत्ताका स्मृतिरेव इदं रजतमिति भ्रमे रजतप्रतीतिरित्यख्यातिवादिनः।

अभ्यासो वृत्तिरहितस्य स्वरूपात्मकः परिणामः स्थितिस्तस्यां यत्नः। लक्ष्ये वा मनसः स्थितिरेकाग्रता। पुनः पुनस्तादृशस्थितौ यत्नोऽभ्यासः। विषयदोषदर्शनेन विषयवैमुख्यं वैराग्यम्। ताभ्यां चेतसो दृढं स्थैर्यं सम्पद्यते। भगवदर्पणबुद्ध्या ईश्वरप्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद् विषयसुखादिनैरपेक्ष्येण शास्त्रविहितकर्मणामनुष्ठानरूपात् समाधिसिद्धिः सुखेन सम्पद्यते।

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (यो० सू० १।१३) अस्य सूत्रस्य तु व्यासभाष्यमेवोद्धृतम्, अतो नास्त्यत्र विप्रतिपत्तिः। क्लेशा अविद्यादयः, विहितप्रतिषिद्धानि कर्माणि, विपाका जात्यायुर्भोगरूपाणि कर्मफलानि, आशया वासनारूपाः संस्काराः, एतैः सर्वथाऽसंस्पृष्टोऽन्येभ्यो विलक्षणः पुरुषविशेष ईश्वरो भवति भक्त्याभिमूखीभूतः सङ्कल्पमात्रेण सर्वप्राणिनामुद्धरणक्षमः। यद्यप्यन्येषामपि पुरुषाणां क्लेशादिस्पर्शो नास्त्येव, तथापि चित्तजा एव सन्तः

स्वरूप की बिना अपेक्षा किये शब्द के उच्चारण मात्र से पैदा हुआ ज्ञान विकल्प कहलाता है। जैसे षष्ठी विभक्ति का प्रयोग तो भेद का ही बोधक होता है, अतः उसकी सहायता से चैतन्य पुरुष का स्वरूप है, राहु का शिर इत्यादि स्थलों में भेद न रखते हुए भी भेद की प्रतीति होने लगती है। वस्तुतः चैतन्य ही पुरुष है, शिर ही राहु, इनमें परस्पर कोई भेद नहीं होता। गाढ निद्रा से उठने के बाद मनुष्य को अनुभव होता है कि मैं आराम से सोया, मुझे आज अच्छी नींद नहीं आई अथवा आज निद्रा में मुझे कुछ भी भान नहीं हुआ। इस तरह के परामर्श के होने से यह प्रतीत होता है कि उस समय भी चैतन्य वृत्ति कार्य कर रही थी, क्योंकि विना अनुभव के कोई भी स्मृति पैदा नहीं हो सकती। अभाव की प्रतीति का कारण तम होता है। तमोगुण का उद्रेक होने पर ही निद्रा वृत्ति का व्यापार प्रारंभ होता है। तम कहते हैं अभाव की प्रतीति को, यह प्रतीति जिसका आलम्बन है, उस वृत्ति को निद्रा के नाम से जाना जाता है। प्रमाणों से अनुभूत विषयों का असम्प्रमोष अर्थात् संस्कारों के कारण बुद्धि में अवस्थिति स्मृति कहलातो है। इसोलिये यदि किसी अनुभूत विषय का कोई संस्कार बुद्धि में नहीं बैठा तो उसको व्यक्ति भूल बैठता है। जैसे कि 'यह रजत है' इस तरह से सीप में जहां चांदी का भ्रम होता है, वहां मनुष्य को सींप के यथार्थ संस्कारों की विस्मृति के कारण ही उसमें रजत की प्रतीति होने लगती है। यह मत अख्यातिवाद को मानने वाले दार्शनिकों का है।

चित्त की इन वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है। चित्त की वृत्ति रहित स्वरूप में परिणति को निरन्तर यत्नपूर्वक स्थिर रखने का नाम अभ्यास है और विषयों में अनेक प्रकार के दोषों को देखकर उनसे विमुख होना वैराग्य कहलाता है। अभ्यास और वैराग्य की सहायता से चित्त में स्थिरता लाई जाती है। भगवान् को ही सब कुछ अर्पण कर देने की अभिलाषा से भक्तिपूर्वक ईश्वर का ध्यान करने से विषय सुखों को प्राप्त करने को इच्छा न रखकर शास्त्रों में विहित कर्मों का अनुष्ठान करने से सुखपूर्वक समाधि दशा की प्राप्ति हो जाती है।

'क्लेशकर्म०' इत्यादि योगसूत्र की व्याख्या के रूप में दयानन्द ने व्यासभाष्य को ही उद्धृत कर दिया है। इसमें हमारी कोई विमति नहीं है। अविद्या प्रभृति क्लेश हैं। शास्त्रविहित, शास्त्रनिषिद्ध अनेक प्रकार के कर्म होते हैं। जाति, आयु, और भोग के रूप में उपस्थित होने वाले कर्मफल विपाक कहलाते हैं। वासना रूप से विद्यमान संस्कार आशय कहे जाते हैं। इन सबसे सर्वथा अस्पृष्ट अन्य सब प्राणियों से विलक्षण पुरुषविशेष ईश्वर कहलाता है। भक्ति के द्वारा इसको जब प्राणी अपने अभिमुख कर लेता है, तो यह संकल्पमात्र से सब प्राणियों को उद्धार करने में समर्थ हो जाता है। यद्यपि वस्तुतः अन्य पुरुषों का भी क्लेश

पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, राज्ञि योद्धृगतजयपराजयादिवत् । ईश्वरे तथाविधोऽपि क्लेशादिपरामर्शो नास्ति । अतोऽपि तत्र वैशेष्याद् अनादिसत्त्वोत्कर्षात् तस्य तथाविधमैश्वर्यं प्रकृष्टज्ञानाच्च सत्त्वोत्कर्षः । तयोर्ज्ञानैश्वर्ययोरनादित्वाच्च न परस्पराश्रयता । तथाविधेन तस्यानादिः सम्बन्धः, प्रकृतिपुरुषसंयोगतद्व्यतिरेकयोरपि तदिच्छायत्तत्वात् । शास्त्रीयोपायैः क्लेशादिनिवृत्तावपि मुक्तात्मनां पूर्वबन्धकोऽपि । इत एव स मुक्तात्मभ्योऽपि विलक्षणः, सदैव मुक्तत्वात् । तस्यैश्वर्यमसाम्यातिशयम् । अत एव स एक एव । ईश्वरनानात्वे भिन्नाभिप्रायत्वे कार्यानुपपत्तिः । समानाभिप्रायत्वे वा तन्नानात्वानुपपत्तिः । उत्कर्षापकर्षवत्त्वे य एव निरतिशयैश्वर्यवान् स एवेश्वरः, तत्रैवैश्वर्यस्य निरतिशयत्वात् ।

'तत्र निरतिशयं सार्वज्ञ्यबीजम्' (यो० सू० १।२५) अत्रापि व्यासभाष्यमेवोद्धृतम् । तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम् । ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामि । तथा चोक्तम्—'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच' । व्यासभाष्यमिदं कथमित्र तत्सिद्धान्तसङ्गतम् ? आदिविद्वानत्र विष्ण्ववतारभूतः कपिलमुनिर्विवक्षितः । स च जिज्ञासमानायासुरये उपदिदेश । अत्र कण्ठताल्वादिजनितैः शब्दैरेवोपदेशो मन्तव्यः । त्वन्मते तु तस्य निराकारत्वाद् अव्यक्तत्वाच्च तं प्रत्यासुरेर्जिज्ञासा तत्कर्तृकं तन्त्रप्रवचनं तु नोपपद्यते । न चात्रादिविद्वान् कश्चिज्जीवोऽभ्युपगम्यते त्वया ।

'स हि सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदत्वात्' (यो० सू० १।१५) इत्युत्तरसूत्रेऽपि परमेश्वर एव पूर्वसूत्रोक्तः परामृष्टः, कालानवच्छिन्नत्वात् परमेश्वरस्यैव नित्यगुरुत्वसिद्धेः । 'तस्य वाचकः प्रणवः' (यो० सू० १।२७) । यथा पितृपुत्रयोः

आदि से कोई संपर्क नहीं रहता, तो भी चित्त में उत्पन्न होने के कारण ऐसा प्रतीत होने लगता है कि इसके साथ उनका सीधे संबन्ध है, जैसा कि सेना की हार हो जाने पर राजा की या राष्ट्र की हार मान ली जाती है । ईश्वर में तो इस तरह के भी क्लेश आदि का कभी परामर्श नहीं होता । इसीलिये यह अन्य सब प्राणियों से विशिष्ट माना जाता है । अनादि सत्त्व गुण के उत्कर्ष से तथा प्रकृष्ट ज्ञान के कारण ईश्वर में यह ऐश्वर्य रहता है और इसीलिये इसका सत्त्व गुण अत्यन्त उत्कृष्ट दशा में सदा विद्यमान रहता है। ईश्वर में विद्यमान ये ज्ञान और ऐश्वर्य अनादि हैं, अतः इनमें परस्पराश्रय दोष का कोई प्रसंग नहीं है । इनके साथ इसका संबन्ध भी अनादि काल से चला आ रहा है । प्रकृति और पुरुष का संयोग और वियोग भी ईश्वर की इच्छा के ही अधीन है । शास्त्रविहित उपायों का आचरण करने पर मुक्तात्मा भी क्लेशादि से निवृत्त हो जाता है, तो भी पहले वह बन्धन में पड़ा रहता है और ईश्वर तो सदा ही इन बन्धनों से मुक्त रहता है । यही इनमें विशेषता है । उसका ऐश्वर्य निरतिशय होता है । इसीलिये वह एक ही है । ईश्वर यदि अनेक मानें जायँ तो उनके भिन्न-भिन्न अभिप्राय होने पर कोई अर्थ होने ही नहीं पावेगा और यदि सबका एक ही अभिप्राय है तो फिर अनेक ईश्वर मानने का उपयोग ही क्या है ? यदि इनमें कोई छोटा या बड़ा है, तो जिसमें निरतिशील ऐश्वर्य है, उसी को ईश्वर माना जायगा । जो सबसे बड़ा है, उसी में निरतिशय ऐश्वर्य माना जा सकता है ।

इस बात को 'तंत्र निरतिशयं सार्वज्ञबीजम्' इस सूत्र में अभिव्यक्त किया गया है । दयानन्द ने यहाँ भी व्यासभाष्य को ही उद्धृत किया है । इसकी प्रवृत्ति अपने किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये न होकर सभी प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिये ही होती है । ज्ञान और धर्म का उपदेश कर कल्प, प्रलय, महाप्रलय में कभी न कभी इन संसारी पुरुषों का मैं उद्धार करूँगा, यही उसका संकल्प रहता है । जैसा कि कहा गया है—आदिविद्वान् भगवान् परमर्षि कपिल ने करुणावश निर्माणचित्त में अधिष्ठित होकर जिज्ञासु शिष्य आसुरि को इस शास्त्र का उपदेश दिया । व्यासभाष्य की यह बात दयानन्द के मत से कैसे ठीक मानी जा सकती है ? आदिविद्वान् के नाम से यहाँ विष्णु के अवतार कपिल मुनि का ग्रहण किया जाता है । उसने जिज्ञासु आसुरि को शास्त्र का उपदेश किया । कण्ठ, तालु आदि से निकलने वाले शब्दों से यह उपदेश दिया जा सकता है । आपके मत से तो ईश्वर निराकार है और अव्यक्त भी है । उसके सामने आसुरि की जिज्ञासा और उसका प्रत्युत्तर रूप में शास्त्र का प्रवचन, ये दोनों ही संभव नहीं हो सकते । इस प्रसंग में आप दूसरे किसी आदिविद्वान् जीव की सत्ता भी नहीं मानते ।

'स हि पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' इस आगे के सूत्र में भी पूर्व सूत्र में व्यपदिष्ट ईश्वर के विषय में ही कहा जाता है, क्योंकि परमेश्वर ही काल से अवच्छिन्न न होने के कारण अनादि काल से उसका गुरु माना जा सकता है । 'तस्य वाचकः प्रणवः'

स्थित एव सम्बन्धः सङ्केतेन बोध्यते—अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति, तथैव प्रणवपरमेश्वरयोः स्थित एव सम्बन्धः सङ्केतेन प्रकाश्यते। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (यो० सू० १।२८) स्वाध्यायात् प्रणवजपात् तत्स्वरूपमाहात्म्यबोधकशास्त्रविचाराच्चाभिव्यक्तं स्वरूपं ध्यायेत्। स्वाध्यायं त्यक्त्वा तद्ध्यानपरायणः स्याद् ध्याने शैथिल्ये पुनः स्वाध्यायं कुर्यात्। तस्मात् स्वाध्यायानन्तरं योगमासीत योगमभ्यस्येद् योगानन्तरं च स्वाध्यायं कुर्यात्। एवं स्वाध्याययोगपारम्पर्येण परमात्मा प्रकाशते।

'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (यो० सू० १।२९) तज्जपात् तदर्थभावनाच्च प्रत्यक्चेतनस्य शुद्धस्वात्मनोऽधिगमः संशयविपर्ययादिराहित्येन साक्षात्कारो भवति, व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकानवस्थितत्वाद्यन्तरायनिवृत्तिश्च भवति। एवमेवानेकानि योगसूत्राणि तद्भाष्याणि चोद्धृतानि। तत्र न किमपि वक्तव्यमस्ति। हिन्दीभाष्ये तु किञ्चिदनर्गलमुक्तम्, तत्समाधानं तु हिन्दीलेखकाः करिष्यन्ति। जिज्ञासुभिस्तु तदभिप्रायः सूत्रभाष्यवाचस्पतिभोजराजादिटीकाभ्योऽवगन्तव्यः।

'स्थिरसुखमासनम्' (यो० सू० १।४६) आस्यते आस्ते वा अनेनेत्यासनम्, पद्मासनादि। 'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्' (यो० सू० १।४७) तत्सिद्धिः। सांसिद्धिको हि प्रयत्नः शरीरधारको यादृच्छिकासनहेतुतयासननियमोपहन्तृत्वात् स्वाभाविकप्रयत्नशैथिल्याय प्रयत्न आस्थेयः। अनन्ते नागनामके स्थिरफणासहस्रविधृतविश्वम्भरामण्डले समापन्नं चित्तमासनसिद्धिहेतुर्भवति। आकाशादिगतानन्त्ये चेतसोऽवधाने तादात्म्यापत्तौ देहाहङ्काराभावान्नासनं दुःखजनकं भवति, तस्मादासनं सिद्ध्यति।

इस सूत्र से प्रणव और परमेश्वर का अनादि काल से विद्यमान संबन्ध ही संकेत के द्वारा प्रकाशित होता हैं, जैसे कि पिता और पुत्र का पहले से विद्यमान सम्बन्ध ही कोई संकेत से बताता है कि यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इस सूत्र में बताया गया है कि स्वाध्याय से और प्रणव के जप से और ईश्वर के स्वरूप के माहात्म्य के बोधक शास्त्र का विचार करने से जो स्वरूप अभिव्यक्त हो, उसका चिन्तन करे। स्वाध्याय को छोड़कर ईश्वर का ध्यान करने में लग जाय और ध्यान में शिथिलता आने पर पुनः स्वाध्याय करने लगे। इसीलिये कहा गया है कि स्वाध्याय के अनन्तर योग का अभ्यास करे और योग के बाद स्वाध्याय का अभ्यास करे। इस तरह से स्वाध्याय और योग के निरन्तर अभ्यास से अन्त में परमात्मा प्रकाशित हो जाते हैं।

'ततः प्रत्यक्०' इत्यादि सूत्र का अर्थ यह है कि उस प्रणव का जप करने से और उसके अर्थ का चिन्तन करने से प्रत्यक् चैतन्य अर्थात् शुद्ध स्वात्मस्वरूप की संशय और विपर्यय से रहित अवस्था की अधिगति अर्थात् साक्षात्कार होता है और साथ ही व्याधि, स्त्यान आदि अन्तरायों की निवृत्ति भी हो जाती है। दयानन्द ने इस प्रकरण में इसी तरह के अनेक सूत्रों को और उनके भाष्य को उद्धृत किया है। उस पर हमको कुछ कहना नहीं है। हिन्दी भाष्य में तो कुछ अनर्गल बातें भी लिखी गई हैं। उनका समाधान या उसकी आलोचना हिन्दी के लेखक करेंगे। जो व्यक्ति इनका वास्तविक अभिप्राय जानना चाहते हैं, उनको सूत्र, भाष्य और उन पर वाचस्पति मिश्र, भोजराज प्रभृति के टीका ग्रन्थ देखने चाहिये।

पद्मासन प्रभृति अनेक आसन योगशास्त्र में वर्णित हैं। इनको आसन इसलिये कहते हैं कि इनकी सहायता के साधक आराम से बहुत देर तक स्थिर रूप से बैठ सकता है। प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त में समापत्ति से यह संभव होता है। सांसिद्धिक प्रयत्न शरीर का धारक है। यह प्रयत्न जिस तरह से हम स्थिर रूप से बैठना चाहते हैं, आसन के उस नियम का बाधक हो जाता है। अतः इस स्वाभाविक प्रयत्न में शिथिलता लाने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। नागों के राजा अनन्त (शेष नाग) की हजार फणाओं पर यह सारी पृथ्वी अत्यन्त स्थिर रूप से विराजमान है। इसमें चित्त को लगा देने पर आसन स्थिर हो जाता है। इस तरह से आकाश प्रभृति में विद्यमान अनन्तता में चित्त को लगा देने पर, उस अनन्तता के साथ चित्त का तादात्म्य हो जाने पर देह में आत्माहंकार की निवृत्ति हो जाने से आसन दुःख का कारण नहीं हो पाता। इसका अभ्यास करने से आसन की स्थिरता सिद्ध हो जाती हैं। अर्थात् स्वभावतः शरीर का यह धर्म है कि बिना हिले-डुले एक ही आसन से बैठने पर शरीर में कष्ट की अनुभूति होने लगती है, किन्तु आसन की स्थिरता का अभ्यास करने से शरीर को इस तरह के कष्ट की अनुभूति नहीं होती और इस तरह से आसन सिद्ध हो जाता है।

'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' (यो० सू० २।४९)। वाह्यस्य वायोरन्तर्निवेशनं श्वासः, कौष्ठ्यस्य वायोर्वहिर्गमनं प्रश्वासः, तयोर्गतेः प्रवाहस्य विच्छेदः प्राणायामः। 'वाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः' (यो० सू० २।५०)। इतः पूर्वं यदुक्तं स्थिरीकृत्य गत्यभावकरणं प्राणायामः, तन्न, गत्यभावस्य स्थिरीकरणानतिरिक्तत्वात्। प्रश्वासपूर्वको गत्यभावो वाह्यश्वासपूर्वको गत्यभाव आभ्यन्तरः, तृतीयः स्तम्भवृत्तिः, यत्रोभयाभावः, सत्कृत्य यत्नाद् भवति। यथा तप्त उपले निःक्षिप्तं जलं सर्वतः सङ्कोचमापद्यते, तथा द्वयोर्युगपद् गत्यभावो देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मो भवति।

यदुक्तम्—'वालबुद्धिभिरङ्गुल्यङ्गुष्ठाभ्यां नासिकाछिद्रमवरुद्धय यः प्राणायामः क्रियते स, शिष्टैस्त्याज्य एवास्ति' इति, तदपि वालभाषितम्, 'ततो दक्षिणहस्तस्य अङ्गुष्ठेनैव पिङ्गलाम्। निरुद्धय पूरयेद् वायुमिडया तु शनैः शनैः॥ यथा शक्त्यविरोधेन ततः कुर्याच्च कुम्भकम्। पुनस्त्यजेत्पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः॥ पुनः पिङ्गलया पूर्य पूरयेदुदरं शनैः।' (योगतत्त्वोपनिषदि ३६, ३९) इति योगतत्त्वोपनिषद्विरोधात्। सूर्यचन्द्रादिनाडीभेदेन प्राणरोधाभ्यासे नाडीशुद्धयादौ वैशेष्यस्यानुभवसिद्धत्वाच्च। योगकुण्डलिन्युपनिषदि च 'दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः। यथेष्टं पूरयेद् वायुं रेचयेदिडया ततः॥' इति तदेवोक्तम्। नहि अङ्गुष्ठाद्ययोगे दक्षनाड्या वामनाड्या वा वायोः पूरणं रेचनं वा सम्भवति।

'वाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः' (यो० सू० २।५१) प्राणस्य वाह्यो विषयो नासाद्वादशान्तादिः, आभ्यन्तरो विषयो हृदयनाभिचक्रादिः, तौ द्वौ विषयावाक्षिप्य पर्यालोच्य यः स्तम्भरूपो गतिविच्छेदः स चतुर्थः प्राणायामः। तृतीयस्मात्कुम्भकादयमस्य विशेषः—स वाह्याभ्यन्तरविषयौ अपर्यालोच्यैव सहसा तप्तोपलनिपतितजलन्यायेन युगपत्

'तस्मिन् सति०' इत्यादि सूत्र में प्राणायाम का स्वरूप बताया गया है। वाहरी वायु को भीतर खींचने का नाम श्वास और भीतरी वायु को बाहर निकालने का नाम प्रश्वास है। श्वास और प्रश्वास की स्वाभाविक गति को, प्रवाह को रोक देना ही प्राणायाम कहलाता है। इस सूत्र के बाद और 'बाह्याभ्यन्तर०' इस सूत्र से पहले दयानन्द ने कहा है कि श्वास-प्रश्वास की गति को जीतना अर्थात् इनको स्थिर कर गतिहीन कर देना ही प्राणायाम है (पृ० २०१)। यह कथन गलत है, क्योंकि गतिहीनता का नाम ही तो स्थिरता है। प्रश्वास के साथ ही गतिहीनता वाह्य प्राणायाम, श्वास के साथ ही गतिहीनता आभ्यन्तर प्राणायाम और तृतीय प्राणायाम स्तम्भवृत्ति कहलाता है, जिसमें कि बाह्य अथवा आन्तर कोई भी गति नहीं रहती। निरन्तर आदर-सत्कार पूर्वक अभ्यास करने से ही यह सिद्ध होता है। जैसे तपे हुए पत्थर पर ज़ल डालने से वह चारों तरफ सूख जाता है, उसी तरह से श्वास और प्रश्वास दोनों की गति जब एक साथ रुक जाती है, तो इसकी देश, काल और संख्या के हिसाब से दीर्घ अथवा सूक्ष्म स्थिति सिद्ध हो जाती है।

दयानन्द ने यहां कहा है कि 'नासमझ लोग अंगुली और अंगूठे से नाक के छिद्र को रोककर प्राणायाम का अभ्यास करते हैं। शिष्ट जनों के लिये इस विधि का त्याग करना ही ठीक है' (पृ० ३०१)। वस्तुतः दयानन्द की यह बात ही नासमझी की है, क्योंकि योगतत्त्वोपनिषद् से उनकी बात का विरोध पड़ता है। वहां स्पष्ट बताया गया है कि 'दाहिने हाथ के अंगूठे से पिंगला नाडी का मार्ग रोककर भीतर धीरे धीरे इस नाडी की सहायता से शरीर में वायु का प्रवेश करावे और इसके बाद शक्ति के अनुसार उस वायु को कुंभक प्राणायाम की सहायता से भीतर ही रोके रहे। बाद में पिंगला नाडी के मार्ग से उस रोकी गई वायु को बाहर धीरे धीरे निकाल दे, इस कार्य में शीघ्रता न करे। फिर पिंगला से वायु को खींचकर धीरे धीरे अपने पेट को उससे भर ले'। सूर्य और चन्द्र नाडियों के भेद से प्राणायाम का अभ्यास करने से नाडी की शुद्धि हो जाने पर शरीर में एक विशेष स्फूर्ति की स्थिति आती है, यह बात अनुभव सिद्ध है। यही बात योगकुण्डलिनी उपनिषद् में भी कही गई है। जब तक नाक के साथ अंगूठे आदि का योग नहीं होगा, तब तक दाहिनी अथवा बायीं नाड़ी से वायु का पूरण अथवा रेचन संभव नहीं है।

'वाह्याभ्यन्तर०' इत्यादि सूत्र में चतुर्थ प्राणायाम का वर्णन किया गया है। प्राण के बाह्यविषय नासिका, द्वादशान्त प्रभृति और आभ्यन्तर विषय हृदय, नाभिचक्र आदि हैं। इन दोनों विषयों से प्राण को खींचकर और उनका भलीभांति आलोचन कर उनकी गति को रोक देना ही चतुर्थ प्राणायाम कहलाता है। तृतीय कुम्भक प्राणायाम से इसकी विशेषता यह है कि कुंभक प्राणायाम बाह्य

स्तम्भवृत्त्या निष्पद्यते। अस्य तु विषयद्वयाक्षेपको निरोध इति भोजदेवः। देशकालसंख्याभिरभ्यासेन वशीकृताभ्यां प्राणायामाभ्यां भूमिजयक्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः। ननु तृतीयेऽप्युभयोर्गतिविच्छेदको विशेषोऽस्तीति, तत्राह भाष्यकारः—'तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव, अर्थात् अनालोचनपूर्वः। सकृत्प्रयत्ननिर्वर्तनीयस्तृतीयः। चतुर्थस्त्वालोचनपूर्वको बहुप्रयत्ननिर्वर्तनीयः।

यदुक्तम्—'यस्तु खलु तृतीयोऽस्ति न सदैव बाह्याभ्यन्तरस्यापेक्षां करोति, किन्तु यत्र यत्र देशे प्राणो वर्तते तत्र तत्रैव सकृत्स्तम्भनीयः। यथा किमप्यद्भुतं दृष्ट्वा मनुष्यश्चकितो भवति तथैव कार्यमित्यर्थः' इति, तन्न, सर्वेषामपि कुम्भकानां सकृत्प्रत्ययनिर्वर्त्यत्वाविशेषात्। तदुक्तं तत्त्ववैशारदीकृता—'यत्रोभयोः श्वासप्रश्वासयोः सकृदेव विधारकात् प्रयत्नादभावो भवति, न पुनः पूर्ववदापूरणप्रयत्नौघविधारकप्रयत्नो नापि रेचनप्रयत्नौघविधारकप्रयत्नोऽपेक्ष्यते, किन्तु यथा तप्त उपले निःक्षिप्तं जलं परिशुष्यते, सर्वतः सङ्कोचमापद्यते, एवमयमपि मारुतो वहनशीलो बलवद्विधारकप्रयत्ननिरुद्धक्रियः शरीर एव सूक्ष्मीभूतोऽवतिष्ठते, न पूरयति येन पूरकः, न तु रेचयति येन रेचकः, न चैष रेचकान्तरं क्रियमाणेऽभ्यन्तरे सकृत्प्रयत्न-निर्वृत्ते कुम्भके विषयानालोचितो गत्यभावः, चतुर्थे तु विषयालोचनपूर्वकात् बहुप्रयत्नसाध्यो गत्यभावः। अद्भुतदर्शने तु प्रयत्नमन्तरैव क्षणाय स्तम्भवृत्तिर्जायते। तत्र सकृत्प्रयत्नोऽपि नास्ति। कुम्भकेषु तु सर्वेषु सकृत्प्रयत्नोऽपेक्षितः।

'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' (यो० सू० २।५२) इत्यत्र दयानन्देन स्वव्याख्यानमेव भाष्यशब्देन लिखितम्। तथाहि—(भाष्यम्) 'एवं प्राणायामाभ्यासात् यत्परमेश्वरस्यान्तर्यामिणः प्रकाशे सत्यविवेकस्यावरणाख्यमज्ञानमस्ति, तत्क्षीयते

और आन्तर विषय का पर्यालोचन किये बिना ही एकाएक तपते हुए पत्थर पर पड़े जल के समान सहसा प्राणों को स्तब्ध कर देता है। इसके विपरीत इस चतुर्थ प्राणायाम में उक्त दोनों विषयों का ठीक से पर्यालोचन करने लिये उनका निरोध किया जाता है। यह भोजदेव का मत है। देश, काल और संख्या के आधार पर वशीकृत प्राण और अपान के अभ्यास से चित्त-भूमियों का क्रमशः जय करके आगे बढते हुए इन दोनों की गति को रोक देना ही चतुर्थ प्राणायाम का कार्य है। तृतीय प्राणायाम में भी यही विशेषता है? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार का यह कहना है—'तृतीय प्राणायाम में विषय का पर्यालोचन किये बिना ही गति को रोक दिया जाता है और यह एक ही बार हो सकता है। इसका अभिप्राय यह कि बिना विचार किये एक बार प्राणायाम के द्वारा प्राणापान की गति का निरोध तृतीय प्राणायाम का विषय है और चतुर्थ प्राणायाम में विषय का आलोचन तो रहता ही है, साथ ही बार-बार प्रयत्न करने के बाद इस प्राणायाम की सिद्धि हो पाती है।

दयानन्द ने यहां कहा है कि तृतीय प्राणायाम में (बाह्य और आन्तर प्राणायाम में) से किसी न किसी की अपेक्षा रहती है। किन्तु इस अवस्था में जहां कहीं भी प्राण हो, उसको वहीं रोक देने का आयास किया जाता है। जैसे किसी अनोखी वस्तु को देखकर आदमी चकित हो जाता है, उसी तरह की स्थिति यहां भी होती है। किन्तु उनका यह कथन सही नहीं है, क्योंकि सभी कुम्भकों की एक सी ही स्थिति होती है कि उनके लिये प्रयत्न एक ही बार किया जाता है। जैसा कि तत्त्ववैशारदीकार ने कहा है—'जिस प्राणायाम में श्वास और प्रश्वास दोनों का एक ही बार के विधारक प्रयत्न से निरोध हो जाता है, फिर पहले की तरह आपूरण प्रयत्न के समूह के विधारक प्रयत्न अथवा रेचक प्रयत्न के समूह के विधारक प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु जैसे तपते हुए पत्थर पर डाला सारा पानी सूख जाता है, उसी तरह से प्राण और अप्राण की गति जब चारों तरफ से संकुचित हो जाती है और शरीर के ही किसी कोने में सूक्ष्म रूप में टिक जाती है, तब प्राण और अपान की पूरण और रेचन क्रिया के अभाव में यह न तो पूरक ही रहेगा, न रेचक ही और न इसको रेचक क्रिया के बाद किये जाने वाले एक बार के आभ्यन्तर प्रयत्न से निष्पन्न होने वाला कुम्भक ही कहा जा सकता है, जिसमें कि विषय का आलोचन किये बिना ही प्राणापान की गति का अवरोध हो जाता है। इस चतुर्थ प्राणायाम में तो विषय के आलोचन के साथ बड़े प्रयत्न के साथ इनकी गति को रोकने का अभ्यास किया जाता है। अनोखी वस्तु को देखने जो स्थिति होती है, उसमें तो बिना प्रयत्न के ही एक क्षण लिये व्यक्ति स्तब्ध हो जाता है, यहां तो एक बार भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता। तृतीय प्राणायाम कुम्भक में एक बार प्रयत्न करना पड़ता है।

क्षयं प्राप्नोति' (पृ० २०२) इति, तदप्ययुक्तम्, व्यासभाष्यप्रसङ्गे स्वव्याख्यानस्य भाष्यपदेनोल्लेखने व्यासभाष्यत्वभ्रमसम्भवात्। व्याख्यानमपि तन्न शोभनम्, परमेश्वरस्य प्रकाशे सतीत्यर्थस्य सूत्राक्षरबहिर्भूतत्वात्। 'प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म' इति व्यासभाष्यविरोधाच्च। तत्र प्रकाशपदेन विवेकज्ञानमुक्तम्, तस्यावरणं कर्मोक्तम्। तथाविवेकज्ञानरूपप्रकाशस्यावरकं कर्म प्राणायामेन क्षीयते। ततो विवेकज्ञानरूपः प्रकाशः सम्पद्यते। दयानन्देन तु 'अविवेकस्यावरणाख्यमज्ञानमिति वदता प्रकाशपदेनाविवेको गृहीतः। तस्यावरणमज्ञानमुक्तम्, तच्च न केवलं विरुद्धमपि तु सर्वतन्त्रविरुद्धम्। परमात्मप्रकाशे सत्यविवेकस्यावरणे क्षीणेऽप्यविवेकस्यैवाभिव्यक्तिर्भविष्यति। भाष्ये तु विवेकज्ञानावरणीयं कर्मोक्तं नाज्ञानम्। विवेकज्ञानमावरणीयं येन तत्। वस्तुतस्तु विवेकज्ञानमावृणोतीति व्युत्पत्तावेवावरणार्थ एवावरणीयशब्दः। 'भव्यगेयप्रवचनादीनाम्' (पा० सू० ३।४।६८) इति वृञ्धातोः कर्तरि कृत्यप्रत्ययः, निपातनस्य प्रदर्शनार्थत्वात् कोपनीयरञ्जनीयादिवत्। तथा च पाप्मा क्लेशश्च विवेकज्ञानावरणं भवति, नाज्ञानम्। कर्माप्यत्र कर्मजन्यमपुण्यं क्लेशश्चोच्यते, 'आव्रियतेऽनेन बुद्धिसत्त्वप्रकाश इत्यावरणं क्लेशः पाप्मा च' इति वाचस्पतिवचनात्। एवमयं यत्र यत्र किञ्चिदपि वदति, तदनर्गलमेव।

'धारणासु योग्यता मनसः' (यो० सू० २।५३)। भाष्यम्—प्राणायामाभ्यासादेव प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्येति वचनात्, अर्थात् प्राणस्य प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां मनः स्थितिपदं लभत इत्यर्थकसूत्रानुरोधात् प्राणायामाभ्यासान्मनसो धारणासु योग्यता सम्पद्यते। यत्त्वत्रैव दयानन्देन प्राणायामानुष्ठानेनोपासकानां मनसो ब्रह्मध्याने सम्यग् योग्यता भवतीत्युक्तम्, तदप्यशुद्धमेव, व्याख्येयसूत्रविरोधात्। सूत्रे तु धारणासु योग्यतोक्ता न ध्याने। न चोभयोरैक्यं शङ्कनीयम्,

'ततः क्षीयते०' इत्यादि सूत्र के स्वरचित भाष्य को ही दयानन्द ने व्यासभाष्य के नाम से उद्धृत कर दिया है—'इस प्राणायाम पूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का आवरण, अर्थात् ढांपने वाला जो अज्ञान है, वह नित्य प्रति नष्ट होता जाता है और ज्ञान का प्रकाश धीरे धीरे बढ़ता जाता है' (पृ० २०४), यह भी गलत बात है। व्यासभाष्य के प्रसंग में अपनी व्याख्या का उल्लेख भाष्य के नाम से करना गलत है, क्योंकि यह स्वाभाविक भ्रम हो सकता है कि यह व्यासकृत भाष्य ही है, जब कि ऐसी बात नहीं है। यह व्याख्या ठीक है भी नहीं, क्योंकि परमेश्वर के प्रकाशित होने की बात सूत्र में नहीं कही गई है और इसका इस योगभाष्य से स्पष्ट विरोध है कि 'प्राणायाम का अभ्यास करने वाले योगी के विवेक ज्ञान को ढक देने वाले कर्म क्षीण हो जाते हैं'। यहां प्रकाश पद से विवेक ज्ञान का ग्रहण किया गया है और उसका आवरण डालनेवाला कर्म प्राणायाम है। इस तरह का विवेक ज्ञान पर आवरण डालने वाला कर्म प्राणायाम के अभ्यास से क्षीण हो जाता है। तब विवेक ज्ञान का प्रकाश योगी के चित्त में आलोकित हो जाता है। इसके विपरीत दयानन्द ने अविवेक का आवरण अज्ञान, ऐसा कहकर प्रकाश का अर्थ अविवेक कर दिया है और उसके आवरण को अज्ञान बताया है। यह बात उक्त भाष्य के ही विरुद्ध नहीं है, अपितु सभी दार्शनिक सिद्धान्तों के भी विपरीत पड़ती है। इस तरह से तो परमात्मा के योगी के चित्त में प्रकाशित होने पर भी और अविवेक का आवरण क्षीण हो जाने के बाद भी अविवेक की ही अभिव्यक्ति होगी। भाष्य में तो विवेक ज्ञान का आवरक कर्म को माना है, अज्ञान को नहीं, क्योंकि कर्मों के द्वारा विवेक ज्ञान आवृत कर दिया जाता है। वास्तव में तो विवेक ज्ञान को ढकता है, इस व्युत्पत्ति में भी आवरणीय शब्द आवरण के अर्थ में ही माना जाता है। वृञ् धातु से कर्ता अर्थ में कृत्य प्रत्यय होता है। कोपनीय, रञ्जनीय की तरह से आवरणीय शब्द भी नियमन के आधार पर सही माना जाता है। इस तरह से पाप कर्म और क्लेश ये ही विवेक ज्ञान के आवरक होते हैं, अज्ञान नहीं। कर्म पद से भी यहां कर्म जन्य पाप कर्म और क्लेश का ही बोध होता है। वाचस्पति मिश्र ने कर्म पद का यही अर्थ किया है, क्योंकि ये बुद्धि को सात्त्विक वृत्ति को रोकते हैं। दयानन्द का यह स्वभाव ही है कि वे जहां तहां इसी तरह अनर्गल व्याख्या करते रहते हैं।

'धारणासु योग्यता मनसः' इस सूत्र का अर्थ यह है कि प्राणायाम के अभ्यास से ही, अर्थात् प्राण के प्रच्छर्दन और विधारण से ही, मन स्थिर होता है। इस आशय के सूत्र के अनुसार प्राणायाम का अभ्यास करने से मन धारणाओं के लिये समर्थ हो जाता है। यहां दयानन्द ने इसका अर्थ यह किया है कि प्राणायाम के अनुष्ठान से उपासक का मन भली भांति ब्रह्म की आराधना के योग्य हो जाता है। यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध है, क्योंकि इसका सूत्र के साथ स्पष्ट विरोध पड़ता है। सूत्र में बताया गया है कि इसका अभ्यास

धारणाध्यानयोर्लक्षणभेदेन भिन्नत्वात्। 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (यो० सू० ३।१), 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (यो० सू० ३।२)। नाभिचक्रादिष्वभ्यन्तरे बाह्ये वा चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्धो धारणा, ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता ध्यानं भवति।

'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' (यो० सू० २।५४) इत्यत्र पुनः स्वव्याख्यानमेव दयानन्देन भाष्यत्वेनोक्तम्—'यदा चित्तं जितं भवति परमेश्वरालम्बनाद्विषयान्तरे नैव गच्छति, तदेन्द्रियाणां प्रत्याहारोऽर्थान्निरोधो भवति। कस्य केषामिव ? यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्थं भवति, तथैवेन्द्रियाण्यपि। अर्थात् चित्ते जिते सर्वमिन्द्रियादिकं जितं भवतीति विज्ञेयम्' (पृ० २०३)। तदेतत्तदीयमपूर्वभाष्यमसङ्गतमेव, सूत्रार्थासंस्पर्शित्वात्। चित्तं यदा शब्दादिभिर्विषयैर्न सम्प्रयुज्यते तदसम्प्रयोगात् चक्षुरादीनीन्द्रियाण्यपि न सम्प्रयुज्यन्ते, सोऽयमिन्द्रियाणां चित्तस्वरूपानुकारः। तथापि चित्तं यत्सूक्ष्मं ब्रह्मात्मतत्त्वमभिनिविशते न तदिन्द्रियाणि बाह्यविषयत्वादभिनिवेष्टुं शक्नुवन्तीति न सर्वथा चित्तानुकारः सम्भवतीन्द्रियाणाम्। तेन स्वविषयासंयोगस्य साधारणधर्मस्य सत्त्वादेव चित्तानुकारत्वमिन्द्रियाणाम्। यत्तु—'परमेश्वरस्मरणालम्बनात्' इत्युक्तम्, तदसङ्गतम्, परमेश्वरालम्बनादित्यस्यैव सुवचत्वात्। परमेश्वरो हि चित्तस्यालम्बनं भवति न तत्स्मरणम्, तस्य विषयित्वेन विषयत्वायोगात्। यच्च—'यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्थं भवति तथेन्द्रियाण्यपि' इति, तदप्यसङ्गतम्, इन्द्रियाणां बाह्यत्वेन परमेश्वरस्थत्वासम्भवात्। 'न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्' (कठो० २।३।९) इत्यादिश्रुतिविरोधात्।

ननु—'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्' (केनोप० १।५) इति श्रुत्या मनोविषयत्वमपि निषिद्धयत एवेति चेन्न, शास्त्राचार्योपदेशसंस्कारशून्यचित्तविषयत्वनिषेध एवोक्तश्रुतेस्तात्पर्यात्, 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया' (कठो० १।३।१२)

करने से चित्त धारणा के लिये समर्थ हो जाता है, इसमें ध्यान का कहीं उल्लेख नहीं है। धारणा और ध्यान को एक नहीं माना जा सकता, क्योंकि योगसूत्र में धारणा और ध्यान का अलग अलग लक्षण किया गया है, जैसा कि ऊपर उद्धृत दो सूत्रों से स्पष्ट है। इनके अनुसार नाभिचक्र प्रभृति आन्तर अथवा बाह्य वस्तुओं में चित्त की वृत्ति को बाँध देना धारणा और ध्येय आलम्बन में चित्त की एकाकारता को ध्यान कहते हैं।

'स्वविपयासम्प्रयोगे०' इत्यादि सूत्र में प्रत्याहार का लक्षण किया गया है। यहाँ पुनः दयानन्द ने अपनी व्याख्या को ही भाष्य बताया है। 'प्रत्याहार उसका नाम है, जब कि पुरुष अपने मन को जीत लेता है। परमेश्वर को अपना आलम्बन बना लेने के कारण चित्त कहीं अन्यत्र नहीं जाता, तब इन्द्रियों का प्रत्याहार अर्थात् निरोध हो जाता है। किसका कैसा निरोध होता है ? जैसे चित्त परमेश्वर के स्वरूप में स्थित हो जाता है, उसी तरह से इन्द्रियाँ भी परमेश्वर के स्वरूप में स्थित हो जाती हैं। अर्थात् चित्त को जीत लेने पर इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है, क्योंकि मन ही इन्द्रियों को चलाने वाला है' (पृ० २०४)। दयानन्द का यह अनोखा भाष्य भी पूरी तरह से असंगत है, क्योंकि सूत्र के अक्षरों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। चित्त जब शब्द प्रभृति विषयों से संयुक्त नहीं होता, तब इन्द्रियाँ भी उन विषयों से संबद्ध नहीं हो पाती। इस तरह से इन्द्रियाँ चित्त का अवश्य अनुसरण करती हैं। किन्तु चित्त जब सूक्ष्म ब्रह्मस्वरूप में अभिनिविष्ट होता है, तब इन्द्रियाँ वहाँ नहीं पहुँच पातीं, क्योंकि वे तो बाह्य स्थूल विषयों को ही ग्रहण कर पाती हैं। इस तरह से इन्द्रियाँ सब स्थितियों में चित्त का अनुवर्तन नहीं कर सकतीं। इन्द्रियाँ चित्त का अनुकरण अपने बाह्य विषय को लेकर ही सामान्य रूप से कर पाती हैं। दयानन्द ने परमेश्वर के स्मरण को चित्त का आलम्बन बताया है, यह गलत है, क्योंकि इतना ही कहना पर्याप्त है कि परमेश्वर चित्त का आलम्बन है। परमेश्वर ही चित्त का आलम्बन हो सकता है, उनका स्मरण नहीं। परमेश्वर तो विषयी है, वह किसी का विषय नहीं हो सकता। 'जैसे चित्त परमेश्वर के स्मरण में स्थित हो जाता है, उसी तरह से इन्द्रियाँ भी उसी में स्थित हो जाती हैं, यह कहना भी असंगत है, क्योंकि इन्द्रियाँ तो बाह्य विषयों का ग्रहण करती हैं, वे परमेश्वर में कैसे स्थित हो सकती हैं ? ऐसा मानने पर 'इसको कोई आँखों से नहीं देख सकता' इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट विरोध होगा।

यहाँ प्रश्न उठता है कि 'जिसको मन से नहीं जाना जाता, किन्तु जिसके रहने से ही मन जान पाता है' इत्यादि श्रुति के प्रमाण पर यह ब्रह्म तो मन का भी विषय नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि शास्त्र और आचार्य के उपदेश से असंस्कृत चित्त के विषय में ही ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि 'यह ब्रह्म सूक्ष्म बुद्धि से गृहीत होता है' इस आशय की श्रुतियाँ यह बताती हैं कि शास्त्र और आचार्य के उपदेश से परिष्कृत हुई बुद्धि से अर्थात् मन से इस ब्रह्म का वर्णन किया जा सकता है। इस पर यदि कोई कहे कि इससे

इति शास्त्राचार्योपदेशसंस्कृतबुद्ध्यपरपर्यायमनोविषयत्वोक्तेः। न चैवं सति परमेश्वरस्य स्वप्रकाशत्वोक्तिविरोध इति वाच्यम्, आवरणनिवर्तकतया ब्रह्मणो वृत्तिविषयत्वेऽपि फलव्याप्यत्वाभावेन स्वप्रकाशत्वानपायात्। नह्येवमिन्द्रियविषयत्वं शक्यसमर्थनम्, तत एवानुकार इवेत्युक्तं सूत्रकृता। तदुक्तं विष्णुपुराणे—'शब्दादिष्वनुषक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्। कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः ॥ ४३ ॥ वश्यता परमा तेन जायते निश्चलात्मनाम्। इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः ॥ ४४ ॥' (६।७)।

'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्' (यो० सू० २।५५)। पूर्वोक्तार्थानुवादकमेवेदं सूत्रम्। ततः प्रत्याहारात् परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित्। शब्दादिसम्प्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये। रागाद्यभावे सुखदुःखशून्यशब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित्। सिद्धान्ते परमा त्वियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि। न यथैकेन्द्रियजये इन्द्रियान्तरजयाय प्रयत्नान्तरापेक्षा, न तथा चित्तनिरोधे बाह्येन्द्रियनिरोधाय प्रयत्नान्तरापेक्षेति। 'ततस्तदनन्तरं स्वस्वविषयासम्प्रयोगे, अर्थात् स्वस्वविषयान्निवृत्तौ' इत्यादिव्याख्यानं त्वपव्याख्यानमेव, तत इति पूर्वपरामर्शिसर्वनाम्ना प्रत्याहारस्यैव ग्रहणयोग्यत्वात्।

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (यो० सू० ३।१) नाभिचक्रादावभ्यन्तरे, बाह्ये सूर्यचन्द्रादौ प्रतिमादौ वा। 'एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते ॥७७॥ तच्च मूर्तं हरे रूपं यद्विचिन्त्यं नराधिप। तच्छ्रूयतामनाधारा धारणा नोपपद्यते ॥७८॥ प्रसन्नवदनं चारु पद्मपत्रनिभेक्षणम्। सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम् ॥७९॥' (विष्णुपुराणे, ६।७)।

तो परमेश्वर की स्वप्रकाशता का विरोध होगा, तो इसका उत्तर है कि आवरण के निवर्तक के रूप में ब्रह्म यद्यपि चित्त की वृत्ति का विषय हो सकता है, तो भी फलभूत ब्रह्म के साक्षात्कार में वृत्ति का व्यापार न रहने से उसकी स्वप्रकाशता में कोई बाधा नहीं पड़ती। इस तरह से ब्रह्म को इन्द्रियों का विषय मानने का समर्थन किसी भी तरह से नहीं किया जा सकता। इसीलिये सूत्रकार ने यहाँ इस शब्द का प्रयोग किया है। यही बात विष्णुपुराण में भी कही गई है—'प्रत्याहार के अभ्यास में लगा योगी शब्द आदि बाह्य विषयों में लगी इन्द्रियों को निगृहीत कर उनको चित्त की अनुवर्तिनी बना देता है। मानों वे चित्त के रूप में ही परिणत हो गई हो। ऐसा करने से उन इन्द्रियों को निश्चलता के कारण योगी का मन उसके वश में हो जाता है। यदि इन्द्रियाँ वश में न हों तो योगी कभी भी योग की साधना नहीं कर सकता।'

'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्' इस सूत्र में भी वही बात बताई गई है। अर्थात् इस तरह से प्रत्याहार का अभ्यास करने से योगी की इन्द्रियाँ पूरी तरह से उसके वश में हो जाती हैं। कुछ आचार्य शब्द प्रभृति विषयों का व्यसन न होना ही इन्द्रिय जय मानते हैं। अन्य आचार्यों का कहना है कि स्वेच्छा से इन विषयों का सम्पर्क छोड़ देना ही इन्द्रिय जय कहलाता है। राग आदि के अभाव में सुख और दुःख की अनुभूति से रहित शब्द आदि विषयों में इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी कुछ आचार्यों के मत से इन्द्रिय जय ही मानी जाती है। सिद्धान्त में इन्द्रियों का परम वशीकार यही है कि चित्त के निरोध के साथ ही इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। जैसे एक इन्द्रिय को जीत लेने पर अन्य इन्द्रियों का जय अपने आप हो जाता है, उसके लिये अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ता, उसी तरह से चित्त का निरोध हो जाने पर बाह्य इन्द्रियों के निरोध के लिये अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। 'इसके बाद अपने-अपने विषयों से सम्पर्क न होने से, अर्थात् अपने-अपने विषयों से निवृत्त हो जाने पर' यह व्याख्या गलत है, क्योंकि 'ततः' यह सर्वनाम शब्द है, यह प्रकृत पूर्व विषय का परामर्श करता है, अतः प्रत्याहार का ही इससे ग्रहण किया जा सकता है।

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' इस सूत्र का अर्थ यह है कि नाभिचक्र आदि आभ्यन्तर देश में अथवा बाह्य सूर्य, चन्द्रमा, प्रतिमा आदि में चित्त को बाँधना धारणा कही जाती है। जैसा कि विष्णुपुराण में कहा गया है—'इसको धारणा इसलिये कहते हैं कि इसमें भगवान् के स्वरूप में चित्त को लगाया जाता है। इस धारणा में भगवान् विष्णु के मूर्त्त स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये। यह इसलिये किया जाता है, क्योंकि विना आधार के कोई धारणा नहीं की जा सकती। भगवान् का यह मूर्त स्वरूप बहुत ही मनोहर है, उनकी आँखें कमलपत्र के सदृश हैं, उनका मुँह सदा प्रसन्नता से भरा रहता है, उनके गात्र बहुत ही कोमल हैं, उनका शरीर बड़ा विशाल है।'

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (यो० सू० ३।२)। ध्येयविषये विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहो ध्यानम्। 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' (यो० सू० ३।३)। ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण यदा शून्यमिव भवति, तदा ध्येयस्वभावावेशात् समाधिर्भवति। तदप्युक्तम्—'तस्यैव कल्पनाहीनस्वरूपग्रहणं हि यत्। मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते ॥' (वि० पुरा० ६।७।९) इति।

यदुक्तम्—'समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवति' इति, तदसङ्गतमेव, पौर्वापर्याननुसन्धानात्। परमात्मनि तदानन्दे चोभयत्र निमग्नता न सम्भवति, उभयालम्बनतायामैकाग्र्यासम्भवेन निमग्नत्वासम्भवात्। कश्च निमग्नो भवति ? योगी तच्चित्तं वा ? नाद्यः, तदेवेति सूत्राक्षरविरोधात्। नापि चित्तम्, तस्मादेव कारणात्, निमग्नः स्वरूपशून्य इति पुंल्लिङ्गप्रयोगविरोधाच्च। वस्तुतस्तु तदेवेत्यस्य ध्यानमेवेति व्यासभाष्योक्तमेव व्याख्यानं युक्तम्, तदनुगुणमेव स्वरूपशून्यमिवेति नपुंसकलिङ्गनिर्देशोऽपि सङ्गतः। न केवलं परमेश्वरे तदानन्द एव वा धारणाध्यानसमाधयो भवन्ति, अन्येष्वपि बाह्याभ्यन्तरेषु निर्दिष्टध्येयेषु तत्सम्भवात्। अत एव भाष्यनाम्ना स्वव्याख्यानोल्लेखो भ्रामक एव।

'त्रयमेकत्र संयमः' (यो० सू० ३।४)। त्रयाणामेकस्मिन् विषये सिद्धौ संयमसंज्ञा भवति। यदुक्तम्—'संयमश्चोपासनाया नवमाङ्गम्' इति, यच्च हिन्दीभाषायां परमेश्वरे मग्नतैव संयम इति, तदुभयमसङ्गतम्, स्ववचनविरोधात्। यदा परमेश्वरे निमग्नतैव संयमः, सैव च समाधिरपि, तदा कथं संयमस्य नवमाङ्गता ? यदुक्तम्—'धारणायुक्तं ध्यानं ध्यानयुक्तः समाधिः' इति, तदप्यसङ्गतम्, समेषामेषां भिन्नकालावस्थायित्वेन संयोगासम्भवात्। योगशास्त्रेऽपि संयमस्य न

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' ध्येय स्वरूप में विजातीय ज्ञानप्रवाह से बिना रुकावट पड़े सजातीय ज्ञान प्रवाह की निरन्तर प्रवृत्ति को ध्यान कहा जाता है। इसी स्थिति में अर्थात् ध्यान की स्थिति में ही ध्येय आकार का जब प्रतिभास मात्र बचा रह जाय और उसका स्वरूप शून्य के समान हो जाय, तब ध्येय स्वभाव में चित्त की वृत्ति का समावेश हो जाने से समाधि दशा की प्राप्ति हो जाती है। इस स्थिति का वर्णन भी विष्णुपुराण में ही किया गया है—'उसी भगवान् के किसी प्रकार की कल्पना से रहित शुद्ध स्वरूप का जब ग्रहण होता है, जो कि ध्यान से परिष्कृत चित्त से ही सम्भव हो सकता है, तो उस अवस्था को समाधि कहा जाता है।'

यहाँ दयानन्द ने कहा है—'समाधि में केवल परमेश्वर के और उसके आनन्दस्वरूप के ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है' (पृ० २०५), किन्तु यह कथन भी असंगत है, क्योंकि इसमें पूर्वापर ग्रन्थ का ठीक से अनुसन्धान नहीं किया गया। परमात्मा में और उसके ज्ञान में दोनों जगह चित्त की एकाग्रता नहीं बन सकती, क्योंकि चित्त यदि इन दोनों अवस्थाओं को अपना आलम्बन बनाता है, तब चित्त एकाग्र कैसे हो सकता है और वह एक जगह स्थिर कैसे रह सकता है। पुनः प्रश्न उठता है कि स्थिर योगी होता है कि उसका चित्त ? योगी की स्थिरता का वर्णन होगा तो सूत्र में 'तदेव' पद का प्रयोग गलत होगा। 'तदेव' पद से चित्त का ग्रहण भी इसलिये नहीं होगा, क्योंकि इसी कारण से निमग्न होकर स्वरूप शून्य हो जाता है, यहाँ पुंलिग का प्रयोग है, जो कि चित्त के लिये सही नहीं माना जा सकता। वास्तव में 'तदेव' पद का अर्थ 'ध्यान' ही लिया जायगा, जैसा कि व्यासभाष्य में किया गया है। इसी के अनुरूप 'स्वरूपशून्यमिव' इस तरह से नपुंसक लिंग का निर्देश भी संगत हो जाता है। केवल परमेश्वर अथवा उसके आनन्द में ही धारणा, ध्यान और समाधि नहीं होती, अन्य बाह्य और आभ्यन्तर निर्दिष्ट ध्येय वस्तुओं में भी धारणा आदि की स्थिति हो सकती है। इसीलिये भाष्य के नाम पर अपनी व्याख्या का उल्लेख करना भी भ्रामक है।

'त्रयमेकत्र संयमः' इस सूत्र का अर्थ यह है कि धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों की एक ही विषय में सिद्धि हो जाने पर उसकी संयम संज्ञा होती है। यहाँ दयानन्द ने संस्कृत व्याख्या में संयम को उपासना का नवाँ अंग माना है और हिन्दी भाषा की व्याख्या में 'परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम' (पृ० २०५) बताया गया है। ये दोनों ही बातें असंगत हैं। इसमें अपनी ही उनकी बात का विरोध पड़ता है। जब परमेश्वर में निमग्न हो जाना ही संयम है और इसी को समाधि भी कहते हैं, तब इसको अलग से नवाँ अंग कैसे माना जा सकता है ? 'धारणा से युक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है' (पृ० २०५) यह भी असंगत

नवमाङ्गताभ्युपगमः, किन्त्वेकस्मिन् विषये प्रवर्तमानस्य धारणा-ध्यान-समाधित्रयस्यैव संयम इति संज्ञामात्रमुक्तम्, न नवमाङ्गत्वम्, अष्टाङ्गेभ्योऽनतिरिक्तत्वात् ।

उपासनाविषये यान्युपनिषदां प्रमाणान्युक्तानि, तानि सर्वाण्यपि न तदभिप्रायानुगुणानि । एतेषामभिप्रायश्च संस्कृतभाषायामनुक्त्वा हिन्दीभाषायामुक्तः । कुत एतदिति तु नोक्तम् । 'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥' (कठोप० २।२४) । यो दुश्चरितात् सच्छास्त्रप्रतिषिद्धात् पापकर्मणोऽविरतोऽनुपरतः, यश्चाशान्त इन्द्रियलौल्यादनुपरतः, यश्चासमाहितो विक्षिप्तमनाः, समाहितोऽप्यशान्तमानसः समाधानफलार्थित्वेन व्यापृतचित्तो यः स प्रज्ञानेन शास्त्रजनितज्ञानमात्रेणैनं परमात्मानं नाप्नुयात् न प्राप्नोतीत्यर्थः । अर्थाद् दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौल्यादुपरतः समाहितचित्तः समाधानफलेऽपि निरपेक्षः स एवैनमात्मानं जानातीत्यर्थः । यदुक्तम्—'अयमुपासनायोगो दुष्टमनुष्याणां न सिद्ध्यति । यो वा दुष्टकार्येभ्यो निवृत्तो भूत्वा शान्तमना मनः शान्तमात्मानं च पुरुषार्थिनं न करोति तथा बाह्याभ्यन्तरान् व्यवहारान् न शोधयति तावत्कियद्भिरपि पठनैः श्रवणैश्च परमेश्वरप्राप्तिर्न भवितुं शक्नोति' इति, तत्त्वक्षरार्थाद् बाह्यमेव । आत्मानं पुरुषार्थिनं बाह्याभ्यन्तरान् व्यवहारान् न शोधयतीत्यादिबोधकशब्दानां मन्त्रेऽभावात् ।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्तो विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः । सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषोऽव्ययात्मा ॥' (मुण्डको० १।२।११) । मन्त्रार्थस्त्वयम्—पूर्वमन्त्रे इष्टापूर्तं वरिष्ठं नान्यच्छ्रेय इति मन्यमानानां नाकप्राप्तिं मनुष्यलोकप्राप्तिं हीनतरलोकप्राप्तिं चोक्त्वा तद्विपरीतानां परमात्मप्राप्तिरुच्यते । ये तद्विपरीता ज्ञानयुक्ता वानप्रस्थाः संन्यासिनः, तपःश्रद्धे तपः स्वाश्रमविहितं कर्म, श्रद्धा हिरण्यगर्भादिविषया विद्या, ते तपःश्रद्धे अरण्ये निर्जने वने नदीपुलिनादी वर्तमाना उपवसन्ति सेवन्ते शान्ता उपरतान्तर्बाह्यकरणाः सर्वपरिग्रहत्यागाद् भैक्ष्यचर्यां चरन्तः अरण्य उपविशन्ति

उक्ति है, क्योंकि इन सबकी स्थिति भिन्न-भिन्न कालों में होती है, अतः इनकी स्थिति एक साथ कभी नहीं रह सकती । योगशास्त्र में भी कहीं भी संयम को नवाँ अंग नहीं माना गया है, किन्तु एक ही आलम्बन में प्रवर्तमान धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनों का नाम संयम रखा गया है । इसको नवाँ अंग नहीं माना गया है । क्योंकि यह आठ अंगों से अतिरिक्त नहीं है ।

उपासना के विषय में जो उपनिषदों के प्रमाण दिये गये हैं । वे भी सब उनके अभिप्राय का समर्थन नहीं करते । इनका अभिप्राय संस्कृत में न बताकर हिन्दी भाषा में स्पष्ट किया गया है । ऐसा क्यों किया ? इसका वहाँ कोई स्पष्टीकरण नहीं किया गया है । इनमें पहला मन्त्र है 'नाविरतः' इत्यादि । इसका अर्थ यह है—जो व्यक्ति दुश्चरित से अर्थात् सच्छास्त्र में निषिद्ध पाप कर्म से विरत नहीं होगा, जो अशान्त है, अर्थात् इन्द्रियों की लोलुपता में लिप्त है, जो असमाहित अर्थात् विक्षिप्त मन वाला है और जो समाहित होने पर भी अशान्त चित्त है, अर्थात् समाधि की अवस्था की प्राप्ति के लिये व्याकुल है, वह प्रज्ञान से अर्थात् शास्त्राभ्यास से उत्पन्न ज्ञान मात्र से परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकता । अर्थात् दुष्कर्म से विरत, इन्द्रियों की चंचलता से दूर, समाधि मन वाला और समाधि के द्वारा किसी फल की प्राप्ति से भी जो विरत है, वही व्यक्ति इस परमात्मा को जान सकता है । दयानन्द ने यहाँ कहा है—'यह उपासना योगदुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना ही पढ़े या सुने, उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती' (पृ० २०६), यह कथन इस मन्त्र के अक्षरों से सर्वथा विपरीत है, क्योंकि इस मन्त्र में पुरुषार्थी आत्मा को बाह्य और आभ्यन्तर व्यवहारों से शुद्ध नहीं करता, इस अर्थ के बोधक पदों का सर्वथा अभाव है ।

'तपःश्रद्धे०' इत्यादि यहाँ उद्धृत दूसरे मन्त्र का अर्थ यह है—मुण्डक श्रुति के इस मन्त्र से पहले के मन्त्र में इष्ट और पूर्त कर्मों से बढ़ कर अन्य कुछ कल्याणकारक कर्म नहीं है, ऐसा मानने वालों के लिये स्वर्गलोक, मनुष्यलोक और अन्य हीनतर लोकों की प्राप्ति की बात कह कर इसके विपरीत इस मन्त्र में इस तरह के कर्मों में लिप्त न होने वालों के लिये परमात्मा की प्राप्ति की बात कही गई है । जो मनुष्य इष्ट और पूर्त कर्मों में अनुरक्त पुरुषों से विपरीत ज्ञान की प्राप्ति में अनुरक्त है और इसकी प्राप्ति के लिये वानप्रस्थ अथवा संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होकर आश्रम विहित तप का आचरण करते हैं और श्रद्धापूर्वक हिरण्यगर्भ प्रभृति से संबद्ध

ते विरजा विरजसः क्षीणपापाः सूर्यद्वारेण सूर्योपलक्षितेनोत्तरायणेन यथा प्रयान्ति ब्रह्मलोकम्, यत्र यस्मिन् ब्रह्मलोके अमृतः स पुरुषो हिरण्यगर्भः प्रथमजः अव्ययात्मा अव्ययस्वभावः यावत्संसारस्थायी तिष्ठति। यत्तूपवसन्तीत्यस्य परमेश्वरसमीपे वसन्तीति तन्न, 'तपःश्रद्धे' इति प्रत्यक्षकर्मणः क्रियासाकाङ्क्षत्वेन तदतिक्रम्य कर्मान्तरकल्पनायोगात्। नहि वसत्याश्रयत्वेन परमात्मन एव ग्रहणं युक्तम्, उपसर्गवशाद् धातोरर्थान्तरताया विहाराहारपरिहारादौ दर्शनात्। अरण्यपदेनापि शक्यमर्थं वनमपहाय नान्यद् गौणार्थग्रहणं युक्तम्, अन्वयानुपपत्त्याद्यभावात्। सर्वोऽपि हृदयेऽनिच्छयापि वसत्येव। सूर्यद्वारेणेत्यत्रापि प्राणग्रहणं न युक्तम्, असूर्यद्वारेण गमनेऽपि प्राणद्वारैव गमनं भवतीति तत्र वैशेष्यानुपपत्तेः। अमृतपदेन परमात्मग्रहणमपि न युक्तम्, अमृतब्रह्मप्राप्तेर्ब्रह्मात्मापरोक्षसाक्षात्कारसाध्यत्वेनोपासनफलत्वानुपपत्तेः, गत्यनपेक्षत्वाच्च। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० आ० ४।४।६) इति श्रुत्या ब्रह्मविदो गतिमन्तरैव सर्वात्मभावश्रवणात्। अत एवोक्तं शङ्करभगवत्पादैः—'ननु एतं मोक्षमिच्छन्ति केचित्, तन्न, 'इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामास्ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीराः', 'युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति', इत्यादिश्रुतिभ्याम्। अप्रकरणाच्च अपरविद्यायाः प्रकरणे हि प्रकृते नह्यकस्मान्मोक्षप्रसङ्गोऽस्ति। विरजस्त्वं त्वापेक्षिकम्। समस्तमपरविद्याकार्यं साध्यसाधनलक्षणं क्रियाकारकफलभेदकं द्वैतम्। एतावदेव हिरण्यगर्भप्राप्त्यवसानम्। अत एव–'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥' (मुण्डको० १।२।१२) इत्यग्रिममन्त्रेण ब्रह्मविद्याप्रसङ्गस्य वर्णयिष्यमाणत्वात्' इति।

विद्या का अभ्यास करते हैं और निर्जन वन, नदी तट आदि एकान्त स्थानों में निवास करते हैं, सब तरह के परिग्रह का त्याग कर अपनी बाह्य और आन्तर इन्द्रियों को शान्त कर लेते हैं और भिक्षा माँग कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं, वे क्षीणपाप व्यक्ति उत्तरायण मार्ग से उस ब्रह्मलोक में पहुँच जाते हैं, जिसमें कि वह अमृतमय पुरुष हिरण्यगर्भ, जो कि सब प्राणियों से पहले उत्पन्न हुआ और जब तक यह संसार रहेगा, तब तक जिसका कुछ बिगड़ने वाला नहीं है, निवास करता है। दयानन्द ने 'उपवसन्ति' पद का अर्थ परमेश्वर के पास रहते हैं, ऐसा किया है। यह गलत है, क्योंकि 'तप और श्रद्धा' मन्त्र में प्रत्यक्ष ही कर्म के रूप में निरूपित किये गये हैं। इनको क्रिया की अपेक्षा है। अतः उक्त क्रिया से इन्हीं का सम्बन्ध न कर परमात्मा का कर्म के रूप में अध्याहार गलत है। वस् धातु के कर्म के रूप में परमात्मा का ही ग्रहण किया जाय, यह ठीक नहीं है, क्योंकि उपसर्ग के कारण धातु के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है, इस बात को विहार, आहार, परिहार आदि में स्पष्ट देखा जा सकता है। अरण्य पद के भी शक्य (प्रसिद्ध) अर्थ वन को छोड़कर दूसरा गौण अर्थ करना उचित नहीं है, क्योंकि गौण अर्थ तो वहीं ग्रहण किया जाता है, जहाँ कि अन्वय की उपपत्ति न होती हो। [सभी प्राणी अनिच्छा से ही हृदय में निवास करते ही हैं। 'सूर्यद्वारेण' यहाँ भी प्राण अर्थ करना गलत है, क्योंकि सूर्यमार्ग से न जाने पर भी प्राण के द्वारा तो गमन सभी अवस्थाओं में होता है, अतः इसमें किसी विशेषता की बात नहीं हो सकती है। अमृत पद से परमात्मा का ग्रहण करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अमृत ब्रह्म को प्राप्ति ब्रह्मात्मतत्त्व के अपरोक्ष साक्षात्कार से ही हो सकती है, अतः उसको उपासना के फल के रूप में नहीं प्रदर्शित किया जा सकता और फिर ब्रह्मात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये कहीं जाना भी नहीं पड़ता, क्योंकि 'उस ब्रह्मवेत्ता के प्राण कहीं जाते नहीं' इस बृहदारण्यक श्रुति के अनुसार बिना कहीं गये ही ब्रह्मवेत्ता के सर्वात्मभाव की बात स्वीकार की गई है। इसीलिये भगवान् शंकराचार्य ने कहा है—'कुछ लोग इसी स्थिति को मोक्ष के नाम से जानते हैं, यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'उनकी सब कामनाएँ यहीं लीन हो जाती हैं', 'वे धीर योगी गण उस सर्वत्र विद्यमान ब्रह्मात्मतत्त्व का साक्षात्कार कर उस सर्वस्वरूप में ही प्रविष्ट हो जाते हैं' इन दो श्रुतियों के प्रमाण से युक्तात्मा को कहीं जाना नहीं है। इसका यहाँ कोई प्रसंग भी नहीं है। अपर विद्या के प्रसंग में अकस्मात् मोक्ष का वर्णन होने लगे, यह संभव भी नहीं है। विरजावस्था तो आपेक्षिक मानी जाती है। अपर विद्या का सारा कार्य साध्य और साधन के रूप में तथा क्रिया, कारक और फल के भेद के रूप में द्वैत प्रपञ्च के अन्तर्गत ही आता है। इसीलिये इसकी समाप्ति हिरण्यगर्भ की प्राप्ति तक हो जाती है। श्रुतियों में बताया गया है कि 'कर्म की सहायता से प्राप्त होने वाले लोकों की परीक्षा करके ब्रह्मवेत्ता को निर्वेद (वैराग्य) हो गया कि यह अकृत मोक्ष कर्मों से प्राप्त नहीं हो सकता'। 'एक ब्रह्म की अवगति के लिये वह उस गुरु के पास ही जाय, जो कि स्वयं ब्रह्मवेत्ता है' इन मन्त्रों को देखने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मविद्या का प्रसंग अभी आगे आवेगा।

'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं, तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥१॥ तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ २ ॥ स ब्रूयाद्यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते। उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ॥ ३ ॥ तं चेद् ब्रूयुरस्मिंश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरामाप्नोति प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ४ ॥ स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते। एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनम्। यं यमन्तमभिकामा भवन्ति। यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ५ ॥ (छा० ८।१)। मन्त्रार्थस्तु—अथानन्तरं यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे ब्रह्मणः परमात्मनः पुरं राज्ञोऽनेकामात्यादिप्रकृतीनां यथा पुरं तथैवानेकेन्द्रियमनोबुद्धिभिः स्वाम्यर्थकारिभिर्युक्तत्वाद् इदमपि पुरम्। पुरे च यथा राज्ञो वेश्म तदा तस्मिन् ब्रह्मपुरे शरीरे दहरं वेश्म ब्रह्मण उपलब्धिस्थानम्। तस्मादस्मिन् हृदयपुण्डरीके वेश्मनि उपसंहृतकरणैर्बाह्यविषयविरक्तैर्विशेषतो ब्रह्मचर्यसत्यसाधनाभ्यां युक्तैर्वक्ष्यमाणगुणविशिष्टं ब्रह्म ध्यायमानैस्तदुपलभ्यते। अस्मिन् हृदयपुण्डरीके वेश्मनि दहरोऽल्पतरोऽन्तराकाशः, वेश्मनोऽल्पत्वात् तदन्तर्वर्तिनोऽल्पतरत्वं युक्तमेव। अयमन्तराकाशो ब्रह्मैव, आकाश इवाशरीरत्वात्, तद्वदेव सूक्ष्मत्वात् सर्वगतत्वाच्च। तस्मिन्नाकाशे यदन्तर्मध्ये तदाश्रयेण सहान्वेष्टव्यम्। तद्वाव तदेव विशेषेण गुर्वाश्रयणाद्युपायैरन्विष्य च साक्षात्कर्तव्यम्। यद्वा बुद्ध्यभिव्यक्ते आकाशाख्ये ब्रह्मणि यच्च स्वाभाविकं निरुपाधिकं स्वरूपं यच्चौपाधिकं द्यावापृथिव्यादिकं तदन्वेष्टव्यम्।

तमेवमुक्तवन्तमाचार्यं चेद् ब्रूयुः शिष्या यदस्मिन् ब्रह्मपुरे परिच्छिन्नेऽन्तर्दहरं पुण्डरीकं (पुण्डरीकं वेश्म)-ततोऽप्यल्पतर एवाकाशस्तत्र किं भवेत्, न किञ्चन विद्यत इत्यर्थः। यदि किमपि वदरतुल्यं स्यादपि, तथापि तदन्वेषणेन विजिज्ञासनेन वा किं फलम्?

इसके आगे स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ में छान्दोग्य उपनिषद् के 'अथ यदिद०' इत्यादि पांच मन्त्र उद्धृत किये हैं। उनका अर्थ यह है—इसके बाद इस ब्रह्मपुर में अर्थात् शरीर में उस ब्रह्म का अन्वेषण करना चाहिये। इस शरीर को ब्रह्मपुर इसलिये कहा जाता है कि यह ब्रह्म अर्थात् परमात्मा का पुर है। जिस तरह से किसी राजा के नगर में उसके मन्त्री, प्रजा आदि अनेक व्यक्ति निवास करते हैं, उसी तरह से इस शरीर नगर में भी इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का निवास है और ये उसी तरह से आत्मा की सेवा में लगे रहते हैं, जैसे कि किसी राजा के सेवक उसकी सेवा में निरत रहते हैं। इस नगर में जैसे राजा का प्रासाद भी रहता है, उसी तरह से इस ब्रह्मपुर में भी दहर नामक स्थान उस ब्रह्म के रहने का प्रासाद है। इसलिये इस हृदय-पुण्डरीक रूप प्रासाद में अपनी इन्द्रियों को समेट कर और बाह्य विषयों से विरक्त होकर, विशेषतया ब्रह्मचर्य और सत्य की साधना में लग कर आगे कहे गये विभिन्न गुणों वाले ब्रह्म का ध्यान करने वाले योगी को उसकी उपलब्धि हो जाती है। इस हृदय-पुण्डरीक प्रासाद में एक छोटा सा स्थान है। नगर की अपेक्षा प्रासाद थोड़ी ही जगह घेरता है, अतः उसके भीतर का स्थान और भी स्वल्प हो, यह ठीक ही है। यह आन्तर आकाश ब्रह्म ही है, क्योंकि आकाश के कोई शरीर नहीं होता और आकाश की ही तरह यह सूक्ष्म और सर्वत्र व्याप्त है। उस आकाश के बीच में हो, उसके सहारे से ही इस ब्रह्म को खोजना चाहिये और उसी को गुरु प्रभृति की सहायता से ठीक से समझ कर तथा उनके बताये उपायों का सहारा लेकर उसका साक्षात्कार करना चाहिये। अथवा बुद्धि में अभिव्यक्त आकाशस्वरूप ब्रह्म का जो स्वाभाविक निरुपाधिक स्वरूप है और जो औपाधिक स्वरूप है, उन सबका अन्वेषण करना चाहिये।

इस तरह से उपदेश करते हुए आचार्य से यदि शिष्यगण पूछें कि इस ब्रह्मपुर में विद्यमान परिच्छिन्न दहर अर्थात् हृदय-पुण्डरीक में विद्यमान घर में जो बहुत थोड़ा सा आकाश है, उसमें क्या हो सकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं हो सकता। यदि कोई छोटी-मोटी वस्तु हो भी, तो उसको खोज करने से अथवा उसको जान लेने से भी क्या लाभ मिल सकता है?

तत्राचार्यो ब्रूयादिति श्रुतिवचनम्। 'यत्पुण्डरीकान्तःस्थस्याल्पत्वात् तत्स्थस्याल्पतरत्वमुच्यते' इति, तन्न, तस्याभिप्रायान्तरत्वात्। तथाहि—तत्राल्पे पुण्डरीकवेश्मनि पुण्डरीकाकाशपरिच्छिन्नं तत्स्थं तदनुविधाय्यन्तःकरणं तस्मिन् विशुद्धे संहृतकरणानां योगिनां स्वच्छोदके आदर्शे वा यथा प्रतिबिम्बरूपं दृश्यते, तथैव स्वच्छं विज्ञानं ज्योतिःस्वरूपं ब्रह्मोपलभ्यते। स एव दहरोऽन्तराकाशः, दहरत्वस्यान्तःकरणोपाधिनिमित्तत्वात्। स्वतस्तु यावान् वै प्रसिद्धोऽयं भूताकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदये आकाशो यस्मिन्नन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यमुक्तम्। तत्रापि यावानित्यादिनाकाशतुल्यपरिमाणत्वं न विवक्षितम्, किन्तु दृष्टान्तान्तरासम्भवात्तथोक्तिः। 'येनावृतं खं च दिव्यं महीं च' (महानारा० १।१), 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० उ० २।१), 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश···' (बृ० उ० ३।८।११) इत्यादिश्रुतिभ्यः। उभे द्यावापृथिवी ब्रह्माकाशे बुद्ध्युपाधिविशिष्टे अन्तरेव समाहिते स्थिते। तथोभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ। विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्यात्मनो देहवतश्चात्मीयत्वेनास्ति विद्यते यच्च नास्ति, नष्टं भविष्यच्चात्र नास्तिपदेनोच्यते, सर्वमत्र समाहितम्, कारण एव सर्वेषां कार्याणामवस्थानसम्भवात्। आकाशपृथिव्याद्यधिष्ठानस्य तत्कारणब्रह्मस्वरूपत्वमेव युक्तम्।

पुनश्च तमाचार्यं चेद् ब्रूयुः शिष्या यदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं सर्वाणि भूतानि सर्वे च कामाः समाहिता उक्ताः। यदा यस्मिन् काले एतच्छरीरं ब्रह्मपुराख्यं जरावलीपलितलक्षणां वयोहानिमाप्नोति शस्त्रादिना वा वृक्णं प्रध्वंसते विनश्यति, किं ततोऽन्यदतिशिष्यते घटनाशे घटाश्रितक्षीरदधिस्नेहादिवद् देहनाशे पूर्वपूर्वनाशादुत्तरोत्तरं नश्यत्येव, ततस्तत्र किं भविष्यति यदन्वेष्टव्यमिति।

तान् प्रत्येवमाचार्यो ब्रूयाद् नास्य देहस्य ब्रह्मपुरस्य जरयैतदाकाशाख्यं ब्रह्म तस्मिन् समाहितं सर्वं जीर्यते। न

श्रुति का कहना है कि आचार्य इसका यह उत्तर दे कि हृदय-पुण्डरीक के भीतर का आकाशस्वल्प और स्वल्पतर है, इसका अभिप्राय कुछ दूसरा ही है। वह यह कि इस हृदय-पुण्डरीकरूप गृह में, उसके भीतर वर्तमान आकाश में स्थित, उसका सदा अनुवर्तन करने वाले विशुद्ध अन्तःकरण में अपनी इन्द्रियों को समेट कर रहने वाले योगी को, स्वच्छ जल अथवा दर्पण में जैसे प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, उसी तरह से अपने विज्ञानात्मक ज्योतिर्मय स्वरूप का ज्ञान होता है, अर्थात् ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है। इसी को दहराकाश या आन्तर आकाश कहते हैं। इसको दहर इसलिये कहते हैं कि यह अन्तःकरण की उपाधि का निमित्त है। वास्तव में यह बाहर दिखाई पड़ने वाला मूलाकाश जितना विस्तृत है, उतना ही विस्तृत यह हृदयाकाश भी है। इसी में इस ब्रह्म का अन्वेषण करना है और उसको जानना है। यहाँ भी आकाश को उदाहरण के रूप में नहीं रखा गया है, किन्तु कोई दूसरा दृष्टान्त न मिलने से ऐसा कहा गया है। 'जिससे यह सारा आकाश, अन्तरिक्ष और पृथिवी आवृत हैं', 'इसी आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ', 'हे गार्गि, इसी ब्रह्मरूप आकाश में' इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। आकाश और पृथिवी दोनों इस बुद्धि की उपाधि से विशिष्ट ब्रह्माकाश में विद्यमान हैं। इसी तरह से अग्नि और वायु, सूर्य और चन्द्रमा, विद्युत् और नक्षत्र तथा और भी जो कुछ इस सशरीर आत्मा से संबद्ध वस्तुएँ हैं और उससे संबद्ध नहीं भी हैं, जो कुछ नष्ट हो गया है अथवा भविष्य में होने वाली है उसको यहाँ 'नास्ति' पद से बताया गया है, यह सब कुछ इसी ब्रह्म में समाहित है, उसीमें विद्यमान है, क्योंकि कारण में ही सभी कार्यों की अवस्थिति मानी जाती हैं। आकाश, पृथिवी प्रभृति सभी पदार्थों का अधिष्ठान उस सब के कारण ब्रह्म को ही माना गया है।

फिर भी यदि उस आचार्य को शिष्य पूछें कि जिस ब्रह्मपुर में सब भूत, सब काम समाहित बताये गये हैं, उसमें जिस समय वृद्धावस्था के कारण जीर्णता आ जाती है, आयु क्षीण हो जाती है अथवा शस्त्र आदि के आघात से वह शरीर नष्ट हो जाता है, तब क्या बचा रह जाता है? घर के नष्ट हो जाने पर जैसे उसमें रखा हुआ दूध, दही अथवा घृत आदि पदार्थ भी नष्ट हो जाता है, उसी तरह से देह के नष्ट हो जाने पर उसमें विद्यमान दहराकाश आदि स्वयं नष्ट हो जायेंगे। तब क्या बचा रहेगा, जिसका कि अन्वेषण किया जाय?

उनको आचार्य यह उत्तर दें कि इस ब्रह्मपुर अर्थात् देह के जराजीर्ण होने से यह दहराकाश में विद्यमान ब्रह्म अथवा उसमें समाहित सभी पदार्थ जीर्ण नहीं हो जाते और न इस देह के नाश से वह नष्ट ही होता है। जब यह मूलाकाश ही शस्त्रादि के

चास्य वधेन हन्यते। यदा भूताकाशमपि शस्त्रादिघातेन न हन्यते, तदा ततोऽपि सूक्ष्मतरमशब्दमस्पर्शं ब्रह्म कथं देहादिविकारैर्विक्रियेत। एतत्सत्यमवितथं ब्रह्मपुरम्। शरीराख्यं ब्रह्मपुरं तु ब्रह्मोपलक्षणार्थत्वाद् गौणमेव ब्रह्मपुरम् तत्त्वनृतमेव, 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (छा० ६।१।४) इति श्रुतेः। सत्यं तु ब्रह्मपुरमेव, तस्यैव सर्वाकाशपृथिव्याद्यास्पदत्वात्। अस्मिन्नेव सर्वे कामा ये बहिः प्रार्थ्यन्ते ते समाहिताः, तस्माद् बाह्यविषयतृष्णां त्यजत, तत्प्राप्त्युपायमनुतिष्ठत, एतद् भवतां स्वरूपम्। तल्लक्षणमुच्यते—एष अपहतपाप्मा अपहतो धर्माधर्मरूपः पाप्मा यस्य स तथोक्तः। विजरो जरादिरहितः, न स्वसम्बन्धिभ्यां जरामृत्युभ्यां नान्यसम्बन्धिभ्यां न वा स्वतस्ताभ्यां सम्बद्धयते। विशोक इष्टवियोगादिमूलकमानसतापरहितः, विजिघत्सो विगतभोजनेच्छः, अपिपासः पिपासारहितः, विजरादिग्रहणं सर्वदुःखनिवृत्त्युपलक्षणार्थम्। सत्यकामः सत्या अवितथाः कामा यस्य सः, सत्यसङ्कल्पः सत्याः सङ्कल्पा यस्य सः, शुद्धसत्त्वोपाधिनिमित्तत्वात्। न स्वतस्तस्मिन् सत्यकामादयः, नेति नेतीत्यादिभिस्तस्य स्वतोऽशेषविशेषातीतत्वात्। अतस्तद्गुरुशास्त्राद्याश्रयेणावश्यं विज्ञेयम्। अन्यथा यथेहैव लोके प्रजा अन्वाविशन्ति अनुवर्तन्ते यथानुशासनं यथेह प्रजा स्वामिनो यथा यथानुशासनं तथा तथा अन्वाविशन्ति। यं यमन्तं प्रत्यन्तं जनपदं क्षेत्रभागं चाभिकामा अर्थिन्यो भवन्ति, आत्मबुद्ध्यनुरूपं तं तमेवोपजीवन्ति। एतेन दृष्टान्तेन पुण्यफलोपभोगेऽस्वातन्त्र्यमेव द्योत्यते।

तत्रैव षष्ठेन मन्त्रेण पुण्यभोगक्षयं दृष्टान्तेनोक्त्वा परमात्मोपासनेन सर्वकामावाप्तिरुक्ता। 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते। तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान् तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति। अथ य इह आत्मानमनुविद्य व्रजन्ति एतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति,

प्रहार से नष्ट नहीं होता, तो उससे भी अत्यन्त सूक्ष्म यह शब्द-स्पर्श प्रभृति से रहित ब्रह्म देहादि में आये विकार से कैसे विकृत हो सकता है? यह कभी न विकृत होने वाला ब्रह्मपुर ही वास्तविक है, इसके विपरीत शरीर के नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मपुर तो ब्रह्म का उपलक्षक मात्र होने से गौण ब्रह्मपुर है, अत एव मिथ्या है। 'वाचारम्भणं' प्रभृति छान्दोग्य श्रुति नाम को विकार ही बताती है। ब्रह्मपुर ही वस्तुतः सत्य है, क्योंकि वही आकाश, पृथिवी आदि का आश्रय है। इसी में सभी कामनाएँ; जिनको कि प्राप्त करने के लिये प्रार्थना की जाती है, समाहित है। इसलिये बाह्य विषयों की तृष्णा को छोड़ देना चाहिये और उस ब्रह्म की प्राप्ति के लिये ही उपाय करना चाहिये। यही आप लोगों का वास्तविक स्वरूप है। उसका लक्षण यह है। वह ब्रह्म अपहतपाप्मा है, अर्थात् इसका धर्म अथवा अधर्म से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रहता। यह वृद्धावस्था से रहित है। इसका जरा और मृत्यु से न तो अपने से कुछ सम्बन्ध है और न दूसरे के कारण ही और न यह स्वयं ही उनसे कभी संबद्ध होता है। इसमें इष्ट-मित्र आदि के वियोग से होने वाला शोक कभी व्याप्त नहीं होता। इसमें कभी भोजन करने की इच्छा नहीं होती और न प्यास ही लगती है। विजर प्रभृति शब्दों का ग्रहण यहाँ इसलिये किया गया है कि इसमें किसी भी प्रकार के दुःख की कभी स्थिति नहीं रहती। इसकी कामना और संकल्प सदा सही रहते हैं, क्योंकि शुद्ध सत्त्व इसकी उपाधि है। वास्तव में स्वतः इसमें कोई कामना, संकल्प आदि की स्थिति नहीं रहती, किन्तु शुद्ध सत्त्व की उपाधि रूप में स्थिति के कारण ही यह होता है। 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति वचनों के आधार पर वस्तुतः इस ब्रह्म का स्वरूप समस्त विशेषताओं से परे है। अतः उसको गुरु, शास्त्र आदि की सहायता से ही जाना जा सकता है। अन्यथा उसको भी वही स्थिति हो जाती है, जो कि किसी राजा का अनुवर्तन करने वाली प्रजा की होती है कि वह उसी तरह से रह पाता है, जैसा कि राजा उसको रहने की आज्ञा करता है। इस दृष्टान्त से यह बताया गया है कि जैसे प्रजा का कहीं भी, किसी भी जनपद में निवास वहाँ के शासन से अनुशासित रहता है, उसी तरह से यह जीव भी पुण्य फल के उपभोग के लिये पराधीन है।

इसी प्रकरण के छठें मन्त्र से पुण्यकर्म के फल का भोग पूरा हो जाने पर क्या स्थिति होती है, इस बात को उदाहरण देकर समझाने के बाद यह बताया गया है कि परमात्मा की निष्काम उपासना से सभी फलों की प्राप्ति हो जाती है। जैसे यहाँ सेवा प्रभृति के कारण प्राप्त स्थिति का क्षय देखा गया है, उसी तरह से दूसरे लोकों में भी पुण्य के कारण प्राप्त हुई स्थिति क्षीण हो जाती है। जो व्यक्ति इस लोक में कर्तव्य सेवा प्रभृति से विरक्त होकर शास्त्र के उपदेश के अनुसार आत्मा के लक्षणों को बिना जाने ही देह

(छां० ८।१।६)। यथेह लोके सेवादिकर्मजितो लोको भोगः क्षीयते, तथैवामुत्र स्वर्गादावपि पुण्यजितो लोको भोगः क्षीयते। ये च ततो विरज्य यथाशास्त्रं यथोक्तलक्षणमात्मानमननुविद्य स्वसंवेद्यतामकृत्वा गच्छन्ति देहात्प्रयन्ति एतांश्च सत्यान् कामान् अननुविद्य व्रजन्ति, तेषां सर्वलोकेष्वकामचारोऽस्वातन्त्र्यं भवति। ये चान्ये आत्मानं शास्त्राचार्योपदेशमनुविद्योपास्य यथोक्तांश्च सत्यान् कामान् अनुविद्योपास्य गच्छन्ति तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति सार्वभौमस्येव।

दयानन्देन तु हिन्द्यामयं भाव उक्तः—'कण्ठस्याधस्तात् उदरस्योपरिष्टात् स्तनयोर्मध्ये हृदयदेशो ब्रह्मपुरम्। तस्मिन् यो गर्तस्तत्र यत्कमलाकारम् अवकाशरूपं स्थानं विद्यते, तस्य मध्ये सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाह्येऽभ्यन्तरे चैकरसो भूत्वा पूर्यते। स आनन्दरूपः परमेश्वरस्तस्मिन्नेतस्मिन् प्रकाशिते स्थानेऽन्वेषणेन लभ्यते। अन्यत्तदन्वेषणस्थानं मार्गश्च नास्त्येव। यदि कश्चित्पृच्छति हृदयाकाशे किमस्ति यदन्वेष्टव्यम्, तस्येदमुत्तरम्—हृदयदेशे यावानाकाशः स सर्वोऽन्तर्यामिणा परमेश्वरेण पूर्णः, तस्मिन्नेव हृदयाकाशस्य मध्ये सूर्याकाशपृथिवीलोकाग्निवायुसूर्यचन्द्रविद्युन्नक्षत्राणि यानि दृश्यन्ते, यानि च न दृश्यन्ते, सर्वाणि वस्तूनि सन्ति तत्सत्तायां स्थिराणि। यदि कश्चिदाशङ्केत वृद्धावस्थानन्तरं हृदयस्य नाशे तत्र किमवशिष्यते यदन्विष्येत, तत्रोत्तरम्—तत्र ब्रह्मपुरे पूर्णो यः परमेश्वरोऽस्ति तस्य जरामरणादिकं न भवति। तस्यैव नाम सत्यं ब्रह्मपुरम्, यत्र सर्वे कामाः पूर्यन्ते। स अपहतपाप्मा शुद्धस्वभावो विजरो विशोकोऽविजिघत्सः, यस्य सर्वे कामाः सत्याः, यः सत्यसङ्कल्पः, तत्रैवाकाशे प्रलयकाले सर्वाः प्रजाः प्रविशन्ति। तदुपासनयैव सृष्टिकाले पुनः प्रकाशमुपयान्ति। तदुपासनयोपासका यान् कामान् यान् देशान् यान् क्षेत्रभागान् इच्छन्ति, तान् यथावत्प्राप्नुवन्ति' इति।

अयं चार्थोऽक्षरार्थाननुगुणोऽसङ्गतश्च। यदिदं ब्रह्मपुरमित्यनेन शरीरस्यैव ब्रह्मपुरत्वोक्तिः। यदिदमित्यस्य

छोड़ देते हैं और इन सत्य कामनाओं को बिना जाने ही जिनका शरीरपात हो जाता है, वे दूसरे लोक में जाकर भी स्वतन्त्र नहीं हो सकते और जो व्यक्ति अपने स्वरूप को शास्त्र और गुरु के उपदेश के अनुसार जान कर और परमात्मा की तदनुसार उपासना कर साथ ही यथोक्त सत्य कामनाओं को भी जान कर उस लोक में जाता है, तो वहाँ सभी लोगों में उसकी स्वतन्त्र सत्ता रहती है, जैसे कि सार्वभौम नृपति जहाँ भी जायगा, उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रहेगी।

दयानन्द ने इन मन्त्रों का अर्थ हिन्दी में इस तरह से किया है—कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर-भीतर एकरस होकर रह रहा है, वह आनन्दमय परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है। कदाचित् कोई पूछे कि उस हृदयाकाश में क्या रखा है, जिसकी खोज की जाय? तो उसका उत्तर यह है कि हृदय देश में जितना आकाश है, वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर से ही भर रहा है और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य आदि प्रकाश छाया पृथिवी लोक, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, विजुली और सब नक्षत्र लोक भी ठहर रहे हैं। जितने दीखनेवाले और नहीं दीखनेवाले पदार्थ हैं, वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं। इसमें भी कोई ऐसी शंका करे कि जिस ब्रह्मपुर हृदयाकाश में सब भूत और काम स्थिर होते हैं, उस हृदयप्रदेश के वृद्धावस्था के उपरान्त नाश हो जाने पर उसके बीच में क्या बाकी रह जाता है कि जिसको तुम खोजने को कहते हो ? तो उसका उत्तर यह है कि सुनो भाई, उस ब्रह्मपुर में जो परिपूर्ण परमेश्वर है, उसको न तो कभी वृद्धावस्था होती है और न कभी नाश होता है। उसी का नाम सत्य ब्रह्मपुर है कि जिसमें सब काम परिपूर्ण हो जाते हैं। वह सब पापों से रहित, शुद्धस्वभाव, जरा अवस्था से रहित, शोकरहित, खाने-पीने की इच्छा से रहित है। इसकी सब कल्पनाएँ सत्य होती है, इसके सब संकल्प भी सत्य हैं। उसी आकाश में प्रलय होने के समय सब प्रजा प्रवेश कर जाती है और उसी के रचने से उत्पत्ति के समय फिर प्रकाशित होती है। इस पूर्वोक्त उपासना से उपासक लोग जिस जिस कल्पना की, जिस जिस देश की जिस जिस क्षेत्र भाग अर्थात् अवकाश की इच्छा करते हैं, उन सबको वे यथावत् प्राप्त होते हैं, (पृ० २०६-२०७)।

यह अर्थ मन्त्राक्षरों के अनुकूल नहीं है और सही भी नहीं है। यहाँ जिस ब्रह्मपुर की चर्चा की गई है, वह शरीर ही है,

प्रसिद्धार्थंबोधकत्वात् । जरादिविकाराणामपि तत्रैव प्रसिद्धेः। तत्र दहरं पुण्डरोकं ब्रह्मणो वेश्मेत्युक्तम्। तस्मिन् दहरस्यान्तराकाशस्यान्तर्यदस्ति तस्यैवान्वेष्टव्यत्वमुक्तम्। त्वया तु वेश्मपदेनावकाशरूपमेव स्थानमुक्तम्। मूले तु दहरं पुण्डरीकमेवोक्तम्। तत्स्थस्याकाशस्यैवान्वेष्टव्यानामाश्रयत्वमुक्तम्। सर्वशक्तिमान् परमेश्वरः कस्य शब्दस्यार्थं इति नोक्तम्। अत्र त्वाकाशशब्दातिरिक्तं ब्रह्मबोधकं पदान्तरं नास्त्येव। यदि तु तदाकाशपदमेव तद्बोधकं तदा प्रश्नस्तस्मिन् हृदयाकाशे किमस्ति यदन्वेष्टव्यमिति नोपपद्यते। उत्तरेऽपि हृदयदेशे यावानाकाशः सोऽन्तर्यामिणा पूर्णं इत्युक्तम्। मूले तु यावानयमाकाशस्तावान् हृदय आकाश उक्तः। तस्मिन्नाकाश एव द्यावापृथिव्यादीनामवस्थानमुक्तम्। त्वयापि हृदयाकाशे पृथिव्यादीनामवस्थानमुक्तम्। ब्रह्म च न हृदयाकाशरूपम्, किन्तु तत्र कस्य शब्दस्यायमर्थं इति तु नोक्तम्, हृदयाकाशे द्यावापृथिव्यादयः कथं सन्तीत्यपि नोक्तम्, हृदयाकाशे परिच्छिन्ने द्यावापृथिव्यादयस्तु न सम्भवन्त्येव, विपरीतपरिमाणत्वात्। ब्रह्म च व्यापकं चेत्कथं हृदयेऽन्विष्यते ? सार्वत्रिक आकाशः सर्वत्रैवोपलभ्यते, न क्वचिदेकत्रैव। सर्वोऽपि हृदयाकाशः कथं परमात्मना पूर्यते ? यदि सर्वस्तेनैव पूर्णस्तर्हि तत्रैव पृथिव्यादयः कथं सन्ति ? मूले तु न हृदयाकाशे परमात्मनः पृथिव्यादीनां च सत्त्वं प्रतिपाद्यते, 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्' इत्युक्तेः, 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदये आकाशः, उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छा० ८।१।३) इत्युक्तेश्च।

तस्मादत्रायं सरलोऽक्षरार्थः—अस्मिन् ब्रह्मपुरे शरीरे यदिदं दहरं पुण्डरीकं वेश्म ब्रह्मोपलब्धिस्थानम्, अस्मिन् यदन्तराकाशः स एव परमात्मा, आकाशवदशरीरत्वसूक्ष्मत्वसर्वगतत्वसामान्यात्। हृदयपुण्डरीकशब्देनापि न केवलं पुण्डरीकाकारं मांसपिण्डमुच्यते, किन्तु हृदयपुण्डरीकाकाशस्था बुद्धिरुच्यते। तस्यां बुद्धौ य आकाश आ समन्तात् काशते

क्योंकि 'यदिदं' ये पद प्रसिद्ध अर्थ के बोधक माने जाते हैं। जरा (वृद्धावस्था) प्रभृति विकार भी शरीर में ही होते हैं। इस शरीर में दहर पुण्डरीक ब्रह्म का घर है। उस दहर आकाश के भीतर जो सूक्ष्म आकाश है, उसी को खोजने की बात यहाँ कही गई है। आपने वेश्म शब्द का अवकाश रूप स्थान अर्थ किया है। मूल में तो दहर पुण्डरीक की चर्चा है। उस दहर कमल में स्थित आकाश को ही अन्वेष्टव्य ब्रह्म का आश्रय स्थान बताया गया है। आपने सर्वशक्तिमान् परमेश्वर किस पद का अर्थ किया है ? यहाँ आकाश शब्द के सिवाय ब्रह्म का बोधक कोई पद नहीं है। यदि यह आकाश पद ही सर्वशक्तिमान् परमात्मा का बोधक है, तो इस प्रश्न की कोई संगति नहीं बैठेगी कि हृदयाकाश में यह क्या है, जिसका कि अन्वेषण करना है ? इस प्रश्न के उत्तर में भी हृदय देश में जितना आकाश है, वह अन्तर्यामी से पूर्ण है, ऐसा बताया गया है। मूल में बताया गया है कि जितना यह आकाश है, यह हृदयाकाश भी उतना ही विशाल है। इसी आकाश में द्यावापृथिवी आदि की स्थिति बताई गई है। आपने भी हृदयाकाश में पृथिवी प्रभृति की अवस्थिति बताई है। यह ब्रह्म हृदयाकाश रूप न होकर उसमें परिपूर्ण है, यह अर्थ आपने किस शब्द का किया, यह आपने नहीं बताया। हृदयाकाश में द्यावापृथिवी आदि की स्थिति कैसे है ? यह भी आपने नहीं बताया। परिच्छिन्न हृदयाकाश में द्यावापृथिवी आदि रह ही नहीं सकते, क्योंकि इनका परिमाण विपरीत है। ब्रह्म यदि व्यापक है, तो उसकी खोज हृदय में कैसे की जा सकती है ? आकाश तो सब जगह व्यास है, उसकी उपलब्धि सभी स्थानों में होगी, किसी एक स्थान में नहीं। सारा हृदयाकाश परमात्मा से कैसे भर जाता है ? और यदि भर जाता है, तो उसमें पृथिवी प्रभृति कैसे भरेंगे। मूल में तो हृदयाकाश में परमात्मा अथवा पृथिवी प्रभृति की स्थिति नहीं मानी गई है, क्योंकि वहाँ दहराकाश के भीतर के स्थान में ब्रह्म के अन्वेषण की और उसी में द्यावापृथिवी की स्थिति की बात बताई गई है।

इसलिये इस पूरे प्रकरण का सीधा सा अर्थ यह है—इस शरीर में स्थित दहर पुण्डरीक स्थान में ब्रह्म की उपलब्धि हो सकती है। इस स्थान में जो आन्तर आकाश है, वही परमात्मा है। यह परमात्मा आकाश के समान अशरीर, सूक्ष्म और सर्वगत है। यहाँ हृदय पुण्डरीक शब्द से केवल पुण्डरीक (कमल) के आकार का मांसपिण्ड नहीं बोधित होता, अपितु हृदय-पुण्डरीक के आकाश में स्थित बुद्धि इससे जानी जाती है। उस बुद्धि में जो चारों तरफ से प्रकाशित होता है, वह नित्य, निरवच्छिन्न, विज्ञानात्मक, प्रकाशस्वरूप परमेश्वर यहाँ आकाशपद से बोधित होता है। उसी बुद्धि की सहायता से इसका अन्वेषण किया है, जिसमें कि यह ब्रह्म रहता है।

इत्याकाशो नित्यनिरवच्छिन्नविज्ञानप्रकाशरूपः परमेश्वरः। तस्मिन् यदन्तस्तदाश्रयेण सहान्वेष्टव्यम्। यथा सपुच्छस्यैवानन्दमयस्य विज्ञाने पुरुषार्थसिद्धिर्यथा वा समूलस्यैव संसारवृक्षस्य वेदनेन वेदवित्त्वं तथैव साश्रयस्यैव द्यावापृथिव्यादेरन्वेष्टव्यत्वम्।

केचित्तु स्वे महिम्न्याकाशाख्ये ब्रह्मणि यत् तस्य स्वाभाविकं निरुपाधिकं स्वरूपं यच्च मायिकं पृथिव्यादिकं तदन्वेष्टव्यम्। अन्ये तु तस्मिन्नित्यनेनाव्यवहितमाकाशमगृहीत्वा योग्यत्वाद् हृदयपुण्डरीकस्थं बुद्धिसत्त्वमुच्यते। यथा 'पानव्यापच्च तद्वत्' (मी० सू० ३।४।५) इति व्यवहितोपमानसम्बन्ध आश्रितो यथा वा 'तथा प्राणाः' (ब्र० सू० २।४।१) इत्यत्रातीतानन्तरपादादौ उक्ता वियदादयः परमात्मविकारास्तथा प्राणा अपि विकारा एव प्रत्येतव्याः। अत्र तत्पदेन व्यवहित एवार्थो गृहीतस्तथैतस्मिन्नित्यनेन पुण्डरीकं वेश्म गृह्यते। वेश्मपदेन च वेश्मस्था बुद्धिर्गृह्यते, मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत्। तथा च तस्मिन् हृदयपुण्डरीकाकाशस्थे बुद्धिसत्त्वे यदन्तराकाशाख्यं ब्रह्म तदेवान्वेष्टव्यमित्याहुः।

तस्य सार्वत्रिकत्वेऽपि हृदयाकाशस्थबुद्धौ विशेषेणाभिव्यक्तिर्भवति, जैवेन रूपेण ब्रह्मणस्तत्र प्रवेशात्। यथा व्यापकस्यापि सौरालोकस्य काचादौ सूर्यकान्तादौ विशेषेणाभिव्यक्तिस्तथैव बुद्धिसत्त्वे निर्मले ब्रह्मणः प्रकाशस्य विशेषरूपेणाभिव्यक्तिर्भवति। अत एव तस्य वेश्मनो दहरत्वेन तदुपाधिकत्वाद् दहरत्वेऽपि न स्वतो दहरत्वम्, निरुपाधिकस्य तस्य भूताकाशादपि तत्कारणत्वेन महत्तरत्वात्। अत एव तस्य सर्वप्रपञ्चाश्रयत्वेन द्यावापृथिव्याश्रयत्वेन किं तदत्र विद्यत

जैसे अपने अवान्तर भेदों के साथ वर्तमान आनन्दमय स्वरूप को जानने से ही पुरुषार्थ की सिद्धि मानी जाती है, अथवा जैसे अपने कारणों के साथ ही संसार रूपी वृक्ष को जानने से वेदज्ञता प्रकाशित होती है, उसी तरह से द्यावापृथिवी प्रभृति का भी अन्वेषण उनके आश्रयों के साथ ही किया जा सकता है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि अपनी महिमा में, अर्थात् आकाशस्वरूप ब्रह्म में जो उसका स्वाभाविक, उपाधि रहित स्वरूप है और जो पृथिवी प्रभृति के रूप में मायिक स्वरूप है, उन सबके अन्वेषण की बात इस ग्रन्थ में बताई गई है। अन्य विद्वानों का कहना है कि 'तस्मिन्' इस शब्द से अव्यवहित आकाश का ग्रहण न कर योग्यता के आधार पर हृदय-पुण्डरीक में स्थित बुद्धि सत्त्व का ग्रहण करना चाहिये। जैसे 'पानव्यापच्च तद्वत्' इस मीमांसा सूत्र में व्यवहित उपमान सम्बन्ध का आश्रय लिया गया है, अथवा जैसे 'तथा प्राणाः' इस वेदान्त सूत्र में पहले के और बाद के पाद, अध्याय आदि में कहे गये वियत् (आकाश) प्रभृति परमात्मा के विकार और प्राण ब्रह्म के ही विकार माने गये हैं, यहाँ भी 'तम्' पद से व्यवहित अर्थ का ग्रहण किया गया है, उसी तरह से 'तस्मिन्' पद से भी पुण्डरीक स्वरूप घर का ही ग्रहण माना जायगा। वेश्म पद से भी इस वेश्म में स्थित बुद्धि का ग्रहण होगा, जैसे कि 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस वाक्य में 'मञ्च' पद से मञ्च पर बैठे व्यक्तियों का बोध होता है। इसलिये इस मन्त्र का अर्थ यह होगा कि हृदय पुण्डरीकस्वरूप आकाश में स्थित बुद्धि सत्त्व में जो आकाश नामक ब्रह्म है, उसीका अन्वेषण होना चाहिये।

यह ब्रह्म यद्यपि सभी जगह वर्तमान है, किन्तु हृदय स्थित आकाश में स्थित बुद्धि में इसकी विशेष रूप से अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि जीव के रूप में ब्रह्म उसमें प्रविष्ट हो जाता है। जैसे कि सभी जगह व्याप्त सूर्य का आलोक काच या सूर्यकान्त प्रभृति में विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है, उसी तरह से निर्मल बुद्धि सत्त्व में ब्रह्म का प्रकाश विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है। इसीलिये वह जहाँ प्रकाशित होता है, उस दहर स्थान में औपाधिक रूप में यह रहता अवश्य है, किन्तु इससे वह स्वयं दहर नहीं हो जाता, क्योंकि निरुपाधिक रूप में यह भूताकाश से भी महत्तर है, क्योंकि वही उसका कारण है। इस तरह से यह ब्रह्म सारे प्रपंच का आश्रय होने से द्यावापृथिवी का भी आश्रय है ही। फलतः इस आक्षेप का कि इसमें क्या रखा है कि उसको खोजा जाय, यह सही उत्तर हो जाता है कि बुद्धि सत्त्व में स्थित यह ब्रह्म ही सबका कारण है, अतः उसको पहचानना बहुत आवश्यक है। द्वितीय आक्षेप का यह अभिप्राय है कि ब्रह्मपुर के रूप में स्थित इस देह का जरा प्रकृति से नाश हो जाने पर इसमें विद्यमान पुण्डरीक का और उस पुण्डरीक में स्थित बुद्धि आदि का भी नाश हो सकता है। इसीलिये इस आशंका की भी निवृत्ति के लिये यह कहा जाता है कि वृद्धावस्था के कारण यह जीर्ण

इत्याक्षेपस्योत्तरं सङ्गच्छते। द्वितीय आक्षेपे ब्रह्मपुरस्य देहस्य जरया प्रध्वंसनेन तन्मध्यस्थपुण्डरीकतदन्तःस्थानामपि नाश आशङ्कितः। नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत इत्यादिभिर्हृदयान्तराकाशाख्यस्य ब्रह्मणो नित्यत्वकूटस्थत्वनिर्विकारत्वादिभिः समाधानमुक्तम्।

एवमेव 'अन्वाविशन्ति' इत्यस्यापि प्रलये प्रजाप्रवेशार्थकत्वं न सम्भवति, प्रलयस्याप्रासङ्गिकत्वात्। तथात्वे वा सृष्टौ तत आविर्भवन्तीत्यपि वक्तव्यम्, न तु तदुक्तम्। एवमेव—उपासका यं यं देशं क्षेत्रभागं कामयन्ते तं तमाप्नुवन्तीत्यस्यैव विवक्षितत्वे यथानुशासनमित्यस्य व्यर्थतैव स्यात्तस्मादुत्तरमन्त्रानुसारेण य आत्मानं तत्रत्यांश्च कामाननुविद्य व्रजन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति, यथानुशासनं प्रजावत् प्रवृत्तेः। ये चैतमात्मानं सर्वांश्च कामाननुविद्य यथावद्विज्ञाय व्रजन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति सार्वभौमवत्।

यच्च 'स पर्यगाच्छुक्रमिति सगुणोपासनम्, अकायमव्रणमस्नाविरमित्यादिना निर्गुणोपासनमुक्तम्, यच्च 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥' (श्वे० ६।११) इत्यत्र एको देव इति सगुणोपासनम्, निर्गुणश्चेति निर्गुणोपासनमुक्तम्; सर्वज्ञादिगुणैः सह वर्तमानः सगुणः, अविद्यादिक्लेशपरिमाणद्वित्वादिसंख्याशब्दस्पर्शरूपरसगन्धादिगुणेभ्यो निर्गतत्वान्निर्गुणः। तद्यथा—परमेश्वरः सर्वज्ञः सर्वव्यापी सर्वाध्यक्षः सर्वस्वामीत्यादिगुणैः सह वर्तमानत्वात् परमेश्वरस्य सगुणोपासनं कर्तव्यम्। सोऽजोऽव्रणो निराकारः, अकायस्तथैव रूपादयो गुणास्तस्मिन्न सन्तीदमेवास्य निर्गुणोपासनं ज्ञातव्यम्' इति, तदेतत्सर्वमज्ञानविजृम्भितमेव। जन्म-

नहीं होता और न यह किसी के मारने से मरता ही है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि उक्त आशंका का यह समाधान किया जाता है कि हृदयवर्ती आकाश के रूप में प्रसिद्ध यह ब्रह्म नित्य है, कूटस्थ है, अत एव निर्विकार है। अतः इसमें उक्त दोषों की प्रसक्ति किसी भी अवस्था में नहीं हो पाती।

इसी तरह से 'अन्वाविशन्ति' इस पद का भी प्रलयावस्था में सारी प्रजा उसमें प्रविष्ट हो जाती है, यह अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रलयावस्था का यहाँ कोई प्रसंग नहीं है। थोड़ी देर के लिये ऐसा मान भी लिया जाय तो साथ ही यह भी कहना पड़ेगा कि सृष्टि दशा में उसी से सब प्रादुर्भूत भी होते हैं। ऐसा तो कहा नहीं गया है। इसी तरह से उपासक जिस-जिस स्थान की कामना करते हैं, उसको पा जाते हैं, यही अर्थ यदि विवक्षित है तो उस अवस्था में 'यथानुशासनम्' इसकी कोई आवश्यकता न रह जायगी। इस लिये आगे के मन्त्र की तरह ही इसका यही अर्थ उचित होगा कि जो व्यक्ति आत्मा को और उसमें स्थित विभिन्न कल्पनाओं को बिना समझे दूसरे लोक के लिये प्रयाण कर देता है, वह सभी लोकों में अपनी इच्छा के अनुसार नहीं जा सकता, क्योंकि प्रजा जैसे राजा के अनुशासन में चलती है, उसी तरह से उसको भी शास्त्र के अनुशासन में चलना पड़ता है। इसके सिवाय जो व्यक्ति अपने स्वरूप को और उसमें वर्तमान कल्पनाओं को ठीक से समझ कर इस लोक को छोड़ता है, वह अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी लोक में जा सकता है, जैसे कि सार्वभौम राजा अपनी इच्छा के अनुसार सब कुछ करने में स्वतन्त्र है।

स्वामी दयानन्द ने 'स पर्यगा०' इस मन्त्र में सगुण उपासना और 'अकायमव्रण' इत्यादि में निर्गुण उपासना के प्रतिपादन की बात कही है और इसी तरह से 'एको देवः' इस ग्रन्थ के प्रथम अंश में सगुण और अन्तिम अंश में निर्गुण उपासना का प्रतिपादन माना है। ईश्वर के सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, सनातन, न्यायकारी, दयालु, सबमें व्यापक, सबका आधार, मंगलमय, सबकी उत्पत्ति करने वाला और सबका स्वामी इत्यादि सत्य गुणों के ज्ञानपूर्वक उपासना करने को सगुणोपासना कहते हैं। वह परमेश्वर कभी जन्म नहीं लेता, निराकार अर्थात् आकारवाला कभी नहीं होता, अकाय अर्थात् शरीर कभी नहीं धारण करता, अव्रण अर्थात् जिसमें छिद्र कभी नहीं होता, जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धवाला कभी नहीं होता, जिसमें दो, तीन आदि संख्या की गणना नहीं बन सकती, जो लम्बा-चौड़ा और हलका-भारी कभी नहीं होता, इत्यादि गुणों के निवारण पूर्वक उसका स्मरण करना निर्गुण उपासना कही जाती है' (पृ० २०७–२०८)। यह सारा कथन उनके अज्ञान को ही उजागर करता है, क्योंकि जन्म से रहित, रूप-रस प्रभृति से रहित और सर्वज्ञ आदि गुणों से युक्त परमात्मा की स्थिति तो एक ही तरह की हुई, इसमें दो प्रकार की उपासना कैसे बन सकती है? जैसे स्पर्श प्रभृति से रहित और शब्दगुणसहित आकाश का निर्गुण

रूपरसादिरहितस्य सर्वज्ञादिगुणयुक्तस्यैक्येनोपासनाद्वैविध्यानुपपत्तेः। यथा स्पर्शादिरहितः शब्दसहितश्चाकाशो निर्गुणसगुणरूपेण न भिद्यते, तद्वत्। यथा वाकाशस्य निर्गुणत्वं न वक्तुं शक्यते, तथैव सर्वज्ञादिगुणकस्य कतिपयगुणराहित्येन निर्गुणत्वं नैव वक्तुं शक्यम्। तथात्वे कतिपयगुणराहित्येन सर्वेषामपि सगुणानां निर्गुणत्वप्रसङ्गात्। तस्माद्यथा निर्घटं भूतलमित्युक्तौ सकलघटप्रतियोगिक एव निषेधो विज्ञायते, तथैव निर्गुणमित्यनेनापि सकलगुणप्रतियोगिकनिषेध एव मन्तव्यः, कस्यापि कीदृशस्यापि घटस्य सत्त्वे निर्घटं भूतलमिति प्रतीत्यदर्शनात्।

केचित्तु प्राकृतगुणराहित्येन निर्गुणत्वं दिव्याप्राकृतगुणसाहित्येन सगुणत्वमाहुः। निर्विशेषाद्वैतवादिनस्तु सविशेषस्य निर्विशेषस्य च निर्गुणत्वं प्राहुः। यद्वा पारमार्थिकदशायामशेषगुणराहित्येन निर्गुणत्वम्, व्यवहारदशायां दिव्यानन्तगुणगणार्णवत्त्वेन सगुणत्वं ज्ञेयमिति।

मुक्तिविचारः

यत्तु दयानन्देन—'परमेश्वरोपासनेनाऽविद्याऽधर्माचरणनिवारणाच्छुद्धविज्ञानधर्मानुष्ठानोन्नतिभ्यां जीवो मुक्तिमाप्नोति' (पृ० २०९) इत्युक्तम्, तदपि चिन्त्यम्, मुक्तेः कार्यत्वेनानित्यत्वापत्तेः। ईश्वरोपासनं कार्यम्, अविद्याऽधर्माचरणनिवारणमपि युक्तम्, विज्ञानस्य धर्मानुष्ठानस्य चोन्नतिरपि कर्तव्या, परं तावतापि तत्त्वज्ञानमन्तरा मुक्तिर्न सम्भवत्येव, 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (वा० सं० ३१।१८) इति मन्त्रवर्णात्। अत्र बहूनि योगसूत्राणि प्रमाणतयोद्धृतानि, परं तदर्थाः संस्कृतभाषया नोद्घाटिताः। हिन्दीभाषया चासङ्गता एवार्था उक्ताः। उद्धृतानि सूत्राणि सर्वथापि तन्मतविरुद्धान्येवेति संक्षेपेण प्रदर्श्यंते।

और सगुण रूप से कोई भेद नहीं हो सकता, वही स्थिति यहाँ भी उपस्थित है। जैसे यहाँ स्पर्शरहित होने से आकाश को निर्गुण नहीं माना जा सकता, उसी तरह से सर्वज्ञ प्रभृति गुणों वाले ईश्वर को भी कुछ गुणों के अभाव में निर्गुण नहीं कहा जा सकता। ऐसा मानने पर तो कुछ गुणों के अभाव में सभी सगुण पदार्थ निर्गुण मान लेने पड़ेंगे। इसलिये जैसे यह भूतल घट से रहित है, ऐसा कहने पर भूतल पर समस्त घटों का निषेध माना जाता है, उसी तरह से निर्गुण कहने पर भी सभी तरह के गुणों की निषेध मानना पड़ेगा, जिसमें कि सर्वज्ञ प्रभृति गुणों का भी निषेध आ जाता है। किसी भी तरह के किसी भी घट की उपस्थिति में 'भूतल घट रहित है' इस तरह की प्रतीति नहीं हो सकती।

कुछ लोग प्राकृत गुणों के न होने से ईश्वर को निर्गुण और दिव्य, अप्राकृत गुणों की उपस्थिति के कारण ईश्वर को सगुण मानते हैं। निर्विशेषाद्वैतवादी दार्शनिक सविशेष ब्रह्म को सगुण और निर्विशेष ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि पारमार्थिक दशा में समस्त गुणों से अतीत स्वरूप निर्गूण और व्यवहार दशा में दिव्य अनन्त गुणों से अन्वित स्वरूप सगुण है।

मुक्ति विषयक विचार

इस प्रसंग में संक्षेप में मुक्ति का विचार करते हुए दयानन्द ने कहा है—'इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों का निवारण करके, शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है' (पृ० २०९)। यह भी बात विचारणीय है, क्योंकि इस तरह से तो मुक्ति की भी एक कार्य के रूप में गणना होगी और तरह से कार्य होने से यह अनित्य मानी जायगी। ईश्वर की उपासना करनी चाहिये, अविद्या, अधर्माचरण आदि से अपने मन को हटाना भी ठीक ही है। साथ ही विज्ञान का और धर्म का अनुष्ठान कर अपनी उन्नति करना भी अच्छी बात है, किन्तु इतना सब करने के बाद भी बिना तत्त्व ज्ञान के मुक्ति कभी नहीं मिल सकती। 'तमेव' इत्यादि मन्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती। अपने मत की पुष्टि में इन्होंने योग दर्शन के अनेक सूत्रों को प्रमाण के रूप में उपस्थापित किया है, किन्तु उनका अर्थ संस्कृत में नहीं किया है। हिन्दी में जो अर्थ किया है, वह भी असंगत है। उद्धृत सभी सूत्र सर्वथा उनके मत के विरुद्ध ही पड़ते हैं, इस बात को यहाँ संक्षेप में बताया जा रहा है।

'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः' (यो॰ सू॰ २।३)। अविद्या विपर्ययज्ञानम्, अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्येति तल्लक्षणात्। अनित्ये नित्यबुद्धिः, अशुचौ शुचिबुद्धिः, दुःखे सुखबुद्धिः, अनात्मसु आत्मबुद्धिर्भ्रान्तिरेव। अविद्यामूलकत्वादस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा अपि विपर्ययात्मका एव मन्तव्याः। एते क्लेशा अनुशयिनं पुरुषं क्लिश्नन्ति। 'अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषाम्' अस्मितादीनामविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिः। अत एव यत्र विपर्ययज्ञानरूपा शिथिलीभवति, तत्रैषां नोद्भवो दृश्यते। ते च प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्नोदारभेदेन चतुर्विधा भवन्ति। ये चित्तभूमौ स्थिता अपि प्रबोधकाभावे स्वकार्यानारम्भकास्ते प्रसुप्ताः। यथा बालानां बाल्यावस्थायां सहकार्यभावेन स्थिता अपि क्लेशा नाभिव्यज्यन्ते। स्वस्वप्रतिपक्षभावनया शिथिलीकृतकार्यक्षमता वासनारूपेण ये चेतसि स्थिताः प्रभूतां सामग्रीमन्तरेण स्वकार्यानारम्भकास्ते तनवः। यथाभ्यासशालिनो योगिनः। केनचिद्बलवता क्लेशेनाभिभूतशक्तयो ये ते विच्छिन्नाः। यथा द्वेषावस्थायां रागः, रागावस्थायां वा द्वेषः। परस्परविरुद्धयोर्युगपदसम्भवात्। ये प्राप्तसहकारिसन्निधानात् स्वं स्वं कार्यं निर्वर्तयन्ति ते उदाराः। सदैव ते योगपरिपन्थिनः। प्रत्येकं चतुर्विधानामपि तेषां मूलमविद्यैव, विपर्ययानपेक्ष्येण तेषामप्रवृत्तेः। प्रसंख्यानदग्धानां तु तेषां सम्मुखीभूतेऽपि सहकारिणि विषये प्रवृत्त्यभावः।

दयानन्देन तूक्तम्—'मिथ्याभाषणादिदूषणानां माता अविद्या, या मूढानन्धकारे विषज्य दुःखसागरे निमज्जयति। विदुषा सद्विद्यया विच्छिन्ना भूत्वा प्रसुप्ततनुर्नश्यति, तदा ते जीवन्मुक्ता भवन्ति' इति, सर्वथाप्येतद् व्याख्यानं सूत्रविसङ्गतं व्यासभाष्यं च विरुणद्धि। मूले उत्तरेषामस्मितादिक्लेशानां मूलत्वमविद्याया उक्तम्, मिथ्याभाषणादीनामिहाप्रसङ्गात्, प्रसंख्यानमन्तरा सत्यवादिनामप्यविद्यादिक्लेशदर्शनात्। सद्विद्यया विच्छिन्ना भूत्वा प्रसुप्ततनुर्नश्यतीति

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश कहे जाते हैं। इनमें से अविद्या विपरीत ज्ञान को कहते हैं। 'अनित्यां॰' इत्यादि सूत्र में अविद्या का लक्षण दिया गया है। अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दुःख में सुख और अनात्मा में आत्म बुद्धि भ्रान्ति ही मानी जाती है। अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश के मूल में भी अविद्या विद्यमान रहती है, अतः ये सब विपर्यय स्वरूप ही हैं। ये क्लेश अनुशयवान् पुरुष को कष्ट देते हैं। अस्मिता प्रभृति की उत्पत्ति का क्षेत्र अविद्या है, अतः विपर्यय (भ्रमात्मक) ज्ञान रूप यह अविद्या जिनकी शिथिल होने लगती है, तो वहाँ अस्मिता प्रभृति की उत्पत्ति नहीं होती। ये क्लेश प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार के भेद से चार तरह के होते हैं। जो क्लेश चित्तभूमि में रहते हुए भी प्रबोधक के अभाव में अपना कार्य आरम्भ नहीं कर पाते, वे प्रसुप्त कहे जाते हैं। जैसे कि बाल्यावस्था में बालकों के मन से प्रसुप्त रूप से विद्यमान क्लेश सहकारी कारण के अभाव में अभिव्यक्त नहीं हो पाते। तनु उन क्लेशों को कहते हैं, जो कि उनके प्रतिपक्ष में विद्यमान वृत्तियों की भावना से कार्यक्षमता में शिथिलता आ जाने से केवल वासना के रूप में चित्त में रहते तो हैं, किन्तु पर्याप्त सामग्री के अभाव में अपने कार्य को उत्पन्न नहीं कर पाते, जैसा कि अभ्यास में लगे योगी का चित्त। किसी बलवान् क्लेश से जिनकी शक्ति अभिभूत हो जाती है, वे विच्छिन्न कहलाते हैं। जैसे कि द्वेष वृत्ति का जब उदय होता है, तो मनुष्य की राग वृत्ति दब जाती है; अथवा राग की अवस्था में द्वेष दब जाता है। परस्पर विरुद्ध इन दोनों वृत्तियों की एक साथ स्थिति नहीं कर सकती। उदार उन वृत्तियों को कहते हैं, जो कि सहकारी कारण के सहयोग से अपने अपने कार्य को निष्पन्न करने लगती हैं। ये वृत्तियाँ योग के अभ्यास में सदा बाधक ही मानी जाती हैं। उक्त अविद्या प्रभृति सभी क्लेश इन चार विभागों में विभक्त होते हैं, किन्तु इन सब के मूल में अविद्या विद्यमान रहती है, क्योंकि बिना विपरीत ज्ञान के इनकी प्रवृत्ति नहीं होने पाती। सम्यग् ज्ञान से जब इन सबकी वासनाओं का दाह हो जाता है, तो सहकारी की उपस्थिति में भी उनसे कार्य नहीं उत्पन्न हो सकता, जैसे कि भुने बीज से अंकुर नहीं पैदा हो पाता।

दयानन्द ने यह व्याख्या की है—'मिथ्याभाषण आदि दोषों की माता अविद्या है, जो कि मूढ जीवों को अन्धकार में फँसाकर जन्म-मरण आदि दुःखसागर में सदा डुबाती है। परन्तु जब विद्वान् और धर्मात्मा उपासकों को सत्यविद्या से अविद्या विच्छिन्न अर्थात् छिन्न-भिन्न होकर प्रसुप्त तनु=नष्ट हो जाती है, तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं' (पृ॰ २१०)। यह व्याख्या सूत्र से तो असंबद्ध है ही, साथ ही व्यासभाष्य के विपरीत भी है। सूत्र में अस्मिता प्रभृति परवर्ती क्लेशों का मूल अविद्या को ही बताया गया है, मिथ्याभाषण आदि का यहाँ कोई प्रसंग नहीं है। ज्ञान के बिना सत्यवादी मनुष्य के भी अविद्या

विचित्रमेव। प्रसुप्ततनूनां केषाञ्चिदपि मृत्युर्न दृश्यते। सद्विद्याया इह सूत्रे चर्चाऽपि नास्ति। एवमपव्याख्यानेऽप्युदारेत्यस्य व्याख्यानं न कृतमेव। यदि तु उदारेत्यस्य मुच्यन्ते इत्यर्थः स्यात्, सोऽप्यप्रामाणिक एव, उदारशब्दस्य मुक्त्यर्थत्वे स्वेच्छाया अव्याहतप्रसरत्वेन लूलायीशब्दस्यापि मुक्त्यर्थत्वापातात्।

'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' (यो० सू० २।५) । तदर्थस्त्वनित्ये कार्यमात्रे लौकिके पृथिव्यादावलौकिके स्वर्गादौ नित्यख्यातिरविद्या। तथैव परमबीभत्से काये स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादाधेयशौचत्वादशुचौ शुचिबुद्धिरविद्या, एतेनापुण्ये मिथ्याधर्मादौ पुण्यप्रत्ययोऽप्यविद्यैव। दुःखे दुःखप्राये भोगादौ सुखप्रत्ययोऽविद्या। एतेनार्जनरक्षणादिदुःखबहुलतयाऽनर्थे धनादावर्थप्रत्ययाद्या अपि व्याख्याताः । जुगुप्सितत्वेनाशुचित्वाद् अनात्मसु बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु शरीरे तदुपकरणे मनोबुद्ध्यहङ्काराव्यक्तेष्वात्मख्यातिरविद्या, अतस्मिंस्तद्बुद्धिरविद्येत्यर्थः। एतेन ज्ञानाभावोऽविद्येति मतमपास्तम्, अमित्राधर्मादिशब्दानां यथा न मित्राद्यभावोऽर्थः, किन्तु तद्विरुद्धः सपत्नः प्रतिषिद्धाचरणं चार्थस्तद्वत्। विद्याविरुद्धपूर्वोक्तख्यातीनामेवाविद्यात्वम्।

यत्तु दयानन्देन नित्ये ईश्वरे जीवे जगत्कारणे क्रियाक्रियावतोर्गुणगुणिनोर्धर्मधर्मिणोर्नित्येष्वनित्यबुद्धिरविद्याऽविद्यायाः प्रथमो भाग इति, तत्तु निर्मूलम्, असौत्रत्वात्। न चैतेन सौत्रन्यूनतापूर्तिरेवेति वाच्यम्, सर्वज्ञे सूत्रकारे तत्कल्पनाया नास्तिक्यमूलत्वात्। सर्वोऽपि लोकोऽनित्ये देहादिकार्येषु नित्यत्वबुद्ध्या भ्राम्यति। यश्च देहादिभिन्नं तद्विलक्षणमात्मानं जगद्विलक्षणं चेश्वरं जानाति, स तयोर्नित्यत्वमपि जानात्येव, अनित्यत्वे देहजगदादिसाधारण्यापत्त्या तद्विलक्षणत्वासिद्धेः।

प्रभृति क्लेश दूर नहीं हो पाता। सत्य विद्या से विच्छिन्न होकर नष्ट हो जाती है, यह भी विचित्र ही बात है। किसी भी प्राणी को सो जाने पर मृत्यु हो जाती हो, ऐसा नहीं देखा गया है। सद्विद्या की इस सूत्र में कोई चर्चा भी नहीं है। इस तरह से गलत व्याख्या करके भी दयानन्द ने 'उदार' पद का कोई अर्थ नहीं किया। 'उदार' का मुक्त हो जाते हैं, यह अर्थ माना जाय तो यह अप्रामाणिक ही होगा, क्योंकि मुक्ति के अर्थ में 'उदार' पद का कहीं प्रयोग नहीं देखा गया। इतने पर भी मनमाने तरीके इसका यह अर्थ किया जाय, तो स्वेच्छा के बढ़ाव को रोकना कठिन हो जायगा और 'लूलायी' शब्द का अर्थ भी हम मुक्ति करने लगेंगे।

'अनित्या०' इत्यादि सूत्र का अर्थ यह है—अनित्य अर्थात् कार्यमात्र में, चाहे वह लौकिक पृथिवी प्रभृति हो अथवा अलौकिक स्वर्ग प्रभृति, नित्यता की बुद्धि अविद्या कहलाती है। इसी तरह से परम बीभत्स शरीर में, जो कि अनेक कारणों से अपवित्र माना गया है, पवित्रता की बुद्धि भी अविद्या कहलाती है। इसी तरह से मिथ्याधर्मादि में उपदिष्ट अपुण्य कार्य को पुण्य मानना भी अविद्या ही है और प्रायः दुःखमय भोग विषयों में सुख मानना भी अविद्या है। इसी तरह से अर्जन, रक्षण आदि में अनेक तरह का कष्ट होने से दुःखबहुल, अनर्थरूप धनादि में अर्थ की प्रतीति भी भ्रम ही मानी जाती है। आत्मा के बाह्य उपकरण, जो कि चेतन और अचेतन के रूप में, शरीर, मन, बुद्धि, अहङ्कार, अव्यक्त आदि के रूप में विद्यमान है और जो जुगुप्सित होने से अपवित्र माने जाते हैं, इनमें आत्मबुद्धि भी अविद्या है। यहाँ ज्ञान के अभाव को अविद्या नहीं माना गया है। अमित्र, अधर्म आदि शब्दों का जैसे मित्र का अभाव या धर्म का अभाव अर्थ न होकर शत्रु या निषिद्ध आचरण अर्थ माना जाता है, उसी तरह से यहाँ भी समझना चाहिये। विद्या के विपरीत उक्त तरह के मिथ्याज्ञान ही यहाँ अविद्या पद से अभिहित होते हैं।

दयानन्द ने इसका अर्थ इस तरह से किया है—'नित्य अर्थात् ईश्वर, जीव, जगत् का कारण, क्रिया-क्रियावान् गुण-गुणी और धर्म-धर्मी हैं, इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है। इनमें अनित्य बुद्धि का होना, यह अविद्या का प्रथम भाग है' (पृ० २१०), किन्तु यह अर्थ सूत्र के विपरीत होने से निराधार है। इससे सूत्र की न्यूनता की पूर्ति होती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सूत्रकार तो सर्वज्ञ है, अतः सूत्र के सम्बन्ध में इस तरह की कल्पना नास्तिक ही कर सकता है। अनित्य देहादि में नित्य बुद्धि करनेवाला कोई भी भ्रान्त ही माना जाता है। जो व्यक्ति देहादि से भिन्न और इससे विलक्षण आत्मा को और जगत् से विलक्षण ईश्वर को जानता है, वह इन दोनों की नित्यता को भी जान लेता है। यदि इनको भी अनित्य ही माना जाय तो उस स्थिति में इनकी देह, जगत् प्रकृति से समानता के रहते विलक्षणता कैसे सिद्ध हो पावेगी। जो व्यक्ति इनकी विलक्षणता को स्वीकार नहीं

यस्तु वैलक्षण्यं न प्रत्येति, स जीवादिस्वरूपमेव नाभ्युपगच्छति, किमु वक्तव्यं तत्र नित्यत्वे। क्रियाक्रियावतोर्गुणगुणिनोर्धर्मधर्मिणोश्चानित्यत्वमेव। 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० ४।४।१९) इति ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्यैवानित्यत्वमिथ्यात्वोपपत्तेः, निर्विकारे कूटस्थे क्रियावत्त्वाद्यनुपपत्तेः। अन्यथा पृथिव्यादीनामपि नित्यत्वं स्यात्, तत्रापि धर्मधर्मिभावोपपत्तेः। सांख्ययोगादिदृष्ट्या घटाद्यव्यक्तान्तानां समेषां परिणामित्वेनानित्यत्वमेव, पुरुषस्य कूटस्थत्वनिर्विकारत्वादिभिर्नित्यत्वमेव।

यत्तु तेनैव—'अशुचौ नदीसरोवरादितीर्थेषु पापमोचनाय तीर्थस्नानचरणोदकग्रहणादिः, एकदश्यादिमिथ्याव्रतेषु क्षुत्पिपासादिसहनमविद्या' (पृ० २१०) इति, तत्तु नास्तिक्यमूलकमेव, गङ्गायमुनापुष्करादीनां पावनहेतुत्वस्य महाभारते वनपर्वणि विस्तरेण वर्णितत्वात्, मृज्जलादिभिर्देहशौचस्य मन्वादिधर्मशास्त्रसम्मतत्वात्, प्रत्यक्षादिविरोधाच्च, मलमूत्रादिकृताया अशुद्धेर्मृज्जलादिभिः प्रत्यक्षमेव निवारणदर्शनात्। एकादश्यादिव्रतानां च पावनहेतुत्वं विष्णुपुराणादिसम्मतम्। तेषां च प्रामाण्यं महता संरम्भेण साधितम्। जितेन्द्रियत्वनिष्कामशमसन्तोषादिविवेकप्रसादादिषु दुःखबुद्धिरविद्येत्यपि न युक्तम्, व्याहतेः। शमदमविवेकादिषु सत्सु दुःखबुद्धिर्न सम्भवत्येव, सूर्ये तमोबुद्धिवद् विरुद्धत्वात्।

'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता' (यो० सू० २।६)। दृक्शक्तिः पुरुषः, दर्शनशक्तिर्बुद्धिः, तयोर्भोग्यभोक्तृत्वजडत्वाजडत्वादिभिरत्यन्तविविक्तयोरप्येकात्मताभिमानोऽस्मिता क्लेशः। तस्यां सत्यामेव भोगः। तयोः स्वरूपविवेके कैवल्यमेव।

यदुक्तम्—'अहङ्कारेणात्मनो महत्त्वावगमोऽस्मिता' (पृ० २११) इति, तत्तु विसङ्गतमेव। अल्पे महत्त्वबुद्धेरविद्याकुक्षिनिःक्षिप्तत्वाद् अस्मितात्वायोगात्। येनाहङ्कारेण तादृशी बुद्धिस्तस्यापि सूक्ष्मरूपमेवास्मितेति सौत्राभिप्रायत्वात्।

करता, वह तो जीव प्रकृति के स्वरूप को भी नहीं मानेगा, जो उनकी नित्यता को स्वीकार करने की बात तो बहुत दूर है। क्रिया-क्रियावान्, गुण-गुणी और धर्म-धर्मी को तो अनित्य ही माना जाता है। 'यहाँ नाना कुछ भी नहीं है' इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म से भिन्न सभी कुछ अनित्य और मिथ्या ही माना जाता है। निर्विकार, कूटस्थ ब्रह्म को क्रिया, गुण या धर्म से संयुक्त नहीं माना जाता। ऐसा मानने पर तो पृथिवी प्रभृति में भी नित्यता माननी पड़ जायगी, क्योंकि धर्म-धर्मीभाव प्रभृति की स्थिति वहाँ भी है। सांख्य-योग आदि दर्शनों के अनुसार घट से लेकर अव्यक्त पर्यन्त सभी परिणामी पदार्थ अनित्य माने जाते हैं और पुरुष कूटस्थ, निर्विकार होने से नित्य कहा गया है।

दयानन्द ने आगे लिखा है—'तालाव, बावली, कुण्ड, कुआँ और नदी आदि में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना और उनका चरणामृत पीना, एकादशी आदि मिथ्या व्रतों में भूख-प्यास आदि दुःखों का सहन अविद्या है' (पृ० २१०), किन्तु उनका यह कथन नास्तिकता से प्रेरित है, क्योंकि महाभारत के वन पर्व में विस्तार से गंगा, यमुना, पुष्कर, प्रभृति तीर्थों को पवित्र बताया गया है। स्नान करने से देह की शुद्धि होती है, इस बात का समर्थन मनु प्रभृति के धर्मशास्त्रों में भी किया गया है। आपकी बात प्रत्यक्ष प्रमाण के भी विपरीत है, क्योंकि मल-मूत्र प्रभृति से उत्पन्न हुई अशुद्धि का परिहार मिट्टी, जल आदि से होता है, यह हम नित्य-प्रति प्रत्यक्ष देखते हैं। एकादशी प्रभृति व्रत के आचरण से मन पवित्र होता है, यह बात विष्णुपुराण प्रभृति ग्रन्थों में बड़े प्रयत्न से बताई गई है। जितेन्द्रियता, निष्काम कर्म, शम, सन्तोष, विवेक, चित्त की प्रसन्नता आदि में दुःखबुद्धि को अविद्या बताना भी गलत है, क्योंकि यह बात परस्पर विरुद्ध है। शम, दम, विवेक आदि के रहते दुःखबुद्धि हो ही नहीं सकती, क्योंकि सूर्य के रहते जैसे तम नहीं रह सकता, उसी तरह से शम-दम आदि के रहते दुःख की भी कोई स्थिति नहीं रह सकती।

'दृग्दर्शन०' इत्यादि सूत्र का अर्थ यह है—'दृक्शक्ति पुरुष और दर्शनशक्ति बुद्धि—इन दोनों में भोक्ता और भोग्य, अजड़ और जड़ आदि के रूप में अत्यन्त भिन्नता है, किन्तु इनकी एकता को मान लेना अस्मिता नामक क्लेश के कारण होता है। इस अस्मिता के कारण ही प्रकृति और पुरुष के गुणों का मिश्रण हो जाने से भोग की स्थिति प्राप्त होती है और इसके स्वरूप का विवेक होने से कैवल्य स्थिति आ जाती है।

'अभिमान और अहंकार से अपने को बड़ा समझना अस्मिता है' (पृ० २११) दयानन्द की यह धारणा गलत है, क्योंकि अल्प को महान् समझना तो अविद्या कही जाती है, इसको अस्मिता नहीं कह सकते। जिस अहङ्कार के कारण ऐसी बुद्धि है, उसका सूक्ष्म रूप ही अस्मिता है, सूत्र का यही अभिप्राय हो सकता है।

'सुखानुशयी रागः' (यो० सू० २।७) सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वको यो सुखे तत्साधने वा लोभस्तृणा वा स रागः। 'दुःखानुशयी द्वेषः' (यो० सू० २।८) तथैव दुःखाभिज्ञस्य दुःखतत्साधने यो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेषः। 'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः' (यो० सू० २।९) जन्मान्तरीयदुःखानुभवजन्यवासनाबलादुद्भूतो भयादिरूपोऽभिनिवेशः। स च यथा मूढेषु तथैव विज्ञातपूर्वापरान्तस्य विदुषोऽपि दृश्यते, मरणादित्रासस्योभयत्र दर्शनात्। भयदार्ढ्यवद् रागद्वेषादिदार्ढ्यमप्यभिनिवेश एव। यत्तु जीवपरमेश्वरप्रकृतीनां नित्यत्वज्ञानेन द्रव्यसंयोगवियोगादीनामनित्यत्वज्ञानेन क्लेशनिवृत्तिरिति, तत्तु अप्रासङ्गिकमेव, हानतदुपायादीनां परतो वक्ष्यमाणत्वात्।

'तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्' (यो० सू० २।२५)। पूर्वं हेयं संसारदुःखं हेयहेतुः द्रष्टृदृश्ययोः संयोगः, दृश्यस्वरूपं कार्यं प्रयोजनम्, द्रष्टृस्वरूपसंयोगः सयोगहेतुश्चोक्तः, अनेन सूत्रेण तद्धानमुच्यते। तस्या अविद्यायाः स्वरूपविरुद्धेन तत्त्वज्ञानेनोन्मूलिताया अभावे तत्कार्यस्य संयोगस्याप्यभावस्तद्धानम्। विवेकख्यातौ सत्यामविवेकनिमित्तस्य संयोगस्य स्वयमेव निवृत्तिर्हानम्। तद्धानमेव केवलस्य पुरुषस्य कैवल्यमुच्यते। एतावता मुक्तिर्विज्ञानकर्मसाध्या काचित्कालपरिच्छिन्नेति दयानन्दीयं मतं तदुद्धृतप्रमाणेनैव निरस्तम्। यत्तु अविद्यादिक्लेशनाशे विद्यादिशुभगुणप्राप्तौ सर्वबन्धनेभ्यो दुःखेभ्यो विनिर्मुक्तो मुक्तिमाप्नोतीति, तत्तु सूत्राक्षराद् बहिर्भूतमेव, सूत्राक्षराऽननुगुण्यात्। सूत्रे हानमेव दृशेः कैवल्यमुक्तम्, उत्पाद्याप्यसंस्कार्यविकार्याणामनित्यत्वात्।

'तद्वैराग्यादपि दोषक्षये कैवल्यमिति' (यो० सू० ३।५०)। एवं क्लेशकर्मक्षये योगिनोऽयं विवेकप्रत्ययो बुद्धिसत्त्वस्य

'सुखानुशयी रागः' इस सूत्र का अर्थ यह है कि जो व्यक्ति सुख से अभिज्ञ है, उसको जब सुख का स्मरण होता है, तो सुख में और सुख के साधन में जो लोभ या तृष्णा होती है, उसी को राग कहते हैं। इसी तरह से जो व्यक्ति दुःख से अभिज्ञ है, उसको जब दुःख का स्मरण होता है, तो दुःख के और उसके साधन के जो प्रति आक्रोश, उसको नष्ट कर देने की इच्छा होती है, उसको द्वेष कहते हैं। 'स्वरसवाही०' इत्यादि सूत्र का अभिप्राय यह है कि जन्मान्तर के दुःख के अनुभव से उत्पन्न वासना के कारण मनुष्य के मन में उसके प्रति जो भय की भावना पैदा होती है, उसको अभिनिवेश कहते हैं। यह भय मूढ व्यक्ति की ही तरह इसके कार्यकारणभाव को ठीक से जानने वाले विद्वान् को भी त्रस्त किये रहता है। मृत्यु का त्रास सबको आतंकित किये रहता है। भय की इस दृढ़ता के समान राग-द्वेष आदि का भी जो दृढ़ संस्कार पड़ता है, वह भी अभिनिवेश ही कहलाता है। 'जब जीव, परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य तथा कार्य द्रव्य के संयोग-वियोग को अनित्य मान लेगा, तो क्लेशों की शक्ति से उसको मोक्ष गुण की प्राप्ति होती है' (पृ० २११) दयानन्द का यह कथन असंगत है, अप्रासंगिक है, क्योंकि द्वेष और उपादेय गुण-दोषों का वर्णन आगे अलग से किया गया है।

'तदभावात्०' इत्यादि सूत्र का अर्थ यह है—पहले यह बताया जा चुका है कि संसार का दुःख हेय है, द्रष्टा और दृश्य का संयोग इस हेय संसार का कारण है, दृश्यस्वरूप कार्य इसका प्रयोजन और द्रष्टा के स्वरूप का संयोग इस संयोग का कारण है। अब इस सूत्र से इस संयोग को कैसे छोड़ा जाय, यह बताया जाता है। उस अविद्या के स्वरूप के विपरीत तत्त्वज्ञान का उदय होने पर उस अविद्या का नाश हो जाता है और इस अविद्या का नाश हो जाने से उसके कार्य संयोग का भी नाश हो जाता है, उससे छुटकारा मिल जाता है। अर्थात् विवेकख्याति के उत्पन्न हो जाने पर अविवेक निमित्त संयोग की निवृत्ति अपने आप हो जाता है। संयोग की यह निवृत्ति ही, अर्थात् पुरुष की प्रकृति से पृथक्ता ही, उसका अकेला रहना ही केवलता अर्थात् कैवल्य कहलाता है। इस प्रतिपादन से दयानन्द का यह मत अपने आप खण्डित हो जाता है कि मुक्ति विज्ञान और कर्म की सहायता से प्राप्त होती है और यह काल से परिच्छिन्न होती है। 'जब अविद्यादि क्लेश दूर होकर विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं, तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से छूट कर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है' (पृ० २११) दयानन्द की यह व्याख्या भी सूत्राक्षरों से विपरीत है। सूत्र में सब कुछ के त्याग से ही कैवल्य की प्राप्ति बताई गई है। जो उत्पाद्य, प्राप्य, संस्कार्य और विकार्य है, वह सब कुछ अनित्य माना जाता है।

'तद्वैराग्यादपि' इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि क्लेश और कर्म का क्षय हो जाने पर योगी के लिए यह विवेक ज्ञान

धर्मस्तद्वदेवायमपि हेयपक्षे वर्तते । पुरुषश्चान्योऽपरिणामी शुद्धः । एवं ततो विरज्यमानस्य यानि क्लेशबीजानि दग्धबीजकल्पान्यप्रसवसमर्थानि तानि सह मनसा प्रत्यस्तं गच्छन्ति, गुणानां क्लेश-कर्मविपाकस्वरूपेणाभिव्यक्तानां चरितार्थानां पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यम् । तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चिच्छक्तिर्भवति, इति व्यासभाष्यम् । विशोकायां सिद्धावपि यदा योगिनो वैराग्यमुत्पद्यते, दोषाणां रागादीनां बीजस्याविद्यायाः क्षये कैवल्यमात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर्भवति । पुरुषस्य गुणाधिकारनिवृत्तौ पुरुषस्य स्वरूपप्रतिष्ठितत्वम्, इति भोजराजः । यत्तु—दयानन्देन शोकरहितादिसिद्धिवैराग्येऽपि दोषबीजाविद्यानाशाय यथावत् प्रयत्नः कर्तव्यः, कुतस्तदन्तरा मोक्षासम्भवात् (पृ० २११) इत्युक्तम्, तत्तु सूत्रार्थाज्ञाननिबन्धनम् । सूत्रे तद्वैराग्यस्यैव तद्बीजनाशहेतुत्वोक्तेः ।

'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्' (यो० सू० ३।५५) इति सत्त्वपुरुषयोः बुद्धिसत्त्वात्मनोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् । सत्त्वस्य सर्वकर्तृत्वाभिमाननिवृत्या स्वकारणेऽनुप्रवेशः शुद्धिः । पुरुषस्य तूपचरितभोगाभावः शुद्धिः । द्वयोः समानायां शुद्धौ पुरुषस्य कैवल्यं मोक्षो भवति । अत्रापि पुरुषस्य स्वरूपप्रतिष्ठैव मुक्तिरुक्ता न कार्यरूपा ।

'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' (यो० सू० ४।२५)। यदा सत्त्वपुरुषयोरन्यताख्यातौ बुद्धिसत्त्वे आत्मभावो निवर्तते, तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं कैवल्यफलं चित्तमुत्पद्यते । अत्र यदुक्तम्—'सर्वदोषेभ्यः पार्थक्ये पुरुषस्य ज्ञानाभिमुख्यं तदानीं कैवल्यसंस्कारेण चित्तं परिपूर्यते, तदानीमेव जीवस्य मोक्षः कुतः, यावद्बन्धन-

भी, जो कि बुद्धि का सात्त्विक धर्म है, उसी तरह से हेय कोटि में आ जाता है, जैसे कि क्लेश आदि सब के लिये हेय माने जाते हैं। पुरुष इन सब परिणामी धर्मों से भिन्न अपरिणामी और शुद्ध है । इस तरह से इस संसार से विरक्त पुरुष के जो क्लेश बीज हैं, वे भुने हुए बीज के समान फिर किसी वासना को पैदा करने में असमर्थ होने से अन्ततः मन के साथ समाप्त हो जाते हैं । इस तरह से क्लेश, कर्म और विपाक के रूप में अभिव्यक्त होकर चरितार्थ हुए गुणों के साथ पुरुष का अत्यन्त वियोग हो जाना ही कैवल्य कहलाता है । इस अवस्था में चिच्छक्ति अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है । यह व्यासभाष्य के अनुसार हुआ । भोजराज ने इसका अर्थ इस तरह से किया है—सिद्धि की विशोकावस्था में जब योगी के चित्त में वैराग्य उत्पन्न होता है, तब रागादि दोषों की बीजभूत अविद्या का क्षय हो जाने पर कैवल्य अर्थात् दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है । इसका अभिप्राय यह है कि गुणों के अधिकार के निवृत्त हो जाने पर पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । दयानन्द ने इसका अर्थ यह किया है—"शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होकर सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है, उसके नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे, क्योंकि उसके नाश के बिना मोक्ष कभी नहीं हो सकता" (पृ० २११)। उसके इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनको सूत्र का अर्थ मालूम ही नहीं हो पाया है, क्योंकि सूत्र में स्पष्ट ही वैराग्य को ही सभी प्रकार के दोषों के बीज अर्थात् कारणों के भी नाश का प्रधान कारण माना है ।

'सत्त्वपुरुषयोः' इस सूत्र का अर्थ यह है कि सत्त्व और पुरुष की अर्थात् बुद्धि के सत्वांश और आत्मा की जब समानरूप से शुद्धि हो जाती है तो कैवल्य की अभिव्यक्ति होती है । सत्त्व की शुद्धि यह है कि जब यह जान लेता है कि मैं इस संसार का कर्त्ता नहीं हूँ, तब उसका अपने कारण में लय हो जाता है और पुरुष की शुद्धि यह है कि वह अब तक अपने को जो सब भोगों का भोक्ता मानता रहा है, उसको यह भान हो जाता है कि वास्तव में मैं इनका भोक्ता नहीं हूँ । इस तरह ये जब दोनों की समान रूप से एक साथ शुद्धि हो जाती है तो पुरुष को कैवल्यावस्था की प्राप्ति हो जाती है । यहाँ भी पुरुष की अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा ही मुक्ति मानी गई है, इसको कार्य नहीं माना गया है ।

'तदा विवेक' इत्यादि सूत्र में यह बताया गया है कि जब सत्व और पुरुष की आपस में भिन्नता की प्रतीति सही तरीके से हो जाती है, जो बुद्धि के सत्वांश को योगी आत्मा मानना बन्द कर देता है, तब विवेक से भरा हुआ उसका चित्त कैवल्यावस्था की की ओर बढ़ता हुआ अन्ततः उस अवस्था तक पहुँच जाता है । दयानन्द ने इसकी व्याख्या यह की है—"जब सब दोषों से अलग होकर ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है, तब कैवल्य मोक्षधर्म के संसार से चित्त परिपूर्ण हो जाता है, तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता

कामेषु विषज्यते जीवस्तावन्मुक्तिप्राप्त्यसम्भव एव' इति, तदपि सूत्रार्थासम्बद्धमेव, कूटस्थस्यासङ्गस्यात्मनः कामेषु ज्ञानेषु वा विषक्त्यसम्भवात्।

'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्, स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति' (यो० सू० ४। ३३)। समाप्तभोगापवर्गरूपपुरुषार्थानां गुणानां प्रतिप्रसवः स्वकारणे प्रधाने लयः। कार्यकारणात्मकानां गुणानां व्युत्थाननिरोधसंस्कारा मनसि लीयन्ते, मनोऽस्मितायामस्मितालिङ्गे लिङ्गमलिङ्गे इति योऽयं गुणानां कार्यकारणात्मकानां प्रतिसर्गः, तत्कैवल्यम्। बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात् पुरुषश्चिति रेव केवलाऽवशिष्यते, तथैवावस्थानं कैवल्यमिति व्यासभाष्यतत्त्ववैशारदीसम्मतः सूत्रार्थः। हिन्दीमयं तदीयव्याख्यानमपि लिख्यते—'कैवल्य मोक्ष का लक्षण यह है कि (पुरुषार्थ) अर्थात् कारण के सत्त्व रजो और तमोगुण और उनके सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् हो के स्वरूपप्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्व है वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होके शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञानप्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है, उसी को कैवल्य मोक्ष कहते हैं।' एवं हिन्दीभाषायामपि न तल्लक्षणं स्पष्टम्। अत्र कर्तृ-कर्म-क्रिया-सम्बन्धा अप्यव्यवस्थिता इति विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु। सत्त्वरजस्तमसां तत्कार्याणां नाशे मोक्षो भवतीत्यप्याश्चर्यम्। सांख्यैर्योगिभिश्च कस्यचिदपि नाशानभ्युपगमात्। न वा तैरसङ्ग आत्मनि विज्ञानमुपेयते। स्वाभाविक्यः शक्तयो गुणाश्चात्मनि तैर्नाभ्युपेयन्ते, तथात्वेऽसङ्गत्वव्याकोपात्। तादृशस्य जीवस्य परमात्मस्वरूपे विज्ञाने प्रकाशे आनन्देऽवस्थानमपि नोपपद्यते। एकस्यात्मनोऽन्यात्माधारत्वानुपपत्तेः। ज्ञानानन्दादयश्च परमेश्वरस्य स्वरूपा गुणा वा? नाद्यः, एकस्यानेकरूपत्वानुपपत्तेः। विज्ञानं प्रकाश आनन्दश्च परस्परं भिन्ना अभिन्ना

है। क्योंकि जब तक बन्धन के कार्यों में जीव फँसता जाता है, तब तक उसको मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है। (पृ० २११-२१२) किन्तु यह भी सूत्र से असंबद्ध ही है, क्योंकि कूटस्थ और असंग आत्मा कामनाओं में अथवा ज्ञान में भी कभी फँसता नहीं।

'पुरुषार्थ' इत्यादि सूत्र का अभिप्राय यह है कि भोग और अपवर्ग ये दो ही गुणों के प्रयोजन हैं। इन दोनों प्रयोजनों की सिद्धि हो जाने पर गुणों का प्रतिप्रसव अर्थात् अपने कारण प्रधान में लय हो जाता है। कार्य और कारण अर्थात् प्रकृति से लेकर पंच महाभूत पर्यन्त सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक होने से गुण ही कहे जाते हैं। इन गुणों की व्युत्थान, निरोध और संस्कार नामक अवस्थाएँ मन में लीन हो जाती हैं, मन अस्मिता में, अस्मिता लिंग में और लिंग अलिंग में लीन हो जाता है। इस तरह से समस्त गुणों का अर्थात् कार्यकारणात्मक जगत् का अपने अपने कारणों में लय ही प्रतिसर्ग के क्रम से अन्त में कैवल्य में बदल जाता है। बुद्धि सत्त्व का संबन्ध न रहने से पुरुष चिति रूप में अकेला बचा रहता है। उसकी इस अवस्था को ही कैवल्य कहा जाता है। इस सूत्र का व्यासभाष्य, तत्ववैशारदी आदि के आधार पर यही अर्थ हो सकता है, किन्तु दयानन्द ने इसका अर्थ यह किया है—"कैवल्य मोक्ष का लक्षण यह है कि (पुरुषार्थ) अर्थात् कारण के सत्त्व, रजो और तमोगुण और उनके सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् होकर स्वरूप प्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्त्व है, वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होकर शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप, विज्ञान, प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहता है, उसी को कैवल्यमोक्ष कहते हैं" (पृ० २१३)। किन्तु इस हिन्दी व्याख्या में कैवल्य का लक्षण स्पष्ट नहीं हो पाता। इस व्याख्या में कर्त्ता, कर्म और क्रिया के विभिन्न सम्बन्ध बने ही रह जाते हैं, यह बात विद्वानों को जान लेनी चाहिये। तब उसको कैवल्यावस्था कैसे कहा जा सकता है? सत्त्व, रज और तम के तथा उनके कार्यों के नाश से मोक्ष होता है, यह बात भी आश्चर्यजनक ही है, क्योंकि सांख्य और योगदर्शन में कभी किसी वस्तु का नाश अभिप्रेत नहीं है और न ये दर्शन असंग आत्मा में विज्ञान की सत्ता ही मानते हैं। स्वाभाविक शक्तियों की और गुणों की सत्ता ये आत्मा में नहीं मानते, क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा की असंगता भी नष्ट हो जायगी। इस प्रकार के जीव को परमात्मस्वरूप विज्ञान में, प्रकाश में और आनन्द में अवस्थिति भी नहीं बन सकती, क्योंकि एक आत्मा की दूसरी आत्मा आधार नहीं बन सकती। आप यह बताइये कि ज्ञान, आनन्द प्रभृति परमेश्वर के स्वरूप हैं या उसके गुण हैं? ये परमेश्वर के स्वरूप नहीं माने जा सकते, क्योंकि एक परमात्मा के अनेक रूप मानना गलत है। विज्ञान, प्रकाश और आनन्द परस्पर भिन्न गुण है या अधिक? प्रथम पक्ष मानने में पुनः एक की अनेकरूपता वाला

वा ? आद्ये नैकस्यानेकरूपता, अन्त्ये तेषां शब्दानां पर्यायत्वापत्तिः स्यात् । यदि गुणा एव ते तर्हि गुणे कथं द्रव्यरूपाणामात्मनामवस्थानम् ? गुणानां द्रव्याधारत्वासम्भवात् ।

'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोपमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः, बाधनालक्षणं दुःखम्, तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' (गो० सू० १-१-२, २१, २२) इत्यादिन्यायसूत्राण्यपि त्वत्प्रतिकूलान्येव, न त्वत्समीहितसाधननाति । न्यायरीत्या मिथ्याज्ञानाद् रागादयो दोषा भवन्ति, दोषेभ्यो धर्माधर्मप्रवृत्तिर्भवति, प्रवृत्तेर्जन्म भवति, ततो दुःखं जायते । तत्त्वज्ञानेन मिथ्याज्ञाननिवृत्तिर्भवति, तन्निवृत्त्या दोषो निवर्तते, दोषनिवृत्त्या जन्म निवर्तते, जन्मनिवृत्त्या दुःखनिवृत्तिर्भवति । यत्तु—अविद्यानाशात्पुरुषस्य सर्वे दोषा नश्यन्ति । तदनन्तरप्रवृत्तिरधर्मान्यायविषयासक्तिवासनाऽपगच्छति, ततो जन्माभावः, तदभावे सर्वदुःखात्यन्ताभावः । दुःखाभावेऽनन्तकालाय परमात्मना सहानन्दभोग एवावशिष्यते । एष एव मोक्ष इति, तत्तु न्यायदर्शनसिद्धान्ताज्ञानविजृम्भितम्, धर्माचरणेऽपि देहारम्भसम्भवेन दुःखोच्छेदासम्भवात् ।

अत एव 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' (गो० सू० १।१।२१) इति मोक्षलक्षणे दुःखात्यन्तमोक्ष एव मोक्ष उक्तो न परमानन्दप्राप्तिर्न वा परमात्मप्राप्तिः । तत्र तदित्यनेन प्रक्रान्तस्य दुःखस्य परामर्शः । तत्रापि न बाधनास्वभावदुःखमवमृश्यते, किन्तु तत्साधनं तदनुषक्तं च सर्वमेव, तेन वियोगोऽपवर्गः। प्रलये दुःखवियोगेऽपि नापवर्गरूपता, सर्गकालेऽक्षीणकर्माशयानुरूपशारीरादिसम्बन्धे सति दुःखसम्भवात् । तन्निवृत्त्यर्थमेवात्यन्तपदप्रयोगः । तेनात्यन्तिकीदुःखनिवृत्तिरपवर्गः ।

दोष आवेगा और द्वितीय पक्ष मानने पर इन शब्दों की परस्पर पर्यायता माननी पड़ जायगी, जो कि आपको अभिप्रेत नहीं है । यदि ये सब परमात्मा के स्वरूप न होकर गुण हैं, तो गुण में द्रव्य रूप आत्माओं की स्थिति कैसे रह सकती है ? क्योंकि गुणों को कहीं भी द्रव्य का आधार नहीं माना गया है ।

दयानन्द ने आगे 'दुःखजन्य' प्रकृति गोतम के न्याय दर्शन के तीन सूत्रों को उद्धृत किया है, किन्तु ये भी उनके मत का समर्थन न कर उनके विपरीत ही पड़ते हैं । न्याय दर्शन के अनुसार मिथ्या ज्ञान से रागादि दोष पैदा होते हैं, दोषों के कारण धर्म और अधर्म में प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्ति से जन्म होता है और इस जन्म के कारण ही जीव नाना प्रकार के दुःखों में पड़ जाता है । तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है । मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने से दोष निवृत्त हो जाते हैं । दोषों के निवृत्त होने से जन्म की निवृत्ति हो जाती है और जन्म की निवृत्ति हो जाने पर दुःखों की भी निवृत्ति हो जाती है । दयानन्द ने इसका अर्थ यह किया है—"जब मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है, तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं । उसके पीछे प्रवृत्ति अर्थात् अधर्म, अन्याय, विषयासक्ति आदि की वासना सब दूर हो जाती हैं । उसके नाश होने से फिर जन्म नहीं होता । उसके न होनेसे सब दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है, दुःखों के अभाव से पूर्वोक्त परमानन्द मोक्ष में अर्थात् सब दिन के लिये परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने को बाकी रह जाता है । इसी का नाम मोक्ष है" (पृ० २१२), किन्तु यह कथन भी दयानन्द के न्यायदर्शन के सिद्धान्तों से अपरिचय का ही द्योतक है, क्योंकि धर्म का आचरण करते रहने से भी जन्म-परम्परा चलती ही रह जायगी, तब दुःखों का अत्यन्त उच्छेद कैसे हो सकेगा ?

इसीलिये 'तदत्यन्त०' इत्यादि से मोक्ष का लक्षण बताने वाले सूत्र में दुःख से अत्यन्त विमुक्ति को ही मोक्ष बताया गया है । यहाँ परम आनन्द की प्राप्ति को अथवा परमात्मा की प्राप्ति को मोक्ष नहीं कहा गया है । इस सूत्र में 'तत्' पद से प्रकरण प्राप्त दुःख को ही पकड़ा जाता है । यहाँ भी केवल बाधा या परतन्त्रता के रूप में उपस्थित होनेवाला दुःख ही इससे गृहीत नहीं होता, किन्तु इस दुःख के सभी साधनों और उनसे संबद्ध सभी क्रियाकलापों का इसमें समावेश किया जाता है । इन सबसे छुटकारा मिलना ही अपवर्ग अथवा मोक्ष कहलाता है । प्रलयावस्था में दुःखों से छुटकारा मिल जाने पर भी उसको अपवर्ग नहीं कहा जाता, क्योंकि पुनः सृष्टि होने पर कर्माशयों के क्षीण न होने के कारण उनके अनुरूप शरीरादि से पुनः सम्बन्ध जुड़ जाता है और इस तरह से पुनः दुःख प्रभृति कीपरम्परालच पड़ती है । इस स्थिति का निवारण कराने के लिये ही यहाँ 'अत्यन्त' पद का प्रयोग किया गया है । इसलिये

न सा बाधिका, किन्त्वत्यन्तग्रहणेन सर्वात्मना तद्वियोगाभिधानम्। अर्थाद् बुद्धिसुखदुःखेच्छाप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणामष्टानामात्मगुणानां निर्मूलोच्छेद एवापवर्गः। तदानीमात्मास्वरूपेणावतिष्ठते नान्यरूपेण, न वा सुखाद्यात्मना। तदुक्तं न्यायमञ्जरीकृता जयन्तभट्टेन—'ननु तस्यामवस्थायां कोदृगात्माऽवशिष्यते। स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः॥ ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः। संसारबन्धनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम्॥' इति।

अन्येभ्यस्तु, शिलाशकलकल्पमपगतसकलसुखसंवेदनं मोक्षं न रोचते, किन्तु सोपाधिकसावधिकपरिमितानन्दनिःस्यन्दात् स्वर्गादप्यधिकं अनवधिकनिरतिशयनैसर्गिकानन्दसुन्दरमपरिम्लानसंवेदनमेव मोक्षं मन्यन्ते। महत्त्ववदेव नित्यसुखमप्यात्मनः स्वाभाविकमेव रूपम्। संसारदशायामविद्यावरणेनानधिगतप्रायमपि तत्त्वज्ञानाभ्यासभावनाभिभूताविद्यावरणस्त्वात्मा मोक्षे व्यज्यते। तदेतन्न क्षमन्ते न्यायतत्त्वविचक्षणाः, आत्मनो नित्यसुखसत्तायां प्रमाणाभावात्। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८) इत्यादि श्रुतिस्त्वीश्वरपर्यवसायिनी न जीवविषया। न च प्रमाणान्तरं तत्र क्रमते। नानुमानमपि लिङ्गानवलोकनात्। ननु प्रेक्षावतां प्रयत्नो नाश्मकल्पमात्मानं सम्पादयितुमपि तु सुखसिद्धय एव कृष्यादिप्रयत्नवदिति मन्तव्यम्, इति चेत्तन्न विचारचारु, अनिष्टशान्तये व्याधिखेदितानां प्रयत्नदर्शनात्। 'न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८।१२।१) इति श्रुत्यापि स शरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहत्यसम्भवादेवाशरीरत्वाय प्रयतन्ते प्रेक्षावन्तः। अशरीरं चात्मानं प्रियाप्रिये न स्पृशत इति विज्ञायते। नन्वेतद्वचनं

आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति को ही अपवर्ग बताया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार आत्मा के इन आठ गुणों का जड़ सहित, कारणों के साथ उच्छेद कर देना ही मोक्ष कहलाता है। उस अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह न तो किसी दूसरे रूप में उस समय रहता है और न सुखादि रूप में ही रहता है। जैसा कि न्याय मंजरीकार जयन्तभट्ट ने कहा है—"उस मोक्षावस्था में किस तरह का आत्मा बचा रहता है? उस समय आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। उसके सारे गुण उस समय उससे अलग हो जाते हैं। आत्मा का यह स्वरूप छः प्रकार की ऊर्मियों से अतीत है। विद्वानों का कहना है कि उस समय आत्मा संसार के बन्धन में डालने वाले दुःख क्लेश आदि से दूषित नहीं रहता।"

कुछ लोग शिलाखण्ड के समान सभी तरह के सुख संवेदन से अतीत इस तरह की नैयायिकों की मोक्षावस्था को नहीं स्वीकार करते, किन्तु सोपाधिक एवं सावधिक परिमित आनन्द के स्थान स्वर्ग से भी बढ़कर निरवधिक, निरतिशय, नैसर्गिक आनन्द से भरे कभी न मुरझाने वाले, कभी नष्ट न होने वाले आनन्द-संवेदन को ही मोक्ष मानते हैं। महत्व के समान ही नित्य सुख भी आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप है। संसार दशा में अविद्या का आवरण पड़ा रहने से इसकी प्रतीति नहीं होती, किन्तु तत्वज्ञान के अभ्यास से अविद्या का आवरण जब नष्ट हो जाता है, तो मोक्षावस्था में आत्मा का यह स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है। नैयायिक विद्वान् इस बात को नहीं स्वीकार करते, क्योंकि आत्मा में नित्यसुख की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों में तो ईश्वर का स्वरूप बताया गया है, इनका जीव से सम्बन्ध नहीं है। आगम के सिवाय कोई दूसरा प्रमाण इसके स्वरूप की अधिगति में समर्थ नहीं है। अनुमान भी यहाँ प्रवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि इसके लिये कोई लिंग नहीं दिखाई पड़ता। प्रश्न उठता है कि कोई भी समझदार व्यक्ति अपने को शिलाखण्ड के समान नहीं बनाना चाहेगा। मनुष्य कृषि आदि के लिये जो कष्ट उठाता है, वह भी सुख की आकांक्षा से ही उठाता है, किन्तु यह शंका विचार करने पर ठीक नहीं मालूम पड़ती, क्योंकि रोग से पीड़ित व्यक्ति अनिष्ट व्याधि के निवारण के लिये भी प्रयत्न करता देखा जाता है। 'न वै' इत्यादि छान्दोग्य श्रुति में बताया गया है कि शरीर के रहते प्रिय और अप्रिय, सुख और दुःख का नाश नहीं हो सकता, अशरीर हो जाने पर ही व्यक्ति को सुख और दुःख से छुटकारा मिल सकता। इसी लिये मोक्ष की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है कि शरीर छूट जाने पर उसको सुख और दुःख से भी छुटकारा मिल जायगा। यदि यह कहा जाय कि यह श्रुतिवचन धर्म और अधर्म से उत्पन्न सांसारिक सुख और दुःख के ही नाश की बात बताया है, किन्तु यह कथन उचित इसलिये नहीं माना जायगा कि हम पहले ही यह सिद्ध कर चुके हैं कि लौकिक सुख से विलक्षण आत्मा में किसी प्रकार के सुख की अवस्थिति नहीं है। 'विज्ञानमानन्दं०' इत्यादि श्रुतिवचन से भी आत्मा में नित्य आनन्द की स्थिति नहीं सिद्ध की जा सकती, क्योंकि

सांसारिकधर्माधर्मजनितसुखदुःखापघातबोधनपरमेवेति चेन्न, जोवात्मनां तद्विलक्षणसुखाभावस्य साधितत्वात्। न च विज्ञानमानन्दमिति वचनेनात्मनो नित्यानन्दवत्त्वमिति वाच्यम्, तथात्वे नित्यविज्ञानवत्त्वमप्यनेन वचनेन सेत्स्यति। तथात्वे संसारदशायामपि नित्यसुखोपलब्धिः स्यात्। तस्माद् दुःखाभाव एवानन्दोपचारो मन्तव्यः। तदुक्तम्—'चिरज्वरशिरोर्त्यादिव्याधिदुःखेन खेदिताः। सुखिनो वयमद्येति तदपाये प्रयुञ्जते ॥' इति।

मोक्षरम्यत्वाय तत्र नित्यज्ञानादिकल्पना युज्यते, अन्यथा नित्यदेहेन्द्रियादिकल्पनापत्तेः। योगजोऽपि धर्मो नाक्षयिष्णुः, सर्वस्यैव कृतकस्यानित्यत्वदर्शनात्। न चानिर्वचनीयावरणाज्ञानं नित्यविज्ञानानन्दमावरीतुं समर्थम्, न बलाहकव्यूहपिहितोऽपि रविबिम्बो रजनीसदृशो भवति। मोक्षे नित्यसुखस्वभावे तद्रागेण प्रयतमानो मुमुक्षुर्न मोक्षमाप्तुं शक्नोति। नहि रागिणां मोक्षः सम्भवति। न च दुःखनिवृत्त्यात्मके मोक्षे दुःखद्वेषात्प्रयतमानस्य समानो दोष इति वाच्यम्, मुमुक्षोर्द्वेषाभावात्। रागद्वेषौ हि संसारकारणमिति जानानो दुःखं द्वेष्टि। ननु तथैव सुखेऽपि न रागवान् भविष्यतीति चेन्न, स्वर्गनिर्विशेषेऽपवर्गे स्वर्गवद्रागस्य संम्भाव्यमानत्वात्। दुःखेन तु निर्विण्णस्य मुमुक्षोर्वैराग्यं भवति। दुःखविषयो द्वेषः। विरक्तस्य मोक्षं प्रति यत्नो भवति न द्वेषं द्विषतः। यथा निरानन्दो मोक्षो न रोचते प्रेक्षावद्भ्यस्तथाप्यप्रामाणिकमानन्दमभ्युपगन्तुं न शक्नुमः। वस्तुतस्तु संसारेऽपि सुखं नास्त्येव। क्षुत्पिपासादिव्याधिप्रतीकार एव सुखोपचारः। तृष्णाव्याकुलितः स्वादु सुरभि पयः पिबति। क्षुधार्तो मोदकान् भुङ्क्ते। रागाग्निव्याकुलितो वधूमाश्लिष्यति।

ऐसा मानने पर आत्मा में नित्य विज्ञान की स्थिति भी इसी वचन के आधार पर माननी पड़ेगी और तब संसार दशा में भी नित्य सुख की उपलब्धि की आपत्ति उठ खड़ी होगी। इसीलिये उक्त श्रुति में दुःख के अभाव में ही आनन्द शब्द का औपचारिक प्रयोग मानना उचित है। जैसा कि कहा गया है—"जीर्णज्वर, शिरोवेदना आदि व्याधियों से पीड़ित व्यक्ति इन रोगों के दूर हो जाने पर यह कहते देखे गये हैं कि आज हमें वहुत आराम है, हम सुखी हैं"। इससे यह सिद्ध होता है कि मोक्षावस्था में दुःख के अभाव की स्थिति को ही कुछ दार्शनिक आनन्द की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, वस्तुतः उस अवस्था में सुख और दुःख की ही नहीं, आत्मा के किसी भी गुण की स्थिति नहीं रह जाती।

मोक्ष की रमणीयता के लिये उसमें नित्य ज्ञान आदि की कल्पना करना भी ठीक नहीं है, ऐसा करने पर तो नित्य देह, इन्द्रिय आदि की भी कल्पना की जानी लगेगी। इस स्थिति को योगजन्य मानने पर भी नित्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो वस्तु कृतक है, प्रयत्न से साध्य है, वह कभी नित्य नहीं हो सकती। अनिर्वचनीय आवरणात्मक अज्ञान भी नित्यविज्ञान और आनन्द को ढकने में समर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि बादलों से घिर जाने पर भी सूर्य का विम्ब रात की तरह आँखों से ओझल नहीं हो पाता, अर्थात् उसकी सत्ता वनी ही रहती है। उसी तरह से आत्मा में नित्यविज्ञान और आनन्द मानने पर व्यवहार दशा में भी उसकी सत्ता का लोप नहीं होना चाहिये। अपि च, मोक्ष को यदि नित्य सुख स्वभाव माना जाता है, उसमें राग के कारण ही प्रवृत्ति होगी, ऐसी अवस्था में राग की विद्यमानता में मुमुक्षु मुक्त ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि रागी पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। शंका उठ सकती है कि दुःख की निवृत्ति मोक्ष का स्वरूप माना जाता है, तव भी दुःख से द्वेष होने के कारण मोक्ष में प्रवृत्ति होगी, तब द्वेष की स्थिति में भी मोक्ष की प्राप्ति कैसी होगी? इस तरह से यहाँ भी उसी प्रकार का दोष विद्यमान है, किन्तु यह शंका भी उचित नहीं है, क्योंकि मुमुक्षु पुरुष में द्वेष की स्थिति रहती ही नहीं। राग और द्वेष ही संसार के कारण हैं, ऐसा जानकर दुःख से द्वेष करता है। तब तो इसी तरह से सुख में भी मुमुक्षु रागवान् नहीं होगा, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है; क्योंकि मोक्ष को यदि स्वर्ग के समान ही मान लिया जाता है, तो स्वर्ग की तरह ही मोक्ष में भी राग की सम्भावना हो ही सकती है। दुःख से तो निर्विण्ण होकर मुमुक्षु वैराग्य की ओर झुकता है, अतः दुःख में द्वेषवुद्धि मोक्ष के लिये प्रतिबन्धक नहीं है, किन्तु उसकी ओर बढ़ने का उपाय है। शत्रु के प्रति द्वेष बुद्धि की तरह इस द्वेष की स्थिति नहीं है, जिससे कि दोषकोटि में इसकी गणना हो। यद्यपि निरानन्द मोक्ष कुछ विद्वानों को रुचिकर नहीं लगता, किन्तु उनकी खुशी के लिये हम अप्रामाणिक आनन्द को स्वीकार करने में समर्थ नहीं हैं। वास्तव में तो संसार में भी सुख की कोई स्थिति नहीं है, भूख, प्यास, रोग आदि का जो प्रतीकार किया जाता है, उसी को सुख मान लिया जाता है। प्यासा आदमी स्वादिष्ट सुगन्धि जल पीकर ब्रह्म हो जाता है, भूखा आदमी बड़े चाव से लड्डू खाता है, रोग से व्याकुल व्यक्ति वधू का आलिंगन करता है।

अन्ये तु दुःखेऽपि सुखसंवेदनान्न दुःखाभावाय सुखम्, निरभिलाषस्याप्यतर्कितोपनतसुखसाधनविषयसम्पर्के सुखानुभवादपि भावरूपमेव सुखम्। दुःखाभावे सुखव्यवहारस्तु भाक्त एव। सुखदुःखबुद्ध्यादयस्त्वागन्तुका एवेति न महत्त्ववत्सांसिद्धिकाः, नित्यविज्ञानानन्दस्वभावस्त्वात्मा स्वाभाविक एवेति तदप्ययुक्तम्, अर्थविज्ञानातिरिक्तस्याज्ञानस्यासम्भवात्। तच्च सामग्र्यभावान्नैव मोक्षे सम्भवति। यदि दर्शनशक्तियोग्यतामात्रमेव पुंसश्चैतन्यमिति चेत्, तर्हि तथाविधस्य कैवल्यस्य नैयायिकाभिमतमोक्षतुल्यत्वमेव।

एकविंशतिप्रकारदुःखध्वंस एव मोक्ष इति स्वीकृतौ, कारणविभागेभ्यो जायमानो ध्वंसो न पुनः केनापि प्रतियोगिना भावेन निवर्त्यते, तदनिवृत्तौ ध्वंसध्वंसाभावेन न मुक्तस्य पुनः संसारापत्तिः। सादिरनन्तोऽभावो ध्वंसो भवति। तथा चात्यन्तिकदुःखध्वंसस्यानन्तत्वेन न मोक्षस्यानित्यत्वं सम्भवति।

अन्येत्वशेषविशेषगुणध्वंसावधिकदुःखप्रागभावमेव मोक्षं मन्यन्ते। न चायमसाध्यत्वादपुरुषार्थं इति वाच्यम्, कारणविघटनमुखेन प्रागभावस्यापि साध्यत्वोपपत्तेः। न चैवं प्रागभावस्य साध्यत्वे तस्यानादित्वव्याहतिरिति वाच्यम्, प्रतियोगिजनकावच्छेदकत्वेनैव तस्यानादित्वात्। न च तस्य कारणत्वेऽपि कार्यावश्यं भावित्वम्, चरमसामग्र्याः सत्त्व एव कार्यावश्यम्भावित्वनियमात्। न च प्रागभावस्य चरमसामग्रीत्वम्, तेन तत्सत्त्वेऽपि न कार्यावश्यभावित्वम्। जनकत्वमपि स्वरूपयोग्यतामात्रम्, तेन यथा सहकारिविरहादिदानीं यावत् कार्यं नाजीजनत्, तथैवाप्तेऽपि तद्विरहान्न जनिष्यति। हेतुच्छेदे पुरुषव्यापारादिति वचनस्यापि प्रागभावपरिपालन एव तात्पर्यात्। अत एव दुःखजन्मप्रवृत्तीति सूत्रोक्तं कारणाभावा-

अन्य विद्वानों का कहना है कि कभी-कभी दुःख में भी सुख की प्रतीति होती है, अतः दुःख का अभाव सुख नहीं कहा जा सकता। कभी-कभी बिना इच्छा के ही अचानक सुख के साधक विषयों से सम्पर्क हो जाने पर सुख का अनुभव होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सुख भावरूप ही है। दुःख के अभाव में सुख व्यवहार औपचारिक ही माना जायगा। सुख, दुःख, बुद्धि प्रभति आगन्तुक गुण हैं, अतः आत्मा में महत्त्व की तरह इनकी स्वाभाविक स्थिति नहीं मानी जा सकती। नित्य विज्ञान और नित्य आनन्द आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप है। किन्तु यह सारा कथन भी असंगत है, क्योंकि अर्थ के विज्ञान के अतिरिक्त ज्ञान की स्वतन्त्र कोई स्थिति नहीं रहती। अर्थ का विज्ञान सामग्री के अभाव में मोक्षदशा में रह ही नहीं सकता। यदि आप दर्शन शक्ति की योग्यता मात्र को ही पुरुष का चैतन्य मानते हो तो इस तरह का कैवल्य तो नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत मोक्ष के समान ही है, इसको मानने में हमें भी कोई आपत्ति नहीं है।

इक्कीस प्रकार के दुःखों का ध्वंस ही मोक्ष है, ऐसा मानने पर कारणों के विभाग से उत्पन्न होने वाला ध्वंस फिर कभी किसी भी प्रतियोगी अभाव से निवृत्त नहीं होता और इसकी निवृत्ति न होने से अर्थात् इस ध्वंस का पुनः ध्वंस न होने से एक बार मुक्त हुए जीवात्मा को पुनः संसार में नहीं आना पड़ता। जिसका आदि तो हो, किन्तु अन्त न हो, इस तरह के अभाव को ध्वंसक कहा जाता है। इस तरह से आत्यन्तिक दुःख ध्वंस का कभी अन्त नहीं होता, अतः मोक्ष के अनित्य होने का कोई प्रसंग ही नहीं है।

अन्य दार्शनिक समस्त विशेष गुणों के ध्वंस हो जाने के बाद दुःख के प्रागभाव को ही मोक्ष मानते हैं। इस प्रकार की स्थिति प्रयत्न साध्य नहीं है। अतः पुरुषार्थ नहीं मानी जा सकती, इस शंका का समाधान यह है कि कारण का विघटन करने के लिये प्रागभाव की भी साधना बन ही सकती है। प्रागभाव को साध्य मानने पर उसको अनादि कैसे माना जा सकता है? इस शंका का समाधान यह है कि उसकी अनादिता इसी में है कि वह केवल अपने प्रतियोगी का जनक ही है, वह स्वयं किसी से जन्य नहीं है। जब वह किसी का कारण है तो किसी का कार्य भी होगा ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चरम सामग्री की विद्यमानता में ही कार्यता बन सकती। प्रागभाव में चरम सामग्री की सत्ता नहीं है, अतः उसके रहते हुए भी उसमें कार्यता नहीं मानी जाती। जनकता का तात्पर्य भी स्वरूपयोग्यता मात्र है। इसलिये जैसे सहकारी के अभाव से उसने आज तक कार्य नहीं पैदा किया, उसी तरह से सहकारी के अभाव के ही कारण वह आगे भी कार्य को पैदा नहीं करेगा। 'हेतुच्छेदे पुरुषव्यापारात्' इस वचन का भी प्रागभाव के इसी

त्कार्याभावाभिधानं प्रागभावरूपामेव मुक्तिं द्रढयति। दोषापाये प्रवृत्त्यभावः, प्रवृत्त्यभावे जन्माभावः, जन्मापाये दुःखापाय इत्यत्र नापायोध्वंसः, किन्त्वनुत्पत्तिरेव। तत्त्वज्ञानात्संसारहेतोः सवासनस्य मिथ्याज्ञानस्योच्छेदे पुनर्न कदाचिदपि दुःखोत्पत्तिः सम्भवति। तत्त्वज्ञानार्थं योगविध्यादौ पुरुषप्रवृत्त्या पुरुषार्थत्वमपि मोक्षस्योपपद्यते।

सांख्ययोगवेदान्तरीत्या तु पुरुषस्य नित्यमुक्तत्वाङ्गीकारेण स्वरूपावस्थानरूपस्य मोक्षस्य नित्यत्वं भविष्यति। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१५) इति श्रुतेः। मीमांसकास्तु स्वर्गादिरूपामेव मुक्तिं मन्यन्ते। दयानन्दस्तु मीमांसकसम्मतमपि मोक्षंनाङ्गीकरोति। सत्यार्थप्रकाशस्य नवमसमुल्लासे सर्गप्रलययोः षट्त्रिंशत्कृत्वो यावान् कालः स एव मोक्षकालः। तावत्पर्यन्तं जीवो मुक्तावानन्दं भुनक्ति। परमत्र प्रकरणे तु पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसव इत्यादियोगसूत्रव्याख्याने शुद्धस्वरूपपरमेश्वरस्य सच्चिदानन्दस्वरूपे नित्यावस्थानमेव कैवल्यमोक्ष इत्युक्तम्। एतेन न केवलं शास्त्रविरोधः, किन्तु तस्य स्वोक्तिविरोधश्च। यदि दुःखनिवृत्तिपूर्वकसुखाप्तिरूपा काचिदात्मावस्थैव मुक्तिस्तदा संसारदशायामपि मुक्तिप्रसङ्गः स्यात्। तत्रापि कदाचिद् दुःखनिवृत्तिपूर्वकस्यानन्दस्य सत्त्वाविशेषात्। न च निरुक्तकालावधिकस्यैतादृशस्य सुखस्यैव मोक्षरूपतेति संसारदशावैलक्षण्यमिति वाच्यम्, तत्र प्रमाणाभावात्।

यत्तु—"अभावं बादरिराह—ह्येवम्, 'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्, 'द्वादशवदुभयविधं बादरायणोऽतः' (ब्र० सू० ४।४।१०-१२) इति सूत्राण्याश्रित्योक्तम्, मुक्तो जीवः शुद्धेन मनसा परमेश्वरीये परमानन्दे मोक्षे तिष्ठति, तदुभाभ्यां भिन्नानामिन्द्रियादिपदार्थानामभावो भवतीति बादरिमतम्। यथैव मोक्षे मनो भवति' तथैव शुद्धसङ्कल्पमयं शरीरं शुद्धप्राणेन्द्रियादिशक्तयश्च सर्वदैव तिष्ठन्ति। स 'एकधा भवति, द्विधा भवति त्रिधा भवतीति' श्रुतिवचनेभ्यः।

स्वरूप के परिपालन में तात्पर्य है। इसीलिये 'दुःखजन्म०' इत्यादि सूत्र में जो कारण के अभाव से कार्य के अभाव की बात कही गई है, उससे भी इस प्रागभाव रूप मुक्ति के स्वरूप को ही समर्थन मिलता है। दोष के हट जाने पर प्रवृत्ति का अपाय, प्रवृत्ति के अभाव में जन्म का अपाय, जन्म के अभाव में दुःख का अपाय, यहाँ अपाय का अर्थ ध्वंस न होकर अनुत्पत्ति है। तत्त्वज्ञान से संसार के कारण मिथ्याज्ञान का वासनाओं के साथ नाश हो जाने पर फिर कभी भी दुःख की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये योगशास्त्र प्रदर्शित विधियों का पुरुष को सहारा लेना पड़ता है, अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करना ही पड़ता है।

सांख्य, योग और वेदान्त मत के अनुसार तो पुरुष नित्यमुक्त है, अतः अपने स्वरूप में अवस्थिति होने से ही यह नित्य माना जायगा। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' यह पुरुष सांसारिक विषय-वस्तुओं के साथ कभी अनुषक्त नहीं होता, यह श्रुति ही इसमें प्रमाण है। मीमांसक स्वर्गप्राप्ति का ही नाम मुक्ति बताते हैं। दयानन्द इस मीमांसक संमत मुक्ति को भी नहीं मानते। सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में बताया गया है कि सृष्टि और प्रलय की छत्तीस आवृत्ति पर्यन्त मोक्ष की स्थिति रहती है। इतने समय तक जीव मुक्ति के आनन्द का अनुभव करता है। किन्तु इस प्रकरण में दयानन्द 'पुरुषार्थशून्यानां०' इत्यादि योगसूत्र की व्याख्या करते समय शुद्ध स्वरूप परमेश्वर के सच्चिदानन्द स्वरूप में नित्य अवस्थिति को ही कैवल्य मोक्ष मानते हैं। इस तरह से दयानन्द की मोक्ष को सावधिक मानने की बात केवल शास्त्रविरुद्ध ही नहीं, अपितु अपनी इस उक्ति के भी विपरीत पड़ती है। यदि दुःख की निवृत्ति के साथ सुख की प्राप्ति रूप आत्मा की अवस्था ही मुक्ति मानी जाय, तब तो संसार में स्थिति रहने पर भी मुक्ति मिल सकती है, क्योंकि यहाँ पर भी ऐसी स्थिति कभी न कभी बनती ही रहती है। यदि आप कहें कि ऊपर बताई गई अवधि तक इस प्रकार की स्थिति रहने पर ही उसको मुक्ति का नाम दिया जा सकता है, किन्तु आपके इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है।

इसके आगे दयानन्द ने वेदान्त दर्शन के 'अभावं बादरि०' इत्यादि तीन सूत्रों को उद्धृत कर कहा है—"जब जीव मुक्तदशा को प्राप्त होता है, तब वह शुद्ध मन से परमेश्वर के साथ परमानन्द मोक्ष में रहता है और इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का अभाव हो जाता है। यह मत व्यास जी के पिता आचार्य बादरि का है। व्यास जी के मुख्य शिष्य जैमिनि का मत यह है—जैसे मोक्ष में मन रहता है, वैसे ही शुद्धसंकल्पमय शरीर तथा प्राण आदि और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है। क्योंकि उपनिषद् में 'स एकधा भवति०' इत्यादि वचनों का प्रमाण है कि मुक्त जीव संकल्पमात्र से ही दिव्य शरीर रच लेता है और

मुक्तात्मानः सङ्कल्पमात्रेण दिव्यानि शरीराणि रचयन्ति स्वेच्छया च त्यजन्तीति जैमिनिमतम्। मुक्तौ क्लेशाज्ञानाशुद्धिदोषाणामभावः परमानन्दज्ञानशुद्धतादिसत्यगुणानां भावश्च भवति। तत्र दृष्टान्तः—यथा वानप्रस्थाश्रमे द्वादशाहादिप्राजापत्यव्रतेषु स्वल्पभोजनात् क्षुधाया अभावः पूर्णभोजनाभावाद् भावश्च भवति, तथैव मोक्षे भावाभावसामञ्जस्यं ज्ञेयमिति बादरायणमतम्' इति, तत्तूपहासास्पदमेव निष्प्रमाणत्वात्। असम्बद्धत्वाच्च। नानाविधानां भावाभावानां प्रसक्तौ विनिगमनाविरहात् तदुक्तभावाभावानामप्रामाणिकत्वमेव। किञ्च, समानविषय एवान्यमतोपन्यासेन स्वमतोपन्यासो युक्तः, न विषयभेदेन। शब्दो नित्य इति मीमांसकाः। बुद्धिरनित्येति नैयायिका इति नोपन्यासार्हो मतभेदस्तस्य भिन्नविषयत्वात्। तेन बादरिमतेन शरीरेन्द्रियाभावः, जैमिनिमतेन शरीरेन्द्रियादिभावः, बादरायणमतेन सत्यसङ्कल्पत्वात् शरीरादिसङ्कल्पे सति भावः, तदभावेऽभाव इत्युभयमपि श्रुतिबलात् सङ्गच्छते। तथाहि—'सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इति श्रुतेः मनः सङ्कल्पसाधनं सिद्धम्। विदुषः शरीरेन्द्रियाणि सन्ति न वेति विचार्यते।

तत्र बादरेराचार्यस्य रीत्या महीयमानस्य विदुषः शरीरेन्द्रियाणामभाव एव भवति। कस्मात्, तथैवाम्नानात्। 'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते' (छा० ८।१२।५) 'ये एते ब्रह्मलोके' (छा० ८।१३।१)। तत्र यदि शरीरेन्द्रियैश्च विहरेत् तदा मनसेति विशेषणं व्यर्थमेव स्यात्। तस्मान्मोक्षे शरीरेन्द्रियाणामभावः। जैमिन्याचार्यस्तु मोक्षे सेन्द्रियस्य शरीरस्य भाव एवेति मन्यते। यतः 'स एकधा भवति···त्रिधा भवति' (छा० ७।२६।२) इत्यनेकधा विकल्पः श्रूयते। नहि शरीरेन्द्रियभेदमन्तराऽनेकविधता सम्भवति। मनसेति केवलमनोविषयां 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' इति शरीरेन्द्रियविषयां च श्रुतिमनुसृत्य बादरायणाचार्य उभयविधत्वं साधु मन्यते। यदा स सशरीरतां सङ्कल्पयति तदा सशरीरो भवति यदा

इच्छामात्र से ही शीघ्र छोड़ भी देता है तथा शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है। स्वयं व्यास जी का मत यह है—मुक्ति में क्लेश, अज्ञान और अशुद्धि आदि दोषों का सर्वथा अभाव हो जाता है और परमानन्द, ज्ञान, शुद्धता आदि सब सत्यगुणों का भाव बना रहता है। इसमें दृष्टान्त भी दिया है कि जैसे वानप्रस्थ आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्य आदि का व्रत करना होता है, उसमें थोड़ा भोजन करने से क्षुधा का थोड़ा अभाव और पूर्ण भोजन न करने से क्षुधा का कुछ भाव भी बना रहता है। इसी प्रकार मोक्ष में भी पूर्वोक्त रीति से भाव और अभाव का सामंजस्य समझ लेना" (पृ० २१४) ये सारी बातें उपहासास्पद हैं, क्योंकि इनमें कोई प्रमाण नहीं है और ये परस्पर असंबद्ध भी हैं। नाना प्रकार के भावों और अभावों की प्रसक्ति का कोई कारण भी प्रतीत नहीं होता और साथ ही उनके बताये भावों और अभावों की स्थिति में कोई प्रमाण भी नहीं है। अपि च, समान विषय होने पर ही दूसरे के मत का उपन्यास करने के बाद उस पर अपना मत प्रकाशित करना चाहिये, विषय की भिन्नता में ऐसा नहीं किया जा सकता। मीमांसक के मत से शब्द नित्य है और नैयायिक के मत से बुद्धि अनित्य, तो इस तरह के मतभेद की चर्चा करने का कोई तुक नहीं है, क्योंकि इनका विषय भिन्न है। इसी तरह से बादरि आचार्य के मत से शरीर, इन्द्रिय आदि का अभाव, जैमिनि के मत से इनका भाव और बादरायण के मत से शरीर आदि का संकल्प रहने पर इनकी सत्ता और न रहने पर इनका अभाव, इस तरह से ये सभी पक्ष श्रुति के प्रमाण के आधार पर संगत ही माने जायेंगे। जैसे कि "संकल्प से ही इसके पितृगण ऊपर उठते हैं" इस श्रुति के प्रमाण से मन संकल्प का साधन है, यह बात सिद्ध होती है। विचारणीय विषय यह है कि आत्मविद् में शरीर, इन्द्रिय आदि की स्थिति रहेगी अथवा नहीं?

बादरि आचार्य के मत से महान् ब्रह्मवेत्ता के शरीर, इन्द्रिय आदि की स्थिति नहीं मानी जाती, क्योंकि शास्त्र में ऐसी ही स्थिति वर्णित है। छान्दोग्य श्रुति में ब्रह्मवेत्ता के मनोविहार की बात वर्णित है। यदि वह शरीर और इन्द्रियों के साथ भी विहार करता हो तो ऐसी स्थिति में मन को विहार के विशेषण के रूप में उपस्थित करना व्यर्थ हो जायगा। इसलिये यह स्पष्ट है कि मोक्ष दशा में शरीर इन्द्रिय आदि की स्थिति नहीं रहती। जैमिनि आचार्य मोक्षदशा में इन्द्रियों के साथ शरीर की भी स्थिति मानते हैं, क्योंकि 'वह एकधा, द्विधा, त्रिधा बन जाता है' इत्यादि श्रुति में उसकी अनेक प्रकार की स्थिति वर्णित है। जब तक शरीर, इन्द्रिय आदि का भेद नहीं माना जायगा, तब तक उसकी अनेकविधता कैसे सम्भव हो सकेगी। उक्त दोनों प्रकार की श्रुतियों के मिलने से बादरायण आचार्य इन दोनों ही स्थितियों को सही मानते हैं। जब वह संकल्प करता है कि मैं सशरीर रहूँ तो उसके शरीर, इन्द्रिय

त्वशरीरतां तदाऽशरीरो भवति सत्यसङ्कल्पत्वात् द्वादशाहवत्। यथा द्वादशाहः सत्रमपि भवति, अहीनश्च भवति तद्वत्। स्पष्टीकृतमेतद्भामतीकृता—'द्वादशाहस्य सत्रत्वमासनोपायि चोदने। अहीनत्वं च यजति चोदने सति गम्यते॥' इति। 'द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुरित्युपायिचोदनेन य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्तो'ति च द्वादशाहस्य सत्रत्वमुक्तम्। बहुकर्तृकत्वेन सत्रत्वम्। आसनोपायिचोदनयोरन्यतरस्य सत्रलक्षणत्वात्। सप्तदशावराश्चतुर्विंशतिपरमाः सत्रमासीरन्निति द्वादशाहप्रकरणे मासि चोदनं द्रष्टव्यम्। तस्यैव द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदिति यजतिचोदनेन नियतकर्तृकपरिमाणत्वे द्विरात्रेण यजेतेत्यादिवदहीनत्वमपि गम्यते। अहर्गणत्वे सति नियतकर्तृपरिमाणत्वमहीनलक्षणमुक्तम्। अत एवैकाहे ज्योतिष्टोमादौ एककर्तृके यजतिचोदनाचोदिते नातिव्याप्तिः। विस्तरस्तु कल्पतरुपरिमलयोर्द्रष्टव्यः।

नैतैः सूत्रैर्दयानन्दाभिमतो नियतकालपरिमितः सुखोपभोगरूपो मोक्षः सिद्ध्यति। उक्तसूत्राण्यपि सालोक्याद्यपरमुक्तिपराण्येव न कैवल्यमोक्षपराणि 'सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात्' (ब्र० सू० ४।४।१), 'मुक्तः प्रतिज्ञानात्' (ब्र० सू० ४।४।२) 'आत्मा प्रकरणात्' (ब्र० सू० ४।४।३)। 'अविभागेन दृष्टत्वात्' (ब्र० सू० ४।४।४)' इत्येभिः सूत्रैः कैवल्यमोक्ष उक्तः। तथाहि 'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (मैत्रायणी-उप० २।२) इति श्रूयते। तत्रैवं संशयः—किं शरीरात्समुत्थाय देवलोकादिष्विव केनचिदागन्तुकेन विशेषेणाभिनिष्पद्यते? आहोस्विदात्ममात्रेणेति? तत्र मोक्षस्यापि फलत्वप्रसिद्ध्या 'अभिनिष्पद्यते' इत्यस्योत्पत्तिपर्यायत्वाच्च केनचिद्विशेषेणेति प्राप्ते सिद्धान्तः। केवलेनात्मनैवाभिनिष्पद्यते न धर्मान्तरेण। कुतः? स्वेनशब्दात्। 'स्वेन' रूपेणाभिनिष्पद्यते इत्यत्र स्वशब्दात्।

आदि हो जाते हैं और जब वह चाहता है कि मैं अशरीर रहूँ तो उसके शरीर, इन्द्रिय आदि छिप जाते हैं, क्योंकि उसका संकल्प सत्य होता हैं। द्वादशाह के समान ही इसकी भी व्यवस्था मानी जाती है। अर्थात् द्वादशाह जैसे सत्र भी माना जाता है और अहीनयाग भी, उसी तरह से इन दोनों स्थितियों को भी व्यवस्था मानने में कोई बाधा नहीं है। इस विषय को 'द्वादशाहस्य सत्रत्व' इत्यादि श्लोक के द्वारा भामतीकार ने स्पष्ट किया है। 'द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः' इस उपायि चोदनावाक्य और 'य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्ति०' इस श्रुतिवाक्य के आधार पर द्वादशाह एक सत्र है, यह प्रतीत होता है। अनेक व्यक्तियों के द्वारा यह सम्पादित होता है, इसलिये इसको सत्र कहते हैं। इसी तरह से 'द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्' इस विधिवाक्य के आधार पर कर्त्ता के नियत हो जाने पर 'द्विरात्रेण यजेत' इत्यादि विधिवाक्यों की तरह इस द्वादशाह की अहीनयागता भी मानी जाती है। अहीन का लक्षण यह है कि याग अनेक दिन तक चलता रहता है, किन्तु इसके अनुष्ठाता नियत रहते हैं। इसीलिये एकाह सम्पाद्य ज्योतिष्टोम प्रभृति याग में और एककर्तृक यजति चोदना से संपाद्य याग में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। कल्पतरु और परिमल व्याख्या में इस विषय को विस्तार से देखा जा सकता है।

इन सूत्रों से भी दयानन्द के द्वारा स्वीकृत एक निश्चित अवधि तक सुखोपभोग की स्थितिवाला मोक्ष नहीं सिद्ध हो पाता। ऊपर उद्धृत सूत्र भी सालोक्य आदि भेदवाली मुक्ति का ही वर्णन करते हैं, कैवल्य मोक्ष का नहीं। कैवल्य मोक्ष का प्रतिपादन तो 'सम्पद्याविर्भावः०' इत्यादि सूत्रों में किया गया है। जैसे कि मैत्रायणी उपनिषद् में 'एवमेवैष०' इत्यादि श्रुति वचन मिलता है। इसके विषय में यह शंका उठती है कि इस स्थूल शरीर को छोड़ देने के बाद यह आत्मा देवलोक आदि की तरह किसी आगन्तुक विशेषता से सम्बद्ध हो जाता है अथवा केवल अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है? मोक्ष भी एक प्रकार का फल ही है और 'अभिनिष्पद्यते' यह क्रिया उत्पत्ति को ही प्रदर्शित करती है; अतः उस अवस्था में इसका कोई विशेष रूप अभिव्यक्त होता है, ऐसा माना जाना चाहिये। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि ऐसा नहीं माना जा सकता, किन्तु आत्मा उस अवस्था में केवल अपने स्वात्मस्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहता है, क्योंकि यहाँ 'स्व' शब्द रखा गया है। 'स्वेनरूपेण' यहाँ स्व शब्द का अर्थ है कि इस मोक्षावस्था में आत्मा अपने स्वरूप से ही रहता है। स्व शब्द को यहाँ आत्मीय अर्थ में प्रयुक्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि आत्मीयता को बताने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। जिस किसी रूप में वह निष्पन्न होता है, वह आत्मीय तो अपने आप हो ही जाता है। स्व शब्द आत्मपरक मानने पर तो

तथा च स्वरूपावस्थानमेव मोक्षः। न चात्मीयपरः स्वशब्दः, तस्यावचनीयत्वात्। येनापि रूपेण निष्पद्यते तस्यात्मीयत्वाविशेषात्। स्वशब्दस्यात्मपरत्वे तु केवलेनात्मरूपेणाभिनिष्पद्यते नान्येनागन्तुकेनेति स्वशब्दस्यार्थवत्त्वात्।

'मुक्तः प्रतिज्ञानात्' (ब्र० सू० ४।४।२)। स सर्वबन्धविनिर्मुक्तः शुद्धेनात्मनैवावतिष्ठते। कुतः ? प्रतिज्ञानात्। 'एवं त्वेव ते भूयोनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८।९।३.८।१०।४.८।११।३०) इत्यवस्थात्रयविहीनमात्मानं व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञाय 'अशरीरं वाव सन्तं नैनं प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८।१२।१) इति चोपन्यस्य 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते', स उत्तमः पुरुषः'(छा० ८।१२।३) इत्युपसंहारात्। उपक्रमेऽपि 'य आत्मापहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इति मुक्तात्मविषयमेव प्रतिज्ञानम्। फलत्वप्रसिद्धिस्तु बन्धनिवृत्तिमात्रापेक्षा। यथा रोगनिवृत्तावरोगोऽभिनिष्पद्यते, तथैव पूर्वावस्थापेक्षयैव सर्वोपाधिनिवृत्तावात्मा स्वरूपेणाभिनिष्पद्यते इत्युत्पत्तिव्यपदेशोऽपि नासङ्गतः।

ननु 'परं ज्योतिरुपसम्पद्येति' ज्योतिःशब्देन भौतिकज्योतिरेव गृह्यते। तथा च भौतिकज्योतिःप्राप्तिरेव मुक्तिरिति, तत्राह-'आत्मा प्रकरणात्' (ब्र० सू० ४।४।३)। आत्मैवात्र ज्योतिःपदार्थो न भौतिकज्योतिः, कुतः। प्रकरणात्। 'य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः' (छा० ८।७।१) इति परमात्मनः प्रकृतत्वात्। 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' (बृ० ४।४।१६) इतिज्योतिःशब्देनात्मग्रहणात्। 'ज्योतिर्दर्शनाच्च' (ब्र० सू० १।३।४) इत्यादौ ज्योतिःशब्दस्य आत्मपरत्वनिर्णयाच्च। तत्रापि यः परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स परमात्मनः पृथगेव भवति, उताविभागेनेति पर्यालोचने 'स तत्र पर्येति' (छा० ८।१२।३) परं ज्योतिरुपसम्पद्य इत्यधिकरणाधिकर्तव्यस्य कर्मकर्तृभावस्य चोपदेशात् भेदेनैव स्थानमिति पूर्वपक्षय्य सिद्धान्तमाह—अविभागेन दृष्टत्वात्। परमात्मस्वरूपेणैव मुक्तोऽवतिष्ठते दृष्टत्वात् 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०), 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७।२४।११) इत्यादि वाक्यान्यभेदेनैवात्मानं दर्शयन्ति। भेदनिर्देशस्त्वभेदेऽपि

उसकी यह सार्थकता है कि वह आत्मा केवल स्वात्मस्वरूप से ही अभिव्यक्त होता है, किसी आगन्तुक धर्म के साथ नहीं, इस बात का स्पष्ट बोध उससे हो जाता है।

'मुक्तः प्रतिज्ञानात्' इस द्वितीय सूत्र का अर्थ यह है कि वह आत्मा समस्त बन्धनों से मुक्त होकर शुद्ध स्वात्मस्वरूप में ही वहाँ अवस्थित रहता है, क्योंकि श्रुति में इसी स्वरूप को बताने को प्रतिज्ञा की गई है। छान्दोग्य श्रुति में 'एवं त्वेव' इत्यादि वाक्यों में तीनों अवस्थाओं से मुक्त आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की गई है और उसके बाद ही अशरीर आत्मा के प्रिय और अप्रिय का स्पर्श न होने की बात बताकर उपसंहार में अपने स्वरूप में उसके प्रतिष्ठित होने की बात कही गई है। उपक्रम में भी मुक्तात्मा का विषय ही प्रतिपादित है। मोक्ष को तो फल कहा जाता है, वह इसलिये है कि यहाँ बन्धनों की निवृत्ति हो जाती है। जैसे रोग के निवृत्त हो जाने पर मनुष्य स्वस्थ अपने आप हो जाता है, उसी तरह से बन्धन के निवृत्त हो जाने से सब व्याधियों की निवृत्ति हो जाने पर अपने स्वरूप में वह अपने आप प्रतिष्ठित हो जाता है। अतः बन्धन की निवृत्ति में ही फल की व्याप्ति मानी जाती है, स्वरूप प्रतिष्ठा में नहीं। इसीलिये इस स्वरूप की अभिव्यक्ति को उत्पत्ति नाम देने में भी किसी प्रकार की आपत्ति या असंगति नहीं उठ पाती।

शंका उठती है कि 'परंज्योतिरुपसम्पद्य' इस श्रुतिवाक्य में ज्योति शब्द से भौतिक ज्योति का ही ग्रहण होता है। इस तरह से इस भौतिक ज्योति की प्राप्ति को ही मुक्ति कहा जायगा ? इस शंका का उत्तर 'आत्माप्रकरणात्' इस सूत्र से दिया गया है। अर्थात् इस प्रकरण में ज्योति पद से आत्मा का ही ग्रहण होगा, भौतिक ज्योति का नहीं, क्योंकि यहाँ परमात्मा की ही चर्चा चल रही है। 'तद्देवा०' इत्यादि श्रुतिवाक्य में भी ज्योति पद से आत्मा का ही बोध होता है। इसके अतिरिक्त 'ज्योतिर्दर्शनाच्च' इत्यादि अधिकरण में ज्योतिः शब्द का अर्थ आत्मा ही निर्धारित है। वहाँ भी यह शंका उठाई गई है कि परम ज्योति को प्राप्त कर जो अपने रूप में प्रतिष्ठित होता है, वह परमात्मा से पृथक् है या अभिन्न ? तब पूर्वपक्ष में यह बताया गया है कि यहाँ कर्मकर्तृभाव का उपदेश होने से इसकी स्थिति परमात्मा से भिन्न ही है, किन्तु अन्त में सिद्धान्त यह स्थिर किया गया है कि 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति वचनों के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि मुक्त आत्मा परमात्मा के स्वरूप से ही, उससे अभिन्न रूप से ही उस स्थिति में रहता है।

सम्भवत्युपचारात् । 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) 'आत्मरतिरात्मक्रीडः' (छा० ७।२५।२) इत्येवमादिदर्शनात् ।

तत्राप्ययं विचारः—स्वं रूपं ब्राह्ममपहतपाप्मत्वादिसत्यसङ्कल्पावसानं सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं च तेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः ? उपन्यासादिभ्यस्तथावगमात् । 'य आत्मा अपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) 'सत्यसङ्कल्पः' (छा० ८।७।१) इत्युपन्यासेनात्मन एवं रूपत्वावगमात् । 'स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः' (छा० ८।१२।३) 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ७।२५।२), 'सर्वज्ञः सर्वेश्वरः' (माण्डूक्योप० ६) इत्येवमादिभिरप्युपन्यासैस्तथाभूतमेव स्वं रूपं गम्यते। 'ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः' (ब्र० सू० ४।४।५) तदुपरि च औडुलोमिमतबोधकं सूत्रम् 'चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः' (ब्र० सू० ४।४।६) । यद्यप्यपहतपाप्मत्वादयो भेदे नैव धर्मा निर्दिश्यन्ते, तथापि शब्दविकल्पजा एवैते, पाप्मादिनिवृत्तिमात्रत्वपर्यवसायित्वात् । चैतन्यमेवात्मनः स्वरूपमिति तद्रूपेणाभिनिष्पत्तिर्मन्तव्या । एवं वा 'अरेऽयमात्मानन्तरो बाह्यः कृतज्ञः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३) इति श्रुतिभ्यः । सत्यकामत्वादयस्तु यद्यपि वस्तुत्वेनैव धर्मा उच्यन्ते, सत्याः कामा अस्येति, तथाप्युपाधिसम्बन्धाधीनत्वात् तेषां न चैतन्यवत् स्वरूपमात्रत्वसम्भवः, अनेकाकारत्वप्रतिषेधात् । 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम्' (ब्र० सू ३।२।११) इति सूत्रात् । जक्षणादिसङ्कीर्तनं तु स्तुतिमात्रपरम् । निर्विशेषस्वात्मस्वरूपावस्थानलक्षणे मोक्षे रति-क्रीडा-मिथुनाद्यसम्भवात् । तस्मान्निरस्ताशेषप्रपञ्चेन प्रसन्नेन चैतन्यात्मनैवावस्थानं युक्तम् । बादरायणस्त्वाचार्योऽत्राप्यविरोधं मन्यते । तदाह—'एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः, (ब्र० सू० ४।४।७) पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि व्यवहारापेक्षया पूर्वस्याभ्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्रह्मैश्वर्यरूपस्याप्रत्याख्यानादविरोधं बादरायणाचार्यो

अभेद में भी भेद का आरोप औपचारिक ही माना जा सकता है । 'हे भगवन् ! वह किसमें प्रतिष्ठित है ? अपनी महिमा में', 'वह आत्मा में ही रहता है और उसी में क्रीड़ा करता है' इस तरह की श्रुतियाँ अभेद को ही बताने वाली हैं ।

इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है कि ब्रह्म को जो सब तरह पापों से रहित, सत्यसंकल्प, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर माना जाता है । यही अपना स्वरूप है । इसी रूप से मुक्त आत्मा संपन्न हो जाता है, ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है, क्योंकि 'य आत्मा' इत्यादि श्रुतियों को उद्धृत करने से ऐसा ही प्रतीत होता है कि आत्मा का यही रूप है । 'स तत्र पर्येति' इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से भी यही प्रतीत होता है कि आत्मा का स्वरूप इसी तरह का है 'ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः' इस वेदान्तसूत्र का यही तात्पर्य है । इसके आगे औडुलोमि के मत का प्रतिपादक यह सूत्र है—'चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः' । यद्यपि अपहतपाप्मत्व प्रभृति धर्म भेद के हो निर्देशक हैं, तथापि ये सब केवल शब्दजन्य विकल्प मात्र हैं, इतना तात्पर्य पाप आदि असद्वृतियों की निवृत्ति मात्र में है । चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप है, अतः आत्मा की स्वकीय रूप की अभिनिष्पत्ति चैतन्य के रूप में ही हो सकती है । आत्मा को प्रज्ञानघन बताने वाली बृहदारण्यक श्रुति इसमें प्रमाण है । सत्यकामत्व प्रभृति की धर्म के रूप में उपस्थिति केवल ब्रह्म की वस्तुस्थिति का निदर्शन मात्र है कि उसकी सारी कामनाएँ सत्य होती हैं, इन धर्मों से उसका सम्बन्ध औपाधिक है । चैतन्य के समान ये उसके स्वरूप मात्र नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर ब्रह्म में अनेक आकार (स्वरूप = धर्म) मानने पड़ जायेंगे । 'न स्थानतोऽपि०' इत्यादि सूत्र में ब्रह्म की अनेकाकारता का निषेध किया गया है । 'जक्षन् क्रीडन्' इत्यादि गुणों का मुक्तावस्था में वर्णन केवल इस अवस्था की प्रशंसा करने मात्र के प्रयोजन से किया गया है, क्योंकि निर्विशेष स्वात्मस्वरूप में अवस्थिति रूप मोक्ष में रति, क्रीडा, मिथुन आदि की सम्भावना हो ही नहीं सकती । इसलिये समस्त प्रपंच से अतीत प्रसादात्मक चैतन्य स्वरूप में अवस्थान ही मुक्तावस्था का स्वरूप मानना चाहिये । आचार्य बादरायण इन दोनों मतों में भी कोई विरोध नहीं देखते । जैसा कि 'एवमप्युप०' इत्यादि सूत्र में बताया गया है । पारमार्थतः चैतन्य मात्र ही आत्मा का स्वरूप है, तो भी व्यवहार की दृष्टि से ब्रह्म के ऐश्वर्य के रूप में उपन्यस्त अपहतपाप्मत्व प्रभृति की स्थिति को भी नकारा नहीं जा सकता । इस तरह बादरायण आचार्य उक्त दोनों मतों में अविरोध बताकर समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं । यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से आत्मा का स्वरूप चिदानन्दमय है, अपहतपाप्मत्व, सत्यकामत्व प्रभृतिधर्म औपाधिक होने से पारमार्थिक नहीं है,

मन्यते। यद्यपि तात्त्विकानन्दचैतन्यमात्र आत्मा। अपहतपाप्मत्वसत्यकामत्वादय औपाधिकतयाऽपारमार्थिका अपि व्यावहारिकप्रमाणोपनीतत्वान्न राहोः शिरआदिवदत्यन्तासन्तः सन्ति, तेषामपि व्यावहारिकं सत्वं भवत्येवेत्यर्थः।

'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥' (काठकोप०२।३।१०) इत्यादीनामपि न त्वदभिमतार्थप्रतिपादकत्वम्। यदा स्वविषयेभ्यो निर्वर्तितानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि ज्ञानसाधनानि श्रोत्रादीनि मनसा सङ्कल्पविकल्पव्यावृत्तेनान्तःकरणेन सह अवतिष्ठन्ते तदनुगता न भवन्ति बुद्धिश्चाध्यवसायलक्षणा न विचेष्टते स्वव्यापारेषु न व्याप्रियते तामाहुः परमां गतिम्। ब्रह्मात्मस्वरूपसाक्षात्कारनिष्ठादार्ढ्याय ज्ञानेन्द्रियमनोबुद्धिव्यापारो परमोऽपेक्षितः, नात्रेन्द्रियादिनिरोध एवं परमा गतिरिति विवक्षितम्। वेदान्तज्ञानशून्यानामपि बौद्धादीनामपि तत्सम्भवात्। तस्मात् परमगतिसाधनपरात्मसाक्षात्कारोपयोगित्वेनैव तत्र परमगतित्वमुक्तम्।

'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥' (काठको० २।३।११) तां पूर्वोक्तावस्थां स्थिरामिन्द्रियधारणां वियोगमेव सन्तं सर्वानर्थसंयोगवियोगान्तरायत्वाद्योगिनो योगमिति मन्यन्ते। अप्रमत्तस्तदा भवति यदा प्रवृत्तयोगो भवति तदैव समाधानं प्रतिप्रमादवर्जितः प्रयत्नवान् भवति। बुद्ध्यादिचेष्टाभावे प्रमादासम्भवात्। यद्वा यदैवेन्द्रियाणां स्थिरा धारणा भवति तदैव निरङ्कुशमप्रमत्तत्वं भवति। कुतः? योगो हि प्रभवाप्ययो यस्मात् योग उपजनापायधर्मकस्तस्मात् सदैव प्रमादराहित्यमपेक्षितम्, अन्यथा योगस्याप्यसम्भवात्। योगेन परमेश्वरं प्राप्य प्रमादरहितो भवतीति तु शब्दार्थबाह्यमेव।

यत्तु 'प्रभवः सत्यगुणानां प्रकाशकत्वम्, अप्ययः अशुद्धिदोषाणामसत्यगुणविनाशकत्वम्'इति, तत्तु विरुद्धमेव,

तथापि व्यावहारिक प्रमाणों से परिगृहित होने से यह असर्वथा राहु के शिर की तरह असत् नहीं है। अर्थात् राहु के शिर की जैसे कोई पृथक् सत्ता नहीं है, उस तरह से इन गुणों को भी असत् नहीं माना जा सकता, क्योंकि इनकी व्यावहारिक सत्ता मानी जाती है।

'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते०' इत्यादि उपनिषदों के वचन भी आपके अभिमत सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करते। जब अपने अपने विषयों से हटाई ज्ञान की साधनभूत श्रोत्र प्रभृति पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ संकल्प-विकल्पात्मक, अन्तःकरण की वृत्तियाँ दूर हटे मन के साथ अनुगत हो जाती हैं और अध्यवसायात्मिका बुद्धि भी अपने व्यापार में प्रवृत्त नहीं होती, तो इसी को परम गति कहा जाता है। ब्रह्मात्म स्वरूप के साक्षात्कार का दृढ़ निश्चय करने के लिये ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि के व्यापार की उपरति अपेक्षित रहती है, इतना ही इसका अभिप्राय है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इनके उपराम मात्र को परम गति कहते हैं। क्योंकि यह स्थिति तो वेदान्तज्ञान से शून्य बौद्धों को भी प्राप्त हो जाती है। इसलिये परम गति के साधनभूत परात्म साक्षात्कार में इन्द्रियादि के उपराम को उपयोगिता होने से ही इनके लिये परम गति शब्द का प्रयोग कर दिया गया है।

'तां योगमिति०' इत्यादि श्रुति का अर्थ यह है कि पूर्व मन्त्र में कही गई इस स्थिर इन्द्रियधारणा को ही योगीगण योग नाम से जानते हैं। वास्तव में यद्यपि इसको योग नहीं कहा जा सकता, किन्तु सभी तरह के अनर्थ के संयोग और वियोग में यह स्थिति अन्तराय (विघ्न) डाल सकती है, अतः योगीगण इसे योग कहते हैं। जब योगी इस योग का अभ्यास करने लगता है, तो वह सावधान हो जाता है और तभी यह आलस्य छोड़कर चित्त के समाधान के लिये प्रयत्नशील हो सकता है, क्योंकि बुद्धि आदि जब निश्चेष्ट हो जायगी, तो उस स्थिति में किसी भी प्रकार की चेष्टा के अभाव में प्रमाद का कोई प्रसंग ही नहीं रहेगा। अथवा जब इन्द्रियों की धारणा स्थिर हो जाती है, तभी यह निरंकुश चित्त अप्रमादी हो सकता है, क्योंकि यह योग ही प्रभाव और अप्यय हैं, अर्थात् इस योग में सृष्टि और प्रलय की सामर्थ्य विद्यमान है। इसीलिये योग की साधना में आलस्य का अभाव नितान्त आवश्यक है। अन्यथा योग की सिद्धि हो ही नहीं सकती। योग की सहायता से परमेश्वर को प्राप्त कर योगी आलस्य रहित हो जाता है, इस तरह का अर्थ करने में मन्त्राक्षरों से इसकी कोई संगति नहीं बैठती।

स्वामी दयानन्द ने प्रभव और अप्यय शब्द का अर्थ 'शुद्ध और सत्य गुणों का प्रकाश करने वाला तथा सब अशुद्धि दोषों और असत्य गुणों का नाश करने वाला' (पृ० २१५) किया है, यह अर्थ भी मन्त्राक्षरों से विपरीत है, क्योंकि प्रमादरहितता में इस

प्रमादराहित्ये तादृशप्रभवाप्यययोर्हेतुत्वासम्भवात् । योगस्यानैश्वर्यावैराग्याधर्माज्ञाननिवर्तकत्वस्यैश्वर्यवैराग्यधर्मज्ञानाविर्भावकस्य च वचनान्तरैरवगतत्वात् ।

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥' (काठको० २।३।१४)। यदा तत्त्वज्ञानकाले सर्वे कामा येऽस्य साधकस्य हृदि, बुद्धौ श्रिताः, तत्त्वज्ञानात्पूर्वं (तस्या एव कामाश्रयत्वात्) प्रमुच्यन्ते, ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण कामयितव्यस्यान्यस्याभावाद्विशीर्यन्ते । अथ तदा मर्त्यः प्रबोधात्प्राक् अमर्त्यः, प्रबोधोत्तरमविद्याकामकर्मलक्षणस्य मृत्योर्विनाशादमृतो भवति । गमनप्रयोजकस्य मृत्योरभावात् अत्रैव प्रदीपनिर्वाणवत् सर्वबन्धनोपशमात् ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ।

'दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते' (छा० ८।१२।५), 'य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते, तस्मात्तेषां सर्वे लोका आत्ता सर्वे च कामाः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य जानातीति हि प्रजापतिरुवाच' (छा० ८।१२।५-६)। दयानन्दीयोद्धृतसंख्या त्वशुद्धैव, छान्दोग्ये प्रपाठकाभावात् । तदर्थविवरणे तु प्रश्नप्रतिवचनरूपेणोक्तं दयानन्देन मोक्षे शरीरेन्द्रियाणामभावात् जीवात्मा कथं व्यवहरति, कथं जानाति, कथं वा पश्यति मुक्तौ ? उत्तरम्—जीवः शुद्धैरिन्द्रियैः शुद्धेन मनसा आनन्दरूपान् कामान् पश्यन् रमते, यतस्तस्य मुक्तस्येन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशस्वरूपाणि भवन्ति । प्रश्नः—मुक्तः सर्वत्र सृष्टिषु भ्राम्यति क्वचिदेकत्रैव वा ? उत्तरम्—मुक्ता ब्रह्मलोके अर्थात् परमेश्वरं प्राप्ताः सन्तः सर्वेषामात्मानं परमात्मानमुपासीनास्तदाश्रया एव तिष्ठन्ति । तस्मादेव सर्वलोके तेषां गमनागमनादिकं भवति, सर्वेषु लोकलोकान्तरेषु न क्वाप्यवरोधः । सर्वे कामाः पूर्णा भवन्ति नापूर्णाः । अत एव पूर्वोक्तरीत्या परमेश्वरं सर्वेषामात्मानं ज्ञात्वोपासते ये ते सर्वान् कामान् प्राप्नुवन्तीत्येतत्प्रजापतिः परमेश्वरो वेदे वदति'

तरह के प्रभव और अप्यय की कोई कारणता नहीं बन पाती । योग अनैश्वर्य, अवैराग्य, अधर्म और अज्ञान का निवर्तक है और ऐश्वर्य, वैराग्य, धर्म तथा ज्ञान का सम्पादक है, यह बात अन्य वचनों से ही अवगत है, अतः इसके लिये पुनः अलग से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं हो सकती ।

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते' इत्यादि मन्त्र का अर्थ यह है—तत्त्वज्ञान हो जाने पर जब इस योगी की सब कामनाएँ, जो कि तत्त्वज्ञान होने से पहले इसकी बुद्धि में गहरी बैठी हुई थी, दूर हो जाती है, ब्रह्मात्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने से इससे बढ़कर अन्य किसी वस्तु के अभिलषणीय न होने से नष्ट हो जाती है, तब वह मनुष्य, जो कि प्रबोध से पहले मरणशील अवस्था में पड़ा रहता है, अब अमर्त्य हो जाता है, ज्ञान की आविष्कृति होने के बाद अविद्या, काम और कर्मलक्षण मृत्यु का नाश हो जाने से अमर हो जाता है । गमनागमन के प्रयोजक मृत्यु के अभाव में वह यही प्रदीप के निर्वाण की तरह सब तरह के बन्धनों के नष्ट हो जाने से स्वयं ब्रह्म बन जाता है ।

'देवेन चक्षुषा०' तथा 'य एते ब्रह्मलोके०' इन दोनों मन्त्रों की दयानन्द के द्वारा उद्धृत संख्या अशुद्ध है, क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् में प्रपाठक विभाग नहीं है । दयानन्द ने इन दोनों मन्त्रों का विवरण प्रश्न-प्रतिवचन शैली में किया है । जैसे कि—'प्रश्न—जब मोक्ष में शरीर और इन्द्रियाँ नहीं रहती, तब वह जीवात्मा व्यवहार को कैसे जानता और देख सकता है ? उत्तर—वह जीव शुद्ध इन्द्रिय और शुद्ध मन से इन आनन्दमय कामों को देखता है और भोक्ता होकर उनमें सदा रमण करता है, क्योंकि उसका मन और इन्द्रियाँ प्रकाशस्वरूप हो जाती हैं । प्रश्न—वह मुक्त जीव सब सृष्टि में घूमता है अथवा कहीं एक ही ठिकाने बैठा रहता है ? उत्तर—जो मुक्त पुरुष होते हैं, वे ब्रह्मलोक अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त होकर और सबके आत्मारूप परमेश्वर की उपासना करते हुए उसी के आश्रय में रहते हैं । इसी कारण से उनका जाना-आना सब लोक-लोकान्तरों में होता है, उनके लिये कहीं रुकावट नहीं रहती और उनके सब काम पूर्ण हो जाते हैं, कोई काम अपूर्ण नहीं रहता । इसलिये जो मनुष्य पूर्वोक्त रीति से परमेश्वर को सबका आत्मा जानकर उसकी उपासना करता है, वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त होता है । यह बात प्रजापति परमेश्वर सब जीवों के लिये

(पृ० २१५-२१६) इति, तदेतत्सर्वं मोक्षस्वरूपाज्ञानमूलकम्, नैयायिकरीत्या विशेषात्मगुणानामुपरमस्यैव मोक्षत्वेन मोक्षे सुखोपभोगभ्रमणाद्यभावात् ।

श्रुत्यर्थस्त्वेवम्--स एष वै स्वरूपापन्नः सर्वेश्वरः मन उपाधिः सन् एतेनैवेश्वरेण मनसा सवितृप्रकाशवत् नित्यदर्शनेन पश्यन् रमते, कान् कामानिति विशिनष्टि, य एते ब्रह्मलोके ब्रह्मणि लोके हिरण्यनिधिवद् बाह्यविषयासङ्गानृतेन पिहिताः सङ्कल्पमात्रलभ्यास्तान् । न च प्रसिद्धं मन एव कुतो नात्र गृह्यत इति वाच्यम्, यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुरिति तत्रत्यश्रुतिविरोधात् । यो वेदेदं मन्वानीति मननव्यापारमिन्द्रियासंस्पृष्टं केवलं मन्वानीति वेद स आत्मा मननाय मन इत्यात्मन एव मनस्त्वोक्तेः । अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषः, दर्शनाय यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिहराणीति स आत्माभिव्याहाराय वागद्य यो वेदेदं शृण्वानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम्, अशरीरोऽपहतपाप्मादिलक्षणः पुरुषो दक्षिणेऽक्षिणि दृश्यते इति प्रजापतिरुवाच । 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच' (छा० ४।१५।१) इति श्रुतेः । तत्र कथं तदित्युच्यते यत्र कृष्णतारोपलक्षितमाकाशमनुविषण्णमनुषक्तं तत्र स प्रकृतोऽशरीर आत्मा चाक्षुषः, चक्षुषि भवश्चाक्षुषो भवति, देहादिभिः संहतत्वात् । यस्य परस्यासंहतस्याशरीरस्य द्रष्टुरर्थे चक्षुरादिकरणं प्रवर्तते सोऽत्र चक्षुषिदर्शनेन लिङ्गेन दृश्यते तेन सोऽक्षिणि दृश्यत इत्युच्यते, तस्यैव सर्वविषयोपलब्धृत्वात् स्फुटोपलब्धिहेतुत्वात्तु अक्षिणीति विशेषोक्तिः । अथापि यो वेदेदं जिघ्राणि गन्धं विजानीयां स आत्मा तस्य गन्धाय गन्धविज्ञानाय घ्राणम् । स एवमभिव्याहरणाय वाक् श्रवणाय श्रोत्रं भवति, तथैव स एवात्मा मननाय मनो भवति । अत एवेन्द्रियरूपेभ्यो विलक्षणेन दैवेन चक्षुषा दैवेन मनसा कामान् पश्यन् रमते इत्युक्तम् । तेन न मोक्षे मन इन्द्रि-

वेदों में बताता है' (२१५-२१६), किन्तु यह सारी व्याख्या मोक्ष का स्वरूप ठीक से न समझ पाने के कारण गलत हो गई है, क्योंकि नैयायिकों की पद्धति से विशेष गुणों का उपराम ही मोक्ष कहलाता है, अतः मोक्षावस्था में सुख के उपभोग की अथवा भ्रमण की स्थिति हो ही नहीं सकती ।

वस्तुतः श्रुति का अर्थ यह होगा—यह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित सर्वेश्वर मन की उपाधि की सहायता से ऐश्वर्य सम्पन्न मन से सूर्य के प्रकाश के समान नित्य सबको देखता हुआ रमण करता है । किन कामों को देखता है ? जो काम इस ब्रह्मलोक में सुवर्ण-भण्डार की तरह बाह्य विषयों के आसक्ति रूप असत्य स्वरूपों से छिपे हुए हैं और जिनकी प्राप्ति उसको संकल्प के उठने के साथ ही हो सकती है । यहाँ प्रसिद्ध मन का ग्रहण न कर ईश्वर संबन्धी मन का ग्रहण क्यों किया गया ? इसलिये कि 'यो वेद०' इत्यादि श्रुति से इसका विरोध न हो । इस श्रुति के अनुसार इन्द्रियों से असंस्पृष्ट मनन व्यापार का ही यहाँ प्रसंग है, इसलिये मन शब्द का अर्थ यहाँ आत्मा ही लिया जा सकता है । 'अथ यत्रैत०' इत्यादि श्रुति में भी श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, वाक् आदि पदों से आत्मा का ही परिग्रहण होता है, क्योंकि आत्मा को अशरीर और पाप आदि दोषों से विरहित बताने के बाद यह श्रुति बताती है कि यह आत्मा आँखों में दिखाई पड़ने वाले पुरुष से अभिन्न है । यह कैसे हो सकता है ? इसमें उत्तर में वहाँ बताया गया है कि इस चक्षु में कृष्ण तारा (काली पुतली) में विद्यमान आकाश में यह अशरीर आत्मा चाक्षुष बन जाता है, इसलिये कि उसका देह, इन्द्रिय आदि से औपाधिक सम्बन्ध हो जाता है । जिस अशरीर, सबसे असंबद्ध पर स्वभाव द्रष्टा के दिये चक्षुरादि इन्द्रियाँ प्रदत्त होती हैं, वह आत्मा यहाँ चक्षु में दर्शनात्मक क्रिया की संपत्ति रूप लिंग से जाना जाता है, इसी लिये यह औपाधिक प्रयोग होता है कि वह आँख में दिखाई पड़ता है, क्योंकि यह आत्मा ही अन्ततः सभी विषयों का ग्राहक माना जाता है । यद्यपि यह स्थिति सभी इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध विषयों के सम्बन्ध में लागू होती है, किन्तु यहाँ विशेषकर अक्षि (आँख) का निर्देश इसलिये किया गया है कि यहाँ इस आत्मा की उपलब्धि अधिक स्पष्ट रूप से होती है । केवल चक्षु के विषय में ही ऐसा नहीं कहा गया है, अपितु गन्ध के ज्ञान के लिये यह आत्मा घ्राण बन जाता है, बोलने के लिये वाक् और सुनने के लिये श्रोत्र बन जाता है । इसी तरह से यह आत्मा मनन करने के लिये मन भी बन जाता है । इसीलिये सामान्य इन्द्रियों से विलक्षण ईश्वरीय चक्षु और ईश्वरीय मन से यह सब कामों को देखता-सुनता रमण करता है, ऐसा श्रुति का अभिप्राय होने से यह स्पष्ट है कि मोक्षावस्था में आत्मा का मन

याःदियोग इत्युक्तमेव। तं वा एतमात्मानं देवा उपासते तस्मात्तेषां सर्वे लोका आत्ताः प्राप्ताः। सर्वे च कामाः प्राप्ताः। यदर्थमिन्द्र एकशतं वर्षाणि प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तत्फलं प्राप्तं देवैः।

ननु देवानां माहाभाग्यात्तद्युक्तं नास्मदादीनां तत्सम्भवतीति प्राप्त उच्यते—यस्तमात्मानमिति, य इन्द्रवत्तमनुविद्य विजानाति। स इदानीन्तनोऽपि सर्वान् लोकान् सर्वांश्च कामानाप्नोति, अतः सर्वेषामात्मज्ञानं तत्फलप्राप्तिश्च समानैव भवति। तथा च सर्वात्मत्वात् सर्वव्यापकत्वात् सर्वद्रष्टृत्वात् सर्वकामभोक्तृणां तदनतिरिक्तत्वादेव सर्वकामप्राप्तिरत्रोक्ता। वस्तुतो मोक्षः काम्यकामाद्यभाव एव। 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।' (बृ० ४।४।७) इतिकामप्रमोकस्य तत्त्वज्ञानकाल एव सञ्जातत्वात्। अत एव—'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति, (तै० उ० २।१।१)। अत्र ब्रह्मरूपे युगपदुपस्थितान् सर्वान् कामानश्नुत इत्युक्तम्। नहि कश्चिद् भोक्ता जीवो युगपत् सर्वान् कामान् भोक्तुं शक्नोति, स्वेनौपाधिकेन रूपेण तस्य परिच्छिन्नत्वात्।

'यदन्तरापस्तद् ब्रह्म, तदमृतं स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि, ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशोविशां यशोऽहमनुप्रापत्सि सदाहं यशसां यशः' (छा० ८।१४।१)। अत्र यदन्तराप इति पाठोऽशुद्धोऽसंगतश्च। तदर्थस्त्वेवं ज्ञातव्यः—यद्याकाशरूप आत्मा नामरूपयोर्निर्वहिता ते नामरूपे यदन्तरा यस्मात्मनो ब्रह्मणो मध्ये वर्तेते तयोर्वा नामरूपयोरन्तरा मध्ये यन्नामरूपाभ्यामस्पृष्टं नामरूपविलक्षणं तद्ब्रह्म। तदमृतं स आत्मा सर्वजन्तूनां प्रत्यक्चेतनः स्वसंवेद्यः प्रसिद्धः, तेनैव स्वरूपेणोन्नीयाशरीरो व्योमवत्सर्वगत आत्मा ब्रह्मेत्यवगन्तव्यम्। अत ऊर्ध्वं मन्त्रः प्रजापतेरिति। प्रजापतेर्ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य सभां वेश्म प्रपद्ये गच्छेयम्। किञ्च, यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्, तेषां विशेषत उपासकत्वात्।

अथवा इन्द्रियों से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। देवगण इसी आत्मा की उपासना करते हैं, इस लिये सभी लोक उनको प्राप्त हैं, उनके अधिकार में हैं। साथ ही सभी प्रकार की कामनाएँ भी उनको प्राप्त हैं। जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिये प्रजापति के पास रह कर इन्द्र ने सौ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया, उसका फल देवताओं को प्राप्त हो गया।

प्रश्न उठता है कि देवता तो महान् ऐश्वर्य शाली हैं, उनको जो प्राप्त हो सकता है, वह हमें भी कैसे मिल सकता है? इसी का उत्तर 'यस्तमात्मानम्' इत्यादि श्रुति में दिया गया है। जो व्यक्ति इन्द्र के समान तपस्या करके उसको जान लेता है, वह भले ही आजकल के समय में ही पैदा हुआ हो, सभी लोकों और सभी कामनाओं का अधिकारी देवतों की तरह ही हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मज्ञान का फल सबके लिये एक सा ही है। इस तरह से सर्वात्मक, सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा, सब तरह की कामनाओं को भोक्ता और ब्रह्मस्वरूप से अभिन्न होने से ही इस आत्मा को सब कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा कहा गया है। वस्तुतः मोक्ष में किसी काम्य अथवा काम की स्थिति नहीं रहती। बृहदारण्यक श्रुति में बताया गया है कि तत्वज्ञान हो जाने पर इसके हृदय में विद्यमान सभी कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं। इसी लिये तैत्तिरीय श्रुति में ब्रह्मस्वरूप की अधिगति हो जाने पर मुक्तात्मा के एक साथ सभी कामनाओं का उपभोग कर सकने की बात कही गई है। कोई भी भोक्ता जीव एक साथ इस तरह से सब कामनाओं का उपभोग नहीं कर सकता, क्योंकि वह अपने औपाधिक स्वरूप के कारण परिच्छिन्न रहता है।

'यदन्तरा०' इत्यादि मन्त्र को उद्धृत करते समय दयानन्द 'यदन्तरायः' ऐसा पाठ देते हैं, जो कि अशुद्ध और असंगत है। इसका अर्थ यह होगा—जो आकार रूप आत्मा नाम और रूप का निर्वाहक है और ये नाम–रूप जिस आत्मा के ब्रह्म के मध्य में रहते हैं अथवा इन नाम 'और रूप के मध्य में इनसे अस्पृष्ट अर्थात् नाम और रूप से जो विलक्षण है, वही ब्रह्म है। वही अमृत है और वही सब प्राणियों की आत्मा अर्थात् स्वसंवेद्य प्रत्यक् चेतन है। आत्मा को इसी स्वरूप में पहचानना चाहिये कि वह अशरीर है और आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त है। इसके आगे 'प्रजापतेः' इत्यादि मन्त्र है। इसका अर्थ है—प्रजापति अर्थात् चतुर्मुख ब्रह्मा की सभा को मैं प्राप्त करूँ और मैं ब्राह्मणों के ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित होऊँ, क्योंकि वे ही इस ब्रह्म के

राज्ञां विशां च तेषामप्यात्मा भवामि, तद्यशोऽहमनुप्रापत्सि अनुप्राप्तुमिच्छामि। सभां वेश्म प्रपद्ये इत्युक्तत्वात् ब्रह्मलोकप्राप्तिरेवात्र विवक्षिता, उपासनाप्रकरणात्। कैवल्यमोक्षस्तु निर्विशेषपरब्रह्मात्मसाक्षात्कारेणैव भवति, तत्रैव सर्वस्याध्यस्तत्वात् तत्प्राप्तिरेव सर्वप्राप्तिरित्युक्तमेव।

'अणुः पन्था विततः पुराणः मां स्पृष्टो अनुवित्तो मयैव। तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः। तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च। प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्तस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्। 'मनसैवेदमाप्तव्यं नेहनानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥' (काठकोप० २।४।११, बृ० ४।४।१९), 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (बृ० उ० ४।४।१९), 'एतदप्रमेयं ध्रुवम्' (बृ० उ० ४।४।२०), विरजः पर आकाशात् 'अज आत्मा महान् ध्रुवः' (बृ० उ० ४।४।२०), 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः (बृ० उ० ४।४।२१) इत्यादिवचनानामपि न त्वदभिमतेऽनित्ये मोक्षे पर्यवसानम्। (बृहदारण्यके ४।४)।

तदर्थस्त्वेवम्—अणुः सूक्ष्मः, पन्था दुर्विज्ञेयत्वात्, विततो विस्तीर्णः। वितर इति पाठे विस्पष्टतरणहेतुत्वात् मोक्षसाधनोऽयं ज्ञानमार्गः। पुराणश्चिरन्तनो नित्यश्रुतिबोधितत्वात्। न तार्किकादिप्रभवकुदृष्टिमार्गवदाधुनिकः। मां स्पृष्टो मयोपलब्धः। स योगेन लभ्यः स तं स्पृशतीव। न केवलं स्पृष्टः, किन्तु अनुवित्तोऽपि। विद्यायाः परिपाकापेक्षया फलावसानता निष्ठाप्राप्तिरेवानुवित्तिः, यथा भुजेस्तृप्त्यवसानतेति तद्वत्। पूर्वं ज्ञानसम्बन्ध एवोक्तः। ननु किमसौ मन्त्रद्रष्टैव ब्रह्मविद्याफलं प्राप्तो नान्य इति चेन्न, तथोक्तेर्ब्रह्मविद्यास्तुतिपरत्वात्। आत्मसाक्षिकं कृतार्थतासूचकं ब्रह्मात्मज्ञानमिति तत्स्तुतिः। नान्यज्ञानतत्फलनिषेधपरा। 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्धयत स एव तदभवत्' (बृ० १।४।१०) इति श्रुतेस्तदेवोच्यते। तेन

उपासक होते हैं। क्षत्रियों और वैश्यों की भी मैं आत्मा बन जाऊँ। उनके यश को भी मैं प्राप्त कर सकूँ, क्योंकि मैं ब्रह्म सभा में प्रवेश करना चाहता हूँ। यह मन्त्र उपासना के प्रकरण में पठित है, अतः इसमें ब्रह्म लोक की प्राप्ति का ही वर्णन माना जायगा। कैवल्य मोक्ष तो निर्विशेष परब्रह्मात्मक तत्त्व के साक्षात्कार से ही हो सकता है, क्योंकि उसी में सब अध्यस्त है। उसके प्राप्तहोने से सब कुछ प्राप्त हो जाता है, यह पहले ही बताया जा चुका है।

इसके आगे दयानन्द ने 'अणुः पन्था विततः' से लेकर 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत ब्राह्मणः' पर्यन्त अनेक मन्त्रों को उद्धृत किया है। ये सब वचन भी उनके द्वारा स्वीकृत अनित्य मोक्ष को नहीं सिद्ध कर पाते।

इनका अर्थ क्रमशः इस तरह से है—इस मुक्तावस्था का मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म है, इसको ज्ञान पाना बड़ा कठिन है। साथ ही यह अत्यन्त विस्तीर्ण भी है। 'वितर' ऐसा पाठ मानने पर उसका अर्थ होगा कि बहुत ही स्पष्ट रूप से इसकी सहायता से संसार सागर को पार किया जा सकता है, अतः मोक्षसाधन यह ज्ञानमार्ग 'वितर' कहा जाता है। यह बहुत पुराना भी है, क्योंकि नित्य, अपौरुषेय श्रुति इसका ज्ञान कराती है। यह कुतार्किकों की बुद्धि से प्रसूत आधुनिक शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित मार्ग से भिन्न है। इसको मैंने प्राप्त किया है। जो जिसको प्राप्त होता है, यह उसको छू सा लेता है। यह ब्रह्मज्ञान केवल मेरे द्वारा स्पष्ट ही नहीं अनुवित्त भी है। विद्या का परिपाक होने की अपेक्षा फल में पर्यवसित होना, अन्तिम स्वरूप की अधिगति होना ही अनुवित्ति कहलाता है। जैसे भोजन का पर्यवसान तृप्ति में होता है। उसी तरह से यहाँ भी समझना चाहिये। पहले केवल ज्ञान का सम्बन्ध बताया गया था, यहाँ फल का भी सम्बन्ध बताया गया है। प्रश्न होता है कि क्या मन्त्रद्रष्टा को ही ब्रह्मविद्या का फल मिलता है, किसी दूसरे को नहीं ? उत्तर है कि ऐसी बात नहीं है, इस तरह की उक्ति ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये है। वृह्मात्म ज्ञान से आत्मा का साक्षात्कार कर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है, इस तरह से यह उसकी स्तुति के लिये है। किसी दूसरे को इसका ज्ञान नहीं होगा या इसका फल नहीं मिलेगा, ऐसी कोई बात नहीं है। "देवताओं में से जिसने इसको जान लिया वही ब्रह्मस्वरूप हो गया" इस बृहदारण्यक श्रुति में यही बात कही गई है। इसलिये ब्रह्मविद्या के मार्ग में विद्वान् और साधारण व्यक्ति सभी जा सकते हैं, सभी ब्रह्मविद्या के फल मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं।

ब्रह्मविद्यामार्गे धीराः प्रज्ञावन्तोऽन्येऽपि अपियन्ति । ब्रह्मविद्याफलं मोक्षं स्वर्गं लोकं प्राप्नुवन्ति । अन्यत्र त्रिविष्टपवाच्यपि स्वर्गशब्दोऽत्र प्रकरणात् मोक्षाभिधायकः । जीवन्तोऽपि मुक्ताः सन्तो देहपातादूर्ध्वं कैवल्यपदं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।

तस्मिन्निति । तस्मिन् मोक्षमार्गे मुमुक्षूणां मतभेदमाह श्रुतिः—केचित् तं मार्गं शुक्लं शुद्धं विमलमाहुः । केचिन्नीलमन्ये पिङ्गलं हरितमयं यथादर्शनं प्राहुः । वस्तु-तस्तु सुषुम्नाद्या नाड्य एव श्लेष्मपित्तादिरससम्पूर्णा न दर्शनमार्गस्य शुक्लादिवर्णत्वं सम्भवति । ननु शुक्लो ज्ञानमार्गः सम्भवत्येवेति चेन्न, वर्णवाचकैर्नीलपीतादिशब्दैरनुक्रमणात् । तथा च यान् शुक्लादीन् मोक्षमार्गानाहुर्योगिनस्ते संसारविषया एव 'चक्षुष्टो वो मूर्ध्नोवाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' इति शरीरनिःसरणसम्बन्धात् । आदित्योऽपि ब्रह्मलोकस्यैव प्रापकः, तस्मादात्मदर्शनमेव तत्प्राप्तिमार्गः । आत्मकामत्वेनाप्तकामतया सर्वकामक्षये गमनागमनानुपपत्तौ प्रदीपनिर्वाणवच्चक्षुरादीनां कार्यकारणानामत्रैव समनयः । एष ज्ञानमार्गः, ब्रह्मणा परमात्मस्वरूपेणैव ब्राह्मणेन त्यक्तसर्वैषणेनानुवित्तः । तेनैवान्यो ब्रह्मविद् तदाप्नोति । कीदृशः पुण्यकृत् पूर्वंपुण्यकृद् भूत्वा भगवदाराधनबुद्ध्याऽनुष्ठितश्रौतस्मार्तधर्मो भूत्वा लब्धेश्वरानुग्रहात् त्यक्तसर्वैषणः परमात्मतेजस्यात्मानं संयोज्य तस्मिन्नभिनिर्वृत्तस्तैजसश्चेहैवात्मभूतो ब्रह्मवित्तेन मार्गेण एति ब्रह्म प्राप्नोति । प्राप्तिरप्यत्र विस्मृतकण्ठमणिप्राप्तिवत् प्राप्तस्येवाज्ञानापगमनिबन्धनैव नान्यविधा, तस्य नित्यप्राप्तत्वात् ।

'प्राणस्य प्राणश्च सुषश्चक्षुः' (के० उ० १।२) चैतन्यात्मज्योतिषावभास्यमानः प्राण आत्मभूतेन तेनैव प्राणिति तस्मात्तदात्मज्योतिः प्राणस्य प्राणस्तं प्राणस्य प्राणम् । चक्षुषश्चक्षुः । यथाग्नितादात्म्यापन्नोऽयःपिण्डोऽग्निमहिम्नैव दहति,

अन्य स्थानों में त्रिविष्टप शब्द यद्यपि स्वर्ग का वाची है, किन्तु यहाँ प्रकरण के अनुसार मोक्ष का ही वाचक है । इसका अभिप्राय यह है है कि जीवन्मुक्त साधक देहपात के बाद कैवल्य पद को प्राप्त करते हैं ।

'तस्मिन्०' इत्यादि मन्त्र का अर्थ यह है—उस मोक्षमार्ग में प्रविष्ट होने की इच्छा वाले विद्वानों से परस्पर मतभेद है, इस बात को श्रुति इस तरह से बताती है—कुछ आचार्य उस मोक्ष के मार्ग को शुक्ल, शुद्ध, विमल बताते हैं, अन्य विद्वान् नील, पिंगल, हरित अथवा लाल जैसा जिसने देखा बताते हैं । वास्तव में सुषुम्ना प्रभृति नाड़ियाँ हीं कफ, पित्त आदि रसों से भरी होने के कारण भिन्न-भिन्न वर्णों की प्रतीति कराती है, ब्रह्मदर्शन के मार्ग में ये शुक्ल प्रभृति वर्ण नहीं हो सकते । प्रश्न उठता है, कि ज्ञानमार्ग को तो शुक्ल कहा ही जाता है । उत्तर इसका यह है कि यहाँ नील, पीत आदि शब्द वर्णों के ही वाचक हैं, अतः शुक्ल शब्द भी वर्ण का ही वाचक माना जायगा, ज्ञान का नहीं । जिन शुक्ल प्रभृति मोक्ष मार्गों की योगी जन चर्चा करते हैं, वे सब सांसारिक विषय ही है "चक्षु से, शिर से अथवा शरीर के किसी अन्य स्थान से" इत्यादि श्रुतियों में आत्मा के निकलने की बात कही गई है । आदित्य (सूर्य) भी ब्रह्मलोक की ही प्राप्ति कराता है, इस लिये आत्मदर्शन ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति का मार्ग है । यह आप्तकाम है, इसलिये सभी तरह की कामनाएँ इसकी पूरी हो चुकी हैं, इस स्थिति में जब इसमें किसी तरह की कामना नहीं पैदा होती, वे सब क्षीण हो जाती हैं । तब उसको कहीं जाने-आने की जरूरत नहीं रह जाती और दीपक के बुझ जाने की तरह इसके चक्षु प्रभृति सारे करण चक्र जहाँ के तहाँ लीन हो जाते हैं । इस ज्ञानमार्ग को परमात्म स्वरूप ब्राह्मण, जिसने कि सब तरह एषणा (इच्छा)ओं का त्याग कर दिया है, जान पाता है । इसी तरह से दूसरा व्यक्ति भी इसी मार्ग से उस ब्रह्म को जान सकता है, उसको प्राप्त कर सकता है, जिसने कि पहले पुण्यकर्मों का अनुष्ठान किया है, भगवान् की आराधना करने के अभिप्राय से श्रौत और स्मार्त धर्मों का अनुष्ठान किया है, ईश्वर के अनुग्रह की प्राप्ति हो जाने से सब तरह की इच्छाओं का परित्याग कर दिया है, परमात्मा के तेज में अपने को संयुक्त कर अपने को कृतकृत्य बना दिया है । यहाँ प्राप्ति का अभिप्राय गले में पड़ो हुई भूली माला की प्राप्ति के समान अज्ञान के निवारण मात्र से है, क्योंकि यह स्वात्म स्वरूप तो नित्य प्राप्त है । इसको नये सिरे से प्राप्त करना है ।

'प्राणस्य प्राणमुत०' इसका अर्थ—-चैतन्य स्वरूप आत्मा की ज़्योति से प्रकाशित हो रहा प्राण उस आत्मा के कारण ही प्राणन क्रिया कर सकता है, इसलिये यह आत्म ज्योति प्राण का भी प्राण है । यह चक्षु का भी चक्षु है । जैसे अग्नि से तादात्म्य प्राप्त कर, तदाकार होकर लोहे का गोला जला सकने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है । यद्यपि वह स्वतः न उष्ण है और न गरम, अत एव

स्वस्तत्वनुष्णाशीतत्वाद् दहनसामर्थ्यहीन एव; तथैवात्मचैतन्यज्योतिषोद्दीपितेन तत एव लब्धावभाससामर्थ्येन चक्षुषा रूपमवभास्यते। यथा दग्धुरप्ययःपिण्डस्य दग्धाग्निर्भवति, तथैव चक्षुषोऽपि चक्षुरात्मज्योतिरेव। तथैव ब्रह्मशक्त्याधिष्ठितस्यैव श्रोत्रस्य शब्दश्रवणसामर्थ्यं चैतन्यात्मज्योतिःशून्यं तु काष्ठलोष्टसममेव तद्भवति। तेन तदेव श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनस्तत्। तमेवं चक्षुरादिव्यापारानुमितास्तित्वं प्रत्यगात्मानविषयभूतं ये विदुस्ते निचिक्युः निश्चयेन ज्ञातवन्तः। चिरन्तनं ब्रह्म। अग्रे भवमग्न्यम्।

मनसैवानुद्रष्टव्यमिति। मनसैव परमार्थज्ञानसंस्कृतेनाचार्योपदेशपूर्वकं तदवाप्तव्यम्। मनसोऽविषयत्वेऽपि श्रवणादिसंस्कृतं मनस्तदाकारं जायते। तेन तद्द्रष्टव्यमित्युच्यते। तेनैव फलव्याप्त्यविषयत्वेऽपि ब्रह्मणो वृत्तिव्याप्यत्वमभ्युपेयते। 'नेह नानास्ति किञ्चन' (कठोप० ४।११) इह दर्शनविषये ब्रह्मणि न किञ्चन किञ्चिदपि नाना भेदोऽस्ति। एतेन सजातीयो विजातीयः स्वगतः सर्वविधोऽपि भेदोऽत्र निषिद्ध्यते। यथा नात्र भूतले कश्चन घटोऽस्तीत्युक्तौ सर्वविधोऽपि घटो निषिद्ध्यते, तद्वत्। असत्यपि नानात्वे नानात्वमारोपयति बालिशः। तेनैव स नानात्वदर्शी मृत्योर्मरणान्मृत्युं प्राप्नोति, तस्मान्मनसैवानुद्रष्टव्यमेतत्। यस्मादेतद्ब्रह्म अप्रमेयम्, कुतः? एकत्वात् कर्मकर्तृभावानुपपत्तेः। 'केन कं पश्येत्' (बृ०उ०४।५।१५) इति श्रुतेश्च। आगमोऽपि प्रमातृप्रमाणादिव्यापारप्रतिषेधेनैव ज्ञापयति, नाभिधानाभिधेयवाक्यधर्माङ्गीकरणेन। तमेव धीरः। प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं तमीदृशमात्मानं विज्ञायोपदेशतः शास्त्रतश्चानुभूय शास्त्राचार्योपदिष्टपरब्रह्मात्मविषयां प्रज्ञां सुदृढनिष्ठालक्षणां कुर्वीत।

स्वतः उसमें जला सकने की सामर्थ्य नहीं है; उसी तरह से चैतन्य स्वरूप आत्मा के ज्योति से उद्दीपित चक्षु वहीं से शक्ति पाकर विविध रूपों को प्रकाशित कर पाता है। जैसे जलाने वाले लोहे के गोले में यह सामर्थ्य अग्नि के कारण आती है, उसी तरह से चक्षु का प्रकाशक भी यह आत्मा ही है। इसी तरह से ब्रह्म की शक्ति से अधिष्ठित श्रोत्र ही शब्दों को सुनने में समर्थ हो सकता है, चैतन्य स्वरूप आत्मा की ज्योति से रहित कोई भी पदार्थ काठ या मिट्टी के ढेले के समान जड़ ही माना जायगा। इसलिये यह आत्मज्योति ही श्रोत्र का भी श्रोत्र और मन का भी मन है। अर्थात् इसी की शक्ति से ये सब अपना अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं। इस तरह से यह ब्रह्म ही श्रोत्र का भी श्रोत्र और मन का भी मन है। इस तरह के चक्षुरादि के व्यापारों से जिसके अस्तित्व का भान होता है, और जो किसी का विषय नहीं होता, उस प्रत्यगात्मा, सबसे पहले आविर्भूत, चिरन्तन ब्रह्म को इस रूप में जो देखते हैं, वे ही निश्चयपूर्वक इसको जान पाते हैं।

"मनसैवानुद्रष्टव्यम्" इसका अर्थ यह है कि परमार्थ ज्ञान से संस्कृत व्यक्ति को आचार्य के उपदेश के अनुसार आचरण करके ही इस ब्रह्मात्मस्वरूप को देखना चाहिये। यद्यपि यह स्वरूप मन का विषय नहीं है, तथापि श्रवण, मनन इत्यादि से संस्कृत मन उसी रूप में रंग जाता है। इसीलिये यहाँ द्रष्टव्य पद का प्रयोग किया गया है। इस तरह यह ब्रह्मस्वरूप फल व्याप्ति का विषय न होने पर भी वृत्ति व्याप्ति का विषय बन सकता है। अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप की उपलब्धि यद्यपि हमको नहीं हो सकती, किन्तु उस अन्तःकरण की वृत्ति की हमको उपलब्धि हो सकती है, जो कि बाह्य विषयों से निवृत्त होकर ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप की ओर आगे बढ़ती है। "नेह नानास्ति किञ्चन" इसका अभिप्राय यह है कि जब इस ब्रह्म का दर्शन होता है, तो फिर कहीं भी नानात्व अर्थात् भेद के दर्शन नहीं होते। इस तरह से ब्रह्म में सजातीय, विजातीय और स्वगत सभी तरह के भेद निषिद्ध हैं। जैसे यहाँ पृथ्वी पर कोई घड़ा नहीं है, ऐसा कहने पर सभी तरह के घट का निषेध मान लिया जाता है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहियें। अज्ञ जन नानात्व के न रहने पर भी उसकी कल्पना कर लेते हैं। इसीलिये इस तरह से सब जगह नानात्व को देखने वाला व्यक्ति मृत्यु के चंगुल में फस जाता है, अतः ब्रह्म के इस अद्वैतस्वरूप को वैराग्य प्रवण मन की सहायता से समझना चाहिये, क्योंकि यह ब्रह्म अप्रमेय है, इसलिये कि यह एक है, इसमें कर्मकर्तृभाव नहीं बन सकता। श्रुति भी कहती है कि "किसको किससे देखेगा"। सारे शास्त्र इस तत्त्व का निरूपण प्रमाता, प्रमाण आदि व्यापारों का निषेध करते हुए ही करते हैं, अभिधान और अभिधेय सम्बन्ध के प्रतिपादक वाक्यों के सहारे नहीं। विद्वान् मनुष्य को चाहिये कि प्रत्यक्ष चैतन्य से अभिन्न इस आत्मा को शास्त्रों से और गुरुजनों के उपदेश से जानकर उसके सम्बन्ध में अपनी प्रज्ञा को स्थिर करे।

यत्तु—'मोक्षपदे' श्वेतनीलहरितपीतलोहितगुणा लोकलोकान्तराः प्रकाशन्ते' इति, तत्तु स्वर्गाद्यविशेषप्रपञ्चप्राप्तिरेव न मोक्षप्राप्तिः, विषयेन्द्रियमनोयोगस्य संसारस्यैवोपलब्धेः। यदपि 'शुद्धस्वरूपं पुण्यकृतं पुण्येन मोक्षसुखं प्राप्नोति इति। तदपि न, कृतकस्यानित्यत्वानपायात्। 'नास्त्यकृतः कृतेन' (मु० १।२।१२) इति श्रुतिविरोधाच्च। यदुक्तम्—'परमेश्वरः प्राणस्य प्राणः, चक्षुषश्चक्षुः, श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो मनः' इति, तदपि न युक्तम्, अनुपपत्तेः। नहि प्राणचक्षुरादीनां प्राणान्तरं चक्षुरन्तरं वा दृश्यते उपपद्यते वा, दीपे दीपान्तरस्येव नैरर्थक्यापत्तेः। यदप्युक्तम्—'ब्रह्मचेतनमात्रस्वरूपं प्रमादराहित्येन व्यापको भूत्वा सर्वत्रस्थिरम्' इति, तदपि न, मृत्योः स मृत्युम्' (बृ० उ० ४।४।१९) इति श्रुतौ तादृगर्थबोधकपदाभावात्। ब्रह्मणि प्रमादासम्भवेन निषेधवैयर्थ्यात्। जीवे भवति प्रमादो न ब्रह्मणि। 'तं ज्ञात्वा विशालबुद्धिं कुर्वीत' इत्यपि न युक्तम्, प्रज्ञाशब्दस्य विशालार्थकत्वानुपपत्तेः।

'स होवाच। एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदोर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनामागोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन' (बृ० उ० ३।८।८) इत्येतन्मन्त्रविवृतौ यदुक्तम्—'हे गार्गि तद्ब्रह्म नाशस्थूलसूक्ष्मलब्धरोहितछायान्धकारवाय्वाकाशसङ्गशब्दस्पर्शगन्धविकाससङ्कोचपूर्वापरान्तरबाह्यसर्वविधैर्दोषैर्गुणैश्च रहितो मोक्षस्वरूपः; इति, तदपि न, तवापसिद्धान्तापातात्। त्वथा तस्य सविशेष·

"मोक्ष पद में शुक्ल=श्वेत, नील शुद्ध घनश्याम, पिंगल पीला श्वेत, हरित हरा और लोहित लाल ये सब गुण वाले लोकलोकान्तर ज्ञान से प्रकाशित होते हैं" (पृ० २१६) यह व्याख्या तो गलत है, क्योंकि स्वर्ग प्रभृति के समान सुखमय प्रपंचात्मक लोकों की प्राप्ति को मोक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनसब में विषय, इन्द्रिय, मन आदि के संयोग की उपस्थिति के कारण प्रपंचात्मक संसार की ही प्रतीति होती है। "शुद्ध स्वरूप और पुण्य का करने वाला पुरुष मोक्ष सुख को प्राप्त होता है" (पृ० २१६) यह कथन भी गलत है, क्योंकि जो कृतक है, वह अनित्य अवश्य होगा।" यह अकृत्रिम मोक्ष कर्मकाण्ड से नहीं प्राप्त हो सकता" इस श्रुति से आपकी व्याख्या का विरोध भी पड़ेगा। "परमेश्वर प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न और मन का मन है" (पृ० ३१६) इस तरह की व्याख्या भी उचित नहीं है, क्योंकि प्राण, चक्षु आदि का कोई दूसरा प्राण, चक्षु आदि न तो दिखाई पड़ता है और न यह युक्ति से पुष्ट ही हो सकता है। जैसे एक दीपक को प्रकाशित करने के लिये दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं रहती, उसी तरह से एक चक्षु के लिये भी दूसरे चक्षु आदि की कोई आवश्यकता नहीं पायी जा सकती।" वह ब्रह्म एक और चेतन मात्र स्वरूप है तथा प्रमाद रहित और व्यापक होकर सब में स्थिर है" (पृ० ३१७) यह व्याख्या भी गलत है, क्योंकि "मृत्योः स मृत्युः" इत्यादि श्रुति में इस तरह के अर्थ के बोधक पद विद्यमान नहीं है। ब्रह्म में प्रमाद की संभावना ही नहीं है, तब उसका निषेध व्यर्थ हो जायगा। प्रमाद की संभावना जीव में रहती है, ब्रह्म में नहीं। अतः श्रुति का ब्रह्म में प्रमाण का निषेध करने का क्या तुक हो सकता है। इस प्रकार का अर्थ करने पर श्रुति में ही दोष आ जावेगा, जो कि कथमपि नहीं माना जा सकता, अतः इस तरह का अर्थ करना अपने ही अज्ञान को प्रकट करता है। "ज्ञानी लोग उसी को जानकर अपनी बुद्धि को विशाल करें" (पृ० ३१७) यह व्याख्या भी गलत है, क्योंकि प्रज्ञा शब्द का अर्थ किसी भी तरह से विशाल नहीं हो सकता।

"स होवाच" इत्यादि मन्त्र की व्याख्या, दयानन्द ने इस तरह से की है–" याज्ञवल्क्य कहते हैं—'हे गार्गि, यह परब्रह्म स्थूल, सूक्ष्म, लघु, दीर्घ, लाल, चिक्कन, छाया, अन्धकार, वायु, आकाश, संग, शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस, नेत्र, कर्ण, वाक्, मन, तेज, प्राण, मुख, नाम, गोत्र, वृद्धावस्था, मरण, भय, आकार, विकास, संकोच, पूर्व, ऊपर, भीतर, बाहर इन सब दोषों और गुणों से रहित मोक्षस्वरूप है" (पृ० २१८), किन्तु यह भी गलत है, क्योंकि ऐसा मानने पर आपको अपने ही सिद्धान्त के विपरीत बात माननी पड़ जायगी। वह यह है कि आप तो ईश्वर को सविशेष, अर्थात् अनेक विशेषणों से युक्त मानते हैं तब इस श्रुति में आप उसको निर्विशेष कैसे मान सकते हैं। "वह आकार पदार्थ के समान किसी को प्राप्त नहीं होता"

त्वाङ्गीकारात् । यदुक्तम्—'तत्प्रापको न कश्चित्' इति, तदपि विरुद्धम्, त्वयैव शुद्धसाधककर्तृकतत्प्राप्तेरुक्तत्वात् 'न तदश्नाति किञ्चन' (बृ० उ० ३।८।८) इत्यस्याविवृतत्वाच्च ।

श्रीशाङ्करभाष्यादिसम्मतस्त्वयं तदर्थः—हे गार्गि कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति पृष्टवत्यसि । एतद्वै तदक्षरं यन्न क्षीयते न क्षरतीति वा तदक्षरं ब्राह्मणा ब्रह्मविदो वदन्ति । ब्राह्मणा अभिवदन्तीत्युक्त्या नाहमवाच्यं वक्ष्यामि न च न प्रतिपद्येयमिति । एवमपाकृते प्रश्ने ब्रूहि किं तदिति गार्ग्या प्रत्युक्तं मत्वाह—अस्थूलं स्थूलादन्यत् तर्हि किमणु ? तत्राह—अनणु नापि ह्रस्वं न वा दीर्घं चतुर्भिः परिमाणप्रतिषेधैर्द्रव्यधर्मः प्रतिषिद्धः । न द्रव्यं तदक्षरमित्यर्थः । तर्हि लोहितोगुणोऽस्तु न लोहितोऽपि आग्नेयो गुणो लोहितो न तदक्षरं लोहितं न स्नेहो न वा छायारूपं तत् । नापि तमः । अवायु तदनाकाशं भवेत्तु सङ्गात्मकं तदपि न, न रसो नापि गन्धः, चक्षुरप्येवं भवतीति । तत्राहाचक्षुष्कम् 'पश्यत्यचक्षुः' (श्वे० उ० ३।१९) इति मन्त्रवर्णात् । अश्रोत्रमतेजस्कमादित्यादिवत्प्रकाशात्मकम्, अप्राणम् प्राण आध्यात्मिको वायुरपि न तत् । न सुखं नान्तरं न बाह्यम् । अमात्रं मीयते येन तन्मात्रम्, तदपि न । नान्तरं न बाह्यं न कार्यं न वा कारणं तत्, तत्रैव कार्यकारणादिप्रपञ्चाध्यारोपणात् । अस्तु तर्हि भक्षयितृ तदिति, तदपि न, अर्थात् न तत् कञ्चननाश्नाति । तर्हि भक्ष्यमस्तु तदपि न, तदक्षरं न कश्चनाश्नाति । 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० उ० ६।२।१) तदतो न केनचिद्विशिष्यते । एतेन सर्वप्रपञ्चनिषेधाधिष्ठानं साक्षिनित्यविज्ञानभूतमेव तत् ।

'येन यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानशा तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं

(पृ० २१८) यह कथन भी आपके सिद्धान्त के विपरीत पड़ेगा, क्योंकि आपने ही यह बताया। शुद्ध साधनों द्वारा उसको प्राप्त किया जा सकता है। 'न तदश्नाति किञ्चन' श्रुति के इस अंश की तो दयानन्द ने व्याख्या की ही नहीं है।

श्री शांकरभाष्य के अनुसार इसका अर्थ यह होगा—हे गार्गि, तुमने पूछा है कि यह आकाश किसमें ओत-प्रोत है ? आकाश जिसमें ओत-प्रोत है, यह अक्षर तत्व है, जो कि कभी क्षीण नहीं होता। यह बात विद्वान् ब्राह्मणों की कही हुई है। इसका यह अभिप्राय है कि इस अवाच्य तत्व का मैं उपदेश कैसे कर सकता हूँ ? और बिना बताये मुझे कैसे चैन पड़ेगा। अतः विद्वानों ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है, वही मैं तुमको बता दे रहा हूँ। इस तरह से पहले प्रश्न का तो उत्तर हो गया, किन्तु याज्ञवल्क्य ने अपने मन.में सोचकर कि गार्गी इस पर फिर पूछ सकती है कि वह अक्षर तत्व क्या है ? तो इसका उत्तर ये अपने से ही दे रहे हैं कि वह अक्षर तत्व स्थूल है, स्थूल से भिन्न है। तो क्या वह अणु है ? नहीं, वह अणु भी नहीं है। वह न ह्रस्व है और न दीर्घ। इस तरह से इन चार निषेधों से परिमाण का निषेध करते हुए यह बताया गया है वह तत्व द्रव्यगत धर्मों से रहित है। अर्थात् वह अक्षर तत्त्व द्रव्यात्मक नहीं है। तब यह तत्त्व लाल रंग वाला मान लिया जाय ? नहीं, श्रुति इसका भी निषेध करती है कि लौहित्य तो अग्नि का गुण है, यह अक्षर लोहित नहीं हो सकता, न वह स्नेह है, न छाया रूप और न तमरूप ही है। वह वायु और आकाशात्मक नहीं है और न संगात्मक ही है। वह रस, गन्ध आदि से भी रहित है। क्या वह चक्षु हो सकता है ? नहीं, वह चक्षु आदि इन्द्रियों से युक्त भी नहीं है, क्योंकि श्रुति में बताया गया है कि "वह ब्रह्म बिना आंख के ही देखता है"। वह श्रोत्र और तेज से रहित होते हुए भी आदित्य के समान प्रकाशात्मक है। वह अप्राण है, आध्यात्मिक अर्थात् शरीर के भीतर रहने वाला प्राणवायु भी वह नहीं है। वह बाह्य और आन्तर सुख से भी भिन्न है। वह अमात्र है, अर्थात् किसी वस्तु से नापा नहीं जा सकता। वह न तो आन्तर है और न बाह्य, अर्थात् वह न तो कारण है और न कार्य। तो भी सारा कार्य-कारण प्रपंच उसी में अध्यारोपित है। तब वह सबका भक्षक मान लिया जाय ? किन्तु वह ऐसा भी नहीं है, अर्थात् वह किसी का भी भक्षक नहीं है। तब क्या वह भक्ष्य है ! नहीं, उस अक्षर तत्त्व को कोई दबा नहीं सकता। "एकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुति के अनुसार वह तो अकेला है, अतः इसको किसकी अपेक्षा विशिष्ट माना जायगा अथवा जब यह अकेला ही है, तब यह किसको खायगा अथवा कौन इसको खायगा ? अतः प्रपंचात्मक जगत् की सभी वस्तुओं के निषेध का अधिष्ठान (आश्रय) यह ब्रह्मतत्त्व सबका साक्षी और नित्य विज्ञान स्वरूप है।

"येन यज्ञेन०" इत्यादि मन्त्र के द्रष्टा ऋषि नाभानेदिष्ट हैं। इसमें आङ्गिरस की स्तुति है, अतः वे ही इसके देवता

सुमेधसः ।' (ऋ० सं० १०।६२।१) । येन यज्ञेनेति नाभानेदिष्टस्यार्षम् । अङ्गिरसां स्तुतिर्देवता । यज्ञेनैकादशाद्या षडङ्गिरसां स्तुतिरित्यनुक्रमणात् । नाभानेदिष्टः स्वपित्रा मनुनाभ्यनुज्ञातः सत्रमासीनानङ्गिरसोऽभ्येत्य यदुक्तवान्—'मां प्रतिगृह्णीत युष्मभ्यं यज्ञं प्रज्ञापयामीति यदुक्तवान् तदुच्यते—'नाभानेदिष्टं शंसति नाभानेदिष्टं वै मानवम्' ऐतरेयब्राह्मणम् (५।१४) इति ब्राह्मणानुसारेण मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजन् । (तै० ब्रा० ३।१।९।४) । तस्मादस्या ऋचोऽयमर्थः—यज्ञेन यजनीयेन हविषा दक्षिणया ऋत्विग्भ्यो देयया समक्ताः सङ्गताः । ये अहीनैकाहसत्राणि कुर्वन्तो यूयम् इन्द्रस्य सख्यं सखिकर्म अत एवामृतत्वम्, अमरणधर्मदेवत्वम्, आनश आनशिध्वे प्राप्ताःस्थ । हे अङ्गिरसस्तेभ्यो युष्मभ्यं भद्रं कल्याणं कर्मास्तु । हे सुमेधसः ! सुप्रज्ञाः ते यूयमिदानीमागतं मानवं मनोः पुत्रं मां प्रतिगृभ्णीत मयि प्रतिगृहीते सति यज्ञं साधु करिष्यामि तदर्थं प्रतिगृह्णीतेत्यर्थः ।

यदुक्तम्—'ज्ञानयज्ञेनात्मादिद्रव्याणां च दक्षिणारूपेण परमेश्वराय दानाच्च मुक्ता मोक्षसुखे प्रसीदन्ति । इन्द्रस्य परमेश्वरस्य सख्यमर्थात् तन्मित्रतया मोक्षभावमुपगतास्तेषामेव कृते भद्रं भद्राख्यं सुखं नियतम् । अङ्गिरसस्तेषां मुक्तानां प्राणाः सुमेधसस्तेषामत्यन्तं बुद्धिवर्धकाः मोक्षप्राप्तं मनुष्यं पूर्वमुक्ताः स्वसमीपस्थ आनन्दे रक्षन्ति । पुनश्च ते परस्परं स्वज्ञानेन प्रीतिपूर्वकं पश्यन्ति मिलन्ति च' (पृ० २१८) इति । तदेतत्सर्वथा शाब्दन्यायबहिर्भूतमतीवोपहासास्पदम्, मन्त्राक्षरार्थाननुगमात् । कथञ्चिद् यज्ञपदेन ज्ञानयज्ञग्रहणे दक्षिणापदेन परमेश्वरायात्मादिद्रव्यदानग्रहणेऽपि समक्ता इत्यस्य मोक्षप्राप्ता इति कथमर्थः ? सख्यममृतत्वं च समानविभक्तिकमिति कथं तयोर्हेतुमद्भावः । न च मृद्घट इतिवत् सामानाधिकरण्येन ।

कार्यकारणभाव इति वाच्यम्, तद्वत् प्रकृत उपादानोपादेयभावासम्भवात् । सख्यं त्वमृतत्वस्य निमित्तमेव ।

हैं । सर्वानुक्रमणी के 'यज्ञे०' इत्यादि सूत्र से यह ज्ञात होता है । अपने पिता मनु की आज्ञा प्राप्त कर नाभानेदिष्ट सत्र का अनुष्ठान करने में लगे अङ्गिरसों के पास आकर कहते हैं—मुझे आप लोग स्वीकार कीजिये, मैं आप लोगों को इसका रहस्य समझाऊँगा । इसी बात को ऐतरेय ब्राह्मण में भी बताया गया है कि नाभानेदिष्ट सुत्र का पाठ करता है । यह मनु के पुत्र नाभानेदिष्ट के द्वारा परिदृष्ट है । इसी ब्राह्मण में मनु के द्वारा अपने पुत्रों को दाय का विभाग करने की बात वर्णित है । इस प्रसंग की पृष्ठभूमि में मन्त्र का अर्थ यह होगा—हे अंगिरसों, आप लोगों ने यजनीय हविर्द्रव्य और ऋत्विजों को देय दक्षिणा से संयुक्त होकर अहीन, एकाह-प्रभृति सत्रों का अनुष्ठान करते हुए इन्द्र की मित्रता अर्थात् अमरता (देवत्व) को प्राप्त किया है । आप लोगों का कल्याण हो । हे बुद्धिमान् अंगिरसों, आप लोग मनु के पुत्र मुझ नाभानेदिष्ट को ऋत्विक् के रूप में स्वीकार कीजिये । ऐसा करने पर मैं आपके इस यज्ञ को और भी भली प्रकार से संपन्न करा सकूंगा, अतः आप लोग मुझे अवश्य स्वीकार कर लीजिये ।

"पूर्वोक्त ज्ञानरूप यज्ञ और आत्मा आदि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्तलोग मोक्ष सुख में प्रसन्न रहते हैं । जो परमेश्वर के सख्य अर्थात् मित्रता से मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं, उन्हीं के लिये भद्र नाम सब कुछ नियत किये गये हैं । (अंगिरसः) अर्थात् उनके जो प्राण हैं, वे (सुमेधसः) उनकी बुद्धि को अत्यन्त बढ़ानेवाले होते हैं । उस मोक्ष प्राप्त मनुष्य को पूर्व मुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से एक दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते और मिलते हैं" (पृ० २१८) दयानन्द की यह सारी व्याख्या शाब्दिक पद्धति के विपरीत है, अतएव अतीव उपहासास्पद और मन्त्र के अक्षरों से असंबद्ध भी है । किसी तरह से यज्ञपद से ज्ञानयज्ञ का और दक्षिणा पद से परमेश्वर को आत्मा रूपी द्रव्य को देने की बात का समर्थन किया भी जा सकता है, किन्तु 'समक्ता' पद से मोक्ष प्राप्ति के अर्थ का ग्रहण कैसे किया जा सकता है ? सरल और अमृतत्व दोनों पद एक ही विभक्ति के हैं, इनमें कार्यकारण भाव कैसे बन सकता है ? 'मृद्घट' शब्द में जैसे एक ही विभक्ति के पदों में सामानाधिकरण्य के आधार पर कार्यकारणभाव बनता है, वैसे ही यहां नहीं बन सकता, क्योंकि वहां जैसे मिट्टी और घड़े का उपादान-उपादेय भाव बनता है, वैसा सम्बन्ध यहां नहीं बनता है । मित्रता अमृतता का निमित कारण बन सकता है, उपादान· कारण नहीं । भद्र पद

भद्रपदं कल्याणवाचि, न विशिष्टनियतमोक्षसुखपरम्, निर्मूलत्वात्, अमृतत्वेन गतार्थत्वाच्च। अङ्गिरसः सुमेधस इत्यस्य बुद्धिवर्धकाः कथमर्थः? बहुव्रीहिणा शोभनमेधावन्त इति प्रतीयमानार्थमुपेक्ष्य मेधाजनकत्वं कथमर्थः? नहि सम्भवति शक्येऽर्थे लक्ष्योऽर्थो ग्राह्यः, लक्षणाबीजाभावात्। नचान्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिर्वात्र बीजमुपलभ्यते। किं मोक्षदशायामपि मुक्तेषु प्राणा भवन्ति? ते च बुद्धिं वर्धयन्ति? ओमिति चेत् किं तत्र मानम्? न चायं मन्त्र एव मानमिति वाच्यम्, तस्यान्यार्थताया उक्तत्वात्। प्राणा इन्द्रियाणि चोत्पत्तिमत्त्वादनित्या एवेति कथं मुक्तौ तिष्ठन्ति? अन्यथा देहोऽपि किन्न तिष्ठेत्? तथात्वेऽत्रैव देहप्राणवियोगस्यापि सम्भवे मोक्षे मरणमपि सम्भवत्येवेति साधुसाधितममृतत्वमिति।

किञ्च, ब्राह्मणानामप्यार्षत्वेन त्वया प्रामाण्यमभ्युपेयते। पूर्वोक्तैतरेयादिब्राह्मणैस्त्वस्य मन्त्रस्य नाभानेदिष्टमनुपुत्रकृताङ्गिरसां स्तुतिरेवार्थं उच्यते। अपरं च वोऽस्तु मानवमित्यादिपदानामन्वयोऽभिप्रायो वा नोक्त एव। स्वसमीपस्थे आनन्दे रक्षन्तीत्यप्युन्मत्तप्रलपितमेव, ब्रह्मानन्दस्य सन्निकर्षविप्रकर्षानुपपत्तेः। लोक आनन्दो भुज्यते, न त्वानन्दे स्थीयते, गुणस्य द्रव्याधारत्वानुपपत्तेः। तस्मात् ये यज्ञेन प्रसिद्धेन देवतोद्देश्यकचरुपुरोडाशादित्यागलक्षणेन ऋत्विग्भ्यो दातव्यदानरूपया तत्कर्मपारिश्रमिकदानरूपया समक्ताः संगताः, तत्र यज्ञदक्षिणादानादिजन्यादृष्टसमवेता यूयमिन्द्रस्य सख्यं समानधर्मत्वममृतत्वममरणधर्मत्वं देवत्वमानश प्राप्ताःस्थ तेभ्यो, वो युष्मभ्यं भद्रं प्रसङ्गात्क्रमोत्कर्षसम्पत्तिरूपं भद्रमस्तु। तदर्थं हे अङ्गिरसः! हे सुमेधसः! मानवं मनुपुत्रं मां नाभानेदिष्टं प्रतिगृभ्णीत। नहि

कल्याण का वाचक है, विशिष्ट नियत मोक्ष अवस्था के सुख का इससे बोध नहीं होता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है और इस अर्थ की प्रतीति तो अमृत पद से ही हो जाती है, पुनः इस शब्द से उस अर्थ की प्रतीति कराना व्यर्थ है। अंगिरसः सुमेधसः का अर्थ बुद्धिवर्धक कैसे हो सकता है? बहुव्रीहि समास के आधार पर 'सुन्दर प्रज्ञावाले 'इस प्रतीत हो रहे अर्थ की उपेक्षा कर उसका अर्थ मेधा को उत्पन्न करनेवाला कैसे किया जा सकता है? जबतक शब्द अर्थ का ग्रहण हो सकता हो, तबतक लक्ष्य अर्थ का ग्रहण नहीं करना चाहिये। यहां लक्षणा करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता। अन्वय की अनुपपत्ति या तात्पर्य की अनुपपत्ति होने पर ही लक्षणा की जाती है। क्या मोक्ष दशा में भी मुक्त प्राणियों में प्राण की सत्ता रहती है और वे बुद्धि को बढ़ानेवाले होते हैं? यदि आप इस बात को स्वीकार करते हैं तो इसमें प्रमाण क्या है? यह मन्त्र उसमें प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि यह हम बता चुके हैं कि इस मन्त्र का आपका किया गया अर्थ गलत है। प्राण और इन्द्रियां तो अनित्य हैं, अतः उनकी स्थिति उस नित्य मोक्षदशा में कैसे रह सकती है। यदि इन्द्रियां और प्राण उस समय रह सकते हैं, तो फिर शरीर क्यों नहीं रह सकता। यदि इस बात को भी आप मान लें तो जैसे इस संसार में देह और प्राण का वियोग होता है, उसी तरह से मोक्षदशा में भी इस स्थिति के उत्पन्न होने पर मरण की स्थिति को भी वहां मानना पड़ेगा। इस तरह से तो आपने बड़ी अच्छी तरह से मोक्षदशा की अमरता का प्रतिपादन किया?

आप आप्त ऋषियों की रचना होने से ब्राह्मणों को प्रामाणिक मानते हैं। पूर्वोक्त ऐतरेय प्रभृति ब्राह्मणों में इस मन्त्र के द्वारा नाभानेदिष्ट नाम के मनु के पुत्र ने अंगिरसों की स्तुति की है। यही बताया गया है। दूसरी बात इस मन्त्र का अर्थ करते समय आपने 'वोऽस्तु मानव' इत्यादि पदों का अन्वय अथवा अभिप्राय नहीं बताया है। वे परस्पर अपने पास के ज्ञान से एक दूसरे की रक्षा करते हैं, यह कथन भी पागल की बात जैसा है, क्योंकि ब्रह्मानन्द दशा के समीप या दूर होने का कोई प्रसंग नहीं हो सकता। लोक में आनन्द का उपभोग किया जाता है, उसमें रहा नहीं जाता, क्योंकि आनन्द एक गुण है और इस गुण में द्रव्य की सत्ता नहीं रह सकता। इसलिये इस मन्त्र का यही अर्थ किया जा सकता है कि इस प्रसिद्ध यज्ञ से जिसमें कि देवता को उद्दिष्ट कर चरु-पुरोडाश आदि द्रव्यों की हवि दी जाती है और ऋत्विजों को दी जाने वाली दक्षिणा से, जो कि उनको यज्ञ कराने के पारिश्रमिक के रूप में प्राप्त होती है, संयुक्त होकर, यज्ञानुष्ठान दक्षिणादान प्रभृति से उत्पन्न अदृष्ट से भी संयुक्त होकर। हे अंगिरसों, आप लोग इन्द्र की समानता को अर्थात् अमरता को, देवत्व को प्राप्त कर चुके हो, आपका कल्याण हो, आपके कर्म की समृद्धि हो, इसलिये हे बुद्धिमान् अंगिरसों! मनु के पुत्र मुझ नाभानेदिष्ट को आप लोग ऋत्विक् के रूप

व्यक्तिनामभयात् प्रसिद्धार्थत्यागो युक्तः, शब्दप्रामाण्यविदां प्रतीतेरेव शरणत्वात्। चतुर्थे मन्त्रगतात् 'अयं नाभा वदति वल्गु' इति लिङ्गाच्चात्र नाभानेदिष्टकृतस्तुतिर्ज्ञायते। वस्तुतस्तु नायं मन्त्रो मोक्षनिरूपण उपयुज्यते।

'स नो बन्धुर्जनिता 'स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥" (वा० सं० ३२।१०) इत्यस्य व्याख्याने यदुक्तम्—'स परमेश्वरो नो बन्धुर्दुःखनाशकः जनिता सर्वसुखपालकः स एव सर्वकामानां पूरकः सर्वलोकानां वेदिता यत्र देवा विद्वांसो मोक्षं प्राप्य सदा सुखिनो भवन्ति ते तृतीये धामन् धाम्नि शुद्धसत्त्वसहिताः सर्वोत्तमसुखेषु स्वाच्छन्द्येन रमन्ते' (पृ० २१८) इति, तदपि न विचारचारु, प्रसिद्धार्थत्यागस्यैव दोषत्वात्। तथाहि—स परमेश्वरो नोऽस्माकं बन्धुर्बन्धुवन्मान्योऽन्तरङ्गश्चेत्येवार्थः, कारणभूताधारो वार्थः ? बध्यतेऽस्मिन्निति बन्धुरिति व्युत्पत्तेः। प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः, (छा० ६।८।२) इति श्रुतेः। मन इति मन उपाधिको जीवः, प्राण इति 'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) इत्युक्तः सत्पदार्थः परमात्मा, बद्धयतेऽस्मिन्निति बन्धनं प्राणः परमात्मा बन्धनमाधारो यस्य मन उपाधिकस्य जीवस्य स इति तदर्थः। जनिता जनयिता 'जनिता मन्त्रे' (पा० सू० ६।४।५३) इति णिचो लोपः। स परमेश्वरो विधाता धारयिता सविश्वा सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि धामानि स्थानानि च वेद जानाति। देवा अग्न्यादयः, तृतीये धामन् धाम्नि स्थाने स्वर्गात्मके अध्यैरयन्त स्वेच्छया वर्तन्ते। कीदृशाः ? अमृतं मोक्षप्रापकं ज्ञानं यत्र ब्रह्मणि आनशाना अश्नुवते। 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) दित्वेन द्वित्वे शानच्यभ्यासस्य नुगागमे रूपम्। मोक्षप्रापकं ज्ञानं प्राप्ताः सन्तो देवाः स्वर्गे मोदन्ते। नहि मोक्षसुखं तृतीये धाम्न्येव भवति, तस्य ब्रह्मरूपत्वेन व्यापकत्वात्, तस्मात् स्वर्ग एव तृतीयं धाम न मोक्षः। अत एवामृतपदमपि इत्यशेर्ह्री

में स्वीकार कर लीजिये। यहाँ व्यक्ति के नाम के डर से प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग करने में कोई तुक नहीं है, क्योंकि हमारे जैसे शब्दों का सर्वोपरि प्रामाण्य मानने वालों के मत में प्रतीति की ही शरण में जाना पड़ता है, अर्थात् जिस शब्द का जो अर्थ प्रतीत हो रहा है, उसको मानना ही पड़ता है। इस सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में स्पष्ट ही इस नाम का उल्लेख हैं। इस प्रमाण के आधार पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस मन्त्र में नाभानेदिष्ट के द्वारा अंगिरसों की स्तुति की गई है। वास्तव में इस मन्त्र का मोक्ष दशा के निरूपण से कोई कतई सम्बन्ध नहीं है। इस मन्त्र का मोक्ष के निरूपण में उपयोग नहीं किया जा सकता।

"स नो बन्धु०" इत्यादि मन्त्र की व्याख्या करते हुए दयानन्द ने लिखा है—"वही परमेश्वर हमारा बन्धु अर्थात् दुःख का नाश करने वाला, (जनिता) सब सुखों को उत्पन्न और पालन करने वाला है। तथा वही सब कामों को पूर्ण करता और सब लोकों को जानने वाला है। जिनमें कि देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहते हैं और तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्त्व से संयुक्त होकर सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं" (पृ० २१८)। यह व्याख्या भी विचार करने पर गलत सिद्ध होती है। इसमें सबसे बड़ा दोष है प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग। वह परमेश्वर हमारा बन्धु अर्थात् बन्धु की तरह मान्य और अन्तरंग है, यही अर्थ किया जायगा ? अथवा वह हमारा कारण है, आधार है, यह अर्थ किया जायगा ? व्यक्ति जिसमें बंधता है, उसको बन्धु कहते हैं, इस व्युत्पति के आधार पर और "हे सोम्य, यह जीव प्राणों से बँधा रहता है, इस श्रुति के आधार पर जिसमें कि मन शब्द से मन की उपाधि वाले जीव का ग्रहण किया जाता है और प्राण शब्द से "हे सोम्य, प्रारंभ में सब कुछ सत् था". इस श्रुति के आधार पर सत्पदार्थ परमात्मा का ग्रहण किया जाता है। यह प्राण अर्थात् परमात्मा बन्धन अर्थात् आधार है, जिस मन की उपाधि वाले जीव का, इस व्युत्पतिलभ्य अर्थ के आधार पर बन्धुपद यहाँ परमात्मा का बोधक है। वही परमात्मा सबको पैदा करने वाला है। यहाँ णिच् प्रत्यय का बोध हो जाता है। वह परमात्मा सबको धारण करने वाला है और सारे लोकों को तथा उनमें रहने वाले सब प्राणियों को जानता है। अग्नि प्रभृति देवतागण अपनी इच्छा से तृतीय धाम स्वर्ग में निवास करते हैं और वहाँ रहते हुए ये देवगण मोक्ष प्रापक ज्ञान की सहायता से ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। अश् धातु का द्वित्व, शानच् प्रत्यय और अभ्यास में नुक् का आगम होने पर 'आनशान' पद बनता है। मोक्ष के प्रापक ज्ञान को

न मोक्षपरम्, स्वर्गस्य मोक्षरूपत्वाभावात्। तस्मादमृतत्वसाधके ब्रह्मात्मज्ञान एवात्रामृतपदप्रयोगः। तच्च सम्भवत्येव स्वर्गेऽपि।

यदप्युक्तम्—'जीवः परिच्छिन्नोऽनादिरनन्तश्च परमेश्वराद्भिन्नो ज्ञानादिगुणकः सुकृतदुष्कृतानुष्ठाने स्वतन्त्रः, तद्विपाकदुःखाद्युपभोगेऽस्वतन्त्र ईश्वराधीनः, स्वरूपतो न बद्धो न मुक्तः, दुरदृष्टाधीनमस्य देहादिधारणम्, तद्योगाच्च सुखदुःखादिभोगः, धर्मादिना तदभावे मोक्षः, तत्रापि यदा शुश्रूषति तदा श्रोत्रं जायते, यदा दिदृक्षति तदा चक्षुरुत्पद्यते एवं स्वविषयग्रहणाभिलाषकाले तत्तदीन्द्रियाणि जायन्ते, शृण्वन् श्रोत्रम्, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यञ्चक्षुर्भवति इत्यादि वचनादिति सत्यार्थप्रकाशे नवमसमुल्लासे, तदपि न सङ्गतम्, परिच्छिन्नत्वाद्यनुपपत्तेः। प्रागभावप्रध्वंसाभावान्यतरप्रतियोगित्वं कालपरिच्छेदः। न चानादेरनन्तस्य च तत्सम्भवति, अनित्यत्वे कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गाच्च। तस्माद्देशपरिच्छिन्नत्वमेव वक्तव्यम्। तत्रापि मध्यमपरिमाणत्वे घटादिवदनित्यत्वापत्तिरतोऽणुपरिमाणत्वमेव वाच्यम्, तदपि न युक्तम्, तदुत्पत्यश्रवणात्। न च नैयायिकाभिमतपरमाणूनां नित्यत्ववदणुपरिमितानामात्मनामपि नित्यत्वं स्यादिति वाच्यम्, 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः', (ब्र० सू० २।१।१४) इति ब्रह्मसूत्रविरोधेन ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्य ब्रह्मकार्यत्वोपपत्या परमाणूनामपि नित्यत्वासम्भवात्। जीवात्मनां चानुत्पत्तिमतां ब्रह्माभिन्नत्वेनैव तदनन्यता।

प्राप्त कर देवगण स्वर्ग में आनन्द मनाते हैं। मोक्ष का सुख केवल तीसरे धाम स्वर्ग में ही हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वह तो ब्रह्म का स्वरूप साक्षात्कार ही है, जो कि सर्वत्र व्याप्त है। यहाँ स्वर्ग ही तृतीय धाम है, मोक्ष नहीं। इसीलिये अमृत पद भी मोक्ष के अर्थ में नहीं है, क्योंकि स्वर्ग मोक्ष स्वरूप नहीं होता। इस लिये अमृतत्व के साधक ब्रह्मात्मज्ञान के लिये ही यह अमृतपद का प्रयोग हुआ है। इसकी संभावना स्वर्ग में भी है ही।

सत्यार्थ प्रकाश के नवम समुल्लास में बताया गया है कि जीव परिच्छिन्न होते हुए भी अनादि और अनन्त है। यह परमेश्वर से भिन्न है। इसमें ज्ञान प्रभृति गुण रहते हैं। पाप और पुण्य के अनुष्ठान में यह स्वतन्त्र है, किन्तु इनके फल के उपयोग में वह स्वतन्त्र न होकर ईश्वर के अधीन रहता है। स्वरूपतः यह न तो बद्ध है और न मुक्त। बुरे अदृष्ट के कारण यह शरीर धारण करता है और शरीर को धारण करने से ही इसको सुख, दुःख आदि भोगने पड़ते हैं। धर्म का, सत्कर्मों का आचरण करने पर जब शरीर छूट जाता है तो इसको मोक्ष प्राप्त हो जाता है। वहाँ भी मोक्षदशा में भी यदि वह सुनना चाहता है तो श्रोत्र और देखना चाहता है तो चक्षु उसको मिल जाते हैं। इस तरह उस उस विषय की कामना करने पर वे वे इन्द्रियाँ उसको प्राप्त हो जाती हैं "शृण्वन् श्रोत्रं भवति०" इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। किन्तु यह सारा कथन भी असंगत है, क्योंकि जीवात्मा को भी परिच्छिन्न नहीं माना जा सकता। जो पदार्थ प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव में से किसी एक का भी विरोधी हो अर्थात् जिसकी सत्ता से प्रागभाव अथवा प्रध्वंसाभाव में से किसी एक की भी सत्ता नष्ट हो जाय तो उस पदार्थ को काल से परिच्छिन्न माना जाता है। अनादि और अनन्त पदार्थ इस तरह से काल से परिच्छिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने पर उसको अनित्य मानना पड़ेगा और इसमें नया दोष एक यह होगा कि कृतहानि और अकृत की आपत्ति आवेगी, अर्थात् यदि आत्मा को अनित्य माना जाय तो उसके नष्ट हो जाने पर जो कुछ उसने किया, उसका फल उसे न मिलने से कृत की हानि हुई और फल तो उसको मिलता है, यह किसका फल मिला? पूर्व रूप तो उसका नष्ट हो गया जिसने कि कर्म किया था, अतः नये सिरे से ही यह फल प्राप्ति उसमें माननी पड़ेगी, जो कि अकृत की प्राप्ति के नाम से ही कही जायगी। इसलिये काल से परिच्छिन्न न मानकर इसकी देश की परिच्छिन्नता ही मानी जायगी। इस स्थिति में भी आत्मा में मध्यम परिमाण मानने पर उसकी घटादि की तरह अनित्यता हो जायगी, अतः इसमें अणु परमाण ही मानना पड़ेगा, किन्तु यह कथन भी उचित नही है, क्योंकि आत्मा की उत्पत्ति की बात कही सुनी नहीं गई है। आप यदि कहें कि नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत परमाणु जैसे नित्य होते हैं, उसी तरह से अणु परिमाण आत्मा को भी नित्य मानने में क्या आपत्ति है? किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि आपकी यह बात ब्रह्मसूत्र के विरुद्ध है। 'तदनन्यत्व' इत्यादि ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म से भिन्न सभी वस्तुओं को कार्य माना है, अतः परमाणुओं का भी कार्य है, वे नित्य नहीं हो सकते। जीवात्मा तो कभी उत्पन्न नहीं होते, वे ब्रह्म से अभिन्न हैं, अतः

परमेश्वरस्यैव जैवेन रूपेण प्रवेशः श्रूयते 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, (छा॰ ६।३।२) इति श्रुतेः। ब्रह्मणो विभुत्वात्तस्यैव जीवरूपेणानुप्रवेशात् तस्यापि विभुत्वमेव स्वीकार्यम्। 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ ४।४।२२) इत्येवमादिभिरात्मनो विभुत्वमेवावगम्यते।

अणोर्जीवस्य सकलशरीरगतवेदनानुभवोऽपि नोपपद्यते। तच्चैतन्यं शरीरव्यापीत्यपि न युक्तम्, चैतन्यस्यैव तद्रूपत्वात्। यथाग्नेरौष्ण्यप्रकाशौ। न च चैतन्यात्मनोर्गुणगुणिभावः, भिन्नयोर्गोत्वाश्वत्वयोरिव गुणगुणिभावानुपपत्तेः। चैतन्यस्यात्मगुणत्वेऽपि तद्देशवृत्तित्वमेव स्यात्, न सर्वदेहव्यापिवृत्तित्वम्, नहि रूपादिगुणानां गुणिभिन्न देशवृत्तिता दृश्यते। न च प्रकाशस्य प्रदीपभिन्नदेशवृत्तितेति वाच्यम्, तत्र गुणगुणिभावानङ्गीकारात्। प्रकाशस्यैव सान्द्रावयवसंश्लेषवतः प्रदीपत्वं विरलावयवस्य च प्रकाशत्वम्। न च पुष्पगुणस्य गन्धस्य पुष्पभिन्नदेशवृत्तित्वं दृश्यत इति वाच्यम्, केवलगन्धस्य गमनागमनासम्भवेन पुष्पावयवाश्रयस्यैव गन्धस्य वायुना दूरदेशप्रसराभ्युपगमात्। न चावयवप्रसरणाभ्युपगमे पुष्पपरिमाणह्रासापत्तिः स्यादिति वाच्यम्, नालस्कन्धादिभ्यो नवीनावयवाभ्यागमेन परिमाणन्यूनतानुभवानापत्तेः। वृत्तच्युतानां तु परिमाणह्रासो भवत्येव। किञ्च, चैतन्यस्य गुणत्वे गुणिनामात्मनां स्वरूपेणाचेतनत्वापत्तिः स्यात्। अत एव ज्ञानादिगुणक आत्मा इत्यप्यपास्तं वेदितव्यम्। तस्मादात्मा विभुरेव। अणुत्वव्यपदेशस्तु दुर्ज्ञानत्वाभिप्रायेण बुद्ध्याद्युपाध्यभिप्रायेण वा। 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः' (ब्र॰ सू॰ २।३।२९) इति न्यायात्।

यदुक्तम्—'स्वरूपत आत्मा न बद्धो न मुक्त' इति, तदप्यसङ्गतम्, स्वरूपतो नित्यमुक्तत्वात्।

के नित्य ही माने जाते हैं। परमेश्वर ही जीवात्मा के रूप से शरीर में प्रविष्ट होता है। छान्दोग्य श्रुति में बताया गया है कि मैं ही जीवात्मा के रूप में प्रविष्ट होकर नाम और रूप के भेद का विस्तार करता हूँ। ब्रह्म विभु है। वही जब जीवात्मा के रूप में प्रविष्ट होता है, तो इस जीवात्मा को विभु मानना ही पड़ेगा। 'स वा एष' इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति आत्मा की विभुता का ही प्रतिपादन करता है।

जीव को यदि अणु माना जाय तो, वह सारे शरीर में होने वाली वेदना की प्रतीति एक साथ कैसे कर सकेगा ? उसका चैतन्य सारे शरीर में व्याप्त है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्वयं चैतन्य ही तो उसका स्वरूप है, जैसे कि उष्णता और प्रकाश ही अग्नि का स्वरूप है। अणु परिमाण होने पर यह सारे शरीर में कैसे व्याप्त हो सकता है ? चैतन्य और आत्मा में गुणगुणीभाव भी नहीं बन सकता, जैसे गोत्व और अश्वत्व इन सर्वथा भिन्न पदार्थों में गुणगुणीभाव नहीं बन सकता, उसी तरह से सर्वथा अभिन्न चैतन्य और आत्मा में भी यह नहीं बनेगा। चैतन्य को यदि आत्मा का गुण माना जाय तो, जहाँ आत्मा रहता है, वहीं इसकी भी वृत्ति माननी पड़ेगी, तब वह सारे शरीर में व्याप्त नहीं माना जा सकेगा। रूप प्रभृति गुणों में यह देखा गया है कि वे गुणी से भिन्न देश में नहीं रहते। यदि आप कहें कि प्रकाश में तो यह देखा गया है कि यह प्रदीप से अतिरिक्त देश में भी रहता है, किन्तु आपको यह समझ लेना चाहिये कि प्रकाश और दीपक का परस्पर गुणगुणीभाव नहीं माना जाता। प्रकाश उसको कहते हैं, जब कि दीपक के अवयव चारों तरफ फैल जाते हैं, और उन्हीं के सिमटे हुए रूप को दीपक कहते हैं। पुष्प का गुण गन्ध भी तो पुष्प से अतिरिक्त प्रदेश में रहता है ? किन्तु यह कथन भी सही नहीं है, क्योंकि बिना सहारे के गन्ध कहीं आ जा नहीं सकती, अतः पुष्प के अवयवों के सहारे से ही वायु गन्ध को चारों ओर फैला देता है, ऐसा मानना पड़ेगा। पुष्प के अवयवों का प्रसार मानने पर पुष्प के आकार में कमी की बात करना भी गलत है, क्योंकि नाल, स्कन्ध आदि से नवीन अवयवों की पूर्ति होते रहने से परिमाण में कमी आने का कोई प्रसंग ही नहीं उठ सकता। टहनी से अलग हो जाने पर तो उनके परिमाण में ह्रास माना ही जाता है। अपि च, चैतन्य को गुण मानने पर गुणी आत्मा में स्वरूपतः चैतन्य का अभाव मानना पड़ेगा। इसीलिये ज्ञान आदि को आत्मा का गुण मानने वाले नैयायिक सिद्धान्त का वेदान्ती खण्डन इसी तर्क पद्धति से करते हैं। इस तरह से आत्मा को विभु ही मानना पड़ेगा। कहीं कहीं उसको अणु कहा गया है, उसका तात्पर्य यही है कि वह दुर्ज्ञेय है। अथवा मन, बुद्धि आदि की उपाधि की सूक्ष्मता के आधार पर भी आत्मा को अणु कह दिया जाता है। 'तद्गुणः' इत्यादि वेदान्तसूत्र में भी यही बात कही गई है।

स्वरूपतः आत्मा न तो बद्ध है और न मुक्त, यह कथन भी असंगत है, क्योंकि वह आत्मा स्वरूपतः नित्य और मुक्त है।

यत्तु—'मोक्षे श्रोत्रादिकं जायते' इति, तदपि तुच्छम्, भोगायतनाभावे तदुत्पत्तेर्वैयर्थ्यात्। तदभ्युपगमे देहायतनस्याप्युत्पत्त्यभ्युपगमापातात्। तस्याप्यभ्युपगमे संसारमोक्षयोरवैशेष्यमेव स्यात्। कथं च जीवस्येच्छामात्रेणेन्द्रियोत्पत्तिः सम्भवति, शृण्वन्निति ब्राह्मणवचने नेच्छावाचकः कश्चित् प्रत्ययो दृश्यते, इच्छासत्त्वे मुक्तेरेवासम्भवात्। सर्वैरपि मोक्षवादिभिर्मोक्ष इच्छाभावाभ्युपगमात्। सामाजिकानां मोक्षेऽपीच्छादयो वर्तन्त इति चित्रम्। श्रुतेरर्थस्तु पूर्वोक्तश्रुतिव्याख्याने व्यक्तः।

यदपि जीवात्मनां कर्मसु स्वातन्त्र्यमुक्तं तदपि न युक्तम्, एष उ ह्येवैनं साधु कर्म कारयति, तं यमेन्वानुनेष्यति एष एवैनमसाधुकर्म कारयति यमेभ्यो लोकेभ्यो ननुत्सते' (कौ० ब्रा० उ० ३।८) इति श्रुतिविरोधात्। तत एव सन्मार्गप्रवृत्तये परमेश्वरः प्रार्थ्यते। 'स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु' (श्वेता० उ० ३।४) 'यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते' (वा० सं० ३२।१४) इत्यादिभिर्बुद्धिमेधादिप्रार्थनापि दृश्यते। बुद्धयधीनत्वात्कर्मणां न कर्तुर्निरङ्कुशं स्वातन्त्र्यम्, यथाकथञ्चित्, कर्तृत्वं तु प्रयोज्यकर्तृणां सर्वैरप्यभ्युपेयत एव। तस्माद्यथा राजाधीनानाममात्यादीनां पत्यधीनानां पत्नीनां विद्युदधीनानां यन्त्राणां च तत्कार्यकरणे स्वातन्त्र्यमापेक्षिकमेव, तथैव परमेश्वराधीनानां जीवानामपि सापेक्षमेव स्वातन्त्र्यं मन्तव्यम्। यदि सर्वथा स्वातन्त्र्यमेव जीवस्य तर्ह्यार्याभिविनयादिग्रन्थेषु कथं बुद्धेः सन्मार्गप्रवृत्तये सामाजिकैः प्रार्थना विधीयते।

यत्तु—'अत्यन्तानावृत्तौ क्रमेण सर्वेषां मुक्तौ संसारोच्छेदप्रसङ्ग उक्तः, तदपि तुच्छम्, सर्वेषां मुक्तौ संसारोच्छेदेऽपि हान्यभावात्। सर्वस्यापि लोकस्य कल्याणभागित्वे कस्याप्युद्वेगे कारणाभावात्। अत एव तत्त्वान्युपदेष्टुं मुक्ताः पुनः शरीरमापद्यन्त इत्यनर्गलमेव। जीवन्मुक्तानां प्रवर्तकत्वसम्भवेन तदर्थं विदेहमुक्तानां मोक्षादावृत्त्यभ्युपगमवैयर्थ्यात्। यत्तु—

मोक्ष में क्षोत्र आदि की उत्पत्ति की बात भी गलत है, क्योंकि भोग का आयतन (शरीर) जब मोक्ष दशा में नहीं रहता, तब उसके श्रोत्र आदि की उत्पत्ति की बात मानना व्यर्थ है। यदि उस समय श्रोत्र आदि की उत्पत्ति मानी जाती है, तो देह की भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी और यदि इसको भी स्वीकार किया जाता है तो फिर संसार और मोक्ष में अन्तर ही क्या रह जायगा? जीव की इच्छा मात्र से इन्द्रियों की उत्पत्ति हो भी कैसे सकती है? 'शृण्वन्' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य में इच्छावाचक कोई प्रत्यय नहीं है। मोक्ष में किसी इच्छा के रहने पर मुक्ति की स्थिति ही कैसे संभव हो सकती है? सभी मोक्षवादी इस बात में एकमत हैं कि मोक्ष में किसी तरह की इच्छा नहीं रह जाती। आर्यसमाजियों के मोक्ष में इच्छा आदि की स्थिति रहती है, जो कि स्वर्ग आदि को मानते ही नहीं एक आश्चर्य की ही बात है।

जीवात्मा की कर्म में स्वतन्त्रता की बात भी सही नहीं है, क्योंकि श्रुति में यह स्पष्ट प्रतिपादित है कि परमात्मा जिसको ऊपर उठाना चाहता है, उससे भले काम करवाता है और जिसको नीचे गिराना चाहता है उसको बुरे कामों में लगा देता है। इसीलिये सन्मार्ग में प्रवृत्ति हो, इसके लिये परमात्मा की प्रार्थना की जाती है। 'वह परमात्मा हमें शुभबुद्धि से संयुक्त करे' 'उस मेधा की देवगण और पितृगण उपासना करते हैं, इत्यादि श्रुतिवचनों में बुद्धि, मेधा आदि के लिये प्रार्थना की गई है। सारे कर्म बुद्धि के अधीन हैं, अतः कर्त्ता की निरंकुश स्वतन्त्रता नहीं मानी जाती। किसी के द्वारा प्रेरित व्यक्ति में भी कर्तृत्व की तो स्थिति मानी ही जाती है। इसलिये राजाके अधीन काम करने वाले मन्त्री, पति के अधीन काम करने वाली पत्नी और विद्युत के अधीन काम करवे वाले यन्त्रों की उन उन कार्यों को करने में स्वतन्त्रता आपेक्षिक रहती है, उसी तरह से परमेश्वर के अधीन काम करने वाले जीवों की स्वतन्त्रता भी आपेक्षिक ही मानी जाती है। यदि जीव सर्वथा स्वतन्त्र है तो फिर आर्याभिविनय प्रभृति ग्रन्थों में बुद्धि की सन्मार्ग में प्रवृत्ति कराने के अभिप्राय से सामाजिक लोग ईश्वर से प्रार्थना क्यों करते हैं।

यदि मोक्ष दशा से पुनरावृत्ति न मानी जाय तो सभी जीवों को मुक्ति मिल जाने पर संसार की समाप्ति ही हो जायगी, यह कथन भी गलत है, क्योंकि यदि सब प्राणी मुक्त हो जाने पर जो इस परिस्थिति में संसार का उच्छेद हो जाने पर भी किसी की कोई हानि नहीं है। सारा संसार कल्याणमय हो जाता है, तो इसमें किसी को उद्विग्न होने की क्या आवश्यकता है? इसी लिये यथार्थ तत्व का उपदेश करने के लिये मुक्त पुनः पुनः शरीर धारण करते हैं इस तरह का कथन भी अनर्गल ही माना जाता है। क्योंकि इस तरह का उपदेश तो जीवन्मुक्त महात्मा भी कर सकते हैं, इसके लिये विदेहमुक्त जीवों की मोक्ष से पुनरावृत्ति मानना व्यर्थ है।

'अवशिष्टकर्मवशान्मुक्तेः पुनरावृत्तिः' इति तत्तुच्छम्, 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मुण्ड० २।२।८) 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' (तै० उ० २।९), 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४), 'को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा० ७) इत्यादिश्रुतिविरोधात्। तत्त्वज्ञानेन कामकर्मक्षये सति हि मोक्षो भवति। न च मोक्षे कर्मसम्भवो हेत्वभावात्। तदधिगमे—'उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' (ब्र० सू० ४।१।१३) यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यन्ते' (छा० ४।१४।३), 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५।२४।३) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

ननु पुण्यकर्मणां शास्त्रीयेण ज्ञानेनाविरोधात् तेषामवशेषः सम्भवतीति चेन्न, 'इतरस्याप्येवमश्लेषः पाते तु' (ब्र० सू० ४।१।१४) इत्यनेन तेषामपि तथात्वोपवर्णनात्। इतरस्यापि पुण्यकर्मणोऽप्येवमसंश्लेषः विनाशश्च ज्ञानवतो भवतः, तस्यापि स्वफलहेतुत्वेन ज्ञानफलप्रतिबन्धकत्वेन विरुद्धत्वात्। 'उभे उ हैवैष एते तरति' (बृ० ४।४।२२) इत्यत्र दुष्कृतस्येव सुकृतस्यापि नाशव्यपदेशात्। अत एव 'न च पुनरावर्तते' (छां० ८।१५।१), 'अनावृत्तिः शब्दात्' (ब्र० सू० ४।४।२२) इत्यादिषु प्राप्तविवेकस्य मुक्तस्य मोक्षादनावृत्तिरेवोक्ता। सिद्धान्ते सकलानर्थनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दब्रह्मप्राप्तिरेव मुक्तिः। सा चाविद्यानिवृत्तिमूलिकैव। अविद्यानिवृत्तिश्चाधिष्ठानावसानैव। अत एव ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मैव मोक्ष इत्यपि सङ्गतम्। ब्रह्माकारचरमवृत्त्युपलक्षितस्यात्मनोऽज्ञानहानिरूपत्वात्। न चोपलक्षणनिवृत्त्या मुक्तेरपि निवृत्तिः, पाके निवृत्तेऽपि पाचकानिवृत्तिदर्शनात्। न च तत्त्वज्ञानात् पूर्वमपि वृत्त्युपलक्षितत्वं सम्भवति, पूर्वमसिद्धस्योपलक्षणत्वायोगात्। न च मुक्तौ चिन्मात्रं भवति तच्च प्रागप्यासीदेवेति साध्यतानुपपत्तिः, उपलक्ष्यस्यासाध्यत्वेऽपि घटाकाशोत्पत्तिवदुपलक्षणे साध्यत्वोपपत्तेः। यद्वा अविद्याविरोधिवृत्तिरेवाविद्यानिवृत्तिः। यावत् कार्य्योत्पत्तिविरोधिकार्य्यमेव ध्वंस इत्यङ्गीकारात्। न च वृत्तौ

बचे हुए कर्मों के कारण मुक्त व्यक्ति को पुनः आना पड़ता है, इस तरह की बात मानना भी गलत है, क्योंकि 'उस ब्रह्म को देख लेने पर सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं' इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण पर ब्रह्म का ज्ञान हो जाने के बाद किसी कर्म के बचे रहने की बात सर्वथा निर्मूल सिद्ध हो जाती है। तत्त्वज्ञान से सब तरह की कामनाओं के नष्ट हो जाने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस तरह से किसी कारण के न बच रहने से मोक्ष में पुनः कर्म की उत्पत्ति की बात कहना व्यर्थ है। श्रुतियों और सूत्रों में यह बताया गया है कि उस मोक्षावस्था में पहले के कर्म नष्ट हो जाते हैं और बाद के किसी कर्म से उसका लगाव नहीं रहता। जैसे कमल के पत्ते पर पानी नहीं ठहर पाता, उसी तरह से इस ब्रह्मवेत्ता से पाप कर्मों का किसी तरह से संपर्क नहीं हो पाता। जैसे अग्नि में डालने पर तिनका जल जाता है, उसी तरह से इस ब्रह्मवेत्ता के भी सारे पाप भस्म हो जाते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि पुण्यकर्मों का तो शास्त्रीय ज्ञान से कोई विरोध नहीं है, तब वे बचे रहें तो इसमें क्या आपत्ति है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। वेदान्तसूत्र में पुण्य कर्म की भी वही स्थिति बताई गई है, जो कि पाप का। क्योंकि पुण्य कर्म भी तो अपने फल की उत्पत्ति के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति में बाधक हो सकते हैं। बृहदारण्यकश्रुति में पाप और पुण्य दोनों ही तरह के कर्मों के नाश की बात कही गई है। इसीलिये ब्रह्मसूत्र में विवेक की प्राप्ति के बाद मुक्त व्यक्ति की मोक्ष दशा से अनावृत्ति का ही प्रतिपादन किया गया है। सिद्धान्ततः सभी अनर्थों की निवृत्ति के साथ परम आनन्द की अधिगति को ही मुक्ति कहा जाता है। यह अविद्या की निवृत्ति होने पर ही मिलती है। अविद्या की निवृत्ति अधिष्ठान का नाश होने पर ही होता है। इसीलिये आत्मज्ञान को ही मुक्ति मानना अधिक संगत है। ब्रह्माकार चरमवृत्ति से उपलक्षित आत्मा अज्ञान से असंपृक्त ही है। उपलक्षण के निवृत्त होने पर मुक्ति की भी निवृत्ति उसी तरह से नहीं होगी, जैसे कि पाकक्रिया के निवृत्त हो जाने पर भी पाचकत्व धर्म की निवृत्ति नहीं होती। तत्त्वज्ञान से पहले ब्रह्म में वृत्ति से उपलक्षितता नहीं आ सकती, क्योंकि पहले जो स्थिति सिद्ध नहीं है, उसमें उपलक्षितता नहीं बन सकती। मुक्ति में आत्मा चिन्मात्र ही रहता है, यह स्थिति तो पहले भी थी, तब इसमें क्या सिद्ध करना है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि यद्यपि साध्य नहीं होता, तो भी घटाकाश की उत्पत्ति की तरह उपलक्षण में भी साध्यता मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। अथवा अविद्या की विरोधी वृत्ति का उदय होना ही अविद्या की निवृत्ति मान ली जायगी, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति का विरोधी कार्य

नष्टायां विरोधिकार्यान्तरस्यानुदयात्, तदापि ध्वंससत्त्वेन स न ध्वंसः यस्मिन् सति तत्पूर्ववृत्तिकार्य्यं न तिष्ठति स ध्वंस इति, ध्वंसलक्षणस्य तत्रासत्त्वादिति वाच्यम्, यावद्विरोधिकार्योदयं विरोधिकार्य्यस्यैव ध्वंसत्वस्वीकारात्। विभागस्य संयोगध्वंसरूपत्वेऽपि विभागादिध्वंसस्याधिकरणरूपतावत् चरमवृत्तिपर्यन्तं विरोधिकार्यरूपत्वेऽपि चरमवृत्तिध्वंसस्याधिकरणरूपत्वात्।

नन्वेवं विम्बप्रतिबिम्वैक्याज्ञाने निवृत्तेऽपि ज्ञाततदैक्यरूपता स्यात्, तथात्वे तदैक्यधीकाले सोपाधिकतद्भेदभ्रमोपादानाज्ञानानुवृत्त्ययोगात्। चरमवृत्तिध्वंस एवायं नियम इत्यपि न नियामकाभावात्। न चेह निवृत्तेर्ज्ञाताधिष्ठानानतिरेके विश्वमिथ्यात्वश्रुतिपर्यालोचनया निवृत्तेरपि निवृत्त्यापत्तिर्नियामिका, तस्याज्ञानाद्विश्वनिवृत्तिपरत्वेन स्वतात्पर्यविषयनिवृत्तीतरमिथ्यात्वपरत्वादिति चेन्न, सोपाधिकभ्रमे उपाधिविरहकालीनस्यैवैक्याज्ञानध्वंसस्य तथात्वात्। 'नेति नेति' इति श्रुतेः स्वारस्येनातिरिक्तसर्वनिवृत्तावेव तात्पर्याच्च। न च वृत्त्युपलक्षित आत्मा जीवन्मुक्तावप्यस्तीति तत्र मोक्षापत्तिः, मुक्तिमात्रापादनस्य तत्रेष्टत्वात्। चरममुक्तेश्चरमसाक्षात्कारोपलक्षितात्मस्वरूपत्वेन तदापादकाभावात्। न च चरमसाक्षात्कारनिवृत्तेरात्मत्वेऽसाध्यत्वापत्तिः, अविद्यानिवृत्तेरसाध्यत्वेऽप्रवृत्त्यापत्तिवदत्राप्रवृत्त्यापत्त्यभावात्। न च जीवन्मुक्तिप्रयोजकवृत्त्यपेक्षया परममुक्तिप्रयोजकवृत्तौ आनन्दाभिव्यक्तिगतविशेषाभावे चरमक्षणेन चरमश्वासेनोपलक्षित आत्मा मुक्तिः स्यादिति वाच्यम्, प्रारब्धकर्मप्रयुक्तविक्षेपाविक्षेपाभ्यामभिव्यक्तिविशेषाङ्गीकारात्।

यत्तु—'वेदान्तश्रवणसाध्यः पुरुषार्थो वाच्यः' इति, न च त्वन्मते स वक्तुं शक्यः, मुमुक्त्यनुस्यूतसुखज्ञप्तिरूपस्यात्मनः पुरुषार्थत्वेनासाध्यत्वात्। वृत्तेः साध्यत्वेऽपि स्वतोऽपुरुषार्थत्वात्, तस्मादात्मव्यतिरिक्त एवावरणनिवृत्तिरूप आनन्द-

ही ध्वंस माना जाता है। शंका उठती है कि वृत्ति के नष्ट हो जाने पर विरोधी कार्यान्तर की उत्पत्ति न होने से उस समय भी आपके लक्षण के अनुसार ध्वंस का स्थिति रहने से वह ध्वंस नहीं माना जायगा, क्योंकि जिसके रहने पर उसके पूर्ववर्ती कार्य की स्थिति नहीं रहती वह ध्वंस है, यह ध्वंस का लक्षण वहां नहीं है, किन्तु आपका यह कथन सही नहीं है, क्योंकि ध्वंस का लक्षण यही है कि जबतक विरोधी कार्य का उदय हो तबतक के विरोधी कार्य को ही ध्वंस कहते हैं। जैसे विभाग यद्यपि संयोग का ध्वंस ही है, तो भी विभाग का ध्वंस अधिकरण रूप ही माना गया है, वैसे ही चरमवृत्ति पर्यन्त वह विरोधी कार्य के रूप में स्थित है, किन्तु चरम वृत्ति ध्वंस अधिकरण रूप ही है।

प्रश्न उठता है कि इस तरह से तो विम्ब और प्रतिबिम्ब के ऐक्य के अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर भी ज्ञाता के ऐक्य का बोध होने लगेगा, क्योंकि ऐसा हो जाने पर उस ऐक्य बुद्धि का स्थिति के समय सोपाधिक भेद भ्रम के उपादान अज्ञान की अनुवृत्ति नहीं रहती। चरम वृत्ति अज्ञान ध्वंस मे ही उक्त नियम को प्रवृत्ति हो, ऐसा कोई नियामक नहीं है। यहां निवृत्ति के ज्ञात अधिष्ठान से अतिरिक्त न होने पर विश्व को मिथ्या बताने वाली श्रुति का पर्यालोचन करने से इस निवृत्ति को भी निवृत्ति होने की आपत्ति को ही उक्त नियम का आधार माना जाय, ऐसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसका अभिप्राय अज्ञान से विश्व की निवृत्ति होने में ही है, अतः अपनी तात्पर्यविषयक निवृत्ति से भिन्न वस्तु में ही वह मिथ्यात्व का बोध करा सकेगी। इसका समाधान यह है कि सोपाधिक भ्रमस्थल में उपाधि विरहकालान ऐक्य ही अज्ञान ध्वंस का अधिकरण हो सकता है। 'नेति नेति' इस जागतिक सभी पदार्थों का निषेध करने वाली श्रुतिका स्वारस्य ब्रह्म के अतिरिक्त सब पदार्थों की निवृत्ति में ही है। जीवन्मुक्ति दशा में भी वृत्ति से उपलक्षित आत्मा है, वहां भी मोक्ष की स्थिति की आपत्ति इसलिये नहीं उठेगी कि वहां केवल मुक्ति की प्राप्ति को स्थिति मानी जाती है। चरम मुक्ति तो आत्मस्वरूप के चरम साक्षात्कार से ही प्राप्त होती है, अतः जीवन्मुक्ति दशा में इस स्थिति को माना ही नहीं गया है। चरम साक्षात्कार निवृत्ति को आत्मस्वरूप मानने पर इसमें असाध्यता की आपत्ति इसलिये नहीं उठेगी कि यहां पर अविद्या निवृत्ति के साध्य न होने पर जैसी अप्रवृत्ति को आपत्ति उठती है, उस तरह की अप्रवृत्ति की आपत्ति नहीं उठ सकती। जीवन्मुक्ति की प्रयोजक वृत्ति की अपेक्षा परम मुक्ति की प्रयोजक वृत्ति में आनन्द की अभिव्यक्ति में विशेषता न मानने पर चरमक्षण के चरम श्वास से उपलक्षित आत्मा को ही मुक्ति स्थिति मानने की आपत्ति उठाना भी इसलिये गलत है कि उक्त दोनों अवस्थाओं में प्रारब्ध कर्मों के कारण आने वाले विक्षेप की स्थिति और उसके अभाव के कारण आनन्द की अभिव्यक्ति में विलक्षणता मानी जाती है।

प्रकाशः पुरुषार्थो वाच्यः, प्राप्तप्राप्तिरूपतयानन्दप्रकाशस्य स्वरूपतोऽसाध्यत्वेऽपि तत्तिरोधायकाज्ञाननिवर्तकवृत्तेः साध्यत्वमात्रेण साध्यत्वोपपत्तेः। विस्मृतकण्ठमण्यादौ तथा दर्शनात्। तस्मादज्ञानहानिरात्मस्वरूपं तदाकारावृत्तिर्वा मोक्ष इति। अविद्यानिवर्तकं च यद्यपि न स्वप्रकाशब्रह्मरूपज्ञानमात्रम्, तथापि श्रवणादिजन्यापरोक्षवृत्त्यारूढं तदेव निवर्तकम्। न चासत्याया वृत्तेः सत्योत्पादकत्वविरोधः, अभावस्य भावजनकत्ववदस्य सम्भवात्। प्रातिभासिकस्य व्यावहारिकसुखजनकत्वदर्शनाच्च। न च न जानामीति ज्ञप्तिरूपचिद्विरोधित्वानुभवविरोधः, चिदसंसृष्टवृत्तेर्विरोधित्वस्यानङ्गीकारात्।

यदुक्तम्—'चरमवृत्तेर्घटादिवृत्त्या चिद्विषयत्वेऽविशेषत्वम्' इति, तन्न, अवच्छिन्नानवच्छिन्नविषयतया विशेषात्। ननु चरमवृत्तेरज्ञानोपादानकत्वेन कथं स्वोपादानाज्ञाननिवर्तकत्वम्, 'तरति शोकमात्मविद्' (छा० ७।१।३) इति प्रमाणबलेन मायोपादानिकाया वेदनवृत्त्या मायातरणसम्भवात्। वृत्तिप्रतिबिम्बितचितो निवर्तकत्वे तु नोक्तशङ्कापि। तृणादेर्भासिकाया अपि सूर्यदीप्तेः सूर्यकान्तायामभिव्यक्तायास्तृणादिदाहकत्वदर्शनात्। न चापरोक्षवृत्तौ सत्यां चित्प्रतिबिम्बनिबन्धननिवृत्तिविलम्बादर्शनान्न विशिष्टे निवर्तकतेति वाच्यम्, शुद्धचितस्तद्भासकतया वृत्तेश्च जडतया अज्ञानानिवर्तकतया विशिष्टे निवर्तकत्वाभ्युपगमात्। यत्तु निवर्तकं ज्ञानमपि न शुद्धविषयकं तस्यादृश्यत्वात्, नापि विशिष्टविषयकं तस्याध्यस्तत्वेन भ्रमत्वापत्तेः। उपहितस्य विषयत्वेऽप्युपाधेरविषयत्वेन भ्रमत्वाभावात्। ननु चान्त्यस्य ज्ञानस्य किं निवर्तकं स्वयमन्यद्वा,

वेदान्त के श्रवण से सिद्ध होने वाले पुरुषार्थ को बताने की बात कही गई है। किन्तु आपके मत में उसको बताया नहीं जा सकता, क्योंकि मुक्ति से अनुस्यूत आनन्द की अभिव्यक्ति ही तो आत्मा का स्वरूप है, इसको पुरुषार्थ के रूप में सिद्ध नहीं किया जा सकता। वृति ही साध्य हो सकती है, किन्तु उसमें पुरुषार्थता नहीं है। इसलिये आत्मा से अतिरिक्त हो आवरणनिवृत्ति रूप आनन्द का प्रकाश यहाँ पुरुषार्थ के रूप में माना जायगा। यह आनन्द का प्रकाश एक तरह से प्राप्त की ही प्राप्ति है, अतः स्वरूपतः साध्य नहीं माना जा सकता, तो भी आनन्द के निरोधात्मक अज्ञान की निवर्तक वृत्ति की साध्यता के आधार पर इसको भी साध्य मान लिया जाता है। कण्ठ में पड़ी हुई मणि को भूल जाने पर उसकी जब पुनः स्मृति जाग उठती है, तो ऐसा कहा जाता है कि मुझे मणि मिल गई, उसी तरह का औपचारिक प्रयोग यहाँ भी मान लिया जाता है। इसलिये अज्ञान की निवृत्ति, आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति अथवा तदाकारावृत्ति को मोक्ष कहा जा सकता है, यद्यपि स्वप्रकाश ब्रह्म स्वरूप के ज्ञानमात्र से अविद्या की निवृत्ति नहीं होती, तो भी श्रवण, मनन आदि से उत्पन्न होने वाली वृत्ति के सहारे जब उसका साक्षात्कार होता है, तो वह अज्ञान का निवर्तक माना जाता है। असत्य वृत्ति सत्य स्वरूप को कैसे पैदा कर सकती है? इसका उत्तर यह है कि अभाव जैसे भाव का जनक है, उसी तरह से वृत्ति·आत्मस्वरूप को प्रत्यक्ष करा देगी। प्रातिभासिक वस्तु से भी व्यावहारिक सुख की प्राप्ति देखी गई है। 'मैं नहीं जानता' इस ज्ञप्ति के रूप में अवस्थित वृत्ति से जो अनुभव हो रहा है, उससे ज्ञान की सत्ता मानने वाले अनुभव का विरोध होगा, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि चित् से असंपृक्त वृत्ति का संपृक्त वृत्ति से कोई विरोध नहीं माना जाता।

यह आपत्ति भी सही नहीं है कि चरम वृत्ति और घटादिविषयक वृत्ति यदि समान रूप से चित्त को ही अपना विषय बनाता है तो इनमें विशेषता क्या रह जायगी? क्योंकि इनमें अवच्छिन्नता और अनवच्छिन्नता के आधार पर अन्तर किया जा सकता है। पुनः प्रश्न उठता है कि चरम वृत्ति का उपादान तो अज्ञान है, तो फिर यह उपादान भूत अज्ञान का निवर्तक कैसे हो सकता है? इसका उत्तर है कि छान्दोग्य श्रुति के प्रमाण से माया को उपादान बनाने वाली वृत्ति से भी माया को लांघा जा सकता है। वृत्ति में प्रतिबिम्बित चित् की निवर्तकता में तो यह शंका भी नहीं रहेगी। यह देखा जाता है कि सूर्य का प्रकाश तृण प्रभृति वस्तुओं का प्रकाशक है, किन्तु सूर्यकान्त मणि के माध्यम से अभिव्यक्त वही प्रकाश उनको जला भी डालता है। अपरोक्ष वृत्ति के पैदा होने पर चित् के प्रतिबिम्ब से होने वाली निवृत्ति में विलम्ब हो, ऐसा नहीं माना जा सकता, अतः विशिष्ट में निवर्तकता नहीं मानी जा सकती, ऐसा भी हम नहीं कह सकते, क्योंकि शुद्ध चित् ही स्वात्म स्वरूप को प्रकाशित करती है और वृत्ति तो जड है, अतः वह अज्ञान की निवृत्ति नहीं कर सकती, इस तरह से विशिष्ट में भी निवर्तकता मानी ही जाती है। कुछ लोग यहाँ शंका करते हैं कि निवर्तक ज्ञान भी शुद्ध विषयक नहीं हो सकता, क्योंकि शुद्ध स्वात्मस्वरूप तो अदृश्य है। यह विशिष्ट विषयक भी नहीं हो सकता, क्योंकि अध्यस्त होने से वह भ्रमात्मक हो सकता है। इसका समाधान यह है कि उपहित के विषय होने पर उपाधि की अविषयता के आधार पर वह

नाद्यः, अन्यनिरपेक्षप्रतियोगिनो ध्वंसजनकत्वे क्षणिकत्वापत्तेः। न च दग्धदारुदहनस्य स्वतो निवृत्तिवत् स्वतो निवृत्तिः स्यादिति वाच्यम्, तस्यापीश्वरेच्छयैव नाशेन स्वतो नाशानभ्युपगमात्। कतकरेणुस्तु न पङ्कं नाशयति नापि स्वम्। विश्लेषमात्रदर्शनात्। नान्त्यः वृत्तेरन्यस्यात्मनः शुद्धस्याहेतुत्वादिति चेन्न, तन्तुनाशस्य पटनाशप्रयोजकत्वदर्शनेन स्वोपादानाविद्यानाशस्यैतन्नाशकत्वात्।

यदुक्तम्—'अविद्यानाशे आत्मा वा वृत्तिर्वा हेतुः? नाद्यः, शुद्धस्याहेतुत्वात्, नान्त्यः, प्रतियोगिमात्रस्य नाशकतापर्यवसानमिति तन्न, उभयथाप्यदोषात्। वृत्तिमादायैव ब्रह्मण उपहितत्वेन शुद्धत्वाभावात्। प्रतियोगिनश्च प्रतियोगित्वेन नाशकतायामितरानपेक्षत्वे क्षणिकत्वापत्तावपि रूपान्तरावच्छेदेन यत्कारणं तस्यापेक्षणे तदभावात्। उपादाननाशत्वावच्छिन्नस्य स्वस्यैव क्षणिकत्वानापादकं नाशकत्वं स्यात्। द्वितीयकारणनिरपेक्षप्रतियोगिनः प्रतियोगित्वोपादाननाशत्वरूपद्वयावच्छिन्नस्य नाशकत्वोपपत्तेः। वस्तुतस्त्वविद्यानिवृत्तेर्वृत्तिरूपतया न निवर्तकखण्डनावकाशः। वृत्तिनिवृत्तेरात्मरूपतया न तज्जनकखण्डनावकाशः।

मुक्तिश्च नाविद्योच्छेदमात्रम्, किन्तु निरतिशयानन्दस्फुरणमेव। ननु सुखी स्यामितिवत् सुखं स्यादितीच्छाया अदर्शनेन पुरुषार्थस्य चेच्छानियम्यत्वेन कथं सुखस्फुरणे पुरुषार्थता? अन्यथा बौद्धमतसिद्धात्मनाशादेरपि पुरुषार्थता स्यात्। परकीयं सुखमपि न पुरुषार्थः, तथेच्छाभावादेव। दुःखतत्साधनयोः स्वकीयतयैवापुमर्थत्वदर्शनेन सुखादेरपि तथैव पुरुषार्थत्वादिति चेन्न, सुखादौ पुरुषार्थताया अपरकीयत्वप्रयुक्तत्वे स्वकीयत्वप्रयुक्तत्वे वा गौरवापत्त्या साक्षात्क्रियमाणतयैव युक्तत्वात्।

भ्रमात्मक नहीं होगा। प्रश्न होता है कि अन्त्य ज्ञान की निवृत्ति कैसे होगी? वह अपने आप निवृत्त हो जायगा अथवा किसी दूसरे उपाय से वह निवृत्त होगा? इनमे प्रथम पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि अन्य निरपेक्ष प्रतियोगी यदि ध्वंस का जनक माना जायगा तो वह क्षणिक होगा। लकड़ी को जलाने वाली आग उसको जलाकर जैसे अपने आप शान्त हो जाती है, उसी तरह से प्रथम पक्ष की भी आपत्ति बन सकेगी, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ पर भी नाश का कारण ईश्वर की इच्छा मानी जाती है, अतः स्वतः नाश नहीं माना जाता। कतक रेणु (काई) न तो कीचड़ को नष्ट करती है और न अपने ही नष्ट होती है, किन्तु यह उसको अलग कर देती है। अन्तिम पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि कोई दूसरी वृत्ति शुद्ध आत्मा का कारण नहीं हो सकती। किन्तु इसका उत्तर यह है कि तन्तु के नाश से जैसे पट का नाश हो जाता है, उसी तरह से अन्त्य ज्ञान की भी निवृत्ति अपने उपादान भूत अविद्या के नाश से हो जायगी।

पुनः शंका उठाई जाती है कि अविद्या के नाश का कारण आत्मा है या वृत्ति? इसमें पहला पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि शुद्ध आत्मा किसी का कारण नहीं होता। दूसरा पक्ष भी इसलिये नहीं बनेगा कि इस तरह से तो प्रतियोगी मात्र का नाशकता में पर्यवसान मानना पड़ेगा। किन्तु यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त दोनों ही पक्षों में दिये गये दोषों का परिहार किया जा सकता है। वृत्ति को लेकर ही ब्रह्म उपहित होता है, अतः इस अवस्था में वह शुद्ध नहीं माना जा सकता। प्रतियोगी भी यदि प्रतियोगी की नाशकता में बिना किसी दूसरे की अपेक्षा के कारण माना जाय तो उसमें क्षणिकता की आपत्ति उठ सकती है, किन्तु रूपान्तर से अवच्छिन्न कारणता की अपेक्षा रखने पर यह दोष नहीं आवेगा। उपादान के नाश से अवच्छिन्न स्वात्मस्वरूप की नाशकता में क्षणिकत्व दोष को आपत्ति नहीं उठेगी। द्वितीय कारण से निरपेक्ष प्रतियोगी की तथा प्रतियोगी के उपादान के नाश से अवच्छिन्न प्रतियोगी की नाशकता मानी ही जा सकती है। वास्तव में अविद्या की निवृत्ति के वृत्तिरूप होने से उसकी निवर्तकता का खण्डन नहीं किया जा सकता तथा वृत्ति की निवृत्ति आत्मस्वरूप है, अतः उसकी जनकता का खण्डन भी नहीं किया जा सकता।

मुक्ति अविद्या का उच्छेद मात्र नहीं है, किन्तु उस अवस्था में निरतिशय आनन्द का स्फुरण होता है। पूर्वपक्षी कहता है कि 'सुखी स्याम्' (मैं सुखी होऊं) यह इच्छा तो होती है, किन्तु मैं सुख होऊँ, ऐसी इच्छा नहीं होती। पुरुषार्थ इच्छा से नियन्त्रित होता है, तब सुख के स्फुरण को पुरुषार्थ कैसे कहा जा सकता? यदि ऐसा माना जाय तो बौद्ध मत नाशात्मक अपवर्ग को भी क्यों न पुरुषार्थ माना जाय? परकीय सुख को भी पुरुषार्थ इसीलिये नहीं माना जाता कि उसके लिये पुरुष की इच्छा नहीं होती। दुःख

सम्वन्धस्य चानित्यत्वसाधनपारतन्त्र्यादेरिवावर्जनीयसन्निधिकत्वात्। न चैवमीश्वरस्यास्मदादिसुखं पुरुषार्थः स्यादिति वाच्यम्, हेयतयाऽज्ञातत्वे सतीत्यस्यापि प्रयोजकत्वात्। ईश्वरादिनाचास्मदादिसुखस्य हेयत्वेन ज्ञानात्, स्वरूपसुखे चेष्टापत्तेः। न च गौरवम्, स्वसम्बन्धित्वेन पुरुषार्थतावादिनोऽपि निलीनसुखे पुरुषार्थतावारणाय तस्यावश्यमभ्युपगन्तव्यत्वात्। ननु साक्षात्कारेऽपि स्वकीयतया पुरुषार्थतापक्षे मुक्तस्य सुखसाक्षात्काररूपतया तं प्रत्यपि तस्यापुरुषार्थतापत्तिः, स्वेतरासम्बन्धित्वेन स्वस्य पुरुषार्थत्वे मुक्तस्वरूपेण सुखेन संसारीतरासम्बन्धेन संसारिणः पुरुषार्थता स्यादिति चेन्न, तं प्रत्यभासमानत्वात् भाने वाऽसंसारित्वेनेष्टापत्तेः।

यदप्युक्तम्—'मोक्षोऽहमर्थस्य चिन्मात्रस्य वा ? नाद्यस्त्वन्मतेऽहमर्थस्य मुक्त्यनन्वयित्वात्, नान्त्यः, अहं मुक्तः स्यामितिवत् चिन्मात्रं मुक्तं स्यादितीच्छाया अननुभवात्' इति, तदपि तुच्छम्, अहमर्थगतं चिदंशं मुक्तिकालान्वयिनं प्रति मोक्षे पुमर्थत्वसम्भवात्। न च सुखस्य दुःखाभावमात्रत्वे वैशेषिकमोक्षवदपुरुषार्थता, अतिरेके सद्वितीयतापत्तिरिति वाच्यम्, दुःखाभावातिरेकेऽप्यात्मानतिरेकात्। न चात्मनः सुखमात्रत्वे सुखप्रकाशाभावेनापुरुषार्थत्वमुभयात्मकत्वेऽखण्डार्थत्वहानिरिति वाच्यम्, सुखप्रकाशयोरेकरूपतयोभयात्मकत्वाभावात्। न चार्थभेदाभावे सुखप्रकाश इति सहप्रयोगायोगः, अविद्याकल्पितदुःखजडात्मकत्वरूपव्यावर्त्यभेदेन तदुपपत्तेः। न चैवमपि दुःखाभावस्य तत्त्वतो दुःखाद् भेदेऽपसिद्धान्तः, अभेदे-

और उसके साधन अपने से संबद्ध रहते हैं, तभो उनसे विरक्ति होती है, उसी तरह से सुख की भी पुरुषार्थता तभो मानी जायगी, जब कि अपने से संवद्ध हों। इसका समाधान यह है कि सुखादि में पुरुषार्थता का प्रयोजन परकीयत्व और स्वकीयत्व को मानने में गौरव है, अतः उसका साक्षात्कार ही इसमें प्रयोजक माना जायगा। यह संबन्ध अनित्य वस्तु में परतन्त्रता के समान अवश्य ही सदा उसके साथ रहेगा। यदि कोई कहे कि इस तरह से तो हमारा सुख ईश्वर के लिये पुरुषार्थ हो जायगा, तो इसका उत्तर यह है कि उक्त लक्षण में संबन्ध के साथ 'हेय के रूप में अज्ञात' इतना और जोड़ देने से इस दोष का परिहार हो जायगा, क्योंकि ईश्वर प्रभृति को यह ज्ञात है कि हम लोगों के लिये अभीष्ट लौकिक सुख त्याज्य है। यदि आप स्वरूप सुख की बात करते हों तो, वह तो ईश्वर के लिये भी पुरुषार्थ होगा ही, इसमें क्या आपत्ति हो सकती है। इसमें गौरव दोष भी नहीं होगा, क्योंकि अपने से संबद्ध सुख को ही पुरुषार्थ मानने वाले के पक्ष में भी छिपे हुए सुख में पुरुषार्थ की निवृत्ति के लिये इसको मानना आवश्यक हो जायगा। पुनः शका उठती है कि साक्षात्कार में भी अपने से संवन्ध रहने पर ही पुरुषार्थता मानते पर मुक्तावस्था के सुख साक्षात्कार रूप होने से उसके प्रति भी उसकी पुरुषार्थता नहीं बन पावेगी, अपने से भिन्न से संबन्ध न रहने पर भी उसको अपना पुरुषार्थ मान लेने पर मुक्तस्वरूप सुख के इतर संसारी से संबद्ध न होने से संसारी पुरुष के लिये उसकी पुरुषार्थता माननी पड़ जायगी। इसका यह उत्तर यह है कि मुक्त का सुख संसारी पुरुष के लिये पुरुषार्थ इसलिये नहीं बनेगा कि वह उसको भासित नहीं होता है। यदि संसारी पुरुष को उसका भान होवा है, तो फिर वह संसारी नहीं हो सकता है और उस दशा में वह उसके लिये पुरुषार्थ हो, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। यह हमें स्वीकार है।

प्रश्न किया गया है कि मोक्ष अहमर्थ का होता है या चिन्मात्र का ? इसमें पहला पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि आपके मत में अहमर्थ का मुक्ति से अन्वय नहीं हो सकता। अन्तिम पक्ष भी इसलिये नहीं बनेगा कि 'मैं मुक्त होऊं' इसकी तरह 'चिन्मात्र मुक्त हो' इस तरह की इच्छा नहीं देखी जाती। किन्तु यह कथन इसलिये गलत है कि अहमर्थगत चिदंश का मुक्ति से संवन्ध होने से मोक्ष में पुरुषार्थता संभव हो सकेगी। इसी तरह से यह शंका भी गलत है कि सुख के दुःख के अभावस्वरूप मानने में वैशेषिक के मोक्ष की तरह पुरुषार्थता नहीं बनेगी और अतिरिक्त मानने पर उसमें द्वैतत्त्वापत्ति होगी, सुख और दुःखाभाव को अलग मानने पर आत्मा की भिन्नता न रहने से यह द्वैतत्त्वापत्ति वाली शंका यहां नहीं उठ सकेगी। इसी तरह से आत्मा को सुखमात्र मानने पर सुख का प्रकाश न होने से पुरुषार्थता नहीं बनेगी, और सुख मात्र और सुख प्रकाश इन दोनों स्थितियों के मानने पर अखण्डार्थता की हानि होगी, यह शंका भी गलत है, क्योंकि सुख और प्रकाश इनका स्वरूप एक ही है, अतः इनमें उभयात्मकता न होने से अखण्डार्थता में कोई बाधा नहीं है। जब अर्थ का भेद नहीं है, तो सुख और प्रकाश इन दोनों पदों का एक साथ प्रयोग करने से क्या लाभ है ? इसका उत्तर यह है कि अविद्याकल्पित दुखःरूपता और जड़रूपता इन दोनों की निवृत्ति के लिये इन दोनों ही पदों का एक साथ प्रयोग जरूरी है। इस तरह से भी दुःखाभाव

त्वपुरुषार्थतेति वाच्यम्, दुःखस्य कल्पितत्वे तद्भेदस्य तत्समानयोगक्षेमतया तात्त्विकत्वाभावेनापसिद्धान्ताभावात्। न च स्वप्रकाशस्य सुखस्य स्फुरणेऽपि दुःखाभावस्यास्फुरणात् अपुरुषार्थत्वमिति वाच्यम्, दुःखाभावस्यात्मानतिरेकेणात्माभिन्ने सुखे स्फुरति तस्यापि स्फुरणात्। तस्मात् स्वप्रकाशचिदभिन्नं सुखम्, इति अद्वैतिनः। दिव्ये वैकुण्ठादौ भगवत्सालोक्यसामीप्यसारूप्यसायुज्यभेदेन दुःखाभावपूर्वकनित्यनिरतिशयानन्दप्राप्तिर्मोक्ष इति वैष्णवाः शैवाश्च। अपुनरावृत्तिस्तु सर्वसम्मतैव।

नौविद्याविमानादिविद्याविषयो विचारः

'तुग्रोहं भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवां अवाहाः। तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः॥ तिस्रः क्षपास्त्रिरहानि व्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः। समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभीरथैः शतपद्भिः षडश्वैः॥' (ऋ० सं० १।११६) एषां मन्त्राणामापातरमणीयमर्थाभासं विधाय नौविमानविद्यावर्णनं कृतं दयानन्देन, तदप्यकिञ्चित्करम्, निर्माणविधेरवर्णनात्। कश्चिदनभिज्ञोऽप्येवं वर्णयितुं शक्नोत्येव। लौहमयशङ्कुतन्त्रीवाष्पविद्युदादिभिर्वायुयानं निर्माय खपथाकाशगमनं कार्यम्, परं नैतावता तत्कथनमात्रं वायुयानविद्येति वक्तुं शक्यते। तथाहि—'तुजि हिंसावदाननिकेतनेषु' इत्यस्माद् धातोरौणादिके रप्रत्यये तुग्र इति सिद्ध्यति। यः कश्चिद् धनाभिलाषी स्यात् स रयिं धनं कामयमानो भुज्युं पालनभोगयोग्यं धनादिपदार्थभोगमिच्छन् विजयं च पदार्थविद्यया स्वाभिलाषं प्राप्नुयात्। स अश्विनौ पृथिवीमयैः काष्ठलोष्ठादिपदार्थैर्नावं रचयित्वा अग्निजलादिप्रयोगेण उदमेघे समुद्रे गमयेदागमयेच्चेति तदर्थः। सर्वथापि वेदार्थेऽराजकतां जनयन् वेदमेवाश्रद्धेयं विदधात्ययम्। अश्विन्शब्दो नियतद्विवचनान्तो भवति। द्यावापृथिव्योस्तदभिमानिदेवद्वयबोधकः, कथञ्चित् पृथिवीशब्दस्तद्विकारबोधकोऽपि स्यात् तावताऽपि काष्ठलोष्ठादिभिः पदार्थैर्नावं रचयित्वा गमनागमनादिकं कुर्यादित्युक्त्यापि। नौविमानादिनिर्माणं दूरे तिष्ठतु, क्षुद्रनदीतरणसाधनमपि निर्मातुं न पारयति कश्चित्।

का तत्त्वतः दुःख से भेद मानने पर गलत सिद्धान्त स्वीकार करना होगा और अभेद मानने पर उसमें पुरुषार्थता नहीं बन सकेगी, यह शंका भी निराधार है, क्योंकि जब दुःख कल्पित है तो उसका भेद भी तो कल्पित ही माना जायगा। जब वह तात्त्विक नहीं है, ऐसी स्थिति में गलत सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला आक्षेप यहाँ लागू ही नहीं होगा। स्वप्रकाश सुख का स्फुरण होने पर भी दुःखाभाव का स्फुरण न होने से पुरुषार्थता कैसे मानी जावेगी, यह कहना भी गलत है, क्योंकि दुःखाभाव आत्मा से अतिरिक्त तो है नहीं, जब आत्मा से अभिन्न सुखका स्फुरण हो रहा है, तो उसका स्फुरण भी होगा ही। इसलिये सुख स्वप्रकाश चित् से अभिन्न है, ऐसा अद्वैत वेदान्तियों का कहना है। दिव्य वैकुण्ठ, कैलास आदि धामों में भगवान् के साथ सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य के भेद से दुःख के अभाव के साथ नित्य, निरतिशय आनन्द की प्राप्ति ही मोक्ष है, ऐसा वैष्णवों और शैवों का कहना है। ये सभी लोग उस स्थान से पुनः लौटना नहीं पड़ता, इस बात को एक स्वर से मानते हैं।

नौविमानादि यानविद्या विचार

'तुग्रो ह भुज्यु०' इत्यादि ऋग्वेद के मन्त्रों का आपात रमणीय गलत अर्थ करके दयानन्द ने इनमें नाव, विमान आदि बनाने की शिल्पविद्या के वर्णन की बात सिद्ध की है। यह प्रतिपादन भी इसलिये गलत है कि यहाँ इनके निर्माण की विधि वर्णित नहीं है। कोई अनभिज्ञ आदमी भी इस तरह का वर्णन कर सकता है। लोहे की कील, तार, भाप, बिजली आदि की सहायता से वायुयान बनाकर आकाशमार्ग से विचरण करना चाहिये, इतना कह देना मात्र वायुयान विद्या नहीं हो जाती। जैसा कि दयानन्द ने पहले मन्त्र का अर्थ किया है—हिंसा, अवदान और निकेतन अर्थवाली तुज् धातु से औणादि र प्रत्यय करने पर तुग्र शब्द बनता है। जो व्यक्ति धन की कामना रखता हो, वह पालन और भोग के योग्य धनादि पदार्थों से भोग की अभिलाषा को और विजय को पदार्थ विद्या की सहायता से प्राप्त करे। उसको चाहिये कि वह काष्ठ, लोह आदि पार्थिव पदार्थों से नाव बनाकर उसमें अग्नि, जल आदि का प्रयोग कर समुद्र में आ जाकर व्यापार करे। इस तरह का अर्थ वेदार्थ के विवेचन में तो अराजकता फैलावेगा ही, साथ ही वेद के प्रति अश्रद्धा भी उत्पन्न कर देगा। अश्विन् शब्द का प्रयोग सदा द्विवचन में होता है। यह द्यावापृथिवी के अभिमानी दो देवताओं का बोध कराता है। किसी तरह से इन देवताओं के संबन्ध से पृथिवी शब्द पार्थिव विकारों का बोधक हो भी जाय, तो भी लकड़ी, लोहा आदि से

एवं कुर्वन् न कश्चिन्नममृवान् क्षेमविरहः कश्चिन्मरणं न प्राप्नोति, अतो नावम् अवाहाः द्वीपान्तरगमनं प्रति वाहनावहने प्रयत्नेन कुर्यात् । यदुक्तम्—'कौ साधयित्वा अश्विना द्योतनात्मकेनाग्निप्रयोगेण पृथिव्या पृथिवीमयेनायस्ताम्ररजतधातुकाष्ठादिमयेन चेयं क्रिया साधनीया' (पृ० २१९) इति, तदपि तादृगेव, एतावत्कथनेनापि नौनिर्माणविद्या न सम्भवति । स्वेच्छया पुरुषव्यत्ययो वचनव्यत्ययो वा न युक्तः । स्वाभीष्टार्थसिद्धये व्यत्ययेन लाक्षणिका (गौणा)र्थकरणेऽराजकतैव भविष्यति । अत एव क्वचित् तात्पर्यानुपपत्त्यादिभिरेव लक्षणादिकमभ्युपेयते । आत्मन्वतीभिः स्वयं स्थिताभिः स्वात्मीयस्थिताभिः, राजपुरुषैर्व्यापारिभिश्च व्यवहारार्थं समुद्रमार्गेण गमनागमने नित्यकार्ये एवंविधानबोधकः कोऽपि शब्दो मन्त्रे नैव दृश्यते । अन्तरिक्षप्रुद्भिः अन्तरिक्षं प्रति गन्तृभिः विमानाख्ययानैः साधितैः परमैश्वर्यं प्रापणीयम् इत्यपि विधिबोधकं वचनं नास्ति । साधितैरित्यपि मन्त्रवहिर्भूतमेव । बहुतिथात्कालान्नदीसमुद्रादिषु नौपोतादीनां नानाकार्यार्थं व्यापारः प्रचलत्येव । रामायणमहाभारतपुराणादिषु पुष्पकादियानानां चर्चापि प्रसिद्धा । वैमानिकानां देवानामपि चर्चा बृहत्कथायां कथासरित्सागरादौ वा प्रभूततया श्रूयते । 'वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान्' (६।१) इत्यादिप्रकारेण रघुवंशादौ वर्ण्यते च । समराङ्गणसूत्रधारादिनिर्दिष्टपद्धतितुल्यापि काचित्पद्धतिरनेन व्याख्यानेन न सिद्ध्यति ।

'अथातो द्युस्थानादेवतास्तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ । यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषान्योऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः । तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके' (नि० १२।१) इत्यनेनापि न त्वदिष्टसिद्धिः । तथाश्विनौ चापि भर्तारौ जर्भरी 'भर्तारावित्यर्थः' तुर्फरी हन्तारौ उदन्यजे वेत्युदकजे इव रत्ने सामुद्रे' (नि० १३।५) इत्यादीनि वचनानि न त्वदर्थसाधकानि, अन्यार्थत्वात् ।

नाव बनाकर सामूहिक यातायात करे, इस बात को कह देने भर से नाव, विमान आदि के निर्माण की बात तो दूर, कोई भी आदमी छोटी सी नदी को पार करने वाला साधारण नाव भी नहीं बना सकता ।

'जो कोई इस तरह से पुरुषार्थ करता है, वह पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षा सहित होकर दुःख से मरण को कभी प्राप्त नहीं होता । अतः नाव, विमान आदि सवारियों से जाना-आना देश-देशान्तर में सुख से होता है । ये नौका आदि किनको साधने से सिद्ध होते हैं ? अग्नि, वायु और पृथिव्यादि पदार्थों में शीघ्रगमनादि गुण और अश्वि नाम से प्रसिद्ध सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, लोहा, लकड़ी आदि पदार्थों से यह कार्य संपन्न करना चाहिये, (पृ० २२१) यह कथन भी पहले जैसा ही है । इतना कहने से भी नाव बनाने की विद्या नहीं आ सकती । मनमाने तरीके से मन्त्रों में पुरुष और वचन में परिवर्तन करना ठीक नहीं है । अपना अभीष्ट अर्थ निकालने के लिये पुरुष और वचन आदि में परिवर्तन कर लाक्षणिक (गौण) अर्थ करने पर वेदार्थ की प्रक्रिया में अराजकता मच जायगी । 'जिनसे उनके मालिक अथवा नौकर चला के जाते-आते रहें । व्यवहारी और राजपुरुष लोग इन सवारियों से समुद्र में जावे-आवे' (पृ० २२१) इस तरह के विधान को बताने वाला कोई भी शब्द मन्त्र में नहीं है । 'जिनसे आकाश में जाने-आने की क्रिया सिद्ध होती है, जिनका नाम 'विमान' प्रसिद्ध है, उनसे परम ऐश्वर्य को प्राप्त करना चाहिये' (पृ० २२२) इस तरह की विधि को बताने वाले पद भी मन्त्र में नहीं हैं । साधित शब्द भी मन्त्र में नहीं मिलता । बहुत पुराने जमाने से नदी, समुद्र आदि में नाव, जहाज आदि से अनेक प्रकार का व्यापार प्रचलित रहा है । रामायण, महाभारत, पुराण प्रभृति ग्रन्थों में पुष्पक आदि विमानों की चर्चा भी प्रसिद्ध है । वैमानिक देवताओं की चर्चा भी बृहत्कथा, कथासरित्सागर प्रभृति ग्रन्थों में बहुत मिलती है । रघुवंश आदि काव्यों में भी इनका वर्णन है । किन्तु दयानन्द की व्याख्या के अनुसार उतनी बातें भी नहीं मालूम हो पाती, जितनी कि समरांगण सूत्रधार प्रभृति ग्रन्थों में वर्णित हैं ।

'द्युस्थान देवताओं में अश्विनो युगल की प्रथम गणना की जाती है । ये रस, ज्योति या अश्व से सबको व्याप्त कर लेते हैं, ऐसा और्णनाभ आचार्य का मत है । ये अश्विनी युगल कौन हैं ? कुछ लोगों के अनुसार ये द्यावा-पृथिवी, अहोरात्र अथवा सूर्य-चन्द्र हैं' इस निरुक्त के वचन से भी आपका मनोरथ नहीं सिद्ध हो सकता । इसी तरह से 'ये अश्विनीयुगल सबका पालन करने वाले, सबका नाश करने वाले, नाना प्रकार के रत्नों को देने वाले हैं निरुक्त का यह वाक्य भी आपके मतलब का नहीं है, क्योंकि इसका अर्थ जो आप कहते हैं, वह न होकर दूसरा हो है ।

सायणादिसम्मतस्त्वेषां मन्त्राणामयमर्थः—अस्य सूक्तस्य कक्षीवान् ऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः अश्विनौ देवता—तथा चानुक्रान्तं नासत्याभ्यां पञ्चाधिका कक्षीवान् दैर्घतमस उशिक् प्रसू आश्विनं वै' इति । अत्रेयमाख्यायिका—तुग्रो नामाश्विनोः प्रियः कश्चिद्राजर्षिः । स च द्वीपान्तरवर्तिभिः शत्रुभिरत्यन्तमुपद्रुतस्तेषां जयाय स्वपुत्रं भुज्युं सेनया सह नावा प्राहैषीत् । सा च नौर्मध्ये समुद्रमतिदूरं गता भिन्ना जाता । तदानीं सभुज्युरश्विनौ तुष्टाव । स्तुत्या सन्तुष्टौ तौ सेनया सहितं भुज्युमात्मीयासु नौष्वारोप्य पितुस्तुग्रस्य समीपं त्रिभिरहोरात्रैः प्रापयामासतुः । अयमेवार्थोऽत्र स्पष्टं प्रतिपादितः । तुग्रस्तन्नामकः खलु उदमेघे उदकैर्मिह्यते सिच्यत इत्युदमेघः समुद्रस्तस्मिन् भुज्युं तन्नामकं तुग्रपुत्रं अवाहाः नावा गन्तुं पर्यत्याक्षीत् । 'ओहाक् त्यागे' लुङिरूपम् । तत्र दृष्टान्तः—ममृवान् म्रियमाणः सन् धनलोभी कश्चित् रयिं धनं न इव यथा लोभी म्रियमाणोऽतिकष्टेन धनं परित्यजति तथैव कष्टेन तुग्रः प्रियं पुत्रं समुद्रे प्रेषितवान् । हे अश्विनौ त भुज्युं मध्ये समुद्रं निमग्नं नौभिः पितृसमीपमूहथुः युवां प्रापितवन्तौ । कीदृशीभिः आत्मन्वतीभिरात्मीयाभिः । यद्वात्रात्मशब्दो धृतिपरः । तथा च धारणावतीभिः । अन्तरिक्षप्रुद्भिः अतिस्वच्छत्वात् अन्तरिक्ष इव जलस्योपरिष्टाद् गन्त्रीभिः । अपोदकाभिः सुश्लिष्टत्वादप्रविष्टोदकाभिः । नात्राकस्मादन्तरिक्षगामिविमानप्रसङ्गः, नौभिरूहथुरितिविरोधात् । एतावतात्युत्कृष्टतीव्रगामिवहुजनधारणसमर्थपोतादिव्यवस्था ज्ञातुं शक्यते । नात्र कस्यचिदपि यानस्य निर्माणविधानमस्ति, तादृशशब्दाभावात् ।

चतुर्थमन्त्रार्थः—हे नासत्यौ निमग्नं भुज्युं ससेनं तिस्रः क्षपाः त्रिसंख्याका रात्रीः त्रिरहा त्रिवारमावृत्तान्यहानि च अतिव्रजद्भिरतिक्रम्य गच्छद्भिः पतङ्गैः पतद्भिस्त्रिभी रथैः ऊहथुः युवामूढवन्तौ समुद्रस्य मध्ये धन्वन् जलवर्जिते प्रदेशे आर्द्रस्योदकेनार्द्रीभूतस्य समुद्रस्य पारे तीरदेशे शतपद्भिः शतसंख्याकैश्चक्ररूपैः पादैरुपेतैः षडश्वैः षड्भिरश्वैर्युक्तैः रथैर्भुज्यं पितृसमीपमूहथुरित्यर्थः । मन्त्रार्थं व्याकुर्वता दयानन्देन तिस्रः क्षपाः त्रिरहा पतङ्गैः समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे इत्यादि शब्दानां स्पर्शोऽपि न कृतः । आध्यात्मिकतत्त्वान्वेषिणस्तु तुग्रः परमेश्वरः भुज्युं भोक्तारं जीवं प्रियपुत्रमिव संसारसमुद्रे

इन मन्त्रों का सायणसंमत अर्थ यह है—तुग्र नाम का कोई राजर्षि अश्विनीकुमारों को अत्यन्त प्रिय था । द्वीपान्तर में रहने वाले शत्रुओं ने उसे वहुत परेशान कर दिया था । उनको जीतने के लिय उसने अपने पुत्र भुज्यु को सेना के साथ नाव से भेजा । यह नाव समुद्र में बहुत दूर जाकर टूट गई । उस समय भुज्यु ने अश्विनीकुमारों की स्तुति की । स्तुति से प्रसन्न होकर अश्विनीकुमारों ने सेना के साथ भुज्यु को अपनी नावों पर बैठाकर उसके पिता तुग्र के पास लगातार तीन रात-दिन चलकर सकुशल पहुँचा दिया । इसी अर्थ का इस मन्त्र में स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है । तुग्र नाम के राजा ने समुद्र में नाव से यात्रा करने के लिये अपने पुत्र भुज्यु को छोड़ दिया । इसमें यह दृष्टान्त है—जैसे मरता हुआ धन का लोभी आदमी बड़े कष्ट से अपने धन को छोड़ पाता है, उसी तरह से बड़े कष्ट से तुग्र ने अपने पुत्र को समुद्र की यात्रा पर रवाना किया । हे अश्विनीकुमारों, उस भुज्यु को समुद्र के बीच में डूबने से बचा कर आप लोगों ने नावों के द्वारा अपने पिता के पास पहुँचा दिया । ये नावें आप लोगों की ही थो । अथवा यहाँ आत्म शब्द धृति के अर्थ में है । तब इसका अर्थ होगा कि मजबूत । ये नावें अत्यन्त स्वच्छ होने से जल के ऊपर उड़ती हुई सी प्रतीत होती हैं । इनके जोड़ इतने मजबूत हैं कि इनमें जल का तनिक भी प्रवेश नहीं हो सकता । यहाँ अकस्मात् अन्तरिक्ष में चलने वाले विमान के प्रसंग का कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि नावों का यहाँ स्पष्ट उल्लेख है । इस तरह से इस मन्त्र से इतना ही जाना जा सकता है कि पूर्व काल में भी अत्यन्त उच्चकोटि की, तीव्रगामी नौकाओं की, जहाजों की व्यवस्था थी, जिनमें कि बहुत से लोग यात्रा कर सकते थे । यहाँ किसी यान के निर्माण की विधि नहीं बताई गई है ।

'तिस्रः' इत्यादि मन्त्र का यह अर्थ है—हे अश्विनीकुमारों, डूबते हुए भुज्यु को उसकी सेना के साथ आप लोगों ने तीन रात और तीन दिन तक लगातार नावों की सहायता से समुद्र में और जल वर्जित मरुप्रदेश में शतचक्र रथों की सहायता से, जिनमें कि छः घोड़े जुते हुए हैं, उसके पिता के पास पहुँचा दिया था । इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए दयानन्द ने 'तिस्रः क्षपाः त्रिरहा पतङ्गैः समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे' इत्यादि शब्दों को छूआ भी नहीं है । मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ करने वाले इसका यह अर्थ कहते हैं—तुग्र अर्थात् परमेश्वर ने भुज्यु अर्थात् भोक्ता जीव को अपने प्रिय पुत्र के समान इस संसार समुद्र में भेजा है । पर और अपर

प्रेषितवान्। परापराविद्ययोरुपदेशकौ गुरू तैस्तैः साधनैस्तं परमेश्वरस्य समीपमूहथुः ऊहतुरित्यर्थः। नौयानविमाननिर्माणं तु सर्वथाप्यस्मिन् मन्त्रे नास्त्येव।

निरुक्तवाक्यानामर्थस्तु—अथ 'मध्यस्थानानां देवतानां व्याख्यानन्तरं द्युस्थाना देवता व्याख्यायन्ते। तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतः। कस्मात्? आश्विने स्तुतशस्त्रके कर्मणि प्रथममश्विनोः कालः सन्धौ। अश्विनौ कस्मात् यद्व्यश्नुवाते सर्वम्, रसेनान्यो ज्योतिषान्यो रसेनोदकेनान्यः सर्वं व्यश्नुते, ज्योतिषान्यः अश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः। अश्वैस्तद्वन्तावित्यौर्णवाभः। तत्रापि कौ तौ इति विचारः, द्यावापृथिव्यावित्येके, तौ यौ प्रत्यक्षदैवतं द्यावापृथिव्यौ तावश्विनावित्येके। द्यौर्ज्योतिषा व्याप्नोति पृथिव्यन्नेन। अहोरात्रावित्येके। अहर्ज्योतिषा व्यश्नुते रात्रिरवश्यायैः। सूर्याचन्द्रमसावित्येके। सूर्यो ज्योतिषा रसेन चन्द्रमा व्यश्नुते। राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः। अश्वैरश्विनौ व्यश्नुतः। नात्र नौविमानादिचर्चाप्यस्ति।

'सृण्येव०' इत्यत्रापि न नौविमानविद्या वर्णिता, किन्त्वश्विनोरेव वर्णनम्। द्विविधा सृणिर्भवति—भर्ता च हन्ता च। तथाश्विनौ चापि भर्तारौ जर्भरी भर्तारावित्यर्थं तुर्फरीतू हन्तारौ। समग्रमन्त्रस्त्वित्थम्—'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका। उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥' (ऋ० सं० १०।१०६।६) सृणिरङ्कुशः। तत्र साधुः सृण्यः। तौ सृण्यौ अङ्कुशार्हौ मत्तगजाविव जर्भरी गात्रविनामं कुर्वन्तौ 'जभ जृभि गात्रविनामे' अस्माद्धातोरौणादिके रि प्रत्यये। यद्वा सृण्येव सृणिर्द्वेधा। मत्तगजस्यैकत्रावस्थापयित्री एका। वाधयित्री चापरा। 'सर्तेः किच्च' (उ० सू० ४।१०।१०४) इति निप्रत्यये कित्वादगुणे 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीषि सुप आकारे तादृश्यौ सृण्याविव जर्भरी भर्तारौ एकत्रैवावस्थापकौ तुर्फरीतू तर्फितारौ शत्रूणां हन्तारौ जर्भरीति भरतेर्यङ्लुगन्तादौणादिक इप्रत्ययेऽभ्यासस्य जकारश्छान्दसः। 'तृफ तृम्फ हिंसायाम्' इत्यस्य तृजन्तस्य रूपम्। पृषोदरादित्वाद् वर्णविकारः। यद्वा अस्मादेव धातोर्बाहुलकादौणादिक अरीतुप्रत्ययः उत्वं च।

विद्या के उपदेष्टा गुरु उन-उन साधनों की सहायता से उसे पुनः परमेश्वर के पास भेजते हैं। इस तरह नाव, विमान आदि यानों के निर्माण की बात इन मन्त्रों की सहायता से किसी भी तरह से नहीं सिद्ध की जा सकती।

दयानन्द के द्वारा उद्धृत निरुक्त वाक्यों का अर्थ भी इस तरह से होगा। मध्यस्थान अर्थात् अन्तरिक्ष में निवास करने वाले देवताओं के निरूपण के बाद अब द्युस्थान अर्थात् स्वर्ग में निवास करने वाले देवताओं के संबन्ध में कहा जाता है। इनमें सबसे पहले अश्विनीकुमार आते हैं, क्योंकि आश्विन स्तुत शस्त्रकर्म में प्रथम सन्धिकाल में इनकी स्थिति है। इनको अश्विनीकुमार इसलिये कहा जाता है कि ये रस (बल) और ज्योति से जगत् के सारे पदार्थों को व्याप्तकर अवस्थित है। यह और्णवाभ ऋषि का मत है। उनका यह भी मत है कि ये अश्वों के कारण भी इस नाम से प्रसिद्ध हैं। ये रस, ज्योति अश्व से सारे जगत् को आप्यायित करने वाले कुछ लोगों के मत से द्यावा पृथिवी है, जो कि सबको प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं। अन्य आचार्यों के मत से अहोरात्र अश्विनो कुमार है। दिन प्रकाश से सारे जगत् को भर देता है और रात्रि ओस की बूंदों से। कुछ आचार्य इस शब्द से सूर्य और चन्द्रमा का ग्रहण करते हैं। सूर्य ज्योति से और चन्द्रमा रस से सारे जगत् को आप्यायित करते हैं। ऐतिहासिकों का कहना है कि ये दो पुण्यश्लोक राजा हैं। अश्विनीकुमार अपने अश्वों की सहायता से इस सारे जगत् में विचरण करते रहते हैं। इस तरह से इस निरुक्त वाक्य में भी नाव-विमान आदि बनाने की विधि नहीं बताई गई है।

'सृण्येव' इत्यादि मन्त्र में भी इनके निर्माण की विधि प्रदर्शित नहीं है, किन्तु यहां भी अश्विनीकुमारों का ही वर्णन है। सृष्टि दो तरह की होती है—भर्ता और हन्ता। जर्जरी शब्द से इनको भर्ता और तुर्फरी शब्द से हन्ता बताया गया है। ऊपर उद्धृत पूरे मन्त्र का अर्थ यह है—सृणि अंकुश का नाम है। सृण्य का अर्थ होगा अंकुश धारण करने में निपुण अर्थात् अश्विनीकुमार मतवाले हाथी की तरह चलते हैं। जभ जृभि धातु का अर्थ शरीर को झुलाना होता है। अथवा सृणि और सृण्य दोनों का अर्थ अंकुश ही करेंगे। यह अंकुश दो तरह का होता है। एक से मतवाले हाथी को एक जगह खड़ा रखता है और दूसरा उसको नियन्त्रित करता है। इन सृणियों की तरह ये अश्विनोकुमार शत्रुओं को एक जगह बांध देते हैं और उनको अपने वश में कर लेते हैं। विभिन्न धातुओं से मन्त्र में आये जर्भरी, तर्फरीतू इत्यादि शब्दों को सिद्ध करने की विधि ऊपर (मूल में) विस्तार से दी गई है। निरुक्त के बचनों से इन्हीं अर्थों में

अत्रैवार्थे पूर्वोक्तनिरुक्तवचनमनुसन्धेयम् । नैतोशेव वधार्थको नितोशतिः, तस्यापत्यं नैतोशः, नितोशयतीतिनितोशस्ताविव सिंहशावकाविव हन्तारौ तुर्फरी शत्रूणां हन्तारौ पर्फरीका शत्रूणां विदारयितारौ त्रिफला विशरणे इत्यस्मात् पर्फरीकादयश्च (उ० ४।२०) इतीक् प्रत्यये निपाते रूपसिद्धिः । यद्वा स्तोतृजनानां धनादिदानेन पूरयितारौ 'पृ पालनपूरणयोः' अस्मात् इकनि पूर्ववत्सर्वं निपात्यते । उदन्यजेव उदके भवम् उदन्यं 'पद्दन्नोमास' (पा० सू० ६।१।६३) इत्यादिनाऽशस्प्रभृतिष्वप्यदन्नादेशः । तत्र जाते रत्ने इव निर्मलौ जेमना जयिनौ जयतेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति मनिनि मदेरू बलातिशयेन मत्तौ स्तुत्यौ इव, ता तौ पूर्वोक्तगुणान्वितौ अश्विनौ, युवां मे मदीयं जरायुजम् अत एव मरायु मरणशीलं शरीरम् अजरं जरारहितं मरणरहितं कुरुतम् । अर्थात् सृण्यौ मत्तगजाविव गात्रजृम्भणकर्तारौ अङ्कुशाविव एकत्रव्यवस्थापयितारौ तद्वदेव बाधितारौ जर्भरी भर्तारौ तुर्फरीतू शत्रूणां हन्तारौ सिंहशावकाविव हन्तारौ पर्फरीकौ शत्रूणां विदारयितारौ तुर्फरी स्तोतृजनकामपूरयितारौ उदन्यजेव समुद्राज्जाते रत्ने इव निर्मलौ जेमनौ जयशीलौ मदेरू मत्तौ स्तुत्यौ, हे नासत्यौ, युवां मे मदीयं जरायु जरायुजं शरीरं मरणशीलं अजरं जरारहितं जरामरणरहितं कुरुतम् ।

'उभा उ नूनम्' इत्येकादशं सूक्तम्, त्रैष्टुभमश्विदैवत्यम् । कश्यपुत्रो भूतांशो नामर्षिः । उभौ भूतांशः काश्य-आश्विनमित्यनुक्रमणीयवचनादश्विदेवत्येनाश्विस्तुतिरेव मन्त्रार्थः । 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।४) 'सुप्तिङुपग्रहलिङ्ग-नराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च । व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन ॥' इति महाभाष्येण तत्रैव व्यत्ययादिकं भवति यत्र यथाश्रुतग्रहणे बाधकं स्यात्, न यथाश्रुतार्थसम्भवेऽपि ।

अग्निवायुजलैर्विमानादिकं साधनीयमित्यपि न मन्त्रार्थः, तादृशपदाभावात् । द्यावापृथिव्योरश्विपदप्रयोग उक्तो न तु वाय्वग्निजलयोगोऽत्रोक्तः । पृथिवीपदेन पृथिवीविकारकाष्ठलोहादिग्रहणसम्भवेऽपि यन्त्रनिर्माणबोधकं पदं त्वत्र नास्त्येव । एवमेव सूर्याचन्द्रमसोरश्वित्वमुक्तम्, तथापि तत्राकर्षणादिगुणैर्जगति पृथिव्यादिपदार्थसंयोगवियोगादिभिर्वृद्धिक्षयादि-गुणा उत्पद्यन्ते इति कस्यापि पदस्य नार्थः । उदन्यजशब्दस्याप्युदकोद्भूतरत्नादिबोधकत्वमेव नाग्निजलप्रयोगबोधकत्वम् ।

'अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे । यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम् ॥ ५ ॥

इनकी सिद्धि होती है । नैतोश शब्द का अर्थ सिंह का शावक किया गया है । अर्थात् जैसे सिंह का शावक (बच्चा) हाथी पर आक्रमण कर उसको मार डालता है, उसी तरह ये अश्विनीकुमार भी शत्रु पर आक्रमण कर उसको नष्ट कर देते हैं । अथवा पर्फरीका शब्द का यह अर्थ किया जा सकता है कि ये अश्विनीकुमार अपनी स्तुति करने वालों को धन-सम्पत्ति देकर उनका पालन-पोषण करते हैं । अपने अतिशय बल के कारण मदमत्त अश्विनीकुमार स्तुति के लिये सर्वथा योग्य है । इस तरह से अनेक गुणों से युक्त ये अश्विनीकुमार मेरे जरणशील और मरणशील शरीर को अजर और अमर बनावें । इसका संक्षेप में अर्थ यह होगा कि मतवाले हाथी की तरह अकड़ कर मस्त चाल से चलने वाले, अंकुश की तरह एक जगह व्यवस्था करने वाले और उसी की तरह सबको नियन्त्रित करने वाले, पालन करने वाले, शत्रुओं का नाश करने वाले, सिंह के शावक की तरह निडर होकर आक्रमण करने वाले, शत्रुओं को छिन्न-भिन्न कर देने वाले, स्तुति करने वालों की कामनाओं को पूरा करने वाले, समुद्र से उत्पन्न मणि की तरह निर्मल, सर्वत्र विजय प्राप्त करने वाले, स्तुति के योग्य हे अश्विनीकुमारों, आप लोग मेरे जरा-मरणशील शरीर को अजर और अमर बना दीजिये ।

सर्वानुक्रमणी में 'उभा उ नूनम्' इत्यादि ग्यारह ऋचाओं वाले इस सूक्त के देवता अश्विनीकुमार, छन्द त्रिष्टुप् और कश्यपुत्र (काश्य) तथा भूतांश दोनों ऋषि हैं । इस सूक्त के देवता अश्विनी हैं, अतः इसमें उन्हीं की स्तुति की जाय, यह उचित ही है । इसी अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये महाभाष्य की पद्धति से पाणिनि सूत्रों के आधार पर धातु प्रत्यय आदि का व्यत्यय होता है ।

अग्नि, वायु, जल आदि की सहायता से विमान आदि का निर्माण करना चाहिये, यह भी मन्त्र का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इस तरह के पदों का मन्त्र में अभाव है । द्यावा पृथिवी के अर्थ में निरुक्त में इस शब्द का प्रयोग अवश्य बताया गया है, किन्तु उसका वायु, अग्नि, जल आदि से संयोग है, ऐसी बात नहीं कही गई है । पृथिवी पद से किसी तरह से पृथिवी के विकार काष्ठ (लकड़ी), लोहा आदि का ग्रहण भले ही हो जाय, किन्तु उनसे मन्त्र के निर्माण की प्रक्रिया का बोध नहीं हो सकता । सूर्य और चन्द्रमा

यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित् स्वस्ति। तद्वां दात्रं महि कीर्तेन्यं भूत् पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः ॥'६॥ (ऋ०सं० १।११६।५-६) इत्यस्यापि मन्त्रद्वयस्य न त्वदर्थसाधकत्वम्। अश्विभ्यामस्तं क्षिप्तं चलितविमानं कार्यं साधयतीत्यादिकल्पनामात्रम्, शतानि अरित्राणि लोहमयानि समुद्रस्थलान्तरिक्षमध्ये स्तम्भनार्थानि गाधग्रहणार्थानि यस्यां तां तथाभूतां नावमित्यपि न युक्तम्, अरित्रशब्दस्य तथार्थबोधकत्वे मानाभावात्। तदेतत्त्रिविधं यानं शतकलं शतबन्धनं शतस्तम्भनं च रचनीयमित्यपि निर्मूलम्, विधिबोधकपदाभावात्. कलाबन्धनस्तम्भनानि कानि कीदृशानि कथं निर्मातव्यानीत्यनिरूपणात्।

मन्त्रार्थस्त्वित्थम्—हे अश्विनौ ! अनारम्भणे आरभ्यतेऽस्मिन्नित्यारम्भणं तस्मिन्, आलम्बनरहिते समुद्रे तत्कर्म अवीरयेथां युवां विक्रान्तं कृतवन्तौ 'शूरवीरविक्रान्तौ'। अनारम्भणत्वमेव स्पष्टयति—अन्तस्थाने आस्थीयतेऽस्मिन्नित्यास्थानो भूप्रदेशस्तद्रहिते स्थातुमशक्ये जले अग्रभणे हस्तेन ग्राह्यं शाखादिकं यत्र नास्ति तस्मिन् तादृशे समुद्रे तत्कर्म अवीरयेथां कीदृशं तत्कर्म भुज्युं समुद्रे मग्नं शतारित्रां नावमातस्थिवांसमारूढवन्तं कृत्वा। अस्यतेऽस्मिन् सर्वमित्यस्तं गृहं यत् अहथुः प्रापितवन्तौ, तत्प्रापणमन्यैर्दुःशकम् युवां समुद्रमध्ये कृतवन्तौ। यैः काष्ठैः पार्श्वतो बद्धैर्जलालोडने सति नौः शीघ्रं गच्छति तानि अरित्राणि शतसंख्याकानि यस्यां तां नावम्। नाविकेषु डाँणशब्देन प्रसिद्धानि नौचालनसाधनानि जलापसारकाणि काष्ठविशेषाणीहारित्रशब्दव्यपदेश्यानि, नानिर्वचनीयानि यन्त्राणि। 'ऋगतावित्यस्माद् धातोः 'अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः' (पा० सू० ३।२।१८४) इति करणे इत्रप्रत्ययः। दयानन्देन अवीरयेथामिति पदस्य व्याख्यानं तु न कृतम्।

यमश्विनेति मन्त्रस्यापि व्याख्यानं न सङ्गतम्, 'यस्मादेवं भोगो जायते तस्मात्सर्वैर्मनुष्यैः प्रयत्नः कर्त्तव्यः' इत्यस्यार्थस्योदक्षरत्वात्। शुक्लवर्णं वाष्पाख्यमश्वं गृहीत्वा पूर्वोक्तानि यानानि साधयन्ति। शिल्पिन इत्यादिकं निर्मूलम्, मन्त्रे वाष्पबोधकपदाभावात्। 'अग्न्याख्यो वाजी वेगवान्। पैद्वः यो यानं मार्गे शीघ्रवेगेन गमयितास्ति, यः सदं वेग इत् एति प्राप्नोति इतीदृशोऽश्वोऽग्निरस्माभिर्ह्व्यः, ग्राह्यः। तमर्यो वणिग्जनोऽवश्यं गृह्णीयादिति, तदपि विशृङ्खलमेव, हव्यो अर्य इत्यनन्वयात्।

को भी यहां अश्विनी बताया गया है, किन्तु वहां भी आकर्षण आदि गुणों से जगत् में पृथिवी आदि पदार्थों के नाना प्रकार की संयोग-वियोग की प्रक्रिया के आधार पर वृद्धि और क्षय आदि अवस्थाओं के उत्पन्न होने की बात को बताने वाले शब्द नहीं हैं। उदन्यज शब्द का अर्थ भी उदक (जल) से उत्पन्न रत्न आदि ही हो सकते हैं, इससे अग्नि, जल आदि के प्रयोग की बात खोज निकालना संभव नहीं है।

'अनारम्भणे' इत्यादि आपके द्वारा (पृ० २२३) में उद्धृत दो मन्त्र भी आपके मतलब के नहीं, क्योंकि अश्वि के द्वारा चलाया गया विमान सभी कार्यों का साधक है, यह कोरी कल्पना है। 'उन नौका आदि सवारियों में सैकड़ों अरित्र अर्थात् जल का थाह लेने वाले, उनको थांमने और वायु आदि विघ्नों से रक्षा के लिये लोह आदि के लंगर भी रखना चाहिये, जिससे जहां चाहें वहां उन यानों का थामें' (पृ० २२४) यह व्याख्या भी गलत है, क्योंकि अरित्र शब्द का ऐसा अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं हैं। 'इसी प्रकार उनमें सैकड़ों कल-बन्धन और थामने के साधन रखने चाहिये' (पृ० २२४) यह व्याख्या भी निर्मूल है, क्योंकि विधि का बोधक कोई पद यहां नहीं है।

मन्त्रों का अर्थ यह है—हे अश्विनीकुमारों, आप लोगों ने आलम्बन रहित इस अथाह सागर में बड़े पराक्रम का कार्य किया है। यह समुद्र अनारम्भण इसलिये कहलाता है कि इसका आधारभूत कोई भूप्रदेश दिखाई नहीं पड़ता, जिस पर कि यह ठहरे। साथ ही यह अग्रभण भी है, अर्थात् इसकी कोई शाखा-प्रशाखा आदि भी नहीं दिखाई पड़ती, जिसको कि हाथ से पकड़ा जाय। ऐसे समुद्र में आपने यह बड़ा पराक्रम का कार्य किया कि समुद्र में डूब रहे भुज्यु को सौ पतवार वाली नाव पर चढाकर बचा लिया और उसको अपने घर पहुंचा दिया। यह कार्य किसी दूसरे के लिये कठिन था। अरित्र शब्द यहां पतवार का वाचक है, जिसकी सहायता से कि नाव चलाई जाती है। अश्विनीकुमारों की वे नावें सौ पतवार वाली थी। (मल्लाहों में डांड के नाम से प्रसिद्ध नाव चलाते समय पानी को काटने वाले विशेष प्रकार के लकड़ी के चप्पों को ही यहां अरित्र शब्द से कहा जाता है किसी अनोखे यन्त्र को नहीं)।

परमार्थस्त्वयम्—अत्राप्याख्यायिका प्रसिद्धा। कश्चित् पेदुर्नामकोऽश्विनौ तुष्टाव। तस्मै प्रीतौ कश्चित् श्वेतवर्णमश्वं दत्तवन्तौ। स चाश्वस्तस्य प्रौढं जयं चकार। तदेवात्र प्रतिपाद्यते—हे अश्विनौ, युवाम् अघाश्वाय अहन्तव्यायाश्वाय पेदुनाम्ने-राजर्षये यं श्वेतवर्णमश्वं ददथुः दत्तवन्तौ सोऽश्वस्तस्मै स्वस्ति जयलक्षणं मङ्गलं शश्वत् इत् नित्यमेव चकार, वां युवयोः तत् दात्रं दानं महि महत् अतिगम्भीरं कीर्तेन्यं कीर्तनीयं प्रशस्यम् 'कृत्यार्थे तवैकेन केन्यत्वनः' (पा० सू०३।४।१४) इति केन्यप्रत्ययः। भूत अभूत्। तस्मात् पैद्वः पेदोः सम्बन्धी पतनशीलः शीघ्रगामी वा, अर्यः शत्रूणां प्रेरयिता, युद्धेषु प्रेरयितव्यो वा वाजी वेजनवान् सोऽश्वः सदमित् सदैव हव्यः अस्माभिरप्याह्वातव्यः. अश्विप्रसादभूतस्य विजयादिमङ्गलप्रदः शत्रूणां पलायनाय प्रेरकः शत्रूद्वेजकोऽश्वः सर्वैराह्वातव्य एव। एवं स्वाभाविकार्थमुपेक्ष्य पाश्चात्त्यविज्ञानचाकचिक्यचकितवुद्धित्वात् पाश्चात्त्यविज्ञान-मृगमरीचिकायमानार्थान्वेषणमसङ्गतमेव। योऽग्निर्वाजिरूपेण विवक्षितः, तस्यात्र मन्त्रे चर्चापि नास्ति।

'त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः। त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा॥' (ऋ० सं० १।३४।२) इत्यस्यापि व्याख्यानमविचारचारु—'मधुरगतिमति रथे त्रयः पवयः वज्रतुल्याश्चक्रसमूहाः कलायन्त्रयुक्ता दृढां शीघ्रं गमनार्थं त्रयः कार्याः। तथैव शिल्पिभिः त्रयः स्कम्भासः स्तम्भनार्थास्तम्भास्त्रयः कार्याः। किमर्थं सर्वकलानां स्थापनार्थाः। विश्वे शिल्पिनः सोमगुणविशिष्टस्य सुखस्य वेनां कमनीयां कामनासिद्धिं विदुर्जानन्त्येव। अश्विभ्यामेवैतद्यानमारब्धमिच्छेयुः कुतः, तावेवाश्विनौ तद्यानसिद्धिं याथः प्रापयत। तत्कीदृशं तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैश्चातिदूरमपि गमयतीति बोध्यम्।' इति, तत्कल्पनामात्रम्, पवय इत्यस्य कलायन्त्रयुक्ताश्चक्रसमूहा अर्थ इत्यत्र बीजाभावात्। 'त्रिर्नक्तं त्रिर्दिवा' इत्यनयोस्तिसृभी रात्रिभिः त्रिभिर्दिनैरित्यर्थकरणमज्ञानविजृम्भितमेव, त्रिर्गकारमुच्चारयतीत्यादौ त्रिवार-

'यमश्विना०' इत्यादि द्वितीय मन्त्र का अर्थ भी सही नहीं है, क्योंकि 'इस तरह से भोग की प्राप्ति होती है, अतः सभी मनुष्यों को इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये' यह अर्थ सर्वथा मन्त्राक्षरों से विपरीत है। 'भाफरूप अश्व अत्यन्त वेग देने वाला होता है, जिससे कारीगर लोग सवारियों को शीघ्र गमन के लिये वेगयुक्त करते हैं' (पृ० २२५) में सब व्याख्याएँ निराधार हैं, क्योंकि मन्त्र में भाफ का वाचक पद है ही नहीं। 'वही भापरूपी अश्व मार्ग में यान को शीघ्र चलाने वाला है, जो अत्यन्त वेग से युक्त है। वह ग्रहण और दान देने के योग्य है। वैश्य लोग तथा शिल्पविद्या का स्वामी इसको अवश्य ग्रहण करे, क्योंकि इन यानों के बिना द्वीपान्तर में जाना-आना कठिन है, (पृ० २२५) यह बात भी अनर्गल है, क्योंकि हव्य और अर्थ का कोई संबन्ध नहीं बैठता।

किसी पेदु नाम के व्यक्ति ने अश्विनी कुमारों की स्तुति की थी। अश्विनीकुमारों ने प्रसन्न होकर उसको श्वेत वर्ण का घोड़ा दिया। इस घोड़े ने उसको अनेक विजय दिलाई। उसी का वर्णन इस मन्त्र में है—हे अश्विनीकुमारों, आप लोगों ने यज्ञ में घोड़े को न मारने वाले पेदु नाम के राजर्षि को जो श्वेत वर्ण वाला घोड़ा दिया, उसने उसको अनेक युद्धों में सदा विजय दिलवाई है। आप लोगों का वह अश्वदान अत्यन्त ही प्रशंसनीय रहा है। इसलिये राजा पेदु का वह तीव्रगति वाला घोड़ा शत्रुओं में भय का संचार कर देने वाला है। उसको हम सदा याद करते हैं। अश्विनीकुमारों के प्रसाद से प्राप्त विजय आदि मंगल दिलाने वाला, शत्रुओं को भगा देने वाला, उनमें आतंक पैदा कर देने वाला इस तरह का घोड़ा सभी के लिये वरणीय है। इस तरह के स्वाभाविक अर्थ को छोड़कर पाश्चात्य विज्ञान की चकाचौंध से चकित बुद्धि वाले दयानन्द ने जो पाश्चात्य विज्ञान की मृगमरीचिका में पड़कर वेद मन्त्रों के अर्थ किये हैं, वह सर्वथा असंभव है।

'त्रयः पवयः' इत्यादि मन्त्र का अर्थ भी विचार करने पर जँचता नहीं, क्योंकि 'जिसमें तीन पहिये हैं, जिनसे वह जल और पृथिवी के ऊपर चलाया जाय और मधुर वेगवाला हो, उसके सब अंग- वज्र के समान दृढ़ हो, जिसमें कलायन्त्र भी दृढ़ हो, जिनसे शीघ्र गमन होवे। सब शिल्पी विद्वान् लोग ऐसे यानों को सिद्ध करना अवश्य जाने, जिनसे सुन्दर सुख की कामना सिद्ध होती है, जिस रथ में सब क्रीडासुखों की प्राप्ति होती है। उसके आरंभ में अश्वि अर्थात् अग्नि और जल ही मुख्य हैं'। जिन मन्त्रों से तीन दिन और तीन रात में द्वीप-द्वीपान्तर में जा सकते हैं' (पृ० २२५)। यह सारा अर्थ कोरी कपोल कल्पना है, क्योंकि 'पवि' शब्द का अर्थ 'कला यन्त्र से युक्त चक्रसमूह' है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। 'त्रिर्नक्तं त्रिर्दिवा' इन शब्दों का अर्थ तीन रात और तीन दिन में करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'त्रिर्गकार०' इत्यादि वाक्यों का अर्थ गकार का तीन बार उच्चारण होता है, उसी

तिथि........
पु०सं०.....१४१५

मित्यस्यैवार्थस्य प्रसिद्धेः। अन्यथा त्रिदिवा त्रिनक्तमित्येव स्यात्। सोमस्य सुखमर्थं इत्यत्रापि मूलं चिन्त्यम्। न सर्वकलानां स्थापनार्थास्त्रयः स्तम्भाः कार्या इत्यपि न किञ्चित् स्पष्टम्, ईदृशीं यन्त्रविद्यां श्रुत्वा को नाम वेदेषु श्रद्दधीत ?

सायणसम्मतोऽर्थस्तु—मधुवाहने मधु वाह्यतेऽनेनेति मधुवाहनं तस्मिन्, मधुरद्रव्याणां नानाविधखाद्यादीनां वहनेन युक्तेऽश्विनोः सम्बन्धिनि रथे पवयो वज्रसमानाश्चक्रविशेषास्त्रयः त्रिसंख्याकाः सन्ति। इत् इत्थं चक्रत्रयसद्भावप्रकारं विश्वे सर्वे देवाः सोमस्य चन्द्रस्य वेनां कमनीयां भार्यामभिलक्ष्य यात्रायां विदुः जानन्ति। यदा सोमस्य वेनया सह विवाहः, तदानीं नानाविधवाद्ययुक्तं चक्रत्रयोपेतं प्रौढरथमारुह्य अश्विनौ गच्छत इति सर्वे देवा जानन्ति। तस्य रथस्योपरि त्रयः स्कम्भाः स्तम्भविशेषा आलम्बनविशेषा वा आरभे आरब्धुमवलम्बितुं स्कम्भितासः स्थापिताः। यदा रथस्त्वरया याति तदानीं पतनभीतिनिवृत्त्यर्थं हस्तालम्बनभूताः स्तम्भाः इत्यर्थः। हे अश्विनौ, युवां तादृशेन रथेन नक्तं रात्रौ त्रिर्याथः त्रिवारं गच्छथः, त्रिर्दिवा दिवसेऽपि त्रिवारं याथः, रथमारुह्य पुनः पुनः क्रीडथ इत्यर्थः। नन्वेवमाप्याख्यायिकामात्रार्थप्रतिपादनापेक्षया यन्त्रादिपरं व्याख्यानमेव श्रेष्ठं जनोपयोगित्वादिति चेन्न, प्रमाणानामनधिगतगन्तृत्वेनैव प्रामाण्यमिति व्यवस्थापनात्। शक्त्या भक्त्या वा यादृशोऽर्थः सम्भवति स एव शब्दार्थः। न स्वेच्छावलादपदार्थः पदैर्बोधयितुं शक्यः, स्वेच्छाया अव्याहत-प्रसरत्वात्। आश्विनादिमन्त्राणामश्विस्तुतिपरत्वेन यत्र कर्मणि विनियोगस्तदङ्गत्वेनैव सार्थक्यम्।

'त्रिर्नो अश्विना यजता दिवे दिवे परित्रिधातु पृथिवीमशायतम्। तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम्॥' (ऋ० सं० १।३४।७)। 'अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः। धिया युयुज्र इन्दवः' (ऋ० सं० १।४६।८) यदत्र व्याख्यातम्—'यत्पूर्वोक्तयानं तत् अयस्ताम्ररजतादिधातुत्रयेण रचनीयम्, इदं कीदृग्वेगं भवति इत्यत्राह—आत्मेव वातः आगमनागमने यथात्मा मनश्च शीघ्रं गच्छत्यागच्छति च तथैव कलाप्रेरितौ वाय्वग्नी तद्यानं त्वरितं गमयतः

तरह से यहाँ भी दिन में तीन बार और रात्रि में तीन बार यही अर्थ ठीक हो सकता है। अन्यथा त्रिदिवा, त्रिनक्त ऐसे शब्दों का प्रयोग यहाँ होना चाहिये था। सोम का अर्थ सुख करने के लिये प्रमाण चाहिये। सभी कलाओं की स्थापना के लिये तीन आधार बनाने चाहिये, यह बात भी कुछ स्पष्ट नहीं होती।

इस मन्त्र का सायणसंमत अर्थ यह है—नाना प्रकार के मधुर खाद्य पदार्थों के वाहक अर्थात् प्राप्त कराने वाले अश्विनीकुमारों के पवि नाम के तीन चक्र हैं। इस स्थिति को कि अश्विनीकुमारों के पास इस तरह के तीन चक्र हैं, विश्वदेव नामक देवताओं ने तब जाना था, जबकि चन्द्रमा की सुन्दर भार्या वेना के निमित्त यात्रा के लिये निकले थे। सारे देवता इस बात को जानते हैं कि जब सोम का वेना के साथ विवाह हुआ तब नाना प्रकार के वाद्यों से युक्त तीन चक्र वाले प्रौढ़ रथ पर बैठकर अश्विनीकुमार वहाँ जाते हैं। उस रथ के ऊपर सहारे के लिये तीन खंभे लगाये हुए थे। जब रथ वेग से चलता हो, तब वह इधर-उधर गिर न पड़े, इसके लिये ये आधार लगाये गये थे। हे अश्विनीकुमारों, आप लोग इस तरह के रथ से दिन और रात्रि में तीन-तीन बार यात्रा करते थे, रथ पर चढ़कर क्रीडा करते हो। प्रश्न उठाया जा सकता है कि इस तरह को कहानी के आधार पर किये गये अर्थ की अपेक्षा यन्त्र आदि को बनाने वाला अर्थ अधिक लोकोपकारी हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि शक्ति अथवा लक्षणे से णा। जो अर्थ प्राप्त हो सकता है, वह शब्द का अर्थ माना जा सकता है। पदों का मनमानी अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि इच्छा का कहीं ठोर-ठिगाना नहीं है कि वह कहाँ जाकर रुकेगी। आश्विन सूक्त के मन्त्रों का विनियोग उनकी स्तुति के लिये ही किया जा सकता है। इसी में उनकी सार्थकता है।

'त्रिर्नो' इत्यादि मन्त्रों का अर्थ दयानन्द ने इस तरह से किया है—'जिन सवारियों से हमारी भूमि, जल और आकाश में प्रतिदिन आनन्द से जाना-आना बनता है, वह लोहा, तांबा, चांदी आदि तीन धातुओं से बनता है। नगर या ग्राम की गलियों में झटपट जाना-आना बनता है, वैसे दूर देश में भी उन सवारियों से शीघ्र जाना-आना होता है। इसी प्रकार विद्या के निमित्त पूर्वोक्त जो अश्वि हैं, उनसे बड़े-बड़े कठिन मार्ग में भी सहज से जाना-आना करे। जैसे मन के वेग के समान शीघ्र गमन के लिये सवारियों

आगमयतश्चेति विज्ञेयम्' (पृ० २२६) इति, तदुपहासास्पदम्, 'त्रिधातु आत्मेववातः' इत्येतैः पदैः कथं यन्त्रनिर्माणं यन्त्रस्य च मनोजवत्वमित्याद्यर्थस्य साधयितुमशक्यत्वात्। मन्त्रगतानि पदान्तराणि तु स्पष्टानि।

सम्पूर्णमन्त्रार्थस्त्वित्थं ज्ञातव्यः—अस्य मन्त्रस्य आश्विनसूक्तगतत्वात् तत्स्तुतिपरत्वमेव ज्ञातव्यम्। आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः, जगतीच्छन्दः। हे अश्विनौ, दिवे दिवे प्रतिदिनं दिवे दिवे 'द्यवि द्यवि' (नि० १।९) यजता यष्टव्यौ युवां नः अस्मदीयां पृथिवीं वेदिरूपां भूमिं परिसर्वतः प्राप्य त्रिधातु कक्ष्यात्रययुक्ते आस्तीर्णे बर्हिषि त्रिवारमशायत शयनं कुरुतम्। त्रेधा निधीयत इति त्रिधातु बर्हिरेव। हे रथ्या रथ्यौ रथस्वामिनौ तिस्रः त्रिसंख्याका ऐष्टिकपाशुकसौमिकरूपा वेदीः परावतः महत्त्वपूर्णा गच्छतम्। कथमिव स्वसराणि शरीराणि सरन्ति विषयं प्रतीति सरा इन्द्रियाणि स्वकीयाः सरा येषां शरीराणां तानि स्वसराणि शरीराणि आत्मेव वातः, प्राणिनामात्मभूतो वायुर्यथा शरीराणि गच्छति तद्वत्। हे नासत्यौ सत्सु, साधू सत्यौ, न सत्यौ असत्यौ, न असत्यौ नासत्यौ सत्यावेवेत्यर्थः। केवलं त्रिधातु आत्मेववातः इति शब्दान् दृष्ट्वा पौर्वापर्यमननुसन्धाय यन्त्रनिर्माणपरं मन्त्रव्याख्यानं सचेतसां चेतसि खेदायैव जायते।

अरित्रमित्यत्र यदुक्तं कीदृशं यानम् अरित्रं स्तम्भार्थसाधनयुक्तम्, पृथु अतिविस्तीर्णम् ईदृशः खरथः, अग्न्यश्वयुक्तः सिन्धूनां महासमुद्राणां तीर्थे तरणे कर्त्तव्ये अरित्रं वेगवत् भवतीति बोध्यम्। (धियायु) तत्र त्रिविधे रथे इन्दवः जलानि वाष्पवेगार्थं (युयुजे) यथावत् युक्तानि कार्याणि येनातीव शीघ्रगामी सरथः स्यात् (पृ० २२६) इति, तदपि न किञ्चित्, रथ इत्यग्न्यश्वरथ इत्यर्थः कुतो लब्धः? इन्दव इत्यस्य जलार्थत्वेऽपि वाष्परूपं जलमिति कुतो ज्ञातम्? यन्त्रनिर्माणं तु नास्त्येवात्र।

सायणसम्मतस्त्वर्थः—हे अश्विनौ, वां युवयोः दिवस्पृथु द्युलोकादप्यतिविस्तीर्णं अरित्रं गमनसाधनं नौरूपम् अर्ति गच्छत्यनेनेत्यरित्रम्, सिन्धूनां समुद्राणां तीर्थे अवतरणप्रदेशे विद्यत इति शेषः। रथः भूमौ गन्तुं विद्यते। इन्दवः सोमाः, धिया भवद्विषयेण कर्मणा युयुजे युक्ता बभूवुः। अर्थाद् युवयोरतिविस्तृतमरित्राख्यं नौयानं समुद्राणां तीर्थे अवसरणस्थाने

से प्रतिदिन सुख से सब भूगोल के बीच जावे-आवे' (पृ० २२६) यह सब उपहासास्पद है 'त्रिधातु आत्मेवातः' इन शब्दों से मन्त्र का निर्माण कैसे हो सकता है और यह मन्त्र मन के समान वेग वाला है, यह कैसे सिद्ध हो सकता है। मन्त्र के अन्य पदों का अर्थ भी स्पष्ट किया गया है।

पूरे मन्त्र का अर्थ यह है—हे अश्विनीकुमारों, आपलोग प्रतिदिन पूजनीय हैं। आप हमारे यज्ञमण्डप में बनाई गई वेदि पर तिहरे बिछाये गये आसन पर आकर तीन बार विश्राम कीजिये। त्रिधातु शब्द से व्युत्पत्ति के आधार पर कुश के आसन का बोध होता है। हे सुन्दररथ के स्वामियों, आप लोग ऐष्टिक, पाशुक, सौमिक नाम की तीन महत्वपूर्ण वेदियों पर आकर बैठिये, जैसे कि इन्द्रियां अपने अपने विषयों की ओर तथा प्राणियों का आत्मभूत प्राणवायु जैसे शरीर की ओर बढ़ता है। हे नासत्यों, आप लोग सज्जनों का सदा भला करने वाले हैं, आप लोग कभी भी असत्य आचरण की ओर प्रवृत्त नहीं होते।

'अरित्रम्०' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या करते हुए दयानन्द ने लिखा है—'जो पूर्वोक्त अरित्रयुक्त यान बनते हैं, जो रथ बड़े बड़े समुद्रों के मध्य से भी पहुंचाने में श्रेष्ठ होते हैं, जो विस्तृत आकाश और समुद्र में आने-जाने के लिये अत्यन्त उत्तम होते हैं, उन रथों में जो मनुष्य यन्त्र सिद्ध करते हैं, वे सुखों को प्राप्त होते हैं। उन तीन प्रकार के यानों में वाष्पवेग के लिये एक जलाशय बनाकर उसमें जलसेचन करना चाहिये, जिससे वह अत्यन्त वेग से चलने वाला यान सिद्ध हो' (पृ० २२६) यह व्याख्या भी लचर है। रथ का अर्थ अग्निरूपी अश्व से चलने वाला रथ कैसे किया जा सकता है। इन्द्र शब्द का अर्थ जल तो हो सकता है, किन्तु वाष्परूप जल का इससे बोध किस प्रमाण के आधार पर होगा? यन्त्र के निर्माण की बात तो यहां है ही नहीं।

इसका सायणसंमत अर्थ यह है—हे अश्विनीकुमारों, आपलोगों की आकाश से भी अत्यन्त विस्तीर्ण, डांडों की मदद से चलने वाली नावें समुद्र के किनारों पर लगी हुई हैं। भूमि पर चलने के लिये रथ आप लोगों के पास हैं। यह हमारे द्वारा दिया जा रहा सोमरस आपके उपयोग में आये। अर्थात् आप लोगों की बड़ी बड़ी नावें समुद्र यात्रा के लिये किनारों पर लगी हुई है और पृथ्वेः

जले गमनार्थं विद्यते, रथश्च भूमौ गन्तुं विद्यते.। सोमाहुतियुक्तं कर्म च त्वदर्थं नियतं ब्रह्मवादिभिरनुष्ठीयते। एवं महाभाग्यं त्वदीयमित्यर्थः।

'वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा। मनो जुवो यन्मरुतो रथेष्वावृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम् ॥' (ऋ० सं० १।८५।४)। हे मनुष्याः! मनोजवः मनोवद्गतयो वायवो यन्त्रकलासञ्चालनैस्तेषु रथेषु पूर्वोक्तेषु त्रिविधयानेषु यूयम् अयुग्ध्वम् यथावद्योजयत। कथम्भूता आग्निवाय्वादयः? आवृषव्रातासः जलासेचनयुक्ताः, येषां संयोगे वाष्पजन्यवेगोत्पत्त्या वेगवन्ति तानि यानानि सिद्ध्यन्ति' (पृ० २२६) इति, तदपि यत्किञ्चित् धूमशकटीयन्त्रदर्शनेन तदनुगुणान् कांश्चिच्छब्दाभासान् आलोक्य मूर्खजनप्रतारणाय वेदे यन्त्रविद्याप्रदर्शनमात्रम्, वस्तुतो न वेदाक्षरैस्तत्सम्बन्धः। अत एव नैतदुपदेशेन कश्चिदपि यन्त्रयुक्तानि जलस्थलान्तरिक्षगामीनि यानानि निर्मातुं शक्नोति। दयानन्देन सामाजिकैश्चाद्य यावद् यन्त्रनिर्माणकौशलस्यानाविष्कृतत्वात्।

वस्तुतो मन्त्रार्थो वर्ण्यते—मरुद्देवताकसूक्तगतत्वादयं मन्त्रो मरुद्देवताकः। सुष्ठु शोभनानि मखानि येषां ते सुमखासः, ये मरुतः ऋष्टिभिरायुधविशेषैर्विभ्राजन्ते विशेषेण दीप्यन्ते ते अच्युता चित् च्यावयितुमशक्यानि दृढानि पर्वतादीन्यपि ओजसा स्वकीयेन बलेन प्रच्यावयन्तः प्रकर्षेण च्यावयितारो भवन्ति। हे मरुतः! मनोजुवो मनोवद्वेगगतयः, वृषव्रातासः वृष्ट्युदकं सेचनसमर्थसप्तसङ्घात्मकाः यूयं यत् यदा रथेष्मात्मीयेव पृषतीः श्वेतबिन्दुभिर्युक्ता मृगीः स्ववाहनानि आअयुग्ध्वम्, आभिमुख्येन नियुक्ता अकृढ्वम् तदा अच्युताः पर्वता अपि च्यवन्तेपु पृषत्य इति मरुद्वाहनानां संज्ञा 'पृषत्यो मरुताम्' (नि० नैघण्टुककाण्ड) इत्युक्तवात्।

'आनो नावा मतीनां पाराय गन्तवे। युञ्जाथामश्विना रथम् ॥' (ऋ० सं० १।४६।७) अत्र यदुक्तम्—'समुद्रे भूमौ अन्तरिक्षे गमनयोग्यमार्गस्य पाराय गन्तवे गन्तुं यानानि रचनीयानि। नावा मतीनां यथासमुद्रगमनवृत्तिनां मेघाविनां

पर चलने के लिये रथ तैयार हैं। ब्रह्मवादी आपलोगों के निमित्त सोम को आहुति देने के लिये पवित्र अनुष्ठान करते रहते हैं। इस तरह से सभी दृष्टियों में आपका ऐश्वर्य प्रशंसनीय है।

'वि ये भ्राजन्ते' मन्त्र का अर्थ यह किया गया है—'हे मनुष्यों, जैसा मन का वेग है, वैसे वेगवाले यन्त्र सिद्ध करो। उन रथों में वायु और अग्नि को मनोवेग के समान चलाओ। उनके योग में जल को भी स्थापित करो। जैसे जल की भाप घूमने की कलाओं की वेगवाली कर देती है, वैसे ही तुम भी उनको सब प्रकार से युक्त करो। जो इस प्रकार के प्रयत्न करके सवारी सिद्ध कहते हैं, वे विविध प्रकार के भोगों से प्रकाशमान होते हैं। जो इस प्रकार से शिल्पविद्यारूप श्रेष्ठ यज्ञ करने वाले हैं, वे सब भोगों से युक्त होते हैं। वे कभी दुःखी होकर नष्ट नहीं होते और सदा पराक्रम से बढ़ते जाते हैं, क्योंकि कला-कौशल से युक्त वायु और अग्नि आदि पदार्थों की कलाओं से पूर्व स्थान को छोड़ कर मनोवेग यानों से जाते आते हैं, उन्हीं से मनुष्यों का सुख भी बढ़ता है। इसलिये इन उत्तम यानों को अवश्य सिद्ध करें' (पृ० २२७)। यह व्याख्या भी गलत है, क्योंकि यह सारा अर्थ आधुनिक काल के रेलयान को देखकर कुछ उसी से मिलते जुलते शब्दों को पकड़ कर अज्ञजनों को ठगने के लिये वेद में मन्त्र विद्या को सिद्ध करने का भोंडा प्रयत्न किया गया है। वस्तुतः मन्त्र के अक्षरों से इसका कुछ भी संबन्ध नहीं है। इसीलिये दयानन्द के उपदेश के अनुसार कोई भी व्यक्ति यन्त्र लगे हुए जल, स्थल और आकाश में चलने वाले यानों को बनाने में समर्थ नहीं हुआ है। न तो दयानन्द ने और न उनके किसी अनुयायी ने ही वेद के आधार पर अबतक कोई यान बनाकर दिखाया है।

वस्तुतः मन्त्र का अर्थ यह है—सुन्दर मुंह वाले ये मरुद्गण ऋष्टि नाम के शस्त्रों को धारण कर बहुत ही शोभा पा रहे हैं। ये मरुद्गण बड़े मजबूत स्थिर पहाड़ों को भी अपने पराक्रम से हिला देते हैं। हे मरुद्गणों, आपलोगों की गति मन के समान है। आप लोग वृष्टि के जल से सारे संसार को सींचते हैं। सात सात का गोल बनाकर अपने रथों पर बैठकर और उनमें सफेद चकतीदार मृगों को जोतकर जब आपलोग चलते हैं, तब बड़े बड़े पहाड़ भी डोल उठते हैं। 'पृषती' इस शब्द का प्रयोग मरुद्गणों के वाहक मृगों के लिये होता है।

नावा पारं गच्छन्ति, तथैवास्माकमप्युत्तमा मा नौर्भवेत् । आयुञ्जाथा यथा मेधाविभिरग्निजले, आसमन्तात् यानेषु युज्येते, तथास्माभिरपि योजनीये भवतः, एवं सर्वैर्मनुष्यैः समुद्रादीनां पारावारगमनाय पूर्वोक्तयानरचने प्रयत्नः कर्त्तव्यः, (पृ० २२७) इति, तदपि निःसारम्, मन्त्रे उपमानादिबोधकस्य पदस्याभावाद् यन्त्रनिर्माणविधानकल्पनमसङ्गतमेव । किञ्च, निर्माणप्रकारनिर्देशमन्तरा विधिशतैरपि कार्यं न सिद्ध्यति । अत एव यागादिविध्यनन्तरमेव तत्रेतिकर्तव्यतानिर्देशो भवति । न च केवलं काष्ठलोष्ठवाय्वग्निशब्दैरयस्ताम्ररजतादिनामनिर्देशेन वा यन्त्रनिर्माणेतिकर्तव्यता पूर्यते । मन्त्रार्थस्तु—हे अश्विनौ मतीनां स्तुतीनां पाराय पारं गन्तुं नावा नौरूपेण गमनसाधनेन नः अस्मान् प्रति आयातम् समुद्रमध्यादागच्छतम् । भूमावागन्तुं रथं भवदीयं युञ्जाथां साश्वं कुरुतम् ।

'कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति । त आववृत्रं तत्सदनादृतस्यादिद् धृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥' (ऋ० सं० १।१६४।४७) 'द्वादशप्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उतच्चिकेत । तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥' (ऋ० सं० १।१६४।४८) एतयोर्व्याख्याने यदुक्तम्—'हे मनुष्याः, सुपर्णाः शोभनपतनशीला हरयोऽन्यादयोऽश्वाः अपोवसाना जलपात्राच्छादिता अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वलिताः कलाकौशलभ्रमणयुक्ताः कृताश्चेत्तदा कृष्णं पृथिवीविकारमयं नियानं निश्चितं यानं दिवमुत्पतन्ति द्योतनात्मकमाकाशमूर्ध्वं गमयन्तीत्यर्थः (पृ० २२७-२२८) नूनमेतत्सर्वं, धूमशकटीदर्शनोद्भूतसंस्कारमहिम्नैव वेदमन्त्रेष्वपि तादृशार्थभानम् । यदि चाधुनिकेन आग्नेयतैलेन, (पेट्रोल) चालितविमानदर्शनं कृतं स्यात्तदा तदनुगुणा अपि केचिच्छब्दाभासा मन्त्रेष्वन्विष्टा भवेयुः । अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वलिताः कलाकौशलभ्रमणयुक्ता इत्येतत्सर्वं हरिपदेन कथं लभ्यत ? इति तु स एव जानीते ।

मन्त्रस्य त्वयमर्थः—वृष्टिकामस्य कारीर्यामिष्ट्यामनुवाक्यात्वेनायं मन्त्रो विनियुक्तः । 'कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णाः नियुत्वन्तो ग्रामजितो यथा नराः' (आ० श्रौ० सू० २।१३) इति प्रमाणात् । कृष्णं कृष्णवर्णं नियानं नियमेन गच्छन्तं

'आनोना वा०' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या यह की गई है—'हे मनुष्यों, जैसे बुद्धिमान् मनुष्यों के बनाये नाव आदि यानों से समुद्र को पार करने में सुगमता होती है, वैसे ही पूर्वोक्त वायु आदि अश्वि का योग यथावत् करो, जिससे कि उन यानों से समुद्र के आर पार जा सको । हे मनुष्यों, आओ, आपस में मिलकर इस प्रकार के यानों को बनावें, जिनसे सब देश-देशान्तर में हमारा जाना-आना बने' (पृ० २२८) । यह व्याख्या भी निस्सार है । मन्त्र में उपमान बोधक पद है ही नहीं । यन्त्रों के निर्माण के विधान की कल्पना भी असंगत है । निर्माण की विधि जबतक न बताई जाय, तब तक कोरे विधिवाक्यों से कुछ बनने वाला नहीं है । इसीलिये याग के प्रतिपादक विधिवाक्यों के साथ ही उसको संपन्न करने की सारी विधि (पद्धति) भी बताई जाती है । केवल काठ, लोहा, वायु, अग्नि आदि शब्दों से तथा लोहा, तांबा, चांदी आदि के नामों के आधार पर यन्त्रों के निर्माण की पद्धति नहीं मालूम हो सकती । मन्त्र का सही अर्थ यह है—हे अश्विनीकुमारों, हमारे द्वारा की जा रही स्तुतियों को सुनने के लिये आप लोग यदि समुद्र में हों तो नाव पर बैठकर और भूमि पर हों तो रथ पर घोड़े जोतकर जल्दी से जल्दी हम लोगों के पास चले आओ ।

'कृष्णं नियानं' और द्वादश प्रधय०' इन दो मन्त्रों में से पहले मन्त्र का अर्थ यह किया गया है—'हे मनुष्यों, अग्निजलयुक्त कृष्ण अर्थात् खैंचने वाले जो निश्चित यान हैं, उनके वेग आदि गुण रूप, अच्छी प्रकार गमन कराने वाले जो पूर्वोक्त अग्नि आदि अश्व हैं, वे जलसेचन युक्त वाष्प को प्राप्त होकर उस काष्ठ, लोहा आदि से बने हुए विमान को आकाश में उड़ा चलते हैं । वे जब चारों ओर से सदन अर्थात् जल से वेगयुक्त होते हैं, तब यथार्थ सुख के देने वाले होते हैं । जब जल की कलाओं के द्वारा पृथिवी जल से युक्त की जाती है, तब उसमे उत्तम उत्तम भोग प्राप्त होते हैं' (पृ० २२८) । यह सब आधुनिक धूमशकटी (रेल) को देख कर उसके संस्कार के कारण वेदमन्त्रों में भी उसी की खोज का परिणाम है । यदि दयानन्द ने पेट्रोल से चलने वाले आधुनिक वायुयान को देखा होगा, तो वे उसको भी वेदमन्त्रों में से खोज निकालते । केवल एक 'हरि' पद से 'ज्वालारूप काष्ठ के इन्धन से जलाये गये और कलाकौशल से घूमने वाले' इतना अर्थ कैसे निकलेगा, इस बात को तो दयानन्द ही जान सकते हैं ।

मन्त्र का सीधा-साधा अर्थ है—काले रंग के नियमित रूप से चलने वाले मेघ को पृथिवी से जल को खींचने वाला किरणें जल से भर दें । अथवा कृष्ण नियान शब्द से दक्षिणायन तथा कृष्णपक्ष की रात्रि का बोध होगा । दक्षिणायन को देवताओं

मेघं हरयः उदकस्य हर्तारः सुपर्णाः शोभनपतनाः रश्मयः अपो वसाना उदकानि मेघेषु वासयन्तः, अद्भिर्मेधान् पूरयन्तः, अन्तर्भावितण्यर्थत्वात्। यद्वा कृष्णं नियानं दक्षिणायनं नियमनं रात्रिर्वा। देवानां रात्रिर्दक्षिणायनम्। दक्षिणायनस्य कृष्णगतित्वात् कृष्णत्वम्। 'शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।' (श्री० भ० गी०) इति गीतावचनम्। कृष्णं नियानं प्रतिवर्षाकाले पूर्वे हरयः अपो वसाना अद्भिर्नेघान् पूरयन्तः दिवं द्युलोकं तदाश्रितमादित्यं वा उद्दिश्य उत्पतन्ति ऊर्ध्वं गच्छन्ति। ते च ऋतस्य उदकस्य सदनात् स्थानात् आदित्यमण्डलात् आववृत्रन् आवर्तन्ते। अर्वाञ्च आगच्छन्ति। आदित् अनन्तरमेव यदा अर्वाग्गच्छन्ति तदानीमेव घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते विविधं क्लिद्यते। अयमेवार्थो निरुक्तवचनेनापि समर्थ्यते। कृष्णं निरयणं रात्रिरादित्य हरयः सुपर्णा हरणा आदित्यरश्मयस्ते यदा मुतोऽर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते सह स्थानादुदकस्यादित्यादथ घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते। घृतमित्युदकनाम जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः (नि० ७।२४)। तदर्थस्तु—निरयणं निर्गतिः, निर्गच्छत्येतदितिनियानं वर्त्म पन्थाः। तच्च रात्रिः। द्वे ह्यस्यायने शुक्लं चोत्तरं च कृष्णं च दक्षिणम्, सा हि दैवी रात्रिः। स आदित्यो जगदनुग्रहाय गर्भमुदकमात्मन्याधित्सुरुत्तरायणं प्रतिपद्यते। हरयो रसहरणाः सुपर्णास्तस्य हरयो रश्मयः सर्वस्माल्लोकादपो वसाना आत्मन्याच्छादयन्तः आददाना दिवं द्योतनवन्तमादित्यमुत्पतन्ति तदुदकं निधित्समानास्तस्मिन् गर्भत्वेन। तस्मादादित्य उत्तरायणं षड्भिर्मासैराहितोदकगर्भः सम्पद्यते। स एष परिपिक्तोदकगर्भो दक्षिणवर्त्मप्रतिपद्यमानो नभस्यान्मासात्प्रभृति प्रसूयत इति दुर्गाचार्येण स्पष्टीकृतः। तेनात्राग्न्यादयोऽश्वा जलपात्राच्छादिता ज्वाला कलाकौशलभ्रमणयुक्ता इत्याद्यर्थकल्पनं निर्मूलमेव।

द्वितीयमन्त्रस्याप्ययमर्थः—द्वादशसंख्याकाः प्रधयः प्रहिताः प्रश्लेष्य चक्रे निहिताः, द्वादशमासा एकमद्वितीयं चक्रं क्रमणस्वभावं संवत्सराख्यं चक्रमाश्रिताः, तथा त्रीणि त्रिसंख्याकानि नभ्यानि नाभ्याश्रयाणि फलकानि तत्स्थानीयानि ग्रीष्मवर्षाहिमन्ताख्यानि आश्रितानि। यथा सूर्यरथचक्रस्य द्वादशप्रधयः प्रहिताः नाभ्यार्हाणि फलकानि सन्ति तद्वत्कालचक्रस्य।

की रात्रि माना जाता है। दक्षिणायन कृष्ण गति को देने वाला है, अतः इसको कृष्ण माना जाता है। गीता में शुक्ल और कृष्ण दोनों गतियों को शाश्वत माना जाता है। तब इस मन्त्र का अर्थ होगा कि प्रत्येक वर्षा ऋतु से पहले सूर्य की किरणें पृथ्वी से जल का ग्रहण कर उससे मेघों को भर देने के लिये द्युलोक अथवा आदित्य की ओर उड़ चलतीं हैं और वहाँ से वे उस जल के स्थान आदित्य मंडल से पुनः लौटकर आती हैं। जब ये लौट कर वापस आती हैं, तभी पृथिवी पर पानी की वर्षा होती है, पृथिवी जल से गीली हो जाती है। निरुक्त के निम्न वचन से भी यही बात सिद्ध होती है—'कृष्ण निरयण दक्षिणायन को रात्रि को कहते हैं। आदित्य की चारों तरफ फैलने वाली किरणें जल का आहरण करती है। जब ये आदित्य से वापस लौटती हैं, तब आदित्य मण्डल से जल को अपने साथ ले आती है और इस पृथ्वी को जल से आप्यायित कर देती है। निरुक्त वचन का अभिप्राय यह है—निपान मार्ग को कहते हैं। यहाँ कृष्ण शब्द रात्रि का वाचक है। शुक्ल और कृष्ण ये दो अयन (मार्ग) होते हैं। इनमें कृष्ण अयन देवताओं की रात्रि कहा जाता है। सूर्य जगत् का उपकार करने के अभिप्राय से अपने में जल का खजाना बनाने के लिये उत्तरायण मार्ग का अवलम्बन करता है। उसकी किरणें इस काल में सभी पदार्थों में से उनके रस को सींचने लगती हैं और अपने में भरती रहती हैं। वे इस सारे रस को लेकर आकाश में प्रकाशित हो रहे सूर्य में प्रविष्ट हो जाती है और वहाँ उस रस को स्थापित कर देता है। इस तरह से उत्तरायण के छः महीनों में ये किरणें सूर्य में सभी पदार्थों के रस का संग्रह करती रहती है। जब सूर्य का यह गर्भ पूर्ण हो जाता है, तो वह दक्षिणायन मार्ग में प्रविष्ट होता है और तब श्रावण मास से वह जल की वर्षा करने लगता है। दुर्गाचार्य ने इस निरुक्त वचन का यही अर्थ किया है। इस तरह से इस मन्त्र में अग्निप्रभृति अश्वों की, जलमात्र से आच्छादित ज्वाला की और कला कौशल से चक्रों को घूमने की बात सर्वथा निर्मूल है। इस तरह का अर्थ केवल कपोल कल्पना ही माना जायगा।

द्वितीय मन्त्र का अर्थ यह है—चक्र में जैसे अराएं (तीलियां) लगी रहती हैं, उसी तरह से सूर्य के रथ के इस संवत्सररूपी चक्र में बारह मास बारह तीलियों के जैसे जुड़े रहते हैं। चक्र की नाभि में जैसे तीन फलक जुड़े रहते हैं, उसी तरह से इस संवत्सर चक्र की नाभि में भी ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त नाम के तीन फलक हैं। जैसे सूर्य के रथ में बारह तीलियां और नाभि

क उ कोऽपि महान् तत् चक्रं त्रिकेत जानाति यस्मिन् चक्रे साकं सह, शङ्कव न शङ्कव इव, त्रिशता त्रिशतसंख्याका षष्टिर्न, नश्चार्थः, षष्टिश्च अरा अरस्थानीयानि दिनानि अर्पिता अर्पितानि आश्रितानि। कीदृशानि तानि? चलाचलासः चलान्यचलानि च, चलान्यनवस्थायित्वात्, अचलानि अहोरात्रभावं न मुञ्चन्ति। एक एव चलशब्दो द्विर्भावं प्राप्तः। 'परिचलिपतिवदीनामच्याक् चाभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।१२६) इति द्विर्वचनमागागमश्च ततोऽसुक्। 'षष्टिश्च ह वै त्रीणि शतानि च संवत्सरस्याहानि' (श० ९।१।१।४३) इति श्रुतेः। द्वादशप्रधयश्चक्रमेकमिति मासानां 'भासा मानात्' (नि० ४।२७) मीयन्ते हि तैः संवत्सराः।

कलाभ्रमणार्थमेकं चक्रं त्रीणि मध्यस्थानि मध्यावयवधारणार्थानि यन्त्राणि रचनीयानि।' इत्यपि नगण्यम्, यतो हि नाद्यापि सामाजिकैस्तानि कर्तुं शक्यन्ते। त्रीणि शतानि शङ्कवः क्व क्व निखातव्यानि। षष्टिशतानि कलायन्त्राणि कर्त्तव्यानि, ताश्चलनार्थाः। अचलाः स्थित्यर्हा इत्येतत् केवलं वाग्जालमेव। नेदं व्याख्यानं शब्दानुगुणम्, न वार्थानुगुणम्, केवलं प्रजादौर्भाग्यात् समयापव्ययार्थमेव। शब्दार्थास्तु प्रायेण सायणभाष्यमाश्रित्यैव विकृतिं नीताः।

अथ तारविद्यामूलविचारः

'युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः। शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणी सहम्॥' (ऋ० सं० १।११९।१०)। अत्र केवलं तारशब्दमवलोक्य कथञ्चित्तदनुगुणानि पदानि योजितानि। कतिचिदपहायान्ये पदार्थाः सायणभाष्यानुसारिणः। 'अश्विनौ' इति सम्बोधनमुत्सृज्य हे मनुष्या इति सम्बोधनमप्यक्षरबाह्यमेव। श्वेतमित्यस्य अग्निगुणविद्युन्मयं शुद्धधातुनिर्मितम् इत्यर्थः कृतः। शुद्धधातुनिर्मितं तु सायणोक्तमेव। अग्निगुणविद्युन्मयमिति कथं श्वेतशब्दार्थः? अभिद्युमित्यस्य प्राप्तविद्युत्प्रकाशमित्यपि कथमर्थः? द्युशब्दस्य द्युत्यर्थकत्वे सत्यपि विद्युदिति कथमर्थः? तरुतारं यूयं कुरुतेति क्रियापदं मूले नैवोपलभ्यते। चर्कृत्यं वारं वारं सर्वक्रियासु योज्यं, सर्वमित्यपि तथाविधमेव। कथं सर्व-

में तीन फलक लगे हैं, उसी तरह से ये काल चक्र में भी लगे रहते हैं। कोई महान् व्यक्ति ही उस काल चक्र को ठीक तरह से जान सकता है, जिसमें कि तीन सौ साठ दिन अराओं की भांति जुड़े रहते हैं। ये अहोरात्र चल और अचल भी हैं। चल इसलिये कि ये सदा बदलते रहते हैं और अचल इसलिये कि बदलते रहने पर भी अपने स्वभाव को अर्थात् दिन के बाद रात और रात के बाद दिन होने की क्रमिकता को कभी नहीं छोड़ती। एक ही चल शब्द का द्वित्व होकर आकु आगम और असुक् प्रत्यय होने पर 'चलाचलासः' शब्द बनता है। एक वर्ष में तीन सौ साठ दिन होते हैं, यह बात श्रुति से सिद्ध है। बारह तीलियों वाला एक संवत्सर बारह मासों का द्योतक है। मास के आधार पर संवत्सर को नापा जाता है, इसीलिये इनको मास कहा जाता है।

'उनमें एक चक्र बनाना चाहिये, जिसके घुमाने से सब कला घूमें। फिर उसके मध्य में तीन चक्र रचने चाहिये, जिसमें से कि एक के चलाने से सब रुक जाय, दूसरे के चलाने से आगे चलें और तीसरे के चलाने से पीछे चलें' (पृ० २२८) इस तरह की सारे व्याख्याएँ व्यर्थ हैं, क्योंकि आज तक किसी आर्यसमाजी ने यह सब करके नहीं दिखाया है। तीन सौ बड़ी-बड़ी कीलें कहां-कहां लगाई जायगी? 'साठ कला यन्त्र बनाने चाहिये। उनमें से कई एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें' (पृ० २२८-२२९) इस तरह की सारी बातें वाग्जाल मात्र है। ऐसी व्याख्याओं का न तो मन्त्र के अक्षरों से कोई संबन्ध है और न इस तरह के अर्थ में ही कोई संगति है। शब्दों का अर्थ तो प्रायः सायण भाष्य के सहारे ही किया गया है, किन्तु उनको जगह-जगह विकृत कर दिया गया है।

तार विद्या का मूलस्रोत

'युवं पेदवे०' इत्यादि मन्त्र में केवल तार शब्द को देखकर ही जिस किसी तरह से इस मन्त्र का संबन्ध दूर तक संवाद भेजने की प्रणाली से जोड़ दिया गया है और इस मन्त्र के कुछ शब्दों का अर्थ जोड़-मरोड़ कर किया गया है। कुछ शब्दों का अर्थ सायणभाष्य के अनुसार ही किया है। 'अश्विनौ' पद से अश्विनीकुमारों को संबोधित न कर मनुष्यों को संबोधित करना गलत है। श्वेत पद का अर्थ शुद्ध धातु से बना अग्निगुण वाला विद्युत प्रकाश से युक्त' किया गया है। शुद्ध धातु से निर्मित; यह अर्थ तो सायण को भी अभिप्रेत है, किन्तु इसका अर्थ 'अग्नि गुणवाली विद्युत् से युक्त' कैसे हो सकता है? 'अभिद्यु' पद का अर्थ भी 'विद्युत प्रकाश से संयुक्त' कैसे किया जा सकता है? द्यु शब्द यद्यपि द्युति के अर्थ में प्रयुक्त होता है, किन्तु उसका अर्थ विद्युत कैसे हो सकता है? "जो इस

क्रियासु तारयोजनं दृश्यते । शर्य्यैरित्यस्य हननप्रेरणगुणयुक्तत्वं कथमर्थः, शृणातेर्हिंसार्थकत्वात् । अश्विनाविति द्यावापृथिव्योर्बोधकः । शब्दः द्युशब्देन द्युलोको बोध्यते न वैद्युताग्निः । तरुतारमित्यत्र तरुशब्दस्यार्थो वाच्यः । स्पृधां पराजयाय स्वकीयानां वीराणां विजयायेत्याद्यपि निर्मूलमेवाक्षरबाह्यत्वात् ।

वस्तुतस्त्वयमर्थः—हे अश्विनौ, पेदवे पेदु नाम्ने राज्ञे पुरुवारं बहुभिर्वरणीयं प्रार्थनीयं स्पृधां संग्रामे स्पर्धमानानां शत्रूणां तरुतारं तरणीयतारकं विजयकारकमित्यर्थः । 'तॄ प्लवनतरणयो'रित्यस्मात्तृचि 'ग्रसितः स्कभित स्थभित-' (   ) इत्यादौ निपातनाद् रूपसिद्धिः । श्वेतं श्वेतवर्णमिन्द्राल्लब्धमश्वं युवं युवां दुवस्यथः दत्तवन्तौ । त्वया तु सेवध्वमितिव्याख्यातम्, तच्च निर्मूलम् । कीदृशमश्वम् ? शर्य्यैर्योद्धृभिः शर्य्यन्त इति शर्या योद्धारः, तैः पृतनासु संग्रामेषु दुस्तरं तरीतुमशक्यम् अभिद्युम् अभिगतदीप्तिं दीप्तिमन्तं चर्कृत्यं सर्वकार्येषु मुहुर्मुहुः प्रयोज्यम्, इन्द्रमिव चर्षणीसहं शत्रुजनानामभिभवितारम् । चर्षणीसहं मनुष्यसेनायां कार्यसहनशीलम् इति त्वया व्याख्यातम्, तन्न युक्तम्, सेनाकार्यादिबोधकपदाभावात् । चर्षणीशब्दो जनार्थकः, तेन शत्रुजनोऽप्यर्थस्तु सम्भवत्येव ।

वैद्यकमूलविचारः

'सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु, दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥' (वा० सं० ६।२२) । यद्यपि पर्याप्तमायुर्वेदस्य मूलं वेदे विद्यते नास्त्यत्र विवादः, तथापि मन्त्रस्यास्य तथार्थवर्णनमशुद्धमेव । मन्त्रार्थस्तु—हे वरुण, सुमित्रिया आप ओषधयश्च साधु मित्रत्वेनावस्थिताः सन्तु । यः शत्रुरस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः, तस्मै उभयात्मकाय शत्रवे दुर्मित्रिया अमित्रत्वेनावस्थिताः सन्तु ।

इस तरह का 'तार' नामक यन्त्र है, उसको सिद्ध करके प्रीति से सेवन करो' (पृ० २३१) इस अर्थ में जिस क्रिया का उल्लेख किया गया है, वह मन्त्र में देखने को नहीं मिलती । 'जो सब क्रियाओं में बार बार चलाने के लिये योग्य होता है' (पृ० २३१) यह व्याख्या भी असंगत है । सभी क्रियाओं में तार को जोड़ने की बात का क्या तुक है ? 'शर्य' शब्द का अर्थ 'अनेक प्रकार की कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये विद्युत् की उत्पत्ति करके उसका ताडन करना चाहिये' यह अर्थ कैसे होगा ? शृणाति धातु का अर्थ हिंसा होता है । 'अश्विनौ' पद द्यावापृथिवी का बोधक है । द्युशब्द से द्युलोक का बोध होगा, विद्युन्मय अग्नि का नहीं । 'तरुतार' शब्द में तरु शब्द का अर्थ बनाना पड़ेगा । इसी तरह से 'स्पृधाम्' पद का 'लड़ाई करने वाले राजपुरुषों के लिये यह तार विद्या अत्यन्त हितकारी है' यह अर्थ भी सर्वथा निर्मूल है, मन्त्र अक्षरों से इसका कोई संबन्ध नहीं है ।

इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ यह है—हे अश्विनीकुमारों, पेदु नाम राजा को आप लोगों ने अनेक व्यक्तियों द्वारा वरणीय और युद्ध में शत्रुओं पर विजय दिलाने वाले, श्वेत वर्ण के, इन्द्र से प्राप्त घोड़े को दे दिया है । अपने 'दुवस्यथः' क्रियापद का अर्थ 'सेवन करो' किया है, जो कि निराधार है । वह अश्व कैसा है ? युद्ध में योद्धागण इसकी पकड़ से छूट नहीं सकते, यह अत्यन्त तेजस्वी है, सभी कार्यों में बार-बार इसको लगाया जा सकता है, इन्द्र के समान यह शत्रुओं को अभिभूत कर देने वाला है । आपने 'चर्षणीसहम्' का अर्थ 'मनुष्यों की सेना के युद्ध आदि अनेक कार्यों में सहायता करने वाला' किया है । यह सही नहीं माना जा सकता क्योंकि मन्त्र में सेना के कार्य युद्ध आदि का बोधक कोई पद नहीं है । चर्षणी शब्द का अर्थ मनुष्य होता है, अतः शत्रु पर विजय पाने की बात इसमें से किसी तरह निकल सकती ।

वैद्यक शास्त्र का मूल स्रोत

'सुमित्रिया न०' इस मन्त्र की व्याख्या करते समय दयानन्द ने कहा है कि इस तरह के मन्त्र वैद्यक विद्या के मूल के प्रकाश करने वाले हैं । इसमें कोई विवाद नहीं है कि वेद में आयुर्वेद के मूल स्रोत होने के पर्याप्त प्रमाण विद्यमान हैं, तो भी इस मन्त्र का अर्थ इस बात को शुद्ध करने के पक्ष में करना कथमपि संगत नहीं हो सकता । मन्त्र का सही अर्थ यह है—हे वरुण, हमारे लिये जल तथा औषधियाँ सदा मित्र की तरह हित करने वाली हों । जो शत्रु हमसे द्वेष रखता है तथा जिनसे हम द्वेष रखते हैं, ये दोनों ही प्रकार के शत्रु कभी सुखपूर्वक न रहें ।

पुनर्जन्मविषयो विचारः

'असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्। ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति ॥' (ऋ० १०।५९।६)। 'पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्। पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः ॥' (ऋ० सं० १०।५९।७)। यदत्र व्याख्यातम्—'असवः प्राणा नीयन्ते येन सोऽसुनीतिः परमेश्वरः, तत्सम्बुद्धौ हे असुनीते ईश्वर! मरणानन्तरं द्वितीयशरीरधारणे वयं सदा सुखिनो भवेम। पुनरस्मासु अर्थाद् यदा वयं पूर्वशरीरं त्यक्त्वा द्वितीयशरीरधारणं कुर्मः, तदा चक्षुः चक्षुरादीनि सर्वाणीन्द्रियाणि अस्मासु धेहि। पुनः प्राणमिति प्राणमन्तःकरणे च धेहि। एवं पुनर्जन्मसु नः भोगं भोगपदार्थान् ज्योक् निरन्तरमस्मासु धेहि, यतो वयं सर्वेषु जन्मसु उच्चरन्तं सूर्यं श्वासप्रश्वासात्मकं प्राणं प्रकाशमयं सूर्यलोकं च निरन्तरं पश्येम। अनुमते अनुमन्तः परमेश्वर नोऽस्मान् सर्वेषु जन्मसु मृडय। भवत्कृपया सर्वजन्मसु सुखमेव भवेदिति प्रार्थ्यते। पुनर्नो इति। हे भगवन्, नोऽस्मभ्यम्, असुं प्राणमन्नमयं बलं च पृथिवी पुनर्ददातु। तथा द्यौः देवी द्योतमाना सूर्यज्योती रसं ददातु, पुनरन्तरिक्षं तथान्तरिक्षं पुनर्जन्मनि असुं जीवनं ददातु, तथा सोम ओषधिसमूहजन्यो रसः पुनर्जन्मनि तन्वं शरीरं ददातु। पुनः पूषा हे परमेश्वर पुष्टिकर्ता भवान् यथा पुनर्जन्मनि धर्ममार्गं ददातु तथा स्वस्तिः भवत्कृपया नोऽस्मभ्यं सदैव भवति'। (पृ० २३३)। यद्यप्यर्थो नातीवासङ्गतस्तथापि कर्मवशाद् अवश्यं भाविनि जन्मनि चक्षुरादीन्यवश्यं भविष्यन्त्येव, कर्मप्रातिकूल्ये तद्विघटनमप्यवश्यं भावीति तत्प्रार्थनं निरर्थकमेव, तथापि प्रार्थनया सामर्थ्यविशेषप्राप्तिस्तत्र सम्भवत्येव।

'प्रतारीति दशर्चे चतस्रो निर्ऋत्यपनोदनार्थं जेपुश्चतुर्थ्यां सोमं चास्तुवन् मृत्योरपगमायोत्तराभ्यां दैवीमसुनीतिं सप्तम्यां लिङ्गोक्तदेवताः शिष्टाभिः पङ्क्तिमहापङ्क्तिपङ्क्त्युत्तराभिर्द्यावापृथिव्यौ समिन्द्रेतीन्द्रं चार्धर्चेन' इत्यनुक्रमणीरीत्या द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां मन्त्रद्रष्टारस्त्रयोबन्ध्वादयो गौपायना असुनीतिनाम्नीं देवीमस्तुवन्। तयोर्द्वितीयोऽयं मन्त्रः—तत एवमर्थो

पुनर्जन्मसंबन्धी विचार

इस प्रकरण के प्रारम्भ में 'असुनीते०' इत्यादि मन्त्रों को उद्धृत कर कहा गया है कि इस तरह के मन्त्रों में पुनर्जन्म पर प्रकाश डाला गया है। इन दोनों मन्त्रों का अर्थ दयानन्द ने इस तरह से किया है—'हे सुखदायक परमेश्वर, आप कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियां स्थापित कीजिये तथा प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि से युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिये। हे जगदीश्वर, इस संसार अर्थात् इस जन्म और परजन्म में हम लोग उत्तम-उत्तम भोगों को प्राप्त हों, तथा हे भगवन्, आपकी कृपा से सूर्यलोक, प्राण और आपको विज्ञान तथा प्रेम से सदा देखते रहें। हे अनुमते = सबको मानदेने वाले, सब जन्मों में हम लोगों को सुखी रखिये, जिससे हम लोगों का स्वस्ति अर्थात् कल्याण हो। हे सर्वशक्तिमान्, आपके अनुग्रह से हमारे लिये बार-बार पृथिवी प्राण को, प्रकाश चक्षु को और अन्तरिक्ष स्थान आदि अवकाशों को देते रहें। पुनर्जन्म में सोम अर्थात् ओषधियों का रस हमको उत्तम शरीर देने में अनुकूल रहे। पुष्टि करने वाला परमेश्वर कृपा करके सब जन्मों में हमको सब दुःख निवारण करने वाला पथ्यरूप स्वस्ति को देवे' (पृ० २३३-२३४) यद्यपि यह अर्थ अधिक असंगत नहीं है, किन्तु कर्मों के कारण जन्म अवश्य होगा और जन्म होने पर चक्षु प्रभृति इन्द्रियां भी होंगी ही। कर्मों के प्रतिकूल होने पर उन इन्द्रियों की विगुणता रोकी नहीं जा सकती। ऐसी परिस्थिति में उसके लिये प्रार्थना निरर्थक है। तो भी प्रार्थना करने पर उनमें सामर्थ्यविशेष की प्राप्ति हो सकती।

'प्रतारि' इत्यादि दस ऋचाओं वाले सूक्त में चार मन्त्रों का विनियोग निर्ऋति (कृत्या) के परिहार के लिये किया गया है। इनमें से चतुर्थ ऋचा में सोम की भी स्तुति की गई है। आगे की दो ऋचाएं मृत्यु के परिहार के लिये देवी असुनीति की स्तुति में विनियुक्त हैं। सातवें मन्त्र के लिंगोक्त देवता और अवशिष्ट तीन पंक्ति, महापंक्ति और पंक्त्युत्तर छन्दों वाले मन्त्रों से द्यावापृथिवी की और 'समिन्द्र' इत्यादि आधी ऋचा से इन्द्र की स्तुति की गई है। यह विनियोग सर्वानुक्रमणी के अनुसार है।

युक्तः—हे असुनीते, प्राणदायिनि देवि ! अस्मासु अस्मदीये सुबन्धौ पुनः चक्षुः प्रकाशकं नयनं ईक्षणसामर्थ्यं प्राणं पुनरस्मासु धेहि स्थापय। वयं च ज्योक् चिरं उच्चरन्तं सूर्यं पश्येम। हे अनुमते देवि, स्वस्ति अविनाशं यथा स्यात्तथा नः अस्मान् मृडय सुखय। अत्र पुनर्जन्मलिङ्गं दृश्यते, न तत्प्रतिपादनम्। द्वितीयेन तु मन्त्रेण पृथिव्याद्या देवताः स्तूयन्ते। पृथिवी देवी नः अस्मभ्यं असुं प्राणं ददातु पुनर्द्यौर्देवता असुं ददातु। तथा अन्तरिक्षम् अन्तरिक्षदेवता असुं ददातु। तथा सोमः नः तन्वं शरीरं पुनर्ददातु। तथा पूषा पोषाभिमानिनी देवता पथ्यां 'पन्था अन्तरिक्षम्' (नि० ११।४५) तत्र भवां वाचं वागात्मकः शब्दो ह्याकाशादुत्पद्यते। तां पुनर्ददातु। किञ्च, यास्वस्तिर्वेदे लोके चोच्यते तां पुनर्ददातु। यद्वा पूषा पोषं प्रयच्छतु। या स्वस्तिर्वाङ्नाम्नी देव्यस्ति सा पथ्यां वाचं प्रयच्छतु। 'वाग्वै पथ्या स्वस्तिः' (श० ब्रा० ३।२।३।८) इति श्रुतेः। मृत्युनिवारणार्थंदुरदृष्टापहृतप्रायचक्षुःप्राणादि पुनः प्राप्त्यर्थेयं स्तुतिर्ज्ञातव्या।

'पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्। पुनश्चक्षुः पुनःश्रोत्रं म आगन् वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥' (वा० सं० ४।१५)। 'पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च। पुनरग्नयो धिष्ण्या यास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥' (अथर्व० ७।६।६७)। 'आयो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि। धास्युर्योनिं प्रथम आविवेश यो वाचमनुदितां चिकेत ॥' (अथर्व० ५।१।२)।

एते मन्त्रास्तेनैवं व्याख्याताः—"हे जगदीश्वर, भवदनुग्रहेण विद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्तं मन आयुश्च मे मह्यम् आगन् पुनः पुनर्जन्मसु प्राप्नुयात्। पुनः प्राणः पुनर्जन्मनि प्राणशरीरधारको वायुः। पुनरात्मा पुनर्जन्मनि मदात्मा विचारः शुद्धः सन् प्राप्नुयात्। पुनश्चक्षुः श्रोत्रं च मह्यं प्राप्नुयात्। वैश्वानरः सकलस्य जगतो नयनकर्ता अदब्धः दम्भादिदोषरहितः, तनूपाः

तदनुसार दो मन्त्रों से त्रयोवन्धु प्रभृति गोपायन ऋषिगण असुनीति नाम की देवी की स्तुति करते हैं। उनमें से 'असुनीते' इत्यादि मन्त्र दूसरा है। अतः इस मन्त्र का सही अर्थ यह होगा—हे प्राणप्रदात्री असुनीति देवि, हमारे बन्धु-बान्धवो में और हमारे में भी आप पुनः रूप के प्रकाशक चक्षुरिन्द्रिय की, उसमें देखने के सामर्थ्य की, प्राण की स्थापना कीजिये। जिससे कि हम सब चिरकाल तक सूर्य का दर्शन कर सकें। हे अनुमते देवि, जैसे हमारा कल्याण हो, कोई हानि न हो, उस तरह से आप हम लोगों को सुख दीजिये। इस मन्त्र से पुनर्जन्म की पहचान ही हो सकती है, उसका प्रतिपादन यहाँ नहीं किया गया है। द्वितीय मन्त्र से पृथिवी प्रभृति देवताओं की स्तुति की गई है। पृथिवी देवी हमें प्राणों का दान करें। फिर द्यौ(आकाश) देवता भी हमें प्राण शक्ति दें। साथ ही अन्तरिक्ष देवता भी हमें प्राण दान करें। सोम हमारे लिये शरीर देवें तथा पुष्टि का अभिमानी पूषन् देवता आकाश में उत्पन्न वागात्मक शब्द को, जो कि आकाश से उत्पन्न होता है, देवें। वेद और लोक में जो स्वस्ति अर्थात् कल्याणकारक बातें कही गई हैं, उनको भी वह देवे। अथवा पूषन् देवता हमें पुष्टि प्रदान करें। जो स्वस्तिनाम की वाणी देवता है, वह हमें हितकारक वाणी देवें। शतपथ श्रुति इसमें प्रमाण है। मृत्यु की निवृत्ति के लिये तथा दुर्भाग्य से नष्ट प्राय हुए चक्षु, प्राण आदि की पुनः प्राप्ति के लिये यह प्रार्थना की गई है।

इसके आगे दयानन्द ने तीन और मन्त्र उद्धृत किये हैं और उनकी व्याख्या इस तरह से की है—'हे सर्वज्ञ जगदीश्वर, जब जब हम जन्म लेवें, तब तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों। जो विश्व में विराजमान ईश्वर है, वह सब जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करे। सब पापों के नाश करने वाले आप हमको बुरे कामों और सब दुःखों से पुनर्जन्म में अलग रखें'।

हे जगदीश्वर, आपकी कृपा से पुनर्जन्म में मन आदि ग्यारह इन्द्रियां मुझे प्राप्त हों। अर्थात् सर्वदा मनुष्य देह ही प्राप्त होता रहे। प्राणों को धारण करने वाला सामर्थ्य मुझे प्राप्त होता रहे, जिससे दूसरे जन्म में भी हम लोग सौ वर्ष या अच्छे आचरण से अधिक भी जीवें। हमें सत्य विद्या आदि श्रेष्ठ धन भी पुनर्जन्म में प्राप्त होते रहे। सदा के लिये ब्रह्म जो वेद है, उसका व्याख्यान सहित विज्ञान तथा आप में ही हमारी निष्ठा बनी रहे। तथा सब जगत् के उपकार के अर्थ हम लोग अग्निहोत्र आदि यज्ञ को करते रहें। हे जगदीश्वर, हम लोग जैसे पूर्वजन्मों में शुभ गुण धारण करनेवाले बुद्धि से उत्तम शरीर और इन्द्रिय सहित थे, वैसे ही इस

शरीररक्षकः, अग्निर्विज्ञानानन्दघनः परमेश्वरः, पातु दुरिताद् जन्मजन्मान्तरे दुष्टकर्मभ्योऽस्मान् पृथक्कृत्य पातु रक्षतु । येन वयं निष्पापा भूत्वा सर्वेषु जन्मसु सुखिनो भवेम ।

पुनर्मैत्विति । हे भगवन्, पुनर्जन्मनि इन्द्रियं सर्वेन्द्रियाणि आत्मा प्राणधारको बलाख्यः विद्यादिश्रेष्ठधनं ब्राह्मणं च ब्रह्मनिष्ठत्वं पुनरग्नयः आहवनीयाग्न्याधानकरणं मैतु पुनः पुनर्जन्मसु एते प्राप्नुवन्तु । धिष्ण्याः = हे जगदीश्वर, यथा येन प्रकारेण पूर्वपूर्वजन्मसु धिष्ण्या धारणावत्या धिया सोत्तमशरीरेन्द्रिया आस्थाय तथैवेहास्मिन् संसारे पुनर्जन्मनि स्वस्वकार्यकरणे समर्था भवेम, येन केनापि कारणेन न कदाचिद्विकला भवेम ।

आ यो इति, यो जीवः प्रथमः पूर्वजन्मनि धर्माणि यादृशानि धर्मकार्याणि आससाद कृतवानस्ति, स ततो धर्मकरणाद् बहून्युत्तमानि शरीराणि पुनर्जन्मानि कृणुषे धारयसि । यश्च अधर्मकृत्यानि चकार स नैव पुनर्मनुष्यशरीराणि प्राप्नोति, किन्तु पश्वादीनि शरीराणि धारयित्वा दुःखानि भुङ्क्ते, इदमेव मन्त्रार्धेनेश्वरो ज्ञापयति । धास्यतीति धास्युरर्थात् पूर्वजन्मकृतपापपुण्यभोगशीलो जीवः प्रथमं पूर्वदेहं त्यक्त्वा वायुजलौषधिपदार्थां आविवेश प्रविश्य पुनः पूर्वकृतपाप-पुण्यानुसारिणीं योनिमाविवेश प्रविशति । यो जीवोऽनुदितामीश्वरोक्तां देववाणीमासमन्ताद् विदित्वा धर्ममाचरति, स पूर्ववद्विद्वच्छरीरं धृत्वा सुखमेव भुङ्क्ते तद्विपरीतस्तिर्यग्देहं धृत्वा दुःखभागी भवति' (पृ० २३४-२३५) ।

वस्तुतस्तु कर्मानुसारेण जन्मानि प्राप्नुवन्ति, जन्मसु तन्नान्तरीयकाणीन्द्रियादीन्युपलभ्यन्त एव, अतस्तत्प्राप्ति-प्रार्थना तु निरर्थकप्राया । अत एव पुनर्जन्मसाधनायैतेषां मन्त्राणां प्रयोगोऽपि न युक्तः । शास्त्रप्रामाण्यवादिनामामुष्मिक-फलकर्मणां विधानादेव पुनर्जन्मानायाससिद्धमेव ।

वैदिकानां रीत्या तु—'अग्ने त्वं सुजागृहि वयं सुमन्दिषीमहि । रक्षाणो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥' (वा० सं० ४।१४) इति मन्त्रेण यजमानस्य स्वापो विहितः । 'अग्ने त्वमित्युक्त्वा स्वपित्यधः प्राग्दक्षिणतः इति' (का० श्रौ० सू० ७।४।३९) इत्यार्षस्मरणात् । मन्त्रार्थस्तु—हे अग्ने, त्वं सुजागृहि वयं सुमन्दिषीमहि स्वप्स्यामः । मन्दतेः

संसार में पुनर्जन्म में भी बुद्धि के साथ मनुष्य देह के कृत्य करने में समर्थ हों । ये सब शुद्ध बुद्धि के साथ मुझे यथावत् प्राप्त हों । जिनसे कि हम लोग इस संसार में मनुष्य जन्म को धारण करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सदा सिद्ध करें और इस सामग्री से आपकी भक्ति को प्रेम से सदा किया करें, जिस करके किसी जन्म में हमको कभी दुःख प्राप्त न हो ।

जो मनुष्य पूर्व जन्म में धर्माचरण करता है, उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है । जो पूर्वजन्म में किये हुए पाप-पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभाव युक्त जीवात्मा है, वह पूर्व शरीर को छोड़कर वायु के साथ रहता है, पुनः जल, ओषधि या प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य में प्रवेश करता है तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होकर पुनर्जन्म लेता है । जो जीव अनुदित वाणी, अर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदों में सत्य भाषण करने की आज्ञा दी है, वैसा ही यथावत् जानकर बोलता है और धर्म में ही यथावत् स्थिर रता है, वह मनुष्य योनि में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है और जो अधर्माचरण करता है, वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट, पतंग, पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है' (पृ० २३५-२३६)

वास्तव में प्राणी अपने कर्मों के अनुसार जन्म पाते हैं । जब पुनर्जन्म होगा, तो उसके साथ अनिवार्य रूप से इन्द्रिय आदि की प्राप्ति होगी ही, अतः इनकी प्राप्ति के लिये प्रार्थना निरर्थक सी है । इसीलिये पुनर्जन्म की सिद्धि के लिये इन मन्त्रों की सहायता लेना भी ठीक नहीं है । शास्त्र को प्रमाण वालों के मत से पारलौकिक फल के लिये कर्मों का विधान होने मात्र से अनायास पुनर्जन्म सिद्ध हो जाता है ।

वैदिकों की पद्धति से 'अग्ने त्वं०' इस मन्त्र से यजमान के शयन का विधान किया गया है । कात्यायन श्रौतसूत्र के वचन से यह स्पष्ट है । इस मन्त्र का अर्थ यह है कि हे अग्ने, अब जागते रहिये, अब हम लोग सोवेंगे । मन्दति धातु का प्रयोग शयन अर्थ में किया जाता है । आप हमारी सावधानी से रक्षा कीजिये । हमको आप पुनः जगाने के लिये भी सावधान रहिये । तैत्तिरीयश्रुति

स्वापार्थत्वात्, नोऽस्मान् अप्रयुच्छन् सावधानतया रक्ष। पुनः प्रवुधे प्रबोधाय कृधि प्रबोधनं कुर्वित्यर्थः। स्वपतोऽग्नेः प्रार्थनमुपद्रवकारिणां रक्षसां नाशाय, 'अग्निमेवाधिपं कृत्वा स्वपिति रक्षसामपहत्यै' इति तैत्तिरीयश्रुतेः। 'पुनर्मनः' (वा० सं० ४।१५) इति मन्त्रं तु विबुद्धं वाचयत्यध्वर्युः। 'विवुद्धमस्वप्स्यन्तं पुनर्मन इति वाचयति' (का० श्रौ० सू० ७।४।४०) इति कात्यायनवचनात्। तदर्थस्तु—मे मम यजमानस्य मनः पुनरागन् सुप्तिकाले विलीय पुनरिदानीं शरीरमागन् आगतम्। नात्र लकारान्तरपरिणामोऽपेक्षितः, गमेर्लङि शपि लुप्ते 'हल्ङ्याभ्यः' (पा० सू० ६।१।६८) इति प्रत्ययलोपे मकारस्य नकारे आगन्निति रूपसिद्धिः। किञ्च, स्वापकाले मदीयमायुर्नष्टप्रायं भूत्वा पुनरागन् इदानीं पुनरुत्पन्नमिवासीत्। तथा मे प्राणो वायुः पुनरागत् तथा मे आत्मा जीवः पुनरागत् तथा मे चक्षुःश्रोत्रं पुनरागन्, 'सर्वे ह वा एते स्वपतोऽपक्रामन्ति' (श० ३।२।२।२३) इति श्रुतेः। स्वापकाले मनआदीनामपक्रमो भवति, तेन तेषां यथास्थानमागमनं प्रार्थ्यते। अकस्मात्प्रबोधने व्यत्ययेनेन्द्रियाणां प्रवेशेनेन्द्रियघाताद्यनर्थसम्भवात्। एवं समागतेषु तेषु अयमग्निरवघात् वदितुमयोग्यात् निन्दितात् दुरितात् पापात् नोऽस्मान् पातु। यद्वा दुर्यशसो दुरितात् पापाच्च पातु, कीदृशोऽग्निः, वैश्वानरः विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितः सर्वपुरुषहितकरः, अदब्धः केनाप्यहिंसितः, तनूं पातीति तनूपाः, नात्र पुनर्जन्मप्रसङ्गः।

पुनर्मैत्विन्द्रियमित्यपि मन्त्रो न पुनर्जन्मबोधकः। इन्द्रियं इन्द्रेण दत्तं वीर्यं 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्ग.....' इति पाणिनिसूत्रम्। इन्द्रियमिन्द्रियाणि चक्षुरादीनिमा मां पुनरेतु पुनरागच्छन्तु, आत्मा देहाभिमानी पुनरेतु द्रविणं प्रतिग्राह्यं धनं मामेतु तथा ब्राह्मणं मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदश्च पुनरेतुः तथा होत्रादिधिष्ण्येषु विहिता अग्नय इहैवास्मिन्नेव विहितप्रदेशे यथास्थाम यथास्थानं पुनः कल्पयन्तां समर्थाः प्रवृद्धा भवन्तु।

यत्तु दयानन्देन ब्राह्मणपदेन ब्रह्मनिष्ठत्वमुक्तम्, तत्तु निर्मूलत्वादपास्तम्। इतः पूर्वस्मिन्नपि मन्त्रे 'यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोपलेषु यदश्नवन् पशव उद्यमानं तद्ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु' ब्राह्मणं ब्राह्मणोपलक्षितो मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः, मेघे वाताधिक्ये वृक्षच्छायायां हरितसस्यसन्निधौ पशोश्च समीपे नाध्येतव्यम्, तथाध्ययने सम्यक्

से यह स्पष्ट है कि सोते समय अग्नि से प्रार्थना इसलिये की जाती है कि उस समय वे उपद्रवी राक्षसों का नाश कर दें। 'पुनर्मनः' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण अध्वर्यु यजमान के जग जाने पर करता है। यह कार्य कात्यायन श्रौतसूत्र में बताई गई पद्धति के अनुसार किया जाता है। इसका अर्थ यह है—मेरे यजमान का मन पुनः आगया है, जो कि सोते समय विलीन हो गया था, अब जागने पर वह पुनः इसके शरीर में आगया है। इसी तरह से सो जाने पर आयु, प्राणवायु, आत्मा (जीव), चक्षु, श्रोत्र ये सब जो नष्ट हो जाने के समान हो गये थे वे सब पुनः सचेत हो गये हैं। शतपथश्रुति में बताया गया है कि सो जाने पर ये सब शरीर में से निकल जाते हैं। जब स्वापकाल में मन आदि का निष्क्रमण हो जाता है, तो जागने पर ये पुनः अपनी-अपनी जगह चले आवे, इसके लिये प्रार्थना की जाती है। एकाएक जाग उठने पर यदि इन्द्रियों के आने में गड़बड़ी हो जाय, तो उससे इन्द्रियों में विकृति आने का भय रहता है। इस तरह से इन्द्रिय आदि के आ जाने पर यह अग्नि अवद्य अर्थात् निन्दित पाप कर्मों से हमारी रक्षा करे। अथवा अपयश से और पाप से हमारी रक्षा करे। यह अग्नि कैसा है? यह सभी मनुष्यों का कल्याण करने वाला है। इसको कोई हानि नहीं पहुंचा सकता और यह सबके शरीरों का रक्षक है। इस तरह से इस मन्त्र में पुनर्जन्म का कोई प्रसंग नहीं है।

'पुनर्मैत्विन्द्रिय०' इत्यादि मन्त्र भी पुनर्जन्म का प्रतिपादक नहीं है। इन्द्र द्वारा प्रदान की गई शक्ति को इन्द्रिय कहते हैं। 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्ग०' इत्यादि पाणिनि सूत्र से इसकी सिद्धि होती है। चक्षु प्रभृति इन्द्रियां मुझे पुनः प्राप्त हों, देह का अभिमानी पुनः आवे, धन भी मुझे पुनः प्राप्त हो और मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद भी मुझे पुनः प्राप्त हो। तथा अग्निहोत्री के घर में स्थापित अग्नियां अपने आधान स्थान में ही पुनः प्रज्वलित हो उठें।

दयानन्द ने ब्राह्मण पद का अर्थ ब्रह्मनिष्ठ किया है, यह सर्वथा निराधार है। इससे पहले आये 'यद्यन्तरिक्षे०' इत्यादि मन्त्र में भी ब्राह्मण पद का अर्थ मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद ही किया जाता है। आकाश के मेघाच्छन्न हो जाने पर, अंधड चलने पर, वृक्ष की छाया में, हरी फसल के पास और पशु के समीप वेद का अध्ययन नहीं करना चाहिये। ऐसे समय में अध्ययन करने पर भलीभांति

पठितोऽपि वेदो निर्वीर्यो भवति । तदुक्तमापस्तम्बेन स्वाध्यायधर्मप्रकरणे 'नाम्ने न छायायां न पर्य्यावृत आदित्ये न हरितयवान् प्रेक्षमाणो न ग्राम्यस्य पशोरन्ते नारण्यस्य नापामन्ते' (आ० श्रौ० सू० १५।२१।८) अनेन मन्त्रेण तादृशकालेषु स्थलेषु चाधीतस्यापि वेदस्य वीर्यवत्त्वं प्रार्थ्यते । अन्तरिक्षे मेघाच्छन्न इति विशेषणसाहित्यं ज्ञेयम् । तादृशेऽन्तरिक्षे यदि ब्राह्मणमास । कर्मविधायकं ब्राह्मणमित्युच्यते, एतन्मन्त्रस्याप्युपलक्षणम् । मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदो यदि तादृशेऽन्तरिक्षे अधीत आसीत् 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यापस्तम्बवचनात् । वाते प्रभूते वायौ सति ब्राह्मणमधीतं यदि वृक्षेषु वृक्षच्छायायां उलपेषु सस्यमात्रसन्निधाने ब्राह्मणमधीतं तथा यच्चोद्यमानं ब्राह्मणं ग्राम्या आरण्याः पशवो अश्रवन् अशृम्वन् तत्तादृशेषु निमित्तेषु अधीतं ब्राह्मणमस्मानुपैतु । निषिद्धकालस्थलेष्वध्ययनेन अस्मत्तो निष्क्रान्तं ब्राह्मणं पुनर्वीर्यवत्त्वेन फलप्रदं सत् आगच्छतु । 'वद व्यक्तायां वाचि' इति धातोर्निष्पन्न उद्यमानशब्दो ब्राह्मणमित्यनेन संसृष्टं ग्रन्थरूपमेव ब्राह्मणं बोधयति । 'यद्यन्तरिक्षे''''पुनर्मैत्विन्द्रियम्, शिवा नः' (कौ० सू० १।९) इति शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ विनियोग उक्तः । एवं 'पुनर्मैत्विन्द्रियमिति प्रतिमन्त्रयते' (कौ० सू० ८।७) इन्द्रियभावमर्शने विनियोगः । अग्निष्टोमतृतीयसवने हौत्रादिधिष्ण्येषु विहृतानग्नीन् पुनर्मैत्विन्द्रियमिति ऋचा ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत' (वैतानसूत्र ३।८) इत्यादिभिः कैश्चिन्निमित्तैर्दुरदृष्टोपघाते जाते पुनः संस्कारार्थमुक्तमन्त्रैरभिमन्त्रणादिकं क्रियते ।

'आयो धर्माणि' इति मन्त्रोऽपि न त्वदभिप्रायपोषकः, किन्तु जन्मकर्मणां कार्यकारणभावमेव द्योतयति । यः प्राणभृज्जीवः प्रथमः पूर्वजन्मसु धर्माणि धर्मरूपाणि ससाद कर्मणामनुष्ठानेन धर्मरूपमदृष्टं प्राप्तवान्, स तत एव पुरूणि बहूनि वपूंषि कृणुषे कुरुते । धर्माणीत्यधर्मस्याप्युपलक्षणम् । धर्माधर्मप्रभावेणैव जीवात्मा नानाविधानि वपूंषि शरीराणि तदनुगुणान्यायूंषि भोग्यानि च प्राप्नोति । योऽनुदितां वाचं चिकेत जानाति, यो वेदलक्षणां वाचमनुदितामविस्पष्टां जानाति ब्रह्मतात्पर्यवतीं वाचं न वेद स एवं योनिं प्राप्नोति । यस्तु महातात्पर्यवतीं वाचं जानाति स तु ब्रह्मज्ञानेनामृतत्वमेवाश्नुते । यश्च

अभ्यस्त वेद भी निस्तेज हो जाता है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के स्वाध्याय प्रकरण में भी यही बात कही गई है। इस मन्त्र में ऐसे समय में किये गये वेदाध्ययन को भी वीर्यवान् बनाने की प्रार्थना की गई है। अन्तरिक्ष पद से मेघाच्छन्न अन्तरिक्ष का ग्रहण किया जाता है। इस तरह के अन्तरिक्ष के हो जाने पर कर्मविधायक ब्राह्मणभाग के अध्ययन का निषेध किया जाता है। ब्राह्मण पद मन्त्र भाग का भी द्योतक माना जाता है । आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का वचन इसमें प्रमाण है। इसी तरह से जोरों की हवा चलने पर, वृक्ष की छाया में, उपल अर्थात् सस्य मात्र के संनिधि में अथवा ग्राम्य तथा आरण्य पशुओं के पास यदि मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद का अध्ययन किया जाता है, तो इन निषिद्ध काल और देश में किया गया यह अध्ययन निस्तेज होकर हमारी स्मृति शक्ति में नहीं रह पाता। ऐसा निस्तेज अध्ययन पुनः वीर्यवान् होकर हमें प्राप्त हो, फलप्रद हो। कात्यायन श्रौतसूत्र में इन मन्त्रों का विनियोग सर्वविध शान्ति के लिये जल को अभिमन्त्रित करने में बताया गया है। इसी तरह से कात्यायन श्रौतसूत्र और वैदान्तसूत्र के आधार पर यह मालूम होता है कि इन मन्त्रों का विनियोग उस समय किया जाता है, जबकि कुछ दुरदृष्ट निमित्तों के कारण इन्द्रिय आदि की हानि की आशंका होने पर उस आशंका की निवृत्ति के लिये अथवा हानि हो जाने पर उस हानि के परिहार के लिये इन मन्त्रों में अभिमन्त्रित कर जल का उपयोग किया जाय।

'आपो कर्माणि०' यह मन्त्र भी आपके अभिप्राय को पुष्ट नहीं करता, किन्तु जन्म और कर्म के कार्यकारणभाव को ही बताता है। जो प्राणधारी जीव पूर्वजन्म में पुण्य कार्यों को करके धर्म (अदृष्ट) का संचय करता है, वह व्यक्ति उन्हीं के कारण उत्कृष्ट शरीरों को प्राप्त करता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति पापकर्मों को करता है, निष्कृष्ट शरीर प्राप्त होते हैं। धर्म और अधर्म के कारण ही जीवात्मा भाँति-भाँति के शरीरों को और उनके अनुरूप आयु और भोगों को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति वेद वाणी को स्पष्ट नहीं समझ पाता कि इसका तात्पर्य परब्रह्म तत्त्व के स्पष्ट प्रतिपादन में है, वही व्यक्ति नाना प्रकार की योनियों को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति इस वेद वाणी का परम तात्पर्य, वास्तविक अभिप्राय ब्रह्मतत्त्व के प्रतिपादन में है, इस बात को ठीक तरह से हृदयंगम कर लेता है, वह ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने से अमृतत्व की अमरता को, ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है। सब शरीरधारी प्राणियों में प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ

प्रथमः शरीरिषु मुख्यो जीवः, धास्युरन्नादिभोगमिच्छुः स योनिमाविवेश, सर्वत्रैव हि रागादिमानेव योनिं प्राप्नोति। विरक्तस्तु तत्त्वज्ञानादिद्वारा मुक्तो भवति।

'द्वे सृती अश्रृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥' (वा० सं० १९।४७) 'मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः। नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥ आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः। मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥ अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः।' (नि० १३।१९) एतेषां वचनानां देवयानपितृयानवर्णनेन वैराग्यवर्णन एव तात्पर्यम्। यथा कथञ्चित्तु सर्वेषामेव मन्त्राणां देहातिरिक्तात्मप्रतिपादनमर्थः। द्वे सृती इत्यस्यायमर्थः—मर्त्यानां मरणधर्मिणां द्वे सृती द्वौ मार्गौ अश्रृणवं श्रुतितः श्रुतवानस्मि 'स एष देवयानो वा पितृयाणो वा पन्थाः' इति श्रुतेः। के ते द्वे सृती, देवानां मार्ग एकः उतापि पितॄणां चान्यः, मातरं पितरं चान्तरा भूलोकद्युलोकयोर्मध्ये 'असौ वै पितेयं माता' (श० १२।८।२१) इति श्रुतेः। तत् एजत् कम्पमानं क्रियावत् विश्वं सर्वमिदं विश्वं ताभ्यां सृतिभ्यां समेति सङ्गच्छते। ताभ्यां सृतिभ्यां सुहुतमस्तु इत्यर्थः।

यत्तुः—'एकः पितॄणां ज्ञानिनां देवानां विदुषां च द्वितीयो मर्त्यानां विद्याविज्ञानरहितानां तयोरेकः पितृयानो द्वितीयो देवयानश्च' इति, तत्तु निर्मूलमेव, ज्ञानिनां विदुषां च बोधे तयोश्चैकमार्गत्वे देवपितृशब्दाभ्यां देवयानपितृयानभेदेन मार्गद्वयवर्णनासङ्गत्यापत्तेः। श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धदेवपितृपदार्थौ परित्यज्य ज्ञानिविद्वदर्थकल्पने मानाभावात्। ज्ञानिविदुषोरर्थैक्याच्चैकत्रैव पर्यायवाचकपदप्रयोगे हेत्वभावाच्च, देवताधिकरणविरोधश्च।

यदुक्तम्—'यत्र जीवो मातापितृभ्यां देहं धृत्वा पुण्यपापफले सुखदुःखे पुनःपुनर्भुङ्क्ते सा पितृयानाख्या सृतिः। यत्र मोक्षाख्यं पदं लब्ध्वा विमुच्यते सा द्वितीया' इति, तदपि तुच्छम्, उक्तेऽर्थे प्रमाणानुपलब्धेः। ताभ्यामितिपदस्य श्रुताभ्या-

मनुष्य यदि अन्न प्रभृति जागतिक भोगों को चाहता है, तो वह अवश्य अनेक योनियों को प्राप्त करेगा, क्योंकि यह बात निश्चित है कि राग-द्वेष प्रभृति दोषों से घिरा व्यक्ति ही आवागमन के चक्कर में पड़ता है। जो व्यक्ति विरक्त है, वह तो तत्त्वज्ञान की सहायता से मुक्त हो जाता है।

'द्वे सृती०' इत्यादि वचनों का भी देवयान और पितृयान के वर्णन के द्वारा वैराग्य के उत्पादन में ही तात्पर्य है। जिस किसी तरह से तो सभी मन्त्रों का अर्थ देह से भिन्न आत्मा के प्रतिपादन में किया जा सकता है। इनमें से 'द्वे सृती०' इत्यादि मन्त्र का अर्थ यह है—मरणधर्मा मनुष्यों की दो तरह की गतियाँ हमने सुनी हैं, जिनको कि श्रुतियों में देवयान और पितृयान के नाम से जाना जाता है। उसी बात को यहाँ भी बताया गया है कि उनमें से एक देवताओं का मार्ग है और दूसरा पितरों का। ये दोनों मार्ग माता और पिता अर्थात् भूलोक और द्युलोक के बीच में है। श्रुति में बताया गया है कि द्युलोक को पिता और इस पृथ्वीलोक को माता कहा जाता है। यह सारा गतिशील संसार उन्हीं दो मार्गों पर चलता रहता है। इन दोनों मार्गों के प्रति यह हमारी आहुति शुभ फल देने वाली हो।

'एक पितृ अर्थात् ज्ञानियों, देवों अर्थात् विद्वानों का, दूसरा विद्याविज्ञान रहित मनुष्यों का, उनमें एक पितृयान है, दूसरा देवयान' (पृ० २३७-२३८) यह व्याख्या तो निर्मूल है, असंगत है, क्योंकि पितृ शब्द से ज्ञानी और देव शब्द से विद्वान् का बोध होने पर ये दोनों तो एक ही हुए, तब इन्हीं के नाम पर दो भिन्न मार्ग कैसे माने जा सकते हैं। श्रुति और स्मृति में प्रसिद्ध देव और पितृ शब्दों के अर्थों को छोड़कर उनके ज्ञानी और विद्वान् इन नये अर्थों की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है। साथ ही ज्ञानी और विद्वान् तो पर्यायवाची शब्द हैं, इनका अर्थ एक ही हो सकता है, तब एक ही वस्तु के लिये पर्यायवाची अलग-अलग शब्दों का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा। बिना कारण के ऐसा होता नहीं। साथ ही यहाँ देवताधिकरण में प्रतिपादित सिद्धान्त का विरोध भी है।

'जिसमें माता-पिता के संयोग से देह को धारण करके पाप-पुण्य और सुख-दुःख को पुनः पुनः भोगता है, अर्थात् पूर्वापर जन्मों को धारण करता है, वह पितृयान कहलाता है, तथा जिसमें मोक्ष पद को प्राप्त करके जन्ममरण रूप संसार से मुक्त

मित्येवार्थः। न त्वत्कपोलकल्पितोऽर्थः। श्रुतिश्च मन्त्रव्याख्याने उक्तैव। 'मातरं पितरं च प्रविश्य' इति व्याख्यातं, तदप्यशुद्धम्, 'प्रविश्य' पदस्य मूलेऽभावात्। अत एव पूर्वोक्तव्याख्यानुसारेण पितरं मातरं चान्तरा द्युलोकभूलोकयोर्मध्ये इत्येवार्थः। अन्तराशब्दस्य च व्याख्यानं दयानन्दीयभाष्ये नास्तीत्यपि न्यूनतैव।

मृतश्चाहमित्यपि वैराग्यार्थमेव। गर्भस्थजीवस्य जन्मान्तरीयानुभववर्णनं स्पष्टमेव। 'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः' (यो० सू० २।९), 'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः' (गो० सू० १।१।१९) इत्यादिभिरपि मरणभयदर्शनेन मरणसंस्काराधानादनेकदेहसम्बन्धेन जीवस्य देहादिव्यतिरिक्तत्वसाधन एव तात्पर्यम्। अन्यत्तु न विरुद्धम्।

विवाहविषयो विचारः

'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगोऽर्य्यमा सविता पुरन्धिर्योषा मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥' (ऋ० सं० १०।८५।३६) मन्त्रार्थस्तु—हे वधु, ते तव हस्तं गृभ्णामि गृह्णामि सौभगत्वाय सौभाग्याय। मया पत्या त्वं जरदष्टिः प्राप्तवार्धक्या असः भवसि। भगः, अर्यमा, सविता, पुरन्धिः, पूषा एते देवास्त्वा त्वां मह्यं गार्हपत्याय गृहपतित्वाय अदुः दत्तवन्तः। सन्तानोत्पत्त्यादिप्रयोजनसिद्धय इति तु नाक्षरार्थः। भगार्यमादयस्तु देवविशेषा एव, तानपलप्य सवित्रादिशब्दानां परमेश्वरपरत्वव्यवस्थापनमपि शाब्दन्यायोल्लङ्घनमेव। देवा विद्वांस इत्यप्यपव्याख्यानमेव, देवजातेर्मनुष्यभिन्नत्वेन साधितत्वात्। यद्यावां प्रतिज्ञोल्लङ्घनं कुर्यावहि तर्हि परमेश्वरदण्ड्यौ विद्वद्दण्ड्यौ च भवेवेत्यादिकं तु निर्मूलम्, मन्त्रार्थबाह्यत्वात्।

हो जाता है, वह दूसरा (देवयान) मार्ग कहलाता है' (पृ० २३८) यह कथन भी निराधार है, क्योंकि आपकी इस बात को पुष्ट करने वाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। 'वाभ्याम्' पद का अर्थ 'श्रुताभ्याम्' (सुने गये) यही हो सकता है, आपका कपोलकल्पित अर्थ नहीं। हमारे किये गये अर्थ के प्रमाण में तो हमने श्रुति का प्रमाण दिया है। 'पिता और माता के शरीर में प्रविष्ट होकर' (पृ० २३८) यह व्याख्या भी गलत है, क्योंकि 'प्रविश्य' पद मूल मन्त्र में नहीं है। इसीलिये हमारी पूर्वोक्त व्याख्या के अनुसार द्युलोक और पृथ्वीलोक के बीच में, यही अर्थ उचित है। 'अन्तरा' शब्द की व्याख्या दयानन्द के भाष्य में नहीं की गई है, यह भी उस भाष्य की एक त्रुटि ही है।

'मृतश्चाहं०' इत्यादि वचनों में भी वैराग्य की उत्पत्ति के लिये गर्भ में स्थित जीव के जन्मान्तर के अनुभवों का वर्णन किया गया है, यह बात स्पष्ट है। 'स्वरसवाही०' तथा 'पुनरुत्पत्तिः०' इत्यादि योग और न्यायदर्शन के सूत्रों में भी मरण (मृत्यु) का भय दिखाकर मरण के संस्कारों को दृढ़ किया गया है, जिससे कि अनेक प्रकार के शरीरों का संबन्ध होने से व्यक्ति का यह संस्कार दृढ़ हो सके कि आत्मा इन सब शरीरों से भिन्न है, जिसका कि इस तरह के अनेक शरीरों से संबन्ध होता है। इन वचनों की व्याख्या के प्रसंग में अन्य जो बातें कही गई हैं, उनसे हमारा कोई विरोध नहीं है।

विवाह विषयक विचार

'गृभ्णामि ते०' इस मन्त्र का अर्थ यह है—हे वधु, मैं तुम्हारे सौभाग्य के लिये तुम्हारा हाथ पकड़ रहा हूँ। तुम मुझे पति के रूप में स्वीकार कर मेरे साथ ही वृद्धावस्था को प्राप्त करोगी, अर्थात् हम लोग वृद्धावस्था तक इसी तरह एक साथ रहेंगे। भग, अर्यमा, सविता, पुरन्धि, पूषा—ये सब देवगण गृहस्थाश्रम चलाने के लिये तुम्हें मुझे सौंप रहे हैं। इसका अर्थ सन्तान की उत्पत्ति के लिये तुम्हें मुझे दे रहे हैं, ऐसा नहीं हो सकता। भग अर्यमा ये सब देवता विशेष हैं। इनका अपलाप कर सविता प्रभृति शब्दों का अर्थ परमेश्वर कहना सर्वथा शाब्दिक प्रक्रिया के विरुद्ध है। देव पद का अर्थ विद्वान् करना भी गलत है। मनुष्य जाति से भिन्न देव जाति का प्रतिपादन किया जा चुका है। 'यदि हम दोनों प्रतिज्ञा का उल्लंघन करें तो हमें परमेश्वर और विद्वान् लोग दण्ड दें' (पृ० २४१) इस तरह का अर्थ करना सर्वथा निराधार है, क्योंकि यह बात मन्त्राक्षरों से नहीं निकलती।

'इहैव स्तं मां वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् । क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥' इहैवास्मिल्लोके स्तं भवतम्, मा वियौष्टं पृथग्भूतं विश्वमायुर्व्यश्नुतं प्राप्नुतम् । पुत्रैर्नप्तृभिः पौत्रैः सह स्वे गृहे मोदमानौ भवतमितिविशेषः । यदुक्तम्—'स्त्रिया एक एव पतिर्भवतु, एकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री चेति, अर्थादनेकस्त्रीभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य तथानेकैः पुरुषैः सहैकस्याः स्त्रियश्चेति, वेदमन्त्रेष्वेकवचनस्यैव निर्देशात् इति, तत्तुच्छम्, निषेधकवेदवाक्यानुपलम्भात् । यद्यप्येकस्याः स्त्रियोऽनेकपुरुषसम्बन्धनिषेधकवचनमुपलभ्यते । यथैकस्मिन् यूपे बह्वयो रशनाः संश्लिष्यन्ते तथैवैकस्मिन् पुरुषेऽनेका भार्याः सम्भवन्ति । यथैका रज्जुर्नानेकैर्यूपैः संश्लिष्यते, तथैकायोषिन्नानेकैः पुरुषैः संश्लिष्यते । प्रकृतमन्त्रे तु निषेधकं वचनं किमपि नास्त्येव । 'यदेकस्मिन् यूपे द्वे रशने परिव्ययति तस्मादेको द्वे जाये विन्दते, यन्नैकां रशनां द्वयोर्यूपयोः परिव्ययति तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते' (तै० सं० ६।६।४।३), 'एकस्य बह्वयो जाया भवन्ति नैकस्यै बह्वयः सहपतयः' (ऐ० ब्रा० २।२३), 'एकस्य पुंसो बह्वयो जाया भवन्ति' (श० ९।४।१।६) इत्यादिषु विधेयगतसंख्याया विवक्षितत्वेऽप्युद्देश्यगतसंख्याया अविक्षितत्वेनैकवचननिर्देशस्य 'ग्रहं संमार्ष्टि' इत्यादाविवाकिञ्चित्करत्वात् । प्रकृते च विवाहो विधेयो न त्वेकत्वादिकम् । अग्निहोत्रादिरक्षणार्थं कल्पसूत्रेषु पत्न्यन्तरविधानाच्च पुरुषस्य पुनर्विवाह उक्तः । स्त्रियास्तु तदविधानादेव न पुनर्विवाहसम्भवः ।

नियोगविचारः

यदुक्तम्—'कुहस्विद्दोषा कुह वस्तोऽश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः । को वा शयुत्रा विधवेव देवरं मर्य न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥' (ऋ० सं० १०।४०।२) इति मन्त्रेण विधवेव देवरं द्वितीयं वरं नियोगेन प्राप्तं विधवेव विधवाया देवरेण नियोगो (मैथुनादिसम्बन्धः) सिद्धयति, इति, तन्न, मन्त्रस्यान्यार्थत्वात्, वेदे तादृशार्थे नियोगशब्दस्या-

'इहैव स्तं मा०' इत्यादि मन्त्र का अर्थ है—हम दोनों एक साथ यहीं, इसी लोक में रहे, हम लोग कभी अलग न हो और इसी तरह से पूरी आयु का उपभोग करें। हम लोग अपने घर में नाती-पोतों के बीच सुखपूर्वक रहें। दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या करने के बाद कहा है कि—'एक स्त्री का एक ही पति हो और एक पुरुष की एक ही पत्नी हो। अर्थात् वर के लिये अनेक स्त्रियों के साथ विवाह निषिद्ध है, उसी तरह से अनेक पुरुषों के साथ एक स्त्री का भी विवाह निषिद्ध माना गया है, क्योंकि वेद मन्त्रों में सब जगह वधू और वर के लिये एकवचन ही प्रयुक्त हुआ है' (पृ० २४१) यह कथन भी गलत है, क्योंकि पुरुष के लिये अनेक स्त्रियों से विवाह का निषेध करने वाला वेदवाक्य उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत एक स्त्री के लिये अनेक पुरुषों को वरण करना निषिद्ध घोषित किया गया है। जैसे कि एक यूप में बहुत सी रशनाएँ बाँधी जा सकती है उसी तरह से एक पुरुष की अनेक पत्नियाँ हो सकती है। जैसे एक रज्जु अनेक यूपों में नहीं बाँधी जा सकती, उसी तरह से एक स्त्री अनेक पुरुषों के साथ नहीं रह सकती। प्रकृत मन्त्र में आपकी बात का समर्थक अर्थात् निषेधक वचन नहीं उपलब्ध है। किन्तु हमारी बात के समर्थक वचन तैत्तिरीय और ऐतरेय श्रुति में उपलब्ध होते हैं, जो कि ऊपर उद्धृत किये गये हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी ऐसा स्पष्ट वचन मिलता है कि एक पुरुष की अनेक पत्नियां होती हैं। विधेयगत संख्या की विवक्षा रहने पर भी उद्देश्यगत संख्या की विवक्षा न होने से यहाँ एक वचन का उल्लेख उसी तरह बाधक नहीं होगा, जैसे कि 'ग्रहं संमार्ष्टि' इस वाक्य में एक वचन का निर्देश अनेक ग्रहों के संमार्जन का निषेधक नहीं माना जाता। प्रकृत मन्त्र का प्रतिपाद्य विवाह ही है, उसका एकत्व नहीं, जैसे कि उक्त वाक्य में ग्रह का संमार्जन ही विहित है, उसका एकत्य नहीं। अग्निहोत्र प्रभृति धार्मिक कृत्यों की रक्षा के लिये कल्पसूत्रों में पुरुष के लिये दूसरी पत्नी करने का विधान मिलता है। स्त्री के लिये इस तरह का कोई विधान नहीं मिलता, अतः स्त्री का पुनर्विवाह नहीं हो सकता।

२१. नियोगविषयक विचार

'कुहस्विद्०' इत्यादि मन्त्र में आये 'विधवेव देवरम्' इन पदों से दयानन्द ने यह अभिप्राय निकाला है कि जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ सन्तानोत्पत्ति करती है, वैसे तुम भी करो, इस बात से वेद मन्त्रों से विधवा विवाह सिद्ध होता है (पृ० २४५)। किन्तु यह कहना गलत है, क्योंकि मन्त्र का कुछ दूसरा ही अर्थ है। वेद में इस अर्थ में नियोग शब्द का कही प्रयोग किया भी नहीं गया है। वस्तुतः

दर्शनाच्च। मन्त्रार्थस्तु—आश्विनमिदं सूक्तम्। काक्षीवत्या घोषाया आर्षम्। 'प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते' (आ० श्रौ० सू० ४।१५) इति। हे अश्विनौ, कुहस्वित् नु दोषा रात्रौ भवथः इति शेषः। कुह वस्तोः दिवा वा क्व भवथः। कुह क्व वा अभिपित्वम् अभिप्राप्तिं स्नानभोजनाद्यर्थं करतः कुरुथः। कुह क्व वा ऊषथुः वसथः। किञ्च, वां युवां कः यजमानः सधस्थे वेद्याख्ये आकृणुते आकुरुते परिचरणार्थमभिमुखी करोति। अत्र दृष्टान्तो विधवेव मृतभर्तृका नारी यथा देवरं भर्तृभ्रातरमभिमुखीकरोति पालनार्थं देवरमाश्रयते यथा वा योषा सर्वा नारी शयुत्रा शयने मर्यं मनुष्यं पुमांसं भोगकालेऽभिमुखीकरोति। सम्भोगाभिमुख्यस्यैव विवक्षितत्वे 'मर्यं न योषा' इत्येकेनैव दृष्टान्तेनोद्देश्यसिद्धौ विधवेवेत्यस्य वैयर्थ्यापातात्। तस्मात्पत्यभावे रक्षणार्थं भ्रातृभार्या भर्तृभ्रातरं देवरमाश्रयत इत्येवार्थः। नाभिमुख्यं सम्भोगाभिमुख्यमेव, दार्ष्टान्तिके तदयोगात्। नहि यजमानः सम्भोगायाश्विनावभिमुखीकरोति।

यदुक्तम्—'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते' (नि० ३।१५) इति वचनाद् विधवाया द्वितीयवरेण नियोगकरणे आज्ञास्ति, तथा पुरुषस्य विधवया सह। विधवा स्त्री मृतकस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्यात्, न कुमारेण सहेत्यादिकम्, तदपि मूढजनजल्पितमेव, मन्त्रे निरुक्ते वा विधिप्रत्ययाभावेनाज्ञाद्यसिद्धेः। किञ्चाप्रवृत्तप्रवर्तनायैव विधिराज्ञा वा भवति, विधिरत्यन्तमप्राप्ताविति मीमांसकसिद्धान्तात्। मन्त्रे दृष्टान्तरूपेण कथञ्चिद् विधवादेवरयोः सम्भोगाभिमुख्याभ्युपगमेऽपि न तस्य वैधत्वं निश्चीयते, रागप्राप्तस्यापि दृष्टान्तत्वसम्भवात्। दृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकार्थप्रतिपादन एव तात्पर्यं भवति, न दृष्टान्तस्य वैधत्वबोधने। अतत्परं च विधिवचनमपि न विधातुं शक्नोति, किमुताङ्ग दृष्टान्तमात्रम्, 'जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवेधुकयवाग्वा वा जुहुयात्, इत्यर्थवादगतत्वाद् विधिप्रत्यययुतमपि वाक्यं न जर्तिलादियवागूहोमं विदधाति, अजाक्षीरेण जुहुयादिति विधिशेषत्वेनातत्प्रधानत्वात्। अस्यामृचि कनीयसा देवरेण ज्यायांसावश्विना उपमीयेते

मन्त्र का अर्थ यह है—हे अश्विनोकुमारों, आप लोग रात में कहां रहते हैं और दिन में कहां रहते हैं ? आप लोग स्नान, भोजन आदि कहां करते हैं ? आप लोग रहते कहां हैं? आप लोगों को कौन यजमान सत्कार आदि करने के लिये बुलाता है ? 'विधवेव देवरम्' यहां दृष्टान्त के रूप में दिया गया है। जैसे विधवा नारी अपने पति के भाई देवर का अपना गुजर-बसर चलाने के लिये सहारा लेती है। यदि 'विधवेव देवरम्' इस वाक्य में भी विधवा संभोग के लिये ही देवर का सहारा लेती है, ऐसा अर्थ माना जाय तो इस अर्थ की प्राप्ति तो 'मर्यं न योषा' इस उदाहरण से ही हो जाता है, तब इस दूसरे उदाहरण की व्यर्थता हो जायगी। इसलिये पति के अभाव में अपनी रक्षा के लिये भौजाई देवर का सहारा लेती है, यही अर्थ करना ठीक होगा।"

'इसको देवर इसलिये कहते हैं कि यह द्वितीय वर माना जाता है' इस निरुक्त के वचन के आधार पर विधवा को दूसरे वर के साथ नियोग करने की आज्ञा वेद से प्राप्त है और इसी तरह से पुरुष भी विधवा स्त्री से विवाह कर सकता है। विधवा स्त्री मृत व्यक्ति के संबन्धी पुरुष से ही सन्तान के लिये नियोग करे, कुवारे के साथ नहीं 'यह सारी बातें मूढ़ आग्रह से भरी हैं, क्योंकि मन्त्र में और निरुक्त के वचन में भी आज्ञासूचक विधि वचन नहीं है। मीमांसा सिद्धान्त के अनुसार अन्य किसी भी प्रमाण से अप्राप्त वस्तु में विधिवाक्य का प्रयोग किया जाता है, अर्थात् जिसमें किसी भी प्रमाण से प्रवृत्ति न होती हो, उसमें प्रवृत्त कराने के लिये विधि-अर्थात् आज्ञा सूचक लकार का प्रयोग होता है। मन्त्र में दृष्टान्त रूप में दिये गये विधवा और देवर की अभिमुखता संभोग परक हो भी जाय, तो भी उसको वैध नहीं सिद्ध किया जा सकता। दृष्टान्त का तात्पर्य केवल दार्ष्टान्तिक अर्थ के उपपादन में ही किया जा सकता है, दृष्टान्त वैध है या नहीं, इससे उसका कोई संबन्ध नहीं रहता। तात्पर्य के अभाव में विधिवचन भी किसी का विधान नहीं कर सकता, तब भला दृष्टान्त वाक्य से किसी आज्ञा का विधान कैसे संभव हो सकता है ? 'जर्तिल की यवागू से हवन करे अथवा गेहूं की यवागू से' इस अर्थवाद वाक्य में विधि प्रत्यय के रहने पर भी जैसे यह जर्तिल यवागू आदि का विधायक नहीं माना जाता, क्योंकि अजाक्षीर से हवन करने का विधान करने वाला वाक्य प्रधान है और यवागू आदि का विधान करने वाला वाक्य उसी का अंग होने से प्रधान नहीं माना जा सकता। इस ऋचा में भी छोटे देवर के साथ जेष्ठ अश्विनी कुमारों की और विधवा के साथ यजमान की तुलना की गई है। 'हे विवाहित स्त्री-पुरुषों' ऐसा संबोधन परक अर्थ कहना सर्वथा गलत है, क्योंकि इसका मूल में आये 'अश्विनौ' पद से

विधवया च यजमानः। हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ इति सम्बोधनन्तु सर्वथाऽशुद्धमेव, अश्विना इति मूलोक्तसम्बोधनविरुद्धत्वात्। यजमानस्तु स्वोपास्यौ प्रति तददर्शनाद् एवं प्रश्नान् कर्तुमर्हति। विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ प्रति को वा पृच्छकः? न परमेश्वरः सम्भवति, तस्य सर्वज्ञत्वात् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः क्व साम्यमिति तु मन्त्रानुसारेण नोक्तं दयानन्देन।

हिन्दीव्याख्याने तु लिखितम् 'जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ सन्तानोत्पत्ति करती है, वैसे ही तुम भी करो।' एतच्च सर्वथा वेदमन्त्रार्थबाह्यम्, असङ्गतं च। यथेतरे विवाहितस्त्रीपुरुषाः सन्तानमुत्पादयन्ति, तथैव युवाभ्यामपि कार्यमित्येव सारल्येन सम्भवत्युपदेशोऽस्वाभाविकविधवादेवरोदाहरणमसङ्गतमेव स्यात्। मूलं तु सन्तानोत्पादनस्य चर्चाऽपि नास्ति, किन्तु तत्र को वां सधस्थ आकृणुते इति दार्ष्टान्तः। तदर्थस्तु दयानन्देन न ज्ञातो न वा लिखितः, नियोगसाधनाभिनिविष्टचेतस्त्वात्। सिद्धान्ते तु स्पष्टमुक्तम्, उपासको यजमानोऽश्विनोर्दर्शनाभावात् पृच्छति—वां युवां को वा यजमानः सधस्थे वेद्यादौ आकृणुते युवां परिचरणार्थमभिमुखीकरोति। तत्रैव यत्नातिशयेन सरागपरिचरणे विधवादृष्टान्तः। स्वपतिस्तथा न दुर्ग्रहचित्तो यथा परकीयोऽतो यथा विधवा यत्नातिशयेन देवरं परिचरणाय तदाभिमुख्यं कुरुते तद्वत् को वा यजमान इत्यन्वयः। कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाहः। नैव द्विजेषु द्वितीयवारं विवाहो विधीयते। पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्ण एव विधीयत इति दयानन्दतदनुयायिनः। सामाजिकास्तु विधवाविवाहायैव बद्धपरिकरा दृश्यन्ते। नियोगोऽपि दयानन्दस्य न देवरेण, किन्तु केनचिदपि विधुरेण सम्भवति। स ब्राह्मणो वा स्यात् शूद्रो वा स्यात् आङ्गलो वा स्यात् यवनो वा स्यात्, तद्रीत्या तु कर्मणैव वर्णव्यवस्थाभ्युपगमात्।

'इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥' (अथर्व १८।) मन्त्रार्थस्तु—इयं पुरोवर्तिनी नारी पतिलोकं पत्यानुष्ठितानां यागदानहोमादिकर्मणां फलभूत

सीधा विरोध है। यजमान अपने उपास्य देवता के प्रति इस तरह के प्रश्न कर सकता है, किन्तु विवाहित स्त्री पुरुषों से ऐसे प्रश्न करने का क्या तुक है और उनको पूछनेवाला कौन होगा? वह परमेश्वर नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो सर्वज्ञ है, उसको सब बातें मालूम ही हैं। दयानन्द ने इस मन्त्र में दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक की समानता भी नहीं बताई है।

हिन्दी व्याख्या में दयानन्द ने लिखा है—'जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ सन्तानोत्पत्ति करती है, वैसे ही तुम भी करो' (पृ० २४५) यह बात इस मन्त्र के सर्वथा विपरीत और असंगत है (जैसे दूसरे विवाहित स्त्री-पुरुष सन्तान उत्पन्न करते हैं, वैसे ही तुम लोगों को भी करना चाहिये, सरलता से यहीं उपदेश होना चाहिये। इसके विपरीत अस्वाभाविक रूप से विधवा और देवर का उदाहरण देना असंगत ही माना जायगा। मूलमन्त्र में तो सन्तान उत्पति की कोई चर्चा नहीं है, किन्तु तुम लोगों का वेदि में आह्वान कौन करता है, यहीं बात वहां भी कही गई है। इसका अर्थ न तो दयानन्द को ज्ञात ही था और न उन्होंने कुछ अर्थ किया ही है। उनके मत में तो वेद से नियोग को सिद्ध करने की बात बैठी है। वहीं उन्होंने किया है। हमारे मत से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उपासक यजमान को अश्विनीकुमारों का दर्शन न होने से वह पूछता है कि कौन यजमान आप लोगों को वेदि स्थान में आपकी सेवा करने के लिये बुलाता है। इसी विषय में अतिशय प्रयत्न पूर्वक अनुरक्त चित्त से सेवा करने के दृष्टान्त के रूप में विधवा का दृष्टान्त दिया गया है। अपना पति स्त्री के लिये उतना दुराराध्य नहीं है, जितना कि दूसरे का पति। अतः विधवा अपने देवर को अपने अनुकूल बनाये रखने के लिये बड़ी तत्परता से लगी रहती है, उसी तरह से वह कौन यजमान है। यही इस दृष्टान्त का तात्पर्य है। कुवारे स्त्री और पुरुष का विवाह एक बार ही होता है। द्विजों में दुबारा विवाह नहीं किया जाता। पुनर्विवाह केवल शूद्र वर्ण में प्रचलित है। आर्यसमाजी विधवा विवाह के लिये कमर कसे रहते हैं। दयानन्द के मत से नियोग केवल देवर से ही नहीं, किसी भी विधुर के साथ हो सकता है। वह ब्राह्मण हो, शूद्र हो, अंग्रेज हो या मुसलमान, इसका कोई विचार वे नहीं करते। उनके मत से तो वर्ण व्यवस्था का आधार व्यर्थ ही है।

'इयं नारी०' इत्यादि मन्त्र का अर्थ यह है—"यह सामने उपस्थित नारी पति के द्वारा अनुष्ठित याग, दान, होम आदि से प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि स्थानों में इन कर्मों के अनुष्ठान में साथ साथ रहने के कारण हे मनुष्य, यह मृत्यु के उपरान्त दूसरे लोक में

स्वर्गस्थानं वृणाना सहधर्मचारिणीत्वेन सम्भजमाना 'वृञ् सम्भक्तौ' एवंभूता नारी हे मर्त्य मरणधर्मन् ! मनुष्य प्रेतं प्रकर्षेणास्माल्लोकाद्गतं त्वामुपनिपद्यते, उपसमीपे नितरां गच्छति, अनुमरणं प्राप्नोतीत्यर्थः। पुराणं पुरातनमनादिशिष्टाचारसिद्धं स्मृतिपुराणादिप्रसिद्धं वा धर्मं सुकृतमनुपालयन्ती आनुपूर्व्येण सम्प्रदायाविच्छेदेन पालनमनुपालनम्, तत्कुर्वती तदनुपालनाद्धेतोः, 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (पा० सू० ३।२।१२६) इति हेतौ शतृस्मरणात्। तस्यै तथाविधायै अनुमरणं कृतवत्यै इह भूलोके जन्मान्तरे लोकान्तरे च प्रजां पुत्रपौत्रादिलक्षणां द्रविणं धनं देहि प्रयच्छ। अनुमरणप्रभावाज्जन्मान्तरेऽपि स एव तस्याः पतिर्भवति सर्वाभीष्टप्रापकश्च, पतिदेवताया नार्याः पत्यैव सर्वकामपूर्तिसम्भवात्।

यत्तु—'इयं नारी विधवा प्रेतं मृतं पतिं विहाय पतिलोकं पतिसुखं वृणाना स्वीकर्तुमिच्छन्ती हे मर्त्य त्वामुपनिपद्यते त्वां पतिं प्राप्नोति तव समीपं नियोगविधानेनागच्छति तां त्वं गृहाणास्यां सन्तानमुत्पादय। कथंभूता सा पुराणं वेदप्रतिपाद्यं सनातनं धर्ममनुपालयन्ती सती त्वां नियोगेन पतिं वृणुते त्वमपीमां वृणु। तस्यै इहास्मिन् समये लोके वा प्रजां धेहि। त्वमस्यां प्रजोत्पत्तिं कुरु। द्रविणं द्रव्यं वीर्यमस्यां धेहि, गर्भाधानं कुरु' (पृ० २४४), इति। तत्तु सर्वथाऽशुद्धं प्रजावञ्चनं च, वेदाक्षरबाह्यत्वात्। तथाहि मन्त्रेऽस्मिन् 'विहाय' पदं नास्त्येव। एवमध्याहारस्वातन्त्र्ये कस्यापि वाक्यस्य कोऽप्यर्थः कर्तुं शक्येत। एवं नियोगविधानेन तव समीपमागच्छतीत्यपि निर्मूलम्, नियोगविधानस्य क्वापि मन्त्रेष्वदर्शनात्। पुराणधर्मपालनं नियोगश्चेति परस्परं विप्रतिषिद्ध्यते। इयं नियोगेन त्वां पतिं वृणुते त्वमपीमां वृणु इति विधानं दयानन्दीयविकृतमस्तिष्कपरिणाम एव। नात्र विषये मन्त्रो मन्त्रपदं मन्त्राक्षरं वा प्रमाणम्। मृतं पतिं विहाय त्वां निपद्यत इति निर्मूलम्, मूले विहायपदाभावात्। त्वमस्यां प्रजां धेहि द्रविणं धेहि वीर्यं धेहीत्यपि निराधारमेव, प्रजाधानेनैव गतार्थतायां वीर्यार्थकद्रविणाधानोक्तिस्त्वद्रीत्यापि व्यर्थैव। तस्माद् उपर्युक्तं इयं नारी पतिलोकं पत्युर्लोकं पतिपुण्यार्जितं स्वर्गादिस्थानं वृणाना संभजमाना हे

भी तुम्हारे पास पहुंच जायगी। पुरातन अनादि शिष्टाचार से चले आये अथवा स्मृति-पुराण आदि में प्रसिद्ध सुकृत (धर्म) का पालन करती हुई यह नारी मृत्यु के उपरान्त तुम्हारे पास चली आवेगी। अतः इसको तुम इस लोक और दूसरे लोक में भी पुत्र-पौत्र आदि प्रजा और धन-धान्य से संपन्न कर दो। इसका अभिप्राय यह है कि पति के मरण के उपरान्त सती हो जाने पर उसके प्रभाव से जन्मान्तर में भी उसको वही पति मिलता है और वही उसकी सारी कामनाओं की पूर्ति करता है। यह ठीक भी है कि पति को देवता मानने वाली सती स्त्री की सारी कामनाओं की पूर्ति उसी से हो।।

दयानन्द ने इसका यह अर्थ किया है—'जो विधवा नारी पतिलोक अर्थात् पतिसुख की इच्छा करके नियोग करना चाहे, तो वह अपने पति के मर जाने पर दूसरे पति को प्राप्त हो। इस मन्त्र में स्त्री और पुरुष को परमेश्वर आज्ञा देता है कि हे पुरुष, जो इस सनातन नियोग धर्म की रक्षा करने वाली स्त्री है, उसके सन्तानोत्पत्ति के लिये धर्म से वीर्यदान कर, जिससे वह प्रजा से युक्त होकर आनन्द में रहे। तथा स्त्री के लिये भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री मर जाय और वह सन्तानोत्पत्ति करना चाहे, तब स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग करके उसको प्रजा से युक्त कर दे। इसलिये मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम मन, कर्म और शरीर से व्यभिचार कभी मत करो, किन्तु धर्मपूर्वक विवाह और नियोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहो' (पृ० २४५), किन्तु यह अर्थ सरासर गलत और ठगी से तो भरा ही है, साथ ही वेदाक्षरों से इसका कोई संबन्ध भी नहीं है। इस मन्त्र में 'विहाय' पद नहीं है। अध्याहार में मनमानी की जाय तो उसको सहायता से तो किसी भी वाक्य का कोई भी मनमाना अर्थ किया जा सकता है। इस तरह के नियोग का विधान होने से तुम्हारे पास आती है, यह कहना भी निराधार है, क्योंकि मन्त्रों में कहीं भी नियोग का विधान नहीं किया गया है। पुरातन धर्म का पालन और नियोग में दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। इस नियोग के आधार पर तुम्हें पति के रूप में स्वीकार करती है, तुम भी इसको स्वीकार करो, इस तरह का विधान दयानन्द के बिगड़े दिमाग की उपज है। इस विषय में कोई मन्त्र, उसका कोई पद या अक्षर प्रमाण के रूप में उद्धृत नहीं किया जा सकता। मृत पति को छोड़कर तुम्हारे पास आती है, ऐसा अर्थ करना निराधार है, क्योंकि मूल मन्त्र में 'विहाय' पद नहीं है, ऐसा हम अभी बता ही चुके हैं। तुम इसमें प्रजा, द्रविण और वीर्य का आधान करो, यह कथन भी निराधार है, क्योंकि प्रजा के आधान से ही वीर्य का भी आधान आ ही जाता है और

मर्त्य मरणधर्मन् मनुष्य प्रेतमस्माल्लोकात्परलोकं गतं त्वामियमुपनिपद्यते तव समीपे नितरां गच्छति, तवानुगमनेनानुमरणेन त्वामनुगच्छतीत्यर्थः। एवमनुगमनं सहगमनानुमरणलक्षणं पुराणं धर्ममनुपालयन्त्यै तस्यै इह भूलोके लोकान्तरे वा प्रजां पुत्रपौत्रादिलक्षणं धेहीति व्याख्यानमेव युक्तम्।

'उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सम्बभूथ॥' (ऋ०सं० १०।१८।८)। अस्य मन्त्रस्यापि व्याख्याने दयानन्देन यदुक्तम्—'हे विधवे नारि एतं गतासुं गतप्राणं मृतं विवाहितं पतिं त्यक्त्वा अभिजीवलोकं जीवन्तं द्वितीयवरं पतिं एहि प्राप्नुहि। उपशेषे सन्तानोत्पादनाय वर्तस्व। तत्सन्तानं हस्तग्राभस्य विवाहे सङ्गृहीतहस्तस्य पत्युः स्यात्, यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोगः कृतस्तर्हि दिधिषोस्तस्यैव सन्तानं भवति। हे विधवे, विगतविवाहितस्त्रीकस्य पत्युश्चैतन्नियोगकरणार्थं त्वम् उदीर्ष्व विवाहितपतिमरणानन्तरमिमं नियोगमिच्छ। तथा अभिसम्बभूव सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखसंयुक्ता भव' (पृ० २४४) इति, अहो अस्मिन् कलिहतकेऽभद्रमुखे यतौ दानव्यावृत्तेः प्राखर्यम्, यत्पत्युर्मरणाव्यवहितोत्तरकालमेव दाहादिसंस्कारादपि पूर्वं विधवायाः पुरुषान्तरेण नियोगविधानेन सन्तानोत्पत्तिं विदधाति। तादृशे भीषणे विपत्तिकाले देवरस्य भ्रातृजायां प्रति तथा कथनं गर्ह्यतामेव दयानन्दमनोगतस्य विशदयति। अन्यथा को वा कुलीनो मृतस्य भ्रातुरौर्ध्वदैहिकादिक्रियाया अपि प्राक् तथा वक्तुं शक्नुयात्। न केवलं भारते, किन्तु क्वापि तादृशी नारी नोपलब्धुं शक्या। पतिमरणानन्तरमेव गतासुं देहं त्यक्त्वा पुरुषान्तरसंयोगं कामयते। मन्ये लज्जावशादेव हिन्दीभाषायामन्यथोक्तम्—'जो तेरी इच्छा है, दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त कर, नहीं तो ब्रह्मचर्याश्रम में स्थित होकर कन्याओं और स्त्रियों को पढ़ाया कर।'

सायणादिसम्मतस्त्वयमर्थः—हे नारि, मृतस्य पत्नि अपक्रान्तप्राणम् एतं पतिमुपशेषे तस्य समीपे स्वपिषि। जीवलोकं जीवानां पुत्रपौत्रादीनां लोकं गृहमभिलक्ष्य उदीर्ष्व अस्मात्स्थानादुत्तिष्ठ। (ईर गतौ) तस्मात्त्वमेहि आगच्छ।

द्रविण का अर्थ भी आपने वीर्याधान ही किया है। ऐसी स्थिति में जब एक शब्द से ही यह अर्थ गतार्थ हो गया तो इन तीन शब्दों का अलग-अलग प्रयोग किस प्रयोजन से किया गया है? इसलिये हमारा ऊपर बताया गया अर्थ ही ठीक है। तदनुसार अनुमरण अर्थात् तुम्हारे साथ जाने के लिये सती होकर पुरातन धर्म का अनुपालन करने वाली इस स्त्री को तुम इस भूलोक में अथवा लोकान्तर में पुत्र पौत्र आदि प्रजा से और रत्न आदि धन से परिपूर्ण कर दो, यही अर्थ करना ठीक प्रतीत होता है।

'उदीर्ष्व०' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या करते हुए दयानन्द ने लिखा है—'हे स्त्री, अपने मृतक पति को छोड़कर इस लोक में जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त करो। जब तक मरण न हो तब तक ईश्वर का ध्यान और सत्य धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होकर जो कि तेरा हस्तग्रहण करने वाला दूसरा पति है, उसकी सेवा किया करो, वह तुम्हारी सेवा किया करे। उसका नाम 'दिधिषु' है। वह तेरे सन्तान की उत्पत्ति करने वाला हो। जो तेरे लिये नियोग किया गया हो तो वह तेरा सन्तान हो और जो नियुक्त पति के लिये नियोग हुआ हो, तो वह सन्तान पुरुष का हो। इस प्रकार नियोग से अपने अपने सन्तानों को उत्पन्न करके दोनों सदा सुखी रहो' (पृ० २४५-२४६)। यह भयंकर कलिकाल का ही प्रभाव माना जायगा कि पति के मरने के तुरन्त बाद पति के दाह-संस्कार होने से पहले ही विधवा दूसरे पति से नियोग करके सन्तान उत्पन्न करने लगे। इस तरह के भीषण विपत्ति के समय में देवर के साथ भौजाई के नियोग की बात करना दयानन्द के मन की कलुषता को प्रकट करता है। अन्यथा कौन कुलीन व्यक्ति ऐसा होगा जो अपने भाई का दाह-संस्कार करने से पहले अपनी भौजाई से इस तरह की बात करे। केवल भारत में ही नहीं, किन्तु संसार में कहीं भीं इस तरह की नारी नहीं मिल सकती, जो कि पति के मरने के तुरन्त बाद उसके शव का संस्कार होने से पहले ही दूसरे पुरुष के साथ सहवास करना चाहती हो। लगता है इसी लज्जा के कारण हिन्दी भाषा में अर्थ करते समय उन्होंने कुछ बदल दिया है—'जो तेरी इच्छा है, दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त कर, नहीं तो ब्रह्मचर्याश्रम में स्थित होकर कन्याओं और स्त्रियों को पढ़ाया कर' (पृ० २४५)।

यस्मात्त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्राहं कुर्वंतः दिधिषोः गर्भस्य निधातुस्तवास्य पत्युः सम्बन्धादागतमिदं जनित्वं जायात्वमभिलक्ष्य बभूथ सम्भूतासि अनुमरणनिश्चयमकार्षीः । तस्मादागच्छ ।

वस्तुतस्तु 'परं मृत्योरिति चतुर्दशर्चस्य सूक्तस्य आद्याश्चतस्रो मृत्युदेवत्याः सप्तम्याद्याः पितृमेधाभिधायिन्यः ।' सूत्रितं च—'इमे जीवा विमृतैरिति सव्यावृतो व्रजन्ति' (आ० श्रौ० सू० ४।४।९) । तत्र प्रथमा—'इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु । अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥'(ऋ०सं० १०।१८।७) अत्राप्युपर्युक्तायामृचि गतासुं मृतं विवाहितपतिं त्यक्त्वेति कस्य पदस्यार्थः ? मूले त्यक्त्वेत्यर्थकस्य पदस्य सर्वथाऽभावात् । एवमेव सर्वत्रापि वेदव्याख्यानेऽस्य स्वैरचारित्वम् । तस्यैव सन्तानं भवेदिति सन्तानशब्दस्य पुल्लिङ्गत्वेऽपि नपुंसकलिङ्गप्रयोगः प्रमाद एव । उदीर्ष्वेतिक्रियापदस्य कथमिच्छार्थकत्वम् ? गत्यर्थस्येरधातोरुत्पूर्वकस्येच्छार्थत्वे मानाभावात् । तस्मात् सर्वथाऽसङ्गतमेवेदं व्याख्यानम् ।

'आरोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यतिष्ठ । इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः ॥' (ऋ० सं० १०।१८।६) । हे मृतस्वजनाः पुत्रपौत्रादयः जरसं जरां वृणानाः संभजमाना यूयम् आयुः जीवनमारोहत अधितिष्ठत । अनुपूर्वम् (आनुपूर्व्येण) (अव्ययीभावः) पूर्वो ज्येष्ठः ज्येष्ठानुपूर्व्यां यतमानाः प्रयत्नं कुर्वन्तो यतिस्थ यत्संख्याका भवथ । यच्छब्दाच्छादसो डतिः । सर्वेऽपि आयुः आरोहत । सुजनिमा शोभनजननः, त्वष्टा देवः सजोषा भवद्भिः सङ्गतः सन् इहास्मिन् कर्मणि प्रवृत्तानां वः युष्माकं जीवसे जीवनाय दीर्घं प्रभूतमायुः करति करोतु । अयमर्थः—अविधवा जीवद्भर्तृकाः सुपत्नीः शोभनपतिकाः इमा नारीः नार्यः आञ्जनेन सर्वतोऽञ्जनसाधनेन घृतेन अक्तनेत्राः सत्यः संविशन्तु स्वगृहान् तथा अनश्रवः अश्रुवर्जिताः अरुदत्यः अनमीवा रोगरहिता मानसदुःखवर्जिताः सुरत्नाः शोभनरत्नधारिण्यः, जनयः जनयन्त्यपत्यमिति जनयः भार्याः ताः अग्रे सर्वेषां प्रथमं ता एव योनिं गृहं आरोहन्तु आगच्छन्तु । अर्थात् प्रथमं प्रेतपुत्रपौत्रादिभ्य आशिषो वितीर्य जीवद्भर्तृका अरुदत्यो भार्या एव तस्योपान्तेवासिन्यः आगच्छन्तु । ततः प्रेतसमीपे शयितां प्रेतपत्नीं

इस मन्त्र का सायणसंमत अर्थ यह है—'हे मृत पुरुष की पत्नि, तुम इस निष्प्राण पति के पास सो रही हो । अपने पुत्र-पौत्र आदि का, इस लोक के सगे-संबन्धियों का खयाल कर तुम इस स्थान से उठो । हमारे साथ आओ । तुमने अपना हाथ पकड़ने वाले अपने में गर्भ का आधान करने वाले इस पति के संबन्ध से उत्पन्न पत्नीधर्म का पालन करने के लिये उसके साथ मरने का निश्चय किया है । यह ठीक होते हुए भी तुम अपने पुत्र-पौत्रों का पालन करने के लिये हमारे साथ घर चलो ।/

वास्तव में 'परं मृत्योः' इत्यादि चौदह ऋचाओं वाले इस सूक्त की पहली चार ऋचाएँ मृत्यु देवता से संबद्ध हैं । सातवीं से लेकर आगे के मन्त्र पितृमेध कर्म से संबद्ध हैं । आश्वलायन श्रौतसूत्र में तदनुसार ही इन मन्त्रों को विनियुक्त किया गया । 'इमा नारीः' इनमें से पहला मन्त्र है । इसमें भी 'गतप्राण विवाहित पति को छोड़कर' इस अर्थ को बताने वाला 'विहाय' पद नहीं है । इसी तरह से दयानन्द सर्वत्र वेद की व्याख्या करते समय मनमानी करते हैं । सन्तान शब्द पुंलिग है, किन्तु दयानन्द ने इस पद का नपुंसक लिंग में प्रयोग किया है, जो कि गलत है । 'उदीर्ष्व' क्रिया पद का अर्थ इच्छा कैसे हो सकता है । उत् उपसर्ग पूर्वक हुई धातु का प्रयोग गति अर्थ में होता है इच्छा के अर्थ में इसका प्रयोग कहीं नहीं हुआ है और न इसमें कोई प्रमाण हो है । इसलिये इस मन्त्र की दयानन्द की व्याख्या सर्वथा असंगत है ।

'आरोहतायु०' इस मन्त्र का अर्थ यह है—हे मृत व्यक्ति के स्वजनों, पुत्र-पौत्रों, वृद्धावस्थापर्यन्त आप सब लोग जीवित रहें । अपने से बड़े का सम्मान प्रयत्नपूर्वक आप लोग करें । आप लोग जितनी संख्या में हैं, वे सब पूर्ण आयु प्राप्त करें । जीवन को सुन्दर बनाने वाला त्वष्टा देव आप लोगों से मिलकर इस शुभ कर्म में प्रवृत्त हुए आप सभी को दीर्घायु करे । पूर्व उद्धृत 'इमा नारी०' इत्यादि मन्त्र का भावार्थ यह है—"सौभाग्यवती सुन्दर पतियों से युक्त ये नारियाँ अपनी आँखों में घृत का अंजन लगाकर अपने-अपने घर बिना आँसू बहाये और सभी शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से रहित होकर सुन्दर-सुन्दर रत्नों के आभूषण धारण किये और पुत्र-पौत्रों से संपन्न हो, वे ही पहले इस घर में प्रवेश करें । अर्थात् पहले पुत्र-पौत्रों को आशीर्वाद देकर सौभाग्यवती प्रसन्न वदन

देवरादिकः कश्चित् 'उदीर्ष्वं नारि' (ऋ०सं० १०।१८।८) इत्यनया ऋचा भर्तृसकाशादुत्थापयेत् । 'तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी वा जरद्दासो वोदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकम्' (आश्व० गृ० सू० ४।२।१८)। सिद्धान्तानुसारि व्याख्यानं तु कृतमेव।

'इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि ॥ सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥' (ऋ० सं०)। अत्र व्याख्याने यदुक्तम्—'इदानीं नियोगस्य सन्तानोत्पत्तेश्च परिगणनं क्रियते। कतिवारं नियोगः कर्त्तव्यः, कियन्ति च सन्तानानि चोत्पाद्यानि। हे इन्द्र, विवाहितपते मीढ्वः हे वीर्यदानकर्तस्त्वमिमां विवाहितस्त्रियं वीर्यसेकेन गर्भयुक्तां कुरु। तां सुपुत्रां श्रेष्ठपुत्रवतीं सुभगां अनुत्तमसुखयुक्तां कुरु। अस्यां स्त्रियां दशपुत्रानाधेहि दशपुत्रानुत्पादय नातोऽधिकमिति। ईश्वरेण दशसन्तानोत्पादनस्यैवाज्ञा दत्ता। तथा 'पतिमेकादशं कृधि' (ऋ०सं०), हे स्त्रि, त्वं विवाहितपतिं त्यक्त्वा एकादशपतिपर्यन्तं नियोगं कुरु। 'कस्याञ्चिदापत्कालावस्थायां प्राप्तायामेकैकस्याभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थं दशमपुरुषपर्यन्त नियोगं कुर्यात् (पृ० २४६)।

अथोत्तरं पतीनां संज्ञा विधीयते सोमः। हे स्त्रि, यस्त्वां प्रथमं विविदे विवाहितस्त्वां प्राप्नोति स सौकुमार्यादिगुणयुक्तत्वात् सोमसंज्ञो भवति। यस्तूत्तरो द्वितीयो नियुक्तः पतिर्विधवां त्वां विविदे स गन्धर्वसंज्ञां लभते। कुतस्तस्य भोगाभिज्ञत्वात्। येन सह तृतीयवारं नियोगं करोषि सोऽग्निसंज्ञो भवति कुतो द्वाभ्यां भुक्तभोगया त्वया सह नियुक्तत्वाद् अग्निदाहवत् तस्य शरीरस्थधातवो दह्यन्त इत्यतः। तुरीयस्ते मनुष्यजाः। चतुर्थमारभ्य दशमपर्यन्तास्तव पतयः साधारणबलवीर्यत्वान्मनुष्यसंज्ञा भवन्ति। तथैव स्त्रीणामपि सोम्या गन्धर्व्याग्नायी मनुष्यजाः संज्ञा भवन्ति (पृ० २४६)।

'अदेवृघ्न्यपतिघ्नी हैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः। प्रजावतीर्वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥' (अथर्व सं० १४।२।१८)। हे अदेवृघ्नि, देवरसेविके, अपतिघ्नि विवाहितपतिसेविके, त्वं शिवा कल्याणगुणयुक्ता गृहकृत्येषु

नारियाँ उनके घर में आवें, यह मन्त्रों में शुभाशंसा प्रकट की गई है। इसके बाद प्रेत के समीप सोई हुई प्रेत की पत्नी को कोई देवर आदि उसके संबन्धी 'उदीर्ष्व नारि०' इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए पति के पास से उसे उठावे, जैसा कि आश्वलायन गृह्यसूत्र में इसका विनियोग बताया गया है। इसके अनुसार मन्त्र की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है।

इसके आगे तीन मन्त्रों को उद्धृत कर दयानन्द ने उनका अर्थ इस तरह से किया है—'ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि हे इन्द्र, पते, ऐश्वर्ययुक्त, तू इस स्त्री को वीर्य दान देकर सुपुत्र और सौभाग्ययुक्त कर। हे वीर्यप्रद, तुम्हारे लिये वेद की यह आज्ञा हैं कि इस विवाहित या नियोजित स्त्री में दस सन्तान तक उत्पन्न कर, अधिक नहीं। तथा हे स्त्री, तु नियोग में ग्यारह पति तक कर। अर्थात् एक तो उनमें प्रथम विवाहित और दस पर्यन्त नियोग के पति कर, अधिक नहीं। इसको व्यवस्था यह है कि विवाहित पति के मरने या रोगी होने से दूसरे पुरुष या स्त्री के साथ सन्तानों के अभाव में नियोग करे। दूसरे के भी मरण या रोगी होने के अनन्तर तीसरे के साथ कर ले। इसी प्रकार दसवें तक करने की आज्ञा है। परन्तु एक काल में एक ही वीर्यदाता पति रहे, दूसरा नहीं। इसी प्रकार पुरुष के लिये भी विवाहित स्त्री के मर जाने पर विधवा के साथ नियोग करने की आज्ञा है। वह जब रोगी हो या मर जाय तो सन्तानोत्पत्ति के लिये दूसरी स्त्री तक नियोग कर लेवे।

अब पतियों की संज्ञा कहते हैं—उनमें जो विवाहित होता है, उसकी सोम संज्ञा है, क्योंकि वह सुकुमार होने से मृदु आदि गुणों से युक्त होता है। दूसरा पति जो नियोग से होता है, वह गन्धर्व संज्ञक अर्थात् भोग से अभिज्ञ होता है। तीसरा पति जो नियोग से होता है, वह अग्निसंज्ञक अर्थात् तेजस्वी, अधिक उमर वाला होता है। चौथे से लेकर दशम पर्यन्त जो नियुक्त पति होते हैं, ये सब मनुष्य संज्ञक कहलाते हैं, क्योंकि वे मध्यम होते हैं। इसी तरह से स्त्रियों की भी सोम्या, गन्धर्वी, आग्नायी, मनुष्यजा संज्ञा उन्हीं गुणों के आधार पर होती है।

हे विधवा स्त्री, तू देवर और विवाहित पति को सुख देने वाली हो, उनका अप्रिय किसी प्रकार से मत कर और वे भी तेरा कभी अप्रिय न करें। इसी प्रकार मंगल कार्यों को करके सदा सुख बढाते रहो। घर के पशु आदि सब प्राणियों की रक्षा करके, जितेन्द्रिय होकर कर्मयुक्त श्रेष्ठ कार्यों को करती रहो तथा सब प्रकार के विद्या रूप उत्तम तेज को बढ़ाती चलो। तू श्रेष्ठ प्रजायुक्त हो

शोभननियमयुक्ता गृहसम्बन्धिपशुभ्यो हिता श्रेष्ठकान्तिविद्यासहिता तथा प्रजावती वीरसूः प्रजापालनतत्परा वीरसन्तानोत्पादका देवृकामा नियोगेन द्वितीयवरस्य कामनावती स्योना सुखयुक्ता सुखकारिणी सती इममग्निं गार्हपत्यं गृहसम्बन्धिनमाहवनीयमग्नि सर्वं गृहसम्बन्धिव्यवहारं च सपर्य सम्यक् सेवय। अत्र स्त्रियाः पुरुषस्य चापत्काले नियोगव्यवस्थाप्रतिपादिता (पृ० २४६-२४७), अहो धार्ष्ट्यमस्यकलिहतकस्य धर्मध्वजस्य। यस्य नियोगस्य समर्थनमेतैर्मन्त्रैः करोति, स नियोगः किं लक्षणः क च प्रोक्त इति तु नोक्तम्। न केवलं पतिमरण एव, किन्तु पत्युर्विदेशादिगमनकालेऽप्ययं नियोगं विदधाति। तत एवोच्छृङ्खलेष्वस्य महर्षित्वं प्रसिद्धम्।

किञ्च, यदि नियोगः शास्त्रीयः स्यात्, मन्त्राणां च तद्बोधकत्वं स्यात्, तदा कथं न आश्वलायनकात्यायनादयस्तथा सूत्रयेरन् ? किञ्चात्र मन्त्रे इन्द्रेतिसम्बोधनपदं स्पष्टमस्ति, तदपहाय पतिमेकादशं कृधीत्यत्र स्त्रीति सम्बोधनपदं कुतो लब्धम् ? मन्त्रे स्त्रीतिपदाभावात्। प्रथमद्वितीयादिशब्दैर्नियुक्ता गृह्यन्त इत्यपि निर्मूलम्, अत्र नियोगस्याप्रकृतत्वात्। प्रसिद्धसोमगन्धर्वादिदेवानपहाय नियुक्तानां संज्ञाबोधकास्ते शब्दा इत्यपि निर्मूलम्। अदेवृघ्नीति मन्त्रे वापि नास्ति नियोगचर्चा।

सिद्धान्ते तु—'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय' (ऋ० सं० १०।८५।३६) इत्यारभ्यैवास्मिन् प्रकरणे पाणिग्रहणादिमन्त्राः सन्ति। 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तमित्यङ्गुष्ठमेव गृह्णीयात्' (आ० श्रौ० सू० १।७।३)। वेदोऽयमास्तिकानां ग्रन्थो न नास्तिकानां देवपित्राद्यनभ्युपगन्तॄणाम्। मनुष्येभ्यो भिन्ना देवा इति तु पूर्वमेव स्पष्टीकृतम्। तद्रीत्या गन्धर्वा अग्नये प्रायच्छन् तां कन्यामग्निः सोमाय दत्तवान्। स एवाग्निर्मनुष्येभ्यस्तां ददातीति। 'तुभ्यमग्ने पर्यवहन् सूर्यां वहतु ना सहापुनः पतिभ्यो जायां दो अग्ने प्रजया सह॥'

बड़े-बड़े वीर पुरुषों को उत्पन्न कर। जो तू देवर की कामना करने वाली है, तो जब तेरा विवाहित पति न रहे अथवा वह रोगी या नपुंसक हो जाय, तब तू दूसरे पुरुष से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर और तू इस अग्निहोत्र प्रभृति घर के कामों को सुचारु रूप से सदा प्रीतिपूर्वक प्रसन्नचित्त से पूरा कर। इसी प्रकार से विधवा और मृत स्त्रीक पुरुष तुम दोनों आपत्काल में धर्म करके सन्तानोत्पत्ति करो और उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करते जाओ। गर्भहत्या या व्यभिचार कभी मत करो, किन्तु नियोग ही कर लो, यही व्यवस्था सबसे उत्तम है' (पृ० २४७-२४८) कलियुग के इस यति की धृष्टता देखने लायक है। इन मन्त्रों से जिस नियोग का समर्थन स्वामी दयानन्द करते हैं, उस नियोग का स्वरूप क्या है और उसका प्रतिपादन कहाँ किया गया है, इस बात को उन्होंने बताया नहीं है। पति के मर जाने पर ही नहीं, विदेश आदि में चले जाने पर भी यह नियोग का विधान करते हैं। इसीलिये उच्छृङ्खल व्यक्तियों के बीच में ये महर्षि के नाम से प्रसिद्ध हैं।

यदि यह नियोग शास्त्रसंमत होता और मन्त्रों में उसका उल्लेख होता तो आश्वलायन, कात्यायन प्रभृति श्रौतसूत्रकार उसका उल्लेख क्यों न करते ? प्रथम मन्त्र में इन्द्र पद स्पष्ट ही संबोधन का सूचक है, उसको छोड़कर अपने पति को ग्यारहवां बताओ, ऐसा अर्थ करते समय स्त्री को संबोधन किस प्रमाण के आधार यह किया गया है ? मन्त्र तो ऐसा पद है नहीं। प्रथम, द्वितीय आदि पद से नियोग द्वारा गृहीत पतियों का ग्रहण होता है, यह बात भी निराधार है, क्योंकि यहाँ नियोग का कोई प्रसङ्ग नहीं है। प्रसिद्ध सोम, गन्धर्व आदि देवताओं को छोड़कर इन शब्दों को नियोग द्वारा गृहीत पतियों के वाचक मानने में भी कोई प्रमाण नहीं है। 'अदेवृघ्नी' प्रभृति मन्त्र में भी नियोग की चर्चा नहीं है।

सिद्धान्त में तो 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय०' इत्यादि मन्त्र से लेकर इस प्रकरण के अन्य सभी मन्त्र भी विवाह से सम्बद्ध पाणिग्रहण करते समय बोले जाते हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्र में बताया गया है कि इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए वधू के अंगूठे को पकड़े। यह वेद आस्तिकों का ग्रंथ है, देवता, पितृगण आदि को न मानने वाले नास्तिकों का नहीं। देवगण मनुष्यों से भिन्न है, इस बात की पुष्टि पहले ही कर दी गई है। इसके अनुसार इस वधू को गन्धर्व अग्नि को समर्पित करते है। वह अग्नि इस कन्या को सोम को देता है और वही अग्नि इसको मनुष्यों को समर्पित कर देता है। यही बात 'तुभ्यमग्ने०' इत्यादि मन्त्र में बताई गई है।

जातां कन्यां सोमः प्रथमभावी सन् विविदे लब्धवान् तेन स एव प्रथमः पालकः पतिः। गन्धर्व उत्तरः सन् विविदे लब्धवान्, गन्धर्वस्यापि पालकत्वात् पतित्वम्। हे कन्ये, अग्निस्तव तृतीयः पतिः पश्चान्मनुष्यजास्ते तुरीयः पतिः। अत्र जन्मारभ्याष्टवर्षपर्यन्तं सोमगन्धर्वाग्नयस्तत्पोषकाः क्रमेण भवन्ति, मनुष्यजास्तु तुरीयो लौकिकः पतिर्भवति।

'सोमो दददगन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये। रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्॥' (ऋ० सं० १०।८५।४१) सोमः गन्धर्वाय प्रथमं ददत् प्रादात्। गन्धर्वोऽग्नये प्रादात्। अथोऽपि च अग्निः इमां कन्यां रयिं धनं पुत्रांश्च मह्यमदात्। अर्थात् सोमः स्वाधिपत्यकाले स्वगुणैः सौकुमार्यादिभिस्तस्याः पोषणं करोति। अनन्तरं गन्धर्वाणामधिकारकाले सोमस्तेभ्यो ददाति। गन्धर्वाश्च स्वाधिकारकाले तां पुष्णन्ति सौस्वर्यादिगुणैः, ते च स्वाधिपत्यकालसमाप्तौ अग्नये प्रयच्छन्ति, अग्निश्च तां स्वगुणैः परिपोष्य मह्यं मनुष्याय वराय तां कन्यां रयिं धनं पुत्रांश्च अदात्। धनपुत्राद्यैश्वर्यवतीं तामदादित्यर्थः।

अत्र नहि दयानन्दीया नियोगिनोऽन्येभ्यो नियोगिभ्यो विधवां प्रयच्छन्ति। न वा सा कन्या भवति। किन्त्वेमे मन्त्रा विवाहसम्बन्धिनः। त्वद्रीत्यापि न विधवाविवाहो भवति। तथा गन्धर्वादयो नियोगिनां संज्ञेत्यप्यपास्तम्, त्वद्रीत्या सोमो विवाहितः प्रथमः पतिः। स किं नियोगिने स्वभार्यां प्रयच्छति? भवत्येवं सामाजिकानां क्षेत्रेषु किम्?

'इमां त्वं' हे इन्द्र, त्वमिमां वधूं सुपुत्रां सुभगां च कृणु कृधि। अस्यां वध्वां दशपुत्रानाधेहि। पतिमेकादशं कृधि। दशपुत्राः पतिरेकादशो यथा स्यात् तथा कृणु। अत्रेन्द्रो देवः प्रार्थ्यते परमेश्वरो वा, तस्यैव पुत्रदानसामर्थ्यात्। अत्र नैकादशसंख्याकाः पतयो विहिताः, किन्तु दशपुत्रानपेक्ष्य पत्युरेकादशसंख्यापूरकत्वेन ग्रहणम्। नैकादशसंख्याकपतिविधानम्, पूरणार्थप्रत्ययविरोधात्। न च सजातीयस्यैव संख्यापूरकत्वम्, यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति' इति, 'वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्' (म० भा०) इत्यादौ विजातीयेनापि संख्यापूरणदर्शनात्। सर्वथापि दयानन्दी-

'सोमः प्रथमो विविदे' इत्यादि मन्त्र का अर्थ यह है—कन्या के उत्पन्न होने पर सबसे पहले सोम ने उसे प्राप्त किया। इसलिये वही उसका पहला पालक अर्थात् पति है। इसके बाद गन्धर्व ने उसे प्राप्त किया, अतः गन्धर्व भी इसका पालक पति है। हे कन्ये, तेरा तीसरा पति अग्नि और इसके बाद चौथा पति मनुष्य है। यहाँ जन्म से लेकर आठवें वर्ष तक सोम, गन्धर्व और अग्नि क्रम से उस कन्या के पालक होते हैं और अन्त में मनुष्य उसका चौथा लौकिक पति बनता है।

'सोमो ददत्०' इत्यादि मन्त्र का यह अर्थ है—इस कन्या को सोम ने गन्धर्व को दिया। गन्धर्व ने अग्नि को दिया और इस अग्नि ने इस कन्या के साथ धन और पुत्रों को भी मुझे दिया। इसका अभिप्राय यह है कि सोम जब इसको अपने संरक्षण में रखता है, तो उसको अपने सौकुमार्य आदि गुण देता है। इसके बाद वह गन्धर्वों के संरक्षण में इसे सौंप देता है। गन्धर्व अपने संरक्षण काल में इसको मधुर स्वर आदि से संपन्न करते हैं और इसके बाद इसे अग्नि के संरक्षण में सौंप देते हैं। अन्त में अग्नि इसको अपने तेज आदि गुणों से विभूषित कर मुझ मनुष्य रूपी वर को सौंप देते हैं साथ ही वह अग्नि मुझे धन और पुत्र-पौत्रों से भी संपन्न कर देते हैं। अर्थात् धन और पुत्र आदि ऐश्वर्य से संपन्न उस कन्या को मुझे सौंप देते हैं।

इस मन्त्र में दयानन्द के द्वारा कल्पित नियोगी किसी अन्य नियोगी को विधवा को देते हो, ऐसी कोई बात नहीं है: विधवा को कोई कन्या नहीं कहता। ये सब मन्त्र विवाह से संबद्ध हैं। आपके मत से भी विधवा का विवाह नहीं होता, नियोग होता है। इस तरह से गन्धर्व प्रभृति नाम नियोग से संबद्ध व्यक्तियों के नहीं माने जा सकते। आपके मत से सोम विवाहित पहला पति है, क्या वह किसी दूसरे नियोगी को अपनी पत्नी दे देता है? क्या ऐसा आर्यसमाजियों में होता है?

'इमां त्वम्०' इत्यादि मन्त्र का अर्थ यह है—हे इन्द्र, तुम इस वधू को पुत्र-पौत्रवाली और सौभाग्यशालिनी बनाओ। इस वधू को दस पुत्र दो और पति को ग्यारहवां बनाओ। अर्थात् इस वधू के दस पुत्र होने से घर में पति को लेकर ग्यारह प्राणी हो जाय। यहां या तो इन्द्र से प्रार्थना की जायगी अथवा परमेश्वर से, क्योंकि वे ही पुत्र देने में समर्थ हैं। यहां किसी वधू के ग्यारह पतियों का विधान नहीं है, किन्तु दस पुत्रों को लेकर पति ग्यारह संख्या की पूर्ति कर सके, इसी में इसका अभिप्राय है। ग्यारह पतियों का विधान मानने में पूरणार्थक प्रत्यय का विरोध होगा। संख्या की पूर्ति सजातीय पदार्थ से ही हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि 'यजमान को पांचवां व्यक्ति बनाकर चार ऋत्विक् 'इडा' का भक्षण करते हैं', 'महाभारत को पाचवां बनाकर चार वेद पढाये' इत्यादि स्थलों में विजातीय यजमान

योऽर्थोऽनर्गल एव। 'इहैव स्तं' इति मन्त्रेण 'मावियौष्टम्' इति दम्पत्योः सहावस्थानमुक्तम्। 'सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्वां भव, ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधिदेवृषु॥' इत्यादिमन्त्रैस्तस्याः श्वशुरकुलसम्राज्ञीत्वमुक्तम्। तत्रैव माङ्गलिके प्रसङ्गेऽपि पतिमरणमेकादशपतिविधानमित्यादि सर्वमसम्बद्धमनर्गलं च।

अदेवृघ्नीति मन्त्रव्याख्याने अदेवृघ्नी देवरसेविके अपतिघ्नी विवाहितपतिसेविके इति यद् व्याख्यातं तदप्यपव्याख्यानमेव, मन्त्राक्षरविरुद्धत्वात्। देवृकामा नियोगेन द्वितीयवरस्य कामनावतीत्यपि स्वहृदयकालुष्यप्रकटनमेव, कामशब्दस्येच्छामात्रपरत्वेन यथा भ्रातरो भ्रातरं कामयन्त इत्यादाविव नियोगपरत्वाभावात्। मन्त्रार्थस्त्वेवम्—देवरमक्षपयन्ती अपतिघ्नी पतिं चाक्षपयन्ती देवरपतिघातकदौर्लक्षण्यरहिता सौलक्षण्योपेता पशुभ्यो हितकारिणी सुकान्तिमती सुयमा पातिव्रत्यादिनियमोपेता प्रशस्तपुत्रपौत्रादिप्रजायुक्ता वीरसूः स्योना सुखदायिनी देवरहितकामा सती हे वधु, त्वमपतिघ्नी एधि भव, अदेवृघ्नी भव।

किञ्चिद् भेदेनायं मन्त्रः ऋक्संहितायामपि विद्यते 'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवृकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे चतुष्पदे॥ (ऋ० सं० १०।८५।४४)। तत्र चेत्थं सायणेन व्याख्यातम्—'हे वधु, त्वमघोरचक्षुः एधि भव। तथा अपतिघ्नी भव। तथा पशुभ्यः शिवा हितकरी भव। सुमनाः सुवर्चाः भव। वीरसूः वीरपुत्राणामेव प्रसवित्री देवृकामा स्योना सुखकरी भव। सर्वथापि वेदे नियोगकथा दयानन्दकपोलकल्पितैव।

राजप्रजाधर्मविचारः

'त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः। सदांसि अपश्यमत्र मनसा जगन्वान् व्रते गन्धर्वां अपि वायुकेशान्॥' (ऋ० सं० ३।३८।६) 'क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि मा त्वा हिंसीन् मा मा हिंसीः।' (वा० सं० २०।१)

और महाभारत पांच संख्या की पूर्ति करते हैं। सभी दृष्टियों से इन मन्त्रों का दयानन्द का किया गया अर्थ अनर्गल, निराधार ही सिद्ध होता है। 'यहीं रहो', 'कभी जुदा मत होओ' इन वचनों से दम्पती के सदा साथ रहने की बात सिद्ध होती है। 'सम्राज्ञी श्वसुरे भव' इत्यादि मन्त्र में सास-ससुर, ननद, देवर आदि पर सम्राट् के समान शासन करने की शुभाशंसा वधू के प्रति व्यक्त की गई है। इस पवित्र मांगलिक अवसर पर पति के मरने की और ग्यारह खशम करने की बात सर्वथा असंबद्ध और अनर्गल ही मानी जायगी।

'अदेवृघ्नी' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में देवर की सेवा करने वाली और विवाहित पति की सेवा करने वाली, यह कहना भी सर्वथा असंगत है, क्योंकि यह व्याख्या मन्त्राक्षरों से विपरीत है। देवृकामा का अर्थ नियोग के द्वारा द्वितीय वर की कामना करने वाली, यह करना भी अपने मन की कालिमा को ही प्रकट करना है। काम शब्द इच्छामात्र का वाचक है, जैसे कि भाई भाई को चाहता है। इसमें नियोग की चर्चा का कोई प्रसंग नहीं है। मन्त्र का सही अर्थ यह है—देवर के और पति के अपघात का कारण न बनती हुई अर्थात् इस तरह के बुरे लक्षणों से रहित सुलक्षणा, पशुओं का हित करने वाली, सुन्दर कान्तिवाली, तेजस्विनी, पातिव्रत्य आदि यम-नियमों से युक्त, गुणवान् पुत्र-पौत्र आदि सन्तति से परिपूर्ण, वीरप्रसू, सुख देनेवाली, देवर का हित करने वाली हे वधू, तुम पति और देवर को किसी प्रकार की हानि न पहुंचावो।

थोड़े अन्तर से यह मन्त्र ऋक् संहिता में भी मिलता है। सायण ने उसका अर्थ इस तरह से किया है—हे वधु, तुम्हारी दृष्टि किसी के लिये भयकारक न हो, तुम पति का नाश करने वाली न बनो, तुम पशुओं का हित करो। तुम्हारा मन तेजस्वी बने। तुम वीर पुत्रों को पैदा करो और देवर की शुभकामना करनेवाली और सुख देने वाली बनो। इस तरह से वेद में नियोग की बात केवल दयानन्द की कपोल कल्पना है। मनु ने विधवा के विवाह का स्पष्ट निषेध किया है। शास्त्रों में इसको पशु व्यवहार बताया गया है कि पति के मर जाने पर विधवा को अन्य पुरुष का नाम भी नहीं लेना चाहिये। रेखांकित बात, अनुवादक ने अपने मन से लिखी है मूल में नहीं है।

२२. राजा और प्रजा के धर्म का विचार

'त्रीणि राजाना०' इत्यादि मन्त्रों को उद्धृत कर दयानन्द ने लिखा है कि इनमें राजा के कर्तव्यों का विधान है। प्रथम मन्त्र की व्याख्या में दयानन्द कहते हैं—'तीन प्रकार की सभा को ही राजा मानना चाहिये, एक मनुष्य को कभी नहीं। वे तीनों ये

'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। तं लोकं पुण्यं यज्ञेयं यत्र देवाः सहाग्निना ॥' (वा० सं० २०।२५)। यत्त्वत्रोक्तम्—'यथा सूर्यचन्द्रौ राजाना सर्वमूर्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतः, तथा प्रकाशन्याययुक्तौ व्यवहारौ त्रीणि सदांसि भूषथः भूषयतोऽलङ्कुरुतः। विदथे ताभिः समाभिरेव युद्धे पुरूणि बहूनि विजयादीनि सर्वाणि वस्तूनि प्राणिजातानि च भूषयन्ति' (पृ० २४९) इति, तत्त्वसङ्गतमेव, उदक्षरत्वात्। तथाहि—राजाना इतिपदेन कथं चन्द्रसूर्यवत्प्रकाशमानयोः सूर्यचन्द्रशीलयोर्व्यवहारयोर्ग्रहणम्? मूले व्यवहारपदाभावात्। राजग्रहणमेव कुतो न स्यात्? इन्द्रावरुणौ राजानौ कुतो न ग्राह्यौ? लक्षणापि शक्यार्थसम्बन्धिन्येव भवति सत्यामनुपपत्तौ यथाश्रुतार्थग्रहणे। न चात्रानुपपत्तिं पश्यामः। एवमेव सदःशब्देन सवनोऽपि ग्रहीतुं शक्यते यागप्रसङ्गे श्लिष्यते च। वेदेषु त्रीणि सवनानि प्रसिद्धानि न तथा सदांसि प्रसिद्धानि, ताभिः पुरूणि विजयादीनीत्यत्रापि किं बीजम्?

'उदु ब्रह्माणमितष्टे वे तीतरावहरहः शस्ये' (आश्व० श्रौ० सू० ७।४) सूत्रेण माध्यन्दिने सवने अच्छावाकशस्त्र एतत्सूक्तम्। तथा चैवं मन्त्रार्थः—हे राजानौ इन्द्रावरुणौ विदथेऽस्मिन् यज्ञे विश्वानि व्याप्तानि पुरूणि यजनीयैः सोमादिभिः पूर्णानि त्रीणि सदांसि सवनानि परिभूषथः सर्वतोऽलङ्कुरुतः। हे इन्द्र त्वं जगन्वान् यज्ञं प्रतिगतवानसि। अपि सम्भावनायाम्। यतोऽहं यत्र व्रते यज्ञे वायुकेशान् वायुवत् चञ्चलरश्मीन् गन्धर्वान् सोमरक्षकान् स्वानभ्राजादीन् मनसाऽपश्यम्। ते च स्वानभ्राजादयः तैत्तिरीयके स्पष्टमुक्ताः। 'स्वानभ्राजाङ्घारेबम्भारे हस्तसुहस्तकृशानवेते वःसोमक्रयणास्तान् रक्षध्वं भावोदमन्' (तै० सं० १।२।७) तस्मादत्र मन्त्रे राजधर्मस्वप्नदर्शनमक्षरार्थाज्ञानमूलकमेव मन्त्राक्षरास्वारस्यात्।

यदप्युक्तं सभात्रयं निरूपयता—'राजार्यसभा तत्र विशेषतो राजकार्याण्येव भवेयुः, द्वितीयार्यविद्यासभा तत्र विशेषतो विद्याप्रचारोन्नती एव कार्ये भवतः। तृतीयार्यधर्मसभा, तत्र विशेषतो धर्मोन्नतिरधर्महानिश्चोपदेशेन कर्त्तव्या। परन्त्वेतास्तिस्रः सभाः सामान्ये कार्ये मिलित्वैव सर्वानुत्तमान् व्यवहारान् प्रजासु प्रचारयेयुः' इति, यत्रैतासु धर्मात्मभि-

हैं—प्रथम राज्य प्रबन्ध के लिये एक आर्य राजसभा, जिससे कि विशेष करके सब राज्य कार्य ही सिद्ध किये जावें। दूसरी आर्य विद्या सभा, जिससे कि सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाय। तीसरी आर्य धर्म सभा, जिससे कि धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे। इन तीन सभाओं से युद्ध में सब शत्रुओं को जीत कर नाना प्रकार के सुखों से विश्व को परिपूर्ण करना चाहिये' (पृ० २५०-२५१), किन्तु यह व्याख्या असंगत है, मन्त्राक्षरों में इसका कोई संबन्ध नहीं है। जैसे कि 'राजाना' इस पद से चन्द्र और सूर्य के समान प्रकाशमान व्यवहारों का ग्रहण कैसे होगा? मूल में तो व्यवहार शब्द विद्यमान है नहीं। इससे राजा का ग्रहण क्यों नहीं होगा? इन्द्र और वरुण का यह 'राजाना', जो कि राजानौ के स्थान पर वैदिक व्याकरण से सिद्ध रूप है, पद से ग्रहण क्यों नहीं होगा? लक्षणा भी शब्द अर्थ से संबद्ध ही हो सकती है। वह भी तब, जब कि अर्थ जैसा सुनाई पड़ता है, उसकी उपपत्ति न बनती हो। यहां कोई अनुपपत्ति नहीं दिखाई देती। इसी तरह से 'सदः' शब्द से सवन का भी ग्रहण हो सकता है और उसका याग से संबन्ध वैसा भी है। वेदों में तीन सवन जिस तरह से प्रसिद्ध हैं, उस तरह से सभाएं प्रसिद्ध नहीं हैं। उनसे युद्ध में विजयों की प्राप्ति होती है, ऐसा अर्थ करने में क्या प्रमाण है?

आश्वलायन श्रौतसूत्र के अनुसार मन्त्र का अर्थ यह होगा—हे इन्द्र और वरुण राजाओं, हमारे इस यज्ञ में यजनीय सोम आदि सामग्रियों से परिपूर्ण तीन सवनों को आपलोग अलंकृत करें। हे इन्द्र, क्या तुम यज्ञ में जाने वाले हो। मैंने उस यज्ञ में पवन के समान चंचल गतिवाले, सोम के रक्षक स्वानभ्राज प्रभृति गन्धर्वों को जाते देखा है है। स्वानभ्राज प्रभृति गन्धर्वों का उल्लेख तैतिरीय संहिता में मिलता है। इस तरह से इस मन्त्र में राजधर्म के वर्णन के सपने देखना, मन्त्राक्षरों का ठीक परिज्ञान न होने से ही संभव हो सकता है, मन्त्र के शब्दों का इस अर्थ के बोधक में कुछ भी स्वारस्य नहीं।

तीन सभाओं और उनके कार्यों का उल्लेख करने के बाद दयानन्द ने लिखा है कि 'इन सभाओं में धर्म को जानने वाले विद्वान् सही और गलत बात का निश्चय करके कर्तव्य का विधान और अकर्तव्य का निषेध करते हैं। ऐसा करने से प्रजा सदा सुखी रहती है। इसके विपरीत जहां एक राजा रहता है, वहां की प्रजा दुःखी रहती है। ईश्वर का कहना है कि जहां सभा के

विद्वद्भिः सारासारविचारेण कर्त्तव्याकर्त्तव्यस्य प्रचारो निरोधश्च क्रियते। तत्र सर्वाः प्रजाः सदैव सुखयुक्ता भवन्ति। यत्रैको मनुष्यो राजा भवति तत्र पीडिताश्चेति निश्चयः। अवश्यमत्र ईश्वरोऽभिवदति यत्र सभया राजप्रबन्धो भवति तत्र सर्वाभ्यः प्रजाभ्यो हितं जायते। (व्रते) यो मनुष्यः सत्याचरणे मनसा विज्ञानेन सत्यं न्यायं जगन्वान् विज्ञातवान् स राजसभामर्हति नेतरश्च। गन्धर्वान् पूर्वोक्तासु सभासु पृथिवी राजपालनादिव्यवहारेषु कुशलान् अपि वायुकेशान् वायुवत् दूतप्रचारेण विदितसर्वव्यवहारान् सभासदः कुर्यात्। केशाः सूर्यरश्मयः तद्वत्सत्यन्यायप्रकाशकान् सर्वहितं चिकीर्षून् धर्मात्मनः सभासदः स्थापयितुमहमाज्ञापयामि नेतराश्चेतीश्वरोपदेशः सर्वैर्मन्तव्यः' इति। तदेतत्सर्वं तत्कपोलकल्पितमेव। तन्नाम्नीनां सभानां सत्त्वे प्रमाणाभावात्। यथा सनातनिभाष्येषु प्रतिपादिता अर्था मन्त्रैर्ब्राह्मणैः श्रौतसूत्रैश्च समर्थ्यन्ते, न तथात्र व्याख्याने ब्राह्मणादिभिस्तिस्रः सभास्तत्कार्याणि तद्विभागाश्च समर्थ्यन्ते। ईश्वरोऽत्राभिवदतीत्यत्रापि मूलं चिन्त्यम्। यत्र सभया राजप्रबन्धो भवति, तत्रैव प्रजाहितं भवतीत्यपि न मन्त्रस्वारस्यम्। व्रते सत्यधर्माचरणे जगन्वानित्यस्य कर्मत्वेन सत्यस्य न्यायस्य च ग्रहणे किं बीजम्? इति तु नोक्तम्। गन्धर्वानित्यस्य पृथिवीराजपालनादिव्यवहारकुशलान् इत्यर्थकरणेऽपि किञ्चिद् बीजं नोपलभ्यते। नृत्यवादित्रादिकुशला नात्रार्थ इत्यत्र विनिगमनाभावात् न च राजव्यवहारप्रसङ्ग एव विनिगमनेति वाच्यम्, मन्त्राक्षरै राजव्यवहारनिर्णये सत्येव तदनुरोधेनार्थनिर्णयो युक्तः। अत्र तु मन्त्राक्षरैर्न तथाऽर्थनिर्णयः, ब्राह्मणसूत्रानुसार्यर्थस्तूक्त एव।

'क्षत्रस्य योनिः' (वा० सं० २०।१) इति। यदुक्तमत्र—'हे परमेश्वर' त्वं क्षत्रस्य राजव्यवहारस्य योनिर्निमित्तमसि, तथा क्षत्रस्य नाभिरसि, राजधर्मस्य त्वं प्रबन्धकर्तासि, तथैव नोऽस्मानपि कृपया राज्यपालननिमित्तान् क्षत्रधर्मप्रबन्धकर्तॄंश्च कुरु। (मा त्वा) तथास्माकं मध्यात् कोऽपि जनस्त्वां मा हिंसीत् भवन्तं तिरस्कृत्य नास्तिको मा भवतु। तथा त्वं मां मा हिंसीरर्था-

द्वारा राजकाज का प्रबन्ध होता है, वहाँ सारी प्रजा का हित होता है। सभा के लायक वही व्यक्ति हो सकता है, जो कि मन से सत्य आचरण और न्याय के पक्ष को स्वीकार करता है। पूर्वोक्त सभाओं में गन्धर्वों को अर्थात् सारी पृथिवी के राजकाज के संचालन में समर्थ और पवन की तरह सर्वत्र व्याप्त अपने दूतों (गुप्तचरों) की सहायता से दुनियाभर की सारी बातों की जानकारी रखने वालों को सदस्य बनावें। केश शब्द सूर्य की रश्मियों का द्योतक है। जैसे सूर्य की किरणें चारों तरफ प्रकाश फैलाती हैं, उसी तरह से सत्य और न्याय के प्रकाशक, सबका हित करने की इच्छा वाले, धर्मात्मा सभासदों को उस सभा में रखने के लिये मैं ईश्वर आदेश देता हूँ। इनसे विपरीत स्वभाव वाले व्यक्तियों को सभासद न बनाया जाय, यह मेरा आदेश सभी को मानना चाहिये' (पृ० २४९-२५०), किन्तु यह सारी दयानन्द की कपोल कल्पना है, इन नामों की सभाओं की स्थिति वेद से सिद्ध नहीं हो पाती। जैसे सनातनियों के भाष्यों में प्रतिपादित अर्थों की पुष्टि मन्त्र, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र आदि से भी होती है, उस तरह से दयानन्द की व्याख्या में प्रदर्शित तीन सभाओं की उनके कार्यों की और विभागों की पुष्टि इनसे नहीं होती। इस मन्त्र में ऐसी बात ईश्वर कहता है, इसकी भी पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं है। जहाँ से सभा द्वारा राजकाज का संचालन होता है, वहीं प्रजा का कल्याण होता है, यह भी मन्त्र का अभिप्राय नहीं है। व्रत का अर्थ सत्य-धर्म का आचरण है। इसमें 'जगन्वात्' इस क्रिया के कर्म के रूप में सत्य और न्याय का ग्रहण करने में प्रमाण क्या है? यह दयानन्द ने नहीं बताया। गन्धर्व पद का राजकाज चलाने में कुशल, यह अर्थ कैसे होगा, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं दिया गया। गन्धर्व का अर्थ नाचने वाले में कुशल नहीं होगा, इसमें क्या तर्क आप देते हैं। राज व्यवहार के प्रसंग में नाचने-गाने वालों का उल्लेख कैसे हो सकता है, आपकी यह बात भी यहाँ इसलिये लागू नहीं होगी कि इस मन्त्र में राज व्यवहार का वर्णन है, इस बात के सिद्ध हो जाने पर ही आप ऐसा कह सकते हैं, किन्तु मन्त्र में आये पदों से इस तरह का अर्थ नहीं निकलता। ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों के आधार पर इस मन्त्र का अर्थ निकलता है, उसको हम पहले अभी मिटा चुके हैं।

'क्षत्रस्य योनिरसि०' इस मन्त्र का अर्थ यह किया गया है—'हे राज्य के देने वाले परमेश्वर, आप ही राज्यसुख के परम कारण हैं। आप ही राज्य के जीवन हेतु हैं तथा क्षत्रिय वर्ण के राज्य का कारण और जीवन सभी आप ही हैं। हे जगदीश्वर, सब प्रजा आपको छोड़कर किसी दूसरे को अपना राजा न माने और आप भी हम लोगों को कभी मत छोड़िये। किन्तु आप और हम

न्मम तिरस्कारं कदाचिन्मा कुर्याः। यतो वयं भवत्सृष्टौ राज्याधिकारे सदा भवेम' (पृ० २५०) इति, तदपि विश्रृङ्खलम्, वक्तृत्वनिर्णयस्य यथेष्टत्वेऽर्थस्यापि यथेष्टत्वापत्त्या शाब्दन्यायातिपातात्। क्षत्रपदस्यापि क्षत्रजातिरर्थः, कोषादिसिद्धो राजव्यवहारस्तु लाक्षणिकः। लक्षणा चानुपपत्तिमूलिका, न चेह काचिदनुपपत्तिर्दृश्यते। नाभिरित्यस्य 'प्रबन्धकर्तासि' इत्यपि निर्मूलम्, मा त्वा हिंसीत्, नहीश्वरस्य हिंसा सम्भवति, तस्य शस्त्राद्यगोचरत्वेन नित्यत्वात्। त्वं मां मा हिंसीरित्यपि निरर्थकम्, कारणमन्तरा परमेश्वरकर्तृकहिंसाया अप्राप्तत्वात्। लाक्षणिकार्थाश्रयणमन्तरा कस्यापि पदस्य यत्र व्याख्यानं न कर्तुं शक्यते, तद्व्याख्यानमपव्याख्यानमेव।

कात्यायनादिभिर्महर्षिभिरस्य मन्त्रस्यासन्द्याधाने विनियोग उक्तः, 'सोमासन्दीवदासन्दीं जानुमात्रपदीं वेद्योर्निदधाति क्षत्रस्य योनिरिति' (का० श्रौ० सू० १९।४।८) इति वचनात्। जानुप्रमाणपादामासन्दीं वेद्योर्मध्ये निदधाति, सोमासन्दीवसदिति। मुञ्जरज्जुकृताया आसन्द्या द्वौ पादौ दक्षिणवेद्यां द्वावुत्तरवेद्यां यथा भवेतां तथेति तदर्थः। तथा चासन्दीदेवताको द्विपदागायत्रीरूपो मन्त्रः। तथा च हे आसन्दि, त्वं क्षत्रस्य शासकस्य राज्ञो योनिरुत्पत्तिस्थानमसि, आसन्द्यामभिषिक्ताधिराजस्य राज्ञः क्षत्रगुणधर्मार्हत्वात्। क्षत्रनाभिः नहनं बन्धनं चासि। राजसिंहासनस्यैव क्षत्रगुणाश्रयत्वात्। सिंहासनं केन्द्रीकृत्य राजधर्मप्रवृत्तेः। 'कृष्णाजिनमस्यामास्तृणाति मा त्वेति' (का० श्रौ० सू० १९।४।८)। अस्यामासन्द्यां कृष्णाजिनमाच्छादयन् मा त्वेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। इयं कृष्णाजिनदेवत्या प्राजापत्या गायत्री। तत्र यज्ञाध्यासेन प्रार्थ्यते—हे कृष्णाजिनाभिन्न यज्ञ, आसन्दी त्वा त्वां मा हिंसीत्। राजसिंहासनस्योग्रत्वात् हननं प्राप्तं तन्न स्यात्। त्वं च मा मां मा हिंसीः मा जहि। 'यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञस्य चैवात्मनश्च हिंसायै' (श० १२।८।३।९) इति श्रुतेः। सर्वथापि दयानन्दीयोऽर्थः कपोलकल्पित एव। सायणाद्युक्तार्थस्तु श्रुतिसूत्रानुसार्येवेति स्पष्टम्। राजधर्मस्यात्र प्रसङ्ग एव नास्ति।

लोग परस्पर सदा अनुकूल वर्ताव करें' (पृ० २५१) यह व्याख्या भी उटपटांग ही है, वक्ता को मनमानी करने की छूट दी जाय तो वह इसी तरह से मनमाना अर्थ करेगा और इस तरह से शब्दार्थ संबन्ध की व्यवस्था में गड़बड़ी हो जायगी। क्षत्र पद का अर्थ क्षत्रिय जाति ही होगा, कोश आदि से संपन्न राजव्यवस्था में उसका प्रयोग लाक्षणिक ही माना जायगा। लक्षणा तभी होती है, जबकि उसका शक्य अर्थ सही न बैठता हो। ऐसी कोई अनुपपत्ति क्षत्र पद का अर्थ करते समय यहां नहीं दिखाई पड़ती। नाभि का अर्थ प्रबन्ध करने वाला भी सही नहीं है। मा त्वा हिंसीत् का संबन्ध परमेश्वर से नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसकी किसी भी प्रकार से हिंसा नहीं की जा सकती, वह तो नित्य है, उसकी शस्त्र से कुछ हानि कैसे हो सकती है? तुम मुझे मत मारो, यह भी असंगत है, क्योंकि परमेश्वर बिना कारण किसी को क्यों मारेगा?

कात्यायन प्रभृति महर्षियों ने इस मन्त्र का विनियोग आसन्दी के आधान में किया है। अपने घुटनों के बराबर ऊंचे पैरों वाली आसन्दी (कुड़सी) को दो वेदियों के बीच में रखा जाता है। मूंज की रस्सी से बनी इस आसन्दी के दो पैर दक्षिण वेदि पर और दो पैर उत्तर वेदि पर रखे जाते हैं। इस आसन्दी देवता के आवाहन में इस द्विपदा गायत्री छन्द वाले मन्त्र का विनियोग है। इसका अर्थ यह होगा—हे आसन्दि, तुम शासक राजा को उत्पन्न करने वाली हो, क्योंकि आसन्दी पर बैठा कर अभिषेक करने पर ही राजा राजसिंहासन का और प्रजा के पालनरूप क्षत्रगुण का भी अधिकारी होता है। तुम क्षात्र धर्म की नाभि हो, बन्धन हो, क्योंकि राजसिंहासन को केन्द्रित करके ही सारी शासन व्यवस्था चलती है। 'मा त्वा' इत्यादि अंश का उच्चारण करते हुए आसन्दी पर काला मृगचर्म बिछाया जाता है। इसका कृष्णाजिन देवता और छन्द प्राजापत्या गायत्री है। इसी को यज्ञ मानकर प्रार्थना की जाती है। हे कृष्णाजिन से अभिन्न यज्ञ, आसन्दी तुम्हें कुछ नुकसान न पहुंचावे। राजसिंहासन बहुत उग्र होता है, उससे कुछ हानि की संभावना हो सकती है। साथ ही तुम मुझे भी कुछ नुकसान मत पहुंचावो। कृणाजिन में यज्ञ का आरोप करने में और इस मन्त्र का यह अर्थ कहने में शतपथब्राह्मण के वचन भी सहायक हैं। दयानन्द का अर्थ तो सर्वथा कपोलकल्पित है। सायण का अर्थ इसके विपरीत श्रुति, सूत्र आदि से समर्थित है। राजधर्म की तो यहां कोई चर्चा ही नहीं है।

'यत्र ब्रह्म च' इति । अत्र यदुक्तम्—'यत्र देशे ब्रह्म परमेश्वरो वेदो वा ब्राह्मणो ब्रह्मविच्च तत्सर्वं ब्रह्म तथा क्षत्रं शौर्यधैर्यादिगुणवन्तो मनुष्याश्चैतौ सम्यञ्चौ यथावद्विज्ञाने युक्ताविरुद्धौ चरतः सह तं लोकं तं देशं पुण्ययुक्तमशेषं यज्ञकरणेच्छाविशिष्टं जानीमः । यत्र देवाः सहाग्निना यस्मिन् देशे विद्वांसोऽग्निना परमेश्वरेणाग्निहोत्रादियज्ञानुष्ठानेन च सह वर्तन्ते, तत्रैव प्रजाः सुखिन्यो भवन्तीत्यर्थः' (पृ० २५०) इति, तदपि यत्किञ्चित्, परमेश्वरस्य सर्वव्यापकत्वेन यत्रेतिविशेषणायोगात् । वेदस्य ब्रह्मवेदनस्य चाधिकृतपुरुषाश्रयत्वं न देशाश्रयत्वम्, तथैव शौर्यधैर्यादयोऽपि न देशधर्माः । तादृशब्रह्मक्षत्रयोश्च गुणरूपत्वान्न विज्ञानाश्रयत्वम् । देशो नहि यज्ञेच्छाविशिष्टः सम्भवति, इच्छाया देशस्थजनाश्रयत्वात् । अग्नि-देवादिशब्दाश्च प्रसिद्धार्थका एव । न तयोः परमेश्वरो विद्वांसश्चार्थः, प्रसिद्धार्थत्यागे हेत्वभावात् ।

सायणादिसम्मतोऽर्थस्तु—पुण्यं पवित्रं लोकं प्रज्ञेषं प्रज्ञयोपासनया ज्ञानेन वा इष्यत इति तथोक्तम्, जानीयामिति । लोकमप्राप्तानां लोकज्ञानं न सम्भवतीत्यतस्तल्लोकगमनं प्रार्थ्यते । तं कं यत्र लोके ब्रह्मविद्यातपोभ्यां युक्ता ब्राह्मणजातिः क्षत्रं शौर्याद्युपेता क्षत्रियजातिश्च सहावियोगेनान्योन्यसहयोगेन चरतस्तिष्ठतो ब्राह्मबलं क्षात्रबलं च यत्र भवतः । ते च ब्रह्मक्षत्रे यत्र सम्यञ्चौ । लिङ्गव्यत्ययः, समीची, सम्यक् अञ्चतः, उत्कर्षमुद्गतौ तत्रैव चाग्निना अग्न्याख्येन देवेन सह देवा इन्द्रादयः सञ्चरन्ति । ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्च यं देशं गच्छन्ति, तं देवलोकं प्राप्नुयामित्यर्थः ।

'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभिषिञ्चामि ।' (वा० सं० २०।४) यदुक्तमत्र—'हे सभाध्यक्ष स्वप्रकाशमानस्य सर्वस्य जगत उत्पादकस्य परमेश्वरस्य प्रसवेऽस्यां प्रजायाम् अश्विनोर्बाहुभ्यां सूर्याचन्द्रमसोर्बलवीर्याभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां पुष्टिकर्तुः प्राणस्य ग्रहणदानाभ्यामश्विनोर्भैषज्येन पृथिव्यन्तरिक्षौषधिसमूहेन सर्वरोगनिवारकेण सह वर्तमानं त्वां तेजसे न्यायादिगुणप्रकाशाय ब्रह्मवर्चसाय

'यत्र ब्रह्म च०' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या में कहा गया है—'जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण विद्यासभा और राजसभा विद्वान् शूरवीर क्षत्रिय लोग ये सब मिलकर राजकार्य को सिद्ध करते हैं, वही देश धर्म और शुभ क्रियाओं से संयुक्त होकर सुख को प्राप्त होता है। जिस देश में परमेश्वर की आज्ञा का पालन होता है और अग्निहोत्र आदि सत्क्रियाओं से वर्तमान विद्वान् होते हैं, वही देश सब उपद्रवों से रहित होकर अखण्ड राज्य को नित्य भोगता है' (पृ० २५१), यह व्याख्या भी गलत है, क्योंकि परमेश्वर तो सर्वत्र व्याप्त है, इसलिये किसी एक देश में उसका उल्लेख नहीं बन सकता । वेद तो ब्रह्म का ज्ञान है, वह अधिकारी पुरुष में ही होगा, किसी देश विशेष में नहीं । इसी तरह से शौर्य, धैर्य आदि भी किसी देश के धर्म नहीं होंगे । इस तरह के ब्रह्म और क्षत्र का स्वरूप गुण की तरह का है, अतः उनकी सत्ता विज्ञान में नहीं मानी जा सकती । कोई स्थान यज्ञ की इच्छा से युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि इच्छा तो किसी प्रदेश में स्थित पुरुष में ही रहेगी । अग्नि, देवता प्रभृति शब्द का भी प्रसिद्ध अर्थ ही हो सकता है, इन दोनों शब्दों का अर्थ परमेश्वर और विद्वान् नहीं हो सकता, क्योंकि प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ देने में कोई प्रमाण नहीं है ।

इस मन्त्र का सायण संमत अर्थ यह है—पुण्य पवित्र लोक को मैं प्रज्ञा अर्थात् उपासना या ज्ञान के द्वारा जान जाऊं । जबतक उस लोक में नहीं जायंगे, तब तक उसका ज्ञान न प्राप्त होगा, अतः उस लोक में जाने की प्रार्थना की जाती है । उस किस लोक में ? जिस लोक में कि विद्या और तप का आचरण करने वाली ब्राह्मण जाति, शौर्य आदि गुणों से युक्त क्षत्रिय जाति के साथ एक दूसरे का सहयोग करती हुई निवास करती है और जहां ब्रह्म और क्षत्र का अत्यन्त उत्कर्ष रहता है, वहीं इन्द्र प्रभृति देवगण भी आते जाते रहते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि जिस स्थान में ब्राह्मण और क्षत्रिय जाते हैं, उस देवलोक को मैं भी प्राप्त करूं ।

'देवस्य त्वा०' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या करते हुए दयानन्द ने कहा है—'हे सभाध्यक्ष, आप सब जगत् को प्रकाशित और उत्पन्न करने वाले ईश्वर की सृष्टि में प्रजापालन के लिये सूर्य-चन्द्रमा के बल-वीर्य से, पुष्टि करने वाले प्राण के ग्रहण और दान के शक्तिरूप हाथों से आपको सभाध्यक्ष होने में स्वीकार करते हैं । परमेश्वर कहता है कि पृथिवीस्थल और शुद्ध वायु इन ओषधियों से दिन-रात में सब रोगों से तुमको निवारण करके सत्य-न्याय के प्रकाश, ब्रह्म के ज्ञान और विद्या की वृद्धि के लिये तथा परमेश्वर

पूर्णविद्याप्रचाराय अभिषिञ्चामि। सुगन्धिजलैर्मूर्ध्नि मार्जयामि।' (पृ० २५१) इति, तदपि न सम्यक्, निर्मूलत्वात्। 'हे सभाध्यक्ष' इत्यस्य सम्बोधनस्य मूलानुपलम्भात्। सवितृशब्दोऽपि सवितरि सूर्ये प्रसिद्धः। तत्त्यागे बीजानुक्तेः। एवमेव प्रसवशब्देन प्रजाग्रहणम्, बाहूशब्देन बलवीर्यग्रहणमपि निर्मूलमेव। पूष्णः पुष्टिकर्तुः हस्ताभ्यां ग्रहणदानाभ्यामित्यपि निर्मूलमेव।

'देवस्य त्वा' इति मन्त्रो 'देवस्य त्वेति गृह्णात्याग्नेयमिति' (का०श्रौ०सू० २।३।२०) इति कात्यायनसूत्रानुसारेण हविरादाने विनियुक्तः। हे हविः, सवितुः प्रसवे प्रेरणे सति तेन प्रेरितोऽहं अग्नये त्वा अग्नीषोमाभ्यां व्यासक्तदेवताभ्यां च अश्विनोर्देवविशेषयोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वां जुष्टं गृह्णामि। अंशमणिबन्धयोर्मध्यभागे दीर्घदण्डाकारो बाहुः, पञ्चाङ्गुलियुक्ताग्रभागो हस्तः। 'अश्विनौ हि देवानामध्वर्यू', 'पूषा हि देवानां भागभुक्' तेनाध्वर्युणा स्वबाह्वोरश्विनोर्बाहुभावना स्वहस्तयोश्च पूषहस्तभावना कार्येति विज्ञायते। अर्थात् सर्वात्मकस्याग्नेर्महामहिम्नो हविर्ग्रहणं न मनुष्येण स्वमानुषबाहुभ्यां कर्तुं शक्यते। अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां तद्भावनाभाविताभ्यां दिव्याभ्यामेव बाहुभ्यां हस्ताभ्यां च तत्कर्तुं शक्यते। अश्विनौ च देवानां भिषजौ। तयोर्भैषज्येन तेजसे दीप्त्यै ब्रह्मवर्चसाय ब्राह्माय तेजसेऽभिषिञ्चामीति कथञ्चिदस्य मन्त्रस्य लिङ्गबलादभिषेकेण सम्बन्धः।

'इन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रिये यशसेऽभिषिञ्चामि। कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा सुश्लोकं सुमङ्गलं सत्यराजना। शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि। राजा मे प्राणोऽमृतं सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥' अत्रापि यदुक्तम्—'इन्द्रस्य परमेश्वरस्य इन्द्रियेण परमैश्वर्येण विज्ञानेन बलाय उत्तमबलार्थं चक्रवर्तिराज्यलक्ष्मीप्राप्त्यर्थं त्वां यशसेऽतिश्रेष्ठकीर्त्यर्थं चाभिषिञ्चामि। कोऽसि, हे परमात्मन् त्वं सुखरूपोऽसि, भवानस्मानपि सुखयुक्तान् करोतु। कतमोऽसि

के परमैश्वर्य और राज्य के विज्ञान से उत्तम सेना, सर्वोत्तम लक्ष्मी और सर्वोत्तम कीर्ति की प्राप्ति के लिये मैं तुम लोगों को सभा करने की आज्ञा देता हूँ कि यह आज्ञा राजा और प्रजा के प्रबन्ध के अर्थ में है। इससे सब मनुष्य लोग इसका यथावत् प्रचार करें' (पृ० २५२)। यह अर्थ भी निराधार होने से सही नहीं है। 'हे सभाध्यक्ष' यह संबोधन मूल में विद्यमान नहीं है। सवितृ शब्द भी सूर्य के अर्थ में प्रसिद्ध है। इस अर्थ का त्याग करने का कोई कारण नजर नहीं आता। इसी तरह से प्रसव शब्द से प्रजा का, बाहू शब्द से बल-वीर्य का और पूषन् शब्द से पुष्टि के कर्ता के ग्रहण और दानरूप दो हाथों का ग्रहण करने में भी कोई प्रमाण नहीं है।

वास्तव में कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार इस मन्त्र का विनियोग हवि के ग्रहण में किया गया है। हे हवि, सविता देवता की प्रेरणा से मैं तुम्हें अग्नि देवता के लिये, अग्नि और सोम इन संमिलित देवताओं के लिये अर्पित कर रहा हूँ। मैं अश्विनीकुमारों की बाहुओं और पूषा देवता के हाथों से तुमको उठा रहा हूँ। कन्धे और मणिबन्ध (कलाई) के बीच का दण्डाकार भाग बाहु और पांच अंगुलियों के साथ आगे का भाग हस्त कहलाता है। ऊपर उद्धृत श्रुति के अनुसार अध्वर्यु को अपने बाहुओं में अश्विनीकुमारों की बाहुओं की और अपने हाथों में पूषा के हाथों की भावना करनो चाहिये। अर्थात् महान् महिमाशाली, सर्वात्मक, अग्नि को हवि मनुष्य अपने सामान्य हाथों से नहीं दे सकता, अतः अध्वर्यु अपने बाहुओं और हाथों के लिये यह भावना करता है कि ये मेरे न होकर अश्विनीकुमारों और पूषा देवता के हैं। अश्विनीकुमार देवताओं के वैद्य हैं, अतः उनकी चिकित्सा में रहकर तेज अर्थात् दीप्ति और ब्रह्मवर्चस अर्थात् ब्राह्मण के तेज की प्राप्ति के लिये मैं तुम्हें अभिषिक्त करता हूँ। इतना अर्थ किसी तरह से इस मन्त्र का लिंग की सामर्थ्य से निकाला जा सकता है।

'इन्द्रस्येन्द्रियेण०' इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या इस तरह से की गई है—'इन्द्र अर्थात् परमेश्वर के परमैश्वर्य और राज्य के विज्ञान से उत्तम सेवा, सर्वोत्तम लक्ष्मी और सर्वोत्तम कीर्ति की प्राप्ति के लिये मैं तुम लोगों को सभा करने की आज्ञा देता हूँ कि यह आज्ञा राजा और प्रजा के प्रबन्ध के लिये है। इससे सब मनुष्य लोग इसका यथावत् प्रचार करें। हे महाराजेश्वर, आप सुखस्वरूप, अत्यन्त आनन्दकारक हैं, हम लोगों को भी सब आनन्द से युक्त कीजिये। हे सर्वोत्तम कीर्ति के देने वाले तथा शोभन मंगल रूप आनन्द के करने वाले जगदीश्वर, सत्यस्वरूप और सत्य के प्रकाश करने वाले, हम लोगों के राजा तथा सब सुखों के देने वाले आप ही हैं।

त्वमत्यन्तानन्दयुक्तोऽसि, अस्मानपि राजसभाप्रबन्धेनानन्दयुक्तान् सम्पादय। कस्मै नित्यसुखाय त्वामाश्रयामः। तथा काय त्वा सुखरूपराज्यप्रदाय त्वामुपास्महे। सुश्लोक सत्यकीर्ते सुमङ्गलकारक हे सत्यप्रकाशक सत्यराज्यप्रदेश्वर अस्मद्राज्यप्रदेश्वर, अस्मद्राजसभाया भवानेव महाराजाधिराजोऽस्तीति वयं मन्यामहे। सभाध्यक्ष एवं मन्येत। शिरो मे श्रीः, राज्यश्रीर्मम शिरोवत्, यश उत्तमकीर्तिर्मुखवत्, त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि सत्यन्यायदीप्तिः ममकेशश्मश्रुवत्, राजा मे प्राणः परमेश्वरः शरीरस्थो जीवनहेतुर्वायुश्च मम राजवत्, अमृतं सम्राट् मोक्षाख्यं सुखं ब्रह्मवेदश्च सम्राट् चक्रवर्तिराजवत्, चक्षुर्विराट् सत्यविद्यागुणानां विविधप्रकाशकरणं श्रोत्रं चक्षुर्वत्, एवं सभासदोऽपि मन्येरन्। एतानि सभाध्यक्षस्य सभासदां चाङ्गानि सन्तीति सर्वे विजानीयुः' (पृ० २५१-२५२) इति। तदेतत्सर्वमसङ्गतं वेदार्थबाह्यमेव, वेदाक्षराननुगतत्वात्। 'अध्वर्युर्यजमानं स्पृशति' (का० श्रौ० सू० १९।४।१९) इति सूत्रविरुद्धं च।

कात्यायनमहर्षिणा यजमानस्पर्शनेऽस्य विनियोग उक्तः। तस्मात् हे यजमान इत्येव सम्बोधनम्। त्वं कः प्रजापतिरसि। परमात्मन्निति सम्बोधने बीजाभावात्। कतमोऽसि अतिशयेन प्रजापतिरसि। बहवः प्रजापतयस्तेषु त्वमुत्तमोऽसि। कस्मै प्रजापतिपदप्राप्तये त्वामहमभिषिक्तवानिति शेषः। काय प्रजापतिभावाय त्वामभिषिक्तवान् इति शेषः। 'सुश्लोकेत्यालब्धो ह्वयति' (का० श्रौ० सू० १९।४।२०)। अध्वर्युणा स्पृष्टो यजमानः सुश्लोकादिसंज्ञान्नरानाह्वयति। हे सुश्लोक सुकीर्ते एहीति शेषः। हे सुमङ्गल शोभनैर्मङ्गलैर्युक्त त्वमेहि, हे सत्यराजन् सत्योऽविनाशी राजा प्रभुर्यस्य सः, भवानस्मान् सुराज्येन सुखयुक्तान् करोत्विति मन्त्राक्षरबाह्यमेव, तद्बोधकपदाभावात्। त्वमानन्दयुक्तोऽसीत्यप्यनर्गलम्, सुखस्वरूपे सुखान्तरस्यासम्भवात्। राजसभाप्रबन्धेनानन्दयुक्तान् कुरु इत्यपि निर्मूलम्, शब्दबाह्यत्वात्। कस्मै नित्यसुखाय त्वामाश्रयाम इत्यपि निर्मूलम्, अक्षरबाह्यत्वादेव। काय सुखरूपराज्यप्रदायेत्यपि स्वैरचारितैव, क इत्यस्य सुखार्थत्वे सत्यपि सुखप्रदार्थत्वे प्रमाणानुपलम्भात्। सत्यराजन् इत्यस्य सत्यप्रकाशक इति सत्यराज्यप्रदेश्वर इति चार्थोसङ्गत एव,

उसी अत्यन्त सुख, श्रेष्ठ विचार और आनन्द के लिये हम लोगों ने आपका शरण लिया है, क्योंकि इसी से हमको पूर्ण राज्य और सुख निःसन्देह होगा। सभाध्यक्ष, सभासद् और प्रजा को ऐसा निश्चय करना चाहिये कि श्री मेरा स्थिरस्थायी, उत्तम कीर्ति मेरा मुखवत्, सत्य गुणों का प्रकाश मेरे केश और डाढ़ी-मूछ के समान तथा जो ईश्वर सबका आधार और जीवन हेतु है, वही प्राणप्रिय मेरा राजा; अमृत स्वरूप जो ब्रह्म और मोक्षसुख है, वही मेरा चक्रवर्ती राजा तथा जो अनेक सत्य विद्याओं से युक्त मेरा श्रोत्र है, वही मेरी आंख है (पृ० २५२-२५३)। यह सारा अर्थ असंगत है और वेद से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

महर्षि कात्यायन ने यजमान को छूने में इस मन्त्र का विनियोग बताया है, इसलिये हे यजमान, यही संबोधन उचित है, न कि ऊपर दयानन्द के बताये गये संबोधन। हे यजमान, तुम प्रजापति हो। परमात्मा को संबोधित करने में यहां कोई प्रमाण नहीं है। तुम समग्र रूप से प्रजापति हो। प्रजापति अनेक हैं, इन सब में तुम उत्तम हो। प्रजापति पद की प्राप्ति के लिये मैं तुमको अभिषिक्त करता हूं। प्रजापति भाव की प्राप्ति के लिये ही मैंने तुम्हारा अभिषेक किया है। कात्यायन ने आगे विनियोग बताया है कि 'सुश्लोक' आदि का उच्चारण करते हुए यजमान अध्वर्यु'' के द्वारा इस तरह से अभिषिक्त होकर सुश्लोक आदि नाम वाले मनुष्यों को बुलाता है कि हे शोभन कीर्ति वाले तुम आओ। हे सुमंगल शोभन मंगलों से युक्त तुम भी आओ। 'हे सत्यराजन्, सत्य अर्थात् अविनाशी प्रभु आप भी हमारे इस यज्ञ में सम्मिलित होइये। आप हमको सुराज्य के द्वारा सुख युक्त करें' ऐसा अर्थ गलत है, क्योंकि इस अर्थ के बोधक पद ग्रन्थ में नहीं हैं। आप आनन्दयुक्त हैं, यह अर्थ भी अनर्गल है, क्योंकि सुखस्वरूप परमेश्वर में अन्य सुख की स्थिति नहीं मानी जा सकती। राजसभा का प्रबन्ध कर हमें आनन्दित कीजिये, यह अर्थ भी निर्मूल है, मन्त्र में इस तरह के शब्द नहीं हैं। किसी नित्य सुख के लिये तुम्हारा सहारा लेते हैं, यह भी निर्मूल है, क्योंकि यह भी अर्थ मन्त्र के पदों से नहीं निकलता। काम सुख रूप राज्य को देने वाले, ऐसा अर्थ करना भी मनमानी है, क्योंकि क शब्द का अर्थ सुख तो होता है, किन्तु सुखप्रद अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। सत्यराजन् शब्द का भी सत्य के प्रकाशक और सत्य राज्य को देने वाले होकर, इस तरह

प्रमाणाभावात् । न च 'राजृ दीप्तौ' इति धातोरर्थानुसारेण सत्यप्रकाशकत्वमर्थो युक्त इति वाच्यम्, तथात्वे सत्यार्थप्रकाशकत्वं चक्षुरादीनामप्यस्त्येवेति तेषां ग्रहणापत्तेः । राज्यप्रदत्वं तु न कथमप्यर्थः, यथेष्टार्थग्रहणे इच्छाया अव्याहतप्रसरत्वेन शब्दार्थनिर्धारणासम्भवात् ।

'बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्म वीर्यम् । आत्मा क्षत्रमुरो मम । पृष्टीर्मे राष्ट्रमुदरमंसो ग्रीवाश्च श्रोणी । ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥' (वा० सं० २०।७-८) अत्र यदुक्तम्—'यदुत्तमं बलं तन्मम बाहू बाहुवदस्ति, इन्द्रियं हस्तौ शुद्धं विद्यायुक्तं मनःश्रोत्रादिकं च मम ग्रहणसाधनवत् । यदुत्तमपराक्रमधारणं तत् क्षत्रम् । यद्राष्ट्रं तन्मे पृष्टं पृष्ठभागवत् । यौ सेनाकोशौ स्तस्तन्म हस्तमूलोदरवद् ग्रीवाश्च श्रोणी यत्प्रजायाः सुखेन भूषणं पुरुषार्थीकरणं तत्कर्म मम नितम्ववत् । यत्प्रजाया व्यापारे गणितविद्यायां च निपुणीकरणं तन्ममोर्वरत्न्यङ्गमस्ति । यत्प्रजाराजसमयोः सर्वथा मेलरक्षणं तत्कर्म मम जानुवत् । एवं पूर्वोक्तानि सर्वाणि कर्माणि ममावयववत् सन्ति । यथा स्वाङ्गेषु प्रीतिस्तत्पालने पुरुषस्य श्रद्धा भवति, तथा प्रजापालने स्वकीया बुद्धिः सर्वैः कार्या' (पृ० २५३-२५४) इति, तदपि विश्रृङ्खलमेव, यतो बलं बाह्वोर्धर्मो भवति, लोके तथैव प्रसिद्धेः । तस्मान्न बलस्य बाहुतुल्यत्वम् । तुल्यार्थताबोधकशब्दाभावाच्च तन्न युक्तम् । एवमिन्द्रियपदेन शुद्धं मनः श्रोत्रादिकं चेदर्थस्तदा हस्तयोरपि तत्रैवान्तर्भाव एवेति कथं तयोरुपमानोपमेयभावः ? वीर्यं पराक्रम एव तद्धारणं कथमर्थः ? कथं च तस्य कर्मतुल्यता ? यन्मम हृदयं तत्क्षत्रवदिति तु पूर्वविपरीतमेवायाति । पूर्वत्र स्वाङ्गान्युपमानानि, इह तु हृदयमेवोपमेयमुक्तम् । राष्ट्रस्य पृष्ठत्वे किं साधर्म्यमिति नोक्तम् । उदरमंसावित्यादिनोपमेयांशोक्तिः । तथा च सेनाकोशावित्यादिकमप्यध्याहारलभ्यमेव । न च तत्र किमपि बीजमुपलभ्यते । एवं प्रजायाः सुखेन भूषणम्, प्रजाया व्यापारे गणितविद्यायां च निपुणीकरणमित्यादिकमपि कपोलकल्पितमेव, निर्मूलत्वात् । प्रजाराजसभयोः सर्वथा मेलरक्षणमिति कस्य शब्दस्यार्थः ? तस्मात्सर्वमेतद्वेदार्थबाह्यमेव ।

का अर्थ प्रमाण के अभाव में असंगत है । दीप्ति अर्थ वाली राजृ धातु से शब्द को बनाकर तदनुसार सत्य का प्रकाशक ऐसा अर्थ करने में आपत्ति यह उठेगी कि सत्य अर्थ की प्रकाशक तो सभी इन्द्रियाँ हैं, अतः उनका भी इस शब्द से ग्रहण होने लगेगा । राज्य को देने वाले, यह अर्थ तो किसी भी तरह से नहीं हो सकता ।

'बाहू मे' इत्यादि दो मन्त्रों को उद्धृत कर उनका यह अर्थ किया गया है—'जो पूर्ण बल है, वही मेरी भुजा है । जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय और मन हैं, वे मेरे हाथों के समान हैं । जो राजधर्म, शौर्य, धैर्य और हृदय का ज्ञान है, वही सब मेरे आत्मा के समान है । जो उत्तम राज्य है, सो वीर के समान है । जो राज्य, सेना और कोश है, वह मेरे हस्त का मूल और ऊपर के समान है । जो प्रजा को सुख से भूषित और पुरुषार्थी करता है, सो मेरे कण्ठ और श्रोणी अर्थात् नाभि के अधोभाग के सम तुल्य है । जो प्रजा को व्यापार और गणितविद्या में निपुण करना है, सो ही अरत्नि और ऊरू अंग के समान है । तथा जो प्रजा और राजसभा का मेल रखता है, यह मेरी जानु के समान है । जो इस प्रकार से प्रजा-पालन में उत्तम कर्म करते हैं, ये सब मेरे अंगों के समान हैं' (पृ० २५४), किन्तु यह अर्थ भी निरर्गल हैं, क्योंकि बल बाहु का धर्म होता है । लोक में ऐसी ही प्रसिद्धि है । इसलिये बल को बाहु के समान नहीं माना जा सकता । इस समानता के बोधक शब्द का अभाव होने से भी ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता । इसी तरह से इन्द्रिय पद का अर्थ शुद्ध मन और श्रोत्र आदि करता है, तो हस्त इन्द्रिय का भी उन्हीं में अन्तर्भाव होने से इनका उपमानोपमेय भाव कैसे बनेगा ? वीर्य का अर्थ पराक्रम होता है । पराक्रम का धारण उसका अर्थ कैसे हो सकता है और उसको कर्म के तुल्य कैसे माना जा सकता है ? जो मेरा हृदय है, वह राजधर्म के समान है, ऐसा अर्थ करना पूर्व प्रकरण के विपरीत पड़ेगा । पहले अपने अंगों को उपमान कोटि में रखा गया है, अब यहां हृदय को उपमेय कोटि में रखा जा रहा है । राष्ट्र को पृष्ठ के तुल्य मानने में प्रमाण क्या है, यह नहीं बताया गया । उदर और अंश को उपमेय नहीं बताया गया है । इनका अर्थ सेना और कोश अध्याहार द्वारा ही किया जा सकता है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं है । इसी तरह प्रजा को सुख से भूषित करना और व्यापार तथा गणित विद्या में निपुण करना, इस तरह के अर्थ भी सर्वथा कपोल कल्पित है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है । प्रजा और राजसभा में मेल रखना, यह अर्थ भी किस शब्द का है ? इस तरह की दयानन्द की सारी बातों का वेद के अर्थ से कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है ।

सायणमहीधरादिसम्मतोऽर्थस्तु—'अङ्गानि चालयते यथालिङ्गं शिरो म इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० सू० १९।४।२१) इति कात्यायनानुसारेण यजमानो यथालिङ्गमङ्गान्यालभते। इन्द्रशरीरावयवदेवताकं पश्यन्नाह पञ्चर्चम्। मन्त्रार्थस्तु—'मे बाहू बलमस्तु बलवन्तौ स्तामित्यर्थः। इन्द्रियं च बलं स्वकार्यक्षममस्तु। मे हस्तौ कर्म चास्तु। सत्कर्मकुशलौ सामर्थ्यवन्तौ च स्ताम्। मम आत्मा अन्तरात्मा उरो हृदयं क्षत्रं क्षतात् त्राणकरमस्तु। मे मम पृष्ठीः पृष्ठप्रदेशो राष्ट्रं देशः, देशवत्सर्वसाधारणमस्त्वित्यर्थः। यथाद्यत्वे कथयन्त्यस्य देहो राष्ट्रिय इति। मे मम उदरमंसौ स्कन्धौ ग्रीवाः कण्ठदेशाः, श्रोणी कटिदेशौ ऊरू सक्थिनी च सर्वतोऽन्यान्यङ्गानि विशः प्रजाः सन्तु, प्रजावत्पोष्याः सन्तु। यथा राष्ट्रे विशः प्रजा भवन्ति, तथैव पृष्ठमाधारीकृत्य उदरास्यादयो वर्तन्ते। तथा पृष्ठे राष्ट्रदृष्टिः कार्या। उदरादौ प्रजादृष्टिः कर्तव्या। सूत्रानुसारेणाङ्गसंस्कारः, समष्ट्यभिमानाधानेन व्यष्ट्याभिमाननिराकरणं च।

'नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मे पचितिर्भसत्। आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः। जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः॥' (वा० सं० २०।९) अत्रापि यदुक्तम्—'यच्चित्तं सदा ज्ञानरूपमस्ति तन्मम नाभिरङ्गवदस्ति, यद्विज्ञानं तन्मम पायुर्गुह्येन्द्रियवदस्ति, या अपचितिः पूजा सत्कारोऽस्ति तत् स्त्रियाः प्रजननवत्, अर्थात् परमेश्वरपूजात्मन्येव कार्या। ये आनन्दसमृद्धी ते मे वृषणाङ्गवत् स्तः। एवमहं जङ्घाभ्यां पद्भ्यां युक्तो भूत्वा धर्मात्मास्मि। यो विशि प्रजायां सर्वहितकरणादिगुणैः प्रतिष्ठितो भवति सोऽस्माकं राजा सभाध्यक्षो भवितुमर्हति' (पृ० २५४) इति, तदपि मन्दम्, ज्ञाननाभ्योः सादृश्यानिरूपणात्। एवमेव विज्ञानगुह्येन्द्रिययोरपि सादृश्यं वक्तव्यम्, पूजायाः प्रजननस्य च केनांशेन सादृश्यम् ? गोप्यत्वेन तु सादृश्यं सम्भवति, तेन पूजादिकं स्त्रीयोनिवत् गोपनीयमिति वक्तव्यम्। आनन्दसमृद्ध्योः वृषणाङ्गयोः कीदृशं तौल्यं तदपि वक्तव्यम्, एवं सौभाग्यस्य लिङ्गेन्द्रियेण सादृश्यं वक्तव्यम्, तुल्यताबोधकपदं च मूले नास्त्येव।

इसका सायण और महीधर संमत अर्थ यह है—मेरे बाहू बलशाली हों, मेरी इन्द्रियां अपने-अपने कार्यों में समर्थ हों, मेरे हाथ कार्य करने में समर्थ हों। ये सत्कार्य को करने में समर्थ हों। मेरी आत्मा, अन्तरात्मा और हृदय सदा त्राण करने में समर्थ हों, सभी जीवों की कष्ट से रक्षा करने में समर्थ हों, मेरा पृष्ठप्रदेश राष्ट्र अर्थात् देश के समान सबके उपकार के लिये हो। जैसा कि आजकल कहते हैं कि यह इस देश का राष्ट्रिय (निवासी) है। मेरा उदर (पेट), अंस (कन्धे); ग्रीवा (कण्ठ), श्रोणी (कटि भाग), ऊरु (जांघें) तथा अन्य सभी अंग प्रजा के समान पोषणीय, रमणीय होवें। जैसे राष्ट्र में प्रजा रहती है, उसी तरह से पीठ के सहारे शरीर के पेट आदि अन्य अंग हैं। इसलिये पीठ को राष्ट्र के समान तथा अन्य पेट आदि अंगों को प्रजा के समान मानना चाहिये। उक्त सूत्र के अनुसार यहां स्पर्श के द्वारा अंगों का संस्कार तो किया ही जाता है, साथ ही समष्टि अभिमान की स्थापना के द्वारा व्यष्टि के अभिमान की निवृत्ति भी यहां अभिप्रेत है। अर्थात् यह संस्कार केवल अपने शरीर का ही न होकर समष्टि भावना के आधार पर समस्त शरीरों का किया जाता है।

'नाभिर्मे चित्तम्०' इत्यादि मन्त्र की यह व्याख्या की गई है—'जो चित्त सदा ज्ञानरूप है, वह मेरे नाभि अंग के समान है। जो विज्ञान है, 'वह मेरी गुदेन्द्रिय के समान है। जो पूजा सत्कार है, वह स्त्री जननेन्द्रिय के समान है। जो आनन्द और समृद्धि है, वह मेरे वृषणों के समान है। जो मेरा ऐश्वर्य, सौभाग्य उत्तम सुख है, वह मेरी लिंगेन्द्रिय के समान है। इस प्रकार मैं जंघा और पैरों से युक्त होकर धर्मात्मा हूँ। जो प्रजा में सर्व हितकारी गुणों के कारण प्रतिष्ठित होता है, वह हमारा राजा सभाध्यक्ष हो सकता है। इस प्रकार पूर्वोक्त सब धर्म मेरे अवयवों (अंगों) के समान है। जैसे अपने अंगों में प्रीति और उनको पालने में पुरुष की श्रद्धा होती है, वैसी ही बुद्धि प्रजा और उसके पालन में सबको करनी चाहिये' (पृ० २५४ २५५)। किन्तु यह व्याख्या भी उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञान और नाभि की तथा इसी तरह से विज्ञान और गुह्य इन्द्रिय की कोई समानता यहां नहीं बताई गई है। पूजा और प्रजनन इन्द्रिय की क्या समानता हो सकती है ? गुप्त रखना ही इनकी समानता हो सकती है। इससे यह अर्थ निकलेगा कि स्त्री की योनि की तरह अपनी पूजा को छिपाकर रखना चाहिये।

सायणादिसम्मतोऽर्थस्तु—मे नाभिः चित्तं ज्ञानरूपमस्तु, सर्वव्यापाराश्रयप्राणकेन्द्रत्वात् नाभेर्ज्ञानरूपत्वे सर्वव्यापाराणां ज्ञानपूर्वकत्वेन सौष्ठवं सम्पत्स्यते । पायुर्गुदं मूलाधारचक्रं विज्ञानमस्तु ज्ञानजनितसंस्काराधारमस्तु, मूलाधारस्यैव संस्काराधारत्वात् । भसत् स्त्रीप्रजननमपचितिः प्रजारूपमस्तु, सुभगसुप्रजास्त्वेन सौभाग्यवदस्त्वित्यर्थः। (यजमानपत्नीविषयकमेतत्) यद्वा अपचितिः पूजा भसत् स्त्रीप्रजननवद् गोप्यमस्त्विति यावत्, मुख्यार्थबाधे लक्षणाया औचित्यात् । तथा मे अण्डौ वृषणौ आनन्दनन्दौ स्ताम्, आनन्देन वैधसम्भोगजनितेन नन्दतस्तत्सुखभोक्तारौ भवतामित्यर्थः । 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥' (भ० गी० ७।११) । भगः सौभाग्यं सम्पत्तिश्चास्तु । पसः पसतेः स्पृशतिकर्मणः सर्वदा भोगासक्तमस्त्वित्यर्थः । जङ्घाभ्यां पद्भ्यां चाहं धर्मोऽस्मि । उपलक्षणमेतत् । सर्वाङ्गैर्धर्मरूपोऽस्मि । धर्मरूपत्वादेव विशि प्रजायां राजा प्रतिष्ठितोऽस्मि । वेदशास्त्रानुसारीणि देहहस्तजङ्घादीन्द्रियमनोबुद्ध्यहङ्कारकर्माण्येव धर्मशब्देनाख्यायन्ते । 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मी० सू० १।१।२), 'ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।' (भ० गी०) इति गीतोक्तेश्च । शास्त्रानुसारीणि देहादिकर्माणि शास्त्राविरुद्धानि कामोपभोगरूपाणि सुखानि च तृप्तिद्वारा वैराग्यकराणि भवन्ति ।

'प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु । प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठामि आत्मनः प्रतिप्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे प्रतिद्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे हवः शूरमिन्द्रम् । हवामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः, (वा० सं०) । यदप्यत्रोक्तम्—'अहं परमेश्वरो धर्मेण प्रतीते क्षत्रे प्रतिष्ठितो भवामि राष्ट्रे विद्याधर्मप्रचारिते देशे च प्रत्यश्वं प्रतिगां च तिष्ठामि । तथा चात्मानमात्मानं प्रतितिष्ठामि (प्रतिप्राणं) प्राणं प्राणं प्रत्येव पुष्टं पुष्टं पदार्थं प्रतितिष्ठामि । प्रतिद्यावा दिवं दिवं प्रति पृथिवीं पृथिवीं प्रति च तिष्ठामि । तथा यज्ञं यज्ञं प्रतितिष्ठामि । अहमेव सर्वत्र व्यापकोऽस्मि । मामिष्टदेवं समाश्रित्य ये राजधर्ममनुसरन्ति तेषां सदैव विजयाभ्युदयो भवतः । एवं राजपुरुषैश्च प्रजापालने सर्वत्र न्यायप्रकाशो रक्षणीयो यतोऽन्यायविद्याविनाशः स्यात्' (पृ० २५५) इति, तदपि विश्रृङ्ख-

इसका सायण संमत अर्थ यह है—मेरी नाभि चित्त अर्थात् ज्ञानरूप हो । सभी शारीरिक क्रियाकलाप प्राण के सहारे ही चलते हैं । यह प्राण नाभि में केन्द्रित है, अतः नाभि के ज्ञानरूप होने से सभी शारीरिक क्रियाकलाप सही तरीके से भली भांति सम्पन्न होंगे । पायु गुदा अर्थात् मूलाधार चक्र विज्ञानमय हो जाय, अर्थात् ज्ञान से उत्पन्न होने वाले संस्कारों का खजाना बन जाय, क्योंकि मूलाधार में सभी संस्कार रहते हैं । स्त्री की जननेन्द्रिय प्रजा रूप हो, उत्तम सन्तति को उत्पन्न कर सौभाग्ययुक्त होवे । (यह वाक्य यजमान की पत्नी से सम्बद्ध है) । अथवा मेरे द्वारा की गई पूजा स्त्री की योनि की तरह गुप्त रहे । मुख्य अर्थ का बाध होने पर लक्षणा की जा सकती है । जांघ और पैरों से मैं धर्म हूं । यह लाक्षणिक प्रयोग है । इसका अभिप्राय यह है कि मेरा सारा शरीर धर्ममय है । धर्म रूप होने से ही मैं प्रजा के हृदय में राजा के रूप में प्रतिष्ठित हूं । वेद शास्त्र के अनुसार चलने वाले देह, हाथ, जांघ आदि अवयव तथा इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार तथा वेदविहित कर्म ही धर्म शब्द से जाने जाते हैं । मीमांसा सूत्र और गीता में यही बात कही गई है । शास्त्र के अनुसार चलने वाले शारीरिक आचरण तथा शास्त्र के अविरुद्ध कामोपभोग सुख मनुष्य के मन को तृप्त कर अन्त में उसमें वैराग्य को पैदा करने में समर्थ होते हैं ।

'प्रति क्षत्रे०' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या यह की गई है—'जो मनुष्य इस प्रकार के उत्तम पुरुषों की सभा से न्यायपूर्वक राज्य करते हैं, उनके लिये परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि हे मनुष्यों, तुम लोग धर्मात्मा होकर न्याय से राज्य करो, क्योंकि जो धर्मात्मा पुरुष है, मैं उनके क्षत्र धर्म और सब राज्य में प्रकाशित रहता हूं और वे सदा मेरे समीप रहते हैं । उनकी सेवा के अन्न और गौ आदि पशुओं में भी मैं स्वसत्ता से प्रतिष्ठित रहता हूं तथा सब सेना राजा के अंगों और उनके आत्माओं के बीच में भी सदा प्रतिष्ठित रहता हूं । उनके प्राण और पुष्ट व्यवहारों में भी सदा व्यापक रहता हूं । जितना सूर्यादि प्रकाशरूप और पृथिव्यादि अप्रकाश रूप जगत् तथा अश्वमेधादि यज्ञ हैं, इन सबके बीच में भी मैं सर्वदा व्यापक होने से प्रतिष्ठित रहता हूं । इस प्रकार तुम लोग मुझको

लम्, अत्र मन्त्रे परमेश्वरो वक्ता स्वस्य सर्वव्यापकत्वं वक्ति इत्यत्र वीजं वक्तव्यम्, पूर्वेषु मन्त्रेषु परमेश्वरस्याप्रसङ्गात् ।'नाभिर्मे चित्तम्' इत्यादिमन्त्रेषु मे नाभिरित्यादिप्रयोगो विद्यते । न च निराकारस्येशितुर्नाभ्यादिसम्बन्धः कल्पयितुं शक्यः । तथा सत्यप्रकृतप्रक्रिया प्रसक्तपरित्यागश्च प्रसज्यते ।

उव्वट-सायण-महीधरादिसम्मतोऽस्य मन्त्रस्यायमर्थः—महर्षिकात्यायनरीत्याऽत्र यजमानो वक्ता, 'कृष्णाजिनेऽवरोहति प्रतिक्षत्र इति' (का० श्रौ० सू० १९।४।२३) इति सूत्रात् । यजमान आसन्दीतः कृष्णाजिनेऽवतरति प्रतिक्षत्र इति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः । विश्वदेवदैवत्यं यजुः, अतिशक्वरीच्छन्दः । मन्त्रार्थस्तु—अहं यजमानः क्षत्रे क्षत्रियजातौ प्रतिष्ठायुक्तो भवामि राष्ट्रे देशे अश्वेषु गोषु च अङ्गेषु करपादाद्यवयवेषु पुष्टौ समृद्धौ द्यावापृथिव्योः परलोकेहलोकयोर्यज्ञे ज्योतिष्टोमादौ च प्रतितिष्ठामि, प्रतितिष्ठामीति क्रियापदावृत्तिस्तत्तद्विशेषफलद्योतनार्था । क्षत्रियदेशयोर्वशीकरणरूपा प्रतिष्ठा ज्ञेया । गोश्वादिषु प्रतिष्ठा तत्तत्प्राप्तिरूपा, प्राणाङ्गं प्रति नैरुज्यरूपा आत्मप्रतिष्ठाऽऽधिराहित्यरूपा पुष्टप्रतिष्ठा धनसमृद्धिरूपा द्यावापृथिव्योः प्रतिष्ठोभयलोककीर्तिरूपा यज्ञे प्रतिष्ठा तदनुष्ठानसम्पत्तिरूपा । तथा च वश्यविश्वः पशुमानाधिव्याधिरहितः श्रीमान् यज्ञकर्ता भवेयमिति यजमानस्य प्रार्थना सङ्गच्छते । एवं प्रकरणानुसारी कात्यायनाद्यृषिसम्मतोऽर्थः ।

यदप्युक्तम्—'यं विश्वस्य त्रातारं रक्षकं परमैश्वर्यवन्तं सुहृदं शोभनयुद्धकारिणमत्यन्तशूरं जगतो राजानमनन्तबलवन्तं शक्रं शक्तिमन्तं शक्तिप्रदं वा पुरुहूतं बहुभिः शूरैः सेवितम् इन्द्रं न्यायराज्यपालकं हवे हवे युद्धे युद्धे स्वविजयार्थमिन्द्रं परमात्मानं ह्वयामि आह्वयामि आश्रयामि । स परमधनप्रदातेन्द्रः सर्वशक्तिमानीश्वरः सर्वेषु राज्यकार्येषु नोऽस्मभ्यं स्वस्ति धातु निरन्तरं विजयसुखं दधातु' (पृ० २५५) । अत्रेन्द्रशब्दः परमेश्वरपर इन्द्रदेवतापरो वेति संशये 'याज्यानुवाक्याश्चेति' (का० श्रौ० सू० १९।६।१३) इति रीत्या वपापुरोडाशयागानां याज्यानुवाक्याः । 'आयात्विन्द्रः····'इति वपायाः

सब स्थानों में परिपूर्ण देखो । जिन लोगों की ऐसी निष्ठा है, उनका राज्य सदा बढ़ता रहता है' (पृ० २५६) । किन्तु यह सारी व्याख्या भी ऊटपटांग ही है । इस मन्त्र का वक्ता परमेश्वर है और इसमें वह अपनी सर्वव्यापकता का वर्णन करते हैं, इसमें प्रमाण बताना पड़ेगा । इससे पहले के मन्त्रों में परमेश्वर का कोई प्रसंग नहीं है । 'नाभिर्मे चित्तम्०' इत्यादि मन्त्र में नाभि आदि अवयवों का उल्लेख है, किन्तु निराकार ईश्वर में इन अवयवों की सत्ता नहीं मानी जा सकती ।

उव्वट, सायण और महीधर की पद्धति से मन्त्र का अर्थ यह होगा—मै यजमान क्षत्रिय जाति में प्रतिष्ठा पाऊँ । इसी तरह से देश में मैं प्रतिष्ठित होऊँ और घोड़ा, गाय आदि पशुओं से तथा हाथ-पैर आदि अवयवों से भी मैं पुष्ट होऊँ, समृद्ध बनूं । स्वर्गलोक और पृथ्वीलोक में अर्थात् इस लोक और परलोक में भी मेरी प्रतिष्ठा हो । मेरे ज्योतिष्टोम प्रभृति यज्ञ भी समृद्ध हों । 'प्रतितिष्ठामि' पद की आवृत्ति उस उस विशेष फल को बताती है । इनमें क्षत्रिय और देश की प्रतिष्ठा का अभिप्राय यह है कि ये मेरे कहने में रहें । गो, अश्व आदि की प्रतिष्ठा इनकी प्राप्ति में है । अंगों की प्रतिष्ठा उनकी नीरोगता में है । आत्मा की प्रतिष्ठा मन की पीड़ा के न होने में है । पुष्ट में प्रतिष्ठा का अभिप्राय है धन की समृद्धि । उभय लोक में कीर्ति का फैलना द्यावापृथिवी की प्रतिष्ठा है । अनुष्ठान की समृद्धि यज्ञ की प्रतिष्ठा कहलाती है । इस तरह से संक्षेप में इस मन्त्र में यह प्रतिष्ठा की गई है कि सारा विश्व मेरे वश में रहे, पशु सम्पत्ति से युक्त, आधि-व्याधि से रहित, श्रीमान् और यज्ञ के कर्ता के रूप में मैं इस लोक और परलोक में भी प्रतिष्ठा प्राप्त करूँ यजमान इस तरह की प्रार्थना करे, यह उचित ही है । यह अर्थ प्रकरण से तो संवद्ध है ही, इस अर्थ में कात्यायन जैसे ऋषियों की संमति भी उपलब्ध है ।

'त्रातारमिन्द्र०' इस मन्त्र का अर्थ यह किया गया है—'जिन मनुष्यों का ऐसा निश्चय है कि केवल परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा ही हमारा रक्षक है, जो ज्ञान और आनन्द का देने वाला है, वही इन्द्र परमात्मा प्रति युद्ध में जो उत्तम युद्ध करने वाला, शूरवीर और हमारा राजा है, जो अनन्त पराक्रमयुक्त ईश्वर है, जिसका सब विद्वान् वेद आदि शास्त्रों से प्रतिपादन और दृष्ट करते हैं, वही हमारा सब प्रकार से राजा है । जो इन्द्र परमेश्वर मघवा अर्थात् परम विद्यारूप धनी और हमारे लिये विजय आदि सब सुखों का

पुरोऽनुवाक्या, 'आ न इन्द्रो दूरात्···, इति याज्या, 'आ न इन्द्रो हरिभिः' इति पुरोडाशस्य पुरोऽनुवाक्या, 'त्रातारमिन्द्रम् इति याज्या, 'सुत्रामा' इति पशुयागे पुरोऽनुवाक्या, 'तस्य वयं' इति याज्या। कोषादिरीत्या सुत्रामशब्द इन्द्र (देवताविशेष)-परः, तथैवेन्द्रशब्दोऽपि देवराजपर एव।

तथा चायं मन्त्रस्य स्पष्टोऽर्थः—'त्रातारं रक्षितारमिन्द्रं कथयन्ति, यतोऽवितारं चेन्द्रं कथयन्ति, अतो हवे हवे आह्वाने यज्ञे वा सुखं सुखेन हूयते आहूयते इति सुहवं लोके विशिष्टा राजादयो न सुहवा भवन्ति, बहुधनादिसामग्रीसापेक्षत्वात्। इन्द्रस्तु महैश्वर्यवानपि भक्त्या मन्त्रेण च सुहवो भवति। पुरोवाक्यायाज्यादि प्रसङ्गे युद्धस्याप्रसक्तत्वात्। युद्धलक्षणस्य हवस्य क्रूररूपत्वेन शोभनत्वमपि न सङ्गतम्। शूरं शौर्यादिमन्तं शक्रं शक्नोतीति शक्रस्तं समर्थं पुरुहूतं पुरुभिर्बहुभिर्यज्ञेषु हूयत इति पुरुहूतस्तमिन्द्रं ह्वयामि आह्वयामि। मघवा धनसम्पन्न इन्द्रः आहूतः सन्नोऽस्माकं स्वस्ति अविनाशं धातु दधातु करोतीत्यर्थः। इन्द्रपदावृत्तिस्त्वादरार्था। दयानन्दस्तु कर्मादिप्रकरणमज्ञात्वैव सर्वत्रैव क्वचित्परमात्मपरं क्वचिद्राजामात्यसेनापतिपुरोहितादिपरं मन्त्रं योजयति। तद्रीत्या यथा सङ्गतिहीनं प्रकरणनिरपेक्षमुन्मत्तः क्वचिदपि किञ्चिदपि प्रलपति, तथैव परमेश्वरोऽपि वदे वक्ति। वस्तुतस्तु इमे मन्त्रा यज्ञादिकर्मसम्बद्धास्तत्रैव विनियुक्ता न राजधर्मादिनिर्देशकाः। अन्यपरैरेव मन्त्रैः क्वचिद्राजधर्मोपयुक्ता उपदेशाः फलन्ति चेत् फलन्तु नाम।

'इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठाय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा॥' (वा. सं. ९।४०) अत्रापि यदुक्तम्—'हे देवा विद्वांसः सभासदः, महते क्षत्रायातुलराजधर्माय महते ज्यैष्ठाय अत्यन्तज्ञानवृद्धव्यवहारस्थापनाय महते जानराज्याय जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकर-

देने वाला है, जिन मनुष्यों का ऐसा निश्चय है, उनकी पराजय कभी नहीं होती' (पृ० २५६)। कात्यायन श्रौतसूत्र में इस मन्त्र के विषय में विचार किया गया है। इसमें इन्द्र शब्द परमेश्वर का वाचक है या इन्द्र देवता का ? इस सन्देह के उत्तर में यहाँ बताया गया है कि वपा, पुराडोश और याग सम्बन्धी याज्या और अनुवाक्या वाक्यों के आधार पर तथा कोश आदि ग्रंथों के आधार पर सुत्रामा प्रभृति शब्दों की तरह इन्द्र शब्द भी इन्द्र देवता का ही बोध कराता है।

तदनुसार मन्त्र का स्पष्ट अर्थ यह होगा—इन्द्र उसको कहते हैं, जो कि रक्षक भी हो पालक भी। इसलिये यह इन्द्र आवाज देने मात्र से अथवा यज्ञ में बुलाये जाने पर बड़ी सरलता से आ जाता है। लोक में राजा आदि को बुलाना सरल नहीं रहता। इसके लिये बहुत सारा धन जुटाना पड़ता है। इसके विपरीत इन्द्र महान् ऐश्वर्यशाली होते हुए भी भक्तिपूर्वक मन्त्रों का उच्चारण कर बुलाया जा सकता है। यहाँ इन्द्र सम्बन्धी याज्या और पुरोनुवाक्या के प्रसंग में युद्ध की चर्चा उचित नहीं मानी जा सकती। युद्ध का आह्वान तो बड़ा क्रूर, भयानक होता है, उसको सुन्दर कैसे कहा जा सकता है ? शूरवीर, सब कार्यों को सम्पन्न करने में समर्थ तथा अनेक व्यक्तियों के द्वारा युद्धों में बुलाये जाने वाले इन्द्र को मैं भी बुला रहा हूँ। यह धन-धान्य सम्पदा से परिपूर्ण इन्द्र बुलाये जाने पर हमारा कल्याण करे, हमारी किसी प्रकार की हानि न होने दे। इस मन्त्र में इन्द्र पद की आवृत्ति उसके प्रति आदर दिखाने के लिये है। दयानन्द सभी जगह मन्त्रों की प्रकरण आदि संगति का विना विचार किये सभी जगह कहीं परमात्मा तो कहीं राजा, मन्त्री, सेनापति, पुरोहित आदि से मनमाना सम्बन्ध जोड़कर उसकी व्याख्या करने लगते हैं। उसके अनुसार तो जैसे कोई पागल आदमी बिना प्रसंग के बकवाद करता रहता है, उसी प्रकार परमात्मा भी वेद में इसी तरह का प्रलाप करते दिखाई पड़ते हैं। वास्तव में इन मन्त्रों का सम्बन्ध युद्ध प्रभृति कर्मों से है, वहीं इनका विनियोग कात्यायन प्रभृति महर्षियों ने बताया भी है, अतः इनमें राजधर्म का कोई उल्लेख नहीं मिल सकता। मन्त्रों का विनियोग तो यज्ञीय कर्मों में ही है, इन्हीं में से यदि कुछ राज्य धर्मों का उपदेश भी मिलता हो तो उसमें कोई हानि नहीं है।

'इमं देवा॰' इत्यादि मन्त्र की दयानन्द की व्याख्या यह है—'अब ईश्वर सब मनुष्यों को राजव्यवस्था के विषय में आज्ञा देता है कि हे विद्वान् लोगों, तुम इस राजधर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य का ऐसा प्रबन्ध करो कि जिससे तुम्हारे देश पर कोई शत्रु न आ जाय। हे शूरवीर लोगों, अपने क्षत्रिय धर्म, चक्रवर्ती राज्य, श्रेष्ठ कीर्ति, सर्वोत्तम राज्यप्रबन्ध के लिये सारी प्रजा

णाय इन्द्रस्येन्द्रियाय सूर्यस्य प्रकाशवन्न्यायव्यवहारप्रकाशनायान्यायान्धकारविनाशनाय अस्यै विशे वर्तमानायै प्रजायै यथावत्सुखप्रदानाय इमं प्रत्यक्षमसपत्नं सुवध्वम् अकण्टकमुत्तमराजधर्मंमोशिध्वम् ऐश्वर्यसहितं कुरुत । यूयमप्येवं जानीत । सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा वेदवित्सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सौम्यगुणसम्पन्नः सकलविद्याप्रयुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतो राजास्तु । हे सभासदः, ये प्रजास्था मनुष्याः सन्ति तान् प्रत्येवमाज्ञा श्राव्या एष वो राजा अस्माकं वो युष्माकं च सभासत्कोऽयं राजसभाव्यवहार एव राजास्ति । एतदर्थमिमममुष्यपुत्रं प्रख्यातनाम्नः पुरुषस्यायं पुत्रः प्रख्यातनाम्न्याः स्त्रियश्च पुत्रं सन्तानमभिषिच्याध्यक्षत्वे स्वीकुर्मः' (पृ. २५७) इति, तदपि विशृङ्खलम्, यत्किञ्चित्प्रलपनमेव, यतो हि--क्षत्रशब्दस्यातुलराजधर्म इति लाक्षणिक एवार्थः, एवं ज्यैष्ठ्यशब्दस्यापि ज्ञानवृद्धव्यवहारस्थापनमप्रामाणिक एवार्थः । जानराज्यशब्दस्यापि जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकरणायेति न प्रामाणिकोऽर्थोऽपदार्थत्वात् । देवा विद्वांस इति सम्बोधनमपि प्रकरणविरुद्धम्, सवित्रादिदेवानां प्रकृतत्वात् । वेदविदां मध्ये यो मनुष्यः सौम्यगुणसम्पन्नः स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतो राजा भवतु, इत्यपि प्रकरणविरुद्धम्, पूर्वमन्त्रे यजमानस्यैव राजत्वेन विवक्षितत्वात् । एष वोऽमी राजेति पृथक्सम्बन्धः, सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजेति पृथक्सम्बन्धः, अन्यथा द्वितीयराजशब्दस्य वैयर्थ्यापातात् ।

कात्यायनादिविरुद्धत्वाच्च दयानन्दीयोऽर्थ उपेक्ष्यः । तथाहि—'उत्तमे चरित्वा सविता त्वेत्याह यजमानबाहुं दक्षिणं गृहीत्वा नामास्य गृह्णाति मन्त्रे यथास्थानं मातापित्रोश्च यस्याश्च जाते राजा भवतीति' (का० श्रौ० सू० १५।४।१३-१५) । पूर्वस्मिन् मन्त्रे गृहीत्वा दक्षिणबाहुं जपति । हे यजमान, सविता त्वां प्रसवानामाज्ञानामाधिपत्ये त्वा त्वां सुवतां प्रेरयतु । सर्वेषामाज्ञादाने त्वमधिकारी भवेत्यर्थः । अग्निर्गृहपतीनां गृहस्थानामाधिपत्ये त्वां सुवतां प्रेरयतु । सोमो वनस्पतीनामाधिपत्ये त्वां सुवतां सर्वे वृक्षास्तवोपकारका भवन्त्वित्यर्थः । बृहस्पतिर्वाचोऽधिपत्याय त्वां सुवतां त्वां पाण्डित्याय सुवतां प्रेरयतु षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय ज्येष्ठभावाय त्वां सुवतां रुद्रः पशुभ्यः पश्वर्थे पश्वाधिपत्ये वा त्वां सुवताम् । मित्रो देवः सत्यः सत्याय । 'सुपां सुलुक् (पा० सू० ७।१।३९) इति चतुर्थ्याः सु आदेशः । सत्याय सत्यवाक्याय सत्यं वदितुं

को विद्वान् बनाकर ठीक-ठीक राज्य व्यवस्था चलाने के लिये तथा बड़े ऐश्वर्य, सत्य न्याय के प्रकाश करने के अर्थ, अच्छे-अच्छे राज्य सम्बन्धी प्रबन्ध करो कि जिससे सब मनुष्यों का उत्तम सुख बढ़ता जाय' (पृ० २५८), किन्तु यह सारी व्याख्या अव्यवस्थित है, दयानन्द को तो कुछ न कुछ मनमाना अर्थ ही करना है, क्योंकि क्षत्र शब्द का अतुल राजधर्म अर्थ लक्षणा के सहारे ही किया जा सकता है । इसी तरह से ज्यैष्ठ्य शब्द का अर्थ भी ज्ञान के द्वारा वृद्ध व्यवहार की स्थापना करना, सर्वथा अप्रामाणिक है । जानराज्य शब्द का भी विद्वान् मनुष्यों के बीच राजकाज ठीक से चलाने के लिये, यह अर्थ करना प्रामाणिक नहीं हो सकता । 'देवाः' का अर्थ विद्वान् उनको सम्बोधित करने की बात भी सही नहीं है, क्योंकि यहाँ सविता प्रभृति देवताओं का प्रसंग है । वेद के जानकारों के बीच में जो मनुष्य सौम्य स्वभाव वाला है, वही सभा का अध्यक्ष होकर राजा बने, यह बात भी प्रकरण के विरुद्ध है, क्योंकि इससे पहले के मन्त्र में यजमान को ही राजा के रूप में स्वीकार किया गया है । 'एष वोऽमी राजा' और 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' ये दोनों वाक्य अलग अलग हैं, अन्यथा द्वितीय राज शब्द व्यर्थ हो जायगा ।

कात्यायन प्रभृति के मत से विरुद्ध होने से दयानन्द के इस अर्थ की उपेक्षा कर देनी चाहिये । कात्यायन ने बताया है कि इससे पहले के मन्त्र में यजमान को दाहिने हाथ को पकड़कर पुरोहित के इस मन्त्र का उच्चारण करने का विधान है कि हे यजमान, सविता देवता तुम्हारी आज्ञा को राजा की आज्ञा के समान प्रतिष्ठित करें, अर्थात् तुम सबको आज्ञा देने लायक बनो । अग्नि देवता तुमको सब गृहस्थों का अधिपति बनावें । सोम सब वनस्पतियों का तुमको अधिपति बनावें, अर्थात् सभी वृक्ष तुम्हारा उपकार करने वाले हों । बृहस्पति तुमको सब प्राणियों का अधिपति बनावें, अर्थात् तुम उनको कृपा से विद्वान् बनो । इन्द्र तुमको सबसे ज्येष्ठ बनावे और रुद्र तुमको सब पशुओं का अधिपति बनावे । मित्र देवता तुमको सत्य बोलने में समर्थ बनावे । वरुण सभी धार्मिकों का तुमको

त्वां सुवताम् । वरुणो धर्मपतीनां धर्मेश्वराणां धर्मशीलानामाधिपत्ये त्वां सुव्रताम् । सवित्रादयोऽष्टौ देवाः सुहविषां देवतास्त्वां नानाधिपत्यानि ददत्वित्यर्थः ।

त एव प्रकृताः सवित्रादयो देवा इह सम्बोध्यन्ते—हे सवित्रादयो देवाः ! इममुकसंज्ञं यजमानराजानमसपत्नं सपत्नरहितं कृत्वा सुवध्वं प्रेरयध्वम् । किमर्थं महते क्षत्राय महत्यै क्षत्रपदव्यै, 'क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः' इति महाकविप्रयोगात् । महते ज्यैष्ठ्याय ज्येष्ठभावाय महते जानराज्याय जनानामिदं जानम्, जानं च तद्राज्यं जानराज्यम्, तस्मै जनानामाधिपत्यायेत्यर्थः । यद्यपि जनानां राज्यं जानराज्यमित्यनेन लोकतन्त्रशासनस्य सूत्रं प्रतीयते, तथापि इमं यजमानं जानराज्याय सुवध्वमिति वाक्यपर्यवसानं जनानामाधिपत्यमेव साधयति । इन्द्रस्यात्मन इन्द्रियाय वीर्याय आत्मज्ञानसामर्थ्याय इमं सुवध्वम् । इन्द्रपदस्यात्मार्थः, परमैश्वर्यस्य तदविनाभूतत्वात् । इन्द्रियाणि च तस्यैव लिङ्गभूतानि, सङ्घातस्य परार्थत्वादिन्द्रियाणि यदर्थानि यत्प्रयोजनप्रयुक्तानि सः । किंभूतमिममुष्यपुत्रमत्रामुष्येति स्थाने यजमानपितुर्नाम ग्राह्यम् । अमुष्या देव्या यजमानमातुः पुत्रम् अस्यै विशे अस्या विशः प्रजाया जनपदनामग्रहणम्, अधिपतिरिति शेषः । अमी हे कुरवः हे पञ्चालाः, वो युष्माकमेष देववर्मा राजास्तु, अस्माकं ब्राह्मणानां तु सोमश्चन्द्रो वल्लीरूपो वा राजा प्रभुरस्तु । तेन ब्राह्मणेतरेष्वेव क्षत्रियो राजा प्रभुः ।

'इन्द्रो जयाति न पराजयाता अधिराजो राजसु राजयातैः । चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह' त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरसि भूतिर्जनानाम् । त्वं दैवीर्विश इमा विराजा युष्मत् क्षत्रमजरं तेऽस्तु ॥' (अथर्वसंहिता) एतेषां मन्त्राणां व्याख्याने यदुक्तम्–'स एवेन्द्रः परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा जयाति विजयोत्कर्षं सदा प्राप्नोतु न पराजयातै सभा कदाचित्पराजयं न प्राप्नोतु । अधिराजो राजसु राजयातै स राजाधिराजो विश्वस्येश्वरः सर्वेषु चक्रवर्तिराजसु माण्डलिकेषु वा स्वकीयसत्यप्रकाशन्यायेन सदास्माकं मध्ये सदा प्रसिद्धयताम् । चर्कृत्यः यो जगदीश्वरः सर्वैर्मनुष्यैः पुनः पुनरुपा-

अधिपति बनावे । इस तरह से ये सविता प्रभृति आठ देवता अथवा इनके निमित्त दी गई हवि तुमको उक्त सभी पदार्थों का स्वामी बनावे ।

पूर्व मन्त्र में प्रस्तुत देवता ही इस मन्त्र में सम्बोधित किये गये हैं कि हे सविता प्रभृति देवताओं, इस अमुक नाम वाले यजमान राजा को शत्रु से रहित बनाकर अच्छे कार्यों के लिये प्रेरित कीजिये । किन अच्छे कार्यों के लिये ? महान् प्रभावशाली क्षत्रिय पदवी के लिये । जिसका कि वर्णन कालिदास ने इस प्रकार किया है कि सभी तरह के कष्टों से प्रजा को बचाने वाले के लिये क्षत्र शब्द इस दुनियाँ में बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रसिद्ध है । इसको सबसे श्रेष्ठ बनाने के लिये, सारी जनता पर इसका आधिपत्य स्थापित करने के लिये । यद्यपि जानराज्य शब्द की जनता का राज्य इस व्युत्पत्ति के आधार पर यहाँ लोकतन्त्र राज्य की सूचना मिलती है, तो भी इस यजमान को जानराज्य के योग्य बनाइये, इस वाक्य के आधार पर जनता का आधिपत्य ही यहाँ विवक्षित है । इन्द्र अर्थात् आत्मा के वीर्य अर्थात् आत्मज्ञान की सामर्थ्य से इसे संयुक्त कीजिये । इन्द्र पदका अर्थ यहाँ आत्मा इसलिये है कि परम ऐश्वर्य की अधिगति उसके बिना नहीं हो सकती । इन्द्रियाँ इसी आत्मा की साधन सामग्री हैं, क्योंकि सांख्यदर्शन के आधार पर संघात का उपयोग किसी दूसरे के लिये होता है, अतः इन इन्द्रियों को इस यजमान की सहायक सामग्री के रूप में आप सम्पन्न कीजिये । यह यजमान अमुक नाम के पिता का पुत्र है, इसकी माता का नाम अमुक है तथा अमुक नाम के जनपद का यह स्वामी है । हे कुरु और पंचाल देश के निवासियों, यह देवशर्मा तुम लोगों का राजा है । हमारे जैसे ब्राह्मणों का तो यह चन्द्रमा अथवा सोमलता ही राजा है । इससे यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण भिन्न प्रजा के लिये क्षत्रिय राजा होता है ।

'इन्द्रो जयाति०' इत्यादि दो मन्त्रों का अर्थ दयानन्द ने यह किया है—'हे बन्धु लोगों, जो परमात्मा अपने लोगों का विजय करानेवाला है, जो हमको दूसरों से कभी हारने नहीं देता, जो महाराजाधिराज सब राजाओं के बीच में प्रकाशमान होकर हमको भी भूगोल में प्रकाशमान करनेवाला है, जो आनन्दस्वरूप परमात्मा जब जगत् को सुखों से पूर्ण कराने वाला तथा सब मनुष्यों के स्तुति और वन्दना करने के योग्य, सबको शरण देने और नमस्कार करने के योग्य है, वही जगदीश्वर हमारी विजय

सनायोग्योऽस्ति। ईड्यः अस्माभिः स एवैकः स्तोतुं योग्यः, वन्द्यः पूजनीयः, उपसद्यः समाश्रयितुं योग्यो नमस्यः नमस्कर्तुं योग्यः। हे महाराजेश्वर त्वमुत्तमप्रकारेणास्मिन् राज्ये सत्कृतो भव भवत्सत्कारेण सह वर्तमाना वयमप्यस्मिन् चक्रवर्तिराज्ये सदा सत्कृता वसेम।

हे इन्द्र परमेश्वर, त्वं सर्वस्य जगतोऽधिराजोऽसि। श्रवस्युः श्रव इवाचरति सर्वस्य श्रोता च स्वकृपया मामपि तादृशं कुरु। त्वं भूरसि भूतिर्जनानाम्। हे भगवन्! त्वं भूः सदा भवसि यथा जनानामभिभूतिरभीष्टस्यैश्वर्यस्य दातासि तथा ममाप्यनुग्रहेण करोतु दैवीर्विश इमा विराजा हे जगदीश्वर, यथा त्वं दिव्यगुणसम्पन्ना विविधोत्तमराजपालिताः प्रत्यक्षविषयाः प्रजाः सत्यन्यायेन पालयसि तथा मामपि कुरु। युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु, हे महाराजाधिराजेश्वर, तव यदिदं सनातनं राजधर्मप्रयुक्तं नाशरहितं विश्वरूपं राष्ट्रमस्ति तदिदं भवद्दत्तमस्माकमस्तु इति याचितः सन्नाशीर्ददातीदं मद्रचितं भूगोलाख्यं राष्ट्रं युष्मदधीनमस्तु' (पृ० २७) इति।

तदपि यत्किञ्चित्, 'परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा विजयोत्कर्षं प्राप्नोतु' इत्युक्तिरपार्थैव, परमेश्वरस्य निरतिशयैश्वर्यस्योत्कर्षान्तरप्राप्त्यसम्भवात्। सभाप्रबन्धस्य प्रबन्धुरधीनत्वात् प्रबन्धुर्विजय एव स पर्यवस्यति। न प्रबन्धभयः सम्भवति। पराजयश्च परमेश्वरस्याप्राप्त एवेति व्यर्थो निषेधः, प्राप्तौ सत्यामेव निषेधप्रवृत्तेः सम्भवात्। प्रसिद्धस्य परमेश्वरस्य कृते प्रसिद्ध्यतामित्युक्तिः सूर्यः प्रकाशतामितिवद् व्यर्थैव। चर्कृत्य इत्यस्य पुनः पुनरुपास्य इति कथमर्थः? नहि कृतेरुपास्तेर्वा समान एवार्थः प्रसिद्धः, लक्षणायां च बीजं वक्तव्यम्।

वस्तुतस्तु 'अभिभूः' (६।९७), 'इन्द्रो जयति' (६।९८), 'अभि त्वेन्द्र' (६।९९) इति तृचैः संग्रामजयकर्मण्याज्यहोमं सक्तुहोमं धनुरिध्मेऽग्नौ धनुःसमिदाधानं शरेध्मेऽग्नौ शरसमिदाधानपूर्वकं धनुःप्रदानं कुर्यात्, 'अभिभूः, इन्द्रो जयाति, अभि त्वेन्द्र इत्याज्यसक्तून् जुहोति' (कौ० सू० २१५) इत्यादिसूत्रात्। 'यदि वर्त्मनि 'इन्द्रो जयाति' इति

करानेवाला, रक्षक, न्यायाधीश और राजा है। इसलिये हमारी यह प्रार्थना है कि हे परमेश्वर, आप कृपा करके हम सबों के राजा होइये और हम लोग आपके पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी होकर आपके राज्य को सत्य और न्याय से सुशोभित करें।

हे परमेश्वर, आप ही सब संसार के अधिराज और आप्तों के समान सत्य और न्याय के उपदेशक हैं। आप ही सदा नित्यस्वरूप सज्जन मनुष्यों को राज्य ऐश्वर्य के देने वाले हैं। आप ही इन विविध प्रजाओं को सुधारने और दुष्ट राजाओं को युद्ध में पराजित कराने वाले हैं। हे जगदीश्वर, आपका राज्य नित्य तरुण बना रहे, जिससे कि सारे संसार को विविध प्रकार का सुख मिले। इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्य, प्रेम और पुरुषार्थ से ईश्वर की भक्ति और उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, उनको वह आशीर्वाद देता है कि मेरे रचे हुए भूगोल का राज्य तुम्हारे अधीन हो' (पृ० २५८)।

यह व्याख्या भी गलत है, परमेश्वर अथवा सभा का प्रबन्ध विजय के उत्कर्ष को प्राप्त करे, यह कहना व्यर्थ ही है, क्योंकि परमेश्वर तो निरतिशय ऐश्वर्य से सम्पन्न है, उसका और क्या उत्कर्ष हो सकता है? सभा का प्रबन्ध प्रबन्धक के अधीन है, अतः प्रबन्धक की विजय में ही उसका अन्त होगा, प्रबन्ध की तो कोई विजय होती नहीं। पराजय परमेश्वर की कभी नहीं हो सकती, अतः उसका निषेध कैसा। किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर ही उसका निषेध किया जा सकता है। परमेश्वर तो प्रसिद्ध है ही। उसके लिये प्रसिद्ध होने की बात करना सूर्य प्रकाशित हो, इस वाक्य की तरह निरर्थक ही है। 'चर्कृत्य' इस शब्द का अर्थ भी बार बार उपासना करनी चाहिये, यह कैसे होगा? कृति और उपास्ति का एक ही अर्थ नहीं होता और बिना प्रयोजन के सब जगह मनमानी लक्षणा नहीं की जाती।

वास्तव में 'अभिभू०' इत्यादि इन तीन मन्त्रों का विनियोग युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये घृत और सक्तु के होम के लिये किया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र में यही विनियोग वर्णित है। तदनुसार प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ यह होगा—इस युद्ध में इस राजा की सहायता के लिये आया इन्द्र इसको विजय दिलाता है, उस इन्द्र के ऐश्वर्य से ऐश्वर्य सम्पन्न यह राजा युद्ध में विजय

राजा त्रिःसेनां परियाति' इति परसेनाविद्वेषणकर्मणि राजा सेनां त्रिः परिगच्छेदित्यादिरीत्या मन्त्राणामेषां विनियोगः। तदनुसारेणायं मन्त्रार्थः—अस्मिन् संग्रामे अस्य राज्ञः साहाय्यार्थमागत इन्द्रो जयाति, ऐश्वर्यंयोगाद् इन्द्रात्मकोऽयं राजा जयाति जयतु। न पराजयातै पराजयं मा प्राप्नोतु। अधिको राजा अधिराजः सर्वेषां राज्ञामधिपतिरिन्द्रो राजसु अन्येषु भूपालेषु राजयातै अस्मान् राजयतु प्रकाशयतु वीर्यवत्तया प्रख्यापयतु। परमेश्वरे इन्द्रपदप्रयोगः 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादौ दृष्टः। प्रकरणानुसारेण तु प्रकृत इन्द्रो देवविशेष एव विवक्षितः। सोऽपि परमेश्वरस्यांश एव। स च इन्द्रः चर्कृत्यः अतिशयेन शत्रूणां कर्तिता छेत्ता। 'कृती छेदने' इत्यस्मात् यङन्तात् पचाद्यच्। ईड्यः स्तुत्यः,वन्द्यो वन्दनीयश्च। उपसद्यः सर्वैः सेवनीयः। अत एव, हे इन्द्र! त्वमिहास्मिन् संग्रामे नमस्यः अस्माभिः पूजनीयः। नमसः पूजायामिति पूजार्थे 'नमो वरिवः' इति क्यच्। तदन्तात् पचाद्यच्।

'त्वमिन्द्राधिराज' इत्यत्रापीन्द्राभेदेन राज्ञः स्तुतिः। हे इन्द्र, त्वम् अधिराजः, राज्ञामन्येषामधिकः सन् श्रवस्युः इत्यन्नस्य यशसो वा वाचकः, अन्नवान् यशस्वी वा भवसि। त्वं जनानां प्राणिनाम् अभिभूतिः स्वमहिम्ना शत्रूणामभिभविता तिरस्कर्ता भूः भवति। भवतेच्छन्दति लुङि 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू०) अमाङ्योगेऽप्यडभावः। दैवीः देवसम्बन्धिनीः इमा विशः प्रजाः त्वं विराज ईशिष्व। ते तव आयुष्मतः चिरकालजीवनयुक्तम् अजरं जरारहितं क्षत्रं बलमस्तु।

परमेश्वरस्तु सर्वस्य जगतोऽधिराजोऽस्त्येव। सर्वस्य श्रव इवाचरतीति सर्वस्य श्रोता चेति न किमपि स्पष्टम्, चकारप्रयोगादर्थद्वयमिह विवक्षितमिति ज्ञायते। कृपया मामपि तादृशं कुर्विति कस्य शब्दस्यार्थः? ईश्वरस्तु सर्वज्ञत्वाद् भवति श्रोता, जीवस्तु कथं तादृशो भवेत्, तस्याल्पज्ञत्वेन तदसम्भवात्। श्रव इवाचरणं कथं परमेश्वरस्य भवति। हिन्दीभाषायां तु—'आप्तों के समान सत्य न्याय के उपदेशक हैं' श्रवस्युरित्यस्य कथमयमर्थ इति तु विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु। यथा जनानामभिभूरसीष्टस्यैश्वर्यस्य दातासि, तथा मामप्यनुग्रहेण करोतु इति कथं कस्य शब्दस्यार्थः? मूले 'विराजायुष्मतः' एवं पाठो विद्यते। व्याख्यायां 'विराजाः' इति पाठोऽशुद्ध एव। अत्रापि विविधोत्तमराजपालिताः प्रजा…सत्यन्यायेन पालयति तथा मामपि कुरु

प्राप्त करे। यह राजा युद्ध में कभी पराजित न हो। सभी राजाओं का अधिपति इन्द्र हमारे इस यजमान राजा को अन्य सब राजाओं का अधिपति बना दे। यद्यपि 'इन्द्रो मायाभिः' इत्यादि श्रुतियों में इन्द्र पद का प्रयोग परमेश्वर के अर्थ में भी होता है, किन्तु प्रकरण के अनुसार प्रकृत मन्त्र में देवविशेष ही इन्द्र पद से विवक्षित है। यह इन्द्र भी परमेश्वर का ही अंश है। यह इन्द्र शत्रुओं का समूल नाश कर देने वाला है। अत एव यह स्तुति करने योग्य और वन्दना करने योग्य है। साथ ही सभी के लिये सेवनीय भी है। इसलिये हे इन्द्र, इस युद्ध के अवसर पर हम तुम्हारी पूजा करते हैं।

'त्वमिन्द्राधिराजः' इस मन्त्र में भी राजा को इन्द्र से अभिन्न मान कर उसकी स्तुति की गई है। हे इन्द्र के प्रतिनिधिभूत राजा, तुम सभी राजाओं में श्रेष्ठ हो और धन-धान्य से संपन्न और यशस्वी हो। तुम अपने प्रभाव से सभी तरह के शत्रुओं का तिरस्कार कर देते हो, उनके अभिमान को चूर-चूर कर देते हो। यह सारी प्रजा तुम्हारे जैसे प्रभावशाली प्रभु को देवता की बुद्धि से देखती है। हे राजन्, तुम चिरकाल तक जीवित रहो और तुम्हारा क्षात्र बल कभी क्षीण न हो।

परमेश्वर तो सारे जगत् का सबसे बड़ा स्वामी है ही, इसमें कहने की क्या बात है। सबको सुनने का सा आचरण करता है और सबको सुनाता है, इससे कोई भी बात स्पष्ट नहीं होती। चकार का प्रयोग करने से ज्ञात होता है कि व्याख्याकार को यहाँ दो अर्थ अभिप्रेत हैं। कृपा कर मुझे भी वैसा ही बनाओ, यह किस शब्द का अर्थ है। ईश्वर सर्वज्ञ है, अतः वह श्रोता हो भी सकता है, किन्तु जीव सबका श्रोता कैसे हो सकता है, वह तो अल्पज्ञ है। सुनने का सा आचरण परमेश्वर में कैसा होगा? हिन्दी भाषा में इसका अर्थ 'आप्तों के समान सत्य न्याय के उपदेशक हैं' ऐसा किया गया है। श्रवस्यु शब्द का यह अर्थ कैसे होगा? यह विद्वानों के विचार करने की बात है। जैसे सब मनुष्यों को आप उनके अभीष्ट ऐश्वर्य को देते हैं, उसी तरह से मेरे ऊपर भी अनुग्रह कीजिये, यह अर्थ किस शब्द से कैसे निकलेगा? मूल में 'विराजायुष्मतः' ऐसा पाठ है, किन्तु व्याख्याकार ने 'विराजाः' यह अशुद्ध पाठ स्वीकार किया है। यहाँ

इत्युदक्षरमेव व्याख्यानम् । 'युष्मत् क्षत्रमजरम्' इत्ययमपि दयानन्दीयव्याख्यानपाठोऽशुद्ध एव । व्याख्यानेऽपि युष्मदिति पाठानुगुणं भूगोलाख्यं राष्ट्रं युष्मदधीनमस्त्विति व्याख्यानमप्यशुद्धमेव ।

'स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळु उत प्रतिष्कम्भे युष्मामस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥' 'तं सभा च समितिश्च सेना च…', (अथर्व०), 'इमं वीरमनुहर्षध्व प्रमिन्द्रमिन्दं सखायो अनु संरभध्वम् । ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥' (अथर्व०), 'सभ्य सभां ये पाहि ये च सभ्याः सभासदः । त्वयेद्गाः पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवम् ॥' (अथर्व०) । स्थिरा वः' इति मन्त्रस्य दयानन्दीयं व्याख्यानं पूर्वमेवोद्धृतं तत्खण्डनं च तत्रैव कृतम् ।

'तं सभा च' (अथर्व० १५।९।२) इत्यत्र' यदुक्तम्–'राजसभा प्रजा च तं पूर्वोक्तं सर्वराजाधिराजं परमेश्वरं तथा सभाध्यक्षमभिषिच्य राजानं मन्यते । समितिश्च तमनुसृत्यैव युद्धमाचरणीयं सेना वीरपुरुषाणां सेना सापि परमेश्वर ससभाध्यक्षां सभां स्वसेनानीं चानुसृत्य युद्धं कुर्यात् ।' (पृ० २५९) इति, तन्न संगतम्, विलक्षणक्रियापदानां योगे बीजानुक्तेः । सर्वाधिपतेरपि रामचन्द्रस्यायोध्यापतित्ववत् परमेश्वरस्य सर्वाधिपते राज्याधिपतित्वं यद्यपि नासङ्गतं तथापि प्रकृतमन्त्रस्य तदर्थतेत्यत्र बीजं वक्तव्यमेव । सभाध्यक्षमभिषिच्य राजानं मन्यत इत्यप्यसंगतम्, विकल्पानुपपत्तेः । किं राजैव सभाध्यक्षो भवति सभाध्यक्ष एव वा राजा भवति ? नाद्यः, तथात्वे सभाध्यक्षमभिषिच्य राजानं मन्यत इत्यनुपपत्तेः । नान्त्यः, सभाध्यक्षो निर्वचनसाध्यश्चेद् रामायणमहाभारतादिराजवंशपारम्पर्यबाधापत्तेः । मन्त्रब्राह्मणलिङ्गैश्च वैन्यस्य पृथोः पारिक्षितस्य जनमेजयस्य च राजत्वं श्रूयते । मन्वादिधर्मशास्त्रेष्वपि क्षत्रियस्यैवाभिषेकः स्मर्यते । राजसूयादियोगेषु क्षत्रियजातेरेवाधिकार इति पूर्वमीमांसायां निर्णीतम् । निर्वाचनपक्षे नैतत्सङ्गच्छते । निर्वाचनप्रकारश्च विधेयः स्यान्न च विधानं दृश्यते । 'समितिर्युद्धमाचरणीयम्'

भी विविध प्रजा को सुधारने, सत्य और न्यायपूर्वक पालन करने वाली व्याख्या असंबद्ध ही है । 'युष्मत्क्षत्रमजरम्' यह पाठ भी दयानन्द ने अशुद्ध उद्धृत किया है । व्याख्या में भी 'युष्मत्०' यह पाठ के अनुरूप यह समस्त भूगोल रूप राष्ट्र का शासन तुम्हारे अधीन हो, यह अर्थ अशुद्ध है ।

इसके आगे दयानन्द ने 'स्थिरा वः' इत्यादि चार मन्त्र उद्धृत कर उनकी व्याख्या की है । इनमें से प्रथम मन्त्र की व्याख्या को पहले ही उद्धृत कर वहीं उसका खण्डन भी कर चुके हैं । 'तं सभा च०' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या यह की गई है—'प्रजा तथा सब सभासद् सब राजाओं के राजा परमेश्वर को जानकर सब सभाओं में सभाध्यक्ष का अभिषेक करें । सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और सर्वोपकारक धर्म का ही आश्रय करके युद्ध करें । तथा जो सेना, सेनापति और सभाध्यक्ष हैं, वे सब सभा के आश्रय से विचारपूर्वक उत्तम सेना को बनाकर सदैव प्रजापालन और युद्ध करें' (पृ० २५९-२६०), किन्तु यह भी ठीक नहीं है, बीच बीच में अनोखी क्रियाओं को जोड़ने में कोई प्रमाण नजर नहीं आता । भगवान् रामचन्द्र सारे जगत् के स्वामी होते हुए भी अयोध्या के भी स्वामी हैं । उसी तरह से परमेश्वर भी सबका अधिपति होते हुए भी राज्य का अधिपति भी हो सकता है, इसमें कोई अनौचित्य नहीं है, किन्तु प्रकृत मन्त्र का यही अर्थ है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । सभाध्यक्ष को अभिषिक्त कर राजा माने, यह कथन भी असंगत है, क्योंकि ऐसा मानने पर यह विकल्प नहीं बनता कि क्या राजा ही सभाध्यक्ष है अथवा सभाध्यक्ष ही राजा है ? इनमें पहला पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि ऐसा मानने पर सभाध्यक्ष का अभिषेक कर राजा माने, इस अर्थ की उपपत्ति न हो सकेगी । अन्तिम पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि यदि सभाध्यक्ष का निर्वाचन होता है तो रामायण, महाभारत आदि में प्रतिपादित राजवंशों की परम्परा से विरोध होगा । मन्त्र, ब्राह्मण आदि से वैन्य, पृथु, पारिक्षित जनमेजय आदि राजाओं के नाम मालूम होते हैं । मनु प्रभृति के धर्मशास्त्रों में क्षत्रिय का ही अभिषेक प्रतिपादित है । राजसूय आदि यज्ञों में क्षत्रिय जाति का ही अधिकार पूर्वमीमांसा में निर्णीत है । राजा का निर्वाचन मानने में इन सबकी संगति नहीं बैठेगी । ऐसा मानने पर इनमें निर्वाचन की पद्धति का भी विधान होना चाहिये, किन्तु वह है नहीं । 'समितिर्युद्धमाचरणीयम्' यह वाक्य भी अशुद्ध है । यदि समिति पद का अर्थ ही युद्ध माना जाय, तो भी कर्तृवाचक पदों के बीच में कर्म-

इत्यप्यशुद्धम् । यदि तु समितिपदस्य व्याख्यानमेव युद्धमिति, तदपि कर्तृपदप्रवाहे कर्मपरत्वे कारणं वक्तव्यं स्यात्, कर्तृपद च तृतीयान्तं पृथङ्निर्देष्टव्यं स्यात् । सेना च युद्धं कुर्यादिति कुतो लब्धम्, मूले विधिपदानिर्देशात् । सेनान्यादिकमाश्रित्येत्यपि निर्मूलम् ।

वस्तुतस्तु पञ्चदशे काण्डे व्रात्यमहिमा प्रपञ्चितः । व्रात्यो नाम उपनयनादिसंस्काररहीनः पुरुष उच्यते । प्रकृते परमात्मैव परमात्मभावापन्नो ब्रह्मविद्वरिष्ठो वाऽत्र व्रात्यपदेनोपदिष्टः । मातापित्रादिशून्यत्वान्नित्यशुद्धत्वात् संस्कारादिशून्यत्वात् सोऽपि व्रात्यशब्देनोक्तः । अत एव व्रात्यो महानुभावो व्रात्यो देवाधिदेवः । अत एव व्रात्यो गच्छति । विश्वं जगद्विश्वे च देवास्तत्र तमनुगच्छन्ति, तस्मिन् स्थिते तिष्ठन्ति तस्मिश्चलति चलन्ति, स एव प्रजापतिः स एव महादेवोऽभवत् । स धनुरादत्त तदेवेन्द्रधनुः । नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् । नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं लोहितेन द्विषन्तं विध्यति, तस्यानुचलनमनु वृहद्रथन्तरादिसामानि सर्वे च देवा अनुव्यचलन् । स विशो व्यचलत् । तं सभा च समितिश्च सेना च सदा चानुव्यचलन् । यश्चैवं वेद स सभायाः समितेः सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति । वस्तुतोऽत्र सभा विचारसभा भवति । समितिः कार्यकारिणी कार्यपालिका भवति, सेना च युद्धादिकर्त्री, सुरा च सेनाया उत्साहवर्धको रसविशेषः । अत एव समितिशब्दस्य युद्धमिति व्याख्यानं तस्य कर्मत्वोक्तिश्चापाकृते वेदितव्ये ।

'इमं वीरमनु० (अथर्व०६।९७।३) इत्यत्रापि यदुक्तम्–'ईश्वरः सर्वान् मनुष्यान् प्रत्युपदिशति–हे सखायः, इमं वीरमुग्रमिन्द्रं शत्रूणां हन्तारं युद्धकुशलं निर्भयं तेजस्विनं प्रतिराजपुरुषं तथेन्द्रं परमैश्वर्यवन्तं परमेश्वरं अनुहर्षध्वं यूयमनुमोदध्वम् । एवं कृत्वैव शत्रूणां पराजयार्थम् अनुसंरभध्वं युद्धारम्भं कुरुत । कथंभूतं तं ? ग्रामजितं येन पूर्वं शत्रूणां समूहा जिता गोजितं

वाचक पद की उपस्थिति का कारण बताना पड़ेगा । इसके साथ ही अलग से तृतीयान्त कर्तृपद का भी निर्देश होना चाहिये था । सेना युद्ध करे, यह अर्थ आपने कहाँ से निकाला, क्योंकि मूल मन्त्र में विधि पद है नहीं । सेनापति का सहारा लेने की बात भी निराधार है ।

वास्तव में जो अथर्ववेद के पन्द्रहवें काण्ड में व्रात्य की महिमा का वर्णन किया गया है । उपनयन आदि संस्कारों से हीन पुरुष व्रात्य कहलाता है, किन्तु प्रकृत स्थल में स्वयं परमात्मा अथवा कोई श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता व्रात्य पद से अभिहित है । परमात्मा के भी माता-पिता नहीं हैं और नित्य शुद्ध होने से यह सभी संस्कारों से रहित भी है, अतः इसको भी व्रात्य कहा जा सकता है । इसीलिये व्रात्य ऊँचे विचारों वाला देवताओं का भी देव माना जाता है । इसीलिये ऐसा प्रभावशाली व्रात्य जब चलता है, तो उसके साथ सारा जगत् और सब देवता पीछे-पीछे चलते हैं, उसके खड़े होने पर खड़े हो जाते हैं और उसके चलने पर फिर चलने लगते हैं । यही व्रात्य परमात्मा प्रजापति बन जाता है और महादेव भी बन जाता है । उसने जिस धनुष को लिया वह इन्द्रधनुष बन गया । इसका ऊपर का हिस्सा नील वर्ण का और नीचे का हिस्सा लाल रंग का है । यह नील वर्ण से अपने अप्रिय शत्रु को और लोहित से अपने से द्वेष करने वाले को बींध देता है । उसके चलने पर उसके पीछे-पीछे बृहत्, रथन्तर आदि साम और सब देवगण चलने लगते हैं, सारी प्रजा, सभा, समिति, सेना, सुरा आदि उसके पीछे-पीछे चलते हैं । जो व्यक्ति इस रहस्य को जानता है, वह सभा, समिति, सेना, सुरा इन सबका प्रिय बन जाता है । वस्तुतः यही सभा का अर्थ विचार करने वाली सभा और समिति कार्य का संचालन करने वाली कार्यपालिका कही जाती है । सेना युद्ध करती है और सुरा सेना के उत्साह को बढ़ाने वाली होती है । इस तरह से समिति शब्द का अर्थ युद्ध करना तथा उसको कर्म बताना सर्वथा असंगत ही माना जायगा ।

'इमं वीरमनु०' इस मन्त्र का अर्थ यह किया गया है—'ईश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि हे बन्धु लोगों, हे शूरवीर लोगों, न्याय और दृढ़ भक्ति से अनन्त बलवान् परमेश्वर को इष्ट करके शूरवीर लोगों को सदा आनन्द में रक्खो । तुम लोग अत्यन्त उग्र परमेश्वर की सहायता से एकमत होकर दुष्टों को युद्ध में जीतने का उपाय रचा करो । जिसने सब भूगोल तथा सब के मन और इन्द्रियों को जीत रखा है, प्राण जिसके बाहु और जो हम सबको जिताने वाला है, उसी को इष्ट जानकर हम लोग अपना राजा

येनेन्द्रियाणि पृथिव्यादिकं जितम्, वज्रबाहुं वज्रः प्राणो बलं बाहुर्यस्य तं जयन्तं जयं प्राप्नुवन्तं प्रमृणन्तमोजसा ओजसा बलेन शत्रून् प्रकृष्टतया हिंसन्तं अज्म वयं तमाश्रित्य सदा विजयं प्राप्नुमः' (पृ० २५९) इति, तदपि विश्रृङ्खलमेव, सर्वस्यैव वेदस्य त्वद्रीत्या परमात्मोपदिष्टत्वेन विशेषे हेत्वसिद्धेः। किञ्च, परमैश्वर्यवतो वीरपुरुषस्यानुमोदनसापेक्षत्वेऽपि स्वतन्त्रस्य परमेश्वरस्य तदनपेक्षणात्।

सायणादिसम्मतस्त्वयमर्थः—इममस्मदीयं वीरं वीर्यवन्तं राजानम् अनु हे सैनिकाः, हर्षध्वं, वीररसेन हृष्टा भवत। कीदृशम्? उग्रम् उद्गूर्णबलम्, इन्द्रं परमैश्वर्यवन्तं हे सखायः समानख्यानाः सैनिकाः, अनुसंरभध्वं राजानमनुसृत्य युद्धोद्युक्ता भवत। यद्वा इन्द्रः संग्रामदेवतात्र स्तूयते। तत्र पक्षे सखायः मरुतः कीदृशमिन्द्रं ग्रामजितं ग्रामान् जयन्तं ग्रामपदं समूहवाचकं भवति। तथापि समूहिसापेक्षं भवति यथा गुणग्रामः, न तु केवलो ग्रामशब्दस्तथा भवति। इन्द्रस्य देवविशेषस्य राज्ञो वा शत्र्वधिकृतग्रामादिनेतृत्वं प्रसिद्धम्। गोजितं शात्रवीः गा जयन्तम् अपहरन्तम्वज्रबाहुं वज्रोपमहस्तं वज्रायुधहस्तं वा जयन्तं शत्रून् पराजितान् कुर्वन्तम्, अज्म अजनक्षेपणशीलबलं शत्रुबलमोजसा बलेन प्रमृणन्तं प्रकर्षेण हिंसन्तं 'मृञ् हिंसायाम्' 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (पा० सू० ६।४।११२) इत्याल्लोपः। कौशिकवैतानिकादिसूत्रैरपि राज्ञां विजयकर्मण्यस्य सूक्तस्य विनियोग उक्तः।

एवमेव 'सभ्य सभां' (अथर्व १९।५५।६) इत्यत्रापि यदुक्तम्–'हे सभायां साधो परमेश्वर, मे मम सभां यथावत्परिपालय। 'मे' इत्यस्मच्छब्दनिर्देशात् सर्वान् मनुष्यान् इदं वाक्यं गृह्णाति। हे सभ्याः सभासदः! ये सभाकर्मसु साधवश्चतुराः सभाग्रां सीदन्ति तेऽस्माकं त्रिविधां पूर्वोक्तां सभां पान्तु यथावद्रक्षन्तु। हे पुरुहूत बहुभिः पूजित परमात्मन्, त्वया सह ये सभासदः इद्गा इतं राजधर्मज्ञानं गच्छन्ति त एव सुखं प्राप्नुवन्ति। एवं सभापालितोऽहं सर्वो जनः शतवार्षिकं

मानें, जो अपने अनन्त पराक्रम से दुष्टों का पराजय करके हम सबको सुख देता है' (पृ० २६०), किन्तु यह भी गलत है, क्योंकि आपके मत से तो सारा वेद परमेश्वर के द्वारा ही उपदिष्ट है, तब कोई विशेष बात ही ईश्वर द्वारा उपदिष्ट है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है। परम ऐश्वर्यवान् वीर पुरुष को भी किसी के अनुमोदन की अपेक्षा रहती है, किन्तु स्वतन्त्र परमेश्वर को तो इसकी अपेक्षा नहीं है।

इस मन्त्र का सायणादि संमत अर्थ इस तरह से होगा—हमारे इस बलशाली राजा के साथ हे वीर सैनिकों, हर्षध्वनि करते हुए जय जयकार करते हुए चलो। यह राजा बड़े उग्र स्वभाव का है और परम ऐश्वर्य संपन्न है। हे मित्र सैनिकों, आप लोग इस राजा का अनुसरण कर युद्ध में पूरे जोर-शोर से लग जाओ। अथवा युद्ध के देवता इन्द्र की यहाँ स्तुति की गई है। इस पक्ष में हे मित्र मरुद्गणों, गाँवों को जीतने वाले इस इन्द्र के नेतृत्व में आप लोग चलो। ग्राम पद यहाँ समूह का वाचक है। इसको समूही की अपेक्षा है, जैसे कि गुणग्राम शब्द को, जिनमें यह गुणों का समूह रहता है, उस समूही की अपेक्षा रहती है। केवल ग्राम शब्द की इस तरह की शक्ति नहीं होगी। इन्द्र, जो कि एक विशेष देवता है अथवा राजा शत्रुओं के अधिकृत गाँवों का तब नेता हो जाता है, जब कि वह उनको जीत लेता है। वह इन्द्र शत्रु की गायों को जीत लेता है, उनका अपहरण कर लेता है। उसके बाहु वज्र के समाज मजबूत हैं अथवा उसके हाथ में वज्र है। वह सदा शत्रुओं को जीतता है, उनको पराजित कर देता है। उसका बल शत्रु की सारी व्यवस्था को तोड़-फोड़ देता है। अपने पराक्रम के प्रकर्ष से वह शत्रु के बल और तेज को नष्ट कर देता है। कौशिक, वैतानिक आदि सूत्र ग्रन्थों में भी राजाओं की विजय के प्रसंग में इस सूक्त का विनियोग किया गया है।

इसी तरह से 'सभ्य सभां०' इस मन्त्र की व्याख्या इस तरह से की गई है—'हे सभा के योग्य परमेश्वर, आप हम लोगों की राजसभा की रक्षा कीजिये। हम लोग जो सभा के सभासद् हैं, सो आपकी कृपा से सभ्यता से युक्त होकर अच्छी प्रकार से सत्य और न्याय की रक्षा करें। हे सबके उपास्य देव, हम लोग आपकी ही सहायता से आपकी आज्ञा का पालन करते रहें, जिससे कि सम्पूर्ण आयु को सुख से भोगें' (पृ० २६०), किन्तु यह भी गलत है। हे सभा के योग्य परमेश्वर, यह सम्बोधन निराधार है,

सुखयुक्तमायुः प्राप्नुयाम्' (पृ० २५९) इति, तदपि यत्किञ्चित्, हे सभायां साधो परमेश्वर इति निर्मूलमेव, परमेश्वरस्य सर्वत्रैव साधुत्वेन व्यावर्त्याभावात्। 'मे' इति मनुष्या एव गृह्यन्ते इत्यपि निर्मूलम्, देवानामपि 'मे' इति पदेन ग्रहीतुं शक्यत्वात्। सभासदो मनुष्या एव सन्ति, तेभ्यः सभारक्षाप्रार्थनापि न युज्यते, तेषामल्पशक्तित्वे प्रार्थनीयसाधनेऽसमर्थत्वात्। त्रिविधामित्यपि कल्पनामात्रप्रसूतम्। 'इद्गा' इत्यनेन राजधर्मविज्ञानवन्तो गृह्यन्त इत्यपि निर्मूलम्। कथञ्चिदभ्युपगमेऽपि तद्विज्ञानस्य शतायुषत्वहेतुत्वासम्भवात्।

वस्तुतस्त्वयं मन्त्रार्थः—हे सभ्य सभाया अधिष्ठातृदेवत ! सभां मे पाहि रक्ष। ये सभायां साधवः सभासदस्ते वयं सर्वे हे पुरुहूत बहुभिराहूत सभाधिष्ठातृदेवत त्वया इद्गाः ईयत इतीद् पुरुषार्थः, तं गच्छन्तीतीद्गाः पुरुषार्थभागिनः सन्तो विश्वं सम्पूर्णमायुर्व्यश्नुवं प्राप्नुयाम्।

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुरायेति सूक्तमुग्रवत् सहस्वत् तत्क्षत्रस्य रूपम्। ब्रह्म वै रथन्तरं क्षत्रं बृहद् ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितं क्षत्रे ब्रह्म। ओजो वै इन्द्रियं वीर्यं पञ्चदश ओजः क्षत्रं वीर्यं राजन्यस्तदेनमोजसा क्षत्रेण वीर्येण समर्द्धयति तद्भारद्वाजं वै बृहत्' (ऐ० ब्रा० ८।१।२-३)। बृहत्पृष्ठं भवति क्षत्रं वै बृहत्, क्षत्रेणैव तत्क्षत्रं समर्द्धयत्यथो क्षत्रं बृहदात्मा यजमानस्य निष्कैवल्यं तद्यत् पृष्ठं भवति। तानहमनुराज्याय साम्राज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय माहाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठायां रोहामीति। नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मणे इति त्रिःकृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति ब्रह्मण एव तत्क्षत्रं वशमेति। तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते' (ऐ० ब्रा० ८।२।६-९)। यदत्रोक्तम्—'इयं राजधर्मव्याख्या वेदरीत्या संक्षेपण लिखिताऽतोऽग्रे ऐतरेयब्राह्मणादिग्रन्थरीत्या संक्षेपेणोल्लिख्यते' (पृ० २६०) इति, तत्तुच्छम्, मन्त्रब्राह्मणभागयोरुभयोरपि वेदत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वोक्तेः।

यदपि तद्व्याख्यानम्—'जनिष्ठा राजसभायां जनिष्ठा अतिशयेन जना विद्वांसो धर्मात्मानः श्रेष्ठप्रकृतीन् मनुष्यान् प्रति सदा सुखदाः सोम्या भवेयुः। तथा दुष्टान् प्रत्युग्रो व्यवहारो धार्यः' इति, (पृ.२६१) तदपि न मनोऽनुगम्, 'यस्मिन् यथा वर्तते

क्योंकि परमेश्वर तो सभा में ही नहीं, सभी कार्यों में योग्य है। ऐसी कोई स्थिति नहीं है, जिसमें कि परमेश्वर की योग्यता न हो। 'मे' पद से केवल मनुष्यों का ही ग्रहण होगा, ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि 'मे' पद से देवताओं का भी ग्रहण हो सकता है। सभासद् मनुष्य ही होते हैं, उनसे सभा की रक्षा की प्रार्थना करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे तो थोड़ी शक्ति वाले हैं, अतः वे प्रार्थित वस्तु को पूरा करने में समर्थ नहीं हो सकते। तीन तरह की सभा की बात करना भी कपोल-कल्पना मात्र है। 'इद्गा' शब्द से राजधर्म के जानने वालों का बोध होता है, यह बात भी निर्मूल है। किसी तरह से मान भी लिया जाय, तो राजधर्म की जानकारी मात्र से मनुष्य की सौ वर्ष की आयु नहीं हो सकती।

वस्तुतः इस मन्त्र का अर्थ यह है—हे सभ्य, अर्थात् इस सभा के अधिष्ठाता देव, आप मेरी इस सभा की रक्षा कीजिये। जो सभासद् इस सभा को अपने भले आचरण से पवित्र करते हैं, हे इन्द्र, बहुत से व्यक्तियों के द्वारा बुलाये जाने वाले सभा के अधिष्ठाता देव, वे सब तुम्हारी सहायता से समस्त पुरुषार्थों को प्राप्त करें। मैं भी तुम्हारी कृपा से अपनी पूरी आयु का उपभोग करने में समर्थ होऊँ।

इन मन्त्रों की व्याख्या के बाद दयानन्द ने पुनः 'जनिष्ठा उग्र०' इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों को उद्धृत करते हुए कहा है—'इस प्रकार वेद की रीति से राजा और प्रजा के धर्म संक्षेप में कह चुके। इसके आगे वेद की सनातन व्याख्या जो ऐतरेय और शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, उनकी साक्षी भी यहाँ लिखते हैं' (पृ० २६३), किन्तु यह बात भी गलत है, क्योंकि मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग दोनों ही वेद हैं, इस विषय को पहले ही अकाट्य प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया जा चुका है।

'जनिष्ठा०' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य का वहाँ यह अर्थ किया गया है—'राजाओं की सेना और सभा में जो पुरुष हों, वे सब दुष्टों पर तेजधारी, श्रेष्ठों पर शान्तस्वरूप, सुख-दुःख के सहन करने वाले और धन के लिये अत्यन्त पुरुषार्थी हों' (पृ० २६३),

यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः। मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः' (म० भा०) इति नीतिशास्त्रसिद्धस्याप्यर्थस्य प्रकृतवचनाप्रतिपाद्यत्वात्। राजसभाया अत्राप्रकृतत्वात्। तद्बोधकवचनाभावाच्च। यच्च 'मन्द्र ओजिष्ठ' (ऐ० ब्रा०८।१।१) इत्यत्रोक्तम्,–'उत्तमकर्मकारिभ्य आनन्दकरो दुष्टेभ्यो दुःखप्रदश्चास्ति, उत्तमवीरपुरुषसेनादिपदार्थसामग्र्या सहितो यो राजधर्मोऽस्ति स च क्षत्रस्य स्वरूपमस्ति' (पृ० २६१) इति, तदपि मूढजनप्रतारणमेव, ब्राह्मणवचने तादृशार्थबोधकपदाभावात्। मन्द्रपदस्यौजिष्ठपदस्य च तादृशार्थबोधकत्वासम्भवात्। सहसे तुरायेति सूक्तमित्यादीनां पदानामर्थोऽपि नावधृतः। सूक्तमित्यस्य विशेषणमुग्रवत्सहस्वदिति, तदपि नावगतमित्यहो निर्लज्जताया नग्नताण्डवम्। यद्यनेन सायणादिभाष्यमपि दृष्टं स्यात्तदैवमुच्छृङ्खलोऽर्थः कथमुपन्यस्येत ?

अथ सायणादिसम्मतोऽर्थो निगद्यते—मरुत्वतीये शस्त्रे निविद्धानीयं सूक्तं प्रशंसति—जनिष्ठा उग्र इति (ऐ० ब्रा० ८।१।१)। जनिष्ठा इत्यस्मिन् पादे उग्रशब्दसहःशब्दयोर्विद्यमानत्वात् तदेतत्सूक्तमुग्रवत् सहस्वत्। तच्चोभयं क्षत्रियजातेः स्वरूपम्। क्षत्रियोऽपि क्रूरो बलवांश्च भवति। द्वितीयपादस्य पूर्वभागे मद्र ओजिष्ठ इति श्रुतत्वात्। सूक्तमोजःशब्दोपेतम्, ओजो नाम बलहेतुरष्टमो धातुः। तस्य च धातोः क्षत्रिये सम्पूर्णत्वादोजःशब्दोपेतं सूक्तं क्षत्रियस्य स्वरूपम्। तदुत्तरभागे वहुलाभिमान इति श्रुतत्वाद् अभिवदभिशब्दोपेतं तच्चाभिभूत्यै शत्रूणामभिभवस्य स्वरूपम्। तत्रैव तदेकादशर्चं भवत्येकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् त्रिष्टुभो वै राजन्यः, ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुबोजः, क्षत्रं वीर्यं राजन्यस्तदेनमोजसा क्षत्रेण वीर्येण समर्धयति। तद्गौरवीतं भवति एतद्वै मरुत्वतीयं समृद्धं यद्गौरवीतं तस्योक्तं ब्राह्मणं तत्सूक्तमेकादशर्चम्, एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् भवति। राजन्यश्च त्रिष्टुप्सम्बन्धी। अत एव गायत्री ब्राह्मणस्य त्रैष्टुभं राजन्यस्य जागतं वैश्यस्येत्युक्तम्, तयोः प्रजापतिबाहुजत्वात्। यत् त्रिष्टुबोजःप्रभृतीनां हेतुत्वात् तत्स्वरूपम्। ओजो बलहेतुरष्टमो धातुः। वीर्यं शरीर-

किन्तु यह अर्थ भी मन को भाता नहीं। यद्यपि नीतिशास्त्र में बताया गया है कि जो मनुष्य हमारे साथ जैसा व्यवहार करता है, उसके साथ उसी तरह का व्यवहार करना चाहिये। कपट आचरण करनेवाले के साथ कपट व्यवहार ही रखना चाहिये और भले आचरण वाले के साथ अपने भी भला बर्ताव करना चाहिये। किन्तु यह अर्थ यहाँ नहीं प्रतिपादित है, क्योंकि राजसभा का यहाँ कोई प्रसंग नहीं है। 'मन्द्र ओजिष्ठ०' इन पदों की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि उत्तम कर्म करने वालों के लिये आनन्द देने वाला और दुष्टों को यह दुःख देने वाला है। उत्तम वीरपुरुष, सेना और सैनिक सामग्री से परिपूर्ण यह राजधर्म ही क्षत्र का वास्तविक स्वरूप है, किन्तु यह भी मूर्ख आदमी को ठगना है, क्योंकि इस ब्राह्मणवाक्य में इस तरह के अर्थ के बोधक कोई शब्द नहीं हैं। मन्द्र पद और ओजिष्ठ पद का इस तरह का अर्थ नहीं किया जा सकता। 'सहसे तुरायेति सूक्तम्' इन पदों का अर्थ भी उनकी समझ में नहीं आया। उग्रवत् और सहस्वत् ये सूक्त पद के विशेषण हैं, इस बात को भी उन्होंने जानबूझ कर टाल दिया। इन्होंने यदि सायण प्रभृति के भाष्य देखे होते तो इस तरह का मनमाना अर्थ न करते।

अब सायण आदि का अर्थ यहाँ दिया जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है कि इस मन्त्र में मरुत्वतीय शस्त्र निविद्धानीय सूक्त की प्रशंसा की गई है। यहाँ प्रथम पाद में जनिष्ठा के साथ उग्र शब्द और सहस् शब्द विद्यमान हैं। इसलिये यह सूक्त उग्रता और ओजस्विता का सूचक है, जो कि क्षत्रिय जाति का स्वरूप है। क्षत्रिय क्रूर और बलवान् होता है। द्वितीय पाद के पूर्वभाग में मन्द्र और ओजिष्ठ ये दो पद हैं, इसलिये यह सूक्त ओज शब्द से संयुक्त है। बल के आधायक आठवीं धातु को ओज कहा जाता है। यह धातु क्षत्रिय में कूट-कूट कर भरी रहती है, अतः ओज शब्द से संयुक्त यह सूक्त क्षत्रिय का स्वरूप है। इसके आगे के भाग में 'बहुलाभिमान' यह पद सुना गया है। यह अभिमान शत्रुओं को अभिभूत करने वाला क्षत्रिय का स्वरूप है। इसी विषय को आगे के ब्राह्मण भाग में 'तदेकादशर्चं' से लेकर 'तत्सूक्तमेकादशर्चम्' पर्यन्त समझाया गया है। त्रिष्टुप् छन्द में ग्यारह अक्षर होते हैं। क्षत्रिय का इसी त्रिष्टुप् छन्द से सम्बन्ध माना गया है। इसीलिये कहा जाता है कि गायत्री ब्राह्मण का, त्रिष्टुप् राजन्य और जागत छन्द वैश्य का होता है। क्षत्रिय प्रजापति की बाहु से उत्पन्न माना गया है। इसलिये उसमें उक्त धर्मों का होना आवश्यक है। इसीलिये यह त्रिष्टुप्, ओज आदि का कारण होने से यही उसका स्वरूप मान लिया जाता है। यह बताया जा चुका है कि ओज बल का आधायक

बलम् । इन्द्रियं चक्षुरादिपाटवम् । राजन्य ओजःप्रभृतीनां स्वरूपभूतः क्षत्रं क्षत्रियजातियुक्तत्वम् । वीर्यं शरीरादिबलमेवं च राजयज्ञे तत्तेन त्रिष्टुप्छन्दस्कसूक्तपाठेनैवं राजानमोजःक्षत्रवीर्यैः समृद्धं करोति । किञ्चैतत्सूक्तं गौरवीताख्येन महर्षिणा दृष्टत्वाद् गौरवीताख्यं यस्मादेतत् गौरवीतं तस्मादेतद् मरुत्वतीयशस्त्रं समृद्धं सम्पूर्णं भवति । तस्य सूक्तस्य ब्राह्मणम् । सम्पूर्णो मन्त्रः—'जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय मन्द्र ओजिष्ठो बहुलाभिमानः । अवर्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा ॥' (वा० सं० ३३।६४) जनिष्ठेत्येकादशर्चं सूक्तं शक्तिपुत्रस्य गौरवीतेरार्षं मारुतं त्रैष्टुभम्, 'जनिष्ठा एकादश गौरवीतिः' इत्यनुक्रमणीवचनात् । अग्निष्टोमे मरुत्वतीयशस्त्रे निविद्धानमिदं सूक्तम् । 'जनिष्ठा उग्र इत्येके भूयसीः शस्त्वा मरुत्वतीयां निविदं दध्यात् (आ० श्रो० सू० ५।१४)।' सौमिकचातुर्मास्येषु वैश्वदेवेऽप्येतन्मरुत्वतीयनिवद्धानम् (आ० श्रो० सू० ९।२)।' महाव्रतेऽपि निष्केवल्य एतत्सूक्ते जनिष्ठा उग्रः सहसे तुरायेति निविद्धानम्' (ऐ० आ० ५।१।१)। हे इन्द्र, सहसे वलाय तुराय शत्रूणां हिंसनाय त्वमुग्रः उद्‌गूर्णबलः जनिष्ठाः अजायथाः । कीदृशस्त्वं मन्द्रः स्तुत्यः ओजिष्ठः अतिशयेन शरीरबलवान् बहुलाभिमानः भूयिष्ठाभिमानी ईदृशं महानुभावमिन्द्रमत्र वृत्रवधे मरुतश्चिद् मरुतोऽपि अवर्धन् स्तुत्या साहाय्येन वा वर्धितवन्तः । यद् यदा धनिष्ठा धारयित्री इन्द्रमाता वीरं दधनत् अधारयत् ।

'बृहत्पृष्ठम्' इत्यत्र यदुक्तम्—'यत् क्षत्रं कर्म तत् सर्वेभ्यः कृत्येभ्यो बृहन्महदस्ति । तथा पृष्ठमर्थान्निर्बलानां रक्षकं सत् पुनरुत्तमसुखकारकम् । एतेनोक्तेन क्षत्रराजकर्मणा मनुष्यो राजकर्म वर्धयति । नातोऽन्यथा क्षत्रधर्मस्य वृद्धिर्भवितुमर्हति । तस्मात् क्षत्रं सर्वस्मात् कर्मणो बृहत् । यजमानस्य प्रजास्थस्य जनस्य राजपुरुषस्य वात्मात्मवदानन्दप्रदं भवति । तथा सर्वस्य संसारस्य निष्कैवल्यं निरन्तरं केवलं सुखं सम्पादयितुं यतः समर्थं भवति तस्मात्तत्क्षत्रं कर्म सर्वेभ्यो महत्तरं भवति' (पृ० २६१) इति, तदप्यतीव साहसं धाष्ट्यं च, पौर्वापर्यावधारणशून्यत्वात् । आश्चर्यमेतद्यदनेन 'ब्रह्म वै रथन्तरम्' इति रथन्तरशब्दसान्निध्यादपि बृहच्छब्दस्यार्थो नावगतः । 'त्वामिद्धि हवामह' इति भागोऽपि नावधृतः ।

आठवां धातु माना जाता है । वीर्य शारीरिक बल को कहते हैं । चक्षु प्रभृति इन्द्रियों की कुशलता का यहां इन्द्रिय शब्द से अभिप्राय है । अतः राजन्य का अर्थ होता है कि इसमें ओज प्रभृति की सत्ता रहती है और यह क्षत्रिय जाति का होता है । यह अपने शारीरिक बल के सहारे राजसूय यज्ञ करने में समर्थ होता है । इस राजसूय यज्ञ में त्रिष्टुप् छन्द वाले सूक्तों का पाठ कर इस राजा को क्षत्रिय के गुणों से संपन्न किया जाता है । यह सूक्त गौरवीत नाम के महर्षि के द्वारा परिदृष्ट है, इसलिये इसको गौरवीत सूक्त कहा जाता है । प्रस्तुत ब्राह्मण में जिस मन्त्र की व्याख्या की गई है, उसको मूल में उद्धृत कर दिया गया है । 'जनिष्ठा' इत्यादि ग्यारह मन्त्रों वाले सूक्त का ऋषि शक्ति का पुत्र गौरवीति है । इसका देवता मरुत् और छन्द त्रिष्टुप् है । यह विनियोग सर्वानुक्रमणी में प्रदर्शित है । ऐतरेय आरण्यक में बताया गया है कि महाव्रत निष्कैवल्य प्रकरण में भी इस सूक्त का विनियोग किया जाता है । इस पृष्ठभूमि में ब्राह्मण वाक्य का संक्षिप्त अर्थ यह होगा कि हे इन्द्र, बल के लिये, शत्रुओं के नाश के लिये तुम उग्र बलशाली होकर उत्पन्न होवो । हे इन्द्र, आप स्तुति करने लायक, अतिशय शारीरिक बलवाले, महान् अभिमानी हैं । इस तरह के गुणों से विशिष्ट महानुभाव इन्द्र की वृत्र का वध करने के लिये जाते समय मरुद्देवता भी स्तुति अर्थात् प्रशंसा करके उसका उत्साह बढ़ाते हैं और साथ ही इन्द्र की सहायता भी करते हैं, जब कि इन्द्र की माता उसको धारण किये रहती है ।

'बृहत्पृष्ठं' इत्यादि ब्राह्मणवाक्य की व्याख्या करते हुए लिखा गया है—'यह राजव्यवहार सबसे बड़ा है । यह दुर्बलों का रक्षक होकर उनको सुख पहुँचाता है । इसलिये शूरवीर आदि गुणों से युक्त पुरुषों की सभा और सेना रखकर अच्छी प्रकार राज्य को बढ़ाना चाहिये । इसके सिवाय राज्य की वृद्धि नहीं हो सकती । इसलिये राजव्यवहार चलाना सबसे बड़ा काम है । भली प्रकार चलाया गया यह राजव्यवहार प्रजा और राजपुरुष दोनों के ही लिये आनन्द देने वाला है और यह सारे संसार को निरन्तर सुखी बनाये रखने में समर्थ है । इसलिये यह प्रजापालन का राजव्यवहार सबसे महान् कार्य है' (पृ० २६२), किन्तु यह सारा कथन दुःसाहस से भरा हुआ है, क्योंकि आगे पीछे आये प्रसंगों को थोड़ा सा भी नहीं देखा गया है । यह आश्चर्य की ही बात है कि दयानन्द ने रथन्तर शब्द के साहचर्य के होने पर भी बृहत् शब्द का सही अर्थ नहीं समझा । 'त्वामिद्धि हवामहे' इस वाक्य पर भी उन्होंने ध्यान नहीं दिया

क्षत्रेण क्षत्रसमृद्धिः कथमित्यत्रापि मौनमेवावलम्बितम् । निष्केवल्यमित्यस्य सुखं कथमर्थं इत्यपि नोक्तम् । मन्ये शस्त्रस्तोत्रादेरप्यपरिचितोऽयं येन निष्केवल्यशस्त्रमपि नावगतम् । सम्पूर्णकण्डिकामनुल्लिख्य कुतश्चित्किञ्चिद् गृहीत्वा ब्राह्मणग्रन्थेषु पाण्डित्यं प्रकटयन् विरुद्धं यत्किञ्चित् प्रलपन् कथं न जिह्लेतीत्याश्चर्यमेव ।

बृहत्पृष्ठं भवतीत्यपि वचनमपूर्णम्, सम्पूर्णं चेदम्—'त्वामिद्धि हवामह इति बृहत्पृष्ठं भवति क्षत्रं वै बृहत् क्षत्रेणैव तत्क्षत्रं समर्धयति । अथो क्षत्रं वै बृहदात्मा यजमानस्य निष्केवल्यं तद्यत्पृष्ठं भवति क्षत्रं वै बृहत् क्षत्रेणैवैनं तत्समर्धयत्यथो ज्यैष्ठ्यं वै बृहत् ज्यैष्ठ्येनैवैनं तत्समर्धयत्यथो श्रैष्ठ्यं वै बृहच्छ्रैष्ठ्येनैवैनं तत्समर्धयति ।' इति निष्केवल्यशस्त्रस्य वर्णनम् । त्वामिद्धीत्यादिकस्तृचो निष्केवल्यशस्त्रस्य स्तोत्रियप्रतिपत् पादबृहत्साम्न आधारत्वात् बृहद्रूपः । तेन च साम्ना पृष्ठस्तोत्रस्य निष्पाद्यत्वात् पृष्ठस्वरूपश्च भवति । त्वामिद्धीत्यस्यामृचि उत्पन्नं बृहत्साम क्षत्रं वा क्षत्रियजातिरूपमेव, अतः क्षत्रेणैव त्वामिद्धीति तृचरूपेण तत् क्षत्रं यजमानरूपं समृद्धं करोति । अथोऽपि चोक्तरीत्या क्षत्रमेव बृहद्रूपं निष्केवल्यशस्त्रं यजमानस्यात्मा देहभूतः । तत्तथा सति यद्यदि बृहत्पृष्ठशब्दवाच्यं त्वामिद्धीत्यादिकं निष्केवल्यं भवेत्तेन निष्केवल्येन क्षत्रं वै बृहदिति । तस्माद् बृहद्रूपेण निष्कैवल्येनैनं यजमानं समृद्धं करोति । अथोऽपि च त्वामिद्धीत्यादिकं बृहद्रूपं ज्यैष्ठ्यं वयोवृद्धः स्वरूपम्, अतो ज्येष्ठेनैव राजानं समृद्धं करोति······बृहद्रूपं श्रैष्ठ्यं वै गुणोत्कर्षं एव । तथा सति गुणोत्कर्षेणैव यजमानं समृद्धं करोति । त्वामिद्धीति सम्पूर्णो मन्त्र इत्थम्—'त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः । त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठा स्वर्वतः ॥' (वा० सं० २७।३७; ऋ० सं० ६।४६।१) ।

त्वामिद्धीति चतुर्दशर्चं सूक्तं बृहस्पतिपुत्रस्य शंयोरार्षमैन्द्रम् । 'त्वामिद्धि षड्ना प्रागाथ' इत्यनुक्रमणी । यदि ज्योतिष्टोमो बृहत्पृष्ठः स्यात्तदानीं निष्केवल्यस्याद्यः प्रगाथः स्तोत्रियः । तथा च सूत्रितम्—'यद्यु वै बृहत्त्वामिद्धि हवामहे' (आ० श्रौ० सू० ५।१५) महाव्रतेऽपि निष्केवल्येऽयं प्रगाथः शंसनीयः । तथैव पञ्चमारण्यकेऽपि सूत्रितम्—त्वामिद्धि हवामहे

है । क्षत्र से क्षत्र की समृद्धि कैसे होगी, इस पर भी उन्होंने मौन साध लिया है । निष्केवल्य शब्द का अर्थ सुख कैसे होगा, यह भी उन्होंने नहीं बताया । लगता है दयानन्द को शस्त्र, स्तोत्र आदि शब्दों के अर्थ का भी सही ज्ञान नहीं था, जिससे कि निष्केवल्य शब्द को नहीं जान पाये । सम्पूर्ण कण्डिका का विना उल्लेख किये कहीं से कुछ लेकर यह ब्राह्मण ग्रन्थों में अपनी पंडिताई छाटने लगते हैं । इससे बढ़कर आश्चर्य क्या होगा ?

'बृहत्पृष्ठं भवति०' इत्यादि मन्त्रभाग भी यहाँ अधूरा ही उद्धृत किया गया है । इसी को बताने के लिये मूल में सम्पूर्ण कण्डिका उद्धृत कर दी गई है । इसमें निष्केवल्य शस्त्र का वर्णन है । 'त्वामिद्धि' इत्यादि तीन ऋचाएँ बृहत्साम की आधारभूत होने से बृहत् कहलाती हैं । बृहत्साम से ही पृष्ठ स्तोत्र भी निष्पन्न होता है, अतः इसको पृष्ठस्वरूप भी माना जाता है । 'त्वमिद्धि०' इस ऋचा में उत्पन्न बृहत्साम अथवा क्षत्र क्षत्रिय जाति का ही बोधक है । अतः इन तीन ऋचाओं से यजमानरूप क्षत्रिय की ही समृद्धि की बात कही गई है । साथ ही इसी तरह से यह बृहद्रूप क्षत्र ही निष्केवल्य शस्त्र के रूप में यजमान का शरीर बनता है । ऐसा होने पर यदि बृहत्पृष्ठ शब्द से अभिहित 'त्वामिद्धि' इत्यादि तृच सूक्त से यदि निष्केवल्य शस्त्र बनता है, तो इससे क्षत्र की वृद्धि होती है । इसलिये बृहद्रूप निष्केवल्य शस्त्र का पाठ करने से यजमान की समृद्धि होती है । इसी तरह से 'त्वामिद्धि०' इत्यादि का बृहद्रूप ज्येष्ठ साम आयु की वृद्धि करने वाला है । इसलिये इसका पाठ कर राजा की समृद्धि की कामना की जाती है । बृहद्रूप श्रेष्ठता गुण के उत्कर्ष को कहते हैं, अतः इस गुण के उत्कर्ष का वर्णन कर यजमान के उत्कर्ष की कामना की जाती है । 'त्वामिद्धि०' इत्यादि पूरा मन्त्र मूल में उद्धृत कर दिया गया है ।

'त्वामिद्धि०' इत्यादि चौदह ऋचाओं वाले सूक्त का ऋषि बृहस्पति का पुत्र शंकु है । इन्द्र इसका देवता है । यह विवरण सर्वानुक्रमणी में दिया गया है । यदि ज्योतिष्टोम बृहत्पृष्ठ हो तो उस समय निष्केवल्य शस्त्र का पहला प्रगाथ स्तोत्रिय होता है, जैसा कि आश्वलायन श्रौतसूत्र में बताया गया है । ऐतरेय आरण्यक के अनुसार इसका विनियोग महाव्रत में भी निष्केवल्य शस्त्र के पहले प्रगाथ का शंसन करने में किया गया है । मन्त्र का अर्थ यह है—हे इन्द्र, हम स्तुति करने वाले ऋत्विग्गण अन्न के संविभाग के प्रश्न के

त्वं ह्येव चेरव इति बृहतः स्तोत्रियानुरूपौ' (ऐ० आ० ५।२।२)। मन्त्रार्थस्तु—कारवः स्तोतारो वयं वाजस्यान्नस्य साता सातौ संभजने संविभागे (षन् संभक्तौ) निमित्तभूते सति हे इन्द्र, त्वामिद्धि त्वामेव हवामहे स्तुतिभिराह्वयामः। हे इन्द्र, सत्पतिं सतां पालयितारं श्रेष्ठं त्वां नरः, बहुवचनम् अन्येऽपि मनुष्याः, वृत्रेषु आवरकेषु शत्रुषु सत्सु तज्जयार्थं हवन्ते आह्वयन्ति। अपि च, अर्वतः अश्वस्य सम्बन्धिनीषु काष्ठासु यत्राश्वः क्रान्त्वा तिष्ठति, तासु काष्ठासु संग्रामेषु युद्धकामाश्च त्वामेवाह्वयन्ति, अतो वयं त्वामेवाह्वयाम इत्यर्थः।

'ब्रह्म वै रथन्तरम्' (ऐ० ब्रा० ८।१।३) इत्यत्र यदुक्तम्—'ब्रह्मशब्देन सर्वविद्यायुक्तो ब्राह्मणवर्णो गृह्यते, तस्मिन् खलु क्षत्रधर्मः प्रतिष्ठितो भवति, नैव कदाचित् सत्यविद्यया विना क्षत्रधर्मस्य वृद्धिरक्षणे भवतः। तथा 'क्षत्रे ब्रह्म, राजन्ये ब्रह्मार्थात् क्षत्रविद्या प्रतिष्ठिता भवति। नैवास्माद्विना कदाचिद् विद्याया वृद्धिरक्षणे भवतः। तस्माद्विद्याराजव्यवहारौ मिलित्वैव राष्ट्रसुखोन्नतिं कर्तुं शक्नुतः' (पृ० २६१) इति, तदपि न किञ्चिद्, सम्पूर्णमहावाक्यविरुद्धत्वात्। समुद्धृतेंऽशेऽपि रथन्तरमित्यनेन ब्रह्मशब्दस्य कः सम्बन्धः ? को वा रथन्तरशब्दार्थः ? किञ्च, ब्रह्मशब्दस्य सर्वविद्यायुक्तो ब्राह्मणवर्णश्चेदर्थस्तदा तु तस्मिन् वर्णे कथं क्षत्रधर्मः प्रतिष्ठितः स्यात्, क्षत्रधर्मोऽपि तत्र चेत्प्रतिष्ठितस्तदा तस्यैव राजन्यत्वमपि सम्पन्नमिति कुतो न त्वद्रीत्या वर्णसाङ्कर्य्यं स्यात् ? किं सप्तम्यन्तयोः ब्रह्मक्षत्रशब्दयोः प्रथमान्तयोश्च तयोः समान एवार्थो विषयो वा ? नान्त्यः, बीजाभावात्। नाद्यः, तथात्वे ब्राह्मणवर्णे क्षत्रवर्णस्य प्रतिष्ठा क्षत्रवर्णे ब्राह्मणवर्णस्य प्रतिष्ठा चोक्ता स्यात्। तच्च न सम्भवति, प्रत्यक्षविरुद्धत्वादसम्भवाच्च। नह्येकस्मिन् व्यक्तिविशेषे व्यक्तिविशेषान्तरस्य प्रतिष्ठानं सम्भवति, ब्राह्मण्यमूलत्वात्। सत्यविद्यैव ब्रह्मपदार्थश्चेत् तदापि तस्य राजन्ये सत्त्वेन तस्य ब्राह्मण्यमेव किं न स्यात् ?

ब्रह्म वै रथन्तरमित्यप्यपूर्णमेव, सम्पूर्णं चेत्थं वचनम्—'अभि त्वा शूर नो नुम इति रथन्तरमनुरूपं

उपस्थित होने पर स्तुति के द्वारा तुम्हारा ही आह्वान करते हैं। हे सज्जनों की रक्षा करने वालों में श्रेष्ठ इन्द्र, हमारे सिवाय अन्य मनुष्य भी उस समय आपको ही याद करते हैं, जब कि उनके सामने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने का प्रश्न उठ खड़ा होता है। युद्ध की एक ऐसी भी स्थिति होती है, जब कि घोड़ों की उपस्थिति कुछ नहीं कर पाती। इस अवस्था में भी योद्धा लोग आपको ही याद करते हैं।

'ब्रह्म वै रथन्तरम्०' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या करते हुए दयानन्द ने लिखा है—'ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेदविद्या से युक्त जो पूर्ण विद्वान् हैं, वह ब्राह्मण वर्ण कहलाता है। इसमें क्षत्रिय धर्म प्रतिष्ठित रहता है। अर्थात् वही राज्य के प्रबन्धों में सुख की प्राप्ति का कारण होता है। इसी तरह क्षत्र में ब्रह्म, अर्थात् राजन्य में विद्या प्रतिष्ठित रहती है, क्षत्रिय के संरक्षण पाये बिना विद्या की वृद्धि और रक्षा नहीं हो सकती। इसलिये अच्छे राज्य के होने से ही सत्यविद्या प्रकाश को प्राप्त होती है। इस तरह से विद्या और राजव्यवहार दोनों मिल कर ही राष्ट्र के सुख और उन्नति में सहायक हो सकते हैं' (पृ० २६२), किन्तु यह भी गलत है, क्योंकि यह अर्थ पूरी वाक्यावली के विपरीत पड़ता है। जितना अंश उद्धृत किया है, उसमें भी रथन्तर शब्द का ब्रह्म से क्या सम्बन्ध है ? अथवा रथन्तर शब्द का अर्थ क्या है ? ब्रह्म शब्द का अर्थ यदि सभी विद्याओं से युक्त ब्राह्मण वर्ण किया जाता है, तो उसमें क्षत्रिय धर्म की प्रतिष्ठा कैसे होगी ? यदि यह माना जाय कि उसमें क्षत्रिय का धर्म भी रहता है, तो ब्राह्मण के साथ क्षत्रिय भी हुआ, इस तरह से आपके मत में तो यह वर्णों की संकरता हो गई ? सप्तम्यन्त ब्रह्म और क्षत्र शब्द का और प्रथमान्त ब्रह्म और क्षत्र शब्द का एक ही अर्थ है या भिन्न ? भिन्न अर्थ होने में कोई प्रमाण नहीं है और पहला पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि ऐसा मानने पर ब्राह्मण वर्ण में क्षत्रिय वर्ण की और क्षत्रिय वर्ण में ब्राह्मण की प्रतिष्ठा माननी पड़ेगी। किन्तु ऐसा होता नहीं। यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण के तो विपरीत है ही, ऐसा होना सम्भव भी नहीं है। किसी एक व्यक्ति में दूसरे व्यक्ति की स्थिति रह नहीं सकती। ब्राह्मण्यमूलक सत्यविद्या ही यदि ब्रह्म पद का अर्थ है, तो इसकी राजन्य में स्थिति होने पर वह भी ब्राह्मण क्यों न कहलावेगा ? अर्थात् ऐसा मानने पर तो क्षत्रिय भी ब्राह्मण ही माना जायगा।

'ब्रह्म वै रथन्तरं०' यह भी अधूरा ही वाक्य है। ऐतरेय ब्राह्मण का यह सम्पूर्ण वचन मूल में दे दिया गया है।

कुर्वन्त्ययं वे लोको रथन्तरमसौ लोको बृहदस्य वै लोकस्यासौ लोकोऽनुरूपोऽमुष्य लोकस्यायं लोकोऽनुरूपस्तद्यद्रथन्तरमनुरूपं कुर्वन्त्युभावेव तल्लोकौ यजमानाय सम्भोगिनौ कुर्वन्त्यथो ब्रह्म रथन्तरं क्षत्रं बृहद् ब्रह्मणि खलु क्षत्रं प्रतिष्ठितं क्षत्रे ब्रह्माथो साम्न एव सयोनितायै' इति (ऐ० ब्रा० ८।१।३)। अथो त्वा शूरेत्येष तृचो निष्कैवल्यशस्त्रस्यानुरूपः कार्यः। यद्यपि 'त्वामिद्धयभि त्वा' इत्येतौ प्रगाथावृग्द्वयात्मकौ, तथापि प्रग्रथनेन तृचत्वं सम्पाद्य प्रतिपदनुचरत्वं द्रष्टव्यम्। अभि त्वेत्ययं तृचो रथन्तरसाम्न आधारत्वाद् रथन्तरमित्युच्यते। बृहद्रथन्तरशब्दाभ्यां विवक्षितं त्वमिद्धयभि त्वेति तृचद्वयं मिलित्वा प्रशस्यते। भूलोको रथन्तरस्वरूपः, स्वर्गलोको बृहत्स्वरूपः, तावेतौ लोकौ परस्परानुरूपौ। अस्मिल्लोके दत्तेन हविषा देवाः स्वर्गे जीवन्ति, स्वर्गादागतया वृष्ट्या मनुष्या जीवन्ति। एतदेव परस्परानुरूपत्वम्। तथा च बृहद्रथन्तररूपाभ्यां प्रतिपदनुचराभ्यामुभावेव लोकौ यजमानार्थं समीचीनभोगयुक्तौ कुर्वन्ति। अथोऽपि प्रजापतिमुखजत्वसाम्येन रथन्तरस्य ब्राह्मणरूपत्वात् तदीयबाहुजत्वसाम्येन बृहतः क्षत्रियरूपत्वाच्च बृहद्रथन्तराभिधानयोस्तृचयोरनुष्ठानेन ब्रह्मक्षत्रयोः परस्परं प्रतिष्ठा भवति। अथोऽपि तृचद्वयानुष्ठानं निष्केवल्यशस्त्रस्य तृचद्वयाश्रितसाम्नश्च सयोनित्वाय समानस्थानत्वाय सम्पद्यते। वेदपारम्पर्यज्ञो बृहद्रथन्तरशब्दाभ्यां तन्नामकौ सामविशेषौ जानाति। प्रजापतिमुखजत्वाविशेषाद् ब्राह्मणस्य रथन्तरसाम्नश्चैक्यविवक्षयैव ब्रह्म वै रथन्तरमिति सामानाधिकरण्यम्। बृहत्साम्नः क्षत्रस्य च प्रजापतिबाहुजत्वात् क्षत्रं बृहदिति सामानाधिकरण्यम्। ब्राह्मणो ब्रह्मबलेन क्षत्रमुपबृंहयति। ब्राह्मबलोपबृंहितं क्षत्रं क्षत्रबलेन तपःस्वाध्यायविरोधिनिषूदनेन दानसम्मानाभ्यां च ब्राह्मणं रक्षतीति ब्रह्मक्षत्रयोः परस्परं प्रतिष्ठितत्वमपि प्रसिद्धमेव। जन्मना वर्णः, तदनुगुणकर्मणोत्कर्ष इत्येव शास्त्रीयः पक्षः। कर्मणा वर्ण इति पक्षस्तु चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्शग्रन्थे बहुधा खण्डित एव। 'अभि त्वा शूर नोनुम' इत्ययमंशस्तु दुर्गम इति मत्वैव दयानन्देनोपेक्षितः। वस्तुतस्तमंशमन्तरा ब्राह्मणवचनमेवाकिञ्चित्करं स्यात्।

सम्पूर्णश्चायं मन्त्रस्तु—'अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः। ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषे ॥' (ऋ० सं० ७।३२।२२)। एतदर्थस्तु—हे शूर, अस्य जगतः जङ्गमस्य ईशानमीश्वरम्, तस्थुषः स्थावरस्य च

'अथो त्वा शूर' यह तृच का विनियोग भी निष्केवल्य शस्त्र की भाँति ही करना चाहिये। 'अभि त्वा' यह तृच रथन्तर साम का आधार होने से रथन्तर कहलाता है। बृहत्साम और रथन्तर साम के नाम से विवक्षित 'त्वमिद्धि' और 'अभि त्वा' इन दोनों तृचों की प्रशंसा की जाती है। भूलोक रथन्तर साम का और स्वर्गलोक बृहत्साम का स्वरूप है। इस तरह से ये दोनों परस्पर अनुस्यूत हैं। इस लोक में दी गई हवि से स्वर्गलोक में देवता तृप्त होते हैं और स्वर्ग से आने वाली वृष्टि से मनुष्य जीवन तृप्त होता है। यही इनकी परस्पर अनुस्यूतता है। इस तरह से बृहत्साम और रथन्तर साम से, जो कि प्रतिपद और अनुचर रूप हैं, यजमान के लिये दोनों लोक समीचीन लोगों के साधक बनाये जाते हैं। इसी तरह से प्रजापति के मुख से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण और रथन्तर साम की समानता है और इसी तरह से प्रजापति के बाहु से उत्पन्न होने के कारण बृहत्साम और क्षत्रिय की समानता है। इस तरह से बृहत् और रथन्तर नाम के तृचों के अनुष्ठान से ब्रह्म और क्षत्र की परस्पर प्रतिष्ठा होती है। साथ ही इन दोनों तृचों का अनुष्ठान निष्केवल्य शस्त्र और दोनों तृचों के आश्रित साम की समानस्थानता के लिये किया जाता है। वेद की परम्परा को जानने वाला बृहत् और रथन्तर शब्दों से इन नाम के सामों से परिचित है। प्रजापति के मुख से उत्पन्न होने से ब्राह्मण और रथन्तर साम की एकता प्रदर्शित करने के लिये ही यहाँ ब्रह्म और रथन्तर का सामानाधिकरण्य बताया गया है। इसी तरह से बृहत्साम और क्षत्रिय प्रजापति की बाहु से उत्पन्न हैं, इसलिये इन दोनों का भी सामानाधिकरण्य उचित ही है। ब्राह्मण ब्रह्मबल से क्षत्र को बढ़ाता है और ब्राह्मबल से उपबृंहित क्षत्रबल तप और स्वाध्याय के विरोधियों को नष्ट करके ब्राह्मण की दान और सम्मान के द्वारा रक्षा करता है। इस तरह से इनकी परस्पर प्रतिष्ठा उचित ही है। वर्ण जन्म से ही माने जाते हैं, वर्ण के अनुगुण कर्मों का आचरण करने से इनमें उत्कर्ष होता है, यही शास्त्रीय पक्ष है। कर्म से वर्णव्यवस्था वाले पक्ष का खण्डन 'चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्श' नामक ग्रन्थ में हमने अनेक प्रकार से किया है। 'अभि त्वा' इत्यादि अंश को दुर्बोध जानकर दयानन्द ने उसकी उपेक्षा कर दी है। इस अंश के बिना यह पूरा ब्राह्मणवचन अर्थ को समझने की दृष्टि से अधूरा ही रह जाता है। इस सम्पूर्ण मन्त्र को ऊपर मूल में उद्धृत किया गया है, जिसका कि अर्थ यह होगा—हे शूर, इस जंगम जगत्

ईशानम्, ईशानपदस्यावृत्तिरादरार्था। स्वर्दृशं सर्वदृशं त्वा त्वाम् अदुग्धा इव धेनवः, यथा अदुग्धा धेनवः क्षीरपूर्णोधस्त्वेन वर्तन्ते, तद्वत्सोमपूर्णचमसत्वेन वर्तमाना वयम् अभिनोनुमः भृशमभिष्टुमः।

'ओजो वा इन्द्रियं वीर्यमित्यत्र यदुक्तम्—'राजपुरुषैर्बलपराक्रमवन्तोन्द्रियाणि सदैव रक्षणीयानि, अर्थाज्जितेन्द्रियतयैव सदैव वर्तितव्यम्, कुतः ? ओज एव क्षत्रं वीर्यमेव राजन्य इत्युक्तत्वात्। तस्मादोजसा क्षत्रेण वीर्येण राजन्येनैनं राजधर्मं मनुष्यः समर्धयति सर्वसुखैरेधमानं करोति। इदमेव भारद्वाजं भरणीयं बृहदर्थान्महत्कर्मास्ति' (पृ० २६९) इति, तदपि धार्ष्ट्यमेव, प्रकरणविरुद्धत्वाद् अक्षरबाह्यत्वाच्च। राजपुरुषैरिति कुतः समानीतम् ? मूले तादृशपदाभावात्। 'इन्द्रियाणि रक्षणीयानि' इत्यपि निर्मूलम्। किञ्चेन्द्रियजये ओज एव क्षत्रं वीर्यमेव राजन्य इति केन किं श्लिष्यते ? राजधर्मस्तु राज्ञा वर्धनीयः, मनुष्यैः स वर्धनीय इति कुतः केन सम्बन्धेन लभ्यते ?

ओजो वा इन्द्रियं वीर्यमित्यपि न पर्यवसायि वचनम्, तदिदं सम्पूर्णं वचनम्—तत्पञ्चदशर्चं भवत्योजो वा इन्द्रियं वीर्यं पञ्चदश ओजः क्षत्रं वीर्यं राजन्यस्तदेनमोजसा क्षत्रेण वीर्येण समर्धयति। निविद्धानीयसूक्तगतामृक्संख्यां दर्शयति पञ्चदशस्तोमप्रशंसावाक्य इन्द्रियमपि ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं वृत्तिचतुष्टयं वृत्तिवृत्तिमद्भेदेनान्तःकरणपञ्चकमिति पञ्चदशसंख्याकम् ओजोमूलत्वादिन्द्रियसामर्थ्यस्य तदिन्द्रियमोजोरूपम्। पञ्चदशर्चस्तोमोऽपि तद्रूप एव। ओजश्च क्षत्रम्। तेन पञ्चदशर्चेन स्तोमेनौजसा क्षत्रेण वीर्येणैनं यजमानं समर्धयति। ऋषिद्वारासूक्तं प्रशंसति—तद् भारद्वाजं भवति। भारद्वाजं वै बृहदार्षेयेण सलोमाभरद्वाजेन दृष्टत्वादिदं सूक्तं भारद्वाजं भवति, बृहत्सामापि तथा भारद्वाजम्। तादृशबृहद्योगाद् अयं क्रतुः सलोमा। आर्षेयभरद्वाजमुनिसम्बन्धः। लोमशब्देन केशयुक्तो मूर्धोपलक्ष्यते। सलोमा सशिरस्कः

और स्थावर जगत् के स्वामी आप ही हैं। यहाँ ईशान पद की आवृत्ति इनमें आदरभाव के प्रदर्शन के लिये है। आप सबको समान दृष्टि से देखते हैं। बिना दुही हुई गायें जैसे थनों में दूध भरे रहती हैं, उसी तरह से हम भी चमस पात्रों में सोम रस को भरकर आपकी स्तुति के लिये उपस्थित हैं।

'ओजो वा इन्द्रियम्' इत्यादि ब्राह्मणवाक्य की व्याख्या में दयानन्द ने कहा है—'राजपुरुषों को बल और पराक्रम युक्त इन्द्रियों की सदा रक्षा करनी चाहिये, अर्थात् उनको सदा जितेन्द्रिय होना चाहिये। उत्तम विद्या और न्याययुक्त राज्य का नाम ओज है। जिसको दण्ड के भय से कोई उल्लंघन अथवा अन्यथा कोई नहीं कर सकता। क्योंकि ओज अर्थात् बल का नाम क्षत्र और पराक्रम का नाम राजन्य है। ये दोनों जब परस्पर मिलते हैं, तभी संसार की उन्नति होती है" (पृ० २६२), किन्तु यह सारी व्याख्या धृष्टता से भरी है, प्रकरण के विरुद्ध है और मन्त्राक्षरों से भी विपरीत है। 'राजपुरुष' शब्द आप कहाँ से लाये, मूल में तो यह है नहीं। इन्द्रियों की रक्षा करने की बात भी मूल में नहीं है। साथ ही इन्द्रियों का विजय कर लेने पर ओज ही क्षत्र है और वीर्य ही राजन्य है, इस वाक्य में किसका किसके साथ सम्बन्ध रहेगा ? राजधर्म की वृद्धि राजा तो कर सकता है, किन्तु मनुष्य उसको बढ़ावे, यह बात कहाँ से किस तरह से निकलेगी ?

'ओजो वा इन्द्रियम्' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य भी दयानन्द ने पूरा उद्धृत नहीं किया है। सम्पूर्ण वचन ऊपर मूल में उद्धृत कर दिया गया है। इससे पंचदश स्तोम की प्रशंसा व्यक्त होती है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, चार अन्तःकरण की वृत्तियाँ और एक वृत्तिमान् अन्तःकरण इस तरह से वृत्ति और वृत्तिमान् के भेद से पाँच अन्तःकरण ये सब मिलकर पन्द्रह इन्द्रियाँ हुईं। इसी तरह से इस सूक्त में भी पन्द्रह ऋचाएँ हैं। सभी इन्द्रियों को शक्ति ओज धातु से ही प्राप्त होती है, तब ये सब इन्द्रियाँ ओज रूप मानी जाती है। यह पंचदश ऋचाओं वाला स्तोम भी ओज रूप है। ओज ही क्षत्र है। अतः इस पन्द्रह ऋचाओं वाले सूक्त रूप ओज से और क्षात्र वीर्य से इस यजमान को समृद्ध करता है। ऋषि के द्वारा भी इस सूक्त की प्रशंसा की जाती है कि यह सूक्त भारद्वाज ऋषि के द्वारा परिदृष्ट है। बृहदार्षेय सलोम भारद्वाज के द्वारा दृष्ट होने से यह सूक्त भारद्वाज कहलाता है। यहाँ लोम शब्द से केशों भरे मस्तक

सम्पूर्ण इत्यर्थः। भरद्वाजमुनिदृष्टस्य बृहतः सम्पूर्णत्वाद् बृहद्द्वारा भरद्वाजमुनिसम्बन्धे सति क्रतोरपि सम्पूर्णत्वं द्रष्टव्यम्। एवम् 'अथो ब्रह्म वै रथन्तरम् क्षत्रं' बृहदित्याद्यनेकानि वचनानि तत्रारण्यके कर्मसमृद्ध्यर्थान्युक्तानि।

'तानहमनुराज्याय' इत्यत्रापि यदुक्तम्—'सर्वे मनुष्या एवमिच्छां कृत्वा पुरुषार्थं कुर्युः—परमेश्वरानुग्रहेणाहमनुराज्याय सभाध्यक्षत्वप्राप्तये तथा माण्डलिकानां राज्ञामुपरि राजसत्ताप्राप्तये साम्राज्याय सार्वभौमराज्यकरणाय भौज्याय धर्मन्यायेन राज्यपालनायोत्तमभोगाय च स्वाराज्याय स्वस्मै राज्यप्राप्तये वैराज्याय विविधानां राज्ञां मध्ये महत्त्वेन प्रकाशाय पारमेष्ठ्याय परमराज्यस्थितये माहाराज्याय महाराज्यसुखभोगाय तथा आधिपत्याय अधिपतित्वकरणाय स्वावश्याय स्वार्थं प्रजावशत्वकरणाय च अतिष्ठायाम् अत्युत्तमा विद्वांसस्तिष्ठन्ति यस्यां सा अतिष्ठा सभा तस्याम्, सर्वैर्गुणैः सुखैश्च रोहामि वर्धमानो भवामि' (पृ० २६२) इति, तदपि तुच्छम्, अक्षरार्थबाह्यत्वात्। एवमिच्छां कृत्वा पुरुषार्थं कुर्युरिति विधिबोधकपदाभावात्। अनुराज्यपदेन सभाध्यक्षत्वप्राप्तिरिति कुतो लब्धम्? नहि प्रमाणमन्तरा किमपि कल्पयितुं शक्यते? भौज्यपदेन धर्मन्यायेन राज्यपालनमर्थं इत्यत्र किं बीजम्? एवमेव माहाराज्यपारमेष्ठ्यादि पदार्थवर्णनमपि निर्मूलमेव।

'तानहमनुराज्याय' इत्यपि न पर्यवस्यति वाक्यम्, अग्निष्ट्वा गायत्र्या सयुक्छन्दसा रोहतु सवितोष्णिहा सोमोऽनुष्टुभा बृहस्पतिबृहत्या मित्रावरुणौ पङ्क्त्येन्द्रस्त्रिष्टुभा विश्वेदेवा जगत्या तानहमनुराज्याय सामाज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय माहाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्याऽतिष्ठाया रोहामि। तदर्थस्तु—व्याघ्रचर्मणाऽऽस्तृताया आसन्द्याः प्रतिष्ठितायाः पश्चाद्भागे यजमानः प्राङ्मुख उपविश्य दक्षिणं यज्जान्वस्ति तद्भूमिस्पृष्टं यथा भवति तथा न्यग्भूतं कृत्वा सव्यं जानूर्ध्वमुखमेवावस्थाप्योभाभ्यां पाणिभ्यामासन्दीमालभ्योक्तमन्त्रेणाभिमन्त्रयेत। मन्त्रार्थस्तु—हे आसन्दि, त्वा त्वां गायत्र्या छन्दसा सयुक् सहितोऽग्निरारोहतु। उष्णिहा छन्दसा सहितः सवितारोहतु। एवं सोमबृहस्पतिवरुणेन्द्र-

का बोध होता है, अतः सलोमा का अर्थ हुआ शिर के साथ, अर्थात् सम्पूर्ण। भारद्वाज मुनि के द्वारा दृष्ट होने से यह बृहत्साम सम्पूर्ण है। इसी तरह के अन्य अनेक वचन कर्म की समृद्धि के लिये जहाँ तहाँ आरण्यकों में एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित हैं।

'तानहमनुराज्याय०' इस पर दयानन्द ने कहा है कि—'सभी मनुष्य इस तरह की इच्छा रख कर पुरुषार्थ करें कि परमेश्वर की कृपा से मैं अनुराज्य अर्थात् सभाध्यक्ष का पद पाने के लिये तथा माण्डलिक राजाओं के ऊपर शासन करने के लिये, सार्वभौम राज्य की प्राप्ति के लिये, धर्म और न्याय से राज्य का पालन करने तथा उत्तम भोगों की प्राप्ति के लिये, स्वाराज्य की प्राप्ति के लिये, विविध राजाओं के बीच में अपना महत्त्व प्रकाशित करने के लिये, परम राज्य की स्थिति के लिये, महाराज्य के सुख का उपभोग करने के लिये तथा सब पर अपना आधिपत्य जमाने और अपने वश में करने के लिये इस अत्युत्तम विद्वानों से भरी सभा में सभी प्रकार के गुणों और सुखों से भरपूर होकर दिन-प्रतिदिन बढ़ता रहूँ' (पृ० २६२), किन्तु यह सारा प्रयास व्यर्थ है, मूल अक्षरों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस तरह की इच्छा रखकर पुरुषार्थ करे, इस विधि का बोधक प्रत्यय भी यहाँ नहीं है। अनुराज्य शब्द का अर्थ सभाध्यक्ष पद की प्राप्ति कहाँ से निकलेगा। बिना प्रमाण के मनमाने तरीके से कोई कल्पना नहीं की जा सकती। भौज्य शब्द का अर्थ भी धर्म और न्याय से राज्य का पालन करना, यह किस आधार पर होगा। इसी तरह से माहाराज्य, पारमेष्ठ्य आदि शब्दों का अर्थ भी निराधार है।

'तानहमनुराज्याय०' यह वाक्य भी पूरा नहीं है। पूरा वाक्य ऊपर मूल में उद्धृत है। इसका वास्तविक अर्थ इस तरह से किया जायगा—व्याघ्रचर्म से आच्छादित आसन्दी के पिछले भाग में यजमान पूर्व की ओर मुँह करके बैठे। दाहिने घुटने को मोड़ कर इतना तिरछा करे कि वह भूमि को छूने लगे और बाँया घुटना ऊपर ही रहे। इस स्थिति में दोनों हाथों से आसन्दी को छूकर उक्त मन्त्र से अभिमन्त्रित करे—हे आसन्दि, तुम्हारे ऊपर गायत्री छन्द के साथ अग्नि बैठे। उष्णिक् छन्द के साथ सविता बैठे। इसी तरह से सोम, बृहस्पति, वरुण, इन्द्र, विश्वेदेव अनुष्टुप् आदि छन्दों के साथ तुम्हारे ऊपर बैठे। उनके बैठ जाने के बाद मैं भी इस पर बैठूँ। किसलिये? राज्य आदि की सिद्धि के लिये। राज्य देश पर अपना स्वामित्व स्थापित करने के लिये, साम्राज्य धर्मपूर्वक प्रजा का पालन

विश्वेदेवा अनुष्टुबादिछन्दोभिः सहितास्त्वामारोहन्तु । तानग्न्यादीन् देवाननु पश्चादहमारोहामि । किमर्थं राज्यादिसिद्धयर्थम् । राज्यं देशाधिपत्यर्थं साम्राज्यं धर्मेण पालनार्थं भोज्यं भोगसमृद्धिः स्वाराज्यमपराधीनत्वम् । स्वेनैव राजते दीप्यत इति स्वराट् स्वराजो भावः स्वाराज्यम्, तस्मै स्वाराज्याय, वैराज्यमितरेभ्यो भूपतिभ्यो वैशेष्यम् । एतदुक्तमैहिकम् । अथामुष्मिकम् । पारमेष्ठ्यं प्रजापतिलोकप्राप्तिः । तत्र राज्यमैश्वर्यं माहाराज्यं तत्रत्येभ्य इतरेभ्य आधिक्यम् आधिपत्यम् प्रति स्वामित्वं स्वावश्यमपारतन्त्र्यम् आतिष्ठ्यं चिरकालवासित्वम् इत्यनेन मन्त्रेणाभिमन्त्रणादूर्ध्वमारोहणं विधत्ते (ऐ० ब्रा० ८।२।५)

यदपि–'नमो ब्रह्मण' (ऐ० ब्रा० ८।२।६) इत्यत्रोक्तम्–परमेश्वराय त्रिवारं चतुर्वारं वा नमस्कृत्य राजकर्मारम्भं कुर्यात् । यत्क्षत्रं ब्रह्मणः परमेश्वरस्य वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं सम्यग् ऋद्धियुक्तं वीरवद् भवति । तस्मिन्नेव राष्ट्रे वीरपुरुषोजायते नान्यत्रेत्याह परमेश्वरः, (पृ० २६२) इति, तदपि तुच्छम्, परमेश्वर आहेत्यस्य बोधकपदाभावात् । वस्तुतस्तु सम्पूर्णवाक्यमित्थम्––नमस्कारमन्त्रं प्रशंसति––'स यन्नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मण इति त्रिष्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति ब्रह्मण एव तत्क्षत्रं वशमेति, तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते' (ऐ० ब्रा० ८।२।६ अर्थात् ३७।५) । स क्षत्रियो मन्त्रेण नमस्करोतीति यदस्ति तेन ब्रह्मणो ब्राह्मणस्यैव क्षत्रियजातिर्वशमेति । तेन ब्राह्मणाधीनत्वेन तद्राष्ट्रं सर्ववस्तुसमृद्धं वीरपुरुषोपेतं च भवति । अस्मिन् क्षत्रिये वीरः पुरुष आजायते । अत्र ब्रह्मपदेन ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषोऽभिधीयते, ब्रह्मक्षत्रपदाभ्यां पूर्वं त्वयापि ब्राह्मणक्षत्रिययोर्गृहीतत्वात् । परमात्मरूपाय ब्रह्मणे त्वसंख्याता एव नमस्काराः कर्तव्याः । तदधीनं तु सर्वमेव जगद्वर्तते । क्षत्रमेव तद्वशमेतीति वचनमनर्थकमेव स्यात् । विद्यातपोविशिष्टाय ब्राह्मतेजोमयाय ब्राह्मणायात्र त्रिष्कृत्वो नमस्कार उक्तः । तथा सति ब्रह्म वशीभूतं ब्राह्मतेजसा सुरक्षितं सत् समृद्धयते वीरवच्च भवति ।

करने के लिये भोज्य भोग को समृद्धि के लिये, स्वाराज्य दूसरे के पराधीन न होने के लिये होता है । स्वयं अपने आप जो प्रकाशित होता है, उसको स्वराट् कहते हैं, स्वराट् का भाव स्वाराज्य कहलाता है, इस स्वाराज्य के लिये । वैराज्य अन्य राजाओं से अपना वैशिष्ट्य कहलाता है । यह ऐहिक वैशिष्ट्य है । आमुष्मिक (पारलौकिक) वैशिष्ट्य पारमेष्ट्य अर्थात् प्रजापति के लोक की प्राप्ति है । ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है कि यहाँ राज्य ऐश्वर्य, महाराज्य अन्य राज्यों की अपेक्षा आधिक्य, आधिपत्य प्रत्येक का स्वामित्व, अपने ही वश में रहना दूसरे के अधीन न होना, चिरकालपर्यन्त इन पर स्थिर रहना, इत्यादि प्रार्थनाएँ करता हुआ इस मन्त्र का उच्चारण कर आसन्दी पर बैठता है ।

'नमो ब्रह्मणे' इत्यादि की व्याख्या करते हुए लिखा गया है—परमेश्वर को तीन बार या चार बार नमस्कार करके राज-काज को प्रारम्भ करे । जो क्षत्र ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर के वश में रहता है तो वह राष्ट्र भली भाँति ऐश्वर्य से भरा और बलवान् व्यक्तियों से समृद्ध रहता है । उसी राष्ट्र में वीर पुरुष पैदा होते हैं, अन्यत्र नहीं, ऐसा परमात्मा का कहना है । इसीलिये उस परमात्मा को मेरा बारंबार नमस्कार है कि जिसके अनुग्रह से हम लोग इन राज्यों के अधिकारी होते हैं' (पृ० २६३), यह व्याख्या भी गलत है, क्योंकि परमात्मा कहता है, इस अर्थ का बोधक कोई पद वहाँ नहीं है । वस्तुतः इस नमस्कार मन्त्र का पूरा स्वरूप ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार यहाँ दिया जाता है । इसका सही अर्थ इस प्रकार है—वह क्षत्रिय इस मन्त्र का उच्चारण कर जो नमस्कार करता है, इससे क्षत्रिय जाति ब्राह्मण के नियन्त्रण में रहती है । ब्राह्मण के अधीन रहने से वह राष्ट्र और उसको सभी वस्तुएँ समृद्धि को प्राप्त करती हैं और वीरपुरुषों से यह राष्ट्र भरा रहता है । इस क्षत्रिय कुल में वीर पुरुष पैदा होता है । यहाँ ब्रह्म पद से ब्राह्मण जाति का पुरुष अभिप्रेत है । ब्रह्म और क्षत्र शब्दों से पहले आपने भी ब्राह्मण और क्षत्रिय का ग्रहण किया है । परमात्मस्वरूप ब्रह्म को तो असंख्य बार नमस्कार किया जाता है । सारा जगत् उसी के अधीन है । केवल क्षत्रिय ही उसके वश में हैं, ऐसा कहना व्यर्थ है । विद्या और तप से विशिष्ट ब्राह्म तेज से परिपूर्ण ब्राह्मण को तीन बार नमस्कार करने का विधान है । ऐसा करने से ब्रह्म वशीभूत हो जाता है, इस वशीभूत ब्रह्म तेज से सुरक्षित होकर राष्ट्र समृद्ध और बलशाली बनता है ।

'सप्रजापतिका' इत्यत्र यदुक्तम्—'सर्वे सभासदः प्रजास्थमनुष्याः स्वामिनेष्टेन पूज्यतमेन परमेश्वरेणैव सह वर्तमाना भवेयुः। सर्वे मिलित्वैव विचारं कुर्युर्यतो न कदाचिद् सुखहानिपराजयौ स्याताम्। यो देवानां विदुषां मध्ये ओजिष्ठः पराक्रमवत्तमः, बलिष्ठः सर्वोत्कृष्टबलसहितः, सहिष्ठः अतिशयेन सहनशीलः, सत्तमः सर्वैर्गुणैरत्यन्तश्रेष्ठः पारयिष्णुतमः सर्वेभ्यो युद्धदुःखेभ्योऽतिशयेन सर्वांस्तारयितृतमोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठतमोऽस्तीति वयं निश्चित्य तमेव पुरुषमभिषिञ्चाम इतीच्छेयुः। तथैव खल्वस्त्विति सर्वे प्रतिजानीयुः। एवंभूतस्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणं सर्वैश्वर्यप्रापकत्वादिन्द्रमित्याहुः' (पृ० २६३) इति, तदपि तुच्छम्, पौर्वापर्यविचारशून्यत्वात्। देवप्रजापत्यादिशब्दानां प्रसिद्धार्थपरित्यागेन विद्वत्परमेश्वरयोर्ग्रहणे मानाभावात्। सर्वे मिलित्वैव विचारं कुर्युरित्यादिकमपि निर्मूलम्, मूले तादृक्पदाभावात्। अन्येषामपि पदानां विशृङ्खल एवार्थः। अभिषेककरणमेवेन्द्र इत्यपि निर्मूलम्, मानुषाभिषेकातिरिक्तस्यैन्द्राभिषेकस्य वर्णितत्वात्। वेदमय्या आसन्द्या मानुष्या आसन्द्या भिन्नत्वाच्च।

पूर्वस्मिन्नध्याये उक्तमानुषक्षत्रियाभिषेकपर्यन्तं क्षत्रिययागमुदाहरणमुखेन प्रशंसति—एतद्ध स्म वै विद्वान् आह जनमेजयः पारीक्षित एवंविदं हि वै मामेवंविदो याजयन्ति तस्मादहं जयाम्यभीत्वरीं सेनां जयाम्यभित्वर्या सेनया न मा दिव्या न मानुष्य इषव ऋच्छन्त्येष्यामि सर्वमायुः सर्वभूमिर्भविष्यामीति। न ह वा एनं दिव्या न मानुष्य इषव ऋच्छन्त्येति सर्वमायुः सर्वभूमिर्भवति यमेवंविदो याजयन्ति' (ऐ० ब्रा० ८। अर्थात् ३७।७)। 'सप्रजापतिका' (ऐ० ब्रा०) इतीदमपि वचनं कपटभिक्षुणा मध्यत एवोद्धृतम्। तच्च गोपनाय भ्रमोत्पादनाय वा। तस्य वाक्यस्य पूर्णरूपं तु—'ते देवा अब्रुवन् सप्रजापतिकाः। अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवाभिषिञ्चामहा इति तथेति तद्वै तदिन्द्रमेव' (ऐ० ब्रा० ८।३।१२ अर्थात् ३८।१) इति। अथात ऐन्द्रोऽभिषेको मानुषक्षत्रियाभिषेकोक्त्यनन्तरं यतो दैवोऽभिषेको बुभुत्सितो भवत्यत इन्द्रसम्बन्धी महाभिषेकः कथ्यते। आरोहणोत्क्रोशनाभिमन्त्रणादिभिरस्य महाभिषेकस्य महत्त्वम्। तत्राभिषेकार्थं

'सप्रजापतिका' इत्यादि वाक्य की व्याख्या यहाँ की गई है—'जो क्षत्र अर्थात् राज्य परमेश्वर के अधीन तथा विद्वानों के प्रबन्ध में होता है, वह सब सुखदायक पदार्थ और वीर पुरुषों से अत्यन्त प्रकाशित होता है। वे विद्वान् एक अद्वितीय परमेश्वर के ही उपासक होते हैं। जो सब देवों विद्वानों के बीच में अनन्त विद्यायुक्त और अपार बलवान् है तथा अत्यन्त सहन स्वभाव और सबसे उत्तम है, वही हमको सब दुःखों के पार उतार कर सब सुखों को प्राप्त कराने वाला है। उसी श्रेष्ठतम पुरुष को हम लोग अपने राज्य और सभा में अभिषेक करके अपना न्यायकारी राजा सदा के लिये मानते हैं तथा उसे ही सब ऐश्वर्यों के प्रापक होने से इन्द्र नाम से कहते हैं' (पृ० २६४), किन्तु यह व्याख्या भी निःसार है। इसमें पूर्वापर का कोई विचार नहीं किया गया है। देव, प्रजापति आदि शब्दों का प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर विद्वान् और परमेश्वर अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। सब मिलकर विचार करें, इस तरह की उक्ति भी निराधार है, क्योंकि मूल में इस तरह का कोई पद नहीं है। दूसरे पदों का अर्थ भी यहाँ उलटा ही किया गया है। इन्द्रत्व अभिषेक करने से ही होता हो, सो बात नहीं है, क्योंकि मनुष्य के अभिषेक के अतिरिक्त शास्त्रों में इन्द्र का अभिषेक भी अलग से वर्णित है। वेदमयी आसन्दी और मनुष्य की आसन्दी दोनों अलग अलग हैं।

दयानन्द ने जहाँ से यह वचन उद्धृत किया है, उससे पहले के अध्याय में ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है कि विद्वान् पारीक्षित जनमेजय ने कहा है कि ब्राह्मणों के द्वारा अभिषिक्त होकर मैं इन यज्ञों का अनुष्ठान करता हूँ, इसीलिये मैं सब युद्धों में जीतता हूँ। मेरे ऊपर, मेरी सेना के ऊपर दिव्य अथवा मानुष कोई भी अस्त्र-शस्त्र नहीं चल पाते। मैं पूरी आयु इसी तरह से अजेय बना रहूँगा। मेरे ही जैसे किसी अन्य राजा को भी यदि ब्राह्मण यज्ञ कराते हैं, जो यह भी इसी प्रकार मेरी तरह विजय प्राप्त करता है। दयानन्द ने इस प्रकरण से सम्बद्ध उक्त वचन को भी अपनी आदत के अनुसार बीच में से निकाल कर उद्धृत किया है। इसका पूरा स्वरूप ऊपर मूल में दिया गया है। अब इन्द्र के अभिषेक की विधि बताते हैं। क्षत्रिय मनुष्य के अभिषेक के बाद देवता के अभिषेक को भी जानने की इच्छा होती है। इसलिये इन्द्र के अभिषेक की विधि बताई जाती है। आरोहण, उत्क्रोशन और अभि-

देवविचारं दर्शयति—सप्रजापतिका इति, प्रजापतिना सह वर्तन्ते सप्रजापतिकास्तेऽग्न्यादयो देवाः परस्परमब्रुवन् हस्तेनेन्द्रं प्रदर्शयन्तः कथयन्ति–अयमिन्द्रो देवानां मध्ये ओजिष्ठोऽतिशयेनाष्टमधातुयुक्तः, बलिष्ठोऽतिशयेन शरीरबलयुक्तः, सहिष्ठोऽतिशयेन शत्र्वभिभवनशीलः, सत्तमोऽतिशयेन स्वभक्तेषु साधुः, पारयिष्णुतमः अतिशयेन प्रक्रान्तस्य कार्यस्य समाप्तिकृत्। तस्मादिममेव सर्वे वयमभिषिञ्चामहा इति कैश्चिदुक्ते सति सर्वेऽप्यन्ये तथेत्यङ्गीकृत्य तद्वै तदानीमेव तदिन्द्रमेतं सर्वैरनुमतमिन्द्रमेवाभ्यषिञ्चन्निति शेषः।

अत एव तादृशपुरुषस्याभिषेककरणमेव सर्वप्रापकत्वादिन्द्रमित्युक्तिः परास्ता वेदितव्या, ऐन्द्राभिषेकस्योपपत्तेः। तत एव तस्मै वेदमयीमासन्दीं समभरन्। ऋचं नामेत्यासन्द्या विशेषणम्। ऋग्रूपामेतन्नामिकाम्। तस्या ऋग्रूपाया आसन्द्या बृहदादीन्यष्टसामानि पूर्वपादा अष्टावयवानकुर्वन्। आसन्द्यां शयानस्येन्द्रस्य शिरोदेशं फलकं शीर्षण्यम्, तच्च पाददेशाविष्कृतस्य फलकस्याप्युपलक्षणम्। अत एव शीर्षण्ये इति द्विवचनम्। अनूच्ये पार्श्वद्वयवर्तिनी फलके ऋग्रूपा ये मन्त्राः सन्ति तान् प्राचीनातानान् प्राक्प्रत्यगायतनत्वेन विस्तारितान् दीर्घतन्तुविशेषानकुर्वन्। गीयमानानि सामानि तिरश्चीनवायांस्तिर्यक्त्वे वयनहेतून् रज्जुविशेषानकुर्वन्। यजूंष्यतीकाशान् रज्ज्वन्तरालछिद्रविशेषान् अकुर्वन्। यद्यशः कीर्तिदेवतारूपं तदासन्द्या उपर्यास्तरणम्। या तु श्रीः सा पदाभिमानिनी देवता। तामुपबर्हणं शिरस उपधानमकुर्वन्। तस्या आसन्द्याः पादादीनष्टावयवान् सवित्रादयोऽष्टौ देवा अधारयन्। इन्द्र एतां वेदमयीमासन्दीं वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैरारोहत इति तदाह—तस्मा एतामसन्दीं समभरन्नृचं नाम तस्यै बृहच्च रथन्तरं च पूर्वौ पादावकुर्वन् वैरूपं वैराजं चापरौ शाक्वररैवते शीर्षण्ये नौधसं च कालेयं चानूच्ये ऋचः प्राचीनातानान् सामानि तिरश्चीनवायान् यजूंष्यतीकाशान् यश

मन्त्रण की दृष्टि से महाभिषेक का महत्त्व है। पहले अभिषेक के लिये देवता का विचार किया है। 'सप्रजापतिका' का अर्थ प्रजापति के साथ रहने वाले अग्नि प्रभृति देवगण हैं। ये देवगण हाथ से इन्द्र की तरफ इशारा करते हुए कहते हैं कि यह इन्द्र देवताओं के बीच में सबसे अधिक ओजस्वी है, अर्थात् इसकी ओज नामक आठवी धातु सबसे बढ़ कर है। यह शारीरिक बल की दृष्टि से भी सर्वश्रेष्ठ है। यह शत्रुओं को अभिभूत कर देने में भी सर्वश्रेष्ठ है। यह अपने भक्तों का अतिशय कल्याण करने वाला है। साथ ही यह प्रारम्भ किये गये कार्य को भलीभांति पूरा कराने में भी सहायक होता है। इसलिये हम इसी का अभिषेक करें। कुछ देवताओं के ऐसा कहने पर बाकी सबने भी इसको मान लिया और उसी समय सबकी संमति से इन्द्र का अभिषेक किया गया।

इसलिये 'इस तरह के पुरुष का अभिषेक करने से ही सारे अभीष्ट सिद्ध होते हैं, अतः यह सब कामनाओं का प्रापक होने से इन्द्र कहलाता है' इस तरह की व्याख्या गलत सिद्ध हो जाती है, क्योंकि पुरुष के अभिषेक के अतिरिक्त इन्द्र का अभिषेक भी शास्त्रसिद्ध है। इसीलिये यहाँ इन्द के लिये वेदमयी आसन्दो का विधान है। 'ऋचं नाम' यह आसन्दो का विशेषण है अर्थात् यह आसन्दी ऋग्रूप है, यही इसका नाम है। इस ऋक् नाम को आसन्दी के बृहत् आदि आठ साम पूर्व दिशा के पाये बनाये गये हैं। इस आसन्दी में विश्राम कर रहे इन्द्र के शिर की तरफ का फलक शीर्षण्य कहलाता है। इसने पैरों की तरफ के फलक का बोध होता है। इसीलिये 'शीर्षण्य', पद में द्विवचन है। 'अनूच्ये' शब्द से अगल-बगल के दो फलकों का बोध होता है। इन्द्र की इस आसन्दी में ऋग् रूप मन्त्रों की पूर्व और पश्चिम की ओर ताने गये लम्बे-लम्बे तन्तुओं के रूप में परिकल्पना की गई है। गीयमान सामों को आड़े-तिरछे बीने जाने वाले तन्तुओं के रूप में स्वीकार किया है। इस तरह से ऋग् मन्त्र और गीयमान सामों के ताने-बाने से यह इन्द्र की आसन्दी बुनी जाती है। इन तानों बानों के बीच छिद्रों के रूप में यजुर्मन्त्रों की परिकल्पना की गई है। यश अर्थात् देवरूपधारी कीर्ति को आसन्दी के ऊपर बिछौने का रूप दिया गया है। श्री जिसकी अभिमानिनी देवता है, वह उपबर्हण शिर का तकिया बनाया गया है। उस आसन्दी के आठ पायों को सविता प्रभृति आठ देवता धारण करते हैं। इस प्रकार बनी इस आसन्दी पर इन्द्र आगे दिये गये मन्त्रों का उच्चारण करते हुए चढ़ते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में इस विषय को इस तरह से स्पष्ट किया गया है—'इस ऋग् रूप आसन्दी को इस तरह से बुना गया। बृहत् और रथन्तर इसमे पूर्व के पाद, वैरूप और वैराज पश्चिम के पाद, शाक्वर और रैवत शीर्षण्य पाद और नौधस और कालेय इसके अनूच्य पाद बने। इस तरह से आठ प्रकार के सामों से इसके आठ पाद बनाये गये। ऋग्वेद और सामवेद में इसके ताने-बाने, यजुर्वेद से तानों-बानों के बीच के अवकाश, यश से आस्तरण, श्री से उपबर्हण बनाये गये।

आस्तरणं श्रियमुपबर्हणं तस्यै सविता च बृहस्पतिश्च पूर्वौ पादावधारयताम्। वायुश्च पूषा चापरौ। मित्रावरुणौ शीर्षण्ये अश्विनावनूच्ये। स एतामासन्दीमारोहत इति' (ऐ० ब्रा० ८।३।१४ अर्थात् ३८।१)।

सम्राजं साम्राज्यम्। यदुक्तम्—'एवंभूतं सार्वभौमराजानं साम्राज्यं सार्वभौमराज्यं भोज्यमुपभोगसाधकं भोगपितरम् उत्तमभोगानां साधकं स्वराजं सर्वकर्मसु प्रकाशमानं सद्विद्यादिगुणैः स्वहृदये देदीप्यमानं स्वाराज्यं स्वकीयराज्यपालकं विविधानां राज्ञां प्रकाशकं वैराज्यं विविधराज्यप्राप्तिकरं राजानं श्रेष्ठैश्वर्येण प्रकाशमानं राज्ञां रक्षकं परमेष्ठिनं परमोत्कृष्टे राज्ये स्थापयितुं योग्यं पारमेष्ठ्यं परमेष्ठिसम्पादितं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं वयमभिषिञ्चामहै। एवमभिषिक्तस्य पुरुषस्य सुखयुक्तं क्षत्रमजनि प्रादुर्भवति तथा क्षत्रियो वीरपुरुषोऽजनि विश्वस्य प्राणिमात्रस्याधिपतिः सभाध्यक्षो विशां दुष्टप्रजानामत्ता विनाशकः पुरां भेत्ता दुष्टानां हन्ता वेदस्य रक्षको धर्मस्य रक्षकोऽजनि। स परमेष्ठी राजधर्मः सभाध्यक्षादिमनुष्यैः प्राजापत्यः परमेश्वर इष्टः करणीयः, न तद्भिन्नोऽर्थः केनचिन्मनुष्येणेष्टः कर्तुं योग्योऽस्त्यतः सर्वे मनुष्याः परमेश्वरपूजका भवेयुः' (पृ० २६३-२६४) इति, तदपि यत्किञ्चित्, विश्रृङ्खलत्वात् पूर्वापरविरुद्धत्वाच्च। सम्राजं साम्राज्यमित्यादीनां सङ्गतिरपि नोक्ता। यदि लौकिकस्यैव राज्ञ एतद्वर्णनम्, तदा पूर्ववर्णितेभ्यो वैशिष्ट्यं दर्शनीयम्, अन्यथा पौनरुक्त्यव्यर्थविशेषणत्वादिकं दुर्वारं स्यात्। किञ्च, विशामिति दुष्टप्रजाग्रहणेन व्यर्थमेव लक्षणाश्रयणम्। अत्तेति पदेनापि भोक्तेत्येवार्थः, शेषित्वमेव भोक्तृत्वं भवति, न नाशकत्वमिति।

सम्राजं साम्राज्यमित्यपि भ्रामकमेव। सम्पूर्णं वाक्यं तु— 'तमेतस्यामासन्द्यामासीनं विश्वेदेवा अब्रुवन् न वा अनभ्युत्क्रुष्ट इन्द्रो वीर्यं कर्तुमर्हति। अभ्येनमुत्क्रोशामेति। तथेति तं विश्वेदेवा अभ्युदक्रोशन्निमं देवा अभ्युत्क्रोशन् सम्राजं साम्राज्यं भोजं भोजपितरं स्वराजं स्वाराज्यं विराजं वैराज्यं राजानं राजपितरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यं क्षत्रमजनि क्षत्रियोऽजनि

सविता और बृहस्पति ने पूर्व के पादों को, वायु और पूषा ने पश्चिम के पादों को, मित्रावरुण ने शीर्षण्य पादों को और अश्विनीकुमारों ने अनूच्य पादों को धारण किया है। इस आसन्दी पर इन्द्र वैठता है"।

'सम्राजं साम्राज्य०' इस वचन की दयानन्द ने यह व्याख्या की है—'वही हमारा सम्राट् अर्थात् चक्रवर्ती राजा और वही हमको भी चक्रवर्ती राज्य देने वाला है। जो पिता के सदृश सब प्रकार से हमारा पालन करने वाला, स्वराट् अर्थात् स्वयंप्रकाशस्वरूप और प्रकाश रूप राज्य को देने वाला है। तथा जो विराट् अर्थात् सबका प्रकाशक विविध राज्य का देने वाला है। उसी को हम राजा और सब राजाओं का पिता मानते हैं। क्योंकि वही परमेष्ठी सर्वोत्तम राज्य को भी देने वाला है। उसी की कृपा से मैंने राज्य को प्रसिद्ध किया, अर्थात् मैं क्षत्रिय और सब प्राणियों का अधिकारी हुआ तथा प्रजाओं का संग्रह, दुष्टों के नगरों का भेदन, असुर अर्थात् चोर-डाकुओं का ताडन, ब्रह्म अर्थात् वेद विद्या का पालन और धर्म की रक्षा करने वाला हुआ हूँ' (पृ० २६४-२६५)।

किन्तु यह व्याख्या भी गलत है। इसमें न तो कोई अनुस्यूतता है और न आगे-पीछे से ही इसका कुछ सम्बन्ध है। सम्राज, साम्राज्य आदि की कोई संगति भी नहीं बताई गई। यदि लौकिक राजा का ही यह वर्णन है, तो पूर्ववर्णित से इसकी विशिष्टता बतानी पड़ेगी, अन्यथा पुनरुक्ति के साथ इन सब विशेषणों की व्यर्थता भी होगी। विश् शब्द का अर्थ दुष्ट प्रजा लक्षणा के सहारे ही किया जा सकता है। अतः पद का अर्थ भोक्ता ही हो सकता है। भोक्ता शेषी ही हो सकता है। वह उसका नाशक नहीं हो सकता।

अधूरा उद्धृत होने से 'सम्राजं साम्राज्यं' इस वाक्य से भी भ्रम पैदा होता है, अतः पहले इस पूरे वाक्य को मूल में उद्धृत किया गया है। इसका सही अर्थ यह होगा—आसन्दी पर बैठने के बाद इन्द्र का अभिषेक हो जाने पर देवगण इस तरह से उसका गुणगान करते हैं। इस वेदमयी आसन्दी पर बैठे हुए उस इन्द्र के विषय में सभी देवगण परस्पर इस तरह से कहने लगे। जैसे लोक में बन्दीगण राजा का गुणगान कर उसकी कीर्ति का विस्तार करते हैं, उसी तरह से यहाँ इन्द्र का किया गया गुणगान ही

विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताऽजनि पुरां भेत्ताऽजनि असुराणां हन्ताऽजनि ब्रह्मणो गोप्ता ऽजनि धर्मस्य गोप्ताऽ-स्थायजनोति (ऐ० ब्रा० ८।३।१४; अर्थात् ३८।२)। तदर्थस्त्वेवम्—इन्द्रारोहणादूर्ध्वं देवानामभ्युत्क्रोशनं दर्शयति—एतस्यां वेदमय्यामासन्द्यामासीनं तमिन्द्रं प्रति विश्वेदेवा सर्वे देवाः परस्परमिदमब्रुवन्। यथा लोके वन्दिनो गुणकथनेन राज्ञः कीर्ति कुर्वन्ति, एवमत्रापि गुणकीर्तनमभ्युत्क्रोशनम्, तेन रहितोऽनभ्युत्कृष्ट इन्द्रो युद्धादौ वीर्यं कर्तुं नैवार्हति, कीर्तिमन्तरेण परेषां भीत्यनुदयात्। तस्मादभित एनमिन्द्रमभ्युत्क्रोशामोद्घोषयामेति विचार्य तथैवाङ्गीकृत्य तमिन्द्रं सर्वे देवा अभ्युदक्रोशन्। इममित्यादिरभ्युत्क्रोशनप्रकारः। हे देवा इममिन्द्रममित उच्क्रोशयत। कीदृशमिन्द्रं सम्राजं सम्राट्स्वरूपमत एव साम्राज्यं कर्तुमर्हं भोजं भोक्तारमत एव भोजयितारं भोजपालकं स्वराड्रूपत्वात् स्वाराज्यं कर्तुमर्हं राजरूपत्वाद्राजपितरं सर्वेषां राज्ञां पालकम्, परमेष्ठिरूपत्वात् पारमेष्ठ्यं पदमनुभवितुं योग्यं क्षत्रमजनि। ईदृशी क्षत्रियजातिर्लोके उत्पन्ना। सर्वस्य प्राणिजातस्याधिपतिरुत्पन्नः। विशां प्रजानामत्ता भोक्ता पुरां परकीयाणां भेत्ता असुराणां हन्ता ब्रह्मणो वेदस्य गोप्ता धर्मस्य गोप्ता इत्ययनभ्युत्क्रोशनमन्त्रः। एवं पौर्वापर्यमविज्ञायैव दयानन्देन यत्किञ्चित्प्रलपितम्।

'स एतेन' इत्यत्रापि यदुक्तम्—'यो मनुष्यो राज्यं कर्तुमिच्छेत् स एतेनैन्द्रेण पूर्वोक्तेन सर्वैश्वर्यप्राप्तिनिमित्तेन महाभिषेकेणाभिषिक्तः स्वीकृतः क्षत्रियः क्षत्रधर्मवान् सर्वेषु युद्धेषु जयति सर्वत्र विजयं तथा सर्वोत्तमाल्लोकांश्च विन्दति। सर्वेषां राज्ञां मध्ये श्रैष्ठ्यं सर्वोत्तमत्वं पूर्वोक्तामतिष्ठां या परेषु शत्रुषु विजयेन हर्षनिमित्ता तथा परेषां शत्रूणां दीनत्वनिमित्ता या परमता सभा तां वा गच्छति प्राप्नोति। तया सभया पूर्वोक्तं साम्राज्यं भौज्यं वैराज्यं माहाराज्यमाधिपत्यं स्वाराज्यं राज्यं च जित्वाऽस्मिल्लोके चक्रवर्ती सार्वभौमो महाराजाधिराजो भवति। तथा शरीरं त्यक्त्वाऽमुष्मिन् स्वर्गे सुखस्वरूपे परब्रह्मणि स्वयंभूः स्वाधीनः स्वराट् स्वप्रकाशः अमृतः प्राप्तमोक्षसुखः सन् सर्वान् कामानवाप्नोति। आप्त्वा पूर्णकामोऽजरामरः सम्भवति, यमेतेनैन्द्रेण सर्वैश्वर्येण शाययित्वा प्रतिज्ञां कारयित्वा यं सकलगुणोत्कृष्टं क्षत्रियं महाभिषेकेणाभिषिञ्चन्ति सभासदः सभायां स्वीकुर्वन्ति तस्य राष्ट्रे कदाचिदनिष्टं न प्रसज्यत इति विज्ञेयम्' (पृ० २६४) इति, तदपि तुच्छम्, पूर्वापर-

अभ्युत्क्रोशन शब्द से कहा गया है। इस तरह का गुणगान सुने बिना इन्द्र युद्ध आदि में पराक्रम नहीं कर सकता, क्योंकि किसी भी राजा की कीर्ति का विस्तार हुए बिना दूसरों को उससे भय पैदा नहीं हो सकता। इस लिये चारों तरफ इसका गुणगान करें, ऐसा विचार कर और इस बात को सही मानकर उस इन्द्र का सब देवगण गुणगान करने लगे।' 'इमम्' इत्यादि से इसी का प्रकार बता रहे हैं कि हे देवताओं, इस इन्द्र का सब तरह से गुणगान करो। यह इन्द्र सम्राट् स्वरूप है। इसी लिये साम्राज्य की स्थापना करने में समर्थ है। यह भोक्ता है, इसीलिये यह सबका पालक है। स्वराट् रूप होने से स्वाराज्य स्थापित करने में समर्थ है। राज रूप होने से यह सब राजाओं का पिता, पालक है। परमेष्ठी रूप होने से इसने पारमेष्ठ्य पद का अनुभव करने में समर्थ क्षत्रिय जाति को पैदा किया है। ऐसी जाति इन्द्र की कृपा से ही यहाँ पैदा हुई है। यह सब प्राणियों का स्वामी बनकर उत्पन्न हुआ है। यह सारी प्रजा का भोक्ता है और शत्रुओं के नगरों को नष्ट कर देने वाला है। यह असुरों को मार डालता है। वेद और धर्म की रक्षा करता है। इस तरह से इस ब्राह्मण वाक्य में इन्द्र का गुणगान किया गया है। इस पर पूर्वापर का विचार किये बिना ही दयानन्द ने मनमानी बकवास की है।

'स एतेन०' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य की व्याख्या भी दयानन्द ने इस तरह से की है—'जो क्षत्रिय इस प्रकार के गुण और सत्य कर्मों से अभिषिक्त अर्थात् युक्त होता है, वह सब युद्धों को जीत लेता है, तथा सब उत्तम सुख और लोकों का अधिकारी बनकर सब राजाओं के बीच में अत्यन्त उत्तमता को प्राप्त होता है। जिससे इस लोक में चक्रवर्ती राज्य और लक्ष्मी को भोगकर मरणानन्तर परमेश्वर के समीप सब सुखों को भोगता है। क्योंकि ऐन्द्र अर्थात् महान् ऐश्वर्य युक्त अभिषेक से क्षत्रिय को प्रतिज्ञापूर्वक राज्याधिकार मिलता है। इसलिये जिस देश में इस प्रकार का राज्य प्रबन्ध किया जाता है, वह देश अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है' (पृ० २६५), किन्तु यह व्याख्या भी गलत है, क्योंकि इसमें पूर्वापर का विरोध है। सभा की कल्पना मनमानी है,

विरुद्धत्वादेव । सभाकल्पना तु वेदबाह्यैव, मूले तद्बोधकपदाभावात् । यो मनुष्यो राज्यं कर्तुमिच्छेद् इत्यादिकं व्यर्थमेव, यमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शाययित्वाऽभिषिञ्चति स एतेनैन्द्रेणेति सम्बन्धोपपत्तेः । 'स एतेनैन्द्रेण' (ऐ० ब्रा० ८।४।१६; अर्थात् ३९।५) इति महाभिषेकमुपसंहरति । यं क्षत्रियमाचार्यः स्वद्रोहराहित्याय शपथं कारयित्या इन्द्रसम्बन्धिना महाभिषेकेणाभिषिञ्चति सोऽभिषिक्तः क्षत्रिय इन्द्रवत्सर्वं जयादिफलं प्राप्नोति । तस्मात् सायणप्रोक्त एवार्थः सर्वत्र विजयते । स एव सर्वैरास्तिकैः प्रज्ञावद्भिश्च ग्राह्यः ।

सौत्रामणिप्रसङ्गे—'क्षत्रं वै स्विष्टकृत्' (श० १२।८।३।१९) । अत्र तु पुरस्तात् स्विष्टकृत आयतनाच्चोत्तरत उपेत्याद् इति वीर्येण स्विष्टकृतो भागः कल्पित इति क्षत्रमुच्यते क्षत्रियराज्ञा अभिषिक्तो भवति पूर्वो हि राजैव वृद्धः कुमारं चाभिषिञ्चति । 'क्षत्रं वै साम···साम्राज्यं वै साम' (श० १२।८।३।२३) साम गायति क्षत्रं वै साम क्षत्रेणैवैनमभिषिञ्चति । साम्राज्यं वै साम साम्राज्येनैवैनं साम्राज्यं गायति । सुक्षत्रं तस्मादु ह एतद्यः सर्वः कृत्स्नो मन्यते गायति वैव, गीते य रमते इति वचनात् । साम्राज्यमेकैश्वर्यरूपम् । सम्राडेव कृत्स्नमात्मानं मन्यते । न तस्य परतन्त्रं राज्यमित्यभिप्रायः ।

अश्वमेधधर्मनिधिप्रसङ्गे—'ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यः' (श० १३।१।५।३) । तत्र पूर्वमुक्तं यदुभौ ब्राह्मणौ गायेताम् अपास्मात् क्षत्रं कामेत् । ब्रह्मणो वा एतद्रूपं यद् ब्राह्मणः । न वै ब्रह्मणि क्षत्रं रमते । यदुभौ राजन्यौ

क्योंकि मूल में इसको बताने वाले शब्द नहीं है । जो मनुष्य राज्य करना चाहे, यह कथन भी व्यर्थ ही है, क्योंकि जो आचार्य इस ऐन्द्र (इन्द्र सम्बन्धी) अभिषेक की पद्धति से क्षत्रिय का अभिषेक करता है और उससे यह प्रतिज्ञा करा लेता है कि वह उसके साथ विरोध नहीं करेगा, तो वह इस इन्द्र सम्बन्धी महाभिषेक से अभिषिक्त क्षत्रिय इन्द्र के समान ही सब तरह के ऊपर वर्णित पराक्रम आदि गुणों को प्राप्त कर लेता है और साथ ही सब जगह विजय भी प्राप्त करता है, यही अर्थ इस वाक्य से निकलेगा । इस तरह से सायण द्वारा किया गया अर्थ ही सही माना जा सकता है ।

सौत्रामणी याग के प्रसंग में 'क्षत्रं वै स्विष्टकृत्०' इत्यादि वाक्य आया है । यहाँ पर स्विष्टकृत् के आगे और आयतन के उत्तर में स्थित होकर स्विष्टकृत् भाग की कल्पना का विधान है । इसको क्षत्र कर्म इस लिये कहा जाता है कि क्षत्रिय राजा के द्वारा ही अभिषेक किया जाता है । पहले का वृद्ध राजा ही कुमार का अभिषेक करता है । आगे क्षत्र और साम्राज्य को साम बताया गया है । साम का गान इसलिये किया जाता है कि वह क्षत्र का प्रतिनिधित्व करता है । साम का गान क्षत्र पद पर अभिषेक करने के अभिप्राय से ही किया जाता है । साम साम्राज्य है । अतः सामरूपी साम्राज्य से इस क्षत्र के साम्राज्य की ही स्तुति गाता है । वही सही क्षत्र माना जाता है, जो कि सब कुछ अपना ही मानता है और उसी के गीत गाता है । साम्राज्य उसको कहते हैं, जिसका कि एक ही अधिपति हो ।

अश्वमेध यज्ञ के विधान के प्रसंग में बताया गया है कि ब्रह्म ब्राह्मण को और क्षत्र राजन्य को कहा जाता हैं । इस वाक्य के पहले यह बताया गया है कि दोनों ब्राह्मण इसका गान करें, जिससे कि क्षत्रिय इससे दूर ही रहें, अर्थात् इसके कार्य में किसी तरह का हस्तक्षेप न करे । यह ब्राह्मण ब्रह्म का ही स्वरूप है । ब्रह्म में क्षत्रिय रमता नहीं । इसी तरह से दो क्षत्रिय भी इसी का गान करें, जिससे कि ब्रह्म तेज इसका विरोधी न हो । यह क्षत्रिय क्षत्र का ही प्रतिनिधि हैं । यह ब्रह्म तेज क्षत्र में नहीं रमता । जब ब्राह्मण किसी अन्य साम का और क्षत्रिय किसी अन्य साम का गान करते हैं, तब ब्रह्म ब्राह्मण और क्षत्र राजन्य कहा जाता है । क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों की ही इससे श्रीवृद्धि होती है । युद्ध क्षत्रिय का बल है । यदि क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों दिन में इनका गान करेंगे तो उनकी श्री नष्ट हो जायगी । यदि दोनों रात्रि में गान करते हैं, तो इनसे ब्रह्म तेज दूर हो जायगा । इसलिये व्यवस्था यह है कि दिन में ब्राह्मण गान करता है और रात्रि में क्षत्रिय । इस तरह दोनों तरफ से अर्थात् क्षत्र और ब्रह्म दोनों ही रूपों से श्री प्राप्त होती है । इसी तरह से यज्ञ किया, दान दिया यह सब ब्राह्मण के गान का विषय होना चाहिये, क्योंकि इष्टापूर्त ब्राह्मण का धर्म है । ऐसा करके ब्राह्मण अपने को इन कार्यों से समृद्ध बनाता है । यह युद्ध किया गया, यह संग्राम जीता गया, इस भावना से क्षत्रिय को सदा ओतप्रोत रहना चाहिये । ऐसा करके ही राजन्य अपने को वीर्य से समृद्ध बनाता है । ब्राह्मण तीन गाथा गाता है ।

अपास्माद् ब्रह्मवर्चसं क्रामेत् । क्षत्रस्य वा एतद्रूपं यद्राजन्यः । न वै क्षत्रं ब्रह्मवर्चसं रमते । यद्वा ब्राह्मणोऽन्यो गायति राजन्योऽन्यः । तदानीं ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं वै राजन्यः । तदस्य ब्राह्मणा च क्षत्रियेण चोभयतः श्रीः परिगृहीता भवति ।

'युद्धं वै राजन्यस्य वीर्यम्' । एवमेव यदुभौ दिवा गायेतां प्रभ्रंशुकास्माच्छ्रीः स्यात् । यदुभौ नक्तम् अपास्माद् ब्रह्मवर्चसं क्रामेद् दिवा ब्राह्मणो गायति नक्तं राजन्यस्तथो हास्य ब्रह्मणा च क्षत्रियेण चोभयतः श्रीः परिगृहीता भवति । एवमेव अयजतेत्यददादिति ब्राह्मणो गायतीष्टापूर्तं वै ब्राह्मणस्येष्टापूर्तेनैवैनं समर्धयति । अयुध्यतेत्ययुः संग्राममजयदिति राजन्यो युद्धं वै राजन्यस्य वीर्यं वीर्येणैवैनं समर्धयति । तिस्रोऽन्यो गाथा गायति तिस्रोऽन्यः षट् सम्पद्यन्ते । षड्तवः संवत्सरं ऋतुष्वेव संवत्सरे प्रतितिष्ठति । ताभ्यां शतं ददाति । शतायुर्वै पुरुषः । शतेन्द्रियायुरेवेन्द्रियं वीर्यमात्मन् धत्ते ।

राष्ट्रं वा अश्वमेधः । राष्ट्र एते व्यायच्छन्ति ये अश्वं रक्षन्ति । राष्ट्रं जनपदम् अश्वमेधकारणम् । कथं यस्माद् राष्ट्रे एते त्रिविधं आयच्छन्ते व्याप्रियन्ते तेषां ये राजपुत्रादयो राजन्यादयः उदृचं समाप्तिं गच्छन्ति अश्वमात्राद्रक्षन्ति ते राष्ट्रेणैवाश्वमेधेन हेतुना राष्ट्रं राष्ट्रात् स्वं रक्षन्ति राजपुत्रादयो भवन्ति । तयैव सेवया देशा आप्ताश्च प्राप्नुवन्ति । तस्माद्राष्ट्री राष्ट्रपतिः अश्वमेधेन यजेतेति विधिः ।

स्वामिदयानन्दस्तु—'राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति । नाश्वं हत्वा तदङ्गानां होमकरणं च' (पृ० २६६) इत्युक्तवान्, तत्तुच्छम्, तथात्वेऽश्वक्रतुविधानवैयर्थ्यापातात् । किञ्च, राष्ट्रमिति पदं जनपदबोधकम् राष्ट्रपालनबोधकं वा । लक्षणायां तु न किमपि बीजम् । यथेष्टलक्षणास्वीकारे तु त्वद्वाक्यानां त्वदभिप्रायखण्डनेऽपि प्रयोगः' सम्भवतीति नैकधोक्तम् ।

एवमेव—'क्षेत्रमर्थाद् राजसभा प्रबन्धेन यद् यथावत्प्रजापालनं क्रियते तदेव स्विष्टकृत् अर्थादिष्टसुखकारि । यद्वै साम दुष्टकर्मणामन्तकारि तथा सर्वस्याः प्रजायाः सान्त्वप्रयोगकर्तृ च भवति, तदेव श्रेष्ठं राज्यं वर्णयन्ति' (पृ० २६५)

और क्षत्रिय इससे भिन्न तीन अलग गाथा गाता है । इस तरह से ये छः हो जाती हैं । छः ऋतुएँ ही संवत्सर की पूर्ति करती हैं । इन ऋतुओं में ही संवत्सर प्रतिष्ठित हैं । इन ऋतुओं और संवत्सरों की शत संख्या का दान करने से ही पुरुष सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है । सौ वर्ष तक इसकी इन्द्रियाँ सबल रहती हैं ।

राष्ट्र ही अश्वमेध यज्ञ है । जो अश्व की रक्षा करते हैं, वे राष्ट्र में प्रसिद्ध हो जाते हैं । राष्ट्र की, जनपद की समृद्धि का कारण अश्वमेध होता है, क्योंकि अश्व की रक्षा करते समय क्षत्रिय सारे जनपद में घूमते हैं । उनके पुत्र और राजन्य वर्ग अपना जीवन देकर भी अश्वमेध के अश्व की रक्षा करते हैं, वे अश्वमेध की रक्षा कर एक प्रकार से अपने राष्ट्र की ही रक्षा करते हैं, क्योंकि इसी तरह से वे राजपुत्र कहे जाने के अधिकारी होते हैं । अपनी इसी सेवा के आधार पर वे देश के अधिकारी बनते हैं । इसलिये जो राष्ट्र का स्वामी होना चाहता है, उसको अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये, इस तरह की विधि यहाँ सिद्ध होती है ।

स्वामी दयानन्द ने तो कहा है कि 'न्याय से राज्य का पालन करना ही क्षत्रियों का अश्वमेध कहाता है । घोड़े को मार कर उसके अंगों को होम करना अश्वमेध नहीं है' (पृ० २६६), किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अश्वमेध यज्ञ का विधान व्यर्थ हो जायगा । राष्ट्र पद या तो जनपद का बोधक हो सकता है या जनपद के पालन के अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है । जब जनपद अर्थ उसका प्रसंग प्राप्त है तो उसकी जनपद के पालन के अर्थ में लक्षणा करने की आवश्यकता क्या है ? मनमाने तरीके से लक्षणा करने पर तो आपके ही वाक्यों का प्रयोग आपकी बात के खण्डन में भी किया जा सकता है, यह बात हम अनेक बार कह चुके हैं ।

इसी तरह से—'राजसभा के प्रबन्ध से जो यथावत् प्रजा का पालन किया जाता है, वही स्विष्टकृत् अर्थात् अच्छी प्रकार चाहे हुए सुख का करने वाला होता है । जो राजकर्म दुष्टों का नाश और श्रेष्ठों का पालन करने वाला है, वही साम्राज्यकारी,

इत्याह स्वामी दयानन्दः। तच्च सर्वथा प्रकृतपरित्यागऽप्रकृतप्रक्रियारूपमेव, क्षत्रशब्दस्य तथार्थकरणं चाप्रामाणिकमेव, अभिषेकप्रसङ्गे क्षत्रशब्दस्य क्षत्रियजातीयशासकपरत्वस्यैवौचित्यात्। स्विष्टकृच्छब्दोऽपि यज्ञस्याङ्गभूते कर्मविशेषे रूढः, येनेष्टिः सुष्ठु कृता भवति। प्रकृते तु 'योषा वाव गौतमाग्निः' इति योषायामग्निबुद्धिरिव क्षत्रे क्षत्रियजातौ स्विष्टकृद् बुद्धिः क्रियते। अत एवोत्तरत्र क्षत्रेणैवैनमेतदभिषिञ्चत्यन्तरा वनस्पतिं च स्विष्टकृतं चाभिषिञ्चति। सोमो वै वनस्पतिः। अग्निः स्विष्टकृत्। अग्नीषोमाभ्यामेवैनमेतत्परिगृह्याभिषिञ्चति। ये चैतद्विदुर्ये च न त आहुः क्षत्रियो वाव क्षत्रियस्याभिषेक्तेति। अत्र वनस्पतौ सोमत्वभावनाया क्षत्ररूपे स्विष्टकृत्यग्निभावनया क्षत्रवनस्पतिभ्यामभिषेके कृतेऽग्नीषोमाभ्यामभिषेकः कृतो भवतीति।

राजन्य एवेत्यत्रापि यदुक्तम्—'पुरा पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो राजन्यो यदा शौर्यं महिमानं दधाति तदा सार्वभौमं राज्यं कर्तुं समर्थो भवति। तस्मात् कारणाद् राजन्यः शूरो युद्धोत्सुको निर्भय इषव्यः शस्त्रास्त्रप्रक्षेपणे कुशलः, आतिव्याधी अत्यन्ता व्याधाः शत्रूणां हिंसका योद्धारो यस्य महारथः महान्तो भूजलान्तरिक्षगमनाय दक्षा रथा यस्येति यस्मिन् राष्ट्र ईदृशो राजन्यो जज्ञे जातः, नैव कदाचित्तस्मिन् भयदुःखे भवतः' (पृ० २६६) इति। तदपि यत्किञ्चित्, 'आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्' (वा० सं०) इति मन्त्रविवरणप्रसङ्गेन ब्राह्मण इव राजन्यस्यापि तदङ्गत्वेन वर्णनस्येष्टत्वात्। सर्वमप्येतद्यज्ञफलमेवात एवोपसंहारे प्रोक्तम्—'यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते क्लृप्तः प्रजानां योगक्षेमो भवति' (१३।१।९)।

यदपि चोक्तम्—'ब्रह्मार्थाद् वेदं परमेश्वरं च वेत्ति स एव ब्राह्मणो भवितुमर्हति, क्षत्रं यो जितेन्द्रियो विद्वान् शौर्यादिगुणयुक्तो महावीरपुरुषः क्षत्रं धर्मं स्वीकरोति, स राजन्यो भवितुमर्हति। तदस्य तादृशैर्ब्राह्मणै राजन्यैश्च सहास्य राष्ट्रस्य सकाशादुभयतः श्रीः राज्यलक्ष्मीः परितः सर्वतो गृहीता भवति। नैवं राजधर्मानुष्ठानेनास्य श्रियः कदाचिद् ध्रासान्यथात्वे भवतः। अत्रेदं बोध्यम्—युद्धकरणमेव राजन्यस्य वीर्यं बलं भवति, नानेन विना महाधनसुखयोः

अर्थात् राजसुखकारक होता है' (पृ० २६६)। स्वामी दयानन्द ने 'क्षत्रं वै स्विष्टकृत्' इत्यादि की व्याख्या की है, यह व्याख्या सर्वथा प्रकृत प्रसंग का परित्याग और अप्रकृत बातों की चर्चा के समान असंगत है। क्षत्र शब्द का इस तरह का अर्थ करना सर्वथा प्रमाणहोन है। अभिषेक के प्रसंग में क्षत्र शब्द का अर्थ क्षत्रियजातीय शासक ही किया जा सकता है। स्विष्टकृत् शब्द का अर्थ भी यहाँ के अंगभूत एक विशिष्ट कर्म में रूढ़ है, जिससे कि दृष्टि सर्वांगपूर्ण बनती है। प्रकृत में योषा (स्त्री) में अग्नि की बुद्धि की तरह क्षत्रिय जाति में स्विष्टकृत् की बुद्धि की जाती है। इसलिये इससे आगे के ब्राह्मणवाक्य में वनस्पति में सोम की भावना और क्षत्र में स्विष्टकृत् अग्नि की भावना कर क्षत्र और वनस्पति से अभिषेक के सम्पन्न होने पर माना जाता है कि यह अग्नि और सोम देवताओं के द्वारा सम्पन्न किया गया है।

'राजन्य एव' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'पूर्वोक्त राजा जब शूरतारूप कीर्ति को धारण करता है, तभी सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य करने को समर्थ होता है। इसलिये जिस देश में युद्ध को अत्यन्त चाहने वाला, निर्भय, शस्त्र-अस्त्र चलाने में अति चतुर और जिसका रथ पृथिवी, समुद्र और अन्तरिक्ष में जाने वाला हो, ऐसा राजा होता है, वहाँ भय और दुःख नहीं होते' (पृ० २६६–२६७), किन्तु यह व्याख्या भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'आब्रह्मन्' इत्यादि मन्त्र का विवरण करते समय ब्राह्मण की तरह क्षत्रिय का भी उसके अंग के रूप में वर्णन अभीष्ट है। यह सब यज्ञ का ही फल है, प्रसाद है। इसीलिये उपसंहार में बताया गया है कि जहाँ इस यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है, वहाँ प्रजा का योग और क्षेम बराबर बना रहता है।

'ब्रह्म वै' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य की व्याख्या इस तरह से की गई है—'जो मनुष्य ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेद का जानने वाला है, वही ब्राह्मण होने के योग्य है। जो इन्द्रियों को जीतने वाला, पण्डित, शूरतादि गुण युक्त, श्रेष्ठ, वीर पुरुष क्षत्र धर्म को स्वीकार करता है, वह क्षत्रिय होने के योग्य है। ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रियों के साथ न्यायपालक राजा को अनेक प्रकार से लक्ष्मी प्राप्त होती है और उसके खजाने की हानि कभी नहीं होती। यहाँ इस बात को जानना चाहिये कि जो राजा को युद्ध करना है, वही

कदाचित्प्राप्तिर्भवति । (निघण्टौ २।१७)। संग्रामस्यैव महाधनसंज्ञत्वात्महान्ति धनानि प्राप्तानि भवन्ति यस्मिन् स महाधनः संग्रामः । नास्माद्विना कदाचिन्महती प्रतिष्ठा महाधनं च प्राप्नुतः, (पृ० २६५-२६६) इति, तदेतदपि शब्दार्थाविवेकपौर्वापर्यानवधारणमूलकम्, शाब्दन्यायविरुद्धत्वात् । मूले ब्रह्मोद्दिश्य ब्राह्मणत्वं विहितम्, न तु यो ब्रह्म जानाति स ब्राह्मण इति विधानं दृश्यते, तथैव क्षत्रमुद्दिश्य राजत्वविधानं न तु क्षत्रधर्मं यः स्वीकरोति स राजन्य इति विधानम् । अत एवोत्तरत्र ब्रह्मणो वा एतद्रूपं यद् ब्राह्मणः । न वै ब्रह्मणि क्षतं रमते । क्षत्रस्य वा एतद्रूपं यद्राजन्यः । न वै क्षत्रे ब्रह्मवर्चसं रमते इति ब्रह्मणो रूपं ब्राह्मणः क्षत्रस्य रूपं राजन्य उक्तः । ब्रह्मणि क्षत्रं न रमते । क्षत्रे ब्रह्मवर्चसं न रमत इत्युक्तम् ।

'श्रीर्वै राष्ट्रम् । श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः । श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम् । क्षेमो वै राष्ट्रस्य शोतम् । विड्वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः । विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति । तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति' (१३।२०।१९)। यच्चात्रोक्तम्--'या विद्याद्युत्तमगुणरूपा नीतिः सैव राष्ट्रं भवति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः । सैव राज्यश्री राष्ट्रस्य संभारो भवति । राष्ट्रस्य मध्यभागोऽपि श्रीरेवास्ति । क्षेमो यद्रक्षणं तदेव राष्ट्रस्य शीतं शयनवन्निरुपद्रवं सुखं भवति । विड् वै गभः । विड्या प्रजा सा गभाख्याऽस्ति । यद्राष्ट्रं तत्पसाख्यं भवति । तस्माद्यद्राष्ट्रसंबन्धि कर्म तद्विशि प्रजायामाविश्य तामाहन्त्यासमन्तात् करग्रहणेन प्रजाया उत्तमपदार्थानां हरणं करोति । तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः । यस्मात् सभया विनैकाकी पुरुषो राजा भवति, तत्र प्रजा सदा पीडिता भवति । तस्मादेकः पुरुषो राजा नैव कर्तव्यः । नैकस्य पुरुषस्य राजधर्मानुष्ठाने सामर्थ्यं भवति । तस्मात् सभयैव राज्यप्रबन्धः कर्तुं शक्योऽस्ति । विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति । यत्रैको राजास्ति तत्र राष्ट्राय विशं प्रजामाद्यां भक्षणीयां भोज्यवत्ताडितां करोति । यस्मात् स्वसुखार्थं प्रजाया उत्तमान् पदार्थान् गृह्णन् सन् प्रजायै पीडां ददाति । तस्मादेको राष्ट्री विशमत्ति । न पुष्टं पशुं मन्यते यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा

उसका बल होता है । उसके बिना बहुत धन और सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती । क्योंकि निघण्टु में संग्राम का ही नाम 'महाधन' है । उसको महाधन इसलिये कहते हैं कि उससे बड़े-बड़े उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं, क्योंकि बिना संग्राम के अत्यन्त प्रतिष्ठा और धन कभी नहीं प्राप्त होता' (पृ० २६६), किन्तु यह सारी व्याख्या भी शब्द का और अर्थ का विवेक न कर पाने से पूर्वापर प्रसंग को ठीक से समझ नहीं सकी है और शाब्द प्रक्रिया के विपरीत है । मूल में ब्रह्म को उद्दिष्ट कर ब्राह्मणत्व का विधान है, ऐसा विधान यहाँ नहीं है कि जो ब्रह्म को जानता हो, वह ब्राह्मण है । इसी तरह से क्षत्र को उद्दिष्ट कर राजत्व का विधान किया गया है, न कि जो क्षत्र धर्म को स्वीकार करता है, वह राजन्य है, इस अर्थ को जान कर । इसीलिये आगे यह वाक्य मिलते हैं कि यह ब्राह्मण ब्रह्म का ही रूप है, ब्रह्म में क्षत्र रमता नहीं । यह राजन्य ही क्षत्र का स्वरूप है, इस क्षत्र में ब्रह्मतेज नहीं रमता । इसीलिये ब्राह्मण ब्रह्म का और क्षत्रिय क्षत्र का रूप माना गया है और यह भी कहा गया है कि ब्रह्म के क्षत्र नहीं रमता और क्षत्र में ब्रह्मतेज नहीं रमता ।

इसके आगे 'श्रीर्वै राष्ट्रम्' इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के वाक्य को उद्धृत कर उसकी इस तरह से व्याख्या की गई है—'श्री का अर्थ है लक्ष्मी, वही राज्य का स्वरूप, सामग्री और मध्य है । तथा राज्य का जो रक्षण करता है, वही शोभा अर्थात् श्रेष्ठभाग कहाता है । राज्य के लिये एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि जहाँ एक को राजा मानते हैं, वहाँ सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है । इसीलिये किसी की उन्नति नहीं होती' (पृ० २६७)। इसके आगे हिन्दी व्याख्या में लिखा गया है—'इसी प्रकार सभा करके राज्य का प्रबन्ध आर्यों में श्रीमन्महाराज युधिष्ठिर पर्यन्त बराबर चला आया है, जिसकी साक्षी महाभारत के राजधर्म आदि ग्रन्थ तथा मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रों में यथावत् लिखी है । उसमें जो कुछ प्रक्षिप्त किया है, उसको छोड़ के बाकी सब अच्छा है, क्योंकि वह वेदों के अनुकूल है । आर्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा या न्यायाधीश के सामने अन्याय हो, वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे, किन्तु वह दोष सभाध्यक्ष, सभासद् और न्यायाधीश का ही गिना जाता था । इसलिये वे लोग सत्य-न्याय करने में अत्यन्त पुरुषार्थ करते थे, जिससे कि आर्यावर्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था और जहाँ होता था, वहाँ उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे । यही सब आर्यों का सिद्धान्त है । अर्थात् इन्हीं वेदादि शास्त्रों की रीति से

हन्तुमिच्छति, तथैको राजा न मत्तः कश्चिदधिको भवेदितीर्ष्यया नैव प्रजास्थस्य कस्यचिन्मनुष्यस्योत्कर्षं सहते। तस्मात् सभाप्रबन्धयुक्तेन राज्यव्यवहारेणैव भद्रमिति' (पृ० २६७)। हिन्दीभाषाव्याख्याने त्वन्यदपि बहु जल्पितं यत् शतपथीयवचनात् तद्व्याख्यानाच्च सर्वथाऽसंश्लिष्टम्। तत्सर्वमसंगतम्, शतपथवचनार्थबहिर्भूतत्वादेव।

श्रीपदस्य समृद्धिरर्थं इति प्रसिद्धं लोके। तदपहाय विद्याद्युत्तमगुणरूपा नीतिरिति ग्रहणं निर्मूलमेव। किञ्च, विद्याद्युत्तमगुणा अन्ये, नीतिस्तु सन्धिविग्रहादिरूपाऽन्या भवति। सा च श्रीः कथं राष्ट्रस्य भारः ? नहि भारशब्दस्य संभारोऽर्थः क्वचित् प्रसिद्धः। नहि क्वचिदपि भिन्नशब्दस्य संभिन्नोऽर्थो ग्रहीतुं शक्यः, उपसर्गेन धात्वर्थभेदस्य प्रसिद्धत्वात्। अत एव नहि हार-विहार-प्रहाराहार-संहाराणामैकार्थ्यं संभवति। श्रीश्च कथं राष्ट्रस्य मध्यं भवति, श्रीर्वै राष्ट्रमित्यनेन विरुद्धत्वात्। यदा श्रीरेव राष्ट्रं तदा कथं सा मध्यम्, श्रीरूपस्य राष्ट्रस्यादिरन्तश्च कथं न श्रीः। शीतशब्दस्य शयनवन्निरुपद्रवं सुखं कथमर्थः, नहि शयनं निरुपद्रवं सुखमेव भवति, रोगमृत्युशय्यायां शयनस्य सोपद्रवदुःखरूपत्वात्। प्रजाया गभाख्याया राष्ट्रस्य पसाख्यायाश्च किं प्रयोजनम् ? प्रकृते किं तस्याः समाख्याया उपयोगः ? राष्ट्रशब्दस्य तत्संबन्धिकर्मार्थं इत्यत्र किं बीजम् ? नहि दयानन्दशब्देन दयानन्दकर्म ग्रहीतुं शक्यम्। किञ्च, नहि राष्ट्रस्य कर्म भवति, तस्य जडत्वात्। सप्ताङ्गं राज्यं भवति। तत्र राष्ट्रमप्येकमङ्गमेव। न करग्रहणमनर्थः, तस्य विहितत्वात्। तस्य कोषरूपाङ्गपूरकत्वात्। न चोत्तमपदार्थग्रहणमेव करग्रहणं भवति। अत एव राष्ट्रं विश्याविश्य प्रजामाहन्तीति रिक्तं वचः। अत्र प्रसङ्गे सभायाश्चर्चापि नास्ति, तस्मात् सभया विनैकाकी पुरुषो भवति, तत्र प्रजा सदा पीडिता भवतीति निरर्थकं वचः। यदि यत्र सभया विनैकाकी पुरुषो राजा भवति, तत्र प्रजा सदा पीडिता भवतीत्यर्थस्तदापि स्वोक्तवाक्यस्य नैरर्थक्यमभ्युपगन्तव्यमिति निग्रहस्थानमेव। एकाकी पुरुषो राजा नैव कर्तव्य इत्यपि निर्मूलम्, मूले तद्बोधकपदाभावात्। स्वाभिप्रायप्रकाशनाय ग्रन्थान्तरं लेख्यम्। न तु श्रुत्यर्थ-

आर्यों ने भूगोल में करोड़ों वर्ष राज्य किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं' (पृ० २६७–२६८), किन्तु यह सारा व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण के ही नहीं, स्वयं उनकी व्याख्या से भी तनिक भी सम्बद्ध नहीं है। यह सारा कथन असंगत है, क्योंकि इसका शतपथ ब्राह्मण के वचनों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

श्री पद का समृद्धि अर्थ लोक में प्रसिद्ध है। उसको छोड़ कर विद्या आदि उत्तम गुणरूप नीति यह अर्थ करना सर्वथा निर्मूल है। इस अर्थ में यह भी विसंगति है कि विद्या आदि उत्तम गुण अलग है और सन्धिविग्रहरूप नीति अलग है। यह भी राष्ट्र का भार कैसे हो सकती है ? भार शब्द का अर्थ कहीं भी संभार प्रसिद्ध नहीं है। कहीं भी भिन्न शब्द का अर्थ संभिन्न नहीं किया जा सकता। यह बात प्रसिद्ध है कि उपसर्ग लग जाने पर धातु का अर्थ बदल जाता है। इसीलिये हार, विहार, प्रहार, आहार, संहार इन सब का एक अर्थ नहीं होता। श्री राष्ट्र का मध्य भी कैसे हो सकता है ? यह बात 'श्री राष्ट्र है' इस वचन के विरुद्ध है। जब श्री ही राष्ट्र है, तब वह मध्य कैसे हो सकती है। श्रीरूप राष्ट्र का यह श्री मध्य ही क्यों होगा, यह आदि और अन्त क्यों नहीं होगा। शीत शब्द का शयन के समान निरुपद्रव सुख अर्थ कैसे होगा ? शयन केवल निरुपद्रव सुख ही नहीं होता, क्योंकि रोग और मृत्युशय्या पर शयन उपद्रव ही नहीं, दुःखरूप भी है। प्रजा को गभ और राष्ट्र को पस कहने का क्या अभिप्राय है। प्रकृत में इन नामों का क्या उपयोग है। राष्ट्र शब्द का अर्थ राष्ट्रसम्बन्धी कर्म कैसे होगा ? दयानन्द शब्द से दयानन्द का कर्म कहीं गृहीत नहीं होता। फिर राष्ट्र का कोई कर्म नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो जड़ है। राज्य सात अंगों वाला होता है। इनमें राष्ट्र भी एक अंग है। कर वसूल करना भी इसका अर्थ हो सकता है और यह विहित भी है, क्योंकि कोष रूप अंग की पूर्ति उसी से होती है। उत्तम पदार्थों का ग्रहण करना ही कर ग्रहण नहीं होता। इसीलिये यह राष्ट्र सम्बन्धी कर्म प्रजा में प्रविष्ट होकर उससे उत्तम पदार्थों का ग्रहण करता है, इस तरह की बात सर्वथा व्यर्थ है। इस प्रसंग में सभा की कहीं चर्चा नहीं है। इसीलिये सभा के बिना राजा एकाकी (अकेला) पड़ जाता है। जहाँ अकेला राजा शासन चलाता है, वहाँ की प्रजा सदा पीड़ित रहती है, इस तरह का अर्थ करना सर्वथा निरर्गल है। यदि यहाँ यह अर्थ किया जाय कि जहाँ सभा के बिना अकेला आदमी राजा होता है, वहाँ की प्रजा सदा पीड़ित होती है, तो उस परिस्थिति में अपने ही वाक्य की निरर्थकता माननी पड़ेगी। इस तरह से तो आप निग्रहस्थान में पकड़ जायँगे। अकेले आदमी को राजा नहीं ही बनाना

व्याख्याने स्वाभिप्रायो योजनीयः। किञ्च, राजा तु सदैव एकाक्येव भवति, नह्येकस्मिन् राष्ट्रे राजानैक्यं श्रुतं दृष्टं वा। राजधर्मानुष्ठाने राज्ञ एवाधिकारो नान्येषाम्। राजा त्वेक एव भवति। अमात्यादय अमात्यपर्षद्वा परामर्शदातारो भवन्ति न तु राजानः, मनुशुक्रादिधर्मनीतिग्रन्थविरुद्धत्वात्। यत्रैको राजास्ति तत्र राष्ट्राय विशं प्रजामाद्यां भक्षणीयां करोतीत्यप्यशुद्धमेव, मूले यत्रैको राजास्तीति वाक्याभावात्। एको राष्ट्री विशमत्तीत्यप्यशुद्धम्, मूल एकशब्दप्रयोगाभावात्। यस्मात् स्वसुखार्थमुत्तमपदार्थान् गृह्णन् स प्रजायै पीडां ददातीत्यपि निर्मूलमेव, उदक्षरत्वात्। अन्यदपि निरर्गलप्रलाप एव, शतपथवचनासंबद्धत्वात्।

'यद्धरिणो यवमत्तीति। विड् वै यवा राष्ट्रं हरिणो विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति। तस्माद्वा राष्ट्रं विशमत्ति न पुष्टं बहु मन्यत इति तस्माद्राजा पशून्न पुष्यति' (श० १३।२।३।८) इत्यादौ यथा विशि यवत्वारोपः, राष्ट्रे हरिणत्वारोपस्तेनैव हरिणे भोक्तृत्वं विशि भोग्यत्वमुक्तम्, तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्। नात्रैकस्य राज्ञः शासनं निषिद्धं न वा सभासापेक्षत्वविधानम्, तादृशवचनाभावादेव।

वस्तुतः—'ऊर्ध्वामिनामुच्छ्रापय गिरौ भारं हरन्निव। अथास्यै मध्यमेधतां शीते वाते पुनन्निवा॥' इत्यस्य मन्त्रस्य व्याख्यानप्रसङ्गे 'श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः' (शत० १३।२।९।२), 'श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः' (३), 'क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम्' (५) इत्यध्वर्य्वादयो यजमानकुमारीभार्य्यादिभिः सोपहासं संवदन्ते, 'अथाध्वर्य्युः कुमारीमभिमेथयति' (श० १३।५।२।४) इति श्रुतेः। एनामूर्ध्वामुच्छ्रापय उच्छ्रितां कुरु इति मन्त्रस्य बाह्योऽर्थः। तत्र गूढं दर्शनमुच्यते ब्राह्मणेन। अपक्रामति वै एतस्माद्राष्ट्रात्मिका श्रीः, ऋत्विग्भ्यो दक्षिणादिरूपेण दीयमाना। तैः सोपहाससंवादवचनैः श्रियोऽपक्रमणं प्रतिसमाधीयते। तत्र श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः। तत्र श्रीः समृद्धिरेव राष्ट्रम्। राज्यश्रिय एवाश्वमेधहेतुत्वात् तस्याश्वमेधरूपत्वमुक्तम्। एनां वावाताम् ऊर्ध्वामुच्छ्रापय उच्छ्रितां कुरु इति बाह्य एवार्थः। आन्तरस्तु अश्वमेधश्रियः कारणं राष्ट्रमेवास्मै यजमानायोच्छ्रा-

चाहिये, यह बात भी निर्मूल है, क्योंकि मूल में इस अर्थ के बोधक पदों का अभाव है। अपनी मनमानी बात का प्रतिपादन करना हो तो व्यक्ति को अलग से ग्रन्थ का निर्माण करना चाहिये। यह उचित नहीं है कि श्रुति का अर्थ करते समय उसमें अपने अभिप्राय को जोड़ दिया जाय। राजा तो सब जगह अकेला ही होता है। एक राष्ट्र में अनेक राजा न तो देखे गये हैं और न सुने ही गये हैं। राजधर्म के अनुष्ठान में राजा का ही अधिकार माना जाता है, दूसरों का नहीं। यह राजा अकेला ही होता है। मन्त्री प्रभृति अथवा मन्त्री-परिषद् केवल परामर्श देने वाले होते हैं, ये राजा नहीं कहलाते। ऐसा मानना स्पष्ट ही मनु, शुक्र प्रभृति के धर्मग्रन्थों के विपरीत होगा। जहाँ एक राजा होता है, वहाँ वह राष्ट्र के नाम पर प्रजा को खा जाना चाहता है, यह अर्थ भी गलत है, क्योंकि मूल में जहाँ एक राजा है, इस तरह का कोई वाक्य नहीं है। अकेला राजा प्रजा को खा जाता है, यह अर्थ भी गलत है, क्योंकि मूल में एक शब्द नहीं है। क्योंकि अपने सुख के लिये वह प्रजा से उत्तम पदार्थों को छीन लेता है और इस तरह से प्रजा को पीड़ा पहुँचाता है, यह अर्थ भी गलत है, मन्त्राक्षरों के विपरीत है।

'यद्धरिणो यवमत्ति' इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के वचन का अभिप्राय यह है कि हरिण यव खाता है, यहाँ प्रजा को यव और राष्ट्र को हरिण बताया गया है। हरिण भोक्ता और यव भोग्य है, उसी तरह से यहाँ भी राष्ट्र भोक्ता और प्रजा भोग्य है। इसमें किसी एक राजा के शासन का न तो निषेध किया गया है और न सभा की आवश्यकता ही बताई गई है, क्योंकि ऐसा कोई वाक्य यहाँ है नहीं।

वास्तव में तो यहाँ 'ऊर्ध्वामेना०' इस मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण में 'श्रीर्वै राष्ट्रम्' इत्यादि वाक्य पठित है। इनमें अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग का विवरण दिया गया है। ब्राह्मण वाक्य इस वचन के अभिप्राय को प्रकट करते हैं कि ऋत्विजों को दी जाने वाली दक्षिणा के रूप में राज्य का खजाना घटने लगता है। यहाँ राष्ट्र की समृद्धि ही श्री के नाम से अभिहित है, क्योंकि इस राज्य की श्री (लक्ष्मी) के रहते ही अश्वमेध आदि यज्ञ किये जा सकते हैं। इसीलिये इसको अश्वमेध स्वरूप माना गया है। इसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि यह अश्वमेध रूपी श्री के कारण ही राष्ट्र और यजमान की उन्नति होती है। 'गिरौ भारं हरन्निव' मन्त्र

पयति, तथा संवदनेनेत्यर्थः। 'गिरौ भारं हरन्निव' इत्यस्य मन्त्रभागस्यायं बाह्योऽर्थः—यथा कश्चिद् गिरौ पर्वते भारं हरन् पर्वतोपरि भारमारोपयन् तमुच्छ्रापयति, तथैनामूर्ध्वां कुरु इति। आन्तरस्त्वयमर्थः—श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः। तथा च भारोन्नमनकथनेन राष्ट्रस्य श्रियमवास्मै यजमानाय सन्नह्यति। 'अथास्यै मध्यमेधताम्' इत्यस्य मन्त्रांशस्यायं वाह्योऽर्थः—यथाऽस्या वावाताया मध्यमेधतां वृद्धिं यायात् तथा कुरु इति। आन्तरस्तु – श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यं श्रियमेवास्मै मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति, तथा सोपहाससंवदनेन यजमानाय राज्यश्रियमेवान्नाद्यां भोग्यत्वेनोपस्थापयति। 'शीते वाते पुनन्निव' इत्यंशस्यायं बाह्योऽर्थः—यथा शीते वाते वाति पुनः पुनर्धान्यवपनं कुर्वाणः कृषीवलः धान्यपात्रं यथा ऊर्ध्वं करोति तथैवैतामुच्छ्रापयेति। आन्तरं त्वर्थं ब्राह्मणं वक्ति—क्षेमो राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै करोति तथा संवदनेनेति। तथा च दयानन्दोक्तरीत्या भारः संभारः शीतं शयनवान्निरुपद्रवं सुखमित्यादिकोऽर्थः सर्वथा मन्त्राक्षरविरुद्ध एव।

एवमेव—'यकासकौ शकुन्तिकाऽहलगिति वञ्चति। आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका॥' इत्यप्यश्वप्रसङ्गीय एव मन्त्रः। तदीयोऽयं बाह्योऽर्थः—अध्वर्य्युः कुमारीमङ्गुल्या गुप्ताङ्गं संकेतयन्नाह—हये हये कुमारि, यका या असका असौ शकुन्तिका अल्पपक्षिणीव। आहलगिति शब्दानुकरणम्। हले हले शब्दयन्ती वञ्चति गच्छति चपला योनिः। तत्र गभे वर्णविपर्य्ययः, भगे योनौ शकुनिसदृश्यां यदा पसो पुंस्प्रजननं लिङ्गमाहन्ति आगच्छति, पस इति पसतेः स्पृशतिकर्मणः। तदाधारका योनिः निगल्गलीति नितरां गलति वीर्य्यं क्षरति यद्वा गलगलेतिशब्दं करोति। गूढार्थस्त्वयमस्य मन्त्रस्य—'विड् वै शकुन्तिकाऽहलगिति वञ्चतीति विशो वै राष्ट्राय वञ्चत्याहन्ति। गभे पसो निगल्गलीति धारके विड्वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति। तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः। अर्थादत्र मन्त्रे परोक्षया भाषया विडेव शकुन्तिका विड्वै गभः राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति। तस्माद्राष्ट्री राष्ट्रपतिः विशां घातुकः विशां दण्डधरो भवति। यथा—'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥' (गी० १४।३) इत्यत्र नहि लौकिकस्त्रीयोनौ सामान्यपुरुषकर्तृकं गर्भाधानम्, किन्तु महद्ब्रह्म प्रकृतिरेव योनिः, त्रिगुणमयत्रिकोणत्वात्। सा च परमात्मपुरुषप्रतिबिम्बमन्तरा न महदादिक्रमेण प्रपञ्चमुत्पादयितुं क्षमते। तस्मात् परमेश्वरः स्वप्रतिबिम्बमयं चैतन्यात्मकं तेजस्तत्र

के इस द्वितीय चरण का वास्तविक अभिप्राय 'श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः' इस वाक्य से समझाया गया है। यहाँ जो भार की तरह उठाने की बात की गई है, इससे राष्ट्र की लक्ष्मी को इस राजा को उठाकर देने की बात निकलती है। 'श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य में 'अथास्मै मध्यमेधताम्' मन्त्र के इस तृतीय चरण के छिपे अभिप्राय को प्रकट किया गया है कि श्री राष्ट्र का मध्य है। राष्ट्र के मध्य में ही अन्न का भण्डार बनाया जाता है। 'शीते वाते पुनन्निव' इस चतुर्थ चरण का भी अभिप्राय ब्राह्मण में इस तरह से स्पष्ट किया गया है कि यहाँ क्षेम ही राष्ट्र का शीत माना जाता है। इस तरह से यहाँ दयानन्द के द्वारा किया गया भार शब्द का अर्थ संभार और शीत शब्द का अर्थ उपद्रव रहित सुख सर्वथा मन्त्राक्षरों के विपरीत है।

इसी तरह से 'यकासकौ' इत्यादि मन्त्र भी अश्वमेध से ही सम्बद्ध है। इसका वास्तविक अभिप्राय ब्राह्मण में इस तरह से स्पष्ट किया गया है—यहाँ प्रजा को पक्षी माना गया है। राष्ट्र के कल्याण के लिये प्रजा को बलिदान करना पड़ता है। प्रजा को यहाँ गभ और राष्ट्र को पस कहा गया है। राष्ट्र के लिये ही प्रजा का विनियोग किया जाता है। इसलिये माना जाता है कि राष्ट्र प्रजा का घातुक है। अर्थात् इस मन्त्र में परोक्ष पद्धति से यह बताया गया है कि प्रजा चिड़िया की तरह है और प्रजा ही योनि की तरह है। राष्ट्र पस स्थानीय है। राष्ट्र को ही प्रजा में विनियुक्त कर दिया जाता है। इसलिये राष्ट्र का स्वामी प्रजा का कल्याण करने के अभिप्राय से सदा दण्ड धारण करता है। जैसे कि गीता में बताया गया है—'महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति ही योनि है, उसमें मैं गर्भ स्थापित करता हूँ। हे अर्जुन, इसी से सारे प्राणियों की उत्पत्ति होती है।' यहाँ उस तरह का गर्भाधान नहीं किया जाता, जैसे कि लौकिक स्त्री की योनि में सामान्य पुरुष करता है, किन्तु यहाँ प्रकृति ही योनि मानी जाती है, क्योंकि वह त्रिगुणात्मक त्रिकोण वाली है। यह प्रकृति परमात्मा के प्रतिबिम्ब के बिना महत्तत्त्व आदि के क्रम से इस जागतिक प्रपंच का विस्तार नहीं कर सकती। अतः परमेश्वर अपने प्रति-

निःक्षिपति। तेन साधिष्ठाना सचैतन्या प्रकृतिः प्रपञ्चमुत्पादयति। तथैव प्रकृतेऽपि तज्जन्येनादृष्टेन च यजमानाय राष्ट्रश्रिय उच्छ्रापणम्, भाररूपाया राष्ट्रश्रिय ऊर्ध्वोन्नहनम्, मध्यरूपाया राष्ट्रश्रियोऽभिवर्धनम्, शीतरूपं राष्ट्रक्षेममेवास्मै यजमानाय कुर्वन्ति, तथा सोपहाससंवदनेनाध्वर्य्वादयः। एवमेव शकुन्तिकासदृशे गभरूपे स्त्रीप्रजनने पसरूपपुंस्प्रजननस्य यदागमनमुक्तम्, तेन तत्र परोक्षभाषया विडेव गभः, राष्ट्रमेव पसो ज्ञातव्यः। राष्ट्रपतेः प्रजायाः यच्छासकत्वरूपं दण्डधरत्वम्, तदेव राष्ट्रस्य प्रजायां गमनरूपः संनिवेशो मन्तव्यः।

यद्यपि स्त्रीपुरुषयोरुभयोरपि चेतनात्मरूपत्वेन भोक्तृत्वमेव, तथापि स्त्रीदेहस्य प्रकृतिप्राधान्याभिप्रायेण भोग्यत्वम्, पुरुषदेहस्य पुरुषप्राधान्येन भोक्तृत्वम्। कयाचित्तु व्यपेक्षया पुरुषेऽपि भोग्यत्वं स्त्रियां च भोक्तृत्वमपि संपद्यते, तथैव यद्यपि चैतन्याभिप्रायेण राजविशोरुभयोरपि भोक्तृत्वमेव, तथापि विशां नियम्यत्वेन भोग्यत्वम्, राज्ञश्च नियन्तृत्वेन दण्डधरत्वेन भोक्तृत्वं व्यवह्रियते। भोग्यत्वाभिप्रायेण विशि गभत्वारोपः। भोक्तृत्वेन च राष्ट्रपतौ पसत्वारोपः। प्रकृतौ भोग्यत्वं पुरुषे च भोक्तृत्वं पर्य्यवस्यति। तत एव भोक्तुः पसस्य भोग्यरूपे प्रकृतिगभे संनिवेश, सर्वान्तर्य्यामित्वेनैव मुख्यनियन्तृत्वभोक्तृत्वाद्युपपत्तेः।

वर्णाश्रमधर्मविचारः

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इति मन्त्रे ब्राह्मणादिवर्णा निरूपिताः। यदुक्तम् 'वर्णो वृणोतेः' (नि० २।३), 'ब्रह्म हि ब्राह्मणः, क्षत्रं हीन्द्रः, क्षत्रं राजन्यः' (श० ५।३।१।१), 'बाहू वै मित्रावरुणौ। पुरुषो गर्त्तः, वीर्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू। वीर्य्यं वा एतदपां रसः' (श० ५।४।३), 'दूषवो वै दिद्यवः' (श० का ५। ४।४)। इत्यादिरीत्या वरणीया वरीतुमर्हा गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः। ब्रह्म हि ब्राह्मणः। ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्तमानो विद्याद्युत्तम-

विम्ब स्वरूप चैतन्यात्मक तेज का प्रकृति में आधान करता है। इससे अधिष्ठान और चैतन्य वाली प्रकृति प्रपंच को उत्पन्न करती है। इसी तरह से प्रकृत स्थल में भी इस अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान के द्वारा उत्पन्न अदृष्ट से यजमान के लिये राज्यलक्ष्मी को ऊपर उठाना, भाररूप राज्यलक्ष्मी को ऊपर ले जाना, मध्यरूप राजलक्ष्मी को बढ़ाना और शीत रूप राष्ट्र के कल्याण को इस यजमान के हित में नियोजित करना है। परोक्ष भापा में गभ का अर्थ प्रजा और पस का अर्थ राष्ट्र किया गया है। प्रजा का शासन चलाने के लिये राष्ट्र का अधिपति राजा दण्ड धारण करता है। यही राष्ट्र का प्रजा में अभिगमन रूप कार्य माना जाता है।

यद्यपि स्त्री और पुरुष दोनों हो चेतन हैं, अत एव ये भोक्ता ही माने जायगें, तो भी स्त्री के शरीर को प्रधानतः प्रकृति का प्रतीक मानकर भोग्य तथा पुरुष के शरीर को प्रधानतः पुरुष का प्रतिनिधि मानकर भोक्ता माना जाता है। कुछ अर्थों में पुरुष को भोग्य और स्त्री को भोक्ता भी माना जा सकता है। इसी तरह से यद्यपि चैतन्य स्वभाव को लेकर राजा और प्रजा दोनों भोक्ता ही माने जायेंगे, किन्तु प्रजा राजा के द्वारा नियन्त्रित की जाती है, अतः भोग्य है। राजा दण्ड धारण कर इनका नियमन करता है, अतः भोक्ता कहा जाता है। भोग्य होने से ही प्रजा को गभ और भोक्ता होने से ही राष्ट्र के स्वामी राजा को पस कहा जाता है। इस तरह से प्रकृति में भोग्यता और पुरुष में भोक्तृत्व अन्ततः स्थिर हो जाता है। इसीलिये पस रूप भोक्ता का गभ रूप भोग्य में संनिवेश उचित ही माना जायगा। परम पुरुष परमात्मा सबका अन्तर्यामी है, अतः मुख्य नियन्ता और भोक्ता ईश्वर भी माना जाता है। राजा में औपचारिक ईश्वरत्व का आरोप किया जाता है।

वर्णाश्रम धर्म विचार

इस प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए दयानन्द लिखते हैं—'अब वर्णाश्रम विषय लिखा जाता है। इसमें यह विशेष जानना चाहिये कि प्रथम मनुष्य जाति सबकी एक है, सो भी वेदों से सिद्ध है। इस विषय का प्रमाण सृष्टिविषय में लिख दिया है। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' यह मन्त्र सृष्टिविषय में लिख चुके हैं। वर्णों के प्रतिपादन करने वाले वेद मन्त्रों की जो व्याख्या ब्राह्मण और निरुक्त आदि ग्रन्थों में लिखी है, वह कुछ यहाँ भी लिखते हैं' (पृ० २६९)। इसके बाद निरुक्त आदि के वचनों को उद्धृत करके उनकी व्याख्या इस तरह से करते हैं—'मनुष्य जाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये वर्ण कहलाते हैं। वेद की रीति से इनके दो भेद हैं—एक आर्य

गुणयुक्तः पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति । तथैव क्षत्रं हीन्द्रः क्षत्रं क्षत्रियकुलम्, यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्य्यवान् शत्रूणां क्षयकरणाद् युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्परः स राजन्यो भवितुमर्हति । मित्रः सर्वेभ्यः सुखदाता, वरुण उत्तमगुणकर्मधारणेन श्रेष्ठः, इमावेव क्षत्रियस्य द्वौ बाहुवद्भवेताम् । अथवा वीर्य्यं पराक्रमो बलं चैतदुभयं राजन्यस्य बाहू भवतः । अपां प्राणानां यो रस आनन्दस्तं प्रजाभ्यः प्रयच्छतः । क्षत्रियस्य वीर्य्यं वर्धते तस्य इषवो बाणाः शस्त्राणि दिद्यवः प्रकाशका भवेयुः' (पृ० २६९) इति, तदपि तुच्छम्, 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥' इति मन्त्रेण विराट्पुरुषस्य परमेश्वरस्य मुखाद् ब्राह्मणस्य बाहुभ्यां राजन्यस्योरुभ्यां वैश्यस्य पद्भ्यां शूद्रस्योत्पत्तिवर्णनेन जन्मनैव वर्णोत्पत्तिनिर्धारणात् । वृक्षाणां वृक्षत्वेन रूपेण साम्येऽपि यथा निम्बत्वाश्वत्थत्वादिरूपेण वैषम्यमपि दृश्यते, तथा मनुष्यत्वेन रूपेण मनुष्याणां साम्येऽपि ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वादिरूपेण वैषम्येऽपि बाधाभावात् । न चात्र ज्ञानादिगुणकत्वेन ब्राह्मणस्य प्राधान्याद् ब्राह्मणे विराड्रूपस्य समाजस्य मुखत्वारोपः, बलसम्पन्ने क्षत्रिये विराड्भुजत्वारोपः । तत एव ब्राह्मणो मुखमिति सामानाधिकरण्यप्रयोग इति वाच्यम्, पद्भ्यां शूद्रो अजायतेति वाक्यशेषविरोधात् । अत्र कण्ठरवेणैव शूद्रस्य पज्जत्वं बोध्यते । तदनुरोधेन मुखजत्वादेव ब्राह्मणो मुखमिति सामानाधिकरण्यम् । मृदो जातत्वान्मृद्घट इति सामानाधिकरण्यवदिति मन्तव्यम् । तथा च जन्मना वर्णो गुणकर्मादिभिरुत्कर्ष इत्येव सिद्धान्तः ।

न च वर्णो वृणोतेरिति विरोधः, तत्र वर्णशब्दस्य शुक्लरूपादिपरत्वेन रूपमाश्रयं वृणोतीति रूपमेव वर्णपदव्यप-

और दूसरा दस्यु । इस विषय में यह प्रमाण है कि 'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो०' । अर्थात् इस मन्त्र से परमेश्वर उपदेश करता है कि हे जीव, तू आर्य अर्थात् श्रेष्ठ और दस्यु अर्थात् दुष्ट स्वभाव युक्त डाकू आदि नामों से प्रसिद्ध मनुष्य के ये दो भेद जान लें । तथा 'उत शूद्रे उत आर्ये' इस मन्त्र से भी आर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तथा अनार्य अर्थात् अनाड़ी, जो कि शूद्र कहलाते हैं, ये दो भेद माने गये हैं । तथा 'असुर्या नाम ते लोका०' इस मन्त्र से भी देव और असुर अर्थात् विद्वान् और मूर्ख ये दो ही भेद माने जाते हैं । इन्हीं दोनों के विरोध को देवासुर संग्राम कहते हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण और कर्मों से किये गये हैं । इनका नाम वर्ण इसलिये है कि जैसे जिसके गुण और कर्म हों, वैसा ही उसको अधिकार देना चाहिये । ब्रह्म अर्थात् उत्तम कर्म करने से उत्तम विद्वान् ब्राह्मण वर्ण होता है । परम ऐश्वर्य, बल वीर्य के होने से मनुष्य क्षत्रिय वर्ण होता है, जैसा कि राजधर्म में अभी लिख आये हैं । मित्र और वरुण अर्थात् सबको सुख देना और उत्तम गुण-कर्म का धारण करना ये दो क्षत्रिय की भुजाएँ हैं । अथवा वीर्य और बल ये दोनों क्षत्रिय की भुजाएँ हैं । प्राणों के इस आनन्द (सुख-सुविधा) को प्रजा के लिये देने से क्षत्रिय का बल बढ़ता है । उसके बाण अर्थात् शस्त्रास्त्र सदा प्रकाशित होते रहते हैं, अर्थात् वह सदा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता हैं' (पृ० २६९–२७०), किन्तु यह सारा प्रतिपादन सारहीन है । 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इस मन्त्र से यह ज्ञात होता है कि विराट् पुरुष परमेश्वर के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति होती है । इससे स्पष्ट है कि वर्णव्यवस्था जन्म के आधार पर ही निर्धारित की गई है । वृक्ष के रूप में सभी वृक्ष एक होते हुए भी जैसे निम्ब, अश्वत्थ आदि के रूप में भिन्न भी हैं, उसी तरह से मनुष्य के रूप में सब मनुष्य एक होते हुए भी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के रूप में भिन्न भी हों, इसमें क्या बाधा उठ सकती है ? यहाँ यह शंका नहीं उठाई जा सकती कि 'ज्ञान आदि गुणों के आधार पर ब्राह्मण की प्रधानता होने से विराट् रूप समाज का मुख उसको माना जाता है और बल-वीर्य से सम्पन्न क्षत्रिय में विराट् की भुजा का आरोप किया जाता है । इसीलिये ब्राह्मण का और मुख का यहाँ सामानाधिकरण्य माना गया है ।' क्योंकि ऐसा मानने पर 'पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ' इस चतुर्थ चरण के अर्थ से विरोध पड़ जायगा । इस विरोध के परिहार के लिये यह मानना पड़ेगा कि ब्राह्मण आदि की भी उत्पत्ति उन-उन अंगों से मानी जाय । सामानाधिकरण्य की संगति तो इस तरह से भी बन सकती हैं कि मुख से उत्पन्न होने से ही ब्राह्मण को विराट् का मुख माना जाता है, जैसे कि मिट्टी से उत्पन्न होने के कारण 'मृद्घटः' यहाँ पर सामानाधिकरण्य का प्रयोग बनता है । इस तरह से पूरे प्रकरण पर विचार करने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्णव्यवस्था जन्म के आधार पर ही स्थिर है, गुण-कर्म आदि के आधार पर उसमें उत्कर्ष होता है ।

'वर्णो वृणोतेः' इस निरुक्त वचन से इस निष्कर्ष का कोई विरोध भी नहीं है, क्योंकि वहाँ वर्ण शब्द शुक्ल आदि रूपों के अर्थ में प्रयुक्त है, रूप को ही आश्रय अर्थात् द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है । अतः यहाँ रूप गुण ही वर्ण पद से बोधित होगा । निरुक्त-

देश्यम् । तत्र कल्याणवर्णं सुवर्णं तस्येव रूपं यस्य स कल्याणवर्णरूपोऽग्निरन्यो वा कश्चिदिति दुर्गाचार्यः। व्रियते वा कर्मभिरिति वर्णशब्दो ब्राह्मणादावपि प्रवर्तते, ब्राह्मणराजन्यादिकमुद्दिश्यैव ज्योतिष्टोमराजसूयादिकर्मप्रवृत्तेः । त्वद्रीत्या तु गुणाः कर्माणि वा वरीतुमर्हाणि वरणीयानीति तान्येव वर्णपदव्यपदेश्यानि स्युरिति, तदपि त्वद्विरुद्धमेव, ककारादिवर्णेष्वपि वर्णशब्दः प्रयुज्यते, तथैव ब्राह्मणादिष्वपि गुणकर्मादिवरणीयत्वेनापि वर्णशब्दः प्रयोक्तुं शक्यते । जन्मसिद्धमेव ब्राह्मणादिकमुद्दिश्य वैदिकानि कर्माणि विहितानि, अनुपनीतानां वेदाध्ययनानुष्ठानाद्यनुपपत्तेः । उपनयनं च ब्राह्मणादीनामेव विधीयते, न मनुष्यमात्रस्य ।

'ब्रह्म हि ब्राह्मणः, क्षत्रं हीन्द्रो राजन्यः' इत्यपि न त्वत्समीहितसाधकम्, तत्र ब्रह्मपदेन ब्रह्मवर्चसस्य क्षत्रपदेन, क्षत्त्राणकरक्षत्रतेजसो ग्रहणेन तत्र ब्राह्मणराजन्यदृष्टिविधानेन त्वदभिप्रायासिद्धेः। ब्रह्मपदेन विद्याद्युत्तमगुणग्रहणेऽपि तत्र ब्राह्मणत्वारोप एव । न तु गुणस्य ब्राह्मणत्वं संभवति, गुणमुद्दिश्य ब्राह्मणोचितकर्मविधानासंभवात्, गुणगुणिनोरभेदासंभवाच्च । 'क्षत्रं क्षत्रियकुलं यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्य्यवान्·········स राजन्यो भवितुमर्हति' इति तु सर्वथा विशृङ्खलम्, पूर्ववाक्यानुरोधेन यथा ब्रह्म ब्राह्मणः, तथैव क्षत्रं हीन्द्रः क्षत्रं राजन्य इन्द्रे वान्वयस्य युक्तत्वात् । त्वद्रीत्या 'क्षत्रं वा अश्वः' इत्यश्वस्यैव क्षत्रियकुलत्वं स्यात् । 'अथो क्षत्रं वा अश्वः । क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम्। क्षत्रमेतत्क्षत्रेण समर्धयति' (श०१३।१।११।१७) 'विड्वा इतरे पशवः। विश एतद्रूपम् । विड्वै यवो राष्ट्रं हरिणः' (श० १३।२।८) इत्यादिभिर्विशो यवत्वं राष्ट्रस्य हरिणत्वमपि स्यात् । सिद्धान्ते तु तत्र तत्रारोप एव। 'ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यः' (श० १३।१।५।३) इत्यादौ ब्रह्मवर्चसे ब्राह्मणदृष्टिः । 'न वै क्षत्रे ब्रह्मवर्चसं रमते' (श० १३।१।५।३), 'न वै ब्रह्मणि क्षत्रं रमते' (श० १३।१।५।२) इत्यादिषु क्षत्रे क्षत्रियजातौ ब्रह्मवर्चसं ब्राह्मं तेजो न रमते ब्रह्मणि ब्राह्मणे क्षत्रं क्षात्रं तेजो न रमत इत्युक्तम् । तस्मान्न किञ्चिदेतत् ।

के इस वचन की व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्य ने बताया है कि कल्याणवर्ण सुवर्ण के समान रूप वाला अग्नि अथवा अन्य कोई यहाँ निर्दिष्ट है। विभिन्न कर्मों के द्वारा जिनका वरण होता है, वह वर्ण है । इस व्युत्पत्ति के आधार पर ब्राह्मण आदि में भी वर्ण शब्द की प्रवृत्ति हो सकती है, क्योंकि ज्योतिष्टोम, राजसूय प्रभृति यज्ञ कर्मों की प्रवृत्ति किसी एक ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण को लेकर ही हुई है । आपकी व्याख्या के अनुसार तो गुण अथवा कर्म ही वरणीय है, तब तो इन्हीं के लिये वर्ण पद का प्रयोग माना जायगा और यह बात आपके मत के विपरीत पड़ेगी । ककार प्रभृति वर्णों के लिये भी वर्ण शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी तरह से ब्राह्मण प्रभृति में भी उनके गुण और कर्मों की वरणीयता के आधार पर वर्ण शब्द का प्रयोग किया ही जा सकता है। जन्म से सिद्ध ब्राह्मण आदि वर्णों को लेकर ही वैदिक कर्मों का विधान किया गया है। अनुपनीत व्यक्ति का न तो वेदाध्ययन में ही अधिकार है और न उसका किसी अनुष्ठान में ही । उपनयन ब्राह्मण आदि तीन वर्णों का ही होता है, मनुष्य मात्र को उद्दिष्ट कर इसका विधान नहीं है ।

'ब्रह्म हि ब्राह्मणः' इत्यादि वचन भी आपके मत को नहीं सिद्ध करता, क्योंकि ब्रह्मपद से ब्रह्मवर्चस का और क्षत्र पद से दुःखी व्यक्ति की रक्षा करने वाले क्षात्र तेज का ग्रहण होने से यहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय की दृष्टि का ही प्रतिपादन होने से आपका अभिप्राय इससे सिद्ध नहीं होगा। ब्रह्मपद से विद्या प्रभृति उत्तम गुणों का ग्रहण होने से उसमें ब्राह्मणत्व का आरोप ही होगा । गुण में ब्राह्मणत्व का आरोप नहीं हो सकता, क्योंकि गुण को उद्दिष्ट कर ब्राह्मणोचित कर्मों का विधान नहीं किया जा सकता। साथ ही गुण और गुणी का अभेद भी नहीं हो सकता। 'जो क्षत्रिय कुल का पुरुष इन्द्र अर्थात् परम ऐश्वर्य सम्पन्न होता है, वही राजन्य कहा जा सकता है' (पृ० २६९) यह कथन भी सर्वथा गलत है, क्योंकि पहले वाक्य में जैसे ब्रह्म का ब्राह्मण से अन्वय किया गया है, उसी तरह से इस वाक्य में भी क्षत्र शब्द का इन्द्र या राजन्य पद से अन्वय होगा। यदि आपकी पद्धति से अर्थ किया जाय, तब तो 'क्षत्रं वा अश्वः' इस वाक्य के सहारे अश्व को भी क्षत्रिय कुल का मान लिया जायगा। इसी तरह से 'विड् वै यवो राष्ट्रं हरिणः' इत्यादि वाक्यों के प्रमाण से प्रजा को यव और राष्ट्र को हरिण माना जा सकता है। हमारे मत से तो इन सब स्थलों में औपचारिक प्रयोग ही माना जाता है। 'ब्रह्म वै ब्राह्मणः' इत्यादि वाक्यों में ब्रह्मतेज की प्राप्ति में ब्राह्मण की दृष्टि रहती है। 'न वै क्षत्रे ब्रह्मवर्चसं रमते' और 'न वै ब्रह्मणि क्षत्रं रमते' इन वाक्यों में यह बताया गया है कि क्षत्रिय जाति में ब्रह्मतेज नहीं रमता और ब्राह्मण जाति में क्षात्र तेज नहीं रमता। अतः आपकी व्याख्या सर्वथा निराधार है।

'मित्रः सर्वेभ्यः सुखदाता, वरुण उत्तमगुणधारणेन श्रेष्ठः' इत्यत्रापि मूलं वक्तव्यम् । 'वीर्य्यं वा एतदपां रसः' इत्यस्य 'प्राणानां यो रस आनन्दस्तं प्रयच्छतः क्षत्रियस्य वीर्य्यं वर्धते' इति तून्मत्तप्रलपितमेव, वाक्यस्य तादृगर्थबोधकत्वासंभवात् । यत्तु हिन्दीव्याख्याने निगदितम्—'हे जीव, त्वं विजानीह्यार्य्यान् ये च दस्यवः । तथा उत शूद्र आर्य्ये इत्यादिमन्त्रैर्ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या आर्य्या उच्यन्ते, अनार्य्याः शूद्रा उच्यन्ते' इत्यादि, तदपि पाश्चात्त्यप्रभावमूलकमेव, मनुष्येष्वार्य्यदस्युत्वविद्वत्त्वमूर्खत्वादिभेदेषु सत्स्वपि ब्राह्मणादिभेदे वाधाभावात् । साधर्म्यवैधर्म्यवैविध्येऽपि वाधाभावात् । मित्रशब्दस्तु प्रकृते देवविशेषस्यैव वाचकः, तथैव वरुणशब्दोऽपि । राजसूययज्ञस्य प्रसङ्गे 'अथ बाहू उद्गृह्णाति' इति यजमानो बाहू उद्गृह्णाति ऊर्ध्वौ प्रसारितौ कुर्य्यात् । मित्रोऽसि वरुणोऽसीत्ययं मन्त्रस्तत्र विधास्यते । तत्र पूर्वपक्षत्वेन मन्त्रं पठति—'हिरण्यरूपौ' । अत एव कात्यायनो विकल्पेन सूत्रयामास—'वाहू उद्गृह्णाति । हिरण्यरूपा मित्रोऽसि वरुणोऽसि वा' (१५।१४७-१४८) । सिद्धान्तरूपेण मित्रोऽसि वरुणोऽसीत्येवोद्गृह्णीयादिति तद्विधानम् ।

'हिरण्यरूपा उषसो विरोक उभाविन्द्रा उदिथः सूर्य्यश्च । आरोहतं वरुण मित्र गर्तं ततश्चक्षाथामदितिं दितिं च ॥' इति मन्त्रव्याख्यानं ब्राह्मणमेव करोति—'वाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तस्तस्मादारोहतं वरुण मित्र गर्तम् । ततश्चक्षाथामदितिं दितिं चेति ततः पश्यतं स्वं चारणं चेत्येतदेवाह—'हे वरुण, हे मित्र, बाहुद्वयस्य पृथक् संबुद्धिः । हिरण्यरूपौ हितरमणीयरूपौ हिरण्यस्वरूपौ वा, सालङ्कारत्वात् । इन्द्रौ परमैश्वर्यवन्तौ उभौ युवां उषसो विरोके विरोचने उदिथः सूर्य्यश्चोद्गतः, हे मित्रावरुणौ, बाहुरूपौ गर्तं पुरुषमारोहतं पुरुषस्योपरि भवतम् । ततोऽदितिमखण्डनीयां पृथिवीरूपां स्वीयां प्रजां चक्षाथां पश्येताम् । दितिं खण्डनीयां परामेनां च पश्यतम्, तद्बाहुद्वयमेव स्वबलं रक्षति परबलं च हन्तीति

मित्र का अर्थ सबको सुख देने वाला और वरुण का अर्थ उत्तम गुण का धारक होने से श्रेष्ठ, ऐसा करने में भी प्रमाण बताना पड़ेगा । 'वीर्यं वा एतदपां रसः' इसका अर्थ यह करना कि प्राणों के रस आनन्द को देने वाले क्षत्रिय का बल बढ़ता है, केवल पागल का प्रलाप ही माना जा सकता है, क्योंकि इस वाक्य से इस तरह का अर्थ निकल ही नहीं सकता । हिन्दी व्याख्या में आर्य और दस्यु की बात उठाकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को आर्य तथा शूद्र को अनार्य बताया है, किन्तु ये सारी बातें भी पाश्चात्य प्रभाव मूलक ही है । मनुष्यों में आर्य-दस्यु, विद्वान्-मूर्ख आदि भेद भले ही रहें, इनके रहते हुए भी ब्राह्मण प्रभृति भेदों की स्थिति मानने में कोई बाधा नहीं है । इनमें नाना प्रकार के साधर्म्य और वैधर्म्य की स्थिति मानने में भी कोई बाधा नहीं है । प्रकृत मन्त्र में मित्र शब्द और वरुण शब्द देवविशेष के ही वाचक हैं । राजसूय यज्ञ के प्रसंग में यह ब्राह्मण वचन मिलता है—'अथ बाहू उद्गृह्णाति' । इसका अर्थ यह है कि अव यजमान अपनी दोनों भुजाओं को ऊपर फैलावे । 'मित्रोऽसि वरुणोऽसि' इस मन्त्र का उच्चारण इसी कार्य को सम्पन्न करते समय किया जाता है । यहाँ पर पूर्वपक्ष के रूप में 'हिरण्यरूपौ' इस मन्त्र का विधान है । इसीलिये कात्यायन ने इन मन्त्रों का विकल्प से विधान किया है कि उक्त दोनों मन्त्रों में से किसी एक का उच्चारण करते हुए यजमान अपनी भुजाओं को ऊपर फैलावे । इस तरह का पूर्वपक्ष कर बाद में वहाँ बताया गया है कि 'मित्रोऽसि' इत्यादि मन्त्र से ही यह कार्य सम्पन्न किया जाय 'हिरण्यरूपौ' इत्यादि से नहीं ।

'हिरण्यरूपौ' इस मन्त्र की व्याख्या स्वयं ब्राह्मण ने इस तरह से की है—'मित्र और वरुण बाहुस्थानीय हैं । पुरुष गर्त-स्थानीय है । वरुण और मित्र से यहाँ गर्त अर्थात् पुरुष की सहायता करने की प्रार्थना की गई है और कहा गया है कि इस पुरुष को आप लोग अदिति और दिति का ज्ञान कराइये । 'हे वरुण, हे मित्र' इस तरह से दोनों बाहुओं को अलग अलग संबोधित किया गया है, आप लोग हितकर हैं और रमणीय हैं, अथवा अलंकारों से भूषित होने से हिरण्यस्वरूप है । आप लोग परम ऐश्वर्य संपन्न हैं । आप लोग उषा देवी को प्रसन्न करने के लिये उदित होते हैं । हे बाहुस्वरूप मित्रावरुण, आप लोग इस गर्त अर्थात् पुरुष के ऊपर होइये । इसके बाद इस अखण्डनीय पृथिवीरूप अदिति का और अपनी प्रजा का अवलोकन कीजिये । साथ ही इस खण्डनीय दिति को भी आप लोग देखिये । मित्र और वरुण के प्रतिनिधि भूत ये बाहू अपने बल की रक्षा और दूसरे के बल का नाश करते हैं । इस मन्त्र का यह आध्यात्मिक अर्थ हुआ । आधिदैविक अर्थ करने पर गर्त शब्द का अर्थ रथ होगा । हे मित्र और वरुण देवों, आप लोग रथ पर

त्याध्यात्मिकोऽर्थः । आधिदैविके तु गर्तो रथः, हे मित्रावरुणौ, गर्तं रथमारोहतम् । ततोऽदितिमदोनं समर्थं विहितकर्मकर्तारं पुरुषं प्रपश्यतम् । दितिं दोनमविवेकिनं च पश्यतम् । तमिमं मन्त्रं बाहुद्वयपरत्वेन व्याचष्टे—बाहू वै मित्रेति । अन्तिमपादार्थं चाह-स्व स्वीयम् अरणम् अरमणीयं परं च पश्यतम् । तथा चात्र ब्राह्मणेन बाहुरूपावेव मित्रावरुणौ उच्येते । यथा शालग्रामो विष्णुरुच्यत इति तद्वत् ।

यदपि—'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः । तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति । ब्रह्मचारी समिधा मेखलया क्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥ पूर्वो जातो ब्राह्मणो ब्रह्मचारी धर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् । तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्मज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्' (अथर्व० ११।३।५।३–५) एतेषां मन्त्राणां सिद्धान्तानुसार्ययमर्थः—ब्रह्मचारिणं माणवकम् उपनीयमानं स्वसमीपमुपगमयन्नाचार्यः स्वीयविद्यात्मकस्य शरीरस्यान्तर्मध्ये गर्भं कृणुते करोति । तं गर्भीभूतं तिस्रो रात्रीः उदरे आत्मीये धारयति । चतुर्थे दिवसे जातं विद्यामयशरीरादुत्पन्नं ब्रह्मचारिणं द्रष्टुं देवा इन्द्रादयोऽभिसंयन्ति । अभिमुखं संभूय गच्छन्ति । 'स हि विद्यातस्तं जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म ॥ शरीरमेव मातापितरौ जनयतः' (आप० ध० सू० १।१।१५।१७) इत्यापस्तम्बवचनात् ।

एतेन 'गर्भमिव करोति' इत्यादिकं निर्मूलमेव । 'यदप्युक्तम्–'यद् विद्यायुक्तो विद्वान् जायते तदा तं विद्यासु जातं प्रादुर्भूतं देवा विद्वांसो द्रष्टुमभिसंयन्ति तस्य मान्यं कुर्वन्ति । अस्माकं मध्ये महाभाग्योदयेनेश्वरानुग्रहेण च सर्वमनुष्योपकारार्थं त्वं विद्वान् जात इति प्रशंसन्ति' इति, तदपि न संगतम्, त्रिदिनपर्यन्तं विद्यामये शरीरे गर्भवद्धारणेऽपि विद्वत्प्रशंसार्हविद्वत्वासंभवः,

चढ़िये । रथ पर चढ़ कर आप लोग विहित कर्मों के अनुष्ठान में समर्थ इस अदिति अर्थात् अदीन पुरुष को देखिये और साथ ही दिति अर्थात् दीन, अविवेकी पुरुष को भी देखिये । इसी मन्त्र की बाहुपरक भी व्याख्या की गई है । अन्तिम पाद का अर्थ यह है—आप लोग अपने अशोभन शत्रु को भी देखिये । इस तरह से यहाँ ब्राह्मण वाक्य में मित्र और वरुण को बाहुरूप ही माना गया है । जैसे कि शालिग्राम शिला में विष्णु का आरोप किया जाता है, उसी तरह भुजाओं में मित्र और वरुण का आरोप यहाँ किया गया है ।

इस तरह से चार वर्णों का विवेचन करने के बाद स्वामी दयानन्द ने चार आश्रमों की चर्चा छेड़ी है और ब्रह्मचर्य आश्रम के प्रमाण के रूप में 'आचार्य उपनयमानो' इत्यादि तीन मन्त्र उद्धृत किये हैं । हमारे मत से इस मन्त्रों का अर्थ इस तरह से होगा—जिसका यज्ञोपवीत करना है, उस ब्रह्मचारी बालक को अपने पास बुलाकर आचार्य अपने विद्यारूपी शरीर के भीतर गर्भ की तरह उसका पालन-पोषण विद्यादान आदि करता है, यज्ञोपवीत संस्कार से उसको संस्कृत करता है । वह आचार्य अपने विद्या शरीर में तीन रात्रि पर्यन्त उसे धारण किये रहता है । चौथे दिन विद्यामय शरीर से इस ब्रह्मचारी बटुक का नया जन्म होता है, तब इसको देखने के लिये इन्द्र प्रभृति देवगण आते हैं । आपस्तम्ब धर्मसूत्र में बताया गया है कि वह आचार्य अपनी विद्या से उसको जन्म देता है, जो कि श्रेष्ठ जन्म है । माता-पिता तो केवल उस शरीर को पैदा करते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य को शिक्षित करने का आचार्य का कार्य माता-पिता के द्वारा मनुष्य के शरीर मात्र को पैदा करने से अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि विद्या के द्वारा ही उसके मानवीय संस्कारों का परिष्कार होता है ।

दयानन्द ने 'गर्भमिव करोति' ऐसी व्याख्या की है, जिसका कि स्पष्ट अभिप्राय है कि आचार्य शिष्य को गर्भ की तरह धारण नहीं करता, किन्तु यह औपचारिक प्रयोग है । उनका यह कथन स्पष्ट ही आपस्तम्ब धर्मसूत्र के विपरीत पड़ता है । जिसमें कि आचार्य द्वारा शिष्य के विद्याजन्म की बात कही गई है । दयानन्द ने यह भी लिखा है कि जब यह विद्या पढ़कर विद्वान् हो जाता है, तब विद्या में प्रवीण हुए इस शिष्य को तीन दिन के बाद देखने के लिये अध्यापक अर्थात् विद्वान् आते हैं और उसको संमान देते हैं । हमारे बीच महान् भाग्य से और ईश्वर की कृपा से सब मनुष्यों का उपकार करने के लिये तुम्हारा जैसा विद्वान् हुआ है, इस तरह से उसकी प्रशंसा करते हैं (पृ० २७१-२७२) । यह सारा कथन भी असंगत है, क्योंकि तीन दिन तक विद्यामय शरीर में गर्भ के समान धारण

तथाऽदृष्टत्वात् । तस्मादाचार्यस्य विद्यामयशरीरस्य मध्ये गर्भकरणेन गर्भीभूतस्य ब्रह्मचारिणो रात्रित्रयानन्तरमेव चतुर्थे दिवसे जातस्य संस्कारादिजनितब्रह्मवर्चसादिदृष्टमेव वैलक्षण्यं जायते । तद्वैलक्षण्यमिन्द्रादिदेवैरेव द्रष्टुमर्हम्, न मानवविद्वद्दृष्टियोग्यम् । दिनत्रयसंस्कारैरेव देवादिपूजायोग्यता, देवकर्तृकदर्शनयोग्यता च तत्रोदेति । ततः पूर्वं तु मानवादिदृष्ट्यर्हतैवासीत् ।

इयं समिदिति पूर्वंब्रह्मचारिणो माहात्म्यकथनपूर्वकं तदुत्पत्तिरुक्ता । साम्प्रतं तु तत्स्तुतिव्याजेन नियमा उपदिश्यन्ते । इयं दृश्या पृथिवी ब्रह्मचारिणः प्रथमा समित् । द्यौर्द्युलोकरूपा द्वितीया समित् । उतापि अन्तरिक्षं समिधा अग्नावाधीयमानया पृणाति पूरयति, अर्थात् प्रथमया समिधा पृथिवीं द्वितीयया द्युलोकं तृतीययाऽन्तरिक्षं पृणाति पूरयति, पालयति वा आयुर्वै, घृतमितिवत् । इयं समिद् द्यौर्द्वितीयेति सामानाधिकरण्यम् । इत्थं ब्रह्मचारी समिधा आधीययानया तथा मेखलया धार्य्यमाणया मौञ्ज्या श्रमेणेन्द्रियनिग्रहोद्भूतस्वेदेनान्येनापि तपोरूपेण देहसंतापकेन नियमव्रातेन लोकान् पृथिव्यादीन् पूरयति पालयति वा । अतः समिदाधानादिकमवश्यं कर्तव्यमित्यर्थः ।

श्रीदयानन्दस्तु इयं पृथिवी द्यौः प्रकाशोऽन्तरिक्षं चानया समिधा ब्रह्मचारी पृणातीत्युक्तवान् । इयं समिदिति प्रथमान्तसमिच्छब्दस्य व्याख्यानं तु नैव कृतवान् । द्वितीयसमिच्छब्दस्य समिधाऽग्निहोत्रादिनेत्यर्थं कृतवान् । तदपि निर्मूलम्, समिच्छब्दस्य तदर्थत्वे मानाभावात् ।

पूर्वो जातः सर्वाश्रमेभ्यः प्रथममुत्पन्नः । स चोत्पन्नो धर्मं दीप्तं रूपं वसान आच्छादयन्, तपसा समिदाधानादिरूपेण सह उदतिष्ठत् उत्तिष्ठत् उत्थितवान्, धर्मब्रह्मानुष्ठानज्ञानाभ्यामुत्कर्षं प्राप्तवान् । ब्रह्म वेदस्तदध्ययनार्थं

करने पर भी विद्वानों की प्रशंसा लायक विद्वत्ता प्राप्त नहीं होती । ऐसा कहीं नहीं देखा गया कि तीन दिन में बालक विद्वान् हो जाय । इसलिये यही मानना पड़ेगा कि आचार्य के विद्यामय शरीर के बीच में गर्भीभूत ब्रह्मचारी का जब तीन दिन के बाद चौथे दिन संस्कारों के द्वारा विद्यामय ब्रह्मवर्चस सम्पन्न विलक्षण देह पैदा होता है, तो उस विलक्षण ब्रह्मतेज से सम्पन्न शरीर को देखने की योग्यता इन्द्र प्रभृति देवताओं में ही हो सकती है । मानव विद्वान् उसको देखने में समर्थ नहीं हो सकते ।

पहले मन्त्र में ब्रह्मचारी की महत्ता बताते हुए उसकी उत्पत्ति का वर्णन किया गया है । अब 'इयं समित्०' इत्यादि मन्त्र में उसकी स्तुति के बहाने कुछ नियम बताये जा रहे हैं, जिनका कि वह पालन करता है । वह दृश्य पृथिवी ब्रह्मचारी की पहली समिधा है । द्युलोक उसकी दूसरी समिधा है । वह ब्रह्मचारी तीसरी समिधा को जब अग्नि को समर्पित करता है, वह उससे अन्तरिक्ष को भर देता है । अर्थात् पहली समिधा से पृथिवी को, दूसरी से द्युलोक को और तीसरी समिधा से ब्रह्मचारी अन्तरिक्ष लोक को पूरित कर देता है, अथवा उनका पालन करता है, रक्षा करता है । यहाँ पहली समिधा को पृथिवी, दूसरी समिधा को द्युलोक और तीसरी को अन्तरिक्ष लोक उसी तरह से लाक्षणिक रूप से माना गया है, जैसा कि घृत को आयु माना जाता है । ब्रह्मचारी के द्वारा इन तीन आहुतियों के दिये जाने से हम सब लोगों की समृद्धि होती है और रक्षा होती है । इसलिये ब्रह्मचारी को तीनों कालों में समिदाधान अवश्य करना चाहिये, यह इसका तात्पर्य है । इस तरह से ब्रह्मचारी समिधा के आधान द्वारा, मेखला और मौंजी को धारण कर परिश्रम पूर्वक इन्द्रियों को अपने नियन्त्रण में रखकर जो अध्ययन तप का अनुष्ठान करता है, अपना पसीना बहाता है, इन नियमों का पालन कर अपने शरीर को कष्ट देता है, इसी से पृथिवी प्रभृति सारे लोकों की रक्षा होती है और समृद्धि बढ़ती है । इसलिये इन नियमों का पालन करते हुए अवश्य ही समिधा का आधान करना चाहिये, तीनों कालों में सन्ध्यावन्दन, हवन आदि कार्य संपन्न कराने चाहिये ।

श्री दयानन्द ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है कि 'ब्रह्मचारी पृथिवी, सूर्य और अन्तरिक्ष इन तीनों प्रकार की विद्याओं का पालन और पूर्ण करने की इच्छा रखता है' (पृ० २७३) । 'इयं समित्' इस प्रथमान्त समित् शब्द का उन्होंने कोई अर्थ नहीं किया । द्वितीय समिधा शब्द का अर्थ उन्होंने 'अग्निहोत्र आदि से' ऐसा किया है । यह सारी व्याख्या भी निराधार है, क्योंकि समित् शब्द का दयानन्द का अर्थ करने में कोश, व्याकरण आदि का कोई प्रमाण नहीं है ।

'पूर्वो जातः' इस तृतीय मन्त्र का अर्थ हमारे मत से यह है—यह ब्रह्मचर्य आश्रम अन्य सभी आश्रमों से पहले उत्पन्न हुआ है । यह उत्पन्न होने के साथ ही अपने धर्म के पालन के द्वारा तेजस्वी रूप धारण किये रहता है और समिदाधान रूपी तप का

व्रतमपि ब्रह्म, तच्चरतीत्येवं शीलो ब्रह्मचारी। पूर्वो जात इति यत्सर्वजगत्कारणं सत्यज्ञानादिलक्षणं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणः सकाशाद् ब्रह्मचारी तस्माद् ब्रह्मचार्य्यात्मना तपस्तप्यमानाद् ब्रह्मणः सकाशाद् ब्राह्मणं ब्राह्मणानां स्वभूतं ज्येष्ठ्यं प्रशस्यतमं वृद्धतमं वा ब्रह्म वेदात्मकं जातं प्रादुर्भूतम्। वेदानां नित्यत्वेऽपि ब्रह्मचर्यव्रतपुरस्सरमध्ययनेनैव तस्य व्यावहारिके जगति प्रादुर्भावः। तत्प्रतिपाद्याः सर्वेऽग्न्यादयो देवाश्च अमृतेन अमृतत्वप्रापकेण स्वोपभोग्येन साकं सार्द्धं जाता इति शेषः। वेदाध्ययनतदर्थधर्मानुष्ठानादिभिरेव देवा भाविता भवन्ति, 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' (३।११) इति गीतावचनात्। प्रथमजननाद् ब्रह्मचारी सर्वश्रेष्ठ इत्यर्थः।

यत्तु—'ब्रह्मैव परमेश्वरो विद्या च ज्येष्ठा सर्वोत्कृष्टा यस्य तं ब्रह्मज्येष्ठम् अमृतेन परमेश्वरमोक्षबोधेन परमानन्देन साकं सह वर्तमानं ब्राह्मणं ब्रह्मविदं जातं प्रसिद्धं देवा विद्वांसः सर्वे प्रशंसति' इति, तन्न सङ्गतम्, विरोधात्। तथाहि—ब्रह्म परमेश्वरो विद्या वा सर्वेषामेव कृते ज्येष्ठा उत्कृष्टा, गृहस्थ-वनस्थ-यतीनामपि ब्रह्मज्येष्ठत्ववैशेष्येण ब्रह्मचारिप्रसङ्गविरोधात्। एवमेव ब्राह्मणं ब्रह्मविदं जातं प्रसिद्धमित्यपि न युक्तम्, पुनरुक्तिदोषात्। देवा विद्वांस इत्यपि प्रसिद्धिविरुद्धम्, मनुष्यत्वतिरिक्त देवानां प्रमाणैः साधितत्वात्। अमृतपदस्यापि परमेश्वरमोक्षबोधकत्वे गौणार्थतैव दूषणम्, मुख्यार्थबाधे हेत्वभावात्। मोक्षबोधेन परमानन्देनेति सामानाधिकरण्यं कथम्, तयोर्भेदेन एकार्थनिष्ठत्वाभावेन तदनुपपत्तेः।

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान् संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥ (अथर्व० ११।५।६)

अनुष्ठान कर धर्म और ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त करता है। ब्रह्मचारी शब्द की व्युत्पत्ति यह है—ब्रह्म अर्थात् वेद, वेद के अध्ययन के लिये किया जाने वाला व्रत भी ब्रह्म ही कहलाता है, इसके अध्ययन में, आचरण में, पालन में जो निरन्तर लगा रहता है, उसको ब्रह्मचारी कहते हैं। 'पूर्वो जातः' इसका अभिप्राय यह है कि इस सारे जगत् के कारणभूत, अन्य ज्ञान आदि लक्षण वाले ब्रह्म से ही सबसे पहले ब्रह्मचारी की, ब्रह्मचारी के रूप में रहकर वेदाध्ययन आदि तप का अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मण के सर्वस्व ब्रह्मात्मक वेद की उत्पत्ति, अर्थात् प्रादुर्भाव हुआ। वेद यद्यपि नित्य हैं, तो भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए अध्ययन करने से ही व्यावहारिक जगत् में इसका प्रादुर्भाव माना जाता है। वेद में प्रतिपादित अग्नि प्रभृति देवगण अमरता के प्रतिपादक अपने उपभोग्य स्वर्ग आदि लोकों और उनमें रहने वाले दिव्य विषयों के साथ उत्पन्न हुए। वेद का अध्ययन, उनके अर्थ के अनुसार धार्मिक कृत्यों का संपादन, इसी तरह के कर्मों से देवगण प्रसन्न होते हैं, तृप्त होते हैं, बल प्राप्त करते हैं। इसीलिये गीता में कहा गया है कि देवगण और मनुष्यगण एक दूसरों का परस्पर उपकार करते हुए ही कल्याण को प्राप्त करेंगे। प्रथम उत्पन्न होने से ही यहाँ पर ब्रह्मचारी को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

इस मन्त्र की व्याख्या दयानन्द ने इस तरह से की है—'जो ब्रह्मचारी पूर्व पढ़ के ब्राह्मण होता है, वह धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थी होकर सब मनुष्यों का कल्याण करता है। फिर उस विद्वान् ब्राह्मण को, जो कि अमृत अर्थात् परमेश्वर की पूर्ण भक्ति और धर्मानुष्ठान से युक्त होता है, देखने के लिये सब विद्वान् आते हैं' (पृ० २७५), किन्तु यह व्याख्या सही नहीं है, क्योंकि इसमें विरोध है। जैसे ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर या विद्या तो सभी के लिये उत्कृष्ट हैं। चाहे वह गृहस्थ हो या वानप्रस्थ अथवा यति हो, परमेश्वर या विद्या तो सभी के लिये सर्वश्रेष्ठ है, तब इसका सम्बन्ध केवल ब्रह्मचारी से कैसे जोड़ा जा सकता है? इसी तरह ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवेत्ता के प्रसिद्ध होने पर, इस कथन में पुनरुक्ति दोष है। देव का अर्थ विद्वान् करना भी लोक प्रसिद्धि के विरुद्ध है। मनुष्यों से देवताओं की पृथक् स्थिति अनेक प्रमाणों से सिद्ध की जा चुकी है। अमृत पद का अर्थ परमेश्वर या मोक्ष करना भी लक्षणा दोष से दूषित माना जायेगा, क्योंकि अमृत पद का मुख्य अर्थ स्वर्ग प्रभृति यहाँ किसी प्रकार से बाधित नहीं है। मोक्ष के ज्ञान का और परमानन्द का सामानाधिकरण्य भी कैसे बन सकता है? क्योंकि इनकी स्थिति तो अलग अलग है, वे एक जगह विद्यमान नहीं है, इसलिये इनका सामानाधिकरण्य बन ही नहीं सकता।

इसके आगे दयानन्द ने ब्रह्मचर्य आश्रम के समर्थन में और ब्रह्मचर्य का स्वरूप बताने के लिये पाँच ऋचाएँ उद्धृत की हैं। उनमें से पहली 'ब्रह्मचार्येति समिधा०' यह पहला मन्त्र है। इसका अर्थ सनातन परम्परा के अनुसार यह होगा—समिधा अर्थात् प्रातःकाल

समिधा सायंप्रातराधीयमानया तज्जनितेन तेजसा समिद्धः सम्यग्दीप्तः कार्ष्णं कृष्णमृगसम्बन्ध्यजिनं वसानो धारयन् दीक्षितो भिक्षाचरणादिभिर्नियमैर्नियन्त्रितः, गायत्रीब्रह्मचर्यादिदीक्षा सञ्जाताऽस्येति वा दीक्षितः। दीर्घश्मश्रुः दीर्घैरायतैः श्मश्रुभिर्मुखकेशैर्युक्तः सन् ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यधर्मेण युक्तः, एति वर्तते। स ब्रह्मचारी सद्यः शीघ्रं पूर्वस्मात् समुद्राद् उत्तरम् उत्तरदिग्गतं समुद्रमेति गच्छति, तपसो महिम्ना व्याप्नोतीत्यर्थः, अन्यादृशस्य समुद्रगमनस्यासङ्गतत्वाद् अप्रकृतप्रक्रियापाताच्च। तथा लोकान् सर्वान् पृथिव्यन्तरिक्षादीन् संगृह्य हस्ते धृत्वा मुहुरत्यर्थम् आचरिक्रत् आभिमुख्येन करोति। सर्वे लोका अस्यायत्ता भवन्तीत्यर्थः। करोतेर्यङ्लुगन्ताल्लङि रूपम्।

यत्तु—'समिधा विद्यया समिद्धः प्रकाशितः' इत्युक्तम्, तदपि न सङ्गतम्, समित्पदस्य प्रसिद्धार्थत्यागे कारणाभावात्। यदपि 'दीर्घकालपर्यन्तकेशश्मश्रूणि धारितानि येन सः' इति, तदपि न युक्तम्, दीर्घशब्दस्य श्मश्रुविशेषणत्वे सम्भवत्यनुपस्थितकालविशेषणत्वे मानाभावात्। मुख्यार्थत्वे सम्भवति लक्षणाश्रयणायोगाच्च। एति आनन्दं प्राप्नोतीत्यप्यसङ्गतम्, आनन्दपदाध्याहारापेक्षया एतीत्यस्य वर्तत इत्यर्थस्यैव युक्तत्वात्, धातूनामनेकार्थत्वस्य प्रसिद्धेः। यत्तु पूर्वस्माद् ब्रह्मचर्यानुष्ठानभूतात् समुद्राद् उत्तरं गृहाश्रमसमुद्रमित्यर्थमुक्तवान्, सोऽप्यर्थोऽसङ्गतः, लक्षणाश्रयणप्रसङ्गात्। ब्रह्मचारिणो माहात्म्यप्रसङ्गे गृहाश्रमगमनोक्तेर्विरुद्धत्वात्। सद्य इत्यस्य तत्रास्वारस्यात्। 'दीर्घकालं ब्रह्मचर्यम्' इति शास्त्रविरोधाच्च। यच्च—निवासयोग्यान् सर्वान् लोकान् संगृह्य मुहुर्वारं वारं धर्मोपदेशमेव करोतीति, तदपि विरुद्धम्, ब्रह्मचर्यवेदाध्ययनपरायणस्य उपदेशे प्रवृत्त्यसम्भवात्। स्नानोत्तरकालस्यैव प्रवचनोपदेशादिकालत्वात्। न च करोतेरुपदेशार्थत्वं सम्भवति,

और सायंकाल आधीयमान समिधा से, अर्थात् नियमित समिधा के आधान से उत्पन्न इस तेज से तेजस्वी, कृष्णमृग के चर्म को धारण करने वाला, भिक्षाचरण आदि नियमों के पालन करने से नियन्त्रित आचरण वाला। अथवा दीक्षित शब्द का यह भी अर्थ किया जा सकता है कि जिसको गायत्री के जप करने की और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने की दीक्षा प्राप्त हो गयी है, ऐसा ब्रह्मचारी डाढी-मूछ बढ़ाकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए अपना जीवन वेदाध्ययन को ही समर्पित कर देता है। वह ब्रह्मचारी शीघ्र ही पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र पर्यन्त सर्वत्र व्याप्त हो जाता है, तप के प्रभाव से सर्वत्र प्रसिद्ध हो जाता है। इससे भिन्न अर्थ निकाल कर इसमें से समुद्र यात्रा की बात नहीं निकाली जा सकती, क्योंकि उसका यहाँ न कोई प्रसंग है और न उसका प्रकृत में कोई उपयोग ही है। यह तो अप्रकृत वस्तु का उल्लेख शब्दन्याय से सदोष ही माना जायगा। सभी पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि लोकों को वह अपने हाथ में समेट लेता है, अर्थात् इन सब लोगों को वह उसी तरह से अपने वश में कर लेता है, जैसा कि कोई व्यक्ति अपने हाथ में आई वस्तु का यथेष्ट उपयोग करता है। अर्थात् सारे लोक इसके वश में हो जाते हैं। कृञ् धातु से यङ्लुगन्त प्रक्रिया से लङ् लकार का यह रूप बनेगा।

दयानन्द ने 'समिधा अर्थात् विद्या के ज्ञान से प्रकाशित' (पृ० २७४) यह अर्थ किया है, किन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि समिधा शब्द के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ने में कोई कारण नजर नहीं आता। आगे दयानन्द ने लिखा है—'दीर्घकाल तक बड़े बड़े केश श्मश्रुओं से युक्त दीक्षा को प्राप्त होकर विद्या को प्राप्त होता है' (पृ० २७४), किन्तु यह अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि दीर्घ शब्द को श्मश्रु का विशेषण तो बनाया जा सकता है, किन्तु अनुपस्थित काल का विशेषण उसे कैसे बनाया जा सकता है? जब पुरुष अर्थ को ग्रहण करने से भी अर्थ में कोई असंगति नहीं होती, तो फिर लक्षणा का सहारा लेने की क्या आवश्यकता है। परमानन्द को प्राप्त करता है, यह अर्थ भी सही नहीं है, क्योंकि 'आनन्द' पद का अध्याहार करने की अपेक्षा 'एति' पद का अर्थ 'वर्तमान है' यही करना ठीक होगा, क्योंकि एक ही धातु के अनेक अर्थ हो सकते हैं। 'पूर्व समुद्र जो ब्रह्मचर्याश्रम का अनुष्ठान है, उसके पार उत्तर के उत्तर समुद्र स्वरूप गृहस्थाश्रम को प्राप्त होता है' (पृ० ३७४) यह अर्थ भी असंगत है, क्योंकि ऐसा अर्थ करने के लिये लक्षणा का सहारा लेना पड़ेगा। ब्रह्मचारी का जहां महत्त्व बताया जा रहा है, उस प्रसंग में गृहस्थाश्रम की चर्चा करना अप्रासंगिक भी है। सद्यः अर्थात् तत्काल अर्थ को सूचित करने वाला यह पद इसमें बाधक भी होगा, क्योंकि शास्त्रों में बताया गया है कि ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान लम्बे समय तक करना पड़ता है। यही पर दयानन्द ने कहा है कि निवास योग्य सभी लोकों का संग्रह कर बार बार धर्म का ही उपदेश करता है, किन्तु यह कथन भी विरुद्ध है, क्योंकि ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जो व्यक्ति अध्ययन में लगा हुआ है, उसकी उपदेश करने में प्रवृत्ति नहीं होगी। स्नातक होने के बाद ही वह प्रवचन करने और उपदेश देने का अधिकारी होता है। करोति धातु

प्रसिद्धिविरोधात्। निवासयोग्यो लोकस्तु जडो भवति। न च तस्योपदेशः सम्भवति। संगृभ्येत्यस्य त्वर्थो नोक्त एव। तस्मात् सायणानुसारी पूर्वोक्त एवार्थो युक्तः।

'ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्। गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह॥'(अथर्व० ११।५।७) पूर्वोक्तो ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यमहिम्ना ब्रह्म ब्राह्मणजातिम् अपः स्नानपानाद्यर्था गङ्गाद्या नदीः, आत्मनः फलभूतं स्वर्गादिलोकं प्रजापतिं प्रजानां स्रष्टारम् अवान्तरसृष्टिकरं परमेष्ठिनं परमे उत्कृष्टे सत्यलोके तिष्ठतीति परमेष्ठी तम् आदिब्रह्माणम्, विराजं स्थूलप्रपञ्चशरीराभिमानिनम् ईश्वरं च जनयन् वर्तते। स्वस्वकारणादुत्पद्यमानानामेषां समेषां ब्रह्मचर्यमेव निमित्तकारणमिति तदाश्रयभूतो ब्रह्मचार्येव। जनयन्नित्युपचारः। अमृतस्य अमरणशीलस्य ब्रह्मणः सम्बन्धिन्यां योनौ सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिकायां प्रकृतौ प्रथमं ब्रह्मचारी गर्भो भूत्वा तपोबलादिन्द्रत्वं प्राप्य असुरान् सुखविरोधिनो दैत्यान् ततर्ह जघान। (तृह हिसि हिंसायाम्)। इत्थं सर्वजगत्कारणत्वेन तत्स्तुतिः।

यदुक्तम्—'स ब्रह्मचारी ब्रह्म वेदविद्यां पठन् (अपः) प्राणान् (लोकं) दर्शनं (परमेष्ठिनं प्रजापति विराजं परमेश्वरं जनयन् प्रकटयन् (अमृतस्य) मोक्षस्य योनौ विद्यायां गर्भो भूत्वा गर्भवन्नियमेन स्थित्वा यथावद्विद्यां गृहीत्वा (इन्द्रो ह भूत्वा) सूर्यवत्प्रकाशकः सन् (असुरान्) दुष्टकर्मकारिणो मूर्खान् पाखण्डिनो जनान् दैत्यरक्षःस्वभावान् (ततर्ह) तिरस्करोति, सर्वान्निवारयति। यथेन्द्रः सूर्योऽसुरान् मेघान् रात्रिं च निवारयति, तथैव ब्रह्मचारी सर्वगुणप्रकाशको शुभगुणनाशकश्च भवति' (पृ० २७३) इति, तत्तु मुख्यार्थबहिर्भूतं गौणार्थकमेव व्याख्यानम्। वेदविद्यापठनेन प्राणानां परमेष्ठिनो विराजश्च कथं जननं सम्भवति? न च वेदपठनेन प्राणदर्शनपरमेष्ठिविराजां ज्ञानमेव जननमिति वाच्यम्, तथात्वे घटादिज्ञानेन घटादिजनकत्वव्यवहारापत्तेः। नान्यादृशं प्रकटनमपि सम्भवति। पठन्निति पदं तु मूले (मन्त्रे) नास्त्येव। ब्रह्म जनयन्नित्यन्वयोपपत्तौ पठन्निति क्रियापदाध्याहारोऽपि निर्मूल एव। मोक्षस्य योनौ विद्यायां गर्भभवनमित्यपि न युक्तम्,

का अर्थ उपदेश करना होगा भी नहीं, क्योंकि इसमें प्रसिद्धि का विरोध है। निवास के लायक लोक तो जड़ होता है, उसको उपदेश नहीं दिया जा सकता। संगृभ्य' पद का अर्थ यहाँ नहीं बताया गया है, इसलिये इस मन्त्र का हमारे द्वारा प्रदर्शित सायण संमत अर्थ ही सही हो सकता है।

'ब्रह्मचारी०' इत्यादि मन्त्र का अर्थ यह होगा—पूर्वोक्त ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ब्राह्मण जाति को, स्नान-पान आदि के लिये गंगा प्रभृति नदियों को, अपने शुभ कर्मों के फल भूत स्वर्गादि लोक को, प्रजाओं के स्रष्टा, अवान्तर सृष्टि के कर्ता प्रजापति को, परम उत्कृष्ट सत्यलोक में रहने वाले परमेष्ठी को और स्थूल प्रपंच में अपने शरीर का अभिमान रखने वाले ईश्वर को भी उत्पन्न करने समर्थ है, अर्थात् अपने अपने कारणों से उत्पन्न होने वाले इन सब पदार्थों में निमित्तकारण के रूप में सर्वत्र ब्रह्मचारी की स्थिति रहती है। अतः वही इनको उत्पन्न करता है, इस तरह से लाक्षणिक प्रयोग कर दिया जाता है। अमरणशील ब्रह्मसंबन्धी योनि में, सत्त्व, रज और तमोगुणात्मिका प्रकृति में पहले ब्रह्मचारी गर्भ के रूप में प्रविष्ट होकर, अर्थात् तप के बल से इन्द्रत्व को प्राप्त कर असुरों को, सुख के विरोधी दैत्यों को मार डालता है। 'तृह' धातु हिंसा के अर्थ में होता है। इस प्रकार सारे जगत् के कारण के रूप में इस मन्त्र में ब्रह्मचारी की स्तुति की गई है।

दयानन्द ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'वह ब्रह्मचारी वेदविद्या को यथार्थ जानकर प्राणविद्या, लोकविद्या तथा प्रजापति परमेश्वर, जो कि सबसे बड़ा और सबका प्रकाशक है, उसको जानता है और इन विद्याओं में गर्भरूप और इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त होकर असुर अर्थात् मूर्खों की अविद्या का छेदन कर देता है' (पृ० ३७४)। इस अर्थ का मन्त्र के मुख्य पदों से कोई संबन्ध नहीं है, गौण अर्थ करके ही ऐसा कहा जा सकता है। वेदविद्या के पढ़ने से प्राण, परमेष्ठी और विराट् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? वेद के पढ़ने से प्राण का दर्शन तथा परमेष्ठी और विराट् का ज्ञान होता है और इस ज्ञान की उत्पत्ति को ही इनकी उत्पत्ति मान लिया जाता है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर घट आदि के ज्ञान से भी घट आदि की उत्पत्ति होने लगेगी। किसी दूसरी तरह का प्राकट्य भी यहां नहीं हो सकता। 'पठन्' यह पद मूल में है ही नहीं। ब्रह्मचारी पद का जब 'ब्रह्म जनयन्' इन पदों से अन्वय बन ही जाता है, तब 'पठन्' इस क्रिया के अधीन घट का कोई प्रयोजन भी नहीं है, अतः इसका अध्याहार करना सर्वथा निराधार है।

तं रात्रीस्तिस्र उदरे विभर्तीति पूर्वमन्त्रेणोक्तमेवेति पौनरुक्त्यापातात्। मोक्षयोनिस्तु ब्रह्मविद्या भवति न विद्यामात्रम्। इन्द्रासुरशब्दयोरपि प्रसिद्धार्थत्यागो गौणार्थाश्रयणं च निर्मूलमेव। दैत्यरक्षसामसत्त्वे दैत्यरक्षःस्वभावानिति कथनमपि किमाश्रयं स्यात् ? असुररक्षोजात्यभावे तत्स्वभावोक्त्यसङ्गतेः। तस्मात् सायणसम्मतव्याख्यानमेव विजयते। स्वस्वकारणादेव लोकादीनामुत्पत्तावपि ब्रह्मचर्यादिलक्षणं तपस्त्वेषां निमित्तमेव। तपस्तप्त्वा परमेश्वरः सर्वमसृजदिति तत्र तत्रोक्तेः। तदाश्रयत्वादेव ब्रह्मचारिणः स्तुत्यर्थं सर्वकारणत्वोक्तिः। अमृतपदेनाप्यमरणशीलं ब्रह्मैव ग्राह्यम्, अमृतस्य पुत्रा इत्यादौ तथा प्रयोगदर्शनात्। तत्सम्बन्धिनी योनिश्च प्रकृतिरेव, 'मम योनिर्महद् ब्रह्म' (भ० गी० १४।३) इति गीतावचनात्। ब्रह्मचर्यविशिष्टश्चेतनो ब्रह्मचारी प्रकृतौ गर्भो भूत्वा प्रकृत्यवच्छिन्न ईश्वरो भूत्वा ब्रह्मादिविराडन्तानुत्पाद्य स एवेन्द्रो भूत्वा वृत्रादीन् जघान। आधिभौतिकादिदृष्ट्या स एव सूर्यो भूत्वा मेघानन्धकारानपि निहन्त्येव।

'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्य्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥ ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥' (अथर्व० ११।५। १७-१९)

ब्रह्म वेदस्तदध्ययनार्थं चर्यमाचर्यं समिदाधानभैक्षचर्योर्ध्वरेतस्कत्वादिकं ब्रह्मचारिभिरनुष्ठीयमानं कर्म ब्रह्मचर्यं तेन ब्रह्मचर्येण तत्कृतेनोपवासादिव्रतनियमेन च राजा राष्ट्रं स्वकीयं विरक्षति विशेषेण पालयति। यस्य राज्ञो जनपदे ब्रह्मचर्येण युक्ताः पुरुषास्तपश्चरन्ति तदीयं राष्ट्रमभिवर्धत इत्यर्थः। यद्वा राज्ञः कर्तव्यत्वेन कालविशेषेषु श्रुतिस्मृत्युदितं ब्रह्मचर्यं तपोऽनुष्ठानं राजा तेनैव ब्रह्मचर्येण तपसा राष्ट्रं पालयति। न केवलं सेनाऽऽरक्षिन्यायालयैरेव राष्ट्रपालनं सम्भवति, तैराधिदैविकाद्युपद्रवनिराकरणासम्भवात्। 'शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः। ऊनं न सत्त्वेष्वधिको

'मोक्ष की योनि विद्या में गर्भ होना' यह अर्थ भी सही नहीं है, यह बात तो 'उसको तीन रात तक उदर में धारण करता है' इस तरह से इससे पहले के मन्त्र में बता हो दा गई है। पुनः यहां उसी बात को दुहराने पर पुनरुक्ति दोष हो जायगा। मोक्ष की योनि केवल ब्रह्मविद्या ही हो सकती है, सभी विद्याओं में यह लक्षण नहीं घटित हो सकता। इन्द्र और असुर पदों का भी मनुष्य अर्थ छोड़कर गौण अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। दैत्य और राक्षसों के अभाव में दैत्य और राक्षसों सरीखे व्यवहार वाले व्यक्तियों की बात उठाने का क्या तुक हो सकता है ? जब असुर और राक्षस नाम की जातियां हो आप नहीं मानते, तो इन जातियों के स्वभाव की चर्चा करना कैसे संगत माना जा सकता है। इस तरह से इस मन्त्र का भी सायणसंमत अर्थ ही सही माना जा सकता है। यद्यपि सभी लोकों की उत्पत्ति अपने अपने कारणों से ही होती है, किन्तु ब्रह्मचर्य आदि तप उनका निमित्तकारण हो ही सकता है। तप करके ही परमेश्वर ने इस सृष्टि की रचना की, यह बात शास्त्रों में स्थान स्थान पर बताई गई है। ब्रह्मचारी भी उस तप का आचरण करता है। इसलिये इस तप के आचरण के निमित ब्रह्मचारी को स्तुति को जाय, यह उचित ही है। अमृत पद से भी अमरणशील ब्रह्म का ग्रहण करना ही ठीक है, क्योंकि 'अमृतस्य पुत्राः' इत्यादि श्रुतियों में इस तरह का प्रयोग मिलता है। उस ब्रह्म से संवद्ध योनि प्रकृति ही है, क्योंकि भगवद्गीता में यही बताया गया है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला ब्रह्मचारी प्रकृति में गर्भ होकर, अर्थात् प्रकृति में ईश्वर के रूप में प्रविष्ट होकर ब्रह्मा से लेकर विराट् पर्यन्त सभी को उत्पन्न करता है और वही इन्द्र का रूप धारण कर वृत्रासुर को मारता है। आधिभौतिक दृष्टि से वही सूर्य बनकर मेघों का और अन्धकार का नाश करता है।

'ब्रह्मचर्येण' इत्यादि तीन मन्त्रों का क्रमशः इस प्रकार अर्थ किया जाता है—ब्रह्म अर्थात् वेद का अध्ययन करते समय आचरणीय समिदाधान, भिक्षाचर्या, ऊर्ध्वरेतस्कता आदि कर्म भी ब्रह्मचर्य के नाम से कहे जाते हैं। उस ब्रह्मचर्य का पालन करने से, उपवास, व्रत आदि का पालन करने से, राजा अपने राष्ट्र की विशेष रूप से रक्षा कर सकता है। जिस राजा के राज्य में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले पुरुष तपस्या करते रहते हैं, उसका राष्ट्र सब तरह से संपन्न होकर उन्नति करता रहता है। अथवा स्मृतियों और श्रुतियों में समय समय पर राजा के ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का निर्देश किया गया है। अपनी इस तपस्या से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा कर सकता है, केवल सेना, पुलिस अथवा न्यायालय से वह अपने देश की रक्षा नहीं कर पाता, क्योंकि ये सब दैवी प्रकोप को शान्त करने में कभी समर्थ नहीं हो सकते। जैसा महाकवि कालिदास की सूक्ति में वर्णन मिलता है—'वन में लगी आग बिना

बबाधे तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने ॥' (र० वं० २।१४), 'अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवंश्चापधरः पुरस्तात्। अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता ॥' (र० वं० ६।३९) इति महाकवि सूक्तिभ्यः। आचार्योऽपि ब्रह्मचर्येण नियमेन ब्रह्मचारिणं शिष्यमिच्छते आत्मनोऽभिलषति। ब्रह्मचर्यनियमस्थं तत्प्रभावेण विद्यातपोयुक्तमेवाचार्यं शिष्या उपगच्छन्ति। 'इषु इच्छायाम्' इति धातोः 'इषुगमियमां छः' (पा० सू० ७।३।७७) इत्यनेन छत्वम्। 'आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि। स्वयमाचरते यस्मात्तस्मादाचार्य उच्यते ॥' (वायुपुराणे), 'आचार्यः कस्मादाचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा' (नि० १।४)। ब्रह्मचर्यमन्तरा वेदाध्ययनवेदार्थज्ञानतदाचरणशास्त्रार्थसङ्कलनाचारव्यवस्थापनाद्यसम्भवेन ब्रह्मचर्यनिष्ठस्यैवाचार्यत्वसम्भवात्।

कन्या अनूढा स्त्री ब्रह्मचर्येण इन्द्रियनिग्रहलक्षणेन युवानं यौवनोपेतं पतिं विन्दते। अनड्वानपि अनो वहन् पुङ्गवो ब्रह्मचर्येणोर्ध्वरेतस्कत्वादिना धर्मेण शकटवहनादिस्वकार्यं निर्वर्तयन् धुरि नियुज्यते। तथाश्वो ब्रह्मचर्येण घासं भक्षणीयं तृणादिकं जिगीर्षति भक्षयितुमिच्छति। यत्तु कन्या युवतिरिति व्याख्यानम्, तन्न युक्तम्, धर्मशास्त्रेषु रजोदर्शनात् प्रागेव विवाहविधानात्। यदपि—'अनड्वानित्युपलक्षणं वेगवतां पशूनाम्' इति, तन्न, तथात्वेऽश्वपदवैयर्थ्यात्। यदप्युक्तम्—'पशवोऽश्वश्च घासं यथा तथा कृतेन ब्रह्मचर्येण स्वविरोधिनो जिगीषन्ति जेतुमिच्छन्ति' इति, तदपि न सङ्गतम्, सायणादिरीत्या जिगीर्षतीति पाठस्य साम्प्रदायिकत्वेन जिगीषन्तीति पाठानुपपत्तेः। दयानन्दीयपुस्तकेष्वपि 'जिगीषति' इत्येकवचनान्तपाठः, अतो जिगीषन्तीति पाठानुपपत्तिः। यत्तु कश्चिदनेन मन्त्रेण कन्यानां वेदाध्ययनं साधयति, तदपि मन्दम्, तथात्वेऽनडुदश्वादीनामपि वेदाध्ययनविधानापत्तेः।

वृष्टि के ही शान्त हो गई, पेड़ों पर फल और पुष्प लदे हुए थे, कोई बलवान् प्राणी निर्बल को कष्ट नहीं पहुँचाता था, जब कि वह राजा दिलीप वसिष्ठ की धेनु सुदक्षिणा की सेवा में लगकर वन में विचरण करता था', 'किसी भी व्यक्ति के मन में कोई बुरा भाव आने के साथ ही धनुष-बाण हाथ में लिये यह राजा उसकी आंखों के सामने नाचने लगता था। यह विजयी राजा अपने प्रजा के मन को भी अनुशासित करने में समर्थ हो गया था'। आचार्य भी ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करता हुआ ही ब्रह्मचारी शिष्य को प्राप्त कर सकता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत का नियम पूर्वक पालन करने वाले विद्या और तप के उत्कर्ष के कारण तेजस्वी आचार्य के पास ही शिष्य अध्ययन के लिये आते हैं। वायुपुराण में आचार्य का लक्षण यह किया गया है—'जो शास्त्र का भलीभांति अध्ययन करता है, अपने शिष्य को आचार के पालन में भलीभाँति नियोजित करता है और स्वयं भी उन नियमों का पालन करता है, उसे आचार्य कहते हैं'। निरुक्त में भी बताया गया है—'इसको आचार्य क्यों कहते हैं ? इसलिये कहते हैं कि यह अपने शिष्यों को आचार का उपदेश करता है, शास्त्रों के अर्थों का चयन करता रहता है, अथवा शिष्य की बुद्धि का विस्तार करता रहता है'। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किये बिना वेदाध्ययन, वेदार्थ का ज्ञान, वेदार्थ का अनुष्ठान, शास्त्रार्थ का संकलन, शिष्य को सदाचार में लगाना आदि अर्थ पूरे नहीं हो सकते। इसलिये आचार्य की भी ब्रह्मचर्य में निष्ठा अत्यन्त आवश्यक है।

कुमारी कन्या इन्द्रियों को अपने वश में करके ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती हुई यौवन भरे पति को प्राप्त करती है। बैल भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के कारण ही गाड़ी, रथ आदि में आगे जोता जाता है। इसी तरह से घोड़ा भी ब्रह्मचर्य के कारण ही स्वादिष्ट घास के खाने का अधिकारी होता है। कन्या का अर्थ युवती करना ठीक नहीं है, क्योंकि धर्मशास्त्रों में रजोदर्शन से पहले ही विवाह कर देने की बात कही गई है। इसी तरह से 'अनड्वान्' शब्द को वेगवान् सभी पशुओं का द्योतक मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर आगे 'अश्व' का अलग से उल्लेख करना व्यर्थ हो जायगा। 'पशु और अश्व को पूरी जवानी पर्यन्त ब्रह्मचर्य अर्थात् सुनियम में रखा जाय तो अत्यन्त बलवान् होकर निर्बल जीवों को जीत लेता है' (पृ० २७४) यह अर्थ भी असंगत है, क्योंकि सायण आदि के मत से 'जिगीर्षति' पाठ है, अतः साम्प्रदायिक पद्धति के अनुसार यहां 'जिगीषति' ऐसा पाठ मान्य नहीं हो सकता। दयानन्द संमत पुस्तकों में भी 'जिगीषति' यह एकवचनान्त पाठ ही है अतः 'जिगीषति' यह बहुवचनान्त पाठ कभी ठीक नहीं माना जा सकता। कुछ लोग इस मन्त्र की सहायता से कन्याओं के वेदाध्ययन की बात सिद्ध करते हैं, किन्तु यह गलत है, क्योंकि ऐसा मानने पर बैल, घोड़ा आदि के भी वेदाध्ययन की बात इसी मन्त्र से सिद्ध होने लगेगी।

ब्रह्मचर्येण तपसा ब्रह्मचर्यात्मकेन तपसाऽग्न्यादयो देवा मृत्युं मरणमपाघ्नत अपहतवन्तः। इन्द्रोऽपि ब्रह्मचर्येणैव साधनेन देवेभ्यो देवानामर्थे स्वः स्वर्गमाभरत् आहरत्। यत्तु 'देवा विद्वांसो ब्रह्मचर्येण वेदाध्ययनेन ब्रह्मविज्ञानेन तपसा धर्मानुष्ठानेन च मृत्युं मृत्युप्रभवं दुःखमुपाघ्नत नित्यं घ्नन्ति नान्यथा' इति, तदपि तुच्छम्, अनुपपत्तेः। वेदाध्ययनमन्तरा विद्वत्त्वमेव कथम्? विद्वत्त्वं चेत्कुतो वेदाध्ययनापेक्षा? न च सामान्यज्ञानवत्त्वमेव विद्वत्त्वम्, तथात्वे साम्प्रतिकानां जनानामपि विद्वत्त्वमेव, तथा सति मनुष्यत्वदेवत्वभेदस्य निर्मूलत्वमेव स्यात्। देवानां मनुष्येभ्यो भिन्नत्वं पूर्वं साधितमेव। अनेनापि वेदवचनेन देवानां मनुष्यभिन्नत्वमेव सिद्ध्यति। यदप्युक्तम्—'ब्रह्मचर्येण सुनियमेन यथेन्द्रः सूर्यो देवेभ्य इन्द्रियेभ्य स्वं सुखं प्रकाशं चाभरत्' इति, तदपि तुच्छम्, त्वद्रीत्या सूर्यस्य जडत्वेन तत्रेन्द्रियनिग्रहलक्षणस्य ब्रह्मचर्यस्यासम्भवात्। सुखमपि नेन्द्रियाणां सम्भवति, तेषां करणत्वेन कुठारादिवज्जडत्वाविशेषात्। ब्रह्मचर्यानुष्ठानपूर्वका एव त्रय आश्रमाः सुखमेधन्त इति तु युक्तमेव।

'यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। यदेनश्चकृमा वयमिदं तदव यजामहे स्वाहा ॥४॥ देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे। निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥' (वा० सं० ३।४५, ५०)

मारुत्यनुष्टुप्। ग्रामे वसन्तो वयं यदेनः पापं ग्रामोपद्रवरूपं चकृम कृतवन्तः, तथा अरण्ये यन्मृगादिहिंसारूपं चकृम, तथा सभायां स्थिता यन्महाजनतिरस्कारादिकमेनः कृतवन्तः, तथेन्द्रिये जिह्वोपस्थपारवश्येन कलञ्जभक्षणं परस्त्रीगमनादिकं चकृम, तथान्यत्रापि भृत्यस्वाम्यादौ यदेनः ताडनावज्ञादिकं चकृम, तदिदं सर्वमेनः पापमवयजामहे विनाशयामः। अवपूर्वस्य यजेर्नाशार्थकत्वात्। स्वाहा एतद्धविर्देवतायै पापविनाशिन्यै दत्तमस्तु। मन्त्रेणानेन पत्नी दक्षिणाग्नौ करम्भपात्राणि जुहोति, 'शूर्पेण मूर्धनि कृत्वा दक्षिणेऽग्नौ प्रत्यङ्मुखौ जायापती वा दक्षिणेनाहृत्य तीर्थेन पूर्वेण वेदिमपरेण वा यद्ग्राम इति' (का० श्रौ० सू० ५।५।११) इति वचनात्। यवपिष्टेन निर्मितानि सन्तानपरिमितान्येकाधिकानि वर्तुलानि करम्भपात्राणि तानि शूर्पेण पत्नी दक्षिणाग्नौ जुहोतीत्येकः पक्षः। दम्पती द्वौ वा जुहुयातामित्यपरः पक्षः।

ब्रह्मचर्य के पालन रूप तप से अग्नि प्रभृति देवगणों ने मृत्यु को मार डाला है, अपने पास नहीं फटकने दियां है। इन्द्र भी ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही देवताओं के लिये स्वर्ग को ले आया है। 'ब्रह्मचर्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान् लोग जन्म-मरण को जीतकर मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं' (पृ० २७४) दयानन्द की यह व्याख्या ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा बन ही नहीं सकता। वेदाध्ययन के बिना विद्वत्ता कैसे आ सकती है, यदि विद्वत्ता अपने आप आती है, तो फिर वेदाध्ययन की क्या आवश्यकता है? सामान्य ज्ञान से कोई विद्वान् नहीं कहलाता, क्योंकि ऐसा मानने पर तो आजकल के सामान्य ज्ञान वाले मनुष्य भी विद्वान् माने जायंगे। इस तरह से मनुष्यत्व और देवत्व का भेद सर्वथा निराधार मान लेना पड़ेगा। हमने तो देवताओं की मनुष्यों से भिन्नता पहले ही सिद्ध कर ली है। इस वेद मन्त्र से भी देवों की मनुष्यों से भिन्नता ही सिद्ध होती है। 'जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य परमेश्वर के नियम में स्थित होकर सब लोकों का प्रकाश करने वाला हुआ है' (पृ० २७४) यह कथन भी गलत है, क्योंकि आपके मत से तो सूर्य जड़ है, वहाँ इन्द्रिय निग्रह से सम्पन्न होने वाला ब्रह्मचर्य कैसे रह सकता है। सुख भी इन्द्रियों को नहीं मिल सकता है, क्योंकि करण (साधन) होने से वे भी कुल्हाड़ी आदि की तरह जड़ ही हैं। यतः यहाँ प्रासंगिक अर्थ यही उचित माना जायगा कि ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान में निष्ठापूर्वक लगे हुए अन्य तीन आश्रम सुखपूर्वक फलते-फूलते हैं।

'यद् ग्रामे' इस मन्त्र में मारुती अनुष्टुप् छन्द है। ग्राम में रहते हुए हमने जो उपद्रव मारपीट आदि पाप किया है, वन में रहते हुए हमने जो मृग आदि पशुओं की हिंसा करके पाप इकट्ठा किया है, सभा में रह कर हमने महान् पुरुषों का जो तिरस्कार किया है, तथा जिह्वा और उपस्थ इन्द्रिय के परवश हो हमने जो अभक्ष्यभक्षण और अगम्यागमन किया है, इसी तरह से अन्यत्र भी नौकर या मालिक की ताडना अथवा अवज्ञा करके जो पाप इकट्ठा किया है, उस सारे पाप को हम नष्ट कर दे रहे हैं। अव उपसर्ग के साथ यज् धातु के अर्थ में प्रयुक्त होता है। स्वाहा पद का अर्थ है कि यह हवि पाप का नाश करने वाली देवता को प्राप्त हो। इस मन्त्र से पत्नी दक्षिणाग्नि में करम्भ पात्रों की आहुति देती है। कात्यायन श्रौतसूत्र में इस मन्त्र का यही विनियोग बताया गया है। जौ के आंटे

एतेषु गृहाश्रमविधानं क्रियते। यदुक्तम्—'ग्रामे गृहाश्रमे वयं विद्याप्रचारं सन्तानोत्पत्त्युत्तमसामाजिकनियमं सर्वोपकारकं तथारण्ये वानप्रस्थाश्रमे ब्रह्मविचारं विद्याध्ययनं तपश्चरणं सभामध्ये यच्छ्रेष्ठम् इन्द्रिये मानसव्यवहारे च यदुत्तमं कर्म कुर्मः, तत्सर्वमीश्वरमोक्षप्राप्त्यर्थमस्तु। यच्च भ्रमेणैनः पापं च कृतं तत्सर्वमिदं पापमवयजामहे आश्रमानुष्ठानेन नाशयामः' इति, तदपि तुच्छम्, गृहाश्रमविधानस्य निर्मूलत्वादप्रासङ्गिकत्वाच्च। पुण्यपदमपि मन्त्रे नास्त्येव। यत्पदानि च सामान्यसर्वनामवाचकानि विशिष्टार्थवाचकेनैनःपदेन संयुक्तानि तत्पराण्येव पर्यवस्यन्ति। 'ग्रामे', 'अरण्ये' इति पदयोरपि गृहस्थवानप्रस्थार्थत्वे बीजं वक्तव्यम्, 'ईश्वरमोक्षप्राप्त्यर्थमस्तु' इत्यपि निर्मूलमेव, मन्त्रे तद्बोधकपदाभावात्। पूर्वोक्तेऽर्थे तु कात्यायनमहर्षिवचनमपि प्रमाणम्। 'देहि मे देहि म इति जुहोति' (का० श्रौ० सू० ५।६।३८) इन्द्रो वदति—हे यजमान, त्वं मे मह्यमिन्द्राय देहि हविः प्रथमं प्रयच्छ। ते तुभ्यं हविर्दात्रे ददामि प्रयच्छाम्यभीष्टम्। पूर्वोक्त एवार्थो द्वितीयपादेनोच्यते आदरातिशयार्थम्। मे मह्यमिन्द्राय निधेहि प्रथमं त्वं हविर्नितरां सम्पादय। ते तुभ्यं यजमानाय निदधे अपेक्षितं फलं नितरां सम्पादयामि। एवमिन्द्रवाक्यं श्रुत्वोत्तरार्धेन यजमानो वक्ति—नितरां ह्रियत इति। मूल्येन क्रेतव्यः पदार्थ उच्यते—निहारं मूल्येन क्रेतव्यवस्तुतुल्यं फलं मे मह्यं यजमानाय हरासि प्रयच्छ। 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४)। उत्तरो निहारो मूल्यवाची। निहारं मूल्यं हविः, ते तुभ्यमिन्द्राय निहराणि नितरां समर्पयामि। स्वाहाशब्दो हविर्दानार्थः।

यत्तु श्रीदयानन्देनोक्तम्—'परमेश्वर आज्ञापयति—हे जीव, त्वमेवं वद मे मह्यं देहि मत्सुखार्थं विद्यां द्रव्यादिकं च देहि। अहमपि ते तुभ्यं ददामि। मे मह्यं मदर्थं त्वमुत्तमस्वभावदानमुदारतां सुशीलतां धेहि धारय। ते तुभ्यं त्वदर्थं-

से बनाये गये सन्तान परिमित एक से अधिक गोल आकार वाले करम्भ पात्र होते हैं। उनको सूप में रखकर पत्नी दक्षिणाग्नि में आहुति देती है, यह एक पक्ष है। पति-पत्नी दोनों मिलकर इसकी आहुति देते हैं, यह दूसरा पक्ष है।

दयानन्द का कहना है कि इन मन्त्रों में गृहस्थाश्रम का विधान है। जैसा कि उन्होंने इस मन्त्र की व्याख्या में कहा है—'गृहाश्रमी को उचित है कि जब वह पूर्ण विद्या को पढ़ चुके, तब अपने तुल्य स्त्री से स्वयंवर करे और वे दोनों यथावत् उन विवाह के नियमों में चलें, जो कि विवाह और नियोग के प्रकरणों में लिख आये हैं। परन्तु उनसे जो विशेष कहना है, सो यहाँ लिखते हैं—गृहस्थ स्त्री-पुरुषों को धर्म की उन्नति और ग्रामवासियों के हित के लिये जो जो काम करना है, तथा वनवासियों के हित और सभा के बीच में सत्य विचार और अपने सामर्थ्य से संसार को सुख देने के लिये, जितेन्द्रियता से ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिये, सो सो सब काम अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ यथावत् करे। पाप करने की बुद्धि को हम लोग मन, वचन और कर्म से छोड़कर सर्वथा सबके हितकारी बनें' (पृ० २७६)। किन्तु यहां पूरा कथन निराधार है, क्योंकि इन मन्त्रों में गृहस्थाश्रम का विधान है, ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है और इसका यहाँ कोई प्रसंग भी नहीं है। पुण्य पद मन्त्र में है भी नहीं। इस मन्त्र में जिसने भी 'यत्' पद हैं, वे सभी सामान्य सर्वनाम के वाचक हैं, अतः इन सबका संबन्ध विशिष्ट अर्थ के वाचक 'एनः' पद से है, जिसका कि अर्थ पाप होता है। ग्राम और अरण्य पद से गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम का बोध होता है, ऐसा मानने में प्रमाण बताना पड़ेगा। 'यह सब ईश्वर और मोक्ष की प्राप्ति के लिये हो' ऐसा अर्थ कहना भी निराधार है, क्योंकि मन्त्र में इन अर्थों के बोधक पद नहीं हैं। हमारे बताये अर्थ में तो महर्षि कात्यायन का वचन प्रमाण है।

'देहि मे' इत्यादि मन्त्र से आहुति देता है, यह कात्यायन महर्षि ने इस मन्त्र का विनियोग बताया है। इस मन्त्र में इन्द्र यजमान से कहता है कि हे यजमान, तुम मुझ इन्द्र को पहले आहुति दो। हवि प्रदान करने पर मैं तुम्हारी इच्छित मनोकामना पूरी करूंगा। अतिशय आदर प्रदर्शित करने के लिये मन्त्र के द्वितीय चरण में भी इसी बात को दुहराया गया है। मुझ इन्द्र के लिये तुम खूब अच्छी तरह से हवि प्रदान करो। भलीभाँति हवि देने पर मैं तुम्हारी मनोकामना भी बहुत अच्छी तरह से पूरा करूंगा। इस तरह इन्द्र की बात को सुनकर यजमान कहता है—मैं तुमको भलीभाँति हवि प्रदान करता हूँ। कीमत चुकाकर खरीदी जाने वाली वस्तु के लिये कहता है—मूल्य देकर खरीदी गई वस्तु की तरह तुम मेरे द्वारा दी गई आहुति के बदले में मुझे इसका फल प्रदान करो। बाद वाला निहार पद मूल्य का वाचक है। मैं तुम (इन्द्र) को मूल्य के रूप में हवि प्रदान करता हूँ, तुम उसके बदले में मुझे फल प्रदान करो। स्वहा शब्द हवि के अर्पण करने में प्रयुक्त होता है।

महमप्येवं च दधे। तथैव धर्मव्यवहारं क्रयदानादानाख्यं च हरासि प्रयच्छ। तथैवाहमपि ते तुभ्यं त्वदर्थं निहराणि नित्यं प्रयच्छानि। स्वाहेति सत्यभाषणं सत्यमानं सत्यभाषणं सत्याचरणं सत्यवचनश्रवणं च सर्वे वयं मिलित्वा कुर्यमिति सत्येनैव सर्वं व्यवहारं कुर्युः' (पृ० २७५)। हिन्दीव्याख्याने तु ततोऽप्यन्यदेव किञ्चिदुक्तम्—'सामाजिकनियमव्यवस्थानुसारेण सम्यक् चलनीयम्। इदमेव गृहस्थोन्नतिकारणम्। यत्किञ्चिद् वस्त्वादेयमथवा देयं तत्सर्वं सत्यव्यवहारेण कर्तव्यम्' (पृ० २७६) इत्यादिकं तत्सर्वं निर्मूलमेव। यतो हि कस्य शब्दस्य वाक्यस्य वायमर्थः, इति नोक्तम्, स्वतन्त्रेच्छस्य तस्य पदवाक्यानपेक्षं स्वतन्त्रमेवेदं व्याख्यानम्। परमेश्वरो जीवानाज्ञापयति—हे जीव, इतीदमपि निर्मूलम्, हिन्दीव्याख्याने जीवाः परमेश्वरेण परस्परं सत्यव्यवहारायाज्ञप्ताः। संस्कृतव्याख्याने विद्यां द्रव्यादिकमुत्तमस्वभावमुदारतां सुशीलतां च मे देहीत्युक्तम्। न च जीवा जीवान्तरेभ्य उदारतां सुशीलतां दातुं प्रभवन्ति। यदीश्वरस्तथा व्यवहारकर्तव्यतामुपदिशति, तदपि न युक्तम्, परमेश्वरस्याप्तकामत्वेन तथा व्यवहारस्यौचित्याभावात्।

ननु पूर्वोक्तव्याख्यानस्यापि किं मूलमिति चेन्न, एकोनपञ्चाशत्तम्याः कण्डिकाया एव तत्र मानत्वात्। तथाहि—'पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरापत। वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जं शतक्रतो॥' (वा० सं० ३।४९)। 'पूर्णा दर्वि देहि मे इतीमे द्वे ऐन्द्र्यावनुष्टुभौ तेनेन्द्रदैवत्ये उभे। स्थाल्या दर्व्यादत्ते पूर्णा दर्वीति' (का० श्रौ० सू० ५।६।३४)। दर्व्या स्थालीत ओदनग्रहणं करोति प्रथमयाऽनुष्टुभा, द्वितीययाऽनुष्टुभा तं जुहोति। प्रथमाया अयमर्थः—हे दर्वि, अन्नप्रदानसाधनभूते काष्ठादिनिर्मिते, त्वं पूर्णा स्थाल्याः सकाशादन्नं गृहीत्वा पूर्णा भूत्वा परा पूर्णत्वादेवोत्कृष्टा सती पत इन्द्रं प्रति गच्छ। सुपूर्णा कर्मफलेन सुष्ठु पूर्णा सती पुनरापत भूयोऽस्मान् प्रत्यागच्छ। एवं दर्वीमुक्त्वा इन्द्रमाह—हे शतक्रतो इन्द्र, त्वं चाहं चोभौ वस्नेव, वस्नशब्दो मूल्यवाचकः, तृतीयायाः पूर्वसवर्णः। मूल्येनेव इषमभीष्टं हविःस्वरूपमन्नमूर्जं हविर्दानफलरूपं

दयानन्द ने इस मन्त्र की संस्कृत और हिन्दी में व्याख्या करते हुए लिखा है—'परमेश्वर उपदेश करता है कि जो सामाजिक नियमों की व्यवस्था के अनुसार ठीक-ठीक चलता है, यही गृहस्थ की परम उन्नति का कारण है। जो वस्तु किसी से लेने अथवा देने, सो भी सत्य व्यवहार के साथ करें कि यह मैं तेरे साथ काम करूंगा और तू मेरे साथ ऐसा करना। ऐसे व्यवहार को भी सत्यता के साथ करना चाहिये। यह वस्तु मेरे लिये तू दे अथवा तेरे लिये मैं दूंगा, इसको भी यथावत् पूरा करे। अर्थात् किसी प्रकार का मिथ्या व्यवहार किसी के साथ न करे। इस प्रकार गृहस्थ लोगों के सब व्यवहार सिद्ध होते हैं, क्योंकि जो गृहस्थ विचारपूर्वक सबके हितकारी काम करते हैं, उनकी सदा उन्नति होती है' (पृ० २७६-२७७), किन्तु यह सारा कथन भी निराधार है, क्योंकि किस शब्द या वाक्य का यह अर्थ है, इसको स्पष्ट नहीं किया गया है। दयानन्द का यह मनमाना अर्थ बिना ही पद और वाक्य की अपेक्षा के मनमाने तरीके से किया गया है। 'परमेश्वर जीवों को आज्ञा देता है कि हे जीवों' इस तरह का कथन भी सर्वथा निर्मूल है। हिन्दी व्याख्या में दयानन्द ने कहा है कि जीवों को परस्पर सही आचरण करने की आज्ञा परमेश्वर ने दी है और संस्कृत में 'विद्या, धन, उत्तम स्वभाव, उदारता और सुशीलता मुझे दो' ऐसी व्याख्या की गई है। एक जीव दूसरे जीव को उदारता और सुशीलता दे नहीं सकता। यदि वह ऐसा कहता है कि परमेश्वर ऐसा करे, तो यह बात भी ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि परमेश्वर तो आप्तकाम है, उसकी सब तरह की इच्छाएँ स्वयं परिपूर्ण हैं। वह इस तरह का व्यवहार करे, इसमें कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता।

प्रश्न किया जा सकता है कि आपके द्वारा किये गये अर्थ में भी क्या प्रमाण है? इसका उत्तर है कि ४९वीं कण्डिका ही इसमें प्रमाण है। जैसे कि 'पूर्णा दर्वि' और 'देहि मे' ये दो मन्त्र अनुष्टुप् छन्द में है और इनका देवता इन्द्र है। कात्यायन ने इनका विनियोग बताते हुए लिखा है कि प्रथम मन्त्र से दर्वी के द्वारा स्थाली से ओदन का ग्रहण करता है और दूसरे मन्त्र से उसकी आहुति देता है। प्रथम मन्त्र का अर्थ यह है—हे अन्न को परोसने के साधनभूत काठ की बनी कड़छुल, तुम स्थाली (बटलोही) में से अन्न लेकर पूर्ण हो, भरी हुई हो। पूर्ण होने से ही तुम उत्कृष्ट हो, अत एव तुम इन्द्र के पास जाओ। वहाँ से कर्मफल से परिपूर्ण होकर तुम पुनः हमारे पास चली जाओ। इस तरह से दर्वी को कहने के बाद इन्द्र को कहा जाता है कि हे शतक्रतो, सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाले इन्द्र, तुम और हम दोनों मिलकर मूल्य से अन्न की अभीष्ट हवि को तथा हवि के फल के रूप में प्राप्त होने वाले ऊर्ज नामक रस

रसविशेषं च विक्रीणावहै, परस्परं द्रव्यविनिमयरूपं विक्रयं करवावहै। अहं तुभ्यं हविर्ददामि त्वं मह्यं फलं देहि। एवं 'वस्नेव विक्रीणावहै' इति मन्त्रांशेनैवोत्तरमत्र। मन्त्रस्येन्द्रयजमानसंवादरूपोऽर्थो ज्ञायते। पूर्वमन्त्रेण यजमानप्रस्तावानन्तरमुत्तरमन्त्रे पूर्वपादेनेन्द्रवचनमुत्तरेण यजमानवचनमिति श्लिष्यते।

'गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि। ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥' (वा० सं० ३।४१)

'गृहा मा विभीतेति गृहानुपैति' (का० श्रौ० सू० ४।१२।२२) इत्यनेन ग्रामान्तरादागतो गृहा मेत्यादि मन्त्रत्रयेण गृहं प्राप्नुयात्। तिस्रो वास्तुदेवत्याः शंयुदृष्टास्त्रिष्टुब्विराड्रूपाः। यस्या एकादशार्णास्त्रयः पादाः, एकोऽष्टार्णः सा विराट्। अत्र प्रथमो दशार्णस्तेनैकोना। हे गृहा, यूयं मा विभीत पालको यजमानो गत इति भयं मा कुरुत। मा च वेपध्वं कोऽपि शत्रुरागत्य विनाशयिष्यतीति बुद्धया मा कम्पध्वम्। यतो वयमूर्जं बिभ्रतो धारयमाणानक्षीणान्नानेव युष्मान् एमसि आ इम आगताः स्मः। तथैवाहमूर्जं बिभ्रद् धारयन् शोभनमनस्कः सुमेधाः शोभनधारणप्रज्ञोपेतः, मनसा दुःखरहितेन मोदमानो हृष्यन् वो युष्मानुपैमि आगच्छामि।

यदुक्तम्—'हे गृहाश्रमानिच्छन्तो मनुष्याः, स्वयंवरं विवाहं कृत्वा यूयं गृहाणि प्राप्नुत गृहाश्रमानुष्ठाने मा विभीत भयं मा प्राप्नुत तथा मा वेपध्वम् ऊर्जं बलं पराक्रमं च बिभ्रतः पदार्थानेमसि वयं प्राप्नुम इतीच्छत वो युष्माकं मध्येऽहमूर्जं विभ्रत् सन् सुमनाः शुद्धमनाः सुमेधा उत्तमबुद्धियुक्तः मनसा मोदमानः प्राप्तानन्दः गृहानैमि गृहाणि प्राप्नोमि' (पृ० २७५) इति, तदपि विशृङ्खलमेव, वेदाक्षरविरुद्धत्वात्। तथाहि—अत्र हे मनुष्या इति कुतः कल्प्यते? कश्च सम्बोद्धा? तत्र च किं मानम्? ननु गृहा इति पदेनैव गृहाश्रमानिच्छन्तो मनुष्या इत्यर्थो लक्षणया बोध्यत इति चेत्, न, लक्षणायां

विशेष को परस्पर विनिमय के आधार पर क्रय-विक्रय करके, आपस में बदल ले। अर्थात् मैं तुम्हें हवि प्रदान करता हूँ और तुम मुझे उसका फल प्रदान करो। इस तरह से इस मन्त्र के 'वस्नेव विक्रीणावहै' इस अंश से ही यह ज्ञात हो जाता है कि आगे के मन्त्र में इन्द्र और यजमान का संवाद है। इस तरह से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व मन्त्र में यजमान के उक्त प्रस्ताव के बाद उत्तर मन्त्र के पूर्वार्ध में इन्द्र का वचन और उत्तरार्ध में यजमान का वचन है। इस तरह से हमारा किया अर्थ इन मन्त्रों के आधार पर ही संगत (सही) सिद्ध हो जाता है।

'गृहा मा' इत्यादि मन्त्र का विनियोग बताते हुए कात्यायन ने बताया है कि दूसरे ग्राम से आकर यजमान 'गृहा मा' इत्यादि तीन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए घर में प्रवेश करे। इन तीन मन्त्रों का देवता वास्तु है। शंयु ऋषि इन मन्त्रों के द्रष्टा हैं और छन्द त्रिष्टुप् तथा विराट् है। विराट् छन्द वाले मन्त्र के ग्यारह अक्षर वाले तीन पाद हैं और एक पाद आठ अक्षरों का है। इनमें पहला पाद दस अक्षरों का है, इसलिये इसे एकोना विराट् कहा गया है। हे गृह देवताओं, आप लोग डरो मत कि इस घर का स्वामी यजमान कहीं चला गया है और न आप लोगों को डर के मारे कांपने की ही आवश्यकता है कि शत्रु आकर तुम लोगों को नष्ट कर देंगे, क्योंकि हमलोग बल वीर्य से संपन्न अक्षय अन्न की स्थिति में ही यहाँ पुनः आ गये हैं, अर्थात् जिस भरी-पूरी हालत में हम इस घर को छोड़ कर गये थे, उसी हालत में हम इसको देख रहे हैं। आपकी ही तरह मैं भी बल-वीर्य से संपन्न होकर प्रसन्न चित्त से सुन्दर स्मरण शक्ति को साथ लिये सभी प्रकार की चिन्ताओं, कष्टकल्पनाओं से मुक्त होकर प्रसन्न होता हुआ तुमको प्राप्त कर रहा हूँ, तुम्हारे भीतर प्रवेश कर रहा हूँ।

दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या इस तरह से की है—'हे गृहाश्रम की इच्छा रखने वाले मनुष्य लोगों, तुम लोग स्वयंवर अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल विवाह करके गृहाश्रम को प्राप्त हो और उससे डरो और कांपो मत। किन्तु उससे बल, पराक्रम करने वाले पदार्थों को प्राप्त होने की इच्छा करो तथा गृहाश्रमी पुरुषों से ऐसा कहो कि मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच पराक्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि और आनन्द को प्राप्त होकर गृहाश्रम करूँ' (पृ० २७७)। किन्तु यह व्याख्या भी अव्यवस्थित है, क्योंकि यह व्याख्या मन्त्राक्षरों से विरुद्ध है। जैसे कि इस मन्त्र में 'हे मनुष्यों' यह किस शब्द का अर्थ है? यह मनुष्यों को संबोधित

बीजानुपलब्धेः। न चाचेतनस्य गृहस्य सम्बोद्धयत्वानुपपत्तिरेव बीजमिति वाच्यम्, यूपादिवत्तदधिष्ठातृदैवतस्य सम्बोद्धयत्वेऽनुपपत्तेरभावात्। मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत् कथञ्चिद् गृहस्थपुरुषाणां सम्वोध्यत्वसम्भवेऽपि गृहपदस्य गृहाश्रमे लक्षणा, ततोऽपि गृहाश्रमेच्छायां लक्षणा, ततस्तद्वति लक्षणेति महद्गौरवपराहतमेवेदं व्याख्यानम्। स्वयंवरविवाहः कर्तव्य इत्यस्यार्थस्य बोधकानि कानि पदानि मन्त्रे सन्ति ? पदार्थानिमसीत्यस्य 'वयं प्राप्नुम इतीच्छते' इति कथमर्थः, इच्छार्थकस्य धातोरभावात्। यदि परमेश्वरः सम्वोद्धा, तदा सुमनाः सुमेधा गृहानैमीत्यादिपदानां कथं सङ्गतिः ? किं व्यापकस्य परमेश्वरस्य कस्यचिद् गृहे गमनं सम्भवति ? किं वा 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मुण्ड० २।१।२) इति श्रुत्युक्तस्यामनसोऽपि भगवतो मनोयोगः सम्भवति ? सकलकल्याणगुणगणाकरस्य भगवतो दौर्मनस्यदुर्मेधस्त्वाद्यसम्भवेन तद्व्यावृत्त्यर्थं सुमना इत्यादिविशेषणानां वैयर्थ्यापातश्च। प्राप्तानन्दत्वमपि किं नित्यानन्दस्य सम्भवति ? ननु पूर्वोक्तव्याख्यानेऽपि किं बीजमिति चेन्न, गृहा इति पदस्यैव गृहाणां सम्वोध्यत्वे मानत्वात्। 'गृहा मा विभीतेति गृहानुपैति' (का० श्रौ० सू० ४।१२।२२) इति कात्यायनमहर्षिसूत्रस्यापि तत्र मानत्वाच्च।

'येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो वहुः। गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥' (वा० सं० ३।४२)

प्रवसन् देशान्तरं गच्छन् यजमानो येषां यान् गृहान् स्मरति, 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' (पा० सू० २।३।५२) इति षष्ठी, गृहविषयं क्षेमं सदा चिन्तयतीत्यर्थः। तथा येषु गृहेषु यजमानस्य बहुः सौमनसः सुमनसो भावः प्रीत्यतिशयः, वयं तान् गृहानुपह्वयामः, गृहाभिमानो देवोऽस्मत्समीपमागच्छत्वित्यर्थः। हे गृहदेवाः, आहूताः सन्तः जानतः उपकाराभिज्ञान् नोऽस्मान् जानन्तु। एते गृहस्वामिनः कृतघ्ना न भवन्तीत्यवगच्छन्तु।

करने वाला कौन है ? और ऐसा अर्थ करने में प्रमाण क्या है ? यदि यह कहा जाय कि 'गृहाः' इस पद से ही गृहस्थाश्रम को चाहने वाले मनुष्यों का बोध लक्षणा वृत्ति की सहायता से हो सकेगा, किन्तु ऐसा कहना गलत होगा, क्योंकि लक्षणा का सहारा लेने में यहाँ कोई कारण प्रतीत नहीं होता। अचेतन गृह को कैसे संबोधित किया जा सकता है, यह संबोधन की अनुपपत्ति ही लक्षणा का कारण मानी जायगी, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यज्ञ में जैसे अचेतन यूप को संबोधित किया जाता है, उसी तरह से अचेतन गृह को संबोधित करने में भी क्या अनुपपत्ति हो सकती है ? 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस वाक्य में जैसे मंच पर स्थित व्यक्तियों का ग्रहण होता है, उसी तरह से 'गृहाः' पद से भी गृह में स्थित पुरुष अर्थ किया जा सकता है, किन्तु गृह पद का पहले गृहस्थाश्रम में, बाद में गृहस्थाश्रम में रहने की इच्छा में और अन्त में तद्वान् में लक्षणा—इस लक्षणा परम्परा को मानने में बड़ा गौरव होगा। इस प्रकार इस व्याख्या में गौरव दोष है। स्वयंवर विवाह के करने की बात भी मन्त्र में नहीं है। 'एमसि' पद का अर्थ 'हम प्राप्त करे, ऐसी इच्छा वाले' यह अर्थ कैसे हो सकता है, क्योंकि इच्छार्थक धातु तो यहाँ है नहीं। यदि इस मन्त्र में परमेश्वर को संबोद्धा माना जाय, तो प्रसन्न मन और बुद्धि से मैं घर पर आ गया हूं, इन पदों की संगति कैसे बनेगी ? क्या व्यापक परमेश्वर के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह प्रसन्न मन-बुद्धि से किसी घर में जायगा? अथवा क्या श्रुति के अनुसार प्राण और मन आदि से रहित भगवान् का किसी तरह से मन आदि से संबन्ध जोड़ा जा सकता है ? समस्त कल्याण गुणों को समुद्र की भाँति अपने में समेटे हुए भगवान् का दौर्मनस्य, दुर्मेधा आदि की कोई संभावना भी कभी नहीं हो सकती। तब इनकी निवृत्ति के लिये मन्त्र में 'सुमना' आदि विशेषण व्यर्थ ही पड़ जायंगे। नित्य आनन्दसागर में लीन परमेश्वर के आनन्द को नये सिरे से प्राप्त करने की बात भी संगत नहीं मानी जा सकती। प्रश्न उठ सकता है कि पूर्वोक्त सायणसंमत अर्थ में भी क्या प्रमाण है, किन्तु इसका सीधा सा उत्तर यह है कि 'गृहाः' यह पद ही इस बात में प्रमाण है कि यहाँ गृहों को संबोधित किया गया है। 'गृहा मा०' इत्यादि कात्यायन महर्षि का सूत्र भी इस बात की पुष्टि करता है।

'येषामध्येति०' इस मन्त्र की व्याख्या यह है—देशान्तर में जाते समय यजमान जिन गृहों को स्मरण करता है, अर्थात् अपने घर में सब तरह का कल्याण सदा बना रहे, इस बात को सदा विचारता रहता है। साथ ही जिन घरों के प्रति यजमान की अतिशय प्रीति रहती है, हम उन गृहों को संबोधित करते हैं कि उस गृह का अभिमानी देवता हमारे पास आवे। हे वास्तु देवों, बुलाये जाने पर आप इस बात को जानिये कि हम आप लोगों का बहुत उपकार मानते हैं। ये गृहस्वामी कभी कृतघ्न नहीं होते, इस बात को आप लोग सदा याद रखिये।

यदुक्तम्—'येषु प्रवसतो मनुष्यस्य बहुः अधिकः सौमनस आनन्दो भवति। तत्र प्रवसन् येषां यान् पदार्थान् सुखकरान् (अध्येति) स्मरति (गृहानुपह्वयामहे) वयं गृहेषु विवाहादिषु सत्कारार्थं तान् गृहसम्बन्धिनः सखिबन्ध्वाचार्यादीन् निमन्त्रयामहे (ते नः) विवाहनियमेषु कृतप्रतिज्ञान् अस्मान् (जानतः) प्रौढज्ञानान् युवावस्थास्थान् स्वेच्छया कृतविवाहान् ते (जानन्तु) अस्माकं साक्षिणः सन्तु' (पृ० २७६) इति, तदेतत्सर्वं सर्वथाऽसङ्गतं वेदाक्षरसम्बन्धशून्यत्वात्। प्रवसन्नित्यस्य प्रवसत इति विपरिणामे मानाभावात्। येषां येषु इति यत्पदोपात्ता गृहा एव वक्तव्यास्तेषामेव प्रकृतत्वात्। गृहानिति पदेन गृहसम्बन्धिनां सख्यादीनां ग्रहणे किं मूलमित्यपि वक्तव्यम्? विवाहप्रसङ्गस्तु प्रकृते नास्त्येव। विवाहनियमेषु कृतप्रतिज्ञान् जानतः प्रौढज्ञानान् युवावस्थास्थान् स्वेच्छया कृतविवाहान् इत्यादिकं तु न वेदव्याख्यानम्, वेदाक्षरासम्बद्धत्वात्। जानन्त्विति विवाहसाक्षिणो भवन्त्वित्यपि तथाविधमेव। पूर्वव्याख्यानं तु गृहान् येषु इति मन्त्राक्षरानुगतं सूत्रसम्मतं च। यथा गार्हपत्यमुपतिष्ठते, दक्षिणाग्निमुपतिष्ठते, तथैव गृहानुपैति इति रीत्या गृहोपगमनसम्बन्धिन एवेमे मन्त्रा इति मन्तव्यम्।

'उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः। अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः। क्षेमायवः शान्त्यै प्रपद्ये शिवं शग्मं शंयोः शंयोः ॥' (वा० सं० ३।४३)

इह गृहेषु गाव उपहूता धेनवो बलीवर्दाश्च सुखेन तिष्ठन्तु। यथा इह गृहेषु अजावय उपहूता अजात्वावित्वादिजातिद्वयविशिष्टाः पशव उपहूताः सुखेन वर्तन्ताम् इत्यस्माभिरनुज्ञाता अथो अपि च अन्नस्य कीलालः अन्नसम्बन्धी रसविशेषो नोऽस्मदीयेषु उपहूतः समृद्धो भवतु। इत्येवमस्माभिरभ्यनुज्ञातः 'क्षेमाय वः प्रविशति' (का० श्रौ० सू० ४।१२।२३)। हे गृहाः, वो युष्मान् प्रपद्ये प्राप्तोऽस्मि। किमर्थं क्षेमाय विद्यमानस्य वस्तुनो रक्षणं क्षेमस्तस्मै क्षेमाय शान्त्यै मम सर्वानिष्टशमनाय शंयोः शं सुखं यौति कामयते इति शंयुः, 'इदंयुरिदं कामयमानः' (नि० ६।३१) इति यास्कवचनात्। 'शिवं शग्ममिति द्वे सुखनामनी' (निघण्टु० ३।६।१८-२२)। आजमैहिकं द्वितीयमामुष्मिकम् उभयविधं सुखं भूयादिति शेषः। उपस्थानसमाप्तावादरार्थोऽभ्यासः।

दयानन्द ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'जिन घरों में वसते हुए मनुष्यों को अधिक आनन्द होता है, उनमें वे मनुष्य अपने संबन्धी मित्र, बन्धु और आचार्य आदि का स्मरण करते हैं और उन्हीं लोगों को विवाह आदि शुभ कार्यों में सत्कार से बुलाकर उनसे यह इच्छा करते हैं कि वे सब हमको युवावस्थायुक्त और विवाह आदि नियमों से ठीक ठीक प्रतिज्ञा करने वाले जानें, अर्थात् हमारे साक्षी हों' (पृ० २७७)। यह सारी व्याख्या सर्वथा असंगत और मन्त्र के पदों के विपरीत है। 'प्रवसन्' पद को 'प्रवसतः' में बदल देने में कोई प्रमाण नहीं है। मन्त्र में आये 'येषां येषु' इन पदों में गृह को ही पकड़ा जा सकता है, क्योंकि प्रसंग उन्हीं का है। 'गृहान्' पद से अपने सम्बन्धी मित्र बान्धवों का उल्लेख कैसे माना जा सकता है? प्रकृत मन्त्र में विवाह की कोई चर्चा नहीं है। 'विवाह के नियमों का अनुसरण कर अनेक प्रतिज्ञाओं को करने वाले युवावस्था के कारण प्रौढ़ ज्ञान से सम्पन्न अपनी इच्छा के अनुसार विवाह करने वाले' यह सब वेद की व्याख्या नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इस मन्त्र के पदों से इसका कोई संबन्ध नहीं है। 'जानन्तु' पद का अर्थ 'आप लोग विवाह के साक्षी होइये' यह कहना भी उसी तरह निराधार है। हमारी व्याख्या तो मन्त्र में आये पदों का पूरी तरह से अनुसरण करती है और इसमें कात्यायन सूत्रों की भी संमति है। जैसे गार्हपत्य अग्नि और दक्षिणाग्नि के समक्ष यजमान उपस्थित होता है, उसी तरह से 'गृहानुपैति' इत्यादि मन्त्रों में भी यजमान के वास्तु देवता के समक्ष उपस्थित होने की बात माननी ही चाहिये।

'उपहूता०' इत्यादि मन्त्र का सही अर्थ इस प्रकार है—इन घरों में धेनु और बैल सुखपूर्वक रहें। इन घरों में भेड़ और बकरियाँ भी सुखपूर्वक निवास करे। साथ ही हमारी अनुमति लेकर स्वादिष्ट अन्न भी हमारे घर में भरा रहे। इसी प्रकार हे वास्तु देवताओं, विद्यमान वस्तु की रक्षा रूप क्षेम के लिये मैं आप लोगों के पास आया हूँ, साथ ही इसलिये भी आया हूँ कि आप लोगों की कृपा से हमारे घर में सब तरह की सुखशान्ति का निवास हो, हमारे सभी अरिष्ट, विघ्न बाधाएँ दूर हो जाँय। सुख की कामना वाला शंयु कहलाता है, यास्क वचन इसमें प्रमाण है। शिव और शग्म ये दो सुख के नाम हैं। ऐहिक सुख शिव और आमुष्मिक सुख शग्म कहलाता है। यह दोनों प्रकार का सुख हमें प्राप्त हो। शंयु शब्द की द्विरावृत्ति उसके प्रति आदर प्रकट करने के लिये है।

यत्तु—'हे परमेश्वर, भवत्कृपया इहास्मिन् गृहाश्रमे गावः पशुपृथिवीन्द्रियविद्याप्रकाशाह्लादादय उपहूताः प्राप्ता भवन्तु। तथा (अजावयः) उपहूता अस्मदनुकूला भवन्तु। अथो पूर्वपदार्थप्राप्त्यनन्तरं नोऽस्माकं गृहेषु अन्नस्य भोक्तव्यपदार्थसमूहस्य कोलालो विशेषेणोत्तमरस उपहूतः सम्यक्प्राप्तो भवतु। वो युष्मान्, अत्र पुरुषव्यत्ययः, तान् पूर्वोक्तान् प्रत्यक्षान् पदार्थान् क्षेमाय रक्षणाय शान्त्यै सुखाय प्रपद्ये प्राप्नोति। तत्प्राप्त्या शिवं निःश्रेयसं कल्याणं पारमार्थिकं सुखं शग्मं सांसारिकमाभ्युदयिकं सुखं च प्राप्नुयाम। शमिति निघण्टौ पदनामास्ति। परोपकाराय गृहाश्रमे स्थित्वा पूर्वोक्तस्य द्विविधस्य सुखस्योन्नतिं कुर्मः' (पृ० २७६) इति, तदपि पदपदार्थसम्बन्धातीतमेव। अत्र परमेश्वरः सम्बोधनीय इत्यस्य मूलं वक्तव्यम्। 'गृहाः' इति पदेन गृहाधिष्ठातृदेवाः सम्बोधनीया इति प्रासङ्गिकम्। गृहाश्रमपदमपि मन्त्रे नास्त्येव। गृहपदस्य गृहाश्रमे लक्षणा चेत्, तदा तत्रापि बीजं वक्तव्यम्, अन्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिश्च नास्त्येव, अन्यथोपपत्तेरुक्तत्वात्। अजाविसान्निध्यवशाद् गाव इत्यपि धेनुबोधकमेव पदम्। उपहूताः प्राप्ता भवन्तु। अस्मदनुकूला भवन्तु इत्यत्र तथार्थभेदे कारणं वक्तव्यम्। क्षेमाय व इत्यत्र व इत्यस्य युष्मानिति वाच्यार्थमुपेक्ष्य पुरुषव्यत्ययेन पूर्वोक्तान् तान् पदार्थानित्यर्थकरणे किं मूलमिति तु नोक्तम्। युष्मान् गृहान् प्रपद्ये प्राप्नोमीति तु श्लिष्यते। पूर्वोक्तपदार्थप्राप्त्या पारमार्थिकं निःश्रेयसम् आभ्युदयिकं च सुखं कथं लभ्यते? नहि पश्वादिप्राप्त्या निःश्रेयसप्राप्तिः सम्भवति। स्वर्गाद्यामुष्मिकाभ्युदयप्राप्तेरप्यग्निहोत्रादिवैदिकसाधनसाध्यत्वात् कथं तैस्तत्प्राप्तिः? शंयोरिति पदनामत्वेऽपि प्रकृते किं तेनेति तु नोक्तमेव। हिन्दीव्याख्याने तु प्रतिष्ठाया अर्थात् सांसारिकसुखस्य नामेत्यपि निर्मूलमेव, पदशब्दस्य तथार्थत्वायोगात्। कथं च तैरुभयविधस्य सुखस्योन्नतिः सम्भवति? निःश्रेयससुखस्योन्नतिशीलत्वे सातिशयत्वेनानित्यत्वेन च निःश्रेयसत्वव्याघातात्। तस्माद् गृहस्थाश्रमविषया एते मन्त्रा इति प्रतिज्ञा मिथ्यैव।

'त्रयो धर्मस्कन्धा—यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति' (छान्दोग्य० २।२३।१)। इतीदमपि वचनं न तदभिमतवानप्रस्थाश्रम-

दयानन्द का अर्थ यह है—'हे परमेश्वर, आपकी कृपा से हम लोगों को गृहस्थाश्रम में पशु, पृथिवी, विद्या, प्रकाश, आनन्द, बकरी और भेड़ आदि पदार्थ अच्छी तरह से प्राप्त हो तथा तथा हमारे घरों में उत्तम रसयुक्त खाने-पीने योग्य पदार्थ सदा बने रहें। 'वः' यह पद पुरुष व्यत्यय से सिद्ध होता है। हम लोग उक्त पदार्थों को उनकी रक्षा और अपने सुख के लिये प्राप्त हों। फिर उस प्राप्ति से हमको परमार्थ और संसार का सुख मिले। 'शंयोः (शम्) यह निघण्टु में प्रतिष्ठा अर्थात् सांसारिक सुख का नाम है' (पृ० २७७)। यह सारा अर्थ भी पद और पदार्थ के सम्बन्ध से बहुत दूर है। यहाँ परमेश्वर को संबोधित किया जाना चाहिये, इसमें प्रमाण बताना पड़ेगा। 'गृहाः' इस पद से गृह के अधिष्ठाता देवता को संबोधित किया जाय, यह तो प्रसंग प्राप्त है। गृहाश्रम पद भी मन्त्र में नहीं है। गृह पद की गृहाश्रम में लक्षणा यदि मानी जाय, तो इसमें भी कारण बताना पड़ेगा। भेड़ और बकरी के साथ गाय पद भी धेनु का ही बोधक माना जायगा! उपहूत पद का अर्थ होगा प्राप्त हों। हमारे अनुकूल हो, ऐसा अर्थ करने में भी कारण बताना पड़ेगा। 'क्षेमाय वः' यहाँ स्थित 'वः' पद का अर्थ 'तुम लोगों को' छोड़कर पुरुष का व्यत्यय कर 'उन पदार्थों को' करने में क्या कारण है? इसके बारे में भी कुछ बताया नहीं गया। तुमको (गृहों को) मैं प्राप्त करता हूँ, यह अर्थ तो सही लगता है। गाय, बैल आदि पूर्वोक्त पदार्थों के मिलने से पारमार्थिक मोक्ष और ऐहलौकिक अभ्युदय (सुख) की प्राप्ति कैसे होती है? यह नहीं बताया गया है। स्वर्ग प्रभृति आमुष्मिक (पारलौकिक) अभ्युदय की प्राप्ति भी अग्निहोत्र प्रभृति वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से ही होती है। उन पदार्थों से इनकी प्राप्ति कैसे हो सकती है। 'शंयु' यह पद का नाम तो है, किन्तु इसका प्रकृत में क्या उपयोग है, यह नहीं बताया गया। हिन्दी व्याख्या में तो प्रतिष्ठा अर्थात् सांसारिक सुख का नाम इसको बताया गया है, किन्तु यह बात निराधार है, क्योंकि पद शब्द का यह अर्थ नहीं होता। निश्रेयस (मोक्ष) सुख को उन्नतिशील मानने पर सातिशयता के आधार पर अनित्यता दोष उसमें आवेगा। इस तरह से उसकी निःश्रेयसता ही नष्ट हो जायगी। इस तरह से ये मन्त्र गृहस्थाश्रम से संबद्ध हैं, दयानन्द की यह प्रतिज्ञा सर्वथा गलत है।

प्रतिपादकम्, यतो हि—अत्रत्यमित्थं तदीयं व्याख्यानम्—'अत्र सर्वेष्वाश्रमेषु धर्मस्य स्कन्धा अवयवास्त्रयः सन्ति। अध्ययनम्, यज्ञः क्रियाकाण्डम्, दानं च। तत्र प्रथमो ब्रह्मचारी तपःसुशिक्षाधर्मानुष्ठानेनाचार्यकुले वसति। द्वितीयो गृहाश्रमी। तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमवसादयन् हृदये विचारयन् एकान्तदेशं प्राप्य सत्यासत्ये निश्चिनुयात्। स वानप्रस्थाश्रमी। एते सर्वे ब्रह्मचर्यादयस्त्रय आश्रमाः पुण्यलोकाः सुखनिवासाः सुखयुक्ता भवन्ति। पुण्यानुष्ठानादेवाश्रमसंख्या जायते नान्यथा' (पृ० २७८) इति, एतदपि यत्किञ्चित्, भावानवबोधात्। तत्र 'यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः, तप एव द्वितीयः, ब्रह्मचारी कुलवासी तृतीय इति यथाश्रुतार्थातिक्रमो निर्दिष्टः।

वस्तुतस्तु शाङ्करभाष्यरीत्यात्र ओङ्कारस्योपासनाविध्यर्थं 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्याद्यारभ्यते। नैवं मन्तव्यं सामावयवभूतस्यैवोद्गीथादिलक्षणस्यौङ्कारस्योपासनात् फलं प्राप्यते, किन्तर्हि यत्सर्वैरपि सामोपासनैः कर्मभिश्च प्राप्यते तत्फलममृतत्वं केवलादोङ्कारोपासनात् प्राप्यत इति, तत्स्तुत्यर्थं सामप्रकरणे तदुपन्यासः। तद्रीत्या धर्मस्य त्रयः त्रिसंख्याकाः प्रविभागाः। यज्ञोऽग्निहोत्रादिः, अध्ययनं सनियमस्य ऋगादेरभ्यासः, दानं बहिर्वेदि यथाशक्तिद्रव्यसंविभागो भिक्षमाणेभ्य इत्येष प्रथमः स्कन्धः। गृहस्थसमवेतत्वात् तन्निर्वर्तकेन गृहस्थेन प्रथम इत्यस्यैक इत्यर्थः। नाद्योऽर्थः, द्वितीयतृतीयश्रवणात्। न च प्राथम्यमेव कुतो न प्रथमशब्दस्यार्थ इति वाच्यम्, द्वितीयेत्यादिवाक्यशेषात्, ब्रह्मचारिप्राथम्यप्रसिद्धिविरोधाच्च। तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि, तद्वांस्तापसः परिव्राड् वा द्वितीयो धर्मस्कन्धः। न ब्रह्मसंस्थो गृह्यते किन्त्वाश्रमधर्ममात्रस्थः, 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति तस्य त्वमृतत्वश्रवणात्। तस्माद्वनस्थोऽमुख्यः परिव्राट् च द्वितीयधर्मस्कन्धेऽन्तर्भवति। ब्रह्मचारी आचार्यकुले

'त्रयो धर्मस्कन्धाः०' इत्यादि छान्दोग्य श्रुति का वचन भी आपके अभिमत वानप्रस्थ आश्रम का साधक नहीं हो सकता। इस वाक्य की व्याख्या आपने इस प्रकार की है—'यहाँ सभी आश्रमों में धर्म के तीन स्कन्ध हैं—एक विद्या का अध्ययन, दूसरा यज्ञ अर्थात् उत्तम क्रियाओं का करना, तीसरा दान अर्थात् विद्या आदि उत्तम गुणों का देना। इनमें से प्रथम कार्य के लिये ब्रह्मचारी तप का आचरण करते हुए आचार्य कुल में रहकर धर्मानुष्ठानपूर्वक शिक्षा ग्रहण करता है। यज्ञ आदि क्रियाकाण्ड का अनुष्ठान गृहस्थाश्रमी करता है और तृतीय अपने को कठिन तपस्या के आचरण से सुखा देने वाला, एकान्त स्थान में बैठकर अपने चित्त में सद्विचारों की चिन्ता करने वाला, सत्य और असत्य का निश्चय करने वाला वानप्रस्थी कहलाता है। ये सब ब्रह्मचर्य प्रभृति तीनों आश्रम लोगों के कल्याण के लिये हैं। इन बातों से सब प्रकार की उन्नति करना मनुष्यों का धर्म है' (पृ० २७८)। यह सारी व्याख्या भी गलत है, क्योंकि आपने इस छान्दोग्य श्रुति का अभिप्राय ही नहीं समझा। छान्दोग्य श्रुति में यज्ञ, अध्ययन और दान को प्रथम कोटि में, तप को द्वितीय तथा आचार्य कुलवासी ब्रह्मचारी को तृतीय स्थान पर परिगणित किया है। इस तरह से वहाँ का क्रम आपकी व्याख्या के क्रम से एकदम विपरीत है।

वास्तव में तो यहाँ पर शांकर भाष्य के अनुसार ओंकार की उपासना की विधि का प्रारंभ किया गया है। यह नहीं समझ लेना चाहिये कि साम के अवयवभूत ओंकार की उपासना से ही फल प्राप्त होता है, किन्तु सभी प्रकार के साम तथा कर्मों के अनुष्ठान से जो अमृतत्वरूप फल प्राप्त होता है, वह अकेले ओंकार की उपासना से भी प्राप्त होता है। इसीलिये इस ओंकार की स्तुति के लिये साम के प्रकरण में ही ओंकार का उल्लेख किया गया है। उसके अनुसार धर्म के तीन विभाग होते हैं। अग्निहोत्र प्रभृति यज्ञ पहला, नियम पूर्वक ऋग्वेद आदि का अध्ययन दूसरा और वेदि के बाहर शक्ति के अनुसार मांगने वालों को द्रव्य का दान करना तीसरा। यह धर्म का पहला स्कन्ध है, प्रविभाग है। यह धर्मस्कन्ध गृहस्थाश्रम के साथ जुड़ा हुआ है। यहां एक का अर्थ प्रथम है, आद्य नहीं, क्योंकि द्वितीय और तृतीय धर्म स्कन्ध भी यहां बताये गये हैं। प्रथम शब्द का अर्थ प्राथम्य या आद्य इसलिये नहीं होगा कि द्वितीय, तृतीय धर्म स्कन्धों को बताने वाले वाक्य भी आगे दिये गये हैं। साथ ही ब्रह्मचर्य आश्रम की ही प्राथमिकता प्रसिद्ध है, यहां गृहस्थ धर्म की प्राथमिकता मानने पर उसकी प्रसिद्धि का विरोध होगा। कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों का अनुष्ठान तप कहलाता है। इस तप का जो आचरण करता है, वह तापस अथवा परिव्राट् धर्म का द्वितीय स्कन्ध है। यहां ब्रह्म में स्थित ब्रह्मज्ञ का ग्रहण नहीं किया जाता, किन्तु आश्रम धर्म में स्थित तपस्वी का ग्रहण किया जाता है। ब्रह्मसंस्थ तापस तो अमृतत्व को मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसलिये वन में रहने वाला सामान्य तपस्वी और परिव्राजक का अन्तर्भाव इस दूसरे धर्मस्कन्ध में किया जाता है। ब्रह्मचारी

वस्तुं शीलमस्येति आचार्यकुलवासी, अत्यन्तं यावज्जीवमात्मानं देहनियमैराचार्यकुलेऽवसादयन् क्षपयन् यो वर्तते स तृतीयो धर्मस्कन्धः। अत्यन्तमित्यादिविशेषणाद् नैष्ठिको ब्रह्मचारी गृह्यते नोपकुर्वाणः. तस्य स्वाध्यायग्रहणार्थत्वेन पुण्यलोकत्वानुपपत्तेः। सर्वं एते त्रयोऽप्याश्रमिणो यथोक्तैर्धर्मैः पुण्यलोकाः पुण्यलोकफला भवन्ति। अवशिष्टस्तत्रानुक्तो ब्रह्मसंस्थो ब्रह्मणि सम्यक्स्थितो मुख्यः परिव्राड् अमृतत्वं मुख्यमनापेक्षिकममरणभावमेति प्राप्नोति। प्रणवोपासनस्तुत्यर्थमाश्रमधर्मफलोपन्यासो न तत्फलविध्यर्थम्, प्रणवोपासनस्तुतये आश्रमफलविधये चेति वाक्यस्य प्रयोजनद्वयाङ्गीकारे वाक्यभेदापत्तेः।

यत्तु—'सर्वेष्वाश्रमेषु 'अध्ययनं यज्ञो दानं च' इति, तन्न, प्रथमान्त्ययोर्दारयोगाभावेन दम्पत्योः सहाधिकारनियमेनाग्निहोत्रादिकर्मानधिकारात्। 'यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः, तप एव द्वितीयः' इत्यादिनिर्देशविरोधाच्च। स्पष्टमितिशब्देन यज्ञतपोदानानामेकत्वलक्षणं प्राथम्यमुक्तम्। प्रथमो ब्रह्मचारी सुशिक्षाधर्मानुष्ठानेनाचार्यकुले वसतीति तु विरुद्धम्। तथा द्वितीयो गृहाश्रमीत्यपि विरुद्धमेव, तप एव द्वितीय इति विरोधात्। अत्यन्तमात्मानमवसादयन् हृदये विचारयन्नेकान्तदेशं प्राप्य सत्यासत्ये निश्चिनुयात् स वानप्रस्थाश्रमीत्यपि विरुद्धमेव, अवपूर्वस्य सदेर्नाशार्थत्वप्रसिद्धेः। वानप्रस्थ एव ब्रह्मात्मविचारे सम्पन्ने संन्यासाश्रमस्य वैयर्थ्यापाताच्च। न च तर्ह्यत्र प्रथमाश्रमस्यानिरूपणात् सिद्धान्ते न्यूनत्वापत्तिरिति वाच्यम्, अर्थवादवचनस्यास्य फलविधान इवाश्रमविधानेऽपि तात्पर्याभावात्, उपकुर्वाणब्रह्मचारिणः स्वाध्यायग्रहणार्थत्वेन स्वाध्यायस्य च सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन तस्य स्वातन्त्र्येण फलासाधकत्वात्। वानप्रस्थस्याश्रमधर्ममात्रनिष्ठस्य संन्यासिनश्च द्वितीयस्कन्धेऽन्तर्भावः, नैष्ठिकब्रह्मचारिणश्च तृतीयेस्कन्धेऽन्तर्भावः।

आचार्य कुल में रहता है। वहीं रह कर वह जीवन पर्यन्त नियमों का पालन करते हुए अपने शरीर को सुखा डालता है। यह धर्म का तीसरा स्कन्ध है। अत्यन्त पद की स्थिति के कारण यहां नैष्ठिक ब्रह्मचारी का ग्रहण किया जाता है, सामान्य ब्रह्मचारी का नहीं, क्योंकि सामान्य ब्रह्मचारी तो वेदाध्ययन के लिये आचार्य कुल में रहता है। अतः उसको पुण्य लोकों की प्राप्ति होने का कोई प्रसंग नहीं है। यहां बताये गये तीनों आश्रमियों को यथोक्त धर्मों का पालन करने के कारण पुण्य लोकों की प्राप्ति का विधान है। ब्रह्मसंस्थ योगी के विषय में यहां कुछ नहीं कहा गया है। यह परिव्राजक पूरी तरह से ब्रह्म में लीन रहता है, इस लिये वह मुख्य अर्थात् अन्यनिरपेक्ष अमरता को प्राप्त करता है। इस प्रकरण में प्रणव की उपासना की स्तुति के लिये आश्रम धर्म के फल का उपन्यास किया गया है, यहां फल विधि नहीं बताई गई है, क्योंकि प्रणव की उपासना की स्तुति और आश्रम फल की विधि दोनों का विधान मानने पर वाक्य के दो प्रयोजन हो जायेंगे और इस तरह वाक्यभेद दोष यहां उठ खड़ा होगा।

दयानन्द का कहना है कि सभी आश्रमों के लिये अध्ययन, यज्ञ और दान का विधान है, किन्तु यह कथन इसलिये गलत है कि प्रथम और अन्तिम आश्रम में स्त्री का संबन्ध मान्य नहीं है। अग्निहोत्र प्रभृति कर्मों में दम्पती का एक साथ अधिकार बताया गया है, अतः यज्ञ का संबन्ध सभी आश्रमों के साथ नहीं बनता, क्योंकि उन आश्रमों में पत्नी का सम्बन्ध न होने से वे उसके अधिकारी हो नहीं होंगे। यज्ञ, अध्ययन और दान यह पहला धर्मस्कन्ध है। तप दूसरा धर्मस्कन्ध है, इन अर्थों के प्रतिपादक वाक्यों में 'इति' आदि शब्दों के कारण स्पष्ट ही यज्ञ, तप और दान को प्राथमिकता दी गई है। आश्रमों में पहला ब्रह्मचारी अध्ययन और धर्म के अनुष्ठान के लिये आचार्य कुल में निवास करता है, यह अर्थ उस वाक्य का किसी भी तरह नहीं किया जा सकता। दूसरा गृहस्थाश्रमी है, यह कथन भी तप ही दूसरा है, इस वाक्य के विरुद्ध पड़ता है। इसी तरह से अपनी आत्मा को अत्यन्त पीड़ा देते हुए, चित्त में भगवान् के स्वरूप का ध्यान करते हुए, एकान्त स्थल में असत्य और सत्य का विवेचन करने वाला वानप्रस्थी कहलाता है, यह बात भी गलत है, क्योंकि अव उपसर्ग पूर्वक सद् धातु का अर्थ नाश होता है। यदि वानप्रस्थ आश्रम में ही ब्रह्मात्मतत्त्व का विचार संपन्न हो जाय, तो संन्यास आश्रम व्यर्थ हो जायगा। यदि यह शंका उठाई जाय कि इस तरह से तो आपके मत के अनुसार इस वाक्य में प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम का विधान न होने से न्यूनता आ जायगी, किन्तु इसका समाधान यह है कि यह तो अर्थवाद वाक्य है, अतः यहां फल की विधि के साथ आश्रम की विधि नहीं मानी जाती। सामान्य ब्रह्मचर्य का प्रयोजन वेद का अध्ययन करना है। यह स्वाध्याय सभी पुरुषार्थों का साधक है, अतः यह स्वतन्त्र रूप से किसी फल का साधक नहीं माना जाता। वानप्रस्थ का और आश्रम धर्म मात्र का पालन करने वाले संन्यासी का धर्म के द्वितीय स्कन्ध में तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी का तृतीय धर्मस्कन्ध में अन्तर्भाव माना जाता है।

भर्तृप्रपञ्चादिमतेन तु चतुर्णामाश्रमिणामविशेषेण स्वकर्मानुष्ठानात् पुण्यलोकतोक्ता ज्ञानवर्जितानाम् । सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति। तत्रैव परिव्राडप्यन्तर्भूतः। ज्ञानं यमा नियमाश्च परिव्राजामपि तप एव । तप एव द्वितीय इत्यत्र तपःशब्देन परिव्राट्तापसौ गृहीतौ । तेषामेव चतुर्णां यो ब्रह्मसंस्थः प्रणवोपासकः सोऽमृतत्वमेति, अधिकृतत्वाविशेषात्तेषाम् । तत्प्रतिषेधाभावाच्च, स्वस्वकर्मछिद्रेषु ब्रह्मसंस्थतोपपत्तेश्च । यववराहादिशब्दवद् ब्रह्मसंस्थशब्दो न संन्यासिनि रूढः । ब्रह्मणि संस्थितिनिमित्तत्वेन तत्प्रयोगस्याश्रमचतुष्टयेऽपि सम्भवात्, सङ्कोचे मानाभावात्, न चतुर्थाश्रमधर्ममात्रेणामृतत्वं सम्भवति, ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गात् । ज्ञानविशिष्टस्याश्रमस्यामृतत्वहेतुत्वे ज्ञानविशिष्टसर्वाश्रमाणां तथात्वे वाधकाभावात् । तस्माद्य एव ब्रह्मसंस्थः स्वाश्रमविहितकर्मवतां तस्यैवामृतत्वं युक्तम् । तत्तु शङ्कराचार्या न क्षमन्ते । ब्रह्मण्येव सम्यक् स्थितिर्यस्य तस्य निवृत्तकर्मणः परिव्राज एव ब्रह्मसंस्थत्वसम्भवात् । अनिवृत्तभेदप्रत्ययस्येदं कृत्वेदं प्राप्नुयामिति प्रत्ययवतो ब्रह्मसंस्थत्वं न सम्भवत्येव, विकारानृताभिसन्धिप्रत्ययत्वान् । न च रूढशब्दो निमित्तं नापेक्षत इति, तदपि न, गृहस्थ-तक्ष-परिव्राजकादिदर्शनात् । गृहस्थितिपारिव्राज्यतक्षणादिनिमित्तोपादाना अप्येते शब्दा आश्रमिविशेषे विशिष्टगतिमतिरूढा दृश्यन्ते, न यत्र यत्र निमित्तानि दृश्यन्ते तत्र वर्तन्ते, प्रसिद्ध्यभावात् । तथेहापि निवृत्तसर्वकर्मतत्साधनपरिव्राडेकविषयेऽत्याश्रमिणि परमहंसाख्य एव प्रवर्तते । मुख्यामृतत्वफलश्रवणात्, 'अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रम्' इति श्वेताश्वतरश्रुतेश्च ।

एवमेव—'तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति । ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति । एतद्ध स्म वैतत्पूर्वे ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया

वेदान्त के प्राचीन आचार्य भर्तृप्रपंच आदि के मत के अनुसार चारों आश्रमों में रहने वाले व्यक्तियों को तब तक समान रूप से अपने-अपने कर्मों के अनुष्ठान से पुण्य लोक की प्राप्ति की बात स्वीकार की जाती है, जब तक कि उनमें ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती । ये सब पुण्य लोकों के ही अधिकारी होते हैं । इन्हीं में परिव्राजक की भी गिनती होती है । यम और नियम का पालन परिव्राजक को भी करना ही है । तप को जहाँ धर्म का द्वितीय स्कन्ध माना गया है, यहाँ परिव्राजक और तापस दोनों का ग्रहण किया जाता है । इन चारों में जो ब्रह्मज्ञ प्रणवोपासक है, उसी को अमृतत्व की प्राप्ति होती है, क्योंकि ये सब समान रूप से प्रणव की उपासना के अधिकारी हैं । प्रणव की उपासना किसी के लिये वर्जित नहीं है । अपने-अपने कर्मों का अनुष्ठान करते हुए सभी आश्रमों के लोग बीच-बीच में इसकी भी उपासना कर सकते हैं । यव, वराह आदि शब्दों की तरह ब्रह्मसंस्थ शब्द केवल संन्यासी के अर्थ में ही रूढ नहीं है । ब्रह्म में चित्त की अवस्थिति के आधार पर चारों आश्रमों में इसकी स्थिति मानी जा सकती है । केवल संन्यास आश्रम में ही इसको सीमित कर देने में कोई प्रमाण नहीं है । चतुर्थ आश्रम में धर्मों का अनुष्ठान करने मात्र से अमृतत्व नहीं प्राप्त होता, ऐसा होने पर तो ज्ञान की व्यर्थता मान ली जायगी । ज्ञान से युक्त आश्रम धर्म को अमरता का प्रतिपादक मानने पर ज्ञान से युक्त किसी भी आश्रम में इसकी स्थिति मानी जाय, तो उसमें कोई बाधा नहीं प्रतीत होता । इसलिये अपने अपने आश्रमों के लिये विहित कर्मों का अनुष्ठान करने वाला जो कोई भी ब्रह्म में लीन हो जाता है, वही अमर हो जाता है । इस मत को शंकराचार्य नहीं स्वीकार करते । ब्रह्म में ही जिसकी सम्यक् स्थिति है, जो समस्त कर्मों से निवृत्त है, ऐसा परिव्राजक ही ब्रह्मसंस्थ कहा जा सकता है । जिसकी भेददृष्टि अभी निवृत्त नहीं हुई है, तथा जिसको अभी इतना भान है कि यह काम करके मैं इस फल को प्राप्त करूंगा, वह ब्रह्मसंस्थ हो ही नहीं सकता, क्योंकि अभी उसमें नाना प्रकार के विकारों वाली अनृत दृष्टि का अभिनिवेश विद्यमान है । रूढ शब्द को निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि गृहस्थ, तक्षा, परिव्राजक आदि शब्दों के रूढ होते हुए भी इनको निमित्त की भी अपेक्षा रहती है । गृह में स्थिति, परिव्रज्या, तक्षण आदि निमित्तों को लेते हुए भी ये शब्द विशिष्ट आश्रम आदि में ही रूढ हैं, जहाँ जहाँ निमित्त है, सब जगह इनकी प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि ऐसी प्रसिद्धि नहीं है । उसी तरह से यहां भी सभी कर्मों से और उनकी साधन सामग्री से दूर रहने वाला परिव्राजक ही ब्रह्मसंस्थ कहलाता है । यह सभी आश्रमधर्मों से अतीत होने से परमहंस कहलाता है । इसी परिव्राट् के लिये मुख्य अमृतत्व की प्राप्ति की बात कही जाती है और श्वेताश्वतर श्रुति ने इन आश्रम धर्मों से ऊपर स्थिति होने के कारण ही इसको परम पवित्र बताया है ।

इसी तरह से 'तमेतं वेदानुवचनेन०' इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति का सही अर्थ इस प्रकार है—उस औपनिषद पुरुष, उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्म को ब्राह्मण मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद का नित्य स्वाध्याय करके जानना चाहते हैं । यहां ब्राह्मण शब्द से तीनों

करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति । ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति । या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः' (श० १४।७।२।२५-२६; बृ० उ० ४।४।२२) । तमेतमौपनिषदं पुरुषं वेदानुवचनेन मन्त्रब्राह्मणाध्ययनेन नित्यस्वाध्यायलक्षणेन विविदिषन्ति वेदितुमिच्छन्ति । ब्राह्मणा इत्युपलक्षणं त्रयाणां वर्णानाम्, त्रैवर्णिकानां वेदाधिकाराविशेषात् । वेदानुवचनेन कर्मकाण्डेन, कर्मणां सत्त्वशुद्धिहेतुत्वात् । 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' इति स्मृतेः । यज्ञेन द्रव्ययज्ञादिभिर्दानेन, तस्यापि पापक्षयहेतुत्वात् । तपसा कृच्छ्रचान्द्रायणादिना विशेषतोऽनाशकेन कामानशनमेवानाशकं न भोजननिवृत्तिः, मरणहेतुत्वेन विविदिषाहेतुत्वानुपपत्तेः । एवं काम्यवर्जितं नित्यं कर्मजातमात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधनम्, । एवं कर्मकाण्डेनास्यैकवाक्यता । एतमेव विदित्वा मननान्मुनिर्भवति । यद्यप्यन्यवेदनेऽपि मुनित्वं स्यात्, किन्त्वन्यवेदनेन मुनिरेव स्यात्, किन्तर्हि कर्म्यपि सम्भवति ? औपनिषदं तु पुरुषं विदित्वा मुनिरेव भवति न कर्म्यपि । एतमेवात्मानं स्वं लोकमिच्छन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति प्रकर्षेण व्रजन्ति सर्वाणि कर्माणि संन्यस्यन्ति ।

एतेन वाह्यलोकत्रयेप्सूनां न पारिव्राज्येऽधिकारः । अविद्यानिवृत्त्या स्वात्मन्यवस्थानमेवात्मलोकप्राप्तिः । तत्रार्थवादवाक्यरूपेण हेतुं दर्शयति—ह स्म वै किल पूर्वेऽतिक्रान्तकालिका विद्वांसः, प्रजां कर्मापरविद्यां च प्रजोपलक्षितलोकत्रयसाधनं न कामयन्ते। पुत्रादिलोकत्रयसाधनं नानुतिष्ठन्ति। तेषामभिप्रायं दर्शयति—प्रजया साधनेन किं करिष्यामः सर्वं ह्यस्माकमात्मभूतमेव येषां नोऽयमपरोक्ष आत्माऽयमपरोक्षः प्रत्यक्षतो लोकः लोकनीयः प्रापणीयो नेतोऽन्यस्तदतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वात् । आत्मा च न वाह्यसाधनपुत्रकर्मादिभिः साध्यः, तस्यानुत्पाद्यत्वात्, अनाप्यत्वात्, अविकार्यत्वादसंस्कार्यत्वाच्च । ते च

वर्णों का बोध होता है, क्योंकि वेद के अध्ययन में तीनों का समान अधिकार है । वेदानुवचन का अर्थ वैदिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठान से हैं, क्योंकि कर्मों का उपयोग मन की शुद्धि के लिये किया जाता है । स्मृति में भी बताया गया कि पाप कर्मों का क्षय हो जाने पर मनुष्य को ज्ञान उत्पन्न होता है । द्रव्यसाध्य यज्ञों के अनुष्ठान से और दान देने से ही पाप कर्मों का क्षय होता है । कृच्छ्र, चान्द्रायण प्रभृति व्रतों का अनुष्ठान करके भी साधक मोक्ष को प्राप्त करता है, क्योंकि ये भी आत्मज्ञान की उत्पत्ति में उस समय सहायक होते हैं, जब कि इनका अनुष्ठान फल की आकांक्षा से नहीं किया जाता । अनशन विशेषण का यहां यही तात्पर्य है । अनशन का अर्थ भोजन छोड़ देना नहीं है, क्योंकि इससे तो शरीर की मृत्यु हो सकती है । इस परिस्थिति में वह उस ब्रह्म को जानने की इच्छा में सहायक किस तरह से हो सकता है । अतः फल को अभिलाषा को छोड़कर किये गये, काम्य कर्मों से अतिरिक्त नित्य कर्मों के अनुष्ठान में आत्मज्ञान की उत्पत्ति के द्वारा मोक्ष की कारणता बन जाती है । इस तरह से वैदिक कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की एकता भी सिद्ध हो जाती है । इसी को जानकर जो उस पर निरन्तर मनन करता रहता है, वह मुनि कहलाता है । यद्यपि अन्य पदार्थों के जानने पर भी मुनि बन सकता है, किन्तु उनको जानने पर केवल मुनि ही नहीं होता, किन्तु साथ में वह कर्मी (कर्मरत) भी रहता है । उपनिषत् प्रतिपादित ब्रह्म को जानकर तो वह केवल मुनि हो रहता है, वह फिर कर्मों में लिप्त नहीं होता । इसी आत्मा को, अपने स्वरूप को प्राप्त करने की इच्छा वाले परिव्राजक (संन्यासी) पूरी तरह से सब कर्मों का परित्याग कर संन्यास ग्रहण कर लेते हैं ।

इससे यह सिद्ध होता है कि वाह्य लोकों की प्राप्ति की इच्छा वालों को संन्यास में अधिकार नहीं है । अविद्या की निवृत्ति के द्वारा अपने स्वकीय स्वरूप को भलीभांति जान लेना ही यहाँ आत्मलोक की प्राप्ति कहा जाता है । इसी में अर्थवाद वाक्य के रूप में हेतु (कारण) बताया जाता है कि इस आत्मस्वरूप की उपासना में लगे हुए पुराने जमाने के संन्यासी विद्वान् प्रजा को, कर्मकाण्ड प्रतिपादक अपर विद्या को और प्रजा शब्द से पहचानी जाने वाली वाह्य लोकत्रय की साधक विधियों को नहीं चाहते थे, उनका अनुष्ठान नहीं करते थे; पुत्र, वित्त, लोकप्रसिद्धि में तीन बातों की साधक विधियों का अनुष्ठान नहीं करते थे। उनका आन्तरिक अभिप्राय यह था कि हम प्रजा (सन्तति) का क्या करेंगे ? जगत् में सब कुछ हमारा ही तो है, स्वात्मस्वरूप के अतिरिक्त यहाँ कुछ भी नहीं है । हमें तो इस अपरोक्ष (सदा अपने सामने विद्यमान) स्वात्मस्वरूप को ही जानना है, उसी को प्राप्त करना है । इससे भिन्न यहाँ कुछ भी नहीं है, क्योंकि उससे भिन्न जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह सब मिथ्या है । इस स्वात्मस्वरूप की अधिगति पुत्र, कर्म (यज्ञ)

पुत्रवित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति। पुत्रैषणा पुत्रेणेमं लोकं जयेयमिति मनुष्यलोकजयसाधनं पुत्रं प्रतीच्छा, एषणा दारसंग्रहः, तस्या व्युत्थाय दारसंग्रहमकृत्वेत्यर्थः। वित्तस्य कर्मसाधनस्य गवादेरुपादानमनेन कर्म कृत्वा पितृलोकं जेष्यामीति इच्छा वित्तैषणा। विद्यासंयुक्तेन वा देवलोकं केवलया वा हिरण्यगर्भविद्यया दैवेन वित्तेन देवलोकं प्राप्नुयामितीच्छा लोकैषणा तस्या अपि व्युत्थाय त्रिविधेऽप्यनात्मलोकप्राप्तिसाधने तृष्णामकृत्वा भिक्षाचर्यां चरन्ति संन्यस्यन्तीत्यर्थः। कैश्चित्तु दैवाद्वित्ताद् व्युत्थानमेव न सम्भवतीति, तदपि न, एतावान् वै काम इति पठितत्वात्, एषणामध्ये दैवस्य वित्तस्य उक्तत्वात्। हिरण्यगर्भादिदेवताविषयैव विद्या वित्तमुच्यते, देवलोकहेतुत्वात्। न निरुपाधिकब्रह्मविद्यादेवलोकप्राप्तिहेतुः, 'तस्मात् तत्सर्वमभवत्। आत्मा ह्येषां संभवति' इति श्रुतेः। तद्बलेन हि व्युत्थानम्, 'एतं वैतमात्मानं विदित्वा' इति विशेषवचनात्। तस्मात् त्रिभ्योऽप्यनात्मलोकप्राप्तिसाधनेभ्य एषणाविषयेभ्यो व्युत्थाय तत्र तृष्णामकृत्वेत्यर्थः। सर्वा हि साधनेच्छा फलेच्छैवातो व्याचष्टे—श्रुतिरेकैवेषणेति। या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा, दृष्टफलसाधनत्वेन तुल्यत्वात्। या वित्तैषणा सा लोकैषणा फलार्थैव सा। फलार्थप्रयुक्त एव सर्वः सर्वं साधनमुपादत्ते। अत एवैकैवैषणा। या लोकैषणा सा साधनमन्तरेण सम्पादयितुं न शक्यत इति साध्यसाधनभेदेनोभे हि यस्मादेते एषणे एव भवतः।

यत्तु—'यस्य पुत्रैषणा तस्यावश्यं वित्तैषणापि भवति, यस्य वित्तैषणा तस्य निश्चयेन लोकैषणा भवति। यस्यैका लोकैषणा भवति तस्योभे पूर्वे पुत्रैषणावित्तैषणे भवतः' (पृ० २७९) इति, तत्तु सर्वथा विशृङ्खलम्, वेदाक्षरबहिर्भूतत्वात्।

आदि के द्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि यह स्वात्मस्वरूप न तो उत्पाद्य है और न प्राप्तव्य ही, अर्थात् इसको न तो उत्पन्न किया जा सकता है और न प्राप्त ही किया जा सकता है, क्योंकि यह स्वात्मस्वरूप अविकारी है और इसका किसी तरह से किसी भी प्रकार का कोई संस्कार नहीं किया जा सकता। अतः ये परिव्राजक पुत्र, वित्त और लोकप्रसिद्धि जैसी तुच्छ इच्छाओं को छोड़कर केवल भिक्षा माँगने में अर्थात् संन्यासी बनकर, सब कुछ छोड़कर केवल पेट भरने के लिये भिक्षा माँगना ही एक काम अपने पास रखते हैं, बाकी सारी विधियों का परित्याग कर देते हैं। पुत्रैषणा का अभिप्राय यह है कि पुत्र की सहायता से मैं इस लोक पर विजय प्राप्त करूँ, इस प्रकार की पुत्र के प्रति इच्छा। एषणा पद का तात्पर्य पुत्र की प्राप्ति के लिये पत्नी से सहवास करने में है। यह संन्यासी इससे ऊपर उठ जाता है, अर्थात् वह पुत्र की प्राप्ति के लिये किसी स्त्री से विवाह कर गृहस्थी नहीं चलाता। वित्त का अभिप्राय यज्ञ-याग आदि कर्मों की निष्पत्ति में सहायक गाय, हिरण्य (सुवर्ण) प्रभृति का संग्रह करने में है। इनकी सहायता से यज्ञ-याग आदि का अनुष्ठान कर मैं पितृलोक को जीत लूँगा, इस प्रकार की इच्छा ही वित्तैषणा है। अपर विद्या के द्वारा अथवा केवल हिरण्यगर्भ विद्या के द्वारा अथवा धन की सहायता से देवलोक को प्राप्त करूँ, इस प्रकार की इच्छा लोकैषणा कहलाती है। इन तीनों प्रकार की एषणाओं (इच्छाओं) से ऊपर उठकर अर्थात् इन तीनों प्रकार के साधनों में न पड़कर, क्योंकि ये आत्मस्वरूप की अधिगति में सहायक नहीं बन सकते, अतः इसमें अपनी तृष्णा का परित्याग कर साधक संन्यास ग्रहण कर लेते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि हिरण्यगर्भ प्रभृति दैवी विद्या से कभी व्युत्थान, छुटकारा नहीं मिल सकता। किन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इसी प्रकरण में कामनाओं की जो सूची दी गई है, उनसे इस दैव वित्त का भी परिगणन किया गया है। हिरण्यगर्भ प्रभृति देवताओं से संबद्ध विद्या को ही यहाँ वित्त कहा गया है, क्योंकि उनसे देवलोक की प्राप्ति होती है। निरुपाधिक ब्रह्म स्वरूप का उपदेश करने वाली परा विद्या से देवलोक की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि श्रुति कहती है कि परा विद्या का जानने वाला सर्वमय हो जाता है, सभी जागतिक स्वरूप उसको आत्मा के ही विलास प्रतीत होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में आ जाने से वह ब्रह्मवेत्ता उन सब एषणाओं से ऊपर उठ जाता है, जैसा कि श्रुतियों में प्रतिपादित है। इसलिये आत्मलोक की प्राप्ति में जो सहायक नहीं है, इस तरह की इन तीनों एषणाओं से ऊपर उठकर, अर्थात् इनमें किसी प्रकार की तृष्णा न रखकर ब्रह्मवेत्ता इनसे संन्यास ले लेता है, इनका परित्याग कर देता है। नाना प्रकार के साधनों से मनुष्य अपने अभीष्ट को प्राप्त करना चाहते है, अतः श्रुति का यहाँ कहना है कि ये तीनों एषणाएँ अन्ततः एक ही हैं, पुत्रैषणा और वित्तैषणा में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि इन दोनों से ही इष्टफल की सिद्धि होती है। इसी तरह से वित्तैषणा और लोकैषणा में भी कोई अन्तर नहीं है। किसी न किसी फल की कामना से ही मनुष्य किसी काम में लगता है। अतः ये सब एषणायें एक ही हैं। लोकैषणा की पूर्ति बिना पुत्र-वित्त आदि साधनों के हो नहीं सकती, अतः साध्य और साधन का भेद रहते हुए भी ये सब एषणाएँ अन्ततः एषणा के रूप में सब एक ही है।

नात्र साध्यसाधनभावः प्रोच्यते, तादृशपदविन्यासाभावात्। सामानाधिकरण्यव्यपदेशेन दृष्टफलसाधनत्वेन रूपेण पुत्रैषणावित्तैषणयोरभेद एवोच्यते। फलार्थत्वेन तुल्यत्वात्तु वित्तैषणालोकैषणयोरभेद उक्तः। साध्यसाधनादिभेदेन तासां भेदेऽप्येषणात्वेन रूपेणाभेद एव।

यदुक्तम्—'यज्ञेन नाशरहितेन विज्ञानेन धर्मक्रियाकाण्डेन चैतं परमात्मानं विदित्वा मुनिर्भवति' (पृ० २७९) इति, तत्तुच्छम्, कर्मणां विज्ञानानामुत्पत्तिमतां समेषामेवानित्यत्वे भङ्गुरत्वाविशेषात्। 'परमेश्वरः प्राप्यो लोको दर्शनीयश्चास्ति' (पृ० २७९) इत्यपि न सङ्गतम्, प्राप्यस्य ग्रामादेरिव परिच्छिन्नत्वेनानित्यत्वापातात्। दर्शनीयस्यापि घटादेरिवानित्यत्वमेव। सिद्धान्ते स्वात्मभूतत्वे नित्यप्राप्तत्वात् स्वप्रकाशत्वाच्चाविद्याव्यवधाननिवृत्त्यैव तद्द्वयोपपत्तिः।

किञ्च, वेदादिप्रामाण्यानभ्युपगन्तॄणां पुत्रवित्तैषणयोः सत्त्वेऽपि न लौकैषणा भवति, तेषां परलोकविश्वासाभावात्। न चात्र सम्मानप्रतिष्ठाकामनैव लोकैषणेति वाच्यम्, प्रकरणविरोधात्। तथाहि—'पुत्रेणायं लोको जय्यः, कर्मणा पितृलोकः, विद्यया देवलोकः' इति श्रुतिप्रसिद्धमनुष्यलोक-पितृलोक-देवलोकसाधनत्वेन प्रसिद्धेषु पुत्रकर्मापरविद्याविषयाणामेषणानां त्यागेन ब्रह्मात्मनिष्ठासम्पादनाय संन्यासः क्रियते। 'ब्रह्मानन्दवित्तेन तुल्यं न लोकवित्तं भवति। यस्य परमेश्वरे प्रतिष्ठास्ति तस्यान्याः सर्वाः प्रतिष्ठा नैव रुचिता भवन्ति' (पृ० २७९) इत्यादिकं यद्यपि सत्यम्, तथापि प्रकृते तन्नोपयुज्यते।

यत्तु—'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' इत्येकः पक्षः। 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद्वा गृहाद्वा' इत्यस्मिन् पक्षे वानप्रस्थाश्रममकृत्वा गृहाश्रमानन्तरं संन्यासं गृह्णीयादिति द्वितीयः पक्षः।

स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ यह किया है कि 'जिसको पुत्रैषणा रहती है, उसको वित्तैषणा भी अवश्य होती है और जिसको वित्तैषणा होती है, उसको लोकैषणा भी अवश्य होगी। जिसको अकेली लोकैषणा रहती है, उसके साथ भी पहले की पुत्रैषणा और वित्तैषणा लग जाती है' (पृ० २७९), किन्तु यह व्याख्या सर्वथा निराधार है और वेद के अक्षरों के प्रतिकूल भी है। यहाँ इनका परस्पर साध्यसाधनभाव नहीं बताया गया है। इष्ट फल की साधक होने से पुत्रैषणा और वित्तैषणा में अभेद ही बताया गया है। इसी प्रकार वित्तैषणा और लोकैषणा की समानता (अभिन्नता) फल की अभिन्नता के आधार पर बनती है। साध्य और साधन के रूप में भेद होते हुए भी इनकी एषणा के रूप में अभिन्नता है ही।

दयानन्द पुनः कहते हैं कि 'यज्ञ से अर्थात् नाशरहित विज्ञान से धर्मानुष्ठान क्रियाकाण्ड से इस परमात्मा को जानकर मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं' (पृ० २८०) किन्तु यह कथन भी निराधार है, क्योंकि सभी विज्ञानात्मक कर्म उत्पत्तिशील हैं, अतः ये सब अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं। अतः इनसे परमात्मा (स्वात्मस्वरूप) को नहीं जाना जा सकता। 'परमेश्वर प्राप्य है और यह लोक दर्शनीय है' (पृ० २७९) दयानन्द का यह कथन भी असंगत है, क्योंकि परमेश्वर को प्राप्य मानने पर ग्राम प्रभृति नश्वर प्राप्य वस्तुओं के समान वह भी परिच्छिन्न और अनित्य हो जायगा। दर्शनीय वस्तु भी घट के समान अनित्य ही होती है। हमारे मत से तो यह परमात्मा अपना ही स्वरूप है, यह तो हमें सदा से ही प्राप्त है और स्वयं प्रकाशित हो रहा है। अतः उक्त साधनों का उपयोग केवल अविद्या के आवरण को हटाने में ही होता है।

एक बात और भी है, जो व्यक्ति वेद प्रभृति को प्रमाण नहीं मानते, उनमें पुत्र और वित्त की एषणा तो हो सकती है, किन्तु लोकैषणा न हो पावेगी, क्योंकि उनका परलोक में विश्वास है ही नहीं। लोकैषणा का अर्थ इस श्रुति में लौकिक सम्मान, प्रतिष्ठा आदि की कामना नहीं है, क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर यह प्रकरण के विरुद्ध पड़ेगा। यहाँ तो बताया गया है कि पुत्र से इस मनुष्यलोक को, कर्म से पितृलोक को और विद्या से देवलोक को जीतना चाहिये। इस तरह से इन तीन एषणाओं को तीन लोकों की प्राप्ति के साधन के रूप में बताया गया है। इन पुत्र, कर्म (वित्त) और अपर विद्या नामक तीन एषणाओं का परित्याग कर, अर्थात् उक्त तीन लोकों की प्राप्ति के मोह को छोड़कर ब्रह्मनिष्ठा की संपत्ति के लिये संन्यास का विधान है। 'ब्रह्मानन्द रूपी धन के बराबर लौकिक धन नहीं होता। जिस व्यक्ति की भगवान् में प्रतिष्ठा है, अर्थात् जिसका मन भगवान् में लग गया है, उसकी लौकिक प्रतिष्ठा (मान-संमान) नहीं जाती' (पृ० २७९) इत्यादि दयानन्द की उक्ति यद्यपि सही है, किन्तु उसका प्रकृत प्रसंग से कोई लगाव नहीं है।

ब्रह्मचर्यदेव प्रव्रजेत् सम्यग्ब्रह्मचर्याश्रमं कृत्वा गृहस्थवानप्रस्थाश्रमावकृत्वा संन्यासाश्रमं गृह्णीयादिति तृतीयः पक्षः। सर्वत्रान्याश्रमविकल्प उक्तः। परन्तु ब्रह्मचर्याश्रमानुष्ठानं नित्यमेव कर्तव्यमित्यायाति। कुतः, ब्रह्मचर्याश्रयेण विनाऽन्याश्रमानुपपत्तेः' (पृ० २७८) इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, सर्वत्र संन्यासे वैराग्यस्यैव हेतुत्वेनैकपक्षस्यैव युक्तत्वात्। ब्रह्मचर्याश्रम एव वैराग्योत्पत्तौ तदानीमेव संन्यासः, तत्रावैराग्ये दारसंग्रहं कृत्वा गृहस्थः सत्त्वशुद्धये कर्माणि कुर्वीत। सति वैराग्ये तदानीमेव संन्यासं कुर्यात्।। वैराग्याभावे सत्त्वशुद्धये तपःकरणार्थं वानप्रस्थाश्रमं गृह्णीयात्। सति वैराग्ये ततः संन्यस्येत्। यथा कथञ्चिद् वैराग्येऽपि आश्रमलक्षणं संन्यासं गृहीत्वा यमनियमादिसहितवेदान्तश्रवणं प्रणवोपासनं वा कुर्यात्। यथाकथञ्चिदपि वैराग्याभावे वानप्रस्थाश्रम एव तपःपरायणेन भाव्यम्। तत्प्रसादात् कषायपरिपाकाद् जन्मान्तरे वैराग्योदयेन संन्यासः सेत्स्यति। ब्रह्मचर्याश्रमस्य वेदाध्ययनार्थत्वाद् वेदस्य सर्वपुरुषार्थहेतुत्वात् तत्र विकल्पाभावस्तु युक्त एव।

'प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत्' इति शतपथे श्रुत्यक्षराणि। 'यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्। तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः॥' (मुण्डको० ३।१।१०) (पृ० २८०)। प्रजापतिदेवत्यामिष्टिं कृत्वा तस्यामिष्टौ सर्ववेदसं हुत्वा सर्वस्वं दक्षिणां दत्त्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत्। यत्तु—'स संन्यासी प्राजापत्यां परमेश्वरदेवताकामिष्टिं कृत्वा हृदये सर्वमेतन्निश्चित्य तस्यां सर्ववेदसं शिखासूत्रादिकं हुत्वा मुनिर्मननशीलः सन् प्रव्रजति संन्यासं गृह्णाति' (पृ० २८०) इति, तदप्यसङ्गतम्, संन्यासिन इष्टयामनधिकारात्। किञ्च, हृदये

इस प्रकरण के आरंभ में दयानन्द ने कहा है—'संन्यासाश्रम के तीन पक्ष हैं—उनमें से एक यह है कि जो विषय-भोग करना चाहता है, वह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन आश्रमों को स्वीकार कर अन्त में संन्यास ग्रहण करे। दूसरा जिस समय वैराग्य हो, अर्थात् बुरे कामों से चित्त हट कर ठीक-ठीक सत्य मार्ग में निश्चिन्त हो जाय, उस समय गृहाश्रम से भी संन्यास हो सकता है और तीसरा जो पूर्ण विद्वान् वन कर सव प्राणियों का शीघ्र उपकार करना चाहता हो, वह ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर ले। यहाँ सर्वत्र अन्य आश्रमों का तो विकल्प वताया गया है, किन्तु ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान तो सर्वत्र आवश्यक माना गया है, क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम के विना अन्य आश्रमों की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती' (पृ० २७८-२७९)। किन्तु यह सारा कथन भी जव तक इस पर कुछ विचार नहीं किया जाता, तभी तक के लिये भला मालूम होता है, क्योंकि संन्यास आश्रम के लिये ब्रह्मचर्य की अपेक्षा वैराग्य को ही प्रधान कारण माना गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में ही वैराग्य हो जाने पर उसी समय संन्यास लिया जा सकता है। यदि इस आश्रम में वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ तो विवाह कर गृहस्थ धर्म का पालन कर अपने सात्त्विक भावों की शुद्धि में लगे रहना चाहिये। वैराग्य हो जाने पर गृहस्थाश्रम से ही संन्यास लिया जा सकता है। वैराग्य न होने पर पुनः अपने मानसिक भावों की शुद्धि के लिये वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार कर तप का अनुष्ठान करना चाहिये। वैराग्य उत्पन्न हो जाने पर संन्यास लेना चाहिये। अन्ततः वैराग्य की जिस किसी तरह से उत्पत्ति होने पर आश्रम धर्म का पालन करने के लिये संन्यास आश्रम को स्वीकार कर यम-नियम आदि का पालन करते हुए वेदान्त शास्त्र का श्रवण और ॐकार की उपासना में लग जाना चाहिये। यदि प्रयत्न करने पर भी वैराग्य की उत्पत्ति न हो तो उस दशा में वानप्रस्थ आश्रम में ही रहकर तप करते रहना चाहिये। इस तप के प्रभाव से मानसिक कषायों (दोषों) का परिपाक होने पर, वासनाओं के क्षीण हो जाने पर दूसरे जन्म में वैराग्य की उत्पत्ति होकर संन्यास आश्रम की प्राप्ति हो सकेगी। वेदों का अध्ययन पूरा करने के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम आवश्यक है और वेद ही सभी पुरुषार्थों के साधक हैं, अतः ब्रह्मचर्य आश्रम की सर्वत्र विद्यमानता तो इस तरह से उचित ही है। अर्थात् इस वैराग्य के लिये भी ब्रह्मचर्य आश्रम की आवश्यकता है, क्योंकि वेदाध्ययन से ही भविष्य में वैराग्य की संभावना हो सकती हैं।

'प्राजापत्य इष्टि में अपने सर्वस्व का दान कर गृहस्थ आश्रम को छोड़कर, विरक्त होकर मनुष्य संन्यास आश्रम को स्वीकार करें' यह वात शतपथ श्रुति में वताई गई है। इसमें मुण्डक श्रुति भी प्रमाण है—'वह शुद्ध मन से जिस-जिस लोक और कामना की इच्छा करता है, वे सव उसको सिद्ध हो जाते हैं। इसलिये जिसको ऐश्वर्य की इच्छा हो, वह आत्मज्ञ अर्थात ब्रह्मवेत्ता संन्यासी की सेवा करें'। यहाँ प्राजापत्य इष्टि का अभिप्राय प्रजापति जिसके देवता हैं, उस इष्टि से है। इस प्राजापत्य इष्टि में अपने

निश्चित्येति कस्य शब्दस्यार्थः ? सर्ववेदसमित्यस्य शिखासूत्रादिकं कथमर्थः ? नहि कस्याञ्चिदिष्टौ संन्यासे वा शिखायज्ञोपवीतादिहोमो विधीयते, तादृग्विधेरभावात् ।

यदप्युक्तम्—'परन्त्वयं पूर्णविद्यावतां रागद्वेषरहितानां सर्वमनुष्योपकारबुद्धीनां संन्यासग्रहणाधिकारो भवति, नाल्पविद्यानामिति । तेषां संन्यासिनां प्राणापानहोमो दोषेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च सदा निवर्तनं सत्यधर्मानुष्ठानं चैवाग्निहोत्रम् । किन्तु पूर्वेषां त्रयाणामेवाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं यद् बाह्यक्रियामयमस्ति, संन्यासिनां तन्न । सत्योपदेश एवं संन्यासिनां ब्रह्मयज्ञः, देवयज्ञो ब्रह्मोपासनम्, विज्ञानिनां प्रतिष्ठाकरणं पितृयज्ञो ह्यज्ञेभ्यो ज्ञानदानम्, सर्वेषां भूतानामुपर्यनुग्रहोऽपीडनं च भूतयज्ञः, सर्वमनुष्योपकारार्थं भ्रमणमभिमानशून्यता सत्योपदेशकरणेन सर्वमनुष्याणां सत्कारानुष्ठानं चातिथियज्ञः । एवंलक्षणाः पञ्च महायज्ञा विज्ञानधर्मानुष्ठानमया भवन्ति' (पृ० २८०) इति, तदपि निर्मूलम्, संन्यासिनां कृते पञ्चयज्ञविधानानुपलम्भात् । गृहस्थानां कृत एव पञ्चयज्ञानुष्ठानं विहितम् । तथाहि—'स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि । पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥' (म० ३।८१), 'ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा । नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥' (म० ४।२१) इति गृहस्थप्रकरण एव पञ्चयज्ञविधानात् । 'अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति' (म० ४।२२) इत्यपि द्रव्यमनीहमानानां गृहस्थानामेव शिलोञ्छवृत्तीनां पङ्ग्वादीनां चायं विधिरिति मेधातिथिः । तेषामपि 'यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्' (म० ९।२०३) इति दारसंग्रहविधानात् । न चैतेषां पञ्चयज्ञाधिकारः, अद्रव्यत्वात् । भरणमात्रं ते लभन्ते । 'वाच्येके

सर्वस्व का दान कर ब्राह्मण संन्यास ग्रहण करता है । स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ 'परमेश्वर जिसके देवता है' (पृ० २८०) ऐसा किया है, जो कि सही नहीं है, क्योंकि संन्यासी का इष्टि में अधिकार ही नहीं होता । 'ऐसा हृदय में विचार कर' यह अर्थ किस शब्द से निकलेगा ? इसी तरह से 'सर्ववेदस' शब्द से शिखा-सूत्र आदि का ग्रहण किस प्रमाण के आधार पर किया जायगा ? किसी भी इष्टि में अथवा संन्यास आश्रम को स्वीकार करने पर भी शिखा, यज्ञोपवीत आदि का होम कहीं भी विहित नहीं है । इस प्रकार की विधि का बोधक कोई वेद वाक्य भी उपलब्ध नहीं है ।

आगे अपनी व्याख्या में दयानन्द ने कहा है—'परन्तु इस संन्यास आश्रम के ग्रहण करने का अधिकार उन्हीं को होता है, जो कि सम्पूर्ण वेदविद्या से परिचित हों, राग-द्वेष से रहित हों और जिनकी बुद्धि सभी मनुष्यों का उपकार करने में लगी हो, अल्पज्ञ जनों को इसमें अधिकार नहीं दिया जा सकता । इन संन्यासियों का अग्निहोत्र यही कि वे नित्य प्राण और अपान की, अर्थात् अपने श्वास-प्रश्वास की नित्य आहुति देते रहते हैं और बाह्य दोषों से अपनी इन्द्रियों और मन को सदा हटाकर सत्य धर्म का अनुष्ठान करते हैं । अन्य तीन आश्रमों में रहने वाले व्यक्ति जिन बाहरी क्रियाकाण्डों का अनुष्ठान करते हैं, संन्यासियों के लिये उनकी आवश्यकता नहीं रहती । संन्यासियों के लिये तो सच्ची बात का उपदेश करना ही ब्रह्मयज्ञ है । ब्रह्म की उपासना करना देवयज्ञ है । अपने विषय के विद्वान् पुरुषों का आदर करना और अज्ञ जनों को ज्ञान का उपदेश करना पितृयज्ञ है । सभी प्राणियों पर दयाभाव दिखलाना और उनको किसी तरह की पीडा न पहुंचाना भूतयज्ञ है, सभी मनुष्यों के उपकार के लिये देश-देशान्तर में घूमते रहना, अभिमान न करना, सही बात को समझाना, इस प्रकार सभी मनुष्यों के सत्कार में लगे रहना अतिथियज्ञ है । इस तरह के पांच महायज्ञों का अनुष्ठान करने वाले संन्यासी वैज्ञानिक धर्म के अनुष्ठान के रूप में प्रसिद्ध होते हैं' (पृ० २८०) । किन्तु यह सारा कथन भी निर्मूल है, क्योंकि संन्यासियों के लिये कहीं भी उक्त पांच महायज्ञों का विधान नहीं किया गया है । इन पांच महायज्ञों का विधान तो केवल गृहस्थ के लिये ही है । जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है—'वेदपाठ से ऋषियों को, होम से देवताओं को, श्राद्ध से पितरों को, अन्न से मनुष्यों को और बलिकर्म से भूतों को विधिपूर्वक पूजना चाहिये', 'ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नरयज्ञ और पितृयज्ञ इन पांच यज्ञों को जहां तक हो सदा कभी न छोड़ना चाहिये ।' इस प्रकार इन पांच यज्ञों का विधान गृहस्थ धर्म के प्रकरण में होने से ये उन्हीं से संबद्ध माने जा सकते हैं । आगे 'यज्ञ शास्त्र के जानने वाले कितने ही लोग इन महायज्ञों को न करके पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का ही हवन करते हैं, अर्थात् इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होते' इस वाक्य में भी द्रव्य की इच्छा रखने वाले गृहस्थों के लिये ही यह विधान है, ऐसी व्याख्या मनु के व्याख्याकार मेधातिथि ने की है । इस प्रकार के शिला और उञ्छ वृत्ति से अपनी जीविका चलाने वाले ब्राह्मण भी गृहस्थ होते हैं । उनका पांच यज्ञ में अधिकार नहीं होता, क्योंकि ये द्रव्यसाध्य हैं और उक्त वृत्ति वाले ब्राह्मण केवल

जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा । वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृतिमक्षयाम् ॥' (म० ४।२३) । न च संन्यासिनां कृते पञ्चयज्ञविधानमतस्तत्र गौणी पञ्चयज्ञकल्पनापि व्यर्थैव । प्राणापानहोमस्तु प्राणेऽपानस्यापाने प्राणस्य च प्रविलापनमेव । दोषेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च निवर्तनं सत्यधर्मानुष्ठानस्याग्निहोत्रत्वमपि प्रमाणशून्यमेव । निषिद्धविषयेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च निवृत्तिरपेक्षितैव । एवं सत्योपदेशादीनां ब्रह्मयज्ञत्वादिसंज्ञाकरणमपि निर्मूलमेव । विज्ञानानां प्रतिष्ठाकरणं पितृयज्ञ इत्यपि तत्कपोलकल्पितमेव ।

'अद्वितीयस्य सर्वशक्तिमदादिविशेषणयुक्तस्य परब्रह्मण उपासना सत्यधर्मानुष्ठानं च सर्वेषामाश्रमिणामेकमेव' (पृ० २८०) इत्यादिकमपि यत्किञ्चिदेव, परमेश्वरोपासनसत्यधर्मानुष्ठानयोर्भेदे ऐक्यासम्भवात् । अभेदे पृथगुल्लेखायोगाच्च । सर्वशक्त्यादिविशेषणस्येत्युक्त्यैव निर्वाहे गुरुतरशब्दोपन्यासस्य व्यर्थत्वाच्च ।

यं यं लोकमित्यस्य त्वयमर्थः—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य इत्यादि रीत्या सर्वात्मानमात्मत्वेन प्रतिपन्नो ब्रह्मात्मविद् यं यं पितृलोकदेवलोकादिकं मनसा संविभाति सङ्कल्पयति मह्यमन्यस्मै वाऽयं लोको भवत्विति, विशुद्धसत्त्वः विशुद्धं रजस्तमोरहितं सत्त्वं चित्तं यस्य स क्षीणक्लेशो निर्मलान्तःकरणो ब्रह्मविद् यांश्च कामान्, काम्यन्त इति कामा भोगास्तान्, कामयते प्रार्थयते तं तं लोकं तांश्च कामितान् भोगान् जयते प्राप्नोति। तस्माद्विदुषः सत्यसङ्कल्पत्वाद् आत्मज्ञमात्मज्ञानेन विशुद्धान्तःकरणं पादप्रक्षालनशुश्रूषानमस्कारादिभिर्भूतिकामो विभूतिमिच्छुरर्चयेत् पूजयेत् । यत्तु—'संन्यासिनमेव सदार्चयेत्' (पृ० २८१), इति तत्तुच्छम्, तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेदिति वचनेनात्मज्ञस्यैवार्चनविधानात् । न च संन्यासिन एवात्मज्ञत्वमिति नियमः, याज्ञवल्क्यादीनां गृहस्थानामप्यात्मज्ञत्वश्रवणात्, संन्यासिनामप्याधुनिकानामनात्मज्ञत्वदर्शनात् ।

अपने भरण-पोषण करने लायक ही धन एकत्र करते हैं । इनमें से 'कोई गृहस्थ वाणी और प्राण में यज्ञ का अक्षय फल जानकर वाणी में प्राण को और प्राण में वाणी को सदा होमते हैं, अर्थात् वाणी और प्राण का संयम करते हैं ।' इस प्रकार पंचयज्ञ की विधि सर्वत्र गृहस्थों के लिये ही है, अतः पंचयज्ञ की गौण विधि का विधान भी गृहस्थ के लिये होगा, संन्यासी के लिये नहीं । इस तरह से संन्यासी के लिये की गई दयानन्द की उक्त व्याख्या शास्त्रसंमत नहीं मानी जा सकती । प्राण-अपान के होम का तात्पर्य प्राण में अपान का और अपान में प्राण को मिला देना ही है । 'इन्द्रियों और मन को दोषों से हटा देना और सत्यधर्म का आचरण ही अग्निहोत्र है' दयानन्द की यह व्याख्या भी प्रमाणों से समर्थित नहीं है । निषिद्ध विषयों से इन्द्रियों की और मन की निवृत्ति तो अपेक्षित ही है । इस तरह से सही बात का उपदेश करना इत्यादि को दयानन्द ने ब्रह्मयज्ञ बताया है, उनकी पंचयज्ञ की यह नई व्याख्या भी सर्वथा निराधार है । विज्ञान की प्रतिष्ठा करना पितृयज्ञ कहलाता है, यह भी उनकी कपोल कल्पना मात्र है ।

'अद्वितीय, सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणों से युक्त परब्रह्म की उपासना और सत्य धर्म का आचरण सभी आश्रमों में रहने वाले व्यक्तियों का एक समान धर्म है' (पृ० २८०) दयानन्द का यह कथन भी निराधार है, क्योंकि परमेश्वर की उपासना और सत्य धर्म के अनुष्ठान को अलग मानने पर इनको एक ही कैसे कहा जा सकता है । अब यदि ये अभिन्न हैं, तो इनका अलग से उल्लेख आपने क्यों किया ? 'सर्वशक्ति' कहने से ही आपके कथन का निर्वाह हो जाता है, इस परिस्थिति में आपके लिये विशेषण लगाना व्यर्थ है ।

उक्त श्रुति में 'यं यं लोकम्' इस अंश का तात्पर्य यह है—'इस अणु आत्मा को चित्त की एकाग्रता स्थापित कर जानना चाहिये' इस श्रुति के प्रमाण पर सब को आत्मा को अपनी आत्मा मानने वाला ब्रह्मवेत्ता जिस किसी पितृलोक, देवलोक आदि का मन में संकल्प करता है कि मुझे या किसी दूसरे अनुग्राह्य को अमुक लोक की प्राप्ति हो, उसको वह पद प्राप्त हो जाता है । जिसका चित्त रज और तम से रहित सत्त्व गुण प्रधान है, उसको विशुद्धसत्त्व कहा जाता है, इस तरह का निर्मल अन्तःकरण वाला ब्रह्मवेत्ता जिन जिन कामनाओं, जिन जिन लोकों को चाहता है, उन उन कामनाओं और लोकों को वह प्राप्त कर लेता है । इसलिये इस तरह का विद्वान् ब्रह्मवेत्ता सदा सत्यसंकल्प होता है, अतः जो व्यक्ति अपने ऐश्वर्य को बढ़ाना चाहता है, उसको चाहिये कि वह इस तरह के सत्यसंकल्प वाले ब्रह्मवेत्ता विद्वान् की विशुद्ध मन से पैर धोना, सेवा करना, नमस्कार करना आदि विविध उपचारों से पूजा करे । दयानन्द ने इसकी व्याख्या में बताया है कि 'संन्यासी की सदा पूजा करना चाहिये' (पृ० २८१), किन्तु उसकी यह व्याख्या गलत है, क्योंकि यहां आत्मज्ञ की पूजा का ही विधान है । संन्यासी आत्मज्ञ हो ही, ऐसा कोई नियम नहीं है । याज्ञवल्क्य प्रभृति विद्वान् गृहस्थ होते हुए भी आत्मज्ञ थे । इसके विपरीत आजकल के अनेक संन्यासी आत्मज्ञ नहीं होते ।

पञ्चमहायज्ञविचारः

सत्यार्थप्रकाशादौ पञ्चमहायज्ञस्वरूपं यल्लिखितं तदपि परम्पराविरुद्धमेव। यत्तु ब्रह्मयज्ञाग्निहोत्रप्रमाणरूपेण मन्त्रा उद्धृताः—'समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्य जु होतन ॥' (वा० सं० ३।१), 'अग्निं दूतं परो दधे हव्यवाहमुपब्रुवे। देवाँ आ सादयादिह ॥' (वा० सं० २२।१७)। हे ऋत्विजः, यूयं समिधा सम्यगिद्धयते दीप्यतेऽग्निर्यया सा समित् तयाऽश्वत्थ्या समिधा अग्निं देवं दुवस्यत परिचयत। दुवस्यतेः परिचरणार्थत्वात्। घृतैः पूर्णाहुतिसम्बन्धिभिः होष्यमाणैरतिथिमातिथ्यकर्मणाराधनीयमग्निं बोधयत प्रवुद्धं कुरुत। अस्मिन्नग्नौ हव्यान् नानाविधानि हवींषि आजुहोतन सर्वतो जुहुत। 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति तनवादेशः। यत्तु 'हे मनुष्या, वाय्वोषधिवृष्टिजलशुद्धया परोपकाराय घृतैर्घृतादिभिः शोधितैर्द्रव्यैः समिधा चातिथिमग्निं यूयं बोधयत' इत्यादिकं तत्तु निर्मूलमेव, वाय्वादिशुद्धेरन्यथापि सम्भवात्। यदपि—'हव्या होतुमर्हाणि पुष्टि-मधुर-सुगन्ध-रोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानि सम्यक्शोधितानि द्रव्याणि आसमन्ताज्जुहुत। अनेन कर्मणा सर्वोपकारं कुरुत' (पृ० २८३) इत्यादिकम्, तत्तु सर्वमुदक्षरमेव मन्तव्यम्, पूर्वमेव निराकृतत्वात्। एतदुपदेशेनैव सामाजिका यत्र तत्र ताम्रायसादिकुण्डेष्वग्निहोत्रनाम्ना वाय्वादिशुद्धिं कुर्वन्तो दृश्यन्ते।

अग्निं दूतमिति यमग्निमहं पुरः पुरतो दधे स्थापयामि तं प्रति उपब्रुवे उपगम्य ब्रवीमि। किं तदाह—हे अग्ने, इह यज्ञे त्वं देवानासादयात् आसादय। कीदृशमग्निं दूतं देवानां हव्यवाहं हविषां वोढारम्। यदुक्तम्—'अग्निहोत्रकर्तैवमिच्छेदहं वायौ मेघमण्डले च भूतद्रव्यस्य प्रापणार्थमग्निं दूतं भृत्यवत् पुरो दधे सम्मुखतः स्थापये कथं। भूतमग्निं हव्यवाहं द्रव्यं देशान्तरं वहति प्रापयतीति अन्यान् जिज्ञासून् प्रत्युपदिशानि सोऽग्निरेतदग्निहोत्रकर्मणा देवान् दिव्यगुणान्

पंच महायज्ञ विचार

सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में स्वामी दयानन्द ने पंच महायज्ञ आदि को जो स्वरूप बताया है; वह परम्परा से वर्णित स्वरूप के विरुद्ध है। स्वामी दयानन्द ने यहां ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र के प्रमाण के रूप में 'सामिधाग्नि' प्रभृति मन्त्रों को उद्धृत किया है। इनमें से प्रथम मन्त्र का परम्परा प्राप्त अर्थ इस तरह से है—'हे ऋत्विग्गण, आप लोग समिधा से विशेष कर अश्वत्थ (पिप्पल वृक्ष) की समिधा (लकड़ी) से उस अग्निदेव की सेवा कीजिये। लकड़ी को समिधा इसलिये कहा जाता है कि इससे अग्नि प्रज्वलित होती है। इसी तरह से पूर्णाहुति के अवसर पर दी जाने वाली घृत की आहुति से इस अतिथिस्वरूप अग्नि को तृप्त कीजिये। इस अग्नि में आप लोग नाना प्रकार की आहुति प्रदान कीजिये'। स्वामी दयानन्द ने तो इसका अर्थ करते हुए लिखा है कि—'हे मनुष्यों, तुम लोग वायु, औषधी और वर्षा जल की शुद्धि से सबके उपकार के लिये घृत आदि शुद्ध वस्तुओं से और समिधा अर्थात् आम्र, ढाक आदि काष्ठों से अतिथिरूप अग्नि को नित्य प्रकाशमान करो' (पृ० २८४), किन्तु यह कथन निराधार है, क्योंकि वायु प्रभृति की शुद्धि अन्य उपायों से भी हो सकती है। आगे इसकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—'फिर उस अग्नि में होम करने के योग्य पुष्ट, मधुर, सुगन्धित, अर्थात् दुग्ध, घृत, शर्करा, गुड, केशर, कस्तूरी आदि तथा रोगनाशक सोमलता आदि सब प्रकार के शुद्ध द्रव्य हैं, उनका अच्छी प्रकार नित्य अग्निहोत्र करके सबका उपकार करो' (पृ० २८४) यह सारा कथन भी मन्त्र के अक्षरों के विपरीत है और इसका खण्डन हम पहले ही कर चुके हैं। दयानन्द के इसी उपदेश के आधार पर आर्यसमाजी सज्जन जहां-कहीं तांबे, लोहे आदि के कुण्ड बना कर उनमें अग्निहोत्र के नाम से वायु की शुद्धि करते देखे जाते हैं।

'अग्नि दूतं' इस द्वितीय मन्त्र का सही अर्थ यह है—जिस अग्नि को मैं सामने स्थापित कर रहा हूं, उसके पास जाकर मैं कहता हूं कि हे अग्ने, तुम इस मेरे यज्ञ में देवताओं को ले आओ। यह अग्नि, जिससे मैं यह बात कहता हूं, वह देवताओं के लिये दी गई हवि को उनके पास पहुँचाने वाला है'। स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ यह किया है—'अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य ऐसी इच्छा करे कि मैं प्राणियों के उपकार करने वाले पदार्थों को पवन और मेघ मंडल में पहुंचाने के लिये अग्नि को सेवक की नाईं अपने सामने स्थापन करता हूं, क्योंकि वह अग्नि हव्य अर्थात् होम करने के योग्य वस्तुओं को अन्य देश में पहुंचाने वाला है। इसीलिये इसका नाम 'हव्यवाट्' है। जो उस अग्निहोत्र को जानना चाहें, उनको मैं उपदेश करता हूं कि वह अग्निहोत्र कर्म से पवन और वर्षा जल की शुद्धि

वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारेहास्मिन् संसारे आसादयात् आसमन्तात् प्रापयति' (पृ० २८३) इति, तत्तु निर्मूलमेव, तथा भावनाविधानादर्शनात् । निर्मूला च विधुरकर्तृकभामिनीभावना भ्रान्तिरूपैव । हव्यवाहमित्यस्योपस्थितस्य कर्मत्वेनान्वयमपहायानुपस्थितस्य जिज्ञासूनिति पदस्य प्रकल्पनमन्याय्यमेव, उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पने मानाभावात् । देवानित्यस्यापि प्रसिद्धेन्द्राद्यर्थमपहाय दिव्यगुणार्थप्रकल्पनमपि मुख्यार्थपरित्यागोऽर्थान्तरकल्पनं चापि दूषणमेव, तस्मादिह यज्ञे देवान् आसादयेत्येवार्थो युक्तः, देवतोद्देश्यकद्रव्यत्यागस्यैव यज्ञत्वेन यज्ञे देवासादनस्यैव सङ्गतत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'हे परमेश्वर दूतं सर्वेभ्यः सत्योपदेशकम् अग्निसंज्ञकं त्वां पुरोदधे इष्टत्वेनोपास्यं मन्ये । हव्यवाहं ग्रहीतुं योग्यं शुभगुणमयं विज्ञानं हव्यं वहति प्रापयतीति तं त्वामुपदिशानि । स भवान् कृपया इह अस्मिन् संसारे देवान् दिव्यगुणान् प्रापयतु' (पृ० २८३) इति । तदपि न समञ्जसम्, शाब्दन्यायमर्यादाबहिर्भूतत्वात् । कया वृत्त्या दूतपदं सर्वोपदेशकपरमिति वक्तव्यम् ? स्वैरचारित्वे शाब्दन्यायेऽराजकतापत्तेः । विज्ञानस्य हव्यपरता निर्मूलैव । अन्यदपि निर्मूलमेव ।

'सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता । वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥' (अथर्व० १९।७।३)

गृहपतिः गृहस्य स्वामी यजमानः, गृहपतिनाहितोऽग्निर्वा गार्हपत्योऽग्निः । तद्धितप्रत्ययस्य लुकि रूपम् । नोऽस्माकं सर्वेषु सायंकालेषु प्रातःकालेषु च सौमनसस्य सुखस्य दाता भवति । अथ प्रत्यक्षकृतः—हे अग्ने, वसोर्वसोः सर्वस्य प्रभूतस्य धनस्य दानो दाता एधि भव । त्वा त्वामिन्धाना हविर्भिर्दीपयन्तो वयं तन्वम्, एकवचनमतन्त्रम्, सर्वाणि पुत्रमित्रादिशरीराणि पुषेम पोषयेम ।

यदुक्तम्—'अस्माकमयमग्निर्भौतिकः परमेश्वरश्च गृहपतिः गृहात्मपालकः प्रातःसायं परिचरितः सूपासितश्च सौमनसस्यारोग्यस्यानन्दस्य च दाता' (पृ० २८३) इति, तदपि न सङ्गतम्, भौतिकस्य जडस्याग्नेः सम्बोद्ध्यत्वानुपपत्त्या

से इस संसार में श्रेष्ठ गुणों को पहुंचाता है' (पृ० २८४), किन्तु यह व्याख्या पूर्णतः निराधार है, इस तरह की भावना करने की विधि वेद में कहीं विहित नहीं है । बिना प्रमाण की भावना उसी तरह से भ्रान्त मानी जाती है, जैसे कि विधुर की स्त्रीविषयक भावना भ्रान्त होती है । हव्यवाट् के रूप में उपस्थित अग्निरूप कर्म को छोड़ कर अनुपस्थित जिज्ञासु जनों को कर्म के रूप में अन्वित करना भी गलत है, क्योंकि उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित पदार्थ के साथ अन्वय मिलाने में कोई प्रमाण नहीं है । 'देवान्' इस पद का भी अर्थ इन्द्र प्रभृति देवगण होता है, इसको छोड़कर दिव्यगुण वाले पदार्थों की कल्पना करना भी गलत है, क्योंकि इसमें मुख्य अर्थ को छोड़ना पड़ता है और एक नये अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है । इसलिये इस यज्ञ में देवताओं को ले आओ, यही अर्थ उचित है । देवताओं के निमित्त आहुति आदि देना ही यज्ञ कहलाता है, अतः इस यज्ञ में देवताओं का ले आना ही, उचित प्रार्थना मानी जा सकती है ।

दयानन्द ने इस मन्त्र की दूसरी व्याख्या यह की है—हे सब प्राणियों को सत्य उपदेशकारक परमेश्वर, जो कि आप अग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं, मैं इच्छापूर्वक आपको उपासना करने के योग्य मानता हूँ । ऐसी कृपा करो कि आपको जानने की इच्छा करने वालों के लिये भी मैं आपका शुभ गुणयुक्त विशेष ज्ञानदायक उपदेश करूं तथा आप भी कृपा करके इस संसार में श्रेष्ठ गुणों को पहुँचावें' (पृ० २८४), किन्तु यह कथन भी सही नहीं है, क्योंकि शब्दार्थप्रक्रिया के यह सर्वथा विपरीत हैं । आप यह बताइये कि किस वृत्ति की सहायता से आप दूत पद का अर्थ सर्वोपदेशक करेंगे । मनमानी करने पर तो शाब्दिकप्रक्रिया में अराजकता मच जायगी । 'हव्यवाट्' पद में हव्य का अर्थ विज्ञान करना भी निराधार है । इसी तरह से अन्य बातें भी गलत हैं ।

दयानन्द द्वारा उद्धृत तृतीय मन्त्र की सही व्याख्या यह है—'गृहपति शब्द से यहाँ घर का स्वामी यजमान गृहीत है । इस यजमान के द्वारा स्थापित गार्हपत्य अग्नि भी यहाँ गृहपति शब्द से ही अभिहित होता है । यह गार्हपत्य अग्नि हमारे सभी सायंकालीन और प्रातःकालीन कार्यों में सुख का संचार करने वाला बने । हे अग्नि, आप सभी तरह के प्रभूत धन को हमें दीजिये । हम आपको हवि प्रदान कर प्रज्वलित करते हुए अपने पुत्र, मित्र शरीर आदि को पुष्ट करें' ।

दयानन्द ने इसका अर्थ इस तरह से किया है—'प्रतिदिन प्रातः सायं श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त यह गृहपति, अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर सौमनस्य आरोग्य, आनन्द और वसु अर्थात् धन का देने वाला है' (पृ० २८४),

साधिदेवो गार्हंपत्योऽग्निरेवेह ग्राह्यः, तस्यैव गार्हंपत्यरूपेण गृहपतित्वात्। परमेश्वरस्तु सर्वाधिपतिरेव, तस्य गृहपतित्वे वैशेष्यानुपपत्तेः। एवं राज्यादिव्यवहारे हृदये च एधि प्राप्तो भवेत्यप्यसङ्गतम्। राज्यादिव्यवहारे कीदृशी प्राप्तिरित्यपि न स्पष्टमिति न्यूनतैव। वसुदाता भवेत्यन्वयोपपत्त्या निराकाङ्क्षत्वेन प्राप्त इत्यस्य कर्तृत्वेनाक्षेपानर्हत्वात्। हे परमेश्वर, त्वामिन्धाना प्रकाशमाना इत्यप्यसङ्गतम्, परमेश्वरस्य स्वप्रकाशत्वेन प्रकाशकर्मत्वानुपपत्तेः।

'प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतहिमा ऋधेम ॥' (अथर्व० १९।७।१४)

पूर्वस्मिन् मन्त्रे शरीरपोषणमभ्यर्थितमिह तु जीवनमभ्यर्थ्यते—शतं शतसंख्याका हिमाः हेमन्तर्तून् ऋधेम वृद्धिमाप्नुम, 'ऋधु वृद्धौ' इति स्मरणात्। अग्निपरिचर्यया शतं जीवाम इत्यर्थः। 'जीवेम शरदः शतम्' इत्यत्र शरच्छब्दस्येव प्रकृतमन्त्रे हिमशब्दोऽपि संवत्सरपरः, शरदीव हेमन्तर्तावपि कदाचित् वसन्तसम्पातस्य जातत्वात् तथा व्यवहारोपपत्तेः। शरद इव हिमर्तोरपि दुरतिक्रमणीयत्वेन संवत्सरपर्यन्तं निर्विघ्नमेव जीवनं सम्पद्यत इति वा।

यत्तु—'अग्निहोत्रकरणार्थं ताम्रस्य मृत्तिकाया वैकां वेदिं सम्पाद्य काष्ठस्य रजतसुवर्णयोर्वा चमसमाज्यस्थालीं च संगृह्य तत्र वेद्यां पलाशाम्रादिसमिधः संस्थाप्याग्निं प्रज्वाल्य पूर्वोक्तद्रव्यस्य प्रातःसायंकालयोः प्रातरेव वोक्तमन्त्रैर्नित्यं होमं कुर्यात्' (पृ० २८३) इति, तदपि न सङ्गतम्, तादृशाग्निहोत्रस्यानार्षत्वात्। वस्तुतस्तु गृह्यसूत्रानुसारेणाग्न्याधानपूर्वकं स्मार्तमग्निहोत्रं भवति। स्वशाखीयकात्यायनादिश्रौतसूत्रानुसारेणाहवनीयगार्हपत्यान्वाहार्यपचनसभ्यावसथ्यादिपञ्चकुण्डतदनुगुणयज्ञशालादिनिर्माणाधानादिपूर्वकं श्रौताग्निहोत्रं भवति।

किन्तु यह कथन भी सही नहीं है, भौतिक जड़ अग्नि को संबोधित नहीं किया जा सकता, इसलिये आधिदैविक गार्हपत्य अग्नि ही यहां गृहीत होता है, वही गार्हपत्य के रूप में गृहपति माना जाता है। परमेश्वर तो सभी का स्वामी है, उसको गृहपति कहने पर क्या विशेषता आ सकती है? इसी तरह से 'हे परमेश्वर, आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित हों' (पृ० २८४), इस तरह का अर्थ करना भी असंगत है, राज्य आदि व्यवहार में किस तरह की परमेश्वर की प्राप्ति दयानन्द को अभिप्रेत है, यह भी स्पष्ट नहीं है। 'आप धन के दाता होइये' इसी से वाक्य का अन्वय जब बन जाता है और वाक्य निराकांक्ष हो जाता है, तब पुनः कर्ता के रूप में परमेश्वर की प्राप्ति की बात करना गलत है। इसी तरह से परमेश्वर को प्रकाशित करने की बात भी गलत है, क्योंकि परमेश्वर तो स्वयंप्रकाश है, यह किसी से प्रकाशित नहीं हो सकता।

'प्रातः प्रातः' इस चतुर्थ मन्त्र का अर्थ यह है—'इससे पहले के मन्त्र में अपने शरीर की पुष्टि के लिये प्रार्थना की गई थी। अब इस मन्त्र में जीवन के लिये प्रार्थना की जाती है—हे अग्ने, हम सौ वर्ष तक जीवित रहें, अर्थात् आपकी सेवा करते हुए हम सौ वर्ष की आयु प्राप्त करें'। 'जीवेम शरदः शतम्' इस मन्त्र में शरद् शब्द जैसे संवत्सर (वर्ष) का वाची है, उसी तरह से हिम शब्द भी यहाँ वर्ष का बोधक है। शरद् ऋतु के समान कभी कभी हेमन्त ऋतु में भी वसन्त संपात होता था, अतः ऐसा व्यवहार प्रचलित है। शरद् ऋतु के समान हेमन्त ऋतु को भी सकुशल बिता पाना कठिन होता है, अतः इन ऋतुओं के सकुशल बीत जाने पर सारा वर्ष सकुशल बीत जाता है, अतः इस तरह की प्रार्थना करना ठीक ही है।

स्वामी दयानन्द यहाँ लिखते हैं—'अग्निहोत्र करने के लिये ताम्र या मिट्टी की वेदि बना कर काष्ठ, चांदी या सोने का चमचा, अर्थात् अग्नि में पदार्थ डालने का पात्र और आज्य स्थाली, अर्थात् घृत आदि पदार्थ रखने का पात्र लेकर उस वेदि में ढाक या आम्र आदि वृक्षों की समिधा स्थापन करके अग्नि को प्रज्वलित करके पूर्वोक्त पदार्थों को प्रातःकाल और सायंकाल अथवा प्रातःकाल ही नित्य होम करें' (पृ० २८५), किन्तु यह कथन भी सही नहीं है, क्योंकि इस तरह का अग्निहोत्र ऋषियों के द्वारा अनुष्ठित नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि गृह्यसूत्रों के अनुसार अग्नि का आधान करना स्मार्त अग्निहोत्र कहलाता है और अपनी अपनी शाखा के कात्यायन प्रभृति श्रौतसूत्रों के अनुसार आहवनीय, गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन, सभ्य और आवसथ्य इन पांच कुण्डों का और तदनुरूप यज्ञशाला का निर्माण कर उसमें अग्नि का आधान करना श्रौत अग्निहोत्र कहलाता है।

'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा। सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा। ज्योतिः सूर्य्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा। सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा।' इति प्रातःकालमन्त्राः। 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा। अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा। सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा।' इति सायङ्कालमन्त्राः।

मन्त्रार्थस्तु—योऽयं सूर्यः स एव दृश्यमानज्योतिःस्वरूपम्, यच्चेदं ज्योतिर्दृश्यते तदेव सूर्यो देवः, सूर्यस्य ज्योतिषश्च कदाचिदपि वियोगाभावात् तयोरैक्यमिहोच्यते। स्वाहेति सूर्याय देवाय हविः प्रदत्तमस्तु। स्वाहाशब्दस्य देवतामुद्दिश्य विहितद्रव्यत्यागार्थत्वात्। अत्र 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषट्योगाच्च' (पा० सू० २।३।१६) इति सूत्रानुसारं प्रथमा चतुर्थ्यन्तत्वेन व्याख्येया। सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य इत्यभ्यासोऽनुपचरितैक्यरूपभूयस्त्वार्थबोधनाय ज्ञेयः। सूर्यमुद्दिश्य ज्योतिष्ट्वविधानाय प्रथमः, ज्योतिरुद्दिश्य सूर्यत्वविधानाय द्वितीयः, 'त्वं वै भगवो देवतेऽहमस्मि। अहं वै भगवो देवतेऽहमस्मि। अहं वै भगवो देवते त्वमसि' इतिवदत्यन्ताभेदबोधनाय व्यतिहारनिर्देशो वा। हानं हाः, न हा अहाः, स्वस्य अहा अपरित्यागः स्वाहा, स्वस्यात्मन आत्मीयस्य वा अहानं (रक्षणं) भवति देवतोद्देश्येन विहितद्रव्यत्यागादित्यर्थः। यथा क्षेत्रेषु व्रीहि-यव-गोधूमादिनिक्षेपो न त्यागः, किन्तु रक्षणमेव, एकैकस्य बीजस्य फलरूपेणापरिगणितव्रीह्यादिलाभदर्शनात्, तथैवाग्निमुखेन तत्तद्देवतोद्देश्येन विहितद्रव्यत्यागोऽपि रक्षणमेव, तत्त्यागेनानन्तसुखादिलाभश्रवणात्। सुष्ठु आसमन्तात् हानं देवतायै विहितद्रव्यस्य दानं वा स्वाहा, स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकदेवतास्वत्वोपपादनस्यैव स्वाहापदार्थत्वात्। सूर्यसम्बन्धितेजो रात्रावग्निं प्रविशतीति सायमग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रेण होमो युक्तः। उदयकालेष्वग्निसम्बन्धि तेजः सूर्यं प्रविशति। तस्मात्प्रातः सूर्यो ज्योतिरिति मन्त्रेण होमः। 'अग्निमादित्यः सायं प्रविशति तस्मादग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे उभे हि

इसके आगे स्वामी दयानन्द ने प्रातःकालीन और सायंकालीन अग्निहोत्र के संपादन के लिये दो दो मन्त्र उद्धृत किये हैं। क्रमशः उन मन्त्रों की व्याख्या इस प्रकार होगी—'सूर्यो ज्योति०' इस प्रथम मन्त्र में कहा गया है—'सूर्य के नाम से यह दिखाई पड़ने वाला प्रकाश ही जाना जाता है। यह जो प्रकाश दिखायी पड़ता है, यही सूर्य देव है। सूर्य और ज्योति कभी अलग नहीं होते, अतः उन दोनों की एकता इस मन्त्र में बताई गई है। स्वाहा का अर्थ है सूर्य देव के निमित्त दी गई यह हवि हमारे लिये कल्याणकारी हो। किसी देवता को उद्दिष्ट कर विधिपूर्वक हवि को देते समय स्वाहा शब्द का उच्चारण किया जाता है। स्वाहा के योग में चतुर्थी विभक्ति व्याकरण के नियम के अनुसार होनी चाहिये। अतः यहाँ प्रथमा विभक्ति चतुर्थी के अर्थ में ही प्रयुक्त मानी जाती है। सूर्य को ज्योति और ज्योति को सूर्य बताना इन दोनों की अटूट एकता को बड़ी गंभीरता से कहने के लिये है। अथवा पहला वाक्य सूर्य को ज्योति बताने के लिये और दूसरा वाक्य ज्योति को सूर्य बताने के लिये है 'हे भगवन्' आप ही मैं हूं और मैं ही आप हैं' इस श्रुति वचन में अपना और देवता का अत्यन्त अभेद बताया जाता है, उसी तरह से यहाँ भी सूर्य और ज्योति का अत्यन्त अभेद अभीष्ट है। स्वाहा शब्द का विग्रह इस तरह से किया जाता है—'हा' का अर्थ है हानि, इसके विपरीत 'अहा' का अर्थ हानि का न होना, अर्थात् अपना कुछ नुकसान न होना। स्व अर्थात् अपना अथवा आत्मीय का अहान अर्थात् रक्षण जिस व्यापार से होता हो, उसको स्वाहा कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि देवता को निमित्त बनाकर इस शब्द के उच्चारण के साथ जो हवि दी जाती है, उससे अपने और अपने आत्मीय की रक्षा होती है, किसी प्रकार की हानि नहीं होती। जैसे खेत में धान, जौ, गेहूं के दाने डालना हानि न कहलाकर रक्षा कही जाती है, क्योंकि आगे चलकर एक एक बीज से अपरिमित धान आदि की प्राप्ति होती है, उसी तरह से अग्नि के मुख में उस उस देवता के निमित्त दी गई आहुति भी किसी प्रकार की हानि न होकर लाभ ही कहलावेगी, क्योंकि आगे चलकर इस आहुति के त्याग से अनन्त सुख आदि लाभ की प्राप्ति होगी। अथवा सभी भाँति सब तरह से देवता के निमित्त विहित द्रव्य के दान को स्वाहा कहा जायगा, क्योंकि स्वाहा शब्द का उच्चारण कर जिस द्रव्य को समर्पित किया जाता है, उस पर अपना अधिकार छोड़कर अग्नि का अधिकार मान लिया जाता है। सूर्य सम्बन्धी तेज रात्रि में अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है, इसलिये सायंकाल 'अग्निज्योति०' इस मन्त्र से आहुति दी जाय, यह उचित ही है। सूर्योदय की वेला में अग्नि का तेज सूर्य में प्रविष्ट हो जाता है, अतः प्रातःकाल 'सूर्यो ज्योति०'

तेजसी सम्पद्येते। उद्यन्तं वादित्यमग्निरनुसमारोहति, तस्माद् धूम एव दिवा ददृशे' इति तैत्तिरीयश्रुतेः। 'अग्निर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसकामस्येति' (का० श्रौ० सू० ४।१४।१५) इति कात्यायनवचनात्। 'ब्रह्मवर्चसकामः अग्निर्वर्चः सूर्यो वर्च इति ज्योतिः सूर्य इति वा प्रातः' (का० श्रौ० सू० ४।१५।११)। यज्ज्योतिः सूर्य एव, यः सूर्यः स ज्योतिरेव, तस्मै स्वाहा।

यत्तु—'यश्चराचरात्मा ज्योतिषां प्रकाशकानां ज्योतिः प्रकाशकः सूर्यः सर्वप्राणः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै स्वाहा तदाज्ञापालनेन सर्वजगदुपकारायाहुतिं दद्मः' (पृ० २८५) इति व्याख्यानम्, तत्तु वेदबाह्यमेव, ज्योतिषां ज्योतिरिति पाठाभावात्। सूर्यो ज्योतिरिति सामानाधिकरण्येन तु सूर्यज्योतिषोरभेद एव सिद्ध्यति। यदि ज्योतिष्पदमेव ज्योतिषां ज्योतिषो बोधकमिति, तदापि तत्र हेतुर्वक्तव्यः। नहि ज्योतिष्पदे तादृशार्थबोधने शक्तिः, न च लक्षणायां वीजमुपलभ्यतेऽन्वयानुपपत्तेस्तात्पर्यानुपपत्तेश्चाभावात्। सन्तुष्यतु दुर्जनन्यायेन तथाभ्युपगमे सूर्यपदस्यापि लाक्षणिक एवार्थः स्यात्। न च तद्युक्तं शक्त्या बोधकत्वे सम्भवति भक्त्याश्रयणस्यायोग्यत्वात्।

'यो वर्चः सर्वविदां ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानां वर्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा सर्वात्मा सूर्यः परमेश्वरोऽस्ति तस्मै स्वाहा' (पृ० २८५) इत्यपि तथाविधमेव, सर्वविदां ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानामित्यर्थबोधकपदानां मन्त्रेऽभावात्। न जीवानां सर्ववित्त्वं सम्भवति, प्रत्यक्षादिविरोधात्। वर्चःपदस्यान्तर्यामिसत्योपदेष्टृपरत्वमपि न सम्भवति, प्रमाणाभावात्। सूर्याग्निपदानां प्रसिद्धार्थपरतामपहायाप्रसिद्धार्थकल्पनं शाब्दन्यायविरुद्धमेव। 'येन तेजसेद्धः सूर्यस्तपति', 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' इत्यादिस्थलेषु तु तादृशानि पदानि सन्ति, यैः सूर्यचन्द्राग्न्यादिबाह्यज्योतिषां चक्षुःश्रोत्रादीन्द्रियमनोबुद्ध्यादीनामान्तराणां ज्योतिषां च ज्योतिर्नित्यं स्वयंप्रकाशबोधरूपं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं ब्रह्मात्मकं तेजो विज्ञायते। न च प्रकृतमन्त्रे तादृशानि पदानि

इस मन्त्र से आहुति दी जाती है। तैत्तिरीय श्रुति में भी यह प्रतिपादित है कि सायंकाल सूर्य अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है, अतः रात्रि में दूर से केवल अग्नि ही दिखाई पड़ती है, उसका धूम नहीं, क्योंकि उस समय दोनों तेज एक हो जाते हैं। प्रातः सूर्य के उदय होनें पर अग्नि उसमें प्रविष्ट हो जाता है, अतः दूर से केवल धुंआं दिखाई पड़ता है, अग्नि नहीं।' कात्यायन ने इसका विनियोग वताया है कि ब्रह्मवर्चस्व (ब्रह्मतेज) की कामना वाला व्यक्ति' 'अग्निर्वर्चः' इस मन्त्र से आहुति दे और प्रातःकाल आहुति देते समय वह 'सूर्यो वर्चः' इस मन्त्र का उच्चारण करे। जो ज्योति है, वही सूर्य है और जो सूर्य है, वही ज्योति है, अतः उस ज्योतिस्वरूप सूर्य को दी गई यह आहुति मेरे लिये कल्याणकारी हो।

दयानन्द की व्याख्या यह है—'जो चराचर की आत्मा प्रकाशस्वरूप और सूर्य आदि प्रकाशक लोकों का भी प्रकाश करने वाला है, उसकी प्रसन्नता के लिये हम लोग होम करते हैं' (पृ० ३८६), किन्तु यह व्याख्या वेदानुकूल नहीं है, क्योंकि 'ज्यातियों का ज्योति' इस तरह का पाठ नहीं है। यहाँ पर तो सूर्य और ज्योति का सामानाधिकरण्य है, अतः इनका अभेद ही सिद्ध होता है। यदि ज्योति पद को ही आप 'ज्योतियों का भी ज्योति' इस अर्थ का वाचक मानें, तो ऐसा अर्थ करने में प्रमाण देना पड़ेगा। 'ज्योति' पद में इस तरह का अर्थ बताने की शक्ति नहीं है। लक्षणा तभी की जा सकती है, जब कि पदों का परस्पर अन्वय न बनता हो, या उनका कोई तात्पर्य न निकलता हो। आग्रही व्यक्ति की प्रसन्नता के लिये उसकी बात मान भी ली जाय, तो ऐसा करने पर तो सूर्य पद का भी लाक्षणिक अर्थ करना पड़ेगा, किन्तु यह उचित नहीं माना जा सकता, क्योंकि शब्द की शक्ति से ही जब अर्थ की प्रतीति हो जाती हो, तो उस परिस्थिति में लक्षणा का सहारा लेना ठीक नहीं माना जा सकता।

'सूर्य जो परमेश्वर है, वह हम लोगों को सब विद्याओं को देने वाला और हमसे उनका प्रचार कराने वाला है, उसी के अनुग्रह से हम लोग अग्निहोत्र करते हैं' (पृ० २८६), दयानन्द का यह अर्थ भी वेद समर्थित नहीं है, क्योंकि मन्त्र में इस अर्थ के बोधक पद नहीं है। जीव सर्ववेत्ता नहीं हो सकते। यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध है। वर्च पद का अर्थ अन्तर्यामी और सत्य का अर्थ उपदेष्टा भी नहीं होता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। सूर्य, अग्नि आदि पदों का प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर अप्रसिद्ध अर्थ करना भी शास्त्र व्यवहार के विरुद्ध है। 'जिस तेज से समृद्ध हो सूर्य तपता है', 'वह (ब्रह्म) ज्योतियों का भी ज्योति है' इत्यादि श्रुतिवचनों में तो इस तरह के पद हैं, जिनसे कि सूर्य, चन्द्र, अग्नि प्रभृति बाह्य ज्योतियों का और चक्षु, श्रोत्र प्रभृति इन्द्रियों और मन बुद्धि प्रभृति आन्तर ज्योतियों का नित्य प्रकाशक, स्वयंप्रकाशरूप प्रत्यक्ष चैतन्य से अभिन्न ब्रह्मात्मक तेज का बोध होता हैं। किन्तु प्रकृत मन्त्र में

सन्ति । आहुतिस्तु आधानसिद्ध आहवनीयेऽग्नौ प्रक्षिप्यते । तस्मात् प्रसिद्धाग्निसूर्यादितत्तदधिष्ठातृदैवतपरमेव व्याख्यानं युक्तम् । तत्प्रतिपादनेऽपि परमात्मप्रतिपादनमेव पर्यवस्यति, तेषामपि तदंशत्वेन तदात्मकत्वात् ।

'सजूर्देवेनेति सजूरिति वा' (का० श्रौ० सू० ४।१४।९) पूर्वोक्ताभ्यामग्निर्ज्योतिः सूर्योज्योतिरिति मन्त्राभ्यां सजूरित्यादिमन्त्रद्वयं विकल्पितमिति सूत्रार्थः । द्योतनात्मकेन स्वप्रकाशेन सवित्रा प्रेरकेण परमेश्वरेण सजूः सह जोषणं समाना प्रीतिर्यस्यासौ सजूरग्निः । 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' । परमैश्वर्यवता परमेश्वरेणेन्द्रेण देवनोपेतया रात्र्या रात्रिदेवतया सजूः समानप्रीतिरस्मासु वा जुषाणः प्रीतियुक्तो हविर्वा जुषाण आस्वादयन् अग्निर्हूयमानं हविर्वेतु भक्षयतु । 'वी प्रजननकान्त्यवसादनेपु' । य एवं गुणोऽग्निस्तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु । अग्निहोत्रमन्त्रोऽयमनेनाग्नये हविर्दीयते । अग्निश्चैश्वर्यवान् देवः । स च स्वप्रकाशसर्वप्रकाशसर्वप्रेरकपरमेश्वरस्य प्रीतिपात्रं तं प्रति प्रीतिमांश्च । तयोः परस्परं समाना प्रीतिः । इन्द्रश्च परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः, तद्वती रात्रिः साधिष्ठाना प्रकृतिदेवता तयेन्द्रवत्या रात्र्या च सोऽग्निः प्रीतिमान् तत्प्रीतिपात्रं च । देवराजो वा इन्द्रः, रात्रिस्तत्पूज्या सर्वप्रपञ्चस्वामिनी महाशक्तिः । स्वापोन्मुखायास्तस्या रात्रिपदव्यपदेश्यता, प्रबोधोन्मुखायाश्चोषस्पदव्यपदेश्यता । तदंशभूता देवराजशक्तिर्वा रात्रिः । इन्द्रस्याग्नेश्च समानप्रीतिमत्त्वं वेदेषु पुराणेषु बहुधा वर्णितम् । एवं विशिष्टगुणोऽग्निरस्मासु प्रीतिमान् भूत्वाऽस्मद्दत्तामाहुतिं वेतु प्राप्नोतु आस्वादयतु भक्षयतु वा । एवमेव सूर्योऽप्यैश्वर्यवान् दिव्यो देवः । तन्मण्डले हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशो हिरण्यवर्णः परमात्मा देवस्तेन जुषमाण आस्ते । इन्द्रवत्योषसा परमैश्वर्यवत्या च सूर्यस्यानुग्राह्यानुग्राहकसम्बन्धोऽस्ति । इन्द्रवत्या उषसः प्रीतिपात्रं प्रीतिमांश्च । तत्प्रीतिमांश्च सूर्योऽस्मासु प्रीतिमान् अस्मदाहुतिमास्वादयतु भक्षयतु वा । सूर्यस्यैव विष्णुरुद्रेन्द्ररूपत्वमप्युक्तम् । तेषां तेषां समानप्रीतिमत्त्वं युज्यते । 'एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति' (ऋ० सं०) इति मन्त्रेऽप्यग्निमित्रेन्द्रादीनामभेद उक्तः ।

तो इस तरह के पद हैं नहीं, आहुति भी आधान संस्कार से निष्पादित आहवनीय अग्नि में दी जाती है । इसलिये प्रस्तुत मन्त्र में प्रसिद्ध अग्नि, सूर्य का अधिष्ठाता आधिदैविक स्वरूप ही यहां व्याख्या का विषय होना चाहिये । इसका प्रतिपादन करने से भी अन्ततः परमात्मा का प्रतिपादन अपने आप हा जाता है, क्योंकि सूर्य, चन्द्र प्रभृति का यह आधिदैविक स्वरूप भी उस परमात्मा का ही अंश माना जाता है ।

'सजूर्देवेन' इत्यादि मन्त्र के संबन्ध में कात्यायन श्रौतसूत्र में बताया गया है कि 'अग्निर्ज्योति०' और 'सूर्यो ज्योति०' इत्यादि मन्त्रों के साथ इनका विकल्प से पाठ होता है । इसका अर्थ यह है—यह अग्निदेव द्योतनात्मक अर्थात् स्वयंप्रकाश, सबके प्रेरक, परमेश्वर के साथ समान प्रीति रखने वाले और परम ऐश्वर्य संपन्न इन्द्रदेव के साथ विद्यमान रात्रि देवता के साथ भी समान प्रीति वाले हैं । यह अग्निदेव हमारे ऊपर प्रीतियुक्त होकर हवि का आस्वादन करते हुए प्रसन्न हों । इस प्रकार के अग्नि के लिये दी गई यह आहुति हमारे कल्याण के लिये हो । यह अग्निहोत्र का मन्त्र है । इसके द्वारा अग्नि को हवि दी जाती है । अग्नि ऐश्वर्यशाली देव हैं । यह स्वयंप्रकाश और सबको प्रकाशित करने वाले, सबके प्रेरक, परमेश्वर के प्ररम प्रिय देव हैं । इनकी परमेश्वर में भक्ति भी अनोखी है । इन दोनों की एक दूसरे पर समान प्रीति है । इन्द्र (परमेश्वर) भी परम ऐश्वर्यशाली देव हैं । इन्द्रवती रात्रि का अर्थ है इन्द्र में (परमेश्वरे) अधिष्ठित रात्रि, अर्थात् प्रकृति देवता । इस इन्द्रवती रात्रि से भी अग्नि की, उसी प्रकार परमेश्वर की भी प्रीति है । अथवा इन्द्र पद से देवराज इन्द्र का ग्रहण किया जायगा । इन्द्र की रात्रि इन्द्र की पूज्य सारे प्रपंच की स्वामिनी महाशक्ति है, क्योंकि यह महाशक्ति जब सोने लगती है, उस अवस्था को रात्रि कहा जाता है और जब यह जगती है, तो उसको उषःकाल कहा जाता है । इसी की अंशभूत देवराज की शक्ति को भी रात्रि कहा जा सकता है । इन्द्र और अग्नि की परस्पर प्रीति का वर्णन वेदों और पुराणों में विस्तार से वर्णित है । इस तरह के गुणों से विशिष्ट अग्नि हमारे ऊपर प्रसन्न होकर हमारी दी गई आहुति को स्वीकार करे और उसका स्वाद ले । इसी तरह से सूर्य भी ऐश्वर्यवान् दिव्य देवता हैं । उस सूर्य के मण्डल में हिरण्यवर्ण के डाढ़ी-मूछ और केशवाला हिरण्यवर्ण का परमात्मा सदा उससे सेवित हो विद्यमान है । इन्द्रवती उषा से, जो कि परम ऐश्वर्य से संपन्न है, सूर्य का अनुग्राह्य और अनुग्राहक संवन्ध है । इससे सूर्य की परस्पर परम प्रीति है । इस उषा में प्रीतिमान इन्द्र हमारे ऊपर भी प्रसन्न हो, और हमारे द्वारा दी गई आहुति को स्वीकार कर उसका आस्वादन करे । सूर्य को ही

यत्तु—'यो देवेन द्योतकेन सवित्रा सूर्यलोकेन जीवेन च सह, तथेन्द्रवत्या सूर्यप्रकाशवत्योषसाऽथवा जीववत्या मानसवृत्त्या सजूः सह वर्तमानः परमेश्वरोऽस्ति, स जुषाणः सम्प्रीत्या वर्तमानः सन् सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् वेतु विद्यादिसद्गुणेषु जातविज्ञानान् करोतु तस्मै स्वाहा' (पृ० २८५) इति, तदपि मन्दम्, तादृशार्थस्य निष्प्रमाणत्वात्। निराकारस्य त्वत्परमेश्वरस्य चक्षुराद्यभावेन कटाक्षाभावेन कृपाकटाक्षस्याप्यसम्भवात्। सूर्यलोकस्य जीवस्य सूर्यपदेन कथं बोध इत्यनुक्तत्वाच्च। एवमेवेन्द्रवत्या वायुचन्द्रवत्या रात्र्या सह वर्तते सोऽग्निः सम्प्रीतोऽस्मान् नित्यानन्दमोक्षसुखाय स्वकृपया कामयतु तस्मै स्वाहेत्यपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्। आप्तकामोऽस्मान् कामयतु इत्युक्तिः कथमनुन्मत्तस्य सम्भवति? वस्तुतस्तु दयानन्दोऽन्ये च तदीया एभिर्मन्त्रैरग्निहोत्रस्य विडम्बनामेव कुर्वन्ति। सर्वथाप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यज्योतिष्टोमादिज्ञानशून्यानामेव वायुजलादिशुद्ध्यर्थं तद्रीत्याऽग्निहोत्रादिकम्।

'ॐ भूरग्नये प्राणाय स्वाहा, ॐ भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा, ॐ स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा, ॐ भूर्भुवःस्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा। ॐ आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवःस्वः ॐ स्वाहा। ॐ सर्वं वै पूर्णं स्वाहा' यदत्रोक्तम्—'इति सर्वे मन्त्रास्तैत्तिरीयोपनिषदाशयेनैकीकृताः' इति, तत्तु मूढजनप्रतारणमेव, यतो हि मन्त्रा निगदोक्ता भवन्ति। न केषाञ्चिदाशयेन मन्त्रा निर्मीयन्ते। तथैवानेन दयानन्देन वैदिकसन्ध्यायां वाग् वागित्यादयोऽपि स्वाभ्यूहिता मन्त्रा उपन्यस्ताः। एवमेव 'जलवायुशुद्धिकरणाय होत्रं हवनं दानं यस्मिन् कर्मणि क्रियते तदग्निहोत्रम्' (पृ० २८७) इत्यपि निर्मूलम्, जलवायुशुद्धिकरणायेत्यस्य तत्कपोलकल्पितत्वात्। 'सुगन्धिपुष्टिमिष्टबुद्धिवृद्धिशौर्यधैर्यबलरोगनाशकैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन वायुवृष्टिजलयोः शुद्ध्या पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगात् सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवति'

विष्णु, रुद्र, इन्द्र रूप भी माना गया है। इन सबकी सब में समान प्रीति है। 'विद्वान् ब्राह्मण एक ही परमात्मा को अनेक रूपों में वर्णित करते हैं' इस श्रुति में भी अग्नि, मित्र, इन्द्र प्रभृति की अभिन्नता बताई गई है।

'जो परमेश्वर सूर्य आदि लोकों में व्याप्त है, वायु और दिन के साथ संसार का परम हितकारक है, वह हम लोगों को विदित होकर हमारे किये हुए होम को ग्रहण करे' (पृ० २८६)। दयानन्द की दी गई उक्त मन्त्र की यह व्याख्या भी गलत है, क्योंकि यह अर्थ प्रमाणों से एकदम शून्य है। आपका परमेश्वर तो निराकार है। उसके जब आँखें नहीं हैं, तो कटाक्ष कहां से रहेंगे। इस तरह उस निराकार परमेश्वर के कृपाकटाक्ष का कोई प्रसंग ही नहीं उठ सकता। सूर्य पद से सूर्यलोक का ग्रहण किस आधार पर होगा, यह भी आपने नहीं बताया है। इस तरह से इन्द्रवती अर्थात् वायु और चन्द्रमा वाली रात्रि के साथ रहने वाला अग्नि हम पर प्रसन्न हो हमें नित्य आनन्द, अर्थात् मोक्ष सुख प्रदान करने की कामना करे, उसके लिये हम हवि प्रदान करते हैं, ऐसा अर्थ करना भी निर्मूल है। आप्तकाम परमेश्वर हमारे लिये कामना करे, इस तरह की बात कोई पागल ही कह सकता है। वास्तव में तो दयानन्द और उनके अनुयायी इन मन्त्रों से अग्निहोत्र करके इन पवित्र कृत्यों के साथ मजाक ही करते हैं। अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, ज्योतिष्टोम आदि पवित्र वैदिक कृत्यों का इनको कुछ भी ज्ञान नहीं है, अतः यह उचित ही है कि ये लोग इन कृत्यों का उपयोग केवल वातावरण की शुद्धि के लिये ही मानें।

इसके आगे दयानन्द ने 'ॐ भूरग्नये०' इत्यादि वाक्यों को उद्धृत कर कहा है कि 'ये सब मन्त्र तैत्तिरीय उपनिषद् के आशय को देखकर एकत्रित किये गये हैं' (पृ० २८७)। यह बात मूढ व्यक्तियों को ठगने के लिये है। वेद में प्रत्यक्षतः जो पढ़े गये हैं; ये ही मन्त्र कहलाते हैं। कुछ मन्त्रों का आशय लेकर नये मन्त्र बनाये नहीं जा सकते। स्वामी दयानन्द ने इसी तरह से वैदिक सन्ध्या में 'वाक् वाक्०' इत्यादि मनमाने मन्त्र गढ़ कर रखे हैं। इसी तरह से उनका यह कहना भी गलत है कि—'जिस कर्म में अग्नि का परमेश्वर के लिये जल और पवन की शुद्धि या ईश्वर की आज्ञा का पालन करने के लिये जो होत्र हवन अर्थात् दान करते हैं, उसको अग्निहोत्र कहते हैं', क्योंकि जल और पवन की शुद्धि उनकी कपोल कल्पना है। 'जो जो केशर कस्तूरी आदि सुगन्धि, घृत दुग्ध आदि पुष्टि गुड शर्करा आदि मिष्ट, बुद्धि, बल तथा धैर्यवर्धक और रोगनाशक पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षा जल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है, उसी से सब जीवों को परम सुख होता है' (पृ० २८८)। यह कथन भी सर्वथा

(पृ० २८७-२८८) इत्यादिकमपि निर्मूलमशुद्धं च। सुगन्धीत्यादयो गुणाश्चेत् कथं सुगन्धिपदनिष्पत्तिः ? मिष्टपदं च कथं गुणपरमित्यपि चिन्त्यम्।

यत्तु—'तृतीयस्य पितृयज्ञस्य तर्पणश्राद्धरूपेण प्रकारद्वयमुक्त्वा किमपि जल्पितम्, तत्तु विचित्रमेव। 'तत्र येन कर्मणा विदुषो देवान् ऋषीन् पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत्तर्पणम्' (पृ० २८८) इति, तदपि तुच्छम्, तर्पणशब्दस्य योगरूढत्वात्। अन्यथा मनुष्यपश्वादिसुखकराणामन्नघासादिदानस्यापि तर्पणशब्दवाच्यत्वापत्तेः। देवर्षिपितृजातीनां मनुष्यजातेर्भिन्नत्वेन मन्वादिभिरुक्तत्वाच्च। यच्च—'यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धम्' (पृ० २८८) इत्यपि मन्दम्, तर्पणस्यापि श्राद्धत्वाविशेषात्। तर्पणमपि श्रद्धयैव क्रियते नाश्रद्धया, अश्रद्धया कृतस्य नैष्फल्योक्तेः। 'अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥' (भ० गी० १७।२८) इति गीतोक्तेः। यदुक्तम्—'विद्वत्सु विद्यमानेष्वेतत्कर्म संघट्यते नैव मृतकेषु। कुतस्तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात्। तदर्थकृतकर्मणः ? प्राप्त्यभाव इति व्यर्थतापत्तेश्च। तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत् कर्मोपदिश्यते। सेव्यसेवकसन्निकर्षात् सर्वमेतत्कर्तुं शक्यते' (पृ० २८८) इति, तदपि तुच्छम्, 'सङ्घटते' इत्येतावतैव कार्यनिर्वाहे भावार्थकप्रत्ययस्य नैरर्थक्यापातात्।

किञ्च, नहि चार्वाकवद्देहात्मवादिनो यूयं येन मरणानन्तरं मृतानामविद्यमानताभ्युपगमः स्यात्। मृतानामपि जीवानामिहलोककृतानां कर्मणां फलभोक्तृत्वं जन्मान्तरेषूपगम्यत एव, अन्यथेह कृतानां परोपकाराणामपि वैयर्थ्यापत्तेः। नैरात्म्यानभ्युपगमेनैव सेव्यसेवकसन्निकर्षोऽपि नासम्भवी। ननु तथापि कथमन्यकृतानां कर्मणामन्यभोग्यत्वम्, कर्तृत्वभोक्तृत्वयो-

निराधार और गलत है। सुगन्धि प्रभृति को यदि गुण माना जायगा, तो इन पदों की निष्पत्ति कैसे होगी ? अर्थात् व्याकरण के किन नियमों से ये पद बनेंगे ? मिष्ट पद गुण का वाचक कैसे होगा ? यह भी विचारणीय है।

पांच महायज्ञों में से ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का निरूपण करने के बाद स्वामी दयानन्द ने पितृयज्ञ का निरूपण करते हुए उनके दो भेद बताये हैं—एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध (पृ० २८८)। उनका यह विभाग बड़ा विचित्र है। तर्पण का लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया है—'उनमें से जिन कर्मों से विद्वान् रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं, सो तर्पण कहाता है' (पृ० २९०)। तर्पण शब्द की यह व्याख्या भी गलत है। तर्पण शब्द योगरूढ माना जाता है। अन्यथा मनुष्य, पशु आदि को सुख देने वाला अन्न, घास आदि का दान भी तर्पण कहा जाने लगेगा। देव, ऋषि, पितृगण ये सब मनुष्य जाति से भिन्न हैं, इसका वर्णन मनुस्मृति आदि में स्पष्ट रूप से मिलता है। 'तथा जो उन लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना है, उसी को श्राद्ध जानना चाहिये' (पृ० २९०) यह व्याख्या भी गलत है, इस तरह से तो तर्पण भी श्राद्ध हो जायगा। तर्पण भी श्रद्धापूर्वक ही किया जाता है, बिना श्रद्धा के नहीं। अश्रद्धा से करने पर तो वह निष्फल हो जायगा। भगवद्गीता में स्पष्ट कहा है—'अश्रद्धा से किया गया हवन, तप अथवा अन्य कुछ भी कार्य असत् कहलाता है। हे अर्जुन उसका फल न तो मृत्यु के उपरान्त मिलता है और न इस जन्म में ही'। दयानन्द ने आगे लिखा है—'यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जीते हुए जो प्रत्यक्ष हैं, उन्हीं में घटता है, मरे हुओं में नहीं।' क्योंकि मृतकों का प्रत्यक्ष होना असंभव है। इसलिये उनकी सेवा नहीं हो सकती। तथा जो उनके लिये कोई पदार्थ दिया चाहे, वह भी उनको नहीं मिल सकता। इससे केवल विद्यमानों की ही श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध वेद में कहा है, क्योंकि सेवा करने के योग्य और सेवा करने वाले इन दोनों के ही प्रत्यक्ष होने से यह सब काम हो सकता है, दूसरे प्रकार से नहीं' (पृ० २९०), किन्तु यह सारा कथन भी गलत है। आपने यहां पर 'संघटचते' क्रियापद का प्रयोग किया है, जो कि गलत है। आप जिस अर्थ को प्रकट करना चाहते हैं, वह तो 'संघटते' इस क्रिया पद से भी प्रकट हो जाता है, तब भावार्थक प्रत्यय का प्रयोग करना व्यर्थ है।

आप चार्वाक के समान शरीर को ही आत्मा मानने वाले तो हैं नहीं, जिससे कि मरने के बाद मृत पितरों की अविद्यमानता आपके मत में मानना जरूरी हो। मृत व्यक्तियों के इस लोक में किये गये कर्मों के फल का उपभोग आप दूसरे जन्म में मानते ही हैं। ऐसा न माना जाय तो इस जन्म में किये गये परोपकार व्यर्थ जायेंगे। आप नैरात्म्यवादी नहीं हैं, अर्थात् आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं, इसीलिये सेव्य और सेवक का संनिकर्ष हो ही सकता है। इस पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि दूसरे के द्वारा किये गये कर्मों का फल दूसरा कैसे भोग सकता है, क्योंकि कर्ता कोई दूसरा होगा और उसके फल का भोक्ता कोई और।

वैयधिकरण्यापातादिति चेन्न, अग्निहोत्रकर्मणा त्वयाऽनुपदमेव सर्वेषां परमसुखकरत्वाभ्युपगमात्। लोके शासकीयनिधानेषु (वैङ्क) स्वनाम्ना निहितद्रव्याणां यथाऽन्यनाम्ना समर्पणे नैव काठिन्यम्, तथैव स्वकृतकर्मणामप्यन्येभ्यः समर्पणे वाधानुपपत्तेः। अत एव पितृकृताया वैश्वानरीयाया इष्टेर्भोक्ता पुत्रो भवति, पुत्रकृतायाः श्राद्धेष्टेः पितरो भोक्तारो भवन्त्येव।

यत्तु सत्कर्तव्येषु देवानां सत्त्वे प्रमाणमुपन्यस्तम्—'पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः। पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥' (वा० सं० १९।३९) इति, तदपि निर्मूलम्, मन्त्रस्यार्थान्तरत्वात्। तथाहि—देवजना देवानुगामिनो जना मां पुनन्तु मनसा सह धियः बुद्धयः कर्माणि पुनन्तु। विश्वा विश्वानि सर्वाणि भूतानि मां पुनन्तु। हे जातवेदः, जातो वेदो यस्मात्स तथोक्तः, त्वमपि मा मां पुनीहि। यत्तु—'देवजना भवदाज्ञापालिनो विद्वांसो ज्ञानिनो विद्यादानेन मां पुनन्तु' इति, तत्तु न समीचीनम्, मनुष्यव्यतिरिक्तानां देवानां साधितत्वात्। किञ्च, विद्यादानाय विद्वांसः प्रार्थनीया न भगवान्, अन्यथा गुरुशुश्रुषादिभिस्तत्प्रसादप्राप्त्यर्थं प्रयत्नानुपपत्तेः। तथैव सर्वेऽप्युद्योगपतयो महायन्त्राधिपतयोऽपि परमेश्वरमेव प्रार्थयेरन्, हे भगवन्! सर्वेऽपि कर्मकराः श्रमिका मम कार्याणि कृत्वा मां प्रसादयन्तु। तथा सति वेतनलाभांशविशेषभोजनबोनसभत्तादिनैरपेक्ष्येणैव परमेश्वरप्रार्थनयैव सर्वं साधयेयुः। किञ्च, विद्यादानेन विद्वांसो विद्वत्त्वं सम्पादयितुं शक्नुवन्ति, परं ते पावित्र्यं सम्पादयितुं कथं प्रभविष्यन्ति ? यदपि भगवद्दत्त आह—'विज्ञानेनास्माकं बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु' इति, तदपि मन्दम्, सकर्मकस्य पुनातेरकर्मकत्वायोगात्। विवक्षायां युक्तहेत्वभावात्। मनसेत्यस्य ज्ञानपरत्वमपि भाक्तमेव। यदपि—'सर्वाणि संसारस्थानानि भूतानि भवत्कृपया सुखानन्दयुक्तानि पवित्राणि भवन्तु' इति, तदपि मन्दम्,

श्राद्ध आदि कर्मों में यही दोष है कि इनको करते तो पुत्र आदि है, किन्तु आप मानते हैं कि इनका फल उनके पितरों को मिलता है। आपके इस प्रश्न का सीधा सा उत्तर यह है कि अभी आपने अग्निहोत्र आदि कर्मों को सबका उपकारक माना है कि इनसे सारी प्रजा का कल्याण होता है। लोक व्यवहार में भी देखा जाता है कि बैंकों में अपने नाम से जमा धनराशि में से दूसरे व्यक्ति के नाम चेक फाट कर उसका कुछ अंश दे देने में कोई कठिनाई नहीं होती। इसी तरह से अपने किये कर्मों में से कुछ का फल दूसरों को समर्पित कर दिया जाय, इसमें भी कोई बाधा नहीं रहती। इसीलिये पिता के द्वारा को गई वैश्वानरी इष्टि के फल का भागी पुत्र होता है और पुत्र के द्वारा की गई श्राद्ध नामक इष्टि के फल के भोक्ता पितृगण होते हैं।

आगे दयानन्द ने लिखा है कि 'तर्पण आदि कर्म से सत्कार करने योग्य तीन हैं—देव, ऋषि और पितर' (पृ० २९०)। इनमें देवों के प्रमाण के रूप में 'पुनन्तु मा०' इत्यादि मन्त्र को उद्धृत किया है। यह भी गलत है, क्योंकि मन्त्र का अर्थ उनके किये अर्थ से भिन्न है, जो कि इस प्रकार से हैं—देवताओं के अनुगामी जन मुझे पवित्र करे, मन के साथ मेरी बुद्धि को और कर्म को भी पवित्र रखें। सभी प्राणी मुझे पवित्र बनावें। हे जातवेदा, वेद को प्रकट करने वाले अग्निदेव, आप भी मुझे पवित्र कीजिये। दयानन्द ने देवजन का अर्थ किया है 'जो आपके उपासक आपकी आज्ञा मानते हैं, अथवा जो विद्वान् ज्ञानी पुरुष हैं, वे मुझे विद्यादान से पवित्र करें' (पृ० २९०), किन्तु यह व्याख्या सही नहीं है, यह हम अनेक बार कह चुके हैं कि देवगण मनुष्यों से सर्वथा भिन्न जाति के हैं। दूसरी बात विद्यादान के लिये विद्वानों से प्रार्थना की जायगी, भगवान् से नहीं, ऐसा न माना जाय तो गुरु की सेवा-सुश्रूषा करने की, गुरु को प्रसन्न करने के लिये नाना प्रकार के प्रयत्नों की क्या आवश्यकता रह जायगी, जब कि इसके लिये भी भगवान् से ही प्रार्थना करना है। इसी तरह से सारे उद्योगपति और बड़े-बड़े कल-कारखानों के मालिक परमेश्वर से ही प्रार्थना करेंगे कि हे भगवन्! सभी कर्मचारी और मजदूर मेरा कार्य पूरा कर मुझे प्रसन्न रक्खें। ऐसा करने से वे अतिरिक्त वेतन, बोनस आदि की माँग किये विना ही केवल परमात्मा की प्रार्थना के आधार पर ही सब कुछ उनके मन-माफिक करने लगेंगे। दूसरी बात विद्या दानकर विद्वद्गण दूसरे व्यक्ति को विद्वान् बना सकते हैं, किन्तु वे दूसरे व्यक्ति को पवित्र कैसे बना सकते हैं। यहाँ भगवदत्त व्याख्या करते हैं कि 'विज्ञान के द्वारा हमारी बुद्धि पवित्र होती है' किन्तु यह व्याख्या भी इसलिये गलत है कि 'पुनाति' धातु सकर्मक है। इसका अकर्मक में प्रयोग हेतु में विवक्षा होने पर ही हो सकता है, जो कि यहाँ नहीं है। मन का अर्थ ज्ञानपरक करना भी लाक्षणिक ही माना जायगा, जो कि तभी किया जा सकता है, जब कि मुख्य अर्थ की उपपत्ति न बनती हो। 'सब संसारी जीव आपकी कृपा से पवित्र होकर आनन्द में रहें

पुनातेः सुखानन्दादियुक्तार्थत्वे मानाभावात् । तथात्वे वा सुखकारकत्वमेव पावनत्वं स्यात् । तेन मद्यमांसाशिनां सुखकरत्वे मद्यमांसादीनामपि पवित्रत्वं स्यादेव ।

'द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च । सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि । इति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति । स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् । तस्मात्ते यशो यशो ह भवति । य एवं विद्वान् सत्यं वदति ।' (श० १।१।१।४-५), 'विद्वांसो हि देवाः' (श० ३।७।३।१०) । तदेतत्सर्वं चर्वितचर्वणम्, उक्तोत्तरत्वात् । वस्तुतस्तु—'अपरेणाहवनीयं प्राङ्निष्ठमग्निमीक्षमाणोऽप उपस्पृश्य व्रतमुपैत्यग्ने व्रतपत इदमहमिति वा' (श० २।१।११) इति शतपथरीत्या व्रतग्रहणस्यार्थवादोऽयम् । 'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्, इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि' (वा० सं० १।५) । तदर्थस्तु—हे अग्ने व्रतपते व्रतपालक, त्वदनुज्ञया व्रतमनुष्ठातुं व्रतं चरिष्यामि । प्रकृतमग्निहोत्रं वा चातुर्मास्यं वा कर्मानुष्ठास्यामि तच्छकेयं तत्कर्मानुष्ठातुं शक्तो भूयासम् । तन्मे मदीयं कर्म राध्यतां त्वत्प्रसादाद् निर्विघ्नं फलपर्यन्तं सिद्धयतु । अहं यजमान इदमस्मादनृतान्मनुष्यजन्मन उद्गत्य सत्यं देवताशरीरमुपैमि प्राप्नोमि । सत्यमनुष्ठाय कर्मरूपेण प्रत्यक्षमिति मन्वान इदमिति विशिनष्टि । अनृतं मनुष्यजन्म, शीघ्रविनाशित्वात् । यथा स्वप्नगजादयो बोधमात्रेण शीघ्रं निवर्तमाना अनृता उच्यन्ते । सत्यं देवजन्म, बहुकालस्थायित्वात् । यथा जागरणगजादयः । इदं सत्यवदनं कर्माङ्गत्वात् कर्मकाले पालनीयम् । स्मार्तोऽनृतवदननिषेधस्तु पुरुषार्थ एव, न कर्माङ्गम् ।

'अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकम् । तन्मे राधीदयमहं य एवास्मि सोऽस्मि' (वा० सं० २।२८) अयं व्रतविसर्गमन्त्रः । 'व्रतं विसृजते येनोपेयात्' (का० श्रौ० सू० ३।८।२९) । व्रतग्रहणे मन्त्रद्वयमुक्तम् । येन प्रथमेन द्वितीयेन वा व्रतादानं तेनैव व्रतं विसृजेदिति सूत्रार्थः । मन्त्रार्थस्तु—हे अग्ने व्रतपते, व्रतमचारिषं कर्मानुष्ठितवानस्मि तदशकं

(पृ० २९०) यह व्याख्या भी गलत है, क्योंकि पुनाति धातु का अर्थ सुख और आनन्द से युक्त हो, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । ऐसा मानने पर पवित्र वही माना जायगा, जो कि सुखकारक हो । इस तरह से तो मद्य और मांस के प्रेमियों के लिये ये द्रव्य भी सुख कर होते ही हैं, तब तो मद्य और मांस को भी पवित्र मानना पड़ेगा ।

इसी तरह से दयानन्द ने 'द्वयं वा इदं' तथा 'विद्वांसो हि देवाः' शतपथ श्रुति के इन वचनों को देवताओं अर्थात् विद्वान् मनुष्यों की सत्ता में प्रमाण माना है, वस्तुतः यह सब चर्वित चर्वण है, इनका उत्तर अनेक बार दिया जा चुका है । वस्तुतस्तु शतपथ-ब्राह्मण के वचन के अनुसार ही इस वाक्य का उपयोग व्रत को स्वीकार करते समय अर्थवाद वाक्य के रूप में किया जाता है । 'अग्ने व्रतपते' यह वाजसनेय मन्त्र है । इसका अर्थ यह है—'हे व्रत के पालक अग्ने, तुम्हारी आज्ञा से मैं इस व्रत का अनुष्ठान करने जा रहा हूँ । आपकी आज्ञा मिल जाने पर हो मैं अग्निहोत्र, चातुर्मास्य आदि किसी कर्म का अनुष्ठान प्रारम्भ करूँगा, उस कर्म को पूरा करने में मैं समर्थ होऊँ, मेरा वह कर्म आपकी कृपा से निर्विघ्न पूरा होकर फल देने में समर्थ हो, इसके लिये यह मैं यजमान मनुष्य देह से उठ कर देवता के शरीर को प्राप्त करता हूँ । सत्य कर्म का अनुष्ठान करने पर मानो उसका प्रत्यक्ष फल प्रतीत हो रहा हो, इस अभिप्राय से 'इदं' (यह) शब्द से उसका निर्देश किया गया है । मनुष्य का जन्म अनृत इसलिये कहा जाता है कि यह शीघ्र नष्ट हो जाता है । जैसे कि स्वप्न में देखे गये हाथी-घोड़ा आदि पदार्थ क्षण स्थायी होते हैं, क्योंकि जगने के साथ ही इनकी सत्ता लुप्त हो जाती है । देव योनि का जन्म बहुत समय तक स्थिर रहता है, जैसे कि जाग्रत् अवस्था के हाथी-घोड़ा आदि पदार्थ स्वप्न दशा की अपेक्षा चिरस्थायी होते हैं । यहाँ सत्य बोलने का यह नियम प्रस्तुत कर्म का अंग है, इसलिये कर्मांग के रूप में ही कर्म करते समय इसका पालन किया जाता है । स्मृतियों में असत्य बोलने का निषेध पुरुषार्थ के रूप में विहित है, वह कर्म का अंग नहीं होता ।

ऊपर के मन्त्र का विनियोग जैसे व्रत को स्वीकार करते समय किया जाता है, उसी तरह से 'अग्ने····व्रतमचारिषम्' इत्यादि मन्त्र का विनियोग व्रत के विसर्जन में किया जाता है । कात्यायन श्रौतसूत्र में प्रतिपादित है कि व्रत के ग्रहण के लिये दो मन्त्रों का विनियोग बताया गया है । जिस मन्त्र से व्रत का ग्रहण करे, व्रत का विसर्जन भी भूत काल की क्रिया के द्वारा उसी मन्त्र से करे । इस मन्त्र का अर्थ यह है—हे व्रतपालक अग्ने, मैंने इस कर्म का अनुष्ठान भलीभाँति पूरा कर लिया है, आपकी कृपा से ही मैं इसमें

भवदनुग्रहेणानुष्ठातुं शक्तोऽभवम्। तन्मे कर्म अराधि साधितम्। द्वितीयो मन्त्रः—अग्ने इदं कर्म समाप्य योऽहं कर्मणः पुरा अस्मि स एव मनुष्योऽस्मि। अस्यैव मन्त्रस्यार्थवादभूतमिदं वचनम्। अत्र देवानां दीर्घकालस्थायित्वादेव सत्यत्वमुक्तम्। अन्यादृशस्य सत्यस्यान्यस्य च देवेन मनुष्येण चाभेदासम्भवात्। व्रतग्रहणेन च 'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि' इत्यस्याभिप्रायं स्वयमेव व्यनक्ति श्रुतिः। 'तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति'। देवाश्च नित्यं सत्यवादिनस्तस्मादयमपि व्रतपालनेन देवत्वमापन्नः सत्यमेव वदेत्। तेन देववद्यशस्वी च भवति। देवा नित्यं सत्यं वदन्ति, मनुष्यास्तु सत्यमपि वदन्त्यनृतमपि। देवानां सत्यमेव व्रतं भवति। तस्माद्देवत्वमापन्नेन मनुष्येणापि सत्यमेव वक्तव्यम्। अत एव व्रतत्यागात् कर्माङ्गसत्यवदनस्यापि त्यागो भवति, स्मार्तपुरुषार्थानृतवदननिषेधपालनपरायणत्वे सत्यपि। अत एव य एवास्मि सोऽस्मीति मन्त्रवचनं श्लिष्यते। नह्यविद्वान् कस्मैचित् कालाय विद्वान् भवति, विद्वान् भूत्वा पुनरप्यविद्वान् भवतीति सङ्गच्छते। तस्मादेभिर्वचनैर्विदुषां देवत्वसाधनं कुशकाशावलम्बनमेव।

यत्तु—'मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः—देवो मनुष्यश्चेति। तत्र सत्यं चैवानृतं च द्वे कारणे स्तः। यत्सत्यवचनं सत्यमानं सत्यकर्म तदेव देवा आश्रयन्ति, तथैवानृतवचनमनृतमानमनृतं कर्म चेति मनुष्याश्चेति। योऽनृतं त्यक्त्वा सत्यमुपैति, स देवः परिगण्यते। यश्च सत्यं त्यक्त्वाऽनृतमुपैति स मनुष्यश्च। यः सत्यव्रतः स यशस्विनां मध्ये यशस्वी भवति' इति, तत्तु सर्वथा कुविचाररमणीयम्, जातिभेदस्य साधितत्वात्। किञ्चैवं मनुष्याः प्रायेण सत्यमनृतं

समर्थ रहा हूं। इसीलिये मेरा यह कर्म पूरा होकर फलदायक बन सका है। दूसरे मन्त्र का अर्थ यह है कि इस कर्म को पूरा करके मैं पुनः वही बन गया हूं, जो कि इस कर्म के प्रारंभ करने से पहले था। इसी मन्त्र का अर्थवाद वाक्य आपके द्वारा उद्धृत यह शतपथ श्रुति का वचन है। यहाँ देवताओं को दीर्घकाल तक स्थिति रहने से ही उसको सत्य कहा गया है, क्योंकि इसके सिवाय सत्य या असत्य के दूसरे रूप की मनुष्य और देवों से कोई तुलना नहीं हो सकती। व्रत का ग्रहण कर लेने पर 'यह मैं अनृत से सत्य को प्राप्त करता हूं' इस श्रुति के अभिप्राय को शतपथ श्रुति से इस तरह से व्यक्त किया है कि वह मनुष्यों की स्थिति से उठकर देवों की स्थिति में पहुंच जाता है। देवता सदा सच बोलते हैं। व्रत का आचरण करते समय यजमान भी देवता बन गया है, अतः वह भी उस समय सच बोले। ऐसा करने पर वह देवताओं के समान यशस्वी हो जाता है। देवगण सदा सच ही बोलते हैं। मनुष्य तो सच भी बोलते हैं और झूठ भी। सच बोलना ही देवताओं का व्रत है, अतः देवभाव को स्वीकार करने पर मनुष्य को भी सच ही बोलना चाहिये। इस व्रत के समाप्त हो जाने पर कर्म के अंगभूत सत्य बोलने का भी परित्याग कर दिया जाता है, किन्तु साथ ही पुरुषार्थ के रूप में स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित असत्य भाषण के निषेध का तो पालन करना ही चाहिये, अर्थात् श्रुति का यह अभिप्राय नहीं है कि बाद में उसको असत्य भाषण की अबाध छूट मिल जाती है, किन्तु सामान्यतः झूठ न बोलने के व्रत का तो पालन उसे पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये निरन्तर करते ही रहना चाहिये। इसी में इस अन्तिम मन्त्र की संगति बैठ सकती है कि जैसा मैं व्रत स्वीकार करने के पहले था, वैसा ही व्रत समाप्त करने के बाद भी हो गया हूं। मूर्ख व्यक्ति कुछ समय के लिये विद्वान् नहीं बन सकता और न विद्वान् बनकर पुनः मूर्ख हो सकता है। इसलिये इन वचनों के आधार पर विद्वान् मनुष्यों को देवता सिद्ध करने की बात कुश और काश का (तिनके का) सहारा लेने सरीखी है।

दयानन्द ने इस शतपथ श्रुति का अर्थ इस तरह से किया है—'दो लक्षणों के पाये जाने से मनुष्यों की दो संज्ञाएँ होती हैं, अर्थात् एक देव और दूसरी मनुष्य। उनमें भेद होने के सत्य और झूठ दो कारण हैं। जो कोई सत्य भाषण, सत्य स्वीकार और सत्य कर्म करते हैं, वे देव तथा जो झूठ बोलते, झूठ मानते और झूठ कर्म करते हैं, वे मनुष्य कहे जाते हैं। इसलिये झूठ को छोड़कर सत्य को प्राप्त करना सबके लिये उचित है। इस कारण से बुद्धिमान् लोग निरन्तर सत्य ही कहें, मानें और करें। क्योंकि सत्यव्रत आचरण करने वाले जो देव हैं, वे तो कीर्तिमानों में कीर्तिमान् होकर सदा आनन्द में रहते हैं, परन्तु उनसे विपरीत चलने वाले मनुष्य दुःख को प्राप्त होकर सब दिन पीड़ित ही रहते हैं। इससे सत्यवादी विद्वान् ही देव कहलाते हैं' (पृ० १९०-२९१), किन्तु यह सारा कथन बहुत ही गलत है, देव और मनुष्य जाति की भिन्नता हम सिद्ध कर चुके हैं। अपि च, मनुष्य प्रायः सच और झूठ बोलते ही रहते हैं। इस तरह

च वदन्ति। तथात्वे सदैव देवत्वं मनुष्यत्वं च तत्र भविष्यतः। किञ्च, शास्त्रेण कदाचिदप्यनृतवदनं न विधीयते, तस्य रागप्राप्तत्वात्। प्रकृते तु यज्ञेषु व्रतग्रहणनिबन्धना देवत्वावाप्तिस्तन्निबन्धनं च सत्यवदनरूपं कर्माङ्गानुष्ठानम्। किञ्चान्यत्र सत्यवदनमनृतवदनं च मनुष्यकर्तृकं शुभमशुभं च वाचिकं कर्म भवति, प्रकृते तु मनुष्यस्यानृतत्वं देवस्य सत्यत्वं चिरकालस्थायित्वास्थायित्वाभ्यामेवोक्तम्। अपि च त्वद्रीत्या विद्वांसोऽप्यनृतवादिनो भवन्ति, मूर्खाश्च सत्यवादिनो भवन्ति। तथा चैकत्रैव देवत्वमनुष्यत्वयोः साङ्कर्यमपि स्यात्। सिद्धान्ते तु स्मार्तानृतवदनत्यागिनः सत्यवादिमनुष्यत्वं श्रौतकर्माङ्गरूपसत्यव्रताचरणशीलस्य व्रतकालपर्यन्तं देवत्वमन्यदा मनुष्यत्वमिति नासमञ्जसम्। त्वद्रीत्या तु पूर्वोक्तमन्त्रसूत्रोक्तव्रतग्रहणतत्परित्यागजनितदेवत्वमनुष्यत्वोद्गमनादिकं सर्वथासङ्गतमेव स्यात्। त्वद्रीत्या मनुष्याणामनृतवादित्वं स्वाभाविकमेवेति मनुष्येष्वनृतवादिमनुष्यानिन्द्यत्वमेव स्यात्। सिद्धान्ते तु तदपि दूषणं नास्ति। सत्यवादिमनुष्यापेक्षयाऽनृतवादिमनुष्यस्य निन्द्यत्वमस्त्येव। देवास्तु मनुष्यजातिभिन्ना एव।

ऋषिप्रमाणत्वेन यदुक्तम्—'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥' (वा० सं० ३१।९), 'अथ यदेवानुब्रुवीत। तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः।' (श० १।७।२।३), 'अथार्षेयं प्रवृणीते। ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति। तस्मादार्षेयं प्रवृणीते।' (श० १।४।२।२) इति, तदपि मन्दम्, उक्तमन्त्रेषु ऋषिशब्दसत्त्वेऽपि तत्र तल्लक्षणानुक्तेः। मन्त्रार्थस्तु—तं यज्ञसाधनभूतं पुरुषं यज्ञं पशुत्वेन विभाव्य यूपे बद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षणादिभिः संस्कारैः संस्कृतवन्तः। कीदृशम्, अग्रतः स्थूलसृष्टेः पूर्वं जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नम्, 'तस्माद्विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।' (वा० सं०) इति मन्त्रवर्णात्। तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अयजन्त मानसं यज्ञं कृतवन्तः। के ते ? ये साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयो देवा ये च तदनुकूला ऋषयो मन्त्रद्रष्टारस्ते सर्वेऽप्ययजन्त। नह्यत्रर्षीणां किञ्चिल्लक्षणमुक्तम्।

से वे देवता और मनुष्य सदा साथ साथ बने रहेंगे। शास्त्र कभी भी झूठ बोलने का विधान नहीं करता, क्योंकि वह तो राग से प्राप्त है, मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये असत्य बोलता रहता है। प्रकृत स्थल में यज्ञ में व्रत का ग्रहण करते समय देवत्व की स्वीकृति और सच बोलने का नियम कर्म के अंग के रूप में मान्य है। सामान्य स्थिति में सत्य बोलना या झूठ बोलना मनुष्य का भला और बुरा माना जाने वाला वाणी का कर्म है, प्रकृत याज्ञिक स्थिति में मनुष्य की अनृतता और देवता की सत्यता उनके चिर काल तक रहने और न रहने पर आधृत है। आपके मत के अनुसार भी विद्वान् अनृतभाषी और मूर्ख सत्यभाषी होते हैं। इस तरह से आपके मत से एक ही मनुष्य में देवत्व और मनुष्यत्व जाति का सांकर्य दोष आवेगा। हमारे मत में तो यह दोष नहीं है, क्योंकि स्मृतियों द्वारा उपदिष्ट असत्य भाषण का त्याग करने वाला मनुष्य सत्यभाषी कहलावेगा और श्रौत कर्म के अंगभूत सत्यव्रत का आचरण करने वाला मनुष्य व्रत की अवधि तक देवता और बाद में मनुष्य कहलावेगा। इसमें परस्पर कोई असामंजस्य नहीं है। आपके मत से पूर्वोक्त मन्त्र और ब्राह्मण के अनुसार व्रत का ग्रहण और त्याग करने से देवत्व और मनुष्यत्व का उद्गम और निर्गम सर्वथा असंगत हो जायगा। आपके मत के अनुसार मनुष्यों का झूठ बोलना स्वभाव है, अतः मनुष्यों में अनृतवादी मनुष्य निन्द्य नहीं माना जायगा। हमारे मत में तो यह दूषण भी नहीं लग सकता, क्योंकि हमारे मत में तो सत्यवादी पुरुष की अपेक्षा असत्यवादी पुरुष की निन्दा की ही जाती है। देवता तो मनुष्य जाति से सर्वथा भिन्न हैं।

ऋषियों की चर्चा प्रारंभ करते हुए दयानन्द ने 'तं यज्ञं॰' इत्यादि वेदमन्त्रों को उद्धृत किया है, किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि इन मन्त्रों में ऋषि शब्द के रहने पर भी इनमें ऋषि का लक्षण नहीं बताया गया है। प्रथम मन्त्र का सीधा-सादा अर्थ इस प्रकार है—उस यज्ञ के प्रथम साधनभूत पुरुष रूपी यज्ञ को पशु के रूप में कल्पित करके, यूप में बांधकर, देवताओं ने उस प्रथम याग में मानस प्रक्रिया से ही बर्हि के द्वारा प्रोक्षण कर आहुति देने के लिये संस्कृत किया। वह देवताओं के द्वारा प्रथम पशु के रूप में कल्पित यज्ञपुरुष स्थूल सृष्टि के पहिले ही उत्पन्न हो गया था, विराट् की उत्पत्ति वाले मन्त्र में ही यह बताया गया है कि यह पुरुष विराट् से उत्पन्न हुआ। उस पुरुष रूप पशु से देवताओं ने प्रथम मानस याग का अनुष्ठान किया। इन यज्ञ करने वालों में सृष्टि के उत्पन्न करने में समर्थ प्रजापति प्रभृति देवगण, इनका अनुवर्तन करने वाले देवर्षि गण, जो कि मन्त्रों के द्रष्टा थे, संमिलित थे। इस मन्त्र में इतनी ही बात बताई गई है, यहाँ ऋषियों का कोई लक्षण नहीं बताया गया है।

यदुक्तम्—'सर्वंविद्यां पठित्वा यदनुवचनमध्यापनं कर्मानुष्ठानमस्ति, तदृषिकृत्यं विज्ञायते। तेनाध्ययनाध्यापनकर्मणैवर्षयः सेवनीया जायन्ते। यत्तेषां प्रियमाचरन्ति तदेतत्तेभ्यः सेवाकर्तृभ्य एव सुखकारी भवति। यः सर्वंविद्याविद्भूत्वाऽध्यापयति तमेवानूचानमृषिमाहुः। अथार्षेयमिति—यो मनुष्यः पाठनं कर्म प्रवृणीते तदार्षेयं कर्म कथ्यते। य ऋषिभ्यो देवेभ्यो विद्यार्थिभ्यश्च प्रियं वस्तु निवेदयित्वा नित्यं विद्यामधीते, स विद्वान् महावीर्यो भूत्वा यज्ञं विज्ञानाख्यं प्रापत् प्राप्नोति। तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकार्यम्' (पृ० २९०) इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यापनस्यैवर्षित्वप्रयोजकत्वे समेषामध्यापकानामृषित्वव्यवहारापत्तेः। मन्वादिभिस्तु—'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। सरहस्यं सकल्पं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥' (म० २।१४०) इति वृत्तिनिरपेक्षस्याचार्यत्वं वृत्तिसापेक्षस्य चोपाध्यायत्वमुक्तम्। निरुक्तकारैस्तु—'ऋषिर्दर्शनात्', 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' इत्यादिभिर्मन्त्रद्रष्टॄणामृषित्वमुक्तम्। 'ऋषिषूत्क्रामत्सु' (नि० १३।१२) इत्यादिवचनैर्ऋषीणां कालविशेषोऽपि सूचितः। अत एवोत्क्रामत्सु तेषु मनुष्या देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। ततो देवास्तर्कमृषिं प्रायच्छन्। त्वद्रीत्या नु विद्वांसो देवा भवन्ति त एव चाध्यापयितार इति। अनेन देवानामेवर्षित्वं समायातमिति देवेभ्यस्तेषां भेदः किंमूलकः?

किञ्चैतेषां वचनानां नायमर्थः 'यः प्रवक्ति स ऋषिर्भवति' इति, तत्र त्वनुवचनेन ऋणापाकरणं विज्ञायते। 'ऋणं ह वै जायते योऽस्ति स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः' (श० १।५।१)। अवदानस्वरूपविवक्षयाऽऽख्यायिकामाह—यो द्विजातिः स जायमान एव देवादिभ्यश्चतुर्भ्योऽपि ऋणम् ऋणवान् अधमर्णिको जायते। ऋणित्वेन जननमेव यागादिनिमित्तम्। स यदेव यजेत तेन देवेभ्य ऋणं जायते। तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेनान् यजते यदेभ्यो जुहोति यदेव यजते तेन कारणेन यागेन निमित्तेन देवेभ्यस्तदृणं जायते हि यस्माद्यागकर्मभ्य एभ्य एतद् इदानीं करोति, अतस्तेभ्यस्तदृणमित्यर्थः। यदेनान् यागहोमावुभावपि नियमेन देवार्थमेव यतः क्रियते, अतस्तेषां तौ तस्यावश्यकप्रदानत्वाद् ऋणी जायत इत्यर्थः। 'यदेवानुब्रुवीतेति' (श० १।७।२।३) यदेवानुवचनं कुर्यात् अधीयीतेत्यर्थः। तेन ऋषिभ्य ऋणं जायते हि

आगे के दो ब्राह्मण वाक्यों की दयानन्द ने इस तरह से व्याख्या की है—'जो सब विद्याओं को पढ़कर दूसरों को पढ़ाता है, वह ऋषि कर्म कहलाता है। उससे जितना भी मनुष्यों पर ऋषियों का ऋण हो, उस सबकी निवृत्ति उनकी सेवा करने से हो जाती है। इससे जो नित्य विद्यादान ग्रहण और सेवा कर्म करना हैं, वही परस्पर आनन्दकारक है और यही व्यवहार (निधिगोप) अर्थात् विद्याकोष का रक्षक है। विद्या पढ़कर सबको पढ़ाने वाले ऋषियों और देवों की प्रिय पदार्थों से सेवा करने वाला विद्वान् बहु पराक्रमयुक्त होकर विशेष ज्ञान को प्राप्त करता है। इससे आर्षेय, अर्थात् ऋषिकर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें (पृ० २९१), किन्तु यह सारा कथन गलत है, क्योंकि यदि अध्ययन को ही ऋषि बनने का प्रयोजक (कारण) माना जाय, तो सभी अध्यापक ऋषि कहलाने लगेंगे। मनु प्रभृति ने तो बिना वृत्ति की आकांक्षा के जो विद्याध्ययन कराता है, उसको आचार्य तथा जो वृत्ति लेकर विद्याध्ययन कराता है, उसको उपाध्याय कहा है। निरुक्तकार ने मन्त्र के द्रष्टा को ऋषि माना हैं। निरुक्तकार ने ही यह भी बताया है कि इन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की उत्पत्ति भी किसी कालविशेष में हुई थी। इसीलिये ऋषियों की उत्पत्ति के काल के बीत जाने पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा कि अब हमारे लिये कौन ऋषि होगा? तब देवताओं ने मनुष्य को उसकी तर्कशक्ति को ऋषियों की जगह प्रदान किया। आपके कथन के अनुसार तो विद्वान् मनुष्य ही देवता होते हैं और वे ही अध्यापक भी होते हैं। इस तरह से तो देवता ही ऋषि हुए, तब इनमें परस्पर भेद आप किस आधार पर करेंगे?

वास्तव में इन ब्राह्मणवचनों का यह अर्थ होता ही नहीं कि जो अध्यापन करता है, वह ऋषि होता है। यहाँ केवल इतना कहा गया है कि अध्यापन करने से ऋषि ऋण चुकाया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि मनुष्य उत्पन्न होने के साथ ही देवता, ऋषि, पितृगण और मनुष्यों का ऋणी रहता है। इस बात को वहाँ आख्यायिका के रूप में स्पष्ट किया गया है कि द्विजाति उत्पन्न होने के साथ ही देवप्रभृति का ऋणी हो जाता है। इसीलिये उसको याग आदि करना चाहिये। याग करने से वह देवताओं के ऋण से मुक्त हो जाता है। अध्यापन करने से वह ऋषियों के ऋण से मुक्त हो जाता है। जिसका उपयोग करने पर भी नष्ट न हो उसको निधि कहा जाता है। अध्यापक विद्यारूपी निधि का रक्षक होता है, क्योंकि वह वेद की अध्ययनपरम्परा को आगे बढ़ाता है। तैत्तिरीय संहिता में भी इसी अभिप्राय की श्रुति मिलती है कि 'उत्पन्न होने के साथ ही ब्राह्मण तीन ऋणों से ग्रस्त रहता

यस्मादध्ययनकर्मण ऋषिभ्य एतत्करोति, अतस्तेभ्यस्तदृणमित्यर्थः। उपभुज्यमानोऽपि यो न विनश्यति स निधिः। तस्य गोपायितेति वेदमनूच्यमानमाहुः। एतदभिप्रायेणैव 'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी' (तै० सं० ६।३।११)

'अथेति सर्वविद्यां पठित्वा यदनुवचनमध्यापनं तदृषिकृत्यम्' (पृ० २९०) इत्यप्यशुद्धम्, अथेत्यस्य पूर्ववृत्तयागनिमित्तऋणनिरूपणानन्तरमित्येवार्थः, सर्वविद्यापठनस्याप्रकृतत्वात्। अनुवचनं खलु गुरोर्मुखादध्ययनम्। अध्यापनमृषिकृत्यम् ब्रह्मचर्येण स्वाध्यायाध्ययनेनर्ष्यृणापाकरणं जायते। 'अथार्षेयं प्रवृणीते त ऋषिभिश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयति। अयं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति' (श० १।४।२।२) यजमानस्यार्षेयवरणं विधत्ते। अत्राप्यथशब्दस्य दैवहोतृवरणानन्तरम्। 'आर्षेयमृषीणां सम्वन्धिनमध्वर्युर्वृणीते वरणं कुर्याद् अमुवदमुवदिति' (का० श्रौ० सू० ३।२६)। अमुवदिति सर्वनामस्थाने यजमानसम्वन्धीनि पूर्वजभूतानि परस्तात् पितृस्थानीयाद् अर्वाञ्चि पितृतत्पुत्रतत्पौत्ररूपाणि त्रीण्यार्षेयाणि ऋषेरपत्यानि वृणीत इति देवयाज्ञिकभाष्यम्। तत्प्रयोजनमाह—ऋषिभ्यश्चेति। यो यष्टुमुपक्रान्तवान् अयं यजमानः शरीरश्रुताध्ययनसम्पत्त्या हि महासामर्थ्यवान् इत्येतत् अमुवदिति पुरातनप्रसिद्धऋषिदृष्टान्तेन गम्यते। अतस्तेभ्योऽस्य यजमानस्य सामर्थ्यं विदितं भवति। अत्रान्वाधाने देवतापरिग्रहात् तत्सन्निधानं सिद्धमित्यभिप्रेत्य ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्चेति। 'यो मनुष्यः पाठनं कर्म प्रवृणीते तदार्षेयं कर्म कथ्यते' इत्यपि निर्मूलमक्षरबाह्यत्वाद्विरुद्धत्वात्। 'य ऋषिभ्यो देवेभ्यो विद्यार्थिभ्यश्च प्रियं वस्तु निवेदयित्वा नित्यं विद्यामधीते स विद्वान् महावीर्यो भूत्वा यज्ञं विज्ञानाख्यं प्राप्नोति'(पृ० २९०) इति, तदपि काल्पनिकमेव व्याख्यानम्, विद्यामधीते इत्यंशस्य मूलेऽभावात्। वस्तुतस्तु पञ्चसु महायज्ञेषु यानि यानि कर्माणि प्रसिद्धानि तेषामज्ञाना[illegible]ष्वश्रद्धया वा तान्युपेक्ष्य मन्त्रान् ब्राह्मणानि च चार्वाकपथे नेतुमेव परम्पराविरुद्धं श्रुतिविरुद्धं च यत्किञ्चिज्जल्पितवान्।

है। वह ब्रह्मचर्य के पालन और वेदाध्ययन से ऋषि ऋण से, यज्ञ का अनुष्ठान कर देव ऋण से और प्रजा को उत्पन्न कर पितृ ऋण से मुक्त हो जाता है। वह मनुष्य ऋणमुक्त माना जाता है जिसने कि पुत्र उत्पन्न किया है, यज्ञ का अनुष्ठान किया है और विधिपूर्वक गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वेदाध्ययन किया है।

'अपने सब विद्याओं को पढ़ने के बाद उनको दूसरों को पढ़ाना ऋषि का काम है' यह व्याख्या तो सर्वथा अशुद्ध है। 'अथ' शब्द पूर्व प्रकरण का बोधक होता है। यहाँ सब विद्याओं को पढ़ने और उनके अध्यापन का कोई प्रसंग नहीं है, किन्तु प्रकरण यहाँ याग निमित्तक ऋण के अपाकरण का है। अनुवचन का अर्थ गुरु के मुख से अध्ययन करना है। अध्यापन ऋषिकृत्य है, इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचर्य के पालन से और वेद के अध्ययन से ऋषि ऋण दूर हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण के मूल में उद्धृत वचन में भी यजमान के ऋषिवरण की बात कही गई है। यहाँ भी 'अथ' शब्द से यह बताया गया है कि देवताओं के निमित्त हवन करने वाले के वरण कर चुकने के बाद ऋषि सम्बन्धी कार्य के संपादक अध्वर्यु का वरण करना चाहिये। कात्यायन श्रौतसूत्र के वचन से भी इस बात की पुष्टि होती है। देवयाज्ञिक ने यहाँ अपने भाष्य में बताया है कि 'अमुवत्' इस सर्वनाम शब्द के स्थान पर यजमान से संबद्ध पूर्वजों को छोड़कर उस यजमान से प्रारम्भ कर पिता, पुत्र और पौत्र के रूप में तीन पुश्त का यहाँ वरण अभिप्रेत है। 'ऋषिभ्यश्च०' इत्यादि वचन से इसका प्रयोजन बताया गया है। यह यजमान जो याग आदि के अनुष्ठान करने में प्रवृत्त हुआ है, वह शरीर और वेदाध्ययन की संपत्ति से भरपूर है, यह बात पुराने प्रसिद्ध ऋषियों के उदाहरण से जानी जाती है। अतः उनके दृष्टान्त के इस यजमान की सामर्थ्य जान ली जाती हैं। यहाँ पर अन्वाधान प्रकरण में देवताओं का पाठ होने से उनकी संनिधि अपने आप सिद्ध है, इसी अभिप्राय से इस ब्राह्मण वाक्य में ऋषियों के प्रति और देवताओं के प्रति निवेदन की बात स्वीकार की गई है। 'जो मनुष्य अध्यापक का कार्य स्वीकार करता है, उसका यह कार्य ऋषिकर्म कहलाता है' यह व्याख्या भी गलत है, क्योंकि मूल ब्राह्मणवाक्य में इस अर्थ के बोधक पद नहीं हैं। 'जो ऋषियों को देवताओं को और विद्यार्थियों को प्रिय वस्तु देकर नित्य विद्या पढ़ता है, यह महान् बलशाली विद्वान् बनकर विशेष ज्ञान को प्राप्त करता है' यह व्याख्या भी कोरी कल्पना पर आधारित है। 'विद्यामधीते' यह अंश मूल वाक्य में है ही नहीं। वास्तव में तो पाँच महायज्ञों में जिन जिन प्रसिद्ध अनुष्ठानों का विधान है, उनको ठीक से न जान पाने के कारण, अथवा अश्रद्धा के कारण जानबूझ कर उनकी उपेक्षा करके दयानन्द ने मूल मन्त्रों और ब्राह्मण वाक्यों की व्याख्या इस तरह से की है, जिसको पढ़कर कि मनुष्य चार्वाक जैसा नास्तिक बन जाय। यह बात श्रुति और परम्परा दोनों के ही विरुद्ध है।

यत्तु पितृप्रमाणत्वेन—'ऊर्जं वहन्तीरमृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् । स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥' (वा० सं० २।३४), 'आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥' (वा० सं० १९।५८) इति मन्त्रद्वयमुद्धृतम्, तदप्यसङ्गतम्, मन्त्रार्थानवबोधात् । तथाहि—'ऊर्जमित्यपो निषिञ्चति' (का० श्रौ० सू० ४।१।१९) इति रीत्या ऊर्जं वहन्तीति मन्त्रस्यापां निषेचने विनियोग उक्तः । मन्त्रार्थस्तु—हे आपः, यूयं स्वधास्थ पित्र्यहविःस्वरूपा भवथ, अतो मे पितॄंस्तर्पयत । कथंभूता आपः ? परिस्रुतं वहन्तीः पुरुषेभ्यो निसृतं सारं वहन्त्यः । तच्च त्रिविधम्—ऊर्जशब्देन घृतशब्देन पयःशब्देन चाभिधेयम् । ऊर्जशब्दोऽन्नगतं स्वादुत्वमभिधत्ते । घृतपयसी प्रसिद्धे । तत् त्रिविधमप्यमृतं सर्वरोगविनाशकं मृत्युनाशकम्, पुनः कीदृशं कीलालं कीलनं कीलो बन्धस्तमलति वारयतीति कीलालम् । 'अलं वारणपर्याप्तोः' । सर्वबन्धनिवर्तकम् । त्रिविधस्य सारस्य वहनादपां पितृतर्पकत्वमुपपन्नम् । नात्र पितृपदार्थः पितृपरिभाषा वोक्ता ।

यत्तु—'सर्वे मनुष्याः सर्वान् प्रत्येवं जानीयुश्चाज्ञापयेयुः । ये पितॄन् मम पितृपितामहानाचार्यादींश्च सर्वे यूयं तर्पयत स्वधा स्थ सत्यविद्याभक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत । केन केन पदार्थेन ते सेवनीयास्तानाह—(ऊर्जं) पराक्रमं प्रापिकाः सुगन्धिताः प्रिया हृद्या आपः, अमृतात्मकमनेकविधं रसं घृतमाज्यं पयो दुग्धं कीलालं संस्कारैः सम्पादितमनेकविधम्, परिस्रुतं माक्षिकं मधु कालपक्वं फलादिकं च निवेद्य पितॄन् प्रसन्नान् कुर्यात्' (पृ० २९१-२९२) इति, तत्तु कपोलकल्पितवेदबाह्यमेव व्याख्यानम्, 'सर्वे मनुष्या एवं जानीयुश्चाज्ञापयेयुः' इति कथं कुतो वार्थः ? मे पितॄन् यूयं तर्पयतेति कुतोऽर्थः, सर्वैरेव स्वस्वपितरः स्वयमेव कुतो न तर्पणीयाः ? व्यवहारबाधितं चैतत्, नहि लोकेऽन्यपितरस्तर्प्यमाणा

इसके आगे दयानन्द ने पितृगण की सत्ता के प्रमाण के रूप में दो वेद मन्त्रों को उद्धृत किया है, किन्तु यह भी असंगत है, क्योंकि वे मन्त्र के अर्थ को ठीक से नहीं समझ सके हैं । कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार 'ऊर्जं वहन्ति' इस मन्त्र का विनियोग जल से सिंचन करने में बताया गया है । मन्त्र का अर्थ यह है—हे जल की अधिष्ठातृ देवताओं, आप लोग हमारे पितृगण के लिये हवि पहुँचाकर उनको तृप्त कीजिये । हे जल देवताओं, आप लोग पुरुषों से निकलने वाले त्रिविध सार को वहन करने वाली है । यह त्रिविध सार ऊर्ज, घृत और पय (दुग्ध) शब्द से जाना जाता है । अन्न में विद्यमान स्वाद को ऊर्ज के नाम से जाना जाता है । घी और दूध तो लोक में प्रसिद्ध ही है । यह तीनों तरह का सार अमृत है, सभी तरह के रोगों का और मृत्यु का भी नाश करने वाला है । साथ ही यह कीलाल है । कील शब्द बन्ध के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उस बन्धन का जो निवारण करता है, उसको कीलाल कहा जाता है । अलं शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक तो निवारण करना और दूसरा पर्याप्त । अभिप्राय यह हुआ कि आप लोग जिस त्रिविध सार को वहन करते हैं, वह सभी तरह के बन्धनों से मुक्ति दिलाने वाला है । इस त्रिविध सार के वाहक होने से जल देवता पितरों को भी अवश्य ही तृप्त कर देंगे । इस तरह से इस मन्त्र में न तो पितृ पद का कोई अर्थ ही बताया गया है और न उसकी कोई परिभाषा ही दी गई है ।

स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ यह किया है—'पिता या स्वामी अपने पुत्र, पौत्र, स्त्री और नोकरों को इस प्रकार आज्ञा देवे कि जो जो हमारे मान्य पिता, पितामह आदि, माता, मातामह आदि और आचार्य इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग, जो अवस्था या ज्ञान में बड़े और मान्य हैं, तुम लोग उनका उत्तम उत्तम जल, रोगनाश करने वाले उत्तम अन्न, सब प्रकार के उत्तम फलों के रस आदि पदार्थों से नित्य सेवा किया करो कि जिससे वे प्रसन्न होकर तुम लोगों को सदा विद्या देते रहे, क्योंकि ऐसा करने से तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहोगे,' (पृ० २९२), किन्तु सारा अर्थ कपोल कल्पित है और वेद के अक्षरों से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । 'सभी मनुष्य जाने और आज्ञा दें' यह अर्थ कहाँ से निकलेगा ? मेरे पिता, पितामह आदि को तुम लोग तृप्त करो, यह अर्थ भी कैसे निकलेगा ? सभी अपने अपने पिता, पितामह आदि को स्वयं ही तृप्त क्यों न करें ? यह बात व्यवहार के विपरीत भी लगती है । लोक में ऐसा नहीं देखा जाता कि कोई व्यक्ति दूसरे के पितरों को तृप्त करता हो । मनुष्यों का संबोधन वाचक शब्द भी यहाँ विद्यमान नहीं है । 'ऊर्जं वहन्ती' आदि शब्दों का जल आदि देकर प्रसन्न करे, यह अर्थ किस प्रमाण के आधार पर होगा ।

दृश्यन्ते । अत्र मनुष्याः सम्बोधनीयाः । ऊर्जं वहन्तीरप आदीन्निवेद्य प्रसन्नान् कुर्याद् इति कस्य शब्दस्यार्थः ? वस्तुतस्तु अब्देवत्या विराट्, तस्मादाप एवात्र सम्बोध्याः ।

'आयन्तु' इत्यादयश्चतस्र ऋचोऽग्निष्वात्तानां पितॄणाम् । नोऽस्माकं पितरो देवयानैर्मार्गैरायन्तु आगच्छन्तु । देवैः सह यन्ति पितरो येषु ते देवयाना मार्गास्तैः । कीदृशाः पितरः ? सोम्यासः सोमपानार्हाः, अग्निष्वात्ता अग्निना स्वात्ताः स्वादिताः, अग्निर्यान् दहन् स्वादयति । श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठायिनां येषां पुत्रादिभिरेतत्कर्मानुष्ठीयते । 'पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते । अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥' किञ्च पितर आगत्यास्मिन् यज्ञे स्वधयान्नेन मदन्त तृप्यन्तस्तुष्टाः सन्तो नोऽस्मानधिब्रुवन्तु अधिकान् वदन्तु । तद्वाक्यात्तथैवाधिकाः स्यामेत्यर्थः । ते पितरोऽस्मानवन्तुः पालयन्तु ।'

'द्वे सृती अश्रृण्वं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानां ताभ्यामिदं…' (वा० सं० १९।४७) । 'अन्वारब्धेषु पयो जुहोति द्वे सृती इति' (का० श्रौ० सू० १९।३।२५) । ऋत्विग्यजमानेषु कृतान्वारम्भेषु अध्वर्युः पयो जुहोति । नहि जीवतां पितॄणां सन्तोषाय पयोहोमविधानं युक्तं स्यात् । मन्त्रार्थस्तु—मर्त्यानां मरणधर्मिणां द्वे सृती द्वौ मार्गौ अहमश्रृण्वन् श्रुतवानस्मि श्रुतिभ्यः. 'स एव देवयानो वा पितृयाणो वा पन्थाः' इति श्रुतेः । देवानां मार्ग एकः, उतापि पितृमार्गश्चान्यः । पितरं मातरं 'द्यौः पिता पृथिवी माता, असौ वा पितेयं माता' (श० १२।८।१।२१) । पितरं मातरं चान्तरा भूलोकद्युलोकयोर्मध्ये तदेजत्कम्पमानं विश्वं सर्वमिदं ताभ्यां सृतिभ्यां समेति सङ्गच्छते ताभ्यां सृतिभ्यां सुहुतमस्तु । अनेन मर्त्येभ्यो भिन्नानां देवानां पितॄणां च विशिष्टौ द्वौ मार्गौ उत्तरायणदक्षिणायननाम्ना प्रसिद्धौ ।

वास्तव में बिराट् छन्द में निवद्ध इस मन्त्र का देवता जल है, अतः जल को ही यहाँ संबोधित किया जाना उचित माना जायगा, मनुष्यों को नहीं ।

'आयन्तु' इत्यादि चार ऋचाएँ अग्निष्वात्त नाम के पितृगणों को संबोधित हैं । हमारे पितृगण देवयान नामक मार्ग से आवें । पितृगण जिस मार्ग पर देवताओं के साथ जाते हैं, वह मार्ग देवयान कहलाते हैं । ये हमारे पितृगण सोमपान करने योग्य हैं अग्नि इनका स्वाद लेता है, अर्थात् मृत्यु के उपरान्त जब इनके पार्थिव शरीर को जला दिया जाता है, ये हमारे पितृगण अग्निष्वात्त अर्थात् अग्नि के द्वारा भलीभांति खाये गये कहलाते हैं । ये अग्निष्वात्त पितृगण उनके होते हैं, जिनके पुत्र-पौत्र आदि श्रौत और स्मार्त कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान करते रहते हैं । जैसा कि कहा गया है—"यह अग्निष्वात्त पुरुष पुत्र के सत्कर्मों से सभी लोकों को जीतता है, पौत्र के सत्कर्म से आनन्त्य (अमृतत्व) को प्राप्त होता है और प्रपौत्र के सत्कर्म से सूर्यलोक में प्रविष्ट हो जाता है' । ये पितृगण हमारे इस यज्ञ में आकर हमारे द्वारा स्वधाकार के साथ दिये गये अन्न से तृप्त होकर हमारे लिये आशीर्वाद दें कि हमारे यहाँ सब प्रकार की सुख-सम्पत्ति बढ़े । इनके आशीर्वचनों से हमारे यहाँ सब कुछ ऐश्वर्य बढ़ जाय । इस तरह से ये पितृगण हमारा पालन करें ।

'द्वे सृती०' इत्यादि मन्त्र इसी से सम्बद्ध है । कात्यायन श्रौतसूत्र में इसका विनियोग बताया गया है कि इस मन्त्र से अध्वर्यु तब दुग्ध का होम करता है, जब कि ऋत्विक् और यजमान अन्वारम्भ करने लगते हैं । जीवित पितृगणों के सन्तोष के लिये दुग्ध के होम की कोई आवश्यकता नहीं रहती । इस मन्त्र का अर्थ यह है—मरणशील मनुष्यों की दो प्रकार गति होती है, ऐसा मैंने श्रुतिवचनों में सुना है । इनके नाम वहाँ पर देवयान और पितृयाण बताये गये हैं । एक देवताओं का मार्ग है, दूसरा पितरों का । 'आकाश पिता और पृथिवी माता है' ऐसा श्रुतियों में प्रतिपादित है । इन पिता और माता के, द्युलोक और पृथिवीलोक के बीच में यह सारी सृष्टि निरन्तर इन्हीं दो मार्गों से होकर गुजरती रहती है । इन दोनों मार्गों के लिये भी हम यह शोभन आहुति प्रदान करते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यों से भिन्न देवताओं और पितरों के दो विशिष्ट मार्ग हैं, जो कि उत्तरायण और दक्षिणायन के नाम से जाने जाते हैं ।

यत्तु 'आयन्तु' इत्यस्य व्याख्यायामुक्तम्—ये सोम्यासः सोमगुणाः शान्ताः सोमवल्ल्यादिरसनिष्पादने चतुरा अग्निष्वात्ता अग्निः परमेश्वरोऽभ्युदयाय सुष्ठुतयाऽत्तो गृहीतो यैस्ते अग्निष्वात्ताः। तथा होमकरणार्थं शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोऽग्निरात्तो गृहीतो यैस्तै पितरो विज्ञानवन्तः पालकाः सन्ति। आयन्तु नः तेऽस्मत्समीपमागच्छन्तु। वयं च तत्सामीप्यं नित्यं गच्छेम। पथिभिस्तान् विद्वन्मार्गैर्दृष्टिपथमागतान् दृष्ट्वाऽभ्युत्थाय हे पितरो भवन्त आयन्तु इत्युक्त्वा आसनादिकं निवेद्य नित्यं सत्कुर्याम। हे पितरोऽस्मिन् सत्काररूपे यज्ञे स्वधयाऽमृतरूपया सेवया मदन्तो हर्षन्तोऽस्मान् रक्षितारः सन्तः सत्यविद्यामधिब्रुवन्तु उपदिशन्तु' (पृ० २९२) इति, तत्तु सर्वथा कपोलकल्पितं प्रमाणविरुद्धमेव, अनुपपत्तेः। तथाहि—तद्दृष्ट्यास्मिन् मन्त्रे वैज्ञानिका एव पितर उक्ताः। पूर्वं तु पितृपितामहादय एव पितरः, ते च सोम्यासः सोमवल्ल्यादिरसनिष्पादनचतुराः। अस्य सम्बोधनस्य प्रकृते किं प्रयोजनम् इति पदकृत्यं वक्तव्यमासीत्। अग्निपदेनैव प्रकृते परमेश्वरः किमर्थमुक्तः, तस्यापरिच्छिन्नत्वात् कथमादानं सम्भवति ? तस्य सौष्ठवं च कीदृक् ? पथिदेवमार्गस्त्वद्दृष्ट्या कः कीदृशः ? नहि विदुषामविदुषां मार्गभेदः सामाजिकैः स्वसंस्थास्वपि कल्पितः। दृष्टिपथमागतानिति कस्य शब्दस्य कथमर्थः ? दृष्ट्वाऽभ्युत्थाय भवन्त आयन्तु इत्युक्त्वाऽऽसनादिकं निवेद्येत्यादिकं शाब्दन्याये स्वैरचारित्वमेव व्यञ्जितम्। यज्ञशब्दस्य प्रसिद्धार्थमपहाय सत्कारार्थकल्पनमपि निर्मूलमेव, तावतापि जीवतां पितृपितामहादीनां पितृत्वं न सिद्ध्यति। सिद्धान्तानुसारी त्वर्थं उक्त एव।

'अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्। अमी मदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत ॥' (वा० सं० २।३१), 'नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय, नमो वः पितरो जीवाय, नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः

'आयन्तु' इत्यादि मन्त्र की दयानन्द ने यह व्याख्या की है—'हे परमेश्वर, आपके अनुग्रह से जो शान्त स्वभाव और सबको सुख देनेवाले विद्वान् लोग अग्नि नाम परमेश्वर और रूप गुणवाले भौतिक अग्नि की अलग अलग करनेवाली विद्युद् रूप विद्या को यथावत् जानने वाले हैं, वे इस विद्या और सेवा यज्ञ में अपनी शिक्षा विद्या के ज्ञान और प्रकाश से अत्यन्त हर्षित होकर हमारी सदा रक्षा करें। तथा उन विद्यार्थियों और सेवकों के लिये भी ईश्वर की आज्ञा है कि जब जब वे आयें, तब तब उनको उत्थान, नमस्कार और प्रियवचन आदि से संतुष्ट रखें। वे लोग भी अपने सत्य-भाषण से निर्वैरता और अनुग्रह आदि सद्गुणों से युक्त होकर अन्य मनुष्यों को उसी मार्ग से चलावें और आप भी दृढ़ता के साथ उसी में चलें। ऐसे सब लोग छल और लोभ आदि से रहित होकर परोपकार के लिये अपना सत्य व्यवहार रखें। उक्त भेद से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं—एक देवयान और पितृयान। अर्थात् जो विद्यामार्ग है, वह देवयान और जो कर्मोपासना मार्ग है, वह पितृयान कहलाता है। सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करते रहें' (पृ० २९३), किन्तु यह अर्थ सर्वथा उनकी कल्पना पर आधृत है और प्रमाण के विरुद्ध है, क्योंकि हमारे तर्कों के आगे यह टिक नहीं पाता। दयानन्द के अनुसार इस मन्त्र में वैज्ञानिकों को ही पितृगण माना गया है। पहले पिता, पितामह आदि को पितर कहा गया था और यह भी बताया गया था कि वे सोमलता का रस निकालने में प्रवीण हैं। अब इस मन्त्र में वैज्ञानिकों को पितृनाम से संबोधित करने का अभिप्राय क्या है, इस बात को दयानन्द को पदकृत्य (पदों के विश्लेषण) के द्वारा स्पष्ट करना चाहिये था। प्रस्तुत मन्त्र में परमेश्वर को 'अग्नि' पद से ही क्यों संबोधित किया गया ? वह तो अपरिच्छिन्न है, उसका आदान (ग्रहण) कैसे किया जा सकता है ? उसकी अच्छाई का क्या तात्पर्य है ? सामान्य मार्ग में और देवमार्ग या पितृमार्ग में आप क्या फरक मानते हैं ? आर्यसमाजी विद्वान् और मूर्ख लोगों के लिये अलग-अलग मार्ग अपने संस्थाओं में बनाते देखे नहीं गये हैं। 'देखने में आये' यह अर्थ किस पद का है ? यज्ञ शब्द के भी प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर 'सत्कार' अर्थ करना निराधार है। इतना सब कर लेने के बाद भी जीवित पिता, पितामह आदि के लिये पितर शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं देखा गया है। अतः इन मन्त्रों का हमारा बताया गया परम्परागत अर्थ ही सही माना जायगा।

इसी विषय के प्रसंग में आपने 'अत्र पितरों' इत्यादि मन्त्रों को उद्धृत किया है, किन्तु ये भी आपके अभीष्ट मत के साधक नहीं है, क्योंकि 'अग्नये कव्यवाहनाय' इत्यादि पिण्ड पितृयज्ञ के मन्त्रों का प्रसंग प्रस्तुत है। कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार

पितरो घोराय, नमो वः पितरो मन्यवे । नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वासः ॥' (वा० सं० २।३२), 'आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषोऽसत् ॥' (वा० सं० २।३३) । इमे त्वदुद्धृता मन्त्रा अपि न त्वदभीष्टसाधकाः । यतो हि—'अग्नये कव्यवाहनाय'इत्यादिभिः पिण्डपितृयज्ञमन्त्राः प्रकृताः । 'अत्र पितर इत्युक्त्वोदङ्ङास्त आतमनादावृत्यामीमदन्तेति जपति' (का० श्रौ० सू० ४।१।१३-१४) इति कात्यायनवचनानुसारेण आतमनात् श्वासनिरोधेन ग्लानिपर्यन्तमुदङ्मुख आस्ते । आवृत्याऽमीमदन्तेति जपतीति । मन्त्रार्थस्तु—हे पितरः, यूयमत्रास्मिन् यज्ञे मादयध्वं हृष्टा भवत । ततो हविषि यथाभागं स्वं स्वं भागमनतिक्रम्य आवृषायध्वं समन्ताद् वृषभवदाचरत । यथा वृषः स्वाभीष्टं घासं प्राप्य तृप्तिपर्यन्तं तत्स्वीकरोति तद्वत् स्वीकुरुत । यान् पितॄन् प्रति मादयध्वमित्युक्तम्, तेऽमीमदन्त हृष्टा यथाभागमावृषायिषत स्वस्वभागानुसारेण वृषवत् स्वाभीष्टं प्राप्य स्वीचक्रुः । अत्र सभायां पाठशालायामित्यर्थस्तु निर्मूलः । पूर्वार्थस्तु पिण्डपितृयज्ञप्रकरणानुसारीति विशेषः । यथाभागमित्यस्यापि विद्यारूपं भागमिति प्रकरणविरुद्ध एवार्थः । आवृषायध्वमित्यस्य विद्वत्स्वीकृत्येत्यपि निर्मूलमस्पष्टं च । हिन्दीभाषाव्याख्याने तु न किञ्चिदप्यस्यार्थो लिखितः ।

'नमो व इत्यञ्जलिं करोतीति' (का० श्रौ० सू० ४।१।१५), 'षट्कृत्वो नमस्करोति षड्वा ऋतवः पितरः' इति श्रुतेः । रसादिशब्देन वसन्तादय ऋतव उच्यन्ते । हे पितरः, वो युष्माकं सम्बन्धिने रसाय रसात्मकाय वसन्ताय नमः । वसन्ते मध्वादिरसानां सम्भवात् । शोषाय शुष्यन्त्योषधयो यत्र स ग्रीष्मस्तद्रूपाय नमः । जीवाय जीवनहेतवे जलमयाय वर्षर्तवे नमः । स्वधायै शरदे, 'स्वधा वै पितॄणामन्नम्' इति श्रुतेः, शरदि व्रीह्याद्यन्नानां सम्भवाच्च । घोराय विषमाय हेमन्ताय नमः, शीतप्रचुरत्वेन दुःखदत्वात् । मन्यवे क्रोधरूपाय शिशिराय, सर्वौषधिदाहजनकत्वात् । हे पितरः, एवंविधऋतुरूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः, वो नम इत्यभ्यास आदरार्थः । हे पितरः, नोऽस्मभ्यं गृहान् दत्त । भार्यापुत्रपौत्रा-

उत्तराभिमुख होकर श्वास को सरलता से जब तक रोका जा सके, तब तक इस मन्त्र का जप करने का विधान है । मन्त्र का अर्थ यह है—हे पितृगण, आप लोग इस यज्ञ में आकर प्रसन्न होइये और यहाँ दी जा रही हवि का अपना अपना भाग लेकर आप लोग बैल की तरह आचरण कीजिये, जैसे बैल अपने मन का घास पाकर पेट भर जाने तक उसकी जुगाली करता रहता है, वैसे ही तृप्ति पर्यन्त आप अपने भाग को स्वीकार कीजिये । मन्त्र के द्वितीय चरण में बताया गया है कि जिन पितृगणों को उनका भाग अर्पित किया गया था, वे उसको प्राप्त कर प्रसन्न हुए हैं और तृप्ति पर्यन्त उन्होंने अपने भाग को स्वीकार कर लिया है । यहाँ पर सभा या पाठशाला का अर्थ करना बिना प्रमाण का है । हमारा किया गया अर्थ पिण्डपितृयज्ञ प्रकरण के अनुकूल है । यथाभाग का अर्थ विद्यारूप भाग करना भी प्रकरण के विरुद्ध है । 'आवृषायध्वम्' इस पद का अर्थ 'विद्वानों की तरह स्वीकार कर' करना निराधार एवं अस्पष्ट भी है । हिन्दी भाषा की व्याख्या तो अपने मूल संस्कृत के भी विपरीत है ।

'नमो वः' इत्यादि द्वितीय मन्त्र का विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र में नमस्कार के लिये किया गया है । श्रुति का कहना है कि छः ऋतुएँ भी पितर कहलाती हैं, अतः उन पितृगणों को छः बार नमस्कार किया जाता है । रस प्रभृति मन्त्र गत शब्दों से इन छः वसन्त आदि ऋतुओं का ही ग्रहण किया जाता है । हे पितृगण, हम आपसे संबद्ध रसात्मक बसन्त ऋतु को नमस्कार करते हैं । बसन्त ऋतु में मधु आदि रसों की सृष्टि होती है, अतः वसन्त को रसात्मक कहा गया है । शोष अर्थात् ओषधियों को सुखा देने वाले, पका देने वाले आप लोगों के ग्रीष्म स्वरूप को हम नमस्कार करते हैं । जीवन हेतु जलमय वर्षा ऋतु के लिये हम नमस्कार करते हैं । स्वधा स्वरूप शरद् ऋतु को हम नमस्कार करते हैं । पितरों के अन्न का नाम स्वधा है । शरद् ऋतु में व्रीहि आदि की उत्पत्ति भी होती है । घोर भयानक हेमन्त ऋतु को हमारा नमस्कार है । इस ऋतु में शीत अधिक पड़ने से यह दुःखप्रद हो जाता है । मन्यु अर्थात् क्रोधस्वरूप शिशिर ऋतु को हम नमस्कार करते हैं । इस ऋतु में सारी ओषधियों को पाला मार जाता है, अतः इसको क्रोध स्वरूप कहा गया है । हे पितृगण, इस तरह से सब ऋतुओं के रूप में विद्यमान आप लोगों को हम नमस्कार करते हैं । आदर प्रदर्शित करने के लिये नमः पद की दो बार आवृत्ति की गई है । हे पितृगण, आप लोग हमें रहने के लिये घर दीजिये । यहाँ भार्या, पुत्र, पौत्र,

दयो गृहाः। हे पितरः, वो युष्मभ्यं यथा नो गृहे सतो विद्यमानान् पदार्थान् वो युष्मभ्यं दद्मः। सतो विद्यमानाद्वादद्भ्यो ददामः। ददतामस्माकं कदाचिद् द्रव्यक्षयो मा भूदित्यर्थः। 'एतद्व इत्युयास्यति सूत्राणि प्रति पिण्डमूर्णां दशां वावयस्युत्तरे यजमानलोमानि वेति' (का० श्रौ० सू० ४।७।१६-१८)। हे पितरो युष्मभ्यमेतद्वासः सूत्रमेव परिधानमस्तु'।

'आधत्तेति मध्यमं पिण्डं पत्नी प्राश्नाति पुत्रकामेति' (का० श्रौ० सू० ४।१।२२)। हे पितरः, यथेहास्मिन्नृतौ पुरुषः असत् पुरुषो देवपितृमनुष्याणामपेक्षितस्यार्थस्य पूरयिता भूयात्, तथा कुमारं गर्भं पुत्ररूपं गर्भं यूयमाधत्त सम्पादयत। कीदृशं कुमारं पुष्करस्रजम्। येन प्रकारेण पुष्कराणां पद्मानां स्रग् माला ययोस्तौ अश्विनौ अश्विनीकुमारौ तत्तुल्यम्। कुमारं रोगहीनं सुन्दरं कुमारं पुत्रमाधत्तेत्यर्थः।

यदुक्तम्—'हे पितरः, रसाय सोमलतादिरसविज्ञानानन्दग्रहणाय, शोषायाग्निवायुविद्याप्राप्तये, जीवनार्थं जीविकाविद्याप्राप्तये मोक्षविद्याप्राप्तये, आपत्कालनिवारणाय, सर्वविद्याप्राप्तये च' (पृ० २९३-२९४) इत्यादिकम् तत्तु निर्मूलमेव, तत्तत्पदानां तदर्थकत्वे मानाभावात्। सिद्धान्तानुसारिव्याख्यानं तु श्रुतिप्रमाणसिद्धमेव। 'घोराय मन्यवे' इत्यादिभिस्तत्तद्दृतुरूपेभ्यः पितृभ्यो नमस्कारस्तु सम्भवति, परन्तु मन्योर्घोरस्य च प्राप्त्यर्थं नमनं न सम्भवति।

यच्चोक्तम्—'हे पितरः, यूयं मनुष्येषु विद्यागर्भमाधत्त धारयत तथा विद्यादानार्थं पुष्करस्रजं पुष्पमालाधारिणं कुमारं ब्रह्मचारिणं यूयं धारयत येन प्रकारेणेहास्मिन् संसारे विद्यासुशिक्षायुक्तः पुरुषोऽसत्। येन च मनुष्ये-

प्रभृति पदार्थ गृह शब्द से कहे गये हैं। हे पितृगण, हमलोग अपने घर में विद्यमान पदार्थों को आप लोगों के लिये भेंट करते हैं, तो आप लोग ऐसा करें कि हमारे ये पदार्थ कभी घटें नहीं और हम निरन्तर इसी तरह से आप लोगों की पूजा आदि करते रहें। इस आगे के मन्त्र खण्ड से पितरों को ऊन का गुच्छा भेंट किया जाता है कि हे पितृगण, इस ऊर्णखण्ड को, ऊन के सूत्र को, आप अपने पहनने के वस्त्र के रूप में स्वीकार कीजिये।

'आधत्त' इत्यादि तृतीय मन्त्र का विनियोग कात्यायन ने बताया है कि पिण्डदान आदि कर चुकने के बाद इस मन्त्र का उच्चारण उस समय किया जाता है, जब कि यजमान की पत्नी उन पिण्डों में से बीच के पिण्ड को नैवेद्य के रूप में स्वीकार करती है। मन्त्र का अर्थ यह है—हे पितृगण, इस प्रस्तुत ऋतुकाल में देव, पितृ और मनुष्यों के अपेक्षित प्रयोजन को पूरा करने वाला पुरुष पैदा हो, इसके लिये आप लोग कुमार (बालक) के रूप में इस यजमान पत्नी में गर्भ का संपादन कीजिये। यह कुमार अश्विनीकुमारों की तरह सुन्दर हो, अश्विनीकुमार पुष्कर अर्थात् कमल पुष्पों की माला धारण किये रहते हैं, इसी तरह यह कुमार भी कमल पुष्प की तरह सुकोमल, सुन्दर हो और साथ ही सब तरह के रोगों से मुक्त हो। इस यजमान पत्नी के गर्भ में इस तरह के बालक की उत्पत्ति का आशीर्वाद आप लोग दीजिये।

स्वामी दयानन्द ने 'नमो वः' इत्यादि का अर्थ यह किया है—'हे पितर लोगों, हम लोग आपको नमस्कार करते हैं कि आपके द्वारा हमको रस अर्थात् विद्यानन्द, ओषधि और जलविद्या का यथावत् ज्ञान हो। तथा शोष अर्थात् अग्नि और वायु की विद्या, जिससे कि ओषधि और जल सूख जाते हैं, उसके बोध के लिये भी हम आपको नमस्कार करते हैं। हे पितर लोगों, आपकी सत्य शिक्षा से हम लोग प्रमादरहित और जितेन्द्रिय होकर पूर्ण आयु भोगें, इसलिये हम आपको नमस्कार करते हैं। हे विद्वान् लोगों, अमृत रूप मोक्षविद्या की प्राप्ति के लिये हम आपको नमस्कार करते हैं। हे पितरों, घोर विपत् अर्थात् आपत्काल में निर्वाह करने की विद्याओं को जानने की इच्छा से दुःखों के पार उतरने के लिये हम लोग आपकी सेवा करते हैं। हे पितरों, दुष्ट जीव और दुष्ट कर्मों पर नित्य अप्रीति करने की विद्या सीखने के लिये हम आपको नमस्कार करते हैं'' (पृ० २९४)। किन्तु यह सारा अर्थ निराधार है, उन उन शब्दों का आपका किया अर्थ सही नहीं है, इसमें मनमानी के सिवाय कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है, हमारा किया हुआ अर्थ तो श्रुति प्रमाण के आधार पर है।

'आधत्त पितरो०' इत्यादि का अर्थ यह किया गया है—'हे विद्या के देने वाले पितर लोगों, इस कुमार ब्रह्मचारी की गर्भ के समान रक्षा करके उत्तम विद्या दीजिये कि जिससे वह विद्वान् होकर, जैसे पुष्पों की माला धारण कर मनुष्य शोभा को प्राप्त

षूत्तमविद्योन्नतिर्भवेत् तथैव प्रयतध्वम्' (पृ० २९४) इति, तदपि निर्मूलम्, अक्षरबाह्यत्वात् । युष्मद्रीत्या पितरः पितृपितामहादयो भवन्ति, ते चाविद्वांसोऽपि भवन्ति । तथा च ते विद्यागर्भं कथं धारयितुं समर्था भविष्यन्ति ? किञ्च, गर्भं कुमारमिति समानविभक्तिकत्वेन सामानाधिकरण्यम् । तथा च यदि गर्भपदस्य विद्यागर्भोऽर्थस्तदा तस्य कुमारपदेन कथं सम्बन्धः ? कथञ्चित् कुमारपदस्य ब्रह्मचारिपरत्वेऽभ्युपगम्यमानेऽपि पुष्करस्रजमिति विशेषणं कथं योक्ष्यते ? ब्रह्मचारिणः स्रगादिधारणनिषेधात् । तस्माद्यत्किञ्चिदेतत् ।

'ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः । तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतं समाः ॥' (य० १९।४६)। 'उत्तरे यज्ञोपवीत्युत्तरया' (का० श्रौ० सू० १९।३।२४) । पारम्पर्य्येण शास्त्रेण च दैव्ये कर्मणि सव्ये पित्र्ये कर्मण्यपसव्ये यज्ञोपवीतधारणं भवति । यदि लौकिकाः पितृपितामहादय एव पितरस्तदा तथा यज्ञोपवीतधारणस्य किं प्रयोजनं स्यात् ? सूत्रार्थस्तु—उत्तरे उत्तरवेद्याहवनीये कृतसव्यो यजमान उत्तरयाग्रिमया ऋचाऽऽज्यं जुहोति । मन्त्रार्थस्तु—जीवन्तीति जीवास्तेषु प्राणिषु मध्ये ये समानाः समनसः समनस्का मामका मदीयाः प्राणिनः समनस्काः सपिण्डा अस्मिँल्लोके भूलोके शतं समाः शतवर्षपर्यन्तं तेषां मामकानां जीवानां श्रीर्मयि कल्पतां त्यक्त्वा तान् मयि क्लृप्ता भवतु मामाश्रयतामित्यर्थः । गोत्रिणो हि पापात्मानः सहजाः शत्रवोऽत एवं प्रार्थ्यते । यत्तु 'जीवा विद्यमानजीवनाः' इति, तन्न, तथात्वे जीवेष्वित्यत्रापि तथैव वक्तव्यत्वापत्तेः । यत्तु समनस इति 'धर्मेश्वरसर्वमनुष्यहितकरणैकनिष्ठाः' इति, तदपि निर्मूलम्, तत्र तादृशशक्त्यभावात् । कर्मानुसारेण पूर्वजा गोत्रिणः केचिदमनस्का अपि भवन्ति । तान् व्यावर्तयितुं समनस्का इति विशेषणं युक्तम् । एवं जीवेषूपदेश्येषु शिष्येषु 'सत्यविद्यादानार्थं छलादिदोषराहित्येन वर्तमाना विद्वांसः, तेषां या श्रीः सत्य-

करता है, वैसे ही यह भी विद्या पाकर सुन्दरता युक्त होवे । जिस प्रकार इस संसार में मनुष्यों की विद्या आदि सद्गुणों से उत्तम कीर्ति और सब मनुष्यों को सुख प्राप्त हो वैसा ही प्रयत्न सब लोग सदा कीजिये । यह ईश्वर की आज्ञा विद्वानों के प्रति है । इसलिये मनुष्यों को उचित है कि इसका पालन सदा करते रहें' (पृ० २९५), किन्तु यह कथन भी निराधार है, क्योंकि मूल मन्त्र के अक्षरों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है । आपके मत से पिता, पितामह प्रभृति पितर कहलाते हैं । ये तो विद्वान् ही हों, ऐसा जरूरी नहीं है । वे विद्यागर्भ को धारण करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं । अपि च, गर्भ और कुमार की एक ही विभक्ति होने से इनका अधिकरण एक ही है, अब यदि गर्भ पद का अर्थ विद्यागर्भ किया जाय तो उसका कुमार पद से सम्बन्ध कैसे होगा ? किसी तरह से कुमार पद का अर्थ ब्रह्मचारी कर भी दिया जाय तो उसका पुष्करस्रज विशेषण से सम्बन्ध कैसे होगा, ब्रह्मचारी को तो माला आदि का धारण करना निषिद्ध है ।

'ये समानाः' इत्यादि मन्त्र का विनियोग भी कात्यायन श्रौतसूत्र में दिया गया है । परम्परा और शास्त्रवचन के अनुसार देव संबन्धी कार्यों में सव्य और पितृसंबन्धी कार्यों में अपसव्य यज्ञोपवीत धारण की जाती हैं । यदि लौकिक पिता, पितामह आदि ही पितर हैं, तो यज्ञोपवीत की इन विविध धारण विधियों का क्या उपयोग है ? उक्त विनियोगबोधक कात्यायन सूत्र का अर्थ यह है कि उत्तरवेदि आहवनीय में सव्य यज्ञोपवीत धारण कर यजमान आगे के मन्त्र से घृत की आहुति देता है । मन्त्र का अर्थ यह है—प्राणियों के बीच में जो हमारे मन का अनुवर्तन करने वाले अपने सगे-सम्बन्धी, सगोत्र जीव हैं, इस भूलोक में सौ वर्ष तक उनकी सद्भावना, समृद्धि मेरे पास आ जाय । सगे-सम्बन्धी, सगोत्र प्राणी साधारणतया सहज, स्वाभाविक रूप से शत्रु हुआ करते हैं, अतः इस तरह की प्रार्थना की जाती है । दयानन्द ने जीवपद का अर्थ 'विद्यमान जीवनवाले' किया है, जो कि गलत है । ऐसा करने पर 'जीवेषु' पद का भी वही अर्थ करना पड़ेगा । इसी तरह से दयानन्द ने 'समनसः' पद का अर्थ 'धर्म, ईश्वर और सर्वहित करने में उद्यत' (पृ० २९६) किया है, यह भी निराधार है, इस शब्द का यह अर्थ हो ही नहीं सकता । कर्म के अनुसार अपने सगोत्र पूर्वज अपने विपरीत स्वभाव के भी होते हैं, उनका निवारण करने के लिये यहाँ 'समनसः' यह जीवात्मा का विशेषण दिया गया गया है । इसी तरह से 'उपदेश करने योग्य शिष्यों में सर्वविद्यादान के लिये छल-कपट आदि दोषों से रहित होकर प्रीति करने वाले

विद्यादिगुणाढ्या शोभा सामयिकी लक्ष्मीः शतवर्षपर्य्यन्तं कल्पतां स्थिरा भवतु, यतो वयं नित्यं सुखिनः स्याम' (पृ० २९५), इत्यपि निर्मूलम्, जीवेष्विति शब्दे तथार्थबोधकशक्त्यसंभवात्। तथाविधेषु जीवेषु शिष्येषु सत्यविद्यादानाय छलादिराहित्येन वर्तमाना ये विद्वांस इत्यस्यांशस्य किंमूलमिति वक्तुमशक्यम्। स्वतन्त्रव्याख्यानमन्यत्, वेदव्याख्यानेन तु वेदानुसारिणैव भाव्यम्। 'मयि' इत्यंशस्य तु व्याख्यानमेव न कृतम्। तस्मात्पूर्वोक्त एवार्थ इति नानेन जीवतां पितृपितामहादीनां श्रद्धया सेवादिकमेव श्राद्धपदाभिधेयम्। नहीदानीं पित्रादिसेवाकर्तृषु श्राद्धकारित्वमुच्यते।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥
अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ (यजु० १९।४९-५०)

'सोमवतां बर्हिषदामग्निष्वात्तानां च' (का० श्रौ० सू० १९।३।२१)। अवरे अस्मिन् लोकेऽवस्थिताः पितरः, उदीरताम् ऊर्ध्वं लोकं गच्छन्तु (ईर कम्पने)। परासः पराः परस्मिल्लोके स्थिताः पितर उदीरतां तस्मादपि स्थानात् परं स्थानं गच्छन्तु। उन्मध्यमा मध्ये भवा मध्यमा पितर उदीरताम्। पितरः सोम्यासः सोमं सम्पादयन्तीति सोम्याः। ये च असुं प्राणमीयुः वातात्मानो वातरूपं प्राप्तास्ते पितरो हवेषु आह्वानेषु नोऽस्मान् रक्षन्तु। कीदृशाः ? अवृका नास्ति वृकः शत्रुर्येषां ते उदासीनाः, ऋतज्ञाः सत्यज्ञाः, यज्ञज्ञाः स्वाध्यायनिष्ठा वा। एतेन जीवत्पित्रादिभ्यो भिन्ना विविधलोकेषु स्थिता वातात्मानश्च श्राद्धादिभिरूर्ध्वं लोकं गच्छन्तीति सिद्ध्यति।

यत्तु 'ये पितरोऽवकृष्टगुणाः, उत्परास उत्कृष्टगुणाः, ये च मध्यस्थगुणाः, सोम्यासस्ते हवेषु देयग्राह्यव्यवहारेषु विज्ञानदानेन नोऽवन्तु' (पृ० २९५) इति तत्तुच्छम्, हवेषु आह्वानेष्वित्यर्थस्यैव यज्ञादिप्रसङ्गे युक्तत्वात्। किञ्च, ज्ञानदानं त्वद्रीत्या विदुषां देवानां कार्यम्। त्वद्रीत्यापि येऽवरगुणा मध्यमगुणाश्च ते कथं देयग्राह्यव्यवहारेषु ज्ञानं दातुं शक्ष्यन्ति ? यत्तु

करने वाले विद्वान् हैं, उनकी जो श्री अर्थात् सत्यविद्या आदि श्रेष्ठगुण युक्त शोभा और राज्यलक्ष्मी है, सो मेरे लिये इस लोक में सौ वर्ष तक स्थिर रहे, जिससे हमलोग नित्य सुखसंयुक्त होकर पुरुषार्थ करते रहें' (पृ० २९६), यह व्याख्या भी निराधार है, क्योंकि 'जीवेषु' इस पद में इस तरह का अर्थ बताने की शक्ति नहीं है। 'उपदेश करने योग्य…विद्वान् हैं' व्याख्या के इस अंश में क्या प्रमाण है, यह नहीं बताया गया। अपनी स्वतन्त्र व्याख्या मनमानी पद्धति से की जा सकती है, किन्तु वेद की व्याख्या तो उसमें बताई गई विधि से ही की जानी चाहिये। आपकी व्याख्या में 'मयि' इस पद का कोई अर्थ नहीं किया गया है। अतः यह कहना गलत है कि इस मन्त्र में जीवित पिता, पितामह आदि की श्रद्धापूर्वक सेवा करना ही श्राद्ध के नाम से कही गई है।

'उदीरताम्' इत्यादि मन्त्रों का उपयोग कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार सोमवान्, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त नामक पितरों की प्रार्थना में किया गया है। इसका अर्थ यह है—इस अवर (अधो) लोक में अवस्थित पितृगण ऊर्ध्व लोक को प्राप्त करें। इसी तरह से परलोक में अवस्थित पितृगण भी उत्कृष्ट स्थान को प्राप्त करें। मध्यम लोक में विद्यमान पितृगण भी ऊर्ध्व स्थान को प्राप्त करें। हमारे सोमरस के सम्पादक पितृगण और वायु का सहारा लेकर चलने वाले पितृगण हैं, वे हमारे बुलाने पर हमारी रक्षा करें। हमारे ये पितृगण किसी को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते, सत्य आचरण वाले और निरन्तर स्वाध्यायशील हैं। इस अर्थ से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवित पिता आदि से भिन्न, विविध लोकों में रहने वाले, पवन या प्राण के रूप में रहने वाले पितृगण श्राद्ध आदि करने से ऊर्ध्व लोकों में जाते हैं।

इस मन्त्र का स्वामी दयानन्द कृत अर्थ यह है—'जो विद्वान् लोग कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम, चन्द्रमा के समान सब प्रजाओं को आनन्द बढ़ाने वाले, प्राण विद्या के खजाने, शत्रुरहित अर्थात् सबके प्रिय, पक्षपात छोड़कर सत्य मार्ग में चलने वाले तथा ऋत अर्थात् ब्रह्म, यथार्थ धर्म और सत्य विद्या के जानने वाले हैं, वे पितर लोग युद्ध आदि व्यवहारों में हमारे साथ होकर अथवा अपनी विद्या देकर हमारी रक्षा करें' (पृ० २९६–२९७), किन्तु यह गलत है, क्योंकि यज्ञ के प्रसंग में हव शब्द का अर्थ आह्वान

असुमीयुरित्यस्य प्राणरूपं वातमापन्ना इति सरलमर्थमपहाय 'द्वाभ्यां जन्मभ्यां विद्वांसो भूत्वा विद्यमानजीवनाः स्युस्त एव सर्वैः सेवनीयाः' (पृ० २९५–२९६) इत्यादि, तत्तु निर्मूलार्थकल्पनमसंगतमेव, वेदार्थबाह्यत्वात् । असुमीयुरित्यस्मिन् वाक्ये तादृशार्थबोधनसामर्थ्याभावात् । यदुक्तम्—'विद्यमानजीवनाः स्युस्त एव सर्वैः सेवनीयाः, नैव मृताश्चेति । कुतः ? तेषां देशान्तरप्राप्त्या सन्निकर्षाभावात्, सेवाग्रहणेऽसमर्थाः सेवितुमशक्याश्च' (पृ० २९५–२९६) इति, तदेतद्बालभाषितम्, देहातिरिक्तात्मास्तित्वसंदेहवतामेव तादृक्संदेहोत्थानसम्भवात् । वैदिकानां दृष्ट्या तु 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव' इत्यादिभिर्वचनैः पितृदेवाचार्याणां जीवतां सेव्यत्वेऽपि मरणानन्तरमपि वैदिकश्राद्धादिविधानात्, मन्त्रैः श्राद्धैश्च मृतानां पितृदेवलोकादिवासिनां तत्तद्योनिषु जन्मवतामपि तृप्त्यादिसंपादनसम्भवेन तादृशशङ्काकलङ्कस्पर्शाभावात् । नहि स्थूलदेहसम्बन्धेनैव सेवादिसम्बन्धः, ईश्वरस्य देहाभावेऽपि स्तुत्यादिभिः सेवादिसंभवात् ।

'अङ्गिरस' इति ये नोऽस्माकं पितरः, तेषां सुमतौ शोभनबुद्धौ वयं स्याम । अस्तेर्लिङ् । तेषां भद्रे कल्याणकारिणि सौमनसे शोभनमनस्त्वेऽपि वयं स्याम । सुमनसो भावः सौमनसम् । अस्मासु कल्याणं मनः कुर्वन्त्वित्यर्थः । कीदृशानां यज्ञियानां यज्ञे हितानां यज्ञसम्पादिनाम् । कीदृशः पितरः ? अङ्गिरसः, अङ्गिरसो बहून्यपत्यानि । बहुत्वे तद्धितलोपः । नवा नूतना ग्वा गतिर्येषां ते, नवा नवनीयाः स्तोतव्या ग्वा गतिर्येषामिति वा । अथर्वाणः अथर्वणो मुनेर्बहून्यपत्यानि । भृगवः भृगोरपत्यानि । सोम्यासः सोममर्हन्ति सोमसम्पादिनः ।

यत्तु 'येऽङ्गेषु रसभूतस्य प्राणाख्यस्य परमेश्वरस्य ज्ञातारः, नवग्वाः सर्वासु विद्यासूत्तमकर्मसु च नवीना गतयो येषां तेऽथर्ववेदविदो धनुर्वेदविदश्च भृगवः परिपक्वज्ञानाः शुद्धाः सोम्यासः शान्ताः सन्ति, तेषां सुमतौ वयं स्याम यज्ञियानां

(बुलाना) ही हो सकता है । दूसरी बात, आपके मत से ज्ञान का दान करना विद्वानों का (उत्तम गुण वालों का) कार्य है । तदनुसार अवर और मध्यम गुण वाले इस कार्य को कैसे कर सकते हैं । 'असुमीयुः' इन पदों का भी 'प्राण रूप पवन का स्वरूप धारण किये' यह सरल अर्थ न कर 'दो जीवन धारण कर, अब विद्वान् बन कर जो जीवन-यापन कर रहे हैं, उनकी सेवा सबको करनी चाहिये' ऐसा अर्थ करना भी निराधार और असंगत कल्पना है, क्योंकि वैदिक पदों से यह अर्थ सर्वथा विपरीत है । आगे आपने लिखा है कि 'जीवित व्यक्तियों की ही सेवा करनी चाहिये, मरे हुए की नहीं । क्योंकि वे दूसरे लोक में चले जाते हैं, अतः उनकी सन्निधि नहीं रहती । न तो वे सेवा ग्रहण करने में ही समर्थ होते हैं और न उनकी सेवा ही की जा सकती है' (पृ० २९६), ये सारी बच्चों की सी बातें हैं । देह (शरीर) के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता में जिनको संदेह है, ऐसे ही व्यक्तियों को इस तरह का संदेह हो सकता है । वैदिकों की दृष्टि में तो 'मातृदेवो भव' इत्यादि वचनों के अनुसार जीवित माता, पिता, आचार्य प्रभृति की सेवा के साथ ही मृत्यु के बाद भी उनकी वैदिक श्राद्ध आदि कर्मों के सम्पादन के द्वारा सेवा विहित है । मन्त्रों के उच्चारण से और श्राद्ध करने से मृत पितरों की, जो कि पितृलोक, देवलोक आदि में निवास करते हैं, अथवा उन-उन नाना योनियों में जन्म लेते हैं, तृप्ति होती है । स्थूल शरीर का सम्बन्ध हो, तभी सेवा हो सकेगी, ऐसी कोई बात नहीं है, क्योंकि ईश्वर के शरीर के न रहने पर भी स्तुति आदि के द्वारा उसकी सेवा की जाती है ।

'अङ्गिरसः' इत्यादि मन्त्र का अर्थ यह है—'जो हमारे पितृगण हैं, उनकी कल्याणकारिणी बुद्धि में हम रहें, अर्थात् उनकी यह बुद्धि सदा हमारी रक्षा करती रहे । उनके कल्याणकारी प्रसन्न मन में हम बस जांय, अर्थात् उनके मन में सदा हमारा कल्याण करने की भावना बनी रहे । हम उनके लिये सदा यज्ञ सम्पादन में लगे रहने वाले हैं । इन पितरों के हमारी ही जैसी बहुविध प्रजा है । वे सबका पालन करने वाले हैं । इनकी गति बड़ी अनोखी है, अथवा इनकी स्तुति करने की पद्धति भी बड़ी अनोखी है । ये पितृगण अथर्वा और भृगु ऋषि के वंश के हैं और सोमरस का सम्पादन करना भलीभांति जानते हैं ।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ यह किया है—'जो पितृगण ब्रह्माण्ड भर के पृथिवी आदि सब अंगों की मर्मविद्या के जानने वाले, नवीन-नवीन विद्याओं के ग्रहण करने और कराने वाले हैं, जिसमें कि निरुक्तकार का भी प्रमाण है, तथा जो अथर्ववेद

यज्ञादिसत्कर्मसु कुशलानाम्, अपीति निश्चयेन, सुमतौ विद्यादिशुभगुणग्रहणे, भद्रे कल्याणकरे व्यवहारे सौमनसे यत्र विद्यानन्दयुक्तं मनो भवति तस्मिन् स्याम, भवतां सकाशादुपदेशं गृहीत्वा धर्मार्थकाममोक्षप्राप्ता भवेम' (पृ० २९६) इति, तत्तु महीधराद्यनुकारित्वेऽपि विकृतमेव, स्वाभ्यूहितत्वात्। यतोऽङ्गेषु रसभूतोऽपि प्राणो न परमेश्वर:, 'अप्राणो ह्यमना: शुभ्र:' इत्यादिश्रुते:। तस्य ज्ञातार इत्यपि क्लिष्टकल्पनैव। किञ्च, तावत एव विवक्षित्वे ब्रह्मविद् इति प्रसिद्धमुपेक्ष्या-प्रसिद्धार्थपदेन तद्बोधे मानाभावात्। एवमेवाथर्वपदेन धनुर्वेदग्रहणमप्यप्रामाणिकमेव। 'भृगव:' इत्यत्रापि प्रसिद्धार्थत्वत्याग: प्रमाद एव, शुद्धा: सुज्ञाना इत्येव वक्तुं युक्तत्वात्। यदि मन्त्रप्रभावेणैव धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्तिस्तदा तदर्थमीश्वर एव प्रार्थनीय:, यतो जीवन्त: पितृपितामहादयो जोवा लौकिका एव, तान् प्रतीयं प्रार्थना व्यर्थैव स्यात्। सिद्धान्ते तु देवा इव पितरोऽपि विशिष्टशक्तय: सम्भवन्ति। तत एव तान् प्रति प्रार्थना, तेषामाशीर्वादैश्चाभीष्टसिद्धिरपि भवत्येव। त्वद्रीत्योपदेशोऽपि विदुषामेव युक्तो न तद्भिन्नेभ्यो मूर्खमनुष्यरूपेभ्य: पितृभ्यस्तत्संभवति।

'ये समाना: समनस: पितरो यमराज्ये। तेषां लोक: स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥' (यजु० १९।४५)

'ये समाना इति यजमानो जुहोति' (का० श्रौ० सू० १९।३।२३) इति कात्यायनानुसारेण सकृद्गृहीतमाज्यं दणिणेऽग्नौ प्राचीनावीती दक्षिणामुखो यजमानो जुह्वा जुहोति। पितृदेवत्याऽनुष्टुप्। यमराज्ये यमस्य राज्यं यस्मिन् तत्र यमलोके ये पितरो वर्तन्ते, 'धर्मराज: पितृपति:' इत्यभिधानात्। समाना जातिरूपादिभिस्तुल्या: समनस: समानं मनो येषां ते तुल्यमनस्का:। 'समानस्य छन्दसि' (पा० ६।३।८४) इति समानस्य सादेश:। तेषां पितृणां लोक:, विभक्तिव्यत्ययेन लोके, स्वधा नम: स्वधाशब्दोपलक्षितं नमोऽन्नमिदमस्तु। यद्वान्नं नमस्कारश्चास्तु। यज्ञस्तु देवेषु कल्पताम्। देवांस्तर्पयितुं समर्थो भववित्वत्यर्थ:।

और धनुर्वेदविद्या में चतुर, दुष्ट शत्रु और दोषों के निवारण करने में प्रवीण, परिपक्व ज्ञानो और तेजस्वी हैं, जो परमेश्वर की उपासना और अपनी विद्या के गुणों में शान्तिस्वरूप हैं, यज्ञ के जानने वाले और करने वाले हैं, ऐसी पितरों को जिस कल्याणकारक विद्या से सुमति, कल्याण और मन की शुद्धि होती है, उनमें हम लोग भी स्थिर हों, जिससे कि हम व्यवहार और परमार्थ के सुखों को प्राप्त होकर सदा आनन्दित रहें' (पृ० २९७)। इस अर्थ के करने में यद्यपि महीधर प्रभृति के भाष्य का अनुकरण किया गया है, किन्तु साथ ही उसको मनमानी पद्धति से बिगाड़ भी दिया है। प्राण शरीर के सभी अंगों का भार होते हुए भी स्वयं परमेश्वर नहीं है, क्योंकि श्रुति में ब्रह्म को, परमेश्वर को, प्राण और मन से भिन्न बताया गया है। उस प्राणरूपी परमेश्वर को जानने वाले, ऐसा अर्थ करने में तो बड़ी कठिनाई होती है। फिर यदि आपको प्राणरूपी परमेश्वर का ज्ञाता, यही अर्थ करना है तो उसको ब्रह्मवेत्ता इस प्रसिद्ध शब्द से ही बताना चाहिये। इस प्रसिद्ध अर्थ को क्यों छोड़ा गया, इसके उत्तर में आपके पास कोई प्रमाण नहीं है। अथर्व पद से धनुर्वेद का ग्रहण करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। 'भृगव:' इस शब्द के भी प्रसिद्ध अर्थ को आप किस प्रमाण के आधार पर छोड़ रहे हैं। शुद्ध शब्द का अर्थ शुद्ध ज्ञानवाले होना चाहिये। यदि मन्त्र के प्रभाव से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति होती है, तो इसके लिये ईश्वर से ही प्रार्थना करना उचित है। जीवित पिता, पितामह प्रभृति तो लौकिक प्राणी हैं। उनके प्रति इस तरह की प्रार्थना व्यर्थ जायगी, क्योंकि वे इनको देने में असमर्थ हैं। हमारे सिद्धान्त के अनुसार तो देवताओं के समान पितृगण भी विशिष्ट सामर्थ्य वाले होते हैं। अत: उनके प्रति इस तरह की प्रार्थना उचित ही है और उनके आशीर्वाद से प्रार्थना करने वाले की मनोकामना पूरी होती भी है।

कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार 'ये समाना:' इस मन्त्र से यजमान अपसव्य होकर दक्षिण दिशा की ओर मुंह करके दक्षिणाग्नि में एक बार घृत लेकर आहुति देता है। इस मन्त्र का अनुष्टुप् छन्द है और इसके देवता पितृगण हैं। यमराज्य, अर्थात् यमलोक में, जो पितर रहते हैं, धर्मराज अर्थात् यमराज को पितरों का स्वामी माना गया है, अत: उनका निवास यमराज्य में ही माना जाता है। जाति, रूप आदि में ही समान नहीं, अपितु जिनका मन भी समान है, उन पितरों के निमित्त हम स्वधा शब्द के उच्चारण के साथ यह अन्न समर्पित करते हैं। अथवा अन्न के साथ हम उनको नमस्कार भी करते हैं। हमारे द्वारा सम्पादित यज्ञ देवताओं को तृप्त करने में समर्थ हो।

यत्तु 'ये यमराज्ये राजसभायां न्यायाधीशत्वेनाधिकृताः पितरो विद्वांसः सन्ति, तेषां लोको न्यायदर्शनं स्वधा अमृतात्मको लोको भवतीति, यश्च प्रजापालनाख्यो राजधर्मव्यवहारो देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धोऽस्ति, सोऽस्माकं मध्ये कल्पतां समर्थतां प्रसिद्धो भवतु। य एवं सत्यन्यायकारिणः सन्ति तेभ्यो नमोऽस्तु। अर्थाद् ये सत्यन्यायाधीशास्ते सदैवास्माकं मध्ये तिष्ठन्तु' (पृ० २९६) इति, तत्तु कपोलकल्पितमेव व्याख्यानम्, वेदाक्षरबाह्यत्वात् । यमराज्यशब्दस्य पुराणादिप्रसिद्धसंयमनीपुरीरूपार्थत्यागेनाप्रसिद्धराज्यसमानार्थकत्वे मानाभावात्। पूर्वं तु पितृपितामहाचार्याः पितृपदार्थत्वेनाङ्गीकृताः, इदानीं तु विद्वांस इत्ययमर्थोऽपि पूर्वविरुद्ध एव। तेषां लोक इत्यस्य न्यायदर्शनमर्थोऽपि निर्मूलः। तस्य च स्वधारूपत्वमपि कथं सम्भवति ? यश्च प्रजापालनाख्यो राजधर्मव्यवहारो देवेषु प्रसिद्धः, सोऽस्मासु प्रसिद्धो भवत्वित्यपि दशहस्ता हरीतकीत्याभाणकमेवानुहरति। यथा कश्चिद् घटशब्दस्य चेष्टार्थकघटधात्वनुसारेण चेष्टारूपमर्थं कुर्वन्नुपहास्यो भवति, तथैव लोकशब्देन न्यायदर्शनग्रहणमपि। तथैव यज्ञशब्देन व्यवहारसामान्यार्थकेन यजिना प्रजापालनाख्यराजधर्मरूपव्यवहारग्रहणमपि निर्मूलमेव। देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागलक्षणयागस्य प्रथमयज्यर्थस्य त्यागेन व्यवहारसामान्यार्थकेन यजिना विशिष्टव्यवहारपरत्वायोगात् ।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥
बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
त आ गतावसा शंतमेनाथा नः शं योररपो दधात॥
आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः॥ (य० १९।५१, ५५-५६)

इमे मन्त्रा अपि न जीवतामेव पित्रादीनां पिण्डपितृयज्ञादिगतपितृपदवाच्यतां साधयन्ति। मन्त्रार्थस्त्वेवम्—ये नः अस्माकं पूर्वे पितरः सोम्यासः सोमसम्पादिनो वसिष्ठा वसिष्ठगोत्रापत्यानि सोमपीथं सोमपानमूहिरे अनुवहन्ति स्म देवान्

दयानन्द का किया अर्थ यह है—'जो पितर अर्थात् विद्वान् लोग परमेश्वर के इस राज्य में सभासद् या न्यायाधीश होकर न्याय करनेवाले और सब सृष्टि के हित करने में समान बुद्धि हैं, जिनका लोक अर्थात् देश सत्य न्याय को प्राप्त होकर सुखी रहता है, उनको हम लोग नमस्कार करते हैं, क्योंकि वे पक्षपातरहित होकर सत्य व्यवस्था में चलकर अपने दृष्टान्त से दूसरों को भी उसी मार्ग से चलाने वाले हैं। यह सत्यधर्मसम्बन्धी प्रजापालन रूप जो अश्वमेघ यज्ञ है, वह परमात्मा की कृपा से विद्वानों के बीच में सत्य व्यवस्था की उन्नति के लिये सदा समर्थ अर्थात् प्रकाशमान बना रहे' (पृ० २९७), किन्तु यह सब कपोलकल्पना मात्र है, वेद के अक्षरों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यमराज्य शब्द का पुराण आदि में प्रसिद्ध संयमनी नाम की यमराज की नगरी का अर्थ छोड़ कर राज्यसभा अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। पहले आपने पिता, पितामह, आचार्य प्रभृति को पितर माना, अब यहाँ पर आप पितृ आदि शब्दों से विद्वान् अर्थ करते हैं, यह स्पष्ट ही पूर्वापरविरोध है। पितृलोक का अर्थ न्यायदर्शन करना भी निराधार है। यह न्यायदर्शन स्वधा रूप कैसे हो सकता है ? जो प्रजापालन नामक राजधर्म व्यवहार विद्वानों में प्रसिद्ध है, वह हमारे बीच भी प्रसिद्ध हो, इस तरह का अर्थ भी 'दशहस्ता हरीतकी' (हरड़ दस हाथ की होती है) इस लोकोक्ति की तरह निराधार ही माना जायगा। कोई घट शब्द का अर्थ चेष्टा करने लगे और कहे कि चेष्टा अर्थ वाली घट धातु से यह शब्द बना है, तो जैसे लोग उसकी हँसी उड़ावेंगे, उसी तरह से लोक शब्द का अर्थ न्यायदर्शन करना भी सर्वथा हँसी की ही बात मानी जायगी। यह बात प्रसिद्ध है कि यज् धातु से बने याग शब्द का प्रयोग देवता के निमित्त अग्नि में छोड़े गये द्रव्य सामान्य के लिये लिया जाता है, तब व्यवहार सामान्य के बोधक इस धातु का प्रयोग विशिष्ट राजव्यवहार के लिये कैसे किया जा सकता है ?

इसके आगे स्वामी दयानन्द ने 'ये नः पूर्वे' इत्यादि तीन मन्त्रों को उद्धृत किया है। ये मन्त्र भी जीवित पिता, पितामह आदि को ही पिण्डपितृयज्ञ के प्रसंग में पितर नाम से सम्बोधित कराने में असमर्थ हैं। मन्त्रों का सही अर्थ यह है—जो हमारे पुरातन

प्रापितवन्तः, यमो धर्मराजः, तेभिस्तैः पितृभिः संरराणः संप्रीयमाणः सन् प्रतिकामं हवींषि अत्तु भक्षयतु। कीदृशो यमः? उशन् वष्टि कामयते इत्युशन्। कीदृशैः पितृभिः? उशद्भिः कामयमानैः (वश कान्तौ) वसिष्ठपदस्य 'सर्वविद्याद्युत्तमगुणेषु रममाणः' इत्याद्यर्थकरणं निर्मूलम्। सोमपीथमित्यस्यापि 'सोमविद्यारक्षणम्' इत्यर्थो निर्मूल एव। यमपदस्यापि परमेश्वरो धर्मो वार्थं इत्यपि प्रसिद्धार्थापलाप एव। स च परमेश्वरो लौकिकपितृपितामहादिभी रममाणो भवतीत्यपि निर्मूलमेव। सर्वो जन एवमाचरन् सर्वान् कामानत्तु। पूर्वं तु यमः प्रकृतः। सर्वंजनोऽत्र कुतः समागतः?

'बर्हिषदः' बर्हिषि दर्भे सीदन्तीति बर्हिषदः। पृषोदरादित्वादन्त्यलोपः। हे बर्हिषदः पितरः, यूयं भूत्या अवनेन निमित्तेन अर्वाग् निम्नप्रदेशमागच्छत, अस्मद्रक्षणमेव भवतामर्वागागमनस्य निमित्तम्। वो युष्माकमिमा इमानि हव्या हव्यानि वयं चक्रम कृतवन्तः। तानि यूयं जुषध्वं सेवध्वम्। अथानन्तरं शंतमेन सुखयितृतमेन अवसाऽन्नेन तर्पिताः सन्तो नोऽस्माकं शं सुखं रोगशमनम्, योः भयपृथक्करणमरपः पापाभावं पापरहितमन्यच्छुभं वा दधात् धत्त स्थापयत। 'बर्हिषि सर्वोत्तमे ब्रह्मणि ब्रह्मविद्यायां च ये निषण्णाः' इति यदुक्तम्, तन्निर्मूलम्, दर्भकुशादिबोधकस्य बर्हिष्पदस्य तदर्थत्वाभावात्। अर्वागित्यस्याधस्तादित्येवार्थो न पश्चात्। अन्यत् सर्वं तु महोधरानुकरणमेव कृतम्।

आहमिति। अहं पितॄन् आवित्सि, आ अवित्सि, आभिमुख्येन वेद्मि विदितवान्। विदेर्लुङि आत्मनेपदे उत्तमैकवचनम्। कीदृशान् पितॄन्? सुविदत्रान् सुष्ठु विशेषेण ददतीति सुविदत्रास्तान् कल्याणदातॄन्, विष्णोर्व्यापनशीलस्य यज्ञस्य, 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः। नपातं नास्ति पातो यत्र स नपातो देवयानपथः। यत्र गतानां पातो न भवतीत्यर्थः। तं तादृशं नपातं विक्रमणं विविधं क्रमणं गमनागमनं यत्र स विक्रमणः पितृयानपथः। यत्र गतानां पुनर्भोगान्ते पतनं तावुभौ यज्ञसम्बन्धिनौ पन्थानौ वेद्मीत्यर्थः। तद्गतांश्च पितॄश्च वेद्मि। यत एवमतो ये बर्हिषदः पितरः स्वधया सेव-

पूर्वज हैं, वे सोमरस का सम्पादन करने वाले हैं, वसिष्ठ गोत्र में उत्पन्न हुए हैं। ये देवताओं के लिये सोमरस की आहुति पहुँचाने में समर्थ हैं। यमराज भी इनसे प्रसन्न होकर इनके द्वारा दी गई हवि को स्वीकार करें। यह धर्मराज यम हमारे उन पूर्वपुरुषों को चाहता है और हमारे वे पूर्वज भी उसको चाहते हैं। वसिष्ठ पद का अर्थ 'सब विद्या में रमण करने वाले' (पृ० २९८) करना सर्वथा निराधार है। इसी तरह से 'सोमपीथ' शब्द का अर्थ 'सोमविद्या की रक्षा' भी सर्वथा गलत है। यम पद का अर्थ यमराज न कर परमेश्वर अथवा धर्म करना भी लोकप्रसिद्धि को न मानना ही हुआ। सभी मनुष्य इस तरह का आचरण करके अपनी सब कामनाओं को प्राप्त करें, यह कहना भी इसलिये असंगत है कि पहले आपने यहाँ यम के प्रसंग में व्याख्या की है, तो अब यह बीच में ही जन-साधारण की बात कहाँ से आई?

हे कुशा के आसन पर बैठने वाले पितरों, आप लोग हमारी रक्षा के लिये नीचे आइये। इस भूलोक पर आपका आगमन हमारी रक्षा के लिये ही हो सकता है। हम आपके लिये यह हवि प्रदान करते हैं, उसको आप स्वीकार कीजिये। इस अत्यन्त सुख-कारक हवि रूप अन्न से तृप्त होकर आप लोग हमें सब प्रकार की सुख-सुविधा से सम्पन्न कीजिये, हमारे रोगों को दूर कीजिये, हमको सब तरह के पापों से मुक्त कर हमारा कल्याण कीजिये। दयानन्द ने 'बर्हिषदः' शब्द का अर्थ 'ब्रह्म और ब्रह्मविद्या में स्थित पितृगण' (पृ० २९९) किया है, यह सर्वथा निराधार है। बर्हि पद का अर्थ दर्भ, कुशा ही प्रसिद्ध है, अतः यह नया अर्थ बिना प्रमाण का है। अर्वाक् पद का अर्थ भी नीचे ही होता है, पश्चात् (बाद में) नहीं।

'आहं०' इत्यादि मन्त्र का अर्थ यह है—मैंने पितरों को भलीभाँति सब तरह से जान लिया है। ये पितृगण विशेष रूप से कल्याण को देने वाले हैं, सर्वत्र व्याप्त विष्णु, अर्थात् यज्ञ के कभी न नष्ट होने वाले देवयान मार्ग को भी मैंने जान लिया है और साथ ही उस पितृयाण मार्ग को भी मैंने जान लिया है, जहाँ पर जाने-आने वाले निरन्तर आवागमन के चक्कर में पड़े रहते हैं। ये दोनों ही मार्ग यज्ञ से ही प्राप्त होते हैं, अतः इनको विष्णु=यज्ञ का ही पदक्रम=विविध फल माना जाता है। इस तरह से मैं देवयान में स्थित देवगण और पितृयाण में स्थित पितृगणों को भी जानता हूँ। इसलिये कुशा पर बैठने वाले पितृगण स्वधा शब्द के साथ निकाली गई सोमरस की हवि का पान करने के लिये इस यज्ञ में आवें। यहाँ लुङ् लकार का प्रयोग लोट् लकार के अर्थ में हुआ है और

नीयान्नलक्षणेन सुतस्यास्माभिरभिषुतस्य सोमस्य पित्वः पानं भजन्त, भजतेर्लङ्, अडभाव आर्षः। इह यज्ञे आगमिष्ठा आगच्छन्तु। लोडर्थे लुङ्, पुरुषवचनव्यत्ययश्च। प्राशनं भजन्त इति त्वशुद्धमेव। पित्व इत्यनेन पानं भजन्त इत्यन्वयोपपत्तावध्याहारस्यानौचित्यात्। विष्णोः परमेश्वरस्य विक्रमणं विविधक्रमेण जगद्रचनमिति तु निर्मूलम्, विक्रमणशब्दस्य सृष्टयर्थंताऽप्रसिद्धेः।

उपहूताः पितरः सोम्यासो वर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥
अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्वं वीरं दधातन॥
येऽअग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथा वशं तन्वं कल्पयाति॥ (य० १९।५७, ५९-६०)

हे पितरः, इह यज्ञे आगमन्तु आगच्छन्तु। व्यत्ययेन शपो लुक्। ते श्रृण्वन्तु अस्मद्वचः श्रृण्वन्तु। श्रुत्वा च अधिब्रुवन्तु पितृभिः पुत्राणां यद्वक्तव्यं तद्वदन्तु सद्बुद्धिं प्रयच्छन्तु। तेऽस्मानवन्तु। कीदृशः पितरः? प्रियेषु अभिरुचितेषु हविष्षु उपहूता अभिरुचितप्रियहविर्निमित्तमुपहूताः, सोम्यासः सोम्याः। कीदृशेषु प्रियेषु हविष्षु? बर्हिष्येषु बर्हिषि भवानि बर्हिष्याणि, तेषु बर्हिषि सादितेषु तथा निधिषु निधिभूतेषु निधिवत्स्थापनीयेषु।

यत्तु 'प्रतिष्ठार्हाः पितरस्ते बर्हिष्येषु प्रकृष्टेषु निधिषु उत्तमवस्तुस्थापनार्हेषु प्रियेषु प्रीत्युत्पादकेषु आसनेषु उपहूता निमन्त्रिताः सन्तः सीदन्तु आगमन्तु सत्कारं प्राप्यास्मत्समीपं बारं वारमागच्छन्तु। त इहागत्यास्मत्प्रश्नान् श्रृण्वन्तु। श्रुत्वा तदुत्तराणि अधिब्रुवन्तु। एवं विद्यादानेन व्यवहारोपदेशेन सदास्मान् रक्षन्तु' (पृ० २९९-३००) इति, तत्तु विडम्बनामात्रम्, वेदाक्षरबाह्यत्वात्। किञ्चैवं व्यवहारस्तु लोकसिद्ध एव। तत्प्रतिपादने लोकसिद्धानुवादकत्वादप्रामाण्यमेव स्यामन्त्राणाम्, शास्त्रैकसमधिगम्यधर्मपितृदेवब्रह्मणामनधिगतानां गन्तृत्वेनैव वेदानां प्रामाण्यसंभवात्। बर्हिष्येषु

छान्दस (वैदिक) व्याकरण के नियम के अनुसार पुरुष में भी अर्थ के अनुसार परिवर्तन कर दिया जाता है। दयानन्द ने यहाँ पर 'प्राशन' पद का अध्याहार किया है, जो कि गलत है। जब 'पित्वः' पद का अर्थ ही 'पान करते हैं' ऐसा किया जा सकता है, तब 'प्राशन' पद के अध्याहार की क्या आवश्यकता है? 'व्यापक परमेश्वर का विक्रमण अर्थात् सृष्टि का रचन' (पृ० २९९) यह अर्थ भी सर्वथा निराधार है, क्योंकि विक्रमण शब्द का अर्थ सृष्टि कहीं भी नहीं किया गया है।

'उपहूताः' इत्यादि मन्त्रों का भी परम्परागत अर्थ यह है—हे पितरों, आप लोग इस यज्ञ में आइये और हमारी बात सुनिये। हमारी बात सुनने के बाद हमारे लिये जो हितकारक हो, ऐसा परामर्श, सद्बुद्धि दीजिये और इस तरह से हमारी रक्षा कीजिये। ये पितृगण उनकी रुचि की हवि को स्वीकार करने के लिये बुलाये गये हैं और बहुत ही सौम्य स्वभाव के हैं। उनके लिये दी गई यह हवि उनको बहुत ही प्रिय है और पवित्र कुशा के ऊपर रखी गई है। इस हवि को देने वाले उसकी निधि की तरह रखवाली करते हैं कि पितरों के सिवाय कोई दूसरा इसको उठा न ले।

इस मन्त्र का स्वामी दयानन्द ने यह अर्थ किया है—'उन पितरों को हम लोग निमन्त्रण देते हैं कि वे हमारे समीप आकर, उत्तम आसनों पर बैठकर, जो कि बहुमूल्य और देखने में प्रिय हो, हमको उपदेश करें। जब वे पितर आवें, तब सब लोग उनका इस प्रकार से सम्मान करें कि आप आइये, उत्तम आसन पर बैठिये, यहाँ विद्या की बातें और प्रश्न सुनिये, इन प्रश्नों के उत्तर दीजिये और मनुष्यों को ज्ञान देकर उनकी रक्षा कीजिये' (पृ० ३००), किन्तु यह सारा अर्थ विडम्बना मात्र है। इस तरह का व्यवहार तो लोक में प्रचलित ही है। तब लोक में प्रचलित बात को ही यदि वेद कहता है, तो उसमें मौलिकता क्या रह जायगी? लोक में प्रचलित बात की नकल करने पर उसको प्रमाण कैसे माना जा सकता है? वेदों का प्रामाण्य तो तभी माना जा सकता है, जब

इत्यस्य प्रकृष्टेष्विति निर्मूलमेव विवरणम्। हविषां निधित्वं तु संभवति, न त्वासनानां निधिभूतत्वं न वा तेषां विशेषतः प्रीत्युत्पादकत्वम्। नहि प्रतिदिनव्यवहार्येषु पितृपितामहादिषु प्रतिदिनं प्रकृष्टप्रीत्युत्पादकासनादिसमर्पणं भवति। न वा तेषां निमन्त्रणं प्रदीयते, तेषामेव गृहस्वामित्वात्। किञ्च, शिक्षार्थिनः प्रतिदिनं यदा कदा वा गुरूनाचार्यान् वोपगच्छन्ति, न तु तान् विद्यादानव्यवहारशिक्षणाय प्रतिदिनमाह्वयन्ति।

'अग्निष्वात्ता०' हे अग्निष्वात्ताः पितरः, इह यज्ञे यूयमागच्छत, आगत्य च सदः सदः प्रतिसदः प्रतिगृहं सदत उपविशत। 'नित्यवीप्सयोः' इति द्वित्वम्। कीदृशा यूयम्? सुप्रणीतयः। शोभना प्रणीतिः। प्रणयनं येषां ते निर्मितदिव्यदेहाः। ततः सदस्युपविष्टाः सन्तो हवींषि अत्त भक्षयत। अत्तेर्लोट्, संहितायां दीर्घः। कीदृशानि हवींषि? बर्हिषि दर्भे प्रयतानि नियमपूर्वकं स्थापितानि व्यपगतरागद्वेषमोहैरभिसंस्कृतानि प्रकर्षेण यम्यन्ते नियम्यन्ते तानि प्रयतानि शुचीनि वा। अथानन्तरं तृप्ता सन्तः सर्ववीरं रयिं दधातन रयिं स्थापयत। सर्वे वीरा वा यत्र तम्। क्वचिद्धनमवीरं भवति, क्वचिद्वीराश्च धनहीना भवन्ति। प्रकृते तु सर्ववीरं धनं कामितम्। अग्निष्वात्ता बर्हिषदः पितृविशेषा मन्वादिभिरपि प्रतिपादिताः। व्यवहारेऽपि श्राद्धेषु दर्भेषु पितृपिण्डानि निधीयन्ते। तादृशं स्पष्टं व्यवहारारूढमर्थमपहाय यथाकथञ्चिज्जीवत्पित्रादिपरं मन्त्रव्याख्यानमव्यापारेषु व्यापारमात्रम्।

यत्तु—'हे पूर्वोक्ताः पितरः, अस्मत्सन्निधौ प्रीत्या आगच्छत' (पृ० ३००) इति कथनम्, तदसंगतमेव, व्यवहारे बाला युवानो वा पितृपितामहादीनां सन्निधौ स्वयं गच्छन्ति, न तु तान् स्वसन्निधावाकारयन्ति। शोभना प्रकृष्टा नीतिर्येषामिति त्वपव्याख्यानमेव, प्रपूर्वस्य नयतेर्निर्माणार्थत्वप्रसिद्धेः। न च लौकिकाः पितृपितामहादयः प्रतिगृहं भ्राम्यन्ति, न

कि उनमें एकमात्र शास्त्र के ही द्वारा जिनका ज्ञान होता है, ऐसे धर्म, पितृगण, देवगण, ब्रह्म आदि लौकिक प्रमाणों से अज्ञात पदार्थों का ज्ञान कराया जाय। बर्हिष्य शब्द का अर्थ प्रकृष्ट करना भी निराधार है। हवि को तो निधि माना जा सकता है, किन्तु आसन न तो निधि (खजाना) ही माना जायगा और न वह विशेष प्रीति (सुख) का उत्पादक ही माना जा सकता है। प्रतिदिन जिनका सम्पर्क रहता है, ऐसे पिता, पितामह आदि के लिये रोज-रोज सुन्दर, प्रीतिजनक नये-नये आसन नहीं दिये जाते और न उनको निमन्त्रण ही दिया जाता है, क्योंकि वे ही तो घर के स्वामी हैं।

'अग्निष्वात्ताः' इत्यादि मन्त्र का सही अर्थ यह है—हे अग्निष्वात्त नामक पितरों, इस हमारे यज्ञ में आप लोग आइये और आकर प्रत्येक घर में आप बैठिये। हे पितरों, आप लोगों ने सुन्दर दिव्य देह (शरीर) धारण किया है, अतः इन कुशा के द्वारा निर्मित गृहों में बैठकर हमारी दी गई हवि को स्वीकार कीजिये। आप लोगों के लिये यह हवि नियमपूर्वक पवित्र विधि से बनाकर इन कुशाओं पर परोसी गई है और राग-द्वेष आदि दोषों से मुक्त होकर व्यक्तियों ने बहुत ही पवित्रता से इसका निर्माण किया है। इस हवि को ग्रहण करके तृप्त हो जाने के बाद आप हम लोगों के लिये सर्वविध ऐश्वर्य प्रदान करें। 'वीर' विशेषण लगाने का तात्पर्य यह है कि कहीं धन वीर्यहीन होता है और कहीं वीर धनहीन होते हैं। इस मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि पितरों के प्रसाद से वीर्य और धन सदा साथ रहें। कुशा पर बैठने वाले अग्निष्वात्त नामक पितरों की चर्चा मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में भी मिलती है। व्यवहार में भी देखा जाता है कि श्राद्ध के अवसर पर कुशा के ऊपर ही पितरों का पिण्डदान किया जाता है। इस तरह के स्पष्ट, व्यवहार में प्रचलित अर्थ को छोड़कर मनमाने तरीके से खेंचतान कर मन्त्रों की व्याख्या को जीवित पिता, पितामह आदि से जोड़ना निरी जबर्दस्ती ही मानी जायगी।

'हे पूर्वोक्त पितरों, आप लोग स्नेह पूर्वक हमारे पास आइये' (पृ० ३००) यह कथन सर्वथा असंगत है। व्यवहार में तो यह देखा जाता है कि घर के बालक अथवा युवक पिता, पितामह आदि के पास स्वयं जाते हैं, उनको अपने पास बुलाते नहीं। सुप्रणीति शब्द का अर्थ उत्तम नीति (गुण) कहना सर्वथा गलत है, क्योंकि प्र उपसर्ग पूर्वक नयति धातु निर्माण के अर्थ में प्रसिद्ध है। लौकिक पिता, पितामह प्रभृति घर-घर में न तो घूमते ही हैं और न यह संभव ही है। उपदेश के लिये भी घर-घर में घूमना

वा तत्संभवः । उपदेशार्थमपि प्रतिगृहभ्रमणं न युक्तम् । तथात्व उपदेशस्य लघुत्वापत्त्या गौरवहानिप्रसङ्गात् । न च प्रतिगृहमुपदेशका अपि भोजनं कुर्वन्ति, न वा लौकिकाः पितरो बर्हिषि स्थितान्यन्नानि भुञ्जते । रयिरिति धननाम । तच्च गोभूहिरण्यादिकमेव । तद्बाध एव विद्याधनपरत्वं युक्तम् । नह्युपदेशका गोभूहिरण्यादिकं वितरन्तो दृश्यन्ते । न चोपदेशका एव पितर इत्यत्र काचिद्वाचोयुक्तिरस्ति । कथञ्चित् विद्याधनपरत्वेऽपि रयेः सर्ववीरत्वं तु न कथमप्युपपद्यते । दिव्यपितॄणां प्रसादादाशीर्वादाच्च वीरपुत्रपौत्रादियुक्तं गोभूहिरण्यादिकं तु प्राप्यत एव ।

ये अग्निष्वात्ता ये अग्निना स्वात्ताः खादिता आस्वादिता ये चानग्निष्वात्ता अग्निनाऽनास्वादिताः श्मशानक्रियामप्राप्ता अनग्निदग्धाः सन्तः दिवो द्युलोकस्य स्वर्गस्य वा मध्ये स्वधयान्नेन स्वकर्मोपार्जितेन मादयन्ते तृप्यन्ति सुखं सेवन्ते । स्वराट् स्वेनैव राजते दीप्यतेऽकृतकैश्वर्यो यमः, तेभ्यः पितृभ्योऽर्थे यथावशं वशः कामो यथाकाममेतां मानुषीं तन्वमसुनीतिं प्राणयुक्तां दीर्घजीविनीं तन्वं शरीरं कल्पयाति कल्पयतु । तेभ्यः स्वराड् धर्मराजो दीर्घंजीविमनुष्यशरीरं ददात्वित्यर्थः । असून् प्राणान् नयति प्राप्नोतीत्यसुनीतिस्ताम् । अत्राप्यग्निदग्धा अनग्निदग्धाः पूर्वजा एव स्पष्टमभिधीयन्ते । 'येऽग्निविद्यायुक्ता ये च वायुजलभूगर्भादिविद्यानिष्ठाः' इत्यादिकं त्वपव्याख्यानमेव, भाक्ताभाक्तार्थयोरभाक्तार्थग्रहणस्यैव न्याय्यत्वात् । न च लौकिकपितॄणां दिवो मध्ये निवासः सम्भवति । तत्रापि दिव इति सद्विद्याप्रकाशग्रहणं गौणार्थाश्रयणमेव । किञ्च, विद्यापदेन यथार्थज्ञानमेव वक्तव्यम् । तच्च सदेव भवति नासदिति । तथात्वे सद्विद्येति सद्विशेषणं व्यर्थमेव भवति । स्वधया अन्नविद्ययेत्यपि मुख्यार्थबाध एव । असुनीतिं सत्यन्याययुक्तामेतां प्राणनीतिमित्यप्यसङ्गतम्, प्राणाख्याया नीतेरप्रसिद्धत्वात् । 'ते विद्वांसो वयं च विद्याविज्ञानप्राप्त्या सर्वोपकारेषु नियमेषु परतन्त्राः, प्रत्येकप्रियेषु च स्वतन्त्रा भवन्तु' (पृ० ३००) यथावशमिति पदस्य तदर्थबोधनेऽशक्तत्वात् । यथाकाममिति यथेच्छतैव बोध्यते, तच्च

ठीक नहीं माना जाता, क्योंकि ऐसा होने पर उस उपदेश में लघुता आ जायगी और इस प्रकार उपदेश का गौरव नष्ट हो जायगा । उपदेश करने वाले भी घर-घर में नहीं खाते फिरते और न लौकिक पिता, पितामह आदि कुशा पर रखे अन्न को खाते ही हैं । रयि यह धन का नाम है । यह धन गाय, पृथ्वी, सोना आदि ही माना जाता है । मन्त्र का अर्थ करने में यदि इस धन का बाध होता हो, अर्थात् लौकिक धन की संगति न बैठती हो, तभी उसका विद्याधन अर्थ किया जा सकता है, अन्यथा नहीं । रयि शब्द का अर्थ विद्याधन कर भी लिया जाय, तब भी धन की सर्ववीरता कैसे बनेगी ? दिव्य पितरों के प्रसाद और आशीर्वाद से तो पराक्रमी पुत्र, पौत्र आदि की तथा सफल, सरलता से भोगने योग्य गाय, भूमि, सोना आदि की प्राप्ति होती ही है ।

'ये अग्निष्वात्ता०' जिन पितरों का अग्नि ने स्वाद ले लिया है, अर्थात् जिनका अग्निसंस्कार हुआ है और जिनका अग्नि ने स्वाद नहीं लिया है, अर्थात् जिनका श्मशान में अग्नि संस्कार नहीं हुआ है, तो भी अपने शुभ कर्मों से अर्जित स्वधा रूपी अन्न की सहायता से स्वर्ग लोक में सुख का उपभोग कर रहे हैं, उन पितरों को अपने अकृत्रिम ऐश्वर्य से स्वयं शोभायमान यमराज इच्छानुसार सुन्दर मनुष्य शरीर दें और उनको दीर्घायु बनावें । असुनीति शब्द का अर्थ है शरीर में प्राणों को लम्बे समय तक चलाने में समर्थ । इस तरह से इस मन्त्र में भी स्पष्ट रूप से अग्निदग्ध अथवा अदग्ध पितरों की ही चर्चा है । 'अग्निविद्या को जानने वाले और वायु, जल भूगर्भ आदि विद्याओं को जानने वाले' (पृ० ३००) यह अर्थ तो निरा काल्पनिक है । लौकिक पिता, पितामह प्रभृति स्वर्ग में निवास नहीं करते । 'दिव' शब्द का 'सद्विद्या का प्रकाश' यह गौण अर्थ करना गलत है, क्योंकि यहाँ मुख्य अर्थ करने में कोई बाधा नहीं है । विद्या शब्द का अर्थ भी यथार्थ ज्ञान ही माना जाता है । यह तो सदा सही ही रहेगा, कभी गलत नहीं होगा । तब सत् को उसका विशेषण बनाना व्यर्थ ही होगा । स्वधा का अर्थ अन्नविद्या करना भी मुख्य अर्थ को छोड़ना ही हुआ, यह बिना प्रयोजन के क्यों किया जायगा ? असुनीति का अर्थ 'सत्य और न्याय के युक्त प्राणनीति' करना भी असंगत है, क्योंकि प्राण के नाम से कोई नीति प्रसिद्ध नहीं है । 'वे विद्वान् और हम विद्या और विज्ञान की प्राप्ति के द्वारा सबका उपकार करने के नियम में परतन्त्र और प्रत्येक का प्रिय करने में स्वतन्त्र हों' इस अर्थ को प्रकट करने में 'यथावशम्' शब्द किसी तरह से भी समर्थ नहीं हो सकता । 'परमेश्वर विद्वान् के

पारतन्त्र्येण विरुद्धयत एव। स्वराट् परमेश्वरः, तन्वं विद्वच्छरीरं कल्पयतु इत्यपि न सङ्गतम्, सर्वशरीराणां परमेश्वरनिर्मितत्वाविशेषात्।

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशंसे सोमपीथं य आशुः।
ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ (वा० सं० १९।६१)

इत्ययमपि मन्त्रो न त्वदभीष्टसाधकः, तस्याप्यलौकिकपितृसाधकत्वात्। तदर्थस्तु—अग्निष्वात्तान्पितॄन् ऋतुमत ऋतवो विद्यन्ते येषु ते ऋतुमन्तस्तानृतुयुक्तानाह्वयामः, ये च पितरो नाराशंसे चमसे सोमपीथं सोमपानमाशुः प्राप्नुयुः।' (अशूङ् व्याप्तौ) ते चाहूयमाना विप्रासो मेधाविनः सुहवाः स्वाह्वाना भवन्तु अस्मदाहूताः शीघ्रमायान्त्वित्यर्थः। एवं कृते वयं रयीणां विविधधनानां पतयः स्याम भवेम। नाराशंसे चमसे पितॄणां भक्षो भवति। 'अथ यदि नाराशंसेषु सन्नः किञ्चिदापद्येत पितृभ्यो नाराशंसेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्। 'पितरो स तर्हि नाराशंसा भवति अपमाप्मान हं ते उपैनं यज्ञो नमति' (श० १२।६।१।११३) इति श्रुतेः। ऋतुरूपाः पितरो भवन्तीत्यप्युक्तमेव।

यत्तु—हे मनुष्या इति सम्बोधनम्, तत्तु न सङ्गतम्, सम्बोधकानामपि मनुष्यत्वाविशेषात्, यदीश्वरः सम्बोद्धाः तदा यथा वयमृतुविद्यावतोऽर्थाद् यथासमयमुद्योगकारिणोऽग्निष्वात्ताः पितरः सन्ति तान् आह्वयामहे, तथैव युष्माभिरपि तत्सेवनायाह्वानं नित्यं कार्यमिति त्वदुक्तिविरोधात्। सोमपानमश्नन्तीति त महीधरानुकरणमेव। सोमपानस्य कीदृशमशनमिति तु न विचारितम्। यत्तु—'नौः प्रशस्येऽनुष्ठातव्ये कर्मणि कुशला इत्युक्तमिति, तत्तुच्छम्, कुशला इत्यध्याहारस्याप्रामाणिकत्वात्। नाराशंसे सोमपीथमिति सन्निहितसम्बन्धस्य त्यागे कारणाभावात्, पूर्वोक्तश्रुतिविरोधात्।

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व॥ (वा० सं० १९।६७)

शरीर की रचना करें' यह अर्थ भी असंगत ही माना जायगा, क्योंकि सभी शरीर परमेश्वर के ही तो बनाये हुए हैं, तब इसके लिये प्रार्थना कैसी ?

'अग्निष्वात्ता०' इत्यादि मन्त्र भी आपके मत को नहीं सिद्ध कर पाते, क्योंकि वह भी अलौकिक पितरों से ही संबद्ध हैं। इस मन्त्र का परम्परा प्राप्त अर्थ यह है—सभी ऋतुओं से युक्त अग्निष्वात्त नाम के पितरों को हम बुलाते हैं और उन पितरों को भी हम बुलाते हैं, जो कि नाराशंस चमस में सोमपान करते हैं। वे मेधावी पितृगण हमारे बुलाने पर शीघ्र आवें। ऐसा होने पर हम नाना प्रकार की सम्पत्ति के स्वामी बन जायेंगे। नाराशंस चमस में पितरों के लिये भोजन दिया जाता है। यह बात 'अथ यदि०' इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के वाक्य से सिद्ध है। पितृगण ऋतु रूप होते हैं, यह बात इस प्रकरण के प्रारम्भ में बताई ही गई है।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र में मनुष्यों को सम्बोधित किया है, यह उचित नहीं है, क्योंकि इस तरह से सम्बोध्य और संबोधक दोनों मनुष्य ही रहेंगे। यदि ईश्वर को संबोध्य माना जाय तो वह आपकी इस उक्ति के विरुद्ध पड़ेगा कि 'जैसे इस ऋतुविद्या के जानकार, अर्थात् समय के अनुसार उद्योग करने वाले अग्निष्वात्त पितरों को बुलाते हैं, उसी तरह तुम लोग भी उनके पास जाते और उनको अपने पास बुलाते रहो' (पृ० ३०२), क्योंकि इसमें आपने ईश्वर को सम्बोध्य नहीं माना है। सोम रस के पान की बात आपने महीधर के भाष्य के अनुकरण पर स्वीकार की है, किन्तु आपने सोमपान की भक्षण विधि का स्वरूप नहीं बताया। 'नाराशंस' पद का अर्थ आपने 'मनुष्यों के करने योग्य कार्य में कुशल' ऐसा किया है, यह भी गलत है, क्योंकि कुशल पद का अध्याहार अप्रामाणिक है। नाराशंस पद का समीप में विद्यमान सोमपीथ शब्द से सम्बन्ध जोड़ना गलत है। इसमें पूर्वोक्त शतपथ श्रुति का विरोध होगा।

'ये चेह पितरो०' इत्यादि। आपके द्वारा उद्धृत इन श्रुतियों से भी बहुत ही स्पष्ट रूप में लौकिक पिता, पितामह आदि से भिन्न विविध गतियों वाले पितरों की स्थिति ज्ञात होती है। इन मन्त्रों में बताया गया है कि इस लोक में हमारे पास जो पितर हैं, अथवा नहीं हैं, जिनको हम जानते हैं अथवा नहीं जानते, हे जातवेदा अग्ने, उनको अपनी सर्वज्ञता के कारण केवल तुम ही जान सकते

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उ परास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥ (वा० सं० १९।६८)

एभिस्त्वदुद्धृतेरेव मन्त्रैरतिस्पष्टतया लौकिकेभ्यः पितृपितामहादिभ्यो भिन्ना विविधगतयः पितरो विज्ञायन्ते। तथाहि—ये पितर इहलोकेऽस्मत्समीपे वा वर्तन्ते ये चेह न सन्ति, यान् पितॄन् वयं विद्मः यांश्च वयं न प्रविद्मः, हे जातवेदः अग्ने, ते पितरो यति यावन्तो वर्तन्ते तान् त्वं सर्वज्ञत्वाद् वेत्थ जानासि। या संख्या येषां ते यति 'किमः संख्यापरिमाणे' (पा० सू० ५।२।४१) इत्यादिसूत्रस्थेन 'यत्तद्भ्यां डतिः' इति वार्त्तिकेण यच्छब्दाद् डतिप्रत्ययः। 'डति च' (पा० सू० १।१।२५) इति तस्य षट्संज्ञाया 'षड्भ्यो लुक्' (पा० सू० ७।१।२२) इति जसो लुकि यतीति रूपम्। अथवा यतीन् शुचीन् नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानैर्निष्पापान्, ते तानपि त्वं जानासि। ते इत्यत्र व्यत्ययेन शसः स्थाने जस्प्रयोगः। किञ्च, स्वधाभिः पितॄणामन्नैः सुकृतं शोभनं कृतं यज्ञं त्वं जुषस्व।

यत्तूक्तम्— ये पितरो विद्वांस इहास्मत्समीपे सन्ति ये चास्मत्समक्षे न सन्ति देशान्तरे तिष्ठन्ति यान् विद्मो यांश्च न प्रविद्म, तान् सर्वान् हे परमेश्वर त्वं जानासि, तेषामस्माकं च सङ्गं निष्पादय' (पृ० ३०१) इति, तत्तु सायणमहीधरानुकरणं कृत्वाऽपि स्वेच्छया सङ्गं निष्पादयेति योजितम्। वस्तुतस्तु पूर्वमुक्तं 'यैः सन्निकर्षः सम्भवति, तत्रैव सेवाग्रहणं सेवासम्पादनं च सम्भवत्यतस्तेषां जीवतामेव पितॄणां श्राद्धं सम्भवति' इति, इदानीं तु येऽस्मत्समीपे सन्ति ये च दूरदेशे सन्ति यान् वयं विद्मः, यांश्च न विद्मः, तेषामपि श्राद्धप्रसङ्गे वर्णनात् श्राद्धमभ्युपगतमेव। नह्यज्ञातानां दूरदेशवर्तिनां च श्राद्धं सम्भवति। तद्रीत्या यदि परमेश्वरस्तेषां सङ्गसम्पादनाय प्रार्थ्यते, तदा लोकान्तरवर्तिनां मृतानां च पितॄणां सुखशान्तिसम्पादनायापि परमेश्वरः प्रार्थयितुं शक्यत एव। तथा जीवतामेव श्राद्धं भवतीति सामाजिकानां रीत्या विवाहाद्यवसरेऽपि पितृपितामहादिसम्बन्धिनां श्रद्धया सत्कारो भवत्येव। तथा च तैर्निमन्त्रणमेवं लेख्यं' यद् अस्मिन् वासरे पुत्र्याः पुत्रस्य वा विवाहो भविष्यति, पितृपितामहादीनां ज्येष्ठभ्रातॄणां च श्राद्धं भविष्यति तत्र भवद्भिरागन्तव्यम्। ये यावन्तः परोक्षा विद्वांसः सन्ति तान् अस्मान् प्रापयेत्यादिकमप्यध्याहारादिदोषदूषितमेव। मृतेषु पूर्वजेषु तु सन्निहितत्वमसन्निहितत्वं

हो। वैदिक व्याकरण में सिद्ध 'यति' पद का अर्थ 'जितनी संख्या' है। प्रकृति और प्रत्यय को अलग कर इस शब्द की सिद्धिका प्रकार ऊपर बताया गया है। अथवा इस पद का अर्थ यह भी किया जा सकता है कि यति अर्थात् पवित्र; नित्य, नैमितिक कर्मों को करने में लगे हुए, इस तरह के पवित्र पितरों को भी तुम जानते हो। अतः हे अग्ने, उन पितरों के लिये स्वधा-शब्द के उच्चारण के साथ दिये गये अन्न को, पितृयज्ञ में दी गई आहुति को आप स्वीकार कीजिये।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ यह किया है—'हे जातवेद परमेश्वर, जो पितर लोग हमारे समीप और दूर देश में हैं, जिनको समीप होने से हम लोग जानते हैं और जिनको दूर होने के कारण नहीं भी जानते, जो इस संसार के बीच में वर्तमान हैं, उन सबको आप यथावत् जानते हैं, कृपा करके उनका और हमारा परस्पर संबन्ध सदा के लिये कीजिये' (पृ० ३०२)। यद्यपि यह पूरी तरह से सायण और महीधर के भाष्य की नकल है, तो भी साथ में यहां पर दयानन्द ने अपने मन से परस्पर सम्बन्ध की बात जोड़ दी है। इसी प्रकरण में स्वामी दयानन्द पहले कह चुके हैं कि पास में रहने पर ही किसी की सेवा की जा सकती है, अतः जीवित पिता, पितामह आदि का ही श्राद्ध हो सकता है। अब यहां वे कहते हैं कि जो हमारे पास है अथवा दूर, जिनको हम जानते हैं अथवा नहीं जानते, उन पितरों का भी यहां वर्णन है। आपकी पहली उक्ति के अनुसार तो अज्ञात अथवा दूर देश में विद्यमान जीवित पिता, पितामह आदि की सेवा की नहीं जा सकती, तब उनका इस श्राद्ध के प्रकरण में उल्लेख करना व्यर्थ होगा। यदि आप कहें कि इस मन्त्र में परमेश्वर से यह प्रार्थना की गई है कि दूर देश में स्थित अथवा अज्ञात पितरों का और हमारा साथ हो जाय, तो इसी तरह से लोकान्तर में स्थित मृत पितरों की सुख-शान्ति के लिये भी तो परमेश्वर से प्रार्थना की ही जा सकती है। 'जितने अज्ञात विद्वान् हैं, उन सबको हमारे पास पहुँचाइये' यह अर्थ भी अध्याहार दोष से दूषित है। मृत पूर्वजों में तो कुछ नजदीकी और कुछ दूर

ज्ञातत्वमज्ञातत्वं च सम्भवत्येव। अज्ञातानामसन्निहितानां च पितृपितामहादीनां श्राद्धाभ्युपगमे किमपराद्धं परलोकगतैः पितृभिः ? अन्यत्तु महीधरानुकरणमात्रमेव।

इदं पितृभ्य इति। ये पितरः पूर्वासः पूर्वे ईयुः स्वर्गं जग्मुः, ये चोपरासः उपरा उपरमन्ते उपरतव्यापाराः कृतकृत्याः सन्तो ब्रह्म प्रापुः। पृथिव्यां भवं पार्थिवं रजः, ज्योतिरग्निः, तस्मिन् आ निषत्ता आभिमुख्येन निषण्णा अग्निलोकं प्राप्ताः, 'निसत्त-निषत्त' (पा० सू० ८।२।६१) इत्यादिना निष्ठाया निपातः। ये वा ये च नूनं निश्चितं विक्षु प्रजासु यजमानलक्षणासु निषण्णाः। कीदृशीषु विक्षु ? सुवृजनासु साधुवृत्तासु शोभनं वृजनं बलं वृत्तं वा यासां तासु धर्मरूपबलयुक्तासु अद्यास्मिन् दिने तेभ्यश्चतुर्विधेभ्यः स्वर्गब्रह्माग्नियजमानस्थेभ्यः पितृभ्य इदं नमो हविर्लक्षणमन्नमस्तु।

यदपि चोक्तम्—'ये पितरो अद्येदानीमध्ययनाध्यापने कर्मणि वर्तन्ते, ये पूर्वमधीत्य विद्वांसः सन्ति' (पृ० ३०२) इति, तदपि तुच्छम्, तथात्वे त्वदीयाश्छात्रा अध्यापका एव पितरः, तेषामेव श्राद्धं त्वया कर्तव्यमित्यापतति। किञ्च, ईयुरित्यस्य अधीत्य विद्वांसः सन्तीति कथमर्थः ? कस्य वा शब्दस्यायमर्थः ? वस्तुतस्तु पदे पदे सर्वथापि शाब्दन्यायातिक्रमणमनेन क्रियते। पार्थिवे रजसीत्यनेन भूगर्भविद्या कथं गृह्यते ? किं त्वदीये परमेश्वरे शब्ददारिद्र्यमेवास्ति, येनान्यशब्दैरेवान्यार्थबोधः कार्यते ?

'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम् ॥ पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥' (वा० सं० १९।३६-३७)

के, कुछ ज्ञात और कुछ अज्ञात हो ही सकते हैं। अज्ञात असंनिहित (दूर) पिता, पितामह आदि का जब आप श्राद्ध (सत्कार) कर सकते हैं, तो परलोक में गये पितरों ने क्या अपराध किया है ?

'इदं पितृभ्यः' इत्यादि मन्त्र का यह अर्थ है—'जो हमारे पूर्व पितृगण स्वर्गलोक में गये हैं और सब तरह के कर्मों से उपरत होकर, कृतकृत्य होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए हैं, हमारे जो पूर्वज पृथिवी की धूल में अथवा अग्नि की ज्योति में बैठकर उन उन पवित्र लोकों में चले गये हैं, अथवा जो निश्चित रूप से यजमान आदि प्रजा के रूप में अवतरित हुए हैं, जिनका कि व्यवहार बहुत ही उत्तम है और धर्म आदि के बल से भी संपन्न है, उन चारों रूपों में विद्यमान (स्वर्ग, ब्रह्म, अग्नि और यजमान) पितरों को यह नमन के साथ दी गई आहुति प्राप्त हो।

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए दयानन्द लिखते हैं—'हम लोग उन सब पितरों को नमस्कार करते हैं, जो कि प्रथम आप विद्वान् होकर हम लोगों को भी विद्या देते हैं' (पृ० ३०२), किन्तु यह अर्थ गलत है, ऐसा अर्थ करने पर आपके छात्र ही जब अध्यापक हो जायँगे तो वे भी पितर कहे जाने लगेंगे, तब उन्हीं का श्राद्ध (सत्कार) आपको करना पड़ जायगा। 'ईयुः' पद का अर्थ 'अध्ययन करके विद्वान् हुए' कैसे होगा ? अथवा आपने किस शब्द का यह अर्थ किया है ? 'पार्थिव रज' से भूगर्भ विद्या का ग्रहण कैसे होगा ? क्या आपके परमेश्वर के पास शब्दों की इतनी दरिद्रता है कि वे सब जगह दूसरे ही शब्दों से दूसरे अर्थ का बोध कराते हैं ?

इसके आगे दिये गये 'पितृभ्यः स्वधा०' इत्यादि दो मन्त्रों से भी आपके अभीष्ट मत की सिद्धि नहीं होती। यहाँ पितरों के निमित्त सात यजुर्मन्त्रों का पाठ किया गया है। इनके देवता वे ही हैं। 'स्वधा पितरों का अन्न होता है' इस श्रुति के प्रमाण पर प्रथम मन्त्र का अर्थ यह किया जाता है कि पितरों के निमित्त यह स्वधा नाम का अन्न दिया जाता है। देवताओं के निमित्त जैसे स्वाहा और वषट् शब्द का उच्चारण कर हवि दी जाती है, उसी भाँति पितरों के लिये स्वधा शब्द का उच्चारण कर हवि (कव्य)

नाभ्यामपि मन्त्राभ्यां त्वदिष्टसिद्धिः। सप्त यजूंषि पितृदेवत्यानि। पितृभ्यः स्वधा, स्वधासंज्ञकमन्नमस्तु, 'स्वधा वै पितॄणामन्नम्' इति श्रुतेः। देवेभ्यो यथा स्वाहाकारवषट्काराभ्यां हविर्दीयते तथैव पितृभ्यः स्वधाकारेण कव्यं दीयते। लोके वेदे चायं भेदः स्पष्टः। देवपितृतत्त्वानभ्युपगन्तॄणां नास्तिकानां च नायं भेदः। तेषां रीत्या स्वाहास्वधावषट्कारेभ्योऽन्नादिकमेव दीयते यस्मै कस्मैचित्। यद्वा पितृभ्यः स्वधान्नमस्तु। तेभ्यो नमस्कारश्चास्तु। कीदृशेभ्यः स्वधायिभ्यः? स्वधामन्नं प्रति यन्ति गच्छन्तीत्येवंशीलाः स्वधायिनस्तेभ्यः। 'इण् गतौ' इति धातोः 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पा० सू० ३।२।७८) इति णिनिः। पितृभ्य इति बहुवचनं पितृव्याद्यपेक्षम्। पूजार्थं वा। एवं पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधान्नं नमस्कारश्चास्तु। पितरोऽक्षन् भक्षितवन्तः 'घस्लृ अदने' लुङि रूपम्। पितरोऽमीमदन्त तृप्ताः। (मद तृप्तौ) अतीतृपन्त तर्पिता अस्माभिः पितरः। यद्वा पितरोऽस्मानमीमदन्त तृप्ताः सन्तोऽभीष्टप्रदानेन तर्पयन्ति। हे पितरः, शुन्धध्वं पाणिप्रक्षालनेन शुद्धा भवत। कात्यायनमहर्षिणा (१९।३।१७, १९।३।१८, १९।३।१९) इत्यादिभिः पितृदेवत्यैर्यजुर्भिर्होमः, सेचनम्, जपश्च विहितानि।

यत्तु—'स्वां स्वकीयाममृताख्यां मोक्षविद्यां कर्तुं शीलं येषां तेभ्यो वसुसंज्ञकेभ्यो विद्याप्रदातृभ्यो जनकेभ्यश्च स्वधान्नाद्युत्तमवस्तु दद्मः। ये चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्यामधीत्याध्यापयन्ति ते वसुसंज्ञकाः। ये चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्यां पठित्वा पाठयन्ति ते पितामहाः। येऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षमितेन ब्रह्मचर्येण विद्यापारावारं प्राप्याध्यापयन्ति त आदित्याख्याः, अर्थात् सत्यविद्याद्योतकाः। तेभ्योऽस्माकं सततं नमोऽस्तु। हे पितरः, भवन्तोऽक्षन्नत्रैव भोजनाच्छादनादिकं कुर्वीरन्' (पृ० ३०३) इत्यादिकम्, तत्तु निर्मूलमेव, स्वामित्यनेनामृताख्या मोक्षविद्या केन प्रमाणेन गृहीतेति वक्तुमशक्यत्वात्।

देने का विधान है। वेद में ही नहीं, यह लोक व्यवहार में भी हूँभलीभाँति प्रचलित है। देवता और पितृगण को स्वीकार न करने वाले नास्तिकों में इनका कोई पार्थक्य नहीं है। उनके अनुसार तो इन शब्दों का प्रयोजन अन्न प्रदान मात्र है, वह भले ही किसी को भी दिया जाय। अथवा इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि पितरों के लिये स्वधारूपा अन्न और नमस्कार समर्पित है। पितृ शब्द का बहुवचन पिता के साथ चाचा आदि को भी समेटने के लिये है, अथवा उनके प्रति आदर भी इससे प्रकट होता है। इसी तरह से स्वधा के प्रेमी पितामह, प्रपितामह आदि को भी दिया गया अन्न प्राप्त हो। पितृगण हमारे द्वारा दिये गये अन्न को खाकर तृप्त हो गये हैं, अथवा पितृगण तृप्त होकर हमें भी अभीष्ट वस्तु प्रदान कर तृप्त करते हैं। हे पितृगण, अब भोजन कर लेने के बाद आप लोग हाथ धोकर शुद्ध हो जाइये। महर्षि कात्यायन ने इन तीन यजुर्मन्त्रों का विनियोग, जिनके कि देवता पितृगण हैं, होम करने, सेचन करने और जप करने में बताया है।

इस मन्त्र का स्वामी दयानन्द ने यह अर्थ किया है—'जो चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्या पढ़कर सबको पढ़ाते हैं, उन पितरों को हमारा नमस्कार है, जो चवालीस वर्ष ब्रह्मचर्य आश्रम में वेद आदि विद्याओं को पढ़कर सबके उपकारी और अमृतरूपी ज्ञान के देने वाले होते हैं, जो अड़तालीस वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रियता के साथ संपूर्ण विद्याओं को पढ़कर हस्तक्रियाओं से भी सब विद्या के दृष्टान्त साक्षात् देकर सिखलाते हैं और जो सबके सुखी होने के लिये सदा प्रसन्न करते रहते हैं, उनका मान भी सब लोगों को करना चाहिये। पिताओं का नाम वसु है, क्योंकि वे सब विद्याओं में वास करने के लिये योग्य होते हैं। पितामहों का नाम रुद्र है, क्योंकि वे वसुसंज्ञक पितरों से दूनी अथवा शतगुनी विद्या और बल वाले होते हैं। प्रपितामहों का नाम आदित्य है, क्योंकि वे सब विद्याओं और सब गुणों में सूर्य के समान प्रकाशमान होकर सब विद्या और लोगों को प्रकाशमान करते हैं। इन तीनों का नाम वसु, रुद्र और आदित्य इसलिये है कि वे किसी प्रकार की दुष्टता मनुष्यों में नहीं रहने देते। हे पितर लोगों, तुम विद्यारूप यज्ञ को फैलाकर सुख भोगो तथा हमारी सेवा से अत्यन्त प्रसन्न रहो। हमारी सेवा से तृप्त होकर आप लोग हमको भी आनन्दित और तृप्त करते रहो' (पृ० ३०४)। किन्तु यह सारी व्याख्या निराधार है, क्योंकि यहाँ अपनी, अर्थात् अमृत नामक मोक्षविद्या का उल्लेख किस प्रमाण के आधार पर होगा, इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा गया है।

पुनन्तु मेति। पितरो मां मां पुनन्तु शोधयन्तु। केन ? पवित्रेण गोऽश्ववालकृतेन। कुम्भीमासज्य कुम्भवच्छतवितृण्णां वालपवित्रहिरण्यानन्तर्धाय नवर्चं वाचयति पुनन्तु मेति' (का० श्रौ० सू० १९।३।२०) इति कात्यायनश्रौतसूत्रवचनात्। दक्षिणाहवनीयपार्श्वयोः स्तम्भद्वयोपरि दक्षिणाग्रं वंशं निधाय तत्रस्थे शिक्ये शतच्छिद्रां कुम्भीं निधाय कुम्भीतले वालादीनि निधाय तत्र सुराशेषं सिक्त्वाऽग्नेरुपरि स्रवन्त्यां सुरायां नवर्चं यजमानं वाचयेत्। वालोऽश्ववालकृतं सुरागलनं हिरण्यं शतमानमितं शतायुषा शतवर्षमितमायुर्यस्मात्तच्छतायुस्तेन, येन पूतः शतायुर्भवतीत्यर्थः। पितामहादयो मां पुनन्तु। कीदृक्षास्ते ? सोम्यासः, आदरार्थं पुनर्वचनम्। एवं पित्रादिभिर्युतोऽहं विश्वं सर्वमायुः व्यश्नुवै प्राप्नुयामित्यर्थः। श्रीदयानन्दस्तु पवित्रेण पवित्रकर्मानुष्ठानकरणोपदेशेनेत्याह, तच्च श्रौतसूत्रविरुद्धत्वादुपेक्षणीयमेव।

'उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि। उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥' (वा० सं० १९।७०)

हे अग्ने, उशन्तः कामयमाना वयं तं त्वा निधीमहि स्थापयामः कामयमाना एव वयं त्वा समिधीमहि सन्दीपयामः। त्वं च उशन् कामयमानः सन् उशतः कामयमानान् पितॄन् आवह आनय। किं कर्तुम् ? हविषे अत्तवे हविर्भक्षयितुम्। तुमर्थे तवैप्रत्ययः। यत्तु—'हविषे अत्तवे सद्विद्याग्रहणाय तेभ्यो धनाद्युत्तमपदार्थदानायानन्दभोगाय च' (पृ० ३०३) इत्युक्तम्, तत्तु निष्प्रमाणमेव, वेदाक्षराननुगमात्। यत्तु—'उशन्नुशत आवह पितॄन् सत्योपदेशविद्याकामयमानान् कामयमानः संस्त्वम् अस्मानासमन्तात्, वह प्रापय' (पृ० ३०३) इति, तदपि निरर्थकम्, परमेश्वरप्रार्थनाधीनैवाध्यापकप्राप्तिः स्यात्, तदा तदर्थं गुरूपसदनादिप्रयत्नवैयर्थ्यमेव स्यात्।

किञ्च–'ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धृताः। सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥' (अ०१८।२।३४)

'पुनन्तु मा०' इत्यादि मन्त्र का अर्थ यह है—पितृगण मुझे गाय और अश्व के बाल से बनाये गये पवित्र से शुद्ध करें। 'कुम्भीमासज्य०' इत्यादि कात्यायन श्रौतसूत्र में 'पुनन्तु मा०' इत्यादि नौ ऋचाओं का यही विनियोग बताया गया है। कात्यायन सूत्र का अर्थ यह है कि दक्षिणाग्नि और आहवनीय अग्नि के बगल में दो खंभों पर दक्षिण मुख वांस को रखकर उसमें बांधे गये सिकहर पर सौ छिद्र वाली गगरी रखकर और उस गगरी के तले में ही गाय और अश्व के बाल से बने पवित्र को रखकर उसमें बची हुई मदिरा को भरकर जब यह मदिरा अग्नि के ऊपर गिरने लगे तो यजमान को इन नौ ऋचाओं का पाठ करना चाहिये। ये अश्व आदि के बाल उस गगरी में इस तरह से रक्खे जाते हैं कि गगरी में भरी मदिरा छिद्रों से इस वालों के सहारे टपकती है। इसके साथ ही सौ मान का सुवर्ण भी उसमें रक्खा जाता है। इसको शतायु इसलिये कहा जाता है कि इससे पवित्र होकर यजमान सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहता है। इस पवित्र से पितृगण के समान सोम्य स्वभाववाले पितामह, प्रपितामह प्रभृति भी मुझे पवित्र बनावें। इनका मन्त्र में दो बार उल्लेख उनके प्रति अत्यन्त आदर प्रकट करने के लिये है। इस प्रकार पिता, पितामह आदि की दया से पवित्र हुआ मैं यजमान पूरी आयु प्राप्त करूँ। स्वामी दयानन्द ने 'पवित्र' पद का अर्थ 'पवित्र कर्मों के अनुष्ठान का उपदेश' किया है, जो कि उक्त श्रौतसूत्र के विरुद्ध होने से उपेक्षणीय है।

'उशन्तस्त्वा०' इत्यादि मन्त्र का अर्थ यह है—हे अग्ने, हम लोग आपको चाहते हुए ही यहां स्थापित करते हैं और प्रज्वलित करते हैं। आप भी हमें चाहते हुए चाहने वाले पितरों को अपने साथ लेकर यहां आइये, जो कि हमारी दी हुई हवि को, आहुति को, कव्य को ग्रहण करें। 'अत्तवे' पद में तुम् प्रत्यय के अर्थ में तवै प्रत्यय हुआ है। स्वामी दयानन्द ने 'हविषे अत्तवे' का अर्थ पितरों से सद्विद्या के ग्रहण के लिये, पितरों को धन आदि उत्तम पदार्थ देने के लिये और आनन्द का उपभोग करने के लिये, ऐसा किया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं है। मन्त्र में विद्यमान शब्दों से इसका कोई सम्बन्ध भी नहीं है। इसी प्रकार 'हे भगवन्, आप हमारे कल्याण के लिये सत्य विद्या का उपदेश करने की इच्छा वाले पूर्वोक्त पितरों के पास हमें नित्य पहुँचाइये' यह व्याख्या भी निरर्थक है, क्योंकि यदि परमेश्वर की प्रार्थना करने से ही अध्यापक की प्राप्ति हो जाय, तो फिर वेद में विद्याध्ययन के लिये गुरु के घर जाने का प्रयत्न करने की बात व्यर्थ हो जायगी।

'ये निखाता०' यह अथर्ववेद का मन्त्र है। इसका अर्थ इस प्रकार है—हमारे जो पितृगण भूमि में गाड़े गये हैं, दूर

मन्त्रार्थस्तु—ये निखाता भूमौ निखननसंस्कारेण संस्कृताः, ये पितरः परोप्ताः परावपनं दूरदेशे काष्ठादिवत् परित्यागः, तेन संस्कृताः, ये च दग्धा अग्निना संस्कृताः, ये चोद्धिताः संस्कारोत्तरकालमूर्ध्वदेशे पितृलोके स्थिताः। एवं बहुविधावस्थान् सर्वान् पितॄन् हविषे अत्तवेऽस्माभिर्दत्तं हविर्भक्षयितुं हे अग्ने! आवह। अत्र मन्त्रे स्पष्टं मृतपितॄणामेव कव्यहव्यदानार्थमावाहनं दृश्यते। नहि जीवन्तः पितरो निखन्यन्ते, न वा त उप्यन्ते, न दह्यन्ते, न वोर्ध्वं गच्छन्ति। अत्र तु निखातानां दग्धानां परोप्तानामूर्ध्वं गतानामावाहनं श्रूयते। 'निमन्त्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान्। वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते॥' (म० ३।१८९)। नहि जीवन्तः पितरो द्विजान् वायुवच्चानुगच्छन्ति तस्मान्मृतपितॄणामेवैतद्बोधकं वाक्यम्। 'तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः' (श० २।३।४।२१) पितरः सूक्ष्मत्वान्मनुष्यदृष्ट्यगोचरा भवन्ति। नहि मनुष्या एव पितृपितामहादय एवं सम्भवन्ति। 'आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि' (गो० सू० ३।१।२८) इति स्थलीयवात्स्यायनभाष्यरीत्या वायव्यानि शरीराणि भवन्ति। तानि चादृश्यान्येव भवन्ति। पूर्वमग्निष्वात्ताः पितर उक्ताः। दयानन्दस्तु ब्रह्मविदोऽग्निष्वात्ता इत्याह। तच्च वेदविरुद्धमेव। 'यानग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः', 'ये अग्निदग्धा येऽनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते' (अथर्व० १८।२।३५) एतेनाग्निदग्धा एवाग्निष्वात्तास्तद्भिन्ना अनग्निदग्धा इति सिद्ध्यति। 'आयन्तु', 'ये चेह पितरः', 'येऽग्निष्वात्ताः', 'ये अग्निदग्धाः' एतैर्मन्त्रैर्मृतपितॄणामेव श्राद्धं सिद्ध्यति, यतो जीवन्तः पितरो न निखन्यन्ते न वा क्वचिदुप्यन्ते न दह्यन्ते न वा स्वर्गं गच्छन्तीत्युक्तमेव।

'स्वधापितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यः स्वधा पितृभ्योऽन्तरिक्षसद्भ्यः स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः' (अथर्व० १८।४) अत्र पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकस्थेभ्यः स्वधान्नं प्रदीयते। नहि मनुष्या पितृपितामहादयो विद्वांसो वै याज्ञिका उपदेशका

देश में जाकर जिनको काष्ठ (लकड़ी) आदि की तरह छोड़ दिया गया है, जिनको अग्नि में जलाया गया है और इन तीनों तरह के संस्कार के बाद जो ऊर्ध्व स्थान में स्थित पितृलोक में जाकर विश्राम कर रहे हैं, इस तरह के नाना प्रकार के सभी पितृगणों को हे अग्नि, तुम हमारे द्वारा दी गई हवि के भक्षण के लिये अपने साथ ले आओ। इस मन्त्र में स्पष्ट ही मृत पितरों को ही कव्य नामक हवि के दान के लिये बुलाया गया है। जीवित पिता, पितामह आदि को न तो कोई गाड़ता है, न फेंकता है और न जलाता ही है। न वे ऊर्ध्व लोक में जाते ही हैं, जब कि इस मन्त्र में उन्हीं पितरों का आह्वान किया गया है, जिनको गाड़ा गया हो, फेंका गया हो या जलाया गया हो, अथवा जो ऊर्ध्व लोक में रह रहे हों। मनुस्मृति में बताया गया है कि 'पितरों के निमित्त बुलाये गये ब्राह्मणों के शरीर में ये पितृगण प्रविष्ट हो जाते हैं। ये उनका अनुगमन पवन के समान करते हैं और उनके भोजन पर बैठने पर ये भी बैठ जाते हैं।' जीवित पिता, पितामह आदि ब्राह्मणों का अनुगमन नहीं करते, अतः यह वाक्य मृत पितरों का बोधक ही माना जायगा। शतपथ ब्राह्मण के वचन के अनुसार अपने सूक्ष्म शरीर के कारण वे मनुष्यों को दिखाई नहीं पड़ते। यदि पिता, पितामह आदि जीवित मनुष्यों को ही पितर माना जाय तो यह विशेषता उनमें कहाँ दिखाई पड़ती है। गौतम के न्यायसूत्र में आप्य, तैजस और वायव्य शरीरों की सत्ता लोकान्तरों में मानी गई है। वात्स्यायन भाष्य के अनुसार पितरों के शरीर वायव्य माने गये हैं, जो कि दृश्य नहीं होते। 'अग्निष्वात्त' नामक पितरों की चर्चा हमने पहले की है। स्वामी दयानन्द ब्रह्मवेत्ता को ही अग्निष्वात्त के नाम से जानते हैं। यह बात सर्वथा वेदों के विरुद्ध है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट बताया गया है कि अग्नि जिन पितरों का स्वाद लेती है, अर्थात् जिनका अन्तिम संस्कार अग्नि में जलाकर किया जाता है, वे अग्निष्वात्त कहलाते हैं। 'ये अग्निदग्धाः' इत्यादि अथर्ववेद के मन्त्रों से भी यह स्पष्ट है कि अग्नि से संस्कृत पितृगण ही अग्निष्वात्त कहे गये हैं। इन मन्त्रों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्राद्ध मृत पितरों का ही होता है, जीवित पिता, पितामह आदि का नहीं, क्योंकि यह पहले ही बताया जा चुका है कि जीवित पितरों को न तो गाड़ा जाता है, न फेंका जाता है और न वे स्वर्ग में ही पहुँचते हैं।

'स्वधा पितृभ्यः' इत्यादि मन्त्र भी अथर्ववेद का ही है। इस मन्त्र के द्वारा पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में स्थित पितरों को स्वधाकार से आहुति दी जाती है। पिता, पितामह प्रभृति जीवित मनुष्य, विद्वान् उपदेशक अथवा याज्ञिक अन्तरिक्ष और द्युलोक में रह नहीं सकते। मृत पितर ही अपने अपने कर्मों के अनुसार उन उन लोकों में जाते हैं। इन मन्त्रों का विनियोग भी अग्नि

वाऽन्तरिक्षे द्युलोके वा स्थातुं शक्नुवन्ति। मृता अपि पितरः कर्मवशात्तत्र तत्र लोकेषु तिष्ठन्त्येव। किञ्च, एभिर्मन्त्रैरग्नौ हूयते। परमेश्वरस्य सर्वशक्तिमत्त्वेन तद्द्वारा सर्वलोकस्थेभ्यः पितृभ्यः प्राप्यते हव्यकव्यादिकम्। सन्तानहीनानां सन्तानोत्पत्तयेऽपि श्राद्धं क्रियते। आधत्त पितरो गर्भमिति मध्यमं पिण्डं पत्नी प्राश्नीयादिति गृह्यसूत्रेण आधत्त पितरो गर्भमिति मन्त्रेण पत्नी मध्यमं पिण्डं प्राश्नीयात्। मनुनाप्युच्यते—'पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा। मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात् सम्यक् सुतार्थिनी। आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम्। धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा। (मनु० ३।२६२-२६३)। एतेन 'आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषो असत्' (वा० सं० २।३३) इति मन्त्रस्य मनुसम्मत एवार्थो युक्तः। नहि लौकिकाः पित्रादयः सुतोत्पादनाय पुत्रवधूषु नियुज्यन्त इत्यर्थो युक्तः, लोकवेदविरुद्धत्वात्।

'उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते॥' (अथर्व० १८।२।२) यावत्पर्यन्तमाकाशे जलकणा मेघाः संयन्ति सोदन्वती द्यौः, पीलुमतीति पीलवो ग्रहनक्षत्रादयो यस्यां सन्ति सा पीलुमती, (पालयन्तीति पीलवः) तत उपरिष्टात् प्रद्यौः, प्रकृष्टफलोपेता द्यौः, तत्र पितर आसते तेषां श्राद्धं भवतीति। न लौकिकाः पित्रादयस्तत्र स्थातुं प्रभवन्ति। परमेश्वरप्रसादात् कर्मानुरूपासु यत्र क्वापि योनिषु जन्मवन्तां पितॄणां तृप्तिर्जायते।

'इममोदनं निदधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्। स मे माक्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु॥' (अथर्व० ४।३४।८) अनेन मन्त्रेण पितॄणां तृप्त्यर्थं ब्राह्मणानां समीपे ओदनादिकं निधीयते। इमं पक्वमोदनं ब्राह्मणेषु भोक्तृषु निदधे। कीदृशमोदनं विष्टारिणं विस्तारवन्तं मन्त्रबलात् परमेश्वरानुग्रहाच्च एकैककणा अपि पर्वतोपमाः साधारणा अप्यमृतोपमा भवन्तीति देवतानिरूपणप्रकरणे स्पष्टं पुराणवचनावष्टम्भेनोक्तम्। मन्त्रस्यास्य व्याख्यानभूतानि तानि पुराणवचांसि। पुनः कीदृशं लोकजितं दिव्यलोकप्रापकम्, स्वर्गं सुखरूपम्। स ओदनः तस्मिन् स्वर्गे लोके स्वधया

में आहुति देने के लिये ही किया जाता है। परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, अतः उनके द्वारा उन सभी लोगों में विद्यमान पितरों को हव्य, कव्य आदि की प्राप्ति हो ही सकती है। सन्तानहीन व्यक्ति सन्तान की प्राप्ति के लिये भी श्राद्ध करते हैं। गृह्यसूत्र में बताया गया है कि 'आधत्त पितरो गर्भम्' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान की पत्नी पितरों के निमित्त दिये गये पिण्डों में से बीच के पिण्ड को सन्तान की प्राप्ति की कामना होने पर खा ले। इसी अभिप्राय का श्लोक मनुस्मृति में भी विद्यमान है। वहां यह भी बताया गया है कि इस मध्यम पिण्ड का भक्षण करने पर वह यजमान पत्नी आयुष्मान्, यश और मेधाशक्ति से संपन्न, धनवान् प्रजावान्, सात्त्विक स्वभाव के धार्मिक पुत्र को उत्पन्न करती है। इस प्रकार 'आधत्त पितरो गर्भम्' इत्यादि मन्त्र का मनुस्मृति से समर्पित अर्थ ही सही माना जायगा। लौकिक पिता, पितामह प्रभृति को पितर मान कर वे पुत्र की उत्पत्ति के लिये अपनी पुत्रवधू के साथ नियोग करें, यह बात सर्वथा वेद और लोक व्यवहार के भी विरुद्ध है। इसलिये ऐसा अर्थ इस मन्त्र का कभी नहीं किया जा सकता।

'उदन्वती०' इत्यादि अथर्ववेदीय मन्त्र के उदन्वती द्यौ का अर्थ है जहां तक जलकणवाले मेघ पहुंचते हैं, वह आकाश। जिस आकाश में ग्रह, नक्षत्र आदि की स्थिति है, उसको पीलुमती कहा गया है और इसके ऊपर का आकाश इस मन्त्र में प्रद्यौ (उत्कृष्ट फल को देने वाली) शब्द से अभिहित है। इन तीनों तरह के आकाश में पितृगण निवास करते हैं जिनका कि श्राद्ध किया जाता है। लौकिक पिता, पितामह आदि का जीवित अवस्था में इन सभी स्थानों में निवास नहीं माना जा सकता। परमेश्वर की कृपा से अपने कर्म के अनुरूप उन उन स्थानों में उत्पन्न हुए पितरों की तो तृप्ति श्राद्ध से होती ही है।

'इममोदनं' इत्यादि अथर्ववेदीय मन्त्र का उच्चारण करते हुए पितरों की तृप्ति के लिये ब्राह्मणों के समीप भात आदि परोसा जाता है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—इस पके हुए भात को मैं भोजन करने वाले निमन्त्रित ब्राह्मणों के सामने परोसता हूं। यह ओदन अपने आप विस्तृत हो जाने वाला है। मन्त्र की सामर्थ्य से और परमेश्वर की कृपा से अन्न का एक एक कण पहाड़ की बराबर और स्वाद में अमृत से भी बढ़कर हो जाता है, यह बात हम देवताओं के स्वरूप का निरूपण करते समय पुराण आदि के वचनों के प्रमाण पर बता चुके हैं। वे सब पुराणों के वचन इस मन्त्र की व्याख्या के रूप में निर्मित हैं। यह भात दिव्य लोक की प्राप्ति कराने

क्षीरादिरसेन पिन्वमानोऽभिवर्धमानः माक्षेष्ट न क्षयं प्राप्नोतु। 'क्षि क्षये', 'माङि लुङ्', 'पिवि मिवि णिवि सेचने' इदित्वान्नुमि पिन्वमान इति रूपम्। अपि तुस ओदनः, विश्वरूपा नानाविधफलप्रदरूपा धेनुः सती मम कामदुधा अभिलषितफलस्य दोग्ध्री अस्तु भवतु। कामान् दोग्धीति कामदुघा।

मनुश्च—'यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः। कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः॥' (१।९५) यस्य ब्राह्मणस्यास्येन मुखेन त्रिदिवौकसो हव्यानि हवींषि अश्नन्ति पितरश्च कव्यानि अश्नन्ति, ततो ब्राह्मणादन्यत् किं भूतमधिकं भवितुमर्हति, न किमपीत्यर्थः। जीवन्तश्च पितरः स्वमुखेनैवाश्नन्ति न ब्राह्मणमुखेनेति मृतपितॄणामेव तृप्त्यर्थं ब्राह्मणभोजनम्। 'पिता प्रेतः स्यात् पितामहो जीवेत् पित्रे पिण्डं निधाय पितामहात् पराभ्यां द्वाभ्यां दद्यात्' (का० श्रौ० सू०), 'पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः। पितुः स नाम सङ्कीर्त्य कीर्तयेत् प्रपितामहम्॥' (मनु० ३।२२१)। यस्य पिता मृतः स्यात्पितामहश्चेद् जीवेत् स पित्रे पिण्डं निधाय पितामहात्पराभ्यां द्वाभ्यां पिण्डं दद्यात् पितुर्नाम संकीर्त्य पितामहं त्यक्त्वा प्रपितामहं कीर्तयेत्। एतावता स्पष्टं मृतकश्राद्धमेव सिद्ध्यति।

'अद्यामृताः पितृषु सम्भवन्तु'। 'ये सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च सीदन्ति ते सोमसदः, यैरग्नेर्विद्युतो विद्यागृहीता ते अग्निष्वात्ताः, ये बर्हिषि उत्तमे व्यवहारे सीदन्ति ते बर्हिषदः, ये सोमैश्वर्यमोषधीरसं वा पिबन्ति ते सोमपाः, ये हविर्होतुमर्हन्ति भुञ्जते भोजयन्ति वा ते हविर्भुजः, य आज्यं ज्ञातुं प्राप्तुं वा योग्यं रक्षन्ति पिबन्ति वा ते आज्यपाः' शोभनः कालो येषां ते सुकालिनः, ये दुष्टान् यच्छन्ति निगृह्णन्ति ते यमा न्यायाधीशाः, यः पाति स पिता, पितुः पिता पितामहः, पितामहस्य पिता प्रपितामहः, या मानयति सा माता, या पितुर्माता सा पितामही, पितामहस्य माता प्रपितामही, पत्न्याः, भगिन्यास्तथा गोत्रसङ्घे भद्रस्त्रीपुरुषेभ्योऽत्यन्तश्रद्धयोत्तमवस्त्रान्नयानादिदानं श्राद्धमुच्यते (सत्यार्थप्रकाशे, चतुर्थसमुल्लासे, पृष्ठ ९)। तदेतत् सर्वं पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिसूत्रादिविरुद्धमेव। पाश्चात्त्याः पदार्थविद्यायां

वाला, स्वर्गसुख को देने वाला है। यह भात उस स्वर्गलोक में स्वधा अर्थात् पितृनिमित्त दी गई खीर आदि से सदा बढ़ता ही रहे, कभी कम न हो। यह ओदन नाना प्रकार के अभिलषित फलों को देनेवाली कामधेनु के समान हमारे लिये अभीष्ट फल का देने वाला हो। दूध की तरह सब कामनाओं को देने वाली गौ कामदुघा कही जाती है।

मनुस्मृति में भी बताया गया है कि 'जिस ब्राह्मण के मुँह से देवतागण हव्य और पितृगण कव्य आहुति को ग्रहण करते हैं, उससे बढ़कर कौन प्राणी यहाँ हो सकता है।' अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण से बढ़कर इस संसार में कोई प्राणी उत्कृष्ट नहीं है। जीवित पिता, पितामह आदि तो अपने मुँह से भोजन करते हैं, ब्राह्मण के मुँह से नहीं। अतः ब्राह्मण भोजन मृत पितरों के ही निमित्त किया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र और मनुस्मृति में बताया गया है कि जिसके पिता मर गये हैं, किन्तु पितामह जीवित हैं, तो वह व्यक्ति अपने पिता को पिण्ड देकर पितामह से आगे के प्रपितामह और वृद्धप्रपितामह के नाम से पिण्ड दे। यहाँ जीवित पितामह को पिण्ड न देने का विधान है, अतः स्पष्ट है कि श्राद्ध, पिण्डदान आदि मृत व्यक्ति का ही किया जाता है।

'जो सोम, अर्थात् जगदीश्वर के स्वरूप और पदार्थविद्या के स्वरूप को समझने में निरन्तर लगे रहते हैं, वे पितृगण सोमसद् कहलाते हैं। जिन्होंने अग्नि अर्थात् विद्युच्छक्ति को नियन्त्रित करने की विद्या सीखी है, वे अग्निष्वात्त कहे जाते हैं। जो उत्तम व्यवहार में रहते हैं, अर्थात् सबके साथ भला व्यवहार करते हैं, वे बर्हिषद् कहलाते हैं। जो सोम के ऐश्वर्य को अथवा ओषधी के रस को पीते हैं, वे सोमपा कहे जाते हैं। जो हवि का भोजन स्वयं करते हैं और दूसरों को भी कराते हैं, वे हविर्भुज् कहलाते हैं। आज्यपा नाम के पितृगण वे हैं, जो कि घृत को प्राप्त करने वाले, जानने वाले तथा उसकी रक्षा करके पीने वाले हैं। जिनका समय बड़े आराम से बीतता है, वे सुकालिन् कहे जाते हैं। जो दुष्टों को दण्ड देते हैं, वे न्यायाधीश यम कहे जाते हैं। जो रक्षा करता है, वह पिता, पिता का पिता पितामह और पितामह के पिता प्रपितामह कहे जाते हैं। जो मान करती है, वह माता है। पिता की माता पितामही और पितामह की माता प्रपितामही कही जाती है। इसी तरह से पत्नी, बहिन आदि जो भी अपने बन्धु-बान्धवों में पूजनीय स्त्री-

निपुणाः सन्ति। दयानन्दरीत्या तेषां श्राद्धमायाति। अग्निविद्यानिपुणास्तद्रीत्या अग्निष्वात्ता भवन्ति। तत्र स्वर्णकारलौहकारादयो भवन्ति। बर्हिषदो व्यवहारविदः के भवन्तीति तु नोक्तम्। सोमपास्त्वद्य विविधजातीया एलोपेथचिकित्सका भवन्ति। ये मादकद्रव्याणि हिंसोत्पादितानि चापहाय भुञ्जते ते सोमपाः। तादृशाः के सामाजिकानां पितरः? तादृशास्तु गोऽजहरिणादयः शाकाहारिणो वा। तेषामेव श्राद्धतर्पणादिकं तैः क्रियते किम्? आज्यपाः, ये घृतमेव पिबन्ति ते के? इति तु न स्पष्टम्। मनुना तु विशिष्टानां तेषां तेषां पितॄणां निर्देशः कृत एव।

'यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः। यमं ह यज्ञो गच्छति अग्निदूतो अरं कृतः॥' (अथर्व० १८।२।१) यमाय देवाय सोमः पवते पूयते अभिषूयते। सोमसाधनो ज्योतिष्टोमादिर्नानुष्ठीयेत चेद् यमो न सुखी स्यादिति यमप्रीतये सोमोऽभिषूयते। अथवा पितॄणां सोमसम्बन्धेन यमस्यापि सोमोऽस्त्येव। यमाय हविराज्यादिलक्षणं क्रियते संस्क्रियते। किञ्च, यममेव कृत्स्नो ज्योतिष्टोमादिर्गच्छति। कीदृशो यज्ञः? अग्निदूतः। दूतो यथा स्वामिना दत्तं धनादिकं दातव्याय प्रयच्छति, एवमग्निरपि यजमानेन दत्तं हविस्तस्मै तस्मै देवाय प्रयच्छतीत्यग्निर्दूत उच्यते। पुनः कथंभूतो यज्ञः? अरं कृतः, स्तोत्रशस्त्रादिभिर्भूषितः। यद्वा अलमत्यर्थं निष्पादितसाङ्गोपाङ्गो यज्ञ इत्यर्थः। यद्यपि सोमो हविर्यज्ञश्च सर्वदेवार्था भवन्ति, तथापि यमस्य सर्वप्राणिसंहर्तृत्वेन सर्वेषां पितृलोकप्रापकत्वेन वा प्राधान्याद् यमायैव सोमादिकं क्रियत इत्युपचर्यते।

दयानन्दस्तु यमपदेन न्यायाधीशो मण्डलाधीशो (मजिस्ट्रेट) यम उच्यत इति तद्रीत्या तदर्थमेव सोमादयः क्रियन्ते। परं तदर्थमग्नेर्दौत्यं कथमुपयुज्यत इत्यस्य समाधानं तु तैर्न कर्तुं शक्यते। वेदे तु—'यो ममार प्रथमो मर्त्यानां

पुरुष हैं, उनको अत्यन्त श्रद्धा के साथ उत्तम, वस्त्र, अन्न, पान आदि का दान करना ही श्राद्ध कहलाता है'। स्वामी दयानन्द ने श्राद्ध की यह परिभाषा सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में की है। उनकी यह सारी बात पूर्व उद्धृत श्रुति, स्मृति, सूत्र आदि के वचनों के विपरीत है। पाश्चात्य विद्वान् पदार्थ विद्या में परम प्रवीण होते हैं। दयानन्द के अनुयायी आर्यसमाजियों को उन्हीं का श्राद्ध करना चाहिये। उनके मत से अग्नि विद्या में निपुण पितर अग्निष्वात्त कहे जाते हैं। तदनुसार सुनार, लोहार आदि का श्राद्ध उनको करना चाहिये। व्यवहारवेत्ता बर्हिषद् कौन हैं? यह उन्होंने स्पष्ट बताया नहीं। उनकी व्याख्या के अनुसार आजकल के एलोपैथ चिकित्सक सोमपा कहे जायेंगे। अथवा मादक द्रव्यों को और हिंसा से उत्पन्न मांस आदि को न खाने वाले प्राणी सोमपा कहे जायंगे। सामाजिकों के ये 'सोमपा' नाम के पितर गाय, बकरी, हरिण आदि अथवा शाकाहारी मनुष्य माने जायेंगे। क्या वे लोग उन्हीं का श्राद्ध, तर्पण आदि करते हैं? जो खाली घी ही पीते हैं, ऐसे व्यक्ति कौन हैं? यह स्पष्ट नहीं किया गया है। इसके विपरीत मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में इन सभी तरह के पितरों के स्वरूप की स्पष्ट व्याख्या की गई है।

'यमाय सोम०' इत्यादि अथर्ववेदीय मन्त्र का अर्थ यह है—यम देवता के लिये सोमरस की आहुति दी जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि जिसमें सोमरस की आहुति दी जाती है, ऐसे ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों का अनुष्ठान न किया जाय, तो यमराज प्रसन्न न रहेंगे, अतः उनको प्रसन्न रखने के लिये सोमरस की आहुति दी जाती है। अथवा पितरों का सम्बन्ध सोम से होने से यम का भी सम्बन्ध सोम से माना जाता है। यमराज को घृत आदि की भी आहुति दी जाती है। ज्योतिष्टोम प्रभृति यज्ञ वस्तुतः यमराज की प्रसन्नता के लिये ही किये जाते हैं। इस यज्ञ का दूत अग्नि है, अर्थात् लोकव्यवहार में सेवक जैसे स्वामी की दी हुई वस्तु को यथास्थान जिसको देता है, उसके पास पहुँचाता है, उसी तरह से यह अग्नि भी यजमान जिस देवता के निमित्त हवि देता है, उसके पास उस हवि को पहुँचा देता है, इसके लिये यहाँ अग्नि को दूत कहा गया है। पुनः यह यज्ञ स्तोत्र, शस्त्र आदि साम मन्त्रों के उच्चारण से भूषित है। अथवा यह यज्ञ पूरी तरह से सावधानी से सांगोपांग पूरा किया गया है। यद्यपि सोम, हवि और यज्ञ सभी देवताओं की प्रसन्नता के लिये किये जाते हैं, तो भी यमराज सब प्राणियों का नाश करने वाले हैं, अथवा सभी प्राणियों को पितृलोक तक पहुँचाने वाले हैं, अतः यम को प्रधान मानकर प्रायः उन्हीं की पूजा सोम आदि से की जाती है।

स्वामी दयानन्द यम पद से न्यायाधीश, मण्डलाधीश (मजिस्ट्रेट) आदि का ग्रहण करते हैं, तब क्या इन्हीं के लिये सोम आदि की आहुति उनके मत से दी जायगी? इसके लिये अग्नि को दूत किस तरह बनाया जायगा, इसका समाधान तो कुछ हो

यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥' (अथर्व० १८।३।३)। यो यमो राजा मर्त्यानां मनुष्याणां मध्ये स्वयमप्येकः सन् प्रथमः प्रथमभूतो ममार मरणं प्राप्तवान्। (मृङ् प्राणत्यागे) एतं लोकं यो यमो राजा प्रथमः प्रथमभूतः प्रेयाय प्रगतवान् प्रथमं पश्चात् लोकान्तरप्राप्तिरित्युभयं प्रथमयमो यज्ञमासीत्। अत एव यमस्य मनुष्यवत् कामयितृत्वादिकं यागाद्राज्यप्राप्तिश्च आम्नायते। 'यमो वा अकामयत पितॄणां राज्यमभिजयेयमिति स एतं यमायापभरणीभ्यश्चरुं निरवपत् (तै० ब्रा० ३।१।५)। इत्थं यमो राजा मरणपूर्वकं प्रथमं प्रेयाय। तं वैवस्वतं विवस्वानादित्यः, तस्य पुत्रं जनानां जनिमतां प्राणिनां संगमनं सङ्गच्छन्ते जना अस्मिन्निति, अधिकरणे लुट्। सर्वैर्जनिमद्भिः सम्प्राप्यमित्यर्थः। एवंगुणविशिष्टं राजानमीश्वरं प्राणिकृतसुकृतदुष्कृतानुरूपेण दण्डधरं हविषा आज्यपुरोडाशादिना सपर्यत पूजयत, हे ऋत्विज इति शेषः। 'सपर पूजायाम्', कण्ड्वादिभ्यो यक् (पा० सू० ३।१।२७)। अथवा प्रथमः कल्पादौ प्रथमभावी यो जनो ममार, यश्च जनः प्रथमः कल्पादौ वर्तमान एतं लोकं यमस्य स्वभूतं प्रेयाय तदा प्रभृति वर्तमानानां सर्वेषां जनानां संगमनं सम्प्राप्यं राजानं सपर्यत। सर्वथापि न लौकिको न्यायाधीशो यमः, किन्तु विशिष्टः पितृलोकाधिपतिः श्राद्धादिषु पूज्य इज्यश्च पिण्डपितृयज्ञादिभिः। कौशिकसूत्रेषु प्रेतकर्मसु पिण्डपितृयज्ञादौ विनियोग उक्तोऽनेकेषां मन्त्राणाम्। 'इदं पितृभ्यः' इत्यृचा गर्ते दर्भान् स्तृणीयात्। पितृमेधे परेयिवांसम् इति द्वाभ्यां कनिष्ठपुत्रेण अन्यत्र विवस्वता सार्धं पितृभिः सह यमस्य यज्ञ आवाहनमुक्तम्।

'अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरागहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् बर्हिष्यानिषद्य ॥' (अथर्व० १८।१।९)। हे यम, इह कर्मणि अङ्गिरोनामकैः पितृभिः सह आगहि आगच्छ। कीदृशैर्यज्ञियैर्यज्ञार्हैः। एवं वैरूपैः विरूपाख्यस्य महर्षेर्गोत्रजैः सहागच्छ। आगत्येह मादयस्व तर्पयस्व। न केवलं त्वामेव, किन्तु तव पितरं विवस्वन्तमप्याह्वयामहे। अस्मिन्

नहीं सकता। वेद में तो 'यो ममार' इत्यादि अथर्ववेदीय मन्त्र के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि 'यह यमराज मनुष्यों के बीच में स्वयं अकेला है। सबले पहले मरने वाला प्राणी है। यमराज स्वयं सबसे पहले मर कर बाद में इस जगत् के सभी प्राणियों को भी मार कर दूसरे लोक में पहुँचा देता है। इसलिये सारे यज्ञ उसी की प्रसन्नता के लिये किये जाते हैं। इसीलिये यमराज की राज्यप्राप्ति आदि की इच्छा की बात ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित है कि वह यमराज मनुष्य के समान ही तरह तरह की कामनाओं वाला है और वह भी यज्ञ का अनुष्ठान कर राज्य को प्राप्त करता है—'यमराज ने इच्छा की कि मैं पितरों के राज्य को जीत लूं, उसने यज्ञ किया'। इस तरह स्पष्ट है कि यमराज सबसे पहले पितर बने। उक्त विवस्वान् (आदित्य) के पुत्र यमराज को, जो कि सभी उत्पन्न हुए प्राणियों को अपने राज्य में एक साथ जुटा देता है, सभी प्राणियों का जिस यमराज्य में जाना अनिवार्य है, उस राजा यमराज की, जो प्राणियों के भले और बुरे कर्मों के अनुसार उनको दण्ड या पुरस्कार देता है, हम घृत, पुरोडाश आदि प्रदान कर पूजा करते हैं। इस मन्त्र में ऋषियों को संबोधित किया गया है। अथवा इस मन्त्र का दूसरा अर्थ इस तरह से किया जा सकता है—कल्प के आदि में पहले उत्पन्न हुआ जो मनुष्य मर गया और जो मानव इस कल्प के प्रारंभ में वर्तमान इस यमलोक में पहुँचा, तब से लेकर के अबतक के सभी मनुष्यों को जहाँ जाकर जिस राजा की सपर्या (सेवा) में लगना है, यह यमराज है। कुछ भी अर्थ किया जाय, लौकिक न्यायाधीश को यम किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु विशिष्ट पितृलोक के स्वामी को ही हम यमराज कहेंगे, जिसकी कि श्राद्ध आदि में पूजा की जाती है। पिण्ड, पितृयज्ञ आदि भी इसी के निमित्त किये जाते हैं। कौशिक सूत्र में अनेक मन्त्रों का विनियोग पिण्डदान, पितृयज्ञ आदि प्रेतों के निमित्त किये जाने वाले अनुष्ठानों के लिये बताया गया है। जैसे कि 'इदं पितृभ्यः' इत्यादि मन्त्र में 'पितृमेधः' यज्ञ में पितरों के निमित्त गड्ढे में कुशा रखे। 'परेयिवांसम्' इत्यादि दो मन्त्रों से कनिष्ठ पुत्र के साथ अथवा विवस्वान् (सूर्य) के साथ और पितरों के साथ यम का यज्ञ में आवाहन बताया गया है।

'अङ्गिरोभि०' इत्यादि अथर्ववेदीय मन्त्र का अर्थ यह है—हे यम, इस कर्म में अंगिरा नाम के पितरों के साथ आप यहाँ पधारिये। विरूप नामक महर्षि के यज्ञार्ह गोत्रज के साथ आप यहाँ पधारिये। यहाँ पधार कर आप तृप्ति का अनुभव कीजिये। हम केवल आपको ही नहीं, किन्तु आपके पिता विवस्वान् (सूर्य) को भी बुलाते हैं। आपके साथ वे भी आकर इस बिछाये गये

बर्हिष्यास्तीर्णे निषद्य यथा हविः स्वीकरोति तथा ह्वयामि । 'यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन' (अथर्व० १८।२।३) इत्यनेनापि यमो विशिष्टो राजा । 'अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो आहुतश्चरति स्वधावान् । वायुर्वसान उपयातु शेषः सङ्गच्छतां तन्वा सुवर्चाः (अथर्व० १८।२।१०) ॥' हे अग्ने, त्वमेनं मृतं हविष्ट्वेन कल्पितं पितृभ्यः पुनरवसृज पितृलोकस्थानाय त्यज । नहि मृतो लौकिकपितृपितामहादिभ्योऽग्निना प्रदीयते । तस्मात् पितृलोकस्थाः पितरो मनुष्येभ्यो भिन्ना एव । शेषोऽपत्यं पुत्र आयुर्वसान आयुष्मान् स्वगृहं गच्छतु । प्रेतः शोभनेन वर्चसा युक्तः, तन्वा पितृलोके स्थितेन शरीरेण सङ्गच्छताम् । 'ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उपजुषाण एहि । सङ्गच्छस्व पितृभिः संयमेन स्योनात्स्वा वाता उपवान्तु ॥' (अथर्व० १८।२।१) अस्मिन् मन्त्रे पितृणामाह्वानसंस्कारोत्तरकालं पितृभिः सङ्गच्छस्व, यमेन पितृराजेन च सङ्गतो भव । पितृलोकगमनसमये स्योनाः सुसेवितं योग्याः शग्माः सुखकरा वाता उपवान्तु ।

'ये च जीवा ये च मृता न जाता ये च जज्ञियाः । तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती ॥' (अथर्व० १८।४।७) । ये जीवाः, ये च मृताः, ये च जाताः, ये च जनिष्यमाणाः, तेभ्यः सर्वेभ्यो घृतस्य कुल्या कृत्रिमा सरित्, मधुधारा व्युन्दती विशेषेण सिञ्चन्ती, एतु तत्प्रीणनायागच्छतु । पिण्डपितृयज्ञे विनियोग एषां मन्त्राणाम् । 'येऽग्निदग्धा येऽनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते । त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितमजुषन्ताम् ॥' (अथर्व० १८।२।५) । ये पितरः, अग्निदग्धा अग्निना संस्कृताः, ये चानग्निदग्धाः, दिवो द्युलोकस्य मध्ये स्वधया (अन्ननामैतत्) पुत्रादिभिर्दत्तेन पिण्डरूपेण हविषाः, यद्वा स्वधाकारोपलक्षितेन पिण्डपितृयज्ञादिकर्मणा, मादयन्ते हृष्टास्तृप्ता वर्तन्ते । हे जातवेदः, जातानां वेदितरग्ने, तान् सर्वान् पितॄन् यदि त्वं वेत्थ, यदि वेदाः प्रमाणं स्युरितिवद् निश्चयार्थकोऽत्र यदिशब्दः । त्वमेव तान् निश्चयेन जानासीत्यर्थः । ते सर्वे स्वधायाः सम्बन्धिनमस्मदीयं यज्ञं स्वधितं स्वधासञ्जाता यस्य तम्, यद्वा स्वैर्ज्ञातिभिः पुत्रपौत्रादिभिर्हितम्, विहितम्, ईदृशं यज्ञं जुषन्ताम् । एवमृग्यजुरथर्वादिसंहितासु सहस्रशो मन्त्रा मृतपितृपितामहादिश्राद्धपिण्डपितृयज्ञादिपरा दृश्यन्ते ।

कुशाओं के आसन पर बैठकर हवि स्वीकार करे, इसीलिये मैं आप लोगों को बुला रहा हूं । इसी तरह से 'यमाय घृतवत्' इस अथर्ववेदीय मन्त्र में भी यम का एक विशिष्ट राजा के रूप में वर्णन है । 'अवसृज पुनरग्ने०' इत्यादि अथर्ववेदीय मन्त्र का अर्थ यह है—हे अग्ने, तुम इस मृत प्रेत को हवि के रूप में स्वीकार कर पुनः इसको पितृलोक में पहुँचा दो । लौकिक पिता, पितामह आदि को जीवित अवस्था में कोई अग्नि को नहीं सौंपता । इसलिये पितृलोक में स्थित पितर मनुष्यों से सर्वथा भिन्न ही हैं । बचा हुआ पुत्र आयुष्मान् बनकर पुनः अपने घर लौट जाय और प्रेत सुन्दर तेजस्वी शरीर को प्राप्त कर पितृलोक में प्रवेश करे । इसी तरह से 'ह्वयामि ते०' इस अथर्ववेदीय मन्त्र में पितरों का आह्वान और संस्कार करने के उपरान्त प्रेत के लिये प्रार्थना की गई है कि वह पितरों से और यमराज से मिल सके, जब वह पितृलोक की तरफ जा रहा हो, तब सुखदायक पवन बहता रहे ।

'ये च जीवाः' इत्यादि मन्त्र में बताया गया है कि जो जीवित हैं, जो मर गये हैं, जो पुनः उत्पन्न हुए हैं या होनेवाले हैं, घृत की नहरें, शहत की धाराएँ उनके सारे जाने के रास्ते को सींचती हुई उनकी तृप्ति के लिये उपस्थित रहें । इन मन्त्रों का विनियोग पिण्डपितृयज्ञ में बताया गया है । 'येऽग्निदग्धा०' इत्यादि मन्त्र का अर्थ है—जो पितर अग्नि के द्वारा संस्कृत हैं, अथवा जिनका अग्नि संस्कार नहीं हुआ है, किन्तु जो पुत्र आदि के द्वारा दिये गये पिण्डरूप हवि के कारण स्वर्गलोक में प्रसन्न होकर विचरण कर रहे हैं, अथवा स्वधा शब्द के उच्चारण के साथ पिण्डपितृयज्ञ आदि कर्मों के अनुष्ठान से सन्तुष्ट होकर, तृप्त होकर विचरण कर रहे हैं, हे जातवेद (सभी उत्पन्न प्राणियों को जानने वाला) अग्ने, उन सब पितरों को यदि तुम जानते हो, यहाँ यदि शब्द निश्चय के अर्थ में है, जैसे कि 'यदि वेदाः' इत्यादि वाक्य में वेदों के निश्चित प्रामाण्य का उल्लेख माना जाता है । अतः अर्थ यह हुआ कि हे अग्ने, तुम ही उन सबको निश्चित रूप से जानते हो, दूसरा कोई नहीं जानता । वे सब पितृगण स्वधा शब्द के उच्चारण के साथ किये जाने वाले इस पिण्डपितृयज्ञ में अपना अपना भाग ग्रहण करें । अथवा अपने बन्धु-बान्धव, पुत्र-पौत्र आदि के द्वारा सम्पादित इस पिण्डपितृयज्ञ में आकर अपना भाग स्वीकार करें । इसी तरह के अन्य अनेक मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद की संहिताओं में उपलब्ध हैं, जिनमें कि मृत पिता-पितामह आदि के ही श्राद्ध अथवा पिण्डपितृयज्ञ आदि का वर्णन मिलता है, जीवित पिता आदि का नहीं ।

श्राद्धविचारः

इत्थमत्र निष्कर्षः—स ददाति । असावेतत्त इत्येव यजमानस्य पित्रे ये च त्वा मन्वित्यु हैक आहुस्तदु तथा न ब्रूयात् । स्वयं वै तेषां सह तस्मादु ब्रूयात् । असावेतत्त इत्येव यजमानस्य पित्रे असावेतत्त इति पितामहाय असावेतत्त इति प्रपितामहाय तत् यदितः परान् ददाति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः' (श० ब्रा० २।४।२।१९), 'तानि दक्षिणोपस्तृणाति । तत्र ददाति । स वा इति ददातीतीव वै देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैवं पितॄणां तस्मादिति ददाति' (श० ब्रा० २।४।२।१८) । अत्र भाष्यम्—'दक्षिणा दक्षिणत उल्लिखितप्रदेशे तानि बर्हींषि उपस्तृणाति तत्र तस्मिन् बर्हिषास्तीर्णे देशे पिण्डान् दद्यात् । तत्र प्रकारविशेषमभिनयेन विधत्ते—स वा इतीति । अनेन प्रकारेण अङ्गुष्ठतर्जन्योर्मध्येन पित्र्येण तीर्थेनेत्यर्थः । देवमनुष्यसम्प्रदानकं दानं तद्वैपरीत्यकथनेनोपपादयति—इतीव वेति । इतीव अनेन खलु प्रकारेण अङ्गुल्यग्रेण देवतीर्थेन देवेभ्यो हवींषि जुह्वति । मनुष्येभ्यस्तु यथायोग्यं भोक्तव्यमन्नमुद्धरति । उद्धृत्य पात्रान्तरे स्थापयति । न तु तत्र देवपित्रादितीर्थविशेषोऽपेक्षितः ।

शाखान्तराभिमतमन्त्रशेषनिरासार्थमेवकारः । पित्रनन्तरभाविनां यच्छब्दनिर्दिष्टानां तेषां स्वयं पिण्डदाता सहभावी भवति । तथा च एव एषा (येषां) स्वयं (सह) भावी तेभ्यः पिण्डदाने स्वात्मने पिण्डं दत्तवान् भवति । 'तत् परितः' इत्यादि । अनेन हि क्रमेण पितृत्वं प्राप्ताः प्रथमं प्रपितामहः पश्चात् पितामहः ततः पितेति । इत्थं क्रमं परित्यज्य पिण्डदाने इतः पितृत आरभ्य प्रपितामहान्तं पराक् पराचीनं पिण्डान् दद्यात् । यतस्ते पितरः सकृत्त्वपरात्वधर्मयुक्ताः ।

पितरः के ? इत्यपेक्षायां मनुः—'मनोर्हिरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः । तेषामृषोणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः

श्राद्धविचार

पिण्डपितृयज्ञ प्रकरण का वैदिक दृष्टि में यह निष्कर्ष है—'स ददाति०' इत्यादि प्रकरण में शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि यजमान के पिता के लिये वह पुरोहित 'असावेतत्ते' कह कर पिण्ड समर्पित करे । कुछ आचार्यों का मत है कि इस प्रसंग में 'ये च त्वामनु' इस वाक्य का उच्चारण करना चाहिये, किन्तु यह मत उचित नहीं है, क्योंकि पिता, पितामह प्रभृति सभी तो उस पितृलोक में एक साथ ही रहते हैं । इसलिये यजमान के पिता, पितामह, प्रपितामह सभी के लिये 'असावेतत्ते' इसी वाक्य का उच्चारण करे, क्योंकि इन सबको एक साथ ही स्वधाकार के द्वारा अन्न समर्पित किया जाता है । ये सभी पितृगण एक साथ ही पूर्वज (पुरखे) के नाम से अभिहित होते हैं । 'तानि दक्षिणोपस्तृणाति०' इत्यादि शतपथ वाक्य का भाष्य इस तरह से किया गया है—दक्षिण दिशा में खोदी गई जगह पर कुशा बिछाई जाती है । उस कुशा बिछाये गये स्थल पर पिण्डदान किया जाता है । यह पिण्डदान किस पद्धति से किया जाय इस विषय को अभिनय के द्वारा समझाया गया है कि उस पिण्ड को अंगुष्ठ और तर्जनी अँगुली के मध्य में स्थित पित्र्य तीर्थ से देना चाहिये । देवता और मनुष्य के निमित्त दान करने की पद्धति इसके विपरीत है । वह यह कि इनके निमित्त अंगुली के अग्रभाग में स्थित देव तीर्थ से देवताओं के निमित्त हवि दी जाती है । मनुष्यों के लिये तो जिसके लिये जो उचित है, उस विधि से भोजन परोसा जाता है । इसके लिये देव तीर्थ या पितृ तीर्थ की आवश्यकता नहीं रहती ।

शतपथ ब्राह्मण के प्रथम वाक्य में एवकार इसलिये लगाया गया है कि शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अन्य शाखा में प्रदर्शित मन्त्र शेष का उच्चारण उचित नहीं है । पिता के अनन्तर आने वाले 'यत्' शब्द से निर्दिष्ट सभी पितृगणों का पिण्डदाता सहभावी है । इस तरह से जिनका वह सहभावी है, उनको पिण्ड देने से एक प्रकार से स्वयं अपने लिये ही पिण्डदान हो जाता है । इसलिये यद्यपि पितृत्व प्राप्ति का क्रम यह है कि पहले प्रपितामह, बाद में पितामह और अन्त में पिता, किन्तु उक्त पद्धति से यह पिण्ड एक तरह से स्वयं अपने लिये ही होता है, अतः उस पिण्डदान का क्रम भी अपने से आरम्भ कर पहले पिता, बाद में पितामह और अन्त में प्रपितामह को दिया जाता है । इसी को पिण्डदान का पराचीन, उलटा क्रम कहा जाता है, क्योंकि ये पितृगण एक के बाद एक पुरातन पड़ते जाते हैं ।

ये पितृगण कौन हैं ? इस प्रश्न का उत्तर मनुस्मृति में विस्तार से दिया गया है—"हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के पुत्र हैं और उनके

स्मृताः ॥' (म० ३।१८४)।' 'विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः। अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥' विराजः सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः। अग्नौ पक्वं चरुपुरोडाशादिकं स्वदन्ते ते अग्निष्वात्ताः, देवानामिन्द्रादीनां पितरः। ते च मरीचेर्जातित्वान्मारीचा इति विश्रुताः। 'देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्। सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥' (म० ३।१८६) दैत्यादीनां पितरो बर्हिषदो भवन्ति ते चात्रिपुत्राः। 'सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः। वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥' (३।१८७) विप्राणां सोमपा ज्योतिष्टोमदेवता इन्द्रादयः पितरः। क्षत्रियाणां हविर्भुजः चरुपुरोडाशादिदेवताः। वैश्यानां पितर आज्यपा आघाराज्यभागप्रयाजादिदेवताः। शूद्राणां सुकालिनः पितरः। कालयन्ति अपवर्जयन्ति कर्मेति सुकालिनः कर्मापवर्गहोमदेवताः। पूर्वश्लोकोक्तानामेव परिचयः— 'सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः। पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वशिष्ठस्य सुकालिनः ॥' (३।१८८)' 'अग्निदग्धाऽनग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा। अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥' (म० ३।१९९), 'ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः। देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥' (म० ३।१९१)

न पित्र्यं कर्म दैवात्कर्मणो न्यूनम्, अपि तु पित्र्यमेव प्रधानतमम्। यतो जन्मज्येष्ठाः पितरो देवानाम्। ऋषिभ्यः पितर उत्पन्नाः पितृभ्यो देवमानवाः। देवेभ्योऽन्यत्सर्वं जगदुत्पन्नमित्याद्यर्थकेभ्य उद्धृतस्मृतिवचनेभ्यः। 'अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्परिक्रमम्। अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ॥' (म० ३।२०४)। अग्नौ यत्कर्तव्यम् 'अग्नये स्वधा' इति। तदपसव्यं दक्षिणेन हस्तेन कर्तव्यम्, न सव्येन नोभाभ्याम्। 'देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते। दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं स्मृतम् ॥' (म० ३।२०३) इति पित्र्यकर्माङ्गत्वेन देवकार्यानुष्ठानं भवति। 'तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं नियोजयेत्। रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम् ॥' (३।१९४)। अतस्तेभ्यो रक्षार्थं ब्राह्मणनिमन्त्रणासनोप-

जो मरीचि आदि पुत्र हैं, उन सब ऋषियों के पुत्र (सोमपा आदि) पितृगण कहे गये हैं। विराट् के पुत्र सोमसद् साध्यों के पितर और लोक में विख्यात मरीचि के पुत्र अग्निष्वात्त देवताओं के पितर कहे गये हैं। अग्नि में पके हुए चरु, पुरोडाश आदि का स्वाद लेने वाले पितर 'अग्निष्वात्त' कहे जाते हैं। ये इन्द्र प्रभृति देवताओं के पितर हैं और मरीचि से उत्पन्न होने के कारण 'मारीच' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। देव, दानव, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, सुपर्ण और किन्नरों के पितर बर्हिषद् कहे गये हैं। ये अत्रि ऋषि की सन्तान हैं। ब्राह्मणों के सोमपा, क्षत्रियों के हविर्भुज, वैश्यों के आज्यपा और शूद्रों के सुकाली पितर होते हैं, इसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणों के ज्योतिष्टोम प्रभृति यज्ञों में सोमपान करने वाले इन्द्र प्रभृति देवता पितर कहे जाते हैं, क्षत्रियों के चरु, पुरोडाश प्रभृति हवि को ग्रहण करने वाले देवता पितर होते हैं, वैश्यों के आघार, आज्यभाग, प्रयाज प्रभृति अवान्तर यज्ञीय कर्मों के देवता पितर होते हैं और शूद्रों के सुकाली देवता पितर होते हैं, जो कि समय से यज्ञ आदि पवित्र कार्यों को पूरा करने में सहायक होते हैं। इनमें से सोमपा भृगु ऋषि की सन्तानें हैं, हविर्भुज अंगिरा के पुत्र, आज्यपा पुलस्त्य के पुत्र और सुकाली वसिष्ठ के पुत्र हैं। अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद, अग्निष्वात्त और सौम्य ये भी ब्राह्मणों के ही पितृगण हैं। मरीचि प्रभृति ऋषियों से पितर उत्पन्न हुए हैं, पितरों से देवता और मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। देवताओं से यह सारा चराचर जगत् क्रमशः उत्पन्न हुआ है।

देवताओं से पहले पितरों की उत्पत्ति हुई है, अतः पितरों से संबद्ध कर्म देवसम्बन्धी कृत्य से किसी भी तरह से निम्न कोटि के नहीं माने जाते, किन्तु पित्र्य कर्म ही प्रधान माने जाते हैं, क्योंकि पितृगण देवताओं की अपेक्षा जन्म की दृष्टि से ज्येष्ठ हैं। अभी जो मनुस्मृति का वचन उद्धृत किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि ऋषियों से पितर उत्पन्न हुए और पितरों से देवताओं की उत्पत्ति हुई। बाद में यह सारा स्थावर-जंगम जगत् देवताओं से उत्पन्न हुआ। इस पित्र्य कर्म के निमित्त अग्नि में स्वधा शब्द का उच्चारण कर आहुति देनी हो या पिण्डदान एवं जलदान करना हो, तो यजमान को इस कर्म का सम्पादन अपसव्य होकर दाहिने हाथ से करना चाहिये, बायें हाथ से अथवा दोनों हाथों से यह पित्र्य कार्य नहीं किया जाता। द्विजातियों के लिये देव-कार्य की अपेक्षा पित्र्य कार्य को अधिक महत्त्व का माना गया है, क्योंकि देवकार्य पहले होने से पित्र्य कार्य की पूर्णता मानी जाती है, अर्थात् द्विजाति के लिये

वेशनादिकं कुर्यात् । अत एव 'दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद् भवेत्' । लौकिकपित्रादीनामेव पितृत्वे 'तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि । अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ॥' (म० ३।२००) । इति तिलकुशादिप्रयोगो निरर्थक एव स्यात् । 'अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाप्यायनमादितः । हविर्दानेन विधिवत् पश्चात् सन्तर्पयेत् पितॄन् ॥' (म० ३।२११), 'अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् । यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥' (म० ३।२१२) लौकिकपितृसत्कारस्यैव श्राद्धत्वे सर्वमप्येतन्नोपपद्यते ।

किञ्च, 'त्रींस्तु तस्माद्धविःशेषात् पिण्डान् कृत्वा समाहितः । औदकेनैव विधिना निर्वपेद् दक्षिणामुखः ॥' (म० ३।२१५), 'न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् । तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम् ॥' (म० ३।२१६) इति दक्षिणाभिमुखेनापसव्येन कुशेषु पिण्डदानं किं लौकिकपितृभ्य उपयुज्यते ? किञ्च, ध्रियमाणे पितरि पूर्वेषामेव निर्वापं कुर्यादित्येतेन मृतानामेव श्राद्धं विज्ञायते । 'ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत् । विप्रवद्वापि तं श्राद्धं स्वकं पितरमाशयेत् ॥' (म० ३।२२०) ।

सुमन्तुः—'श्राद्धात्परतरं नान्यच्छ्रेयस्करमुदाहृतम् । तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्याद्विचक्षणः ॥' ब्रह्मवैवर्ते—'देवकार्यादपि सदा पितृकार्यं विशिष्यते । देवताभ्यः पितॄणां हि पूर्वमाप्यायनं शुभम् ॥' सर्वेषु दैवतकर्मसु कर्माङ्गनान्दीश्राद्धस्य पूर्वमनुष्ठानात् । यमः—'ये यजन्ति पितॄन् देवान् ब्राह्मणांश्च हुताशनान् । सर्वभूतान्तरात्मानं विष्णुमेव यजन्ति ते ॥'

पित्र्य कार्य के अंग के रूप में ही देव कार्य के सम्पादन का विधान है । इसलिये द्विजाति को चाहिये कि वे पहले पित्र्य कार्य की रक्षा के लिये अंगभूत देव कार्य का सम्पादन करे । ऐसा न करने पर रक्षाविहीन श्राद्ध का राक्षस लोप कर देते हैं । इस पित्र्य कार्य की रक्षा के लिये ब्राह्मणों को निमन्त्रित करना और उनको आसन पर बैठाना आदि कार्यों को भी करना पड़ता है । इसीलिये श्राद्ध के आदि में आवाहन और अन्त में विसर्जन देव कार्य के रूप में ही किया जाता है । इन सब स्थलों में लौकिक पिता, पितामह प्रभृति को ही यदि पितर माना जाता है, तो उस अवस्था में मनुस्मृति में प्रतिपादित वह सारा क्रियाकाण्ड व्यर्थ हो जायगा, जिसमें कि बताया गया है कि श्राद्ध करने वाला ब्राह्मण उन निमन्त्रित ब्राह्मणों के लिये जल में पवित्रियों सहित तिलों को मिलाकर ब्राह्मणों की आज्ञा से अग्नि में हवन करे । पहले अग्नि, सोम और यम को विधिपूर्वक तृप्त करके, अर्थात् उनको हवि देकर पीछे अन्न आदि के दान से पितरों को तृप्त करे । अग्नि न हो तो ब्राह्मणों के हाथ में आहुति दे, क्योंकि जो अग्नि है, वही ब्राह्मण है, ऐसा वेदज्ञाता ब्राह्मणों ने कहा है । यदि लौकिक पिता, पितामह प्रभृति का सत्कार करना ही श्राद्ध माना जाता है, तो फिर इस तरह के क्रियाकाण्ड की क्या उपयोगिता हो सकती है ?

अपि च, 'उस अग्निहोम से बची हवि के तीन पिण्ड बना कर दक्षिण की ओर मुँह करके सावधानी से जल देने की विधि से कुशाओं के ऊपर वह तीन पिण्ड दे । फिर सावधान होकर अपनी शाखा के गृह्यसूत्र में बताई गई विधि से उन कुशाओं के ऊपर उन पिण्डों को विधिपूर्वक रख कर उन्हीं कुशाओं की जड़ पर लेप कर भोक्ताओं के लिये अपने हाथों का मार्जन करे' इस प्रकार मनुस्मृति में बताई विधि से दक्षिण दिशा की ओर मुंह करके यज्ञोपवीत को अपसव्य कर कुशाओं के ऊपर पिण्डदान करने की तब क्या आवश्यकता रह जायगी, जब कि जीवित पिता, पितामह आदि का ही सत्कार करना श्राद्ध कहा जायगा । मनुस्मृति में ही बताया गया है कि पिता यदि जीवित हो तो पूर्व अर्थात् पितामह, प्रपितामह आदि का ही श्राद्ध करे अथवा श्राद्ध में अपने पिता को भी ब्राह्मणों के समान भोजन करावे । इससे स्पष्ट होता है कि पिता के जीवित रहने पर उसका श्राद्ध नहीं किया जाता, अर्थात् श्राद्ध जीवित व्यक्ति का न होकर मृत व्यक्ति का ही किया जाता है ।

सुमन्तु का वचन मिलता है कि इस लोक में श्राद्ध से बढ़ कर कोई श्रेयस्कर (कल्याणकारक) कार्य नहीं है, अतः समझदार आदमी को चाहिये कि वह श्राद्ध करने से कभी न चूके । ब्रह्मवैवर्त पुराण में बताया गया है कि देव कार्य से भी अधिक महत्त्व का पित्र्य कार्य है । देव कार्य से पित्र्य कार्य की सांगोपांगता सिद्ध होती है । इसीलिये सभी देवकार्यों में कर्मांग नान्दी श्राद्ध का सर्वप्रथम अनुष्ठान होता है । यम स्मृति में कहा गया है कि जो व्यक्ति पितरों की, देवताओं की, ब्राह्मणों की और अग्नियों की पूजा करते हैं,

ब्रह्मपुराणे—'यो वा विधानतः श्राद्धं कुर्यात् स्वविभवोचितम्। आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत्प्रीणाति मानवः ॥' नागरखण्डे—'श्राद्धे तु क्रियमाणे वै न किञ्चिद् व्यर्थतां व्रजेत्। उच्छिष्टमपि राजेन्द्र तस्माच्छ्राद्धं समाचरेत् ॥' ब्रह्मपुराणे—'तस्माच्छ्राद्धं नरो भक्त्या शाकैरपि यथाविधि। कुर्वीत श्रद्धया तस्य कुले कश्चिन्न सीदति ॥'

श्राद्धस्वरूपं चाह आपस्तम्बः—'अथैतन्मनुः श्राद्धशब्दं कर्म प्रोवाच, प्रजानिःश्रेयसार्थम्। तत्र पितरो देवताः, ब्राह्मणस्त्वाहवनीयार्थे। मासि मासि कार्यम्। अपर पक्षस्यापराह्णः श्रेयान्' इति। श्राद्धशब्दं श्राद्धमिति शब्दो वाचको यस्य तत्तथा। त्यक्तद्रव्यप्रतिपत्त्यधिकरणत्वेनाहवनीयकार्यार्थित्वं ब्राह्मणस्य। अपरपक्षस्य कृष्णपक्षस्य। बृहस्पतिः—'संस्कृतं व्यञ्जनाद्यं च पयोमधुघृतान्वितम्। श्रद्धया दीयते यस्मात् श्राद्धं तेन निगद्यते ॥' ब्रह्मपुराणे—'देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत्। पितॄनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दत्तं श्राद्धमुदाहृतम् ॥' मरीचिः—'प्रेतान् पितॄनप्युद्दिश्य भोज्यं यत्प्रियमात्मनः। श्रद्धया दीयते यत्तु तच्छ्राद्धं परिकीर्तितम् ॥' प्रेतान् अकृतसपिण्डनान् पितॄन् कृतसपिण्डनान्। उपर्युक्तैर्वचनैः प्रतीयते यत् प्रमीतमात्रोद्देश्यकान्नत्यागविशेषो ब्राह्मणाद्यधिकरणकप्रतिपत्त्यङ्गकः श्राद्धपदार्थः।

नृसिंहपुराणे—'दिव्यपितृभ्यो देवेभ्यः स्वपितृभ्यस्तथैव च। दत्त्वा श्राद्धमृषिभ्यश्च मनुष्येभ्यस्तथात्मनः ॥ अग्नौ हुतेन देवस्थाः पितृस्था द्विजतर्पणैः। नरकस्थाश्च तृप्यन्ति पिण्डैर्दत्तैस्त्रिभिर्भुवि ॥'' 'प्रमीतस्य पितुः पुत्रैः श्राद्धं

वे सभी प्राणियों की अन्तरात्मा में विद्यमान भगवान् विष्णु की ही आराधना करते हैं। ब्रह्मपुराण में बताया गया है कि जो व्यक्ति विधिपूर्वक अपनी आर्थिक स्थिति के अनुरूप श्राद्ध करता है, वह ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त सभी प्राणियों को तृप्त कर देता है। स्कन्दपुराण के नागरखण्ड में भी बताया गया है कि श्राद्ध करते समय उसमें प्रयुक्त किसी भी वस्तु का कोई भी अंश, भले ही वह उच्छिष्ट क्यों न हो गया हो, कभी व्यर्थ नहीं जाता। इसलिये हे राजन्, श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। ब्रह्मपुराण में बताया गया है कि साधनसम्पन्नता न रहने पर व्यक्ति श्रद्धापूर्वक शाक-भाजी से भी सविधि अपने पितरों का श्राद्ध करे। ऐसा करने से उसके परिवार में कोई दुःखी नहीं रहता।

श्राद्ध का स्वरूप आचार्य आपस्तम्ब ने इस प्रकार बताया है—'भगवान् मनु ने श्राद्ध शब्द को एक कर्मविशेष का वाचक माना है। इस कर्म के करने से प्रजा का कल्याण होता है। इस कर्म के देवता पितर हैं। इसमें ब्राह्मण आहवनीय अग्नि का कार्य करते हैं, जैसे देवताओं तक हवि को पहुँचाने के लिये उसको अग्नि में अर्पित किया गया है, उसी प्रकार पितरों को कव्य पहुँचाने के लिये उसको ब्राह्मणों को समर्पित किया जाता है, अर्थात् श्राद्ध में ब्राह्मणभोजन कराया जाता है। यह श्राद्ध प्रत्येक मास में करना चाहिये। कृष्ण पक्ष और अपराह्ण काल इस कार्य के लिये उत्तम माना जाता है। इस प्रसंग में बृहस्पति ने भी बताया है कि दूध, घी, शहद आदि के साथ नाना प्रकार के पक्वान्न, व्यंजन आदि बनाकर श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणभोजन कराना ही श्राद्ध नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्मपुराण में बताया गया है कि उचित देश, काल और पात्र के मिलने पर श्रद्धापूर्वक विधिविधान से पितरों के निमित्त ब्राह्मणभोजन कराना ही श्राद्ध कहलाता है। मरीचि ने बताया है कि प्रेत, अर्थात् जिनका सपिण्डीकरण श्राद्ध अभी नहीं हुआ है, उनको और पितरों को, जिनका कि सपिण्डीकरण श्राद्ध हो चुका है, निमित्त बनाकर अपने को प्रिय लगने वाला भोजन श्रद्धापूर्वक दिया जाता है, उसी को श्राद्ध कहते हैं। इन सब प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि केवल मृत व्यक्ति को निमित्त बनाकर ब्राह्मणों को भोजन कराना ही श्राद्ध पद का अर्थ है। इसका जीवित पिता, पितामह प्रभृति को आदरपूर्वक भोजन कराने से किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है।

नृसिंहपुराण में भी बताया गया है कि दिव्य पितरों का, देवताओं का, अपने पितरों का, ऋषियों का और मनुष्यों का हव्य-कव्य आदि के द्वारा श्राद्ध करना चाहिये। अग्नि में हवन करने से देवताओं को और ब्राह्मणों को भोजन कराने से पितरों को हव्य-कव्य प्राप्त होता है। नरक में स्थित पितरों का उद्धार पृथ्वी पर तीन पिण्डों का दान करने से होता है। अन्यत्र भी बताया गया है कि अपने मृत पिता का श्राद्ध पुत्रों को प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये। इनके साथ श्राद्धकर्ता का क्या सम्बन्ध है, उनका नाम और गोत्र क्या है,

देयं प्रयत्नतः ॥', 'सम्बन्धनामगोत्राणि यथावत् परिकीर्तयेत्', 'नामगोत्रं पितॄणां हि प्रापकं हव्यकव्ययोः', 'अपुत्रा ये मृताः केचित् स्त्रियो वा पुरुषाश्च ये । तेषामपि च देयं स्यादेकोद्दिष्टं न पार्वणम् ॥' इति ।

ननु न जनकादीनां श्राद्धे देवतात्वम्, किन्तु वसुरुद्रादित्यादीनां पित्रादिपदोपनीतानाम्, यथाह मनुः–'वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् । प्रपितामहांस्तथादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ॥' (३।२८४) तथा च याज्ञवल्क्यः—'वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः । प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेन तर्पिताः ॥' इति । तथा च महाभारते शान्तिपर्वणि नारायणीये—'पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः । अहमेवात्र विज्ञेयस्त्रिषु पिण्डेषु संस्थितः ॥' (३४५।२१) इति चेत्, अत्रावधीयताम्—'यजमानस्य पित्रे' इत्याद्युदाहृतश्रुतेः 'एतत्तेऽसौ ये च त्वामत्रान्विति तस्मै तस्मै य एषां प्रेताः स्युः' इत्यादिकल्पसूत्रैश्च मृतानां जनकादीनां देवतात्वावगमात् । तथा च—'वसून् वदन्ति' (३।२८४) इति मनुश्लोके कुल्लूकभट्टः–'यस्मात् पित्रादयो वस्वादय इत्येषाऽनादिभूता श्रुतिरस्ति, अतः पितॄन् वस्वाख्यदेवान् पितामहान् रुद्रान् प्रपितामहानादित्यान् मन्वादयो वदन्ति । ततश्च सिद्धबोधनवैयर्थ्यात् पित्रादयो वस्वादिरूपेण ध्येया इति विधिः कल्प्यते । अत एव पैठीनसिः—'य एवं विद्वान् पितॄन् यजते वसवो रुद्रा आदित्याश्च प्रीता भवन्ति' इति । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु—'पितृद्वेषान्नास्तिक्याद्वा यः पितृकर्मणि न प्रवर्तते तं प्रत्येतत्प्रवर्तनार्थं देवतात्वाध्यारोपेण पितॄणां स्तुतिवचनम्' इत्यूचतुः । याज्ञवल्क्यवचने च मिताक्षरा—'नह्यत्र देवदत्तादय एव श्राद्धकर्मणि सम्प्रदानभूताः पित्रादिशब्दैरुच्यन्ते, किन्त्वधिष्ठातृवस्वादिदेवतासहिता एव । यथा देवदत्तादिशब्दैर्न शरीरमात्रं नाप्यात्ममात्रम्, किन्तु शरीरविशिष्टा आत्मान उच्यन्ते,

पिण्डदान आदि करते समय इनका विधिवत् उच्चारण होना चाहिये । पितरों के नाम-गोत्र का उच्चारण करने पर ही उनको हव्य-कव्य आदि की प्राप्ति होती है । बिना पुत्र के जो मर गये हैं, वे स्त्री हों या पुरुष, एकोद्दिष्ट श्राद्ध के अधिकारी हैं, उनका पार्वण श्राद्ध नहीं होता ।

यहाँ शंका उठायी जा सकती है कि श्राद्ध में पिता प्रभृति को देवता नहीं माना जाता, किन्तु पिता, पितामह प्रभृति पद से वहाँ पर वसु, रुद्र, आदित्य प्रभृति देवताओं का ग्रहण किया जाता है । जैसा कि मनुस्मृति में बताया गया है—'वसुगण पितर, रुद्रगण पितामह और आदित्यगण प्रपितामह कहे जाते हैं, यह बात सनातन काल से चली आ रही है । याज्ञवल्क्य स्मृति में भी बताया गया है कि वसु, रुद्र और आदित्य इन तीन वर्गों में बँटे हुए पितृगण ही श्राद्ध के देवता हैं । श्राद्ध में इनके तृप्त होने पर ये श्राद्ध करने वालों के पितरों को भी तृप्त कर देते हैं । महाभारत के शान्तिपर्व में आये नारायणीय उपाख्यान में वर्णित है कि पिता, पितामह और प्रपितामह इन तीनों के निमित्त दिये जाने वाले पिण्ड में मैं ही विद्यमान रहता हूँ, अर्थात् अन्तर्यामी वासुदेव के निमित्त ही यह सब कुछ समर्पित होता है । किन्तु इस पूरी शंका का समाधान यह है कि पूर्व उदाहृत 'यजमानस्य पित्रे' प्रभृति श्रुतियों तथा 'एतत्ते' प्रभृति कल्पसूत्रों में मृत पिता, पितामह प्रभृति को देवतास्वरूप माना गया है । इस बात को 'वसून् वदन्ति' इत्यादि मनुश्लोक की व्याख्या में कुल्लूक भट्ट ने इस तरह से स्पष्ट किया है कि पिता प्रभृति वसु प्रभृति देवताओं के स्वरूप हैं, यह श्रुति अनादि काल से चली आ रही है, इसलिये पितर वसु देवताओं के, पितामह रुद्र देवता और प्रपितामह आदित्य देवताओं के रूप में मनु प्रभृति के द्वारा स्वीकृत हैं । सिद्ध वस्तु का ज्ञान कराना वैदिक विधि का कार्य नहीं है, किन्तु यहाँ इस विधि की कल्पना की जाती है कि पिता प्रभृति का वसु प्रभृति देवताओं के रूप में ध्यान करना चाहिये । इसीलिये पैठीनसि का यह वचन मिलता है कि इस प्रकार जो विद्वान् पुरुष पितरों का श्राद्ध करता है, उससे वसु, रुद्र और आदित्य नाम के देवगण प्रसन्न होते हैं । मेधातिथि और गोविन्दराज ने तो इस प्रकरण की व्याख्या इस तरह से की है कि पितरों के द्वेष के कारण अथवा नास्तिकतावश जो मनुष्य पितरों के निमित्त किये जाने वाले श्राद्ध कर्म में प्रवृत्त नहीं होता, उसको इस कार्य में प्रवृत्त कराने के लिये पितरों पर देवतात्व का आरोप कर उनकी स्तुति करने में प्रस्तुत वाक्य का अभिप्राय है । याज्ञवल्क्य स्मृति के वचन की मिताक्षराकार ने इस प्रकार व्याख्या की है—'श्राद्ध कर्म में पिता, पितामह प्रभृति शब्दों से केवल देवदत्त प्रभृति ही कव्य के भागी नहीं होते, किन्तु इनके अधिष्ठातृ देवता वसु प्रभृति देवताओं के साथ ही वे इसके ग्रहण के अधिकारी होते हैं । जैसे देवदत्त प्रभृति शब्द शरीरमात्र या आत्ममात्र का वाचक न होकर शरीर विशिष्ट आत्मा का वाचक होता है, उसी तरह से अधिष्ठातृ देवता ही देवदत्त

एवमधिष्ठातृदेवतासहिता एव देवदत्तादयः पित्रादिशब्दैरुच्यन्ते। अतश्चाधिष्ठातृदेवता वस्वादयः पुत्रादिभिर्दत्तेनान्नपानादिना तृप्ताः सन्तस्तानपि देवदत्तादींस्तर्पयन्ति कर्तृंश्च पुत्रादीन् फलेन संयोजयन्ति' इत्यादि।

'गोत्रनामभिरामन्त्र्य पितॄनर्घ्यं प्रदापयेत्', 'ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत्॥' इति छन्दोगपरिशिष्ट-मनु-विष्णु-स्मृतिषु पितॄणां नामगोत्रादिभिरामन्त्रणादिविधानाद् वसुरुद्रादीनां च तदभावाज्जनकादीनामेव देवतात्वम्' इति हेमाद्रिरीत्या पितॄणां द्वेधोत्पत्तिः पुराणेषूक्ता—साक्षाद् ब्रह्मणः सकाशादेका, ब्रह्मोत्पन्नर्ष्यादिक्रमेण चापरा। तत्र प्रथमप्रकारो विष्णुपुराणे—'सत्त्वमात्रात्मिकामेव ततोऽन्यां जगृहे तनुम्। पितृवन्मन्यमानस्य पितरस्तस्य जज्ञिरे॥ उत्ससर्ज पितॄन् दृष्ट्वा ततस्तामपि स प्रभुः।' वराहपुराणे च—'तस्यात्मनि तदा योगं गतस्य परमेष्ठिनः। तन्मात्रा निर्ययुर्देहाद् धूम्रवर्णकृतत्विषः॥ पिबाम इति भाषन्तः खादाम इति चासकृत्। ऊर्ध्वं जिगमिषन्तो वै वियत्संस्थास्तपस्विनः॥ तान् दृष्ट्वा सहसोवाच ब्रह्मा विश्वपितामहः। भवन्तः पितरः सन्तु सर्वेषां गृहमेधिनाम्॥' वायुपुराणे तु—'ऋतमग्निस्तु यः प्रोक्तः स तु संवत्सरो मतः। जज्ञिरे ऋतवस्तस्माद् ऋतुभ्यश्चार्तवास्तथा॥ ऋतुः पितामहा मासा आर्तवाश्चास्य सूनवः। प्रपितामहाश्च वै देवाः पञ्चाब्दा ब्रह्मणः स्मृताः॥' अत्र संवत्सराभिमानिनीषु देवतासु लाक्षणिकाः। संवत्सरः प्रजापतिरग्निर्ऋतमुच्यते, तस्मादृतवः, तेभ्यः सर्वं जगत्, ऋषिभ्यः पितरो भवन्तीत्युक्तमेव।

ब्रह्मवैवर्तब्रह्माण्डपुराणयोस्तु या ब्रह्मशरीरात् पितॄणामुत्पत्तिरुक्ता सा मरीच्यादीनां पितृत्वमपेक्ष्य। या तु ब्रह्मशरीराव्यवधानेन, सा मरीच्यादिपुत्राणां पितृत्वमपेक्ष्य। विष्णुधर्मोत्तरे—'पितॄणां हि गणाः सप्त नामतस्तु निबोध मे।

प्रभृति पिता प्रभृति शब्दों से गृहीत होते हैं। अतः इस प्रकरण का अभिप्राय यह है कि वसुगण प्रभृति अधिष्ठातृ देवता पुत्रादि के द्वारा दिये गये अन्न से तृप्त होकर उनके पिता देवदत्त प्रभृति को भी तृप्त करते हैं और श्राद्धकर्ता पुत्र प्रभृति को भी इस पुण्य कर्म के फल को प्रदान करते हैं।

गोत्र और नाम से पुकार कर पितरों को अर्घ्य देना चाहिये। पिता के जीवित रहने पर पितामह प्रभृति को ही हव्य प्रदान करना चाहिये। इस अभिप्राय के छन्दोगपरिशिष्ट, एवं मनु, विष्णु प्रभृति स्मृतियों के वचनों में पितरों को नाम और गोत्र से बुलाने का विधान है। वसु प्रभृति देवताओं का इस प्रकार का नाम या गोत्र होता नहीं, अतः इस प्रकरण में पिता प्रभृति को ही देवता के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस विषय पर पूरी तरह से विचार-विमर्श करके हेमाद्रि प्रभृति निबन्धकारों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पुराणों में पितरों की दो तरह की उत्पत्ति वर्णित है—साक्षात् ब्रह्मा से उत्पन्न हुए पितृगण प्रथम कोटि में आते हैं और ब्रह्मा से उत्पन्न ऋषि प्रभृति के क्रम से दूसरी कोटि बनती है। इनमें से प्रथम कोटि के पितरों का वर्णन विष्णुपुराण में इस प्रकार किया गया है—'इसके बाद ब्रह्मा ने आंशिक सत्त्वगुणमय अन्य शरीर ग्रहण किया और अपने को पितृवत् मानते हुए पितृगण की रचना की। पितृगण की रचना कर उन्होंने उस शरीर को भी छोड़ दिया'। वराहपुराण में भी बताया गया है कि वह परमेष्ठी ब्रह्मा जब आत्मयोग में लीन थे तो उनके शरीर से धूम वर्ण की कान्तिवाली तन्मात्राएँ निकलीं। इन्होंने उन तपस्वियों का आकार ग्रहण कर लिया, जो कि ऊपर जाकर आकाश में यह कहते हुए विचरण करने लगे कि हम क्या खायें तथा क्या पियें? इन तपस्वियों को एकाएक देखकर सारे ब्रह्माण्ड के पितामह ब्रह्मा ने उनसे कहा कि आप लोग सभी गृहस्थों के पितर होइये। वायुपुराण में बताया गया है कि ऋत यह अग्नि का नाम है। इसी को संवत्सर कहते हैं। इस ऋत अग्नि से ऋतु पैदा होती है और ऋतु से आर्तव नामक पितर पैदा होते हैं। ऋतु पितामह और मास का प्रतिनिधि है। आर्तव इनके पुत्र हैं। इन्हीं को प्रपितामह कहा जाता है। ये पाँच वर्ष के देवता ब्रह्मा से ही उत्पन्न होते हैं। इस वायुपुराण के वचन में संवत्सर प्रभृति शब्द इनके अभिमानी देवताओं के बोधक माने जाते हैं। संवत्सर प्रजापति अग्नि या ऋत कहलाता है। ऋत से ऋतु और ऋतु से सारे जगत् की सृष्टि होती है। ऋषियों से पितरों की उत्पत्ति होती है, इस बात को तो पहले ही बताया जा चुका है।

ब्रह्मवैवर्त और ब्रह्माण्डपुराण में ब्रह्मा के शरीर से जो पितरों की उत्पत्ति बताई गई है, वह मरीचि प्रभृति ऋषियों को पितर मान कर है और जो ब्रह्मा के शरीर के अव्यवधान से पितरों की स्थिति स्वीकार की गई है, वह मरीचि प्रभृति के पुत्रों से संबद्ध है।

सुभास्वरा बर्हिषदः अग्निष्वात्तास्तथैव च । क्रव्यादाश्चोपहूताश्च आज्यपाश्च सुकालिनः ॥ मूर्तिहीनास्त्रयश्चैषां चत्वारश्च समूर्तयः ॥' इति । सुभास्वराः, बर्हिषदः, अग्निष्वात्ता एते त्रयो मूर्तिविहीनाः, शेषा मूर्तिमन्तः । अत एव पितृकन्या सूक्ष्मान् पितॄनपश्यत् । तदुक्तं ब्रह्माण्डादिपुराणेषु—'सा तेन व्यभिचारेण मनसा कामरूपिणो । पितरं प्रार्थयित्वान्यं योगभ्रष्टा पपात च ॥ त्रीण्यपश्यद्विमानानि पतन्ती सा दिवश्च्युता । त्रसरेणुप्रमाणानि तेष्वपश्यच्च तान् पितॄन् ॥ सुसूक्ष्मानपरित्यक्ता-नग्नीनग्निष्विवाहितान् ॥' इति । वायुपुराणे—'देवानां पितरो देवाः पितरा लौकिकास्तथा । देवाः सौम्याश्च यज्वानो ह्ययज्वानोऽथ योनिजाः ॥ देवास्ते पितरः सर्वे देवांस्तान् भावयन्त्युत' । 'ऋतुरूपाः पितरः' इति हेमाद्रिसमुद्धृतेन शतपथ-वचनेन ज्ञायते । 'महाहविषा ह वै वृत्रं जघ्नुः ······यानेवैषां तस्मिन् संग्रामेऽघ्नंस्तान् पितृयज्ञेन समैरयन्त । पितरो वै त आसन् । तस्मात् पितृयज्ञो नाम तद्वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा एते ते ये व्यजयन्त शरद्धेमन्तः शिशिरस्त उ ते यान् पुनः समैरयन्त तद्ये सोमेनेजानास्ते पितरः सोमवन्तोऽथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो बर्हिषदः, ये ततो नान्यतरच्च न यानग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः । एत उ ते पितरः ।' (हेमादिपरिशिष्टखण्डे, अ० १) । ब्रह्मपुराणे पितृ-सृष्टिमुक्त्वोक्तम्—'तान् दृष्ट्वा प्राह स ब्रह्मा तिर्यक्संस्थान् अधोमुखान् । भवन्तः पितरः सन्तु सर्वेषां गृहमेधिनाम् ॥ ऊर्ध्ववक्त्रास्तु ये तत्र ते नान्दीमुखसंज्ञिताः ॥' इति ।

नन्दिपुराणे—'निर्मिताः पितरो नाम पञ्च वै देवयोनयः । ब्रह्मणा तपसा वत्स अर्थज्ञाः शुद्धमूर्तयः ॥ अग्नि-ष्वात्ता बर्हिषदः काव्याश्चापि सुकालिनः । याम्याश्च योनयो ह्येते पञ्चोक्ताः पितृयाजिनाम् ॥' नागरखण्डे—'अग्निष्वात्ता बर्हिषद आज्यपाः सोमपाः स्मृताः । रश्मिपा उपहूताश्च तथैवायन्तु नः परे ॥ तथा स्वादुषदश्चान्ये स्मृता नान्दीमुखा नृप ।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में पितरों के सात गणों का उल्लेख है और उनके नाम इस प्रकार बताये गये हैं—सुभास्वर, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त, क्रव्याद, उपहूत, आज्यपा और सुकाली । इनमें से तीन मूर्तिहीन और चार मूर्तिमान् पितर माने जाते हैं। सुभास्वर, बर्हिषद और अग्नि-ष्वात्त ये तीन पितर मूर्तिहीन हैं और शेष चार मूर्तिमान् हैं। इसीलिये पितृकन्या के द्वारा देखे गये सूक्ष्म पितरों का वर्णन ब्रह्माण्ड प्रभृति पुराणों मे मिलता है—यह पितृकन्या इस व्यभिचार के कारण योगभ्रष्ट होकर गिर पड़ी, यद्यपि उसमें मन की कल्पना के अनुसार रूप बदल लेने की सामर्थ्य थी । ऐसा होते समय उसने अन्य पितरों से प्रार्थना की तो आकाश से गिरते समय त्रसरेणु (अत्यन्त सूक्ष्म) प्रमाण के तीन विमानों को देखा और उनमें बैठे हुए पितरों को भी देखा, जो कि अत्यन्त सूक्ष्म आकार वाले थे और अग्नि के समान प्रकाश-मान् थे, मानों अग्नि में ही इनका निवास हो । वायुपुराण में कहा गया है कि देवताओं के पितृगण, लौकिक पितृगण, सौम्य देव, याजक, अयाजक और अयोनिज देवगण ये सब प्रकार के पितृगण देवता ही हैं । इनकी सदा देवता के रूप में ही भावना करे । 'ऋतुरूपा पितरः' इस वचन की व्याख्या के प्रसंग में हेमाद्रि में शतपथ ब्राह्मण का एक वचन उद्धृत है, जिसका कि अभिप्राय यह है—बड़े बड़े यज्ञों को करने के कारण शक्ति सम्पन्न देवताओं ने वृत्रासुर का वध कर दिया । इस युद्ध में उन्होंने जिन असुरों का नाश किया, उनको पितृयज्ञ करके सन्तुष्ट किया, क्योंकि उन्होंने पितृलोक को प्राप्त किया था । यह पितृयज्ञ वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में व्यक्त होता है और शरद्, हेमन्त और शिशिर में उन पितरों को संप्रेरित करता है । इनमें से सोमरस से जिनकी तृप्ति होती है, वे पितर सोमवान्, पके हुए अन्न से जिनकी तृप्ति होती है, वे बर्हिषद् और जो प्रत्यक्षतः इन दोनों को ग्रहण नहीं करते, किन्तु जिनके निमित्त अग्नि ही इन पदार्थों को ग्रहण करती है, वे अग्निष्वात्त पितर कहलाते हैं । ब्रह्मपुराण में पितरों की सृष्टि का वर्णन करने के बाद बताया गया है कि उन तिरछे लटके हुए, नीचे मुँहवाले प्राणियों को देखकर ब्रह्मा ने कहा कि आप लोग सारे गृहस्थों के पितर बनिये । इनमें से जिनका मुँह ऊपर की तरफ हैं, वे नान्दीमुख नामके पितर कहलाते हैं ।

नन्दिपुराण में बताया गया है कि हे वत्स, ब्रह्मा ने तपस्या करके पांच प्रकार की देवयोनियों को पितरों के नाम से निर्मित किया । ये पितर सभी विषयों के जानकार तथा पवित्र मूर्ति वाले हैं । इनके नाम अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, काव्य, सुकाली और याम्य हे । पितृयज्ञ करने वाले इन्हीं पांच में से किसी योनि को प्राप्त करते हैं । स्कन्दपुराण के नागरखण्ड में बताया गया है कि हे नृप, अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, आज्यपा, सोमपा, रश्मिपा, उपहूत, स्वादुपद् और नान्दीमुख ये सब विभिन्न प्रकार के पितृगण हैं । इन सबको

एते पितृगणा ख्यातास्ते च देवसमुद्भवाः ॥ आदित्या वसवो रुद्रा नासत्यावश्विनावपि । सन्तर्पयन्ति तो चैतान् मुक्त्वा नान्दीमुखान् पितॄन् ।' हारीतस्मृतौ—'अतः परं प्रवक्ष्यामि मासश्राद्धभुजश्च ये । सोमो यमोऽङ्गिराश्चैव सोमपाः पितरस्तथा । बर्हिषदोऽग्निष्वात्ताश्च हुतादः षड्विधो गणः ॥ चन्द्रमा ऋतवश्चैव मृतं योऽग्निर्दहत्यपि । सोमोपहूताः प्राक्सोमा अनीजानाश्च ब्राह्मणाः ॥' वायुपुराणे—'देवानां पितरो देवाः पितरो लौकिकास्तथा । देवाः सौम्याश्च यज्वानो···· ह्ययोनिजाः । देवांस्ते पितरः सर्वे देवास्तान् भावयन्त्युत ॥ मनुष्याः पितरश्चैव तेभ्योऽन्ये लौकिकाः स्मृताः । पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ॥ यज्वानो ये तु सोमेन सोमवन्तस्तु ते स्मृताः । ये यज्वानः स्मृतास्तेषां ते वै बर्हिषदः स्मृताः । कर्मस्वेतेषु युक्ता ये भवन्त्यादेहसम्प्लवात् ॥ अग्निष्वात्ताः स्मृतास्तेषां होमिनोऽयाज्ययाजिनः ।' इति ।

दुष्कर्मभिरधोगतिं प्राप्ता मनुष्याः पितरोऽभिधीयन्ते । 'तेभ्योऽपरे तु येऽप्यन्ये सङ्कीर्णाः कर्मयोनिषु । भ्रष्टाश्चाश्रमधर्मेभ्यः स्वधास्वाहाविवर्जिताः । भिन्नदेहा दुरात्मानः प्रेतभूता यमक्षये । स्वकर्माण्येव शोचन्ति यातनास्थानभागिनः । दीर्घायुषोऽति शुष्काश्च श्मश्रुलाश्च विवाससः । क्षुत्पिपासापरीताश्च विद्रवन्ति ततस्ततः । परान्नानि च लिप्सन्ते काममानास्ततस्ततः । स्थानेषु पच्यमानाश्च यातनानिरयेषु च । शाल्मली वैतरण्यां च कुम्भीपाकेषु तेषु च । करम्भवालुकायां च असिपत्रवनेषु च । शिलासम्पेषणे चैव पात्यमानाः स्वकर्मभिः । अप्राप्ता यातनास्थानं श्रेष्ठा ये भुवि पञ्चधा । पश्चात्तु ये स्थावरान्ते भूतानां केषु कर्मसु । नानारूपास्तु याता ये तिर्यग्योन्यादियोनिषु । बाह्लीकाश्चोष्मपाश्चैव दिवाकीर्त्याश्च ते स्मृताः । कृष्णपक्षस्त्वहस्तेषां शुक्लः स्वापाय शर्वरी ।' इति ।

उत्पत्ति देवताओं से होती है। आदित्य, वसु, रुद्र, नासत्य अश्विनोकुमार ये सब देवगण नान्दीमुख नाम के पितरों को छोड़कर इन सबको सन्तुष्ट करते हैं। हारीत स्मृति में बताया गया है कि इसके आगे मासिक श्राद्ध में भोजन करने वाले पितरों के नाम गिनाये जा रहे हैं—सोम, यम, अंगिरा, सोमपा, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त, हुताद नाम का षड्विध गण, चन्द्रमा, ऋतु, मृत व्यक्ति का दाहक अग्नि, सोमोपहूत, प्राक्सोम और अनीजान ब्राह्मण। वायुपुराण में बताया गया है कि पितरों की दो कोटियाँ हैं—एक देवताओं के पितर और दूसरे लौकिक पिता, अर्थात् मनुष्यों के पितर। सौम्य, यज्वा (विधिपूर्वक यज्ञ करने वाले) और अयोनिज इन तीनों प्रकार के पितरों की देवगण विधिपूर्वक सेवा करते हैं। लौकिक पितर इनसे भिन्न होते हैं, जो कि मनुष्य योनि से आते हैं। ये पिता, पितामह, प्रपितामह प्रभृति नामों से अभिहित होते हैं। सोमरस की आहुति ग्रहण करने वाले पितर सोमवान् और कुशा पर कव्य ग्रहण करने वाले बर्हिषद् कहलाते हैं। देह का त्याग करते समय तक जो यज्ञ-याग आदि शुभ कर्मों के संपादन में लगे रहते हैं, वे पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं। इनके निमित्त हवन करने वाले व्यक्ति यज्ञ करने के लिये अयोग्य व्यक्ति माने जाते हैं।

अपने बुरे कर्मों के कारण जिनको अधोगति प्राप्त हुई है, वे भी पितर कहे जाते हैं। जैसा कि निम्न श्लोकों में बताया गया है—इनसे भिन्न भी पितरों के अनेक भेद हैं, जो कि नाना प्रकार की कर्मयोनियों में भी जन्म लेते रहते हैं, आश्रम धर्मों से भ्रष्ट हो गये हैं, स्वधाकार और स्वाहाकार से जो वर्जित हैं, अर्थात् जिन्होंने देवकार्य और पितृकार्य करना बन्द कर दिया है, दुरात्मा हैं, आत्मघात करने वाले हैं, मृत्यु के उपरान्त जो प्रेत बन गये हैं, यातनास्थान अर्थात् विभिन्न दुःखदायी नरकों में पड़कर जो अपने बुरे कर्मों के लिये पछताते रहते हैं, जहाँ वे लम्बी आयु पाते हैं, सूखकर कांटा हो जाते हैं, डाढी-मूछ के बाल बढ़े रहते हैं और पहनने के लिये वस्त्र भी नहीं मिलता, भूख और प्यास से पीड़ित होकर मारे मारे फिरते रहते हैं, जो सदा दूसरे के अन्न पर पलते रहते हैं और सदा दूसरे से कुछ न कुछ पाने की आस लगाये रहते हैं, ये सब दुःखदायी नरकों में पड़कर सदा अपने दुष्कर्मों का फल भोगते रहते हैं। ये अपने अपने दुष्कर्मों के अनुसार शाल्मली, वैतरणी, कुंभीपाक, तप्तबालुका, असिपत्रवन, शिलासंपेषण प्रभृति नरकों में अपने किये का फल भोगते हैं। जो इन दुःखदायी नरकों में नहीं पड़ते, वे श्रेष्ठ पितर हैं। पृथिवी पर उनके पांच प्रकार अभिदिष्ट हैं। इनमें से कुछ स्थावर योनि में जन्म लेते हैं, कुछ नाना प्रकार की पशु-पक्षी आदि की योनियों में जन्मते हैं। कुछ बाह्लीक, ऊष्मपा और दिवाकीर्त्य कहलाते हैं। इन पितरों का दिन कृष्ण पक्ष में और रात्रि शुक्ल पक्ष में होती है, जब कि ये सो जाते हैं।

नागरखण्डे—'अथ ये पितरो मर्त्या निवसन्ति त्रिविष्टपे। द्विविधास्ते प्रदृश्यन्ते मुखिनोऽमुखिनः परे। येभ्यः श्राद्धानि यच्छन्ति मर्त्यलोके स्ववंशजाः। ते सर्वे तत्र संसृष्टा देववन्मुदिताः स्थिताः। येषां प्रयच्छते नैव किञ्चित् कश्चित् स्ववंशजः। क्षुत्पिपासाकुलास्ते च दृश्यन्ते ते च दुःखिताः।' इति। मनुस्मृतौ—'य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्तिताः। तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥' याज्ञवल्क्यस्मृतौ—'वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः'। नन्दिपुराणे गुह्याः पितर उक्ताः। 'विष्णुः पितास्य जगतो दिव्यो यज्ञः स एव च। ब्रह्मा पितामहो ज्ञेयो ह्यहं च प्रपितामहः।' पितृपितामहाद्यधिष्ठानभूताग्निष्वात्ता अधिष्ठातृत्वेन श्राद्धे पितरो देवतारूपास्तद्रूपेणानुसन्धीयमानाः श्राद्धस्य कामप्यपूर्वामैहिकामुष्मिकफलोत्पादिकां शक्तिं जनयन्ति। सर्वेषु श्राद्धकल्पेषु गोपितत्वेन श्राद्धोपदेशोपनिषन्निरूप्या। अग्निष्वात्तादिवत् पितृत्वेनाप्रसिद्धाश्चेति गुह्याः। 'उद्दिश्य विष्णुर्यैरिष्टः पितरस्तैस्तु तर्पिताः। ब्रह्मा समिष्टः प्रीणाति पुंसः सर्वपितामहान् ॥ प्रपितामहानुद्दिश्य त्विष्टोऽहं यैर्महात्मभिः। नयन्ति नरके घोरे तेषां वै प्रपितामहाः ॥ लोकानि दिव्यानि मनोरमाणि प्रयान्ति सर्वे प्रसभं गणेश। पिता च तेषां तु पितामहश्च ये वैष्णवं ज्ञानविदोऽर्चयन्ति ॥ विष्णुं समभ्यर्च्य च सर्वभावैर्भजन्ति तेषां पितरस्तु तुष्टिम्। ....निकृष्टजातींश्च परित्यजन्ति ॥'

वराहपुराणे पितॄन् प्रति वराहवचनम्—'यमोऽधिदेवो भवतां सौम्यः स्वाध्यात्म ईरितः। अधियज्ञस्ततस्त्वग्निर्भवतां कल्पना त्वियम् ॥ अग्निर्वायुश्च सूर्यश्च स्थानं च भवतामिति। ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च भवतामधिपूरुषाः ॥ योगिनो योगदेहाश्च योगाधाराश्च सुव्रताः। कामतो विचरिष्यध्वं फलदाः सर्वजन्तुषु ॥' इति।

स्कन्दपुराण नागरखण्ड में बताया गया है कि अब जो मनुष्य पितर स्वर्ग में जाकर के निवास करते हैं, वे दो तरह के दिखाई पड़ते हैं। उनमें से कुछ सुखी रहते हैं और कुछ दुःखी। जिन पितरों के निमित्त मृत्यु लोक में उनके वंशज श्राद्ध करते रहते हैं, वे सब उस स्वर्गस्थान में पहुँच कर देवता के समान सुख भोगते रहते हैं और जिनको उनके वंशज कुछ भी नहीं देते, वे भूख और प्यास से व्याकुल होकर अत्यन्त दुःखी रहते हैं। मनुस्मृति में आगे लिखा गया है कि ऊपर जिन पितरों के मुख्य गणों का वर्णन किया गया है, उनके अतिरिक्त भी उनके पुत्रों और पौत्रों आदि के रूप में पितरों की अनन्त संख्या है। याज्ञवल्क्य स्मृति में इसीलिये वसु, रुद्र और आदित्य स्वरूप पितरों को श्राद्ध कर्म का देवता माना है। नन्दिपुराण में पितरों को गुह्य नाम दिया है। इस जगत् का दिव्य पिता विष्णु है, वही यज्ञ के नाम से भी प्रसिद्ध है। ब्रह्मा को पितामह जानना चाहिये और मैं (रुद्र) इस जगत् का प्रपितामह हूँ। पिता-पितामह आदि के रूप में विद्यमान अग्निष्वात्त नाम के पितर श्राद्ध के अधिष्ठाता के रूप में देवता माने जाते हैं। श्राद्ध में इनकी देवरूप में ही भावना और अर्चना करने पर ये किसी अपूर्व ऐहिक और पारलौकिक फल को देने वाली शक्ति को पैदा करते हैं। सभी श्राद्ध कल्पों (विधियों) में श्राद्ध के कुछ रहस्य गुप्त रखे जाते हैं, अग्निष्वात्त प्रभृति की तरह कुछ पितर प्रसिद्ध नहीं है, उनका रहस्य अत्यन्त गुप्त रखा गया है। विष्णु को निमित्त बनाकर जो यजन करता है, वह पितरों को तृप्त कर देता है। इसी तरह से ब्रह्मा को निमित्त बनाकर पितरों को तृप्त करने वाला पुरुष पितामहों को तृप्त कर देता है। मुझे (रुद्र को) निमित्त बनाकर श्राद्ध करने वाला व्यक्ति प्रपितामहों को सन्तुष्ट करता है। इसके प्रपितामह कभी नरक में नहीं जा सकते। हे गणेश, इस प्रकार से पितरों की पूजा करने वालों के सभी पूर्वपुरुष दिव्य मनोरम लोकों को प्राप्त करते हैं। जो ज्ञानी पुरुष वैष्णव (विष्णु भक्त) की पूजा करते हैं, उनके पिता और पितामह तथा विष्णु की उपासना करने वालों के पितर सभी तरह से सब प्रकार की तुष्टि प्राप्त करते हैं और कभी भी निकृष्ट जाति में पैदा नहीं होते।

वराहपुराण में पितरों को संबोधित कर कहा गया है कि आप लोगों के अधिपति यमराज हैं, सोम अध्यात्म तत्त्व है और अग्नि आप लोगों का अधियज्ञ तत्त्व है। अग्नि, वायु और सूर्यलोक आप लोगों के रहने के स्थान हैं। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ये आपके अधिपुरुष हैं। आप लोग योगी हैं, योगमय आप लोगों का शरीर है, आप लोग ही योगशास्त्र के आधार हैं, क्योंकि नियमपूर्वक आप लोग योगशास्त्र के सभी व्रतों का पालन करते हैं। आप सभी प्राणियों का कल्याण करते हुए इस त्रिलोकी में इच्छानुसार विचरण कीजिये।

भविष्यपुराणे—अनिरुद्धः स्वयं देवः प्रद्युम्नस्तु पिता स्मृतः। संकर्षणस्तज्जनको वासुदेवस्तु तत्पिता ॥ स्वयं श्राद्धकर्ताऽनिरुद्धः। कर्तुः पिता प्रद्युम्नः। श्राद्धकर्तृपितृजनकः संकर्षणः। तत्पिता श्राद्धकर्तृपितृजनकपिता वासुदेवः।

स्मृतिषु पिण्डानां वरुणादिरूपत्वमुक्तम्—'प्रथमो वरुणो देवः प्राजापत्यस्तथापरः। तृतीयोऽग्निः स्मृतः पिण्ड एष पिण्डविधिः स्मृतः ॥' विष्णुधर्मोत्तरे—'सुभास्वरा ब्रह्मसुताः सोममाप्याययन्ति ते। ब्रह्मलोकचरा राजन् नित्यं मूर्तिविवर्जिताः ॥ तथा बर्हिषदो राजन् स्मृताः पुत्रा मरीचिनः। आप्याययन्ति ते देवलोके तिष्ठन्ति पूजिताः ॥ विभ्राजलोके तिष्ठन्ति अग्निष्वात्ता नराधिप। पुलस्त्यस्य ऋषेः पुत्रा भावयन्ति जनानिमे ॥ क्रव्यादाश्चोपहूताश्च आज्यपाश्च सुकालिनः। कवेरङ्गिरसश्चैव कर्दमस्य प्रजापतेः ॥ वशिष्ठस्य तथा पुत्राः क्रमेणैते प्रकीर्तिताः। ज्योतिष्मन्तः स्मृता लोका ये च लोका मरीचिनः ॥ तेजस्विनो मानसाश्च क्रमेणैषां प्रकीर्तिताः ।' इति।

मत्स्यपाद्मादिषु—'मरीचिगर्भा नाम्ना तु लोका मार्तण्डमण्डले। पितरो यत्र तिष्ठन्ति हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः ॥ राज्ञां तु पितरस्ते वै स्वर्गमोक्षफलप्रदाः। सुस्वधानाम पितरो यत्र तिष्ठन्ति ते सुताः ॥ आज्यपा नाम लोकेषु कर्दमस्य प्रजापतेः ।' इति। ब्रह्माण्डपुराणे—लोकाः सनातना ये वै तत्र तिष्ठन्ति भास्वराः। त्रयः पितृगणास्ते वै पुत्राः पुण्याः प्रजापतेः ॥ विराजस्य प्रजाः श्रेष्ठा वैराजा इति विश्रुताः ।' इति। वराहपुराणे—'सुकाला नाम पितरो वशिष्ठस्य प्रजापतेः। तेऽपि याज्यास्त्रिभिर्वर्णैर्न शूद्रेण पृथक् श्रुतेः ॥ वर्णोत्तमाभ्यनुज्ञातः शूद्रः सर्वान् पितॄन् यजेत् ।' अर्थात् 'शूद्राणां सुकालिनः' इति पृथक्श्रुतेः शूद्राणामेव सुकालिन इति विशेषो न ग्राह्यः, किन्तु ब्राह्मणादीनामपि सुकालिनः पितरो भवन्ति,

भविष्यपुराण में बताया गया है कि श्राद्ध करने वाला व्यक्ति स्वयं अनिरुद्ध का प्रतिनिधि है। श्राद्धकर्ता का पिता प्रद्युम्न, पितामह संकर्षण और प्रपितामह वासुदेव का प्रतिनिधित्व करते हैं।

स्मृतियों में प्रथम पिण्ड को वरुण का, दूसरे को प्रजापति का, तीसरे को अग्नि का प्रतिनिधि माना है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में पितरों का वर्णन इस तरह से किया गया है—हे राजन्! सोमपा नामक पितर अत्यन्त प्रकाशमान ब्रह्मा के पुत्र हैं। इनकी कोई मूर्ति नहीं होती और ये सदा ब्रह्मलोक में विचरण करते रहते हैं। हे राजन्, बर्हिषद् नामक पितर मरीचि के पुत्र हैं। वे देवलोक में रहते हैं और पूजा करने वाले की सभी कामनाएँ पूरी करते हैं। अग्निष्वात्त नामक पितृगण प्रकाशमय लोक में रहते हैं। ये पुलस्त्य ऋषि के पुत्र है और मनुष्यों की सदा श्रीवृद्धि करते रहते हैं। क्रव्याद, उपहूत, आज्यपा और सुकाली नाम के पितृगण क्रमशः शुक्र, अंगिरा, कर्दम प्रजापति और वसिष्ठ के पुत्र हैं। ये क्रमशः ज्योतिष्मान्, मरीचि, तेजस्वी और मानस लोक में निवास करते हैं।

मत्स्यपुराण और पद्मपुराण में बताया गया है कि मरीचि ऋषि से उत्पन्न पितरों का निवास स्थान सूर्यमण्डल है, जहाँ पर कि अंगिरा के पुत्र हविष्मान् नामक पितृगण निवास करते हैं। ये राजाओं के पूजनीय पितृगण हैं। ये स्वर्ग और मोक्ष दोनों को देने वाले हैं। सुस्वधा नामक पितृगण कर्दम प्रजापति के पुत्र हैं। ये आज्यपा पितृगणों के लोक में निवास करते हैं। ब्रह्मपुराण में बताया गया है कि वे सनातन, कभी नष्ट न होने वाले लोक कहे जाते हैं, जिनमें कि भास्वर नाम के पितृगण निवास करते हैं। प्रजापति के पुत्र तीन पितृगणों में विभक्त है और विराज की श्रेष्ठ प्रजा वैराज के नाम से प्रसिद्ध है। वराहपुराण में बताया गया है कि वसिष्ठ प्रजापति के पुत्र सुकाल नामक पितृगण कहलाते हैं। इनकी पूजा तीन वर्णों को भी करनी चाहिये, केवल शूद्र को ही नहीं। क्योंकि शूद्र के लिये पितृपूजा का विधान अलग से भी किया गया है कि उत्तम वर्ण की आज्ञा लेकर शूद्र सभी पितरों की पूजा कर सकता है। अभिप्राय यह है कि सुकाल नाम के पितरों की पूजा शूद्र करे, इस श्रुति के आधार पर यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि ये केवल शूद्रों के ही पूजनीय पितृगण हैं, किन्तु ब्राह्मण प्रभृति के भी ये पूज्य होते हैं और ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर शूद्र इनसे भिन्न पितृगणों को भी पूजा कर सकते हैं। वराहपुराण में आगे बताया गया है कि शूद्र के लिये शूद्र जाति के पितरों की अलग से कोई सत्ता नहीं है, केवल उसके पितृ-पितामह प्रभृति ही इस जाति के होते है। पुराणों के उदाहरणों के आधार पर ही उनमें कहीं-कहीं कुछ विशेषता देखने में आती है। हेमाद्रि ग्रन्थ और अन्य पुराणों में पितृगणों के अनेक भेदों का वर्णन मिलता है। इसीलिये कहा जाता है कि वेद के अर्थ का

अन्येऽपि शूद्राणां ब्राह्मणाभ्यनुज्ञयेति ज्ञातव्यम्। न तु सन्ति पृथक् तस्य पितरः शूद्रजातयः। मुक्त्वा स्वजनकान् ब्रह्मन् न तु दिव्येषु दृश्यते। विशेषः शास्त्रदृष्ट्या तु पुराणानां निदर्शनात्'। दिव्येषु पितृषु शूद्रत्वादिरूपो विशेषो न ग्राह्यः। हेमाद्रौ पुराणेषु च बहवः पितृभेदा उक्ताः। 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्'।

यद्यपि मेधातिथिनाऽन्यैश्चार्थवादत्वाद्देवाग्निष्वात्तादिप्रतिपादकवाक्यानां न तेषां देवतात्वविधाने तात्पर्यमित्युक्तम्।' यद्यपि च 'वसून् वदन्ति वै पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान्। प्रपितामहांस्तथादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी॥' नन्दिपुराणे—विष्णुः पितास्य जगतो दिव्यो यज्ञेश एव च। ब्रह्मा पितामहो ज्ञेयो ह्यहं च प्रपितामहः॥ मासाश्च पितरो ज्ञेया ऋतवश्च पितामहाः। संवत्सरः प्रजानां वै सुमेकः प्रपितामहः॥' इति वस्वादिविष्ण्वादिमासादीनां पित्रादिभिः सहाभेदाभिधानं दृश्यते, तथापि तद्रीत्या 'आदित्यो यूपः' इतिवत् प्राशस्त्यमात्रपरतया विधिकल्पना न युक्ता।

अग्निष्वात्तादीनां श्राद्धदेवतात्वस्यापि विधयो न दृश्यन्ते। 'न पुत्रः पितरं यस्तु जीवन्तमनुवर्तते। संस्थितं तर्पयेद् भक्त्या श्राद्धेन विविधेन च॥' इत्यादिश्राद्धविधीनां मृतमनुष्यतृप्त्यर्थमेव ,दर्शनादित्यादिकं बहूक्तं हेमाद्रौ पूर्वपक्षे, तथापि सिद्धान्तरीत्या तत्रैवाग्निष्वात्तादीनां देवतात्वं समर्थितम्। यद्यपि मनुवाक्यैर्विस्पष्टमग्निष्वात्तादीनां श्राद्धे देवतात्वस्य विधिर्न दृश्यते, तथापीतिहासपुराणेषु चतुर्थ्यन्तैः शब्दैः श्राद्धेन सहैषां सम्प्रयोगस्य दर्शनात् तेषां देवतात्वं सिद्ध्यत्येव। पाद्ममात्स्ययोर्यथा—'तेभ्यः सर्वे तु मनवः प्रजाः सर्गे तु निर्मिताः। ज्ञात्वा श्राद्धानि कुर्वन्ति धर्ममेवेति सर्वदा॥' अनुवादमात्रस्यानर्थकत्वान्न मनुभिरनुष्ठितस्य श्राद्धस्यानुवादोऽयमिति वक्तुं युक्तम्, न च प्रशंसार्थोऽनुवादो युक्तः, विधेयस्यैव प्रशस्यत्वात्। अतो ब्राह्मणादिकर्तृकाग्निष्वात्तादिदेवताकश्राद्धविध्यर्थमेवानुवादो युक्तः।

उपबृंहण इतिहास और पुराण की सहायता से करना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि बहुत सी बातें वेदों में अत्यन्त संक्षेप में मिलती हैं। उनको विस्तार से समझना हो तो इसके लिये रामायण, महाभारत, पुराण प्रभृति ग्रन्थों की सहायता लेना आवश्यक है, क्योंकि वेद में संक्षेप में कही बात को ही इनमें विस्तार से समझाया गया है।

यद्यपि मेधातिथि तथा अन्य व्याख्याकारों और निबन्धकारों ने यह निर्णय दिया है कि अग्निष्वात्त प्रभृति पितरों के देवतात्व का प्रतिपादन करने वाले वाक्य अर्थवाद मात्र हैं, अतः उनका तात्पर्य उनको देवता मान लेने में नहीं है। पितृस्थानीय पितरों को वसु देवताओं का, पितामहों का रुद्र का और प्रपितामहों का आदित्य को प्रतिनिधि मानने वाले सनातन श्रुति के वचन मिलते हैं। नन्दिपुराण में भी यज्ञ के स्वामी विष्णु को पिता का, ब्रह्मा को पितामह का और रुद्र को प्रपितामह का स्वरूप माना है। इस तरह से इन देवताओं से पितरों की अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है। इसका समाधान इस तरह से करना चाहिये कि जैसे 'आदित्यो यूपः' इस वाक्य में यूप को आदित्य का प्रतिनिधि इसलिये कहा गया है कि जिससे यूप की प्रशंसा हो, उसी तरह से पितरों की प्रशंसा के लिये उनमें देवतात्व का आरोप किया जाता है। अतः इन वाक्यों को विधि वाक्य न मानकर अर्थवाद वाक्य मानना ही ठीक है।

यद्यपि अग्निष्वात्त प्रभृति पितरों की श्राद्ध देवता के रूप में पूजा को बताने वाले विधि वाक्य मिलते नहीं, क्योंकि 'न पुत्रः पितरं' इत्यादि में प्रतिपादित श्राद्धविधि के अनुसार मृत मनुष्य की तृप्ति के लिये ही यह श्राद्ध विधि की जाती है और अग्निष्वात्त प्रभृति पितृगण उस कोटि में नहीं आते। इस तरह की अनेक बातें हेमाद्रि ग्रन्थ में पूर्वपक्ष के रूप में उठाई गई है। तथापि इतिहास, पुराण प्रभृति ग्रन्थों में चतुर्थी विभक्ति के साथ बताई गई श्राद्ध विधियों में इन सबका भी समावेश देखा जाता है, इससे इनका भी श्राद्ध देवताओं में समावेश मानना ही पड़ता है। पद्म और मत्स्य पुराण में बताया गया है कि इन सब पितरों से ही सृष्टि के प्रारंभ में मनु प्रभृति प्रजा की उत्पत्ति हुई है। अतः उन सब पितरों को सभी प्रकार से जान-समझकर ही मनु प्रभृति भी धर्म का पालन करने के अभिप्राय से श्राद्ध में देवता के रूप में पूजते हैं। इस वचन को अनुवादक वाक्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। मनु प्रभृति ने इन पितरों की पूजा की, इससे इस अनुवाद वाक्य का प्रयोजन पितरों की प्रशंसा में माना जायगा, किन्तु इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि प्रशंसा विधेय की ही की जाती है, अनूद्य की नहीं। अतः ब्राह्मण प्रभृति के द्वारा भी अग्निष्वात्त प्रभृति श्राद्ध देवताओं की पूजा करनी चाहिये, इस विधि वाक्य की पुष्टि में ही अनुवाद वाक्य की सार्थकता मानी जा सकती है।

हरिवंशे प्रत्यक्षविधानं च दृश्यते—'तेषामथाभ्युपगममनुसूते युगे युगे। प्रवर्तयति श्राद्धानि नष्टे धर्मे प्रजापतिः॥ पितॄणामादिसर्गं तु सर्वेषां द्विजसत्तम। तस्मादेवं स्वधर्मेण श्राद्धं देयं वदन्ति हि॥' अत्राग्निष्वात्तादीनुद्दिश्य ब्राह्मणादिभिः श्राद्धं देयमिति स्पष्टं विधानं दृश्यते। स्वधर्मेणेति ब्राह्मणादिभिः पक्वान्नेन शूद्रेणामान्नेनेति प्रकारभेदेनेत्यर्थः। विष्णुधर्मोत्तरादिषु त्वग्निष्वात्तादीनामेव साक्षात् श्राद्धभोक्तृत्वम्। मनुष्याणां तु तद्द्वारकस्तृप्तियोग उक्तः। 'एते श्राद्धस्य भोक्तारो विश्वेदेवैः सदा सह। एते श्राद्धं सदा भुक्त्वा पितॄन् सन्तर्पयन्त्युत॥' 'तृप्त्या तथैते विनियोजयन्ति दातुः पितॄन् सर्वगणान् महीपते।' न चात्रापि स्तुतिमात्रम्, विश्वेदेवैः सहेति हविः प्रत्युद्देश्यैर्विश्वेदेवैः सह समानभोक्तृत्वस्याभिधानात्। 'अमूर्ता मूर्तिमन्तश्च पितरो द्विविधाः स्मृताः। नान्दीमुखाः पार्वणाश्च एकोद्दिष्टाशिनस्तथा॥ उद्दिष्ट एवं मूर्तानां पितॄणां निर्णयस्त्रिधा। नान्दीमुखा वृद्धिश्राद्धिनः। यथाऽपूर्वद्रव्यदेवताश्रवणेन विधिप्रत्ययाश्रवणेऽपि विधिः परिकल्प्यते 'प्रतितिष्ठन्ति ह वै ते य एता रात्रीरुपयन्ति', तथैवापूर्वद्रव्यदेवताफलश्रवणाद् विध्यभावेऽपि विधिः कल्पयितुं शक्य एव। अत्र तु विधिरुक्त एव।

यदपि च देवतानां कर्मस्वनधिकार उक्त इति, तदपि न, देवतान्तराभावात्, कर्मस्वनधिकारेऽपि तत्पितॄणां पृथक्सत्त्वस्य प्रतिपादनात्, पित्र्यकर्मानधिकारे हेत्वभावात्। 'पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चन्द्रक्षयेऽग्निमान्। कृत्वान्वाहार्यादिकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम्॥' अनेकेषु श्राद्धकल्पेषु पितृभ्यो दद्यादित्युत्पत्तिविधिर्दृश्यते। अग्निष्वात्तादयोऽपि पितृशब्दवाच्या इत्यग्निष्वात्तादीनामुत्पत्तिशिष्टत्वान्नोत्पत्तिशिष्टगुणावरोधविरोधः। यानि पुनरेकोद्दिष्टानि प्रेतश्राद्धानि सपिण्डीकरणे सांवत्सरिके, अपि च पार्वणविकृतिभूते, तत्रोत्पत्तिशिष्टमृतमनुष्यदेवतात्वविरोधान्मा भूदग्निष्वात्तादीनां देवतात्वम्, अन्यत्र नित्यनैमित्तिककाम्येष्वग्निष्वात्तादीनां देवतात्वे न बाधा। वसुरुद्रादित्यानां श्राद्धे देवतात्वस्य विधि-

'तेषामथा०' प्रभृति श्लोकों में हरिवंश में अग्निष्वात्त प्रभृति पितरों को उद्दिष्ट कर ब्राह्मण प्रभृति को श्राद्ध करना चाहिये, इसका स्पष्ट विधान किया है। यहाँ आये 'स्वधर्मेण' पद का अर्थ यह है कि ब्राह्मण प्रभृति पके हुए अन्न से और शूद्र सूखे अन्न से पितरों को तृप्त करे। विष्णुधर्मोत्तर प्रभृति पुराणों में तो अग्निष्वात्त प्रभृति देवताओं को ही साक्षात् श्राद्धान्न का भोक्ता माना गया है, मनुष्यों की तृप्ति तो उन्हीं की सहायता से होती है। वहाँ कहा गया है कि अग्निष्वात्त प्रभृति पितृगण विश्वेदेवों के साथ श्राद्ध मे प्रदत्त अन्न को ग्रहण करते हैं। ये सब श्राद्ध में प्रदत्त अन्न से तृप्त होकर अन्य पितरों को भी तृप्त करते हैं। यहाँ भी केवल स्तुतिपरक ही इस वाक्य को नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि विश्वेदेवों के साथ इन पितरों को भी समान रूप से हवि दी जाती है और उनके साथ अग्निष्वात्त प्रभृति पितृगण भी उससे तृप्त होते हैं। अमूर्त और मूर्त के भेद से पितृगण दो प्रकार के हैं। इनमें से मूर्त पितृगण नान्दीमुख, पार्वण और एकोद्दिष्ट के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। जैसे अपूर्व द्रव्य और देवता के सुनाई पड़ने पर विधि प्रत्यय की अविद्यमानता में भी विधि वाक्य की कल्पना कर ली जाती है, उसी तरह से 'प्रतितिष्ठन्ति' इस श्रुति वाक्य की तरह जहाँ पर अपूर्व द्रव्य अथवा देवता विषयक फलश्रुति सुनाई पड़ती है, वहाँ पर भी विधि वाक्य के न रहने पर भी विधि की कल्पना की ही जा सकती है। प्रस्तुत कथन में तो स्पष्ट ही विधि दिखाई गई है।

देवताओं का यज्ञ आदि कर्मों में अधिकार नहीं माना गया है। वह इसलिये है कि इन्द्र प्रभृति देवता का यदि यज्ञ में अधिकार माना जाय, तो वे दूसरे किस इन्द्र प्रभृति देवता को अपने यज्ञ मे बुलावेंगे। किन्तु यह नियम पितरों के प्रति लागू नहीं हो सकता, क्योंकि पितरों की देवताओं से अलग सत्ता मानी गई है। देवताओं को जिस कारण से अधिकार नहीं दिया गया, वह कारण पितरों के पक्ष में लागू भी नहीं होता, क्योंकि पितृगणों की अनन्त परम्परा है। ब्राह्मणों के लिये प्रत्येक मास के कृष्ण पक्ष में पितृयज्ञ, अन्वाहार्य श्राद्ध आदि का विधान है। श्राद्धकल्प की अनेक पुस्तकों में 'पितृभ्यो दद्यात्' इस वाक्य में उत्पत्ति विधि मानी गई है। अग्निष्वात्त प्रभृति भी पितृगणों के अन्तर्गत ही हैं, अतः उक्त उत्पत्ति विधि इन सब पर लागू होगी ही। इस तरह से पितृ देवताओं में इनकी गिनती होने में कोई बाधा नहीं उपस्थित होगी। इसके अतिरिक्त एकोद्दिष्ट प्रभृति प्रेतश्राद्ध और सपिण्डीकरण, सांवत्सरिक प्रभृति पार्वण श्राद्ध के विविध रूप हैं, उनमें तो मृत मनुष्य का ही उक्त उत्पत्ति विधि के आधार पर श्राद्ध किया जाता है, इसके साथ

रस्त्येव' 'वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः' इति याज्ञवल्क्यस्मरणात्। पैठीनसिश्च—'य एवं विद्वान् पितॄन् यजते वसवो रुद्रादित्याश्चास्य प्रीता भवन्ति। क एते पितरो नाम ? येभ्यो दत्तमिहाक्षयं भवति। वसवः पितरः, रुद्रा पितामहाः, आदित्याः प्रपितामहाः, तेभ्यो दत्तमिहाक्षयं भवति। देवलस्मृतौ च—'सर्वत्र पितरः पूज्या देवतानां च देवताः। शुचयो निर्मलाः शुद्धा दक्षिणां दिशमाश्रिताः॥' तथा च त्रिः प्रकाराः पितरः, एके पितृपितामहादयोऽपरे मरीच्यादीनामृषीणां पुत्राः सोमपादयः, अपरे वस्वादयः। 'अभेददृष्टिविधयो वैते। अयं तु पक्षः सिद्धान्ततयाऽभ्युपगन्तुं न्याय्यः' इति हेमाद्रि-रीत्या पित्रादिषु वस्वाद्यभेददृष्ट्यो विधीयन्ते। तद्रीत्या अयमेव पक्षः सर्वेषां विश्वरूपादीनां सम्मतः। अयमेव ह्यनवद्यः पक्षः। न्याय्यं हि स्तावकत्वाद्विधिपरत्वम्।

यत्तु केनचिदुक्तं यत् श्राद्धं न प्राचीनं वैदिकं स्मार्तं वा कर्म। वराहपुराणानुसारेण मोहवशादेव निमिना तदनुष्ठानात्। तेन च स्वयमेवोक्तम्—'शोकस्य तु प्रभावेण एतत्कर्म मया कृतम्। नष्टबुद्धिस्मृतिसत्त्वो ह्यज्ञानेन विमोहितः॥ न च श्रुतं मया पूर्वं न देवैर्ऋषिभिः कृतम्।' इति, तच्च पौर्वापर्याज्ञानविजृम्भितम्. तादृशवचनानामस्मिन् कल्पे श्राद्धाविर्भावार्थवादरूपत्वेन श्राद्धविधान एव तात्पर्यात्। यथा सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन प्रजापत्यादीनां पूर्वकल्पीयवेदानामाविर्भावो भवति, तथैव शोकव्याकुलस्य निमेः प्राक्तनेभ्यः संस्कारेभ्यः श्राद्धकर्मसंविधानमाविर्भूतम्।

जब अग्निष्वात्त प्रभृति पितृगणों की अभिन्नता रहेगी, तब उनमें देवतात्व बुद्धि भले न रहे, किन्तु इनसे भिन्न नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्मों के प्रसंग में अग्निष्वात्त प्रभृति को देवता मानने में कोई बाधा नहीं उपस्थित हो सकती। वसु, रुद्र और आदित्य ये श्राद्ध देवता माने ही जाते हैं, इनको याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट ही 'श्राद्ध देवता' कहा है। पैठीनसि भी कहते हैं—'जो विद्वान् विधिपूर्वक पितरों का श्राद्ध करता है, उस पर वसु, रुद्र और आदित्य नामक देवता प्रसन्न हो जाते हैं। वे पितृगण कौन हैं ? जिनको कि दिया गया अन्न अक्षय हो जाता है ? वे हैं—पितृस्थानीय वसु, रुद्रस्थानीय पितामह और आदित्यस्थानीय प्रपितामह। इनको दिया गया अन्न अक्षय हो जाता है। देवल स्मृति भी कहती है—'देवताओं की पूजा सब जगह सदा करनी चाहिये। ये देवताओं के भी देवता हैं, पवित्र, निर्मल और शुद्ध हैं। ये दक्षिण दिशा में निवास करते हैं। इस पूरे प्रकरण का अवलोकन करने से यह निकलता है कि पितृगण तीन प्रकार के होते हैं—एक तो पिता, पितामह प्रभृति, दूसरे मरीचि प्रभृति ऋषियों के पुत्र सोमपा प्रभृति और तीसरे वसु प्रभृति। हेमाद्रि का कहना है कि पिता, पितामह प्रभृति में वसु, रुद्र आदि देवताओं के साथ अभेद दृष्टि का विधान किया गया है, अतः इसी पक्ष को सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करना चाहिये। इनके कथन के अनुसार पिता प्रभृति में वसु आदि से अभेद बुद्धि रखी जाती है। हेमाद्रि के कथनानुसार विश्वरूप प्रभृति सभी व्याख्याकारों और निबन्धकारों ने इसी पक्ष को माना है। यही निर्दोष और उचित पक्ष है भी। स्तुति के आधार पर यहाँ विधि वाक्य की कल्पना कर ली जाती है।

कुछ लोगों का कहना है कि श्राद्ध कोई प्राचीन वैदिक या स्मार्त कर्म नहीं है, किन्तु वराहपुराण प्रभृति ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि राजा निमि ने अज्ञानवश ही श्राद्ध का प्रचलन कर दिया। राजा निमि स्वयं कहता है कि शोक से अभिभूत होकर मैंने यह कार्य किया। मेरी बुद्धि, स्मृति शक्ति और समझ-बूझ उस समय सब समाप्त हो गई थी। मैं उस समय अज्ञान के अन्धकार में इससे डूबा हुआ था। श्राद्ध के विषय में इससे पहले मैंने कुछ भी नहीं सुना था। इसका अनुष्ठान न देवताओं ने और न ऋषियों ने ही पहले कभी किया था। किन्तु यह सारा कथन पूरे ग्रन्थ का सावधानी से अध्ययन न करने के कारण भ्रमपूर्ण है। वस्तुतः इस तरह के सभी वचन इस कल्प में श्राद्ध के आविर्भाव को अर्थवाद वाक्यों के माध्यम से बताने वाले हैं। इन सबका तात्पर्य श्राद्ध की विधि और उनकी स्तुति में माना जाता है। जैसे कोई आदमी सोकर जागता है, तो उसको पहले सब बातें याद पड़ जाती है, उसी तरह से प्रजापति प्रभृति को भी पूर्व कल्प में विद्यमान वेदों की इस कल्प में जागने पर स्मृति जाग उठती है। उसी पद्धति से यहाँ वराहपुराण के वचन में यह प्रतिपादित किया गया है कि शोक से व्याकुल निमि राजा के हृदय में पुराने संस्कारों के कारण श्राद्ध कर्म का सारा विधि-विधान आविर्भूत हो गया।

स्वर्गो मनुष्यलोकाद्भिन्नः

स्वामिदयानन्दः स्वर्गादिलोकं नोपगच्छति, तदपि वेदविरुद्धम्, निम्नोद्धृतमन्त्रैस्तत्सिद्धेः। 'अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्। नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः स्वर्गे लोके वहुस्त्रैणमेषाम् ॥' (अथर्व० ४।३४।२), 'घृतह्लदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना। एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमानाः ॥' (अथर्व० ४।३४।६)। न विद्यते अस्थ्युपलक्षितं षाट्कौशिकं शरीरं येषां ते अनस्थाः, 'छन्दस्यपि दृश्यते' (पा० सू० ७।१।७६) इत्यस्थिशब्दस्यानङादेशः। दिव्यशरीराः, अत एव पवनेन वायुना पूताः पवित्रीकृताः शुद्धा निर्मलाः शुचयो दीप्यमाना एवंविधाः सवस्व यज्ञस्य कर्तारः शुचिं दीप्यमानं लोकं ज्योतिर्मयं लोकम् अपियन्ति देहावसाने प्राप्नुवन्ति। एषां स्वर्गे लोके स्थितानां शिश्नं भोगसाधनमिन्द्रियं जातवेदा अग्निर्न दहति निर्वीर्यं न करोति। बहुस्त्रैणत्वेऽपि सुकृतफलभोगस्थाने स्त्रीणां समूहो भोगार्थं विद्यते। एवं स्त्रीसमूहं भुञ्जानानामपि निर्वीर्यत्वशङ्का न भवतीत्यर्थः।

दधिमधुघृतादिलक्षणस्य दिश्यासु कुल्यासु पूर्यमाणस्य रसस्य एताः सर्वा धाराः प्रवाहाः फलभूते स्वर्गे मधुमद् माधुर्योपेतं वा पिन्वमानाः सिञ्चन्त्यस्त्वा त्वाम् उपगच्छन्तु। तया समन्ताः पर्यन्तवर्तिन्यः पुष्करिणी पुष्करिण्यः सरस्यस्त्वा त्वामुपतिष्ठन्तु। कीदृश्यस्ताः ? घृतह्लदाः घृतपूर्णह्लदयुक्ताः, मधुकूलाः मधुना माक्षिकेण युक्तानि कूलानि यासां ताः, सुरोदकाः सुरा एवोदकं यासां ताः, क्षीरेण उदकेन दध्ना च पूर्णाः, एतेषु घृतादिद्रव्येषु यद्यत्कामयसे तेन तेन पूर्णा बहुविधाः पुष्करिण्यस्त्वां सेवन्तामित्यर्थः।

'स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न यत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गे लोके ॥' स्वर्गे लोके किञ्चन भयं न भवति त्वं मृत्युरपि यत्र नास्ति, यत्र कश्चनापि जरया वार्धकेन न बिभेति, अशनायापिपासे उभे तीर्त्वाऽतिक्रम्य शोकातिगो मोदते। 'सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः' (ऐ० ब्रा० ७।७)। वायुवेगाः

स्वर्गलोक मनुष्यलोक से भिन्न है

स्वामी दयानन्द स्वर्ग प्रभृति लोकों को स्वीकार नहीं करते, उनकी यह बात भी वेदशास्त्र के विरुद्ध है। निम्न मन्त्रों से स्वर्ग की स्थिति स्पष्ट ज्ञात होती है। 'अनस्थाः' इत्यादि अथर्ववेदीय मन्त्र में बताया गया है कि 'अनस्थाः' उन्हें कहा जाता है, जिनके कि अस्थि शब्द से जाना जाने वाला षाट्कौशिक शरीर नहीं है। अस्थि शब्द को पाणिनि सूत्र के आधार पर वेद में अनङ् आदेश हो जाता है। अर्थात् जो दिव्य शरीर वाले हैं, इसीलिये पवन से जो पवित्र, शुद्ध, निर्मल हो गये हैं और अत एव देदीप्यमान हैं, इस तरह के यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले लोग मृत्यु के उपरान्त पवित्र, तेजोमय लोक को प्राप्त करते हैं। स्वर्गलोक में स्थित इन दिव्य देहधारियों की भोग का साधन बनने वाली इन्द्रियों को अग्नि जलाता नहीं है, वीर्यहीन नहीं करता। उस पुण्य कर्मों के उपभोग स्थान स्वर्ग में उसके उपभोग के लिये अनेक स्त्रियों के रहने पर भी वह सुकृती इस लोक की भांति कभी वीर्यहीन नहीं होता।

सारी दिशाओं में दही, मधु (शहत), घृत आदि की नहरों के रूप में बहती हुई धाराएँ उस स्वर्ग में अत्यन्त माधुर्य को भरकर तुम्हारे पास आवे। चारों तरफ इनसे भरी बावलियां तुम्हारी सेवा करने के लिये उपस्थित रहें। घृत के अथाह सरोवर, जिनके कि किनारे शहत से भरे हैं, जिनका जल सुरा के समान मादक है और जो दूध और दही से लबालब भरे हुए हैं, इनमें से तुम जिनको चाहते हो, वे सब पदार्थ उन नाना प्रकार की बावलियों से तुमको उस स्वर्ग लोक में प्राप्त होते रहें, तुम्हारी सेवा करते रहें।

'स्वर्गे लोके' इत्यादि उपनिषद् मन्त्र में बताया गया है कि स्वर्गलोक में किसी का भी भय नहीं है। यमराज का भी भय वहां नहीं है। वहाँ जरा (वृद्धावस्था) से भी किसी को भय नहीं है। वहाँ भूख और प्यास का भी भय नहीं है। उस स्वर्गलोक में इन सब भयों से ऊपर उठकर, सभी चिन्ताओं से मुक्त होकर प्राणी आनन्द मनाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है कि इस पृथ्वीलोक से स्वर्गलोक सहस्राश्वाधीन है, अर्थात् वायु की सी गति वाले और शक्तिशाली एक हजार घोड़े एक दिन में जितना मार्ग पार

शक्तिशालिनः सहस्रसंख्याका अश्वा एकेनाह्ना यावन्तं मार्गं गन्तुं शक्नुवन्ति, इतस्तावन्मार्गगम्यः स्वर्गो भवति। अर्थाद् एकेनाह्ना वायुवेगोऽश्वो यावद् दूरं गन्तुं शक्नोति, ततः सहस्रगुणिते दूरदेशे स्वर्गो विद्यते। एतावता 'सुखमेव स्वर्गः दुःखमेव नरकः' इति सत्यार्थप्रकाशोक्तिरपास्ता वेदितव्या।

बलिवैश्वदेवप्रसङ्गोऽपि दयानन्दस्य प्रमाणशून्यः, तद्बोधकमन्त्रादर्शनात्।' अन्येषां ग्रन्थानां प्रामाण्यानभ्युपगमात्। यदुक्तम् —'अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायावतिष्ठते घासमग्ने। रायस्पोषेण समिवा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम।' (अथर्व० १९।७।७), 'पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः। पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥' (वा० सं १९।३९)। हे परमेश्वर, ते तुभ्यं त्वदाज्ञापालनार्थम्, इत् एव तिष्ठतेऽश्वाय घासं यथाश्वस्याग्रे पुष्कलः पदार्थः स्थाप्यते, तथैव अहरहो नित्यं प्रति बलिं हरन्तो भौतिकमग्निमतिथींश्च समिषा सम्यगिष्यते या सा समिट् तया, श्रद्धया रायस्पोषेण चक्रवर्तिराज्यलक्ष्म्या मदन्तो हर्षन्तो वयमग्ने हे परमात्मन्, ते तव प्रतिवेषाः प्रतिकूला भूत्वा सृष्टिस्थान् प्राणिनः मा रिषामो मा पीडयेम, किन्तु भवत्कृपया सर्वे जीवा अस्माकं मित्राणि सन्तु सर्वेषां वयं सखायः स्म इति ज्ञात्वा परस्परं नित्यमुपकारं कुर्याम' (पृ० ३०५-३०६) इति, तदेतत्सर्वं सर्वथा वेदबाह्यमेव व्याख्यानम्, भौतिकमग्निमतिथींश्चेत्यस्य कपोलकल्पितत्वात्। नहि वेदे भौतिकायाग्नये बल्युपहारः क्रियते, किन्तु देवताविशेषस्य तदन्तर्यामिणश्चैव तत्तत्कर्मभिः समर्हणीयत्वात्। द्वितीयो मन्त्रस्तु पूर्वं व्याख्यात इति तेनापि न बलिवैश्वकर्मसिद्धिर्भवति।

इतः परम्--'ॐ अग्नये स्वाहा' इत्यादि दश मन्त्रैर्होमा उक्ताः। तदभिमतेषु वेदेषु मन्त्रा एव क्वोपलभ्यन्त इति तु नोक्तम्। मन्त्राणामर्था अपि तत्कपोलकल्पिता एव। यदि परमेश्वर एव मन्त्राणामर्थस्तदा अग्नये स्वाहेत्यनेनैव गतार्थताऽन्यमन्त्राणाम्। पुनश्च सोमपदेन तस्मै जगदुत्पादकाय किमर्थं होमः क्रियते? किञ्च, त्वद्रीत्या होमस्य वायु-

कर सकते हैं, स्वर्ग का मार्ग इतनी ही दूर है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वायु की गति वाला घोड़ा एक दिन में जितनी दूर जा सकता है, उससे हजार गुना दूर स्वर्गलोक है। इन सब मन्त्रों के प्रमाण से स्वर्गलोक की स्पष्ट ही पृथक् स्थिति सिद्ध होती है। इसके उपरान्त भी 'सुख ही स्वर्ग है और दुःख ही नरक है' इस तरह की सत्यार्थप्रकाश में प्रतिपादित दयानन्द की बात सर्वथा निराधार सिद्ध हो जाती है।

पिण्ड पितृयज्ञ की ही तरह इस पञ्च महायज्ञ प्रकरण में दयानन्द का बलि-वैश्वदेव का विवेचन भी निराधार है। उसके लिये वे किसी वेदमन्त्र का प्रमाण नहीं दे सकते और वेद के सिवाय अन्य किसी ग्रन्थ को वे प्रमाण नहीं मानते। उन्होंने 'अहरह०' इत्यादि मन्त्रों को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है और उनका अर्थ इस प्रकार किया है—'हे परमेश्वर, जैसे खाने योग्य पुष्कल पदार्थ घोड़े के आगे रखते हैं, वैसे ही आपकी आज्ञा का पालन करने के लिये प्रतिदिन भौतिक अग्नि में होम करते और अतिथियों को बलि, अर्थात् भोजन देते हुए हम लोग अच्छी प्रकार वांछित चक्रवर्ती राज्य की लक्ष्मी से आनन्दित होकर हे परमात्मन्, आपकी आज्ञा से उलटे होकर आपके उत्पन्न किये हुए प्राणियों को अन्याय से दुःख कभी न देवें। किन्तु आपकी कृपा से सब जीव हमारे मित्र और हम सब जीवों के मित्र रहें, ऐसा जानकर परस्पर सदा उपकार करते रहें' (पृ० ३०६), किन्तु यह सारी व्याख्या वेदों के विपरीत है। इस मन्त्र में भौतिक अग्नि और अतिथियों का उल्लेख मानना उनकी निरी कपोलकल्पना है। वेद मे भौतिक अग्नि के लिये कहीं भी बलि का विधान नहीं है, किन्तु अग्नि नामक एक विशेष देवता और उन सबमें निवास करने वाले परमेश्वर को ही प्रसन्न करने के लिये इन कर्मों का विधान है। 'पुनन्तु मा०' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है। अतः उसके आधार पर भी बलि वैश्वदेव कर्म के आपके प्रदर्शित स्वरूप की सिद्धि नहीं की जा सकती।

इसके आगे स्वामी दयानन्द ने 'ॐ अग्नये स्वाहा' इत्यादि दस होम मन्त्र उद्धृत किये हैं। आपके द्वारा स्वीकृत चारों वेदों की संहिताओं में ये मन्त्र कहाँ है? यह आपने बताया नहीं। इन मन्त्रों का अर्थ भी मनगढ़न्त है। यदि इन सब शब्दों से परमेश्वर का ही बोध होता है, तो 'अग्नये स्वाहा' इस एक मन्त्र से भी काम चल जायगा, तब अन्य मन्त्रों की क्या आवश्यकता है? फिर सोम पद से उस जगत् के उपकारक के लिये होम क्यों किया जाता है? जब आपके मत से होम का प्रयोजन वायु, जल आदि की शुद्धि ही

जलादिशुद्धिरेव प्रयोजनम्, तदा मन्त्रार्थैश्च किं प्रयोजनं सिद्ध्यतीत्यपि वक्तव्यम्। यदुक्तम्—'विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः सव विद्वांसो वा तेभ्यो नमः'। ईश्वरस्तु गुणविशिष्ट एव भवति। तस्याहुतिप्रदानेनैव गुणा अपि समर्थिता एवेति पृथगुपादानं व्यर्थमेव स्यात्। धन्वन्तरिरपि परमेश्वर एव, तदा तत्प्रयोगोऽपि व्यर्थ एव। कथञ्च सर्वरोगनाशक ईश्वरो धन्वन्तरिपदार्थं इति नोक्तमिति न्यूनतैव। एवं कुहूपदेन दर्शेष्टिग्रहणमपि निर्मूलमेव। दर्शेष्टिस्तु स्वयं होमादिरूपैव। तथा च होमाय होमकरणं कथं सङ्गच्छेत ? ईश्वरेण प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादिताभ्यामग्निभूमिभ्यां सर्वोपकारा ग्राह्याश्चेद् गृह्यन्ताम्, तैर्मन्त्रैर्होमः किमर्थम् ?

अतः परं बलिप्रदानमन्त्रा उक्ताः—'सानुगायेन्द्राय स्वाहा, सानुगाय यमाय स्वाहा'—इत्येवमादिभिः, एतेऽपि मन्त्रास्तदभिमते वेदे नोपलभ्यन्ते। सत्यार्थप्रकाशानुसारेण सानुगायेन्द्राय एको ग्रासः पूर्वस्यां दिशि रक्षणीयः। सर्वेषामेकैकग्रासेन कथमुदरपूर्तिर्भविष्यति। सानुगाय यमाय स्वाहेति दक्षिणस्यां दिशि ग्रासो देयः, किमर्थं यमाय दक्षिणस्यां दिशि भागो देयः ? यदीन्द्रयमवरुणादिशब्दैरीश्वर एव गृह्यते चेदेकेनैव मन्त्रेण गतार्थता। देवतास्तु युष्माभिर्नाभ्युपगम्यन्ते। मूर्तिपूजाखण्डनाय बद्धपरिकरैः सामाजिकैः किमर्थमिन्द्रादिनामभिर्नैवेद्यं निवेद्यते ? मरुद्भ्यः, अद्भ्यश्चापि बलिदानं विहितम्, वनस्पतिभ्यो नम इति मुसलोलूखलाभ्यां च बलिदानमुक्तम्, किमेतेषां जडानां कृते ग्रासदानं मूर्तिपूजा न भवति ? ततः परं भद्रकाल्यै नम इत्यप्युक्तम्। किञ्चैषां मन्त्राणां प्रसिद्धार्थतामपहायार्थान्तरोपवर्णनमुपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितपरिकल्पनमेवानुसरति। एतेनेत्थं प्रतीयते यद्रूढिर्योगमपहरतीति न्यायमपि नानुशीलितवान् दयानन्दः। इन्द्रपदेन परमैश्वर्यवत ईश्वरस्य ग्रहणेऽपि तस्य सानुगत्वं कस्य ? यमपदेनापि न्यायकारित्वादियुक्तः परमात्मैव गृह्यते। किं परमेश्वरभेदेन

है, तब मन्त्रों का अर्थ करने और होम के साथ उनके उच्चारण करने का क्या प्रयोजन है ? 'सारे संसार के प्रकाश करने वाले ईश्वर के गुण अथवा विद्वान् लोग' (पृ० ३०७) ऐसा अर्थ कर उनके लिये आहुति देने का क्या प्रयोजन है ? ईश्वर तो गुणों से युक्त ही होता है। उसको आहुति देने से ही उसके गुणों का समर्थन हो जाता है। तब उनका अलग से उल्लेख किसलिये किया जाता है ? धन्वन्तरि भी जब परमेश्वर ही हैं, तब अलग से इनका उल्लेख करना भी व्यर्थ है। धन्वन्तरि पद का अर्थ सभी प्रकार के रोगों का नाशक परमेश्वर किस प्रमाण से होगा, यह भी आपने नहीं बताया। यह आपकी व्याख्या की एक कमी ही मानी जायगी। कुहू पद से दर्श इष्टि का ग्रहण भी निराधार है। दर्श इष्टि स्वयं होम रूप ही है। तब होम के लिये होम करने का क्या तुक है ? ईश्वर के द्वारा सभी उत्कृष्ट गुणों के साथ उत्पन्न किये गये अग्नि और भूमि से सभी तरह के उपकार स्वीकार करने चाहिये, तो ऐसा किया जाय, किन्तु इसके लिये मन्त्रों से होम करने की क्या आवश्यकता है ?

इसके आगे बलिप्रदान के मन्त्र लिखे गये हैं—'सानुगायेन्द्राय स्वाहा' इत्यादि। ये मन्त्र भी आपके अभिमत वेद में उपलब्ध नहीं हैं। सत्यार्थप्रकाश के अनुसार सानुग इन्द्र के लिये एक ग्रास पूर्व दिशा में रखना चाहिये। इन सबका पेट एक ही ग्रास से कैसे भर जायगा ? 'सानुगाय यमाय स्वाहा' इस मन्त्र से दक्षिण दिशा में ग्रास देना चाहिये। यम को दक्षिण दिशा में क्यों ग्रास दिया जायगा ? यदि इन्द्र, यम, वरुण प्रभृति शब्दों से ईश्वर का ही ग्रहण करना है, तो एक ही मन्त्र से यह कार्य हो जायगा। इन नामों के भिन्न-भिन्न देवताओं को आप स्वीकार नहीं करते। मूर्तिपूजा का खण्डन करने के लिये तत्पर आर्यसमाजी किसलिये इन्द्र प्रभृति का नाम लेकर उनके लिये नैवेद्य अर्पित करते हैं ? मरुद्गण और जल देवताओं के निमित्त भी बलि दी गई है और 'वनस्पतिभ्यो नमः' इसका उच्चारण कर मुसल और ऊखल के निमित्त भी बलि दी जाती है। इन जड़ पदार्थों के लिये बलि देना क्या मूर्तिपूजा नहीं हुई ? इन मन्त्रों में भद्रकाली के निमित्त भी बलि दी गई है। इन सब मन्त्रों में आये शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर दूसरा अर्थ करना उपस्थित को छोड़ कर अनुपस्थित की कल्पना वाले न्याय का अनुसरण करना हुआ, जो कि गलत माना जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि स्वामी दयानन्द मीमांसादर्शन के इस प्रसिद्ध न्याय को भी देख नहीं पाये कि 'रूढ़ि यौगिक अर्थ से अधिक बलवान् होती है'। इन्द्रपद से जब आप परम ऐश्वर्यवान् ईश्वर का ग्रहण करते हैं, तब उसके अनुचर कौन होंगे ? इसी तरह यम पद से भी जब आप न्यायकारी परमात्मा का ही ग्रहण करते हैं, तब क्या आप परमेश्वर के साथ उनके अनुचरों का भी भेद स्वीकार करते हैं ? 'जो

तदनुगानां च भेदोऽभिप्रेयते ? एवमेव—'य ईश्वराधारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति च ते मरुतः' इत्यपि यत्किञ्चित्, मरुत्पदस्य प्राणार्थकत्वेन तथार्थत्वाङ्गीकारे गौणार्थाश्रयणापातात् । तथात्वेऽपि जडत्वं नातिवर्तते, जडाय बल्युपहरणेऽसिद्धान्तापातात् । वनस्पतिपदेन वायुमेघादोनां ग्रहणे वनानां लोकानामधिपतित्वे ईश्वरान्तरत्वमायाति प्रसिद्धिव्याकोपश्च । यदपि'त्तमगुणयोगेनेश्वरोत्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चोपकारग्रहणं सदा कार्यम्' इति, तदपि बालप्रलपितमेव । तथात्वेऽपि जडेभ्यो बल्युपहारेण त्वद्रीत्या मूर्तिपूजात्वापत्तेः । भद्रकाल्याः परमेश्वरशक्तित्वेऽपि प्रसिद्धदेवतातिक्रमे मानाभावात् । श्रयते हरिं या सा श्रीरिति श्रियोऽपि तच्छक्तित्वसम्भवात् । विघ्नभयादपि नक्तञ्चारिभ्यो दिवाचारिभ्यो बल्युपहरणेऽनीश्वरपूजा समायातैव । पितृभ्यः स्वधायिभ्य इत्यप्यसङ्गतम्, प्रत्यक्षपितृपितामहादिभ्यो ग्रासप्रदानं किमर्थम् ? तेषां तृप्त्यर्थमिति चेन्न, ग्रासमात्रेण तृप्त्यसम्भवात् । तदर्थं तेषां कृते स्थाल्यादिषु पर्याप्तभोजनस्यैव दातव्यत्वापातात् । एवमेव पितृतर्पणनाम्ना तेभ्यस्तेभ्यो जलाञ्जल्यादिदानमपि व्यर्थमेव । वस्तुतस्तु मनुष्यभिन्नदेवपित्रादिसत्तानभ्युपगमे तर्पणश्राद्धवलिवैश्वदेवादिकर्मानुष्ठानं लोकवञ्चनार्थं स्वनास्तिक्यप्रच्छादनार्थमेव भवति सामाजिकानाम् ।

यदप्यतिथियज्ञसिद्धये प्रमाणमुपन्यस्तम्—'तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् स्वयमेनमभ्युपेत्य ब्रूयात्—व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति' (अथर्व० १५।३।१) इति, तदप्यकिञ्चित्करमेव, मन्त्रयोरनयोर्व्रात्यवर्णनपरत्वेनातिथिसामान्यवर्णनाभावात् । अत्र व्रात्यशब्दस्य महोत्तमगुणविशिष्ट इत्यर्थस्तु निष्प्रमाण एव । व्रात्यो नाम उपनयनादिसंस्कारहीनः पुरुष उच्यते । स च यज्ञादिवेदविहितक्रियास्वनधिकृतो व्यवहारायोग्यश्चेति प्रसिद्धम् । अत्र तु व्रात्यकाण्डे पञ्चदशे विशिष्टो व्रात्यः शिवः परमेश्वर एव, तस्य सर्व-

ईश्वर के सहारे सारे विश्व को धारण करते हैं और चेष्टा करते हैं, वे मरुत् हैं' ऐसा अर्थ करना भी गलत है, क्योंकि मरुत् शब्द का अर्थ तो प्राण होता है, आपका अर्थ करने में गौणी वृत्ति का सहारा लेना पड़ेगा और इतने पर भी यह जड़ पदार्थ के रूप में ही स्वीकृत होंगे । जड़ पदार्थ को बलि देना तो किसी सिद्धान्त में स्वीकृत नहीं है । वनस्पति शब्द से वायु, मेघ आदि का ग्रहण करने पर वन और लोक के अधिपति के रूप में किसी भिन्न परमेश्वर की सत्ता माननी पड़ेगी और इस तरह से आपका यह अर्थ लोकप्रसिद्धि के विपरीत पड़ेगा । इसी तरह से उत्तम गुण सम्पन्न ईश्वर के द्वारा उत्पादित महावृक्षों का भी सदा उपकार मानना चाहिये, अर्थात् उनको बलि देना चाहिये, यह बात भी बच्चों की बकवास के समान है । यदि ऐसा किया भी जाय, तो यह स्पष्ट जड़ पदार्थ को बलि देना हुआ, उसकी पूजा करना हुआ । इस तरह से यह तो एक प्रकार की मूर्तिपूजा ही हुई । भद्रकाली परमेश्वर की शक्ति होते हुए भी वह एक प्रसिद्ध देवता भी है । इसको न स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है । 'जो हरि का आश्रय लेती हैं, वह श्री हैं, इस व्युत्पत्ति के अनुसार श्री भी परमेश्वर की ही शक्ति हैं । विघ्न के भय से यदि रात्रि में और दिन में भी विचरण करने वाले विघ्नकारी प्राणियों को बलि दी जाती है, तो यह एक प्रकार से ईश्वर से भिन्न जीवों की पूजा मान ही ली गई । 'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः' का अर्थ भी आपका असंगत है । पिता, पितामह आदि जब प्रत्यक्ष हैं, तब उनको एक ग्रास किसलिये दिया जायगा ? उनकी तृप्ति तो एक ग्रास से होगी नहीं । उनके लिये तो थाली में पर्याप्त भोजन देना पड़ेगा, जिससे कि उनका पेट भर सके । इसी तरह से पितृतर्पण के नाम से उन जीवित पिता, पितामह आदि के लिये जलांजलि देना भी व्यर्थ है । वास्तव में तो मनुष्यों से भिन्न देवता, पितृगण को न मानते हुए भी आर्यसमाजी तर्पण, श्राद्ध, बलिवैश्वदेव आदि का अनुष्ठान जनता को ठगने के लिये और अपनी नास्तिकता को छिपाने के लिये करते हैं ।

आगे स्वामी दयानन्द अतिथि यज्ञ की सिद्धि के लिये 'तद्यस्यैवं विद्वान्' इत्यादि अथर्ववेदीय मन्त्रों को प्रमाण के रूप में उपस्थित करते हैं, किन्तु यह भी गलत है, क्योंकि ये मन्त्र तो व्रात्य का वर्णन करते हैं । इनका सामान्य अतिथियों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है । यहाँ व्रात्य का अर्थ 'महान् उत्तम गुण विशिष्ट' करना गलत है । व्रात्य उपनयन संस्कार से रहित पुरुष को कहा जाता है । वह वेदविहित यज्ञ आदि करने का अधिकारी नहीं होता, तथा वह अन्य व्यवहारों के सम्पादन में भी अयोग्य माना जाता है । अथर्ववेदीय व्रात्य काण्ड में इसके विपरीत भगवान् शिव को ही विशिष्ट व्रात्य माना गया है, क्योंकि वही इस विस्तृत सृष्टि का कारण है । मूल का कोई मूल नहीं होता, अर्थात् सारे जगत् के कारणभूत उस शिव परमेश्वर का कोई दूसरा कारण नहीं है । वह तो परममूल है,

कारणत्वात् । मूले मूलाभावात् परममूलस्यामूलत्वात् तस्योपनयनादिसंस्कारकर्तृपित्राद्यभावाद् असंस्कृतत्वाद् व्रात्यत्वव्यपदेशः । शिवपुराणादौ तस्य व्रात्यत्वव्यवहारो दृश्यते । स व्रात्यो महानुभावो देवप्रियः । किं बहुना, व्रात्यो देवाधिदेव एवेति प्रतिपादितः । यत्र व्रात्यो गच्छति तत्रैव विश्वं जगद् विश्वे च देवास्तत्र समनुगच्छन्ति, तस्मिन् स्थिते तिष्ठन्ति तस्मिंश्चलति चलन्ति, यदा स गच्छति राजवद् गच्छति, नैतावतापि सर्वव्रात्यपरोऽयं व्रात्यशब्दः, किन्तु कश्चिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसम्मान्यं कर्मपरैः कर्मठैर्विद्विष्टमनुलक्ष्य तत्रत्या मन्त्राः प्रवर्तन्ते । यस्य गृहे सौभाग्यवशात् स व्रात्योऽतिथिर्भूत्वाऽऽगच्छेत् स स्वयमभ्युत्थानं कृत्वा ब्रूयात्—हे व्रात्य, त्वं क्व निवासं कृतवानसि ? हे अतिथे, यथा भवन्त उदकं जलं गृहाण, अस्मदीया जना यथा ते प्रियं स्यात् तथा त्वां तर्पयन्तु, यथा तो वशः स्वाधीनत्वं तथास्तु, यथा ते निकामः नितरां कामो विशिष्टकामस्तथास्तु ।

यदुक्तं—'यथा भवन्तः स्वकीयसत्योपदेशेनास्माकं मित्रादींश्च तर्पयन्तीति', तत्तु निर्मूलमेव, तादृशार्थबोधकवचनाभावात् । दयानन्दोक्तिस्तु परस्परव्याहता, एकत्रोच्यते यस्य गमनागमनानियता तिथिः सोऽतिथिर्भवति । उत्तरत्र मन्त्रव्याख्याने तु सत्योपदेशकर्तृत्वे तस्य मित्रादितर्पकत्वमुच्यते । मूले एकवचनान्त एव व्रात्यशब्दः । व्याख्याने यथा भवन्त इति बहुवचनमपि तत्र प्रयुक्तम् । 'यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु । यथा भवदिच्छापूर्तिः स्यात्तथा सेवां वयं कुर्याम । यतो भवान् वयं च परस्परं सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यावृद्ध्या सदा सुखे तिष्ठेम' (पृ० ३१०) इत्यादिकं तु सर्वं कल्पनामात्रम्, अक्षराननुगमात् । किं बहुना, मन्त्रब्राह्मणश्रौतगृह्यादिसूत्रस्मृत्यादिप्रामाण्याभ्युपगममन्तरा शिखा-

सबका कारण है, अतः उसका कोई कारण नहीं है । उस स्थिति में पिता आदि के अभाव में उसका उपनयन आदि संस्कार करने वाला भी कोई नहीं है, अतः उस परमेश्वर शिव के असंस्कृत होने से वह व्रात्य कहलाता है । शिवपुराण आदि ग्रन्थों में शिव को व्रात्य के नाम से ही जाना गया है ।' वह व्रात्य परम श्रेष्ठ है, देवताओं का प्रिय है, वस्तुतः सभी देवताओं का भी अधिपति (स्वामी) है । यह व्रात्य जहाँ चलता है, वहीं यह सारा जगत् और सारे देवता उसके पीछे पीछे चलते हैं, उसके रुकने पर रुक जाते हैं और उसके चलने पर फिर चलने लगते हैं । जब वह चलता है तो राजा के समान चलता है' इस वर्णन से यह नहीं सिद्ध होता कि यहाँ का व्रात्य शब्द सभी प्रकार के व्रात्यों का बोधक है, किन्तु किसी महान् अधिकार सम्पन्न परमश्रेष्ठ विद्वान् विश्वसंमान्य पुण्यात्मा का यहाँ उल्लेख माना जायगा, जो कि कर्ममार्ग में पड़े कर्मठ लोगों को कभी मान्य नहीं होता । ऐसे परम विरक्त विशिष्ट व्यक्ति के लिये ही उक्त व्रात्य सूक्त के मन्त्रों का कहना है कि जिसके घर उसके सौभाग्य से इस तरह का व्रात्य अतिथि बनकर पहुँचता है, वह स्वयं उसकी अगवानी करके पूँछे कि हे व्रात्य, तुम इतने दिन कहाँ निवास कर रहे थे । हे अतिथि, आप हमारे यहाँ अपनी रुचि के अनुसार जल ग्रहण कीजिये, हमारे परिजन तुम्हारी रुचि के अनुसार सब तरह से सेवा करें, आप अपनी रुचि के अनुसार अपनी सारी विशिष्ट कामनाओं को पूरी कीजिये ।

'अपने सत्य उपदेश से हमें और हमारे मित्रों को आप तृप्त करते हैं' (पृ० ३१०) स्वामी दयानन्द कृत यह अर्थ सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि इस तरह के अर्थ को बताने वाले शब्द इस मन्त्र में हैं ही नहीं । स्वामी दयानन्द का कथन अपने में ही परस्पर विरोधी है । एक जगह वे कहते हैं कि जिसके आने-जाने की कोई तिथि निश्चित नहीं होती, वह अतिथि कहलाता है तो दूसरी जगह वे उस अतिथि को सत्य का उपदेश करके उसके मित्रों आदि को भी तृप्त करने वाला मानते हैं । जब अतिथि के आने की तिथि ही निश्चित नहीं है, तो वह सत्य का उपदेश कर उस परिवार के मित्रों को भी तृप्त किस प्रकार करेगा ? मूल मन्त्र में व्रात्य शब्द एकवचन में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु इसकी व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द ने उसको बहुवचन का बना दिया है । हे विद्वन्, जिस प्रकार आपकी प्रसन्नता हो, हम लोग वैसा ही काम करें तथा जो पदार्थ आपको प्रिय हो, उसकी आज्ञा कीजिये । जैसे आपकी कामना पूर्ण हो, वैसी सेवा की जाय कि जिससे आप और हम लोग परस्पर प्रीति और सत्संगपूर्वक विद्यावृद्धि करके सदा आनन्द में रहें'(पृ० ३१०) । यह व्याख्या भी पूरी तरह से उनकी कल्पना पर ही टिकी हुई है, क्योंकि मन्त्र के शब्दों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है । अधिक क्या कहा जाय, मन्त्र, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, स्मृति आदि ग्रन्थों का सहारा लिये बिना, इन सबको प्रमाण माने बिना शिखा (चोटी) और यज्ञोपवीत (जनेऊ) को धारण करने की विधि भी केवल मन्त्रों के आधार पर ज्ञात नहीं हो सकती । शिक्षा पद का अर्थ क्या

यज्ञोपवीतादिकमपि मन्त्रैर्न साधयितुं शक्यम्। शिखापदवाच्यं किं क्व च तद्रक्षणीयम्, यज्ञोपवीतस्य कथं निर्माणम्, तच्च क्व कथं च धारणीयमेतत्सर्वं सामाजिकैर्मन्त्रबलेन न साधयितुं शक्यम्।

ग्रन्थप्रामाण्यविचारः

यदुक्तम्—'य ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतः प्रमाणं कर्तुं योग्याः, ये जीवोक्तास्ते परतः प्रमाणार्हाः। ईश्वरोक्ताश्चत्वारो वेदाः स्वतः प्रमाणम्, कुतस्तदुक्तौ भ्रमादिदोषाभावात्। तस्य सर्वज्ञत्वात् सर्वविद्याविषयत्वात् सर्वशक्तित्वात्' (पृ० ३११) इत्यादि, तत्तु निर्मूलमेव, वेदानामीश्वरोक्तत्वे प्रमाणाभावात्। न च वेदा एव तत्र प्रमाणम्, अन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्। नहीश्वरोक्तत्वं प्रामाण्यप्रयोजकम्। न चेदमनुमानम्, दृष्टान्ताभावात्। न च व्यतिरेकिदृष्टान्तेन तत्सिद्धिः, आप्तोक्तानामपि प्रामाण्यदर्शनात्। यदि तु वेदप्रामाण्यादीश्वरसिद्धिः, ईश्वरोक्तत्वाच्च वेदप्रामाण्यमिति, तदपि तुच्छम्, अन्योन्याश्रयदोषग्रस्तत्वात्। न चानुमानादीश्वरसिद्धिरिति वाच्यम्, अनुमानेनेश्वरसामान्यसिद्धावपि तस्य वेदकारत्वासिद्धेः।

यदुक्तम्—'वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्यं सूर्यदीपादीनामिव। यथा सूर्यः प्रदीपश्च स्वप्रकाशेनैव प्रकाशितौ सन्तौ सर्वमूर्तद्रव्यप्रकाशकौ, तथैव वेदाः स्वप्रकाशेनैव प्रकाशिताः सन्तः सर्वानन्यान् विद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति' (पृ० ३११) इति, तदपि तुच्छम्, परसमवेतक्रियाफलशालिनः कर्मत्वेनैकस्मिन्नेव तदसम्भवेन कर्मकर्तृविरोधात्। न च प्रकाशान्तरनिरपेक्षत्वेन स्वप्रकाशत्वम्, सूर्यादीनामपि चक्षुरादिप्रकाशसापेक्षत्वेन तदयोगात्। न च सजातीतप्रकाशानपेक्षत्वेनैव

है ? उसकी रक्षा किस तरह से की जाती है, यज्ञोपवीत किस तरह से बनाया जाता है तथा उसको कहाँ और कब धारण करना चाहिये, इन सब बातों को आर्यसमाजी केवल वेद के मन्त्रों के सहारे से कभी नहीं बना सकते, इसके लिये तो उनको पूरे वैदिक और स्मृति साहित्य को ही प्रमाण के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा।।

ग्रन्थों के प्रामाण्य पर विचार

ग्रन्थों के स्वतः प्रामाण्य और परतः प्रामाण्य की चर्चा उठाते हुए स्वामी दयानन्द कहते हैं कि 'ईश्वर की कही हुई जो चारों मन्त्रसंहिताएं हैं, वे ही स्वयं प्रमाण होने योग्य हैं, अन्य नहीं। परन्तु उनसे भिन्न भी जो जो जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं, वे भी वेदों के अनुकूल होने से परतः प्रमाण होने होग्य हैं। क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्तिवाला है। इस कारण से निर्भ्रम और प्रमाण के योग्य हैं। और जीवों के बनाये ग्रन्थ स्वतः प्रमाण के योग्य नहीं होते, क्योंकि जीव सर्वज्ञ, सर्वविद्यायुक्त और सर्वशक्तिमान् नहीं होते। इसलिये उनका कहना स्वतः प्रमाण के योग्य नहीं हो सकता' (पृ० ३१२), किन्तु उनका यह सारा कथन निराधार है। वेद ईश्वर के द्वारा कहे गये हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। वेद ही इसमें प्रमाण नहीं माने जा सकते है, क्योंकि ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष पड़ जायगा। ईश्वरप्रोक्त होने से वेद प्रमाण होंगे और वेद के प्रमाण होने पर उसकी ईश्वरप्रोक्तता सिद्ध होगी। वेद के ईश्वरप्रोक्त होने से उसमें प्रामाणिकता नहीं आ सकती। अनुमान से इसको सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं है। व्यतिरेक दृष्टान्त से भी इसकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि आप्त वाक्यों को भी प्रमाण माना जाता है। ईश्वर प्रोक्त वाक्य की व्यतिरेक दृष्टान्त के आधार पर प्रामाणिकता सिद्ध करने पर आप्त वाक्य की प्रामाणिकता नहीं सिद्ध हो पावेगी। वेद की प्रामाणिकता के आधार पर ईश्वर की सिद्धि और ईश्वरप्रोक्त होने से वेद का प्रामाण्य मानने पर स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय दोष आता है। ईश्वर की सिद्धि अनुमान से नहीं कर सकते, क्योंकि अनुमान से आप सामान्य रूप से ईश्वर की सिद्धि भले ही करलें, किन्तु यह सिद्ध नहीं कर सकते कि उस ईश्वर ने वेदों की भी रचना की है।

'वेद के विषय में जहाँ कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो, वहां सूर्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है। अर्थात् जैसे सूर्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होकर सब क्रिया वाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होकर अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं' (पृ० ३१२) स्वामी दयानन्द का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस क्रिया का फल दूसरे के साथ जुड़ा है, उसको कर्म कहा जागया। अतः कर्म और कर्ता कभी एक नहीं हो सकते, क्योंकि कर्ता कारक में तो फल अपने में रहता है। स्वप्रकाश का अर्थ दूसरे प्रकाश की अपेक्षा न रहना भी नहीं कर सकते, इस तरह की स्वप्रकाशता तो सूर्य, दीपक प्रभृति में भी नहीं मिलेगी, क्योंकि वे भी चक्षु प्रभृति प्रकाश की सहायता के बिना किसी वस्तु को अपने

स्वप्रकाशत्वम्, इतरग्रन्थानामपि स्वसजातीयग्रन्थानपेक्षत्वेन स्वप्रकाशत्वापत्तेः। किञ्च, वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्ये चार्वाकादीनामपि तेषां प्रामाण्याभ्युपगमापातात्। सूर्यस्य यथावस्तुप्रकाशकत्वे ते यथा न विवदन्ते, तथैव वेदानां यथावस्तुप्रकाशकत्वेऽपि ते न विवदेरन्। नहि वेदानां स्वप्रकाशत्वं केचिद्दार्शनिका अभ्युपगच्छन्ति, शब्दात्मकानां तेषां श्रोत्रबुद्ध्यादिप्रकाश्यत्वेन स्वप्रकाशत्वाभावात्। ज्ञानजनकत्वेन स्वप्रकाशत्वे तु चक्षुरादीनामपि स्वप्रकाशत्वापत्तिः स्यात्। न चेष्टापत्तिः, तेषामतीन्द्रियत्वेन प्रकाशानुपपत्तौ स्वप्रकाशत्वस्य दूरापास्तत्वात्। य ईश्वरमेव नाभ्युपगच्छन्ति, तेषां तदुक्तत्वेन वेदप्रामाण्याभ्युपगमाकाङ्क्षा दुराशैव। अत एव वेदानामन्येभ्यो विरोधादप्यप्रामाण्यं न भवतीत्यन्धश्रद्धामात्रम्।

सिद्धान्ते तु सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वेनापौरुषेयत्वाद् वेदानामपास्तसमस्तभ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवादिशङ्काकलङ्कपङ्कत्वेनानपोदितं प्रामाण्यस्वतस्त्वं तिष्ठति, सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यस्वतस्त्वाभ्युपगमात्। करणदोषाद् विषयबाधाच्चाप्रामाण्यमित्यप्रामाण्यं परतः। प्रामाण्यं तु स्वविषयसिद्धौ अन्यानपेक्षत्वात् स्वत एव, अर्थतथात्वस्यैव प्रामाण्यात्। पूर्वप्रमाणस्य प्रामाण्याय प्रमाणान्तरापेक्षणे तस्यापि प्रामाण्याय प्रमाणान्तरापेक्षायामनवस्थादिदोषप्रसक्तेः। नैयायिकादिरीत्या त्वीश्वरोक्तानां वेदानां गुणवद्वक्तृकत्वेन प्रामाण्यं न त्वीश्वरोक्तत्वेन, अननुगमाद् गौरवाच्च। गुणवद्वक्तृकत्वं त्वीश्वरानीश्वरसाधारणप्रोक्तवचनेष्वनुगतम्।

आप नहीं प्रकाशित करते। समानजातीय प्रकाश की अपेक्षा न रखने को यदि स्वप्रकाशता माना जाय, तब तो अन्य ग्रन्थ भी जब अपने सजातीय ग्रन्थों की अपेक्षा न रखें, तो उनकी भी स्वप्रकाशता मानी जाने लगेगी। वेद का प्रामाण्य यदि वेद से ही सिद्ध है, तो उसमें फिर चार्वाक प्रभृति को भी किसी प्रकार संदेह नहीं होना चाहिये। सूर्य के प्रकाश से किसी वस्तु के प्रकाशित होने पर जैसे चार्वाक प्रभृति उस वस्तु के विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं उठाते, उसी तरह से उनको वेदों से वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाने पर उस पर विवाद नहीं उठाना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं। अतः उनकी स्वतः प्रकाशता मानी नहीं जा सकती। कोई भी दार्शनिक वेदों की स्वतः प्रकाशता को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वे तो शब्दात्मक हैं, अतः उनका प्रकाश श्रोत्र, बुद्धि आदि की सहायता से ही हो सकता है, स्वतः नहीं। स्वप्रकाश का अर्थ यदि ज्ञान का जनक माना जाय, तब तो चक्षु प्रभृति इन्द्रियों को भी स्वप्रकाश मानना पड़ जायगा, क्योंकि वे भी तो ज्ञान की जनक हैं ही। इस आपत्ति को यदि आप स्वीकार करलें, अर्थात् यदि आप चक्षु प्रभृति इन्द्रियों को भी स्वप्रकाश मानने लगें, तो यह कैसे संभव हो सकता है। ये इन्द्रियां तो अतीन्द्रिय हैं, इसमें जब प्रकाश ही नहीं है, तब इनकी स्वप्रकाशता कहाँ आवेगी। जो ईश्वर को ही नहीं मानते, उनके मत से उस ईश्वर के द्वारा कहे गये वेदों की प्रामाणिकता की इच्छा रखना दुराशामात्र है। 'इसीलिये वेदों का अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो, तब भी अप्रमाण नहीं हो सकते' (पृ० ३१३) यह उक्ति स्वामी दयानन्द की वेदों के प्रति अन्धश्रद्धा को व्यक्त करने वाली है।

हमारे मत से तो सम्प्रदाय की अविच्छिन्न परम्परा के रहते भी उसका कोई बनाने वाला किसी की स्मृति में विद्यमान नहीं है, अतः वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध होती है, अर्थात् यह मालूम हो जाता है कि उनका कोई बनाने वाला नहीं है। वेदों का कोई बनाने वाला नहीं है, इसी लिये वेदों में कर्ता में विद्यमान भ्रम, प्रमाद, वंचना, इन्द्रियों की असमर्थता आदि दोषों की भी किसी प्रकार की आशंका नहीं उठती। अतः इन वेदों की स्वतः प्रामाणिकता को किसी प्रकार से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सभी प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः (अपने आप) माना जाता है। कारण में किसी दोष के रहने पर अथवा विषय का बाध हो जाने पर ज्ञान की अप्रामाणिकता सिद्ध होती है, अतः अप्रामाण्य का ज्ञान दूसरों की सहायता से ही हो पाता है। प्रामाण्य अपनी सिद्धि में किसी की अपेक्षा नहीं रखता, अतः वह स्वतः ही सिद्ध है। प्रामाण्य का अर्थ वस्तु की यथार्थता, वास्तविकता ही है। पहले प्रमाण की यथार्थता के लिये यदि दूसरे प्रमाण की आवश्यकता मानी जायगी, तो उस दूसरे प्रमाण की प्रामाणिकता के लिये भी प्रमाणान्तर की आवश्यकता होगी और इस तरह से यह विषय अनवस्था दोष में पड़ जायगा। नैयायिक प्रभृति दार्शनिकों के मत से तो ईश्वरप्रोक्त वेदों का प्रामाण्य इस लिये माना जाता है कि ये गुणवान् वक्ता के द्वारा उपदिष्ट हैं। केवल ईश्वर के द्वारा उपदिष्ट हैं, इतने मात्र से वेदों का प्रामाण्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें कोई अनुकूल तर्क नहीं है, साथ ही ऐसा मानने में गौरव भी है। गुणवान् वक्ता तो ईश्वर भी हो सकता है और ईश्वरभिन्न कोई आप्त पुरुष भी, अतः यह लक्षण सभी प्रामाणिक वाक्यों में अनुगत रहता है।

यदप्युक्तम्—'ये स्वतः प्रमाणभूता मन्त्रभागसंहिताख्याश्चत्वारो वेदा उक्तास्तद्भिन्नास्तद्व्याख्यानभूता ब्राह्मणमर्हन्ति। तथैवैकादशशतानि सप्तविंशतिश्च वेदशाखा वेदार्थव्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ति' (पृ० ३११) इति, तदेतत्सर्वं मत्तप्रलपितमेव, निष्प्रमाणत्वात् खण्डितत्वाच्च। त्वद्रीत्या स्वतःप्रामाण्यस्यासिद्धत्वाच्च। मन्त्रभागपदव्यपदेशेनैव भागान्तरस्य ब्राह्मणभागस्यापि स्वतः प्रामाण्यं निश्चीयते। नहि फलस्यैको भागः फलमपरः फलभिन्नो भवति। किञ्च, चत्वारो वेदा इत्यनेन ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चोच्यन्ते, न चत्वारि पुस्तकानि, विनिगमनाविरहात्। महाभाष्यकारादिभिस्तेषामेकशतमध्वर्युशाखा एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाथर्वणः, सहस्रवर्त्मा सामवेद इत्येकत्रिंशदुत्तरैकादशशतशाखाभेदेन वर्णितत्वात्। एकैकस्यां शाखायां संहिताभागो ब्राह्मणभागश्च। ब्राह्मणेऽपि ब्राह्मणारण्यकोपनिषदः। इत्थं वैदिकानां दृष्ट्याऽनेकशाखाभेदभिन्नो मन्त्रब्राह्मणात्मकः सर्वोऽपि वेदः। अत्र काश्चतस्रः शाखा वेदाः काश्च नेत्यत्र न क्वापि किञ्चन मूलमुपलभ्यते। भगवद्दत्तादिकृतवैदिकवाङ्मयादिप्रोक्ता युक्तयस्तु पूर्वं खण्डिता एव। शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तछन्दोज्योतिषाङ्गानामायुर्वेदधनुर्वेदगान्धर्ववेदादीनां च प्रामाण्यमास्तिकैरभ्युपेयत एव।

भूमिकाभासग्रन्थे सत्यधर्मप्रियारचणैरित्युद्धृत्य विचारः कृतः। मन्ये तत एव पाठः परिवर्तितः। इदानीन्तने संस्करणे तु सत्यधर्मप्रियाचरणैरिति पाठो दृश्यते, तथापि नार्थसङ्गतिः, तदनिरूपणात्। न च सत्यधर्माय प्रियमाचरणं येषामिति समासो दोषतादवस्थ्यात्। नहि धर्मस्यासत्यत्वं सम्भवति, येन तद्व्यावृत्तये सत्यमिति विशेषणसार्थक्यं स्यात्। विशेषणत्वाभावे तस्यापि धर्मान्तर्गतत्वमेवेति पृथक् पाठवैयर्थ्यमेव स्यात्।

इसके आगे स्वामी दयानन्द ने लिखा है—'मन्त्रभाग की चार संहिता, जिनका कि नाम वेद है, वे सब स्वतः प्रमाण कहे जाते हैं और इनसे भिन्न ऐतरेय, शतपथ आदि प्राचीन सत्य ग्रन्थ हैं, वे परतः प्रमाण के योग्य हैं। इसी तरह से ११२७ चार वेदों की शाखाएँ भी वेदों के व्याख्यान होने से परतः प्रमाण हैं' (पृ० २१३), किन्तु इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है। आपने वेदों का जिस तरह का स्वतः प्रामाण्य माना है, उसकी सिद्धि हो भी नहीं सकती, जैसा कि अभी अभी हमने ऊपर बताया है। 'मन्त्रभाग' इस पद में भाग शब्द ही यह सिद्ध करता है कि ब्राह्मण नाम का भाग भी स्वतः प्रमाण स्वरूप वेद का अभिन्न अंग है। किसी एक ही रूप का एक भाग तो फल हो और दूसरा भाग उससे भिन्न हो, ऐसा होता नहीं। चार वेद यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का बोधक शब्द है। इस नाम की चार पुस्तकों का उससे बोध होता हो. सो बात नहीं है। ऐसा अर्थ करने में आपके पास कोई सहायक सामग्री नहीं है। इसके विपरीत महाभाष्यकार प्रभृति ने १०१ यजुर्वेदीय शाखाओं का, २१ ऋग्वेद की, ९ अथर्ववेद की और एक हजार सामवेद की शाखाओं का, इस तरह से कुल मिलाकर वेद की ११३१ शाखाओं का स्पष्ट उल्लेख किया है। प्रत्येक शाखा में संहिता भाग और ब्राह्मण भाग अलग अलग है। ब्राह्मण भाग में भी ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों का समावेश माना जाता है। इस तरह से वैदिकों की दृष्टि में अनेक शाखाओं के भेदों में बटा हुआ यह मन्त्र और ब्राह्मणभागात्मक सारा साहित्य वेद के ही अन्तर्गत माना जाता है। इनमें से चार शाखाएँ वेदों की कौन कौन सी हैं, और कौन नहीं हैं? इसका विवेचन करने वाला कोई प्रमाण हमारे सामने विद्यमान नहीं है। भगवद्दत्त प्रभृति आर्यसमाजी विद्वानों ने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' प्रभृति ग्रन्थों में जो युक्तियाँ दी हैं, उनका खण्डन हम पहले ही कर चुके हैं। वेदों की ही तरह शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष इन छः वेदांगों को भी और आयुर्वेद, धनुर्वेद, शिल्पशास्त्र और गान्धर्व वेद को भी सभी आस्तिक जन प्रामाणिक ग्रन्थों के रूप में स्वीकार करते हैं।

स्वामी दयानन्द ने इस नये प्रकरण का आरंभ 'सत्यधर्मप्रियारचणैः' इस वाक्य से किया है. जिसका कि कुछ अर्थ नहीं निकलता। लगता है इसीलिये बाद में पाठ बदल दिया गया। आजकल के संस्करण में 'सत्यधर्मप्रियाचरणैः' ऐसा पाठ है। तब भी अर्थ की संगति तो नहीं बैठती, क्योंकि इसके लिये उन्होंने कुछ प्रयत्न ही नहीं किया है। 'सत्यधर्म के लिये प्रिय आचरण करने वाले' ऐसा अर्थ करने पर भी दोष बचा ही रह जाता है, क्योंकि धर्म कभी असत्य नहीं होता, तब उसकी निवृत्ति के लिये यहाँ 'सत्य' विशेषण जोड़ने की क्या आवश्यकता है? अब यदि इसको विशेषण न मानकर धर्म का ही अंग माना जाता है, तो फिर उसका अलग से उल्लेख करना व्यर्थ है।

'य ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतः प्रमाणं कर्तुं योग्याः सन्ति' (पृ० ३११) इत्यस्य कोऽभिप्रायः ? ग्रन्थाः स्वतः प्रमाणं केन कथं कर्तुं शक्यन्त इति तु सामाजिका एव जानन्तु। प्रामाणिकैस्तु स्वतः प्रमाणं प्रामाण्यस्वतस्त्वादेव न क्रियते। ग्रन्थास्ते स्वतः प्रमाणमित्येतावतैवोक्तार्थस्य गतार्थत्वात्, अधिकस्य व्यर्थत्वात्। किञ्च, मन्त्रभागः संहितेत्यत्र भागपदोपन्यासस्तु तद्रीत्या निरर्थक एव, तेन वेदे भागान्तरानभ्युपगमात्। वस्तुतस्तु मन्त्रभागप्रसिद्ध्यापि ब्राह्मणरूपभागान्तरस्य वेदत्वमनायासेनैव सिद्ध्यति।

किञ्च, 'वेदार्थव्याख्यानाः' (पृ० ३११) इत्यत्र समानवाचकयोरर्थव्याख्यानपदयोरन्यतरस्योपन्यासो व्यर्थ एव, एकेनैव गतार्थत्वात्। 'वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ति' (पृ० ३११) इति वाक्यं न मनोज्ञम्, प्रामाण्यमर्हन्तीत्यस्यैव युक्तत्वात्। 'सर्वपदार्थानां श्रवणमननेनानुमानिकं ज्ञानतया निश्चयो भवति' (पृ० ३१४) इति वाक्यस्य को वार्थः ? कथञ्चात्र समन्वयः ? न चानुमानिकं ज्ञानं श्रवणेन शक्यं भवितुम्, नापि सर्वपदार्थानां ज्ञानतया निश्चयो भवितुं शक्यः, भ्रमाभावप्रसङ्गात्। नापि श्रवणस्य मननं क्रियते, श्रुतार्थस्यैव मन्तव्यत्वविधानात्, 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० उ० ४।५।६) इति श्रुतेः।

तर्कसंग्रह-चिन्तामणि-जागदीश्यादिग्रन्थानां विद्वन्मान्यानां न्यायाभासत्वं न्यायवैशेषिकमतविरुद्धत्वं च (पृ० ३१५-३१६) कोऽनुन्मत्तो वक्तुं शक्नुयात्। 'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' सत्यमिदमाभाणकमेवानुसरति दयानन्दः। सांख्यतत्त्वकौमुद्याश्च सांख्यशास्त्रविरुद्धत्वं (पृ० ३१६) तेन जन्मसहस्रैरपि न दर्शयितुं शक्यम्। वेदान्तसार-पञ्चदशीप्रभृतिग्रन्थानामपि वेदान्तविरुद्धत्वकथनं (पृ० ३१६) दुःसाहसमात्रमेव। शाङ्कर(शारीरक)भाष्य-भामती-पञ्चपादिकाविवरणखण्डखाद्यचित्सुख्यद्वैतसिद्धिप्रभृतिग्रन्थानां वेदान्तविरुद्धत्वं नोक्तमित्येव बहु मन्तव्यम्। अन्यथा कीदृशी

जो ईश्वरप्रोक्त ग्रन्थ हैं, उनको स्वतः प्रमाण करना चाहिये, इसका अभिप्राय क्या हुआ ? ग्रन्थों को स्वतः प्रमाण कौन किस तरह से करेगा, इस बात को आर्यसमाजी ही जान सकते हैं। प्रामाणिक जन तो प्रामाण्य के स्वतस्त्व के आधार पर ग्रन्थों को स्वतः प्रमाण नहीं मानते। वेद प्रभृति ग्रन्थ स्वतः प्रमाण हैं, उनके लिये केवल इतना ही कहना पर्याप्त है। इसके साथ प्रामाण्य का स्वतस्त्व आदि बातों को जोड़ना व्यर्थ है। इसी तरह से संहिता मन्त्रभाग है, इस वाक्य में भाग पद को रखना भी आपके मत के अनुसार तो व्यर्थ ही है, क्योंकि मन्त्रभाग के अतिरिक्त आप ब्राह्मणभाग को वेद मानते ही नहीं। हमारे मत से तो आपकी इस उक्ति के सहारे ही मन्त्रभाग की प्रसिद्धि के आधार पर ब्राह्मणभाग की भी वेद के रूप में स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध हो जाती है।

आपके 'वेदार्थव्याख्यान' इस समस्त पद में अर्थ और व्याख्यान एक ही अर्थ के वाचक हैं, इन दोनों में किसी एक का ही प्रयोग पर्याप्त है, दूसरे का उपन्यास व्यर्थ है, क्योंकि अर्थ की प्रतीति किसी एक से ही हो जायगी। 'वेदा····प्रमाणमर्हन्ति' यह वाक्य भी ठीक नहीं है, इसके स्थान पर 'प्रामाण्यमर्हन्ति' ऐसा प्रयोग होना चाहिये। 'सभी पदार्थों के श्रवण और मनन से आनुमानिक ज्ञान के रूप में निश्चय होता है' इसका बोधक वाक्य भी अस्तव्यस्त है। इससे आप क्या कहना चाहते हैं, यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। इसमें आये पदों का परस्पर अन्वय कैसे होगा ? आनुमानिक ज्ञान कभी श्रवणेन्द्रिय की सहायता से नहीं होता और न सभी पदार्थों का ज्ञान के रूप में निश्चय ही होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर फिर किसी को भ्रम होना ही नहीं चाहिये। श्रवण का मनन न होकर श्रुत अर्थ का मनन किया जाता है, 'श्रोतव्यः' इत्यादि श्रुति का यही अभिप्राय है।

तर्कसंग्रह, चिन्तामणि, जागदीशी प्रभृति विद्वानों में समादृत ग्रन्थों को मिथ्या न्यायशास्त्र के प्रवर्तक और न्याय-वैशेषिक शास्त्र के विपरीत पागल के सिवाय कौन बतावेगा ? इन शास्त्रों को समझ न पाने के कारण दयानन्द की यह उक्ति 'अंगूर खट्टे हैं' इस लोकोक्ति को चरितार्थ करती है। 'सांख्यतत्त्वकौमुदी को वे हजारों जन्म लेकर के भी सांख्यशास्त्र के विपरीत नहीं सिद्ध कर सकते। वेदान्तसार, पंचदशी प्रभृति ग्रन्थों को वेदान्त शास्त्र के विपरीत कहना दुःसाहसमात्र है। वेदान्त के शांकरभाष्य, भामती, पञ्चपादिका विवरण, खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखी, अद्वैतसिद्धि आदि ग्रन्थों को इन्होंने वेदान्तशास्त्र के विपरीत घोषित नहीं किया,

श्रृङ्खलोच्छृङ्खलानाम्। वस्तुतस्तु यान् ग्रन्थानधीत्य यथायथं लोकोत्तरं वैदुष्यमासाद्यते, तानेवायमप्रमाणयितुं प्रयतितवान्, इत्याश्चर्यमेव। एतावतैवास्य पाण्डित्यमपि विद्वद्धौरेयैरवगन्तुं शक्यते।

यत्तु व्यासजैमिन्यादिदर्शनानामुपाङ्गत्वमुक्तम् (पृ० ३१४), तदपि चिन्त्यम्। यदपि—'तत्राद्यं कर्मकाण्डविधायकं धर्मधर्मिव्याख्यामयं व्यासमुन्यादिकृतभाष्यसहितं जैमिनिकृतसूत्रं पूर्वमीमांसाशास्त्राख्यं ग्राह्यम्' इति, तदपि चिन्त्यम्, जैमिनिसूत्रेषु व्यासभाष्यस्याप्रामाणिकत्वात्। पूर्वमीमासासूत्रं न कर्मकाण्डविधायकम्, ब्राह्मणविधीनामेव तत्र विधायकत्वप्रसिद्धेः। धर्मधर्मिव्याख्यापि तत्र नास्ति।

यदपि द्वितीयं 'विशेषतया धर्मधर्मिविधायकं प्रशस्तपादकृतभाष्यसहितं कणादमुनिकृतं वैशेषिकशास्त्रम्' (पृ० ३१४), तदपि न सङ्गतम्, पदार्थसाधर्म्यवैधर्म्यनिरूपणपरस्य वैशेषिकशास्त्रस्य धर्मधर्मिविधायकत्वाभावात्। 'पदार्थविद्याविधायकं वात्स्यायनभाष्यसहितं गौतममुनिकृतं न्यायशास्त्रम्' (पृ० ३१४) इत्यपि यत्किञ्चित्, तस्य शास्त्रस्य पदार्थबोधकत्वेऽपि तद्विद्याविधायकत्वायोगात्। विद्या च ज्ञानम्। तच्च न विधातुं शक्यम्, वस्तुतन्त्रत्वेन पुरुषतन्त्रत्वाभावात्। पुरुषतन्त्राणि कर्माणि भवन्ति, पुरुषैः कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं शक्यत्वात्। न विद्या (ज्ञानम्), तस्य वस्तुतन्त्रत्वात्। नहि प्रमाणयोगे प्रमेयमप्रमातुमन्यथा वा प्रमातुं शक्यम्। एवमेव पतञ्जलिमुनिकृतं योगशास्त्रमपि चित्तवृत्तिनिरोधतदुपायबोधकम्, नोपासनाविधायकम्, ब्राह्मणोपनिषद्रूपवेदभागेनैवोपासनाविधानात्। 'आत्मानमेव लोकमुपासीत', 'तज्जलान् इति शान्त उपासीत' इत्यादिश्रुतिभ्यः। एवं कपिलमुनिकृतं सांख्यशास्त्रमपि न विश्वसनीयम्, शङ्करभगवत्पादादिभिराचार्यैः सांख्यकारिकाया एव समुद्धरणात्। एवं वेदान्तशास्त्रमपि न ब्रह्मसूत्रम्, वेदान्तविचाररूपत्वादेव वेदान्तशास्त्रम्, वेदान्तशब्दस्यो-

हमें इसी को बहुत कुशल मानना चाहिये। अन्यथा उच्छृंखल (बेलगाम) व्यक्ति को कुछ भी कहने से कौन रोक सकता है? वास्तव में देखा जाय जो जिन ग्रन्थों को पढ़कर धीरे धीरे व्यक्ति लोकोत्तर विद्वान् बनता है, उन्हीं को अप्रामाणिक घोषित करने के लिये स्वामी दयानन्द ने बड़ा प्रयत्न किया है, यह एक आश्चर्य की ही बात है।

उपांग ग्रन्थों को गिनाते समय इन्होंने (पृ० ३१४) व्यास, जैमिनि आदि के दर्शन ग्रन्थों का भी उसमें समावेश किया है, जो कि गलत है। वे कहते हैं—'ऐसे ही वेदों के छः उपांग अर्थात् जिनका नाम षट्शास्त्र है, उनमें से एक व्यास मुनि आदि कृत भाष्य सहित जैमिनि मुनिकृत पूर्वमीमांसा है, जिसमें कर्मकाण्ड का विधान और धर्म-धर्मी दो पदार्थों से सब पदार्थों की व्याख्या की है' (पृ० ३१४-३१५), किन्तु जैमिनि सूत्र पर व्यासमुनि का कोई प्रामाणिक भाष्य न तो उपलब्ध है और न सुना ही गया है। पूर्वमीमांसा सूत्र कर्मकाण्ड का विधान नहीं करते, किन्तु वे ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित विधियों की व्याख्या एवं व्यवस्था करते हैं।

'दूसरा वैशेषिक शास्त्र है, जो कि कणाद मुनि कृत सूत्र और प्रशस्तपादभाष्य आदि व्याख्या सहित है और जिसमें विशेष रूप से धर्म और धर्मी का प्रतिपादन है' (पृ० ३१५) स्वामी दयानन्द की यह उक्ति भी गलत है, क्योंकि वैशेषिक शास्त्र विशेष कर पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य का प्रतिपादक शास्त्र है, इसमें धर्म और धर्मीभाव का निरूपण नहीं है। 'तीसरा न्यायशास्त्र है, जो कि गोतम मुनि प्रणीत सूत्र और वात्स्यायन मुनि कृत भाष्य सहित है और पदार्थ विद्या का विधान करता है' (पृ० ३१५) यह कथन भी असंगत है, क्योंकि यह शास्त्र पदार्थों का ज्ञान अवश्य कराता है, किन्तु पदार्थविद्या का बोधक नहीं है। विद्या ज्ञान को कहते हैं, इसका विधान नहीं किया जा सकता। वस्तु के आधार पर ही उसका ज्ञान होगा। यह पुरुष के अधीन नहीं है कि वह अपने ज्ञान के आधार पर किसी पदार्थ की रचना करले। पुरुष के अधीन तो क्रिया रहती है। पुरुष किसी कार्य को ही करने में, न करने में अथवा अन्यथा करने में समर्थ हो सकता है, किसी ज्ञान को नहीं। ज्ञान की सत्ता तो वस्तु की स्थिति के आधार पर ही होती है। प्रमाण (इन्द्रिय आदि) का योग होने पर प्रमेय का ज्ञान न हो अथवा अन्यथा ज्ञान हो, ऐसा हो नहीं सकता। इसी तरह से पतंजलि मुनि कृत योगशास्त्र भी चित्त वृत्ति के निरोध और उसके उपायों को बताने वाला शास्त्र है, वह उपासना का विधान नहीं करता, क्योंकि उपासना का विधान ब्राह्मण और उपनिषत् रूप वेद के विभाग में ही किया गया है, 'आत्मान०' इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं। इसी तरह से कपिल मुनि कृत सांख्यशास्त्र आज उतना विश्वसनीय नहीं उपलब्ध होता, शंकरभगवत्पाद प्रभृति आचार्यों ने सांख्यकारिका को ही अपने ग्रन्थों में प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है, सांख्यसूत्र को नहीं। इसी तरह से ब्रह्मसूत्र भी वेदान्तशास्त्र नहीं है, किन्तु

पनिषत्स्वेव प्रसिद्धेः। मौक्तिकोपनिषदि वेदान्ताः के रघुश्रेष्ठेति हनुमत्प्रश्ने—यच्चोपनिषदश्चोपाङ्गानीति, तत्तुच्छम्, उपनिषदां वेदत्वस्योक्तत्वात्। वेदविरुद्धा ग्रन्था नाङ्गीकार्या इत्यत्र नास्ति विप्रतिपत्तिः, तथापि वेदस्वरूपविप्रतिपत्तौ तदपि विप्रतिपत्तिग्रस्तमेव मन्तव्यम्।

यत्तु रुद्रयामलादयस्तन्त्रग्रन्था ब्रह्मवैवर्तादिपुराणानि प्रक्षिप्तश्लोकत्यागाया मनुस्मृतेर्व्यतिरिक्ताः स्मृतयः सारस्वतचन्द्रिकाकौमुद्यादयो व्याकरणाभासग्रन्था मीमांसादिशास्त्रविरुद्धनिर्णयसिन्ध्वादयो ग्रन्था वैशेषिकन्यायशास्त्रविरुद्धास्तर्कसंग्रहमारभ्य जागदीश्यन्ता न्यायाभासग्रन्था योगशास्त्रविरुद्धहठदीपिकादयो ग्रन्थाः सांख्यशास्त्रविरुद्धाः सांख्यतत्त्वकौमुद्यादयो वेदादिशास्त्रविरुद्धा वेदान्तसारपञ्चदशीयोगवाशिष्ठादयो ग्रन्था ज्योतिषशास्त्रविरुद्धा मुहूर्तचिन्तामण्यादयो मुहूर्तजन्मपत्रफलादेशविषयका ग्रन्थाः (पृ० ३१५-३१६) कलिहतकेन दयानन्देनाप्रमाणभूता उक्ताः, एवमेव 'त्रिकण्डिकास्नानसूत्रपरिशिष्टादयो ग्रन्था मार्गशीर्षैकादशीकाशीस्थजलस्थलयात्राकरणदर्शननामस्मरणस्नानजडमूर्तिपूजाकरणमात्रेण मुक्तिभावनपापनिवारणमाहात्म्यविधायकाः सर्वे ग्रन्थाः पाखण्डिसम्प्रदायनिर्मितानि सर्वाणि पुस्तकानि नास्तिकत्वविधायकाश्चोपदेशा वेदादिशास्त्रविरुद्धा युक्तिप्रमाणपरीक्षाहीनाः सन्त्यतः शिष्टैरग्राह्या भवन्ति' (पृ० ३१६) इति दयानन्दोक्तिर्नास्तिक्यमूलिकैव। वस्तुतस्तु स्वामिदयानन्दस्यैव ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकासत्यार्थप्रकाशसंस्कारविधितदीयवेदभाष्यादयो ग्रन्था नास्तिक्यावहा वेदविरुद्धा युक्तितर्कविरुद्धाः प्रमाणाभासमूलकाः, त एव शिष्टैः सर्वतोभावेन त्याज्याः। पूर्वोक्तग्रन्थास्तु दयानन्देन विषययुक्तामृततुल्यान्नोदाहरणेन त्याज्या उक्ताः। दयानन्दीयग्रन्थेषु कश्चिदप्यंशोऽमृततुल्यो नास्त्येव।

वेदान्तशास्त्र पर विचार प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। वेदान्त शब्द की प्रसिद्धि उपनिषत् ग्रन्थों के लिये ही है। मौक्तिक उपनिषद् में 'हे रघुश्रेष्ठ, वेदान्त शब्द से किसका बोध होता है' हनुमान् के इस प्रश्न के उत्तर में उपनिषदों को ही वेदान्त कहा गया है। यहां स्वामी दयानन्द ने उपनिषदों का परिगणन उपांगों में किया है (पृ० ३१४), जो कि गलत है। हम पहले ही बता चुके हैं कि उपनिषद् वेदों के ही भाग हैं। वेद विरोधी ग्रन्थों को स्वीकार न किया जाय, इस बात को हम भी मानते हैं, किन्तु वेद के स्वरूप में ही जब आप संदेह पैदा कर देते हैं, तो यह अपने आप संशय में पड़ जाता है कि वेद विरोधी ग्रन्थ कौन हैं? अर्थात् वेद का एक निश्चित स्वरूप मानकर ही यह निश्चित किया जा सकता है कि अमुक ग्रन्थ वेदसमर्थित और अमुक वेदविरोधी हैं।

'आगे उनमें से मुख्य मुख्य मिथ्या ग्रन्थों के नाम भी लिखते हैं' (पृ० ३१६) इतना लिखने के बाद स्वामी दयानन्द लिखते हैं—'जैसे रुद्रयामल आदि तन्त्रग्रन्थ, ब्रह्मवैवर्त, श्रीमद्भागवत आदि पुराण, मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उससे पृथक् सब स्मृतिग्रन्थ, व्याकरण विरुद्ध सारस्वत चन्द्रिका, कौमुदी आदि ग्रन्थ, धर्मशास्त्र विरुद्ध निर्णयसिन्धु आदि तथा वैशेषिक न्यायशास्त्र विरुद्ध तर्कसंग्रह, मुक्तावली आदि ग्रन्थ, हठप्रदीपिका आदि ग्रन्थ, जो कि योगशास्त्र के विरुद्ध हैं, सांख्यशास्त्र विरुद्ध सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि ग्रन्थ, वेदान्तशास्त्र के विरुद्ध वेदान्तसार, पंचदशी, योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थ, ज्योतिःशास्त्र के विरुद्ध मुहूर्तचिन्तामणि आदि मुहूर्त, जन्मपत्र, फलादेश का विधान करने वाले ग्रन्थ' (पृ० ३१६)। यह कलिकाल का ही प्रभाव माना जायगा कि ऐसे ग्रन्थों को स्वामी दयानन्द ने अप्रामाणिक मान लिया है। आगे वे लिखते हैं—'ऐसे ही श्रौतसूत्र आदि के विरुद्ध त्रिकण्डिका, स्नानसूत्र आदि परिशिष्ट ग्रन्थ, मार्गशीर्ष एकादशी आदि व्रत, काशी आदि स्थानमाहात्म्य, पुष्कर, गंगा प्रभृति तीर्थस्थल यात्रा, माहात्म्य विधायक शास्त्र, दर्शन, नामस्मरण, मूर्तिपूजा करने से मुक्ति का विधान करने वाले ग्रन्थ, इसी प्रकार पाप निवारण विधायक और ईश्वर के अवतार या पुत्र अथवा दूत प्रतिपादक वेदों के विरुद्ध शैव, शक्ति, वैष्णव आदि मत के ग्रन्थ तथा नास्तिक मत के पुस्तक और उनके उपदेश, ये सब वेद, युक्ति, प्रमाण और परीक्षा के विरुद्ध ग्रन्थ हैं। इसलिये सब मनुष्यों को उक्त अशुद्ध ग्रन्थों का त्याग कर देना चाहिये' (पृ० ३१६)। दयानन्द की यह उक्ति भी उनकी नास्तिकता को ही उजागर करती है। वास्तव में तो स्वामी दयानन्द के ही ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि आदि ग्रन्थ तथा उनके किये गये वेदों के भाष्य ही नास्तिकता का प्रचार करने वाले हैं, वेदों के विरुद्ध हैं, युक्ति और तर्क के अभाव में इनमें सदा गलत प्रमाणों का सहारा लिया है। इसलिये सभी शिष्ट जनों को इनका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये।

यत्तु—मद्यमांसादिसेवनविधायकानि तन्त्राणि प्रदर्शितानि (पृ० ३१७), तानि कुत्रत्यानि किमभिप्रायकाणीति तु नोक्तम्, तन्त्राणां गूढाभिप्रायस्य पामरैर्ज्ञातुमशक्यत्वात्। किञ्च, यथा प्रजापतिः स्वां दुहितरमभ्यध्यायत। दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये। तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्। तस्य यद्रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत्' (ऐ० ब्रा० ३।३३-३४), 'प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सविता' (श० १।२।२।४), 'तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः' (नि० ४।२१) इत्यादिभिः प्रजापतिकर्तृकस्य दुहितृगमनस्य गूढोऽर्थोऽन्यो ग्राह्य इति त्वयाभ्युपगम्यते (पृ० ३१९), तथैव तन्त्रेऽपि मद्यादीनामन्यार्थत्वोक्तेः।

रुद्रयामले—रजस्वला पुष्करं तीर्थम्, चाण्डाली तु स्वयं काशी, चर्मकारी प्रयागः स्याद् रजकी मथुरा मता। अयोध्या पुक्कसी प्रोक्ता। सत्यार्थप्रकाशे ११ समुल्लासे वाममार्गालोचनप्रसङ्गे दयानन्देनोक्तं यद् रजस्वलायाः समागमेन पुष्करस्नानम्, चाण्डालीगमने काशीयात्रा सम्पद्यते, चर्मकारीगमनेन मथुरायात्रा, कञ्जरीरमणेनायोध्यायात्रा सम्पद्यते। परमेतदनर्गलमेव तद्वचनम्, तत्र विपरीतार्थस्यैव सुवचत्वात्। यत्र तन्त्रेषु चाण्डालीगमनं लिखितं तत्र काशीयात्रा मन्तव्या परोक्षवृत्त्या, यत्र चर्मकारीगमनं तत्र प्रयागस्नानम्, रजकींगमनशब्देनायोध्यायात्रा विवक्षिता मन्तव्या, 'इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' (गोपथ० १।१।१)। नहि कामिनोऽपि रजस्वलां कामयन्ते। यथा—'मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः' (ऋ० सं० ६।५५।५) इत्यत्र यथाश्रुतार्थग्रहणेऽश्लीलत्वं प्रतीयते। एवमेव—'गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्' इतीदमपि श्रुत्वा भ्रान्तिर्जायते। 'गांशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि। गोमांसभक्षणं प्रोक्तं महापातकनाशनम्॥ जिह्वाप्रवेशसञ्जातसुषुम्णाक्षोभसम्भवः। चन्द्रात् स्रवति यः सारः सैवेहामरवारुणी॥' (हठयोगप्रदीपिका)।

एवमेव नित्यातन्त्रमहानिर्वाणमेरुतन्त्रादिषु मद्यमांसमत्स्यमुद्रामैथुनात्मकानां पञ्चमकाराणामपि परोक्षार्थाज्ञानेन भ्रान्तयो जायन्ते। सत्यार्थप्रकाशे एकादशसमुल्लासे—'मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च। मकारपञ्चकं प्राहुर्योगिनां

इसी तरह से स्वामी दयानन्द ने मद्य, मांस आदि के सेवन की अनुमति देने वाले तन्त्रशास्त्रों का उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि ये वचन कहाँ के हैं और इनका अभिप्राय क्या है ? तन्त्रों के गूढ अभिप्राय को अबोध आदमी समझ नहीं सकते। 'यथा प्रजापतिः' प्रभृति ऐतरेय, शतपथ और निरुक्त में उद्धृत प्रजापति के द्वारा अपनी पुत्री के अभिसरण का वर्णन करने वाली श्रुतियों का एक दूसरा ही गूढ अभिप्राय आप भी स्वीकार करते हैं (पृ० ३१९), उसी तरह से तन्त्रशास्त्रों में भी मद्य, मांस प्रभृति शब्दों का एक दूसरा ही निगूढ अभिप्राय माना जाता है।

सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में वाममार्ग की आलोचना करते हुए रुद्रयामलतन्त्र के 'रजस्वला पुष्करं तीर्थम्' प्रभृति वचन को उद्धृत कर उसका मनमाना अर्थ किया गया है। किन्तु उनका यह कथन अनर्गल है, क्योंकि इस वचन का अर्थ ठीक इसके विपरीत है। तन्त्र ग्रन्थों में जब कहीं भी चाण्डालीगमन लिखा मिलता है, उसका अभिप्राय काशी की यात्रा करने से है। इसी तरह से चर्मकारीगमन का अर्थ प्रयाग स्नान, रजकीगमन का अर्थ अयोध्या की यात्रा आदि समझना चाहिये। शास्त्रों में इस प्रक्रिया को परोक्षवृत्ति के सहारे अभिव्यक्त करने का विधान है। गोपथ प्रभृति ब्राह्मणों में बताया गया है कि देवगण शब्दों के प्रसिद्ध अर्थों से द्वेष रखते हैं और परोक्ष अर्थ इनको प्रिय लगता है, अर्थात् इनको शब्दों का निगूढ अभिप्राय अधिक प्रियकर है। जैसे 'मातुर्दिधिषु०' इत्यादि मन्त्रों का शब्दप्रक्रिया के सहारे जो शाब्दिक अर्थ होता है, उसको स्वीकार करने पर मन्त्र में अश्लीलता आ जायगी, अतः उसका निगूढ अभिप्राय बताया जाता है, उसी तरह से 'गोमांस का भक्षण करे और सदा अमर वारुणी का पान करे' इत्यादि तान्त्रिक वचनों को भी सुनने से सहसा शाब्दिक अर्थ के सामने आजाने से भ्रम होने लगता है। तन्त्रशास्त्रों में उनका निगूढ अर्थ इस प्रकार बताया जाता है—'गो शब्द से यहाँ जिह्वा का ग्रहण किया जाता है। उस जिह्वा का तालु में प्रवेश ही योगशास्त्र में गोमांस भक्षण के नाम से प्रसिद्ध है, जो कि महापातकों को भी नष्ट कर देने वाला है। तालु में जिह्वा के प्रविष्ट हो जाने पर सुषुम्णा नाड़ी के क्षुब्ध होने से चान्द्र स्थान से जिस रस का स्वाद होता है, उसी को यहाँ अमरवारुणी कहा गया है।

इसी तरह से नित्यातन्त्र, महानिर्वाणतन्त्र, मेरुतन्त्र प्रभृति तन्त्रग्रन्थों में प्रतिपादित मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन नामक पाँच मकारों का परोक्ष अर्थ ज्ञान न होने से नाना प्रकार की भ्रान्तियाँ पैदा हो जाती हैं। सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में

मुक्तिदायकम् ॥' इति श्लोकमुद्धृत्य महानुपहासः कृतः, तदपि तदीयपरिभाषाऽज्ञानविजृम्भितमेव। तथाहि—'यदुक्तं परमं ब्रह्म निर्विकारं निरञ्जनम्। तस्मिन् प्रमदनं ज्ञानं तन्मद्यं परिकीर्तितम् ॥' एतस्यैव मद्यस्य पानमुक्तम्। 'पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले। पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥' (महानिर्वाणतन्त्रे) न साधारणमद्यपानेन पुनर्जन्मनिवृत्तिरुक्ता। नैतन्मद्यपानं सुरादिपानं विज्ञातुं शक्यम्।

एवमेव मांसशब्दोऽपि। 'माशब्दाद्रशना ज्ञेया तदंशान् रशनाप्रियान्। सदा यो भक्षयेन्नित्यं स भवेन्मांससाधकः ॥' (आगमसारः), 'पुण्यापुण्यपशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित्। परे लयं नयेच्चित्तं मांसाशी स निगद्यते ॥' (कुलार्णवतन्त्रम्), मत्स्योऽपि—'गङ्गायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा। तौ मत्स्यौ भक्षयेद्यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधकः ॥', 'मनसा चेन्द्रियग्रामं संयोज्यात्मनि योगवित्। मत्स्याशी स भवेद्देवि शेषा धीवरवृत्तयः ॥', इति मत्स्यपरिभाषा। मुद्रा च—'सत्सङ्गेन भवेन्मुक्तिरसत्सङ्गेन बन्धनम्। असत्सङ्गमुद्रणं यत्तु सा मुद्रा परिकीर्तिता ॥' 'आत्मनो जायते मोदस्ता मुद्राः परिकीर्तिताः। ता ज्ञेया धारणाध्यानसमाध्याख्यास्तु मोक्षदाः ॥' इति।

एवमेव मैथुनपरिभाषा यथा—'कुलं कुण्डलिनीशक्तिर्देहिनां देहधारिणी। तयोः शिवस्य संयोगो मैथुनं परिकीर्तितम् ॥', 'सहस्रारोपरि बिन्दौ कुण्डल्या मैथुनं शिवे। मैथुनं शयनं दिव्यं यतीनां परिकीर्तितम् ॥' (योगिनीतन्त्रे), 'सुषुम्णा शक्तिरुद्दिष्टा जीवोऽयं तु परः शिवः। तयोस्तु सङ्गमो देवा मैथुनं परिकीर्तितम् ॥ वीर्यपातस्य समये सुषुम्नासन्नमारुते। उत्पद्यते च यत्सौख्यं शतकोटिगुणं तु तत् ॥ एतदेव रतं प्रोक्तमन्यत् स्याद्रासभं रतम्।' (मेरुतन्त्रे), 'गङ्गायमुनयोर्मध्ये

'मद्यं मांसं च' प्रभृति श्लोक को उद्धृत कर इसका बड़ा उपहास किया गया है, किन्तु यह सब तन्त्रशास्त्र की परिभाषाओं का सही ज्ञान न होने के कारण है। वास्तव में तन्त्रशास्त्र में मद्य की परिभाषा यह की गई है—'जिस निर्विकार, निरंजन परमब्रह्म का वर्णन इस शास्त्र में किया गया है, उस परब्रह्म में ही सदा लीन रहने की स्थिति यहाँ मद्य के नाम से कही जाती है'। इसी मद्य के पान करने की बात तन्त्रशास्त्र में कही जाती है। इस मद्य को बार-बार पीता है और तब तक पीता रहता है, जब तक कि वह जमीन पर नहीं लोटने लगता। वह उठ कर फिर उसी मद्य का पान करता है और तब वह आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाता है। साधारण, लोकप्रसिद्ध मदिरा के पान से पुनर्जन्म की निवृत्ति नहीं हो सकती, अतः इस मद्यपान को सुरा (मदिरा) आदि के पान से भिन्न ही समझना चाहिये।

तन्त्रशास्त्रों में मांस की परिभाषा यह की गई है—'मा शब्द का अर्थ है जिह्वा' उस जिह्वा के अंशों को अर्थात् जिह्वा को स्वाद लगने वाले रसों को जो सदा खाता रहता है, अर्थात् जो जिह्वा के स्वाद को जीत लेता है, वह साधक मांस भक्षक कहलाता है' (आगमसार)। 'जो योगी ज्ञान रूपी खड्ग से पाप और पुण्य रूपी पशु को मार कर परब्रह्म में अपने चित्त को लीन कर देता है, वह मांसभक्षी कहलाता है' (कुलार्णवतन्त्र)। इसी प्रकार मत्स्य की परिभाषा यह की गई है—'गंगा और यमुना के बीच में दो मत्स्य सदा चलते रहते हैं। इन मत्स्यों को जो खा जाता है, वही मत्स्यसाधक कहलाता है'। 'जो योगी अपने मन और इन्द्रियों को अपनी आत्मा में लीन कर देता है, वही मत्स्यभक्षक कहलाता है, इसके अतिरिक्त स्थूल मत्स्य का भक्षण करने वाले तो धीवर कहलाते हैं'। मुद्रा की वास्तविक परिभाषा यह है—'सत्संग से मुक्ति और दुष्ट संग से मनुष्य बन्धन को प्राप्त करता है, अतः तन्त्रशास्त्र में दुष्ट जनों के सम्पर्क को मुद्रित, प्रतिबन्धित कर देने का नाम ही मुद्रा कहा गया है', 'जिनके आचरण से आत्मा में मोद (आनन्द) उत्पन्न होता है, उनको मुद्रा कहा जाता है। अतः तन्त्रशास्त्र में धारणा, ध्यान और समाधि को ही मुद्रा कहा जाता है, क्योंकि इनका अभ्यास करने से परम सुख की मोक्ष दशा की अभिव्यक्ति होती है।

इसी तरह से मैथुन की परिभाषा यह है—'कुल का अर्थ कुण्डलिनी शक्ति है, जो कि सभी प्राणियों के शरीर को धारण करने वाली है। इस कुलनामक कुण्डलिनी शक्ति के साथ अकुल शिव का संयोग ही मैथुन कहा जाता है', 'सहस्रदल कमल में स्थित बिन्दुस्थान में कुण्डलिनी शक्ति का शिव के साथ समागम ही मैथुन कहा जाता है। यह मैथुन एक प्रकार की योगियों के शयन की ही स्थिति है' (योगिनीतन्त्र)। 'सुषुम्णा शक्ति कही जाती है और यह जीव ही परम शिव है। इन दोनों का संगम ही मैथुन कहा जाता है। वीर्य का पात होते समय सुषुम्ना नाड़ी में स्थित पवन में जिस सुख की अनुभूति होती है, उससे करोड़ों गुना आनन्द की अनुभूति जिस योगदशा में होती है, वही वास्तविक रतावस्था है। इसके अतिरिक्त और सब रासभ (गधा) रति ही कही जायगी'

बालरण्डां तपस्विनीम् । बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम् ॥' तत्स्वरूपं तत्रैवोक्तम्—'इडा भागीरथी गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी । तयोर्मध्यगता रण्डा सुषुम्नैव सरस्वती ॥'

ननु किमर्थमेवमुद्वेजकैः शब्दैस्तत्कथनमिति चेन्न, 'परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः' (गोपथब्रा० १।२।२१), 'परोक्षवादा ऋषयः' (भा० पु० ११।२१।३५), 'परोक्षकामा देवाः प्रत्यक्षद्विषः' (श० ७५।१।२२)। तथैव मन्त्रभागेऽपि 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' (ऋ० सं० १।१६४।३३), 'जार आ भगम्' (अथर्व० १०।११।८), 'वीर्यं मयि धेहि। वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु' (वा० सं० २३।२०), 'मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः। सुयम्या कन्या कल्याणी' (अथर्व० २०।१२८।९), 'योनिरुलूखलं शिश्नं मुसलम्' (श० ७५।१।३८), 'यथा स्थूलेन पयसाऽणो मुष्कौ उपावधीत्' (अथर्व० २०।१३६।२) इति सर्वत्रैव परोक्षवृत्त्याऽर्थान्तरं विवक्ष्यते। तन्त्रमार्गोऽयं जितेन्द्रियाणामेव कृते लाभदायकः। 'अयं सर्वोत्तमो मार्गः शिवोक्तः सर्वसिद्धिदः। जितेन्द्रियस्य सुलभो नान्यस्यानन्तजन्मभिः ॥ परद्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकः। परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः ॥ तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता'।

'मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु' इति सत्यार्थप्रकाशे एकादशसमुल्लासे उद्धृतम्। अस्य श्लोकस्याभिप्राय उदीर्यते—मातृवंशीयां कन्यां परित्यज्यान्याभिः सार्धमेव विवाहः कर्तव्यः। गौरीशङ्करयोश्च पूजनमेव भगलिङ्गपूजनम्, सामाजिकास्तु नियोगावरणेन काभिश्चित् कस्यापि सम्बन्धो युक्त इति साधयन्ति, तथैव केषाञ्चिदनधिकारिणामहं भैरवः, त्वं च भैरवीति वाचानर्थाचरणं न शास्त्रीयो मार्गः। 'इमं ते उपस्थं मधुना संसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम्' इति मन्त्रेण सामाजिकानां स्त्रीणामुपस्थे मधुयोजनव्याजेनानर्थाचरणमपि तथाविधमेव।

अथ कल्याणाभिधानाया मासिकपत्रिकायाः शक्त्यङ्के २५६ पृष्ठे मद्यम्—'यदुक्तं परमं ब्रह्म निर्विकारं निरञ्जनम्। तस्मिन् प्रमदनज्ञानं तन्मद्यं परिकीर्तितम् ॥'

(मेरुतन्त्र)। 'गंगा और यमुना के बीच में स्थित तपस्विनी बालविधवा को बलपूर्वक पकड़ना चाहिये। वास्तव में विष्णु का परम पद यही है' इस श्लोक के कुछ पदों का निगूढ अर्थ उसी स्थान पर स्पष्ट किया गया है—'इड़ा नाड़ी ही यहाँ भागीरथी गंगा और पिंगला नाडी यमुना कही गई है। इन दोनों के बीच में स्थित सुषुम्णा नाडी रण्डा या सरस्वती के नाम से प्रसिद्ध है।

इस तरह के उद्वेजक शब्दों से इन निगूढ अभिप्रायों का विवेचन क्यों किया जाता है? इसका उत्तर यही है कि गोपथ ब्राह्मण के अनुसार देवताओं को इस तरह के रहस्यों से भरी बातें ही प्रिय लगती हैं, सीधे-सादे शाब्दिक अर्थों से उनको अरुचि रहती है। भागवत में भी बताया गया है कि ऋषिगण परोक्ष बातों को अधिक रुचि से बोलते हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है कि देवगण परोक्ष वस्तु को अधिक चाहते हैं और जो प्रत्यक्ष है, उसमें अधिक रुचि नहीं लेते। इसी तरह से मन्त्रभाग में भी ऊपर मूल में उद्धृत अनेक स्थलों में सभी जगह परोक्षवृत्ति के सहारे दूसरा निगूढ़ अभिप्राय स्वीकार करना पड़ता है। तलवार की धार पर चलने के समान तन्त्रशास्त्र के वामाचार का यह उपदेश जितेन्द्रिय व्यक्ति के लिये ही लाभदायक हो सकता है। जैसा कि बताया गया है—'शिव के द्वारा उपदिष्ट यह तन्त्रशास्त्र का मार्ग सब मार्गों में उत्तम है और सब तरह की सिद्धि को देने वाला है। जितेन्द्रिय व्यक्ति ही इस मार्ग को सरलता से प्राप्त कर सकता है, अन्य व्यक्ति अनन्त जन्मों में भी इसको नहीं समझ सकता। दूसरों के धन के प्रति जिसकी दृष्टि अन्धी है, पर स्त्री में जो नपुंसक के समान है, दूसरों की निन्दा करने में जिसकी वाणी चुप रहती है, ऐसा इन्द्रियजयी ब्राह्मण ही वाममार्ग का अधिकारी हो सकता है'।

सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में 'मातृयोनि०' इत्यादि श्लोक उद्धृत किया गया है। इस श्लोक का वास्तविक अभिप्राय यह है—'माता के वंश की कन्या को छोड़कर अन्य कन्याओं के साथ विवाह करना चाहिये'। इसी तरह भग और लिंग के पूजन से अभिप्राय गौरी-शंकर भगवान् शिव की पिण्डी का पूजन है। आर्यसमाजी विद्वान् जैसे नियोग के बहाने किसी का भी किसी के साथ संबन्ध जोड़ लेते हैं, उसी तरह से कुछ अनधिकारी व्यक्ति 'मैं भैरव हूँ, तुम भैरवी हो' इस तरह की बातें करके यदि कुछ अनर्थ करते हैं, तो उसको शास्त्रीय मार्ग नहीं माना जायगा। ऊपर पंचमकार की जो आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है, उसका

मांसम्—मा शब्दाद्रसना ज्ञेया तदंशान् रसनाप्रिये। सदा यो भक्षयेद्देवि स एव मांससाधकः॥ अथवा—
मां सनोति हि यत्कर्म तन्मांसं परिकीर्तितम्। न च कामप्रतीकं तु योगिभिर्मांसमुच्यते॥
मत्स्याः—गङ्गायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा। तौ मत्स्यौ भक्षयेद्यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधकः॥ अथवा—
मत्समानं सर्वमूले सुखदुःखमिदं प्रिये। इति यत्सात्त्विकं ज्ञानं तन्मत्स्यः परिकीर्तितः॥
मुद्रा—सत्सङ्गेन भवेन्मुक्तिरसत्सङ्गेषु बन्धनम्। असत्सङ्गमुद्रणं यत्तु तन्मुद्रा परिकीर्तिता॥
मैथुनम्—कुलं कुण्डलिनी शक्तिर्देहिनां देहधारिणी। तया शिवस्य संयोगो मैथुनं परिकीर्तितम्॥

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्। उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुगर्भमाधात्॥' (ऋ० सं० १।१६४।३३)। यथा त्वया तन्त्राणि दूष्यन्ते, तथैव त्वदीया वेदा अपि नास्तिकैर्दूष्यन्ते, तत्रापि दुहितरि पितृकर्तृकगर्भाधानस्योक्तत्वात्। सिद्धान्ते यथा सविता सूर्य एव प्रजापतिः, उषा एव तस्य दुहिता, तस्याः सूर्यजनितत्वात्। सूर्यकिरणयोगेन रोहितां रागवतीं दुहितरं किरणैर्ऋष्यवच्छीघ्रमभ्यध्यायत इत्यर्थंकरणेन तत्समाधानं क्रियते, तथैव तन्त्रसाधनानामपि समाधानं सुशकमेव।

मन्त्रार्थस्तु—दीर्घतमा ऋषिरत्र वक्ता, द्यौः द्युलोकः, पिता पालकः, न केवलं पालकत्वं तस्य किन्तु जनिता उत्पादकः। तत्रोपपत्तिरुच्यते—अत्र द्युलोको नाभिः नाभिभूतो भौमो रसस्तिष्ठतीति शेषः। ततश्चान्नं जायते। अन्नाद्रेतः। रेतसो मनुष्यः। इत्येवं पारम्पर्येण जननसम्बन्धिनो हेतो रसस्यात्र सद्भावाद् द्युलोको जनितोच्यत इत्यर्थः। अत एव बन्धुः बन्धिका। तथा इयं मही महती पृथिवी मे माता मातृस्थानीया स्वोद्भूतौषध्यादिजनयित्री। किञ्च, उत्तानयोः ऊर्ध्वं तानयोः चम्वोः सर्वस्य अत्त्योः अन्तः मध्ये योनिः सर्वभूतनिर्माणाश्रयमन्तरिक्षं वर्तत इति शेषः। अत्र अस्मिन्नन्तरिक्षे पिता द्यौः द्युलोकः, अत्राधिष्ठात्रधिष्ठानयोरभेदेन आदित्यो द्यौरुच्यते। स्वस्वरश्मिभिः इन्द्रः पर्जन्यो वा दुहितुर्दूरे हिताया निहिताया भूम्या गर्भं,सर्वोत्पादनसमर्थं वृष्ट्युदकलक्षणमाधानं सर्वतः करोतीति सायणसम्मतोऽर्थः। यत्तु प्रकाशः पिता जनिता

विशेष विवरण हिन्दी की प्रसिद्ध धार्मिक मासिक पत्रिका 'कल्याण' के शक्त्यंक में पृ० २५६ में देखना चाहिये। यहां उद्धृत श्लोकों की व्याख्या अभी ऊपर हम कर चुके हैं।

जैसे आप तन्त्रशास्त्र पर आक्षेप करते हैं, उसी तरह से नास्तिक लोग वेदों पर भी आक्षेप करते रहते हैं। स्वामी दयानन्द के द्वारा (पृ० ३१९) उद्धृत मन्त्रों से पुत्री में पिता के द्वारा किये गये गर्भाधान की बात कही जाती है, किन्तु जैसे आप सविता (सूर्य) को ही प्रजापति मानकर उषा को उसकी पुत्री मानते हैं और सूर्य की किरणों के संपर्क से रागवती (लाल रंग वाली) सन्ध्या के साथ सूर्य की किरणों का संम्पर्क बताकर उक्त दोष का परिहार करते हैं, उसी तरह तन्त्रशास्त्र में प्रदर्शित विभिन्न विधिविधानों की भी इस तरह की व्याख्या कर समाधान किया जाय, इसमें कोई कठिनाई नहीं होगी।

'द्यौर्मे पिता०' इत्यादि मन्त्र का सायणाचार्य द्वारा किया गया अर्थ इस प्रकार है—इस मन्त्र के दीर्घतमा ऋषि वक्ता हैं। वे कहते हैं कि द्युलोक मेरा पालन करने वाला पिता है। वह केवल पालक ही नहीं, किन्तु मेरा जन्मदाता भी है। इसकी उपपत्ति इस तरह से होती है। यहां द्युलोक नाभिसदृश है, जिसमें भूमि का सारा रस इकट्ठा होता है। इस रस से अन्न पैदा होता है। अन्न से वीर्य और वीर्य से मनुष्य, इस तरह से परम्परा से उत्पत्ति करने वाला रस इस द्युलोक में विद्यमान है, अतः द्युलोक को जन्मदाता पिता माना जाता है। इसीलिये बन्धन में बांधने वाली यह महती (विस्तीर्ण) पृथिवी माता मानी गई है, क्योंकि यह अपने गर्भ में से नाना प्रकार की ओषधियों को पैदा करने वाली है। अपि च, ऊपर-नीचे तनी हुई आकाश और पृथिवी की चांदनी के बीच में सभी भूतों के निर्माण का आश्रयभूत अन्तरिक्ष विद्यमान है। इस अन्तरिक्ष में पितृस्थानीय द्युलोक, अधिष्ठाता और अधिष्ठान में अभेद का आरोप कर इस स्थान में द्युलोक शब्द से उसमें विचरण करने वाले आदित्य का ग्रहण किया जाता है, अपनी अपनी किरणों से द्युलोकस्थानीय इन्द्र अथवा पर्जन्य बहुत दूर प्रदेश में स्थित दुहिता पृथिवी के गर्भ में अन्न इत्यादि सभी पदार्थों की उत्पत्ति में समर्थ वृष्टि के जल के रूप में गर्भ की सब तरह से स्थापना करता है। द्यौ जो सूर्य का प्रकाश है, वह सभी लौकिक व्यवहारों का कारण होने से मेरे पिता

सर्वव्यवहाराणामुत्पादकः' (पृ० ३२०) इति, तन्न सङ्गतम्, अत्र नाभिरित्यंशस्यासङ्गतेः। इयं पृथिवी माता मानकर्त्रीत्यपि (पृ० ३२०) न सङ्गतम्, मानार्थतायाः प्रकृतेऽनपेक्षणात्। यदुक्तम्—'द्वयोश्चम्वोः पर्जन्यपृथिव्योः सेनावदुत्तानयोः उत्तानस्थितयोः' (पृ० ३२०) इति, तदप्यसङ्गतम्, सेनयोर्गर्भाधानेऽनुदाहरणात्।

'शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यङ्गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्संशग्म्येन मनसा दधन्वे॥ (ऋ० सं० ३।३१।१)।

कुशिकः प्रसङ्गात् कश्चित् शास्त्रार्थं ब्रूते। अपुत्रस्य पितुः पुत्री दायादा पुत्रिका सती यतः सन्तानकृत् तस्याः पुत्र इत्यनयर्चोच्यते। अपुत्रो यः कन्यामन्यकुलं प्रापयति स वह्निः, 'वह प्रापणे' इति स्मरणात्। स पिता शासत् 'अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम्। अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति॥' (वशिष्ठस्मृति १७।१७) इत्युक्तमनुशासनं कुर्वन् दुहितुः पुत्रिकाया नप्त्यं नप्तभवं पिण्डदानादिकं कर्तव्यतया गात् तिष्ठति। किं कुर्वन्? विद्वान् अस्यां यो जायते पुत्रः स मम स्वधाकरो भविष्यतीति जानन्। ऋतस्य सत्यस्य पुत्रोत्पादनसमर्थस्य रेतसो दीधितिं धर्तारं जामातरं तत्पतिं सपर्यन् वस्त्रालङ्कारादिना पूजयन् पिता न प्रभावं गच्छति। यत्र यस्याः दुहितुः पिता पालकः पतिर्जामाता सेकं तस्यां रेतःसेकम् ऋञ्जन् प्रसाधयन् यः शग्मेन केवलं सुखनिमित्तेन मनसा तया स्वशरीरं संदधन् वे सन्धत्ते न तु पुत्रनिमित्तेन मनसा प्रशास्ति, वोढा सन्तानकर्मणे दुहितुः पुत्रभावं दुहिता दुर्हिता दूरे हिता दोग्धेर्वा, नप्तारमुपागमद् दौहित्रं पौत्रमिति विद्वान् प्रजननयज्ञस्य रेतसो वाङ्गादङ्गात् सम्भूतस्य हृदयादधिजातस्य मातरि प्रत्यृतस्य विधानं पूजयन् (नि० ३।१४)।

यत्त्वत्रोक्तम्—'अयमपि मन्त्रोऽस्यैवालङ्कारस्य विधायकोऽस्ति। वह्निशब्देन सूर्यो दुहितास्य पूर्वोक्तैव स पिता

के समान है' (पृ० ३२१) यह अर्थ संगत नहीं है, क्योंकि इसमें 'नाभि' पद की संगति नहीं बैठती। 'पृथिवी माता संमान करने वाली है' यह अर्थ भी सही नहीं है, क्योंकि प्रकृत स्थल में संमान का कोई प्रसंग नहीं है। 'आमने-सामने दो सेनाएँ होती हैं, उसी प्रकार सूर्य और पृथिवी, अर्थात् ऊपर की चांदनी के समान सूर्य और नीचे के बिछौने के समान पृथिवी है' (पृ० ३२१) यह अर्थ भी सही नहीं बैठता, क्योंकि दो सेनाओं को गर्भाधान के उदाहरण के रूप में कहीं नहीं दिखाया गया है।

'शासद्वह्नि०' इस मन्त्र में कुशिक ऋषि ने प्रसंगवश शास्त्र की चर्चा चलाई है। पुत्रविहीन पिता की पुत्री पिता के दायाद की उत्तराधिकारिणी होती है और उस पुत्री का पुत्र ही उसकी कुलपरम्परा को आगे बढ़ाता है, इस बात की चर्चा इस मन्त्र में की गई है। पुत्र सन्तानहीन पिता अपनी कन्या का दूसरे कुल में विवाह करने के कारण इस मन्त्र में 'वह्नि' नाम से अभिहित है। वह पिता विवाह करते समय कहता है कि इस बिना भाई की कन्या को अलंकारों से विभूषित कर मैं तुमको दे रहा हूँ। इसमें जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह मेरा होगा। इस तरह से उस पुत्रिका दुहिता से पैदा हुआ नाती अपनी माता के वंश वालों को पिण्ड देता है, अपने पिता के वंश के लिये वह पिण्डदान का अधिकारी नहीं रह जाता। वह जानता है कि मेरा इस पुत्री में पैदा हुआ पुत्र मेरे लिये स्वधाकार का उच्चारण करेगा, पिण्डदान करेगा। वह पिता ऋत = सत्य, अर्थात् पुत्र की उत्पत्ति में समर्थ वीर्य के धारक अपने जामाता की, उस कन्या के पति की, वस्त्र, अलंकार आदि से पूजा कर स्वयं अपने नप्तृभाव को प्राप्त करता है, अर्थात् अपने नाती को प्राप्त कर लेता है। इस अपुत्र पिता की पुत्री में उसका जामाता अपने को साज-सवार कर केवल अपने सुख के लिये ही अपने मन के साथ ही अपने शरीर को भी उसके लिये ही समर्पित कर देता है, वह उस पिता की दुहिता में अपने पुत्र के निमित्त अपने मन को समर्पित नहीं करता, क्योंकि उनसे उत्पन्न हुआ पुत्र दुहिता के पिता के हित में विनियोजित होता है। निरुक्त में दुहिता की व्युत्पत्ति यह की गई है कि वह दूर रह कर भी हित करती है, अथवा अपने पिता की कामना की पूर्ति करती है। उस दुहिता का पिता उस पुत्री से दौहित्र को प्राप्त करता है, जो कि उसके लिये पिण्डदान का अधिकारी रहता है। वह जानता है कि वह प्रजनन यज्ञ में उस दुहिता के पति के प्रत्येक अंग से पैदा होकर इकट्ठे हुए वीर्य से पैदा हुआ है और उसको दुहिता के गर्भ में पिता की कामना की पूर्ति करने के मन से स्थापित किया गया है। अतः वह पिता अपनी पुत्री के गर्भ में अपने पिण्डदान के अधिकारी पुत्र का आधान करने वाले जामाता की सब तरह से पूजा करता है।

स्वामी दयानन्द ने यहाँ कहा है—'सबका वहन, अर्थात् प्राप्ति कराने वाले परमेश्वर ने मनुष्यों की ज्ञान वृद्धि के लिये रूपकालंकार में कथाओं का उपदेश किया है। वही जल का धारण करने वाला है, जगत् में पुत्र-पौत्र आदि का पालन और उपदेश

स्वस्या उषसो दुहितुः सेकं किरणाख्यवीर्यस्य स्थापनेन गर्भाधानं कृत्वा दिवसं पुत्रमजनयत्' (पृ० ३२०) इति, तत्तु सर्वथा वेदार्थानभिज्ञानमूलकम्, पदवाक्यार्थासम्बन्धात्। निरुक्तवाक्यैस्तु सायणोक्तस्यैवार्थस्य समर्थनं भवति।

यत्तु—'ब्रह्मवैवर्तादिमिथ्यापुराणेषु मिथ्याभूताः कथा लिखिताः सन्ति, प्रजाप्रतिर्ब्रह्मा चतुर्मुखो देहधारी स्वां दुहितरं मैथुनाय जग्राहेति कथा, सा मिथ्यैवास्ति, कुतस्तस्या अलङ्काराभिप्रायत्वात्' (पृ० ३१९) इति, तदपि विश्रृङ्खलमेव, पुराणप्रतिपादितायाः कथाया अप्यलङ्काराभिप्रायत्वेऽप्रामाण्यासम्भवात्। अन्यथा 'प्रजापतिर्वा स्वां दुहितरमभ्यध्यायत' इत्यादीनामप्यप्रामाण्यापत्तेः। तस्या अप्यलङ्काराभिप्रायत्वे मिथ्यात्वे हेत्वभावात्। पुराणोपन्यस्तानां कथानां मिथ्यात्वं प्रतिज्ञाय तत्रैव हेतुर्वक्तव्य आसीत्। हेतुमनुपन्यस्य प्रजापतिर्वै स्वामित्याद्युपन्यासो व्यर्थ एव। नहि पुराणबाह्यवचनस्यालङ्काराभिप्रायत्वन पुराणवचनस्यालङ्काराभिप्रायत्वं सम्भवति, न वा तेन तस्याप्रामाण्यम्।

यदपि 'प्रजापतिर्वै स्वाम्' इत्यारभ्योक्तम्, तदपि तुच्छम्, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि सविता सूर्यो वा सूर्यलोको वा? तत्रापि सूर्यस्य लोक इति समासे सूर्यलोकपदं स्थूलमादित्याख्यं लोकमेव बोधयति, आहो सूर्यपदं तदधिष्ठात्रीं चेतनां काञ्चिद्देवतामभिदधाति, नात्र विनिगमनोपलभ्यते, कतरस्यात्र ग्रहणमिति। सूर्य एव लोकः सूर्यलोक इति समासे तूभाभ्यामपि पदाभ्यां देवतैवोच्यते, तथा सति पदद्वयोपन्यासस्य को वार्थः? अन्यतरग्रहणकल्पनायामपि तदितरोल्लेखो व्यर्थ एव स्यात्। उभयग्रहणे दयानन्दस्य स्वमतविरोधः स्यात्, तेन मनुष्येतरदेवतातत्त्वानभ्युपगमात्।

किञ्च, 'तस्य सवितुर्दुहिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति' (पृ० ३१९) इति यदुक्तम्, तदपि न क्षोदक्षमम्, दुहितृपदस्य कन्यावदित्यर्थत्वे मानाभावात्, शक्यार्थत्वसम्भवे लक्ष्यार्थताया अन्याय्यत्वात्। अत एव यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तस्या-

करता है। जिस सुखरूप व्यवहार में स्थित होकर पिता (सूर्य) दुहिता (उषा) में वीर्य स्थापित करता है, जैसा पूर्व लिख आये हैं, उसी प्रकार यहां भी जान लेना' (पृ० ३२१) ये सारी बातें वेदों के अर्थ को ठीक तरह से न समझ पाने के कारण है, क्योंकि इसमें मन्त्रगत पदों का वाक्य से ठीक संबन्ध नहीं बैठता। ऊपर उद्धृत निरुक्त वाक्य से सायण द्वारा किये गये अर्थ को ही समर्थन मिलता है।

'ब्रह्मवैवर्त और श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थ, जो कि व्यास जी के नाम से संप्रदायी लोगों ने रच लिये हैं, उनका नाम पुराण कभी नहीं हो सकता, किन्तु उसको नवीन कहना उचित है। अब उनकी मिथ्यात्व परीक्षा के लिये कुछ कथा यहां लिखते हैं। नवीन ग्रन्थकारों ने एक यह कथा भ्रान्ति से मिथ्या करके लिखी है कि प्रजापति चतुर्मुख शरीरधारी ब्रह्मा ने अपनी पुत्री को मैथुन के लिये पकड़ा, जो कि केवल रूपकालंकार मात्र है' (पृ० ३२०), किन्तु यह कथन भी निराधार है, क्योंकि पुराण प्रतिपादित कथा को आलंकारिक मानने पर भी किसी प्रकार की अप्रामाणिकता नहीं आ जाती। अन्यथा 'प्रजापतिर्वा०' इत्यादि वेद मन्त्र को भी अप्रामाणिक मानना पड़ जायगा। इस मन्त्र में भी रूपकालंकार में कथा वर्णित है, पुराण की कथा मिथ्या है, इसमें कोई कारण भी बताना पड़ेगा। बिना कारण बताये 'प्रजापतिर्वै०' इस मन्त्र को उद्धृत कर देने में कोई तुक नहीं है। पुराण से बाहर का वचन आलंकारिक अभिप्राय से कहा गया है, अतः पुराण का वचन भी आलंकारिक अभिप्राय से उक्त हैं या नहीं, इसका निर्णय आप कैसे कर सकते है और जब तक आप किसी निर्णय पर नहीं पहुंचते, तब तक पुराण वचन को आप अप्रामाणिक कैसे कह सकते हैं।

'प्रजापतिर्वै०' इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए जो कुछ आपने लिखा है (पृ० ३२०), वह भी असंगत है, क्योंकि आपके पास इस विकल्प का कोई उत्तर नहीं है कि सविता का अर्थ सूर्य है या सूर्यलोक? सूर्यलोक शब्द में भी सूर्य का लोक यह तत्पुरुष समास मान कर स्थूल आदित्य लोक की बोधकता मानी जाती हैं, अथवा सूर्यपद उस आदित्यलोक की अधिष्ठात्री किसी चेतन देवता का बोधक माना गया हैं, इसमें कोई विनियोजक कारण न होने से यह निश्चित नहीं हो पाता कि इनमें से कौन सा अर्थ प्राप्त है? सूर्य ही लोक इस तरह का कर्मधारय समास मानने पर तो दोनों पदों से देवता का ही बोध होगा, तब इन दोनों पदों को एक साथ रखने का क्या प्रयोजन होगा? किसी एक ही पद से दोनों का ग्रहण हो जाने पर इनमें से किसी एक का उल्लेख व्यर्थ ही होगा। इसमें दयानन्द के अपने मत से भी विरोध पड़ेगा, क्योंकि वे तो मनुष्य से भिन्न किसी देवता तत्त्व को स्वीकार ही नहीं करते।

'उस सविता प्रजापति सूर्य की प्रकाश और उषा ये दो कन्याओं की तरह हैं' (पृ० ३२०) दयानन्द का यह कथन भी परीक्षा में खरा नहीं उतरता; क्योंकि दुहिता पद का अर्थ 'कन्याओं की तरह' कभी नहीं हो सकता। जब कि किसी पद का मुख्य अर्थ

पत्यवत् स तस्य पितृवत्' (पृ० ३१९) इत्युक्तिरसङ्गतैव, यस्माद्यदुत्पद्यते तत्र तन्निरूपितजन्यत्वस्यैव, यस्माच्चोत्पद्यते तत्र जनकत्वस्यैव च प्रसिद्धेः। रूपकालङ्कारवचनमपि न सङ्गच्छते, त्वद्रीत्योपमालङ्कारस्यैव सम्भवान्न रूपकालङ्कारत्वम्, विषयिण उपमानभूतस्य रूपेणोपमेयस्य विषयस्य रञ्जनं तदेव रूपकमित्युच्यते, विषयिणोऽभेदेन ताद्रूप्येण विषयस्य रञ्जनमित्यर्थः। अभेदताद्रूप्यभेदे द्विविधस्यापि पुनः प्रत्येकस्य त्रैविध्यम्—(१) प्रसिद्धविषय्याधिक्यवर्णनेन, (२) तन्न्यूनत्ववर्णनेन, (३) अनुभयवर्णनेन वा। एवं षड्विधं रूपकं भवति। तत्र निदर्शनमपि भूमिकाभासकृता प्रदर्शितम्—'अयं हि धूर्जटिः साक्षात् येन दग्धाः पुरः क्षणात्'। अत्र येन दग्धा इति विशेषणेन वर्णनीये राज्ञि प्रसिद्धशिवाभेदानुरञ्जनात् शिवस्य पूर्वावस्थातो वर्णनीयराजभावावस्थायां न्यूनत्वाधिक्ययोरनुक्तत्वाद् अनुभयाभेदरूपकालङ्कारः। यथा वा—'चन्द्रज्योत्स्ना विशदपुलिने सैकतेऽस्मिन् सरय्वा वादद्यूतं चिरतरमभूत् सिद्धयूनोः कयोश्चित्। एको वक्ति प्रथमनिहतं कैटभं कंसमन्यस्तत्त्वं स त्वं कथय भगवन् को हतस्तत्र पूर्वम् ॥' अत्र स त्वमित्यनेन यः कंसकैटभयोर्हन्ता वासुदेवस्तत्तादात्म्यं वर्णनीयस्य कस्यचिद्राज्ञः प्रतिपाद्यम्। तं प्रति कंसकैटभवधयोः पौर्वापर्यप्रश्नव्याजेन तत्तादात्म्यदार्ढ्यकरणात् पूर्वावस्थात उत्कर्षापकर्षयोरविभावनाच्चानुभयाभेदरूपकमुक्तम्। एवमेवोदाहरणान्तराण्यप्यन्वेष्टव्यानि। प्रकृते वच्छब्दप्रयोगात् तादृशलक्षणासम्भवान्नात्र रूपकालङ्कारः। तस्मादत्र प्रसङ्गे रूपकालङ्कारोक्तिरज्ञानविजृम्भिता धृष्टतैव। किञ्च, एकत्रादित्यस्य पुत्रत्वमङ्गीचकार, अपरत्र दिवसस्येति स्फुटोऽपि विरोधो नावलोकितः। आदित्यपुत्रतामुक्त्वा पुनस्तस्यैव सूर्यपर्यायस्य पितृत्वं चोक्तवान्।

यदुक्तम्—'यस्मिन् भूप्रदेशे प्रातः पञ्चघटिकायां रात्रौ स्थितायां किञ्चित्सूर्यप्रकाशेन रक्तता भवति, तस्योषा इति संज्ञा' (पृ० ३१९) इति, तदप्ययुक्तम्, निरुक्तरक्तताया भूप्रदेशेऽसत्त्वात्। तदतिरिक्ते गगनस्थाने रक्ततायाः सर्वानुभव-

हो सकता है, तो बिना किसी अभिप्राय के लक्षणा करना ठीक नहीं माना जाता। इसी लिये 'जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसकी संतान की तरह होता है और यह पिता की तरह होता है' (पृ० ३२०) यह व्याख्या भी असंगत है, क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उससे जन्य और उसको उत्पन्न करने वाला जनक के रूप में ही प्रसिद्ध है। रूपकालंकार की बात भी जमती नहीं, क्योंकि आपकी इस व्याख्या के अनुसार तो उपमा ही इस स्थल पर बनेगी, रूपकालंकार नहीं। उपमानभूत विषयी के रूप में उपमेय विषय को रंग देना ही रूपक अलंकार कहलाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि विषयी के साथ अभेद बोध (तद्रूपता) का संपादन कर विषय को रंग देना ही, अर्थात् विषयी से विषय की अभिन्न प्रतीति कराना और तद्रूप प्रतीति कराना ही रूपकालंकार का कार्य है। इस प्रकार इसके दो भेद हो जाते हैं। अभेद और ताद्रूप्य प्रतीति के भेद से विभक्त इस रूपकालंकार के पुनः प्रत्येक के तीन भेद होते हैं—प्रसिद्ध विषयी के आधिक्य का वर्णन, उसकी न्यूनता का वर्णन अथवा इन दोनों का ही अवर्णन, अर्थात् न तो आधिक्य का वर्णन और न हीनत्व का ही। इस तरह से रूपक छः प्रकार का होता है। अनुभय वर्णन रूप रूपकालंकार का उदाहरण 'अयं हि धूर्जटिः' इत्यादि श्लोक को दिया गया है। इस उदाहरण में 'जिसने जला दिये हैं' इस विशेषण के आधार पर जिस राजा का वर्णन किया गया है, उसको भगवान् शिव के साथ अभिन्न रूप से रंग दिया गया है, किन्तु शिव की अवस्था से राजभाव की अवस्था में न्यूनता या अधिकता का प्रतिपादन नहीं किया गया है। इस तरह से यह अनुभयभेद रूप रूपकालंकार का उदाहरण बनता है। अथवा जैसे 'चन्द्रज्योत्स्ना०' इत्यादि श्लोक में 'वही तुम हो' इस पद से यह प्रतीत होता है कि कंस और कैटभ राक्षसों को मार डालने वाले वासुदेव से किसी राजा की अभिन्नता यहाँ वर्णित है। इस वर्णन में कंस और कैटभ में उन्होंने पहले किसको मारा ? इस प्रश्न के व्याज से इनकी अभिन्नता का तो दृढ़ता से प्रतिपादन किया जारहा है, किन्तु पूर्व (वासुदेव) की अवस्था से उत्कर्ष या अपकर्ष का बोध न कराने से यह भी उस अनुभयाभेद नामक रूपक का उदाहरण बनता है। इस तरह के अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इसके विपरीत प्रकृत स्थल में तो आप 'दुहितावत्' इस प्रकार वत् शब्द का प्रयोग करते हैं, इसमें उक्त रूपकालंकार का लक्षण घटित नहीं होता। इस लिये यहाँ रूपकालकार बनता ही नहीं। अतः इस प्रसंग में रूपकालंकार का बात करना धृष्टता ही मानी जायगी। इसमें वक्ता का अज्ञान ही स्पष्ट होता है। दयानन्द एक स्थान पर आदित्य को प्रजापति का पुत्र मानते हैं और दूसरे स्थान पर दिवस को ! यह स्पष्ट विरोध भी उनको दिखाई नहीं पड़ा। आदित्य को पुत्र मान कर फिर वे उसी को सूर्य से अभिन्न मान कर पिता के रूप में भी स्वीकार करते हैं। इससे बढ़कर परस्पर विरोधी बातें और क्या हो सकती है ?

सिद्धत्वात् । किञ्च, यदि तयोः पितादुहित्रोः समागमाद् उत्कटदीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्यः पुत्रो जायत इति मन्यसे, तदा पुराणकृताऽमुमेवार्थं प्रकारान्तरेण निबन्धता किमपराद्धम् ?

किञ्च, 'प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम्' इत्यादिः 'रोहितं भूतामभ्यैत्' इत्यन्तः पाठ ऐतरेयब्राह्मणे तृतीयपञ्जिकायां त्रयस्त्रिंशखण्डस्यादावेव पठितः। तस्येत्यारभ्यादित्योऽभवदित्यन्तः पाठस्तमेव खण्डमारभ्य चतुस्त्रिंशखण्डे पठितः। चतुस्त्रिंशखण्डस्य मध्यगतस्यावशिष्टस्य सर्वस्यापि कथानकस्य प्रकरणावधृतपाठस्य परित्यक्तत्वान्न त्वत्कपोलकल्पितस्वार्थस्योपक्रमपरामर्शोपसंहारैर्विना याथातथ्येन निर्णयो भवति। अन्यथा किमर्थमुक्तपाठं परितत्याज ? समग्रः पाठस्तु—'प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत। दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये। तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्तं देवा अपश्यन् अकृतं वै प्रजापतिः करोतीति। ते तमैच्छन् य एनमारिष्यत्येतमन्योन्यस्मिन्नाविन्दंस्तेषां या एव घोरतमा स्तन्व आसंस्ता एकधा समभरंस्ताः संभृता एष देवोऽभवत्तदस्यैतद् भूतवन्नाम इति। भवति वै स योऽस्यै तदेवं नाम वेद इति। तं देवा अब्रुवन्नयं वै प्रजातिरकृतमकरिमं विध्येति। स तथेत्यब्रवीत्। स वै वो वरं वृणा इति वृणीष्वेति स एतमेव वरमवृणीत पशूनामाधिपत्यं तदस्यैतत्पशुमन्नाम इति'। एवमेव 'पर्जन्यपृथिव्योः पितादुहितवत्' (पृ० ३१९) इत्यत्र कस्यापदेशः क्रियत इति पूर्वापरग्रन्थपर्यालोचनयापि न ज्ञायते। इदानीन्तने पुस्तके (रूपकालङ्कारः) इति योजयित्वा केनचित्पाठो लापितः।

'द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र' इत्यादिना मन्त्रं निर्दिश्य यदुक्तं निरुक्तकृता—'तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति' इति, तस्याभिप्रायस्तु न ज्ञायते। 'यतोऽयं पर्जन्याददृभ्यः पृथिव्या उत्पत्तेः, अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति' (पृ० ३१९-३२०) अत्राप्यत इति व्यर्थमेव, पञ्चम्यैव गतार्थत्वात्। 'स पर्जन्यो वृष्टिद्वारा तस्यां वीर्यवज्जलप्रक्षेपणेन गर्भं दधाति। तस्माद् गर्भा-

स्वामी दयानन्द आगे लिखते हैं—'इसलिये उषा जो कि पांच घड़ी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा में जिस भूप्रदेश पर रक्तता दीख पड़ती है, वह सूर्य की किरण से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या कहलाती है' (पृ० ३२०), किन्तु यह व्याख्या भी ठीक नहीं है, क्योंकि आपके द्वारा वर्णित यह रक्तता भूप्रदेश में न रह कर उससे भिन्न आकाश में ही दिखाई पड़ती है, यह बात जन साधारण के अनुभव से ज्ञात है। यदि पिता और दुहिता, अर्थात् सूर्य और उषा के समागम से उत्कट प्रकाश वाला आदित्य (दिवस) पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है, ऐसी आप व्याख्या करते हैं, तो फिर इसी बात को भिन्न प्रकार से वर्णित करने वाले पुराणकार ने क्या अपराध किया है कि जिस पर आप इतना आक्रोश व्यक्त करते हैं।

इस प्रसंग में एक बात यह भी विचारणीय है कि 'प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरं' यहां से आरंभ कर 'रोहितभूतामभ्यैत्' यहाँ तक का पाठ ऐतरेय ब्राह्मण की तृतीय पंजिका के ३३वें खण्ड के प्रारंभ में ही विद्यमान है। 'तस्य' से आरंभ कर 'आदित्योऽभवत्' यहाँ तक का पाठ ३३वें और ३४वें खण्ड में भी विद्यमान है। ३४वें खण्ड में वर्णित कथानक के अवशिष्ट भाग को आपने यहाँ छोड़ दिया है, उसको अपने मतलब का न समझ कर उद्धृत नहीं किया है। इस परिस्थिति में आपका कपोलकल्पित अर्थ उपक्रम और उपसंहार वाक्यों का ठीक से आलोडन न हो पाने से सही रूप में निकल नहीं पाता। लगता है अपने अभिप्राय की सिद्धि न होते देख कर ही आपने पूरे वाक्य को उद्धृत नहीं किया है। अन्यथा पूरे पाठ को छोड़ देने का और क्या प्रयोजन हो सकता है। पाठकों की सुविधा के लिये वहाँ का पूरा पाठ ऊपर मूल में उद्धृत कर दिया गया है, जिससे कि पुराणप्रतिपादित कथानक की ही स्पष्ट रूप से पुष्टि होती है। इसी तरह से 'पिता के समान पर्जन्य और दुहिता के समान पृथिवी को' (पृ० ३२०) बताने का दयानन्द का क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। नये संस्करण में कोष्ठक में 'रूपकालंकार' इतना जोड़कर इस पंक्ति का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि यहाँ भी रूपकालंकार का निरूपण किया गया है, अर्थात् इस अलंकार की सहायता से कथा लिखी गई है।

'द्यौर्मे पिता' इत्यादि मन्त्र का निर्देश कर 'तस्य पिता दुहितुर्गर्भं दधाति' इस निरुक्तवाक्य को इस प्रसंग में स्वामी दयानन्द ने उद्धृत किया है, उसका अभिप्राय क्या है ? यह ज्ञात नहीं हो पाया। 'क्योंकि पृथिवी की उत्पत्ति जल से ही हुई है, अतः पृथिवी उसकी पुत्री की तरह है' इस अर्थ के प्रतिपादक 'यतोऽयं' इत्यादि वाक्य में 'अतः' पद व्यर्थ ही है, क्योंकि पंचमी से ही यह अर्थ प्राप्त हो जायगा, इसके लिये अलग से 'अतः' के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। 'जब वह पर्जन्य उस कन्या में वृष्टि के द्वारा जलरूप वीर्य

दोषध्यादयोऽपत्यानि जायन्ते' (पृ० ३२०) इति तु सर्वथाऽसङ्गतम्, निरुक्तविपरीतं च। पृथिव्या यथाश्रुतं वस्तुभूतं कन्यात्वं प्रकल्प्य तत्रैव तदुत्पादकस्य पर्जन्यस्य वीर्यप्रसेकं च निर्दिश्य गर्भधारणपूर्वकं सोऽपत्यं जनयतीत्यश्लीलताव्यञ्जकमर्थं स्वयमेव व्याख्याय परेषां सूक्तमपि दुरुक्तं मन्यमानोऽर्थमप्यनर्थं बुद्ध्यमानो गुणानपि दोषपक्षे निक्षिपन् न मनागपि जिह्रेति। निरुक्तदृष्ट्या मन्त्रार्थस्तु—पितृपदं 'पाता वा पालयिता वा' इत्यनया योगवृत्त्या यतो ह्युदकं द्युलोकात्पतितं पार्थिवेन धातुना सम्पृक्तमोषधिभावमापद्य शरीरभावेनावतिष्ठत इत्येतदपेक्ष्य पर्जन्ये दिवि शक्तम्। तथा दुहितृपदेन पृथिव्येवोच्यते। सा हि द्युलोकाद् दूरे हिता निहिता भवति, द्युलोकं दोग्धीति वा। अतस्तयोरत्र न लोकप्रसिद्धः पितृदुहितृसम्बन्धो ज्ञायते, पितृदुहितृपदयोर्निरुक्तवृत्त्या द्युपृथिवीपरत्वात्। अत एव द्यावापृथिव्योः सर्वभूतानां मातापितृत्वं प्रसिद्धमिति नात्राश्लीलत्वादिकम्, द्यौरेव चात्र पर्जन्यशब्देनोक्तेत्यप्युक्तमेव।

यदुक्तम्—'अयमपि मन्त्रोऽस्यैवालङ्कारस्य विधायकोऽस्ति' (पृ० ३२०) इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथात्वेऽलङ्कारविधायकत्वेऽलङ्कारदैवत्यमेवास्य मन्त्रस्य स्यात्। न च तत्सङ्गतम्, अत एव निरुक्तब्राह्मणादिषु न क्वापि रूपकालङ्कारविधायिनी कथाऽऽख्याता। एवमेव—'सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते' (नि० २।६) इति निरुक्तोल्लेखोऽप्यनुपयोगी, प्रकरणार्थेऽसम्बद्धत्वात्।

'द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र' इति येयं द्यौरुपरिस्था एषैव मम पिता जनितोत्पादयिता, यतोऽत्र नाभिः, नहनमेव नाभिः। अत्रैतस्मिन् द्युलोकलक्षणे पितरि उदकदानेनानुग्रहीतरि सति सन्तानोत्पत्तिक्रमेणैव शुक्रात्मनोत्पत्तिरुपपद्यते,

को धारण करता है, तब उससे गर्भ रहकर ओषधी आदि अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं' (पृ० ३२१), यह कथन भी सर्वथा असंगत है और निरुक्त के विपरीत भी है। स्वामी दयानन्द प्रस्तुत स्थान में, जैसा कि मन्त्र में पढ़ा गया है, उसी रूप में पृथिवी की कन्या के रूप में कल्पना करके उसी में उस पृथिवी के उत्पादक पर्जन्य के वीर्य के आधान की बात लिखकर यह बताते हैं कि इस तरह से वह पृथिवी अपने पिता के वीर्य से गर्भवाली हो जाती है और पुत्र को उत्पन्न करती है। इस तरह से वे स्वयं ही इस मन्त्र की अश्लीलता भरी व्याख्या करते हैं और दूसरे आचार्यों के किये गये भले अर्थ को भी गलत मान उस पर दोषारोपण करते हैं। इस तरह से वे सही बात को भी गलत समझ कर, गुणपक्ष को भी दोषपक्ष में ही डालकर, कुछ भी लज्जित नहीं होते। निरुक्त की दृष्टि से तो मन्त्र का अर्थ इस तरह से होगा—पिता पद का अर्थ यौगिक वृत्ति के आधार पर रक्षा करने वाला अथवा पालन करने वाला होगा। पर्जन्य भी सारे लोक की रक्षा करने वाला अथवा पालन करने वाला होने से पिता कहलाता है, क्योंकि आकाश से जब जल बरसता है, तो वह पृथिवी के साथ मिलकर ओषधी के रूप में परिणत होकर सभी प्राणियों के शरीर की रक्षा और पालन करने में समर्थ होता है। इसी आधार पर यहाँ पिता शब्द आकाशस्थित जल के अर्थ का (पर्जन्य) बोधक है। दुहिता पद से यहाँ पृथिवी का बोध होता है, क्योंकि वह आकाश बहुत दूर विद्यमान है, अथवा वह आकाश का दोहन करती है। इस तरह से निरुक्त के अनुसार पिता पर्जन्य और दुहिता पृथिवी का लोक में प्रसिद्ध पिता-पुत्री वाला संबन्ध न रखकर निरुक्त में प्रदर्शित निर्वचन के अनुसार द्युलोक और पृथिवीलोक अर्थ है। इसलिये आकाश और पृथिवी को सभी प्राणियों का माता-पिता सर्वत्र कहा जाता है। इसमें अश्लीलता का थोड़ा सा भी प्रसंग नहीं है। इस मन्त्र में द्युलोक को ही पर्जन्य शब्द से अभिहित किया गया है, यह बात पहले भी कही जा चुकी है।

'शासद्वह्नि०' यह मन्त्र भी इसी रूपकालंकार का विधायक है' (पृ० ३२०) यह कथन भी असंगत है। यदि यह मन्त्र अलंकार का विधायक होता, तो इस मन्त्र का देवता अलंकार को होना चाहिये था। यह तो ठीक बैठता नहीं। इसीलिये निरुक्त, ब्राह्मण प्रभृति ग्रन्थों में कहीं भी रूपकालंकार का विधान करने वाली कोई कथा नहीं मिलती। इसी तरह से 'सूर्यरश्मि०' इत्यादि निरुक्त के वचन का उल्लेख भी इस प्रकरण से संबद्ध नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत प्रकरण में गो (पृथिवी) के पर्याय के रूप में सूर्यरश्मि, चन्द्रमा अथवा गन्धर्व का उल्लेख करने से कोई बात नहीं बनती।

'द्यौर्मे पिता०' इत्यादि श्रुति का सही अर्थ इस प्रकार है—यह ऊपर दिखाई पड़ने वाला आकाश ही मेरा पिता है, मुझे उत्पन्न करने वाला है, क्योंकि नाभिस्थल यही है। इस आकाश रूपी पिता के द्वारा जलवर्षारूप कृत्य से अनुगृहीत होकर ही लोक

अतो द्युलोकस्य पितृत्वम् । अङ्गसम्बन्धकरणाद् बन्धुः । मही महती पृथिवी मे माता द्यौरहं पृथिवीत्वम् (आश्वलायनगृह्यसूत्र १।७।६) । वैवाहिके कर्मणि मन्त्रेणानेन द्यावापृथिवीरूपाभ्यां मातापितृभ्यां सम्पृश्च्यमात्मानं दृष्ट्वा मन्त्रदृगाह—तत्कृतस्योपकारस्याभावे मातापितरावकिञ्चित्करौ भवतः । किमेतयोरन्यानपेक्षतया मातापितृत्वमुत किञ्चिदपेक्ष्येत्याकाङ्क्षायामुच्यते—अनयोश्चम्वोः पृष्ठे सूत्रात्मना प्राणेन विधृतयोर्द्यावापृथिव्योरुत्तानयोरूर्ध्वमेव तानयोर्विस्तारितयोरत्रोर्द्यावापृथिव्योर्य एषोऽन्तरिक्षाख्योऽन्तर्मध्ये योनिरत्रास्मिन्नवकाशदानोपकारत्वे प्रवृत्ते सति तदपेक्ष्यैव द्यावापृथिव्योर्मातापितृत्वम् । पिता पर्जन्यः । द्यौरेव हि रसान् प्रार्जयति तस्मात् सैव पर्जन्यशब्देनोच्यते । दुहितुः दूरे हितायाः पृथिव्या उपरि गर्भं सर्वभूतगर्भोत्पत्तिहेतुभूतोदकमाधाद् आदधातीत्यर्थः । द्यावापृथिव्यामन्तरिक्षेण चावकाशदानेनानुगृह्यमाणान्येव भूतान्युत्पद्यन्त इत्यर्थः ।

'एवं तद्विद्योपदेशार्थालङ्कार[भूत]यां भूषणरूपायां सच्छास्त्रेषु प्रणीतायां कथायां सत्यां या नवीनग्रन्थेषु पूर्वोक्ता मिथ्याकथा लिखितास्ति, सा नैव मन्तव्या' (पृ० ३२२) इति दयानन्दोक्तौ सद्विद्योपदेश एवालङ्कारत्वेन विवक्षितः, न चालङ्कारग्रन्थेषु तादृशालङ्कारो वर्ण्यते ।

यदप्युक्तम्—'कश्चिद् देहधारीन्द्रो देवराज आसीत् । स गोतमस्त्रियां जारकर्म कृतवान् । तस्मै गोतमेन शापो दत्तस्त्वं सहस्रभगो भवेति । तस्यै अहल्यायै शापो दत्तस्त्वं पाषाणशिला भवेति । तस्या रामपादरजःस्पर्शेन शापस्य मोक्षणं जातमिति । तत्रेदृश्यो मिथ्यैव कथाः सन्ति । कुतः ? आसामप्यलङ्कारार्थत्वात् । तद्यथा—इन्द्रागच्छेति । गौरावस्कन्दिन् अहल्यायै जारेति । तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत् प्रमुमोदयिषति' (श० ३।३।२।१८), 'रेतः सोमः' (श० ३।३।२।१), 'रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते' (नि० १२।११), 'जार आ भगम्' जार इव भगम् । आदित्योऽत्र जार उच्यते, रात्रे-

शुक्र के माध्यम से सन्तान की उत्पत्ति करता है। इसलिये आकाश को सबका पिता कहा जाय, यह उचित ही है। अंगों से संबन्ध स्थापित कराने से यह बन्धु है । यह महती (विशाल) पृथिवी मेरी माता है । आश्वलायन श्रौतसूत्र में विवाह संबन्धी कृत्यों के अवसर पर इस मन्त्र का विनियोग बताया गया है। तदनुसार इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए वर वधू से कहता है कि आकाश और पृथिवी जैसे सबके माता-पिता हैं, उस तरह से हम भी अपनी सन्तति के माता-पिता बनने वाले हैं । इस अवसर पर यदि हम सारे जगत् के माता-पिता आकाश और पृथिवी का उपकार न मानेंगे, तो हमारा माता-पितृत्व व्यर्थ हो जायगा । किसी की सहायता से ये माता-पिता बनते हैं, या इनको किसी की अपेक्षा नहीं रहती ? इस आकांक्षा (जिज्ञासा) का उत्तर मन्त्र में ही दिया गया है कि सूत्रात्मक प्राण के आतान-वितान से धारण किये गये आकाश और पृथिवी के बीच में एक अन्तरिक्ष रूपी योनि है। वही अवकाश प्रदान कर इनका उपकार करती रहती है । उसी की सहायता ये ये सारे जगत् के माता-पिता बन पाते हैं । इनमें पिता पर्जन्य है, क्योंकि यह पर्जन्य रूपी आकाश ही सब जगह से रस का संचय करता है, अतः उसी को पर्जन्य कहा जाता है । यह पर्जन्य ही दुहिता अर्थात् बहुत दूर स्थित पृथिवी के गर्भ में सभी प्राणियों की उत्पत्ति में सहायक उदक की वर्षा करता है । इसका अभिप्राय यह है कि आकाश, पृथिवी और अन्तरिक्ष के अवकाश देने पर ही, अर्थात् इन सबके अनुग्रह से ही सारे प्राणियों की उत्पत्ति होती है ।

'इस उत्तम रूपक अलंकार विद्या को अल्प बुद्धि पुरुषों ने बिगाड़ के सब मनुष्यों में हानिकारक फल धर दिया है । इसलिये सब सज्जन लोग पुराणोक्त मिथ्या कथाओं को मूल से ही त्याग कर दें' (पृ० ३३३) । दयानन्द ने इस जगह सद्विद्या के उपदेश को ही अलंकार मान लिया है, किन्तु किसी भी अलंकार ग्रन्थ में इस नाम का अर्थालंकार दृष्टिगोचर नहीं होता ।

प्रजापति और उसकी पुत्री की कथा पर विचार समाप्त कर स्वामी दयानन्द ने इन्द्र और अहल्या की कथा की चर्चा उठाई है । इस प्रसंग में वे कहते हैं—'अब जो दूसरी कथा इन्द्र और अहल्या की है, जिसको कि मूढ़ लोगों ने अनेक प्रकार से बिगाड़ कर लिखा है । इस कथा को उन्होंने ऐसा मान रक्खा है कि देवों का राजा इन्द्र देवलोक में देहधारी देव है । वह गौतम ऋषि की स्त्री अहल्या के साथ जार कर्म किया करता था । एक दिन जब उन दोनों को गौतम ने देख लिया, तब इस प्रकार शाप दिया कि हे इन्द्र, तू हजार भग वाला हो जा । तथा अहल्या को शाप दिया कि तू पाषाण रूप हो जा । परन्तु जब उन्होंने गौतम से प्रार्थना की कि हमारे शाप का छुटकारा कैसे या कब होगा ? तब इन्द्र से तो कहा कि तुम्हारे हजारों भग के स्थान पर नेत्र हो जाय और अहल्या को

जंरयिता' (नि० ३।१६) 'एष एवेन्द्रो य एष तपति' (श० १।६।४।१८) इन्द्रः सूर्यो य एष तपति, भूमिस्थान् पदार्थांश्च प्रकाशयति अस्येन्द्रेति नाम, परमैश्वर्यप्राप्तेर्हेतुत्वात्। स अहल्याया जारोऽस्ति। सा सोमस्य स्त्री तस्य गोतम इति नाम। गच्छतीति गौरतिशयेन गौरिति गोतमश्चन्द्रः। तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोऽस्ति। रात्रिरहल्या। कस्मात्? अहर्दिनं लीयतेऽस्यां तस्माद्रात्रिरहल्योच्यते। स चन्द्रमाः सर्वाणि भूतानि प्रमोदयति, स्वस्त्रियाऽहल्यया सुखयति। अत्र स सूर्य इन्द्रो रात्रेरहल्याया गोतमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया जार उच्यते। कुतः? अयं रात्रेर्जरयिता। 'जृष वयोहानौ' इति धात्वर्थोऽभिप्रेतोऽस्ति। रात्रेरायुषो विनाशक इन्द्रः सूर्य एवेति मन्तव्यम्। एवं सद्विद्योपदेशार्थालङ्कार[भूत]ायां भूषणरूपायां सच्छास्त्रेषु प्रणीतायां कथायां सत्यां या नवीनग्रन्थेषु पूर्वोक्ता मिथ्या कथा लिखितास्ति, सा केनचित् कदापि नैव मन्तव्या' (पृ० ३२१-३२२) इति महता प्रघट्टकेन, तदपि नास्तिक्यमूलकम्, रूपकालङ्कारस्यापि निराधारत्वायोगात्। सति कुड्ये चित्रोल्लेखः। केनचिद्रूपेण विद्यमानायामेव कथायां रूपकालङ्कारेणार्थान्तरवर्णनं युज्यते नासत्याम्। यथा रामरावणकथायां रामायणे प्रसिद्धायामेव राम आत्मा विज्ञानं वा, रावणोऽहङ्कारः, शरीरं लङ्का, शुद्धमनो हनूमान् इत्यादिकल्पना भवति। तथा च प्रसिद्धः श्लोकः—'विद्यासीतावियोगक्षुभितनिजसुखः शोकमोहाभिपन्नश्चेतः सौमित्रिमित्रो भवगहनगतः शास्त्रसुग्रीवसख्यः। हत्वास्ते दैन्यबालिं मदनजलनिधौ धैर्यसेतुं प्रबद्ध्य प्रध्वस्ताबोधरक्षःपतिरधिगतचिज्जानकिः स्वात्मरामः ॥' इति। एवमेव कौरवपाण्डवसंग्रामे सत्येव तत्र देवासुरसंग्रामकल्पना जायते। राजसतामसवृत्तिषु सात्त्विकवृत्तिषु च देवासुरसंग्रामस्यापि कल्पनाऽभिप्रेयते। किञ्चानेकैराचार्यैर्वेदमन्त्राणामाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदेनानेकेऽर्था

वचन दिया कि जिस समय रामचन्द्र अवतार लेकर तेरे पर अपना चरण लगावेंगे, उस समय तू फिर अपने स्वरूप में आ जावेगी। इस प्रकार पुराणों में यह कथा बिगाड़ कर लिखी गई है। सत्य ग्रन्थों में ऐसा नहीं है, क्योंकि ये भी रूपकालंकार में वहाँ किसी दूसरे ही अभिप्राय को प्रकट करती है। अर्थात् उनमें इस रीति से कथा वर्णित है—सूर्य का नाम इन्द्र, रात्रि का नाम अहल्या तथा चन्द्रमा का नाम गोतम है। यहाँ रात्रि और चन्द्रमा का स्त्री-पुरुष के समान रूपकालंकार है। चन्द्रमा अपनी स्त्री रात्रि से सब प्राणियों को आनन्द कराता है और उस रात्रि का जार आदित्य है। अर्थात् उसके उदय होने से रात्रि अन्तर्धान हो जाती है। जार अर्थात् यह सूर्य ही रात्रि के वर्तमान रूप शृङ्गार को बिगाड़ने वाला है। इसलिये यह स्त्री-पुरुष का रूपक अलंकार बाँधा है कि जैसे स्त्री-पुरुष मिलकर रहते हैं, वैसे ही चन्द्रमा और रात्रि भी साथ साथ रहते हैं। चन्द्रमा का नाम 'गोतम' इसलिये है कि वह अत्यन्त वेग से चलता है और रात्रि को 'अहल्या' इसलिये कहते हैं कि वह उसमें दिन का लय हो जाता है। सूर्य इस रात्रि को निवृत्त कर देता है, इसलिये वह उसका 'जार' कहलाता है। इस उत्तम रूपक अलंकार में कही गई विद्या को अल्पबुद्धि पुरुषों ने बिगाड़ कर सब मनुष्यों में हानिकारक रूप धर दिया है। इस लिये सब सज्जन लोग पुराणोक्त मिथ्या कथाओं को मूल से ही त्याग दें' (पृ० ३२३-३२३)। स्वामी दयानन्द ने प्रबल प्रमाणों के सहारे अपनी बात को रखने का प्रयत्न किया है, किन्तु यह सारा प्रयत्न उनके नास्तिक स्वभाव को ही प्रकट करता है। रूपक अलंकार भी निराधार नहीं रह सकता। दीवाल, कपड़े आदि आधार के रहने पर ही उस पर चित्र बनाया जा सकता है। किसी न किसी रूप मे कथा के रहने पर ही उसके आधार पर रूपक अलंकार के सहारे अन्य कल्पनाएँ की जा सकती हैं, निराधार कल्पना नहीं को जा सकती। जैसे राम और रावण की कथा के रामायण में प्रसिद्ध रहने पर ही राम की आत्मा अथवा विज्ञान के रूप में, रावण की अहंकार के रूप में, शरीर की लंका के रूप में और शुद्ध मन की हनूमान् के रूप में कल्पना हो सकती है। इसी तरह की कल्पना के आधार पर इस श्लोक की रचना की गई है—'विद्यारूपी सीता के वियोग से क्षुब्ध यह राम रूपी आत्मा अपने सुखमय स्वरूप को भूल बैठा है और शोक एवं मोह से अभिभूत हो गया है। यह गहन संसार में जब लक्ष्मण जैसे सहायक को पाकर चित्त सुग्रीव के समान शास्त्रों से मित्रता स्थापित करता है, तो वह अपने दैत्य सदृश शत्रु बालि को मार डालता है, मदन (काम) रूपी सागर में धैर्य रूपी पुल बाँध लेता है और अज्ञान रूपी रावण को मारकर पुनः विद्यारूपी जानकी को प्राप्त कर अपने सुखमय स्वरूप में लीन हो जाता हैं'। इसी तरह से कौरव और पाण्डवों का संग्राम होने पर ही इस युद्ध में देवासुरसंग्राम की कल्पना की जाती है। राजस और तामस वृत्तियों के साथ सात्त्विक वृत्ति के युद्ध के लिये भी देवासुरसंग्राम की कल्पना की जा सकती है। अनेक आचार्यों ने वैदिक मन्त्रों के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक के भेद से अनेक अर्थ किये हैं। निरुक्तकार यास्क

वर्ण्यन्ते। निरुक्तकारोऽपि पौराणिकपक्षमुपस्थापयति। तेन विशिष्टेषु राजादिमनुष्येषु देवादिषु तासु तासु वृत्तासु घटनासु यथाश्रुतासु सतीष्वप्याध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकार्थकल्पनं न विरुद्धयते। किञ्च, यथाश्रुतार्थानुपपत्तौ सत्यामेव लक्षणां गौणीं वा वृत्तिमाश्रित्य कल्पना भवति, तदपलापे मानाभावात्। न च शिष्यते हितमुपदिश्यतेऽनेनेति शास्त्रमिति निरुक्त्याऽनिष्टपरिजिहीर्षूणामनिष्टपरिहारोपायोपदेशेनेष्टप्रेप्सूनामिष्टप्राप्त्युपायोपदेशेनैव शास्त्रत्वं सङ्गच्छते। कथामात्रस्य च तद्भिन्नत्वाद् अशास्त्रत्वमेव स्यादिति वाच्यम्, अर्थवादरूपेण कथानां विधिप्राशस्त्यादिपरत्वेन शास्त्रत्वाव्याघातात्। तदुक्तं जैमिनिना—'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति। अर्थवादाश्च प्रमाणान्तरविरोधे गुणवादिनः प्रमाणान्तरसिद्धावनुवादिनोऽविरोधेऽसिद्धौ च भूतार्थवादिन इति देवतानिरूपणप्रसङ्गे विस्तरेणोक्तम्। तत्रैव कणेहत्यालोचनीयम्।

यदपि चाहल्या रात्रिरुच्यते, गोतमश्चन्द्रः तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोऽस्ति। इन्द्रः सूर्यश्चास्य स्त्रिया जार उच्यते। सूर्योदये रात्रिर्नश्यति। इदमेव च तया सह सूर्यस्य जारकर्मेति, तदपि न सिद्धान्तबाधकम्, पुराणप्रतिपादितायाः कथाया अपि तदभिप्रायत्वाभ्युपगमात्। जारकर्म कृत्वा यदोदेति सूर्यस्तदा क्रमश एधमानः सहस्रभगतां भजते। सहस्रभगः सहस्रकिरणः सर्वात्मना प्रकाशते। तत एव लोके सहस्ररश्मिः सूर्य उच्यते। रात्रिश्च पोषणशिलेव निश्चेष्टा सर्वथापि स्तब्धा भवति। सुप्तप्रायं जगदपि न किञ्चिच्चेष्टते, दिवस एव कर्मणां लब्धसत्ताकत्वात्। रामचन्द्रपादकिरणस्पर्शेन सा पत्या चन्द्रेण मोदते, तदानीं जरयितुः सूर्यस्यासत्त्वात्। ऐतिहासिकमप्यर्थं तत्र निरुक्तकारो ब्रवीति। रामायणकथागतानीन्द्रा-

अन्य अर्थों के साथ पौराणिक पक्ष का भी समर्थन करते हैं। इसलिये उन उन विशिष्ट राजाओं से, मनुष्यों से, देवताओं से संबद्ध घटनाओं का मन्त्रों में वर्णन मिलने पर भी उनका आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक अर्थ करने में किसी प्रकार को बाधा नहीं रहती। वास्तविक बात यह है कि यथाश्रुत अर्थ की उपपत्ति न होने पर ही लक्षणा या गौणी वृत्ति का सहारा लेकर कोई कल्पना की जा सकती है, किन्तु यथाश्रुत अर्थ की उपपत्ति होती हो तो उसका अपलाप किसी भी कीमत पर नहीं किया जा सकता। यदि आप कहें कि जो हित का उपदेश करने वाला हो, उसे ही शास्त्र कहा जा सकता है, अतः अनिष्ट का निवारण चाहने वाले को अनिष्ट के परिहार का और इष्ट वस्तु को चाहने वाले को उसकी प्राप्ति का उपाय बताने वाला ग्रन्थ ही शास्त्र कहला सकता है। केवल कथाएँ जहाँ वर्णित हैं, उन पुराण प्रभृति ग्रन्थों में शास्त्र के इस लक्षण के न रहने से वे शास्त्र नहीं कहला सकते, किन्तु आपका यह कथन सही नहीं है, क्योंकि अर्थवाद के रूप में कथाएँ भी विधि की प्रशंसा अथवा निषेध्य की निन्दा करती हैं और इस तरह से उनमें भी प्रवृत्ति और निवृत्ति का उपदेश विद्यमान होने से शास्त्र का लक्षण मिल जाता है। जैसा कि जैमिनि आचार्य ने कहा है—'विधिवाक्य की स्तुति करके अर्थवाद वाक्य उसी के अंग बन जाते हैं'। ये अर्थवाद वाक्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विपरीत दिखाई पड़ने पर गौणार्थक और अन्य प्रमाणों के उपोद्बलक होने पर अनुवादक मात्र रह जाते हैं। किसी प्रमाण से विरुद्ध न हो और इनमें यदि किसी प्रमाणान्तर की उपोद्बलकता सिद्ध न हो, तो ये भूतार्थवादी माने जाते हैं। इस बात को हमने देवतातत्त्व का निरूपण करने वाले प्रकरण में विस्तार से समझाता है। वहीं इस विषय का सूक्ष्म निरीक्षण किया जा सकता है।

यदि अहल्या रात्रि कही जाती है, गोतम चन्द्रमा और इनका स्त्री और पुरुष के समान संबन्ध माना जाता है। इन्द्र अर्थात् सूर्य को इस रात्रि रूपी स्त्री का जार माना जाता है, सूर्योदय होने पर रात्रि नष्ट हो जाती है, इसी को सूर्य का जार कर्म माना जाता है, तो इसमें हमारे सिद्धान्त की किसी प्रकार का हानि नहीं है। पुराण में प्रतिपादित कथा का यही अभिप्राय हम भी मानते हैं। उक्त जार कर्म को करके सूर्य जब उगता है और ऊपर आकाश में क्रमशः बढ़ता हुआ उठता है, तब वह सहस्र भग वाला, अर्थात् हजारों किरणों से सब तरह से प्रकाशित हो उठता है। इसीलिये लोक में सूर्य को सहस्ररश्मि कहा जाता है। रात्रि पत्थर की शिला की तरह निश्चेष्ट, स्तब्ध रहती है। उस समय सोया हुआ सारा जगत् भी किसी तरह की चेष्टा नहीं करता, दिन में ही सब कोई अपना सारा कार्य करते हैं। रामचन्द्र के चरण की किरणों का स्पर्श होने से वह अपने पति चन्द्रमा के साथ आनन्द मनाती है, क्योंकि उस समय उसका जार सूर्य वहाँ उपस्थित नहीं रहता। निरुक्तकार ने इस मन्त्र का ऐतिहासिक अर्थ भी किया है। रामायण की कथा में

हल्यादीनि पात्राण्यपि नापलापार्हाणि। सति कुड्ये चित्रोल्लेखसम्भवेन तस्यामैतिहासिक्यां कथायामेवाध्यात्मिकाधिदैविकादयोऽप्यर्थाः सङ्गच्छन्ते।

'उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति।
विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती॥' (ऋ० सं० १०।११।६)

इति मन्त्रे आदित्यो जार उक्तः, रात्रेश्चन्द्रादिभासां च जरयितृत्वात्। यथा जार आदित्यो भगं भजनीयं भौममान्तरिक्षं रसं स्वं ज्योतिरूर्ध्वमुदीरयति, तथा हे अग्ने, सर्वगतं सन्तमात्मानं विशेषात्मलाभायोदीरय उद्गमय। अरणी पितरौ प्रति द्यावापृथिव्यौ अहोरात्रे वा। 'मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः। भ्रातेन्द्रस्य सखा मम॥' (ऋ० सं० ६।५५।५) इत्यत्र च रात्रिरादित्यस्य मातोक्ता, प्रसवकाले स्त्रिया जघने कुमारस्येव रात्रेर्जघने तस्योदयात्। तस्याः स एव रोद्धा धारयिता रोद्धाऽतः स मातुर्धारयिता दिधिषुरुच्यते। स्वसृपदेन उषा उच्यते, साहचर्याद्रसहरणाच्च। स्वस्रा साकं बाल्ये नित्यं चरति तथा चोषसादित्यः, तस्या उषसो जरयितृत्वात् स स्वसुर्जार उक्तः। तत्रैव निरुक्ते जार आ भगमित्यत्र मनुष्यजार एवाभिप्रेतः स्यात् स्त्रीभगस्तथा (नि० ३।१६)। यथा पारजायिको जारो भगं स्त्रिया भगमुपस्थमिवात्मानमरणीं प्रत्युदीरयति। तथा च यत्राहल्या महर्षेर्गोतमस्य पत्नी इन्द्रश्च देवराजस्तत्र पारजायिकत्वादेव जारशब्दप्रयोगः। तत्र गोतमशापादहल्यायाः पाषाणत्वमिन्द्रस्य च सहस्रभगत्वं रामचरणरजःस्पर्शात्तस्या उद्धारः, तपस्यया शिवाराधनेन च शिवधनुर्भङ्गध्वनिश्रवणाद् इन्द्रस्य सहस्रनयनत्वं च संवृत्तम्। इन्द्रियग्रामो दुर्धरः। तत्र न जातु विश्वसेत्। भगवदाराधनेन तपस्यया च महान्त्यपि पातकानि नश्यन्ति, इत्युपदेशपरमिदमैतिहासिकाख्यानम्।

यदुक्तम्—'एवमेवेन्द्रः कश्चिद्देहधारी देवराज आसीत्। तस्य त्वष्टुरपत्येन वृत्रासुरेण सह युद्धमभूत्। वृत्रासुरेणेन्द्रो निगलितोऽस्तो देवानां महद् भयमभूत्। ते विष्णुशरणं गताः। विष्णुरुपायं वर्णितवान्। मया प्रविष्टेन

वर्णित इन्द्र, अहल्या प्रभृति पात्रों का अपलाप भी नहीं किया जा सकता। हमने अभी बताया है कि किसी आधार के रहने पर ही चित्र बनाया जा सकता है, अतः उस ऐतिहासिक कथा को स्वीकार कर लेने पर ही आध्यात्मिक, आधिदैविक प्रभृति अर्थ भी किये जा सकते हैं, अन्यथा नहीं।

'उदीरय पितरा०' इस मन्त्र में आदित्य को जार बताया गया है, क्योंकि वह रात्रि और चन्द्रमा के प्रकाश को नष्ट कर देता है। जैसे जार आदित्य भग, अर्थात् अभिप्रेत पृथिवी संबन्धी और अन्तरिक्ष संबन्धी रस को अपने किरणों के सहारे ऊपर खींच लेता है, इसी तरह से हे अग्ने, आप अपनी सर्वव्यापकता के साथ किसी विशिष्ट स्वरूप को भी स्वीकार कीजिये। दो अरणियां अग्नि के माता-पिता हैं। द्यावापृथिवी अथवा अहोरात्र को दो अरणियों के रूप में बताया जाता है। 'मातुर्दिधिषु०' इस मन्त्र में रात्रि को आदित्य की माता बताया गया है। प्रसव काल में स्त्री के जघन से जैसे बालक पैदा होता है, उसी तरह से रात्रि के जघन से आदित्य का उदय होता है। उस रात्रि का धारयिता आदित्य है, अतः उसको मातुर्दिधिषु (माता का धारक) कहा जाता है। इस आदित्य की स्वसा (बहिन) उषा कहलाती है, क्योंकि वह इसके साथ रहती है और आदित्य के रसग्रहण में सहायक भी बनती है। जैसे बचपन में भाई सदा बहिन के साथ खेलता है, उसी तरह से आदित्य बचपन में उषा के साथ विचरण करता है। उस उषाकाल को भी यह खा जाता है, अतः इसको (आदित्य को) स्वसा का जार कहा गया है। इसी स्थल में निरुक्त में मनुष्य जार और स्त्री के भग का ही स्पष्ट वर्णन किया गया लगता है। जैसे परस्त्री लम्पट जार स्त्री के उपस्थ को अपने अरणि दण्ड के प्रति आकृष्ट करता है। इस अर्थ को स्वीकार करने पर अहल्या महर्षि गोतम की पत्नी के प्रति आकृष्ट देवराज इन्द्र को परस्त्रीगमन में रत होने के कारण ही जार कहा गया है। गोतम मुनि के शाप से अहल्या शिला बन गई और इन्द्र के शरीर में सहस्र भग प्रकट हो गये। राम की चरण रज के स्पर्श से अहल्या का उद्धार हुआ और तपस्या से शिव को संतुष्ट करने पर रामचन्द्र के द्वारा शिव के धनुष को तोड़ने की आवाज सुन कर इन्द्र के हजार नेत्र हो गये! मनुष्य की इन्द्रियों को वश में रखना बड़ा कठिन है। इन पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। भगवान् की आराधना और तपस्या से बड़े बड़े पातक और संकट भी दूर हो जाते हैं, इन्हीं सब बातों को समझाने के लिये शास्त्रों में इस तरह के ऐतिहासिक उपाख्यान बीच बीच में दिये रहते हैं।

समुद्रफेनेनायं हतो भविष्यतीति । ईदृश्यः प्रमत्तगीतवत् प्रलपिताः कथाः पुराणाभासादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम् । कुतः ? एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात् (पृ० ३२३) इति, तदपि तुच्छम्, अलङ्कारवत्त्वस्य मिथ्यात्वाप्रयोजकत्वात् । मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च बहुत्र त्वयाऽलङ्कारा अभ्युपगताः । न तावतापि तेषां तत्प्रतिपाद्यार्थानां वाऽलङ्कारवत्त्वेऽपि त्वया मिथ्यात्वमवगम्यते । किञ्च, कतमः कीदृशश्चालङ्कारः ? इत्यपि वक्तव्यम् । तदवचनं त्वदुक्तेरेवाप्रामाण्यमावेदयति । 'एवं सत्यशास्त्रेषु परमोत्तमायामलङ्कारयुक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्तादिनवीनपुराणाभासेष्वेता अन्यथा कथा उक्तास्ताः शिष्टैः कदाचिन्नैवाङ्गीकर्तव्याः' (पृ० ३२७) इत्युक्तिरपि चर्वितचर्वणमेव । तत्रापि न कश्चिदलङ्कारः प्रदर्शितः ।

यच्च—'(इन्द्रस्य) सूर्यस्य परमेश्वरस्य वा' इत्युक्तम्, तदपि न युक्तम्, असामञ्जस्यात् । यद्यत्र परमेश्वरपदं शक्तिविधया परमात्मनि शक्तम्, तदा वक्ष्यमाणग्रन्थस्य मन्त्रार्थस्यासङ्गतिरेव स्यात् । तत्र सर्वत्रापि प्रकरणे दृश्यसूर्यस्यैवाभिहितत्वात् । यदि परमेश्वरशब्दस्य यौगिकवृत्तिमादाय सूर्यविशेषणत्वमुच्येत, तदापि न सङ्गतिः, भौतिके सूर्ये पारमैश्वर्यस्यासम्भवात्, सर्वव्यापिनि परमात्मन्येव तत्सम्भवात् । सूर्याधिष्ठात्र्याः कस्याश्चिदैश्वर्यशालिन्या देवताया अभ्युपगमे तवैव सिद्धान्तहानिः । यत्तु—

'इन्द्रस्य नु वीर्य्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥ (ऋ० सं० १।३२।१)
'अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥' (ऋ० सं १।३२।२)

आगे स्वामी दयानन्द लिखते हैं—'तीसरी इन्द्र और वृत्रासुर की कथा है । इसको भी पुराण वालों ने ऐसा धरा है कि वह प्रमाण और युक्ति इन दोनों से विरुद्ध जा पड़ती है । जैसे कि त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर ने देवों के राजा इन्द्र को निगल लिया । तब सब देवता लोग बड़े भययुक्त होकर विष्णु के समीप में गये और विष्णु ने उसके मारने का उपाय बताया कि मैं समुद्र के फेन में प्रविष्ट होऊँगा । तुम लोग उस फेन को उठाकर उससे वृत्रासुर को मारना, वह मर जायगा । इस तरह की पागलों की सी बताई हुई पुराण ग्रन्थों की कथा सब मिथ्या है । श्रेष्ठ लोगों को उचित है कि इनको कभी न मानें, क्योंकि इनमें तो आलंकारिक वर्णन है' (पृ० ३३४), किन्तु यह कथन भी निराधार है, क्योंकि आलंकारकिता के होते कोई बात मिथ्या नहीं हो जाती । मन्त्रों में और ब्राह्मणों में अनेक स्थलों पर आपने अलकार माने हैं, किन्तु इतने से आपने उनको कहीं भी मिथ्या नहीं माना है । किसी बात को आलंकारिकता के आधार पर मिथ्या बताने से पहले आपको उस अलंकार का परिचय बताना चाहिये कि किस स्थल पर कौन सा अलंकार है और उसके कारण कौन कौन सी बात मिथ्या सिद्ध होती है । ऐसा न करने से तो आपकी बात ही मिथ्या सिद्ध हो जाती है । 'इस तरह से सत्य ग्रन्थों की अलंकार रूप कथा को छोड़कर छोकरों के समान अल्प बुद्धि वाले लोगों ने ब्रह्मवैवर्त और श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में मिथ्या कथा लिख रक्खी है, उनको श्रेष्ठ पुरुष कभी न मानें' (पृ० ३२८) यह कथन भी चर्वित का चर्वण मात्र है, क्योंकि पहले की ही तरह इस स्थल पर भी उन्होंने किसी अलंकार को नहीं दिखाया है ।

अपि च, स्वामी दयानन्द ने इन्द्र का अर्थ सूर्य अथवा परमात्मा किया है, यह भी उचित नहीं है, क्योंकि इसकी प्रस्तुत मन्त्र में कोई संगति नहीं बैठती । यदि दयानन्द प्रदर्शित परमेश्वर पद शक्ति वृत्ति से परमात्मा अर्थ का बोधक है, तो आगे के मन्त्रों से प्रस्तुत मन्त्र के अर्थ की कोई संगति नहीं बैठेगी, क्योंकि उन मन्त्रों में सब जगह दिखाई पड़ने वाले सूर्य का ही उल्लेख मिलता है । यदि परमेश्वर शब्द को यौगिक मान कर उसको सूर्य का विशेषण माना जाय, तब भी अर्थ की संगति नहीं बैठती, क्योंकि भौतिक सूर्य में परम ऐश्वर्य की सत्ता नहीं बन सकती, वह तो सर्वव्यापी परमात्मा में ही विद्यमान है । सूर्य की अधिष्ठात्री किसी ऐश्वर्यशालिनी देवता को स्वीकार करने पर तो आपके ही सिद्धान्त की ही हानि होगी, क्योंकि मनुष्य से भिन्न इस तरह की किसी देवता को मानने के पक्ष में आप नहीं हैं ।

स्वामी दयानन्द ने 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि०' प्रभृति दो मन्त्रों को उद्धृत कर उनकी व्याख्या इस प्रकार की है—'यहां सूर्य अथवा परमात्मा का नाम इन्द्र है । उसके किये हुए पराक्रमों को हम लोग कहते हैं, जो कि परमैश्वर्य होने का हेतु, अर्थात् बड़ा तेजधारी है । वह अपनी किरणों से वृत्र अर्थात् मेघ को मारता है । जब वह मरकर पृथिवी पर गिर पड़ता है, तब अपने जल रूप

मन्त्राविमा उद्धृत्य 'इन्द्रस्य सूर्यस्य परमेश्वरस्य वा तानि वीर्याणि पराक्रमानहं प्रवोचं कथयामि यानि प्रथमानि पूर्वम्, नु इति वितर्के, वज्री चकार। वज्री वज्रः प्रकाशः प्राणो वाऽस्यास्तीति। 'वीर्यं वै वज्रः' (श० ७।३।१।१९)स अहिं मेघमहन् हतवान्। तं हत्वा पृथिव्यामनु पश्चादपस्ततर्द विस्तारितवान्। ताभिरद्भिः प्रवक्षणा नदीस्ततर्द जलप्रवाहेण हिंसितवान्, तटादीनां च भेदं कारितवानस्ति। कीदृश्यस्ता नद्यः ? पर्वतानां मेघानां सकाशाद् उत्पद्यमानाः, यज्जलमन्तरिक्षाद्धिंसित्वा निपात्यते तद् वृत्रस्य शरीरमेव विज्ञेयम्। त्वष्टा सूर्यस्तं मेघमहन् हतवान्, अस्मै वृत्रासुराय मेघाय पर्वते मेघे शिश्रियाणं श्रितं स्वयं प्रकाशमयं वज्रं स्वकिरणजन्यं विद्युत् प्रक्षिपति। येन वृत्रासुरं मेघं ततक्ष कणीकृत्य भूमौ पातयति। पुनर्भूमौ गतमपि जलं कणीकृत्याकाशं गमयति। ता आपः समुद्रमवजग्मुः गच्छन्ति। कथम्भूता आपः ? (अञ्जः) व्यक्ताः, (स्यन्दमानाः) चलन्त्यः। का इव ? वाश्रा वत्समिच्छवो गाव इव। आप एव वृत्रासुरस्य शरीरम्। यदिदं वृत्रशरीराख्यजलस्य भूमौ निपातनम्, तदिदं सूर्यस्य स्तोतुमर्हं कर्मास्ति' (पृ० ३३४) इति च व्याख्याय देवानामसुराणां चापलापाय यतितम्, तदप्यविचारितरमणीयम्, तादृशस्य भौतिकस्यार्थस्यैव बुबोधयिषितत्वे वृत्रासुरादिप्रयोगस्य नैरर्थक्यापातात्। पर्वतशब्दस्य मुख्यार्थबाध एव मेघार्थता युक्ता। किञ्च, दयानन्दो मन्त्रं मेघमहिमत्वेन वर्णितवान्, तमेव च पर्वते मेघे श्रितमित्युक्तवानिति कथं न पूर्वापरविरोधः ? हिन्दीव्याख्यानेऽपि स एव मेघ आकाशादधो निपत्य पर्वते पर्वतमर्थान्मेघमण्डलं पुनराश्रयते। नहि मेघ एव मेघमण्डलमाश्रयत इति युक्तम्। शब्दार्थस्तु प्रायः सायणभाष्यादेव चोरितः।

किञ्च, श्रौतसूत्राणां प्रामाण्यमभ्युपगतं दयानन्देन। आश्वलायनेन च 'इन्द्रस्य नु वीर्याणीत्येतस्मिन्नैन्द्रीं निविदं दध्यात्' (आ० श्रौ० सू० ५।१५) इत्यग्निष्टोमे माध्यन्दिने सवमे निष्केवल्यशस्त्रे ऐन्द्रीं निविदं दध्यादिति विहितम्। विषुवत्यपि तस्मिन् शस्त्रे एतद्विनियुक्तम्। 'विषुवान् दिवाकीर्त्यः' इति खण्डे सूत्रितम् 'इन्द्रस्य नु वीर्याणीत्येतस्मिन्नैन्द्रीं शस्त्वा (आश्व श्रौ० सू० ८।६) शस्त्रभूतैर्मन्त्रैर्देवतानां शंसनं भवति। शंसनं च प्रशंसनमेव। त्वद्रीत्या जडस्य सूर्यस्येन्द्रत्वे कथं प्रशंसनमुपपद्यते। परमेश्वस्य वेन्द्रत्वे कथं तस्य वृत्रहन्तृत्वादिकमुपपद्यते ? तस्मात् श्रौतसूत्रब्राह्मणादिसम्मतमेव व्याख्यानं

शरीर को सारी पृथिवी पर फैला देता हैं। फिर उससे अनेक बड़ी बड़ी नदी परिपूर्ण होकर समुद्र में जा मिलती है। कैसी वे नदियां हैं कि पर्वत अर्थात् मेघों से उत्पन्न होकर वे जल को ही बहाने के लिये होती है। जिस समय इन्द्र मेघरूप वृत्रासुर को मारकर आकाश से पृथिवी पर गिरा देता है, तब वह पृथिवी में सो जाता है। फिर वही मेघ आकाश में से नीचे गिरकर पर्वत, अर्थात् मेघमण्डल का पुनः आश्रय लेता है। जिसको सूर्य अपनी किरणों से फिर हनन करता है। जैसे कोई लकड़ी को छीलकर सूक्ष्म कर देता है, वैसे ही वह मेघ को भी बूंद-बूंद करके पृथिवी पर गिरा देता है और उसका शरीर रूप जल सिमट-सिमट कर नदियों के द्वारा समुद्र को ऐसे प्राप्त होता है, जैसे कि अपने बछड़ों से गाय दौड़कर मिलती हैं' (पृ० ३२५)। ऐसी व्याख्या करके वे देवता और असुरों की सत्ता को अस्वीकार कर देते हैं, किन्तु उनका यह सारा मन्तव्य ढकोसला मात्र है, यदि इस तरह का भौतिक अर्थ ही मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय माना जाय, तो उसके लिये वृत्र, असुर प्रभृति पदों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहेगी। पर्वत शब्द के मुख्य अर्थ का बाध मानने के बाद ही उसका अर्थ लक्षणा के द्वारा मेघ किया जा सकता है। इस प्रसंग में यह भी विचारणीय प्रश्न है कि दयानन्द पहले तो मन्त्र में मेघ की महिमा का वर्णन करते हैं और फिर उसी मेघ को पर्वत पर आश्रित मानते हैं। इसमें क्या स्पष्ट ही पूर्वापरविरोध नहीं है ? हिन्दी व्याख्या में भी बताया गया है कि 'वही मेघ आकाश से गिरकर पहाड़ पर पुनः मेघमण्डल का आश्रय लेता हैं'। इस स्थल में विचारणीय बात है कि मेघ ही मेघमण्डल का आश्रय कैसे लेगा ? इसके अतिरिक्त इन मन्त्रों का अर्थ तो प्रायः सायण भाष्य से ही चुराया गया है।

स्वामी दयानन्द श्रौतसूत्रों का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। आश्वलायन ने अग्निष्टोम यज्ञ में माध्यन्दिन सवन में निष्केवल्य शस्त्र में इन्द्र सम्बन्धी निविद् के आधान का विधान किया है। इसका विनियोग विषुवत् शस्त्र के लिये भी 'विषुवान् दिवाकीर्त्यः' इस सूत्र में किया गया है। वहां बताया गया है कि 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि' इस ऋचा से इन्द्र की स्तुति करने के बाद अन्य शस्त्र मन्त्रों से देवताओं की भी स्तुति की जाती है। शंसन (स्तुति) एक प्रकार की प्रशंसा ही है। आपके मत से जब जड़ सूर्य ही इन्द्र है, तो उसकी क्या प्रशंसा हो सकती है ? यदि इन्द्र परमेश्वर को माना जाता है, तो वह वृत्र को मारने वाला कैसे

ग्राह्यम् । 'चतस्रः सतीः षड् बृहतीः करोतीन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' (ऐ० आ० ५।२।२)। तथाहि वज्री वज्रहस्त इन्द्रो देवविशेषः प्रथमानि पूर्वसिद्धानि मुख्यानि वा यानि वीर्याणि पराक्रमयुक्तानि कर्माणि चकार, इन्द्रस्य तानि वीर्याणि नु क्षिप्रं प्रब्रवीमि । कानि वीर्याणीति तदुच्यते—अहिं मेघमहन्नित्येकं वीर्यम्, अनुपश्चात् अपो जलानि ततर्द हिंसितवान् भूमौ पातितवानिति द्वितीयम्, पर्वतानां सम्बन्धिनीः वक्षणाः प्रवहणशीला नदीरभिनद् भिन्नवान् कूलद्वयकर्षणेन प्रवाहितवानिति तृतीयम् । सिद्धान्ते वज्री इन्द्रो देवविशेष एव स्वीयदिव्यशक्त्या मेघं हन्ति, स एव जलं भूमौ पातयति, स एव च नदीर्भित्त्वा प्रवाहयति । नहि जडो वायुः सूर्यो वा तत्कर्तुं प्रभवति । 'ईक्षतेर्नाशिब्दम्' (ब्र० सू० १।१।५) इति न्यायात् । यथा चेतनादश्वात् सारथेश्चाचेतनानां रथादीनां गतिर्भवति न स्वातन्त्र्येण, तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम् । न च परमेश्वरस्य सर्वकारणस्य मेघजलादिहन्तृत्वनदीकूलकर्षणादिभिस्तत्प्रवाहयितृत्वादिविशेषणैः संस्तवः सम्भवति, सर्वाधिपतेर्ग्रामाधिपतित्वेनेव । अहन्नहिं स एवेन्द्रः पर्वते शिश्रियाणम् अहिं मेघम् अहन् हतवान् । अस्मै इन्द्राय स्वयं सुष्ठु प्रेरणीयं (ऋ गतौ) यद्वा शब्दनीयं स्तुत्यम्. (स्वृ शब्दोपतापयोः) ण्यति संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वाद् वृद्ध्यभावे रूपम् । वज्रं त्वष्टा विश्वकर्मा ततक्ष तनूकृत्य निर्मितवात् । तेन वज्रेण मेघे भिन्ने सति स्यन्दमानाः प्रस्रवणयुक्ता आपः समुद्रम् अञ्जः सम्यग् अवजग्मुः प्राप्ताः । तत्रैवोपमानं वाश्राः (वाशृ शब्दे) वत्सान् प्रति हम्भारवोपेता धेनव इव । ता यथा हम्भारवोपेतां वत्सगृहे गच्छन्ति, तथैव कलकलादिशब्दोपेता आपः समुद्रमुपयान्तीत्यर्थः । तदेतदपि देवविशेषस्येन्द्रस्यैव कार्यम् ।

यदपि च—'अहन् वृत्रं वृत्रतां व्यंसमिद्रो वज्रेण महता वधेन । स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः ॥' (ऋ० सं० १।३२।५)। अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्र मास्य वज्रमधिसानौ जघान । वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः ॥' (ऋ० सं० १।३२।७)। इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता शातयिता वा, तस्मादिन्द्रशत्रुः । तत्कः ?

हो सकता है ? इसलिये श्रौतसूत्र, ब्राह्मण प्रभृति ग्रन्थों का अनुवर्तन करते हुए ही इस मन्त्र की व्याख्या की जा सकती है । ऐतरेय आरण्यक में बताया गया है कि इन्द्र चार स्तुतियों का तथा छः बृहतियों का निर्माता है, अतः इन्द्र के वीर्य का वर्णन करना उचित है । इसका अभिप्राय है कि वज्र हाथ में लिये हुए देवविशेष इन्द्र ने पूर्वकाल में पराक्रम से भरे जिन मुख्य कार्यों को किया है, उन इन्द्र के कार्यों का मैं शीघ्रता से वर्णन कर रहा हूँ । वे पराक्रम के कार्य कौन कौन से हैं ? इसने सबसे पहले अहि अर्थात् मेघ को अपने वज्र से तोड़ दिया । उसके बाद उन मेघों में विद्यमान जल को चारों तरफ फैला दिया । तीसरा काम उसने यह किया कि उसने पहाड़ों से अपने दोनों किनारों को वहाँ ले जाने वाली नदियाँ प्रवाहित कर दी । इस वर्णन के अनुसार हमारे मत में वज्री, देवराज इन्द्र अपनी दिव्य शक्ति से मेघों को छिन्न-भिन्न कर देते हैं, वही पृथ्वी पर जल बरसाते हैं और वही नदियों में बाढ़ ला देते हैं । जड वायु अथवा सूर्य में इस प्रकार की सामर्थ्य नहीं मानी जा सकती । 'ईक्षतेर्नाऽशब्दम्' यह ब्रह्मसूत्र इसमें प्रमाण है । जैसे चेतन अश्व और सारथि के रहने पर भी अचेतन रथ आदि को गति प्राप्त होती है, स्वतन्त्र रूप से जड़ पदार्थ में गति नहीं रहती, उसी तरह से प्रकृत उदाहरण में भी समझना चाहिये । सारी पृथ्वी के सम्राट् को एक गाँव का स्वामी मानने पर जैसे यह उसकी स्तुति नहीं होगी, उसी तरह से इस सारी सृष्टि के संचालक अन्तर्यामी परमेश्वर को यदि उक्त विशेषणों से मंडित किया जाय तो यह उनकी स्तुति नहीं होगी । वह इन्द्र ही पर्वत पर विश्राम कर रहे मेघ को छिन्न-भिन्न कर देता है । इस पराक्रमशाली इन्द्र के लिये त्वष्टा ने सर्वत्र अप्रतिहत गति वाले अथवा अत्यन्त प्रशंसनीय शक्तिवाले शस्त्र वज्र का निर्माण कर दिया था । उस वज्र से छिन्न-भिन्न होकर बादलों से बरसा हुआ पानी बहकर समुद्र तक पहुँच गया । जैसे कि सायंकाल घर आते समय गायें रंभाती हुई अपने बछड़ों के पास पहुँच जाती हैं, उसी तरह से कल-कल शब्द के साथ पहाड़ों से उतर कर नदियों में बहता हुआ जल समुद्र तक पहुँच जाता है । यह भी देवराज इन्द्र का ही कार्य है ।

इसके आगे स्वामी दयानन्द ने 'अहन् वृत्रं०' इत्यादि मन्त्रों को और निरुक्त के वचनों को उद्धृत करते हुए उनकी व्याख्या इस तरह से की है—'जब सूर्य उस अत्यन्त गर्वित मेघ को छिन्न-भिन्न करके पृथिवी पर ऐसे गिरा देता है, जैसे कि कोई मनुष्य आदि के शरीर को काट-काट कर गिराता है, तब वह वृत्रासुर भी पृथिवी पर गिरा हुआ मृतक के समान शयन करने वाला हो जाता है । निघण्टु में मेघ का नाम वृत्र है । वृत्र का शत्रु अर्थात् निवारक सूर्य है । सूर्य का नाम त्वष्टा है । उसकी सन्तान मेघ है,

वृत्रो मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। वृत्रं जघ्निवान् अपववार तद्। वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा। यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्। यदवर्धत यदवर्धत तद्वा वृत्रस्य वृत्रत्वम्। यथा कस्यचिन्मनुष्यादेरसिना छिन्नं सदङ्गं पृथिव्यां पतति, तथैव स मेघोऽप्यशयत। पृथिव्यां शयान इवेन्द्रेण सूर्येणापादहस्तो व्यस्तो भिन्नाङ्गकृतो वृत्रो मेघो भूमावशयत। (निघण्टौ १।१० वृत्र इति मेघस्य नाम)। त्वष्टा सूर्यस्तस्यापत्यमसुरो मेघः। कुतः ? सूर्यकिरणद्वारैव रसजलसमुदायभेदेन यत्कणीभूतं जलमुपरि गच्छति, तत्पुनर्मिलित्वा मेघरूपं भवति, तस्यैवासुरसंज्ञत्वात्' (पृ० ३२५।३२६) इत्यादि, तदपि नोचितम्, भौतिकस्यार्थस्य तथाभूतस्य गौणस्यार्थस्य सत्त्वेऽपि यथाश्रुतार्थस्येतिहासपुराणादिवर्णितस्यार्थस्य बाधे मानाभावात्। नहि यस्य हस्तपादादीन्यङ्गानि न सन्ति, तस्य भिन्नागता अपादहस्तता च सम्भवति।

मन्त्रार्थस्त्वेवम्—अयमिन्द्रो व्रजेण सम्पादितो यो महान् वधस्तेन वज्रेण वृत्रतरम् अतिशयेन लोकानामावरकमन्धकाररूपम्। यद्वा वृत्रैरावणैः सर्वान् शत्रून् तरति तं वृत्रम् एतन्नामकमसुरं व्यंसं विगतांसं छिन्नबाहुर्यथा भवति तथा अहन् हतवान्। अंसच्छेदे दृष्टान्तः—कुलिशेन कुठारेण विवृक्णा विशेषतश्छिन्नानि स्कन्धांसीव यथा वृक्षस्कन्धाः छिन्ना भवन्ति तद्वत्। तथा सति अहिः वृत्रः पृथिव्या उपरि उपपृक् सामीप्येन संपृक्तः शयते, छिन्नकाष्ठवद् भूमौ पततीत्यर्थः। (वृतु वर्तने) इत्यस्माद् रक्प्रत्ययः। अपादहस्त इति। अपाद् वज्रेण छिन्नत्वात् पादरहितः, अहस्तो हस्तरहितः, वृत्र इन्द्रमुद्दिश्य अपृतन्यत पृतनां युद्धमैच्छत्। द्वेषाधिक्येन बहुधा विद्धोऽपि युद्धं न परित्यक्तवान्। अस्य हस्तपादहीनस्य वृत्रस्य सानौ पर्वतसानुसदृशे प्रौढस्कन्धे अधि उपरि वज्रमाजघान इन्द्रः, आभिमुख्येन प्रक्षिप्तवान्। अशक्तस्यापि युद्धेच्छायां दृष्टान्तः—वध्रिश्छिन्नमुष्कः पुरुषो वृष्णो रेतःसेचनसमर्थस्य पुरुषान्तरस्य प्रतिमानं सादृश्यं बुभुषन् प्राप्तुमिच्छन् यथा न शक्नोति, तद्वदयमिति शेषः। स वृत्रः पुरुत्रा बहुष्ववयवेषु व्यस्तो विविधं क्षिप्तः सन् अशयत् भूमौ पतितवान्।

'यत्तु—व्यस्तो भिन्नाङ्गकृतो वृत्रः' इति, तन्न शोभनम्, कृतभिन्नाङ्गो वृत्र इत्यस्यैव युक्तत्वात्। श्रीमद्भागवतादिषु वृत्रासुरस्य कथोपवर्णितास्ति। इन्द्रेण वज्रेण कृत्तहस्तपादोऽपि वृत्रो महागजेन्द्रैरावतसहितमिन्द्रं व्यात्तेन मुखेन जग्राह।

क्योंकि सूर्य की किरणों के द्वारा जल कण-कण होकर ऊपर को जाकर वहाँ मिलकर मेघरूप हो जाता है। मेघ का नाम वृत्र इसलिये है कि वह स्वीकार करने योग्य है, उसको असुर इसलिये कहते हैं कि वह प्रकाश का आवरण करने वाला है' (पृ० ३२६), किन्तु यह व्याख्या भी सही नहीं है, भौतिक दृष्टि से यदि अर्थ किया जाय तो गौणी वृत्ति के सहारे ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है, किन्तु इससे इतिहास-पुराण आदि में वर्णित तथा लोक में प्रसिद्ध मुख्य अर्थ का अपलाप नहीं किया जा सकता। फिर जिसके हाथ-पैर आदि अंग हैं ही नहीं, उसके संबन्ध में यह वर्णन कहां तक उचित हो सकता है कि उसके अंग काट लिये गये और वह बिना हाथ-पैर का हो गया। इससे स्पष्ट है कि मन्त्र में हाथ-पैर प्रभृति अंगों से युक्त वृत्रासुर का मुख्यतया वर्णन है और गौणी वृत्ति से इसका मेघपरक अर्थ भी किया जा सकता, किन्तु ऐसा करने पर मन्त्राक्षरों की पूरी संगति नहीं बैठेगी।

मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—इस इन्द्र ने अपने वज्र नाम के आयुध की सहायता से लोगों को अत्यन्त त्रास देने वाले अन्धकार को अथवा अपने सारे शत्रुओं को त्रस्त कर देने वाले वृत्र नाम के असुर को, उसकी भुजाओं को काट कर मार डाला। इन्द्र ने उस वृत्रासुर की भुजाओं को अपने वज्र से उसी तरह काट डाला, जैसे कि कुल्हाड़ी से काट देने पर वृक्ष की टहनियाँ कट कर जमीन पर गिर पड़ती हैं। ऐसा करने पर वह वृत्रासुर कटी हुई लकड़ी की तरह जमीन पर गिर पड़ता है। वज्र से अपने हाथ और पैर कट जाने के बाद भी वह वृत्रासुर इन्द्र से युद्ध करने को तैयार था। उस इन्द्र से वृत्र को इतना द्वेष था कि वह इतना घायल हो जाने के बाद भी उससे युद्ध बन्द नहीं कर रहा था। तब इन्द्र ने इस कटे हाथ-पैर वाले वृत्रासुर के पहाड़ की चोटी की समतल भूमि के समान विस्तीर्ण एवं मजबूत कन्धों पर वज्र से प्रहार किया। इस प्रकार वृत्रासुर का यह युद्धोन्माद उसी प्रकार का निष्फल था, जैसा कि किसी व्यक्ति के अण्डकोश निकाल लिये गये हों और वह पुरुष वीर्यसेचन में समर्थ पुरुष की बराबरी करने चले, तो उसका यह कार्य निष्फल एवं उपहासास्पद होता है। इस वज्र के प्रहार से वह वृत्रासुर टुकड़े-टुकड़े होकर भूमि पर बिखर गया, अर्थात् उसके शरीर के टुकड़े चारों तरफ छटक कर भूमि पर बिखर गये।

भगवच्छक्त्योपबृंहित इन्द्रो वृत्रं जघान। कथेयं न प्रमाणान्तरसिद्धा न वा विरुद्धेति भूतार्थवादेन सिद्धा स्वार्थेऽप्यवान्तरतात्पर्यवती। तत एव त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका इत्येवं प्रतिपादयन् निरुक्तकारो यास्कोऽपि स्पष्टयाम्बभूव। एवं पुराणादिसकलसच्छास्त्रेषु प्रतिपादितास्तास्ताः परमोत्तमाः कथा दयानन्दसहस्रैरपि नान्यथयितुं शक्यन्ते।

'अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्। वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥' (ऋ० सं० १।३२।१०)। 'नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च। इन्द्रश्च यद्यु युधाते अहिश्चोता परीभ्यो मघवा विजिग्ये ॥' (ऋ० सं० १।३२।१३)।

'वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी। स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम। तमिन्द्रो जघान स हतः पूतिः सर्वत एवापोऽभिसुस्राव। सर्वत इव ह्ययं समुद्रस्तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे। ता उपर्युपर्यतिपुप्रुविरेऽत इमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता आपोऽस्ति वा इतरासु संसृष्टमिव, यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्यथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति, तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति' (श० १।१।३।४।५), 'तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थान इति' (नि० ७।५)। एभिर्मन्त्रैर्ब्राह्मणवचनैश्च मेघ एव वृत्रः। वृत्रस्य शरीरमापो दीर्घं तमश्चरन्ति। अत एवेन्द्रशत्रुर्मेघो भूमावशयत्, आसमन्ताच्छेते। नास्मै इति। वृत्रेण मायारूपप्रयुक्ता विद्युत् तन्यतुश्चास्मै सूर्यायेन्द्राय न सिषेध निषेद्धुं न शक्नोति। अहिर्मेघः, इन्द्रः सूर्यश्च, द्वौ परस्परं युयुधाते। यदा वृत्रो वर्धते तदा सूर्यप्रकाशं निवारयति। यदा सूर्यस्य तापरूपसेना वर्धते तदा मेघं निवारयति। परन्तु मघवा इन्द्रः सूर्यस्तं वृत्रं मेघं विजिग्ये जितवान्। स वृत्र इदं सर्वं विश्वं वृत्वा आवृत्य शिश्ये शयनं करोति तस्माद् वृत्रो नाम। तं वृत्रं मेघमिन्द्रः सूर्यो जघान। स हतः सन् पृथिवीं प्राप्य सर्वतः काष्ठतृणादिभिः संयुक्तः पूतिर्दुर्गन्धो भवति। पुराकाशस्थो भूत्वा सर्वतोऽपोऽभिसुस्राव। अयं हतो वृत्रः समुद्रं प्राप्य तत्रापि भयङ्करो जातः। अत एव तत्रस्था आपो

स्वामी दयानन्द ने यहाँ अर्थ किया है कि मेघ छिन्न-भिन्न हो गये (भिन्नाङ्गकृतो वृत्रः), किन्तु यह उचित नहीं है। क्योंकि मन्त्र पद से 'भिन्नाङ्गो वृत्रः' यही अर्थ निकल सकता है। श्रीमद्भागवत प्रभृति पुराणों में वृत्रासुर की कथा वर्णित है कि इन्द्र के वज्र से हाथ-पैर कट जाने के बाद भी वृत्रासुर ने ऐरावत हाथी के साथ इन्द्र को अपने खुले मुँह में लपक लिया था, किन्तु भगवान् से शक्ति पाकर इन्द्र ने वज्र की सहायता से वृत्रासुर को मार डाला। यह कथा किसी दूसरे प्रमाण से न तो सिद्ध ही है और न विरुद्ध ही है, अतः भूतार्थवाद के रूप में स्वीकार की जाती है। भूतार्थवाद का अपने स्वार्थ में भी अवान्तर तात्पर्य मान्य है। इसीलिये निरुक्तकार ने ऐतिहासिक पक्ष का विवेचन करते हुए इस बात को स्पष्ट किया है कि वे ऐतिहासिक त्वाष्ट्र नाम के एक असुर की सत्ता स्वीकार करते हैं। पुराण प्रभृति सभी सच्चे शास्त्रों में इसी तरह की एक से एक उत्तम कथाएँ वर्णित हैं, जिनको कि दयानन्द जैसे हजारों व्यक्ति भी असत्य सिद्ध नहीं कर सकते।

इसके आगे पुनः स्वामी दयानन्द 'अतिष्ठन्तीना०' इत्यादि दो मन्त्रों को शतपथ ब्राह्मण और निरुक्त के वचनों को उद्धृत कर उनकी व्याख्या इस तरह से करते हैं—'इन मन्त्रों से और ब्राह्मण वचनों से मेघ ही वृत्र के नाम से प्रसिद्ध है। वृत्र के इस जलमय शरीर से बड़ी बड़ी नदियाँ उत्पन्न होकर अगाध समुद्र में जाकर मिलती हैं और जितना जल तालाब या कूप आदि में रह जाता है, वह मानों पृथ्वी में शयन कर रहा है। वह वृत्र अपने बिजली और गर्जनरूप आयुध से भी इन्द्र को कभी नहीं जीत सकता। इस प्रकार अलंकार रूप वर्णन से इन्द्र और वृत्र ये दोनों परस्पर युद्ध के समान व्यवहार करते हैं, अर्थात् जब मेघ बढ़ता है, तब तो वह सूर्य के प्रकाश को हटाता है और जब सूर्य का ताप अर्थात् तेज बढ़ता है, तब वह वृत्र नाम मेघ को हटा देता है। परन्तु इस युद्ध के अन्त में इन्द्र नाम सूर्य की ही विजय होती है। जब जब मेघ वृद्धि को प्राप्त होकर पृथिवी और आकाश में विस्तृत होकर फैलता है, तब तब उसको सूर्य हनन करके पृथिवी पर गिरा देता है। पश्चात् वह अशुद्ध भूमि, सड़े हुए वनस्पति, काष्ठ, तृण तथा मल-मूत्र से भरा होने से कहीं कहीं दुर्गन्ध रूप भी हो जाता है। फिर उसी मेघ का जल समुद्र में जाता है। तब समृद्र का जल देखने में भयंकर मालूम

भयप्रदा भवन्ति। इत्थं पुनः पुनस्तास्ता नदीसमुद्रपृथिवीगता आपः सूर्यद्वारेणोपर्य्युपर्यन्तरिक्षं पुप्रविरे गन्छन्ति, ततोऽभिवर्षन्ति च। ताभ्य एवेमे दर्भाद्यौपधिसमूहा जायन्ते। यौ वाय्विन्द्रौ सूर्यपवनावन्तरिक्षस्थानौ सूर्यश्च द्युस्थाने, अर्थात् प्रकाशस्थः। एवं सत्यशास्त्रेपु परमोत्तमायामलङ्कारयुक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्तादिनवीनग्रन्थेपु पुराणाभासेष्वेता अन्यथा कथा उक्तास्ताः शिष्टैः कदाचिन्नैवाङ्गीकर्तव्याः' (पृ० ३२६-३२७) इति, तदपि विश्रृङ्खलम्, तत्र हेत्वनुक्तेः। मन्त्राणां ब्राह्मणानां च तथोक्तार्थत्वेऽपि पुराणेतिहासोक्तकथानां देवराजेन्द्रवृत्रासुरयुद्धवर्णने तात्पर्याङ्गीकारेऽपि बाधाभावात्। मन्त्रैर्ब्राह्मणैश्च येऽर्था उच्यन्ते, तैः पुराणेतिहासोक्तानामर्थानां विरोधाभावात्। मेघो वृत्रः सूर्य इन्द्र इत्युक्तावपि न वृत्रासुरो वृत्रः, न देवराज इन्द्र इत्यनुक्तेः। अर्थद्वयोक्तौ वाक्यभेदप्रसङ्गात्। समुद्धृतशतपथवचनस्य तु पवित्राभ्यामुत्पुनातीत्युत्पवनशेषयोः पवित्रयोः स्तुतौ तात्पर्यम्, न देवराजवृत्रासुरसत्त्वनिषेधे। पवित्रे करोतीति दर्भद्वयेन पवित्रनिर्माणं तस्य पवनरूपेणैकत्वम्, प्राणापानरूपेण द्वित्वम्। अपस्ताभ्यामुत्पुनाति, उत्पूताभिरद्भिः प्रोक्षणविधानात्। तत्रोत्पवननिवर्त्याशुद्धिप्रदर्शनाय 'वृत्रो ह वा' इत्यादयोऽर्थवादाः, 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति न्यायात्।

प्रथममन्त्रस्य त्वयमर्थः सायणसम्मतः—वृत्रस्य शरीरमापो विचरन्ति, उपरि आक्रम्य प्रवहन्ति, वृत्रशरीरमाक्रम्य तदुपर्यापः प्रवहन्तीत्यर्थः। कीदृशं शरीरं निण्यं निर्नामधेयं 'निण्यं निर्णामं विचरन्ति विजानन्ति' (नि० २।१६) इति निरुक्तवचनात्। तदेव स्पष्टीक्रियते—काष्ठानामपां मध्ये निहितं निःक्षिप्तम्, क्रान्त्वा स्थिताः काष्ठा आपः, पृषोदरादित्वात्,

पड़ने लगता है। इसी प्रकार मेघ वार-वार बरसता रहता है। फिर सब स्थानों से जल उड़-उड़ कर आकाश में चढ़ता है। वहाँ इकठ्ठा होकर फिर फिर वर्षा किया करता है। उसी जल और पृथिवी के संयोग से ओषधि आदि अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसी मेघ को 'वृत्रासुर' के नाम से जानते हैं। वायु और सूर्य का नाम 'इन्द्र' है। वायु अन्तरिक्ष में और सूर्य प्रकाश स्थान में स्थित है। इन्हीं वृत्रासुर और इन्द्र का आकाश में युद्ध हुआ करता है, जिससे कि अन्त में मेघ की पराजय और सूर्य की विजय निःसन्देह होती है। इस प्रकार की सत्य ग्रन्थों की अलंकार रूप कथा को छोड़कर छोकरों के समान अल्प बुद्धि वाले लोगों ने ब्रह्मवैवर्त और श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में मिथ्या कथाएँ लिख रखी हैं, उनको श्रेष्ठ पुरुप कभी न माने' (पृ० ३२७-३२८), किन्तु यह सारा कथन भी वेमतलव का है, क्योंकि ऐसा मानने में उन्होंने कोई कारण नहीं बताया। फिर मन्त्रों और ब्राह्मणों में जिस तरह से ये कथाएँ आई हैं, उनको देखते हुए यह कहीं प्रतीत नहीं होता कि उनका पुराण-इतिहास ग्रन्थों में वर्णित कथाओं से कोई विरोध है, उनका तात्पर्य भी देवराज इन्द्र और वृत्रासुर के युद्ध के साथ भली-भाँति लगाया जा सकता है। मन्त्र और ब्राह्मण भाग में इन कथाओं का जिस तरह से वर्णन किया गया है, उनका कहीं भी पुराण-इतिहास वर्णित कथाओं से किसी प्रकार का विरोध नहीं है। मन्त्र भाग में वृत्र को मेघ, इन्द्र अथवा सूर्य का पर्यायवाची माना है, इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि वृत्र वृत्रासुर नहीं है अथवा इन्द्र देवराज नहीं है, यदि आप उनका यही तात्पर्य निकालें तो यह संभव नहीं है, क्योंकि एक वाक्य दो अर्थों का प्रतिपादक नहीं माना जाता। ऐसा मानने में वाक्यभेद दोष आ जाता है। आपने ऊपर जिस शतपथ ब्राह्मण के वचन को उद्धृत किया है, उसका विनियोग तो उत्पवन से बचे हुए पवित्रों की स्तुति में है। इससे देवराज इन्द्र अथवा वृत्रासुर की सत्ता का निषेध नहीं सिद्ध होता। दो दर्भों को मिला कर पवित्र बनाया जाता है। पवन के रूप में यह एक है और प्राण और अपान के रूप में दो। अतः इन दो पवित्रों से वह जल को पवित्र करता है। इस पवित्र जल से ही सारी यज्ञ सामग्री को प्रोक्षित किया जाता है। इस प्रोक्षण से वे सब पदार्थ पवित्र हो जाते हैं। इस प्रोक्षण की प्ररोचना (स्तुति) के लिये ही 'वृत्रो ह वा' इत्यादि ऊपर शतपथ श्रुति का वाक्य है। यह अर्थवाद वाक्य विधिवाक्य के साथ मिलकर ही उससे एकवाक्यता स्थापित करता है, अर्थात् विधि की स्तुति कर उसमें मनुष्य को प्रवृत्त कराता है।

प्रथम मन्त्र का सायण द्वारा किया गया अर्थ इस प्रकार का है—वृत्र के शरीर पर आक्रमण करता हुआ जल वहता है। उसका शरीर कैसा है? वह बिना नाम का है। निरुक्त में यही अर्थ किया गया है। इसी बात को स्पष्ट दिया गया है कि यह दिशाओं के बीच में फैले हुए जल में फेंक दिया गया है। पृषोदरादि गण में पाठ होने से काष्ठा शब्द जल का भी पर्यायवाची है। यह काष्ठा कैसी

आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते। कीदृशानां काष्ठानाम् ? अतिष्ठन्तीनां स्थितिरहितानां प्रवणशीलत्वान्मनुष्यवन्नासां क्वचिदवस्थानं सम्भवति। अत एवानिवेशनानाम्। एवमिन्द्रशत्रुर्वृत्रो जलमध्ये शरीरे क्षिप्ते सति दीर्घं तमः दीर्घनिद्रात्मकं मरणं यथा स्यात्तथा अशयत् सर्वतः पतितवान्। एवमयं मन्त्रो वृत्रासुरपरत्वेनाञ्जस्येन सङ्गच्छते। अग्निष्टोमे निष्कैवल्यं नाम शस्त्रं तत्र निविद्धानीयं यत्सूक्तं तत्रैते द्वे अपि शस्येते (आश्व० श्रौ० सू० ५।१५)।

वृत्रो द्यावापृथिव्योर्मध्ये यदासीत्तत्सर्वं वृत्वा शिश्ये। स हतः पूतिर्दुर्गन्धः सर्वत एवापोऽभिलक्ष्य प्रस्रुतोऽभूत्। अत एव खल्वयमपि समुद्रः सर्वतः सर्वमावृत्य वर्तते। तस्माद् दुर्गन्धात् स्रुताद् वृत्रादिमा आपो बीभत्साञ्चक्रिरे जुगुप्सन्ते स्म। ता आपस्तत्संस्पर्शं परिहर्तुमुपर्युपरि वर्तमाना अतिपुप्लुविरे जलाशयमतिक्रम्य तीरदेशं प्राप्ताः। प्लुताश्च ता आपो दर्भात्मना परिणताः। 'इन्द्रो वृत्रमहन् सोऽपोऽभ्यम्रियत। तासां यन्मेध्यं यज्ञियं स देवमासीत्तदपोदक्रामत। ते दर्भा अभवन्' (तै० ब्रा० ३।२।५।१)। अनापूयिता दौर्गन्ध्यमप्राप्ता दर्भा जाताः। (पूयी विशरणे दुर्गन्धे च भ्वादिः) इतरासु दर्भात्मना परिणतजलव्यतिरिक्तास्वमेध्यत्वापादकं किञ्चित्संसृष्टमिव भवति। एवमनापूयिताब्विकारदर्भमयाभ्यां पवित्राभ्यामासामुत्पवनं कुर्वन् पूयसंसर्गकृतं तदमेध्यत्वमपहन्ति। ततश्च विधास्यमानं प्रोक्षणमपि मेघाहृभिः शुद्धाभिरद्भिः कृतं भविष्यति। तदेतत्सर्वमज्ञात्वैव दयानन्देन यत्किञ्चित् प्रलपितम्।

मेघपक्षे तु—अतिष्ठन्तीनां मेघोदरान्तर्गतानां स्थितिरहितानामनिवेशनानां यावज्जलाशयं न प्राप्नुवन्ति, तावदनिविशमानानां काष्ठानामपां मध्ये बाह्यतो मेघाख्यं निहितमवस्थापितं धात्रा शरीरमावृत्यापस्तासामेव गुप्तये ताः पुनस्तस्य मेघस्य वृत्रस्य निण्यं निर्णामं यत्रासौ नीचैर्न भाति तं प्रदेशं विजानन्तीव, यतस्तेन प्रदेशेन विचरन्ति प्रचरन्ति निम्नानुसारिण्यो हि ताः। असावपि वृत्रस्तासु प्रक्षरन्तीषु तत्प्रक्षरणनिरोधं चिकीर्षुः स्वशरीरविवृद्ध्या दीर्घं तमः सतत्त्व एव

है ? कहीं ठहरती नहीं। जल सदा बहता रहता है, अतः मनुष्य के समान वह कहीं एक जगह ठहर कर नहीं रहता, अतः इनका कोई घर नहीं है। इस तरह से इन्द्र का शत्रु वृत्र जब जल के बीच में फेंक दिया जाता है, तो वह गाढ़ निद्रामय मृत्युशय्या पर गिर पड़ता है और फिर कहीं टिक नहीं पाता। इस अर्थ में मन्त्र का विनियोग बड़ी सरलता से वृत्रासुर की कथा से जोड़ा जा सकता है। आश्वलायन श्रौतसूत्र के अनुसार इन दोनों मन्त्रों का विनियोग अग्निष्टोम यज्ञ में निष्केवल्य नामक शस्त्र में निविद् के आधान के समय स्तुतिगान के रूप में किया जाता है।

इन्द्र ने जब वृत्रासुर को मार डाला तो वह आकाश और पृथिवी के बीच में जो कुछ था, उसको ढंक कर गिर पड़ा। मारे जाने के साथ ही उसके शरीर की दुर्गन्धि जल के साथ ही बह कर फैलने लगी। उसी वृत्र के दृष्टान्त पर आज भी समुद्र सारी पृथ्वी को घेरे हुए हैं। वृत्र के शरीर से निकली दुर्गन्ध से भरा जल बहुत ही घिनौना हो गया। ऐसी स्थिति में उस वृत्र के शरीर को न छूते हुए जल ऊपर ऊपर बहने लगा। वह जलाशय को छोड़ कर किनारे से बहने लगा और बाद में वही जल दर्भ के रूप में परिणत हो गया। तैत्तिरीय ब्राह्मण में बताया गया है कि जल से दुर्गन्ध के हट जाने पर वे दर्भ के रूप में परिणत हो गये। इस तरह से जो जल दर्भ के रूप में परिणत नहीं होता, उसमें वृत्रासुर संबन्धी यह अपवित्रता कुछ न कुछ अंश में बनी रहती है। इस प्रकार दुर्गन्ध रहित जल के परिणामभूत दर्भ से बने पवित्रों से यज्ञीय सामग्री पर जल का छिड़काव करने से वृत्रासुर की दुर्गन्ध के संपर्क के कारण आई अपवित्रता दूर हो जाती है। प्रत्येक यज्ञीय कर्म में किया जाने वाला यह पवित्रों के द्वारा यज्ञीय सामग्री का प्रोक्षण उतना ही पवित्र माना जाता है, जितना कि मेघ के शुद्ध जल से किया गया प्रोक्षण। इस पूरे यज्ञीय रहस्य को जाने बिना ही दयानन्द ने मनमानी बकवास की है।

मेघ के पक्ष में इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—मेघ के उदर में रहते हुए भी जिनकी किसी एक जगह पर स्थिति नहीं है, अर्थात् मेघ का जल जब तक बरस कर किसी जलाशय में इकट्ठा नहीं होता, तब तक वह कहीं एक जगह टिक कर नहीं रह पाता। इस प्रकार के स्वभाव वाले इस जल का स्वरूप ऊपर से देखने में विधाता ने मेघ के रूप में बनाया है। मेघों के इस रूप को उन्हीं की रक्षा के लिये ढक कर यह जल नीचे की ओर भी फैल जाता है, जहाँ कि वे मेघ नहीं पहुँच सकते। यह वृत्र भी जब जमीन पर जल बहने लगता है, तो उसको रोकने के लिये अपने शरीर को बढ़ा कर भयानक अन्धकार के रूप में चारो तरफ फैल जाता है,

धूमादिप्रभवत्वाद् आतत्य आशयत आशेते। तत्र को वृत्र इत्याशङ्क्य—'मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः' (नि० २।१६) इति निरुक्तदृष्ट्या मेघस्यैव वृत्रत्वमैतिहासिकदृष्ट्या तु वृत्रासुरः पुराणादिषु प्रसिद्ध एव ग्राह्यः।

नास्मै इति। इन्द्रं निषेद्धुं यान् विद्युदादीन् मायया निर्मितवान् ते सर्वेऽप्येनं निषेद्धुमशक्ता इत्यनेनोच्यते। अस्मै इन्द्राय निर्मिता विद्युद् न सिषेध इन्द्रं प्राप्नोत् तथा तन्यतुः गर्जनं यां मिहं सेचनं यां वृष्टिमकिरद् वृत्रो विक्षिप्तवान् सापि न सिषेध। ह्रादुनिं च अशनिमपि यां वृत्रः प्रयुक्तवान् सापि न सिषेध। इन्द्रश्चाहिश्च इन्द्रवृत्रावुभावपि यद् यदा युयुधाते युद्धं कृतवन्तौ तदानीं विद्युदादयो न प्राप्ता इति पूर्वेणान्वयः। उत अपि मघवा धनवानिन्द्रः, अपरीभ्यः अपराभ्यः, अन्यासामपि वृत्रनिर्मितानां मायानां सकाशाद् विजिग्ये विशेषेण जितवान्।

'अयोद्धेव दुर्मद आहि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम्। नातारीदस्य समृतिं वधानां सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः॥' (ऋ० सं० १।३२।६)। दुर्मदो दुष्टमदोपेतो दर्पयुक्तो वृत्रः, अयोद्धेव योद्धृरहित इव, इन्द्रं हि आजुह्वे आहूतवान्। कीदृशमिन्द्रं महावीरं गुणैर्महान् भूत्वा शौर्योपेतं तुविबाधं बहूनां बाधकं तुवीन् प्रभूतान् बाधत इति तुविबाधस्तम्, ऋजीषं शत्रूणामपमार्जकम्। अस्येदृशस्येन्द्रस्य सम्बन्धिनो ये शत्रुवधाः सन्ति, तेषां समृतिं संगमं नातारीत् पूर्वोक्तो दुर्मदो वृत्रस्तरीतुं नाशक्नोत्। इन्द्रशत्रुः इन्द्र शत्रुर्वाधको यस्य स तादृशो वृत्र इन्द्रेण हतो नदीषु पतितो रुजाना नदीः सम्पिपेष पिष्टवान्। सर्वांल्लोकानावृण्वतो वृत्रदेहस्य पातेन नदीनां कूलानि तत्रत्यपाषाणादिकं च चूर्णीभूतमित्यर्थः। मेघे गौण्या वृत्त्या (भक्त्या) एवास्य मन्त्रस्य प्रवृत्तिस्त्वाष्ट्रे तु शक्त्येति स्पष्टमेव।

'नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार। उत्तरासूरधरः पुत्र आसीद्दानुः शये सहवत्सा न धेनुः॥' (ऋ० सं० १।३२।९)। वृत्रः पुत्रो यस्याः सा सेयं तन्माता वृत्रपुत्रा नीचावया न्यग्भावं प्राप्ता हता अभवत् पुत्रं प्रहाराद्रक्षितुं

क्योंकि मेघ अन्धकार सदृश धूम आदि से मिलकर ही बनता है। यह वृत्र कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में निरुक्तकार ने बताया है कि निरुक्तकारों के अनुसार मेघ ही वृत्र है और ऐतिहासिकों की दृष्टि में वृत्रासुर ही वृत्र माना गया है, जैसा कि उसका स्वरूप पुराण-इतिहास ग्रन्थों में वर्णित है।

'नास्मै०' इत्यादि द्वितीय मन्त्र में बताया गया है कि इन्द्र को अपने ऊपर आक्रमण करने से रोकने के लिये विद्युत् आदि के रूप में जो तरह तरह की माया फैलाई, वे भी इन्द्र को रोकने में समर्थ न हो सकीं। वृत्र के द्वारा निर्मित विद्युत् (बिजली) इन्द्र को न रोक सकी। इसी तरह से वृत्र ने गड़गड़ाहट के साथ जब जोरों का पानी बरसाया, तो वह भी इन्द्र को उस पर आक्रमण करने से रोक न सका। जब वृत्र ने अशनि का प्रयोग किया तो वह भी इन्द्र की गति को रोक न सकी। इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्र और वृत्र का जब परस्पर युद्ध होने लगा, उस समय इनके बीच में विद्युत् प्रभृति कोई भी इनके अवरोधक न हो सके। इतना नहीं, वृत्र ने इसके सिवाय जितनी भी भाँति भाँति की मायाओं का निर्माण किया, इन्द्र ने उन सबको जीत लिया, नष्ट कर दिया।

इन्द्र और वृत्रासुर के युद्ध की चर्चा ऋग्वेद के इसी सूक्त के अन्य मन्त्रों में भी है। जैसे कि 'अयोद्धेव०' प्रभृति मन्त्रों को देखा जाय। इनमें से पहले मन्त्र का अर्थ यह है—बुरी तरह से भयंकर अहंकार से भरा हुआ यह वृत्र अनाड़ी की तरह इन्द्र को युद्ध के लिये ललकारने लगा, उस इन्द्र को जो कि महान् पराक्रमशाली है और जो अकेला ही अनेक योद्धाओं को परास्त कर सकता है तथा जो शत्रुओं को चुन चुन कर मार डालने वाला है। इस तरह से अपने शत्रुओं का विनाश कर देने वाले इस इन्द्र के हाथ में पड़कर वह दुर्मद वृत्र भी अपनी मृत्यु से बच नहीं सकता था। अन्ततः इन्द्र का शत्रु वह वृत्र इन्द्र के द्वारा मारा गया। मर कर गिरते हुए उसने नदियों के जल में उथल-पुथल मचा दी। गिरते हुए वृत्र ने जब अपने शरीर से सारे लोकों को ढंक दिया, तब नदियों के किनारे और पहाड़ों के पत्थर सब चूर्ण-चूर्ण हो गये। इस अर्थ को देखने से स्पष्ट है कि स्पष्टतः इस मन्त्र में वृत्रासुर के वध की बात कही गई है। मेघ संबन्धी अर्थ तो गौणी वृत्ति का सहारा लेकर ही किया जा सकता है।

इसी तरह से 'नीचावया' इस मन्त्र की भी परीक्षा की जाय। इसका सायण संमत अर्थ यह है—इन्द्र और वृत्रासुर का युद्ध जब अन्तिम क्षण में पहुँचा और इन्द्र वृत्र को मारने को उद्यत हुआ, उस समय वृत्र की माता उसके शरीर पर तिरछी लेट

पुत्रदेहस्योपरि तिरश्चीना पतितवती। तदानीमयमिन्द्रोऽस्या मातुरधोभागे वृत्रस्योपरि वधो हननसाधनमायुधं जभार प्रहृतवान्। हन्यतेऽनेनेति वधः, आसुनि हन्तेर्वधादेशः। तदानीं सूः माता उत्तरा उपरिस्थिता आसीत्। सा च दानुः दानवी वृत्रमाता शये मृता शयनं कृतवती। तत्र दृष्टान्तः—लोकप्रसिद्धा सह वत्सा धेनुः, न इव, यथा सवत्सा धेनुः शयनं करोति तद्वत्। अयमपि मन्त्रो मेघे भक्त्यैव प्रवर्तते, शक्त्या तु त्वाष्ट्र एव।

'अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र यत्ते जघ्नुषो भीरगच्छत्। नव च नवतिं च स्रवन्तीं श्येनो न भीतो अतरो रजांसि'॥ (ऋ० सं० १०।३२।१४)। हे इन्द्र, जघ्नुषो वृत्रं हतवतस्तव चित्ते यद् यदि भीर्भयमगच्छत् न हतवानस्मीति बुद्ध्या भयं प्राप्नुयात् तर्हि अहेः वृत्रस्य यातारं हन्तारं कमपश्यः? त्वत्तोऽन्यं कं पुरुषं दृष्टवानसि? तादृशस्य पुरुषान्तरस्याभावान्मां भूत्तव भयमित्यर्थः। यद् यस्मात् कारणात् त्वं नव च नवतिं च स्रवन्तीम् एकोनशतसंख्याका वृहन्ती नदीः प्राप्य रजांसि तत्रत्यान्युदकानि, अतरः तीर्णवानसि। तत्र दृष्टान्तः—श्येनो न यथा श्येनो बलवान् पक्षी दूरगमनाद्बिभेति, तथा तव भयमासीत्, तद्भयं मा भूदित्यभिप्रायः। 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानः पराः परावतोऽगच्छत' (ऐ० ब्रा० ३।१५)। अयमपि मन्त्रः शक्त्या त्वाष्ट्रेऽसुरहन्तरि देवराज एव सङ्गच्छते, अन्येषां जडानां भयासम्भवात्, सम्बोध्यत्वासम्भवाच्च।

यदुक्तम्—'एवमेव नवीनेषु ग्रन्थेषूक्ता अनेकविधा देवासुरसंग्रामकथा अन्यथैव सन्ति। ता अपि बुद्धिमद्भिर्मनुष्यैरितरैश्च नैव मन्तव्याः। तासामप्यलङ्कारयोगात्' (पृ० ३२८) इति तत्रापि विपरीतमेव मन्तव्यम्। बुद्धिमन्तस्त्ववश्यं तत् स्वीकरिष्यन्ति, मूर्खा एव न स्वीकरिष्यन्ति, 'तासामप्यलङ्कारयोगात्' इति हेत्वाभासस्य तदसाधकत्वात्। अलङ्कारयोगत्वेन तासां सत्यकथात्वहान्ययोगात्, तादृशव्याप्यव्यापकभावादर्शनात्। नापि कश्चनालङ्कारः प्रदर्शितः, केवलमलङ्कारपदप्रयोगस्य सत्यकथात्वहानावतन्त्रत्वात्, अर्थाद् अलङ्कारयोगस्य देवासुरकथामिथ्यात्वासाधकत्वात्।

गई, जिससे कि उसका पुत्र इन्द्र के प्रहार से बच जाय, किन्तु उस समय इन्द्र ने चतुराई से इसकी माता को बचा कर उसके नीचे छिपे हुए वृत्र के शरीर पर अपने आयुध वज्र से प्रहार किया। जब वृत्र मर रहा था, उस समय उसकी दानवी माता उसके ऊपर ऐसी लेटी हुई थी, मानों गाय अपने बछड़े के साथ लेटी हुई हो। इस तरह से इस मन्त्र में भी स्पष्टतः वृत्रासुर के वध का ही वर्णन है, मेघ संबन्धी अर्थ तो लक्षणा वृत्ति का सहारा लेकर ही किया जा सकता है।

इसी प्रसंग में 'अहेर्यातारं०' प्रभृति एक और मन्त्र है, जिसमें कि इसी युद्ध का वर्णन है। इसका अर्थ यह है—हे इन्द्र, वृत्र को मारते समय तुम्हारे मन में यदि यह भय उत्पन्न हो जाय कि मैं इसको नहीं मार सकता, तो फिर तुम्हारे सिवाय इसको मारने वाले तुम्हें कौन दिखाई पड़ता है? तुम्हारे सिवाय इसको मारने वाला दूसरा कोई नहीं है, अतः तुम्हें इसको मारते समय भयभीत नहीं होना चाहिये। तुम अपने को उससे कमजोर मत समझो। तुम ९९ बड़ी-बड़ी नदियों को अपने पराक्रम से पार कर चुके हो, जिनमें कि भयंकर बाढ़ आई हुई थी। जैसे बलशाली बाज पक्षी दूर उड़ कर जाने से डरता रहता है, उसी तरह से तुम्हें भी उस वृत्र के साथ युद्ध करने से डर लगता है। किन्तु तुम्हें इससे डरना नहीं चाहिये और उस वृत्र पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित है कि इन्द्र वृत्र को मार चुका था। जब वह लौट रहा था, उस समय उसको विश्वास नहीं हो रहा था कि मैंने वृत्र को मार डाला है। इन सब प्रसंगों पर विचार करने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इन सब मन्त्रों में इन्द्र द्वारा वृत्र पर प्राप्त की गई विजय का ही मुख्यतया वर्णन है, क्योंकि सूर्य, मेघ प्रभृति अन्य जड़ पदार्थों को न तो भय ही हो सकता है और न उनको संबोधित करके ही कुछ कहा जा सकता है।

इसके आगे स्वामी दयानन्द ने देवासुरसंग्राम की कथा को लेकर कहा है—'इसी तरह से नवीन पुराण-इतिहास ग्रन्थों में देवासुरसंग्राम की कथा को बिगाड़ कर लिखा है। इन सब पर भी बुद्धिमान् अथवा साधारण मनुष्यों को विश्वास नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह सब आलंकारिक वर्णन है, वास्तविक नहीं' (पृ० ३२८), किन्तु यहाँ पर भी ठीक इसके विपरीत परिस्थिति है, क्योंकि स्वामी दयानन्द के इस बहकावे में सामान्य जन ही आ सकते हैं, बुद्धिमान् व्यक्ति को तो उनकी बात कभी पसन्द नहीं आ सकती। उन्होंने अपनी बात को सिद्ध करने के लिये 'अलङ्कारयोगात्' यह हेतु दिया है, जो कि हेतु न होकर हेत्वाभासमात्र है। क्योंकि कोई कथा यदि आलंकारिक भाषा में लिखी गई है, तो इससे वह मिथ्या कैसे सिद्ध हो जायगी? इस तरह की व्याप्ति तो

यत्तु—'देवा असुराश्च संयत्ताः सज्जा युद्धं कर्तुं तत्परा आसन्, भवन्तीति शेषः। के ते देवासुरा इत्यत्रोच्यते—'विद्वांसो हि देवाः' (श० ३।७।३।१०)। हीति निश्चयेन, विद्वांसो देवास्तद्विपरीता अविद्वांसोऽसुराः। ये देवास्ते विद्यावत्त्वात् प्रकाशवन्तो भवन्ति। ये ह्यविद्वांसस्ते खल्वविद्यावत्त्वाद् ज्ञानरहितान्धकारिणो भवन्ति। एषामुभयेषां परस्परं युद्धमिव वर्ततेऽयमेव दैवासुरसंग्रामः' (पृ० ३२९) इति, तदिदर्तिनिःसारम्, पूर्वोक्तब्राह्मणवचनाक्षरास्वारस्यात्, हीति निश्चयेन देवा विद्वांसो भवन्तीत्यस्यैव तदर्थत्वात्। 'छिद्रं हि मृगयन्त्येते विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः। इति वाल्मीकवचनवत्। नह्यत्र विद्वांसो ब्रह्मराक्षसा भवन्तीत्यर्थो भवति, किन्तु ब्रह्मराक्षसा विद्वांसो भवन्ति, अतस्ते यज्ञवेदितारः सन्तो यज्ञेषु छिद्रं मृगयन्ति। देवतानिरूपणप्रसङ्गे विस्तरेण कृतव्याख्यानमेतद् वाक्यम्। 'अविद्वांसोऽसुराः' इत्यपि न वक्तुं शक्यते, तत्र प्रमाणाभावात्। 'विद्वांसो हि देवाः' (श० ३।७।३।१०) इत्यनेन कथञ्चिद् विदुषां देवत्वं वक्तुं शक्यते, न तु तेनैवाविदुषामसुरत्वमिति। किञ्च, कियत्या विद्यया मनुष्याणां देवत्वं भवतीत्यपि वक्तव्यम्, केनचिदंशेन सर्वेषामेव विद्वत्त्वात् कार्त्स्न्येन सर्वेषामेवाविद्वत्त्वात्। तथात्वे समेषां देवत्वमंशेनांशान्तरेण चासुरत्वम्। कुतो व्यवस्था स्यात्। लोके तु केचन साधनसम्बन्धिसाधारणज्ञानवन्तोऽपि शान्ताः सदाचारिणः सात्त्विकविचारवन्तो भवन्ति, अन्ये बहुग्रन्थवेदिनोऽपि बहिर्मुखा दुराचाराश्च दृश्यन्ते। तदेतन्महदसमञ्जसम्।

यदप्युक्तम्—'ये सत्यवादिनः सत्यमानिनः सत्यकारिणश्च ते देवाः। ये चानृतवादिनोऽनृतकारिणोऽनृतमानिनश्च ते मनुष्या असुरा एव। तयोरपि परस्परं विरोधो युद्धमिव भवत्येव। मनुष्यस्य यन्मनस्तद् देवाः, प्राणा असुराः।

कहीं बनती नहीं। स्वामीजी ने कोई अलंकार यहाँ बताया भी नहीं। केवल अलंकार पद का प्रयोग कर देने से सत्य कथा की कोई हानि नहीं होती, अर्थात् आलंकारिक भाषा में वर्णन करने से देवासुर युद्ध की कथा मिथ्या नहीं मान ली जायगी।

देवासुर-युद्ध की व्याख्या स्वामी दयानन्द ने इस प्रकार की है —'देव और असुर अपने अपने बाने में सज कर सब दिन युद्ध किया करते हैं। ये देव और असुर कौन हैं? इसके उत्तर में शतपथ ब्राह्मण में बताया गया कि विद्वान् मनुष्य ही देवता हैं। इस बात में किसी को भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहना चाहिये। जब विद्वान् मनुष्य देवता है, तो मूर्ख मनुष्य असुर कहे जायंगे। देवता (विद्वान्) विद्या के प्रकाश से प्रकाशित रहते हैं और जो मूर्ख हैं, वे अपने अज्ञान के कारण अन्धकार में पड़े रहते हैं। इन दोनों का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। सही माने में यही देवासुरसंग्राम है' (पृ० ३३१), उनका यह कथन भी अत्यन्त निःसार है, क्योंकि वे शतपथ ब्राह्मण के उक्त वचन का सही अभिप्राय नहीं समझ पाये हैं। वास्तव में उसका अर्थ यह है कि निश्चय ही देवता विद्वान् होते हैं। वाल्मीकि रामायण के 'छिद्रं हि' इत्यादि वाक्य का अर्थ यह होता है कि ये विद्वान् ब्रह्मराक्षस निश्चय ही मनुष्य की किसी त्रुटि को खोजते रहते हैं। जैसे इस वाक्य का यह अर्थ नहीं किया जा सकता कि विद्वान् मनुष्य ब्रह्मराक्षस होते हैं, किन्तु यही अर्थ किया जायगा कि ब्रह्मराक्षस भी विद्वान् होते हैं, इसीलिये वे यज्ञ की सारी प्रक्रिया के जानकार होते हैं और उनमें विघ्न डालने के लिये छिद्रान्वेषण करते रहते हैं। इस वाक्य की हमने देवता स्वरूप का निरूपण करने मे प्रसंग में विस्तार से व्याख्या की है। अविद्वान् व्यक्ति असुर होते हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। उक्त शतपथ वाक्य से किसी तरह से विद्वानों को देवता कहा जा सकता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय किसी प्रकार नहीं निकल सकता कि अविद्वान् मनुष्य असुर होता है। विद्वान् को देवता बताते समय आपको यह भी बताना पड़ेगा कि मनुष्य कितनी विद्या पढ़कर देवता बन जाता है। कुछ अंश में तो सभी विद्वान् होते हैं और समग्र रूप से कोई भी सर्वज्ञ विद्वान् नहीं मिलेगा। इस तरह से तो सभी कुछ अंश में देवता और कुछ अंश में असुर माने जायंगे, तब इन शब्दों की व्यवस्था कैसे हो पावेगी? लोक में तो आपके मत के विपरीत यह स्पष्ट देखा जाता है कि साधारण ज्ञान वाले पुरुष भी बहुत हीं शान्त, सदाचारी और सात्त्विक विचार वाले होते हैं और अनेक ग्रन्थों के परिष्कृत विद्वान् भी बहिर्मुख और दुराचारी देखे जाते हैं। आपको व्याख्या की यह बड़ी भारी असंगति है, जिसका कि परिहार नहीं हो सकता।

आगे स्वामी दयानन्द ने लिखा है—'जो लोग विद्वान्, सत्यवादी, सत्यमानी और सत्य कर्म करने वाले हैं, वे तो देव और जो अविद्वान्, झूठ बोलने वाले, झूठ मानने और मिथ्याचार करने वाले हैं, वे असुर कहलाते हैं। उनका परस्पर नित्य विरोध

एतयोरपि विरोधो भवति। मनसा विज्ञानबलेन प्राणानां निग्रहो भवति। प्राणवलेन मनसश्चेति युद्धमिव प्रवर्तते' (पृ० ३३०) इति, तदपि निःसारम्, यतो हि सत्यानृतमये मनुष्यलोके सत्यावृतसाङ्कर्येण देवत्वासुरत्वनिर्णयासम्भवात्। अनृतबाहुल्येनासुरत्वम्, सत्यबाहुल्येन देवत्वमित्यपि न सम्भवति, तथात्वे देवत्वासुरत्वयोर्विरोधासंभवादेवासुरसंग्रामासम्भवात्। किञ्च, मनसो देवत्वेन प्राणस्य चासुरत्वेनोभयोः सर्वत्र सत्त्वेनापि देवत्वासुरत्वव्यवस्था सर्वथा दुर्भणा स्यात्। विज्ञानबलेन प्राणानां निग्रहः, प्राणबलेन मनसो निग्रह इत्यप्यसङ्गतम्, प्राणनिरोधेन मनोनिग्रहसम्भवेऽपि प्राणवलेन मनोनिरोधासम्भवात्। निर्मूलं चैतन्मनसो देवत्वादिकम्, उक्तवचनस्य तदननुरोधित्वात्।

यच्च—'प्रकाशाख्यात् सोऽर्देवान् मनःषष्ठानीन्द्रियाणि ईश्वरोऽसृजत। अतस्ते प्रकाशकारकाः। असोरन्धकाराख्यात् पृथिव्यादेरसुरान् पञ्चकर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्चासृजत। एतयोरपि प्रकाशाप्रकाशसाधकतमत्वानुरोधेन संग्रामवत्' (पृ० ३३०) इत्यादि, तदपि तुच्छम्, निर्मूलत्वात्, निरुक्तवचनाननुसारित्वाच्च। तदर्थस्त्वेवम्—असुराः असुरताः स्थानेषु, स्थानेषु ये सुष्ठु न रतास्ते असुराः, चपला इत्यर्थः। अथवा अस्ताः प्रच्याविताः स्थानेभ्यो देवैरित्यसुराः। अपि वा, असुरिति प्राणनाम। स हि अस्तः क्षिप्त इव शरीरे भवति, तस्य तत्र नित्यावस्थानात्। तस्मान्मत्वर्थीयरप्रत्ययाद् असुराः प्राणवन्त इत्यर्थः। अथवा ब्राह्मणोक्तमन्यन्निर्वचनम्—'सोऽर्देवानसृजत। सुरिति प्रशस्तनाम। प्रशस्तादात्मनः प्रदेशादास्यात् प्रजापतिः सुरानसृजत। ऊर्ध्वेभ्यः प्राणेभ्यो वा ऊर्ध्वमुदतृणत् पूर्वपक्षः पञ्चदशस्तेन देवान् असृजत्' (मै० सं० १।९।३)। असुरिति प्रशस्तनिषेधः, अप्रशस्तात् पायुप्रदेशात् प्रजापतिरसुरानसृजत, 'अवाङ् वातिरदपरपक्षस्तेनासुरानसृजत्' (मै० सं० १।९।३) इति।

होना ही युद्ध के समान है। इसी प्रकार मनुष्य का मन और ज्ञानेन्द्रियां भी देव कहलाते हैं, उनमें राजा मन और सेना इन्द्रिय है, तथा सब प्राणों का नाम असुर हैं, उनमें राजा प्राण और अपान आदि सेना है। इनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हुआ करता है। मन के विज्ञान को बढ़ाने से प्राणों की जय और प्राणों के बढ़ने से मन की विजय हो जाती है' (पृ० ३३१), किन्तु यह कथन भी अत्यन्त निःसार है, क्योंकि मनुष्य लोक में सचाई और झुठाई का एक अजब मेल है, इसमें कौन देव है और कौन असुर? इसका निर्णय कर पाना कठिन है। असत्य का आधिक्य रहने पर असुरभाव और सत्य का बाहुल्य रहने पर देवभाव हो, ऐसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने पर देवत्व और असुरत्व में कोई विरोध न होने से देवासुर युद्ध की कोई स्थिति नहीं बनेगी। आपके मत के अनुसार मन को देवता और प्राण को असुर मानने से इन दोनों की भी सर्वत्र समान स्थिति है और इस तरह से देवासुरसंग्राम की बात कहना बड़ा कठिन हो जायगा। विज्ञान के बल से प्राणों का और प्राण के बल से मन का निग्रह होगा, यह कथन भी असंगत है, क्योंकि प्राण के निरोध का अभ्यास करने से यद्यपि मन का निग्रह हो सकता है, किन्तु प्राण के बल से मन का निरोध कभी नहीं हो सकता। फिर मन को देवता और प्राण को असुर मानने में कोई श्रुतिवचन प्रमाण रूप में उद्धृत नहीं किया गया है। जो वचन उद्धृत किया गया है, उसका भी तात्पर्य नहीं है।

'सु अर्थात् प्रकाश के परमाणुओं से मन और पांच ज्ञानेन्द्रिय, उनके परस्पर संयोग तथा सूर्य आदि को ईश्वर रचता है और अन्धकार रूप परमाणुओं से पाँच कर्मेन्द्रियां, दस प्राण और पृथिवी आदि को रचता है, जो कि प्रकाश रहित होने से असुर कहलाते हैं। प्रकाश और अप्रकाश के विरुद्ध गुण होने से इनकी भी संग्राम संज्ञा मानी जाती है' (पृ० ३३२) यह व्याख्या भी निःसार है, क्योंकि न तो इसमें कोई प्रमाण दिया गया है और निरुक्त के वचन से भी इसका कोई सीधा संबन्ध नहीं है। निरुक्त वाक्य का वास्तविक अर्थ यह है—किसी भी स्थान पर जो ठीक से टिककर नहीं रहते, अर्थात् जो स्वभाव से ही चंचल हैं, वे असुर कहलाते हैं। अथवा असुर वे लोग कहलाते हैं, जिनको देवताओं ने उनके स्थान से च्युत कर दिया है, हटा दिया है। अथवा असु प्राण का नाम है, क्योंकि उनको शरीर में फेंक सा दिया जाता है, जहां कि वे जीवन पर्यन्त सदा बने रहते हैं। असु शब्द से मत्वर्थीय र प्रत्यय लगाने पर असुर पद बनेगा, जिसका कि अर्थ हुआ प्राणवान्। अथवा ब्राह्मण ग्रन्थ में बताये निर्वचन के अनुसार भी असुर शब्द की निष्पत्ति हो सकती है कि सु यह प्रशस्त अर्थ का वाचक है। प्रशस्त स्थान मुख से प्रजापति ने सुर (देवता) की सृष्टि की है। वह प्रजापति प्राणों से ऊपर उठ गया है और शुक्ल पक्ष में उसने देवताओं की रचना की। 'असु' इस शब्द से प्राशस्त्य का निषेध किया गया है। अप्रशस्त (अपवित्र) स्थान पायु प्रदेश से प्रजापति ने असुरों की सृष्टि की। कृष्ण पक्ष में सृष्टि होने से यह सृष्टि असुर नाम से प्रसिद्ध हुई।

यत्तु—'देवासुराः संयत्ता आसन्' (श० १३।३।४।१), 'असुरानभिभवेम देवाः। असुरा असु रता स्थानेष्वस्ताः स्थानेभ्य इति वा। अपि वासुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः, सोऽदेवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वमसोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वमिति विज्ञायते' (नि० ३।८), 'देवानामसुरत्वमेकत्वं प्रज्ञावत्त्वं वाऽनवत्त्वं वापि वासुरिति प्रजानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम्' (नि० १०।३४) (पृ० ३३८) इत्यादि निरुक्तोद्धरणम्, तदपि प्रमादग्रस्तम्, कृतेऽप्युद्धरणेऽस्य वचनस्य व्याख्यानाभावात्। 'देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान। इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥' (ऋ० सं० ३।५५।१९) इतीमं मन्त्रं व्याचक्षाणेन निरुक्तकारेणोक्तम्— देवानामसुरत्वमित्यादि। मन्त्रार्थस्त्वेवम्—त्वष्टा देवो मध्यमः सविता सर्वस्य भूतग्रामस्य प्रसवितोदकसम्प्रदानद्वारेण न केवलमुत्पादयितैव, किन्तु पुपोष प्रजाः पुष्णाति रसानुत्पाद्य पुरुधा जजान बहुधा चैता जनयति वर्धयति। केन पुष्णाति जनयति च ? इमा च विश्वा भुवनान्यस्य इमानि विश्वानि भुवनानि उदकानि अस्य यतः स्वसत्तायां वर्तन्ते, तस्माज्जनयति वर्धयति च। अतश्च सर्वमिदं शक्तः कर्तुं यतो महद्देवानामसुरत्वम्, असुरिति प्रज्ञानाम, तया तद्वत्त्वम्। तया महत्या प्रज्ञया उदकेन साधनेन सर्वमिदं जनयति पुष्णाति वर्धयति च। अप्रज्ञः साधनसम्पत्तावपि न किञ्चित् कर्तुं पारयति। अथवा अनवत्त्वमसुरत्वम्, असुः प्राणस्तद्वत्त्वम्। प्राणेनैव शक्यत एतत्सर्वं कर्तुम्, अप्राणस्याकिञ्चित्करत्वात्। अन्नवत्त्वमित्यपि केचित्। तेषामन्नहेतुकेनोदकेनासुरत्वम्। असुरिति कस्मात् प्रज्ञानाम, अस्यति अनर्थान् प्रज्ञयैव प्रज्ञावतोऽनर्थनाशदर्शनात्। अस्ता न्यस्ताश्चास्यामर्था इत्यतोऽप्यसुरिति प्रज्ञानाम। अथवा यदेतदसुरत्वम्, वसुमतो भावो वसरत्वम्, रो मत्वर्थे, वकारलोपश्च। वसुनोदकेन तद्वानसौ त्वष्टा। तदेतत्सर्वं दुर्गाचार्यादिप्रोक्तमर्थमविज्ञायैव यत्किञ्चिदुक्तं दयानन्देन।

'सोऽर्चंश्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः। स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त। स आस्येनैव देवानसृजत। ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त, तद्देवानां देवत्वं यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त। तस्मै ससृजानाय दिवेवास, तदेव देवानां देवत्वं यदस्यै ससृजानाय

इस प्रसंग में स्वामी दयानन्द ने शतपथ ब्राह्मण और निरुक्त के वचनों को उद्धृत किया है (पृ० ३२८), किन्तु ऐसा करते समय भी प्रमाद ने उनका पिण्ड नहीं छोड़ा है। वचनों को उद्धृत करने के बाद भी उन्होंने इनकी व्याख्या नहीं की है। वास्तव में 'देवस्त्वष्टा०' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार ने 'देवानामसुरस्य०' इत्यादि वाक्य लिखा है। इस मन्त्र का अर्थ यह है—मध्यम स्थानीय सविता त्वष्टा देवता सभी प्राणियों को वृष्टि द्वारा जल प्रदान करके न केवल उत्पन्न ही करता है, किन्तु उनको पुष्ट भी करता है। वह वर्षा करके रसों को उत्पन्न करता है और उसी की सहायता से भाँति-भाँति की प्रजा को उत्पन्न कर उनका पोषण करता रहता है, उनको बढ़ाता है। संसार का सारा जल इसी पूषा देवता के अधीन है, अतः इसी की सहायता से वह सारे जगत् को उत्पन्न करता है और बढ़ाता है। वह सब कुछ करने में समर्थ है, क्योंकि देवताओं की सामर्थ्य बड़ी अद्भुत है। असु यह प्रज्ञा (बुद्धि) का नाम है। इस अद्भुत प्रतिभा और जल रूपी साधन की सहायता से यह सविता देवता सारे जगत् को उत्पन्न करता है और पुष्ट करता है। सारी साधन सामग्री के उपस्थित रहने पर भी मन्द बुद्धि व्यक्ति उसका कुछ उपयोग नहीं कर सकता। अथवा असु का अर्थ प्राण होगा, जिसकी सहायता से कि सदा प्राणन क्रिया चलती रहती है। प्राणवान् व्यक्ति ही यह सब कुछ कर सकता है, प्राणहीन व्यक्ति कुछ भी करने में असमर्थ है। कुछ लोग असुर पद का अर्थ अन्नवान् करते हैं। अन्न की उपज के प्रमुख कारण जल के कारण वह असुर कहलाता है। निरुक्त में प्रज्ञा के अर्थ में भी असु शब्द का निर्वचन किया गया है, क्योंकि बुद्धिमान् व्यक्ति अपनी प्रज्ञा के कारण ही अपने ऊपर आने वाले अनर्थ (आपत्ति) का निवारण करता है। असु को प्रज्ञा इसलिये भी कहा जाता है कि इसमें सभी प्रयोजनों की उपलब्धि का उपन्यास (समाधान) विद्यमान रहता है। वसुर शब्द से भी असुर शब्द की निष्पत्ति होती है। वसुमान् का भाव वसुरत्व कहलाता है। र प्रत्यय यहाँ मतुप् प्रत्यय के अर्थ में होता है साथ ही वकार का भी लोप हो जाता है और इस तरह से असुर शब्द बनता है। इसका अर्थ हुआ वसु अर्थात् उदक से संपन्न त्वष्टा। निरुक्त का यह विस्तृत अर्थविवेचन दुर्गाचार्य प्रभृति व्याख्याकारों के ग्रन्थों में मिलता है। इसको बिना समझे-बूझे स्वामी दयानन्द मनमाना अर्थ करते हैं, जो कि उचित नहीं है।

इसके आगे शतपथ ब्राह्मण के लंबे-चौड़े 'सोऽर्चंत्' इत्यादि वाक्य को उद्धृत कर स्वामी दयानन्द कहते हैं—'सृष्टि करने की इच्छा से परमेश्वर ने अपने मुँह के प्रकाश के परमाणुओं से सूर्य प्रभृति प्रकाशमय लोकों की और उनमें रहने वाले उत्तम गुण

दिवेवास । अथ योऽयमवाङ्प्राणस्तेनासुरानसृजत । त इमामेव पृथिवीमभिसम्पद्यासृज्यन्त । तस्मै ससृजानाय तम इवास ॥ सोऽवेत् । पाप्मानं वा असृक्षि । यस्यै मे ससृजानाय तम इवाभूदिति । तांस्तत एव पाप्मनाविध्यत्, ते तत एव पराभवंस्तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरम् । यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्, ततो ह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मनाविध्यत्, ते तत एव पराभवन्निति ॥ तदेतदृषिणाभ्यनूक्तम्—'न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति । मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न पुरा युयुत्स ॥' इति । स यदस्मै देवान् ससृजानाय दिवेवास तदहरकुरुताथ यदस्मा असुरान् ससृजनाय तम इवास तां रात्रिमकुरुत । ते अहोरात्रे । स ऐक्षत प्रजापतिः ॥' (श० ११।१।६।७-१२) इति ब्राह्मणमुद्धृत्य यदुक्तम्—'प्रजाकामः परमेश्वर आस्येन अग्निपरमाणुमयात् कारणात् सूर्यादीन् प्रकाशवतो लोकान् मुख्यगुणकर्मभ्यो यानसृजत, ते देवा द्योतमाना दिवं प्रकाशं परमेश्वरप्रेरितमभिपद्य प्रकाशादिव्यवहारानसृज्यन्त । तदेव देवानां देवत्वं यतस्ते दिवि प्रकाशे रमन्ते । अथानन्तरमर्वाचीनो योऽयं प्राणो वायुः पृथिव्यादिलोकश्चेश्वरेण सृष्टस्तेनैवासुरान् प्रकाशरहितानसृजत । ते पृथिवीमभिपद्यौषध्यादीन् पदार्थानसृज्यन्त । ते सर्वे सकार्याः प्रकाशरहितास्तयोस्तमःप्रकाशवतोरन्योन्यं विरोधो युद्धमिव प्रवर्तते । तस्मादिदमपि दैवासुरं युद्धमिति विज्ञेयम् । तथैव पुण्यात्मा मनुष्यो देवः पापात्मा ह्यसुरश्च । एतयोरपि परस्परं विरुद्धस्वभावाद्युद्धमिव भवति' (पृ० ३३०) इत्यादिकम्, तत्सर्वमपि निरर्गलं निर्मूलं च, ब्राह्मणाक्षराननुगमात् । पुण्यात्मा मनुष्यो देवः, पापात्मा असुरः, इत्येतत्तु सर्वथा ब्राह्मणाक्षरासंस्पृष्टं तत्कपोलकल्पितमेव । आस्यपदेनाग्निपरमाणुः केन प्रमाणेन गृह्यते ? आस्येनाग्नेः कः सम्बन्धः ? परमेश्वरस्य निराकारत्वादमुखस्य 'मुखादग्निरजायत' इत्यपि कथमुपपद्यते ? यदि मुखादग्नेरुत्पत्तिरभ्युपेयते, तर्हि कः सङ्कोच आस्याद्देवानामुत्पत्त्यङ्गीकारे ? सूर्यादीनां देवत्वे कथं विदुषां मनुष्याणामेव देवत्वमिति पक्षः स्थास्यति ? व्यवहारानसृज्यतेति कथङ्कारेण व्याकरणशास्त्रेण साधीयः ? प्राणस्यार्वाचीनत्वं किमित्यपि वक्तव्यम् । इमामेव पृथिवीमभिपद्येत्यनेन पृथिव्यादिलोकसृष्टिः कथं ज्ञायते ? अनेकानि पदानि तु व्याख्यार्थं न स्पृष्टान्येव । एवमेव दिनं देवो रात्रिरसुर इत्युक्तिस्तु सर्वथोच्छृङ्खलत्वमेवास्य प्रकटयति, ब्राह्मणाक्षरविरुद्धत्वादिति विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु । अत्र तद्वैपरीत्येन देवेष्वपि प्रज्ञादिमत्त्वेनासुरत्वमुक्तमिति तदीयाः सर्वा अप्यसुरपरिभाषा बाधत एवेदं निरुक्तवचनम् ।

कर्म वाले जिन व्यक्तियों की सृष्टि की वे देवता कहलाए । इन प्रकाशमय देवताओं ने परमेश्वर के द्वारा प्रेरित प्रकाशगुण व्यवहारों को संपन्न किया । देवताओं का देवत्व यही है कि वे सदा प्रकाशमय व्यवहार में रमते हैं, अर्थात् जिनको निष्कपट व्यवहार पसन्द है । इसके बाद यह जो अर्वाचीन प्राण वायु और पृथिवी प्रभृति लोक हैं, उनको भगवान् ने रचा । इसी लिये असुर सृष्टि प्रकाश से रहित है । इन असुरों ने पृथिवी पर औषधी प्रभृति पदार्थों की रचना की । इनके ये सब कार्य प्रकाश से रहित हैं । अतः ये देव और असुर प्रकाश और अन्धकार स्वभाव होने से इनका परस्पर विरोध है, मानों इनका परस्पर युद्ध चलता रहता है । इसको ही रूपकालंकार में देवासुर का संग्राम मान लिया गया है । इसी तरह से पुण्यात्मा मनुष्य देव और परमात्मा दुष्ट लोग असुर कहलाते हैं । उनका भी परस्पर विरोध रूप युद्ध नित्य होता रहता है' (पृ० ३३२), किन्तु यह सारी बात भी निरर्गल और प्रमाणरहित है, उक्त ब्राह्मण वाक्य में विद्यमान पदों से इसका कोई भी संबन्ध नहीं है । पुण्यात्मा मनुष्य देव और पापात्मा मनुष्य असुर है, यह कथन तो सर्वथा उक्त ब्राह्मण वाक्य के विपरीत उनकी अपनी मनमानी कल्पना है । भाष्य पद से अग्नि के परमाणुओं का ग्रहण किस प्रमाण से होगा ? आस्य से अग्नि का क्या संबन्ध है ? परमेश्वर तो आपके मत से निराकार है । जब उसके मुंह नहीं है, तो मन्त्र के अनुसार परमेश्वर के मुख से अग्नि की उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है ? यदि आप परमेश्वर के मुख से अग्नि की उत्पत्ति मान लेते हैं, तो फिर आपको मुख से देवताओं की उत्पत्ति मानने में क्यों संकोच हो रहा है ? इस तरह से जब सूर्य प्रभृति भी देवता मान लिये जायँगे, तो केवल मनुष्यों को ही देवता मानने वाला आपका पक्ष कैसे टिक पावेगा । 'व्यवहारानसृज्यत' यह वाक्य भी व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से कैसे बन पावेगा ? प्राण को आप अर्वाचीन किस प्रमाण के आधार पर कहते हैं ? 'इस पृथिवी को प्राप्त कर' इस वाक्य से पृथिवी प्रभृति लोकों की सृष्टि होती है, यह आप कैसे जानते हैं ? आपकी व्याख्या में उक्त ब्राह्मण वाक्य के अनेक पद स्पष्ट नहीं किये गये हैं । इसी तरह से दिन को देवता और रात्रि को असुर बताने वाली व्याख्या भी (पृ० ३३२) सर्वथा उच्छृङ्खलता का ही उदाहरण हो सकती है, इसका ब्राह्मणवाक्यगत पदों से सर्वथा विरोध है । विद्वद्गण ही इस पर विचार करें कि यह कहाँ तक उचित है । वास्तव में तो दयानन्द के मत के

सायणादिसम्मतस्तु पूर्वोक्तश्रुतिप्रघट्टकस्यैवमर्थो ज्ञातव्यः। यथा—सोऽर्चन्निति। स सहस्रायुर्जज्ञे। स यथा नद्यै पारं परापश्येदेवं स्वस्यायुषः पारं पराचख्यौ। स प्रजापतिः सहस्रसंवत्सरजीवनोपेतो जज्ञे जातो बभूव। यथा दूरदर्शी अत्यन्तं विस्तृताया नद्याः पारं परतीरं परापश्यति, तथा प्रजापतिः स्वकीयस्य सहस्रसंवत्सररूपस्यायुषः परमवसानं पराचख्यौ दूरगमनशीलेन मनसा ददर्श। सोऽर्चन् स स्वीयस्यायुषः परिच्छेदं जानन् ततः प्रागेव प्रजासर्जनरूपं स्वकार्यं निर्वर्तयितुकामः, अर्चन् स्वकर्तव्यं परामृशन् श्राम्यन् तच्चिन्तनेन श्रान्तः सन् चचार ववृते। ततः स आत्मन् स्वशरीर एव प्रजातिं प्रजोत्पत्तिसाधनं योनिमधत्त धारणया निश्चितवान्। ततः स आस्येन मुखेनैव देवानसृजत। ते देवा दिवं द्युलोकमभिपद्य द्युलोकमवष्टभ्य असृज्यन्त सृष्टा अभवन्। यस्माद्दिवमभिपन्नास्तस्मात् द्युसम्बन्धाद् देवानां देवत्वं देवतापदाभिधेयता सम्पन्ना। यस्माद्दिवोऽभिपदनात् ससृजानाया देवान् सृष्टवते प्रजापतये सा देवसृष्टिर्दिववास प्रकाश इव बभूव। अथ देवसृष्ट्यनन्तरं योऽयमवाङ्मुखो गुदाख्यः प्राणस्तेनासुरानसृजत। ते असुरा इमामेव पृथिवीमेवाभिपद्य असृज्यन्त सृष्टा अभवन्। तस्मै सृष्टवते प्रजापतये सा असुरसृष्टिः तम इव बभूव। सोऽवेत्। स प्रजापतिरजानात् पापमेव खलु अहमसृक्षि सृष्टवान् अस्मि। यस्मै इयमसुरसृष्टिः तम इवाभूत् अन्धकार इव सर्वस्यावरणशीलाभूत्। एवं पर्यालोच्य तानसुरान् तेनैव तमोरूपेण पाप्मनाऽविध्यद्। विद्धांस्तत्सहितानकरोत्। ते तमसा विद्धाः पराभवन् पराभवं प्राप्ताः। यत एव सृष्टिसमये प्रजापतिना निराकृता असुरास्तस्मादाहुरभिज्ञा नैतदस्ति यद्दैवासुरम्। देवांश्चासुरांश्चाधिकृत्य प्रवृत्तं युद्धादिकं यदस्ति तन्नैवास्ति। कुतस्तर्हि देवासुरस्य व्यापारस्य प्रतिपादनमस्ति? अन्वाख्याने सृष्ट्युपक्रमकथनरूपेऽस्मिन् ब्राह्मणे यदिदं देवैः सार्धं सुरसृष्टिप्रतिपादनं तदेकं तावदिदमन्यत्राप्युपपद्यते। अत्र प्रवृत्ते इतिहासे यद् देवासुरप्रतिपादनं

विपरीत देवताओं में भी असुर का अर्थ प्रज्ञावान् करके असुरत्व की विद्यमानता बताई गई हैं! इस तरह से दयानन्द के द्वारा उद्धृत यह निरुक्त का वचन उनके सारा की गई असुर की परिभाषा को सर्वथा बाधित कर देता है।

पूर्वोक्त शतपथ श्रुति के पूरे प्रघट्टक का सायणादिसंमत अर्थ यह है—वह प्रजापति हजार वर्ष की आयु लेकर पैदा हुए। जैसे दूर दृष्टि वाला व्यक्ति अत्यन्त विस्तृत नदी के दूसरे तट को भी देख सकता है, उसी तरह से प्रजापति भी हजार वर्ष के बाद होने वाले अपनी आयु के पर्यवसान को अपनी मानसिक दूरदृष्टि से देख लेते हैं। वह अपनी आयु की इयत्ता को जानकर उससे पहले ही सब तरह की प्रजा की सृष्टि के कार्य को पूरा कर देने के अभिप्राय से अपने कर्तव्य का निर्धारण कर पूरे परिश्रम से उसको पूरा करने में लग जाते हैं। ऐसा निश्चय करने के उपरान्त वह अपने शरीर में ही सारे जगत् की उत्पत्ति में कारणभूत योनि की अवधारणा, भावना करते हैं। वह अपने मुँह से देवताओं की सृष्टि करते हैं। इन देवताओं की सृष्टि वह स्वर्गलोक में रहकर करते हैं। इनकी सृष्टि प्रजापति ने द्युलोक में रहते हुए की, इसलिये द्युलोक से संबद्ध होने से यह सृष्टि देवता पद से अभिहित हुई, क्योंकि द्युलोक का सहारा लेकर देवताओं की सृष्टि करने वाले प्रजापति के लिये वह देव सृष्टि दिवस के समान प्रकाश का काम करने वाली थी, अर्थात् आगे होने वाली सृष्टि के मार्ग को प्रकाशित करने वाली थी। अब देवताओं की सृष्टि कर लेने के बाद यह जो नीचे की ओर प्रवाहित होने वाला अपानरूप प्राण है, उसकी सहायता से प्रजापति ने असुरों की सृष्टि की। इन असुरों की सृष्टि इस पृथ्वी का ही सहारा लेकर की गई। सृष्टि करने में उद्यत उस प्रजापति के लिये यह असुर सृष्टि अन्धकार रूप थी। इस सृष्टि का पूरा कर लेने पर उसको मालूम हुआ कि मेरी यह सृष्टि तो पापमय है। क्योंकि यह सृष्टि अन्धकार के समान सब पर आवरण डालने वाली थी, अतः सोचते सोचते प्रजापति ने इन असुरों को तमोमय पाप से आवृत कर दिया। जब असुर इस अन्धकारमय पाप से आवृत हो गये तो देवों के साथ हुए युद्ध में ये पराजित हो गये। इस तरह से सृष्टि का प्रारंभ करते समय ही प्रजापति ने असुरों को पराजित अवस्था में पहुँचा दिया था, अतः अभिज्ञ विद्वान् व्यक्तियों का कहना है कि यह देवासुर युद्ध नाम की कोई घटना नहीं है। तब इस युद्ध का वर्णन यत्र तत्र क्यों मिलता है? इस सृष्टि कथा का उपक्रम करने वाले इस ब्राह्मण में यह जो देवताओं के साथ असुरों की सृष्टि बताई गई है, इससे अन्य प्रकरणों की सहायता से यही अर्थ निकाला जा सकता है कि यह सृष्टि एक ही थी, अर्थात् इस कथा में देवताओं और असुरों की यद्यपि अलग अलग सृष्टि बताई गई है, किन्तु बाद में जब यह कह दिया गया कि असुरों की सृष्टि को प्रजापति ने तमोमय पाप से ढक दिया तो, उस दशा में केवल एक देव सृष्टि ही बच रहती है, क्योंकि जब असुरों की

त्वत् एकमिदं तदुभयं नैवास्तीत्यत्र उक्तमर्थं हेतुत्वेन योजयति। ततो ह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मनाविध्यत्, तेन तेषां पराभूतत्वात्। उक्तार्थदाढर्याय ऋचमुदाहरति—ऋषिणा मन्त्रेण न त्वं युयुत्से युद्धं न कृतवान्, त्वत्प्रतिभटानामसुराणामभावात्। कतमच्च किमपि शत्रुसैन्यं नावधीः। हे मघवन्, ते तव प्रकृतसृष्टौ अमित्रः कश्चन नास्ति। वृत्रादिभिरसुरैर्यानि तव युद्धान्याहुः, सा मायेत् तव मायामात्रम्, न पारमार्थिकम्। ननु कुत इति चेत्, अद्य काले पुराकालेऽपि त्वं शत्रून् न युयुत्से न प्रहृतवानसि। देवसृष्टिसमये यद् दिवेवासीत् स तदहरकुरुत स प्रजापतिस्तद्देवाहर्दिनमकुरुत। देवासुरसृष्ट्यैव अहोरात्रे सृष्टे भवतः। स ऐक्षत। सर्वं वा अहमसृक्षि सोऽहं सर्वं स्रष्टव्यं कृत्स्नं जगद् अत्सारिषं छद्मगत्या प्राप्तवानस्मि (त्सर छद्मगतौ), यस्मादेवं सर्वं वा अत्सारिषम् इत्यवबोधयत्, तस्मात् स प्रजापतिः संवत्सरोऽभवत्। स एव परोक्षवृत्त्या संवत्सर उच्यते। तद्वेदनस्य फलमाह—य एनं वेदितारं पापरूपया मायया मिथ्यावरणशक्त्या त्सरति कौटल्येन गच्छति स एनं नैवाभिभवति। वेदिता यं बाधितुमिच्छेत् तमेनं स्वयमभिभवत्येव। नात्र दयानन्दोक्तस्यार्थस्य मनागपि संकेतो दृश्यते।

'देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्यासः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुः' (श० १।७।२)। अत्र दर्शपूर्णमासोभयसाधारणमवदानादिकं वषट्कारान्तं धर्ममभिधाय तत्प्रसङ्गाद् यवादिशब्दाभिधानद्वारा दर्शपूर्णमासयागं प्रशंसति—'प्रजापतेः पुत्रा दायं पैतृकं वित्तमुपेयुः। किं तत्? एतौ प्रसिद्धौ अर्धमासौ मासस्यार्द्धौ शुक्लकृष्णपक्षौ। एवं विभागे सति देवाः कथमसुरेभ्यस्तदीयमपि भागं संवृजीमहि अपहरेमहि, इति कामयित्वा तत्साधनं प्रयासेनान्विष्य दर्शपूर्णमासौ यागौ एवापश्यन्। 'ते देवा अकामयन्त कथं न्विमां संवृञ्जीमहि योऽयमसुराणामिति। तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः। त एतं हविर्यज्ञं ददृशुर्यद्दर्शपूर्णमासौ। ताभ्यामयजन्त। ताभ्यामिष्ट्वैतमपि समवृञ्जन्त य एषोऽसुराणामासीदेतावेवार्धमासौ। य एवापूर्यते तं देवा उपायन्

सृष्टि अपने पाप के कारण ही पराभूत हो गई, तो उस दशा में देवताओं का कोई प्रतिद्वन्द्वी कहाँ बच रहता है? इसी बात का दृढ़ता से प्रतिपादन करने के लिये मन्त्र का प्रमाण दिया गया है। ऋषि पद यहाँ मन्त्र का वाचक है। मन्त्र का अर्थ यह है—हे इन्द्र, तुमने युद्ध नहीं किया, क्योंकि तुम्हारे प्रतिद्वन्द्वी असुरों की तो कोई स्थिति ही नहीं है। साथ ही तुमने अपने किसी शत्रु की सेना का भी संहार नहीं किया है। हे मघवन्, इस वर्तमान सृष्टि में तुम्हारा कोई शत्रु विद्यमान नहीं है। वृत्र प्रभृति असुरों से जो तुम्हारे युद्ध हुए हैं, वह तो केवल तुम्हारी माया है, इसमें कोई सच्चाई नहीं है। ऐसा कैसे हो सकता है? ऐसा इसलिये सही है कि आज की ही तरह पहले भी तुम ने किसी शत्रु पर प्रहार नहीं किया। देवताओं की सृष्टि करते समय दिन के समान प्रकाश था। उसी की सहायता से प्रजापति ने दिन की सृष्टि की थी। इस तरह देवताओं की सृष्टि के साथ दिन और असुरों की सृष्टि के साथ रात की सृष्टि हुई। इस सृष्टि को पूरा करके उस प्रजापति ने विचार किया कि मैंने सारी सृष्टि पूरी कर ली। अब मैंने सारे स्रष्टव्य जगत् को चतुराई से बना दिया है। जब प्रजापति को इस बात का बोध हो गया, उसी दिन से वह संवत्सर के नाम से जाना जाने लगा। इस तरह से प्रजापति ही परोक्ष वृत्ति के सहारे संवत्सर कहलाता है। इस बात को जान लेने से किस फल की प्राप्ति होती है? इसी को इस प्रघट्टक के अन्त में बताया गया है कि जो व्यक्ति इस प्रजापति को पापरूप माया, अर्थात् मिथ्या आवरण शक्ति का सहारा लेकर कुटिल मार्ग से प्राप्त करना चाहता है, वह इसको नहीं प्राप्त कर सकता, वह पाप पर भी विजय नहीं प्राप्त कर सकता। इसके विपरीत यह वेदिता प्रजापति जिसको अभिभूत करना चाहता हो, वह स्वयं ही अभिभूत हो जायगा। इस तरह से इस पूरे प्रघट्टक के अर्थ पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका थोड़ा सा भी अंश दयानन्द समर्पित अर्थ की ओर किसी भी प्रकार का संकेत नहीं करता।

आगे दयानन्द ने 'देवाश्च०' इत्यादि शतपथ वाक्य को उद्धृत किया है। दर्श-पूर्णमास इन दोनों कर्मों में समानरूप से होने वाले अवदान से लेकर वषट्कार पर्यन्त धर्मों को बताकर प्रसंगवश यहाँ पर यव प्रभृति शब्दों के नाम से दर्शपूर्णमास याग की प्रशंसा की गई है कि प्रजापति के पुत्रों ने अपने पिता की संपत्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त किया। यह संपत्ति क्या है? यह प्रसिद्ध अर्धमास ही वह संपत्ति है, जो कि शुक्ल और कृष्ण पक्ष के नाम से प्रसिद्ध है। इस विभाग के हो जाने पर देवताओं ने सोचा कि ऐसा कोई उपाय किया जाय कि जिसकी सहायता से हम असुरों की संपत्ति के भी मालिक बन जाँय। सोचते सोचते उन्होंने दर्शपूर्णमास याग को इसके उपाय के रूप में देखा। तब वे दर्श और पूर्णमास याग का अनुष्ठान करने लगे और इसकी सहायता से उन्होंने असुरों के भाग को भी प्राप्त कर लिया। देवताओं ने जिस भाग को प्राप्त किया वह अर्धमास (पक्ष) के रूप में था। जिस (शुक्ल) पक्ष में चन्द्रमा पूर्ण होता जाता है, उसको देवताओं ने ले लिया था और जिसमें (कृष्ण) चन्द्रमा घटता है, वह असुरों के हिस्से में रह गया था। किन्तु इस

योऽपक्षीयते तमसुराः' इति। अर्थात् ताभ्यां कृष्णपक्षमपि स्वयमलभन्त। अत्र तु स्पष्टमेव मनुष्येभ्यो भिन्नानामेव देवानामसुराणां च वर्णनम्, तेषां दायप्राप्तिर्देवैश्च तदपहरणमुक्तम्। न च शक्तया बोधितस्यार्थस्य बाधे किमपि कारणमुपलभ्यते। न च मनुष्याणां दर्शपूर्णमासयज्ञहविर्भोक्तृत्वम्। न वा दर्शपूर्णमासयज्ञस्यान्यकृतस्यान्यैः फलमुपभोक्तुं शक्यते। तस्मात् सर्वथा मनुष्यभिन्ना एवात्र देवाश्चासुराश्चेति।

यच्च—'द्वया ह प्राजापत्याः' (श० १४।४।१।१) इति ब्राह्मणमुद्धृत्योक्तम्—'ते इमे उभये प्रजापतेः परमेश्वरस्य पुत्रा इव वर्तन्ते। अत एव ते परमेश्वरस्य पदार्थानुपेताः सन्ति। तेषां मध्ये असुराः प्राणादयो ज्येष्ठाः सन्ति, वायोः पूर्वोत्पन्नत्वात् प्राणानां तन्मयत्वाच्च। तथैव जन्मतो मनुष्याः सर्वेऽविद्वांसो भवन्ति पुनर्विद्वांसश्च। तथैव वायोरेकादशादग्नेरुत्पत्तिः प्रकृतेरिन्द्रियाणां च। तस्मादसुरा ज्येष्ठा देवाश्च कनिष्ठाः। एकत्र देवाः सूर्यादयो ज्येष्ठाः पृथिव्यादयोऽसुराश्च कनिष्ठाः। ते सर्वे प्रजापतेः सकाशादुत्पन्नत्वात् तस्यापत्यानीव सन्ति। एषामपि परस्परं युद्धमिव वर्तते' (पृ० ३३०) इति, तदपि वेदबाह्यमेव, वेदाक्षरासम्बद्धत्वात्। प्राणादयोऽसुरा इत्यपि निर्मूलम्, मूले तादृशार्थबोधकशब्दाभावात्। अत एव वायोः पूर्वोत्पन्नत्वादिति हेतुरपि नासुराणां ज्येष्ठत्वसाधकः प्राणानामसुरत्वस्याद्याप्यसिद्धेः। सर्वे मनुष्या जन्मतोऽविद्वांसो भवन्ति तेन त्वद्रीत्या सर्वेऽप्यसुरा एव भवन्ति, त एव विद्वांसो भूत्वा देवा भवन्तीत्येवं सति समेषां देवत्वमसुरत्वं चेति कथं तेषु विरोधः? एवमेव वायोरसुरत्वं तज्जन्यस्याग्नेर्देवत्वमित्यपि स्वाभ्यूहितमेव, प्रमाणशून्यत्वात्। देवा ज्येष्ठा असुराः कनिष्ठा इत्यपि प्रमाणविरुद्धमेव, 'ज्यायसा असुराः' (श० १४।४।१।१) इति श्रुतिविरुद्धत्वात्, 'देवा ज्यायांसः' इति श्रुतिवचनानुपलब्धेश्च।

दर्श और पूर्णमास याग का अनुष्ठान कर देवताओं ने कृष्ण पक्ष को भी अपना बना लिया। यहाँ स्पष्ट ही मनुष्यों से भिन्न देवताओं और असुरों की सत्ता प्रतिपादित है और बताया गया है कि उनको किस प्रकार अपनी संपत्ति मिली। साथ ही यह भी बताया गया है कि असुरों के भाग को देवताओं ने किस तरह से छीन लिया। स्पष्ट रूप से अभिधा वृत्ति के सहारे जो अर्थ प्रतीत होता है, उसको न स्वीकार करने में कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। मनुष्य दर्शपूर्णमास याग में दी गई हवि के भोक्ता नहीं माने जाते और न दूसरों के किये हुए दर्शपूर्णमास याग का फल उससे भिन्न किसी दूसरे को मिल सकता है। इस तरह से इस ब्राह्मण वाक्य में भी देवता और असुर सर्वथा मनुष्यों से भिन्न ही माने गये हैं।

'द्वया ह प्राजापत्याः' प्रभृति ब्राह्मण वाक्य को उद्धृत (पृ० ३२९) करके स्वामी दयानन्द ने उसकी व्याख्या इस तरह से की है—'ये सब देव और असुर प्राजापत्य अर्थात् ईश्वर के पुत्र के समान कहे जाते हैं और संसार के सब पदार्थ इन्हीं के अधिकार में रहते हैं। इनमें से जो जो असुर अर्थात् प्राण आदि हैं, वे ज्येष्ठ कहलाते हैं, क्योंकि वे प्रथम उत्पन्न हुए हैं। बाल्यावस्था में सभी मनुष्य अविद्वान् होते हैं, बाद में विद्याध्ययन कर लेने पर ये विद्वान् बनते हैं। इसी तरह से वायु से अग्नि, प्रकृति और इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रक्रिया में असुर ज्येष्ठ हैं और देवता कनिष्ठ। दूसरी दृष्टि से सूर्य प्रभृति ज्येष्ठ हैं और पृथिवी प्रभृति असुर कनिष्ठ। इन सबकी उत्पत्ति प्रजापति से हुई है, अतः ये सब उसकी सन्तानें हैं। इनका भी परस्पर युद्ध सा होता रहता है' (पृ० ३३२) किन्तु यह सारी व्याख्या वेदविरुद्ध है, उक्त श्रुति में आये पदो से इसका कोई संबन्ध नहीं हैं। प्राण प्रभृति को असुर मानना सर्वथा निराधार है, क्योंकि मूल में इस अर्थ का बोधक कोई पद नहीं है। इसीलिये 'वायु से पहले उत्पन्न होने के कारण' यह हेतु भी असुरों की ज्येष्ठता को नहीं सिद्ध कर पाता, क्योंकि प्राणों को आप असुर नहीं सिद्ध कर सके हैं। सभी मनुष्य जन्म से अविद्वान् होते हैं, आपके इस कथन के अनुसार तो ये सब असुर हुए। बाद में जब ये ही विद्याध्ययन करने के उपरान्त विद्वान् हो जाते हैं, तो ये ही आपकी दृष्टि के अनुसार देवता बन जाते हैं। इस तरह से तो सभी मनुष्यों में देवत्व और असुरत्व समान रूप से विद्यमान है, तो फिर इनमें परस्पर विरोध क्यों होगा? इसी तरह वायु को असुर तथा उससे उत्पन्न अग्नि को सुर (देवता) मानना आपकी कल्पना के सिवाय और क्या हो सकता है, क्योंकि अपनी बात के समर्थन में आपने कोई प्रमाण नहीं दिया है। दूसरी दृष्टि से देवताओं को ज्येष्ठ और असुरों को कनिष्ठ मानने वाली बात भी प्रमाण विरुद्ध है, क्योंकि श्रुति में तो असुरों को ही ज्येष्ठ माना गया है। देवताओं की ज्येष्ठता को बताने वाली कोई श्रुति उपलब्ध नहीं है।

शङ्करभगवत्पादसायणाचार्यादिसम्मतस्त्वयमर्थः—'प्रजापतेर्हिरण्यगर्भस्यातीतजन्मनि यजमानावस्थस्य अपत्यभूता गोलकावस्था वागादयः प्राजापत्या द्वि प्रकाराः—देवाश्चासुराश्च। शास्त्रीयज्ञानकर्मवासनावासिताः द्योतनात्मका देवाः, प्रत्यक्षानुमानजनितदृष्टप्रयोजनकस्वाभाविकज्ञानकर्मवासनावासिता असुराः। स्वेष्वसुषु रमणाद् देवेभ्योऽन्यत्वाद्वा। कानीयसा देवा अल्पीयांसः, शास्त्रप्रवृत्तेरत्यन्तयत्नसाध्यत्वात्। ज्यायसा ज्यायांसोऽसुराः, शास्त्रानाधेयस्वाभाविकप्रवृत्तेर्बहुलत्वात्। ते लोकेष्वस्पर्धन्त। ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु शास्त्रीयाशास्त्रीयज्ञानकर्मसाध्येषु निमित्तभूतेषु देवासुराणां सात्त्विकतामसत्वानुसारेण शमकामादिवृत्त्युद्भवाभिभवौ स्पर्धा। कदाचित् प्राणान्ते शास्त्रवृत्त्युद्भवाद् देवानां जये सति धर्मवृद्धेर्वागाद्युपहितस्य यजमानस्य धर्मप्राधान्याद् आ मानुषादा प्रजापतेरुत्कर्षं तद्विपर्ययादसुराणां जयेऽधर्मवृद्धेरा मानुषादा स्थाणोरपकर्षः। 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति, तथेति तेभ्यो वागुदगायत्। यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायत्। यत्कल्याणं वदति तदात्मने तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्। यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव पाप्मा। यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति अप्रतिरूपं पश्यति तदेव पाप्मा' इति। अत्रापि न त्वदुक्तास्यार्थस्यावकाशः। अत्रासुरीवृत्तियोगात् प्रजापतेर्हिरण्यगर्भस्य यजमानावस्थस्य वागादयः प्राणा एवासुरा भवन्ति। दैवीवृत्तियोगात् त एव देवा अपि भवन्ति। आसुरीवृत्तेरनादित्वात् अप्रयत्नसाध्यत्वाज्ज्येष्ठत्वं प्राबल्यं बाहुल्यं च, दैव्याः सात्त्विक्याः प्रवृत्तेरत्यन्तप्रयत्नसाध्यत्वात् सादित्वात् कनिष्ठत्वं दौर्बल्यमल्पत्वं च भवति। इदमान्तरं दैवासुरम्। इन्द्रवृत्रादियुद्धं तु बाह्यम्। रामरावणयुद्धं कौरवपाण्डवयुद्धं तत्प्रतीकभूतमेव। न तावतापि मन्त्रब्राह्मणपुराणेतिहास-प्रसिद्धं दैवासुरं युद्धमपलापमर्हति।

शंकर भगवत्पाद और सायणाचार्य प्रभृति की पद्धति से इस शतपथ श्रुति का अर्थ यह होता है—प्रजापति हिरण्यगर्भ जब पूर्व जन्म में यजमान के रूप में प्रकट हुए तो उनकी वाणी प्रभृति इन्द्रियां, जिनका कि प्रस्तुत श्रुति में प्राजापत्य शब्द से उल्लेख किया गया है, देव और असुर अवस्था के भेद से दो प्रकार की थीं। इनमें देव इन्द्रियां वे थीं, जो कि शास्त्रीय ज्ञान और शास्त्रीय कर्म की वासना से सुवासित हो प्रकाशमान स्वभाव की थी। इसके विपरीत असुर स्वभाव की इन्द्रियां प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान से उत्पन्न ऐहलौकिक प्रयोजन में लिप्त स्वाभाविक, पामर जन सुलभ ज्ञान और कर्म की वासना से भरी हुई थी। अपने प्राणों में ही मगन रहने के कारण अथवा सुर (देवता) से भिन्न होने से विरोचन प्रभृति असुर कहलाते हैं। इनकी प्राणविद्या ही परम उपास्य है। देवताओं की संख्या अल्प होती है, क्योंकि शास्त्र में प्रवृत्ति विना यत्न के होती नहीं। असुरों की संख्या बहुत अधिक होती है, क्योंकि शास्त्रीय आदेशों पर बिना विचार किये स्वाभाविक रूप से स्वतन्त्र प्रवृत्ति रखने वालों की संख्या अधिक होती है। ये देवता और असुरगण परस्पर निरन्तर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने की स्पर्धा में लगे रहते हैं। शास्त्रीय और अशास्त्रीय ज्ञान और कर्म का अनुष्ठान करने से ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त योनियों में जन्म होता है। इसके लिये देवताओं और असुरों में यह स्पर्धा चलती रहती है कि सात्त्विक और तामस गुण के अनुरूप शम और काम नामक वृत्तियों का वे क्रमशः प्राप्ति और दमन करे। ऐसा करते करते कभी प्राणान्त हो जाने पर शास्त्रीय शम वृत्ति का उद्रेक होने से, देवभाव की विजय होने से धर्म की वृद्धि होती है और वाक् प्रभृति इन्द्रियों की उपाधि को ओढ़ने वाला यजमान प्रधानतया धर्म की ओर प्रवृत्त होता है, तब उसका मनुष्य योनि से लेकर प्रजापति पर्यन्त उत्कर्ष होता जाता है। इसके विपरीत आचरण होने पर असुरभाव की विजय होती है और इनसे अधर्म की वृद्धि होने से यजमान का मनुष्य योनि से लेकर स्थाणु पर्यन्त अपकर्ष (पतन) होता है। 'यदेवेद०' इत्यादि श्रुति भी आपके अभिमत को नहीं सिद्ध कर पाती। यह पूरी श्रुति ऊपर मूल में उद्धृत की गई है। इसमें भी इसी बात को समझाया गया है कि आसुरी वृत्ति में पड़ जाने पर यजमान के रूप में अवतरित प्रजापति हिरण्यगर्भ की वाणी, प्राण प्रभृति सभी असुर स्वभाव के हो जाते हैं और दैवी वृत्ति का सहारा लेने पर ये ही देवता बन जाते हैं। आसुरी वृत्ति अनादि काल से चली आरही है, इसको पाने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, अतः यह ज्येष्ठ है, और इसका बाहुल्य भी है। दैवी, सात्त्विकी वृत्ति अत्यन्त प्रयत्न साध्य है, प्रयत्न करने से बाद में इसकी उत्पत्ति होने से यह अनादि नहीं है, इसीलिये आसुरी वृत्ति की दृष्टि से यह कनिष्ठ है, बाद में उत्पन्न हुई है, दुर्बल है और अल्प मात्रा में ही उपलब्ध होती है। देवभाव और असुरभाव का यह संग्राम आध्यात्मिक दृष्टि से निरन्तर चलता रहता है। इन्द्र और वृत्र प्रभृति का युद्ध बाह्य देवासुर युद्ध है। राम और रावण का, कौरवों और पाण्डवों का युद्ध इसी देवासुरसंग्राम को याद दिलाता है। इस दृष्टि से भी मन्त्र, ब्राह्मण, पुराण, इतिहास प्रभृति ग्रन्थों में वर्णित देवासुरसंग्राम का हम अपलाप (निषेध) नहीं कर सकते।

'ऊर्गिति देवाः,....मायेत्यसुराः' इत्यत्र यदुक्तम्—'ये प्राणपोषकाः स्वार्थतत्परा मायाविनः कपटिनो मनुष्यास्ते असुराः। ये च परोपकारकाः परदुःखभञ्जना निष्कपटिनो धार्मिकास्ते देवाः' (पृ०३३१) इति, तदपि तुच्छम्, तत्र सर्वत्र गौणीवृत्त्यैव देवत्वासुरत्वादिपदप्रयोगात्। न चोद्धृतब्राह्मणवचनस्यायमर्थः सम्भवति, तद्बोधकपदाभावात्। तथाहि—तत्प्रसङ्गस्तु 'तमेतमग्निरित्यध्वर्यव उपासते''''सामेति छन्दोगाः''''उक्थमिति बह्वृचाः''''यातुरिति यातुविदः''''सर्प इति सर्पविद ऊर्गिति देवा रयिरिति मनुष्या मायेत्यसुराः स्वधेति पितरो देवजन इति देवजनविदो रूपमिति गन्धर्वा गन्ध इत्यप्सरसः। तं यथायथोपासते तदेव भवति। तद्धैनान् भूत्वावति तस्मादेनमेवंवित् सर्वैरेवैतैरुपासीत' (श० १०।५।२।२०)। अस्यायमभिप्रायः—एवमधिदैवमध्यात्मं यः पुरुषः परमात्मा ध्येयत्वेनोक्तः, तस्य प्रशंसार्थं नानारूपैरुपासनं दर्शयति। ऐतरेयेऽपि 'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः। एतमस्यामेनं दिव्येतं वायवे तमाकाशे' इति प्रक्रम्य 'सर्वेषु भूतेष्वेतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते। यान्ति यदध्ययनेन स्वर्गापवर्गौ त्रैवर्णिकाः' इति। यातुरथर्ववेदः, तद्वेदितारो यातुविदः। यातुर्नाम अथर्वणवेदप्रमेयं नानाविधप्रयोगलक्षणम्। अयमर्थो गुरूपदेशगम्यः। तत्र युक्तिः। इदं सर्वमेतेन यतं नियतम्। एतच्छासनवर्तीत्यर्थः। सर्पा इति सर्पविदः, तक्षकशेषाद्युपासकाः, विषस्य सर्पप्रधानत्वात् सर्प इत्युपासते। ऊर्गिति देवाः। देवा इन्द्रादय ऊर्जयति भोक्तॄन् इत्यूर्क्, अन्नं हविरादि, 'ऊर्ज बलप्राणनयोः'। रयिर्गजान्तलक्ष्मीरिति मनुष्याः। मायेत्यसुरा मायाविनः। स्वधा तत्पूर्वकं कव्यमिति पितरोऽग्निष्वात्तादयः। देवजन इति, जायन्ते ब्रह्मणः सकाशादिति जनाः, देवा एव जना देवजनाः, सखीजनवत् स्वार्थे जनशब्दः। देवजनविदो देवोपासकाः। रूपमिति गन्धर्वाः, सौन्दर्यप्रधानत्वात्। गन्ध इत्यप्सरसः, तासामङ्गरागप्रधानत्वात्। विष्णुरिति वैष्णवाः। शिव इति शैवाः। एवं तं परमेश्वरं यथायथोपासते स तदेव भवति। तत्तदुपास्यरूपेण प्रादुर्भूय परमेश्वर एवैनानुपासकान् अवति तत्फलप्रदानेन रक्षति। नात्र प्रसङ्गे सत्यवादिनो देवाः कपटिनोऽसुरा इति लक्षणपरं किमपि वाक्यं पदं वा दृश्यते। तस्मादज्ञानविजृम्भितमेवात्र दयानन्दीयं व्याख्यानमिति।

'ऊर्गिति देवाः''''मायेत्यसुराः' इस शतपथ श्रुति की व्याख्या करते हुए लिखा गया है—'उनमें जो जो मनुष्य स्वार्थी और अपने प्राण को पुष्ट करने वाले तथा छल-कपट आदि दोषों से युक्त हैं, वे असुर हैं और जो लोग परोपकारी परदुःख भंजक तथा धर्मात्मा हैं, वे 'देव' कहलाते हैं' (पृ० ३३२)। किन्तु यह कथन भी सारहीन है। इन सब स्थलों में गौणी वृत्ति से ही देवासुरसंग्राम का प्रयोग किया गया है। ऊपर उद्धृत ब्राह्मण वाक्य का यह अर्थ होता भी नहीं, क्योंकि इस तरह के अर्थ को बताने वाला कोई पद यहां नहीं है। उक्त श्रुति का प्रासंगिक विवरण इस प्रकार है—यजुर्वेदी इसको (परमात्मा) अग्नि के रूप में उपासना करते हैं, सामवेदी साम के रूप में, ऋग्वेदी उक्थ के रूप में, अथर्ववेदी यातु के रूप में, सर्पविद्या के जानकार सर्प के रूप में, देवता ऊर्क् (अन्न) के रूप में, मनुष्य धन के रूप में, असुर माया के रूप में, पितृगण स्वधा के रूप में, देवोपासक देवताओं के रूप में, गन्धर्व रूप के रूप में, अप्सरा गन्ध के रूप में उपासना करते हैं। इस परमात्मा को जो जिस रूप में उपासना करता है, वह वैसा ही हो जाता है। यह है उक्त श्रुति का अर्थ। इसका अभिप्राय यह है कि इस तरह से अधिदैव और अध्यात्म दृष्टि से जिस परमात्मा का ध्येय के रूप में वर्णन किया गया है, उसकी प्रशंसा के लिये यहां उसकी नाना रूपों में उपासना बताई गई है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी ठीक इसी तरह का वर्णन मिलता है। यातु पद का प्रयोग इन स्थलों पर अथर्ववेद के अर्थ में किया गया है। अथर्ववेद के ज्ञाता को यातुविद् कहा जाता है। अथर्ववेद में जो नाना प्रकार के प्रयोग बताए गये हैं, उनको भी यातु कहा जाता है। ये सारी बातें गुरुपरम्परा से ही सीखी जा सकती हैं। तक्षक, शेष आदि के उपासक सर्पविद् कहे जाते हैं। सर्प का विष ही सब विषों में प्रधान होता है, अतः विषविद्या के जानकार गारुडिक इस नाम से अभिहित होते हैं। हवि आदि के रूप में देवता के लिये प्रदत्त अन्न ऊर्क् कहलाता है। हाथी, घोड़ा, गाय प्रभृति सम्पत्ति रयि के नाम से जानी जाती है। देवजन शब्द 'सखीजन' शब्द के समान स्वार्थ में जन प्रत्यय लगाकर बनता है। गन्धर्व रूप अर्थात् सौन्दर्य के उपासक होते हैं। अप्सराओं को गन्ध का उपासक इस लिये माना गया है कि इनकी रुचि अंगराग आदि के द्वारा अपने शरीर को सुन्दर और सुवासित करने की होती है। इसी तरह से इस भगवान् की वैष्णवगण विष्णु के रूप में और शैवगण शिव के रूप में उपासना करते हैं। इस तरह से इस परमेश्वर को जो उपासक जिस रूप में देखता है, भगवान् उसी रूप में प्रकट होकर उसकी रक्षा करते है और

'मनो वै सविता''''प्राणो देवाः' (श० ६।३।१।१५) अत्रापि प्राणानां वागादीनां प्रकाशात्मकत्वेन देवत्वमुक्तम्। 'प्राणो वा असुरस्तस्यैषा माया' (श० ६।६।२।६) अत्रापि प्राणानामसुरत्वमुक्तं नासुरत्वम्। 'द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः।' (श०१।१।१।४-५) इत्यादिवचनमपि पूर्वमेव कृतव्याख्यानम्। सर्वथापि नैतैर्वचनैः पुराणेतिहासकथानां मिथ्यात्वमप्रामाण्यं वा साधयितुं शक्यम्।

यदप्युक्तम्—'कश्यपगयादितीर्थकथा अपि ब्रह्मवैवर्तादिपु ग्रन्थेपु वेदादिसत्यशास्त्रेभ्यो विरुद्धा उक्ताः सन्ति। तद्यथा—मरीचिपुत्रः कश्यप ऋषिरासीत्। तस्मै त्रयोदश कन्या दक्षप्रजापतिना विवाहविधानेन दत्ताः। तत्सङ्गमे दितेर्दैत्याः, अदितेरादित्याः, दनोर्दानवाः। एवमेव कद्र्वाः सर्पाः, विनतायाः पक्षिणः, तथाऽन्यासां सकाशाद् वानरर्क्षवृक्षघासादय उत्पन्नाः। इत्यादयोऽन्धकारमय्यः प्रमाणयुक्तिविद्याविरुद्धा असम्भवग्रस्ताः कथा उक्तास्ता अपि मिथ्या एव सन्तीति। तद्यथा— 'स यत्कूर्मो नाम। प्रजापतिः प्रजा असृजत, यदसृजताकरोत् तस्मात् कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मः। तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति' (श० ७।५।१।५)। परमेश्वरेणेदं सकलं जगत् क्रियते। तस्मात्तस्य कूर्म इति संज्ञा। 'कश्यपो वै कूर्मः' इत्यनेन परमेश्वरस्यैव कश्यप इति नामास्ति। तेनैवेमाः सर्वाः प्रजा उत्पादिताः काश्यप्य उच्यन्ते। 'कश्यपः कस्मात्? पश्यको भवति' इति निरुक्त्या पश्यतीति पश्यः, सर्वज्ञतया सकलं जगद्विजानाति स पश्यः, पश्य एव निर्भ्रमतयाऽतिसूक्ष्ममपि वस्तु यथार्थं जानात्येवातः पश्यक इति। आद्यन्ताक्षरविपर्ययाद् हिंसेः सिंहः, कृतेस्तर्कुरित्यादिवत् कश्यप इति 'हयवरट्' इत्येतस्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन पदं सिद्धयति' (पृ० ३३२-३३३) इत्यादि, तदप्यविचारितरमणीयम्, परमेश्वरस्यामनस्कस्याशरीरस्य सतः साक्षात्कर्तृत्वानुपपत्त्या तत्तद्द्वारैव स्रष्टृत्वोपपत्तेः। यथा 'आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः' इत्याकाशादिजन्यानामपि परमात्मजन्यत्वमेव, तथैव कश्यपादिजनितानामपि परमात्मजन्यत्वमेव। वैज्ञानिकादिनिर्मितयन्त्राणामपि परमात्मनिर्मितत्वमेव,

उसके सुकृत-दुष्कृत का फल देते हैं। इस पूरे प्रसंग में देवता सत्यवादी हैं और असुर कपटी हैं, इस तरह का देव और असुर का लक्षण बताने वाला कोई वाक्य अथवा पद कहीं नहीं आता। इस तरह से दयानन्द का उक्त व्याख्यान उसके अज्ञान को ही उजागर करने वाला है।

'मनो वै सविता''''प्राणो देवाः' इस शतपथ श्रुति में भी प्राण और वाक् प्रभृति की प्रकाशात्मकता के आधार पर इनको देवता माना गया है। 'प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया' इस श्रुति वाक्य में भी प्राणों को असु माना है, असुर नहीं। इसी तरह से 'द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति' इस श्रुति में भी देवता या असुरों का वर्णन नहीं है। इस श्रुति वाक्य की विस्तृत व्याख्या पहले की जा चुकी है। किसी भी तरह से इन वचनों से पुराण-इतिहास प्रभृति ग्रन्थों में विद्यमान कथाओं को मिथ्या अथवा अप्रमाण नहीं सिद्ध किया जा सकता है, यह निश्चित है।

'इसी तरह से कश्यप की तथा गया, पुष्कर तीर्थ प्रभृति की कथा लोगों ने बिगाड़ कर प्रसिद्ध की है। जैसे कि मरीचि पुत्र कश्यप ऋषि हुए थे। उनको दक्ष प्रजापति ने विवाह-विधान से तेरह कन्याएं दीं, जिनसे कि सारे संसार की उत्पत्ति हुई। अर्थात् दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, दनु से दानव, कद्रू से सर्प और विनता से पक्षी तथा अन्य स्त्रियों से वानर, रीछ, घास आदि पदार्थ भी उत्पन्न हुए। इसी प्रकार चन्द्रमा को सत्ताईस कन्याएं दीं, इत्यादि प्रमाण और युक्ति से विरुद्ध अनेक असंभव कथाएं लिख रक्खी हैं। उनको मानना किसी मनुष्य को उचित नहीं। ये ही कथाएँ सत्य शास्त्रों में इस प्रकार उत्तम रीति से लिखी गई हैं कि प्रजा को उत्पन्न करने से परमेश्वर को 'कूर्म' तथा प्रजा को अपने ज्ञान से देखने के कारण 'कश्यप' भी कहते हैं। कश्यप शब्द 'पश्यक' शब्द के आदि और अन्त के वर्णों का विपर्यय करने से, बदल देने से, बनता है। इस प्रकार की उत्तम कथाओं को समझ कर उन मिथ्या कथाओं का सब लोगों को परित्याग कर देना चहिये, जिससे कि सबका कल्याण हो' (पृ० ३३३) यह सारा कथन भी जब तक विचार की कसौटी पर न कसा जाय, तभी तक अच्छा लगता है, क्योंकि परमेश्वर तो प्राण, मन और शरीर से रहित है, उसका कैसे साक्षात्कार हो सकता है? अतः वह परमात्मा कूर्म, कश्यप आदि के द्वारा ही इस सृष्टि को फैलाता है। आकाश से वायु की और वायु से अग्नि आदि की सृष्टि का क्रम वेद में बताया गया है। यहाँ जैसे आकाश आदि से उत्पन्न अग्नि प्रभृति की भी उत्पत्ति परमात्मा से ही मानी जाती है, उसी तरह से कश्यप आदि के द्वारा फैलाई गई सृष्टि भी परमात्मा की ही सृष्टि का प्रपंच माना जाता है। वैज्ञानिकों के

वैज्ञानिकानामपि परमात्मनिर्मितत्वाविशेषात् । अत एव साक्षात् पारम्पर्येण वा सर्वमीशजन्यमित्येव मन्तव्यम् । यथा वृक्षघासादीनां मनुष्यजन्यत्वं नोपपद्यते, तथैव निराकारेशजन्यत्वमपि घासादीनां न सम्भवति, पृथिवीजन्यत्वदर्शनविरोधात् । कश्यपश्च प्रजापतिरभिप्रेतो मनुष्यसामान्यः, हिरण्यगर्भो विराट् च समष्टिसूक्ष्मस्थूलप्रपञ्चाभिमानिनौ तदन्तर्यामिणौ ईश्वरावेव । ताभ्यां यथा जगदुत्पत्तिस्तथैव कश्यपोऽपि विशिष्टः प्रजापतिः । स दक्षकन्यासु दैत्यादीनुत्पादयितुं शक्नोत्येव । ईश्वरस्यापि कश्यपादिनामभेदा उपाधिभेदादेव वक्तव्याः, अन्यथेश्वरनाम्नैव तत्तद्व्यवहारोपपत्तौ पृथङ्नाम्नां नैरर्थक्यापत्तेः । यथाऽध्यात्मक्षेत्रे गोतमभरद्वाजादीनां चक्षुरादिप्राणपरत्वेऽप्यैतिहासिकगोतमादीनां नापलापः सम्भवति, तथैवाध्यात्मिकक्षेत्रे कश्यपशब्दस्यान्यार्थत्वेऽप्यैतिहासिकस्य कश्यपस्य नापलापः सम्भवति । अत एव वशिष्ठगोतमभरद्वाजादिगोत्राणामिव कश्यपगोत्रस्य पृथक् सत्तापि प्रामाणिकी । प्रकृते तु कश्यपस्यैव कूर्मेति नामान्तरेण सर्वकर्तृत्वं साध्यते ।

एवमेवाध्यात्मक्षेत्रे प्राणानां गयपदवाच्यत्वेऽपि गयादितीर्थानां न निषेधः शक्यसमर्थनः । यत्तु—'प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितम्, तस्मादाहुर्बलं सत्यादोजीयः । इत्येवं वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता । सा हैषा गयांस्तत्रे । प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे । तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम' (श० १४।८।१५।६-७) इति ब्राह्मणमुद्धृत्य गयपदेन प्राणानां ग्रहणेन गयादितीर्थखण्डनं लिखितम्, तदपि न न्याय्यम्, उपर्युक्तब्राह्मणे गयपदेन प्राणार्थविवक्षायामपि तेनैव प्रसिद्धगयातीर्थखण्डनेऽप्यर्थद्वयपर्यवसानेन वाक्यभेदापत्तेः । प्राणानां गयत्वबोधने तीर्थविशेषाभावत्वबोधने च स्पष्टमेव वाक्यभेदः स्यात् । अत एव 'गय इत्यपत्यनामसु' (निघण्टु २।२) इति प्राणानां गयत्वेऽपि यथा नापत्यनामत्वापलापः सम्भवति, तद्वत् ।

द्वारा आविष्कृत यन्त्र भी परमात्मा के ही बनाये हुए हैं, क्योंकि ये वैज्ञानिक भी तो परमात्मा की सृष्टि के अंग हैं । इसीलिये साक्षात् अथवा परम्परा से सब कुछ भगवान् की ही कृति मानी जाती है । जैसे वृक्ष, घास आदि को मनुष्यों की रचना नहीं माना जाता, उसी तरह से निराकार ईश्वर भी इनका स्रष्टा नहीं हो सकता । कश्यप सामान्य मनुष्य न होकर प्रजापति माने जाते हैं । हिरण्यगर्भ और विराट् ये सूक्ष्म और स्थूल समष्टि प्रपंच के अभिमानी और इनमें अन्तर्यामी रूप से विद्यमान ईश्वर के ही रूप हैं । जैसे ये सारी स्थूल और सूक्ष्म समष्टि प्रपंच की सृष्टि करते हैं, उसी तरह से कश्यप नाम के ये विशिष्ट प्रजापति भी सृष्टि का विस्तार करने वाले माने जाते हैं । यह कश्यप प्रजापति दक्ष की कन्याओं में दैत्य, मानव प्रभृति को उत्पन्न करने में सर्वथा समर्थ हैं । ईश्वर के भी कश्यप प्रभृति भिन्न भिन्न नाम उपाधियों के भेद के आधार पर ही माने जाते हैं । ऐसा न मान कर जब ईश्वर के नाम से ही सभी तरह के व्यवहारों की निष्पत्ति मानी जायगी, तब अन्य नामों की आवश्यकता ही क्या रह जायगी । जैसे आध्यात्मिक पक्ष में गोतम, भरद्वाज प्रभृति शब्दों को चक्षु प्रभृति प्राणों का वाचक मानने पर भी उनकी ऐतिहासिक गोतम आदि की वाचकता का निषेध नहीं किया जा सकता, उसी तरह से आध्यात्मिक पक्ष में कश्यप शब्द का भले ही दूसरा अर्थ कर लिया जाय, किन्तु ऐतिहासिक कश्यप प्रजापति का उनके कारण अपलाप (निषेध) नहीं किया जा सकता । इसीलिये वसिष्ठ, गोतम, भरद्वाज प्रभृति गोत्रों के समान ही कश्यप गोत्र की भी अलग से प्रामाणिक रूप से स्वीकृति प्राप्त है । प्रकृत स्थल में तो कश्यप का ही कूर्म के रूप में वर्णन किया गया है । यह एक तरह से दूसरे नाम से कश्यप प्रजापति की सारी सृष्टि का परिचय कराता है ।

इसी पद्धति से आध्यात्मिक पक्ष में यद्यपि गय शब्द प्राण का वाचक है, तो भी इससे इस बात को समर्थन नहीं मिल सकता कि यह शब्द गया तीर्थ का बोधक नहीं हो सकता । इस प्रसंग में 'प्राणो वै बलम्०' इस ब्राह्मण वाक्य को उद्धृत कर दयानन्द ने गया पद को प्राणों का ही वाचक मान कर गया प्रभृति तीर्थ स्थानों की पवित्रता का निषेध किया है, किन्तु उनका यह कथन उचित नहीं है । इस ब्राह्मण वाक्य में गया पद प्राण का वाचक अवश्य है, किन्तु इसी वाक्य से आप यह भी सिद्ध करें कि यहाँ का गया पद प्रसिद्ध तीर्थस्थानों का निषेधक है, तो इसमें वाक्यभेद दोष लग जायगा, क्योंकि इस तरह से एक ही वाक्य को आप दो भिन्न अर्थों का प्रतिपादक मान रहे हैं । आप पहले कहते हैं कि गया पद प्राण का वाचक है और बाद में कहते हैं कि इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि गया पद गया तीर्थ का वाचक नहीं है । इस तरह से यहाँ वाक्यभेद दोष स्पष्ट है । इसीलिये निघण्टु के प्रमाण पर गय शब्द अपत्य (सन्तान) अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । ऊपर गय शब्द को प्राण का वाचक माना गया है, किन्तु उससे इसका अपत्य अर्थ में प्रयोग निषिद्ध नहीं हो जाता, उसी तरह से प्रस्तुत स्थल गया तीर्थ के अर्थ में भी उसका प्रयोग निषिद्ध नहीं हो सकता ।

यत्तु—'तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन हि प्रस्नान्ति । तीर्थमेवोदयनीयेऽतिरात्रस्तीर्थेन ह्युत्स्नान्ति' (श० १२।२।१।१,५), 'अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' (छा० ८।१५), 'समानतीर्थेवासी' (पा० सू० ४।४।१०७) 'त्रयः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति । यो व्रतं समाप्य विद्याममसमाप्य समावर्तते स व्रतस्नातकः' (पारस्करगृ० २।५।३५) 'नमस्तीर्थ्याय च' (वा० सं० १६।४२), 'ये तीर्थानि प्रचरन्ति' (वा० सं १६।६१) इत्यादिवचनैर्गयादितीर्थापलापाय प्रयतितम्, तत्तु बालविलसितम्, तात्पर्यानवबोधात् । त्वयैव यज्ञातिरिक्तस्यापि शास्त्राचार्यादेरपि तीर्थत्वाभ्युपगमात् ।

उपरिनिर्दिष्टानि स्थलान्युद्धृत्य तत्र यद् भाष्यरूपेणोक्तम्—'प्राण एव बलमिति विज्ञायते, बलमोजीयः । तत्रैव सत्यं प्राणेऽध्यात्मं प्रतिष्ठितम् । तत्र च परमेश्वरः प्रतिष्ठितस्तद्वाचकत्वात् । गायत्र्यपि ब्रह्मविद्यायामध्यात्मं प्रतिष्ठिता, तां गायत्रीं गयामाह । प्राणानां गयेति संज्ञा, 'प्राणा वै गया' इत्युक्तत्वात् । तत्र गयायां श्राद्धं कर्तव्यम्, अर्थाद् गयाख्येषु प्राणेषु श्रद्धया समाधिविधानेन परमेश्वरप्राप्तावत्यन्तश्रद्दधाना जीवा अनुतिष्ठेयुरित्येकं गयाश्राद्धविधानम् । गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री' (पृ० ३३४) इति, तदपि न विचारसहम्, असामञ्जस्यात् । तथाहि—'प्राण एव बलम्, बलमोजीयः' इत्येव सङ्गतिः, मूले तु बलहेतुत्वात् प्राणे बलत्वव्यवहारः । तच्च प्राणे प्रतिष्ठितम् । तत्र सत्याद्बलमोजीय इत्युक्तम् । त्वया तु सत्यपदेन परमेश्वर उक्तः । न च परमेश्वरात् कस्याप्योजीयस्त्वं सम्भवति । न च तत्प्राणे प्रतिष्ठितमित्यत्र तत्पदेन सत्यं ग्रहीतुं शक्यम्, तस्याप्रकृतत्वात्, सर्वनाम्नां च प्रकृतपरामर्शित्वात् । तत्रैव सत्यं प्राणेऽध्यात्मं प्रतिष्ठितमित्यपि न सङ्गतम्, निर्मूलत्वात् । न च तत्र वचनं पदं वा मूलम्, तदभावात् । तत्र च परमेश्वरः प्रतिष्ठित इत्यप्यसङ्गतम्, निष्प्रमाणत्वात् । न च तद्वाचकत्वादिति हेतुः सम्भवति, तथा व्याप्त्यदर्शनात् । नहि यस्य वाचकं यत्र प्रतितिष्ठति सोऽपि तत्रैव प्रतितिष्ठति । वाचकं नाम मुखे तिष्ठति, नामी पदार्थस्तु भूम्यादिषु तिष्ठति । गायत्री ब्रह्मविद्यायामध्यात्मं प्रतिष्ठितेत्यपि

'तीर्थमेव प्रायणीयो०', 'अहिंसन्०', 'समानतीर्थे०', 'त्रयः स्नातका भवन्ति', 'नमस्तीर्थाय च', 'ये तीर्थानि०' इत्यादि वचनों को उद्धृत करके स्वामी दयानन्द ने (पृ० ३३४) गया प्रभृति तीर्थों की सत्ता को न मानने के लिये बड़ा जोर लगाया है, किन्तु यह सब बच्चों का सा खिलवाड़ है, वे इन सब मन्त्रों का अभिप्राय नहीं समझ पाये हैं । यज्ञ से अतिरिक्त शास्त्री, आचार्य, तीर्थ प्रभृति उपाधियों के अर्थ में भी इन शब्दों का प्रयोग उन्होंने स्वीकार किया है ।

ऊपर उद्धृत वचनों का उल्लेख करने के बाद स्वामी दयानन्द ने उनका भाष्य करते हुए कहा है—'इन वचनों का अभिप्राय यह है कि अत्यन्त श्रद्धा से गया संज्ञक प्राण आदि में परमेश्वर की उपासना करने से जीव की मुक्ति हो जाती है । प्राण में बल और सत्य प्रतिष्ठित हैं, क्योंकि परमेश्वर प्राण का भी प्राण है और उसका प्रतिपादन करने वाला, रक्षा करने वाला गायत्री मन्त्र है, जिसको कि गया कहते है । यह इसलिये है कि उसका अर्थ जानकर श्रद्धा सहित परमेश्वर की भक्ति करने से जीव सब दुःखों से छूट कर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है । प्राण का भी नाम गया है । उसको प्राणायाम की विधि से रोक कर परमेश्वर की भक्ति के प्रताप से पितर अर्थात् ज्ञानी लोग सब दुःखों से रहित होकर मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि परमेश्वर प्राणों की रक्षा करने वाला है । इसलिये ईश्वर का नाम गायत्री और गायत्री का नाम गया है' (पृ० ३३९), किन्तु यह व्याख्या भी विचार करने पर सही नहीं टिकती, क्योंकि इनकी परस्पर संगति नहीं बैठती । पहले वाक्य की संगति तभी बन पाती हैं, जब कि प्राण ही बल है और बल ही ओज का संपादक है, यह अर्थ किया जाय । मन्त्र में बल का संपादक होने से प्राण को बल बताया गया है । यह बल प्राण में ही प्रतिष्ठित है । मन्त्र में सत्य से बल को अधिक तेजस्वी माना गया है । आप जब सत्य पद का अर्थ परमेश्वर करते हैं, तो उस परमात्मा से अधिक तेजस्वी तो दूसरा कोई हो नहीं सकता । इस वाक्य में आये 'तत्' पद से सत्य का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि उसका यहाँ कोई प्रसंग नहीं है और सर्वनाम पद प्रकृत को ही पकड़ सकते हैं । सभी प्राणियों में यह सत्य स्वरूप परमात्मा प्रतिष्ठित है, यह कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि ऐसा अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है । इसमें श्रुति का कोई वाक्य अथवा पद प्रमाण रूप से नहीं दिखाया गया है, क्योंकि उनका नितान्त अभाव है । इस प्राण में परमेश्वर प्रतिष्ठित है, अर्थात् वह प्राण का भी प्राण है, यह अर्थ भी असंगत है, क्योंकि इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है । 'तद्वाचकत्वात्' यह हेतु भी नहीं बन सकता, क्योंकि इस तरह की व्याप्ति देखी नहीं गई है । जिसका वाचक जहाँ रहता है, उसका वाच्य भी उसी स्थल पर हो ऐसा देखा नहीं जाता । वाचक शब्द तो मुँह में रहता है और वाच्य (नामी पदार्थ घट पट आदि) पृथ्वी आदि अलग अलग स्थानों में रहते हैं । गायत्री ब्रह्मविद्या की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है, यह कथन भी निर्मूल है,

निर्मूलम्, प्रमाणानुदाहरणात्। ब्रह्मविद्यायामित्यस्य केन कथं सम्बन्धः ? किं ब्रह्मविद्यायां जातायां साध्यात्मं प्रतितिष्ठति ? यदि ओमिति, तर्हि प्रतिष्ठापि कृतकैव स्यात्। हेतुमत्त्वेन कार्यत्वात्। 'तां गायत्रीं गयामाह' इत्यपि मिथ्यैव, मूले प्राणानामेव गयेति नामनिर्देशात्। तत्र गय इति पुल्लिङ्गस्य निर्देशो न गयेति स्त्रीलिङ्गस्य। तत्र गयायां श्राद्धं कर्तव्यमिति कत्यं वचनम् ? वेदवचनं चेत्, स्थलं निर्देष्टव्यम्। पौराणं चेदपसिद्धान्तापत्तिः। श्रद्धया कृतस्य विवाहस्य च श्राद्धत्वापत्तिः स्यात्। न चेष्टापत्तिः, तथात्वे यागादिभ्यः पृथक् श्राद्धपदप्रयोगानापत्तेः, विवाहोत्सवे श्राद्धपदव्यवहारापत्तेश्च। गयानां प्राणानां त्रातृत्वेन गायत्र्या गायत्रीत्वं समर्थितम्, न गायत्र्या गयात्वमुक्तम्। तस्मादुन्मत्तप्रलपितमिव दयानन्दीयं व्याख्यानम्।

'एवं गृहस्यापत्यस्य प्रजायाश्च गयेति नामास्ति' (पृ० ३३४) इति यदुक्तम्, तदप्यसङ्गतम्, मूले गृहस्येति पदाभावात्। 'अत्रापि सर्वैः श्रद्धातव्यम्' इत्यपि बालविलसितम्, असामञ्जस्यात्। तथाहि—लोके पित्रादिगुरुजनेषु श्रद्धा विधीयते, सामाजिकेषु तु केवलं दयानन्देनापत्यादिषु। यद्येतेन दयानन्दीयवचनेन सामाजिकाः श्रद्धाविधाने प्रवर्तेरन्, तदा सामाजिकेषु पित्रादिभिरेव पुत्रादिश्राद्धं कर्तव्यम्, न पुत्रादिभिः पित्रादिश्राद्धं कार्यम्। गृहकृत्येषु श्रद्धावश्यं विधेयेत्यपि तत्कपोलकल्पितमेव, मूले तादृशपदाभावात्। मातुः पितुराचार्यस्यातिथेश्चान्येषां मान्यानां श्रद्धया सेवाकरणं गयाश्राद्धमित्युच्यते, इत्यपि पूर्वोक्तस्ववचोविरुद्धमेव। श्रद्धया सेवाकरणमेव श्राद्धम्, न श्रद्धया विवाहकरणं श्राद्धमिति राजाज्ञास्ति। तथैव स्वापत्येषु शिक्षाकरणे ह्युपकारेऽपि श्रद्धावश्यं सर्वैः कार्येत्यप्यनर्गलप्रलाप एव, विकल्पानुपपत्तेः। किं

क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। 'ब्रह्मविद्या' पद का किस पद के साथ कैसा संबन्ध आप मानते हैं ? क्या गायत्री ब्रह्मविद्या के उत्पन्न होने पर उसमें प्रतिष्ठित होती है ? यदि आप इस बात को स्वीकार करें तो यह प्रतिष्ठा भी कृतिसाध्य मानी जायगी, क्योंकि कारण से उत्पन्न होने से यह कार्यरूप ही सिद्ध हो पाती है। उस गायत्री को गया मानना भी गलत है, क्योंकि मूल वाक्य में तो प्राणों को ही गया माना गया है। इस वाक्य में पुंलिङ्ग गय शब्द आया है, स्त्रीलिंग गया शब्द नहीं। गया में श्राद्ध करना चाहिये, यह वचन आप कहाँ का उद्धृत कर रहे हैं ? यदि यह वेद का वचन है, तो उसका स्थल बताना चाहिये था। यदि यह पुराण का वचन है, तो उसको आप प्रमाण मानते नहीं और प्रमाण के रूप में उसको यदि आप उद्धृत करते हैं तो वह आपके सिद्धान्त के विपरीत पड़ेगा। फिर आपकी इस व्याख्या के अनुसार तो श्रद्धापूर्वक किया गया विवाह भी श्राद्ध कहलाने लगेगा। यदि इस आपत्ति को आप स्वीकार करते हैं, तो फिर याग आदि से अलग श्राद्ध पद का प्रयोग करने की आवश्यकता ही क्या रह जायगी और विवाह आदि उत्सवों के लिये भी श्राद्ध पद का प्रयोग होने लगेगा। गय अर्थात् प्राणों के रक्षक के रूप में गायत्री पद का निर्वचन ऊपर बताया गया है, वहाँ कहीं भी गायत्री को गया के रूप में प्रदर्शित नहीं किया गया है। इस तरह से दयानन्द की यह सारी व्याख्या पागलों के प्रलाप सी लगती है।

'निघण्टु में घर, सन्तान और प्रजा का नाम भी 'गया' बताया गया है' (पृ० ३३९) यह कथन भी असंगत है, क्योंकि मूल में गृह पद का उल्लेख नहीं है। 'मनुष्यों को इनमें अत्यन्त श्रद्धा रखनी चाहिये' (पृ० ३३९) यह भी बच्चों की सी बात है, क्योंकि इन वाक्यों का परस्पर कोई सामंजस्य नहीं बैठता। लोक व्यवहार में देखा जाता है कि श्रद्धा पिता प्रभृति गुरुजनों के प्रति ही रखी जाती है। दयानन्द की इस व्याख्या के अनुसार आर्यसमाजियों को अपने अपत्य प्रभृति के प्रति श्रद्धा रखनी पड़ेगी। यदि इस वाक्य के अनुसार सामाजिकों में श्रद्धा का दौरदौरा चले, तो उसके अनुसार पिता प्रभृति को ही पुत्र आदि का श्राद्ध करना पड़ेगा, पुत्र प्रभृति पिता आदि का श्राद्ध नहीं करेंगे। गृह कार्य में अवश्य श्रद्धा रखनी चाहिये, यह कथन भी उनकी निराधार कल्पना ही है, क्योंकि मूल में इस अर्थ के बोधक पद विद्यमान नहीं हैं। 'इसी प्रकार माता, पिता आचार्य और अतिथि की सेवा तथा सबके उपकार और उन्नति के कार्यों की सिद्धि करने में अत्यन्त श्रद्धा करना ही गया श्राद्ध कहलाता है' (पृ० ३३९) यह कथन भी अपने पहले के वचन के विपरीत पड़ता है। फिर यह कोई राजा की आज्ञा नहीं है कि श्रद्धापूर्वक सेवा करना ही श्राद्ध कहा जायगा और श्रद्धापूर्वक विवाह किया जाय तो उसको श्राद्ध नहीं कहा जायगा। 'तथा अपने सन्तानों को सुशिक्षा से विद्या देना और उसके पालन में अत्यन्त प्रीति करना इसका नाम भी गया श्राद्ध है' (पृ० ३३९) यह कथन भी अनर्गल प्रलाप मात्र है, क्योंकि आपके पास इस विकल्प का कोई समाधान नहीं है कि केवल श्रद्धा करना ही श्राद्ध है या बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध करना श्राद्ध है ? पहला पक्ष इसलिये नहीं बनेगा, जैसा कि पहले बताया गया है कि श्राद्ध की यह व्याख्या करने पर विवाह प्रभृति उत्सवों

श्रद्धा कार्येति श्रद्धाकरणमेव श्राद्धम्, बालादिशिक्षाकरणमेव वा श्राद्धम्? नाद्यः पक्षः, पूर्वोक्तिविरोधात्। नान्त्यः, शिक्षणादौ श्राद्धशब्दप्रयोगादर्शनात्। यथेच्छमेव प्रयोगे शाब्दनयेऽराजकतापत्तेः। किञ्च, गयायां श्राद्धं कार्यम्, विष्णुपदे श्राद्धं कार्यमिति पुराणप्रसिद्धिः। गया विष्णुपदं च लोकव्यवहारसिद्धम्। शक्तिग्राहकेषु लोकव्यवहारस्यैव मूर्धन्यत्वात्। पुराणं च वात्स्यायनेन—'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेन इतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते' इति वदता प्रमाणत्वेनाङ्गीकृतमेव। त्वया तु तदनभ्युपगच्छतापि लोकप्रतारणायैव स्वाभ्यूहितस्य यस्य कस्यचिदपि गयाश्राद्धत्वं विष्णुपदत्वं च निर्मूलं व्यवस्थाप्यते, तदेतच्चित्रम्।

यत्तु—'स यत्कूर्मो नाम इत्यस्य व्याख्याने—'परमेश्वरेणेदं सकलं जगत्क्रियते' इत्याद्युक्तम्, तत्तु विश्रृङ्खलमेव, तस्याभिप्रायान्तरत्वात्। एष हि कूर्मोपधानप्रशंसार्थमर्थवादः। तथाहि—'स यत्कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजत अकरोत्तत्। यदकरोत् तस्मात् कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मः। तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः' (श० ७।५।१।५) इति। अथ कूर्म इति नाम्नः प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति—स यत्कूर्म इति। एतत् कूर्मसम्बन्धि रूपम् आत्मनः कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। 'असृजत' इत्यस्य व्याख्यानं यदसृजताकरोदिति। 'असृजत्' इति यत् तत् अकरोद् इत्यर्थः। 'तत्' तेन कूर्मरूपेण 'अकरोत्' इति यत् तस्मादकरोदिति। 'कूर्मः' इति कूर्मशब्दो नामधेयमित्यर्थः। 'करोतेरौणादिके' (पा० सू० उ० १।१५०) यक्प्रत्यये 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ७।१।१०३) इत्युत्वे कृते 'हलि च' (पा० सू० ८।२।७७) इति दीर्घे च कृते कूर्म इति रूपं भवति। 'कश्यपो वा' इत्यादिकस्याग्रमर्थः—कूर्मशब्दस्य करणप्रवृत्तिनिमित्तकत्वात् कश्यपस्य प्रजापतित्वेन प्रजाकारकत्वात् कश्यपः कूर्म खलु। अत एव सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इत्याहुर्जनाः। अतश्च कूर्मस्य कश्यपात्मकत्वात् तदुपधानं प्रशस्तमिति भावः। नहि परमात्मन उपधानं सम्भवति। न वा तेन कूर्मोपधानप्रशंसा सम्भवति। तस्माद् दयानन्दोक्तोऽर्थोऽसम्बद्ध एव।

के लिये भी इस शब्द का प्रयोग करना पड़ जायगा। दूसरा पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि बालकों की शिक्षा प्रभृति कार्यों के लिये भी श्राद्ध शब्द का प्रयोग नहीं होता। यदि मनमाने तरीके से मनमाने अर्थों में मनमाने शब्दों का प्रयोग किया जाय, तो शब्दों के प्रयोग में अराजकता फैल जायगी, जब कि एक व्यक्ति एक शब्द का किसी एक अर्थ में और दूसरा व्यक्ति उसी शब्द को दूसरे अर्थ में प्रयोग करने लगेगा। गया में श्राद्ध करना चाहिये, विष्णु पद पर श्राद्ध करना चाहिये, यह व्यवहार पुराणों के प्रमाण पर प्रचलित है। गया और विष्णुपद लोक व्यवहार में एकमत से प्रसिद्ध हैं। शब्द की शक्ति के ग्राहक प्रमाणों में लोक व्यवहार को सबसे ऊपर माना जाता है। वात्स्यायन प्रभृति महर्षियों ने न्यायभाष्य में स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि प्रमाणभूत ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाण पर इतिहास और पुराण ग्रन्थों को भी प्रामाणिक माना जाता है। वात्स्यायन के वचन को प्रामाणिक मानते हुए भी आप केवल अबोध व्यक्तियों को ठगने के लिये ही मनमाने तरीके से गयाश्राद्ध और विष्णुपद शब्दों का गलत अर्थ करते हैं। इस तरह की निर्मूल बातों का प्रतिपादन बड़ा ही चिन्तनीय विषय है।

'स यत् कूर्मो नाम' इस शतपथ वाक्य की व्याख्या करते हुए दयानन्द ने कहा है कि परमेश्वर ही इस सारे जगत् को बनाता है (पृ० ३३३), किन्तु यह सारी व्याख्या भी ऊल-जलूल है। वस्तुतः उस वाक्य का अभिप्राय एकदम दूसरा है। इस वाक्य में कूर्म के उपधान बनाने की प्रशंसा की गई है। पहले इस वाक्य में कूर्म इस नाम की प्रवृत्ति का निमित्त बताया गया है कि इस कूर्म का रूप धारण कर प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि की। 'असृजत्' पद का अर्थ 'अकरोत्' स्वयं श्रुतिवाक्य में ही बताया गया है। उस कूर्म रूप को धारण कर प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि की, अतः इसका नाम भी कूर्म हो चला है। कूर्म पद की निष्पत्ति कृञ् धातु से औणादिक यक् प्रत्यय होकर छान्दस विधि के अनुसार उत्व और उसका दीर्घ होने पर होती है। 'कश्यपो वा' इसका अर्थ यह होगा—कूर्म शब्द प्रजा की सृष्टि करने के कारण प्रजापति के लिये प्रवृत्त हुआ है। यह प्रजापति कश्यप ही है। अतः प्रजा की उत्पत्ति करने वाला कश्यप ही कूर्म है। इसीलिये लोक में यह प्रसिद्ध है कि सारी प्रजा कश्यप की सन्तान है। इस तरह से कूर्म के कश्यप रूप होने से उसका उपधान प्रशस्त माना जाता है। परमात्मा का तो उपधान किया नहीं जा सकता और न उससे कूर्म के उपधान की प्रशंसा ही हो सकती है। अतः दयानन्द का किया गया अर्थ पूरी तरह से असंबद्ध ही माना जायगा।

यदुक्तम्—'भ्रान्त्या विष्णुगयेति च पदद्वयोरर्थविज्ञानाभावान्मगधदेशैकदेशे पाषाणस्योपरि शिल्पिद्वारा मनुष्यपादचिह्नं कारयित्वा तस्यैव कैश्चित् स्वार्थसाधनतत्परैरुदरभरैर्विष्णुपदमिति नाम रक्षितम्, तस्य स्थलस्य गयेति च, तद् व्यर्थमेव। कुतः ? विष्णुपदं मोक्षस्य नामास्ति, गयपदं प्राणगृहप्रजानां च' (पृ० ३३५) इति, तदप्यशुद्धम्, निर्मूलं प्रलापमात्रम्, पदद्वयस्येत्यस्यैव साधुत्वे पदद्वयोरित्यसङ्गतेः। तत्रापि पदद्वययोरिति भाव्यं न पदद्वयोरिति। गया–विष्णुपदादिस्थानानां भ्रान्त्या तत्तन्नामत्वे भारतवर्षादिनाम्नामपि तथात्वापत्त्या सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गः, भारतवर्षादिपदानामप्यन्यार्थत्वसम्भवात्। 'उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्। वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ॥' (वि० पुरा०) इत्यादिपुराणप्रामाण्यादेव देशविशेषस्य तत्तन्नामत्वसिद्धेः। गया-विष्णुपदादिप्रदेशस्य कदारभ्य भ्रान्त्या गया-विष्णुपदनामत्वमिति त्वयापि न वक्तुं शक्यम्। विकृतमस्तिष्कैस्तु वेदादिसम्बन्धेऽप्यजाविपालगीतेष्वेव भ्रान्त्याऽनादित्वापौरुषेयत्वादिव्यवहारोऽभ्युपेयते।

यत्तु—'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे स्वाहा ॥' (वा० सं० ५।१५)। यदिदं किञ्च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम्। त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः। समूढमस्य पांसुरेऽप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति। पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पंसनीया भवन्तीति वा' (नि० १२।१९)। अस्यार्थं यथावदविदित्वा भ्रमेणेयं कथा प्रचारिता। विष्णुर्व्यापकः परमेश्वरः सर्वजगत्कर्ता तस्य विष्णुरिति नाम। 'पूषेत्यथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा। तस्यैषा भवति। इदं विष्णुरित्यृक्' (नि० १२।१७) चराचरं जगद्

'भ्रमवश विष्णु और गया इन दोनों पदों के अर्थ का ठीक से ज्ञान न होने के कारण मगध देश के एक स्थान पर पत्थर के ऊपर किसी शिल्पी से मनुष्य के पैर का चिह्न बनवाकर अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये, अपना पेट भरने के लिये, कुछ लोगों ने उसको विष्णुपद नाम दे दिया और जहाँ वह विष्णुपद प्रतिष्ठित है, उस स्थल का नाम गया रख दिया, किन्तु यह सब व्यर्थ की बातें है ? क्योंकि विष्णुपद मोक्ष का और गय पद प्राण, गृह और प्रजा का वाचक है' (पृ० ३३९) यह पूरा कथन भी अशुद्ध, निर्मूल और बकवासमात्र है। यहाँ की भाषा भी अशुद्ध है। 'पदद्वयोः' इसके स्थान पर 'पदद्वयस्य' होना चाहिये था, अथवा 'पदद्वययोः' यह प्रयोग भी किसी तरह से चल सकता था, किन्तु 'पदद्वयोः' यह तो सर्वथा अशुद्ध है। गया, विष्णुपद प्रभृति नामों की प्रवृत्ति को यदि भ्रम के कारण मानने लगे, तो 'भारतवर्ष प्रभृति नामों की भी ऐसी ही स्थिति मानने पर किसी को कहीं भी विश्वास ही नहीं रह जायगा। भारतवर्ष प्रभृति शब्दों का भी दूसरा अर्थ संभव हो सकता है। विष्णुपुराण के अनुसार समुद्र के उत्तर में और हिमालय के दक्षिण में जो भूभाग अवस्थित है, उसका नाम भारतवर्ष है, जिसमें भारती प्रजा निवास करती है। इसी तरह से पुराणों के आधार पर ही हम देशविशेष के नामविशेष से परिचित होते हैं। गया, विष्णुपद प्रभृति प्रदेशों की यह भ्रान्त प्रवृत्ति कब से चली, इस बात को आप भी नहीं बता सकते। जिनका दिमाग विकृत हो गया है, ऐसे बहुत से आधुनिक विचारक तो वेद आदि के सम्बन्ध में भी यही कहते हैं कि ये तो बकरी और भेड़ चराने वालों के गीत हैं। इन्हीं को भारतीय जन भ्रमवश अनादि और अपौरुषेय मान लेते हैं। इस तरह से ये लोग दयानन्द से चार हाथ आगे हैं।

इस प्रसंग में स्वामी दयानन्द ने 'इदं विष्णुर्विचक्रमे०' प्रभृति मन्त्र को उद्धृत कर निरुक्तकार द्वारा की गई इसकी व्याख्या का उल्लेख करते हुए कहा है—'देखो यहाँ निरुक्तकार ने कहा है कि 'विष्लृ' धातु का अर्थ व्यापक होना, अर्थात् सब चराचर जगत् में प्रविष्ट रहना या जगत् को अपने में स्थापन कर लेने का है। इसलिये निराकार ईश्वर का नाम विष्णु है। 'क्रमु पादविक्षेपे' यह धातु दूसरी वस्तु को पैरों से दबाने या स्थापित करने के अर्थ को बताती है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् अपने पाद अर्थात् प्रकृति, परमाणु आदि सामर्थ्य के अंशों से सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापन करके धारण कर रहा है। अर्थात् भार सहित और प्रकाशरहित जगत् को पृथिवी में, परमाणु आदि सूक्ष्म द्रव्यों को अन्तरिक्ष में तथा प्रकाशमान सूर्य और ज्ञानेन्द्रिय आदि को प्रकाश

व्यश्नुते व्याप्नोति वा स विष्णुर्निराकारत्वात् सर्वगत ईश्वरोऽस्ति। इदं सकलं जगत् त्रेधा त्रिप्रकारकं विचक्रमे विक्रान्तवान्। (क्रमु पादविक्षेपे) पादैः प्रकृतिपरमाण्वादिभिः स्वसामर्थ्यांशैर्जगदिदं पदं प्राप्तव्यं सर्वं वस्तुजातं त्रिषु स्थानेषु निधत्ते स्थापितवान्। अर्थाद् यावद् गुरुत्वादियुक्तं प्रकाशरहितं तत्सर्वं जगत् पृथिव्याम्, यल्लघुत्वादियुक्तं वायुपरमाण्वादिकं तत्सर्वमन्तरिक्षे, यच्च प्रकाशमयं सूर्यज्ञानेन्द्रियजीवादिकं तत्सर्वं दिवि द्योतनात्मके प्रकाशमयेऽग्नौ वा। एवं त्रिविधं जगदीश्वरेण रचितम्। एषां मध्ये यत्समूढं मोहेन सह वर्तमानं तत्पांसुरेऽन्तरिक्षे परमाणुमयं रचितवान्। सर्वे लोका अन्तरिक्षस्थाः सन्तीति बोध्यम्। तदिदमपि धन्यवादार्हं स्तोतव्यं कर्मास्तीति बोध्यम्। अयमेवार्थो यास्काचार्येण वर्णितः। यदिदं किञ्च जगद् वर्तते तत्सर्वं विष्णुर्व्यापक ईश्वरो विक्रमते रचितवान्। त्रेधाभावाय त्रिप्रकारस्य जगतो भवनाय तदुक्तमेव। तस्मिन् विष्णुपदे मोक्षाख्ये समारोहणे समारोढुमर्हे गयशिरसीति प्राणानां प्रजानां च यदुत्तमाङ्गं प्रकृत्यात्मकं शिरो यथा भवति, तथैवेश्वरस्यापि सामर्थ्यं गयशिरः प्रजाप्राणयोरुपरिभागे वर्तते। यदीश्वरस्यानन्तं सामर्थ्यं तस्मिन् गयशिरसि विष्णुपदे हीश्वरसामर्थ्येऽस्तीति कुतः, व्याप्यस्य सर्वस्य जगतो व्यापके परमेश्वरे वर्तमानत्वात् पांसुरेऽप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं पदनीयं परमाण्वाख्यं यज्जगत् तच्चक्षुषा न दृश्यते, ये च पांसवः परमाणुसंघाताः पादैस्तद्द्रव्यांशैः सूयन्ते उत्पद्यन्ते। अत एवमुत्पन्नाः सर्वे पदार्था दृश्या भूत्वेश्वरे शेरत इति विज्ञायते। इममर्थमविज्ञाय मिथ्याकथाव्यवहारः पण्डिताभासैः प्रचारितः' (पृ० ३३५-३३६) इति, तदपि मिथ्यैव, अनुपपत्तेः। निराकारस्य पादाभावेन तद्विक्षेपरूपस्य क्रमणस्यात्यन्तासम्भवात्।

यत्तु—'पादैः प्रकृतिपरमाण्वादिभिः स्वसामर्थ्यांशैर्जगदिदं पदं प्राप्तव्यं सर्वं वस्तुजातं त्रिषु स्थानेषु स्थापितवान्' इत्युक्तम्, तदपि तुच्छम्, शक्त्योपस्थितं मुख्यार्थं परित्यज्यानुपस्थितस्य लाक्षणिकार्थस्य कल्पने मानाभावात्। अप्राप्तं हि प्राप्तव्यं भवति, न नित्यप्राप्तम्। नहि मृत्तिकाया घटः प्राप्यते, तद्रूपत्वात्। सर्वस्य प्रपञ्चस्येश्वरसामर्थ्येन जातत्वान्न तस्य प्राप्तव्यत्वं सम्भवति। न चेश्वरसामर्थ्येंऽशांशिभावकल्पना युक्ता, तस्य दुर्भेद्यत्वात्। यत्तु—'प्रकृतिपरमाण्वादय ईश्वरसामर्थस्यांशाः' इति हिन्दीव्याख्यान उक्तम्, तत्सर्वथाऽसङ्गतम्, सामर्थ्यस्य परमेश्वरशक्तिरूपत्वेन बाह्यपरमाण्वादिरूपत्वा-

में। इस रीति से तीन प्रकार के जगत् को ईश्वर ने रचा है। फिर इन्हीं तीन भेदों में एक मूढ अर्थात् ज्ञानरहित जो जड़ जगत् है, वह अन्तरिक्ष अर्थात् पोल के बीच में स्थित है। सो यह केवल परमेश्वर की ही महिमा है कि जिसने ऐसे ऐसे अद्भुत पदार्थ रचकर सबको धारण कर रक्खा है। इस विष्णुपद के विषय में यास्क मुनि ने भी इस प्रकार व्याख्यान किया है कि यह सब जगत् सर्वव्यापक परमेश्वर ने बनाकर त्रिधा=इसमें तीन प्रकार की रचना दिखलाई है, जिसमें मोक्षपद को प्राप्त होते हैं, वह 'समारोहण' कहलाता है। सो विष्णुपद गयशिर अर्थात् प्राणों के परे हैं, उसको मनुष्य लोग प्राण में स्थिर होकर, प्राण से प्रिय अन्तर्यामी परमेश्वर को प्राप्त होते होते हैं, अन्य मार्ग से नहीं। क्योंकि प्राण का भी प्राण और जीवात्मा में व्याप्त जो परमेश्वर है, उससे दूर जीव या जीव से दूर वह कभी नहीं हो सकता। किन्तु जब कोई पदार्थ परमाणुओं के संयोग से स्थूल हो जाता है, तभी वह नेत्रों से देखने में आता है। यह दोनों प्रकार का जगत् जिसके बीच में ठहर रहा है और जो उसमें परिपूर्ण हो रहा है, ऐसे परमात्मा को विष्णुपद कहते हैं। इस सत्य अर्थ को न जानकर अविद्वान् लोगों ने पाषाण पर जो मनुष्य के पैर का चिह्न बनाकर उसका नाम विष्णुपद रख छोड़ा है, यह सब मिथ्या बातें हैं' (पृ० ३३९-३४०)। किन्तु यह सारी व्याख्या भी गलत है। आपके मत के अनुसार यह संभव ही नहीं हो सकता। परमेश्वर तो आपके मत में निराकार है, जब उसके पैर ही नहीं है, तब वह किसी वस्तु को बाँधकर कहाँ पैर रखेगा।

इस आक्षेप से बचने के लिये आपने पाद का अर्थ पैर न करके प्रकृति, परमाणु आदि अपनी सामर्थ्य के अंशों से इस प्राप्तव्य जगत् की सारी वस्तुओं को तीन स्थानों पर स्थापित कर दिया, ऐसा अर्थ किया है, किन्तु आपकी यह पद्धति प्रमाणविरुद्ध है। शब्द की साक्षात् शक्ति से उपस्थित मुख्य अर्थ को छोड़कर अनुपस्थित लाक्षणिक अर्थ को स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। अप्राप्त वस्तु ही प्राप्त हो सकती है, नित्य प्राप्त वस्तु की प्राप्ति कैसी ? क्या मृत्तिका से घट की प्राप्ति होती है ? घट तो मृत्तिका ही है। इसी तरह से सारा प्रपंच परमेश्वर की सामर्थ्य से ही पैदा होता है, तो परमेश्वर के उसको प्राप्त करने का प्रसंग ही कहाँ उठता है। परमेश्वर

सम्भवात् । अत एव न तेषां पादत्वमपि । त्रेधेति त्रिप्रकारमुच्यते, न त्रिषु स्थानेषु । अत एव यावद् गुरुत्वादिकं प्रकाशरहितं तत्पृथिव्यां यल्लघुत्वादियुक्तं वायुपरमाण्वादिकं तदन्तरिक्षे, यच्च प्रकाशमयं सूर्यादिकं तद्दिवि द्योतनात्मकेऽग्नौ वा' इत्यपि निरर्थकम्, योग्यतानुसारेण यत्र यानि वस्तूनि सृष्टानि तानि तत्रैव सन्त्येवेति, तेषां पृथिव्यादिषु स्थापनोक्तेर्नैरर्थक्यात् । 'यन्मोहेन सहितं ज्ञानवर्जितं तत्पांसुरेऽन्तरिक्षे परमाणुमयं रचितवान् । सर्वे लोका अन्तरिक्षस्थाः सन्ति' इत्यपि पूर्वापरविरुद्धमेव । पूर्वं पृथिव्यादित्रिषु स्थापितवानित्युक्तम्, इदानीं पृथिव्यामेवेति । जीवानपहाय सर्वमपि ज्ञानवर्जितमेव तत्सर्वमन्तरिक्षे रचितम् । तत्रैवास्ति चेन्मुधैव त्रिषु स्थानेषु स्थापनोक्तिः । किञ्चान्तरिक्षोऽपि लोकः । तस्य कथमन्तरिक्षस्थत्वम्, आत्माश्रयत्वापातात् । एवमेव त्रिप्रकारस्य जगतो भवनमित्यप्यसङ्गतम्, जगतस्त्रिप्रकारत्वासिद्धेः । साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामपि नैयायिकाभिरनेकधा वर्णितत्वात् ।

मोक्षाख्यं विष्णुपदं न समारोढुमर्हम्, तस्य, ब्रह्मरूपत्वेन सर्वत्रैवावस्थितत्वात् । प्राणानामङ्गाभावात् सुतरामुत्तमाङ्गाभावः । प्रजानामुत्तमाङ्गं तु शिर एव प्रकृत्यात्मकम् । ईश्वरस्य सामर्थ्यमीश्वर एव भवति । शक्त्यपरपर्यायस्य सामर्थ्यस्य शक्तिमदाश्रयत्वाव्यभिचारात् । विषयविधया तु सर्वत्र कार्ये तत्सत्त्वं नोत्तमाङ्ग एव, हीनाङ्गानामपि तत्कार्यत्वात् । 'यदीश्वरस्यानन्तं सामर्थ्यं वर्तते तस्मिन् गयशिरसि विष्णुपदे हीश्वरसामर्थ्येऽस्ति इति, तदपि प्रमत्तप्रलपितमेव, वाक्यानां परस्परासम्बद्धत्वात् । यदीश्वरस्यानन्तं सामर्थ्यं वर्तते, तस्मिन् विष्णुपदे गयशिरसि हीश्वरसामर्थ्ये किमस्ति ? ईश्वरसामर्थ्येऽनन्तं

के सामर्थ्यं को टुकड़ों में नहीं बाँटा जा सकता, क्योंकि वह तो दुर्भेद्य है, दुर्ज्ञेय है । हिन्दी व्याख्या में प्रकृति, परमाणु आदि को ईश्वर का सामर्थ्य बताया है, यह भी सर्वथा असंगत है, क्योंकि सामर्थ्य तो परमेश्वर की शक्ति है, यह बाहर प्रकृति, परमाणु आदि के रूप में कैसे रह सकती है ? इसीलिये प्रकृति, परमाणु आदि के रूप में स्थित यह सामर्थ्य निराकार होने से पैर के रूप में भी नहीं देखी जा सकती । त्रेधा पद से तीन प्रकारों का बोध होता है, तीन स्थानों का नहीं । इसीलिये भारसहित और प्रकाशरहित जगत् को पृथिवी में, परमाणु आदि सूक्ष्म द्रव्यों को अन्तरिक्ष में तथा प्रकाशमान सूर्य और ज्ञानेन्द्रिय आदि को प्रकाश में स्थापित किया, यह कथन भी निरर्थक है, क्योंकि योग्यता के अनुसार जो वस्तु जहाँ सृष्ट हुई, वह वहाँ रहेगी ही । इसके लिये पृथिवी प्रभृति में उनकी स्थापना की बात करना व्यर्थ है । मोहसहित (मूढ) और ज्ञानरहित जो जड़ जगत् है, वह अन्तरिक्ष अर्थात् पोल के बीच में स्थित है, वह परमाणुमय है, सारे लोक इस अन्तरिक्ष में विद्यमान है, यह कथन भी अपने पहले के कथन के विपरीत है । पहले पृथिवी प्रभृति लोकों में तीन स्थानों पर सब लोकों की स्थापना की बात आपने मानी है और अब केवल पृथिवी में सबकी स्थापना की बात करते हैं । जीवों को छोड़कर सब कुछ ज्ञान से शून्य ही है । उन सबकी अन्तरिक्ष में रचना की बात आप करते हैं । यदि वहीं सब कुछ है तो फिर पहले आपने तीन स्थानों में सबको स्थापित करने की जो बात की, वह व्यर्थ हो जायगी । फिर अन्तरिक्ष भी तो एक लोक ही है, वह अपने में ही, अन्तरिक्ष में ही कैसे रहेगा ? इस तरह से तो आत्माश्रयता दोष उठ खड़ा होगा, क्योंकि कोई वस्तु अपने ही अपना आश्रय नहीं होती, अर्थात् आधाराधेयभाव दो भिन्न वस्तुओं में ही बन सकता है । इसी तरह से तीन प्रकार के जगत् की सृष्टि की बात भी असंगत ही है, क्योंकि जगत् के तीन भेद किसी शास्त्र में प्रसिद्ध नहीं है । साधर्म्य और वैधर्म्य के आधार पर तो इसके अनन्त भेदों का वर्णन नैयायिकों ने किया है ।

मोक्षनामक विष्णुपद पर चढ़ने का कोई प्रसंग आ ही नहीं सकता, क्योंकि मोक्षपद तो ब्रह्मरूप है और वह सर्वत्र विद्यमान है । प्राण का जब कोई अंग ही नहीं है, तब उत्तमांग की स्थिति कैसे बनेगी । प्रजा का उत्तमांग तो शिर माना जाता है, वह प्रकृति स्वरूप कैसे माना जायगा ? ईश्वर की सामर्थ्य ईश्वर से अभिन्न ही है । सामर्थ्य शक्ति का ही नाम है । यह शक्तिमान् से कभी अलग नहीं रह सकती । सामर्थ्य के विषय के रूप में विचार किया जाय तो इसकी स्थिति सर्वत्र कार्यरूप में दिखाई पड़ेगी । उस स्थिति में केवल उत्तमांग में ही नहीं, किन्तु सभी हीन और उत्तम अंगों में उसकी समान रूप से स्थिति रहेगी । 'यदीश्वरस्य'''सामर्थ्येऽस्ति' यह तो निरा पागल का प्रलाप है, क्योंकि यह पूरा वाक्य ही परस्पर असंबद्ध है । यदि ईश्वर का अनन्त सामर्थ्य है, तो उस विष्णुपद गयशिर अर्थात् प्राणों में ईश्वर के सामर्थ्य से क्या बनेगा ? ईश्वर के सामर्थ्य में अनन्त सामर्थ्य है, यह वाक्य भी बेतुका है । विष्णुपद में

सामर्थ्यमस्तीत्यपि श्लिष्यते। विष्णुपदे प्रजानां प्राणानां प्रजानामुत्तमाङ्गं प्रकृत्यात्मकं कथं भवति। यथा विष्णुपदे प्राणानां प्रजानां प्रकृत्यात्मकं शिरो भवति, तथैवेश्वरस्य सामर्थ्यरूपं गयशिरः प्रजाप्राणयोरुपरि वर्तत इत्यपि कथमुपपद्यते ? व्याप्यस्य जगतो व्यापके परमेश्वरे वर्तमानत्वादिति हेतुरपि हेत्वाभास एव, व्यापके वह्नौ वर्तमानस्य दाहकत्वप्रकाशत्वादेर्व्याप्ये धूमेऽसत्त्वात्। पांसुरेऽप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं पदनीयं परमाण्वाख्यं चक्षुषा न दृश्यत इत्यपि विश्रृङ्खलमेव। पांसवः परमाणुसंघाताः पादैस्तद्द्रव्यांशैः सूयन्त इत्यपि न सङ्गतम्, परमाणुभिर्द्व्यणुकादिक्रमेणावयविन उत्पद्यन्ते, न सङ्घाताः। तथात्वे बौद्धवादापत्तेः। न चोत्पन्ना दृश्या भूत्वा सर्वे पदार्थाः परमेश्वरे शेरते, किन्तु तन्मूलभूताः परमाणवोऽपि तत्रैव शेरते। वस्तुतस्तु स्वयमेव दयानन्दो मन्त्रार्थं निरुक्तार्थं चाविज्ञाय यत्किञ्चित् प्रलपति। अतएव संस्कृतव्याख्याने किमपि वक्ति, हिन्दी व्याख्याने किमप्यन्यदेव। उपर्युक्तस्यांशस्य हिन्दीव्याख्यानम्—'इसमें तीन प्रकार की रचना दिखलाई है, जिससे मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं, वह 'समारोहण' कहाता है। सो विष्णुपद गयशिर, अर्थात् प्राणों के परे है, उसको मनुष्य लोग प्राण में स्थिर हो के प्राण से प्रिय अन्तर्यामी को प्राप्त होते हैं…………………क्योंकि प्राण का भी प्राण और जीवात्मा में व्याप्त जो परमेश्वर है, उससे दूर जीव वा जीव से दूर वह कभी नहीं हो सकता। उसमें से सूक्ष्म जो जगत् का भाग है, सो आँख से दीखने योग्य नहीं हो सकता' नेदं प्रघट्टकं स्वेनैव विहितेन संस्कृतव्याख्यानेन दूरतोऽपि सम्बद्ध्यते।

सायणादिसम्मतोऽर्थस्तु—विष्णुस्त्रिविक्रमावतारं कृत्वा इदं विश्वं विचक्रमे विभज्य क्रमते स्म। तदेवोच्यते-त्रेधा पदं निदधे भूमावेकं पदमन्तरिक्षे द्वितीयं दिवि तृतीयमिति क्रमादग्नि-वायु-सूर्यरूपेण पांसवो भूम्यादिलोकरूपा विद्यन्ते यस्य तत्पांसुरं तस्मिन् पांसुरे अस्य विष्णोः पदे समूढं सम्यगन्तर्भूतं विश्वमिति शेषः। सर्वप्राणिनां भूतेन्द्रियमनोजीव-

प्राणरूपी प्रजा का उत्तमांग प्रकृति के रूप में रहता है, यह कैसे बनेगा ? इसी तरह से जैसे विष्णुपद में प्राणरूपी प्रजा का प्रकृत्यात्मक शिर होता है, उसी तरह से ईश्वर की सामर्थ्य रूप गयशिर भी प्रजा और प्राण के ऊपर रहता है, यह भी कैसे बनेगा ? व्याप्य जगत् के व्यापक परमेश्वर में वर्तमान होने से, यह हेतु भी आपका सद्धेतु न होकर हेत्वाभास है, क्योंकि व्यापक वह्नि में वर्तमान दाहकत्व, प्रकाशकत्व प्रभृति धर्म व्याप्य धूम में नहीं रहते। उसमें से जो सूक्ष्म जगत् का भाग है, वह आँख से दीखने योग्य नहीं हो सकता, यह कथन भी निराधार है। परमाणु संघात उसके द्रव्यांशों से निकलते हैं, अर्थात् जब कोई पदार्थ परमाणुओं के संयोग से स्थूल हो जाता है, तभी वह नेत्रों से देखने में आता है, यह कथन भी सही नहीं है, क्योंकि परमाणुओं से द्व्यणुक प्रभृति के क्रम से अवयवी उत्पन्न होते हैं, संघात नहीं। संघात की उत्पत्ति मानने पर तो यह बौद्ध सिद्धान्त को मानना पड़ जायगा, जो कि आपको भी अभीष्ट नहीं होगा। परमाणुओं से उत्पन्न संघातात्मक सभी पदार्थ दृश्य होकर परमेश्वर में विश्राम लेते हों, ऐसी बात भी नहीं है, किन्तु इनके मूलभूत परमाणु ही उस परमेश्वर में ही विश्राम ग्रहण करते हैं। वास्तव में तो दयानन्द को न तो मन्त्र का ही और न निरुक्त का ही सही अर्थ ज्ञात है, इसीलिये वह सब जगह मनमानी करते रहते हैं। वे संस्कृत व्याख्या में कुछ कहते हैं और हिन्दी व्याख्या में कुछ दूसरा ही। उपर्युक्त अंश की उन्होंने हिन्दी व्याख्या इस तरह से की है—'इसमें तीन प्रकार की रचना दिखलाई गई है, जिससे मोक्षपद को प्राप्त होते हैं, वह 'समारोहण' कहाता है। सो विष्णुपद गयशिर अर्थात् प्राणों के परे है, उसको मनुष्य लोग प्राण में स्थिर होकर प्राण से प्रिय अन्तर्यामी को प्राप्त होते हैं।…क्योंकि प्राण का भी प्राण और जीवात्मा में व्याप्त जो परमेश्वर है, उससे दूर जीव या जीव से दूर वह कभी नहीं हो सकता। उसमें से सूक्ष्म जो जगत् का भाग है, सो आँख से दीखने योग्य नहीं हो सकता' (पृ० ३४०)। यह सारी हिन्दी व्याख्या अपने ही की गई संस्कृत व्याख्या से बिलकुल भी संबद्ध नहीं है।

'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इस मन्त्र का सायण प्रभृति आचार्यों ने अर्थ इस तरह से किया है—त्रिविक्रम अवतार धारण करके विष्णु ने इस जगत् को तीन भागों में बांट कर आक्रान्त कर लिया है, अर्थात् तीन डगों से नाप लिया है। उसने पहला पग भूमि पर, दूसरा डग अन्तरिक्ष में और तीसरा पैर आकाश में रक्खा। अर्थात् वह विष्णु अग्नि, वायु और सूर्य के रूप में इन तीनों लोकों में व्याप्त हैं। ये भूमि प्रभृति तीन लोक जिसके धूल भरे पग में लगे हुए हैं, इसीलिये यह सारा विश्व इस विष्णु के पद में भलीभांति

भावेनाविशतीति विष्णुः सर्वव्यापकः परमेश्वर एव त्रिविक्रमावतारेण विश्वं विचक्रमे। निर्गुणाभिप्रायेण त्वयमर्थः—अस्य विष्णोः पदं पद्यते ज्ञायत इति पदम् अद्वैताख्यं स्वरूपं समूढमन्तर्हितमज्ञातमकृतात्मभिः। कस्मिन्निव, पांसुरे (लुप्तोपमानम्) पांसुले रजस्वले प्रदेशे निहितं यथा न ज्ञायते, तद्वत्। 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' (वा० सं० ६।५) इति मन्त्रवर्णात्। निरुक्तदृष्टया त्वयमर्थः—विष्णुरादित्य इदं विविधविभागेनावस्थितं जगद्विक्रमते अधितिष्ठति। कथमित्यत आह—त्रेधा निदधे पदम्। त्रेधा पदं निधत्ते। क्व ? तत्र पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। पार्थिवोऽग्निर्भूत्वा पृथिव्यां यत्किञ्चिदस्ति तद्विक्रमतेऽधितिष्ठति, विद्युद् भूत्वाऽन्तरिक्षे, सूर्यो भूत्वा दिवि सर्वमधितिष्ठति। समारोहण उदयगिरावुद्यन् एकं पदं निधत्ते। विष्णुपदे मध्यन्दिनेऽन्तरिक्षे गयशिरसि अस्तङ्गिरा इत्यौर्णवाभः। यास्काचार्यस्तु समूढमस्य पांसुरे अस्मिन्नप्यायने सर्वसमृद्धिहेतुभूतेऽन्तरिक्षे यन्मध्यन्दिनं पदं विद्युदाख्यं तत् समूढमन्तर्हितं न नित्यं दृश्यते। तदुक्तम्—'स्वयनमेतन्मध्यमं ज्योतिरनित्यदर्शनम्' (नि० ५।३)। तद्यदष्टौ मासान् माध्यमिकं ज्योतिर्न दृश्यते, तस्मादनित्यदर्शनात् स्वयनमित्युच्यते। अपि वोपमार्थे स्यात्। समूढमिव पांसुरे यथा पांसुले प्रदेशे पदं न्यस्तमुत्क्षेपणसमनन्तरमेव पासुभिः कीर्णत्वान्न दृश्यते, एवमस्य मध्यमं विद्युदाख्यं पदमाविष्कृतिसमकालमेव व्यवधीयते, नावतिष्ठत इत्यर्थः। पांसुर इति रो मत्वर्थः। अथ पांसवः कस्मात् ? ते हि पादैः सूयन्ते जन्यन्त इत्यर्थः। अथवा पन्नाः पदाघातेनाधःपतिताः, पन्नं च्युतं गलितमिति। शेरते। अथवा पिशनीया ध्वंसनोया ध्वंसनार्हास्ते भवन्ति, तदाकीर्णस्य दुर्दर्शत्वात्। एवं नैरुक्तार्थे सत्यपि नहि नैरुक्त एवार्थो ग्राह्य इति राजाज्ञास्ति, निरुक्तकारेण यास्काचार्येणापि तत्र तत्र याज्ञिकैतिहासिकार्थानामपि वर्णनात्।

छिपा हुआ है। सभी प्राणियों में पंच महाभूत, इन्द्रिय, प्राण आदि जोवनदायिनी शक्तियों के रूप में यह विष्णु व्याप्त है। इसलिये यह सर्वव्यापक परमेश्वर ही त्रिविक्रम अवतार धारण कर सारे विश्व को नाप लेता है। मन्त्र का निर्गुण ब्रह्मपरक अर्थ इस प्रकार किया जाता है—इस परब्रह्म परमात्मा का अद्वैतमय स्वरूप अज्ञ जनों के लिये सदा अज्ञात ही रहता है। यह अद्वय स्वरूप अज्ञ जनों के लिये उसी प्रकार अज्ञात रहता है, जैसे कि धूल में छिपाई गई वस्तु भूल जाने पर मिल नहीं पाती। मन्त्र में बताया भी गया है कि उस परब्रह्म परमात्मा के परम पद को विद्वान् मनुष्य ही जान पाते हैं। निरुक्त की दृष्टि से इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—विष्णु अर्थात् आदित्य (सूर्य) इस विविध रूपों मे विभक्त जगत् का अधिष्ठाता है, क्योंकि यह तीन तरह से अपने पैर रखता है। शाकपूणि आचार्य के मत के अनुसार यह पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाश में अपने पैर जमाता है। लौकिक अग्नि के रूप में यह पृथिवी में जो कुछ भी है, उसका अधिष्ठाता बन जाता है। इसी तरह से विद्युत् के रूप में अन्तरिक्ष मे और सूर्य के रूप में द्युलोक में यह सभी पदार्थों का अधिष्ठाता बन जाता है। जब यह सूर्य उदयगिरि पर चढ़ता है, तब वह पहला पैर रखता है, मध्याह्न में यह दूसरा पैर विष्णुपद में, अर्थात् अन्तरिक्ष में रखता है और सायंकाल गयशिरस् में अर्थात् द्युलोक में तीसरा पैर रखता है, यह व्याख्या और्णवाभ ऋषि के अनुसार है। यास्काचार्य इसका अर्थ यह करते हैं कि इस सबकी समृद्धि के कारणभूत अन्तरिक्ष में जो मध्यन्दिन पद विद्युत् के रूप में वर्तमान है, वह छिपा रहता है, सदा नहीं दिखाई पड़ता। कहा भी गया है कि यह अन्तरिक्ष मे विद्यमान माध्यमिक ज्योति (विद्युत्) आठ महीने नहीं दिखाई पड़ती। केवल वर्षा ऋतु में ही दिखाई पड़ती है। इस तरह से सदा न दिखाई पड़ने के कारण यह 'स्वयन' कहलाती है। जैसे धूल भरी जगह में पैर रखने पर उसके उठाने के साथ ही वह धूल से भर जाने के कारण नहीं दिखाई पड़ता, उसी तरह से यह विद्युत् स्वरूप मध्यम पद भी चमकने के साथ ही लुप्त हो जाता है, थोड़ी देर के लिये भी टिकता नहीं। 'पांसुर' शब्द में र प्रत्यय मतुप् के अर्थ में प्रयुक्त है। निरुक्त में पांसु शब्द का निर्वचन तीन तरह से किया गया है—धूल की उत्पति पैरों के रखने से होती है, अथवा पैरों के आघात से गिर कर वही लेट जाती है, या यह धूल ध्वंस कर देने (उड़ा देने) लायक है, इसलिये कि धूल से भरी वस्तु दिखाई नहीं पड़ती। निरुक्त में ये सब अर्थ किये अवश्य गये हैं, किन्तु यह कोई राजाज्ञा नहीं है कि सब जगह निरुक्त द्वारा प्रतिपादित अर्थ ही स्वीकार किया जाय। निरुक्तकार यास्काचार्य स्वयं अपने ही अनेक स्थलों पर याज्ञिक, ऐतिहासिक आदि अर्थों का भी वर्णन करते हैं। इस बात को हमने देवता तत्त्व का स्वरूप निर्धारण करते समय विस्तार से समझाया है। इस तरह से निरुक्तकार के द्वारा पुराणों का प्रामाण्य स्वीकृत होने से ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार त्रिविक्रम अवतार धारण कर

तच्च देवतानिरूपणप्रसङ्गे उक्तमेव । तस्मात् पुराणानां प्रामाण्यव्यवस्थापनादैतिहासिकरीत्या विष्णुना विश्वं विक्रान्तम् । नैरुक्तमते विष्णुपदमन्तरिक्षं गयशिरोऽस्ताचलरूपं तावतापि पौराणिकानां रीत्या गयायां विष्णुपदं न बाध्यते । यथा सूर्यस्येन्द्रत्वेऽपि देवराजस्येन्द्रत्वं न बाध्यते, तद्वत् ।

यत्तु—'तद्वैतत्सत्यम्' इत्याश्रित्य जल्पितम्, तन्निरर्थकम्, तात्पर्यानवबोधात् । तथा हि—'तद्वैतत्सत्यं बले प्रतिष्ठितम् । प्राणो वै बलम् । तत्प्राणे प्रतिष्ठितम् । तस्मादाहुर्वलं सत्यादोजीयः । इत्येवं वैषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता ।' (श० १४।८।१५।६) । सत्यस्यापि स्वातन्त्र्यं वारयति—तदिति । एवं त्रिपदा गायत्री अधिदैवते आदित्ये प्रतिष्ठिता । सा चाध्यात्मं चक्षुर्द्वारा प्राणे प्रतिष्ठिता इत्येवं प्रणाड्या गायत्र्याः सूत्रात्मत्वं सिद्धम् । अध्यात्मम् । अध्यात्मे सर्ववेदाद्यात्मके सूत्रात्मभूते प्राणे प्रतिष्ठिता, अतोऽध्यात्मप्राणरूपा सती जगत आत्मा । 'सा हैषा गयांस्तत्रे । प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे । तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम । स यामेवाभूमन्वाहैषैव सा स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणांस्त्रायते ।' (श० १४।८।१५।७) । इदानीं गायत्रीनामनिर्वचनेन तस्या जगज्जीवनहेतुत्वमाह । सैषेश्वरात्मिका गायत्री । गायन्तीति गयाः । तत्रे त्रातवती रक्षितवती । प्राणा वागादयो गयाः, शब्दनिष्पत्तिहेतुत्वात् । एवं गायत्र्या प्राणजीवनत्वमुक्त्वा तस्या एव ब्राह्मण्यमूलत्वेन स्तुत्यर्थमाह—स आचार्योऽष्टवर्षं माणवकमुपनीय याममूं गायत्रीमेवं पादशोऽर्धर्चशः समस्तां चान्वाह अनुवक्ति 'पच्छोऽर्धर्चशः सर्वां च तृतीयेन सहानुवर्तयन्' इति गृह्यवाक्यात् (पारस्करगृ० सू० २।३) । सा माणवकायोपदेष्टव्या प्रसिद्धा एषैवोक्तजगत्प्राणात्मिका गायत्र्येव नान्येत्यर्थः । कुत एषा गायत्र्येवेति निश्चयः ? इत्यत आह—स गायत्र्युपासक आचार्यः सादरः अन्यस्मै बटवे इमां गायत्रीमन्वाह अनुवक्ति । तस्य प्राणान् सा नरकादिपतनात् यस्मात् त्रायते तस्माद् गायत्र्येवेति निश्चयो नात्र सन्देहः ।

विष्णु ने इस सारे जगत् को अपने तीन डगों से नाप लिया था । निरुक्त के मत के अनुसार यदि विष्णुपद अन्तरिक्ष का और गयशिर अस्ताचल का वाचक है, तो भी पौराणिक पद्धति से गया स्थान में विद्यमान विष्णुपद का बाध इससे नहीं होता, जैसे कि सूर्य को इन्द्र मानने पर भी देवराज को इन्द्र न माना जाय, ऐसा नहीं होता ।

'तत् सत्यम्०' (पृ०३३३–३३४) इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के वाक्य को उद्धृत कर जो कुछ दयानन्द ने कहा है, वह भी निरर्थक है, वे उसका तात्पर्य ही नहीं समझ पाये हैं । इस ब्राह्मण वाक्य का आरंभ 'तद्वैतत् सत्यं बले प्रतिष्ठितम्' इस तरह से होता है । इस ब्राह्मण वाक्य में सत्य की भी स्वतन्त्रता का निषेध किया गया है । सत्य जैसे प्राण में प्रतिष्ठित है, वैसे ही त्रिपदा गायत्री आदित्य देवता में प्रतिष्ठित है । आध्यात्मिक दृष्टि से चक्षु के द्वारा यह प्राण में प्रतिष्ठित है । इस प्रणाली में गायत्री की सूत्रात्मकता सिद्ध होती है, क्योंकि यह सभी वेदों की आत्मा के रूप में प्राण में प्रतिष्ठित है, अतः आध्यात्मिक प्राण रूप में यह सारे जगत् की आत्मा है । 'सा हैषा गयांस्तत्रे' इस अग्रिम शतपथ वाक्य में गायत्री के नाम का निर्वचन प्रस्तुत करते हुए यह भी वताया गया है कि यह गायत्री ही सारे जगत् के जीवन का कारण है । इस ईश्वरस्वरूपिणी गायत्री का गान होता है, अतः इसको गया कहा जाता है । गायत्री का गान करने वाले की यह रक्षा करती है । वाणी प्रभृति प्राण व्यापार भी गय नाम से कहे जाते हैं, क्योंकि ये शब्द की उत्पत्ति में कारण वनते हैं । इस तरह से गायत्री को प्राण या जीवन वताने के वाद उसी को ब्राह्मण्य का भी मूल कारण बताते हुए उसकी स्तुति करते हैं—वह आचार्य आठ वर्ष के बटुक को उपवीत धारण कराकर पहले एक पाद, फिर आधी ऋचा और फिर पूरे मन्त्र का उपदेश करता है । पारस्कर गृह्यसूत्र में भी वताया गया है कि आचार्य पहले गायत्री का एक-एक पाद उपनीत शिष्य को सिखाता है, फिर आधी-आधी ऋचा और अन्त में पूरे मन्त्र को सिखावे । उपनीत माणवक (बटु) को जिसका उपदेश किया जाता है, वही प्रसिद्ध गायत्री सारे जगत् की प्राणभूत मानी जाती है, वह कोई दूसरी गायत्री नहीं है । वह गायत्री ही कैसे है ? इसके निश्चय के लिये वताया गया है कि वह गायत्री का उपासक आचार्य आदरपूर्वक अपने उपनीत बटु को इस गायत्री का उपदेश करता है । ऐसा करके वह उसके प्राणों को नरक में जाने से बचा लेता है, इसीलिये इसको गायत्री कहते हैं, इसमें संदेह की कोई बात नहीं रह जाती ।

अत्र गायत्रीविज्ञानप्रसङ्गे औद्गात्रकरणाद् वागादीनामुद्गातृत्वाद् गयत्वमुक्तम् । तेषां त्राणहेतुत्वात् सूत्रात्मरूपा सावित्री गायत्री प्रोच्यते । न चैतावता प्रघट्टकेन पुराणोक्तगयासुरकथापलापः । प्रत्युत गयानां वागादीनामासुरपाप्मविद्धत्वादासुरत्वं जातम् । हिरण्यगर्भाख्यो मुख्यप्राणरूपो विष्णुस्तेषां पाप्मनोऽपहृत्य दिशामन्तं गमयित्वा तेषामग्न्यादिरूपत्वेन पावनत्वं सम्पादितवान् । पुराणेषु तस्या औपनिषद्याः कथाया रूपं प्रपञ्चितम् । विष्णुपदाधिष्ठितत्वेनासुरपाप्मविद्धगयानां पावनत्वं पितृतारकत्वमुक्तम् ।

सनातनिभिरप्याचार्यशास्त्रादीनि तीर्थानि स्वीक्रियन्त एव, तथापि सरोवरादिगतानां स्नानघट्टानामपि तीर्थत्वं न वार्यते । तथैव पुराणादिप्रामाण्यवशाज्जलस्थलमयान्यपि तीर्थानि नापलपितुं शक्यानि । तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्र इत्यनेनापि न गाङ्गादितीर्थापलापः सम्भवति ।'अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' तीर्थेभ्यः शास्त्रानुज्ञाविषयेभ्यो यज्ञादिभ्योऽन्यत्र सर्वाणि भूतान्यहिंसन् इत्यर्थः । तीर्थं शास्त्रानुज्ञाविषय इति शाङ्करभाष्यम् । यज्ञादिषु विहितानि हिंसनान्यहिंसैवेति मन्तव्यम् । अपराधिनामुपरि हिंसनमिति उपरिपदप्रयोगो व्यर्थ एव ।

'तस्य तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रः' इत्यस्य पूर्णं रूपमित्थम्—'समुद्रं वा एते प्रतरन्ति । ये संवत्सराय दीक्षन्ते । तस्य तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रः । तीर्थेन हि प्रस्नान्ति । तद्यत्प्रायणीयमतिरात्रमुपयन्ति । यथा तीर्थेन समुद्रं प्रस्नायुः । तादृक् तत् ।' (श० १२।२।१।१) इति । अत्रोदयनीयातिरात्रप्रसंसा । 'समुद्रं वा' एताभिः पञ्चभिः कण्डिकाभिः संवत्सरे समुद्र

गायत्री के वैज्ञानिक महत्त्व को स्थापित करने वाले इस प्रकरण में वाणी प्रभृति को गय नाम से इसलिये अभिहित किया गया है कि ये गायत्री के उद्गाता हैं, गायक हैं । वाणी प्रभृति को, जो कि गय नाम से अभिहित है, रक्षक होने से यह गायत्री सूत्र रूप में सावित्री कही जाती है । इस पूरे प्रकरण से प्राणवाचक गय की सिद्धि अवश्य होती है, किन्तु इससे पुराणों में प्रतिपादित गयासुर की कथा का निषेध नहीं होता, प्रत्युत वाणी प्रभृति के गय शब्द से अभिहित होने वाले प्राणों की आसुरी पापवृत्ति से घिरे रहने के कारण वे आसुर सृष्टि में परिगणित होंगी । हिरण्यगर्भ के नाम से प्रसिद्ध मुख्य प्राण ही विष्णु कहलाता है, वह इन वाणी प्रभृति अवान्तर प्राणों के दुरित का नाश करके उनको इस सांसारिक प्रपंच से दूर ले जाकर उनको अग्नि प्रभृति आधिदैविक रूप प्रदान कर पवित्र बना देता है, सभी तरह के पापों से मुक्त करा देता है । पुराणों में इसी औपनिषद कथा को नया रूप दिया गया है कि विष्णु ने जहाँ पर गयासुर का वध किया, वह गयानामक तीर्थस्थान विष्णु के चरणों के स्पर्श से पवित्र हो गया है, वहाँ श्राद्ध करने से पितरों के सभी तरह के पाप छूट जाते हैं और वे शुभ गति को, स्वर्ग लोक को प्राप्त करते हैं ।

सनातनी लोग भी अपने-अपने विषय के आचार्य, शास्त्रो प्रभृति को तीर्थ अवश्य मानते हैं, किन्तु इससे सरोवर, नदी आदि के तीर पर स्नान के लिये बनाये गये घाटों के अर्थ में तीर्थ पद का प्रयोग निषिद्ध हो गया हो, ऐसा नहीं माना जाता । इसी तरह से पुराण प्रभृति ग्रन्थों के प्रमाण के आधार पर जल और थलमय तीर्थों का भी अपलाप नहीं किया जा सकता । 'तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रः' इत्यादि वचनों से भी गंगा प्रभृति तीर्थों का निषेध नहीं होता ।' अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' इस छान्दोग्य वाक्य में तीर्थ शब्द का अर्थ वेदशास्त्र से अनुज्ञात यज्ञ आदि है । इन यज्ञ आदि कर्मों के अतिरिक्त कहीं भी प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिये, यह उस श्रुति का अर्थ होता है । शांकरभाष्य में भी यही अर्थ किया गया है । यज्ञ प्रभृति में की गई हिंसा हिंसा नहीं मानी जाती । इसी तरह से अपराधियों को हिंसा करने में भी इस शब्द का प्रयोग उचित नहीं है, अर्थात् उनकी हिंसा भी हिंसा न कहलाकर यज्ञीय हिंसा के समान एक पुण्य कार्य ही है ।

'तस्य तीर्थमेव०' प्रभृति ब्राह्मण वाक्य को स्वामी दयानन्द ने पूरा इसलिये उद्धृत नहीं किया है कि कहीं उनकी पोल न खुल जाय । मूल में पूरा वाक्य उद्धृत किया जा रहा है । इस वाक्य में उदयनीय अतिरात्र की प्रशंसा की गई है । इन पाँच कण्डिकाओं में वर्ष में किसी समय समुद्र प्रतरण उपासना का विधान है । तीर्थ, गाध, अध्युत्तरण, पुनःप्रतरण ये सब प्रायणीय प्रभृति के नाम हैं ।

प्रतरणोपासनमुच्यते। तीर्थगाधोद्घ्युत्तरणपुनःप्रतरणानि च प्रायणीयादीनां नामान्येतानि प्रदर्श्यन्ते। उपासनारूपत्वाच्च फलम्। संवत्सरोऽप्यत्र ईदृश एव द्रष्टव्यः। 'प्रस्नान्ति' 'ष्णा शौचे' (अदादिः ४२) इत्येषः प्रपूर्वः प्रतरणे वर्तते। प्रतरतीत्यर्थः। प्रस्नायुः प्रतरेयुः। 'गाधमेव प्रतिष्ठा महाव्रतम्। यथोपपक्षदघ्नं वा कण्ठदघ्नं वा यतो विश्रम्योत्स्नान्ति। तीर्थमेवोदयनीयोऽतिरात्रः। तीर्थेन हि उत्स्नान्ति। तद् यदुदयनीयमतिरात्रमुपयन्ति। यथा तीर्थेन समुद्रं प्रस्नाय तीर्थेनोत्स्नायुः। तादृक् तत्।' (श० १२।२।१।५)। उत्स्नान्ति उत्तरन्ति। तेन नात्र प्रसिद्धतीर्थानामपलापो वाक्यार्थो न वा व्यङ्ग्योऽर्थः। अपि च, कोषादौ क्षेत्रादीनामपि तीर्थपदार्थत्वोक्तिः। तथाहि—'तीर्थं शास्त्रे, शास्त्रानुज्ञाविषये, अध्वरे (यज्ञे), क्षेत्रे (पुण्यक्षेत्रे), उपाये, नारीरजसि, अवतारे (जलावतारे), ऋषिजुष्टाम्बुनि, पात्रे (विद्यायाः पात्रे) 'ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियः प्रियः। विद्यया विद्यां यः प्राह तानि तीर्थानि षण्मम ॥', उपाध्याये, गुरौ, मन्त्रिणि, सत्रिणि, योनौ, दर्शने, निपाने, नद्यवतारप्रदेशे (घट्टे), उपकूपजलाशये, मद्ये, विप्रे च। तीर्यतेऽनेन तरन्ति वानेनेति तीर्थम्। 'अङ्गुल्यग्रे दैवं तीर्थं स्वल्पाङ्गुल्योर्मूले कायम्। मध्येऽङ्गुष्ठाङ्गुल्योः पित्र्यं मूले ह्यङ्गुष्ठस्य ब्राह्मम् ॥' तीर्थं त्रिविधम्, जङ्गममानसस्थावरभेदात्। तथाहि—'ब्राह्मणा जङ्गमं तीर्थं निर्मलं सार्वकामिकम्। येषां वाक्योदयेनैव शुद्धयन्ति मलिना जनाः ॥' अगस्तिरुवाच–'शृणु तीर्थानि गदतो मानसानि ममानघे। येषु सम्यङ् नरः स्नात्वा प्रयाति परमां गतिम् ॥ सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः। सर्वभूतदया तीर्थं सर्वत्रार्जवमेव च ॥ दानं तीर्थं दमस्तीर्थं सन्तोषस्तीर्थमुच्यते। ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता ॥ ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं पुण्यतीर्थमुदाहृतम्। तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा ॥ एतत्ते कथितं देवि मानसं तीर्थलक्षणम्। भौमानामपि तीर्थानां पुण्यत्वे कारणं शृणु ॥ यथा शरीरस्योद्देशाः केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः। तथा पृथिव्यामुद्देशाः केचित्पुण्यतमाः

उपासना रूप होने से ये ही अतिरात्र याग के फल भी हैं। संवत्सर भी यहाँ फलस्वरूप ही माना गया है। 'प्रस्नान्ति' पद में प्र उपसर्ग पूर्वक स्ना धातु प्रतरण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'गाधमेव प्रतिष्ठा महाव्रतम्' इत्यादि वाक्य में आये 'उत्स्नान्ति' पद का अर्थ उत्तरण है। इस तरह से इस पूरे प्रकरण में लोक प्रसिद्ध तीर्थों का अपलाप करने वाला न तो कोई वाक्य या पद ही है और न व्यंग्यार्थ के माध्यम से ही उनका निषेध किया जा सकता है। कोश प्रभृति ग्रन्थों में क्षेत्र प्रभृति के अर्थ में भी तीर्थ पद का प्रयोग विहित है। जैसे कि तीर्थ शब्द का प्रयोग शास्त्र के लिये, शास्त्र की आज्ञा के लिये, यज्ञ के लिये, पुण्य क्षेत्र के लिये तथा उपाय, स्त्रीरज, जल में उतरने की सीढ़ी, ऋषि द्वारा स्वीकृत जल और विद्या की पात्रता वाले व्यक्ति के लिये भी होता है। विद्या की पात्रता वाले व्यक्ति ये हैं—ब्रह्मचारी, धन देनेवाला, मेधावी पुरुष, श्रोत्रिय, प्रिय व्यक्ति और एक विद्या के बदले दूसरी विद्या देने वाला। आथर्वण श्रुति के अनुसार ये छः तीर्थ होते हैं। उपाध्याय, गुरु, मन्त्री, सत्री (यज्ञकर्ता), योनि, दर्शन, निपान (कुँआ या हौज), नदी आदि का घाट, जलाशय का तीर, मद्य, विप्र (ब्राह्मण) इन सबके लिये भी तीर्थ शब्द का प्रयोग होता है। 'तीर्यतेऽनेन' अथवा 'तरन्ति अनेन' इन दोनों विग्रहों में तीर्थ शब्द बनता है। अमरकोश में बताया गया है कि अंगुली के अग्रभाग में दैव तीर्थ, कानी अंगुली के मूल में काय तीर्थ, अंगुष्ठ और अंगुलियों के बीच में पित्र्य तीर्थ और अंगुष्ठ के मूल में ब्राह्म तीर्थ की स्थिति है। तीर्थ तीन तरह के होते हैं—स्थावर, जंगम और मानस। इनमें ब्राह्मण जंगम (चलता फिरता) तीर्थ है। यह निर्मल तीर्थ सभी कामनाओं को पूरा करने वाला है। इन ब्राह्मणों के मुख से शुभ वाक्य निकलते ही मलिन (पापी) आदमी भी पवित्र हो जाते हैं। मानस तीर्थों का वर्णन करते हुए अगस्ति ऋषि कहते हैं—हे अनघे, अब मैं मानस तीर्थों का वर्णन कर रहा हूँ। उनके नाम तुम सावधानी से सुनो। मनुष्य इन तीर्थों में स्नान करके परम गति को प्राप्त करता है। सत्य बोलना, क्षमा करना, इन्द्रियों को वश में रखना, सब प्राणियों पर दया करना, सबके साथ सीधासादा व्यवहार रखना, दान देना, इन्द्रियों को गलत रास्ते पर जाने से रोकना, सन्तोष रखना, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना, सबके साथ मीठी बोली बोलना, ज्ञान और धैर्य का संचय करना, पुण्य कार्य करना—ये सब मानस तीर्थ हैं। इनमें सबसे बड़ा तीर्थ मन की परम विशुद्धि (पवित्रता) है। हे देवि, इस तरह से मैंने तुम्हें मानस तीर्थ का लक्षण समझाया है। भौम (पृथिवी संबन्धी) संबन्धी तीर्थ क्यों पवित्र होते हैं, इसका कारण भी मैं तुम्हें समझा रहा हूँ। जैसे शरीर के कुछ अंग अत्यन्त पवित्र माने जाते हैं, उसी तरह से पृथिवी के भी कुछ स्थान अत्यन्त पवित्र माने गये हैं। भूमि के अद्भुत प्रभाव से तथा सलिल (जल) की तेजस्विता के कारण, साथ ही

स्मृताः ॥ प्रभावादद्भुताद् भूमेः सलिलस्य च तेजसा । परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता ॥ तस्माद् भौमेषु तीर्थेषु मानसेषु च नित्यशः । उभयोरपि यः स्नाति स याति परमां गतिम् ॥' इति

तीर्थगमने दोषो यथा—'अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च । अदत्त्वा काञ्चनं गाश्च दरिद्रो नाम जायते ॥' तीर्थगमने फलं यथा—अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः । न तत्फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत् ॥ तीर्थान्यनुस्मरन् धीरः श्रद्दधानः समाहितः । कृतपापो विशुद्धयेत किं पुनः शुद्धकर्मकृत् ॥ तिर्यग्योनिं न वै गच्छेत् कुदेशे न च जायते । न दुःखी स्वर्गभागी च मोक्षोपायं च विन्दति ॥

तीर्थफलभागिनो यथा—'यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् । विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ प्रतिग्रहादुपावृत्तः सन्तुष्टो येन केनचित् । अहङ्कारविमुक्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ अदाम्भिको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः । विमुक्तः सर्वसङ्गैर्यः स तीर्थफलमश्नुते ॥ अकोपनोऽमलमतिः सत्यवादी दृढव्रतः । आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥ अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः । हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः ।' इति काशीखण्डम् । 'कृते तु पुष्करं तीर्थं त्रेतायां नैमिषं तथा । द्वापरे तु कुरुक्षेत्रं कलौ गङ्गां समाश्रयेत् ॥' इति शब्दचिन्तामणिः । तस्माद् गङ्गादीनि न तीर्थानीति रिक्तं वचः ।

एवं पुराणादिप्रामाण्याद् गङ्गावाराणस्यादिरूपाणि जलस्थलरूपाणि तीर्थान्यपि मनुष्यान् तारयन्त्येव । यदुक्तम्—'जलस्थलादीनि नौकादिभिर्यानैः पद्भ्यां बाहुभ्यां च जनास्तरन्ति । तानि च कर्मकारकान्वितानि भवन्ति, करण-

मुनियों के द्वारा अपने निवास के रूप में स्वीकार किये जाने के कारण ये स्थल पवित्र हो जाते हैं । इस तरह से जो व्यक्ति भूमि संबन्धी तीर्थों में और ऊपर वर्णित मानस तीर्थों में नित्य स्नान करता है, वह परम गति को प्राप्त करता है ।

शास्त्रों में तीर्थयात्रा न करने पर दोष भी बताया गया है—तीन रात्रि तक जो उपवास नहीं करता, तीर्थयात्रा नहीं करता, सुवर्ण और गायों का दान नहीं करता, वह व्यक्ति दूसरे जन्म में दरिद्र होता है । तीर्थयात्रा का फल इस तरह से वर्णित है—तीर्थयात्रा करने से जो फल मिलता है, वह भारी दक्षिणावाले अग्निष्टोम प्रभृति यज्ञों के अनुष्ठान से भी नहीं मिलता । धीर व्यक्ति इन तीर्थों का स्मरण करके, इन पर श्रद्धा रखकर, अपने मन को स्थिर रखकर तीर्थयात्रा करता है, तो वह भले ही पाप कर्मों का ही आचरण करता हो, शुद्ध हो जाता है । फिर जो व्यक्ति पुण्यवान् है, उसके लिये कहना ही क्या है ? तीर्थयात्रा करनेवाला व्यक्ति कभी तिर्यग् योनि में जन्म नहीं लेता, कुदेश में पैदा नहीं होता और वह कभी दुःखी नहीं होता । वह स्वर्ग को प्राप्त करता है और मोक्ष की प्राप्ति के उपाय को भी वह पा लेता है ।

तीर्थयात्रा का फल इनको मिलता है—'जिसके दोनों हाथ-पैर और मन अपने वश में हैं, जो विद्या, तप और कीर्ति से सम्पन्न है, वही तीर्थयात्रा के फल को प्राप्त करता है । जो किसी से दान नहीं लेता, जो कुछ मिल जाता है उसी से खुश रहता है, जो अहंकारी नहीं है, उसीको तीर्थयात्रा का फल मिलता है । जो दम्भ नहीं करता, बहुत हाथ-पैर नहीं मारता, थोड़ा आहार करता है, जितेन्द्रिय है, सभी तरह की आसक्तियों से रहित है, वही तीर्थयात्रा का लाभ उठाता है । जो क्रोधी नहीं है, निर्मल बुद्धिवाला, सत्यवादी, दृढ़ विश्वासवाला और सभी प्राणियों को अपने ही समान देखनेवाला है, उसी को तीर्थयात्रा फलदायक होती है । जो श्रद्धा से रहित है, पापी, नास्तिक, संशयालु और मिथ्या तर्कों का सहारा लेनेवाला है, उसको तीर्थयात्रा का फल कभी नहीं मिलता । ये सब वचन स्कन्दपुराण स्थित काशीखण्ड के हैं । शब्दचिन्तामणि में बताया गया है कि सत्ययुग का तीर्थ पुष्कर है, त्रेता का नैमिषारण्य, द्वापर का कुरुक्षेत्र और कलियुग का तीर्थ गंगा है । इन सब प्रमाणों को देखते हुए यह निरी खोखली बात है कि गंगा प्रभृति पवित्र स्थल तीर्थ नहीं कहलाते ।

इसी तरह से पुराण प्रभृति ग्रन्थों के आधार पर गंगा, वाराणसी प्रभृति जलमय अथवा स्थलमय तीर्थ भी मनुष्यों को तारने वाले माने जाते हैं । इस विषय में स्वामी दयानन्द कहते हैं—'तीर्थ शब्द करणकारक युक्त लिया जाता है, जो जल या स्थान

कारकान्वितानि तु नौकादोनि । नैवं जलं स्थलं च तारकं कदाचिद् भवितुमर्हति, तत्र सामर्थ्याभावात् करणकारकव्युत्पत्त्यभावाच्च' (पृ०३३७) इति। तदेतद् दृढाज्ञानविजृम्भितम् । यज्ञाचार्यशास्त्रेषु त्वदभिमततीर्थेष्वपि तारकसामर्थ्याभावेनातीर्थत्वप्रसङ्गात् । यदि तत्र परोपकारज्ञानादिजननद्वारा तारकत्वमभ्युपेयते, तदा तथैव जलस्थलादीनामपि गमनस्नानादिभिः पुण्यजननप्रभावद्वारा तारकत्वोपपत्तेः । करणव्युत्पत्त्यैव कारकत्वे नौकावाहनादीनामपि तीर्थत्वापत्तिः स्यात् । नौकादिवद्यज्ञादीनां तरणसाधनत्वाभावेन तेषामप्यतीर्थत्वापत्तेश्च । वस्तुतस्तु वेदविहितानि यज्ञादिकर्माण्यपि पुण्यजननद्वारैव तारकाणि भवन्ति, तथैव काशीप्रयागपुष्करगङ्गायमुनादीनामपि तीर्थसंज्ञाऽक्षुण्णैव ।

किञ्च, 'आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथ्वी पूता पुनातु माम्' इत्यादिभिरपां पावनत्वं प्रसिद्धमेव । गङ्गाजले तु पाश्चात्यैर्वैज्ञानिकैरपि विविधरोगाणुनाशकत्वमिष्यते । डाक्टर ई० एच० हैकिन्समहाशयः, यो ब्रिटिशशासनकाले मध्यप्रान्ते 'केमिकल एग्जामिनर' (रसायनपरीक्षक) पदे नियुक्त आसीत्, गङ्गाजलं परीक्षितवान् । तेन वाराणस्यां गङ्गायां पतन्त्यो मलनालिका अनन्तानन्तप्लेगादिभीषणरोगकीटायुक्ता दृष्टाः । गङ्गाजले पातानन्तरमेव लुप्यमानाः कीटाणवो दृष्टाः । तेनैकदा गङ्गाजलपूर्णेषु कूपजलपूर्णेषु च काचपात्रेषु विषूचिकाकीटाणवो निक्षिप्ताः । षड्घण्टासमनन्तरमेव गङ्गाजलपात्रगताः कीटाणवो नष्टाः, कूपजलपात्रगताश्च वृद्धिं गताः । प्रसिद्धो यात्री मार्कट्वइन्महाशयः स्वकीये संसारयात्रापुस्तके लिखितवान्—'मया गङ्गाजलं परीक्षितम् । तत्र रोगाणुनाशिनी शक्तिरस्ति । तत्पानाद् बहवो रोगा नश्यन्ति' इति । डाक्टररिचर्डसन्महाशयेनोक्तं गङ्गानामोच्चारणाद् गङ्गादर्शनाच्च मानवहृदयेषूत्तमप्रभावो भवति । 'गुड हेल्थ' पत्रे मिस्टर सी० ई० नैल्सनमहाशयस्य कश्चन गङ्गाजलसम्बन्धे लेखः प्रकाशितः । ततः 'लीडर', स्टेटसमैन' पत्रयोरपि स लेख उद्धृतः । गङ्गाजलस्य

विशेष अधिकरण या कर्मकारक होते हैं, उनमें नाव आदि अथवा हाथ और पैर से तैरते हैं । इससे जल या स्थल कभी तारने वाले नहीं हो सकते । इसलिये कि यदि जल में हाथ या पैर न चलावे या नौका आदि पर न बैठे, तो कभी नहीं तर सकते । इस युक्ति से काशी, प्रयाग, गंगा, यमुना, समुद्र आदि तीर्थ नही सिद्ध हो सकते' (पृ० ३४२) यह कथन भी उनके घोर अज्ञान को ही उजागर करता है, क्योंकि शास्त्रों में आपके द्वारा बताये गये (स्वीकार किये गये) तीर्थों (यज्ञ आदि साधनों) में भी पार पहुँचाने की सामर्थ्य न रहने से इस पद का प्रयोग गलत होने लगेगा । यदि ऐसे स्थलों पर परोपकार और ज्ञान आदि की उत्पत्ति के द्वारा उनकी तारकता मानी जाती है, तो उसी तरह जलमय और स्थलमय तीर्थ स्थानों में स्नान करने से और जाने से पुण्य प्रभाव की उत्पत्ति के द्वारा तारकता स्वीकार की ही जा सकती है । करण व्युत्पत्ति के आधार पर ही यदि कारकता मानी जाय, तब तो नौका अथवा किसी भी वाहन को तीर्थ कहना पड़ेगा । नौका आदि की तरह यज्ञ आदि में भी तारकता नहीं देखी जाती, तब उनको भी तीर्थ (पवित्र कार्य) की कोटि से हटा देना पड़ेगा । वास्तव में तो जैसे वेद विहित यज्ञ प्रभृति पवित्र कर्म पुण्य को उत्पन्न करके कर्ता को तारते हैं, उसी तरह से काशी, प्रयाग, गंगा, यमुना प्रभृति पुण्य स्थलों की यात्रा से भी पुण्य उत्पन्न होता है और मनुष्य आवागमन के क्रम से छुटकारा पाता है, अतः इनको तीर्थ नाम से पुकारने में कोई दोष नहीं है ।

'आप; पुनन्तु०' प्रभृति मन्त्रों में जल को पवित्र माना ही गया है । गंगाजल में तो पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी विविध रोगों के कीटाणुओं को नष्ट कर देने की शक्ति मानी है । डाक्टर ई० एच० हैकिन्स महाशय ने (जो कि ब्रिटिश शासन काल में मध्य प्रान्त में रासायनिक परीक्षक (केमिकल एग्जामिनर) थे गंगा जल की परीक्षा की थी । उसने देखा कि वाराणसी में गंगा में गिरने वाले गन्दे नाले-नालियों में हजारों-हजार प्लेग प्रभृति भीषण रोगों के कीटाणु विद्यमान थे, किन्तु गंगा के जल में गिरने के बाद ये सब कीटाणु अपने आप नष्ट हो गये । उसने एक बार गंगा जल से भरे हुए और कुएँ के जल से भरे हुए कांच के बर्तनों में हैजे के कीटाणु डाल दिये । छः घंटे के बाद गंगाजल में गिराये गये कीटाणु नष्ट हो गये और कुएँ के गिराये गये कीटाणुओं की संख्या बढ़ गई । इसी तरह से प्रसिद्ध यात्री मार्क-ट्वइन ने अपनी संसार यात्रा का विवरण देने वाली पुस्तक में लिखा है कि मैंने गंगा जल की परीक्षा की है, उसमें रोगाणुओं को नष्ट कर देने की शक्ति है । उसके पीने से बहुत से रोग नष्ट हो जाते हैं । डाक्टर रिचर्डसन् महाशय ने कहा है कि गंगा का नाम लेने से और उसका दर्शन करने से मनुष्यों के हृदय पर अच्छा प्रभाव पड़ता है । मिस्टर सी० ई० नैल्सन महाशय ने 'गुड हेल्थ' नामक पत्र में गंगा

पावित्र्यं सर्वमान्यम् । अत्र विपूचिकापाकव्रणादिनाशिन्यो विलक्षणाः शक्तयः सन्ति । ताम्रपात्रे रक्षितं गङ्गाजलमनेकवर्षपर्यन्तमपि न विकृतिमुपैति । अन्यजलेषु शीघ्रमेव विकारो जायत इति प्रत्यक्षमेव । तत एव 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि' (ऋ० सं० १०।७५।५) इति मन्त्रे गङ्गा संस्तुता । 'सितासिते सरिते यत्र सङ्गते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति । ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासोऽमृतत्वं भजन्ते ॥ (ऋ० सं०) इति मन्त्रे गङ्गायमुनयोः सङ्गमस्नानेन स्वर्गप्राप्तिरुक्ता । 'स्रोतसामस्मि जाह्नवी' इति गीतयापि गङ्गाया भगवद्विभूतिरूपत्वमुक्तम् । वाल्मीकीये रामायणे सीतयापि गङ्गापूजनं कृतम् । चरकसंहितायामपि गङ्गाजलं पथ्यमुक्तम् । पुराणेतिहासादिप्रमाणतो वेदशास्त्रानुयायिनामनादिकालात् पौर्णमास्यां हरिद्वार-कनखल-प्रयाग-वाराणसी-गङ्गासागरादिस्थानेषु गङ्गास्नानसमारोहदर्शनाद् वीतरागाणां ब्रह्मविद्वरिष्ठानां निःसङ्गानां गङ्गाश्रयणदर्शनाच्च लोकोत्तरं गङ्गादिमाहात्म्यं प्रत्येतव्यम् । इदानीं कुम्भाद्यवसरेषु सामाजिका अपि हरिद्वार-प्रयागादिषु यान्ति, प्रचारशिविराणि च संयोजयन्ति । यदि ते गङ्गादीनां तारकत्वं पापनाशकत्वं नाभ्युपयन्ति, तर्हि कर्मनाशादिषु कथं न यान्ति स्नान्ति च । साक्षात्तारकत्वं ब्रह्मात्मसाक्षात्कार एवास्ति । पारम्पर्येण तु देवविप्रसद्गुरुशास्त्रादिषु यथा तारकत्वम्, तथैव तपोयज्ञदानादिसत्कर्मसु गङ्गा-प्रयाग-पुष्करादिजलस्थलतीर्थेष्वप्यस्त्येव तारकत्वम् ।

यत्तूक्तम्—'इडा-पिङ्गला-सुषुम्णा-कूर्मनाड्यादीनां गङ्गादिसंज्ञास्तीति । तासां योगसमाधौ परमेश्वरस्य ग्रहणात्' (पृ० ३३८) इति, तत्तुच्छम्, प्रसिद्धार्थपरित्यागेऽप्रसिद्धार्थग्रहणे च मानाभावात् । तासां योगसमाधौ परमेश्वरस्य ग्रहणादित्यसङ्गतेश्च । तास्वित्यस्यैव साधुत्वात् । किञ्च, योगग्रन्थे तु पावनत्वगुणयोगादेवेडादिषु गङ्गादिशब्दप्रयोगः कृतः, अनेकार्थे शक्तिस्वीकारे गौरवात् । किञ्च, कुत्र नाड्यां गङ्गापदप्रयोगः, क्व यमुना, क्व वा सरस्वती । क्व वा शुतुद्रि इति वक्तव्यम्, यथेच्छप्रयोगेऽव्यवस्थायाति । तस्मात् प्रसिद्धनदीषु गङ्गादिप्रयोगदर्शनान्नदीवाचकान्येव गङ्गादिपदानि मुख्यानि,

जल के सम्बन्ध में एक लेख छपवाया था । इस लेख को बाद में लीडर और स्टेट्समैन ने भी उद्धृत किया था । गंगा जल की पवित्रता को सब कोई स्वीकार करते हैं । इसमें हैजा, कोढ़ प्रभृति रोगों के जीवाणुओं को नष्ट करने की अद्भुत शक्ति है । तांबे के बर्तन में रखा गया गंगा जल अनेक वर्षों तक नहीं बिगड़ता । दूसरे जल शीघ्र ही विकृत हो जाते हैं, यह प्रत्यक्ष ही देखा जाता है । इसीलिये 'इमं मे गङ्गे०' प्रभृति मन्त्र में गङ्गा की स्तुति की गई है । 'सितासिते सरिते०' प्रभृति मन्त्र में गङ्गा और यमुना के सङ्गम में स्नान करने से स्वर्ग की प्राप्ति की बात कही गई है । गीता के विभूति अध्याय में नदियों में जाह्नवी (गङ्गा) को भगवान् की विभूति बताया गया है । वाल्मीकि रामायण में सीता के भी गङ्गा के पूजन करने का वर्णन है । चरक संहिता में भी गङ्गा जल को पथ्य माना है । पुराण, इतिहास आदि ग्रन्थों के प्रमाण पर वेद शास्त्रों के अनुयायी अनादि काल से पूर्णमासी के दिन हरिद्वार, कनखल, प्रयाग, वाराणसी, गङ्गासागर प्रभृति स्थानों में बड़े समारोह के साथ गङ्गा स्नान करते देखे गये हैं, बड़े बड़े ब्रह्मवेत्ता, वीतराग, सभी तरह के संसार के संग (आसक्ति) से रहित महात्मा भी गङ्गा के तीर का सहारा लेते देखे गये हैं । इन्हीं सब कारणों से गङ्गा का लोकोत्तर माहात्म्य प्रतीत होता है । आज कल कुम्भस्नान आदि के अवसरों पर आर्यसमाजी भी हरद्वार, प्रयाग आदि तीर्थ स्थानों में जाते हैं और अपने मत का प्रचार करने के लिये शिविर लगाते हैं । यदि वे गङ्गा प्रभृति को तारक और पापनाशक नहीं मानते तो तो फिर वे कर्मनाशा प्रभृति नदियों के किनारे अपना शिविर क्यों नहीं लगाते ? और उनमें स्नान क्यों नहीं करते ? साक्षात् तारकता यद्यपि ब्रह्मात्मसाक्षात्कार में ही मानी जाती , किन्तु देव, ब्राह्मण, सद्गुरु, सच्छास्त्र आदि में जैसे परम्परया तारकता मानी जाती है, उसी भांति तप, यज्ञ, दान प्रभृति सत्कर्मों में और गङ्गा, यमुना, पुष्कर प्रभृति तीर्थों में भी तारकता विद्यमान है ।

स्वामी दयानन्द आगे कहते हैं कि 'इमं मे गङ्गे०' प्रभृति मन्त्र में गङ्गा प्रभृति पद इडा, पिंगला, सुषुम्णा, कूर्म और जठराग्नि की नाड़ियों के हैं । इनमें योगाभ्यास से परमेश्वर की उपासना करने से मनुष्य सब दुःखों से तर जाते हैं' (पृ० ३४२), किन्तु यह कथन एक दम निराधार है, क्योंकि इस तरह से गङ्गा प्रभृति का प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर अप्रसिद्ध अर्थ करने में कोई प्रमाण आपके पास नहीं है । इनकी योग समाधि में परमेश्वर का साक्षात्कार होने की बात भी गलत है, क्योंकि इन नाडियों में समाधि का अभ्यास किया जाता है, अतः यहां षष्ठी विभक्ति का प्रयोग न कर सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होना चाहिये । योगाशास्त्र के ग्रन्थों में

अन्यत्र तु गौणान्येव। यत्तु—'नहीदं नदीपदं भूमिस्थजलधारावाचकमेव' (३३८ पृ० टि०) इति, तत्तुच्छम्, अन्यत्र नदीपदप्रयोगाप्रसिद्धेः। यदुक्तं टिप्पण्याम्—'वैदिकपदानां यौगिकत्वात्' इति, तदपि तुच्छम्, नहि गोतक्षपरिव्राजकशव्दानां यौगिकार्थत्वेऽपि सर्वत्र गमनशीलतक्षणादिकार्यरतेषु प्रयोगः सम्भवति। तस्मादकामेनापि योगरूढत्वमेवाभ्युपेतव्यम्। अर्थनिश्चयायोपक्रमोपसंहारादिव्यवस्था सामाजिकैर्नहि सूक्तेष्वङ्गीक्रियते। नहि किरणमेघादिपदार्थेषु धाराशव्दप्रयोगः क्वचन दृश्यते।

गङ्गायमुनयोः सङ्गममधिकृत्य यदुक्तम्—'नैव तत्राप्लुत्य स्नानं कृत्वा दिवं द्योतनात्मकं परमेश्वरं सूर्यलोकं वोत्पतन्ति गच्छन्ति, किन्तुः पुनः स्वकीयं स्वकीयं गृहमागच्छन्ति' (पृ० ३३८) इति, तत्तुच्छम्, 'वारिदस्तृप्तिमाप्नोति' इतिवत् कार्यकारणभावबोधने वाक्यस्य तात्पर्यात्। यथा नहि वारिदस्तत्कालमेव तृप्तिमाप्नोति, 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्युक्त्याऽग्निहोत्रहोमानन्तरमेव स्वर्गमवाप्नोति, किन्तु यथा देहपातानन्तरमेव स्वर्गादिप्राप्तिस्तत्रेष्यते, तथैव प्रकृतेऽपि बोध्यम्।

यत्तु—'सितशव्देनेडाया असितशब्देन पिङ्गलायाश्च ग्रहणम्। यत्रैतयोर्नाड्योः सुषुम्णायां समागमो मेलनं भवति, तत्र कृतस्नानाः परमयोगिनो दिवं प्राप्नुवन्ति' (पृ० ३३८) इति, तदपि निर्मूलम्, सितासितशव्दयोः श्वेतकृष्णवर्णयोः प्रसिद्धावपि 'सरिते' इति विशेष्यपदोपादानाद् गङ्गायमुनयोरर्थयोस्तयोर्ग्रहणेऽपीडापिङ्गलयोस्तयोरर्थयोर्ग्रहणे मानाभावात्। नहि ते नाड्यौ सितासिते स्त इत्यत्र मानमस्ति। न वात्र यौगिकोऽर्थस्तथाविधः सम्भवति, (षिञ् बन्धने) इत्यस्य धातो-

गङ्गा प्रभृति नदियों की तरह ही इन नाड़ियों में भी पावनता गुण की विद्यमानता के कारण गौण प्रयोग किया गया है, क्योंकि पद भी अनेक अर्थों में मुख्य वृत्ति मानने पर गौरव दोष आता है। फिर आप यह नहीं बता सकते कि किस नाडी के लिये गङ्गा पद का, किसके लिये यमुना पद का और किसके लिये सरस्वती और शुतुद्रि पद का प्रयोग किया गया है। मनमाना प्रयोग करने पर तो अव्यवस्था हो जायगी। इन सब बातों को देखते हुए यही मानना पड़ेगा कि प्रसिद्ध नदियों में ही गङ्गा प्रभृति पदों का मुख्य प्रयोग होने से वही इनका मुख्य अर्थ है और अन्यत्र नाडी आदि में इनका प्रयोग गौण रूप से किया जाता है। पृ० ३३८ की टिप्पणी में कहा गया है कि यहाँ नदी पद का प्रयोग भूमि पर बहती हुई जल धारा के लिये नहीं किया गया है, किन्तु यह कथन भी एकदम निःसार है, क्योंकि इसके सिवाय किसी दूसरे अर्थ में नदी शब्द का प्रयोग होता ही नहीं। टिप्पणी में यह भी कहा गया है कि वैदिक पद यौगिक होते हैं, किन्तु यह भी गलत है, क्योंकि गो, तक्षा, परिव्राजक प्रभृति शब्दों को यद्यपि यौगिक माना जाता है, किन्तु उनका प्रयोग सदा चलने वाली गाय, लकड़ी छीलते हुए आदमी आदि में न होकर इन कार्यों को करने वाले व्यक्तियों में होता है। इस तरह से न चाहते हुए भी आपको शब्दों की योगरूढ़ता माननी पड़ेगी। सूक्तों के अर्थ का निश्चय करने के लिये उपक्रम, उपसंहार प्रभृति लिंगों की व्यवस्था आर्यसमाजी नहीं स्वीकार करते। किन्तु यह स्पष्ट है कि किरण, मेघ प्रभृति पदार्थों में धारा शब्द का प्रयोग कहीं नहीं देखा गया है।

गङ्गा और यमुना के संगम प्रयागराज के विषय में कहा गया है—'इस संगम में स्नान करके कोई प्रकाश स्वरूप परमेश्वर अथवा सूर्यलोक में नहीं पहुंच जाता, किन्तु स्नान करके सब कोई अपने अपने घर ही जाते हैं', किन्तु यह कथन भी बचकानापन है। (पितरों को) 'जल देने वाला तृप्ति प्राप्त करता है' इस वचन में कार्यकारणभाव को बताना वाक्य का प्रयोजन है। जैसे जल देनेवाला तत्काल तृप्त नहीं होता, अग्निहोत्र करने के तुरन्त बाद स्वर्ग नहीं मिल जाता, किन्तु देहपात के बाद ही वह स्वर्ग में जाता है, उसी तरह से प्रकृत स्थल में भी समझना चाहिये।

'सित शब्द इडा और असित शब्द पिंगला का वाचक है। ये दोनों नाडियाँ जहाँ सुषुम्णा में मिली है, उसमें परम योगी लोग योगाभ्यास से स्नान करके शुद्ध हो जाते हैं। फिर शुद्ध रूप परमेश्वर को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहते हैं' (पृ० ३४२) यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि सित और असित शब्द यद्यपि शुक्ल और कृष्ण वर्ग के अर्थ में ही प्रसिद्ध है, किन्तु 'सरिते' इस विशेष्य पद के आधार पर इनसे गङ्गा और यमुना अर्थ का ग्रहण तो हो सकता है, किन्तु इनका इडा और पिंगला अर्थ किसी भी प्रमाण

रर्थाननुगमात्। यदि त्वर्थानुगमेन नाडीनां श्वासबन्धनहेतुत्वेन प्रयोगोऽभीष्टश्चेत्तर्ह्युभयत्रापि सिताशब्दप्रयोगापत्तिः। सुपुम्ना च स्वतन्त्रा नाडी भवति। नहि तत्रोभयोर्नाड्योः सङ्गमो भवति। नह्युभयोः सङ्गमरूपेण क्वचिदपि सुपुम्णा वर्ण्यते, किन्तु स्वातन्त्र्येणैव। इयांस्तु विशेषः—इडापिङ्गलाभ्यामेकैकनासाछिद्रेण श्वासः प्रचलति, सुपुम्नया तूभाभ्यामिति। कथं च तत्र स्नानं सम्भवति ? अत्रापि नहि सुपुम्णायाः सत्तया ज्ञानेन वा परमात्मविज्ञानं परमात्मप्राप्तिर्वा भवति, तथाऽदर्शनात्। तथा च गङ्गायमुनयोः सङ्गमरूपे प्रयागे तु स्नानेन पुण्यमयमदृष्टं जायते। तेन जीवनदशायां पापक्षयेण स्वान्तःशुद्धिर्भवति। मरणानन्तरं ब्रह्मलोकादिप्राप्तिर्भवति।

यत्तु—'सितासितयोः प्रकाशान्धकारयोः सूर्यादिपृथिव्यादिपदार्थयोर्यत्रेश्वरसामर्थ्ये समागमो भवति, तत्र कृतस्नानास्तद्विज्ञानवन्तो दिवमुत्पतन्ति' (पृ० ३३८) इति, तदपि तुच्छम्, असम्भवात्। प्रकाशान्धकारयोर्विरोधेनैकत्र स्थानासम्भवेन सङ्गमासम्भवात्। पृथिव्याश्च सूर्यसम्बन्धदर्शनात् पृथिव्यादेरन्धकाररूपत्वासम्भवाच्च। नह्यन्धकारस्य प्रकाशसापेक्षेण चक्षुषा प्रकाशः, प्रकाशे सत्यन्धकारस्य निवृत्तेः। पृथिव्यास्तु प्रकाशसापेक्षेणैव चक्षुषा प्रकाशो भवति, न प्रकाशनिरपेक्षेणेति महान् भेदः। ईश्वरसामर्थ्ये सूर्यपृथिव्योः सङ्गमोऽपि न सम्भवति, सामर्थ्यस्यामूर्तत्वेन तत्र तयोरसम्भवेन सङ्गमस्याप्यसम्भवात्। कारणदशायां कार्यस्यासत्त्वात्। न च शक्त्यात्मन्यप्यवस्थानं सम्भवति, शक्तेः सामर्थ्यानतिरिक्तत्वात्। न च तज्ज्ञानेऽपि परमात्मप्राप्तिः सम्भवति, ब्रह्मात्मयाथात्म्यज्ञानादेव तत्प्राप्तिश्रवणात्। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादिश्रुतिभ्यः। परमात्मसामर्थ्यात् सर्वं जगदुत्पद्यत इति ज्ञानस्य श्रुति-

के आधार पर नहीं हो सकता। ये दोनों नाड़ियाँ शुक्ल और कृष्ण वर्ण की हैं, इसमें कोई शास्त्रोय वचन प्रमाण रूप में मिलता भी नहीं हैं। इस तरह का यौगिक अर्थ भी नहीं हो सकता। पिञ् धातु बन्धन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सित शब्द को इस धातु से बनाकर ये नाडियाँ भी श्वास को बांधने वाली हैं, इस रूप में नाड़ियों को भी सित कहा जा सकता है, किन्तु उस अवस्था में इडा और पिंगला दोनों ही नाडियों के लिये 'सिता' शब्द का ही प्रयोग होगा, असिता का नहीं। फिर सुपुम्णा एक स्वतन्त्र नाड़ी है। इसमें इड़ा और पिंगला का संगम नहीं होता। इस रूप में सुपुम्णा का वर्णन कहीं नहीं मिलता, किन्तु यह सर्वथा एक स्वतन्त्र नाड़ी मानी जाती है। इनमें विशेपता इतनी ही है कि इड़ा और पिंगला नाड़ियों के सहारे एक एक नासिका छिद्र से श्वास चलता है और सुपुम्णा नाडी की सहायता से दोनों नाडियों में इसका समान रूप से संचार होता है। इन नाड़ियों में स्नान कैसे किया जा सकता है ? सुपुम्णा की सत्ता मात्र से या उसका ज्ञान हो जाने मात्र से परमात्मा का ज्ञान अथवा उसकी प्राप्ति नहीं हो जाती, क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता। गङ्गा और यमुना के संगम स्थल प्रयाग में तो स्नान करने से पुण्यमय अदृष्ट पैदा होता है। इससे जब तक मनुष्य जीवित रहता है, उसके पापों के क्षय हो जाने से चित्त की शुद्धि होतो हैं और मृत्यु के वाद ब्रह्मलोक आदि की प्राप्ति होती है।

आगे स्वामी दयानन्द लिखते हैं 'सित और असित, प्रकाश और अन्धकार स्वरूप सूर्य और पृथिवी प्रभृति पदार्थों का जब ईश्वर की सामर्थ्य से संपर्क होता हैं, तो इस अवस्था में प्रविष्ट व्यक्ति परमेश्वर का साक्षात्कार पाकर आनन्द लोक में प्रविष्ट हो जाते हैं' किन्तु यह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि ऐसा सम्भव नहीं है। प्रकाश और अन्धकार एक ही जगह नहीं रहते, उनका संगम कैसे हो सकता है ? इसके विपरीत सूर्य और पृथिवी का तो परस्पर संवन्ध वन सकता है। पृथिवी आदि को अन्धकार रूप माना भी नहीं जाता। प्रकाश की सहायता से चक्षु अन्धकार को प्रकाशित नहीं कर सकता, क्योंकि प्रकाश होने पर तो अन्धकार दूर हो जायगा। इसके विपरीत पृथिवी तो प्रकाश की सहायता लेकर चक्षु से प्रकाशित होती है, विना प्रकाश की सहायता लिये नहीं। इस तरह से भी अन्धकार और पृथिवी में बड़ा अन्तर है। ईश्वर की सामर्थ्य में सूर्य और पृथिवी का संगम भी नहीं हो सकता, क्योंकि सामर्थ्य तो अमूर्त पदार्थ है, अतः इसमें सूर्य और पृथिवी जैसे मूर्त पदार्थों का संगम कैसे हो सकता है ? कारण दशा में तो कार्य की सत्ता मानी नहीं जाती। शक्ति के रूप में भी इनकी सत्ता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि शक्ति कोई सामर्थ्य से अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। ईश्वर के सामर्थ्य के ज्ञान से परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो जाती, क्योंकि उसकी प्राप्ति तो ब्रह्मात्मतत्त्व के यथावत् ज्ञान से ही होती है। श्रुति में वताया गया है कि ब्रह्मात्मतत्त्व को जान करके ही मनुष्य इस संसार से मुक्त हो सकता है, इसके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है। परमात्मा की सामर्थ्य से ही सारा जगत् उत्पन्न होता है, इसका ज्ञान भी श्रुति और तर्क की सहायता से ही मिलता

युक्तिभ्यां सौलभ्यात् । शास्त्रज्ञा अनुमन्तारश्च जानन्त्येवैतत् । ब्रह्मात्मयाथात्म्यसाक्षात्कारस्तु मनननिदिध्यासनसहकृतवेदान्तश्रवणाद्यभ्याससाध्यः ।

मूर्तिपूजासमर्थनम्

यच्च—'तन्त्रपुराणादिग्रन्थोक्तस्य नामस्मरणस्य मूर्तिपूजादीनां च मिथ्यात्वम्, वेदादिसत्यग्रन्थे तस्य विधानाभावात्' (पृ० ३४२) इत्युक्तम्, तदपि तुच्छम्, शास्त्रानवबोधात् । 'एह्यश्मानमातिष्ठ अश्मा भवतु ते तनूः' 'विष्णोर्नाम चिद्विवक्तन' इत्यादिवैदिकवाक्येषु मूर्तिपूजादिविधानदर्शनात् ।

'प्रश्नः वेदेषु—प्रतिमाशब्दोऽस्ति न वा ? उत्तरम्—अस्ति । प्र० – पुनः किमर्थो निषेधः ? उ०—नैव प्रतिमार्थेन मूर्तयो गृह्यन्ते । किं तर्हि ? परिमाणार्था गृह्यन्ते' 'इति स्वोक्तिविरोधस्य स्पष्टमुदीयमानत्वात् । प्रतिपादेन मूर्तिग्रहणं न सम्भवति, परिमाणं तु बोध्यत इत्यस्यैवार्थस्यास्माद्वाक्यात् प्रतीयमानत्वात् । अतो 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' (वा० सं० ३२।३) इति मन्त्रे प्रतिमाशब्देन मूर्तिग्रहणं कुर्वाणस्य तस्य कथं न स्वोक्तिविरोधः ? मूर्तिपूजानिषेधकवाक्यानुपलम्भाच्च मूर्तिपूजानिषेधोऽप्रामाणिक एव ।

'संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे । सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज ॥' (अथर्व० ३।१०।३) इति मन्त्रस्यैव मूर्तिपूजाप्रतिपादनार्थत्वात् । दयानन्देनैवास्य मन्त्रस्य मूर्तिपूजार्थत्वप्रतिपादनात् । तथाहि मन्त्रस्यास्य दयानन्दीयोऽर्थः–'विद्वांसः संवत्सरस्य यां प्रतिमां परिमाणमुपासते वयमपि त्वा तामेवोपास्महे' (पृ० ३४४) इति । अयमभिप्रायः—मूर्तिपूजाऽचेतनत्वादेव मूर्तेर्नाङ्गीक्रियते सामाजिकैः । नित्यचैतन्यस्य विभोः परमात्मन एवोपासनं तैरङ्गीक्रियते । परमस्मिन्

है । शास्त्रज्ञ विद्वान् और उनके वचनों का आदर करने वाले इस बात को स्वीकार करते ही हैं । ब्रह्मात्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान मनन और निदिध्यासन के साथ वेदान्तशास्त्र का निरन्तर श्रवण और अभ्यास करने से ही हो सकता है ।

मूर्तिपूजा का समर्थन

आगे स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा और नाम स्मरण आदि को ढोंग बताते हुए लिखा है—'अब इसके आगे जो नवीन कल्पित तन्त्र और पुराण ग्रन्थ हैं, उनमें पत्थर आदि की मूर्तिपूजा तथा नाना प्रकार के नामस्मरण अर्थात् राम-राम, कृष्ण-कृष्ण काष्ठ आदि की माला, तिलक आदि का विधान करके उनको अत्यन्त प्रीति के साथ जो मुक्ति पाने के साधन मान रखे हैं, ये सब बातें भी मिथ्या ही जाननी चाहिये, क्योंकि वेद आदि सत्य ग्रन्थों में इन बातों का कहीं चिह्न भी नहीं पाया जाता' (पृ० ३४५), किन्तु यह कथन भी निराधार है । स्वामी दयानन्द शास्त्रों के अभिप्राय को ठीक से समझ नहीं पाये हैं । 'एह्यश्मानमातिष्ठ', 'विष्णोर्नाम चिद्विवक्तन०' प्रभृति वैदिक वाक्यों में स्पष्ट ही मूर्तिपूजा की विधि निर्दिष्ट है ।

मूर्तिपूजा को न स्वीकार करना अथवा वेद में प्रतिमा शब्द की सत्ता न मानना दयानन्द के अपने शब्दों से भी विरुद्ध है । उन्होंने इसी प्रकरण में प्रश्न किया है कि 'वेद में प्रतिमा शब्द है या नहीं ? इस प्रश्न का हाँ में उत्तर देकर उन्होंने पुनः प्रश्न किया है तब इसका निषेध आप क्यों करते हैं ? तब वे उत्तर देते हैं कि प्रतिमा शब्द से मूर्ति का ग्रहण नहीं होता, किन्तु प्रतिमा शब्द यहाँ परिमाण का वाचक है' (पृ० ३४३) उनके इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'न तस्य प्रतिमा' इस मन्त्र में प्रतिमा शब्द मूर्ति का वाचक न होकर परिमाण का बोधक है । वही व्यक्ति यदि यह कहे कि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' इस मन्त्र में प्रतिमा शब्द से मूर्ति का निषेध किया है, तो क्या यह उनकी दोनों बातें परस्पर विरुद्ध नहीं पड़ेंगी ? मूर्तिपूजा का निषेध करने वाला कोई भी वाक्य वेद में उपलब्ध नहीं है, अतः मूर्तिपूजा का खण्डन करना सर्वथा अप्रामाणिक है ।

'संवत्सरस्य प्रतिमा०' प्रभृति मन्त्र भी मूर्तिपूजा का ही प्रतिपादक है । दयानन्द ने स्वयं ही इसकी व्याख्या इस तरह से की है कि उससे यह मन्त्र मूर्तिपूजा का समर्थक हो जाता है । मन्त्र का दयानन्द ने यह अर्थ किया है—'विद्वान् लोग संवत्सर की जिस क्षण आदि काल के विभाग करने वाली रात्रि की उपासना करते हैं, हम लोग भी उसी का सेवन करें ।' (पृ० ३४६) । इस पर हमारा कहना है कि आर्यसमाजी मूर्तिपूजा को इसलिये नहीं मानते कि पत्थर की मूर्ति अचेतन है । सदा चैतन्य गुणविशिष्ट

मन्त्रे संवत्सरस्य प्रतिमोपासनमङ्गीकृतम् । इदमप्यचेतनास्यैवोपासनम् । परिमाणरूपस्य गुणस्य सर्वैरप्यचेतनत्वाङ्गीकारात् । संवत्सरोऽपि वर्षपरिमितः कालविशेष एव । तन्निष्ठो गुणविशेष एव परिमाणम् । उभावप्यचेतनावेव । यदि संवत्सरकालाधिष्ठात्री काचिच्चेतना देवतोपास्यत्वेनाङ्गीक्रियते, तदा तवापसिद्धान्त एव स्यात् ।

संस्कारविधौ च स्वामिना दयानन्देन लिखितम्—'ओषधे त्रायस्व' भो ओषधे बालं त्रायस्व, 'मैनं हिंसीः' एनं मा हिंसीः । अत्र कुशरूपौषधिः प्रार्थ्यते (पृ० ७४) । तृणस्याचेतनत्वात् तत्प्रार्थनं मूर्तिपूजनमेव । ॐ विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि' अत्र क्षुरस्य विष्णुदंष्ट्रात्वमुक्तम् । किं निराकारस्यापि दंष्ट्रादिकं भवति ? इदमप्यचेतनार्चनं मूर्तिपूजनमेव । ॐ शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते मा मा हिंसीः । हे स्वधिते, हे क्षुर, एनं मा हिंसीः' इति १९३३ संवत्सरे प्रकाशिते संस्कारविधिपुस्तके । तद्व्याख्यानं 'हे छुरे, तू इस बच्चे को मत मार' । इदानीन्तनेषु पुस्तकेषु तद्व्याख्यानं नोपलभ्यते । मन्ये सिद्धान्तभङ्गभीत्यैव तदपसारितं सामाजिकैः । तथाप्यन्यैरपि सामाजिकैरस्य मन्त्रस्यायमेवार्थो लिखितः ।

वेदेषु तु—'नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे' इत्यादिभिर्बहुभिर्मन्त्रैर्विद्युदादीनां तदधिष्ठात्रीणां देवतानां नमस्कारादिकं दृश्यते । दयानन्देनापि—ॐप्रतिपदे स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहा, अश्विन्यै स्वाहा, अश्विभ्यां स्वाहा' नामकरणप्रसङ्गे एता आहुतय उक्ताः । 'सानुगायेन्द्राय नमः' सानुगाय यमाय नमः, सानुगाय वरुणाय नमः, सानुगाय सोमाय नमः, मरुद्भ्यो नमः, वनस्पतिभ्यो नमः, श्रियै नमः, भद्रकाल्यै नमः, एताभ्यो देवताभ्य एकैकग्रासो देयः, इत्युक्तम् । नहि सानुगस्य मनुष्यस्यैकग्रासेन तृप्तिः सम्भवति, तस्मान्मनुष्यभिन्ना एव देवा इति तद्रीत्यापि सिद्ध्यति । सत्यार्थप्रकाशे १०० पृष्ठे 'वास्तु-

सर्वत्र व्यापक परमात्मा की ही उपासना का वे विधान करते हैं । परन्तु इस मन्त्र में संवत्सर की प्रतिमा की उपासना विहित है । यह भी अचेतन की ही उपासना हुई । परिमाण रूप गुण को सब कोई अचेतन मानते हैं । संवत्सर भी एक वर्ष के परिमाण वाला काल ही है । उसमें रहने वाला गुणविशेष ही परिमाण है । यह काल और उसमें रहने वाला गुण दोनों अचेतन हैं । यदि आप संवत्सर रूप काल की अधिष्ठात्री किसी चेतन देवता को उपास्य के रूप में स्वीकार करें, तो यह बात आपके स्वीकृत मत के विरुद्ध पड़ेगी । इस तरह से अचेतन काल को उपासना का विधान करने वाला उक्त मन्त्र स्वतः मूर्तिपूजा का समर्थक बन जाता है ।

इतना ही नहीं, संस्कारविधि में स्वामी दयानन्द स्वयं लिखते हैं—'ओषधे, त्रायस्व' हे ओषध, तुम इस बालक की रक्षा करो, इसको कुछ भी नुकसान न पहुचावो । यह प्रार्थना कुशा से की जाती है । अचेतन तृण की प्रार्थना करना मूर्तिपूजा ही तो है । 'ॐ विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि' इस मन्त्र में क्षुर (छुरा) को विष्णु की डाढ़ बताया गया है । क्या निराकार की भी डाढ़ हो सकती है ? अचेतन छुरे की प्रार्थना भी मूर्तिपूजा ही तो है । 'ॐ शिवो नामासि' इस मन्त्र में भी छुरे से प्रार्थना की गई है । संवत् १९३३ में प्रकाशित संस्कारविधि नामक अपनी पुस्तक में स्वामी दयानन्द ने इसकी व्याख्या की है—'हे छुरे, तू इस बच्चे को मत मार । आजकल की छपी संस्कारविधि की प्रतियों में यह व्याख्या नहीं दिखाई पड़ती । लगता है अपने सिद्धान्त (मत) के विपरीत इस बात को मानकर ही आर्यसमाजियों ने नये संस्करणों में से उस व्याख्या को निकाल दिया है । इतने पर भी अन्य आर्यसमाजी विद्वानों ने इसी अर्थ को स्वीकार किया है ।

वेदों में तो 'नमस्ते अस्तु विद्युते०' इस तरह के मन्त्रों में विद्युत् प्रभृति पदार्थों की अधिष्ठात्री देवताओं को नमस्कार किया गया है । स्वयं स्वामी दयानन्द ने भी प्रतिपत्, ब्रह्मा, अश्विनी, अश्विनीकुमार प्रभृति को नामकरण संस्कार के अवसर पर आहुति देने की बात लिखी है और बताया है कि सानुचर इन्द्र, यम, वरुण, सोम, मरुद्गण, आपोदेवता, वनस्पति, श्री, भद्रकाली प्रभृति देवताओं के निमित्त एक-एक ग्रास देना चाहिये । अपने अनुचर के साथ कोई भी मनुष्य एक ग्रास से तृप्त नहीं हो सकता । इसलिये मनुष्यों से भिन्न देवताओं की सत्ता आपकी ही इस तरह की बातों से सिद्ध हो जाती है । 'सत्यार्थप्रकाश' (पृ० १००) पर 'वास्तुपतये नमः' इस मन्त्र का उच्चारण कर एक ग्रास वास्तुदेवता के निमित्त देने की बात लिखी है । आर्यसमाजियों के घर में वास्तुदेवता

पतये नमः' इति मन्त्रमुच्चार्य एक ग्रासो देय इत्युक्तम्। नहि सामाजिकानां गृहेषु वास्तुदेवतानाम्ना कश्चिद् विद्वान् मानवो देवो निवसति, येन तदर्थमेकग्रासो देयः स्यात्। सर्वाभ्यो ब्रह्मादिभ्यस्तीर्थदेवताभ्योऽश्विन्यादिनक्षत्रदेवताभ्यो घृताहुतयो विहिताः। यद्येते देवा मनुष्या एव भवेयुस्तदा तेभ्यः प्रत्यक्षमेव घृतदानविधानं कुर्यात्।

यत्तु—'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥' इति (सामवेदीयतलवकारोपनिषदि १।४) मन्त्रमुद्धृत्य व्याख्यातम्—'यदसंस्कृतवाण्या अविषयम्, येन वाणी विदितास्ति तद् ब्रह्म, हे मनुष्य, त्वं विद्धि। यत इदं प्रत्यक्षं जगदस्ति नैवैतद् ब्रह्मास्ति। किन्तु विद्वांसो यन्निराकारं सर्वव्यापकमजं सर्वनियन्तृ सच्चिदानन्दलक्षणं ब्रह्मोपासते, त्वयापि तदेवोपासनीयम्, नेतरदिति' इति, तदपि तुच्छम्, तात्पर्यानवबोधात्। तथाहि—इदन्तास्पदत्वेन ब्रह्मण उपास्यत्वनिषेधापत्तेः। वस्तुतस्तु जातिगुणक्रियास्वरूपसम्बन्धानाश्रित्य शब्दानां प्रवृत्तिर्भवति, ब्रह्मण एकत्वान्न तत्र ब्राह्मणत्वादिवज्जात्याश्रयेण शब्दप्रवृत्तिः। निर्गुणत्वान्नीलमुत्पलमितिवद् गुणाश्रयेणापि न तत्र शब्दप्रवृत्तिः। निष्क्रियत्वात् पाचको लावक इतिवत् क्रियायोगेनापि नो प्रवृत्तिः। असङ्गत्वाद् धनी गोमानितिवच्च न ब्रह्मणि शब्दप्रवृत्तिः। असङ्गत्वादेव शक्त्या लक्षणया गौण्या वा वृत्त्या न ब्रह्मणि शब्दप्रवृत्तिः सम्भवति। शक्तिरपि सम्बन्धग्रहसापेक्षा। गङ्गायां घोष इत्यादिवत् शक्यार्थसम्बन्धाभावान्न ब्रह्मणि लक्षणयाऽपि शब्दप्रवृत्तिः। लक्ष्यमाणशौर्यक्रौर्यादिगुणयोगात् सिंहो देवदत्त इत्यत्र गौण्या वृत्त्या शब्दप्रवृत्तिः। 'असङ्गो नहि सज्जते' इति श्रुत्या सम्बन्धनिषेधाद् ब्रह्मणः संस्कृताया असंस्कृताया वा वाण्याः सर्वथाऽविषयत्वमेव। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० उ० २।४) इत्यादिश्रुतिभिः सर्वथाऽपि ब्रह्मणो

नाम का कोई विद्वान् मनुष्य नहीं रहता, जिसके लिये कि एक ग्रास दिया जाय। ब्रह्मा प्रभृति सभी तीर्थ देवताओं के निमित्त तथा अश्विनी प्रभृति नक्षत्र देवताओं के लिये घृत की आहुतियाँ देने की बात कही गई है। यदि ये सब देवता विद्वान् मनुष्यों के रूप में ही स्वीकार किये जाते हैं, तो इनको सीधे घी का दान करने की बात लिखनी चाहिये।

आगे स्वामी दयानन्द ने 'यद्वाचानभ्युदितं येन०' इस सामवेदीय तलवकारोपनिषद् के मन्त्र को उद्धृत कर उसकी व्याख्या इस तरह से की है—'जो कि अविद्यायुक्त वाणी से प्रसिद्ध नहीं हो सकता, जो सबकी वाणियों को जानता है, हे मनुष्यों! तुम लोग उसीको परमेश्वर जानो, न कि मूर्तिमान् जगत् के पदार्थों को, जो कि उसके बनाये हुए हैं। अर्थात् निराकार, व्यापक, सब पदार्थों को नियमित करनेवाला और सत्, चित्, आनन्द आदि लक्षणों से युक्त जो ब्रह्म है, उसी की उपासना तुम लोग करो। यह उपनिषत्कार ऋषियों का मत है' (पृ० ३४६), किन्तु यह व्याख्या भी निराधार है। स्वामी जी ने मन्त्र का अभिप्राय ही ठीक से नहीं समझा है। यदि आपके मत के अनुसार इस मन्त्र का अर्थ किया जाय तो ब्रह्म का इदन्ता पदसे बोध होने के कारण ब्रह्म की भी उपासना निषिद्ध हो जायगी। वास्तव में जाति, गुण, क्रिया स्वरूप सम्बन्धों के सहारे ही शब्दों की प्रवृत्ति होती है। जब ब्रह्म एक है तो उसमें ब्राह्मणत्व प्रभृति की तरह की अनेक व्यक्तियों में रहने वाली कोई जाति नहीं रहेगी, अतः जाति के सहारे उसमें शब्द की प्रवृत्ति नहीं होगी। ब्रह्म के निर्गुण होने से 'नीलमुत्पलम्' (नीला कमल) के समान गुण के सहारे भी शब्द की प्रवृत्ति नहीं होगी। इसी तरह से निष्क्रिय होने से पाचक, लावक प्रभृति शब्दों के समान क्रिया के सहारे से भी शब्द की प्रवृत्ति नहीं होगी। असंग होने से धनी, गोमान् प्रभृति शब्दों की तरह से भी ब्रह्म में किसी शब्द की प्रवृत्ति नहीं होगी। इसीलिये शक्ति, लक्षणा अथवा गौणी वृत्ति से भी ब्रह्म में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि शक्ति की प्रवृत्ति संबन्ध का ग्रहण होने पर ही होता है। 'गङ्गायां घोषः' (गंगा में आभीरों का गाँव है) इत्यादि लक्षणा वाक्य की तरह ब्रह्म में लक्षणा के द्वारा भी शब्द की प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ब्रह्म में प्रवृत्त नहीं होता। लक्षणा के द्वारा प्रतीत हो रहे शौर्य, क्रौर्य प्रभृति गुणों से संपन्न देवदत्त का बोध 'सिंहो देवदत्तः' (देवदत्त सिंह के समान है) इस वाक्य से गौणी वृत्ति के सहारे होता है। ब्रह्म में तो 'असङ्गो नहि सज्जते' इस तरह की श्रुतियाँ सभी प्रकार के संबन्धों का निषेध कर देती है, अतः ब्रह्म संस्कृत अथवा असंस्कृत किसी भी वाणी का किसी प्रकार से कभी भी विषय नहीं बन सकता। इसीलिये 'यतो वाचो निर्वतन्ते' प्रभृति श्रुतियां ब्रह्म को सर्वथा वाणी का और मन का भी अगोचर, अविषय मानती हैं। महात्मा गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने रामचरित मानस नामक ग्रन्थ में इसी श्रुति को इस तरह से अनूदित किया है—'मन समेत

वाचोऽविषयत्वमुक्तम् । महात्मना गोस्वामिना तुलसीदासेनापि रामचरितमानसाख्ये निबन्धे तदेवानूदितम्—'मन समेत जहँ जाइ न बानी' इति । तथात्वे त्वदीयस्य निराकारस्य सगुणस्येवावाग्विषयत्वादनुपास्यत्वापत्तिः ।

ननु तर्हि—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (भ० गी० १५।१५), 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो० २।१५), 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० उ०३।९।२६) इत्यादिभिर्वाचोविषयत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्यते । उपर्युक्तरीत्या सर्वथा वाचोऽविषयत्वेन वेदानामपि वाग्रूपत्वात् कथं तद्विषयत्वोक्तिः सङ्गच्छते, इति चेन्न, लोकाध्यारोपापोहार्थत्वात् शास्त्रस्योक्तशङ्कानवकाशात् । तथाहि–'नेति नेति, (बृ० उ० २।३।६) अस्थूलमनणु' (बृ०उ० ३।८।८) 'अतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि' (शिवमहिम्नस्तोत्रे, श्लो० २), 'निषेधशेषो जयतादशेषः' (श्रीमद्भागवते८।३।) इत्यादिवचनैरतद्व्यावृत्त्यैव स्वप्रकाशस्य ब्रह्मणः प्रकाशानपेक्षत्वेन प्रकाशोपपत्तेः । मर्तिपूजानिषेधगन्धोऽपीह वचनेषु नास्ति । वाणी येन विदिता तद्ब्रह्मेत्यपि न सङ्गतम्, वाणीविज्ञानस्य प्रत्यगात्मनिष्ठत्वात् । किं प्रत्यगात्मनो ब्रह्मत्वमभ्युपेयते युष्माभिः ? तथाभ्युपगमे सिद्धान्तहानिः । विद्वांसो यन्निराकारमित्यादिकं तत्कपोलकल्पितम्, श्रुत्यक्षरासम्बन्धात् ।

अत एव—'प्रतिमानां च भेदकः', 'देवतान्यभिगच्छेत्तु', 'देवताभ्यर्चनं चैव', 'देवतानां च कुत्सनम्', 'देवतायतनानि च', 'देवतानां छायोल्लङ्घननिषेधः', 'प्रदक्षिणानि कुर्वीत देवब्राह्मणसन्निधौ', 'देवतागारभेदकान्' इत्यादिमनुवचनानुसारं देवतानां मन्दिराणि देवतानां पूजनं च सिद्ध्यन्ति । देवतानां प्रतिमाभेदनेन देवतागारभेदनेन च दण्डनीयता स्मर्यते । यत्तु विद्वांसो हि देवा इत्यनेन विदुषामेव देवत्वयुक्तम्, तत्तुच्छम्, वचनसहस्रैर्मनुष्यभिन्नानां देवतात्वसाधनात् । देवब्राह्मण-

जहं जाइ न बानी' । इस परिस्थिति में आपके मत से निराकार ब्रह्म जब वाणी का विषय नहीं है, तो इस मन्त्र में इदं शब्द से बोधित ब्रह्म वाणी का विषय हो जाने से कैसे उपास्य माना जा सकता है ?

इस पर प्रश्न होता है कि 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः', 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति', 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि गीता और उपनिषदों के वचनों से ब्रह्म के वाणी का विषय होने की बात सिद्ध होती है, उक्त रीति से ब्रह्म को सब तरह की वाणी का अविषय माना जाय तो वेद भी तो वाणीमय है, तब ब्रह्म को वेदों से भी अवेद्य मानना पड़ेगा और इन श्रुतियों को अप्रमाण मानना पड़ जायगा । किन्तु इसका सीधा सा समाधान यह है कि ब्रह्म को वाणी का अविषय बताने वाली श्रुतियों का तात्पर्य इतना ही है कि लौकिक अध्यारोपित और कल्पित धर्मों का ब्रह्म में अभाव है । इस तरह से दोनों प्रकार की श्रुतियों में समन्वय स्थापित हो जाता है । इसीलिये 'नेति नेति', 'अस्थूलमनणु' इत्यादि श्रुतिवचनों के आधार पर महिम्नस्तोत्रकार कहते हैं कि श्रुतियाँ भी इस ब्रह्म को बार बार आश्चर्यमय स्वरूप का बताती हैं और भागवतकार समस्त निषेधों के बाद बचा हुआ स्वरूप ही ब्रह्म है, ऐसा कहते हैं । ब्रह्म स्वयं अपने आप प्रकाशित होता है । अपने प्रकाश के लिये इसको किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती, इतना ही इन सब श्रुतियों का तात्पर्य है । इसमें मूर्तिपूजा के निषेध की गन्ध भी नहीं आती । 'वाणी जिससे ज्ञात होती है, वह ब्रह्म है' यह व्याख्या भी गलत है, क्योंकि वाणी को जानने का काम जीवात्मा का है । क्या आप प्रत्यगात्मा (जीव) को ब्रह्म मानते हैं । यदि ऐसा मानेंगे, तो यह बात आपके निराकार ब्रह्मवाद के विपरीत पड़ेगी । 'विद्वान् जिसको निराकार मानते हैं, इस तरह की व्याख्या केवल दयानन्द की अनोखी कल्पना की ही सूझ-बूझ है, क्योंकि इसका श्रुति के अक्षरों से कोई किसी प्रकार का संबन्ध नहीं है ।

इसीलिये 'प्रतिमानां च भेदकः', 'देवतान्यभिगच्छेत्तु', 'देवताऽभ्यर्चनं चैव', 'देवतानां च कुत्सनम्', 'देवतायतनानि च', 'देवतानां छायोल्लङ्घननिषेधः', 'प्रदक्षिणानि कुर्वीत', 'देवतागारभेदकान्' प्रभृति मनुस्मृति के स्वामी दयानन्द द्वारा (पृ० ३४४) उद्धृत वचनों के आधार पर ही देवताओं के मन्दिरों एवं उनकी पूजाविधि की सत्ता सिद्ध हो जाती है । यहाँ स्पष्ट ही देवताओं की प्रतिमा और मन्दिरों के तोड़ने पर दण्ड देने की बात कही गई है । 'विद्वांसो हि देवाः' इस श्रुति के आधार पर विद्वान् मनुष्यों को ही देवता मानने की बात भी गलत है । देवता मनुष्य जाति से भिन्न हैं, इसको अनेक प्रमाणों से बताया जा चुका है । 'देवब्राह्मणसंनिधौ' इस

सन्निधावित्यत्र देवपदप्रयोगे तत्सन्निधौ ब्राह्मणपदप्रयोगवैयर्थ्यं च। त्वद्रीत्या विदुषामेव ब्राह्मणत्वात्, मूर्खाणां च शूद्रत्वात्।

संस्कारविधौ १९४ पृष्ठे तथा सामाजिकानां सन्ध्यायामपि प्राची दिगग्निरधिपतिरित्यादिभिर्मनसेश्वरपरिक्रमणं विहितम्। मूर्तिमन्तरा मानसमपि तत्कथं सम्भवति? उलूखलमुसलाभ्यां नैवेद्यनिवेदनं किं मूर्तिपूजनं भवति न वा? आर्याभिनये—'वायवायाहि दर्शतेमे सोमा असंस्कृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥' (ऋ० सं० १।२।१) इति मन्त्रेण परेशाय सोमवल्ल्यादिरसः समर्प्यते। 'घृते साता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः। ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान् सीते पयसाभ्याववृत्स्व॥' 'सब अन्नादि पदार्थों को इच्छा करने वाले विद्वान् मनुष्यों की आज्ञा से प्राप्त हुआ जल वा दुग्ध से पराक्रम सम्बन्धी सींचा वा सेवन किया हुआ पटेला घी तथा सहत वा शक्कर आदि से संयुक्त करो। पटेला हम लोगों को घी आदि पदार्थों से युक्त करेगा इस हेतु से जल से बार बार बर्तावो' अत्र काष्ठपटेला (येन काष्ठेन विषमा क्षेत्रभूमिः समीक्रियते तत्काष्ठं पटेला वा हेंगा वा कथ्यते) पूजनं मूर्तिपूजनमेव। सिक्खमतखण्डनप्रसङ्गे दयानन्देन सत्यार्थप्रकाशे स्पष्टमुक्तम्—'कस्यचिदपि जडस्य समर्थनं शिरोनमनमञ्जलिबन्धनं मूर्तिपूजनमेव।

यदुक्तम्—'सूर्यादिग्रहपीडाशान्तये बालवुद्धिभिः 'आ कृष्णेन रजसा' इत्यादिमन्त्रा गृह्यन्ते। अयमेषां भ्रम एव, कुतस्तत्र तेषामर्थानामग्रहणात्। तद्यथा—आकर्षणानुकर्षणप्रकरणेऽस्य मन्त्रस्यार्थ उक्तः' इति, तदपि तुच्छम्, त्वदुक्तस्यार्थस्य तत्रैव खण्डितत्वात्। यदुक्तम्—'इमं देवाः' इति चन्द्रस्य, अग्निर्मूर्धेति मङ्गलस्य, उद्बुद्ध्यस्वाग्ने इति बुधस्य, बृहस्पत इति बृहस्पतेः, शुक्रमन्धस इति शुक्रस्य, शन्नो देवीरिति शनेः, कयानश्चित्र इति राहोः, केतुं कृण्वन्निति केतोर्मन्त्रा उच्यन्ते। न चैतैर्मन्त्रैस्तेषां ग्रहाणां सम्बन्धः। शन्नोदेवीरित्यादौ शब्दसादृश्यमात्रादेव शन्यादिग्रहपरत्वं मन्त्राणां कल्पितम्' इति, तन्न,

वचन में आपके मत के अनुसार तो देव पद का प्रयोग करने के बाद ब्राह्मण पद का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि आपके मत से तो विद्वान् ही ब्राह्मण होते हैं और शूद्र मूर्ख होते हैं।

संस्कारविधि में तथा आर्यसमाजियों की सन्ध्याविधि में 'प्राची (पूर्व) दिक्' प्रभृति मन्त्रों का उच्चारण करते हुए मन से ईश्वर की परिक्रमा करने की बात कही गई है। भगवान् की मूर्ति को माने बिना मानस परिक्रमा भी कैसे हो सकती है? ऊखली और मूसल को नैवेद्य चढ़ाना क्या मूर्तिपूजा नहीं है? इसी तरह से आर्याभिविनय ग्रन्थ में 'वायवायाहि०' प्रभृति मन्त्र का उच्चारण करते हुए परमेश्वर के लिये सोमलता के रस को समर्पित करने की बात कही गई है। 'घृते सीता०' आदि मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'सब अन्न आदि पदार्थों की इच्छा करने वाले विद्वान् मनुष्यों की आज्ञा से प्राप्त हुआ जल वा दुग्ध से पराक्रम सम्बन्धी सींचा वा सेवन किया हुआ पटेला घी तथा सहत वा शक्कर आदि से संयुक्त करो। पटेला हम लोगों को घी आदि पदार्थों से युक्त करेगा, इस हेतु से जल से बार बार बर्तावो'। यहाँ पटेला काठ का बना एक जड़ पदार्थ है, जिससे कि खेत की ऊबड़-खाबड़ जमीन को ढेले तोड़ कर बराबर की जाती है। इसी को हेंगा भी कहते हैं। इस जड़ पदार्थ की पूजा आपकी व्याख्या के अनुसार मूर्तिपूजा ही हुई। क्योंकि सिक्ख मत का खण्डन करते समय स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में स्पष्ट कहा है कि किसी भी जड़ पदार्थ के लिये सिर झुकाना, हाथ जोड़ना आदि मूर्तिपूजा के ही प्रकार हैं।

ग्रहपूजा को असत्य, शास्त्रविरुद्ध सिद्ध करते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं—'इसी प्रकार से अल्प बुद्धि मनुष्यों ने 'आकृष्णेन रजसा०' इत्यादि मन्त्रों को सूर्य आदि ग्रहों की पीड़ा की शान्ति के लिये ग्रहण किया है। सो उनका केवल भ्रममात्र है। मूल अर्थ से इनका कुछ सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उन मन्त्रों में ग्रहपीड़ा निवारण करना, यह अर्थ ही नहीं है। 'आकृष्णेन०' इस मन्त्र का अर्थ आकर्षणानुकर्षण प्रकरण में लिखा जा चुका है' (पृ० ३४८), किन्तु दयानन्द के उस अर्थ का खण्डन हमने उसी प्रकरण में कर दिया है। स्वामी दयानन्द का यह भी कहना है कि 'इमं देवाः' यह मन्त्र चन्द्रमा का, 'अग्निर्मूर्धा' यह मंगल का, 'उद्बुद्धयस्वाग्ने' यह बुध का, 'बृहस्पते' यह बृहस्पति का, 'शुक्रमन्धस' यह शुक्र का, 'शन्नो देवीः' यह शनि का, 'कया नश्चित्र' यह राहु का और 'केतुं कृण्वन्' यह मन्त्र केतु का कहा जाता है, किन्तु इन मन्त्रों का इन ग्रहों से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'शन्नो देवीः' प्रभृति मन्त्रों

दयानन्दं प्रत्येव तथोक्तेः सुवचत्वात्। तेनैव 'तरुतारम्' (ऋ० सं० १।११९।१०) इत्यत्र तारमिति पदं दृष्ट्वा ताराख्यं यन्त्रमित्यर्थः कल्पितः। ग्रहाणां पूजनं तु महर्षिभिरुक्तम्—'ग्रहनक्षत्रचरितैर्वा जनपदा उपध्वंस्यन्ते' (चरकसूत्रस्थाने ६।२०)। 'यस्य वक्रानुवक्रगा ग्रहा गर्हितस्थानगताः पीडयन्ति जन्मर्क्षं वा स विनश्यति' (सू० ३२।४) एवमुपवेदभूतायाः सुश्रुतसंहिताया वचनैर्ग्रहपीडाः सूचिताः। तेषां शान्त्यर्थं पूजादिकमपि विहितम्।

'शन्नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा। शन्नो मृत्युर्धूमकेतुः' (अथर्व० १९।९।१०), 'शन्नो दिवि चरा ग्रहाः' (अथर्व० १९।९।७) इत्यादिमन्त्रेष्वपि ग्रहशान्तय उक्ता एव। वेदाङ्गज्योतिषप्रोक्ता ग्रहपूजापि तदङ्गिभूताद्वेदादेवागता। यथा—'सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्तसिन्धवः' (ऋ० सं० ८।६९।७२) अत्र सप्तनद्य इत्यस्यार्थस्य स्पष्टत्वेऽपि यथा महाभाष्यकारो व्याकरणपरत्वमस्य मन्त्रस्य वक्ति। 'द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम्' (ऋ० सं० १।१६४।४२) इति मन्त्रः संवत्सरकालपरः। 'षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः' (नि० ४।२७) इति यास्केनापि संवत्सर एवार्थः कृतः। तथापि दयानन्देन सर्वमेतदपरिगणय्य वायुयानपरत्वमस्य मन्त्रस्योक्तम्। तत्र कथं नापत्तिः क्रियते। 'यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः' (ऋ० सं० ५।४०।९) इति मन्त्रे त्वसुरवंशीयेन राहुणा सूर्यग्रहणं स्पष्टमुक्तम्। राहुर्ग्रहविशेष इष्ट एव। दयानन्देनाप्युणादिकोषे (१।३) राहुर्ग्रहविशेष इत्यङ्गीकृतमेव। तेन सत्यार्थप्रकाशेऽपि प्रथमसमुल्लासे नव ग्रहा अङ्गीकृताः। किन्तु तन्नाम्नां परमात्मार्थकत्वमुक्तम्। एवं व्युत्पत्तिवशात्तु आर्यसमाजपदस्यापि परमात्मपरत्वं योजयितुं शक्यत एव। उणादिकोषे १।७४ इत्यत्र केतुर्ग्रहः पताका वा, धूमकेतुरुत्पात इति दयानन्देनापि लिखितम्।

श्रौतसूत्रगृह्यसूत्रोक्तविनियोगानुसारेणापि मन्त्रार्थो ज्ञातुं योग्यः, अर्थानुसारेणैव विनियोगकल्पनात्। क्वचिच्च विनियोगेषु मन्त्राणां मुख्योऽर्थः सर्वथा न घटते। अत एवैकस्य मन्त्रस्यानेकत्र विनियोगा दृश्यन्ते। तत्रैवं सति प्रतिविनियोग-

में केवल शब्दों की समानता के आधार पर शनि प्रभृति ग्रहों का इनसे सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया हैं'। किन्तु यह सारा कथन दयानन्द जैसे महात्मा के लिये ही शोभा की बात हो सकती है, क्योंकि वे 'तरुतारम्' प्रभृति मन्त्र में तार पद को देखकर कहते हैं कि वेद में तार (टेलिग्राफ) देने की विधि वर्णित है। इन मन्त्रों से ग्रहों के पूजन की बात को तो प्राचीन ऋषियों ने माना है। चरकसंहिता में बताया गया है कि 'ग्रहों और नक्षत्रों के प्रभाव से बड़े बड़े जनपद उजड़ जाते हैं।' जिस व्यक्ति के ग्रह वक्री हो जाते हैं, गर्हित स्थान में आ जाते हैं, अथवा जन्मनक्षत्र को बुरी दृष्टि से देखने लगते हैं, तो वह विनष्ट हो जाता है'। यह सुश्रुतसंहिता का वचन है। आयुर्वेद को उपवेद माना जाता है। आयुर्वेद की इन प्राचीन संहिताओं में ग्रहपीड़ा की स्पष्ट सूचना मिलती है। इनकी शान्ति के लिये वहाँ पूजा का भी विधान किया गया है।

'शन्नो ग्रहाः', 'शन्नो दिवि चरा ग्रहाः' प्रभृति अथर्ववेदीय मन्त्रों में भी ग्रहशान्ति की बात कही गई है। वेदांग ज्योतिष नामक ग्रन्थ में प्रतिपादित ग्रहपूजा वेद से ही ली गई है, क्योंकि ज्योतिष प्रभृति वेद के षडंग अंगी वेद में प्रतिपादित विषयों के स्पष्टीकरण के लिये भी ऋषियों के द्वारा रचित हैं। जैसे 'सुदेवो असि' प्रभृति मन्त्र का सात नदियों वाला अर्थ स्पष्ट है, तो भी महाभाष्यकार पतंजलि ने इस मन्त्र की व्याकरण शास्त्रपरक व्याख्या की है। 'द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम्' इस ऋग्वेदीय मन्त्र का संवत्सर काल अर्थ किया जाता है और 'षष्टिश्च ह' इत्यादि व्याख्या करके निरुक्तकार यास्क इस मन्त्र के संवत्सरपरक अर्थ को स्पष्ट करते हैं, तो भी स्वामी दयानन्द इन सबकी परवाह न कर इस मन्त्र से वायुयान की सिद्धि करते हैं। क्या यह आपत्तिजनक बात नहीं है? 'यं वै सूर्यं' प्रभृति ऋग्वेदीय मन्त्र में असुर वंश में उत्पन्न राहु सूर्यग्रहण का कारण बताया गया है। राहु की ग्रहों में गणना होती है। दयानन्द ने भी उणादिकोष में राहु को एक विशेष ग्रह स्वीकार किया है। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में भी नौ ग्रह माने हैं, किन्तु उनका वास्तविक अर्थ उन्होंने परमात्मा किया है। इस तरह से व्युत्पत्ति के आधार पर तो 'आर्यसमाज' शब्द को भी किसी तरह से परमात्मा से जोड़ा जा सकता है। उणादिकोष में तो दयानन्द ने केतु शब्द का अर्थ ग्रह, पताका, धूमकेतु अथवा उत्पात किया है।

श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्रों में बताये गये विनियोग के अनुसार मन्त्र का अर्थ जाना जा सकता है। अर्थ के अनुसार ही मन्त्र का विनियोग किया जाता है। विनियोगों में कहीं कहीं मन्त्रों का मुख्य अर्थ पूर्णतः घटित नहीं होता। इसीलिये एक ही मन्त्र का अनेक

मस्यान्येनार्थेन भवितव्यम् । त एते वक्तुरभिप्रायवशाद् अन्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः । नह्येतेषु अर्थस्य इयत्तावधारणमस्ति । महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च । यथाश्वारोहवैशिष्ट्याद् अश्वः साधु साधुतरं च वहति, एवमेव वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति शब्दाः । तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् अधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्वं एव ते योज्या इति 'नात्रापराधोऽस्ति' (नि० २।८) इत्यत्र दुर्गाचार्यः । विनियोगविपरीतार्थकरणादेव दयानन्दभाष्यमनादरणीयं विदुषाम् । गृह्यसूत्रेषु स्मृतिषु शनैश्चरादिग्रहेषु विनियोगदर्शनादेव शन्नो देवीरित्यादिमन्त्राणां शनैश्चरादिग्रहपरत्वमास्थीयते आस्तिकैः । याज्ञवल्क्यस्मृतौ आचाराध्याये ग्रहशान्तिप्रकरणे क्रमेण मन्त्राणां विनियोगा उक्ताः । (१) आकृष्णेन, (२ इमं देवाः, (३) अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत् । (४) उद्बुद्ध्यस्वेति च ऋचो यथासंख्यं प्रकीर्तिताः ॥ (३००), (५) बृहस्पते अति यदर्यः, (६) तथैवान्नात् परिस्रुतः । (७) शन्नो देवीः, (८) तथा काण्डात्, (९) केतुं कृण्वन्निमास्तथा ॥ (३०१) इति सूर्यचन्द्रभौमबुधबृहस्पतिशुक्रशनिराहुकेतुनवग्रहाणां मन्त्रा उक्ताः । येन समाधिद्वारा शुक्लयजुर्वेदस्य मन्त्रसंहिता ब्राह्मणानि च प्रत्यक्षीकृतानि तेन याज्ञवल्क्येन किं मन्त्राणामर्था न ज्ञायन्ते ? वात्स्यायनेन महर्षिणा मन्त्रब्राह्मणानां स्मृतीनां च समानप्रवक्तृकत्वमुक्तम्—'द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्च धर्मशास्त्रस्याप्रामाण्यानुपपत्तिः । य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य च' (गो० सू० ४।१।६२ इत्यत्र भाष्यम्) इति । केचिदृषीणामायुषि संशेरते । तैः 'शतं ते अयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः' (अथर्व० ८।२।२१) इति मन्त्रेण सिद्धानि पुरुषाणां चतुर्युगपरिमितान्यायूंषि ज्ञातव्यानि । तादृशमेव दीर्घमायुर्याज्ञवल्क्यस्य । 'मयादित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप' (म० भा० शा० प० ३१८।२), 'ततः शतपथं कृत्स्नम्............चक्रे सपरिशेषं च' (म० भा० शा० प० ३१८।१६) इति महाभारतवचनात् । शतपथीयचतुर्दशकाण्डेनापि जनकयाज्ञवल्क्यसम्बन्धो ज्ञायते । याज्ञवल्क्यस्मृतावपि—'मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽ-

कार्यों में विनियोग देखा जाता है । ऐसा होने पर प्रत्येक विनियोग के अनुसार मन्त्र का अर्थ भी भिन्न हो जायगा । वक्ता के अभिप्राय के भेद से भी मन्त्रों का अर्थ भिन्न हो जाता है । मन्त्रों के अर्थ को सीमित नहीं किया जा सकता । मन्त्रों के अनेकविध अर्थ होते हैं । इनको जानना सरल कार्य नहीं है । जैसे घुड़सवार की विशिष्टता के आधार पर एक ही घोड़ा तेजी और बहुत तेजी से दौड़ता है, उसी तरह से वक्ता के अभिप्राय को विशिष्टता के आधार पर मन्त्र भी अनेक विशिष्ट अर्थों को अभिव्यक्त करते हैं । इसलिये इन मन्त्रों के जितने भी देवताश्रयी, ब्रह्माश्रयी और यज्ञाश्रयी अर्थ निकल सकते हों, उन सबकी संगति बैठानी चाहिये । दुर्गाचार्य का कहना है कि ऐसा करने में कोई दोष नहीं है । विनियोगों के विपरीत अर्थ करने के कारण ही दयानन्द के भाष्य का विद्वानों में आदर नहीं है । गृह्यसूत्रों और स्मृतियों में शनैश्चर प्रभृति ग्रहों के निमित्त विनियोग होने से ही 'शन्नो देवीः' प्रभृति मन्त्रों का शनैश्चर प्रभृति ग्रहों की पूजा में आस्तिक जन उपयोग करते हैं । याज्ञवल्क्यस्मृति के आचाराध्याय में ग्रहशान्ति के प्रकरण में 'आ कृष्णेन' प्रभृति मन्त्रों का सूर्य प्रभृति नव ग्रहों की पूजा में विनियोग बताया गया है । जिस याज्ञवल्क्य ने समाधि अवस्था में शुक्ल यजुर्वेद के मन्त्रसंहिता भाग और ब्राह्मणभाग का प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया, क्या वह मन्त्रों के अर्थ को नहीं जानते थे ? महर्षि वात्स्यायन ने मन्त्र, ब्राह्मण और स्मृतियों के प्रवक्ताओं में भेद नहीं माना है । उनका कहना है कि द्रष्टा और प्रवक्ता ऋषियों को समानता के आधार पर धर्मशास्त्रों को अप्रमाण नहीं माना जा सकता । जो ऋषि मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग के द्रष्टा और प्रवक्ता हैं, वे ही इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र के भी उपदेष्टा हैं । कुछ लोग ऋषियों की आयु के विषय में सन्देह उठाते हैं । उनको 'शतं ते' इत्यादि अथर्ववेदीय मन्त्र में बताई गई सिद्ध पुरुषों की चार युग को आयु को याद करना चाहिये । इस तरह की लम्बी आयु वाले ऋषि याज्ञवल्क्य भी थे । महाभारत में याज्ञवल्क्य जनक से कहते हैं कि हे मिथिलेश, मैंने यजुर्वेद को भगवान् आदित्य (सूर्य) से प्राप्त किया है, वहीं यह भी बताया गया है कि याज्ञवल्क्य ने सम्पूर्ण शतपथ ब्राह्मण की रचना की । शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड से भी जनक और याज्ञवल्क्य के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है । याज्ञवल्क्य स्मृति में भी मिथिला में स्थित योगीन्द्र याज्ञवल्क्य की मुनियों के प्रति बातचीत की चर्चा है । वहीं यह भी कहा गया है कि मैंने भगवान् आदित्य से बृहदारण्यक को प्राप्त किया । इससे स्पष्ट होता है कि शतपथ ब्राह्मण के द्रष्टा याज्ञ-

ब्रवीन्मुनीन्' (१।२)। तत्रैव—'ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान्' (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।११०) एतेन शतपथद्रष्टा याज्ञवल्क्य एव याज्ञवल्क्यस्मृतिप्रणेतेति निश्चीयते । तथा चोक्तमन्त्राणां ग्रहपूजने विनियोग औपयिक एव ।

एवमेव—'आकृष्णेनेति तीव्रांशोरिमं देवा निशाकरम् । अग्निर्मूर्धेति भूसूनोः उद्बुध्यस्व बुधस्य च ॥ बृहस्पते अति गुरोः अन्नात्परिस्रुतो भृगोः । शन्नो देवीः शनैर्गन्तुः काण्डात्काण्डात्परस्य च । केतुं कृण्वन्नग्निसूनोः इति मन्त्राः प्रकीर्तिताः ॥' (बृहत्पराशरस्मृतिः ९।६६) । 'वेदमन्त्रैर्विना कश्चिद् विधिर्नास्ति द्विजन्मनाम्' (बृ० पराशरस्मृ० ९।६७) । गृह्यसूत्रेषु बोधायनगृह्यसूत्रेऽपि—आसन्येन इत्यादित्याय, अग्निर्मूर्धानमित्यङ्गारकाय, पवश्शुक्राय इति शुक्राय, आप्यायस्वेति सोमाय, उद्बुध्यस्वेति बुधाय, बृहस्पते अति यदर्यो अर्हादिति बृहस्पतये, शन्नो देवीरभीष्टय इति शनैश्चराय, कया नश्चित्र आभुवदिति राहवे, केतुं कृण्वन्निति केतवे' (१।६।२२) । किमयं बोधायनोऽपि वेदार्थन्न जानाति ? अग्निवेश्मगृह्यसूत्रेऽपि द्वितीयाध्याये पञ्चमप्रश्ने ईदृशा एव ग्रहाणां मन्त्र उक्ताः । जैमिनिगृह्यसूत्रेऽपि—आ सत्येनेत्यादित्यम्, अग्निर्मूर्धानं दिव इत्यङ्गारकाय । वैखानसगृह्यसूत्रेऽपि—अथ ग्रहशान्ति व्याख्यास्यामः, गृहायत्ता लोकयात्राः, यथाक्रमेण आसत्येन सामो धेनुं अग्निर्मूर्धा उद्बुध्यस्व बृहस्पते शुक्र ते अन्यत् शन्नो देवी कया नश्चित्र केतुं कृण्वन् (चतुर्थे प्रश्ने त्रयोदशे खण्डे) । एवं गृह्यसूत्रकाराणां ग्रहेषु मन्त्राणां विनियोगे सत्यपि तदप्रामाण्यकथनं मूर्खजनप्रतारणमेव । मत्स्यपुराणेऽपि—'आ कृष्णेनेति सूर्याय होमः कार्यो द्विजन्मना ।' (१९३।३३), 'आप्यायस्वेति सोमाय मन्त्रेण जुहुयात् पुनः । अग्निर्मूर्धा दिवो मन्त्र इति भौमाय कीर्तयेत् ॥' (१९३।३४), 'अग्ने विवस्वदुषस इति सोमसुताय वै । बृहस्पते परिदीया रथेनेति गुरोर्मतः ॥' (१९३।३५), 'शुक्रं ते अन्यदिति च शुक्रस्यापि निगद्यते । शनैश्चरायेति पुनः शन्नो देवीति होमयेत् ॥' (१९३।३६), 'कयानश्चित्र आभुवदिति राहोरुदाहृतः । केतुं कृण्वन्नपि ब्रूयात् केतूनामपि शान्तये ॥' (१९३।३७) । एवमेव भविष्यपुराणेऽपि—'आकृष्णेनेति मध्यमपर्वद्वितीयभागे २०।६०, इमं देवा इति २०।६५, अग्निमीलेति मन्त्रेण २०।७०, उद्बुध्यस्वेति मन्त्रेण २०।७४, बृहस्पतय इति मन्त्रेण २०।७८, जयन्नन्नात् परिस्रुतः २०।८४, शन्नो देवीति मन्त्रेण २०।८९, केतुं कृण्वन्निति २०।९२, एतेषां प्रमाणानामप्रामाण्यकथनं दयानन्दस्य धाष्टर्यमेव ।

केषाञ्चिन्मन्त्राणां प्रत्यक्षवृत्त्याऽतथार्थत्वेपि विनियोगानुसारेणार्थो भवति, यथा—'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठत' इति विनियोगानुसारेणेन्द्रपराया अप्यैन्द्रया ऋचो गार्हपत्योऽग्निरर्थो भवत्येव । सूर्यदेवतापरस्यापि मन्त्रस्य विनियोगवशा-

वल्क्य ही याज्ञवल्क्य स्मृति के भी प्रणेता हैं । इस तरह से इस याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रमाण पर उक्त मन्त्रों का नवग्रह पूजन में विनियोग किया जाय, यह उचित ही है ।

इसी तरह से वृहत्पराशर स्मृति में भी इन्हीं मन्त्रों का विनियोग नवग्रहों की पूजा के लिये करते हुए कहा गया है कि विना वेदमन्त्रों के द्विजाति के यहाँ कोई कार्य नहीं होता । बोधायन गृह्यसूत्र में भी नवग्रहों की पूजा के लिये विनियुक्त होने वाले इन मन्त्रों का उल्लेख किया गया है । क्या बोधायन भी इन वेद मन्त्रों का अर्थ नहीं जानते थे ? अग्निवेश्य गृह्यसूत्र में भी दूसरे अध्याय के पंचम प्रश्न में इसी तरह के मन्त्र ग्रहों की पूजा के लिये निर्दिष्ट हैं । जैमिनि गृह्यसूत्र और वैखानस गृह्यसूत्र में भी ग्रहशान्ति प्रकरण में सारी लोकयात्रा ग्रहों के अधीन बताते हुए उनकी शान्ति के लिये उक्त मन्त्रों का ही विनियोग किया गया है । इस तरह से जब इतने गृह्यसूत्रकार महर्षिगण ग्रहों की शान्ति के लिये इन मन्त्रों का विनियोग बताते हैं, तो इस बात को अप्रामाणिक कहना केवल भोले-भाले आदमियों को ठगने के लिये ही है । इसी प्रकार मत्स्यपुराण में भी 'आ कृष्णेनेति' इत्यादि श्लोकों से इन मन्त्रों का विनियोग नवग्रह की पूजा में बताया गया है । इसी तरह से भविष्यपुराण में भी यह विनियोग लिखा गया है । इन सब प्रमाणों को अप्रमाण मानना दयानन्द की धृष्टता ही कही जायगी ।

कुछ मन्त्रों का प्रत्यक्षतः वैसा अर्थ न भी हो, तो भी मन्त्रों का अर्थ विनियोग के अनुसार किया जाता है । जैसे कि 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस विनियोग के अनुसार इन्द्र देवता का निर्देश करनेवाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि की स्तुति की जाती

न्मानुषोवधूपरत्वं भवति। अत एव निरुक्त(२।८)व्याख्याने दुर्गाचार्यः—'तदेवं मन्त्रेषु शब्दगतिविभुत्वादुभयमप्युपपद्यत एव। तद्यथा—दधिक्राव्णो इत्येष मन्त्रोऽग्न्युपस्थानेऽग्निहोत्रे दधिभक्षणे, अश्वमेधेऽश्वसन्निधौ पत्नीसंनिवेशे। तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्यान्येनान्येनार्थेन भवितव्यम्। तस्माद् विनियोगानुसारेण ग्रहपरत्वपि मन्त्राणामस्त्येव।

आ कृष्णेनेति मन्त्रस्तु सूर्यपर इति प्रत्यक्षवृत्त्यैव सिद्धम्। सविता सूर्यः, हिरण्ययेन रथेनावर्तमानो भ्रमणं कुर्वाणो भुवनानि पश्यन्नायाति। अस्य मन्त्रस्य सविता देवता ततोऽस्याकर्षणमन्त्रत्वकथनं तद्विरुद्धमेव। 'इमं देवा विश' इति 'एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' (वा० सं० ९।४०) अस्मिन् मन्त्रे ब्राह्मणः क्षत्रियस्य राज्ञोऽभिषेकं कुर्वन् प्रजाः प्रबोधयति —वः युष्माकमेष राजा, अस्माकं ब्राह्मणानां तु सोमो राजा सोमशब्देन सोमो रसस्तदधिष्ठातृदैवतचन्द्रोऽपि बोध्यते। 'द्विजराजः' (अमरकोषे १।३।१५)। गृह्यसूत्रकारैरयं मन्त्रश्चन्द्रपूजने विनियुक्तः। 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत् पतिः पृथिव्या अयम्। अपांसि रेतांसि जिन्वति ॥' (वा० सं० ३।१२) अयं भौममन्त्रः। भौमः पृथिव्या अंशोऽभ्युपेयते, भूमेरयं इति व्युत्पत्तेः। पृथिव्या अयं पतिः पालकः। अग्निवद्रक्तवर्णत्वाद् अग्निरप्युच्यते। दिव आकाशस्य ककुत् ककुद्वत् प्रधानभूतो ललामरूपो वा। अग्निरूपत्वादेव अपां द्युलोकाद् वृष्टिरूपेण पतन्तीनामपां रेतांसि साराणि व्रीहियवादिरूपेण परिणतानि जिन्वति प्रीणयति वर्धयतीत्यर्थः। यद्वा अपां रेतांसि कारणानि जिन्वति पुष्णाति। 'चलत्यङ्गारके वृष्टिः' इति ज्योतिषशास्त्रवाक्येनास्यानुकूल्यं वृष्टिकारणमपि भवति। उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते संसृजेथामयं च। अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत ॥' (वा० सं० १५।५४) श्रौतविनियोगानुसारी मन्त्रस्यास्यायमर्थः—हे अग्ने त्वमुद्बुध्यस्व उद्बुद्धो भव। एनं यजमानं प्रतिजागृहि प्रतिदिनं जागरूकं सावधानं कुरु। तत इष्टापूर्ते श्रौतस्मार्ते कर्मणी संसृजेथां यजमानेन सह संसृष्टे भवताम्। त्वत्प्रसादाद्यजमान इष्टापूर्ताभ्यां संसृज्यतामित्यर्थः। हे विश्वेदेवा, यूयं कृतेष्टापूर्तो

है। इस विनियोग के अनुसार मन्त्र का इन्द्रपरक अर्थ न स्वीकार कर अग्निपरक अर्थ माना जाता है। इसी आधार पर सूर्या नामक देवता के मन्त्र का विनियोग मनुष्य जाति की वधू के लिये किया जाता है। इसीलिये निरुक्त की व्याख्या में दुर्गाचार्य का कहना है कि इस तरह से मन्त्रों में शब्दों की व्यापकता के आधार पर दोनों ही अर्थ संभव हो सकते हैं। जैसे कि 'दधिक्राव्णो' यह मन्त्र अग्नि के उपस्थान (स्तुति) के लिये, अग्निहोत्र याग में दधि का भक्षण करने के लिये और अश्वमेघ यज्ञ में यजमान पत्नी के यज्ञीय अश्व के पास शयन करते समय भी विनियुक्त होता है। ऐसा करते समय प्रत्येक विनियोग में इसका अर्थ भिन्न भिन्न हो जाता है। एवं च विनियोग के अनुसार इन मन्त्रों का विनियोग नवग्रह की पूजा के लिये किया जाय, इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं हो सकती।

'आ कृष्णेन' यह मन्त्र तो प्रत्यक्षतः अपने अर्थ द्वारा सूर्य को ही बोधित करता है। सविता अर्थात् सूर्य अपने सुवर्णमय रथ से घूमता हुआ सारे भुवनों को देखता हुआ आता है। इस मन्त्र का देवता सविता है। अतः इस मन्त्र के अर्थ को आकर्षण प्रक्रिया से जोड़ना एकदम विपरीत है। 'इमं देवा···एषवोऽमी' इस मन्त्र में ब्राह्मण क्षत्रिय राजा का राज्याभिषेक करते हुए प्रजा को संबोधित करता है कि हे प्रजाओं, यह आप लोगों का राजा है। हम ब्राह्मणों का राजा तो सोम है। यहाँ सोम शब्द से सोम रस और उसके अधिष्ठात्री देवता चन्द्रमा का बोध होता है। अमरकोष में चन्द्र को द्विजराज कहा गया है। गृह्यसूत्रकारों ने इस मन्त्र का विनियोग चन्द्रमा के पूजन के लिये किया है। 'अग्निर्मूर्धा०' यह मंगल ग्रह का मन्त्र है। मंगल पृथिवी का अंश माना जाता है। भौम का अर्थ है भूमि सम्बन्धी। यह पृथिवी का पालक है। अग्नि के समान लाल वर्ण वाला होने से यह अग्नि भी कहलाता है। इसकी आकाश में प्रधान स्थिति है, अथवा यह आकाश की शोभा है। अग्निरूप होने से ही यह आकाश से वृष्टि के रूप में बरसने वाले जल के कणों को व्रीहि, यव आदि के रूप में परिणत कर सस्य सम्पदा की वृद्धि करता है। अथवा वृष्टि के कारणों को, साधन सामग्री को, संकलित कर देता है। ज्योतिष शास्त्र में बताया गया है कि भौम के चलने पर वृष्टि होती है। इस तरह से यह वृष्टि कराने में, उसके लिये अनुकूल मौसम बनाने में सहायक होता है। 'उद्बुध्यस्वाग्ने'० इस मन्त्र का श्रौत विनियोग के अनुसार यह अर्थ होगा—'हे अग्ने, आप उद्बुद्ध होइये। इस यजमान को प्रतिदिन सावधान रखिये। इस तरह से श्रौत और स्मार्त (इष्टापूर्त) कर्मों को करने में यजमान आपकी कृपा

यजमानश्च सधस्थे देवैः सह स्थितियोग्ये अस्मिन्नुत्तरस्मिन् सर्वोत्कृष्टे द्युलोके सीदत अधिकं तिष्ठतेत्यर्थः। अत्र विश्वेदेवैर्यजमानस्य सालोक्यं प्रार्थ्यते।

पूर्वोक्तगृह्यसूत्रविनियोगानुसारेण तु बुधग्रहपरतास्य मन्त्रस्य वक्तव्या। तेन हे अग्ने, त्वं बुध्यस्व बुध इत्याख्यायमानो भव 'तत्करोति तदाचष्टे' (वा० ग० सू०) इति 'आचष्टे' इत्यर्थे णिच्। बुधमाचष्टे बुधयति कर्मणि लोटि बुध्यस्वेति रूपम्। पुराणाद्यनुसार्यपि युक्त एवार्थः, 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्' (म० भा० १।१।२६७) इति वचनात्। मन्त्रोक्तमाहात्म्योऽग्निर्बुधरूपेण स्तूयते। बुधोऽपि ज्ञानप्रकाशमयत्वेनाग्निरिव प्रकाशमानः, अग्नितत्त्वप्रधानो बुधोऽतोऽग्निमन्त्रो बुधमन्त्रोऽपि भवति, पूर्वोक्तैर्गृह्यसूत्रवचनैः पुराणवचनैश्चाग्निदेवतानां मन्त्राणां बुधग्रहपूजने विनियोगात्। मत्स्यपुराणे 'अग्ने विवस्वदुषसः' इति मन्त्रो बुधग्रहपूजने विनियुक्तः। अग्नितत्त्वप्राधान्यादेव बुधस्यातितीव्रगतिर्भवति। शनिः सार्धद्वयवर्षेणैकराशिमाक्रामति, बुधस्तु एकविंशतिदिवसैरतिक्रामति। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० आ० २।४।२४) इत्यग्नेर्वाग्भावो विज्ञायते। अग्निरूपो बुधोऽपि वाचमधितिष्ठति। बृहत्पराशरहोराशास्त्रे ग्रहप्रादुर्भावाध्याये 'बुधो वाणीप्रदायकः' इत्युक्तम्। 'सद्बुद्धिं च बुधो गुरुश्च गुरुताम्' इत्यादिष्वपि बुधस्य बुद्धिप्रदायकत्वमुक्तम्। गायत्र्यपि बुद्धिप्रदायिका। गायत्री चाप्यग्निरूपोक्ता। गायत्र्याः सावित्र्या अधिष्ठाता सूर्यः। न पार्थिवाग्निरेवाग्निः, किन्तु विद्युत्सूर्यावप्यग्नी उच्येते' 'स न मन्येत अयं पार्थिव एवाग्निरिति। अपि एते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते' (नि० ७।१६) इति निरुक्तवचनात्। अग्निरूपात् सूर्यादेव गायत्रीमन्त्रेण बुद्धिः प्रार्थ्यते 'धियो यो नः प्रचोदयात्' इति। 'ब्रह्म जज्ञानम्' (वा० सं० १३।३) इति मन्त्रस्यापि सूर्यो देवता। जैमिनिगृह्यसूत्रेऽयमेव मन्त्रो बुधसम्बन्धी। मत्स्यपुराणानुसारेण 'अग्ने विवस्वदुषसः'

से सदा सावधानो से लगा रहे। हे विश्वेदेवों, आप लोग और आपके साथ इष्टापूर्त कर्मों को करने वाला यह यजमान इस उत्कृष्ट द्युलोक में देवताओं के साथ सदा निवास करते रहें। इस तरह से इस मन्त्र में विश्वेदेवों के साथ यजमान के सालोक्य की, एक ही लोक में निवास करने की प्रार्थना की गई है।

पूर्वोक्त गृह्यसूत्र के अनुसार तो इस मन्त्र का विनियोग बुध ग्रह की पूजा में किया जाता है। तब इस मन्त्र का अर्थ इस तरह से किया जायगा—हे अग्ने, आप 'बुध' इस नाम से प्रख्यात होइये। 'तत्करोति तदाचष्टे' इस पाणिनि सूत्र से 'आचष्टे' अर्थ में णिच् प्रत्यय होकर कर्म में लोट् लकार में 'बुध्यस्व' यह रूप बनेगा। पुराण प्रभृति से भी इस बात की पुष्टि होती है। इतिहास और पुराण की सहायता से वेद के अर्थ का उपबृंहण किया जाता है। इस मन्त्र में जिस अग्नि का माहात्म्य वर्णित है, उसी की बुध के रूप में स्तुति की जाती है। बुध ग्रह भी ज्ञानमय और प्रकाशमय होने से अग्नि के समान प्रकाशित होता है। इस तरह से बुध में अग्नि तत्त्व की प्रधानता होने से अग्नि का मन्त्र बुध का भी मन्त्र हो जाता है। पूर्वोक्त गृह्यसूत्रों और पुराणों के वचनों से अग्नि देवता वाले मन्त्रों का विनियोग बुध ग्रह की पूजा में भी किया जाता है। मत्स्यपुराण में 'अग्ने विवस्वदुषस' यह मन्त्र बुध ग्रह की पूजा में विनियुक्त है। अग्नि तत्त्व की प्रधानता होने से ही बुध ग्रह की गति बड़ी तेज होती है। शनि ग्रह ढाई वर्ष में एक राशि पार करता है। इसकी अपेक्षा बुध एक राशि को २१ दिन में ही पार कर लेता है। ऐतरय श्रुति के अनुसार अग्नि वाणी बनकर मुँह में प्रविष्ट हो जाता है। इस तरह से अग्नि ही वाणी बन जाता है। यह अग्निस्वरूप बुध भी वाणी का अधिष्ठाता है। वृहत्पराशर के होराशास्त्र में ग्रह प्रादुर्भाव नामक अध्याय में बुध को वाणी का प्रदाता माना है। 'बुध हमें सद्बुद्धि दे और गुरु गौरव प्रदान करे' इस श्लोक में भी बुध को बुद्धि का दाता माना है। गायत्री मन्त्र से भी बुद्धि निर्मल होती है। यह गायत्री अग्निस्वरूप है। गायत्री (सावित्री) का अधिष्ठाता सूर्य है। पार्थिव अग्नि को ही केवल अग्नि नहीं कहा जाता, किन्तु बिजली (विद्युत्) और सूर्य भी अग्नि कहे जाते हैं। निरुक्त में बताया गया है कि कोई भी व्यक्ति केवल पार्थिव अग्नि को ही अग्नि न मान बैठे, किन्तु ये अन्तरिक्ष और द्युलोक में रहने वाली ज्योतियां (विद्युत् और सूर्य) भी अग्नि ही मानी जाती हैं। अग्नि स्वरूप सूर्य से ही गायत्री मन्त्र का जप करके बुद्धि की निर्मलता की प्रार्थना की जाती है। 'ब्रह्म जज्ञानम्' इस मन्त्र का भी देवता सूर्य है, किन्तु जैमिनि गृह्यसूत्र में यह मन्त्र बुध की पूजा में विनियुक्त है। मत्स्यपुराण के अनुसार 'अग्ने विवस्वदुषसः' यह मन्त्र बुध की पूजा के लिये निर्दिष्ट है। निरुक्त में बताया गया है कि अग्नि सभी देवताओं

(ऋ० १।४४।१) इत्ययं मन्त्रो बुधपूजने विनियुक्तः । 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' (नि० ७।१७), 'देवतानां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति' (नि० ७।५) । तेनाग्निबुधयोरुभयोरपि वुद्ध्यधिष्ठातृतयाऽभेदादग्निमन्त्रेण बुधस्तुतिः श्लिष्यते । 'यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥' (वा० सं० ३२।१४), 'यया त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे' (पारस्करगृह्यसूत्रे) इत्यादिभिर्मन्त्रैर्मेधार्थमग्निः प्रार्थ्यते । 'बुध त्वं बुद्धिजननो बोधदः सर्वदा नृणाम्' इति भविष्योत्तरवचनाद् बुधोऽपि वुद्ध्यर्थं प्रार्थ्यते । 'तत्र संस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं च' (नि० ७।५) इति रीत्योभयोरैक्यमेव मन्तव्यम् । अत एव ऋग्वेदसंहितायाम् 'उद्बुध्यस्व' (ऋ० सं० १०।१०१।१) इति मन्त्रस्य ऋषिरपि सौम्यो बुध एव ।

'बृहस्पते अति यदर्यो' (वा० सं० २६।३) इत्यस्मिन् मन्त्रे स्पष्टमव बृहस्पतेर्वर्णनं दृश्यते, सर्वग्रहापेक्षया बृहत्त्वाद् देवगुरुत्वाद् बृहतां पतित्वाद् बृहस्पतिः । 'वाग्घ वै बृहती तस्या एष पतिः' (छान्दोग्ये १।२।११) इति वाचामधिष्ठाता सः । 'कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु' (पा० सू० ६।३।३५ इत्यत्र वार्त्तिकम्) इति पुंवद्भावेन सिद्धिः । हे ऋताद् ब्रह्मणः प्रजात चित्रं नानाविधं द्रविणमस्मासु धेहि । कीदृशं द्रविणम् ? अर्यं ईश्वरो यद्धनमर्हात् पूजयेत् । लोटो रूपम् । 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा० सू० ३।१।१०३) इति वैश्येऽर्यं शब्द आद्युदात्तः, स्वामिन्यन्तोदात्तः । तस्मादन्तोदात्तत्वात् प्रकृते स्वामी ईश्वर एवार्थः । ईश्वरयोग्यं द्रविणं देहीत्यर्थः । यच्च जनेषु लोकेषु विभाति विविधं शोभते, यद् द्युमत् द्योः कान्तिरस्यास्तीति द्युमत्, क्रतुमत् क्रतवो यज्ञा विद्यन्ते यत्र येन यज्ञाः क्रियन्ते तादृशं धनं देहि । शवसा बलेन दीदयत दापयति पालयति वा । 'दय दानगतिहिंसादानेषु' इति णिजन्ताल्लुङि रूपम् । अर्थानुबन्धो धर्मानुबन्धश्चार्थोऽत्र प्रार्थितः । उपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि बृहस्पतयेऽर्थायित्वा गृह्णामि । एष ते योनिः स्थानं बृहस्पतये त्वां सादयामि ।

का प्रतिनिधि है । यह देवताओं का महान् ऐश्वर्य (प्रभाव) ही है कि जिसकी सहायता से एक देवता के अनेक नाम होते हैं । इस तरह से अग्नि और बुध दोनों ही बुद्धि के अधिष्ठाता देव होने से एक ही हैं और इसी आधार पर अग्नि के मन्त्र से बुध की भी स्तुति की जाती है । 'यां मेधां देव०', 'यया त्वमग्ने०' इत्यादि मन्त्रों का विनियोग पारस्कर गृह्यसूत्र में मेधा (बुद्धि) के लिये अग्नि से प्रार्थना करने में बताया गया है । इसी तरह से भविष्योत्तर पुराण में भी बुध को बुद्धि देने वाला और मनुष्यों को सही मार्ग पर चलाने वाला कहा गया है । इसी के लिये बुध से प्रार्थना की जाती है । निरुक्त के अनुसार अवयव संस्थान और संयोग की एकता के आधार पर अग्नि और बुध को एक ही माना जाता है । इसीलिये ऋग्वेद संहिता में 'उद्बुध्यस्व०' इस मन्त्र का ऋषि भी सौम्य बुध ही बताया गया है ।

'बृहस्पते अति यदर्यो०' इस मन्त्र में बृहस्पति का वर्णन स्पष्ट है । सभी ग्रहों में यह सबसे बड़ा है, यह देवताओं का और बृहती छन्द का पति होने से भी बृहस्पति कहलाता है । छान्दोग्य श्रुति में बताया गया है कि बृहती वाणी का नाम है, यह बृहस्पति उस वाणी का अधिपति है । 'कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु' इस पाणिनि सूत्र से बृहती शब्द का पुंवद्भाव होने पर 'बृहस्पति' शब्द बनाता है । हे ऋत अर्थात् ब्रह्म से उत्पन्न बृहस्पते, आप मुझे नाना प्रकार के रत्न, माणिक्य आदि के रूप में धन दीजिये, जिससे कि मैं ईश्वर अर्थात् स्वामी बनने की योग्यता धारण कर सकूँ । अर्य शब्द के स्वामी और वैश्य ये दो अर्थ होते हैं । वैश्य अर्थ में यह पद आद्युदात्त और स्वामी के अर्थ में अन्तोदात्त होता है । इस मन्त्र में अन्तोदात्त अर्य पद है, अतः इसका अर्थ स्वामी होगा । अभिप्राय यह है कि स्वामी बनने योग्य धन आप मुझे प्रदान कीजिये, प्रार्थी बृहस्पति से यह प्रार्थना कर रहा है । वह यह भी प्रार्थना करता है कि उस धन से जनता में मेरा नाम हो जाय, मेरा ऐश्वर्य और कान्ति बढ़ जाय, तथा उस धन की सहायता से मैं नाना प्रकार के यज्ञ-याग आदि सम्पन्न कर सकूँ । यह बृहस्पति अपने पराक्रम से सबका भरण-पोषण करने वाला अथवा पालन करने वाला है । दान, गति, हिंसा और आदान अर्थ वाली णिजन्त दय धातु के लुङ् लकार का यह रूप है । इस तरह से धन की और धर्म की भी बृहस्पति से प्रार्थना की गई है । उपयाम पात्र से मैं तुमको धन की प्राप्ति के लिये ग्रहण करता हूँ । यह पात्र ही आपके रहने का स्थान है, धन की प्राप्ति के लिये मैं तुमको यहाँ बैठाता हूँ ।

'अन्नात् परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत् क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु।' (वा० सं० १९।७५) इति मन्त्रः शुक्रपूजायां विनियुक्तः। प्रजापतिः प्रथमशरीरी हविर्लक्षणादन्नात् परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा गायत्रीलक्षणेन व्यपिबत् दिविच्य पीतवान् क्षत्रं च व्यपिबत् वशीचकार। क्षत्रियस्य वशीकरणमेव पानम्। पयः सोमं च व्यपिबत्। अमृतं मधु मधुरं च भवतु। अनेन सत्येनेन्द्रियं वीर्यप्रदं पयोऽमृतं मधु मधुरं च भवतु। शुक्रग्रहस्यापि शुक्लं रूपं शुक्राधिष्ठातृत्वात्। तस्यापि हविर्लक्षणादन्नात् परिस्रुतेन निष्पन्नेन शुक्रेण सम्बन्धः। सोऽपि रसं पीतवान् क्षत्रं च वशीकृतवान्। पुराणाद्यनुसारेण दैत्यराज्यस्य शुक्राधीनत्वं स्मर्यते। स एव प्रह्लादविरोचनवलिवृषपर्वप्रभृतीनां गुरुः, शुक्रनीतेश्चनिर्माता। तस्माद्युक्तमेवानेन मन्त्रेण शुक्रसमर्चनम्।

ननु 'शन्नो देवीरभिष्टय' (ऋ० १०।९।४; पैप्पल सं० १।१।१) इति मन्त्रस्य आपो देवतेति कुतो ग्रहविशेषपरत्वमिति चेन्न, दयानन्देनास्य परमात्मपरत्वेन व्याख्यानात्। श्रौतगृह्यसूत्राणि वेदार्थज्ञानकुञ्चिकेति सामाजकैरपि कैश्चिदुपेयते। ग्रहाश्च पञ्चतत्त्वात्मका भवन्ति। शनिस्त्वप्तत्त्वप्रधानः। जलस्य शनेश्च सूर्यादुत्पत्तिश्रवणात्। ते न तयोरभेद एव। अप्प्राधान्यादेव शनैश्चरस्य मन्दगतित्वाद् मन्देति नाम्ना व्यवहारः। शीतस्पर्शवत्य आपः। अत एव 'शीतोष्णाभ्यां कारिणि' (पा० सू० ५।३।७२) इति सूत्रे 'शीतकः अलसः' इत्युक्तम्। 'अग्नेरापः' इति श्रुतावग्नेरपामुत्पत्तिरुक्ता। सूर्याग्नेश्च शनैश्चरस्योत्पत्तिः। 'एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति' (नि० ७।४)। ग्रहप्रादुर्भावाध्याये कूर्मो भास्करपुत्रस्येति पद्ये शनेः कच्छपरूपत्वमुक्तम्। यथा—के जले मठो यस्य स कमठः, जले स्थित्वा पृथिवीं रक्षति, तथैव शनिरपि जलं द्वारीकृत्य पृथिव्याः प्राणिनो रक्षति। 'यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति स्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं

'अन्नात् परिस्रुतो॰' यह मन्त्र शुक्र की पूजा के लिये विनियुक्त है। सर्वप्रथम शरीर धारण वाला प्रजापति हवि के रूप में प्राप्त अन्न से चू गये रस को गायत्री लक्षण ब्रह्म की सहायता से पी जाता है। वह क्षात्र बल को भी पी जाता है, अर्थात् अपने वश में कर लेता है। क्षत्रिय को वश में कर लेना ही उसका पान कहलाता है। वह जल और सोम को भी पी जाता है। अमृत मेरे लिये मधुमय, मधु सदृश मधुर हो जावे। शुक्र ग्रह का भी रूप शुक्ल होता है। शुक्र (वीर्य) का अधिष्ठाता होने से शुक्र का अन्न के रससे चू कर बने हुए शुक्र (वीर्य) से सम्बन्ध है। यह शुक्र भी रस को पीकर और क्षत्र (बल) को अपने वश में रखकर बनता है। पुराण आदि के अनुसार दैत्यों का राज्य शुक्राचार्य के अधीन माना जाता है। शुक्राचार्य ही प्रह्लाद, विरोचन, बलि, वृषपर्व प्रभृति दैत्य-दानवों का गुरु है। वही शुक्रनीति का निर्माता है। इस तरह से इस मन्त्र से शुक्र की पूजा की जाय, यह उचित ही है।

'शन्नो देवीरभिष्टय॰' इस मन्त्र का देवता जल है, इससे शनि ग्रह का ग्रहण कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या जलपरक न कर परमात्मपरक की है, उसी तरह से इसकी शनिपरक व्याख्या भी की जा सकती है। श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र वेदार्थ को जानने की कुंजी है, इस बात को कुछ आर्यसमाजी भी मानते थे। सभी ग्रह पाँच तत्त्वों से बने हैं। इनमें से शनि ग्रह में जल तत्त्व की प्रधानता है। जल और शनि दोनों की उत्पत्ति सूर्य से मानी जाती है। इस तरह से दोनों की अभिन्नता मानी जाती है। अप्तत्त्व की प्रधानता होने से ही शनैश्चर की गति मन्द होती है और इसको 'मन्द' नाम से ही पुकारा जाता है। जल शीतल स्पर्श वाला होता है। 'शीतोष्णाभ्यां कारिणि' इस पाणिनि सूत्र में 'शीतल'॰शब्द आलसी के अर्थ में प्रयुक्त होता है। श्रुति में अग्नि से जल की उत्पत्ति वर्णित है। शनैश्चर की उत्पत्ति भी सूर्यरूपी अग्नि से मानी गई है। निरुक्त में बताया गया है कि एक प्रधान देवता के अन्य देवता अंगभूत हो जाते हैं। ग्रहों के प्रादुर्भाव (उत्पत्ति) का वर्णन करने वाले अध्याय में कूर्म को भास्कर (सूर्य) का पुत्र बताया गया है। यह कूर्म (कछुआ) का रूप शनि का माना गया है। जैसे क अर्थात् जल में मठ (स्थान) बनाकर कमठ (कच्छप) पृथिवी की रक्षा करता है, उसी तरह से शनि भी जल की सहायता लेकर पृथिवी के प्राणियों की रक्षा करता है। इस बात को स्पष्ट रूप से समझने के लिये 'यथा पृथिव्यां मनुष्याः' निरुक्त के इस वाक्य का दुर्गाचार्य कृत भाष्य अवलोकनीय है। वे कहते हैं कि देवताओं की भिन्नता में एकता संस्थान और संभोग की एकता के आधार पर निर्धारित होती है। यह संस्थान और संभोग की एकता युक्तियों की सहायता से जानी जाती है। उदाहरण देकर इसको इस तरह से समझाया जा सकता है कि जैसे मनुष्य, पशु आदि सब

दृश्यते, यथा पृथिव्या पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्यां च सम्भोगोऽग्निना चेतरस्य लोकस्य' (नि० ७।५)। इत्यत्र दुर्गाचार्यः—तत्र तस्मिन् पृथक्त्वे सति संस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं चोपपत्तित ईक्षितव्यम्। तत्र दृष्टान्तः—यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशव इत्यादि सहस्थानतया एकत्वं संस्थानैकत्वं पृथिवीत्युक्ते यावतां सहभावेन समानं स्थानं ते सर्वे तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते। सम्भोगहेतुकमेकत्वम्। सम्भोगो नामेतरेतरोपकारित्वम्, समानकार्यतेत्यर्थः। सा पुनर्भिन्नस्थानानामपि भवति, किमङ्ग पुनः समानस्थानानाम्। यथा पृथिव्याः पर्जन्येन वाय्वादित्याभ्यां च सम्भोगः, पृथिवी ओषध्युत्पत्त्यै स्वकर्मारम्भे पर्जन्यवाय्वादित्यकृतमुपकारमपेक्षते। तेनैवाप इत्यनेन जलवासी कमठः शनैश्चरश्च बोध्येते। मन्दचलनादिसमानकार्यत्वाच्चापां ग्रहणेन शनिग्रहणमायाति। कच्छपोऽपि मन्दगतिः। तत एव शनिरपि मन्दगतित्वात् कूर्म उक्तः। ज्यौतिषग्रन्थेषु 'त्रिधा वृष्टिः शनैश्चरे' इत्युक्त्या शनेर्वृष्टिकर्तृत्वमपि। सूर्यपुत्रत्वात्तद्युक्तमेव, जलाभावे वृष्ट्यसम्भवात्। सूर्यदेवस्य जलदेवोऽपि सहयोगं ददाति। तेन समानकार्यत्वाद् आप इत्यनेन शनैर्ग्रहणं युक्तमेव।

तदुक्तं मन्त्ररामायणे—'एकैकस्मिन् यथादर्शैः प्रासादा मुहुरान्तरैः ।। दृश्यन्ते सहितो देवेष्वेवं लोकः सुरान्तरैः ।। तस्मात् स्युर्देवताः सर्वा प्रत्येकं विश्वयोनयः। अन्योन्ययोनयश्चैव यथा यास्कमुनीरितम्।' सर्वासां देवतानां विश्वयोनित्वादेकैकदेवतास्तुतिरपि रामस्तुतिं प्रकटयति, तथैव शनिदेवोऽपि जलदेवाद् व्यज्यते। तस्माज्जलस्तुतिरपि शनिस्तुतिरेव। तत एव धर्मशास्त्रकारैर्जलस्तावकमन्त्रः शनिपूजायां विनियुक्तः, 'माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते' (नि० ७।४) इति निरुक्तवचनात्। जलप्रधानत्वाज्जलस्तुत्या तत्प्रधानस्य शनेः स्तुतिः। ज्यौतिषरीत्या विशं शनिरिति

प्राणी पृथिवी पर एक साथ रहने से एक संस्थान वाले हैं। पृथिवी शब्द का उच्चारण करने से पृथिवी पर जितने भी प्राणी एक साथ रहते हैं, उन सबका ग्रहण एक साथ हो जाता है। संभोग की एकता के आधार पर भी एकता बनती है। संभोग का अर्थ है आपस में एक दूसरे की सहायता करना। संभोग की एकता तो भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने वालों की भी हो सकती है, तब एक स्थान पर रहने वालों की एकता हो, इसमें सन्देह ही कहाँ रह जाता है। जैसे कि पृथिवी का पर्जन्य के साथ और वायु तथा आदित्य से भी संभोग के आधार पर ऐक्य है, क्योंकि पृथिवी को ओषधी आदि की उत्पत्ति के लिये पर्जन्य (वर्षा), वायु और सूर्य की गरमी की आवश्यकता है। जल और शनि की एकता भी संस्थान और संभोग की एकता के आधार पर बनती है। 'आपः' इस शब्द से जल में रहनेवाला कच्छप और शनैश्चर दोनों बोधित होते हैं। मन्द गति शनैश्चर ग्रह और जल दोनों का समान धर्म है। कच्छप की गति भी मन्द है। इसीलिये मन्द गति के आधार पर ही शनि को कूर्म भी कहा जाता है। ज्योतिष के ग्रन्थों में शनैश्चर भी वृष्टिकारक ग्रह बताया गया है। शनि सूर्य का पुत्र है, अतः वह वृष्टिकारक ग्रह हो, यह उचित ही है। जल के अभाव में वृष्टि नहीं हो सकती, अतः वृष्टि कराने में सूर्य भी जल की सहायता करता है। इस तरह से संभोग की एकता के आधार पर भी जल शब्द से शनि ग्रह का ग्रहण करना उचित ही है।

इस विषय को मन्त्ररामायणकार ने भी उठाया है। उनका कहना है कि एक ही दर्पण में जैसे अनेक प्रासाद आदि से मण्डित इस जगत् का विविध रूप प्रतिबिम्बित होता है और इनका अनुभव हमारे जैसे अज्ञ जीव भी करते हैं। उसी तरह से यह सारा जगत् और उसमें विद्यमान विभिन्न देवगण भी अपने से भिन्न प्रत्येक देवता में प्रतिबिम्बित हैं, इस बात को उन देवताओं में से प्रत्येक जानता है। इसलिये प्रत्येक देवता इस जगत् का कारण है। ये परस्पर एक दूसरे के भी कारण होते हैं। इस बात को यास्क मुनि ने भी मानी है। इस तरह से किसी भी देवता की स्तुति की जाय, उससे भगवान् राम की भी स्तुति हो जायगी, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। सभी देवता इस जगत् के कारण हैं, अतः एक-एक देवता की स्तुति करने से भी राम की स्तुति हो जाती है। प्रकृत में शनिदेव की जल से अभिव्यक्ति होती है। इसलिये जल की स्तुति करना भी शनि की स्तुति ही मानी जाती है। इसीलिये धर्मशास्त्रकारों ने जल की स्तुति करने वाले मन्त्रों का विनियोग शनि की पूजा में किया है। देवता के महान् प्रभाव के कारण एक ही देवता की अनेक रूपों में स्तुति की जाती है, यह निरुक्त का भी कथन है। शनि ग्रह जल गुण प्रधान है, अतः जल की स्तुति से जल गुण प्रधान शनि की स्तुति भी हो जाती हैं। ज्योतिष की पद्धति से भी शं यह शनि का प्रतीक है, अतः शनिग्रह से सुख की प्रार्थना की जाती है। मन्त्र और शनि दोनों की एक ही कुम्भ राशि है। ज्योतिष शास्त्र में कुम्भ राशि का स्वामी शनि को

शनेः शं प्रार्थ्यते' मन्त्रशन्योः समानकुम्भराशित्वाच्च । ज्योतिषदृष्ट्यापि कुम्भराशेः शनिः स्वामी भवति । तेनैव शनेः शमिति बीजमन्त्रः—शं शनैश्चराय नमः । यदि पाषाणोऽपि प्रतिष्ठावशाद् देवप्रतिमा निष्पद्यते, तदा कल्पकारविनियोगवशाद् मन्त्रेऽपि शनिग्रहप्रतिष्ठा भवति । तेन शनिसम्बन्धः सम्पद्यते । अप्शब्दस्य बहुवचनान्तत्वेन देवीरिति बहुवचनम् । शन्यभेदात्तत्रापि बहुवचनप्रयोगः । शनिपक्षे पूजायामपि बहुवचनं संगच्छते । दयानन्देन तु सत्यार्थप्रकाशे सन्ध्यायां कण्ठगतकफस्य जलद्वारान्तर्निगलनेऽयं मन्त्रो विनियुक्तः । तत्र किं प्रमाणमिति तु न वक्तुं शक्नोतीत्यादिकं सनातनधर्मालोके प्रपञ्चितम् ।

मन्त्रार्थस्तु—देवीः देव्यः दीप्यमाना आपः तद्रूपाः शनिदेवा नोऽस्माकमभिष्टयेऽभिषेकाय अभीष्टाय पीतये पानाय च तृप्तयेशं सुखरूपा भवन्तु । यथाऽऽपोऽमाकं स्नाने पाने च सुखयित्र्यस्तथैव पूज्याः शनिदेवा अपि सर्वकार्येषु सुखकरा भवन्तु । आपः शंयोः रोगाणां शमनं भयानां पवनं पृथक्करणं चाभिस्रवन्तु, शनिदेवा अस्माकं भयरोगनाशं कुर्वन्तीत्यर्थः ।

'काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती' (वा० सं० १३।२०), 'कया नश्चित्र' (वा० सं० २७।३९) इति मन्त्राभ्यां राहुपूजनम् । प्रथमो दूर्वामन्त्रः । मूलाग्रवतीं दूर्वां तस्यां पुरस्ताद् भूमिप्राप्तां काण्डात्काण्डादिति' (कात्यायन श्रौ० सू० १७।४।१८) तस्यां स्वयमातृण्णायां काण्डादिति ऋग्द्वयेन पुरस्ताद् भूमिगताग्रां मूलाग्रयुतां दूर्वामुपदधातीति सूत्रार्थः । मन्त्रार्थस्तु–हे दूर्वे दूर्वेष्टके, काण्डात् काण्डात् प्रतिकाण्डं परुषः परुषः प्रतिपरुः भूमिसम्बद्धा सम्बद्धेभ्यः सर्वपर्वभ्यः सकाशाद्यथा त्वं परि समन्तात् प्ररोहन्ती अङ्कुरवतो वर्तसे, एवं स्वाङ्कुरविस्तारवत् सहस्रेण शतेन च असंख्यैः पुत्रपौत्रनप्त्रादिभिर्नोऽस्मान्

माना गया है । इसी लिये शनि का बीज मन्त्र 'शं' है । 'शं शनैश्चराय नमः' यह शनि का सबीज मन्त्र है । यदि पाषाण (पत्थर) भी प्रतिष्ठा संस्कार के द्वारा देव प्र तिमा बन जाता है, तो कल्पसूत्रकारों द्वारा विहित विनियोग के आधार पर मन्त्र में शनि ग्रह की प्रतिष्ठा हो जाने में क्या आपत्ति उठाई जा सकती है ? मन्त्र में शनि की प्रतिष्ठा हो जाने से उसके साथ शनि का सम्बन्ध हो ही जायगा । अप् शब्द का प्रयोग बहुवचन में होता है, अतः 'देवीः' इस विशेषण में भी बहुवचन का प्रयोग किया गया है । जब से शनि अभिन्न है, अतः इस अर्थ में भी बहुवचन की संगति बैठ जाती है । शनि के पक्ष में दूसरा समाधान यह भी दिया जा सकता है कि उसके प्रति आदर प्रकट करने के लिये बहुवचन का प्रयोग किया है । स्वामी दयानन्द ने तो सत्यार्थप्रकाश में सन्ध्या करते समय कण्ठगत कफ को जल से निगल जाने के लिये इस मन्त्र का विनियोग बताया है । इसमें क्या प्रमाण है, यह बता पाना कठिन है । इस विषय को विस्तार से सनातनधर्मालोक नामक ग्रन्थ में उठाया गया है ।

'शन्नो देवी०' इस मन्त्र का अर्थ यह है—हे दिव्य स्वरूप जल देवता, शनि देवता, आप हमारे अभिषेक (स्नान) के लिये और अभीष्ट पान के लिये, तृषा की शान्ति के लिये, सुख स्वरूप बनिये । जैसे जल देवता स्नान और पान के द्वारा हमें सुख पहुँचाते हैं, उसी तरह हमारे पूज्य शनि देव भी हमारे सभी कार्यों को सुखकर बनावें, बिना विघ्नबाधा के पूरा होने दें । जल देवता हमारे रोगों का शमन करें और भय को दूर करें । इसी तरह से शनिदेव भी हमारे भय को दूर करने वाले और रोग को नाश करने वाले होवें ।

'काण्डात् काण्डात्०' तथा 'कया नश्चित्र०' इन दो वाजसनेय संहिता के मन्त्रों से राहु की पूजा की जाती है । इनमें से पहला दूर्वा का मन्त्र है । 'मूलाग्रवतीं' इस कात्यायन श्रौतसूत्र में दूर्वा का संग्रह करने में इस मन्त्र का विनियोग बताया गया है कि भूमि पर अपने आप फैली दूर्वा को अग्र भाग से लेकर मूल भाग का अनुसन्धान करते हुए इस मन्त्र का उच्चारण करके उखाड़े । मन्त्र का अर्थ यह है—हे दूर्वे, तुम्हारा प्रत्येक काण्ड और प्रत्येक पर्व भूमि से जुड़कर जैसे चारों तरफ अंकुरित होकर फैल जाता है, इसी तरह से अपने अंकुरों के जाल के विस्तार को तरह असंख्य पुत्र, पौत्र, दौहित्र प्रभृति के रूप में तुम हमारे परिवार का विस्तार करो । इस मन्त्र का देवता दूर्वा ही है । याज्ञवल्क्यस्मृति के आचाराध्याय में उदुम्बर आदि ग्रहों के हवन की समिधा का वर्णन करते समय राहु के लिये दूर्वा की हवि का विधान किया है । 'यज्ञ में जिस देवता को प्रधान हवि दी जाती है, उसी देवता का

प्रतनु विस्तारय। अस्य मन्त्रस्य दूर्वैव देवता। 'उदुम्बरः शमो दूर्वा कुशाश्च समिधः क्रमात्' (याज्ञवल्क्यस्मृतौ आचाराध्याये ३०१) दूर्वैव राहोर्हविर्द्रव्यम्। 'यद्दैवतः स यज्ञो यज्ञाङ्गो वा तद्देवता भवति' (नि० ७।४) यद्दैवतप्रधानं हविः स यज्ञस्तद्दैवतः। तस्मादयं मन्त्रोऽपि राहुदैवतः। दूर्वास्तुत्या तद्देवतास्तुतिर्भवति।

कया नश्चित्र इति मन्त्रोऽपि शिष्टाचारेण राहुयजने विनियुक्तः। 'शन्नो ग्रहाश्चान्द्रमसा शमादित्यश्च राहुणा' (अथर्व० १९।९।१०) इति वेदमन्त्रेण राहोः कल्याणं प्रार्थ्यते। 'कया न' इति मन्त्रस्येन्द्रो देवता। 'इन्द्रश्च सर्वा देवताः' (श० ३।४।२।२)। तस्मादिन्द्रस्तुत्या राहुरपि स्तूयते। तदर्थस्तु—तिस्र इन्द्रदेवत्या वामदेवदृष्टा गायत्र्यः, इन्द्रः कया ऊती ऊत्या केन अवनेन तर्पणेन प्रीणनेन वा नोऽस्माकं सखा सहाय आभुवद् आभिमुख्येन भवति। तथा कया वृता वर्तत इति वृत् तया वृता वर्तमानया कया शचिष्ठया अतिशयेन शची शचिष्ठा तया अतिशयवत्या यागक्रिययाऽस्माकं सखा भवति। शचीति कर्मनाम। तया यागक्रियया शच्यातत्पत्न्या अपि विशिष्टयेत्यर्थः। अर्थान्न किमपि तर्पणं न वा काचिद्यागक्रिया मयि वर्तते, येन स सखा स्यात् किन्त्वकारणकरुणः स करुणयैव नः सखा सहायो भवतीत्यर्थः। कीदृश इन्द्रश्चित्रो विचित्रः, आश्चर्यगुणकर्ममाहात्म्यः पूज्यो वा। सदा वर्धत इति सदावृधः सदा वर्धमानः।

'केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः॥' (वा० सं० २९।३७) अग्निदेवत्या गायत्री मधुच्छन्दोदृष्टा। हे अग्ने, त्वमुषद्भिः होमकर्तृभिः कृत्वा अजायथाः उत्पन्नोऽसि। उषन्ति हविर्दहन्ति ते उषन्तोऽग्निहोमकर्तारः। कीदृशस्त्वं न केतुः प्रज्ञानं यस्य तस्मै अकेतवे अज्ञाताय, मर्या मर्याय मनुष्याय, केतुं ज्ञानं कृण्वन् कुर्वन्। अपेशसे नास्ति पेशः सुवर्णं यस्य स अपेशास्तस्मै, अर्थाद् ज्ञानहीनाय ज्ञानं सुवर्णहीनाय सुवर्णं सम्पादयन् जायस इत्यर्थः। उणादिकोषे (१।७४) केतुर्ग्रहः पताका वेति दयानन्दः। शंमादिश्च राहुणा शन्नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः॥' (अथर्व०

वह यज्ञ हो जाता है, अन्य सारे अङ्गों का विनियोग भी उसी प्रधान देवता के लिये ही किया जाता है' इस निरुक्त के सिद्धान्त के अनुसार यहाँ दूर्वा की हवि राहु ग्रह के निमित दी जाती है, अतः इस मन्त्र का देवता भी राहु हो जाता है। दूर्वा की स्तुति उसके अधिष्ठाता देव की स्तुति मानी जाती है।

'कया नश्चित्र०' शिष्टाचार के अनुसार इस मन्त्र का भी विनियोग राहु की पूजा में किया जाता है। 'शन्नो ग्रहा०' इस अथर्ववेदीय मन्त्र में राहु से कल्याण की प्रार्थना की गई है। इस मन्त्र का देवता इन्द्र है। इन्द्र में सभी देवता समाविष्ट हैं। इस लिये इन्द्र की स्तुति करने से राहु की भी स्तुति हो जाती है। इस मन्त्र का अर्थ इस तरह से किया गया है—'कया नश्चित्र०' प्रभृति तीन ऋचाओं का देवता इन्द्र है, ऋषि वामदेव और छन्द गायत्री है। इन्द्र को किस तरह से हम तृप्त कर प्रसन्न करें कि वह हमारा सब तरह से सहायक बन जाय' तथा किस पवित्रतम रूप में वर्तमान याग क्रिया से वह हमारा मित्र बनता है ? शची यह याज्ञिक कर्म का पर्यायवाची शब्द है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि वह इन्द्र अपनी पत्नी के साथ है। इसका अभिप्राय यह है कि स्वर्ग में देवताओं को प्राप्त होने वाली तृप्ति भी बिना यागक्रिया के संभव नहीं हो सकती। इसलिये इन्द्र को यागक्रिया के संपादन से तृप्त करने वाले हम मनुष्य उसके मित्र हैं। इन्द्र भी बिना कारण के ही सब पर करुणा की वर्षा करता रहता है, अतः वह हमारे कार्यों पर बिना ध्यान दिये ही हमारा सहायक हो जाता है। यह इन्द्र आश्चर्यजनक विचित्र गुणों से और कर्मों से विभूषित है। अपनी महत्ता (माहात्म्य) के कारण यह सदा पूजनीय है। इसका ऐश्वर्य सदा बढ़ता रहता है।

'केतुं कृण्वन्तकेतवे०' इस मन्त्र के देवता अग्नित्र छन्द गायत्री और ऋषि मधुच्छन्दा हैं। इसका अर्थ यह है—हे अग्ने, तुम हवन कराने वालों के द्वारा उत्पन्न किये गये हो। अग्नि में हवन करने वाले ऋत्विग्गण हवि प्रदान कर अग्नि को प्रज्वलित करते रहते हैं। यह अग्निदेव कैसे हैं ? अज्ञानी मनुष्य को ज्ञान देने वाले हैं और सुवर्णहीन अर्थात् दरिद्र मनुष्य को धन देने वाले हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति आहुति आदि देकर तुमको सदा प्रज्वलित रखते हैं, उनको तुम ज्ञान और धन से सदा भरते रहते हो। उणादिकोष में दयानन्द ने केतु शब्द का अर्थ ग्रहविशेष और पताका किया है।' 'शमादित्यश्च राहुणा०। इस अथर्ववेदीय मन्त्र में राहु का उल्लेख है। केतु ग्रह राहु की ही छाया माना जाता है। इस केतु ग्रह की सिद्धि इसी मन्त्र से होती है और उसका पूजन भी इसी

१९।९।१०)। राहोश्छाया स्मृतःकेतुः। तादृशस्य केतुग्रहस्यानेनैव मन्त्रेण सिद्धिरर्चनं च। धूमकेतुरपि—'शन्नो मृत्युर्धूमकेतुः' (अथर्व० १९।९।१०) इति मन्त्रेण सिद्ध्यति। पताकार्थकेनापि केतुना केतुः सिद्ध्यति, पताकायाः केतुलिङ्गत्वात्। पताकावदेव केतोराकृतिर्निर्मीयते। 'केतोर्ध्वजम्' ('जैमिनिगृह्यसूत्रे, २।१९) इति वचनात्। 'केतवे ध्वजम्' (बोधायनगृह्यसूत्रे १।१६।५) इति वचनाच्च। पञ्चाङ्गेष्वपि पताकाधारिणः केतुग्रहस्य दर्शनं भवति। केतुपूजनेन केतुमतो राष्ट्रस्य पूजनवत् पताकापूजनेन पताकावतो ग्रहस्यापि पूजनं सम्पद्यते। निरुक्ते सप्तमेऽध्याये देवताया वाहनायुधस्तुत्यापि देवतास्तुतिर्भवति, तद्वत्।

केतुं कृण्वन्नित्यग्निदेवत्यो मन्त्र इत्युक्तमेव। 'केतुं कृण्वन्नग्निसूनोः' (वृहत्पराशरस्मृतौ ०।६६) इति केतुग्रहोऽग्निसूनुत्वेन वर्णितः। 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति रीत्या अग्निस्तुत्या तदात्मरूपः केतुरपि स्तूयते। अग्नेः केतुः प्रज्ञापको धूमो भवति। तत एवाग्निर्धूमकेतुरुच्यते। तत एवाग्निपुत्रः केतुरपि धूम इव तमोभयो भवति। केतो राहोश्छायात्वेऽपि पृथक्सत्ता भवति, भिन्नदिशि सत्त्वात् षड्राशिव्यवहितत्वाच्च। सूर्यचन्द्रादिग्रहणमपि कदाचिद्राहुणा कदाचित्केतुना भवति। पुराणेषु राहुः शिरः, कबन्धश्च केतुरुच्यते। 'शनि-राहु-केतूरग-रक्षो' (मैत्रायणीयारण्यके ७।६) इत्यारण्यकेऽपि शनि-राहुकेतूनां वर्णनं दृश्यते।

यत्तूक्तम्—'गृह्यसूत्रादिग्रन्थाः पञ्चसहस्रवर्षेभ्योऽर्वाचीनास्तैरैव वेदमन्त्राणां ग्रहपूजासु विनियोगः कृतः, न तावतापि ग्रहपरत्वेन वेदमन्त्रव्याख्यानं युक्तम्', इति, तत्तुच्छम्, तद्रीत्या वेदानामपि महाभारतात्किञ्चित्पूर्वकालिकत्वेनार्वाचीनत्वाविशेषात्। किन्तु पाश्चात्यानां मतमिदं न पौरस्त्यानाम्। वात्स्यायनादिरीत्या तु य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारस्त एव धर्मशास्त्रस्येतिहासपुराणानां च स्मर्तारः : नह्यङ्गानि अन्तरा अङ्गी सम्भवति। श्रौतगृह्यादिसूत्राणा-

मन्त्र से किया जाता है। 'शन्नो मृत्युर्धूमकेतुः' इस अथर्ववेदीय मन्त्र से धूमकेतु की सिद्धि होती है। पताका अर्थवाले केतु शब्द से भी केतु ग्रह की सिद्धि होती है, क्योंकि पताका में केतु का चिह्न रहता है, अर्थात् केतु ग्रह का चिह्न पताका को ही माना जाता है, केतु की आकृति पताका के आकार की बनाई जाती है। जैमिनि गृह्यसूत्र और बोधायन गृह्यसूत्र में भी केतु ग्रह का चिह्न ध्वज को ही माना गया है। पञ्चाङ्गों में भी पताकाधारी केतु का चित्र देखने को मिलता है। केतु (ध्वज) की पूजा करने से जैसे उस राष्ट्र की पूजा मानी है, जिसका कि वह ध्वज है, उसी तरह से पताका का पूजन करने से उस पताका वाले ग्रह की भी पूजा हो जाती है। निरुक्त के सातवें अध्याय में बताया गया है कि देवता के वाहन, आयुध आदि की स्तुति करने से भी देवता का स्तुति मानी जाती है।

'केतुं कृण्वन्०' इस मन्त्र का देवता अग्नि है, यह अभी बताया गया है। वृहत्पराशरस्मृति में केतु ग्रह को अग्नि का पुत्र बताया गया है। पुत्र पिता की आत्मा ही माना गया है, जैसा कि 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इस श्रुति में वर्णित है। इस तरह अग्नि की स्तुति करने से केतु की भी स्तुति हो जाती है, क्योंकि वह अपने पिता अग्नि का ही स्वरूप है। अग्नि का बोध कराने वाला धूम होता है, इसीलिये अग्नि को धूम केतु, अर्थात् धूम की ध्वजा वाला कहा जाता है। धूम की तरह ही अग्नि का पुत्र केतु भी तमोमय, अन्धकाररूप होता है। केतु को यद्यपि राहु की छाया माना जाता है, किन्तु उसकी अलग से सत्ता रहती है, क्योंकि दोनों की दिशा एक दूसरे से विपरीत होती है और इन दोनों मे परस्पर छः राशियों का अन्तर सदा रहता है। सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण भी कभी राहु के कारण और कभी केतु के कारण होते हैं। पुराणों में शिरोभाग को राहु तथा धड़ (कबन्ध) को केतु कहा गया है। मैत्रायणीय आरण्यक में शनि, राहु, केतु इत्यादि का वर्णन मिलता है।

कुछ आर्यसमाजियों का कहना है कि गृह्यसूत्र प्रभृति ग्रन्थ आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पहले बने। इन्हीं में वैदिक मन्त्रों का ग्रहपूजा में विनियोग किया गया है। इन नवीन ग्रन्थों का अनुवर्तन कर वैदिक मन्त्रों की ग्रहपूजापरक व्याख्या करना ठीक नहीं है, किन्तु उनका यह कहना एकदम गलत है। क्योंकि इनकी पद्धति को मानने पर तो गृह्यसूत्रों की भाँति वैदिक संहिताओं की भी स्थिति महाभारत काल से कुछ ही पहले मानने से इनकी भी अर्वाचीनता माननी पड़ जायगी। यह सब पाश्चात्यों का मत है, हम लोगों का नहीं। वात्स्यायन प्रभृति प्राच्य विद्वानों के मत के अनुसार तो मन्त्र और ब्राह्मण भाग के द्रष्टा और प्रवक्ता ऋषि ही धर्मशास्त्र,

मर्वांचीनत्वे संस्कारेष्वपि कथं मन्त्राणां विनियोगः सिद्धयति । नहि नामकरणोपनयनसन्ध्यादिषु मन्त्राणां विनियोगास्त्वदभिमतेषु वेदेषु सन्ति । वेदवदेव वेदाङ्गान्यप्यनादीन्येव । 'नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः । तुल्य आङ्गिरसः कल्पः शान्तिकल्पस्तु पञ्चमः ॥' (वा०पु० ६१।५४) नक्षत्रकल्पे नक्षत्राणां शान्तय उक्ताः । वैतानसूत्रे दर्शपूर्णमासौ, अग्याधानविधानानि । तृतीये संहिताविधौ कौशिकसूत्रे शत्रूच्चाटनभूतप्रेतपिशाचबालग्रहादिनिवारणविधानानि, दुःस्वप्ननिवारणपापनक्षत्रोत्पत्तिशान्तिरपशकुनशान्तिराभिचारिककर्मनिवारणादिविधय उक्ताः । आङ्गिरसकल्पे आभिचारिककर्मणां स्वातन्त्र्येण निरूपणम् । शान्तिकल्पे विनायक(गणपति)ग्रहादिपूजा ग्रहयज्ञादय उक्ताः । अथर्वसम्बन्ध्येव नक्षत्रग्रहोत्पातलक्षणग्रन्थोऽस्ति । अथर्ववेदे—'सहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शम् आर्द्रा । पुनर्वसु सूनृता चारु पुष्यो भानुरश्लेषा अयनं मधा ॥' (१९।७।२) 'पुण्यं पूर्वाफल्गुन्यौ चात्र हस्त चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्टमूलमन्नं पूर्वारासतां मे आषाढा ऊर्जं देवी उत्तरा आवहन्तु, अभिजित् मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठा कुर्वतां सुपुष्टिम् । आमेहत् शतभिष वरीय आ मे दया प्रोष्ठपदा सुशर्म आरेवती अश्वयुजौ भगं मे आ मे रयिं मरण्य आवहन्तु' (अथर्व० १९।७।५) इत्याथर्वणश्रुतेर्ग्रहनक्षत्रादिपूजा वैदिक्येव । 'यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य (वेदस्य) विषयः' (न्यायदर्शने ४।१।६२ इत्यत्र भाष्ये), 'चत्वारो वेदास्तैर्यज्ञस्तायते' (गोपथब्रा० १।४।२४), 'वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ताः' (सिद्धान्तशिरोमणिगणिताध्याये, मध्यमाधिकारे, कालमानाध्याये ९), 'दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्' (म० १।१३), 'वेदे मन्त्रा अवश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण विपरिणमयितव्याः । याज्ञे कर्मणि स प्रोक्तो नियमः' (महाभाष्ये पस्पशाह्निके), 'वेदमन्त्रैर्विना कश्चिद् विधिर्नास्ति द्विजन्मनाम्' (वृहत्पराशरस्मृती ९।६७) । ग्रहपूजाया अभावादेव सतीविवाहो नानुकूलफलदः संवृत्तः । दक्षकन्या यदाहं वै पित्रा दत्ता यदा तव । यथोक्तविधिना तत्र विवाहो न कृतस्त्वया । न ग्रहाः पूजितास्तेन दक्षेण जनकेन मे । ग्रहाणां विषयस्तेन सच्छिद्रोऽयं महानभूत् ॥' (शिवमहापुराणे, २९।१२-१३), नक्षत्राणि

इतिहास, पुराणों के स्मर्ता है । अंगों के बिना अंगी (शरीर) की स्थिति नहीं बन सकती । श्रौत और गृह्यसूत्रों को यदि नवीन माना जाता है, तो फिर उनमें बताया गया मन्त्रों का संस्कारों के लिये उपयोग भी सही नहीं माना जाना चाहिये । आप जितने अंश को वेद मानते हैं, उनमें तो कहीं भी मन्त्रों का विनियोग नामकरण, उपनयन प्रभृति संस्कारों के लिये नहीं बताया गया है । वेदों की तरह वेदांग भी अनादि हैं । वायुपुराण में अथर्ववेदीय नक्षत्रकल्प, वैतानकल्प, संहिताकल्प, आंगिरसकल्प और शान्तिकल्प इन पांच कल्प ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है । नक्षत्रकल्प में नक्षत्रों को शान्ति विधि बताई गई है । वैतानसूत्र में दर्शपूर्णमास, अग्न्याधान आदि का वर्णन है । तीसरी संहिताविधि अर्थात् कौशिकसूत्र में शत्रु का उच्चाटन, भूत, प्रेत, पिशाच, बालग्रह आदि का निवारण, दुःस्वप्न निवारण, पापनक्षत्र में उत्पन्न होने की शान्ति, अपशकुन शान्ति, अभिचारिक कर्मनिवारण प्रभृति विधियाँ वर्णित हैं । आंगिरसकल्प में आभिचारिक कार्यों का स्वतन्त्र रूप से वर्णन है । शान्तिकल्प में विनायक (गणपति), ग्रह आदि की पूजा और ग्रहयज्ञ आदि का वर्णन है । नक्षत्र तथा ग्रह के उत्पातों का वर्णन एवं उनकी शान्ति की विधि को बताने वाला ग्रन्थ अथर्ववेद से ही संबद्ध है । अथर्ववेद के 'सहवमग्ने कृत्तिका०', 'पुण्यं पूर्वाफल्गुन्यौ' प्रभृति मन्त्रों में नक्षत्रों की नामावली मिलती है । इससे स्पष्ट होता है कि ग्रह, नक्षत्र आदि की पूजा वैदिक है । न्यायभाष्य में बताया गया है कि मन्त्र और ब्राह्मण भाग का प्रतिपाद्य विषय यज्ञ है । गोपथब्राह्मण का कहना कि चारों वेद यज्ञ का विस्तार करते हैं । सिद्धान्तशिरोमणि के गणिताध्याय में बताया गया है कि वेद यज्ञकर्मों का विधान बताने में प्रवृत्त हैं । मनुस्मृति में कहा गया है कि यज्ञकर्म की सिद्धि के लिये ही ब्रह्मा ने ऋक्, यजु और सामवेद को दुहा । महाभाष्य पस्पशाह्निक में बताया गया है कि वेद मन्त्रों में याज्ञिक कर्मों का संपादन करनेवाला व्यक्ति प्रस्तुत कर्म के अनुसार आवश्यक परिवर्तन कर सकता है । यज्ञीय कर्म का यह मान्य नियम है । वृहत्पराशरस्मृति में बताया गया है कि बिना वेद मन्त्रों के द्विजाति की कोई भी क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती । ग्रहों को पूजा न करने से ही सती का विवाह अनुकूल शुभ फल न दे सका । शिवमहापुराण में बताया गया है कि दक्षकन्या सती का जब शिवजी के साथ विवाह हुआ, तब दक्ष ने ग्रहों की पूजा नहीं की और इस तरह से विवाह की विधियाँ पूरी न हो सकीं । इसीलिये ग्रहों को पूजा न होने से इसमें अन्ततः भयंकर दुष्परिणाम हुए । इसीलिये सभी नक्षत्रों, ग्रहों और

च सर्वाणि ग्रहाश्च सह दैवतैः' पान्तु त्वाम् ग्राह्या ग्रहाः संसृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः' (अथर्व० १२।२।३९) ग्रहाणां ग्राह्या(विशेषग्रहदशा)योगेन स्त्रीणां वैधव्यमुक्तम्। तच्छान्त्यर्थं 'शन्नो दिविचरा ग्रहाः' (अथर्व० १९।९।७) इति शान्तय उक्ताः। 'ये चास्य दारुणाः केचिद् ग्रहाः सूर्यादयो दिवि। ते चास्य सौम्या जायन्ते शिवाः शिवतराः सदा॥' सर्वथापि नक्षत्रग्रहादयो वैदिकाः पूज्याश्च। तद्यजने मन्त्राश्च गृह्यसूत्रादिविनियुक्ता इति विनियोगानुसारिभिस्तदर्थैश्च भाव्यम्। मन्त्राणामनेकार्थत्वं च समर्थितमेव निरुक्ते टीकायां दुर्गाचार्यादिभिः। 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति श्रुतिबलाद् ऐन्द्री ऋगपि गार्हपत्याग्निपरत्वेन व्याख्यायते मीमांसकैः। किं बहुना, यत्र सर्वथापि विनियोगानुसारी नार्थः सम्भवति, तत्रापि दण्डस्फ्यादिद्रव्यविधयापि मन्त्राणामुपयोगः। यथा 'दण्डी प्रैषानन्वाह' इत्यादिबलाद् दण्डस्फ्यादीनां द्रव्याणामर्थप्रतिपादकत्वाभावेऽपि द्रव्यत्वविधया विनियोगोऽदृष्टार्थमेव, तथैव मन्त्राणामप्यर्थस्मारकत्वाभावेऽपि द्रव्यत्वेन रूपेणादृष्टार्थतया विनियोगबलादुपयोगः, मीमांसकैः शब्दस्य द्रव्यत्वाभ्युपगमात्।

यत्तु—'(अयमग्निः) परमेश्वरो भौतिको वा (दिवः) प्रकाशवल्लोकस्य (पृथिव्याः) प्रकाशरहितस्य च (पतिः) पालयिता। (मूर्धा) सर्वोपरि विराजमानः (ककुत्पतिः) ककुभां दिशां च मध्ये व्यापकतया सर्वपदार्थानां पालयिता (अपां रेतांसि) अयमेव जगदीश्वरो भौतिकश्चाग्निः प्राणानां जलानाञ्च रेतांसि वीर्याणि (जिन्वति) पुष्णाति। एवं चाग्निर्विद्युद्रूपेण सूर्यरूपेण च पूर्वोक्तस्य रक्षकः पुष्टिकर्ता चास्ति' (पृ० ३४८) इति, तत्तु विशृङ्खलमेव, अग्न्युपस्थानप्रसङ्गेऽग्निदेवतापरत्वेन व्याख्यानस्यौचित्येन ककुत्पदेन ककुभां ग्रहणे मानाभावात्। लोके ककुच्छब्दो गोपृष्ठोन्नतावयववाचकत्वेन प्रसिद्धश्च। 'ककुदमिति महन्नाम' (निघण्टु० ३।३।१९) इति वचनमिति यथाश्रुतस्य सार्थकत्वे बाहुलकत्वादन्यथान-

देवताओं से पति की रक्षा की प्रार्थना की जाती है। अथर्ववेद में बताया गया है कि विशेष ग्रहों की कुटिल दृष्टि के कारण ही स्त्रियों को वैधव्य प्राप्त होता है। वहाँ इनकी शान्ति की विधियाँ भी बताई गई हैं। ग्रहों की शान्ति करने से आकाशमंडल के सूर्य प्रभृति जो भी ग्रह दारुण फल देने वाले होते हैं, वे सौम्य और मंगलमय हो जाते हैं। इन सब वचनों पर भलीभाँति विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि नक्षत्र, ग्रह प्रभृति की पूजा वेदविहित है। इनकी पूजा के लिये वैदिक मन्त्रों का विनियोग गृह्यसूत्र प्रभृति में बताया गया है, अतः उनका अर्थ भी उसी के अनुसार होना चाहिये। मन्त्रों के अनेक प्रकार के अर्थ होते हैं, इस बात का समर्थन निरुक्त की टीका में दुर्गाचार्य प्रभृति ने किया है। श्रौतसूत्र के प्रमाण से ही मीमांसक गण इन्द्र सम्बन्धी ऋचा का विनियोग अग्नि के उपस्थापन में करते हैं। मीमांसाशास्त्र में तो यहाँ तक विचार किया गया है कि जिस मन्त्र का विनियोग के अनुसार अर्थ हो ही न सकता हो, वहाँ भी दण्ड, स्फ्य प्रभृति द्रव्यों को दिये गये निर्देशों के अनुसार अर्थ करना चाहिये। जैसे 'दण्डी प्रैषानन्वाह' प्रभृति वाक्यों के सहारे दण्ड स्फ्य प्रभृति जड़ द्रव्यों में अर्थप्रतिपादक शक्ति का अभाव होते हुए भी द्रव्य के विधान मात्र में अदृष्ट की उत्पत्ति के लिये विनियोग मान लिया जाता है, उसी तरह से कुछ स्थलों में मन्त्रों की अर्थस्मारकता के अभाव में भी द्रव्य के रूप में ही अदृष्ट की उत्पत्ति में सहायक होने मात्र के लिये विनियोग के सहारे उपयोगिता मान ली जाती है। यहाँ इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि मीमांसक शब्द को द्रव्य ही मानते हैं।

'अग्निर्मूर्धा०' इस मन्त्र का स्वामी दयानन्द ने यह अर्थ किया है—'यह जो अग्निसंज्ञक परमेश्वर या भौतिक अग्नि है, वह प्रकाश वाले और प्रकाशरहित लोकों का पालन करने वाला तथा सब पर विराजमान और दिशाओं के मध्य में अपनी व्यापकता से सब पदार्थों का राजा है। 'व्यत्ययो बहुलम्' इस सूत्र से 'ककुभ्' शब्द के भकार को नकारादेश हो गया है। वही जगदीश्वर प्राण और जल के वीर्यों को पुष्ट करता है। इस प्रकार भूताग्नि भी विद्युत् और सूर्यरूप से पूर्वोक्त पदार्थों का पालन और पुष्टि करने वाला है' (पृ० ३४८)। किन्तु यह अर्थ सर्वथा आधार रहित है, क्योंकि जब मन्त्र का विनियोग अग्नि के उपस्थान में किया जाता है, तो उसकी व्याख्या अग्निदेवता से ही संबद्ध की जानी चाहिये और तब ककुद् शब्द का अर्थ दिशा नहीं किया जा सकता। लोक में ककुद् शब्द गाय-बैल की पीठ पर उठे हुए भाग के लिये प्रसिद्ध है। निघण्टु में महत् के अर्थ में ककुद् शब्द का प्रयोग किया गया है। जब यथाश्रुत पद का ही प्रकरण संगत अर्थ किया जा सकता है, तो व्यत्यय के आधार पर अर्थ में परिवर्तन करना उचित नहीं है। इसके बाद भी दिशा

यनस्यायुक्तत्वाच्च। तत्र मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत् तात्स्थ्यात् तत्र स्थितेषु वस्तुषु लक्षणाश्रयणगौरवाच्च। तस्मात् पूर्वोक्तव्याख्यानमेव युक्तम्।

एवमेव 'उद्बुध्यस्व' इत्यत्र यदुक्तम्—'हे अग्ने परमेश्वर, अस्माकं हृदये त्वमुद्बुध्यस्व प्रकाशितो भव। अविद्यान्धकारनिद्रातः सर्वान् जीवान् पृथक्कृत्य विद्यार्कप्रकाशे जागृतान् कुरु। हे भगवन्, अयं जीवो धर्मार्थकाममोक्षसामग्र्याः पूर्तिं सृजेत्। त्वमस्येष्टं सुखं सृजेः। एवं परस्परं द्वयोः सहायपुरुषार्थाभ्यामिष्टाभ्यामिष्टापूर्वे संसृष्टे भवेताम्। अस्मिल्लोके शरीरे चाप्युत्तरास्मिन् परलोके द्वितीयजन्मनि विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत, सर्वे विद्वांसो यजमानो विद्वत्सेवाकर्ता च कृपया सदा सीदन्तु वर्तन्ताम्। यतोऽस्माकं मध्ये सदैव सर्वा विद्याः प्रकाशिता भवेयुः' (पृ० ३४८) इति। एतद् व्याख्यानमपि प्रकरणविरुद्धमेव, 'पञ्चम्यामन्तेष्वश्विनीवदसपत्नानग्ने जातानिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० सू० १७।११।१-३) पञ्चम्यां चितौ अश्विनीवद् असपत्नसंज्ञा इष्टका अन्तेषूपदधाति—अग्ने जातानित्यादयः। हे अग्ने, उद्बुध्यस्वेति सावधानो भवेत्येवार्थः। एवं यजमानं प्रतिजागृहि सावधानं कुरु। इष्टापूर्ते संसृजेथाम् इष्टापूर्ते श्रौतस्मार्तकर्मणी एव। इष्टं दर्शपूर्णमासादयः, पूर्तं वापीकूपतडागादयः। ताभ्यामयं संसृष्टो भवत्वित्यर्थः। 'अयं धर्मार्थकाममोक्षसामग्र्याः पूर्तिं सृजेत्' इत्यपि निर्मूलम्, पूर्तिसृजिशब्दयोरभावात्। त्वमस्येष्टं सृजेरित्यपि निर्मूलम्, तादृशपदाभावात्। तस्मादिष्टापूर्ते संसृजेथां संसृष्टे भवेतामित्येवार्थः, उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पने मानाभावात्। किञ्च, सर्वे विद्वांस एकेन सेवकेन इह जन्मनि परस्मिन् वा सीदन्तीत्यपि निर्मूलम्, असम्भवात्। तस्मादनेन मन्त्रेण विश्वैर्देवैः सायुज्यमेव यजमानस्य प्रार्थ्यत इति महीधरोक्तमेव युक्तम्।

पद से दिशाओं में विद्यमान वस्तुओं का ग्रहण करना उसी तरह से गौरव का कारण बन जाता है, जिस तरह से कि 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस वाक्य में लक्षणा का सहारा लेकर मंच स्थित पुरुषों का मंच पद से ग्रहण करने में गौरव माना जाता है। इसलिये इस मन्त्र की हमारी पूर्व प्रदर्शित व्याख्या ही सही है।

इसी तरह से 'उद्बुध्यस्व' इस मन्त्र की व्याख्या स्वामी दयानन्द ने इस तरह से की है—'हे परमेश्वर! हमारे हृदय में प्रकाशित होइये। अविद्या की अन्धकार रूप निद्रा से हम सब जीवों को अलग करके विद्यारूप सूर्य के प्रकाश से प्रकाशमान कीजिये, जिससे कि हे भगवन्, मनुष्यदेह धारण करनेवाला जो जीव है, वह जैसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सामग्री की पूर्ति कर सके, वैसे आप इष्ट सिद्ध कीजिये। इस लोक और इस शरीर तथा परलोक और दूसरे जन्म में आपकी कृपा से सब विद्वान् और यजमान, अर्थात् विद्या के उपदेश के ग्रहण और सेवन करने वाले मनुष्य लोग सुख से सदा वर्तमान बने रहें, जिससे कि हम लोग विद्या से युक्त होते रहें। 'व्यत्ययो बहुलम्' इस सूत्र से 'संसृजेथाम्' और 'सीदत' इन प्रयोगों में पुरुष व्यत्यय, अर्थात् प्रथम पुरुष की जगह मध्यम पुरुष हुआ है' (पृ० ३४८–३४९)। किन्तु यह व्याख्या भी प्रस्तुत प्रकरण के विरुद्ध है। कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार इस मन्त्र का विनियोग असपत्न नामक इष्टका के उपधान में किया जाता है। अतः 'उद्बुध्यस्व' पद का अर्थ 'सावधान हो जाओ' यह होगा। हे अग्ने, तुम सावधान हो जाओ और इस यजमान को भी सावधान कर दो। इष्टापूर्त शब्द श्रौत और स्मार्त कर्मों के लिये प्रयुक्त होता है। दर्शपूर्णमास प्रभृति श्रौत कर्म 'इष्ट' तथा वापी, कूप, तडाग आदि का स्मार्त विधि से निर्माण 'पूर्त' कहलाता है। इन दोनों तरह के श्रौत और स्मार्त कर्मों के फल से यह यजमान संपन्न होवे। यही मन्त्र का सरल अर्थ है। 'वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सामग्री की पूर्ति कर सके' यह अर्थ निराधार है, क्योंकि मन्त्र में पूर्ति और सृजि दोनों शब्दों का अभाव है। 'आप इसका इष्ट सिद्ध कीजिये' यह भी निर्मूल है, क्योंकि इसके बोधक पद मन्त्र में नहीं है। इसलिये इष्ट और पूर्त कर्म यजमान से संसृष्ट हों, यही अर्थ सही माना जायगा। उपस्थित अर्थ को छोड़कर अनुपस्थित अर्थ की कल्पना प्रामाणिक नहीं मानी जाती। सारे विद्वान् एक ही सेवक के साथ इस जन्म में और दूसरे जन्म में भी रहते हैं, ऐसा अर्थ करना भी सरासर गलत है, ऐसा हो ही नहीं सकता। इसलिये इस मन्त्र से यजमान की विश्वेदेवों के साथ एक लोक में निवास की (सायुज्य) प्रार्थना की जाती है, महीधर का यह कथन ही सही है।

यदपि 'वृहस्पते अति' इत्यत्रोक्तम्—'हे वृहतां वेदानां पते पालक ऋतप्रजात वेदविद्याप्रतिपादित जगदीश्वर, त्वं जनेषु यज्ञकारकेषु विद्वत्सु लोकलोकान्तरेषु क्रतुमद् भूयांसः क्रतवो भवन्ति यस्मिन् तत्, द्युमत् सकलव्यवहारप्रकाशो भवति यस्मिन्, दानयोग्यं शवसो बलस्य प्रापकं येन विद्यादिधनेन युक्तः सन्नर्यः स्वामी, राजा वणिग्जनो वा विभाति, चित्रमद्भुतं यद् धनं तदस्मासु द्रविणं धेहि' (पृ० ३४९) इति, तदपि विश्रृङ्खलमेव, वृहस्पतिसवे बार्हस्पत्यग्रहग्रहणेऽस्याः सोपयामाया विनियोगात्। प्रजातेत्यस्य चोत्पत्तिरर्थो न प्रतिपादनम्। तेन ऋताद् ब्रह्मणः सकाशात् प्रकृष्टं जातं जन्म यस्य स ऋतप्रजातेत्येवार्थः। चित्रं नानाविधं द्रविणमस्मासु धेहीति। यद् धनमर्यं ईश्वरः, अर्हात् पूजयेत्, यच्च द्युमत् क्रतुमत्। वस्तुतस्तु महीधरोक्तदिशा पदार्थान् ज्ञात्वापि स्वकीयार्थस्य वैलक्षण्यबोधनायैव विकृतिमुपनीतं व्याख्यानम्।

'अन्नात् परिस्नुतो रसं' इत्यत्र यदुक्तम्. '(क्षत्रं) यद्राजकर्म क्षत्रियो वा (ब्रह्मणा) वेदविद्भिश्च सह (पयः) अमृतात्मकं (सोमं) सोमाद्योषधिसम्पादितं (रसं) बुद्ध्यानन्दशौर्यधैर्यबलपराक्रमादिसद्गुणप्रदम्, (व्यपिबत्) पानं करोति, तत्र स समाध्यक्षो राजन्यः (ऋतेन) यथार्थवेदविज्ञानेन (सत्यं) धर्मं राजव्यवहारं च (इन्द्रियं) शुद्धविद्यायुक्तं शान्तं मनः, (विपानं) विविधराजधर्मरक्षणं (शुक्रं) आशु सुखकरम् (अन्धसः) शुद्धान्नस्य इच्छाहेतुम् (पयः) सर्वपदार्थसारविज्ञानयुक्तम् (अमृतं) मोक्षसाधकं (मधु) मधुरं सत्यशीलस्वभावयुक्तं (इन्द्रस्य) परमैश्वर्ययुक्तस्य ईश्वरस्य कृपया (इन्द्रियम्) विज्ञानयुक्तं मनः प्राप्य (इदम्) सर्वं व्यावहारिकपारमार्थिकं सुखं प्राप्नोति। (प्रजापतिः) परमेश्वर एवमाज्ञापयति यः क्षत्रियः प्रजापालनाधिकृतो भवेत् स एवं प्रजापालनं कुर्यात् (अन्नात् परिस्नुतः) स चामृतात्मको रसोऽन्नाद् भोज्यात् पदार्थात् परितः सर्वतः स्नुतश्च्युतो युक्तो वा कार्यः। यथा प्रजायामत्यन्तं सुखं सिध्येत् तथैव क्षत्रियेण कर्तव्यम्।' (पृ० ३४९) इति, तत्तु सर्वथानृतमेव, एवमाज्ञापयतीति पदस्य मूलेऽभावात्, अन्नाद् भोज्यपदार्थात् कथममृतात्मको

'वृहस्पते अति०' इस मन्त्र की व्याख्या इस तरह से की गई है—'हे वेदविद्यारक्षक! वेदविद्या से प्रसिद्ध जगदीश्वर! आप जो सत्यविद्या रूप अनेक प्रकार का अद्भुत धन है, सो हमारे बीच में कृपा करके स्थापन कीजिये। कैसा वह धन है कि विद्वानों और लोक-लोकान्तरों में जिससे बहुत से यज्ञ किये जाँय, जिसमे सत्य व्यवहार के प्रकाश का विधान हो, बल की रक्षा करनेवाला, धर्म और सबके सुख का प्रकाश करने वाला है, तथा जिससे धर्मयुक्त योग्य व्यवहार के द्वारा राजा और वैश्य प्राप्त होकर धर्मव्यवहार अथवा धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों में प्रकाशमान होता है, उस संपूर्ण विद्या-युक्त धन को हमारे बीच में निरन्तर धारण कीजिये, (पृ० ३५०), किन्तु यह व्याख्या भी निराधार है। वस्तुतः इस मन्त्र का वृहस्पति सव में बार्हस्पत्य पात्र के ग्रहण में विनियोग किया गया है, अतः ऋत अर्थात् ब्रह्मा से जिसकी उत्पत्ति हुई है, वह वृहस्पति ही यहाँ ऋतप्रजात शब्द से गृहीत होगा। चित्र अर्थात् नाना प्रकार के धन को हमें दो। वह धन स्वामित्व का संपादक, आदर दिलानेवाला और यज्ञों का संपादक हो। वास्तव में स्वामी दयानन्द मन्त्रों का अर्थ समझने के लिये तो महीधर भाष्य का ही सहारा लेते हैं, किन्तु कुछ अपनी विलक्षणता और वैशिष्ट्य जताने के लिये वे उसको बिगाड़ देते हैं।

'अन्नात् परिस्नुतो रसं०' इस मन्त्र की व्याख्या इस तरह से की गई है—'जो राजकर्म अथवा क्षत्रिय है, वह सदा न्याय से वेदवित् पुरुषों के साथ मिलकर ही राज्यपालन करे। इसी प्रकार जो अमृतरूप सोमलता आदि ओषधियों का भार तथा जो बुद्धि, आनन्द, शूरता, धीरज, बल और पराक्रम आदि उत्तम गुणों का बढ़ानेवाला है, उनको जो राजपुरुष अथवा प्रजास्थ लोग वैद्यक शास्त्र की रीति से पीते हैं, वे सभासद् और प्रजास्थ मनुष्य लोग वेदविद्या को यथावत् जानकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, शुद्धविद्यायुक्त शान्त स्वरूपपन, यथावत् प्रजा का रक्षण, शीघ्र सुख कराने वाला, शुद्ध अन्न की इच्छायुक्त, सब पदार्थों का सार, विज्ञानसहित मोक्ष के ज्ञान आदि साधन, मधुर वाणी और शील आदि जो श्रेष्ठ गुण हैं, उन सबसे परिपूर्ण होकर परमैश्वर्य युक्त व्यापक ईश्वर की कृपा से विज्ञान को प्राप्त होते हैं। इसलिये परमेश्वर सब मनुष्यों और राजपुरुषों को आज्ञा देता है कि तुम लोग पूर्वोक्त व्यवहार और विज्ञान विद्या को प्राप्तकर धर्म से प्रजा का पालन किया करो। उक्त अमृतस्वरूप रस को उत्तम भोजन के पदार्थों के साथ मिलाकर सेवन किया करो, जिससे कि प्रजा में पूर्ण सुख की सिद्धि हो' (पृ० ३५०)। किन्तु यह व्याख्यान एकदम गलत है, क्योंकि आज्ञा का प्रदर्शक कोई पद मन्त्र में विद्यमान नहीं है। अन्न अर्थात् भोज्य पदार्थ से अमृतस्वरूप रस को कैसे चुवाया जायगा, अथवा अन्न में अमृत कैसे

रसश्च्युतो युक्तो वा कार्यं इत्यस्यानिरूपणात् । एवं बुद्ध्यानन्दादिप्रदं रसं व्यपिवत् इत्यत्रापि किंमूलम् ? विपानं विविधराजधर्मरक्षणमित्यपि निर्मूलम्, अन्धसः शुद्धान्नस्येच्छाहेतुमित्यपि स्वकपोलकल्पितमेव व्याख्यानम् । कृपयेत्यपि निर्मूलम् । प्राप्नोतीत्यपि निर्मूलम् । उव्वटमहीधरानुसारेण तु हविर्लक्षणादन्नात् परिस्रुतः प्रथमशरीरी प्रजापतिः रसं ब्रह्मणा गायत्रीलक्षणेन व्यपिवत् । विविच्य पीतवान्, क्षत्रं च व्यपिवत्, पयः सोमं च व्यपिबदित्येवार्थः ।

शन्नो देवीरित्यत्रापि—'देव्य आपः सर्वव्यापक ईश्वरः अभिष्टये इष्टानन्दप्राप्तये पीतये पूर्णानन्दभोगेन तृप्तये नः शं कल्याणकारिका भवन्तु । ता आपो देव्यः स एवेश्वरो नोऽस्माकमुपरि शंयोः सर्वतः सुखस्य वृष्टिं करोतु । अत्रापःशब्देन परमात्मनो ग्रहणे प्रमाणमुक्तम्—'यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः । असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥' (अथर्व० १०।७।१०) तदर्थोऽप्येवमुक्तः—'विद्वांस आपो ब्रह्मणो नामास्तीति जानन्ति । यस्मिन् परमेश्वरे सर्वान् भूगोलान् निधींश्च यस्मिश्चानित्यं कार्यं जगदेतत् नित्यं कारणं च स्थितं जानन्ति, स जगद्धाता सर्वेषां पदार्थानां मध्ये कतमोऽस्ति विद्वंस्त्वं ब्रूहि इति पृच्छ्यते । (अन्तः) स जगदीश्वरः सर्वेषां जीवादिपदार्थानामभ्यन्तरेऽन्तर्यामिरूपेणावस्थितोऽस्तीति भवन्तो जानन्तु' (पृ० ३५१) इति, तदपि मन्दम्, प्रसिद्धार्थत्यागे कारणाभावात्, 'अब्देवत्या गायत्रीति' उव्वटादिवचनविरोधाच्च । पीतय इत्यस्य पानायेत्यर्थपरित्यागे नवीनतृप्त्यर्थकल्पने मानाभावाच्च । शंयोः सर्वतः सुखस्य वृष्टिं करोतु, इत्यपि निर्मूलम्, वृष्टिबोधकपदाभावात् । 'शमनं रोगाणां यावनं च भयानाम्' (निरुक्त ४।२१) इति निरुक्तविरोधाच्च । यत्र लोकांश्चेत्यस्य त्वयमर्थः—यत्र लोकान् कोशानपश्च जना जानन्ति, यत्रासत्कारणं सत् कार्यं च भवति तं स्कम्भं ब्रूहीति प्रश्नः ।

मिलाया जायगा, इसकी कोई विधि भी यहाँ नहीं बताई गई है । इसी तरह बुद्धि को आनन्द से भर देने वाले रस को पीने की बात भी कहाँ से निकलेगी ? विपान शब्द का अर्थ यथावत् प्रजा का रक्षण भी कैसे होगा ? 'अन्धसः' पद का अर्थ शुद्ध अन्न की इच्छायुक्त करना कोरी मनमानी है । ईश्वर की कृपा की बात निकालना भी निराधार है । 'प्राप्नोति' पद का अध्याहार भी बिना प्रमाण का है । उव्वट और महीधर के अनुसार तो हविःस्वरूप अन्न से निकला प्रथम शरीरधारी प्रजापति गायत्री मन्त्र की सहायता से सभी पदार्थों के सार स्वरूप का विवेकपूर्वक पान करता है, वह बल का, जल और सोम का भी पान करता है । यह सीधा सा अर्थ इस मन्त्र का है ।

'शन्नो देवी०' इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द कहते हैं—'आप्लृ व्याप्तौ' इस धातु से अप् शब्द सिद्ध होता है । यह सदा स्त्रीलिंग और बहुवचनान्त प्रयुक्त होता है । 'दिवु' धातु के क्रीड़ा आदि अर्थ हैं, उससे 'देवी' शब्द सिद्ध होता है । 'देवीः' अर्थात् जो ईश्वर सबका प्रकाश और सबको आनन्द देनेवाला, सर्वव्यापक है, वह इष्ट आनन्द और पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये हमको सुखी होने के लिये कल्याणकारी हो । वही परमेश्वर हम पर सुख की वृष्टि करे । इस मन्त्र में 'आपः' शब्द से परमात्मा के ग्रहण होने में 'यत्र लोकांश्च०' यह मन्त्र प्रमाण है । इसका अर्थ यह है कि विद्वान् लोग ऐसा जानते हैं कि 'आपः' परमात्मा का नाम है । प्रश्न —सुनो जी ! जिसमें पृथिवी आदि सब लोक, सब पदार्थ स्थित हैं, तथा जिससे अनित्य कार्य जगत् और नित्य सब वस्तुओं का कारण, ये सब स्थित हो रहे हैं, वह सब लोकों को धारण करने वाला कौन पदार्थ है ? उत्तर—जो सब पृथिवी आदि लोक और जीवों के बीच में अन्तर्यामी रूप से परिपूर्ण भर रहा है । ऐसा जानकर आप लोग उस परमेश्वर को अपने ही अन्तःकरण में खोजो' (पृ० ३५१-३५२) । किन्तु यह सारी व्याख्या भी एक दम लचर है । प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ देने का कोई कारण यहाँ नहीं दिखाई पड़ता । उव्वट और महीधर ने इस मन्त्र का छन्द गायत्री और देवता यज्ञ बताया है । 'पीतये' शब्द का सीधा-सादा अर्थ पीने के लिये है, उसको छोड़कर 'तृप्ति के लिये' इस नये अर्थ की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है । 'शंयोः' पद का सब तरह से सुख की वृष्टि करो, यह अर्थ भी निराधार है, क्योंकि मन्त्र में वृष्टि का बोधक कोई पद नहीं है । ऐसा करने पर उस निरुक्त वाक्य से भी विरोध पड़ेगा, जिसमें कि रोगों के शयन और भय के अपाकरण की बात कही गई है । 'यत्र लोकांश्च' इस मन्त्र का संक्षिप्त अर्थ यह है—मनुष्य जिस मूल कारण में सारे लोकों, कोशों और इस जलमय सृष्टि को जानने का प्रयत्न करते हैं, जहाँ कारण और कार्य दोनों की स्थिति रहती है, उस मूल कारण का तुम वर्णन करो । इस तरह से पूरे मन्त्र में केवल प्रश्न ही किया गया है ।

एवमेव—'कया नश्चित्र' इत्यत्र यदुक्तम्—'(कया) उपासनारीत्या (शचिष्ठया) अतिशयेन सत्कर्मानुष्ठानप्रकारया (वृता) शुभगुणेषु वर्तमानया (कया) सर्वोत्तमगुणालङ्कृतया सभया प्रकाशितः, (चित्रः) अद्भुतानन्तशक्तिमान् (सदावृधः) सदानन्देन वर्धमान इन्द्रः परमेश्वरः (नः) अस्माकं (सखा) मित्रः (आभुवत्) यथाभिमुखो भूत्वा (ऊती) स जगदीश्वरः कृपया सर्वदा सहायकरणेनास्माकं रक्षको भवेत्, तथैवास्माभिः स सत्यप्रेमभक्त्या सेवनीयः' (पृ० ३५१) इति, तदेतत्सर्वं कुशकाशावलम्बनमात्रमेव, मूलास्पर्शित्वात् । (वृता) शुभगुणेषु वर्तमानयेति विसङ्गतमेव, शुभगुणेष्वित्यध्याहारे बीजाभावात् । असङ्गतेश्च । शुभगुणेषु वर्तमाना क्रिया सभा वा ? नाभयमिह सम्भवति, गुणानां निष्क्रियत्वात् । द्रव्याश्रितत्वेन द्रव्याश्रयत्वासम्भवाच्च । मित्र इत्यशुद्धम्, मित्रशब्दस्य नियतनपुंसकलिङ्गत्वात् । अन्यत् सर्वं तु मन्त्राक्षरबाह्यमेव ।

'केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥' (वा० सं० २९।३७) इत्यत्र यदुक्तम्—'हे मर्या मनुष्याः, उषद्भिः परमेश्वरं कामयमानैस्तदाज्ञायां वर्तमानैर्विद्वद्भिर्युष्माभिः सह समागमे कृते सत्येव अकेतवे अज्ञानविनाशाय केतुं प्रज्ञानम् अपेशसे दारिद्र्यनाशाय (पेशः) चक्रवर्तिराज्यादिसुखसम्पादकं धनं च कृण्वन् कुर्वन् सन् जगदीश्वरः (अजायथाः) प्रसिद्धो भवतीति वेदितव्यम्' (पृ० ३५१) इति, तदपि न मनोज्ञम्, 'उष दाहे' इति धातोर्निष्पन्नस्योषद्भिरिति पदस्य कामयमानैरिति नार्थः सम्भवति, धात्वर्थविरुद्धत्वात् । विद्वद्भिः सह समागमे कृते सत्येव''''ईश्वरः अजायथाः प्रसिद्धो भवतीत्यर्थस्यानुपपत्तेः । नहि मूले तादृशः शब्दोऽस्ति यस्येदृशोऽर्थः स्यात् । 'उषद्भिरजायथाः' इत्येव तु पाठः । नहि त्वद्रीत्या परमात्मा जायते, तस्य नित्यत्वादवतारानङ्गीकाराच्च । मध्यमपुरुषप्रयोगश्च नोपपद्यते । किं बहुना, जगदीश्वर-

इसी तरह से 'कया न श्चित्र०' इस मन्त्र की व्याख्या में कहा गया है—'जो किसी उपासना रीति और सत्य धर्म के आचरण से सभासद् सहित सत्य विद्या आदि गुणों में प्रवर्तमान सुखरूप वृत्ति सहित सभा से प्रकाशित, अद्भुतस्वरूप, आनन्दस्वरूप और आनन्द बढ़ाने वाला परमेश्वर है, वह हमारी आत्माओं में प्रकाशित हो । किस प्रकार वह जगदीश्वर हमारा सदा सहायक होकर कृपा से नित्य रक्षा करे, इसके लिये प्रार्थना की जाती है कि हे अग्ने ! जगदीश्वर ! आपकी आज्ञा से जो रमण करने वाले हैं, उन्हीं पुरुषों से आप जाने जाते हैं और उन्हीं धार्मिक पुरुषों के अन्तःकरण में आप अच्छी तरह से प्रकाशित होते रहें' (पृ० ३५२) । किन्तु यह सारा कथन भी 'डूबते को तिनके का सहारा' वाली कहावत को चरितार्थ करने वाला है, क्योंकि इस व्याख्या का मन्त्र में विद्यमान शब्दों से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है । 'वृता' पद का सत्यविद्या आदि गुणों में प्रवर्तमान, यह अर्थ असंगत है, क्योंकि 'शुभगुणेषु' इस पद के अध्याहार का कोई तुक नहीं है, साथ ही यह असंगत भी है । शुभ गुणों में विद्यमान क्रिया योगी या सभा ? दोनों को ही स्थिति शुभ गुणों में नहीं हो सकती, क्योंकि गुणों में क्रिया नहीं होती । गुण स्वयं द्रव्य के आश्रित है, वे स्वयं किसी के आश्रय नहीं हो सकते । मित्र शब्द का पुल्लिङ्ग में प्रयोग भी गलत है, क्योंकि इस अर्थ में यह नित्य नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होता है । इसके सिवाय अन्य दूसरी बातों का मन्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

'केतुं कृण्वन्नकेतवे०' इसकी व्याख्या में कहा गया है—'हे मनुष्यों, परमेश्वर के चाहने पर हो, उसकी आज्ञा के अनुसार चलने वाले आप जैसे विद्वानों के साथ रहने पर ही परमात्मा अज्ञान के नाश के लिये ज्ञान का प्रकाश करता है और दारिद्र्य के नाश के लिये चक्रवर्ती राज्य, नाना प्रकार के सुखों को देने वाले धन का अंबार लगा देता है, इस बात को अपने मन में दृढ़ता से बैठा लेना चाहिये । परमात्मा के प्रति ऐसा दृढ़ विश्वास अपने मन में बैठा लेने वाला व्यक्ति कभी दुःख को प्राप्त नहीं होता' (पृ० ३५२) यह अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'उष दाहे' इस धातु से निष्पन्न 'उषद्भिः' इस पद का अर्थ चाहने वाले कभी नहीं हो सकता, यह अर्थ धातु के अर्थ दाह (जलाना) से सर्वथा भिन्न है । विद्वानों के साथ रहने पर ही ईश्वर प्रसिद्ध होता है, इस अर्थ को मन्त्र के पदों से निकाल पाना कठिन है । मूल में 'उषद्भिरजायथाः' यही पाठ है । आपके मत से तो परमात्मा का अवतार भी नहीं होता, तब उसके उत्पन्न होने की बात आप कैसे मान सकते हैं । नित्य परमात्मा का तो जन्म होता नहीं । उसके प्रति मध्यम पुरुष का प्रयोग उचित नहीं माना जा सकता । प्रस्तुत मन्त्र में जगदीश्वर परमात्मा का बोधक कोई पद है भी नहीं । हमारे मत से तो इस मन्त्र का छन्द गायत्री,

बोधकोऽपि कश्चिच्छब्दो मूले नास्ति। सिद्धान्ते त्वग्निदेवत्या मधुच्छन्दोदृष्टेयं गायत्रीति हेतोः 'अग्ने' इत्येव सम्बोधनम्। स चाग्निः उषद्भिर्यजमानैः, उषन्ति हविर्दहन्तीत्युषन्तो यजमाना अग्निहोत्रकर्तारो यजमाना एवात्र गृह्यन्ते, धात्वर्थानुरोधात्। वसतेर्वा कृतसम्प्रसारणस्यैतद्रूपम्, उषद्भिरग्निं प्रति निवसद्भिरुपासकैर्जायमानः सन् समजायथा उत्पद्यसे इति वार्थः। तेषामेवाग्निररणिमन्थनैः स्तोत्रैश्चाविर्भवतीति तदभिप्रायेणाजायथा इत्युक्तिः। मर्या इति न सम्बोधनपदम्, किन्तु विभक्तिव्यत्ययेन चतुर्थी वेदितव्या। हे अग्ने, त्वम् अकेतवे ज्ञानहीनाय मर्याय केतुं प्रज्ञानं कुर्वन् सुवर्णादिधनहीनाय सुवर्णं कुर्वन् होमकर्तृभिरजायथा मन्थनादिद्वाराविर्भवसीत्यर्थः। पेशःशब्दोऽपि सुवर्णाद्यर्थको न चक्रवर्तिराज्यसुखपरः, प्रमाणाभावात्।

सामाजिकैस्तु मन्त्राणामभ्यासार्थमेव यज्ञेषूच्चारणं क्रियते, यागादिश्च वायुजलशुद्ध्यर्थमेव। तथा सति मन्त्रा ग्रहार्थस्तावका बोधका वा भवन्तु, मा वा भवन्तु, तथापि मन्त्राणामभ्यासार्थमुच्चारणं यथान्यत्र यज्ञेषु कर्तव्यम्, तथैव ग्रहयागेष्वपि कर्त्तव्यमेव, तद्रीत्या विनियोगस्याकिञ्चित्करत्वात्। मीमांसकास्तु द्रव्यदेवतास्मारकत्वेन मन्त्रोच्चारणमभ्यु-

देवता अग्नि और ऋषि मधुच्छन्दा हैं। अतः इस मन्त्र में अग्नि को ही सम्बोधित किया जाता है। वह अग्नि अग्निहोत्र प्रभृति पवित्र याज्ञिक कर्मों का अनुष्ठान करने वाले यजमानों के हाथों अरणि मन्थन की प्रक्रिया से पैदा किया जाता है। प्रज्वलित अग्नि में हवि प्रदान करने वाले यजमानों का बोध 'उषद्भिः' इस पद से होता है। यह अर्थ धातु के अपने अर्थ के अनुरूप है, क्योंकि धातु का अर्थ जलाना है और यजमानों के द्वारा अग्नि में दी गई हवि भी जल जाती है। वस धातु का सम्प्रसारण कर देने पर भी यह रूप बनेगा। तब उसका अर्थ होगा कि अग्नि की उपासना के लिये उसके पास रहने वाले उपासकों के द्वारा यह अग्नि पैदा किया गया है। वे उपासक ही अरणि काष्ठों का मन्थन करते हुए स्तोत्र-शस्त्र आदि का पाठ करके इसको पैदा करते हैं, इसी लौकिक प्रक्रिया के आधार पर अग्निदेव की उत्पत्ति की बात मन्त्र में बताई गई है। 'मर्या' यह पद सम्बोधनात्मक न होकर विभक्ति का विपरिणाम करके चतुर्थ्यन्त माना जाता है। तब इस मन्त्र का संक्षिप्त अर्थ यह होगा कि हे अग्ने, तुम ज्ञानहीन अज्ञानी पुरुष को ज्ञान प्रदान करते हुए और सुवर्ण प्रभृति धन-सम्पत्ति से हीन पुरुष को धनवान् बनाते हुए मन्थन क्रिया से यजमानों के हाथों पैदा होते हो। यहाँ पेश शब्द भी सुवर्ण प्रभृति धन-सम्पत्ति का वाचक है, 'चक्रवर्ती राज्य का सुख' इसका अर्थ नहीं है, क्योंकि ऐसा अर्थ करने में कोश प्रभृति का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

आर्यसमाजियों का मन्तव्य है कि यज्ञ के अवसर पर मन्त्रों का उच्चारण केवल इसलिये किया जाता है कि उनका अभ्यास, उनकी स्मृति बनी रहे और यज्ञ-याग प्रभृति का प्रयोजन भी केवल जल-वायु की शुद्धि है। इस परिस्थिति में मन्त्र नव ग्रहों के अर्थ को बतावें या न बतावें, तो भी मन्त्रों के अभ्यास के लिये जैसे अन्य यज्ञों के अवसर पर उनका उच्चारण किया जाता है उसी तरह से ग्रह याग के अवसर पर भी उनका उच्चारण कर लिया जाय, तो इसमें आपको क्या आपत्ति है? आपके मत से विनियोग निरर्थक होते हैं। आपके इस मत के विपरीत मीमांसकगण द्रव्य और देवता के स्मरण के लिये किसी भी कर्म के अवसर पर मन्त्रों का उपयोग मानते हैं, अर्थात् उनके मत से मन्त्रों का उच्चारण इसलिये किया जाता है कि जिससे प्रस्तुत कर्म का देवता क्या है और उस कर्म से किस द्रव्य का उपयोग होगा, यह बात याद पड़ जाय। इनके मत के अनुसार प्रत्येक मन्त्र की किसी भी अनुष्ठान के साथ स्पष्ट संगति बतानी पड़ेगी। इस मत के अनुसार ग्रहपूजा में उन मन्त्रों का उपयोग हो ही नहीं सकता, जो कि उन उन ग्रहदेवताओं और उनके निमित्त अर्पित किये जाने वाले द्रव्यों का बोध न करावें। यद्यपि ब्राह्मण वाक्यों से भी अनुष्ठान के उपयोगी द्रव्य-देवता का स्मृति जाग सकती है, किन्तु विनियोग के आधार पर यह नियम मान लिया जाता है कि द्रव्य और देवता का स्मरण मन्त्रों का उच्चारण करके ही किया जाय। इस नियम के कारण अदृष्ट तभी उत्पन्न होगा, जब कि मन्त्रों की सहायता से द्रव्य और देवता का स्मरण कर अनुष्ठान किया जाय। इस तरह से मीमांसकों के मत में मन्त्र का उच्चारण अदृष्ट की उत्पत्ति के लिये अनिवार्य है। इस तरह की मन्त्रों के उच्चारण की अनिवार्यता आपके मत के अनुसार नहीं सिद्ध हो पाती। कहने का अभिप्राय यह है कि आप मन्त्रों का उच्चारण केवल उनकी स्मृति बनाये रखने के लिये करते हैं, तो यह कार्य तो किसी भी कर्म में किसी मन्त्र का उच्चारण कर पूरा किया जा सकता है, तब आप ग्रहपूजा के अवसर पर याद किये जाने वाले मन्त्रों

पयन्तीति तद्रीत्या मन्त्राणामनुष्ठानार्थसङ्गतिरपेक्षिता। यद्यपि ब्राह्मणैरप्यनुष्ठानोपयिकार्थस्मृतिः सम्भवत्येव, तथापि विनियोगवशान्मन्त्रैरेव द्रव्यदेवते स्मर्तव्ये इति नियमोऽदृष्टजननार्थं मन्त्रैरेव द्रव्यदेवते स्मृत्वा कर्माणि कर्तव्यानीत्युक्तम्।

अधिकारानधिकारिविषयः

यदुक्तम्—'वेदादिशास्त्रपठने सर्वेषामधिकारोऽस्ति, वेदानामीश्वरोक्तत्वात्, सत्यविद्याप्रकाशकत्वाच्च। यद्धि परमेश्वररचितम्, तत्सर्वार्थमिति जानीमः' (पृ० ३५३) इति, तत्तुच्छम्, तथात्वे परमेश्वरनिर्मितायां दुहितरि सर्वेषामधिकारापत्त्या विवाहादिव्यवस्थालोपापत्तेः। तस्मात् परमेश्वरनिर्मितत्वं न सर्वाधिकारप्रयोजकम्। सत्यविद्याप्रकाशकत्वमपि न सर्वाधिकारप्रयोजकम्, पश्वादिषु व्यभिचारात्। सत्यविद्याप्रकाशत्वेऽपि वेदेषु न पशूनामधिकारः, सामर्थ्याभावात्। न च पश्वादीनां सामर्थ्याभावेनानधिकारित्वेऽपि शूद्रादिषु सामर्थ्यसत्त्वेन कुतोऽनधिकार इति वाच्यम्, लौकिकसामर्थ्यसत्त्वेऽपि तत्र शास्त्रीयसामर्थ्याभावेनानधिकारात्। तथाहि—उपनयनं वेदाध्ययनाङ्गम्, उपनयनं च ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानामेव विहितम्। न स्त्रीणां न वा शूद्राणाम्, 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः। एवमेव एतेषामेव त्रयाणां कृते पालाशवैल्वखादिरदण्डविधानम्, न शूद्रादीनाम्। तस्माच्छास्त्रीयसामर्थ्याभावेन पूर्वोत्तरमीमांसयोरपशूद्राधिकरणविरोधाच्च न वेदाध्ययने सर्वाधिकारः। अतस्तेषामनुग्रहार्थमेव पुराणेतिहासादिभिर्वेदानां सारस्तेभ्यः समर्थ्यते। 'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह॥' इति भारत-

का खण्डन किस आधार पर कर सकते हैं कि ये मन्त्र ग्रह पूजा के नहीं हैं। अतः आपका यह निषेध निराधार सिद्ध हो जाता है। इसके विपरीत मीमांसक गण मन्त्रों का उपयोग अनिवार्यतः द्रव्य और देवता को याद करने में करते हैं। यह कार्य तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसका विनियोग के अनुसार अर्थ न होता हो। अतः इनके मत के अनुसार उन मन्त्रों का विनियोग ग्रहपूजा में किया ही नहीं जा सकता, जो कि उन उन ग्रहों और उनके निमित्त अर्पित किये जाने वाले द्रव्यों का स्मरण न करावें। मन्त्रों का मनमाना अर्थ कर आर्यसमाजी भले ही छूट जाय, किन्तु सनातनी को इससे छुटकारा नहीं मिल सकता, क्योंकि वह शास्त्रीय व्यवस्था से नियन्त्रित है। अतः ग्रहपूजा वेदनिर्दिष्ट नहीं है, ऐसा मानना निरा भ्रम है।

वेदाध्ययन के अधिकार का विवेचन

वेद आदि शास्त्रों को पढ़ने का सबको अधिकार है या नहीं? इस विषय को उठाते हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि 'इनको पढ़ने का सबको अधिकार है, क्योंकि जो ईश्वर की सृष्टि है, उसमें किसी का अनधिकार नहीं हो सकता। देखिये कि जो-जो पदार्थ ईश्वर से प्रकाशित हुए हैं, सो-सो सबके उपकारार्थ हैं' (पृ० ३५४)। किन्तु यह कथन एकदम निराधार है। ईश्वर की सृष्टि में किसी का अनधिकार नहीं हो सकता, स्वामी दयानन्द से इस हेतु को सही मान लिया जाय तो परमेश्वर की बनाई हुई पुत्री में सबका समान अधिकार मानना पड़ जायगा और इस तरह से विवाह आदि की व्यवस्था का कोई अर्थ नहीं रह जायगा। इसलिये परमेश्वर की बनाई चीज में सबका समान अधिकार है, इस बात को सही नहीं माना जा सकता। सत्य विद्या का प्रकाशक होने से भी वेद में सबका अधिकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि पशु प्रभृति का इसमें अधिकार नहीं है, क्योंकि उनमें वेद का अध्ययन करने की शक्ति नहीं है। पशु प्रभृति का शक्ति के अभाव में भले ही वेदाध्ययन में अधिकार न हो, शूद्र प्रभृति में तो यह सामर्थ्य है, अतः उनको तो वेदों के अध्ययन का अधिकार होगा? किन्तु ऐसा सोचना गलत है, क्योंकि लौकिक सामर्थ्य के रहते हुए भी शूद्र प्रभृति में शास्त्रीय योग्यता का अभाव होने से उनको वेदाध्ययन का अधिकार नहीं दिया जा सकता। उपनयन संस्कार के बाद ही वेदाध्ययन का अधिकार मिलता है। यह उपनयन संस्कार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का ही होता है, शूद्र और स्त्रियों का नहीं। वेद प्रभृति शास्त्रों में ऐसा ही विधान है और त्रैवर्णिक के लिये ही उपनयन संस्कार के द्वारा धारण किये वाले दण्ड प्रभृति चिह्नों का भी विधान है, शूद्र प्रभृति के लिये नहीं। इस शास्त्रीय सामर्थ्य के न रहने से और पूर्व एवं उत्तर मीमांसा के अपशूद्राधिकरण की व्यवस्था के अनुसार भी वेदों का अध्ययन करने का सबको अधिकार नहीं दिया गया है। इसीलिये शूद्र, स्त्री प्रभृति के कल्याण के लिये ही

माख्यानं कृपया मुनिना कृतम् । दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ॥' (श्री० भा० म० पु०) । इतिहासपुराणानामपि पञ्चमवेदत्वमेवोक्तम् । अतस्तच्छ्रवणेनापि वेदप्रयोजनं सिद्ध्यत्येव । 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' इति ।

अपरं च, किमीश्वरोक्तत्वाद् वेदाः सर्वकर्तृकाध्ययनविषयाः ? ओमिति चेन्न, त्वद्रीत्या कण्ठताल्वादिहीनस्य निराकारस्येश्वरस्योच्चारयितृत्वासम्भवेन तदुक्तत्वासम्भवात् । अन्यथा पश्वादीनामपि वेदोच्चारणं स्यात् । सर्वशक्तिमतोऽपि प्रकृतिविरुद्धकार्यकर्तृत्वासम्भव एव । अन्यथाम्रबीजादपि निम्बाङ्कुरोत्पत्तिप्रसङ्गात् । रिकार्डादिषु तु पुरुषोच्चरितशब्दानामेवाभिव्यक्तिः । अथेश्वरकर्तृकत्वादेव सर्वकर्तृकाध्ययनविषयत्वं वेदानां सिषाधयिषितमिति, तदपि तुच्छम्, क्षित्यादौ हेतोः सत्त्वेऽपि सर्वाध्ययनविषयत्वाभावेन व्यभिचारात् । न चाध्ययनविषयत्वाभावेऽपि सर्वभोगाविषयत्वेनैव सर्वाध्ययनविषयत्वमस्त्येव, अध्ययनस्यापि भोगविशेषत्वादिति वाच्यम्, भोग्यजातस्य सर्वत्रासम्भवेन सर्वकर्तृकत्वासम्भवात् । विचित्रकर्मवशाद् विचित्रभोगभाजः प्राणिनो भवन्ति । कण्टकाः क्रमेलकं प्रति सुखहेतव इति न देवदत्तस्यापि तथा भवेयुः । न वा देवदत्तः पङ्गुरिति यज्ञदत्तोऽपि तथा स्यात् ।

किञ्च, सत्यविद्याप्रकाशकत्वाद् वेदानां सर्वाध्ययनविषयत्वेऽसत्यविद्याप्रकाशकत्वस्य सर्वकर्तृकाध्ययनविषयत्वं न प्राप्नोति । दृश्यते चासत्यविद्याप्रकाशस्यापि सर्वकर्तृकाध्ययनविषयता । अत्र वेदेतरत्वमुपाधिः । न च पक्षेतरत्वं नोपाधिः,

इतिहास, पुराण प्रभृति ग्रन्थों में वेदों का सार संगृहीत कर दिया गया है । शास्त्रों में बताया गया है कि स्त्री, शूद्र, अन्त्यज प्रभृति के कानों में श्रुति का उपदेश नहीं पहुँच सकता । इसलिये वे क्या शुभ हैं क्या अशुभ है ? इसका निर्णय करने में वे असमर्थ हो जाते हैं । इनके कल्याण के लिये ही मुनि वेदव्यास ने महाभारत की रचना की है, जिसमें कि स्त्री, शूद्र प्रभृति के लिये भी उचित धर्म मार्ग का निर्देश किया गया है, अतः इनका श्रवण करने से भी वेद का प्रयोजन, हित और अनहित का विवेक सिद्ध हो जाता है । छान्दोग्य उपनिषद् में बताया गया है कि इतिहास-पुराण वेदों में पाचवाँ वेद है ।

क्या आप ईश्वर के द्वारा उपदिष्ट होने से वेदों के अध्ययन में सबका समान अधिकार मानते हैं ? यदि हाँ, तो आपके मत से तो ईश्वर निराकार होने से कण्ठ, तालु प्रभृति अवयवों से रहित है, तब वह वेदों का उच्चारण कैसे करेगा ? उच्चारण न कर सकने पर वेदों को उनके द्वारा उपदिष्ट कैसे माना जा सकता है ? बिना कण्ठ आदि अवयवों के ही उच्चारण मानने पर तो पशु प्रभृति को भी वेद का उपदेश और उसके उच्चारण की सामर्थ्य मिल जानी चाहिये । वास्तव में तो ईश्वर भले ही सर्व शक्तिमान् हो, किन्तु संसार की व्यवस्था चलाने के लिये वह भी प्रकृति के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करता । ऐसा न होने पर आम की गुठली में से नीम का पेड़ पैदा न होने में क्या बाधा मानी जायगी ? आजकल प्रचलित सिनेमा आदि के रिकार्डों में पुरुष के द्वारा उच्चारित शब्दों की ही अभिव्यक्ति होती है । ईश्वर की कृति होने से ही वेदों में सबके अध्ययन को सिद्ध करना भी गलत है, क्योंकि ईश्वर की कृति तो पृथिवी प्रभृति पदार्थ भी हैं, किन्तु वे सबके अध्ययन का विषय नहीं होते, इस तरह से आपका ईश्वरकर्तृकत्व हेतु पृथिवी में व्यभिचरित हो जाता है, क्योंकि उसमें सर्वाध्ययनकर्तृत्व की स्थिति नहीं है । यदि आप कहें कि पृथिवी में सर्वाध्ययनकर्तृत्व भले ही न हो, किन्तु सर्वभोगविषयत्व तो उसमें रहता ही है, अध्ययन भी एक प्रकार का भोग ही है, इस तरह से पृथिवी में भी सर्वभोगविषयत्व के रूप में सर्वाध्ययनकर्तृत्व की स्थिति रहने से उक्त व्यभिचार नहीं होगा, तो इसका उत्तर यह है कि ईश्वरनिर्मित पृथिवी प्रभृति में सर्वत्र भोग्य स्थिति समान रूप से रहती हो हो, सब कोई समान रूप से उसका उपभोग कर सकते हों, ऐसी स्थिति नहीं रहती । अपने अपने कर्मों की विचित्रता के अनुसार विचित्र भोग भोगने की सामर्थ्य प्राणियों में उत्पन्न होती है । काँटेदार पेड़ों की पत्तियों को ऊँट बड़ी प्रसन्नता से खाता है, तो देवदत्त के लिये भी यही स्थिति नहीं रहेगी । देवदत्त के लगड़े हो जाने से यज्ञदत्त भी लगड़ा नहीं हो जायगा । कहने का अभिप्राय यह है कि ईश्वर की कृति पृथिवी प्रभृति का जैसे कोई समान रूप से उपभोग नहीं कर सकता, उसी तरह से ईश्वर की कृति वेदों का भी समान रूप से अध्ययन का सबको अधिकार नहीं मिल सकता ।

सत्यविद्या के प्रकाशक होने से वेदाध्ययन में सबका अधिकार माना जाय, तो असत्य विद्या के प्रकाशक शास्त्रों के अध्ययन का सबको अधिकार नहीं होना चाहिये, किन्तु देखा तो यह जाता है कि इनके अध्ययन का सबको अधिकार है । इस तरह से सत्यविद्या

तस्य बाधानुन्नीतविषयकत्वात् । अत्र तु वेदे सर्वकर्तृकाध्ययनविषयत्वस्य त्रैवर्णिकस्यैवाधिकारं वदता शब्देन बाधः । तथा च वेदेतरत्वस्य सर्वकर्तृकाध्ययनविषयत्वस्य च नास्तिकादिग्रन्थेषु विद्यमानत्वात् साध्यव्यापकता । तत्रैव च सत्यविद्याप्रकाशकत्वमिति साधनाव्यापकत्वमपि । वेदानुकूलशास्त्राणां वेदाङ्गोपाङ्गत्वे तदात्मतया वेदत्वासिद्धौ न साधनव्यापकता । तथा च 'वेदा न सर्वकर्तृकाध्ययनविषयाः, वेदेतरत्वाभावात्' इत्यनुमानेन सर्वकर्तृकाध्ययनविषयत्वाभावत्वमेव वेदानां सिद्धयति ।

ब्रह्मसूत्रेऽपशूद्राधिकरणे (१।८), जैमिनिसूत्रे शूद्रस्यानधिकाराधिकरणे (६।७), पारस्करादिभिः सूत्रकारैः मन्वादिस्मृतिकारैश्च रामायणमहाभारतादिनिर्मातृभ्यां वाल्मीकिबादरायणाभ्यां शङ्कररामानुजमध्ववल्लभवेङ्कटसायणादिभिः स्पष्टमेव स्त्रीणां शूद्राणां वेदाध्ययनानधिकार उक्तः । दयानन्देन मनोः प्रामाण्यमभ्युपेतम् । मनुना च—'एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥' (१।९१), 'अतोऽन्यद् यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम्' (१०।१२३), 'परिचर्यः स्त्रिया साध्व्या देववत् पतिः' (५।१५१), 'नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतो नाप्युपोषणम् । पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् । शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च·····' (९।१८) एभिर्वचनैः स्त्रीणां शूद्राणां च पतिशुश्रूषाद्विजशुश्रूषाव्यतिरिक्तानामुपनयनवेदाध्ययनादिकर्मणां न केवलमविधानमेवापि तु नैष्फल्यमपि निगदव्याख्यातम् । 'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः' (२।६६), 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः । पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥' (२।६७) इत्यादिभिश्च स्त्रीणां शूद्राणां द्विजातिपतिसेवातिरिक्तानां गुरुकुलवासादिकर्मणां निषेध एव पर्यवसीयते । 'मनुस्मृतिः सृष्टयादौ निर्मिता' इति दयानन्दः सत्यार्थप्रकाशे ११

प्रकाशकत्व यह भी असद्धेतु है, क्योंकि इसमें वेदेतरत्व उपाधि है । वेदेतरत्व उपाधि में तो बाध उपस्थित है, क्योंकि वेद में सबके अध्ययन का समान अधिकार बताने वाला हेतु त्रैवर्णिक के ही अधिकार को बताने वाले शास्त्रवचन से बाधित हो जाता है । सोपाधिक हेतु वह होता है, जो कि साध्य में व्यापक हो और साधन में अव्यापक हो । यहाँ वेदेरतत्व और सर्वकर्तृकाध्ययनविषयत्व दोनों की नास्तिक आदि के ग्रन्थों में स्थिति रहने से साध्यव्यापकता विद्यमान है । नास्तिक आदि के ग्रन्थों में सत्यविद्याप्रकाशकत्व की स्थिति है और वेदानुकूल किन्तु वेदेतर वेदांग, उपांग आदि भी सत्यविद्या के ही प्रकाशक हैं, असत्य विद्या के नहीं, इस तरह से उनमें असत्यविद्या प्रकाशकत्व की स्थिति न रहने से आपका यह हेतु साधन में व्यापक नहीं है । अन्ततः वेदों के अध्ययन में सबका अधिकार नहीं है, क्योंकि ये वेदों से भिन्न नहीं है, इस अनुमान से वेदों के अध्ययन में सबके अध्ययन का अधिकार निषिद्ध हो जाता है ।

ब्रह्मसूत्र के अपशूद्राधिकरण में, जैमिनिसूत्र के शूद्रानधिकाराधिकरण में, पारस्कर प्रभृति के सूत्रग्रन्थों में, मनु प्रभृति के स्मृति ग्रन्थों में, रामायण-महाभारत प्रभृति ग्रन्थों में वाल्मीकि, बादरायण प्रभृति ऋषियों ने, शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, वेङ्कट, सायण प्रभृति आचार्यों ने स्पष्ट ही लिखा है कि स्त्रियों और शूद्रों को वेदों के अध्ययन का अधिकार नहीं है । दयानन्द ने मनु को प्रमाण माना है । मनु ने स्पष्ट लिखा है कि भगवान् ने शूद्र के लिये एक ही काम बताया है कि वह त्रैवर्णिकों की शुद्ध मन से सेवा करे । इसके सिवाय वह अन्य कुछ भी कार्य करता है, तो वह निष्फल जाता है । साध्वी स्त्री को अपने पति की देवता के समान सेवा करनी चाहिये । स्त्रियों के लिये अलग से किसी यज्ञ, व्रत अथवा उपवास का विधान नहीं है । वह जो पति की सेवा करती है, उसी से वह स्वर्ग में सुखोपभोग करती है । पति को चाहिये कि वह पत्नी को धन का संचय और व्यय करने में नियुक्त कर दे । वही घर की पवित्रता, धर्म का आचरण और अन्नदान जैसे कार्यों की भी देख-भाल करे । मनुस्मृति के इन वचनों से स्पष्ट है कि स्त्रियों और शूद्रों को पति की सेवा और द्विजों की सेवा को छोड़कर उपनयन, वेदाध्ययन प्रभृति कर्मों में कोई अधिकार नहीं है, साथ ही यदि वे इन कर्मों का आचरण करते हैं, तो उनको कोई फल नहीं मिलेगा । स्त्रियों के ये सब संस्कार बिना मन्त्रोच्चार के किये जाने चाहिये । विवाह संस्कार ही स्त्रियों का वैदिक पद्धति से किया जाता है । पति की सेवा करना ही उनका गुरुकुल में निवास की तरह है और गृह कार्य ही अग्नि का पूजन है । इन सब मनु वचनों से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि स्त्रियों और शूद्रों के लिये द्विजाति और पति की सेवा के अतिरिक्त गुरुकुल में रहना आदि सभी कर्म वर्जित हैं । मनुस्मृति सृष्टि के आरम्भ में बनी थी, स्वयं स्वामी दयानन्द सत्यार्थप्रकाश के ११ वें

समुल्लासे उक्तवान्। अत एव मनुः—(२।१६८) वेदाध्ययनरहितस्य शूद्रत्वार्थवादः। महाभारते सभापर्वणि ४५।१६, उद्योगपर्वणि २९।२६, सभापर्वणि ३६।८९, शान्तिपर्वणि ६०।३७, शूद्रस्य वेदाध्ययनाधिकारो निषिद्धः। वाल्मीकीये रामायणे (१।६।१९) शूद्रस्य सेवैव स्वधर्म उक्तः। सीतायाः षष्ठे वर्षे विवाह उक्तः। उपनयनं तु नोक्तम्। 'अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत' (मी० सू० ६।१।३३) अत्र वेदनिर्देशात् शूद्राणामुपनयननिषेधः। षष्ठाध्यायस्य प्रथमपादे सप्तमाधिकरणे यागे शूद्रस्यानाधिकाराधिकरणे शूद्रानधिकार उक्त एव। ब्रह्मसूत्रे (१।३।३४-३८) स्पष्टमेव शूद्राणां वेदाध्ययनाधिकारो निषिद्धः।

यच्च—'यथेमां वाचं कल्याणीमा वदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु॥' (वा० सं० २६।२) अस्यायमभिप्रायः—'परमेश्वरः सर्वमनुष्यैर्वेदाः पठनीया पाठ्या इत्याज्ञां ददाति। तद्यथा येन प्रकारेण इमां प्रत्यक्षभूतामृग्वेदादिवेदचतुष्टयीं कल्याणीं कल्याणसाधिकां वाचं वाणीं जनेभ्यः सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽर्थात् सकलजीवोपकाराय आवदानि आसमन्तादुपदिशानि, तथैव सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वमनुष्येभ्यो वेदचतुष्टयी वागुपदेष्टव्या। कस्य कस्य वेदश्रवणेऽधिकारोऽस्ति ? इत्याकाङ्क्षायामुच्यते-ब्रह्मराजन्याभ्यां ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां स्वाय स्वात्मीयपुत्राय भृत्याय च सर्वैः सैषा वेदचतुष्टयी श्राव्या। यथाहमीश्वरः पक्षपातं विहाय सर्वोपकारकरणेन सह वर्तमानः सन् देवानां विदुषां प्रियो दातुर्दक्षिणायै सर्वस्वदानाय प्रियश्च भूयासं स्याम्, तथैव भवद्भिः सर्वोपकारं सर्वप्रियाचरणं मत्वा सर्वेभ्यो वेदवाणी श्राव्येति। यथायं मे कामः समृद्ध्यते, तथैवैवं कुर्वतामयं कामः

समुल्लास में इस बात को स्वीकार करते हैं। मनुस्मृति में वेद का अध्ययन न करने वाले ब्राह्मण को शूद्र बताया है, यह केवल अर्थवाद है कि ब्राह्मण को वेद अवश्य पढ़ना चाहिये, अन्यथा उसमें और शूद्र में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। महाभारत के सभापर्व में, उद्योगपर्व में और शान्तिपर्व में शूद्र का वेदाध्ययन निषिद्ध है। वाल्मीकीय रामायण में सेवा करना ही शूद्र का अपना धर्म बताया गया है। वहाँ छठे वर्ष में सीता के विवाह की तो चर्चा है, किन्तु उपनयन संस्कार का कहीं वर्णन नहीं मिलता। 'अपि वा वेद०' इस मीमांसा सूत्र में वेद के निर्देश के अनुसार शूद्र का वेदाध्ययन का अधिकार निषिद्ध माना है। छठे अध्याय के पहले पाद के सातवें अधिकरण में यज्ञ-यागादि में शूद्र का अधिकार निषिद्ध घोषित कर दिया गया है। ब्रह्मसूत्र में भी स्पष्ट शब्दों में शूद्र के वेदाध्ययन के अधिकार का निषेध कर दिया गया है।

सब स्त्री-पुरुषों को वेदादि शास्त्र पढ़ने का अधिकार है, इसके प्रमाण में स्वामी दयानन्द ने 'यथेमां वाचं कल्याणी०' इस यजुर्वेदीय मन्त्र को उद्धृत किया है और उसकी व्याख्या इस तरह से की है—'इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वेदों के पढ़ने-पढ़ाने का सब मनुष्यों को अधिकार है और विद्वानों को उनके पढ़ाने का। इसलिये ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्य लोगों, जिस प्रकार मैं तुमको चारों वेदों का उपदेश करता हूँ, उसी प्रकार से तुम भी उनको पढ़ कर सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो, क्योंकि यह चारों वेदरूप वाणी सबका कल्याण करने वाली है। जैसे सब मनुष्यों के लिये मैं वेदों का उपदेश करता हूँ, वैसे ही तुम भी किया करो। प्रश्न—'जनेभ्यः' इस पद से द्विजों का ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जहाँ-कहीं सूत्र और स्मृतियों में पढ़ने का अधिकार लिखा है, वहाँ केवल द्विजों का ही ग्रहण किया गया है ? उत्तर—यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि जो ईश्वर का अभिप्राय द्विजों के ही ग्रहण का होता, तो मनुष्यमात्र को उनके पढ़ने का अधिकार कभी न देता। जैसा कि इस मन्त्र के उत्तरार्ध में प्रत्यक्ष विधान है—'ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय' इत्यादि। अर्थात् वेदाधिकार जैसा ब्राह्मण वर्ण के लिये है, वैसा ही क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र के लिये भी बराबर है, क्योंकि वेद ईश्वरप्रकाशित हैं। जो विद्या की पुस्तक है, वह सबको हितकारक होती है। ईश्वररचित पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं। इसलिये उनका जानना सब मनुष्यों को उचित है। सबके पिता परमात्मा का सब माल सब पुत्रों के लिये है, किसी वर्णविशेष के लिये नहीं। जैसे मैं इस वेदरूप सत्यविद्या का उपदेश करके विद्वानों की आत्मा में प्रिय हो रहा हूँ, तथा जैसे दानी या शीलवान् पुरुष को मैं प्रिय होता हूँ, वैसे ही तुम लोग भी पक्षपातरहित होकर वेदविद्या को सुनाकर सबके प्रिय होवो। जैसे यह वेदों का प्रचार रूप मेरा काम संसार के बीच में यथावत् प्रचारित होता है, उसी प्रकार की इच्छा तुम लोग भी करो, जिससे कि

समृद्धयताम् इयमिष्टसुखेच्छा सम्यग्वर्धताम् । यथादः सर्वमिष्टसुखं मामुपनमति, तथैव भवतोऽपि सर्वमिष्टमुपनमतु । मया युष्मभ्यमाशीर्वादो दीयते । 'बृहस्पते अति यदर्यः' इत्युत्तरस्मिन् मन्त्रे हीश्वरार्थस्य प्रतिपादनान्मन्त्रस्यायमेवार्थः । इत्यादि' (पृ० ३५३-३५४) इति ।

दयानन्दीययजुर्वेदभाष्ये तु–'हे मनुष्यों मैं ईश्वर जैसे ब्रह्मराजन्याभ्यां ब्राह्मण क्षत्रिय के लिए आर्यं वैश्य के लिये शूद्र और अपने स्त्री सेवक आदि के लिए अरण उत्तम लक्षण प्राप्त हुए अन्त्यज के लिए (च) भी (जनेभ्यः) इन उक्त मनुष्यों के लिए (इह) संसार में प्रकट की हुई (कल्याणीं) सुख देने वाली (वाचं) चारों वेदरूप वाणी का उपदेश करता हूँ । वैसे ही आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें । जैसे मैं (दातुः) दान वाले के संसर्गी (देवानां) विद्वानों की दक्षिणा, अर्थात् दान के लिए प्रिय मनोहर पियारा होऊं और मेरी यह कामना उत्तमता से बढ़े तथा मुझे वह परोक्ष सुख प्राप्त हो, वैसे आप लोग भी होवें और वह कामना तथा सुख आपको प्राप्त होवे' इति ।

एताभ्यामुद्धरणाभ्यां स्पष्टं विज्ञायते यदीश्वरो ब्राह्मणक्षत्रियौ वैश्यं शूद्रं स्वस्त्रीसेवकान् अन्त्यजं च वेदानध्यापयति, ईश्वरस्य च स्त्रीसेवकाः सन्तीति, स च ब्राह्मणादीन् वेदानध्यापयतीति दयानन्दीयोऽभिप्रायः । तत्रेदं विचारणीयं यद् एतत्सर्वं निराकारस्य देहेन्द्रियकण्ठताल्वादिरहितस्य किं सम्भवति ? यदि साकारत्वं स्त्रीसेवकादिमत्त्वमुपेयते, तदा पूर्वं कथमीश्वरस्य निराकारत्वमुक्तम् ।

'मा नो वधीरिन्द्र' (आर्याभिनये, म० ४९) 'हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्तेश्वर हमारा वध मत कर, अपने से अलग हमको मत गिरावे……हमारे प्रिय लोगों को मत चोरवाये गर्भों का विदारण मत कर……हे समर्थ हमारे पुत्रों का विदारण मत करे, हमारे भोजनाद्यर्थ सुवर्णादि पात्रों को हमसे अलग मत कर । जो जो हमारे सहज अनुषक्त स्वभाव से

उक्त विद्या आगे को भी सब मनुष्यों में प्रकाशित होती रहे । जैसे मुझमें अनन्त विद्या से सब सुख है, वैसे जो कोई विद्या का ग्रहण और प्रचार करेगा, उसको भी मोक्ष तथा संसार का सुख प्राप्त होगा । यही इस मन्त्र का ठीक अर्थ है, क्योंकि इसके अगले मन्त्र 'बृहस्पते अति यदर्य०' में भी परमेश्वर का ही ग्रहण किया गया है । इससे सिद्ध होता है कि वेद पढ़ने का अधिकार सब कोई को है' (पृ० ३५४–३५५) ।

इसी मन्त्र का अपने यजुर्वेदीय भाष्य में दयानन्द ने दूसरी तरह से अर्थ किया है । जैसे कि—'हे मनुष्यों, मैं ईश्वर जैसे (ब्रह्मराजन्याभ्यां) ब्राह्मण-क्षत्रियों के लिये, आर्य-वैश्य के लिये, शूद्र और अपने स्त्री-सेवक आदि के लिये, अरण उत्तम लक्षण प्राप्त हुए अन्त्यज के लिये (च) भी (जनेभ्यः) इन उक्त मनुष्यों के लिये (इह) संसार में प्रकट की हुई, (कल्याणीं) सुख देने वाली (वाचं) चारों वेद रूप वाणी का उपदेश करता हूँ, वैसे ही आप लोग भी अच्छे प्रकार से उपदेश करें । जैसे मैं (दातुः) दान वाले के संसर्गी (देवानां) विद्वानों की दक्षिणा अर्थात् दान के लिये प्रिय, मनोहर, पियारा होऊँ और मेरी यह कामना उत्तमता से बढ़े तथा मुझे वह परोक्ष सुख प्राप्त हो, वैसे आप लोग भी होवें और वह कामना तथा सुख आपको भी प्राप्त होवे ।'

इन दोनों उद्धरणों से दयानन्द का यह स्पष्ट अभिप्राय प्रतीत होता है कि ईश्वर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को तथा स्त्री, सेवक और अन्त्यज—सबको वेद का अध्ययन कराते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर के स्त्री, सेवक प्रभृति हैं । इसमें विचारणीय बात यह है कि निराकार ईश्वर के जब शरीर और कण्ठ, तालु आदि अवयव नहीं हैं, तो यह सब कैसे हो सकेगा ? यदि ईश्वर को साकार एवं स्त्री-सेवक प्रभृति से युक्त मानते हैं, तो ईश्वर को निराकार आपने कैसे माना ?

'मा नो वधी०' इस मन्त्र का दयानन्द ने आर्याभिनय में यह अर्थ किया है—हे इन्द्र, परमैश्वर्ययुक्त ईश्वर, हमारा वध मत कर, अपने से अलग हमको मत गिरावे……हमारे प्रिय लोगों को मत चोर या उनके गर्भों का विदारण मत कर……हे समर्थ, हमारे पुत्रों का विदारण मत कर, हमारे भोजन आदि के लिये जुटाये गये सुवर्ण आदि के पात्रों को हमसे अलग मत कर । जो जो हमारे सहज अनुषक्त स्वभाव से अनुकूल मित्र हैं, उनको आप मत नष्ट करें, अर्थात् पूर्वोक्त पदार्थों की यथावत् रक्षा करें' । इस व्याख्या में परमेश्वर

अनुकूल मित्र हैं, उनको आप मत नष्ट करें, अर्थात् पूर्वोक्त पदार्थों की यथावत् रक्षा करें' अत्र परमेश्वरस्य विदारयितृत्वमुक्तम् ।

'अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि' (वा० सं० ३७।९) दयानन्दीयभाष्ये—'वृष्णः यज्ञस्थल में वेगवान् अश्वस्य घोड़े के शक्ना लीद (लेंड़ी) से त्वा तुमको भरवाये, पृथिव्यादि के ज्ञान के लिए तुमको भरवाये, तत्त्व बोध के शीर्ष्णे उत्तम अवयव के लिए त्वा तुमको यज्ञसिद्धि के लिए धूपयामि तपाता हूँ' किमेतत् सर्वं निराकारस्य सम्भवति ? दयानन्दस्यैतादृश एव वेदार्थः ।

'वेदमाता प्रचोदयन्तां पवमानी द्विजानाम्' (अथर्व० १९।७१।१) इति द्विजानामेव वेदेऽधिकार उक्तः । तथा च शूद्रादीनां वेदाध्ययनेऽधिकारबोधने परस्परं व्याघातः । 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' (गो० सू० २।१।५७) इति रीत्याऽप्रामाण्यापत्तिर्वेदानां स्यात् । किञ्च, यथेमां वाचमत्र वेदपदं नास्ति, 'वेदमाता द्विजानाम्' इत्यत्र तु वेदपदमस्ति । तेन वेदे द्विजानामधिकारः, वेदातिरिक्तवाचि समेषाधिकारः । 'अयं स होता यो द्विजन्मा' (ऋ० सं० १।१४९।५) इति द्विजन्मनामेव वेदाध्ययने तद्बोधिते यागादावधिकारः । यथेमां वाचमावदानीत्यत्रोत्तमपुरुषप्रयोगान्मन्त्रस्यास्येश्वरो देवतेति भ्रमः, परमेतदन्तिमांशेन विरुद्ध्यते, नह्याप्तकामस्येश्वरस्य मे कामः समृद्ध्यतामित्याशीः सम्भवति । संस्कारविधिपुस्तके ब्राह्मणक्षत्रियविशामष्टैकादशद्वादशवर्षवयस्कबालकानामेवोनपयनवेदारम्भसंस्कारावुक्तौ, न स्त्रियां न वा शूद्रबालकानाम् । तदभावे कथं वेदाध्ययनं सम्भवति । यद्युत्तमपुरुषप्रयोगादीश्वरोऽस्य मन्त्रस्य वक्ता स्यात्तदा 'अग्निमीळे पुरोहितम्'

में विदारण की सामर्थ्य स्वीकार की गई है, विना शरीर धारण किये इस मन्त्र में निषेधक रूप में निर्दिष्ट कार्य परमेश्वर कैसे कर सकता है ?

'अश्वस्य त्वा वृष्णः' इस मन्त्र का दयानन्दीय भाष्य यह है—'(वृष्णः) यज्ञस्थल में वेगवान् (अश्वस्य) घोड़े के (शक्ना) लीद (लेंडी) से (त्वा) तुमको भरवाये, पृथिवी आदि के ज्ञान के लिये तुमको भरवाये, तत्त्व वोध के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव के लिये (त्वा) तुमको यज्ञसिद्धि के लिये (धूपयामि) तपाता हूँ' । क्या ये सब बातें ईश्वर को निराकार मानने पर संभव हो सकती हैं ? स्वामी दयानन्द ने सब जगह वेदों का इसी तरह का अर्थ किया है ।

'वेदमाता प्रचोदयन्तां पवमानी०' इस अथर्ववेदीय मन्त्र में वेदों के अध्ययन में द्विजों को ही अधिकार दिया गया है । इस तरह से शूद्र प्रभृति का वेदाध्ययन का अधिकार बताने वाली श्रुति का इस श्रुति से विरोध होगा । श्रुतियों का इस तरह का परस्पर विरोध व्याघात कहलाता है । न्यायसूत्र में बताया गया है कि इस दोष की उपस्थिति में श्रुति अप्रमाण हो जायगी, क्योंकि एक श्रुति दूसरी श्रुति का बाध करेगी, तब यह निश्चय हो पाना कठिन होगा कि इनमें कौन सी श्रुति सही है । फलतः दोनों ही श्रुतियाँ परस्पर विरुद्ध होने से अप्रमाण मान ली जायगी । वस्तुतः 'यथेमां वाचं' इस मन्त्र में 'वेद' शब्द नहीं है और 'वेदमाता द्विजानाम्' इस में वेद शब्द विद्यमान है । इससे यह सिद्ध होता है कि वेदों के अध्ययन में केवल द्विजों का अधिकार है और वेद से भिन्न शास्त्रों के अध्ययन में सबका अधिकार है । इस तरह से इन दोनों श्रुतियों का परस्पर विरोध हट जाता है । 'अयं स होता यो द्विजन्मा' इस ऋग्वेदीय मन्त्र के अनुसार वेदों का अध्ययन करने में और तदनुसार यज्ञ के संपादन में केवल द्विज को ही अधिकार है । 'यथेमां वाचमावदानि' इस मन्त्र में उत्तम पुरुष का प्रयोग होने से यह भ्रम हो जाता है कि इस मन्त्र का वक्ता ईश्वर ही है, किन्तु इसी मन्त्र के अन्तिम अंश से इसकी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि ईश्वर आप्तकाम है उसको सब कुछ प्राप्त है, अतः ईश्वर के लिये यह आशीर्वचन सार्थक नहीं हो सकता कि मेरी सब कामनाएँ पूरी हों । स्वामी दयानन्द ने अपनी संस्कारविधि नामक पुस्तक में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के क्रमशः आठ, ग्यारह और बाहर वर्ष के बालकों के ही उपनयन और वेदारम्भ संस्कारों का वर्णन किया है, स्त्रियों और शूद्र बालकों के लिये यह विधि नहीं बताई गई । उपनयन और वेदारम्भ नामक संस्कारों के अभाव में वे वेदों के अध्ययन के कैसे अधिकारी होंगे ? यदि इस मन्त्र में उत्तम पुरुष के प्रयोग के अनुसार ईश्वर को इस मन्त्र का वक्ता माना जाय, तो 'अग्निमीले' इस मन्त्र में भी उसी को वक्ता मानकर मन्त्र का यह अर्थ करना पड़ेगा कि मैं ईश्वर अग्नि की पूजा करता हूँ । यदि परमात्मा को ही अग्नि भी माना जाता है, तो

(ऋ० सं० १।१।१) इत्यस्य मन्त्रस्य अहमीश्वरोऽग्निं पूजयामीत्येवार्थः स्यात्। यदि परमात्मैवाग्निरपि तदा स्तोतृस्तुत्ययोरैक्यमेव स्यात्। अन्यथा परमात्मद्वित्वं स्यात्। 'अहं देवानां प्रियो भूयासं दक्षिणाया दातुः प्रियो भूयासमयं मे कामः समृद्ध्यतामदो मा उपनमतु' इत्यादिप्रार्थना पूर्णकामस्य न कथञ्चिदपि सम्भवति।

यच्च सर्वशक्तिमत्त्वेन कण्ठताल्वादिराहित्येऽपि परमेश्वरस्योपदेशकत्वमुक्तम्, तत्तुच्छम्, सर्वशक्तिमत्त्वेन साकारत्वापत्तेरपि दुर्वारत्वात्। सत्यार्थप्रकाशे तृतीयसमुल्लासे दयानन्देनोक्तम्—'अत्र सृष्टिक्रमानुकूलं यत् यत्तदेव सत्यम्, यत्तद्विरुद्धं तदसत्यमेव। जो जो सृष्टि क्रम से अनुकूल है, वह वह सत्य है। उससे विरुद्ध असत्य है' (तीन समुल्लास ५-३१)। 'परन्तु क्या सर्वशक्तिमान् वह कहाता है कि जो असम्भव बात को भी सम्भव कर सके····जो स्वाभाविक नियम है, उनको विपरीत गुण वाला ईश्वर भी नहीं कर सकता' (सत्यार्थप्रकाश, पृ० १३३), 'ईश्वर भी पूर्वकृत नियम को उलटा नहीं कर सकता' (सत्यार्थप्रकाश, पृ० ३१७)। यदि सृष्टिनियमविरुद्धं कर्तुं शक्नुयादीश्वरस्तदेव शरीरमुखकण्ठताल्वादिमन्तरा वक्तुमुपदेष्टुं वा शक्नुयात्।

किञ्च, ब्राह्मणादयोऽन्त्यजान्ताः परमेश्वरस्य छात्राः साकारा निराकारा वा? न निराकाराः, प्रमाणाभावात्। नापि सर्वदेशिनः, त्वया जीवानामणुत्वाभ्युपगमात्। परमेश्वरोऽप्येकदेशीभूत्वाऽध्यापितवान् सर्वव्यापक एव वा? न प्रथमः, अपसिद्धान्तापातात्। नान्त्यो निष्प्रमाणत्वात्। किञ्च, विश्वान्तर्गतेभ्यः सर्वेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यो वेदोपदेशं कृतवान्, कतिपयेभ्य एव वा? नान्त्यः पक्षः सम्भवदुक्तिकः, प्रामाणिकत्वे तेषां नामोल्लेखः कर्तव्यः, अप्रामाणिकत्वेऽनास्थाक्रान्तत्वात्। नाद्यः पक्षः, तथात्वे बहूनां वेदानभिज्ञत्वानापत्तेः। किञ्च, भूतकालिकेभ्य उपदिष्टवान् वर्तमानकालिकेभ्यो वा?

फिर स्तोता (स्तुति करने वाले) और स्तुत्य (जिसकी स्तुति की जाती है) में क्या अन्तर रह जायगा? अर्थात् ये दोनों एक ही मानने पड़ जायेंगे। ऐसा न मानने पर दो परमात्मा मानने पड़ेंगे। मैं देवता को प्रिय हो जाऊँ, दक्षिणा देने वाले का प्रिय हो जाऊँ, मेरी यह कामना पूरी हो, वह मुझे स्वर्गलोक में पहुँचावे, इस तरह की प्रार्थना पूर्णकाम परमात्मा के लिये उचित नहीं मानी जा सकती। कहने का अभिप्राय यह है कि इन सब मन्त्रों में उत्तम पुरुष का प्रयोग जैसे यजमान अथवा ऋत्विक् को निमित्त बनाकर होता है, उसी तरह 'यथेमां' इस मन्त्र में भी 'आवदानि' इस उत्तम पुरुष की क्रिया का प्रयोग ईश्वर के लिये न होकर यजमान, ऋत्विक् आदि के लिये ही माना जाता है।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, अतः कण्ठ, तालु आदि के अभाव में भी वह वेदों का उपदेश कर सकता है, यह कथन भी इस लिये गलत है कि ऐसा मानने पर तो सर्वशक्तिमत्ता के आधार पर उसकी साकारता भी सिद्ध हो जायगी, जो कि आपके सिद्धान्त के विपरीत होगी। सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में स्वामी दयानन्द ने कहा है कि 'जो जो सृष्टिक्रम से अनुकूल है, वह वह सत्य है। उससे विरुद्ध असत्य है'। आगे वे कहते हैं—'परन्तु क्या सर्वशक्तिमान् वह कहाता है, जो कि असम्भव बात को भी सम्भव कर सके···? जो स्वाभाविक नियम है, उनको विपरीत गुणवाला ईश्वर भी नहीं कर सकता···ईश्वर भी पूर्वकृत नियम को उलटा नहीं कर सकता'। स्वामी दयानन्द के इस कथन के विपरीत, सृष्टि के नियम के विपरीत काम करने पर ही ईश्वर शरीर, मुख, कण्ठ, आदि के न रहने पर भी बोलने और उपदेश देने में समर्थ हो सकता है। यदि वह सृष्टि के नियमों का अनुसरण करता है, तो फिर बिना कण्ठ, तालु आदि के वह कैसे उच्चारण कर सकता है?

इस आपत्ति के रहते भी यदि आप परमात्मा को वेदों का उपदेष्टा मानते हैं, तो आपको इन प्रश्नों का उत्तर देना पड़ेगा कि ब्राह्मण से लेकर अन्त्यज पर्यन्त ये परमात्मा के शिष्य साकार हैं या निराकार? प्रमाण के अभाव में शिष्यों को निराकार नहीं मान सकते और न वे सर्वत्र व्यापक ही माने जा सकते हैं, क्योंकि आप तो जीवों को अणु मानते हैं। परमेश्वर ने भी इन सब शिष्यों को किसी एक जगह पर बैठ कर पढ़ाया अथवा वह सर्वत्र व्यापक था। इसमें पहला पक्ष मानने पर परमेश्वर की सर्वव्यापकता समाप्त हो जाती है और अन्तिम पक्ष में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि संसार में सर्वत्र व्याप्त परमेश्वर ने अपने सभी पूर्वोक्त शिष्यों को वेद पढ़ाया। आपको इस बात का भी उत्तर देना पड़ेगा कि जगत् में विद्यमान सभी ब्राह्मण आदि को ईश्वर ने वेदों का उपदेश किया, अथवा कुछ ही

यदि प्रथमः पक्षस्तदा यथोक्तमृग्वेदादिभूमिकायामेव 'सृष्टेरारम्भसमये 'पठनपाठनक्रमो ग्रन्थश्च कश्चिदपि नासीत्, तदानीमीश्वरोपदेशमन्तरा न च कस्यापि विद्यासम्भवो बभूव' इति, तदा वेदे भूतकालेतिहासवर्णनं प्रसज्येत। तदानीं तद्रीत्या वेदानित्यत्वमपि स्यात्। वर्तमानकाले तु न ब्राह्मणादिभ्यो वेदमुपदिशन् दृश्यते। उपदेशसमयेऽपि यथेमामिति मन्त्र आसीन्न वा ? यद्यासीत्तर्हीतिवृत्तमायातम्। 'यस्येतिवृत्तं तत्तज्जन्मानन्तरमेवोल्लिख्यते' (सत्यार्थप्रकाशे, ७ समुल्लासे, पृ० १२७)। तथा चायं मन्त्रः प्रक्षिप्तः स्यात्। यदि सर्वदैव सर्वान् पाठयति, तदा कोटिकोटिपुरुषाणां वेदानभिज्ञत्वं न स्यात्। परमेश्वरोपदेशादेव सर्वेषां विद्वत्त्वेन वेदार्थेषु विवादोऽपि न स्यात्। तथात्वे महाविद्यालयविश्वविद्यालयादिनिर्माणस्यापि किं प्रयोजनम् ? किञ्च, परमात्मा आर्यानेव वेदान् पाठयति, आहोस्विद् ईसायीमुसलमानानपि ? आर्यानेवेति चेत्, तस्य सङ्कीर्णविचारत्वमायातम्। यदीसायीमुसलमानानपि पाठयति, तदा तन्नामोल्लेखः कथं न दृश्यते ? यदि जनेभ्य इत्यनेन तेऽप्यागतास्तदा तेनैव ब्राह्मणादीनामपि ग्रहणसम्भवे पृथक् तन्नामोल्लेखोऽपि न स्यात् ? यदि तेषां नामानुल्लेखेन नाधिकारस्तदा परमेश्वरनिर्मिते वस्तुनि मनुष्यमात्रस्याधिकार इति प्रतिज्ञाहानिः। तथात्वे द्विजानामेवाधिकार इत्यास्तिकमतमेव कथं नास्थीयते ?

स्वायेति पदेन स्त्रीसेवकाः कथं गृह्यन्ते ? किञ्च तत्र मानम् ? अरणपदस्यातिशूद्रोऽर्थं इत्यत्रापि किं मूलम् ? वस्तु-

व्यक्तियों को ? अन्तिम पक्ष को इसलिये नहीं माना जा सकता कि यदि ईश्वर ने कुछ ही व्यक्तियों को वेदों का उपदेश किया, तो उनके नाम का उल्लेख होना चाहिये था। ऐसा उल्लेख न होने से बिना प्रमाण के ऐसी बातों पर विश्वास कैसे किया जा सकता है ? प्रथम पक्ष भी इसलिये नहीं माना जा सकता कि यदि ईश्वर ने सबको वेदों का उपदेश किया, तो फिर अनेक व्यक्ति वेदों से अपरिचित कैसे रह जाते हैं ? आपको इस बात का भी समाधान करना पड़ेगा कि उस ईश्वर ने भूत काल के व्यक्तियों को उपदेश दिया अथवा वर्तमान काल के ? यदि यह माना जाय कि ईश्वर ने भूत काल में वेदों का उपदेश किया था, जैसा कि स्वयं स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में बताया है कि सृष्टि का जब आरम्भ हुआ, उस समय पठन-पाठन की व्यवस्था अथवा कोई ग्रन्थ विद्यमान नहीं था। उस समय ईश्वर के उपदेश के बिना किसी को विद्या आवे, ऐसा हो ही नहीं सकता था, तो इसमें यह आपत्ति आवेगी कि तब वेदों में भूत काल के इतिहास का वर्णन मानना पड़ेगा और इस तरह से वेद अनित्य सिद्ध हो जायेंगे, उनकी शाश्वतता नहीं मानी जा सकेगी। यदि इस दोष से छुटकारा पाने के लिये यह कहें कि वह वर्तमान काल में वेदों का उपदेश करता है, तो ऐसा देखा तो नहीं जाता कि वह किसी ब्राह्मण आदि को उपदेश कर रहा हो। फिर उपदेश करते समय 'यथेमां वाचं' यह मन्त्र विद्यमान था या नहीं ? यदि विद्यमान था तो फिर इसमें इतिहास का वर्णन मिलता है। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में बताया है कि जिसका इतिवृत्त लिखा जाता है, वह उसके जन्म के बाद का ही लिखा हुआ माना जाता है। इस तरह से इतिवृत्त सूचक होने से इस मन्त्र को आपको प्रक्षिप्त मानना पड़ेगा। यदि ईश्वर निरन्तर वेदों को पढ़ाता रहता है, तो फिर करोड़ों-करोड़ पुरुष वेदों से अनभिज्ञ कैसे मिलते हैं ? यदि परमेश्वर के उपदेश से ही सब कोई वेदों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, तो वेदों के विद्वानों में उनके अर्थ के विषय में परस्पर विवाद भी नहीं आना चाहिये। यदि ईश्वर ही सारे प्राणियों में वेदादि शास्त्रों का संचार कर देता है, तो फिर महाविद्यालय, विश्वविद्यालय आदि की स्थापना की क्या आवश्यकता रह जायगी ? फिर यह ईश्वर केवल आर्यों को ही वेद पढ़ाता है, अथवा ईसाई, मुसलमान प्रभृति सबको पढ़ाता है ? यदि वह केवल आर्यों को पढ़ाता है, तो संकीर्ण विचारों का हो जायगा। यदि सबको पढ़ाता है, तो उनका नाम वेदों में क्यों नहीं मिलता ? यदि आप कहें कि 'जनेभ्यः' पद से सभी का ग्रहण हो जाता है, तो इसका आपके पास क्या उत्तर है कि इसी पद से ब्राह्मणों का भी तो ग्रहण हो जायगा, तब उनका अलग से मन्त्र में उल्लेख क्यों किया गया है ? यदि मुसलमान आदि के नामों का उल्लेख न होने से उनका वेदाध्ययन का अधिकार नहीं माना जाता, तो फिर आपकी इस बात का खण्डन हो जाता है कि परमेश्वर की बनाई हुई वस्तु में सभी मनुष्यों का समान अधिकार है। ऐसी स्थिति में आप आस्तिकों की इस बात को ही क्यों नहीं मान लेते कि वेदों के अध्ययन में केवल द्विजों का अधिकार है।

'स्वाय' पद से स्त्री, सेवक आदि का ग्रहण कैसे हो सकता है ? इसमें आपको प्रमाण बताना होगा। अरण पद का

तस्तु स्वायेत्यस्य कुलजात इत्यर्थः, अरणायेत्यस्य अन्यकुलजात इत्यर्थः। 'परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो' (ऋ० सं० ७।४।७), 'नहि ग्रभाय अरण:' (ऋ० सं० ७।४।८) इति मन्त्रेभ्यः।

किञ्च, वर्णव्यवस्थापि वेदोपदेशकेन परमेश्वरेण जन्मना गुणकर्मभ्यां वाभिप्रेता ? नाद्यः, त्वत्सिद्धान्तहानेः। नान्त्यः, वेदाध्ययनात् प्राग् ब्राह्मणत्वाद्यनुपपत्तेः। क्षत्रियादीनां च कथं संज्ञा निर्णीता ? जन्मना क्षत्रियादिसंज्ञाभावे क्षत्रियादीन् कथं वेदान् पाठयति ? किञ्च, साम्येनैव सर्वान् पाठयति वैषम्येण वा ? नान्त्यस्तत्र वैषम्यापत्तेः। पक्षपातोऽपि जन्मना गुणैर्वा ? नाद्यः, जन्मना वर्णत्वापत्तेः। नान्त्यः, पाठनात्पूर्वं गुणवैषम्यानापत्तेः। यदि पूर्वजन्मकर्मभिर्वैषम्यमुपेयते तदा तु पूर्वजन्मकर्मवैषम्येणैव ब्राह्मणशूद्रादिवैषम्यं कुतो नोपेयते ? यदि साम्येनैव सर्वान् पाठयति, तदा सर्वेषां साम्येनैकवर्णत्वमेव स्यात्। यद्येकद्वित्रिचतुर्वेदपाठनेन शूद्रादिसंज्ञा स्यात्तदा सर्वेभ्यो वेदचतुष्टयीं वाचमुपदिशामीति त्वद्वचो बाध्येत। किञ्च, ब्राह्मणादयो वेदाङ्गव्याकरणादिशास्त्रज्ञातार आसन्न वा ? प्रथमे तेषां वेदात् प्राचीनत्वमापतेत्। द्वितीये कथं तेषां वेदतदर्थग्रहणशक्तिरायाता ? किञ्च, वेदा एव तैः पठिता वेदार्था अपि वा ? वेदार्था अपि चेत्, तदा वेदार्थरूपा ब्राह्मणभागा अपि परमेश्वरोपदिष्टा इति तेऽपि वेदाः सिद्धाः। वेदा एव चेत्, कथं तेषां तदर्थज्ञानम् ?

किञ्च, तदानीमग्निवायुसूर्याङ्गिरोरूपाश्चत्वारो दयानन्दाभिमता ऋषयोऽपि सम्मिलिता अध्ययने न वा ? यद्यासंस्तदा तेषामस्मिन् मन्त्रे कथं न नामोल्लेखः ? किञ्च, दयानन्दरीत्या तु सृष्ट्यादौ अग्न्यादिभ्य एकैकवेदा उपदिष्टाः

अर्थ अतिशूद्र करने में भी आपको प्रमाण देना पड़ेगा। वास्तव में 'स्वाय' पद का अपने कुल में उत्पन्न और अरणाय पद का प्रयोग अन्य कुल में उत्पन्न पुरुष के लिये हुआ है। 'परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो०', 'नहि ग्रभाय अरणः' प्रभृति ऋग्वेदीय मन्त्रों में अरण पद इसी अर्थ में प्रयुक्त है।

आपको इस बात का भी उत्तर देना पड़ेगा कि वेदों का सबको उपदेश करने वाले परमेश्वर ने वर्ण व्यवस्था जन्म से की है या गुण और कर्म के अनुसार ? पहला सिद्धान्त तो आप मानते नहीं और दूसरी बात भी इसलिये नहीं बनेगी कि वेदों का अध्ययन करने से पहले ब्राह्मणत्व आदि जातियाँ आवेगी ही कहाँ से ? क्षत्रिय आदि संज्ञाओं का निर्णय कैसे होगा ? जन्म से यदि यह व्यवस्था नहीं है, तो क्षत्रिय प्रभृति को वह कैसे वेद पढ़ाता है ? इसका भी जवाब देना पड़ेगा कि वह सबको समान रूप से वेद पढ़ाता है या उसमें कुछ अन्तर रहता है। अन्तिम पक्ष मानने पर ईश्वर पर पक्षपात का आक्षेप होने लगेगा। यह पक्षपात जन्म के आधार पर होगा या गुण के ? पहला पक्ष मानने पर जन्म से वर्णव्यवस्था माननी पड़ जायगी और अन्तिम पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि जब तक ईश्वर पढ़ावेगा नहीं, उससे पहले गुणों में विषमता नहीं आ सकती। यदि पूर्व जन्म के कर्मोंके अनुसार यह विषमता मानी जाती है, तो पूर्व जन्म के कर्मों के वैषम्य के आधार पर ही ब्राह्मण, शूद्र आदि जातियों की विषमता मानने में आपको क्या आपत्ति हो सकती है ? यदि आप यह मानते हैं कि परमेश्वर सबको समान रूप से वेद पढ़ाते हैं, तो सब जीव एक से हैं, उनको एक ही वर्ण का क्यों न माना जाय ? यदि एक, दो तीन और चार वेदों को पढ़ाने के कारण शूद्र आदि चार वर्ण माने जाते हैं, तो वह परमात्मा सबको चारों वेद पढ़ाता है, आपकी इस उक्ति से उसका विरोध पड़ेगा। आप इस बात का भी उत्तर दीजिये कि ब्राह्मण प्रभृति वर्ण वेदांग, व्याकरण आदि शास्त्रों के ज्ञाता थे या नहीं ? पहला पक्ष मानने पर ये वेदांग वेदों से भी प्राचीन सिद्ध हो जायंगे। दूसरा पक्ष मानने पर आपको इसका उत्तर देना पड़ेगा कि बिना व्याकरण आदि के ज्ञान के उनको वेदों को समझने की शक्ति कहाँ से आई। उन्होंने केवल वेदों को ही पढ़ाया या उनके अर्थों को भी ? यदि साथ में वेदों का अर्थ भी पढ़ाया तो ब्राह्मण भाग तो वेदों का अर्थ ही करते हैं, इस तरह से जब ब्राह्मण भाग का भी उपदेश ईश्वर ने किया तो इनको भी आपको वेद मानना पड़ेगा, जो कि आपके मन्तव्य के विपरीत है। यदि आप कहें कि ईश्वर ने केवल वेदों का ही अध्ययन कराया, तो फिर मनुष्य को अर्थ का ज्ञान कैसे हुआ ?

आपको इस बात का भी उत्तर देना पड़ेगा कि जब परमेश्वर ने सबको वेदों का अध्ययन कराया, उस समय अग्नि, वायु, सूर्य और अंगिरा नाम के दयानन्द के द्वारा स्वीकृत चार ऋषि भी उसमें सम्मिलित थे या नहीं ? यदि संमिलित थे तो फिर इस मन्त्र में उनके नामों का उल्लेख क्यों नहीं किया गया ? दयानन्द के मत के अनुसार तो सृष्टि के प्रारंभ में अग्नि प्रभृति को परमेश्वर

परमात्मना। किं तदानीन्तना जनाः परमात्मना पाठितान् वेदान् विस्मृतवन्तः ? किमेतादृशः कश्चनेतिहासोऽस्ति ? दयानन्दरीत्या तु—'अग्ने देवेषु प्रवोचः' हे जगदीश्वर, त्वं सृष्ट्यादौ जातेषु पुण्यात्मसु अग्निवाय्वादित्याङ्गिरस्सु मनुष्येषु प्रोक्तवान्। किमयं वेदेषु क्रमिक इतिहासः ? एते सर्वेऽन्यादयो ब्राह्मणा एव, तद्रीत्यात्र स्त्रीसेवकाः कथं न समावेशिताः ? किञ्च श्रीदयानन्देन पूर्णविद्वत्त्वेन ब्राह्मण्यम्, पूर्णमूर्खत्वेन च शूद्रत्वमङ्गीकृतम्। तस्माद् ब्राह्मणाय पूर्णविदुषे वेदपाठनं व्यर्थमेव स्यात्। तदध्यापने परमात्मप्रवृत्तौ तस्य भ्रान्तत्वापत्तिः। अत्यन्तमूर्खः शूद्रो भवति। यदि पाठनार्हान् शूद्रान् पाठयति तदनर्हान् न पाठयति, तर्हि मनुष्यमात्रस्य वेदपठनाधिकार इति रिक्तं वचः (सत्यार्थप्रकाशे, ३ समुल्लास पृ० ४४)। अतो वर्णव्यवस्थात्र तद्रीत्यापि जन्मनैव समायाति। अतोऽत्र मन्त्रे नाहंपदार्थः परमेश्वरो न वा वाचमित्यस्य वेदवाणीमित्यर्थः।

किञ्च, ब्रह्मराजन्याभ्यामित्यत्र ब्रह्मराजन्यशब्दौ रूढ्या ब्राह्मणक्षत्रिययोः प्रवर्तेते, यौगिकवृत्त्या वा ? नाद्यः, सामाजिकानां रीत्या वेदे यौगिका एव शब्दा न रूढा इति तन्मतविरोधापत्तेः। नान्त्यः, प्रकृते पञ्चानामपि वेदाध्ययनरूपस्य कर्मणः समानत्वाद् यौगिकवृत्त्यनुपपत्तेः। तस्मादपि जन्मना वर्णव्यवस्थाऽभ्युपेया। किञ्च, तेषामायूंषि समानानि, असमानानि वा ? उपनयनादिकं तेषां केन कृतम् ? तन्मातापित्रादय आसन्न वा ? कानि च तेषां नामानीत्यपि वक्तव्यम्। भूमिकायां तु—'(प्र०) ईश्वरो न्यायकारी अस्ति वा पक्षपाती ? (उ०) न्यायकारी। (प्र०) तर्हि चतुर्णामेव हृदयेषु वेदाः प्रकाशिताः कुतो न सर्वेषाम् ? (उ०) तेषामेव (ऋषीणां) पूर्वपुण्यमासीत्, अतः खल्वेतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्तुं भोग्योऽस्ति' (वेदोत्पत्तिविषये)। अत्र मन्त्रे तु सर्वान् मनुष्यान् वेदानध्यापयतीति परस्परविरुद्धभाषित्वमपि।

ने एक-एक वेद का उपदेश किया था। क्या उस समय के मनुष्य परमेश्वर के द्वारा पढ़ाये गये वेदों को भूल गये थे ? क्या इस तरह का कोई इतिहास मिलता है ? स्वामी दयानन्द ने 'अग्ने, देवेषु प्रवोचः' इसका अर्थ यह किया है कि हे जगदीश्वर, तुम सृष्टि के प्रारंभ में उत्पन्न पुण्यात्मा, अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नाम के मनुष्यों को वेदों का उपदेश करते हो। क्या यही वेदों का क्रमिक इतिहास है ? ये अग्नि प्रभृति सभी ब्राह्मण हैं। दयानन्द के मत के अनुसार यहाँ स्त्री और शूद्र का भी समावेश होना चाहिये था। एक विचित्र बात यह भी है कि स्वामी दयानन्द ने पूर्ण विद्वान् को ब्राह्मण और पूर्ण मूर्ख को शूद्र माना है। अब पूर्ण विद्वान् को यदि परमात्मा वेद पढ़ाता है, तो यह व्यर्थ है। इसी तरह से निरे मूर्ख शूद्र को भी वेद पढ़ाना व्यर्थ है। दोनों ही कार्यों में परमेश्वर की प्रवृत्ति भ्रमपूर्ण ही मानी जायगी। यदि आप यह उत्तर दें कि पढ़ाने लायक शूद्रों को पढ़ाता है और नहीं पढ़ाने लायक को नहीं पढ़ाता, तो आपका पहले का यह कहना गलत हो जायगा कि वेदों के पढ़ने का मनुष्य मात्र को अधिकार है। इस तरह से आपके मत के अनुसार भी वर्णव्यवस्था का आधार जन्म ही सिद्ध होता है। इस तरह से 'यथेमां वाचं' प्रभृति ग्रन्थ में न तो अहंपद का अर्थ परमेश्वर ही होगा और न 'वाचम्' पद का अर्थ वेदवाणी ही।

आप इस बात का भी उत्तर दीजिये कि 'ब्रह्मराजन्याभ्याम्' यहाँ ब्रह्म और राजन्य शब्द रूढ़ि के आधार पर ब्राह्मण और क्षत्रिय के वाचक हैं, अथवा यौगिक वृत्ति के आधार पर ? पहला पक्ष आपके इस मत के विपरीत पड़ेगा कि वेद में केवल यौगिक शब्द होते हैं, रूढ़ नहीं। अन्तिम पक्ष भी इसलिये सही नहीं बनेगा कि प्रकृत स्थल में वेदाध्ययन तो ब्रह्म, राजन्य, शूद्र, अतिशूद्र आदि सभी करते हैं, तब केवल एक दो में ही यौगिक वृत्ति से इसकी प्रवृत्ति कैसे होगी ? इस आधार से भी जन्म से ही वर्णव्यवस्था सिद्ध होती है। आप इस बात का भी उत्तर दीजिये कि उन सबकी आयु एक सी है, या उसमें कुछ अन्तर है ? उनका उपनयन आदि संस्कार किसने किया ? उनके माता-पिता आदि थे या नहीं ? उनके नाम भी आपको बताने होंगे। स्वामी दयानन्द ने अपनी वेदभाष्यभूमिका में पूछा है कि ईश्वर न्याय करता है अथवा पक्षपात ? और इसका उत्तर दिया है कि ईश्वर केवल न्याय करता है। इस पर पूछा गया है कि तब वह केवल चार व्यक्तियों के हृदयों में वेदों को क्यों प्रकाशित करता है, सबके हृदयों में क्यों नहीं करता ? और तब इसका उत्तर दिया है कि उन ऋषियों का ही यह पूर्वजन्म का पुण्य था, अतः उन्हीं के हृदयों में इसका प्रकाश किया जाय, यह उचित ही है (द्रष्टव्य—वेदोत्पत्तिविषयक प्रकरण)। इस जगह पर स्वामी दयानन्द कहते हैं कि परमेश्वर सब मनुष्यों को समान रूप से सृष्टि के आरम्भ में वेद पढ़ाता है। इस तरह से उनका यह कथन परस्पर विरोधी है।

सुश्रुतानुसारेण अशुभलक्षणानामकुलीनानां शूद्राणां च वेदसंहिताधिकारो नास्ति (सत्यार्थप्रकाशे २५), तथैव ४४ पृष्ठे तु समेषामधिकारो वर्णितः। यथा ब्राह्मणादीनामुपनयनकालो वसन्तादिः पालाशादिर्दण्डः, वर्णानुसारेण सम्बोधनं पौर्वापर्येण विहितम्, न तथा शूद्रातिशूद्राणां स्त्रीणां चोपनयनकालादिरुक्तः। यद्युपनयनं वेदाधिकारप्रयोजकं तर्हि कुतो न शूद्रातिशूद्राणां कृते उपनयनतत्कालतदुचितदण्डादिविधानं कृतम् ? सामाजिकानां तृतीये नियमे आर्याणां वेदपठनपाठनादिकमुक्तम्, अष्टमसमुल्लासे शूद्राणामनार्यत्वमुक्तम्, अत्र मन्त्रे तेषामनार्याणामेव वेदाध्ययनाधिकारो दत्त इति परस्परं विरोधः। यजुर्वेदभाष्ये—अरणायेत्यनेनोत्तमलक्षणवतोऽन्त्यजस्य वेदाधिकारोऽङ्गीकृतः। तेनाधमलक्षणवतोऽन्त्यजस्यानधिकारेण मनुष्यमात्रस्याधिकार इत्यपि खण्डितमेव।

वस्तुतस्तु 'या तेनोच्यते सा देवता' (सर्वानुक्रमणी २।५) इत्यत्र 'तेन वाक्येन यत्प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता' इति षड्गुरुव्याख्यानरीत्या 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति' (नि०७।१) यस्या देवताया येन मन्त्रेण स्तुत्यार्थपत्यं कामयते स देवता इत्यादिरीत्या च मन्त्रप्रतिपाद्यो विषयः स्तोतव्यः संबोधनीयो वा देवता भवति। प्रतिपादकः संबोधयिता वा ऋषिर्भवतीति। बृहद्देवतानुसारेण च—'संवादे(सूक्ते)ष्वाह वाक्यं यः स तु तस्मिन् भवेदृषिः। यस्तेनोच्येत वाक्येन देवता तत्र सा भवेत् ॥' (२।९०), 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' (२।४) सर्वानुक्रमणी। मन्त्रस्य वाच्यं देवता (१।१) (वा० सं०)। संवादेषु च सर्वेषु स ऋषिर्यस्य वाक्यम् आत्मस्तवेषु य ऋषिर्देवता स एवोच्यते। तेन वाक्येन यः प्रतिपाद्यते स स्याद् देवता। (१।१६५।११) त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवतामन्त्रस्तुत्या च यथा यमयमीसूक्ते यम ऋषिर्यमी देवता (ऋ० सं० १,३,५,७,११,१३ मन्त्रेषु, ऋग्वेदसं० १०।५५।१, ३, ६, ८–१०, १२, १४

सत्यार्थप्रकाश में एक जगह कहा गया है कि सुश्रुतसंहिता के अनुसार अशुभ लक्षण वाले अकुलीन शूद्रों को वेदसंहिता के अध्ययन का अधिकार नहीं है, वहीं दूसरी जगह सबके वेदाध्ययन करने की बात पुष्ट की गई है। यह सब बातें परस्पर विरोधी हैं। ब्राह्मण प्रभृति के लिये वसन्त प्रभृति उपनयन संस्कार का समय, पालाश प्रभृति का दण्ड, वर्ण के अनुसार संबोधन, ये सब बातें क्रमशः बताई गई हैं, किन्तु उन स्थलों पर कहीं भी शूद्र, अतिशूद्र और स्त्रियों के उपनयन काल आदि का वर्णन नहीं मिलता। यदि उपनयन को वेदाध्ययन का प्रयोजक माना जाता है, तो उस स्थिति में इनके लिये भी उपनयन के समय दण्ड आदि का विधान होना चाहिये था। आर्यसमाजियों के तीसरे नियम में आर्यों के वेदों के पढ़ने पढ़ाने की बात कही गई है और सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में शूद्रों को अनार्य माना है। अब इस मन्त्र की सहायता से उन अनार्यों को वेदाध्ययन का अधिकार दिया जा रहा है। ये सब बातें परस्पर एकदम विरुद्ध हैं। यजुर्वेदभाष्य में अरणाय पद का अर्थ उत्तम लक्षण वाला अन्त्यज करके उसको वेदाध्ययन का अधिकारी बताया गया है। किन्तु उसी से यह सिद्ध हो जाता है कि अधम लक्षण वाले अन्त्यज को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है। इस तरह से मनुष्यमात्र के अधिकार की बात का खण्डन आपके अपने वचनों से ही हो जाता है।

वस्तुतः विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि जिस मन्त्र वाक्य में जिस द्रव्य-देवता आदि का प्रतिपादन होता है, वही उसका देवता माना जाता है। सर्वानुक्रमणी, उसके षड्गुरु शिष्यविरचित भाष्य, निरुक्त आदि के वचनों का यही निष्कर्ष निकलता है। यह उचित ही है कि अपनी जिस किसी भी कामना की पूर्ति के लिये जो व्यक्ति जिस देवता की स्तुति जिस मन्त्र में करता है, वही उसका स्तोतव्य देवता और स्तुतिकर्ता ऋषि होगा। बृहद्देवता नामक ग्रन्थ में भी कहा गया है कि संवाद सूक्तों में जो वाक्यों का उच्चारण करता है, वह ऋषि और जिसकी स्तुति की जाती है, वह उसका देवता माना जाता है। वाजसनेय संहिता, शतपथब्राह्मण आदि के वचनों से भी यही सिद्ध होता है जिसका यह वाक्य होता है, वही उसका ऋषि और जो उसका वाच्य होता है, वही उसका देवता होता है। जिस देवता को उद्दिष्ट कर यज्ञ में आहुति दी जाती है और जिसकी स्तुति की जाती है, वही उसका देवता माना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यमयमीसूक्त में यम ऋषि है और यमी देवता। इसी तरह से मूल में उद्धृत ऋग्वेदीय मन्त्रों के पुरूरवा ऋषि और उर्वशी देवता हैं। इसके विपरीत यहीं के कुछ अन्य मन्त्रों में उर्वशी ऋषि और पुरूरवा देवता हो जाते हैं। इस तरह का निर्णय प्रतिपाद्य (देवता) और प्रतिपादक (ऋषि) को कसौटी मानकर किया जाता है। इस कसौटी पर यदि 'यथेमां वाचं' प्रभृति मन्त्र की परीक्षा

मन्त्रेषु प्रतिपादकः पुरूरवा ऋषिः प्रतिपाद्य उर्वशी देवता २,४,५,७,११,१३,१५,१६, १८ मन्त्रेषु प्रतिपादकत्वादुर्वशी ऋषिका प्रतिपाद्यत्वात् पुरूरवा देवता। अनेन निकषेण 'यथेमां वाचं कल्याणी०' इत्यत्रापि यदीश्वरो देवता स्यात् तदा स एव प्रतिपाद्यः स्यान्न प्रतिपादकः, देवता स्तोतव्या संबोध्या प्रार्थनीया भवति, प्रार्थयित्रा स्तोत्रा संबोधयित्रर्षिणा। यदीश्वरोऽत्र ऋषिः स्यात् तदा स प्रतिपादको भविष्यति न प्रतिपाद्यः। 'यथेमाम् इति' मन्त्रात् पूर्वस्मिन् मन्त्रे परमात्मोच्यत इत्युव्वटः। परमात्मानं प्रत्युच्यत इति महीधरः। तेनात्र 'आवदानि' इति क्रियायाः प्रार्थनायाश्च कर्ता ऋषिर्न परमेश्वरः, ईश्वरस्तु देवतात्वेनात्र प्रतिपाद्यो न प्रतिपादकः। तत एव 'अध्वनस्कुरु संज्ञानमस्तु मेऽमुना त्वं नोऽस्माकमध्वनः सकामान् कुरु। अमुना सह मे संज्ञानं संगतमस्तु' इत्यादि प्रार्थना युज्यते। नेश्वरस्य वक्तृत्वे तद्युज्यते, तस्य पूर्णकामत्वेन तत्कर्तृकतया प्रार्थनानुपपत्तेः। अत एवोव्वटादिभि।—'अनुद्वेजिनीं दीयतां भुज्यतामित्येवमादिकां कल्याणीं वाचमावदानि सर्वतो ब्रवीमि' इति मन्त्रयोरर्थः कृतः।

हे स्वामिन्, हे परमात्मन्, यस्य तव सप्त संसदः सप्त संसदानि अधिष्ठानानि अग्निवाय्वन्तरिक्षादित्यद्युलोकाम्बुवरुणाख्यानि, तत्राष्टमी भूतसाधनी पृथ्वी भूतानि साधयत्युत्पादयतीति भूतसाधनी, भूमिमन्तरा भूतोत्पत्तेरसम्भवात्। अतः सर्वाधिष्ठानभूतस्त्वमध्वनो मार्गान् सकामान् कुरु। येषु मार्गेषु मया गम्यते तत्रास्माकं कामप्राप्तिरस्त्वित्यर्थः। मे मम अमुना देवदत्तादिना संज्ञानमस्तु इष्टेन मम प्रीतिरस्तु। विज्ञानात्माप्यत्र देवतात्वेन वक्तुं शक्यते। यस्य तव पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति सप्तायतनानि अष्टमी भूतसाधनी भूतवशकरी वाक् च संसदोऽधिष्ठानानि स त्वं नोध्वनः सकामान् कुरु। इमां कल्याणीमनुद्वेजिनीं वाचमहं यथा येन प्रकारेण यतो वा आ वदानि सर्वतो वदामि दीयतां भुज्यतामिति सर्वेभ्यो वच्मि। केभ्यः? ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय अर्य्याय वैश्याय स्वाय आत्मीयाय अरणाय पराय शत्रवे वा। अरणःअपगतोदकः शत्रुः, नास्ति

करें, तो उस स्थिति में परमेश्वर को इस मन्त्र का देवता मानने पर वह प्रतिपाद्य (स्तोतव्य) होगा, प्रतिपादक (वक्ता) नहीं। प्रार्थना करने वाला स्तोता और संबोधक ऋषि होता है और जिसकी स्तुति की जाय, जिससे प्रार्थना की जाय, जिसे संबोधित किया जाय, वह देवता। यदि प्रस्तुत मन्त्र का वक्ता ईश्वर को माना जाता है, तो प्रतिपादक (स्तावक) होगा, (स्तोतव्य) नहीं। उव्वट का कहना है कि इससे पहले के मन्त्र में परमात्मा को संबोधित किया जाता है। महीधर का भी यही अभिप्राय है। इस तरह से इस मन्त्र की 'आवदानि' इस क्रिया का और प्रार्थना का भी कर्ता, अर्थात् ऋषि परमेश्वर नहीं है। वह तो देवता है। अतः प्रतिपाद्य होने से वह प्रतिपादक नहीं हो सकता। इसीलिये 'अध्वनस्कुरु०' इत्यादि मन्त्र के द्वारा ईश्वर की प्रार्थना उचित ही है। ईश्वर को इस मन्त्र का वक्ता (ऋषि) मानने पर यह संभव नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो पूर्णकाम है, वह किसी कामना की पूर्ति के लिये प्रार्थना करे, ऐसा मानना उचित नहीं हो सकता। इसीलिये उव्वट प्रभृति ने इन दोनों ही मन्त्रों का संमिलित अर्थ किया है कि खूब दान करो, खूब भोग करो, इस तरह की किसी के भी मन को उद्विग्न न करने वाली कल्याणमयी वाणी मैं सदा बोलता रहूँ।

मन्त्र का सही अर्थ यह है कि—हे स्वामिन्, हे परमात्मन्, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, जल, वरुण—ये सात आपके स्थान हैं। इनमें आठवीं भूमि भूतसाधनी, अर्थात् सभी प्राणियों को उत्पन्न करने वाली है, क्योंकि बिना पृथिवी के भूतों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस तरह से आप सभी अधिष्ठानों (स्थानों) के अधिपति स्वामी है, इसलिये आप हमारे सभी मार्गों को सकाम (सफल) बना दीजिये। आपकी कृपा से हमारी कामनाओं के मार्ग के सरल हो जाने पर हमारे मनोरथ की सिद्धि शीघ्र हो सकेगी, यह कहने का अभिप्राय है। मेरी देवदत्त प्रभृति अपने इष्ट जनों से मित्रता, प्रीति बढ़े। विज्ञानात्मा को भी यहाँ देवता माना जा सकता है। जैसे कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन एवं बुद्धि इन सात स्थानों के साथ आठवीं वाणी इस पक्ष में भूतसाधनी मानी जाती है। वाणी की सहायता से ही विज्ञानात्मा अपना व्यवहार चलाता है। हे विज्ञानात्मन्, आप हमारे मनोरथों को सफल बनाइये। मैं किसी को भी उद्विग्न न करने वाली खूब दान करो, खूब उपभोग करो, इस तरह की वाणी को जिस प्रकार और जिस कारण से भी बोल सकूँ, वैसा आप कीजिये। मैं इस तरह की वाणी ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य, अपने हितकारी और शत्रु के लिये भी प्रयुक्त करना चाहता हूँ।

रणः शब्दो येन सह स वाक्सम्बन्धरहितः शत्रुः। यथेति पूर्वमुक्तेस्तथेत्यध्याहार्यम्। यतो वाऽहं ब्राह्मणादिभ्यः कल्याणीं वाचं वदामि, तथा तेन प्रकारेण वा ततो वाहं देवानां प्रियो भूयासम्। इह संसारे दक्षिणायै दक्षिणाया दातुश्च प्रियो भूयासम्। देवा दक्षिणादातारश्च मयि प्रीतिं कुर्वन्त्वित्यर्थः। किञ्च, ममायं कामः समृद्ध्यतां सफलो भवतु। अयमिति नामनिर्देशः। धनपुत्रादिलाभो मे सम्पद्यतामित्यर्थः। किञ्चाद इति इष्टनामग्रहणम्। देवदत्तादिर्मां मां उपनमतु प्रोर्णमतु। इमामित्यनेन सन्निहिता वागेव ग्रहीतुं शक्या, इदमस्तु सन्निकृष्टे इत्यादि प्रसिद्धेः। न चतुर्वेदलक्षणा वाक् सन्निकृष्टा विद्यते। नात्र वेदो वेदवाणी वा सन्निहिता प्रकृता वा? नायं वेदस्यादिमो न वान्तिमो मन्त्रः। अधिकारानधिकारप्रकरणमपि नास्ति। न वा बुद्धिस्था वेदचतुष्टयी। तस्मादनुद्वेजिका वागेवात्र ग्राह्या। सा च भूतसाधनी वाक् पूर्वमन्त्रान्ते समायाता। दीयतां भुज्यतामिति मधुरवागेव सर्वभूतवशंकरी सैव भूतसाधनी। तत्रेश्वर ऋषिः। तस्मादावदानीत्यस्याः क्रियाया नेश्वरः कर्ता। परमेश्वरस्तु प्रतिपाद्यः। तस्मात्तदीयां वेदवाणीमहमावदानीति यजमान ऋषिर्वक्तुं शक्नोति। तस्मादनेन मन्त्रेणर्षिणा यजमाने परमात्मा प्रार्थ्यते।

तृतीययापि कण्डिकया बृहस्पते अतियदर्यो अर्हाद् द्युमद्विभाति। हे बृहस्पते, बृहतां वेदानां पते पालक चित्रं नानाविधं द्रविणमस्मासु यजमानेषु धेहि धारय स्थापय देहीत्यर्थः। तत्किम्? अर्य्यः स्वामी यद्धनमर्हति अर्यो यद्धनमर्हति पूजयति। यद्धनं जनेषु लोकेषु विभाति विविधं शोभते। कीदृशं द्युमत् कान्तिमत् क्रतुमत्, येन यज्ञाः क्रियन्ते, यद् धनं शवसा बलेन दीदयत दापयति प्रापयति वा धनान्तरम् अर्थानुबन्धमर्थरूपं वा (दय दानगतिहिंसादानेषु) उपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि। बृहस्पतयेऽर्थाय त्वा गृह्णामि। स्थापयति—एष ते योनिः स्थानम्, बृहस्पतये त्वा सादयामि।

जिसके साथ उदक सम्बन्ध नहीं है, अथवा जिसके साथ बातचीत नहीं है, उसको अरण अर्थात् शत्रु कहा जाता है। यथा शब्द का पहले मन्त्र में प्रयोग होने से यहाँ तथा शब्द का अध्याहार किया जाता है। क्योंकि मैं ब्राह्मण प्रभृति सभी के साथ मधुर वाणी बोलता हूँ, इसलिये मैं चाहता हूँ कि सभी देवतः मुझ पर प्रसन्न रहें। इस संसार में दक्षिणा देने वाले का भी मैं प्रिय होऊँ। कहने का अभिप्राय यह है कि देवगण और दक्षिणा देनेवाले यजमान नृपति आदि मेरे ऊपर सदा प्रसन्न रहें। मेरी यह कामना भी पूरी हो जाय। 'अयम्' शब्द से यहाँ धन, पुत्र आदि के लाभ की कामना का, जो भी प्रार्थना करने वाले को अभीष्ट हो, उसका उच्चारण अभीष्ट है और 'अदः' शब्द से भी उन देवदत्त आदि के नाम का ग्रहण करना चाहिये, जो कि उसकी अभीष्ट कामना की सिद्धि में सहायक हों। इसी तरह से 'इमाम्' इस शब्द से संनिहित, अर्थात् अभी अभी जिसकी चर्चा की गई, उस वाणी का ग्रहण होता है। इदं शब्द का प्रयोग समीप की वस्तु के लिये ही किया जाता है। अतः वाक् शब्द से यहाँ चतुर्वेद स्वरूप वाणी का ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि वह संनिहित नहीं है और न प्रकृत में उसका कोई उपयोग ही है। यह न तो वेद का पहला अथवा अन्तिम मन्त्र है, अधिकारी अथवा अनधिकारी का निर्णय करने वाला प्रकरण भी इसमें नहीं है और न वेदचतुष्टयी को बुद्धि में रखकर उसके सम्बन्ध में कुछ कहा ही गया है। इसलिये किसी को भी उद्विग्न न करने वाली वाणी का ही यहाँ ग्रहण करना चाहिये। पहले मन्त्र के अन्त में भूतसाधनी वाणी की चर्चा है। खूब दान करो, खूब उपभोग करो, इस तरह की सबके मन को आह्लादित कर देने वाणी मधुर वाणी ही भूतसाधनी कही जा सकती है। ईश्वर इन मन्त्रों का ऋषि नहीं है। इसलिये 'आवदानि' इस क्रिया का कर्ता ईश्वर नहीं है। वह तो इस मन्त्र का प्रतिपाद्य है, अर्थात् ऋषि अथवा यजमान ईश्वर से प्रार्थना करता है कि मैं इस तरह की कल्याणमयी वाणी बोलने में समर्थ होऊँ।

'बृहस्पते अति यदर्यो०' इस तीसरी कण्डिका में भी ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि हे बृहस्पते, अर्थात् वेदों के पालक ईश्वर, आप हम यजमानों को नाना प्रकार की सम्पत्ति से संपन्न बनाइये। उस तरह से आप हमें संपन्न कीजिये, जिस समृद्धि से कि कोई स्वामी सम्पन्न रहता है और उसकी आज्ञा के अनुसार, यज्ञ, याग, पूजन आदि में ऋत्विक् गण प्रवृत्त होते हैं। यह सम्पत्ति मनुष्यों में अपने अनेक रूपों में निवास करती है। इसी से मनुष्य कान्तिमान् बनता है, इसी की सहायता से वह यज्ञ-याग आदि करने में समर्थ होता है, यह सम्पत्ति ही अपनी सामर्थ्य से धनागम के अनेक मार्ग प्रशस्त कर देती है।

'नूनं सा ते प्रतिवरं जरित्रे दुहोयादिन्द्र दक्षिणा मघोनी । शिक्षा स्तोतृभ्यो मातिधग् भगो नो बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥' (ऋ० सं० २।११।२१) । अत्र मन्त्रे धनं प्रार्थ्यते । हे इन्द्र, मह्यमेतावद् धनं देहि येन विदथे यज्ञे बृहद्वदेम दीयतां भुज्यतामिति कल्याणीं वाचं वदेम । दुर्गाचार्येण निरुक्तव्याख्यानेऽस्य मन्त्रस्यैवमर्थं उक्तः—'सा दक्षिणा यजमानाय प्रतिदुग्धाम् । धनं नोऽस्तु येन किं कुर्याम । बृहद् वदेम महद् ऊर्जितं वदेम दीयतां भुज्यतामिति । क्व विदथे यज्ञे' (नि० १।७) । वेङ्कटमाधवेनापि (२।१।१६) मन्त्रे यज्ञे दीयतां भुज्यतामिति बृहद्वचनं वदेम सुपुत्राः । यज्ञसमाप्तौ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्येभ्यः शूद्रेभ्योऽतिशूद्रेभ्यः स्वात्मीयेभ्यः परेभ्यः शत्रुभ्यो मित्रेभ्यः सर्वेभ्य एव भोजनादि ससम्मानमर्प्यते । अत्र सर्वत्र लोट्लकारप्रयोगः । आवदानि समृद्ध्यताम् उपनमतु, आशिषि चायं लकारः । सर्वाश्चैताः प्रार्थनाः परमेश्वरे क्रियन्ते । इयमेव कल्याणी वाक् सर्वेषामभिमता । यज्ञपरश्चायमध्यायः । यथोक्तमुव्वटेन—अग्निष्टोमसौत्रामण्यश्वमेधपुरुषमेधसर्वमेधपितृमेधप्रव्रज्योपनिषत्सम्बद्धा मन्त्रा व्याख्येयाः । अत एव महाभारते—'दीयतां दीयतामन्नं वासांसि विविधानि च । भुज्यतां चैव विप्राणां वदतां च महास्वनः ॥ अनिशं श्रूयते तत्र मुदितानां महात्मनाम् ॥ दीयतां दीयतामन्नं भुज्यतां भुज्यतामिति । एवं प्रकाराः संजल्पाः श्रूयन्ते स्मात्र नित्यशः ॥' (म० भा० स० प० ३३।५५-५६)

सामाजिकानामजमेरप्रकाशितायां मूलयजुर्वेदसंहितायामस्य मन्त्रस्येश्वरो देवतेत्युक्तम् । किञ्चात्रैवर्ग्वेदादिभाष्यभूमिकायामुक्तम्—'यथेमाम्' इति मन्त्रस्यायमेवेश्वरसम्बन्धी अर्थोऽस्ति । 'बृहस्पते अति यदर्यं इत्युत्तरस्मिन् मन्त्रे हीश्वरार्थस्यैव प्रतिपादनात्' (पृ० ३५४) । यद्युत्तरमन्त्रानुसारेणेश्वर एव प्रतिपाद्यो न प्रतिपादकस्तदा तु नेश्वरोऽत्र वक्तेति तद्वचनेनैव सिद्धम् । उत्तरस्मिन् मन्त्रे स्पष्टमेव तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रमिति धनमीश्वरो याच्यते ऋषिणा । अत्रापि

'नूनं सा ते०' इस मन्त्र में धन की प्रार्थना की जाती है । हे इन्द्र, आप हमें इतना धन दीजिये कि हम लोग यज्ञ के अवसर पर खूब दान करो, खूब खाओ-पीओ, इस तरह की मंगलमय वाणी बोलने में समर्थ हो सकें । दुर्गाचार्य ने निरुक्त की व्याख्या में इस मन्त्र का यह अर्थ किया है—वह दक्षिणा यजमान की सब कामनाओं का पूर्ण करे । हमें धन प्राप्त हो, जिससे कि हम यज्ञ के अवसरों पर खूब दान करने और उपभोग करने वाली ओजस्विनी वाणी बोल सकें । वेंकट माधव ने भी यही व्याख्या की है कि हम सुपुत्र (सपूत) हैं, इस यज्ञ में खूब दान करो, खूब खाओ-पीओ, इस तरह की मधुरवाणी बोलना चाहते हैं । यज्ञ की समाप्ति होने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्र, स्वात्मीय जन, शत्रु-मित्र, सबको संमानपूर्वक भोजन आदि कराया जाता है । इन स्थानों पर सर्वत्र लोट् लकार का प्रयोग आशीर्वाद के अर्थ में किया गया है और इस तरह की सभी प्रार्थनाएँ ईश्वर से की जाती हैं । सभी भाष्यकार इसी को कल्याणी वाक्, मंगलमयी वाणी कहते हैं । इस अध्याय में यज्ञ का प्रकरण है । उव्वट ने स्पष्ट कहा कि इस अध्याय में अग्निष्टोम, सौत्रामणी, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, पितृमेध, प्रव्रज्या और उपनिषद् से संबद्ध मन्त्रों की व्याख्या की गई है । इसीलिये महाभारत में यज्ञ का वर्णन इन मन्त्रों की पद्धति पर ही किया गया है । जैसे कि—'यज्ञ में पधारे सब लोगों को नाना प्रकार के अन्न और वस्त्रों का दान करो, अर्थात् पहले सब को खूब भोजन परोसो और भोजन कर चुकने पर उनको आदरपूर्वक वस्त्र दो, उस यज्ञस्थल में भोजन करने वाले ब्राह्मणों और परोसने वाले व्यक्तियों की चारों ओर से यही भारी आवाज रात-दिन सुनाई पड़ रही है । सभी पुण्यात्मा जन उस समय परोसने वालों से बोल रहे थे कि बार बार अन्न परोसो और खाने वालों से कह रहे थे कि अभी आप लोग और भोजन कीजिये । उस यज्ञ के अवसर पर सभी ओर से इसी तरह की बातचीत सदा सुनाई पड़ती थी' ।

आर्यसमाजियों की अजमेर से प्रकाशित मूल यजुर्वेदसंहिता में इस मन्त्र का देवता ईश्वर बताया गया है । यहाँ इसी स्थल पर ऋग्वेदादिभूमिका में लिखा गया है कि 'यथेमां' इस मन्त्र का यही अर्थ ठीक है, क्योंकि इससे अगले मन्त्र 'बृहस्पते अति यदर्य०' में भी परमेश्वर का ही ग्रहण किया है' (पृ० ३५५) । अब इसमें सोचने की बात यह है कि अगले मन्त्र के अनुसार यहाँ ईश्वर प्रतिपाद्य है, प्रतिपादक नहीं, तो उस परिस्थिति में इस मन्त्र का वक्ता ईश्वर नहीं है, यह बात उनके कहने से भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि आगे के मन्त्र में यह स्पष्ट बताया गया है कि हमें आप नाना प्रकार का धन दीजिये । इस तरह से यजमान ऋषि ईश्वर से

धेहीति लोट्लकारः । तद्वदेव यथेमामित्यत्रापि परमेश्वरः प्रार्थ्यते यजमानेन । अहमिमां कल्याणीं वाचमावदानि जनेभ्यः । अहं प्रियो देवानां दक्षिणादातुश्च भूयासम्, अयं मे कामः समृद्ध्यताम् । सर्वथापि नात्र परमेश्वरः प्रार्थयिता । उत्तरमन्त्रस्य दयानन्दीयभाष्येऽपि परमेश्वरः प्रतिपाद्यत्वेनोक्तः । अत एवावदानीत्यस्य लोट्लकाररूपत्वेन वदामि ब्रवीमीति नार्थः, किन्त्वासमन्ताद् ब्रवाणीत्येवार्थः । तथा च 'यथाहमीश्वरो ब्राह्मणादिभ्यो वेदचतुष्टयीं वाचं वदामि, तथा युष्माभिरपि सर्वेभ्यो वेदा उपदेष्टव्याः' (पृ० ३५३) इति सर्वथाऽशुद्धोऽर्थः । प्रकृते तु आवदानीति यजमानस्याशीरूपा प्रार्थनैव, तच्चेश्वरे नोपपद्यते ।

यत्तु केनचिन्मन्त्रप्रतिपाद्यत्वाभावेऽपि दानाद्वा दीपनाद्वा देवतात्वाद् दानादीश्वरोऽत्र देवता, इति, तदपि न युक्तम्, तथात्वे हि दानादेव परमेश्वर एवोत्तरमन्त्रेऽपि वक्ता स्यात्, तथात्वे चान्यमन्त्राणामीश्वरोक्तत्वं न स्यात् ।

यदुक्तम्—'यजमानः स्वयं यज्ञकर्ता दक्षिणादाता भवति । स कथमेवं कथयिष्यति दक्षिणादातुरहं प्रियो भूयासम्' इति, तदपि तुच्छम्, ऋषेर्यजमानस्य धनरहितत्वादेवान्यतः परमेश्वराद् राज्ञो वा धनमानीय यज्ञनिर्वाहो भवति । ततो एवोत्तरमन्त्रेऽपि द्रविणं धेहि, बृहद्वदेम इत्यादिप्रार्थना भवति । तस्माद्दक्षिणादातुरीश्वरस्य राज्ञो वाहं प्रियो भूयासमिति यजमानप्रार्थनायां न काचिदनुपपत्तिः ।

यदुक्तम्—'वर्णाश्रमा अपि गुणाचारतो भवन्ति, यथाह मनुः—'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् । क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥' (म० १०।६५) । शूद्रः पूर्णविद्यासुशीलतादिब्राह्मणगुणश्चेद् ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणभावं

धन की प्रार्थना करता है । इस मन्त्र में 'धेहि' यह लोट् लकार का रूप है । उसी तरह से 'यथेमाम्' इस मन्त्र में भी यजमान ईश्वर से प्रार्थना करता है कि मैं सभी मनुष्यों के प्रति कल्याणी वाणी बोलने में समर्थ होऊँ, मैं देवताओं का और दक्षिणा देने वाले यजमान नृपति आदि का प्रिय बनूँ, मेरी यह कामना पूरी हो । किसी भी दृष्टि से विचार किया जाय, ईश्वर इस मन्त्र में प्रार्थयिता के रूप में नहीं माना जा सकता । अगले मन्त्र के दयानन्द भाष्य में भी परमेश्वर को प्रतिपाद्य ही माना है । इसीलिये लोट् लकार का रूप होने से 'आवदानि' इस पद का अर्थ 'बोलता' हूँ यह नहीं होगा, किन्तु 'सब तरह से बोलूँ' यही अर्थ होगा । इस तरह से 'जैसे मैं ईश्वर ब्राह्मण आदि सभी मनुष्यों को चारों वेदों का उपदेश करता हूँ, उसी प्रकार से तुम भी उनको पढ़ के सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो' (पृ० ३५४) दयानन्द का यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध है । वस्तुतः प्रकृत मन्त्र में 'आवदानि' यह यजमान की आशीर्वादात्मक प्रार्थना है । इस तरह की प्रार्थना ईश्वर में ठीक नहीं बैठती ।

किसी का कहना कि मन्त्र के द्वारा भले ही न प्रतिपादित हो, किन्तु दान, दीपन (प्रकाशन), प्रभृति गुणों के कारण ईश्वर को ही इस मन्त्र का देवता मानना चाहिये, किन्तु इस मन्तव्य में दोष यह है कि दान-दीपन आदि गुणों के आधार पर ही अगले मन्त्र का भी वक्ता ईश्वर ही हो जायगा और जिन मन्त्रों में दान-दीपन आदि गुणों का वर्णन नहीं है, वे मन्त्र ईश्वर के द्वारा उपदिष्ट नहीं माने जायेंगे ।

यह कहना कि 'यजमान तो स्वयं यज्ञ करने वाला है, वही दक्षिणा भी देता है, वह ऐसा क्यों कहेगा कि दक्षिणा देने वालों का मैं प्रिय होऊँ', किन्तु ऐसा कहना अपने ही अज्ञान को प्रकट करना है, यजमान केवल राजा ही नहीं, साधनहीन ऋषि भी होते हैं, उनके पास धन नहीं रहता, वे किसी राजा या धनी व्यक्ति से धन प्राप्त करके ही यज्ञ-याग आदि धार्मिक कृत्य सम्पन्न करते हैं । अतः दाता के प्रिय बनने की बात ऋषि आशीर्वादात्मक श्रुति में चाहे, यह उचित ही है । इसीलिये आगे के मन्त्र में धन दो, हम जनता के लिये बड़े बड़े काम कर सकें, इस तरह की प्रार्थना की गई है । इसलिये दक्षिणा देने वाले अपने स्वामी अथवा राजा आदि का मैं प्रिय बनूँ, इस तरह की प्रार्थना यदि यज्ञ करने वाला गरीब यजमान करे, तो इसमें क्या आपत्ति की बात हो सकती है ।

इसी प्रसंग में स्वामी दयानन्द आगे लिखते हैं—'वर्णाश्रम व्यवस्था भी गुण-कर्मों के आचार विभाग से होती है । इसमें मनुस्मृति का भी प्रमाण है कि 'शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है । अर्थात् गुण-कर्मों के अनुकूल ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता

प्राप्नोति योऽस्तिब्राह्मणस्याधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोत्येव। एवमेव कुचर्याधर्माचरणनिर्बुद्धिमूर्खत्वपराधीनतापरसेवादिशूद्रगुणैर्युक्तो ब्राह्मणश्चेत् स शूद्रतामेति शूद्राधिकारं प्राप्नोत्येव। एवमेव क्षत्रियाज्जातं वैश्याज्जातं प्रति च योजनीयम्। अर्थाद्यस्य वर्णस्य गुणैर्युक्तो यो वर्णः, स तदधिकारं प्राप्नोत्येव' इति। एवमेव—'धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ', 'अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ' (प्रश्न २ पटल ५ खण्ड ११ सूत्र १०।११) इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रस्थं सूत्रद्वयमुद्धृत्य यद् व्याख्यातम्—'सत्यधर्माचरणेनैव शूद्रो वैश्यं क्षत्रियं च वर्णमापद्यते, समन्तात् प्राप्नोति सर्वाधिकारमित्यर्थः। जातिपरिवृत्तावित्युक्ते जातेर्वर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोतीत्येवमेवासत्यलक्षणेनाधर्माचरणेन पूर्वो वर्णो ब्राह्मणो जघन्यं स्वस्मादधःस्थितं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च वर्णमापद्यते। धर्माचरणमेवोत्तमवर्णाधिकारे कारणमस्ति, अधर्माचरणमेव कनिष्ठवर्णाधिकारप्राप्तेश्च। यत्र यत्र शूद्रो नाध्यापनीयो न श्रावणीयश्चेत्युक्तं तत्र शूद्रस्य प्रज्ञाविरहत्वाद् विद्यापठनधारणविचारासमर्थत्वात्। तस्याध्यापनं श्रावणं व्यर्थमेवास्ति, निष्फलत्वाच्च' (पृ० ३५५-३५६) इति, तदपि न संगतम्, पूर्णविद्यासुशीलत्वादिब्राह्मणगुणयुक्तश्चेदित्यर्थस्याक्षरबाह्यत्वात्। तथाविधशूद्रो योऽस्ति स ब्राह्मणस्य सर्वाधिकारं प्राप्नोतीति प्रयोगोऽपि न धर्मशास्त्राभिज्ञस्य सम्भवति। किञ्च, यदि त्वद्रीत्या मनुष्यमात्रस्य वेदाध्ययनाधिकारस्तदा वेदोक्तेषु कर्मस्वपि सुतरामधिकारः सिद्ध्यत्येवेति कुतो वर्णान्तरप्राप्तिरभिप्रेयते? एतेन विज्ञायते यत् सर्वप्रसिद्धार्थमपलप्यापि न तत्र विश्वासः।

मन्वादिवचनानामपि न त्वदभिप्रेतोऽर्थः सम्भवति, विपरीतार्थस्यापि सुवचत्वात्। तथाहि 'शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत् प्रजायते। अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात्॥' (म०१०।६४) इत्यत्र कुल्लूकभट्टः—'शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः पारशवाख्यो वर्णः प्रजायते। सामर्थ्यात् स्त्रीरूपः, सा स्त्री यदि ब्राह्मणेनोढा सती प्रसूयते दुहितरमेव

है, तथा जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र के गुण वाला हो, तो वह क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो जाता है। वैसे ही शूद्र भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता है और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य हो जाता है, वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना चाहिये'। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि यदि शूद्र को वेद आदि पढ़ने का अधिकार न होता, तो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के अधिकार को कैसे प्राप्त कर सकता था? इससे यह निश्चित जाना जाता है कि पचीसवें वर्ष में वर्णों का अधिकार ठीक ठीक होता है, क्योंकि पचीस वर्ष तक बुद्धि बढ़ती है। इसलिये उसी समय गुण-कर्मों को ठीक-ठीक परीक्षा करके वर्णाधिकार निश्चित करना उचित है। आपस्तम्ब सूत्र में भी लिखा है कि धर्माचरण करने से नीचे के वर्ण पूर्व पूर्व वर्ण के अधिकार को प्राप्त हो जाते हैं। सो केवल कहने ही मात्र को नहीं, किन्तु जिस जिस वर्ण को जिन जिन कर्मों का अधिकार है, उन्हीं के अनुसार वे यथावत् प्राप्त होते हैं। इसी तरह से अधर्माचरण करके पूर्व पूर्व वर्ण नीचे नीचे के वर्णों के अधिकारों को प्राप्त होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों के पढ़ने-सुनने का अधिकार सब मनुष्यों को बराबर है' (पृ० ३५६), किन्तु पूरा कथन असंगत बातों से भरा है। मूल मनुस्मृति के वचन में शूद्र के विशेषण के रूप में पूर्णविद्या तथा सुशीलता आदि ब्राह्मण के गुणों वाला, इस अर्थ के प्रतिपादक शब्द नहीं मिलते। इस तरह के गुणों वाला शूद्र ब्राह्मण के सभी अधिकारों को प्राप्त कर लेता है, इस तरह की बात भी वह आदमी तो नहीं कहेगा, जो कि धर्मशास्त्र की पद्धति से परिचित हो। यदि आपके मत के अनुसार मनुष्यमात्र को वेदाध्ययन का अधिकार दे दिया जाय, तो वेदविहित कर्मों में भी अपने आप सबको समान अधिकार मिल जायगा। ऐसी स्थिति में वर्ण परिवर्तन के बखेड़े को खड़ा करने का क्या तुक है? इसी से आपके मन की यह छिपी बात प्रकट हो जाती है कि प्रसिद्ध अर्थ का अपलाप तो आपने कर दिया है, किन्तु उस पर अभी आप को भी पूरा विश्वास नहीं है।

मनु प्रभृति के वचनों का भी वह अर्थ नहीं है, जो कि आपने किया है। इसके विपरीत बड़ी सरलता से ज्ञात होने वाला अर्थ टीकाकारों ने किया है। 'शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः' इस श्लोक की व्याख्या में मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट कहते हैं कि 'शूद्रा स्त्री में ब्राह्मण से पैदा हुआ शिशु पारशव वर्ण का कहलाता है। वह यदि स्त्री हो, इसका ब्राह्मण के साथ विवाह हो और उससे भी स्त्री अपत्य पैदा हो और उसका भी ब्राह्मण के साथ विवाह होकर उससे भी स्त्री अपत्य पैदा हो तो इस परिस्थिति में सातवीं पीढ़ी में

जनयेत्, सापि ब्राह्मणेनोढा दुहितरमेव जनयेत्, साप्येवमिति सप्तमे युगे जन्मनि स पारशवाख्यो वर्णो वीर्यप्राधान्याद् ब्राह्मण्यं प्राप्नोति । तदनन्तरमेव 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति' इति पद्यम् । अस्याप्ययमर्थः—एवं पूर्वश्लोकोक्तरीत्या शूद्रा ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्च शूद्रतामेति । ब्राह्मणपदेनात्र शूद्रायां ब्राह्मणादुत्पन्नः पारशवो ज्ञेयः । स यदि पुमान् केवलशूद्रोद्वाहेन तस्यां पुमांसमेव जनयति, सोऽपि केवलशूद्रोद्वाहेनान्यं पुमांसमेव जनयति, सोऽप्येवम्, तदा स ब्राह्मणः सप्तमं जन्म प्राप्तः केवलशूद्रतां बीजनिष्कर्षात् क्रमेण प्राप्नोति । एवं क्षत्रियाद् वैश्याच्च शूद्रायां जातस्योत्कर्षापकर्षौ जानीयात् । 'जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमेऽपि वा' इति याज्ञवल्क्यवचनदर्शनाच्च क्षत्रियाज्जातस्य पञ्चमे जन्मन्युत्कर्षापकर्षौ बोद्धव्यौ । वैश्याज्जातस्य ततोऽप्युत्कर्षाद् याज्ञवल्क्येनापि वाशब्देन पक्षान्तरस्य संगृहीतत्वाद् वृद्धव्याख्यानुरोधाच्च तृतीयजन्मन्युत्कर्षापकर्षौ ज्ञेयौ । अनेनैव न्यायेन ब्राह्मणेन वैश्यायां जातस्य पञ्चमे जन्मन्युत्कर्षापकर्षौ क्षत्रियायां जातस्य तृतीये क्षत्रियेण वैश्यायां जातस्य तृतीय एव बोद्धव्यौ । प्रकरणानुरोधात् शास्त्रान्तरसंवादाच्चायमेवार्थो युक्तः ।

यदुक्तम्—'प्रज्ञाविरहाद् विद्यापठनधारणविचारासमर्थत्वात् तस्याध्यापनं श्रावणं व्यर्थमेवास्ति, निष्फलत्वात्' इति, तदपि मन्दम्, प्रज्ञावतां शूद्राणां श्रवणमननादौ समर्थानां विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां महाभारतादिषु स्मरणात् । अत एवेतिहासपुराणादिश्रवणे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारः, 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः' इति स्मरणात्, 'वेदपूर्वकस्तु नाधिकारः' इति शाङ्करभाष्यवचनाच्च ।

यत्तु 'धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते' इत्युक्तम्, तदपि न युक्तम्, 'जातिपरिवृत्तौ' इत्यस्यार्थानव-

जाकर वह पारशव वर्ण बदल कर वीर्य की प्रधानता के आधार पर 'ब्राह्मण वर्ण कहलाने लगता है' । इसी के आगे का श्लोक है 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति०' । इसका अर्थ इस तरह से किया गया है—'पूर्व श्लोक में बताई गई पद्धति से शूद्र ब्राह्मण बन जाता है और इसी तरह से ब्राह्मण भी शूद्र बन जाता है । यहाँ ब्राह्मण पद से शूद्रा स्त्री में ब्राह्मण से उत्पन्न पारशव का ग्रहण किया जाता है । वह यदि पुरुष है और वह शूद्रा स्त्री से विवाह कर पुरुष सन्तति को पैदा करता है और यदि पुरुष सन्तति फिर शूद्रा स्त्री से विवाह कर पुरुष सन्तति को पैदा करता है, तो इस क्रम से सातवीं पीढ़ी में वह ब्राह्मण शूद्र वीर्य की प्रधानता के कारण केवल शूद्र रह जाता है । इसी पद्धति से क्षत्रिय और वैश्य पुरुष से शूद्र स्त्री में उत्पन्न सन्तति का उत्कर्ष या अपकर्ष होता है । याज्ञवल्क्य स्मृति में सप्तम अथवा पंचम पीढ़ी में भी जाति के उत्कर्ष और अपकर्ष की बात आई है । इसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न सन्तति का उत्कर्ष या अपकर्ष सातवीं पीढ़ी में होगा, किन्तु क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न सन्तति का उत्कर्ष या अपकर्ष पाँचवीं पीढ़ी में ही हो जायगा और वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न सन्तति का उत्कर्ष या अपकर्ष तीन पीढ़ी में ही हो जायगा । याज्ञवल्क्य ने वा शब्द का प्रयोग कर इन पक्षों की सत्ता स्वीकार की है और वृद्ध व्यवहार (परम्परा) भी इसके पक्ष में है । इसी पद्धति से ब्राह्मण से वैश्या स्त्री से उत्पन्न सन्तति की जाति का उत्कर्ष या अपकर्ष पाँचवीं पीढ़ी में और ब्राह्मण से क्षत्रिया में उत्पन्न सन्तति की जाति का उत्कर्ष या अपकर्ष तीसरी पीढ़ी में ही हो जायगा । इसी तरह से क्षत्रिय से वैश्या में उत्पन्न सन्तति की जाति का उत्कर्ष और अपकर्ष भी तीसरी पीढ़ी में ही हो जायगा । प्रकरण के अनुसार और अन्य शास्त्रों से भी पुष्टि हो जाने से मनुस्मृति के उक्त श्लोक का यही अर्थ हो सकता है ।

'शूद्र में प्रज्ञा (बुद्धि) का अभाव है, अर्थात् उसकी बुद्धि मन्द होती है, अतः वह विद्या पढ़ने और उसको धारण करने में, उस पर विचार करने में असमर्थ रहता है । उसको पढ़ाना और सुनाना सब व्यर्थ जाता है' (पृ० ३५६) स्वामी दयानन्द का यह कथन भी व्यर्थ है, क्योंकि श्रवण और मनन आदि करने में समर्थ बुद्धिमान् विदुर, धर्मव्याध जैसे शूद्रों की कथा महाभारत में आती है । इसीलिये इतिहास, पुराण आदि के श्रवण में चारों वर्णों का अधिकार माना गया है । 'ब्राह्मण को आगे करके चारों वर्णों को महाभारत आदि का श्रवण कराना चाहिये' ऐसा सुना जाता है । शांकर भाष्य में यह स्पष्ट बताया गया है कि वेदों के अध्ययन में इन सबका अधिकार नहीं है ।

'धर्माचरण करने से नीचे के वर्ण पूर्व पूर्व वर्ण के अधिकार को प्राप्त कर लेते हैं' यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि

बोधात्। तत्र जातिशब्दस्य जन्मैवार्थः। तथा च जन्मपरिवृत्तौ धर्मचर्यया जघन्यो वर्ण उत्तमं वर्णमापद्यते। तथैवोत्तमवर्णोऽप्यधर्मचर्यया जातिपरिवृत्तौ जन्मान्तरेऽपकृष्टवर्णमापद्यते। 'जातेर्वर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोति' इति तु मूलाक्षरबाह्यमेव, तत्सर्वं प्राप्नोतीति पदस्य मूलेऽभावात्, सप्तम्या असङ्गतेश्च। सिद्धान्तरीत्या तु जाति(जन्म)परिवर्तने सति वर्णो वर्णान्तरमापद्यत इति सङ्गतिः। त्वद्रीत्या तु धर्मचर्यया वर्णान्तरप्राप्तिस्ततस्तद्वर्णाधिकारप्राप्तिरिति प्रथमयैव भाव्यम्, न सप्तम्या। तस्माच्छ्रुतायाः सप्तम्या अनुरोधेन धर्मचर्यया जन्मपरिवर्तने सति वर्णान्तरप्राप्तिरित्येव श्लिष्टम्, श्वशूकरादिषु जन्मपरिवर्तनमन्तरा जातिपरिवर्तनादर्शनात्।

पठनपाठनविषयः

पठनपाठनविषयेऽपि यदुक्तम्—'तत्रादौ पठनस्यारम्भे शिक्षारीत्या स्थानप्रयत्नस्वरज्ञानायाक्षरोच्चारणोपदेशः कर्तव्यः। येन नैव स्वरवर्णोच्चारणज्ञानविरोधः स्यात्। तद्यथा—'प' इत्यस्योच्चारणमोष्ठौ संयोज्यैव कार्यम्। अस्यौष्ठौ स्थानम्, स्पृष्टः प्रयत्न इति वेद्यम्।' (पृ०३५७) इत्यादि, तदपि विशृङ्खलमेव, उच्चारणोपदेशेनोच्चारणज्ञानस्यैव सम्भवात्। स्थान-प्रयत्न-स्वरज्ञानस्योपदेशान्तरसाध्यत्वात्।'प' इत्यस्योच्चारणमोष्ठौ संयोज्यैव कार्यम्' इत्यप्यसङ्गतम्, ओष्ठसंयोगमन्तरा तदुच्चारणस्यासम्भवेन एवकारव्यावर्त्याभावात्।

उन्होंने 'जातिपरिवृत्तौ' इसका अर्थ ठीक से नहीं समझा है। यहाँ जाति शब्द का अर्थ जन्म है। उक्त वचन का वास्तविक अर्थ यह है कि धर्माचरण से दूसरे जन्म में नीच वर्ण का आदमी उच्च वर्ण में पैदा होता है। इसी तरह से अधर्म का आचरण करने वाला उच्च वर्ण का व्यक्ति जन्मान्तर में नीच वर्ण में पैदा होता है। 'जाति अर्थात् वर्ण की सब तरह से वृत्ति, अर्थात् किस वर्ण को किस तरह का आचरण करना चाहिये, इस बात का भलीभाँति ज्ञान उसको हो जाता है' इस अर्थ का भी मूल वचन से कोई संबन्ध नहीं है। 'वह सब कुछ प्राप्त करता है' इस अर्थ के बोधक पद मूल वचन में हैं ही नहीं। दूसरी बात यह कि ऐसा अर्थ करने में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग असंगत हो जायगा। हमारे मत से तो जन्म का परिवर्तन होने पर एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण में पैदा होता हैं, इस तरह से सप्तमी विभक्ति की स्पष्ट संगति बैठती है। आपके मत के अनुसार तो धर्माचरण से वर्णान्तर की प्राप्ति और तब वर्णाधिकार की प्राप्ति होती है, इस तरह से यहाँ प्रथमा विभक्ति होनी चाहिये, सप्तमी नहीं। अतः जब हम देखते हैं कि आपस्तम्ब के वचन में स्पष्ट रूप से सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है, तो उसके अनुरोध से धर्म का आचरण करने से जन्म का परिवर्तन होने पर वर्णान्तर की प्राप्ति होती है, यही अर्थ संगत लगता है। श्वान (कुत्ता), शूकर प्रभृति में दूसरा जन्म हुए बिना जाति का परिवर्तन नहीं देखा जाता। कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे इनमें दूसरे जन्म के बिना जाति परिवर्तन नहीं होता, उसी तरह से मनुष्यों का भी वर्ण परिवर्तन दूसरा जन्म हुए बिना नहीं हो सकता।

पठन-पाठन विषयक विचार

इस प्रकरण का आरम्भ करते हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा है—'पठन-पाठन के आदि में लड़कों और लड़कियों को ऐसी शिक्षा करनी चाहिये कि वे स्थान, प्रयत्न के योग से वर्णों का ऐसा उच्चारण कर सकें कि जिससे सबको प्रिय लगे। जैसे 'प' इसके उच्चारण में दो प्रकार का ज्ञान होना चाहिये, एक स्थान और दूसरा प्रयत्न का। पकार का उच्चारण ओठों से होता है, परन्तु दो ओठों को ठीक ठीक मिलाकर ही पकार बोला जाता है। इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न है। किसी अक्षर के स्थान में कोई स्वर या व्यंजन मिला है, तो उसको भी उसी उसी स्थान में प्रयत्न से उच्चारण करना उचित है। इसका सब विधान व्याकरण और शिक्षा ग्रन्थों में लिखा है' (पृ० ३५८)। किन्तु यह पूरा कथन गलत है, क्योंकि उच्चारण का उपदेश करने से उच्चारण का ज्ञान ही हो सकता है, वह किस तरह उच्चरित होगा, किस स्थान, प्रयत्न स्वर में इसका उच्चारण किया जायगा, यह तो बार बार बोलकर और बुलवा कर उच्चारण का परिष्कार करने पर ही आवेगा। 'प' का उच्चारण ओठों को ठीक ठीक मिलाकर ही होता है, यह कथन भी असंगत है, क्योंकि बिना ओठों के मिलाए पकार का जब उच्चारण ही नहीं होता, तब एवकार के प्रयोग से आप किसकी व्यावृत्ति (निषेध) करेंगे ? अर्थात् किसी व्यावर्त्य के अभाव में 'एव' का प्रयोग यहाँ व्यर्थ ही किया गया है।

'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥' (महाभाष्य १।१।१) अत्र यदुक्तम्—'नैव स्थानप्रयत्नयोगेन विनोच्चारणे कृतेऽक्षराणां यथावत् प्रकाशः पदानां लालित्यं च भवति। यथा मानकर्ता षड्जादिस्वरालापनेऽन्यथोच्चारणं कुर्याच्चेत् स तस्यैवापराधो भवेत्, तद्वद् वेदेष्वपि प्रयत्नेन सह स्वस्वस्थाने खलु स्वरवर्णोच्चारणं कर्तव्यम्। अन्यथा दुष्टः शब्दो दुःखदोऽनर्थकश्च भवति। यथावदुच्चारणमुल्लङ्घ्योच्चारिते शब्दे वक्तुरपराध एव विज्ञायते—त्वं मिथ्या प्रयोगं कृतवानिति। नैव स मिथ्याप्रयुक्तः शब्दस्तमभिप्रेतमर्थमाह' (पृ०३५७) इति, तदपि यत्किञ्चित्, गानकर्तेत्यस्य स्थाने गायक इत्यस्यैव युक्तत्वात्। अन्यथोच्चरितः कथं दुःखद इत्यस्य वक्तव्यत्वात्। दृष्टान्ते दार्ष्टान्ते चापराधभेदो वक्तव्यः, अत्यन्ताभेदे दृष्टान्तानुपपत्तेः।

यदप्युक्तम्—'सकलं शकलम्, सकृत् शकृदिति। सकलशब्दः सम्पूर्णार्थवाची, शकल इति खण्डवाची, सकृदित्येकवारार्थवाची, शकृदिति मलार्थवाची च। अत्र सकारोच्चारणे कर्तव्ये शकारोच्चारणं क्रियते चेत्, एवं शकारोच्चारणे कर्तव्ये सकारोच्चारणं च तदा स शब्दः स्वविषयं नाभिधत्ते। स वाग्वज्रो भवति। यमर्थं मत्वोच्चारणं क्रियते सशब्दस्तदभिप्रायनाशको भवति। तद्वक्तारं यजमानं तदधिष्ठातारं च हिनस्ति, तेनार्थेन हीनं करोति। यथेन्द्रशत्रुरयं शब्दः स्वरस्यापराधाद् विपरीतफलो जातः। तद्यथा—इन्द्रः सूर्यलोकस्तस्य शत्रुरिव मेघः। अत्रेन्द्रशत्रुशब्दे तत्पुरुषसमासार्थमन्तोदात्ते कर्तव्ये आद्युदात्तकरणाद् बहुव्रीहिः समासः कृतो भवेत्। अस्मिन् विषये तुल्ययोगितालङ्कारेण मेघसूर्ययोर्वर्णनं कृतमिति। ततोऽर्थवैपरीत्यं जायते। उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोऽन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः समासो भवति। तत्र यस्येच्छा सूर्यस्य ग्रहणेऽस्ति तेनेन्द्रशत्रुशब्दस्तत्पुरुषसमासेनान्तोदात्त उच्चारणीयः, यस्य च मेघस्य तेन बहुव्रीहिसमासमाश्रित्याद्युदात्त-

'दुष्टः शब्दः' इस श्लोक को उद्धृत कर उसका अर्थ करते हुए स्वामी दयानन्द कहते हैं—'फिर इस विषय में महाभाष्यकार पतंजलि ने भी कहा है कि स्वर और वर्णों के उच्चारण में वियर्पय होने पर शब्द दुष्ट कहलाता है, अर्थात् वह मूल अर्थ को नहीं जनाता। तथा जैसे स्थान और प्रयत्न के योग के बिना शब्द का उच्चारण प्रसन्नता करानेवाला नहीं होता, वैसे ही स्वर से विपरीत उच्चारण और गानविद्या भी सुन्दर नहीं होती। गान करनेवाला षड्ज आदि स्वरों का उच्चारण उलटा करता है, तो यह अपराध उसी का समझा जाता है। इसी प्रकार वेद आदि ग्रन्थों में भी स्वर और वर्णों का उच्चारण यत्न से होना चाहिये। जो उलटा उच्चारण किया जाता है, वह दुःख देने वाला झूंठ (अपशब्द) समझा जाता है। जिस शब्द का यथावत् उच्चारण न हो, किन्तु उससे विपरीत किया जाय, तो वह दोष बोलनेवाले का गिना जायगा। विद्वान् लोग बोलनेवाले से कहते हैं कि तूने इस शब्द का शुद्ध उच्चारण नहीं किया, इससे यह तेरे अभिप्राय को यथार्थ नहीं कह सकता' (पृ० ३५८)। किन्तु यह सारी व्याख्या अस्तव्यस्त है। गानकर्ता के स्थान पर गायक शब्द का प्रयोग होना चाहिये था। उलटा उच्चारण करने से शब्द दुःख देनेवाला कैसे हो जाता है, इसको समझाना चाहिये था। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में अलग अलग अपराधों का स्पष्ट वर्णन होना चाहिये, यदि इनमें अत्यन्त अभेद हो, जैसा कि इस व्याख्या से प्रतीत होता है, तो दृष्टान्त बन ही नहीं सकता।

आगे स्वामी दयानन्द लिखते हैं—'जैसे 'सकल' और 'शकल' में देख लो। अर्थात् 'सकल' शब्द संपूर्ण का बोधक है। यदि उसमें तालव्य का उच्चारण किया जाय, तो वही फिर खण्ड (टुकड़ा) का वाचक हो जाता है। ऐसे ही 'सकृत्' और 'शकृत्' में दन्त्य सकार के उच्चारण से 'एक बार क्रिया' और उसी का तालव्य उच्चारण करने से 'विष्ठा' का बोध होता है। इसलिये शब्दों का उच्चारण यथावत् करने से ही ठीक ठीक अर्थ का बोध होता है, क्योंकि विपरीत उच्चारण से वह वज्र के समान वक्ता के अभिप्राय का नाश करने वाला होता है। सो यह दोष बोलनेवाले का ही गिना जाता है। जैसे—'इन्द्रशत्रुः' यहाँ इकार में उदात्त स्वर बोलने से बहुव्रीहि समास और अन्य पदार्थ का बोध होता है, तथा अन्तोदात्त बोलने से तत्पुरुष समास और उत्तर पदार्थ का बोध होता है। सूर्य का इन्द्र और मेघ का वृत्रासुर नाम है। इसके सम्बन्ध में वृत्रासुर का वर्णन तुल्ययोगिता अलंकार से किया है कि जो इन्द्र अर्थात् सूर्य की उत्तमता चाहे, वह समस्त पद के स्थान में अन्तोदात्त उच्चारण करे और जो मेघ की वृद्धि चाहे, वह आद्युदात्त उच्चारण करे। इसलिये स्वर का उच्चारण भी यथावत् करना चाहिये' (पृ० ३५८-३५९)। यह सारा कथन भी यहाँ तक असंगत है कि संस्कृत और

स्वरश्चेति नियमोऽस्ति। अत्रान्यथात्वे कृते मनुष्यस्य दोष एव गण्यते। अतः कारणात् स्वरोच्चारणं वर्णोच्चारणं च यथावदेव कर्तव्यमिति, (पृ०३५७)। हिन्दीव्याख्याने तु य इन्द्रस्योत्तमतामिच्छेत् सोऽन्तोदात्तमुच्चरेत्, यो मेघस्य वृद्धिमिच्छेत् स आद्युदात्तमुच्चरेत्' इत्यादिकं सर्वं निर्मूलमेव। नहि भाष्याक्षरेण हिन्दी व्याख्यानं सङ्गतम्। न वा तत्र किमपि मूलम्। सूर्यस्योत्तमता स्वभावतोऽस्त्येवेति नान्तोदात्तस्वरकृतं वैशिष्टयं तत्र सम्भवति। न वाद्युदात्तोच्चारणेन मेघवृद्धिः प्रमाणसिद्धा। न चादृष्टमपूर्वं वा किमपि त्वयाऽभ्युपेयते। अन्यथात्वे कृते न तमर्थमाहेत्यनेनैव गतार्थत्वे यथेन्द्रशत्रुरित्यादेवैयर्थ्यापातात्। मनुष्यस्य तदतिरिक्तः को वा दोषो भवेदिति स्पष्टं वक्तव्यम्। वस्तुतस्तु चार्वाकवददृष्टमपूर्वमनभ्युपगच्छतोऽस्य वृष्टिजलवायुशुद्धयर्थं यज्ञहोमाद्यनुष्ठानमुपदिशतो जन्मशतैरप्यस्य मन्त्रस्यार्थाधिगमे सामर्थ्यं न भविष्यति। शिक्ष्यमाणवर्णादिवैकल्पे वाद्युदाहृतः, 'मन्त्रो हीनः स्वरतः' इत्यादि (पा०शि० ५२), 'तत्त्वष्टा आहवनीयमुपप्रावर्तयत स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व (तै० सं० २।४।१२।१) इत्यस्मिन् मन्त्रे इन्द्रस्य शत्रुर्घातक इत्यस्मिन् विवक्षितेऽर्थे तत्पुरुषसमासे 'समासस्य' (पा० सू० ६।१।२२३) इति तत्पुरुषत्वादन्तोदात्तेन भाव्यम्। आद्युदात्तस्तु प्रयुक्तः। तथा सति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन बहुव्रीहित्वाद् इन्द्रः शत्रुर्घातको यस्य स इत्यर्थः सम्पन्नः। तादृशस्वरापराधेन इन्द्रघातकस्य वृत्रस्य वृद्धिकामनया जपहोमादौ मन्त्रं प्रयुक्तवतस्त्वष्टुर्यजमानस्याभीष्टविघातस्तद्वैपरीत्येन स्वरदोषादिन्द्र एव तद्घातको जातः। एवं च स्वरवर्णादिदोषराहित्येन मन्त्रोच्चारणेनानुकूलं मनोरथसाधकमदृष्टं जायते, अन्यथा प्रतिकूलं भवतीति मन्तव्यम्। त्वया तु केवलमभ्यासार्थमेव यज्ञेषु मन्त्रोच्चारणमङ्गीक्रियते। तथा च त्वद्रीत्याऽभिप्रायबोधबाधमन्तरा स्वराद्यपराधान्नान्यो दोषः कल्पयितुं शक्यः।

सिद्धान्ते तु गम्भीरस्य वेदस्यार्थमवगमयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि। तत्र वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा। 'शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, सन्तान इत्युक्तः शीक्षाध्यायः'

हिन्दी व्याख्या में भी कोई समानता नहीं है और न इस तरह की व्याख्या में कोई प्रमाण ही दिया है। सूर्य की उत्तमता तो उसके स्वभाव से ही है, अतः अन्तोदात्त स्वर का उच्चारण करने से उसमें कुछ विशिष्टता नहीं आती और न आद्युदात्त का उच्चारण करने से मेघ की वृद्धि होती है, यह बात अन्य किसी प्रमाण से सिद्ध हो पाती है। अदृष्ट अथवा अपूर्व तो आप मानते नहीं। अन्यथा उच्चारण करने पर वही सही अर्थ को नहीं बना पाता, इतना ही कहना पर्याप्त था। इसके बाद 'इन्द्रशत्रु' शब्द का उदाहरण देने की क्या आवश्यकता थी? इसके अतिरिक्त वह मनुष्य का दोष किस तरह का होगा, इस बात को समझाना चाहिये था। वास्तव में तो स्वामी दयानन्द चार्वाक की तरह किसी अदृष्ट अथवा अपूर्व की सत्ता नहीं स्वीकार करते, यज्ञ-याग आदि का वे वृष्टि, जल और वायु की शुद्धि की तरह का दृष्ट प्रयोजन ही मानते हैं। इस तरह के मन्त्रों का अर्थ समझने की शक्ति इनमें सौ जन्मों में भी नहीं आ सकती। हमारे मत से तो सिखाये गये वर्ण, स्वर आदि का विपरीत उच्चारण करने पर पाणिनि शिक्षा के अनुसार उसमें दोष बताया गया है। इसका स्पष्टीकरण 'तत् त्वष्टा०' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति की सहायता से होता है। इस मन्त्र का उच्चारण त्वष्टा ने 'इन्द्र को मारने वाला' इस अभिप्राय से किया था। इस अर्थ की विवक्षा में तत्पुरुष समास होता है और उसका उच्चारण अन्तोदात्त स्वर से करना चाहिये। ऐसा न कर त्वष्टा ने इस मन्त्र का उच्चारण आद्युदात्त स्वर में किया, जो कि बहुव्रीहि समास होने पर होता है, तब उसका अर्थ हो जाता है—इन्द्र जिसको मारनेवाला है। इस अपराध से अर्थात् स्वर का विपरीत उच्चारण करने से इन्द्र के नाशक (शत्रु) वृत्र की वृद्धि के लिये किया गया अनुष्ठान यजमान के अभिप्राय के विपरीत इन्द्र ही वृत्र का घातक हो गया। इस तरह से प्रस्तुत श्लोक का अभिप्राय यह है कि स्वर और वर्ण आदि के दोष से रहित मन्त्र का उच्चारण करने से मनोरथ की सिद्धि के अनुरूप अदृष्ट उत्पन्न होता है और ऐसा न होने पर विपरीत फल होता है। आप तो केवल अभ्यास के लिये ही यज्ञ के अवसर पर मन्त्रों का उच्चारण करते हैं, तब आपके मत के अनुसार स्वर आदि का विपर्यय हो जाने पर अभिप्राय का ठीक से ज्ञान न हो, इसके सिवाय दूसरा कोई दोष नहीं कल्पित किया जा सकता।

हमारे मत के अनुसार तो वेद के गंभीर अर्थ को जानने के लिये शिक्षा प्रभृति छः अंगों की रचना की गई है। इनमें से शिक्षा नामक अंग मे मन्त्र के वर्णों, स्वरों आदि के उच्चारण का उपदेश किया जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा की व्याख्या

(तै० उ० १।१) इति श्रुतेः। वर्णोऽकारादिः, स चाङ्गभूतशिक्षाग्रन्थे स्पष्टमुक्तः। 'त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः। प्राकृते संस्कृते वापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा ॥' (पा० शि० ३)। अत्र स्वयम्भुवा ब्रह्मणा वर्णा उक्ताः। चेतनां देवतामनभ्युपगच्छता कथमेतदर्थोऽवगन्तुं शक्यः। स्वर उदात्तादिः, सोऽपि तत्रैत्रोक्तः। 'उदात्तश्चानुदत्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः (पा० शि० ११)। मात्रा ह्रस्वादिः। सापि तत्रोक्ता 'ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अपि'। (पा०शि०११) बलं स्थान प्रयत्नौ। 'तत्राष्टौ स्थानानि वर्णानाम्' (पा०शि० १३) इत्यादिनोक्तम्। 'अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीवत्' (पा० शि० ३८) इत्यादिना प्रयत्न उक्तः। सामशब्देन साम्यमुक्तम्। अतिद्रुतातिविलम्बितगीत्यादिदोषराहित्येन माधुर्यादिगुणयुक्तत्वेनोच्चारणं साम्यम्। 'गीती शीघ्री शिरःकम्पी' (पा०शि० ३२) इत्यादिना। 'उपांशुदष्टं त्वरितम्'। (पा०शि० ३५) इत्यादिना दोषा उक्ताः। 'माधुर्यमक्षरव्यक्तिः' (पा०शि०) इत्यादिना गुणा उक्ताः। सन्तानः संहिता, 'वायवा याहि' (ऋ०सं०१।२।१) इत्यत्रावादेशः। 'इन्द्राग्नी आगतम्' (ऋ० सं० ३।१२।१) इत्यत्र प्रकृतिभावः। एतच्च व्याकरणेऽभिहितत्वात् शिक्षायामुपेक्षितम्। शिक्ष्यमाणवर्णादिवैकल्ये बाध उदाहृत एव। तस्मात् स्वरवर्णाद्यपराधपरिहाराय शिक्षाग्रन्थोऽपेक्षितः। नैतावदेव, किन्तु कल्पो-(आश्वलायन-कात्यायनापस्तम्ब-बोधायनादिसूत्रादिरूपो)प्यपेक्षितः, कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्रेति व्युत्पत्तेः।

यद्यपि—'दर्शपूर्णमासौ तु पूर्वं व्याख्यास्यामः' (आश्व० श्रौ० सू० १।१) इत्युपक्रान्तत्वात् 'अग्निमीळे', (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादिमन्त्राणां दर्शपूर्णमासयोरविनियुक्तत्वान्न मन्त्रक्रमानुरोधेनाश्वलायनप्रवृत्तिः, न वा ब्राह्मणक्रमेण तत्प्रवृत्तिः, 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालम्' (ऐ० ब्रा० १।१) इति ब्राह्मणे दीक्षणीयेष्टेः प्रक्रान्तत्वात्, तथापि विशेषविनियोगान्मन्त्राणां श्रुतिलिङ्गवाक्यादिप्रमाणान्युपजीव्य तत्प्रवृत्तिरिति वेदितव्यम्। मन्त्रकाण्डस्तु ब्रह्मयज्ञादिजपक्रमेण प्रवृत्तो न यागानुष्ठानक्रमेण। ब्रह्मयज्ञश्चैवं विहितः—'यत्स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम

करते समय यही बताया गया है। अकार आदि वर्ण कहे जाते हैं। इनका पाणिनि शिक्षा में स्पष्ट वर्णन है कि शिव के मत के अनुसार वर्णों की संख्या ६३ या ६४ है। प्राकृत अथवा संस्कृत भाषा के लिये भी स्वयं ब्रह्मा ने इनका उपदेश किया है। यहाँ स्वयंभू ब्रह्मा ने वर्णों का उपदेश किया है। चेतन देवता को न मानने वाला इनका अर्थ कैसे समझ सकता है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन प्रकार के स्वर भी पाणिनि शिक्षा में बताये गये हैं। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तीन मात्राएँ भी काल के नियम के अनुसार वहीं बताई गई हैं। बल शब्द से स्थान और प्रयत्न गृहीत होते हैं। पाणिनि शिक्षा में वर्णों के आठ स्थान और स्पृष्ट आदि प्रयत्न बताये गये हैं। साम शब्द से साम्य का बोध होता है। अतिद्रुत, अतिविलम्बित आदि गान के दोष होते हैं, इन दोषों से मुक्त और माधुर्य प्रभृति गुणों से युक्त उच्चारण का नाम साम्य है। पाणिनि शिक्षा में ही 'गीती शीघ्री' तथा 'उपांशु दष्टं०' इत्यादि श्लोकों से दोषों का और 'माधुर्यमक्षर०' इत्यादि से गुणों का वर्णन किया गया है। संहिता को सन्तान कहते हैं। 'वायवा याहि' यहाँ अवादेश और 'इन्द्राग्नी आगतम्' यहाँ प्रकृतिभाव संहिता अर्थात् सन्धि (सन्तान) के उदाहरण हैं। इनका विवेचन व्याकरण नामक अंग में होने से शिक्षा-ग्रन्थों में इसको छोड़ दिया गया है। सिखाये गये वर्ण, स्वर आदि के उच्चारण में गलती होने पर दोष ऊपर बता दिया गया है। इसलिये स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण के अपराध (दोष) से बचने के लिये शिक्षा नामक ग्रन्थ का अध्ययन आवश्यक है। इतना ही नहीं, इसके लिये आश्वलायन, कात्यायन, आपस्तम्ब, बोधायन प्रभृति के कल्प ग्रन्थों से भी सहायता लेनी पड़ती है। इनके ग्रन्थों को (कल्पसूत्रों को) कल्प इसलिये कहा जाता है, कि इनमें विविध याग-प्रयोगों का स्वरूप विस्तार से समझाया जाता है।

यद्यपि आश्वलायन श्रौतसूत्र के प्रारम्भ में दर्शपूर्णमास की व्याख्या की गई है और 'अग्निमीले' इत्यादि ऋग्वेद के प्रारम्भिक मन्त्र का दर्शपूर्णमास से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः यह मानना पड़ता है कि मन्त्र के क्रम के अनुसार आश्वलायन श्रौतसूत्र की प्रवृत्ति नहीं हुई और न उसकी प्रवृत्ति ऐतरेय ब्राह्मण के क्रम से ही हुई है, क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण में प्रारंभ में दीक्षणीय इष्टि का विधान है, दर्शपूर्णमास का नहीं, तो भी विशेष विनियोग के आधार पर मन्त्रों के श्रुति, लिंग, वाक्य आदि षड्विध प्रमाण के सहारे विभिन्न अर्थ कर उनकी सहायता से दर्शपूर्णमासपरक मन्त्रों की व्याख्या के रूप में श्रौतसूत्रों की प्रवृत्ति मानी जाती है। ऋग्वेदीय मन्त्रकाण्ड की प्रवृत्ति ब्रह्मयज्ञ के रूप में मानी जाती है, इसमें यागादि के अनुष्ठान का क्रम अभिप्रेत नहीं है। तैत्तिरीय आरण्यक में

वा तद् ब्रह्मयज्ञः' (तै० आ० २।१०)। सोऽयं ब्रह्मयज्ञो जपः 'अग्निमीळे' इत्याम्नायक्रमेणैवानुष्ठेयः। तथा सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वानि सामानि वाचः स्तोमे पारिप्लवं शंसन्ति' इति विधीयते। तथा 'आश्विने शस्यमाने सूर्यो नोदियादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात्' इति विधीयते। तथा 'रिच्यत इव वा एष प्रेव रिच्यते यो याजयति प्रतिगृह्य अनश्नन् त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत' (तै०आ० २।१६) इति प्रायश्चित्तरूपं वेदपारायणं विहितम्। 'इत्यादिषु कृत्स्नमन्त्रकाण्डविनियोगेषु सम्प्रदायपारम्पर्यागत एव क्रम आदरणीयः' इत्याश्वलायने मन्त्रकाण्डक्रमाभावेऽपि न विरोधः।

इषे त्वेत्यादियजुर्मन्त्रास्तु क्रत्वनुष्ठानक्रमेणैवाम्नाता इत्यापस्तम्बादयस्तेनैव क्रमेण प्रवृत्ताः। तत्र जपादिष्वपि स एव क्रमः। यद्यपि ब्राह्मणे दीक्षणीयेष्टिरुपक्रान्ता, तथापि तस्या दर्शपूर्णमासविकृतित्वेन तदपेक्षत्वादादौ दर्शपूर्णमासव्याख्यानं युक्तमेव। अतो मन्त्रविनियोगेन कल्पः क्रत्वनुष्ठानमुपकरोति। ननु 'प्र वो वाजा' (ऋ०सं० ३।२७।१) इत्यादीनां सामिधेनीनामृचामेव विनियोगं ब्रवीतु, 'नमः प्रवक्ते' (आश्व० श्रौ० सू० १।२) इत्यादयस्त्वनाम्नाताः कथं विनियुज्यन्ते तेनेति चेन्न, शाखान्तरसमाम्नातानां नानाब्राह्मणान्तरसिद्धस्य विनियोगानामपि गुणोपसंहारन्यायेन वक्तव्यत्वेनादोषात्। 'सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म' इति जैमिनिसूत्रात्।

व्याकरणमपि प्रकृतिप्रत्ययाद्युपदेशेन पदस्वरूपतदर्थनिश्चायकत्वेनोपयुज्यते। तथा चैन्द्रवायवग्रहब्राह्मणे 'वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोऽब्रवीत्। वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते'

ब्रह्मयज्ञ की व्याख्या यह की गई हैं कि ऋक्, यजुः अथवा सामवेद की एक भी ऋचा का पाठ (स्वाध्याय) किया जाय, तो वह ब्रह्मयज्ञ कहलाता है। यह ब्रह्मयज्ञ रूपी जप संहिता के क्रम के अनुसार ही किया जाता है। पारिप्लव स्तोम में सभी ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के मन्त्रों का पारायण किया जाता है। आश्विन शस्त्र में सूर्योदय से पहले पूरे दस मण्डल के ऋग्वेद के पारायण का विधान है। तैत्तिरीय आरण्यक में प्रायश्चित्त के रूप में भी वेद के स्वाध्याय का विधान है। इन सभी प्रसंगों में पूरी मन्त्र-संहिता का पारायण सम्प्रदाय परम्परा से प्राप्त क्रम से ही किया जा सकता है। इस तरह से विनियोग के भेद के आधार पर मन्त्र-संहिता के क्रम में और आश्वलायन श्रौतसूत्र के क्रम में भिन्नता रहने पर भी कोई विरोध नहीं उपस्थित होता।

'इषे त्वा' इत्यादि यजुर्वेद के मन्त्र तो दर्शपूर्णमास याग के क्रम से ही पढ़े गये हैं, अतः आपस्तम्ब प्रभृति श्रौतसूत्रों का आरम्भ उसी क्रम के अनुसार हुआ है। यहाँ ब्रह्मयज्ञ के पाठ का क्रम भी वही है। यद्यपि ब्राह्मण में प्रारम्भ में दीक्षणीय इष्टि का निरूपण किया गया है, किन्तु यह दर्शपूर्णमास याग की विकृति है। इसके लिये पहले दर्शपूर्णमास का निरूपण आवश्यक होने से पहले उसकी व्याख्या की गई है। इस तरह से दोनों ही प्रकारों में मन्त्रों का विनियोग बताने के कारण यज्ञीय अनुष्ठान में कल्पसूत्र सहायक होते हैं। यहाँ शंका उठती है कि आश्वलायन श्रौतसूत्र ऋग्वेदीय मन्त्रों का विनियोग बतावे, यहाँ तक तो बात उचित मालूम होती है, किन्तु ऋग्वेदसंहिता में अनिबद्ध 'नमः प्रवक्त्रे' प्रभृति मन्त्रों का विनियोग किस आधार पर बतावेगा ? किन्तु इसका समाधान यह है है कि मीमांसा के सिद्धान्त के अनुसार भिन्न भिन्न शाखाओं में वर्णित दर्शपूर्णमास प्रभृति याग भिन्न भिन्न न होकर एक ही माने जाते हैं। इसका स्वरूप इन नाना शाखाओं और नाना ब्राह्मणां में वर्णित विधि को समन्वित कर निर्धारित किया जाता है और इसका निर्णय गुणोपसंहार न्याय से किया जाता है, अर्थात् किसी शाखा में कोई एक कर्म प्रधान और अन्य गौण होते हैं, इतना ही उनमें अन्तर रहता है, अतः यह उचित ही है कि अपनी शाखा के प्रधान कर्म के वर्णन के साथ-साथ अन्य शाखा के गौण कर्मों का वर्णन करते समय उन उन मन्त्र-संहिताओं के मन्त्रों का भी प्रसंगवश विनियोग बताया जाय।

प्रकृति और प्रत्यय ज्ञान कराने में और पद के स्वरूप एवं उसके अर्थ का निश्चय कराने के कारण व्याकरण की भी वेद के साथ उपयोगिता जुड़ी है। जैसे कि इन्द्र और वायु देवता सम्बन्धी एक ही पात्र का ग्रहण क्यों किया जाता है, इस बात को 'वाग्वै पराची०' इस तैत्तिरीय श्रुति में समझाते समय कहा गया है कि 'अग्निमीळे' प्रभृति यह मन्त्रमय वाणी पहले समुद्र की ध्वनि के समान

(तै० सं० ६।४।७।३) इति। अयमभिप्रायः 'अग्निमीले' इत्यादिवाक् पूर्वस्मिन् काले पराची समुद्रादिध्वनिवदेकात्मिका सती अव्याकृता प्रकृतिः प्रत्ययः पदं वाक्यमित्यादिविभागकारिग्रन्थरहिता आसीत्। तदानीं देवैः प्रार्थित इन्द्र एकस्मिन्नेव पात्रे वायोः स्वस्य च सोमरसग्रहणरूपेण वरेण तुष्टस्तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययादिविभागं सर्वत्राकरोत्। तस्मादियं वाग् इदानीमपि पाणिन्यादिमहर्षिभिर्व्याकृता सर्वैः पठ्यते।

तस्यैतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्त्तिके प्रदर्शितः--'रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्'। स्पष्टीकृतं चैतन्महाभाष्यकृता—रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यति, वेदार्थं चाध्यवस्यति। ऊहः खल्वपि–न सर्वैर्लिङ्गैर्न सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा आम्नाताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति विपरिणमयितुम्। आगमः खल्वपि—ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। प्रधानं षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च वक्ता इन्द्रश्चाध्येता। दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः। अन्तं च न जगाम। (सामाजिकास्तु मनुष्यभिन्नानामिन्द्रबृहस्पत्यादीनां सत्तां नाङ्गीकुर्वन्ति। तद्रीत्या कथमिन्द्रबृहस्पत्योर्दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनमध्यापनं चेति त एव विजानन्तु)। अद्य तु पुनर्यदि परमायुर्भवति स वर्षशतं जीवति। तत्र कुतः प्रतिशब्दपाठेन सकलपदावगमः। कुतस्तरां प्रयोगेण। असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्—'स्थूल पृषतीमनड्वाहीमालभेत' तत्र न ज्ञायते स्थूलानि पृषन्ति यस्यां सा स्थूलपृषती, किं वा स्थूला चासौ पृषतीति स्थूलपृषती। तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति।

मिली हुई भी, एकाकार भी, प्रकृति और प्रत्यय का विभाग पहले नहीं था। इस अवस्था में देवताओं की प्रार्थना सुन कर इन्द्र ने एक ही पात्र में अपने लिये और वायु देवता के लिये सोमरस का ग्रहण करते समय उस अखण्ड वाणी को बीच में विच्छिन्न कर उसको प्रकृति और प्रत्यय के रूप में विभक्त कर दिया। इसीलिये आज भी इस वाणी को पाणिनि आदि के द्वारा बताये गये प्रकृति-प्रत्यय के विभाग से समझा जाता है।

इस व्याकरण के अध्ययन के विशेष प्रयोजनों का वर्णन वररुचि ने अपने 'रक्षोह०' इस वार्तिक में किया है। महाभाष्यकार पतंजलि ने इसका स्पष्टीकरण इस तरह से किया है कि वेदों की रक्षा के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिये। लोप, आगम, वर्ण-विकार आदि का जिसको ज्ञान है, वह ठीक तरह से वेद की रक्षा कर सकेगा और वेद का अर्थ भी जान सकेगा। ऊह भी व्याकरण के अध्ययन का एक प्रयोजन है। सभी लिंग और विभक्तियों में वेद मन्त्र नहीं पढ़े गये हैं। यज्ञ के अवसर पर इनमें लिङ्ग और विभक्ति का परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। व्याकरण से अनभिज्ञ व्यक्ति आवश्यकता के अनुसार मन्त्रों में लिङ्ग और विभक्ति के परिवर्तन के रूप में ऊह कहने में समर्थ नहीं हो सकता। अतः यह ऊह भी व्याकरण के अध्ययन का एक प्रयोजन है। आगम (शास्त्र) का कहना है कि ब्राह्मण को कोई प्रयोजन न रहने पर भी षडंग वेद का अध्ययन और उसके अर्थ का परिज्ञान होना चाहिये। छः अंगों में व्याकरण प्रधान है, अतः इस शास्त्रवचन के आधार पर भी व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है। लाघव के लिये भी व्याकरण पढ़ी जाती है। इस प्रसंग में एक कथा दी गई है कि वृहस्पति इन्द्र को एक हजार दिव्य वर्ष पर्यन्त शब्दों का उपदेश करते रहे, किन्तु उनका अन्त नहीं हुआ। यहाँ वृहस्पति जैसा वक्ता और इन्द्र जैसा श्रोता है और एक हजार दिव्य वर्ष का समय है। तो भी शब्दों का अन्त नहीं आया (आर्यसमाजी विद्वान् मनुष्यों से भिन्न इन्द्र, वृहस्पति प्रभृति देवताओं की सत्ता नहीं मानते। उसके मत के अनुसार एक हजार दिव्य वर्ष पर्यन्त यह अध्ययन-अध्यापन कार्य जैसे चला, इसका उत्तर वे ही दे सकते हैं)। आज यदि कोई अधिक से अधिक जीवित रहता है, तो वह सौ वर्ष तक जीवित रहेगा। एक एक शब्द को वह कब तक समझता रहेगा और उनका प्रयोग करना तो और भी कठिन कार्य होगा, अतः सरल तरीके से प्रकृति और प्रत्यय के विभाग द्वारा ही वह थोड़े समय में व्याकरण की सहायता से शब्दों को जान सकता है। असन्देह के लिये भी व्याकरण पढ़ना आवश्यक है। वेद में स्थूल पृषती का आलभन विहित है। स्थूल पृषती शब्द में कर्मधारय समास है या बहुव्रीहि ? इसका निर्णय अवैयाकरण नहीं कर सकता। व्याकरण पढ़ा-लिखा व्यक्ति ही यह निश्चय कर सकेगा कि यदि इसमें समास के अन्त में आने वाला उदात्त स्वर है, तो यहाँ कर्मधारय समास होगा और पूर्व पद प्रकृति का स्वर है,

यदि समासान्तोदात्तत्वं तदा कर्मधारयः, अथ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिरिति । अन्यानि च प्रयोजनान्युक्तानि तत्रैव । म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः, म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् । 'यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते । अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥' अविज्ञातमनर्थकं च माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् । अर्थज्ञानमन्तरा पाठमात्रेणाध्ययनेनानग्नौ शुष्कैध इव तदध्ययनं न प्रकाशते ।

'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥' (ऋ० सं० १।१६४।३९) ऋच ऋक्प्रधाना अपरविद्यात्मकाः साङ्गाश्चत्वारो वेदा अक्षरे अदृश्यादिगुणके क्षरणरहितेऽनश्वरे नित्ये व्याप्ते ब्रह्मणि निषेदुस्तत्रैव महातात्पर्यवन्तः, बुद्धिशुद्धिद्वारा कर्मादिपराणामपि तत्रैव पर्यवसानात् । 'वेदानुवचनेन''''विविदिषन्ति' (बृ० उ० ४।४।२२) इति श्रुतेः। कीदृशे परम उत्कृष्टे निरतिशये व्योमन् व्योमसदृशे व्यापकेऽसङ्गे च । यद्वा व्योमन् विशेषेण सर्वस्य रक्षके, स्वाध्यस्ते प्रपञ्चे सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेनाधिष्ठानभूतब्रह्मण एव रक्षकत्वात् । यस्मिन् ब्रह्मणि विश्वेदेवा अधिनिषेदुः निषीदन्ति । यो मर्त्यस्तादृशं देवादीनां स्वरूपतालाभास्पदं सकलसच्छास्त्रतात्पर्यगोचरं वस्तु न जानाति, स ऋचा पूर्वोक्तेन शब्दजालेन किं करिष्यति ? वेदनसाधनेन वेदेन वेद्यमविदित्वा किं साधयति ? य इत् य एव तत् तत्त्वं विदुः, त इमे ज्ञातारः समासते सम्यक् तिष्ठन्ति, अपुनरावृत्त्या स्वस्वरूपेऽवतिष्ठन्ते । यद्वा गवामनयनादिसहस्रसंवत्सरसत्रपर्यन्तानि सहोपयन्ति । सहार्थे संशब्दः । सत्रादधिकानां यागानामभावात्तेषामपि फलं ते प्राप्नुवन्ति । 'यथाकृताय विजितायाधरेयाः संयन्ति', 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' (भ० गी० ४।३३) इत्यादि वचनेभ्यः ।

यत्तु—'विद्वांसो मनुष्यादयो यदाधारेण निषण्णास्तद् ब्रह्म विज्ञेयम्' इति, तत्तुच्छम्, तदाधारत्वेन देवपदो-

तो बहुव्रीहि होगा। इसी तरह के दूसरे भी बहुत से प्रयोजन व्याकरण अध्ययन के वहाँ बताये गये हैं। अपशब्द का उच्चारण करना एक प्रकार का म्लेच्छपन है। इससे छुटकारा पाने के लिये भी व्याकरण पढ़ना चाहिये। अर्थ को बिना समझे मन्त्रों का केवल पाठ करने से वह उसी तरह से सफल नहीं होता, जैसा कि बुझी हुई आग में सूखी लकड़ी लगाने पर भी वह जलती नहीं। इस दोष की निवृत्ति के लिये भी व्याकरण का पढ़ना आवश्यक हो जाता है।

इस प्रसंग में स्वामी दयानन्द ने 'ऋचो अक्षरे०' प्रभृति मन्त्रों को उद्धृत किया है। इनमें से प्रथम मन्त्र का अर्थ यह है कि ऋक् प्रभृति अपर विद्या स्वरूप चारों वेद अपने छः अंगों के साथ अक्षर, अदृश्य, क्षरण रहित गुण वाले, अविनश्वर, नित्य, व्यापक ब्रह्म को ही वास्तविक रूप से बताते हैं। कर्म के प्रतिपादक मन्त्रों का भी बुद्धि की शुद्धि के द्वारा इसी ब्रह्म में वास्तविक तात्पर्य है। 'वेदानुवचनेन०' प्रभृति श्रुति इसमें प्रमाण है। यह ब्रह्म परम उत्कृष्ट है, आकाश के समान निरतिशय व्यापक और असंग है। अथवा वह व्योम इसलिये कहलाता है कि वह विशेष रूप से सबका रक्षक है। अपने में अध्यस्त प्रपंच को सत्ता और स्फूर्ति देने के कारण अधिष्ठानभूत ब्रह्म ही सबका रक्षक है। जिस ब्रह्म में सभी देवता निवास करते हैं, उस ब्रह्म को जो मनुष्य नहीं जान पाता कि वही सभी देवताओं को अपने अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित करता है और समस्त शास्त्रों का परम तात्पर्य उसी को समझने के लिये है, वह पूर्वोक्त ऋग्वेद आदि के शब्द जाल को पढ़कर भी क्या करेगा ? वेद से जिसका ज्ञान होना चाहिये, उसको यदि वह जान नहीं पाता, तो उसका यह सारा परिश्रम व्यर्थ है। इसके विपरीत जो मनुष्य इस परम तत्त्व को जान लेते हैं, वे अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। फिर उन्हें पुनरावृत्ति, आवागमन के चक्र में नहीं पड़ना पड़ता। अथवा गवानयन प्रभृति शुभ कर्मों के अनुष्ठान से हजारों वर्षों तक वे साथ साथ रहते हैं। सं शब्द यहाँ साथ के अर्थ में है। सत्र से अधिक बड़े यज्ञ नहीं होते। इनका फल भी वे प्राप्त करते हैं। छान्दोग्य श्रुति और गीता वचन इसमें प्रमाण है कि ज्ञान की स्थिति में कर्म की सारी अवस्थाएँ समाप्त हो जाती हैं।

'जिसमें सम्पूर्ण विद्वान् मनुष्य आदि स्थित है, वह परमेश्वर कहलाता है' (पृ० ३६१) यह व्याख्या उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर इस मंत्र में 'देव' पद को रखना व्यर्थ हो जायगा। 'सबका उपकार करने वाली ईश्वर की आज्ञा को जो ठीक

पादानवैयर्थ्यात्। 'सर्वोपकारकरणार्थमीश्वराज्ञायां यथावन्न वर्तन्ते' इत्यादिकमपि निर्मूलम्। धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलमित्यपि निर्मूलम्, अक्षरबाह्यत्वात्।

वस्तुतस्तु धर्मज्ञानेनापि वेदाध्ययनस्य सार्थक्यं भवत्येव, स्वर्गब्रह्मलोकादिप्राप्ति-बुद्धिशुद्धिक्रमेण परमात्मप्राप्तिहेतुत्वात्, वेदाध्ययनस्य मुख्यं फलं ब्रह्मज्ञानमित्यर्थ एवास्या ऋच उदाहर्तव्यत्वात्। तस्मादस्मिन् प्रसङ्गे—'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥', 'यद् गृहीतमविज्ञातम्' इति मन्त्रद्वयमेव सङ्गतम्। योऽर्थज्ञ इत्यर्धेन वेदार्थज्ञानं प्रशस्यते, इतरेणार्धत्रयेण ज्ञानराहित्यं निन्द्यते। यो वेदार्थं जानाति सोऽयमिह लोके सकलं श्रेयः प्राप्नोति, तथा तेनैव पापक्षये सति मृतः स्वर्गमवाप्नोति। तदेतद् ऐहिकामुष्मिकं फलं तैत्तिरीया आमनन्ति। 'तदेषाभ्युक्ता—ये अर्वाङुत वा पुराणे वेदं विद्वांसमभितो वदन्त्यादित्यमेव ते परिवदन्ति। सर्वे अग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसमिति यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति। तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे दिवे नमस्कुर्यान्नाश्लीलं कीर्तयेदेता एव देवताः प्रीणाति।' इति। नहि विद्वांसः सर्वे मनुष्या वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति। 'विद्वांसो मनुष्या एव देवाः' दयानन्दीयं मतमत एव नादर्तव्यम्। योऽर्थाभिज्ञः पुरुषस्तं प्राचीनं व्यासादिकमाधुनिकं च ये विद्याधनकुलादिमदोपेता दूषयन्ति, ते आदित्यमेव प्रथमं दूषयन्ति। आदित्यापेक्षया द्वितीयमग्निं तृतीयं हंसं वायुं (हन्ति सदागच्छतीति हंसो वायुः) दूषयन्ति। अतस्तान् दृष्ट्वा प्रतिदिनं नमस्कुर्यान्न तु तत्र विद्यमानमपि दोषं कीर्तयेत्। यस्तु वेदमधीत्याप्यर्थं न जानाति सोऽयं भारमेव हरति। छिन्नशाखं शुष्कं तरुमूलं स्थाणुः। स च यथा इन्धनार्थमेवोपयुज्यते, न पुष्पफलार्थम्; तथा केवलपाठकस्य व्रात्यत्वं न भवतीत्येव फलम्, नाग्निहोत्राद्यनुष्ठानं स्वर्गादिर्वा फलं भवति। किलेति लोकप्रसिद्धिरुच्यते। लोके पाठकापेक्षया विदुषि सत्काराधिक्यदर्शनात्। अर्थज्ञानरहितं पाठमात्रं न

तरह से नहीं समझते हैं' ऐसा अर्थ करना भी निराधार है। इसी तरह से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी फल की चर्चा भी बिना प्रसंग की यहाँ उठा दी गई है।

वास्तव में तो धर्म के ज्ञान से भी वेदाध्ययन की सार्थकता हो जाती है, क्योंकि वह धर्म स्वर्ग और ब्रह्मलोक की प्राप्ति के क्रम से और बुद्धि की शुद्धि के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का कारण बनता है। वेदाध्ययन का मुख्य फल ब्रह्मज्ञान ही है। इस मन्त्र का मुख्य अर्थ यही मानना पड़ेगा। इसी प्रसंग में 'स्थाणुरयं' और 'यद् गृहीत०' इन दो मन्त्रों की ही संगति बैठती है। इनमें से 'योऽर्थज्ञः' यह मन्त्रार्थ वेदार्थ ज्ञान की प्रशंसा करता है और बाकी तीन पंक्तियाँ अर्थज्ञान से रहित की निन्दा करती है। जो मनुष्य वेद के अर्थ को जानता है, वह इस लोक में सकल कल्याण को प्राप्त करता है और उसी से पापों का क्षय हो जाने पर मरने के उपरान्त स्वर्ग को प्राप्त करता है। इसी तरह के ऐहिक (इस लोक के) और आमुष्मिक (परलोक के) फल की प्राप्ति की बात 'तदेषाऽभ्युक्ता' इत्यादि वाक्य में तैत्तिरीय शाखा के अध्येता कहते हैं। इसके अनुसार वेद के जानने वाले ब्राह्मण के शरीर में सभी देवताओं का निवास माना जाता है। देवता शब्द का अर्थ यदि विद्वान् मनुष्य किया जाय, तो वे किसी वेदों के वेत्ता ब्राह्मण में रहते देखे नहीं जाते। इसलिये दयानन्द का यह अर्थ आदरणीय नहीं हो सकता। जो पुरुष वेदों के अर्थ को जानने वाला है, वह प्राचीन व्यास प्रभृति हो या आधुनिक, उस वेदार्थवित् की जो व्यक्ति विद्या, धन, कुल आदि के मद में पड़कर निन्दा करता है, वह पहले आदित्य (सूर्य) को दूषित करता है, दूसरे अग्नि और तीसरे हंस अर्थात् सदा गतिशील वायु को भी दूषित करता है। अतः मनुष्यों को चाहिये कि वे वेदार्थवेत्ता ब्राह्मण की कभी निन्दा न करे, उनमें विद्यमान दोषों की भी चर्चा न कर उनको सदा नमस्कार करे। जो व्यक्ति वेदों को पढ़ कर भी उनका अर्थ नहीं जानता, वह केवल बोझा ढोने वाला है। जिसकी शाखाएँ सूख गई हैं, पेड़ के ऐसे ठूंठ को स्थाणु कहते हैं। उसका उपयोग जैसे केवल इंधन के लिये हो सकता है, उससे फल और पुष्प की कोई आशा नहीं रखी जा सकती, उसी तरह से वेदपाठी का इतना ही फल है कि वह व्रात्य नहीं होता, वह अग्निहोत्र के अनुष्ठान में अथवा स्वर्ग आदि की प्राप्ति में समर्थ नहीं हो सकता। किल शब्द लोकप्रसिद्धि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। लोक में यह देखा गया है कि वेदपाठी की अपेक्षा उनके अर्थ को जानने वाला का आदर अधिक होता है। अर्थज्ञान के बिना केवल पाठ करने पर, बार बार उच्चारण

कदाचिज्ज्वलति स्वार्थं प्रकाशयति पुनः पुनरुच्चार्यमाणमपि, यथाग्निरहिते प्रदेशे प्रक्षिप्तं शुष्ककाष्ठं न ज्वलति तद्वत् । अलौकिकं पुरुषार्थोपायं वेत्यनेनेति वेद इति मुख्यवेदत्वसिद्धये तदर्थोऽपि ज्ञातव्यः । यत्तु—'विज्ञायापि धर्मं नाचरति स मनुष्यः शुष्ककाष्ठवद् भवति' (पृ० ३६०) इति तदशुद्धम्, मूले तादृशार्थबोधकपदाभावात् ।

'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् । उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासा ॥' (ऋ० सं० १०।७१।४) । अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचमपि च शृण्वन्न शृणोत्येनाम् । यः पुमानर्थं न वेत्ति तं प्रत्याह—एकः पुरुषः पाठमात्रपरायणो वेदरूपां वाचं पश्यन्नपि न सम्यक् पश्यति' एकवचनबहुवचनादिविवेकाभावे पाठशुद्धेरपि कर्तुमशक्यत्वात् । 'वायव्यं श्वेतमालभेत···वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति, आदित्यानेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, त एवैनं भूतिं गमयन्ति' (तै० सं० २।१।१।१) इति नाव्युत्पन्नो ज्ञातुं शक्नोति । अन्यः कश्चिदर्थज्ञानाय व्याकरणाद्यङ्गानि शृण्वन्नपि मीमांसाराहित्यादेनां वेदरूपां वाचं सम्यङ् न शृणोति । 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्' (तै० सं० २।३।१२।१) इत्यत्र व्याकरणमात्रेण प्रतिग्रहीतुरिष्टिः प्रतीयते । मीमांसायां तु 'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्' इत्युपक्रमानुरोधेन प्रतिग्राहयितुरिष्टिर्निर्धारिता (मी० सू० ३।४।३०)। उभयविधमप्यविद्वांसमाह—अप्येकस्मै तन्वं विसस्रे स्वमात्मानं विवृणुते स्वार्थं प्रकाशयति । अपिशब्दपर्याय उतशब्दः । पूर्वोक्तानभिज्ञवैलक्षण्यद्योतनार्थः । यो व्याकरणाद्यङ्गैः स्वशब्दार्थं मीमांसया तात्पर्यं शोधयितुं प्रवृत्तः, तस्मै एकस्मै वेदः स्वकीयां तनुं विसस्रे । तत्रोपमा—यथोशतो कामयमाना जाया सुवासा पत्ये तन्वं विसस्रे । यथा स पतिरेनां जायां साकल्येनादरयुक्तः पश्यति, तया चोक्तमर्थं हितबुद्ध्या शृणोति, तथायं चतुर्दशविद्यास्थानपरिशीलनोपेतो वेदार्थरहस्यं सम्यक् शृणोति हितबुद्ध्या स्वीकरोति । यत्तु—'मनुष्योऽर्थज्ञानपूर्वकं वेदाध्ययनं करोति, तस्मै वाक् तन्वं विविधतया प्रकाशयति'

करने पर भी वह उसके अर्थ को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं हो सकता, जैसा कि अग्नि से रहित स्थान में सूखी लकड़ी डाल देने पर भी वह जलती नहीं । वेद पद का अर्थ यह है कि इसकी सहायता से अलौकिक पुरुषार्थ को भी मनुष्य जान लेता है । इसके लिये वेद का अर्थज्ञान आवश्यक है, तभी वह वेद की सहायता से उसको जान सकता है । 'अर्थ को जानकर भी जो मनुष्य धर्म का आचरण नहीं करता' यह अर्थ तो गलत है, क्योंकि मूल में इस अर्थ को बनाने वाला कोई शब्द नहीं हैं ।

'उत त्वः' इत्यादि मन्त्र का अर्थ यह है—एक व्यक्ति देखते हुए भी नहीं देखता और इस वाणी को सुनते हुए भी नहीं सुनता । जो पुरुष वेद के अर्थ को नहीं जानता, उसके लिये कहा जाता है कि वह पुरुष जो केवल वेद के पाठ में लगा है, वह वेदरूपी वाणी को देखते हुए भी नहीं देखता, क्योंकि एक वचन, बहुवचन का ज्ञान न होने पर वह शुद्ध पाठ भी नहीं कर सकता । 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इत्यादि वेद वाक्यों का अर्थ अव्युत्पन्न व्यक्ति नहीं कर सकता । दूसरा व्यक्ति अर्थज्ञान में सहायता के लिये व्याकरण आदि अंगों को सुनता हुआ भी मीमांसा आदि शास्त्रों का ज्ञान न होने पर इस वेदरूपी वाणी को ठीक तरह से नहीं सुन पाता । 'यावतोऽश्वान्' इस वेदवाक्य का व्याकरण के अनुसार तो यह अर्थ प्रतीत होता है कि प्रतिग्रहीता के लिये इष्टि का विधान है, किन्तु मीमांसा के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि क्रम के अनुसार यहाँ प्रतिगाहयिता के लिये यह इष्टि निर्धारित की गई है । इन दोनों के विपरीत जो व्यक्ति अर्थ में सहायक सभी शास्त्रों का ज्ञाता है, उसके प्रति यह वेदवाणी अपने अर्थ को पूरी तरह से प्रकाशित कर देती हैं । यहाँ उत शब्द अपि (भी) के अर्थ में प्रयुक्त है । यह पूर्वोक्त दोनों प्रकार की अनभिज्ञता से विलक्षणता का द्योतक है । जो व्यक्ति व्याकरण प्रभृति अंगों की सहायता से शब्दों के अर्थ का और मीमांसा की सहायता से वेदों के तात्पर्य का शोधन करने में लगा है, उस व्यक्ति के संमुख वेद अपने स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रकट कर देता है । इस विषय में स्त्री की उपमा दी जाती है कि जैसे सजीसंवरी स्त्री कामना करने पर अपने पति को अपना शरीर सौंप देती है । जैसे उसका पति अपनी पत्नी को आदरपूर्वक देखता है और उसकी बात को हितबुद्धि से सुनता है, उसी तरह से यह विद्वान् मनुष्य भी चौदह विद्याओं के अभ्यास में आदरपूर्वक लगा रहता है और वेदार्थ के रहस्य को भलीभांति जान कर हितबुद्धि से उसे स्वीकार करता है । 'जो मनुष्य शब्द-अर्थ सम्बन्ध तथा विद्या के प्रयोजन को यथावत् जान लेता है, ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष को विद्या के स्वरूप के ज्ञान से परमानन्द रूप फल भी मिलता है' (पृ० ३६२) यह

(पृ० ३६०) इत्यादिकम्। तत्तु यत्किञ्चित्, वाक्पदस्य विद्यार्थत्वे मानाभावात्। अर्थज्ञानातिरिक्तस्य प्रकाशस्यानपेक्षितत्वाच्च।

'उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु। अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम् ॥' (ऋ० सं० १०।७१।४)। पूर्वोक्तार्थस्यैव भूयसे निर्वचनायेयमृक्। अपि चैकं चतुर्दशविद्यास्थानकुशलं पुरुषं वेदरूपाया वाचः सख्ये स्थित्वा स्थैर्येण वेदोक्तार्थामृतपानयुक्तमाहुस्तज्ज्ञाः। 'सखिविदं सखायं' (तै० आ० २।१५) इति मन्त्रे वेदस्य सखित्वमुक्तम्। यद्वा देवानां सख्ये स्थित्वाऽतिशयेन पीतामृतमाहुः। वाचामिना ईश्वराः सभासु प्रगल्भा वा वाजिनास्तेषु मध्येऽप्येनं वेदार्थकुशलं न हिन्वन्ति नैनं केऽपि पर्यनुयोक्तुं प्रभवन्ति, तेन सह विवदितुमसमर्थत्वात्। यस्त्वन्यः पाठमात्रपरः पुष्पफलरहितां वाचं शुश्रुवान् भवति, धर्मस्य ज्ञानं पुष्पम्, ब्रह्मणो ज्ञानं फलम्। यथा पुष्पं फलस्योत्पादकं भवति, तथैव वेदानुवचनादिधर्मज्ञानमनुष्ठानद्वारा फलात्मकब्रह्मज्ञानेच्छामुत्पादयति, 'तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति' इति श्रुतेः। यथा फलं तृप्तिहेतुस्तथा ब्रह्मज्ञानं कृतकृत्यत्वहेतुः। तादृशपुष्पफलरहितो वेदपाठकोऽधेन्वा मायया सह चरति। नवप्रसूतिका क्षीरदोग्ध्री गौः प्रीतिहेतुत्वाद् धिनोतीति धेनुरुच्यते। पाठमात्रपरं प्रति वेदरूपा वाग् धर्मज्ञानरूपं क्षीरं न दोग्धीत्यधेनुरुच्यते। अत एवासौ माया कपटरूपा, ऐन्द्रजालिकनिर्मितगोसदृशरूपत्वात्। तया सह चरन्नयं परमपुरुषार्थं न लभते। यच्च स्तूयते तद्विधीयत इति न्यायेन सार्थज्ञानमध्ययनं विधीयते। पूर्वमप्येषा व्याख्याता सामाजिकपक्षनिराकरणप्रसङ्गेन।

यत्तु—'सख्ये यथा सर्वेषां प्राणिनां मित्रभावकर्मणि उत त्वमन्यमनूचानं पूर्णविद्यायुक्तं स्थिरपीतं धर्मानुष्ठानेश्वरप्राप्तिरूपं मोक्षफलं पीतं प्राप्तं येन तं विद्वांसं परमसुखप्रदं मित्रं प्राहुः' (पृ० ३६०) इति, तदतीव

अर्थ तो गलत है, क्योंकि वाक् पद का अर्थ विद्या करने में कोई प्रमाण नहीं है। अर्थज्ञान के अतिरिक्त विद्या का कोई प्रकाश यहाँ अपेक्षित भी नहीं है।

'उत त्वं सख्ये०' यह ऋचा पूर्वोक्त अर्थ को ही फिर से समझाने के लिये कही गई है कि चतुर्दश विद्याओं में प्रवीण पुरुष को वेदरूपी वाणी के साथ मित्रता रखते हुए स्थिरता के साथ वेदोक्त अमृत के पान में निरत माना जाता है। 'सखिविदं सखायम्' इस मन्त्र में वेद मन्त्र को सखा बताया गया है। अथवा इसका अर्थ यह भी किया जा सकता है कि देवताओं से मित्रता करके वह छक कर अमृतपान करने वाला कहा जाता है। सभा, शास्त्रार्थ आदि में प्रगल्भ व्यक्तियों के बीच में भी कोई इस वेदार्थकुशल व्यक्ति को पराजित नहीं कर सकते, क्योंकि वे लोग इसके साथ विवाद करने में असमर्थ सिद्ध हो जाते हैं। जो व्यक्ति केवल वेद का पाठ ही करता रह जाता है, वह फल और पुष्प से रहित इस वाणी की सेवा करता है। धर्म के ज्ञान को पुष्प और ब्रह्म के ज्ञान को फल कहा जाता है। केवल वेदपाठी को इन दोनों का ज्ञान नहीं हो पाता। जैसे पुष्प से फल उत्पन्न होता है, उसी तरह से वेदानुवचन आदि धर्म का ज्ञान अनुष्ठान के माध्यम से फलस्वरूपिणी ब्रह्मज्ञान की इच्छा को उत्पन्न करने वाला है। 'तमेतं' इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति इसमें प्रमाण है। जैसे फल के खाने से तृप्ति होती है, उसी तरह से ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसको कुछ करना नहीं रहता। इस तरह के फल और पुष्प से रहित वेदपाठी केवल मायाजाल में पड़ा रहता है। नवप्रसूता दूध देने वाली गाय को धेनु कहते हैं। केवल वेदपाठी व्यक्ति को वेदरूप वाणी धर्म-ज्ञान रूप दूध न देने के कारण अधेनु बन जाती है। इसीलिये वह मायामय, कपटरूप, ऐन्द्रजालिक (जादूगर) की बनाई गाय के समान हो जाती है। इसका साथ करने पर वह कभी परम पुरुषार्थ को नहीं प्राप्त कर सकता। जिसकी स्तुति की जाती है, उसी का विधान किया जाता है, इस न्याय के अनुसार अर्थज्ञान के साथ वेदाध्ययन की स्तुति होने से उसीकी विधि मानी जाती है। इस मन्त्र की व्याख्या पहले भी आर्यसमाजियों के मत का खण्डन करते समय की जा चुकी है।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ करते हुए लिखा है—'सब मनुष्यों को उचित है कि विद्वानों के साथ प्रीति करें, अर्थात् जैसे सम्पूर्ण मनुष्यों के साथ मैत्री करने योग्य मनुष्य को सब लोग सुख देते हैं, वैसे ही तू भी जो वेदादि विद्या और विज्ञानयुक्त पुरुष है, उसको अच्छी प्रकार सुख दे कि जिससे तुझे विद्यारूप लाभ सदा होता रहे। विद्वान् नाम उसका है, जो कि अर्थ सहित विद्या

मन्दम्, वेदार्थप्रशंसासम्बद्धत्वात्। सर्वेषां प्राणिनां सख्ये स्थितेर्वेदार्थज्ञानं प्रत्यहेतुत्वात्। परमसुखप्रदं मित्रमित्यपि मूलार्थासम्बद्धमेव। स्थिरशब्दस्यार्थस्तु नोक्तः। धर्मानुष्ठानमन्यद् ईश्वरप्राप्तिरूपं फलमन्यत्। तयोः कथं पेयत्वम्। पीतमित्यस्य प्राप्तमिति च कथमर्थः? ईदृशं विद्वांसं न केऽपि हिंसन्ति, तस्य सर्वप्रियकारकत्वात्। अनेनापि न वेदविद्याप्रागल्भ्यं व्यज्यते। अन्यदपि सर्वं मूलाक्षरासंस्पर्शि कपोलकल्पितं यत्किञ्चिदेव। निरुक्तविरुद्धश्चायमर्थः। यास्काचार्यस्तु 'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय' (नि० १।१९) इति पूर्वोक्तस्य प्रकृतस्य ज्ञानप्रशंसाख्यस्यार्थस्य फलाभिधानद्वारा भूयसे निर्वचनायोत्तरोदाहृतेत्याह। तत्रैव च—'अप्येकं वाक्सख्ये स्थिरपीतमाहू रममाणं विपीतार्थं गृहीतार्थामृतमित्येवार्थः। यद्वा—देवसख्ये देवानां समानाख्यानतायां देवसायुज्ये यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्तादात्म्यमनुभवतोति' (नि० १।१३)। देवसख्ये रमणीये स्थाने यस्मिन् देवानां सखिभावस्तस्मिन् देवसख्ये रमणीये देवलोके स्थिरमविचालिनं रममाणं पीतार्थम् आपोतार्थं गृहीतार्थमेनमाहुः। विज्ञातार्थं यं नाप्नुवन्ति वाग्ज्ञेयेषु बलवत्स्वपि वाजिनेषु वाग्ज्ञेयेष्वर्थेषु बलवत्स्वपि उन्नेयेषु समुद्रपिहितरत्नोपमेषु देवतापरिज्ञानादिषु तं वागर्थज्ञं न हिन्वन्ति न केऽपि तमनुगन्तुं शक्नुवन्ति, स हि तान् व्याकर्तुं शक्नोति, नेतरे मन्दबुद्धयो बहवोऽपि समागताः शक्नुवन्ति तानर्थान् व्याकर्तुमिति दुर्गाचार्योऽपि।

यदप्युक्तम्—'यो ह्यविद्वान् अपुष्पां कर्मोपासनानुष्ठानाचारविद्यारहितां अफलां धर्मेश्वरविज्ञानाचारविरहां शुश्रुवान् श्रुतवान् तयार्थज्ञानसुशिक्षारहितया मायया कपटयुक्त्या वाचास्मिल्लोके चरति नैव स किञ्चित् प्राप्नोति' (पृ० ३६१) इति, तदपि यत्किञ्चिदेव, कर्मानुष्ठानाचारविद्याधर्मेश्वरविज्ञानाचारविद्ययोः पुष्पफलभावस्यानिरूपणात्। मायापदेन कपटयुक्ता वाक् कथमुच्यते, किं तत्र मूलमित्यस्य वक्तव्यत्वात्, निरुक्तविरुद्धत्वाच्च। निरुक्ते तु

को पढ़ कर वैसा ही आचरण करें, जिससे कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और परमेश्वर की प्राप्ति यथावत् हो सके। इसी को 'स्थिरपीत' कहते हैं। ऐसा जो विद्वान् है, वह संसार को सुख देने वाला होता है' (पृ० ३६२), किन्तु यह अर्थ एक दम गलत है। इस मन्त्र में वेदार्थ की प्रशंसा की गई है। सभी प्राणियों से मित्रता रखने से वेदार्थ ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है। 'परम सुख देने वाला मित्र' इस अर्थ का भी मूल पद से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्थिर शब्द का अर्थ यहाँ बताया ही नहीं गया। धर्म का अनुष्ठान करना एक बात है और ईश्वर की प्राप्ति दूसरी बात। इसको किया कैसे जायगा? पीत शब्द का अर्थ प्राप्त कैसे हो सकता है? ऐसे विद्वान् को कोई दुःख नहीं पहुँचाता, क्योंकि वह सबका प्रिय करने वाला है, इस बात से भी वेद विद्या का महत्त्व नहीं प्रकट होता। इसी तरह की दूसरी बातें भी मूल अक्षरों से बहुत दूर, कपोलकल्पित और भ्रान्त हैं। यह अर्थ निरुक्त के भी विपरीत पड़ता है। यास्काचार्य के 'तस्योत्तरा०' इत्यादि कथन का अभिप्राय यह है कि प्रकृत मन्त्र में अर्थज्ञान की जो प्रशंसा की गई है, इसी बात को पुनः पुष्ट करने के लिये आगे का मन्त्र पढ़ा गया है, क्योंकि इसमें अर्थज्ञान का फल भी बताया गया है। निरुक्तकार पुनः आगे लिखते हैं कि उस रमणीय देवलोक में, जहाँ कि उसकी देवताओं के साथ मित्रता होती है, वह वेदार्थज्ञ विद्वान् अविचल रूप से उन देवताओं के साथ आनन्द मनाता है। समुद्र में छिपे रत्नों के समान अत्यन्त छिपे हुए अर्थों को भी वह विद्वान् समझ लेता है, उसकी बुद्धि कहीं कुण्ठित नहीं होती, क्योंकि इस तरह के रहस्यमय देवता विज्ञान को भी वह सरलता से समझ लेता है, जिसको कि मन्द बुद्धि वाले मनुष्य कभी नहीं समझ पाते। 'अप्येकं वाक्सख्ये०' इत्यादि निरुक्त वाक्य की दुर्गाचार्य ने इस तरह से विस्तृत व्याख्या की है। इस व्याख्या का भी स्वामी दयानन्द की व्याख्या से कोई मेल नहीं मिलता।

'जो कोई अविद्या रूप अर्थात् अर्थ और अभिप्राय रहित वाणी को सुनता और कहता है, उसको कभी कुछ भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु शोकरूप शत्रु उसको सब दिन दुःख ही देते रहते हैं, क्योंकि विद्याहीन होने से वह उन शत्रुओं को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता' (पृ० ३६३)। यह व्याख्या भी गलत है, क्योंकि कर्मानुष्ठान, आचार विद्या, धर्म और ईश्वर का विज्ञान तथा आचार विद्या का कहीं भी परस्पर पुष्प और फलभाव वर्णित नहीं है। माया पद से कपट भरी वाणी कही जाती है, इसमें भी प्रमाण की आवश्यकता है और यह अर्थ निरुक्त की व्याख्या के स्पष्ट विपरीत है। निरुक्त में माया पद का अर्थ वाणी का प्रतिरूप किया है।

(१।२० इत्यत्र) 'मायया वाक्प्रतिरूपया' इत्युक्तम् । सा च न कपटयुक्ता वाक्, किन्तु वाक्प्रतिरूपा मायाविनिर्मिता मायामयी गौरिव मायामयी वाग्रूपा, तया चरन् न पुरुषार्थं लभत इत्यर्थः । वाचः पुष्पफलमाह—'याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा' (नि० १।२०)· इति, तत्रैव पुष्पफलव्याख्यानमपि कृतम् । विवृतं च दुर्गाचार्येण—यज्ञपरिज्ञानं याज्ञम्, देवतापरिज्ञानं दैवतम् । यदाभ्युदयलक्षणो धर्मोऽभिप्रेयते तदा याज्ञं पुष्पं दैवतं फलम्, पूर्वं हि पुष्पं फलार्थं भवति । याज्ञमपि पूर्वं तन्मते देवतार्थम् । दैवतं देवतापरिज्ञानतद्भावप्राप्तिर्यज्ञफलं भवतीति प्रसिद्धमेव । सर्वो मन्त्रब्राह्मणराशिर्निश्रेयसपरश्चेदभिप्रेयते तदा याज्ञदैवते पुष्परूपे एव । दैवते हि याज्ञमन्तर्भूतमेव, तदर्थत्वात् । अधिदैवतमपि सर्वं कार्यकारणाधिगमद्वारेणाध्यात्ममेव सम्पादयति मुमुक्षुः, तदा स आत्मयाज्येव भवति । तस्माद्दैवतं पुष्पमध्यात्मं फलं भवति । तस्मान्निरुक्तादिविरुद्धमेव दयानन्दीयं व्याख्यानम् । वस्तुतस्तु 'किञ्चित् पुष्पफलेति वा' (नि० १।२०) इति रीत्या अर्थज्ञानहीनस्यापि किञ्चित् पुष्पं फलं च भवत्येव । तस्मादल्पफला अल्पपुष्पा च भवति । अस्ति ह्यध्ययनमात्रेऽपि किञ्चिदल्पं फलम् । नापि परिश्रमो व्यर्थं इति भाष्यकाराभिप्रायः ।

'यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले । सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥' एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । नह्यज्ञानं शरणं भवति । नह्यजानन् ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत् सोऽपि मन्ये पतित एव स्यात् । यथा कूपखानको रजोभिः सृज्यते खननकाले, तथापि तदुद्भूतजलेन तत्प्रक्षालयति, तथैव वाग्योगविद् सम्यक्शब्दज्ञानजनितपुण्येनापशब्दज्ञानजनितमधर्मं प्रक्षालयति । एवं प्रयाजाः सविभक्तिकाः कर्तव्या इति

यह वाणी छल-कपट वाली नहीं है, किन्तु वाणी का प्रतिरूप है । जादू से बनाई गई जादू की गाय की तरह इस तरह की वाणी भी जादू की बनाई हुई सी रहती है । जैसे जादू की गाय दूध नहीं देती, उसी तरह से बिना अर्थज्ञान के मन्त्रोच्चार द्वारा खड़ी की गई वाणी स्वर्ग आदि फल को देने में समर्थ नहीं हो पाती । वाणी के पुष्प और फल निरुक्त में बताये गये हैं कि यज्ञ और देवता अथवा देवता और अध्यात्म ज्ञान, ये ही वाणी के पुष्प और फल हैं । निरुक्त में इनकी व्याख्या भी की गई है । उसका स्पष्टीकरण दुर्गाचार्य ने इस तरह से किया है—यज्ञ का परिज्ञान याज्ञ और देवता का परिज्ञान दैवत कहलाता है । जब अभ्युदय लक्षण वाला धर्म व्यक्ति को अभिप्रेत रहता है, जब यज्ञसम्बन्धी ज्ञान पुष्पस्थानीय और देवतासम्बन्धी ज्ञान फलस्थानीय रहता है । पुष्प पहले होता है बाद में फल, यज्ञीय अनुष्ठान से देवताभाव की प्राप्ति होती है, प्रथम यज्ञ का यही तात्पर्य है । मन्त्र और ब्राह्मणात्मक सारे वेद का विनियोग यदि निःश्रेयस (मोक्ष) के लिये किया जाता है, तब यज्ञीय और देवता सम्बन्धी ज्ञान पुष्पस्थानीय हो जायंगे । दैवत कर्म में यज्ञ का अन्तर्भाव हो ही जाता है, क्योंकि यज्ञ उन्हीं के लिये किया जाता है । देवता सम्बन्धी सारी कार्यविधि कार्यकारण परम्परा से अन्ततः अध्यात्म (आत्मसम्बन्धी) के लिये मानी जाती है, अर्थात् मुमुक्षु व्यक्ति उनका उपयोग अभ्युदय के लिये न कर निःश्रेयस के लिये करता है । इस स्थिति में वह आत्मयाजी बन जाता है । तब सारा दैवत कर्म पुष्पस्थानीय और अध्यात्म फलस्थानीय हो जाता है । इस तरह से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि स्वामी दयानन्द की व्याख्या निरुक्त प्रभृति आर्ष ग्रन्थों के सर्वथा विपरीत है । सिद्धान्ततः देखा जाय तो निरुक्त के अनुसार अर्थज्ञान न होने पर भी केवल मन्त्र का उच्चारण करने से भी फल मिलता ही है । इसलिये अफला और अपुष्पा शब्द यहाँ अल्प फल और अल्प पुष्प के अर्थ में प्रयुक्त माने जाते हैं । इस तरह से वेदपाठी का परिश्रम भी एक दम व्यर्थ नहीं जाता । दुर्गाचार्य ने यहाँ यह उचित स्पष्टीकरण निरुक्त के अपने भाष्य के अनुसार किया है ।

महाभाष्यकार 'यस्तु प्रयुङ्क्ते' इस श्लोक को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि जो कुशल व्यक्ति व्यवहार करते समय उचित शब्दों का प्रयोग करता है, वह इस लोक में विजय तथा परलोक में अनन्त फल प्राप्त करता है । इसके विपरीत अपशब्द का प्रयोग करने वाला व्यक्ति दोषभागी बनता है । एक एक साधु शब्द के अनेक अपभ्रंश होते हैं । अपने अज्ञान के कारण कोई पुरुष दोष से बच नहीं सकता । बिना जाने कोई ब्राह्मण की हत्या करे या सुरापान करे तो वह इन दोषों से बच नहीं सकता, वह तो अवश्य ही पतित हो जायगा । जैसे कुआ खोदने वाला पहले मिट्टी में सन जाता है, तो भी बाद में उसमें से निकले जल से वह मैल को धो लेता है, उसी तरह से वाणी का सही स्थान पर प्रयोग करने वाला अपने सही शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न पुण्य के सहारे अपशब्दों के

याज्ञिकाः पठन्ति। न चान्तरेण व्याकरणं सविभक्तिकाः कर्तुं शक्यन्ते। तस्मादध्येयं व्याकरणम्। यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशो वर्णशो वाचं विदधाति, स आर्त्विजीनो भवति। न तदपि व्याकरणमन्तरा सम्भवति।

'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥' (ऋ० सं० ४।५८।३) अस्य नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्चत्वारि पदानि शृङ्गा भूतभविष्यद्वर्तमानाः कालास्त्रयः पादा द्वे शीर्षे सुप्तिङश्च सप्त विभक्तयो हस्तासः। उरसि कण्ठे शिरसि त्रिषु स्थानेषु बद्धो वृषभः कामानां वर्षणाद् रोरवीति शब्दं करोति महादेवो मर्त्यान् आविवेश इति महता देवेन नस्तादात्म्यं स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥' (ऋ० सं० १।१६४।४५) परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीरूपाणि चत्वारि वचांसि परिमितानि। तेषु त्रीणि गुहायां निहितानि नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते न निमिषन्ति। तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। उत त्वः पश्यन्न ददर्शेति वाङ् नो तत्त्वं विवृणुयादित्यध्येयं व्याकरणम्।

'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा वाचमक्रत। अत्र सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥' (ऋ० सं० १०।७१।२)। यथा तितउना शूर्पेण गालिन्या वा सक्तुं पुनन्ति तथा धीरा मनसा प्रज्ञानेन वाचमक्रत व्याकरण-संस्कारवता मनसाऽपशब्देभ्यः साधुशब्दान् विविच्य शोधयन्ति। अत्र सखायः सख्यानि जानते सायुज्यानि जानते। एषां वैयाकरणानां वाग्योगविदां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता। याज्ञिकाः पठन्ति—आहिताग्निरपशब्दं प्रयुञ्जानः प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्। प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्। एवं बहूनि प्रयोजनान्युक्तानि।

प्रयोग से उत्पन्न अधर्म को धो डालता है। इसी तरह से याज्ञिकों का कहना है कि प्रयाजों का प्रयोग विभक्ति के साथ करनी चाहिये। बिना व्याकरण पढ़े विभक्ति का प्रयोग करना नहीं आ सकता। इसलिये भी व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है। ऋत्विक् उसी को कहा जाता है, जो कि पद, स्वर, अक्षर, वर्ण आदि की पूरी जानकारी रख कर वाणी का प्रयोग करता है। यह जानकारी व्याकरण का अध्ययन किये बिना नहीं मिल सकती, इसलिये भी व्याकरण का पढ़ना आवश्यक है।

'चत्वारि शृङ्गा' इस मन्त्र का अर्थ यह है कि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार प्रकार के पद जिसके सींग हैं, भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये तीन काल जिसके तीन पैर हैं, सुप् और तिङ् जिसके दो शिर हैं, सात विभक्तियाँ जिसके हाथ हैं, ऐसा यह सभी कामनाओं को देने वाला वृषभ हृदय, कण्ठ और शिर इन तीन स्थानों में बाँधा जाने पर जोर से रंभाता है। यह महान् देवता शब्द के रूप में मनुष्यों में प्रविष्ट होता है। इस महान् देवता से हमारा तादात्म्य हो सके, इसके लिये भी व्याकरण का पढ़ना आवश्यक है।

'चत्वारि वाक्' इस मन्त्र का अर्थ यह है कि परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार स्वरूपों में वाणी परिमित है, विभक्त है। इनमें से वाणी के तीन रूप गुहा में छिपे हुए हैं, अतः वे किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करते और चौथी वैखरी नामक वाणी को मनुष्य बोलते हैं। ऊपर 'उत त्वः' इत्यादि मन्त्रों से व्याख्यात वाणी अपना रहस्यमय स्वरूप हमारे सामने प्रकट करे, इसके लिये भी व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है।

'सक्तुमिव' इत्यादि मन्त्र का अर्थ यह है कि जैसे चलनी अथवा सूप से सत्तू साफ किया जाता है, आटा चाला जाता है, उसी तरह से मनीषीगण अपनी प्रज्ञा से वाणी का परिष्कार करते हैं, व्याकरण के संस्कार से परिष्कृत मन से अपशब्दों में से साधु शब्दों को छाँट कर निकाल लेते हैं। इस दशा में उसको साधु शब्दों से मित्रता हो जाती है, साधु शब्दों के प्रयोग से मिलने वाले स्वर्ग का सायुज्य इनको मिल जाता है। इन वाणी के साधु प्रयोग को जानने वाले वैयाकरणों की वाणी में कल्याणकारिणी लक्ष्मी का निवास है। याज्ञिक लोगों का कहना है कि आहिताग्नि (अग्निहोत्री) व्यक्ति यज्ञीय कर्म करते समय अपशब्दों का प्रयोग करे, तो इसके प्रायश्चित्त के रूप में सारस्वती इष्टि का अनुष्ठान उसको करना पड़ेगा। हम प्रायश्चित्ती न हों, इसके लिये भी व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है। इस तरह से व्याकरण के अध्ययन के अनेक प्रयोजन पातञ्जल महाभाष्य में विस्तार से बताये गये हैं।

निरुक्तमपि वेदाङ्गम्। अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्—'गौः ग्मा ज्मा क्ष्मा क्षा इत्यारभ्य वसवः, वाजिनः, देवपत्न्यो देवपत्न्य इत्यन्तो यः पदानां समाम्नायः समाम्नातः, तदेतत् त्रिकाण्डं निरुक्तम्। 'आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमं तथा। तृतीयं दैवतं चेति समाम्नायस्त्रिधा स्थितः॥' इत्यनुक्रमणिकाभाष्ये। एकार्थवाचिनां पर्यायशब्दानां सङ्घो यत्र प्रायेणोपदिश्यते तत्र निघण्टुशब्दः। तत्र त्रयोऽध्यायाः। प्रथमे पृथिव्यादिलोक-दिक्कालादिद्रव्यविषयाणि नामानि। द्वितीये मनुष्यतदवयवादिद्रव्यविषयाणि नामानि। तृतीये तदुभयद्रव्यगततनु-बहुत्व-ह्रस्वत्वादिधर्मविषयाणि नामानि। निगमशब्दो वेदवाची। तत्र निगमे वर्तमानानां शब्दानां चतुर्थाध्याये उपदेशः। पञ्चमाध्यायरूपस्य तृतीयकाण्डस्य दैवतत्वं स्पष्टम्। पञ्चाध्यायरूपकाण्डत्रयात्मके तस्मिन् परनिरपेक्षतया पदार्थस्योक्तत्वान्निरुक्तत्वम्। तस्यास्तस्यास्तद्भाव्यमनुभवत्यनुभवतीत्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को यन्निर्ममे तदपि निरुक्तमुच्यते। एकैकस्य पदस्य संभाविता अवयवार्थास्तत्र निःशेषेणोच्यन्त इति तन्निरुक्तेः। तत्रोच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्तीति निपातादिस्वरूपनिर्वचनतदुदाहरणान्युक्तानि। निर्वचनानां न निर्मूलत्वमिति ब्राह्मणोक्तानि कानिचिन्निर्वचनान्युदाहृतानि। यथा—'तदाहुतीनामाहुतित्वम्', 'तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते' इति। केषाञ्चिन्निर्वचनानां व्याकरणबलेन सिद्धावपि न सर्वेषां सिद्धिः। अत एवोक्तम्—'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च' (नि० १।१५)। वेदार्थावबोधे निरुक्तमपि नितरामपेक्षितम्।

तथा छन्दोऽपि वेदे उपयुज्यते, 'तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि प्रातरनुवाकेऽनूच्यन्ते' इत्याम्नानात्। गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगतीत्येतानि सप्त छन्दांसि। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, अष्टाविंशत्युत्तरोष्णिक्, एवमुत्तराधिकाऽनुष्टुबादयः। 'गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्य दध्यात्, त्रिष्टुब्भी राजन्यस्य, जगतीभिर्वैश्यस्य' (तै० ब्रा० १।१।९।६–७)।

निरुक्त भी वेद का एक अंग है। अर्थ का ज्ञान कराने के लिये निरपेक्ष रूप से पदों को जहाँ व्याख्या की जाती है, उसे निरुक्त कहते हैं। 'गौः ग्मा' इत्यादि से आरम्भ करके 'देवपत्न्यो देवपत्न्यः' यहाँ तक जो पदों का उपदेश किया गया है, वही तीन काण्ड वाला निरुक्त है। इनमें पहला काण्ड नैघण्टुक, दूसरा नैगम और तीसरा दैवत नाम से प्रसिद्ध है। अनुक्रमणिका भाष्य में इसको स्पष्ट किया गया है। एक ही अर्थ को बताने वाले पर्यायवाची शब्दों का समूह जिसमें उपदिष्ट होता है, उसे निघण्टु कहते हैं। इसमें तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में पृथिवी प्रभृति लोक और दिशा, काल प्रभृति द्रव्यों के नाम गिनाये गये हैं। दूसरे में मनुष्य और उसके अवयव आदि द्रव्यों के नाम आये हैं और तीसरे अध्याय में इन दोनों ही प्रकार के द्रव्यों में विद्यमान तनुत्व, बहुत्व, ह्रस्वत्व आदि धर्मों के नाम परिगणित हैं। निगम शब्द वेद का बोधक है। निगम में विद्यमान शब्दों का चतुर्थ अध्याय में विवेचन आता है, जो कि द्वितीय काण्ड का एक भाग है। पंचम अध्याय तृतीय काण्ड का भाग है, इसमें देवताओं का विवेचन किया गया है। इन पाँच अध्याय और तीन काण्ड वाले निरुक्त में स्वतन्त्र रूप से बिना किसी दूसरे शास्त्र का सहारा लिये पदार्थ का विवेचन किया गया है, अतः इसका यह नाम सार्थक है। इसके आगे 'तस्यास्तस्यास्तद्भाव्यमनुभवत्यनुभवति' यहाँ तक बारह अध्याय पर्यन्त यास्क ने जिस ग्रन्थ की रचना की, उसका नाम भी निरुक्त ही है। एक एक पद के जितने भी संभावित अर्थ हो सकते हैं, उन सबका पूरी तरह से निर्वचन होने से इसको निरुक्त कहा गया है। निरुक्त में निपात शब्द के स्वरूप का निर्वचन इस प्रकार से किया गया है कि निपात शब्दों के अर्थ में इधर-उधर का परिवर्तन कर देते हैं। इसी तरह के निर्वचन के अनेकों उदाहरण वहाँ दिये गये हैं। कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रदर्शित निर्वचन भी यहीं उदाहृत हैं। इस तरह से यह सिद्ध किया गया है कि ये निर्वचन सर्वथा निर्मूल नहीं हैं। कुछ निर्वचन व्याकरण की दृष्टि से सिद्ध हो जाते हैं, किन्तु सभी जगह ऐसा नहीं देखा जाता। इसीलिये निरुक्त में कहा गया है कि यह निरुक्त नामक विद्या व्याकरण की पूर्णता के लिये है, व्याकरण की कमी को पूरा करने वाली है और निर्वचन के माध्यम से अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी स्थापित करती है। इस तरह से वेद मन्त्रों का अर्थ जानने में निरुक्त से भी बड़ी सहायता मिलती है।

छन्दों के ज्ञान का भी वेदाध्ययन में उपयोग है। कहा जाता है कि प्रातरनुवाक में सात छन्दों का प्रयोग किया जाता है, जो कि चार चार अक्षरों के क्रमशः बढ़ने से बनते हैं। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती से सात छन्द वेद में होते हैं। गायत्री छन्द २४ अक्षर का, उष्णिक् २८ अक्षर का, अनुष्टुप् छन्द ३२ अक्षर का, इस तरह से चार चार अक्षरों की वृद्धि

भगणयगणादिसाध्यो गायत्र्यादिविवेकश्छन्दोग्रन्थमन्तरेण न सुज्ञेयः। 'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण वा याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति। तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्।' (आर्षेयब्रा० १।१)।

तथैव यज्ञकालनिर्णयाय ज्योतिषग्रन्थस्याप्युपयोगः। 'यज्ञकालार्थसिद्धये' (वेदाङ्गज्योतिषे ३), 'संवत्सरमेतद्व्रतं चरेत्' (तै० आ० १।३२।१), 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः' (तै० ब्रा० १।१।२।६।७) इति श्रुतेः। 'एकाष्टकायां दीक्षेरन् फाल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्' (तै० ब्रा० ७।४।८।१), 'प्रातर्जुहोति', 'सायं जुहोति', 'कृत्तिकास्वादधीत' (तै० ब्रा० १।१।२।१) इत्यादिविधीनां ज्योतिषशास्त्रज्ञानमन्तराऽर्थज्ञानासम्भवात्। तदुक्तम्—'छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥ शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥' (पा० शि० ४१-४२)।

षडङ्गवत् पुराणादीनामपि वेदार्थज्ञानोपयोगित्वम्। तथाहि—'पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥' (याज्ञ० १।३), 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥' इति। ऐतरेयतैत्तिरीयकाठकादिशाखासूक्तानि हरिश्चन्द्रनाचिकेताद्युपाख्यानानि धर्मब्रह्मबोधोपयोगीनि। उपनिषदुक्ताः सृष्टिस्थितिलयादयस्तत्रेतिहासपुराणेषूपलभ्यन्ते।

एवं न्यायशास्त्रे प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तादीनां निरूपणात् तदनुसारेण वाक्यमस्मिन्नर्थे प्रमाणम्। पूर्वोत्तरमीमांसयोरपि वेदार्थनिर्णये उपयोगः। मन्वत्रिविष्णुहारीतादिप्रोक्तासु स्मृतिषु वेदोक्तसन्ध्यादिविधयः प्रपञ्चिताः। 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति वैयासिकसूत्रीयेण 'शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यते' इति

होते जाने से बृहती आदि छन्द बनेंगे। गायत्री छन्द से ब्राह्मण के लिये, त्रिष्टुप् से क्षत्रिय और जगती छन्द से वैश्य के लिये अग्नि का आधान करे। भगण, यगण आदि से जाना जानेवाला गायत्री प्रभृति छन्दों का ज्ञान हमको छन्दःशास्त्र के ग्रन्थों के बिना नहीं हो सकता। आर्षेय ब्राह्मण में बताया गया है कि मन्त्र के छन्द, देवता, ऋषि आदि का बिना ज्ञान प्राप्त किये विनियोग करने वाला व्यक्ति पाप का भागी होता है। अतः छन्द का ज्ञान भी वेदार्थ के ज्ञान में परम सहायक है।

इसी तरह से यज्ञ के अनुष्ठान का समय निश्चित करने के लिये ज्योतिःशास्त्र आवश्यक होता है। यज्ञ काल, संवत्सर, वसन्त आदि ऋतु इन सबका ज्ञान ज्योतिष शास्त्र से होता है। तिथि और नक्षत्रों का ज्ञान भी ज्योतिःशास्त्र से ही होता है। वसन्त आदि ऋतुओं और कृत्तिका प्रभृति नक्षत्रों का ज्ञान बिना इसके हो ही नहीं सकता। इसलिये पाणिनि शिक्षा में कहा गया है कि छन्दःशास्त्र वेद के पैर हैं, कल्पसूत्र हाथ, ज्योतिःशास्त्र नेत्र, निरुक्त श्रोत्र (कान), शिक्षा घ्राण और व्याकरण मुख है। इस तरह से अंगों के साथ वेद का अध्ययन करने पर ही मनुष्य ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

छः अंगों के समान पुराण प्रभृति ग्रन्थों की भी वेदार्थ ज्ञान में उपयोगिता है। पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र, छः अंगों और चार वेदों को मिलाकर विद्या के चौदह स्थान (भेद) होते हैं। इन्हीं की सहायता से धर्म का भी ज्ञान होता है। शास्त्रों में इतिहास और पुराण की सहायता से वेदों के अर्थ का विस्तार करने की बात कही गई है। साथ ही यह भी कहा गया है कि अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद डरता रहता है कि यह कहीं मेरे ऊपर प्रहार न कर दे, अर्थात् अपने अज्ञान के कारण यह अर्थ का अनर्थ न करने लगे। ऐतरेय, तैत्तिरीय, काठक प्रभृति शाखाओं में वर्णित हरिश्चन्द्र, नचिकेता प्रभृति के उपाख्यान धर्म और ब्रह्म दोनों के ज्ञान में सहायक होते हैं। उपनिषद् में बताये गये सृष्टि, स्थिति, लय प्रभृति का पुराणों में विस्तार से वर्णन मिलता है।

इसी तरह से न्यायशास्त्र में प्रमाण, प्रमेय आदि का निरूपण किया गया है। इनका तथा पूर्व और उत्तर मीमांसा के न्यायों का भी वेदों के अर्थ के निर्णय में उपयोग किया जाता है। मनु, अत्रि, विष्णु आदि स्मृति ग्रन्थों में वेदोक्त विधियों का विस्तार बताया गया है। 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र के शाङ्कर भाष्य में बताया गया है कि केवल शास्त्ररूपी प्रमाण से ही जगत् के जन्म आदि के कारणभूत ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है। 'उस ब्रह्म को बिना वेदों की सहायता के नहीं जाना जा सकता' इस श्रुति पर किये गये

शाङ्करभाष्येण, 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति श्रुतिसमनुगृहीतेन, 'सम्बन्धस्तु वेदस्य धर्मब्रह्मभ्यां सह प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः' इति सायणभाष्येण च स्पष्टमेव वेदानां धर्मब्रह्मविषयत्वं विज्ञायते। दयानन्देन कथं नैतद्दृष्टमित्याश्चर्यम्, 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' इत्याभाणकश्चारितार्थ्यं नीतस्तेन।

भाष्यकरणशङ्कासमाधानम्

यत्तु केनचित्—'वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डः, तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोः कर्मकाण्डत्वमिति काण्वभाष्यमाश्रित्य बृहदारण्यकातिरिक्तस्य सर्वस्यैव वेदस्य कर्मकाण्डत्वमुक्तं सायणेन' इति, तदपि मन्दम्, तत्र बृहदारण्यकपदस्यानन्यशेषब्रह्मपरमन्त्रब्राह्मणपरत्वेनादोषात्। तद्रीत्या मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि वेदत्वाविशेषात्। अपि च 'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (मुण्डकोप० १।४-५) इति श्रुतेरेव साधनभूतधर्मज्ञानहेतुत्वात् षडङ्गसहितानां वेदानामपरविद्यात्वम्, परमपुरुषार्थभूतब्रह्मज्ञानहेतुत्वादुपनिषदां परविद्यात्वमुक्तम्। तदेव वदता सायणेन किमपराद्धम्? उपनिषत्सु ईशावास्यादयो मन्त्रा अपि गृह्यन्ते। तलवकाराणां श्वेताश्वतरादीनां च मन्त्रा अप्यनन्यशेषा ब्रह्मपरा एव। तत्र यद्यपि बुद्धिशुद्धिद्वारा कर्मोपासनपराणामपि मन्त्रब्राह्मणानां ब्रह्मपर्यवसायित्वमेव, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति श्रुतेः, तथापि तेषामवान्तरतात्पर्येण धर्मपरत्वं नापलपितुं शक्यम्, पदवाक्यादिविरोधात्।

किञ्च, त्वया ब्राह्मणं वेदव्याख्यानमभ्युपगम्यते। तत्र च स्पष्टमेवाधिकसंख्याकानां मन्त्राणां कर्मपरत्वमेव

सायण भाष्य के अनुसार भी यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद का धर्म और ब्रह्म के साथ प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध है, अर्थात् धर्म और ब्रह्म का ज्ञान वेदों से ही हो सकता है। दयानन्द इस बात को कैसे नहीं समझ पाये, यह एक आश्चर्य की बात है। 'यह स्थाणु (ठूंठ) का अपराध नहीं है कि उसको अन्धा नहीं देख पाता' इस आभाणक को स्वामी दयानन्द ने यहाँ सही माने में चरितार्थ कर दिखाया है।

भाष्यविषयक शंका-समाधान

'वेद में दो काण्ड हैं—कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड। बृहदारण्यक ब्रह्मकाण्ड का ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त सारा शतपथ ब्राह्मण और संहिता कर्मकाण्ड के अन्तर्गत आते हैं। यह बात काण्वसंहिता के भाष्य में सायण ने कही है। इसके आधार पर बृहदारण्यक के अतिरिक्त सारे वेद को कर्मकाण्ड के अन्तर्गत सायण ने माना है, ऐसा आक्षेप किया गया है' (पृ० ३६४)। किन्तु यह कथन एक दम गलत है, क्योंकि सायण की उक्ति में बृहदारण्यक का अभिप्राय ब्रह्म के बोधक मन्त्रब्राह्मणात्मक समस्त वाङ्मय से है। सायण के मत के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद के अन्तर्गत हैं। मुण्डक श्रुति में परा और अपरा विद्या के दो भेद बताकर ऋग्वेद आदि को अपरा विद्या तथा ब्रह्मविद्या को परा विद्या कहा गया है। यह श्रुति ही ब्रह्मविद्या के साधनभूत धर्म का भी ज्ञान कराती है। इस तरह से षडङ्ग सहित चारों वेद अपर विद्या के और परम पुरुषार्थभूत ब्रह्मज्ञान के उपदेशक उपनिषद् पर विद्या के अन्तर्गत आते हैं। सायण ने इसी बात को ऊपर के शब्दों में कहा है, तो उसने क्या अपराध किया है? उपनिषदों में ईशावास्य प्रभृति मन्त्रभाग भी परिगणित हैं। तलवकार और श्वेताश्वतरीय शाखाओं के मन्त्र भी ब्रह्म से भिन्न अन्य किसी विषय को नहीं छूते। यद्यपि कर्मकाण्ड और उपासनापरक मन्त्र और ब्राह्मणभाग भी बुद्धि की शुद्धि के द्वारा ब्रह्मज्ञान में ही विनियुक्त होते हैं, क्योंकि श्रुति में कहा गया है कि सारे वेद उसी पद का विवरण देते हैं, तो भी उनका अवान्तर तात्पर्य धर्म के प्रतिपादन में है, इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। ऐसा करने पर पदों और वाक्यों की अर्थ पतिपादन शैली से स्पष्ट विरोध होगा, जो कि उचित नहीं माना जा सकता।

एक बात यह भी है कि आप तो ब्राह्मण भाग को वेद की व्याख्या मानते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में स्पष्ट ही अधिक संख्या

दृश्यते। ब्रह्मात्मबोधका अपि मन्त्रा यदि क्वचिद्विनियोगेनान्यपरास्तदा प्रत्यक्षादिविरोधे तेषां नाद्वितीयब्रह्मबोधकत्वं सम्भवति, अन्यपरत्वेन निर्बलत्वात्। 'तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसि' इति न्यायात्। तत एव ईशावास्यादीनामन्यत्राविनियुक्तत्वाद् ब्रह्मपरत्वेन तत्प्रधानत्वात् प्रत्यक्षादिबाधेनाप्यद्वितीयब्रह्मबोधकत्वं सम्भवति।

केनचिद्यदुक्तम्—'ईशावास्यादयो मन्त्राः कर्मसु विनियुक्ताः, मन्त्रत्वात्, इषे त्वादिमन्त्रवत्' इति, तत्तुच्छम्, विनियोजकप्रमाणसत्त्वस्य तत्रोपाधित्वेनोपाध्यभावेन साध्याभावानुमानेन तद्विरोधात्। ईशावास्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ताः, विनियोजकप्रमाणासत्त्वात्। न च लिङ्गबलेन विनियोगकल्पनम्, तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रतिपादकत्वेन कर्मकर्तृदेवतादिप्रतिपादकत्वासम्भवात्।

यच्च 'इन्द्रं मित्रं वरुणम्' इति मन्त्रस्यार्थोऽन्यथैव वर्णितः, तथाहि—'तत्रेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतः, मित्रादयश्च विशेषणतया। अत्र खलु विशेष्योऽग्निशब्दः। इन्द्रादीनां विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा पुनः स एव ब्रह्मविशेषणं भवति। एवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवति। न चैवं विशेषणम्। एवमेव शतं सहस्रं वैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि स्युर्यत्र तत्र विशेष्यस्य पुनरुच्चारणं भवति, विशेषणस्यैकवारमेवेति। तथैवाग्रे परमेश्वरेणाग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाभिप्रायत्वात्। इदं सायणाचार्येण नैव बुद्धम्। निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव वर्णितः। तद्यथा—'इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणं स चैकस्य

में मन्त्रों की कर्मकाण्डपरक व्याख्या की गई है। ब्रह्मात्मतत्त्व के बोधक मन्त्र भी यदि किसी विनियोग के अनुसार अन्य कार्य में विनियुक्त हैं, तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विरोध होने से उनकी अद्वितीय ब्रह्मबोधकता नहीं संभव हो सकती, क्योंकि अन्यपरक होने से वे प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से निर्बल हो जायँगे। तत्प्रधान वाक्य अतत्प्रधान वाक्यों से निर्बल माने जाते हैं। इसलिये ईशावास्य प्रभृति मन्त्रों का अन्यत्र कहीं विनियोग न होने से और ब्रह्म में ही प्रधानता होने से प्रत्यक्ष प्रभृति प्रमाणों से विरोध होने पर भी उनको बाध कर अद्वितीय ब्रह्म की बोधकता ही उनकी मानी जायगी।

'ईशावास्य प्रभृति मन्त्रों का विनियोग कर्म के लिये होता है, क्योंकि ये भी 'इषे त्वा' प्रभृति मन्त्रों की तरह मन्त्र ही हैं'। इस अनुमान का प्रयोग इसलिये गलत होगा कि इसमें विनियोजक प्रमाणसत्त्व उपाधि है। साध्याभाव (कर्म के लिये विनियोग का अभाव) को सिद्ध करने वाले दूसरे उपाधिरहित अनुमान से इसका विरोध भी होगा कि ईशावास्य प्रभृति मन्त्र कर्म के लिये विनियुक्त नहीं है, क्योंकि इनको कर्म में विनियुक्त करने वाले वचन उपलब्ध नहीं है। लिंग के आधार पर भी विनियोग की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि ये मन्त्र किसी कर्म के अंग नहीं है, अतः ये केवल आत्मतत्त्व के वास्तविक स्वरूप को बताते हैं, किसी कर्म, कर्ता या देवता का प्रतिपादन इनसे नहीं किया जा सकता।

स्वामी दयानन्द सायणाचार्य पर पुनः आक्षेप करते हैं—'ऐसे ही सायणाचार्य ने 'इन्द्रं मित्रं०' इस मन्त्र का अर्थ भी भ्रान्ति से बिगाड़ा है, क्योंकि उसने इस मन्त्र में विशेष्य और विशेषण को अच्छी तरह से न समझ कर इन्द्र शब्द को तो विशेष्य करके वर्णन किया और मित्र आदि शब्द उसके विशेषण ठहराये हैं। यह उनको बड़ा भ्रम हो गया, क्योंकि मन्त्र में अग्नि शब्द विशेष्य और इन्द्र आदि शब्द उसके विशेषण हैं। इसलिये विशेषणों में से एक का विशेष्य के साथ अन्वय होकर पुनः दूसरे-दूसरे विशेषण के साथ विशेष्य का अन्वय कराना होता है और विशेषण का एक बार ही विशेष्य के साथ अन्वय होता है। इसी प्रकार जहाँ जहाँ एक के सैकड़ों या हजारों विशेषण होते हैं, वहाँ वहाँ भी विशेष्य का सैकड़ों या हजारों बार उच्चारण होता है। वैसे ही इस मन्त्र में विशेष्य की इच्छा से ईश्वर ने अग्नि शब्द का दो बार उच्चारण किया और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम कहे हैं। यह बात सायणाचार्य ने नहीं जानी। इससे उनकी यह भ्रान्ति सिद्ध होती है। इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य ही वर्णन किया है। 'इममेवाग्नि' निरुक्त के इस वाक्य में अग्नि और इन्द्र इत्यादि नाम एक सद्वस्तु ब्रह्म के ही माने गये हैं, क्योंकि इन्द्र आदि शब्द अग्नि के विशेषण और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं' (पृ० ३६६-६७)। किन्तु यह सब अज्ञान का ही प्रसाद है। ऐसे ही स्थलों पर अपर्यनुयोज्यानुयोग नामक निग्रहस्थान माना जाता है, जहाँ पर कि कोई दोष विद्यमान न हो तो भा दोष दिखाया जाय। इन्द्र पद प्रथम उपस्थित है, अतः

सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति। तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि सन्तीति बोध्यम्' (पृ० ३६४-३६५) इति, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, अपर्यनुयोज्यानुयोगेन निग्रहस्थानपतितत्वात्। प्रथमोपस्थितत्वात् प्रमाणसङ्गतत्वाच्च सायणेनेन्द्रपदमेव विशेष्यमुक्तम्। 'इन्द्रं मित्रं सौयम्' इत्यनुक्रमणीवचनात् सूर्योऽस्य मन्त्रस्य देवतेति सायणेन सूर्यपरोऽयं मन्त्रो व्याख्यातः। सूर्यो महानात्मा हिरण्यगर्भ एव, 'एकैव महानात्मा देवता स सूर्यं इत्याचक्षते' इत्युक्तत्वात्। तथाहि—अमुमादित्यमैश्वर्यविशिष्टमिन्द्रं प्राहुः, तथा मित्रं प्रमीतेर्मरणात् त्रातारमहरभिमानिनं तन्नामकं देवं प्राहुः। पापस्य वारकत्वाद् वरुणं रात्र्यभिमानिनं देवमाहुः, तथाग्निमङ्गनादिगुणविशिष्टमेतन्नामकमाहुः। अथो अपि। अयमेव दिवि भवो दिव्यः सुपर्णः सुपतनः। गरुत्मान् गरणवान् पक्षवान् वा। एतन्नामको यः पक्ष्यस्ति सोऽप्ययमेव। कथमेकस्य नानात्वमिति चेत् उच्यते—अमुमादित्यमेकमेव वस्तुतः सन्तं विप्रा मेधाविनो देवतातत्त्वविदो बहुधा वदन्ति तत्तत्कार्यकारणेन इन्द्राद्यात्मान वदन्ति। किञ्च, तमेव वृष्ट्यादिकारणं वैद्युतमग्निं यमं नियन्तारं मातरिश्वानमन्तरिक्षे श्वसन्तं वायुमाहुः। सूर्यस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वेन सार्वात्म्ययुक्तं भवति। सायणस्यानभिज्ञत्वकथनं च 'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' इत्युक्तिमेवानुसरति।

दयानन्दो यं पक्षं कथयति सोऽपि तेन दयानन्दात् पूर्वमेव लिखितः। अत्र ये केचित् 'अग्निर्वा सर्वा देवताः' (ऐ० ब्रा० २।३) इत्यादिश्रुतितोऽयमेवाग्निरुत्तरे अपि ज्योतिषी इति मत्वा अग्नेरेव सार्वात्म्यप्रतिपादकोऽयं मन्त्र इति वदन्ति। तत्पक्षेऽग्निशब्द उद्देश्यः। तमग्निमुद्दिश्येन्द्राद्यात्मकत्वकथनम्। अयं मन्त्रो निरुक्ते एवं व्याख्यात इत्युक्त्वा—'इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं वहुधा मेधाविनो वदन्ति इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तं दिव्यो गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा। तस्मात् सायण इममर्थं न वुद्धवानिति दयानन्दोक्तिर्मूर्खजनप्रतारणायैव। वस्तुतस्तु

अन्य प्रमाणों का भी सहारा लेकर सायण ने इस मन्त्र में इन्द्र को ही विशेष्य माना है। अनुक्रमणी के अनुसार इस मन्त्र का देवता सूर्य है, अतः सायण ने इस मन्त्र की व्याख्या सूर्यपरक ही की है। यहाँ सूर्य महान् आत्मा हिरण्यगर्भ से अभिन्न है। श्रुति में इस सूर्य को महान् आत्मा कहा गया है। मन्त्र का अर्थ यह है कि इस आदित्य (सूर्य) को ही ऐश्वर्य विशिष्ट इन्द्र कहा जाता है और इसी को दिन का अभिमानी देवता मित्र कहा जाता है। इसको मित्र इसलिये कहते हैं कि यह देवता मृत्यु से जीवों की रक्षा करता है। इसी को पापों से निवृत्त करने वाला देव वरुण कहा जाता है, जो कि रात्रि का अभिमानी देवता है। इसी को प्रकाश गुण वाला अग्नि भी कहा जाता है। यही आकाश में उत्पन्न होने वाला, आकाश में अप्रतिहत विचरण करने वाला सुपर्ण, गरुड़ है, जो कि विषधर सर्पों को निगल जाने वाला और पक्षियों में श्रेष्ठ माना जाता है। एक ही सूर्य इन नाना रूपों में कैसे दिखाई पड़ सकता है? इस शंका का समाधान करने के लिये ही मन्त्र में बताया गया है कि यद्यपि यह आदित्य (सूर्य) एक ही है, किन्तु मेधावी ब्राह्मण, जो कि देवताओं के रहस्य को जानने वाले हैं, इस सूर्य का कार्य और कारण के भेद के अनुसार इन्द्र प्रभृति अनेक रूपों में देखते हैं। जैसे कि जब यह सूर्य अग्नि का कारण बनता है, तब वह विद्युत् स्वरूप अग्नि बन जाता है, प्राणियों का नियमन करने पर यम और अन्तरिक्ष में बहने पर मातरिश्वा (पवन) कहलाने लगता है। सूर्य ब्रह्म से भिन्न नहीं है। इस तरह से सूर्य की यह सर्वात्मकता का प्रतिपादन उचित ही है। सायण को वेदार्थ का ज्ञान नहीं है, ऐसा कहना 'अंगूर खट्टे हैं' वाली कहावत को चरितार्थ करना है।

जिस पक्ष की चर्चा दयानन्द करते हैं, वह भी उनसे बहुत पहले स्वयं सायण के द्वारा ही बता दिया गया है। कुछ लोगों का कहना है कि 'अग्नि ही सभी देवताओं का प्रतिनिधि है' इस श्रुति के अनुसार यह अग्नि ही सूर्य आदि ज्योतियों का भी प्रकाशक है, अतः इस मन्त्र में भी अग्नि की सर्वात्मकता का ही प्रतिपादन हुआ है। इस पक्ष में प्रथम अग्नि शब्द उद्देश्य है। इसी अग्नि को उद्दिष्ट कर उसको इन्द्र, मित्र आदि देवताओं के रूप में प्रतिपादित किया गया है। यह मन्त्र निरुक्त में इस प्रकार व्याख्यात है, ऐसा कहते हुए सायण ने लिखा है कि इसी अग्नि को, महान् आत्मा के रूप में एक होते हुए भी मेधावी ब्राह्मण अनेक रूपों में इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य गरुत्मान् के रूप में वर्णित करते हैं। इस तरह से सायण इस अर्थ को नहीं जानते थे, ऐसा कहना केवल मूर्ख लोगों को बहकाना है। वास्तव में हिरण्यगर्भ ही एकमात्र देवता है। उसी का कहीं आदित्य के रूप में और कहीं अग्नि के रूप में वर्णन मिलता है। इसलिये निरुक्त की व्याख्या जैसे ऋषि प्रणीत है, उसी तरह से ऋषि प्रणीत अनुक्रमणी के आधार पर की गई सायण की

हिरण्यगर्भं एवैको देवः। स एव क्वचिदादित्यरूपेण क्वचिदग्निरूपेण वर्णितः। अतो निरुक्तव्याख्यानमप्यार्षम्। तथैव सायणव्याख्यानमप्यनुक्रमणीसम्मतत्वादार्षमेव। 'एतस्यैव सा विसृष्टिः', 'एष उ ह्येव सर्वे देवाः' (बृ० उ० १।४।६) इति हिरण्यगर्भस्यैव सर्वदेवरूपत्वमुक्तम्। न च स एव सर्वेश्वरोऽपि, 'सोऽबिभेत् तस्मादेकाकी न रमते' (बृ० १।४) इति तत्रैव तस्य भयारत्यादिश्रवणात्। अग्नेरपि हिरण्यगर्भरूपत्वेन सार्वात्म्यमुच्यते। न त्वग्नेः परमात्मत्वमत्र विवक्षितम्। यास्कोऽपीममेवाग्निं महान्तमात्मानमिति हिरण्यगर्भमेवाग्निमाह। न परमात्मानम्। महान् महत्तत्वं हिरण्यगर्भं एव—'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्', 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत॥' इति मनुरपि। 'यस्मै हविर्निरुप्यते, अयमेव सोऽग्निरिति' (नि० ७।१८), 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्', 'अग्निमानय', 'अग्निं प्रणय' इत्यादिभिरग्निशब्दस्य पार्थिवज्योतिषैव सम्बन्धात्। न च त्वद्रीत्या काचिदग्निर्देवता स्वीकृता, न वा तदर्थं हविर्निरुप्यते, त्वन्मते होमादेर्वायुशुद्ध्यर्थमेव प्रयुक्तत्वात्। तस्मान्निरुक्तविरुद्धमेव तन्मतम्।

यदुक्तम्—'विशेष्योऽग्निशब्दो विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा पुनः स एव सद्वस्तुब्रह्मविशेषणं भवति' इति, तत्तुच्छम्, अग्निशब्दस्य मुख्यपरमात्मपरत्वे सद्विशेषणत्वानुपपत्तेः। यदि सदेव विशेष्यं तदा यथेन्द्रादिपदानि विशेषणानि, तथैवाग्निपदमपि विशेषणमेव न विशेष्यम्। यत्तु—'विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवति न चैवं विशेषणम्। यत्र शतं सहस्रं वैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि स्युस्तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं विशेषणस्यैकवारमेव। तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेणाग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेषणविशेष्याभिप्रायेणैव' इति, तदपि न विचारचारु, विप्रतिषिद्धत्वात्। तथाहि नहि क्वचिदपि विशेष्यस्य मूलवचने प्रतिविशेषणमुच्चारणं दृश्यते। व्याख्यातारस्तु बोधसौकर्याय क्वचिद् विशेष्यं प्रति-

व्याख्या भी आर्षपरम्परा के अन्तर्गत ही आवेगी। बृहदारण्यक उपनिषद् में हिरण्यगर्भ को सभी देवताओं का स्वरूप माना है, किन्तु साथ ही वह सभी का स्वामी भी नहीं है, क्योंकि उसी स्थल पर उस हिरण्यगर्भ में भय, अरति आदि भावों की सत्ता भी प्रतिपादित है। इसी तरह से अग्नि को हिरण्यगर्भ का ही प्रतिनिधि माना जाता है, परमात्मा नहीं। हिरण्यगर्भ के रूप में ही अग्नि की सर्वात्मकता भी प्रतिपादित है। यास्क भी इस अग्नि की सर्वात्मकता हिरण्यगर्भ के रूप में ही मानते हैं, परमात्मा के रूप में नहीं। महान् अर्थात् महत्तत्त्व का प्रतिनिधि हिरण्यगर्भ है। 'इसी को कुछ लोग अग्नि, मनु, अथवा प्रजापति कहते हैं', 'वही प्रथम शरीरधारी कहलाता है, इसी को पुरुष कहते हैं। सभी प्राणियों की सृष्टि करने वाला ब्रह्मा इन सबसे पहले विद्यमान था' इस तरह से मनुस्मृति में इसी हिरण्यगर्भ का प्रतिपादन किया गया है। 'जिसको हवि अर्पित की जाती है, वही यह अग्नि देवता है' इस निरुक्त वाक्य में तथा अन्य अनेक श्रुतियों में अग्नि शब्द का पार्थिव ज्योति से ही सम्बन्ध बन सकता है, परमात्मा के वाचक अग्नि शब्द से नहीं। आपके मत के अनुसार तो कोई अग्नि देवता मानी नहीं जाती, जिसके लिये कि हवि अर्पित की जाय। आप तो केवल वायु शुद्धि के लिये ही यज्ञ-याग आदि का विधान मानते हैं। इस प्रकार आपका मत यहाँ उद्धृत निरुक्त के वाक्य से सर्वथा विरुद्ध, अत एव अप्रामाणिक माना जायगा।

अग्नि शब्द को विशेष्य मानकर इन्द्र प्रभृति विशेषणों के साथ उसके सम्बन्ध को जो बात आपने कही है, वह भी गलत है, क्योंकि अग्नि शब्द यदि मुख्य परमात्मा का वाचक माना जाता है, तो वहाँ विशेषण के रूप में सत् शब्द की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि सत् को ही विशेष्य माना जाय, तब तो इन्द्र प्रभृति पद जैसे विशेषण हैं, उसी तरह से अग्नि पद भी विशेष्य न होकर विशेषण के रूप में ही माना जायगा। आगे आपने विशेष्य के प्रति विशेषण के बार बार अन्वित होने की बात कही है, किन्तु विचार करने पर यह भी जँचती नहीं, क्योंकि यह बात परस्पर विरुद्ध है। किसी भी मूल वचन में कहीं भी विशेष्य का बार बार उच्चारण नहीं किया जाता, कुछ व्याख्याकार ही अर्थ को सरलता से समझाने के लिये प्रत्येक विशेषण के साथ विशेष्य को जोड़ देते हैं। 'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्र में सुपर्ण पद विशेष्य है, इसका एक बार ही उच्चारण किया गया है। यदि विशेष्य का बार बार उच्चारण अभिप्रेत होता, तो इस मन्त्र में भी अग्नि शब्द का उच्चारण इन्द्र आदि पदों के साथ अनेक बार किया जाना चाहिये था। यहाँ तो

विशेषणमुच्चारयन्ति। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इत्यादौ सुपर्णपदस्य विशेष्यस्य सकृदेवोच्चरितत्वात्। अन्यथात्रापि प्रतिविशेषणमग्निशब्दः परमेश्वरेणोच्चार्येत, किमर्थं द्विरेवोच्चारितम् ? यदि त्विन्द्रादयोऽग्नेर्विशेषणानि, अग्निस्तु सतो विशेषणमिति विवक्षया द्विरग्निशब्दोच्चारणमित्युच्येत, तदपि न शोभनम्, सदग्निशब्दयोरुभयोरपि परमात्मवाचकयोर्विशेष्यविशेषणभावानुपपत्तेः। नहि घटः कुम्भ इत्यत्र सम्भवति विशेषणविशेष्यभावः। यदि सदेव ब्रह्मेति, तदेव विशेष्यं तर्हीन्द्रादिवद् अग्नेरपि विशेषणत्वमेवेति किमर्थं तं प्रतीन्द्रादयो विशेषणानि भवेयुः, अग्नेरप्यप्राधान्याविशेषात्। एकं प्रधानमेव विशेष्यं भवति, तत्प्रत्येव सर्वाण्यप्रधानानि विशेषणान्येव भवन्ति। नहि तेषु विशेष्यविशेषणभावः। तथात्वे ब्रह्मपर एवाग्निशब्द इति रिक्तं वचः। यथाग्निः सद्वस्तुनो नाम, तथैवेन्द्रादयोऽपि तन्नामान्येव। सिद्धान्ते त्विन्द्रपदेनादित्यो ज्योतिः, प्रथमाग्निशब्देन पार्थिवोऽग्निः, द्वितीयाग्निशब्देन वैद्युतं ज्योतिर्गृह्यते। सत्पदं तु विशेष्यस्य विशेषणमेव। एकमेव सन्तमग्निं वादित्यं वा विप्रा मेधाविनो बहुधा वदन्ति। 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति।

यदुक्तम्—'सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते। तथा राज्ञः पुरोहितस्तदभीष्टं सम्पादयति, यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागेऽवस्थितम्' इत्युक्तम्, इदमपि पूर्वापरविरुद्धम्। 'सर्वैर्नामभिः परमेश्वर एव हूयते चेत्पुनस्तेन होमसाधकाहवनीयरूपेणावस्थितो भौतिकोऽग्निः किमर्थो गृहीतः' (पृ० ३६८) इति, तदपि तदीयतात्पर्यानभिज्ञानमूलकम्, अग्निशब्दस्य पर्यवसानदृष्ट्या परमेश्वरत्वेऽप्यग्निशब्दस्य मुख्योऽर्थः पार्थिवोऽग्निरेव, 'अग्निं प्रणय', 'अग्निमानय' इत्यादिव्यवहारस्य तत्रैव प्रवृत्तेः, प्रसिद्धिबाधस्यान्याय्यत्वात्, शास्त्रचोदितानां धवखदिरपलाशानामपि लोकप्रसिद्धित एव प्रतीयमानत्वात्। आहवनीयादि-

केवल दो बार अग्नि पद का उच्चारण किया गया है, ऐसा क्यों ? यदि आप कहें कि इन्द्र प्रभृति शब्द अग्नि के विशेषण हैं और स्वयं अग्नि शब्द 'सत्' का विशेषण है, इन दो बातों को बताने के लिये अग्नि शब्द का उच्चारण दो बार किया गया है, तो यह कहना भी इसलिये ठीक नहीं है कि जब सत् और अग्नि ये दोनों ही शब्द परमात्मा के वाचक हैं, तो इनका परस्पर विशेष्य-विशेषणभाव कैसे बन सकेगा ? घट और कुम्भ शब्द का परस्पर विशेष्य-विशेषणभाव नहीं बनता। यदि सत् ही ब्रह्म है और वही विशेष्य भी है, तो इस अवस्था में इन्द्र प्रभृति शब्दों के समान अग्नि शब्द भी विशेषण ही माना जायगा, तब इन्द्र प्रभृति शब्द इस अग्नि के विशेषण कैसे होंगे ? इस अवस्था में तो इन्द्र प्रभृति की तरह अग्नि भी अप्रधान ही है। एक प्रधान ही विशेष्य माना जाता है, इसके अतिरिक्त सभी अप्रधान पदार्थ विशेषण ही होते हैं। इन अप्रधानों में परस्पर विशेष्य-विशेषणभाव नहीं बन सकता। इस स्थिति में आपका यह कथन मिथ्या सिद्ध हो जाता है कि अग्नि शब्द यहाँ ब्रह्म का वाचक है। जैसे अग्नि सद्वस्तु ब्रह्म का नाम है, उसी तरह से इन्द्र प्रभृति भी उसी के नाम हैं। हमारे मत के अनुसार तो इन्द्र पद से आदित्य नामक ज्योति, प्रथम अग्नि शब्द से पार्थिव अग्नि और द्वितीय अग्नि शब्द से विद्युत् सम्बन्धी ज्योति का ग्रहण किया जाता है। 'सत्' पद भी विशेषण ही है, विशेष्य नहीं। अग्नि अथवा आदित्य यद्यपि एक ही हैं, तो भी मेधावी ब्राह्मण उनका अनेक रूपों में वर्णन करते हैं। 'इन्द्रं मित्रं०' इत्यादि ऋग्वेदीय मन्त्र का इस तरह से सायण संमत अर्थ ही उचित है।

स्वामी दयानन्द आगे लिखते हैं—'ऐसे सायणाचार्य ने और भी बहुत से मन्त्रों की व्याख्याओं में शब्दों के अर्थ उलटे किये हैं, तथा उन्होंने—'सब पुरुषों से परमेश्वर ही पुकारा जाता है, जैसे राजा का पुरोहित राजा के हित का ही काम सिद्ध करता है। अथवा जो अग्नि यज्ञ के सम्बन्धी पूर्व भाग में (आहवनीय के रूप में) हवन करने के लिये (स्थित) है, ऐसा कहा है। यह सायणाचार्य का कथन अयोग्य और पूर्वापरविरोधी होकर आगे पीछे के सम्बन्ध को तोड़ता है, क्योंकि जब सब नामों से परमेश्वर का ही ग्रहण करते हैं, तो फिर जिस भौतिक अग्नि में हवन करते हैं, उसको किस लिये ग्रहण किया है ?' (पृ० ३६७), किन्तु यह कथन भी सायण के अभिप्राय को ठीक से समझ न पाने के कारण है, क्योंकि अग्नि शब्द यद्यपि पर्यन्ततः ईश्वर का वाचक है, किन्तु उसका मुख्य अर्थ तो पार्थिव अग्नि ही होता है, अग्निप्रणयन आदि व्यवहार इस पार्थिव अग्नि में ही सम्पन्न होते हैं। प्रसिद्धि का बाध कभी उचित नहीं माना जाता। शास्त्र में उपदिष्ट धव, खदिर आदि शब्दों का भी अर्थ लोकप्रसिद्धि के अनुसार ही किया जाता है।

शब्दानां त्वाधानसंस्कृतेऽग्नौ प्रयोगः। 'आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति' इत्यादावग्न्यधिष्ठात्री देवता गृह्यते, केवलस्य भौतिकस्य पार्थिवाग्नेर्हविर्भक्त्वानुपपत्तेः, 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' (ब्र० सू० २।१।५) इति न्यायाच्च। देवताश्च प्राणपर्यवसायिन्यः, प्राणस्तु परमेश्वरपर्यवसायी। परमेश्वरेण देवा अभिन्नास्तद्विभूतित्वात्, परस्परं च भिन्नाः। यथा मृदा घटादयोऽभिन्नाः परस्परं तु भिन्ना इत्यसकृदुक्तत्वात्। अतो मन्त्रेषु क्वचित्परमात्मपरोऽग्निशब्दः, क्वचिद्देवतापरः, क्वचिच्चाहवनीयादिपर एवेति सुष्ठूक्तम्। यद्वा—यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागेऽवस्थितम्। एवमिन्द्रादिशब्देनापि क्वचित्परमेश्वरः क्वचिद्देवताविशेषो गृह्यते। इन्द्रादिनामभिरपि परमेश्वर एवोच्यते, तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणाप्यवस्थानादविरोध इत्यविरोधो युक्त एव।

यदुक्तम्—'यदीन्द्रादिनामभिः परमेश्वर एवोच्येत, तर्हि परमेश्वरस्येन्द्रादिरूपेणावस्थितिरनुचिता, 'अज एकपात्' (ऋ० सं० ७।३५।१३), 'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्' (वा० सं० ४०।८) इत्यादिभिः परमेश्वरस्य जन्मरूपवत्त्वशरीरधारणादिनिषेधात्' इति, तदपि तुच्छम्, 'अजायमानो बहुधा विजायते' (वा० सं०), 'नमो हिरण्यबाहवे' (वा० सं०) 'नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः' (वा० सं०) इत्यादिभिरजस्यापि परमेश्वरस्य मायया बहुभवनरूपवत्त्वादिश्रवणेन तदविरोधस्यासकृदुक्तत्वात्।

यदपि महीधरभाष्यदोषप्रदर्शनाय 'गणानां त्वा गणपतिम्' (वा० सं०) इति मन्त्रस्य भाष्यमुद्धृतम्, तदप्युपहासास्पदमेव, तत्रादोषस्य प्रदर्शितत्वात्। 'अस्मिन् मन्त्रे गणपतिशब्दादश्वो वाजी ग्रहीतव्यः। तद्यथा महिषी यजमानस्य पत्नी यज्ञशालायां पश्यतां सर्वेषामृत्विजामश्वसमीपे शेते। शयाना सत्याह—हे अश्व ! गर्भधं गर्भं दधाति गर्भधं गर्भधारकं

आहवनीय शब्द का प्रयोग आधान के द्वारा संस्कृत अग्नि में किया जाता है। 'आग्नेय' प्रभृति शब्दों में अग्नि के अधिष्ठाता देवता का ग्रहण होता है, क्योंकि केवल भौतिक अग्नि हवि का वाहक नहीं हो सकता। ब्रह्मसूत्र के अनुसार ऐसे स्थलों पर उन उन जड़ पदार्थों के अभिमानी देवता का ग्रहण किया जाता है। सभी देवताओं का पर्यवसान प्राण में और प्राण का पर्यवसान परमेश्वर में होता है। इस परमेश्वर से सब देवता अभिन्न इसलिये हैं कि ये सब उसी की विभूति हैं। ये देवता परस्पर में एक दूसरे से भिन्न हैं। जैसे मिट्टी से सभी घड़े अभिन्न होते हुए भी परस्पर भिन्न होते हैं। इस बात को अनेक स्थलों पर कहा जा चुका है। इसलिये मन्त्रों में कहीं पर अग्नि शब्द परमात्मा का, कहीं देवता का, कहीं आहवनीय अग्नि का और कहीं पार्थिव अग्नि का वाचक माना जाता है। इसलिये सायण का उक्त कथन उचित ही है। अथवा जैसे अग्नि शब्द कहीं आहवनीय अर्थ में प्रयुक्त होता है, कहीं परमात्मा के अर्थ में, उसी तरह से इन्द्र प्रभृति शब्दों से भी कहीं परमेश्वर तथा कहीं देवताविशेष का बोध होता है। इन्द्र प्रभृति नामों से भी परमेश्वर का ही बोध होता है। परमेश्वर ही तो इन्द्र प्रभृति के रूप में भी विद्यमान है, अतः इनमें कहीं भी परस्पर विरोध विद्यमान नहीं।

इस पर स्वामी दयानन्द कहते हैं—'जब इन्द्र आदि नामों से परमेश्वर का ही ग्रहण है, तो वह निराकार, सर्वशक्तिमान्, व्यापक और अखण्ड होने से जन्म लेकर भिन्न भिन्न व्यक्तिवाला कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेदों में परमेश्वर का एक, अज और अकाम अर्थात् शरीर सम्बन्ध रहित, आदि गुणों के साथ वर्णन किया है। इससे सायणाचार्य का यह कहना सत्य नहीं हो सकता' (पृ० ३६७)। किन्तु उनका यह कथन भी एकदम गलत है, क्योंकि 'अजायमानो' प्रभृति श्रुतियाँ परमेश्वर को अजन्मा मानती हुई भी माया के सहारे उसके अनेक कल्पित जन्मों और रूपों की सत्ता स्वीकार करती हैं। इस तरह से स्वामी दयानन्द के इस प्रदर्शित विरोध का समाधान अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर किया जा चुका है।

स्वामी दयानन्द ने महीधर कृत भाष्य में दोष दिखाने के लिये 'गणानां त्वा' प्रभृति मन्त्र के भाष्य को उद्धृत किया है, यह भी उपहासास्पद ही है। इसमें कोई दोष नहीं है, इस बात का प्रतिपादन हम पहले ही कर चुके हैं। स्वामी दयानन्द लिखते हैं—'इस मन्त्र में महीधर ने कहा है कि गणपति शब्द से घोड़े का ग्रहण है। सो देखो महीधर का उलटा अर्थ कि 'सब ऋत्विजों के सामने यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोवे और सोती हुई घोड़े से कहे कि हे अश्व ! जिससे गर्भधारण होता है, ऐसा जो तेरा वीर्य है,

रेतः, अहम् आ अजानि आकृष्य क्षिपामि । त्वं च गर्भधं रेत आ अजासि आकृष्य क्षिपसि' इत्युद्धृत्य, 'अथ सत्योऽर्थः' इत्युक्त्वा 'गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति ब्राह्मणस्पत्यम्', 'ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवेनं तद्भिषज्यति, प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामेति' (ऐ० १।२१), प्रजापतिर्वै जमदग्निः सोऽश्वमेधः। क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशवः। क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम् । ज्योतिर्वै हिरण्यम्' (श० १३।२।२।१४–१७), 'राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधाति । क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोति । अथो क्षत्रं वा अश्वः क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम् । क्षत्रमेव तत् क्षत्रेण समर्धयति । विशमेव तद्विशा समर्धयति' (श० १३।२।२।१६–१९), 'गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति। पत्न्यः परियन्त्यपह्नुवत एवास्मा एतदतोऽन्येवास्यै ह्नुवतेऽथो धुवत एवैनं त्रिः परियन्ति, त्रयो वा इमे लोका एभिरेवैनं लोकैर्धुवते, त्रिः पुनः परियन्ति षट् सम्पद्यन्ते, षड्वा ऋतव ऋतुभिरेवैनं धुवते । अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति, ये यज्ञे धुवनं तन्वते नवकृत्वः परियन्ति नव वै प्राणाः प्राणानेवात्मन् दधते नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्त्याहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधमिति प्रजा वै पशवो गर्भः प्रजामेव पशूनात्मन् धत्ते ।' (श० १३।२।८।४-५) इति वचनानि समुद्धृतानि । उपर्युक्तैर्ब्राह्मणवचनैर्मन्त्रस्य कः सम्बन्ध कश्च ब्राह्मणानुसारी मन्त्रार्थ इति विषये मौनमेवावलम्बितम् ।

यत्तु—'वयं गणानां गणनीयानां पदार्थसमूहानां गणपतिं पालकं स्वामिनं त्वां परमेश्वरं (हवामहे) गृह्णीमः । तथैव सर्वेषां प्रियाणामिष्टमित्रादीनां मोक्षादीनां च प्रियपतिं त्वेति पूर्ववत् । एवमेव निधीनां विद्यारत्नादिकोशानां निधिपतिं पूर्ववत् । वसत्यस्मिन् सर्वं जगद्वा यत्र वसति स वसुः परमेश्वरः, तत्सम्बुद्धौ हे वसो परमेश्वर सर्वान् कार्यान् भूगोलान् स्वसामर्थ्ये गर्भवद्दधातीति गर्भधः । तं त्वामहं भवत्कृपया आजानि सर्वथा जानीयाम् । हे भगवन्, त्वं तु आसमन्ताज्ज्ञातासि । पुनर्गर्भधमित्युक्त्या वयं प्रकृतिपरमाण्वादीनां गर्भधानामपि गर्भधं त्वा मन्यामहे । नैवातो भिन्नः कश्चिद् गर्भधारकोऽस्तीति' (पृ० ३६९) ।

एवमेव ऐतरेयशतपथब्राह्मणयोर्गणपतिशब्दार्थो वर्णितः । ब्राह्मणस्पत्यं अस्मिन् मन्त्रे ब्राह्मणो वेदस्य पतेर्भावो

उसको मैं खैंच के अपनी योनि में डालूँ, तथा तू उस वीर्य को मुझमें स्थापन करने वाला है' (पृ० ३६८) । महीधर के इस अर्थ को गलत बताकर सही अर्थ बताने के लिये स्वामी दयानन्द इसके आगे ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के अनेक स्थलों को उद्धृत करते हैं, किन्तु इन उद्धरणों का मन्त्र के साथ क्या सम्बन्ध है ? अथवा इन ब्राह्मण वचनों के अनुसार इस मन्त्र का अर्थ क्या होता है, इस विषय में चुप्पी साध ली है ।

मन्त्र का अर्थ स्वामी दयानन्द ने इस प्रकार किया है—'जो परमात्मा गणनीय पदार्थों का पति अर्थात् पालन करने वाला है, उसको हम लोग पूज्य बुद्धि से ग्रहण करते हैं । जो हमारे इष्ट-मित्र और मोक्षसुख आदि का प्रिय पति तथा हमें आनन्द में रख कर सदा पालन करने वाला है, उसी को हम लोग अपना उपास्य देव जान कर ग्रहण करते हैं । जो विद्या और सुख आदि का निधि, अर्थात् हमारे कोशों का पति है, उसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को हम अपना राजा और स्वामी मानते हैं । जो व्यापक होकर सब जगत् में और सब जगत् उसमें बस रहा है, इस कारण हम उसको 'वसु' कहते हैं । हे वसु परमेश्वर ! आप अपने सामर्थ्य से जगत् के अनादि कारण में गर्भ धारण करते हैं, अर्थात् सब मूर्तिमान् द्रव्यों को आप ही रचते हैं, इसी हेतु से आपका नाम 'गर्भध' है । मैं ऐसे गुणसहित आप को जानूँ । जैसे आप सब प्रकार से सबको जानते हैं, वैसे ही मुझको भी सब प्रकार से ज्ञानयुक्त कीजिये । दूसरी वार 'गर्भधं' शब्द का पाठ इसलिये है कि जो जो प्रकृति और परमाणु आदि कार्य द्रव्यों के गर्भरूप हैं, उनमें भी सब जगत् के गर्भरूप बीज को धारण करने वाले ईश्वर से भिन्न दूसरा कार्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने वाला कोई नहीं है' (पृ० ३७१) ।

स्वामी दयानन्द आगे लिखते हैं—गणपति शब्द का यही अर्थ ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में किया गया है । इस मन्त्र में ब्रह्म अर्थात् वेद के पति के भाव का वर्णन है । ब्रह्म ही बृहस्पति कहलाता है, इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म (वेद) का उपदेश करके

वर्णितः, ब्रह्म वै बृहस्पतिरित्युक्तत्वात् । तेन ब्रह्मोपदेशेनैवेनं जीवं यजमानं वा सत्योपदेष्टा विद्वान् भिषज्यति रोगरहितं करोति । आत्मनो भिषजं वैद्यमिच्छतीति भिषज्यति । यस्य परमेश्वरस्य प्रथः सर्वत्र व्याप्तो विस्तृतः, सप्रथश्च प्रकृत्याकाशादीनां प्रथेन स्वसामर्थ्येन वा सह वर्तते स सप्रथः, तदिदं नामद्वयं तस्यैवास्ति । प्रजापतिः परमेश्वरो वै निश्चयेन जमदग्निसंज्ञोऽस्ति' (पृ० ३६९) इत्यादि जल्पता दयानन्देन कथं ब्राह्मणवचनानामर्थो योजित इति विद्वांस एव विभावयन्तु । उपर्युक्तानि बहूनि वचनानि पदानि च नैव स्पृष्टानि । सत्यमेव ऋग्वेदालोचनस्य २२८ पृष्ठे नरदेवशास्त्रिणोक्तं यत्—'स्वामिना (दयानन्देन) यजुर्वेदभाष्यकारमहीधराचार्यस्य ऋग्वेदभाष्यकाराणां सायणाचार्यादीनां च भाष्याणि तु खण्डितानि, किन्तु यानि शतपथादिवचनानि समाश्रित्य तादृशं भाष्यं कृतं तेषां सम्बन्धे मौनमेव साधितम्' इति ।

'सर्वान् कार्यान् भूगोलान् परमेश्वरः स्वसामर्थ्ये गर्भवत् कथं दधाति ? सामर्थ्यं तु शक्तिरेव । शक्तिश्च नहि कार्याधिकरणं भवति, किन्तु स्वस्वाधिकरणेष्वेव कार्याणि तिष्ठन्ति । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति' (तै० उ० ३।१) इति वचनेन तु ज्ञायते यत् परमात्मन एव सर्वाणि भूतानि जायन्ते तेनैव जीवन्ति तस्मिन्नेवाभिसंविशन्ति । किञ्च, गर्भवदित्युक्त्या गौण एवार्थो गृहीतस्त्वया, तेन गर्भशब्दस्य शक्योऽर्थोऽन्य एव । नहि मुख्यार्थे सम्भवति भाक्तोऽर्थो युक्तः । किञ्च, गर्भधमिति पुनरुक्त्या गर्भधानामपि गर्भधमिति कुतोऽर्थो गृहीतः ? किञ्च, तत्र बीजम् ? न चैकस्य पदस्य वैयर्थ्यापत्त्या तथार्थकल्पनम्, क्रियान्तरयोगेन तत्सार्थक्यात् । गर्भधमहमजानि त्वं च गर्भधमजासीति क्व नैरर्थक्यम् ?

किञ्च, प्रजापतिः परमेश्वरो जमदग्निसंज्ञोऽस्तीत्यस्य प्रकृते कः प्रसङ्गः ? यत्तु—'जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा, प्रज्वलिताग्नयो वा, तैरभिहुतो भवति' (नि० ७।२४) इति निरुक्तवचनं तत्र प्रमाणत्वेनोक्तम्, तदप्यकिञ्चित्करम्,

हो सत्य का उपदेश करने वाला विद्वान् किसी जिज्ञासु प्राणी अथवा यजमान को रोगरहित करता है, शंका से मुक्त करता है । इस परमेश्वर की व्याप्ति (प्रथ) सब जगह है । प्रकृति, आकाश प्रभृति पदार्थों को रचने की सामर्थ्य होने से यह 'सप्रथ' कहलाता है । प्रथ और सप्रथ ये दोनों नाम इसीलिये ब्रह्म के ही बोधक हैं । प्रजापति अर्थात् परमेश्वर निश्चय ही 'जमदग्नि' के नाम से भी प्रसिद्ध है' (पृ० ३६९) इस तरह ऊलजलूल बात कह कर स्वामी दयानन्द ते उक्त ब्राह्मण वाक्यों का अर्थ कैसा किया है ? इसकी परीक्षा स्वयं विद्वान् ही सावधानी से कर लें । इनमें उक्त ब्राह्मण वाक्यों के अनेक शब्दों को छुआ भी नहीं गया है । ऋग्वेदालोचन (पृ० २९८) में नरदेव शास्त्री का यह कहना ठीक ही है—'स्वामी दयानन्द ने यजुर्वेद के भाष्यकार महीधराचार्य और ऋग्वेद के भाष्यकार सायणाचार्य प्रभृति के भाष्यों का तो खण्डन किया है, किन्तु जिन शतपथ ब्राह्मण आदि के वचनों के आधार पर अपना भाष्य लिखा है, उसकी व्याख्या करने में उन्होंने चुप्पी साध ली है' ।

सभी कार्यों को, भूगोलों को परमेश्वर अपनी सामर्थ्य में गर्भ की तरह कैसे धारण करता है ? सामर्थ्य तो शक्ति को ही कहते हैं । यह शक्ति किसी कार्य का अधिकरण नहीं वन सकती, कार्य तो अपने अपने अधिकरणों में ही रहते हैं । 'यतो वा' इस श्रुति से तो ज्ञात होता है कि परमात्मा से ही सारे कार्य पैदा होते हैं, उसी से जीते हैं और उनका लय भी उसी में हो जाता है । 'गर्भवत्' इस शब्द से मतुप् प्रत्यय होने से गौण अर्थ ही यहाँ गृहीत होता है, गर्भ शब्द का वास्तविक अर्थ तो दूसरा ही है । जब तक मुख्य अर्थ हो सकता हो, तब तक गौण अर्थ नहीं किया जाता । 'गर्भधम्' इस पद की पुनरुक्ति करके गर्भ धारकों का भी गर्भधारक यह अर्थ किस प्रमाण के आधार पर आप करेंगे ? एक अधिक पद का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा, उसकी सार्थकता के लिये भी ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि दूसरी क्रिया का अध्याहार करके भी उस पद को सार्थक बनाया जा सकता है । मैं गर्भधा उत्पन्न हुआ हूँ और तुम भी गर्भधा रूप में ही उत्पन्न हो, ऐसा अर्थ करने पर दोनों ही पद सार्थक हो जाते हैं ।

प्रजापति परमेश्वर जमदग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं, इस वाक्य की प्रकृत प्रसंग में क्या उपयोगिता है ? 'जमदग्नयः' इत्यादि निरुक्त वचन को यहाँ प्रमाण के रूप में आपने उद्धृत किया है (पृ० ३६९), किन्तु उससे भी आपको कोई सहायता नहीं मिल सकती,

तस्यान्यार्थत्वात् । तथाहि निरुक्ते 'कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति । त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्-घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥' (ऋ० सं० १।१६४।४७) इति मन्त्रस्यार्थनिरूपणप्रसङ्गेऽग्निपदार्थविचारः प्रस्तुतः । मन्त्रार्थस्तु—दीर्घतमस आर्षम् । 'तत्र वृष्टिकामस्य कारीर्यामग्नये धामच्छदेऽष्टाकपालं तस्य पुरोऽनुवाक्या' इति मैत्रायणीसंहितावचनेनाग्नेर्वर्षणकर्मणा सम्बन्धो ज्ञायते । अग्नेः पुरोऽनुवाक्यारूपेणायं मन्त्रस्तत्र प्रयुज्यते । तेनाग्निपरोऽयं मन्त्रो ज्ञायते । परमयमग्निरादित्यरूपेणात्र स्तूयत इति प्रकरणादवसीयते । कृष्णं निरयणं रात्रिरादित्यस्य हरयः सुपर्णा हरणा आदित्य-रश्मयस्ते यदाऽमुतोऽर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते सदनाद् स्थानादुदकस्यादित्यादथ घृतोदकेन पृथिवी व्युद्यते, 'घृतमित्युदकनाम' (नि० ७।२४), नियानं नियात्यनेनेति नियानं वर्त्म रात्रिरादित्यस्य, द्वे ह्यस्यायने शुक्लं चोत्तरं कृष्णं दक्षिणं सा हि देवी रात्रिरभिप्रेता । स एष आदित्यो जगदनुग्रहाय गर्भमुदकमात्मनि धिष्णुरुत्तरायणं प्रतिपद्यते । तदैते हरयो रसहरणाः सुपर्णास्तस्य रश्मयः सर्वस्माल्लोकादपो वसाना आत्मन्याच्छादयन्त आददाना दिवं द्योतनवन्तमेतमादित्यं प्रत्युत्पतन्ति तदुदकं गर्भत्वेन निधित्समानाः । एवमुत्तरायणं षड्भिर्मासैराहितोदकगर्भः सम्पद्यते । स एव परिषिक्तोदकगर्भो दक्षिणवर्त्म प्रतिपद्यमानो नभस्यान्मासात्प्रभृति प्रसूयते । ते रश्मयो यदा अमुत आदित्याद् ऋतस्योदकस्य सदनाद् आववृत्रन् पर्यावर्तन्ते अथ तदा घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते । घृतमित्युदकनाम, पृथिवी व्युद्यत इति सामर्थ्यात् । अत्र मन्त्रे मन्त्ररूपादादित्यः प्रकरणादग्निः 'अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति धामच्छद्दिवि भूत्वा वर्षति मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति यदासावादित्योऽग्नि रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति ।' (निरुक्ते ७।२४) । धूमभूता आप ओषधिवनस्पतिभ्यो निर्वर्त्यमाना आहुतिभूताश्चामुं लोकमाविशन्ति । 'अग्नेर्वै धूमो जायते । धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिः' (श० ५।३।५।१७) इति श्रुतेः । ता अग्निस्थानाभि-सम्पत्तिप्रनाडिकया धामच्छद् आदित्यो भूत्वा धाम्नां छादयिता रश्मिमेघरूपैर्मध्यमस्थानमापादयति । तेन सृष्टां वृष्टिं मध्यमस्थानात्तन्मरुतो मेघोदराणि विदार्य तेभ्यो विक्षिपन्तो वृष्टिमस्मिन् लोके नयन्ति । एवं तत्रानेकान् हेतूनुक्त्वा छान्दोमिकं सूक्तमप्यग्नेरेवेति साधितम् । तत्र ह्येतद्विशिष्टं पार्थिवाग्नेर्वाचकं लिङ्गं भवति 'जमदग्निभिराहुतः' (आश्व० श्रौ० सू० ८।९) ।

उस वाक्य का अर्थ कुछ दूसरा ही है । निरुक्त में 'कृष्णं नियानं' इस ऋग्वेदीय मन्त्र का अर्थ करते समय अग्नि पद पर विचार करते समय यह वाक्य कहा गया है । इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है । 'तत्र वृष्टिकामस्य' इस वचन के अनुसार अग्नि का वर्षा से सम्बन्ध प्रतीत होता है । अग्नि की पुरोनुवाक्या के रूप में यह मन्त्र पढ़ा जाता है । इसलिये इस मन्त्र का देवता अग्नि प्रतीत होता है, किन्तु यह अग्नि आदित्य के रूप में यहाँ स्तुत है, इसका निश्चय प्रकरण से होता है । कृष्ण, निरयण काल में सूर्य की किरणें अपने साथ जल लेकर आकाश में पहुँच जाती है । सूर्य की ये ही किरणें जब वहाँ से पुनः लौटती हैं, तो वे पृथिवी को जल से भर देते हैं । निघण्टु के अनुसार घृत उदक (जल) का नाम भी है । नियान शब्द आदित्य के मार्ग का सूचक है । आदित्य की गति दो मार्गों पर होती है, एक शुक्ल अर्थात् उत्तर और दूसरा कृष्ण अर्थात् दक्षिण । ये दिन और रात्रि के प्रतीक है । यह आदित्य जगत् के कल्याण के लिये जल के रूप में गर्भ धारण करने के लिये उत्तरायण मार्ग का अवलम्बन करता है । उस समय पृथिवी के रस को हरण कर लेने वाली इसकी सुन्दर किरणें सब जगह से रस का आहरण कर आदित्य लोक में चली जाती हैं । उत्तरायण के छः मास तक उस जल को गर्भ के समान अपने भीतर इकट्ठा करती रहती हैं । दक्षिणायन काल में वे ही रश्मियाँ गर्भ के प्रसव के समान जल की वर्षा करने लगती हैं । ये रश्मियाँ जब उस आदित्य लोक से पुनः लौटकर आती हैं, उस समय जल से पृथिवी भर जाती है । निरुक्त का कहना है कि अग्नि के कारण वृष्टि होती है । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अग्नि से धूम की उत्पत्ति होती है, धूम से मेघ की और मेघ से वृष्टि होती है । यह अग्नि ही आदित्य का रूप धारण कर अपनी किरणों से सारे स्थानों पर छा जाता है और धूम से बने मेघों को जल से भर देता है । पवन जल भरे मेघों को विदीर्ण कर जल की वर्षा कराता है । इसी प्रसंग में निरुक्त में अन्य भी अनेक हेतुओं का उपन्यास करने के बाद 'जमदग्निभिराहुतः' इस वाक्य को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है कि जमदग्नि गोत्र के ऋषि भी आहुतियाँ देकर इसकी उपासना करते हैं । आहुतियाँ अग्नि में दी जाती हैं, आदित्य में नहीं, क्योंकि अग्नि में आहुति देने का विधान है । आदित्य में आहुति दी भी नहीं जा सकती । इस तरह से इस मन्त्र का प्रमाण देकर निरुक्तकार यह सिद्ध करते हैं कि उक्त मन्त्र का

जमदग्नयो ह्येनमाहुतिभिर्जुह्वति नादित्यम्, अविधानादसम्भववाच्च। तस्मादत्रापि यद्वैश्वानरलिङ्गं तदप्येतस्य पार्थिवस्याग्नेलिङ्गम्, वृषा पावक दीदिहि वृषा वर्षिता हे वैश्वानर पावक, द्युमद् दीप्तिमत् यस्त्वं जमदग्निभिराहुतः, अभिहुतः स त्वमस्माकं कर्मसु नित्यं दीदिहि दीप्यस्व। जमदग्नयः के इत्याह—नित्यप्रजमिताग्नयः प्रभूताग्नयः प्रज्ज्वलिताग्नयः। तस्मादत्राग्निशब्देन पार्थिवोऽग्निर्यो होमाधिकरणभूतः स नित्यप्रज्वलिताग्निभिर्जमदग्निभिर्हूयते। नात्र प्रज्वलिताग्नयः सूर्यादयो न वा तैराहुतः परमेश्वरो विवक्षितः।

यदुक्तम्—'ऐतरेयब्राह्मणे गणपतिशब्दार्थो वर्णितः। अस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मणो वेदस्य पतेर्भावो वर्णितः' इत्यादि, तदपि न युक्तम्, भिन्नत्वात्। शुक्लयजुर्वेदीयात् 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' इति मन्त्राद् ऋग्वेदीयोऽन्यो मन्त्रः। स चेत्थम्—'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्। ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥' (ऋ० सं० २।२३।१), ऐतरेयब्राह्मणेऽस्यैव मन्त्रस्य सम्बन्धे 'गणानां त्वा इति ब्राह्मणस्पत्यं ब्रह्म वै बृहस्पतिः' इत्यादिकमुक्तम्। सायणेन तत्रोक्तम्—तस्मिन् सूक्ते प्रथमाया ऋचस्तृतीयपादे ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पते इति श्रूयमाणत्वाद् इदं सूक्तं ब्रह्मणस्पतिदेवताकम्, ब्रह्म वै बृहस्पतिः, ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति। मन्त्रार्थस्तु—हे ब्रह्मणस्पते, गणानां देवादिगणानां सम्बन्धिनं गणपतिं स्वीयानां पतिं कवीनां क्रान्तदर्शिनां कविं कवित्वशक्तिप्रदातारम् उपमश्रवस्तमम् उपमीयतेऽनयेत्युपमा सर्वेषामन्नानामुपमानं श्रवोऽन्नं यस्य स अतिशयेनोपमश्रवा उपमश्रवस्तमस्तम्, सर्वान्नोपमानवत्तमं सर्वोत्कृष्टसर्वश्रेष्ठभोग्यवत्तमं ज्येष्ठानां प्रशस्यतमानां राजा ज्येष्ठराजस्तम्, ब्रह्मणां मन्त्राणां स्वामिनं त्वा त्वां हवामहे अस्मिन् कर्मण्याह्वयामः। किञ्च, नः अस्माकं स्तुतीः शृण्वन् त्वमूतिभिः पालनैर्हेतुभूतैः सादनं सीदन्त्यस्मिन्निति सादनं यज्ञगृहम्, आसीद उपविश।

'प्रथश्च यस्य सप्रथश्च' इत्यंशस्तु नानेन मन्त्रेण सम्बद्ध्यते। अत एव सायणस्तृचात्मकं सूक्तान्तरं विधत्ते—'प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषो हविर्यत्। धातुर्द्युतानात् सवितुश्च विष्णो रथन्तरमा जभारा वसिष्ठः॥' (ऋ० सं० १०।१८१।१)। अस्यायमर्थः—यस्य वसिष्ठस्य प्रथो नाम पुत्रः, यस्य भरद्वाजस्य सप्रथो नाम पुत्रः,

देवता अग्नि ही है, आदित्य नहीं। ये जमदग्नि कौन हैं? इसी के उत्तर में निरुक्त का उक्त वाक्य उद्धृत किया जाता है। जमदग्नि नाम के ये ऋषि अपने घर में सदा अग्नि को प्रज्वलित रखने वाले हैं। इसलिये अग्नि शब्द से यहाँ पर पार्थिव अग्नि का ही ग्रहण किया जाता है, जिसमें कि हवि दी जाती है। इसी अग्नि में उसको नित्य प्रज्वलित रखने वाले जमदग्नि गोत्र के ऋषि हवन करते हैं। यह प्रज्वलित अग्नि सूर्य प्रभृति या जिस परमात्मा का यजन किया जाता है, वह भी नहीं हो सकता, इसी बात को स्पष्ट करने के लिये निरुक्त के उक्त प्रकरण में यह वाक्य आता है, जिसको कि स्वामी दयानन्द के अर्थ के साथ कोई संगति नहीं बैठती।

ऐतरेय ब्राह्मण में गणपति शब्द का अर्थ बताया गया है, इत्यादि कथन भी गलत है, क्योंकि शुक्ल यजुर्वेद के मन्त्र से ऋग्वेदीय मन्त्र सर्वथा भिन्न है और यह ऐतरेय ब्राह्मण में ऋग्वेदीय मन्त्र के 'गणपति' पद की व्याख्या की गई है, शुक्ल यजुर्वेद के मन्त्र की नहीं। सायण ने इस प्रसंग में कहा है कि उस सूक्त की प्रथम ऋचा के तृतीय पाद में ब्रह्मणस्पति शब्द की उपस्थिति के कारण इस सूक्त का देवता ब्रह्मणस्पति है। हे ब्रह्मणस्पते, आप सभी देवगणों के अधिपति हैं, सभी क्रान्तदर्शी कवियों को कवित्व शक्ति प्रदान करने वाले हैं, अन्न सदृश सभी भोग्य वस्तुओं में आप सर्वोत्तम हैं, वन्दनीयों में भी वन्दनीयतम हैं और आप ही सभी मन्त्रों के अधिपति हैं। हम आपको इस पवित्र यज्ञ में आहुति ग्रहण करने के लिये बुलाते हैं। हमारे द्वारा की गई इस स्तुति को सुनकर आप अपनी अनुग्रह शक्ति के साथ हमारे इस यज्ञमण्डप में आकर बैठिये।

'प्रथश्च यस्य सप्रथश्च' इतना अंश इस मन्त्र से संबद्ध नहीं है, जैसा कि स्वामी दयानन्द ने कर दिया है। वास्तव में तीन ऋचाओं का यह एक पृथक् सूक्त है, उसी का यह प्रथम मन्त्र है। पूरा मन्त्र मूल में उद्धृत कर दिया गया है। इसका अर्थ यह है—जिस वसिष्ठ का प्रथ नाम का पुत्र है और जिस भरद्वाज का सप्रथ नामक पुत्र है, इन वसिष्ठ और भरद्वाज के बीच में से वसिष्ठ ने

तयोर्वसिष्ठभरद्वाजयोर्मध्ये वसिष्ठ आनुष्टुभस्य आनुष्टुप्छन्दसा युक्तस्य हविषो घर्माख्यस्य यद् हविः हविष्ट्वापादकं रथन्तरं रंहः साधनं साम रथन्तरं धातुःसंज्ञात् देवात् द्युतानात् द्योतमानात् सवितुश्च विष्णोश्च आजभार आजहार हृतवान्, वसिष्ठ आनुष्टुभस्य हविषो हविः हविष्ट्वापादकं रथन्तरं साम धातुदेवाद्विष्णोश्चाहृतवान् इत्यर्थः। तृचस्य सूक्तस्य वासिष्ठः प्रथसंज्ञ ऋषिः प्रथमायाः, भारद्वाजः सप्रथो द्वितीयायाः, सूर्यपुत्रो धर्म ऋषिस्तृतीयायाः। तथा चानुक्रान्तम्—प्रथश्चेति। प्रथो वासिष्ठः सप्रथो भारद्वाजः धर्मः सौर्यो वैश्वदेवम्। सूत्रितं चाश्वलायनेन—'गणानां त्वा, प्रथश्च यस्य' (आ० सू० ४।६)। विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु यद् दयानन्दः सर्वमेतदज्ञात्वैव ऐतरेयब्राह्मणस्याभिप्रायं गणानां त्वेति याजुषमन्त्रेण सम्बन्धं योजयत्यस्य ब्राह्मणस्य। प्रथश्चेति मन्त्रं तदभिप्रायं चाज्ञात्वैव प्रथः सर्वत्र व्याप्तो विस्तृतः सप्रथः प्रकृत्याकाशादीनां प्रथेन स्वसामर्थ्येन सह वर्तत इति सप्रथः, तदिदं नामद्वयं तस्यैवास्तीति स्वैरं साहसपूर्वकं यत्किञ्चिदुक्तवान्। इदमेवास्य पाण्डित्यम्। इत्थं सर्वत्र श्रुतिष्वस्य बलात्कार एव।

तृचात्मकं सूक्तान्तरं विधत्ते—'प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामेति। घर्मतन्वः सतनुमेवैनं तत्सरूपं करोतीति' (ऐ० ब्रा० १।२१)। अत्र नामेत्यन्तं सूक्तप्रतीकरूपम्, तत्र सूक्ते पठिताः प्रथश्चेत्यादयस्तिस्र ऋचो घर्मतन्वः प्रवर्ग्यस्य शरीरस्थानीयाः। तन्मन्त्रपाठेनैनं प्रवर्ग्यं सतनुं शरीरोपेतं करोति। सतनुमित्यस्यैव व्याख्यानं सरूपमिति। यद्वा तस्मिन् शरीरे शोभनरूपसहितं प्रवर्ग्यं करोति। 'प्रजापतिर्वै जमदग्निः सोऽश्वमेधः' इति ब्राह्मणवचनेन 'जमदग्नयः' इति निरुक्तवाक्येन च परस्परं न कोऽपि सम्बन्धः। निरुक्ताभिप्रायस्तूक्त एव। प्रजापतिर्वै जमदग्निरित्यादेरयमभिप्रायः—'वस्तुतो न तथा कुर्याद् बार्हंदुक्थीभिराप्रीणीयादित्यन्यमतं निषिद्धम्। जमादग्नीभिरेवाप्रीणीयात्। प्रजापतिर्वै जमदग्निः सोऽश्वमेधः स्वयैवैनं देवतया समर्धयति। तस्माज्जामदग्नीभिरेवाप्रीणीयात्' इत्येतत् पूर्णं वाक्यम्। जमदग्निदृष्टाभिर्ऋग्भिरेनं प्रीणीयात्। कुत एतदित्याह—प्रजापतिरेव जमदग्निः, प्रजापतिदैवतत्वात्। अश्वमेधोऽपि प्रजापतिरूपः। तस्मात्ताभिः प्रीणनेन स्वयैव देवतया एनं समर्धयति। जमदग्निदृष्टास्ताः। 'समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे' (वा० सं० २९।२५), 'सद्योजाते

अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध हवि प्रदायक रथन्तर साम को द्योतमान सविता देवता और विष्णु से प्राप्त किया था। इस तृच सूक्त की प्रथम ऋचा के ऋषि वासिष्ठ प्रथ, दूसरी के भारद्वाज सप्रथ और तीसरी के सूर्यपुत्र धर्म ऋषि हैं। अनुक्रमणी में भी इसी अर्थ का प्रतिपादन किया गया है और यही बात आश्वलायन श्रौतसूत्र में भी बताई गई है। विद्वद्गण इस पर विचार करें कि स्वामी दयानन्द इन सब बातों को बिना समझे-बूझे ही ऐतरेय ब्राह्मण के वाक्य का सम्बन्ध यजुर्वेद के मन्त्र के साथ जोड़ देते हैं। 'प्रथश्च' इत्यादि मन्त्र के अभिप्राय को बिना समझे-बूझे ही उन्होंने प्रथ और सप्रथ शब्द का अपना मनमाना अर्थ किया है और कहा है कि ये दोनों नाम भी उस परमात्मा के ही है। इसी तरह से ये सब जगह मन्त्रों का अर्थ से मनमाने तरीके से निकालते रहते हैं।

तीन ऋचाओं वाले इस सूक्त की बात 'प्रथश्च यस्य' इस ऐतरेय ब्राह्मण के वचन में भी स्वीकृत हैं। इसमें नाम पद पर्यन्त सूक्त का प्रतीक दिया गया है। इस सूक्त में पढ़ी गई तीन ऋचाएँ घर्म (प्रवर्ग्य) का शरीर बनाती हैं, अर्थात् इन तीन ऋचाओं के पढ़ने से ही प्रवर्ग्य का शरीर बनता है। ब्राह्मण वाक्य में सतनु शब्द की ही व्याख्या स्वरूप शब्द से की गई है। अथवा इसका यह भी अर्थ किया जा सकता है कि उस प्रवर्ग्य के शरीर को ये ऋचाएँ सुन्दर बना देती है। 'प्रजापतिर्वै जमदग्निः' इस शतपथ ब्राह्मण के वाक्य का 'जमदग्नयः' इस निरुक्त वाक्य से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। निरुक्त के वाक्य का अभिप्राय हम पहले बता चुके हैं। 'प्रजापतिर्वै०' इत्यादि वाक्य का अभिप्राय यह है—पूरा वाक्य ऊपर उद्धृत कर दिया गया है, जिसका अर्थ होता है कि जमदग्नि ऋषि के द्वारा दृष्ट ऋचाओं से ही इसको प्रसन्न करे, क्योंकि जमदग्नि स्वयं प्रजापति ही है। अश्वमेध का देवता प्रजापति है, अतः वह भी प्रजापति रूप ही है। इसलिये अश्वमेध की देवता को प्रसन्न करने के लिये जमदग्नि दृष्ट ऋचाओं का पाठ हो, यही उचित है। उव्वट का कहना है कि 'समिद्धो अद्य' से लेकर 'सद्यो जाते' इस मन्त्र तक की इन बारह त्रिष्टुप् छन्द वाली

व्यमिमीत' (वा० सं० २९।३६) इत्यन्ताः। 'समिद्धो अद्य द्वादशाप्यस्त्रिष्टुभो भार्गवो जमदग्निरपश्यत्' इत्युव्वटः। तदेतदपि दयानन्देन नावबुद्धम्। मुधैव महीधरादिदोषान्वेषणे वुद्धिः प्रवर्तिता।

'क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशवः' इत्यत्र यदुक्तम्—'यथाश्वस्यापेक्षयेतर इमेऽजादयः पशवो न्यूनबलवेगा भवन्ति, तथा राज्ञः समीपे विट् प्रजा निर्बलैव भवति, तस्य राज्यस्य यद्धिरण्यं सुवर्णादिवस्तु ज्योतिः प्रकाशो वा न्यायकरणमेतत्स्वरूपं भवति। यथा राजप्रजालङ्कारेण राजप्रजाधर्मो वर्णितः, तथैव जीवेश्वरयोः स्वस्वाभिसम्बन्धो वर्ण्यते' (पृ० ३६९-७०) इति। एतत् सर्वथापि शाब्दनये स्वैरचारितैवास्य। 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' इत्याभाणकमेवायमनुसरति। प्रकरणं तावदनेन ज्ञातव्यम्। 'तद्धैके एतेषां पर्य्यङ्ग्याणां नानायाज्यापुरोनुवाक्याः कुर्वन्ति विन्दाम एतेषामवित्र्येतरेषां न कुर्म इति न तथा कुर्यात्। क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशवः प्रतिप्प्रतिनीं ह ते प्रत्युद्यामिनीं क्षत्राय विशं कुर्वन्त्यथो आयुषा यजमानं व्यर्धयन्ति ये तथा कुर्वन्ति तस्मात् प्राजापत्य एवाश्वो देवदेवत्या इतरे क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोत्यथो आयुषा यजमानं प्रसमर्धयन्ति'' (श० १३।२।२।१५) इत्येतत् पूर्णं वाक्यम्। तद्धैके एतेषामश्वादीनां पर्यङ्ग्याणां भिन्नदेवत्यानां नाना पृथक् पृथग् याज्याः पुरोनुवाक्याः कुर्वन्ति। ये तु समानदेवा अश्वतूपरगोमृगास्तेषां तन्त्रेणैव प्रदानम्। याज्यानुवाक्याभेदद्वारेण च प्रदानभेद एवायमुपन्यस्तो वेदितव्यः। एष एव प्रदानभेदो वपानामुपन्यस्तः। पुरोडाशानामप्यङ्गानामपीति वाच्यमविशेषाद् विन्दामो लभामहे। एतेषामश्वादीनां प्राजापत्यादिका याज्यापुरोऽनुवाक्याः। ताः किमिति न पृथक्कुर्मः, इतरेषां तु रोहितादीनां न विन्दामः, त्र्यवयो गायत्र्य इत्यादयो देवताः। तद्दैवत्याश्च दुर्लभाः, लक्षणोपेता याज्यानुवाक्याः। क्षत्रं वै अश्वः, महत्त्वाद् बहूपकरणत्वाद् एकत्वाद्वा। विडितरे पशवः, अल्पत्वादल्पोपकरणत्वाच्च। प्रति प्रति वर्तते प्रतिस्पर्धा सा यस्यां विद्यत इति प्रतिप्रतिनी विट् प्रत्युद्यामिनी प्रत्युद्गमनशीला क्षत्राय क्षत्रस्यैव कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोति। अयमभिप्रायः—प्राजापत्यस्याश्वादेः पृथग् याज्यानुवाक्ये। इतरेषां सर्वेषां साधारण्यौ

ऋचाओं को भार्गव जमदग्नि ऋषि ने देखा था। स्वामी दयानन्द इन सब बातों को बिना जाने-बूझे व्यर्थ ही महीधर के भाष्य में दोषों के अन्वेषण में लग गये हैं।

'क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशवः' इस शतपथ वाक्य की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा है—'जैसे घोड़े के सामने भेड़-बकरी आदि पशु कम वेग और बल वाले होते हैं, उसी तरह से क्षत्रिय के सामने सारी प्रजा निर्बल होती है। उस राज्य का हिरण्य अर्थात् सुवर्ण प्रभृति कीमती वस्तुएँ, या ज्योति अर्थात् प्रकाश ही, याने न्याय करने की सामर्थ्य ही, उसका स्वरूप अर्थात् धन होता है। जैसे राजा और प्रजा के रूपकालंकार से राजा और प्रजा का धर्म बताया गया है, वैसे ही यहाँ पर जीव और ईश्वर का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध भी बता दिया गया है'। किन्तु दयानन्द की यह सारी व्याख्या शाब्द न्याय में मनमानी फैलाने वाली है। मुँह है, इसलिये कोई भी कह ही सकता है कि हरीतकी (हरड़) दस हाथ की होती है, इसी तरह से लेखनी हाथ में है, तो जो मन में आया, लिखा ही जा सकता है। किन्तु समझदारी की बात यह है कि कुछ लिखने से पहले प्रकरण आदि का अनुसन्धान कर लिया जाय। 'तद्धैके' इत्यादि शतपथ वाक्य का यह एक अंग है। उसका अभिप्राय यह है कि कुछ आचार्य भिन्न-भिन्न देवता वाले पशुओं के लिये पृथक् याज्या और पुरोनुवाक्या मन्त्रों का उच्चारण आवश्यक मानते हैं। जो समान देवता वाले अश्व, तूपर, गो, मृग आदि पशु हैं, उनकी तो एक ही मन्त्र से आहुति दे दी जाती है। याज्या और अनुवाक्या के भेद होने पर आहुति में भी भिन्नता आ जाती है। वपा के प्रदान में भी यही भेद माना जाता है तथा पुरोडाश प्रभृति अन्य अंगों में भी हम इसी का अनुसन्धान कर लेते हैं। इस तरह से प्रजापतिदेवताक अश्व प्रभृति पशुओं के लिये याज्या और अनुवाक्या मन्त्रों का प्रयोग नहीं किया जाता, किन्तु अन्य देवताओं के इनसे भिन्न पशुओं के लिये उनका अलग अलग उच्चारण करना पड़ता है। इसी प्रसंग में 'क्षत्रं वाश्वो' इत्यादि वाक्य उद्धृत किया गया है कि प्रजा में क्षत्रिय राजा जैसे प्रधान है, उसी तरह से इस यज्ञ में अश्व की प्रधानता है। इसलिये प्रजापति देवता के लिये दिये जाने वाले अश्व के लिये अलग से ही याज्या और अनुवाक्या मन्त्रों का प्रयोग होना चाहिये और बचे हुए पशुओं की एकतन्त्र से आहुति दे देनी चाहिये। इस तरह से दो ही प्रकार की आहुति देनी चाहिये। दूसरी आहुति में देवताओं का भेद हो जाने पर भी आहुति एक ही रहेगी, तदनुसार

देवदेवत्ये द्वे एव कार्ये। ततश्च भिन्नदेवता अपि सह प्रदेयाः। 'सकृदेव प्राजापत्याभिः प्रचरेयुः सकृद्वैवदेवत्याभिः' (श० १३।५।३।६) इति। तत्र च मुख्यत्वाद् हविषामपि प्रदर्शनार्थं नात्र केवलं क्षत्रस्य प्राबल्यं विशां दौर्बल्यं च विवक्षितम्।

यत्तु—'क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं ज्योतिर्वै हिरण्यम्' इत्याश्रित्योक्तम्—'राज्यस्य यद्धिरण्यं सुवर्णादिवस्तु ज्योतिः प्रकाशो वेत्यादिकम्' इति, तत्तु सर्वथोपहासास्पदम्, प्रकरणानवबोधात्। 'हिरण्मयोऽश्वस्य शासो भवति लोहमयाः पर्यङ्ग्याणामायसा इतरेषां ज्योतिर्वै हिरण्यं राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधाति। अथो हिरण्यं ज्योतिषैव यजमानः स्वर्गं लोकमेति। अथो अनूकाशमेव तं कुरुते स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै'। अश्वस्य हिरण्मयो हिरण्यपरिष्कृतः शासो विशसनसाधनमस्यादिः, पर्यङ्ग्याणां ताम्रपरिष्कृताः शासाः, इतरेषां रोहितादीनामायसाः। ननु हिरण्मय एव कुतो न स्यात् कुतो हिरण्यपरिष्कृतः ? इति चेत्, तथैव विशसनसामर्थ्यात्। यदि तु ताम्रहिरण्यगर्भधारा एव स्युः, ततो विशसनमेव न तैः कर्तुं शक्यते। पर्यङ्ग्याश्चाश्वव्यतिरिक्ता एव ग्राह्याः। अश्वस्य पृथग्वचनात्। आयसा अयोविकाराः, त एव तत्परिष्कृताः। इतरेषां ज्योतिष्मद्धिरण्यं ज्योतिरेव। राष्ट्रमश्वमेधः, राष्ट्रसमृद्धिहेतुत्वात्। अश्वशासस्य हिरण्यपरिष्कृतत्वेन हिरण्यस्य ज्योतिर्मयत्वेन ज्योतीरूपत्वात्। तेन हिरण्यपरिष्कृताश्वशासकरणेन राष्ट्रे ज्योतिर्दीप्तिं शोभां दधाति। तेन ज्योतिषा युक्तो यजमानः स्वर्गं लोकं गच्छति। 'अनूकाशमालोकमनातपं कुरुते स्वर्गस्य प्राप्तये। अथो क्षत्रं वा अश्वः क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम्। क्षत्रमेव तत्क्षत्रेण समर्धयति'। क्षत्रं वाऽश्वः, अभ्यर्हितत्वात्। हिरण्यमप्यभ्यर्हितत्वादेव क्षत्रस्य रूपम्। यथा वै राज्ञोऽराजानो राजकृता मन्त्रिपुरोहिताः स्वभूता अराजानः सूतग्रामण्यश्चोपकरणभूतास्तथैवाश्वस्य पर्यङ्ग्यास्तूपरादयः, एवमेव हिरण्यस्योपकरणभूतास्ताम्रादयः। 'अथो यदायसा इतरेषां विड्वा इतरे पशवः। विश एतद्रूपं यदयो विशमेव विशा समर्धयति'। अत्राश्वमेधक्रतोः प्रधानपशोरश्वस्य हिरण्यपरिष्कृतः शासः कर्तव्यस्तेन राष्ट्रे दीप्तिर्भवतीति, यजमानस्तु तेन स्वर्गमवाप्नोतीत्युक्तम्।

'न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकमञ्जसा वेद' (श० १३।२।३।१) इत्यत्र यदुक्तम्—'नैव मनुष्यः केवलेन स्वसामर्थ्येन सरलतया स्वर्गं परमेश्वराख्यं लोकं वेद, किन्त्वीश्वरानुग्रहेणैव जानाति, अश्वो यत ईश्वरः 'ईश्वरो वा अश्वः' (श० १३।

याज्या और अनुवाक्या मन्त्रों का उच्चारण भी एक बार ही होगा। यहाँ पर देवता और पशु का भेद हो जाने पर भी मन्त्र के उच्चारण में आवृत्ति नहीं की जायगी। इस तरह से यह प्रसंग हवि के प्राबल्य और दौर्बल्य के प्रदर्शन के लिये है, इसमें केवल क्षत्रिय की प्रबलता और प्रजा की दुर्बलता मात्र का प्रतिपादन नहीं किया गया है।

'क्षत्रस्यैतद्रूपम्' इत्यादि की व्याख्या के प्रसंग में यह जो कहा गया है कि राज्य की शोभा धन है और ज्योति का नाम हिरण्य है (पृ० ३७०), वह भी अत्यन्त उपाहासास्पद बात है, क्योंकि स्वामी दयानन्द ने बिना प्रकरण को समझे ही यह लिख मारा है। शतपथ ब्राह्मण के इस प्रकरण में बताया गया है कि अश्व का विशसन करने वाला शस्त्र हिरण्मय, पर्यंगो का लोहमय तथा अन्य पशुओं का आयस (ताम्रपत्र) होता है। इसी प्रसंग में हिरण्य, राष्ट्र, अश्वमेध आदि की प्रशंसा की गई है। अश्व के लिये सुवर्णमय (सुवर्ण मंडित) शस्त्र का प्रयोग करने से राष्ट्र और अश्वमेध की भी शोभा और समृद्धि बढ़ती है तथा यजमान ज्योतिर्मय स्वर्गलोक को प्राप्त करता है। इसी प्रसंग में अश्व और क्षत्रिय की तुलना और प्रशंसा की गई है। यहाँ हिरण्य के समान ही क्षत्रिय और अश्व भी जनता के लिये अभिनन्दनीय हैं। जैसे राजा के मन्त्री, पुरोहित आदि अपने आदमी हैं और सूत, ग्रामणी आदि सहायक होते हैं, उसी तरह से अश्व के तूपर आदि स्ववर्गीय तथा हिरण्य के ताम्र आदि स्वर्गीय पदार्थ माने जाते हैं। इस प्रकार इस पूरे प्रकरण का यह तात्पर्य है कि इस अश्वमेध यज्ञ के प्रधान पशु अश्व का विशसन-साधक शस्त्र यदि सुवर्ण जटित रखा जाता है, तो उससे राष्ट्र के ऐश्वर्य की वृद्धि होती है और यजमान ऐसा कर स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण के इस पूरे प्रकरण को देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दयानन्द अभिमत अर्थ यहाँ एकदम बेतुका लगता है।

'न वै मनुष्यः' शतपथ ब्राह्मण के इस वाक्य की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द ने कहा है—'तथा 'अश्व' नाम परमेश्वर का भी है, क्योंकि कोई मनुष्य स्वर्गलोक को अपने सहज सामर्थ्य से नहीं जान सकता, किन्तु अश्व, अर्थात् ईश्वर ही उनके लिये

३।३।५)। अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत् सोऽश्व ईश्वर इत्युक्तत्वाद् ईश्वरस्यैवात्राश्वसंज्ञास्तीति' (पृ० ३७०), तदपि प्रकरणविरुद्धम्, ईश्वरस्याश्वसंज्ञाविधानस्य निष्प्रयोजनत्वात्। वस्तुतस्तु बृहदारण्यकरीत्याऽश्वमेधोपासनायामत्रापि चाश्वस्य प्रजापतिरूपत्वेन प्रजापतिः स्वर्गं लोकं जानाति न मनुष्य इत्यस्यैव विवक्षितत्वात्। एतस्यैवार्थवादोऽत्रोक्तः। 'देवा वा अश्वमेधे पवमानं स्वर्गं लोकं न प्राजानंस्तमश्वः प्राजानात्। अश्वमेधेऽश्वेन पवमानाय सर्पन्ति स्वर्गलोकस्य प्रज्ञात्यै पुच्छमन्वारभन्ते स्वर्गस्यैव लोकस्य समष्ट्यै' (श० १३।३०।३।५) इति। एवमेव—'राज्यमश्वमेधसंज्ञं भवति। तद्राष्ट्रे राज्यकर्मणि ज्योतिर्दधाति तत्कर्मफलं राजपुरुषाय भवतीति। तत्र सुखायैव विशं प्रजां कृतानुकरां स्ववर्तमानानुकूलां करोति। क्षत्रमेवाश्वमेधसंज्ञकं भवति। तस्य यद्धिरण्यमेतदेव रूपं भवति। तेन हिरण्यान्वितेन क्षत्रेण राज्यमेव सम्यग्वर्धते न च प्रजा। सा तु स्वतन्त्रस्वभावान्वितया विशा वर्धते। अतो यत्रैको राजा भवति तत्र प्रजा पीडिता जायते। तस्मात् प्रजासत्तयैव राज्यप्रबन्धः कार्यः' (पृ० ३७०) इत्यादिकं सर्वं निर्मूलमेव, वाक्य-पद-तदक्षरबहिर्भूतत्वात्। वाक्यसमूहेभ्यो विच्छिद्य विच्छिद्य व्युत्क्रमेण वचनखण्डान्युद्धृतानि, स्वैरमेव प्रकरणविरुद्धान्यसम्बद्धानि तद्व्याख्यानानि कृतानि। (१६, १५, १७, १९) इत्येवं रूपेण वाक्यखण्डान्युद्धृतानि। अस्माभिस्तु (१४,१५,१६,१७,१८,१९) कण्डिकाः समुद्धृत्य तद्व्याख्यानान्युपस्थापितानि।

शतपथे त्रयोदशे काण्डे द्वितीयेऽध्याये द्वितीये ब्राह्मणे संक्षेपेणायमर्थ उक्तः। अश्वमेधस्य यज्ञराजत्वं यजमानाश्वयोर्यज्ञरूपत्वेनाभिन्नत्वं चोपपाद्य पशूनां यूपे नियोजनस्य प्रकृतयज्ञारम्भकत्वप्रतिपादनम् आश्वमेधिकानामश्वतूपरगोमृगैः सह कृष्णग्रीवादिवामनान्तानां पञ्चदशानां पर्यङ्ग्यपशूनां देवतासम्बन्धस्य बन्धनस्थानस्य च सार्थवादमभिधानम्। अश्वस्य पर्यङ्गानि रराटादीनि तेषु भवाः पर्यङ्ग्याः कृष्णग्रीवादयः पर्यङ्ग्या भवन्ति। तेषां द्वादशानां पञ्चदशवज्रात्मकत्वमुक्त्वा तद्रूपेण प्रशंसनम्। मध्यमे यूप आग्नेयावेकादशिनौ द्वौ पर्यङ्ग्याः पञ्चदश चेत्थं सप्तदशपशून् नियुज्यालभेतेति च सार्थ-

स्वर्ग सुख को जनाता है और जो मनुष्य प्रेमी धर्मात्मा हैं, उसको सब स्वर्गसुख देता है' (पृ० ३७१)। किन्तु यह सारा कथन भी प्रस्तुत प्रकरण के विपरीत है। ईश्वर की 'अश्व' संज्ञा रखने का कोई प्रयोजन नहीं है। वास्तव में जो बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार अश्वमेध की उपासना में भी अश्व प्रजापति का ही एक रूप है, अतः इस वाक्य का इतना ही तात्पर्य है कि वह प्रजापति ही स्वर्गलोक को जानता है, सामान्य मनुष्य नहीं। 'देवा वा अश्वमेधे' इत्यादि शतपथ वाक्य में इसी बात का अर्थवाद के रूप में प्रतिपादन किया गया है। इसी तरह से 'राष्ट्रमश्वमेधो०' इत्यादि वाक्य की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा है—'तथा राज्य के प्रकाश का धारण करना सभा का ही काम है और उसी सभा का नाम राजा है। वही अपनी ओर से प्रजा पर कर लगाती है, क्योंकि राजा ही से राज्य और प्रजा से ही प्रजा की वृद्धि होती है' (पृ० ३७१)। किन्तु यह सारा कथन भी बेमतलब का है, उक्त वाक्य के पदों और अक्षरों से भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं हैं। शतपथ ब्राह्मण के बड़े-बड़े प्रकरणों में से तोड़-मरोड़ कर उलटे-सीधे वाक्यों को रखकर ये उनका मनमाना अर्थ करते हैं। यहाँ उन्होंने शतपथ ब्राह्मण के वाक्यों को इस क्रम मे रक्खा है १६, १५, १७, १९। इसके विपरीत हमने ऊपर १४ से लेकर १९ कण्डिका तक के वाक्यों को सिलसिलेवार रखकर उनकी सही व्याख्या कर दी है।

शतपथ ब्राह्मण के त्रयोदश काण्ड के द्वितीय अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में संक्षेप में इस बात को समझाया गया है कि अश्वमेध सभी यज्ञों का राजा है। यजमान और अश्व ये दोनों ही यज्ञ के अंग हैं, अत एव ये दोनों अभिन्न हैं। पशुओं को यूप में बाँधने के साथ इस यज्ञ का आरम्भ होता है। अश्वमेध में प्रयुक्त होने वाले अश्व, तूपर, गो, मृग के साथ कृष्णग्रीव से लेकर वामन पर्यन्त पन्द्रह पर्यंग्य पशुओं का उन उन देवताओं से सम्बन्ध बता कर उनको कहाँ कहाँ बाँधा जाय, इस बात को अर्थवाद वाक्यों के साथ यहाँ बताया गया है। इनके साथ ही अग्नि देवता के दो पशुओं को मिला देने पर इन पशुओं की संख्या सत्रह हो जाती है। कुछ आचार्यों का कहना है कि इन पशुओं का आप्रीणन 'समिद्धो अञ्जनम्' प्रभृति एकादश मन्त्रों से करना चाहिये। इस पक्ष का खण्डन कर यहाँ बताया है कि 'अद्य मनुषो दुरोणे' प्रभृति एकादश मन्त्रों से इनका विनियोजन करना चाहिये। इसके आगे किसी आचार्य के इस मत को बताया गया है इन अश्व प्रभृति पर्यंग्य पशुओं के लिये अलग अलग याज्या और पुरोनुवाक्याओं का प्रयोग करना चाहिये।

वादं कथनम्, इतरेषु तु यूपेषु षोडश षोडश पशून्नियुज्यालभेतेति च सार्थवादमभिधानम्, तानेतान् पशून् कथमाप्रीणीयादित्याशङ्क्य 'समिद्धो अञ्जन्' इत्यादिभिरेकादशभिर्बार्हदुक्थीभिराप्रीणीयादिति केषाञ्चिन्मतमुपन्यस्य तत्प्रतिषिद्ध्य 'समिद्धा अद्य मनुषो दुरोणे' इत्यादिभिरेकादशभिर्जामदग्नीभिरेवाप्रीणीयादिति सिद्धान्तप्रदर्शनम्। एतेषामश्वादिपर्यङ्ग्यपशूनामेके पृथक् पृथग् याज्यापुरोऽनुवाक्याः कुर्वन्तीति केषाञ्चिन्मतमुपन्यस्य तत्तथा न कुर्यादिति सकारणं प्राजापत्यस्याश्वादेः पृथग् याज्यानुवाक्ये कर्तव्ये, इतरेषां सर्वेषां साधारण्यौ देवदेवत्ये द्वे एव कर्तव्ये इति सकारणं सार्थवादं स्वमतनिरूपणम्।

अश्वस्य हिरण्यपरिष्कृतः शासः, ताम्रपरिष्कृताः शासा इतरेषाम्, रोहितादीनां त्वायसाः शासा भवन्तीति सार्थवादं कथनम्। तत्राश्वस्य हिरण्यस्य च क्षत्ररूपत्वेन प्रशंसनम्, पर्यङ्ग्यशासपरिष्करणसाधनस्य ताम्रस्य सदृष्टान्तमुपकरणत्वेन प्रशंसनम्, इतरेषां रोहितादिपशूनां तच्छासप्रकृतिद्रव्यस्यायसश्च खड्गरूपेण प्रशंसनम्। अश्वस्यावदानानामाहवनीयोत्तरपार्श्वे वेतसशाखामये कटे निधानस्य सार्थवादमभिधानमिति स्थूलरूपेणार्थावगतावपि नैवंविधोऽसङ्गतोऽर्थो निरूपयितुं शक्यते, यथा दयानन्देन एवमनर्गलप्रलापेनापि गणानां त्वेत्यस्य सम्बन्धे न किञ्चिदुक्तम्। तेन सर्वमेतद् व्यर्थमेवोक्तम्।

यत्तु गणानां त्वेति सम्बन्धे—'स्त्रियोऽप्येनं राज्यपालनाय विद्यामयं सन्तानशिक्षाकरणयज्ञं परितः सर्वतः प्राप्नुयुः। प्राप्ताः सत्योऽस्य सिद्धये यदपह्नवाख्यं कर्माचरन्ति, अतः कारणाद् एतद् एतासामन्ये विद्वांसो दूरीकुर्वन्ति। अथो इत्यनन्तरं य एनं विचालयन्ति तानप्यन्ये दूरीकुर्युः। एवमस्य त्रिवारं रक्षणं सदा कुर्युः। एवं प्रतिदिनमेतस्य शिक्षया रक्षणेन चात्मशरीरबलानि सम्पादयेयुः। ये नराः पूर्वोक्तं गर्भधं परमेश्वरं जानन्ति, नैव तेभ्यो बलपराक्रमादयोऽपक्रामन्ति। तस्मान्मनुष्यस्तं गर्भधं परमेश्वरमहमाजानि समन्ताज्जानीयामितीच्छेत्। (प्रजा वै पशवः) ईश्वरसामर्थ्याद् गर्भात् सर्वे पदार्था जायन्त इति योजनीयम्। यश्च पशूनां प्रजानां मध्ये विज्ञानवान् भवति स इमां सर्वां प्रजामात्मनि, अतति सर्वत्र व्याप्नोति, तस्मिन् परमेश्वरे वर्तत इति धारयति' (पृ० ३७०) इत्यर्थकरणम्, तत्सर्वं सर्वथा शाब्दन्यायविरुद्धं यत्किञ्चित्प्रलापमात्रम्, पदवाक्यबहिर्भूतत्वात्। सत्यं त्वदीयादर्थान्महीधरस्यार्थो विरुद्धः, । न केवलं तस्यैव, किन्तु सर्वस्यैव सचेत-

साथ ही इस मत का खण्डन करते हुए यह भी कह दिया गया है कि प्राजापत्य अश्व के लिये इनका अलग से विधान करना चाहिये। बाकी सबका दो देवताओं के अन्तर्गत ही एक तन्त्र से विधान कर देना चाहिये। आगे बताया गया है कि अश्व का शस्त्र हिरण्य से परिष्कृत (सुवर्णमंडित) तथा बाकी पशुओं का ताम्र परिष्कृत होना चाहिये। रोहित प्रभृति का शस्त्र लोहमय होता है। इस बात को अर्थवाद के साथ बता कर यहाँ अश्व और हिरण्य की क्षत्र के रूप में प्रशंसा की गई है। पर्यंग्य पशु और उसके शस्त्र के परिष्करण के साधन ताम्र की दृष्टान्त के साथ उपकरण के रूप में प्रशंसा की गई है और रोहित प्रभृति पशु और उसके शस्त्र के प्रकृतिभूत द्रव्य लोह की खड्ग के रूप में प्रशंसा की गई है। इस तरह से शतपथ ब्राह्मण के इस प्रकरण से मोटे रूप में भी स्वामी दयानन्द को इस बात का ज्ञान हो जाता, तो वे ऐसा असंगत अर्थ इन वाक्यों का न करते। इतना सब कह लेने के बाद भी स्वामी दयानन्द ने शुक्ल यजुर्वेद के 'गणानां त्वा' इस मन्त्र के अर्थ के विषय में कुछ भी नहीं कहा है, इस तरह से उनकी यह सारी व्याख्या व्यर्थ हो गई है।

'गणानां त्वा' इस मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में यह लिखा गया है—'स्त्री लोग भी राज्य पालन के लिये विद्या की शिक्षा सन्तानों को करती रहें। जो इस यज्ञ को प्राप्त होकर भी सन्तानोत्पत्ति आदि कर्म में मिथ्याचरण करती हैं, उनके इस कर्म को विद्वान् लोग पसन्द नहीं करते। जो पुरुष सन्तान आदि को शिक्षा में आलस्य करते हैं, अन्य लोग बाँध कर उनको ताड़ना देते हैं। इस प्रकार तीन, छः या नौ बार इसकी रक्षा में आत्मा, शरीर और बल को सिद्ध करे। जो मनुष्य परमेश्वर की उपासना करते हैं, उनके बल आदि गुण कभी नष्ट नहीं होते। प्रजा के कारण का नाम गर्भ है। उसके समतुल्य वह सभा प्रजा और प्रजा के पशुओं को अपनी आत्मा में धारण करे। अर्थात् जिस प्रकार अपना सुख चाहे, वैसे ही प्रजा और उसके पशुओं का भी सुख चाहे' (पृ० ३७१), किन्तु इस तरह का अर्थ करना सर्वथा शाब्द न्याय के विरुद्ध थोथा प्रलापमात्र है। इसका श्रुतिगत पदों या वाक्यों से कोई भी

सोऽर्थोऽस्मादर्थाद् विरुद्धो भविष्यति। काः पत्न्यः ? किञ्च पर्ययणम् ? सन्तानशिक्षाकरणं कस्य शब्दस्यार्थः ? अपह्नवाख्यं कर्म किम् ? सर्वमप्येतद् अक्षरबाह्यं प्रकरणविरुद्धमसम्बद्धं च। 'त्रयो वा लोकाः, एभिरेवैनं धुवते, त्रिः पुनः परियन्ति' इत्यस्य कर्त्र्यस्तु पत्न्य एवान्ये वा ? विद्वांसो दूरीकुर्वन्तीति कुतो गृहीतम् ? के ते य एनं विचालयन्ति कं च विचालयन्ति ? इत्येतत्सर्वमसमाहितमेव। हिन्दीव्याख्याने तु—'राज्यपालनार्थं स्त्रियोऽपि सन्तानेभ्यो विद्याः शिक्षयन्ति। इमं च यज्ञं प्राप्यापि या मिथ्याचरणं कुर्वन्ति विद्वांसो न ताभ्यः प्रसीदन्ति। ये पुरुषाः सन्तानादिशिक्षणाय अलसा भवन्ति, अन्ये ता बध्नन्ति ता उपमा एवं त्रिधा षोढा नवधा एतद्रक्षित्वा आत्मशरीरबलानि साधयेयुः' इत्युक्तम्।

वस्तुतस्तु बृहदारण्यकेऽश्वमेधोपासनेऽश्वः प्रजापतिरूपेणोपास्यते। 'उषा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्मा अश्वस्य मेध्यस्य द्यौः पृष्ठम् अन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शवो ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि अवध्यं सिकता सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचन् जघनार्धो तद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधुनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक्' (बृ० उ० १।१।१) अत्राश्वमेधविज्ञानायाश्वविषयं दर्शनमुच्यते प्राधान्यादश्वस्य, तन्नामाङ्कितत्वात् क्रतोः। कर्माङ्गस्य पशोः संस्कर्तव्यत्वात् कालादिदृष्टयः शिरआदिषु क्षिप्यन्ते। प्राजापत्यत्वं च पशोः प्रजापतिदृष्ट्यध्यारोपणात् काललोकदेवतात्वाध्यारोपणं च प्रजापतित्वकारणं पशोः। एवंरूपो हि प्रजापतिः, विष्णुत्वादिकरणमिव प्रतिमादौ। सर्वमेतच्छाङ्करभाष्ये स्पष्टम्।

उषा ब्राह्मो मुहूर्तः, शिरःप्राधान्यात् शिरश्च प्रधानं शरीरावयवानाम्। सूर्यः चक्षुः, वातः प्राणः, वैश्वानरोऽग्निर्व्यात्तम्, मुख्याग्निदैवतत्वात्। संवत्सरोऽस्य आत्मा। 'शरीरं मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा' इति श्रुतेः। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं पादस्यमिति वर्णव्यत्ययेन पादासनस्थानमित्यर्थः। दिशश्चतस्रः पार्श्वे, पार्श्वेन दिशां सम्बन्धात्,

सम्बन्ध नहीं है। यह कहना तो ठीक ही है कि स्वामी दयानन्द के अर्थ से महीधर का अर्थ विपरीत है। इतना ही क्यों, किसी भी समझदार आदमी का किया अर्थ इससे विपरीत ही पड़ेगा। पत्नियां कौन हैं और यह पर्ययण क्या है ? सन्तान को शिक्षा देना किस शब्द का अर्थ है ? अपह्नव नामक कर्म क्या है ? ये सारी बातें प्रकरण से विरुद्ध और असंबद्ध भी हैं। तीन बार रक्षा करने की बात आपने कही है, वह कार्य पत्नियां करती हैं या कोई दूसरे व्यक्ति ? विद्वान् उसको दूर कर देते हैं, यह बात आपने कहाँ से निकाली ? विचलित कर देने वाले कौन हैं और वे किसको विचलित करते हैं ? इन सबका समाधान होना कठिन है। इसकी हिन्दी व्याख्या में जो कुछ कहा गया है, उसको ऊपर लिख दिया गया है।

वस्तुतः बात यह है कि वृहदारण्यक उपनिषद् में विहित अश्वमेध उपासना में अश्व की प्रजापति के रूप में उपासना की जाती है। 'इस पवित्र अश्व का शिर उषा है' इत्यादि से इस प्रजापति स्वरूप अश्व का वर्णन वहां मिलता है। अश्वमेध की विज्ञानसंमत व्याख्या प्रस्तुत करने के लिये यहाँ अश्व (प्रजापति) का दार्शनिक स्वरूप बताया गया है। कर्म के अंगभूत पशु के अवयवों का संस्कार किया जाता है, उसी तरह से यहां प्रजापति के अंगों की कल्पना कर उनका संस्कार किया आता है। पशुओं में काल, लोक और देवतात्व का अध्यारोप इसी प्रजापतीकरण प्रक्रिया का अंग है कि यह अश्व उसी तरह से प्रजापति का प्रतिनिधि है, जैसे कि प्रतिमा प्रभृति में विष्णु, शिव आदि बुद्धि का अध्यारोप किया जाता है। ये सब बातें वहां के शांकर भाष्य में स्पष्ट रूप से बताई गई हैं।

उषा काल को प्रजापति का शिर बताया गया है। शिर शरीर के सभी अंगों में प्रधान होता है, उसी तरह से उषा काल (ब्राह्म मुहूर्त) भी सारे दिन में प्रधान माना जाता है। सूर्य इसका चक्षु, पवन प्राण और वैश्वानर अग्नि इसका खुला हुआ मुँह है। मुख का अधिपति देवता अग्नि को ही माना गया है। संवत्सर इसकी आत्मा, अर्थात् श्रुति के अनुसार इसका मध्य भाग है। द्युलोक पृष्ठ भाग, अन्तरिक्ष उदर और पृथिवी इसका पैर रखने का स्थान है। चारों दिशाएँ इसके दोनों पार्श्व हैं। इन दोनों पार्श्वों से सभी

सर्वमुखत्वोपपत्त्या पार्श्वाभ्यां सर्वदिशां सम्बन्धात्। अवान्तरदिश आग्नेय्यादयः पर्शवः पार्श्वस्थानीयानि, ऋतवोऽङ्गानि। मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाणि सन्धयः। अहोरात्राणि प्रतिष्ठाः, प्रतितिष्ठत्येतैरिति प्रतिष्ठाः पादाः। नक्षत्राण्यस्थीनि। नभो नभःस्था मेघा मांसानि, उदकरुधिरसेचनसामान्यात्। अबन्ध्यमुदरस्थमजीर्णमशनं सिकताः, विश्लिष्टावयवत्वसामान्यात्। सिन्धवो नद्यः, गुदा नाड्यो यकृच्च क्लोमानश्च हृदयस्याधस्ताद्दक्षिणोत्तरौ मांसखण्डौ पर्वताः काठिन्यादुच्छ्रितत्वाच्च। ओषधयः क्षुद्राः स्थावराः वनस्पतयोऽश्वत्थादयः। लोमानि केशाश्च उद्यन् उद्गच्छन् सविताऽस्य पूर्वार्धो नाभेरूर्ध्वं निम्लोचन्नस्तं गच्छन् अपरार्धः। यद्विधुनुते गात्राणि कम्पयति तत्स्तनयति गर्जति यन्मेहति तद्वर्षति वागेव वागित्यादिस्तत्रत्यः शाङ्करभाष्यसारः।

तथा चाश्वमेधीयोऽश्वोऽत्र प्रजापतिरूपत्वेन यजमानपत्नीभिः प्रार्थ्यते। न मृतेनाश्वेन संभोगादिकं काम्यते, असम्भवादविहितत्वाच्च। 'अश्वं त्रिस्त्रिः परियन्ति पितृवन्मध्ये गणानां प्रियाणां निधीनामिति' (का० श्रौ० सू० २०।६।१३) इति कात्यायनमहर्ष्युक्तरीत्या सर्वाः पत्न्यः पान्नेजनहस्ताः प्राणशोधनात् प्राग् अश्वं त्रिस्त्रिः परियन्ति। पितृवद् अप्रदक्षिणं परियन्ति त्रिस्त्रिभिर्मन्त्रैरर्थात् प्रथमं गणानामिति त्रिः प्रदक्षिणं परियन्ति। तत्र सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीम्। ततः प्रियाणामित्यप्रदक्षिणं त्रिः, निधीनामिति प्रदक्षिणम्। एवं नवकृत्वोऽश्वपरिक्रमणम्। परिक्रमणं च पूजनमेव भवतीति सर्वो जानाति। त्रीणि यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। अतोऽत्र प्रजापतिरूपोऽश्वो देवता। मन्त्रार्थस्तु—हे अश्व प्रजापते, गणपतिं गणानां मध्ये गणपतिं गणरूपेण पालकम्। नहि मृतोऽश्वः पालकः सम्भवति। गण्यन्ते ये ते गणाः स्त्रीगणा देवगणा महदादिगणा वा तेषां प्रजापतिः पालको भवत्येव। प्रियाणां वल्लभानां प्रेमास्पदानां मध्ये प्रियपतिं प्रियस्य पालकं निधीनां रत्नादिसुखतत्साधननिधीनां मध्ये निधिपतिं सुखपालकं त्वां हवामहे। नह्येतत्सर्वं मृतेऽश्वपशौ सम्भवति, किन्तु पूर्वोक्तश्रुत्यनुसारेण शालग्रामे

दिशाओं का सम्बन्ध रहता है, क्योंकि इनका मुंह चारों दिशाओं में फैला रहता है। आग्नेय प्रभृति विदिशाएँ इसकी पसलियाँ हैं, जो कि ऋतुओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। मास और अर्धमास इनकी सन्धियाँ हैं। अहोरात्र इसके पैर हैं। नक्षत्र अस्थियाँ हैं। आकाश में विद्यमान मेघ इसके मांस के समान है, क्योंकि मांस में जैसे रुधिर समाया रहता है, वसो तरह से मेघ में जल समाया रहता है। पेट में विद्यमान बिना पचा हुआ अन्न सिकता (बालू) के समान है। सिन्धु गुदा के समान है। जिगर और तिल्ली पहाड़ों के समान हैं, क्योंकि स्पर्श में ये कठोर और उभड़े हुए होते हैं। ओषधि और वनस्पति अर्थात् पेड़-पौधे इसके लोम और केश हैं। उगता हुआ पूर्वाह्ण का सूर्य इसकी नाभि से ऊपर के भाग का निर्माण करता है और अस्ताभिमुख अपराह्ण का सूर्य इसके नाभि से नीचे के भाग का निर्माण करता है। जब यह अपने अंगों को कँपाता है, तो उससे मेघगर्जना होने लगती है। जब यह लघुशंका करता है, तो पानी बरसने लगता है। स्वयं वाग्देवता ही इसकी वाणी है। उक्त बृहदारण्यक श्रुति का यह शांकर भाष्य है।

इस तरह से यह अश्वमेधीय अश्व प्रजापति के रूप में ही यजमान पत्नियों के द्वारा उपासित होता है, मृत अश्व के साथ संभोग आदि की बात यहाँ उठती ही नहीं, क्योंकि एक तो यह असम्भव है, दूसरे इस तरह का विधान भी कहीं नही है। 'अश्वं त्रिः' इत्यादि कात्यायन के वचन के अनुसार यजमान की सभी पत्नियाँ पंखा हाथ में लेकर अश्व की तीन तीन बार प्रदक्षिणा करती है। अर्थात् पहले 'गणानां त्वा' इस मन्त्र का उच्चारण कर तीन प्रदक्षिणा करती हैं, इनमें से पहली प्रदक्षिणा करते समय मन्त्र का उच्चारण किया जाता है और शेष दो प्रदक्षिणाएँ चुपचाप की जाती हैं। इसी तरह से 'प्रियाणां त्वा' और 'निधीनां त्वा' इन मन्त्रों का भी इसी तरह से उच्चारण करते हुए तीन तीन प्रदक्षिणाएँ की जाती हैं। इस तरह से ये नौ परिक्रमाएँ पूरी होती हैं। परिक्रमा पूजन का ही एक अंग है, इस बात को सब कोई जानते हैं। इस तरह से इन तीन यजुर्मन्त्रों का प्रजापति रूप अश्व ही देवता है। पूरे मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—हे प्रजापति स्वरूप अश्व, गणों के मध्य में गण के रूप में आप सब के पालक हैं। मरा हुआ घोड़ा किसी की रक्षा नहीं कर सकता। गण शब्द गिनती के अर्थ में है। स्त्रीगण, देवगण, महदादिगण आदि में उन उन की गिनती होती है। इन सब गणों के प्रजापति पालक हैं। यह प्रजापति अपने परम इष्ट प्राणियों के बीच में उनका पालक माना है और रत्न आदि नाना प्रकार के सुख-साधनों के बीच में उन सब निधियों का स्वामी माना जाता है। ऐसे प्रजापति को हम अपने इस पवित्र यज्ञ में बुलाते हैं। ये सब

विष्णुरिवाश्वमेधीयोऽश्वः प्रजापतिरेव प्रार्थ्यते सम्बोद्धयते च। हे वसो वसुरूपाश्व! वृहदारण्यकश्रुत्यनुसारेण अश्वस्य पृथिव्यादिरूपत्वात्। मम पतिस्त्वं भूयाः। प्रजापतिश्च सोपाधिकः परमेश्वर एवेत्यश्वद्वारा स परमेश्वर एव पतित्वेन प्रार्थ्यते। नह्यश्वस्तस्य मृतत्वात्। तदीयाङ्गानि च शोधितानि। 'प्रक्षालितेषु शोधितेषु महिष्यश्वमुपसंविशन्त्याहमजानीति' (का० श्रौ० सू० २०।६।१४) इति सूत्रात् प्रक्षालितेषु शोधितेषु पशूनां प्राणेषु पत्नीभिरध्वर्युणा यजमानेन प्राणशोधने कृते महिषी अश्वसमीपे शेते। हे अश्व, गर्भधं गर्भधारकं रेतः अहम् आ अजानि आकृष्य क्षिपामि। अज गतिक्षेपणयोः। तं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसीति महीधरभाष्याभिप्रायः। अयमेवाभिप्रायः सायणोव्वटयोरपि, अयमेव च कात्यायनमहर्षेः शतपथादिब्राह्मणानामपि च।

यत्तु—'ता उभौ चतुरः चतुरः पदः' इति मन्त्रस्य 'अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते, महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति' (पृ० ३७२) इत्युक्तम्, न केवलं दयानन्देन किन्तु चार्वाकेणापि—'अश्वस्यात्र हि शिश्नं तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम्' इत्युक्तम्। केश्चित्सामाजिकैस्त्वेतेन पातिव्रत्यभङ्गोऽपि शङ्कितः, परन्तु नियोगेनैकादशसंख्याकैः पुरुषैर्यथेच्छसन्तानोत्पादनैर्विधवाविवाहैश्च पातिव्रत्यं परिपाल्यते! तद्रीत्या दयानन्देन तदनुयायिभिश्च शतपथवचनानि वेदार्थनिकषतया तत्र तत्रोद्धृतानि। सायणोव्वटमहीधरैस्तु कातीयश्रौतसूत्रवचनानि शतपथवचनानि चानुसृत्यैव मन्त्रार्था लिखिताः।

पत्न्यः परियन्तीत्यत्र न सामान्यस्त्रियो गृह्यन्ते, किन्त्वश्वमेधयजमानस्थ राज्ञः पत्न्यो गृह्यन्ते। 'तस्मिन् एनमधि संज्ञपयन्ति। संज्ञप्तेषु पशुषु पत्न्यः पान्नेजनैरुदायन्ति। चतस्रश्च जायाः। कुमारी पञ्चमी। चत्वारि शतानि अनुचरीणाम्'। (श० १३।५।२।१) इति श्रुतेः। हरिस्वामिरीत्या गणानां त्वेति मन्त्रेण सकृदेव सर्वाः पत्न्योऽश्वं परियन्ति परिभ्रमन्ति। अपह्नुवती विस्मरन्त्येवास्मै एतत्प्रदक्षिणावर्तनेन संज्ञपनमुन्नयन्तीत्यर्थः। अपि वाऽविस्मृतमपि निह्नुवन्ति क्षमयन्ति च

वस्तुएँ मरे हुए यज्ञीय अश्व से नहीं माँगी जा सकती, किन्तु पूर्वोक्त श्रुति के अनुसार अश्वमेधीय अश्व में प्रजापति की बुद्धि रखकर उसी से प्रार्थना की जाती है, जैसे कि शालग्राम शिला में विष्णु बुद्धि रख कर उससे मनोवांछित फल माँगा जाता है। हे वसुस्वरूप अश्व! बृहदारण्यक श्रुति के अनुसार इस प्रजापति अश्व का स्वरूप पृथिवी से भी बना है, अतः उससे प्रार्थना की जाती है कि तू ही मेरा पति है। सोपाधिक परमेश्वर ही प्रजापति है, अतः इस प्रजापति अश्व के माध्यम से परमेश्वर से ही प्रार्थना की जाती है कि आप मेरे पति होवें, अश्व से यह प्रार्थना नहीं की जा सकती, क्योंकि वह तो मर चुका है। उस अश्व के अंगों की वेद मन्त्रों से और जल से शुद्धि कर दी गई है। महीधर के भाष्य का इतना ही अभिप्राय है। सायण, उव्वट प्रभृति ने भी यही अर्थ किया है और यही अर्थ महर्षि कात्यायन तथा शतपथब्राह्मण संमत भी है।

'ता उभौ' इस मन्त्र का महीधर संमत अर्थ लिखते हुए स्वामी दयानन्द ने कहा है कि 'यजमान की स्त्री घोड़े के लिंग को पकड़ कर आप ही अपनी योनि में डाल लेवें' (पृ० ३७२)। यह बात केवल दयानन्द ने ही नहीं, चार्वाकों ने भी कही है कि 'वेद में घोड़े के लिंग को पत्नी के द्वारा पकड़ने लायक माना गया है।' कुछ आर्यसमाजी तो इसमें पातिव्रत्य के भंग की आशंका भी व्यक्त करते हैं। ये लोग नियोग के माध्यम से ग्यारह पुरुषों से मनमानी सन्तान पैदा करके और विधवा विवाह करके पातिव्रत्य का अच्छा पालन करते हैं! स्वामी दयानन्द ने और उनके अनुयायियों ने इस तरह के प्रसंगों में शतपथ ब्राह्मण के वचनों को अर्थ की कसौटी के रूप में माना है, किन्तु उनको यह बात याद रखनी चाहिये कि सायण, उव्वट, महीधर प्रभृति आचार्यों ने अपना भाष्य कात्यायन श्रौतसूत्र और शतपथ ब्राह्मण के वचनों के आधार पर ही किया है।

'पत्न्यः परियन्ति' इस शतपथ वाक्य में सामान्य स्त्रियों की चर्चा न होकर अश्वमेध यज्ञ के यजमान राजा की पत्नियों की चर्चा है। 'पशुओं का संज्ञपन हो जाने के उपरान्त पंखा हाथ में लिये यजमान पत्नियाँ परिक्रमा करती हैं। इनमें राजा की चार पत्नियाँ, एक कुमारी और इनके साथ चार सो दासियाँ रहती हैं' ऐसा शतपथ ब्राह्मण में वर्णन है। हरि स्वामी के मत के अनुसार 'गणानां त्वा' इस मन्त्र से सब पत्नियाँ एक बार ही अश्व की परिक्रमा करती हैं। इस प्रदक्षिणा के माध्यम से वे पत्नियाँ उस घोड़े के संज्ञपन को एक प्रकार से छिपा देती हैं। अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि इस तरह से ऋत्विक् और यजमान इस विशसन

ऋत्विग्यजमानाः। एतत्संज्ञपनकरणेन अथो धुवते (धूञ् कम्पने) धवित्रैर्व्यंजनैरुपबीजयन्ति राजानमिव व्यजनैरेतत्। त्रिः पुनः परियन्ति पत्न्यः। प्रियाणां त्वा प्रियेति। त्रिः परियन्तित्यत्रोपपत्तिः—त्रयो वा इमे लोकाः। एभिरेवैनं तल्लोकैर्धुवते। त्रिः पुनः परियन्ति निधोनां त्वेति। तेन षट् सम्पद्यन्ते। षड्वा ऋतवो भवन्ति ऋतुभिरेवैनं धुवते। अर्थान्महीधरोक्तरीत्या सर्वाः पत्न्योऽश्वं प्रजापतिरूपं प्रजापतिबुद्ध्यैव त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रिस्त्रिरर्थान्नवकृत्वः परियन्ति पर्ययणकाले धवित्रैरेनमुपवीजयन्ति। प्रथमपर्ययण त्रके त्रिभिर्लोकैर्धुवनं द्वाभ्यामपराभ्यां पर्ययणं त्रिकाभ्यामृतुभिर्धुवनमिति कल्पनया तत्प्रशंसनम्। अथवा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति……ये यज्ञे धुवनं तन्वते ऋत्विग्यजमानाः पत्नी कर्तृकाश्वपर्ययणद्वारेण यज्ञे वीजितेन प्राणा अपक्रामन्ति, प्राणानां वाय्वात्मकत्वात्। पत्न्यो नवकृत्वः परियन्ति। तस्मान्नेभ्य ऋत्विग्यजमानेभ्यः प्राणा अपक्रामन्ति। पत्नीष्वेवं परियन्तीषु तस्मान्नवकृत्वः पर्ययणं युक्तमेव। नव वै प्राणाः, नवकृत्वः पर्य्ययणेन प्राणानेवात्मनि सन्दधते। आहमजानि गर्भधम् आ त्वमजासि गर्भधमित्यस्याभिप्रायमाह—प्रजाः पशव एव गर्भः प्रजापतिरूपस्याश्वस्य तेजोरूपगर्भधारणेन प्रजोत्पद्यते। प्रजा च पशव एव। तस्मात्तेनात्मनि प्रजापश्वादिधारणं सम्पद्यते।

महीधररीत्या आहमजानीति महिषी अश्वमुपसंविशति। ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरुद्ध्यै इति ता उभौ चतुरः पदः प्रसारयाव स्वर्गे लोके प्रोर्णवाथां वृषा वाजी रेतो दधातु (वा० सं० २३।२०) पूर्वं मन्त्रशेषोऽयं मन्त्रः। तौ त्वं चाहं चोभौ चतुरः पदः पादानावां प्रसारयाव तव द्वौ मम च द्वौ एवं संवेशनप्रकारः, मिथुनस्यावरुद्ध्यै। एतावतापि नाश्वस्य पशुत्वमत्र विवक्षितम्, किन्तु प्रजापतित्वमेव, अन्यथा षट्पदत्वापत्तेः। 'अधोवासेन प्रच्छादयति स्वर्गे लोके' (का० श्रौ० सू० २०।६।१४) इति कात्यायनसूत्रम्। अधीवासेनाश्वमहिष्यौ छादयति। अध उपरिष्टाच्चाच्छादनक्षमं वासोऽधिवासः। अध्वर्युर्वदति—हे अश्वमहिष्यौ, युवां स्वर्गे लोके, अस्यां यज्ञभूमौ प्रोर्णवाथां वास आच्छादयतम्, (ऊर्णुञ् आच्छादने) 'एष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपयन्ति' (श० १३।२।८।५) इति श्रुतेः। 'अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति' (का० श्रौ० सू० २०।६।१६) महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति वाजी अश्वो वृषा वर्षणशीलो रेतोधा वीर्यस्य धारयिता

की विस्मृति न होने पर भी कुछ देर के लिये उसको छिपा देते हैं और इस तरह से इनसे क्षमा माँगते हैं। इसके बाद ये यजमान पत्नियाँ राजा की तरह उस अश्व पर पंखा डुलाती हैं। तब पुनः तीन परिक्रमाएँ करती हैं और 'प्रियाणां त्वा' इस मन्त्र का उच्चारण करती हैं। तीन परिक्रमा इसलिये करती हैं कि ये लोक तीन ही हैं। इन तीन परिक्रमाओं से वे इन तीनों लोकों को पंखे की हवा से शीतल कर देती हैं। 'निधीनां त्वा' इस मन्त्र का उच्चारण कर वे पुनः तीन परिक्रमाएँ करती हैं। इस तरह से ये छः परिक्रमाएँ हो जाती हैं। ऋतुएँ भी छः ही होती हैं। इस तरह से वे पत्नियाँ इस अश्व को एक प्रकार से छः ऋतुओं से पवित्र बना देती हैं। इस तरह से महीधर की पद्धति से सब पत्नियाँ प्रजापति रूप अश्व में प्रजापति की बुद्धि रख कर इन तीन मन्त्रों से तीन तीन बार अर्थात् नौ बार परिक्रमा करती हैं और ऐसा करते समय उस पर पंखा डुलाती रहती हैं। प्रथम परिक्रमा में तीन लोकों की तथा द्वितीय परिक्रमा में ऋतुओं की चर्चा इस कार्य की प्रशंसा के लिये है। कुल मिलाकर यजमान पत्नियाँ नौ बार परिक्रमा करती हैं, इससे ऋत्विक् और यजमान के प्राणों की रक्षा होती है। प्राणों की संख्या नौ होती है। नौ परिक्रमा करने से इन सब प्राणों की रक्षा हो जाती है। इस तरह से वे पत्नियाँ अपने में प्राणों का आधान करती हैं। 'आहमजानि' इत्यादि वाक्य का अभिप्राय यह है कि प्रजा और पशु को ही गर्भ माना जाता है। प्रजापति रूप अश्व जब तेजोमय गर्भ धारण करता है, तो प्रजा की उत्पत्ति होती है। इस तरह से प्रजापति के प्रभाव से ही ये पत्नियाँ प्रजा और पशु आदि सम्पत्ति से सम्पन्न होती हैं।

महीधर के अनुसार 'आहमजानि' इस मन्त्र का उच्चारण कर यजमान पत्नी अश्व के पास बैठ जाती है और तब 'ता उभौ' इस मन्त्र का उच्चारण करती है। तू और मैं, हम दोनों मिलकर चार पैर फैलाते हैं। इस तरह से बैठने से मिथुनभाव की सृष्टि होती है। इस कथन से स्पष्ट है कि यहाँ पशुरूपी अश्व की विवक्षा न होकर प्रजापति रूप अश्व ही विवक्षित है। यदि पशु विवक्षित होता, तो दोनों के मिलकर छः पैर हो जाते। इसके आगे कात्यायन सूत्र के अनुसार अश्व और महिषी को कपड़े से ढँक दिया जाता है। नीचे से ऊपर तक किसी वस्तु को ढँक देने वाला वस्त्र अधिवास कहलाता है। ऐसा करने के बाद अध्वर्यु कहता है कि हे अश्व

रेतो दधातु मयि वीर्यं स्थापयतु मिथुनस्यावरुद्ध्यै । एवं हि मिथुनस्यानुसरणं भवति । वृषा वाजी रेतोधा वीर्यस्य धारयिता रेतो दधातु इत्यनेन अजानीत्यत्र क्षेपणार्थं एवाजतिर्ज्ञातव्यो न गत्यर्थं इति ।

'यश्च पशूनां प्रजानां मध्ये विज्ञानवान् भवति स इमां सर्वां प्रजाम् अतति सर्वत्र व्याप्नोति' (पृ० ३७०) इत्यादिकं दयानन्दोक्तं मन्त्रब्राह्मणसूत्रैः सर्वथा विरुद्धयत एव । 'सत्योऽर्थं' इत्युक्त्वा 'ता उभा' (श० १३।२।८।५) इति ब्राह्मणवचनमुद्धृत्योक्तम्—'आवां राज्यप्रजे धर्मार्थकाममोक्षान् चतुरः पदानि मिलिते भूत्वा सम्यग् विस्तारयेवहि । कस्मै प्रयोजनाय स्वर्गे सुखविशेषे लोके द्रष्टव्ये भोक्तव्ये प्रियानन्दस्य स्थिरत्वाय । येन सर्वान् प्राणिनः सुखैराच्छादयेवहि । यस्मिन् राज्ये पशुं पशुस्वभावमन्यायेन परपदार्थानां द्रष्टारं जीवं विद्योपदेशदण्डदानेन सम्यगवबोधयन्ति, स एव सुखयुक्तो देशो हि स्वर्गो भवति । तस्मात् कारणादुभयस्य सुखायोभये विद्यादिसद्गुणानामभिवर्षकं वाजिनं विज्ञानवन्तं जनं प्रति विद्याबले सततमेव दधातु इत्याहायं मन्त्रः' (पृ०३७२) इति, तदसम्बद्धमेव, निर्मूलत्वात् । यतो हि नात्र राजप्रजे प्रकृते । पूर्वोक्तब्राह्मणसूत्रानुसारेणाश्वमहिष्यौ तु प्रकृतौ अश्वमेधे मुख्यः पशुरश्व इति । 'अश्वं तूपरं गोमृगम्' (श० १३।२।२।२) इति, 'चतस्रो जायाः' (श० १३।५।२।१) पत्न्यः परियन्तीत्यादिभिः । पद इत्यस्यापि मुख्यार्थमपहाय धर्मार्थकाममोक्षग्रहणे मानाभाव एव । त्वद्रीत्या ब्राह्मणं मन्त्र व्याख्यानमेव । यद्यत्र पद इत्यस्य त्वदुक्तोऽर्थस्तदा तथैव ब्राह्मणेन वक्तव्यम् । एवं 'स्वर्गे लोके' इत्यस्य व्याख्या ब्राह्मणेनैवोच्यते—'एष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपयन्ति' (श० १३।२।८।५)। तस्यायमेव स्पष्टोऽर्थः—यत्र यज्ञे पशुं देवतोद्देश्येन संज्ञपयन्ति हिंसन्ति स यज्ञ एव स्वर्गसाधनत्वात् स्वर्गोऽभिधीयते । पशुमित्यस्य पशुस्वभावं जनं संज्ञपयन्तीत्यस्य विद्यादण्डादिभिः सम्यगवबोधनमिति नार्थः, निष्प्रमाणत्वात् । पशुस्वभावमिति लाक्षणिकोऽर्थः । न च सम्भवति मुख्यार्थे तद्युक्तम्, अन्वयानुपपत्त्याद्यभावात् । एवमश्वमेधप्रसङ्गे ब्राह्मणे प्रधानपशुत्वेनाश्वः प्रकृतः । तद्बोधक एव

और महिषी, तुम दोनों इस स्वर्गलोक सदृश यज्ञभूमि में वस्त्र से अपने को ढँक लो । श्रुति में उस यज्ञभूमि को स्वर्ग माना है, जहाँ पर कि यज्ञीय पशु का संज्ञपन किया जाता है ।

'प्रजा के बीच में रहने वाला ज्ञानी पुरुष सब पर छा जाता है' (पृ० ३७०) इस तरह की दयानन्द की व्याख्या मन्त्र, ब्राह्मण, सूत्र प्रभृति सभी परम्परागत ग्रन्थों के विपरीत है । इसके आगे इस मन्त्र का सही अर्थ बताने की गरज से 'ता उभौ०' इस शतपथ ब्राह्मण के वचन को उद्धृत कर दयानन्द कहते हैं—'राजा और प्रजा हम दोनों मिलकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के प्रचार करने में सदा प्रवृत्त रहें । किस प्रयोजन के लिये ? दोनों की अत्यन्त सुखरूप स्वर्णलोक में प्रिय आनन्द की स्थिति के लिये । जिससे हम दोनों परस्पर तथा सब प्राणियों को सुख से परिपूर्ण कर देवें । जिस राज्य में मनुष्य लोग अच्छी प्रकार ईश्वर को जानते हैं, वही देश सुखयुक्त होता है । इससे राजा और प्रजा परस्पर सुख के लिये सद्गुणों के उपदेशक पुरुष की सदा सेवा करें और विद्या तथा बल को सदा बढ़ावें । इस अर्थ का कहने वाला 'ता उभौ०' यह मन्त्र है । इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है' (पृ० ३७२), किन्तु यह सारा कथन भी असंबद्ध और निराधार है । राजा और प्रजा का यहाँ कोई प्रसंग नहीं है, पूर्वोक्त ब्राह्मण और सूत्र के अनुसार प्रसंग यहाँ पर अश्व और महिषी का है । अश्वमेध का मुख्य पशु अश्व है । इसके अतिरिक्त तूपर, मृग आदि का तथा राजा की चार रानियों की प्रदक्षिणा आदि का ही यहाँ प्रसंग है । पद शब्द का पुरुष अर्थ पैर होता है, इसको छोड़कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चार चरणों का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है । आप भी ब्राह्मणों को मन्त्र का व्याख्यानात्मक ग्रन्थ मानते हैं । यदि पद शब्द का अर्थ ब्राह्मण को यह अभीष्ट होता, तो उसमें उसका स्पष्ट उल्लेख मिलता । स्वर्गलोक का अर्थ ब्राह्मण ने पशु के संज्ञपन स्थान को माना है । पशु पद का अर्थ पशु के स्वभाव का मनुष्य तथा 'संज्ञपयन्ति' इस क्रिया पद का अर्थ विद्या तथा दण्ड आदि देकर भली भाँति समझाते हैं, ऐसा अर्थ बिना प्रमाण के नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस तरह का अर्थ लाक्षणिक ही माना जायगा, जो कि मुख्यार्थ के रहते उचित नहीं माना जाता । मुख्यार्थ का बाध तभी होता है, जब कि परस्पर पदों का सही तरीके से अन्वय (सम्बन्ध) न बैठता हो । यहाँ अश्वमेध के प्रसंग में उसका प्रधान पशु अश्व ही बोधित होता है । वाजी शब्द उसी

वाजो शब्दः। तन्मुख्यार्थमुपेक्ष्य ज्ञानवानित्यप्यर्थोऽसङ्गत एव। मिथुनस्यावरुद्ध्यै इत्यस्यापि व्याख्यानं न कृतं तेन। किञ्चात्र तु वाजी रेतोधा उक्तः। स चेत् कर्मत्वमुपगच्छेत्, तदा कोऽन्यो दधात्विति क्रियायाः कर्ता स्यात्।

'यकासकौ' (वा० सं० २३।२२) इत्यत्र दयानन्देन सत्यार्थतया—'विड्वै शकुन्तिका हलगिति वञ्चतीति। विशो वै राष्ट्राय वञ्चन्त्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति। विड् वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः' (श० १३।२।९।६) इत्युद्धृत्य युदुक्तम्—यथा श्येनस्य समीपेऽल्पपक्षिणी निर्बला भवति राजानो विशः प्रजाः (वै) इति निश्चयेन राष्ट्राय राष्ट्रसुखप्रयोजनाय सदैव वञ्चन्तीति। विशो गभसंज्ञा पसाख्यं राष्ट्रं राज्यं प्रजया स्पर्शनीयम् यस्माद्राष्ट्रं तां प्रजां प्रविश्याहन्ति समन्ताद् हननं पीडां करोति, यस्माद्राष्ट्री एको राजा मत्तश्चेत्तर्हि विशं प्रजां घातुको भवति, तस्मादेको मनुष्यो राजा कदाचिन्नैव मन्तव्यः, किन्तु सभाध्यक्षः सभाधीनो यः सदाचारी शुभलक्षणान्वितो विद्वान् स राजा मन्तव्यः' (पृ० ३७३) इति, तत्तु निराधारमेव, निर्मूलत्वात्। यकासकौ, आहलगिति, निगल्गलीति, धारकेत्यादिपदानामव्याख्यानाच्च। निरुक्तादिरीत्या गभपसशब्दयोर्भगलिङ्गपरत्वेन व्याख्यानाच्च। राष्ट्रं विशः, पसाख्यं राष्ट्रं विशो गभसंज्ञेति संज्ञाविधानस्य प्रयोजनं वक्तव्यम्। तथात्वे 'वै' इति प्रयोगानापत्तेश्च। 'आयुर्वै घृतम्' इत्यादौ संज्ञाविधानाभावाच्च। 'सभाधीनो राजा कार्यः' इत्यस्य च नीतिशास्त्रविरुद्धत्वाच्च। मूले तादृशार्थबोधकपदाभावाच्च। तस्मान्महीधरादिभाष्योक्त एव मन्त्रार्थो मन्तव्यः। किञ्च, 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च' (अमरकोषे) इति सप्ताङ्गं राज्यं भवति। तत्र भारतीयशास्त्रेषु सप्ताङ्गान्तर्गतस्वामिपदेन राजैव ग्राह्यो भवति। राज्ञः सत्त्वे वेदः (मन्त्रा ब्राह्मणानि च) प्रमाणम्। अश्वमेधयज्ञोऽपि न सभया क्रियते, किन्त्वेकेनैव राज्ञा। राजैव यजमानो भवति। तत्फलमपि मुख्ययजमानगामि भवति। सभाधीनो राजा भवतीत्यत्र तु न किमपि प्रमाणम्।

एवमेव 'माता च ते पिता च ते' इत्यत्र—'इयं वै माताऽसौ पिताभ्यामेवैनं स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत

का बोधक है। इस मुख्यार्थ की उपेक्षा कर उसका अर्थ ज्ञानवान् करना भी गलत है। 'मिथुनस्यावरुद्धयै' इसकी तो स्वामी दयानन्द ने व्याख्या की ही नहीं। आप यह बतावें कि जब आप 'वाजी' शब्द की व्याख्या कर्मपरक करते हैं, तब 'दधातु' इस क्रिया का कर्ता कौन होगा ?

'यकासकौ' इस मन्त्र का सही अर्थ करने के अभिप्राय से स्वामी दयानन्द शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत कर लिखते हैं—'प्रजा का नाम शकुन्तिका है। जैसे बाज के सामने छोटी-छोटी चिड़ियाओं की दुर्दशा होती है, वैसे ही राजा के सामने प्रजा की। जहाँ एक मनुष्य राजा होता है, वहाँ प्रजा ठगी जाती है। यहाँ प्रजा का नाम 'गभ' और राज्य का नाम 'पस' है। जहाँ एक मनुष्य राजा होता है, वहाँ वह अपने लोभ से प्रजा के पदार्थों की हानि ही करता चला जाता है। इसलिये राजा को प्रजा का घातुक अर्थात् हनन करने वाला भी कहते हैं। इस कारण से एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये, किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के अधीन ही राज्यप्रबन्ध होना चाहिये। 'यकासकौ०' इत्यादि मन्त्रों के शतपथ प्रतिपादित अर्थ से महीधर आदि अल्पज्ञ लोगों के बताये हुए अर्थों का अन्यत्र विरोध है' (पृ० ३७४), किन्तु यह सारा कथन भी निराधार ही है। यहाँ यकासकौ, आहलग्, निगल्गलीति, धारक इत्यादि पदों का अर्थ भी नहीं बताया गया है। राजा को सभा के अधीन रहना चाहिये। यह बात नीतिशास्त्र के विरुद्ध भी है। साथ ही मूल में इस अर्थ का बोधक वाक्य भी विद्यमान नहीं है। इस तरह से आपके ही अर्थ के असंगत होने से महीधर संमत अर्थ ही यहाँ मान्य होगा। स्वामी, अमात्य (मन्त्री), सुहृत् (मित्र), कोष, राष्ट्र, दुर्ग और बल ये सात राज्य के अंग माने जाते हैं। भारतीय शास्त्रों में इस सप्तांग के अन्तर्गत स्वामी पद से राजा का ही ग्रहण होता है। राजा की सत्ता में मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद प्रमाण है। अश्वमेध यज्ञ किसी सभा के द्वारा नहीं किया जाता, किन्तु कोई एक राजा ही उसका अनुष्ठान करता है। राजा ही उसका यजमान होता है। उसका फल भी मुख्य यजमान को ही मिलता है। राजा सभा के अधीन रहता है, इसमें तो आपको कोई प्रमाण नहीं मिल सकेगा।

इसी तरह से 'माता च ते पिता च' इस मन्त्र का सही अर्थ बताने की गरज से शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत कर स्वामी

इति। श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रं श्रियमेवैनं राष्ट्रस्याग्रं गमयति। प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतंसयदिति। विड्वै गभो राष्ट्रं मुष्टी राष्ट्रमेवाविश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः' (श० १३।२।९।७) इत्यत्रापि यदुक्तम्—'हे मनुष्य, इयं पृथिवी विद्या च ते तव मातृवदस्ति, ओषध्याद्यनेकपदार्थदानेन विज्ञानोत्पत्त्या च मान्यहेतुत्वात्। असौ द्यौः प्रकाशो विद्वानीश्वरश्च तव पितृवदस्ति, सर्वपुरुषार्थानुष्ठानस्य सर्वसुखप्रदानस्य च हेतुत्वेन पालकत्वात्। विद्वान् ताभ्यामेवैनं जीवं स्वर्गं सुखरूपं लोकं गमयति। या श्रीर्विद्या शुभगुणरत्नादिशोभान्विता च लक्ष्मीः, सा राष्ट्रस्याग्रमुत्तमाङ्गं भवति। सैवैनं जीवं शोभां गमयति। यद्राष्ट्रस्याग्रमग्र्यं सुखं च। (प्रतिलामीति) विट् प्रजा गभाख्याऽर्थादैश्वर्यप्रदा (राष्ट्रं मुष्टी) राजकर्म मुष्टिः, यथा मुष्टिना मनुष्यो धनं गृह्णाति, तथैवैको राजा चेत् तर्हि पक्षपातेन प्रजाभ्यः स्वसुखाय सर्वां श्रेष्ठां श्रियं हरत्येव। यस्माद्राष्ट्रं विशि प्रजायां प्रविश्याहन्ति' (पृ० ३७४-३७५) इत्यादिपूर्ववत्, तद मूलाक्षरासम्बद्धमेव। प्रतिलामीत्यस्य तु व्याख्यानमेव न कृतम्।

किञ्चाश्वमेधप्रकरणमिदम्। तत्रैवेमे मन्त्रा विनियुक्ताः। शतपथब्राह्मणस्य त्रयोदशं काण्डं च तन्निरूपण एव प्रवृत्तम्। सूत्रकारादिदृष्ट्या तु ऋत्विजां यजमानपत्नीभिः कुमारीभिर्दासीभिश्चाभिमैथनं कर्म प्रचलति। किमत्राप्रकृतप्रक्रियया ? हे मनुष्य, इति सम्बोधनं च न प्रामाणिकम्। अध्वर्युब्रह्मोद्गातृक्षत्तारः कुमारीपत्नीभिः संवदन्ते। 'यकासकाविति दशर्चस्य द्वाभ्यामाहाभ्यां हये हये असावित्यानन्त्र्यामन्त्र्य' (का० २०।१।१८) इति महर्षिकात्यायनवचनविरोधात्। मन्त्रब्राह्मणवचनं तु व्याख्यातमेव।

यदपि—'ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापयेति' इत्यत्रोक्तम्—'हे नर, त्वं श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधो यज्ञश्चास्मै राष्ट्राय श्रियमुच्छ्रापय। सेव्यामुत्कृष्टां कुरु। एवं सभया राज्यपालने कृते राष्ट्रं राज्यमूर्ध्वं सर्वोत्कृष्टगुणमुच्छ्रयितुं शक्यम्। कस्मिन् किमिव ? गिरिशिखरे प्राप्त्यर्थं भारवद्वस्तूपस्थापयन्निव। कोऽस्ति राष्ट्रस्य भार इत्यत्राह—श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः' इति। सभाव्यवस्थयाऽस्मै राष्ट्राय

दयानन्द ने लिखा है—'सब प्राणियों को पृथिवी और विद्या माता के समान सब प्रकार से मान्य कराने वाली और सूर्यलोक विद्वान् तथा परमेश्वर पिता के समान है। सूर्यलोक पृथिवी के पदार्थों का प्रकाशक और विज्ञान दान से पण्डित तथा परमात्मा सबका पालन करने वाला है। इन्हीं दोनों कारणों से विद्वान् लोग जीवों को नाना प्रकार का सुख प्राप्त करा देते हैं। श्री जो लक्ष्मी है, वही राज्य का अग्रभाग अर्थात् सिर के समान है, क्योंकि विद्या और धन ये दोनों मिलकर ही जीव को शोभा और राज्य के सुख को प्राप्त करा देते हैं। फिर प्रजा का नाम 'गभ' अर्थात् ऐश्वर्य की देने वाली और राज्य का नाम 'मुष्टि' है। क्योंकि राजा अपनी प्रजा के पदार्थों को मुष्टि से ऐसे हर लेता है, जैसे कि कोई बल करके किसी दूसरे के पदार्थ को अपना बना लेवें। इसी तरह से जहाँ अकेला मनुष्य राजा होता है, वहाँ वह पक्षपात से अपने सुख के लिये जो जो प्रजा की श्रेष्ठ गुण देने वाली लक्ष्मी है, उसको ले लेता है, अर्थात् वह राजा अपने राजकर्म में प्रवृत्त होकर प्रजा को पीड़ा देने लगता है। इसलिये एक को राजा कभी न मानना चाहिये, किन्तु सब लोगों को उचित है कि अध्यक्ष सहित सभा की आज्ञा में ही रहना चाहिये। इस अर्थ से भी महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है' (पृ० ३७५) किन्तु यह सारा कथन भी पहले की ही तरह मन्त्र के मूलवचनों से पूरी तरह से असम्बद्ध है। फिर यहाँ 'प्रतिलामि' शब्द का तो कोई अर्थ किया ही नहीं गया है।

वास्तव में देखा जाय तो यह अश्वमेध यज्ञ का प्रकरण है। उसी में इन सब मन्त्रों का विनियोग है। सूत्रकार के मत के अनुसार इस प्रकरण में ऋत्विजों का यजमान की पत्नियों, कुमारियों और दासियों के द्वारा अभिमैथन नामक कर्म चलता है। इस तरह से अप्रकृत राजा और सभा की चर्चा का यहाँ क्या उपयोग हो सकता है ? 'हे मनुष्य' यह संबोधन भी यहाँ किसी प्रमाण से नहीं बन सकता। 'अध्वर्यु०' प्रभृति सूत्र से कात्यायन ने उक्त अभिमैथन कर्म में ही इसका विनियोग बताया है। मन्त्र और ब्राह्मण भाग की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है।

'ऊर्ध्वामेना०' इस मन्त्र का सही अर्थ बताने के लिये शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत कर स्वामी दयानन्द ने उसकी व्याख्या इस तरह से की है—'हे मनुष्य, श्री नाम विद्या और धन का तथा राष्ट्रपालन का नाम अश्वमेध है। ये ही श्री और राज्य की उन्नति कराते हैं। राज्य का भार श्री है, क्योंकि इसी से राज्य की वृद्धि होती है। इसलिये राज्य में विद्या और धन की अच्छी प्रकार वृद्धि

श्रियं सन्नह्य सम्बद्धय राष्ट्रमनुत्तमं कुर्यात्। अथो अनन्तरमेवं कुर्वन् जनोऽस्मिन् संसारे राष्ट्रं श्रीयुक्तमधिनिदधाति सर्वोपरि नित्यं धारयति। किमस्य राष्ट्रस्य मध्यमित्याकाङ्क्षायामुच्यते—'श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्'। तस्मादिमां पूर्वोक्तां श्रियमन्नाद्यं भोक्तव्यं वस्तु च राष्ट्रे राज्ये महतो राज्यस्याभ्यन्तरे दधाति सुसभया सर्वां प्रजां सुभोगयुक्तां करोति, कस्मिन् किं कुर्वन्निव राष्ट्रस्य क्षेमो रक्षणं शीतं भवत्यस्मै राष्ट्राय क्षेमं सुसभया रक्षणं कुर्यात्' (पृ० ३७६) इति, तदपि प्रकरणविरुद्धमेव, नरस्यासम्बोध्यत्वेनोच्छ्रयणकर्तृत्वासम्भवात्। सभापि नात्र प्रकृता, तेन सभया राज्यपालने कृते राष्ट्रमुच्छ्रयितुं शक्यमित्यपि निर्मूलम्, सभाव्यवस्थयाऽस्मै राष्ट्राय श्रियं सन्नह्य सम्बध्य राष्ट्रमनुत्तमं कुर्यादिति विधानमपि नैवात्र दृश्यते, तस्मादुव्वटमहीधराद्याचार्यकृतव्याख्यानमेव वेदानुकूलम्।

किञ्च, 'यदस्या अंहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत्। मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव ॥' (वा० सं० २३।२८) अस्य मन्त्रस्य सत्यार्थस्तु नैव प्रदर्शितो दयानन्देन। पूर्वोक्तब्राह्मणं तु ऊर्ध्वमिनामुच्छ्रापयेत्यस्यैव व्याख्यानम्।

'यद्देवासो ललामगुं प्र विष्टीमिनमाविषुः। सक्थ्ना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥' (वा० सं० २३।२९) अत्र यदुक्तम्—'यथा देवा विद्वांसः प्रत्यक्षोद्भवस्य सत्यज्ञानस्य प्राप्तिं कृत्वेमं विष्टीमिनं विविधतया आर्द्रीभाव गुणवन्तं ललामगुं सुखप्रापकं विद्यानन्दं प्राविशुः प्रकृष्टतयासमन्ताद् व्याप्नुवन्ति, तथैव तैस्तेन वर्तमानेयं प्रजा देदिश्यते। यथा नारी वस्त्रैराच्छाद्यमानेन सक्थ्ना वर्तते, तथैव विद्वद्भिः सुखैरियं प्रजा सम्यगाच्छादनीयेति' (पृ० ३७७) इति, तदप्यक्षरबाह्यमेव, यथा कश्चन पिशाचः स्वकीयखट्वायां शयनयोग्यत्वाय प्रलम्बमानं पुरुषं छित्वा मध्यमं करोति मध्यमायाम-

होने के अर्थ उसका भार अर्थात् प्रबन्ध श्रेष्ठ पुरुषों की सभा के ऊपर धरना चाहिये कि श्री राज्य का आधार है और वही राज्य में शोभा को धारण करके उत्तम पदार्थों को प्राप्त करा देती है। इसमें दृष्टान्त यह है कि राज्य की रक्षा करने का नाम 'शीत' है, क्योंकि जब सभा से राज्य की रक्षा होती है, तभी उसकी उन्नति होती है। प्रश्न—राज्य का भार कौन है? उत्तर—श्री, क्योंकि वही धन के भार से युक्त करके राज्य को उत्तमता की ओर पहुँचाती है। इसके अनन्तर उक्त प्रकार से राज्य करते हुए पुरुष देश अथवा संसार में श्रीयुक्त राज्य के प्रबन्ध को सब में स्थापन कर देते हैं। प्रश्न—उस राज्य का मध्य क्या है? उत्तर—प्रजा की ठीक ठीक रक्षा, अर्थात् उसका नियमपूर्वक पालन करना, यही उसकी रक्षा में मध्यस्थ है। जैसे कोई मनुष्य बोझ उठाकर पर्वत पर ले जाता है, वैसे ही सभा भी राज्य को उत्तम सुख प्राप्त करा देती है' (पृ० ३७६-३७७), किन्तु यह सारा कथन भी प्रकरण के विपरीत है। मनुष्य को संबोधित करने वाला कोई पद मन्त्र में विद्यमान नहीं है, अतः ऊपर उठाने की क्रिया का यहाँ कोई कर्ता नहीं मिल सकता। सभा का भी यहाँ कोई प्रसंग नहीं है, इसलिये सभा के द्वारा राज्य का ठीक से पालन होने से राष्ट्र की उन्नति की बात भी यहाँ बन नहीं सकती। इस तरह से स्वामी दयानन्द का यह अर्थ प्रस्तुत प्रकरण से पूरी तरह से असंबद्ध है। इसलिये उव्वट, महीधर प्रभृति के द्वारा किया गया अर्थ ही यहाँ सही माना जायगा।

'यदस्या' इस मन्त्र को भी स्वामी दयानन्द ने उद्धृत तो किया है, किन्तु इसका सही अर्थ बताने के लिये न तो किसी ब्राह्मण वाक्य को ही उद्धृत किया है और न अपना ही कुछ अर्थ लिखा है, जिस ब्राह्मण वाक्य को उद्धृत किया है और जो अर्थ लिखा है उसका सम्बन्ध 'ऊर्ध्वमिनां' इस मन्त्र से है, न कि प्रस्तुत मन्त्र से। 'यद्देवासो०' इस मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में स्वामी दयानन्द ने कहा है—'जैसे विद्वान् लोग प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त होकर जिस शुभ गुणयुक्त सुखदायक विद्या के आनन्द में प्रवेश करते हैं, वैसे ही उसी आनन्द से प्रजा को भी युक्त करते हैं। विद्वान् लोगों को चाहिये कि जैसे स्त्री अपने जंघा आदि अंगों को वस्त्रों से सदा ढाप रखती हैं, इसी प्रकार अपने सत्य उपदेश, विद्या, धर्म और सुखों से प्रजा को सदा आच्छादित करे' (पृ० ३७८), किन्तु यह सारा कथन भी मन्त्र में विद्यमान अक्षरों से बाहर का है। जैसे कोई पिशाच अपनी खटिया में सुलाने के लिये लम्बे आदमी को दबाकर नाटा बना देता है और नाटे आदमी को खींच-तान कर लम्बा बना देता है, उसी तरह से स्वामी दयानन्द भी अपने अभिप्राय को वेद मन्त्रों से निकालने के लिये वैदिक पदों को तोड़-मरोड़ कर, उनका शिर काटकर और हृदय को भी चीरकर जबरदस्ती से मनमाना अर्थ करते रहते हैं। देवता पद का अर्थ विद्वान् कभी नहीं होगा, इस बात

पुरुषमाकर्षणविकर्षणाभ्यां प्रलम्बं करोति, तथैव दयानन्दोऽपि स्वाभिप्रायेण वेदस्य सम्यगर्थत्वाय वेदपदानि तदक्षराणि चान्यथा कृत्वा वेदस्य शिरश्छित्वा हृदयमाविध्य बलात्कारेणैवार्थं करोति। तथाहि—देवा विद्वांस इत्यप्यनर्थः, महता सन्दर्भेण मनुष्यभिन्नाया देवजातेः पूर्वं साधितत्वात्। विद्यानन्दः कः? विद्यया जनितानन्द इति चेत्तदपि न, विद्यायाः सुखप्रापकत्वेऽपि तज्जनितानन्दस्य सुखान्तराजनकत्वात्। तथा च सुखप्रापकं विद्यानन्दमिति रिक्तं वचः। किञ्च, तस्मिन् कीदृश आर्द्रीभावो गुणः? स्नेहरूपश्चेत्, तन्न सम्भवति, विद्यानन्दस्याभौतिकत्वे तदनास्पदत्वात्। नाप्यन्तःकरणनिष्ठद्रवीभावरूपः, वृत्तिरूपायां विद्यायां तज्जन्ये सुखे च तदसम्भवात्। किञ्च, त्वद्रीत्या जीवा अणुपरिमाणास्ते कथं व्याप्स्यन्ति। किञ्च, सुखमात्माश्रयं भवतीति नात्मा सुखाश्रयः सम्भवति। न तत्प्रवेशः सम्भवति। तेन (विद्यानन्देन) इयं प्रजा कथं देदिश्यते? विद्वद्भिः सुखैराच्छादनीयेति कस्य शब्दस्यार्थः? सिद्धान्ते तु श्रौतसूत्ररीत्या यजमानपत्नीनां कुमारीणां च ऋत्विग्भिरुपहासः प्रकृतः।

यदप्युक्तम्—'विट् प्रजेव यवोऽस्ति। राज्यसम्बन्ध्येको राजा हरिण इव उत्तमपदार्थहर्ता भवति। यथा मृगः क्षेत्रस्थं सस्यं भुक्त्वा प्रसन्नो भवति, तथैवैको राजापि नित्यं स्वकीयमेव सुखमिच्छति। अतः स्वसुखप्रयोजनाय विशं प्रजामाद्यां भक्ष्यमिव करोति। यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं कृत्वा तन्मांसभक्षणेच्छां करोति, नैव स पुष्टं पशुं वर्धयितुं वा मन्यते, तथैव सुखसम्पादनाय प्रजायां कश्चिन्मत्तोऽधिको न भवेदितीच्छां सदैव रक्षति। तस्मादेको राजा प्रजां न पुष्यति नैव रक्षितुं समर्थो भवति। यथा च यदा शूद्रा अर्यजारा भवति, तदा न स शूद्रः पोषाय धनायति पुष्टो न भवति। तथैको राजापि प्रजां यदा न पुष्यति तदा सा नैव पोषाय धनायति, पुष्टा न भवति। तस्मात् कारणाद् वैशीपुत्रं भीरुं शूद्रीपुत्रं मूर्खं च नाभिषिञ्चन्ति। नैवैतं राज्याधिकारे स्थापयतीत्यर्थः' (पृ० ३७८–३७९) इति, तदपि न मनोज्ञम्, अक्षरबाह्यत्वात्।

को हम पहले ही विस्तार से सिद्ध कर चुके हैं और यह भी बता चुके हैं कि देव एक पृथक योनि है। यह विद्यानन्द क्या बला है? यदि आप कहें कि विद्या से पैदा किया गया आनन्द, किन्तु ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि विद्या सुख की प्राप्ति तो अवश्य कराती है, किन्तु विद्या से जनित यह आनन्द किसी दूसरे आनन्द की प्राप्ति में कारण नहीं बन सकता। इस तरह से विद्यानन्द को सुख का प्रापक बताना गलत हो जाता है। इस विद्यानन्द में आर्द्रता (पिघलाना) का गुण किस तरह का है? यह स्नेह रूप तो नहीं हो सकता, क्योंकि विद्यानन्द भौतिक सुख नहीं है, अतः उसमें भौतिक पदार्थों में रहने वाला स्नेह (चिकनापन) गुण नहीं रह सकता। अन्तःकरण (मन) को द्रवित कर देने वाला स्नेह (प्रेम) भी यह नहीं हो सकता, क्योंकि विद्या तो चित्त की एक वृत्ति है, अतः उस वृत्ति में उत्पन्न सुख में यह कैसे रह सकता है? फिर आपके मत में तो जीव अणु परिमाण है, इनकी सर्वत्र व्याप्ति कैसे मानी जा सकती है? सुख ही आत्मा में रहता है, आत्मा सुख में रहता हो, ऐसा तो माना नहीं जाता। आत्मा का सुख में प्रवेश भी नहीं होगा। तब इस विद्याजनित आनन्द से प्रजा कैसे सम्पन्न होगी? विद्वान् लोग प्रजा को सुख से आच्छादित कर दें, यह अर्थ किस शब्द या वाक्य का होगा? हमारे मत के अनुसार तो श्रौतसूत्र में बताये गये विनियोग के अनुसार 'इन मन्त्रों में यजमान की पत्नी तथा कुमारियों के साथ ऋत्विग् गणों के परस्पर उपहास का वर्णन किया गया है।

'यद्धरिणो०' इस मन्त्र का सही अर्थ बतलाने के लिये स्वामी दयानन्द ने शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत कर उसका अर्थ इस तरह से लिखा है—'यहाँ प्रजा का यव और राष्ट्र का नाम हरिण है, क्योंकि जैसे मृग (पशु) पराये खेत में यवों को खाकर आनन्दित होता है, वैसे ही स्वतन्त्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को ग्रहण कर लेता है। अथवा जैसे मांसाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मार कर उसका मांस खा जाता है, वैसे ही एक मनुष्य राजा होकर प्रजा का नाश करने वाला होता है, क्योंकि वह सदा अपनी ही उन्नति चाहता रहता है। शूद्र और वैश्य का अभिषेक करने से व्यभिचार और प्रजा का धन हरण अधिक होता है। इसलिये किसी एक मूर्ख या लोभी को कभी सभाध्यक्ष आदि उत्तम अधिकार न देना चाहिये। इस सत्य अर्थ से महीधर का अर्थ एक दम उलटा ही चला है' (पृ० ३७९), किन्तु यह अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसका मन्त्र में विद्यमान पदों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ए राजा की बात केवल आपके मन की कल्पना है। इसलिये राजा किसी पुष्ट पशु को देखकर उसका मांस खाना चाहता है, यह भी

एको राजेत्यर्थोऽपि त्वत्कपोलकल्पित एव। तस्माद्राजा पुष्टं पशुं दृष्ट्वा तन्मांसभक्षणेच्छां करोतीत्यपि त्वत्कपोलकल्पितम्। मूले तु न पुष्टं पशुं मन्यत इति मन्त्रप्रतीकस्यैवोद्धरणम्। तस्माद्राजा पशून्न पुष्यति। वैश्य एव पशुपालको भवति। यद्येको राजा निन्द्यो भवेद् वैश्यानां भक्षकस्तदा पशुपालकस्य वैश्यस्यैवाभिषेको युक्त:। तदा वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चन्तीति वैशीपुत्रस्याभिषेक: कथं निषिद्ध: ? वैशीपुत्रं भीरुं शूद्रापुत्रं मूर्खं च नाभिषिञ्चन्तीति वैशीपुत्रस्य भीरुरिति कुतोऽर्थ: ? शूद्रापुत्र इति च कुत आयातम् ? यदि तु कर्मणा वर्ण इति त्वद्रीत्या भीरुत्वं वैश्यस्य मूर्खत्वं शूद्रस्य च लक्षणम्, तदा वैश्यं शूद्रं चेत्येव वदेत्, वैशीपुत्र इति प्रयोगस्य किं स्वारस्यम् ?

'उत्सक्थ्या अव गुदं धेहि समञ्जि चारया वृषन्। य: स्त्रीणां जीवभोजन:॥' (वा० सं० २३।२१) अत्र यदुक्तम्—'हे वृषभ सर्वकामानां वर्षयित: प्रापक ससभाध्यक्ष विद्वन्, त्वमस्यां प्रजायामञ्जि ज्ञानसुखन्यायप्रकाशं सञ्चारय सम्यक् प्रकाशय, य: स्त्रीणां जीवभोजन: कामुक: सन् नाशमाचरति तं त्वमवगुदमध:शिरसं कृत्वा ताडयित्वा कारागृहे धेहि। यथा स्त्रीणां मध्ये या काचित् उत्सक्थी व्यभिचारिणी स्त्री भवति, तस्यै दण्डं ददाति, तथैव त्वं तं जीवभोजनं परप्राणनाशकं दुष्टं दस्युं दण्डेन समुच्चारय' (पृ० ३८०) इति, तदपि वेदबाह्यमेव, पदवाक्यार्थाननुगतत्वात्। तथाहि—वृषन् ससभाध्यक्ष विद्वन्, इति सम्बोधनं न सङ्गतम्, श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वात्। तदेव च स्पष्टं गणानां त्वेति मन्त्रव्याख्याने सायणादिभिरुक्तम्, मया च तत्स्पष्टीकृतम्। दयानन्दीये चार्थे न प्रश्नपरम्परा विरमति। तथा हि—कथञ्च कामानां ससभाध्यक्षो वर्षयिता भवति ? स्वकर्मभिरेवेष्टकामसिद्धे:। अस्यां प्रजायामिति कस्य शब्दस्यार्थ: ? तत्र च किं बीजम् ? अञ्जिशब्दस्य ज्ञानसुखन्याया: कथमर्थ: ? 'कामुक: सन् नाशमाचरति, तं त्वमवगुदमध:शिरसं कृत्वा ताडयित्वा कारागृहे धेहि' इति कस्य पदस्य वाक्यस्य वार्थ: ? कामुक: कस्य शब्दस्यार्थ: ? स नाशं चरतीति कस्य पदस्यार्थ:। अवगुदमित्यस्याध:-

कोरी आपकी कल्पना ही है। शतपथ ब्राह्मण में 'न पुष्टं पशु मन्यते' इस मन्त्र के एक अंश की व्याख्या की गई है कि राजा पशु का पालन नहीं करता। पशुपालन वैश्य का कार्य है, इसको क्षत्रिय राजा नहीं करता। यदि एक राजा इसलिये निन्द्य है कि वह वैश्यों का भक्षक है, तो उस स्थिति में पशु की रक्षा करने वाले वैश्य का राज्य पद पर अभिषेक हो जाना चाहिये। तब यहाँ पर उसके अभिषेक का निषेध क्यों किया गया है ? वैशीपुत्र का अर्थ डरपोक कैसे होगा ? शूद्रा के पुत्र की चर्चा यहाँ कहाँ से आ गई ? कर्म के अनुसार वर्ण मानने पर तो आपके मत के अनुसार डरपोकपन वैश्य का और मूर्खता शूद्र का लक्षण होगा। ऐसी स्थिति में यहाँ वैश्य और शूद्र शब्दों का ही स्पष्ट उल्लेख क्यों नहीं किया गया। आपके अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने के लिये यहाँ पर 'वैशीपुत्र' इस शब्द को रखने का क्या प्रयोजन हो सकता है ?

इसके आगे 'उत्सक्थ्या०' इस मन्त्र का सही अर्थ बताने की गरज से स्वामी दयानन्द ने लिखा है—'परमेश्वर कहता है कि हे कामना की वृष्टि करने वाले और उसको प्राप्त कराने वाले सभाध्यक्ष सहित विद्वान् लोगों ! तुम सब एक संमति होकर इस प्रजा में ज्ञान को बढ़ा कर न्यायपूर्वक सब को सुख दिया करो तथा जो कोई दुष्ट, स्त्रियों में व्यभिचार करने वाला, चोरों में चोर, ठगों में ठग, डाकुओं में डाकू, दूसरों को बुरे काम सिखाने वाला इस तरह के दोषों से युक्त पुरुष तथा व्यभिचार आदि दोषों से युक्त स्त्री को ऊपर पैर और नीचे सिर करके टांग देना जैसी दुर्दशा करके मार डालना चाहिये, क्योंकि इससे अत्यन्त सुख का लाभ प्रजा में होगा' (पृ० ३८०), किन्तु यह सारा अर्थ भी वेद के बाहर का अपना मनमाना है, क्योंकि इस अर्थ का उक्त मन्त्र के किसी शब्द या वाक्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। वृषन् शब्द को संबोधन मान कर उसका सभाध्यक्ष और विद्वान् अर्थ करना भी गलत है, क्योंकि ऐसा करना शतपथ श्रुति और कात्यायन श्रौतसूत्र के विपरीत पड़ता है। इन मन्त्रों की स्पष्ट व्याख्या सायण प्रभृति ने अपने-अपने भाष्यों में की है। हमने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। दयानन्द के किये गये अर्थ के प्रति उठने वाली प्रश्नपरम्परा का तो कहीं अन्त ही नहीं होता। जैसे कि वह सभाध्यक्ष सभी कामनाओं की पूर्ति कैसे करता है ? अपने कर्म से ही किसी मनुष्य की अभीष्ट कामना पूरी हो सकती है। इस प्रजा में, यह अर्थ किस शब्द का है ? और इसमें प्रमाण क्या है ? अंजि शब्द का अर्थ ज्ञान, सुख और न्याय कैसे होगा ? कामुक बनकर दुराचरण करने वाले को नीचे मुँह ऊपर टाँग करके कठोर दण्ड दो और उसको जेल में डाल दो, यह अर्थ किस पद या

शिरस्त्वं कथमर्थः ? अवशब्दस्याधोऽर्थत्वेऽपि न गुदशब्दस्य शिरोऽर्थः। उद्गुदशब्दो यदि स्यात्तदा कथञ्चित् तदर्थः स्यादपि। ताडनं कारागृहनिवेशनमित्यादिकं तु सर्वं निर्मूलमेव। उत्सक्थीत्यस्य व्यभिचारिणी स्त्री कथमर्थः ? किञ्च, प्रथमान्तोऽयं शब्दः। कथं तस्य कर्मत्वं कुतश्च दण्डेन समुच्चारयेति तस्य योजनम् ? कथं च समुच्चारणशब्दस्यापि हिन्दीभाषायां दुर्दशया मारणमर्थः ? महीधरस्य निन्दनं कृत्वा स्वमेव पातकिनं करोषि, वेदार्थं तु शुद्धं कर्तुं न पारयस्यहो धार्ष्ट्यम्।

वस्तुतस्तु दयानन्दः श्रुतिसूत्रसम्मतं सायणोव्वटमहीधराद्यर्थमपलपति, स्वयं च न वेदार्थमवगन्तुं व्याख्यातुं च शक्नोति स्म। केवलं मूर्खजनप्रतारणाय सर्वथा वेदपदवाक्यतदर्थविरुद्धमेव किमपि वेदव्याख्याननाम्ना जल्पितवान्। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥' (वा० सं० ३१।१६) 'यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः' (गो० सू०) इति वात्स्यायनभाष्यादिभिर्मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य यज्ञो मुख्यो विषयः। यज्ञेषु चाश्वमेधो यज्ञसम्राट्। तदधिकारी च सम्राडेव भवति। यथा चक्षुषैव रूपमुपलभ्यते नान्येन श्रोत्रादिना, आलोकादिसहकारिसहकृतेन दोषरहितेन मनःसंयुक्तेन चक्षुषा रूपमुपलभ्यत एव न नोपलभ्यते, तथैव शास्त्रैकसमधिगम्यो धर्मो भवति। शास्त्रेणैव धर्मज्ञानं नान्येन प्रत्यक्षादिना। उपक्रमोपसंहारादिभिर्विचार्यमाणेनापौरुषेयवेदात्मकशास्त्रेण धर्मोऽधिगम्यत एव न नाधिगम्यते। यथा शास्त्रप्रामाण्यमाश्रित्य स्वीयदुहितृभगिन्यादयोऽन्येभ्यो दीयन्ते, अन्यतश्च पत्न्यर्थं कन्या आनीयन्ते, तत्र तर्कस्यावकाशो नास्ति, तथैव शास्त्रोक्तानि कृत्यान्यप्यनाशङ्कनीयानि। शास्त्रमाश्रित्यैव गङ्गास्नानेन पापं क्षीयते, कर्मनाशाजलस्पर्शाच्च पुण्यं क्षीयते, तथैवाश्वमेधिके राजपत्नीनां महिष्यादीनां मृताश्वेन सह शयने मृताश्वस्य पृथक्कृतेषु संस्कृतेष्वङ्गेषु तदीयशिश्नस्य स्पर्शः स्वोपस्थोपरि स्थापनादिकमृत्विजां यजमान-कुमारी-पत्नी-दासीनां चाश्लील-

वाक्य से निकलेगा ? 'कामुक' यहाँ किस शब्द का अर्थ है ? वह नाश करने वाला है, यह भी किस पद का अर्थ है ? अवगुद शब्द का अर्थ नीचे सिर वाला कैसे होगा ? अव शब्द का अर्थ नीचा किया जा सकता है, किन्तु गुद शब्द का अर्थ तो सिर होगा नहीं। उद्गुद शब्द होता तो आपका अर्थ उससे निकल सकता था, किन्तु ऐसा तो है नहीं। ताड़ना देना, जेल में डालना जैसी सभी बातें यहाँ निराधार व्याख्यात हैं। 'उत्सक्थी' शब्द का अर्थ व्यभिचारिणी स्त्री कैसे किया जा सकता है। फिर यह शब्द तो प्रथमान्त है, उसकी कर्मपरक व्याख्या कैसे की जा सकती है ? और इसके साथ दण्ड से मारने की बात कहाँ से जोड़ी गई है। समुच्चारण शब्द का अर्थ दुर्दशा से मारना कैसे होगा ? इस तरह से आपकी इस व्याख्या में जो प्रश्नों की झड़ी लगती है, उसका कहीं अन्त ही नहीं होता।

स्वामी दयानन्द श्रुति और सूत्र ग्रन्थों के आधार पर व्याख्यात सायण, उव्वट, महीधर प्रभृति आचार्यों के अर्थ का खण्डन तो करते हैं, किन्तु वे स्वयं वेद का अर्थ न तो समझ ही पाये हैं और न उनकी सही व्याख्या ही कर पाये हैं। केवल लोगों को मूर्ख बनाने के लिये वे वेद के पद-पदार्थ से सर्वथा विपरीत मनमाना अर्थ करने लगते हैं। 'यज्ञेन यज्ञ०' इत्यादि श्रुति और 'यज्ञ मन्त्र और ब्राह्मणात्मक वेद का विषय है' न्यायभाष्य की इस वात्स्यायन की उक्ति के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मणभागात्मक वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ है। इन यज्ञों में अश्वमेध यज्ञ सर्वश्रेष्ठ है। इसके अनुष्ठान का अधिकारी कोई सम्राट् ही होता है। जैसे आँख से ही रूप का ज्ञान होता है, श्रोत्र (कान) आदि से नहीं, जैसे प्रकाश की सहायता से सभी दोषों से रहित मन का संयोग होने पर आँख से ही रूप अवश्य दिखाई पड़ता है, उसी तरह से धर्म का ज्ञान भी केवल एक शास्त्र की सहायता से ही हो सकता है। धर्म का ज्ञान शास्त्र से ही हो सकता है, किसी दूसरे प्रमाण से नहीं। उपक्रम, उपसंहार प्रभृति छः प्रमाणों के सहारे अपौरुषेय वेदशास्त्र का अध्ययन करने पर धर्म का ज्ञान अवश्य होगा, इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। जैसे शास्त्र के प्रमाण के आधार पर अपनी पुत्री, बहिन आदि का किसी के साथ विवाह किया जाता है और पत्नी बनाने के लिये दूसरों से कन्या लाई जाती है, इसमें तर्क का कोई सहारा नहीं लिया जाता, उसी तरह से शास्त्र उपदिष्ट अन्य कार्यों के प्रति भी शंका उठाने की कोई आवश्यकता नहीं है। शास्त्र के कथनानुसार ही गंगास्नान से पाप का और कर्मनाशा में स्नान करने से पुण्य का नाश होता है, इसीलिये मन्त्र और ब्राह्मण

भाषणं सर्वमपि कृत्यं पुण्यायैव, शास्त्रचोदितत्वात् । अत एव मन्त्राणां ब्राह्मणानां च यो वस्तुभूतोऽर्थः, स एव ज्ञातव्यो वक्तव्यश्च, न तदन्यथाकरणं वास्तविकार्थगोपानं वा युक्तम् ।

'तत्र संज्ञप्तेषु पशुषु पत्न्यः पान्नेजनैरुदायन्ति । चतस्रश्च जायाः कुमारी पञ्चमी चत्वारि च शतान्यनुचरीणाम्' (श० १३।५।२।१) इति, 'निष्ठितेषु पान्नेजनेषु महिषामश्वायोपनिपादयन्त्यथैनावाधिवासेन सम्प्रोर्णुवन्ति स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपयन्ति निरायुत्याश्वस्य शिश्नं महिष्युपस्थे निधत्ते वृषा वाजी रेतोधा दधात्विति मिथुनस्य सर्वत्वाय' (श० १३।५।२।२) इत्यादिभिः स्पष्टमेवाश्वमेधीयेषु पशुषु संज्ञप्तेषु पत्न्यः पान्नेजनैरुदायन्ति प्रोक्षणीरश्वास्ये उपगृह्य संस्कुर्वन्ति । 'वाचयतीनेंयन्नमस्तेऽन्व इति' (का० श्रौ० सू० २०।६।१२) सर्वाः पत्नीः पशुशोधनाय पान्नेजनीहस्ताः पशून् प्रति ययन्नमस्ते आततानेति प्राक्तनम् अम्बे अम्बालिके इत्याश्वमेधिकं च वाचयत्यध्वर्युरिति सूत्रार्थः । निष्ठितेषु पान्नेजनेषु संस्कारकरणानन्तरमुपरतव्यापारेषु महिषीमश्वाय प्रजापतिरूपाय उपनिपादयन्ति तत्समीपे शाययन्ति । अथानन्तरं महिष्यश्वौ अधिवासे सम्प्रोर्णुवन्ति वस्त्रेणाच्छादयन्ति, 'स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथाम्' (वा० सं० २३।२) इति मन्त्रेणेत्यर्थः । कोऽयं स्वर्गो लोक इत्याकाङ्क्षायां ब्राह्मणं तद् व्याचष्टे । यत्र पशुं संज्ञपयन्ति तद् यज्ञस्थानमेव स्वर्गलोक इति । निरायत्य बहिरायम्य अश्वस्य शिश्नं महिषी उपस्थे स्त्रीप्रजननप्रदेशे निधत्ते स्थापयति वृषा वाजी रेतोधा इत्यादि मन्त्रेणेति पूर्वोक्तशतपथीय(१३।५।२।२)वाक्येन स्पष्टं विज्ञायते । कथमेतन्न दृष्टं दयानन्देनेत्याश्चर्यम् । तेन तु वृषन्नित्यस्य ससभाध्यक्षविद्वन्नित्यर्थः कृतः, स च शतपथं विरुणद्धि । तथाहि—'तयोः शयानयोरश्वं यजमानोऽभिमेथयत्युत्सक्थ्या अवगुदं धेहीति, तन्न कश्चिदभिमेथयति नेद्यजमानप्रतिप्रतिः कश्चिदसदिति' (श० १३।५।२।३)। यजमानोऽश्वमेधस्य राजा अश्वमभिमेथयति । सोपहासमश्लीलवचनमेवाभिमेथनम् । 'उत्सक्थ्यावगुदं धेहि' इति मन्त्रेण क्रियते । तं यजमानं न कश्चिदभिमेथयति यतस्तस्य प्रतिप्रतिः प्रतिस्पर्धी कश्चिदपि नास्ति । शतपथानुसारेणैव कात्यायनेन सूत्रितम्—'उत्सक्थ्या इत्यश्वं यजमानोऽभिमन्त्रयते' (का० श्रौ० सू० २०।६।१७) । 'अश्वदेवत्यगायत्र्याऽश्वं यजमानोऽभिमन्त्रयते' इत्युव्वटः । हे वृषन् सेक्तः अश्व, उत् ऊर्ध्वे सक्थिनी ऊरू यस्याः सा उत्सक्थी महिषी तस्या अवाचीनं गुदं गुदमवगुदोपरि वा धेहि रेतः सिञ्चेत्यर्थः, क्रियया योग्यस्य कर्मणोऽध्याहारात् । कथमिति चेत्, अञ्जिः अनक्ति व्यनक्ति पुंस्त्वमित्यञ्जिः पुंस्प्रजननम्, तं चारया सञ्चारय, योनाविति शेषः । योऽञ्जिः स्त्रीणां जीवभोजनः । यस्मिन् सति स्त्रियो जीवन्ति । जीवयतीति जीवः, भोजयतीति भोजनः, जीवश्चासौ भोजनश्चेति जीवभोजनः । परमार्थस्तु—हे वृषन् सेक्तः सर्वोत्पत्तिकारण अश्व प्रजापते, उत्सक्थ्या महिष्याः प्रजननस्थाने धेहि रेतः स्वतेजो वीर्यं सामर्थ्यं वा तत्र अञ्जि चारया स्वपुंस्प्रजननशक्तिं सञ्चारय, तत एव चक्र-

वाक्यों का जो सही अर्थ है, उसको जानने का और तदनुसार उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न होना चाहिये, उसको बदल देना अथवा छिपा देना उचित नहीं होगा ।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि अश्वमेध यज्ञ में निर्दिष्ट पशुओं का संज्ञपन हो जाने के उपरान्त यजमान की पत्नियाँ आदि हाथ में पंखा लेकर आती हैं । इनमें चार यजमान की पत्नियाँ, एक कुमारी और चार सौ दासियाँ रहती हैं । ये आकर पहले अश्व का संस्कार करती हैं । इस संस्कार के पूरा हो जाने के उपरान्त यजमान की पटरानी को प्रजापति रूप अश्व के पास सुलाया जाता है । तब उसको वस्त्र से ढक दिया जाता है । यहाँ यज्ञीय स्थल को ही स्वर्गलोक माना गया है । मूल में उद्धृत शतपथ ब्राह्मण के वाक्यों में इन सब बातों का पूरा विवरण मिलता है । स्वामी दयानन्द इस प्रकरण को नहीं देख पाये, यह एक आश्चर्य की बात है । उन्होंने 'वृषन्' पद का अर्थ विद्वान् सभाध्यक्ष किया है, जो कि शतपथ ब्राह्मण के विपरीत पड़ता है । शतपथ के अनुसार ही कात्यायन ने भी इस मन्त्र का विनियोग बताया है । उव्वट ने इस मन्त्र का विनियोग बताते हुए लिखा है कि अश्व देवता की जिसमें स्तुति की गई है, ऐसे गायत्री छन्द वाले इस मन्त्र से यजमान अश्व को अभिमन्त्रित करता है । इसका वास्तविक तात्पर्य यह है कि हे सब प्राणियों के उत्पादक अश्वप्रतिनिधिभूत प्रजापते, इस महिषी के प्रजनन स्थान में आप अपने तेज और वीर्य का आधान कीजिये,

र्वर्तिपुत्रोत्पत्तिसम्भवात् । कीदृशोऽञ्जिः ? यः स्त्रीणां सर्वासां जीवनसाधनम्, भोजनवत्तृप्तिसाधनं च । सम्भोगो योग्यप्रजोत्पादनं च स्त्रोणां जीवनतर्पणसाधनम् ।

'यकासकौ शकुन्तिका' (वा० सं० २३।२२), 'यकासकौ शकुन्तक' (वा० सं० २३।२३) इति मन्त्रयोः, 'विड्वै शकुन्तिका हलगिति वञ्चति विशो वै राष्ट्राय वञ्चन्त्याहन्ति गभे पसो निगलगलीति धारकेति विड्वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः' (श० १३।२।९।६) इति शथपथवचनस्य चाध्वर्युंकुमारीकर्तृकं परस्पराभिमेथनरूपत्वमेव, 'अथाध्वर्युः कुमारीमभिमेथयति । कुमारि हये हये कुमारि यकासकौ शकुन्तिकेति तं कुमारी प्रत्यभिमेथयति । अध्वर्यो हये हये अध्वर्यो यकासकौ शकुन्तक' (श० १३।५।५।४) इति श्रुतेः । श्रुत्यनुसारेणैव कात्यायनेनापि सूत्रितम्—'अध्वर्युब्रह्मोद्गातृहोतृक्षत्तारः कुमारीपत्नीभिः संवदन्ते यकासकाविति दशर्यस्य द्वाभ्यां द्वाभ्यां हये हयेऽसावित्यामन्त्र्यामन्त्र्य' (का० श्रौ० सू० २०।१।१८) । अध्वर्य्वादयः पञ्च हये हयेऽसावसाविति सम्बुद्ध्यन्तनामोच्चारणपूर्वकं सम्मुखीकृत्य यकासकाविति दशर्चसम्बन्धिनीभ्यामृग्भ्यां कुमारीपत्नीभिः सह सोपहासं संवदन्त इति सूत्रार्थः । श्रुतिसूत्रानुसारेणैवोव्वटसायणमहीधराचार्यैर्मन्त्रा व्याख्याताः । न मनागपि तत्र तेषामभिप्रायनिवेशः । प्रसङ्गान्तरेंऽशतो व्याख्याता अपि सामस्त्येन पुनरिह व्याख्यायन्ते ! तत्र प्रथममध्वर्युः कुमारीमाह—हये हये कुमारि, यकासकौ या असौ इति स्थिते साकच्कम् । 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' (पा० सू० ५।३।७१) । अल्पा शकुन्तिः शकुन्तिका, 'अल्प' (पा० सू० ५।३।८५) इति कनि शकुन्तिकेति रूपम् । या असौ अल्पपक्षिणीव योनिः, हले हले इति शब्दायमाना वञ्चति गच्छति, स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ हलहलेति शब्दोत्पत्तेः । गभे भगे (वर्णविपर्यासः) योनौ शकुन्तिकासदृश्याम् । यदा पसः पुंस्प्रजननेन्द्रियम् आहन्ति आगच्छति तदाधारका धरति लिङ्गमिति धारका योनिर्निगल्गलीति नितरां गलति वीर्यं क्षरति । यद्वाऽनुकरणं गलगलेति शब्दं करोति । 'यकोऽसकौ शकुन्तक आहलगिति वञ्चति । विवक्षत इव ते मुखमध्वर्यो नस्त्वमभिभाषथाः ।' (वा० सं० २३।२३) इति मन्त्रेण कुमारी अध्वर्युं प्रत्यभिमेथति । अङ्गुल्या शिश्नं सङ्केतयन्ती यकः यः असकौ असौ शकुन्तकः पक्षीव विवक्षतो वक्तुमिच्छतस्तव मुखमिव आहलगिति वञ्चति इतस्ततश्चलति अग्रभागे सच्छिद्रं । लिङ्गं तव मुखमिव भासते अतो मा नोऽस्मान् त्वमभिभाषथा मा वद, तुल्यत्वात् । दयानन्दीये व्याख्याने यकासकौ याऽसौ यकोऽसकौ योऽसौ इत्यादिपदानामभिप्रायो नोक्तः, धारका विवक्षत इव ते मुखमित्यादोनामपि व्याख्यानं नास्ति, तद्रीत्या तदसम्भवात् ।

'माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः । प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतंसयत् ॥' (वा० सं० २३।२४)

जिससे कि इसमें पुत्र पैदा करने की सामर्थ्य प्राप्त हो, क्योंकि इसी पटरानी के गर्भ से चक्रवर्ती सम्राट् बनने की सामर्थ्य वाले पुत्र की उत्पत्ति होगी ।

'यकासकौ शकुन्तिका' और 'यकासकौ शकुन्तक' ये दोनों मन्त्र भी 'विड् वै शकुन्तिका' तथा 'अथाध्वर्युः' इन शतपथ ब्राह्मण के वचनों के अनुसार अध्वर्यु और राजकुमारी के परस्पर अभिमेथन कर्म में विनियुक्त हैं । इन श्रुतियों का अनुसरण करते हुए ही कात्यायन ने भी 'अध्वर्यु०' इत्यादि सूत्र में इनका विनियोग बताया है कि अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता, होता और क्षत्ता ये पाँचों चार रानियों और कुमारी का नाम लेकर उनको सम्बोधित करते हुए 'यकासकौ' इन दस ऋचाओं में से उक्त दो मन्त्रों से इनके साथ परस्पर उपहास करे । इन श्रुतिवचनों और तदनुसारी सूत्रवचन के अनुसार ही उव्वट, सायण, महीधर प्रभृति ने इन मन्त्रों की व्याख्या की है । इसमें उन्होंने अपना अभिप्राय थोड़ा सा भी नहीं जोड़ा है । दूसरे प्रसंग में संक्षेप में हम इनकी व्याख्या कर चुके हैं । दयानन्द की व्याख्या में 'यकासकौ' प्रभृति पदों का अर्थ नहीं बताया गया है, इसी तरह से 'धारका विवक्षत इव ते मुखम्' इत्यादि पदों का भी अर्थ वहाँ नहीं दिया गया है, क्योंकि आपके मत के अनुसार इनका उस तरह का अर्थ निकाला ही नहीं जा सकता ।

'माता च ते' इस मन्त्र का विनियोग कात्यायन के श्रौतसूत्र के अनुसार ब्रह्मा के द्वारा महिषी के उपहास में है । ब्रह्मा

'अध्वर्युंर्ब्रह्मोद्गातृ⋯' (का० श्रौ० सू० २०।१।१८) इति कात्यायनमहर्षिवचनानुसारेण ब्रह्मा महिषीमाह—'अथ ब्रह्मा महिषीमभिमेथति महिषि हये हये महिषि माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः' इति, 'तस्यै शतं राजपुत्र्योऽनुचर्यो भवन्ति। ता ब्रह्माणं प्रत्यभिमेथन्ति ब्रह्मन् हये हये ब्रह्मन् माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य क्रोडतः' इति। एतेन हे मनुष्य, इयं पृथिवी विद्या च तव मातृवदस्तीत्यादिदयानन्दीयं व्याख्यानं परास्तम्, शतपथीयश्रुतिसूत्रादिविरुद्धत्वात्। शतपथश्रुतिसूत्राभ्यां तु ब्रह्मा महिषीं प्रत्याहेत्येव सिद्धयति। अभिमेथनं चाश्लीलभाषणमेव। तदनुसारी स्वयं मन्त्रार्थः—हे महिषि, यदा ते तव माता च पिता च वृक्षस्याग्रं काष्ठमयस्य मञ्चकस्योपरिभागं रोहतः, मैथुनार्थमेकं पर्यङ्कमारोहतः। वृक्षविकारे मञ्चे वृक्षपदप्रयोगः 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' इतिवत्। तदा ते पिता गभे भगे मुष्टिं मुष्टितुल्यं शिश्नमतंसयत्। एवं तवोत्पत्तिरित्यश्लीलाभिप्रायं वचनम्। 'तसि अलङ्कृतौ' इति गभयोगेन मुष्टिमलङ्कृतवानिति वा। किं कुर्वन्, प्रतिलामि 'तिल स्नेहने' तव भोगेन प्रकृष्टं स्निह्यामीति वदन्निति शेषः। एवं तवोत्पत्ति इति।

'माता च ते पिता च तेऽग्रे वृक्षस्य क्रीडतः। विवक्षत इव ते मुखं ब्रह्मन् मा त्वं वदो बहु ॥' (वा० सं० २३।२५) इति मन्त्रेण महिषी ब्रह्माणमाह—हे ब्रह्मन्, ते तव माता ते पिता च वृक्षस्य वृक्षविकारस्य मञ्चस्याग्रे क्रीडतः। तेन त तवापि तथैवोत्पत्तिः। 'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारश्च तादृशः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥' इति न्यायेन त्वया नेदं वक्तुं शक्यम्। तथापि विवक्षतो वक्तुमिच्छोरिव ते मुखं लक्ष्यते। हे ब्रह्मन्, त्वं मा बहु वदः मा ब्रूहि। दयानन्दीये व्याख्याने तु प्रतिलामि विवक्षत इव ते मुखमित्यादिपदानां विवरणमभिप्रायश्च नोक्तमेव। गूढार्थस्तु ब्राह्मणं वक्ति—'इयं वै माताऽसौ पिता' (श० १३।२।९।७)। इयं पृथिवी माता, असौ द्युलोकः पिता। आभ्यामेवैनं स्वर्गं गमयति मातापितृभ्यां ताभ्यामेव यजमानस्य राज्ञः स्वर्गो भवति। 'श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रम्' तदेव वृक्षस्याग्रं द्यावापृथिवीरूपौ मातापितरौ राष्ट्रश्रियमेवाधिरोहतः। विड् वै गभः राष्ट्रं मुष्टो, राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः। राज्ञः शासकत्वाद् दण्डधरत्वं भोक्तृत्वं घातुकत्वं च। भोक्तृत्वादेव शासकस्य पसत्वम्, भोग्यत्वादेव विशो गभत्वम्, दण्डधरत्वादेव घातुकत्वं च।

महिषो से हँसी में कहता है कि हे महिषी ! तुम्हारे माता-पिता पेड़ के ऊपर चढ़ गये हैं। उस महिषी की सौ राजपुत्रियाँ अनुचरी (दासी) के रूप में साथ रहती हैं। वे इसके उत्तर में ब्रह्मा से हँसी में कहती हैं कि ब्रह्मन्, तुम्हारे माता-पिता भी पेड़ पर चढ़कर खेल रहे हैं। यही इसका वास्तविक अर्थ है। इस तरह से दयानन्द का यह अर्थ गलत हो जाता है कि हे मनुष्य, यह पृथिवी और विद्या तुम्हारे माता और पिता के तुल्य हैं, क्योंकि यह स्पष्ट ही शतपथश्रुति और श्रौतसूत्र के विपरीत है। वहाँ स्पष्ट ही लिखा गया है कि इनमें ब्रह्मा महिषी से अभिमेथन करता है।

'माता च ते' इस द्वितीय मन्त्र से महिषी की ओर से ब्रह्मा को उत्तर दिया जाता है कि हे ब्रह्मन्, तुम्हारे भी माता-पिता इसी तरह से पलंग पर क्रीडा करते हैं, तभी तुम्हारी भी उत्पत्ति हुई है। 'जहाँ दोनों पक्षों में एक ही प्रकार का दोष और उसका परिहार भी एक सरीखा ही हो, तो ऐसा दोष वाद-विवाद की प्रक्रिया में किसी भी पक्ष को उपस्थित नहीं करना चाहिये' इस न्याय के अनुसार इसीलिये हे ब्रह्मन्, ऐसी बात आप मत कहिये, जो कि समान रूप से आप पर भी लागू हो। इसके उपरान्त भी आप कुछ न कुछ बकवाद करना चाहते हैं, यह उचित नहीं है। इस मन्त्र की व्याख्या करते समय दयानन्द ने 'प्रतिलामि', 'विवक्षत इव ते मुखम्' प्रभृति पदों का न तो अर्थ किया है और न उनका कुछ अभिप्राय ही बताया है। इस मन्त्र का निगूढ़ (छिपा हुआ) अर्थ यह है कि यह पृथिवी इस यजमान की माता है और द्युलोक पिता। इन माता और पिता की सहायता से ही ऋत्विग् गण यजमान को स्वर्ग प्राप्त करा सकते हैं। लक्ष्मी ही राष्ट्र का अग्र भाग है। ये द्यावापृथिवी रूप यजमान के माता-पिता उसकी राष्ट्र की लक्ष्मी (समृद्धि) के अग्र भाग पर चढ़ते हैं, अर्थात् अश्वमेध यज्ञ करने वाले यजमान राजा के राष्ट्र की समृद्धि पृथिवी और आकाश सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। राजा शासक है, अतः वह दण्ड धारण कर प्रजा और राष्ट्र पर शासन करता है, उसका उपभोग करता है और आवश्यकता पड़ने पर उनको दण्ड भी देता है। दण्ड का धारक होने से राजा घातुक कहलाता है।

यत्तु—'एकस्य राज्ञो विशां पीडकत्वात् सभाधीनस्य सभाध्यक्षस्यैव शासकत्वं युक्तम्' इति, तन्न, सर्वस्यापि शासकस्य दण्डधरत्वावैशेष्येण घातुकत्वप्रतोतेस्तुल्यत्वात् । प्रतीत्यभिप्रायेणैवैतन्मन्तव्यम् । योग्यशासकानां मातापित्रादिवत् परमहितैषित्वात् । धर्मनियन्त्रितशासकानामुद्वेजकत्वाभावात् । तदुक्तं महाभारते—'तमूचुस्तत्र देवास्ते ते चैव परमर्षयः। नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्कः समाचर ॥ १०३ ॥ प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु । कामं क्रोधं च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः ॥ १०४ ॥ यश्च धर्मात् प्रविचलेल्लोके कश्चन मानवः । निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद् धर्ममवेक्षता ॥१०५॥' (शान्तिपर्वं० ५९) शश्वद् धर्मदृष्ट्या रागद्वेषशून्यस्य स्वार्थरहितस्य कुतः शोषकत्वं कुतो वा घातुकत्वम् ? वैन्यस्तथैव प्रतिज्ञातवान्—'यश्च धर्मो""दण्डनीतिव्यपाश्रयः । तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥' (म० भा० शा० प०) इति । भारतीयाः प्राचीना राजर्षयस्तु यथा सविता किञ्चिन्मात्रं भौमं रसं गृहीत्वा प्रजाभ्यः प्रभूतं जलं प्रत्यर्पयति, तथैव स्तोकं करमादाय प्रजाभ्यः प्रभूतं प्रार्पयन्ति स्म । प्रजानां भूत्यर्थमेव ताभ्यो बल्युपहारादिकं गृह्णन्ति स्म—'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् । सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥' (रघुवंशे) । प्रजारक्षणार्थं स्वसर्वस्वमर्पयन्ति स्म—'स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि । आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥' इत्युत्तररामचरिते श्रीरामवचनात् । महाभारतेतिहासेनेदं विज्ञायते यत् प्रायेण सर्वे राजानः शासने व्यवस्थाया अनिवार्यमेव धनं प्रजाभ्यो गृह्णन्ति स्म । अगस्त्यः किञ्चिद् धनमादातुं राज्ञः श्रुतर्वाणस्य सविधे गत्वोक्तवान्—अन्यान् न विहिंस्य यथाशक्ति वित्तार्थिने मह्यं प्रयच्छ—'वित्तार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां पृथिवीपते । यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ मे ॥' (म० भा० व० प० ९८।२), 'तत आयव्ययौ पूर्णौ तस्मै राजा न्यवेदयत् । अतो विद्वन्नुपादत्स्व यदत्र वसु मन्यसे ॥ तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः । सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ।' (म० भा० व० प० ९८।३) । ततः श्रुतर्वाणमादायागस्त्यो ब्रध्नश्वमगात् । तेनापि तथैव स्वकीयराज्यस्य पूर्णावायव्ययौ प्रदर्शितौ—'तत आयव्ययौ पूर्णौ ताभ्यां राजा

स्वामी दयानन्द ने यहाँ लिखा है कि अकेला राजा निरंकुश हो जाता है, अतः सभाध्यक्ष को सभा के नियन्त्रण में रहना चाहिये, किन्तु यह कथन गलत है, क्योंकि बिना दण्ड के कोई भी शासन चल नहीं सकता, अतः घातुकता (निरंकुशता) की प्रतीति अनिवार्यतः सर्वत्र रहेगी । सभी शासक निरंकुश हों, यह कोई आवश्यक नहीं है । योग्य शासक तो माता-पिता के समान प्रजा के हित में लगे रहते हैं । धर्म का नियन्त्रण मानने वाले शासक कभी किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाते । जैसा कि महाभारत में कहा गया है—'उसको देवताओं और श्रेष्ठ ऋषियों ने कहा कि तुम बिना शंका के धर्म का आचरण करो । राग और द्वेष का परित्याग कर काम, क्रोध, लोभ और मान को दूर से ही छोड़कर तुम सभी प्राणियों के साथ समान आचरण करो । लोक में कोई मनुष्य यदि धर्म से विचलित हो, तो धर्म की रक्षा करने की गरज से तुम उस पर रोक लगाओ' । राग और द्वेष से रहित, अपने स्वार्थ को दूर से ही छोड़ देने वाले, धर्म की दृष्टि से सदा प्रजा का पालन करने वाले राजा में शोषकता और उत्पीडकता आ ही नहीं सकती । वैन्य ने ऐसी ही प्रतिज्ञा की थी कि 'दण्डनीति का सहारा मैं तभी लूँगा, जब कि वह धर्म से अनुमोदित होगी । मनमाने तरीके से दण्ड का प्रयोग मैं कभी नहीं करूँगा' । जैसे कि सूर्य जमीन से कुछ जल ढेर सारा जल बर्षाने के लिये लेते हैं, उसी तरह से भारतवर्ष के प्राचीन राजर्षिगण प्रजा से कर, उपहार आदि उनके लिये कल्याण कार्यों में लगाने के लिये ही लेते थे । 'प्रजानामेव' रघुवंश के इस श्लोक का यही अभिप्राय है । प्रजा के रक्षा के लिये वे अपना सर्वस्व देने को तैयार रहते थे, जैसा कि उत्तर रामचरित के 'स्नेहं दयां च' इस श्लोक में श्रीराम ने कहा है कि लोक (प्रजा) को प्रसन्न रखने के लिये अपना स्नेह, दया और सुख ही नहीं, यदि जानकी को ही छोड़ना पड़े, तो भी मुझे कोई दुःख नहीं होगा । इतिहास ग्रन्थ महाभारत से मालूम होता है कि प्रायः प्राचीन समय के सभी राजा केवल शासन व्यवस्था के संचालन के लिये प्रजा से कर के रूप में धन लेते थे । अगस्त्य को जब धन की आवश्यकता पड़ी, तो उन्होंने राजा श्रुतर्वाण के पास जाकर कहा कि दूसरों को बिना पीड़ा दिये तुम मेरी आवश्यकता पूरी करो । इस पर राजा ने अपने आय-व्यय का पूरा लेखा-जोखा उनके सामने रख दिया और मुनि से कहा कि इसमें जो अधिक आपको प्रतीत हो रहा हो, उसे आप ले लीजिये । ऋषि ने जब उसका आय-व्यय बराबर-बराबर देखा, तो उससे कुछ लेना इसलिये उचित नहीं समझा कि इससे प्रजा को पीड़ा होगी । राजा श्रुतर्वाण

न्यवेदयत् । अतो ज्ञात्वा तु गृह्णीतं यदत्र व्यतिरिच्यते ॥ तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः । सर्वथा प्राणिनां हिंसामुपादानादमन्यत ॥' (म० भा० व० प० ९८) । पुनस्ते सर्वे पौरुकुत्सं नृपं भिक्षितं गतवन्तः । तेनापि पूर्णावायव्ययौ निवेदितौ—'एतज्ज्ञात्वा ह्युपाददध्वं यदत्र व्यतिरिच्यते ।' (म० भा० व० प० ९८) । तत्रापि 'तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः । सर्वथा प्राणिनां हिंसामुपादानादमन्यत ॥' (म० भा० व० प० ९८।१०८) इति ।

एवमेव–'ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापय गिरौ भारं हरन्निव । अथास्यै मध्यमेधतां शीते वाते पुनन्निव ॥' (वा० सं० २३।२६) इति मन्त्रस्यापि सायणादिव्याख्यानमेव युक्तम्, न दयानन्दीयम् । यच्च दयानन्देन—हे नर, त्वं श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधो यज्ञश्चास्मै राष्ट्राय श्रियमुच्छ्रापयेत्यादिकं व्याख्यातम्, तदशुद्धमेव, 'अथोद्गाता वावातामभिमेथति—वावाते हये हये वावात ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापयेति तस्यै शतं राजन्या अनुचर्यो भवन्ति । ता उद्गातारं प्रत्यभिमेथन्त्युद्गातरूर्ध्वमेनमुच्छ्रयतात् ।' (श० १३।५।२।६) इति वचनविरुद्धत्वात् । अनेन स्पष्टं विज्ञायते यदत्र सानुचर्या वावातया सार्धमुद्गातुरश्लीलात्मकं सोपहासं संवदनम् । तदेतत्सर्वमविज्ञायैव दयानन्देन यत्किञ्चिदुक्तम् । मन्त्रार्थस्तु—उद्गाता वावातामभिलक्ष्य कञ्चित् स्वनियोज्यमाह—एनां वावातामूर्ध्वमुच्छ्रापय उच्छ्रितां कुरु । कथमिव गिरौ भारं हरन्निव, यथा कश्चिद् गिरौ पर्वते भारं हरन् पर्वतोपरि भारमारोपयन् तमुच्छ्रापयति तथैवैनामुच्छ्रापय । अथेति निपातो यथार्थः । यथा अस्या वावाताया मध्यं योनिप्रदेश एधतां वृद्धिं यायात् तथा मध्ये गृहीत्वोच्छ्रापयेत्यर्थः । दृष्टान्तान्तरमाह—शीते वात इति । यथा शीतले वायौ प्रचलति पुनन् धान्यशोधनं कुर्वन् कृषीवलो धान्यपात्रमूर्ध्वं करोति तथेत्यर्थः । सानुचरी वावातोद्गातारं प्रत्यभिमेथती कञ्चिदाह—हे नर ! एनमुद्गातारमूर्ध्वमुच्छ्रयतात् ऊर्ध्वं कुरु, गिरौ भारं हरन्निव । अथैवं क्रियमाणस्यास्य मध्यं प्रजननमेजतु । अथैनं तथा निगृह्णीष्व यथा शीते वाते कृषीवलो यवान् पुनन् यवपात्रं गृह्णाति तथेत्यर्थः ।

'श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियमेवास्मै राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति । यासु अभिमेथिकासु किञ्चिद्दर्शनमस्ति तासु तदत्र ब्राह्मणम् । अपक्रामति वै एतस्माच्छ्रीः राष्ट्रात्मिका ऋत्विग्भ्यो दीयमाना य अश्वमेधेन यजते । तत्प्रतिसमाधानाय अभिमेथिकाः कर्तव्याः । तासु एतानि वचनानि सन्ति—ऊर्ध्वामेनाम् । तैश्चलं श्रियोऽपक्रमणं प्रतिसमाधीयते । ननु कथमभिमेथिकयाऽश्लीलभाषणरूपया श्रियः प्रतिसमाधानम् ? इति चेन्न, अग्निहोत्रादिभिरदृष्टद्वारा स्वर्गप्राप्तिवदभिमेथिकाभिरदृष्टद्वारा श्रियः

को अपने साथ लेकर अगस्त्य ब्रध्नश्व के पास गये । उससे भी अपने आय-व्यय का पूरा चिट्ठा उनके सामने रख दिया और कहा कि इसमें जो आय अधिक लगती हो, आप ले लीजिये । मुनि ने यहाँ से भी कुछ लेना इसलिये उचित नहीं समझा कि ऐसा करने से प्रजा को पीड़ा होगी । इसके बाद वे सब मिलकर पौरुकुत्स राजा के पास धन माँगने गये । उसका भी आय-व्यय बराबर था, इसलिये मुनि ने इससे भी कुछ नहीं लिया । इस कथानक का अभिप्राय यह है कि ऐसे ऐसे उदाहरणों के रहते राजा को उत्पीडक बताया जाना एक प्रकार का अज्ञान और धृष्टता ही है ।

इसी तरह से 'ऊर्ध्वामेनां०' इस मन्त्र की भी सायण प्रभृति की व्याख्या ही सही है, स्वामी दयानन्द की नहीं । दयानन्द ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है कि हे मनुष्य, धन-सम्पत्ति से ही राष्ट्र सम्पन्न होता है, इसलिये तुम इस राष्ट्र को धन-सम्पत्ति से भर दो, किन्तु यह सब गलत है ।

'श्रीर्वै राष्ट्रम्' इत्यादि शतपथ वचनों में इस मन्त्र का निगूढ़ (छिपा हुआ) अभिप्राय बताया गया है । अश्वमेध जैसे यज्ञों का अनुष्ठान करने से राष्ट्र की सारी लक्ष्मी दक्षिणा, दान आदि के रूप में खर्च हो जाती है । उस लक्ष्मी की स्थिरता के लिये इन उपहास मन्त्रों का विधान किया गया है । भला अश्लील भाषण करने से राजलक्ष्मी कैसे स्थिर होगी ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जैसे वेदविहित अग्निहोत्र का अनुष्ठान करने से अदृष्ट के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है, उसी तरह से अश्लील भाषण से भी एक प्रकार का अदृष्ट उत्पन्न होगा और उससे राज्य की समृद्धि बनी रहेगी । इन दोनों ही स्थानों में समान रूप से विधि वाक्य को प्रमाण मानना चाहिये । इस मन्त्र का बाह्य अर्थ ऊपर बताया जा चुका है । निगूढ अर्थ यह है—अश्वमेध यज्ञ राष्ट्र की समृद्धि का द्योतक

प्रतिसमाधानस्यापि सम्भवात्, विधानस्योभयत्र समानत्वात्। बाह्योऽर्थस्तूक्त एव। आन्तरस्तु श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेध श्रियः कारणमित्यर्थः। ततश्च श्रियमेवास्मै यजमानायोर्ध्वमुच्छ्रापयता श्रिय एवोच्छ्रयणं क्रियते। अर्थाद् गोभूहिरण्यरत्नादि-श्रीयुक्तमेव राष्ट्रं दीप्तिमत्त्वाद् राजमानत्वाच्च राष्ट्रपदव्यपदेशार्हं भवति। (राजृ दीप्तौ)। तादृशमेव राष्ट्रमश्वमेध-श्रियः कारणं भवति, श्रीविहीनेन राष्ट्रेणाश्वमेधस्य कर्तुमशक्यत्वात्। तेनाश्वमेधे वावाताया उच्छ्रायणोक्त्या राष्ट्रश्रिय एवोच्छ्रयणं सिद्ध्यति। तेनाश्वमेधीयव्ययादिनाऽपक्रान्ताया श्रियः प्रतिसमाधानं सम्पद्यते। गिरौ भारं हरन्निव इत्यस्यापि बाह्योऽर्थं उक्त एव। आन्तरस्तु श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः, श्रियमेवास्यै राष्ट्रं संनह्यति, अथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधिनिदधाति। श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारस्तेन गिरौ भारहरणोक्त्याऽस्मै यजमानाय श्रीयुक्तं राष्ट्रमेव सन्नह्यति। वावाताया उच्छ्रायणोक्त्या अस्मिन् श्रीयुक्तं राष्ट्रमेवोपनिदधाति। अथास्यै मध्यमेधतामित्यस्यापि बाह्योऽर्थं उक्तः। आन्तरस्तु श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यं श्रियमेव राष्ट्रे मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति। श्रीरेव राष्ट्रस्य मध्यम् श्रीसारत्वाद्राष्ट्रस्य। तथा च मध्यवृद्धिकथनेन राष्ट्रे मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति। अन्नं च तदाद्यं चान्नाद्यम्, तदेवान्नं यदाद्यं भवेज्जग्धं च स्वास्थ्याय कल्पेत। कश्चिदन्नवान् भूत्वाप्यन्नादो न भवति, कश्चिदन्नादो भूत्वाप्यन्नवान्न भवति। यत्र राष्ट्रे श्रियोऽन्नाद्यता सम्पाद्यते, तस्यैव राष्ट्रस्य मध्यभूता श्रीः समेधते। 'शीते वाते पुनन्निव' इत्यस्यापि बाह्योऽर्थं उक्त एव। आन्तरस्तु 'क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै करोति' इति। अप्राप्तप्राप्तिर्योगो भवति, प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः। क्षेम एव राष्ट्रस्य शीतं भवति, क्षेमे सत्येव राष्ट्रे शान्तिदर्शनात्। तथा च शीते वाते पुनन्निवेत्युक्त्याऽस्य यजमानस्य राष्ट्रे क्षेमः सम्पद्यते।

'यदस्या अंहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत्। मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव॥' (वा० सं० २३।२८)

अथ होता परिवृक्तामभिमेथति—'परिवृक्ते हये हये परिवृक्ते यदस्या अंहुभेद्या इति तस्यै शतं सूतग्रामण्यां दुहितरोऽनुचर्यो भवन्ति ता होतारं प्रत्यभिमेथन्ति होतर्हयेहये होतर्यद्देवासो ललामगुमिति' (श० १३।५।२।७) इति श्रुत्यनुसारेण यद् यदा

है। अतः इस यज्ञ का अनुष्ठान करके अध्वर्युगण अपने यजमान राजा की ऐश्वर्य वृद्धि ही करते हैं। अर्थात् गो, भूमि, सुवर्ण, रत्न आदि से भरा-पूरा राष्ट्र ही अपनी दीप्ति और प्रभाव से वास्तव में राष्ट्र पद का अधिकारी होता है, ऐसा राष्ट्र ही अश्वमेध की श्री से शोभित हो सकता है, अर्थात् इस महत्त्वपूर्ण यज्ञ के अनुष्ठान में समर्थ हो सकता है। श्रीहीन राष्ट्र इस यज्ञ का अनुष्ठान नहीं कर सकता। इस तरह से अश्वमेध यज्ञ में वावाता को ऊपर उठाने का अभिप्राय इस राष्ट्र की समृद्धि को बढ़ाने में है। इसलिये अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान में खर्च हुई राज्यलक्ष्मी की पुनः प्रतिष्ठा के लिये यह अभिमेथन व्यापार किया जाता है। यह राज्यलक्ष्मी राष्ट्र का भा है। पहाड़ पर बोझा चढ़ाने का अभिप्राय यह है कि ऐसा करके यजमान के राष्ट्र को समृद्धि से भर देते हैं। वावाता को ऊपर उठाने के ब्याज से इस यजमान के राष्ट्र को समृद्धि को उन्नत शिखर पर चढ़ा देने की बात इस मन्त्र में ध्वनित होती है। इसी तरह से समृद्धि ही राष्ट्र का मध्य भाग है, क्योंकि अपनी समृद्धि के आधार पर ही कोई राष्ट्र टिका रह सकता है। राष्ट्र के मध्य भाग की वृद्धि का अभिप्राय यह है कि इस राष्ट्र को धन-धान्य से संपन्न कर दिया जाय। अन्नाद्य शब्द का अभिप्राय यह है कि इस राष्ट्र में अन्न और उसका सही उपभोग करने वाले भी रहे। अन्न का सही उपयोग यही है कि वह खाने योग्य हो और खाने पर स्वास्थ्य को देने वाला हो। अनेक स्थानों पर ऐसा देखा जाता है कि धन-धान्य से संपन्न घर में कोई खाने वाला नहीं रहता और जहाँ खाने वाले रहते हैं, वहाँ खाना नहीं मिलता। जिस राष्ट्र की समृद्धि इन दोनों प्रकार के दोषों से मुक्त धन-धान्य से संपन्न है, उसी राष्ट्र को वास्तव में समृद्ध राष्ट्र कहा जाता है। मन्त्र में राष्ट्र को इसी तरह की समृद्धि की कामना की गई है। इस तरह से क्षेम राष्ट्र का शीत है। इसका अभिप्राय यह है कि अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग और प्राप्त वस्तु की रक्षा करने को क्षेम कहा जाता है। राष्ट्र में जब प्राप्त वस्तु की रक्षा करने की सामर्थ्य रहती है, तो पूरे राष्ट्र में शान्ति रहती है। इस प्रकार मन्त्र के चतुर्थ चरण से राष्ट्र में सब तरह की शान्ति का साम्राज्य सदा विद्यमान रहे, इसी बात की कल्पना की गई है।

'यदस्या०' इस मन्त्र से होता परिवृक्ता नामक रानी से हंसी करता है। इस परिवृक्ता रानी को इस मन्त्र में 'अंहुभेद्या'

अस्याः परिवृक्ताया योनिं प्रति क्रधु ह्रस्वं स्थूलं च शिश्नमुपातसत् उपगच्छेत् 'तंस उपक्षये' तदा मुष्कौ वृषणौ इद् एव योनेरुपरि एजतः कम्पेते। तत्र दृष्टान्तः—गोशफे गोष्पदे उदकपूर्णे शकुलौ मत्स्याविव। कीदृश्याः अंहुभेद्याः—अंहु भगं भेद्यं विदार्यं यस्याः सा अंहुभेदी तस्याः, अंहुर्भिद्यते यस्या वा। सानुचरी परिवृक्ता च पूर्वोक्तश्रुतिरीत्या होतृप्रमुखान् सर्वानेव ऋत्विजः परिवदति—'यद्देवासो ललामगुं प्रविष्टीमिनमाविषुः। सक्थ्ना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा॥' (वा० सं० २३।२९। यद् यदा देवासो दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवासः शिश्नदेवाः शिश्नक्रीडनका होत्रादय ऋत्विजः, ललामं सुखं कर्तुं गच्छतीति ललामगुस्तं शिश्नं प्र आविषुः योनौ प्रवेशयन्ति, 'अव रक्षे गतौ कान्तौ तृप्तौ प्रीतौ द्युतौ श्रुतौ। प्राप्तौ श्लेषेऽर्पणे वेशे भागे वृद्धौ गृहे वधे॥' इत्यादिरीत्या अवतेरत्र प्रवेशार्थत्वात्। यद्वा ललामं पुण्ड्रं गच्छतीति ललामगुः, योनिं प्रविशदुत्थितं लिङ्गं पुण्ड्राकारं भवतीत्यर्थः। कीदृशं विष्टीमिनं (ष्टीम क्लेदने) विशेषेण स्तीमनं क्लेदनं विष्टीमः, विष्टीमः क्लेदनमस्यास्तीति विष्टीमी तम्। शिश्नस्य योनिप्रवेशे क्लेदनं भवतीत्यर्थः। यदा देवा होत्रादयो ललामगुं योनौ प्रवेशयन्ति तदा नारी सक्थ्ना ऊरुणा देदिश्यते अत्यन्तं लक्ष्यते भोगसमये सर्वस्याङ्गस्य नरेण व्याप्तत्वादूरुमात्रं लक्ष्यते। यद्वा देवाः प्रविष्टीमिनं प्रवेश्य विष्टभ्य च आविषुः आलिङ्गनचुम्बनादिभिर्निगृह्णीयुर्नारीम्। अथ तदा सक्थ्ना देदिश्यते लक्ष्यते नारी सक्थिकृतेन कुटिलगमनेन निर्दिश्यते लक्ष्यते नारी। नहि तस्याः किञ्चिदप्यङ्गमव्याप्तं पुरुषेण भवति, अन्यत्र सक्थ्नः। कथमिव सत्यस्याक्षिभुवो यथा। द्विविधं सत्यमक्षिप्रभवमनक्षिप्रभवं च। अक्षिभ्यां भवतीत्यक्षिभु प्रत्यक्षमेकं च श्रोत्रग्राह्यम्। षष्ठ्यौ तृतीयार्थे। यथा कश्चिदक्षिभुवा प्रत्यक्षेण सत्येन निर्दिश्यते तत्र विश्वासो भवति, तथा ऊरुणा नारी लक्ष्यते। श्रोत्रग्राह्ये सत्ये तु वक्तुराप्तत्वमपेक्ष्यते। महीधराचार्यभाष्यस्य हिन्दीभाषामयं दयानन्दीयं व्याख्यानमशुद्धमेव। परिवृक्ता होत्रा सम्बन्धिशतपथवचनसम्बन्धे तु मौनमेवावलम्बितम्। परिवृक्ताशब्दार्थमप्यशुद्धमेव कृतवान् दयानन्दः।

'यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते। शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति॥' (वा० सं० २३।३०)। 'अथ क्षत्ता पालागलीमभिमेथति—पालागलि हये हये पालागलि यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते इति। तस्यै शतं क्षात्रसंग्रहीतॄणां दुहितरोऽनुचर्यो भवन्ति। ताः क्षत्तारं प्रत्यभिमेथन्ति क्षत्तर्हये हये क्षत्तर्यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते' (श० १३।५।२।८) इति श्रुत्यनुसारेण क्षत्ता पालागलीमाह—यद् यदा हरिणो मृगो यवं सस्यं भक्षयति तदा क्षेत्री पशु पशुं 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तिलोपः। पुष्टं न मन्यते धान्यभक्षणेन पशुः पुष्टो जातः सम्यगिति नावगच्छति, किन्तु मदीयं क्षेत्रं भक्षितवानिति मत्वा दुःखीभवति। तथैव शूद्रा शूद्रजातिः स्त्री यदा अर्यजारा भवति अर्यः 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा० सू० ३।१।१०३) वैश्यो जारः पतिर्यस्या सा तथोक्ता, वैश्यो गच्छति शूद्रां तदा शूद्रः क्षेत्री पोषाय न धनायति। मद्भार्या वैश्येन भुक्ता सती पुष्टा जाता धनधान्यादिभिरिति न मन्यते न सन्तुष्यति, किन्तु व्यभिचारिणी जातेति दुःखितो भवति। 'यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते। शूद्रो यदर्यायै जारो न पोषमनुमन्यते॥' (वा० सं० २३।३१) पूर्वोक्तश्रुत्य-

कहा गया है। अव धातु रक्षा, गति, कान्ति, तृप्ति, प्रीति, द्युति, श्रुति, प्राप्ति, श्लेष, अर्पण, प्रवेश, भाग, वृद्धि, गृह और वध के अर्थ में प्रयुक्त होती है। यहाँ प्रवेश के अर्थ में यह प्रयुक्त है। सचाई दो तरह की होती है—एक अपनी आँखों से देखी गई, दूसरी सुनी हुई। आँख से देखी बात पर सब कोई विश्वास करते हैं। कान से सुनी बात पर तो तब विश्वास किया जाता है, जब कि कहने वाला व्यक्ति प्रामाणिक हो। इस मन्त्र के महीधर भाष्य का हिन्दी अनुवाद स्वामी दयानन्द ने गलत किया है। परिवृक्ता का होता के साथ जो संवाद होता है, उसको बताने वाले शतपथ ब्राह्मण के विषय में स्वामी दयानन्द ने चुप्पी साध ली है। उन्होंने परिवृक्ता शब्द का अर्थ भी गलत किया है।

'यद्धरिणो०' इस मन्त्र से क्षत्ता पाली नाम की रानी से हँसी करता है, जैसा कि 'पालागलि' इत्यादि शतपथ

नुसारेण सानुचरी पालागली यदा हरिणो यवमत्ति तदा बहु यथा स्यात्तथा पशुं पुष्टं न मन्यते। इदं तु भवतोऽपि तुल्यमेव। इयांस्तु विशेषः—यदा शूद्रः अर्यायै अर्याया वैश्याया जारो भवति, तदा वैश्यः पोषं पुष्टिं नानुमन्यते मम स्त्री पुष्टा जातेति न तुष्यति, किन्तु शूद्रेण भुक्तेति क्लिश्यत्येव।

अत्रत्यमपि पूर्वोक्तम्—'चतस्रो जाया उपक्लृप्ता भवन्ति। महिषी वावाता परिवृक्ता पालागली' (श० १३।४।१।८) इति शतपथरीत्या एताश्चतस्रो राज्ञो यजमानस्य पत्न्यो भवन्ति। तत्र प्रथमपरिणीता पत्नी महिषी, वावाता वल्लभा, परिवृक्ता अवल्लभा, पालागली दूतपुत्री। अथ निष्केवल्यशस्त्रे याज्यां विधातुं पूर्वाख्यानशेषं प्रस्तौति—'ते देवा अब्रुवन्। इयं वा इन्द्रस्य प्रिया जाया वावाता प्रासहा नाम' (ऐ० ब्रा० ३।२२)। 'ते देवा इन्द्रस्याभिप्रायमजानन्तः परस्परमिदमब्रुवन्। इयं वै पुरतो दृश्यमानैवेन्द्रस्य प्रिया जाया। सा वावाता मध्यमजातीया। राज्ञां हि त्रिविधाःस्त्रियः—तत्रोत्तमजातेर्महिषीति नाम, मध्यमजातेर्वावातेति, अधमजातेः परिवृक्तिरिति। अत एवाश्वमेधेऽश्वं प्रति राजस्त्रीणां कर्तव्यविशेष एतैर्नामभिराम्नातः—भूरिति महिषी। भुव इति वावाता। सुवरिति परिवृक्तिरिति। तस्याश्च वावातायाः प्रासहेति नाम, राजप्रियत्वात्। प्रसह्य बलात्कारेण सर्वं कार्यं कर्तुं शक्तेत्यर्थः' इति सायणः। दयानन्दस्तु स्खलितरजस्का नारी परिवृक्तेत्याह, शूद्रदासी पालागली च। वावातेत्यस्य तु नार्थः कृतः, तदनभिज्ञानात्।

यद्वा—'विड् वै यवो राष्ट्रं हरिणो विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति। न पुष्टं मन्यत इति। तस्माद् राजा पशून्न पुष्यति। शूद्रा यदर्यंजारा न पोषाय धनायतीति। तस्माद् वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चन्ति' (श० १३।२।९।८) इति तु पूर्वोक्तमन्त्रयोः सूक्ष्मोऽभिप्रायः। प्रकृतमन्त्रे यवपदेन विड् हरिणपदेन राष्ट्रं विवक्षितम्। यथा हरिणो यवमत्ति, तथैव राष्ट्रशासको राजा विशं प्रजामत्ति राजा भोक्ता भवति प्रजा भोग्या भवति, एतत्कथनेन राष्ट्राय विशम् आद्यां भोग्यां सम्पादयति। तस्माद्राष्ट्री राजा विशमत्ति प्रजां भुनक्ति। न पुष्टं पशु मन्यत इति मन्त्रप्रतीकमुद्धृत्य तदभिप्रायं कथयति—तस्माद्राजा प्राधान्येन पशून् न पालयति, वैश्यानामेव प्राधान्येन पशुपालकत्वात्। शूद्रा यदर्यंजारा न पोषाय धनायति इत्यपि मन्त्रप्रतीकोद्धरणम्। तस्माद्वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चन्तीति तन्निष्कर्षकथनम्।

श्रुति में बताया गया है। जब कोई पशु किसी का खेत चर जाता है, तो उस खेत का स्वामी यह नहीं सोचता कि यह मेरे खेत का अन्न खाकर मोटा हो गया है, वह तो यह सोचकर दुःखी होता है कि इस पशु ने मेरा खेत बरबाद कर दिया।

अश्वमेध के यजमान राजा की चार रानियों की चर्चा ऊपर की गई है। महिषी, वावाता, परिवृक्ता और पालागली इन्हीं के नाम हैं। प्रथम विवाहित पत्नी महिषी कहलाती है, इसकी प्रिय पत्नी वावाता, अप्रिय पत्नी परिवृक्ता और दूतपुत्री पालागली कही जाती है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी इनकी चर्चा आई है। वहाँ राजा की तीन प्रकार की स्त्रियों का वर्णन मिलता है। उत्तम जाति की स्त्री महिषी, मध्यम जाति की वावाता और अधम जाति की परिवृक्ता कहलाती है। अश्वमेध यज्ञ में राजा की इन तीनों तरह की स्त्रियों के कर्तव्यों का निर्देश भूः, भुवः और स्वः इन तीन व्याहृतियों के आधार पर किया गया है। सायण ने इस जगह पर लिखा है कि वावाता का दूसरा नाम प्रासहा भी है, क्योंकि वह राजा से जबर्दस्ती भी काम कराने में समर्थ रहती है। शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण की भी उपेक्षा कर स्वामी दयानन्द ने रजस्वला नारी को परिवृक्ता और शूद्र दासी को पालागली बताया है। वावाता शब्द का अर्थ तो उन्होंने किया ही नहीं।

'विड् वै यवो राष्ट्रं हरिणो०' इस शतपथ श्रुति में उक्त दोनों मन्त्रों का निगूढ़ अभिप्राय समझाया गया है। प्रकृत मन्त्र में यव शब्द से प्रजा और हरिण शब्द से राष्ट्र का बोध कराया गया है। जैसे हरिण खेत चर जाता है, उसी तरह से राष्ट्र का शासक राजा प्रजा का उपयोग अपनी भलाई में करने लगता है। राजा भोक्ता और प्रजा भोग्य होती है। इन कथन का अभिप्राय यह है कि राष्ट्र का स्वामी राजा प्रजा का उपयोग राष्ट्र की भलाई के लिये करता है। 'न पुष्टं पशु मन्यते' मन्त्र के इस अंश की व्याख्या इस तरह से की गई है कि इसलिये राजा प्रधानतया पशुओं की रक्षा नहीं करता। पशुओं को पालने का कार्य तो वैश्यों का है।

दयानन्देन शतपथब्राह्मणस्य प्रामाण्यमङ्गीकृतम्। तदाश्रित्येव महीधरभाष्यं खण्डितम्। शतपथब्राह्मणमाश्रित्यैवास्माभिर्दयानन्दीयं भाष्यं खण्डितम्। 'तस्मिन् एनमधिसंज्ञपयन्ति' (श० ब्रा० १३।५।२।१) इत्यारभ्य 'अध्वर्युः कुमारीमभिमेथति। तं कुमारी प्रत्यभिमेथति ब्रह्मा महिषीममिमेथति होता परिवृक्तामभिमेथति' (श० १३।५।२।९) इत्यन्तैः शतपथवचनैरेव दयानन्दीयं मतं खण्ड्यते, महीधरादिभाष्यं च समर्थ्यते। सर्वाण्येतानि वचनानि आर्यसमाजस्य प्रामाणिके प्रेसे 'वैदिक यन्त्रालय अजमेर' इत्यत्र संवत् १९५९ विक्रमे मुद्रिते शतपथब्राह्मणे ६६१–६६२ पृष्ठयोरुपलभ्यन्ते। युधिष्ठिरमीमांसकोऽपि तथैव स्वीकरोति। महीधरेण यादृशोऽर्थो लिखितस्तथैव शतपथब्राह्मणेऽपि दृश्यते (पृ० ३८० टि०)। तथापि निर्लज्जतया तेन 'यदध्रिगोः परिशिष्टं भवति' (श० १३।५।२१) इति परिशिष्टत्वादस्यांशस्य प्रक्षेपरूपत्वमुक्त्वा यत्किञ्चित् प्रलप्यते (पृ० ३८० टि०)। परमिह विचारणीयं यद् यदि परिशिष्टत्वादेव तेषां शतपथवचनानां प्रक्षिप्तताङ्गीक्रियेत चेत्तदा ऋक्परिशिष्टादीनामपि प्रक्षिप्तता ध्रुवा शिरसि बलात् पतेत्। तथा च 'शेषे यजुःशब्दः' इति परिशिष्टत्वाद्यजुषामपि प्रक्षिप्तता दुर्निवारा। यत्रोत्तरं न स्फुरति तत्र प्रक्षिप्तत्वोक्तिरेव सामाजिकानां समाधानम्। एतच्च नैर्बल्यमेव। अनेनैव कारणेन सप्तविंशदुत्तरैकादशशतशाखागतमन्त्रब्राह्मणारण्यकोपनिषदां वेदत्वमपलप्य तेषामव्याहतं प्रामाण्यं बाधितम्। यदि यथाकथञ्चित् प्रलाप एव तदुत्तरं तदा तु नास्तिकैस्त्वदभिमतानां मन्त्रसंहितानां त्वदभिमतब्राह्मणानां चाप्रामाण्यमुच्यत एव, शपथमन्तरा न किमपि तेषां प्रामाण्ये कारणं वक्तुं शक्यते। त्वदुक्तानां मन्त्रब्राह्मणानां प्रामाण्यं त्वद्विरुद्धानां तेषामप्रामाण्यमिति वचने तद्वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वमेव। संहितान्तरब्राह्मणान्तरकात्यायनलाट्यायनादिश्रौतसूत्रवाल्मीकीयरामायणमहाभारतादिसम्मतत्वेन पूर्वोक्तस्य (१३।५।२) शतपथीयाध्यायस्यापि प्रामाण्यमेव।

यदुक्तं परिशिष्टात् पूर्वाध्यायगतवचनमूलकत्वाद् दयानन्दीयं व्याख्यानमेव ज्याय इति (पृ० ३८० टि०),

स्वामी दयानन्द ने शतपथ ब्राह्मण को प्रमाण माना है। उसी का आधार लेकर उन्होंने महीधर के भाष्य का खण्डन किया है और हमने भी शतपथ ब्राह्मण के आधार पर ही दयानन्द के अर्थ का खण्डन किया है। 'तस्मिन् एनमधिसंज्ञपयन्ति' से लेकर 'होता परिवृक्तामभिमेथति' पर्यन्त शतपथ ब्राह्मण के वचन दयानन्द के मत का खण्डन और महीधर प्रभृति के भाष्य का समर्थन करते हैं। ये सभी वचन आर्यसमाज के अपने प्रामाणिक प्रेस 'वैदिक मन्त्रालय, अजमेर' से संवत् १९५९ में छपे शतपथ ब्राह्मण के पृ० ६६१-६६२ में देखे जा सकते हैं। युधिष्ठिर मीमांसक भी इसको स्वीकार करते हैं कि महीधर ने जैसा अर्थ किया है, वैसा शतपथ ब्राह्मण में भी मिलता है (पृ० ३८१ टि०)। इतना स्वीकार कर लेने के बाद भी वे यह लिखने की धृष्टता करते हैं कि 'शतपथ में इस प्रकार का अश्लील अर्थ 'अध्रिगोः परिशिष्टं भवति' निर्देश करके लिखा है। परिशिष्ट शब्द से स्पष्ट है कि यह अर्थ शतपथ में पीछे से घुसेड़ा गया है' (पृ० ३८१ टि०), किन्तु यहाँ पर विचारने की बात यह है कि यदि परिशिष्ट होने से ही शतपथ के इन वचनों को प्रक्षिप्त मान लें, तब तो ऋक् परिशिष्ट प्रभृति ग्रन्थों को भी निश्चय ही जबर्दस्ती प्रक्षिप्त मानना पड़ जायगा। 'शेषे यजुःशब्दः' इस मीमांसा सूत्र के प्रमाण पर परिशिष्ट होने से सारा यजुर्वेद भी अनिवार्य रूप से प्रक्षिप्त मान लिया जायगा। आर्यसमाजियों को जब कोई उत्तर नहीं सूझता, तो यह वाक्य प्रक्षिप्त है, अपने इस महा अस्त्र का प्रयोग करने लगते हैं। यह एक प्रकार की दुर्बलता ही है। इसलिये ११२७ शाखाओं के मन्त्रभाग, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् भाग को प्रमाण न मानकर केवल चार शाखाओं को प्रमाण मानने की आपकी बात का पागल के प्रलाप से अधिक महत्त्व नहीं है। नास्तिक जन तो आप जिन चार संहिताओं और ब्राह्मणों को प्रमाण मानते हैं, उनको भी प्रामाणिक नहीं मानते। आपके पास अपनी प्रतिज्ञा के सिवाय कि ये चारों शाखायें ही वेद हैं, दूसरा क्या प्रमाण है? यह भी हो सकता है कि आपके प्रतिज्ञात वेदभाग को अप्रमाण और अवशिष्ट वेदभाग को ही कोई प्रमाण मानने लगे। इसका आपके पास क्या उत्तर है? अन्य संहिता-ब्राह्मण के वचनों, कात्यायन, लाट्यायन प्रभृति श्रौतसूत्रों, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदि के प्रमाण के आधार पर शतपथ ब्राह्मण के उक्त पूर्वभाग के समान परिशिष्ट भाग को भी समान रूप से प्रमाण माना जाता है।

'परिशिष्ट भाग से पहले शतपथ ब्राह्मण के मूल ग्रन्थ में विद्यमान वचनों के आधार पर स्वामी दयानन्द ने इन मन्त्रों

तत्तु कुशकाशावलम्बनमेव, पूर्ववचनेन परिशिष्टवचनस्य विरोधाभावात्। दयानन्दोक्तं तत्रत्यशतपथब्राह्मणव्याख्यानमपि यथाऽशुद्धं तथा दर्शितमेव। शतपथवचनानां तु तेषां न परस्परं विरोधः केनापि दर्शयितुं शक्यः। संपूर्वकस्य जानातेर्हिंसार्थतैव न ज्ञानार्थतेत्यपि ध्येयम्। तथाहि 'मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा' इति पाणिनिधातुपाठे मित्संज्ञकेषु धातुषु ज्ञाधातोर्मारणमेवार्थः। 'घ्नन्ति वै एतत्पशुं यदेनं संज्ञपयन्ति' (श० १३।२।८।२) इति श्रुतेश्च। महीधरेण—'अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषाय वाजीति' (का० श्रौ० २०।६।१३) इति सूत्रानुसारं व्याख्यातम्। तथैव 'अश्वस्य शिश्नं महिषी उपस्थे निधत्ते वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैव सर्वत्वाय' (श० १३।५।२।२) इति शतपथेऽपि तदेवोक्तम्। तत्तु दयानन्देन न ज्ञातम्। नहि विभिन्नानि शतपथादिवचनानि वाममार्गीयाणि सम्भवन्ति। वाल्मीकीयरामायणेनाप्यस्यैवार्थस्य परिपोषात्। तथाहि—'कौसल्या तं हयं तत्र परिचर्य (परिक्रम्य) समन्ततः। कृपाणैर्विशशासैनं त्रिभिः परमया मुदा॥' (वा० रा० १।१४।३३)। 'पत्न्य एनं त्रिः परियन्ति'। 'पतत्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा। अवसद्रजनीमेकां कौशल्या धर्मकाम्यया॥' (वा० रा० १।१४।३४)। मृतकेनाश्वेन सार्धं धर्मकाम्ययैव महिष्या रात्रिवासो भवति न सम्भोगेच्छया, शालग्रामे विष्णुबुद्धिवद् अश्वे प्रजापतिबुद्धयैव तत्परिचरणपर्ययणादिविधानात्। तैत्तिरीयब्राह्मणभाष्यकारेण भट्टभास्करेणापि तप एव सन्तापहेतुत्वादस्या एतत्तपःस्थानीयं यन्मृतेन सह मिथुनीभवनम् (सहोपवेशम्)। महाभारतेऽपि तथैव—'ततः संज्ञप्य तुरगं विधिवद् याजकास्तदा। उपासंवेशयन् राजन् ततस्तां द्रुपदात्मजाम्॥' (आश्वमेधिकपर्व ९।२)

'हवामहे' इति प्रजापतेरेवाह्वानं मन्तव्यम्। तच्च चेतनाया देवताया एव सम्भवति, रेतोऽपि तस्यैव दिधारयिषितम्। शिश्नपदस्यापि स एवार्थः। न ह्यश्वः पशुरेव जीवितोऽपि स न गणानां पतिर्न वा प्रियाणां पतिर्न वा निधीनां पतिः सम्भवति, किमुत मृतः ? प्रार्थनापि नाश्वात् सम्भवति, नाप्याह्वानं सम्भवति। नह्यश्वेन मानुष्याः समागमसम्भवः ?

का भाष्य किया है, अतः उन्हीं की व्याख्या सही है' (पृ० ३८१) यह कथन भी तिनके का सहारा लेने के समान है, क्योंकि पहले के वाक्यों का इन परिशिष्ट गत वाक्यों से किसी प्रकार का विरोध नहीं है। दयानन्द ने शतपथ के मूल भाग में विद्यमान मन्त्रों का जिस तरह का गलत अर्थ किया है, इस बात को हम पहले बता चुके हैं। इन शतपथ वचनों का परस्पर विरोध है ही नहीं। सम् उपसर्ग पूर्वक ज्ञा धातु हिंसा के अर्थ में प्रयुक्त होता है, ज्ञान के अर्थ में नहीं, इस बात को ठीक तरह से जान लेना चाहिये। 'मारण०' इस पाणिनि धातु पाठ के अनुसार मित्संज्ञक धातुओं में पठित ज्ञा धातु का अर्थ मारण होता है। शतपथ श्रुति भी इसी अर्थ का समर्थन करती है। महीधर ने अपना भाष्य कात्यायन श्रौतसूत्र के आधार पर लिखा। कात्यायन श्रौतसूत्र का समर्थन शतपथ ब्राह्मण के वाक्यों से भी होता है। इस बात को दयानन्द समझ नहीं सके हैं। शतपथ के इन वचनों का वाम मार्ग से कोई सम्बन्ध नहीं है। वाल्मीकीय रामायण से भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है। जैसे कि 'कौसल्या ने उस अश्वमेधीय अश्व की पहले परिक्रमा की और तब कृपाण के तीन वार कर उसका वध कर दिया।' अश्व की तीन बार परिक्रमा करने की बात शतपथ ब्राह्मण में भी है। 'इसके बाद धर्म की कामना से, धर्म का पालन करने की दृष्टि से कौसल्या उस घोड़े के साथ अपने मन को संयत रखकर एक रात भर रही'। मरे हुए घोड़े के साथ धर्म का पालन करने के अभिप्राय से ही महिषी रात भर रहती है। शालग्राम में जैसे विष्णु की भावना की जाती है, उसी तरह से अश्व में प्रजापति की भावना रखकर ही उसकी सेवा, परिक्रमा आदि की जाती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के भाष्यकार भट्ट भास्कर ने कहा है कि—तप जैसे (संताप) कष्ट का कारण होता है, उसी तरह से महिषी का मरे हुए घोड़े के पास सोना भी सन्तापजनक होने से एक प्रकार की तपस्या ही है। महाभारत में ऐसा ही वर्णन मिलता है—'ऋत्विजों ने विधिपूर्वक घोड़े का वध करके हे राजन्, उसके बाद उस घोड़े के साथ द्रौपदी को बैठने के लिये प्रेरित किया।'

'हवामहे' पद से आह्वान प्रजापति का ही किया जाता है। चेतन देवता का ही आह्वान किया जा सकता है और उसी के तेज को धारण करना अभीष्ट हो सकता है। अश्व एक पशु है, यह जीवित अवस्था में भी गणों का, प्रियों का और निधियों का पति नहीं हो सकता, तब भला वह मरा हुआ इनका पति कैसे हो सकता है ? अश्व से कोई प्रार्थना भी नहीं की जा सकती और न

मृतस्याश्वस्य वीर्यधारकत्वमपि न सम्भवति मृतत्वादेव। 'प्राजा वै अश्वः' (श० १३।३।३।४) इति रीत्या प्रजापतिरेवाश्वेन रूपेण चिन्त्यते। स एव गणपतिः प्रियपतिः निधिपतिश्च सम्भवति। कूष्माण्डादिगणानां साध्यादिगणदेवानां पद्ममहापद्मादिनिधीनां च पतिः स एव। पतिपुत्रप्राणधनादिप्रियाणामपि पतिः स एव सर्वव्यापकत्वात्। वसुशब्देनापि सम्बोधनीयः स एव। यदि सामाजिकैः रेतःशब्दस्य बलमर्थ उच्यते, तदा वीर्यपदस्यापि स एवार्थो वक्तुं शक्य एव, 'वाजी रेतोधा रेतो दधातु' इति मन्त्रब्राह्मणवचनानां सत्त्वात्। गर्भधमित्यस्य विवरणे शतपथे स्पष्टमेतदुक्तम् 'प्रजा वै पशवः प्रजां वै पशून् आत्मन् धत्ते (श० १३।२।२५)। गर्भशब्दः प्रजापशुवाचक एव। प्रजापतिरेव तादृशं गर्भं धारयितुं शक्नोतीति तदर्थः। स एव प्राथ्यंते। नहि मृतकेऽश्वे जीविते वा तादृशं वीर्यं सम्भवति। सामाजिकानां कुमार्यो योषितश्च 'वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि' (वा० सं० १२।९), 'अग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतो अस्मासु धत्त' (वा० सं० १९।४८) एभिर्मन्त्रैः प्रतिदिनं स्वस्मिन् रेतसो वीर्यस्य चाधानं प्रार्थयन्ते। 'इमं ते उपस्थं मधुना संसृजामि' इति दयानन्दीयसंस्कारविधौ विवाहकालिकमन्त्रेण किं स्त्रीणामुपस्थमेव मधुना संसृज्यते सामाजिकैः। 'अथैनं मनुष्या उपस्थं कृत्वा उपासीदन्' (श० २।४।२।३), 'रथोपस्थ उपाविशत्' (भ० गी० १।४७), 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' (श्री० भ० गी० १४।३), 'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः' (वा० सं० ३१।१९), 'मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे' (ऋ०), 'रमणीयां योनिमापद्यन्ते ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा', 'कपूयां योनिमापद्यन्ते श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा', 'सुगतिमियाच्छ्रवणाच्च शूद्रयोनिः' नह्येषु वचनेषूपस्थयोन्यादिशब्दैर्योनिलिङ्गादिग्रहणं युक्तम्। किञ्च 'मेढ्रं ते शुन्धामि' (वा० सं० ६।१४) इति मृतकस्याश्वस्याङ्गानि संशोध्य पृथग्रक्षितानि कथं तैर्मैथुनं सम्भवति?

यत्तु—'कैश्चिदुपहासः क्रियते कथमश्वसंसर्गेण महिषी न क्रियते' इति, तैस्तु 'यादवङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत्। यावदश्वस्य वाजि तावत्ते वर्धतां पसः॥' (अथर्व० ६।७२।३) इत्यस्यार्थो नावगतः। पसशब्दस्य शिश्नोऽर्थं इति दयानन्देनाप्युक्तम् (वा० सं० २०।९) इत्यत्र। तथा महीधरानुसारेणाप्ययमेवार्थो भवति। महिषी प्रजापशुरूपं गर्भधारकात्प्रजापतेर्गणपतेः सोमात्मकं तेज आकृष्य स्वस्मिन् धारयामीति भावयति। तस्मादेव चक्रवर्तिनं पुत्रं प्रसूते। यथा—'इन्द्राग्नी.......बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्मसो इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु'। दयानन्दरीत्या हे सभ्यमनुष्याः, इमां मदीयां पत्नीं

उसको बुलाया ही जा सकता है। अश्व के साथ नारी का समागम भी नहीं हो सकता। मरा हुआ घोड़ा वीर्य धारण करने में भी समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि वह मर चुका है। शतपथ ब्राह्मण में अश्व को प्रजापति का ही स्वरूप माना है। वह प्रजापति ही गणपति, प्रियपति और निधिपति हो सकता है। कूष्माण्ड प्रभृति और साध्य प्रभृति गणदेवताओं का और पद्म, महापद्म प्रभृति निधियों का स्वामी यह प्रजापति ही है। पति, पुत्र, प्राण, धन, प्रभृति प्रिय वस्तुओं का भी पति वही है, क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त है। वसु शब्द से भी इसी को संबोधित किया जा सकता हैं। यदि आर्यसमाजी रेतस् शब्द का अर्थ बल कर सकते हैं, तो फिर वीर्य शब्द का भी अर्थ बल किया ही जा सकता है। इसके लिये मन्त्र और ब्राह्मण के वचन प्रमाण रूप में दिये जा सकते हैं। 'गर्भधम्' इस पद का अर्थ भी शतपथ ब्राह्मण के वचन के अनुसार प्रजा और पशु को देनेवाला होता है। प्रजापति ही इस तरह के गर्भ को धारण कराने में समर्थ हो सकता है। उसी से यहाँ प्रार्थना की जाती है। मरे हुए अथवा जीवित अश्व में भी यह सामर्थ्य विद्यमान नहीं है। आर्यसमाजियों के यहाँ तो उनकी कुमारी कन्याएँ और पत्नियाँ 'वीर्यमसि', अग्निः प्रजां' प्रभृति मन्त्रों का प्रतिदिन उच्चारण कर अपने में वीर्य के आधान की प्रार्थना करती है। 'इमं ते उपस्थं मधुना' यह मन्त्र स्वामी दयानन्द की संस्कार-विधि में दिया गया है।

राजमहिषी प्रजापति रूप अश्व के पास बैठ कर यह भावना करती है कि—समस्त प्रजा और पशु धन को अपने गर्भ में स्थापित करने वाले प्रजापति के प्रभाव से, जो कि समस्त देवगणों का भी पति है, मैं सोमात्मक तेज को आकृष्ट कर अपने में धारण करती हूँ। इसी भावना के आधार पर वह चक्रवर्ती पुत्र को जन्म देती है। स्वामी दयानन्द ने एक मन्त्र में वर से प्रार्थना कराई है कि हे सभ्य मनुष्यों, इस मेरी पत्नी को आप प्रजा के द्वारा बढ़ाइये। यह एक आशीर्वादात्मक उक्ति है। निरुक्त के अनुसार विघ्न

प्रजया वर्धयन्तु' इति वरोक्तिः। किमत्र ते मनुष्यास्तया ग्राम्यधर्मेण संयुज्यन्ते ? शिश्नशब्दार्थो ऽपि तेज एव, शिश्नं श्नथतेः (नि० ४।१९)। श्नथयति ताडयति हिनस्ति वा विघ्नरूपं तम इति शिश्नं विघ्नहरं गाणपत्यं तेजः, हिनस्ति वा प्रतिबन्धकताम्। शशति शीघ्रं व्याप्नोति वा शिश्नम्। 'शश प्लुतगतौ' शिनोति तीक्ष्णीभवति वा शिश्नम्। पृषोदरादित्वात् साधुः। 'पृषोदरादीनि 'यथोपदिष्टम्' (पा. सू. ६।३।१०९)। वाजी वेगवान् वृषा फलानां वर्षुकः गणपतिः रेतः स्वकीयं तेजो मयि दधातु वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि रेतो अस्मासु धत्त इत्यादिवत्।

कर्मकाण्डरीत्यापि मृतस्याश्वस्य पृथग्भूतं मेढ्रं ते शुन्धामीति संस्कृतं उपस्थे अङ्के योन्युपरि वा स्थापनमात्रमिष्टम्। नात्र सम्भोगो न विलासिता वा सम्भवति। तेन न पातिव्रत्यभङ्गशङ्कापि, प्राजापत्यतेजोभावनात्। नहि गवां स्तनानां मूत्रस्थानस्य वा स्पर्शे कामवासना जायते। तथैव महिष्या धर्मबुद्ध्या प्राजापत्याश्वतेजोबुद्ध्या तदीयसंस्कृतमेढ्रस्पर्शे स्वोपस्थोपरि स्थापनेऽपि न कामवासनासम्भावनापि। नियोगेषु विधिवाविवाहेषु तु स्पष्टमेवैकादशसंख्याकैः पुरुषैर्यथेच्छं बहुतिथं विहरणेऽपि किं पातिव्रत्यं नापैति ? मन्त्रब्राह्मणोक्तायां प्राजापत्यबुद्ध्या वैधक्रियायां कुतस्तत्सम्भावना ?

शास्त्रैकदृष्टीनां तु वचनात् प्रवृत्तिर्वचनान्निवृत्तिर्भवत्येव। 'महानग्नी उपब्रूते अश्वस्य आवेशितं पसः।' (अथर्व० २०।१३६।९), 'रेतोमूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्' (वा० सं० १९।७६), 'यस्यां बीजं वपन्ति यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्।' (ऋ० सं० १०।८५।३७) एतान् मन्त्रान् सामाजिकाः कथङ्कारं कुमारीः पाठयन्ति। मेढ्रं ते शुन्धामि, पायुं ते शुन्धामि' (वा० सं० ६।१४), 'त्रिः स्माह माह्नः श्नथयो वैतसेन' (ऋ० १०।९५।५), 'वैतसेन पुंस्प्रजननेन (नि० ३।२९)। अत्र वक्त्री अप्सरा उर्वशी। 'यम यां अद्धि ओदनम्' (अथर्व० २०।१३६।११-१३) यद्येतेषु मन्त्रेषु अश्लीलता नास्ति, तदा महीधरादिवचनेषु कथं सा स्यात् ?

'आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका' (वा० सं० २३।२२) यदा भगे योनौ शिश्नमागच्छति तदा धारका (धरति लिङ्गमिति धारका) योनिः, गिलति वीर्यं क्षरति, गलगलेति शब्दं वा करोतीत्यपि योनिं प्रविशदिन्द्रियमिति मन्त्रवद्वस्तुस्थितिनिरूपकं महीधरवचनम्। 'आनन्दनन्दौ आण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः' (वा० सं० २०।९) अत्र दयानन्देनापि

रूप अन्धकार का नाश करने वाले प्रजापति का तेज ही शिश्न कहा गया है। गणपति का यह तेज समस्त विघ्नों का नाश कर देता है। शीघ्र सर्वत्र व्याप्त हो जाने वाला अथवा तीक्ष्ण हो जाने वाला, इस तरह की व्युत्पत्ति भी शिश्न शब्द की होती है। पृषोदरादि गण में पाठ होने से यह शब्द बनता है। वाणी अर्थात् वेगवान्, वृषा अर्थात् सभी कामनाओं का पूरा करने वाला गणपति (प्रजापति) अपना तेज मेरे गर्भ में स्थापित कर दे, यही इस मन्त्र का अर्थ है। जैसे 'वीर्यं मयि धेहि' 'रेतो अस्मासु धत्त' इत्यादि श्रुतियों का अर्थ आप करते हैं, उसी तरह का अर्थ इस प्रस्तुत श्रुति का भी है।

नियोग और विधवा विवाह में आपके मत के अनुसार इच्छानुसार पुत्र प्राप्ति के लिये ग्यारह पति किये जा सकते हैं। इस व्यवस्था में आपको स्त्री की पवित्रता भंग होती नजर नहीं आती, तब मन्त्र और ब्राह्मण में उपदिष्ट विधि से अश्व में प्रजापति की बुद्धि रख कुछ विधिसंमत धार्मिक कृत्यों के संपादन में इसकी संभावना कैसे हो सकती है ?

केवल शास्त्रों के अनुसार ही चलने वाले व्यक्ति शास्त्र के कथनानुसार ही किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं अथवा उससे निवृत्त होते हैं। 'महानग्नी०', 'रेतो मूत्रं', 'यस्यां बीजं वपन्ति' इन मन्त्रों को आर्यसमाजी अपनी कुमारी कन्याओं को कैसे पढ़ाते हैं। 'मेढ्रं ते शुन्धामि' प्रथम ये सब मन्त्र भी तो अश्लील अर्थ के द्योतक हैं। ऋग्वेद के 'त्रिः स्माह' प्रभृति मन्त्र में अप्सरा उर्वशी वैतस दण्ड को, जो कि पुंस्प्रजनन का वाचक है, बात करती है। 'यम मां' इस मन्त्र में भी इसी तरह अश्लील अर्थ घोषित होता है। यदि इन मन्त्रों में आपको अश्लीलता का भान नहीं होता, तो महीधर के किये अर्थ में ही यह कैसे प्रतीत होने लगती है।

'आनन्दनन्दौ' इस मन्त्र में आये पस शब्द का स्वामी दयानन्द ने भी शिश्न ही अर्थ किया है। धारका शब्द का अर्थ शतपथ ब्राह्मण में योनि किया गया है और इस मिथुन व्यापार को अग्निहोम की संज्ञा दी है। गभ और धाणिका शब्द तैत्तिरीय संहिता

पस इत्यस्य शिश्न इत्यर्थः कृतः। धारका योनिरित्यपि शतपथे। 'ते स्त्रियमाविशतः। तस्या उपस्थमेवाहवनीयं कुर्वीत धारकां समिधम्। धारका ह नाम। एतया वै प्रजापतिः प्रजां धारयाञ्चकार। रेत एव शुक्रमाहुतिम्। ते स्त्रियं तर्पयतः। स य एवं विद्वान् मिथुनमुपैति अग्निहोत्रमेवाहुतं भवति। यस्ततः पुत्रो जायते स कः, एतदग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य! नातः परमस्ति' (श० ११।२।१०), 'आहतं गभे पसो निगल्गुलीति धाणिका'(तै० सं० ७।४।१९।३)। कुन्तापसूक्तेऽपि—'महानग्नी कृकवाकुं शीर्ष्णाहरति धाणिकाम्' (अथर्व २०।१३६।१)। भगे इत्यस्यैवाक्षरविपर्ययेण गभे इत्युल्लेखः। यथा पस इत्यस्य रूपम्, निष्पसी (विनिर्गताः पसाः) स्त्रोकामो भवति (नि० ५।१६) 'विड् वै गभः', 'राष्ट्रं वै पसः', 'राष्ट्रमेव विशि हन्ति तस्माद्रा॑ष्ट्री विशं धातुकः' (श० १३।२।९।६) अत्रापि नार्थभेदः। यथा 'आयुर्वै घृतम्' (तै० सं० २।३।२।२) नह्यत्रायुर्घृतयोः पर्यायवाचकता, किन्तु कदाचिद् वृत्त्या आयुःसाधनत्वादिना घृत आयुष्ट्वारोपस्तथैव राष्ट्रे पसत्वारोपो विशि गभत्वारोपः। यथा गभे पसाहननेन धारका गर्भधारका आहन्यते शब्दमिव करोति, तथैव तीक्ष्णस्य राज्ञः प्रजासु गमनेन प्रजा आहन्यते तदानीं प्रजासु धारिका व्यवस्थापि पीड्यते तदानीमाक्रोशादिशब्दस्तत्र भवति। यथा पूर्वोद्धृतपसभगादिव्याजेनाग्निहोत्र-विधिरुपदिष्टस्तथैवोपहासमन्त्रै राज्ञोऽश्वमेधयजमानस्याक्रौर्योपदेशोऽपि। 'अहं तनोमि ते पसो अधिज्यमिव धन्वनि' (अथर्व० ४।४।६) अस्य पसः पुंव्यञ्जनं वीर्यप्रदातृत्वेन धनुरिव ऊर्ध्वायतं कुरु। पसशब्दस्य लिङ्गवाचित्वम्—'आहतं गभे पसो निगल्गुलीति धाणिका' (तै० सं० ७।४।१९।३) इत्यादि मन्त्रान्तरप्रसिद्धमिति तत्र सायणभाष्यम्। तथैव छान्दोग्येऽपि 'योषा वाव गौतमाग्निः। तस्या उपस्थ एव समित्, योनिरर्चिः, अभिनन्दाः विस्फुल्लिङ्गाः, तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ रेतो जुह्वति' (छा० उ० ५।८।१-२)। धर्माधर्मौ शास्त्रैकगम्यौ भवतस्तत एवासगोत्रायामसपिण्डायां विवाहितायां पत्न्यां तदेव कृत्यं यथाकालं पुण्यं भवति, तदेव चाविवाहितायां सगोत्रायां सपिण्डायां दुहितृभगिन्यादिषु पातकं भवति। तथैव शास्त्रीयेषु कर्मोपासनादिविज्ञानेषु पूर्वोक्तविधयः पुण्यावहा एव, नाश्लीलतावहाः।

किञ्च, गृहस्थानां कामशास्त्रमप्यपेक्षितमेव। कामशास्त्रस्यापि मूलं वेदवचनान्येव। तथैव केचित्सामाजिका अपि पूर्वेषां मन्त्रब्राह्मणवचनानां तदनुसारिणां कात्यायनसायणोव्वटमहीधरादिवचनानां वैशिष्ट्यमनुभवन्ति। (वैदिकधर्म ३०-२०१)। वेदेषु आयुर्वेदे वाजीकरणप्रकरणे पुंसामवाजिनामपि वाजीकरणविधानं दृश्यते। वेदे च 'अश्वस्य अश्वतरस्य

और कुन्ताप सूक्त में भी प्रयुक्त है। शतपथ आदि में आये इस शब्द का कोई दूसरा अर्थ नहीं है। 'आयुर्वै घृतम्' इस वाक्य में जैसे आयु और घृत शब्द पर्यायवाची न होते हुए भी गौण वृत्ति के सहारे आयु की साधकता के आधार पर घृत शब्द से आयु बोधित होता है, उसी तरह से श्रुति राष्ट्र के लिये पस शब्द का और प्रजा के लिये गभ शब्द का गौण प्रयोग करती है। जैसे पूर्व उद्धृत शतपथ श्रुति में पस और गभ के व्याज से अग्निहोम विधि को समझाया गया है, उसी तरह से इन उपहासपरक मन्त्रों से राजा को यह उपदेश दिया गया है कि उसको कभी क्रूर नहीं होना चाहिये। 'अहं तनोमि', धनुरिवा०' प्रभृति अथर्ववेदीय मन्त्रों में गभ शब्द उसी तरह से लिंग का वाचक है, जैसे कि 'आहतं गभे पसो' इस तैत्तिरीय संहिता के मन्त्र में। सायणभाष्य में यही अर्थ किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी अग्निहोत्र के रूपक में यही अर्थ वर्णित है। वास्तव में देखा जाय तो अधर्म और धर्म का निर्णय केवल शास्त्र के सहारे ही किया जा सकता है। इसीलिये असगोत्र और असपिण्ड कुल की विवाहित पत्नी में ऋतुकाल में किया गया सहवास पुण्यजनक तथा एक गोत्र में सपिण्ड कुल की दुहिता, भगिनी आदि में किया गया वही कार्य पापजनक माना जाता है। इसी तरह से शास्त्र उपदिष्ट कर्म, उपासना आदि के प्रसंग में बताई गई सभी विधियाँ पुण्यजनक ही मानी जायगी, इसमें अश्लीलता का कोई प्रसंग नहीं है।

गृहस्थों के लिये कामशास्त्र की शिक्षा भी आवश्यक है। कामशास्त्र का भी आधार वेद ही हैं। इसीलिये कुछ आर्यसमाजी भी पूर्वोक्त मन्त्र और ब्राह्मण के वाक्यों का और उनके अनुसार इन वचनों की व्याख्या करने वाले कात्यायन, उव्वट, सायण, महीधर प्रभृति के ग्रन्थों का भी महत्त्व स्वीकार करते हैं। वेद मन्त्रों में और आयुर्वेद में वाजीकरण के प्रसंग में निर्बल मनुष्यों को

अजस्य पेत्वस्य च । अथ ऋषभस्य ये वाजाः (वीर्याणि) तान् अस्मिन् पुरुषे धेहि तनूवशिन्' (अ० ४।४।८), 'मृतप्रजे ओषधि शेपहर्षणीम्' (अथर्व० ४।४।१) इत्यादिष्वश्लीलत्वकथनमात्रेण सत्यार्थापलापः सर्वथा अयुक्त एव । 'मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि' (वा० सं० ६।१४) इति मन्त्रस्य याज्ञिकानां रीत्याऽश्वमेधीयाश्वस्य मेढ्रादिशोधने विनियोगो भवति । दयानन्देन तु हे शिष्य, अहं त्वदीयं लिङ्गं पवित्रं करोमि, त्वदीयं गुदं पवित्रं करोमीत्यस्य मन्त्रस्य व्याख्या कृता । तद्रीत्या कुमारीणामपि कृते हे शिष्ये, त्वदीयेत्याद्यर्थो वक्तव्य एव, किमत्राश्लीलत्वं नास्ति । महीधरादिभाष्येषु महिष्या अश्वेन मैथुनादिकं सर्वथा नोक्तम्, तथापि बहिर्मुखैः सामाजिकैरश्लीलत्वकल्पनया तत्र बहुनिरर्गल आरोपः कृतः ।

'संज्ञप्तेषु पशुषु होत्राभिमेथिते ब्रह्मा वावातामभिमेथेत' (लाट्यायन श्रौ० सू० ९।१०।३) । तत्राग्निस्वामिभाष्यम्—'अभिमेथनं नाम असंयततया मन्त्रवत्या वाचा उक्तिप्रत्युक्ती' । तत्रैव (९।१०।७) सूत्रेऽभिमेथनशान्त्यर्थमाचम्य वामदेव्यगानं कर्तव्यमित्युक्तम् । 'त्रैगुण्यविषया वेदाः' (भ० गी० २।६५) इति गीतावचनानुसारेण साध्यसाधनात्मकत्रैगुण्यप्रतिपादने वेदानामवान्तरं तात्पर्यमभ्युपेयते, महातात्पर्यं तु ब्रह्मण्येव । त्रैगुण्ये च सात्त्विका इव राजसास्तामसाश्च भावाः सन्त्येव । सर्वविद्यामूलत्वाच्च वेदे तामस्यो राजस्यश्च विद्याः सन्त्येव । यथा शरीरे मूत्रपुरीषभागोऽप्यनिवार्यरूपेण तिष्ठति, तथैव विहितस्याश्लीलभाषणस्याप्यश्वमेधीयमहापूर्वसिद्धावुपयोग इति तद्वर्णनं नासङ्गतम् । सांख्यैर्यथा हिंसाया अनर्थजनकत्वेऽपि क्रतूपकारकत्वमभ्युपेयते, यथा वा आमतक्रस्योदरे कफहन्तृत्वेऽपि कण्ठे कफकरत्वमभ्युपेयते, तद्वत् । पूर्वमीमांसकैस्तु विहितस्यानर्थकरत्वाभावेऽपि विधानादेवाश्लीलभाषणानन्तरं प्रायश्चित्तरूपेण 'दधिक्राव्णो अकारिषम्' इत्यादिमन्त्रस्य जपोऽङ्गीक्रियते । अश्लीलभाषणेन चायुषोऽपक्रमणं मुखदौर्गन्ध्यं जायते, विहितमन्त्रजपेन तु तत्समाधानम् । राक्षसासुरमन्त्रोच्चारणेनापि प्रायश्चित्तरूपेण जलस्पर्शः क्रियते । वैवाहिके यज्ञे च यमादिक्रूरदेवतानां मन्त्रोच्चारणानन्तरं

भी सबल बनाने के विधान मिलते हैं । 'अश्वस्य अश्वतरस्य०', 'शेपहर्षिणीम्' इत्यादि मन्त्रों में अश्लील शब्दों का प्रयोग देखकर वस्तुस्थिति का अपलाप करना उचित नहीं माना जायगा । इतना समझ लेना चाहिये कि महीधर प्रभृति के भाष्य में राजमहिषी के अश्व के साथ मैथुन की बात कहीं नहीं लिखी गई है, तो भी आर्यसमाजियों ने अपनी स्थूल दृष्टि के आधार पर महीधर पर अश्लील अर्थ करने का निराधार आरोप कर दिया है ।

'पशुओं का संज्ञपन करने के उपरान्त होता के उपहास कर लेने पर ब्रह्मा वावाता से हँसी करे' इस लाट्यायन श्रौतसूत्र का भाष्य करते हुए अग्निस्वामी ने कहा है कि—मन्त्रमयी असंयत अर्थ वाली उक्ति-प्रत्युक्ति को अभिमेथन कहा जाता है । इसी श्रौतसूत्र में इस अभिमेथन कर्म की शान्ति के लिये आचमन करने के उपरान्त वामदेव सामगान का विधान किया है । 'त्रैगुण्यविषया वेदाः' इस गीता वचन के अनुसार त्रिगुणात्मक साध्यसाधनात्मक लौकिक व्यवहार की सिद्धि के लिये वेदों का अवान्तर तात्पर्य माना जाता है । वास्तव में इनका महातात्पर्य तो ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार में ही है । जब वेदों में त्रिगुणात्मक व्यवहार का प्रतिपादन भी माना जाती है, तो तीन गुणों में सात्त्विक गुण के सामान राजस और तामस गुणों की भी और तदनुरूप विधि-विधानों की भी सत्ता माननी ह पड़ेगी । वेद से ही जब सभी तरह के ज्ञान प्रकाशित होते हैं, तो उसमें राजस और तामस स्वभाव की बातें भी आयेंगी ही । जैसे शरीर में मूत्र और पुरीष आदि के रूप में अपवित्र अंश भी रहता है, उसी तरह से वेदविहित अश्लील भाषण भी अश्वमेधीय विधान का अंग बन कर अपूर्व की उत्पत्ति में सहायक होता है, इसलिये इस प्रकार का वर्णन यहाँ गलत नहीं माना जा सकता । सांख्य-दर्शन में हिंसा को अनर्थ का कारण माना गया है, किन्तु इसको यज्ञ के लिये उपकारक भी माना है । उदाहरण के रूप में इसको इस तरह से समझा जा सकता है कि मट्ठा जैसे पेट के कफ का नाश करते हुए भी कण्ठ में कफ को बढ़ा देता है, उसी तरह से एक ही वस्तु कहीं इष्ट फल और कहीं अनिष्ट फल देती है । पूर्वमीमांसकों का तो कहना है कि विहित कर्म कभी अनर्थजनक नहीं हो सकता, तो भी वैदिक विधि के अनुसार ही अश्लील भाषण करने के उपरान्त प्रायश्चित्त के रूप में 'दधिक्राव्णो' इस मन्त्र का जप करना चाहिये । अश्लील भाषण करने से आयु का क्षय होता है और मुँह से दुर्गन्ध निकलती है । विहित मन्त्र का जप करने से इन दोषों की शान्ति हो जाती है । राक्षस और असुरों के बोधक मन्त्रों का उच्चारण करके भी प्रायश्चित्त के रूप में जल का स्पर्श किया जाता है ।

प्रणीतोदकस्पर्शः प्रसिद्धः । अन्यपाशुकयज्ञेऽपि सम्भावितपातकनिवृत्त्यर्थम् 'इदमापः प्रवहत अवद्यं च मूलं च यत् । यच्चाभिदुद्रोह अनृतं यच्च शेपे अभीरुणम् । आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चन्तु' (वा० सं० ६।१७), 'चात्वाले मार्जयन्ते सपत्नीका इदमापः प्रवहतेति' (का० श्रौ० सू० ६।६।२९) इति सूत्रानुसारेण सर्वे ऋत्विजश्चात्वालसमीपेऽद्भिरात्मानमभ्युक्षन्ति । मन्त्रार्थस्तु—हे आपः ! इदं पशुसंज्ञपननिमित्तं पापं प्रवहत अपनयत । किञ्च, यच्चावद्यमभिशापादि यच्च मलं शरीरलग्नं प्रसिद्धं तच्च प्रवहत अपनयत । किञ्च, यदहमनृतमसत्यमुक्त्वाऽभिदुद्रोह द्रुग्धवानस्मि यच्चाहमभीरुणं बिभेतीति भीरुर्नभीरुरभीरुस्तमभीरुणमनपराधिनम्, अपराधी हि बिभेति । तस्मादभीरुरनपराध्येव । तमेवंविधमहं शेपे शपितवानस्मि । तस्मादेनसः पापात् मा मां मुञ्चन्तु पृथक् कुर्वन्तु । पवमानश्च सोमो वायुर्मां तस्मात्पापान्मुञ्चतु । तथैवाश्वमेधीयपशुसंस्कारार्थं यदश्लीलभाषणं तस्याश्वमेधयागोपकारकत्वेऽप्यायुरपक्रमणहेतुत्वमिति तन्निवारणाय दधिक्राव्ण इत्यादिमन्त्रजपः ।

होलिकाप्रसङ्गेऽद्यापि वासन्तिकोन्मादप्रभाविता अश्लीलं गायन्ति, श्वपचादींश्च स्पृशन्ति, पश्चात् स्नानादिकं च कुर्वन्ति । वसन्तर्तोः कुसुमाकरत्वात् स्त्रीपुंसामुन्मादकत्वम् । कामपूजापि तदानीं विहितास्ति शास्त्रेषु । वैरविग्रहविस्मृतिपूर्वकमुच्चावचभावापनोदनेन तस्मिन् काले सर्वसामरस्यं जायते । 'चैत्रे मासि महाबाहो पुण्ये तु प्रतिपद्दिने । यस्तत्र श्वपचं स्पृष्ट्वा स्नानं कुर्यान्नरोत्तमः ॥ न तस्य दुरितं किञ्चिन्नाधयो व्याधयो नृप । कृत्वा चावश्यकार्याणि सन्तर्प्य पितृदेवताः । वन्दयेद् होलिकाग्निं च सर्वदुःखोपशान्तये ॥' इति हेमाद्रौ लिखितं निर्णयसिन्धौ (६।३४५) इत्यत्रोद्धृतम् ।

फाल्गुनमासे विशेषतः पौर्णमास्यां होलिकायामश्लीलभाषणं भारतीयसभ्यतायामनुमतमेव । ज्योतिर्निबन्धे—'पञ्चमीप्रमुखास्तास्तु तिथयोऽनन्तपुण्यदाः । दश स्युः शोभनास्तासु काष्ठस्तेयं विधीयते । चाण्डालसूतिकागेहात् शिशुहारित-

विवाह प्रभृति शुभ कार्यों के अवसर पर यम प्रभृति क्रूर देवताओं के मन्त्रों का उच्चारण करने के उपरान्त प्रणीता पात्र के जल का स्पर्श किया जाता है । अन्य पशु यज्ञों में भी सम्भावित पातक से छुटकारा पाने के लिये 'इदमापः' इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए कात्यायन श्रौतसूत्र में बताई गई विधि के अनुसार सभी ऋत्विग्गण चबूतरे के पास खड़े होकर जल से अपने शरीर का मार्जन कर पवित्रता का सम्पादन करते हैं । मन्त्र का अर्थ यह है—हे जल देवता, इस पशु संज्ञपन से उत्पन्न पाप को आप वहाँ ले जाइये । इसके साथ ही अभिशाप प्रभृति निन्दनीय कर्म को और हमारे शरीर में लगे मैल को भी आप वहाँ ले जाइये । असत्य बोल कर मैंने जो द्रोह किया है और अनपराधी व्यक्ति को जो मैंने गाली दी है, इस पाप से भी आप मुझे मुक्त कर दीजिये । पवमान नामक सौम्य पवन भी मुझे इस पाप से मुक्त कर दे । इसी तरह से अश्वमेधीय पशु के संस्कार के प्रसंग में किया गया अश्लील भाषण यद्यपि अश्वमेध याग का उपकारक है, तो भी यह आयु को कम करने वाला और मुख दोष का कारण बनता है, इस दोष की निवृत्ति के लिये 'दधिक्राव्ण' इस मन्त्र का जप किया जाता है ।

होली के दिनों में आज भी वसन्त ऋतु के उन्माद से प्रभावित मनुष्य नाना प्रकार की अश्लील चेष्टाएँ करते हैं और चाण्डाल आदि का स्पर्श करते हैं, किन्तु बाद में वे स्नान आदि करके शुद्ध होते हैं । वसन्त ऋतु उन्मादक होती है, अतः इन दिनों स्त्री-पुरुष उन्मत्त हो जाते हैं । शास्त्रों में इन्हीं दिनों में काम की पूजा का विधान है । लड़ाई-झगड़ा, शत्रुता भूलकर और ऊँच-नीच की भावना को छोड़कर उस समय सभी समानता का व्यवहार करते हैं, सभी समरस हो जाते हैं, घुलमिल जाते हैं । निर्णयसिन्धु में उद्धृत हेमाद्रि के वचन में यही बात कही गई है—'हे महाबाहु, चैत्र मास की पवित्र तिथि प्रतिपदा के दिन जो श्रेष्ठ व्यक्ति चाण्डाल का स्पर्श कर स्नान करता है, उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं । उसके शरीर और मन के सारे रोग नष्ट हो जाते हैं । आवश्यक कार्यों को पूरा करके और अपने पितृगणों को तृप्त कर के सभी दुःखों की शान्ति के लिये होली की अग्नि को प्रणाम करना चाहिये ।

फाल्गुन के महीने में, विशेष रूप से पूर्णमासी के दिन होली जलाते समय अश्लील भाषण करना भारतीय सभ्यता में स्वीकृत है । किसी ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थ में बताया गया है—'पंचमी से लेकर पूर्णमासी पर्यन्त दस तिथियाँ अत्यन्त पुण्य देने वाली

वह्निना । प्राप्तायां पूर्णिमायां तु कुर्यात्तत्काष्ठदीपनम् । ग्रामाद्बहिश्च मध्ये वा तूर्यनादसमन्वितः । स्नात्वा राजा शुचिर्भूत्वा स्वस्तिवाचनतत्परः । दत्वा दानानि भूरीणि दीपयेद्धोलिकाचितिम् ॥ ततोऽभ्युक्ष्य चितिं सर्वां साज्येन पयसा सुधीः ॥ नारिकेराणि देयानि बीजपूरफलानि च । गीतवाद्यैस्तथा नृत्यै रात्रिः सा नीयते जनैः ॥ तमग्निं त्रिः परिक्रम्य शब्दैर्लिङ्गभगाङ्कितैः । तेन शब्देन सा पापा राक्षसी तृप्तिमाप्नुयात् ॥' इति ।

होलिकाविषये च भविष्यपुराणे उत्तरपर्वणि १३२तमेऽध्याये—'युधिष्ठिर उवाच—किमर्थं फाल्गुनस्यान्ते पौर्णमास्यां जनार्दन । उत्सवो जायते लोके ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे ॥१॥ किमर्थं शिशवस्तस्यां गेहे गेहेऽतिवादिनः । होलिका दीप्यते कस्मात् फाल्गुनान्ते किमुच्यते ॥२॥ श्रीकृष्ण उवाच—आसीत्कृतयुगे पार्थं रघुर्नाम नराधिपः। शूरः सर्वगुणोपेतः प्रियवादी बहुश्रुतः ॥४॥ तस्यैवं शासतो राज्यं क्षात्रधर्मरतस्य वै । पौराः सर्वे समागम्य पाहि पाहीत्यथाब्रुवन् ॥७॥ पौरा ऊचुः—अस्माकं हि गृहे काचिद् ढौण्ढा नामेति राक्षसी । दिवारात्रौ समागम्य बालान् पीडयते बलात् ॥८॥ रक्षया कण्डकेनापि भेषजैर्वा नराधिप । मन्त्रज्ञैः परमाचार्यैः सा नियन्तुं न शक्यते ॥९॥ पौराणां वचनं श्रुत्वा रघुर्विस्मयमागतः । विस्मयाविष्टहृदयः पुरोहितमथाब्रवीत् ॥१०॥ रघुरुवाच—ढौण्ढेति राक्षसी केयं किं प्रभावा द्विजोत्तम । कथमेषा नियन्तव्या मया दुष्कृतकारिणी ॥११॥ वशिष्ठ उवाच—शृणु राजन् परं गुह्यं यन्नाख्यातं मया क्वचित् । ढौण्ढा नामेति विख्याता राक्षसी मालिनः सुता ॥१३॥ तया चाराधितः शम्भू रौद्रेण तपसा पुरा । प्रीतस्तामाह भगवान् वरं वरय सुव्रते ॥१४॥ यत्ते मनोऽभिलषितं तद्दास्म्यविचारितम् । ढौण्ढा आह महादेवं यदि तुष्टः स्वयं मम ॥१५॥ न च वध्यां सुरादीनां मनुजानां च शङ्कर । मां कुरु त्वं

और मनोरंजक होती हैं । इनमें काष्ठ की चोरी, अश्लील भाषण आदि खुलकर करना चाहिये । चाण्डाल के सूतिकागृह से किसी बालक के हाथ अग्नि मँगवाना चाहिये और पूर्णिमा लग जाने पर उससे शुभ मुहूर्त में लकड़ियों को जला देना चाहिये । गाँव के बाहर या बीच में इस तरह से गाजे-बाजे के साथ होली जलाना चाहिये । राजा स्वयं पवित्र होकर, स्वस्ति वाचन कराता हुआ, ढेर सारा दान देकर होली में आग लगावे । बाद में जलती हुई होली पर जल छिड़क कर घी और दूध के साथ नारियल और बीजपूर चढ़ाना चाहिये । गाजे-बाजे के साथ नाच-गान करके सारी रात बितानी चाहिये । इसके बाद सभी व्यक्ति होली की तीन परिक्रमा करें और भग और लिंग शब्द से बनी हुई गालियों का खुलकर प्रयोग करें । इस तरह के अपशब्दों के उच्चारण से वह पापिनी होलिका राक्षसी प्रसन्न हो जाती है' ।

होली के विषय में भविष्यपुराण के उत्तर पर्व के १३२ वें अध्याय में लिखा गया है—'युधिष्ठिर ने भगवान् श्रीकृष्ण से पूछा कि—हे जनार्दन, फाल्गुन मास के अन्त में पूर्णमासी के दिन गाँव-गाँव, नगर-नगर में जो उत्सव होता है, उसमे छोटे-छोटे बालक क्यों बढ़-बढ़ कर घर-घर में गाली-गलौच करते हैं । फाल्गुन मास के अन्त में होली क्यों जलाई जाती है ? इसके उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि—हे युधिष्ठिर, सत्ययुग में रघु नाम का एक राजा हुआ था । वह पराक्रमी, प्रियवादी, बहुश्रुत और सभी गुणों से संपन्न था । इस तरह से क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए वह राजा जब अपना शासन सुचारु रूप से चला रहा था, तभी एक दिन उसकी प्रजा उसके पास आकर अपनी रक्षा की प्रार्थना करने लगी । प्रजा ने कहा कि—हे राजन्, हमारे घर में कोई ढौण्ढा नाम की राक्षसी आकर दिन-रात बालकों को पीड़ा पहुँचाती रहती है । बच्चों की रक्षा के लिये गंडे-तावीज, दवा का उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता और न बड़े बड़े मन्त्र ही उसको अपने नियन्त्रण में रख पाते हैं । प्रजा जनों की यह बात सुनकर राजा रघु आश्चर्य में पड़ गया और अपने पुरोहित को बुलाकर उसने पूछा कि—हे द्विजवर, यह ढौण्ढा नामकी राक्षसी कौन है ? इसका क्या प्रभाव है और इस पापिनी को मैं किस तरह से अपने नियन्त्रण में ला सकता हूँ । उस रघु राजा के पुरोहित वसिष्ठ जी ने कहा कि—हे राजन्, सुनो ! आज मैं तुमको ऐसी रहस्य की बात बता रहा हूँ, जिसको कि मैंने आज तक किसी से नहीं कहा था । माली की पुत्री ढौण्ढा नाम की एक राक्षसी प्रसिद्ध हो गई है । इसने अपनी उग्र तपस्या से भगवान् शंकर की आराधना की । इससे प्रसन्न होकर शंकर ने उससे कहा कि—हे सुव्रते (सुन्दर व्रत का पालन करने वाली) तुम वर माँगो । तुम्हारी किसी भी अभिलाषा को मैं बिना विचार किये पूरा करूँगा । ढौण्ढा राक्षसी ने महादेव से कहा कि यदि आप मेरे ऊपर सन्तुष्ट हैं, तो हे शंकर मुझे देवताओं और मनुष्यों से आप अवध्य बना

त्रिलोकेश शस्त्रास्त्राणां तथैव च ॥१६॥ शीतोष्णवर्षासमये दिवारात्रौ बहिर्गृहे। अभयं सर्वदा मे स्यात् त्वत्प्रसादान्महेश्वर ॥१७॥ शङ्कर उवाच—एवमस्त्वित्यथोक्त्वा तां पुनः प्रोवाच शूलभृत्। उन्मत्तेभ्यः शिशुभ्यश्च भयं ते सम्भविष्यति॥ ऋतावृतौ महाभागे मा व्यथां हृदये कृथाः ॥१८॥ एवं दत्त्वा वरं तस्यै भगवान् भगनेत्रहा। स्वप्ने लब्धो यथार्थार्थस्तत्रैवान्तर्हितोऽभवत् ॥१९॥ एवं लब्धवरा सा तु राक्षसी कामरूपिणी। नित्यं पीडयते बालान् संस्मृत्य हरभाषितम् ॥२०॥ अडाडयेति गृह्णाति सिद्धमन्त्रं कुटुम्बिनी। गृहेषु तेन सा लोके ह्यडाडेत्यभिधीयते ॥२१॥ एतत्ते सर्वमाख्यातं ढौण्ढायाश्चरितं मया। साम्प्रतं कथयिष्यामि येनोपायेन हन्यते ॥२२॥ अद्य पञ्चदशी शुक्ला फाल्गुनस्य नराधिप। शीतकालो विनिष्क्रान्तः प्रातर्ग्रीष्मो भविष्यति ॥२३॥ अभयप्रदानं लोकानां दीयतां पुरुषोत्तम। अडाड्याशङ्किता लोका रमन्ति च हसन्ति च ॥२४॥ दारुजानि च खण्डानि गृहीत्वा समरोत्सुकाः। योधा इव विनिर्यान्तु शिशवः सम्प्रहर्षिताः ॥२५॥ सञ्चयं शुष्ककाष्ठानामुपलानां च कारयेत्। तत्राग्निं विधिवद् हुत्वा रक्षोघ्नैर्मन्त्रविस्तरैः ॥२६॥ ततः किलकिलाशब्दैस्तालशब्दैर्मनोहरैः। तमग्निं त्रिः परिक्रम्य गायन्तु च हसन्तु च॥ जल्पन्तु स्वेच्छया लोका निःशङ्का यस्य यन्मतम् ॥२७॥ तेन शब्देन सा पापा होमेन च निराकृता। अदृष्टघातैर्डिम्भानां राक्षसी क्षयमेष्यति ॥ २८ ॥ सर्वदुष्टापहो होमः सर्वरोगोपशान्तिदः। क्रियतेऽस्यां द्विजैः पार्थ तेन सा होलिका मता ॥२९॥' इति।

यथा यदि निःश्वासपायिसर्पविषनिवारणार्थमर्कपत्रभक्षणं क्रियते, तज्जन्यदोषनिवारणाय चौषधान्तरमुपयुज्यते, तथैव किञ्चिद्दोषनिवारणायाश्लीलभाषणं प्रायश्चित्तेन च तदेनसोऽपाकरणं युज्यत एव। पाश्चात्त्याश्च यद्यपि होलिकोत्सव-

दीजिये जिससे मुझे कोई भी शस्त्र-अस्त्र से न मार सके। जाड़े में, गर्मी में अथवा वर्षाकाल मे, दिन मे, रात में, घर के बाहर मुझे आप सब तरह के भय से मुक्त कर दीजिये। भगवान् शंकर ने उससे कहा कि—जैसा तुम वर मांग रही हो, वैसा ही होगा। त्रिशूलधारी भगवान् ने उससे पुनः कहा कि उन्मत्त आदमी और बालकों को समय समय पर तुमसे कुछ पीड़ा पहुँच सकती है, किन्तु तुम इसकी चिन्ता मत करना। भग देवता के नेत्रों को नष्ट कर देने वाले भगवान् शंकर इस तरह से उसको वर-दान देकर वहाँ से उसी तरह से अन्तर्हित हो गये, जैसे स्वप्न में मिला हुआ धन जागने पर नहीं दिखाई पड़ता। अपनी इच्छा के अनुसार रूप बना लेने वाली वह राक्षसी इस तरह से वरदान पाकर भगवान् शंकर की बात को याद कर बालकों को सदा पीड़ा पहुँचाती रहती है। घर घर में गृहणियाँ इससे बचने के लिये सिद्धमन्त्र का उच्चारण करती रहती हैं, इसलिये लोक में यह अडाडा के नाम से प्रसिद्ध हो गई है। इस तरह से मैंने तुमको ढौण्ढा की सारी कथा कह सुनाई है। अब मैं इसको मार डालने का उपाय बताता हूँ। हे राजन्, आज फाल्गुन मास की शुक्ल पक्ष की पन्द्रहवीं तिथि (पूर्णिमा) है। शीतकाल आज समाप्त हो गया है और कल प्रातःकाल से ग्रीष्म ऋतु लग जायगी। हे पुरुषोत्तम, इस ढौण्ढा राक्षसी को मार कर तुम सभी लोगों को अभय प्रदान करो, जिससे कि आज इस राक्षसी से डरे हुए सभी लोग हँसने-खेलने लगें। लकड़ी के टुकड़ों को हाथ में लेकर ये बालक उसी तरह से हँसते-गाते घर से निकल पड़ें, जैसे कि कोई योद्धा युद्ध के लिये निकल पड़ता है। सूखी लकड़ी और उपलों का एक जगह ढेर लगा देना चाहिये और उसमें राक्षसों का नाश करने वाले मन्त्रों का उच्चारण कर विधिपूर्वक आग लगा देनी चाहिये। इसके बाद किलकारी भरते, ताली बजाते हुए उसकी तीन परिक्रमा करनी चाहिये और खूब गाना तथा हँसी-मजाक करना चाहिये। जो मन में आवे बकना चाहिये, जिसके जो मन में आवे बिना संकोच के उसको कह देना चाहिये। इन शब्दों से और पवित्र राक्षसनाशक मन्त्रों के उच्चारण के साथ किये गये इस होम से उस राक्षसी से जनता को छुटकारा मिल जायगा, जो कि गर्भस्थित शिशुओं को ही मार डालने के पाप के बोझ से पूरी तरह से मर गई है। यह होम सभी दुष्टों का नाश करने वाला और सब प्रकार के रोगों को शान्त करने वाला है। हे राजन्, इस होम को इसलिये विद्वान् मनुष्य होलिका के नाम से जानते हैं।

जैसे किसी व्यक्ति के सांस के सहारे अपने विष को उसके शरीर में प्रविष्ट करा देने वाले सर्प के विष को मारने के लिये आक के पत्ते खाये जाते हैं और फिर आक के पत्ते खाने से पैदा होने वाले दोष की शान्ति के लिये दूसरी औषधि का सेवन किया

मुपहसन्ति, तथापि (एप्रिल फूल) उत्सवं स्वयमभ्युपगच्छन्ति। इदानीं तु विशिष्टनृत्यगृहेषु (क्लब) अर्धनग्ना नग्नाश्च स्त्रीपुरुषाः परस्परं हस्तबद्धा नृत्यन्ति, चुम्बन्ति, प्रकाशावरोधेन यत्किञ्चिदाचरन्ति, तथापि ते होलिकोत्सवमुपहसन्ति। शरीरेषु तदीयशिराधमन्यादिषु च स्फूर्तिविशेषोत्पादनाय विविधरङ्गादिनिःक्षेपोऽपि तदानीं क्रियते। वसन्तश्च कामसख उच्यते। तेन कामवेगोऽपि सम्भाव्यते। शोकहर्षादिवेगा अपि मूत्रपुरीषवेगवदनिष्टकरा भवन्ति, तथैव कामवेगोऽप्यश्मरीवीर्यहान्यादिकरो भवति। नृत्य-वादित्र-गायन-यथेच्छभाषणादिभिः स वेग उपशाम्यति। रोदनेन शोकवेगोऽपगच्छति। हासविलासादिभिर्हर्षवेगोऽपि शाम्यति। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्', 'नाति कुत्रापि शोभते', 'सर्वमत्यन्तगर्हितम्' इति न्यायेन सर्वत्र सर्वदा निरतिशयं गाम्भीर्यमपि नोचितमिति क्वचिद्देशे काले नियमश्रृङ्खलाशैथिल्यमप्यपेक्षितमिति तस्यापि विधानं नानुचितम्। ऐतिहासिकानां रीत्या कदाचिच्छैवेन वरेण प्रवृद्धा ढुण्ढा नाम्नी राक्षसी बालान् बाधते स्म। तदानीं लिङ्गभगादिशब्दबहुलैर्गालिमयैर्वाक्यैस्तदुपशान्तिरुपदिष्टा (भविष्यपुराणे उत्तरपर्वणि १३२ अध्याये)। वचनानि चोद्धृतान्येव।

'ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात् प्रणुदात्यस्मात्॥' (वा० सं० २।३०)। 'उल्मुकं परस्तात् करोति ये रूपाणीति' (का० श्रौ० सू० ४।१।९) इयं त्रिष्टुप् कव्यवाहनाग्निदेवत्या। स्वधया पैतृकान्नेन निमित्तेन पितॄणामन्नमस्माभिर्भक्षणीयमिति हेतोः स्वीयरूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः पितृसमानरूपाणि स्वीकुर्वन्तः सन्तो ये असुरा देवविरोधिनश्चरन्ति पितृयज्ञस्थाने प्रसरन्ति, तथा ये असुरा पुरः निपुरश्च भरन्ति पराक्रान्ताः पुरः परापुरः स्थूलदेहान् निपुरः सूक्ष्मदेहान् धारयन्ति स्वस्यासुरत्वं प्रच्छादयितुं स्थूलसूक्ष्मशरीराणि धारयन्ति। अग्निरुल्मुकरूपः, अस्माल्लोकात् पितृयज्ञस्थानात् तानसुरान् प्रणुदाति प्रणुदतु प्रकर्षेणापसारयत्वित्यर्थः।

जाता है, उसी तरह से किसी दोष की निवृत्ति के लिये पहले अश्लील भाषण किया जाता है और फिर प्रायश्चित्त के द्वारा इस दोष को दूर किया जाता है। पाश्चात्य लोग यद्यपि होली के उत्सव का उपहास करते हैं, किन्तु स्वयं 'एप्रिल फूल' उत्सव मनाते हैं। आजकल तो बड़े बड़े क्लबों और नाचघरों में अर्धनग्न अथवा पूरी तरह से नंगे स्त्री-पुरुष आपस में हाथ मिलाकर नाचते हैं, परस्पर चुम्बन लेते हैं और बिजली गुल करके मनमानी करते हैं, ऐसे ही लोग होली के उत्सव का उपहास करते हैं, यह आश्चर्य की ही बात है। होली के दिनों में शरीर में और नस-नाडो में फुर्ती पैदा करने के लिये तरह तरह के रंग-रोगन आदि भी डाले जाते हैं। वसन्त को कामदेवता का मित्र कहा जाता है। इसलिये इस ऋतु में काम के वेग की भी सम्भावना रहती ही है। मूत्र और पुरीष के वेग की तरह शोक, हर्ष आदि का वेग भी रोकने पर कष्ट का कारण बनता है। काम के वेग को रोकने से भी पथरी, स्वप्नदोष आदि रोग हो सकते हैं। नृत्य, वाद्य, गायन और मनमाना बकने से उस काम वेग की शान्ति हो जाती है। रोने से शोक का वेग शान्त हो जाता है। हँसी-मजाक करने से हर्ष का वेग शान्त हो जाता है। 'किसी भी बात की अति (अधिकता) नहीं होनी चाहिये' इस अभिप्राय के वचनों के आधार पर सदा सब जगह पूरी गम्भीरता से रहना भी अच्छा नहीं लगता। अतः उचित जगह पर उचित समय में कुछ नियमों को ढीला कर देना भी आवश्यक हो जाता है। इस तरह से होलिका जैसे उत्सवों का आयोजन गलत नहीं माना जा सकता। पूर्वोक्त इतिहास-पुराण के वचनों के अनुसार कभी शिव के वरदान से बलवती बनी ढोण्ढा नाम की राक्षसी बच्चों को पीड़ा पहुँचाती थी। उस समय भग और लिंग शब्द से भरी गाली देने से उसकी शान्ति बताई गई थी।

'ये रूपाणि०' इस यजुर्वेदीय मन्त्र में होली जलाने का सा आभास मिलता है। कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार इस मन्त्र से जलती हुई लकड़ी हाथ में लेकर आग लगाई जाती है। इस मन्त्र का छन्द त्रिष्टुप् है। इसका देवता वह अग्नि है, जो कि पितरों के पास उसकी हवि (कव्य) को पहुँचाता है। पितरों के निमित्त दिये गये अन्न को हम बीच में ही हड़प लें, इस अभिप्राय से अपने वास्तविक रूप को छिपा कर और पितरों के समान अपना स्वरूप बनाकर जो देवविरोधी असुरगण इस पवित्र पितृयज्ञ के स्थल पर मँडरा रहे हैं, जो असुर हमारे आगे-पीछे कभी स्थूल शरीर को और कभी सूक्ष्म शरीर को धारण कर मँडरा रहे हैं, उन सब को यह उल्मुक रूप अग्नि, जलती हुई लकड़ी में सुलगती हुई अग्नि इस पवित्र स्थल से उन सबको भगा दे। ऋग्वेदीय मन्त्र में बताया गया है कि बिना अग्नि के देवता प्रसन्न नहीं होते। अग्नि में दी गई हवि ही देवताओं को प्राप्त होती है।

अश्वमेधोऽपि वसन्ततौं प्रारभ्यते—'तद्वै वसन्त एवाभ्यारभेत वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तुः। य उ कश्चन यजते ब्राह्मणीभूयैव यजते। तस्माद्वसन्त एवाभ्यारभेत' (श० १३।४।१।३)। अत्रापि वसन्तप्रत्यासन्नः फाल्गुनशुक्ल एवात्र वसन्त उक्तः। 'सा यासौ फाल्गुनी पौर्णमासी भवति तस्यै पुरस्तात् षडहे वा सप्ताहे वर्त्विजरुपसमायान्त्यध्वर्युश्च होता च ब्रह्मा चोद्गाता चैतान् वा अन्वन्य ऋत्विजः' (श० १३।४।१४) इति श्रुतेः। 'प्रजापतिरकामयत सर्वान् कामानाप्नुयां सर्वा व्युष्टीर्व्यश्नुवीयेति स एतमश्वमेधं त्रिरात्रयज्ञक्रतुमपश्यत्तमाहरत्तेनायजत' (श० १३।४।१।१), 'सर्वं संवत्सरः सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्धयै' (श० १३।४।१।५), 'सर्वं वै वरः' (श० १३।४।१।१०), 'सर्वाभ्यो देवताभ्यो अश्व आलभ्यते' (श० १३।२।९।१), 'तस्मादश्वमेधयाजी सर्वा दिशोऽभिजयति' (श० १३।२।३), 'तथैव सर्वाप्तिर्वा एषा वाचो यदभिमेथिकाः। सर्वे कामा अश्वमेधे सर्वया वाचा सर्वान् कामानवाप्नुवामेति' (श० १३।४।४।९)। शिष्टैः संस्कृता भाषा उच्यन्त एव। अश्वमेधीयाश्वमेधसंस्कारप्रसङ्गे श्लीलवाचोऽपि भाष्यन्ते। तेन वाचां सर्वाप्तिर्भवति। कर्मणां स्वतो न साधुत्वमसाधुत्वं वा। निषिद्धस्याधर्मत्वं विहितस्य धर्मत्वम्। 'न शास्त्रविहितं किञ्चिदप्यकर्तव्यतामियात्' इति शाङ्करभाष्यम् (ईशावास्योपनिषदि)। 'अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति ये यज्ञेऽपूतां वाचं वदन्ति दधिक्राव्णोऽकारिषमिति सुरभिमतीमृचमन्ततोऽन्वाहुर्वाचमेव पुनते नैभ्यः प्राणा उत्क्रामन्ति' (श० १३।२।९।९) इत्येतेनापि विज्ञायते यदभिमेथिकामन्त्राणामश्लीलभाषणपरत्वमेव व्याख्यानं युक्तम्, अन्यथा वाचामपूतत्वे प्राणापक्रमणशङ्कानुदयात्। दधिक्राव्ण इत्यादि मन्त्रपाठेन वाचां पूतता प्राणानामनपक्रमणकथनमपि तदेव युक्तं स्यात्।

'दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः। सुरभि नो मुखाकरत् प्र ण आयूंषि तारिषत्॥' (वा०

अश्वमेध यज्ञ का प्रारम्भ भी वसन्त ऋतु में ही होता है। 'तद्वै वसन्त एवाभ्यारभेत' यह शतपथ श्रुति इसमें प्रमाण है। वसन्त ऋतु में भी उसके आसपास का फाल्गुन शुक्ल पक्ष ही यहाँ वसन्त नाम से गृहीत है। 'सा यासौ' इस शतपथ श्रुति में फाल्गुन पूर्णमासी के आसपास के दिनों का स्पष्ट उल्लेख है। शतपथ श्रुति के अनुसार सभी कामनाओं की पूर्ति के लिये अश्वमेध यज्ञ किया जाता है। अश्वमेध को संवत्सर का और सभी अच्छाइयों का प्रतीक माना गया है। अश्वमेध यज्ञ में जिस अश्व का आलभन किया जाता है, वह सभी देवताओं की तृप्ति के लिये किया जाता है। अश्वमेध यज्ञ करने वाला सभी दिशाओं को जीत लेता है। इन्हीं वचनों के साथ शतपथ में अभिमेथिका वाक्यों का विनियोग भी सभी कामनाओं की प्राप्ति के लिये किया गया है। शिष्ट जन संस्कृत वाणी का तो सदा ही उपयोग करते हैं, किन्तु अश्वमेधीय अश्व (घोड़े) के संस्कार के लिये अभिमेथिका (अश्लील वचन) वाक्यों का भी वे उच्चारण करते हैं। इससे वाणी की सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। कोई कार्य स्वतः भला या बुरा नहीं होता, किन्तु निषिद्ध कार्य अधर्म और विहित कार्य धर्म की कोटि में आता है। शांकर भाष्य में बताया गया है कि 'शास्त्र विहित कोई भी कार्य अकर्तव्य कोटि में नहीं आ सकता'। 'अप वा एतेभ्यः' इस शतपथ श्रुति में बताया गया है कि—जो यज्ञ के अवसर पर अश्लील वाणी का उपयोग किया जाता है, उससे ऋत्विजों के प्राण ऊपर उठने लगते हैं। उसकी शान्ति के लिये 'दधिक्राव्णो०' इस मन्त्र का जप करना चाहिये। इस वाक्य से भी यही स्पष्ट होता है कि इन अभिमेथिका वाक्यों की व्याख्या अश्लील भाषण के रूप में ही करनी चाहिये। अन्यथा अश्लील भाषण न करने से प्राणों के उत्क्रमण की कोई आशंका ही नहीं उठेगी। 'दधिक्राव्णो' इत्यादि मन्त्रों का जप करने की, इससे वाणी के पवित्र होने की और अन्ततः प्राणों के अपक्रमण के रुक जाने की बात तभी संगत हो सकती है, जब कि पहले अश्लील भाषण करने से प्राणों के उत्क्रमण की आशंका उत्पन्न हुई हो। कहने का अभिप्राय यह है कि स्वामी दयानन्द की व्याख्या के अनुसार जब यहाँ अश्लील भाषण है ही नहीं, तब इस तरह की आशंका और उसके समाधान का क्या प्रयोजन हो सकता है? यह शंका और उसका समाधान ही इस बात को सिद्ध करने का सबसे बड़ा प्रमाण है कि यहाँ मुख्यतः अश्लील भाषणपरक अर्थ करना ही शतपथ ब्राह्मण को भी अभिप्रेत है।

'दधिक्राव्णो' इस मन्त्र का अर्थ भी अश्लीलतापरक व्याख्या का ही समर्थन करता है। दधिक्रावा उस अश्व को कहते हैं, जो कि मनुष्य को अपने ऊपर बैठाकर दौड़ लगाता है। यह प्रजापति का प्रतिनिधि अश्व सर्वत्र विजय प्राप्त करने वाला भी है। इस

सं० २३।३२) इति मन्त्रस्यार्थोऽपि तदनुगुण एव। यतो दधिक्राव्णो दधाति नरमिति दधिः, दधिः सन् क्राम्यतीति दधिक्रावा अश्वः, जिष्णोर्जयनशीलस्य प्राजापत्यस्य वाजिनोऽश्वस्य संस्कारायेति शेषः, अश्लीलभाषणं कृतवन्तः। अश्लीलभाषणेन हि दुर्गन्धीनि पापहेतुत्वान्नो मुखानि सुरभीणि सुगन्धीनि करत् करोतु यज्ञ इत्यध्याहारः। किञ्च, प्र ण आयूंषि तारिषत् प्रतारिषत् प्रवर्धयतु चेत्याद्युव्वटभाष्यम्। सर्वथापि मन्त्रब्राह्मणसूत्ररामायणमहाभारतादिसम्मतोव्वटमहीधरादिव्याख्यानविरुद्धमेव दयानन्दीयं व्याख्यानं मन्त्रब्राह्मणाद्यज्ञानविजृम्भितमेवेति न मनागपि तत्रास्था विद्वद्भिः कार्या।

दयानन्दीयभाष्यप्रतिज्ञाविषयपर्यालोचनम्

अत्र दयानन्देनोक्तम्—'अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं संक्षेपतः करिष्यते। परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तदत्र विस्तरशो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्' (पृ० ३८३) इत्यादि, तदपि न सम्यक्, तत्कृतार्थस्य पूर्वोक्तरीत्या मन्त्रब्राह्मणमीमांसाश्रौतसूत्रादिविरुद्धत्वात्। एवमुपासनाकाण्डज्ञानकाण्डपरं व्याख्यानमपि तदीयमसङ्गतमेव, पातञ्जलवैयासिकसूत्रादिविरोधात्। विरोधस्य च तत्र तत्र प्रदर्शितत्वात्।

पारम्पर्येण यादृशो वेदपाठः सस्वरः प्रचलति, स तु सामाजिकैरद्य यावन्न कर्तुं पार्यते। एवं पिङ्गलाचार्यकृतसूत्रानुसारेण प्रतिच्छन्दः स्वरलेखनप्रतिज्ञा कृता। 'यद्यपि यच्छन्दोन्वितो यो मन्त्रस्तस्य स्वस्वरेणैव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहाराप्रसिद्धिस्तेनैवाङ्गीता। किञ्च, अत्र वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां सप्रमाणः पदशोऽर्थो लेखिष्यते' (पृ० ३८३) इति दयानन्देन प्रतिज्ञातम्। ग्रन्थारम्भेऽपि तथैव प्रतिज्ञातम्। 'संस्कृतप्राकृताभ्यां यद् भाषाभ्यामन्वितं शुभम्।

तरह के इस अश्व के संस्कार के लिये हमने अश्लील भाषण किया है। इस अश्लील भाषण करने से हमारे मुख दुर्गन्धि से भर गये हैं, क्योंकि यह अश्लील भाषण पाप का कारण है। इस तरह से दुर्गन्धि से भरे हमारे मुँह को यह यज्ञ भगवान् सुगन्धि से भर दे। साथ ही यह यज्ञ देवता हमारी आयु में भी वृद्धि करे, जिसका कि अश्लील भाषण करने से क्षय अवश्यम्भावी था। मन्त्र का यह अर्थ उव्वट के भाष्य के अनुसार किया गया है। अन्ततः यही कहना पड़ता है कि इस तरह से विचार करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि स्वामी दयानन्द की व्याख्या सभी दृष्टियों से मन्त्र, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र, रामायण, महाभारत के प्रमाणों के आधार पर की गई उव्वट, महीधर, सायण प्रभृति की व्याख्याओं से एक दम विपरीत है। उनकी सारी व्याख्या मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों के उनके अज्ञान को ही उजागर करती है। अतः इस तरह की व्याख्या में विद्वानों को थोड़ी सी भी आस्था नहीं रखनी चाहिये।

प्रतिज्ञा विषयक विचार

इस प्रकरण का आरम्भ करते हुए दयानन्द कहते हैं—'इस वेदभाष्य में शब्द और उनके अर्थ द्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे। परन्तु कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेद मन्त्रों में से जहाँ जहाँ जो जो कर्म अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेघ पर्यन्त करने चाहियें, उनका वर्णन यहाँ नहीं किया जायगा, क्योंकि उनके अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत और गृह्यसूत्र आदि में कहा हुआ है' (पृ० ३८३-३८४) किन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उनका किया हुआ अर्थ पूर्व प्रदर्शित पद्धति से विपरीत हो पड़ता है। इसी तरह से उनका उपासना और ज्ञानकाण्डपरक अर्थ भी असंगत है, क्योंकि यह पातञ्जल, व्यास प्रभृति के सूत्रों के विरुद्ध है, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है।

परम्परा से जैसा सस्वर वेदपाठ प्रचलित है, वैसा करने में आर्यसमाजी आज तक समर्थ नहीं हो सके हैं। इसी तरह स्वामी दयानन्द ने पिंगलाचार्य के छन्दःसूत्र के अनुसार प्रत्येक छन्द के स्वरों को लिखने की प्रतिज्ञा को है। उन्होंने लिखा है कि जिस मन्त्र का जो छन्द हो, उसके अपने स्वर के अनुसार ही गायन आदि की व्याख्या करनी चाहिये। उन्होंने यह भी लिखा है कि इस भाष्य में संस्कृत और प्राकृत (हिन्दी) भाषा में मन्त्रों के पदों का अर्थ लिखा जायगा। इस भूमिका का प्रारम्भ करते हुए भी

मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ् मया ॥' इति। परमिदानीं हिन्दीभाषायामसमाधेयाशुद्धिबाहुल्यं दृष्ट्वा युधिष्ठिरादिभिः सामाजिकैस्तदपलापोऽपि क्रियते। युधिष्ठिरेण स्वमुच्यते यत्—'बहुत्र भाषार्थः संस्कृताद् भिद्यते। वैपरीत्यं भजते। तस्मात् पण्डितैर्निर्मापितः' (पृ० ३८३ टि०) इति, तदपि तत्समाधानासम्भवेन पलायनमेव। किञ्च, यदि तदाचार्य एव मिथ्याप्रतिज्ञस्तदा तदनुयायिनां सत्यप्रतिज्ञत्वे कथं विश्वासः स्यात्।

यत्तु—'सायणाचार्यादिभिः स्वेच्छानुसारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतम्' (पृ० ३८३) इति, तत्तु मोहमूलकमेव, तदर्थानभिज्ञानात्। यथा चैतत्तथा प्रदर्शितं प्रदर्शयिष्यते च। यूरोपखण्डनिवासिनस्तु यथा दुरुद्देश्येन व्याख्यानानि प्रस्तुतवन्तः, तथा रामायणमीमांसायामस्माभिः प्रपञ्चितम्। तेषु विशिष्टबुद्धय एव सायणभाष्यमनुसृतवन्तः।

यत्तु—'निमित्तकारणस्येश्वरस्यास्मिन् कार्ये जगति सर्वाङ्गव्याप्तिमत्त्वात्, कार्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नप्यर्थे त्यागो भवतीति' (पृ० ३८३) तत्तु विचित्रमेव, अनुपपत्तेः। तथाहि—किं व्याकरणकोषाप्तवाक्यव्यवहारादिजनितशक्तिग्रहादिवशाद् मन्त्राणामीश्वरपरत्वमास्थीयते, आहोस्विज्जगतो निमित्तकारणत्वाद् मन्त्राणां तत्परत्वमिति ? नाद्यः, जगन्निमित्तत्वस्यातन्त्रत्वापातात्। नान्त्यः, नास्तिकवचसामपीश्वरपरत्वापत्तेः।

किञ्चेश्वरस्य जगन्निमित्तत्वमस्तु, मा भूत्सर्वमन्त्राणां तत्परत्वम्, तर्हि किं दूषणमिति व्यभिचारशङ्कानिवर्तक-

उन्होंने लिखा है कि—संस्कृत और प्राकृत (हिन्दी) भाषा में मैं सभी कामनाओं को देने वाले मन्त्रों का अर्थ करने में लग रहा हूँ। किन्तु यहाँ आकर टिप्पणी करते हुए युधिष्ठिर मीमांसक हिन्दी भाषा की भयंकर अशुद्धियों को देखकर स्वयं ही लिखते हैं कि—'अनेक स्थलों पर हिन्दी भाषा का अर्थ संस्कृत अर्थ से भिन्न पड़ता है, कभी कभी विरुद्ध भी हो जाता है, इससे प्रतीत होता है कि अन्य पण्डितों से यह लिखवाया गया था' (पृ० ३८३ टि०)। उनका यह कथन कुछ समाधान न मिलने से पलायनवाद का सहारा लेने के समान है। जब उनके आचार्य ही झूठी प्रतिज्ञा कर सकते हैं, तब उनके अनुयायियों की बात कैसे सही मानी जा सकती है ?

'सायण प्रभृति आचार्यों ने मनमाने तरीके से लोगों की प्रवृत्ति को देखकर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये तदनुसार ही भाष्य लिख दिये हैं' (पृ० ३८४) ऐसा कहना भी अपने अज्ञान का ही प्रकट करना है। स्वामी दयानन्द इनके अर्थ को समझ ही नहीं सके हैं। इस बात को हम अनेक बार बता चुके हैं और आगे भी बतावेंगे। यूरोप देशवासी जिस बुरे उद्देश्य से वेद मन्त्रों की व्याख्या करते हैं, इसका विस्तार से निरूपण हमने रामायणमीमांसा में किया है। उनमें कुछ विशिष्ट विद्वान् ही सायण भाष्य का अनुसरण करते हैं।

'वेदों में कोई एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है, जिसमें कि ईश्वर की चर्चा न आवे। ईश्वर इस कार्य जगत् का निमित्तकारण है, वह इसकी रग-रग में समाया हुआ है। इस तरह से प्रत्येक कार्य ईश्वर से सम्बद्ध ही है' (पृ० ३८३) उनका यह कथन भी विचित्र सा लगता है, क्योंकि ऐसा सम्भव ही नहीं है। क्या व्याकरण, कोश, आप्त वाक्य, व्यवहार आदि से प्राप्त शब्दसंकेत के अनुसार सभी मन्त्रों की व्याख्या आप ईश्वरपरक करते हैं, अथवा ईश्वर के जगत् का निमित्तकारण होने से आप मन्त्रों की व्याख्या ईश्वरपरक करते हैं ? इनमें पहला पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि मन्त्रों का अर्थ करने में जगत् की निमित्तकारणता का कोई उपयोग नहीं हो सकता। दूसरा पक्ष भी इसलिये नहीं बनेगा कि व्याकरण प्रभृति प्रमाणों के आधार पर तो नास्तिकों के वचन भी ईश्वरपरक ही माने जाने लगेंगे, जब कि वे ईश्वर को मानते ही नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि यदि हम आपसे तर्क करें कि ईश्वर जगत् का निमित्तकारण भले ही हो, किन्तु सभी मन्त्रों का अर्थ ईश्वरपरक ही हो, ऐसा कोई आवश्यक नहीं है। हमारे इस तर्क में आप कोई दोष बताइये, तो आपकी बात में इस तरह से उठाये गये व्यभिचार दोष की आशंका को दूर करने वाला कोई तर्क आपके पास नहीं है। इस तरह से निमित्तकारण के साथ सभी मन्त्रों के अर्थ के सम्बद्ध रहने की जो व्याप्ति आप बनाना चाहते हैं, वह नहीं बन पाती। प्रत्येक कार्य का ईश्वर से सम्बद्ध होना

तर्कायोगेन व्याप्त्यसिद्धेः। नहि कार्येण सहान्वयोऽपि तत्र हेतुः सम्भवति, आकाशस्य घटादिना सहान्वयेऽपि घटार्थत्वाभावात्। निमित्तत्वेन कार्ये सर्वाङ्गव्यापितापि न सम्भवति, निमित्तानामपि कुलालदण्डचक्रचीवरादीनां घटसर्वाङ्गव्यापित्वाभावात्।

प्रश्नोत्तरविषयकविचारः

एवमेव प्रश्नोत्तरविषयोऽपि तदीयो निःसारः। यच्च—'प्रश्नः—किमर्था वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति? उत्तरम्—भिन्नभिन्नविद्याज्ञापनाय' (पृ० ३८५) इति, तदपि निःसारम्, जैमिनिसूत्रादिविरुद्धत्वात्। तत्र तु—'सा ऋग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः' इत्युक्तम्। अथर्वाङ्गिरसा दृष्टत्वादाथर्वणत्वमुक्तम्। 'ऋग्भिः स्तुवन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिर्गायन्ति' इत्यादिभिस्तु ऋगादीनां प्रयोजनमुक्तम्। 'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः॥' (ऋ० सं० १।७१।११) इत्यनेन मन्त्रेण चतुर्णां मन्त्रात्मकानां वेदानां कार्यमुक्तम्। 'ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होतर्गर्चिनी' (नि० १।८) इत्यादिना निरुक्तकारैरपि तदेवोच्यते। एक ऋत्विग् यज्ञकाले स्वकीयवेदगतानामृचां पुष्टिं कुर्वन् भिन्नप्रदेशेष्वाम्नातानाम् ऋचां सङ्घमेकत्र सम्पाद्यैतावदिदं शास्त्रमिति क्लृप्तिं करोति। अर्च्यते प्रशस्यतेऽनया देवविशेषः क्रियाविशेषः साधनविशेष इति ऋक्। एक उद्गातृनामक ऋत्विग् गायत्रशब्दाभिधेयस्तोत्रं शक्वरीशब्दाभिधेयामु ऋक्षु गायति। एको ब्रह्मा जाते जाते विद्यां वदति। तदा तदोत्पन्ने यज्ञे प्रस्तुते प्रणयनादिकर्मणि विद्यामनुज्ञां वदति 'ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामि' इत्येवं सम्बोधितः 'ओम् प्रणय' इत्यनुजानाति। एकोऽध्वर्युर्यज्ञस्य मात्रां स्वरूपं विमिमीते, यजुर्भिरेव यागादिक्रियानिष्पत्तेः। अन्यत्तु पूर्वमेव निराकृतम्।

भी इस बात में कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि आकाश सभी कार्यों से सम्बद्ध होता हुआ भी घट आदि का कारण नहीं माना जाता। निमित्तकारण होने से वह कार्य के सभी अंगों के साथ सदा जुटा रहेगा, ऐसा भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि कुलाल (कुम्हार), दण्ड, चक्र, चीवर प्रभृति सभी घट के निमित्तकारण हैं। वे क्या घट के सभी अंगों के साथ जुटे रहते हैं? कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे ये निमित्तकारण घट के साथ सदा जुटे हुए नहीं रहते, उसी तरह से सभी कार्यों का निमित्तकारण होते हुए भी ईश्वर उनसे सदा जुटा हुआ नहीं रह सकता। स्वामी दयानन्द का यह कहना उचित नहीं है कि प्रत्येक मन्त्र के अर्थ से ईश्वर को अनिवार्य रूप से सम्बद्ध मानना ही पड़ेगा।

प्रश्नोत्तर विषयक विचार

इस तरह से उनका प्रश्नोत्तर विषयक विचार भी निःसार है। जैसे कि उन्होंने प्रश्न किया है कि वेदों के चार विभाग क्यों किये हैं? फिर उत्तर दिया है कि भिन्न भिन्न विद्या जनाने के लिये (पृ० ३८६), किन्तु यह सारा कथन निःसार है, क्योंकि इसका जैमिनि सूत्र से स्पष्ट विरोध है। जैमिनि सूत्र में बताया गया है कि जहां अर्थ के अनुसार पादों (चरणों) की व्यवस्था की गई है, वह ऋग्वेद है; जो गाये जाते हैं, वे सामवेद है और बचे हुए मन्त्र यजुर्वेद के नाम से जाने जाते हैं। 'ऋग्भिः स्तुवन्ति' इन वाक्यों में तो इनका प्रयोजन बताया गया है। 'ऋचां त्वः' इस मन्त्र में भी चारों वेदों का अर्थ बताया गया है। 'ऋचामेकः' ऐसी व्याख्या करते हुए निरुक्तकार भी इसी बात को स्पष्ट करते हैं कि एक ऋत्विक् (होता) यज्ञ के अवसर पर अपने वेद की ऋचाओं की पुष्टि करता हुआ, अर्थात् भिन्न भिन्न स्थानों में पढ़े गये मन्त्रों को इकट्ठा करता हुआ यह बताता है कि इतने मन्त्रों का एक शस्त्र नामक स्तोत्र बनता है। ऋक् शब्द का अर्थ यह है कि जिससे देवता विशेष, क्रिया विशेष, साधन विशेष की अर्चना, प्रशंसा की जाती है। दूसरा ऋत्विक् (उद्गाता) गायक शब्द से जाने जानेवाले स्तोत्र को शक्वरी नाम की ऋचाओं में गाता है। तीसरा ब्रह्मा जब भी यज्ञ प्रस्तुत होता है, अर्थात् यज्ञ का आरम्भ किया जाता है, उस समय प्रणयन आदि कर्मों की अनुज्ञा (अनुमति) देता है। जब उससे पूछा जाता है कि हे ब्रह्मन्, अब मैं जल का प्रणयन करता हूं, तब वह अनुमति देता है कि हां ऐसा करो। चौथा अध्वर्यु यज्ञ के स्वरूप को बताता है, क्योंकि याग आदि का पूरा स्वरूप यजुर्वेद के अनुसार ही बनता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकरण में प्रश्नोत्तर शैली में वर्णित अन्य बातों का खण्डन हम पहले ही कर चुके हैं।

यदुक्तम्—'ऋच स्तुतौ, यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' साम सान्त्वने षोऽन्तकर्मणि, थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः ।' (नि० ११।१८) 'चर संशये' अनेनाथर्वशब्दः संशयनिवारणार्थो गृह्यते' (पृ० ३८६), इत्यादि, तदपि तुच्छम्, ऋगादिशब्दानां योगरूढत्वात् । अन्यथा लौकिकस्तवनसाधनसङ्गतिकरणादिसाधनसात्वनसमाप्तिसंशयनिवारकेषु ऋगादिप्रयोगापत्तिः स्यात् । निरुक्तार्थस्तु न थर्वन्तीत्यथर्वाणः स्थिरप्रकृतयो हि ते । तेषामेषा साधारणा भवति (नि० ११।१८) तेषामङ्गिरःप्रभृतीनामित्यर्थः ।

ऋषिदेवताछन्दःस्वरनिर्देशप्रयोजनमपि तदुक्तमसङ्गतमेव । प्रत्येकं मन्त्रस्योपरि ऋषिदेवताछन्दःस्वराः किमर्थं लिख्यन्त इति प्रश्नस्य प्रतिवचने यदुक्तम्—'वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद्विदितस्तस्मात् तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति । कुतः ? तैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात्, तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्तुं योग्यमस्त्यतः' (पृ० ३८८) इति, तदपि विसङ्गतम्, निष्प्रमाणत्वात् । न च 'यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पाम्' इत्यादिनिरुक्तं प्रमाणमिति वाच्यम्, तस्यान्यार्थत्वात् ।

'यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलाऽस्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा किञ्चित्पुष्पफलेति वा । अर्थं वाचः पुष्पफलमाह । याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा । साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च । बिल्मं भिल्मं भासनमिति वा । एतावन्तः समानकर्माणो धातवः । धातुर्दधाते । एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयानि । एतावतामर्थानामिदमभिधानम् । नैघण्टुकमिदं देवता-

वे आगे लिखते हैं—'ऋच स्तुतौ, यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु, षो अन्तकर्मणि और साम सान्त्वने, थर्वतिश्चरितकर्मा इन अर्थों के विद्यमान होने से चार वेदों अर्थात् ऋक्, यजुः, साम और अथर्व की ये चार संज्ञाएँ रखी गई है । तथा अथर्ववेद का प्रकाश ईश्वर ने इसलिये किया हैं कि जिससे तीनों वेदों की अनेक विद्याओं के सब विघ्नों का निवारण हो और उनकी गणना अच्छो तरह से हो सके' (पृ० ३८७-३८८), किन्तु यह सब भी गलत है, क्योंकि यहाँ ये शब्द योगरूढ़ हैं । अन्यथा लौकिक स्तुति के साधन, संगतिकरण के साधन, सान्त्वन, समाधि और संशय का निवारण करने वाले वाक्यों में भी ऋक् प्रभृति शब्दों का व्यवहार होने लग जायगा । निरुक्तकार ने अथर्व शब्द का अर्थ न थर्वति अर्थात् जो चल नहों है, स्थिर स्वभाव का है, ऐसा किया है । आगे उन्होंने कहा है कि यह स्थिर स्वभाव केवल अथर्ववेद का ही नहीं, सभी वेदों का समान गुण है ।

स्वामी दयानन्द का बताया हुआ ऋषि, देवता, छन्द, स्वर आदि के निर्देश का प्रयोजन भी असंगत है । प्रत्येक मन्त्र के साथ ऋषि, देवता, छन्द और स्वर किसलिये लिखते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने लिखा है—'ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका, तभी से प्रचलित लोग वेद मन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे । फिर उनमें से जिस जिस मन्त्र का अर्थ जिस जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस उस का नाम उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिये लिखा गया है । इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ हैं । उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े-बड़े प्रयत्न के साथ वेद मन्त्रों के अर्थ को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिये पूर्ण उपकार किया है, इसलिये विद्वान् लोग वेदमन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं' (पृ० ३८९-३९०), किन्तु इसमें कोई तुक नहीं मालूम पड़ता और इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है । 'यो वाचं श्रुतवान्' यह निरुक्त वचन भी इसमें प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसका अर्थ कुछ दूसरा ही है ।

'यो वाचं श्रुतवान्……नैघण्टुकं तत्' इस निरुक्त वाक्यावली की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—'जो मनुष्य अर्थ को समझे बिना अध्ययन वा श्रवण करते हैं, उनका सब परिश्रम निष्फल होता है । प्र०—वाणी का फल क्या है ? उ०—अर्थ को ठीक-ठीक जानकर उसी के अनुसार व्यवहारों में प्रवृत्त होना वाणी का फल है । जो लोग इस नियम पर चलते हैं, वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् ऋषि कहलाते हैं' (पृ० ३९०), किन्तु यह कथन असंगत है, क्योंकि यह अर्थ आपकी कपोलकल्पना है, मूल में इस अर्थ के बोधक पद विद्यमान नहीं है । साथ ही आपने किंचित् पुष्पफला, याज्ञदैवते इत्यादि पदों की व्याख्या भी नहीं की है । आगे आप लिखते हैं—

नामप्राधान्येनेदमिति । तद्यदन्यदेवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत् ।' (नि० १।२०) अत्र यदुक्तम्–'यो मनुष्योऽर्थविज्ञानेन विना श्रवणाध्ययने करोति तदफलं भवति । (प्रश्नः) वाचो वाण्याः किं फलं भवतीति ? (उत्तरम्) अत्राह—विज्ञानं तथा तज्ज्ञानानुसारेण कर्मानुष्ठानम् । य एवं ज्ञात्वा कुर्वन्ति त ऋषयो भवन्ति' (पृ० ३८९) इति, तदसङ्गतमेव, य एवं ज्ञात्वा कुर्वन्ति त ऋषयो भवन्तीत्यर्थस्य त्वत्कपोलकल्पितत्वात्, मूले तद्बोधकपदाभावात् । किञ्चित्पुष्पफला, याज्ञदैवते इत्यादिपदानामव्याख्यानाच्च । यत्तु—'साक्षात्कृतधर्माणः । यैः सर्वा विद्या यथावद्विदितास्त ऋषयो बभूवुः । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान् सम्प्रादुः, मन्त्रार्थांश्च प्रकाशितवन्तः' (पृ० ३८९) इति, तदप्यसङ्गतम्, धर्मपदस्य विद्यार्थकत्वे मानाभावात्, विप्रतिषिद्धत्वाच्च । एकत्र धर्मपदेन विद्या गृहीता, अपरत्र च वेदो गृहीतः । यदि साक्षात्कृतधर्माण इत्यस्य विदितसर्वविद्या इत्यर्थः, तर्हि असाक्षात्कृतधर्माण इत्यनेनाविदितसर्वविद्या इत्येवार्थो ग्राह्यः । धर्मशव्दस्य वेदोऽपि नार्थः, प्रमाणशून्यत्वात् । मन्त्रार्थान् प्रकाशितवन्त इति कस्य वाक्यस्यार्थः ? नहि मन्त्रशब्दस्यैव मन्त्रार्थपरत्वं युक्तम् । शक्यार्थोपपत्तौ भाक्तस्यार्थस्यासङ्गतत्वात् । एवमुत्तरोत्तरं वेदार्थप्रचारायेत्यपि न प्रकृतवचनार्थः, उपदेशायेत्यस्योत्तरेण सम्बन्धात् । यदपि—'ये चावरेऽध्ययनायोपदेशाय च ग्लायन्ति तान् वेदार्थविज्ञानायेमं नैघण्टुकं निरुक्ताख्यं ग्रन्थं ते ऋषयः समाम्नासिषुः, येन वेदं वेदाङ्गानि च जानीयुः' (पृ० ३८९) इति, तन्न, निर्मूलत्वात् । वस्तुतस्तु नेदं निरुक्तवचनं दयानन्दीयाभीष्टसाधकम्, तत्र ऋषिपदनिर्वचनाभावात् ।

वस्तुतस्तु निरुक्तार्थं एवं वेदितव्यः—यः श्रुतवान् भवत्यन्येभ्यो वेदान् श्रुत्वा दृढग्राहेणावस्थितो भवत्यध्ययनादृते नान्यत्किञ्चिद् वाचि मृग्यं मन्यते, अस्मै वेदलक्षणेयं वाग् अफलैवापुष्पैव च भवति । किञ्चित्पुष्पफला, अल्पपुष्पाल्पफला वा । अध्ययनमात्रेणापि मुख्यफलाभावेऽपि व्रात्यत्वापनयनघृतकुल्यादिस्वल्पफलस्य सत्त्वात् । किं पुनर्वाचो मुख्यं पुष्पफलमिति चेदुच्यते—अर्थं वाचः पुष्पफलमाह । कः पुनरसावर्थः ? याज्ञं दैवतमध्यात्ममित्येष वाचः समासतोऽर्थः । एष एव रूपकल्पनया पुष्पफलविभागेन द्विधा विभज्यते । याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा । यज्ञपरिज्ञानं याज्ञं, देवतापरिज्ञानं

'इसलिये जिन्होंने सब विद्याओं को यथावत् जाना था, वे ही ऋषि हुए थे । उन्होंने अपने उपदेश से अवर अर्थात् अल्पबुद्धि मनुष्यों को वेदमन्त्रों के अर्थों का प्रकाश कर दिया है' (पृ० ३९०), किन्तु यह अर्थ भी आपका असंगत है, क्योंकि धर्म पद का अर्थ विद्या हो, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, आपका यह अर्थ परस्पर विरुद्ध भी है, इसलिये कि एक स्थान पर आप धर्म का अर्थ विद्या और दूसरे स्थान पर वेद करते हैं । यदि 'साक्षात्कृतधर्माणः' इस पद का अर्थ आप सब विद्याओं को यथावत् जानने वाले करते हैं, तो 'असाक्षात्कृतधर्माणः' का अर्थ सब विद्याओं को न जानने वाले होगा, जो कि आपने नहीं किया । धर्म शब्द का अर्थ वेद भी नहीं होगा, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है । मन्त्रों के अर्थों को प्रकाशित किया, यह अर्थ किस वाक्य का होगा । मन्त्र शब्द मन्त्र के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हो सकता, जब मुख्य अर्थ हो सकता है, तो गौण अर्थ स्वीकार नहीं किया जाता । उत्तरोत्तर काल में वेद प्रचार की बात भी प्रस्तुत वाक्य से नहीं निकलती, क्योंकि 'उपदेशाय' इस शब्द का सम्बन्ध अगले वाक्य से है । 'जो लोग वेदशास्त्र आदि पढ़ने में कम समर्थ हैं, वे जिससे सुगमता से वेदार्थ जान लेवें, इसलिये उन्होंने निघण्टु और निरुक्त आदि ग्रन्थ भी बना दिये हैं, जिससे सब मनुष्य वेद और वेदांग को ज्ञानपूर्वक पढ़कर उनके सत्य अर्थ को जान लेवें' यह कथन भी निर्मूल है । वास्तव में निरुक्त का यह वचन दयानन्द के अभीष्ट मत का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें ऋषि पद की व्याख्या की ही नहीं गई है ।

इस निरुक्त वाक्यावली का सही अर्थ इस प्रकार है—जो व्यक्ति दूसरों से वेदों को सुनकर तृप्त हो जाता है और इस मूढ आग्रह से बँधा रहता है कि अध्ययन के अतिरिक्त इसका दूसरा कोई प्रयोजन अन्वेषणीय नहीं है, तो ऐसे व्यक्ति का अध्ययन अफल हो जाता है । अकार यहाँ अल्प अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् ऐसा मानने वाले को उसका फल थोड़ा ही मिलता है । अध्ययन कर लेने से यद्यपि मुख्य फल नहीं मिलता, किन्तु वेद का अध्ययन न करने से जो व्रात्यत्व दोष आता, उससे यह छूट जाता है और वेदाध्यायी को घृत-दुग्ध आदि भोग्य सामग्री भी प्राप्त होती है । वह मुख्य फल क्या है ? जो कि वेदाध्यायी को नहीं मिलता ? वह मुख्य फल मन्त्र

दैवतम् । आत्मन्यधिवर्तत इत्यध्यात्मम् । सर्वोऽपि मन्त्रब्राह्मणराशिर्वेदस्त्रिधा विभक्तः । अध्ययनलक्षणधर्मविवक्षायां याज्ञं पुष्पं दैवतं फलं यथा पूर्वं पुष्पं फलार्थं भवति, तथैव याज्ञमपि पूर्वं देवतार्थं प्रवर्तते । निःश्रेयसलक्षणधर्मविवक्षायां याज्ञदैवते पुष्पत्वमेवोपगच्छतः, दैवते याज्ञस्यान्तर्भावात् । अध्यात्मं च फलं भवति । यथा पुष्पं फलभावाय कल्पते, तथैव याज्ञं दैवतं च ब्रह्मात्मभावाय परिकल्पते, सर्वपुरुषार्थानां तत्रैव पर्यवसानात् । तस्मादर्थज्ञानायैव निरुक्तप्रादुर्भाव इत्याह—साक्षात्कृतधर्माण ऋषय इति । यैर्विशिष्टेन तपसा धर्मः साक्षात्कृतस्ते साक्षात्कृतधर्माणः । के पुनस्त इति, ऋषयः । ऋषन्त्यमुष्मात्कर्मण एवमर्थवता मन्त्रेण संयुक्तादमुना प्रकारेण एवं लक्षणफलविपरिणाम इति ऋषयः । तदेतत्कर्मणः साक्षात्फलविपरिणामदर्शनमौपचारिक्या वृत्त्या साक्षात्कृतधर्माण इत्युच्यते । अत्यन्तापूर्वस्य धर्मस्य प्रत्यक्षदर्शनासम्भवात् । न च तपसाऽपि धर्मसाक्षात्कारः सम्भवति, तस्य वेदैकसमधिगम्यत्वात् । अन्यथा बुद्धमहावीरादीनामपि कुतो न धर्मसाक्षात्कारः सम्भवेत् । 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मी० सू० १।१।२), 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ । ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥' (भ० गी० १६।२४) इत्यादिवचनविरोधाच्च । ते साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः । अवरेभ्योऽर्वाक्कालिकेभ्यः शक्तिहीनेभ्यः श्रुतर्षिभ्य उपदेशेन शिष्योपाध्यायिकया वृत्त्या मन्त्रान् ग्रन्थतोऽर्थतश्च सम्प्रादुः सम्प्रत्तवन्तः । ते चोपदेशेनैव जगृहुः । श्रुत्वा पश्चादृषित्वं जायते । साक्षात्कृतधर्मणां तु श्रवणमन्तरेणैव । ते श्रुतर्षयोऽपि उपदेशायोपदेशार्थं सौकर्येणोपदेशग्रहणाय कथं नामोपदिश्यमानमेते शक्नुयुर्ग्रहीतुमित्यर्थमधिकृत्य ग्लायन्तः खिद्यमानाः, तदनुकम्पया तेषामायुषः सङ्कोचं कालानुरूपां ग्रहणशक्तिं चावेक्ष्य बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं गवादिदेवपत्न्यन्तं निरुक्ताख्यं वेदं वेदाङ्गानि चेतराणि च समाम्नातवन्तः । भाष्यवाक्यप्रसक्तं विल्म-

का अर्थ है, जो कि वाणी का पुष्प और फल है । यह अर्थ क्या है ? संक्षेप में याज्ञ, दैवत और अध्यात्म ही मन्त्र का अर्थ है । इसी को यहाँ रूपक की भाषा में पुष्प और फल के रूप में दिखाया गया हैं कि—एक पक्ष में याज्ञ और दैवत अर्थ पुष्प और फल के सदृश हैं और दूसरे पक्ष में दैवत और अध्यात्म अर्थ पुष्प और फल के सदृश हैं । यज्ञ का ज्ञान कराने वाला भाग याज्ञ, देवता का ज्ञान कराने वाला दैवत और आत्मा का ज्ञान कराने वाला भाग अध्यात्म नाम से जाना जाता है । इस तरह से मन्त्रब्राह्मणात्मक यह पूरा वेद इन तीन विषयों के प्रतिपादन में ही विनियुक्त है । जब वेदाध्ययन का प्रयोजन धर्म की जिज्ञासा होता है, तब याज्ञ कर्म पुष्प और दैवत ज्ञान फल होता है, अर्थात् पुष्प से जैसे फल बनता है, उसी तरह से सारी यज्ञीय प्रक्रिया भी देवता के ज्ञान कराने में विनियुक्त होती है । जब मोक्ष की कामना से वेद का अध्ययन किया जाता है, तो याज्ञ कर्म और दैवत ज्ञान पुष्प का स्थान ग्रहण कर लेते हैं । यहाँ दैवत शब्द से याज्ञ कर्म का भी ग्रहण हो जाता है । इस पक्ष में अध्यात्म फलस्थानीय है । जैसे पुष्प से ही फल बनता है, उसी तरह से यज्ञीय और दैवत ज्ञान का उपयोग ब्रह्मज्ञान में होता है, क्योंकि अन्ततः सभी पुरुषार्थों का पर्यवसान मोक्ष दशा में ही होता है । अर्थज्ञान की इस महिमा को बताकर आगे यह कहा गया है कि—इस मन्त्रार्थ के ज्ञान के लिये ही निरुक्त नामक शास्त्र की रचना की गई है । जिन्होंने विशिष्ट तपस्या करके धर्म का साक्षात्कार किया है, वे ऋषि हैं । इनको ऋषि इसलिये कहते हैं कि—वे इस बात को जानते हैं कि इस कर्म से, इस अर्थ वाले मन्त्र से, इस तरह से किसी फल की प्राप्ति होती है । कर्म की इस फलोन्मुख परिणति को साक्षात् देखने वाले ऋषि 'साक्षात्कृतधर्माणः' इस विशेषण से जाने जाते हैं । यह एक प्रकार का औपचारिक प्रयोग है, क्योंकि धर्म तो अपूर्व के रूप में कभी देखा नहीं जा सकता । तप से भी उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता । वह तो एकमात्र वेद से ही जाना जा सकता है । अन्यथा बुद्ध, महावीर प्रभृति को भी धर्म का साक्षात्कार हो, इसमें क्या बाधा उठाई जा सकती है ? ऐसा मानने पर मीमांसासूत्र (चोदना०) और गीता के वचन (तस्माच्छास्त्र०) से भी विरोध पड़ेगा । इसलिये ऋषि लोग धर्म का साक्षात्कार करते हैं । इसका अभिप्राय इतना ही है कि उनका धर्मविषयक ज्ञान हमारी अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि का है । धर्म का साक्षात्कार करने वाले ये ऋषि बाद में पैदा हुए फल शक्ति वाले मनुष्यों को अपने उपदेश से शिष्य-उपाध्याय की परम्परा से मन्त्रों को पढ़ाते रहे हैं और उनका अर्थ भी बताते रहे हैं । ये लोग श्रुतर्षि के नाम से प्रसिद्ध होते हैं, क्योंकि सुनने के बाद इनमें मन्त्र दर्शन का सामर्थ्य आता है, मन्त्र के रहस्य को समझ पाते हैं । साक्षात् ऋषियों में यह सामर्थ्य स्वाभाविक रहता है । ये श्रुतर्षिगण भी बाद में इस चिन्ता में पड़ गये कि आगे होने वाली अल्पबुद्धि की इस सन्तति में हम इस दिव्य ज्ञान का प्रसार निरन्तर किस प्रकार करते रहें ? इस अल्पबुद्धि प्रजा पर अनुकम्पा करने की दृष्टि से उनकी आयु और मेधाशक्ति के अनुरूप संक्षेप में सब बातों को और वैदिक मन्त्रों के अर्थ को जानने की

शब्दं निर्ब्रवीति भिल्मं वेदानां भेदनम् । भेदो व्यासः, एकं सन्तं वेदमतिमहत्त्वाद् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नातवन्तः । एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, एकशतधाध्वर्यवम्, सहस्रधा साम, नवधाथर्वणम्, अष्टधा व्याकरणम्, चतुर्दशधा निरुक्तमित्यादि । भासनमिति वा विल्मशब्देनोच्यते, वेदाङ्गविज्ञानेन वेदार्थस्य प्रकाशनात् ।

ये च साक्षात्कृतधर्माण ऋषयस्ते तु श्रवणमन्तरैव वेदान् वेदार्थांश्च पश्यन्ति । ते तु 'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः । तद् यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते' (तै० आ० २।९) इत्यत्र निरूपिता यास्काचार्येण । तदर्थस्त्वेवम्—ऋषति पश्यति सूक्ष्मानप्यर्थानिति ऋषिः । स्तोमा मन्त्रास्तानसौ तारकेण ज्ञानेन पश्यतीत्यौपमन्यव आचार्यो मन्यते । ब्राह्मणेनापि तदेवोच्यते । यद् यस्माद् एनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म ऋग्यजुःसामाख्यं स्वयम्भु अकृतकं अभ्यागच्छत्, अर्थाद् अनधीतमेव ते तपोविशेषेण तत्त्वतो ददृशुः, तदृषीणामृषित्वम् ।

प्रकृते तु एतावन्तः समानकर्माणो धातवः, एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयानि, दधातेर्धातवः, स एष पदराशिर्नैघण्टुकं नाम प्रकरणम् । एतावन्त इति धातुषु आख्यातपदेषु प्रतिनियता संख्या अभिप्रेयते । तद्यथा गतिकर्माण उत्तरे धातवो द्वाविंशं शतम् । कान्तिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादशम् । (नि० ३।९) एतावन्त्यस्य सत्त्वस्येति नामधेयप्रतिनियतसंख्याभिप्रेयते । तद्यथा—'पृथिवीनामधेयान्येकविंशतिः' (नि० २।९), 'हिरण्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश' (नि० २।७) । यत्रैतावर्थौ प्रायेण चिन्त्येते प्रसङ्गतोऽन्यत् किञ्चित् तन्नैघण्टुकं नाम प्रकरणम् । यत्र पुनरेतावतामर्थानामिदमभिधानं प्रायेण चिन्त्यते, तद्यथा—'आदित्योऽप्यकूपारः समुद्रोऽप्यकूपारः' (नि० ४।१८) । अनवगतसंस्काराश्च निगमा जहादयो यत्र चिन्त्यन्तेऽनुषङ्गतोऽन्यदपि तदेकपदिकं नाम प्रकरणम् । अथ पुनर्यत्र नैघण्टुकं देवतानामस्मिन् मन्त्रे इदमन्यदत्र प्राधान्येन वर्तत इत्ययं विभागो यत्र चिन्त्यते तद्दैवतं प्रकरणम् । तद्यदन्यदेवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत् । नैघण्टुकमिदं देवतानाम् । प्राधान्येनेदम् । अन्या यस्मिन् प्रधानदेवता सोऽयमन्यदेवतः । तस्मिन्नन्यदेवते मन्त्रे स्वमर्थमन्यस्यां प्रधानायां मन्त्रदेवतायां

प्रक्रिया को समझाने के लिये इस निरुक्त ग्रन्थ की तथा अन्य वेदांग ग्रन्थों की रचना हुई । निरुक्तवाक्यगत बिल्म शब्द का अर्थ यह है कि पहले सारा वेदराशि एक अखण्ड रूप में विद्यमान था, बाद में ऋषियों ने उसको अनेक शाखाओं में विभक्त कर दिया, जिससे कि इस सारे वेदराशि का ज्ञान सरलता से हो सके ।

जो धर्म का साक्षात्कार करने वाले ऋषि हैं, उनको तो वेदों का तथा उनके अर्थों का ज्ञान अपने आप हो जाता है । ऐसे ही ऋषियों का वर्णन निरुक्तकार ने 'ऋषिर्दर्शनात्' इत्यादि वाक्यों से किया है । ये ऋषि स्तोम, मन्त्र आदि के साक्षात् द्रष्टा होते हैं, ऐसा उपमन्यु की शिष्य परम्परा में प्रसिद्ध है । तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार यह कथा प्रसिद्ध है कि—जब ये ऋषिगण तपस्या कर रहे थे, तब इनके सामने ब्रह्म अर्थात् वेद स्वयं अपने आप प्रकट हो गये । ये सब ऋषि इसलिये कहलाते हैं कि—अन्यत्र दुरूह विषय भी इनके सामने सरल हो जाते हैं ।

बिल्म शब्द का निर्वचन करने के बाद स्वामी दयानन्द द्वारा उद्धृत निरुक्त वचन में 'एतावन्तः समान०' इत्यादि वाक्य से यह बताया गया है इस ग्रन्थ के नैघण्टुक प्रकरण में समान क्रिया में प्रयुक्त होने वाले धातुओं तथा समान वस्तु में प्रयुक्त होने वाले नामों (पर्यायवाची शब्द) का परिगणन किया गया है । जैसे कि इतने धातु गति अर्थ में प्रयुक्त होते हैं और पृथिवी के पर्यायवाची शब्द इतने हैं, इत्यादि । इस नैघण्टुक काण्ड में इनके अतिरिक्त प्रसंगतः कुछ अन्य विषयों की चर्चा आ जाती है । इसके आगे एकपदिक प्रकरण आता है, जिसमें कि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने वाले पदों पर विचार किया जाता है । जैसे कि अकूपार शब्द का प्रयोग आदित्य (सूर्य) के अर्थ में और समुद्र के अर्थ में भी होता है । इस प्रकरण में उन शब्दों पर भी विचार किया जाता है, जिनका कि प्रकृति-प्रत्यय संस्कार ज्ञात नहीं है । प्रसंगतः कुछ अन्य विषयों पर भी विचार किया जाता है । दैवत प्रकरण में देवताओं के नामों का, उनके स्वरूप का विचार किया जाता है । इस प्रकरण की सहायता से गुणभूत देवता के अर्थ में विनियुक्त मन्त्र का प्रधान देवता में विनियोग सही पद्धति से जाना जा सकता है । जैसे कि 'अश्वं न त्वा' इस मन्त्र का निघण्टु के आधार पर परिज्ञात देवता अश्व है, किन्तु निरुक्त के इस दैवत प्रकरण से यह ज्ञात होता है कि इसका प्रधान देवता अग्नि है, अश्व तो उसका अंगदेवता है । इस तरह से जान

निगमयन् पतति प्रयुज्यमानमङ्गभावं गच्छति, तन्नैघण्टुकमुच्यते। तदुदाहरणं यथा—'अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः सम्राजन्तमध्वराणाम् ॥' (ऋ० सं० १।२७।१) अस्यामृचि अश्वो नैघण्टुको गुणभूता देवता, अग्निः प्रधानदेवता; शुनःशेप ऋषिः, वारवन्तीयानुशंसनेऽस्या विनियोगः। वारवन्तीयस्य साम्न एषा योनिः। मन्त्रार्थस्तु—हे अग्ने अश्वं न त्वा अश्वमिव त्वाम् अग्निम् अग्रनेतारं देवानां वारवन्तं वालवन्तं वृषाश्वमिव नमोभिर्नमस्कारैरन्नैर्वा हविर्भिरुद्यतैस्त्वां वन्दध्ये वन्दामहे। अश्वो ह्यतितरां बालवान् भवति, स यथा वन्द्यते परिचर्यते न तथान्ये। क्वावस्थितं कथं वा वन्दामह इति। सम्राजन्तं देदीप्यमानम् अध्वराणां यज्ञानां मध्येऽवस्थितमुत्तरवेद्यादिषु धिष्ण्येष्वभिप्रेतार्थसिद्धये वन्दामहे।

यदुक्तम्—'यत्र द्योत्यानां पदार्थानां प्राधान्येन स्तुतिः क्रियते, तत्र सैवेयं मन्त्रमयी देवता' (पृ० ३८९) इति, तदतीव मन्दम्, पूर्वोक्तनैरुक्तपदवाक्यानां तदर्थत्वाभावात्। अर्थानां प्राधान्येन स्तुतावर्थस्यैव देवतात्वं स्यादिति कुतस्तस्या मन्त्रमयीत्वम्। यदुक्तम्—'यच्च मन्त्राद्भिन्नार्थस्यैव संकेतः प्रकाश्यते, तदपि नैघण्टुकं व्याख्यानम्' (पृ० ३८९) इति, तदपि न किञ्चित्, सर्वत्रैव मन्त्राद्भिन्नस्यैवार्थस्य प्रकाशनात्। नहि मन्त्रात् सङ्केतः प्रकाश्यते, किन्तु सङ्केतग्रहपूर्वकान्मन्त्रान्मन्त्रार्थः प्रकाश्यते। यद्यपि मनुष्यो देव ईश्वरो वा कोऽपि मन्त्रनिर्माता न भवति, 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६) इति वेदलक्षणाया वाचो नित्यत्वश्रवणात्। तत्रेश्वरः प्रतिकल्पं नित्यसिद्धानामेव वेदानां सम्प्रदायं प्रवर्तयति। देवाः परमेश्वरानुग्रहादैश्वर्यवशाद् ऋषयश्च तपोबलसहकृतेश्वरानुग्रहाद् वेदान् पश्यन्ति। अन्ये तु शिष्योपाध्यायिकया वृत्त्या वेदानधिगच्छन्तीति।

यदप्युक्तम्—'येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थः प्रकाशितोऽस्ति, तस्य तस्य ऋषेरेकैकमन्त्रस्य सम्बन्धे

लेने पर मुख्य देवता में ही इसका विनियोग किया जाता है और शुनःशेप ऋषि के द्वारा देखे गये इस मन्त्र का विनियोग वारवन्तीय साम द्वारा अग्नि की स्तुति में किया जाता है। मन्त्र का अर्थ यह होगा—हे अग्ने, अश्व के समान आगे ले जाने वाले तुमको हम नमस्कार करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि—घोड़ा जैसे मनुष्यों को युद्ध आदि के अवसरों पर सबसे आगे ले जाता है, वैसे ही आप भी सभी देवताओं को हवि आदि प्रदान कर आगे ले आने वाले हैं। इसलिये हम सभी पशुओं में घोड़े को सबमें ज्यादा चाहते हैं, उसी तरह ये उन सब से पहले हम आपको ही प्रणाम करते हैं। आपकी वन्दना हम उस समय करते हैं, जब कि आप यज्ञीय अनुष्ठानों के अवसरों पर उत्तर वेदि प्रभृति स्थानों में देदीप्यमान रहते हुए हमारे मनोरथों को पूरा करने में तत्पर रहते हैं।

'जिन जिन मन्त्रों में जिन जिन पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की है, उनके मन्त्रमय देवता जानने चाहिये, अर्थात् जिस जिस मन्त्र का जो जो अर्थ होता है, वही उसका देवता कहलाता है' (पृ० ३९०) यह कथन एकदम गलत है, क्योंकि उक्त निरुक्त वाक्य का यह अर्थ हो ही नहीं सकता। अर्थ की प्रधानता मानने पर जब स्तुति में अर्थ की ही प्रधानता होगी, तो उस स्थिति में वह अर्थ मन्त्रमय कैसे हो सकता है ? इसी तरह से 'मन्त्र से भिन्न अर्थ का संकेत बताने के लिये ही निघण्टु में व्याख्या की जाती है' (पृ० ३८९) यह कथन भी इसलिये गलत है कि सभी जगह तो मन्त्र से भिन्न अर्थ का ही प्रकाशन किया जाता है। मन्त्र से कोई संकेत प्रकाशित नहीं होता, किन्तु संकेत का ग्रहण निघण्टु आदि की सहायता से कर लेने पर मन्त्र के पदों से मन्त्र के अर्थ का ज्ञान होता है। यद्यपि मनुष्य, देवता अथवा ईश्वर भी मन्त्र का निर्माता नहीं है, क्योंकि 'वाचा विरूपनित्यया' इस तरह की श्रुतियाँ वेद की नित्यता का प्रतिपादन करती हैं, तथापि मनुष्य प्रभृति में ईश्वर प्रत्येक कल्प के प्रारम्भ में नित्य सिद्ध वेदों के सम्प्रदाय को पुनः प्रचलित करता है। परमेश्वर ने आग्रह से प्राप्त ऐश्वर्य के कारण अन्य देवतागण और अपने तपोबल से प्राप्त ईश्वर के अनुग्रह से ऋषिगण इन वेदमन्त्रों का साक्षात् दर्शन करते हैं। अन्य मनुष्य शिष्य और उपाध्याय की परम्परा से इनका ज्ञान प्राप्त करते हैं, यही वस्तुस्थिति है।

'जिस जिस ऋषि ने जिस जिस मन्त्र के अर्थ को प्रकाशित किया है, उस उस ऋषि का नाम उस मन्त्र के साथ जोड़ दिया गया है' (पृ० ३८९) यह कथन भी इसलिये सही नहीं है कि इसकी कोई संगति नहीं बैठती। प्रकाश पद का अर्थ आप अध्यापन

नामोल्लेखः कृतोऽस्ति' (पृ० ३८९) इति, तदपि न सङ्गतम्, अनुपपत्तेः। प्रकाशपदेनाध्यापनं व्याख्यानं वा ? नाद्यः, प्रमाणाभावात्। समाख्यादिबलेनाध्यापनं निश्चीयते। न च सर्वेषामृषीणां नामभिः समाख्या दृश्यते, नापि व्याख्यानम्, तदनुपलम्भात्। ऋषिर्दर्शनादित्युक्तरीत्या मन्त्रदर्शनादेर्वार्षित्वम्। तच्च बृहद्देवतानुक्रमण्यादिग्रन्थैः पारम्पर्येण च विज्ञायते नान्यथा। यदपि—'यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति सो सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते। एतदर्थं देवतोल्लेखनं कृतम्' (पृ० ३८९) इति, तदप्यसंगतम्, अर्थानामानन्त्येनानन्तदेवतात्वप्रसङ्गात्। तस्माद्या तेनोच्यते इत्यादिश्रुतिसूत्रबृहद्देवतानुसारेणैव देवता निर्णेतव्या। छन्दोऽपि छन्दःशास्त्रनियमेनैव ज्ञेयम्। उदात्तादिस्वरास्तु सम्प्रदायसिद्धाः। षड्जादिस्वरास्तु सम्प्रदायाननुगतत्वान्निरर्थका एव, सामाजिकेष्वपि वादित्रवादनपूर्वकशुद्धस्वरसम्प्रदायाभावात्।

यदपि—'वेदेष्वग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां क्रमेण पाठः किमर्थः कृतोऽस्तीति प्रश्नस्योत्तररूपेण पूर्वापरविद्याविज्ञापनार्थं विद्यासङ्ग्यनुषङ्गिप्रतिविद्यानुषङ्गिबोधार्थं च' (पृ० ३९१) इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्, अग्निवायुविद्ययोः किंमूलकः क्रम इत्यस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्। दयानन्दीये भाष्ये सर्वथा सङ्गत्यभावः। यथोन्मत्तः कदाचित्किञ्चिदन्यदाऽन्यदसङ्गतमेव ब्रवीति, तथैव केनचिन्मन्त्रेण राजोपदेशः क्वचित्सेनापतिमन्त्र्यादिसन्देशो दृश्यते।

यदपि—'तद्यथाऽग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्ग्रहणं भवति। यथाऽनेनेश्वरस्य ज्ञानव्यापकत्वादयो गुणा विज्ञातव्या भवन्ति। यथेश्वररचितस्य भौतिकस्याग्नेः शिल्पविद्याया मुख्यहेतुत्वात् प्रथमं गृह्यते, तथेश्वरस्य सर्वाधारकत्वानन्त-

करते हैं या व्याख्यान। पहला अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। समाख्या के आधार पर ही अध्यापन परम्परा निश्चित होती है। सभी ऋषियों के नामों के साथ ऐसी परम्परा नहीं जुड़ी हुई है। व्याख्यान भी इसका अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। 'ऋषिर्दर्शनात्' इस वाक्य के आधार पर मन्त्र का द्रष्टा ही ऋषि माना जाता है, अध्यापक या व्याख्याता नहीं। किस मन्त्र का द्रष्टा कौन ऋषि है, इसका ज्ञान बृहद्देवता, अनुक्रमणी प्रभृति ग्रन्थों से परम्परा के अनुसार ज्ञात होता है। इसको जानने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसी तरह से 'जिस जिस मन्त्र का जो जो अर्थ है, वह अर्थ ही उस मन्त्र का देवता अभिप्राय को जानने के लिये मान लिया जाता है, इसीलिये देवता का उल्लेख किया जाता है' (पृ० ३८९) यह कथन भी असंगत है, क्योंकि इस तरह से तो अर्थ की अनन्तता के आधार पर अनन्त देवता मानने पड़ जायँगे। इसलिये उस मन्त्र के द्वारा जिसका प्रतिपादन होता हो, वही उस मन्त्र का देवता माना जाना चाहिये और इसको जानने के लिये श्रुति, सूत्र, वृहद्देवता, अनुक्रमणी आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये। छन्द का ज्ञान भी छन्दःशास्त्र के नियम के अनुसार ही किया जाना चाहिये। उदात्त प्रभृति स्वरों का ज्ञान सम्प्रदाय परम्परा से ही जाना जा सकता है। षड्ज प्रभृति संगीत के स्वर सम्प्रदाय परम्परा से प्रचलित नहीं हैं, अतः वेदपाठ के लिये वे निरर्थक हैं। आर्यसमाजियों में भी इन स्वरों की कोई शुद्ध परम्परा नहीं है, जिसकी कि वाद्य आदि के साथ संगति बैठती हो।

'वेदों में क्रमवार अग्नि, वायु, इन्द्र, सरस्वती आदि शब्दों का प्रयोग किसलिये किया है ?' इस प्रश्न के उत्तर में स्वामी दयानन्द ने लिखा है—'पूर्वापर दिशाओं को जानने के लिये, अर्थात् जिस जिस विद्या में जो जो मुख्य और गौण हेतु हैं, उनके प्रकाश के लिये ईश्वर ने अग्नि आदि शब्दों का प्रयोग पूर्वापर सम्बन्ध से किया है' (पृ० ३९१), किन्तु यह कथन भी एकदम निराधार है। अग्नि, वायु प्रभृति दिशाओं के क्रम का आधार बतलाना बड़ा कठिन है। दयानन्द के भाष्य में किसी तरह की संगति देखने को नहीं मिलती। जैसे कोई पागल आदमी जो जब मन में आता है, बकता रहता है, उसी तरह से स्वामी दयानन्द भी मन्त्रों का मनमाना अर्थ करते रहते हैं। किसी मन्त्र से वे राजा के लिये उपदेश निकालते हैं और कहीं सेनापति, मन्त्री आदि को सन्देश सुनाते दिखाई पड़ते हैं।

आगे वे लिखते हैं—'अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक आदि कितने ही अर्थों का ग्रहण होता है, इस प्रयोजन से कि उसका अनन्त ज्ञान अर्थात् उसकी व्यापकता आदि गुणों का बोध मनुष्यों के यथावत् हो सके। फिर इसी अग्नि शब्द से

बलवत्त्वादिगुणा वायुशब्देन प्रकाश्यन्ते । यथा शिल्पविद्यायां भौतिकाग्नेः सहायकारित्वान्मूर्तद्रव्याधारकत्वाच्च तदनुषङ्गित्वाच्च भौतिकस्य वायोर्ग्रहणं कृतमस्ति, तथैव वाय्वादीनामाधारकत्वाद् ईश्वरस्यापीति' (पृ० ३९१) तदपि मन्दम्, अग्नेः शिल्पविद्याहेतुत्वस्य मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु सूत्रेषु च परमेश्वरस्य देवताविशेषस्य च संस्कृताहवनीयादीनामिव निर्देशाभावात्। ईश्वरस्य ज्ञानव्यापकत्वादयोऽपि मन्त्राणां भाक्ता एवार्था न शाक्ताः । अग्न्यादिशब्दानां प्रसिद्धेष्वग्न्यादिष्वेव शक्तिग्रहस्य प्राथम्यात् । यदपि 'शिल्पविद्यायामग्नेः सहायकारित्वेन वायोर्ग्रहणमुक्तम्' इति, तदपि न किञ्चित्, पार्थिवेङ्गालकाष्ठादीनां ततोऽप्यधिकसहायकारित्वेन तेषामेव वर्णनीयत्वापातात्, आग्नेयतैला(पेट्रोलादि)दिवर्णनस्य वेदेऽदर्शनेन न्यूनतादोषापाताच्च ।

यदपि—'यथेश्वरस्येन्द्रशब्देन परमैश्वर्यवत्तादिगुणा विदिता भवन्ति, तथा भौतिकेन वायुनाप्युत्तमैश्वर्यप्राप्तिर्मनुष्यैः क्रियते, एतदर्थमिन्द्रशब्दस्य ग्रहणात्' (पृ० ३९१) इत्याद्यपि बालभाषितम्, इन्द्रपदेनापि वायुग्रहणेनोभयोः पर्यायतापत्त्या पौनरुक्त्यापातात् । ऐन्द्रवायवीयमन्त्राणां निरालम्बनतापत्तेश्च । यदपि—'अश्विशब्देन शिल्पविद्यायां यानचालनादिविद्याव्यवहारे जलाग्निपृथ्वीप्रकाशादयो हेतवः प्रतिहेतवश्च सन्ति, तदर्थं वाय्वग्निग्रहणानन्तरमश्विशब्दप्रयोगो वेदेषु कृतोऽस्ति (पृ० ३९१) इति, तदपि वेदविरुद्धमेव, तथात्वेऽश्विशब्दस्य द्विवचनानुपपत्तेः । यत्तु—'सरस्वतीशब्देनेश्वरस्यानन्तविद्यावत्त्वशब्दार्थसम्बन्धरूपवेदोपदेष्टृत्वादिगुणा वेदेपु प्रकाशिता भवन्ति, वाग्व्यवहाराश्च' (पृ० ३९१) इति,

पृथिवी आदि भूतों के बीच में जो प्रत्यक्ष अग्नि तत्त्व है, वह शिल्पविद्या का मुख्य हेतु होने से उसका ग्रहण प्रथम ही किया है। तथा ईश्वर के सबको धारण करने और उसके अनन्त बल आदि गुणों का प्रकाश जानने के लिये वायु शब्द का ग्रहण किया है। शिल्पविद्या में अग्नि का राहस्यकारी और मूर्त द्रव्य का धारण करने वाला मुख्य वायु ही है, इसलिये प्रथम सूक्त में अग्नि का और दूसरे सूक्त में वायु का ग्रहण किया गया है' (पृ० ३९१-३९२), किन्तु यह कथन भी इसलिये विचारणीय है कि मन्त्र, ब्राह्मण, सूत्र ग्रन्थों में जैसे संस्कृत आवहनीय अग्नि का वर्णन मिलता है, उस तरह का वर्णन अग्नि के शिल्पविद्या में उपयोग का कहीं देखने को नहीं मिलता। इन मन्त्रों से ईश्वर के व्यापक ज्ञान का अर्थ गौण पद्धति से किया जा सकता है, शक्ति वृत्ति से नहीं। प्रथमतः अग्नि प्रभृति शब्द से मुख्य वृत्ति के आधार पर प्रसिद्ध अग्नि आदि अर्थ ही किया जा सकता। इसी तरह से शिल्पविद्या में अग्नि का प्रधान सहायक वायु है, इसलिये अग्नि के वाद वायु के ग्रहण की बात भी इसलिये गलत हो जायगी कि वायु की अपेक्षा पत्थर का कोयला जैसे पदार्थ अग्नि के अधिक सहायक होंगे। इनका तथा पेट्रोल जैसे अग्नि के अत्यन्त सहायक ज्वलनशील पदार्थों का वर्णन वेदों में न मिलने से आपकी दृष्टि के अनुसार तो वेद में न्यूनता दोष मानना पड़ जायगा।

आगे आप लिखते हैं—'ईश्वर के अनन्त गुण विदित होने और भौतिक वायु से योगाभ्यास करके विज्ञान और शिल्पविद्या से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति करने के लिये इन्द्र शब्द का ग्रहण तीसरे स्थान पर किया है, क्योंकि अग्नि और वायु की विद्या से मनुष्यों को अद्भुत अद्भुत कला-कौशल आदि बनाने की युक्ति ठीक ठीक जान पड़ती है' (पृ० ३९२), किन्तु यह कथन भी इसलिये सही नहीं है कि ऐसा मानने पर इन्द्र और वायु शब्द पर्यायवाची हो जायेंगे और इस तरह से मन्त्र में पुनरुक्ति दोष का प्रसंग आयेगा। साथ ही इन्द्र और वायु दोनों देवताओं से सम्बद्ध मन्त्र निराधार हो जायेंगे, यदि इनको आप स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते। इसी तरह से 'अश्वि शब्द का ग्रहण तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में इसलिये किया है कि उससे ईश्वर की अनन्त क्रियाशक्ति विदित हो, क्योंकि शिल्पविद्या में विमान आदि यान चलाने के लिये जल, अग्नि, पृथिवी और प्रकाश आदि पदार्थ ही मुख्य होते हैं, अर्थात् जिसने कलायन्त्र, विमान, नौका और रथ आदि यान होते हैं, वे सब पूर्वोक्त प्रकार से पृथिवी आदि पदार्थों से ही बनते हैं' (पृ० ३९२) यह कथन भी वेदविरुद्ध है, क्योंकि यदि ऐसा अर्थ अभिप्रेत होता, तो मन्त्रों में अश्वि शब्द के स्थान द्विवचन का प्रयोग अनावश्यक मानना पड़ जायगा। इसी प्रकार—'सरस्वती नाम परमेश्वर की अनन्त वाणी का है, जिससे कि उसकी अनन्त विद्या जानी जाती है, तथा जिससे उसने सब मनुष्यों के हित में अपनी अनन्त विद्या से भरे वेदों का उपदेश किया है। इसलिये तीसरे सूक्त और पाँचवे स्थान में सरस्वती शब्द का पाठ वेदों में किया है' (पृ० ३९२) यह कथन भी वेदों में नास्तिक चार्वाक मत को मान्यता देने के समान है, क्योंकि निराकार ईश्वर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को बताने में किसी प्रकार समर्थ नहीं हो सकता। साथ ही यह बात भी

तदपि वेदानां लोकायतीकरणमेव, निराकारस्य शब्दार्थसम्बन्धोपदेष्टृत्वासम्भवात्, वेदस्य शब्दार्थसम्बन्धरूपत्वाभावाच्च। वाग्व्यवहारसामान्येषु सरस्वतीपदप्रयोगादर्शनाच्च। अग्नीन्द्रवायुसरस्वत्यादिशब्दानाँ परमेश्वरमात्रवाचकत्वे पर्यायतापत्ति; तत्तन्नामभिः सूक्तभेदानुपपत्तिश्च। सिद्धान्ते तु ऋषिछन्दोदेवतादीनां निरूपणं कृतमेव।

यदपि—'वेदानामारम्भेऽग्निवाय्वादिशब्दप्रयोगैः प्रसिद्धिर्जायते (यत्) वेदेषु भौतिकपदार्थानामेव तत्तच्छब्दैर्ग्रहणं भवति, यत आरम्भे खल्वीश्वरशब्दप्रयोगो नैव कृतोऽस्ति' (पृ० ३९२) इति प्रश्नस्य प्रतिवचनत्वेनोक्तम्—'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' इति महाभाष्यकारेण लण्सूत्रव्याख्यानोक्तन्यायेन सर्वसन्देहनिवृत्तिर्भवतीति। कुतः ? वेदवेदाङ्गोपाङ्गब्राह्मणग्रन्थेष्वप्यग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्व्याख्यानस्य विद्यमानत्वात्। तथेश्वरशब्दप्रयोगेणापि व्याख्यानेन विना सर्वथा सन्देहनिवृत्तिर्न भवति। ईश्वरशब्देन परमात्मा गृह्यते. तथा सामर्थ्यवतो राज्ञः कस्यचिन्मनुष्यस्यापीश्वर इति नामास्ति। तयोर्मध्यात् कस्य ग्रहणं कर्तव्यमिति शङ्कायां व्याख्यानत एव सन्देहनिवृत्तिर्भवति। अत्रेश्वरनाम्ना परमात्मनो ग्रहणमत्र राजादिमनुष्यस्येति। एवमत्राप्यग्निनाम्नोभयार्थग्रहणे नैव कश्चिद्दोषो भवति। अन्यथा कोटिशः श्लोकैः सहस्रैर्ग्रन्थैरपि विद्यालेखपूर्तिरत्यन्तासम्भवास्ति। अतोऽन्यादिशब्दैः पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्विद्ययोर्ग्रहणं स्वल्पाक्षरैः स्वल्पग्रन्थैश्च भवतीति मत्वेश्वरेणाग्न्यादिशब्दप्रयोगाः कृताः। यतोऽल्पकालेन पठनपाठनव्यवहारेणाल्पपरिश्रमेणैव मनुष्याणां सर्वा विद्या विदिता भवेयुरिति। परमकारुणिकः परमेश्वरः सुगमशब्दैः सर्वविद्योद्देशानुपदिष्टवानिति विज्ञेयम्। तथा च येऽन्यादयः शब्दार्थाः संसारे प्रसिद्धाः सन्त्येतैः सर्वैरीश्वरप्रकाशः क्रियते। कुतः ? ईश्वरो-

ध्यान देने की है कि वेद केवल शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को बता कर ही कृतार्थ नहीं हो जाता। सामान्य बोलचाल की भाषा के लिये सरस्वती शब्द का प्रयोग होता भी नहीं। अग्नि, इन्द्र, वायु, सरस्वती प्रभृति शब्द यदि केवल परमेश्वर के ही वाचक माने जायँगे, तो ये सब परस्पर पर्यायवाची शब्द हो जायँगे और तब उस उस नाम के आधार पर सूक्तों में परस्पर भेद किस प्रकार किया जा सकेगा। हमारे मत के अनुसार ऋषि, छन्द, देवता प्रभृति का स्वरूप पहले ही बताया जा चुका है। तदनुसार इन सारे दोषों की निवृत्ति हो जाती है और पृथक् पृथक् देवताओं के सूक्तों की व्यवस्था मानी जाती है।

इसके आगे स्वामी दयानन्द जी ने—'वेद के आरम्भ में अग्नि, वायु आदि शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जगत् में जिन पदार्थों का नाम अग्नि आदि प्रसिद्ध है, उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये और इसीलिये लोगों ने उन शब्दों से संसार के अग्नि आदि पदार्थों को मान भी लिया है। नहीं तो उचित था कि जो जो शब्द जहां जहां होना चाहिये था, वहां वहां उसी का ग्रहण करते कि जिससे कभी किसी को भ्रम नहीं होता। अथवा आरंभ में उन शब्दों की जगह ईश्वर परमेश्वर आदि शब्दों का ही ग्रहण करना था ?' इस तरह के प्रश्न को उपस्थित कर उसका समाधान इस तरह से प्रस्तुत किया है—'यों तो ऐसा करने से भी भ्रम हो सकता है, परन्तु जब व्याख्यानों के द्वारा मन्त्रों के पद का अर्थ खोल दिया गया है, तब उनके देखने से सन्देह आपसे आप ही निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि शिक्षा आदि अंग वेद मन्त्रों के पद पद का अर्थ ऐसी रीति से खोलते हैं कि जिससे वैदिक शब्दार्थों में किसी प्रकार का सन्देह शेष नहीं रह सकता। और जो कदाचित् ईश्वर शब्द का प्रयोग करते तो भी बिना व्याख्यान के सन्देह की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर नाम उत्तम सामर्थ्यवाले राजा आदि मनुष्यों का भी हो सकता है और किसी किसी की ईश्वर संज्ञा ही होती है। तथा जो सब ठिकाने एकार्थवाची शब्दों का ही प्रयोग करते, तो भी अनेक कोटि श्लोक और हजारों ग्रन्थ वेदों के बन जाने की संभावना थी। परन्तु विद्या का पारावार फिर भी नहीं आता और न उनको मनुष्य लोग कभी पढ़-पढ़ा सकते। इस प्रयोजन अर्थात् सुगमता के लिये ईश्वर ने अग्नि आदि शब्दों का प्रयोग करके व्यवहार और परमार्थ इन दोनों बातों को सिद्ध करने वाली विद्याओं का प्रकाश किया है, जिससे कि मनुष्य लोग थोड़े ही काल में मूल विद्याओं को जान लें। इसी मुख्य हेतु से सबके सुखार्थ परम करुणामय परमेश्वर ने अग्नि आदि सुगम शब्दों के अर्थ जो संसार में प्रसिद्ध हैं, उनसे भी ईश्वर का ग्रहण होता है, क्योंकि ये सब दृष्टान्त परमेश्वर के ही जानने और जनाने के लिये हैं' (पृ० ३९३), किन्तु यह सारा कथन भी व्यर्थ की बकवास है, किसी प्रमाण से इसका आप समर्थन नहीं कर सकते। वेद, वेदांग, उपांग, ब्राह्मण प्रभृति संपूर्ण ग्रंथों को आप समान रूप से प्रमाण कोटि में नहीं मानते। आपकी बुद्धि की

ऽस्तीति सर्वे दृष्टान्ता ज्ञापयन्तीति बोध्यम्' (पृ० ३९२–३९३) इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, अनुपपत्तेः। वेदवेदाङ्गोपाङ्गब्राह्मणादिग्रन्थेषु तु तव प्रामाण्यबुद्धिरेव नास्ति। त्वदीयबुद्धिवैपरीत्येन त्वदभिमतसंहिताचतुष्टयातिरिक्तानां समेषां मन्त्रब्राह्मणात्मकानां वेदानामपि त्वया प्रामाण्यानभ्युपगमात्। किञ्च, मन्त्रब्राह्मणसूत्रादिभिश्चाग्निवाय्वादिशब्दा देवताविशेषपरा विज्ञायन्ते, तथापि त्वया तन्नोपेयते। लण्सूत्रे तु 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (पा० सू० १।१।६९) इति सूत्रं विहायान्यत्र पूर्वेणाण्ग्रहणं परेणेण्ग्रहणं कर्तव्यमिति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्युक्ता।

केनोपनिषदि 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' इत्यादिप्रघट्टके ब्रह्मरूपस्य महद्यक्षस्य समक्षेऽग्निवाय्विन्द्रादयो हतप्रभा जाताः। अग्निस्तृणमपि दग्धुं न शशाक, वायुश्च तृणमादातुमसमर्थ आसीत्। तत्राग्निवायुशब्दो नेश्वरपरौ न वा भौतिकाग्निवायुपरौ, अल्पशक्तित्वादव्यवहर्तृत्वाच्च। तस्माद्यथा मृद्विकारा घटादयः परिच्छिन्नत्वादिना मृदो भिन्ना अपि मृत्प्रकृतिकत्वान्मृद्रूपा अपि, तथैव विशिष्टैश्वर्यवत्त्वेन चेतनावन्तोऽग्न्यादयो देवताः सीमितैश्वर्यवत्त्वेनेश्वराद्भिन्ना अपि तत्प्रकृतिकत्वाद् ईश्वररूपा अपि। तदभिप्रायेणैव—'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि···एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' इत्यादिमन्त्रैरिन्द्रादिनामभिरपि परमेश्वरस्यैव व्यपदेशोऽङ्गीकृतः। निरुपपदमीश्वरपदं तु सङ्कोचकाभावान्निरतिशयैश्वर्यवदीश्वरपरमेव, 'राजा' पदं तु गौण्यैव वृत्त्या। किञ्च, सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयतीति रीत्या नैकस्य शब्दस्यानेकार्थता युक्ता। आवृत्त्यादिना समाधानं तु गौरवपराहतम्। अत एवार्थैकत्वादेकवाक्यतेत्यर्थभेदो वाक्यभेदप्रयोजको भवति। वाक्यभेदश्च मीमांसादृष्ट्या दूषणमेव। अत एव 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति तृतीयाश्रुत्या लैङ्गिकविनियोगबाधोऽपि सङ्गच्छते। उभयार्थतायां

बलिहारी के कारण ही आपने जिन चार संहिताओं को वेद की कोटि में रक्खा है, उसके अतिरिक्त वेद की सभी अन्य संहिताएँ और ब्राह्मण ग्रन्थ आपकी दृष्टि में प्रामाणिक नहीं हैं। मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों में अग्नि, वायु प्रभृति शब्द देवताविशेष के वाचक माने जाते हैं, इस बात को भी आप नहीं मानते। पाणिनि के लण् सूत्र में तो यह ठीक ही है कि 'अणुदित्०' इस सूत्र को छोड़कर अन्य सूत्रों में भाष्यकार के व्याख्यान के आधार पर पहले णकारसे अण् प्रत्याहार का और बाद के णकार से इण् प्रत्याहार का ग्रहण किया जाय, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह न्याय नहीं लागू हो सकता।

केनोपनिषद् के 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' इस प्रघट्टक में ब्रह्मरूप महान् यक्ष के सामने अग्नि, वायु, इन्द्र प्रभृति सभी देवगण हतप्रभ होते देखे गये हैं। अग्नि एक तिनका भी न जला सका और न वायु ही उस तिनके को उड़ा सका। यहाँ अग्नि और वायु शब्द ईश्वर के वाचक नहीं माने जा सकते और न भौतिक अग्नि और वायु के ही ये वाचक हो सकते हैं, क्योंकि इनकी शक्ति ससीम होती है। इसलिये जैसे मिट्टी से भिन्न होते हुए घट प्रभृति पदार्थ अपनी आकृति आदि के कारण सभी मिट्टी के ही विकार माने जाते हैं। उसी तरह से विशिष्ट ऐश्वर्य के कारण अग्नि प्रभृति चेतन देवता होते हुए भी अपने ऐश्वर्य की सीमित स्थिति के कारण ईश्वर से भिन्न होते हुए भी ईश्वर के ही प्रसाद से उस ऐश्वर्य के अधिकारी होने से ईश्वर के ही स्वरूप माने जाते हैं। इसी अभिप्राय से 'इन्द्रं मित्रं वरुणं', 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' प्रभृति मन्त्र इन्द्र आदि नाम से भी परमेश्वर का बोध कराते हैं। केवल ईश्वर शब्द निरतिशय ऐश्वर्य संपन्न परमात्मा के अर्थ में ही मुख्यतया व्यवहृत होता है, राजा के अर्थ में इसका प्रयोग गौणी वृत्ति के आधार पर किया जाता है। एक बार उच्चारित शब्द एक ही अर्थ का बोध कराता है, इस विषय के अनुसार एक शब्द अनेक अर्थों का एक साथ बोध नहीं करा सकता। शब्द की आवृत्ति करके अनेक अर्थों का बोध कराने में गौरव दोष आयेगा। इसीलिये अर्थ की एकता के आधार पर ही वाक्य की एकता मानी जाती है और अर्थ का भेद होने पर वाक्य भी भिन्न माना जाता है। वाक्य का भेद मीमांसकों की दृष्टि से दूषण माना जाता है। इसीलिये 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस वाक्य में तृतीया श्रुति लिंग प्रमाण के आधार पर उपस्थित विनियोग का बाध कर लेती है, यदि दोनों ही अर्थ वाक्य भेद के आधार पर स्वीकार्य होते, तो ऐसी परिस्थिति में बाध का प्रसंग कहाँ उठ सकता था। पारमार्थिक और व्यावहारिक अर्थभेद की कल्पना भी निराधार है। ईश्वर भी जब सृष्टि प्रभृति का कर्ता है, कर्म उपासना और ज्ञानकाण्ड में बताई गई विधि से उसकी उपासना की जाती है, तब उसमें भी तो समान रूप से व्यावहारिकता विद्यमान है। लौकिक कार्यों को ही व्यवहार शब्द से नहीं जाना जाता, शास्त्रीय व्यवहार भी इसी शब्द से बोधित होते हैं। अद्वैत वेदान्ती केवल

तु क्व बाधावकाशः स्यात् ? किञ्च, पारमार्थिकव्यावहारिकभेदोऽपि निर्मूल एव। ईश्वरस्यापि सृष्ट्यादिकर्तृत्वेन कर्मोपासनज्ञानादिसमर्थनीयत्वेन च व्यावहारिकत्वाविशेषात्। नहि लौकिक एव व्यवहारो भवति, शास्त्रीयव्यवहाराणामपि व्यवहारपदव्यपदेश्यत्वात्। अद्वैतिवेदान्तिभिस्तु—प्रपञ्चातीतस्य ब्रह्मणोऽव्यवहार्यत्वेन पारमार्थिकत्वमुच्यते। न च त्वयापि तदिष्यते, अपसिद्धान्तापातात्। न चाग्न्यादिशब्दानां द्व्यर्थत्वेन ग्रन्थाल्पता सम्भवति, स्वातन्त्र्येणेश्वरबोधकशब्दानामपि वेदेषु विद्यमानत्वात्। न चेश्वराप्रतिपत्तावग्न्यादिशब्दैरीश्वरसिद्धिः सम्भवति, तथात्वे विप्रतिपत्त्यनापत्त्या नास्तिक्यानापातात्। ईश्वरप्रतिपत्तौ सत्यामेवाग्न्यादयो दृष्टान्तास्तत्र सम्भवन्ति न तदप्रतिपत्तौ, हेतुसाध्यव्याप्त्यभावेन दृष्टान्तमात्रस्य नैरर्थक्यात्। न केवलमग्न्यादिशब्दैरेवेश्वरो न सिद्ध्यति, किन्त्वन्यपर्यवसायिभिरीश्वरवादिभिरपि वेदवाक्यैरीश्वरो न सिद्ध्यति, प्रत्यक्षादिविरोधेऽन्यपरवाक्यानां तदसाधकत्वात्। अत एवेश्वरवादिभिरप्यनन्यशेषैस्तात्पर्यवद्भिरेव वेदवाक्यैरीश्वरः साध्यते। तदनन्तरमेव सर्वेषां वेदानामवान्तरेषु तेषु तेषु स्वप्रतिपाद्यविषयेषु सत्स्वपि महातात्पर्यं परमात्मन्येव सिद्ध्यति। तदनवगतौ तु जरन्मीमांसका वेदपरायणा अपि नेश्वरमवगन्तुं प्रभवन्ति।

वैदिकप्रयोगविषयविचारः

यदपि—'तास्त्रिविधा ऋचः' इत्यादिनिरुक्तवाक्यमुद्धृत्योक्तम्—अयं नियमो वेदेषु सर्वत्र सङ्गच्छते। तद्यथा—मन्त्रास्त्रिविधानामर्थानां वाचका भवन्ति। केचित्परोक्षाणां केचित्प्रत्यक्षाणां केचिदध्यात्मं वक्तुमर्हाः। तत्राद्येषु प्रथमपुरुषस्य प्रयोगा भवन्ति, अपरेषु मध्मस्य, तृतीयेषूत्तमस्य। तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगार्थौ द्वौ भेदौ स्तः। यत्रार्थाः प्रत्यक्षाः सन्ति तत्र मध्यमपुरुषयोगा भवन्ति, यत्र च स्तोतव्या अर्थाः परोक्षाः स्तोतारश्च खलु प्रत्यक्षास्तत्रापि मध्यमपुरुषप्रयोगो भवति। अस्यायमभिप्रायः—व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति। जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमो-

प्रपंचातीत ब्रह्म को ही सभी प्रकार के व्यवहार से अतीत होने से पारमार्थिक सत्ता वाला मानते हैं। आप तो इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि यह बात आपके सिद्धान्त के विपरीत है। अग्नि शब्द के दो अर्थ होने मात्र से ग्रन्थ के आकार में लघुता आने की बात भी समझ में नहीं आती, जब कि स्वतन्त्र रूप से ईश्वर के बोधक अनेक शब्द वेद में विद्यमान हैं। जो लोग ईश्वर को नहीं मानते, उनको अग्नि प्रभृति शब्दों की सहायता से ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा हो जाय तो फिर ईश्वर विषयक सन्देह ही जब निवृत्त हो जायगा तो कोई नास्तिक कैसे रह सकता है। ईश्वर को स्वीकार कर लेने पर ही अग्नि प्रभृति के दृष्टान्त से उसको समझा जा सकता है, इसके अभाव में नहीं। जब तक हेतु और साध्य की व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता, तब तक कोरा दृष्टान्त किसी बात को सिद्ध नहीं कर सकता। केवल अग्नि प्रभृति शब्दों से ही ईश्वर की सिद्धि नहीं होती, किन्तु अन्य किसी अर्थ में पर्यवसित होने वाले ईश्वरवादी वेदवाक्य भी ईश्वर को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रभृति प्रमाणों का विरोध हो जाने पर अन्यपरक वाक्य इस तरह के अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो पाते। इसीलिये ईश्वरवादी दार्शनिक पहले किसी दूसरे अर्थ को न बोधन करने वाले किसी न किसी तात्पर्य से समन्वित वेद वाक्यों से ही ईश्वर को सिद्ध करते हैं और उसके बाद सभी वेद वाक्यों का उन उन अवान्तर प्रतिपाद्य विषयों के रहते हुए भी महातात्पर्य (अन्तिम अभिप्राय) परमात्मपरक ही मानते हैं। ऐसा न मानने के कारण ही प्राचीन मीमांसक वेदों को प्रमाण मानते हुए भी ईश्वर को स्वीकार नहीं करते।

वैदिक प्रयोग विषयक विचार

इस प्रकरण में स्वामी दयानन्द 'तास्त्रिविधा ऋचः' इस निरुक्त वचन को उद्धत कर लिखते हैं—'वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं ? कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थो को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थों को और कोई अध्यात्म अर्थात् ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्मा को। उसमें परोक्ष अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में प्रथम पुरुष, अर्थात् अपने और दूसरे के कहने वाले जो 'सो' और 'वह' आदि शब्द हैं, तथा उनकी क्रियाओं के अस्ति, भवति, करोति, पचति इत्यादि का प्रयोग होता है। एवं प्रत्यक्ष अर्थ के कहने वालों में मध्यम पुरुष 'तू' 'तुम' आदि शब्द और उनकी क्रिया के असि, भवसि, करोषि, पचसि इत्यादि प्रयोग हैं, तथा अध्यात्म अर्थ

त्तमौ, अयं सार्वत्रिको नियमः। परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगा भवन्ति। तत्रेदं बोध्यम्—जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव प्रयोजनमिति। इमं नियममबुध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयानुवादकारैर्यूरोपदेशनिवासिभिर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः' (पृ० ३९४) इति, तदेतन्मूर्खजनप्रतारणमेव, त्वदुक्तार्थस्य निर्मूलत्वात्। मध्यमपुरुषप्रयोगार्थौ द्वौ भेदौ इत्यादिप्रयोगाणां शुद्धिस्तु चिन्त्यैव। वस्तुतस्तु सम्बोद्ध्यत्वविशिष्टचेतनेषु युष्मत्पदप्रयोगो भवति, अहङ्कारविशिष्टचेतनेऽस्मत्शब्दप्रयोगो भवति। जडेषु तु चेतनदेवताभिप्रायेणैव युष्मत्पदप्रयोगो भवति। यथा चैतत्तथा—'अभिमानिव्यपदेशस्तु' (ब्र० सू० २।१।५) इति निर्देशादिभिरुक्तमेव। 'जडपदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षणकरणमात्रमेव' इति वाक्यस्य प्रकृते किं प्रयोजनम्। कथं च तावता तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगः समर्थ्यते ? इति तु स एव विजानातु। पूर्वोक्तनिरुक्तप्रघट्टकेन तु मनागप्यस्यार्थस्य न सम्बन्धः।

अथ निरुक्तवचनं तदर्थश्च प्रस्तूयते—'तास्त्रिविधा ऋचः, परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च। तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य।' (नि० ७।१), 'अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना……अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि। अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना' (नि० ७२)। अत्र विच्छिद्य वचनान्युद्धृतानि, तदुदाहरणानि च नोद्धृतानि। तत एव स्वाच्छन्द्येन निरुक्तनाम व्यपदिश्यासङ्गतः सिद्धान्त उपस्थापितः। तदर्थास्त्वेवं विभज्य ज्ञातव्याः—ता ऋचस्त्रिविधा

के कहने वाले मन्त्रों में उत्तम पुरुष मैं, हम आदि शब्द और उनकी अस्मि, भवामि, करोमि, पचामि इत्यादि क्रियाएं आती हैं। तथा जहाँ स्तुति करने के योग्य परोक्ष और स्तुति करने वाले प्रत्यक्ष हों, वहाँ भी मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है। यहाँ यह अभिप्राय समझना चाहिये कि व्याकरण की रीति से प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष अपनी अपनी जगह होते हैं। अर्थात् जड़ पदार्थों में प्रथम ही, चेतन में मध्यम या उत्तम ही होते हैं। यह तो वेद और लोक के शब्दों में साधारण नियम है। परन्तु वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों, तो वहाँ निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है और इससे यह भी जानना आवश्यक है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष करा के केवल उनसे अनेक उपकार लेना जनाया है, दूसरा प्रयोजन नहीं है। परन्तु इस नियम को न जानकर सायणाचार्य आदि वेदों के भाष्यकारों तथा उन्हीं के बताये हुए भाष्यों के अवलम्ब से यूरोप देशवासी विद्वानों ने भी, जो वेदों के अर्थों को अन्यथा कर दिया है, सो यह उनकी भूल है। इसी से वे ऐसा लिखते हैं कि वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा पाई जाती है, जिसका कि कहीं चिह्न भी नहीं है' (पृ० ३९४-३९५)। वस्तुतः ये सब बातें ठगविद्या की हैं, क्योंकि उनका यह सारा कथन विना प्रमाण का है। 'मध्यमपुरुषप्रयोगार्थौ द्वौ भेदौ' इस तरह के वाक्य व्याकरण की दृष्टि से कैसे शुद्ध माने जा सकते हैं ? वास्तविक स्थिति यह है कि जब चेतन पदार्थ को सम्बोधित करना रहता है, तब मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है और अहङ्कार से विशिष्ट चेतन में उत्तम पुरुष का। जड़ पदार्थों में मध्यम पुरुष का प्रयोग चेतनदेवता के अभिप्राय से किया जाता है। इस विषय पर विस्तृत विचार 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' इस वेदान्त सूत्र का प्रमाण देकर पहले ही किया जा चुका है। जड़ पदार्थों का प्रत्यक्ष कराकर उनसे उपकार लेने का यहाँ क्या प्रयोजन हो सकता है और इसके आधार पर मध्यम पुरुष के प्रयोग का समर्थन कैसे किया जा सकता है ? इस बात को तो वे ही बता सकते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में उद्धृत निरुक्त के इस प्रघट्टक का तो उनकी इस बात से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

निरुक्त के इस प्रघट्टक का वास्तविक अभिप्राय लिखने से पहले यह बता देना आवश्यक है कि स्वामी दयानन्द ने निरुक्त के पूरे प्रघट्टक को उसी रूप में उद्धृत न करके उसके कुछ वचनों को छोड़कर उक्त वाक्यावली बनाई है। साथ ही उदाहरण वाक्यों को पूरी तरह से छोड़ दिया है। इस तरह से मनमाने तरीके से निरुक्त के वाक्यों का उपयोग कर वे निरुक्त के नाम से अपने गलत सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। इतनी सूचना देने के बाद अब इस निरुक्त के वाक्यों का अलग अलग अर्थ प्रस्तुत करते हैं—मन्त्र तीन प्रकार के होते हैं। इनमें से कुछ परोक्षकृत, कुछ प्रत्यक्षकृत और कुछ आध्यात्मिक अर्थ को बताते हैं। इस वाक्य का यह अभिप्राय किसी भी तरह से नहीं निकाला जा सकता कि सभी मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं। ऐसा हो भी नहीं सकता, क्योंकि

भवन्ति। तासु काश्चित् परोक्षकृताः काश्चित्प्रत्यक्षकृताः काश्चित्तु आध्यात्मिक्यः। नह्यत्र सर्वा ऋचस्त्रिविधार्थका भवन्तीत्यर्थः सम्भवति। नहि सर्वासु प्रत्यक्षकृतत्वपरोक्षकृतत्वादिकं सम्भवति, परस्परविरुद्धत्वात्। अत एव तेषां लक्षणानि पृथगेवोक्तानि। तत्र परोक्षकृतामृचां लक्षणमुच्यते—याः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य ताः परोक्षकृताः। तदुदाहरणानि चोच्यन्ते—तत्र प्रथमाविभक्तावुदाहरणम्—तत्र इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेऽधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः' (ऋ० सं० १०।८९।१०) रेणोर्वैश्वामित्रस्येयमार्षं सूर्यस्तुत्येकाहे निष्कैवल्ये विनियुक्ता' (आ० श्रौ० सू० ९८)। इन्द्रो दिव ईशे ईष्टे, इन्द्र एव पृथिव्या ईष्टे, इन्द्र एवापामीष्टे वर्षकर्मादिना, इन्द्र एव पर्वतानां मेघानामीष्टे, इन्द्र एव वृधाम् अतिप्रवृद्धानां भूतानामपोष्टे, इन्द्र एव मेऽधिराणां यज्ञैस्तद्वतामीष्टे, इन्द्र एव हि योगे अर्थसंयोगे प्राप्तव्ये क्षेमे च परिपालने कर्तव्ये आह्वातव्यः, नान्यः कश्चित् समर्थ एतत्सर्वं कर्तुमित्यर्थः। तदेतत् प्रथमाया उदाहरणम्। इन्द्र इत्येतस्मादुपपदात् ईश इत्येष प्रथमपुरुषो नोत्तमपुरुषः।

'इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत ॥' (ऋ० सं० १।७।१)। 'मधुच्छन्दस आर्षं महाव्रते महदुक्थे शिरसि शस्यते' (ऐ० आ० ५।२।१)। गाथिनः सामगा इन्द्रमेव यूयं बृहता साम्नाभिष्टुत। हे होतारो यूयमपि अर्किणः अर्केभिरृङ्मयैर्मन्त्रैरिन्द्रमेवाभिष्टुत। हे अध्वर्यवः! यूयमपि इन्द्रमेव वाणीभिः वाग्भिर्यजुर्मयीभिः अनूषत अभिष्टुत–इति द्वितीयाया उदाहरणम्। 'इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणा आपो न सृष्टा अधवन्त नोचीः। दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमाना जहुर्विश्वानि भोजना सुदासे ॥' (ऋ० सं० ७।१८।१५) इन्द्रेणैते तृत्सवो दारयितव्या मेघा वेविषाणाः पुनः पुनर्व्याप्यमाना आप इव केनचित्सृष्टा नीचीः नीचैः अधवन्त अगच्छन्। उच्चैर्गतय एते सन्ति, इन्द्रबलादेषां नीचैर्गतयः सम्पन्नाः। किञ्च, दुर्मित्रासः सुमित्रा अपि सन्तो ये अतिसन्धानपरास्ते दुर्मित्राः के ते प्रकलविदः वणिज इत्यर्थः। ते यत्राऽभिद्रोहवशात् किञ्चिद् द्रव्यमल्पमेव ददत्येवमेते मेघाः पूर्वमल्पोदकदातारो भूत्वा इन्द्रेण विश्वानि सर्वाणि भोजनानि उदकानि सुदासे

परोक्षकृत और प्रत्यक्षकृत अर्थ परस्पर विरोधी हैं, उनकी एक साथ स्थिति कैसे रह सकती है। इसीलिये निरुक्तकार ने इन तीनों के अलग अलग लक्षण बताये हैं। उनमें परोक्षकृत का लक्षण यह किया गया है कि जिनमें सभी नाम और विभक्तियों में साथ प्रथम पुरुष की क्रिया सम्बद्ध हो, वे मन्त्र परोक्षकृत कहलाते हैं। प्रथमा विभक्ति के उदाहरण के रूप में वहाँ 'तत्र इन्द्रो वृधा०' यह मन्त्र दिया गया है। आश्वलायन श्रौतसूत्र के अनुसार इस मन्त्र के ऋषि विश्वामित्र गोत्र के रेणु हैं। सूर्य देवता की स्तुति इसमें की गई है और उसका विनियोग एकाह निष्कैवल्य सत्र में किया गया है। मन्त्र का अर्थ यह है कि इन्द्र ही आकाश का और पृथिवी का भी स्वामी है। इन्द्र जल का भी स्वामी है, क्योंकि वही वर्षा कराता है। इन्द्र ही पर्वत और बादलों का स्वामी है। यह इन्द्र ही अत्यन्त प्रभावशाली सभी प्राणियों का स्वामी है। इन्द्र ही मेरे जैसे यज्ञ करने वाले सभी प्राणियों का स्वामी है। इस इन्द्र को ही धन-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये और उसकी रक्षा के लिये पुकारना चाहिये। इन सब कार्यों को करने में इन्द्र के सिवाय दूसरा कोई व्यक्ति समर्थ नहीं हो सकता। इस मन्त्र में 'ईशे' यह प्रथम पुरुष का प्रयोग है, उत्तम पुरुष का नहीं। इस प्रकार यह मन्त्र प्रथमा विभक्ति के साथ प्रथम पुरुष का प्रयोग होने से परोक्षकृत श्रुति का उदाहरण है।

'इन्द्रमिद्गाथिनो०' इस मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा है और महाव्रत के अवसर पर महदुक्थ के शीर्षभाग में इससे स्तुति की जाती है। हे सामगान करने वालों, आप लोग बृहत्साम से इन्द्र की ही स्तुति कीजिये। हे होता गण, आप लोग भी ऋङ्मन्त्रों से इन्द्र की ही स्तुति कीजिये। हे अध्वर्युगण, आप लोग भी यजुर्मयी वाणी से इन्द्र की ही स्तुति कीजिये। यह द्वितीया विभक्ति का उदाहरण है। 'इन्द्रेण एते०' यह तृतीया विभक्ति का उदाहरण है। इन्द्र इन तृत्सुओं का नाश कर उसी तरह नीचे गिरा देंगे, जैसे कि बार-बार आकाश में व्याप्त होने वाले बादलों का जल इन्द्र के वज्र के प्रहार से नीचे बरस जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्र के द्वारा पराजित किये गये तृत्सुगणों की आकाश में विचरण की शक्ति समाप्त हो गई है, अतः अब वे नीचे की ओर चले गये हैं। भले आदमी होते हुए भी अपने मन की मलिनता के कारण गिनती करने में प्रवीण वणिक् जन दुर्मित्र के नाम से जाने जाते हैं। बनिया जैसे कुटिलता के कारण अधिक द्रव्य नहीं दे पाता, उसी तरह से जब मेघ भी अधिक जल नहीं बरसाते, उस स्थिति में इन्द्र ही इनमें

राजनि यजमाने जहुः। अवयवप्रत्यवयवा हि कलाः प्रकलाशब्देनोच्यन्ते। तेषु वणिगेव कुशलो भवति, गणितकुशलत्वात्—इति तृतीयाया उदाहरणम्।

'इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥' (ऋ० सं० ८।९८।१) नृमेधस आर्षम्। सात्रिकेष्वहस्सु स्तोत्रियानुरूपवर्गं तृतीयसवने ब्राह्मणाच्छंसिनः शस्त्रे विनियुक्ता। हे उद्गातारः! इन्द्राय बृहत्साम गायत विप्राय मेधाविने बृहते महते धर्मकृते कृतधर्मणे विपश्चिते विदुषे पनस्यवे आत्मनः स्तुतिमिच्छते इति चतुर्थ्या उदाहरणम्। 'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन' (ऋ० सं० ९।६९।६)। इन्द्रादृते सोमः प्रातःसवनादीनां किञ्चिदपि न पवते प्रयते—इति पञ्चम्या उदाहरणम्। 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि' (ऋ० सं० १।३२।१) इन्द्रस्य वीर्याणि कर्माणि अहं प्रवोचम्—इति षष्ठ्या उदाहरणम्। 'इन्द्रे कामा अमंसत दिव्यासः' (ऋ० सं०) हे स्तोतारः, ये दिव्याः कामा ये च पार्थिवास्ते इन्द्रे उपनिबद्धा—इति सप्तम्या उदाहरणम्।

अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगाः, मध्यमेन पुरुषेण ये संयुक्तास्ते प्रत्यक्षकृताः। त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना संयुक्तास्ते च प्रत्यक्षकृताः। यत्र त्वमिति श्रूयते तत्राविद्यमानमपि मध्यपुरुषयुक्तमाख्यातमध्याहार्यम्। यत्र मध्यमपुरुषयुक्तमाख्यातं श्रूयते तत्राविद्यमानमपि त्वमित्येतत् सर्वनामाध्याहार्यम्, सम्बन्धितशब्दत्वादुभयोः। 'त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसस्त्वं वृषेन् वृषेदसि॥' (ऋ० सं० १०।१५३।२) हे इन्द्र, त्वं बलादधिजायसे सहसः अभिभवनसामर्थ्याद् ओजसः तेजसश्च। किञ्च, वृषन् वर्षितः, वृषासि वर्षितासि। इति त्वमिनियुक्तस्योदाहरणम्। 'वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः॥' (ऋ० सं० १०।१५२।४) हे इन्द्र, विजहि न एतान् मृधः मृधकर्तॄन् शत्रून्। किञ्च, नीचैः यच्छ तान् योऽस्माभिः सह पृतन्यति पृतनां कर्तुमिच्छति। योऽस्मां अभिदासति अभ्युपक्षयितुमिच्छति तम् अधरं गमय। तमो नाशयेति शेषः। इति मध्यपुरुषयुक्तमन्त्रोदाहरणम्।

वर्तमान सारे जल को अपने यजमान राजा के लिये बरसा देता है। कला के अवयव और उन अवयवों के भी प्रत्यवयव प्रकला के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी गिनती में बनिये ही कुशल होते हैं।

'इन्द्राय साम०' यह चतुर्थी विभक्ति का उदाहरण है। इस मन्त्र का ऋषि नृमेधा है। इस मन्त्र से स्तोत्रिय तृतीय सवन में ब्राह्मणाच्छंसी शस्त्र का गान करते हैं। हे सामगान करने वालों, आप लोग इन्द्र देवता की स्तुति में बृहत्साम का गान कीजिये। यह इन्द्र बड़ा मेधावी है। महान् धर्म का आचरण करने वाला है, बड़ा विद्वान् है और चाहता है कि मेरी कोई स्तुति करे। 'नेन्द्रादृते०' यह पंचमी विभक्ति का उदाहरण है। इन्द्र की सहायता के बिना सोम प्रातःसवन प्रभृति में कभी स्थान नहीं पा सकता। 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि०' यह षष्ठी विभक्ति का उदाहरण है। ऋषि कहता है कि मैं इन्द्र के बलशाली कार्यों का वर्णन करता हूँ। 'इन्द्रे कामा०' यह सप्तमी विभक्ति का उदाहरण है। इसमें बताया गया है कि हे स्तुति करने वालों, इन्द्र में उन सभी कामनाओं को पूरी करने की सामर्थ्य विद्यमान है, जो कि स्वर्गलोक और पृथ्वीलोक में प्राप्त हो सकती हैं। ये सब उन परोक्षकृत श्रुतियों के उदाहरण हैं, जिनमें कि प्रथम पुरुष की क्रिया आती है।

प्रत्यक्षकृत श्रुतियाँ वे कहलाती हैं, जिनमें कि मध्यम पुरुष की क्रिया आती है। साथ ही जिन श्रुतियों में त्वम् इस सर्वनाम का उल्लेख हो, वे भी प्रत्यक्षकृत कहलाती हैं। जहाँ 'त्वम्' इस सर्वनाम का उल्लेख हो, वहाँ मध्यम पुरुष की क्रिया के न रहने पर भी उसका अध्याहार कर लिया जाता है। इसी तरह से जहाँ मध्यम पुरुष की क्रिया हो वहाँ 'त्वम्' इस सर्वनाम की अविद्यमानता में भी उसका अध्याहार कर लेना चाहिये, क्योंकि ये दोनों परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। 'त्वमिन्द्र०' यह मन्त्र 'त्वम्' सर्वनाम से युक्त प्रत्यक्षकृत श्रुति का उदाहरण है। हे इन्द्र, तुम बल, ओज और सह इनमें विद्यमान सब को अभिभूत करने वाली सामर्थ्य के साथ पैदा होते हो और तुम ही सबकी कामनाओं को पूरा करने वाले हो। 'वि न इन्द्र०' यह मन्त्र मध्यम पुरुष की क्रिया से युक्त प्रत्यक्षकृत श्रुति का उदाहरण है। हे इन्द्र, तुम हमारे इन विघ्न उत्पन्न करने वाले शत्रुओं को मार डालो और जो हमारे साथ झगड़ा करना चाहता है, उसको तुम नीचे गिरा दो। जो हमें अभिभूत करना चाहता है, उसको तुम नीच योनि में गिरा दो, उसको अन्धकार में डाल दो।

अथापि क्वचित् प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति क्वचिद्युष्मत्प्रयोगैः स्तोतारः सम्बद्धयन्ते । तद्यथा—'मा चिदन्यद्विशंसत सखायो मा रिषण्यत । इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥' (ऋ० सं० ८।१।१) प्रगाथस्येयमार्षम्, बृहती तृचाशीतिषु विनियुक्ता । हे स्तोतारः सखायः, मान्यत् किञ्चिदपि देवतान्तरं शंसत विविधाभिः स्तुतिभिः । मा च रिषन्यत चेतसा मा गच्छतान्यद्देवतान्तरम् । किं तर्हि इन्द्रमेव वृषणं वर्षितारं स्तुत सचा सहभूता एतस्मिन् सुते सोमे मुहुर्मुहुश्च—हे होतारः उक्थानि शंसत । एवमाद्यासु युष्मद्गुणप्रयोगे सम्बद्धाः स्तोतारः स्तोतव्यानि यानि देवतान्तराणि तानि तानि परोक्षकृताभिसम्बन्धीनि ।

अथाध्यात्मिक्यः । उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना या युक्तास्ताश्चाध्यात्मिक्यः । पूर्ववदत्राप्युत्तमपुरुषप्रयोगेणाविद्यमानमप्यहमिति सर्वनामाध्याहर्तव्यम् । यत्राहमित्येतत्सर्वनाम श्रूयते । तत्राविद्यमानमप्युत्तमपुरुषसम्बद्धमाख्यातमध्याहर्तव्यम् । तस्याप्युदाहरणं तत्रैवोक्तम्—यथैतदिन्द्रो वैकुण्ठो लवसूक्तं वागाम्भृणीयमिति । तत्र ब्राह्मणप्रसिद्धमाख्यानमुद्दधार दुर्गाचार्यः—'विकुण्ठा नामासुरी बभूव । तस्याः किल तपसः प्रभावेणापत्यत्वमिन्द्र आजगाम वैकुण्ठो नाम बभूव । तस्यात्मस्तुतिप्रयुक्तमेवादिब्रह्म प्रादुरभूत् ।

'अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शश्वतः । मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥' (ऋ० सं० १०।४८।१) अहमेव वसुनो धनस्य पूर्व्यः प्रथमः पतिः । किञ्च, साम्प्रतमप्यहं पतिः अहमेव च शत्रुभ्यः साकाशात् समस्तानि धनानि जयामि शश्वतो नित्यकालमेव मामेव हवन्ते आह्वयन्ति पितरं न पितरमिव तासु तास्वार्तिषु जन्तवः । अहमेव दाशुषे हवींषि दत्तवते यजमानाय विभजामि यथायोग्यं भोजनं धनम् । 'इति वा इति मे मनो गामश्वं सनु-

कभी कभी श्रुतियों में स्तुति करने वालों को भी मध्यम पुरुष की क्रिया से सम्बद्ध देखा जाता है । यह भी प्रत्यक्षकृत श्रुति का ही उदाहरण माना जाता है । जैसे कि 'मा चिदन्य०' इस मन्त्र में है । इस बृहती छन्द के मन्त्र का ऋषि प्रगाथ है, तृचाशीति में यह विनियुक्त है । हे स्तुति करने वाले मित्रों, तुम लोग अन्य किसी देवता की स्तुति मत करो और अपने मन को भी किसी दूसरे देवता की ओर मत ले जाओ, किन्तु सभी कामनाओं को पूरा करने वाले मात्र इन्द्र की ही तुम लोग स्तुति करो । तुम लोग सब मिलकर हे होतृगण, इस सोम का सेवन करते समय बार बार इन्द्र सम्बन्धी उक्थ का ही स्तवन करो । इस तरह की श्रुतियों में युष्मत् शब्द के गौण प्रयोग से सम्बद्ध स्तोतृगण उन परोक्षकृत देवताओं को स्तुति करते हैं, जिनका कि उसमें उल्लेख रहता है । जैसे कि इस मन्त्र में इन्द्र का परोक्षकृत देवता के रूप में उल्लेख है ।

आध्यात्मिक श्रुतियाँ वे कहलाती हैं, जो कि उत्तम पुरुष की क्रिया और 'अहम्' इस सर्वनाम से सम्बद्ध हों । मध्यम पुरुष के समान उत्तम पुरुष की क्रिया वाली श्रुतियों में भी उत्तम पुरुष की क्रिया के प्रयोग के आधार पर अविद्यमान रहने पर भी 'अहम्' इस सर्वनाम का अध्याहार कर लिया जाता है और जहाँ केवल 'अहम्' यह सर्वनाम सुनाई पड़े, उस मन्त्र में भी इस सर्वनाम पद के आधार पर उत्तम पुरुष की क्रिया के न रहने पर भी उसका अध्याहार कर लेना चाहिये । निरुक्त में ही इसी स्थल पर वागाम्भृणीय सूक्त के मन्त्रों को उदाहरण के रूप में दिया गया है । इस वागाम्भृणीय सूक्त से सम्बद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रसिद्ध आख्यान को दुर्गाचार्य ने अपने भाष्य में इस तरह से उद्धृत किया है—कोई विकुण्ठा नाम की राक्षसी हुई थी । उसके तप के प्रभाव से इन्द्र को उसका पुत्र बनना पड़ा और वह वैकुण्ठ के नाम से प्रसिद्ध हुआ । उसकी अपनी स्तुति के रूप में ही आदि ब्रह्म का, प्रथम वाणी का प्रादुर्भाव हुआ ।

प्रथम मन्त्र यह है 'अहं भुवः' । इसका अर्थ इस प्रकार है—मैं ही धन का सब से पहला पति हूँ और इस समय भी सारा धन मेरे ही अधीन है । मैं ही शत्रुओं से सारा धन जीत कर लाता हूँ । अपने ऊपर आपत्ति आने पर सारे प्राणी अपने पिता के समान मेरी ही पुकार करते हैं । मैं ही हवि प्रदान करने वाले यजमान को उसका हिस्सा उचित रूप में बाँट कर देता हूँ । 'इति वा इति मे०' इस मन्त्र में लव कहता है कि मेरा मन इस तरह से सोच रहा है । किस तरह से सोच रहा है, उसी प्रकार को बताता है कि मैं अपने स्तोताओं को गाय, घोड़ा आदि बहुमूल्य वस्तुएँ दूँ, क्योंकि मैंने इनके द्वारा प्रदत्त सोम का अनेक बार पान किया है ।

यामिति। कुवित्सोमस्यापामिति॥' (ऋ० सं० १०।११९।१) लवो ब्रवीति—इति वै खलु इति एवं प्रकारेण मे मदीयं मनः वर्तते तं प्रकारं दर्शयति गामश्वं च सनुयां स्तोतृभ्यः प्रयच्छामि (षणु दाने)। इति शब्दो हेतौ। अस्मात्कुवित् बहुवारं सोमस्य सोमम् अपां पीतवानस्मि। क्रियाग्रहणम्। 'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥' (ऋ० सं० १०।१२५।१) वागेव ब्रवीति—अहं रुद्रैः वसुभिरादित्यैर्विश्वैश्च देवैः सहभूता चरामि अहमेव मित्रावरुणौ उभावपि इन्द्राग्नी अश्विनौ च बिभर्मि हविषा। मत्पूर्वकहविःसम्प्रदानं सर्वदेवताभ्य इत्यभिप्रायः। वागाम्भृणी नाम्नी ऋषिका जगत्कारणं यद् ब्रह्म तद्रूपा भवन्ती ब्रवीति। इत्थंभावे तृतीया। अहं रुद्रादितत्तदात्मना चरामि ब्रह्मीभूता अहमेव मित्रावरुणौ अश्विनौ बिभर्मि धारणामि। इन्द्राग्नी उभावपि धारयामि। सर्वं जगच्छुक्तौ रजतमिव मय्यध्यस्तम्, जगदाकारेण परिणममानाया मायाया अधिष्ठानात्वेनासङ्गस्यापि ब्रह्मणः सर्वोपादानत्वसम्भवात्।

स्वरव्यवस्थाविषयो विचारः

यदुक्तम्—'ते स्वरा द्विविधा उदात्तषड्जादिभेदात् सप्त सप्तैव सन्ति।···स्वयं राजन्ते इति स्वराः। आयामो दारुण्यम् अणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः, दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता, अणुता खस्य, कण्ठस्य संवृतता उच्चैःकराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता, मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य। त्रैस्वर्येणाधीमहे, त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे, कैश्चिदुदात्तगुणैः कैश्चिदनुदात्तगुणैः कैश्चिदुभयगुणैः। तद्यथा—शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते—कल्माष इति वा सारङ्ग

'अहं रुद्रेभि०' इस मन्त्र में स्वयं वाणी कहती है कि मैं रुद्र, वसु, आदित्य तथा अन्य सभी देवताओं के साथ विचरण करती हूँ। हवि के द्वारा मैं ही मित्र और वरुण, इन्द्र और अग्नि तथा दोनों अश्विनीकुमारों, इन सब युगल देवताओं का भरण-पोषण करती हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि मेरी सहायता से ही सब देवताओं के पास हवि पहुँच पाती है। वागाम्भृणी नाम की मन्त्र का दर्शन करने वाली स्त्री ऋषि (ऋषिका) इस सारे जगत् के कारण ब्रह्म को अपना ही स्वरूप मानती हुई कहती है। इस मन्त्र में इत्थंभाव में तृतीया है। वह कहती है कि रुद्र आदि के रूप में ब्रह्मस्वरूपिणी मैं ही सर्वत्र विचरण करती हूँ। मित्रावरुण, इन्द्राग्नि, अश्विनीकुमार प्रभृति युगल देवताओं का मैं ही पोषण करती हूँ। मेरे स्वरूप में यह सारा जगत् उसी तरह से मिथ्या प्रतीत होता है, जैसे कि सीप में रजत का भान होता है। सीप को रजत मानना जैसे गलत है, उसी तरह से ब्रह्म को जगत् मानना भी एक भ्रमपूर्ण धारणा है। चाँदी की तरह की चमक को देखकर जैसे सीप को आदमी चाँदी मान लेता है, उसी तरह से जगत् के रूप में परिणत हो रही माया के कारण, उसके अधिष्ठान के रूप में विद्यमान असंग ब्रह्म भी सारे जगत् का उपादान कारण बन जाता है। वस्तुतः यही उक्त निरुक्त वाक्यावली का अर्थ है। इतना लिखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस निरुक्त वाक्यावली में से अपने मतलब का अर्थ निकालने के लिये यद्यपि इसमें के बहुत वाक्यों को निकाल दिया है, किन्तु इतना करने के उपरान्त भी वे अपना अभीष्ट सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सके हैं।

स्वरव्यवस्था विषयक विचार

इस प्रकरण का आरम्भ करते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं—'अब वेदार्थ के उपयोग हेतु कुछ स्वरों की व्यवस्था कहते हैं, जो कि उदात्त और षड्ज आदि भेद से चौदह प्रकार के हैं। अर्थात् सात उदात्त आदि और सात षड्ज आदि। उनमें से उदात्त आदि के लक्षण जो कि महाभाष्यकार पतंजलि महामुनि जी ने दिखलाये हैं, उनको कहते हैं। आप ही अर्थात् जो कि बिना दूसरे की सहायता के स्वयं प्रकाशमान हैं, वे स्वर कहलाते हैं। अंगों को रोकना, वाणी को रूखा करना, अर्थात् ऊँचे स्वर से बोलना और कण्ठ को भी रोक देना, ये सब यत्न शब्द के उदात्त स्वर का विधान करने वाले होते हैं। अर्थात् उदात्त स्वर इन्हीं नियमों के अनुकूल बोला जाता है। गात्रों का विलापन, स्वर की कोमलता, कण्ठ को फैला देना, ये सब यत्न शब्द के अनुदात्त स्वर के सम्पादक हैं। हम सब लोग तीन प्रकार के स्वरों से बोलते हैं, अर्थात् कहीं उदात्त, कहीं अनुदात्त और उदात्तानुदात्त अर्थात् स्वरित गुण वाले

इति वा। एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति। त एते तन्त्रेतरनिर्देशे सप्त स्वरा भवन्ति। उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः। 'उच्चैरुदात्तः' इत्यादिसूत्रेषु महाभाष्ये (भू० ३९६)। तत्र महाभाष्यसम्मतत्वाद् विप्रतिपत्तिर्नास्ति।

यत्तु—'षड्जादयः सप्त—षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः' (पिङ्गलसूत्र ३।६४)। एषां लक्षण-व्यवस्था गान्धर्ववेदप्रसिद्धा ग्राह्या' (पृ० ३९७) इत्यादि, तत्तु प्रकृते निरुपयोग्येव। पूर्वं तु प्रश्नोत्तरविषये प्रोक्तम्—येन येन स्वरेण वादित्रपूर्वकं गानं कर्तुं योग्यमस्ति तदर्थं षड्जादिस्वरोल्लेखनं कृतमस्तीति, तदपि कषायायितम्, तद्रीत्या षड्जादीनामपि लक्षणस्य वक्तव्यत्वात्। किञ्च, केन प्रमाणेनैतत् सिद्धयति? मन्त्राणामुदात्तादयः स्वरास्तु गुरुपारम्पर्येण स्वर-वैदिकीप्रक्रिययाऽवगन्तुं शक्यन्ते, षड्जादयस्तु कथं केन प्रकारेण ज्ञायन्ते? कस्य मन्त्रस्य को वा स्वर इति? किञ्च, कथञ्चित् स्वरज्ञानेऽपि कथं गानं सम्भवति? न ह्येकस्य मन्त्रस्यानेके स्वराः सम्भवन्ति? न ह्येकेन स्वरेण गानं सम्भवति, तत्रारोहावरोहभेदस्यानिवार्यत्वात्।

वस्तुतस्तु गायत्र्यादिसप्तच्छन्दसां क्रमेणैव षड्जादयो निर्धार्यन्ते। यथोक्तं पिङ्गलछन्दःसूत्रे—'स्वराः षड्जाः। षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः।' (पि० छ० सू० ३।६४)। स्वरा गायत्र्यादिषु क्रमेण द्रष्टव्या इति हलायुधः। तेन गायत्री षड्जस्वरा, उष्णिक् ऋषभस्वरा, अनुष्टुप् गान्धारस्वरा, बृहती मध्यमस्वरा, पङ्क्तिः पञ्चमस्वरा, त्रिष्टुप् धैवत-

स्वरों से यथायोग्य नियमानुसार अक्षरों का उच्चारण करते हैं। जैसे श्वेत और काला रंग अलग अलग हैं, परन्तु इन दोनों को मिला कर जो रंग उत्पन्न हो, उसका नाम तीसरा होता है, अर्थात् खाकी या आसमानी, इसी प्रकार यहाँ भी उदात्त और अनुदात्त गुण अलग अलग हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो, उसको स्वरित कहते हैं। विशेष अर्थ के दिखलाने वाले 'तरप्' प्रत्यय के संयोग से वे उदात्त आदि सात स्वर होते हैं। अर्थात् उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितोदात्त और एकश्रुति। उत्तम रीति से इन सातों स्वरों को ठीक ठीक समझ लेना चाहिये' (पृ० ३९७)। यह पूरा विवरण 'उच्चैरुदात्तः' आदि पाणिनीय सूत्र के महाभाष्य के अनुसार है। इसमें हमारा कोई विवाद नहीं है।

इसके आगे स्वामी दयानन्द लिखते हैं—'अब षड्ज आदि स्वरों को लिखते हैं, जो कि गानविद्या के भेद हैं। वे हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। इनके लक्षण व्यवस्था सहित, जो कि गन्धर्ववेद अर्थात् गानविद्या के ग्रन्थों में प्रसिद्ध, वहीं से जान लेना चाहिये' (पृ० ३९७)। इन गानविद्या के स्वरों का प्रकृत विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। पहले भी एक जगह स्वामी दयानन्द प्रश्नोत्तर पद्धति में यह लिख चुके हैं कि जिन स्वरों की सहायता से वेदमन्त्रों को गीत और वाद्य के साथ जोड़ा जा सकता है, इसी के लिये षड्ज आदि स्वरों का विधान किया गया है। हम वहीं उसका उत्तर दे चुके हैं कि यह मात्र बेसुरा प्रलाप है। इसके साथ ही उनको षड्ज आदि स्वरों का लक्षण भी बताना चाहिये था। आपको यह भी बताना चाहिये था कि इस तरह से मन्त्रों को षड्ज आदि स्वरों के माध्यम से गीत और वाद्य से जोड़ने में क्या प्रमाण है? मन्त्रों के उदात्त प्रभृति स्वरों का ज्ञान तो गुरु-परम्परा से और वैदिक प्रक्रिया के सहारे जाना जा सकता है, किन्तु षड्ज प्रभृति स्वरों का ज्ञान किस तरह से होगा? किस मन्त्र का क्या स्वर है, इस बात का किसी तरह से कुछ ज्ञान हो जाने पर भी उसका गान किस तरह से किया जायगा? एक ही मन्त्र के अनेक स्वर नहीं हो सकते और न एक स्वर के सहारे किसी मन्त्र का गान ही किया जा सकता है, क्योंकि गान के लिये आरोह और अवरोह स्वरों में भिन्नता अनिवार्य है।

वस्तुतः गायत्री प्रभृति सात छन्दों के क्रम से ही षड्ज प्रभृति स्वरों का निर्धारण होता है। जैसा कि पिंगल के छन्दःसूत्र में बताया गया है—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद ये सात स्वर होते हैं। टीकाकार हलायुध का कहना है कि ये स्वर गायत्री प्रभृति छन्दों में क्रमानुसार लगते हैं। तदनुसार गायत्री का षड्ज, उष्णिक् का ऋषभ, अनुष्टुप् का गान्धार, बृहती का मध्यम, पंक्ति का पंचम, त्रिष्टुप् का धैवत और जगती छन्द का स्वर निषाद होगा। आचार्य भरत भी कहते हैं—'स्वर-

स्वरा, जगती निषादस्वरा । भरतोऽपि—'सस्वरो यः श्रुतिस्थाने स्वरन् हृदयरञ्जकः । षड्जर्षभगान्धारा मध्यमः पञ्चमस्तथा । धैवतश्च निषादश्च स्वराः सप्त प्रकीर्तिताः ॥' तल्लक्षणानि च—'षड्जं रौति मयूरोऽपि वृषो नर्दति चर्षभम् । अजा विरौति गान्धारं क्रौञ्चो नर्दति मध्यमम् । पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रौति पञ्चमम् । अश्वश्च धैवतं रौति निषादं रौति कुञ्जरः ॥' इति । प्रत्येकमेषामुदात्तादिभेदेन त्रैविध्यम् । गायत्रमन्त्राणां षड्जस्वरेण पठनात् सन्दिग्धछन्दोनिर्णयः सम्भवति । तदर्थमिदमन्वाख्यानम् ।

'तेषां सितसारङ्गपिशङ्गकृष्णनीललोहितगौरा वर्णाः' (पि० छ० सू० ३।६५) इति प्रत्येकं वर्णा अप्युक्ताः । तथा च गायत्रं श्वेतवर्णम् । औष्णिहं सारङ्गवर्णं शुक्लकृष्णमिश्रवर्णमित्यर्थः । आनुष्टुभं पिशङ्गगोरोचनावर्णम्, बार्हतं कृष्णाभगुरुवर्णम् । पाङ्क्तं नीलं नीलोत्पलवर्णम् । त्रैष्टुभं लोहितं इन्द्रगोपवर्णम्, जागतं गौरसिद्धार्थवर्णं हरिदाभं वा । प्रातिशाख्ये दैवतब्राह्मणे च—'सितञ्च सारङ्गमतः पिशङ्गं कृष्णमेव च । नीलं च लोहितं चैव सुवर्णमिव सप्तमम् ॥ अरुणं श्यामगौरे च बभ्रु वै नकुलं तथा ।' उव्वट ऋक्प्रातिशाख्यभाष्ये । श्वेतं गायत्रम्, सारङ्गमौष्णिहम्, पिशङ्गमानुष्टुभम्, बार्हतं कृष्णमगुरुवर्णम्, नीलं वैराजम्, लोहितं त्रैष्टुभम्, सुवर्णवर्णं जागतम्, अरुणं प्रातःसन्ध्याभ्रवर्णम् पाङ्क्तम्, कृष्णवर्णमतिच्छन्दः, गौरं सिद्धार्थवर्णं विच्छन्दः, बभ्रुकपिलवर्णं द्वैपदं छन्दः, नकुलवर्णमेकपदं छन्द इति । 'आग्निवेश्यकाश्यपगौतमाङ्गिरसभार्गवकौशिकवासिष्ठानि गोत्राणीति' (पि० छ० सू० ३।६६) एभिः सप्तभिर्ऋषिभिः क्रमेणैतानि छन्दांसि लोकहितार्थं प्रकाश्य दर्शितानि, तत एव तेषामृषित्वम् । तेन ऋषिज्ञानाच्छन्दसां निर्णयः सम्भवति ।

ननु विच्छन्दसामतिच्छन्दसां च वर्णाः पिङ्गलेन कुतो नोक्ता इति तत्रोक्तं हलायुधेन कृतीनामतिच्छन्दसाञ्च निचृद्भुरिजोर्विराट्छन्दसोश्च प्रवेशाभावात् कश्चिन्नास्ति संशयो यस्य निर्णयनिमित्तं वर्णोपन्यासः क्रियते । अर्थाद् गायत्र्यादि-

उसको कहते हैं, जो कि कान के पास आकर गुंजन करता हुआ हृदय को मोह लेता है । यह स्वर षड्ज, ऋषभ आदि के भेद के सात प्रकार का होता है' । इन स्वरों के लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—'मोर षड्ज स्वर में बोलता है, ऋषभ स्वर सांड़ के नर्दन के समान होता है, बकरी की बोली गान्धार स्वर का, क्रौंचो का शब्द मध्यम स्वर का है, वसन्त ऋतु में कोयल का स्वर पंचम स्वर का, अश्व का हिनहिनाना धैवत स्वर का और हाथी की चिंघाड निषाद स्वर का प्रतिनिधित्व कहते हैं' । इनमें से प्रत्येक स्वर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से तीन प्रकार का होता है । इसके अनुसार गायत्री छन्द के मन्त्रों का पाठ षड्ज स्वर में ही करना चाहिये । इस प्रकार षड्ज प्रभृति स्वरों में इन छन्दों का पाठ होने से छन्द के ज्ञान में किसी तरह का सन्देह नहीं रहने पाता । इस प्रकार सन्देह की निवृत्ति के लिये ही छन्दःशास्त्र में इन सात स्वरों में अलग-अलग छन्दों का पाठ करने के लिये विधान किया गया है । इससे आप की बात को किसी प्रकार का समर्थन नहीं मिल पाता कि गीत और वाद्य कला के साथ मन्त्रों का गान करने के लिये इन स्वरों का विधान है ।

छन्दःशास्त्र में षड्ज प्रभृति स्वरों के क्रमशः सित, सारंग, पिशंग, कृष्ण, नील, लोहित और गौर से सात रंग भी बताएं गये हैं । तदनुसार गायत्री छन्द का रंग गोरा, उष्णिक् छन्द का रंग सारंग अर्थात् चितकबरा, अनुष्टुप् का गोरोचन के समान भूरा, बृहती का अगुरु के समान काला, पंक्ति का नीले कमल के समान नीला, त्रिष्टुप् का इन्द्रवधूटी के समान लाल और जगती छन्द का सरसों या हरदी के समान पीला रंग होता है । प्रातिशाख्य, दैवत ब्राह्मण, ऋक्प्रातिशाख्य के उव्वटभाष्य प्रभृति ग्रन्थों में भी छन्दों के वर्णों का वर्णन मिलता है । पिंगल सूत्र में ही यह भी बताया गया है कि अग्निवेश, काश्यप, गौतम, अंगिरा, भार्गव, कौशिक और वसिष्ठ गोत्र के सात ऋषियों ने क्रम से इन सात छन्दों को लोक के कल्याण के लिए प्रकाशित किया है । इन छन्दों का प्रथम दर्शन उन्हीं को हुआ था और उन्होंने ही बाद में लोककल्याण के लिये इनका उपदेश किया, इसीलिये ये इनके ऋषि कहलाते हैं । इसी तरह से ऋषि का ज्ञान हो जाने से भी छन्द का निर्णय हो जाता है कि यह अमुक छन्द है ।

पिंगल रचित छन्दःसूत्र के टीकाकार हलायुध ने यहां शंका उठाई है कि विच्छन्दों और अविच्छन्दों के वर्णों का निरूपण आचार्य पिंगल ने क्यों नहीं किया ? इसके बाद उन्होंने इस शंका का समाधान भी वहीं कर दिया है कि गायत्री प्रभृति छन्दों में अक्षर

छन्दसामक्षरन्यूनाधिक्येन निचृद्भूरिजादिसंज्ञाविधानात् तत्र गायत्री उष्णिग् वेति भवति संशयः । तत्र छन्दोनिर्धारणार्थं वर्णनिर्णयः कार्यः । कृत्यादीनां तु अक्षरन्यूनाधिक्येन विशेषसंज्ञाविधानाभावात् छन्दसां सन्देहावसरो नास्ति ।

'तत आदितः सन्दिग्धे' (पि० छ० सू० ३।६१) इत्यत्रोक्तं यदा पञ्चविंशत्यक्षरं छन्दो भवति तदा किं प्रतिपत्तव्यम् ? किं गायत्री स्वराड् उत उष्णिग् विराट्, इत्येवं छन्दसि आदिभूतात् पादान्निर्णयः कर्तव्यः । यदि प्रथमः पादो गायत्र्यास्तदा गायत्र्येवासौ, अथौष्णिहस्तदोष्णिगिति । 'देवतादेश्च' (पि० छ० सू० ३।६२) देवतादेश्च निर्णयः कर्त्तव्यः । तदर्थमेव कस्य छन्दसः का देवतेत्यप्युक्तम् । अग्निः सविता सोमो बृहस्पतिर्वरुण इन्द्रो विश्वेदेवा देवताः' (पि० छ० सू० ३।६३) गायत्र्यादिछन्दसां क्रमेण अग्न्यादयो देवताः । तथा च गायत्री षड्जस्वरा अग्निदेवताका शुक्लवर्णा अग्निवेश्यर्षिका, उष्णिगृषभस्वरा सवितृदेवताका कपिशवर्णा कश्यपर्षिका, अनुष्टुप् गान्धारस्वरा पीतवर्णा गोतमर्षिका, बृहती मध्यमस्वरा कृष्णवर्णा आङ्गिरसर्षिका, त्रिष्टुप् धैवतस्वरा इन्द्रदेवताका रक्तवर्णा कौशिकर्षिका, जगती निषादस्वरा गौरवर्णा विश्वेदेवदेवताका वशिष्ठर्षिका । तेन सर्वेषु मन्त्रेषु गायत्र्यादिछन्दसां निर्देशेनैव सर्वेषां निर्देशो गतार्थः, छन्दसामसन्देहेन ज्ञानार्थमेव तेषामुपयोगात् । तथापि निःश्रेयसार्थं छन्दसामृषिदेवतास्वस्ववर्णानां ज्ञानमपेक्षितम् । तदुक्तं तत्रैव हलायुधेन—'ऋषिस्वरवर्णानां ज्ञानान्निःश्रेयसमिच्छन्ति छान्दसाः । योगी याज्ञवल्क्योऽपि—'यस्तु जानाति तत्त्वेन आर्षं छन्दश्च दैवतम् । विनियोगं ब्राह्मणं च मन्त्रार्थं ज्ञानकर्म च ॥ देवतायाश्च सायुज्यं गच्छत्येव न संशयः । पूर्वोक्तेन प्रकारेण ऋष्यादीन् वेत्ति यो द्विजः ॥

की न्यूनता या अधिकता के आधार पर उनके निचृद् गायत्री, भूरिक् गायत्री प्रभृति नाम वदल जाते हैं, उनमें अक्षरों की न्यूनता और अधिकता हो जाने से कभी-कभी ऐसा संशय उठ खड़ा होना स्वाभाविक है कि इस मन्त्र का छन्द गायत्री है अथवा उष्णिक् आदि । अतः ऐसे स्थानों पर छन्द को निर्धारण करने के लिये उनके वर्ण, ऋषि आदि का ज्ञान कहना आवश्यक है, जिससे कि छन्द के ज्ञान में किसी प्रकार का संशय न रह जाय । कृति प्रभृति विच्छन्दों और अतिच्छन्दों के प्रसंग में तो अक्षर की न्यूनता अथवा अधिकता के आधार पर नाम का भेद होने का कोई विधान छन्दःशास्त्र में नहीं किया गया है, अतः ऐसे स्थानों में सन्देह का कोई अवसर ही नहीं आता, जिसकी कि निवृत्ति के लिये वर्ण आदि का विधान करना पड़े ।

'तत आदितः संदिग्धे' इस सूत्र में यह शंका उठाई गई है कि जब पचीस अक्षर का छन्द हो, तब क्या समझना चाहिये ? इसका छन्द गायत्री स्वराट् माना जायगा कि उष्णिक् विराट् ? इस शंका का वहाँ यह समाधान किया गया है कि ऐसे संदिग्ध स्थलों पर प्रथम पाद के सहारे छन्द का निर्णय करना चाहिए । यदि पहला पाद गायत्री छन्द का है, तो पूरे मन्त्र का छन्द गायत्री होगा और यदि उष्णिक् छन्द का है तो पूरा मन्त्र उसी छन्द का माना जायगा । अगले सूत्र में बताया गया है कि देवता, वर्ण आदि से भी छन्द का निर्णय करना चाहिये । इसीलिये किस छन्द का क्या देवता है, इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि अग्नि, सविता, सोम, बृहस्पति, वरुण, इन्द्र और विश्वेदेव ये क्रमशः गायत्री प्रभृति छन्दों के देवता हैं । इस पूरे प्रतिपादन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि गायत्री छन्द का षड्ज स्वर, अग्नि देवता, शुक्ल वर्ण और ऋषि अग्निवेश्य है । उष्णिक् छन्द का ऋषभ स्वर, सविता देवता, चितकबरा रंग और ऋषि काश्यप है । अनुष्टुप् छन्द का गान्धार स्वर, पीला वर्ण, सोम देवता और ऋषि गौतम है । बृहती छन्द का मध्यम स्वर, काला वर्ण, बृहस्पति देवता और अंगिरस ऋषि है । पंक्ति छन्द का पंचम स्वर, नीला वर्ण, वरुण देवता और ऋषि भार्गव है । त्रिष्टुप् छन्द का धैवत स्वर, इन्द्र देवता, लाल वर्ण और ऋषि कौशिक है । जगती छन्द का निषाद स्वर, गौर वर्ण, विश्वेदेव देवता और ऋषि वसिष्ठ है । इस तरह से सभी मन्त्रों में गायत्री प्रभृति छन्दों का निर्देश होने से ही स्वर, वर्ण, देवता और ऋषि प्रभृति सबकी गतार्थता हो जाती है, क्योंकि इन सबका उपयोग तो छन्द का संशय रहित ज्ञान करने में ही होता है । तो भी मोक्ष की प्राप्ति के लिये छन्दों के ऋषि आदि का ज्ञान भी उपयोगी है और इसीलिये छन्दःशास्त्र में इन सबका वर्णन किया गया है । इस बात को भी हलायुध ने ही अपनी व्याख्या में कहा है । इसी बात का प्रतिपादन योगी याज्ञवल्क्य भी करते हैं—'जिस व्यक्ति को मन्त्र के ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग, ब्राह्मण और उसके अर्थ का सही ज्ञान है तथा उससे क्या कार्य लिया जाता है, इस बात को भी जानता है, वह उस मन्त्र के देवता के साथ सायुज्य प्राप्त करता है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है । इस तरह से जो व्यक्ति मन्त्र के ऋषि आदि की सही जानकारी रखता है, उसको सभी धार्मिक रहस्यात्मक कर्मों में भी अधिकार प्राप्त हो जाता है । इसलिये

अधिकारो भवेत्तस्य रहस्यादिषु कर्मसु । आर्षं छन्दश्च दैवत्यं विनियोगस्तथैव च । वेदितव्यं प्रयत्नेन ब्राह्मणेन प्रयत्नतः ॥' शौनकादिभिरन्येषामपि छन्दसामुक्तो वर्णविभागः । 'पृष्णिर्वैराजम्' (ऋ० प्रा० ३।१९) उव्वटस्तु त्रिविधाया विराज एकस्य पृष्णिवर्णत्वम्, द्वयोश्च नीलत्वम् । एतास्तिस्रो विराज अनुष्टुबेका पंक्तिरेका द्वाभ्यां इतिन्यूना चैका पूर्वयोर्नीलवर्णः अस्याः पृश्निः निचृच्छयावम् (ऋ० प्रा० १७।३०) 'पृषत्भूरिक्' (ऋ० प्रा० १७।३१) ब्रह्मसामर्ग्यजुश्छन्दः कपिलं वर्णतः स्मृतम् (ऋ० प्रा० १९।६२) नकुलं त्वेकपादानं द्विपदां बभ्रुरुच्यते । सारङ्गशुक्लकृष्णरूपाऋग्यजुःसामब्राह्म्यान्विताः । (दैवत ब्रा० २।३) ।

व्याकरणनियमविषयो विचार :

"तत्र' महाभाष्यीयसिद्धान्तस्य वैयाकरणेषु मान्यत्वेऽपि तदभिप्रायवर्णनं पारम्पर्येणैव युक्तम् । प्रातिपदिकानामर्थप्राधान्येऽपि विभक्तिमतां प्रातिपदिकानां विभक्त्युपेक्षणेन वक्तुरभिप्रायो बाध्येतैव । 'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (श्री० भ० गी० ५।१८), 'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु । साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥' (भ० गी० ६।९) इत्यत्र सप्तम्या उपेक्षणेन विभक्त्यन्तराश्रयणेन कथं वक्तुरभिप्रायो गम्येत । प्रमाणान्तरानुरोधेन विभक्तिलिङ्गादिविपरिणामास्त्विष्यन्त एव । सूत्रवार्तिकभाष्यकृतां पाणिनिकात्यायन पतञ्जलीनां

ब्राह्मण को मन्त्र के ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग को जानने के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील रहना चाहिये । शौनक प्रभृति ने भी अपने प्रतिशाख्य में छन्दों के वर्णों का वर्णन किया है । इस अवसर पर उव्वट ने विशेष विचार प्रकट किये हैं । उनका कहना है कि त्रिविध विराट् छन्द में एक का वर्ण पृश्नि (चितकबरा) और दो का नीला होता है । ऋक्प्रातिशाख्य, दैवत ब्राह्मण प्रभृति ग्रन्थों में इस विषय पर विस्तार से विचार किया गया है । कहने का अभिप्राय यह है कि—महाभाष्य प्रतिपादित सात स्वर भी वेदाध्ययन के उपयोगी हैं, धैवत प्रभृति गानविद्या के स्वरों का उपयोग केवल छन्द का निर्णय करने में ही होता है कि किस छन्द के मन्त्र का पाठ किस स्वर में किया जाय । इन मन्त्रों का गानविद्या से और उनके सात स्वरों से किसी का नहीं सिद्ध हो पाता, जैसा कि सिद्ध करने का प्रयत्न स्वामी दयानन्द ने इस प्रकरण में किया है ।

वैदिक व्याकरण विषयक विचार

पातञ्जल महाभाष्य में प्रतिपादित सिद्धान्त वैयाकरणों में सर्वमान्य अवश्य किन्तु उनका मनमाना अभिप्राय नहीं निकाला जा सकता, परम्परा प्राप्त प्रद्धति के अनुसार ही उनका अर्थ करना पड़ता है और यही उचित भी है । प्रातिपदिक का अर्थ ही यद्यपि प्रधान माना जाता है, किन्तु जब उनमें विभक्ति लग जाती है, तो उसकी उपेक्षा कर देने पर वक्ता का भी अभिप्राय बाधित हो जायगा, अर्थात् वक्ता ने जिस अभिप्राय को प्रकट करने के लिये किसी विशेष विभक्ति का प्रयोग किया है, उसकी उपेक्षा कर देने पर वक्ता का अभिप्राय सही रूप में प्रकट न हो सकेगा । 'विद्याविनयसंपन्ने०' और 'सुहृन्मित्रा०' इन गीता के श्लोकों में प्रयुक्त सप्तमी विभक्ति की उपेक्षा कर यदि किसी दूसरी विभक्ति का सहारा लेकर उनका अर्थ किया जाय तो उससे वक्ता का अभिप्राय कैसे प्रकट हो सकता है ? आवश्यकता के अनुसार अन्य प्रमाणों से पुष्टि हो जाने पर केवल वेद में ही नहीं, लौकिक वाक्यों में भी विभक्ति का विपरिणाम, (आवश्यकता के अनुसार विभक्ति का परिवर्तन) माना ही जाता है । इस तरह के नियमों का पालन सायण प्रभृति भी इस आधार पर करते हैं कि सूत्र, वार्तिक और भाष्य के रचयिता पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि का प्रामाण्य एक दूसरे की अपेक्षा क्रमशः बढ़ता जाता है । धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, यह बात भी सही है, तो भी शिष्टजनों के प्रयोग को देखकर ही उनका निर्णय किया जाता है कि किस धातु का किस अर्थ में प्रयोग किया जाय । इसमें भी मनमाने अर्थ में उसका प्रयोग करने की या धातु का मनमाना अर्थ करने की धांधली नहीं चल सकती । मनमाने तरीके से शिष्ट प्रयुक्त अर्थ में परिवर्तन करना अथवा अप्रसिद्ध अर्थ में किसी धातु का प्रयोग करना सही नहीं माना जायगा । इसके विपरीत आचरण करने पर शब्दों के प्रयोग में अराजकता उठ खड़ी होगी कि किसी शब्द को कोई किसी अर्थ में और दूसरा उसके विपरीत अर्थ में प्रयुक्त करने लगेगा । जैसे कि दयानन्द के भाष्य में हो पाणिनि प्रभृति आचार्यों के नियमों का बिना विचार किये मनमाने तरीके से मन्त्रों का अर्थ किया जाता है । इनके इस आचरण का समर्थन इन नियमों के सहारे नहीं किया जा सकता । 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इस सूत्र के अनुसार सभी कालों में इन लकारों का प्रयोग तभी किया जा सकता है,

यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यमिति नियमे तन्नियमा अभ्युपेयन्त एव सायणादिभिरपि। बह्वर्था धातवो भवन्तीति यद्यपि सत्यं तथापि शिष्टप्रयोगानुसारेणैव तेषां निर्णयो युक्तः। न तु स्वेच्छया शिष्टप्रयोगानामन्यथार्थव्यवस्थापनं न वा स्वेच्छयाऽप्रसिद्धार्थे धातूनां प्रयोगो युक्तः। अन्यथा शाब्दनयेऽराजकतापत्तिः। यथा दयानन्दीये भाष्येऽविगणय्य पाणिनीयादिनियमात् स्वाच्छन्द्यं दृश्यते, न तत्समर्थनमेतेन कर्तुं शक्यते। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इत्यादीनामपि वैदिकप्रयोगेषु यथाश्रुतकालबाधायामेव सर्वकालार्थताभ्युपेतव्या। यथाह—'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५), इत्यत्र महाभाष्यकारः—'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच् स्वरकर्तृयङां च। व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन।" इति।

'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥' (नि० २।१), त्रिविधा हि शब्दव्यवस्था प्रत्यक्षवृत्तयः परोक्षवृत्तयोऽतिपरोक्षवृत्तयश्च। तत्रोत्कटक्रियाः प्रत्यक्षवृत्तयः, अन्तर्लीनक्रियाः परोक्षवृत्तयः, तद्भिन्ना अतिपरोक्षवृत्तयः। तादृशेष्वेव निर्वचनोपायः। तस्मात्परोक्षवृत्तितामापाद्य प्रत्यक्षवृत्तिना शब्देन निर्वक्तव्याः। तद्यथा निघण्टव इति अतिपरोक्षवृत्तिः, निगन्तव इति परोक्षवृत्तिः, निगमयितार इति प्रत्यक्षवृत्तिः। यस्मान्निगमयितार एते निगन्तव निघण्टव इति तदेतदार्षेषु वैदिकेषु प्रयोगेषु व्याकरणादिगत्यन्तराभावेन गतिचिन्तनम्। प्रायेण चोणादिषु परोक्षवृत्तयः शब्दाश्चिन्त्यन्ते। येषामपि लक्षणं नास्ति तेषामप्युत्प्रेक्षितव्यम्। अपरिसमाप्ता ह्युणादय इति लक्षणविदः प्रतिजानते। सर्वथापि लक्षणासम्भवे उणादित्वाद्वा पृषोदरादित्वाद्वा साधनीयम्।

जबकि वैदिक प्रयोग में जिस काल के लिये उस लकार का प्रयोग किया गया है, उसी काल में उसका अर्थ करना ठीक न बैठता हो, उसमें किसी प्रकार की बाधा प्रतीत होती हो। बाधा की निवृत्ति के लिये ही लकार के काल का परिवर्तन किया जा सकता है, मनमाने तरीके से नहीं। जैसे कि 'व्यत्ययो बहुलम्' इस सूत्र का भाष्य करते हुए महाभाष्यकार 'सुप्तिङुपग्रह०' प्रभृति कारिका में इस विषय को समझाया है। उसका अभिप्राय यह है कि शास्त्रकार पाणिनि इस सूत्र की रचना कर यह दिखाना चाहते हैं कि प्रयोगों की बहुलता के आधार पर सुप् तिङ्, उपग्रह, लिंग, पुरुष, काल, हल् (व्यंजन), अच् (स्वर); स्वर (उदात्त आदि) कर्ता और यङादि प्रत्ययों के प्रयोगों में भी परिवर्तन कर लेते हैं।

निरुक्त में भी 'वर्णागमो०' प्रभृति श्लोक में निरुक्त का निर्वचन करते हुए कुछ ऐसी ही बात लिखी गई है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रायः शब्दों की व्यवस्था तीन प्रकार की देखी जाती है। कुछ शब्द प्रत्यक्ष वृत्ति वाले, कुछ परोक्ष वृत्ति वाले और कुछ अत्यन्त परोक्ष वृत्ति वाले होते हैं। जिनमें क्रिया का स्पष्ट भान होता है, वे वचन प्रत्यक्ष वृत्ति कहलाते हैं। जिनमें क्रिया छिपी रहती है, वे परोक्षवृत्ति और जिनमें क्रिया होती ही नहीं वे अत्यन्त परोक्षवृत्ति कहलाते हैं। अतिपरोक्षवृत्ति शब्दों का निर्वचन ही निरुक्त की सहायता से किया जाता है। ऐसे शब्दों को पहले परोक्षवृत्तिवाला बनाकर तब प्रत्यक्षवृत्ति शब्द के सहारे उनके अर्थ का निर्वचन स्पष्ट किया जाता है। जैसे कि 'निघण्टवः' यह अत्यन्त परोक्षवृत्ति शब्द है। उसको पहले 'निगन्तवः' इस तरह से छिपी क्रियावाले परोक्षवृत्ति शब्द में बदला जाता है और तब 'निगमयितारः' इस प्रत्यक्षवृत्ति शब्द से उसके अर्थ को स्पष्ट किया जाता है कि जिस शास्त्र में शब्दों का निर्वचन किया जाता है, वही पहले निगन्तु और बाद में निघण्टु बन जाता है। 'वर्णागम०' आदि श्लोक में शब्दों के रूप होने वाले इस परिवर्तन की ही व्याख्या वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनीय और धातु के अर्थ में अतिशय परिवर्तन इन पाँच कारणों पर आधारित मानी गई है और कहा गया है कि निरुक्त में इन सब बातों का विचार करते हुए निर्वचन किया जाता है। यह इसलिये किया जाता है कि कुछ ऐसे भी आर्ष प्रयोग मिलते हैं, जिनमें कि व्याकरण प्रभृति के कोई भी नियम लागू नहीं हो सकते। इनका सही स्वरूप निर्धारित करने के लिये ही निरुक्त शास्त्र में अत्यन्त परोक्षवृत्ति के आधार पर उनका निर्वचन किया जाता है। उणादिप्रकरण में प्रायः परोक्षवृत्ति शब्दों पर विचार किया जाता है। जिनकी कोई व्युत्पत्ति नजर न आती हो, उनकी भी कल्पना के सहारे कोई न कोई व्युत्पत्ति कर लेनी चाहिये वैयाकरणों का कहना है कि उणादि प्रकरण अधूरा है, अतः जिस शब्द की कोई व्युत्पत्ति न हो सकती हो, उसकी व्युत्पत्ति उणादि प्रकरण के सहारे अथवा पृषोदरादिगण में उसका पाठ मानकर कर लेनी चाहिये।

नैरुक्तानां दृष्टया सर्वाण्याख्यातजानि नामानि। तस्माद्रूढेऽपि शब्दे यावन्तोऽपि धातवः स्वं स्वं लिङ्गं रूढिगतं दर्शयन्ति तावतः सङ्गृह्य रूढिशब्दो निर्वाच्यः। यावतामेव धातूनां लिङ्गं रूढिगतं भवेत्। अर्थश्चाप्यभिधेयस्थस्तावद्भिर्गुणविग्रहः ॥' (बृहद्देवता २।१०४), इति प्राचां ग्रन्थेषु विस्तरः। तत्रापि न सर्वोऽप्यध्वानमश्नुवीतेत्यश्वो भवति। नहि सर्वोऽपि तक्षन् तक्षा भवति। नापि सर्वः परिव्रजन्नपि परिव्राजको भवति। तस्मादाख्यातजत्वेऽपि तेषु तेष्वर्थेषु योगरूढत्वमेषां शब्दानां मन्तव्यम्। यद्यपि सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति, तथापि काव्ये यावन्तोऽर्थास्तावन्तः शब्दा एकप्रयत्नेनोच्चार्यन्त इति नये युगपन्नानाशब्दोच्चारणेऽपि सहोपलम्भो न भवति। प्रकरणादिनियमाभावेऽभिधयैवानेकार्थानां बोधः। प्रकरणादिनियमे त्वेकस्यामिधयाऽपरेषां व्यञ्जनया। प्रकरणादिभिरभिधयैकार्थबोधे सति लक्षणां गौणीं वाश्रित्य प्रवर्तमानः श्लेषालङ्कारस्तत्परेषु (स्वार्थपर्यवसायिषु) वाक्येषु न प्रवर्तते; 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति शावरभाष्यवचनात्। अत एवाविधीयमानाऽणुदित् सवर्णस्य बोधको भवति न विधीयमानः। अविधीयमानत्वादेव 'ग्रहं संमार्ष्टि' इत्यत्रैकत्वं न विवक्ष्यते, किन्तु यावन्तो ग्रहाः सन्ति समेषां मार्जनं विधीयते। पशुना यजेतेत्यादौ तु विधीयमानत्वादेकत्वं पुँस्त्वं च विवक्ष्यते, तेन नानेकेषां न वा स्त्रीपशो रत्र ग्रहणं सम्भवति।

अलङ्कारविषयो विचारः—

यदुक्तम्—"अदितिर्द्यौः' इत्यस्मिन् मन्त्रे अदितिशब्दार्था द्यौरित्यादयः सन्ति, तेऽपि वेदभाष्येऽदितिशब्देन ग्राहिष्यन्ते' (सू० ४१६) इति, तदपि न युक्तम्। अत्र मन्त्रेऽदितिशब्दार्थानुक्तेः। नह्यत्र मन्त्रेऽदितिशब्दार्थनिरूपणं, किन्त्वदितेर्विभूतिनिरूपणमस्ति। नहि—'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' इत्युक्त्या कृष्णशब्दस्यार्थोऽश्वत्थो भवति। न

निरुक्त सम्प्रदाय के अनुसार सभी नाम आख्यात से बनते हैं। इनके मत के अनुसार रूढ़ शब्द में भी जितने धातु अपने-अपने स्वरूप को रूढ अवस्था में दिखाते हैं, उन सबको संगृहीत कर रूढ शब्द का निर्वचन करना चाहिये। इस विषय का विस्तार से वर्णन बृहद्देवता प्रभृति ग्रन्थों में मिलता है। इस मत के अनुसार भी मार्ग को शीघ्रता से व्याप्त कर लेने वाला प्रत्येक पशु अश्व नहीं हो जाता, न तक्षण क्रिया का संपादक प्रत्येक मनुष्य तक्षा (बढई) कहलाता है, और न सब कुछ छोड़ कर जीने वाला प्रत्येक मनुष्य परिव्राजक ही कहलाता है। इस लिये नाम को धातु से बना हुआ मानने पर भी सब स्थलों में यौगिक व्युत्पत्ति के साथ रूढ अर्थ को ही प्रधानता दी जाती है। यद्यपि एक बार शब्द के उच्चारण से एक ही अर्थ का ज्ञान होता है, तो भी काव्यशास्त्र के इस नियम के अनुसार कि शब्द के जितने अर्थ होते हैं, उन सब अर्थों के बोधक शब्द एक ही प्रयत्न से उच्चरित हो जाते हैं, एक साथ ही अनेक शब्दों का उच्चारण हो जाने पर भी सब अर्थों का ज्ञान एक साथ नहीं हो पाता। प्रकरण आदि के नियम को न मानने पर अभिधा के सहारे ही अनेक अर्थों का बोध होता है, और प्रकरण आदि के नियम को मानने पर एक अर्थ का बोध अभिधा के सहारे और बाकी अर्थों का ज्ञान व्यञ्जना वृत्ति की सहायता से होता है। प्रकरण आदि के सहारे अभिधा वृत्ति से एक अर्थ का ज्ञान हो जाने पर लक्षणा अथवा गौणी वृत्ति का सहारा लेकर ही श्लेषालंकार प्रवृत्त होता है। तत्पर अर्थात् स्वार्थ में पर्यवसित होने वाले वाक्यों में इस अलंकार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि शावरभाष्य में बताया गया है कि तत्पर अर्थात् विधिपरक वाक्य में स्वार्थ से भिन्न दूसरा कोई अर्थ नहीं रहता। इसीलिये अविधीयमान उदित् स्वर ही सवर्ण का बोधक माना जाता है, विधीयमान नहीं। विहित न होने के कारण ही 'ग्रहं संमार्ष्टि' इस वाक्य में एकत्व विवक्षित नहीं होता, किन्तु जितने भी ग्रह (पात्र) यज्ञ में विहित हैं, उन सबका संमार्जन किया जाता है और 'पशुना यजेत' इस विधि वाक्य में एकत्व और पुँस्त्व की विवक्षा होने से एक पुरुष पशु ही यहाँ गृहीत होता है, अनेक पशु अथवा स्त्री पशु का यहाँ ग्रहण नहीं किया जाता।

अलंकार विषयक विचार

अलंकार विषयक प्रकरण के अन्त में स्वामी दयानन्द ने 'अदितिर्द्यौ०' इस मन्त्र को उद्धृत कर लिखा है कि—"इस मन्त्र में अदिति शब्द के बहुत से अर्थ हैं, उन सबका उल्लेख हम अपने वेदभाष्य में स्थान-स्थान पर करेंगे। (वे अर्थ ये हैं—द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेव, पंचजन, जात और जनित्व" (पृ० ४१६) किन्तु यह कथन भी इसलिए ठीक नहीं है कि इस ग्रन्थ में

वा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे' त्युक्त्या सर्वपदाभिधेयस्य घटपटादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मशब्दार्थता सम्भवति। यास्केन चैतत्स्पष्टमुक्तम्—'इत्यदितेर्विभूतिमाचष्टे' (नि० ४।२३)। मन्त्रो मन्त्रार्थश्चेत्थं अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः। विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥' (ऋ० सं० १।८९।१०)। अदितिरदीना अखंडनीया वा, 'दोऽवखण्डने' देवमाता पृथिवी अखण्डब्रह्मात्मिका चितिर्वा। सैव द्यौः द्योतनशीलो नाकः, सैवान्तरिक्षम् द्यावापृथिव्योरन्तर्मध्ये ईक्ष्यमाणं व्योम, सैव माता निर्मात्री सैव पितोत्पादकः, ततश्च सः पुत्रः मातापित्रोर्जातः पुत्रोऽपि सैव। विश्वेदेवाः सर्वेऽपि देवा अदितिरेव। अदितिः पञ्चजनाः चत्वारो वर्णा निषादश्च पंचमः। यद्वा गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि। गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णा निषादश्च पंचम इत्यौपमन्यवः।' (नि० ३।८) इति यास्कवचनात्। सर्वेषां वा एतत्पञ्चजनानामुक्थं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां पितॄणां च' (ऐ० ब्रा० ३।३१) इति श्रुतेश्च। तत्र गन्धर्वाप्सरसामैक्यात् पञ्चजनत्वम्। एवंविधा पंचजना अप्यदितिरेव। जनित्वं जन्माधिकरणत्वमप्यदितिरेव। एवं सर्वजगद्रूपेण देवमाता पृथिवी च स्तूयते। सर्वचैतन्यरूपाऽखण्डा चितिस्तु सर्वाधिष्ठानत्वात्, तया द्यौरित्यादीनां 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'तिवद् बाधसामानाधिकरण्येन सर्वाभेदः। स पिता इत्यत्र तु निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोरेकतामापादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण तल्लिङ्गतामुपाददते इत्युद्देश्यलिङ्गतया पुँल्लिङ्गत्वम्।

'उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः' कुवलयानन्दे। यत्रोपमानोपमेययोः सहृदयहृदयाह्लादकत्वेन चारुसादृश्यमुद्भूततयोल्लसति व्यंग्यमर्यादां विना स्पष्टं प्रकाशते, तत्रोपमालङ्कारो भवति। सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म

अदिति शब्द के अर्थों का वर्णन नहीं किया गया है। इस मन्त्र में तो अदिति की विभूति का निरूपण किया गया है। "अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्" गीता की इस उक्ति का अभिप्राय यह नहीं है कि कृष्ण शब्द का अर्थ अश्वत्थ है। इसी तरह से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति में ब्रह्म शब्द का अर्थ भी सर्व पद से बोधित होने वाला घट, पट, आदि प्रपंच नहीं होता। यास्क ने निरुक्त के इस प्रकरण में स्पष्ट बता दिया है कि इस मन्त्र में अदिति की विभूति का वर्णन किया गया है। मन्त्र का अर्थ यह है—अदिति शब्द के अदीन अथवा अखण्डनीय इन दो तरह के निर्वचनों के आधार पर देवमाता पृथिवी अथवा अखण्ड ब्रह्मात्मक चिति के तीन अर्थ किये जा सकते हैं। यह अदिति ही द्योतन (प्रकाशमान) स्वभाव के स्वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। और वही स्वर्ग और पृथिवी के बीच में विद्यमान आकाश का भी प्रतिनिधित्व करती है। यही सबका निर्माण करने वाली माता और सबको उत्पन्न करने वाला पिता है। वह अदिति ही माता और पिता से उत्पन्न पुत्र भी है। विश्वेदेव भी इस अदिति का ही स्वरूप है। चार वर्ण और पाचवां निषाद ये पंचजन भी अदिति का ही स्वरूप है। यास्क के द्वारा उद्धृत उपमन्यु के सम्प्रदाय के अनुसार यह अर्थ किया गया है। कुछ अन्य आचार्यों के अनुसार गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस ये पंचजन के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार देव, मनुष्य, गन्धर्वाप्सरस्, सर्प और पितृगण ये पंचजन हैं। ये सब पंचजन भी अदिति का ही स्वरूप हैं। सबको उत्पन्न करने की सामर्थ्य भी अदिति में ही है। इस तरह से सारे जगत् के रूप में देवमाता अदिति और पृथिवी की स्तुति इस मन्त्र में की गई है। समस्त चैतन्य की आधारभूत अखण्ड चिति तो सबके अधिष्ठान के रूप में यहाँ स्वीकार की गई है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति से जैसे सारे प्रपंच के बाध के साथ सारे जगत् की ब्रह्म से अभिन्नता प्रतिष्ठित हो जाती है, उसी तरह से द्यौ इत्यादि के बाध के साथ इन सबकी अखण्डात्मिका चिति से अभिन्नता प्रतिपादित होती है। 'स पिता' यहाँ अदिति की पुल्लिगता उद्देश्य के लिंग को स्वीकार करने पर मानी गई है। व्याकरण की यह एक परिभाषा है कि सर्वनाम शब्द निर्दिश्यमान और प्रतिनिर्दिश्यमान में एकता स्थापित कर देते हैं और इस स्थिति में उद्देश्य के अनुसार इनके लिंग में परिवर्तन किया जा सकता है। जैसे कि इस मन्त्र में अदिति शब्द का उद्देश्य के अनुसार स्त्रीलिंग, पुल्लिग और नपुंसक लिंग में परिवर्तन कर दिया गया है।

कुवलयानन्द नामक अलंकार शास्त्र के ग्रन्थ में 'उपमा यत्र' इत्यादि श्लोक में उपमा का लक्षण दिया गया है। जहाँ उपमान और उपमेय में सहृदय व्यक्तियों के मन को आह्लादित कर देने वाली मनोरम समानता स्पष्ट भासित होती है, अर्थात् व्यंजना आदि वृत्तियों का सहारा लिये बिना अपने आप नजर आने लगती है, वहाँ उपमा अलंकार की स्थिति मानी जाती है। इसके अनेक

औपम्यवाचि च। उपमेयं चोपमानं भवेद् वाच्यम्। यथा–हंसोवकृष्ण ते कीर्तिः स्वर्गङ्गामवगाहते'। अत्र हंसी, कीर्तिः, स्वर्गङ्गावगाहन,मिव शब्दश्चेत्येतेषांमुपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमावाचकानां चतुर्णामप्युपादानम्। तथैव त्वं, पिता, सूपायन, इवशब्दश्चेत्येतेषामुपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमावाचकानां चतुर्णामुपादानात् पूर्णोपमा भवति। सा द्वेधा श्रौती आर्थी च। श्रूयते इति श्रुतिः शब्दः, तया साक्षादेवोपलभ्यमानोपमेयसम्बद्धा श्रौती। यथेव,वाशब्दा इवार्थवति वादयो यत्र प्रयुज्यन्ते सा श्रौती। पदार्थानुसन्धानापेक्षया प्रतीयमानोभयसम्बन्धा आर्थी। तदुक्तम्—'इववद्वायथा शब्दाः समाननिभसन्निभाः। तुल्यसंकाशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपकाः। प्रतिपक्षप्रतिद्वन्द्विप्रत्यनीकविरोधिनः। सदृक्सदृशसंवादिसजातीयानुवादिनः। प्रतिबिम्बप्रतिच्छन्दसरूपसमसम्मिताः। सलक्षणसदृक्षश्चसपक्षोपमितोपमाः। कल्पदेशीयदेश्यादिप्रख्यप्रतिनिधी अपि। सवर्णतुलिताः शब्दा ये चान्यूनार्थवादिनः समासश्च बहुव्रीहिः शशाङ्कवदनादिषु। स्पर्धते जयति द्वेष्टि द्रुह्यति प्रतिगर्जति॥ आक्रोशत्यवजानातिकदर्थयति निन्दति। विडम्बयति सन्धत्ते हसतीर्ष्यत्यसूयति। तस्य मुष्णाति सौभाग्यं तस्य कान्ति विलुम्पति। तेन सार्धं विगृह्णाति तुलां तेनाधिरोहति। तत्पदव्यां पदं धत्ते तस्य कक्षां विगाहते। तमन्वेत्यनुबध्नाति तच्छीलं तं निषेधति। तस्य चानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यसूचकाः। तत्रेववादय उपमाया वाचकाः, स्पर्धत इत्यादयो लक्षकाः। तस्य मुष्णाति सौभाग्यमित्यादयो व्यञ्जकाः। एनेन यत्र श्रौत्या आर्थ्या वा उपमाबोधो भवति, तत्रोपमालङ्कार एव।

'रूपकं रूपितारोपाद्विषये निरपह्नवे' उपमानोपमेययोरभेदारोपेणैकतां नयतीति रूपकम्। प्रकृतगोपनमपह्नवः। ततश्च शून्ये विषये उपमेये रूपितस्योपमानस्यारोपात्तादात्म्याध्यासात् रूपकालङ्कारो भवति। यद्यप्युपमानोपमेययोर्भेदमनु-

भेद होते हैं। 'हंसोव कृष्णते कीर्तिः' यहां पूर्णोपमा मानी जाती है, क्योंकि यहाँ हंसी, कीर्ति, आकाश गंगा में स्नान और इव शब्द इन सब का उपादान इस श्लोक में है। इस तरह से यहां उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और उपमा के बोधक शब्द इन चारों की उपस्थिति रहने से यह पूर्णोपमा का उदाहरण है। इसी तरह से 'स नः पितेव' इस मन्त्र में भी पूर्णोपमा मानी जाती है, क्योंकि यहां पर भी अग्नि, पिता इन दोनों का साधारण धर्म सरलता से प्राप्त होता है, और चारों की उपस्थिति इस मन्त्र में है। इस पूर्णोपमा के दो भेद होते हैं—एक श्रौती पूर्णोपमा और दूसरी आर्थी पूर्णोपमा। श्रुति पद यहाँ शब्द का पर्यायवाची है। श्रुति के द्वारा जो उपमान और उपमेय से साक्षात् संबद्ध होती है, उसे श्रौती पूर्णोपमा कहते हैं। अर्थात् यथा, इव, वा प्रभृति शब्द जहाँ साक्षात् उपस्थित रहते हैं, वहाँ श्रौती पूर्णोपमा मानी जाती है। पदार्थ के अनुसन्धान के द्वारा जहाँ उपमान और उपमेय का संबन्ध प्रतीत होता हो, वहाँ आर्थी पूर्णोपमा मानी जाती है। निम्न श्लोकों में इसी बात को स्पष्ट किया गया है—"इव, वत्, वा, यथा, समान, निभ, सन्निभ, तुल्य, संकाश, नीकाश, प्रकाश, प्रतिरूप, प्रतिपक्ष, प्रतिद्वन्द्वी, प्रत्यनीक, विरोधी, सदृक्, सदृश, संबन्धि, राजतीव, अनुवादी, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छन्द, सरूप, सम, संमित सलक्षण, सदृक्ष, सपक्ष, उपमित, उपमा, कल्प, देशीय, देश्य, प्रख्य, प्रतिनिधि, सवर्ण, तुलित, ये सब शब्द, अन्यूनता (संपूर्णता) के बोधक सभी शब्द, शशांकवदना प्रभृति में बहुव्रीहि समास, स्पर्धते; जयति, वेष्टि, द्रुह्यति, प्रतिगर्जति, आक्रोशति, अवजानाति, कदर्थयति, निन्दति, विडम्बयति. सन्धत्ते, हसति, ईर्ष्यति, असूयति, मुष्णाति, विलुम्पति, विगृह्णति, तुलां नाधिरोहति, पदं धत्ते, विगाहते, अन्वेति, अनुबध्नाति, निषेधति, अनुकरोति ये सब क्रियावाचक शब्द समानता को बताते हैं।" इनमें से इव, वा प्रभृति शब्द उपमा के वाचक हैं; और स्पर्धते इत्यादि क्रियावाचक शब्द, उपमा वाचक हैं, और मुष्णाति प्रभृति क्रिया पद सहित वाक्य; उपमा के व्यंजक हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रौती अथवा आर्थी पूर्णोपमा से जहाँ समानता का ज्ञान होता है, वहाँ उपमा अलंकार की स्थिति मानी जाती है।

'रूपकं रूपितारोपा॰' यह रूपक अलंकार का लक्षण है। इसमें उपमान और उपमेय में अभेद को आरोपित कर उनमें एकता स्थापित कर दी जाती है। प्रकृत वस्तु को छिपाने का नाम अपह्नव है। जिस उपमेय वस्तु को छिपाया नहीं जा सकता, उसको छिपाने के अभिप्राय से उसमें उपमान को आरोपित कर देना, अर्थात् उपमेय में उपमान के तादात्म्य का अभ्यास करा देना ही

भवतां तादात्म्याध्यासो न सम्भवति, तथापि बाधकालीनेच्छाजन्यज्ञानरूपस्य आहार्यस्य तादात्म्याध्यासस्य नासम्भवः। तच्च परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति त्रिधा भवति। आहवे जगदुद्दण्डराजमण्डलराहवे। श्रीनृसिंह महीपाल स्वस्त्यस्तु तव बाहवे॥ अत्र राजमण्डलमेव चन्द्रः, स एव राजबाहौ राहुत्वारोपे निमित्तम्। 'पद्मोदयदिनाधीशः सदागतिसमीरणः भूमृदावलिदम्भोलिरेक एव भवान् भुवि॥' अत्र पद्मायाः उदय एव पद्मानामुदयः, सतामागतिरेव सदागमनम्, भूभृतो राजान एव पर्वता इत्याद्यारोपो राज्ञि सूर्यत्वारोपनिमित्तम्।

रूपक अलंकार का कार्य होता है। यद्यपि उपमान और उपमेय के भेद से परिचित व्यक्तियों को इनकी एकता का आभास नहीं हो सकता, तो भी उपमेय का वाचक अपनी इच्छा से उसमें उपमान का आरोप थोड़ी देर के लिये किया ही जा सकता है। यह रूपक अलंकार परम्परित, सांग और निरंग के भेद से तीन तरह का होता है। 'आहवे' प्रभृति श्लोक में राजमण्डल को थोड़ी देर के लिए चन्द्रमा मान लिया गया है, इसीलिये इस राजमण्डल को ही चन्द्रमा के लिये थोड़ी देर के लिये राजा के बाहुओं को राहु की संज्ञा दे दी गई है। 'पद्मोदय॰' प्रभृति श्लोक में पद्मा (लक्ष्मी) के उदय को ही कमलों का विकास, सज्जनों के आगमन को ही अच्छा आगमन और राजाओं को ही थोड़ी देर के लिये पहाड़ मानकर स्तुत्य राजा में सूर्य को आरोपित कर दिया गया है।

प्रथमं परिशिष्टम्

विधवाविवाहनियोगमीमांसा

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः । स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ।। इति मनुस्मृत्या, 'वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् । मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिः नैव शस्यते ।।' इति बृहस्पतिवचनेन च मनोः परमवेदज्ञत्वं सिद्धयति । शतपथे च—'यद्वै मनुरवदत्तद्भेषजम्' इति श्रुतौ मनूक्तेर्भेषजवत्परमोपादेयत्वं च सिद्धयति । मनुना च स्पष्टमुक्तम्—'नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् । न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ।।' (म० ९।६५) 'न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद् भर्त्तोपदिश्यते' (म० ५।१६२), संस्थितं (मृतकं) च न लङ्घयेत्' (म० ५।१५१) इति मनुना सर्वथा विधवाविवाहो निषिद्धः तस्माद्वेदमन्त्रेण विधवाविवाहसाधनम् अशुद्धमवैदिकं च ।

तदनुसारेणैव बृहत्पराशरस्मृतावपि—'जीवन् वापि मृतो वापि पतिरेव प्रभुः स्त्रियास्' (४।४८) तदेवोक्तम् बोधायनपितृमेधसूत्रेऽपि । कथं पुनर्विवाहेनान्यः पुरुषः प्रभुः सम्भवति' (१।१२।१०), यावज्जीवं प्रेत (मृतक) पत्नी (ब्रह्मचर्यम्) इति विधवाया यावज्जीवं ब्रह्मचर्यपालनमेवोक्तम् । 'मान्या हि गुरवः सर्वे एकपत्न्यस्तथा स्त्रियः' (महाभारते वनपर्वणि २०५।५) अत्रैकपतित्वमेव स्त्रिया उक्तम् । 'ममेयमस्तु पोष्या' (अथर्व १४।१५२) इति वेदमन्त्रेण स्त्रिया वरपोष्यात्वमेवोक्तम् । निर्णयसागरप्रकाशिते ऋग्वेदे तु दिधिषोरिति पाठ एव नास्ति, किन्तु दधिषोः इत्येव पाठोऽस्ति । 'उपपत्याः सुतो यस्तु यश्चैव दिधिषूपतिः । परपूर्वपतेर्जातः सर्वे वर्ज्याः प्रयत्नतः ।।' बृहत्पराशरस्मृति (५।३६७), 'पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे' (म० ३।१५५), 'यश्चाग्रेदिधिषूपतिः' (म० ३।१६०), एतान् विगर्हिताचारान् अपाङ्क्तेयान् द्विजाधमान् । ········उभयत्र विवर्जयेत् ।।' (म० ३।१६७), परपूर्वा (पुनर्भू) पतिस्तथा ।······वर्जनीयाः प्रयत्नतः ।।' (म० ३।१६६), 'पौनर्भवस्तथा वर्ज्यः' (प्रजापतिस्मृति ८३-८४), 'भ्रातुर्मृतस्य भार्यायामनुरज्येत कामतः । धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः ।।' (म० ३।१७३) इत्यादिधर्मशास्त्रवचनेषु विधवाविवोढारस्तत्पुत्राश्च निन्दिता अपाङ्क्तेयाश्चोक्ताः ।

विधवा विवाह अथवा नियोग की समीक्षा

विधवा विवाह और नियोग के सम्बन्ध में नियोग प्रकरण (पृ० १४२९-१४३८) में संक्षिप्त समीक्षा की गई है । यहाँ उस पर विस्तार से विचार किया जा रहा है ।

मनुस्मृति में बताया गया है कि मनु ने धर्म के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा है, वह सब वेद का ही अनुसरण करता है । बृहस्पति का कथन है कि वेदार्थ का अनुसरण करने के कारण ही मनुस्मृति को प्रधान स्थान मिला है । इस तरह से मनु वेद के विशिष्ट व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध हैं । शतपथ ब्राह्मण में मनु के वचन को भेषज माना है । औषध से जैसे सारे रोग दूर होते हैं, उसी तरह से धर्म सम्बन्धी सारी समस्याओं का समाधान मनु के वचनों में मिलता है । मनु की स्पष्ट उक्ति है कि विवाह सम्बन्धी मन्त्रों में नियोग की चर्चा कहीं भी नहीं है और न कहीं विधवा विवाह का ही विधान है । मनु ने विधवा विवाह का स्पष्ट निषेध किया है । ऐसी स्थिति में वेद मन्त्रों से इसको सिद्ध करने का प्रयत्न निराधार ही माना जायगा ।

बृहत्पराशरस्मृति और बोधायन पितृमेध सूत्र में पति की मृत्यु के उपरान्त पत्नी को ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का उपदेश देते हैं और कहते हैं कि पत्नी का एक ही पति होता है । महाभारत में भी इसी का पालन मिलता है । अथर्ववेद में पत्नी को पोष्या बताया गया है । निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित ऋग्वेद में 'दिधिषोः' इस पाठ के स्थान पर 'दधिषोः' यह पाठ मिलता है । बृहत्पराशरस्मृति और मनुस्मृति के अनेक वचनों में विधवा से विवाह करने वाले दिधिषू और उनकी सन्तति की निन्दा की गई है और उनको अपांक्तेय माना है ।

'सूर्याभिनिम्रुक्तः कुनखिन कुनखी श्यावदति श्यावदन् अग्रेदिधिषौ अग्रेदिधिषुः परिवित्ते परिवित्तो वीरहणि वीरहा ब्रह्महणि त्तद् ब्रह्महणं नात्यच्च्यवत (तै० ब्रा० ३।२।८।१२) इति तैत्तिरीयब्राह्मणे दिधिषू-परिवित्ति-ब्रह्मघ्नादयः पातकिन उक्ताः । वादिप्रतिवाद्युभयसम्मता मनुस्मृतिस्तादृशानपाङ्क्तेयान् वदति 'अपाङ्क्तेयैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते' (म० ३।१७०), अपाङ्क्तदाने यो दातुः' (म० ३।१६९), 'भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे' (म० ३।१८१), 'दिधिषूपपतिर्यः स्यादग्रेदिधिषुरेव च ।·······पूर्वपूर्वस्तु गर्हितः ॥' (महाभारत शा० प० ३४।४) इत्यादिवचनेषु दिधिषूदिधिषुस्त्रीपुंसानां निन्दा प्रोक्ता । तेनाकर्त्तव्यता अधर्मत्वं च स्पष्टं सिद्धयति । अमरकोषे सुधाव्याख्यायामपि दधाति पापं यद्वा दिधि धैर्यं स्यति नाशयतीति दिधिषुपदस्य व्युत्पत्तिरुक्ता । धृतेर्नाशो धर्मनाश एव । 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥' (म० ६।९२) इति मनुना धृत्यादीनां धर्मत्वोक्तेः । क्षमादयाक्रोधास्तेयादीनां धृतिमूलकत्वेन तदभावेन क्षमाद्यभावापत्त्याऽधर्मस्यानिवार्यत्वात् । दयानन्देनाप्युणादिकोषे (१।९३) दिधिं धैर्यमिन्द्रियदौर्बल्यात् स्यति त्यजतीति दिधिषुरित्युक्तम् । वेदे तु मृतस्य पत्युरेव धारण-पोषण-स्मरणार्थं दिधिषुशब्दः प्रयुक्तः । स्वतन्त्रे जीविते पुरुषे नायं शब्दः प्रयुक्तः ।

सामाजिकास्तु वेदे रूढोऽर्थो नास्त्येवेति जल्पन्ति । तेन तैर्नास्य रूढोऽर्थो ग्रहीतुं शक्यः । यदि तु स्वमतविरुद्धमपि दिधिषुपुनर्भूप्रभृतिशब्दानां स्वार्थसिद्धयर्थं स्मृतिप्रसिद्धस्य रूढस्यार्थस्याभ्युपगमः क्रियते, तदाऽथर्ववेदीय १५ काण्डीयव्रात्यस्य पूजनमप्यङ्गीकर्त्तव्यम् (२।३९-४०) मनुरीत्या उपनयनवेदाध्ययनहीनस्य ब्राह्मणस्यैव व्रात्यनामप्रसिद्धेः । किं वैदिकम्मन्यस्यार्यसमाजस्य तथाभ्युपगमो युक्तः स्यात् ? तथात्वे जन्मना वर्णव्यवस्थाभ्युपगमापातः । गुणकर्मानुसारेण तु तस्य शूद्रत्वादपूज्यत्वमेव सिद्धयति । स्मृतिषु वशाया वन्ध्याया गोर्दानं निषिद्धम् । यदि वेदेऽपि वशा वन्ध्येति स्मृतिप्रसिद्धयङ्गीक्रियेत, तदा वशासूक्त (अथर्व० १०।१०) रीत्या वशादानमपि वैदिकं स्यात् । अथर्व० ११।७ उच्छिष्टवर्णनं दृश्यते । स्मृतिप्रसिद्धया उच्छिष्टभोजनं निषिद्धम् । तथा चोच्छिष्टभोजनेऽपि वैदिकत्वं न हीयेत । वेदे चोषसः पुनर्भूत्वोक्तिः (ऋ०

तैत्तिरीय, ब्राह्मण में दिधिषू, परिवित्ति ब्रह्मघ्न प्रभृति की गणना पातकियों में की गई है। मनुस्मृति को आर्यसमाजी भी मान्यता देते हैं। वहाँ भी दिधिषू प्रभृति को अपांक्तेय ही माना है। महाभारत में भी इनकी निन्दा की गई है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विधवा विवाह एक अधार्मिक कृत्य है। अमरकोश की सुधा व्याख्या में दिधिषू पद की निरुक्ति 'पाप का धारण करने वाला, धैर्य को नष्ट करने वाला' की गई है। धैर्य का नाश एक प्रकार से धर्म का ही नाश है। मनुस्मृति वर्णित धर्म के १० लक्षणों में धैर्य को प्रथम स्थान दिया गया है। धैर्य के बिना क्षमा, दया, क्रोध, अस्तेय आदि की भी स्थिति नहीं बन सकती। इस प्रकार धैर्य के अभाव में स्पष्ट ही है कि धर्म की कोई स्थिति नहीं रह जायगी। दयानन्द ने भी उणादि कोश में दिधिषू शब्द का अर्थ 'इन्द्रिय दौर्बल्य से दूर रहने वाला' किया है। वेद में मृत पति के निमित्त ही 'दिधिषू' शब्द का प्रयोग किया है। स्वतन्त्र जीवित परपुरुष के लिये यह शब्द कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है।

आर्यसमाजियों का कहना है कि वेद में रूढ़ शब्द है ही नहीं, अतः इस शब्द के रूढ़ अर्थ को स्वीकार नहीं कर सकते। किन्तु अपना मतलब निकालने के लिये वे यहाँ पर दिधिषू, पूनर्भू प्रभृति का लोक प्रचलित रूढ़ अर्थ ही स्वीकार करते हैं। उनको अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड में वर्णित व्रात्य की भी पूजा करनी चाहिये। मनुस्मृति के अनुसार उपनयन और वेदाध्ययन से रहित ब्राह्मण को ही व्रात्य माना गया है। क्या आर्यसमाजी इस बात को स्वीकार करेंगे ? ऐसा मानने पर उनको जन्म से वर्णव्यवस्था माननी पड़ जायगी। गुण और कर्म के अनुसार जो व्रात्य शूद्र हुआ, तब अथर्ववेद विहित व्रात्य की पूजा वे कैसे करेंगे ? स्मृतियों में वन्ध्या गौ का दान निषिद्ध माना गया है। यदि वेद में भी वशा शब्द का वही अर्थ किया जायगा, तो क्या सूक्त के अनुसार उनके लिये वशा का दान वेदविहित माना जायगा। स्मृतियों में उच्छिष्ट भोजन निषिद्ध है। इसके विपरीत अथर्ववेद में उच्छिष्ट का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद

सं० १।६२।८–१।१२३।२) किमेतावता तस्यापि पुनर्विवाहिताङ्गीक्रियते । यदि तथा नाङ्गीक्रियते तदा दिधिषुशब्दस्य तैरपि स्मृतिप्रसिद्धोऽर्थो नाङ्गीकर्त्तव्यः ।

किञ्च 'वेदेत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' (गोपथब्राह्मणे १।१) इत्यादिरीत्या परोक्षेणापि केचनार्था अङ्गीक्रियन्ते । तद्यथा निरुक्ते दैवतकाण्डेऽष्टमेऽध्याये विंश्यां कण्डिकायाम् 'वनस्पते रशनया निपूय…… देवत्रा दिधिषोर्हवींषि' इत्यस्मिन् मन्त्रे 'दिधिषोः' इत्यस्य दातुरित्येवार्थः । तथैव 'मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः' (ऋ० सं० ६।५५।५) इत्यस्मिन् मन्त्रे किं मातुरुपपतिम् स्वसुर्जारः उपपतिः इत्येवार्थः स्वीक्रियते सामाजिकैः ? 'आशवो दिधिषवो……' (ऋ० सं० १।७८।५) इति मन्त्रे किं मरुतो विधवां विवोढारोऽङ्गीक्रियन्ते ? 'दिधिष्वा बिभृयाः' (ऋ० सं० १।७१।२) प्रजानां सम्बन्धे धारयित्र्य इत्यर्थे दिधिषुशब्दस्य प्रयोगो दृश्यते । तस्मात् प्रकृतेऽपि दिधिषुशब्दो न स्मृतिप्रसिद्धविधवाविवोढ्रर्थे प्रयुक्तः । यदि दयानन्देनामरकोषानुसारेण दिधिपुशब्दस्य द्वितीयः पतिरर्थो गृह्यते, तदा वेदे रूढशब्दा न भवन्तीति निघण्टुभूमिकालेख उणादिकोषभूमिकालेखश्च ध्रुवं विरुद्धौ स्याताम् ।

सत्यार्थप्रकाशस्य ४२ पृष्ठे दयानन्देनामरकोषस्याप्रामाणिकत्वमेवोक्तम् । किं स्वार्थसिद्ध्यर्थं स्वोक्तिविरुद्धं निघण्टुनिरुक्तमीमांसाव्याकरणविरुद्धममरकोषतट्टीकयोरेव प्रामाण्यमङ्गीक्रियते ? तथात्वे यद्वान्तं तदेव भुक्तमिति न्यायानुसरणं दयानन्दस्य स्यात् । न चामरकोषोल्लेखमात्रेण विधवाविवाहस्य कर्त्तव्यता सिद्ध्यति, अन्यथा विषशब्दस्यापि तत्रोल्लेखे विषभक्षणमपि कर्त्तव्यं स्यात् । स्वैरिणीकुलटादिस्त्रीणामपि तत्र वर्णनं दृश्यते । न च तावतापि सर्वाभिस्तथात्वमनुसर्तव्यमिति । तत्रैव गर्भिण्याः कन्याया विवाहे जाते तत्रोत्पन्नस्य पुत्रस्य सहोढ इति नामधेयमुक्तम् । नहि तथात्वेऽपि सहोढोत्पादनाय यत्न आस्थेयो भवति, किन्तु 'अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते । सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥' (म० ५।१६१), नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् । न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥' (म० ९।६५) इत्यादिरीत्या दिधिषुः पापपतिरेव सिद्ध्यति ।

में उषा को पुनर्भू कहा है । क्या आप उषा को भी पुनर्भू मानेंगे । यदि वे ऐसा नहीं मानते, तो उनको इस शब्द का स्मृति प्रसिद्ध अर्थ भी नहीं मानना चाहिये ।

गोपथब्राह्मण में बताया गया है कि वेद में कभी-कभी परोक्षरूप से भी अर्थों का प्रतिपादन किया जाता है, क्योंकि देवताओं को ऐसा करना अच्छा लगता है । जैसे कि निरुक्त के दैवतकाण्ड के आठवें अध्याय में दिधिषू शब्द का अर्थ दाता किया गया है । क्या आर्यसमाजी 'मातुर्दिधिषु' इत्यादि ऋग्वेदीय मन्त्र में क्या माता के उपपति की चर्चा मानेंगे ? 'आशवोदिधिषवो, इस मन्त्र में क्या वे मरुद्गणों को विधवा के साथ विवाह करने वाले मानते हैं ? अतः इस शब्द का स्मृति प्रसिद्ध अर्थ वेद में कहीं भी गृहीत नहीं हो सकता । यदि स्वामी दयानन्द अमरकोष के अनुसार इस शब्द का अर्थ कहते हैं, तो उस स्थिति में उसका यह कहना बाधित हो जाता है कि वेद में रूढ़ शब्द नहीं होते । या यहीं उणादि पाठ की भूमिका में जो कुछ उन्होंने लिखा है, उससे भी यह बात विपरीत पड़ती है ।

सत्यार्थप्रकाश में दयानन्द ने अमरकोष को अप्रामाणिक बताया है । अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये क्या आप अपने ही कथन के विपरीत और निघण्टु, निरुक्त, मीमांसा तथा व्याकरण व्याख्या के भी विपरीत अमरकोष को यहाँ पर प्रमाण मानने को प्रस्तुत हैं ? यह बात तो थूक कर निगलने के समान घृणित है । अमरकोष में उल्लेख होने मात्र से विधवा विवाह कर्तव्य कोटि में नहीं आ जायगा । वहाँ तो विष, स्वैरिणी, कुलटा शब्द भी वर्णित है । तो क्या इससे विषभक्षण और कुलटाचरण कर्तव्य मान लिया जायगा ? अमरकोष में कुमारी कन्या से उत्पन्न सन्तान का भी नाम दिया गया है, तो क्या इससे उसको कर्तव्य कोटि में मान लिया जायगा ? मनुस्मृति में पुत्र के लोभ में पति का अतिक्रमण करनेवाली स्त्री की तथा नियोग की भी निन्दा ही की गई है । इस प्रकार दिधिषू को पापपति ही माना जा सकता है, वैध नहीं ।

'उदीर्ष्वंनारि……' इति मन्त्रे तु दिधिपुशब्दो मृते श्मशाने समक्षे चितायां स्थिते पत्यावेव वर्तते मन्त्रस्य तत्रैव विनियुक्तत्वात्। विशेषणस्य यौगिकत्वनियमाद् दिधिपुशब्दोऽत्र यौगिक एव। तस्यैव जीवलोकस्य पुत्रादिसंसारस्य पालनार्थं पत्युनुमरणमिह निषिद्धय सा मृतकस्य पत्नी चिताया उत्थापिता, न तस्याः पुनर्विवाहार्थं नियोगार्थं वा। तत एव मनुस्मृतौ पञ्चमाध्यायस्य १५६-१६२ श्लोकाः सङ्गच्छन्ते। बौधायनपितृमेधसूत्रेऽपि विधवाया अन्यपतिसम्बन्धं निषिध्य पुनरग्न्याधानं निषिद्धम्। नह्यस्या अपतित्वात् पुनरग्न्याधेयं विद्यते, 'विज्ञायते च तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते इति (बौ० (पि० सू० २।४।४) आर्यसामाजिकैर्विधवाविवाह उक्तमन्त्रेण साध्यते। स च दयानन्देनापि प्रत्याख्यायते। 'स्त्रीपुरुषौ प्रति प्रश्नेन द्विवचनोच्चारणेन च एकस्य पुरुषस्य एकैव स्त्री कर्तुं योग्यास्ति। तथा एकस्याः स्त्रिया एक एव पुरुषश्च' (ऋ० भा० भू० २२२ पृष्ठे)। अनेनाप्येकस्याः स्त्रिया एक एव पतिर्भवेत्, एकस्य पुरुषस्य एकैव स्त्री च। अर्थाद् अनेकस्त्रीभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य। तथाऽनेकैः पुरुषैः सह एकस्याः स्त्रियाश्च विवाहो निषिद्धः। सर्वेषु वेदमन्त्रेष्वेकवचनस्यैव निर्देशात्'। (ऋ० भा० भू० २२० पृ०)

तादृशाः सामाजिका दयानन्दं वेदानभिज्ञं मन्यन्ते। यद्वा तद्दृष्ट्या ते स्वयं वा वेदानभिज्ञाः। कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात् पुनरेवं नियोगः। नैवं द्विजेषु द्वितीयवारं विवाहो विधीयते। पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्ण एव विधीयते, तस्य विद्याव्यवहाररहितत्वात् (ऋ० भा० भू० २२२ पृष्ठे)। अत्र स्पष्टं द्विजेषु विधवाविवाहो निषिद्धः, शूद्रे चानुमतः। 'ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों में क्षतयोनि स्त्री क्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिए।' (सत्यार्थप्रकाशे, पृ० ६९)। 'पुनर्विवाहे दोषः (पतिव्रतस्त्रीधर्मयोर्नाशः) उक्तः। द्विजों में स्त्री और पुरुष का एक ही बार विवाह होना वेदादिशास्त्रों में लिखा है, द्वितीय वार नहीं।' (सत्यार्थप्रकाशे ४ समु० पृ० ७१)

दयानन्दरीत्या नहि काचिद्विधवाऽक्षतयोनिर्भवति। तद्रीत्या गर्भाधानदिवस एव विवाहस्य विधानात्। तथाहि—'जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें उसी दिन संस्कार विधि के अनुसार मध्यरात्रि या दश बजे अति प्रसन्नता से सबके सामने पाणिग्रहण पूर्वक विवाह की विधि को पूरा करके एकान्त सेवन करें। पुरुष वीर्यस्थापन और स्त्री वीर्याकर्षण की जो विधि है, उसी के अनुसार दोनों करें।' (सत्यार्थ प्र० ४ समु० ५६ पृ०)। अत एव दयानन्दरीत्या विधवा नाक्षतयोनिर्भवति, विवाहदिन एव गर्भाधानसम्पत्तेरुक्तत्वात्। नियोगोऽपि निषद्ध एव।

'उदीर्ष्वं नारि०' प्रभृति मन्त्र में दिधिपू शब्द का प्रयोग मृत पति के लिये ही हुआ है। दिधिपू शब्द का अर्थ यौगिक अर्थ ही गृहीत होगा, रूढ़ अर्थ नहीं। मृत पति के पुत्र आदि के तथा परिवार के पालन के लिये ही विधवा को अपने मृत पति के पास से हटाया जाता है, नियोग अथवा विधवा विवाह के लिये नहीं। मनुस्मृति, बौधयन पितृसूत्र प्रभृति की संमति इसी अर्थ में बैठती है। आर्यसमाजी इसी मन्त्र से विधवा विवाह को वैध सिद्ध करते हैं, किन्तु स्वामी दयानन्द ने स्वयं ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में इसका खण्डन कर दिया है (द्रष्टव्य, पृ० २२०, २२२)।

इस तरह के आर्यसमाजी दयानन्द को वेदार्थ का ज्ञाता नहीं मानते। कुमार और कुमारी का पहले बार विवाह होता है और बाद में उसे नियोग कहा जाता है। इस तरह का नियोग दहेजों में नहीं पाया जाता। नियोग शूद्र वर्ण में ही होता है। (पृ० २२२) यहाँ स्पष्ट ही विधवा विवाह निषिद्ध माना गया है। सत्यार्थ प्रकाश में भी लिखा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में क्षतयोनि स्त्री क्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिये। ऐसा करने से स्पष्ट ही पातिव्रत्य धर्म का नाश होगा।

दयानन्द के मत से कोई भी विधवा अक्षतयोनि नहीं हो सकती, क्योंकि गर्भाधान का दिन ही उनके यहाँ विवाह का दिन माना गया है। वे कहते हैं—'जिस दिन अनुदान देना योग्य समझें, उसी दिन संस्कार विधि के अनुसार मध्यरात्रि या दस बजे अति प्रसन्नता से सबके सामने पाणिग्रहण पूर्वक विवाह की विधि को पूरा करके एकान्त सेवन करे। इस प्रकार विवाह के दिन ही गर्भाधान का विधान होने से इनके यहाँ अक्षत योनि विधवा हो ही नहीं सकती।

'इमां त्वमिन्द्रमीढ्वः सुपुत्रां कृणु । दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि ॥' (ऋ० सं० १०।८५।४५) अयं मन्त्रो विधवाविवाहे नियोगे च सामाजिकैः प्रयुज्यते । अस्यार्थोऽपि तैर्विचित्रः क्रियते । हे मीढ्व इन्द्र ! वीर्यसिंचन में समर्थ ऐश्वर्ययुक्त पुरुष तू इस विवाहिता स्त्री या विधवा को सौभाग्य युक्त कर विवाहिता स्त्री में दस पुत्र उत्पन्न कर, और या स्त्री को ग्यारहवीं मान । हे स्त्री तू भी विवाहित पुरुष नियुक्त पुरुषों से दस सन्तान उत्पन्न कर और पति को ग्यारहवाँ समझ।' दयानन्दीयः कश्चन प्रसिद्धः कथयति—'ग्यारह पतियों के नये प्रकार को लिखते हैं, तदनुसार पहले तीन पादों में तो पति को आज्ञा दी गयी है कि स्त्री को सुपुत्रा वा सुभगा कर और उसमें दस पुत्र उत्पन्न कर। चौथे पाद में स्त्री को सम्बोधन किया है कि तूं ग्यारहवां पति कर, अर्थात् ग्यारहवें पति तक कर । यदि इसमें पहले तीन पादों को स्त्री के लिए बदल दिया जाय और चौथे को पुरुष के लिए तो उसका अर्थ यह होगा कि हे स्त्री तू इस पति से दस सन्तान उत्पन्न कर और इसको अच्छे पुत्रवाला और सौभाग्यशाली बना, और हे पति तू ग्यारहवीं स्त्री कर' संस्कृतभाषयाऽयं बलात्कार एव ।

विवाहसूक्तस्यायं मन्त्रः । तथैव दयानन्दोऽपि मनुते । कुमार्यां अयं विवाहो न विधवायाः । विधवाबोधकः कश्चिदपि शब्दोऽत्र नास्त्येव । 'पतिमेकादशं कृधि' इत्यस्य एकादशीं स्त्रियमिति कथमर्थं इति सामाजिका एव जानन्तु । हे स्त्री इति मन्त्रगतस्य कस्य शब्दास्यार्थः ? अस्यां पुत्रानाधेहीत्यस्य त्वं नियुक्तैः पुरुषैर्दशसन्तानानुत्पादयेति कस्य शब्दस्यार्थः ? कस्मात्कोषात् कस्माद्वा व्याकरणादिति विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु । 'कृधि' 'आधेहि' इति मध्यमपुरुषस्य क्रियाद्वयं दृश्यते । सम्बोध्यश्चैक एवेन्द्रः, स एव मन्त्रस्यास्य देवता । अत्र वर एव प्रतिपाद्यः कथं स्यात् ? किं वरेणैव एकादशः पतिः कर्त्तव्यः ? यदि स्त्री प्रतिपाद्या स्यात् तदा किं तयैव पत्यौ गर्भाधानं कर्त्तव्यम् ? 'दशास्यां पुत्रानाधेहि' इति प्रतिपक्षिदृष्ट्या मीढ्व इन्द्र इत्यनेन वीर्यसेक्ता वरः प्रतिपाद्यः, तदा चतुर्थपादे कथं स्त्री सम्बोध्या स्यात् ? मन्त्रे तस्याः सम्बोधनपदं किमिति वक्तव्यम् ? न च 'मीढ्व' इति स्त्रियाः सम्बोधनं सम्भवति । तथात्वे हे वीर्यसेक्त्रीत्यर्थः स्यात् । किं स्त्रिया पत्यौ वीर्यं सेक्तव्यम् ? तस्या वीर्यं कुत्रत्यम् ? पत्यौ च गर्भाशयः क्वास्ते ? तथात्वे च मीढुषीति स्यात्, सम्बोधनपदं न मीढ्व इति । इह च 'इमाम्' इति तस्यां द्वितीयाप्रयोगोऽस्ति न त्वमिति । तथात्वे पतिमेकादशं कृधीत्यप्यसङ्गतं स्यात् । एकादशमिति पदस्य डट्प्रत्ययान्तस्य एकादशं यावदिति नार्थः सम्भवति । एकादशानां पूरणमेकादशमिति पूरणार्थको डट्प्रत्ययो भवति । कथञ्चित्तथार्थत्वेऽपि मन्त्रे दशसंख्याबोधकः शब्दः क्वास्ते ? मन्त्रे दशसंख्याकाः पुत्रा उक्ता न पतयः । किं पुत्रस्यैव पतिरिति नाम भवति सामाजिकानाम् ? संस्कारविधिरीत्यापि विवाहप्रकरणस्थोऽयं मन्त्रः । न च विवाहे एकादशः पतिः

'इमां त्वमिन्द्र०' इस मन्त्र का विनियोग आर्यसमाजी विधवा विवाह और नियोग के लिए करते हैं । इस मन्त्र का वे विभिन्न अर्थ करते हैं—'हे मीढ्व इन्द्र, वीर्यसेचन में समर्थ ऐश्वर्ययुक्त पुरुष, तू इस विवाहित स्त्री को या विधवा को सौभाग्य युक्त कर, विवाहित स्त्री में दस पुत्र उत्पन्न कर और इसे ग्यारहवीं स्त्री मान । हे स्त्री तू भी विवाहित पुरुष या नियुक्त पुरुषों से दस सन्तान उत्पन्न कर और ग्यारहवें पति को समझ' । दयानन्द के किसी अनुयायी ने जो कुछ कहा है, वह सब संस्कृत भाषा के साथ जबर्दस्ती की खींचतान है ।

यह मन्त्र विवाह सूक्त में वर्णित है । स्वामी दयानन्द भी ऐसा ही मानते हैं । यहाँ पर कुमारी के विवाह का प्रसंग है । विधवा विवाह का बोधक कोई शब्द यहाँ नहीं मिलता । 'हे स्त्री' यह अर्थ मन्त्र के किस पद से निकलता है । इसी तरह से नियुक्त पुरुष से तुम दस सन्तान उत्पन्न करो, यह अर्थ भी किन पदों से, किस व्याकरण के अनुसार निकलेगा ? यदि वर ही इस मन्त्र का प्रतिपाद्य है, तो क्या उसी को ग्यारहवां पति करना है ? यदि स्त्री प्रतिपाद्य है तो क्या उसी को पति में गर्भाधान करना है । इन्द्र पद से यदि इस मन्त्र में वीर्य सेचनकर्ता वर प्रतिपाद्य है, तो फिर चतुर्थ पक्ष में स्त्री को कैसे संबोधित किया जा सकता है ? मीढ्व पद के कारण स्त्री संबोधित नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें वीर्यसेचन का सामर्थ्य है ही नहीं । मन्त्र में दस पुत्रों की चर्चा आई है, पतियों की नहीं । क्या आर्यसमाजियों के यहाँ पुत्र को ही पति माना जाता है । संस्कार विधि में भी विवाह के प्रकरण में ही यह मन्त्र पठित

सम्भवति। किं विवाहात् पूर्वमेव दश पतयः सम्पन्नाः ? किं वा सा कुमारी विधवापदेन सम्बोधनीया स्यात् ? इत्याद्यनेका विप्रतिपत्तयः सामाजिकेऽर्थे।

तस्मादस्य मन्त्रस्यायमेवार्थः—हे इन्द्र मीढ्वः इमां त्वं सुपुत्रां सुभगां कृणु। अत्र इन्द्रदेवता स्त्रियाः सुभगात्वाय सुपुत्रात्वाय च प्रार्थ्यते। पुत्राणां सम्बन्धे दशपुत्रानस्यामाधेहीति तृतीयपाद उक्तम्। सुभगात्वाय च चतुर्थपादे पतिमेकादशं कृधि इत्युक्तम्। हे इन्द्रदेव स्त्रिया दशपुत्रापेक्षया चैकादशं पतिं कृधि। तेनैव तस्याः सौभाग्यं स्थैर्यं च प्रार्थ्यते। न च संख्यापूरणं सजातीयेनैव सम्भवति, 'यजमानपञ्चमा ऋत्विज इडां भक्षयन्ति' इत्यत्रानृत्विजापि यजमानेन पञ्चसंख्यापूरणदर्शनात्। तथैव पुत्रभिन्नेन पत्याप्येकादशसंख्यापूर्तिसम्भवात् कृधीत्यस्य स्थापनमर्थः, करोतेः क्रियासामान्यार्थत्वात्। यथा—'कुरु पदानि घनोरु शनैः शनैः' इति सौभाग्यदाता विवाहितः पतिरेव भवति। नियुक्तस्तु दुर्भगायास्तस्याः सौभाग्यदाता नैव भवति। स तु वस्तुतः पतिरपि न भवति, किन्तु दयानन्दरीत्या विधवायां वीर्यं सिक्त्वा स्वगृहं गच्छति। 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्' (ऋ० सं० १०।८५।३६) अत्र तु वैवाहिकपतिकर्तृकं हस्तग्रहणमुक्तम्। न नियुक्तकर्तृकं हस्तग्रहणं क्वचिदपि सम्भवति। तस्मान्नात्र एकादश पतयो विधवायाः सिद्ध्यन्ति। तथासति 'एकादशपतीन् कृधि' इति पाठः स्यात्। यथा दशास्यां पुत्रानाधेहीत्यत्र डट्प्रत्ययाभावेऽपि बहुवचनान्तदशशब्दः पुत्रानित्यनेन सम्बद्ध्यते, तथैव एकादशशब्दोऽपि बहुवचनान्तो भवति एकादशमिति डट्प्रत्ययान्तत्वाद् एकवचनान्तः। न च एकवचनान्तेन एकादशशब्देन एकादशसंख्याकाः पतयः सिद्ध्यन्ति, किन्त्वेक एव पतिर्दशपुत्रानपेक्ष्य एकादशसंख्यापूरको भवति। नात्र कथमपि हे पते त्वमेकादशीं स्त्रियं कृधीत्यर्थः सम्भवति। पूर्वं तु दश पुत्रा उक्ता; न दश स्त्रियः। येन तथार्थः स्यात्।

वस्तुतस्तु वरोऽत्र इन्द्रदेवतां प्रार्थयते। इन्द्रो वृष्टेर्देवता भवतीति तदभिप्रायेणैव तस्य मीढ्व इति सम्बोधनम्। (मिह सेचने) क्वसुप्रत्यये निपातेन मीढ्व इति रूपं सिद्ध्यति। दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च' (पा० सू० ६।१।१२), 'मतुवसोरु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इत्यादीनि सूत्राणि तत्र प्रमाणानि। तस्माद्वरः प्रार्थयते—हे वृष्टिकर्तः इन्द्र त्वमस्यां स्त्रियां दश पुत्रानाधेहि दश पुत्रान् स्थापय। एकादशं मां पतिं स्थापय रक्षेत्यर्थः। अनेन मन्त्रेण वध्वाः प्रजार्थमिन्द्रः प्रार्थ्यते। यथा इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' (अथर्व० १४।१।५४)। तस्मादत्र वरो वक्ता न

है। विवाह के समय पति ग्यारहवां नहीं हो सकता। क्या आर्यसमाजियों के यहाँ स्त्री के विवाह के पहले ही दस पति हो जाते हैं अथवा क्या कुमारी को ही विधवा कहा जाता है ? इस तरह की अनेक शंकाएँ आर्यसमाजी अर्थ के प्रति उत्पन्न होती हैं।

मन्त्र का सही अर्थ इस प्रकार से होगा—हे इन्द्र, इस स्त्री को आप सौभाग्यवती और पुत्रवती बनाइये। तृतीय पाद में पुत्रों के सम्बन्ध में और चतुर्थ पाद में सौभाग्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि—हे इन्द्र, इसको आप दस पुत्र दीजिये और इन दस पुत्रों के साथ ग्यारहवीं संख्या को पूरा करने वाला इसको विवाह-पति दो और वह इन सब के साथ आनन्दपूर्वक रहे। संख्या की पूर्ति सजातीय से ही हो, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि वेद में ऋत्विजों के साथ यजमान मिलकर पाँच संख्या की पूर्ति करता है। सौभाग्य को देनेवाला विवाहित पति ही होता है, नियुक्त व्यक्ति को पति माना भी नहीं जाता। दयानन्द के अनुसार वह विधवा में वीर्यसेचन करने के उपरान्त अपने घर चला जाता है। ऋग्वेद के अनुसार विवाहित पति ही पाणिग्रहण करता है, नियुक्त व्यक्ति नहीं। इस तरह से यहाँ पर विधवा के ग्यारह पतियों की चर्चा मानना निराधार है। 'एकादश पतीन् कृधि' ऐसा पाठ होने पर ही वह अर्थ निकल सकता था। एक वचनान्त एकादश शब्द से ग्यारह पतियों का बोध हो भी नहीं सकता, किन्तु एक ही पति अपने दस पुत्रों के साथ ग्यारहवाँ माना जाता है। पति के लिये ग्यारह पत्नियों के विधान की बात तो कोरी कल्पना है। मन्त्र में दस पुत्रों की चर्चा की गई है, स्त्रियों की नहीं।

वास्तव में तो वर यहाँ इन्द्र से प्रार्थना करता है। इन्द्र वृष्टि का देवता है, अतः मीढ्व उसी को कहा जाता है। वर इन्द्र से प्रार्थना करता है कि इस स्त्री के द्वारा मुझे दस पुत्र प्राप्त हों और उनके साथ ग्यारहवीं संख्या की पूर्ति करने वाला मैं भी

प्रतिपाद्यः । अत्र वरेण स्वपत्न्यां प्रजार्थमिन्द्रः प्रार्थितः । इन्द्रश्च न कश्चिद्राजा सेनापतिर्वा, किन्तु परमैश्वर्यसम्पन्नः सङ्कल्पमात्रेण स्वभक्ताभीष्टसाधको देवयोनिविशेषः । प्रतिपक्षिरीत्या तु नियुक्तो विधवायाः पतिरपि न भवति । स तु विधवायां वीर्यं सिक्त्वा रात्रावेव स्वगृहं गच्छति । 'गृभ्णामि ते सौमगत्वाय हस्तम्' (ऋ० सं० १०।८५।३६) अत्र तु वैवाहिकपतिकर्तृकं कुमार्याः पाणिग्रहणम्' न नियुक्तकर्तृकं विधवायाः पाणिग्रहणमिहोक्तं निर्मूलत्वात् ।

यत्तु केनचिदुक्तम्—'मन्त्रस्य त्रयः पादाः स्त्रियाः कृते; चतुर्थः पुरुषस्य कृते व्यत्यस्तः स्यात्; तदान्यथार्थः स्यादिति, तदपि तुच्छम्, तथा व्यत्यासस्य निर्मूलत्वात् । इमामितिपदं सम्मुखस्थितां स्त्रियं व्याचष्टे। पतिमितिपदं मन्त्रे ताटस्थ्यं वक्ति । उभयोः सम्बोध्यत्वे प्रथमान्तत्वं स्यात् । नतु 'इमा' मिति 'पति' मिति द्वितीयान्तत्वम् । सम्बोधने मिढ्व इत्यस्य स्थाने 'मीढुषि' इति स्यात् । दश अस्यां पुत्रानाधेहीति वाक्यस्य अस्मिन् पत्यौ इत्यर्थः कथं स्यात् ? कथं च पुरुषे गर्भाशयः स्यादिति ? तथैव पतिमेकादशं कृधीत्यस्य एकादशीं स्त्रियं कृधीत्यर्थोऽपि न सम्भवतीत्यप्युक्तमेव ।

ऋग्वेदसंहितायां (१०।८५।४३) मन्त्रस्य 'आनः प्रजां जनयतु प्रजापतिः' इति वाक्येऽपि वर एव वक्ता । स वध्वाः प्रजार्थं प्रजापतिं प्रार्थयते । 'अघोरचक्षुरपतिघ्नी' (१०।८५।४४) मन्त्रेऽपि वर एव वक्ता 'इमां त्वमिन्द्र...' (१०।८५।४५) मन्त्रेपि वर एव वक्ता । तथा सति वक्ता सन् वरोऽत्र प्रतिपाद्यः कथं भविष्यति ? 'सम्राज्ञीश्वशुरे·····' (ऋ सं० १०।८५।४६) मन्त्रेपि वर एव वक्ता । 'समञ्जन्त विश्वेदेवा' (ऋ० सं० १०।८५।४७) इत्यस्यापि वर एव वक्ता । तथा सति 'इमां त्वमिन्द्र' (ऋ० सं० १०।८५।४५) इति मन्त्रे पतिर्वा स्त्री वा कथं प्रतिपाद्ये भवेताम् ? स्वेच्छयार्थपरिवर्तनं श्रुतिषु जघन्यो बलात्कार एव । तस्मात् ४५ मन्त्रे इन्द्रदेवतैव वध्वाः प्रजालामार्थं प्रार्थ्यते । वरस्त्वत्र प्रतिपादको, न प्रतिपाद्यः । वध्वास्तु प्रतिपाद्यत्वं दूरतोऽपास्तम् । 'मरुत्वान् इन्द्र मीढ्वापि वा सोमं शतक्रतो' (ऋ० सं० ८।७६।७) यथास्मिन् मन्त्रे मीढ्वः शब्देन इन्द्र एव सम्बोधितः प्रार्थितश्च, तथैव प्रकृतेऽपि बोध्यम् ।

किञ्चात्रैव विवाहसूक्ते 'प्रेतो मुञ्चामि (प्र + इतः पितृगृहात्) नामुतः (पत्युर्गृहात्)' (ऋ० सं० १०।८५।२५) मन्त्रेपि ४५ मन्त्रे यथा वरो वक्ता तथैव वरो वक्ता । स च वरः इन्द्रं देवं मीढ्वांसं स्वस्माद्भिन्नमेव बोधयति । स चेन्द्रं प्रति स्वपत्न्याः पुत्रं सौभाग्यं च प्रार्थयते । तथा उभयोः समानयोः सूक्तयोः २५, ४५ मन्त्रयोरपि समान एवार्थः । पतिर्यत्रेन्द्रं

भी आनन्दपूर्वक रहूँ । 'इन्द्राग्नी' प्रभृति अथर्ववेदीय मन्त्र की तरह ही यहाँ पर भी वर प्रार्थना करने वाला ही है, वह स्वयं इस मन्त्र का प्रतिपाद्य नहीं है । इन्द्र यहाँ कोई राजा या सेनापति आदि न होकर देवराज इन्द्र है ।

किसी ने लिखा है कि इस मन्त्र के तीन पाद स्त्री के लिये और एक पाद पुरुष के लिये है, किन्तु यह कथन भी निराधार है, क्योंकि इस तरह का विनियोग करने में कोई प्रमाण नहीं है । यदि पति और पत्नी यहाँ संबोध्य होते तो उनके लिये द्वितीयान्त पदों का प्रयोग न होकर प्रथमान्त पदों का विनियोग होना चाहिये था । पुरुष के गर्भाधान नहीं होता, तब स्त्री, पुरुष में गर्भाधान कैसे करेगी और पुरुष के लिये ग्यारहवीं पत्नी के विधान की बात कैसे निकलेगी ?

'आ नः प्रजां' इस ऋग्वेदीय मन्त्र में भी वर ही वक्ता माना गया है । वह वधू में प्रजा की उत्पत्ति के लिये प्रजापति से प्रार्थना करता है । इसी तरह से 'अघोर चक्षु०, इमां त्वमिन्द्र०, सम्राज्ञी, प्रभृति मन्त्रों में भी वक्ता के रूप में वर ही अभिप्रेत है । तब 'इमां त्वमिन्द्र०' इस मन्त्र में पति अथवा स्त्री कैसे प्रतिपाद्य हो सकती है । वेदार्थ के साथ मनमानी करना एक जघन्य अपराध है । पूरे प्रकरण पर विचार करने के उपरान्त यही निश्चित होता है कि इस मन्त्र में पुत्रों की प्राप्ति के लिये इन्द्र देवता से प्रार्थना की गई है । वर यहाँ प्रतिपादक है, प्रतिपाद्य नहीं । ऐसी स्थिति में वधू के प्रतिपाद्य होने की बात तो रह ही कहाँ जाती है । 'मरुत्वान्' प्रभृति मन्त्र की तरह प्रस्तुत मन्त्र में भी मीढ्व पद इन्द्र का ही बोधक है ।

विवाह सूक्त के 'प्रेत्ये मुञ्चामि' प्रभृति मन्त्र में वर ही वक्ता है । वह इन्द्र से प्रार्थना करता है, अतः स्पष्ट है कि इन्द्र वर से भिन्न है । वह इन्द्र से अपनी पत्नी और पुत्रों की कल्याण कामना करता है । इन दोनों सूक्तों का एक सा ही अर्थ होना

प्रति स्वपत्न्याः सौभाग्यं प्रार्थयते, पत्नीं च स्वगृहे सुबद्धां कुरुते। तेन पत्यन्तरसम्बन्धनिषेधः सुतरां प्रतिफलति। न च वर इन्द्रपदार्थ इति विवाहमन्त्रेषु दर्शयितुं शक्यः।

'इह इमौ इन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती प्रजया एनौ स्वस्तव्यौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम्' (अथर्व० १४।२।६४) अत्र दम्पतीभ्यां प्रजार्थमिन्द्रो देवः प्रार्थितः। तदा 'इमां त्वमिन्द्र' इति मन्त्रेऽपि इन्द्रो देवता अर्थो; न पतिः। तथाचानेन मन्त्रेण विधवाविवाहो नियोगो वा कथं साधयितुं शक्यः? विवाहसूक्ते माङ्गलिके कर्मणि कथममाङ्गलिको विधवाविवाहो नियोगो वा बोध्येत?

उक्तमन्त्रे देवृकामाशब्देन आर्यसमाजो विधवाया देवरेण विवाहं साधयति। तच्च मन्त्रस्य तथार्थत्वे स्ववचोविरुद्धमेव। सम्पूर्णमन्त्रस्येदं स्वरूपम्—'अघोरचक्षुः अपतिघ्नी एधि शिवा पशुभ्यः सुमनस सुवर्चा वीरसूर्देवृकामास्योना शन्न-भव द्विपदे शं चतुष्पदे।' (ऋ० सं० १०।८५।४४) इति। अस्य मन्त्रस्योत्तरार्धादिममंशं दयानन्द इत्थमर्थापयति—'उत्तमो वीरपुरुषोत्पादयित्री देवृकामा देवरं कामयमाना नियोगश्च कामयमाना' (संस्कारविधि, पृ० १४४)। सत्यार्थप्रकाशेऽप्येवमेव। प्रजावती उत्तमपुत्रपौत्रादिसहिता वीरपुत्रजनयित्री देवृकामा देवरं कामयमाना। स्योनाः ७२ पृष्ठे दयानन्दस्तदनुयायिनश्च देवृकामा इति पदेन नियोगं विधवाविवाहं च सिषाधयिषन्ति। देवरशब्दस्य द्वितीयो वर इत्यप्यर्थमाहुः। भ्रातृपत्नीं (भाभी) भाविनीं पत्नीमित्यर्थं चकार। यद्यप्येते विवाहे विधवाविवाहं नियोगं च न मन्यन्ते, तथापि कथमत्र विवाहमन्त्रं विधवाविवाहपरतया व्याकुर्वन्तीत्याश्चर्यमेव। उक्तमन्त्रे—अपतिघ्नी, देवृकामा, प्रजावती, वीरसूः—इति व्याघातमपि ते न पश्यन्ति। या देवरकामा सा कथमपतिघ्नी? सामाजिकाश्च पुत्राभावे विधवाविवाहं समर्थयन्ते, परमिह या प्रजावती वीरसूरस्ति सैव कथं देवृकामा स्यात्?

वस्तुतस्तु विवाहविधौ ऋग्वेदसंहिताया मन्त्र आयाति। तत्र च देवकामा इत्येव पाठः—'देवृकामा' इति पाठस्तु नास्त्येव, सायणभाष्योपेतायामृग्वेदसंहितायां तादृशपाठादर्शनात्। पूनाबम्बई-संस्करणयोऽमूले भाष्ये च देवकामा इत्येव पाठो, न देवृकामा इति। विवाहादिसंस्कारा गृह्यसूत्रानुसारेण भवन्ति। न च गृह्यसूत्रेषु 'देवृकामा' इति पाठो दृश्यते,

चाहिये। वर अपनी पत्नी के सम्बन्ध में ही इन्द्र से प्रार्थना करता है, इससे दूसरे पति के सम्पर्क की बात ही कहां होती है। विवाह के मन्त्रों में कहीं पर भी इन्द्र पद से वर को संबोधित किया गया है, ऐसा किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

'इह इमौ' इस मन्त्र में भी दम्पति के सन्मति लाभ के लिये इन्द्र से प्रार्थना की गई है। इसी तरह से प्रस्तुत मन्त्र में भी इन्द्र की ही प्रार्थना मानी जायगी। तब इस मन्त्र से विधवा विवाह अथवा नियोग की सिद्धि कैसे हो सकती है। विवाह सूक्त एक मांगलिक कार्य है, उसमें विधवा विवाह अथवा नियोग की चर्चा से बढ़कर क्या अमांगलिक कार्य होगा?

'अघोरचक्षुः' प्रभृति मन्त्र में प्रयुक्त 'देवृकामा' शब्द के आधार पर भी आर्यसमाजी विधवा विवाह की सिद्धि करना चाहते हैं। संस्कार विधि और सत्यार्थप्रकाश में किये गये स्वामी दयानन्द के अर्थ से भी यह बात विपरीत पड़ती है। तो भी वे लोग देवर का अर्थ 'द्वितीय वर' करके भ्रातृ पत्नी का अर्थ भविष्य में होने वाली पत्नी कहते हैं। विवाह के अवसर पर ये विधवा विवाह और नियोग की चर्चा नहीं मानते, तो भी यहाँ पर विवाह के मन्त्र का उपयोग विधवा विवाह की सिद्धि में करने लगते हैं, यह आश्चर्य की ही बात है। ये लोग उसी मन्त्र में प्रयुक्त अपतिघ्नी प्रभृति शब्दों पर भी ध्यान नहीं देते। जो पत्नी देवर को पति के रूप में चाहने लगेगी, वह अपतिघ्नी कैसे रह जायगी? आर्यसमाजी कहते हैं कि पुत्र के अभाव में विधवा विवाह समर्थनीय है, किन्तु यहाँ पर तो स्त्री वीर-पुत्र को उत्पन्न करानेवाली बताई गई है, वह फिर किसलिये देवर को पति बनावेगी?

वस्तुतः विवाह विधि में ऋग्वेदसंहिता के मन्त्र पढ़े जाते हैं और उन मन्त्रों में 'देवकामा' पद आया है। देवृकामा नहीं। सायणभाष्य में इसी पाठ की व्याख्या मिलती है। अन्य संस्करणों में यही पाठ मिलता है। 'देवृकामा' पाठ कहीं भी नहीं है। विवाह प्रभृति संस्कार गृह्यसूत्रों के अनुसार किये जाते हैं। वहाँ पर 'देवकामा' पाठ ही मिलता है। मैक्समूलर के तथा तदनुसार

सर्वत्र देवकामा इत्येव पाठः। स्वामिदयानन्देन मैक्समूलरप्रकाशितवेदानुसारेणैव स्वीये वैदिकयन्त्रालये ऋग्वेदसंहिता मुद्रापिता। तत्रापि देवकामा इत्येव पाठः। देवृकामा इति पाठस्तत्रापि नास्ति। पिप्पलादसंहिता; या पतञ्जलिना महाभाष्यकारेणाङ्गीकृता, तस्यामपि देवकामा इत्येव पाठः। स्वामिदयानन्दप्रकाशितस्य संस्कारविधेः ८४ पृष्ठे देवकामा इत्येव पाठः। द्वितीयेऽपि संस्करणे तथैव पाठो विद्यते। तृतीयसंस्करणे तु देवृकामा इति पाठः परिवर्तितः। अर्थोऽपि तत्र संस्करणे नियोगपरो व्याख्यातः। प्रथमसंस्करणे नियोगपरोऽर्थोऽपि नासीत्। सामाजिकास्तु 'देवृकामा' इत्यादिकं पत्न्याः प्रतिज्ञावाक्यं मन्यन्ते, परं तदशुद्धमेव, वीरसूरित्यस्य पतिवाक्यत्वात्। अथर्वमन्त्रे प्रजावतीत्युक्त्या तस्याः सन्तानयुक्तात्वं विज्ञायते। तथा सति दयानन्दीयरीत्यापि विधवाविवाहो नियोगश्च न सम्भवति। या अपतिघ्नी तस्या देवरकामात्वं कथं सम्भवति ? सति सन्ताने नियोगविधिना सम्बन्धवतोः पातिव्रत्यमभ्युपेयते। तस्माद् देवकामा इत्येव पाठो युक्तो न देवृकामा इति। अद्यत्वे क्वचिन्मातुरपि भाभीपदेन व्यवहारो भवति. किं तस्या अपि भाविपत्नीत्वं स्यात् ?

किञ्च, देवृकामा इतिं पाठेऽपि मम देवरो भवेद् इत्येवार्थोपि भवति, न तु देवरो द्वितीयो वर इत्यर्थो भवति। या चैवं कामयते सा तु हृदयेन पत्युर्मृत्युमेव कामयते। आर्यसमाजरीत्या पत्युर्मरणानन्तरमेव देवरं कामयते। सति पत्यौ देवरकामनायां व्यभिचारिणीत्वमेव स्यात्। अतोऽसम्भवात् तथार्थो न मन्तव्यः। दयानन्दस्य संस्कारविधिरीत्या पत्न्याः कृते ध्रुवा एधि पोष्ये 'मयि' पृ० १६६, यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम। यदिदं हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव' पृ० १६८, ध्रुवा स्त्रो पतिकुले इयम्' पृ० १६५, 'रुद्धाहमस्मि अमुष्य अत्रामुष्येति पत्युर्नाम वक्तव्यम्। ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम् अमुष्य ह्यसौ पृ० १६५ इत्यादिशब्दा सत्यार्थ प्रकाशे—अनया रीत्या विवाहं समाप्य स्त्रियास्तनुः पत्ये समर्पिता भवति, मनोऽपि नान्यस्मै समर्पयितुं शक्यम्, कुतः ? मनसा सहैव तन्वाः समर्पणात्। और जो करें तो व्यभिचारी कहावेंगे (सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ११ पृ० २३६) इति रीत्या यया पत्ये स्वात्मसमर्पणं कृतं सा चेद् देवराय आत्मसमर्पणं करोति, तदावश्यं व्यभिचारिणी स्यात्। अतः 'देवृकामा' इत्यस्य नियोगोऽर्थः सर्वथा अशुद्धः। नियोगे सति भ्रातृपत्न्या (भाभी) भाविपत्नीत्वं मन्यते सामाजिकैः, तदप्यसङ्गतमेव, नियुक्तस्य पतित्वासम्भवात्। नियोगिन्याश्च पत्नीत्वमप्यशुद्धमेव, लाजाहोमादिवैवाहिकयज्ञ एव पत्नीशब्दसिद्धेः।

प्रकाशित दयानन्द के संस्करण में भी यहीं पाठ है। महाभाष्य में पतंजलि द्वारा उद्धृत पिप्पलाद संहिता के वचन में 'देवकामा' ही पाठ है। स्वामी दयानन्द द्वारा प्रकाशित संस्कार विधि में उक्त पाठ ही उद्धृत है। द्वितीय संस्करण में वही पाठ है, किन्तु तृतीय संस्करण में 'देवृकामा' पाठ कर दिया है और इसी संस्करण में इसका नियोगपरक अर्थ भी किया गया है। पूर्व संकरणों में ऐसा नहीं था। आर्यसमाजी 'देवृकामा' पद को पत्नी का प्रतिज्ञावाक्य मानते हैं, किन्तु यह भी गलत है, क्योंकि यह पति का वाक्य है। अथर्ववेदीय मन्त्र के अनुसार वह सन्मति वाली है और इस परिस्थिति में दयानन्द के अनुसार नियोग विहित नहीं है, ऐसी स्थिति में उन्होंने इसकी निन्दा ही की है। अतः 'देवकामा' पाठ ही सही माना जायगा।

'देवृकामा' पाठ मान लेने पर भी उसका अर्थ मेरे देवर भी हो, यही होगा। देवर मेरा द्वितीय पति हो, ऐसा नहीं। जो ऐसा चाहेगी, उसके लिये तो यही कहा जायगा कि वह अपने मन में पति की मृत्यु की कामना कर रही है। आर्यसमाजियों के मत के अनुसार वह पति की मृत्यु के बाद ही देवर को चाहती है। पति के रहते देवर को चाहने वाली तो व्यभिचारिणी ही कहलावेगी। इस बात का उल्लेख स्वामी दयानन्द ने संस्कार विधि (पृ० १६५-१६६, १६८) और सत्यार्थप्रकाश (११ समु० पृ० २३६) मे भी किया है। अतः देवृकामा' पद से नियोग को सिद्ध करना सर्वथा असंगत कल्पना है। नियोग होने पर आर्यसमाजी भाभी को भावी पत्नी कहते हैं। यह भी असंगत है, क्योंकि नियुक्त व्यक्ति पति नहीं माना जाता। नियोग द्वारा गृहीत स्त्री भी पत्नी नहीं मानी जाती। लाजाहोम आदि वैवाहिक कृत्यों के द्वारा परिगृहीत स्त्री के लिये ही पत्नी शब्द का प्रयोग होता है।

किञ्च किं देवृकामा इति वैदिकाज्ञापालनार्थं भ्रातुर्मृत्युं प्रतीक्षमाणो देवरो विवाहमेव न करिष्यति, भ्रातृपत्नीमेव भाविनीं पत्नीं मन्यमाने विषादिकं वा दत्त्वा विधवां सम्पाद्य देवृकामा इति वेदाज्ञापालनपरायणो भविष्यति, अथवा विवाहितो देवरः किं स्वविवाहितां पत्नीं वेदाज्ञापालनार्थं मारयिष्यति ? यतः प्रतिपक्षिरीत्या विधुरस्यैव नियोगेऽधिकारः । यदि मन्त्रे देवृशब्दो न पतिभ्रातृवाचकः, किन्तु द्वितीयवरमात्रवाचकः, तथा सति देवरः सर्वोऽपि विधवां (भाभी) भ्रातृपत्नीं मन्येत ? तथात्वे सर्वस्यापि सा भाविनी पत्नी स्यात् । तादृशदुरभिप्रायस्य प्रचारणे मरणात्प्रागपि भ्रातुरनुपस्थितौ देवरो भ्रातृभार्यया युज्येत । यतः प्रतिपक्षिरीत्या भाभीशब्दस्य भाविनी पत्नीत्यर्थमाह । यदि पत्युरनुपस्थितावपि पतित्वं न नश्यति तर्हि मरणेऽपि पत्युः पतित्वं न नश्यतीति कुतो न मन्यते । 'जीवन् वापि मृतो वापि पतिरेव पतिः स्त्रियाम् इति बृहत्पराशरस्मृतेः (४।४८) । वस्तुतस्तु यदि 'देवृकामा' इत्येष पाठः क्वचित्स्यादपि तदापि यथा पुत्रकामा इत्यस्य मे पुत्रः स्यादित्येवार्थः, तथैव देवृकामा इत्यस्य देवरो मे स्यादित्येवार्थः । 'पुत्रकामा' (ऋ० सं० १०।१८२।२) नहि पुत्रकामापदेन प्रतिपक्षिभिरपि मातुः पतिमरणे पुत्रेण सह मातुर्नियोगोऽभ्युपेयते । 'देवृकामा' इत्यस्य प्रतिपक्ष्यभिमतार्थत्वे को वा पतिर्माङ्गलिके विवाहेऽमाङ्गलिकं देवृकामा इति शब्दमुच्चारयेत् । यतः स्वमरणेन पत्न्या वैधव्यं स्यात्, वैधव्येन देवरेण नियोगः सम्पद्येत । प्रतिपक्षिणां दृष्ट्या पतिरवश्यं मरणधर्मा स्यात्, पत्नी देवरश्चामृतावेव स्याताम् । तदीयवेदार्थानुसारेण यौवनकाल एव पत्युर्मरणं स्यात्, तदैव देवरेण नियोगो वक्तुं शक्येत ।

किञ्च, तथात्वे श्वशुरोऽपि नियोगं कथं न कामयेत ? यतःसोऽपि 'प्रतीक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च' (अथर्व० १४।१३९) रीत्या देवरवद् वध्वाः प्रतीक्षकः । 'स्योनाश्वशुरेभ्यः' (अथर्व० १४।२।२७) अत्र वध्वाः श्वशुरानन्ददात्रीत्वमुक्तमेव । स्वामिदयानन्देनापि लिखितम्—'हे वरानने त्वं श्वशुरे मत्पितरि प्रीतिमती भव । देवरे मद्भ्रातरि च प्रीत्याधिकारयुक्ता भव । सम्राज्ञीपदमुभयत्रापि समानार्थो भवति । तथात्वे पत्युर्मरणानन्तरं वैदिकतात्पर्यानुसारेण श्वशुरोऽपि कथं न नियोगाधिकारी स्यात् ? तदर्थं वैदिके न्यायालयेऽभियोगमपि चालयेत् । भाभीशब्दस्य भाविन्या पत्न्या न किञ्चिदपि साम्यमस्ति ।

'देवृकामा' इस वैदिक आज्ञा के पालन के लिये अपने भाई की मृत्यु की प्रतीक्षा में देवर अपना विवाह नहीं करेगा । वह अपनी भाभी को ही भावी पत्नी मानकर भाई को विष आदि देकर मार डालेगा । अथवा नियोग में विधुर का ही अधिकार है, इस आर्यसमाजी व्याख्या के अनुसार अपना विवाह हो जाने पर भी विधुर बनने के लिये अपनी पत्नी को मार डालेगा । यदि मन्त्र में 'देवृ' शब्द पति के भाई का वाचक न होकर द्वितीय वर मात्र का वाचक है तो कोई भी मनुष्य किसी भी विधवा को भाभी मानने लगेगा और इस तरह से यह सब किसी की भावी पत्नी बन सकेगी । इस तरह की बातों का प्रचार करने पर तो कोई भाई के मरने से पहले भी उसकी अनुपस्थिति में भाभी से दुराचार करने लगेगा । यदि पति की अनुपस्थिति में भी पतित्व का नाश नहीं होता, तो वह उसके मरने के उपरान्त कैसे नष्ट हो सकता है । वास्तव में देखा जाय तो 'देवृकामा' यह पाठ मान लेने पर भी जैसे पुत्रकामा पद का अर्थ यही होगा कि मेरे पुत्र हो, उसी तरह से 'देवृकामा' पद का अर्थ भी मेरे देवर हो, यही होगा । 'देवृकामा' पद का यदि आर्यसमाजियों का अभिप्रेत अर्थ माना जाय, तो विवाह के अवसर पर अपने लिये अमंगल सूचक इस पद का उच्चारण कोई भी व्यक्ति नहीं करेगा । क्योंकि उनके अर्थ के अनुसार तो युवावस्था में पति की मृत्यु हो जाने पर ही देवर के साथ उसका नियोग हो सकता है ।

फिर नियोग देवर के साथ ही क्यों हो ? श्वशुर के साथ नियोग किस आधार पर निषिद्ध किया जायगा ? क्योंकि अथर्ववेदीय मन्त्र के अनुसार देवर के साथ श्वशुर भी वधू की प्रतीक्षा करता है । एक दूसरे मन्त्र में भी वधू को श्वशुर के लिये सुख देने वाली बताया गया है और स्वामी दयानन्द ने उसका यही अर्थ किया भी है । ऐसी स्थिति में पति के मर जाने पर आपके निकाले वैदिक तात्पर्य के अनुसार श्वशुर भी नियोग का अधिकारी माना जायगा । भाभी शब्द का 'भाविनी पत्नी' शब्द से किसी तरह का सम्बन्ध नहीं जुटाया जा सकता । भ्रातृपत्नी शब्द से बिगड़ कर यह शब्द बना हुआ है । भाभी पद का अर्थ भावीपत्नी करने पर

भ्रातृपत्न्यास्तु अपभ्रंशोऽयं शब्दो भवेदपि न भाविन्याः पत्न्याः। भाभी इत्यस्य हे भदीयभाविनि पत्नि इत्यर्थत्वे समाजे दुश्चरित्रता कथं न स्यात्? ननान्दापि भ्रातृपत्नीं भाभी कथयति किं तस्या अपि सा भाविनी पत्नी सम्भवति?

डाक्टर लक्ष्मणस्वरूपमहाशयोऽप्यत्र कथयति—'सौभाग्यमेवेदं यद् दुर्गाचार्यः स्वभाष्ये निरुक्तस्य प्रत्येकं पदमावर्तयति। एवं तद्भाष्येणैव निरुक्तस्य सम्पूर्णमूलपाठः सङ्कलयितुं शक्यते। देवरः कस्मात् द्वितीयो वर इत्युद्धरणे स्पष्टमेव प्रक्षेपः। यस्मिन् वैदिकसन्दर्भे येन क्रमेणैते शब्दा आगतास्तदनुसारेण स्वाभाविकतया यास्कः प्रथमं विधवाशब्दस्य निर्वचनं कृत्वा पुनर्देवरशब्दस्य निर्वचनं कुर्यात्। देवरो दीव्यतिकर्मा। (ओरियण्टल कालेज मेगजीन, क्रमसंख्या ५८ पृष्ठ ६०)। वस्तुतो यास्कस्येयमेव शैली यत्स व्याख्येयेषु मन्त्रेषु पदानां क्रमेण व्याख्याति। नान्वयपूर्वकं व्याख्याति। विधवेव देवरमित्यस्मिन् प्रतीके प्रथमं विधवाशब्दो विद्यते न देवरशब्दः। तद्रीत्या देवरशब्दस्य निर्वचनं प्रथमं कथं सम्भवति? देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते। अत्र विधवाशब्दनिर्वचनात् पूर्वं देवरशब्दस्य निर्वचनं कथमपि न सम्भवत्येव। तेन स्पष्टमस्य प्रक्षिप्तत्वं सिद्धयति।

पुनश्च विधवा विधातृका भवतीति निरुच्य पश्चाद् देवरो दीव्यतिकर्मेति देवरशब्दं निरुक्तवान्। अयमंशो यास्कीयः। ततः पूर्वतनो भागो द्वितीयो वर इत्ययास्कीय एव। यदि देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते, इदमेव निर्वचनं यास्कीयं स्यात् तदा देवरो दीव्यतिकर्मा इति पुनर्निर्वचनं न स्यात्, शान्ताकाङ्क्षत्वात्। निर्वचनभेदस्येष्टत्वे वाशब्दप्रयोगः स्यात्। निर्वचनद्वये तदीयशैल्यां सर्वत्र वा प्रयोगदर्शनात्। व्यवधानेनैकस्यैव शब्दस्य पृथक् निर्वचनं यास्केन न कदापि कृतम्। देवरो दीव्यति कर्मा इति निर्वचनं तु स्वक्रमेण युक्तमेव। दुर्गाचार्येण तदीयं व्याख्यानमपि कृतम्। व्युत्क्रमप्राप्तस्य देवरो द्वितीयो वर इत्यस्य निर्वचनस्य प्रक्षिप्तत्वमेव सिद्धयति। आश्चर्यमिदं यत् सर्वत्र प्रक्षिप्तत्वप्रपञ्चकाः सामाजिका, अत्र स्पष्टतया प्रक्षिप्तत्वमप्युपेक्षन्ते।

यत्तु सायणभाष्ये निरुक्तनाम्नाऽयं पाठ उद्धृतस्तदपि शोधकानां प्रमादादेवेति वेदितव्यम्। सायणात् परम-

समाज में अव्यवस्था फैल जायगी। ननद भी अपने भाई की पत्नी को भाभी कहती हैं। तो क्या वह उस ननद की भी भावी पत्नी है?

डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप एक आर्यसमाजी विद्वान् हैं। उनका कहना है कि यह सौभाग्य की बात है कि दुर्गाचार्य ने अपने भाष्य से निरुक्त के प्रत्येक पद की व्याख्या की है। इसी भाष्य की सहायता से निरुक्त का पूरा पाठ संकलित किया जा सकता है। उसके अनुसार 'देवरः कस्मात्' इत्यादि वाक्य स्पष्ट ही प्रक्षिप्त हैं। यदि वैदिक सन्दर्भ में यह वाक्य समाविष्ट होता, तो स्वाभाविक रूप से यास्क ने पहले विधवा पद की व्याख्या कर उसके बाद देवर पद की व्याख्या की होती (ओरियण्टल कालेज मेगजीन, क्र० ५८, पृ. ६०)। उनका यह कथन पूरी तरह से सही है। यास्क की यही शैली है कि वे मन्त्रों में आये क्रम से ही पदों की व्याख्या करते हैं, अन्वय के क्रम से नहीं। 'विधवेव देवरम्' इस प्रतीक में पहले विधवा पद आया है, देवर पद नहीं। तब देवर शब्द की व्याख्या पहले कैसे आ सकती है? इससे स्पष्ट है कि यह पाठ प्रक्षिप्त है।

'विधवा विधातृका भवति' विधवा पद के इस निर्वचन के बाद 'देवरो दीव्यति कर्मा' यह निरुक्त का सही पाठ है। इससे पहले आया 'देवरो द्वितीयो वरः' यह पाठ प्रक्षिप्त है। यदि यास्क को यह पहला पाठ अभिप्रेत होता, तो वे उसका दूसरा निर्वचन क्यों करते? यदि उनको दो निर्वचन अभिप्रेत होते वे उसके लिए 'वा' शब्द का प्रयोग अवश्य करते, जैसा कि ऐसी परिस्थिति में वे अन्यत्र करते हैं। निरुक्तकार की यह भी शैली है कि वे निर्वचन करते समय उसमें किसी प्रकार का व्यवधान नहीं आने देते। यहाँ देवर शब्द के उक्त दोनों निर्वचनों में व्यवधान है। पहले निर्वचन की व्याख्या दुर्गाचार्य ने नहीं की है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रथम निर्वचन प्रक्षिप्त है। यह आश्चर्य की ही बात है कि सर्वत्र प्रक्षिप्त पाठ की धूम मचाने वाले आर्यसमाजी यहाँ पर प्रक्षिप्त पाठ की उपेक्षा कर उसी को प्रमाण मान लेते हैं।

सायणभाष्य में निरुक्त के नाम से यह वचन उद्धृत मिलता है, किन्तु यह ग्रन्थ-संपादक का प्रमाद है। सायण से बहुत

प्राचीनो दुर्गाचार्यः तद्वृत्तौ तन्नामाभावात्। एवं बहवः प्रमादा आधुनिके सायणभाष्ये दृश्यन्ते। यथा निरुक्तालोचने सामश्रमिमहाशयेनोद्धृतम्—'यच्चालोक्यते द्वा सुपर्णा इत्यस्य सायणभाष्ये अत्र द्वौ द्वौ इति निरुक्ते गतम्' इति। न तत् सायणीयं वचनं मन्यामहे, अपि तु टिप्पनीटीपितमाधुनिकमेव तत्। कालाल्लेखकानवधानात् तदन्तर्भूतमित्यत्र सन्देहाभावः। अन्यथा सायणाचार्यस्य उन्मत्तता प्रसज्ज्येतेति सुधीभिराकलनीयम्। (पृ० ४८।४९)। महामहोपाध्यायशिवदत्तशर्मणापि निरुक्ते टिप्पण्याम् (पृ० २२१) दिवुधातोः क्रीडार्थमवलोक्य क्रीड़ामात्रासक्तोऽत्र स्वोदरपूर्त्युपायज्ञानविकलो बालः स्तनन्धयोऽपत्यमेव गृह्यते देवरशब्दार्थः। तथा च तादृशं बालापत्यं पालयितुमस्मिँल्लोके तिष्ठेत्, नैव मृतपतेरनुगमनेन लोकान्तरं गच्छेदित्येकोऽर्थः। एवं च 'बालसंवर्धनं मुक्त्वा बालापत्या न गच्छति' इत्यादिस्मृतिषु प्रामाण्यं दर्शयत्यपत्यशब्दः। तथा एकस्य वालकस्य बालस्य देवरस्य वा स्वशय्यायां सह स्वापनमिष्टमिति। तथा च क्वात्र प्रतिपक्षिसम्मतो विधवाविवाहो वा नियोगो वा सिद्ध्यति?

कथञ्चिद् देवरः द्वितीयो वर इत्यभ्युपगमेऽपि प्रतिपक्ष्यभिमतार्थस्वीकारेऽप्युपपतिरेव द्वितीयो वरो भविष्यति। उपपत्तिश्च जार एव भवति। तथा च 'यथा शूद्रो यदर्यायै जारो न पोषमनुमन्यते' (वा० सं० २३।३१), 'शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति' (वा० सं० २३।३०) इत्यादिस्थलेषु जारशब्द उपपतिवाचको दृष्टः। तदा द्वितीयो वरो देवर इत्यभ्युपगमेऽपि तस्य जारत्वमेव सिद्ध्यति। 'अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्। जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः॥' (मा० पु० १०।२९।२६), 'यस्य चोपपतिर्गृहे' (म० ४।२१६), 'मृष्यन्ति ये चोपपतिम्' (म० ४।२१७), गच्छन् जारो न योषितम्' (ऋ० सं० ९।३८।४) इत्यादिवेदवचनेषु जारयोषितोरुपमाने सत्त्वेऽपि न कश्चन स्वयोषितो जारसम्बंधं मृष्यति। तथैव विधवेव देवरमिति वेदप्रोक्तोपमानत्वेऽपि नोपपतित्वस्य वैधत्वं सम्भवति। अत एव 'पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे॥ एतान् विगर्हिताचारान् अपाङ्क्तेयान् द्विजाधमान्। द्विजातिप्रवरो विद्वान् उभयत्र विवर्जयेत्॥' (म० ३।१६७) इति मनुना पौनर्भवादीनां निन्दितत्वमेवोक्तम्। अतो विधवेव देवरमित्यत्र विधवानां देवरैः शङ्कितं गुप्तव्यभिचारमेव दर्शयति। न तु तेन विधवाविवाहविधानम्। यदि विधवा देवरेण विवाहिता तदा विधवा कथं स्यात्? विवाहकर्ता चेद्देवरस्तदा पतिरेव कुतो न स्यात्कुतो देवरत्वव्यपदेशः? तस्माद् व्यभिचार एव भवति। न विवाहः।

प्राचीन दुर्गाचार्य की वृत्ति में यह पाठ उपलब्ध नहीं है। इसी तरह के अन्य भी अनेक प्रमाद सायणभाष्य में दिखाई पड़ते हैं। जैसा कि निरुक्तालोचन में सत्यव्रत सामश्रमी ने लिखा है—'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्र के सायणभाष्य में उद्धृत 'अत्र द्वौ द्वौ इति निरुक्ते गतम्' यह वचन निरुक्त में नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि किसी टिप्पणीकार ने यह लिखा होगा और बाद में लेखक प्रमाद से यह सायणभाष्य में संमिलित हो गया होगा। म० म० शिवदत्त शर्मा ने यहाँ पर टिप्पणी की है कि दिवु धातु क्रीड़ा के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। उसी से देवर शब्द बना है। यहाँ पर इसका अभिप्राय यह है कि यदि दूध पीता बालक हो तो उसको पति के साथ अनुमरण न कर अपने बच्चे का पालन करना चाहिये। इस विषय में स्मृति का वचन भी मिलता है। इस प्रकार यहाँ पर नियोग की या विधवा विवाह की कोई चर्चा नहीं सिद्ध की जा सकती।

किसी तरह से देवर शब्द का द्वितीय वर वाला आपका अर्थ स्वीकार भी कर लिया जाय, तो वह द्वितीय वर उपपति ही होगा। वेद में जार शब्द उपपति का पर्यायवाची है। श्रुति और स्मृति में जार या उपपति की निन्दा ही मिलती है। कोई भी व्यक्ति अपनी पत्नी का जार से सम्बन्ध हो, इस बात को सहन नहीं कर सकता, यद्यपि उसकी चर्चा वेदों में मिलती है। उसी तरह से 'विधवेव देवरम्' इस वाक्य का आपका किया हुआ अर्थ स्वीकार कर लिया जाय, तो भी उपपति वैध पति नहीं मान लिया जायगा। इसीलिये मनु ने पुनर्भू प्रभृति की निन्दा की है। अतः यहाँ विधवा विवाह का उल्लेख न होकर विधवा के देवर के साथ हो सकने वाले अवैध संबन्ध की ही चर्चा मानी जा सकती है। यदि विधवा का देवर के साथ विवाह हो जायगा तो वह विधवा कहाँ रह जायगी। देवर के साथ विवाह होगा तो वह पति ही होगा, तब उसको देवर क्यों कहा जायगा? किसी भी रूप में विचार किया जाय, उक्त वाक्य से विवाह की सिद्धि कथमपि नहीं हो सकती है।

किञ्च, यदि प्रतिपक्षिरीत्या देवरो द्वितीयो वरः स्यात् तदा ज्येष्ठभ्रातुर्जीवनकालेऽपि स तथैव द्वितीयो वरः स्यात्, निरुक्ते कालविशेषानिर्देशात् । तथा सति सामाजिकानां मते पत्न्याश्चैकस्या एव बहवः पतयो मैथुनकर्तारः स्युः । तस्माद्विधवेव देवरमिति मन्त्रेण विधवाविवाहसाधका भ्रान्ता एव । अन्यथा ततः पृथक् 'मर्यं न योषा' इत्युपमानं व्यर्थमेव स्यात् तत एव दयानन्दो देवरं विधवां च विवाहरहिते एव मन्यते । अत एव नियोग एव प्रतिफलति । यस्य तु विवाहः सम्पन्नस्तयोः सामाजिकरीत्यापि न मैथुनिकनियोगो न वा तादृशो विवाहः सम्भवति ।

सिद्धान्ते तु वाग्दत्ताया एव नियोगः पुनर्विवाहो वेति 'प्रदानं स्वाम्यकारणम्' (म० ५।१५२) इत्युक्तम् । कुल्लूकभट्टरीत्या तस्येदं व्याख्यानम्—यत् पुनः प्रथमं प्रदानं वाग्दानात्मकं तदेव भर्तुः स्वाम्यजनकम् । ततश्च वाग्दानादारभ्य स्त्री; भर्तृपरतन्त्रा । विवाहात् पूर्वं पत्यौ मृते वैधव्यमुपस्थितं भवति । तदा वाग्दत्ताया विधवाया देवरेण नियोगो विवाहो वाऽनुमन्यते । स एव विधवेव देवरम् इति मन्त्रेऽभीष्टः । नानेन मन्त्रेण पूर्वविवाहिताया विवाहो नियोगो वा इष्यते । तदेव मनुनाप्युक्तम्—'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः । तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥' (म० ९।६९) इति । अत्र वाग्दाने पतिशब्दः प्रयुक्तः । वाग्दत्तायाः पत्यौ मृतेऽपि सा विधवैव भवति । अत एव कुल्लूकभट्टोऽस्य मनुश्लोकस्यावतरणिकायामुक्तवान्—'नियोगप्रकरणत्वात् कन्यागतं विशेषमाह—'यस्याः····'(म० ९।६९) इति । अत एव वाग्दत्तायाः कन्याया एव वैधव्यं सिद्धम् । तथैव देवरेण नियोगादिकम् । विवाहितायास्तु नियोगस्य सर्वथा निषिद्धत्वात् । तथा च मनुः—'नान्यस्मिन् (देवरादौ) विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः । अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥' (म० ९।६४) इति । तथैव 'नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम् ।' (म० भा० अनु० ८।२२) इति महाभारते । अत्र जातौ 'ङीन्' प्रत्ययेन नारीपदं कन्यापरमेव । 'कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः । देवराय प्रदातव्या यदि कन्यानुमन्यते ॥' (म० ९।९७) इत्यादिपद्यान्यपि वाग्दत्ताविषयकाण्येव । पत्यौ मृते कन्यानुमत्या तथाविधानमिष्टम् । विधवेव देवरमिति मन्त्रेणापि मनुप्रदर्शिता सैव वाग्दत्ता विधवा विवक्षिता । तथाहि 'यथाविध्यभिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् । मिथो भजेताप्रसवात् सकृत्सकृदृतावृतौ ॥' (म० ९।७०) इति ।

फिर यदि आपके मत के अनुसार देवर द्वितीय वर है, तो वह अपने बड़े भाई के जीवन काल में भी द्वितीय वर रहेगा, क्योंकि निरुक्त में कोई समय नहीं निर्दिष्ट किया गया है । ऐसी स्थिति में आपके यहाँ एक ही पत्नी के अनेक पति हो जायेंगे । अतः यही मानना पड़ेगा कि विधवा विवाह को सिद्ध करने वाले आर्यसमाजी भ्रम में पड़े हुए हैं । स्वामी दयानन्द देवर और विधवा का विवाह नहीं मानते उनके मत से इनका नियोग होता है ।

सिद्धान्ततः 'प्रदानं स्वाम्यकरणम्' इस मनु वचन के अनुसार वाग्दत्ता कन्या का ही नियोग अथवा पुनर्विवाह विहित है । कुल्लूक भट्ट ने इसकी व्याख्या की है कि—वाग्दान के साथ ही कन्या पर; पति का अधिकार हो जाता है । विवाह से पहले ही उसकी मृत्यु हो जाने पर उसे वैधव्य उपस्थित होता है । ऐसी अवस्था में वाग्दत्ता विधवा का देवर के साथ नियोग अथवा विवाह किया जा सकता है । 'विधवेव देवरम्' इस मन्त्र में यही बात मानी गई है । इस मन्त्र में पूर्व विवाहित स्त्री का विवाह अथवा नियोग अभिमत नहीं है । 'यस्या म्रियेत' इस मनुवचन में यही स्वीकार किया गया है । वाग्दत्ता के पति की मृत्यु हो जाने पर उसको विधवा माना जाता है । इसीलिये कुल्लूक भट्ट ने इस श्लोक की अवतरणिका में ऐसी विधवा के नियोग का उल्लेख किया है । इससे वाग्दत्ता के वैधव्य की और उसका देवर के साथ नियोग की बात सिद्ध हो जाती है । 'नान्यस्मिन् विधवा नारी' प्रभृति मनु के श्लोक में विवाहित विधवा का नियोग सर्वथा निषिद्ध है । महाभारत में यही बात कही गई है । यहाँ नारी पद कन्या के अर्थ में ही प्रयुक्त है । ये सब वचन वाग्दत्ता से ही संबद्ध है । पति की मृत्यु हो जाने पर कन्या की अनुमति से ही उसका विवाह या नियोग हो सकता है । मनु प्रदर्शित वाग्दत्ता विधवा का ही मन्त्र-प्रदर्शित देवर के साथ विवाह या नियोग हो सकता है । 'यथा विध्यभिगम्य' इस मनु वचन में यही विषय प्रदर्शित है ।

इदमिहावधेयम्—युगान्तरेषु वाग्दानादिकालिकपतिमरणेऽपि कन्यां पुनर्भूं मत्वा तस्या विवाहो निन्दित एवासीत् । तथा च उद्वाहतत्त्वम्—'सप्तपौनर्भवाः कन्या वर्जनीयाः कुलाधमाः । वाचा दत्ता मनोदत्ता कृतकौतुकमङ्गला ॥ उदकस्पर्शिता या च या च पाणिगृहीतिका ॥ अग्नि परिगता या च पुनर्भूप्रभवा च या ॥' इति काश्यपवचनप्रामाण्यात् । तत एव सावित्री सत्यवते मनसैव स्वात्मानं दत्तवती । ततो नारदात्तस्याल्पायुष्ट्वं ज्ञात्वापि पुनर्भूत्वविचारादेवाऽन्येन विवाहं न स्वीकृतवती, किन्तु सत्यवतैव विवाहं कृतवती (म० मा० वनपर्व), देवीभागवतेऽपि काशीनरेशकन्या सुदर्शनस्य लक्षणान्येव श्रुत्वा मनसा तं वृतवती । काशीनरेशेन तस्याः स्वयम्वरश्चिकीर्षित आसीत् । परं तया नाङ्गीकृतमन्यवरणम् । भीष्मेण स्वयम्वरात् काशीनरेशस्य तिस्रः कन्या अपहृताः । तासु यदा अम्बया कथितं यन्मया मनसा शाल्वः पतित्वेन वृतः, तदा भीष्मेण सा तथैवाक्षता शाल्वाय प्रहिता । शाल्वेनापि गतप्रत्यागता सा नाङ्गीकृता । सैव च जन्मान्तरे शिखण्डी भूत्वा भीष्ममृत्युहेतुत्वमुपगता । यदेवं वाचा दत्तानां मनोदत्तानां चापि कन्यानां पुनर्भूत्वभयाद् विवाहान्तरं न भवति स्म तदा पूर्वविवाहितायाः पुनर्विवाहः कथं शास्त्रीयः स्यात् ?

कलियुगे तु—'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ । पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥' (परा० स्मृ० ४।३०) इत्यापस्तम्बपराशरस्मृत्या वाग्दत्ताया विवाहो नियतीकृतः । अर्थात् कलियुगे वाग्दत्तादीनां वैधव्ये देवरेण सह विवाह एव कर्त्तव्यो; न नियोगः । मनुवचनेन वाग्दत्ताया नियोग उक्तः । तस्य पराशरवचनानुसारेण देवरेण विवाह एव तात्पर्यं वेदितव्यम् । पतिमाचष्टे पतयति, पतयतीति पतिरिति व्युत्पत्त्या पतिशब्दस्य पताविति रूपं भवति । अन्यथा तु पत्या-

इस प्रकरण में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि अन्य युगों में वाग्दान के उपरान्त पति की मृत्यु हो जाने पर भी कन्या को पुनर्भू मान लिया जाता था और उसका विवाह निन्दित माना जाता था । (जैसा कि उद्वाहतत्त्व नामक ग्रन्थ में कहा गया है—सात प्रकार की पुनर्भू कन्याएँ होती हैं, जो कि विवाह के लिये वर्जित हैं । वाग्दत्ता (वाणी के द्वारा किसी को दे दी गई), मनोदत्ता (मन के द्वारा किसी को दे दी गई), कृतकौतुकमंगला (विवाह का अंगजून कौतुक मंगल जिसका हो गया हो), उदकस्पर्शिता (विवाह के बाद गंगापूजन आदि कार्य जिसने सम्पन्न कर लिया हो, पाणिगृहीता (पाणिग्रहण संस्कार जिसका हो गया हो), अग्निपरिगता (सप्तपदी संस्कार जिसका हो गया हो और पुनर्भूप्रभवा अर्थात् जिसका जन्म पुनर्भू माता से हुआ हो) । उद्वाहतत्त्व का यह वचन काश्यप ऋषि का माना गया है । इस वचन को ध्यान में रखकर ही सावित्री ने स्वयं को सत्यवान् के समर्पित कर दिया था । नारद मुनि के यह कहने पर भी कि सत्यवान् तो अल्पायु हैं, सावित्री ने अपना विचार इस लिये नहीं छोड़ा कि मुझे पुनर्भू कहा जायगा और इस तरह से मेरे पितृकुल की निन्दा होगी । अपने कुल को और स्वयं अपने को भी इस दोष से मुक्त रखने के लिए उसने सत्यवान् के साथ ही विवाह किया । देवी भागवत में कथा आई है कि काशीनरेश की कन्या ने सुदर्शन के लक्षणों को सुन कर ही मन से उसका वरण कर लिया था । काशी नरेश स्वयंबर करना चाहते थे, किन्तु किसी दूसरे व्यक्ति को वरण करने का अपने पिता का प्रस्ताव उसने स्वीकार नहीं किया । भीष्मपितामह ने स्वयंम्बर स्थल से काशी नरेश की तीन कन्याओं का अपहरण कर लिया था । किन्तु उनको जब यह मालूम हुआ कि अम्बा ने अपने मन में शाल्व को अपना पति मान रखा है, तो उन्होंने सुरक्षित रूप से उसे शाल्व के पास पहुँचा दिया था । दूसरे के द्वारा अपहृत होने से शाल्व ने भी उसका स्वीकार नहीं किया । दूसरे जन्म में अम्बिका ही शिखण्डी के रूप में भीष्मपितामह की मृत्यु का कारण बनी । इस तरह से वाणी और मन के द्वारा अर्पित कन्याओं को भी पुनर्भू मान कर जब उनका दूसरा विवाह नहीं किया जाता था, तब विवाहिता के पुनर्विवाह को बात कैसे शास्त्रीय मानी जा सकती है ?

आपस्तम्ब और पराशर स्मृति के अनुसार कलियुग में पति के खो जाने पर, उसकी मृत्यु हो जाने पर, उसके संन्यास ले लेने पर, पति के पतित अथवा नपुंसक होने पर दूसरे पति का वरण करने की बात मानी गई है । अर्थात् वाग्दत्ता के विवाह को मान्यता दी गई है । इससे यही सिद्ध होता है कि कलियुग में वाग्दत्ता प्रभृति की वैधव्य अवस्था में देवर के साथ विवाह कर देना चाहिये । इसको विवाह ही बताया गया है, नियोग नहीं । इस प्रसंग में मनुस्मृति में नियोग की चर्चा आई है । पराशर के वचन के

वित्येव स्यात् । यत्र क्वापि 'पत्यौ' इत्यपि पाठः स्यात् तत्रापि वाग्दत्तापतिरेव ग्राह्यः । कुल्लूकभट्टेन यस्याः कन्याया वाग्दाने कृते सति भर्ता म्रियेत तामनेन वक्ष्यमाणानुष्ठानेन भर्तुः सोदरभ्राता परिणयेत् । मेधातिथिनापि वाचा सत्ये कृते वाग्दाने निष्पन्ने निजसोदरो विन्देत विवाहयेत् । सर्वज्ञनारायणेनापि वाग्दत्ताविषयकमेव वाचा सत्यवचनेन सत्यं मया दातव्येयमिति सत्याङ्गीकारेऽनेन विधिना विवाहविधिना निजः पतिसोदरो देवरो विन्देत् । नन्दनेन अथ वाग्दत्तायाः पत्यौ मृते कर्त्तव्यं श्लोकद्वयेनाह । रामचन्द्रेण वाग्दत्तां प्रत्यनेन विधानेन विवाहविधानेन निजो देवरो विवाहयेत् ।

दयानन्देन तु समग्रं श्लोकमुल्लिख्याक्षतयोनिरेव विधवा स्यात्तदा पत्युर्लघुभ्राता तया सह विवाहं कर्तुं शक्नोति (सत्यार्थं प्र० ४ समु० ७२ पृष्ठे) इति लिखितम् । दयानन्दरीत्यापि वाग्दत्ताया एवाक्षतयोनित्वं सम्भवति । विवाहितायास्तु विवाहदिन एव तेन क्षतयोनित्वस्य कारितत्वात् । आर्यसमाजप्रकाशिते 'अबलारक्षकपुस्तके 'यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः । स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥' (म० २।२७) इति वचनेन मनोः प्रामाण्यं मनूक्ते— र्वेदसम्मतत्वं चाङ्गीकृतम् । तथा च—'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः । तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥' (म० ९।६९) 'मिथो भजेत प्रसवात् सकृत् सकृद् ऋतावृतौ ।' (म० ९।७० ; तथा चेदं पूर्वोक्तं पद्यद्वयमेव विधवेव देवरमिति वेदमन्त्रस्य व्याख्या मन्तव्या । अतो वाग्दत्ताया विधवाया एवात्र ग्रहणं, न विवाहिताया विधवायाः ।

अविवाहिताया एव स्त्रिया विवाहो वेदसम्मतः । विवाहिताया विधवाया विवाहस्तु निषिद्ध एव । 'कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।' (अथर्व० ११।५।१८), 'कन्या विन्दते पतिम्' (अथर्व० १४।२।२२), 'कन्याशब्दोऽयं पुंसाभिसम्बन्धे विवाहपूर्वक सम्प्रयोगे निवर्तते' (महाभाष्ये ४।१।११६), 'कन्या अकृतविवाहा' इति सायाणाचार्यः (अथर्व० भाष्ये ११।७।५।१८), 'कन्याशब्दो विवाहरहितस्त्रीमात्रमाचष्टे' इति पराशरमाधवीये, 'बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेत्' (आश्वलायनगृह्यसूत्रे १।५।२)

अनुसार उसका तात्पर्य देवर के साथ विवाह करने से ही है । उक्त पराशर वचन में 'पतौ' शब्द आया है, न कि पत्यो, इसी का यह अभिप्राय निकलता है । 'पत्यौ' इस पाठ में वाग्दत्ता के पति का ग्रहण होता है । टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति के उक्त वचन का यह अर्थ किया है कि वाग्दान के बाद जिस कन्या के पति की मृत्यु हो जाती है, उसके साथ आगे बताई गई विधि से उसका सगा छोटा भाई विवाह कर ले । अन्य टीकाकार मेधातिथि ने लिखा है कि वाग्दान के सम्पन्न हो जाने के बाद मृत्यु होने पर उसका सगा छोटा भाई उसके साथ विवाह कर ले । सर्वज्ञ नारायण ने भी वाग्दत्ता का अर्थ वाणी के द्वारा सत्यापन, अर्थात् मैं अमुक वर को अपनी कन्या प्रदान करूंगा, इस तरह की वाग्दान विधिकर के उपर्युक्त टीकाकारों की बात को ही दोहराया है । नन्दन और रामचन्द्र ने भी यही बात कही है ।

इस प्रसंग में स्वामी दयानन्द पूरे श्लोक को उद्धृत कर लिखते हैं कि—जब अक्षत योनि कन्या विधवा हो जाय तो उस दशा में पति का छोटा भाई उसके साथ विवाह कर ले । (सत्यार्थ० ४ समु० ७२ पृ०) । दयानन्द के मत के अनुसार भी वाग्दत्ता ही अक्षतयोनि हो सकती है, क्योंकि विवाहित स्त्री तो उनके मत के अनुसार उसी दिन क्षतयोनि हो जाती है । आर्य समाज के द्वारा प्रकाशित 'अबला रक्षक' नामक पुस्तक में 'यः कश्चित्' मनुस्मृति के श्लोक को उद्धृत कर मनु को वेद के समान प्रमाण माना गया है, क्योंकि मनुस्मृति में जो कुछ कहा गया है, वह सब वेदसंमत है । उस मनुस्मृति के दो श्लोकों में बताया गया है कि वाग्दान के बाद जिस कन्या का पति मर जाय, उसके साथ उसका सगा छोटा भाई आगे बताई गई विधि से विवाह कर ले । सन्तानप्राप्ति पर्यन्त ऋतुकाल में वे सहवास करें । मनुस्मृति के इन दोनों श्लोकों में 'विधवेव देवरम्' इस वेद मन्त्र की व्याख्या की गई है । इस तरह से वाग्दत्ता विधवा का ही इस प्रसंग में उल्लेख माना जा सकता है, विवाहित विधवा का नहीं ।

अविवाहित स्त्री के विवाह को ही वेद में स्वीकृति मिली है । विवाहित विधवा का विवाह तो निषिद्ध है । अथर्ववेद, व्याकरण महाभाष्य और अथर्ववेद के सायण भाष्य में कन्या शब्द स्त्रीमात्र का बोधक माना गया है, जिसका कि विवाह न हुआ हो । पराशर माधव, आश्वलायनसूत्रगृह्य, हारीत स्मृति में भी यही बात कही गई है । विवाह के उपरान्त स्त्री का कन्याभाव समाप्त हो जाता है । उसका यदि पुनः विवाह स्वीकार किया जाता है, तो कन्या का युवक पति से विवाह होता है, इस अभिप्राय के बोधक

'यदि कुमारी अनिजाता' (आश्वलायनगृह्यसूत्रे १।५।५), असमानार्षगोत्रां हि कन्याम्' (हारीतस्मृति ४।१) विवाहानन्तरं कन्यात्वस्य नाशात् तासां विवाहाभ्युपगमे 'कन्यां युवानं विन्दते पतिम्' (अथर्व० ११।५।१८) इत्यादिवेदवचनानि विरुद्धान्येव भविष्यन्ति । 'पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः ।' (म० ८।२२८) इत्यादिस्मार्तवचनानि विरुद्धयन्ते । वाग्दत्तायास्तु विवाहाभावात् कन्यात्वमवशिष्यते । 'अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेताथो वरो यदि । न च मन्त्रापनीता स्यात् कुमारी पितुरेव सा ॥' (वशिष्ठस्मृति १७।६४) इत्यादिवचनैः कन्यात्वावशेषाद् भाविपतिमृत्यौ विधवेव देवरमिति वेदवचनस्यानुवादभूतेन 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।' (म० ९।६९) इति मनुवचनेन विवाहः सिद्धयति । देवरस्तु पत्युर्भ्रातैव ग्राह्यः । न तु द्वितीयो वरमात्रो देवरः ।

यत्तु कश्चित् पतिभ्रातरमेव देवरमनभ्युपगम्यान्यं पुरुषमात्रं देवरं मन्यते, तदसङ्गतमेव, 'या नियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद्वाप्यवाप्नुयात्' (म० ९।१४७) इति मनुश्लोकेऽन्यत इति पुनरुक्त्यापत्तेः 'देवराद्वा सपिण्डाद्वा' (म० ९।५९) इत्यत्र 'वा' शब्दवैयर्थ्याच्च । अन्यत इति श्वशुरस्यापि ग्रहणापत्तेश्च । श्वशुरोऽपि वध्वां नियुक्तः स्यात् । तस्माद्वाशब्दादुक्तः पत्युर्भ्रातैव देवर इति सिद्धयति । विधवेव देवरमित्यत्र वाग्दत्तैव विधवात्वेन वर्णिता । 'कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः । देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥ (म० ९।९७) । विवाहितायां तु पत्युरेवाधिकारः । तत्र—'जीवन् वापि मृतो वापि पतिरेव प्रभुः स्त्रियाः ।' (बृ० पराशरस्मृति ४।४८) इति रीत्या मृतस्यापि पत्युः पत्न्यां स्वत्वं भवति । न तत्र देवरस्याऽधिकारः सिद्धयति । अन्यस्याधिकारस्तु दूरतो निरस्तः ।

यत्तु—'मर्यं न योषा' (ऋ० सं०) इति मन्त्रस्य द्वितीयमुपमानं व्यर्थं स्यादिति, तदपि यत्किञ्चित्, उभयोर्महदन्तरत्वात् । पूर्वपक्षे तु श्रुतिस्मृतिविरोधः । सिद्धान्ते तु विरोधाऽभाव एव । इदं त्ववधेयम्—वाग्दत्ताया विधवाया देवरेण विवाहे सत्यपि मुख्यं पतित्वं देवरे न सम्भवत्येव, किन्तु गौणमेव पतित्वम्, मुख्यविवाहविध्यभावात् । 'मर्यं न योषा' इत्यत्र तु,

वेद वचन व्यर्थ सिद्ध हो जायंगे । कन्याओं के विवाह के अवसर पर ही विवाह मन्त्रों का विधान बताने वाले मनुप्रभृति के स्मृति वचन भी तब व्यर्थ हो जायंगे । वाग्दत्ता का विवाह नहीं होता, अतः उसको कन्या ही माना जाता है । वसिष्ठ स्मृति में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि वाग्दत्ता कन्या पर पिता का ही अधिकार रहता है, अतः शादी पति की मृत्यु हो जाने पर 'विधवेव देवरम्' इस वेद वचन का अनुसरण करने वाले मनुस्मृति के श्लोक के आधार पर उसका विवाह किया जाता है । पति के छोटे भाई को ही यहां पर देवर कहा जाता है, द्वितीय वर ही देवर है, इस व्युत्पत्ति के आधार पर वर मात्र को देवर नहीं कहा जाता ।

कुछ लोग पति के भ्रता को देवर न मान अन्य पुरुष मात्र को देवर मानते हैं, किन्तु उनका यह कथन असंगत है । यदि ऐसा होता तो 'या नियुक्ता' प्रभृति मनुस्मृति के श्लोक में पुनरुक्ति दोष की आपत्ति उठ खड़ी होती, क्योंकि इस श्लोक में अन्य पुरुष और देवर का पृथक् उल्लेख है । दोनों का एक ही अर्थ मानने पर पुनरुक्ति दोष होगा ही । मनुस्मृति के ही 'देवराद्वा सपिण्डाद्वा' इस श्लोक में वा शब्द भी तब व्यर्थ हो जायगा । अन्य शब्द से श्वशुर का भी ग्रहण होने लगेगा । श्वशुर के साथ वधू का नियोग मानना पड़ जायगा । इन सब आपत्तियों को दूर करने के लिए पति के छोटे भाई के अर्थ में ही देवर शब्द का प्रयोग मानना पड़ेगा । 'विधवेव देवरम्' इस मन्त्र में वाग्दत्ता का ही विधवा के रूप में वर्णन है । 'कन्यानां दत्तशुल्कायाम्' इस मनुवचन में बताया गया है कि वाग्दान के बाद भावी पति की मृत्यु हो जाने पर कन्या की अनुमति से देवर के साथ उसका विवाह किया जा सकता है । विवाहित स्त्री पर तो पति का ही अधिकार होता है । बृहत्पराशरस्मृति के अनुसार मृत पति का पत्नी पर अधिकार अक्षुण्ण माना जाता है, उस पर देवर का अधिकार भी नहीं माना जाता, तो किसी दूसरे के अधिकार की तो बात ही दूर है ।

'मर्यं न योषा' इस मन्त्र में द्वितीय उपमान व्यर्थ हो जायगा, यह आक्षेप भी निरर्थक है, क्योंकि दोनों में बड़ा भारी अन्तर है । पूर्वपक्ष को मानने पर श्रुति और स्मृति का विरोध होता है । सिद्धान्त पक्ष में इस तरह का कोई विरोध नहीं रहता । इस विषय को इस तरह से समझना चाहिये—वाग्दत्ता विधवा का विवाह देवर के साथ होने पर भी उसको मुख्य पति नहीं माना जाता,

मुख्यस्यैव पत्युरुपमानम् । अतो गौणमुख्यभेदेनोभयोरपि सार्थक्यमेव । तत एव वाग्दत्ताया विधवाया नियोगे 'यथाविध्युपगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् । मिथो भजेताप्रसवात् सकृत् सकृदृतावृतौ ॥' (म० ९।७०) इति पारतन्त्र्यमेव । मुख्ये पत्यौ तु यादृशं स्वातन्त्र्यं तादृशं स्वातन्त्र्यं नास्त्येव । अतो विधवेव देवरमिति वाग्दत्ता विधवापरमेव वचनम्, विवाहिताया विधवायास्तु न देवरेण विवाहः सम्भवति ।

'या पूर्वं पतिं वित्त्वा' (अथर्व० ९।५।२७) समाजिभिरनेनापि मन्त्रेण विधवाया विवाहो नियोगश्च साध्यते । 'या पूर्वं पतिं वित्त्वा अथान्यं विन्दते परम् । पञ्चौदनं च तौ अजं ददातो न वियोषतः ॥' (अथर्व० ९।५।२७) 'समानलोको भवति पुनर्भुवा परः पतिः' ( ) । तद्रीत्याऽस्य मन्त्रस्यायमर्थः—या स्त्री प्रथमं पतिं प्राप्य पुनर्द्वितीयं प्राप्नोति ताभ्यां पञ्चौदनोऽजो दातव्यः । तेन तौ परस्परं न वियुक्तौ भवतः । सद्वितीयः पतिस्तया पुनर्भुवा सालोक्यं गच्छति । अत्र पुनर्भूशब्दः स्पष्टतया विधवायाः पुनर्विवाहं बोधयति' इति तदेतदसङ्गतमेव । अत्र मरणानुल्लेखात् पत्युर्जीवनदशायामपि तत्पत्न्याः पत्यन्तरकरणे प्राप्ते पूर्वं पतिं वित्त्वा अन्यं परं श्रेष्ठं विन्दते इत्यर्थोपपत्तेः । प्रतिपक्षिसम्मतार्थाभ्युपगमेऽपि नात्र विधानं सम्भवति, लिङ्लोट्तव्याद्यभावेन विन्दते इति लट्लकारप्रयोगात्, मन्त्रेषु तत्सम्बन्धे निन्दादिदर्शनाद् विधिकल्पनानुपपत्तेश्च । अपरः पतिरपि पुनर्भुवा समानलोको भवतीति विचित्रोऽयं सिद्धान्तः । शास्त्रेषु पतिव्रतानां पतिलोकप्राप्तिरुक्ता, 'इयं नारी पतिलोकं वृणाना' (अथर्व० १८।३।१) इति श्रुतेः । प्रतिव्रताः प्रायेण पत्यौ मृते पत्यनुमरणं प्राप्नुवन्ति, न च पतिः पत्न्या मरणानन्तरं तया सह म्रियते । अत एव न पत्युः स्त्रीलोकप्राप्तिरुक्ता । अस्मिस्तु मन्त्रे तद्विपरीतं पुनर्भुवा लोकप्राप्तिरुच्यते । पुनर्भुवां स्त्रीणां तु निन्दैव शास्त्रेषु दृश्यते । नरकलोकप्राप्तिः शृगालयोनिप्राप्तिश्चोच्यते । तासामुत्तमलोकप्राप्त्यभावात् तदुपपतेरपि तल्लोकप्राप्तिरेव भवति । पौनर्भवश्च (म० ९।१६०) स्मृतिष्वदायादोऽपाङ्क्तेयश्चोक्तः ।

क्योंकि मुख्य विवाह विधि उसके साथ सम्पन्न नहीं होती । 'मर्यं न योषा' इस मन्त्र खण्ड में मुख्य पति को ही उपमान माना गया है । इस तरह से गौण और मुख्य के भेद से दोनों उपमानों की सार्थकता है । इसीलिये वाग्दत्ता विधवा का नियोग होने पर मनुस्मृति ने प्रतिबन्ध लगाया है । इस पर मुख्य पति को जो स्वतन्त्रता प्राप्त है, वैसी स्वतन्त्रता नियोग में देवर को प्राप्त नहीं है । अतः 'विधवेव देवरम्' में वाग्दत्ता विधवा का उल्लेख माना जाता है । विवाहित विधवा का तो देवर के साथ विवाह हो ही नहीं सकता ।

'या पूर्वं पतिं वित्त्वा' इस अथर्ववेद के मन्त्र से भी आर्यसमाजी विधवा-विवाह और नियोग को सिद्ध करना चाहते हैं । उन्होंने इस मन्त्र का यह अर्थ किया है—'जो स्त्री प्रथम पति के बाद द्वितीय पति को प्राप्त करती है, उन दोनों को पञ्चौदन अज का दान करना चाहिये । ऐसा करने से उनका कभी वियोग नहीं होता । वह द्वितीय पति उस पुनर्भू के साथ सालोक्य प्राप्त करता है । यहाँ पर निर्दिष्ट पुनर्भू शब्द स्पष्ट ही विधवा के विवाह का विधायक है' । किन्तु उनका यह कथन सही नहीं है । मन्त्र में पति की मृत्यु का उल्लेख न होने से आपकी पद्धति से तो ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है कि पति के जीवित रहते हुए भी उसकी पत्नी उससे श्रेष्ठ किसी दूसरे पति का वरण कर सकती है । यदि हम आप के ही अर्थ को मान लें, तो भी मन्त्र में लिङ्, लोट्, तव्यत् प्रभृति प्रत्ययों के अभाव में किसी प्रकार की विधि नहीं मानी जा सकती । 'विन्दते' यह लट् लकार का प्रयोग है । मन्त्रों में इस तरह के विवाहों की निन्दा की गई है, अतः यहाँ पर किसी विधि की कल्पना भी नहीं की जा सकती । दूसरा पति भी पुनर्भू के साथ सालोक्य को प्राप्त होता है, यह सिद्धान्त भी विचित्र ही है । शास्त्रों में पतिव्रता के पतिलोक प्राप्ति की बात आई है । 'इयं नारी' इस अथर्व श्रुति में यही बात कही गई है । पति के मृत्यु के बाद पतिव्रता उसके साथ सती हो जाती है, किन्तु पत्नी के मृत्यु के बाद पति उसके साथ कहीं नहीं मरता । इसलिये पति को स्त्रीलोक प्राप्ति का कहीं उल्लेख नहीं है । प्रस्तुत मन्त्र में इसके विपरीत पुनर्भू के साथ सालोक्य प्राप्ति की बात आप मानते हैं । शास्त्रों में तो इस प्रकार के विवाहों की निन्दा ही की गई है । ऐसी स्त्रियों को नरकपात और शृगाल योनि की प्राप्ति ही शास्त्रों में वर्णित है । उनको उत्तम लोकों की प्राप्ति न होने से उनके उपपतियों को भी वे ही निकृष्ट लोक प्राप्त होंगे । स्मृतियों में पुनर्भू से उत्पन्न सन्तति को दाय भाग का अधिकारी नहीं माना गया है और उसको अपांक्तेय (पंक्ति से बहिष्कृत) भी कहा गया है ।

वस्तुतस्त्विमौ द्वावपि मन्त्रौ वाग्दत्ताया विधवाया एव विवाहं बोधयतः, विवाहितायाः पुनर्विवाहस्याशास्त्रीयत्वान्निन्दितत्वाच्च। अन्यथा 'सोमो दददगन्धर्वाय अग्निमंह्यमथो इमाम्' (ऋ० सं० १०।८५।४१) इति वैवाहिकमन्त्रविरोधो दुष्परिहरः। एतद्रीत्या अग्निर्विवाहस्य समये वराय कन्यां दत्त्वा तत्पतित्वान्निवर्तते, तेन नान्यपुरुषाय दानेऽधिक्रियते, निवृत्ताधिकारत्वात्। अग्निद्वारा 'वराय कन्यादानमेव विवाहः। अत एव 'देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः' (म० ९।९५) इति मनुः। यस्याः पतिव्रतायाः शास्त्राणि स्तुतिं कुर्वन्ति। पतिव्रतधर्मेणैव भारतस्य स्थिरा कीर्तिर्जाता। 'पत्युरनुव्रता भूत्वा सन्नह्यस्व अमृताय कम्' (अथर्व० १४।१।४२), 'साम अहमस्मि ऋक् वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तौ इह सम्भवामः प्रजाया जनयावहै' (अथर्व० १४।२।७१) इत्यादयो मन्त्रा अपि पतिव्रताया माहात्म्यं ख्यापयन्ति, तदा वेद एव कथं पत्युर्मरणेऽन्यस्मै दानं विदधीत ? इति। 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥' (म० ९।६९) इति वेदानुकूलमेव मनुवचनं सिद्धम्। पतिर्वाग्दत्तापतिरेव मन्तव्यः। अस्य मन्त्रस्यानुवादभूतमेतन्मनुवचनम्। 'वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्' इति बृहस्पतिवचनात्।

अत्र मन्त्रे पुनर्भूंशब्दाऽपि न विवाहिताविधवापरः, किन्तु वाग्दत्ताविधवापर एव। वाग्दत्ताया अपि भाविपतिमरणेन पुनर्भूत्त्वोक्तेः 'सप्तपौनर्भवाः कन्या वर्जनीयाः प्रयत्नतः। वाचा दत्ता मनोदत्ता.....' इति धर्मचन्द्रिकादिनिबन्धोद्धृतकाश्यपवचनात्। 'कन्यैवाक्षतयोनिर्या पाणिग्रहणदूषिता। पुनर्भूः प्रथमा प्रोक्ता पुनः संस्कारकर्मणा॥' (नारदस्मृति १२।४६) इति नारदवचनात्। अत्र पाणिग्रहणदूषिताशब्दोऽपि वाग्दत्ताद्युपलक्षणार्थं एव। 'अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः।' (१।३।६७) इति याज्ञवल्क्यवचनेऽप्यक्षतापदेन वाग्दत्तादिका ग्राह्या इति स्पष्टमेव। अस्या वाग्दत्तायाः पतिमरणे 'तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः।' (म० ९।६९) इति मनुवचनेन विवाह उक्तः। अग्रिमे पद्ये मेधातिथिना

वास्तव में देखा जाय तो अथर्ववेद के उक्त दोनों मन्त्र वाग्दत्ता विधवा के विवाह के ही बोधक हैं। विवाहित स्त्री का पुनर्विवाह अशास्त्रीय ही नहीं, लोक में निन्दित भी है। अन्यथा 'सोमो दददु गन्धर्वाय' इस मन्त्र से स्पष्ट विरोध होगा। इस मन्त्र के अनुसार अग्नि विवाह के समय वर को कन्या सौंप कर अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाता है, उस कन्या पर अब उसका अधिकार नहीं रहता। तब वह उस विवाहित स्त्री को दूसरे किसी पुरुष के अधीन कैसे करेगा जिस पर कि अब उसका अधिकार ही नहीं है। अग्नि के द्वारा वर को किया गया कन्यादान ही विवाह कहलाता है। इसीलिये मनुस्मृति में बताया गया है कि वर अग्नि देवता के द्वारा प्रदत्त स्त्री को ही पत्नी के रूप में प्राप्त करता है, अपने मन से नहीं। इससे सिद्ध हो जाता है कि स्त्री का विवाह केवल एक बार ही होता है। जिस प्रतिव्रता धर्म की शास्त्र प्रशंसा करते नहीं अघाते, पतिव्रत धर्म के कारण ही भारत की कीर्ति दिग्दिगन्त में फैली है। 'पत्युरनुमता', 'साम अहमस्मि' प्रभृति वेद मन्त्र भी प्रतिव्रता के माहात्म्य का वर्णन करते हैं, वे ही वेद-मन्त्र पति की मृत्यु के उपरान्त विधवा के विवाह का विधान कैसे कर सकते हैं। इन सब वचनों पर विचार करने से यह सिद्ध हो जाता है कि 'यस्या म्रियेत' यह मनुवचन वेदानुकूल ही है। यहाँ पर निर्दिष्ट पति शब्द वाग्दत्ता के पति के अर्थ में प्रयुक्त है। इस तरह से मनु का वचन वेद के मन्त्र का अनुवाद ही है। बृहस्पति का स्पष्ट कथन है कि स्मृतियों में प्रधान मनुस्मृति है, क्योंकि इसमें सभी वेदों का सार संगृहीत कर दिया है।

इस मन्त्र में आया पुनर्भू शब्द भी विवाहित विधवा का निर्देशक न होकर वाग्दत्ता विधवा का बोधक है। भावी पति का मरण हो जाने से वाग्दत्ता को भी पुनर्भू माना जाता है। धर्मचन्द्रिका प्रभृति निबन्ध ग्रन्थों में उद्धृत काश्यप के वचन के अनुसार सात प्रकार की वाग्दत्ता, मनोदत्ता प्रभृति पूनर्भू कन्याओं का वर्णन पहले किया जा चुका है। नारदस्मृति में पाणिग्रहणदूषिता अक्षत योनि कन्या का उल्लेख मिलता है, जिसका पुनः संस्कार विहित है। इसी तरह से याज्ञवल्क्य स्मृति में अक्षता प्रभृति कन्याओं का उल्लेख है। ये सभी प्रकरण वाग्दत्ता प्रभृति पुनर्भू कन्याओं के ही निदर्शक माने जाते हैं। वाग्दत्ता के पति की मृत्यु हो जाने पर उसके विवाह का विधान मनुस्मृति में मिलता ही है। मनुस्मृति के इस वचन (तामनेन) की व्याख्या करते हुए मेधातिथि ने यह अर्थ

'यथाविधि यथाशास्त्रं वैवाह्यो विधितस्तथा विवाह्या, वाचनिकोऽयं विवाहः, पुनर्भूश्च तथोच्यते, न वा व्यूढापि सती भार्या भवति' इत्यर्थः कृतः। तस्माद् वाग्दत्ता पुनर्भूरेवात्र मन्त्रे विवक्षिता। अतो वेदमन्त्रेण मनुवचनस्य सामानाधिकरण्यमेव सिद्ध्यति। तथा चोक्तमन्त्रे या इति पदेन कन्यैव ग्राह्या न स्त्री। यस्या विवाहो न पूर्वं सम्पन्नः; सैवात्र वाग्दत्ता विवक्षिता। तस्या विवाहोऽपि नोत्तमो मन्यते। तस्यैव प्रायश्चित्तस्वरूपः पञ्चौदनो यागो विहितः। तत्रापि मुख्यपतिविवाहवत् स्वातन्त्र्यं न भवति।

तत एव सावित्र्या पुनर्भूत्वेनोत्तमकक्षायाः पतनशङ्कया सत्यवतोऽल्पायुष्ट्वज्ञानेऽपि पत्यन्तरसम्बन्धो नाङ्गीकृतः। तथाप्यन्यपुनर्भुवामपेक्षया वाग्दत्तायाः पुनर्भुवो महदन्तरम्। विवाहितानां पतिमरणानन्तरं पत्युर्जीवनदशायां वा पत्यन्तरस्वीकारस्य 'न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः (म० ९।४५) इति मनुना निषिद्धत्वाद् वाग्दत्तायास्तु पत्यन्तरवरणस्य कस्मिंश्चिदंशे मनुनाऽनुमतत्वात् तस्मिन् पक्षे पत्न्याः पतिलोकप्राप्तिर्न भवति, किन्तु पत्युरेव पुनर्भूलोकप्राप्तिर्भवति। अत एव तादृशविवाहस्यापि किञ्चिन्निन्दितत्वमेव। अत एव 'कुहस्विद् दोषा' इति मन्त्रे 'मर्यं न योषा' इत्यस्मान्मन्त्राद्भिन्नं 'विधवेव देवरम्' इत्युपमानमुक्तम्। परन्तु विवाहिताया विधवायास्तु सर्वथैव पत्यन्तरवरणं निषिद्धमेव। अतः सामाजिकाभिमतविधवाविवाहस्तु सर्वथाऽनिष्ट एव। कलियुगे तु पराशरस्मृत्या वाग्दत्तानियोगस्य काठिन्यं ज्ञात्वा 'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥' (परा० स्मृ० ४।३२) इति वाग्दत्ताया निःसङ्कोचेन विवाह एव विहितः। अत्र श्लोकेऽपतौ वा 'पतौ' वा यथाकथञ्चित् पाठाभ्युपगमेऽपि वाग्दत्तापतिरेव गृह्यते। यथा 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।' (म० ९।६९) इति श्लोके वाग्दानकालिक एव पुरुषः पतिशब्देन विवक्षितः, तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्।

एवं विध वाविवाहस्य नियोगस्य वा साधनाय ये ये मन्त्रा अर्धनास्तिकैरुपस्थाप्यन्ते, तेषामन्यथार्थत्वात् सर्व-

किया है कि शास्त्रीय विधि के अनुसार उसका विवाह कर देना चाहिये। पुनर्भू का विवाह वाचनिक होता है। नया विवाह होने पर भी इसका सतीत्व सुरक्षित रहता है। इस तरह से उक्त मन्त्र में वाग्दत्ता पुनर्भू के विवाह का ही उल्लेख है। इस तरह से वेदमन्त्र और मनुवचन की एक वाक्यता सिद्ध होती है। इस तरह से उक्त मन्त्र में 'या' पद से कन्या का ग्रहण होता है, स्त्री का नहीं। जिसका विवाह पहले नहीं हुआ है, वही यहाँ पर वाग्दत्ता मानी गई है। इसके विवाह को भी अच्छा नहीं माना गया है। इसलिये इसके प्रायश्चित्त के रूप में पञ्चौदन नामक याग का विधान है। विवाह हो जाने के उपरान्त भी मुख्य विवाह के समान स्वतन्त्रता नहीं है, इस बात का उल्लेख भी किया ही जा चुका है।

इसीलिये सावित्री ने इस पुनर्भू कन्या के सारे प्रकरण पर विचार कर अपनी उन्नत स्थिति से पतन की आशंका के कारण सत्यवान् को अल्पायु जानकर भी किसी दूसरे पति के साथ सम्बन्ध करना स्वीकार नहीं किया। अन्य पुनर्भू कन्याओं की अपेक्षा वाग्दत्ता पुनर्भू में बड़ा अन्तर है। विवाहित स्त्री के पति के मर जाने पर अथवा पति के जीवित रहते ही दूसरा विवाह मनुस्मृति में निषिद्ध है, इसके विपरीत वहाँ पर वाग्दत्ता को दूसरे पति के वरण का अधिकार कुछ अंशों में दिया गया है। ऐसा करने पर पत्नी को पतिलोक की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु पति को ही पुनः भूलोक में आना पड़ता है। इसलिये ऐसा विवाह भी कुछ निन्दित ही माना जाता है। इसीलिये 'कुहस्विद् दोषा' इस मन्त्र में 'मर्यं न योषा' इस मन्त्र से भिन्न 'विधवेव देवरम्' यह उपमान दिया गया है। विवाहित विधवा का पुनः विवाह तो सर्वथा निषिद्ध है। इसलिये आर्यसमाजियों का अभिप्रेत विधवा विवाह सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है। कलियुग में वाग्दत्ता के नियोग में कठिनाई देखकर ही 'नष्टे मृते' प्रभृति पराशर स्मृति के वचन में वाग्दत्ता के विवाह का विधान निःसंकोच किया है। इस श्लोक में 'अपतौ' अथवा 'पतौ' दोनों में से कोई भी पाठ स्वीकार किया जाय, वाग्दत्ता के पति का ही उससे ग्रहण होता है। 'यस्या म्रियेत' इस मनु वचन में वाग्दान के समय का पुरुष ही पति शब्द से अभिप्रेत है, उसी तरह से यहाँ पर भी समझना चाहिये।

इस तरह से विधवा विवाह अथवा नियोग को सिद्ध करने के लिये अर्धनास्तिक आर्यसमाजी जिन जिन मन्त्रों को प्रमाण

थापि निरस्त एव विधवाविवाहो नियोगश्च । अत एव आर्यसमाजस्य प्रसिद्धविदुषा नरदेवशास्त्रिणा 'आर्य समाज का इतिहास' पुस्तकस्य प्रथमभागे लिखितम् 'चारों वेदों में एक भी ऐसा मन्त्र नहीं है। जिसमें स्पष्ट रूप से नियोग का प्रतिपादन किया गया हो। हम तो स्पष्ट कह सकते हैं यत् वेदो नियोगसिद्धान्तस्य पोषको नास्ति' (पृ० ८४) तथाप्यनेके वेदेभ्यो नियोगपोषकमन्त्राणामन्वेषणे प्रयतमाना दृश्यन्ते । अयं च मार्गो दयानन्देन दर्शितः ।

'सोमः प्रथमो विविदे' 'सोमोददद्गन्धर्वाय' इतीमौ मन्त्रौ कुमार्या विवाहे पठ्येते, पारस्करगृह्यसूत्रे विवाहप्रसंगउद्धृतत्वात् । न विधवाविवाहे । दयानन्दरीत्यायं मन्त्रः प्रथमविवाहितेन पठितव्यो नियुक्तेन वा ? तद्रीत्या २३ वर्षपर्यन्तमेकोऽपि' पतिर्न लब्धः । चतुर्विंशवर्षमारभ्य पतीनां पूर एवागतः । एतेषां वर्षस्य कश्चिन्नियमोऽस्ति न वा ? सन्तानार्थमेवेमे पतयः कामरसास्वादनार्थमेव वा ? सन्तानस्य प्रतीक्षापि कियद्वर्षपर्यन्तं कर्त्तव्या ? यदि पत्युर्मरणानन्तरं पत्यन्तरमभिमतं स्यात्, तदापि पतिद्वारा कथं पत्यन्तराय तद्दानं सम्भवति ? न चाग्निद्वारा द्वितीयवराय तद्दानं सम्भवति, प्रथमवराय दानावसर एव तदाधिपत्यस्य क्षयाद् । तथा च कथमन्यवरदानेऽस्याधिकारः ? स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोपपादनमेव दानं भवति । 'ददातिरुत्सर्गपूर्वकं परस्वत्वेन सम्बन्धः' (जै० सू० ४।२।२८), 'दानमित्युच्यते' स्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वापादनं च' (मीमांसा शाबरभाष्ये ६।७।१) इति शाबरभाष्योक्तेः । तादृशदानं तु वरायाग्निकर्तृकं सम्पन्नमेव ।

रजकस्य वस्त्रं ददातीत्यत्र पुनर्ग्रहणं भवति, अत एव तद्दानं न भवति । इह तु सम्प्रदाने चतुर्थी दृश्यते 'मह्यमिमामदात् इति । अत एवाऽग्निकर्तृकं कन्याकर्मकं वरसम्प्रदानकं दानमेव विवाहो भवति, 'देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः' (म० ९।९५) इति मनूक्तेः । यद्यग्निनैकादशवर्षानन्तरं वराय कन्यादानं कृतं तदारभ्यैव तस्याः

के रूप में रखते हैं, उनका कुछ दूसरा ही अर्थ होने से उनकी बात सही सिद्ध नहीं हो पाती । इसीलिये आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् नरदेव शास्त्री ने 'आर्यसमाज का इतिहास' नामक पुस्तक के प्रथम भाग में लिखा है कि—'चारों वेदों में एक भी ऐसा मन्त्र नहीं है, जिसमें स्पष्ट रूप से नियोग का प्रतिपादन किया गया हो। हम तो यह स्पष्ट कह सकते हैं कि वेद, नियोग के सिद्धान्त का पोषक नहीं हैं' (पृ० ८४)। इसके उपरान्त भी अनेक आर्यसमाजी विद्वान् नियोग की पुष्टि करने वाले मन्त्रों की खोज में लगे हैं। यह मार्ग उनको दयानन्द ने दिखाया है ।

'सोमः प्रथमो विविदे' और 'सोमो ददद्गन्धर्वाय' ये दोनों मन्त्र कुमारी के विवाह के अवसर पर पढ़े जाते हैं। पारस्करगृह्यसूत्र में विवाह संस्कार के प्रकरण में ये उद्धृत हैं, विधवा विवाह के अवसर पर नहीं। दयानन्द के मत के अनुसार इन मंत्रों को प्रथम विवाहित पुरुष पढ़ेगा या नियुक्त पुरुष ? उनके मत के अनुसार कन्या को २३ वर्ष तक तो एक भी पति नहीं मिल पाता, किन्तु इसके बाद पतियों की बाढ़ भी आ जाती है। इनके साथ कुछ निश्चित अवधि तक रहने का नियम हैं या नहीं ? सन्तान के लिये ही इन पतियों का विधान है, या केवल कामोपभोग के लिये ऐसा किया जाता है ? सन्तान की प्रतीक्षा भी कितने वर्ष तक करनी चाहिये ? यदि एक पति की मृत्यु के उपरान्त दूसरा पति करता है, उस अवस्था में भी एक पति के द्वारा दूसरे पति को दान करने की बात कैसे संगत होगी ? अग्नि के द्वारा द्वितीय वर को दान भी संभव नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम वर को दान कर देने के उपरान्त अग्नि का अधिकार उस पद से समाप्त हो गया । इस परिस्थिति में वह द्वितीय वर को दान देने का अधिकारी कहाँ है ? दान करने का अभिप्राय अपने अधिकार की निवृत्ति और दूसरे के अधिकार की प्राप्ति में है। जैमिनि के मीमांसा सूत्र और उसके शाबरभाष्य में 'दान' पद का यही अर्थ किया है। इस तरह का दान वर के लिये अग्नि के द्वारा यहाँ पहले ही संपन्न हो चुका है। दी हुई वस्तु का पुनः दान नहीं किया जाता ।

धोबी को कपड़ा दिया जाता है और उससे वापस ले लिया जाता है। इसको दान नहीं कहते । वह तो धोने के लिये दिया जाता है। इसलिये यहाँ सम्प्रदान में चतुर्थी न होकर षष्ठी विभक्ति होती है। प्रस्तुत मन्त्र में तो चतुर्थी विभक्ति है। इसीलिये वर के लिये अग्नि के द्वारा कन्या का दान यहाँ विहित है, और इसी को विवाह कहा जाता है। मनु महाराज भी कहते हैं कि वर, अग्निदेव के द्वारा प्रदत्त भार्या को प्राप्त करता है, मनमाने ढंग से नहीं। जब अग्नि ने ग्यारह वर्ष की अवस्था के बाद वर को कन्या

कन्यात्वमपगच्छति। अत एवाग्रे कन्याजारशब्देन व्यपदेशोदृश्यते। 'जारः कनीनाम्' (ऋ० सं० १।६६।४) विवाहानन्तरमग्नेरधिकारो निवर्तते। मनुष्यस्य पत्युरेव तत्राधिकारः। तथा च कथं तन्मरणेऽन्येन साधं तद्विवाहः स्यात् ? अन्यस्य दानाधिकाराभावात्। अग्निकर्तृके कन्यादाने पित्रादिकर्तृके वा कन्यादाने जाते पत्यौ च मृते कस्य तद्दानाधिकारः ? जीवतोऽपि न पत्नीदानं प्रामाणिकग्रन्थेषूपलभ्यते। तत एव जीवतो वा मृतस्य वा पत्युः पतित्वं न निवर्तत इत्युक्तं सम्यगेव। विवाह एव कन्याया कुमार्या वा भवति, न विधवाया विवाहः क्वचिच्छ्रुतः स्मृतोवा ? विवाहपदं पारिभाषिकमतो विधवाविवाह इति पदं न प्रयुज्यते धर्मशास्त्रीयपरिभाषायाम्, विवाहप्रतिपादकस्य 'अग्निर्मह्यमथो इमाम्' इत्यादिपूर्वोक्तवेदवचनस्य विरोधापत्तेः। 'नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्' इत्यादिमनुवचनविरोधाच्च।

'उत यत्पतयो दश स्त्रियाः' इति वचनेनापि सामाजिकाः स्त्रीणामेकादशपतीन् साधयितुं प्रयतन्ते। सम्पूर्णश्चायं मन्त्र इत्थं पठ्यते—'उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणा ब्रह्मा चेद् हस्तमग्रभीत् स एव पतिरेकधा॥' (अथर्व० ५।१७।८) इति। अस्य मन्त्रस्य सरलोऽयमर्थः—स्त्रियाः पाणिग्रहणात् पूर्वे ये दश अब्राह्मणाः पतयः सन्ति, यदा ब्राह्मणेन तस्याः पाणिग्रहणं कृतम् तदा स एवैकस्तस्याः पतिर्भवति। अत्रापि पाणिग्रहणाभाववन्तो दश पतयो देवता एव, न मनुष्याः। यदि सामाजिकास्तथानभ्युपगम्य मनुष्यानेव दश पतीनभ्युपगच्छेयुस्तदा वेदभक्तैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्चार्यसमाजिभिः स्वीयाः स्त्रियो ब्राह्मणेभ्य एव दातव्या भविष्यन्ति। यतो मन्त्रे स्पष्टमुक्तम्—'ब्रह्मा चेद् हस्तमग्रभीत् स एव पतिरेकधा' (अथर्ववे० सं० ५।१७।८) इति। अन्यस्मिन्नपि मन्त्रे ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः' (अथर्व० ५।१७।९)। तथा सति क्षत्रियाणां वैश्यानां समाजिनां न स्वस्त्रीष्वधिकारः सिद्ध्यति, तासां पतिर्ब्राह्मण एव स्यात्। ब्राह्मणद्वारा तासां हस्तग्रहणाद् अब्राह्मणाः सर्वे तासां पतित्वान्निरस्यन्ते। स एव पतिर्न तु पूर्वेऽब्राह्मणाः। नियोगस्य तु मन्त्रेऽस्मिन् चर्चापि नास्ति।

को सौंप दिया, तभी उसका कन्याभाव निवृत्त हो गया। इसीलिये इसके बाद कन्याजार शब्द का प्रयोग होता है। विवाह के बाद अग्नि का अधिकार समाप्त हो जाता है और मनुष्यपति का उस पर अधिकार हो जाता है। इस मनुष्य पति की मृत्यु हो जाने पर दूसरे मनुष्य के साथ उसका विवाह कैसे हो सकता है, क्योंकि किसी दूसरे को दान का अधिकार नहीं है। अग्नि के द्वारा अथवा पिता प्रभृति के द्वारा एक बार कन्यादान हो जाने पर और पति के मर जाने पर उसको पुनः किसी दूसरे को दान करने का अधिकार किसको है ? जीवित पति के द्वारा पत्नी के दान का भी कहीं विधान नहीं है। इसीलिये जीवित अथवा मृत पति का स्वामित्व निवृत्त नहीं होता, यह कथन उचित ही है। कुमारी कन्या का ही विवाह होता है। विधवा का विवाह श्रुति और स्मृति में कहीं भी विहित नहीं है। 'विवाह' एक पारिभाषिक शब्द है, अतः 'विधवा विवाह' इस शब्द का प्रयोग धर्मशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार हो ही नहीं सकता। ऐसा प्रयोग करने पर 'अग्निर्मह्यम्' इत्यादि श्रुति और 'नोद्वाहिकेषु' प्रभृति मनुस्मृति के वचन से विरोध उपस्थित होगा।

'उत यत्पतयो दश' इस वचन से भी आर्यसमाजी स्त्रियों के ग्यारह पति होने की बात को सिद्ध करना चाहते हैं। यह अथर्ववेद का मन्त्र है। इसका सरल अर्थ यह है—'स्त्री के पाणिग्रहण संस्कार से पहले जो दस अब्राह्मण पति हों और उस अवस्था में ब्राह्मण ने उसके साथ विवाह कर लिया हो तो वही एक ब्राह्मण उसका पति होता है। यहाँ पर भी पाणिग्रहण संस्कार से पहले के दस पति देवता ही हैं, मनुष्य नहीं। यदि आर्यसमाजी इस व्याख्या को नहीं मानते और दस पतियों के रूप में मनुष्यों को ही स्वीकार करते हैं, तो उस अवस्था में वेदभक्त आर्यसमाजी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को अपनी अपनी स्त्रियाँ ब्राह्मणों के लिये दे देनी पड़ेंगीं। क्योंकि अथर्ववेद के मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि यदि कन्या का पाणिग्रहण ब्राह्मण कर लेता है, तो वही उसका अकेला पति होता है। एक दूसरे मन्त्र में भी ब्राह्मण पति का ही उल्लेख है, क्षत्रिय अथवा वैश्य का नहीं। ऐसा मान लेने पर आर्यसमाजी क्षत्रियों और वैश्यों का स्त्री पर अधिकार ही सिद्ध न हो पावेगा, उनके पति केवल ब्राह्मण होंगे। ब्राह्मण के द्वारा पाणिग्रहण कर लेने पर सभी अब्राह्मण, स्त्रियों के पति न रह पायेंगे, क्योंकि वह ब्राह्मण ही उनका पति होगा, इससे पहले के अब्राह्मण उनके पति नहीं होंगे। नियोग की तो इस मन्त्र में कोई चर्चा ही नहीं है।

समाजिनां दृष्टिकोणेन तु विधवाविवाहस्यात्र मन्त्रे गन्धोऽपि नास्ति, कदाचित् सधवाविवाहगन्धो भवेदपि, तदपि नेष्यते प्रतिपक्षिभिः। तदा तद्रीत्या कस्याश्चिद्बालायाः पतिग्रहणात् पूर्वं दशाप्यब्राह्मणाः कुमारा वाग्दानकाले आशावन्तो भवेयुः, पुनर्ब्राह्मणश्चेत्तस्याः पाणिग्रहणं कुर्यात् तदा स एव तस्याः पतिर्भवति, नाब्राह्मणाः कुमाराः। अत्र यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः' (म० ९।६९) इत्यत्रेव संभावनामात्रेण दश पतय उक्ताः। तस्याः पतित्वं कामयमाना दश अब्राह्मणा भवेयुश्चेत्तदापि ब्राह्मणस्य पाणिग्रहणे जाते ते निरस्ता भवन्तीत्यवार्थो मन्तव्यः। ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः, न ब्राह्मणः अब्राह्मण इति व्युत्पत्त्या दशसंख्याका अवेदज्ञा अब्रह्मविदो वा ब्राह्मणभिन्नाः पतयो भवेयुस्तदापि ब्राह्मणब्रह्मवित्पतिलाभे ते निरस्ता भवन्तीति। कुतः ? अथर्ववेदसंहितायां (५।१७।७) इत्युक्तायां ब्रह्मजायायामब्राह्मणानामनधिकारात्।

'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥' इति रीत्यात्र नञोऽन्यार्थतापि सम्भवति, तेन उक्तमन्त्रे स्त्रीशब्दः कन्यावाचकः। तद्यथा 'स्त्रीभवत्यधिके स्त्रियाः' (म० ३।४९), 'स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु' (म० ३।४८) इत्यादिश्लोकेषु स्त्रीपदस्य कन्यापरत्वम्, तथैवात्रापि स्त्रिया ब्राह्मणकन्याया उत यद् विवाहात्पूर्वे दश अब्राह्मणाः पतयो दश ब्राह्मणभिन्ना देवता भवन्ति, विवाह्यमानाद् ब्राह्मणाद् भिन्ना दश देवताः पतयो भवन्ति। यदा च ब्राह्मणस्य तया कन्यया पाणिग्रहणसंस्कारः सम्पन्नः स्यात् 'ब्रह्मा चेद् हस्तमग्रभीत्' इत्यत्र ब्रह्मेतिपदं ब्राह्मणपरम्। समानार्थावेतौ ब्रह्मन्शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च। अतश्च समानार्थैरेवं ह्याह–कुतो नु चरसि ब्रह्मन् कुतो नु चरसि ब्राह्मणेति। तत्र द्वयोः समानार्थयोरेकेन विग्रहः (पा० सू० ५।१।१०७) इति महाभाष्योक्तेः। अतो यदा ब्राह्मणो बालिकायाः पाणिं गृह्णाति तदा स एक एव पतिर्भवति। ब्राह्मणशब्दोऽत्र प्राधान्येन व्यपदेशा भनन्तीति न्यायेन ब्राह्मणादिवरमात्रपरः। तदा ब्राह्मणानां ब्राह्मणव्यतिरिक्तानां देवतानां पतित्वं व्यावर्तते, मानुषवरस्यैव पतित्वं स्थायि भवतीत्यर्थः। यथा वेदे सोमगन्धर्वाग्नयो देवताः (ऋ० सं० १०।८५।४१) कुमार्या अधिपतयो निर्दिष्टाः। ब्राह्मणपुरुषेण सम्बन्धे तासां देवतानां

समाजियों के दृष्टिकोण के अनुसार विधवा विवाह की तो इसमें कोई चर्चा नहीं है, कदाचित् सधवा का विवाह इससे सिद्ध हो सके, किन्तु इस बात को वे स्वीकार नहीं करते। उनके मत के अनुसार किसी कन्या के पाणिग्रहण संस्कार से पहले दस अब्राह्मण कुमार वाग्दान के समय आशा लगाये बैठे हों और इसी बीच कोई ब्राह्मण कुमार उसके साथ विवाह कर ले तो वही उसका पति होगा, पहले के दस अब्राह्मण कुमार नहीं। 'यस्या म्रियेत' इस मनु वचन के समान यहाँ पर भी दस पतियों की संभावना मात्र का वर्णन है। दस अब्राह्मण यदि उसके पति होना चाहते हों, तो भी ब्राह्मण के साथ पाणिग्रहण हो जाने पर उनका पतित्व निवृत्त हो जायगा, यही इसका अर्थ होगा। ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण और उसको न जानने वाला अब्राह्मण, इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्रह्म को न जानने वाले दस की अपेक्षा एक ब्रह्मवेत्ता पति के प्राप्त हो जाने पर सभी अब्रह्मवेत्ता निरस्त हो जाते हैं, क्योंकि अथर्ववेद संहिता के उक्त वचन के अनुसार ब्रह्मवेत्ता की पत्नी में अज्ञ जनों का अधिकार अस्वींकार कर दिया गया है।

तत्सादृश्य, तदभाव, तदन्यत्व, तदल्पता, अप्राशस्त्य और विरोध—ये छः नञ् के अर्थ होते हैं। इस कथन के अनुसार प्रस्तुत मन्त्र में नञ् का प्रयोग अन्यार्थता में माना जा सकता है। उस स्थिति में स्त्री शब्द कन्या का वाचक होगा। जैसे मनुस्मृति के मूलोक्त दो उदाहरणों में स्त्री शब्द कन्या के अर्थ में प्रयुक्त हैं, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। स्त्री अर्थात् ब्राह्मण कन्या के विवाह से पहले दस ब्राह्मण भिन्न देवता पति होते हैं। जब उस कन्या का ब्राह्मण के साथ पाणिग्रहण संस्कार हो जाता है, तब वही उसका एकमात्र पति रह जाता है। मन्त्र में ब्रह्म शब्द का अर्थ ब्राह्मण है। पातंञ्जल महाभाष्य में भी ब्रह्म और ब्राह्मण शब्द को समानार्थक माना है। ब्राह्मण शब्द यहाँ ब्राह्मणादि वर मात्र का बोधक है, क्योंकि यहाँ पर यही उसका प्रधान अर्थ है। ऐसा अर्थ करने से ब्राह्मण भिन्न दसों देवताओं के पतित्व की निवृत्ति होकर केवल ब्राह्मण मनुष्य ही उसका पति रह जाता है। जैसे वेद में सोम, गन्धर्व और अग्नि कन्या के अधिपति बनाये गये हैं। ब्राह्मण पुरुष के साथ विवाह होने पर देवताओं के अधिकार की निवृत्ति हो जाती है,

पतित्वं निवर्तते। विवाहे देवता एव पाणिग्रहणकर्त्रे कन्यां प्रयच्छन्ति 'देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः' (म० ९।४५) इति।

तथैव 'भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः' (ऋ० सं० १०।८५।३६) इत्यत्रापि देवताविशेषकर्तृकं कन्याकर्मकं वरसम्प्रदानकं दानमुक्तम्। अत्र देवा इति दश देवताः सङ्केतिताः। 'दश साकमजायन्तदेवाः', 'यत्ते आसन् दश जाता देवाः' (अथर्व सं० ११।१०।१) इति मन्त्रेऽपि तेषामेव सङ्केतः। ताश्च दश देवताः सोम-अकूपार-सलिल-मातरिश्व-मयोम्-आप-वरुण-मित्र-अग्नि-वनस्पतिरूपाः (अथर्व० १५।१७।१–२–५) मन्त्रेषूक्ताः। यद्वा इन्द्राग्नी,[१] द्यावापृथिवी,[२] मातरिश्वा,[३] मित्रावरुणौ,[४] भगो,[५] अश्विनोभा,[६] बृहस्पतिः,[७] मरुतो,[८] ब्रह्म,[९] सोमः[१०]। 'इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु, (अथर्व० १४।१।५४) इतीमे दश पतयो मानुषाद्वरात् पूर्वं पालयन्ति। पतित्वं चेदं पालनलक्षणं सूक्ष्ममेव, न मानुषवरवत् स्थूलम् यथा समाजिनोऽपि 'भूतस्य जातस्य पतिरेक आसीत्' (ऋ० १०।१२१।१) इति हिरण्यगर्भस्य सर्वपतित्वमुपगच्छन्ति। तदीयकन्यानामपि तत्पतित्वं समानमेव। तैरपि नात्र स्थूलपतित्वमभ्युपगन्तव्यम्, तथैव प्रकृतेऽपि ब्राह्मणकर्तृकपाणिग्रहणात्पूर्वं कन्यासु दशदेवतानामाधिपत्यमिति मन्तव्यम्। 'ब्रह्मा चेद् हस्तमग्रभोत्' इत्यस्य आधुनिकानां रीत्याऽयमर्थं उक्तः।

सिद्धान्ते तु ब्रह्मजायापदेन बृहस्पतेः पत्नी तारा विवक्षिता। कश्चित् समाजी ब्रह्मजायापदेन वेदविद्यां गृह्णाति। 'उत यत् पतयो दश स्त्रियाः' इत्यस्य तद्रीत्याऽयमर्थः—तपस्वी सत्यब्राह्मण एव वेदविद्यायां सत्यः स्वामी भवति। यदि दशांप्यब्राह्मणाभवेयुर्यैः परमेश्वरस्य वेदस्य वा याथात्म्यं नाधिगतम्, ते न सत्येन वेदरक्षका भवन्ति, वेदविद्याया रहस्यं तपस्विनो ब्राह्मणस्यैव समक्षे व्यज्यते। राजसतामसगुणयुक्ताः स्वार्थपरायणाः क्षत्रिया वैश्या वा न वेदविद्यायाः पतयो भवन्तीति। अनया रीत्यापि समाजिनामभिमता एकादश मानुषा एव पतयो नारीणां भवन्तीत्यर्थस्तु खण्डित एव। परं तद्रीत्या क्षत्रियवैश्यानामपि वेदविद्यायाः स्वामित्वं न भवति, शूद्रान्त्यजानां स्वामित्वं तु दूरतो निरस्तम्। 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' इति मन्त्रेण दयानन्दो पत्यौ जीवत्येव पत्यनुमत्या पत्न्याः पुरुषान्तरेण नियोगं साधयति। 'देवृकामा' इत्यादिष्वपि पत्युर्मरणं नोक्तमिति तद्रीत्या पत्यौ जीवत्यपि देवरेण सम्बन्धः सम्भवत्येव। तत्र प्रश्नोत्तराणि। प्र०—नियोग मरे

वैसा ही यहाँ पर भी समझना चाहिये। विवाह के अवसर पर देवता ही पाणिग्रहण करने वाले पुरुष को कन्या अर्पित करते हैं, जैसा कि मनुस्मृति में बताया गया है।

इसी तरह से 'भगो अर्यमा' प्रभृति मन्त्र में प्रदर्शित देवगण भी वर को कन्या का दान करते हैं। देवता शब्द यहाँ पर अथर्ववेद के मन्त्र के अनुसार दस देवताओं का संकेत करता है। ये दस दैवता हैं—सोम, अकूपार, सलिल, मातरिश्वा, मयोम्, आपः, वरुण, मित्र, अग्नि और वनस्पति। अथवा मतान्तर से इन्द्राग्नी, द्यावापृथिवी, मातरिश्वा, मित्रावरुण, भग, अश्विनी, बृहस्पति, मरुत्, ब्रह्म और सोम भी दस देवता होते हैं। मनुष्य वर की प्राप्ति से पहले ये ही दस देवता कन्या का पालन करने के कारण पति कहलाते हैं। इस तरह पालनकर्ता होने के कारण दस देवताओं में पतित्व आरोपित माना जाता है। वस्तुतः स्थूल पति को एक मनुष्य ही माना जाता है। जैसे आर्यसमाजी भी हिरण्यगर्भ को सारे जगत् का पति मानते हैं। उसी तरह से यहाँ पर भी दस देवताओं को कन्या का पति माना गया है। कन्या का विवाह होने के पहले ये देवगण ही उसकी रक्षा करते हैं। 'ब्रह्मा चेद् हस्तमग्रभीत्' इस मन्त्र का यह अर्थ आधुनिकों की दृष्टि के अनुसार है।

सनातन पद्धति के अनुसार तो प्रस्तुत मन्त्र में ब्रह्मजाया पद से बृहस्पति की पत्नी तारा का ग्रहण होता है। किसी आर्यसमाजीने इसका अर्थ वेदविद्या किया है। उसके मतके अनुसार मन्त्र का अर्थ यह है—'तपस्वी सच्चा ब्राह्मण ही वेदविद्या का सही अधिकारी होता है। परमेश्वर अथवा वेद के यथार्थ स्वरूप को न जानने वाले मनुष्य सही अर्थ में वेद की रक्षा नहीं कर सकते। वेदविद्या का रहस्य तो तपस्वी ब्राह्मण ही जान सकता है। राजस और तामस गुण वाले क्षत्रिय अथवा वैश्य वेदविद्या के

पीछे ही होता है वा जीते पति के भी। उत्तर—जीते जी भी होता है—अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' (ऋ० सं० १०।१०। १०) इति मन्त्रोक्तेः। यदि पतिः सन्तानोत्पादनेऽसमर्थः स्यात्तदा स्त्रियमाज्ञापयेत्; हे सुभगे सौभाग्यकामयित्री त्वं मत्तोऽन्यं पतिमिच्छेति। तदाऽन्येन नियोगं कृत्वा सन्तानमुत्पादयेत्। योषिदपि यदा रोगादिग्रस्ता सती सन्तानोत्पादनासमर्था स्यात्, तदा पतिमाज्ञापयेत्; हे स्वामिन् त्वं मां विहाय कयाचिद्विधवया नियोगं कृत्वा सन्तानमुत्पादयेति। अयमेव दयानन्दस्वामिनः श्रुतिषु बलात्कारप्रकारः। मन्त्रस्य प्रथमं पादत्रयं गोपयित्वा स्वानुकूलमेवांशं प्रकाशं नीतवान्।

'आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि। उपबर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥' (ऋ० सं० १०।१०।१०) सम्पूर्णस्यास्य मन्त्रस्यायमर्थः—यमो भ्राता यमीं भगिनीं बोधयति—यत्र येषु युगेषु कालेषु जामयो भगिन्यः अजामि कृणवन् भगिन्यननुरूपं कर्म भ्रातृभिः सह करिष्यन्ति भ्रातृभिर्भर्तृकर्म करिष्यन्तीत्यर्थः। ता तानि उत्तरा उत्तराणि युगानि कालविशेषा आगच्छा आगमिष्यन्ति। घ इति पादपूरणः। यस्मादेवं तस्मात् हे सुभगे त्वमिदानीं-मत्तोऽन्यं पतिं भर्तारं इच्छस्व कामयस्व। तदनन्तरं वृषभाय तवाभीष्टवर्षित्रे पुरुषाय आत्मीयं बाहुम् उपबर्बृहि शयनकाले उपबर्हणं कुरु। भ्रातृभगिन्योर्विवाहनिषेधपर्यवसायीदमाख्यानम्। अतो यमयमीसंवादरूपस्यास्य सूक्तस्य नियोगार्थकल्पन-मज्ञानस्य धौर्त्यस्य च पराकाष्ठेति मन्तव्यम्। अस्य सूक्तस्य प्रभावादेवाद्यत्वेऽपि भ्रातृभगिन्योः सात्त्विकः स्नेहमयः सम्बन्धो हिन्दुजातिषु प्रचलति। तदनुसारेणैव मुस्लिमादयोऽपि भ्रातृभगिन्योः सम्बन्धं वर्जयन्ति। प्रतिपक्षिभिरत्र पतिपत्न्योः संवादं कल्पयित्वा भ्रातृभगिन्योर्विवाहस्य भूमिकैव निर्मिता। विधवायां देवरकामयितृत्वोपदेशस्योपेक्षां दृष्ट्वा सधवाया देवृकामात्वं प्रोत्साह्यते। एतेषां प्रोत्साहनेन काश्चिदेवं मन्यन्ते यत् परपुरुषाङ्कशायिन्यो भूत्वापि यदि वयं धर्मपरायणा एव स्याम, तदा निःशङ्काः स्वतन्त्राः स्वैरं चरन्ति। सनातनप्रदर्शितनरकादिभयमपि न मन्यन्ते।

वस्तुतस्तु यमयमीसूक्तं भ्रातृभगिनीसंवादरूपम्। भगिनी यमी अशिक्षितात्वेनोभयोः समानगर्भत्वेन सहजत्वेन पतिपत्नीत्वं मत्वा यमं भ्रातरं भर्तृत्वायाभ्यर्थयते। यमस्तु शिक्षितत्वाद् भ्रातृभगिन्योः सम्बन्धं पातकं मत्वा तां प्रत्याख्याय पुरुषान्तरं पतित्वेन वरणायोपदिशतीति मन्त्रे स्पष्टमेव। तथापि प्रतिपक्षिणः पतिपत्नीसंवादं परिकल्पयन्ति, कथयन्ति च,

स्वामी नहीं हो सकते। इस अर्थ को मानने पर भी उक्त आर्यसमाजी मत के अनुसार स्त्री के ग्यारह मनुष्य पति का तो खण्डन हो ही जाता है। किन्तु इस व्याख्या के अनुसार जब क्षत्रियों और वैश्यों का भी वेदविद्या पर अधिकार नहीं सिद्ध हो पावेगा, तब शूद्रों और अन्त्यजों के अधिकार की बात तो बहुत पूर पड़ जायगी।

'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' इस मन्त्र से दयानन्द पति के जीवित रहते हुए भी उसकी अनुमति रहनेपर दूसरे पति से नियोग की बात सिद्ध करते हैं। 'देवृकामा' प्रभृति मन्त्र में भी पति के मरण की बात नहीं कही गई है, अतः दयानन्द की पद्धति से पति के जीवन काल में भी देवर से सम्बन्ध किया जा सकता है। जैसा कि इन प्रश्नोत्तरों से सिद्ध होता है—प्र० नियोग मरे पीछे ही होता है वा जीते पति के भी। उ० जीते भी होता है, इसमें उक्त अथर्ववेद का मन्त्र प्रमाण है। यदि पति सन्तान के उत्पादन में असमर्थ है, तब स्त्री को आज्ञा दे कि हे सुभगे, तुम किसी दूसरे को अपना पति बना लो। पति की आज्ञा मिलने पर पत्नी दूसरे पुरुष से नियोग करके सन्तान उत्पन्न करे। इसी तरह से पत्नी भी जब रोग आदि से ग्रस्त हो और सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ हो तो पति को आज्ञा दे कि हे स्वामी, मुझे छोड़कर आप किसी विधवा से नियोग करके सन्तान उत्पन्न कीजिये। इस तरह का अर्थ करना स्वामी दयानन्द का वेदों के साथ खींच तान करना ही है। यहाँ पर मंत्र के तीन पादों को छिपाकर चौथे चरण को अपने मतलब का समझ कर केवल उसी का अर्थ खींचतान कर किया मया है।

पूरा मन्त्र मूल में उद्धृत किया गया है। इसमें भाई अपनी बहिन से कहता है कि जिन युगों में बहिनें अपने भाई के साथ अकरणीय कार्य करेंगी, वे युग अभी भविष्य में आवेंगे। घा शब्द पाद की पूर्ति के लिये है। अभी वह समय नहीं आया है, इसलिये हे सुभगे, किसी दूसरे को अपना पति बनाओ। तुम्हारे अभीष्ट की पूर्ति करने वाले उस पुरुष के साथ

यदि भ्रातृभगिनीसंवादः स्यात्तदा यमयमासंवादः स्यात्, न यमयमीसंवादः। 'पुंयोगादाख्यायाम्' (पा० सू० ४।१।४८) इति सूत्रेण यमस्य स्त्रीत्यर्थे ङीष् भवति। तथा च यमीतिरूपम्। इत्येष समाजिनां तर्कः। तदतत् सर्वमसङ्गतमेव, यमस्य भगिनी यमा भवति; न यमीत्यत्रप्रमाणाभावात्। पुंयोगादाख्यायां ङीष् भवति, परन्तु दाम्पत्यरूप एव पुंयोग इत्यत्र मानाभावः, जन्यत्वादिरूपस्यापि पुंयोगत्वस्य हरदत्तादिभिरङ्गीकृतत्वात्। पुंयोगात् स्त्रीत्वविवक्षया ङीष् भवति, न पत्नीत्वविवक्षया। स्त्रीसामान्यमत्र विवक्षितम्। तथा यमीत्यत्र पुं (भ्रातृ) योगात् स्त्रीलिङ्गे ङीषि न काचिदनुपपत्तिः। ङीप् वा (४।१।४८)। तथा च भ्रातुर्यमस्य योगात् स्त्रीत्वेन 'पुंयोगादाख्यायाम्' (पा० स० ४।१।४८) इति ङीष् भवत्येव। अतो यथा कृपकृपीत्यनयोर्भ्रातृभगिनीत्वमेव; न पतिपत्नीत्वम्, तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्। महाभारतरीत्या नहि कृपी; कृपस्य पत्नी भवति, किन्तु सा द्रोणस्य पत्नी। कृपाचार्यस्य तु भगिन्येव। अतो यथा कृपस्य भगिनी कृपी आसीत्; न कृपा, रेवतस्य पुत्री रेवती; न रेवतस्य पत्नी (श्रीमद्देवीभागवते ७।७।४४-४६, ८।१७), श्यालः श्याली परस्परं भ्रातृभगिन्यो भवतो; न पतिपत्न्यौ। नह्यत्र श्यालः श्याला वा भवति। केकयः केकयीत्यनयोरपि पितृदुहितृत्वं; न पतिपत्नीत्वम्।

किञ्च, अजमेरवैदिकयन्त्रालये प्रकाशितायाम् ऋग्वेदसंहितायां यमयमीसूक्तस्य ऋषिर्वैवस्वती यमी, देवता वैवस्वतो यम इत्युक्तौ। तथा च एकपितृमत्त्वे यमयम्योः पतिपत्नीत्वं भ्रातृभगिनीत्वं वेति सुधियो विदाङ्कुर्वन्तु। 'त्वाष्ट्री

तुम शयन करो। इस तरह से यह संवाद भाई और बहिन के विवाह को निर्षिद्ध मानता है। इस परिस्थिति में यमयमी—संवाद को नियोगार्थक सिद्ध करना निरी धूर्तता अथवा अज्ञता है। यह इसी सूक्त का प्रभाव है कि भारतवर्ष में आज भी भाई और बहिन के इस स्नेह संबन्ध को मान्यता दी जाती है। मुसलमान भी भाई और बहिन के संबंध को वर्जित मानते हैं। आर्यसमाजी इस सूक्त में पत्नी और पति के संवाद की असत्कल्पना करके भाई बहिन के विवाह की भूमिका तैयार कर रहे हैं। विधवाओं का ही नहीं, सधवाओं का भी देवरों से संबन्ध होने लगे, ऐसा प्रोत्साहन मिलने पर कुछ स्त्रियां यह भी सोच सकती हैं कि पर पुरुष की अंकशायिनी होकर भी यदि हम पवित्र ही हैं, तब खुल कर क्यों न खेलें। सनातन धर्म में दिखाये गये नरक आदि के भय से भी मुक्त कर ऐसे लोग समाज को रसातल की ओर ले जा रहे हैं।

वास्तव में यमयमीसूक्त भाई और बहिन का संवाद है। बहिन यमी अशिक्षित है। एक माता के गर्भ में साथ साथ रहने से और साथ ही पैदा होने से वह अपने भाई को पति और स्वयं अपने को पत्नी मान बैठती है। इसके विपरीत यम शिक्षित है। वह भाई और बहिन के इस तरह के सम्बन्ध को अपवित्र मान कर उसको दूसरा पति खोजने के लिये समझाता है। इस मोटी बात को भी आर्यसमाजी नहीं समझ पाते, और इस सूक्त में पति और पत्नी के संवाद को सिद्ध करना चाहते हैं। उनका कहना है कि यदि इसमें भाई और बहिन का संवाद होता तो यह यमयमासंवाद कहा जाता, यमयमीसंवाद नहीं। 'पुंयोगा०' इत्यादि पाणिनि सूत्र से 'यम की स्त्री' इसी अर्थ में ङीष् प्रत्यय होता है। किन्तु उनका यह कथन सही नहीं हैं, क्योंकि यम की बहिन यमा होगी यमी नहीं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। आपका यह कथन अवश्य ठीक है कि पुरुष के योग में ङीष् प्रत्यय होता है, परन्तु यह सम्बन्ध दम्पति के रूप में ही होगा, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। हरदत्त प्रभृति आचार्यों ने पुंयोग का अर्थ पुरुष के साथ उत्पन्न होना आदि भी लिया है, जैसा कि यहां पर पुरुष यम के साथ स्त्री यमी का संबन्ध है। यहां पर स्त्रीत्व मात्र की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय होता है, पत्नी के अर्थ में नहीं। इस तरह इस शब्द से पुरुष (भाई) के योग में स्त्रीलिंग में ङीप् है। प्रत्यय बहिन का बोधक होगा, पत्नी का नहीं। अथवा ङीप् प्रत्यय से भी यमी शब्द सिद्ध किया जा सकता है। इसलिये कृप और कृपी जैसे भाई-बहिन माने जाते हैं, पति-पत्नी नहीं, उसी तरह से यम और यमी को भी भाई और बहिन ही माना जायगा। महाभारत में स्पष्ट है कि कृपी, कृप की पत्नी न होकर बहिन है, वह पत्नी तो द्रोणाचार्य की है। कृपाचार्य की तो वह बहिन ही है। इसलिये कृप की बहिन जैसी कृपी है, कृपा नहीं; रेवत की पुत्री रेवती है, पत्नी नहीं, साला और साली जैसे बहिन-भाई होते हैं, पति-पत्नी नहीं, केकयी, केकय की पुत्री है, पत्नी नहीं; उसी तरह से यम और यमी भी भाई-बहिन हैं, पति-पत्नी नहीं।

फिर अजमेर वैदिक यन्त्रालय से प्रकाशित ऋग्वेद-संहिता में भी यमयमीसूक्त का ऋषि वैवस्वती यमी और देवता वैवस्वत यम माने गये हैं। इस तरह से आपके मत से भी दोनों के पिता जब एक ही वैवस्वत हैं, तब यम और यमी पति-पत्नी होंगे या

सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद् यमौ मिथुनौ (यमं यमीं च) जनयाञ्चकार (नि० १२।१०) इत्यनेनापि वैवस्वतयोर्यमयम्योः सहजत्वं विज्ञायते । किं पतिपत्न्यौ एकस्मादेव पितुरेकस्या एव मातुः सहैव जायेते । यदि स्त्रीप्रत्ययवशादेनयोः पतिपत्नीत्वमभ्युपगम्येत, तदा तु पुत्रपुत्र्योः कुमारकुमार्योरपि पतिपत्नीत्वमेव स्यात् । देवकदेवक्यो रेवतरेवत्योरपि दम्पतीत्वं स्यात् । यमयम्योर्भ्रातृभगिनीत्वं वेदस्य ऋष्याद्यनुक्रमणिकयापि विज्ञायते । व्यवहारात्, निरुक्ताद्, व्याकरणाद्, इतिहासपुराणाभ्यामपि तत् सिद्धयति । वेदोऽपि तथैव कथयति—'असं यदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यत् शयीय ।' (अथर्व १८।१।१४) अत्र पतित्वं प्रार्थयन्तीं भगिनीं यमीं प्रति यमः खेदं प्रकाशयति । भ्राताहं यमः स्वसुस्तव यम्याः शयने यत् शयीय शयनं कुर्याम्, एतन्मे मनसो हृदयस्य असंयत् प्रतिकूलमस्ति । 'न ते भ्राता सुभगे (भगिनि) वष्टि एतत्' (ऋ० सं० १०।१०।१२) हे भगिनि यमि ते तव भ्राता यमो नैतद् वष्टि कामयते । 'पापमाहुर्यः स्वसारं (भगिनीं) निगच्छति (ऋ० सं० १०।१०।१२) यः भ्राता स्वसारं भगिनीं निगच्छति नियमेनोपगच्छति संभुङ्क्ते तं पापं पापकारिणमाहुः शिष्टा वदन्ति । इत्यादिमन्त्रैः स्पष्टमेव यम्याः यमस्य भगिनीत्वमेव सिद्धयति । नात्र यमो वृद्धत्वान्नपुंसकत्वाद्वा सन्तानोत्पादनासमर्थत्वात् तदुपगमनं निषेधति, किन्तु भ्रातृत्वाद् भगिनीगमनस्य पापावहत्वात् तद्गमनं निषेधतीति मन्त्रवचनेनैव सिद्धयति ।

यत्तु भगिनी पतित्वाय भ्रातरं प्रार्थयेदिति वेदशास्त्रस्मृतीतिहासविरुद्धत्वाद् भ्रातृभगिनीसंवादः सर्वथाऽयुक्तः इति, तदपि तुच्छम्, तदुक्तस्यैवायुक्तत्वात् । समानस्थानत्वात् समवयस्कादित्वाच्च भ्रातृभगिन्योर्विवाहे मैथुने वा प्रवृत्तिनिरोधाय तथा संवादस्य युक्तत्वात् । प्रवृत्तिनिरोधायायं संवादो, न मैथुनादिप्रवृत्तये । न च प्रवृत्तिरेव तयोर्न सम्भवत्येवेति वाच्यम्, 'मात्रा स्वस्रादुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' (म० २।२१५) इति मनुवचनेन जितेन्द्रियस्य विदुषोऽपि प्रवृत्तिसम्भवात् । यद्ययमेतादृशो वैदिकसंवादो न स्यात् तदाद्यत्वे तथा प्रवृत्तेरनिवार्यत्वापातात् । भारतस्य तथा प्रवृत्त्यैव मुस्लिमादयोऽपि प्रत्यक्षभगिन्या विरताः सन्ति । अस्माकं भारतीयानां तु सगोत्रकन्यापि

भाई-बहिन होंगे, इसको कोई भी समझदार आदमी जान सकता है । निरुक्त में बताया गया है कि त्वष्टा की पुत्री सरण्यु और विवस्वान् आदित्य से जुड़वा बच्चे (यम और यमी) उत्पन्न हुए । इससे भी ये जुड़वा भाई-बहिन ही सिद्ध होते हैं । क्या पति और पत्नी एक ही पिता और माता से एक साथ उत्पन्न होते हैं । स्त्रीप्रत्यय होने मात्र से यदि इनको पति-पत्नी मान लिया, तब तो पुत्र और पुत्री, कुमार और कुमारी भी परस्पर पति-पत्नी होने लगेंगे । देवक और देवकी, रेवत और रेवती को भी दम्पती मानने लगेंगे । यम और यमी परस्पर भाई-बहिन हैं, यह बात वेद की ऋषि आदि की अनुक्रमणिका से भी ज्ञात होती है । व्यवहार, निरुक्त, व्याकरण, इतिहास-पुराण सभी से यही बात मालूम होती है । अथर्ववेद के एक मन्त्र में यम इस बात पर खेद प्रकट करता है कि यमी मुझे भाई की जगह पति बनाना चाहती है । ऋग्वेद के मन्त्र में यम कहता है कि हे बहिन यमि, तुम्हारा भाई इस प्रार्थना को स्वीकार नहीं कर सकता । ऐसा करना शिष्ट जनों में गर्हित है । इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि यम और यमी परस्पर भाई-बहिन है । यम वृद्ध होने से, नपुंसक होने से अथवा सन्तान उत्पादन में असमर्थ होने से उसको अस्वीकार नहीं कर रहा है, किन्तु भाई और बहिन का पति-पत्नी के रूप में रहना शिष्टाचार के विरुद्ध पाप कर्म है, ऐसा मानकर ही यम, यमी की प्रार्थना को स्वीकार नहीं कर रहा है ।

किसी ने कहा है कि बहिन भाई को पति बनने के लिये कहे, यह बात वेद शास्त्र, स्मृति, इतिहास आदि के विपरीत है, अतः यम-यमी सूक्त को भाई-बहिन का संवाद मानना सर्वथा असंगत है । किन्तु उक्त कथन ही स्वयं अपने में सही नहीं है, क्योंकि एक सी अवस्था में एक ही जगह पर रहने के कारण भाई-बहिन की परस्पर विवाह अथवा मैथुन की प्रवृत्ति को रोकने के लिये शास्त्रों में इस तरह के संवादों की अत्यन्त आवश्यकता है । इस तरह की प्रवृत्तियों पर रोक लगाने के लिये यह संवाद है, मैथुन आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्ति के लिये नहीं । भाई-बहिन में परस्पर इस तरह की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा नहीं कहा जा सकता । मनु ने माता, बहिन और पुत्री के साथ भी एकान्त में बैठने का निषेध किया है । इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल होती हैं । ये जितेन्द्रिय विद्वान् पुरुष को भी पराधीन बना सकती हैं । यदि इस तरह का वैदिक संवाद न होता तो आज इस तरह की प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाना कठिन हो जाता । भारत की देखादेखी ही अन्य धर्मों को मानने वाले भी अपनी सगी बहिन से शादी नहीं करते । भारतीय समाज में तो सगोत्र कन्या भी बहिन

भगिनीत्वेन दारकर्मणि निषिद्धा, परमन्यत्र तु पितृव्यसुतामपि दारत्वेन गृह्णन्त्येव। तस्माद् भ्रातृभगिन्योः संयोगनिषेधाय यदि काचिदाख्यायिकोपस्थापनीयैव स्यात्तदा तत्र तयोरेकेन संयोगेच्छा निवेदनीया, अन्येन तत्प्रत्याख्यानं कर्त्तव्यमेव। यदि मद्यपाननिषेधाख्यायिकायामेकेन मद्यपानस्य गुणा वक्तव्या अन्येन च दोषवर्णनेन तत्प्रत्याख्यानं कर्त्तव्यमेव। नैतावता वेदस्य महत्त्वं क्षीयते। निषेधे तात्पर्यमिति ज्ञानेन माहात्म्यातिशयसिद्धेः।

'जायेव पत्ये' (ऋ० सं० १०।१०।७) इति प्रकृतसूक्तगतमुपमानमपि यमयम्योर्दाम्पत्यं निराकरोति। जायेव पत्ये यथा भार्या पत्युरर्थाय परया प्रीत्या विश्वस्ता सती रतिकामा स्वशरीरं प्रकाशयति, एवं तन्वमात्मीयशरीरं रिरिच्यां त्वदर्थं प्रकाशयेयमिति। नहि जायेव जायाया उपमानं वर्णयति। उपमानमुपमेयाद्भिन्नमेव भवति, 'साधर्म्यमुपमाभेदे' इति प्रसिद्धेः। यदि यमयम्यौ पतिपत्न्यौ स्याताम्, तदा जायेव पत्ये इत्युपमानं नोपाददीत। यमः कथयति 'अन्येन मद्-आहनः याहि' (अथर्व० १८।१।९) अर्थात् त्वं मद् मत्तः भ्रातुरन्येन सम्बन्धं कुरु। तदा यमी वदति 'बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं च अविदाम। अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं लिबुजेव वृक्षम् ॥' (अथर्व० १८।१।९) अन्या स्त्री त्वदालिङ्गनं करिष्यति। यतस्त्वं मया सह विवाहं न चिकीर्षसि। अद्य यावत् तव हृदयं मनश्च ज्ञातुं नाशकम्! यदि यमो वृद्धत्वान्नपुंसकत्वाद्वाऽशक्तः स्यात्तदा यमी कथमन्यया सम्बन्धं कथयेत्। यः पतिरसमर्थत्वात् स्वकामपूर्तिं कर्तुमसमर्थः सोऽन्यस्याः कथं कामं पूरयितुं शक्ष्यतीति जानाना कथं तद्वदेत्? यदि यमो यम्याः पतिः स्यात्तदा सा तं यम इति नाम्ना कथं सम्बोधयेत्, पत्युर्नामनिर्देशप्रसङ्गात्।

निरुक्तकारो भ्रातृभगिनीसंवादमेवास्मिन् सूक्ते मनुते। यमी यमं चकमे तां प्रत्याचचक्षे। अर्थात् यमीं गर्भे सहवासात् यमं पतिं मत्वा तं कामितवती, परन्तु यमस्तां प्रत्याख्यानेन तिरश्चकार। किञ्च, यदि यमो यम्याः वृद्धोऽशक्तः पतिः स्यात्तदा सा तस्य कामनामेव न कुर्यात्। 'त्वाष्ट्री विवस्वतो यमौ मिथुनौ (यमं यमीं च) जनयाञ्चकार' (नि० १२।१०) इति निरुक्तप्रमाणेन तयोर्भ्रातृभगिनीत्वमेव सिद्ध्यतीति। एकस्मादेव गर्भाद्युगपज्जनितयोरद्यापि यमजत्वमुच्यते। नहि पति-

है, अतः उसके साथ भी विवाह नहीं किया जाता। अन्य धर्मावलम्बी तो चचेरी बहिन के साथ विवाह कर लेते हैं। भाई-बहिन के संयोग के निषेध के लिये यदि कोई कहानी कहता है, तो उसके लिये यह आवश्यक है कि उनमें से एक संयोग की इच्छा प्रकट करे और दूसरा उसका निषेध करे। यदि मद्यपान के निषेध के लिये किसी आख्यायिका की आवश्यकता है, तो उसमें एक मद्यपान की प्रशंसा करेगा और दूसरा उसके दोषों को बतावेगा। ऐसी आख्यायिकाओं से वेद की महत्ता कम नहीं होती। असत्प्रवृत्तियों के निषेध में तात्पर्य जान लेने के उपरान्त इनका महत्त्व प्रकाशित होता है।

प्रकृत सूक्त में 'जायेवपत्ये' यह वचन भी यम और यमी के दाम्पत्य का निषेध करता है। जैसे भार्या अपने पति को प्रसन्न होकर विश्वासपूर्वक अपना शरीर सौंप देती है, वैसा ही मैं करूँगी। यदि यमी यम की भार्या होती तो वह इस तरह का उपमान प्रस्तुत न करती। उपमान उपमेय से भिन्न होता है। भार्या के उपमान से स्पष्ट है कि यमी अपने को यम की भार्या नहीं मानती। यम कहता है कि मैं तो तुम्हारा भाई हूँ, तुम किसी दूसरे पुरुष के पास जाओ। तब यमी कहती है कि हे यम, मैं तुम्हारे हृदय को अभी तक नहीं समझ सकी हूँ। मुझे लगता है कि तुम्हारा मन कहीं दूसरी जगह भटक रहा है। यदि यम वृद्ध होता, अथवा नपुंसक होने से वह असमर्थ होता, तो यमी उसका सम्बन्ध किसी दूसरी स्त्री के साथ कैसे जोड़ती? जो पति असमर्थ होने के कारण अपनी पत्नी की कामना पूरी नहीं कर सकता, वह किसी दूसरी स्त्री की कामना कैसे पूरी करेगा? यदि यम यमी का पति होता, तो वह उसका नाम कैसे लेती? भारतीय परम्परा में पति का नाम नहीं लिया जाता।

निरुक्तकार इस सूक्त में भाई-बहिन का संवाद ही मानते हैं। यमी यम को चाहने लगती है। यम उसकी इस इच्छा का तिरस्कार कर देता है। इसका अभिप्राय यह है कि गर्भ में साथ-साथ रहने से यमी उसको अपना पति मान बैठती है, किन्तु यम इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करते। यदि यम, यमी का अशक्त अथवा वृद्ध पति होता, तो वह उसको चाहती ही क्यों? निरुक्त के वचन में बताया गया है कि त्वाष्ट्री और विवस्वान् के संयोग से युगल यम और यमी की उत्पत्ति हुई है। इससे ये भाई-बहिन ही माने जायेंगे।

पत्न्योरेकस्माद्गर्भाद्युगपज्जातत्वं भवति। यमी तु वदति 'गर्भे नु नौ जनिता दम्पती करदेवः' (अथर्व० १८।१।५) जनिता जनयिता प्रजापतिः गर्भे नु गर्भावस्थायामेव नौ आवां दम्पती जायापती कः कृतवान्, एकोदरे सहवासित्वात्। यदि यमो वृद्धोऽशक्तः पतिः स्यात्तदा यमी यमं चकमे इति निरुक्तस्य कथं सङ्गतिः ? कथं वृद्धमशक्तं यमं सा कामयेत ? यदि तदङ्कशायिनी पत्नी स्यात् तदा कथं न सा तस्यासामर्थ्यं जानीयात्, ज्ञात्वा वा कथं कामयेत ? किं सा यमी वृद्धेनैव यमेन विवोढासीत् ? किं सा तस्य समागमस्य प्रथमरात्रिरेवासीत् ? येन तस्यासामर्थ्यं तया न ज्ञातं स्यात् ? किं प्रतिपक्षिणां वेदो वृद्धेन सार्धं कुमार्या विवाहमनुमन्यते ?

'आघा ता गच्छान् उत्तरा युगानि' इति मन्त्रांशस्य प्रतिपक्षिरीत्यायमर्थः—एवंविधाः कालविशेषा आयास्यन्ति निःसन्देहमेव यदा कुलवध्वः कुलवध्वननुरूपं कर्म करिष्यन्तीति। तदा पतिरेवं वेद वीर्यसेकसमर्थाय पुरुषाय बाहुं वर्धय। हे सुभगे मत्तोऽन्यं पतिमिच्छस्वेति। अस्मिन्नर्थे वृद्धत्वादिकारणं नोक्तं, येन व्यभिचारप्रोत्साहनमेतेन वृद्धिं यास्यति। सर्वथापि प्रतिपक्षिप्रोक्तोऽर्थोऽशुद्धः प्रकरणादिविरुद्ध एवेति पूर्वं प्रदर्शितमेव।

दशममन्त्रस्य ऋषिर्वक्ता वैवस्वत-सूर्य-पुत्रो यमः। देवता प्रोच्यमाना वैवस्वती सूर्यस्य पुत्री यमी। विवस्वत्पुत्रपुत्र्यौ भ्रातृभगिन्यावेव। उभयोः पतिपत्नीत्वे वैवस्वतो वैवस्वतीति विशेषणयोर्वैयर्थ्यमेव स्यात्। यमी किल यमं प्रार्थयाञ्चकारेहि मैथुनाय संगच्छावहा इति। तामकामयमानो यमोऽनयर्चा प्रत्युवाच—'आ घा ता गच्छान्' इति। घा इत्यनर्थकएव। आगमिष्यन्ति''''तान्युत्तरयुगानि तेऽपि काला न तावत्साम्प्रतं वर्तन्ते येषु जामयो भगिन्यो भ्रातॄणाम् अजामियोग्यानि मैथुनसम्बन्धीनि कर्माणि करिष्यन्ति, कलियुगान्ते हि तादृशः सङ्करो भवति, न चेदानीं कलियुगं वर्तते इत्यभिप्रायः। यतो न तावदद्यापि सङ्कीर्णो वर्णसङ्करधर्मः। स्वाचारा एव तावत्प्रजा। अतो ब्रवीमि—उपबर्बृहि वृषणाय बाहुं बृषभाय

एक ही गर्भ से एक साथ पैदा हुए बच्चों को आज भी यमज (जुड़वा) कहा जाता है। पति और पत्नी की एक साथ एक ही गर्भ से उत्पत्ति नहीं होती। अथर्ववेद के मन्त्र में यमी कहती है कि भगवान् ने गर्भावस्था में ही हमको दम्पती बना दिया, क्योंकि वहाँ हम लोग साथ रहे हैं। यदि यम वृद्ध या अशक्त पति होता, तो यमी क्यों चाहने लगी, निरुक्त का यह वचन कैसे सही होता ? वृद्ध और अशक्त यम को वह कैसे चाहने लगती ? यदि वह उसकी पत्नी होती तो क्या वह उसकी असमर्थता को नहीं जान जाती ? जानकर वह उसको कैसे चाहती ? क्या यमी, वृद्ध यम के साथ ब्याह दी गई थी ? क्या वह उसके समागम की प्रथम रात्रि थी, जिससे कि वह उसकी असमर्थता को नहीं जान पाई। क्या आर्यसमाजियों के वेद, वृद्ध के साथ कुमारी के विवाह की अनुमति देते हैं ?

७ 'आघाता' इस मन्त्र का आर्यसमाजी अर्थ यह है—कभी ऐसा भी समय आवेगा जब कि भले घर की स्त्रियाँ अपने कुल के प्रतिकूल आचरण करने लगेंगी। तब पति अपनी पत्नी से कहेगा कि तुम किसी समर्थ पुरुष की तरफ अपने हाथ बढ़ाओ। हे सुभगे, तुम दूसरा पति कर लो। उनके इस अर्थ में भी बुढ़ापा आदि को कारण के रूप में नहीं दर्शाया गया है। अतः उनका यह अर्थ व्यभिचार को ही प्रोत्साहन देने वाला है। इस तरह के प्रतिपक्षियों के सभी अर्थ अशुद्ध और प्रकरण के भी विपरीत हैं, इसको पहले भी दिखाया जा चुका है।

दशम मन्त्र का ऋषि और वक्ता वैवस्वत (सूर्य) का पुत्र यम है और देवता वैवस्वती (सूर्य की पुत्री) यमी है। सूर्य के पुत्र और पुत्री भाई और बहिन ही हैं। दोनों के पति-पत्नी होने पर इनके लिये वैवस्वत और वैवस्वती ये विशेषण व्यर्थ होंगे। मन्त्र का सही अर्थ है—यमी यम से प्रार्थना करती है कि आओ हम सहवास करें। उसको न चाहता हुआ यम इस ऋचा में उसको उत्तर देता है कि वह समय अभी तो नहीं, आगे आने वाला है, जब कि बहिनें, भाइयों के साथ अनुचित सम्पर्क करने लगेंगी। कलियुग की समाप्ति पर ऐसा संकर काल आवेगा। इसका अभिप्राय यह है कि अभी कलियुग नहीं आया है, क्योंकि इस तरह का वर्णसंकर धर्म अभी प्रचलित नहीं है। प्रजा अपने चिरन्तन आचारों का पालन करती है। इसलिये मेरी तुमको सलाह है कि किसी दूसरे पुरुष के पास

यस्तवोपरि रेतः सेक्तुमन्यकुलजो योग्यस्तस्मै सर्वथा प्रार्थ्यमानोऽप्यहं तव पतिर्न भविष्यामि । अतो ब्रवीमि—अन्यमिच्छस्वान्वेषयस्व, हे सुभगे पतिं मत् मत्त इत्यर्थः । एतस्मिन् सूक्ते मन्त्रे वा संवादाधिकाराज्जामिशब्देन भगिन्युच्यते ।

दशमं 'आ धा ता' इति मन्त्रं निरुक्तकार एवं व्याख्यातवान्—'आगमिष्यन्ति तान्युत्तराणि युगानि यत्र जामयः करिष्यन्त्यजामिकर्माणि (नि० ४।२०) इदं यमस्य वाक्यम् । अत्र दुर्गाचार्यः—'जामिपदं भगिनीपरम् । अत एव निरुक्ते 'न जामये तान्वो रिक्थमारैक्' इत्यस्य मन्त्रस्यार्थे निरुक्तकारेण जामये (भगिन्यै) (नि० ३।६) इति व्याख्यातम् । अन्येऽस्यां जनयन्ति जाम् अपत्यम्, न तु स्वकीयभ्रातृपित्रादयः इति जामि, 'चकार एनां (जामिम्) गर्भनिधानीं हस्तग्राभस्य' (नि० ३।६) न तु भ्राता स्वीयां पत्नीमन्यस्मै पाणिग्रहणार्थं ददाति, किन्तु भगिनीमेव ददाति ।

ऋग्वेदसंहितायाम् (८।१०२।१३) मन्त्रस्य भाष्ये सायणाचार्योऽप्याह—'जामयः स्वसारः' इति । निघण्टौ वेदे चाङ्गुलीषु जामिशब्दोऽत एव प्रयुक्तः । सहोत्पन्नत्वात् परस्परं भगिन्यो भवन्ति । अत एव वेदे भगिनीवाचकः स्वसृशब्दोऽपि जामिशब्देन सह दृश्यते । वैवस्वतस्य यमस्य भ्रातृत्वाद् वैवस्वत्या यम्याः सुतरां भगिनीत्वमेव । अतः सुतरां जामीत्यस्य भगिन्येवार्थः । अजामिकर्म अभगिनीकर्मैव । भ्रातृगमनमित्यर्थः। एवं स्पष्टं दुर्गाचार्यसम्मतमर्थं परित्यज्य निरर्थकमेवेतस्ततः परिधावनम् । अत एव यमी यमस्य भगिनीत्वमनिच्छन्ती वक्ति—'यमी यमस्य विवृहाद् अजामि' (अथर्व० १८।१।१०) । यमी यमस्या भगिनीत्वमर्थात् पत्नीत्वं धारयेत् । एतेन स्पष्टमत्र जामिशब्दस्य भगिन्येवार्थः । किञ्च, 'आघाता' इति यमस्य वाक्यम् । प्रतिपक्षिरीत्या तु स्वतन्त्रमिदं वाक्यम् । तथात्वे को वाऽस्य ऋषिः स्यात् ? न चात्र यमातिरिक्तः कश्चनर्षिरिष्टः । यदि समय आगच्छेत् तदा पतिरेवं वदेत्' इत्यत्र यदि शब्दः कुत आगतः ? मूले तदभावात् । तदेत्यपि निर्मूलमेव । 'यदा कुलवध्वः कुलवध्वयोग्यं कर्म कुर्युः' इत्यपि कस्य वचनम् ? यम एव तु सर्वस्य मन्त्रस्य ऋषिः । उत्तरार्धे 'पतिर्वदेत्' इत्यपि निर्मूलमेव ।

जाओ, जो शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार तुम्हारे सहवास के योग्य हो । तुम्हारी प्रार्थना पर भी मैं तुम्हारा पति नहीं बनूंगा । इसीलिये हे सुभगे, मैं तुम्हें किसी दूसरे योग्य पति को खोजने की सलाह देता हूं । इस सूक्त और मन्त्र में जामि शब्द का अर्थ बहिन किया गया है—

निरुक्त में इस मन्त्र का अर्थ यह किया गया है—'ऐसा भी समय आवेगा, जब कि बहिनें ऐसा कार्य करेंगी, जो कि उनको नहीं करना चाहिये । यह यम का वाक्य है' । इस पर दुर्गाचार्य लिखते हैं—जामि शब्द का अर्थ बहिन है, यह अर्थ निरुक्त में अन्यत्र (३।६) बताया गया है । भगिनी में दूसरे लोग बच्चे पैदा करते हैं, अपने भाई, पिता आदि नहीं, इसलिये इसको जामि कहा जाता है । निरुक्त में बताया गया है कि जामि को गर्भ धारण कराने में समर्थ पुरुष को सौंप दिया जाता है । कोई भी व्यक्ति अपनी पत्नी को इस कार्य के लिये दूसरे को नहीं सौंपता, किन्तु अपनी बहिन का ही विवाह दूसरे पुरुष के साथ करता है ।

ऋग्वेदसंहिता के एक मन्त्र का भाष्य करते हुए सायणाचार्य जामि शब्द का अर्थ बहिन करते हैं । निघण्टु और वेदों में अंगुलियों को भी इसीलिये जामि कहा जाता है कि ये साथ उत्पन्न होने के कारण परस्पर बहिनें हैं । इसीलिये वेद में भगिनी (बहिन) का वाचक स्वसा शब्द और जामि शब्द साथ साथ प्रयुक्त हैं । वैवस्वत यम भाई है और वैवस्वती बहिन, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है, अतः जामि शब्द का अर्थ निश्चय ही भगिनी (बहिन) है । अजामि कर्म का अर्थ भगिनी के लिये अकार्य, अर्थात् भ्रातृगमन है । इस तरह के दुर्गाचार्य संमत स्पष्ट अर्थ को छोड़कर आर्यसमाजी व्यर्थ ही इधर-उधर भटकते हैं । इसीलिये यमी इस संवाद में स्पष्ट कहती है कि मैं यम की बहिन नहीं रहना चाहती पत्नी होना चाहती हूं । इससे स्पष्ट होता है कि जामि शब्द यहां भगिनी के अर्थ में प्रयुक्त है । 'आघाता' यह यम का वाक्य है, किन्तु प्रतिपक्षी इसको स्वतन्त्र वाक्य मानते हैं । तब इसका ऋषि कौन होगा ? यम के अतिरिक्त अन्य कोई ऋषि मान्य नहीं है । 'यदि समय आवे तो पति ऐसा कहें' इस अर्थ में यदि शब्द कहां से आया ? मूल में तो वह है नहीं । इसी तरह से तदा शब्द का अध्याहार भी निराधार है । जब कुलवधुएं उनके न करने लायक कार्य करने लगे, यह अर्थ भी कहां से निकलेगा । इस पूरे मन्त्र का ऋषि यम ही है । तब उत्तरार्ध में 'पति कहे' ऐसा अर्थ कैसे किया जा सकता है ?

यमी भ्रातरं यमं पतित्वेन चकमे। भ्राता यमश्च 'पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्' इति वचनेन यो भ्राता भगिनीगमनं करोति तं पापकारिणं वदन्ति शिष्टा इति प्रतिषेधति। 'न ते भ्राता सुभगे वष्टि एतत्' (अथर्व० १०।१०।१२) हे भगिनि, ते भ्राता भगिन्या सार्धं मैथुनसम्बन्धं न कामयते। 'असंयदेतत् (प्रतिकूलम्) मनसो हृदो मे भगिनी स्वसा इत्यादयः शब्दाः पतिपत्नीपक्षे प्रतिकूला एव सन्ति।

केचित्तु 'अन्यपतिमिच्छवे' इत्युक्त्यैव स्वस्य वक्तुर्यमस्य पतित्वमेव सिद्ध्यतीति प्रथमपत्यभावेऽन्यपतित्वं कथं संभवतीति। यः स्वात्मानं पतिं मन्यते स एव तथा वक्तुं शक्नोति मत्तोऽन्यं पतिमिच्छस्वेति' इति, तदपि निरर्थकम्, यम्यभिप्रायापेक्षया तदुक्त्युपपत्तेः। यमी तं पतित्वेन कामयते। स स्वस्य पतित्वं निषिद्ध्यान्यस्य पतित्वमादिशति—सुभगे मां भ्रातरं पतिमकृत्वा मत्तोऽन्यं कञ्चन पतिमिच्छस्वेति। किञ्च कुलवधूनां कुलवध्वयोग्यं कर्म किम् ? किं परपुरुषेण मैथुनमेव कुलवध्वयोग्यं कर्म अन्यद् वा ? नान्यत् तदसिद्धेः। नाद्यः, तथात्वे मत्तोऽन्यं पुरुषमिच्छस्वेति कथं पतिः कुलवध्वयोग्यं कर्म कर्तुमुपदिशेत् ? यदि स स्वयं वेश्याकर्म कर्तुं प्रेरयति तदा किमन्यत् कुलवध्वयोग्यं कर्म स्यात् ?

यत्तु सत्यार्थप्रकाशे दयानन्देनोक्तम्—'स्त्री भी पति को आज्ञा देवे, हे स्वामी आप सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से मुझे छोड़कर किसी दूसरी विधवा स्त्री से सन्तानोत्पत्ति कीजिये' (स० प्र० पृष्ठ ७३) इति, तच्च सर्वथा निर्मूलम्। तत्र मन्त्रस्थस्य कस्यशब्दस्यायमर्थः इति वक्तुमशक्यत्वात्। स्वयं विधवा सती परपुरुषेण मैथुनं कुर्यात् पतिं च विधवया रन्तुं किमर्थमुपदिशति ? सधवयैव कयाचित् सोऽपि कुतो न तथा कुर्यात् ? मत्तोऽन्यं पतिमिच्छस्वेत्यत्रेदं प्रष्टव्यम्—सा किं विवाहेन पतिमन्यमिच्छेन्नियोगेन वा ? नोभावपि पक्षौ सम्भवतः, मूले तयोश्चर्चितत्वात्। विवाहोऽपि चेत्तदपि किं प्रतिपक्षिरीत्या

यमी अपने भाई को पति बनाना चाहती है। भाई यम उसको समझाता है कि शिष्ट जन इस बात को गर्हित मानते हैं कि भाई, बहिन के साथ पत्नी का सा व्यवहार करे। हे बहिन, तुम्हारा भाई यम तुम्हारी इसी बात को स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि यह मेरे मन और हृदय के प्रतिकूल है। इस तरह से भगिनी, स्वसा प्रभृति शब्द पति-पत्नी के पक्ष में कभी भी प्रयुक्त नहीं हो सकते।

कुछ लोगों का कहना है कि मन्त्र में 'अन्यपतिमिच्छवे' ऐसा कहा गया है। इससे यम यमी का पति ही सिद्ध होता है। प्रथम पति के अभाव में दूसरा पति करने की बात कैसे बन सकती है। अतः इसका यही अभिप्राय निकलता है जो अपने को पहला पति मानता है, वहीं ऐसा कह सकता है कि तुम मुझसे भिन्न कोई दूसरा पति कर लो। किन्तु उनका यह कथन एकदम निरर्थक है, क्योंकि यमी के अभिप्राय को लेकर भी इसकी संगति बैठाई जा सकती है। यमी उसको पति के रूप में चाहती है। यम का कहना है कि तुम मुझे छोड़ जिस किसी दूसरे व्यक्ति को अपना पति बना लो। मैं तो तुम्हारा भाई हूँ। कुलवधू का अकरणीय कार्य क्या क्या हो सकता है ? परपुरुष के साथ मैथुन करना ही अकरणीय कार्य है, या उससे भिन्न दूसरे कुछ ? यदि आप प्रथम पक्ष को स्वीकार करते हैं, तो प्रथम पति अपनी पत्नी को अपने से भिन्न किसी दूसरे पुरुष को अपना पति बना लो, इस तरह के कुलवधू के अकरणीय कार्य का उपदेश कैसे करेगा ? यदि पति ही अपनी पत्नी को वेश्याकर्म के लिये प्रवृत्त करता है, तो इससे बढ़कर कूलवधू के लिये अकरणीय कार्य क्या होगा ?

सत्यार्थप्रकाश में स्वामी दयानन्द ने लिखा है—'स्त्री भी पति को आज्ञा देवे, हे स्वामी आप सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से मुझे छोड़कर किसी दूसरी विधवा स्त्री से सन्तानोत्पत्ति कीजिये' (पृ० ७३)। किन्तु यह सर्वथा असंगत है। क्योंकि मन्त्र के किन शब्दों से यह अर्थ निकलेगा, यह बता पाना उनके लिये कठिन है। विधवा होने पर स्वयं परपुरुष के साथ मैथुन करे और अपने पति को भी विधवा से रमण करने का उपदेश किस अभिप्राय से देती है। सधवा पत्नी से भी वे ऐसा क्यों न करेंगे। मुझसे भिन्न कोई दूसरा पति कर लो, इस अर्थ को देखकर यह भी प्रश्न उठता है कि वह विवाह करके दूसरा पति प्राप्त करे या नियोग के द्वारा ? दोनों ही पक्ष नहीं बन सकते, क्योंकि मूल में उनकी कोई चर्चा नहीं है। यदि विवाह ही मान लिया जाय, तब भी प्रश्न उठेगा कि आप यहाँ पर विधवा विवाह मानते हैं या सधवा विवाह ? दयानन्द के मत के अनुसार यहाँ पर ये दोनों ही पक्ष

विधवाविवाहः सम्मतः सधवाविवाहो वा ? दयानन्दरीत्या तदुभयानुपपत्तेः। यदि नियोगोऽभिप्रेयते, तदापि न सङ्गतिः। वीर्यसेक्तू रक्षकत्वेन पतित्वायोगात्। किञ्च, वृद्धत्वादिकं तु यमीवाक्येनैव निरस्यते। 'अन्या किल त्वां''''लिबुजेव वृक्षम्'। नहि वृद्धं नपुंसकं वा काचिदन्या परिष्वजतीति सम्भाव्यते।

किञ्च, तस्य सामर्थ्यं जानाति सा—'ओचित्सखायं सख्या' सखायं गर्भवासादारभ्य सखीभूतं यमं सख्या सख्याय स्त्रीपुरुषसम्पर्कजनितमित्रत्वाय ओववृत्याम् आवर्तयामि। आभिमुख्ये स्थित्वा लज्जां त्यक्त्वा त्वत्सम्भोगं करोमीत्यर्थः। 'पतिः तन्वं आविविश्याः (ऋ० सं० १०।१०।३) पतिर्भर्ता भूत्वा तन्वं मदीयशरीरम् आविविश्याः सम्भोगेनाविश। 'समाने योनौ सहशेय्याय जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्याम्' (ऋ० सं० १०।१०।७) समाने योनौ स्थाने शय्याख्ये सहशेय्याय सहशयनार्थं तदनन्तरं पूर्णमनोरथा सती जायेव पत्ये यथा भार्या पत्युरर्थाय परया प्रीत्या विश्वस्ता सती रतिकामा स्वशरीरं प्रकाशयति, एवं तन्वम् आत्मीयशरीरं रिरिच्यां त्वदर्थं प्रकाशयेयमित्यर्थः। 'तन्वा मे तन्वं संपिपृग्धि' (ऋ० सं० १०।१०।११) मे मम तन्वा शरीरेण तन्वं शरीरं सम्पिपृग्धि सम्पर्चय संभोगेन श्लेषय मां सम्यग्भुङ्क्ष्वेत्यर्थं कथमेतत्सर्वमसमर्थं वृद्धं नपुंसकं वा जानाना पुनः पुनः प्रेरयेत।

यमश्च समेर्थोपि भ्रातृत्वाद् भगिनीगमनं पातकं मत्वा तत्प्रत्याख्यानं करोति। 'किं भ्राताऽसद् यद् अनाथं भवति किमु स्वसा यत् निर्ऋतिः निगच्छात्' (ऋ० सं० १०।१०।११) यत् यस्मिन् भ्रातरि सति स्वस्रादिकमनाथं नाथरहितं भवति स भ्राता किं असद् किं भवति न भवतीत्यर्थः। किञ्च, यस्यां भगिन्यां भ्रातरं निर्ऋतिः दुःखं निगच्छात् नियमेन गच्छति प्राप्नोति सा स्वसा किमु किं वा स्वसा भवति ? भ्रातृभगिन्योः परस्परं प्रीतिर्येन केनचिदुपायेनावश्यं कार्येत्यर्थः। यमश्च पुनः प्रत्याचचक्षे—'न वा उते तन्वा तन्वं संपपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्। अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत्। (ऋ० सं० १०।१०।१२) हे यमि, ते तव तन्वा शरीरेण तन्वम् आत्मीयं शरीरं नवै संपिपृच्यां नैव सम्पर्कयामि नैवाहं त्वां भोक्तुमिच्छामि। यः भ्राता स्वसारं भगिनीं निगच्छात निगच्छति सम्भुङ्क्ते तं पापं पापकारिणमाहुः शिष्टाः। एतज्ज्ञात्वा हे सुभगे त्वं मत् मत्तोऽन्येन पुरुषेण सह प्रमुदः सम्भोगलक्षणानन्दप्रदर्शनं कल्पयस्व समर्थय। ते

नहीं बन सकते ? नियोग मानने पर भी संगति नहीं बैठेगी, क्योंकि नियुक्त वीर्यसेक्ता तो केवल उसका रक्षक माना जाता है, पति नहीं। वृद्ध या अशक्त होने की बात का निराकरण तो यमी के वाक्य से ही हो जाता है, जिसमें वह कहती है कि जैसे लता वृक्ष से लिपटती हैं, उसी तरह से लगता है कि तुमको भी कोई दूसरी स्त्री चाहती है। वृद्ध या नपुंसक पुरुष को कोई भी स्त्री क्यों चाहेगी।

यमी, यम के सामर्थ्य को भली भाँति जानती है। तभी तो वह कहती है कि गर्भावस्था से ही एक साथ रह रहे यम को अब मैं पति-पत्नी के रूप में एक साथ रहने के लिये लज्जा का परित्याग कर मना रही हूँ। तुम मेरे पति बन कर इस शरीर का उपभोग करो। जैसे एक ही शय्या पर विश्राम करते हुए पत्नी अपने पति के सामने परम प्रसन्न होकर विश्वास के साथ अपना सारा शरीर प्रकाशित कर देती है, उसी तरह से मैं भी अपना शरीर तुमको समर्पित कर देना चाहती हूँ। तुम मेरे शरीर के साथ अपने शरीर को संश्लिष्ट कर दो। इस तरह के वचन कोई स्त्री क्या उस अवस्था में कहेगी, जब कि उसके सामने कोई वृद्ध या अशक्त पुरुष विद्यमान हो ?

समर्थ होते हुए भी यम भाई होने के कारण भगिनी के साथ गमन पातक है, ऐसा मानकर उसकी प्रार्थना को अस्वीकार कर देता है। वह कहता है कि जिस भाई के रहते बहिन अनाथ की तरह रहती हो, क्या वह भाई भाई है ? तथा जिस बहिन के रहते भाई दुःख भोगे, क्या वह बहिन बहिन है ? नहीं। इसलिये भाई और बहिन का परस्पर स्नेह जिस किसी उपाय से निरन्तर बना रहना चाहिये। ऐसा कहकर वह यमी को फिर समझाता है कि हे यमि, मैं अपने शरीर का तुम्हारे शरीर के साथ संपर्क नहीं होने दूँगा, जो भाई अपनी बहिन को बुरी निगाह से देखता है, उसको शिष्टजन गर्हित मानते हैं। इस बात को समझ कर हे सुभगे, तुम मुझ से भिन्न किसी दूसरे पुरुष के साथ संभोग का आनन्द लो। तुम्हारा भाई यह यम इस तरह के गर्हित कर्म में नहीं

तव भ्राता यम एतद् ईदृशं त्वया सह मैथुनं कर्तुं न वष्टि कामयते। यदि स वृद्धः शुक्रनिषेकेऽसमर्थः स्यात्तदा तथैव निवेदयेद्, न भ्रातृभगिनीसम्बन्धेन पापकारित्वभीत्या तथा वदेत्।

असमर्थं पतिं ज्ञात्वा पत्नी 'अन्य उत्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्' (ऋ० सं० १०।१०।१४) अन्या किल त्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्। यमी वदति—अन्या काचित् स्त्री त्वां परिष्वजाते किल। तत्र दृष्टान्तद्वयम्। कक्ष्या रज्जुः यथा कक्ष्यायुक्तमात्मना बद्धमश्वं परिष्वजाते किल। यथा वा लिबुजा लता गाढं वृक्षं परिष्वजाते। तद्वच्च अन्यस्यां स्त्रियामासक्तस्त्वं मां परिष्वक्तुं नेच्छसीत्यर्थः। यमः पुनरप्याह—हे यमि त्वमु अन्यपुरुषमेव सुष्ठु परिष्वज। अन्योऽपि पुरुषस्त्वां परिष्वजाते यथा वल्ली गाढ़ं वृक्षं परिष्वजाते तद्वत्। तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम्॥' (ऋ० सं० १०।१०।१४) त्वं तस्य पुरुषस्य मनः कलय, स च तव मन इच्छतु अध परस्परवशवर्तित्वानन्तरं तेन सह रमणं कुरु, तावता न वृद्धत्वाशक्तत्वादिकरणात् पतिः नियोगाय प्रेरयति, किन्तु भ्राता समर्थोऽपि पापकारणाद् भगिनीं स्वस्मादन्यं गन्तुं प्रेरयति। उभावपि समर्थौ गर्भे सहैवावस्थानाद् यमी दाम्पत्यमिच्छति, यमस्तु विद्वान् धर्मशास्त्री ज्ञानात् तादृशं सम्बन्धं पातकं मत्वा प्रतिषेधति।

यथा मद्यादिदोषवर्णनाय तत्रानुरक्तयोर्नाट्यं प्रदर्श्यते, तथैव वेदे अनया आख्यायिकया भ्रातृभगिन्योर्मैथुन-सम्बन्धपरिहाराय यमयमीसूक्तद्वारा गुणान् दोषांश्च वर्णयति वेदः। 'जायेव पत्ये' इति दृष्टान्त एव तयोः पतिपत्नीत्वं खण्डयति। यदि यमोऽसमर्थो वृद्धः पतिरेव स्यात्तदा तत्पत्नी यमी तदसामर्थ्यमवश्यं जानीयात्। तर्हि कथं पुनः पुनः सम्भोगाय तं प्रेरयेत्। 'गर्भे तु नौ जनिता दम्पती' प्रजापतिना गर्भे चावयोरेकत्रावासं दत्त्वा दम्पतीत्वमेव रचितम्। यमस्तु तत्पक्षं

प्रवृत्त हो सकता। यदि वह वृद्ध या अशक्त होता तो उसी बात को सामने रखता, भाई और बहिन के सम्बन्ध को गर्हित मान कर इस पाप कर्म से उसको भयभीत कर विरत करने की बात क्यों कहता?

पति को असमर्थ जानने वाली स्त्री ऐसा कैसे कह सकती है कि तुमको कोई दूसरी स्त्री चाहती है। यहाँ तो यमी, यम से कह रही है कि लगता है तुम किसी दूसरी स्त्री को चाहते हो। इसके लिये वह दो दृष्टान्त देती है—जैसे रज्जु अश्व को बाँध लेती है, अथवा जैसे लता, वृक्ष से लिपट जाती है, उसी तरह से तुम भी किसी स्त्री में आसक्त हो। इसीलिये तुम मेरी प्रार्थना को नहीं स्वीकार कर रहे हो। यम इसका उत्तर देते हैं कि तुम किसी दूसरे पुरुष का उसी तरह वरण करो, जिस तरह कि लता वृक्ष से लिपट जाती है। तुम उस पुरुष के मन को जीतो और वह भी तुम्हारे अभिप्राय का आदर करे। इस तरह से एक दूसरे के मन के मिल जाने के बाद परस्पर एक दूसरे के वशवर्ती होकर आनन्द का उपभोग करो। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वृद्धावस्था के कारण अथवा अशक्त होने से पति अपनी पत्नी को नियोग के लिये यहाँ प्रेरित नहीं कर कहा है, किन्तु समर्थ होते हुए भी भाई बहिन को इस गर्हित कर्म से रोक रहा है, और किसी योग्य वर को खोजने की सलाह दे रहा है। दोनों ही समर्थ हैं। गर्भ में साथ रहने के कारण यमी, यम के साथ दाम्पत्य जीवन बिताना चाहती है, किन्तु यम धर्मशास्त्रों का जानकार है, ऐसे सम्बन्ध को पातक का कारण मान कर वह उसको स्वीकार नहीं करता।

जैसे मद्य के दोषों का वर्णन करने के लिये उसमें अनुरक्त और विरक्त का संवाद नाटक के रूप में दिखाया जाता है, उसी तरह से वेद में भी इस आख्यायिका के माध्यम से भाई और बहिन के विवाह को निषिद्ध बनाने के अभिप्राय से प्रस्तुत सूक्त में यम और यमी के संवाद के रूप में उसके गुण और दोषों का वर्णन किया गया है। 'जायेव पत्ये' यह दृष्टान्त ही उनके पति-पत्नी होने का खण्डन कर देता है। यदि यम असमर्थ वृद्ध पति होता, तो पत्नी यमी उसकी असमर्थता को अवश्य जानती होती। इस दशा में वह बार-बार संभोग के लिये कैसे प्रार्थना करती। यमी कहती है कि प्रजापति ने गर्भ में एक साथ रखकर हमको दम्पती बना दिया है। यम धर्मशास्त्र के आधार पर उसकी इस बात को नहीं मानता। इस मन्त्र में वृद्धावस्था के कारण स्वयं पति ही पत्नी को नियोग के

धर्मशास्त्रालम्बनेन खण्डितवानेव। वार्धकेन पतिरेव पत्नीं नियोगाय प्रोत्साहयतीति कल्पनं सर्वथा निराधारमेव। नहि देवतासु वार्धकं सम्भवति। किन्तु तत्र नित्यमेव यौवनम् भवति।

'पुंयोगादाख्यायाम्' (पा० सू० ४।१।४८) इत्यस्य त्वयमर्थः—पुंयोगाद् हेतोर्यत् प्रातिपदिकं स्त्रियां वर्तते तस्माद् ङीष्प्रत्ययो भवतीति काशिका। 'या पुमाख्या पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते ततो ङीष् इति सिद्धान्तकौमुदी। 'स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान पुरुष के योग कहने में प्रातिपदिकों से ङीष् प्रत्यय हो। यह स्त्रैण तद्धित है' इति दयानन्दः। पुंसा योगः पुंयोगस्तस्माद् हेतोर्यत्प्रातिपदिकं स्त्रियां वर्तते ततो ङीष् भवतीति कैयटः। नात्र केनापि पतिपत्नीभावे ङीष् भवतीत्युक्तम्। किन्तु पुँल्लिङ्गशब्दयोगादेव स्त्रीलिङ्गविवक्षायां ङीष् प्रत्यय उक्तः। गोपालिकी इत्यत्रापि गोपालभगिनीत्वाद् ङीष् प्रत्यय इति वार्तिकोदाहरणम्। अत्रैव 'सूर्याद् देवतायां चाप्, वार्तिकं तत्र प्रमाणम्। महाभाष्यकारेण तदुदाहरणत्वेन सूर्यस्य स्त्री सूर्या इत्युक्तम्। स्त्री इत्यस्य सामान्यमर्थः, न पत्नी 'पत्नीपाणिगृहीता च द्वितीया सहधर्मिणी। भार्या जाया·····' इत्यमरकोषे पत्नीपर्यायेषु स्त्रीशब्दानिर्देशात्। यथा 'स्त्री योषिदबला योषा' (अमरको० २।२।२) इत्यमरकोषे योषिद् अबला इति स्त्रीसामान्यबोधकौ शब्दौ, तथैव स्त्रीशब्दोऽपि। तथा च स्त्री कन्यापि भवत्येव। मनुस्मृतौ (३।४९) इत्यत्र जातमात्रबालिकायां स्त्रीशब्दो दृश्यत इति पूर्वमेवोक्तम्।

अथ वेदे सूर्याशब्दो द्रष्टव्यः। सूर्यस्य पत्नी पुत्री वेति सायणः। 'तं वा रथं वयमद्य हुवेम अश्विनौ यः सूर्यां वहति' (अथर्व० २०।१४।१) अत्र सूर्याया अश्विनो रथ आरोहणं दृश्यते। ऋग्वेदे युवोः अश्विनो रथं दुहिता सूर्यस्य' ऋ० सं० १।१७।१३), आवां रथं दुहिता सूर्यस्य' (ऋ० सं० १।११६।१७) सूर्यां यत् पत्ये शंसन्ती सविता (तस्याः पिता) अददात्' (ऋ० सं० १०।८५।९) एतदादिमन्त्राणां संवादात् सूर्या; सूर्यस्य दुहितैव सिद्ध्यति। तथा च 'पुंयोगादाख्यायाम्' (पा० सू० ४।१।४८) इति सूत्रवार्त्तिकेन सूर्यस्य स्त्री वेदे सूर्यपत्नी न भवति, किन्तु सूर्यस्य दुहिता भवतीति सिद्ध्यति। 'यं

लिये प्रोत्साहित करता है, ऐसी कल्पना निराधार ही मानी जायगी। फिर देवता तो कभी वृद्ध होते नहीं, उनकी तो यौवनावस्था चिरस्थायी रहती है।

'पुंयोगादाख्यायाम्' इस पाणिनि सूत्र का विभिन्न आचार्यों ने यह अर्थ किया है—काशिका कहती हैं कि पुरुष के योग के कारण जो प्रातिपदिक स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है, तो उससे ङीष् प्रत्यय होता है। सिद्धान्त कौमुदी का कहना है कि पुरुष की जो आख्या पुरुष के योग के कारण स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होती है, तो उससे ङीष् प्रत्यय होता है। स्वामी दयानन्द कहते हैं—'स्त्रीलिंग में वर्तमान पुरुष के योग कहने में प्रातिपदिकों से ङीष् प्रत्यय हो। यह स्त्रैण तद्धित है। कैयट की व्याख्या है कि पुरुष के साथ योग पुंयोग है, इसके कारण जो प्रातिपदिक स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हो तो वहाँ पर ङीष् प्रत्यय होता है। यहाँ पर किसी भी व्याख्याकार ने पति-पत्नी भाव में ङीष् का विधान नहीं किया है, किन्तु पुलिंग शब्द के योग से स्त्रीलिंग की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय का विधान बताया गया है। वार्तिक में उदाहरण दिया गया है कि गोपाल की भगिनी के अर्थ में 'गोपालिकी' शब्द में ङीष् प्रत्यय होता है। इस बात के प्रमाण के रूप में 'सूर्याद् देवतायां चाप्' इस वार्तिक को रखा जा सकता है। इसके उदाहरण के रूप में महाभाष्य में सूर्य की स्त्री को सूर्या कहा गया है। स्त्री शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है, पत्नी के अर्थ में नहीं। ऊपर कोष में पत्नी के पर्यायों में स्त्री शब्द परिगणित नहीं है। योषित् अथवा और स्त्री शब्द सामान्य स्त्री के बोधक हैं। वहाँ पर इनका अलग से परिगणन है। कन्या को भी स्त्री कहा जाता है, जैसा कि अभी जन्मी बालिका के लिये भी मनुस्मृति में स्त्री शब्द का प्रयोग हुआ है।

अब वेद में सूर्या शब्द को देखा जाय। सायण इसका अर्थ सूर्य की पत्नी अथवा पुत्री करते हैं। 'तं वा रथं वयमद्य' इस अथर्ववेद के मन्त्र में सूर्या के अश्विनीकुमारों के रथ पर बैठने का वर्णन है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में भी सूर्या का वर्णन है। इन सब स्थलों पर सूर्या, सूर्य की पुत्री के रूप में वर्णित है। अतः 'पुयोगादाख्यायाम्' इस सूत्र के वार्तिक से सूर्य की स्त्री वेद में सूर्य की पत्नी न होकर पुत्री ही मानी जाती है। अथर्ववेद का मन्त्र बताता है कि सूर्या के विवाह के अवसर पर देवताओं ने एक विशेष प्रकार

(गन्धं) संजभ्रुः सूर्याया विवाहे अमत्याः' (अथर्व० १२।१४) सूर्याया विवाहे देवताभिर्गन्धविशेषो निर्मितः इत्युक्तम्। यदि सूर्या सूर्यस्य पत्नीस्यान्न दुहिता स्यात्तदा किं सूर्यपत्न्याः पुनर्विवाहो जातः ? कन्याया भगिन्या वा विवाहो भवति न पत्न्याः। अतः सूर्यस्य कन्यापि सूर्या भवति। तस्मात् यमयम्योर्भ्रातृभगिनीत्वं सुदृढ़मेवेति मन्तव्यम्। तस्माज्जीवितनियोगपक्षोऽत्यन्तमेवाशुद्धः।

सिद्धान्ते त्वनेनैव सूक्तेन भ्रातुर्भगिन्या सह विवाहो निषिध्यते। यावत्पर्यन्तं भगिनीसम्बन्धो भवति सर्वाभिर्भगिनीभिर्विवाहो निषिध्यते। तेन सगोत्रविवाहोऽपि निषिद्ध एव। सर्वानुक्रमण्यामपि 'वैवस्वतयोर्यमयम्योः संवादः षष्ठ्यैन्युग्भिर्यमी मिथुनार्थं यमं प्रोवाच। सतां नवभिर्ऋग्भिरनिच्छन् प्रत्याचष्टे' (१०।१०)। वेदार्थदीपिकायां षड्गुरुशिष्येणाप्युक्तम्—विवस्वत्सुतयोर्यमयम्योः परस्परं संवादः। वैवस्वती यमी वैवस्वतं भ्रातरं मिथुनार्थं (मैथुनार्थं) प्रोवाच (प्रणयेन प्रोक्तवती) ततः स यमस्तां यमीं स्वसारम् अनिच्छन् मनसैव अकार्यमिति स्पृहारहितः सन् प्रत्याचष्टे मास्म मां बाधिष्ठा अन्यं भजस्वेति।

सातवलेकर प्रभृतिभिरपि भ्रातृभगिनीसंवाद एवाङ्गीकृतः। कश्चित् समाजी प्रिय, पियतमे इति संम्बोधनं कल्पयति, तदपि निर्मूलम्, मूले तथा शब्दाभावात्। तद्रीत्याऽसामर्थ्याद् यमः स्वात्मानं भ्रातरं कथयति। अत्र वृद्धत्वाद् भर्तुर्भ्रातृकल्पनमपि निर्मूलमेव। तथात्वे नियोगोत्पन्नसन्ततिरपि तत्पुत्रो न भविष्यति। केचित्तु यौगिकार्थाश्रयणेन भ्रातृस्वस्रादिशब्दनामपि पतिपत्नीपरत्वमेव वदन्ति। तदपि वेदे रूढा योगरूढाश्च शब्दा भवन्तीति पूर्वोक्तयुक्त्या निराकृतमेव। अतियौगिकत्वे तु भर्तृशब्देन भ्राता भ्रातृशब्देन च भर्ता बोध्यते पितृशब्देन पतिः, पतिशब्देन च पिता बोध्यते—इति सर्वमपि भाषाशास्त्रमेव बाधितं स्यात्।

की गन्ध का निर्माण किया था। यदि सूर्या, सूर्य की पत्नी होती, पुत्री नहीं, तो क्या सूर्य की पत्नी के पुनर्विवाह का यहाँ वर्णन माना जायगा ? कन्या अथवा बहिन का ही विवाह होता है, पत्नी का नहीं। अतः सूर्य की कन्या को ही यहाँ सूर्या माना जायगा। इस तरह से यम और यमी परस्पर भाई-बहिन हैं, यह बात इस प्रकरण से भी सिद्ध हो जायगी। सभी दृष्टियों से विचार करने पर पति के जीवित रहते हुए भी नियोग की बात सर्वथा अशुद्ध (शास्त्र विपरीत) ही मानी जायगी।

हमारे मत के अनुसार तो इसी सूक्त से भाई और बहिन के विवाह को निषिद्ध घोषित किया जाता है। सभी प्रकार की बहिनों से विवाह निषिद्ध होने के कारण सगोत्र विवाह भी निषिद्ध माना जाता हैं। सर्वानुक्रमणी में भी प्रस्तुत सूक्त में वैवस्वत यम यमी संवाद माना गया है। छह ऋचाओं में यमी मैथुन के लिये यम से प्रार्थना करती है। उसका नौ ऋचाओं से यम अस्वीकार कर देता है। वेदार्थदीपिका टीका में षड्गुरु इसकी व्याख्या करते हैं कि विवस्वान् के पुत्र और पुत्री यम-यमी का यहाँ परस्पर संवाद है। वैवस्वती यमी वैवस्वत भाई यम को मिथुनभाव के लिये प्रेम से बुलाती है। इस पर यम अपनी बहिन के साथ ऐसा अकार्य न करने के अभिप्राय से उसको समझाता है कि तुम किसी दूसरे पुरुष के पास जाओ।

सातवलेकर प्रभृति आर्यसमाजी विद्वान् भी यहाँ पर बहिन-भाई का संवाद ही मानते हैं। कोई आर्यसमाजी इस सूक्त में प्रिय और प्रियतम, इन दो संबोधनों की कल्पना करते हैं, किन्तु उनका ऐसा कहना निराधार है, क्योंकि किसी भी मन्त्र में इस अर्थ के बोधक शब्द विद्यमान नहीं हैं। उन महानुभाव के मत के अनुसार अपनी असमर्थता के कारण यम अपने को भाई बताते हैं। वृद्धावस्था के कारण पति के भाई बनने की कल्पना भी निराधार ही है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो नियोग के द्वारा उत्पन्न सन्तति भी उसकी नहीं मानी जायगी। कुछ लोगों के मत के अनुसार यौगिक अर्थ का सहारा लेकर भ्राता और स्वसा शब्द का अर्थ भी पति और पत्नी किया जा सकता है। इस बात का खण्डन हम पहले ही कर चुके हैं कि वेद में केवल यौगिक ही नहीं, रूढ़ और योगरूढ़ शब्दों का भी व्यवहार होता है। यौगिक शब्दों का बहुत अधिक सहारा लेने पर तो भर्ता शब्द का अर्थ भ्राता और भ्राता शब्द का अर्थ भर्ता किया जा सकता है। पति शब्द से पिता का बोध होने लगेगा और इस तरह से पूरा भाषा शास्त्र ही अस्तव्यस्त हो जायगा।

कश्चित्तु—'उद्वाहितापि या कन्या न चेत् सम्प्राप्तमैथुना । पुनः संस्कारमर्हेत यथा कन्या तथैव सा ॥' इति नारदवचनेनाप्राप्तमैथुना विवाहिताऽपि पुनर्विवाहसंस्कारमर्हति; सा कन्यावदेव मन्तव्येति । यदि 'विवाहितो (पुरुषो) ऽन्यजातीयः पतितः क्लीब एव च । विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा ॥ ऊढापि देया सान्यस्मै सहाभरणभूषिता ।' (कात्यायनस्मृतौ), 'दत्तामपि हरेत् पुर्वात् श्रेयां श्चेद्वर आव्रजेत्' (याज्ञवल्क्यस्मृतौ १।६५), 'स्त्रीणां पुनर्विवाहस्तु देवरात्पुत्रसन्ततिः। स्वातन्त्र्यं वा कलियुगे न कर्त्तव्यं कदाचन' (ब्रह्माण्डपुराणे), 'ऊढायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधस्तथा । कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम् ॥' (आदित्यपुराणे) इत्यादिवचनेभ्यश्च ।

न चादित्यपुराणवचनेन कलियुगे विधवाविवाहनिषेधदर्शनात् युगान्तरे तद्विधानं स्वतः सिद्धमिति वाच्यम् । वचनानामन्यथार्थत्वात् । 'यथा कन्या तथैव सा' इति नारदवचनेन विवाहः कुमार्या एव भवति, अकन्यायाः पूर्णविवाहिताया विवाहासम्भवात् । 'पाणिग्रहणका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः । नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः ॥' (म० ८।२२६) । विधवायाः पूर्वं विवाहितात्वान्न कन्यात्वं सम्भवतीति कुतो विवाहः ? वस्तुतो नेदं नारदवचनम्, किन्तु लघुशातातपस्मृतेर्वचनम् । पद्यं चेदं न पूर्णविवाहिताया विवाहं विदधाति, किन्तु विवाहपूर्णतायाः पूर्वं विवाह्यमानमृत्यौ तद्विधानात् । सप्तपद्याः समाप्तिरेव विवाहस्य पूर्णता । ततः कन्यात्वं निवर्तते । उद्वाहितेत्यत्र क्तप्रत्ययो न भूतकाले, किन्तु आदिकर्मणि (प्रारम्भार्थे) । अर्थात् उद्वाहयितुमारब्धेत्यर्थे निष्ठा (क्त) प्रत्ययः । कुत एतदिति चेत् ? कन्याशब्दस्वरसात् । उद्वाहिताशब्दसन्निधौ पठितस्य कन्याशब्दस्य स्वरसात् तथार्थो ज्ञातव्यः । 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥ सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः । शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष-

कुछ लोगों का कहना है कि नारद स्मृति के वचन के अनुसार कन्या के विवाह के बाद यदि उसका पति से संपर्क न हो और वह विधवा हो जाय, तो उसका पुनः विवाह संस्कार कर देना चाहिये, क्योंकि अभी तक वह कन्या ही है । कात्यायन स्मृति में बताया गया है कि यदि विवाहित पुरुष दूसरी जाति का है, पतित या नपुंसक है, बुरे कार्य में लगा है, सगोत्र, दास या असाध्यरोगी है, ऐसी स्थिति में उसके साथ विवाह हो जाने के बाद भी उसको दूसरे से विवाहित कर देना चाहिये । याज्ञवल्क्य स्मृति में लिखा है कि दी गई कन्या को भी दूसरे श्रेष्ठ वर के उपलब्ध होने पर उससे वापस ले लेना चाहिये । ब्रह्माण्ड पुराण में स्त्री के पुनर्विवाह, देवर से पुत्र की उत्पत्ति और स्त्री को स्वतन्त्र रखना निषिद्ध घोषित किया गया है । आदित्य पुराण में विवाहित स्त्री का पुनर्विवाह, ज्येष्ठ भ्राता के उत्तराधिकार में वैशिष्ट्य, गोवध, भ्रातृजाया से विवाह और संन्यास—ये पांच बातें कलियुग में निषिद्ध मानी गई हैं । इस तरह से इन स्मृति-पुराण वचनों में परस्पर विरोध है ।

किञ्च आदित्यपुराण ने कलियुग में विधवा विवाह को निषिद्ध माना है, इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि अन्य युगों में उसको मान्यता प्राप्त थी । किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इन वचनों का अभिप्राय कुछ दूसरा ही है । 'यथा कन्या तथैव सा' यह नारद वचन कुमारी के ही विवाह का विधान करता है, क्योंकि जो कन्या नहीं है और जिसका विवाह संस्कार पूरा हो चुका है, उसका पुनः विवाह नहीं हो सकता । पाणिग्रहण संस्कार के मन्त्र कन्या के विवाह के अवसर ही पढ़े जाते हैं, विधवा विवाह के अवसर पर नहीं, इसका स्पष्ट विधान मनुस्मृति में है । विवाहित होने के कारण विधवा कन्या नहीं रह जाती, तब उसका विवाह कैसे होगा । वास्तव में तो यह नारदस्मृति का वचन न होकर लघु शातातप स्मृति का वचन है । इस पद्य में विवाह संस्कार के पूर्ण हो जाने के उपरान्त पुनः विवाह का विधान न होकर संस्कार के बीच में ही वर की मृत्यु हो जाने पर उसका विधान है । सप्तपदी के पूरा हो जाने पर ही विवाह पूरा माना जाता है । तब कन्याभाव की निवृत्ति हो जाती है । 'उद्वाहिता' इस शब्द में क्त प्रत्यय भूतकाल में न होकर आदि कर्म (कार्य के प्रारंभ होने के अर्थ में) में हुआ है । अर्थात् जिसका विवाह संस्कार प्रारंभ हो गया है, इस अर्थ में यहाँ निष्ठा (क्त) प्रत्यय है । इस अर्थ की प्रतीति कन्या शब्द के कारण होती है । उद्वाहिता शब्द के पास यहाँ कन्या शब्द पढ़ा गया है । (वाक्यपदीय में शब्द के सही अर्थ को समझने के लिये संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, शब्दान्तर की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर आदि को सहायक माना है । तदनुसार प्रस्तुत स्थल में कन्या शब्द की सन्निधि

स्मृतिहेतवः ॥' इति वाक्यपदीयरीत्या कन्याशब्दस्य सन्निधानात्तथार्थो ज्ञातव्यो यथा विवाहस्य भूतकालिकता समाप्तिश्च न ज्ञायते। विवाहस्य पूर्तौ कन्याशब्दप्रयोगायोगात्। सायणाचार्येण ऋग्वेदसंहिताभाष्ये (१।६६।४) मन्त्रस्य व्याख्यायामुक्तम्—'विवाहसमयेऽग्नौ लाजादिद्रव्यहोमे तासां कन्यात्वं निवर्तते' इति।

आदिकर्मणि क्तप्रत्ययो भवति। सिद्धान्तकौमुद्याः कृदन्तप्रकरणे 'आदिकर्मणि निष्ठा वाच्या' इति वार्त्तिकं विद्यते। कैयटेन (३।२।१०२) सूत्रस्य महाभाष्ये प्रदोपे आद्येषु क्रियाक्षणेषु भूतेष्वपि सर्वस्याः क्रियाया भूतत्वाभावान्निष्ठा न प्राप्नोतीति वचनम्। क्रियाया आदिमेषु कतिषुचित् क्षणेषु व्यतीतेषु यावत्क्रिया सम्पूर्णतया न समाप्यते तादृशार्थे भूतकालिकस्य निष्ठाप्रत्ययस्याप्राप्तिरिति तत्प्राप्त्यर्थं वार्तिकम्। नागेशेनाप्युद्योते स्पष्टीकृतम्—सम्पूर्णस्य समूहस्य व्यपवृक्तत्वे हि भूतत्वव्यवहार इति लघुशब्देन्दुशेखरे तत्त्वबोधिन्यां चोक्तम्। तथा बालमनोरमायामप्युक्तम्। प्रकृतः कटः दीर्घकालव्यासक्तायाः कटाद्युत्पादनक्रियाया आरम्भकालविशिष्टांश आदिकर्म, तत्र विद्यमानाद् धातोर्निष्ठा वक्तव्या। अत्र आद्येषु क्रियाक्षणेषु भूतेष्वपि क्रियाया भूतत्वाभावात् भूते निष्ठा न प्राप्तेत्यारम्भः। न च प्रकृतः कट इत्यत्र धात्वर्थस्य समाप्तिरिति तत्र निष्ठाप्रत्ययार्थं वार्त्तिकमित्यर्थः। 'आदिकर्मणि क्तः', (पा० सू० ३।४।७१) आदिक्रियायाः क्तप्रत्ययः कर्तरि वाच्ये सति भवति। स्वामिदयानन्देनाप्याख्यातिके पृ० ३३७ इत्यत्रोक्तम्—'आदिकर्म' प्रथम क्रिया में धातु से निष्ठासंज्ञक प्रत्यय कहना चाहिए। आदि में जो 'क्त' प्रत्यय विहित है, वह कर्ता और भाव कर्म में हो'। एतेन स्पष्टमेतद्यत् प्रकृतः कटः कर्तुं प्रारब्ध इतिवद् उद्वाहितापि या कन्या इत्यत्राप्युद्वाहयितुमारब्धा या कन्या इत्येवार्थः। तथा च न विवाहसमाप्तौ पुनर्विवाहः सम्भवति, कन्यात्वाभावात्।

से ऐसा अर्थ होना चाहिये, जिससे कि विवाह के भूतकाल की समाप्ति न प्रतीत होती हो। विवाह पूरा हो जाने के बाद कन्या शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। सायणाचार्य ने ऋग्वेद के (१।६६।४) संख्याके भाष्य में लिखा है कि विवाह के समय अग्नि में लाजा होम हो जाने पर कन्या शब्द की निवृत्ति हो जाती है, अर्थात् विवाह संस्कार पूरा हो जाने के उपरान्त किसी स्त्री को कन्या शब्द से संबोधित नहीं किया जातां।

आदि कर्म में क्त प्रत्यय होता है। सिद्धान्तकौमुदी के कृदन्त प्रकरण में इस अभिप्राय का वार्तिक पढ़ा गया है। कैयट के (३।३।१०२) संख्या के सूत्र के महाभाष्यप्रदीप में बताया गया है कि प्रारंभिक क्रिया कर्मों के बीत जाने पर भी सम्पूर्ण क्रिया के पूरा न होने से भूतकाल में होने वाला क्त प्रत्यय यहाँ नहीं प्राप्त होता, अतः प्रस्तुत वार्त्तिक द्वारा उसका विधान किया जाता है। नागेश ने भी उद्योत टीका में इसी बात को स्पष्ट किया है। लघु शब्देन्दुशेखर, तत्त्वबोधिनी तथा बालमनोरमा में भी इस बात को स्पष्ट किया गया है कि सम्पूर्ण क्रिया के सम्पन्न हो जाने पर ही भूतकाल का प्रयोग हो सकता है। प्रकृतः कटः (चटाई बनाई जा रही है), यहाँ पर चटाई बुनने की क्रिया लम्बे समय तक चलती है। जब यह क्रिया प्रारंभ होती है, उसके प्राथमिक क्षणों के बीत जावे पर भी पूरी कटक्रिया के समाप्त न होने के कारण भूतकाल में होने वाला क्त प्रत्यय नहीं हो सकता, अतः इस क्रिया के कुछ प्रारंभिक क्षणों के बीत जाने पर भी क्त प्रत्यय का विधान करने के लिये 'आदिकर्मणि निष्ठा वाच्या' इस वार्तिक की रचना की गई है। इस अर्थ में प्रयुक्त होने वाला क्त प्रत्यय कर्तृवाच्य में होता है, भूतकालीन क्त प्रत्यय के समान भाववाच्य में नहीं। स्वामी दयानन्द आख्यातिक ग्रन्थ के पृ० ३३७ में लिखते हैं—'आदि कर्म, प्रथम क्रिया में धातु से निष्ठा संज्ञक प्रत्यय करना चाहिये। आदि में जो क्त प्रत्यय विहित है, वह कर्ता और भाव कर्म में हो'। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रकृतः कटः' इसका अर्थ जैसे 'चटाई बनाई जाने लगी' होता है, उसी तरह से 'उद्वाहिता कन्या' का अर्थ भी 'कन्या का विवाह होने लगा' यह होगा। इस स्थिति मे पति की मृत्यु हो जाने पर ही विवाह का विधान उक्त वचन में है। विवाह क्रिया को समाप्ति के उपरान्त तो वह कन्या नहीं रह जाती, अतः उस स्थिति में पुनर्विवाह का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

'आशंसायां भूतवच्च' (पा० सू० ३।३।१३२) इतिरीत्या भूतकालिकः क्तप्रत्ययो भविष्यत्कालेऽपि भवति। तदुदाहरणं तु मुद्राराक्षसस्यारम्भे 'मुक्तां शिखां परिमृशन्' इति चाणक्यसम्बन्ध उक्तम्। सप्तमेऽङ्के—'मया पूर्णप्रतिज्ञेन केवलं बद्धयते शिखा' इत्युपान्तिके पद्ये प्रतिज्ञां पूरयित्वा शिखाबन्धनमुक्तम्। ततः पूर्वं तृतीयेऽङ्के चन्द्रगुप्तेन काल्पनिकविवादे—'शिखां मोक्तुं बद्धामपि……पुनर्धावति करः' इत्यत्र यद्यपि शिखा न बद्धा, तथापि भूतकालिकः क्तप्रत्ययः प्रयुक्तः। अत्र बद्धामित्यस्य यथा बद्धुमिष्टामित्यर्थः। अत्राशंसायां भविष्यत्कालिकेऽपि भूतवत् क्त प्रत्ययो भवति। तथैवोद्वाहितापीत्यत्राप्युद्वाहयितुमिष्टेति भविष्यत्यर्थे क्त प्रत्ययो बोध्यः। तथैव किरातार्जुनीये 'भवत्कृतां भूतिमपेक्षमाणा' इत्यत्रापि करिष्यमाणामित्यर्थे क्तप्रत्ययस्य भविष्यत्काल एवार्थः।

अन्यच्च—'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।' (भ० गी० १।२१) इत्यत्र शस्त्रसम्पातस्य प्रवृत्तौ गीताया आरम्भ उक्तः। अत्रापि क्त प्रत्ययस्य न भूतकालोऽर्थः, अन्यथा 'योत्स्यमानानवेक्षेऽहम्' (भ० गी० १।२३) इत्यर्जुनवाक्ये भविष्यत्प्रयोगविरोधापत्तेः। शस्त्रसम्पातप्रवृत्त्यनन्तरं सप्तशतश्लोकात्मिकाया गीतायाः श्रवणं कथं स्यात्? अतो निकटभविष्यत्यर्थं एव क्तप्रत्ययः। तथैवोद्वाहिताऽपीत्यस्य कन्याविवाहस्योद्योगे प्रारब्धेऽपीत्यर्थः। तथैवोत्तररामचरिते सप्तमेऽङ्के—'प्रिये लोकान्तरं गतासि' इत्यत्र गमिष्यन्तीत्यर्थे क्त प्रत्ययः। तथैव पञ्चतन्त्रे मित्रसम्प्राप्तौ—'भो मित्र सञ्जातोऽयं तावन्मम मृत्युः' इति चित्राङ्गदवाक्ये सञ्जनिष्यमाण इत्यर्थः। अत एव स्मृतिषु मनोदत्ताया वाग्दत्ताया विवाहमिष्यमाणाया विवाहारम्भवत्या अपि पुनर्भूत्वेन विवाहे वर्जनीयतोक्ता। तदपवादत्वेनात्र तादृश्याः कन्यात्वं मत्वा विवाहसंस्कारः कार्यं इत्युक्तम्।

'नचेत्सम्प्राप्तमैथुना' इत्यस्यापि न समाप्तविवाहेत्येवार्थः, मिथुनशब्दस्यविवाहार्थत्वात्। विवाहेनैव मिथुनं

'आशंसायां भूतवच्च' इस सूत्र के द्वारा भूतकालिक क्त प्रत्यय भविष्यकाल में भी होता है। इसका उदाहरण मुद्राराक्षस के प्रारंभ में दिया गया है। चाणक्य आगे चलकर बंधी शिखा (चोटी) को खोलेगा, किन्तु यहाँ प्रारंभ में ही उसकी चर्चा कर दी गई है। सप्तम अंक में प्रतिज्ञा पूर्ण हो जाने पर वह पुनः शिखा बाँध लेता है। बीच में तृतीय अंक में चन्द्रगुप्त के साथ नकली विवाद के अवसर पर चाणक्य कहता है कि बंधी हुई चोटी को खोल देने की मेरी फिर इच्छा हो रही है। यद्यपि इस अवसर पर उसकी शिखा बंधी हुई नहीं है, तो भी भूतकालिक क्त प्रत्यय का प्रयोग यहाँ किया गया है। यहाँ बद्ध का अर्थ होगा, जिसको बाँधना अभीष्ट है। इस प्रकार यहाँ आशंसा में भविष्यत् काल में भी भूतकाल के समान जैसे क्त प्रत्यय होता है, उसी तरह से 'उद्वाहितापि' इसका अर्थ भी जिसका विवाह किया जाना अभीष्ट है, इस तरह से आशंसा में भविष्यत् काल में क्त प्रत्यय माना जाना चाहिये। किरातार्जुनीय काव्य में भी 'भवत्कृताम्' यहाँ पर 'करिष्यमाणाम्' इस भविष्यकालीन अर्थ में क्त प्रत्यय हुआ है।

एक और बात है, भगवद्गीता में शस्त्र सम्पात की प्रवृत्ति होने पर गीता के उपदेश की बात कही गई है। यहाँ पर भी क्त प्रत्यय भूतकाल की अपेक्षा भविष्यत्काल में ही संगत हो सकता है। अर्जुन कहता है कि मैं लड़ते हुए योद्धाओं को देखना चाहता हूँ। इसकी संगति भूतकालीन शस्त्रसंपात से कैसे बैठ सकती है। अतः यहाँ पर क्त प्रत्यय निकट भविष्य का ही द्योतक माना जायगा, क्योंकि युद्ध प्रारम्भ हो जाने के उपरान्त ७०० श्लोकों की गीता के श्रवण की संगति नहीं बैठ सकती। इसी तरह से 'उद्वाहितापि' इसका अर्थ होगा कि कन्या के विवाह का उद्योग प्रारंभ हो जाने पर भी। इसी तरह से उत्तर रामचरित नाटक के सातवें अंक में 'प्रिये लोकान्तरं गतासि' यहाँ पर 'जाने वाली हो' इस अर्थ में क्तप्रत्यय हुआ है। पंचतन्त्र के मित्र सम्प्राप्ति प्रकरण में भी 'भो मित्र, संजातोऽयं तावन्मम मृत्युः' इस चित्रांगद के वाक्य में मृत्यु होने वाली है। इस अर्थ में 'संजातः' पद का प्रयोग हुआ है। इसीलिये स्मृतियों में मनोदत्ता अथवा वाग्दत्ता कन्या का, जिसका कि विवाह होने वाला है, विवाह संस्कार का आरंभ मान किये जाने के कारण ही पुनर्भू दोष की निवृत्ति के लिए विवाह वर्जित माना गया है। उस वचन के अपवाद के रूप में इस प्रस्तुत वचन की प्रवृत्ति है कि ऐसी कन्या का विवाह संस्कार कर देना चाहिये।

'न चेत् सानासमैथुना' इस वचन का भी विवाह की समाप्ति न होने में ही तात्पर्य है, क्योंकि मिथुन शब्द का अर्थ

द्वन्द्वमुपपद्यते। 'द्वन्द्वाद्वैरमैथुनिकयोः' (पा० सू० ४।३।१२५) इति सूत्रे मैथुनिकपदस्य विवाहोऽर्थः। मिथुनं हि दम्पतीकर्मक्रियानिष्पादनम्। मनोज्ञादिगणपाठत्वाद् वुञ्प्रत्ययः। एतदुदाहरणं कुत्सकुशिकिका। तत्त्वबोधिन्यां कुत्सकुशिकिकयोर्विवाहरूपः सम्बन्धोऽर्थ उक्तः। तथा शातातपवचने 'न चेत्सम्प्राप्तमैथुना' इत्यस्याऽप्राप्तविवाहसम्वन्धवतीत्यर्थः। विवाहसम्वन्धः सप्तपदीं यावत् पूर्यते। तदा कन्याशब्दोऽपगच्छति। भार्याजायादिशब्दास्तत्र प्रयुज्यन्ते। अमरकोषानुसारेण 'मैथुनं सङ्गतं रते' (अमरकोषे) इत्यसम्बन्धेऽपि मैथुनशब्दः। सम्वन्धो विवाहादारभ्यते सप्तमे पदे च पूर्यते। सप्तमात्पदात्पूर्वं कन्यात्वं भवति। तदा कारणवशात् कलौ पराशराद्यनुसारेण सम्भवति विवाहसंस्कारः। मुहूर्तमार्तण्डेऽप्युक्तम्—'पूर्वं सप्तपदीविधेरधिगते दोषे, वरे वा मृते देयाऽन्यत्र विवाहितापि च वलाद् यव्धा च योनिर्नचेत्॥' न चेत् सम्प्राप्तमैथुनेत्यस्य मिथुनीभावात्पत्युः पूर्णपत्नीत्वात् सप्तपदीसम्पत्तेः पूर्वमसम्प्राप्तपूर्णपत्नीत्वभावाया असमाप्तसप्तमपदाया इत्येवार्थः। यथोक्तं कुल्लूकभट्टेन—'एवं च सप्तपदीदानात् प्राग् भार्यात्वानिष्पत्तेरनुशये जह्यान्न ऊर्ध्वम्' (म० ८।२२७) नारदस्मृतौ तु तादृश्या अपि पुनर्भूत्वमुक्तम्। 'कन्यैवाक्षतयोनिर्या पाणिग्रहणदूषिता। पुनर्भूः प्रथमा पुनः संस्कारकर्मणि॥' अतोनारदवचनेन विधवाविवाहः कथमपि न सिद्ध्यति।

यदपि—'स तु यद्यन्यजातीय······ऊढापि देया सान्यस्मै' (कात्यायनस्मृतौ) इत्यस्मिन् वचने विवाहस्य चर्चा नास्ति, सधवाविवाहस्तु सम्भाव्यते······।' वस्तुतस्तु—तत्रापि ऊढाशब्दः पूर्ववद्विवाहादिकर्मणि (विवाहप्रारम्भे) वाग्दानादावेव मन्तव्यः। विवाहयितुमारब्धापि सान्यस्मै देया इत्येवार्थः क्रियाया आरम्भे क्त प्रत्ययविधानस्य पूर्वमुपपादितत्वात्। यथा—'अनुत्तमो रसो ह्येष प्रमीतमपि (मृतमपि) चेतयेत्' अत्र प्रमीतपदघटकक्तप्रत्ययो न सर्वथा मरणक्रियासमाप्तौ, किन्तु मृतप्रायमप्ययं रसश्चेतयेदित्येवार्थः, तथैव ऊढापि विवाहितप्रायाप्यन्यस्मै देया इत्यर्थः। पूर्णविवाहितायां विवाहमन्त्राणां नैरर्थक्यात्, कन्यास्वेव तेषां प्रतिष्ठितत्वात्।

यहाँ विवाह है। विवाह के बाद ही मिथुनभाव की प्रवृत्ति होती है। पाणिनि सूत्र (४।३।१२५) के मैथुनिक पद का अर्थ विवाह ही है। दम्पती द्वारा किये जाने वाले कार्य को मिथुनभाव कहते हैं। मनोज्ञादि गण में पाठ होने से वुञ् प्रत्यय होता है। कुत्सकुशिकिका का विवाह किया गया है। 'न चेत् सम्प्राप्तमैथुना' इस शास्त्रवचन का अर्थ भी 'जिसका विवाह सम्बन्ध अभी नहीं हुआ है' ऐसा होता है। सप्तपदी हो जाने पर ही विवाह संस्कार पूरा होता है। इसके बाद ही कन्या शब्द की निवृत्ति हो जाती है और उसके लिये भार्या, जाया प्रभृति शब्दों का प्रयोग होने लगता है। अमरकोश के अनुसार मैथुन शब्द का अर्थ रति के लिये सहवास किया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मैथुन शब्द की प्रवृत्ति क्रियानिष्पत्ति में ही, रति के अभिप्राय से साथ साथ रहने में भी होती है। ऐसा संबन्ध सप्तपदी हो जाने पर सम्पूर्ण माना जाता है। इससे पहले वह कन्या ही मानी जाती है। इस अवस्था में पराशर प्रभृति के मत से उसका विवाह संस्कार हो सकता है। मुहूर्तमार्तण्ड में भी इसी अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है। 'न चेत् सम्प्राप्तमैथुना' इसका सही अर्थ यह है कि मिथुनीभाव के बाद ही स्त्री पति की पूर्ण पत्नी बनती है, अतः सप्तपदी के पूर्व, जब तक कि उसका पत्नीत्व पूर्ण नहीं होता, उसका विवाह किया जा सकता है। इसीलिये कुल्लूक भट्ट ने कहा है कि सप्तपदी पूरी हो जाने के पहले वह पत्नी नहीं होती, अतः इससे पहले ही यदि वर की मृत्यु हो जाय, तो उस दशा में दूसरे के साथ विवाह किया जा सकता है, सप्तपदी पूरी हो जाने के बाद नहीं। नारद स्मृति में तो ऐसी दशा में भी उसको पुनर्भू ही माना गया है। अतः नारद के मत के अनुसार विधवा विवाह का समर्थन किसी भी तरह नहीं किया जा सकता।

कुछ लोगों के कथनानुसार 'सत् यद्यन्य०' इस कात्यायन वचन में विवाह की चर्चा नहीं है। सधवा विवाह की संभावना हो सकती है। किन्तु वास्तव में देखा जाय, तो यहाँ पर भी ऊढा शब्द ऊपर बताई पद्धति से विवाह कर्म की प्रारम्भिक दशा वाग्दान आदि के लिये ही प्रयुक्त माना जायगा। जैसे 'अनुत्तमो रसो ह्येष' इस वचन में प्रमीत शब्द का क्तप्रत्यय मरे हुए व्यक्ति का बोधक न होकर मरणोन्मुख व्यक्ति का बोध कराता है, उसी तरह से 'ऊढा' शब्द भी विवाहित कन्या के लिये प्रयुक्त माना जायगा, क्योंकि जिसका विवाह संस्कार पूरा हो चुका है, उसके लिये पुनः विवाह मन्त्रों का प्रयोग नहीं हो सकता। कन्या के लिये ही विवाह मन्त्रों का उपयोग हो सकता है।

किञ्च, उक्तपद्ये—'विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा' इत्यादीनि पदान्यपि सन्ति। तथा सति सगोत्राया अपि विवाहे जाते पुर्नविवाहः कर्त्तव्यः स्यात्। तच्च सर्वथा विरुद्धमेव 'भोगतस्तां परित्यज्य पालयेज्जननीमिव' इति वचनविरोधात्। उक्तपद्यस्य प्राचीनैष्टीकारैर्निबन्धकारैश्च वाग्दानकालिकत्वमेवोक्तम्। भट्टोजिदीक्षितेन चतुर्विंशति मतसंग्रहे ऊढापि इत्यत्रापिशब्देन कैमुतिकन्यायेन वाग्दत्ताया एव पुनर्दानमुक्तम्, न पूर्णविवाहितायाः। अन्यथा सगोत्रोढायाः पुर्नविवाहे 'मातृवत्पालयेत् इति शास्त्रीयवचनं व्याकुप्येत। पराशरस्मृतेर्विद्वन्मनोहराटीकायामपि वाग्दत्तादानपरत्वमेवास्य वचनस्योक्तम्। वीरमित्रोदयस्यसंस्कारप्रकरणेऽपि तादृशमेव वशिष्ठवचनमुपलभ्यते। 'कुलशीलविहीनस्य षण्ढादिपतितस्य च। अपस्मारिविधर्मस्य रोगिणां वेषधारिणाम्॥ दत्तामपि हरेत्कन्यां सगोत्रोढां तथैव च।' अत्रापि दत्तापदस्य वाग्दत्तेत्येवार्थः। उक्तवशिष्ठवचनस्य वाग्दत्तापरत्वं शब्दकल्पद्रुमकोषे, स्मृतितत्त्वे, अपरार्कटीकायाम्, पारस्करगृह्यसूत्रगदाधरटीकायाम्, वीरमित्रोदये चोक्तम्।

'दत्तामपि हरेत्पूर्वात् श्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्' (याज्ञवल्क्यस्मृति १।६५) इति पद्यस्यापि न विधवाविवाहोऽर्थः, किन्तु वाग्दत्ताया एव विवाह उक्तः। 'सकृत् कन्याप्रदीयते' (म० ९।४७), 'प्रदानं स्वाम्यकारणम्' (म० ५।१५२) इत्यत्र कुल्लूकभट्टः—'यत्पुनः प्रथमं प्रदानं वाग्दानात्मकं तदेव भर्त्तुः स्वाम्यजनकम्। ततश्च वाग्दानादारभ्य स्त्री भर्तृपरतन्त्रा। 'अन्यदत्ता तु या कन्या पुनरन्यस्य दीयते' (अङ्गिरःस्मृतौ ६५) इत्यादिस्मृतिपद्येषु दत्तापदं वाग्दानार्थकमेव प्रसिद्धम्। तदा दत्तामपि हरेत्' एतच्च सप्तमपदात् प्राग्द्रष्टव्यम्' इति याज्ञवल्क्यस्मृतौ मिताक्षरा। तथैवापरार्कायां स्मृतितत्त्वे पारस्कर गदाधरभाष्ये शब्दकल्पद्रुमे (म० ८।२२७) मेधातिथिटीकायाम्, 'नदत्त्वा' (म० ९।७१) इति पद्यस्य राघवानन्दटीकायामपि वाग्दत्तादानपरत्वमेवोक्तम्। पराशरमाधवेपि 'यस्मै वाचा दत्ता ततोऽन्यश्चेत् प्रशस्ततरो लभ्यते ततस्तस्मै देया, न तु दुष्टाय पूर्वस्मै' इति विवेचनेन नात्र विधवाविवाह उक्त इति सिद्धयति। 'सकृत्कन्या प्रदीयते, कन्यां हरंस्तां चौरदण्डभाक्'

फिर उक्त पद्य में बुरा कार्य करने वाला, सगोत्र, दास और दीर्घ रोगी शब्द भी आते हैं। ऐसा मान लेने पर सगोत्रा का विवाह हो जाने पर भी पुनर्विवाह करना पड़ेगा। ऐसा करना इस वचन के विपरीत पड़ेगा कि सगोत्रा के साथ विवाह हो जाने पर उसके साथ भोग न करे और माता के समान उसका पालन करे। प्राचीन टीकाकारों और निबन्धकारों ने उक्त पद्य में वाग्दान के समय का ही उल्लेख माना है। भट्टोजि दीक्षित ने चतुर्विशतिमत संग्रह में 'ऊढापि' यहाँ पर अपि शब्द से वाग्दत्ता के पुनर्दान का ही विधान माना है, पूर्ण विवाहिता का नहीं। अन्यथा सगोत्र विवाहित स्त्री का पुनर्विवाह मानने पर उसका माता के समान पालन करने का उपदेश करने वाला शास्त्रीय वचन बाधित हो जायगा। पराशर स्मृति की विद्वन्मनोहरा टीका में भी इस वचन को वाग्दान विषयक ही बताया है। वीरमित्रोदय के संस्कार प्रकरण में भी इसी अभिप्राय का वशिष्ठ स्मृत्ति का वचन मिलता है, जिसका यह अर्थ है—कुल और शील से रहित, नपुंसक, पतित, अपस्मार रोग से ग्रस्त तथा सगोत्री के साथ विवाहित कन्या को भी वापस ले लेना चाहिये। यहाँ पर भी 'दत्ता' पद का अर्थ वाग्दत्ता ही किया जाता है। वसिष्ठ स्मृति के इस वचन की इसी अर्थ की चर्चा शब्दकल्पद्रुम, स्मृतितत्व, अपरार्क टीका, पारस्करगृह्य सूत्र की गदाधर टीका तथा वीरमित्रोदय में भी की गई है।

'श्रेष्ठ वर के मिल जाने पर दी गई कन्या को भी वापस ले लेना चाहिये' इस अभिप्राय के याज्ञवल्क्य स्मृति के वचन में भी विधवा विवाह का उल्लेख न होकर वाग्दत्ता के विवाह का ही उल्लेख है। कन्या एक ही बार दी जाती है', 'प्रदान का अर्थ स्वामी बनना है' इत्यादि मनु वचनों की व्याख्या करते हुए कुल्लूक भट्ट कहते हैं कि वाग्दान हो पति के लिये स्त्री का प्रथम अर्पण है, तभी से पति उसका स्वामी हो जाता है। इस तरह से वाग्दान के समय से ही स्त्री पति के अधीन हो जाती है। अंगिरा स्मृति में भी दत्ता पद वाग्दान के अर्थ में ही प्रयुक्त है। याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका में 'दत्ता' का अर्थ सप्तपदी से पहले किया गया वाग्दान माना गया है। यही अर्थ अपरार्क टीका, स्मृतितत्त्व, पारस्कर गृह्यसूत्र के गदाधरभाष्य, शब्दकल्पद्रुम और मनु की मेधातिथि टीका में भी किया गया है। मनुस्मृति (९।७१) की राघवानन्द की टीका में भी वाग्दत्ता के दान का ही उल्लेख माना गया है। पराशर स्मृति की माधवकृत टीका में भी 'जिसके लिये वाग्दान किया गया है, यदि उससे अच्छा वर मिल जाता है, तो उसी को कन्या देनी चाहिये,

इति विरोधाद् वाग्दानपरत्वमेव सिद्ध्यति। तदैव 'न दत्त्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥' (म० ९।७१) इति वाग्दानं न परिवर्तनीयमिति मनुवचनं सङ्गच्छते। पराशरादिवचनंत्वपवादभूतमेव कलौ। 'प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात्' (गौतमसूत्र १।५।२१) इति गौतमसूत्रस्थवचनमपि स्मृतितत्त्वे पराशरमाधवीये च वाग्दानपरमेवैतदिति स्वीकृतम्। नारदस्मृतौ च 'दत्तां न्यायेन यो कन्यां वराय न ददाति ताम्। अदुष्टश्चेद्वरो राज्ञा स दण्ड्यस्तत्र चोरवत् ॥' (नारदस्मृति १२।३३) इत्यदुष्टशब्दो दुष्टस्यापवादत्वं बोधयति, वाग्दत्ता दुष्टाय न देया इति। तस्मात् स्मृतिषु दत्तापदं प्रारम्भिकदानपरं, न पूर्णकन्यादानपरम्, क्रियायाः प्रारम्भेऽपि निष्ठाया उपपादितत्वात्।

यत्तु—ऊढायाः पुनरुद्वाहं………कलौ पञ्च न कुर्वीरन्' इति वचनेनान्ययुगे विधवाविवाहस्य न्याय्यत्वमुक्तम्, तन्न प्रत्यक्षे परोक्षकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। न च युगविशेषे निषेधेन युगान्तरे तस्य कर्त्तव्यता सिद्ध्यति। 'स्त्रीणां पुनर्विवाहस्तु………स्वातन्त्र्यं वा कलियुगे न कर्त्तव्यं कदाचन' इति ब्रह्मपुराणवचने कलौ स्वातन्त्र्यनिषेधेऽपि युगान्तरे तदभावासिद्धेः। 'न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्' (म० ५।१४८), 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (म० ९।३) इत्यादिवचनानां वैयर्थ्यापत्तेः। 'कृते तु मानवा धर्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः। द्वापरे शङ्खलिखिताः कलौ पाराशराः स्मृताः ॥' (पराशरस्मृति १।२४) नैतद्वचनेनापि मनुप्रोक्तधर्माणां कलियुगेऽमान्यता पाराशराणां वा कृते मान्यता स्यात्।

निबन्धग्रन्थेष्वादित्यपुराणस्य बृहन्नारदीयपुराणनाम्ना कलिवर्ज्यप्रकरणे कन्यानामसवर्णानां विवाहश्च द्विजातिभिः। द्विजानामसवर्णासु कन्यासूपयमस्तथा।' इत्यादिनाऽसवर्णकन्याविवाहो निषिद्धोऽस्ति। नैतावता कलावेवैतेषां निषे-

पहले वाला यदि दुष्ट है, तो उसको नहीं' ऐसा अर्थ किया गया है। तदनुसार यहाँ पर विधवा-विवाह का उल्लेख नहीं सिद्ध होता। 'कन्या एक वार ही दी जाती है' इस वचन से भी वाग्दान का ही उल्लेख सिद्ध हो पाता है। तभी मनु वचन की सार्थकता सिद्ध हो पाती है कि दी गई कन्या को पुनः दूसरे को न दे। ऐसा करने पर पुरुष पापभागी होता है। इस मनुवचन का अभिप्राय यही है कि वाग्दान को लौटाना नहीं चाहिये। पराशर का वचन तो कलियुग के लिये अपवाद माना जायगा। 'बात पक्की हो जाने पर अधर्मी व्यक्ति को कन्या न दे। इस गौतम वचन का तात्पर्य पराशर माधवीय और स्मृतितत्त्व में वाग्दान में ही माना गया है। नारद स्मृति (१२।३३) में आया अदुष्ट शब्द यह सिद्ध करता है कि जिसको वाग्दान किया गया वह यदि दुष्ट है, तो उसको कन्या नहीं देनी चाहिये। इस पूरे प्रकरण से यही सिद्ध होता है कि स्मृतियों में आया 'दत्ता' पद प्रारंभिक वाग्दान से ही संबद्ध है, पूर्ण कन्यादान का बोधक नहीं। यह बताया जा चुका है कि क्रिया के प्रारंभ हो जाने पर भी निष्ठा प्रत्यय हो सकता है।

कुछ लोगों ने विवाहिता का पुनर्विवाह प्रभृति पाँच कार्यों को कलियुग में निषिद्ध घोषित करने वाले वचन के आधार पर अन्य युगों में विधवा-विवाह का औचित्य सिद्ध किया है। उनके इस कथन का यह अभिप्राय निकाला जाता है कि जब अन्य युगों में यह सब कुछ होता था, तो अब भी होने में क्या हानि है ? किन्तु उनका यह कथन इसलिये गलत है कि प्रत्यक्ष बात में परोक्ष की कल्पना अनुचित है, अर्थात् विधवा-विवाह का निषेधक प्रत्यक्ष वचन जब सामने है, उस अवस्था में अनुमान के आधार पर उस प्रत्यक्ष वचन के विपरीत बात सिद्ध करना किसी भी अवस्था में मान्य नहीं हो सकता। फिर किसी एक युग में निषिद्ध वस्तु युगान्तर में कर्तव्यता कोटि में आती हो, ऐसा है भी नहीं। ब्रह्मपुराण के एक वचन में कलियुग में स्त्री की स्वतन्त्रता मान्य नहीं है, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अन्य युगों में स्त्री की स्वतन्त्रता मान्य है। क्योंकि मनुस्मृति में इसका स्पष्ट निषेध किया गया है। पराशर स्मृति कृतयुग में मनु को, त्रेता में गौतम को, द्वापर में शंखलिखित को और कलियुग में पराशर स्मृति को मान्यता देती है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मनु प्रोक्त धर्म कलियुग में मान्य नहीं होंगे, अथवा पराशर प्रोक्त धर्म ही कलियुग में मान्य होंगे।

निबन्ध ग्रंथों के कलिवर्ज्य प्रकरण में बृहन्नारदीय पुराण के नाम से आदित्यपुराण का एक वचन उद्धृत है। उसके अनुसार असवर्ण कन्या का विवाह निषिद्ध माना गया है। यह निषेध कलियुग विषयक होने से अन्य युगों में असवर्ण विवाह कर्तव्यता-

धादन्ययुगे कर्त्तव्यता भवति। सत्ययुगे नियमेन मान्यायां मनुस्मृतौ 'उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्' (म० ३।४) 'हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः। कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम्' (म० ३।१५) इत्यादिवचनानां सत्ययुगेऽमान्यतापत्तेः।

अतोऽयमभिप्रायोबोद्धव्यः—यद्यपि स्त्रीस्वातन्त्र्यं सर्वेष्वेव युगेषु निषिद्धम्, तथापि सत्ययुगादौ धर्मप्राधान्यात् स्वातन्त्र्येऽपि सम्भवत्येव चारित्र्यरक्षणम्। कलियुगे त्वधर्मरुचित्वात् स्वातन्त्र्यादत्यन्तानर्थमम्भावना भवतीति विशेषरूपेण तन्निषेधः 'स्वातन्त्र्यं वा कलियुगे न कर्त्तव्यं कदाचन' इति। यथा लोके प्रातः प्रातरसत्यं न वक्तव्य मित्युक्तावपि न तद्भिन्नकालेऽसत्यं वक्तव्यं भवति। तथा च स्मृतिकाराणां रीत्या या स्त्री विधवा भूत्वाऽन्येन सम्बन्धं कामयते सा चेदक्षतयोनिः स्यात् तदाऽन्यपुरुषेण संस्कृतत्वात् सा पुनर्भूरित्युच्यते। अन्य युगेषु—'कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः। न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु॥' (म० ५।१५७) इत्येवंरीत्या सत्ययुगे नियततया मनुस्मृत्या विधवाविवाहस्य निषेधेऽपि यदि कलौ तस्य विशेषेण निषेधो न स्यात्तदा सत्ययुगे तु धर्मप्रधानतावशात् क्वचित्पुनर्भूत्वेऽपि मर्यादाया मुख्यव्यवस्थाया अतिक्रमणं नाशङ्क्येत। कलियुगे त्वधर्मप्राधान्यान्महाननर्थो धर्मनाशस्तु स्यादेव। कलियुगे तु विधवाविवाहनिषेधाभावेऽक्षतयोनित्वमर्यादापि रक्षितुमशक्यैव स्यात्। पुनर्भूत्वं निन्दितमेव। तस्याः पतिः पुत्रश्च निन्दितौ भवतः।

कलियुगे पतिव्रताया विधवाया उपहास एव भवति, स्वतन्त्रायास्तु सम्मानम्; प्रत्यक्षमिदमद्यत्वे। पूर्वकाले विधवानामक्षतयोनीनामेव विवाहो भवेदिति नेतॄणां घोषणासीत्। इदानीं तु युवतीनां पुत्रवतीनां सधवानामपि पुनर्विवाहाः प्रचार्यन्ते समर्थ्यन्ते च तैरेव, तदा पातिव्रत्यस्य वराकस्य क्वास्त्यवकाशः। इदानीं न केवलमसवर्णविवाहः, किन्तु प्रतिलोमविवाहोऽपि प्रचार्यंते। सिविलमैरेजविवाहकर्तृभिरेवं लेख्यं भवति—यदहं न हिन्दु नं मुसलिमो न क्रिश्चियनः, किन्तु जाति-

कोटि में नहीं आजायेंगीं। सत्ययुग में नियमतः मान्य होने वाली मनुस्मृति में सवर्ण विवाह को ही मान्यता दी गई है और हीन जाति की स्त्री से विवाह करने पर कुल और सन्तान के पतित होने की बात कही है। उपर्युक्त मत को मान लेने पर मनुस्मृति के वचन अमान्य हो जायेंगे।

अतः उक्त कथन का यह अभिप्राय माना जाना चाहिये—यद्यपि स्त्री की स्वतन्त्रता सभी युगों में निषिद्ध है, किन्तु सत्ययुग में धर्म की प्रधानता के कारण स्वतन्त्रता के रहते भी स्त्री अपने चरित्र की रक्षा में समर्थ हो सकती है। कलियुग में तो प्रजा की अधर्म में रुचि रहने से स्त्री की स्वतंत्रता महान् अनर्थकारी हो सकती है, अतः विशेष रूप से उसका निषेध किया जाता है कि कलियुग में कभी भी स्त्री को स्वतंत्र नहीं छोड़ना चाहिये। जैसे लोक में प्रातःकाल असत्य नहीं बोलना चाहिये, ऐसा कहने का यह अभिप्राय नहीं होता कि बाकी समय में झूठ बोलना चाहिये। स्मृतिकारों के मत से जो स्त्री विधवा होकर दूसरे पुरुष से संबंध चाहती है, वह यदि अक्षतयोनि है, तो दूसरे पुरुष के साथ विवाहित होने पर भी पुनर्भू कहलावेगी। मनुस्मृति के अनुसार यद्यपि अन्य युगों में भी विधवा विवाह निषिद्ध है, किन्तु कलियुग के लिये यदि विशेष रूप से निषिद्ध घोषित न किया जाय, तो सत्ययुग में धर्म की प्रधानता के कारण पुनर्भू अवस्था में भी मर्यादा की रक्षा की जा सकती है; किन्तु कलियुग में तो अधर्म की प्रधानता के कारण महान् अनर्थ हो सकता है। कलियुग में विधवा-विवाह को निषिद्ध न माना जाय, तो अक्षतयोनि की मर्यादा रख पाना भी कठिन हो जायगा। पुनर्भू स्त्री की सब जगह निन्दा की गई है। उसके पति और पुत्र निन्दित ही माने जाते हैं।

कलियुग में पतिव्रता विधवा की हंसी उड़ाई जाती है और स्वतन्त्र विचरण करने वाली को संमान मिलता है। आज कल यह स्थिति सबके सामने है। पुराने समय में अक्षतयोनि विधवा का ही विवाह किया जाय, ऐसी मान्यता थी। आज कल तो पुत्रवती सधवा स्त्रियों के पुनर्विवाह का भी प्रचार और समर्थन किया जाता है। ऐसी स्थिति में गरीब पातिव्रत्य धर्म कहाँ शरण पावेगा। आजकल असवर्ण विवाह का ही नहीं, प्रतिलोम विवाह का भी समर्थन और प्रचार किया जा रहा है। सिविल मेरिज करने वाले को यह लिखना पड़ता है—मैं न हिन्दू हूँ, न मुसलमान और न क्रिश्चियन। मैं जाति से रहित हूँ। ऐसी स्थिति की कल्पना करके ही दूर-

हीनोऽस्मि। अत एव दूरदर्शिभिः 'ऊढायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा। कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम् ॥' इत्यादि निषिद्धम्। प्राचीनकाले आवरणप्रथासीत्। सुधारकैस्तत्र शैथिल्यमानीतम्। इदानीं नग्नतैव संवृत्ता।

यत्तु—'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥' इति पराशरस्मृत्या पूर्वस्मिन् पत्यौ मृते नष्टे प्रव्रजिते क्लीबे पतिते वा स्पष्टमेवान्यपतिविधानमार्षमेवे'ति; तन्न, एतद्वचनस्यापि सप्तपदीसमाप्तेः पूर्वस्मिन्नेव काले पत्युर्मरणादौ पत्यन्तरविधानार्थकत्वात्। आर्यसमाजोऽत्र 'पतौ' इति पाठं मनुते। सनातनधर्मे तु 'अपतौ' इति पाठः स्वीक्रियते 'पतिते अपता।विति पाठे 'एङः पदान्तादति' (पा० सू०) इति सूत्रेण पूर्वरूपेकृते पतितेऽपतौ इति रूपं स्यादिति। एकलस्य पतिशब्दस्य घिसंज्ञाभावेन सप्तम्यां पत्यौ इति रूपापत्तेः। नञा समासेतु 'पतिः समास एव' (पा० सू० १।४।८) इति घिसंज्ञायां भूपतौ इतिवत् अपतौ इति रूपसिद्धिः। वस्माद् धर्मशास्त्रानुगुण्याय 'अपतौ' इत्येव पाठो युक्तः। यत्तु'ऽ' इति चिह्नाभावान्न 'अपतौ' इति पाठ इति तन्न, तादृशचिह्नस्याधुनिकत्वात्। 'भ्यसोभ्यम्' (पा० सू० ७।१।३०) इति सूत्रे तथैव प्रश्नोत्तरदर्शनात्। किमयं भ्यं शब्द आहोस्वित् अभ्यमिति? तत्र वादिनोक्तम्—'कुतः सन्देहः? प्रतिवादिनोक्तम् 'समानो निर्देश' इति। उभयस्मिन्नपि पक्षे भ्यसोभ्यमिति रूपत्वाविशेषात्। यदि 'ऽ' इति रूपं प्राचीनं स्यात्तदा तादृशप्रश्नोत्तरानुपपत्तिरेव स्यात्। भट्टोजिदीक्षितेनापि 'समुदाङ्भ्यो ग्रन्थे' (पा० सू० १।३।७५) इति सूत्रमात्मनपदप्रक्रियायां लिखित्वा 'अग्रन्थे' इति च्छेद उक्तः। यदिऽग्रन्थे इति लेखनपरिपाटी स्यात्तदा तन्न स्यात्। तस्मात्पतिशब्दस्य सप्तम्येकवचने पत्यौ इत्येव रूपं भवति, 'पत्यौ' (४।१७।२४) इति मुख्यपतिशब्दस्य पराशरस्मृतावपि तादृशरूपस्यैव दर्शनात्। तस्मादौपचारिकपतिबोधनायैव समासे अपताविति रूपम्।

नञश्च—'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥' इत्यनुसारं क्रमेण अब्राह्मणः[१], [२]अपापम्, [३]अनश्वः, [४]अनुदरा कन्या, [५]अपशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्यः, [६]अधर्मः—एतान्युदाहर-

दर्शी आचार्यों ने विधवा विवाह प्रभृति पांच वस्तुओं को कलियुग में वर्जित घोषित कर दिया है। प्राचीन समय में परदे की प्रथा थी। सुधारकों ने उसमें शिथिलता दी। उसी का यह परिणाम है कि आजकल चारों तरफ नग्नता का ताण्डव देखने को मिलता है।

कुछ लोगों का कहना है कि पराशर स्मृति के वचन के अनुसार पहले पति के मर जाने, नष्ट हो जाने, संन्यासी हो जाने, पतित अथवा नपुंसक होने पर अन्य पति का स्पष्ट विधान है, किन्तु ऐसी बात है नहीं, क्योंकि इस वचन का भी तात्पर्य सप्तपदी की समाप्ति के पहले ही पति की मृत्यु आदि हो जाने पर दूसरे पति के विधान में है। आर्यसमाजी इस श्लोक में 'पतौ' यह पाठ मानते हैं और सनातनधर्मी 'अपतौ'। 'पतिते अपतौ' इन दो पदों में 'एङः पदान्तादति' इस पाणिनि सूत्र से पूर्वरूप सन्धि होने पर 'पतितेऽपतौ' ऐसा भाव बनता है। अकेले पति शब्द की घी संज्ञा नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में सप्तमी में 'पत्यौ' रूप होना चाहिये। नञ्-समास हो जाने पर तो उसकी घी संज्ञा हो जाती है। इस दशा में 'भूपतौ' को तरह 'अपतौ' भी बन सकता है। अतः धर्मशास्त्र की व्याख्या के अनुरूप 'अपतौ' यह पाठ ही माना जायगा। कुछ लोगों का यह कहना उचित नहीं माना जा सकता कि उक्त श्लोक में अवग्रह (ऽ) का चिन्ह न होने से 'अपतौ' यह पाठ कैसे माना जा सकता है? क्योंकि अवग्रह चिन्ह आधुनिक है। 'भ्यसोभ्यम्' इस सूत्र के भाष्य में इसी अभिप्राय के प्रश्नोत्तर देखने को मिलते हैं कि यहाँ पर 'भ्यम्' शब्द है या 'अभ्यम्'? ऐसा संदेह किसलिये होता है? समान निर्देश होने से। दोनों पक्षों में सूत्र का स्वरूप एक सा ही रहता है। यदि प्राचीन काल में भी अवग्रह चिन्ह लगता होता, तो इस तरह प्रश्नोत्तर नहीं हो सकते थे, क्योंकि उस परिस्थिति में दोनों पक्षों में समान रूप न रह कर भिन्न रूप रहता। भट्टोजिदीक्षित ने भी 'समुदाङ्भ्यो ग्रन्थे' इस सूत्र का आत्मनेपदप्रक्रिया में उल्लेख कर 'अग्रन्थे' ऐसा पदच्छेद किया है। यदि 'ऽग्रन्थे' ऐसी लेखन की परिपाटी हो तो ऐसा न करना पड़ता। इसलिये पति शब्द के सप्तमी के एक वचन में 'पत्यौ' यही रूप होता है। मुख्य पति शब्द का पराशर स्मृति में भी वैसा ही रूप माना गया है। इसलिये प्रस्तुत स्थल में औपचारिक पति का बोधन कराने के लिये ही समास में 'अपतौ' रूप का उल्लेख माना जायगा।

नञ् के छः अर्थ होते हैं—तत्सदृश, तदभाव, तदन्यत्व, तदल्पता, अप्राशस्त्य और विरोध। इनके क्रमशः ये उदाहरण

णानि। अपतिरित्यत्र अनुदरावत् अल्पार्थको नञ्। अत ईषत्पतिरेवार्थः। सप्तपदसम्पत्तेः पूर्वमल्पपतित्वमेव भवति, न पूर्णपतित्वमिति केषाञ्चिद्रीत्या चतुर्थीकर्मतः पूर्वमपूर्णपतित्वमेव। तदानीं त्वस्याल्पपतेरीषत्पतेर्वा मृत्यौ नाशादौ वा पत्यन्तरविधानमित्येव तदाशयः। अतस्तादृशो विवाहो न विधवाविवाहः। तत एव 'अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेतोर्ध्वं वरो यदि। न च मन्त्रोपनीता च कुमारी पितुरेव सा। (वशिष्ठस्मृति १७।६४) इत्यादिरीत्या सा पितुरेव भवति, न पत्युर्भार्या भवति सप्तपदीपूर्तावेव भार्यात्वोपपत्तिः। 'अपतौ' इति व्याकरणविरोधो न भवति। 'न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु।।' (म० ५।१५७) इति मन्वादिविरोधोऽपि न भवति। मनुवाक्ये 'पत्यौ' इत्येव पाठः। तत्र पतौ अपतौ वा न पाठः। पतौ इति पाठाङ्गीकारेपि पतिशब्देनात्र न पूर्णः पतिर्ग्राह्यः। अत एव भट्टोजिदीक्षितेन चतुर्विंशतिमतसङ्ग्रहे विवाहप्रकरणे उक्तवचने पतौ सम्भावितोत्पत्तिकपतित्वे पूर्वस्मिन् वरे नष्टे इति व्याख्यातम्। न च तथात्वे समासाभावात् घिसंज्ञानुपपत्तौ कथं पतौ इति प्रयोग इति वाच्यम्, तत्त्वबोधिनीकारेणास्योपपादितत्वात्। तथाहि—'तत्करोति तदाचष्टे' (पा० सू०) इति णिचि टिलोपे, अथवा 'अच इः' (उ०) इत्यौणादिक इ प्रत्यये 'णेरनिटि' (पा० सू०) इति णिलोपे च निष्पन्नोऽयं पतिशब्दः। स च 'पतिः समास एव' (पा० सू०) इत्यत्र न गृह्यते लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणात्। इह पतिशब्दस्य लाक्षणिकत्वात्' अस्य लाक्षणिकस्य पतिशब्दस्य गौण्यावृत्त्या पतिपदव्यपदेश्यता। 'क्लीबे च पतितेऽपतौ' इह तु पतिरित्याख्यातः पतिः। वस्तुतस्तु अपतिरेव। मनुनापि 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः।।' (म० ९।६९) इत्यत्र वाग्दानकालिकस्य वरस्य पतिरिति व्यपदेशः कृतः।

अन्यैस्तु 'पतिरन्योऽविधीयते' इत्यत्र अविधीयते इति च्छेद इष्यते। ननु लोके सुपः सुपा समासो भवति; न तिङेति चेन्न, यथा पूर्वपक्षिणा व्याकरणरीत्या पत्यौ इत्यस्यैव सम्भवेन आर्षत्वात् पतौ इति रूपं स्वीक्रियते, तथैव 'छन्दोव-

हैं—अब्राह्मण, अपाप, अनश्व, अनुदरा कन्या, अपशवः, अधर्म 'अपति' यहाँ पर अनुदरा कन्या के समान अल्पार्थक नञ् है। अतः इसका अर्थ 'ईषत्पति' होगा। सप्तपदी की समाप्ति के पहले पतित्व पूर्णता को प्राप्त नहीं करता। इसीलिये कुछ आचार्यों के मत से चतुर्थी कर्म से पहले ऐसी ही स्थिति मानी जाती है। उस दशा में इस ईषत्पति की मृत्यु आदि के हो जाने पर दूसरा पति किया जा सकता है। अतः इस तरह का विवाह विधवा-विवाह नहीं माना जायगा। इसीलिये 'अद्भिर्वाचा' इत्यादि वसिष्ठ स्मृति के वचन के अनुसार उस पर पिता का ही अधिकार माना जाता है, क्योंकि उसमें अभी भार्यात्व धर्म नहीं आया है। सप्तपदी पूर्ण हो जाने पर ही भार्यात्व प्राप्त होता है। 'अपतौ' पद न तो व्याकरण से विरुद्ध है और यहाँ पर न मनुस्मृति से ही कोई विरोध है। मनु के वाक्य में 'पत्यौ' पाठ है, 'पत्यै' अथवा 'अपत्यै' पाठ नहीं है। यदि 'पतौ' पाठ ही मनुस्मृति में भी माना जाता है, तब भी यहाँ पर पति शब्द से पूर्ण पति का ग्रहण नहीं माना जायगा। इसीलिये भट्टोजिदीक्षित ने चतुर्विंशति मत संग्रह के विवाह प्रकरण में इस वचन की व्याख्या संभावित पति के मर जाने अथवा नष्ट हो जाने पर आदि की है। तब यहाँ पर समास के अभाव में घिसंज्ञा न होने पर 'पतौ' यह प्रयोग कैसे बनेगा? इस प्रश्न का समाधान तत्त्वबोधिनीकार ने किया है। जैसे कि 'तत्करोति' इस सूत्र से णिच् प्रत्यय के बाद टिलोप होता है, अथवा 'अच इः' इस उणादि सूत्र से इ प्रत्यय होता है। तब 'णेरनिटि' इस सूत्र से णि का लोप होने पर पति शब्द बनेगा। इस तरह से बने पति शब्द का ग्रहण 'पतिः समास एव' इस सूत्र में नहीं होगा, क्योंकि लक्षण और प्रतिपदोक्त में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण हुआ करता है। तत्त्वबोधिनीकार की पद्धति से बना पति शब्द लाक्षणिक है, अतः उक्त सूत्र में इसका ग्रहण नहीं होगा। यह लाक्षणिक पति शब्द गौणी वृत्ति से पति शब्द को बोधित करेगा। 'क्लीबे च पतितेऽपतौ' इस स्थल पर संभावित पति का उल्लेख है, जो कि वास्तव में पति नहीं है। मनु ने भी 'यस्या म्रियेत' इस श्लोक में वाग्दान के समय के वर का ही पति शब्द से निर्देश किया है।

अन्य लोग 'पतिरन्योऽविधीयते' ऐसा पाठ मानते हैं। लोक में सुप् का सुप् से समास किया जाता है, तिङ् के साथ नहीं। इसका समाधान यह किया जाता है कि पूर्वपक्षी व्याकरण की पद्धति से 'पत्यौ' यही रूप बनेगा, ऐसा मानकर 'पतौ' इसको आर्ष प्रयोग मानते हैं, उसी तरह से नदी संज्ञा के विधायक सूत्र के महाभाष्य में पठित इस परिभाषा के अनुसार कि कविगण वेद

त्कवयः कुर्वन्ति, इति नदीसंज्ञासूत्रस्थमहाभाष्यस्थपरिभाषानुसारेण 'सहसुपा' (पा० सू० २।१।४) इत्यत्र सह इत्यस्य योगविभागाभ्युपगमेन पर्यभूषयत्, अनुव्यचलत् प्रभृति छान्दसप्रयोगवल्लोकेऽपि तिङासह सुपः समासाभ्युपगमे बाधाभावात्। छान्दसत्वानाश्रयणेऽपि अन्यः अविधीयते इति छेदः सम्भवत्येव। नञ्समासाभावेऽपि नञो नलोपस्तिङि क्षेपे, (पा० सू०) इति पूर्वरूपे सिद्धिः। नलोपस्तु क्षेपार्थे भवति, अपचसि जाल्म इतिवत् निन्दार्थे भविष्यति। पत्युर्मरणेऽन्यपतिविधानस्य निन्दितत्वं कुत्सितत्वं धर्मविरुद्धत्वं च सूच्यते। तेन विधवाविवाहो न धर्म इत्येव प्रतिफलति। क्वचित् 'पत्यौ' इति पाठस्य सत्त्वेऽपि तत्र वाग्दानकालिक एव पतिरिष्टः। यथा—'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः' (म० ९।६९) इत्यत्र पतिशब्दस्य सत्त्वेऽपि वाग्दानकालिकस्य पत्युरपूर्णत्वेपि पतिप्रयोगो भवति। 'प्रदानं स्वाम्यकारणम्' (म० ५।१५२) यत्पुनः प्रथमं दानं वाग्दानात्मकं तदेव भर्तुः स्वाम्यजनकम्। कुल्लूकभट्टरीत्या वाग्दानेनैव वरस्य पतित्वव्यपदेशः। तन्मरणे आपत्कालिको विवाहोऽङ्गीक्रियते। प्राचीनटीकाकारैर्वचनमिदं पराशरस्य वाग्दत्तापरमित्युक्तम्। माधवाचार्यसायणाचार्यादिभिः पूर्णपतिपरत्वाङ्गीकारेऽपि 'कलौ पञ्च न कुर्वीत' इत्यनेन कलौ तस्याकर्त्तव्यत्वमेवोक्तम्।

अन्ये तु 'नष्टे मृते प्रव्रजिते (पराशरस्मृ० ४।३२) इत्यस्य पद्यस्य परस्तादेव 'मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता। सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥३३॥ तिस्रः कोट्योऽर्धंकोटी च यानि लोमानि मानवे। तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति ॥३४॥ व्यालग्राही यथा व्यालं बिलादुद्धरते बलात्। एवं स्त्री पतिमुद्धृत्य तेनैव सह मोदते ॥३५॥' (इतिचतुर्थेऽध्याये) इत्यादिवचनेषु सतीनां ब्रह्मचर्यं पत्या सार्धं चितान्वारोहणेन दिव्यलोकप्राप्तिश्च स्मर्यते, तेन पत्यन्तरविधानं शूद्रापरमभ्युपगच्छन्ति।

केचित्तु 'पतिरन्यो विधीयते' (परा० स्मृ० ४।३२) इत्यत्राऽन्यः पतिः, अर्थान्न मुख्यः पतिः, किन्तु पालकत्वात् पतिः, अर्थात् तया कर्मकरीभावमासाद्य जीवनं यापनीयमित्याहुः। अपरे तु शूद्रे प्रव्रज्याद्यसम्भवाद् द्विज-

के समान शब्दों का प्रयोग करते हैं, 'सह सुपा' इस सूत्र में सह का योग विभाग कर पर्यभूषयत्, अनुव्यचलत् प्रभृति छान्दस (वैदिक) प्रयोग के अनुसार लोक में भी तिङ् का सुप् के साथ समास करने में कोई बाधा नहीं है। छान्दस प्रयोग न मानें, तो भी 'अन्यो अविधीयते' ऐसा पदच्छेद मानने में कोई बाधा नहीं है। नञ् समास के अभाव में भी 'नञो न लोप०' प्रभृति वार्तिक से न का लोप हो जाता है। 'अ' बचा रहता है। इसका 'एङः पदान्तादति' से पूर्व रूप हो जायगा। न का लोप निन्दा (तिरस्कार) के अर्थ में उसी तरह से होगा कि जैसा कि 'अपचसि जाल्म' इस प्रयोग में होता है। इसका अर्थ है—अरे दुष्ट, तुझे भोजन बनाना नहीं आता। इससे यह सूचित होता है कि पति के मरण के उपरान्त दूसरा विवाह करना निन्दित है, धर्म के विरुद्ध है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि विधवा-विवाह धर्म संगत नहीं है। कहीं पर 'पत्यौ' इस पाठ के रहने पर भी उसका तात्पर्य वाग्दान के समय के पति में ही माना जायगा। जैसे 'यस्याम्रियेत' इस मनु वचन में पति शब्द के रहने पर भी उसका तात्पर्य वाग्दान काल के अपूर्ण पति में ही माना जाता है। मनु ने प्रदान का अर्थ स्वामित्व संपादन किया है। प्रथम वाग्दान के समय ही उसको स्वामी बना दिया जाता है। कुल्लूक भट्ट का कहना है कि वाग्दान के द्वारा वर को पति बना दिया जाता है। इस परिस्थिति में उसकी मृत्यु हो जाने पर आपत्तिकालीन विवाह स्वीकार कर लिया जाता है। प्राचीन टीकाकारों ने पराशर के इस वचन को वाग्दान से जोड़ा है। माधवाचार्य सायण प्रभृति इस वचन को सम्पूर्ण पति से जोड़ते हैं, किन्तु वचनान्तर से वे कलियुग में अन्य बातों के साथ इसको भी निषिद्ध मानते हैं।

अन्य आचार्य 'नष्टे मृते' प्रभृति पराशर वचन के साथ के अन्य तीन श्लोकों में सती स्त्रियों के ब्रह्मचर्य से रहने का, पति के साथ चिता में भस्म हो जाने पर स्त्री के दिव्य-लोक प्राप्ति का और ऐसी सती स्त्रियों के द्वारा पतित पतियों के भी उद्धार का वर्णन देखकर इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि प्रस्तुत वचन में दूसरे पति का वरण करने की बात केवल शूद्रा के लिये कही गई है।

कुछ लोग 'पतिरन्यो विधीयते' यहाँ पर अन्य पति का अभिप्राय मुख्य पति से भिन्न केवल पालन करने वाला पुरुष निकालते हैं। अर्थात् ऐसे पालक पति का काम-धन्धा करके उसको अपना जीवन-यापन करना चाहिये। अन्य आचार्यों का मत है कि

परमेवोक्तवचनम्, तथापि तद्वाग्दत्ताविवाहपरम्, श्रुतिस्मृतिवचनानां पराशरवचनानां च सामञ्जस्याय पराशरवचनस्य पूर्वोक्तव्याख्यानान्येव युक्तानीत्याहुः।

'यदेकस्मिन्' द्वे रशने परिव्ययति तस्मादेको द्वे जाये विन्दते यन्नैकां रशनां द्वयोर्यूपयोर्न परिव्ययति तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते' (तै० सं० ६।६।४।३) एकस्मिन् यज्ञे परिवीताया रशनाया अन्ययज्ञे कालान्तरेऽपि न परिव्ययनं भवति, प्रथमयज्ञ उपयोगेन तस्या उच्छिष्टत्वात्, तथैव स्त्रिया अन्येन पत्या विवाहो न युक्तः। 'नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्। न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥' (म० ९।६५) इत्यादिवादिप्रतिवादिसम्मतमनुवचनान्यपि पूर्वोक्तसिद्धान्तानुकूलान्येव। 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' (र० म० का० २।) इति रघुवंशरीत्यापि श्रुत्यनुगुणा एव स्मृतयो भवन्ति। पराशरवचनान्यपि तदनुगुणान्येव। 'जारेण जनयेद् गर्भं मृते त्यक्ते गते पतौ। तां त्यजेदपरे राष्ट्रे पतितां पापकारिणीम्।' (परा० स्मृ० १० व ३१) इति तद्वचनविरोधो यथा न स्यात् तथैव नष्टे मृते इत्यस्य व्याख्यानं युक्तम्।

यत्तु—'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं न कारयेत्' इति कारणात् पतौ इति; पाठ इति, तन्न, पतिते धवे', 'पत्यौ त्यक्ते मृते गते' आदिशुद्धपाठस्य छन्दोभङ्गमन्तरापि सम्भवात् माषं मषमिति छन्दोभङ्गाकरणन्त्व अर्थवाद एव। तस्मात् अपतौ पतौ, अन्यो विधीयते इति व्याख्यानमेव युक्तम्, 'न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद् भर्तोपदिश्यते' (म० ५।१६२) इत्युक्तेः। केचित्तु नारीणामिति पाठात् कन्यानामित्यपाठात् प्रत्यवतिष्ठन्ते, तदपि यत्किञ्चित्, 'शार्ङ्गरवाद्यञोङीन्' (पा० सू० ४।१।७३) इति सूत्रस्थितेन 'नृनरयोर्वृद्धिश्च' इति गणसूत्रेण जात्यर्थे ङीन् प्रत्यये वृद्धौ च रूपम्। तेन नारीशब्दस्य कन्यैवार्थः। अत एव 'पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते' इत्यत्र कन्यार्थे नारीशब्दः प्रयुक्तः। नारीशब्दस्य पर्यायः स्त्रीशब्दोऽपि भवति। स्त्रीशब्दस्य कन्यार्थं इत्यप्युक्तमेव।

प्रस्तुत वचन में प्रव्रज्या का भी निषेध है। प्रव्रज्या शूद्र की नहीं होती। अतः इस वचन में द्विज का ही ग्रहण माना जायगा। तो भी उसका संबन्ध वाग्दत्ता के विवाह से ही जुड़ेगा। श्रुति. स्मृति और पराशर के वचनों में परस्पर सामंजस्य बैठाने के लिये पराशर के वचनों की पूर्वोक्त व्याख्या ही सही मानी जायगी।

जैसे एक यज्ञ में प्रयुक्त रशना (रज्जु-रस्सी) का कालान्तर में होने वाले दूसरे यूप में उपयोग इसलिये नहीं किया जाता कि वह पहले यज्ञ मे प्रयुक्त होने के कारण उच्छिष्ट हो चुकी है, उसी तरह से स्त्री का भी एक पति से विवाह हो जाने पर फिर दुबारा विवाह नहीं किया जाता, इस तैत्तिरीय संहिता के वचन के आधार पर ही 'नोद्वाहिकेषु०' प्रभृति वादी और प्रतिवादी उभय संमत मनुवचन भी पूर्वोक्त सिद्धान्त का ही समर्थन करते हैं। रघुवंश महाकाव्य में महाकवि कालिदास ने कहा है कि स्मृतियाँ श्रुति का ही अनुसरण करती हैं। पराशर स्मृति भी उक्त श्रुति का ही अनुसरण करेगी। पराशर का ही एक दूसरा वचन है कि पति के मर जाने पर अथवा कहीं चले जाने पर जो स्त्री जार से गर्भ धारण करे, उस पतिता को दूसरे राष्ट्र में छोड़ देना चाहिये। इस वचन से पूर्वोक्त वचन का विरोध न हो, ऐसी ही व्याख्या हमें करनी चाहिये।

कुछ लोगों का कहना है कि माष को मष भले ही बना दें, किन्तु छन्दोभंग न करे, इस उक्ति के अनुसार प्रस्तुत श्लोक में 'पतौ' ऐसा पाठ बना दिया गया है, किन्तु उनका ऐसा कहना इसलिये उचित नहीं है कि बिना छन्दोभंग किये भी 'पतिते धवे', 'पत्यौ त्यक्ते मृते गते' इस तरह का शुद्ध पाठ बनाया जा सकता है। माष को मष बनाने वाली उक्ति अर्थवाद मात्र है। इसलिये उक्त श्लोक में 'अपतौ' ऐसा विग्रह करके की गई व्याख्या ही सही है। मनुस्मृति में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि साध्वी स्त्री का कोई दूसरा भर्ता (पति) नहीं होता। कुछ लोगों का कहना है कि उक्त श्लोक में 'नारीणाम्' ऐसा पाठ है, 'कन्यानाम्' यह नहीं, अतः यह वचन विधवा-विवाह का समर्थक है। किन्तु उनका यह कथन निराधार है। 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' इस सूत्र में स्थित 'नृनरयोर्वृद्धिश्च' इस सूत्र से जाति के अर्थ में ङीन् प्रत्यय और वृद्धि होने पर नारी शब्द बनता है। इस तरह से नारी शब्द का अर्थ भी कन्या

यद्यपि स्त्यायतः शुक्रशोणिते यस्यां सा स्त्री। 'स्त्रियस्त्यायतेरपत्रपणकर्मणः' (नि० ३।२१) इति निर्वचनात् स्त्रीति विवाहितायाः एव नामेति प्रतीयते, तथापि कन्यार्थेऽपि मनुना 'स्त्रीणां सुखोद्यम्' (म० २।३३) इत्यत्र स्त्री शब्दः प्रयुक्तः। आश्वलायनगृह्यसूत्रे १।१५।९, पारस्करगृह्यसूत्रे १।१७।३, नामकरणप्रसङ्गे एकादशदिनायां बालिकायां स्त्रीशब्दः प्रयुक्तः। मनुना च 'स्त्रीणां धर्मान्निबोधत' इति प्रतिज्ञाय 'बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता' (म० ५।१४७), 'बाल्ये पितुर्वंशे तिष्ठेत्' (म० ५।१४८) इत्यादिस्थलेषु स्त्रीशब्देन बालानामपि ग्रहणं कृतमेव। 'युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु' (म० ३।४८) अत्र तेन जातमात्राया अपि बालिकायाः स्त्रीत्वमुक्तम्। तथैव स्त्रीपर्यायवाचकस्य नारीशब्दस्यापि तथैवार्थो बोद्धव्यः, अपतौ इति लिङ्गात्।

किञ्च, स्मृतिकाराणामेवं रीतिर्यत् पूर्वं लोकसम्भावितमर्थं कथयित्वा पश्चात् तन्निराकुर्वन्ति। यथा मनुस्मृतौ पूर्वं नियोगरीतिं दर्शयित्वा पश्चात्तन्निराकरणं स्वमतेन दर्शितम्। एवं प्रथमम्—'न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।' (म० ५।५६) इति रागप्राप्तां लोकप्रवृत्तिमनूद्यान्ते निवृत्तिरुक्ता। श्रीमद्भागवते 'लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना। व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा।' (११।५।११) इति निवृत्तिरुक्ता। सर्वं वाक्यं सावधारणं भवतीति न्यायेन निवृत्तिरेव धर्मं इत्युक्तम्। तथैव पराशरोऽपि पञ्चस्वापत्सु नारीणां द्वितीयपतिसम्बन्धमुक्त्वा या नारी पत्यौ मृते ब्रह्मचर्येण जीवनं यापयति सा स्वर्गं गच्छतीत्युक्त्वा तस्यैव धर्मत्वमुक्तवान्। यदि द्वितीयपतिवरणं धर्मःस्यात् तदा ब्रह्मचर्यस्य महत्त्वमेव लुप्येत। या स्त्री पत्या सह म्रियते तस्याः सार्धं त्रितयकोटिवर्षपर्यन्तं स्वर्गनिवासोक्त्या ब्रह्मचर्यं पत्यनुगमनं च सकलशास्त्रसम्मतौ विधवानां धर्मः।

ही होता है। इसीलिये 'पुराकल्पे नु नारीणां' इस श्लोक में कन्या के अर्थ में ही नारी शब्द प्रयुक्त हुआ है। नारी शब्द का पर्याय स्त्री शब्द भी होता है और स्त्री शब्द का प्रयोग कन्या के अर्थ में भी होता है, यह पहले ही बताया जा चुका है। यद्यपि निरुक्त के निर्वचन के अनुसार विवाहित स्त्री में ही इस शब्द का प्रयोग होना चाहिये, क्योंकि शुक्र और शोणित की बालक के रूप में वृद्धि विवाहित स्त्री के ही गर्भ में होती है, तथापि कन्या के अर्थ में भी मनु ने इस शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर किया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र और पारस्कर गृह्यसूत्र में नामकरण संस्कार के प्रकरण में ११ दिन की बालिका के लिये स्त्री शब्द का प्रयोग किया गया है। मनु ने स्त्रियों के धर्मों के वर्णन की प्रतिज्ञा कर विभिन्न स्थलों में स्त्री शब्द से बालिका का भी ग्रहण किया है। 'स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु' इस वचन में मनु ने अभी हाल में उत्पन्न हुई बालिका को भी स्त्री शब्द से संबोधित किया है। स्त्री शब्द के समान ही इसके पर्याय के रूप में प्रयुक्त होने वाले नारी शब्द का भी ऐसा ही अर्थ मानना पड़ेगा, क्योंकि 'अपतौ' इस अवग्रहयुक्त पद की संगति तभी बैठ सकती है।

स्मृतिकारों की यह परिपाटी है कि पहले वे लौकिक संभावनाओं पर विचार करते हैं और बाद में उनका निराकरण करते हैं। जैसे कि मनुस्मृति में पहले नियोग की पद्धति को बताकर बाद में अपने मत के अनुसार उसका निराकरण किया है। इसी तरह से मांसभक्षण, मद्य और मैथुन में स्वाभाविक मानव प्रवृत्ति निरूपण कर बाद में उससे निवृत्ति को महान् फलदायक बताया है। श्रीमद्भागवत में भी इसी तरह से स्वाभाविक प्रवृत्ति का निरूपण कर अन्त में इनसे मन को हटाने का उपदेश किया है। सभी वाक्य किसी निश्चित लक्ष्य का निर्देश करते हैं, इस न्याय के अनुसार सांसारिक प्रवृत्तियों से निवृत्ति ही वास्तविक धर्म है। इसी अभिप्राय से पराशर ने भी पांच आपत्तियों के उपस्थित होने पर भी स्त्री को दूसरा पति कर लेने की बात कह कर लिखा है कि जो नारी पति के मर जाने पर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जीवन यापन करती हैं, वह स्वर्ग में जाती हैं। इससे अन्तिम पक्ष की ही श्रेष्ठता सिद्ध होती है। यदि द्वितीय वर का वरण भी धर्म माना जाता, तो ब्रह्मचर्य की महत्ता ही समाप्त हो जाती। जो स्त्री पति के साथ मर जाती है, वह उसके साथ साढ़े तीन करोड़ वर्ष पर्यन्त स्वर्ग में निवास करती है, इस कथन से ब्रह्मचर्य का पालन और पति का अनुगमन ये ही दो मार्ग विधवा स्त्री के लिये सभी शास्त्रों में निर्विवाद रूप से माने गये हैं।

यत्तु 'प्रथमस्य पतित्वाभावे पतिरन्यो वधोयते' इत्यत्रान्यपतित्वोक्तिरनर्थिका स्यात् इति तन्न, अपतौ इति छेदेऽपि न नञो निषेधार्थकता, किन्तु अपूर्णपतित्वम् अल्पपतित्वं वेत्यर्थस्याङ्गीकृतत्वात्, 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥ इत्युक्तेः। तस्माद् द्वितीयपतौ अन्यत्वं नानुपपन्नम्। तस्य मरणे पराशररीत्या कलौ अन्यपत्यभ्यनुज्ञा क्रियते। 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः।' (म० ९।६९) इति मनुवचने नियोगविधान मेवोक्तम्। तत्र 'सप्त पौनर्भवाः कन्या वर्जनीयाः कुलाधमाः। वाचा दत्ता मनोदत्ता कृतकौतुकमङ्गला॥' इत्यादिवचनैर्वाग्दत्तादीनामन्ययुगे नियोगो भवतिस्म। पुनर्भूत्वेन निन्दितत्वं च। कलियुगे पराशरवचनस्य तद्बाधकत्वेनान्यपतिविधानमेव। पुनर्भूत्वञ्च न भवति। पूर्वपक्षिरीत्या तु वाग्दानकालिकस्य पत्युर्मरणे विवाहे पुनर्भूत्वेन निन्दितत्वं मनु–याज्ञवल्क्यरीत्या नियोग एव वा स्यात्। 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।' इति मनुवचने तु वाग्दानकालिकोऽपूर्णपतिरेव पतिरुक्तः। तस्य मरणे देवरेण नियोग एव स्यात्। तत्र देवरस्य द्वितीयवरत्वमपि पूर्वपक्षिणामिष्टम्। पूर्वपक्षिरीत्या तस्य कथं द्वितीयवरत्वमपि स्याद्, वाग्दानकालिकस्य पत्युरपूर्णपतित्वात्। सिद्धान्ते तु तथैव पतिरन्यो विधीयते' इत्यत्रापि पूर्वापूर्णपत्यपेक्षयापि द्वितीयस्यान्यपतित्वं नासंभवि। पराशरवचनस्य मूलम् 'या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दते परम्। पञ्चौदनं तावजं ददातो न विपोषते।' (अथर्व ९।५।२७) अत्र या इत्यनेन कन्या (कुमारी) विवक्षिता। वित्त्वा पूर्वं पति मिति वाग्दानकालिकः पतिरिष्टः। अन्यपतिमिति भाविवैवाहिकः पतिरिष्टः। पराशरवचने पतौ अपतौ इत्युभयपाठेऽपि वाग्दत्तापतिरेवाभीष्टः।

यत्तु—'सीतायाः पतये नमः', 'जारेण जनयेत्', 'मृते त्यागे गते पतौ', इत्यादावार्षमन्तरेण न निर्वाह' इति तदपि न, द्वितीये पद्ये अपतौ इति छेदस्य सम्भवेन आर्षत्वाश्रयणमन्तरापि निर्वाहसम्भवात्। स्वैरिण्याः पूर्वस्य पत्युरल्पत्वं

यदि पहला पति नहीं है, तो 'पतिरन्यो विधीयते' इस वाक्य से अन्य पति के विधान की बात कैसे संगत होती ? इस शंका का समाधान इस तरह से किया जाता है कि 'अपतौ' ऐसा पदच्छेद करने पर भी नञ् निषेधार्थक न होकर अल्पार्थक ही माना जायगा, अतः अल्प पति उसका अर्थ होगा। नञ् के षड्विध अर्थों का प्रतिपादन किया जा चुका है। इस तरह से प्रथम पति में अल्प पतित्व के रहने से द्वितीय पति में अन्यता का विधान सार्थक हो जायगा। प्रथम अल्प पति की मृत्यु आदि हो जाने पर पराशर के मत के अनुसार कलियुग में अन्य पति किया जा सकता है। 'यस्या म्रियेत' इस मनु वचन में नियोग का विधान है। 'सप्त पौनर्भवाः' इत्यादि शास्त्रीय वचनों के आधार पर सात प्रकार की पुनर्भू कन्याओं का अन्य युगों में नियोग विहित तो था, किन्तु वह निन्दित माना जाता था। कलियुग में तो पराशर का वचन नियोग का बाधक है, अतः यहाँ दूसरे पति का विधान है। इसकी पुनर्भू संज्ञा भी नहीं होती। पूर्वपक्षी के अनुसार तो वाग्दान कालिक पति की मृत्यु के उपरान्त विवाह होने पर उसकी पुनर्भू संज्ञा और निन्द्यता रह ही जायगी, अथवा उनको मनु और याज्ञवल्क्य की पद्धति से नियोग को स्वीकार करना पड़ेगा। 'यस्या म्रियेत' इस मनु वचन में वाग्दान काल के अपूर्ण पति को ही पति कहा गया है। उसकी मृत्यु हो जाने पर देवर के साथ नियोग ही होगा। यहाँ पर पूर्वपक्षी देवर को द्वितीय वर मानते हैं। यह उनके मत के अनुसार कैसे सम्भव होगा ? क्योंकि वाग्दान के समय का पति तो पूरा पति है हो नहीं। हमारे मत में तो 'पतिरन्यो विधीयते' इस वचन में पूर्व के अपूर्ण पति की दृष्टि से भी दूसरे में अन्यता आ ही जायगी। पराशर वचन का मुख्य आधार 'या पूर्वं पतिं वित्वा' यह अथर्ववेद का मन्त्र है। यहाँ पर 'या' पद से कुमारी कन्या कही गई है। 'पूर्वं पतिं वित्त्वा' यहाँ पर पूर्व पति का तात्पर्य वाग्दान के समय के पति में है। अन्य पति का तात्पर्य भावी पति में है, जिसके साथ भविष्य में उसका विवाह होने वाला है। इन सब वचनों का निष्कर्ष यही निकलता है कि पराशर के वचन में 'पतौ' पाठ माना जाय या 'अपतौ', दोनों ही स्थितियों में वाग्दान कालिक पति का ही ग्रहण यहाँ अभीष्ट है।

कुछ लोगों का कहना है कि 'सीतायाः पतयेनमः' प्रभृति वाक्यों में आर्ष प्रयोग माने बिना दूसरी कोई गति नहीं है, किन्तु उनकी यह उक्ति इसलिये ठीक नहीं है कि 'अपतौ' इस विग्रह को मान लेने पर प्रयोग की आर्षता को माने बिना भी काम चल जाता है। स्वैरिणी का पूर्व पति नाममात्र का ही तो रहता है। 'सीतायाः पतये नमः' यहाँ पर राम परब्रह्मस्वरूप है, अतः वह

युक्तमेव। 'सीतायाः पतये नमः' परब्रह्मरूपस्य रामस्य लोकविलक्षणत्वेन पतिरित्याख्यातः पति इत्यर्थत्वात्। तेन तत्त्वबोधिनीरीत्या 'पतिः समास एव' (पा० सू० १।४।८) इति नियमस्य तत्र न प्रवृत्तिः, तस्य लाक्षणिकत्वात्। तत्त्वबोधिनीकारैरलौकिकपतित्ववशाल्लाक्षणिकत्वमेवाङ्गीकृतम्। छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति, यथा महाकवेः कालिदासस्य प्रयोगः—'त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श' इति कुमारसम्भवे। अथवा 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा' (पा० सू० १।४।९) इति घिसंज्ञा वा कर्त्तव्या। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (पा० सू० ६।३।१४) इति बहुलग्रहणस्य सर्वोपाधिव्यभिचारकतां मत्वा वाचस्पतिवत् सीतायाः पतये इत्यत्र षष्ठ्या अलुक्, तथा सति घिसंज्ञा सुलभा स्यात्। 'षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्योषेषु' (पा० सू० ८।३।५३) इति सूत्रेण तु न कार्यं सेत्स्यति, अस्य छन्दोमात्रविषयत्वात्। सीतायाः पतये इति तु लौकिकः प्रयोगः।

'न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥' (म० ५।५६), लोके-व्यवायामिषमद्यसेवा……' (भा० पु० ११।५।११) इत्यादिष्वेकवचनेषु चतुर्थपादे पादत्रयस्य बाध्यता सम्भवति। न तथा पराशरवचने तत्सम्भवति, तस्य भिन्नवाक्यत्वात्। किञ्च, नान्यस्मिन् विधवा नारी' (म० ९।६४) इत्यनेन तन्निषेधस्य नियोगविषयत्वे विवाहविषयकनिषेधासम्भवात्। न्यायदर्शने—'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' (२।१।५७) इत्युक्त्वा 'न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्' (२।१।५८) इति न शब्देन पूर्वपक्षस्य खण्डनं कृतम्। पराशरवचने तन्न घटते, तत्र निषेधवाचकपदाभावात्। वस्तुतस्तु 'मृते भर्तरि' इति पद्यं पत्यौ मृते पत्न्या ब्रह्मचर्यं विदधाति। 'तिस्रः कोट्य' इति तु सहमरणं विदधाति। नैताभ्यां पद्याभ्यां 'नष्टे मृते' इत्यनेन पूर्वपक्षोत्तरपक्षभावः, 'नष्टे मृते इत्यस्य स्वतन्त्रत्वात्। तेन तु सप्तपदीसमाप्तेः पूर्वं पतिमरणेऽन्यपतिविधानमुक्तम्। वचनं चेदं कलियुगार्थं व्यवस्थितम्। तेन मनूपपादितवचनेन तस्याः पुनर्भूत्वं न भविष्यति। मनुरीत्या वाग्दत्ताया नियोगपारतन्त्र्यं च न भविष्यति। तथाऽनभ्युपगमे वाग्दत्तायाः पतिमरणेऽपि विवाहो न स्यात्।

लोकविलक्षण पति है। अतः तत्त्वबोधिनी की पद्धति से 'पतिः समास एव' यह नियम यहाँ नहीं प्रवृत्त होगा। तत्त्वबोधिनीकार ने अलौकिक पति राम में भी इस शब्द का प्रयोग लाक्षणिक ही माना है। कवि भी वेद के समान ही कभी-कभी शब्दों का प्रयोग करने लगते हैं। जैसे कि कुमार संभव में महाकवि कालिदास ने 'त्रियम्बक' शब्द का प्रयोग किया है अथवा 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा' इस सूत्र से विकल्प से घिसंज्ञा का विधान माना जा सकता है। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इस सूत्र में बहुल ग्रहण सभी बाधाओं को दूर कर देता है। अतः वाचस्पति के समान ही 'सीतायाः पतये' यहाँ पर षष्ठी का लोप नहीं होगा, और घि संज्ञा भी सरलता से हो जायगी। 'षष्ठयाः पतिः' इत्यादि सूत्र से यह कार्य नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि इस सूत्र की प्रवृत्ति केवल वेद में ही होती है और 'सीतायाः पतये' यह लौकिक प्रयोग है।

'न मांसभक्षणे', 'लोके व्यवायामिष०' इत्यादि वचनों में एक वचन के द्वारा उद्दिष्ट मांसभक्षण, मद्यपान; मैथुन आदि का चतुर्थ पाद से बाध हो जाता है। पराशर वचन में इस तरह का बाध नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें वाक्य भिन्न हो जाता है। 'नान्यस्मिन् विधवा नारी' इस वचन में मनु ने नियोग का निषेध किया है, अतः इससे विवाह का निषेध नहीं किया जा सकता। न्यायदर्शन के 'तदप्रामाण्य०' प्रभृति सूत्र में वेद का अप्रामाण्य सिद्ध किया है, किन्तु 'न कर्तृकर्म०' इत्यादि अग्रिम सूत्र में 'न' शब्द के द्वारा पूर्व पक्ष का खण्डन कर दिया गया है। वही पद्धति पराशर वचन में नहीं लग सकती, क्योंकि यहाँ पर कोई निषेधक वचन नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो 'मृते भर्त्तरि' यह पद्य पति के मर जाने पर पत्नी के लिये ब्रह्मचर्य का विधान करता है। 'तिस्रः कोट्यः' यह वचन पति के साथ सती होने का विधायक है। इन दोनों पद्यों में और 'नष्टे मृते' प्रभृति श्लोक में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि 'नष्टे मृते' प्रभृति श्लोक एकदम स्वतन्त्र है। यह वचन सप्तपदी की समाप्ति के पहले पति की मृत्यु हो जाने पर अन्य पति का विधान करता है और यह वचन केवल कलियुग से ही संबद्ध है। इसलिये मनु के द्वारा प्रतिपादित पुनर्भूत्व दोष यहां नहीं लगेगा। वाग्दत्ता का विनियोग और उसके लिये उपदिष्ट परतन्त्रता भी इस पक्ष में नहीं होगी। यदि ऐसा नहीं माना जायगा, तो पति की मृत्यु हो जाने पर भी वाग्दत्ता का विवाह नहीं हो सकेगा।

किञ्च, नारदादिस्मृतिष्वपि 'नष्टे मृते' इत्यादि वचनं तेनैव रूपेणागतम्। तदनन्तरं च 'मृते भर्तरि' इत्यादिवचनानि च न सन्ति। तथा च बाध्यत्वमपि न भविष्यति। विधवाविवाहापेक्षया विधवाया ब्रह्मचर्यस्य श्रेष्ठत्वं सुधारकैरपि स्वीक्रियते। परन्तु पत्यौ नष्टे मृते विवाहेऽपि नरकपातो न भविष्यतीत्येव तेषामभिप्रायः। स्वर्गं न गच्छेद्यद्यपि तथापि नरकेऽपि न गच्छतीत्येव तेषामभिप्रायः। वाग्दानकालिकस्य पत्युरपूर्णपतित्वेऽपि पतित्वं भवत्येव। तत एव वाग्दत्ताया मरणे तस्याः कुले दिनत्रयं यावन्मरणाशौचं भवति। 'स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहात् शुद्ध्यन्ति बान्धवाः' (म० ५।७२)। 'स्त्रीणामकृतविवाहानां वाग्दत्तानां मरणे बान्धवा भर्त्रादयस्त्र्यहेण शुद्ध्यन्ति' इति कुल्लूकभट्टः। तथा सति तदपेक्षया विवाहपत्यन्तरस्यान्यपतित्वमनिवार्यमेव।

दयानन्देन सत्यार्थप्रकाशे ४ समुल्लासे नष्टे मृते इति पद्यस्य स्त्रिया नियोगः कर्त्तव्य इत्यर्थः कृतः। तद्रीत्या पुनः 'पतिरन्यो विधीयते' इति पद्यस्य कथं सङ्गतिः? नियुक्तस्य तेन पूर्णपतित्वानङ्गीकारात्, विवाहितस्यैव पूर्णपतित्वाङ्गीकाराच्च। किञ्चार्यसमाजरीत्या पराशरस्मृतिर्न वेदः, किन्तु पुराणरूपः। कथं तदा आर्षत्वेन पतौ इत्यस्य समाधानम्? यत्तु—'क्लीवे च पतिते पतौ' इत्यार्षप्रयोग एव, विवाहितपतिवाचकश्च नारदीयमनुसंहितायां 'पत्यौ प्रव्रजिते नष्टे क्लीबे च पतिते मृते। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।' (१२।९९) इत्यत्र पत्यौ इति पाठस्यैव सत्त्वात्। तस्य च विवाहितपतिबोधकत्वमेव। तथा च पतौ इत्यत्र व्याकरणसम्बन्धि क्लिष्टकल्पनं व्यर्थमेव। तस्मात् पराशरवचनस्थस्य पतौ इत्यस्यापि स एवार्थो मन्तव्यः। अग्निपुराणेऽपि तथैव पाठः। वृद्धमनुस्मृतौ (९।१११) स्मृतिचन्द्रिकायां गौतमधर्मसूत्रस्य मस्करिभाष्ये च सोऽयंश्लोक उद्धृतः।

एवं बहुभिर्निबन्धकारैर्यस्योद्धरणं कृतं तस्य पराशरवचनस्य नान्यथाकरणं युक्तमिति केनचित् समाजिनोक्तम्, तदपि न क्षोदक्षमम्, तेन पराशरस्मृतेर्मूलस्मृतित्वेनाऽङ्गीकारात्। यदि तेन पराशरस्मृतेः प्रामाण्यमङ्गीक्रियते तदा—

फिर नारद स्मृति प्रभृति ग्रन्थों में भी 'नष्टे मृते' इत्यादि वचन उसी रूप में आये हैं। इसके बाद के 'मृते भर्तरि' प्रभृति वचन वहाँ नहीं हैं। इसीलिये इनमें परस्पर बाध्यबाधक भाव भी नहीं होगा। विधवा के विवाह की अपेक्षा विधवा के ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठता सुधारक भी मानते हैं। उनका केवल इतना ही कहना है कि पति के खो जाने पर अथवा मर जाने पर विवाह कर लेने पर भी नरक की प्राप्ति नहीं होती। इसका तात्पर्य यही है कि यद्यपि वह स्वर्ग में नहीं पहुँचेगी, तो साथ ही वह नरक में भी नहीं पड़ेगी। वाग्दान के समय का पति अपूर्ण रहते हुए भी पति तो हो ही जाता है। इसीलिये वाग्दत्ता की मृत्यु हो जाने पर उसके कुल में तीन दिन का मरणाशौच माना जाता है कि स्त्री का विवाह न होने पर और उसका वाग्दान हो जाने पर भी यदि उसकी मृत्यु हो जाती है, तो उसके बन्धु-बान्धव और पति आदि तीन दिन बाद शुद्ध होते हैं। कुल्लूक भट्ट ने मनु के वचन का यही अर्थ किया है। ऐसी स्थिति में इस प्रथम पति की अपेक्षा विवाहित पति को दूसरा पति मानना अनिवार्य है।

दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के चौथे समुल्लास में 'नष्टे मृते' प्रभृति पद्य का अर्थ नियोगपरक किया है। इनके मत से 'पतिरन्यो विधीयते' इस अंश की संगति कैसे बैठेगी? वे नियोग प्राप्त पति को पूर्ण पति नहीं मानते, वे तो विवाहित पुरुष को ही पूर्ण पति मानते हैं। आर्यसमाजी के मत से पराशर स्मृति वेद नहीं है, यह तो पुराण की कोटि में जाती है। फिर उसको आर्ष प्रयोग मान कर कैसे समाधान किया जा सकता है? कुछ लोग 'क्लीबे च पतिते पतौ' यहाँ पर आर्ष प्रयोग ही मानते हैं, क्योंकि नारदीय स्मृति और मनुस्मृति में विवाहित पति के वाचक पति शब्द को सप्तमी के एकवचन में 'पत्यौ' यही रूप मिलता है। 'पतौ' शब्द के लिये व्याकरण सम्बन्धी क्लिष्ट कल्पना करने में कोई लाभ नहीं है। सीधे आर्ष प्रयोग मानकर पराशर स्मृति में आये 'पतौ' शब्द का भी वही अर्थ माना जायगा, जो कि 'पत्यौ' शब्द का होता है। अग्निपुराण में भी ऐसा ही पाठ है। वृद्ध मनुस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका और गौतमधर्मसूत्र के मस्करी भाष्य में भी यह श्लोक इसी रूप में उद्धृत है।

इस तरह से बहुत से निबन्धकारों ने जिसको उद्धृत किया है, उस पराशर के वचन का अन्यथा अर्थ करना कभी भी युक्तिसंगत नहीं माना जायगा, ऐसा किसी आर्यसमाजी का कहना है, किन्तु उनका यह कथन परीक्षा में टिक नहीं पाता, क्योंकि वे परा-

'स्त्रीणामुद्वाह एको वै वेदोक्तः पावनो विधिः' इत्यादिवचनाभ्युपगमे आर्यसमाजसिद्धान्तहानिः। 'जीवन् वापि मृतो वापि पतिरेव प्रभुः स्त्रियाम्' (बृहत्पराशरे ४।४८) इति रीत्या मृतकस्यैवाऽव्याहतस्वामित्वं मन्तव्यमिति कुतो विधवाविवाहः स्यात्? तत एव 'नैकस्या बहवः सहपतयः' (ऐ० ब्रा० ३।२३ गो० ब्रा० २।३।२०) इत्यस्य कुतो न विरोधः? 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी' इत्यादि वचनानि च तन्मतबाधकान्येव सन्ति। एवंविधाः समाजिनः सुधारकाश्च स्वमनोरथसाधनाय पुराणस्यापि वेदवत् प्रामाण्यमङ्गीकुर्वन्ति, प्रक्षिप्तमप्यप्रक्षिप्तं मन्यन्ते, स्वविरुद्धं तु वेदवचनमप्यपलपन्ति। तत एव दयानन्देन 'नष्टे मृते·······' इत्यादिवचनस्य कपोलकल्पितत्वमेवाङ्गीकृतम्। तदनुयायिनापि समाजिना हिन्दुकोडसाधनाय तत्प्रामाण्यमङ्गीकृतम्।

वस्तुतः 'नष्टे मृते इति पराशरवचनं विधवाविवाहं विवाहविच्छेदं वा न विदधाति। 'पतौ' 'अपतौ उभयथापि तेन वाग्दत्ताविवाह एव बोधितः। वाग्दत्तायाः पतिरपि पतिशब्देन व्यपदिश्यते इति तेनैव प्रतिपाद्यते। नारदीयमनुसंहितायाः 'पत्यौ प्रव्रजिते नष्टे' इति पत्यौ शब्दस्योपपत्तिः। मनुनापि 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः' इति पद्ये वाग्दत्तायाः स्वामिनि पतिशब्दस्य प्रयुक्तत्वात्। वोरमित्रोदयेऽपि पराशरः—नष्टे मृते इत्यादि। वशिष्ठबोधायनावपि—'बलादपहृता कन्या'। याज्ञवल्क्योऽपि—'दत्तामपि हरेत्पूर्वं श्रेयाँश्चेद्वर आव्रजेत्।' एतच्च वाग्दत्ताविषयम्। वाग्दत्तावरदोषे ज्ञाते गुणवतेऽन्यस्मै देयेत्यर्थ इति संस्कारप्रकाशे ७३९ पृष्ठे। भट्टोजिदीक्षितेनापि चतुर्विंशतिमतसंग्रहे—'दुष्टे तु पूर्ववरे वाग्दत्तापि वरान्तराय देया। तथा च पराशरः—नष्टे मृते इत्यादि। अस्यार्थः—वाग्दानानन्तरं पाणिग्रहणात् प्राक् पतौ सम्भावितोत्पत्तिकत्वे पूर्वस्मिन् वरे नष्टे परदेशगमनेऽपरिज्ञातवृत्तान्ते सति इत्यादि। (पृ० ८७) म० म० शिवदत्तेन सिद्धान्तकौमुद्यां तत्त्वबोधिन्यां पतिशब्दोपरि टिप्पणी कृता। वस्तुतस्तु पराशरस्मृतौ—अपतौ इत्येव च्छेदः। तथा च

शर स्मृति को मौलिक ग्रन्थ नहीं मानते। वे केवल मनुस्मृति को जिस किसी तरह प्रमाण मान लेते हैं। यदि उनके मत के अनुसार पराशर स्मृति भी प्रमाण मानी जाती है, तब पराशर के ही एक दूसरे वचन के अनुसार स्त्रियों का पवित्र विवाह संस्कार एक बार ही होता है, आर्यसमाजी सिद्धान्त का खण्डन हो जायगा। जीवित या मृत एक पति ही स्त्री का स्वामी माना जाता है, इस वचन के अनुसार भी मृतक पति ही स्त्री का स्वामी माना जाता है। इस स्थिति में विधवा-विवाह कैसे सम्भव हो सकता है। 'एक स्त्री के अनेक सह-पति नहीं होते, यह ऐतरेयश्रुति भी उनके सिद्धान्त के विपरीत है। 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी' इत्यादि वचन भी उनके मत के बाधक हैं। इस तरह के आर्यसमाजी और सुधारक अपने मत की बात सिद्ध करने के लिये पुराणों को भी वेद के समान प्रमाण मान लेते हैं, प्रक्षिप्त को भी अप्रक्षिप्त मान लेते हैं और अपने मत के विरुद्ध होने पर वेद को भी प्रमाण नहीं मानते। इसीलिये दयानन्द ने 'नष्टे मृते' प्रभृति वचन को कपोल कल्पित माना है और उनके अनुयायियों ने हिन्दू कोड बिल का समर्थन करने के लिये उसको प्रमाण मान लिया है।

वास्तव में देखा जाय तो 'नष्टे मृते' प्रभृति पराशर वचन विधवा-विवाह अथवा विवाह-विच्छेद का विधायक नहीं है। 'पतौ' पाठ हो या 'अपतौ' दोनों पाठों से वाग्दत्ता के विवाह का ही बोध होता है। वाग्दत्ता के पति को उन्होंने भी पति ही माना है। नारदीय मनुसंहिता के 'पत्यौ' पाठ की भी इसी तरह संगति बैठती है। मनु ने भी यस्या म्रियेत, 'इस पद्य में वाग्दत्ता के स्वामी के लिये ही पति शब्द का प्रयोग किया है। वीरमित्रोदय में उद्धृत पराशर वचन और वसिष्ठ, बोधायन और याज्ञवल्क्य के वचन भी वाग्दत्ता का ही निर्देश करते हैं। इन सब का यही अभिप्राय है कि वाग्दत्ता के वर के दोष का ज्ञान हो जाने पर अन्य गुणवान व्यक्ति को कन्या देनी चाहिये। संस्कार प्रकाश (पृ० ७३९) में इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई हैं। भट्टोजीदीक्षितने चतुर्विंशतिमत संग्रह में भी इसी का प्रतिपादन किया है। वहाँ पर 'नष्टे मृते' इस पराशर वचन का यह अर्थ किया गया है कि वाग्दान के बाद और पाणिग्रहण संस्कार से पहले उस सम्भावित वर के नष्ट हो जाने पर, परदेश गमन के बाद कोई खबर न मिलने पर·····इत्यादि। म० म० शिवदत्त ने सिद्धान्त कौमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका का सम्पादन करते हुए 'पति' शब्द पर टिप्पणी की है कि वस्तुतः पराशर स्मृति में 'अपतौ' ऐसा पदच्छेद मानना

ईषदर्थकेन नञा सह समासे घिसंज्ञा निर्बाधैव। सप्तपदीतः प्राक् ईषत्पतित्वस्यैव सत्त्वेन 'न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य च।' (म० ५।१५७), 'पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्। तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विवाहात्सप्तमे पदे॥' (म० ८।२२७), न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः' (म० ९।६५–६६–६७–६८) इति मनूक्त्या 'अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेतोर्ध्वं वरो यदि। न च मन्त्रोपनीता स्यात् कुमारी पितुरेव सा॥' इति स्मृत्यर्थसारेण सह न विरोध इति दिक्। सन्तुष्यतु दुर्जनन्यायेन पूर्वपक्षिव्याख्यानेऽपि नष्टे मृते इति पद्यात् परस्ताद्विद्यमानाभ्यां विधवाया ब्रह्मचर्यपालनसहमरणविधायकाभ्यां वचनाभ्यां पूर्वमतस्य बाध एव सिद्ध्यति। 'सत्यमुत्तरपक्षः (तै० उ० २।४) इत्युत्तरपक्षस्यैव सत्यत्वोक्तेः । अत एव 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' (गो० सू० २।१।५७) इतिपूर्वपक्षत्वान्न सिद्धान्तत्वम् ।

केचित्तु शास्त्रप्रामाण्यमुपेक्ष्य नगण्यतर्कादिभिर्विधवाविवाहं साधयितुं प्रयतन्ते। तदप्ययुक्तमेव । मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः। शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः॥' इत्यभियुक्तोक्तिरीत्या सनातनतत्त्वबोधने शास्त्रस्यैव परमादरणीयत्वात्। तर्कमात्रं तु तर्कान्तरेण खण्ड्यत एव। 'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥ इत्यभियुक्तोक्तेः। शास्त्रपारतन्त्र्यस्य अग्रेविषवद् भासमानत्वेऽपि परिणामेऽमृतोपमत्वमेव भवति। उच्छृङ्खलताया अग्रे अमृतवत्प्रतीतावपि परिणामे विषोपमत्वमेव भवतीति। शास्त्रविरुद्धबुद्धिवादेन शुष्कतर्कवादेन तत्त्वज्ञानस्याशापि न भवति, अचिन्त्यभावेषु तर्काऽप्रवेशाच्च। 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥' इति महाभारतवचनात् (म०मा०भी० प० ५।१२)। तस्मात् कार्याकार्यव्यवस्थितौ शास्त्रस्यैव प्रामाण्यं मन्तव्यम् ।

किञ्च, न बुद्धिमात्रस्यादरो युक्तः, भ्रमात्मिकायाः शुक्तौ रजतबुद्धेरपि बुद्धित्वाविशेषात्। तस्मात् प्रमात्मिकाया एव बुद्धेरादरो युक्तः। प्रमाणं च यथा रूपबुद्धौ नेत्रं, शब्दबुद्धौ श्रोत्रं, रसबुद्धौ रसना, तथैव धर्मब्रह्मबुद्धौ शास्त्र मेव।

चाहिये। इस तरह से 'ईषत्' (कुछ) अर्थ वाले नञ् के साथ समास होने से बिना बाधा के 'घि' संज्ञा हो जाती है। सप्तपदी से पहले वर पूरा पति नहीं माना जाता, अतः , न तु नामापि', 'पाणिग्रहणिका,' 'न विवाहविधा०' इत्यादि पूर्व व्याख्यात मनु वचनों के साथ और 'अद्भिर्वाचा च' प्रभृति स्मृत्यर्थसार के श्लोक के साथ कोई विरोध नहीं उपस्थित होगा। 'तुष्यतु दुर्जनः' न्याय से कुछ देर के लिये पूर्वपक्षी की बात मान लेने पर भी 'नष्टे मृते' इस पद्य से आगे विद्यमान विधवा के ब्रह्मचर्य के पालन और सहमरण के विधायक दोनों वचनों से पूर्वमत का बाध ही सिद्ध होता है। तैत्तिरीय श्रुति में उत्तरपक्ष को सही माना गया है। इसीलिये 'तदप्रामाण्य' प्रभृति गोतम सूत्र को पूर्वपक्ष सूत्र होने के कारण ही प्रमाण नहीं माना जाता।

कुछ लोग शास्त्रों की उपेक्षा कर निराधार तर्कों के आधार पर विधवा-विवाह का समर्थन करते हैं। यह प्रयास भी सही नहीं माना जा सकता। किसी आचार्य ने बुद्धि के अनुसार चलने वालों को वानर और शास्त्र का अनुसरण करने वालों को नर बताया है। सनातन तत्त्व को जानने में शास्त्र ही सहायक हो सकता है। एक तर्क (युक्ति) का दूसरी युक्ति से खण्डन हो जाता है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का कहना है कि एक कुशल अनुमाता बड़े प्रयत्न के साथ किसी तर्क की प्रतिष्ठा करता है और दूसरा विद्वान् बड़ी सरलता से उसका खण्डन कर देता है। शास्त्र की मर्यादा पहले विष के समान असह्य प्रतीत होती है, किन्तु परिणाम में उसका फल अमृत के समान सुखदायी मिलता है। इसके विपरीत उच्छृङ्खलता पहले बड़ी सुखदायी लगती है, किन्तु परिणाम में उसका फल बड़ा दुःखदायी रहता है। शास्त्र के विपरीत कोरा बुद्धिवाद शुष्क तर्कों की ही सृष्टि कर सकता है, तत्त्वज्ञान की तो उससे आशा ही नहीं रखी जा सकती। अचिन्त्य भावों में तर्क की प्रवृत्ति ही कैसे हो सकती है ? महाभारत में बताया गया है कि अचिन्त्यभावों को जानने के लिये तर्क का सहारा नहीं लेना चाहिये। अचिन्त्य उसे कहते हैं, जो कि प्रकृति के साम्राज्य से ऊपर है। अतः कर्तव्य और अकर्तव्य का निश्चय शास्त्रों के आधार पर ही होना चाहिये।

केवल बुद्धि का सहारा इस लिये नहीं लिया जा सकता कि शुक्ति में रजत बुद्धि की तरह तर्क का सहारा लेने वाली बुद्धि भी भ्रम से भरी हो सकती है। अतः प्रामाणिक (प्रमात्मक) बुद्धि का ही आदर होना चाहिये। रूप को देखने में नेत्र, शब्द को सुनने में

पुरुषबुद्धेरनित्यत्वाद् वेदे धर्मब्रह्मज्ञानाय मन्त्र आदरणीयः। पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' (नि० १।२) इति निरुक्तरीत्या देशकालानुसारेण निर्मितस्य सत्यार्थप्रकाशस्याद्यत्वे तदनुयायिभिरेवोल्लङ्घनं क्रियते । स्मृतयस्तु वेदानुसारिण्यो न देशकालानुसारेण स्वबुद्धया कैश्चिन्निर्मिताः, 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' इति कालिदासोक्तेः। अत एव 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (जै० सू० १।३।३) इति जैमिनिना श्रुतिविरुद्धायाः स्मृतेरनपेक्षत्व (अप्रामाण्य) मेवोक्तम् । विधवाविवाहश्च शास्त्रे निषिद्ध एव । 'दूषितं धर्मशास्त्रज्ञैः परदाराभिमर्शनम्' (म. भा. अनुशा० प० १९।८९) इतिरीत्या परस्त्रीणामभिमर्शनं धर्मशास्त्रैर्दूषणत्वेनैवाङ्गीकृतम् । साधारणजनैरपि तथैवाभ्युपगम्यते । विधवाया अपि परस्त्रीत्वं सर्वसम्मतमेव । शास्त्रेषु 'यथा भ्रूणहत्यादिकं दूषणमुक्तम्, तथैव विधवाविवाहोऽपि निषिद्ध एव । विधवानां कामपूर्त्यर्थं तथाभ्युपगमे सधवानामपि स्वपत्यतृप्तानां विवाहान्तरापत्तेः ।

पूर्वमार्यसमाजेनाक्षतयोन्या बालविधवाया विवाहः समर्थ्यते स्म, साम्प्रतं तु पुत्रवतीनामपि क्षतयोनीनामपि विवाहः समर्थ्यते कार्यते च । अद्यत्वे विवाहविच्छेदेनापि विवाहान्तरं कार्यते । कुरूपतावशात् पारिबर्हाल्पत्वादिकारणादन्यै र्वा लोभक्रोधादिहेतुभिर्विवाहविच्छेदाय यत्न आस्थीयते । तथा च विवाहप्रथाभङ्गप्रसङ्गेन भगिनीगमनादिप्रथापि समापत्स्यते । विधवाविवाहप्रचारोऽसंयममूलकव्यभिचारप्रथाविषयतृष्णावृद्धिहेतुत्वमेव यास्यति । 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥' इति ययातिगीतेर्न भोगेनापि विषयतृष्णा क्षीयते । अहङ्कारो मैथुननिद्रासेवनात्तु विवर्धते । अवैधविवाहेनाधर्मादपि भयमपनुद्यते । परिणामे विधर्मिणामिव हिन्दूधर्मेऽपि तथैवोच्छृङ्खलतावृद्धिर्भविष्यतीति ।

किञ्चैवं विधवायाः पूर्वोत्पन्नपुत्रीषु पुत्रीबुद्ध्यभावेन तत्र वर्तमानसम्बन्धिनां कामुकत्वापत्त्यनाचारविवाहा-

श्रोत्र, रसका स्वाद लेने में रसना (जिह्वा) के समान धर्म और ब्रह्म को जानने में शास्त्र को ही प्रमाण माना जाता है। पुरुष की बुद्धि अस्थिर होती है, अतः धर्म और ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये शास्त्र का ही सहारा लेना चाहिये । निरुक्तकार पुरुष की विद्या (मनुष्य के द्वारा निर्मित शास्त्र) को अस्थिर मानते हैं। देश और काल की परिस्थिति के अनुसार उसका निर्माण होता है। सत्यार्थ प्रकाश को आज दयानन्द के अनुयायी भी सर्वात्मना प्रमाण नहीं मानते । इसके विपरीत स्मृतियों का निर्माण वेदों के आधार पर हुआ है, देश और काल की परिस्थिति के अनुसार किसी मनुष्य ने अपनी बुद्धि से इनका निर्माण नहीं किया है। महाकवि कालिदास कहते हैं कि स्मृतियां श्रुति का अनुगमन करती हैं । इसीलिये आचार्य जैमिनि ने श्रुति के विरुद्ध जाने वाली स्मृति को प्रमाण नहीं माना है । विधवा-विवाह शास्त्र में स्पष्ट रूप से निषिद्ध है । महाभारत के वचन के अनुसार धर्मशास्त्रकारों ने पर-स्त्री के साथ सम्पर्क को दूषित माना है। सामान्य जनता भी ऐसा ही मानती है । विधवा भी दूसरे की ही स्त्री है । शास्त्रों में जैसे गर्भपात आदि कार्यों को दूषित माना है, उसी तरह से विधवा-विवाह को भी सदोष घोषित किया है । विधवाओं की काम भावना की पूर्ति के लिये यदि इसको स्वीकार किया जाता है, तो सधवा स्त्रियों का भी अपने पति से कामभाव की पूर्ति न होने पर दूसरे विवाह की आपत्ति उठ खड़ी होगी ।

पहले आर्यसमाजी अक्षत योनि बाल विधवा के ही विवाह का समर्थन करते थे । अब तो वे क्षत योनि, पुत्रवती स्त्रियों के भी विवाह का समर्थन करने लगे हैं । आज तो विवाह का विच्छेद और विवाहान्तर भी होने लगा है । कुरूपता के कारण, ठीक से दहेज आदि न मिलने से अथवा लोभ और क्रोध के कारण भी विवाह का विच्छेद (तलाक) कराने का प्रयत्न किया जाता है । यही क्रम यदि चलता रहे तो एक दिन विवाह की प्रथा भी समाप्त हो सकती है और क्रमशः भागिनी (बहिन) आदि के साथ भी रहने की प्रथा चल सकती है । विधवा-विवाह का प्रचार असंयम को बढ़ावा देगा, फलतः विषयों से वैराग्य के स्थान पर यह व्यभिचार को ही बढ़ावेगा । महाभारत में ययाति ने बताया है कि कामों के उपभोग से कामनाएँ शान्त नहीं होतीं, ये तो उसी तरह बढ़ती जाती है, जैसे कि आहुति देने से आग बढ़ती है । मैथुन, निद्रा आदि के सेवन से अहंकार बढ़ता है । अवैध विवाह करने से अधर्म से भय दूर हो जाता है । इसका परिणाम यह होगा कि अन्य धर्मों के समान हिन्दू धर्म में भी उच्छृङ्खलता बढ़ने लगेगी ।

विधवा की पहले विवाह से उत्पन्न पुत्रियों में पवित्र बुद्धि न रहने पर वर्तमान सम्बन्धियों की उनके प्रति कामुकता

दिप्रसङ्गापत्तेः। यदि च सन्तानवतीनां विधवानां विवाहोऽवरोत्स्यते, तदा कामाक्रान्तमनस्कानां विवाहलोभात् सन्तानघातप्रसङ्गोऽप्यापद्येत। तथा सति भ्रूणहत्याबालहत्याद्यापत्तिः स्यात्। किञ्चैवं पूर्वपतिमरणेन पत्यन्तरविधाने तथैवोत्तरपतिमरणे तदुत्तरपतिविधाने निःसीमपत्यन्तरवरणत्वापत्तिः, क्वचिन्निरोधे हेत्वभावात्। किञ्च, विधवाविवाहेषु प्रचलितेषु सतीनामपि विकारापत्त्या परमश्लाघ्यपतिव्रतधर्मलोपापत्तिश्च स्यात्। सधवानां चैकपत्यसन्तोषात्तत्तोषाय विवाहविच्छेदाद्यापत्तिश्च स्यात्। तदा चाविद्यमाननपुंसकत्वादिदोषारोपेणापि विवाहविच्छेदादिः स्यात्। तथात्वे च लज्जाद्यपगमे स्त्रीणां स्वाभाविकाष्टगुणितायाः कामवृत्तेरुद्दीपनेऽनेकानर्थसृष्टिः स्यात्। शास्त्रश्रद्धापगमे च यथेष्टं स्वैरं सामाजिकनियमपरिवर्तने विश्रृङ्खलतैव स्यात्। तथात्वे बहूनां सम्बन्धे कामुकेषु प्रचण्डसङ्घर्षेणाप्यनर्थापत्तिः स्यात्।

विवाहविधिषु च मन्वादिभिः स्पष्टमुक्तम्—'पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः' (म० ८।२२६) इति। न विवाहविधौ विवाहो नियोगो वा प्रकीर्तितः। 'अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत स नो अर्यमा देवः प्र इतो (पितृगृहात्) मुञ्चतु मा पतेः' (पारस्करगृह्यसूत्रे १।६।२) इति पूर्वोक्तमन्त्रेण कन्या परमात्मानं प्रार्थयते यदहं पितृगृहाद् वियुक्ता स्यां; न पतिगृहात्'। इति काठकगृह्यसूत्रे—'अर्यमा इतो मुञ्चतु मा अमुष्य गृहेभ्यः' (२५।३०)। तथा सति कुतो विवाहानन्तरं विवाहविच्छेदप्रसक्तिः ? 'अश्मेव त्वं स्थिरा भव' (पारस्करगृह्यसूत्रे १।७।१), 'ध्रुवाहं पतिकूले भूयासम्' (गोभिलगृह्यसूत्रे २।३।८), 'ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्' (गोभिलगृह्यसूत्रे २।३।११), 'सकृत्कन्या प्रदीयते' (म० ९।४७), न दत्त्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः' (म० ९।७१) इत्यादिवचनैः कन्याया विवाह्यमानेन सुदृढः सम्बन्धो बोध्यते।

किञ्च, विवाहे कन्याया गोत्रपरिवर्तनं भवति। विधवायां सत्यां पुनर्विवाहे पूर्वप्रतिज्ञाया भ्रंशः। यस्य तत्र स्वत्वं स्यात् स एव दानाधिकारी, सकृद्दानेन पितुः श्वशुरस्यान्यस्य वा तत्र स्वत्वाऽभावात् कथं दानं स्यात् ? 'अग्निर्मह्यमथो

जाग सकती है और इस तरह से गलत विवाहों की परम्परा चल सकती है। यदि सन्तान वाली विधवाओं के विवाह पर रोक लगाई जायगी, तो काम से आक्रान्त होकर विवाह करने के लोभ में ये अपनी सन्तान की ही हत्या पर उतारू हो जायेंगी। इस तरह से भ्रूण हत्या, बाल हत्या आदि पातक बढ़ जायेंगे। पूर्व पति के मरने पर दूसरे पति की अनुमति मिलने पर, उस दूसरे पति के मरने पर तीसरे और इस तरह अनन्त पति के वरण की छूट देनी पड़ेगी, क्योंकि बीच में रोक लगाने का कोई कारण नहीं है। फिर विधवा-विवाह के प्रचलित हो जाने पर सती स्त्रियों के मन में भी विकार उत्पन्न हो सकता है और इस तरह से परम श्लाघनीय पतिव्रता धर्म के लोप की आशंका उठ सकती है। सधवा स्त्रियों का एक पति से सन्तोष न होने पर अपनी तुष्टि के लिये विवाह का विच्छेद संभव हो सकता है। ऐसी स्थिति में वे अपने पति पर उसमें अविद्यमान नपुंसकत्व आदि दोषों का भी मिथ्या आरोप कर सकती हैं और उसको तलाक दे सकती हैं। ऐसा होने पर स्त्रियों में लज्जा कहाँ रह जायगी और तब उनकी आठ गुनी कामवृत्ति के उद्दीप्त हो जाने पर अनेक अनर्थों की सृष्टि होने लगेगी। शास्त्रों पर से श्रद्धा के हट जाने पर और मनमाने तरीके से सामाजिक नियमों में परिवर्तन करने पर उच्छृङ्खलता बढ़ जायगी। अनेक स्त्रियों के लिये कामुक पुरुषों में परस्पर प्रचंड संघर्ष होने पर समाज में महान् अनर्थ की सृष्टि, फलतः अव्यवस्था फैल जायगी।

विवाह विधि के प्रसंग में मनु प्रभृति ने स्पष्ट कहा है कि पाणिग्रहण के मन्त्रों का पाठ कन्या के विवाह के अवसर पर ही किया जाता है। विवाह विधि में पुनर्विवाह और नियोग का समावेश नहीं है। पारस्कर गृह्यसूत्र में पठित मन्त्र में कन्या परमात्मा से प्रार्थना करती है कि मैं पिता के घर से अलग होऊँ, पति के घर से नहीं। काठक गृह्यसूत्र में भी इसी अभिप्राय का मन्त्र है। ऐसी स्थिति में दूसरे विवाह की अथवा विवाह के विच्छेद (तलाक) की बात ही कैसे उठ सकती है? पारस्कर गृह्यसूत्र, गोभिल गृह्यसूत्र, मनुस्मृति प्रभृति के वचन भी कन्या का विवाह्यमान पुरुष से सुदृढ़ सम्बन्ध बताते हैं।

विवाह हो जाने पर कन्या का गोत्र बदल जाता है। विधवा हो जाने पर पुनर्विवाह करने से पूर्व प्रतिज्ञात गोत्र नष्ट हो जायगा। जिसका जिस वस्तु में स्वत्व होगा, वही उसको दूसरे को दे सकता है। एक बार दान कर देने से पति के सिवाय पिता, श्वशुर अथवा अन्य किसी भी व्यक्ति का उस पर स्वत्व नहीं रह जाता, तब उस पति की मृत्यु हो जाने पर अन्य किसी को उसका दान

इमाम्' (ऋ० सं० १०।८५।४१) इत्यग्निना स्वस्वत्वस्य प्रथमवराय दत्तत्वात्। तन्मरणेऽग्नेरप्यधिकाराभावेन सोऽपि नान्यस्मै दातुं शक्नोति। तत एव मनुनोक्तम्—'नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्। न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥' (म० ९।६५) इति। श्रीरामेण च वनवासावसरे सीतामुद्दिश्योक्तम्—'याते च मयि कल्याणि वनं मुनिनिषेवितम्। व्रतोपवासपरया भवितव्यं त्वयानघे॥' (वा० रा० अयो० २६।२९) पत्युर्महायात्रायां तु सुतरां विधवया व्रतोपवासपरयैव भवितव्यम्।

'अवेद्यावेदनेन च। ……जायन्ते वर्णसङ्कराः॥……यत्र त्वेते ह्यपध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः। राष्ट्रियैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥' (म० १०।२४, ६१) इति मनुना, 'स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः। सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥' (भ० गी० १।४२) इति तत्र तत्र शास्त्रेषु साङ्कर्यस्य निन्दितत्वमुक्तम्।

सनातनधर्मनियमेनैव स्त्रियः क्लिश्यन्ते इत्याक्षेपोऽपि निरर्थक एव, प्रकृतिप्राप्तकष्टानां सहनेनैव कल्याणसम्भवात्। गर्भधारण-प्रसवपीडा-सन्तानपोषणादिकष्टानां भोगस्त्वनिवार्य एव। स्त्रीजातेः पातिव्रत्येनैव देशोद्धारः, स्त्रीरक्षयैव कुलगोत्रादिरक्षा सम्भवति। तथा च मनुः—'स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च। स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति।' (म० ९।७)। यथा पत्यौ यात्रादिगते तदन्यसम्बन्धो व्यभिचार एव, तथैव मरणेऽप्यन्यसम्बन्धो व्यभिचार एव। 'इहलोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबल। अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा॥' (:वा० रा० २।२९) इति रामायणोक्तेः। 'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नाऽनाहिताग्निर्नाऽयज्वा न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥' (छा० उ० ५।११।५) इति रीत्या पुरुष एव स्वैरी भूत्वा स्त्रियं स्वैरिणीं करोति। 'असम्भोगो जरा स्त्रीणाम्' (म० भा० उ० प० २९।७८) इति

करने का कैसे अधिकार मिल सकता है ? अग्नि अपने स्वत्व को वर में अर्पित कर देता है। उस वर की मृत्यु हो जाने पर अग्नि का भी उस पर स्वत्व न रहने से अग्नि की साक्षी में भी दूसरा विवाह नहीं सम्पन्न हो सकता। इसीलिये मनु ने विवाह के अवसर पर पढ़े गये मन्त्रों का नियोग में और विधवा-विवाह में विनियोग वर्जित माना है। श्रीराम ने वनवास के लिये जाते समय सीता से कहा है कि हे कल्याणी, मुनियों के द्वारा सेवित वन में मेरे जाने के बाद तुम व्रत-उपवास आदि करते हुए समय बिताना। इस पृष्ठभूमि में पति की महायात्रा हो जाने पर तो निश्चित ही विधवा को व्रत-उपवास करते हुए ही समय बिताना चाहिये।

'अनुचित विवाह आदि दोषों के कारण वर्णों में सांकर्य पैदा होता है। जिस देश में वर्णों के दूषित करने वाले ये वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं, वह देश शीघ्र ही प्रजासहित नष्ट हो जाता है' इस तरह से मनु ने और 'हे अर्जुन, स्त्रियों के सदोष हो जाने पर वर्णसंकर पैदा होने लगते हैं और यह वर्ण सांकर्य सारे कुल को नरक में गिरा देता है। पिण्डदान और तिलोदकदान के अभाव में उनके पितर पतित हो जाते हैं' इस तरह से गीता ने और अन्य शास्त्रों ने भी वर्ण सांकर्य की सब तरह से निन्दा की है।

सनातन धर्म के कड़े नियमों के ही कारण स्त्रियाँ कष्ट पाती है, इस तरह का आक्षेप भी निरर्थक है, क्योंकि स्वभावतः प्राप्त होने वाले कष्टों को सह लेने में ही कल्याण है। गर्भधारण, प्रसव-पीडा, सन्तान का पालन-पोषण का कष्ट स्त्रियों को अनिवार्य रूप से भोगना पड़ता है। स्त्री जाति के पातिव्रत्य के कारण ही देश की रक्षा होती है। स्त्री जाति की रक्षा से ही कुल और गोत्र की रक्षा हो पाती है। मनु ने स्पष्ट कहा है कि अपनी स्त्री की रक्षा करने वाले अपनी सन्तान, चरित्र, कुल, अपनी आत्मा और अपने धर्म की भी रक्षा करते हैं। जैसे पति के यात्रा आदि पर चले जाने पर दूसरे पुरुष से सम्बन्ध को व्यभिचार माना जाता है, उसी तरह से पति की मृत्यु हो जाने पर दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करना भी व्यभिचार ही है। वाल्मीकि रामायण में स्पष्ट उक्ति है कि इस लोक में पिता आदि जिस पुरुष को स्त्री (कन्या) अर्पित कर देते हैं, मरने के बाद भी वह उसी की रहती है। छान्दोग्य उपनिषद् में बताया है कि मेरे राज्य में कोई चोर, कायर, शराबी नहीं है। सभी अग्निहोत्री हैं। कोई व्यभिचारी नहीं है, तो व्यभिचारिणी कहाँ से आवेगी।

स्त्रीणामसम्भोगात् स्वयमेव कामक्षयस्मरणात्। स्त्रीणाममैथुनं जरा' (कौटल्य २८५) इति च। 'आहारो मैथुनं निद्रा सेवनात्तु विवर्धते' उत्तेजनाधिक्यात् कामवृद्धिर्भवति। सम्पर्काच्चोत्तेजना वर्धते। तस्मात् सम्पर्क एव शास्त्रकारैर्निषिद्धः। 'घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्। तस्माद् घृतं च वह्निं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः ॥' (पद्मपुराणे, सृष्टिखण्डे ४९।२१ इत्युक्तेः।

यत्तु—'बाल्यावस्थायां बालिकानां विवाहो मुस्लिमाक्रमणकाले प्रारब्धः। तदेव—'अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी' इत्यादयः श्लोका निर्मिताः' इति, तदपि निर्मूलमेव, सीताया उत्तरायाश्च बाल्यावस्थायामेव विवाहस्मरणात्। मुस्लिमादिभिस्तु विवाहितानामप्यपहरणादिकं क्रियत एवेति। पद्मिनीप्रभृतीनां सामूहिकरूपेणाग्निप्रवेशः प्रसिद्ध एव। जन्मान्तरीयदुरदृष्टवशाद् वैधव्यमित्यपि न विस्मर्तव्यम्। ननु यथा स्त्रिया मरणे पुरुषस्य विवाहान्तरं सम्भवति, तथैव पत्युर्मरणे पत्न्या अपि-कुतो न विवाहान्तरमिति चेन्न दुरवस्थापातात्। तथाहि—स्त्रिया मरणे पुरुषस्य विवाहान्तरेऽपि तत्सन्ततीनां तद्गोत्रत्वात् तत्राधिकारो भवति, तत्रैव स्थित्वा पित्रा रक्षितत्वाद् दायभागित्वाच्च सुरक्षा सम्भवति, पत्युर्मरणे पत्न्याः पत्यन्तरकरणे तु तत्सन्ततीनां तत्रैव स्थितावनाथत्वमेव स्यात्, तासां पालनपोषणादौ बाधासम्भवात्। मात्रा सहगमने पैतृकधनालाभे तथैव दुःस्थितत्वं स्यात्। नवीनपतिगृहे सन्ततीनामनादर एव स्यात्। तत्र दायभागित्वमपि न भवति, विवाहादिकाठिन्यं च स्यात्। तत्रानानुकूल्ये पुनः पत्यन्तरकरणे ततोऽपि महती दुरवस्था स्यात्।

वस्तुतस्तु पुरुषाणां विवाहान्तरविधायकवचनबलाद् विवाहः। स्त्रीणां च कृते तादृशवचनासत्त्वादेव वैषम्यम्। अपि च स्त्रीणां पुरुषाणां च शक्ति-स्वभाव-कार्यभेदाद् एषोऽधिकारभेदः। एकस्मिन् वर्षे स्त्रिया एकस्यैव गर्भधारणस्य

इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यभिचारी पुरुष ही स्त्री को व्यभिचारिणी बनाता है। संभोग न मिलने पर स्त्री का कामभाव अपने आप नष्ट हो जाता है। महाभारत और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसकी चर्चा है। आहार, मैथुन और निद्रा के सेवन से इनकी वृद्धि होती है। उत्तेजना के बढ़ने पर ही कामभाव में वृद्धि होती है। उत्तेजना संपर्क के कारण बढ़ती है। इसीलिये शास्त्रकारों ने संपर्क को निषिद्ध माना है। पद्मपुराण सृष्टि खण्ड, मनुस्मृति प्रभृति ग्रन्थों में बताया गया है कि नारी घी के घड़े के समान है और पुरुष तपते हुए अंगारे के समान। इसलिये घृत और अग्नि को कभी एक जगह नहीं रखना चाहिये।

यह कहा जाता है कि मुसलमानों के आक्रमण के समय से बचपन में विवाह की प्रथा चली। तभी से 'आठ वर्ष की गौरी और नौ वर्ष की रोहिणी' आदि संज्ञाओं के विधायक श्लोक चल पड़े। किन्तु यह कथन भी एकदम निराधार है, क्योंकि शास्त्रों में सीता और उत्तरा का विवाह छोटी अवस्था में ही वर्णित है। मुसलमान तो विवाहित स्त्रियों का भी अपहरण कर लेते थे। पद्मिनी प्रभृति का सामूहिक चिताप्रवेश (जौहर) प्रसिद्ध है। दूसरे जन्म के दुरदृष्ट से वैधव्य प्राप्त होता है, इस बात को नहीं भूलना चाहिये। स्त्री के मर जाने पर जैसे पुरुष का दूसरा विवाह हो सकता है, उसी तरह से पति के मर जाने पर स्त्री का भी दूसरा विवाह क्यों न हो? इस प्रश्न का समाधान यह है कि स्त्री के मर जाने पर पुरुष का दूसरा विवाह होने पर भी उसकी सन्तति का वही गोत्र रहता है, पिता वहीं रहता हुआ उनकी रक्षा करता है और उनका दायभाग भी सुरक्षित रहता है। उससे विघटित पति की मृत्यु के उपरान्त पत्नी के दूसरा विवाह करने पर उसकी सन्तति वहीं नहीं रह सकती, फलतः वे अनाथ हो जायेंगी। उनके पालन-पोषण में भी बाधा उपस्थित होगी। माता के साथ चले जाने पर पिता का धन न मिलने से वे दुरवस्था में पड़ जायेंगीं। नये पति के घर में बच्चों का अनादर होगा, उनको दायभाग नहीं मिलेगा। उनके विवाह आदि होने में कठिनाई होगी। वहाँ अनुकूलता न मिलने पर पुनः दूसरा पति करना पड़ेगा और इस तरह से उस स्त्री की महान् दुर्दशा होगी।

वास्तव में देखा जाय तो पुरुषों के दूसरे विवाह के विधायक शास्त्रवचन उपलब्ध होने से ऐसा होता है। स्त्री के सम्बन्ध में ऐसे वचन कहीं उपलब्ध नहीं है। स्त्री और पुरुष के शक्ति, स्वभाव और कार्य की भिन्नता के आधार पर ही इन वचनों का विधान है। एक वर्ष में स्त्री एक बार ही गर्भधारण कर सकती है, किन्तु पुरुष तो अनेक स्त्रियों में गर्भ स्थापित कर सकता है। मनु ने भी

सम्भवः, पुरुषस्त्वनेकासु गर्भं धारयितुं शक्नोति। 'पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः। नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः॥' (म० ८।२२६) इति मनूक्तेः। पुरुषाणामग्निहोत्रादिकर्मचालनार्थं विवाहान्तरम्। न तथा स्त्रीणां पतिमरणेऽग्निहोत्रादिचालनं विहितम्। तस्यास्तु सहमरणब्रह्मचर्याभ्यां वैधव्यपालनमेव विहितम्।

कन्यात्वं कदापगच्छतीत्यत्र 'यमो जातः·······जारः कनीनाम्' (ऋ० सं० १।६६।४) अत्र सायणाचार्यः—अग्निरेव·······कनीनां कन्यकानां जारो जरयिता यतो विवाहसमयेऽग्नौ लाजादिद्रव्यहोमे सति तासां कन्यात्वं निवर्तते, अतो जरयितेत्युच्यते। निरुक्तेऽपि—'जरयिता कन्यानां पतिर्जनीनां पालयिता जायानाम्। तत्प्रधाना हि यज्ञसंयोगेन भवन्ति। 'तृतीयो अग्निष्टे पतिः इत्यपि निगमो भवति' (नि० १०।२०)। दुर्गाचार्योऽपि 'स एवाग्निर्जरयिता कन्याभावस्य। यदा हि ता अग्निसन्निधा ऊढा भवन्ति, अथ तासां कन्याभावो जीर्णो भवति' इति। तथा सति विधवाया अकन्यात्वेन कथं विवाहः स्यात्? अत एव 'पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः' (म० ८।२२६) इति मनूक्तिः। विधवाविवाह इति शब्दोऽपि न सम्भवति, पाणिग्रहणमन्त्राणां कन्यासु प्रतिष्ठितत्वात्।

'कन्यायाः कनीन च' (पा० सू० ४।१।११६) इत्यस्य महाभाष्यम्—'कन्याशब्दोऽयं पुंसाभिसम्बन्धपूर्वके सम्प्रयोगे वर्तते' इति। अत्र कैयटः—शास्त्रोक्तविवाहोऽभिसम्बन्धः। या चेदानीं प्रागभिसम्बन्धात् पुंसा सह सम्प्रयोगं गच्छति तस्यां कन्याशब्दो वर्तते। या तु शास्त्रोक्तेन विवाहसंस्कारेण विना पुरुषं युनक्ति सा कन्यात्वं न जहाति, कन्यैव साऽभिमता स्मृतिकाराणाम्' इति रीत्या शास्त्रोक्तविवाहेनैव कन्यात्वनिवृत्तिर्न तु पुरुषसंयोगमात्रेण। तस्मादक्षतयोन्या विवाहिताया अपि कन्यात्वमेवेत्यपास्तम्, पतञ्जलिवचनविरोधात्। न चैवं क्षतयोन्या अविवाहितायाः कन्यात्वेन विवाहः स्यादिति वाच्यम्, क्षतयोन्याः कन्याया विवाहस्य 'पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः।' (म० ८।२२६) इत्यत्र कुल्लूकभट्टेन

स्पष्ट कहा है कि पाणिग्रहण संस्कार के मन्त्र कन्या के विवाह के अवसर पर ही पढ़े जाते हैं। पुरुषों को अग्निहोत्र प्रभृति धार्मिक कृत्यों के संपादन के लिये दूसरा विवाह करना पड़ता है। पति की मृत्यु के उपरान्त इस तरह के किसी धार्मिक कृत्य का विधान स्त्री के लिये नहीं है। उसके लिये तो पति के साथ चिता में जल मरना ब्रह्मचर्य के साथ वैधव्य धर्म का पालन करना ही विहित है।

स्त्री का कन्याभाव कब हट जाता है, इसके लिये हमें 'यमो जातः' प्रभृति ऋङ्मन्त्र का अवलोकन करना चाहिये। इस पर सायणाचार्य कहते हैं कि अग्नि ही कन्याओं का जार है, क्योंकि विवाह के अवसर पर अग्नि में लाजा होम करने पर ही उनका कन्याभाव समाप्त हो जाता है। निरुक्त में भी अग्नि को कन्याओं का जार और पत्नियों का पालक बताया है। पत्नी का पत्नीत्व यज्ञीय अग्नि के संपर्क से ही पुष्ट होता है। शास्त्र में अग्नि को तृतीय पति बताया है। इस निरुक्त वचन की व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्य कहते हैं कि वह अग्नि ही स्त्री के कन्याभाव को हटाता है। जब अग्नि की सन्निधि में उनका विवाह होता है, तब उनका कन्याभाव जीर्ण हो जाता है। इस स्थिति में विधवा का, जो कि अब कन्या नहीं रही है, कैसे विवाह हो सकता है। इसीलिये मनु ने यह स्पष्ट विधान किया है कि पाणिग्रहण संस्कार के मन्त्र कन्या के विवाह में ही विनियुक्त हैं। विधवा के विवाह के लिये विवाह शब्द का प्रयोग भी लाक्षणिक ही माना जायगा, क्योंकि पाणिग्रहण संस्कार के मन्त्र यहाँ नहीं पढ़े जायेंगे।

'कन्यायाः कनी न च' इस सूत्र के महाभाष्य में बताया गया है कि कन्या शब्द का प्रयोग यहाँ पर पुरुष के साथ शास्त्रीय संबन्ध के पहिले ही संपर्क करने के अर्थ में है। कैयट ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अभिसंबन्ध शब्द का अर्थ शास्त्रोक्त विवाह है। जो कन्या इस विवाह संबन्ध से पहले ही पुरुष के संपर्क में आ जाती हैं, यहाँ पर कन्या शब्द उसी के लिये प्रयुक्त है। शास्त्रोक्त विवाह संस्कार के बिना ही जिसका पुरुष से संपर्क हो जाता है, उसके लिये कन्या शब्द का ही प्रयोग होता है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि शास्त्रोक्त विवाह विधि के संपन्न होने के उपरान्त ही कन्या शब्द की निवृत्ति होती है, पुरुष का संपर्क होने मात्र से नहीं। अक्षतयोनि बिवाहिता स्त्री को भी कन्या मानने वालों का पक्ष इससे निरस्त हो जाता है, क्योंकि ऐसा कथन स्पष्ट ही महाभाष्य के उक्त प्रतिपादन के विपरीत है। यदि आप यह कहें कि क्षतयोनि अविवाहिता के कन्या के सुरक्षित रहने से ऐसा विवाह धर्मानुमोदित माना जायगा, तो इसका उत्तर यह है कि 'पाणिग्रहणिका' प्रभृति मनुश्लोक की व्याख्या करते हुए कुल्लूकभट्ट

नासौ धर्म्यो विवाह इत्युक्तेः। किञ्च, येषां रीत्या विवाहमात्रेण कन्यात्वं न निवर्तते, तद्रीत्या तया संयोगे कन्यागमनदोषापत्तिः, तत्सन्तानस्य कानीनत्वापत्तिश्च।

सिद्धान्ते तु पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्। तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे॥' (म० ८।२२७) इति सप्तपदीसम्पत्तावेव विवाहः पर्यवस्यति। सप्तपदीपश्चादेव कन्यात्वं निवर्तते। अत्रैव भट्टोजिदीक्षितः- 'कन्याया अनूढाया एवापत्यम्' (कानीनः) इति। तत्रैव तत्त्वबोधिन्यांम्—'ननु कन्या हि अक्षतयोनिः, तस्याश्चापत्यसम्भव एव नास्तीति, तत्रोत्तरम् 'कन्याया अविवाहितायाः' इति। बालमनोरमायां च—'ननु कन्याया अप्रादुर्भूतयौवनत्वात् पुंसा योगाभावात् कथमपत्यसम्भव इति चोद्यमुद्भाव्योत्तरमुक्तम् कन्याया अलब्धविवाहाया इति। शब्देन्दुशेखरे तु—'न त्वक्षतयोनित्वं कन्यात्वमिति भावः' इति। तथा च विवाहिताया अकन्यात्वेन वैदिकमन्त्राणां च कन्याविवाहपरत्वेन न विवाहिताया विधवाया विवाहः सम्भवति।

केषाञ्चिद्रीत्या तु—'चतुर्थीहोममन्त्रेण त्वङ्मांसहृदयेन्द्रियैः। भर्त्रा संयुज्यते नारी तद्गोत्रा तेन सा भवेत्॥' इति बृहस्पतिवचनेन 'विवाहे चैव निर्वृत्ते चतुर्थेऽहनि रात्रिषु। एकत्वं सा गता भर्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके। स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी उद्वाहात्सप्तमे पदे। भर्तृगोत्रेण कर्त्तव्या दानपिण्डोदकक्रिया॥' इति लिखितवचनेन चतुर्थीहोमकर्मणा सप्तपदीसम्पत्त्या च कन्यात्वं निवर्तते, पतिगोत्रत्वं च सम्पद्यते। एतावता सम्भोगेनैव विवाहपूर्तिरित्यपास्तमेव, पूर्वोक्तवचनविरोधात्। विवाहाच्चतुर्थे दिने चतुर्थीकर्मणैव पैतृकगोत्रनिवृत्तिः। न तत्र मैथुनस्यानिवार्यत्वम्, तथाविधानाऽदर्शनात्। पारस्करादिगृह्यसूत्रेषु विवाहानन्तरं संवत्सरादिब्रह्मचर्यविधानवैयर्थ्यापत्तेः। चतुर्थीकर्मसम्पत्त्यैव भार्यात्वोपपत्तिः। चतुर्थीकर्म तु विवाहाङ्गमेव न गर्भाधानरूपसंयोगाङ्गम्, विवाहगर्भाधानसंस्कारयोर्भेदात्। यदि सम्भोगं विना विवाहो न पूर्येत तर्हि

ने ऐसे विवाह को धर्मसंमत नहीं माना है। जो लोग विवाह मात्र से कन्याभाव की निवृत्ति नहीं मानते, उनके मत से विवाह के उपरान्त भी कन्या से ही संपर्क होगा और ऐसा मान लेने पर उस संपर्क से हुई सन्तान को भी कानीन मानना पड़ेगा, जो कि शायद ऐसा मानने वालों को भी इष्ट न हो।

हमारे मत से तो 'पाणिग्रहणिका' प्रभृति मनु वचनके अनुसार सप्तपदी पूर्ण होने के साथ विवाह सम्पन्न हो जाता है। इसके साथ ही कन्याभाव की निवृत्ति हो जाती है। अतः उक्त दोष हमारे मत में नहीं लगता। भट्टोजिदीक्षित ने कहा भी है कि अविवाहित कन्या का पुत्र ही कानीन कहलाता है। तत्त्वबोधिनीकार यहाँ प्रश्न उठाते हैं कि कन्या तो अक्षतयोनि होती है, उसके कैसे पुत्र हो सकता है ? फिर उसका उत्तर देते हैं कि कन्या से यहाँ अविवाहिता स्त्री का बोध होता है। बालमनोरमाकार इस प्रसंग में लिखते हैं कि कन्या को तो अभी यौवन आया नहीं है, अतः उसका पुरुष से संपर्क न होने से वह शिशु की माता कैसे बन सकती है, इस शंका का समाधान करने के लिये कन्या शब्द की व्याख्या अविवाहित स्त्री किया जाता है। शब्देन्दुशेखर में इसको और भी स्पष्ट किया गया है कि कन्या शब्द से यहाँ अक्षतयोनि का ग्रहण नहीं किया जाता। इस तरह से विवाहित स्त्री के कन्या न रह जाने से और वैदिक मंत्रों का उपयोग कन्या के ही विवाह के अवसर पर होने से विवाहित विधवा का विवाह कथमपि शास्त्रसंमत नहीं माना जा सकता।

कुछ लोगों का कहना है कि वृहस्पति और लिखित स्मृति के अनुसार विवाह के चौथे दिन वैदिक मंत्रों के द्वारा चतुर्थी होम हो जाने पर नारी अपने पति के साथ शरीर, मन और इन्द्रियों से मिलकर उसी के गोत्र की हो जाती है, उसका पिता का गोत्र विवाह के अवसर पर सप्तपदी के साथ ही समाप्त हो जाता है। इसके उपरान्त उसकी सभी धार्मिक क्रियाएं पति के गोत्र के अनुसार ही की जाती हैं। इससे संभोग होने पर ही विवाह की सम्पूर्णता माननेवालों का पक्ष खंडित हो जाता है, क्योंकि विवाह के चौथे दिन चतुर्थी कर्म से पिता के गोत्र की निवृत्ति मानी जाती है, इसके लिये मैथुन अनिवार्य नहीं माना गया है, क्योंकि इसका वहां विधान नहीं है। पारस्कर गृह्यसूत्र प्रभृति ग्रंथों में तो विवाह के उपरान्त भी एक वर्ष के ब्रह्मचर्य का विधान है। चतुर्थी कर्म के साथ ही स्त्री, भार्या हो जाती है। चतुर्थी कर्म विवाह का अंग है, गर्भाधान रूप संयोग का नहीं। विवाह और गर्भाधान ये दो भिन्न संस्कार हैं।

विवहानन्तरं संवत्सरपर्यन्तं ब्रह्मचर्यविधानं न स्यात् । पारस्करगृह्यसूत्रं तु वादिप्रतिवादिसम्मतमेव । अद्यत्वे तूच्छृङ्खलत्व-प्राचुर्याद् विवाहदिन एव चतुर्थीकर्मापि सम्पद्यते । अत एव केषाञ्चिद्रीत्या सप्तपदीकर्मानन्तरं केषाञ्चिच्चतुर्थीकर्मानन्तरमेव कन्यात्वस्य पैतृकगोत्रस्य च निवृत्तिः, पतिगोत्रप्राप्तिः, पत्नीत्वं च सम्पद्यते। विवाहस्तु ऋतुकालात्पूर्वमेव युक्तः । देशभेदेन ऋतुकालभेदाद् विवाहकालभेदोऽपि दृश्यते । शास्त्रेष्वष्टमवर्षमारभ्य द्वादशवर्षपर्यन्तं कन्याविवाहकाल उक्तः । 'यस्तु दोषवतीं कन्याम्' (म० ८।२२४) इत्यादिवचने मनुना दूषिताया अपि विवाहात्पूर्वं कन्यात्वमेवोक्तम् ।

यत्तु केनचिदुक्तम्—'पुरुषा यदि पुनर्विवाहं कर्तुमधिकृता ईश्वरीयन्यायानुसारेण स्त्रियः कुतो न पुनर्विवाहं कर्तुमधिकृता' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यतो हि पुरुषाणां सन्तानार्थं पत्न्या जीवनकालेऽपि पुनर्विवाहो भवति, तथैव किं स्त्रिया अपि सन्तानार्थं पतिजीवनकाले विवाहोऽभिप्रेतः ? वस्तुतस्तत्प्रकृतिभेदादेव व्यवहारभेदोऽप्यङ्गीकर्त्तव्यः । तत्र एकः पुरुष एकस्मिन्नेव दिनेऽनेकासु स्त्रीषु गर्भाधानं कर्तुं शक्नोति । स्त्रीत्वनेकपुरुषसङ्गमेऽपि वर्षेणैकमेव गर्भं धारयति, किमत्रेश्वरीयन्यायो नावलोक्यते ? शास्त्रानुसारेण तु स्त्रीणामेकपतिविधानमेव दृश्यते । पुरुषस्य तु कारण-विशेषाद् विवाहान्तराभ्यनुज्ञापि दृश्यते ।

यत्तु 'युवतीनां विधवानां कामाद्युपद्रवशान्तये दयापरवशाद् विवाहोऽनुमन्तव्यः' इति तदपि तुच्छम्, तथात्वे 'स्थविराणामपि स्त्रीणां बाधते मैथुनज्वरः ॥' (म० भा० अनुशा० प० २१।५) इति रीत्या वृद्धनामपि तदापत्तेः । वस्तुतस्तु विधवानां रागवर्धकवातावरणाद् दूर एव संन्यासिवदवस्थानं जपध्याननिष्ठैव विहिता ।

यदुक्तम्—'विधवाश्चेद् गुप्तरीत्या कामवासनापूर्त्यर्थं व्यभिचरन्ति भ्रूणहत्यादिकं च कुर्वन्ति, ततो विवाह एव

यदि संभोग के बिना विवाह संस्कार की पूर्ति न मानी जाती, तो उस अवस्था में विवाह के उपरान्त एक वर्ष तक के ब्रह्मचर्य का विधान कैसे किया जा सकता था ? पारस्कर गृहसूत्र को आर्यसमाजी भी प्रमाण मानते हैं । आजकल तो उच्छृंखलता बढ़ गई है, अतः विवाह के दिन ही चतुर्थी कर्म भी पूरा कर लिया जाता है । इस तरह से कुछ लोगों के मत से सप्तपदी के बाद और अन्य लोगों के मत से चतुर्थी कर्म के बाद कन्याभाव और पिता के गोत्र की निवृत्ति मानी जाती है और स्त्री पत्नी वन जाती है । विवाह संस्कार ऋतुकाल के पहले ही हो जाना चाहिये । देश के भेद से ऋतुकाल का भेद देखा जाता है । तदनुसार ही विवाह का काल भी भिन्न हो सकता है । शास्त्रों में आठ से लेकर बारह वर्ष पर्यन्त कन्या का विवाहकाल बताया गया हैं । मनु ने दूषित स्त्री को भी विवाह के पहले कन्या ही माना है ।

कुछ लोगों का आक्षेप है कि पुरुषों का यदि पुनर्विवाह हो सकता है, तो ईश्वरीय न्याय के अनुसार स्त्रियों का पुन-र्विवाह क्यों नहीं हो सकता ? किन्तु उन लोगों की यह कल्पना निःसार है, क्योंकि पत्नी के जीवित रहते हुए भी सन्तान के लिये जैसे पुरुष का दूसरा विवाह होता है, वैसे ही क्या आप पति के जीवनकाल में ही सन्तति के लिये पत्नी के द्वितीय विवाह का समर्थन करना चाहते हैं ? वास्तव में देखा जाय तो प्रकृति के भेद से व्यवहार का भेद मानना पड़ता है । इसीलिये एक पुरुष एक ही दिन में अनेक स्त्रियों में गर्भाधान कर सकता है, किन्तु स्त्री अनेक पुरुषों से सहवास भले ही कर ले, वह गर्भधारण वर्ष में एक ही बार कर सकती हैं । यहाँ आप ईश्वरीय न्याय की आलोचना क्यों नहीं करते ? शास्त्रों के अनुसार स्त्रियों के लिये एक ही पति का विधान है । पुरुष के लिये विशेष परिस्थिति में दूसरे विवाह की अनुमति दी गई है ।

युवती विधवाओं के काम प्रभृति उपद्रवों की शान्ति के लिये दया करके विवाह आदि की अनुमति दे देनी चाहिये, यह कथन भी गलत है, क्योंकि कहा गया है कि विधवा स्त्रियों को भी कामज्वर सताता है । इस परिस्थिति में वृद्ध स्त्रियों पर भी आपको दया दिखानी पड़ेगी । इस दया का कहाँ अन्त होगा ? वास्तव में देखा जाय तो विधवाओं को काम वासना (कामभाव) बढ़ाने वाले वातावरण से दूर रखकर उन्हें संन्यासी की तरह जीवन बिताना चाहिये । उनको सदा जप, ध्यान, व्रत-उपवास आदि के अनुष्ठान में लगे रहना चाहिये ।

विधवा अपनी वासना की पूर्ति के लिये छिपे-छिपे व्यभिचार करती हैं, गर्भपात करती हैं, इसकी अपेक्षा तो उनका

तासां किं न विधेयः' इति, तदपि न शोभनम्, यतो हि येषां रीत्या शास्त्रविरुद्धत्वादपि विधवाविवाहो न दूषणम् तेषां कृते शास्त्रविरुद्धा भ्रूणहत्यापि किमर्थं दूषणं स्यात् ? 'ईप्सितो हि गुणः स्त्रीणामेकस्या बहुभर्तृता' (म० भा० आदिपर्व २०४।८) इति रीत्या कथं न तासामपि विवाहः कर्त्तव्यतामाप्नुयात् ? वस्तुतस्तु विधवाविवाहाप्रचारेण पातिव्रत्यधर्मपालनमाहात्म्यवर्णनेन धर्मभङ्गकारणान्नरकादिदुर्गतिवर्णनेनैव सात्त्विकभावप्रचारेणानर्थनिवृत्तिः स्यात् । सुधारका अपि विधवानां विवाहापेक्षया ब्रह्मचर्यपालनमुत्तमं कथयन्ति, तर्हि तत्सम्बन्धेऽपि लेखनभाषणादिभिः प्रचारः कथं न क्रियते ?

आर्यसामाजिकाः पञ्चविंशतिवर्षपर्यन्तं युवकानां युवतीनां च ब्रह्मचर्यपालनं कर्त्तव्यमुपदिशन्ति, तद्बाधे दण्डयन्त्यपि, तथैव विधवानां कृते ब्रह्मचर्यपालनोपदेशः कुतो न क्रियते ? केचित्तु विधवाविवाहमार्यजातिसंख्यावृद्ध्यर्थं-समर्थयन्ते । तदपि यत्किञ्चित्, यतो हि साम्प्रतिकाः सुधारकाः शासकाश्च संख्यावृद्धिं हानिकरीमेव वर्णयन्ति । वृद्धिरोधाय वन्ध्याकरणनपुंसकीकरणप्रचाराय च कोटिकोटिरूप्यकाणि व्ययन्ते ।

कश्चित्तु 'यथा पुरुषस्य पुनर्विवाहोऽप्रशस्तस्तथैव विधवानामपि विवाहो भवत्वप्रशस्तः । 'अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् । अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् ॥' (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।५२) अत्राऽविवाहितपूर्वस्याविप्लुतब्रह्मचर्यस्याऽनन्यपूर्विकया कन्यया विवाहो विहितः । विवाहितश्च न तादृशो भवतीत्यतोऽप्रशस्त एवेति, तथैव विधवाविवाहोऽप्यस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, याज्ञवल्क्यवचने ब्रह्मचर्यपदेनाविवाहस्यैवाविवक्षितत्वात्, किन्तु ब्रह्मचर्यकालेऽस्खलितत्वस्यैवेष्टत्वात् । तथा चापरार्कीयां टीकायाम्—'ब्रह्मचर्यस्खलने प्रायश्चित्तं कर्त्तव्यं भवति, न विवाहनिषेधः । स्नानात्पूर्वं स्खलनेऽवकीर्णिप्रायश्चित्तम्, स्नानानन्तरं तु स्नातकस्य साधारणं प्रायश्चित्तम् । विवाहानन्तरं तु पुरुषस्य पत्न्या मरणेऽग्निहोत्रसन्तानाद्यर्थं पुनर्विवाहो विहित एव । 'भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाग्नीनन्त्यकर्मणि पुनर्दारक्रियां कुर्यात् पुनराधानमेव च ।''

विवाह कर देना अच्छा है, यह कथन भी उचित नहीं हैं, क्योंकि जिनके मत में शास्त्र विरुद्ध होते हुए भी विधवा-विवाह अनुचित नहीं है, उनके मत में गर्भपात में भी दोष क्यों माना जायगा ? महाभारत में बताया गया है कि अनेक पुरुषों से संपर्क स्त्रियों के लिये इष्ट है, ऐसी स्थिति में उनके विवाह की ही क्या आवश्यकता है । वास्तव में विधवा विवाह का प्रचार न करने से और पातिव्रत्य धर्म के पालन की महत्ता का वर्णन शास्त्रों में होने से ही धर्म के नाश और नरकपात के भय से सात्त्विक भावों का प्रचार होता है और अनर्थ की निवृत्ति होती है । सुधारक लोग भी विधवा विवाह की अपेक्षा ब्रह्मचर्य के पालन को उत्तम मानते हैं । तब उसके सम्बन्ध में भी लेखन, भाषण आदि के द्वारा प्रचार क्यों नहीं किया जाता ?

आर्यसमाजी पचीस वर्ष तक युवक और युवतियों के ब्रह्मचर्य पालन को आवश्यक कर्तव्य मानते हैं । ऐसा न करने पर उनको दण्डित किया जाता है । इसी तरह विधवाओं के लिये वे ब्रह्मचर्य के पालन का उपदेश क्यों नहीं करते ? कुछ लोग आर्य जाति की जनसंख्या बढ़ाने के लिये विधवा विवाह का समर्थन करते हैं । यह भी उचित नहीं है, क्योंकि आजकल के सुधारक और शासक जनसंख्या की वृद्धि को हानिकारक मानते हैं । इसको रोकने के लिये वन्ध्याकरण, नपुंसकीकरण आदि अनेक उपायों के प्रचार के निमित्त करोड़ों रुपया पानी की तरह बहाया जा रहा है ।

कुछ लोग विधवा विवाह की तरह ही पुरुष के पुनर्विवाह को भी अच्छा नहीं मानते । याज्ञवल्क्य स्मृति में बताया गया है कि जिसका पहले विवाह नहीं हुआ है, जिसका ब्रह्मचर्य लुप्त नहीं हुआ है, उसी पुरुष का सुलक्षणा कन्या से विवाह होना चाहिये । विवाहित पुरुष ऐसा नहीं होता, अतः इस विवाह को जैसे प्रशस्त नहीं माना जाता, तब भी ऐसा विवाह होता है, उसी तरह से विधवा का विवाह भी होना चाहिये, भले ही वह अप्रशस्त माना जाय । किन्तु यह कथन उचित नहीं है । याज्ञवल्क्य के उक्त वचन में ब्रह्मचर्य पद अविवाहित पुरुष का द्योतक नहीं है, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम में रहते समय निर्दोषता का परिचायक है । इस श्लोक की टीका में अपरार्क ने कहा है कि ब्रह्मचर्य का स्खलन हो जाने पर प्रायश्चित करना पड़ता है । इससे विवाह का निषेध नहीं होता । स्नातक होने से पूर्व वीर्य का स्खलन होने पर अवकीर्णी नामक प्रायश्चित करना पड़ता है और स्नातक बन जाने पर साधारण प्रायश्चित विहित है । विवाह के बाद पत्नी के मर जाने पर पुरुष के लिये अग्निहोत्र प्रभृति धार्मिक कृत्यों और सन्तान आदि के लिये पुनर्विवाह

(म० ५।१६८) इति मनूक्तेः। 'गुरवे तु वरं दत्त्वा स्नायीत तदनुज्ञया। वेदव्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ॥' (या० ३।५१) इति याज्ञवल्क्यस्मृतौ ब्रह्मचर्यव्रतं पारयित्वा स्नातकत्वं विहितम्। तेनाविवाहितत्वं नार्थः, किन्तु गुरुकुलात् समागतस्यैवेदं वर्णनम्। मनुस्मृतावपि तथैव—'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्। अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥' (म० ३।२) यदि विवाहितपुरुषस्य पुनर्विवाहाज्ञाऽनभीष्टा स्यात्तदा 'पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च' (म०५।१६८) इति न वदेत्, 'वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे·····' (म० ९।८१) इत्यादिना पूर्वपत्न्यां वन्ध्यायां सन्तानार्थं च विवाहान्तरं नाज्ञापयेत्। 'अन्योन्यस्याव्यभीचारो' (म० ९।१०१) इति वचनस्य टीकायां मेधातिथिना पूर्वपक्षमुपक्षिप्य समाहितम्—'स्त्रीवत्पुरुषस्यानेकभार्यापरिणयनं न स्यात्, तदयुक्तम्, अस्ति तत्कृते वचनम्—कामतस्तु प्रवृत्तानाम्' (म० ३।१२), 'वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे' (म० ९।८१) इति न तु स्त्रियाः, तथा च लिङ्गान्तरं स्यात् 'एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति नैकस्या बहवः पतयः' इति। अतो याज्ञवल्क्यवचनेऽविप्लुतब्रह्मचर्यस्य पुरुषस्यानन्यपूर्विकया विवाह उक्तेऽपि न पुरुषस्य विवाहान्तरे बाधा भवतीति। स्त्रियास्तु सर्वत्रानन्यपूर्विकाया एव विवाह उक्तः। अविप्लुतब्रह्मचर्यस्य गुरुकुलेऽक्षतवीर्यस्येत्यर्थः। अन्यथा विवाहान्तरविधायकवचनानां विरोधो ध्रुवः। तस्माद्विधवाविवाहो निषिद्ध एव।

विवाहविच्छेदोऽपि तथैव निषिद्धः। 'न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते। एवं धर्मं विजानीमः प्राक् प्रजापतिनिर्मितम् ॥' (म० ९।४६) इत्युक्तेः। विधवाविवाहप्रचारका अद्य विवाहविच्छेदप्रचारद्वारा सधवापुनर्विवाहं प्रचारयन्ति। कश्चित् रामेण सीताया विवाहविच्छेदं वदति। तत्तु दुःसाहसमेव, तथात्वेऽश्वमेधादियज्ञेषु सीतायाः स्वर्णप्रतिमया यज्ञनिर्वाहं न कुर्यात्। लोकापवादभीत्यैव तु रामेण सीताया बाह्यव्यवहारेणैव पृथक्कृतत्वात्। उत्तररामचरिते तु कुन्दमालादिग्रन्थरीत्या सीतारामयोः संयोगान्तोपसंहारस्य वर्णनात्। कौटलीयेऽर्थशास्त्रेऽपि 'अमोक्षो धर्मविवाहानाम्' (३।३.२२) विवाहविच्छेदस्य निषिद्धत्वात्। 'परस्परं द्वेषान्मोक्षः' इति पशुप्रायाणां कृते विवाहविच्छेद उक्तः। विवाहमन्त्रोऽपि—

शास्त्रों में विहित है। मनु ने 'भार्यायै' इत्यादि श्लोक में पुनर्विवाह और पुनरग्न्याधान का पुरुष के लिये स्पष्ट विधान किया है। 'गुरवे तु वरं दत्वा' इस याज्ञवल्क्य स्मृति के श्लोक में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर लेने के बाद स्नातक बनने का विधान है। इन सब पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि यहाँ पर अविवाहित पुरुष की चर्चा न होकर गुरुकुल से आये स्नातक का उल्लेख है। मनुस्मृति में भी याज्ञवल्क्य स्मृति की तरह अलुप्त ब्रह्मचर्य वाले स्नातक के गृहस्थाश्रम में प्रवेश की बात कही गई है। यदि विवाहित पुरुष का पुनर्विवाह मनु को अनभीष्ट होता, तो वहाँ पर पुनः विवाह और पुनः अग्न्याधान की चर्चा न आती। इसी तरह से पूर्व पत्नी के वन्ध्या होने पर वहाँ सन्तान के लिये दूसरा विवाह करने की अनुमति न दी जाती। 'अन्योन्यस्य' इस श्लोक की टीका में पूर्वपक्ष की उत्थापना करके मेधातिथि ने उसका समाधान किया है कि स्त्री के समान ही पुरुष का भी अनेक स्त्रियों से विवाह नहीं हो सकता, ऐसा कहना सही नहीं है, क्योंकि पुरुष के लिये इस तरह के वचन उपलब्ध है, स्त्रियों के लिये नहीं। इसमें यह वचन भी प्रमाण है कि एक पुरुष की अनेक स्त्रियाँ होती हैं, किन्तु एक स्त्री के अनेक पति नहीं होते। इसलिवे याज्ञवल्क्य के उक्त वचन में अविप्लुत ब्रह्मचर्य वाले पुरुष का इसी तरह की स्त्री के साथ विवाह विहित होने पर भी पुरुष के दूसरे विवाह में कोई शास्त्रबाधा नहीं उत्पन्न होती। स्त्री का विवाह तो अनन्यपूर्विका का ही विहित है। ब्रह्मचर्य पद का अर्थ गुरुकुल में अक्षतवीर्य पुरुष है। अन्यथा विवाहान्तर के विधायक वचनों से विरोध उपस्थित हो जायगा। इस तरह से शास्त्र की दृष्टि से विधवा विवाह सर्वथा निषिद्ध है।

इसी तरह से विवाह-विच्छेद (तलाक) भी शास्त्रों में निषिद्ध है। मनु ने कहा है विक्रय या त्याग से स्त्री, पति से अलग नहीं हो सकती। हम प्रजापति के द्वारा पहले बनाए हुए इस धर्म को मानते हैं। विधवा विवाह का प्रचार करने वाले आज तलाक का भी प्रचार करने लगे हैं और ये सधवा स्त्रियों के भी पुनर्विवाह का समर्थन करने लगे हैं। कुछ लोग इस प्रसंग में राम और सीता के विवाह-विच्छेद की भी चर्चा करते हैं, किन्तु यह दुःसाहस मात्र है, यदि ऐसा होता तो अश्वमेध यज्ञ के समय राम सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा का निर्माण न कराते। लोकापवाद के डर से ही ऊपरी मन से राम ने सीता का परित्याग किया था। उत्तररामचरित,

'ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिः । 'मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतम्' (अथर्व० १४।१।५२) इति स्त्रीणां पैतृकसम्पत्तिसम्बन्धं विवाहविच्छेदं च निराकरोत्येव । तत एव मनुना 'भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनास्तथा । यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥' (म० ८।४१६) इत्युक्तम् । तदेव च मीमांसायां ६।१।१४ जैमिनिसूत्रस्य व्याख्याने शबरस्वामिनोक्तम् । तस्मात् स्त्रिया निर्धनत्वस्मरणेन तस्या अस्वातन्त्र्यमनेन प्रकारेणोच्यते । शुक्रनीतौ च तदेवोक्तम् ।

'मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः' इत्यत्र वाक्ये मह्यमित्यत्र सम्प्रदाने चतुर्थी । सम्प्रदानं स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोपपादनमेव भवति । अतस्तदभावादेव रजकस्य वस्त्रं ददातीत्यत्र षष्ठी भवति न चतुर्थी । बृहस्पतिरग्निः पिता च स्वस्वत्वं परित्यज्य कन्यायां पतिस्वत्वमुपपादयति । तस्माद्विवाहविच्छेदो निराकृतो भवति । तत एव 'जीवन् वापि मृतो वापि पतिरेव प्रभुः स्त्रियाम्' (य० ४।४८) इति सर्वदैव पतिस्वत्वमेव तत्र भवति । कन्यादानक्रियायाः कर्मैव न कर्त्री । अतो दत्तायां कन्यायां पित्रादीनां स्वस्य च स्वत्वं न भवति । 'मया पत्या प्रजावती जीव शरदः शतम् ।' इति यावज्जीवनमखण्ड एव सम्बन्ध उक्तो भवति । तेनैव नियोगादिकमपि परिहृतं भवति । अत एव 'त्वा सह पत्या दधामि' (ऋ० सं० १०।८५।४१), रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्' (ऋ० सं०।८५।४१), प्रेतो (कन्यां पितृगृहात्) मुञ्चामि नामुतः न पतिगृहात् । (ऋ० सं० १०।८५।२५), 'मया पत्या जरदष्टि (वृद्धां) यथासं मह्यंत्वादुर्गार्हपत्याय देवाः' (ऋ० सं० १०।८५।४१), साम अहमस्मि ऋक् त्वं द्यौरह पृथिवीत्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै प्रजां प्रजनयावहै पशून्, (पास्कर गृह्यसूत्रे १।६।३) अत्र पतिपत्न्योर्ऋक्सामत्वादिदृष्टान्तैः सम्बन्धस्य दार्ढ्यमुक्तम् । तस्माद्विवाहविच्छेदः सर्वथाऽसंगत एव ।

'अश्मेव त्वं स्थिरा भव' (पारस्कर गृह्यसूत्रे १।७१) इति पाषाणवत्स्थैर्यमुक्तम् । ध्रुवा स्त्री पतिकुले भूयासम्' (गोभिलगृह्यसूत्रे २।३।८) पत्न्या ध्रुवस्य साक्षित्वे स्थैर्यार्थं स्वयं पत्नी वक्ति । 'सोऽस्मान् देवो अर्यंप्रेतो मुञ्चतु मामुष्य-

कुन्दमाला प्रभृति ग्रन्थों में तो सीता-राम का पुनर्मिलन करा कर उपसंहार किया है । कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी बताया है कि धार्मिक विवाह कभी विच्छिन्न नहीं होता । 'ममेयमस्तु' प्रभृति अथर्ववेदीय मन्त्र भी स्त्रियों के पिता की संपत्ति के अधिकार का और विवाह विच्छेद का स्पष्ट निषेध करता है । इसीलिये पत्नी, पुत्र और दास को मनु ने निर्धन बताया है, क्योंकि ये जो कुछ भी पैदा करते हैं, उस पर उनके स्वामी का ही अधिकार माना जाता है । ६।१।१४ संख्या के जैमिनि सूत्र की व्याख्या करते हुए शबर स्वामी ने यही बात कही है । स्त्री को निर्धन मानने से ही उसकी स्वतन्त्रता भी नहीं रह जाती है । शुक्रनीति में इसी का वर्णन मिलता है ।

'मुझे बृहस्पति ने तुमको सौंपा है' इस वाक्य में 'मह्यम्' इस पद में सम्प्रदान में चतुर्थी है । अपने अधिकार की निवृत्ति के साथ दूसरे के अधिकार को स्वीकार करना ही संप्रदान कहलाता है । ऐसा न होने के कारण ही धोबी को कपड़ा देता है, इस वाक्य में षष्ठी होती है, चतुर्थी नहीं । बृहस्पति, अग्नि और कन्या का पिता अपने स्वत्व को छोड़कर कन्या पर पति का स्वत्व स्वीकार करते हैं । इससे विवाह विच्छेद किसी भी तरह से समर्थित नहीं हो सकता । इसी कारण से जीवित हो या मर गया हो, स्त्री का पति ही सब कुछ है, इस मनुवचन में स्त्री पर सदा पति का ही अधिकार माना गया है । कन्यादान की क्रिया का कर्म स्त्री है, कर्ता नहीं । अतः एक बार कन्यादान हो जाने के बाद उस पर पिता प्रभृति का तथा स्वयं उसका भी अधिकार नहीं रह जाता । 'मया पत्या' प्रभृति वाक्यों से उसका पति के साथ जीवनपर्यन्त अटूट सम्बन्ध बना रहता है । इसी से तलाक आदि की भी कोई संभावना नहीं रह जाती । 'त्वा सह पत्या' प्रभृति ऋग्वेद, पारस्कर गृह्यसूत्र के वचनों के आधार पर और ऋक्-साम आदि दृष्टान्तों से भी पति-पत्नी के सम्बन्ध में दृढ़ता का ही समर्थन होता है । इसलिये भारतीय शास्त्रों की दृष्टि में विवाह-विच्छेद सर्वथा असंगत है ।

'अश्मेव त्वम्' इस पारस्कर गृह्यसूत्र के वाक्य में विवाह सम्बन्ध की पाषाण के समान दृढ़ता मानी गई है । गोभिल

गृहेभ्यः' (काठकगृह्यसूत्रे २५।३०) इति पितृगृहान्मुक्तिः पतिगृहाच्च सर्वथाऽमोकः प्रार्थ्यते । 'इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतं मोदमानौ स्वे गृहे' (ऋ० सं० १०।८५।५२) तथाऽथर्ववेदसंहिता १४।१।३२)। 'दुःशीलोदुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा । पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यः····' (भा० पु० १०।२९।२५), 'सकृत्कन्या प्रदीयते' (म० ९।४७), 'न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते ।' (म० ९।४६) 'न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च' (म० ९।७९) इतिवचनैर्विवाहविच्छेदः सर्वथा निषिद्धएव ।

यत्तु—"विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत् कन्यां विगर्हिताम् । व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥' (म० ९।७३) इति विवाहिताया अपि त्याग उक्तः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्त्तुर्भार्या विमुच्यते ।' (म० ९।४६) इति विरोधात् । तस्मात् पूर्वोक्तं पद्यं सप्तपदीकर्मणः पूर्वमेव दोषादिज्ञाने त्यागं बोधयति । तत एव तत्र कुल्लूकभट्टेनोक्तम्—'अद्भिरेव द्विजाग्र्याणामित्येवमादिविधिना प्रतिगृह्यापि कन्यां नैरुज्यलक्षणोपेतां रोगिणीं क्षतयोनित्वाद्यभिशापवतोमधिकाङ्गादिगोपनछद्मनोपपादितां सप्तपदीकरणात् प्राग् ज्ञातां त्यजेत् । ततश्च तत्त्यागे दोषाभाव इत्येतदर्थम् । विवाहे सम्पन्ने तु भर्त्तव्यैव सा' इति । 'न दत्त्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः' (म० ९।७१) इत्यत्र सप्तपदीकरणात्पूर्वमपि त्यागो निषिद्धः । यथोक्तं कुल्लूकभट्टेन—'सप्तपदीकरणस्याजातत्वाद् भार्यात्वाऽ निष्पत्तेः पुनर्दानाशङ्कायामिदं वचनम् । विवाहस्य पूर्णतायां त्यागः सर्वथा निषिद्ध एव' इति ।

यदपि—'यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति । दोषे तु सति त्यागः स्यादन्योऽन्यं त्यजतोस्तयोः ॥' (१२।३२) इति नारदीयमनुसंहितायां विवाहविच्छेद उक्त' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भृगुप्रोक्तमनुवचनवन्नारदप्रोक्तमनुवचनस्यापि सप्तपदीकरणात्प्रागेव त्यागविधाने तात्पर्यात् । तथाहि—'यस्तु, दोषवती कन्यामनाख्यायोपपादयेत् । तस्य तद्वितथं कुर्यात् कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥' (म० ९।७३) इति वचनमपि सप्तपदीकरणात्प्राग् ज्ञातदोषायास्त्यागे दोषाभावमात्रप्रदर्शनार्थम्, न

गृह्यसूत्र और काठक गृह्यसूत्र में भी पिता के घर से मुक्ति और पति के घर से निरन्तर दृढ़ सम्बन्ध की कामना की गई है। ऋग्वेद और अथर्ववेद संहिता में भी ऐसी ही कामना की गई है। भागवत पुराण में बताया गया है कि व्यसनी, कुरूप, वृद्ध, मूर्ख, रोगी, निर्धन पति का भी स्त्रियों को परित्याग नहीं करना चाहिये। मनुस्मृति के भी अनेक वचन विवाह के विच्छेद को सर्वथा निषिद्ध बताते हैं।

निन्दित, रोगिणी, दुष्ट और छल से दी हुई कन्या को विधि-पूर्वक ग्रहण करके भी पुरुष त्याग सकता है। इस मनु वाक्य में विवाहित स्त्री के परित्याग की बात कही गई है, ऐसा कुछ लोगों का विचार है, किन्तु यह उक्ति ठीक नहीं है, क्योंकि अभी अभी मनु का वह कथन उद्धृत किया गया है, जिसके अनुसार कि विक्रय या त्याग से स्त्री पति से अलग नहीं हो सकती। आपकी बात मान लेने से इस वचन से स्पष्ट विरोध होगा। इसलिये पूर्वोक्त पद्य की संगति सप्तपदी से पहले कन्या में दोष का ज्ञान हो जाने पर परित्याग में होगी। इसीलिये टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने कहा है कि विधिपूर्वक कन्या को स्वीकार करके भी कन्या में किसी रोग, क्षतयोनित्व, अधिक या हीन अंग प्रभृति दोषों के रहते हुए भी छलपूर्वक उनको छिपाया गया है तो सप्तपदी से पहले उनका ज्ञान हो जाने पर उसका परित्याग कर दे। इस स्थिति में परित्याग कर देने में कोई दोष नहीं है। विवाह हो जाने के बाद तो उसका भरण-पोषण करना ही पड़ता है। 'न दत्त्वा' प्रभृति मनुवचन में सप्तपदी से पहले भी एक बार स्वीकार कर लेने के बाद कन्या का परित्याग निषिद्ध माना गया गया है। कुल्लूक भट्ट ने अपनी व्याख्या में यही अभिप्राय व्यक्त किया है।

'यस्तु दोष०' प्रभृति नारदीय मनुसंहिता के वचन में विवाह विच्छेद की बात कही गई है, ऐसा कुछ लोगों का कथन है, किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि भृगुप्रोक्त मनुवचन के समान ही नारद प्रोक्त मनुवचन का भी तात्पर्य सप्तपदी के पहले ही परित्याग के विधान में है। 'यस्तु दोषवतीम्' प्रभृति मनुवचन का तात्पर्य भी सप्तपदी के पहले कन्या में किसी दोष का ज्ञान हो जाने पर परित्याग करने में कोई दोष नहीं होता, इतना मात्र बताने में है। यहाँ परित्याग विहित नहीं है, इस बात को पहले ही कहा जा चुका है। त्याग में दोष न रहने से नरकपतन आदि का भय नहीं होता, तो ऐसी अवस्था में सदोष कन्या का परित्याग ही उचित है, ऐसा

तु त्यागार्थमिति निर्णीतत्वात् । न च त्यागे दोषाभावे नरकपाताद्यभावात् कुतो न ज्ञातदोषायास्त्याग एव श्रेयानिति वाच्यम्, वाग्दत्तायां भार्यात्वस्य कथञ्चिन्निष्ठितत्वात् 'न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते' (म० ९।४६) इति मनुवाक्येन त्यागस्य विरोधात् । यदपि 'प्रोषितो धर्मकार्मार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः । विद्यार्थं षड्यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥' (म० ९।७६) इति पतित्यागो विहितः' इति; तदपि न, 'न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते' (म० ९।४६) इति विरोधात् । 'कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः । न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य च ॥' (म० ५।१५७) इति मरणेऽपि पत्यन्तरनामग्रहणस्यापि निषेधात् । पत्युरपीदं कर्त्तव्यमुक्तम्—'विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत् कार्यवान्नरः । अवृत्तिकर्शिता हि स्त्री प्रदुष्येत् स्थितिमत्यपि ॥' (म० ९।७४) इति । तथैव पतितृंकवृत्तिविधानाभावेऽप्यगर्हितैः शिल्पैः स्त्रियोऽपि कर्त्तव्यमुक्तं मनुना—'विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता । प्रोषिते त्वविधायैव जीवेत् शिल्पैरगर्हितैः ॥' (म० ९।७५) इति ।

धर्मकार्यार्थं बहिर्गतस्य पत्युरष्टवर्षाणि, विद्यार्थं यशोऽर्थं वा बहिर्गतस्य षड्वर्षाणि, कामार्थं गतस्य वर्षत्रयं यावत् प्रतीक्षा कर्त्तव्या । ततः परं किं कर्त्तव्यमिति विषये मनुना न किञ्चिदुक्तम् । परन्तु दयानन्देन ततः परं नियोगः कर्त्तव्य इत्युक्तम्, तत्तु सर्वथाप्यसङ्गतमेव, नियोगस्याप्रकरणत्वात् । मनुना तदसङ्केताच्च । टीकाकारैस्तु पतिसमीपगमनमुक्तम् । तथाहि—'तदूर्ध्वं पत्युः सन्निकर्षमेव गच्छेदिति नारायणः । कुल्लूकभट्टस्तु—'विवाहिताया विधवाया नियोगः ५९ श्लोकमारभ्य ६६ श्लोकं यावत् समाप्तः । ६४ पद्यमारभ्य ६८ पद्यं यावन्नियोगखण्डनं समाप्तम् । वाग्दत्ताया विधवायाः ६९-७० पद्याभ्यां मनुना विशेषविधानमुक्तम् । ७१ पद्ये त्वेकस्मै दत्त्वा नान्यस्मै दातव्येति तस्या दानं निषिद्धमिति नात्र नियोगगन्धोऽपि । ७२ पद्ये तु सप्तपदीकरणात् प्राक् छद्मना दत्तानां व्याधितादीनां त्यागेऽदोष उक्त इति तत्रापि नियोग-

हम नहीं मान सकते, क्योंकि वाग्दत्ता भी उसकी भार्या हो गई । ऐसी स्थिति में विक्रय, परित्याग आदि से भी भार्यात्व की अनिवृत्ति बताने वाले मनुवचन के अनुसार उसका परित्याग नहीं किया जा सकता । कुछ लोगों का कहना है कि 'पति धर्म-कार्य के लिये विदेश जाय तो आठ वर्ष तक, विद्या पढ़ने या यश प्राप्त करने के लिये छः वर्ष तक और इन्द्रिय उपभोग के लिये तीन वर्ष तक स्त्री उसकी राह देखे' इस मनुवचन में पति का त्याग विहित है, किन्तु बात ऐसी है नहीं, क्योंकि विक्रय और परित्याग से भार्यात्व की अनिवृत्ति बताने वाले मनुवचन से इसका विरोध होगा । 'पवित्र पुष्प, मूल, फलों से अर्थात् इनसे उदरपूर्ति कर अपनी देह को चाहे दुर्बल बना ले, परन्तु पति के मरने पर दूसरे का नाम भी न ले' इस मनुवचन में पति की मृत्यु के उपरान्त दूसरे का नाम लेना भी निषिद्ध माना गया है । पति का कर्तव्य भी वहीं बताया गया है—'कार्यवान् पुरुष पत्नी को पोषण के लिये वृत्ति देकर विदेश जाय, क्योंकि जीविका का उपाय न रहने पर मर्यादा में स्थित स्त्रियाँ भी पथभ्रष्ट हो सकती हैं । इसी तरह से मनु ने स्त्री को भी उपदेश दिया है कि निर्वाह के योग्य वृत्ति लेकर जब तक पति विदेश में रहे, तब तक स्त्री नियमपूर्वक अपना निर्वाह करे और जो पति; जीवन निर्वाह का प्रबन्ध बिना किये परदेश चला जाय, तो स्त्री सीना-पिरोना आदि अनिन्दित शिल्पों से अपना निर्वाह करे ।

धार्मिक कार्य के निमित्त पति के विदेश जाने पर आठ वर्ष तक, विद्या पढ़ने या यश प्राप्त करने के लिये जाने पर छः वर्ष तक और इन्द्रिय उपभोग के लिये गये पति की तीन वर्ष तक स्त्री प्रतीक्षा करे । इसके बाद क्या करना चाहिये, इसके सम्बन्ध में मनु ने कुछ नहीं कहा । परन्तु दयानन्द का कहना है कि इसके बाद स्त्री नियोग कर ले । उनका यह कथन सर्वथा असंगत है, क्योंकि यहाँ पर नियोग का कोई प्रसंग नहीं है । फिर मनु ने भी इसकी ओर कोई संकेत नहीं किया है । टीकाकारों ने यहाँ पर कहा है कि स्त्री को पति के पास चला जाना चाहिये । मनु ने नवम अध्याय के ५९-६६ श्लोकों में विवाहित विधवा के नियोग का विधान और ६४-६८ श्लोकों में नियोग का खण्डन किया है । ६९-७० श्लोकों में वाग्दत्ता विधवा के लिये विशेष विधि बताई गई है और ७१ वें श्लोक में बताया गया है कि एक व्यक्ति को दी गई कन्या का दूसरे को दान नहीं करना चाहिये । इस तरह से इस प्रकरण में कहीं भी नियोग की चर्चा नहीं है । ७२ वें पद्य में कहा गया है कि सप्तपदी के पहले छल से दी गई अथवा रोगिणी आदि सदोष कन्या का त्याग करने में कोई दोष नहीं है । इस तरह से यहाँ भी नियोग की कोई चर्चा नहीं है । ७३ वें पद्य में बताया गया है कि कन्या के दोष को

गन्धो नास्ति। ७३ पद्ये दोषमनाख्याय दुष्टकन्याया दातुः प्रयत्नवैयर्थ्यायोक्तम्। ७४-७६ पद्येष्वपि नियोगप्रसङ्गो नास्ति। ततो धर्माद्यर्थं प्रोषितस्य पत्युरष्टवर्षादिकालप्रतीक्षानन्तरं नियोगः कथं केन प्रमाणेन विधीयेत ? ततो मनुसंहिताटीकाकारै वशिष्ठधर्मसूत्रादिवचनाश्रयेण पत्युः समीपगमनमेवोक्तं न नियोगः। 'प्रोषितपत्नी पञ्चवर्षाण्युपासीत। ऊर्ध्वं पञ्चभ्यो वर्षेभ्यो भर्तृसकाशं गच्छेत्' (वशिष्ठधर्मसूत्रे १७।६७) इत्येतद्वचनमाश्रित्यैव टीकाकारैर्व्यवस्था कृता। नियोगकल्पनं तु दयानन्दस्य निरङ्कुशत्वमेव बोधयति। यदि पत्न्या गमनेऽपि पतिर्न लभ्येत पत्नी वा न जिगमिषेत् तत्रापि वशिष्ठः कर्त्तव्यतां निर्दिशति—'यदि धर्मकामाभ्यां प्रवासं प्रति अनुकामा न स्यात् यथा प्रेत इत्येवं वर्तितव्यं स्यात्।' (वशिष्ठधर्मसूत्रे १७।६८) तदा पत्युरप्राप्तौ पत्युर्मृत्यौ सति यथा वर्तितव्यं भवति, तथैव तया वर्तितव्यमिति, वैधव्यधर्मं पालयेदित्यर्थः। तस्मान्नात्र नियोगो न वा विवाहविच्छेद उक्तः।

यत्तु—'वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा। एकादशे स्त्री जननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥ (म० ९।८१) इति वचनमाश्रित्य दयानन्देनोक्तम्—'पुरुषार्थमपि नियमाः। वन्ध्यायां सत्यामष्टमेऽब्दे, मृतप्रजायां दशमे, स्त्रीजनन्यामेकादशेऽब्दे, अप्रियवादिन्यां सद्यस्तां त्यक्त्वा अन्यया स्त्रिया नियोगं कुर्यात्' इति, तत्सर्वमपि शास्त्रविरुद्धमेव, अधिवेद्याशब्दार्थाऽज्ञानात्। अधिवेद्याशब्दस्य सर्वसम्मतोऽयमर्थः—तस्यां स्त्रियां सत्यां (जीवन्त्यामेव पत्नीरूपेण) अन्यया सह विवाह इति। 'तस्या उपरि अन्यया विवाह इति मेधातिथिः कुल्लूकभट्टश्च। अधिवेदनं द्वितीयभार्यासम्बन्ध इति नारायणः। सत्यामपि तस्यां तस्या उपरि स्त्र्यन्तरस्य परिग्रह इति राघवाचार्यः। 'अपरा वोढव्या' इति नन्दनः। 'आसामुपरि अन्या विवाहितुं योग्या' इति रामचन्द्रः। 'अधि उपरि अन्या वेद्या विवाह्या' इति कश्चित्। नात्र पूर्वस्यास्त्याग उक्तः, किन्तु विवाहान्तरमेव विहितम्। तत्रापि तदनुमतिरपि ग्राह्या। 'या रोगिणी स्यात्तु हिता सम्पन्ना चैव शीलतः। सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित्॥ (म० ९।८२) इति वचनात्। यदि पूर्वस्यास्त्यागोऽभीष्टः स्यात्तदा तदनुमतिग्रहणप्रसङ्ग एव कुतः ? अप्रिय-

बिना बताये कोई व्यक्ति कन्यादान करना चाहे, तो उसका उस दुष्ट प्रयत्न को निष्फल कर देना चाहिये। ७४-७६ श्लोकों में भी नियोग का प्रसंग नहीं है। इस स्थिति में धर्मार्जन प्रभृति प्रयोजनों के लिये विदेश गये पति के निश्चित अवधि में न लौटने पर नियोग कर लिया जाय, आपकी यह बात किस प्रमाण से इस प्रकरण से सिद्ध होगी ? इसीलिये मनुसंहिता के टीकाकारों ने वसिष्ठ धर्मसूत्र प्रभृति ग्रंथों के प्रमाण से स्त्री को पति के पास चले जाने का ही विधान किया है, नियोग का नहीं। 'प्रोषितपत्नी०' इत्यादि वसिष्ठ वचनों के सहारे ही टीकाकारों ने यह व्यवस्था दी है। नियोग की बात दयानन्द की निरंकुश कल्पनामात्र है। यदि पत्नी, पति के पास जाने पर वह न मिले अथवा पत्नी ही उसके पास न जाना चाहे, उस परिस्थिति में भी वसिष्ठ ने कर्तव्य का उपदेश किया है कि उस पत्नी को अपनी दिनचर्या इस प्रकार की बना लेनी चाहिये जैसी कि पति की मृत्यु के उपरान्त बना ली जाती है। इस तरह से उस परिस्थिति में विधवा धर्म के पालन का उपदेश है। नियोग अथवा तलाक की यहाँ कोई चर्चा नहीं है।

'स्त्री के सन्तान न हो तो आठवें वर्ष, सन्तान होकर मर जाती हो तो दसवें वर्ष, अथवा स्त्री के केवल कन्या ही कन्या होती हो तो ११ वें वर्ष दूसरा विवाह कर ले। जो स्त्री अप्रिय वचन बोलने वाली हो तो तुरन्त ही दूसरा विवाह कर ले' मनु ने इस वचन के आधार पर स्वामी दयानन्द का कहना है कि इसमें नियोग का विधान किया गया है, किन्तु उनका यह कथन शास्त्रविरुद्ध है। वे अधिवेद्य शब्द का अर्थ भी नहीं समझ पाये हैं। अधिवेद्य शब्द का धर्मशास्त्रज्ञ संमत अर्थ है—प्रथम विवाहित पत्नी के जीवित रहते दूसरी स्त्री से विवाह। मेधातिथि और कुल्लूकभट्ट ने यही अर्थ किया है। नारायण, राघवाचार्य, नन्दन, रामचन्द्र प्रभृति टीकाकारों ने भी इसी से मिलता-जुलता अर्थ किया है। किसी भी टीकाकार ने प्रथम पत्नी के त्याग की बात नहीं कही है, किन्तु प्रथम पत्नी के रहते हुए ही दूसरे विवाह का विधान किया है। इसके लिए प्रथम पत्नी की अनुमति अपेक्षित मानी गई है। जैसा कि मनुस्मृति में ही कहा गया है—'जो रोगिणी स्त्री अपने पति में रत और सुशीला हो तो स्त्री की अनुमति लेकर पति दूसरा विवाह करे और उसकी कभी अवज्ञा न करें'। यदि पूर्व पत्नी का त्याग अभीष्ट हो तो उस दशा में उसकी अनुमति का प्रसंग ही कहां आवेगा। अप्रियवादिनी स्त्री का भी परित्याग नहीं किया जाता, किन्तु उसका भी अपने ही घर में अथवा उसके पिता के घर में भरण-पोषण

वादिन्या अपि त्यागो नेष्टः, किन्तु तस्या अपि स्वगृहे रक्षणं पितृगृहे प्रेषणं वेष्टम् । 'अधिविन्नातु या नारी निर्गच्छेद्रुषिता गृहात् । सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ ।.' (म० ९।८३) इति मनूक्तेः । तस्मात् प्रयोजनवशात् पत्न्यन्तरविधानेऽपि पूर्वस्याः पत्न्यास्त्यागः सर्वथा नेष्टः ।

सन्तानाभाव एवाप्रियवादिनी अधिवेत्तव्या; न सन्ताने सति । अप्रियवादिनी सद्य एव (अधिवेदनीया) यद्यपुत्रा भवति, पुत्रवत्यां तु तस्यां धर्मप्रजासम्पन्ने नान्यां कुर्वीत, इत्यापस्तम्बप्रतिषेधात् अधिवेदनं न कार्यम् । तथा च 'तां त्यक्त्वा अन्यया नियोगः कर्त्तव्यः' इति दयानन्दोक्तिः सर्वथैवानादर्त्तव्या । दयानन्दरीत्या वन्ध्यादिपतिना अन्यया स्त्रिया नियोगः कर्त्तव्यः । तत्रायं प्रश्नः—वन्ध्यायाः सन्तानाभावेऽपि कामपूर्तिस्तु भवत्येवेति कुतोऽन्यया नियोगः ? तथैव मृतवत्सामपि त्यक्त्वा कुतो नियोगः, तस्या एव सकाशात् कामपूर्तिसम्भवात् । किञ्च, स्त्रीजननीमपि त्यक्त्वा नियोग उक्तः, तदपि निरर्थकमेव, स्त्रिया अपि सन्तानत्वाविशेषात् । किञ्च, अप्रियवादिन्यामपि सन्तानोत्पत्तिरपि सम्भवतीति कुतो नियोगः ? सनातनधर्मरीत्या तु पुन्नाम्नो नरकात् त्राणार्थं स्त्रीजननी ह्यधिवेदनीया स्यादिति तदनभ्युपगन्तुरार्यसमाजस्य कुतस्तत्स्यात् ?

यदपि 'नीचत्वं परदेशं वा प्रस्थितो राजकिल्बिषी । प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यः क्लीबोऽपि वा पतिः ॥' (३।२), 'परस्परं द्वेषान्मोक्षः' इत्यादि कौटल्यार्थशास्त्रवचनैर्विवाहविच्छेदः सिषाधयिषितः' इति, तदपि मूर्खजनप्रतारणमात्रम्, पूर्वापराननुसन्धानमूलकत्वात्, विरुद्धवचनान्तरगोपनमूलकत्वाच्च । कौटल्यार्थशास्त्रं नीतिशास्त्रं; न धर्मशास्त्रम्, लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः' (गो० सू० ४।१६२) इति तदुक्तेः । 'अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः ।' (याज्ञ० स्मृ० २।२१) इति याज्ञवल्क्यवचनविरोधाच्च । राजतन्त्रसञ्चालनार्थं नीतिशास्त्रे क्वचिद् धर्मातिक्रमणमपि

विहित है । इस प्रसङ्ग में मनु ने ही कहा है—'दूसरा ब्याह करने पर यदि स्त्री क्रोध के वश होकर घर से निकलने को तैयार हो तो तत्काल उसे बांध रखे अथवा स्वजनों के घर उसे भेज दे' । इसलिये किसी कारणवश दूसरा विवाह करने पर भी प्रथम पत्नी के त्याग की बात किसी भी धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ में नहीं कही गई है ।

सन्तान न होने पर ही अप्रियवादिनी स्त्री के रहते दूसरा विवाह करना चाहिये । अप्रियवादिनी स्त्री यदि पुत्रवती नहीं है तो तत्काल दूसरा विवाह कर लेना चाहिये । उसको यदि पुत्र हो गया है, तो ऐसी परिस्थिति में दूसरा विवाह नहीं करना चाहिये । आपस्तम्ब के इस स्पष्ट विधान के रहते दयानन्द का इस प्रकरण में नियोग को सिद्ध करने का प्रयत्न कभी मान्य नहीं हो सकता । दयानन्द के अनुसार प्रथम पत्नी में वन्ध्यात्व आदि दोषों के रहने पर नियोग कर लेना चाहिये । इस पर हम पूछते हैं कि वन्ध्या के सन्तान भले ही न हो. कामभाव की पूर्ति तो उससे होती ही है, तब दूसरी से नियोग किसलिये किया जायगा ? यही बात मृतवत्सा (जिसके बच्चे जीवित नहीं रहते) और स्त्री जननी (जिसके कन्या ही कन्या होती है) के सम्बन्ध में भी है । इनसे भी कामभाव की पूर्ति हो ही जाती है और कन्या भी तो सन्तान है ही । फिर अप्रियवादिनी से भी सन्तान तो हो ही सकती है, तब निनोग की क्या आवश्यकता है ? सनातन धर्म की पद्धति से तो पुम् नाम के नरक से त्राण दिलाने के लिये पुरुष सन्तति की प्राप्ति के लिये स्त्री सन्तति वाली पत्नी का अधिवेदन आवश्यक है । आर्यसमाजी तो इस बात को स्वीकार नहीं करते, तब उसके मत के अनुसार इस परिस्थिति में नियोग कैसे उचित ठहराया जा सकता है ?

'जो नीचता पर उतर आया हो, परदेश चला गया हो, राज्य के प्रति अपराधी हो, हत्यारा हो, पतित हो, नपुंसक हो, ऐसे पति को छोड़ देना चाहिये', 'परस्पर द्वेषभाव रहने पर विवाह विच्छेद कर लेना चाहिये', इस अभिप्राय के कौटिलीय अर्थशास्त्र के वचनों के आधार पर कुछ लोग विवाह विच्छेद (तलाक) को सिद्ध करना चाहते हैं । किन्तु उनकी यह चेष्टा मूर्खों को ही भ्रम में डाल सकती है । ऐसा करते समय उन्होंने पूर्वापर प्रकरण को ठीक से देखा नहीं है और विपरीत वचनों को छिपाने की भी कुचेष्टा की है । कौटल्य का अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र है, धर्मशास्त्र नहीं । गोतमसूत्र की व्याख्या में कौटल्य ने ही कहा है कि लोक व्यवहार की व्यवस्था करना धर्मशास्त्र का कार्य है । याज्ञवल्क्य के वचन के अनुसार अर्थशास्त्र की अपेक्षा धर्मशास्त्र बलवान् माना गया है । राज-

सम्भाव्यते। तद्यथा—'ब्राह्मणमधीयानं दशवर्षाण्यप्रजाता राजपुरुषमायुः क्षयाद् आकाङ्क्षेत' (कौ० अ० शा० ३।४) अत्राधीयानस्य ब्राह्मणस्य दश द्वादश वर्षाणि प्रतीक्षा राजपुरुषस्य तु यावज्जीवनप्रतीक्षोक्ता। तेनात्र बृहतो राजतन्त्रस्य सञ्चालनार्थं किञ्चिद् धर्मातिक्रमणं सम्भाव्यते। बौद्धधर्मप्रचारयुगे कौटल्यस्य स्थितिरासीत्। तेन धर्मश्रद्धाशैथिल्याद् अर्थकामसक्तानां पुरुषाणां कृते सामान्यजनानां च कृते परस्परं द्वेषान्मोक्ष उक्तः। धर्मशास्त्रानुसारिविवाहानां सम्बन्धे तु तेन 'अमोक्षो धर्मविवाहानाम्' इति स्पष्टमेव विवाहविच्छेदो निषिद्धः। स्मृतिषु चाण्डालानामपि वर्णनं दृश्यते। तदुत्पत्तिस्तु शूद्राद् ब्राह्मण्यां भवति। तावतापि न तदनुमतिः प्रतिलोमसङ्करस्य, स्मृतिषु सर्वथा तन्निषेधात्। तथैव केषाञ्चिल्लौकिकानां परस्परं द्वेषान्मोक्षवर्णनेऽपि न तदनुमतिः, मन्वादिधर्मशास्त्रविरोधात्।

कौटल्यरीत्यापि 'स्वधर्मः स्वर्गाय आनन्त्याय च' (१।३।१४) इति चाणक्यसूत्रेषु। तत्र प्रथममिदं सूत्रम्-'सुखस्य मूलं धर्म···(धर्मस्य) अतिक्रमे लोकः सङ्करादुच्छिद्येत' (१।३।१५) इति।' सङ्करो नरकायैव' (भ० गी० १।४२) इति गीतोक्तेश्च। 'व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः। त्रय्या हि रक्षितो लोकः न प्रसीदति न सीदति॥' इति वर्णाश्रममर्यादापालनस्य परमावश्यकतोक्ता। 'चतुर्वर्णाश्रमस्यायं लोकस्याचाररक्षणात्। नश्यतां सर्वधर्माणां राजा धर्मप्रवर्तकः॥' (३।१।५०), संस्थया महाजनाचरणेन धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम्' (राजशासनम्), यस्मिन्नर्थे विरुद्धयेत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत्' (६।१) एवंरीत्या धर्मशास्त्रानुसारेणैव व्यावहारिकं शास्त्रं व्याख्येयमिति कौटल्यदृष्टिः। तद्दृष्ट्या राजशासनमपि धर्मशास्त्रेणैव नियमनीयम्।

'पितृप्रमाणाश्चत्वारः पूर्वे ब्राह्मप्राजापत्यार्षदेवा धर्म्याः' (३।२।१०) इति कौटल्यः। पूर्वे विवाहा धर्म्या

तन्त्र के संचालन के लिये नीतिशास्त्र के अनुसार कभी कभी धर्म को आंख ओझल कर देना पड़ता है। कौटल्य का अर्थशास्त्र वेदाध्ययन करने वाले ब्राह्मण की १०-१२ वर्ष प्रतीक्षा करने का और राजपुरुष की जीवनपर्यन्त प्रतीक्षा करने का विधान करता है, जो कि धर्मशास्त्र के विपरीत हैं। इस तरह से महान् राजतन्त्र के संचालन के लिये यहां कभी कभी धर्मशास्त्र की उपेक्षा की जाती है। बौद्ध धर्म के प्रचार काल में कौटल्य की स्थिति मानी जाती है। इसलिये धर्म में श्रद्धा के शिथिल हो जाने से अर्थ और काम में लिप्त पुरुषों के लिये और सामान्य जनता के लिये यह कह दिया है कि परस्पर द्वेषभाव बढ़ जाने पर विवाह का विच्केद कर लिया जाय। धर्मशास्त्र के अनुसार संपन्न होने वाले विवाहों के लिये तो कौटल्य का स्पष्ट वचन है कि धर्म विवाह का विच्छेद नहीं हो सकता। स्मृतिग्रन्थों में चाण्डालों का भी वर्णन है। चाण्डाल की उत्पत्ति शूद्र वर्ण के पुरुष से ब्राह्मण वर्ण की स्त्री में होती है। किन्तु इससे प्रतिलोम विवाह धर्मशास्त्र संमत नहीं सिद्ध किये जा सकते, क्योंकि स्मृति ग्रन्थों में ऐसे विवाह सर्वथा निषिद्ध हैं। इसी तरह से लोकव्यवहार में कुछ लोग परस्पर द्वेष के कारण विवाह विच्छेद भले ही कर लें, किन्तु इसको धर्मशास्त्र संमत कभी नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि मनु प्रभृति के ग्रन्थों में इस बात का स्पष्ट निषेध है।

चाणक्य सूत्रों में कौटल्य ने स्पष्ट कहा है कि धर्म के पालन से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। उसके पहले सूत्र में बताया गया है कि धर्म से ही सुख की प्राप्ति होती है। धर्म का उल्लंघन करने से सब जगह सांकर्य होने लगता है और इस तरह से लोक में अव्यवस्था फैल जाती है। भगवद्गीता में कहा गया है कि वर्ण सांकर्य नरक का कारण बनता है। आर्य मर्यादा के व्यवस्थित रहने से वर्णाश्रम व्यवस्था भली भाँति चलती रहती है। वेदविहित धर्म की रक्षा करने से जनता में खुशहाली बनी रहती है, वह कभी संकट में नहीं पड़ती। चारों वर्णों और आश्रमों की तथा लोकाचार की रक्षा करके राजा नष्ट होते हुए धर्म की रक्षा करता है। इसीलिये राजा को धर्म का प्रवर्तक माना जाता है। धार्मिक संस्थाओं की स्थापना करके, महान् पुरुषों के आचरण का अनुसरण कर व्यावहारिक शास्त्र की व्याख्या करना ही कौटल्य को अभिप्रेत है। अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र में विरोध उपस्थित होने पर धर्मशास्त्र के अनुसार ही व्यवहारों की व्याख्या करनी चाहिये। कौटल्य के मत के अनुसार राजशासन नियम भी धर्मशास्त्र के द्वारा ही किया जाना चाहिये।

कौटल्य ने ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष और दैव इन चार प्रकार के विवाहों को धार्मिक विवाह माना है और कह।है कि

अमोक्षो धर्मविवाहानाम् (३।३।२२) तेन धर्मविवाहानां विच्छेदो न भवत्येव । 'मृते भर्तरि धर्मकामा तदानीमेव अवस्थाप्य आमरणं शुल्कशेषं वा लभते । अपुत्रा पतिशयनं पालयन्ती आयुःक्षयात् भुञ्जीत । आपदर्थं हि स्त्रीधनम् । ऊर्ध्वं दायादं गच्छेत (३।२) पुत्रहीना पतिशयनं पालयन्ती गुरुसमीपे स्त्रीधनं यावज्जीवं भुञ्जीत मूलमविनाशयन्ती वृद्ध्यादिकं सञ्जातमात्रमुपयुञ्जीतेत्यर्थः । कुतः 'आपदर्थं हि स्त्रीधनम्' वृत्तिकृच्छ्रपरिहारमात्रविनियोज्यं हि स्त्रीधनं नाम, न पुनः कामचारव्यवायार्थम्, तथा तथा रक्षितं स्त्रीधनं तस्यामुपरतायां भर्तृसपिण्डं गच्छेदिति टीकाकृत् । नारदस्मृतावपि तदेवोक्तम् अपुत्रा पतिशयनं पालयन्ती गुरौ स्थिता । भुञ्जीतामरणं क्षान्ता दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुः' (२।१४४ , । यदि तु मृतभर्तृका परपुरुषं कामयते तदा स्त्रीधनं सकुसीदं राज्ञा दाप्येत भर्तृबन्धुभ्यः, लब्ध्वा वा विन्दमानःसवृद्धिकमुभयं दाप्येत (३।२।२६)।

विधवाविवाहस्तु सुतरां कौटल्यदृष्ट्यापि सर्वथा निषिद्ध एव । विधवाविवाहाभासास्तु बाधिता एव। निषेधपर्यवसायिभिर्वाक्यैः पतिदायं विन्दमाना जीवेत । धर्मकामा भुञ्जीत' (३।२) अत्र पत्या दत्तं वस्त्राभरणादिकं विन्दमाना भर्त्रन्तरपरिग्राहिणी जीवेत दाप्येत श्वशुरकुलायेति म० म० गणपतिशास्त्रिव्याख्यानम् । स्त्रियाः पुत्राभावे पत्युर्विवाहानन्तरमुक्तं कौटल्येनापि पूर्वस्यास्तु त्यागो नोक्तः, किन्तु तस्याः सम्पोषणमुक्तम् । 'वर्षाण्यष्टौ अप्रजायमानामपुत्रां वन्ध्यां च आकाङ्क्षेत (प्रतीक्षेत) दश विन्दुं द्वादश कन्या प्रसविनी । ततः पुत्रार्थी द्वितीयां विन्देत । (३।४।४७-४९) अत्र पुत्रार्थमधिवेदनमुक्तं न कामार्थम् । 'आधिवेदनिकमनुरूपां च वृत्तिं दत्वा बह्वीरपि विन्देत । पुत्रार्था हि स्त्रियः (३।२।५२-५३) नात्र विवाहविच्छेदः । परिणीताया उपरि अन्यस्याः परिणयनमधिवेदनम् । सापत्निका अध्यूढा अधिविन्ना (२।७।७ अमरकोषे)। तस्माद् गान्धर्वासुरपैशाचराक्षसादिविवाहेषु शास्त्रनिन्दितेषु व्यवहारेऽप्याप्यप्रचलितेषु परस्परं द्वेषान्मोक्ष इति कौटल्यवचनं सार्थकं भवति ।

इनका विच्छेद नहीं होता । कौटल्य आगे कहते हैं कि पति के मर जाने पर धर्म की कामना वाली स्त्री मरणपर्यन्त पति के धन से जीवन यापन करे । पुत्र के न रहने पर भी अपने पति की मर्यादा का पालन करती हुई वह गुरुजनों के साथ रहे और पति के मूल धन को बिना खर्च किये सूद के धन से अपना जीवन बितावे । क्योंकि स्त्रीधन का उपयोग आपत्ति काल में ही किया जाता है । जीवन यापन में कठिनाई होने पर ही उसका उपयोग होना चाहिये । मनमानी करने के लिये नहीं । टीकाकारों ने यहाँ व्यवस्था दी है कि उसके मरने के उपरान्त यह स्त्रीधन उसके पति के सपिण्ड संबन्धी को मिलता है । नारद स्मृति के 'अपुत्रा' प्रभृति श्लोक में भी यही बात कही गई है । पति के मर जाने पर स्त्री यदि परपुरुष से सम्बन्ध जोड़ लेती है, तो उस अवस्था में कौटल्य ने कहा है कि ब्याज के साथ मूल स्त्रीधन को भी राजा उसके पति के बन्धुओं को दिलवा दे ।

विधवा विवाह तो कौटल्य के मत से भी सर्वथा निषिद्ध ही माना गया है । 'निषेध०' प्रभृति कौटल्य के वाक्य की गणपति शास्त्री ने व्याख्या की है कि पति के दिये वस्त्र, आभरण आदि की उपभोग करने वाली स्त्री यदि दूसरा पति कर ले तो राजा को चाहिये कि वह धन पति के कुटुम्बी जनों को दिलवा दे । एक स्त्री से पुत्र न होने पर पति के दूसरे विवाह का विधान तो कौटल्य ने भी किया है, किन्तु ऐसा करते समय पहली स्त्री का त्याग नहीं किया जाता, उसका भी पालन-पोषण पति को करना ही पड़ता है । 'आठ वर्ष तक इस बात की प्रतीक्षा करनी चाहिये कि पत्नी को पुत्र होता है कि नहीं, दस वर्ष तक मृतवत्सा की और बारह वर्ष तक कन्या अपत्य वाली स्त्री की प्रतीक्षा करनी चाहिये । इसके बाद पुरुष को पुत्र प्राप्ति के लिये दूसरा विवाह कर लेना चाहिये । कौटल्य के इस वचन में भी पुत्र की प्राप्ति के लिये ही दूसरे विवाह का विधान है, कामोपभोग के लिये नहीं । कौटल्य पुत्र प्राप्ति के लिये अनेक विवाहों की भी अनुमति देते हैं । यहाँ पर कहीं भी विवाह के विच्छेद की चर्चा नहीं है । विवाहित स्त्री के जीवित रहते पुत्र प्राप्ति के लिये किये गये दूसरे विवाह को अधिवेदन कहते हैं । अमरकोष में भी अधिविन्ना शब्द का यही अर्थ किया गया है । इस तरह से उक्त चार धार्मिक विवाहों से भिन्न शास्त्रनिन्दित गान्धर्व, असुर, पैशाच, राक्षस नाम के चार विवाहों में, जो कि व्यवहार में जिस किसी तरह से प्रचलित हैं, परस्पर द्वेषभाव के आ जाने पर विवाह के विच्छेद की बात कौटल्य के मत के अनुसार मानी जा सकती है ।

नियोगो दयानन्देन वर्णितः। स च शास्त्रेषु सर्वथा प्रतिषिद्धः। आर्यसमाजोऽपि तं स्वगृहे प्रचालयितुं जिह्रेति। कलियुगे तु विशेषतो निषिद्धः। आर्यसमाजस्तु तत्समर्थनाय महाभारतमाश्रयते। वस्तुतो महाभारतावलोकनेन विज्ञायते यत् क्षत्रियजातेरेव नियोगो विहित इति। तत्र नियोगेऽपि मैथुनं न भवति स्म। आधुनिकास्तु चित्राङ्गदविचित्रवीर्यपत्नीभ्यां व्यासस्य महर्षेर्नियोगं वर्णयन्ति। तच्चाविचारितरमणीयम्। प्रायेण वृद्धैस्तपस्विभिरेव नियोगः कार्यते स्म। इतिहासस्यातीतवेदन एवोपयोगो; न व्यवहारे, व्यवहारस्य विधिशास्त्रगोचरत्वात्। लोकेऽपि विधानस्यैव व्यवहारे प्रामाण्यम्, नेतिहासस्य दौर्भाग्यपूर्णस्यापीतिहासस्य सम्भवात्।

'अन्यो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः, अन्यश्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्राणाम्। यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणधर्मशास्त्राणाम्, यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः। यथाविषयमेतानि, प्रमाणानि, इन्द्रियादिवत्' (गो० सू० ४।१।६२) इत्यत्रभाष्ये अत एव नलयुधिष्ठरादीनामपि द्यूतक्रीडायां नानुकरणं कर्त्तव्यम्। तथा च केषाञ्चित् कदाचिदनुमतत्वेऽपि नियोगोऽन्यैरननुष्ठेय एव। इतिहासश्च स्पष्टं नियोगस्य राजविषयत्वमाह—'तत्ते धर्मं प्रवक्ष्यामि क्षात्रं राज्ञि सनातनम्' (म० भा० आ० प० १०४।२६)। तेन न सर्वजातीयो नियोगः, किन्तु क्षात्रत्वात् क्षत्रविषयमेव तत्। कलियुगे तु तदसम्भव एव। 'नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः। तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ॥' (म० ९।६३) इति मनूक्तस्य विधानस्याद्यत्वेऽसम्भवात्। 'तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते।' (म० ९।१४७) इति रीत्या कामोत्पन्नस्य नियोगजस्य दायभागानर्हत्वोक्तेः। तद्विधानं तु नारदोक्तं कुल्लूकभट्टेनोद्धृतम्—'मुखान्मुखं परिहरन् गात्रैर्गात्राण्यसंस्पृशन्। कुले तदवशेषे च सन्तानार्थं न कामतः॥ (म०कु० ९।१४७) अङ्गैरङ्गान्यसंस्पृशन्

जिस नियोग की दयानन्द ने चर्चा की है, वह शास्त्रों में सर्वथा निषिद्ध है। आर्यसमाजी भी अपने घर में उसको प्रचलित करने में लजाते हैं। कलियुग में तो नियोग पूरी तरह से मना है। आर्यसमाजी इसका समर्थन करने के लिये महाभारत का सहारा लेते हैं। महाभारत को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ पर क्षत्रिय जाति के लिये ही इसका विधान किया गया है। नियोग में भी मैथुन वर्जित है। आजकल के लोग चित्रांगद और विचित्र वीर्य की पत्नियों के महर्षि व्यास के साथ हुए नियोग की बात करते हैं, किन्तु उनकी यह बात ठीक नहीं है। प्रायः वृद्ध, तपस्वी जनों के द्वारा ही नियोग की क्रिया सम्पन्न की जाती थी। इतिहास का उपयोग अतीत काल की जानकारी में ही माना जाता है, व्यवहार में उसका कोई उपयोग नहीं है। व्यवहार का ज्ञान तो विधि (धर्म) शास्त्र से ही होता है। लोक में भी प्रचलित विधान को ही प्रामाणिक माना जाता है, इतिहास को नहीं। क्योंकि इतिहास तो बुराइयों से भरा भी हो सकता है।

गोतमन्यायसूत्र के वात्स्यायनकृत भाष्य में कहा गया है कि मन्त्र और ब्राह्मण का प्रतिपाद्य विषय भिन्न है और इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र का उससे भिन्न है। मन्त्र ब्राह्मण का प्रतिपाद्य विषय यज्ञ है और इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र का लोकव्यवहार है। चक्षुरादि इन्द्रियों के समान अपने अपने विषय में ये प्रमाण माने जाते हैं। इसीलिये यह माना जाता है कि नल, युधिष्ठिर प्रभृति की द्यूत क्रीडा का हमें अनुकरण नहीं करना चाहिये। इस तरह से कुछ लोगों के द्वारा अनुष्ठित होने पर भी नियोग को अन्य आचार्यों ने निषिद्ध माना है। महाभारत में स्पष्ट कहा गया है कि नियोग केवल क्षत्रियों का धर्म है। इसलिये सभी जातियों के लिये यह विहित नहीं है। कलियुग में तो उसको भी निषिद्ध माना गया है। मनुस्मृति में जिस तरह के नियोग का वर्णन है, वह आजकल चल नहीं सकता। कामभावना से प्रेरित नियोग के द्वारा पैदा हुई सन्तति को मनु ने दायभाग के लिये अयोग्य घोषित किया है। कुल्लुकभट्ट ने अपनी टीका में नारद के वचन को उद्धृत कर नियोग की विधि का वर्णन इस तरह से किया है—'मुख से मुख को दूर रखते हुए, शरीर से शरीर को न छूते हुए, कुल में एकमात्र व्यक्ति के रह जाने पर सन्तान की कामना से, न कि कामभाव की तृप्ति के लिये, जो सहवास किया जाता है, उसी को नियोग कहते हैं। वसिष्ठ ने भी कहा है कि किसी लोभ में पड़ कर नियोग नहीं किया जाता।

कामभावराहित्येन केवलसन्तानार्थं नियुक्तौ वर्तेयाताम्। तत एव वशिष्ठोऽपि—'लोभान्नास्ति नियोगः' (वशिष्ठ धर्मसूत्र १७।५७)। एतावता दयानन्दीयो वासनापूर्णो नियोगः सर्वथाऽशास्त्रीय एव।

दयानन्दरीत्या तु—'पुरुष वा स्त्री से न रहा जाय तो किसी से नियोग करले' (स० प्र० पृ० ७४), 'जो ब्रह्मचर्य न रख सके तो नियोग करके सन्तान उत्पन्न करले' (स० प्र० पृ० ६९), 'परन्तु जो जितेन्द्रिय नहीं है, उनका विवाह और आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिए।' (स० प्र० ७)। मन्वादिभिस्तु कामुकतायां नियोगस्य निरर्थकत्वं पापावहत्वं चोक्तम्। अत एव 'कलौ पञ्च विवर्जयेत्' इति बृहन्नारदीयवचनैर्नियोगो निषिद्धः। काममङ्गसङ्गं विना मैथुनासम्भवाच्च कलियुगे न तत्सम्भवः, बृहस्पतिनाप्युक्तम्—'उक्तो नियोगो मनुना निषिद्धः स्वयमेव हि। युगक्रमादशक्योऽयं कर्त्तुमन्यैर्विधानतः॥ तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः। द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता॥ अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः। न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः॥' (मन्वर्थमुक्तावल्यां ९।६८ उद्घृतानि)। 'अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे। अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥' (म० १।८५)।

यत्तु 'महाभारते परशुरामेण क्षत्रियाणां मारितत्वाद् वेदपारगामिभिर्ब्राह्मणैर्नियोगेन क्षत्रियासु बहवः पुत्रा उत्पादिताः' (महाभारते १।१०४।६) इति; तन्न, परशुरामेण सर्वेषां क्षत्रियाणां हननासिद्धेः। तदानीन्तनानां ब्राह्मणविरोधिनां हैहयवंशीयानां तेन मारितत्वात्। दशरथादयस्तु क्षत्रियराजानस्तदानीमप्यासन्नेव। 'दुष्टं क्षत्रं भुवो भारमब्रह्मण्यमनीनशत्' (श्रीमद्भागवते ९।५।१५) इति वचनानुसारेण दुष्टक्षत्रियाणामेव तेन निपातनात्। महाभारतवचनस्य त्वयमभिप्रायः—यद् दूरदर्शिभिर्ब्राह्मणैर्बहवः क्षत्रियाः सङ्गोप्य सुरक्षिताः। तैरेव तत्पत्नीषु सन्तानोत्पादनं कारयित्वा वर्धिताः। 'अरक्षंश्च सुतान् कांश्चित् तदा क्षत्रिययोषितः' (म. भा. शान्तिपर्व ४९।६३), 'तथानुकम्पमानेन यज्वनाथामितौजसा। 'पराशरेण दायादः सौदासस्याभिरक्षितः॥' (म. भा. शान्तिपर्व ४९।७७), 'दधिवाहनपौत्रस्तु पुत्रो दिविरथस्य च।

इन सब वचनों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्दसमर्थित वासना से भरा नियोग भारतीय शास्त्रों के सर्वथा विपरीत है।

स्वामी दयानन्द तो कहते हैं कि 'पुरुष को स्त्री के बिना न रहा जाय तो किसी से नियोग कर लें', 'जो ब्रह्मचर्य न रख सके तो नियोग करके सन्तान उत्पन्न कर ले', परन्तु जो जितेन्द्रिय नहीं है, उनका विवाह और आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिये'। इसके विपरीत मनु प्रभृति ने कामुकता प्रयुक्त नियोग को निरर्थक और पाप का कारण माना है। इसीलिये बृहन्नारदीय वचन में कलियुग में पाँच बातों को निषिद्ध माना है, जिनमें से एक नियोग भी है। अंगों के संयोग के बिना मैथुन नहीं हो सकता, अतः कलियुग में वह निषिद्ध है। बृहस्पति ने भी कहा है कि 'मनु ने नियोग का स्वयं ही निषेध कर दिया है। युग के क्रम से विधिपूर्वक इसका निर्वाह अशक्य होता जाता है। कृत और त्रेता युग के लोग तपस्वी और ज्ञानी होते थे, किन्तु द्वापर और कलियुग में उनकी यह शक्ति क्षीण होती जाती है। पुरातन ऋषियों ने विविध प्रकार से पुत्रों की उत्पत्ति में सहायता की है। आज के शक्तिहीन लोग वैसा नहीं कर सकते'। मनु ने भी स्पष्ट लिखा है कि कृत (सत्य) युग के धर्म भिन्न है, त्रेता और द्वापर के भिन्न। इसी तरह से कलियुग के धर्म भी भिन्न हैं। युगों के ह्रास के अनुसार ही मनुष्य की शक्ति का भी ह्रास होता जाता है।

कुछ लोगों का कहना है कि महाभारत में यह बात वर्णित है कि पराशुराम ने जब सब क्षत्रियों को मार डाला, तो वेदों के निष्णात ब्राह्मणों ने नियोग के द्वारा क्षत्राणियों में बहुत से पुत्रों को उत्पन्न किया। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है, परशुराम ने सभी क्षत्रियों का नाश कर दिया हो, ऐसा वर्णन कहीं नहीं है। उन्होंने केवल हैहयवंशीय क्षत्रियों का ही नाश किया था, जो कि ब्राह्मणों के विरोधी थे। दशरथ प्रभृति अन्य क्षत्रिय राजा तो उस समय भी थे ही। 'दुष्टं क्षत्रं' इस भागवत के श्लोक के अनुसार भी दुष्ट क्षत्रियों का ही परशुराम ने वध किया था। महाभारत के वचन का अभिप्राय यह है कि दूरदर्शी ब्राह्मणों ने बहुत से क्षत्रियों को छिपा कर रखा था। उन्हीं से उनकी पत्नियों में सन्तान पैदा कराकर क्षत्रियों की संख्या बढ़ाई। महाभारत के शान्तिपर्व में स्पष्ट वर्णन मिलता है कि क्षत्रिय पुत्रों और उनकी स्त्रियों को ब्राह्मणों ने बचा लिया। महान् प्रभावशाली पराशर ने दया करके सौदास के पुत्र

गुप्तः स गोतमेनाथ गङ्गाकूलेऽभिरक्षितः॥' (म. मा. शा.प. ४९।८१), केचित् पृथिव्यादिभिः सुरक्षिताः। 'सन्ति ब्रह्मन् मया गुप्ताः स्त्रीपु क्षत्रियपुङ्गवाः' (म. भा. शा. प. ४९।७५)। कश्यपेनान्विष्य तेऽभिषिक्ताः। 'ततः पृथिव्यां निर्दिष्टान् तान् समानीय कश्यपः। अभ्यषिञ्चन्महीपालान् क्षत्रियान् वीर्यसम्भृतान् ॥ तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च येषां वंशाः प्रतिष्ठिताः।' (म. मा. शा.-प. ४९।८८।८९)। काश्चन क्षत्रियाः सगर्भाः सुरक्षिताः। ब्राह्मणानां धर्मानुष्ठानेन सुरक्षितास्ताः पुत्रार्थं ब्राह्मणानां सविधे धर्मानुष्ठापनार्थं गताः। 'एवं निः क्षत्रिये लोके तेन तेन महर्षिणा। तत्र सम्भूय सर्वाभिः क्षत्रियाभिः समन्ततः॥ ५॥ उत्पादितान्यपत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ ६ ॥ धर्मं मनसि संस्थाप्य ब्राह्मणांस्ताः समाययुः॥ ७॥' (म. मा. आदिपर्व-१०४) पूर्वोक्तार्थानभ्युपगमे ब्राह्मणैर्वेदपारगैः, धर्मं मनसि संस्थाप्य इत्यादिवचनानामसङ्गतिरेव स्यात्। तस्मान्मन्त्रशक्तिभिर्ब्राह्मणैः सगर्भाणां क्षत्रियस्त्रीणां पुत्राः प्रापिता इति सिद्धान्तः।

सन्तुष्यतु दुर्जनन्यायेन नियोगाभ्युपगमेऽपि वेदपारङ्गमानां ब्राह्मणानामेव तत्राधिकारः, तेषां तद्विधिज्ञत्वात्। मैथुनमन्तरैव अङ्गैरङ्गान्यसंस्पृश्यैव सन्तानोत्पादस्यान्यथाऽसम्भवात्। अन्यथा वेदाभ्यासपरायणानां दुर्बलानां ब्राह्मणानां तत्र क उपभोगः स्यात् ? मैथुनार्थं तु बलिष्ठाः क्षत्रिया एव नियुज्येरन्। ब्राह्मणा वैदिकास्तु तपःशक्तिभिः कामं मैथुन-(अङ्गसङ्ग) मन्तरैव सन्तानोत्पादनक्षमा भवन्ति स्म; नान्ये। एतेन नियोगे मैथुनं न भवति स्मेति स्पष्टं भवति। कलियुगे तु नास्ति तादृशी शक्तिः, तस्मान्नियोगाभावोऽपि।

ननु मन्वादिभिः—'देवराद्वा सपिण्डाद्वा' (म० ९।५९), 'देवराच्च सुतोत्पत्तिम्' इत्यादिपद्यैर्नियोगे सपिण्डस्य देवरस्य चाधिकार उक्तः। महाभारते सन्तानार्थं ब्राह्मणानां तपस्विनामेवाह्वानं भवतिस्म' इतिचेन्न, मनुस्मृत्युक्तनियोगस्य पूर्वपक्षरूपेणैवोपस्थापितत्वात्। महाभारते तु क्षत्रियेषु राजकुलेष्वेव सन्तानक्षयोपस्थितौ ब्राह्मणानां तपोबलात् सन्तानार्थमेवाह्वानं भवति स्मेति दर्शनात्। मनुस्मृतौ तु द्विजातीनां कृते नियोगो निषिद्धः सन् शूद्रेष्वेव पर्यवस्यति। यद्वा मनुरीत्या द्विजातीनां निषेधस्य ब्राह्मणस्त्रीणां निषेधे पर्यवसानम्, महाभारतरीत्या क्षत्रियाणां नियोगदर्शनात्।

को बचाया। गोतम ऋषि ने गंगा के किनारे दधिवाहन के पौत्र और दिविरथ के पुत्र को बचा कर रखा। कुछ क्षत्रियों की पृथिवी ने भी रक्षा की। कश्यप ने इन सब की खोज की और उनको अपने अपने राज्यों में प्रतिष्ठित किया। कुछ गर्भिणी क्षत्राणियों को भी बचा लिया गया। धर्मभीरु ब्राह्मणों ने इनसे उत्पन्न सन्तति की रक्षा की और इस तरह से क्षत्रिय जाति को बढ़ाया। यदि हम पूर्वोक्त अर्थ को न मानें, तो वेद के पारंगत विद्वानों ने मन में धर्म की प्रतिष्ठा करके' इत्यादि वचनों की कैसे संगति बैठेगी। अतः यही मानना पड़ेगा कि मन्त्र शक्ति के प्रभाव से ब्राह्मणों ने सगर्भा क्षत्रिय स्त्रियों के पुत्रों की रक्षा की।

'तुष्यतु दुर्जन न्याय' के अनुसार नियोग को मान लेने पर भी वेद के पारंगत ब्राह्मणों का ही उसमें अधिकार माना जायगा, क्योंकि वे ही इसकी विधि जानते हैं। बिना मैथुन किये, अंगों को बिना स्पर्श कराये सन्तान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? वेदाभ्यास में लगे हुए, दुर्बल ब्राह्मणों का मैथुन कर्म में उपयोग ही क्या हो सकता है। इसके लिये तो बलिष्ठ क्षत्रियों का ही उपयोग होना चाहिये था। वैदिक ब्राह्मण अपने तप के प्रभाव से बिना मैथुन किये हो, बिना अंग स्पर्श के ही सन्तान को उत्पत्ति करा सकते थे। यह सामर्थ्य अन्य किसी में नहीं थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि नियोग में मैथुन नहीं होता था। कलियुग के ब्राह्मणों में यह शक्ति नहीं है। इसलिये कलियुग में नियोग को निषिद्ध माना गया।

इस पर कोई प्रश्न करता है कि मनु प्रभृति ने सपिण्ड देवर को नियोग के लिये अधिकृत किया है। महाभारत में सन्तान के लिये तपस्वी ब्राह्मणों को बुलाया जाता था। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है। मनुस्मृति में नियोग की चर्चा पूर्वपक्ष के रूप में ही मानी जाती है। यह सिद्धान्त पक्ष नहीं है। महाभारत में क्षत्रिय राजकुलों में सन्तान का अभाव हो जाने पर तपस्वी ब्राह्मणों को सन्तान के लिये बुलाये जाने का वर्णन है। मनुस्मृति में द्विजाति के लिये नियोग निषिद्ध है, फलतः शूद्रों में इसका विधान मान लिया जाता है। अथवा मनु की पद्धति से द्विजाति के लिये किया गया निषेध केवल ब्राह्मण स्त्रियों तक हो सीमित मान लिया जायगा, क्योंकि महाभारत में क्षत्रिय स्त्रियों का नियोग देखा जाता है।

केचित्तु यथा दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोतीति (पारस्करगृह्यसूत्रे १।१७।१) पितुरेव नामकरणेऽधिकारः, तथा 'न चान्तरेण कृतस्तद्धितो वा शक्यो विज्ञातुम्' (महाभाष्ये पस्पशाह्निके) इति महाभाष्यमनुसृत्य क्षत्रियादयः कृदन्ततद्धितान्तपदानभिज्ञा नामकरणं कर्तुमशक्ताः पितृस्थानीयब्राह्मणपुरोहितद्वारा नामकरणसंस्कारं कारयन्ति। तथैव क्षत्रियदेवरादयः कामं मैथुनमङ्गसङ्गं च विना सन्तानं दातुमसमर्था इति ब्राह्मणात् तपस्विनस्तद्विधिज्ञात् कामयन्ते। ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः। 'तत्सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः' (अथर्व० ५।१७।९) इति रीत्या ब्राह्मणा एव नियुज्यन्त इति देवरस्थानीयोऽपि भवति ब्राह्मणः (यद्यपि ब्राह्मणो ज्येष्ठस्थानीयो भवति, तथापि क्षत्रियायाः पत्युः क्षत्रियस्य मुख्यत्वेन स सुदेष्णाया इव जीवितत्वे स्वर्गस्थत्वे वा तदपेक्षया ब्राह्मणो द्वितीयस्थानत्वाद् द्वितीयवरत्वाद्देवरो भवति पत्युर्द्वितीयोऽनुज इति यौगिकवृत्तिमाश्रित्य लोके रूढं देवरत्वमपि तत्र कल्पयितुं शक्यते 'देवराच्च सुतोत्पत्तिः' इति च सङ्गच्छते। कलियुगे सोऽसम्भव इति कृत्वा निषिध्यते। 'न शक्यतेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः इति बृहस्पतिवचनेनापि निषेधस्य कलिविषयता विज्ञायते। 'अयं च स्वोक्तनियोगनिषेधः कलियुगविषयः' इति (म० ९।६८) कुल्लूकभट्टः।

नन्वन्यस्मात्सन्तानोत्पादनाय पाण्डुना कुन्ती प्रेरिता। स तु शापवशात् सन्तानोत्पादनेऽसमर्थं आसीदिति चेन्न, लोभोपहतबुद्धित्वेन तस्यापि निन्दितत्वात्। यथा पौत्रप्रलोभिन्या सत्यवत्या भीष्मः प्रेरित आसीत्। 'लालायमानां तामेवं कृपणां पुत्रगृद्धिनीम्। धर्मादपेतं ब्रुवतीं भीष्मो भूयोऽब्रवीदिदम् ॥' (म० भा० आदिपर्व १०४।२४)। पाण्डुरपि तथैवाब्रवीत् 'भर्ता भार्यां राजपुत्रि धर्म्यं वाधर्म्यमेव वा। यद्ब्रूयात्तत्तथा कार्यमिति वेदविदो विदुः ॥' (म० भा० आ० प० १२२।२८), 'आज्ञागुरूणामविचारणीया' (रघुवंशे १४।४६) 'अमीमांस्या गुरवः' (चाणक्यसूत्रे ४२१) इत्यादिवचनैर्गुरूणामाज्ञाया अमीमांस्यत्वेप्यधर्म्यत्वं तद्ववचनादेव विज्ञायते। अधर्म्याप्याज्ञा पालनीयेत्यन्यदेतत्। कुन्त्या तथैवोक्तम्—'न मामर्हसि धर्मज्ञ

कुछ लोगों का कहना है कि पारस्कर गृह्यसूत्र के वचन के अनुसार जैसे पिता का ही पुत्र के नामकरण में अधिकार है। महाभाष्य में बताया गया है कि बिना व्याकरण पढ़े कृत् और तद्धित का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः क्षत्रिय प्रभृति नामकरण के लिये पितृस्थानीय ब्राह्मण पुरोहित के द्वारा नामकरण संस्कार करवाते हैं, उसी तरह से क्षत्रिय देवर प्रभृति भी मैथुन और अंग संग के बिना सन्तान देने में असमर्थ होने से तपस्वी ब्राह्मणों के पास जाते थे, जो कि इस विधि के अभिज्ञ थे। ब्राह्मण ही सबका स्वामी है, क्षत्रिय अथवा वैश्य नहीं। अथर्ववेद के अनुसार नियोग के लिये ब्राह्मण ही बुलाये जाते हैं, अतः ब्राह्मण को देवर स्थानीय माना गया है। यद्यपि ब्राह्मण का पद बड़ा है, तो भी क्षत्राणी का मुख्य पति क्षत्रिय ही होता है, वह भले ही सुदेष्ण के समान जीवित हो या स्वर्गस्थ। इस मुख्य पति की अपेक्षा ब्राह्मण द्वितीय स्थान पर आता है। इसीलिये इसको द्वितीय वर होने से देवर कहा जाता है। देवर शब्द लोक में यद्यपि पति के सगे छोटे भाई के लिये रूढ़ है, किन्तु 'दूसरा वर' इस यौगिक व्युत्पत्ति के आधार पर नियोग के लिये स्वीकृत ब्राह्मण के लिये भी प्रयुक्त माना जा सकता है। ऐसा मानने से 'देवराच्च सुतोत्पत्तिः' इस स्मृति वाक्य की भी संगति बैठ जाती है। कलियुग में यह असंभव है, अतः नियोग निषिद्ध कर दिया गया है। 'न शक्यते' प्रभृति वृहस्पति वचन से भी कलियुग में नियोग निषिद्ध घोषित होता है। कुल्लूक भट्ट ने भी ऐसी ही व्याख्या की है।

अन्य पुरुष से सन्तान उत्पन्न करने के लिये पाण्डु ने कुन्ती को प्रेरित किया था, क्योंकि शाप के कारण वह स्वयं सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ हो गया था, किन्तु पाण्डु की यह बुद्धि लोभ से भरी हुई थी। शास्त्रों में इसकी भी निन्दा ही की गई है। जैसे पौत्र का मुख देखने के लोभ में सत्यवती ने भीष्म को पुत्रवधू में सन्तान उत्पन्न करने के लिये प्रेरित किया, किन्तु भीष्म ने इस अधार्मिक प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। पाण्डु ने भी वही कार्य किया। वह कुन्ती से कहता है कि हे राजपुत्रि, पति पत्नी को जो कुछ भी उचित-अनुचित करने को कहे, पत्नी को उसे स्वीकार करना चाहिये। रघुवंश में कालिदास कहते हैं कि गुरुजनों की आज्ञा का पालन बिना विचारे करना चाहिये। चाणक्य भी कहता है कि गुरु की आज्ञा पर तर्क नहीं करना चाहिये। इन सभी प्रमाणों से यह भले ही सिद्ध हो जाय कि गुरु की आज्ञा का पालन बिना विचार किये अवश्य करना चाहिये, किन्तु यहाँ पर पाण्डु के वचन से ही यह सिद्ध हो जाता है कि कुन्ती को कही गई बात धर्मानुकूल नहीं है। अधार्मिक आज्ञा का भी पालन किया जाय, यह दूसरी बात है। कुन्ती

वक्तुमेवं कथञ्चन । धर्मपत्नीमाभिरतां त्वयि राजीवलोचन ॥' (म० भा० १।११२।२) स्मर्यंते । न चाश्विभ्यां सहैव मैथुनमेकस्यां नार्यां कर्तुमपि शक्यते । देवतानां सामर्थ्यातिशयादेव पञ्चानामपि पाण्डावानामेकसंवत्सरेणेवोत्पत्तिः सञ्जाता । अनुसंवत्सरं जाता अपि ते कुरुसत्तमाः । पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्च संवत्सरा इव ॥' (म भा० १।१२४।२२), मैथुन्यां सृष्टौ तु क्रमेणैव वृद्धिर्भवति । अमैथुनोत्पन्नाः सीतारामादयः समकालेनैववृद्धिं गताः । षड्वर्षीया एव सीतायाः रामेण सार्धं विवाहः सवृत्तः ।

महाभारते यत्रापि नियोगाभासो दृश्यते, तत्र देवताः संयमिनो वृद्धा ब्राह्मणा वा आहूयन्ते स्म । तद्यथा—'ब्राह्मणो गुणवान् कश्चिद् धनेनोपनिमन्त्र्यताम् । विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु यः समुत्पादयेत्प्रजाः ॥' (म० भा० १।१०५।२) इति भीष्मोक्तिः । पाडुनाप्येका कथा वर्णिता । 'सा वीरपत्नी गुरुणा नियुक्ता पुत्रजन्मनि । वरयित्वा द्विजं सिद्धम्.....' (म० भा० १।१२०।३९-४०) भीष्मोक्तौ 'गुणवान्' इति, पाण्डोरुक्तौ 'द्विजं सिद्धम्', 'द्विजातेस्तपसाधिकात्' इति विशेषणं महत्त्वपूर्णम् । महाभारते आदिपर्वणि १२२।३० ।

अत्र कस्यचित् सुन्दरस्य यूनः क्षत्रियकुमारस्योल्लेखः कुतो न दृश्यते ? पुनः पुनर्ब्राह्मणस्य तपस्विन इति किमर्थमुल्लेखः ? 'तपस्वी' १२२।२०, 'अतिजरठः' १।१०४।४६ इति विशेषणमपि तादृशमेव । सायणाचार्येण ऋग्वेदसंहिताभाष्ये १ मण्डले १२५ सूक्ते १ मन्त्रे 'राजमहिष्या अतिजरठेन महर्षिणा सह रन्तुं लज्जमानया' इत्युक्तम् । अत्र महर्षिणातिवृद्धेन दीर्घतमसा कलिङ्गराजमहिष्या नियोगचर्चाप्यस्ति । योगिनि सिद्धे तपस्विनि वृद्धतमे ब्राह्मणे गुणवति तादृशी शक्तिर्भवति, येन देहस्पर्शमन्तरा मैथुनं विनापि सन्तानोत्पादनं सुशकं भवति । स्मर्यंते च तपःशक्त्या, वचनेन, मनःसङ्कल्पेन, हस्तस्पर्शमात्रेण सन्तानोत्पत्तिः । 'ऋषिरभ्यागतः कश्चिद् धर्मात्मा वेदपारगः । स मया वरदः कामं याचितो धर्मसंहितम् ॥ नाह-

ने इसी बात को पाण्डु के सामने रखा कि हे धर्मज्ञ, आप मुझ धर्मपत्नी को ऐसा अधार्मिक कार्य करने के लिये मत कहिये । इस श्लोक में धर्मज्ञ और धर्मपत्नी ये दो शब्द अन्य पुरुष से सन्तान की उत्पत्ति को अधार्मिक कार्य घोषित करते हैं । दूसरे की स्त्री के साथ व्यभिचार वर्णसंकर का कारण बनता है और यह वर्णसंकर नरकपात का कारण बनता है । मनुस्मृति में भी कहा गया है कि अन्य पुरुषों की स्त्रियों के साथ नियोग सनातन धर्म के नाश का कारण बनता है । इससे वर्णसंकर प्रजा होती है । मनुस्मृति के ये वचन परपुरुष से संबन्ध को पाप घोषित करते हैं ।

इस परिस्थिति में स्वामी दयानन्द के द्वारा समर्पित नियोग सर्वथा अधर्म है । उन्होंने यम और यमी को, जो कि परस्पर भाई-बहिन थे, पति-पत्नी बनाकर वेद के यम-यमी संवाद के द्वारा नियोग को वैदिक घोषित करने का प्रयत्न किया है, और उनके अनुयायियों ने उनकी लाज बचाने के लिये स्वसा पद का अर्थ पत्नी कर दिया है, किन्तु इससे भी कुछ बात बनती नहीं । महाभारत में कुन्ती का स्पष्ट कथन है कि हे महाबाहु, तुम अपने ही वीर्य से मेरे गर्भ में सन्तान पैदा कर सकते हो । यहां पर 'धर्मतः' यह पद ध्यान देने योग्य है । वह आगे कहती है कि मैं तुम्हारे सिवाय किसी दूसरे पुरुष को मन से भी नहीं चाह सकती । इस लोकोत्तर आदर्श को स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायी मलिन करना चाहते हैं ।

कुन्ती पाण्डु को दिये गये शाप के वृत्तान्त को जानती थी । इसीलिये वह कहती है कि आप अपने तप के प्रभाव से मानसिक सङ्कल्प से भी मुझ से सन्तान पैदा कर सकते हैं । इससे यह स्पष्ट होता है कि मैथुन के बिना ही, अंगों का स्पर्श हुए बिना ही तपस्वी लोग सन्तान पैदा करने में समर्थ होते थे । इस पर पाण्डु कहते हैं कि मुझ में ऐसी सामर्थ्य नहीं है, इसलिये सन्तान की प्राप्ति के लिये तुम किसी ब्राह्मण को बुला लो । इसके लिये मैं तुमको आज्ञा देता हूं । पाण्डु के ऐसा कहने पर कुन्ती निवेदन करती है कि बचपन में दुर्वासा मुनि ने मुझे मन्त्र का उपदेश किया था । उनके प्रभाव से देवताओं को बुलाया जा सकता है और उनके अनुग्रह से सन्तान प्राप्त की जा सकती है । तब पाण्डु ने इसके लिये उसको अनुमति दे दी । तब सबसे पहले कुन्ती ने गर्भ धारण करने के लिये धर्म का आह्वान किया । उसने धर्मराज के लिये बलि का उपहार दिया और दुर्वासा के दिये मन्त्र का विधिवत् जप करने

मन्यायतः काममाचरामि शुचिस्मिते । तस्मादृषेर्ममापत्यमिति सत्यं ब्रवीमि ते ।।' (म० भा० १।८३।३-४) यद्येतदसम्भवं स्यात्तदा शर्मिष्ठया कथमुच्येत । कथं वा देवयान्या विश्वासोऽपि स्यात् ? '………न मन्युर्विद्यते मम । अपत्यं यदि ते लब्धं ज्येष्ठात् श्रेष्ठाच्च वै द्विजात् ।।' (म० भा० १।८३।७) 'यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुर्लभम् । सर्वं तत्तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ।।' (म० ११।२३२) सायणेन पूर्वोक्ताख्यायिकायां स्पष्टमुक्तं राज्ञा कलिङ्गेश्वरेण स्वयं वृद्धत्वादपत्योत्पादनाय सामर्थ्यमलभमानेन तदुत्पादनाय याचितो दीर्घतमा ऋषिरपत्योत्पादनाय प्रेषितया राजमहिष्या अतिजरठेन महर्षिणा सह रन्तुं लज्जमानया स्ववस्त्राभरणैरलङ्कृत्य स्वप्रतिनिधित्वेन प्रेषिता मुशिङ्नाम्नीं योषितं दासीमित्यवगत्य मन्त्रपूतेन वारिणाभिषिच्य ऋषिपुत्रीं कृत्वा तया सह रेमे । अति वृद्धत्वादेव यथा राजा मैथुनेऽसमर्थं आसीत्तथैव ऋषिरप्यसमर्थं एवासीत् । अतस्तपःशक्त्यैव पुत्र उत्पादितः । अत एव रमणमपि न मैथुनम्, किन्तु विनोदमात्रम् ।

लगी । उस मन्त्र के प्रभाव से धर्मराज वहां उपस्थित हुए । इस कथा से यह स्पष्ट होता है कि मन्त्र के प्रभाव से बुलाये गये धर्म मनुष्य नहीं थे, किन्तु मनुष्य योनि से भिन्न वे देवयोनि में उत्पन्न दिव्य पुरुष थे । देवता अपने महान् ऐश्वर्य के प्रभाव से मैथुन और अंगस्पर्श के बिना भी सन्तान देने में समर्थ होते थे । इस तरह से महाभारत की कुन्ती के आख्यान से दयानन्द प्रदर्शित नियोग को समर्थन नहीं मिल सकता । मनुष्यों को बुलाने के लिये तपस्या करने अथवा मन्त्र-जप करने की कोई आवश्यकता नहीं है । इस कथा में तो न केवल कुन्ती, किन्तु पाण्डु ने भी तपस्या की है । इन्द्र का आह्वान करने के लिये पाण्डु ने एक वर्ष पर्यन्त कठिन तपस्या की और कुन्ती ने भी नियमपूर्वक दुर्वासा के दिये मन्त्र का जप किया । कुन्ती ने माद्री को भी ऐसा ही करने के लिये कहा । मन में ध्यान करने मात्र से देवता अथवा ऋषिगण ही आ सकते हैं । उन्हीं में यह सामर्थ्य है, मनुष्य में नहीं । इस तरह से पाण्डवों की उत्पत्ति देवताओं के प्रसाद से हुई है, स्वामी दयानन्द प्रदर्शित नियोग विधि से नहीं, क्योंकि धर्म, इन्द्र प्रभृति मनुष्य नहीं थे । यहाँ कहीं भी मैथुन की चर्चा नहीं है । अश्विनीकुमार दो हैं । ये दोनों एक ही नारी में एक साथ मैथुन कर भी नहीं सकते । देवताओं के विशिष्ट ऐश्वर्य के कारण ही पाँचों पाण्डवों की उत्पत्ति इस प्रकार हुई मानो उनकी उत्पत्ति एक ही वर्ष में हुई हो, मैथुन से होने वाली सृष्टि में क्रम से वृद्धि होती है । बिना मैथुन के हुई सृष्टि तो एक साथ बढ़ जाती है । सीता, राम प्रभृति की वृद्धि एक साथ ही हुई थी । सीता जी जब छः वर्ष की थी, तभी राम के साथ उनका विवाह हो गया था ।

महाभारत में जहाँ कहीं भी नियोग का आभास मिलता है, सब जगह कोई न कोई संयमी वृद्ध ब्राह्मण ही इसके लिये बुलाया गया है । जैसा कि भीष्म ने कहा है कि किसी गुणवान् ब्राह्मण को धन देकर बुलाओ, जो कि विचित्रवीर्य की पत्नियों में सन्तान उत्पन्न करे । पाण्डु ने भी एक वीर पत्नी की कथा कही है, जिसने कि पुत्र प्राप्ति के लिये एक तपस्वी ब्राह्मण को चुना था । भीष्म के कथन में 'गुणवान्' और पाण्डु की उक्ति में 'सिद्ध द्विज, यह विशेषण ध्यान देने योग्य है । महाभारत के आदि पर्व में ब्राह्मण को अत्यन्त तपस्वी कहा है ।

इन सब स्थलों में किसी सुन्दर स्वस्थ क्षत्रिय युवक का उल्लेख क्यों नहीं किया गया ? बार बार तपस्वी वृद्ध ब्राह्मण की ही चर्चा क्यों आती है ? ऋग्वेदसंहिता (१।१२५।१) के भाष्य में सायण ने लिखा है कि राजमहिषी अत्यन्त वृद्ध महर्षि के साथ रमण करने में लज्जा का अनुभव करती थी । यहां अत्यन्त वृद्ध महर्षि दीर्घतमा के कलिंगराज की महिषी के साथ हुए नियोग की चर्चा है । सिद्ध योगी तपस्वी अत्यन्त वृद्ध गुणवान् ब्राह्मण में वैसी शक्ति रहती थी, जिसके कारण देह का स्पर्श किये बिना ही, मैथुन के बिना ही वह सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ रहता था । शास्त्रों में यज्ञ की शक्ति के प्रभाव से, वाणीमात्र से, मन के संकल्प मात्र से और हाथ से छूकर भी सन्तान उत्पन्न करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं । यदि ऐसा करना असम्भव होता तो शर्मिष्ठा ऐसा क्यों कहती ? और देवयानी उसकी बात पर विश्वास भी कैसे करती । मनु ने स्पष्ट लिखा है कि तप के प्रभाव से सब कुछ प्राप्त किया जाता है, कठिन से कठिन कार्य भी पूरा किया जा सकता है । सायण ने पूर्वोक्त आख्यायिका में स्पष्ट कहा है कि कलिंग का राजा वृद्ध होने के कारण स्वयं सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ हो गया था । उसने सन्तान की प्राप्ति के लिए दीर्घतमा ऋषि से प्रार्थना की । उसने अपनी राजमहिषी को उनके पास भेजा । उस जराजीर्ण महर्षि के साथ रमण करने में राजमहिषी लज्जा का अनुभव कर रही थी । उसने अलंकार, वस्त्र आदि से सजाकर अपनी दासी को उनके पास भेज दिया । उस दासी को ऋषि ने मन्त्रपूत जल से पवित्र कर ऋषिपुत्री बना दिया और उसके साथ रमण किया । अति वृद्ध होने से जैसे राजा मैथुन करने में असमर्थ है, उसी तरह से ऋषि

योगशक्तेर्माहात्म्यं शङ्कराचार्योऽप्याह—'स्मृतिरपि प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयति, किमु वक्तव्यमाजानसिद्धानां देवनाम्' (ब्र० सू० १।३।२७)। धर्मदेवेनापि योगशक्त्यैव युधिष्ठिरो जनितः, न मैथुनेन। (आदिपर्वणि १२१।२) अत्र धर्मज्ञ, धर्मपत्नीम् इति शब्दाभ्यां अन्यपुरुषात् सन्तानोत्पादनस्याधर्मत्वमेव बोध्यते। 'परदाराभिमर्शेषु जायते वर्णसङ्करः' (म० ८।३५२-३५३), 'सङ्करो नरकायैव' (म० गीता १।४२), 'अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्' (म० ९।६४), 'वर्णानां सङ्करं चक्रे' (म० ९।६७) इत्यादिवचनैः परपुरुषसम्बन्धस्याधर्मत्वोक्तेः। तेन दयानन्दोक्तो नियोगः सर्वथाऽधर्म एव। तदर्थमेव यमयम्योर्भ्रातृभगिन्योः संवादस्य पतिपत्नीसंवादत्वेन कल्पनां कृत्वा 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' (ऋ० सं० १०१०।१०) इति वेदवचनमूलकतया कल्पितस्य नियोगस्य घोषणा कृता तेन। तदनुयायिभिस्तु तल्लज्जासंरक्षणार्थं स्वसृपदस्य पत्न्यर्थतापि कल्पिता। कुन्ती तु 'त्वमेव तु महाबाहो मय्यपत्यानि भारत। वीरवीर्य्योपपन्नानि धर्मतो जनयिष्यसि॥' (म० भा० १।१२१।३) अत्र कर्मत इत्युक्तम्। 'नह्यहं मनसाप्यन्यं गच्छेयं त्वदृते नरम्।' (म० भा० १।१२१।५) एवं लोकोत्तर आदर्शो दयानन्देन तदनुयायिभिश्च मलिनीकृतः।

यद्यपि पाण्डुशापवृत्तान्तं कुन्ती जानाति स्म। अत एवमाह सा—'तथा त्वमपि मय्येव मनसा भरतर्षभ। शक्तो जनयितुं पुत्रांस्तपोयोगसमन्वितः॥' (म० भा० १।१२१।३८) तेन मैथुनमन्तरा अङ्गस्पर्शं कामं चान्तरापि सन्तानोत्पादनं सम्भवतीति तपोधनानामेव तत्र सामर्थ्यम्। पाण्डुना तूत्तरितम्—मयि तपसो योगस्य च तादृशं सामर्थ्यं नास्तीति तदर्थं कश्चिद् ब्राह्मण आहूयताम् 'मन्नियोगात् सुकेशान्ते द्विजातेस्तपसोऽधिकात्। पुत्रान् गुणसमायुक्तानुत्पादयितुमर्हसि॥' (म० भा० १।१।२१।३१), 'तथा त्वमपि कल्याणि ब्राह्मणात्तपसोऽधिकात्। मन्नियोगाद्यतः क्षिप्रमपत्योत्पादनं प्रति॥' (म भा० १।१२०।४२) तदा कुन्त्या निवेदितं बाल्यावस्थायां मह्यं मुनिना दुर्वाससा मन्त्रविशेष उपदिष्टः। तेन देवता आहूय तासा-

असमर्थ थे। अतः उन्होंने अपने तप की शक्ति से पुत्र उत्पन्न किया। इसीलिये रमण शब्द का अर्थ भी यहाँ मैथुन न होकर विनोदमात्र है।

योग की शक्ति के महत्व को शंकराचार्य ने भी बताया है—स्मृतियों में अणिमा प्रभृति ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेने वाले योगियों के एक साथ अनेक शरीर धारण कर लेने की बात वर्णित है। जब मनुष्य योगियों में ऐसी सामर्थ्य है, तो फिर आजानसिद्ध देवताओं के विषय में कहना ही क्या है? उनमें तो स्वभावतः ये सब शक्तियां विद्यमान रहती हैं। धर्मदेव ने भी योग शक्ति के द्वारा ही युधिष्ठिर को उत्पन्न किया, मैथुन करके नहीं। केवल धर्मदेव के लिए ही नहीं, अन्य देवताओं के सम्बन्ध में भी महाभारत में ऐसा ही वर्णन मिलता है कि अपने यौगिक ऐश्वर्य के प्रभाव से विभिन्न देवताओं ने पाण्डवों को उत्पन्न किया। यदि यह नियोग मनुष्यों के द्वारा किया गया होता तो इसके लिये जप, तप, मन्त्र आदि की सहायता क्यों ली जाती? कुन्ती को वरदान ही ऐसा मिला था कि वह जिस जिस देवता का मन्त्र के द्वारा आह्वान करेगी, उसकी कृपा से उसको पुत्र प्राप्त होगा। प्रसाद शब्द से स्पष्ट होता है कि इसके लिए मैथुन अपेक्षित नहीं है। वहाँ स्पष्ट बताया गया है कि पाण्डव मैथुन से उत्पन्न न होने के कारण निष्पाप हैं। कुन्ती ने यौगिक ऐश्वर्य से शरीर धारण कर आये धर्मदेव से पुत्र प्राप्त किया था। यहाँ पर संयुक्त पद से मैथुन का बोध नहीं होता, ऐसा मानने पर 'योगमूर्तिधर' यह विशेषण व्यर्थ हो जायगा। देवता महान् ऐश्वर्यशाली होते हैं। ये अपने ऐश्वर्य के प्रभाव से मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसे भी देवता होते हैं, जो संकल्प, वाणी, दृष्टि, स्पर्श और संघर्ष इन पाँच विधियों से सन्तान प्रदान करते हैं।_

मनुष्य का धर्म देवताओं के कारण दूषित नहीं होता। मनुष्य के साथ विवाह होने से पहले कुमारी का तो, गन्धर्व और अग्नि के साथ संबन्ध होता है। ये सब कुमारियों के पति माने जाते हैं। ऐसा माने जाने पर भी वे व्यभिचारिणी नहीं कहीं जातीं। मनुष्य के पति बन जाने के बाद इन्द्राग्नि, द्यावापृथिवी, मातरिश्वा, मित्रावरुण, भग, अश्विनीकुमार, बृहस्पति, मरुद्गण, ब्रह्मा, सोम ये सब देवता उस नारी की प्रजा (सन्तान) की वृद्धि करते हैं। इन सब देवताओं के प्रसाद से स्त्रियों को सन्तान की प्राप्ति होती है। किन्तु इन देवताओं के साथ उनका मनुष्यों के जैसा स्थूल संभोग नहीं होता। महाभारत के अनुसार यज्ञीय अग्नि से द्रौपदी, धृष्टद्युम्न

मनुग्रहेण पुत्रलाभः सम्भवति, तदा पाण्डुना तथैवाज्ञप्तम्। ततः 'आह्वयामास सा कुन्ती गर्भार्थे धर्ममच्युतम्।' (म भा० १।१२३।१), 'सा बलिं त्वरिता देवो धर्मायोपजहार ह। जजाप विधिवज्जप्यं दत्तं दुर्वाससा पुरा॥ आजगाम ततो देवो धर्मो मन्त्रबलात्ततः।' (म० भा० १।११४।२) इति वचनैः स्पष्टं प्रतीयते। यन्मन्त्रबलेनाहूतो धर्मो न मनुष्य इति, किन्तु मनुष्ययोनिभिन्नो देवयोनिविशेष इति। देवतास्तु महाभाग्यात् स्वसामर्थ्यान्मैथुनमङ्गस्पर्शमन्तरापि सन्तानदाने समर्था भवन्ति। तेन महाभारतस्य कुन्त्याख्याने न दयानन्दोक्तनियोगस्य गन्धोऽपि विद्यते। मनुष्याणामाह्वानाय तपसो मन्त्रजपस्य चोपयोगानावश्यकत्वात्। अत्र तु न केवलं कुन्त्या, किन्तु पाण्डुनापि तपः कृतम्। 'ततः पाण्डुर्महाराजो व्रतं संवत्सरं शुभम्॥ आत्मना च महाबाहुरेकपादे स्थितोऽभवत्। उग्रं स तप आस्थाय परमेण समाधिना॥ अरिराधयिषुर्देवं त्रिदशानामधीश्वरम्।' (म० भा० १।१२३।२५-२७)। इन्द्राह्वानार्थं पाण्डुना तपः कृतं, कुन्त्या च नियमेन दुर्वाससा दत्तमन्त्रस्य जपादिकं कृतम्। माद्री च तथैव कर्तुमुक्ता—'एवमुक्त्वाऽब्रवीन्माद्रीं सकृच्चिन्तय दैवतम्। तस्मात्ते भविताऽपत्यमनुरूपमसंशयम्॥ ततो माद्री विचार्यैवं जगाम मनसाश्विनौ तावागत्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ॥'—(म० भा० १।१२३) मनसा ध्यानमात्रेणागमनं देवतानामृषीणामेव वा सम्बन्धे घटते। तस्माद्देवतानां प्रसादात् पाण्डवानामुत्पत्तिर्न दयानन्दाभिमतनियोगेन, यतो धर्मादयो न मनुष्याः। ना मैथुनं 'येन योगबलाज्जातः कुरुराजो युधिष्ठिरः। धर्म इत्येव नृपते प्राज्ञेनामितबुद्धिना॥' (म० भा० १५।२८।१८) एतदेवान्यत्रापि। ब्रह्मचर्यव्रतस्य तस्य दिव्येन हेतुना 'साक्षाद् धर्मादयं पुत्रस्तत्र जातो युधिष्ठिरः। दिव्येन हेतुना……' (म० भा०) इत्यत्रापि योगबलमेव सूचितम्। धर्मादयः सर्वेऽपि पाण्डवोत्पादका देवा एव, 'देवास्त्वस्मानादधीरन् जनन्यां धर्मो वायुर्मघवानश्विनौ च।' (म० भा० १।११९।२७) 'पाण्डोः कुन्त्यां च माद्र्यां च पुत्राः पञ्च महारथाः। देवेभ्यः समपद्यन्त सन्तानाय कुलस्य वै॥' (म० भा० १।११६।२) यद्ययं नियोगो मनुष्यात् स्यात् तदा तदर्थं जपतपोमन्त्राणां प्रयोगः किमर्थं स्यात्? कुन्त्या वरदानमपि तादृशम्। 'यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि। तस्य प्रसादात्ते राज्ञि पुत्रो भविष्यति॥' (म० भा० १।१२२।३६-३७) प्रसादशब्देनात्रामैथुनमेव सूचितम्। 'न च मैथुनसम्भूता निष्पापाः पाण्डवा मताः।' (भारतसार-उद्योगपर्व ५५।३१) संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण च। लेभे पुत्रं वरारोहा….' (म० भा० १२३।५) इत्यत्रापि संयुक्ता इत्यनेन न मैथुनं सूच्यते, योगमूर्तिधरेणेतिविशेषणवैयर्थ्यात्। देवाश्चैश्वर्यवन्तो वै शरीराण्याविशन्ति च।' (आश्रमवासिकपर्व ३०।२१) 'सन्ति देवनिकायाश्च सङ्कल्पाज्जनयन्ति ये। वाचा दृष्ट्या तथा स्पर्शात् संघर्षेणेति पञ्चधा॥' आश्रयवासिकपर्व (३८।२१)।

मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण हि न दुष्यति। मनुष्येण सह विवाहात्पूर्वं कुमारीणां सोमेन गन्धर्वेणाग्निना च सम्बन्धो भवति। एता देवताः पतयो भवन्ति कुमारीणाम्। नैतावतापि सा व्यभिचारिणी भवति। मनुष्यस्य पतित्वे इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु।' (अथर्ववेदसंहिता १४।१।५४) तासां देवतानां प्रसादात् स्त्रीणां सन्तानोत्पत्तिर्भवति। तथापि नासां देवतानां मनुष्यस्येव स्थूलसम्भोगो भवति। महाभारतानुसारेण यज्ञाद् अग्नेः द्रौपदीधृष्टद्युम्नादीनामुत्पत्तिः श्रूयते, द्रोणाद् द्रोणस्योत्पत्तिः, सत्यवत्या मत्स्या उत्पत्तिः, वृक्षेभ्योऽपि सन्तानोत्पत्तिः स्मर्यते। वार्क्षी प्रसिद्धा। ऋषिमुनिदेवादीनां सङ्कल्पेन दृष्ट्या मनसा वा स्त्रीभ्यः सन्तानोत्पत्तौ न पातिव्रत्यभङ्गः। तत एव वायुनाञ्जनाप्रोक्ता—'न त्वां हिंसामि सुश्रोणि मा भूत्ते

प्रभृति की, द्रोण से द्रोणाचार्य की उत्पत्ति हुई है। वृक्षों से भी सन्तान की उत्पत्ति वहाँ वर्णित है इनमें वार्क्षी प्रसिद्ध है। ऋषि, मुनि, देवता प्रभृति के संकल्प, दृष्टि और मन से भी स्त्रियों के सन्तान उत्पन्न होने पर उनका पतिव्रत्य भंग नहीं होता। इसीलिये वायु ने अंजना से कहा है—'हे सुश्रोणि, तुम्हारे मन में किसी प्रकार का भय नहीं होना चाहिये, मैं तुम्हें किसी भी तरह से हानि

मनसो भयम्। मनसास्मि गतो यत्त्वां परिष्वज्य यशस्विनी ॥' (वा० रा० ४।६६।१७-१८) देवतानामालिङ्गनेन न पातिव्रत्यभङ्गः। योनिभोगद्वारैव धर्मभङ्गो भवति। एतावता देवतानां न स्थूलसम्भोगः।

कुन्त्याः कौमार्ये सूर्येण सहापि न स्थूलमैथुनसम्पत्तिः, किन्तु मानससम्बन्ध एव। 'योगेनाविश्य' म० भा० ३०७।२८) 'दिव्येन विधिना' (म० भा० ३०२।१३) 'तेजसाविश्य' (आश्रमवासिक पर्व ३०।१४) योगो दिव्यविधिर्वा न मैथुनम्। वनपर्वकथेयम्। तावता कुन्ती न दूषिता, न चैवैनां दूषयामास भानुः' (म० भा० ३।३७।२८) मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण न दुष्यति (आश्रमवासिकपर्व ३०।२३)। तथैव ऋषिमुन्यादीनां दिव्यविधिना संसर्गो भवति। यथा कृष्णद्वैपायनस्य कौशल्यया अम्बालिकया च नियोगः। तत्रापि न मैथुनसम्बन्धः, किन्तु वरप्रदानमेव। कृष्णद्वैपायनाच्चापि प्रसूतिर्वरदानजा। धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानाञ्च सम्भवः ॥' (म० भा० १।२।१०१) अत्र वरेणोत्पत्तिरुक्ता। दृष्टिसंयोगेन हस्तसंयोगेन वा समुत्पत्तिर्वरदानमूलिकैव। 'क्षुच्छ्रमाभिपरिग्लानं द्वैपायनमुपस्थितम्। तोषयामास गान्धारी व्यासस्तस्यै वरं ददौ ॥ सा वव्रे सदृशं भर्तुः पुत्राणां शतमात्मनः।' (म० भा० १।१०७।७) तथैवाङ्गस्पर्शमैथुनादिकमन्तरैव बालब्रह्मचारिण ऊर्ध्वरेतसो व्यासाद् धृतराष्ट्रादीनामुत्पत्तिः।

तादृशा ऊर्ध्वरेतस आयुर्वेददृष्ट्या नपुंसकत्वेन गण्यन्ते। 'बलिनः क्षुब्धमनसो निरोधात् ब्रह्मचर्यतः। षष्ठं क्लैव्यं मतं तत्तु स्थिरशुक्रनिमित्तजम् ॥' (सुश्रुत चिकित्सास्थाने २६।१२) तेषु शुक्राभावात् शुक्रस्थैर्याद्वोत्तेजनाभावात् स्त्रीसङ्गयोग्यास्ते न भवन्ति। ऊर्ध्वरेतस्कत्वं मैथुनं च परस्परं विरुद्धमेव। 'तयोरुत्पादयापत्यं समर्थो ह्यसि पुत्रक।' (म० भा०१।९७।१०) इत्यत्र तपोबलेन पुत्रजननसमर्थ इत्येवार्थः। '····नियतं स महातपाः। विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु पुत्रानुत्पादयिष्यति ॥' (म० भा० १।१०५।१९)। स्थिरशुक्रस्य नपुंसकस्य मैथुनासम्भवात्। 'भ्रातुः पुत्रान् प्रदास्यामि मित्रावरुणयोः समान्।' (म० भा० १।१०५।४१) अत्र पुत्रदानमपि दिव्यविधानमेव सूचयति। 'ज्ञातिवंशस्य गोप्तारं पितॄणां वंशवर्धनम्। द्वितीयं

नहीं पहुँचाऊंगा। मैंने तो मानसिक आलिगन मात्र किया हैं। देवताओं के इस तरह के मानसिक आलिगन से पातिव्रत्य धर्म नहीं टूटता। योनि के द्वारा उपभोग करने पर ही ऐसा होताहै। इससे सिद्ध हो जाता है कि देवता स्थूल संभोग नहीं करते।

कुमारावस्था में हुआ कुन्ती के साथ सूर्य का सम्पर्क भी स्थूल मैथुनरुप न होकर मानस संकल्पमय ही था। योग अथवा दिव्यविधि मैथुन नहीं कहा जाता। यह वनपर्व की कथा है। उससे कुन्ती दूषित नहीं हुई। महाभारत आश्रमवासिक पर्व में कहा गया है कि मनुष्य का धर्म दैवधर्म से दूषित नहीं होता। देवताओं के समान ही ऋषि और मुनियों का भी संसर्ग दिव्य विधि से ही होता है। जैसा कि कृष्ण द्वैपायन का कौसल्या और अम्बालिका के साथ नियोग हुआ। यहाँ पर भी इनका मैथुन संबन्ध न होकर वरप्रदान द्वारा ही सन्तति प्राप्त हुई है। महाभारत में इसका स्पष्ट उल्लेख है कि कृष्ण द्वैपायन के वरदान से धृतराष्ट्र, पाण्डु और पाण्डवों की उत्पति हुई। दृष्टि मात्र से अथवा हाथ से छू देने मात्र से जो सन्तति होती है, उसमें वरदान ही कारण है। क्षुधा और परिश्रम से थके हुए द्वैपायन व्यास के आने पर गान्धारी ने बड़ी सेवा की। इससे प्रसन्न होकर व्यासजीने उसे वर माँगने को कहा। गान्धारी ने अपने पति के सदृश पराक्रम वाले सौ पुत्रों को माँगा। इसी तरह से अंगस्पर्श और मैथुन क्रिया के बिना ही बालब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता व्यास जी के वरदान से ही धृतराष्ट्र आदि भी उत्पन्न हुए थे।

इस तरह के ऊर्ध्वरेता ऋषिगण आयुर्वेद की दृष्टि से नपुंसक ही माने जाते हैं। सुश्रुत संहिता में बताया गया है कि अपने ब्रह्मचर्य के प्रभाव से जो बलवान् शुद्धवीर्य को भी रोक लेते हैं, उनका वीर्य स्थिर हो जाता है। वीर्य की स्थिरता के कारण भी मनुष्य में नपुंसकता आ जाती है। यह नपुंसकता का छठवां प्रकार है। इसका अभिप्राय यह है कि ऊर्ध्वरेता महर्षियों में शुक्र का अभाव हो जाने से अथवा शुक्र के स्थिर हो जाने से वे स्त्री के साथ सहवास करने में असमर्थ हो जाते हैं। ऊर्ध्वरेता और मैथुन ये दोनों परस्पर विरुद्ध कार्य हैं। सत्यवती जब व्यास को अपनी पुत्रवधुओं में पुत्र उत्पन्न करने की बात कहती है, तो वहीं पर तप के प्रभाव से तुम पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ हो, यही उसका अभिप्राय है। शुक्र के स्थिर हो जाने पर मैथुन की सामर्थ्य रह ही नहीं

कुरुवंशस्य राजानं दातुमर्हसि ॥' (म० भा० १।१०५।११) 'तं माता पुनरेवान्यमेकं पुत्रमयाचत ।' (म० भा० १।१०५।२०) अत्र तपोबलेनैव पुत्रं दातुं समर्थो व्यासः । तत एव तासां शुद्धयर्थं व्रताचरणमुपदिष्टम् । 'व्रतं चरेतां ते देव्यौ निर्दिष्टमिह यन्मया । संवत्सरं यथान्यायं ततः शुद्धे भविष्यतः । नहि मामव्रतोपेता उपेयात् काचिदङ्गना ।' (म० भा० १।१०५।४२।४३) ।

यत्तु—'सा तु रूपं च गन्धं च महर्षेः प्रविचिन्त्य च । नाकरोद्वचनं देव्या भयात्सुरसुतोपमा ॥' (म० भा० १।१०६।२४), 'ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम् । प्रेषयामास कृष्णाय (व्यासाय) ततः काशिपतेः सुता ॥' (म० भा० १।१०६।२५), सा तमृषिमनुप्राप्तं प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च । संविवेशाभ्यनुज्ञाता सत्कृत्योपचचार ह । कामोपभोगेन रहस्तस्यां तुष्टिमगादृषिः ।' (म० भा० १।१०६।२६) इह श्रीव्यासस्य कामोपभोग एव स्पष्टः । ततो नियोगे मैथुनं न सम्भवतीति रिक्तं वचः' इति, तन्न, अत्र कामोपभोगोल्लेखादेव ततः पूर्वं तदभावेन पाण्डुधृतराष्ट्रोत्पत्तिसिद्धेः । यत्कामोपभोगवर्णनं तत्तु दासीविषयं न कुलाङ्गनाविषयम् । मन्वादिभिर्द्विजातीनां कृते मैथुनयुक्तनियोगनिषेधात् । नायं निषेधो दास्याः कृते । 'नान्यस्मिन् विधवानारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः । अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥' (म० ९।६४) अतो दास्याः कामोपभोगाङ्गीकारेपि न हानिः ।

वस्तुतस्तु तत्रापि दृष्टिमात्रेणैव सन्तानोत्पादनमभ्युपगन्तव्यम्, न मैथुनेन । नियोगे कामोपभोगस्य वर्जनात् । 'नियुक्तौ यौ विधिं त्यक्त्वा वर्तेयातां तु कामतः । तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥' (म० ९।६३) इति मनूक्तेः । यदि कामोपभोगं कुर्यात्तदा व्यासस्यापि पातित्यापत्तिः । व्यासेन तु स्पष्टमुक्तम्—'तस्मादहं त्वन्नियोगाद् धर्ममुद्दिश्य कारणम् ।' (म० भा० १।१०५।४०) अत्र धर्मोद्देश्येन तत्प्रवृत्तिर्न कामोपभोगोद्देश्येन । अतोऽत्र कामोपभोगशब्दस्य न मैथुनमर्थः, किन्तु इच्छापूर्तिरेव । कामः प्रद्युम्नः (अमरकोषः १।७।२८) । काम इच्छा' तर्कसङ्ग्रहः । कामधेनुः, कामदुघा,

जाती । मित्रावरुण के समान प्रभावशाली पुत्रों को दूँगा, यहां पर भी पुत्रदान के लिये दिव्यविधि का ही आश्रय लिया गया है । व्यास जी से माता ने वंश की रक्षा के लिये एक और पुत्र प्रदान करने की प्रार्थना की । इसका भी स्पष्ट अभिप्राय यही है कि व्यास अपनी तपस्या के बल से ही पुत्र देने मे समर्थ थे । इसीलिये उन्होंने विचित्रवीर्य की पत्नियों को शुद्धि के लिए एक वर्ष पर्यन्त व्रत का अनुष्ठान करने के लिए कहा था ।

कुछ लोग प्रश्न उठाते हैं कि महर्षि व्यास के भयानक रूप, तीव्र गन्ध आदि का ध्यान कर विचित्रवीर्य की पत्नी ने अपनी सास की आज्ञा का पालन न कर अपने स्थान पर दासी को वस्त्रालंकार से सजा कर भेज दिया । उस दासी ने महर्षि का अभिवादन आदि के साथ स्वागत किया । उनके साथ एकान्त में एक आसन पर बैठ कर कामोपभोग किया, जिससे कि ऋषि संतुष्ट हुए । इस प्रकरण में व्यास के कामोपभोग का स्पष्ट वर्णन मिलता है । अतः नियोग में मैथुन विहित नहीं है, ऐसा कहना सही नहीं माना जा सकता । किन्तु यह कथन इसलिये गलत है कि यहां पर जो कामोपभोग का वर्णन है, यही सिद्ध करता है कि इससे पहले पाण्डु और धृतराष्ट्र की उत्पत्ति के समय उसका आश्रय नहीं लिया गया था । दासी के साथ ही कामोपभोग का वर्णन है, कुलांगना के साथ नहीं । मनु प्रभृति ने द्विजाति के लिये ही मैथुनयुक्त नियोग को निषिद्ध माना है । यह निषेध दासी के लिये नहीं है । अतः दासी यदि कमोपभोग को स्वीकार करती है, तो इसमें कोई दोष नहीं है ।

वास्तव में देखा जाय तो यहाँ पर भी दृष्टिमात्र से ही सन्तान उत्पत्ति की बात माननी चाहिये, मैथुन से नहीं । नियोग मे कामोपभोग वर्जित है । मनु ने स्पष्ट कहा है कि नियोग के लिये पास आये हुए स्त्री पुरुष यदि कामोपभोग में प्रवृत्त हो जाते हैं, तो उसी तरह से पतित माने जाते हैं, जैसे कि स्नुषागामी और गुरुतल्पगामी । यदि कामोपभोग में प्रवृत्त होते तो व्यास जी भी पतित हो जाते । व्यास ने स्पष्ट कहा है—'इसलिये मैं तुम्हारी आज्ञा से इस धर्म कार्य को करता हूँ' । यहाँ पर धर्म को प्रधान मान कर ही वे प्रवृत्त हुए हैं, कामोभोग को नहीं । अतः कामापभोग शब्द का अर्थ मैथुन न होकर इच्छापूर्ति होगा । अमरकोष में काम का अर्थ प्रद्युम्न है और तर्कसंग्रह में इच्छा । कामधेनु, कामदुघा, पुत्रकामा, श्रीकाम प्रभृति शब्दों में भी काम पद का अर्थ इच्छा ही है । उप-

पुत्रकामा, श्रीकाम इत्यादि शब्देषु कामशब्दस्येच्छैवार्थः। उपभोगशब्दस्यापि 'भुजपालनाभ्यवहारयोः' इति धातुनिष्पन्नस्य पालनमुपयोगो वार्थः। तेन इच्छापालनम् इच्छापूर्तिरेवार्थः। यजुर्वेदे २१।६० मन्त्रे दयानन्देन भोग उपभोग इत्यर्थः कृतः। स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः।' (श्री० वा० रा० २।२६।३२) अत्र रामायणे मातृसम्भोग उक्तः। किमत्र सम्भोगशब्दस्य मैथुनमर्थः? यदि भोगशब्दस्य मैथुनमेवार्थः स्यात्तदा 'स्त्रीणां भोगे च मैथुने' (म० ८ १००) इत्यत्र पुनरुक्तिः स्यात्। 'न कामभोगात् परमान्नालङ्कारार्थसञ्चयात्। तथा हितं न मन्यन्ते यथा रतिपरिग्रहात्॥' (शि० पु० उमा संहिता २५।३३) इत्यत्र कामभोगाद्भिन्नत्वेन रतिपरिग्रहस्य वर्णनमुक्तम्। तस्मात् प्रकृतेऽपि कामोपभोगपदस्य इच्छापूर्तिरेवार्थः।

अत्रैकान्ते यथाविधिसम्यगासीनया दृष्टिः सम्मुखे कर्त्तव्या भवति। तया तथा करणान्मुनेरिष्टपूर्तिर्जाता। 'कामोपभोगेन रहस्तस्यां तुष्टिमगादृषिः'। प्रथमया कौसल्यया तदीयं तेजः सोढुमसमर्थया नेत्रे निमीलिते। 'तस्य कृष्णस्य कपिलां जटां दीप्ते च लोचने। बभ्रूणि चैव श्मश्रूणि दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत्॥ भयात् काशिसुता तं तु नाशक्नोदभिवीक्षितुम्॥' (भ० भा० १।१०६।५-६) इत्यत्र नेत्रनिमीलनेन दृष्ट्या दृष्टिसंयोगस्यापूर्णत्वादेव सन्ताने जातेऽपि तस्य नेत्रराहित्यम्। तदुक्तम्—'प्रोवाचातीन्द्रियज्ञानो विधिना सम्प्रचोदितः। किन्तु····वैगुण्यादन्ध एव भविष्यति॥' (म० भा० १।१०६।८-१०)। एतेनात्र दृष्टिसंयोगेनैव नियोगविधिः सम्पादितः। 'महातपस्विनः' (म० भा० १।१०५।१९) 'महातेजस्विनः' (म० भा० १।१०५।४८) मुनेः शक्तिस्तदानीं नेत्रयोः केन्द्रितासीत्। तस्मिन् विधाने वैगुण्याद् इष्टपूर्तिर्न जाता। नेत्रनिमीलनादेव काशिराजसुताया अन्धपुत्रोत्पत्तिः। दृष्टियोगस्यैवात्र विधानमासीत्। तद्व्यतिक्रमात् सन्तानोत्पत्तौ त्रुटिर्जाता। अम्बालिकासमीपगमनेऽपि दृष्टिसंयोग एवाभीष्ट आसीत्। यद्यपि तया नेत्रनिमीलनं न कृतं किन्तु सापि भयात् पिङ्गलतां गता। विधिवैषम्यात्तत्रापि पाण्डुः पुत्रः सञ्जातः। (म० भा० १।१०६।१६-२०) काशिराजप्रेरिता दासी तु मुनेरिच्छां पूरितवती। सा मुने रूपं गन्धं च सोढ्वा निर्भयासती दृष्ट्या दृष्टि योजयित्वा स्थिरा आसीत्। अत एव

भोग शब्द पालन और अभ्यवहार अर्थवाची भुज धातु से बनता है, अतः उसका अर्थ पालन अथवा उपभोग होगा। फलतः इच्छा का पालन, इच्छा की पूर्ति ही यहाँ पर उपभोग पद का अर्थ होगा। यजुर्वेद (२१।६०) के मन्त्र की व्याख्या में दयानन्द ने भोग शब्द का अर्थ उपभोग किया है। वाल्मीकि रामायण में माताओं के लिये स्नेह, प्रणय और संभोग शब्दों का प्रयोग किया गया है। मातृ-संभोग का अर्थ वहाँ पर मैथुन नहीं है। यदि भोग शब्द का अर्थ मैथुन किया जाता तो उस दशा में मनुस्मृति (८।१००) में भोग और मैथुन शब्द का अलग अलग प्रयोग करने पर पुनरुक्ति दोष आ जाता। शिवपुराण की उमासंहिता में कामोपभोग और रतिपरिग्रह का अलग अलग उल्लेख किया गया है। इसलिये प्रकृत स्थल में भी कामोपभोग पद का अर्थ इच्छा की पूर्ति ही मानना चाहिये।

नियोग के समय एकान्त में यथाविधि बैठकर आँख से आँख मिलानी पड़ती है। दासी ने ऐसा किया, अतः मुनि की इच्छा पूरी हो गई, वे उस पर प्रसन्न हो गये। पहले कौसल्या उनके तेज को सहन न कर सकी। उसने अपनी आँखें मूँद ली। वेदव्यास की पीली जटा, प्रदीप्त नेत्र, चितकबरी डाढ़ी-मूँछ देखकर भय के मारे वह उनकी तरफ देख न सकी। आँखें मूँद लेने के कारण आँखों से आँखें ठीक से मिल न सकीं और इसीलिये सन्तान के उत्पन्न होने पर भी वह अन्धी हुई। वेदव्यास अतीन्द्रिय ज्ञान-संपन्न थे। उन्होंने इस बात की सूचना पहले ही दे दी थी। इससे यह सिद्ध होता है कि यहाँ पर दृष्टिमात्र से नियोग की विधि पूरी कर दी गई थी। महान् तपस्वी, महान् तेजस्वी मुनि की शक्ति तब नेत्रों में केन्द्रित हो गई थी। इस विधि में दोष आ जाने से अभीप्सित सन्तान की प्राप्ति नहीं हुई। आँख मूँद लेने के कारण ही काशिराज की पुत्री के अन्धा पुत्र उत्पन्न हुआ। इस नियोग में दृष्टि की ही प्रधानता थी। उसमें त्रुटि आ जाने से सन्तान में भी दोष आया। अम्बालिका के पास जाने में भी दृष्टि संयोग ही अभीष्ट था। यद्यपि उसने आँखें नहीं मूँदी, किन्तु डर के मारे वह भी पीली पड़ गई थी। विधि की विडम्बना से उसका पुत्र भी पाण्डुवर्ण का हुआ। दासी ने मुनि की इच्छा पूरी की। उसने मुनि के रूप और गन्ध को सहन कर लिया और निर्भय होकर मुनि की आँखों में अपनी आँखें

पाण्डवानभिलक्ष्य भारतसारे 'न च मैथुनसम्भूता निष्पापाः पाण्डवा मताः' (५५।३१) महाभारते च 'संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण च। लेभे पुत्रं वरारोहा·····' (१।१२३।५) अत्र योगबलेन पुत्रदानं स्पष्टं भवति। धर्मेण संयुक्तेति न मैथुनमभिप्रेतम्, योगमूर्तिधरेणेति विशेषणवैयर्थ्यात् । 'देवाश्चैश्वर्यवन्तो वै शरीराण्याविशन्ति च' (म० भा-१५।३०।२१), 'सन्ति देवनिकायाश्च सङ्कल्पाज्जनयन्ति च । वाचा दृष्ट्या तथा स्पर्शात् सङ्घर्षेणेति पञ्चधा ॥' इति ।

पूर्वमेवोक्तं मुनिना—'यदि पुत्रः प्रदातव्यो मया भ्रातु··· । विरूपतां मे सहतां तयोरेतत्परं व्रतम् ॥ यदि मे सहते गन्धं रूपं वेषं तथा वपुः ।' (म० भा० १।१०५।४६-४७) एवैवेच्छापूर्तिः कामोपभोगशब्देन विवक्षिता । इष्टपूर्तेर्व्यतिक्रमाभावादेव तस्याः पुत्रो विदुरो निर्दोषो जातः । 'धर्मात्मा भविता लोके सर्वबुद्धिमतांवरः ।' (म० भा० ११०६।२८) कामोपभोगपदस्य मैथुनार्थत्वे कामसम्बन्धेन नियोगदूषणेन तस्याः पातिव्रत्यभङ्गो महर्षेः पातित्यं च स्याताम् । तथात्वे विदुरस्य गुणवत्त्वमपि न स्यात् । एवमेव 'सम्बभूव तया सार्धं मातुः प्रियचिकीर्षया ।' (म० भा० १।१०६।६) इत्यत्र सम्बभूवेत्यस्य तया सह एकस्थाने स्थित इत्येवार्थो, न मैथुनम् । यथा—'कृष्णो द्वितीयः केशवः सम्बभूव' (म० भा० १।९९।३४), 'एवमेते पाण्डवाः सम्बभूवुः ।' (म० भा० १८।९–३६) यथा नात्र मैथुनमर्थः, तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम् ।

मैथुनशब्दस्यापि एतादृशे प्रसङ्गे मिथुनीभावः सङ्गतिरेवार्थः। पतिपत्न्योर्युगलेऽपि मिथुनशब्दप्रयोगो भवति। भ्रातृभगिन्योरप्येकत्र स्थितौ, युग्मबोधनायापि मिथुनपदं प्रयुज्यते। 'मिथुनानां विसर्गादौ' (नि० ३।४) 'प्रेहि मां राज्ञि पृषति मिथुनं त्वामुपस्थितम्' (म० भा० १।१६९।३६), 'मिथुना सरण्यु (ऋ० सं० १०।१७।२), 'भ्रातृभगिन्योर्युग्मं मैथुनं सङ्गते रतौ' (अमरकोषे ३।३।१२२) सङ्गतावपि मिथुनशब्दः प्रयुज्यते । दृष्टिसंयोगेनापि गर्माधानं

मिलाये रखीं। दृष्टि के प्रसाद से उत्पन्न होने के कारण ही भारतसार में पाण्डवों के लिये लिखा गया है कि मैथुन से उत्पन्न न होने के कारण पाण्डव निष्पाप हैं। महाभारत में भी योगवल से पुत्रदान की बात स्पष्ट कही गई है। धर्म से संयोग का अर्थ मैथुन नहीं है, क्योंकि उस अवस्था में धर्मराज का 'योगमूर्तिधर' यह विशेषण व्यर्थ हो जायगा। इसी तरह से यह कथन भी व्यर्थ हो जायगा कि देवगण अपने ऐश्वर्य के प्रभाव से शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसे भी देवनिकाय होते हैं, जो कि संकल्प मात्र से, वाणी से, दृष्टि से. स्पर्श द्वारा तथा संघर्ष के द्वारा इन पाँच विधियों में से किसी भी एक विधि से सन्तान देने में समर्थ होते हैं।

व्यास मुनि ने पहले ही कह दिया था कि मैं अपने भाई की पत्नियों को पुत्र अवश्य प्रदान करूँगा, किन्तु इसके लिये वे मेरी कुरूपता, तीक्ष्ण गन्ध और विकृत वेष को सहन करें। मुनि की इस इच्छा की पूर्ति ही यहाँ कामोपभोग शब्द से कही गई है। इस इच्छा के पूर्ण होने में कोई व्यतिक्रम न आने से ही दासी के पुत्र विदुर निर्दोष हुए। मुनि ने इसके लिये भी भविष्यवाणी कर दी थी कि इससे उत्पन्न होने वाला पुत्र धर्मात्मा और बुद्धिमानों में श्रेष्ठ होगा। कामोपभोग पद का अर्थ मैथुन करने पर नियोग दूषित हो जायगा, दासी का पातिव्रत्य नष्ट हो जायगा और महर्षि में भी पातित्य दोष आयेगा और ऐसी स्थिति में विदुर के गुणवान् होने की संभावना ही कहाँ रह जाती। इसीलिये 'सम्वभूव' इस क्रिया का अर्थ दासी के साथ एक स्थान पर बैठे, यही अर्थ होगा, मैथुन क्रिया, यह अर्थ नहीं। 'कृष्णो द्वितीयः', 'एवमेते' इत्यादि उद्धरणों में भी संबभूव शब्द का अर्थ उत्पत्ति मात्र है, मैथुन नहीं; उसी तरह से प्रकृत स्थल में भी समझना चाहिये।

ऐसे प्रसंगों में मैथुन शब्द का अर्थ भी मिथुनीभाव, अर्थात् एक साथ बैठना ही होगा। पति-पत्नी का एक साथ बोध कराने के लिये भी मिथुन शब्द प्रयुक्त होता है, भाई-बहिन की एक जगह स्थिति बताने के लिये भी और किसी युगल का बोध कराने के लिये भी। ऊपर निरुक्त, महाभारत और ऋग्वेद के उद्धरणों में इन सभी अर्थों में मिथुन शब्द का प्रयोग हुआ है। अमरकोष में रति के लिये समागम के अर्थ में भी यह शब्द प्रयुक्त है। दृष्टि के संयोग से भी गर्भाधान होता है। ऐसी स्थिति में इस तरह के समागम के

सम्भवत्येव, तथा सति क्वचित् समागमे सम्भोगशब्दप्रयोगेऽपि न क्षतिः। यथा मुखेनौषधग्रहणं सूच्यापि तद्ग्रहणं सम्भवत्येव, तथैव दिव्यदृष्ट्या व्यासेन गर्भाधानं कृतम्। 'तां स दीर्घतमाङ्गेषु स्पृष्ट्वा देवी यथाब्रवीत्। भविष्यति कुमारस्ते तेजसादित्यवर्चसः॥' (म० भा० १।१०४।५२) अत्र महर्षिर्दीर्घतमा स्पर्शेनैव गर्भधारणं कृतवान्। अत्र स्पष्टं मैथुनाभावेऽपि दीर्घतमसा हस्तस्पर्शेनैवादित्यवर्चसः कुमारा उत्पादिताः। 'वृद्धाय प्राहिणोत्तदा' (म० भा० १।१०४।४६), अन्धं वृद्धं च तं मत्वा न सा देवी जगाम ह।' (म० भा० १।१०४।४६) वृद्धस्य मैथुनसामर्थ्यमपि नासीत्। ब्रह्मवैवर्तेऽपि 'मुनेः करस्पर्शमात्रात् सद्यो गर्भो बभूव ह।' (२।४६।६२), 'महर्षिः संविदं कृत्वा सम्बभूव तया सह। देव्या दिव्येन विधिना वशिष्ठः श्रेष्ठया ऋषिः॥' (म० भा० १।७९।४५) 'तेनैव विधिना' (म० भा० १।१०६।१५) सर्वत्र मैथुनमन्तरैव दिव्येन विधिना सृष्टिरुक्ता।

वायुपुराणेऽपि—'तासां विशुद्धात्सङ्कल्पाज्जायन्ते मिथुनाः प्रजाः।' (८।५२) प्राचीनकाले अमैथुन्यः सृष्टयः स्मर्यन्ते। 'न चैषां मिथुनो धर्मो बभूव भरतर्षभ। सङ्कल्पादेव चैतेषामपत्यमुपपद्यते॥' (म० भा० शा० प० २७।३८) 'ततस्त्रेतायुगे...संस्पर्शाज्जायते प्रजा। नह्यभून्मैथुनोधर्मस्तेषामपि जनाधिप॥' (म० भा० १२।२०७।३९), द्वापरे मैथुनो धर्मः प्रजानामभवन्नृप। तथा कलियुगे राजन् द्वन्द्वमापेदिरे जनाः॥' (म० भा० १२।२०७।४०) द्वापरेऽपि विशिष्टा मुनयो योगिनश्च दिव्येन विधिना प्रजाः सृजन्तिस्म। यदि ग्राम्यधर्मेणैव सृष्टिरिष्टा स्यात्तदा बलवतो यूनः क्षत्रियानपहाय वृद्धान् कृशान् तपस्विनो ब्राह्मणान् किमर्थमाकाङ्क्षन्ते स्म? महाभारते मन्त्रशक्त्यैव स्त्रियमन्तरापि पुत्राः समुत्पादिताः। 'याजस्तु हवनस्यान्ते देवीमाज्ञापयत्तदा। प्रेहि मां राज्ञि पृषति मिथुनं त्वामुपस्थितम्॥' (म० भा० १।१६९।) तदानीं रजस्वला द्रुपदपत्नी सङ्केतेनोक्तवती—'अवलिप्तं मुखं ब्रह्मन् दिव्यान् गन्धान् बिभर्मि च। सुतार्थेनोपलभ्यास्मि तिष्ठ याज मम प्रिये॥' याजेनोक्तम्—'याजेन श्रपितं हव्यमुपयाजाभिमन्त्रितम्। कथं कामं न सन्दध्यात् सा त्वं विपेहि तिष्ठ वा॥' (म० भा० १।१६९।३८) 'एवमुक्त्वा याजेन हुते हविषि संस्कृते। उत्तस्थौ पावकात्तस्मात् कुमारो (धृष्टद्युम्नः) देवसन्निभः॥

लिये संभोग शब्द का प्रयोग किया जाय, तो उसमें कोई दोष नहीं है। जैसे मुंह के द्वारा और इंजेक्शन के द्वारा भी औषधी ली जाती है, उसी तरह से दिव्य दृष्टि के द्वारा व्यास ने गर्भाधान किया। दीर्घतमा महर्षि ने भी स्पर्श के द्वारा गर्भाधान किया था। स्पष्ट है कि बिना मैथुन के दीर्घतमा ऋषि ने हाथ के स्पर्शमात्र से सूर्य के समान तेजस्वी पुत्रों को पैदा किया था। वे अन्धे और वृद्ध थे। वृद्ध मनुष्य में मैथुन की शक्ति रह भी नहीं जाती। ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी मुनि के कर-स्पर्श मात्र से गर्भस्थापन की बात कही गई। महाभारत में दिव्य विधि से गर्भाधान करने की बात कही है। इस तरह से शास्त्रों में सर्वत्र मैथुन के बिना दिव्य विधि से ही गर्भाधान करने की बात वर्णित है।

वायुपुराण में भी वर्णित है कि ऋषियों के विशुद्ध संकल्प से मैथुन सृष्टि होती है। प्राचीन काल में बिना ही मैथुन के संकल्प मात्र से सृष्टि हुआ करती थी। त्रेतायुग में स्पर्शमात्र से प्रजा हो जाती थी, उस समय भी मैथुन धर्म प्रवृत्त नहीं था। द्वापर युग में मैथुन धर्म की प्रवृत्ति हुई और कलियुग में तो इसके लिये कलह भी होने लगा। द्वापर युग में भी विशिष्ट मुनि और योगीजन थे, जो कि दिव्य विधि से प्रजा की सृष्टि करते थे। यदि इन स्थलों पर मैथुन धर्म से सृष्टि करने की बात होती, तो इसके लिये बलवान् क्षत्रिय युवक को छोड़कर वृद्ध दुर्बल तपस्वी ब्राह्मणों की क्यों खोज होती। महाभारत में ऐसे भी प्रसंग है, जहाँ पर कि स्त्री के बिना भी मन्त्रशक्ति के प्रभाव से पुत्र उत्पन्न हुए हैं। द्रुपदराज के यहाँ याज नामक महर्षि ने यज्ञ कराया था। हवन के अन्त में उन्होंने देवी का आह्वान किया। द्रुपदपत्नी के यह संकेत देने पर कि रजस्वला होने के कारण वह यज्ञस्थल में उपस्थित होने में असमर्थ है, याज ने अपने छोटे भाई उपयाज के द्वारा अभिमन्त्रित हवि की आहुति दे दी और उससे कहा कि तुम यहाँ उपस्थित रहो अथवा न रहो, यह हवि व्यर्थ नहीं जा सकती। संस्कृत हवि की अग्नि में आहुति देने के साथ ही उस यज्ञीय अग्नि से एक कुमार (धृष्टद्युम्न) और एक कुमारी (द्रौपदी) का प्रादुर्भाव हुआ। इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि बिना मैथुन के दिव्य विधि से महर्षि-

कुमारी चापि पाञ्चाली वेदिमध्यात् समुत्थिता' (म० भा० १।१६९।४४) तस्मान्मैथुनमन्तरा दिव्येन विधानेन महर्षयः क्षत्रियाणां पुत्रान् उत्पादयन्ति स्म । कलियुगे तदसम्भवात् सर्वथा निषिद्धो नियोगः ।

यद्वा—'मनः कृतं कृतं राम न शरीरकृतं कृतम् । येनैवालिङ्ग्यते कान्ता तेनैव दुहिता पि च ॥' इति रीत्या महर्षीणां कामभावनाऽभावे शरीरेण लौकिकमैथुनेऽपि न तन्मैथुनम्, सुतालिङ्गनवत् । यथा कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वबुद्धयभावेनाहङ्काराभिनिवेशराहित्येन च लोकदृष्ट्या कर्मापि न कर्म भवति, वृश्चिकस्य विषकण्टकनाशे लोकदृष्ट्या वृश्चिकत्वेऽपि यथा न वृश्चिकत्वम्, तथैव कामवृत्यभावेन मैथुनस्याप्यमैथुनत्वमेव, 'सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।' (म० गी०) वैदिके यज्ञेऽग्नीषोमीयादिपश्वालम्भनेऽप्याम्नायवचनादहिंसा प्रतीयते, तथैव कामवासनाया उद्देश्याभावेऽपि मैथुनमपि मैथुनं न भवति ।'अत्रापि विधिरुक्तश्च मुनिभिर्मांसभक्षणे । देवतानां पितॄणाञ्च भुङ्क्ते दत्त्वापि यः सदा ॥ यथाविधि यथाश्रद्धं न प्रदुष्यति भक्षणात् ।' (म० भा० ३।२०८।१५), 'अमांसाशो भवत्येवमित्यपि श्रूयते श्रुतिः । भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति ब्राह्मणः ।' (म० भ० ३।२०८।१५) कलियुगे छद्मप्राययुगे तदसम्भवान्निषिद्धो नियोगः । व्यामोहेन चेतनत्वादमोघवीर्यत्वाभावाच्चाऽनेकधा प्रवृत्तौ विषयप्रसक्तिरेव सम्भाव्यते । अद्यत्वे वैज्ञानिकगर्भाधानेऽपि छलछद्मादिसम्भवात् दिव्यत्वाभावाच्च कलिवर्ज्यत्वमेव मन्तव्यम् ।

गण क्षत्रियों को सन्तान दिया करते थे । कलियुग में ऐसा करना सम्भव नहीं है, अतः इस काल में नियोग को निषिद्ध मान लिया गणा है ।

अथवा योगवासिष्ठ में महर्षि वसिष्ठ श्रीराम को उपदेश देते हैं कि हे राम, संसार में मन के द्वारा किये गये कर्म की ही प्रधानता मानी जाती है, शरीर के द्वारा किये गये की नहीं । एक ही मनुष्य स्त्री का भी आलिगन करता है और अपनी पुत्री का भो । यहाँ पर शारीरिक क्रिया के समान रहते भी मानसिक भाव भिन्न भिन्न प्रकार के रहते हैं । इसी पद्धति से महर्षियों में कामभावना नहीं रहती, अतः उनके द्वारा शरीर से किया गया मैथुन, मैथुन नहीं माना जाता, जैसे कि पुत्री का आलिगन सदोष नहीं माना जाता । जैसे कि कर्ता, भोक्ता आदि नानात्व बुद्धि के न रहने से, अहंकार और अभिनिवेश के अमाव में किया गया कर्म; कर्म नहीं रह जाता । बिच्छू के डंक के काट देने पर भी वह बिच्छू ही कहलाता है, किन्तु वास्तव में उसका वृश्चिकत्व नष्ट हो जाता है, उसी तरह से कामवृत्ति के अभाव में किया गया मैथुन भी मैथुन नहीं कहलाता है । गीता में कहा गया है कि सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को देखने वाला योगी कर्म करते हुए भी उसके फल से लिप्त नहीं होता । वैदिक यज्ञ में अग्नीषोमीय आदि पशुओं का आलंभन होने पर भी जैसे शास्त्र के वचन के अनुसार इसमें हिंसा नहीं होती, उसी तरह से कामवासना के निमित्त न होने पर किया मैथुन भी मैथुन नहीं माना जाता । महाभारत में मांस-भक्षण के विषय में बताया गया है कि देवता और पितृगण के निमित्त यथा विधि अर्पित करके प्रसाद के रूप में उसका ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है, ऐसा मुनियों ने बताया है । श्रुति में भी बताया गया है कि ऐसा करने वाला मांसभक्षी नहीं कहा जाता । ऋतुकाल में अपनी भार्या के साथ सहवास करने वाला व्यक्ति ब्रह्मचारी ही कहलाता है । कलियुग छल-कपट से भरा हुआ है । उसमें इन सब नियमों का पालन कर पाना कठिन है । व्यामोह में पड़कर और अमोघ वीर्य न होने से पुरुष नियोग-क्रिया में बार-बार प्रवृत्त हो सकता है और इस तरह से उसकी विषय-भोग में प्रवृत्ति बढ़ सकती है । आजकल वैज्ञानिक पद्धति से गर्भाधान की वही चर्चा है, किन्तु इसमें भी छल-कपट की संभावना ही अधिक है । दिव्य विधि न होने से कलिकाल में इसको भी निषिद्ध मानना ही उचित है ।

परिशिष्टम्—२

युधिष्ठिरमीमांसकमतखण्डनम्

यत्तु युधिष्ठिरमीमांसकः कश्चित्समाजी—'भारतीयेतिहासानुसारेण समेषां शास्त्राणामाद्य उपदेष्टा भगवान् ब्रह्मासीत् । तस्योपदेश एव शास्त्रं शासनमुच्यते । अतिविस्तृतत्वात्तस्य तन्त्रमित्यप्येकं नाम भवति । तदनन्तरं देशकालपरिस्थित्यनुसारेण उत्तरकालवर्तिभिर्ऋषिभिर्यच्छास्त्राणामुपदेशः कृतः, तस्य मूलं ब्रह्मोपदेश एव । तस्मात्तेषामुपदेशोऽनुशासनमनुतन्त्रं स्मृतिर्वोच्यते । शास्त्रत्वधर्मस्य साम्येऽपि यद्यपि तत्र शास्त्रतन्त्रशब्दयोरपि प्रयोगो भवति, तथाप्यनुशास्त्रमनुतन्त्रमेव तज्ज्ञातव्यम् । ब्रह्मोत्तरवर्त्युपदेशः प्रवचनमुच्यते । प्रवचनरूपस्योपदेशस्येदं वैशिष्ट्यं भवति यत्तत्र प्रवक्ता स्वपूर्वग्रन्थस्य देशकालपरिस्थित्यनुसारेण किञ्चिन्न्यूनमधिकं वांशं समावेश्य तस्य नव्यं रूपं विदधाति । एतत्प्रवचनं संस्कारपदेनाप्युच्यते । तदेतच्चरकसंहितायामुक्तम्—'विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यति विस्तरम् । संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम् ॥' (चर० सिद्धिस्थाने, १२।६५-६६) इति । प्रवचनात् संस्काराद्वा हेतोः प्रतिवचनं यत्र नवीनांशानां समावेशस्तत्रैव प्राचीनोंशोऽपि सुरक्षितो भवति ।......एतत्प्रवचनमृषिमुनिभिरेव कर्त्तुं शक्यते । तेषामुच्छेदात् प्रवचनविद्याया अपि उच्छेदो जातः' इति ।

तदेतत् सर्वं सर्वथाऽशुद्धमसङ्गतं कौटिल्यमूलकञ्च, निर्मूलत्वात् । तथाहि—कश्च तावद् भारतीयेतिहासः ? न वेदः, तस्य समाजिभिरितिहासत्वानभ्युपगमात् । नापि रामायणं भारतं वा, तयोरपि तैः प्रामाण्यानभ्युपगमात् । तत्र पदे पदे प्रक्षेपाङ्गीकारात् । नापि पुराणानामपि तत्त्वम्, तेषामपि प्रामाण्यानभ्युपगमात् । नापि ब्राह्मणारण्यकादीनामपि तत्त्वम्, तेषामपि पौरुषेयत्वाभ्युपगमेनाप्रामाण्यशङ्कास्कन्दितत्वात् । प्रामाण्ये वा ततो मूर्तिपूजाश्राद्धावतारादिसिद्ध्या तदनिष्टप्रसङ्गात् । नाप्याधुनिकस्येतिहासस्य प्रामाण्यम्, तस्यानेकदोषदुष्टत्वात् । तद्रीत्यावेदरामायणभारतादीनामर्वाचीनत्वापत्तेः ।

युधिष्ठिर मीमांसक के मत का खण्डन

युधिष्ठिर मीमांसक एक आर्यसमाजी विद्वान् हैं, इन्होंने अभी हाल में मीमांसा के शावर भाष्य का संस्करण प्रकाशित कराया है। उनका कहना है कि भारतीय इतिहास के अनुसार सभी शास्त्रों के प्रथम उपदेष्टा ब्रह्मा थे। उन्हीं के उपदेश को शास्त्र अथवा शासन कहा जाता है। यह शास्त्र अत्यन्त विस्तृत है, अतः इसको तन्त्र भी कहते हैं। इसके बाद देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उत्तर काल के ऋषियों ने जिस शास्त्र का उपदेश किया, उसका आधार ब्रह्मा का वह उपदेश ही है। इसलिये उनका उपदेश अनुशासन, अनुतन्त्र अथवा स्मृति कहा जाता है। ब्रह्मा के बाद ऋषियों का उपदेश प्रवचन के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी यह विशेषता है कि इसमें प्रवचन कर्ता अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थ के कुछ अंशों का समावेश कर देश, काल और परिस्थिति के अनुसार, उनका परिष्कार कर अपने ग्रन्थ में समावेश करता है। इस तरह के प्रवचन को ग्रंथ का संस्कार कहा जाता है। जैसा कि चरकसंहिता में कहा गया है—ग्रंथ का संस्कर्ता संक्षेप में कही गई बात को विस्तार से समझाता है। विस्तृत अंश को संक्षिप्त कर देता है और पुराने ग्रंथ को नया बना देता है। इस प्रतिसंस्कार में नई बातों का तो समावेश होता ही है, प्राचीन अंश भी सुरक्षित रहता है। इस तरह का प्रवचन ऋषि-मुनि ही करते हैं। उनके अभाव में अब प्रवचन की पद्धति भी उच्छिन्न हो गई है।

यह सारा कथन असंगत, अशुद्ध और कुटिलता से प्रेरित है, निराधार है। वह भारतीय इतिहास कोनसा है ? वेद में आर्यसमाजी इतिहास को नहीं मानते। रामायण-महाभारत को भी वे प्रमाण नहीं मानते, क्योंकि उनके मत के अनुसार इनके अनेक अंश पुरुष-प्रक्षिप्त हैं। पुराणों को तो वे प्रमाण मानते ही नहीं। ब्राह्मण, आरण्यक भी उनके मत में प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि उनके मत के अनुसार ये निर्मित ग्रंथ हैं और इसीलिये इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती है। यदि वे इनको प्रमाण मानने लगें तो मूर्तिपूजा, श्राद्ध अवतार आदि की सिद्धि होने से यह बात उनके मत के विपरीत पड़ेगी। अनेक दोषों से भरे होने के कारण आधुनिक इतिहास भी

नचाधुनिकैराद्य उपदेष्टा ब्रह्मा कश्चिदभ्युपेयते, न च दयानन्देन तदीयै र्वा मनुष्येभ्यो भिन्ना ब्रह्माऽग्निवाय्वादित्या वा अभ्युपेयन्ते। तथा च ब्रह्मादयो मनुष्याः कदा कीदृशाः क वाऽऽसन्निति सर्वथापि न तैर्वर्णयितुं शक्यते, निर्मूलत्वात्। न चोपदेशमन्तरा मनुष्याणां ज्ञानं सम्भवति। न च मनुष्याः सर्वथा अभ्रान्ताः सम्भवन्ति, आधुनिकानामिव सार्वदिकानामेव मनुष्याणां भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवादीनां सम्भवात्। न चेश्वरस्तेभ्य उपदिशति, तत्र प्रमाणाभावात्। निराकारस्य कण्ठताल्वाद्यभावेनोपदेशासम्भवाच्च। न च प्रवचनस्यानुशास्त्रत्वम् अनुतन्त्रत्वं वा, निर्मूलत्वात्। न चोक्तचरकश्लोकस्तत्र प्रमाणम्, तत्र प्रतिसंस्कारस्य वर्णनात्। प्रवचनमध्यापनम्, प्रतिसंस्कारस्तु चरकश्लोकोक्तः प्रवचनाद् भिन्नः। चरकसंहितायाः सम्प्रदायभ्रंशात् सप्तदशाध्यायानां कल्पस्थानस्य सिद्धिस्थानस्य च दृढ़बलाचार्यकर्तृकं पूरणं तत्रैवोट्टङ्कितम्—'अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च। तन्त्रे तु नोपलभ्यन्ते चरकप्रतिसंस्कृते ॥……दृढ़बलोऽकरोत् ॥' इति। प्रवचनं तु जैमिनिः स्पष्टयति 'आख्या प्रवचनात् (जै० सू० १।१।३०) इति। ग्रन्थे सङ्कोचविस्तरयोः स्वातन्त्र्ये सति कर्तृत्वमेव स्यात्, न प्रवक्तृत्वम्। स्वातन्त्र्येऽङ्गीकृते कर्तृत्वप्रवक्तृत्वयोर्भेदलोपप्रसङ्गः, शब्दनित्यताधिकरणे 'यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता' (श्लो० वा० २९०) इति भट्टपादोक्तेः। नहि शाकल्य-मध्यन्दिन-कौथुम-शौनकादयः स्वस्वसंहितानां कर्तारः, किन्तु प्रवक्तार एवेति समाजिभिरप्यभ्युपगमात्।

यत्तु 'मान्‌बधदान्‌शान्‌भ्योदीर्घश्चाभ्यासस्य' (पा० सू० ३।१।६) इति नियमेन मान्‌धातोर्जिज्ञासार्थे सन्प्रत्ययेन मीमांसाशब्दनिष्पत्तेर्जिज्ञासार्थो मीमांसाशब्दः। 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जै० सू० १।१।१), अथातो ब्रह्मजिज्ञसा' (ब्र० सू० १।१।१) इत्यत्र जिज्ञासाशब्दोऽपि मीमांसापर्यायः' इति, तदप्यशुद्धम्, मीमांसाशब्दस्य पूजितविचारवचनत्वात्। परमपुरुषार्थहेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलकविचारस्य पूजितता। 'मान्‌बधदान्‌शान्‌भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य' (पा० सू० ३।१।६)

प्रमाण नहीं हो सकता। इस नये इतिहास से वेद, रामायण, महाभारत आदि ग्रंथ अर्वाचीन माने जाने लगेंगे। आधुनिक इतिहासज्ञ किसी प्रथम उपदेष्टा ब्रह्मा को स्वीकार नहीं करते और न स्वयं दयानन्द या उनके अनुयायी मनुष्यों से भिन्न ब्रह्मा को अथवा अग्नि, वायु, सूर्य प्रभृति देवों को ही स्वीकार करते हैं। इस स्थिति में ब्रह्मा प्रभृति मनुष्य कैसे थे? वे कब और कहां पैदा हुए थे? इन प्रश्नों का उत्तर दे पाना कठिन है। उपदेश के बिना ज्ञान नहीं हो सकता। मनुष्य कभी भी भ्रममुक्त नहीं हो सकता। आज की तरह ही प्राचीनकाल में भी मनुष्य भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (ठगने की इच्छा), करणापाटव (चक्षु प्रभृति इन्द्रियों की मन्दता) प्रभृति दोषों से ग्रस्त रहा ही होगा। ईश्वर ने मनुष्य को उपदेश दिया, इसमें भी आपके यहाँ कोई प्रमाण नहीं है। आपके मत से ईश्वर निराकार है। कण्ठ, तालु आदि के अभाव में वह उपदेश कैसे कर सकता है। प्रवचन को अनुशासन और अनुतन्त्र कहना भी निराधार है। चरक के श्लोक को यहां प्रमाण के रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें प्रतिसंस्कार का वर्णन है, प्रवचन का नहीं। प्रवचन का अर्थ अध्यापन होता है। चरक में वर्णित प्रतिसंस्कार प्रवचन से भिन्न है। चरक के प्राचीन सम्प्रदाय के नष्ट हो जाने पर कल्पस्थान के सत्रह अध्याय और सम्पूर्ण सिद्धिस्थान का प्रतिसंस्कार दृढ़बल ने किया था, इस बात का उल्लेख नहीं मिलता है। 'आख्या प्रवचनात्' सूत्र में जैमिनि ने प्रवचन की परिभाषा की है। ग्रन्थ में संक्षेप और विस्तार की स्वतन्त्रता रहने पर वह उसका कर्ता माना जायगा, प्रवक्ता नहीं। इस प्रकार की स्वतन्त्रता मिल जाने पर कर्ता और प्रवक्ता में भेद ही क्या रह जायगा? भट्टपाद कुमारिल का कहना हैं कि वेद के प्रवचन में पुरुष की स्वतन्त्रता का हम दृढ़तापूर्वक निषेध करते हैं। शाकल्य, मध्यन्दिन, कौथुम, शौनक प्रभृति अपने नाम की संहिताओं के कर्ता न होकर प्रवक्ता थे, इस बात को आर्यसमाजी भी स्वीकार करते हैं।

'मानबध०' प्रभृति पाणिनि नियम के अनुसार मान् धातु से जिज्ञासा अर्थ में सन् प्रत्यय होने पर मीमांसा शब्द बनता है। 'अथातो धर्मजिज्ञासा' और 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' प्रभृति सूत्रों में जिज्ञासा शब्द मीमांसा का पर्यायवाची है।' मीमांसक जी का यह कथन भी अशुद्ध है, क्योंकि वास्तव में मीमांसा शब्द का अर्थ पूजित विचार होता है। परम पुरुषार्थ मोक्ष के कारणभूत सूक्ष्मतम

इति सूत्रे माङ्माने इत्यस्य ङानुबन्धस्य धातोर्नान्तत्वं निपातितम्। अस्य च पूजितविचारार्थत्वं प्रसिद्धिबलात्। स्वतो नान्तस्य मान्धातोस्तु तदर्थत्वं स्मृतिसिद्धम्। 'धातोःकर्मण·······' (पा० सू० ३।१७) इत्युत्तरसूत्रे इच्छार्थे सन्विधानादयमनिच्छार्थं एवेति गम्यते। यद्यपि पूजितविचारवचनत्वं व्याकरणस्मृतिसिद्धम्, 'मान्पूजायाम्' इति धातोः पूजामात्रवाचित्वात्। 'मान् विचारे' इति चुरादिपठितस्य धातोर्विचारमात्रवाचित्वात्। तथापि तयोरन्यतरस्य ग्रहणे धात्वर्थतया विशेषणविशेष्यान्यतरलाभोऽस्तीत्यभिप्रायेणेदमुक्तमिति कल्पतरुकारः।

यत्तु पूर्वोत्तरमीमांसयोरेकशास्त्रत्वसमर्थने 'तदिदं विंशत्यध्यायनिबद्धं तत्र षोडशाध्यायनिबद्धं पूर्वमीमांसाशास्त्रं पूर्वकाण्डस्य धर्मविचारपरायणं जैमिनिकृतम्, तदन्यदध्यायचतुष्कमुत्तरमीमांसाशास्त्रमुत्तारकाण्डस्य ब्रह्मविचारपरायणं व्यासकृतम्' (प्रपञ्चहृदये, पृ० ३८।३९) इति, तथैव च संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति शास्त्रैकत्वसिद्धिः' (ब्र० सू० १।१।१; श्रीभाष्ये), 'तस्य विंशत्यध्यायनिबद्धस्य मीमांसाशास्त्रस्य कृतकोटिनामधेयं भाष्यं बौधायनेन कृतम्। तद् ग्रन्थबाहुल्यभयादुपेक्ष्य किञ्चित् संक्षिप्तमुपवर्षेण कृतम्' (प्रपञ्च हृदये, पृ० ३९५), 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (पू० मी० १।१।१) इत्यारभ्य ''अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' (ब्र० सू० ४।४।२२) इत्येवमन्तमेकशास्त्रम्'' (सेश्वर मीमांसा १।१।१)। इत्यादि पूर्वग्रन्थकृद्वचनमुद्धृतम्, तदपि यत्किञ्चित्, लेखकस्य तत्प्रामाण्यानभिमतत्वात्। पूर्वोक्तैर्ग्रन्थकारैर्मन्त्रब्राह्मणारण्यकोपनिषेदामपौरुषेयत्वेन वेदत्वेन स्वतः प्रामाण्यमभ्युपगतम्। लेखकस्तु शाकल्यादिपुस्तकचतुष्टयातिरिक्तसंहितामन्त्राणां ब्राह्मणारण्यकोपनिषदां पौरुषेयत्वं परतः प्रामाण्यं चोपेयते। पूर्वैर्जन्मना वर्णव्यवस्था-पशुयाग-साकारब्रह्मप्रतिपादनं च महता समारोहेण क्रियते। तत्सर्वं लेखको नाभ्युपैति। सिद्धान्ते तु विषयभेदात् फलभेदादधिकारिभेदात् कर्तृभेदाच्चोभयोर्मीमांसयोर्भेद एवाभ्युपेयते। यदि विषय-फला-धिकारिभेदेऽपि वेदमूलकत्वेनोभयोरेकशास्त्रत्वं, तदा तु षण्णामपि दर्शनानामास्तिक्यमूलकत्वेनैकशास्त्रत्वमपि कुतो न स्यात्? केनचिदंशेन साधर्म्यवैधर्म्ययोः सर्वत्र सौलभ्यात्। पूर्वमीमांसाया अधीतवेदस्त्रैवर्णिकोऽधिकारी। उत्तरमीमांसायाः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाताधिकारी। पूर्वमीमांसाया भव्यो धर्मो विषयः। उत्तर-

अर्थों का निर्णय करने के कारण इस प्रकार का विचार पूजनीय माना जाता है। मान धातु के पूजा और विचार दोनों अर्थ होते हैं। तो भी वेदान्त सूत्र को परम्परित टोका कल्पतरु के रचयिता ने मीमांसा शब्द की व्याख्या करते हुए कहा हैं कि मीमांसा शब्द की निष्पत्ति उक्त धातु के दोनों अर्थों का विशेष्य विशेषणभाव से एक साथ सभावेश किया जाता है। तदनुसार इस शब्द का पूजा, विचार अर्थ करना ही युक्तिसंगत है।

पूर्व और उत्तर मीमांसा को एक ही शास्त्र मानने के लिए प्रपंचहृदय को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है कि 'यह बीस अध्याय में निबद्ध है। इनमे से सोलह अध्याय का पूर्व मीमांसा शास्त्र है। यह पूर्व काण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। इसके कर्ता जैमिनि हैं। इसमें धर्मविषयक विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इससे आगे के चार अध्यायों में उत्तर मीमांसा शास्त्र निबद्ध हैं। इसको उत्तर काण्ड कहते हैं। इसमें ब्रह्म का विचार किया गया है और इसके रचयिता व्यास जी हैं। ब्रह्मसूत्र के श्रीभाष्य में भी सोलह अध्याय के जैमिनि रचित शास्त्र का उल्लेख हैं। प्रपञ्च हृदय में ही यह बताया गया है कि बोस अध्याय के इस मीमांसाशास्त्र पर बौधायन-ने-कृतकोटि नामक भाष्य रचा था। अधिक विस्तृत जानकर उपवर्ष ने इसको संक्षेप में प्रस्तुत किया। सेश्वर मीमांसा में 'अथातो धर्मजिज्ञासा इस पूर्व मीमांसा के प्रथम सूत्र से लेकर 'अनावृत्तिः शब्दात्' इस उत्तर मीमांसा के अन्तिम सूत्र तक के ग्रन्थ को एक ही शास्त्र माना है। किन्तु उनका यह कथन भी इसलिये सही नहीं है कि वे इन ग्रंथों को प्रामाणिक नहीं मानते। इन सभी ग्रन्थकारों ने मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों को अपौरुषेय वेद शास्त्र के अन्तर्गत माना है। इसके विपरीत इन ग्रंथों को प्रमाण के रूप में उद्धृत करने वाले आप केवल शाकल प्रभृति चार संहिताओं के अतिरिक्त अन्य सभी मन्त्र संहिताओं और ब्राह्मण आदि ग्रन्थों को वेद नहीं मानते, उनको पौरुषेय मानते हैं, किन्तु ये लेखक जन्म से वर्णव्यवस्था, पशुयाग, साकार ब्रह्म आदि विषयों का प्रतिपादन करते हैं, इन सबको भी आप नहीं मानते। तब उक्त बातों को आप प्रमाण के रूप में उद्धृत करें, इसमें क्या तुक

मीमांसाया नित्यनिर्वृत्तं ब्रह्म । पूर्वत्र स्वर्गादिफलम् । उत्तरत्र निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मताविर्भावः फलम् । पूर्वत्र जैमिनिरुत्तरत्र बादरायण इति कर्तृभेदोऽपि । तदुक्तम्—'अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं तच्चानुष्ठानापेक्षम्, निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मज्ञानम्, न चानुष्ठानान्तरापेक्षम् । भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो नानुष्ठानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारसाध्यत्वात् । इह तु नित्यनिर्वृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम् । चोदनावृत्तिभेदोऽपि—या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं स्वस्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति । ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाऽजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते, यथाऽक्षार्थसन्निकर्षेणार्थावबोधे, तद्वत् ।

यदुक्तम्—'पूर्वोत्तरयोरेकतन्त्रत्वेऽन्यदपि प्रधानभूतं हेतुद्वयम् । तत्रैकं वेदतत्सम्बद्धशाखाब्राह्मणारण्यकोपनिषदामैकात्म्यरूपे समस्तवैदिकवाङ्मये प्राधान्येनोद्दिष्टं यज्ञादिकर्म ब्रह्म च द्विभागात्मकमीमांसाशास्त्रेण मीमांस्यम् । अपरं च यज्ञरूपकर्मकाण्डज्ञानकाण्डयोः परस्परं घनिष्ठः सम्बन्धः । 'विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ (वा० सं० ४०।१४) इति मन्त्रवर्णात्' । इति तदपि सर्वथाऽसङ्गतम्, त्वया वेदशाखाब्राह्मणारण्यकोपनिषदां वेदत्वावेदत्वस्वतःप्रामाण्यपरतःप्रामाण्याभ्युपगमेनैकात्म्यस्यखपुष्पायितत्वात् । विषयस्य च द्वित्वं त्वयैवाभ्युपेयने । तथात्वे च प्रमाणभेदेन विषयभेदेन च तयोर्भेद एव किं न स्यात् । न च घनिष्ठसम्बन्धेनापि सम्बन्धिनोरैक्यं सम्भवति, सम्बन्धस्य द्विष्ठत्वात् । तथात्वे भेद एव किं न स्यात् । न च तयोः सम्बन्धोऽपि सिद्ध्यति, कुतस्तरां घनिष्ठसम्बन्धत्वम् । विद्याऽविद्याशब्दाभ्यामेवान्धकारप्रकाशयोरिव तयोर्विरोधोऽवगम्यते । 'दूरमेते विपरीते विषूची विद्या या च अविद्या या च' ( ) इति श्रुतिरपि तयोर्विरोधमेव बोधयति । 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तं ह्यवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवाभियन्ति ॥' (मु० उ० १।२।७) इति श्रुतिरप्यमुमेवार्थं समर्थयते । अत एव 'विद्यां

है ? हमारे मत के अनुसार तो विषय, फल और अधिकारी के भेद के कारण और कर्ता के भी भेद के कारण दोनों मीमांसाएं भिन्न भिन्न हैं । यदि विषय, फल, अधिकारी और कर्ता के भेद के रहते हुए भी इनको एक ही शास्त्र माना जायगा तो छह दर्शनों को भी एक ही शास्त्र क्यों न मान लिया जाय ? किसी न किसी अंश में साधर्म्य-वैधर्म्य सर्वत्र मिल जायगा । पूर्व मीमांसा का अधिकारी वेदाध्ययन-सम्पन्न त्रैवर्णिक है और उत्तर मीमांसा का साधन-चतुष्टय-सम्पन्न प्रमाता अधिकारी है । पूर्व मीमांसा का विषय भव्य धर्म है और उत्तर मीमांसा का नित्य निर्वृत्त ब्रह्म है । पहले का फल स्वर्गप्राप्ति और दूसरे का फल निष्प्रपंच स्वरूप का आविर्भाव है । पहले का कर्ता जैमिनि और दूसरे का कर्ता बादरायण है । 'अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं' इत्यादि से इस बात को कहा गया है ।

आगे वे लिखते हैं—पूर्व और उत्तर मीमांसा एक ही शास्त्र होने के और भी दो कारण हैं । उनमें से एक यह कि वेद और उससे संबद्ध ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में समान रूप से प्रधानतः यज्ञ प्रभृति कर्मों का और ब्रह्म का इस दो विभाग वाले मीमांसा शास्त्र में विचार हुआ है । दूसरा यह कि यज्ञरूप कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है । 'विद्या (ज्ञान) और अविद्या (कर्म) इन दोनों को जो साथ साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को जीतकर विद्या की सहायता से अमृत पद को प्राप्त करता है । इस ईशावास्य मन्त्र में इनका एक साथ उल्लेख हुआ है' । किन्तु उनका यह कथन असंगत है, क्योंकि उनके मत के अनुसार चार संहिताओं मे इनसे अतिरिक्त अन्य समस्त वेदशाखाओं, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में वेदत्व-अवेदत्व, स्वतः प्रमाणत्व-परतः प्रमाणत्व के आधार पर भेद विद्यमान है, अतः आपके मत के अनुसार इनमें एकता खोजना आकाश कुसुम को खोजने के समान है । विषय की भिन्नता आप भी मानते है । तब प्रमाण और विपय के भेद के आधार पर इनमें भिन्नता ही क्यों न मानी जाय । घनिष्ठ सम्बन्ध होने से सम्बन्धियों की अभिन्नता नहीं होती, क्योंकि सम्बन्ध तो दो में ही रहने वाला धर्म है । इनका परस्पर सम्बन्ध ही नहीं सिद्ध किया जा सकता, घनिष्ठता की तो बात ही दूर है । अविद्या और विद्या शब्दों से ही इनमें प्रकाश और अन्धकार का विरोध बोधित होता है । 'प्लवा ह्येते' इत्यादि श्रुति भी कर्मकाण्ड को कमजोर नाव बताकर ज्ञानकाण्ड को उससे भिन्न ही मानती है । इसीलिये अविद्या और विद्या के क्रमशः अनुष्ठान का वाचक 'च' शब्द माना जाता है । इनका एक साथ अनुष्ठान विहित नहीं है । इसका तात्पर्य यह है कि वैदिक कर्मकाण्ड रूप अविद्या से पाशविक कामरूप मृत्यु को जीतकर बाद में तत्त्वज्ञान के अभ्यास के द्वारा

चाविद्यां चेत्यत्र क्रमसमुच्चयो न सहानुष्ठानलक्षणः समुच्चयः। अविद्यया वैदिककामकर्मरूपया मृत्युं पाशविककामकर्मरूपं मृत्युमतिक्रम्य विद्यया तत्त्वज्ञानेन अमृतं ब्रह्मात्मनावस्थानरूपमश्नुते। यथा नौकया नदीस्तीर्त्वा अश्वादिना गृहं गन्तव्यं भवति, न चोभयोरूपयोगो युगपत् सम्भवति। कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्ववुद्धिमूलकं कर्म भवति, कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वबाधपूर्वकं ज्ञानं भवतीति कुतस्तयोर्युगपत्समुच्चयानुष्ठानं सम्भवति ?

यत्तु—'कर्मकाण्डात्मज्ञानसम्बन्धो महायाज्ञिकेन याज्ञवल्क्येन दर्शितः—आत्मयाजी श्रेयान् देवयाजी इत्यात्मयाजी ह ब्रूयात् सह वा आत्मयाजी वेदेदं मेऽनेनाङ्गेनाङ्गं संस्क्रियते, इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते, स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवमस्मान्मर्त्यात् शरीरात् पाप्मनो निर्मुच्यते… …' इति; तदपि यत्किञ्चित्, यतो हि त्वद्रीत्या यथा कथञ्चिद् अग्नौ घृतमध्वादिहोमलक्षणो यज्ञोऽपि जलवाय्वादिशुद्धिफलक एव। तत्कुतस्तेनात्मयजनं कुतो वा देवयजनम्, त्वया मनुष्याद् भिन्नानां देवानामेवानङ्गीकारात्। प्रकृते तु कर्मणामात्मसंस्कार उपयोगो वर्णितः। नात्रात्मज्ञानं वर्णितम्, न च मनुष्यरूपाणां देवानामपेक्षितं हविरग्नौहूयते।

यत्तु—'शतपथकारस्य काले कर्मकाण्डस्यात्मज्ञानस्य च मार्गौ पृथक् पृथक् प्रतिष्ठितौ जातौ। तत एवोपनिषत्सु कतिचित्तादृशानि वचनान्युपलभ्यन्ते, यैः कर्मनिन्दा सूच्यते। निरुक्त (१।१५) रीत्या कौत्ससदृशा महायाज्ञिका

ब्रह्मात्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है। जैसे नाव से नदी को पार करने के बाद घोड़े आदि पर चढ़कर आदमी घर चला जाता है, दोनों का एक साथ उपयोग नहीं होता, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। 'कर्म' कर्ता, भोक्ता और नानात्व बुद्धि से भरा रहता है और 'ज्ञान' इन भेदों को मिटा कर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित करता है। इन परस्पर विरोधी कर्म और ज्ञान का एक साथ अनुष्ठान कैसे संभव हो सकता है ?

आपका कहना है कि 'कर्मकाण्ड और आत्मज्ञान का संबन्ध महायाज्ञिक याज्ञवल्क्य ने स्वयं बताया है कि आत्मयाजी और देवयाजी में कौन श्रेष्ठ है ? ऐसा पूछने पर बतावे कि आत्मयाजी श्रेष्ठ है। वह आत्मयाजी सारी वैदिक कर्मकाण्ड प्रक्रिया का भी ज्ञाता होता है। अतः वह इस कर्मकाण्ड के अनुष्ठान द्वारा अनायास उसी तरह से सारे पापों से मुक्त हो जाता है, जैसे कि साँप अपनी केंचुल को छोड़ देता है। किन्तु आपका यह कहना उचित नहीं है। आर्यसमाजियों के मत के अनुसार जिस किसी तरह अग्नि में मधु, घृत आदि की आहुति दे देना ही यज्ञ है और इसका फल जल, वायु आदि दो ही पदार्थ की शुद्धि तक सीमित है। तब आपके यहाँ आत्मयजन अथवा देवयजन की बात ही कहाँ उठेगी, क्योंकि मनुष्य से भिन्न देवता आपके यहाँ स्वीकृत नहीं हैं। वस्तुतः याज्ञवल्क्य के उक्त वचन में कर्मकाण्ड का आत्म संस्कार के लिये क्या उपयोग है, यह बताया गया है। न तो यहाँ आत्मज्ञान का वर्णन है और न मनुष्य रूप देवताओं के लिये अपेक्षित हवि के ही अग्नि में प्रक्षेप का विधान है।

'शतपथ ब्राह्मण की रचना के समय कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के मार्ग भिन्न भिन्न हो गये। इसलिये उपनिषदों में कुछ ऐसे वचन मिलते हैं, जिनमें कर्मकाण्ड की निन्दा की गई है। निरुक्त (१।१५) के अनुसार कौत्स सरीखे महायाज्ञिकों का कहना था कि मन्त्रों का यज्ञों में उच्चारण करने मात्र से अदृष्ट उत्पन्न हो जाता है। इससे उनके अर्थज्ञान की उपेक्षा होने लगी। ये दोनों ही मत वेद विरुद्ध हैं, आपका यह कथन भी आपके पहले के वचन से विपरीत पड़ता है। जब आप उपनिषदों में परस्पर विरोधी अंश स्वीकार करते हैं, तब शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में एकता और वैदिकता कहाँ रहेगी ? और तब उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म और ब्रह्मविषयक विचारों की प्रामाणिकता भी कहाँ रहेगी ? आपके मत के अनुसार तो यज्ञ के अवसर पर भी मन्त्र के उच्चारण का प्रयोजन चिन्तनीय है। मन्त्रों का अर्थ भले ही होता हो, किन्तु उनके उच्चारण से जब कोई अदृष्ट उत्पन्न नहीं होता, तो यज्ञ के अवसर पर स्तोत्र, शस्त्र आदि का पाठ भी निरर्थक ही माना जायगा। हमारे मत के अनुसार तो शतपथ ब्राह्मण प्रभृति ग्रन्थ भी अपौरुषेय वेद के अन्तर्गत ही हैं, अतः उनकी प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं उठ सकता। पूर्व और उत्तर मीमांसा के सम्बन्ध को बताने वाले अनेक वचनों को आपने उद्धृत किया है। वह सब भी निरर्थक ही है, क्योंकि इसमें कोई विवाद ही नहीं है कि ये दोनों परस्पर संबद्ध शास्त्र हैं।

यह कथन भी गलत ही है कि 'वेदों में जिन कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का उपदेश किया गया था, उनको समझने के लिये बाद में ऋषि-मुनियों ने अन्य शाखाओं के ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों का प्रवचन किया, शाखाओं के अतिरिक्त वेद की

उत्पन्ना आसन्, यैर्मन्त्राणां यज्ञेषूच्चारणमात्रेणादृष्टोत्पत्तिं मत्वा मन्त्राणामानर्थक्यं वक्तुमुपक्रान्तम्, तदेतन्मतद्वयं वेदविरुद्धमेव' इति, तदपि तुच्छम्, स्वकीयपूर्वोक्तिविरोधात्। यो ह्युपनिषत्स्वपि विरुद्धांशं मन्यते, तद्रीत्या शाखाब्राह्मणारण्यकोपनिषदां कथं वैदिकमयत्वं कथं च तं प्रति धर्मब्रह्मणोर्विश्वसनीयत्वं स्यादिति विभावयन्तु सुधियः। तद्रीत्या यज्ञेषु मन्त्रोच्चारणमपि चिन्त्यप्रयोजनमेव, मन्त्राणामर्थवत्त्वेऽप्यदृष्टाजनकत्वेन यज्ञे स्तोत्रशस्त्रादिपाठस्य नैरर्थक्यापाताच्च। सिद्धान्ते तु शतपथादिब्राह्मणानामप्यपौरुषेयत्वेन वेदत्वादेव प्रामाण्यम्, अन्यथोपर्युक्तवचनानामपि पौरुषेयत्वापत्त्या भ्रमप्रमादादिमूलकत्वशङ्कया तदाश्रितमतस्यापि सन्दिग्धत्वापातात्। यत्तु पूर्वोत्तरमीमांसयोः सम्बन्धसूचकवचनानामुपन्यासः, सोऽपि निरर्थक एव, तत्र विप्रतिपत्तेरेवाभावात्।

यदपि—'वेदेषु ययोः कर्मज्ञानयोरुपदेश आसीत्तस्य हृदयङ्गमत्वापादनायोत्तरकाले ऋषिमुनिभिर्वेदशाखानां ब्राह्मणानामारण्यकोपनिषदां प्रवचनं कृतम्' इति, तदप्यशुद्धम्, शाखाव्यतिरिक्तानां वेदानां खपुष्पायितत्वस्योक्तत्वात्। शाकली-माध्यन्दिनी-कौथुमी-शौनक्यादीनां त्वदीयमूलवेदानामपि शाखात्वाविशेषात्। प्रवचनमध्यापनमेव। तच्च प्रतिदिनं भवति स्म, ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते' इति महाभाष्यवचनात्। यदपि—११३१ शाखानां कृष्णद्वपायनस्य शिष्यप्रशिष्यैर्याज्ञवल्क्यस्य शिष्यप्रशिष्यैश्च प्रोक्तम्' इति, तदपि त्वत्प्रतिकूलमेव, त्वदभिमतमूलवेदानामपि तत्रैवान्तर्भावात्। ऐतरेयशाखाया ब्राह्मणमारण्यकञ्च शौनकेन प्रतिसंस्कृतमित्यप्यशुद्धम्, निर्मूलत्वात्। त्वदीयशौनकादिसंहिताया अपि तथात्वे प्रतिसंस्कृतत्वापत्तेः। वस्तुतस्त्वयं मीमांसकम्मन्यो मीमांसकनाम्ना भ्रान्तिमेवोत्पादयति, न मनागपि मीमांसकमतमनुसरति !

बात आकाश कुसुम के समान है। शाकली, माध्यन्दिनी, कौथुमी और शौनकी—जिनको आप मूल वेद मानते हैं, ये भी वेद की शाखाएं हीं हैं। अध्यापन को ही प्रवचन कहते हैं। यह प्रवचन प्रतिदिन होता है। महाभाष्य में इसका स्पष्ट उल्लेख है। ११३१ शाखाओं का प्रवचन कृष्ण द्वैपायन के शिष्यों ने और याज्ञवल्क्य के शिष्यों ने किया, यह कथन भी आपके विपरीत पड़ेगा, क्योंकि इन्हीं शाखाओं के अन्तर्गत आपके मूल वेद भी हैं। ऐतरेय शाखा के ब्राह्मण और आरण्यक का प्रतिसंस्कार शौनक ने किया था, यह कथन भी ठीक नहीं है। ऐसा मान लेने पर आपकी शौनक संहिता भी इनके द्वारा प्रतिसंस्कृत की गई थी, यह आपत्ति उठ खड़ी होगी। अपने को मीमांसक कहने वाले ये मीमांसक जी मीमांसा का कहीं भी अनुसरण नहीं करते, किन्तु उस नाम के सहारे कोरा भ्रम फैलाते हैं।

आगे लिखा गया है—'काल क्रम से कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में अनेक वाद उठ खड़े हुए और परस्पर विरुद्ध व्यवहार चल पड़े। इसी परिस्थिति में ब्राह्मण और उपनिषद वचनों का तात्पर्य निश्चित करने और विरोध का परिहार करने के लिये यथासमय मीमांसा शास्त्र रचा गया। कृष्ण द्वैपायन के शिष्यों के प्रवचनकाल में इसमें बहुत वृद्धि हुई। उस भयंकर समय में कर्मकांड और ज्ञानकाण्ड के मूल तत्त्वों की रक्षा के लिये, वेद विरोधी मतवादों के निराकरण और कर्म और ज्ञानकाण्ड के स्वगतविरोध का परिहार करने के लिये महान् वेदज्ञाता कृष्ण द्वैपायन और जैमिनि ने, जो कि परस्पर गुरु-शिष्य थे, मिलकर दो भागों में मीमांसा शास्त्र का प्रवचन किया, किन्तु ये सब बातें मीमांसा शास्त्र के विरुद्ध हैं। पूर्व और उत्तर मीमांसा पुरुष के द्वारा निर्मित है, व्यास और जैमिनि इनके रचयिता हैं, अतः इनके लिये प्रवचन शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। अन्य अनेक मुनियों ने मीमांसा शास्त्र का प्रवचन किया, इसका अर्थ 'उपदेश किया' यही होगा। पार्थसारथि मिश्र ने तो इस शास्त्र की भी परम्परा बतलाई है। तदनुसार मीमांसा शास्त्र जैमिनि को परम्परा से प्राप्त हुआ है, यह उनकी कृति नहीं है। आजकल तो व्याख्यान (भाषा) भी प्रवचन कहे जाने लगे हैं कि आज अमुक स्थान पर अमुक महात्मा का रामायण पर प्रवचन होगा, अथवा धार्मिक प्रवचन होगा। अखबारों में यह सब छपता ही रहता है। 'आख्या प्रवचनात्' इस जैमिनि सूत्र में प्रवचन की यह प्रचलित व्याख्या नहीं है, किन्तु परम्परा प्राप्त वेद वर्णों की आनुपूर्वी के अनुरूप शिष्य को उसे पढ़ाना ही प्रवचन कहा गया है। इस प्रवचन में स्वर अथवा वर्ण में आनुपूर्वी के विपरीत कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इसमें प्रवक्ता को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं है।

यदपि—'सुदीर्घकालात् कर्मकाण्डाध्यात्मकाण्डयोरनेके वादाः समुत्पन्नाः, परस्परविरुद्धव्यवहाराश्च प्रचलिताः। तत एव शाखाब्राह्मणोपनिषद्वचनानां तात्पर्यनिरूपणविरोधपरिहाराभ्यां यथासमयं मीमांसाशास्त्रप्रवचनं चक्रुः। कृष्णद्वैपायनस्य शिष्याणां प्रवचनकालेऽयं नितरां वृद्धिं गतः। तादृशे भयङ्करे काले कर्मकाण्डोपासनाकाण्डानां मूलतत्त्वरक्षणार्थं वेदविरुद्धमतवादानां निराकारणार्थं कर्मज्ञानादीनां स्वगतविरोधपरिहारार्थं महावेदज्ञौ गुरुशिष्यौ कृष्णद्वैपायनोव्यासो जैमिनिश्च मिलित्वा भागद्वयेन मीमांसाशास्त्रप्रवचनं कृतवन्तौ' इति, तत्सर्वमपि मीमांसाशास्त्रविरुद्धमेव, पूर्वोत्तरमीमांसयोः पौरुषेयत्वेन व्यासजैमिनिकृतत्वेन प्रोक्तत्वाऽसिद्धेः। अनेकमीमांसाशास्त्रस्यान्येऽपि मुनयः काले काले प्रवचनं कृतवन्तइत्यस्योपदेशं कृतवन्त इत्येवार्थः पार्थसारथ्यादिभिस्तु पारम्पर्यमेव वर्णितम्, न तु तन्निर्मितं मीमांसाशास्त्रमिति वर्णितम्। अद्यत्वे तु व्याख्यानान्यपि प्रवचनशब्देनाख्यायन्ते, अमुकस्य महात्मनोऽमुत्र रामायणप्रबचनं भविष्यति धार्मिकं वा प्रवचनं भविष्यतीति वृत्तपत्रेषु प्रकाशनदर्शनात्। 'आख्या प्रवचनात्' (जै० सू० १।१।३०) इत्यत्र तु न तथा प्रवचनम्, किन्तु परम्पराप्राप्तवेदवर्णानुपूर्वीसव्यपेक्षतया शिष्येभ्यो यथावदध्यापनमेव। नात्र किञ्चिदपि स्वरवर्णानां भेदोभवति। अत्र न प्रवक्तुः स्वातन्त्र्यम्।

वस्तुतस्तु मन्त्रब्राह्मणारण्यकोपनिषदामेकत्रिंशदुत्तरेकादशशतशाखाभेदभिन्नानामपौरुषेयत्वाद् वेदत्वमेव, ततोऽन्यस्य वेदस्यानुपलम्भात्। तेषु वेदेषु तात्पर्यनिर्धारणाय परस्परविरोधपरिहाराय प्रमाणान्तरविरोधपरिहाय च मीमांसा-

वस्तुतः ११३१ वेद शाखाओं के मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—सभी अपौरुषेय हैं, इनसे भिन्न वेद की कोई स्थिति नहीं है। इन सभी के तात्पर्य का निर्धारण करने, परस्पर प्रतिभासित हो रहे विरोध का और अन्य प्रमाणों से प्राप्त विरोध का परिहार करने के लिए दोनों मीमांसा शास्त्रों की प्रवृत्ति हुई है। पूर्व काण्ड के तात्पर्य का निर्धारण करने के लिए जैमिनिने पूर्व मीमांसा शास्त्र की रचना की और उत्तर काण्ड के तात्पर्य का निर्धारण करने के लिये व्यास ने उत्तर मीमांसा की रचना की। इन दोनों मीमांसा सूत्रों में श्रुति, वेद, आम्नाय प्रभृति के नाम से ब्राह्मण प्रभृति के वचन भी उद्धृत हैं, क्योंकि धर्म और ब्रह्म दोनों का उपदेश वेद ही करते हैं। यह कहना सत्य नहीं है कि 'इन दोनों मीमांसाओं का लक्ष्य पूरा नहीं हुआ और इनके विषय विवादास्पद ही बने हुए हैं, क्योंकि धर्म और ब्रह्म विषयक निर्णय आज भी इन्हीं के सहारे किये जाते हैं। यज्ञ के अनुष्ठान आज भी जैमिनि, कात्यायन, शबर, भट्टपाद आदि की बनाई गई विधि से ही होता है। आर्यसमाजी केवल जल-वायु की शुद्धि में ही यज्ञ का विनियोग मानते हैं। वेद के एक मन्त्र का भी वे शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते। यज्ञों का अनुष्ठान भला वे क्या करेंगे। इसी प्रकार उत्तर मीमांसा की पद्धति से आज भी हजारों अधिकारी श्रवण, मनन, और निदिध्यासन में लगे हुए हैं। द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत दृष्टि में भेद होते हुए भी यज्ञानुष्ठान में जैमिनि, शबर स्वामी, भट्टपाद के मत को सब स्वीकार करते हैं। जैसे लौकिक संविधान की व्याख्या में मतभेद होते हुए भी वह निरर्थक नहीं माना जाता और इसी के अनुसार अन्तिम निर्णय किया जाता है, उसी तरह से द्वैत आदि दृष्टियों के रूप में शास्त्र का अनन्त विस्तार होने पर भी मीमांसा शास्त्र, निरर्थक नहीं हो जाता, अपितु उसी को आधार मानकर निर्णय किया जाता है और तदनुरूप श्रवण, मनन, निदिध्यासन में प्रवृत्ति होती है। योगशास्त्र की भी भिन्न-भिन्न शाखाएँ मिलती हैं, किन्तु उसको निरर्थक नहीं माना जाता। मीमांसा के अधिकरणों की यही पद्धति है। यहाँ पहले विषय को उपस्थित कर उसके प्रति सन्देह प्रकट किया जाता है। बाद में पूर्वपक्ष को बड़े आडम्बर के साथ उठा कर उसका समाधान किया जाता है और अन्त में सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की जाती है। इस तरह से प्रत्येक विषय की यहाँ विशद व्याख्या प्रस्तुत हो जाती है। 'ब्रह्मा ने प्रजापति को, प्रजापति ने इन्द्र को, इन्द्र ने आदित्य को, आदित्य ने वसिष्ठ को, वसिष्ट ने पराशर को, पराशर ने कृष्ण द्वैयापन व्यास को और उन्होंने जैमिनि को मीमांसा शास्त्र पढ़ाया, 'महेश्वर अथवा ब्रह्मा नें प्रजापति को मीमांसा सिखाई, ये सब कथन मीमांसा की गुरु परम्परा को बताते हैं। जैसा कि भागवत में वर्णित है कि 'कपिल मुनि ने आसुरि को तत्त्वों के निर्णायक शास्त्र सांख्यदर्शन का उपदेश किया'। भागवत में भागवत की परम्परा भी वर्णित है।

आत्रेय, आश्मरथ्य प्रभृति वेदज्ञ महर्षियों का स्मरण अपने पक्ष को समर्थन देने के लिये किया जाता है। वेद में भी नूतन और पुरातन ऋषियों का वर्णन मिलता है। महाभाष्य प्रभृति में उल्लेख होने से काशकृत्स्नी मीमांसा की विद्यमानता स्वीकृत है।

द्वयस्यारम्भः। तत्र पूर्वकाण्डतात्पर्यनिर्धारणार्थं पूर्वमीमांसा जैमिनिना निर्मिता। उत्तरकाण्डतात्पर्यनिर्धारणार्थं मीमांसा व्यासेन निर्मिता। अत एव मीमांसासूत्रेषु तत्र तत्र श्रुतिवेदाम्नायादिनाम्ना ब्राह्मणादिवचनानि समुद्धृतानि दृश्यन्ते। धर्मब्रह्मणोश्चोभयोरपि वेदमूलकत्वोक्तेः। यत्तु—'मीमांसाद्वयस्य लक्ष्यं न पूर्णमुभयोर्विवादग्रस्तत्वेनैवावस्थितत्वात्' इति, तदप्यसत्यम्, तदाधारेणैवाद्यापि धर्मब्रह्मनिर्णयदर्शनात्। जैमिनिकात्यायनशबरभट्टपादरीत्यैवाद्यापि यज्ञानुष्ठानदर्शनात्। समाजिनस्तु केवलं जलवायुशुद्धिमेव कुर्वाणा दृश्यन्ते। वेदस्यैकमन्त्रमप्युच्चारयितुं न शक्नुवन्ति, तदर्थानुष्ठानं तु दूरापास्तम्। उत्तरमीमांसारीत्यैव चाद्यापि सहस्रशोऽधिकारिणः श्रवणमनननिदिध्यासन—परायणा दृश्यन्ते। द्वैताद्वैतादौ मतभेदेऽपि यज्ञानुष्ठानेषु जैमिनिशबरभट्टपादादिमतं प्रायेण सर्वेऽपि मन्यन्ते। यथा लौकिकसंविधानस्यार्थनिरूपणावसरे न्यायवादिनां मतभेदेऽपि न संविधानं निरर्थकम्, तदनुसारेणैव न्यायनिर्णस्यदर्शनात्, तथैव द्वैताद्वैताद्यनुरोधेन शास्त्रार्थबाहुल्येऽपि न मीमांसानैरर्थक्यम्, तदनुरोधेनाद्यापि मनननिदिध्यासनादिदर्शनात्। योगशास्त्रेऽपि व्याख्याबाहुल्यमस्त्येव, तथापि न तन्नैरर्थक्यम्। मीमांसाधिकरणपद्धतिरेवैषा यद् विषयविशयपूर्वपक्षोत्तरपक्षाक्षेपनिराकरणैरेव विषयवैशद्योपपादनं भवति। 'ब्रह्मा प्रजापतये मीमांसां प्रोवाच सोऽपीन्द्राय सोऽप्यादित्याय स च वशिष्ठाय सोऽपि पराशराय पराशरः कृष्णद्वैपायनाय सोऽपि जैमिनये', 'ब्रह्मा महेश्वरोवा मीमांसां प्रजापतये प्रोवाच' इत्यादिभिस्तु मीमांसागुरुपारम्पर्यस्यैव वर्णनम्, 'प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्' (भा०पु० १।३।१०) इत्यादिवत् श्रीमद्भागवते श्रीमद्भागवतस्यापि पारम्पर्यं वर्णितम्। आत्रेयाश्मरथ्यादयस्तु वेदविदो महर्षयः स्वपक्षदार्ढ्यायैव स्मर्यन्ते। वेदेऽपि नूतनपुरातनर्षीणां वर्णनं दृश्यत एव। काशकृत्स्नी मीमांसा तु महाभाष्यादिसमर्थितत्वादङ्गीक्रियत एव, ब्रह्म-महेश्वर-प्रजापतीन्द्रादित्य-वशिष्ठ-पराशरादिकालविभागनिर्धारणं तु प्रमाणाभासमूलकमेव। भगवद्दत्तोदयवीरयुधिष्ठिरादयः समाजिनो विद्वांसो दयानन्दमताभिनिविष्टाः। पक्षपातपूर्णत्वात् ते स्वमतविरुद्धं वेदप्रमाणमप्यन्यथयन्ति, प्रक्षिप्तं वा वदन्ति। स्वमतविरुद्धमपि पुराणं ते स्वमतपोषकतया प्रमाणयन्ति, उदाहरन्ति च। देवयुगर्षियुगमुनियुगाचार्ययुगपण्डितयुगवर्णनमपि निर्मूलमेव। शतपथवर्णितं मनोर्जलप्लावनवर्णनं यद्यैतिहासिकं तर्हि उर्वशीपुरुरवसोः, यमयम्योश्च कुतो नैतिहासिकत्वम्? मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि वेदत्वस्य साधितत्वात्। शङ्कराचार्यादिभिस्तु याज्ञवल्क्यमैत्रेय्यादिसंवादस्यापि सुखावबोधार्थमाख्यायिकारूपत्वमेवोक्तम्। इतिहासपुराणानुसारेण तु मनोर्जलप्लवस्य मत्स्यावतारकालिकत्वम्। मत्स्यावतारस्तु वामननृसिंहावतारेभ्योऽप्यतिप्राचीनचाक्षुषे मन्वन्तरे संवृत्तः, चाक्षुषोदधिसम्प्लवे' (भा० पु०) इति श्रीमद्भागवतवचनात्। पुराणानुसारेण प्रचलितपञ्चाङ्गानुसारेण मनुस्मृत्यनुसारेण कलियुगीय एव कालः ४३२००० मानववर्षाणि भवति। न च पुराणानामप्रामाण्यमिति वाच्यम्। वायुपुराणाद्यनुसारेण भगवदत्तादिभिरपि तत्तत्कालनिर्धारणात्। न चार्धजरतीयं युक्तम्। रामायणमीमांसायामेतद् विस्तरशः प्रपञ्चितम्।

ब्रह्मा, महेश्वर, प्रजापति, इन्द्र, आदित्य, वसिष्ठ, पराशर प्रभृति का कालनिर्णय गलत प्रमाणों के आधार पर ही किया जा सकता है। भगवद्दत्त, उदयवीर शास्त्री, युधिष्ठिर मीमांसक प्रभृति विद्वान् दयानन्द मत के प्रति आग्रहशील हैं। पक्षपातपूर्ण विचार रखने के कारण ये अपने मत के विपरीत वेद के वचन को भी प्रक्षिप्त मान लेते हैं और अपने मत के पोषक पुराण के वचन को भी प्रमाण के रूप में उदाहृत करते हैं। देवयुग, ऋषियुग, मुनियुग, आचार्ययुग और पण्डितयुग की कल्पना भी उनकी निराधार है। शतपथ वर्णित मनु के जलप्लावन की कथा यदि ऐतिहासिक है, तो उर्वशी-पुरुरवा और यम-यमी की कथा भी ऐतिहासिक क्यों नहीं होगी? शङ्कराचार्य प्रभृति ने तो याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी प्रभृति के संवादों को भी विषय को समझाने के लिये प्रस्तुत की गई कहानी माना है। इतिहास-पुराण प्रभृति के अनुसार मनु के जलप्लावन की घटना मत्स्यावतार के समय घटी थी। यह अवतार वामन, नृसिंह प्रभृति अवतारों से भी प्राचीन है। चाक्षुष मन्वन्तर में यह घटित हुआ था, ऐसा भागवत पुराण में बताया गया है। पुराण, प्रचलित पञ्चाङ्ग और मनुस्मृति के अनुसार कलियुग का काल ही ४३२००० मानव वर्ष का होता है। पुराणों को अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। वायुपुराण प्रभृति के आधार पर भगवद्दत्त प्रभृति विद्वानों ने अनेक विषयों का निर्णय किया है। अर्धजरतीय न्याय उचित नहीं है कि कुछ अंश को प्रमाण माना जाय और कुछ को अप्रमाण। इस विषय का हमने विस्तार से वर्णन रामायण मीमांसा में किया है।

यत्तु—'विक्रमादित्यकालमारभ्य पण्डितयुगवर्णनप्रसङ्गे पण्डितैरपि ज्ञानं समूलं नाशयितुमुपक्रान्तम्, तत्र पण्डितानामहङ्कारस्यैव प्राधान्यमासीत्। विद्यामदेन एतैरार्षज्ञानं निन्दितम्। तदानीन्तनैः प्राचीनर्षिकल्पप्रामाणिकग्रंथानां निन्दनेन स्वपाण्डित्यप्राधान्यं स्थापितम् इति, तदेतत्सर्वमुन्मत्तप्रलपितमेव, निर्मूलत्वात्। किं बहुना, त्वदभिमतं वेदेऽपि कर्मोपासनयोर्निन्दा दृश्यते, यथा—'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥' (वा० सं० ४०।१२) इति। किमत्र वेदनिन्दैवास्ति। 'अनुदिते जुहोति प्रातः, प्रातरनृतं ते वदन्ति, ये पुरोदयाज्जुह्वत्यग्निहोत्रम्', 'उदिते जुहोति तद्यथा प्रद्रुतायातिथय आहार्यमाहरन्ति, तादृगेव', 'समयाध्युषिते जुहोति इत्यादिवेदवचनानां किं वेदनिन्दायामेव तात्पर्यम्। न चेत्ते पण्डिता अपि न तथा निन्दाकर्तारः, 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते' इति न्यायात्।

यत्तु—'यदि चरकमधीते तद् ध्रुवं सुश्रुतादिप्रणिगदितगदानां नाममात्रेऽपि बाह्यः। अथ चरकविहीनः प्रक्रियायामखिन्नः किमिव खलु करोतु व्याधितानां वराकः॥ अभिनिवेशवशादभियुज्यते सुभणितेऽपि न यो दृढ़मूलकः। पठतु यत्नपरः पुरुषायुषं स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विदः॥ ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेद् मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ। मेलाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्॥ एभिर्वचनैरार्षग्रन्थस्य निन्दैव कृता इति, एवञ्च महामोहविलसितं मौर्ख्यमेव, तत्र वस्तुस्थितिवर्णनतात्पर्यस्यैव प्राधान्यात्। यद्यद्यत्वे कश्चिद् 'वायुयान-कम्प्यूटर-हाइड्रोजनबम्ब' आदिकलाविज्ञानप्रोत्साहनाद् भुशुण्डीनिर्माणविज्ञानादधिकमप्यध्येतव्यमिति वदेत्, तदापि न तन्निदायां तात्पर्यम्, किन्तु विशेषविज्ञानप्रोत्साहन एव तात्पर्यम्।

तथैव ज्योतिर्विद्वराहमिहिरोऽपि परमास्तिक आर्षज्ञानसमर्थक एव 'मुनिरचितमिति यच्चिरन्तनं साधु न मनुजग्रथितम्। तुल्येऽर्थेऽक्षरभेदाद् अमन्त्रका विशेषोक्तिः' (बृहत्संहिता, अ० १।३) अत्रापि न तेन मुनयोऽवमानिताः अन्यथा मन्त्रमपि किमिति मनुजोक्त्या तुलयेत्? 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्। सन्तः

'विक्रमादित्य के समय से पण्डितयुग प्रारम्भ हुआ। इस समय के पण्डितों ने भी प्राचीन ज्ञान का नाश कर दिया। इन पण्डितों में अहंकार ही प्रधान था। विद्या के मद में आकर इन्होंने आर्षज्ञान की निन्दा की उस समय के विद्वानों ने प्राचीन ऋषिकल्प प्रामाणिक ग्रन्थों की निन्दा करने में ही अपनी पंडिताई लगा दी' 'इस तरह की बातें पागल का प्रलाप ही मानी जायगी। वेद में भी कर्म और उपासना की निन्दा मिलती है कि 'अविद्या की उपासना करने वाले गहन अन्धकार में गिरते हैं और कर्मकाण्ड की उपासना करने वाले तो और भी गहरे अन्धकार में डूब जाते हैं'। 'अनुदिते जुहोति, उदिते जुहोति, समयाध्युषिते जुहोति' ये श्रुतिवचन परस्पर एक दूसरे की निन्दा करते हैं। क्या इन सबका वेद की निन्दा में तात्पर्य है? यदि ऐसा नहीं है, तो उस युग के पण्डितों की उक्तियों का समाधान भी इसी पद्धति से करना होगा। ऐसी निन्दा; निन्दा के लिये न होकर विधेय की स्तुति के लिये की जाती है।

आपने 'यदि चरकमधीते' आदि श्लोकों को उद्धृत कर लिखा है कि इस तरह उस समय के प्रणीत ग्रन्थों के वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस पण्डितयुग के ग्रन्थकार ऋषिप्रणीत ग्रन्थों की निन्दा करने लगे थे, किन्तु यह आपका निरा भ्रम है। ऐसे वचनों का वस्तुस्थिति के वर्णन में ही तात्पर्य है। यदि आज कोई वैज्ञानिक यह कहे कि वायुयान, कम्प्यूटर और हाइड्रोजन बम के इस युग में बन्दूक बना लेने से काम नहीं चलेगा, तो उसका किसी की निन्दा में तात्पर्य न होकर विज्ञान की नवीनतम प्रगति से परिचित होने में तात्पर्य माना जायगा, उसी तरह से आपके उद्धृत वचनों का तात्पर्य भी किसी की निन्दा में न होकर नवीनतम ज्ञान से परिचित होने में ही है।

प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर भी परम आस्तिक और आर्षज्ञान का समर्थक ही था। 'मुनिरचित' श्लोक में उसने मुनियों की उपेक्षा नहीं की है। यदि ऐसा होता तो उसने मनुष्य की उक्ति की अपेक्षा मन्त्र को विशिष्ट स्थान न दिया होता। 'पुरार्णमित्येव' इस कवि कालिदास की उक्ति में भी आर्ष ग्रन्थों की निन्दा का कोई प्रसंग नहीं है। इसके विपरीत स्वयं स्वामी दयानन्द

परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥' (मालविकाग्निमित्र १) इत्यस्मिन् वचनेत्वार्षग्रन्थनिन्दालेशोऽपि नास्ति। स्वयं दयानन्दस्तदीयाश्च सर्वे समाजिनो यानि ११३१ छन्दांसि मन्त्रब्राह्मणानि पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलीयानि वदन्ति, तानि शाखाब्राह्मणानि छन्दांसि वदन्ति, ऋष्युक्तानि वाक्यान्यनार्षाणि वदन्ति। रामायणभारतपुराणानि च यथेच्छमनार्षाणि वदन्ति। किमतः पराण्यपि पातकानि भवन्ति ? आर्षाणि कात्यायनश्रौतसूत्रादीनि यानि शबरशङ्करकुमारिलादयः प्रमाणानि मन्यन्ते, तान्युपेक्ष्य यथेच्छं व्याख्यान्ति समाजिनः। तेषां कृते तु—'नवीनमित्येव न साधु सर्वं पुरातनं नेव भवेदवद्यम्। सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥' इदं वचनमपेक्षितम्। ते तु सर्वान् अष्टादशपुराणान्युपपुराणानि तन्त्राण्यागमांश्च उपेक्षन्ते। स्वार्थसिद्ध्यर्थं निर्लज्जतया तान्येवाश्रयन्ते। दयानन्दः शाबरभाष्यस्य प्रामाण्यमूरीचकार, तथापि साम्प्रतं तदप्युपेक्षन्ते। कुमारिलभट्ट-प्रभाकर-शङ्कर-सायण-रामानुजमध्वनिम्बार्कादीन् प्राचीनाचार्यानुपेक्षन्ते, तथा तद्वैपरीत्येन चौर आरक्षिप्रवरानिव भर्त्संयति युधिष्ठिरो मीमांसकः। मानसिकपरतन्त्रतायै खिद्यमानोऽपि स्वयमेव तामङ्गीकरोति। सर्वथापि पाश्चात्त्यानेवायमनुसरति। मन्त्राणां ब्राह्मणानामुपनिषदामवेदत्वसाधनाय प्रयतते। यदा ते तादृशीभिरेव युक्तिभिर्ऋग्वेदस्य दशममण्डलादिकमाधुनिकं प्रतिपादयन्ति, तदा यत्किञ्चित् प्रलपति।

'भारतवर्ष का इतिहास' 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास', (भगवद्दत्त), 'वेदान्त दर्शन का इतिहास' (उदयवीर शास्त्री), 'सांख्यदर्शन का इतिहास' (उदयवीरशास्त्री), 'संस्कृत व्याकरण का इतिहास', (युधिष्ठिरमीमांसक) 'आयुर्वेद का इतिहास' (श्रीवैद्य सूरमचन्द कविराज) सर्वे चैते लेखकाः समाजिनः समाजपक्षपातिनः सनातनधर्मविद्वेषिणश्च। नैतेषां ग्रन्थानां प्रामाण्यमिति समाजिमतखण्डनप्रसङ्गे मया तत्र तत्र प्रसङ्गानुसारमुल्लिखितम्। युधिष्ठिरस्य मते ब्रह्मा सर्वथा अप्रामाणिकः। नहि तद्रीत्या सृष्टिकर्ता ब्रह्मा नारायणस्य नाभिपद्मादाविर्भूतः, किन्तु कश्चित्तत्कल्पितो निर्मूलो मनुष्यः, अग्निवाय्वादित्यादि-

और उनके सभी अनुयायी मन्त्र और ब्राह्मणभाग को पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि जैसे ऋषियों की कृति मानते हैं। शाखाओं और ब्राह्मणों को छन्द मानते हैं और ऋषि प्रोक्त वाक्यों को अनार्ष बताते हैं। रामायण, महाभारत, पुराण प्रभृति को अप्रामाणिक कहते हैं। इससे बढ़कर क्या पाप होगा ? कात्यायन श्रौतसूत्र प्रभृति आर्ष ग्रन्थों को, शङ्कर, कुमारिल प्रभृति आचार्य प्रामाणिक मानते हैं और आप लोग उनकी उपेक्षा कर वेदों की मनमानी व्याख्या करते हैं। ऐसे लोगों के लिये भी कालिदास के पद्य को परिवर्तित कर 'नवीनमित्येव न साधु सर्वम्' ऐसा पाठ स्वीकार करना चाहिये। ये लोग सभी पुराण, उपपुराण, तन्त्र और आगम ग्रन्थों की उपेक्षा करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये उन्हीं को प्रमाण के रूप में भी उद्धृत करते हैं। दयानन्द ने शाबर भाष्य को प्रामाणिक ग्रन्थ माना है। किन्तु आप जैसे अनुयायी उनकी बात को भी स्वीकार नहीं करते। कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, शंकर, सायण, रामानुज, मध्व, निम्बार्क प्रभृति प्राचीन आचार्यों की उपेक्षा की जाती है। 'उल्टा चोर कोतवाल को डाटे' वाली कहावत मीमांसक जी ने चरितार्थ कर दी है। मानसिक परतन्त्रता पर वे खेद प्रकट करते हैं, किन्तु स्वयं अपने आप उससे आक्रान्त हो गये हैं। उनका इस प्रकार का कथन पाश्चात्य विद्वानों का अनुकरण मात्र है। जैसे ये महाशय ब्राह्मण, उपनिषद् आदि ग्रन्थों को वेद नहीं मानते, उसी तरह इनकी जैसी ही युक्तियों से जब पाश्चात्य विद्वान् ऋग्वेद के दशम मण्डल को आधुनिक बताते हैं, तो ये मनमाना प्रलाप करने लगते हैं।

भारतवर्ष का इतिहास (भगवद्दत्त), वैदिक वाङ्मय का इतिहास (भगवद्दत्त), वेदान्तदर्शन का इतिहास (उदयवीर शास्त्री), सांख्यदर्शन का इतिहास (उदयवीर शास्त्री), संस्कृत व्याकरण का इतिहास (युधिष्ठिर मीमांसक), आयुर्वेद का इतिहास (श्रीवैद्य सूरमचन्द कविराज) प्रभृति ग्रन्थों के लेखक आर्यसमाज के अनुयायी और सनातन धर्म के विद्वेषी हैं। उनके इन ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, इस बात का उल्लेख पहले भी यत्रतत्र हो चुका है। युधिष्ठिर मीमांसक के मत में ब्रह्मा एक कल्पित मानव है। इनके मत के अनुसार वह नारायण के नाभिकमल से उत्पन्न ब्रह्मा नहीं हैं। इसी तरह से अग्नि, वायु, आदित्य भी मनुष्य ही है। महेश्वर भी सर्वसंहारक महारुद्र न होकर एक कल्पित मनुष्य है। प्रजापति भी पुराणों में प्रतिपादित दस प्रजापतियों से भिन्न कोई

मनुष्यवत्। महेश्वरोऽपि न सर्वसंहारको महारुद्रः, किन्तु तत्कल्पितो मनुष्य एव। प्रजापतिरपि न दशसु प्रजापतिषु पुराणादिप्रतिपादितेष्वन्यतमः। इन्द्रोऽपि न देवराजः, किन्तु कश्चिदन्य एव। प्रजापतिवृहस्पति-अश्विनीकुमार-मृत्यु-यम-कौशिकादीनां पुराणादिप्रतिपादितानामुल्लेखं करोति निर्लज्जतया, तत्प्रामाण्यं तु नाभ्युपगच्छति। तथैवादिवसिष्ठपराशरादिसम्बन्धी सर्वोऽपि विचारो भ्रान्तिग्रस्तो निराधारो भ्रामकश्च। आस्तिकानां दृष्ट्या तु ब्रह्मादयो देवाः, वशिष्ठादयश्च ऋषयः, तत्सम्बन्धिनः, कालाश्चातिप्राचीनाः। समाजिनो रामायणादिष्वार्षग्रन्थेषु ब्राह्मणग्रन्थेषु च निःशङ्कं प्रक्षिप्तत्वमप्रामाणिकत्वं चारोपयन्ति। स्वार्थसिद्धयेऽयं युधिष्ठिरः—'सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेर्मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्। छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरोद् वेलातटे पिङ्गलम् अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः॥' इति पञ्चतन्त्रीयश्लोकस्यापि प्रामाण्यमूरीकरोति। पूर्वमनेन प्रपञ्चहृदयकाररीत्या वेदान्तदेशिकरीत्या च मीमांसाशास्त्रस्य विंशत्यध्यायात्मकत्वं तत्र बोधायनकर्तृकभाष्यसत्त्वं चोक्तम्, किन्तु २४-२५ पृष्ठयोः 'उपवर्षो हलभूतिः कृतकोटिरयाचितः' (त्रिका०, शे०) इति त्रिकाण्डशेषकाररीत्या, 'हलभूतिस्तूपवर्षः कृतकोटिः कविश्च सः' (वैजयन्ती भूमिकाण्ड १५।४) इति वैजयन्तीकाररीत्या प्रमाणैः सिद्धस्यापि बोधायनरचितस्य कृतकोटिसंज्ञकभाष्यस्य सन्दिग्धत्वमुक्तम्। अन्ततो गत्वा बोधायनस्य भाष्यकारत्वमपि सन्दिग्धमित्युक्तम्, प्रपञ्चहृदयकाररामानुजाभ्यामेव बोधायननाम्नः स्मृतत्वात्। वेदान्तदेशिकस्तु बोधायनमुपवर्षं चैकमेव मन्यते। अन्यत्र वृत्तिकारोपवर्षस्य नामनिर्देशपूर्वकं मतं शाबरभाष्ये शाङ्करभाष्ये चोद्धृतम्। वेदान्तदेशिकस्तु अस्या एव समस्यायाः समाधानाय वृत्तिकारस्य बोधायनस्यैव उपवर्ष इति स्यान्नामेति तयोरेकत्वाभ्युपगमायोत्सूचितवान्। पश्चादयं युधिष्ठिरो मीमांसकः स्वमतं वदन्नाह—'मम विचारे तु बोधायनस्य निर्देशको रामानुजः प्रपञ्चहृदयकारश्च वैष्णवग्रन्थकारौ। प्रपञ्चहृदयकारेण शाङ्करभाष्यस्यासङ्केतितत्वात् तस्य स्वमताग्रहो द्योत्यते' इति।

एकत्र २९ पृष्ठे वैष्णवत्वात् प्रपञ्चहृदयकाररामानुजाचार्ययोस्ताभ्यामुक्तस्य बौधायनभाष्यस्य सत्त्वमेवापलपति। अन्यत्र तु सत्यार्थप्रकाशे दयानन्देनोल्लिखितत्वाद् व्यासमुनिकृतस्य मीमांसाभाष्यस्य सत्त्वं नाशङ्कितं तेन। कोऽत्र

मनुष्य ही है। इन्द्र भी देवराज न होकर कोई मानव ही है। पुराणों में प्रतिपादित प्रजापति वृहस्पति, अश्विनीकुमार, मृत्यु, यम, कौशिक प्रभृति का ये उल्लेख तो करते हैं, किन्तु निर्लज्जतापूर्वक इनका प्रामाण्य अस्वीकार कर देते हैं। इसी तरह से इनका आदिवसिष्ठ, पराशर सम्बन्धी सारा विचार भी भ्रामक और निराधार है। आस्तिकों की दृष्टि से ब्रह्मा प्रभृति देव हैं और वसिष्ठ प्रभृति ऋषि हैं। इनका समय अतिप्राचीन है। समाजी रामायण प्रभृति में और ब्राह्मण ग्रन्थों में बिना हिचक मनमाना प्रक्षेप मानते हैं। अपना मतलब निकालने के लिये युधिष्ठिर मीमांसक 'सिंहो व्याकरणस्य' प्रभृति पंचतन्त्र के श्लोक को भी प्रमाण मानने लगते हैं। हमने इस प्रकरण के प्रारम्भ में बताया है कि इन्होंने इसी तरह की प्रकृति का सहारा लेकर प्रपंचहृदय प्रभृति ग्रन्थों के आधार पर मीमांसाशास्त्र के बीस अध्यायों की और बोधायनकृत भाष्य की सत्ता स्वीकार की है और आगे चलकर (पृ० २४-२५) त्रिकाण्डशेष और वैजयन्तीकोश के आधार पर बोधायनकृत कृतकोटि भाष्य के विषय में सन्देह प्रकट करते हैं। अन्ततः इनका कहना है कि बोधायन कोई भाष्यकार थे। यह बात भी संदिग्ध है, क्योंकि केवल प्रपञ्चहृदयकार और रामानुज ने ही इनकी चर्चा की है। वेदान्तदेशिक बोधायन और उपवर्ष को एक ही व्यक्ति मानते हैं। शाबरभाष्य, शांकरभाष्य प्रभृति में वृत्तिकार उपवर्ष का स्पष्ट उल्लेख है, बोधायन का नहीं। वेदान्तदेशिक इस समस्या का समाधान वृत्तिकार बोधायन ही उपवर्ष हैं, ऐसा कह कर करते हैं। इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए मीमांसक जी कहते हैं कि बोधायन का उल्लेख करने वाले रामानुज और प्रपञ्चहृदयकार ये दोनों वैष्णव लेखक हैं। प्रपञ्चहृदयकार ने शांकरभाष्य का उल्लेख नहीं किया, इससे उनका अपने मत के प्रति आग्रह स्पष्ट होता है।

एक ओर तो ये (पृ० २९) वैष्णव होने के आधार पर प्रपञ्चहृदयकार और रामानुज के द्वारा स्मृत बोधायनभाष्य की सत्ता को ही अस्वीकार करते हैं, दूसरी तरफ सत्यार्थप्रकाश में दयानन्द द्वारा उल्लिखित व्यास मुनिकृत मीमांसाभाष्य की सत्ता को

हेतुरिति ? सत्यमेव भट्टपादेनोक्तम्—'प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता । तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया ॥' (श्लो० वा० उपोद्घात १०) । आधुनिकैरपि दयानन्देन तदीयैश्च मीमांसा सर्वे वेदाश्च लोकायतीकृताः । अर्थाद् व्याख्यया नास्तिकशास्त्रत्वमेव तेषामापादितम्, सर्वत्र लौकिकार्थं (जलवायुशुद्धयर्थं होमादि) प्रतिपादकत्वात् । पार्थसारथिमिश्राश्च तत्रैव व्याख्यान्ति यत्—'भर्तृमित्रादिभिरलोकायितापि सती लोकायतीकृता । नित्यनिषिद्धयोरिष्टानिष्टफलं नास्तीत्यादि बह्वपसिद्धान्तपरिग्रहेणेति' । उम्बेकाचार्याश्च—'वेदार्थग्रहणविस्मरणार्थमपि तत्तद्भर्तृमित्रविरचिततत्त्वशुद्धयादि-लक्षणप्रकरणमस्त्येवेति गतार्थमिदं वाक्यमत आह—सैवमात्मिका अलोकायता एव सती बाहुल्येन लोकायतीकृता सत्स्मृतिसदाचाराणां विना कारणेन धर्मत्वनिराकरणात् विधिनिषेधयोरिष्टानिष्टफलानभ्युपगमात् । दयानन्दस्तदीयाश्च सर्वेऽपि भट्टपादीयश्लोकस्य लक्ष्यभूता एव, तेषामपि भर्तृमित्रादिभ्योऽप्यधिकं मीमांमाया लोकायतीकरणे प्रयासदर्शनात् ।

अत्र युधिष्ठिरो मीमांसकः कथयति यत्—उक्तमतं मद्बुद्धौ नायाति । कश्चिदपि वेदमतानुयायी नैतादृशो भवति यः सत्स्मृतिं सदाचारं च धर्माद् बाह्यं कुर्यात्, विधिनिषेधयोश्चेष्टानिष्टफलं न स्वीकुर्यात् । तेन भर्तृमित्रस्य कश्चिदन्य एव गूढाभिप्रायो भविष्यती' ति । वस्तुतस्तु त्वमपि मीमांसको वेदमतानुयायी च । त्वमपि तथैवाभ्युपगच्छसि । यद् वक्ष्यते तन्न भर्तृमित्रमतम्, किन्तु तवैव मतम् । स्वमतमेव तद्व्याजेन वर्णयसि—अद्यत्वेऽपि स्मृतिवचनानां भ्रमेण धर्माभिनेतारः 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी' इत्यादीनां प्रामाण्यमभ्युपगम्य कन्यानामल्पवयस्कानां विवाहपक्षं पोषयन्ति, तथा स्त्रीशूद्रौ नाधीयाता-मित्यस्य प्रामाण्यमुपेत्य स्त्रीशूद्राणां वेदाध्ययनाधिकारं वारयन्ति, तथैव सदाचारनाम्ना प्रचलितानां रूढीनां परिपालनाया-ग्रहग्राहिला भवन्ति, यथा स्ववर्णमात्र एव परस्परं भोजने, पारिबर्हं (दहेज) दानादानादिके इत्यादिकर्मणाम् । विधिनिषेध-स्थितिरपि तादृश्येव । प्रत्येकयज्ञीयविधिनिषेधाश्रयेण पुण्यपापभावनाप्रोत्साहनमप्यनुचितम्, यथा यज्ञेऽमुकं पात्रममुकस्थाने रक्षणीयम्, तथैवादृष्टमुत्पत्स्यते, अन्यस्थाने रक्षणेन पापं भविष्यति' इत्यादिस्वीकरणं व्यर्थमेवेति युधिष्ठिरेण स्वान्तर्गतो

निःसंकोच स्वीकार करते हैं । इसमें क्या कारण है ? भट्टपाद कुमारिल का यह कहना ठीक ही है कि मीमांसाशास्त्र को अन्य विद्वान ने चार्वाक मत का पृष्ठपोषक बना दिया था । उसको आस्तिक मार्ग पर ले आने के लिये मेरा यह प्रयत्न है । आजकल भी स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायियों का प्रयत्न वेद और मीमांसा को चार्वाक मत की ओर घसीट ले जाने का है । ये सर्वत्र यज्ञ का फल लौकिक जल-वायु की शुद्धि हो मानते हैं । पार्थसारथी ने भट्टपाद के उक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखा है कि भर्तृमित्र प्रभृति ने नित्य और निषिद्ध कर्मों का इष्टकर और अनिष्टकर फल नहीं होता जैसी बातों का प्रतिपादन कर मीमांसा को चार्वाक मत के पास लाकर खड़ा कर दिया । इसी श्लोक की व्याख्या में उम्बेक मिश्र का कहना है कि भर्तृमित्र प्रभृति ने तत्त्वशुद्धि प्रभृति ग्रन्थों की रचना करके अनेक स्मृतियों और सदाचार को धर्म के प्रति प्रमाण नहीं माना है और विधि-निषेध का इष्टानिष्ट फल भी नहीं माना है । इस तरह से इन्होंने वेदानुवर्ती मीमांसाशास्त्र को भी चार्वाक मत का अनुयायी बना दिया है । दयानन्द प्रभृति के प्रति भी भट्टपाद की यह उक्ति सटीक जमती है । भर्तृमित्र प्रभृति से भी ये लोग दो हाथ आगे बढ़ गये हैं ।

युधिष्ठिर मीमांसक का इस पर कहना है कि यह बात हमारी समझ में नहीं आती कि भला कोई वेदमतानुयायी स्मृति और सदाचार को धर्मबाह्य क्यों मानेगा और विधि-निषेध का इष्टानिष्ट फल क्यों नहीं मानेगा ? भर्तृमित्र का इसमें अवश्य कोई गूढ़ अभिप्राय होना चाहिये । इस पर हमारा इतना ही कहना है कि आप भी मीमांसक हैं और वैदिक मत के अनुयायी हैं । आप भी उन्हीं का अनुसरण करना चाहते हैं । उनका नाम लेकर जो कुछ आप कहना चाहते हैं, वह उनका न होकर आप का ही मत है । आप कहते हैं कि आज भी 'अष्टवर्षा' प्रभृति श्लोकों को स्मृति वचन मानकर कम वय की कन्याओं के विवाह की बात पुष्ट की जाती है तथा 'स्त्रीशूद्रौ' प्रभृति वचनों के आधार पर स्त्री और शूद्र का वेदाध्ययन का अधिकार नहीं माना जाता । इसी तरह से सदाचार के नाम पर प्रचलित रूढ़ियों का कड़ाई से पालन करते हुए खान-पान, विवाह आदि अपनी-अपनी जातियों में ही किये जाते हैं । विधि-निषेध की स्थिति भी वैसी ही है । यज्ञ में अमुक पात्र अमुक स्थान पर ही रखना चाहिये, अन्यथा करने से फल नहीं मिलता । इस तरह के विधिनिषेध स्वीकार करने योग्य नहीं हैं । भर्तृमित्र के नाम पर प्रकट किये ये सब विचार उनके न होकर आपके ही हैं ।

भावोऽभिव्यञ्जितो भर्तृमित्रादीनां नाम्ना। आधुनिकानां समाजिनां पूर्वत एव तथा भूतं व्यापारमभिलक्ष्य भट्टपादेनोक्तम्—'मीमांसा लोके लोकायतीकृता'। दयानन्दादिभिस्तु वेदोऽपि लोकायतीकृतः। येषां रीत्या ब्राह्मणगतानामपि विधिनिषेधानामीदृशी गतिस्तेषां कृते स्मार्तानां विधिनिषेधानां कीदृशी स्यात् ? अत एवास्तिकानां कालिदासप्रभृतिपण्डितानामार्षग्रन्थनिन्दकत्वं वदन्नयं युधिष्ठिरो मीमांसको न जिह्रेति, स्वयं तु असंख्यातानां मन्त्राणां ब्राह्मणानामारण्यकानामुपनिषदां च वेदत्वमपलपति। विधिनिषेधाभ्यामेव धर्माधर्मयोः पुण्यपापयोर्वा ज्ञानं भवति, कथमन्यथा स्वदुहितृभगिन्यादिभिरपि विवाहो न स्यात् ?

यत्तु—'मीमांसाशास्त्रं न्यायशास्त्रं च न्याय्यकर्मण एव पुष्टिं करोति, नान्याय्यस्य' इति; तदपि तुच्छम्, अननुसन्धायार्थं न्यायशब्दप्रयोगात्। तथाहि न्यायशब्दस्य कोऽर्थः ? न युक्तिः, तस्याः प्रमाणोपकारकत्वेऽपि स्वयमप्रमाणत्वात्, प्रमाणेष्वपरिगणितत्वाच्च। नाप्यनुमानम्, अनुमानगम्यस्यैव न्याय्यत्वे आगमप्रमाणस्य नैरर्थक्यात्। स्वविषयशूराणि हि प्रमाणानि। नागमगम्ये प्रत्यक्षानुमानादीनां सङ्क्रमणम्, अनधिगतगन्तृत्वेनैव प्रमाणानां प्रमाण्यात्। यथा शब्दे, रसे, स्पर्शे वा न चक्षुषः प्रवृत्तिः, न चाष्टवर्षा भवेद्गौरीत्यस्याप्रामाण्यम्, चक्षुरादोनामिव शब्दानामपि प्रामाण्यस्वतस्त्वाङ्गीकारात्। न च पौरुषेयत्वे पुरुषाश्रितभ्रमप्रमादादिसम्भवेन सन्दिग्धमेव प्रामाण्यमिति चेत्तथात्वे त्वद्रीत्या संहिताचतुष्टयेतरसंहितामन्त्राणां ब्राह्मणानामपि पौरुषेयत्वेन तथात्वापातात्। कठादिपुरुषसम्बन्धवत्—शाकली-कौथुमी-माध्यन्दिनी—शौनकीषु संहितासु त्वदीयवेदत्वेनाभिमतास्वपि शाकल्यादि पुरुषसम्बन्धेन पौरुषेयत्वापत्त्या तासामप्यप्रामाण्यापत्तेः। किञ्चाप्रामाण्यकारणविषयबाधकारणदोषज्ञानेनैवाप्रामाण्यं सम्भवति, न पौरुषेयत्वमात्रेण। तथात्वे सत्यार्थप्रकाशादोनामनायासेनैवाप्रामाण्यसिद्धयापत्तेः। 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा तु रोहिणी' इत्यत्र तु 'सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयोऽग्निस्ते पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥' (ऋ० सं० १०।८५।४०) इति ऋग्वेदसंहितामन्त्रो मूलम्। 'सोमोऽददद्गन्धर्वाय

भर्तृमित्र ने केवल मीमांसा को ही चार्वाक दर्शन की ओर खींचा था, किन्तु स्वामी दयानन्द ने तो वेद और शास्त्र दोनों को ही लोकायत का अनुचर बना दिया है। जिनकी दृष्टि में ब्राह्मण वचनों की यह गति है, वे स्मृति वचनों का भला क्या आदर करेंगे। इस पर भी तुक्का यह है कि ये महाशय कालिदास जैसे आस्तिक महाकवि को आर्ष ग्रन्थों का निन्दक मानते हैं और स्वयं असंख्य मन्त्रों, ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों को वेद नहीं मानते। विधि-निषेध के सहारे ही धर्म और अधर्म का, पाप और पुण्य का ज्ञान होता है। इनको अस्वीकार कर देने पर अपनी पुत्री और बहिन के साथ भी विवाह कर लेने में क्या आपत्ति रह जायगी ?

'मीमांसाशास्त्र और न्यायशास्त्र न्याय्यकर्म की ही पुष्टि करते हैं, अन्याय्य कर्म की नहीं' यह कथन भी न्याय शब्द का ठीक से अर्थ न समझ पाने के कारण है। न्याय शब्द का अर्थ 'युक्ति' इसलिये नहीं किया जा सकता कि वह प्रमाणों में परिगृहीत नहीं है। वह सहायक मात्र बनती है उसको अनुमान भी नहीं कह सकते, क्योंकि अनुमानगम्य ही यदि न्याय्य है, तो उस स्थिति में पूरा आगम प्रमाण व्यर्थ हो जायगा। प्रत्येक प्रमाण अपने अपने विषय का प्रतिपादन करने में अन्य की अपेक्षा प्रबल होता है। आगम प्रमाण से परिगृहीत होने वाले विषयों में प्रत्यक्ष और अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अनधिगत वस्तु का अधिगम कराना ही प्रमाणों का प्रयोजन है। जैसे शब्द, रस, स्पर्श अथवा गन्ध के ग्रहण में चक्षु इन्द्रिय की प्रवृत्ति नहीं होती, उसी तरह से 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी' प्रभृति शास्त्र विषय में भी प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। स्मृति वचनों का पौरुषेयता के आधार पर अप्रामाण्य मानने पर तो आपके मत के अनुसार चार शाखाओं से भिन्न अन्य सभी शाखाओं का और ब्राह्मण प्रभृति ग्रन्थों को भी इसी आधार पर अप्रामाण माना जाने लगेगा। इतना ही नहीं, कठ प्रभृति का सम्बन्ध होने के कारण इन शाखाओं को जैसे आप वेद नहीं मानते, उसी आधार पर शाकली, कौथुमी, माध्यन्दिनी और शौनकी संहिताओं के साथ भी व्यक्ति का नाम जुड़ा होने से ये आपके मूल वेद भी पौरुषेय अतएव अप्रमाण माने जाने लगेंगे। विषयबाध, करणापाटव प्रभृति के कारण ही अप्रामाण्य का बोध होता है, केवल पौरुषेयत्व मात्र से नहीं। ऐसा मानने पर तो सत्यार्थप्रकाश प्रभृति ग्रन्थों की भी अनायास अप्रामाणिकता सिद्ध हो जायगी, क्योंकि स्वामी दयानन्द भी तो पुरुष ही थे। 'अष्टवर्षा' प्रभृति स्मृति वचनों की पुष्टि 'सोमः प्रथमो विविदे' प्रभृति वेद मन्त्रों से होती है।

गन्धर्वो ददद्ग्नये। रयिञ्च पुत्रांश्चादाद् अग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥' (ऋ० सं० १०।८५।४१), 'सोमो गौरी अधिश्रितः' (ऋ० सं० ९।१२।३) इति मन्त्रैरष्टवर्षायां कन्यायां सोमाधिकारः सिद्धयति, नववर्षीयां रोहिण्यां गन्धर्वाधिकारः, दशमवर्षमारभ्य तस्यामग्नेरधिकारः। अग्निरेव मनुष्याधिकारे कन्यां ददाति, विवाहस्याग्निसाक्षिकत्वोक्तेः। मन्त्रे दयानन्दादिकृतं कुचोद्यं तु भूमिकायां खण्डितमेव।

किञ्च—'वैवाहिको विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः स्मृतः' (म० २।६७) इति मनुरीत्या विवाह एव स्त्रीणामुपनयनस्थानापन्नः। उपनयनं च 'गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत' (म० २।३६) इति मनुरीत्या अष्टमाब्दे कार्यः। तेनापि कुमारीणां स एव विवाहकालः। संस्कारस्थानीयोऽयं विवाहः। तत एव ऋतुकालात् पूर्वमेव कन्योद्वाहः सर्वैरपि महर्षिभिर्विहितः। मनुरपि तथैवाह—'त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्। त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा·····' (म० ९।९४) इति। स्त्रीशूद्राणां वेदाध्ययननिषेधोऽपि युक्त एव, तेषामुपनयनविधानाऽभावात्। 'वसन्ते ब्राह्मणं ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यम्' इतिवत् शूद्रस्योपनयनविधानं न दृश्यते। उपनयनविधानं चाङ्गं वेदाध्ययनस्य। न च स्त्रीणामुपनयनविधानम्, तथाऽदर्शनात्। नाप्यष्टवर्षंब्राह्मणमुपनयीतेति स्त्रीणां ग्रहणम्, तत्र पुँल्लिङ्गपदानामेव ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यानां दर्शनात्। न च यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां 'शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च' (वा० सं० २६।२) इत्यत्र शूद्रादीनां सर्वेषामेव वेदाध्ययनमुक्तम्, 'पञ्चजना ममहोत्रे' (ऋ० सं० १०।५३।४) अत्र च पञ्चजनानां यज्ञसेवनमुक्तम्। 'चत्वारो वर्णाः पञ्चमो निषादः' (नि० ३।८) इत्यत्र अन्त्यजान्तानां ब्राह्मणादीनां पञ्चजनत्वोक्तेः, 'न कर्म लिप्यते नरे' (वा सं० ४०।२) इति नरमात्रस्य कर्मविधानं दृश्यत इति वाच्यम्, यथेमां वाचमिति मन्त्रार्थानवबोधात्। अत्रेश्वरस्य ऋषित्वाभावेन देवतात्वेन मन्त्रवाच्यत्वात् परमेश्वरस्य वक्तृत्वासिद्धेः। न चेश्वरस्यैव कुतो न वक्तृत्वमिति वाच्यम्, 'तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्' (वा० सं० २६।३) इति प्रार्थनाया ईश्वरेऽनुपपत्तेः। यथेमामिति कण्डिकायामेवान्ते प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृद्ध्यतामिति प्रार्थनायाश्च पूर्णकामे परमेश्वरेऽसत्त्वात्। तस्मादीश्वर उपदिशति—इमां वेदवाणीं सर्वेभ्यो यथाहं वदानि तथैव यूयमपि वदतेत्यादिमन्त्रार्थंकल्पनं मूर्खजनप्रतारणमेव। इमां वाच-

'सोमोऽददद्गन्धर्वाय', 'सोमो गौरी अधिश्रितः' प्रभृति मन्त्रों से आठ वर्ष की कन्या पर सोम का अधिकार सिद्ध होता है, नौ वर्ष की कन्या रोहिणी पर गन्धर्व का, दस वर्ष की कन्या पर अग्नि का अधिकार हो जाता है। यह अग्नि ही कन्या को मनुष्य के अधिकार में सौंपता है, क्योंकि विवाह अग्नि की साक्षी में ही होता है। इस प्रसंग में दयानन्द प्रभृति के उठाये कुतर्कों का खण्डन भूमिका के प्रथम भाग में ही किया जा चुका है।

'वैवाहिको विधिः' प्रभृति मनुवचन के अनुसार स्त्रियों के विवाह संस्कार में ही उपनयन संस्कार का भी समावेश है। मनुवचन के ही आधार पर उपनयन संस्कार आठवें वर्ष में किया जाता है। इससे कुमारी के विवाह का भी यही काल उचित है। यह विवाह संस्कार उपनयन संस्कार के स्थान पर किया जाता है। सभी ऋषियों ने ऋतुकाल से पहले ही कन्या के विवाह का विधान किया है। मनु ने भी ऐसा ही कहा है। स्त्री-शूद्रों के वेदाध्ययन का निषेध भी उचित है। उनको उपनयन का अधिकार नहीं प्राप्त है। उपनयन के बाद ही वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त होता है। स्त्री और शूद्र का उपनयन संस्कार नहीं किया जाता, अतः उनको वेदाध्ययन का अधिकार भी नहीं प्राप्त होता। पुल्लिग पदों का ही उल्लेख होने से स्त्री का उपनयन संस्कार विहित नहीं है। 'यथेमां वाचं' इस मन्त्र से शूद्र प्रभृति सभी वर्णों के वेदाध्ययन को, 'पञ्चजना' प्रभृति से सभी वर्णों के यज्ञ में अधिकार को और 'न कर्म लिप्यते नरे' प्रभृति से मनुष्य मात्र के कर्मविधि में अधिकार को सिद्ध करना मात्र अपने अज्ञान को उजागर करना है। प्रथम मन्त्र का परमात्मा ऋषि न होकर देवता है, अतः परमेश्वर इस मन्त्र के वक्ता नहीं हो सकते। 'तदस्मासु द्रविणं धेहि' इस प्रकार की प्रार्थना ईश्वर नहीं कर सकते। उक्त कण्डिका के ही अन्त में अपनी कामना की समृद्धि का उल्लेख है। पूर्ण काम परमेश्वर इस तरह की प्रार्थना क्यों करेगा ? इसलिये 'इस मन्त्र में ईश्वर उपदेश करता है कि इस वेदवाणी को जैसे मैं तुमको दे रहा हूँ, उसी तरह से तुम भी इसको अपने शिष्यों को देना' इस तरह का अर्थ करना केवल धोखा मात्र है। इस मन्त्र में 'वेद' पद आया ही नहीं है। वास्तव

मित्यत्र च वेदपदाभावात्। किन्तु यजमान एवात्र वक्ता। स सर्वाभ्यः स्त्रीभ्य उपदिशति—यथाहं ब्राह्मणादिभ्य आगम्यतां, भुज्यतां, धनानि गृह्यन्तां, विश्रम्यतामिति प्रियां वाचं वदामि, तथैव यूयमपि वदतेत्येवार्थः। यजमानस्यैव 'प्रियो देवानां भूयासम्', 'अयं मे कामः समृद्ध्यताम्। 'तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्' इति प्रार्थना सम्भवति; न परमेश्वरस्य। ऋषिरेव वक्ता भवति। नचास्य मन्त्रस्येश्वर ऋषिः। न चेश्वरः स्वात्मार्थमाशीर्वादं प्रार्थयते। 'आवदामि',' भूयासम्', 'समृद्धयताम्', 'उपनमतु' आदिका लोट्बोध्या आशीर्लिङ्बोध्या च प्रार्थना नेश्वरे सम्भवति, पूर्णकामत्वात्। सत्यार्थप्रकाशे (७ समु० ईश्वर सगुण निर्गुण विषयः, पृ० १२४। इत्यत्र दयानन्देनापि पूर्णसुखयुक्तस्याभिलाषानुपपत्तेरुक्तत्वात्। यज्ञे ब्राह्मणाः शूद्रा अरणः (शत्रुः) सर्वे मित्राणि भवन्ति। 'यज्ञेन द्विषन्तो मित्राणि भवन्ति' (नारायणीयोपनिषदि ७९), यज्ञेषु भोजनप्रसादस्य भेदभावमन्तरा दानोपपत्तेः। नास्य मन्त्रस्य वेदाधिकारप्रतिपादनपरत्वं सायणादिभिः स्वीकृतम्। श्रौतसूत्रकारादिभिश्च तन्नाभ्युपगतम्।

'पञ्चजना मम होत्रे जुषध्वम्' (ऋ० सं० १०।५३।५) इति मन्त्रेऽपि होत्रशब्दस्याह्वानमर्थः, सायणाचार्येण तथैव व्याख्यातमपि। यज्ञप्रसादग्रहणाय सर्वेषामाह्वानम्। यज्ञ एवार्थ इति पक्षेऽपि यज्ञियाः पञ्चजना एवात्रोच्यन्ते। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या एव यज्ञियाः (यज्ञार्हाः), 'ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा ते हि यज्ञियाः' (श० ३।१।१।९) इति श्रुतेः। शूद्रनिषादान्तानां तु लौकिकेऽग्नौ पञ्चमहायज्ञ इषत एव। पौराणिकेषु नमोऽन्तेषु च मन्त्रेषु तेषामधिकारः। यदुक्तम्—'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्……इतो मुक्षीय मामुतः' (वा० सं० ३। ६०) इत्येतदादिको मन्त्रः स्त्रीभिः पठनीयो भवति न पत्या, तस्य 'इतो मुक्षीय' इति प्रार्थनानुपपत्तेः। 'न कर्म लिप्यते नरे' (वा० सं० ४०।२) इत्यत्र नरशब्देनात्रान्त्यजान्ताः सर्वेऽपि नरा विवक्षिताः' इति, तदेतदपि यत्किञ्चित्, औत्सर्गिकरूपेण वेदे स्त्रीणामधि-

में इस मन्त्र का वक्ता यजमान है। वह अपने स्वजनों से कहता है कि जैसे मैं इस यज्ञ में ब्राह्मण प्रभृति का पधारिये, भोजन पाइये प्रभृति प्रिय वाणी से स्वागत सत्कार करता हूँ। उसी तरह से तुम लोग भी करना। यजमान ही 'मैं देवताओं का प्रिय बनूँ", 'मेरी यह कामना पूरी हो', हमें आप धन और भाँति भाँति की सम्पत्ति दीजिये' इस तरह की प्रार्थना यजमान ही कर सकता है, परमात्मा नहीं। ऋषि ही मन्त्र का वक्ता माना जाता है। इस मन्त्र के ऋषि परमात्मा नहीं हैं और न ईश्वर अपने लिये आशीर्वादात्मक प्रार्थना ही करेगा। 'आवदानि, भूयासम्, समृद्धयाताम्, उपनमतु' इन सभी पदों में लोट् लकार अथवा आशीर्वादात्मक लिङ् लकार से प्रकट होने वाली प्रार्थना ईश्वर नहीं करेगा, क्योंकि वह तो पूर्णकाम है। सत्यार्थप्रकाश (७ समु०) में स्वयं स्वामी दयानन्द ने माना है कि पूर्ण सुखयुक्त ईश्वर को कोई अभिलाषा नहीं हो सकती। यज्ञ के अवसर पर शूद्र, शत्रु प्रभृति सभी मित्र माने जाते हैं। नारायणोपनिषद् में इसका स्पष्ट वर्णन है कि यज्ञ के अवसर पर शत्रु मित्र हो जाते हैं। यज्ञ का प्रसाद बिना भेदभाव के सबको दिया जाता है। सायण प्रभृति आचार्यों ने भी इस मन्त्र का विनियोग वेदाधिकार के प्रतिपादन में नहीं माना है और न श्रौतसूत्रकार, सर्वानुक्रमणीकार प्रभृति ने ही इस मन्त्र का ऐसा विनियोग बताया है।

'पञ्चजनाः' प्रभृति मन्त्र में होत्र शब्द आह्वान के अर्थ में प्रयुक्त है। सायणाचार्य ने यही व्याख्या की है। यज्ञ का प्रसाद लेने के लिये सबको बुलाया जाता है। यदि इस शब्द का अर्थ यज्ञ किया जाय, तब भी मन्त्र का अर्थ यह होगा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पाँच यज्ञ के अधिकारी हैं। इनमें से ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र को तो श्रुति से अधिकार प्राप्त ही है। शूद्र और निषाद को भी लौकिक अग्नि में पंचमहायज्ञ करने का अधिकार है। कुछ पौराणिक मन्त्रों की आराधना का भी उनको अधिकार है। यह कहना कि त्र्यम्बकं यजामहे' इस मन्त्र का पाठ स्त्रियाँ ही करती हैं, पति नहीं। 'न कर्म लिप्यते नरे' इस मन्त्र में भी नर शब्द से सभी मानव विवक्षित हैं', इसलिये यह सही नहीं है कि सामान्यतः वेदाध्ययन में स्त्री का अधिकार न रहने पर भी विहित स्थल में अपवाद के रूप में मन्त्रोच्चारण की मान्यता दे दी जाती है। 'तस्या यावदुक्त०' प्रभृति मीमांसा सूत्र के भाष्य में शबर स्वामी ने कहा है कि स्त्री की पुरुष से समानता नहीं हो सकती। इसके दो कारण हैं, एक तो वह स्त्री है, दूसरे उसको वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है। स्त्रियों के लिये विवाह संस्कार ही द्विजत्व का सम्पादक होता है। इसी से उसको अपने पति के साथ यज्ञ करने का भी

काराभावेऽपि विहितस्थले मन्त्रोच्चारणस्यापवादत्वात् । 'तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात्' (जै० सू० ६।१।२४) इति सूत्रे 'अतुल्या हि स्त्री पुंसा, अतुल्यता च द्वेधा स्त्रीत्वादविद्यात्वाच्च' इति शबरस्वाम्युक्तेः । स्त्रीणां विवाहसंस्कारत्वाद् द्विजत्वं हि जायते । तेनैव पत्या सह यज्ञाधिकारोऽपि । तत एव स्वाधिकृतमाज्यावेक्षणादिमन्त्रमपि ताः पठन्ति । 'उपनयनाभावाच्च न मुख्यो वेदाध्ययनाधिकारः । 'कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते । ब्रह्मणो (वेदस्य) ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥' (म० २।१७३) इति मनुवचनात् उपनयनात् पूर्वं ब्राह्मणस्यापि मन्त्रोच्चारणे, नाधिकारः । 'नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते । शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदेन जायते ॥' (म० २।१७२) इति स्मृतेश्च । आश्चर्यं यत् स्वयमुपर्युक्तान्यन्यानि च आर्षाणि वचनानि तिरस्कुर्वन्नपलपन्नपि कालिदासादीनामार्षग्रन्थनिन्दकत्वं वदन्नयं युधिष्ठिरो मनागपि न जिह्रेति ।

विवाहादिमन्त्रा अपि आचार्यादिभिरुच्चार्यन्ते । उच्चारणाऽसामर्थ्ये तु पुरोहितादिभिरेवोच्चार्यन्ते । न चैतत् केवलं सनातनधर्मिषु, किन्तु सामाजिकेष्वपि । तथाहि—दयानन्दीयसंस्कारविधिरीत्यापि सद्योजातस्य बालस्य पठनीया मन्त्रा उक्ताः । 'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्' (वा० सं० ३।६२) नो (मम) इति लिङ्गात् । नहि सद्योजातो बालोऽमुं मन्त्रं पठितुं शक्नोति, असामर्थ्यात् । अतस्तत्प्रतिनिधिभूत्वा पित्रादिर्मन्त्रं पठति । अन्नप्राशनं षष्ठे मासे भवति । तदापि 'ऊर्जं नो धेहि' (वा० सं० ११।८३) । इति मन्त्रो बालेन पठनीयः, नो (मम) इति लिङ्गात् । न च बालः समर्थः तस्मादन्य एव प्रतिनिधिः पठति । 'अस्मे वीरान्' 'मयि मेधां मयि प्रजाम्' इत्यादयो मन्त्रा यथा प्रतिनिधिना पठनीयास्तथैव स्त्रीणां प्रातिनिध्येन पुरोहितैर्मन्त्राः पठ्यन्ते । समाजिनां रीत्या तु 'इतोमुक्षीय मामुतः' इति मन्त्रमपि परमात्मैव पठति, ऋषिर्वशिष्ठोऽपि पठति । किमेतौ श्वशुरालयं गन्तुं प्रार्थयेते ? यदि पतिगृहं गच्छन्त्यै स्त्रियै परमात्मनायं मन्त्रो निर्मितः, ऋषिणा चोच्चारितः, तथैव तस्याः पतिः पुरोहितो वाप्युच्चारयितुं शक्नुत एव ।

वेदे तु शवोऽपि सम्बोध्यते—इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उत त्वा मर्त्यं प्रेतम् । (अथर्व १८।३।१),

अधिकार प्राप्त होता है । इसीलिये आज्यावेक्षण प्रभृति अपने कृत्यों का सम्पादन करने के अवसर पर यह उन कृत्यों से सम्बद्ध मन्त्रों का पाठ भी करती हैं, किन्तु उपनयन के अभाव में वे मुख्य रूप से वेदाध्ययन में अधिकृत नहीं हैं । मनु का स्पष्ट वचन है कि उपनयन संस्कार के बाद ही वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त होता है । अतः उपनयन से पहले ब्राह्मण को भी मन्त्रोच्चारण का अधिकार प्राप्त नहीं होता । अन्य स्मृति वचन में इसका स्पष्ट विधान भी है कि 'उपनयन संस्कार जब तक नहीं हो जाता वेद का उच्चारण नहीं करना चाहिये, क्योंकि इससे पहले उसकी स्थिति शूद्र के समान ही होती ।' । आश्चर्य है कि मीमांसक जी इन सब आर्ष वचनों का स्वयं तिरस्कार करते हैं और कालिदास प्रभृति पर आर्ष वचनों की निन्दा करने का दोष मढ़ते हैं ।

विवाह प्रभृति के मन्त्रों का भी उच्चारण आजकल आचार्य या पुरोहित ही कर देते हैं । केवल सनातनधर्मियों में ही ऐसा नहीं होता, आर्यसमाजियों की भी यही स्थिति है । स्वामी दयानन्द ने सद्योजात बालक के लिये मन्त्रोच्चारण का विधान किया है । वह बालक 'त्र्यायुषम्' प्रभृति मन्त्र को पढ़ नहीं सकता । अतः उस बालक का पिता प्रतिनिधि के रूप में उस मन्त्र को पढ़ता है । छठे महीने में बालक का अन्नप्राशन संस्कार किया जाता है । तब 'ऊर्जंनो धेहि' इस मन्त्र का पाठ बालक को करना चाहिये । बालक मन्त्र पढ़ नहीं सकता, अतः उसके प्रतिनिधि के रूप में दूसरे को ही मन्त्र पढ़ना पड़ेगा । जैसे इन मन्त्रों का पाठ प्रतिनिधि करता है, उसी तरह से विवाह के अवसर पर स्त्री का प्रतिनिधि बन कर पुरोहित या आचार्य मन्त्र-पाठ करता है ? समाजियों के अनुसार तो 'इतो मुक्षीय' इस मन्त्र का पाठ परमात्मा करते हैं और ऋषि वसिष्ठ भी इसी का पाठ करते हैं । क्या ये दोनों अपनी ससुराल जाना चाहते हैं ? यदि पतिगृह जाती हुई स्त्री के लिये परमात्मा ने यह मन्त्र बनाया है और ऋषि ने इसका उच्चारण किया है, तो उसका पति या पुरोहित प्रतिनिधि के रूप में उसके लिये इसका उच्चारण कर ही सकता है ।

वेद में तो शव को भी संबोधित किया जाता है । मृत व्यक्ति सुन नहीं पाता, किन्तु किसी से भी मन्त्र का उच्चारण

तथापि न मृतः शृणोति, किन्तु केनचिन्मन्त्रोच्चारणं कारयित्वा कर्मपूर्तिः क्रियते। श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणरीत्या सीतायाः स्वर्णप्रतिमयैव यज्ञपत्नीकार्यं कार्यते स्म। स्वामिदयानन्देनाऽपि संस्कारविधौ (पृ० २९५) लिखितम्—यदि यजमान पढ़ा हो तो इतने मन्त्र अवश्य पढ़ लेवे। यदि कोई कार्यकर्ता जड़ मन्दमति काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो तो वह शूद्र है·······तो पुरोहित और ऋत्विग् मन्त्रोच्चारण करे और कर्म उसी के हाथ से करावे।' इति। तद्वदेव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्। मनुना च स्त्रीणां कृते हवनादिकं निषिद्धमेव। 'स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित्। प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥' (म० ४।२०६) 'न वै कन्या न युवतिः (अविवाहिता विवाहिता वा) नाल्पविद्यो न बालिशः। होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तोनासंस्कृतस्तथा॥' (म० ११।३६) तस्मान्न स्त्रीशूद्रादीनां यज्ञोपवीते होमे वाऽधिकारः, गृह्यसूत्रेषु च तथाऽप्रतिपादनात्।

यदुक्तम्—'(जै० सू० १।३।१-७) स्मृतिप्रामाण्याधिकरणे श्रुतिप्राबल्याधिकरणे च दृष्टमूलकस्मृत्यप्रामाण्यपदार्थप्राबल्यप्रकरणेष्वनेकस्मृतीनां सदाचाराभासानां च धर्मत्वनिराकरणम्, अत्रैव ११-२२ कल्पसूत्राणां स्वतोऽप्रामाण्यप्रकरणं च महत्त्वपूर्णम्, इति, तदपि तुच्छम्, भावानवबोधात्। 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (जै० सू० १।३।३) इत्यादिसूत्रेषु भट्टपादेन त्वादृशानां मुखमुद्रणस्य कृतत्वात्। श्रुतीनामपौरुषेयत्वेन तैः स्वतः प्रामाण्यमुक्तम्। दयानन्देन तदीयैश्च युष्माभिः श्रुतित्वमेव नाङ्गीकृतम्। शबरस्वामी च 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायति' इति श्रुतिं मनुते। तद्विरोधाच्च 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या' इति कल्पसूत्रवचनं सापेक्षं मत्वा श्रुतिविरुद्धायाः कल्पस्मृतेरप्रामाण्यं वक्ति। त्वया तु तद्वचनस्य श्रुतित्वमेव न मन्यते, इति कथं त्वद्रीत्या सूत्रसङ्गतिः। तथात्वेऽपि भट्टपादाः श्रुत्यानुगुण्येन तल्लापनं वदन्ति, नात्यन्तमप्रामाण्यम्। तथा च भट्टपादः—'न च कल्पसूत्राणामप्रामाण्यमुक्तम्, विनियोगादिविधानस्य तदायत्तत्वात्। न चैकस्य कस्यचिद्वचनस्यायथार्थत्वे सर्वस्यैव कल्पसूत्रस्याऽप्रामाण्यम्, तस्य वेदाङ्गत्वेनादरणीयत्वात्, अन्यथा एकस्य

कराकर कर्म को पूरा किया जाता है। वाल्मीकि रामायण में सीता की स्वर्ण प्रतिमा बनाकर यज्ञ कर्म को पूरा किया जाता है। स्वामी दयानन्द ने संस्कारविधि में लिखा है—'यदि यजमान पढ़ा हो, इतने मन्त्र अवश्य पढ़े। यदि कोई कार्यकर्ता जड़ मन्दमति काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो तो वह शूद्र है···तो पुरोहित और ऋत्विग् मन्त्रोच्चारण करे और कर्म उसी के हाथ से करावे (पृ० २९५)। यही विधि आपको यहाँ भी अपनानी चाहिये। मनु ने स्त्री के लिये हवन करने का निषेध किया है। स्त्री (विवाहित अथवा अविवाहित), नपुंसक, अल्पविद्य, मूर्ख, रोगी ये सब हवन के अधिकारी नहीं हैं। अतः स्पष्ट है कि स्त्री और शूद्र का यज्ञोपवीत अथवा होम में अधिकार नहीं है। गृह्यसूत्रों में भी इसी प्रकार के वचन मिलते हैं।

'स्मृति प्रामाण्याधिकरण और श्रुतिप्राबल्याधिकरण में दृष्टमूलक स्मृति को प्रमाण नहीं माना है और अनेक स्मृतियों का सदाचार के नाम पर चल पड़े रीति-रिवाजों का प्रामाण्य अस्वीकृत कर दिया गया है। कल्पसूत्रों के स्वतः प्रामाण्य का निषेधक प्रकरणः इनमें महत्त्वपूर्ण है, आपका यह कथन भी इसलिये गलत है कि आपने पूरे प्रकरण का भाव ही नहीं समझा है। ऐसी शंकाओं का भट्टपाद कुमारिल ने 'विरोधे त्वन०' प्रभृति सूत्र की व्याख्या में समाधान कर मुँह बन्द कर दिया है। अपौरुषेयता के आधार पर श्रुतियों का प्रामाण्य मानते हैं। आप लोग इस अधिकरण में उद्धृत अनेक ब्राह्मण वचनों को श्रुति नहीं मानते, किन्तु शबरस्वामी उनको श्रुति के रूप में ही उद्धृत करते हैं। इस अधिकरण में यहीं बताया गया है कि प्रत्यक्ष श्रुति के विपरीत अभिप्रायवाला कल्पसूत्र का वचन प्रमाण नहीं माना जायगा। इसके उपरान्त भी 'औदुम्बरी शाखा' से संबद्ध श्रुति और कल्पसूत्र के विचित्र अभिप्रायवाले वचनों की संगति भट्टपाद कुमारिल ने बता दी है। 'उनका स्पष्ट कथन है कि 'कल्पसूत्रों को अप्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि मन्त्रों के विनियोग प्रभृति का ज्ञान उन्हीं की सहायता से होता है। किसी एक वचन के अयथार्थ होने से सारा कल्पसूत्र अप्रामाणिक नहीं हो जायगा। वेदांग होने से उसका आदर होगा ही। किसी एक अंश के अप्रामाणिक होने पर पूरे ग्रन्थ को यदि

वचनस्य लोभमूलकत्वेनाप्रामाण्ये तत्सामान्यात् सर्वेषामेव पौरुषेयाणामप्रामाण्यापत्तेः, तथात्वे पाणिन्यादिस्मृतीनामप्यप्रामाण्यं स्यात्। अनेकेषां सूत्राणां महाभाष्यकारैः प्रत्याख्पातत्वाच्च' इति।

वस्तुतस्तु स्वकीयस्प दयानन्दीयमतस्य वेदबाह्यस्य रक्षणायैव भर्तृमित्रसमर्थनाय यतितम्। यदुक्तम्—'भर्तृमित्रेण वैदिकधर्मेषु सन्निविष्टानां कासाञ्चिद् वैदिकीनां रूढ़ीनां निराकरणायैव खण्डनं कृतम्, यथा दयानन्देन वैदिकवाङ्मयेषु परमास्थावताप्यवैदिकीनां रूढ़ीनां निराकरणं कृतं तद्वत्' इति, तदपि तुच्छम्, वेदविरुद्धत्वात्। वस्तुतस्तु दयानन्दस्ततोऽप्यधिकभयङ्कर आसीत्, तेन तदीयैश्च वेदानामवेदत्वसाधनायैव प्रयतितत्वात्। सिद्धान्ते तु भट्टपादेन समर्थितमेव स्मृतीनां प्रामाण्यम्। गृह्यमाणनिमित्तत्वेन प्राप्तस्याप्रामाण्यस्यापि प्रतिक्षेप एव कृतः।

गृह्यमाणनिमित्तत्वाद्यद्युच्येताप्रमाणता। उत्क्षेपणीयहेतुत्वात् सा सर्वत्र प्रसज्यते॥
रागद्वेषमदोन्मादप्रमादालस्यलुब्धताः। क्व वा नोत्प्रेक्षितुं शक्याः स्मृत्यप्रामाण्यहेतवः॥
अदुष्टेन हि चित्तेन सुलभा साधुमूलता। दुष्टमूलत्वलाभस्तु भवत्याशयदोषतः॥
का वा धर्मक्रिया यस्यां दृष्टो हेतुर्न युज्यते। कथञ्चिद्वा विरुद्धत्वं प्रत्यक्षश्रुतिभिः सह॥
लौकायतिकमूर्खाणां नैवान्यत् कर्म विद्यते। यावत्किञ्चिददृष्टार्थं तद् दृष्टार्थं हि कुर्वते॥
वैदिकान्यपि कर्माणि दृष्टार्थान्येव ते विदुः। अल्पेनापि निमित्तेन विरोधं योजयन्ति च॥
तेभ्यश्चेत्प्रसरो नाम दत्तो मीमांसकैः क्वचित्। न च.कञ्चन मुञ्चेयुर्धर्ममार्गं हि ते सदा॥
प्रसरं न लभन्ते हि यावत्क्वचन मर्कटाः। नाभिद्रवन्ति ते तावत् पिशाचा वा स्वगोचरे॥
क्वचिद्दत्तेऽवकाशे हि स्वोत्प्रेक्षालब्धधामभिः। जीवितुं लभते क्वासौ सन्मार्गपतितः स्वयम्॥

अप्रमाण मान लिया जाय तो सारे पौरुषेय शास्त्र अप्रमाणिक हो जायंगे। पाणिनि के अनेक सूत्रों का भाष्यकार ने प्रत्याख्यान किया है, तो क्या इससे पूरा पाणिनीय व्याकरण अप्रमाणिक हो जायगा?

वास्तव में देखा जाय तो अपना और स्वामी दयानन्द का मत कहीं वेदबाह्य न मान लिया जाय, इसी बात को सिद्ध करने के लिये ये मीमांसक भर्तृमित्र का समर्थन करते हैं। आपका कहना है—'भर्तृमित्र ने वैदि धर्म में प्रविष्ट कुछ रूढ़ियों का निराकरण करने के उद्देश्य से हो विरोध किया था। जैसा कि आज स्वामी दयानन्द ने वैदिक वाङ्मय के प्रति परम आस्था रखते हुए भी अवैदिक रूढ़ियों का निराकरण किया है।' किन्तु आपकी यह बात वेद विरुद्ध होने से स्वीकार्य नहीं हो सकती। दयानन्द और उसके अनुयायी भर्तृमित्र से भी बढ़कर लौकायत हैं, स्वयं वे और उनके अनुयायी वेद को ही वेदबाह्य घोषित करने के प्रयत्न में लगे हैं। सिद्धान्ततः भट्ट कुमारिल ने स्मृतियों का प्रामाण्य स्वीकार किया है और आपाततः प्रतीत हो रही अप्रामाण्य की आशंका का भी निराकरण कर दिया है। उनका यह कहना है—

'दोष की उत्प्रेक्षा करके, मनमाने दोषों को गढ़कर यदि कोई स्मृतियों को अप्रमाण सिद्ध करना चाहता है, तो इस तरह से तो सभी जगह दोषों की कल्पना की जा सकती है। राग, द्वेष, मद, उन्माद, प्रमाद, आलस्य, लोभ प्रभृति की कल्पना कहाँ नहीं की जा सकती, जिनको कि आप स्मृतियों के अप्रामाण्य में प्रमुख कारण मानते हैं। निर्मल चित्त में ही सज्जनता का निवास है। दुष्टतामूलक लाभ की इच्छा मन की कलुषता के कारण पैदा होती है। ऐसी कौन सी धार्मिक क्रिया है, जिसका कि इष्ट प्रयोजन न खोजा जा सके अथवा उनका प्रत्यक्ष श्रुति से विरोध न दिखाया जा सके। मूर्ख लोकायतिकों का इसके अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं है, कि जो कुछ भी अदृष्टार्थ है, उन सबका दृष्ट प्रयोजन सिद्ध कर दें। वे वैदिक कर्मों का भी दृष्ट ही प्रयोजन मानते हैं। जिस किसी तरह से जिस किसी बात का बिना प्रयोजन विरोध करने में ही उनका तात्पर्य रहता है। ऐसे व्यक्तियों को यदि थोड़ी सी भी छूट दी जाय तो ये धर्म का भी विरोध करने से न चूकेंगे। जबतक वानरों अथवा पिशाचों को अवसर नहीं दिया जाता, तभी तक कुशल रहती है। यदि इस प्रकार के पुरुषों को अवसर दे दिया जाय तो ये अपने भाँति भाँति के कुतर्कों के आगे भले आदमी का जीना भी दूभर कर देंगे। धर्म के नाश में लगे हुए ऐसे लोकायतिकों के मनोरथ को पूरा करने में मीमांसकों को सहायता नहीं करनी चाहिये।

तस्माल्लोकायतस्थानां धर्मनाशनशालिनाम् । एवं मीमांसकैः कार्यं न मनोरथपूरणम् ॥
यच्चादौ श्रद्धया सिद्धं पुनर्न्यायेन साधितम् । आज्ञासिद्धप्रमाणत्वं पुराणादिचतुष्टयम् ॥
तत्तथैवानुमातव्यं कर्त्तव्यं नान्तरा श्लथम् । सर्वं श्लथयतः सीदेद् दुर्नद्धशकटादिवत् ॥
यदा तु हन्ति पुण्यानि कर्म दृष्टं सहस्रशः । दृष्टार्थं विहितं वेदे तदा किं हेतुदर्शनैः ॥
ऋत्विग्भ्यो दक्षिणादानं तानूनप्त्रादिकर्म च । यदृत्विग्यजमानानां दृष्टार्थं सर्वमिष्यते ॥
या तु वेदविरुद्धेह स्मृतिः काचन दृश्यते । सा तु स्याद् भ्रान्तिमूलैव न स्पष्टश्रुतिमूलिका ॥
स्वातन्त्र्येण प्रमाणत्वं स्मृतेस्तावन्न सम्भवेत् । वेदमूलानुमानं च प्रत्यक्षेण विरुद्ध्यते ॥ इति (तं० वा० १।३।२)

यदुक्तम्—'गृह्यधर्मसूत्रेषु प्रतिवेदं द्वादशवर्षं ब्रह्मचर्यविधानमुपलभ्यते—'तस्मा एतत् प्रोवाच अष्टचत्वारिंशद्वर्षं सर्ववेदब्रह्मचर्यम्' (गोपथब्राह्मणे १।२।५) इति । गोपथब्राह्मणं तु शबरस्वामिदृष्ट्याऽपौरुषेयवेद एव, तथापि तेन अष्टचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यचरणम् 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इत्यनेन विरुद्धमित्युक्तम् । स्मृतेः कथं प्रचलनमित्यस्य तु समाधानं कुर्वतोक्तम्—'अपुंस्त्वं प्रच्छादयन्तश्चाष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरितवन्तः । तत एषा स्मृतिः' (शाबरभाष्ये १।३।४) इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्मृतेर्युगान्तरविषयत्वात् । गोपथब्राह्मणे तु न विधानम्, तत्र लिङादिविधिप्रत्ययाभावात् । प्रकृष्टप्रज्ञैः स्वल्पकालेनापि चतुर्वेदग्रहणसम्भवात् । त्वदीयस्य पुस्तकचतुष्टयात्मकस्य वेदस्य स्वल्पकालेन ग्रहणसम्भवाच्च कालविधाने; न तात्पर्यम्, तस्य वेदाध्ययनविधान एव तात्पर्यात् । 'तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ।' (म० ३।१) इति मनुवचनेनापि तत्समर्थनात् । अत्र कुल्लूकभट्टः—'यावता कालेन उक्तावधेरूर्ध्वमधो वा वेदान् गृह्णाति तावता कालेन व्रताचरणमिति ।' गोपथब्राह्मणोक्तमष्टाचत्वारिंशद्वर्षव्रतविधानमपि वेदग्रहणकालोपलक्षणार्थमेव, 'यावद्ग्रहणं वा' (पारस्करगृह्यसूत्र २।५।१५), 'यावद्ग्रहणं वा' (वाराहगृह्यसूत्र षष्ठखण्ड), 'ग्रहणान्तं वा जीवितस्यास्थि-

शास्त्र के ऊपर श्रद्धा पहली आवश्यकता हैं । उसकी न्याय से परीक्षा भी की जा सकती है । पुराण प्रभृति का प्रामाण्य शास्त्र वचनों से सिद्ध है । अनुकूल तर्कों से उसको पुष्ट करना चाहिये । इसमें ढिलाई नहीं दिखानी चाहिये । अन्यथा कमजोर गाड़ी जैसे दुर्लंघ्य स्थल को नहीं पार कर सकती, वही स्थिति शास्त्रज्ञों की भी हो जायगी । ऋत्विजों को दी गई दक्षिणा आदि का यदि दृष्ट प्रयोजन ही माना जायगा और अन्य यज्ञ-यागादि कर्मों का भी दृष्ट फल ही माना जायगा, तो उस स्थिति में तर्क की क्या आवश्यकता रह जायगी । जो कोई स्मृतिवचन वेदविरोधी प्रतीत हो रहा हो, उसको भ्रान्तिमूलक ही मानना चाहिये । स्मृति का स्वतन्त्र प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता और यदि प्रत्यक्ष श्रुति उपलब्ध है, तो उसके विपरीत अभिप्राय की अनुमानित श्रुति का बाध उस प्रत्यक्ष श्रुति से हो जायगा ।

आपका कहना है कि गृह्यसूत्रों में प्रत्येक वेद के लिये बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का विधान है । गोपथ-ब्राह्मण में ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का उल्लेख है । शबर स्वामी गोपथ ब्राह्मण को श्रुति मानते हैं, तब भी उनका कहना है कि यह श्रुति 'जातपुत्रः कृष्णकेशो' इस श्रुति से बाधित हो जाती है । इस तरह से आप स्मृतियों के प्रचलन पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि शाबर भाष्य का ही कहना है कि 'अपनी पुंस्त्वहीनता को छिपाने के लिये ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य के पालन की कल्पना कर ली गई और तदनुसार ही इस तरह के स्मृतिवचन चल पड़े' (शाबरभाष्य, १।३।४), किन्तु यह सारा कथन भी इसलिये गलत है कि ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य का विधान करने वाली स्मृति किसी दूसरे युग में प्रचलित रही है । गोपथ ब्राह्मण में ब्रह्मचर्य का विधान नहीं है, क्योंकि वहाँ पर विधिबोधक लिङादि प्रत्ययों का अभाव है । तीक्ष्ण बुद्धि पुरुष अल्प समय में भी चारों वेदों को ग्रहण कर सकता है । आपके द्वारा स्वीकृत वेद की चार पुस्तकों को तो कोई भी व्यक्ति थोड़े ही समय में पढ़ सकता है । अतः यहाँ पर काल के विधान में तात्पर्य न होकर श्रुति का तात्पर्य वेदाध्ययन में ही है । मनु का स्पष्ट कथन है कि 'उक्त काल का आधा, चौथाई या जब तक वह वेदाध्ययन करे, तब तक ब्रह्मचर्य का पालन करे । कुल्लूक भट्ट की यहाँ पर स्पष्ट व्याख्या है कि 'यावता कालेन' का

रत्वात्' (बौधायनधर्मसूत्र १।२।४) इत्यादि सूत्रेभ्यः। तथा 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इति श्रुत्यनुसारेण अग्निहोत्रादिकर्मकलापसिद्ध्यर्थमष्टाचत्वारिंशद्वर्षेभ्यः प्रागपि समावर्तनं कर्त्तव्यमित्यस्यार्थस्य प्रशंसार्थमेव 'पुंसाम् अपुंस्त्वं प्रच्छादयन्त' (१।३।४) इत्यादिशबरस्वामिवचनम्, तद्बोधकस्मृतेस्तन्मूलभूतायाः श्रुतेश्च तत्रैव तात्पर्यात्। यतो हि कृष्णकेशश्रुतिस्तत्परा, गोपथश्रुतिस्त्वतत्परा, तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसीति न्यायेनातत्पराश्रुतिर्बाधार्हेति। यथा—'अपाम सोममममृता अभूम' (ऋ० सं० ८।४८।३), 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' (श० ब्रा० २।५।४।१) इत्यादिवचनानां सोमपान-चातुर्मास्ययज्ञप्रशंसायामेव तात्पर्यम्, न अक्षय्यत्वप्रतिपादने, कृतकत्वेनाऽनित्यत्वस्य ध्रौव्यात्। यत्कृतकं तदनित्यमिति युक्त्यनुगृहीतायाः 'तद्यथेह कर्मचितो लोकःक्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इति श्रुतेर्विरोधाच्च। शाबरभाष्यस्य प्रामाण्यं तव मान्येन दयानन्देनाभ्युपेतम्। त्वया तु तदप्रामाण्यं वर्णयता स्वाचार्योऽप्यनाप्त एव साधितः।

यदपि—'आद्यशङ्कराचार्यस्थापितस्य शारदामठस्य काञ्चीकामकोटिपीठस्य वंशावलीषु तत्तदाचार्याणां नामानि तदवस्थितिकालाश्च वर्णिताः। तयोरियानेव भेदो यत् शारदापीठवंशावल्यां युधिष्ठिरसंवत्सरस्य प्रयोगः, काञ्चीकामकोटिपीठवंशावल्यां कलिसंवत्सरोल्लेखः। उभयो ३८ वर्षस्यान्तरम्। शारदापीठवंशावलीरीत्या आद्यशंकराचार्यस्य जन्म २६३१ युधिष्ठिरसंवत्काले विक्रमसंवदनुसृत्य ततः ४५२ वर्षपूर्वं काञ्चीकामकोटिवंशावलीरीत्या कलिसंवत् २५९३ विक्रमात्। 'श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः। धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यच्छातपथीं श्रुतिम्॥ यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि च। चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥' (श० ब्रा० प्रथमकाण्डे हरिस्वामिभाष्ये) इति प्रमाणेन हरिस्वामी संवत्सरप्रवर्तकविक्रमस्य समकालिक एव। १५ वर्षपूर्वं लब्धेन शिलालेखेनापि तत्पुष्टिर्जाता। (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २८.अक्टूबर, १९६४)। हरिस्वामिभाष्ये कुमारिलभट्टशिष्यस्य प्रभाकरस्य मतानुयायिनामुल्लेखो

अभिप्राय यह है कि उक्त अवधि के बाद या पहले जब भी वह सब वेदों को ग्रहण कर लेता है'। गोपथ ब्राह्मण की उक्त अवधि भी वेदग्रहण के बाद की ही द्योतक है। पारस्करगृह्यसूत्र बौधायन धर्मसूत्र प्रभृति में वेदग्रहण के काल को ही प्रधानता दी गई है। 'जातपुत्रः' प्रभृति श्रुति अग्निहोत्र प्रभृति कर्मों की सिद्धि के लिए ४८ वर्ष के पहले भी समावर्तन का विधान करती है और इसी विधान की प्रशंसा में अर्थवाद के रूप में 'अपुंस्त्वं प्रच्छादयन्त' इत्यादि शबर स्वामी उद्धृत स्मृति का विनियोग मानना चाहिये। इस अर्थ को बतानेवाली स्मृति और उसकी मूलभूत श्रुति का तात्पर्य इसी में स्वीकार किया जायगा। क्योंकि कृष्णकेश श्रुति तत्परा और गोपथ श्रुति अतत्परा है। तत्प्रधान न्याय से अतत्परा श्रुति ही बाधित होती है। जैसे 'अपाम सोम०', 'अक्षय्यं ह' प्रभृति श्रुतिवचनों का तात्पर्य सोमपान और चातुर्यास्य यज्ञ की प्रशंसा में है, अक्षयता के प्रतिपादन में नहीं, क्योंकि ये सब कृतक हैं और कृतक निश्चित रूप से अनित्य होता है। 'जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है' इस युक्ति से समर्थित 'तद्यथेह' श्रुति से उक्त बात का विरोध भी पड़ेगा। शाबरभाष्य की प्रामाणिकता आपके मान्य स्वामी दयानन्द ने भी स्वीकार की है। आप शाबरभाष्य की जो अप्रामाणिकता सिद्ध कर रहे हैं, उसके साथ ही अपने आचार्य को भी आप अनाप्त बता रहे हैं।

मीमांसक जी आगे लिखते हैं—आद्य शंकराचार्य द्वारा स्थापित शारदा मठ और कांची कामकोटिमठ की वंशावलियों में उन उन आचार्यों के नाम और उनके अवस्थिति काल का वर्णन मिलता है। इनमें इतना ही अन्तर है कि शारदापीठ की वंशावली में युधिष्ठिर संवत् का और कांची कामकोटिपीठ की वंशावली में कलिसंवत् का उल्लेख है। दोनों में ३८ वर्ष का अन्तर है। शारदापीठ की वंशावली के अनुसार आद्य शंकराचार्य का जन्म २६३१ युधिष्ठिर संवत् में हुआ था। विक्रम संवत् के अनुसार यह विक्रम से ४५२ वर्ष पूर्व होगा। कांची कामकोटिपीठ की वंशावली के अनुसार कलिसंवत् २५९३ अर्थात् विक्रम पूर्व हरिस्वामी संवत्सर प्रवर्त्तक विक्रमादित्य के समकालीन थे। १५ वर्ष पहले उपलब्ध शिलालेख से भी इस विषय की पुष्टि होती है (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २८ अक्टूबर, १९६४)। हरिस्वामी के भाष्य में कुमारिल भट्ट के शिष्य प्रभाकर के अनुयायियों की चर्चा है। जैसे कि 'यथाविध्युपदेश

दृश्यते। तद्यथा—'अथवा सूत्राणि यथाविध्युद्देश इति प्राभाकराः। अपः प्रणयतीति' आस्माकीने हस्तलेखे। एतेनापि शंकराचार्यं कालपुष्टिः; शङ्कराचार्यकुमारिलयोः समकालिकत्वात्' इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, स्वामिदयानन्देन सत्यार्थप्रकाशे स्वकालात् २२०० वर्षपूर्वः शङ्कराचार्यस्य काल इत्युक्तम्। हरिस्वामिभाष्ये क्व प्राभाकराणामुल्लेख इति न सङ्केतितम्, तदीयहस्तलेखमात्रस्याप्रमाणत्वात्।

यत्तु—'पातञ्जलभाष्यस्येव न शाबरभाष्यस्य प्राञ्जलता स्पष्टार्थता च, अनेकत्र तत्र रचनाया अव्यवस्थितत्वस्य अस्पष्टार्थत्वस्य च दर्शनात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' इत्याभाणकस्यैव तत्र चारितार्थ्यात्। श्रीशङ्कराचार्येण–'तथा चाहुः शास्त्रतात्पर्यविदः' इति रीत्या शबरस्वामिनः शास्त्रतात्पर्यवित्त्वस्योक्तत्वात्।

तन्त्रवार्तिके—'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' इत्यभिज्ञानशाकुन्तलीयं पद्यमुद्धृतम्। उदयवीरशास्त्रिणा 'वेदान्तदर्शन का इतिहास' लेखकेन पद्यमिदं तत्र प्रक्षिप्तमित्युच्यते। मम विचारे तु पद्यांशोऽयं सूक्तिरूपेणातिप्राचीनः कालिदासेनास्य स्वप्रकरणे उपयोगः कृत, इति युधिष्ठिरोवक्तिः। समाजिनामिदमेवोत्तरं प्रायेण सर्वत्र पश्यामः। प्रभाकरमिश्रविरचिते बृहतीसहस्रे २४२ पद्ये ३३४ पद्ये च 'अविवेकः परमापदां पदम्' इति पद्यांशो दृश्यते। किरातार्जुनीये च पद्यस्यैकं चरणम् २।३० स्थाने। अवश्यं प्रभाकर एव प्राचीनः। तथैव भट्टपादोऽपि कालिदासात् प्राचीनः स्यान्नेदमसम्भवि। भट्टपादादयो मीमांसका निरीश्वरवादिन इति त्वपरिशीलितमीमांसावृत्तान्तस्यैव शोभते। अनुमानं स्वातन्त्र्येण नेश्वरे प्रमाणं तस्य धर्मस्येव शास्त्रप्रमाणकत्वादित्यत्रैव यथा शङ्कररामानुजादीनामुत्तरमीमांसकानां मतं तथैव मीमांसकानामपि। उत्तरमीमांसकैरीश्वरसाधकानुमानानि 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इत्यत्र खण्डितानि। न्यायकणिकायां वाचस्पतिमिश्रैश्च महता समारोहेणेश्वरखण्डनं कृतम्। तत्रापि तेषामिदमेवाकूतं यदनुमानेनेश्वरसामान्य-

इति प्राभाकराः' (हमारा हस्तलेख)। इससे भी शंकराचार्य के उक्त समय की पुष्टि हो जाती है, क्योंकि शंकर और कुमारिल समसामयिक थे'। उनका यह सारा कथन भी अविचारित रमणीय है। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में अपने समय से २२०० वर्ष पहले शंकराचार्य की स्थिति मानी है। हरिस्वामी के भाष्य में प्राभाकरों का उल्लेख कहाँ किया गया है, इसका स्पष्ट स्थल निर्देश नहीं किया गया है। हमारा हस्तलेख लिखने मात्र से वह प्रमाण नहीं मान लिया जायगा।

आगे लिखा गया है—'पातंजल महाभाष्य के समान शाबरभाष्य प्रांजल और स्पष्ट अर्थप्रतीति कराने वाला नहीं है। अनेक स्थलों पर इसकी रचना अव्यवस्थित और अस्पष्ट है', इसका क्या उत्तर दिया जाय, 'नैष स्थाणोरपराधः' यह निरुक्त का वचन हमें यहाँ स्मरण हो आता है। श्रीशंकराचार्य जिनको शास्त्रतात्पर्यवेत्ता कह कर आदर के साथ सम्बोधित करते हैं, उनके प्रति आपके ऐसे विचार हैं।

'तन्त्रवार्त्तिक' में 'सतां हि सन्देहपदेषु' इत्यादि अभिज्ञान शाकुन्तल का पद्य उद्धृत है। 'वेदान्त दर्शन का इतिहास' के लेखक उदयवीर शास्त्री इसको वहाँ प्रक्षिप्त मानते हैं। मेरे विचार से तो यह पद्यांश सूक्ति के रूप में अति प्राचीन काल से प्रचलित है। कालिदास ने अपने ग्रन्थ में उसका उपयोग कर लिया है' यह युधिष्ठिर महाशय का कहना है। समाजी प्रायः इसी तरह का उत्तर सब जगह देते रहते हैं। प्रभाकर मिश्र स्वविरचित वृहती ग्रन्थ में २४२ और ३३४ वें पद्य में 'अविवेकः परमापदां पदम्' इस पद्यांश को उद्धृत करते हैं। यह अंश किरातार्जुनीय (२।३०) में भी मिलता है। प्रभाकर निश्चित ही भारवि से प्राचीन है। इसी तरह से भट्टपाद कुमारिल भी कालिदास से प्राचीन हैं, यह भी असम्भव नहीं है। किन्तु भट्टपाद प्रभृति मीमांसक निरीश्वरवादी है, यह कथन मीमांसा न जानने वाले को ही शोभा दे सकता है। अनुमान स्वतन्त्र रूप से ईश्वर की सत्ता में प्रमाण नहीं है, क्योंकि धर्म की तरह ईश्वर की भी सिद्धि शास्त्र से ही होती है, यह मत शंकर, रामानुज प्रभृति सभी उत्तर मीमांसक मानते हैं और यही मत पूर्वमीमांसकों का भी है। उत्तर मीमांसकों ने ईश्वर साधक अनुमानों का खण्डन 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में किया है। वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका में इस विषय की विस्तृत समालोचना की है। उनका यही अभिप्राय है कि अनुमान से ईश्वर सामान्य की सिद्धि हो सकती है, ईश्वर विशेष की नहीं। ऐसी स्थिति में यदि नैयायिक अनुमान सिद्ध ईश्वर को वेद का कर्ता मानेंगे, तो अन्य

मेव सिद्धयति नेश्वरविशेषः। तथात्वे यदि नैयायिकादयोऽनुमानसिद्धस्येश्वरस्य वेदकारत्वं साधयिष्यन्ति, तर्हि तथैवान्ये कुरानकारत्वं बायबिलकारत्वं कथं न साधयेयुः? विनिगमनाविरहाद् ईश्वरस्याप्तत्वेन तत्कृतस्य वेदस्य प्रामाण्ये वेदोक्तत्वेनेश्वरस्याप्तत्वसाधने त्वन्योन्याश्रयत्वमेव स्यात्। शङ्कराचार्येण ब्रह्मभिन्नजीवजगदादिखण्डनं कृतम्। तदनुयायिभिस्तु परमार्थतया जीव-प्रकृत्योः खण्डनं कृतम्, व्यावहारिकदृष्ट्या तु जीव-जगतोः सत्त्वमेवाङ्गीक्रियते।

यदुक्तम्—'ईश्वरनिराकरणेन मीमांसाशास्त्रस्य नास्तिकपक्षप्रक्षेपभयादीश्वरसत्त्वं कथञ्चिदभ्युपगम्यते मीमांसकैः, तथैव शाङ्करमतानुयायिभिरपि जीवजगतोरनङ्गीकारेण व्यवहारपक्षानुपपत्तिभयात्तयोर्व्यावहारिकसत्ताभ्युपगम्यते' इति, तदेतदुभयसिद्धान्ताऽनभिज्ञाननिमित्तकमेव, सिद्धान्तस्य समक्षं भयस्याकिञ्चित्करत्वात्। 'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥' (तै० उ० २।६) 'नास्तिको वेदनिन्दकः' (म० २।११) इति रीत्या 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (पा० सू० ४।४।६०) इत्यादिरीत्या दिष्टप्रतिपादकवेदशास्त्रतदर्थानभ्युपगमस्यैव नास्तिक्यप्रयोजकत्वात्। न च नास्तिकपक्षप्रक्षेपभयाद् बौद्धैरार्हतैर्वा वेदप्रामाण्यमीश्वरसत्त्वं वाङ्गीक्रियते। न च नास्तिक्यपक्षप्रक्षेपभयात् समाजिभिरवतारवादो मूर्तिपूजा श्राद्धं वाङ्गीक्रियते। वेदाऽपौरुषेयत्वे विपक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वादेव त्वनुमानसिद्धस्येश्वरस्य उत्तरमीमांसकैरपि निराकरणं क्रियते, 'व्यवहारे भाट्टनयः' इत्यङ्गीकारात्। शून्यवादिनोऽपि व्यवहारमुपपादयन्त्येव, 'द्वे सत्त्वे समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना' इत्युक्तेः। तथैवाद्वैतब्रह्मात्मप्रतिपत्तेः प्राक् प्रसिद्धप्रमात्रादिव्यवहारस्य शङ्कराचार्यैरभ्युपगमात्। 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इति तदुक्तेः। 'अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने। किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्॥' इति तत्त्वप्रदीपिकोक्तेश्च।

यदुक्तम्—'यत्र द्विजिह्वत्वं न स्यात्तस्यैव सत्यपक्षत्वम्' इति, तदपि तुच्छम्; तथात्वे परमेश्वरस्य सगुणत्वनिर्गुणत्वभेदेन द्विजिह्वत्वाद्दयानन्दस्यापि असत्यपक्षनिक्षिप्तत्वापातात्। यदि निकृष्टगुणराहित्येन निर्गुणत्वेऽपि शोभनगुणत्वेन

मत वाले उसको कुरान अथवा बाइबिल का कर्ता भी मान सकते हैं। विशेष हेतु के अभाव में ईश्वर के आप्त होने के कारण तत्कृत वेद का प्रामाण्य मानना पड़ेगा। वेद में ईश्वर को आप्त बताया गया है, इस आधार पर ईश्वर में आप्तता सिद्ध करनी पड़ेगी। इस तरह ये दोनों अनुमान परस्पर आश्रित होने के कारण कुछ भी सिद्ध नहीं कर पावेंगे। शंकराचार्य ने ब्रह्म-भिन्न जीव और जगत् का खण्डन किया है और उनके अनुयायियों ने पारमार्थिक जीव और प्रकृति (जगत्) का खण्डन किया है, इनकी व्यावहारिक सत्ता को वे स्वीकार करते हैं। इनमें कोई परस्पर विरोध नहीं है।

किन्तु मीमांसक जी का कहना है कि 'ईश्वर का निराकरण कर देने से मीमांसा को नास्तिक दर्शन माना जायगा, इस डर से मीमांसक किसी तरह से ईश्वर की सत्ता मान लेते हैं। उसी तरह से शांकर मत के अनुयायी जीव और जगत् की सत्ता नहीं मानते, तो भी व्यवहार पक्ष की उपपत्ति न बन पावेगी, इस डर से इनकी व्यावहारिक सत्ता मान लेते हैं'। उनके इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनको उक्त दोनों दर्शनों का कुछ भी ज्ञान नहीं है। सिद्धान्त के सामने भय क्या वस्तु है? 'जो ब्रह्म की सत्ता स्वीकार नहीं करता, वही नास्तिक है और उसकी सत्ता को स्वीकार करने वाला तो आस्तिक ही है', 'वेदनिन्दक ही नास्तिक कहलाता है' इत्यादि श्रुति-स्मृति वचनों के प्रमाण पर और 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' इस पाणिनि-सूत्र के आधार पर दिष्ट प्रतिपादक वेदशास्त्र और उसके प्रतिपादित विषय को अस्वीकार करने वाले नास्तिक कहलाते हैं। नास्तिक कहे जाने से डर कर बौद्ध और जैन दर्शन वाले वेद का प्रामाण्य और ईश्वर की सत्ता नहीं मानने लग जाते और न आप लोग ही नास्तिकों में गिनती होने के डर से अवतारवाद, मूर्तिपूजा, श्राद्ध आदि की सत्ता मानने को तैयार होते हैं। वेद की अपौरुषेयता न मानकर केवल अनुमान के आधार पर नैयायिक द्वारा प्रस्तुत ईश्वरसिद्धि का निराकरण उत्तरमीमांसकों ने भी किया है 'व्यवहार में भाट्ट सिद्धान्त' ही वेदान्तदर्शन को मान्य है। शून्यवादी बौद्ध भी व्यवहार का उपपादन करते हैं। 'वेदान्त की भी ठीक यही प्रक्रिया है। पहले से प्रसिद्ध प्रमाता प्रभृति के व्यवहार को उन्होंने स्वीकार किया है और इसमें प्रमाण भी दिये गये हैं।

'जिसमें दोहरी मान्यता न हो वही सत्य पक्ष होता है' यह कथन भी गलत है। ईश्वर भी सगुण और निर्गुण के भेद से

सगुणत्वमिति समाधानं तर्हि प्रकृतेऽपि माध्यस्थ्यमवलम्ब्य किमिति न दीयते दृष्टिः। वेदापौरुषेयत्वबाधकेश्वरसाधकानुमानसिद्धेश्वरनिरासकत्वेऽपि वेदसिद्धपरमेश्वराभ्युपगमे विरोधाभावात्। ब्रह्मात्मप्रतिपत्तौ ब्रह्मात्मनः सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यत्वेऽपि ब्रह्मात्मप्रतिपत्तेः प्राक् प्रतिपत्तिसाधनप्रमात्रादिसर्वव्यवहारस्य यथावदभ्युपगमे वाधाभावस्य प्रकृतेऽपि तुल्यत्वात्। 'गुणवादस्तु' (जै० सू० १।२।१) इति मन्त्रार्थवादेतिहासप्रामाण्यात् सृष्टिप्रलयाविष्येते……प्रतिसृष्टि च तुल्यलिङ्गन्यायेन तुल्यनामप्रभावव्यापारवस्तूत्पत्तेर्नानित्यताप्रसङ्ग इति त्वदीयटिप्पणीसमुद्धृतवचनेनैव तत्सिद्धेः। नहि 'इति' शब्देनावश्यमन्यपक्षनिर्देश एव भवति, स्वपक्षसमाप्तावपि तद्दर्शनात्। अखण्डितत्वाच्च तत्रानुमतिरेव सूच्यते।

यदुक्तम्—'न्यायमञ्जरीग्रन्थे १९० पृष्ठे २०३ पृष्ठे च कुमारिलस्यानीश्वरवादोद्धरणं तत्खण्डनं च दृश्यते। स च नाऽप्रामाणिको ग्रन्थकारः, नारोप्यखण्डक' इति, तदप्युपहासास्पदम्, प्रत्यक्षचक्षुष्कन्यायात्। तथाहि—केनचित् कश्चिदुक्तो भवान् मृत इति अमुकेनोक्तमिति। तेनोक्तं यदहं प्रत्यक्ष एव त्वत्समक्ष उपस्थितोऽस्मीति; तदापि तेनोक्तं सत्यमेतत्; परं स कदाचिदप्यनृतं न ब्रूते, इतिवत्। यदि त्वया छिद्रान्वेषणपरायणेनापि भट्टपादकृतमीश्वरखण्डनं न दृष्टम्, सृष्टिप्रलयादिवर्णनं च तन्त्रवार्त्तिके दृष्टं तत्खण्डनं च दृष्टं, तदापि परप्रत्ययनेयबुद्धितया भट्टपादस्य शबरस्वामिनश्चानीश्वरवादित्वमेवोच्यते, तदा तस्य किमौषधं स्यात्? किञ्च, यदीश्वराऽप्रतिपादनेनैवानीश्वरवादित्वं स्यात्, तदा जैमिनेरपि तथात्वं किन्न स्यात्। न च त्वया तथाऽभ्युपगम्यते। यस्य माधवकृतशङ्करदिग्विजयस्याश्रयेण त्वयापि भट्टपादस्येतिवृत्तमिहैव लिखितमात्मबलिदानरूपमालक्ष्य श्रद्धया तच्चरणयोर्भवत्कं शिरोऽवनतं भवति, तत्रैव तस्य स्वामिकार्तिकस्यावतारत्वमप्युक्तमिति तस्यानीश्वरवादित्वं मनसापि न कल्पयितुं शक्यते। किञ्च, श्लोकवार्तिके—'विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे। श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय

दोहरी मान्यता वाला है। इस ईश्वर का प्रतिपादन करने वाले दयानन्द भी द्विजिह्व हो जायेंगे और उनका पक्ष भी असत्य माना जायगा। यदि निकृष्ट गुणों के अभाव में निर्गुण और उत्कृष्ट गुणों की सत्ता के कारण ईश्वर को सगुण भी माना जायगा, तो प्रस्तुत प्रसंग में इसी दृष्टि का अवलम्बन आप क्यों नहीं करते कि वेद की अपौरुषेयता को अस्वीकार कर केवल अनुमान सिद्ध ईश्वर को न मानते हुए भी हम वेद-सिद्ध ईश्वर को स्वीकार करते हैं। इसमें विरोध करने की स्थिति ही कहाँ है। ब्रह्मात्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर वह तत्व सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से शून्य अवश्य हो जाता है, किन्तु उससे पहले उसकी प्रतिपत्ति (ज्ञान) कराने वाले प्रमाता, प्रमाण प्रभृति सारे व्यवहार उसी रूप में गृहीत होते हैं, उस समय उनका बाध नहीं होता। 'गुणवादस्तु' इस जैमिनि सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में आपने जो वचन उद्धृत किया है, उसी से यह सिद्ध हो जाता है कि मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास आदि के प्रमाण पर सृष्टि और प्रलय की सत्ता स्वीकार की जाती है और प्रत्येक सृष्टि तुल्यलिंग न्याय से तुल्य नाम, प्रभाव, व्यापार वाली वस्तुओं की स्थिति के कारण इनमें अनित्यता न आकर प्रवाहनित्यता विद्यमान रहती है। इस उद्धरण का खण्डन आपने नहीं किया। इससे यह सिद्ध है कि आप इसमें वर्णित सिद्धान्त को सही मानते हैं।

'न्यायमंजरी ग्रन्थ में (पृ० १९०, २०३) कुमारिल को अनीश्वरवादी के रूप में उद्धृत कर उनके मत का खण्डन किया गया है। जयन्त अप्रामाणिक ग्रन्थकार नहीं है और न गलत आरोप लगाने वाला है। आपका यह कथन भी उपहासास्पद है। प्रत्यक्षचक्षुष्क न्याय की यहाँ प्रवृत्ति हुई है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे कोई किसी से कहता है कि आप मर गये हैं, ऐसा कोई कह रहा था। मैं तो जीता-जागता तुम्हारे सामने खड़ा हूँ, ऐसा करने पर वह फिर बोलता है कि आपका कहना तो ठीक है, पर जिसने मुझे आपके मरने की खबर दी वह कभी असत्य भाषण नहीं करता। ठीक यही स्थिति इस समय आपकी है। छिद्रान्वेषण में लगे हुए आपने उनके किसी ग्रन्थ में ईश्वर का खण्डन नहीं देखा, तब भी मात्र दूसरे के कहने से आपने शबर स्वामी और कुमारिल को अनीश्वरवादी मान लिया, तो आपकी इस समझ का हमारे पास क्या इलाज हो सकता है? अपि च, ईश्वर का प्रतिपादन न करने मात्र से यदि आप उनको अनीश्वरवादी मानते हैं, तब जैमिनी को भी आप अनीश्वरवादी क्यों नहीं मानते? आप माधव कृत शंकर दिग्विजय के सहारे भट्टपाद का इतिहास अपने ग्रन्थ में लिखते हैं और उनके बलिदान की कथा को सुनकर उनके सामने श्रद्धा से आपका सिर झुक जाता है, किन्तु उसी ग्रन्थ में भट्ट कुमारिल को स्वामी कार्तिकेय का अवतार बताया गया है। ऐसे भट्टपाद भला अनीश्वरवादी कैसे हो सकते

नमः सोमार्धधारिणे ॥' इति स्पष्टं सोमार्धधारिणो ज्ञानदेहस्य त्रिनयनस्य वन्दनं दृश्यते। किञ्च, संन्यासोपनिषद्दृष्ट्या वेदोऽपि परमेश्वरस्यावतारभूत एव। 'वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम' इति श्रीमद्भागवते। तेन वेदभक्तः परमेश्वरभक्त एव भवति। तत एव मनुना वेदनिन्दकस्यैव नास्तिकत्वमुक्तम्। दयानन्दस्तदीयास्तु पुस्तकचतुष्टयातिरिक्तानां सहस्राधिकमन्त्रसंहिताब्राह्मणारण्यकोपनिषद्रूपाणां वेदानां न केवलं निन्दकाः खण्डकाश्च, प्रत्युत तद्वेदत्वं चापलपन्तीति मनुदृष्ट्यैव ते किंभूता इति ते स्वयं विभावयन्तु। अद्वैतं न शङ्कराचार्यस्य स्वोपज्ञं, नापि भर्तृप्रभृतीनां स्वोपज्ञम्, किन्तु 'एकमेवाद्वितीयम्' (छं० उ० ६।२।१) 'नेहनानास्तिकिञ्चन' (बृ० उ० ४।४।१९) इत्यादिवेदप्रतिपादितम्। कुमतिनिवारणेन गौडपादादिभिस्तदेव समर्थितमिति।

यत्तु—'बौद्धजैनदार्शनिकैर्वेदे परश्मेश्वरे सृष्टेरीश्वरकर्तृकत्वे च समुद्भावितानामाक्षेपाणां निराकरणेऽसमर्थाः शबरस्वामिभट्टपादादयः 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः' इति न्यायेन परमेश्वराय तदीयजगत्कर्तृत्वाय च तिलाञ्जलिं दत्त्वा वेदरक्षार्थं जगतोऽनादित्वमनीश्वरकर्तृत्वं साधयितुं प्रयतितवन्त' इति; तदपि दौर्जन्यमूलकम्, निर्मूलत्वात्। श्रीशङ्कराचार्यतुल्या ब्रह्मवादिनो येषां मतमाद्रियन्ते, 'शास्त्रतात्पर्यविद' इति श्रद्धाभरेण यान् स्मरन्ति च तेषां बौद्धादिमतनिराकरणासामर्थ्यवर्णनं दौर्जन्यमूलकमेव।

यत्तु (६० पृष्ठे) 'मीमांसकानां याज्ञिकानां च यज्ञीयकर्मकलापेषु मतभेदोऽस्ति। मीमांसका मीमांसान्यायसिद्धस्य कर्मणः पक्षं गृह्णन्ति। याज्ञिकाः शाखाब्राह्मणश्रौतसूत्राणां यथाश्रुतशब्दार्थाश्रयेण कर्म कुर्वन्ति, न्यायसिद्धं मीमांसकपक्षमुपेक्षन्ते' इति, तदेतदतीवाशुद्धम्, युधिष्ठिरातिरिक्तस्य तादृशस्य मीमांसकस्य सर्वथाऽसिद्धत्वात्। वस्तुतस्तु यो जैमिनिशाबरभाष्यकुमारिलादिमतं न मनुते, न स मीमांसको भवति। स मीमांसकम्मन्यः केवलं भ्रमोत्पादनायैव मीमांस-

हैं ? श्लोक वार्तिक के प्रारंभ में कुमारिल भट्ट सोमार्धधारी ज्ञानदेह तीन नेत्रों वाले भगवान् शिव की वन्दना करते हैं (संन्यासोपनिषद् और श्रीमद्भागवत में भी वेद को साक्षात् नारायण बताया गया है। अतः जो वेद का भक्त है, वह अवश्य ही परमेश्वर का भी भक्त है। मनु ने इसी आधार पर वेदनिन्दक को नास्तिक कहा है। दयानन्द और उनके अनुयायी वेद की चार शाखाओं के सिवाय अन्य समस्त शाखाओं और ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों को वेदबाह्य मानकर केवल उनकी निन्दा ही नहीं करते, किन्तु उनका खण्डन भी करते हैं। वे उनको वेद ही नहीं मानते। ऐसी स्थिति में मनु के वचन के अनुसार वे क्या है ? इसका विचार वे स्वयं ही करें। अद्वैत की आद्य कल्पना शंकराचार्य अथवा भर्तृ प्रपंच आदि ने नहीं की है, किन्तु 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्तिकिञ्चन' इत्यादि वेद वचनों द्वारा वह प्रतिपादित है। कुतर्कों का निरास कर गौड़पाद प्रभृति ने पुनः उसकी प्रतिष्ठा की है।

आगे आप लिखते हैं—'बौद्ध और जैन दार्शनिकों ने वेद, परमेश्वर और ईश्वरकृत सृष्टि जैसे विषयों पर जो अपने तर्क दिये, उन आक्षेपों के समाधान में असमर्थ होकर शबर स्वामी, भट्ट कुमारिल आदि ने 'सर्वनाशे समुत्पन्ने' न्याय का सहारा लेकर परमेश्वर और तत्कृत सृष्टि के सिद्धांत को तिलांजलि देकर वेद की रक्षा के लिये जगत् को अनादि और अनीश्वरकर्तृक वे मानने लगे'। किन्तु आपका यह कथन भी दुर्जनता का सूचक है, श्रीशंकराचार्य के तुल्य ब्रह्मवादी जिनके मत का आदर करते हुए 'शास्त्रतात्पर्यविदः। इस तरह से बहुवचन का प्रयोग कर जिनको श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं, वे बौद्ध प्रभृति के आक्षेपों का उत्तर देने में असमर्थ थे, यह कथन अन्य दिशा की ओर संकेत कर सकता है।

पृ० ६० पर आप लिखते हैं—'मीमांसकों और याज्ञिकों में यज्ञीय कर्मकाण्ड के प्रति मतभेद था। मीमांसक मीमांसा के न्याय से सिद्ध कर्म का पक्ष ग्रहण करते थे और याज्ञिक शाखा, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र ग्रन्थों के सहारे कर्म का स्वरूप निर्धारित करते थे, तथा न्यायसिद्ध मीमांसा पक्ष की उपेक्षा करते थे'। यह कथन भी अप्रामाणिक है। वे मीमांसक ही नहीं हैं, जो कि शाखा, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र प्रभृति को प्रमाण नहीं मानते और न जैमिनि, शबरस्वामी, कुमारिल को ही प्रमाण मानते हैं। आस्तिकों को मात्र धोखा देने के लिये आपने अपना मीमांसक नाम रख लिया है। व्यास, जैमिनि, शबर, कुमारिल, शंकराचार्य, वाचस्पति, रामानुज, विद्यारण्य, वेदान्त-

कत्वेनात्मानं ख्यापयति। व्यासजैमिनिशबरकुमारिलशंकराचार्यवाचस्पतिरामानुजाचार्यविद्यारण्यवेदान्तदेशिकादयो न शाखाब्राह्मणादीनामवेदत्वं मन्यन्ते। सर्वत्र वेदनाम्ना ब्राह्मणादिवचनान्येवोद्धृत्य सूत्रैर्विचारयन्ति। न हि सूत्रातिरिक्तो न्यायोनास्तीत्यप्युक्तमेव। यथाश्रुतार्थपरित्यागस्तु बलवद्वाधकोपनिपातनमन्तरा च न क्वापि सम्भवति। 'न विधौ परः शब्दार्थं' इति शाबरभाष्यवचनात्। सायणोव्वटमहीधरादयस्तु मन्त्रब्राह्मणश्रौतसूत्रानुसारेणैव मन्त्राणां व्याख्यानं कुर्वन्ति, केवलं दयानन्द एव सर्वोपेक्षया स्वातन्त्र्येण यत्किञ्चित् प्रलपति।

यत्तु—'पाणिनीयव्याकरणपठनपाठनक्रमपरिवर्तनवन्मीमांसाशास्त्रस्यापि पठनपाठनक्रमपरिवर्तनं जातम्। स्वाशास्त्रीयमतभेदप्राधान्येन खण्डनमण्डनाभ्यां शास्त्रतात्पर्यदुरूहता भवति' इति, तदपि न समीचीनम्, मात्सर्यनिवन्धनत्वात्। 'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' इत्याभाणकविषयत्वात्।

वेदसंज्ञामीमांसानिबन्धे—'वेदश्रुत्याम्नायसंज्ञाविचार' इति शीर्षकेण अन्तोदात्तस्य वेदशब्दस्य कुशमुष्टिरूपोऽर्थो यज्ञीयपदार्थविशेष एव। तत्र वेदेन वेदे वा असुराणां वित्तं वेद्यमविन्दत तद्वेदस्य वेदत्वम्' (तै० सं० १।७।४), 'वेदोऽसि' (वा० सं० २।२१), (काण्वसं० १।७।७५) 'पत्नी वेदं मुञ्चप्रमुञ्चति' इत्यादिषु आद्युदात्तो वृषादिगणस्थो वेदशब्दो ज्ञानपर्यायः' इत्यसङ्गतम्, तथात्वे ज्ञानसामान्ये बौद्धादिज्ञानेष्वपि वेदशब्दप्रयोगापत्तेः। तस्मान्न सर्वत्र यौगिक एवार्थः, किन्तु पङ्कजादिशब्दवद्योगरूढ्या मन्त्रब्राह्मणसमुदाय एव वेदशब्दप्रयोगः। तदुक्तं भट्टपादैः—'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते। एवं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥' इति।

यत्तु—'मन्त्रसंहिता एव वेदवाच्या' इति, तदपि मन्दम्, दयानन्दातिरिक्तस्य कस्य चिदन्यस्य तादृशमताऽसम्प्रतिपत्तेः। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति सूत्रव्याख्यायां हरदत्त-धूर्तस्वामिभ्यां 'कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाश्रितम्,

देशिक प्रभृति प्राचीन विद्वान् शाखा, ब्राह्मण प्रभृति को भी वेद ही मानते हैं। सर्वत्र ब्राह्मण प्रभृति के वचनों को वेद ही मानकर उनकी व्याख्या करते हैं। सूत्रों के प्रति न्याय नाम की कोई अनोखी चीज नहीं होती। बिना किसी बड़े बाधक के उपस्थित हुए यथाश्रुत अर्थ का परित्याग नहीं किया जाता। 'न विधौ' इत्यादि स्थलों पर शबर स्वामी ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। सायण, उव्वट, महीधर प्रभृति ने मन्त्र, ब्राह्मण श्रौतसूत्रों के आधार पर ही वेद की और कर्मकाण्ड की व्याख्या की है। केवल स्वामी दयानन्द ही इन सबकी उपेक्षा कर स्वतन्त्र रूप से मनमानी व्याख्या करते हैं।

'पाणिनीय व्याकरण के पठन-पाठन का क्रम जैसे आजकल बदल गया है, उसी तरह से मीमांसा शास्त्र के पठन-पाठन के क्रम में भी परिवर्तन आ गया है। इस नई पद्धति में परस्पर ही खण्डन मण्डन की प्रधानता हो गई और इसीलिये शास्त्र में दुरूहता आ गई, यह कथन भी समीचीन नहीं है, 'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' वाली कहावत को ये चरितार्थ करते हैं।

'वेदश्रुत्याम्नायसंज्ञाविचार' शीर्षक से वेद संज्ञा की मीमांसा करते हुए आपने लिखा है कि 'अन्तोदात्त वेद शब्द का अर्थ कुशा की मुष्टि होता है। यह एक यज्ञ में उपयुक्त होने वाला कुश निर्मित पदार्थ है। ऊपर उद्धृत तैत्तिरीयसंहिता, माध्यन्दिनसंहिता, कण्वसंहिता प्रभृति के वचनों में प्रयुक्त वृषादिगण में पठित आद्युदात्त वेद शब्द, ज्ञान का पर्यायवाची है।' किन्तु यह कथन सही नहीं है, क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर बौद्ध प्रभृति के शास्त्रों के लिये भी सामान्य ज्ञानका वाचक होने से वेद शब्द का प्रयोग होने लगेगा। सर्वत्र यौगिक अर्थ ही स्वीकार नहीं कर लिया जाता, किन्तु पंकज प्रभृति शब्दों के समान योगरूढ़ि के आधार पर केवल मन्त्र-ब्राह्मणसमुदायात्मक शास्त्र के लिये ही वेद शब्द का प्रयोग मान्य है। जैसा कि भट्टपाद कुमारिल ने कहा है—'प्रत्यक्ष और अनुमिति से भी जिसका ज्ञान नहीं होता, उसको वेद से जाना जाता है, यही वेद का प्रयोजन है।

आप केवल मन्त्रसंहिता के लिये वेद शब्द का प्रयोग करते हैं, वह भी गलत है। दयानन्द के अतिरिक्त किसी ने भी इस कथन को मान्यता नहीं दी है। आप पुनः कहते हैं कि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस सूत्र की व्याख्या में हरदत्त और धूर्त स्वामी कुछ ही मन्त्रों को वेद के रूप में स्वीकार करते हैं, इससे भी यही सिद्ध होता है कि मन्त्रभाग ही वेद है', किन्तु यह आपका भ्रम है, मीमांसा के ग्रन्थों में विषय को स्पष्ट करने के लिये अधिकरण की रचना करते समय काल्पनिक पूर्वपक्ष भी कहीं कहीं उठा दिया जाता

इत्युक्तम्, तदपि तत्र मूलमिति; तदपि तुच्छम्, मीमांसादिग्रन्थेष्वधिकरणरचनया काल्पनिकपूर्वपक्षोपस्थापनवत् तत्रापि काल्पनिकमतस्यैवोपन्यासात् । यत्तु—'अन्ये आरण्यकानामुपनिषदां च वेदत्वमाहुः, अन्ये केषाञ्चित् कल्पसूत्राणामपि वेदत्वं मन्यन्ते, अन्ये षडङ्गानामपि वेदत्वमाहुः' इति, तत्सर्वमपि निर्मूलमेव, आरण्यकोपनिषदां ब्राह्मणान्तर्गतत्वेन ब्राह्मणग्रहणेनैव गृहीतत्वात् । कल्पसूत्राणां षडङ्गानां च वेदत्वं तु निर्मूलमेव । वेदवद्वेदविदां वचनमितिवदुपचाराद्वा तत्रवेदत्वमिति । यत्तु—'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायेन यदपरिभाषितं तत्स्वाभाविकम्, तन्मुख्यम्, यद्वचनविशेषद्वारा परिभाषितं तद्गौणमिति सर्वसम्मतम् इति, तदपि निर्मूलम्, 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थं' इतिन्यायस्य प्रकृतेऽप्रवृत्तेः । शब्दस्य यत्र प्रातीतिकोऽर्थोऽन्यः, तात्पर्यविषयीभूतश्चार्थोऽन्यस्तत्रायं न्यायः प्रवर्तते । यथा 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यस्य प्रतीयमानोऽर्थो विषभोजनम्, विवक्षितस्तु शत्रुगृहभोजननिवृत्तिः, एतादृशे स्थले यत्परः शब्दः स शब्दार्थं इति न्यायः प्रवर्तते ।

यत्तु—'ऋग्यजुः साममन्त्रानधीयानः श्रोता वा कथयति—ऋग्वेदोऽधीयते, यजुर्वेदोऽधीयते, सामवेदोऽधीयत इति, ऋग्यजुःसामसंहितानां वेदसंज्ञासाधनाय न केनाप्यद्ययावत्प्रयतितम् । ब्राह्मणानामुपनिषदां श्चाध्येता ऐतरेयस्याध्ययनं वृहदारण्यकस्याध्ययनं क्रियत इति वक्ति, न ऋग्वेदं पठामि, यजुर्वेदं वा पठामीति वदति । ब्राह्मणग्रन्थानामेव वेदत्वज्ञापनाय मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिनि प्राचीनसूत्रकारैः सूत्राणि निर्मितानि' इति तदपि बालभाषितम्, विपरीतस्यैव सुवचत्वात् । वैदिकसम्प्रदायेषु, ऋक्संहितां पठामि, यजुः संहितां पठामि, सामसंहितां पठामि' इत्येव व्यवहारः । कामृक्संहितां, कां यजुःसंहितां, कां वा सामसंहितामिति प्रश्ने तु शाकलीं संहितां, वाजसनेयिसंहितां माध्यन्दिनीं संहितां कौथुमीसंहितां वा पठामि, तथा तैत्तिरीयसंहितां, काण्वसंहितां पैप्पलादसंहितां, वा पठामीत्येव व्यवहारः । तथैव ब्राह्मणं पठामि, किं ब्राह्मणमिति

है । उक्त आचार्यों ने आपके द्वारा निर्दिष्ट स्थल पर इसी तरह के पूर्वपक्ष का उल्लेख किया है । आगे आप लिखते हैं—अन्य आचार्य आरण्यक और उपनिषदों को भी वेद मानते हैं । कुछ आचार्य कल्पसूत्रों को भी वेद ही मानते हैं तथा अन्य आचार्य षडङ्गों को भी वेद के ही अन्तर्गत मानते हैं । किन्तु इस तरह की सारी बातें निराधार हैं । आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मण का ही भाग है, अतः ब्राह्मण पद से उक्त सूत्र के अनुसार इन सबका ग्रहण हो ही जायगा । कल्पसूत्र और षडंगों के लिये वेद के प्रयोग की बात निराधार है, अथवा वेदविद् का वचन वेद के समान है, इस आधार पर इनके लिये ही गौण रूप से वेद शब्द का प्रयोग किया ही जाता है । आपने 'यत्परः शब्दः' इस न्याय का अर्थ किया है कि 'जो अपरिभाषित है, स्वाभाविक है, उसी को मुख्य माना जाता है और विशेष वचन से जिसकी परिभाषा की जाती है, वह गौण अर्थ होता है, यह सर्वसंमत सिद्धान्त है', आपका यह कथन भी अप्रासंगिक है, प्रस्तुत न्याय की यहाँ प्रवृत्ति ही नहीं होती । शब्द का स्पष्ट प्रतीत हो रहा अर्थ भिन्न हो और उसका तात्पर्य किसी दूसरे ही अर्थ को प्रकट करता हो, ऐसे ही स्थलों पर 'तत्पर' न्याय की प्रवृत्ति मानी जाती है । जैसे कि 'विषं भुङ्क्ष्व' इसका प्रतीयमान अर्थ 'विषभोजन' है, और विवक्षित अर्थ 'शत्रु के घर में भोजन का निषेध' है । ऐसे ही स्थलों पर प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार न कर विवक्षित अर्थ को स्वीकार किया जाता है । वेद शब्द का अर्थ करते समय ऐसी कोई दुविधा उपस्थित नहीं है ।

'ऋक्, यजुः, और साम मन्त्रों का अध्ययन करनेवाला अथवा श्रोता कहता है कि ऋग्वेद पढ़ा जा रहा है, यजुर्वेद पढ़ा जा रहा है, सामवेद पढ़ा जा रहा है । ऋक्, यजु, अथवा साम संहिता को वेद बताने के लिये किसी ने भी आज तक कोई प्रयत्न नहीं किया । इसी प्रकार ब्राह्मण अथवा उपनिषदों का अध्येता ऐतरेय ब्राह्मण का अध्ययन हो रहा है, वृहदारण्यक का अध्ययन हो रहा है, ऐसा कहता है । वह यह नहीं कहता कि मैं ऋग्वेद पढ़ रहा हूँ अथवा यजुर्वेद पढ़ रहा हूँ । इसके उपरान्त भी केवल ब्राह्मण ग्रन्थों को ही वेद बताने के लिये प्राचीन सूत्रकारों ने 'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' जैसे सूत्र बनाये हैं', यह कथन भी बालभाषित है, इसके विपरीत भी कहा जा सकता है । वैदिक सम्प्रदाय में ऋक्संहिता को पढ़ता हूँ, यजुःसंहिता को पढ़ता हूँ, सामसंहिता को पढ़ता हूँ, ऐसा ही व्यवहार प्रचलित है । किस ऋक्, यजुः अथवा सामसंहिता को पढ़ते हैं, ऐसा पूछने पर शाकली, वाजसनेयी, माध्यन्दिनी अथवा कौथुमी संहिता को पढ़ता हूँ तथा तैत्तिरीयसंहिता, कण्वसंहिता अथवा पैप्पलाद संहिता को पढ़ता हूँ, ऐसा उत्तर देता है । उसी तरह से ब्राह्मण पढ़ता हूँ और विशेष रूप से पूछने पर शतपथ, ऐतरेय, तैत्तिरीय अथवा गोपथ ब्राह्मण पढ़ता हूँ, ऐसा उत्तर देता है ।

विशेषप्रश्ने शतपथब्राह्मणमैतरेयब्राह्मणं तैत्तिरीयब्राह्मणं गोपथब्राह्मणं वा पठामीत्येव व्यवहारः। यदि कश्चिद् ऋक्संहितां पठन् ऋग्वेदं पठामीति वदति तदा कश्चित् शतपथं पठन्नपि यजुर्वेदं पठामीत्येव वदति। केवलं मन्त्राणां वेदत्वं तु केनापि प्रमाणेन न सिद्ध्यति। परिभाषां लक्षणं वा विना मन्त्राणां ब्राह्मणानां वा वेदत्वमसिद्धमेव। तेन यदि परिभाषया वेदसंज्ञात्वेन ब्राह्मणानां गौणमेव वेदत्वं तर्हि मन्त्राणामप्यनयैव वेदसंज्ञासिद्धेस्तेषामपि वेदत्वं गौणमेव स्यात्, समानन्यायात्। अत एव ब्राह्मणानां मन्त्राणां च स्वाभाविकमेव वेदत्वं लक्षणेन प्रत्याख्यते; न विधीयते, एकशफत्वमश्वस्य लक्षणं सास्नादिमत्वं वा गोर्लक्षणमितिवत्। किञ्च, यदि स्वाभाविकस्य लक्षणं परिभाषा वा न भवति, तदा ऋगादीनामपि लक्षणं न कर्त्तव्यं स्यात्। कृतं तु लक्षणं जैमिनिना मन्त्राणाम् 'यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुः शब्दः' (जै० सू० २।१।३५-३८)। यदि परिभाषितविशेषवचनेन कथितमस्वाभाविकं कृत्रिमं भवति, तदा ऋक्सामयजुषामेव कृत्रिमत्वं पारिभाषिकत्वं गौणत्वं च स्यात्। मन्त्राणामपि लक्षणं कृतमेव जैमिनिना—'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' (जै० सू० २।१।३२) इति। ब्राह्मणस्यापि तथैव लक्षणं कृतम्, 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० सू० २।१।३३) इति। यदि तावता ब्राह्मणानां गौणमेव वेदत्वं तदा मन्त्राणामपि गौणमेव वेदत्वं स्यात्। मन्त्रत्वमृक्त्वादिकमपिगौणमेव स्यात्। तथा च वृद्धिमिच्छतो मूलधनस्यापि हानिरिति न्यायापत्तिः।

यत्तु—'यत्र परिभाषाया विशेषसंज्ञाया वा प्रवृत्तिर्न भवति, तत्र वेदशब्देन मन्त्राणामेव ग्रहणेन ब्राह्मणानामग्रहणेन च वेदशब्दस्य स्वाभाविकोऽर्थो मन्त्र एव न ब्राह्मणम् इति, तदप्यसङ्गतम्, तादृशस्थलस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्। यच्च—'मन्त्राणां ब्राह्मणानां च वेदसंज्ञा कल्पसूत्रकारैरुक्ता। कल्पसूत्रकारा वेदसंज्ञां ब्राह्मणेषु न प्रवर्तयितुं शक्नुवन्ति,

यदि कोई ऋक्संहिता को पढ़ते हुए कहता है कि ऋग्वेद पढ़ रहा हुं, तो कोई शतपथ ब्राह्मण को पढ़ता हुआ भी कहता है कि यजुर्वेद पढ़ रहा हूँ। इस वागाड़म्बर से केवल मन्त्रों की वेदना किसी तरह से सिद्ध नहीं हो पाती। परिभाषा अथवा लक्षण के बिना मन्त्रों अथवा ब्राह्मणों की वेदता सिद्ध ही नहीं हो सकती। अतः परिभाषा के आधार पर वेद संज्ञा का निर्णय करने पर ब्राह्मणों के लिये गौण रूप से इस शब्द का प्रयोग माना जायगा, तो उसी आधार पर मन्त्रों की भी पारिभाषिक वेदता सिद्ध होने से उनके लिए भी गौण रूप से ही वेद शब्द का व्यवहार मानना पड़ जायगा। किसी भी न्याय की प्रवृत्ति समान रूप से ही सर्वत्र होती है। स्पष्ट है कि आपका कथन उचित नहीं है और मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग के लिये उक्त परिभाषा के आधार पर स्वाभाविक रूप से वेद शब्द की प्रवृत्ति मानी जायगी, इसके लिए किसी विधि की आवश्यकता नहीं है। एक शफ अश्व का लक्षण है और सास्नादिमत्त्व गाय का लक्षण है। यदि स्वाभाविक रूप से मन्त्रब्राह्मणात्मकत्व वेद का लक्षण है। यदि स्वाभाविक रूप से जिसकी प्रतीति होती हो, उसका लक्षण या परिभाषा नहीं की जाती, तो फिर ऋक् प्रभृति का भी लक्षण नहीं किया जाना चाहिये, किन्तु जैमिनि ने तो तीन सूत्रों में तीन वेदों के लक्षण किये हैं और इस पर आपको कोई आपत्ति भी नहीं है। यदि विशेष परिभाषा कर देने से अस्वाभाविकता अथवा कृत्रिमता आ जाती है, तो ऋक्, साम और यजु' की परिभाषा हो जाने के कारण इनमें भी कृत्रिमता और अस्वाभाविकता आ जायगी। 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' इत्यादि सूत्रों में जैमिनि ने मन्त्र और ब्राह्मण का भी लक्षण किया है। यदि परिभाषा के आधार पर आप ब्राह्मणों में गौण रूप से वेद शब्द का प्रयोग मानते हैं, तो उसी आधार पर मन्त्रों में भी गौण वेद व्यवहार मानना पड़ेगा। इसी तरह से उनमें मन्त्र और ऋक् शब्द का प्रयोग भी गौण माना जायगा। इस तरह से तो ब्याज के लोभ में आपका मूलधन भी नष्ट हो जायगा।

आप कहते हैं कि 'जहाँ पर परिभाषा अथवा विशेष संज्ञा की प्रवृत्ति नहीं होती, वहाँ पर वेद शब्द से केवल मन्त्रों का ही ग्रहण होता है, ब्राह्मणों का नहीं, अतः वेद शब्द का स्वाभाविक अर्थ मन्त्र ही होता है, ब्राह्मण नहीं', किन्तु आपका यह कथन भी असंगत है, क्योंकि ऐसा कोई स्थल आप दिखा नहीं सकते। 'मन्त्रों और ब्राह्मणों के लिये वेद संज्ञा का विधान कल्पसूत्रकारों ने किया है। कल्पसूत्रकार ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि मन्त्रसंहिता और ब्राह्मणों का काल भिन्न भिन्न हैं' आपका यह कथन भी

उभयोः (मन्त्रब्राह्मणयोः) भिन्नकालत्वाद् भिन्नस्थितिकत्वात् इति, तदपि निर्मूलम्, मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरप्यनादित्वेन भिन्नकालत्वासिद्धेः। यत्तु (७१ पृष्ठे) टिप्पण्याम्—पाश्चात्त्यमतानुसारेण ब्राह्मणग्रन्थानां कल्पसूत्राणां च प्रवचनकालो भिन्नः। ब्राह्मणग्रन्थानां प्रवचनानि पौर्वकालिकानि, कल्पसूत्राणामपरकालिकानीति। तत्र ब्राह्मणानां न वेदान्तर्गतत्वं सम्भवति, ब्राह्मणग्रन्थेषु यदि तस्य वेदशब्दस्य मन्त्राणामेव बोधकत्वम् इति, तदपि पाश्चात्त्यपदचिह्नानुसरणमेव। न च पाश्चात्त्यमतानुसरणं तवापि हितावहम्, तद्रीत्या वेदानामपि पौरुषेयत्वाभ्युपगमात्। ऋग्वेदेऽपि तैर्दशममण्डलस्य आधुनिकत्वाभ्युपगमात्। यजुर्वेदस्य तदपेक्षयार्वाचीनत्वमथर्ववेदस्य तु ततोऽप्यर्वाचीनत्वं तैरभ्युपेयते।

यत्तु—"तानि ज्योतींष्यभ्यातपन् तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्। स ऋचैव हौत्रमकरोद्, यजुषाध्वर्यवम्, साम्नोद्गीथम्' (ऐ० ब्रा० ५।२२) अत्रोपक्रमे वेदशब्दप्रयोगः, उपसंहारे च ऋग्यजुःसामशब्दानां प्रयोगः। ऋग्यजुःसामशब्दाश्च मन्त्रवाचका एवेति सर्वसम्मतमेव। उपक्रमोपसंहारयोरेकवाक्यतया भाव्यम्। अत एवोपक्रमस्थवेदरूपस्य विशिष्टशब्दस्य मन्त्रवाचकत्वमेव युक्तम्। न च तत्र ब्राह्मणानामन्तर्भावः सम्भवति। यतो हि यज्ञेषु मन्त्राणामेव प्रयोगो न ब्राह्मणानाम्, 'स ऋचैव हौत्रमकरोदित्याद्युक्तेः' इति, तदपि निमज्जतः कुशकाशावलम्बनम्, ऋक्सामयजुषां मन्त्रवाचकत्वेऽपि ऋग्वेदादिशब्दानां मन्त्रब्राह्मणोभयवाचकत्वे बाधाभावात्। ननु वेदशब्देन मन्त्रब्राह्मणयोर्बोधसम्भवे ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद इति ऋगादिशब्दवैयर्थ्यं स्यादिति चेन्न, वेदस्य त्रैविध्यादिबोधनाय तत्प्रयोगस्यानिवार्यत्वात्। न चैवं मन्त्राणां त्रैविध्ये सिद्धेऽपि ब्राह्मणानां कथं त्रैविध्यमिति वाच्यम्, तद्विधानसंस्कारादिसम्बन्धेन ब्राह्मणानामपि त्रैविध्योपपत्तेः। ऋचः पठनीयाः संस्कर्त्तव्या विधातव्या वा यस्मिन् वेदे स ऋग्वेदः, ऋचां बाहुल्यं वा यस्मिन् वेदे स ऋग्वेद इत्यादिव्युत्पत्त्या मन्त्रब्राह्मणसमुदायस्यैव

निराधार है, क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मणग्रन्थ अनादिकाल से प्रवृत्त हैं। इनका भिन्न काल सिद्ध ही नहीं हो सकता। पृ० ७१ की टिप्पणि में आप लिखते हैं—'पाश्चात्य मत के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थों और कल्पसूत्रों का प्रवचन काल भिन्न है। ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रवचन पहले और कल्पसूत्रों का बाद में हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थ वेद के अन्तर्गत इसलिये भी नहीं आ सकते कि स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थों में भी वेद शब्द से केवल मन्त्रों का ही बोध कराया गया है। किन्तु आपका यह कथन पाश्चात्य पद्धति का अन्धानुकरण मात्र है। यह आपके लिए हितावह नहीं है, क्योंकि उनके मार्ग पर चलने से तो आपको अभीष्ट मन्त्रसंहिताओं को भी पौरुषेय ही मानना पड़ जायगा। पाश्चात्य विद्वान् ऋग्वेद के दशम मण्डल को आधुनिक मानते हैं। यजुर्वेद भी उनके मत से नवीन है और अथर्ववेद तो उससे भी नया है। क्या आप भी उनके इस मत को स्वीकार करेंगे ?

'तानि ज्योतींषि' इस ऐतरेय ब्राह्मण के वचन में उपक्रम में वेद शब्द प्रयुक्त है और उपसंहार में ऋक्, यजुः और साम शब्दों का प्रयोग किया है। ये शब्द सर्वसंमति से मन्त्रों के वाचक हैं। उपक्रम और उपसंहार में एकवाक्यता रहनी ही चाहिये। इसी आधार पर उपक्रम स्थित वेदरूप विशिष्ट शब्द मन्त्र भाग का ही वाचक होगा। इसमें ब्राह्मण भाग का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। यज्ञों में मन्त्रों का ही प्रयोग होता है, ब्राह्मणों का नहीं। इसके लिए 'ऋचैव होत्रमकरोत्' इस तरह की स्पष्ट उक्तियाँ भी मिलती हैं' आपका यह सब कहना भी 'डूबते को तिनके का सहारा' वाली कहावत को चरितार्थ करता है। ऋक्, साम और यजुः शब्द भले ही मन्त्रों के वाचक हों, किन्तु ऋग्वेद प्रभृति शब्दों से तो मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भागों का बोध होगा। यहाँ पर शंका नहीं उठाई जा सकती कि वेद से ही यदि मन्त्र और ब्राह्मण भाग का बोध होता है, तो फिर उसके साथ ऋक् आदि शब्दों को जोड़ना व्यर्थ है, क्योंकि वेदत्रयी का अवबोध कराने के लिये इनका जोड़ा जाना जरूरी है। इससे तो मन्त्रों की त्रिविधता सिद्ध होगी, ब्राह्मणों की त्रिविधता कैसे सिद्ध हो जायगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि विधान और संस्कार के सम्बन्ध से ऐसा हो जायगा। ऋचाओं का पाठ, संस्कार अथवा विधान जिस वेद में होता है, उसे ऋग्वेद कहते हैं, अथवा ऋचाओं का जिसमें बाहुल्य है, उसे ऋग्वेद कहते हैं, इस व्युत्पत्ति के आधार पर मन्त्र-ब्राह्मणात्मक समुदाय में ऋग्वेद का प्रयोग सही ही माना जायगा। ऋक्, साम और

ऋग्वेदत्वोपपत्तेः ऋक्सामयजुर्मन्त्रा एव वेदा इत्यस्याद्याप्यनिर्णयात्। 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।' (वा० सं० ३१।७) इति मन्त्रस्यापि यथा ऋक्सामयजुःष्वन्तर्भावस्तथैव यस्मिन् ब्राह्मणे वेदशब्दस्य पाठोविद्यते तस्य वेदान्तर्गतत्वे का नामानुपपत्तिः ? न च ऋग्वेदादिशब्दैरेव ऋगादीनामृग्वेदादित्वं विधीयते, तस्योत्पत्तिविधायकत्वेन ऋगादीनां वेदत्वविधायकत्वे मानाभावाच्च। न च समस्तपदे पदभेदः समस्तपदयोर्वा उद्देश्यविधेयत्वादिकं सम्भवति, समानविभक्तिकत्वानिर्णयात्। मन्त्रब्राह्मणसमुदायस्यैव वेदत्वाद् भवत्येव ऋगादिष्वपि वेदशब्दप्रयोगः। अवयविशब्दस्यावयवेष्वपि प्रयोगदर्शनात्। न च हौत्रमाध्वर्यवं च मन्त्रमात्रनिष्पाद्यम्, विधानस्य ब्राह्मणसम्पाद्यत्वात्। अत्र स्तोत्रशस्त्रयजत्यादिषु मन्त्राणामेव प्रयोगेऽपि यज्ञादिविधाने ब्राह्मणानामुपयोगस्यानिवार्यत्वात्।

यत्तु पूर्वोक्तार्थस्य दृढीकरणाय—'तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त अग्ने ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेदः।·········उच्चैर्ऋचा क्रियते, उपांशु यजुषा, उच्चैः साम्ना' (३।३।८) इति शाबरभाष्यमुद्घृतम्, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, तत्रत्यसूत्रभाष्यादेस्त्वद्विपरीतार्थप्रतिपादकत्वात्, तथाहि—तत्रोपक्रमानुरोधेन ऋक्सामयजुरादिशब्दानां मन्त्रवाचकानामपि न ऋगादिमन्त्रवाचकत्वम्, किन्तु ऋग्वेदादिपरत्वमिति साधितम्। यदि ऋगादिशब्दानाम् ऋग्वेदादिशब्दानां च पर्यायवाचकत्वमेव स्यात्तदा किमर्थमुपक्रमन्यायाश्रयणेन ऋग्वेदादिपरत्वसाधनायासः ? नहि वस्त्रशब्दस्य पटार्थबोधनाय न्यायाश्रयणाद्यायासो भवति।

यद्यपि—ऋक्सामयजुषां यदुच्चैस्त्वोपांशुत्वादिधर्मा उक्तास्ते मन्त्राणामेव सम्भवन्ति' इति, तदपि निरर्थकम्, तथात्वे ऋक्शब्दस्य ऋग्वेदार्थतासाधनस्य नैरर्थक्यापत्तेः'। वचनविशेषेण यत्साध्यते तत् कृत्रिममेव भवतीति, त्वत्पक्षत्वात्, मन्त्राणामुच्चैरुच्चारणमेवेष्टं चेत्तदा 'क्रियते' इति पदं निरर्थकमेव स्यात्। तदातु 'उच्चैर्ऋगुच्चारणीया' इत्येवं वाक्यं

यजुर्मन्त्र ही वेद हैं, आपका यह मत अभी भी सिद्ध नहीं हो पाया है। 'तस्माद्यज्ञात्' प्रभृति मन्त्र का भी जैसे वेदत्रयी में अन्तर्भाव है, उसी तरह से जिस ब्राह्मण में वेद शब्द का पाठ है, उसको भी वेदान्तर्गत मानने में क्या आपत्ति हो सकती है ? ऋग्वेद प्रभृति शब्द ही ऋगादि के वेदत्व को सिद्ध कर देते हैं, ऐसा आप नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त वाक्य तो उनकी उत्पत्ति को बताता है, वह उनमें वेद संज्ञा का विधायक नहीं हो सकता। मन्त्र ब्राह्मणात्मक समुदाय में ही वेद शब्द प्रयुक्त होता है, अतः ऋगादि के लिए भी इसका प्रयोग हो ही सकता है। अवयवी का बोधक शब्द अवयवों का भी बोधक होता ही है। हौत्र और आध्वर्यव कर्म केवल मन्त्रों के सहारे सम्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि ये सब विधान ब्राह्मण ग्रन्थों की सहायता से ही सम्पन्न होते हैं। स्तोत्र, शस्त्र, यजति प्रभृति में यद्यपि मन्त्रों का ही उपयोग होता है, किन्तु यज्ञादि के विधान में ब्राह्मण का अनिवार्य रूप से उपयोग किया जाता है।

अपने पक्ष की दृढ़ता के लिये 'तेभ्यस्तेपानेभ्यः' इत्यादि श्रुति वचनों को उद्धृत करने वाले शाबर भाष्य को आपने प्रमाण के रूप में उपस्थापित किया है, वह भी आपने अपने अज्ञान का ही तमाशा दिखाया है। आपके द्वारा उद्धृत स्थल के सूत्र, भाष्य आदि का अभिप्राय आपके कथन से विपरीत ही है। वहाँ पर उपक्रम के अनुरोध से ऋक्, साम, यजु प्रभृति शब्दों की मन्त्रवाचकता के होते हुए भी ऋगादि मन्त्रवाचकत्व नहीं है, किन्तु उनका अर्थ ऋग्वेद आदि ही सिद्ध करता है। यदि ऋचा और ऋग्वेद प्रभृति शब्दों की पर्यायता ही हो, तब उपक्रमन्याय का सहारा लेकर उसको ऋग्वेदादि परता सिद्ध करने का प्रयत्न व्यर्थ ही होगा। वस्त्र शब्द का अर्थ पट करने के लिये किसी न्याय की सहारा लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

'ऋक्, साम और यजुर्मन्त्रों के लिये जो उच्चैस्त्व और उपांशुत्व धर्म बताये गये हैं, वे मन्त्रों के ही हो सकते हैं। यह कथन भी निरर्थक है, ऐसा हो तो ऋक् शब्द का अर्थ ऋग्वेद करने का प्रयत्न व्यर्थ जायगा। वचन विशेष से जो सिद्ध किया जाता है, वह कृत्रिम होता है, यह आपका मानना है। मन्त्रों का उच्च स्वर से उच्चारण ही यदि अभीष्ट होता, तो उस स्थिति में 'क्रियते' इस क्रिया का प्रयोग निरर्थक हो जायगा। उस स्थिति में 'उच्चैर्ऋगुच्चारणीया' (ऋचा का उच्च स्वर से उच्चारण करना चाहिये, यही वाक्य का स्वरूप होता। क्रियते पद का प्रयोग होने से उक्त वाक्य का अर्थ यह होता है कि ऋग्वेदोक्त और सामवेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान

भवेत् । तस्मादत्र ऋग्वेदोक्तकर्मणां सामवेदोक्तकर्मणां चोच्चैरनुष्ठानम्, यजुर्वेदोक्तकर्मणामुपांश्वनुष्ठानमुक्तम् । कर्मानुष्ठानादितरत्र तु यजुषामप्युच्चैरुच्चारणं भवति । तस्मान्न ब्राह्मणेषु श्रूयमाण—ऋगादिशब्दो मन्त्राणामेव वाचकः । यदपि ब्राह्मणानां वेदसंज्ञाविधायकं किञ्चिदपि वचनं ब्राह्मणग्रन्थेषु नोपलभ्यते, तेन ज्ञायते यद् वेदशब्दस्य मुख्योऽर्थो मन्त्र एव इति, तदप्ययुक्तम्, हेत्वाभासत्वात् । ब्राह्मणानां वेदसंज्ञाविधायकं वचनं ब्राह्मणेषु नोपलभ्यते, तेन ज्ञायते वेदशब्दस्य ब्राह्मणमेवार्थं इति विपरीतस्यापि सुवचत्वात् । वस्तुतस्तु अथर्वमन्त्रेषु ब्राह्मणशब्देनैव सर्वस्यैव वेदस्य ग्रहणाद् ब्राह्मणस्य वेदत्वं सुस्फुटम् । तथाहि—

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु ।
यदश्रवन् पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ॥ (अथर्व० ७।६८।१),
पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथा स्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥ १ ॥ (अथर्व ७।६९।१) इति ।

यदप्युक्तम्—कल्पसूत्रकारैः स्वस्वकार्यनिर्वाहार्थं यथा अन्या विशिष्टाः पारिभाषिक्यः संज्ञा निर्मितास्तथैव तेषां वेदसंज्ञापि पारिभाषिकी । न च पारिभाषिकोऽर्थो मुख्यो भवति । स्वाभाविकत्वे परिभाषावैयर्थ्यात् । तस्मान्मन्त्राणामेव मुख्या वेदसंज्ञा' इति, तदपि तुच्छम्, उक्तपरिभाषालक्षणाद्यनङ्गीकारे मन्त्राणामपि वेदसंज्ञानुपपत्तेरुक्तत्वात् । तथात्वे मन्त्राणां वेदसंज्ञाया ऋक्सामयजुषामृगादिसंज्ञाया मन्त्रसंज्ञायाश्च कृत्रिमत्वान्मुख्यत्वानापत्तेः । यत्तु स्वमतपोषणाय एवं वारे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणम्' (बृ० उ० २।४।१०) इति बृहदारण्यकभाष्ये 'यदृग्वेदोयजुर्वेदोऽथर्वाङ्गिरसश्चतुर्विधं मन्त्रजातम्' इति शङ्कराचार्यभाष्योद्धरणम्, तदपि मोहमूलकम्, शङ्कराचार्यवचनस्य प्रामाण्याभ्युपगमे समाजिसिद्धान्तस्यैव दत्तजलाञ्जलितापातात् । शङ्कराचार्यैस्तुमन्त्रब्राह्मणसमुदायवाचको वेदशब्दः समुदायिनि मन्त्रे प्रयुक्तः, मन्त्रेतरभागस्य ब्राह्मणस्येतिहासपुराणादिशब्दैरुपदिश्यमानत्वात् ।

उच्च स्वर से तथा यजुर्वेदोक्त कर्म का अनुष्ठान धीमे स्वर से करना चाहिये । कर्मानुष्ठान से अतिरिक्त समय याजुष मन्त्रों का उच्चारण भी उच्च स्वर से हो किया जाता है । इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणों में श्रूयमाण ऋगादि शब्द केवल मन्त्रों का ही वाचक नहीं है । 'ब्राह्मण ग्रन्थों की वेद संज्ञा का विधायक कोई वचन ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता, इससे ज्ञात होता है कि वेद शब्द का मुख्य अर्थ मन्त्र ही है' यह कथन भी अयुक्त है, हेत्वाभास से ग्रस्त है, क्योंकि आपके कथन के ठीक विपरीत—ब्राह्मणों की वेद संज्ञा का विधायक वचन ब्राह्मणों में उपलब्ध नहीं होता, इससे ज्ञात होता है कि वेद शब्द का अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थ ही होगा, ऐसा भी यदि कह दिया जाय, तो उसका आपके पास कोई उत्तर नहीं है । वस्तुतः देखा जाय तो अथर्ववेद के मन्त्रों में ब्राह्मण शब्द से ही सारे वेद का ग्रहण किया गया है, अतः यद्यन्तरिक्षे''''''तद् ब्राह्मणं पुनरस्मा०', और पुनर्मैत्विन्द्रियं''''''द्रविणं ब्राह्मणं च' इन अथर्वमन्त्रों के प्रमाण पर ब्राह्मण भाग भी वेद के अन्तर्गत है, यह स्पष्ट हो जाता है ।

'कल्पसूत्रकारों ने अपना अपना काम चलाने के लिये अन्य अनेक विशिष्ट परिभाषाएँ बना लीं, उसी तरह से उनकी वेद संज्ञा भी परिभाषिक है । यह पारिभाषिक अर्थ मुख्य नहीं होता, क्योंकि स्वाभाविक होने पर परिभाषा की आवश्यकता नहीं रहती । इसलिये मन्त्रों की ही मुख्य वेदसंज्ञा मानी जायगी' आपका यह कथन भी गलत है, क्योंकि उक्त परिभाषा के अनुसार लक्षण को न स्वीकार करने पर मन्त्रों की भी वेदसंज्ञा सिद्ध न हो सकेगी । आपकी ही बात मान ली जाय तो मीमांसाशास्त्र मे की गई मन्त्रों की वेद संज्ञा; ऋक्, साम और यजुः की ऋगादि संज्ञा और मन्त्र संज्ञा के कृत्रिम हो जाने से इनमें भी पुरुष रूप से वेदादि शब्दों का प्रयोग न होकर गौण प्रयोग माना जायगा । अपने मत की पुष्टि के लिये आप 'एवं वा अरे' इस बृदहारण्यक उपनिषद् के शांकरभाष्य में उद्धृत 'यदृग्वेदो''''''चतुर्विधं मन्त्रजातम्' इस वचन को उद्धृत किया है, वह भी आपके मत के विपरीत ही जायगा । शंकराचार्य के वचन को यदि आप प्रमाण मानते हैं, तो आपको आर्यसमाज के लिये तिलांजलि दे देना पड़ेगा । शंकराचार्य ने मन्त्रब्राह्मणसमुदाय के वाचक वेद संज्ञा

अन्यथा पुनरुक्तिप्रसङ्गात् । तथाहि तत्रत्यं शाङ्करभाष्यम्—'इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादादिरूपः उर्वशीहाप्सरा इत्यादि ब्राह्मणमेव । पुराणम्—असद्वा इदमग्र आसीदित्यादि, विद्या—देवजनविद्या (सौऽयं वेदाद्वहिर्भवतीत्यर्थ इत्यानन्दगिरिः) उपनिषदः-प्रियमित्येतदुपासीतेत्याद्याः, श्लोकाः-ब्राह्मणप्रभावामन्त्रास्तदेते श्लोका इत्यादयः, सूत्राणि—वस्तुसङ्ग्रहवाक्यानि; वेदे यथायमात्मेत्येवोपासीतेत्यादि । अनुव्याख्यानानि—मन्त्रविवराणानि, व्याख्यानमर्थवादाः, अथवा वस्तु सङ्ग्राहक—वाक्यविवरणानि, अनुव्याख्यानानि—यथा चतुर्थाध्यायः; आत्मेत्येवोपासीतेत्यस्य, यथा वा अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवमित्यस्याध्यायशेषः, मन्त्रविवरणानि व्याख्यानानि—एवमष्टविधं ब्राह्मणम्' इति शाङ्करभाष्यानुसारेणैव ब्राह्मणं महतो भूतस्य निःश्वसित मेवेति सिद्धम् । न तु मन्त्रविशेषा एवेतिहासादयः, सूत्रानुव्याख्यानादीनां मन्त्रेष्वनुपलम्भात् । कथञ्चित्तथा कल्पने तु पुनरुक्तिरेव स्यात् । यथा नित्या एव शब्दार्थसम्बन्धा व्याकरण-कोष-व्यवहारादिभिर्ज्ञाप्यन्ते; नासन्तः क्रियन्ते, यथा वा ऋक्त्वादिकं मन्त्रत्वादिकं च सत्यमेव लक्षणैर्बोध्यते, यज्ञादिस्वरूपं च सत्यमेव परिभाष्यते, तथैव सदेव मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वं लक्षण-परिभाषादिभिर्बोध्यते; न क्रियते । अन्यथा सम्बन्धादीनामपि कृत्रिमत्वापत्तेः । यथा शब्दार्थसम्बन्धा नोपदेशमन्तरा ज्ञायन्ते, तथैव मन्त्रत्वमृक्त्वादिकं वेदत्वं च नोपदेशमन्तरा ज्ञायन्ते, अन्यथा सर्वेषामपि तज्ज्ञत्वापत्तेः ।

यदप्युक्तम्—'कृष्णयाजुषश्रौतसूत्रेष्वेव मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति सूत्रं लभ्यते । कृष्णयजुःशाखिनामापस्तम्बसत्याषाढबोधायनादि श्रौतसूत्रेष्वपि तादृशं सूत्रं नोपलभ्यते । ऋग्वेदसम्बन्धिषु शाङ्खायनाश्वलायन कात्यायनश्रौतसूत्रेषु सामवेदीयद्राह्यायणलट्यायनादिश्रौतसूत्रेषु तादृशं सूत्रं नोपलभ्यते । एतद्वैषम्यस्येदमेव कारणं यद् ऋक्-शुक्लयजुःसामसंहितासु मन्त्रा एव केवलाः सन्ति, न ब्राह्मणानि । तद्वैपरीत्येन कृष्णयजुषः समस्तशाखासु मन्त्रैः सहैव ब्राह्मणानि पठितानि । तस्माद्यासु संहितासु मन्त्रा एव पठितास्तासां वेदत्वं लोकप्रसिद्धमेवासीत् । तदीयश्रौतसूत्रकारैः

का प्रयोग समुच्चित मन्त्र के लिये किया है, क्योंकि इससे पहले मन्त्रभिन्न ब्राह्मणभाग का उल्लेख इतिहास, पुराण प्रभृति शब्दों से किया जा चुका है । ऐसा न करने पर पुनरुक्ति दोष होगा । वहाँ का पूरा भाष्य इस प्रकार है—'उर्वशी हाप्सरा' इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों में उर्वशी और पुरूरवा का संवाद वर्णित है । यह इतिहास कहलाता है । 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इस तरह के वाक्य पुराण के अन्तर्गत आते हैं' । इसी तरह से यहाँ पर विद्या, उपनिषद्, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान शब्दों की व्याख्या कर शांकरभाष्य में बताया गया है कि इस तरह ब्राह्मण आठ प्रकार के होते हैं, और यह पूरा वाङ्मय उस महान् भूत ब्रह्म का निश्वास स्वरूप है । इतिहास प्रभृति इन आठों अंगों का मन्त्रों में समावेश नहीं हो सकता, क्योंकि सूत्र, अनुयाख्यान प्रभृति की मन्त्रों में उपलब्धि हो ही नहीं सकती । जैसे नित्य वर्तमान शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध व्याकरण, कोष, व्यवहार आदि से जाने जाते हैं, अविद्यमान की कल्पना नहीं की जाती, अथवा जैसे पहले से विद्यमान ऋक्त्व और मन्त्रत्व का ही ज्ञान लक्षणों से कराया जाता है और पहले से विद्यमान ही यज्ञ आदि के स्वरूप को परिभाषा के द्वारा भी समझाया जाता है, उसी तरह से पहले से विद्यमान मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद को परिभाषा के द्वारा पुनः समझाया जाता है । ऐसा न मानने पर सम्बन्ध प्रभृति की भी कृत्रिमता हो जायगी । जैसे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध उपदेश के बिना ज्ञात नहीं होते, उसी तरह से मन्त्रत्व, ऋक्त्व और वेदत्व का ज्ञान भी उपदेश के बिना नहीं होगा । यदि ऐसा नहीं है, तो सभी को उनका ज्ञान क्यों नहीं हो जाता ?

आप कहते हैं कि 'कृष्ण यजुर्वेद के श्रौतसूत्रों में ही मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद बताने वाले सूत्र मिलते हैं । कृष्ण यजुर्वेद की भी आपस्तम्ब, सत्याषाढ, बोधायन प्रभृति के श्रौतसूत्रों में यह सूत्र नहीं मिलता । ऋग्वेद आदि के शांखायन, आश्वलायन, कात्यायन श्रौत्रसूत्रों में और सामवेद के द्राह्यायण, लाट्यायन आदि श्रौतसूत्रों में भी इस आशय का सूत्र नहीं मिलता । इस विषमता का यही कारण है कि ऋक्, शुक्लयजु और सामवेद की संहिताओं में केवल मन्त्र पठित हैं, ब्राह्मण नहीं । इसके विपरीत कृष्णयजुर्वेद की समस्त शाखाओं में मन्त्रों के साथ ब्राह्मण भी पठित हैं । जिन संहिताओं में केवल मन्त्र ही पढ़े गये हैं, उनको तो लोक में सभी वेद मानते रहे हैं, अतः उन वेदों के श्रौतसूत्रकारों ने अपने ग्रन्थ में उनकी वेद संज्ञा के विधायक सूत्र को स्थान नहीं दिया । किन्तु जिन

स्वग्रन्थेषु तादृशं वेदसंज्ञाविधायकं सूत्रं न लिखितम्। यासु संहितासु मन्त्रैः सह ब्राह्मणानामपि पाठ आसीत्, तासां वेदत्वं लोकप्रसिद्धं नासीदिति स्वशाखानां वेदत्वप्रतिपादनार्थं स्वशाखीयकार्यसिद्धये तच्छाखीयैः श्रौतसूत्रकारैस्तादृशं सूत्रं निर्मितम्। तस्मान्मन्त्राणामेव वेदसंज्ञा; न ब्राह्मणानाम्' इति, तदपि निःसारम्, लोके मन्त्राणां ब्राह्मणानां च वेदत्वप्रसिद्ध्यप्रसिद्ध्योस्तुल्यत्वस्योक्तत्वात्। यथा मन्त्रत्वमृक्त्वादिकं च जैमिन्यादिपरिभाषितमेव, तथैव वेदत्वमपि परिभाषितमेव। न च प्रसिद्धिः; प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं प्रमाणान्तरम्, प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धस्यैव प्रसिद्धिपदार्थत्वात्। किञ्च, पूर्वं पण्डितयुगप्रतिपादनावसरे 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्। सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥' इत्याद्युक्तिषु पुराणनिन्दां मत्वा पण्डितेष्वाक्रोशः प्रकटितः। इदानीं तु स्वयुक्त्याभासेनापस्तम्बसत्याषाढकात्यायनबौधायनादीनामृषीणामसदर्थबोधकत्वं प्रतिपादयन् कथं न जिह्रेति युधिष्ठरः। किञ्चात्मपरमात्मप्रकृत्याकाशादयो नित्यसिद्धा अपि यथा लक्षणैर्ज्ञाप्यन्ते, तथैव वेदत्वादिकं सिद्धमपि लक्षणैर्ज्ञाप्यत एव। केषाञ्चित्तादृशसूत्राप्रणयनस्येदमेव कारणं यत् कृष्णयजुषामनादिकालाल्लोके वेदत्वं प्रसिद्धमेवासीत्, तत एव तच्छाखीयैः श्रौतसूत्रकारैः सदृशं लक्षणमुक्तम्। शुक्लयजूंषि तु पश्चाद् याज्ञवल्क्येनादित्यात् प्राप्तानीति तानि लोके तथा प्रसिद्धानि, तच्छाखीयैस्तु प्राचीनान्येव वेदसंज्ञाबोधकानि सूत्राण्यभ्युपेतानि। शुक्लयजूंषि नवीनानीति शतपथब्राह्मणेषु च प्रसिद्धमेव। यत्तु कश्चित्तैत्तिरीयशाखां माध्यन्दिनशाखाया व्याख्यां वक्ति, तदसत्, विपरीतस्यैव वक्तुं शक्यत्वात्, प्राचीनस्यैव व्याख्येयत्वमर्वाचीनस्य तु व्याख्यानत्वमेव सम्भवति।

समाजिनामदीर्घदर्शिता दयानन्देन ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां ब्राह्मणानामवेदत्वे कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञाया अस्वीकृतत्वादित्युक्त्या स्पष्टीकृता। अयं तस्याभिप्रायो यत् कात्यायनेनैव मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाऽङ्गीकृता, किन्त्वन्यैर'

संहिताओं में मन्त्रों के साथ ब्राह्मण भी विद्यमान हैं, उनको भी लोक में वेद के रूप में सिद्ध करने के लिये उस शाखा के श्रौतसूत्रकारों ने ऐसा सूत्र बनाया। इसको प्रमाण नहीं माना जा सकता। अतः मन्त्रों की ही वेद संज्ञा मानी जायगी, ब्राह्मणों की नहीं'। किन्तु आपका यह सारा कथन निःसार है, क्योंकि लोक में मन्त्र और ब्राह्मण की वेद के रूप में प्रसिद्धि होना या न होना कोई अर्थ नहीं रखता। जैसे मन्त्रत्व, ऋक्त्व आदि की परिभाषा जैमिनि प्रभृति करते हैं, उसी तरह से वेदत्व भी परिभाषा से ही ज्ञात होता है। प्रसिद्धि प्रत्यक्ष प्रभृति प्रमाण से भिन्न कोई नया प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रभृति प्रमाण से सिद्ध पदार्थ को ही प्रसिद्धि कहा जाता है। पहले पण्डित युग का प्रतिपादन करते हुए आपने 'पुराणमित्येव' इत्यादि कालिदास के श्लोक में पुरातन का विरोध करने वाले पण्डितों पर आक्रोश व्यक्त किया था। अब आप यहाँ पर स्वयं अपनी गलत युक्तियों के सहारे आपस्तम्ब, सत्याषाढ, कात्यायन, बौधायन प्रभृति ऋषियों को असत्य अर्थ का प्रतिपादक कह कर लज्जित नहीं होते! आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, आकाश प्रभृति पदार्थ नित्यसिद्ध हैं, तो भी इनको लक्षणों के द्वारा समझाया जाता है; उसी तरह से वेदत्व प्रभृति स्वतः सिद्ध पदार्थों को भी लक्षणों के द्वारा समझाया जाय, इसमें आपत्ति की क्या बात है? कुछ शाखाओं ने इस तरह का लक्षण नहीं किया, इसका कारण यह है कि कृष्ण यजुर्वेद की प्रवृत्ति अनादि काल से थी और उसमें वेद का लक्षण बना दिया गया था। शुक्ल यजुर्वेद की उपलब्धि याज्ञवल्क्य को बाद में आदित्य से हुई। इसी रूप में ये लोक में प्रसिद्ध हैं। इस शाखा वालों ने उन प्राचीन वेद संज्ञा बोधक सूत्रों को उसी रूप में स्वीकार कर लिया। शतपथ ब्राह्मण और पुराणों से शुक्ल यजुर्वेद की नवीनता ज्ञात होती है। कुछ लोग तैत्तिरीय शाखा को माध्यन्दिन शाखा की व्याख्या मानते हैं, किन्तु यह कथन गलत है। प्राचीन ग्रन्थ व्याख्येय और अर्वाचीन ग्रन्थ व्याख्यान माना जाता है। अतः इस पद्धति से नवीन माध्यन्दिन शाखा को ही तैत्तिरीय शाखा का व्याख्या माना जायगा, किन्तु ऐसा कुछ है नहीं। यहाँ बताया प्राचीन-अर्वाचीन विभाग सापेक्ष है। तैत्तिरीय शाखा ब्रह्मसम्प्रदाय द्वारा प्राप्त है और माध्यन्दिन प्रभृति शुक्ल यजुर्वेद संहिताएँ आदित्य सम्प्रदाय से प्राप्त हैं। उपदेशगत प्राचीनता और नवीनता का ही आरोप उक्त संहिताओं पर कर दिया गया है।

समाजियों की अदीर्घदर्शिता का उदाहरण स्वामी दयानन्द ने यह कह कर दे दिया है कि कात्यायन से भिन्न अन्य किसी ऋषि ने ब्राह्मणों की वेद संज्ञा नहीं मानी है। उनके कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह है—कात्यायन ने ही मन्त्र और ब्राह्मण को वेद माना

नङ्गीकृतत्वान्न मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञा युक्ता । यद्यप्ययमपि हेतुर्न हेत्वाभासत्वमतिक्राम्यति, एकस्यापि ऋषिवचनस्यानतिक्रमणीयत्वात्, तथापि सन्तुष्यतु दुर्जनन्यायेन यदा सनातनिभिर्बहूनामापस्तम्बादीनामृषीणां वचनान्युपस्थापितानि, तदा कात्यायनेनान्यैश्च मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञायाः स्वीकृतत्वादिदमेवोचितमासीद् यद् दुराग्रहं परित्यज्य सत्यपक्षपातित्वेन मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञा स्वीकर्त्तव्येति, परन्तु तद्वैपरीत्येनायं युधिष्ठिरो महाशयः स्वस्वामिविपरीतमेव वक्ति यत्कृष्णयजुःशाखिभिरेव वेदसंज्ञाऽङ्गीकृता न कात्यायनेन । तत्र यथा मीमांसका विभिन्नशाखावचनानां समन्वयेनैवार्थं निर्णयन्ति, कस्याञ्चिदपि शाखायां स्थितं वचनं नोपेक्षन्ते, तद्रीत्यैव च मिताक्षराव्यवहारमयूखचतुर्वर्गचिन्तामणिवीरमित्रोदयपराशरमाधवादिनिबन्धग्रन्थेषु समन्वयः क्रियते । अन्यत्रानुक्तमपि क्वचिदुक्तमेवान्यत्राप्युक्तं मन्यन्ते । पञ्चाग्निविद्यादिविचारेषु दृष्टैवैषा गतिः । तथैव प्राचीनतमशाखिनां सूत्रेणैवान्येऽपि तत्सिद्धान्तमनुसरन्ति । किन्तु प्रकृते तु कृष्णयजुःशाखिव्यतिरिक्तैरपि ऋषिभिर्मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञास्वीकृतैव । पारस्कर-व्यास-जैमिन्यादयोऽपि ऋषय एव । पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जल्यादयोऽपि न पुस्तकचतुष्टयस्यैव वेदत्वं मन्यन्ते, किन्तु सहस्राधिकमन्त्रसंहितानां ब्राह्मणारण्यकोपनिषदामपि स्पष्टमेव वेदत्वं मन्यन्ते ।

यदुक्तम्—'चिरकालं यावदाचार्यैर्ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा नाङ्गीकृता, तत एव हरदत्तादिभिः कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्' इति, तदपि तुच्छम्, पूर्वत्र समाहितत्वात् । मीमांसाग्रन्थेष्वधिकरणरचनायां निराकरणीयपूर्वपक्षकल्पनावद् हरदत्तादिवचनस्यापि निराकरणीयपूर्वपक्षकल्पनोपपत्तेः । यथा कैश्चिदीश्वरस्तत्प्रमाणभूता वेदादयोऽपि नाभ्युपेयन्ते, समाजिभिः सगुण-साकारब्रह्मवादोऽपि नाभ्युपेयते, भवन्तु वा केचिद् ब्राह्मणानां वेदत्वानभ्युपगन्तारः, किन्तु न त आचार्या इति । अत एव हरदत्तादिभिः कैश्चिदित्येवोक्तं न कैश्चिदाचार्यैरिति ।

है, किन्तु अन्य किसी ऋषि ने ऐसा नहीं कहा है, अतः ब्राह्मण और मन्त्र दोनों को वेद नहीं माना जा सकता । यद्यपि उनका यह कथन हेत्वाभास कोटि में आता है, क्योंकि हम एक भी ऋषि के वचन का अतिक्रमण नहीं कर सकते, तो भी 'तुष्यतु दुर्जन' न्याय का सहारा लेकर जब सनातनी विद्वान् इसी अभिप्राय के आपस्तम्ब प्रभृति अनेक ऋषियों के वचनों को उपस्थापित कर देते हैं, तब कात्यायन और अन्य ऋषियों ने भी जब मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को ही वेद माना है, तो यही उचित था कि दुराग्रह को छोड़कर सत्य पक्ष के पक्षपाती आर्यसमाजी इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते । परन्तु यहाँ तो उलटा ही हो रहा है । ये युधिष्ठिर महाशय अपने स्वामी जी के कथन के विपरीत ही अपना राग अलापते हैं कि कृष्ण यजुर्वेद शाखा वालों ने ही ऐसा कहा है, कात्यायन ने नहीं । मीमांसकों ने विभिन्न शाखाओं के वचनों में समन्वय स्थापित करने का ही प्रयत्न किया है, किसी भी शाखा के वचन की उपेक्षा वे कभी भी नहीं करते । उसी पद्धति का सहारा लेकर मिताक्षरा, व्यवहारमयूख, चतुर्वर्गचिन्तामणि, वीरमित्रोदय, पराशर माधव प्रभृति निबन्ध ग्रन्थों में श्रौत और स्मार्त वचनों में समन्वय स्थापित किया गया है । एक जगह यदि किसी बात का प्रतिपादन कर दिया गया है, तो अन्यत्र उसके न होने पर भी सर्वत्र उसको मान्यता प्राप्त हो जाती है । पञ्चाग्नि विद्या के प्रकरण में इसी पद्धति को स्वीकार किया गया है । इसी प्रकार से प्राचीनतम शाखाओं को सूत्रों से ही अन्य शाखा वाले भी अपना अनुष्ठान पूरा करते हैं । प्रकृत में तो न केवल कृष्ण यजुर्वेद शाखा वाले, किन्तु इनसे भिन्न शाखाओं के ऋषियों ने भी मन्त्र और ब्राह्मण को वेद माना है । पारस्कर, व्यास, जैमिनि प्रभृति भी ऋषि ही हैं । पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि प्रभृति भी केवल चार पुस्तकों को ही वेद नहीं मानते, किन्तु सहस्राधिक मन्त्र-संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—इन सबको स्पष्ट रूप से वेद मानते हैं ।

आपका कहना है कि 'चिरकाल तक आचार्यों ने ब्राह्मणों को वेद नहीं माना था । इसीलिये हरदत्त प्रभृति ने केवल मन्त्रभाग को ही वेद माना हैं' । किन्तु यह कथन भी तुच्छ है, पहले ही इसका समाधान कर दिया गया है कि मीमांसा ग्रन्थों में अधिकरण की रचना के लिये आवश्यक निराकरणीय पूर्वपक्ष की स्थिति रहती है । हरदत्त प्रभृति के द्वारा उद्धृत वचन उसी निराकरणीय पूर्वपक्ष के रूप में माने जाने चाहिये । जैसे कुछ लोग ईश्वर को और ईश्वर में प्रमाणभूत वेद को भी नहीं मानते । आर्यसमाजी भी सगुण साकार ब्रह्मवाद को नहीं स्वीकार करते । ब्राह्मणों को वेद न मानने वाले भी हो सकते हैं, किन्तु वे आचार्य नहीं हैं । इसीलिये हरदत्त प्रभृति ने उक्त स्थल पर किसी आचार्य का नाम लेकर 'कैश्चित्' (कुछ लोगों के द्वारा) ऐसा कहा है, 'कैश्चिदाचार्यैः' इस तरह उसके साथ आचार्य शब्द भी नहीं जोड़ा है । इसीलिये इस पक्ष के प्रति हरदत्त प्रभृति की अरुचि स्पष्ट हो जाती है ।

यत्तु—'यथा लोकेऽसिद्धत्वात् शास्त्रान्तरेष्वन्यार्थे प्रसिद्धत्वाच्च पाणिनेः सर्वनामसंज्ञा नैयायिकवैशेषिकाणां गुणसंज्ञा च अलौकिकी भवति। पारिभाषिकसंज्ञाश्च स्वस्वशास्त्रेष्वेव स्वीकारार्हा भवन्ति। पाणिनेर्गुणवृद्ध्यादिसंज्ञाश्च तत्रैवाद्रियन्ते, तथैव मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति सूत्रमपि यत्र यत्र पठितं तत्रैवादरणीयम्, अतो मन्त्राणां वेदसंज्ञा सर्वसम्मता न ब्राह्मणानाम् इति, तथा—'त्रयाणां वेदानां वेदसंज्ञाया अविद्यमानत्वकारणं तु तत्र ब्राह्मणानां सत्त्वाभावेन सन्देहाभाव एव। अतस्तैस्तादृशं सूत्रं न निर्मितम्' इति, तत्सर्वमपि कुशकाशावलम्बनमेव। यतो हि कात्यायनो न कृष्णयजुःशाखीयः, सहि पञ्चदशसंख्याकाः शुक्लयजुःशाखा अधिकृत्य कर्माणि सूत्रयति। कौशिकोऽप्यथर्वशाखीयः। पारस्करो महर्षिर्नैकदेशीयः। सर्वे चैते मन्त्रान् ब्राह्मणानि चोद्दिश्य वेदशब्दं प्रयुञ्जते। व्यासो जैमिनिश्च नैकदेशीयौ। तावपि तत्र तत्राधिकरणेषु सूत्रेषु च वेदश्रुत्याम्नायशब्दैः सर्वशाखागतानि मन्त्रवचनानि ब्राह्मणवचनानि चोद्धृत्य विचारयतः। मन्वादयोऽपि नैकदेशीयाः। गोतमकणादौ सांख्ययोगाचार्याश्च मन्त्रान् ब्राह्मणानि च वेदत्वेन स्मरन्ति। पाणिनिकात्यायनपतञ्जलयश्च तथैव शाखाब्राह्मणानि वेदं मन्यन्ते, तत्त्वेनोदाहरन्ति। सर्वे चैते मन्त्रान् ब्राह्मणानि चोद्दिश्य वेदत्वं बोधयन्ति। न कृष्णयजुःशाखीयानामेव मन्त्राणां ब्राह्मणानां च वेदत्वम्। आपस्तम्बादयोऽपि मन्त्राणां ब्राह्मणानां च वेदत्वं बोधयन्ति; न स्वशाखीयानामेव। किं परिभाषा वा लक्षणानि विधानानि वा पौरुषेयाण्यपि स्वतः प्रमाणान्येव? पौरुषेयत्वेन पुरुषाश्रितभ्रमप्रमादादिसम्भावनया प्राप्तस्याप्रामाण्यस्याप्तत्वबलेनापनोदने प्रामाण्यस्वतस्त्वमनपोदितं सुस्थिरं भवति। नहि पाणिनीयानि लक्षणानि संज्ञा वा अप्रमाणानि भवन्ति। सर्वनाम-गुण-वृद्ध्यादिसंज्ञाः काममन्यत्र नोपयुज्येरन्, किन्तु तदाश्रितानि शब्दसाधुत्वानि तु सर्वैरप्यङ्गीक्रियन्ते यथा, तथैवापस्तम्बादय ऋषय आप्ताश्चेत्तदा तत्परिभाषितं लक्षितं वा वेदत्वं सर्वत्रैवाङ्गीक्रियेत। किञ्च, समाजिनस्तु कृष्णयजुर्मन्त्राणामपि वेदत्वं नाङ्गीकुर्वन्ति। एकैकशाखासंहितां मुक्त्वा चतुर्ष्वपि

'जैसे लोक में अप्रचलित और अन्य शास्त्रों में किसी दूसरे ही अर्थ में प्रचलित पाणिनि की सर्वनाम संज्ञा और न्यायवैशेषिक की गुण संज्ञा प्रभृत्ति का अनोरवापन होता है और ये पारिभाषिक संज्ञाएं अपने अपने भाष्यों में ही ग्राह्य होती हैं, उसी तरह से 'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह वेद की परिभाषा भी वहीं ग्राह्य होगी, जहाँ कि यह पढ़ी गई है। इसलिये मन्त्रों की ही वेद संज्ञा सर्वसंमत है, ब्राह्मणों की नहीं' इतना लिखने के बाद आप पुनः लिखते हैं—'तीन वेदों के श्रौत सूत्रों में 'वेद' संज्ञा के अभिमान का कारण यह है कि ऋग्वेद, शुक्लयजुः तथा सामवेद की संहिताओं में मन्त्रों का पाठ होने तथा उनके ब्राह्मण ग्रंथों की सत्ता संहिता से पृथक् होने के कारण वहाँ सन्देह ही नहीं होता कि कौन सा मन्त्र है और कौन सा ब्राह्मण है। इसलिये इन वेदों के श्रौतसूत्रकारों को 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' सदृश सूत्र बनाने की आवश्यकता भी नहीं पड़ी (पृ० ७५), किन्तु यह सब 'डूबने को तिनके का सहारा. जैसीं बातें हैं, क्योंकि कात्यायन ने कृष्णयजुर्वेद की १५ शाखाओं के लिये कर्म विधान किया हैं। कौशिक अथर्व शास्त्र के आचार्य हैं। पारस्कर महर्षि भी किसी एक शाखा के ही आचार्य नहीं हैं। ये सभी आचार्य मन्त्र और ब्राह्मण को वेद मानते हैं। व्यास और जैमिनि भी किसी एक शाखा पर विचार नहीं करते। ये दोनों आचार्य भी अपने विभिन्न अधिकरणों में मन्त्र और ब्राह्मण भाग के वचनों का विचार वेद, श्रुति और आम्नाय प्रभृति शब्दों का प्रयोग करते हुए कहते हैं। मनु प्रभृति भी किसी एक वैदिक शाखा का अनुवर्तन नहीं करते। गोतम, कणाद और सांख्य-योग दर्शन के आचार्य भी मन्त्र और ब्राह्मण के वचनों को वेद के नाम से स्मरण करते हैं। पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि भी सभी शाखाओं और ब्राह्मणों को वेद मानते हैं और उसी तरह से उद्धृत भी करते हैं। आपस्तम्ब प्रभृति अपनी शाखा के मन्त्र और ब्राह्मण को ही वेद नहीं मानते, किन्तु सभी मन्त्रसंहिताओं और ब्राह्मणों को वेद मानते हैं। परिभाषा, लक्षण अथवा विधान पौरुषेय होने पर स्वतः प्रमाण नहीं माने जायंगे, क्योंकि उनमें पुरुषाश्रित भ्रम, प्रमाद आदि दोषों की सम्भावना से उनमें अप्रामाण्य की आशंका बनी ही रहेगी। इस आशंका के निराकरण का एकमात्र उपाय यह है कि ये आप्त पुरुष द्वारा उक्त हैं या नहीं? पाणिनि की परिभाषा अप्रामाणिक नहीं है। सर्वनाम, गुण, वृद्धि प्रभृति परिभाषाओं का अन्यत्र भले ही उपयोग न हो, किन्तु उनके आधार पर पाणिनि व्याकरण की शब्दसाधुत्व की प्रक्रिया को सब कोई स्वीकार करते हैं। इसी तरह से आपस्तम्ब प्रभृति आचार्य भी आप्त हैं। अतः उनके द्वारा प्रदत्त परिभाषा अथवा लक्षण

वेदेषु सहस्राधिकसंहितानां वेदत्वमपलपन्ति । किमतोऽधिकं धार्ष्ट्यम् ? किमतोऽधिकं वेदतिरस्करणमार्षमततिरस्करणं च। तथापि समाजिनः पण्डितानां सत्योक्ति निन्दन्तो न त्रपन्ते ।

यत्तु (७५ पृष्ठे) मन्त्रब्राह्मणयोर्लक्षणस्य अव्याप्त्यतिव्याप्तिभ्यां दूषणाय यतितं तत्तु जैमिनिशाबरभाष्यादिविरुद्धमेव, जैमिनिनैव मन्त्रविशेषाणां मन्त्रसामान्यस्य ब्राह्मणस्य च लक्षणप्रणयनात् । विचित्रमस्य मीमांसकत्वम्, मन्त्रलक्षणाधिकरणे (जै० सू० २।१।३२, अधि० ७) इत्यत्र लिखितमपि लक्षणमपलपति । वस्तुतस्तु नेदं कृष्णयजुर्वेदीयानां निराकरणम्, किन्तु जैमिनिकृतलक्षणस्य तात्पर्यनिरूपणम्, कथंलक्षणको मन्त्र इति । 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' इति अभिधानस्य चोदकेष्वेवं जातीयकेष्वभियुक्ता उपदिशन्ति मन्त्रानधीमहे, मन्त्रानध्यापयामः, मन्त्रा वर्तन्त इति, प्रायिकमिदं लक्षणम् । अनभिधायका अपि केचिन्मन्त्रा इत्युच्यन्ते । 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०) इति । न च प्रायिकेष्वव्याप्त्यतिव्याप्त्यादि दूषणं भवति । अत एव येषु वाक्येषु वैदिकानां मन्त्रत्वेन व्यवहारस्तेषामेव मन्त्रत्वमित्येवादुष्टं मन्त्रलक्षणम् । यद्यपि विधायकवाक्यानां ब्राह्मणत्वमेव, तथापि वैदिकानां मन्त्रत्वेन स्वीकारात्तेषां मन्त्रत्वं मन्त्रधर्मेण पाठश्च । अत्र पारम्पर्यमेव प्रमाणम् । अत एव साम्प्रदायिकैरभ्युपगतत्वाद् ब्राह्मणानामपि मन्त्रत्वमभ्युपेयते उव्वटमहीधररीत्या ।

कात्यायनसर्वानुक्रमणीरीत्या शुक्लयजुर्वेदेऽपि 'देवा यज्ञम्' (वा० सं० १९।१२) इत्यारभ्य 'सौत्रामणीसुते' (वा० सं० १९।३१) पर्यन्तं विंशतिः कण्डिकाः 'ब्राह्मणानुवाको विंशतिरनुष्टुभः सोमसम्पत् २', 'अश्वस्तूपरो' (वा० सं० २४।१) इति ब्राह्मणाध्यायः, 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' (वा० सं० ३०।५) इत्यारभ्य द्वे कण्डिके, तपसेऽनुवाकश्च, तपसे कौलाल-

सर्वत्र स्वीकार किया जाता है । आर्यसमाजी तो कृष्ण यजुर्वेद के मन्त्रों को भी वेद नहीं मानते । चार वेदों की चार शाखाओं को छोड़कर वे बाकी सहस्राधिक संहिताओं की वेदता का अपलाप करते हैं । इससे अधिक धृष्टता, वेद का और आर्ष मत का तिरस्कार क्या हो सकता है ? इस पर भी ये लोग पण्डितों की सच बात की निन्दा करते थकते नहीं हैं ।

पृ० ७५ पर मन्त्र और ब्राह्मण के उक्त लक्षण में अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोष दिखाकर इसको सदोष सिद्ध किया गया है । किन्तु यह कथन भी जैमिनि सूत्र और शावर भाष्य के विपरीत है । जैमिनि ने स्वयं मन्त्रविशेष, मंत्र सामान्य और ब्राह्मण का लक्षण बताया है । हमारे ये मीमांसक जी बड़े विचित्र हैं । ये मन्त्रलक्षणाधिकरण (२।१।३२) में लिखित लक्षण को भी स्वीकार नहीं करते । भाष्य में यहां पर कृष्ण यजूर्वेदीय शाखा का निराकरण नहीं है, किन्तु जैमिनि कृत लक्षण का तात्पर्य समझाया गया है कि मन्त्र का क्या लक्षण है ? जो वचन पक्ष में अनुष्ठीयमान कर्म को कहते हैं, उन्हीं में अभियुक्त मन्त्रों को पढ़ते हैं, मन्त्र पढ़े जा रहे हैं, आदि व्यवहार करते हैं । वस्तुतः मन्त्र का यह लक्षण प्रायिक है, अर्थात् सर्वत्र नहीं घटता । कुछ ऐसे भी वचन हैं, जो यज्ञ में अनुष्ठीयमान कर्म को करने वाले नहीं, परन्तु मन्त्र कहे जाते हैं । जैसे कि—'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' इस वचन में । प्रायिक मन्त्रों में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोष नहीं लागू हो सकते । इसोलिये जिन वाक्यों में वैदिकों का मन्त्रत्व व्यवहार है, वे ही सब मन्त्र होते हैं, अतः मन्त्र के लक्षण में कोई दोष नहीं है । यद्यपि विधायक वाक्य ब्राह्मण ग्रंथों में ही मिलते है, तो भी वैदिक विद्वान् इनको मन्त्र ही मानते हैं और उनका पाठ भी मंत्र को तरह ही किया जाता है । इसमें परम्परा ही प्रमाण है । साम्प्रदायिक विद्वानों ने इसको स्वीकार किया है, अतः इस प्रकार के ब्राह्मण वचन भी मंत्र माने जाते हैं । उव्वट, महीधर प्रभृति इसमें एकमत हैं ।

इस शुक्ल यजुर्वेद में थोड़े में सब बात कही गई है और इसका समझना बड़ा सरल है, इसलिये इसको शुक्ल कहा जाता है, कृष्ण नहीं । निरुक्तकार यास्काचार्य ने मन्त्रभाग की सार्थकता वाले प्रकरण (१।१५) में 'अग्नये समिद्धमानाय' इस मैत्रायणी संहिता स्थित ब्राह्मण को ही मन्त्र बताया है । काण्व और वाजसनेयी संहिता स्थित ईशोपनिषद् मन्त्रभाग ही मानी जाती है । सामवेदीय कौथुम संहिता का आरण्यक भी मन्त्रभाग के ही अन्तर्गत है । परम्परा शून्य समाजियों का व्यवहार मन्त्रत्व का प्रयोजक नहीं है । उस

मित्यारभ्य अध्यायसमाप्तिपर्यन्तं ब्राह्मणम्। स्वल्पत्वाद् दुर्ज्ञेयत्वाभावाच्च शुक्लत्वमेव न कृष्णत्वम्। निरुक्तकारैर्यास्काचार्यैरपि मन्त्रभागसार्थक्यप्रकरणे (नि० १।१५) इत्यत्र 'अग्नये समिद्ध्यमानायानुब्रूहि' इति मैत्रायणीसंहितास्थितस्य ब्राह्मणस्यैव मन्त्रत्वमुक्तम्। काण्ववाजसनेयिगताया ईशोपनिषदश्च मन्त्रत्वमेवाभिप्रेतम्। सामवेदीयकौथुमसंहिताया आरण्यकस्यापि मन्त्रान्तर्गतत्वान्मन्त्रत्वमेव मन्यते। न च पारम्पर्यशून्यानां समाजिनां व्यवहारो मन्त्रत्वकारणम्। तद्रीत्या तत्तच्छाखिनां वैदिकानां यत्र यत्र मन्त्रत्वेन व्यवहारस्तेषां मन्त्रत्वं स्फुटमेव, तेन शाकल्यादीनामेव वेदत्वं न काण्वादीनामित्युक्तिः प्रमादविलसितैव। यद्यपि 'यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुः शब्दः, इति मन्त्राणां लक्षणानि, तथापि यजुःसंहितायामृचो यजुर्धर्मेणैवाधीयन्ते।

किञ्चायं युधिष्ठिरो यः पूर्वं पूर्वमीमांसकानां याज्ञिकानाञ्च भेदमुक्तवान्, स एवेदानीं मीमांसाभाष्यकारं शबरस्वामिनं याज्ञिकशिरोमणिं लिखति (७५ पृष्ठे) तर्हि केन किं श्लिष्यते ? (७६ पृष्ठे) पुनर्लिखति—'मीमांसकरीत्या 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' इति वाक्यं मन्त्रसंज्ञकमिति शबरस्वामिवचनेन स्पष्टम्। याज्ञिकानामुक्तलक्षणरीत्या वाक्येऽत्र मन्त्रत्वं न प्राप्तम्; कुतः ? यज्ञे क्रियमाणस्य कस्यचिदपि कर्मणोऽस्मारकत्वात्, अतोऽव्याप्तिः' इति। तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, विकल्पासहत्वात्। तथाहि कुतो नात्रानुष्ठीयमानकर्माननुस्मारकत्वम् ? मन्त्रे सामर्थ्याभावात्, विनियोगाभावाद्वा ? नाद्यः, द्रव्यं देवता च कर्मणः स्वरूपम्, तयोरुभयोरप्यत्र विद्यमानत्वात् सामर्थ्याभावासिद्धेः। नान्त्यः, मन्त्रत्वादेव तत्सिद्धेः। न च श्रौतविनियोगादर्शनात्तदसिद्धिः, लिङ्गबलादपि तत्सिद्धेः। अयं मन्त्रो विनियुक्तो मन्त्रत्वाद् इषे त्वादिमन्त्रवद् इत्यनुमानस्य जागरूकत्वात्। किञ्च, कृष्णयजुर्वेदिभिः स्वशास्त्रार्थं सा परिभाषा निर्मितेत्यत्रापि वक्तव्यं, यत् सा परिभाषा प्रामाणिकी अप्रामाणिकी वा ? आद्ये सिद्धमेव वेदत्वम्। अन्त्ये च ऋषीणामपि मिथ्यावादित्वापत्तेः। न च तच्छाखिनामेव कृते प्रामा-

उस शाखा के वैदिक विद्वान् जहां जहां मन्त्र पद का व्यवहार करते हैं, वे सब मन्त्र ही माने जाते हैं। अतः शाकल्य प्रभृति शाखाएँ ही वेद हैं, काण्व प्रभृति नहीं, यह समाजियों का कथन प्रमाद प्रयुक्त है। यद्यपि मीमांसा में ऋक्, साम और यजुः का लक्षण दिया गया है, तो भी यजुःसंहिता में विद्यमान ऋचाओं का पाठ यजुर्मन्त्रों की तरह ही किया जाता है।

युधिष्ठिर मीमांसक ने पहले पूर्वमीमांसकों और मीमांसकों में भेद बताया है, वही अब यहाँ पर मीमांसा भाष्यकार शबर स्वामी को याज्ञिक शिरोमणि बताते हैं। इससे क्या अभिप्राय निकाला जाय। आगे वे पुनः लिखते हैं—मीमांसकों के अनुसार 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' यह वाक्य मन्त्रसंज्ञक है, यह शबर स्वामी के उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट है। याज्ञिकों के उक्त लक्षण के अनुसार इस वाक्य में मन्त्रत्व प्राप्त नहीं होता, क्योंकि यह वाक्य यज्ञ में क्रियमाण किसी कर्म का स्मारक नहीं है। अतः इस अंश में अव्याप्ति दोष है' (पृ० ७६), किन्तु यह कथन भी उनके अज्ञान का ही बोधक है, क्योंकि आपके पास हमारे इस विकल्प का कोई उत्तर नहीं है कि यहाँ पर अनुष्ठीयमान कर्म की अनुस्मारकता क्यों नहीं है ? मन्त्र में इसकी सामर्थ्य नहीं है अथवा उसका ऐसा विनियोग नहीं मिलता ? इसमें पहला पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि द्रव्य और देवता ही मिलकर कर्म का स्वरूप बनाते हैं। ये दोनों ही यहाँ विद्यमान हैं, अतः इस सामर्थ्य का अभाव यहाँ नहीं कहा जा सकता। अन्तिम पक्ष भी इसलिये नहीं बनेगा कि मन्त्र के साथ विनियोग लगा ही हुआ है। श्रौत विनियोग का अभाव होने पर भी लिंग के बल से उसकी सिद्धि हो जायगी। 'यह मन्त्र विनियुक्त है, मन्त्र होने से, इषेत्वा प्रभृति मन्त्रों की तरह' यह अनुमान भी इसमें सहायक होगा। आप कहते हैं कि कृष्ण यजुर्वेदियों ने अपने लिये यह परिभाषा बनाई है। इस पर भी हम पूछते हैं कि यह परिभाषा प्रामाणिक है या नहीं ? यदि प्रामाणिक है, तो मन्त्र ब्राह्मणात्मक भाग को वेद माना ही जायगा और यदि अप्रामाणिक है, तो ऋषियों को भी मिथ्यावादी मानना पड़ेगा। उसी शाखा वालों के लिये यह वचन प्रमाण होगा, अन्य शाखा वालों के लिये नहीं, यदि ऐसा माना जाय, तो आश्वलायन, कात्ययन प्रभृति सूत्रों का भी प्रामाण्य केवल अपनी अपनी शाखा के लिये ही होगा। तब अन्य शाखा वालों के लिये ये अप्रमाण माने जायेंगे। किन्तु ऐसा व्यवहार में है नहीं, ये सूत्र ऋग्वेद और यजुर्वेद की सभी शाखाओं में समान रूप से आदृत हैं। वेद होने के कारण इनको यदि आप प्रमाण मानते हैं, तो हमारे मत से ये भी

णिकी; नान्यशाखिनः प्रतीति चेत्तथात्वे आश्वलायनकात्यायनोक्तसूत्राणामपि शाकलिनां वाजसनेयिनां कृते प्रामाण्येऽप्यन्यशाखीयान् प्रत्यप्रामाण्यापत्तेः न च तेषां वेदत्वान्न तथात्वमिति वाच्यम्, तथैव तत्रापि वेदत्वाविशेष्यात्, शाखात्वाविशेष्याच्च। किञ्च येषां वचनानां प्रामाणिकाः पुरुषा मन्त्रत्वं कथयेयुस्ते मन्त्रा इत्यपि लक्षणमेव। यद्बोधनाय वचनविशेषस्यापेक्षा तस्य कृत्रिमत्त्वं न स्वाभाविकत्वमिति त्वद्रीत्यैव तेषां वाक्यानां मन्त्रत्वं कृत्रिममेव न मुख्यमिति वैपरीत्यापत्तेः। प्रामाणिकपुरुषनिर्णयोऽपि दुष्कर एव। यद्यापस्तम्बादीनामप्यप्रामाणिकत्वं तदा दयानन्दीयानां कुतः प्रामाणिकत्वम् ?

यदुक्तम्—'यद्यापस्तम्बादिश्रौतसूत्ररचनाकाले ब्राह्मणग्रन्थानां लोकप्रसिद्धिः स्यात्, तदा आपस्तम्बादिश्रौतसूत्ररचयितृभिर्ऋग्वेद-शुक्लयजुर्वेद-सामवेदानां श्रौतसूत्रकारैरिव मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाविधायकं सूत्रं कथं न निर्मीयेत ? मन्त्राणामिव ब्राह्मणानामपि वेदत्वस्य प्रसिद्धौ सत्यामपि कृष्णयजुर्वेदीयश्रौतसूत्रकारैर्लोकप्रसिद्धिपुष्ट्यर्थं यथा सूत्रं रचितं तथैव ऋग्वेदादिश्रौतसूत्रकारैरपि तथा सूत्रं किमिति न निर्दिष्टम् ? न च दृश्यते तेषां तादृक्षं सूत्रम्, तेन मन्त्राणामेव वेदत्वं प्राचीनाचार्याणामभिप्रेतम्, न ब्राह्मणानां तच्छेषाणामारण्यकानां तदन्तर्गतोपनिषदां च' इति; तदपि शतशः खण्डितमेव, हेत्वसिद्धेः। त्वद्रीत्यापि मन्त्राणां मन्त्रत्वमपि न स्वतः सिद्धम्, वेदत्वं तु दूरतो निरस्तम्। प्रामाणिकपुरुषैर्मन्त्रत्वेनाभ्युपगतत्वमेव मन्त्रत्वमिति त्वयापि लक्षणाङ्गीकारो विहितः। नापि ऋग्वेद-शुक्लयजुर्वेद-सामवेदत्वादिकं वेदविशेषणं सिद्धम्, परान् प्रति तदसिद्धेः। कात्यायनादिभिरपि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति सूत्रस्य निर्मितत्वाद् व्यतिरेकासिद्धेश्च। यथा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति स्वाध्यायाध्यनविधिस्तैत्तिरीयशाखीयैरिव सर्वशाखीयैरङ्गीक्रियत इति न शुक्लयजुरादिशाखासु पृथगुल्लेख आवश्यकः। प्राचीनतमैः कृष्णयजुर्वेदीयैः श्रौतसूत्रकारैः कृतं लक्षणमेव नवीनैः शुक्लयजुर्वेदिभिरप्यङ्गीकृतमिति विपरीतस्यैव सम्भवात्। तथात्वे च मनु-व्यास-जैमिनि-यास्क-पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलि-गोतम-कणाद-

वेद ही हैं। आश्वलायन, कात्यायन के समान कृष्ण यजुर्वेद की संहिता भी वेद की शाखा मानी ही जाती है।' जिन वचनों को प्रामाणिक पुरुष मन्त्र कहें वे मन्त्र हैं 'यह भी मन्त्र का लक्षण ही है।' जिसको जानने के लिये वचन विशेष की आवश्यकता होती है, वह कृत्रिम होता है, स्वाभाविक नहीं आपके ही इस कथन के अनुसार मन्त्र को जानने के लिये जो आपने विशेष शब्दों का प्रयोग किया है, उनमें भी मन्त्रत्व कृत्रिम ही रहेगा, मुख्य नहीं। इस तरह से आपकी ही उक्ति आपके विपरीत पड़ेगी। प्रामाणिक पुरुष का निर्णय होना भी कठिन है। यदि आपस्तम्ब प्रभृति ऋषि अप्रामाणिक हैं तो दयानन्द की प्रामाणिकता कैसे सिद्ध हो सकेगी ?

आगे आप लिखते हैं—'यदि आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्रों के रचना काल में ब्राह्मण-ग्रन्थों का भी वेदत्व लोकप्रसिद्ध होता, तो कृष्णयजुः के आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्र रचयिता भी ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद तथा सामवेद के श्रौतसूत्रकारों के समान उक्त वचन न पढ़ते। अथवा मन्त्रों के समान ब्राह्मण का वेदत्व प्रसिद्ध होने पर भी जैसे कृष्ण यजुर्वेद के श्रौत सूत्रकारों ने लोक प्रसिद्धि की पुष्टि के लिये उक्त सूत्र रचा, तद्वत् ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद तथा सामवेद के श्रौतसूत्रकार भी उक्त सूत्र का निर्देश करते। परन्तु ऐसा नहीं किया, अर्थात् मन्त्र ब्राह्मण-संमिश्रित कृष्णयजुः के श्रौतसूत्रकारों ने ही उक्त सूत्र पढ़ा है, केवल मन्त्रात्मक ऋग्वेद, शुक्लयजुर्वेद और सामवेद के श्रौतसूत्रकारों ने इस प्रकार का कोई वचन नहीं बनाया। इससे भी स्पष्ट है कि मन्त्रों का ही वेदत्व प्राचीन आचार्यों को भी अभिप्रेत है। ब्राह्मणों, उनके शेषभूत आरण्यकों तथा तदन्तर्गत उपनिषदों का मुख्य वेदत्व उन्हें इष्ट नहीं है' (पृ० ७७)। इस तरह की बातों का अनेक बार खण्डन किया जा चुका है। आपके मत के अनुसार भी मन्त्रत्व स्वतः सिद्ध नहीं है, तब वेदत्व कैसे स्वतः सिद्ध हो जायगा ? प्रामाणिक पुरुषों के द्वारा मन्त्र के रूप में स्वीकृत वचन ही मन्त्र कहे जाते हैं, यह मन्त्र का लक्षण अभी आपने किया है। ऋक्, यजुः और सामवेद के विशेषण के रूप में स्वीकृत नहीं है। कात्यायन प्रभृति ने 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह सूत्र बनाया है। जैसे तैत्तिरीय शाखा में पठित 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। इस अध्ययन विधि को सभी शाखा वाले मानते हैं, अतः शुक्ल यजुर्वेद में इसका अलग उल्लेख आवश्यक नहीं है। इसी तरह से प्राचीनतम कृष्ण यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र के लक्षण को नवीन शुक्ल यजुर्वेद में भी मान्यता प्राप्त है। इस तरह से यह वचन आपके विपरीत ही जायगा। मनु, व्यास, जैमिनि, यास्क, पाणिनि, कात्यायन,

वात्स्यायन-शबर-कुमारिल-शङ्कर-मण्डन-वाचस्पति-सायण-रामानुज-निम्बार्क-मध्वादिभिरेकत्रिंशदुत्तरैकादशशतशाखात्मकस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदत्वाङ्गीकारात् पुस्तकचतुष्टयमात्रस्य वेदत्वानङ्गीकारात् तत्पक्षस्य वेदबाह्यत्वमेव। अन्यत्सर्वं तु कुचोद्यमेवेत्युपेक्ष्यते।

एतस्मिन् सिद्धान्ते निश्चिते 'श्रौतसूत्रादियाज्ञिकग्रन्थेषु वेदशब्देन ब्राह्मणग्रन्थानां निर्देशः, याज्ञिक मतस्वीकारात्, व्याख्येयवेदग्रन्थानां व्याख्यानभूतत्वाच्च। व्याख्येयव्याख्यानग्रन्थानामभेदोपचारस्य लोके दर्शनाद् ब्राह्मणे वेदत्वोपचाराद् वेदशब्दप्रयोगः' इति, तदपि निरस्तं वेदितव्यम्, तादृशसिद्धान्तस्याद्याप्यनिश्चयात्। व्यास-जैमिनि-पाणिनि-पतञ्जलि-यास्क-गोतम-कणाद-वात्स्यायनादिभिराप्तैरप्रामाणिकपक्षस्य स्वीकारासम्भवात्। न च लोके व्याख्यानव्याख्येययोरभेदव्यवहारः। न च जैमिनिसूत्रशाबरभाष्ययोः पाणिनिसूत्रपातञ्जलमहाभाष्ययोर्वा गोतमसूत्रवात्स्यायनभाष्ययोर्वा अभेदं मन्यते कश्चित्। व्याख्यानव्याख्येययोरभेदव्यवहारे काण्वसंहितासायणभाष्ययोरप्यभेदव्यवहारः स्यात्। तस्मात् सर्वमपि मीमांसकम्मन्यस्य विध्वस्तमेव मोहमूलकं मायामयं भवनम्।

यदपि ७७ पृष्ठे लिखितम्—'अमृतसरसि सर्ववेदशाखासम्मेलने सनातनिनां पक्ष आसीद् वेदे विज्ञानं नास्ति, तथा ब्राह्मणग्रन्थानां वेदत्वमिति विषयमधिकृत्य शास्त्रचर्चायां तद्विरोधोऽस्माकं पक्ष आसीत्। मदीयाक्षेपाणामुत्तरं दातुमसमर्थैर्वेदसंज्ञाविषयकं नवीनं लक्षणं प्रस्तुतम्' इत्यादिकम्, तत्तु दम्भाहङ्कारमूलकमेव, तदानीमेव काशीस्थैः पण्डितैस्तत्पक्षस्य तिलशः खण्डितत्वात्। वेदमन्त्रेषु वायुयानधूमयान-जलयान-कम्प्यूटरादिनिर्माणानुगुणं विज्ञानं वेदमन्त्राणां नार्थः। तादृशार्थकरणं तु दयानन्दस्य बालचापलमेवेति तस्यानेकधा खण्डितत्वात्। ब्राह्मणानां शाखानामेव बेदत्वं, न शाखाव्यतिरिक्ता वेदा

पतंजलि, गोतम, कणाद, वात्स्यायन, शबर, कुमारिल, शंकर, मण्डन, वाचस्पति, सायण, रामानुज, निम्बार्क, मध्व प्रभृति आचार्यों ने ११३१ शाखा वाले मन्त्रब्राह्मणात्मक ग्रन्थराशि को वेद के रूप में स्वीकार किया है। इन सब ने केवल चार पुस्तकों को ही वेद नहीं माना, अतः आपका पक्ष वेदबाह्य ही माना जायगा। इसके अतिरिक्त तो आपका सारा कथन कुचोद्य मात्र है। उसकी हम उपेक्षा कर देते हैं।

इस सिद्धान्त के स्वीकार कर लेने पर 'श्रौतसूत्र प्रभृति ग्रन्थों में वेद शब्द से ब्राह्मण ग्रन्थों का ही निर्देश मिलता है, वह याज्ञिक मत को स्वीकार कर लेने के कारण होगा। अथवा मन्त्र व्याख्या भूत ब्राह्मण-ग्रन्थों में व्याख्योपग्रन्थ (वेद) का औपचारिक (गौण) रूप से प्रयोग किया होगा। व्याख्यान-ग्रन्थों में व्याख्येय ग्रन्थ का उपचार प्रायः लोक में देखा जाता है' (पृ० ७७) इस मत का भी खण्डन हो जाता है। क्योंकि ऐसा सिद्धान्त अभी भी स्थिर नहीं हुआ हैं। व्यास, जैमिनि, पाणिनि, पतंजलि, यास्क, गोतम, कणाद, वात्स्यायन प्रभृति आप्त पुरुष अप्रामाणिक पक्ष को कभी स्वीकार नहीं कर सकते। लोक में भी व्याख्यान ग्रन्थों और व्याख्येय ग्रन्थों में अभेद व्यवहार नहीं देखा गया है। जैमिनि सूत्र और शाबर भाष्य को, पाणिनि सूत्र और पातंजल भाष्य को, गोतम सूत्र और वात्स्यायन भाष्य को कोई भी व्यक्ति एक नहीं मानता। व्याख्यान और व्याख्येय में अभेद मानने पर कण्व संहिता और उसके सायणभाष्य में भी अभेद मानना पड़ जायगा। इस तरह मीमांसक जी की माया से बना यह अज्ञानमूलक भवन पूरी तरह से ढह गया है।

पृ० ७८ पर आप लिखते हैं—'अमृतसर में सर्ववेद शाखा सम्मेलन में सनातनियों का पक्ष कि वेद में विज्ञान नहीं है तथा ब्राह्मण ग्रन्थ वेद के ही अन्तर्गत हैं। इन दोनों विषयों पर हमारा उनका शास्त्रार्थ हुआ। मेरे द्वारा किये गये आक्षेपों का सनातनी कोई उत्तर न दे सके और उन्होंने वेद का एक नया ही लक्षण प्रस्तुत कर दिया', किन्तु यह सम्पूर्ण कथन उनके दम्भ को व्यक्त करने वाला है, क्योंकि काशी के पंडितों ने तत्काल ही उनके पक्ष की धज्जी उड़ा दी थी। वेद मन्त्रों में वायुयान, धूमयान, जलयान, कम्प्यूटर आदि के निर्माण को बताने की बात किसी भी मन्त्र में नहीं है। इस तरह का अर्थ करना स्वामी 'दयानन्द का बचकानापन है। इस बात को पहले ही अनेक युक्तियों के सहारे सिद्ध किया जा चुका है। ब्राह्मणों और शाखाओं से भिन्न वेद की कोई पृथक् सत्ता नहीं है,

इति सारस्वतपण्डितदीनानाथादिभिरन्यैश्च बहुधा प्रतिपादितमेव। यत्तु 'सम्प्रदायाविच्छिन्नत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वं वेदत्वम्' मिति लक्षणं तद्व्याख्यानं च कृतम्, तदप्यशुद्धमेव। सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वं अपौरुषेयत्वम्, अपौरुषेयवाक्यसमूहो वेदः। तच्च न नवीनम्, चित्सुखाचार्यादिभिः स्वीकृतत्वात्।

यदुक्तम्—'माध्यन्दिनसंहितायाः पदपाठेऽतिव्याप्तिः; तस्यापौरुषेयत्वस्यानिष्टत्वात्' इति; तदपि तुच्छम्, सर्वेषामपि पदपठानां नित्यत्वाभ्युपगमेन आक्षेपानवकाशात्। एतच्च कर्णेहत्य वेदस्वरूपविमर्शे पर्यालोचनीयम्। यत्तु—"वा इति य इति चकार शाकल्यः, उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यद् असुसमाप्तश्चार्थः' (नि० ६।२८) इति यास्केन 'वनेन वायो न्यधायि……' (ऋ० सं० १०।२९।१) इति मन्त्रे पठितं 'वायः' इति एकं पदं मत्वा व्याख्याय लिखितम्। शाकल्येन वा, यः, इति पदविभागः कृतः; स चायुक्तः, 'य' इति प्रयोगे अधायि इत्याख्यातस्योदात्तत्वं स्यात्। 'यद्वृत्तान्नित्यम्' (पा० सू० ८।१।६६) इति यत्पदस्य योगे परस्याख्यातस्यानुदात्तत्वं न भवति। अधायीत्याख्यातं तु अनुदात्तमेव। तस्माद्यास्करीत्या पदपाठः शाकल्यकृतत्वात् पौरुषेय एव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथात्वे शाकलीसंहिताया अपि शाकल्यकृतत्वेन पौरुषेयत्वापत्तेः। यदि तु शाकल्यस्य प्रकाशकत्वेनैव कर्तृत्वोपचार इति न संहितायाः पौरुषेयत्वम्, तर्हि पदपाठेऽपि तथैव वक्तुं शक्यत्वात्।

वस्तुतस्तु—यथा स्वाभिमतशाखाया महत्त्वबोधनाय 'तदुहैकेऽन्वाहुः होता यो विश्ववेदस इति नेदरमिति आत्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयाद् मानुषं हते यज्ञे कुर्वन्ति। तस्माद्यथैव ऋचा अनूक्तमेवानुब्रूयाद् होतारं विश्ववेदसमिति' (श० १।४।१।३५) इति, यथा ब्राह्मणे होतारं विश्ववेदसमिति पाठस्य प्रशंसार्थं होता यो विश्ववेदस इति पाठान्तरस्य मानुषत्वकथनेन निन्दा कृता, तथैव यास्केन 'वायः' इति पाठयुक्तायाः संहितायाः प्रशंसार्थं 'वा' 'यः' इति भिन्नपाठवत्याः शाकल्यसंहिताया निन्दार्थमेव तत्र दूषणमुक्तम्। शाकल्यः स्वसंहितायां 'वा' 'यः' इति चकार। उदात्तं त्वेवमा-

इस बात को पण्डित दीनानाथ शास्त्री सारस्वस्त ने बड़े विस्तार से सिद्ध किया है। 'सम्प्रदायाविच्छिन्नत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृत्वम्' इस लक्षण को और उसकी व्याख्या को भी मीमांसक जी ने अशुद्ध रूप से प्रदर्शित किया है। वस्तुतः यह अपौरुषेयता का लक्षण है। अपौरुषेय वाक्य समूह को ही वेद कहते हैं। यह लक्षण भी नवीन नहीं है। चित्सुखाचार्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ चित्सुखी में इस की बहुत पहले चर्चा आ चुकी है।

वे फिर कहते हैं कि 'इस लक्षण की माध्यन्दिन संहिता के पदपाठ में अति व्याप्ति हो जायगी, क्योंकि उस पदपाठ को अपौरुषेय नहीं माना जाता', किन्तु आपका यह कथन व्यर्थ है, क्योंकि हमारे मत से सभी पदपाठ नित्य माने जाते हैं, अतः आपका आक्षेप उन पर लग ही नहीं सकता। इस विषय पर हम 'वेदस्वरूपविमर्श' नामक ग्रंथ में विस्तार से विचार कर चुके हैं। 'वा इति च' इत्यादि निरुक्त वचन को उद्धृत कर आपने लिखा है कि 'निरुक्तकार यास्क ने 'वनेन वायो न्यधायि' इस मंत्र में पठित 'वायः' को एक पद मान कर व्याख्या करके लिखा है कि शाकल्य ने 'वायः' में 'वा यः' ऐसा दो पद रूप विभाग किया है। वह अयुक्त है। 'यः' पद का प्रयोग होने पर 'अधायि' क्रिया को उदात्त होना चाहिये, क्योंकि यत् शब्द के योग में पद से परे भी क्रिया पद अनुदात्त नहीं होता। 'यद्वृत्तान्नित्यम्' (८।१।६६) यहाँ यास्क ने स्पष्ट रूप से ऋग्वेद के पदपाठ को शाकल्य कृत, अर्थात् पौरुषेय कहा है और उसमें दोष दर्शाया है (पृ० ७८), किन्तु इस कथन में भी कोई सार नहीं है। इस तरह से तो शाकली संहिता को भी शाकल्य कृत होने से ही औपचारिक रूप से इसके कर्ता मान लिये गये हैं, अतः इसमें पौरुषेयता नहीं आवेगी। यदि आप ऐसा मानते हैं, तो उसी पद्धति से पदपाठ के विषय में भी यही उत्तरदिया जा सकता है।

वास्तव में देखा जाय तो 'तदुहैके' प्रभृति शतपथ वाक्य में जैसे स्वाभिमत शाखा के और उसमें स्वीकृत पाठ के महत्व को बताने के लिये उसकी प्रशंसा की गई है और अनयमित पाठ की निन्दा की गई है, उसी पद्धति से यास्क ने 'वायः' पाठ वाली संहिता की प्रशंसा और 'वा यः' पाठ वाली शाकल्य संहिता की निन्दा के लिये उक्त दूषण बताया है कि शाकल्प ने उस सही

ख्यातमभविष्यत्। असुसमाप्तश्चार्थं इति, एतेनेदमायातं यद् यास्कस्तां संहितां मूलवेदं मन्यते, यस्यां 'वाय' इति एकपदमासीत्।

अद्यत्वे प्रचलितायामृग्वेदशाकल्यसंहितायां (यां समाजिनो मूलवेदमपौरुषेयं मन्यन्ते, या अजमेरवैदिकयन्त्रालये मुद्रिता, तस्यां) प्राचीनसंस्करणे ५६० पृष्ठे १०।२९।१ मन्त्रे 'वा' 'यः' इति भिन्ने द्वे पदे स्तः। तथा च शाकल्यकृतायाः समाजिसम्मतायाः ऋग्वेदसंहितायाः मानुषत्वेन पौरुषेयत्वमेव स्यात्। 'यदस्य पूर्वमपरं तदस्य……अहेरिव सर्पणं शाकल्यस्य न विजानन्ति' (ऐ० ब्रा० ३।५) इत्यस्य व्याख्याने युधिष्ठिरमीमांसकेनैव संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास इति ग्रन्थस्य १२४ पृष्ठे शाकलशाखाया आद्यन्तयोः समानत्वेन अहिगतिरुक्ता। अर्थात् शाकलशाखायाः प्रथममण्डले १९१ सूक्तानि सन्ति, तथैवान्तिमे दशमे मण्डलेऽपि १९१ सूक्तानि सन्ति। एतेन वर्तमाना ऋग्वेदसंहिता शाकलसंहितैव सिद्धयति; अष्टकवत्यां संहितायां तु नेदं घटते। तत्र प्रथमाष्टके २६५ वर्गा अष्टमाष्टके च २४६ वर्गाः सन्ति। अस्याः शाकलसंहितायाः सूच्याम् आर्यसमाजिना विश्वेश्वरानन्देन नित्यानन्देन च 'वायः' इति एकपदपाठः क्वापि न स्वीकृतः। अस्यैव मन्त्रस्य 'वा' इति पदं सूच्यां ३७१ पृष्ठेऽस्ति। अस्यैव मन्त्रस्य 'य' इति पदं ३२१ पृष्ठेऽस्ति। वैदिकयन्त्रालयमुद्रितायामथर्ववेदसंहितायामपि 'वा' 'यः' (अथर्व० २।७६।१) इति द्वे पदे पृथक् पृथक् स्तः। निर्णयसागरप्रकाशितायां पदसूच्यामपि 'वायः' इति पाठो नास्ति। मुद्रणप्रमादोऽपि न वक्तुं शक्यते ,सर्वत्रैकरूप्यात्। एतेन यास्करीत्या शाकलसंहिताया अथर्ववेदसंहितायाश्च पौरुषेयत्वमेव सिद्धयति, न वेदत्वम्। व्याख्यानं तु सर्वैरपि भाष्यकारैः 'वाय' इति एकपदानुसारेणैव कृतम्, वेः पक्षिणोऽयं वायः, पक्षिशावक इत्यर्थः। एतेन सा ऋग्वेदसंहिता काचिदन्यैव यस्यां 'वनेन वायो न्यधायि चाकन्' (ऋ० सं० १०।२९।१) इति मन्त्रे 'वायः' इत्येकपदपाठ आसीत्।

यत्तु—"शाकल्यस्य पदपाठकर्तृत्वेन ऋग्वेदसंहितायाः शाकलसंहितेति नामकरणम्। यथा—'उखः शाखामिमां

पाठ को अपनी संहिता 'वायः' कर दिया है और इसी कारण से उस पाठ में उक्त दोष आते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि यास्क उस संहिता को मूलवेद मानते हैं, जिसमें कि 'वायः' इसको एक पद माना गया है।

आजकल प्रचलित ऋग्वेद की शाकल्यसंहिता के, जिसको कि समाजी मूल अपौरुषेय वेद मानते हैं और जो अजमेर के वैदिक यन्त्रालय से छपी है. प्राचीन संस्करण में ५६० पृष्ठ पर छपी (२०।२९।१) सख्या के मन्त्र में 'वा यः' इस तरह भिन्न पद वाला पाठ ही छपा है। इस तरह से आपके द्वारा उद्धृत निरुक्त वचन से आपकी बात सिद्ध न होकर उलटे आपके द्वारा अपौरुषेय वेद के रूप में स्वीकृत शाकल्य संहिता ही पौरुषेय सिद्ध हो जाती है। 'यदस्य पूर्व०' प्रभृति ऐतरेय ब्राह्मण के वचन की व्याख्या करते हुए युधिष्ठिर मीमांसक ही 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ के पृ० १२४ पर शाकल शाखा के आदि और अन्त भाग के समान होने के कारण उसकी गति सर्प सरीखी मानी है। अर्थात् शाखा के प्रथम मण्डल में १९१ सूक्त हैं और अन्तिम दशम मण्डल में भी इतने ही सूक्त हैं। इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान ऋग्वेद संहिता ही शाकल संहिता है। अष्टक विभाग वाली संहिता मे यह लक्षण घटित नहीं होता, क्योंकि प्रथमाष्टक में २६५ वर्ग हैं और अष्टमाष्टक में २४६ वर्ग हैं। इस शाकल संहिता की सूची में आर्यसमाजी विश्वेश्वरानन्द और नित्यानन्द ने 'वायः' इसको एक पद के रूप में कहीं भी स्वीकार नहीं किया है। ये दोनों पद वहाँ अलग अलग पृष्ठों पर उल्लिखित हैं। वैदिक यन्त्रालय से मुद्रित अथर्ववेद संहिता में भी 'वा यः' ये दोनों पद अलग अलग हैं। निर्णय सागर प्रेस से छपी पदसूची में भी 'वा यः' यह पाठ नहीं मिलता। इसको मुद्रण का दोष भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सर्वत्र एकरूपता है। इस तरह से आपकी व्याख्या के अनुसार तो यास्क के प्रमाण से शाकल संहिता और अथर्ववेद संहिता दोनों पौरुषेय सिद्ध हो जाती हैं, और इस तरह से इनको वेद से बाहर कर देना पड़ेगा। इसकी व्याख्या तो सभी भाष्यकारों ने एक पद मानकर ही की है। इस पद का अर्थ होता है पक्षी का बच्चा। इससे यही सिद्ध होता है कि वह ऋग्वेद-संहिता कोई दूसरी ही थी, जिसमें कि 'वनेन वायो०' इस मन्त्र में 'वायः' यह एक पद वाला पाठ था।

यह कहा जाता है कि 'ऋग्वेदसंहिता का पदपाठ शाकल्य ने बनाया था, इसलिये इसको शाकल संहिता कहते हैं।

प्राह आत्रेयाय यशस्विने। तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयी चैव सोच्यते ॥ यस्याः पदकृदात्रेयः…' (तैत्तिरीयकाण्डानुक्रम—पृ० ९१२६-२७) तदर्थस्तु—उखेनेयं शाखा आत्रेयाय पाठिता। आत्रेयोऽस्य पदकृत् तेनेयमात्रेयी संहितोच्यते। तथैव शाकल्येन ऋग्वेदसंहितायाः पदपाठः कृतः, तत एवेयं शाकलसंहितोच्यते' इति, तदप्यसङ्गतम्, विकल्पासहत्वात्। किमात्रेयायोखेनेयं शाखा प्रोक्ता, आत्रेयेन च तस्याः पदयोजना कृता, तस्मादस्या आत्रेयीति नामकरणम्, आत्रेयस्य पदपाठकारत्वाद्वाऽस्या आत्रेयीति नामकरणम् ? यदि पदपाठकारत्वेनास्यास्तथा नामकरणं स्यात्तदा तथैव वक्तव्यमासीत्। अत्र तु 'तेन शाखा प्रणीतेयम्' इत्युक्तम्। अर्थात् तेन प्रणयनात् सा आत्रेयी उच्यते। प्रणयनं लिपिबद्धकरणम्। एवमात्रेयीति नामकरणस्य हेतुमुक्त्वा 'यस्याः पदकृदात्रेयः' इत्युक्तम्। यदि पदपाठकारत्वेन तस्या आत्रेयीति नामकरणं स्यात्, तदा कुण्डिनेन तस्या वृत्तिकरणात् कौण्डिनीति नाम किन्न स्यात् ? तथैव यदि शाकल्येन पदपाठनिर्माणाद् ऋग्वेदसंहितायाः शाकल्यसंहितेति नामकरणं स्यात्तदा यजुर्वेदसंहिताया वाजसनेयी माध्यन्दिनीति वा नामकरणमपि वाजसनिना मध्यन्दिनेन वा पदपाठनिर्माणादेव स्यात्। तथा कुथुमेन पदपाठनिर्माणात् सामसंहितायाः कौथुमीति नामकरणं स्यात्। अथर्वसंहितायाश्च शौनकेन पदपाठकरणादेव शौनकीतिनामकरणं स्यात्। भगवद्दत्तादिसमाजिभिस्तथैवाङ्गीक्रियतेऽपि। तथात्वे माध्यन्दिनी-संहितायाः पदपाठकर्ता निश्चित एवेति कुतस्तत्रातिव्याप्तिः ? यदि वाजसनेयी—माध्यन्दिनी-कौथुमी-शौनक्यादि नाम-सम्बन्धादेव वाजसन्यादीनां पदपाठकर्तृत्ववेन तन्नामकरणं परिकल्प्येत, तदा काठकादिसंहितादीनामपि नामकरणमपि कठादीनां पदपाठकर्तृत्वेनैव स्यात्। तथात्वे च काठकादीनामवेदत्वोक्तिः समाजिनां निर्मूलैव स्यात्। वस्तुतस्तु शाकल्येन पदपाठकरणात् शाकल्यसंहितेति नामकरणमपि नोपपद्यते; पदपाठोऽन्यः, संहिताऽन्या। संहिता सन्धिरुच्यते, पदच्छेदस्तु पदपाठः। शाकल्यस्य पदपाठकर्तृत्वेन शाकलपदपाठ इति स्यान्न शाकलसंहितेति।

जैसा कि 'उखः शाखा०' इस तैत्तिरीय काण्डानुक्रम के श्लोक में बताया गया है कि 'उख ने इस शाखा को आत्रेय को पढ़ाया। आत्रेय ने इसका पद पाठ बनाया। इसलिये यह आत्रेयी संहिता कहलाती है'। इसी तरह से शाकल्य ने ऋग्वेद संहिता का पाठ बनाया, इसलिये इसको शाकल संहिता कहते हैं। यह पूरा कथन भी असंगत है, क्योंकि आगे उठाये गये विकल्प का आपके पास कोई उत्तर नहीं है। जैसे क्या आत्रेय को उख ने इस शाखा का प्रवचन किया और आत्रेय ने इसकी पदयोजना की, इसलिये इसका नाम आत्रेयी है ? अथवा आत्रेय इसके पद पाठकार हैं, इसलिये इसको यह नाम दिया गया है ? यदि पदपाठकार के नाम से उसका नाम किया गया है, इस बात को इसी रूप में वहाँ बताना था। यहाँ पर ऐसा न करके 'उसने शाखा बनाई' ऐसा कहा गया है, अर्थात् उस शाखा का प्रणेता आत्रेय था, अतः उसे आत्रेयी कहा गया है। प्रणयन का अर्थ है लिपिबद्ध करना। इस तरह से 'आत्रेयी' नामकरण का कारण बताने के बाद कहा गया है कि 'इसके पदकार आत्रेय हैं'। यदि पदपाठकार के नाम से इसको आत्रेयी कहा गया, तो कुण्डिन ने इसकी वृत्ति की, अतः इसका नाम कौण्डिनी क्यों नहीं रखा गया। इसी तरह से शाकल्य के पद पाठ निर्माता होने के कारण ऋग्वेद संहिता का नाम शाकल्य संहिता रखा गया तो यजुर्वेद संहिता का नाम वाजसनेयी या माध्यन्दिनी नाम इसलिये माना जायगा कि वाजसनी अथवा माध्यन्दिनी ने इनके पद पाठ का निर्माण किया। इसी तरह से सामसंहिता का नाम कौथुमी इसलिये माना जायगा कि कुथुम ने इसका पद पाठ बनाया और अथर्वसंहिता का पदपाठकर्ता शौनक था, इसलिये इसका नाम शौनकी रखा गया। भगवद्दत्त प्रभृति समाजी विद्वान् तो इस बात को स्वीकार भी कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में माध्यन्दिनी संहिता का पदपाठकर्ता जब आपके इस मत के अनुसार सिद्ध हो जाता है, तो वहाँ अतिव्याप्ति दोष कैसे आवेगा ? यदि वाजसनेयी माध्यन्दिनी, कौथुमी, शौनकी नाम से संबद्ध होने के कारण ही वाजसनी प्रभृति को पदपाठकर्ता मानकर उनका नाम उन संहिताओं से जोड़ा गया है, ऐसा आप मानते हैं, तो उसी तरह से काठक-संहिता प्रभृति का नामकरण भी कठ आदि के पद पाठकर्ता होने के कारण ही मान लिया जायगा। ऐसी स्थिति में काण्वसंहिता प्रभृति को अवैदिक सिद्ध करने का समाजियों का प्रयास निराधार हो जायगा। वास्तव में पदपाठकार के नाम से संहिता का नाम रखा जाता हो, ऐसी बात नहीं है। पदपाठ भिन्न होता है और संहिता भिन्न होती है। सन्धि के कारण संहिता का रूप बनता है और पदच्छेद के कारण पद पाठ का। शाकल्य के पदपाठकर्ता होने पर शाकल पदपाठ तो कहा जा सकता है, किन्तु इतने मात्र से संहिता का नाम भी शाकल संहिता नहीं हो सकता।

तथैव यास्केन निरुक्ते (८।२१) 'वनस्पते रशनया नियूय पिष्टतमया वयुनानि विद्वान् । वहा देवत्रा दिधिषो हवींषि प्र च दातारममृतेषु वोचः ॥' इति ऋगुद्धृता । शाकल्यसंहितायां तु 'वनस्पते रशनया नियूया देवानां पाथ उपवक्षि विद्वान् । स्वदातिदेव कृणवद्धवींषि अवता द्यावापृथिवी हवं मे ॥' (ऋ० सं० १०।७०।१०) एवं रूपेण सा लभ्यते । यदि यास्कोद्धृता ऋक् मैत्रायणीसंहिताया (मै० सं० ४।१३।६५) ऋक् स्यात्, तदा निरुक्तकारस्य यास्कस्याप्तत्वं मन्यमानैः समाजिभिर्मैत्रायणीसंहिताया अपि वेदत्वं मन्तव्यमेव । यद्यपि निरुक्तोद्धृते मन्त्रे 'दिधिषोः' इति पाठः, मैत्रायणीसंहितायां तु दधिषोः इति पाठो दृश्यते । तथैव 'देवेभ्यो वनस्पते हवींषि' (नि० ८।१९) इति समुद्धृता ऋगपि शाकल्यसंहितायां नोपलभ्यते । मैत्रायणीसंहितायां (४।१३।६३) लभ्यते । 'भद्र वद दक्षिणतः' (नि० ९।५) इति निरुक्तोद्धृता ऋगपि शाकल्यसंहितायां नोपलभ्यते, ऋक्परिशिष्टे तूपलभ्यते, तस्माद् यास्काभिमता ऋक्संहिता शाकलसंहिताया अन्यैव । तस्याः प्रशंसार्थमेव यास्कः शाकल्यसंहिताया 'वा' 'य' इति पाठभेदस्य शाकल्यकृतत्वेन मानुषीत्वेन तां निन्दति । तस्मात् शाकल्येन पदपाठकरणान्नास्याः शाकल्यसंहितेति नामकरणं सम्भवति, किन्तु शाकल्येन प्रोक्तत्वात् प्रकाशितत्वाद्वाऽस्याः शाकलसंहितेति नामकरणम्, ऐतरेयादिवचनेन पदपाठस्याप्यपौरुषेयत्वात् । पदपाठोऽपि प्रोक्तत्वात् तत्तन्नाम्ना प्रसिद्धः । माध्यन्दिनसंहितायाः पदपाठस्य न प्रसिद्धिस्ते नतरां तस्य पौरुषेयत्वम् । 'अथ ऋग्वेदाम्नाये शाकलके (१।१) इति सर्वानुक्रमणिकावचनात् शाकल्यप्रवचनादेव शाकलकं तद्विशेषणं, न पदपाठात् । षड्गुरुशिष्येण तु वेदार्थदीपिकायां शाकल्योच्चारणं शाकलकमित्युक्तम् । शौनकाचार्यस्य अनुवाकानुक्रमण्यां च शाकल्यदृष्टे वेदे इत्युक्तम् । एवं यथा शाकल्यसंहिताया वेदत्वमुक्तं तथैव सर्वासामपि संहितानां वेदत्वं मन्तव्यम् । अत एव पाणिनिना 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' (पा० सू० ७।४।३८) इत्यत्र काठकसंहिताया अपि यजुर्वेदत्वमुक्तम् ।

यत्तु—'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्' (म० भाष्य ३।१।१०९, ६।१।१०७,

इसी तरह से यास्क ने निरुक्त (८।२१) में 'वनस्पते रश०' इति ऋचा को उद्धृत किया है । शाकल्य संहिता (१०।७०।१०) में भिन्न रूप में इसका पाठ मिलता है । यदि यास्क द्वारा उद्धृत मन्त्र मैत्रायणी संहिता (४।१३।६५) का माना जाय तो निरुक्तकार यास्क को प्रमाण मानने वाले आर्यसमाजियों के लिये मैत्रायणी संहिता का भी वेदत्व मानना आवश्यक हो जायगा । यद्यपि निरुक्त-उद्धृत मन्त्र में 'दिधिषोः' पाठ है और मैत्रायणी संहिता में 'दधिषोः' यह पाठ मिलता है । इसी तरह से 'देवेभ्यो वनस्पते' प्रभृति निरुक्त (८।१९) में उद्धृत मन्त्र शाकल्य संहिता में नहीं मिलता और मैत्रायणी संहिता (४।१३।६३) में उपलब्ध है । 'भद्र वद दक्षिणतः' यह ऋचा भी निरुक्त (९।५) में उद्धृत है, किन्तु यह शाकल्यसंहिता में न मिलकर ऋक् परिशिष्ट में उपलब्ध होती है । इन सब प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि यास्क द्वारा स्वीकृत ऋक् संहिता शाकल संहिता से भिन्न कोई दूसरी ही थी । उसी की प्रशंसा करने के लिये यास्क ने बताया है कि शाकल्यकृत पद पाठ का अनुसरण करने वाला पाठ स्वीकार करने के कारण शाकल्य संहिता मनुष्यकृत है । इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पद पाठ के आधार पर इस संहिता का यह नाम रखा गया, किन्तु शाकल्य-प्रोक्त होने के कारण ही अथवा प्रकाशित किये जाने के कारण ही इसका यह नाम है । फिर ऐतरेय ब्राह्मण प्रभृति के वचन के अनुसार पद-पाठ भी अपौरुषेय ही माना जाता है । पद-पाठ भी प्रोक्त होने से ही उनके नाम से प्रसिद्ध है । आपके मत के अनुसार माध्यन्दिन संहिता का पद पाठ प्रसिद्ध नहीं है, तब उसके पौरुषेय होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । 'अथ ऋग्वेदाम्नाये शाकलके' इस सर्वानुक्रमणी के वचन से भी शाकल्य के प्रवचन के आधार पर ही शाकलक उसका विशेषण बनता है, पद पाठ के आधार पर नहीं । सर्वानुक्रमणी के भाष्यकार षड्गुरुशिष्य तो वेदार्थ-दीपिका नामक भाष्य में शाकल्य के उच्चारण के आधार पर शाकलक शब्द सिद्ध किया है । शौनकाचार्य की अनुक्रमणी में 'शाकल्य दृष्ट वेद' यह उसका अर्थ किया है । इस परिस्थिति में भी आप शाकल्य संहिता को वेद मानते हैं, तो उसी तरह अन्य संहिताओं को भी आपको वेद मानना चाहिये । 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' (प्रा० सू० ७।४।३८) इस सूत्र में पाणिनि ने काठकसंहिताको वेद माना ही है ।

पृ० ७८-७९ पर आप लिखते हैं कि 'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः' महाभाष्य के इस प्रमाण के आधार पर पदपाठ

८।२।१६) इति महाभाष्यरीत्या पदपाठस्य पौरुषेयत्वं स्पष्टम्, 'न लक्षणे नेति संहिताया एव नित्यत्वं पदच्छेदस्य तु पौरुषेयत्वम् इति ३।१।१०९ सूत्रभाष्यव्याख्याने कैयटः। तेन पदपाठस्य पौरुषेयत्वमिति तदपि 'तेन प्रोक्तम्' (पा० स० ४।३।१०१) इति सूत्रप्रत्याख्यानावसरे महाभाष्यकारैः 'या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सा अनित्या' इति। अत्र नागेशः—'वेदानुपूर्वी अनित्या' इत्यर्थः। एतेन संहितानामप्यनित्यत्वस्वीकारेण पौरुषेयत्वाभ्युपगमात्। सर्वमेतत् काठकादिसंहितानामेव कृते न शाकलादीनामित्यादिकं तु सर्वमिहैव विस्तरेण निराकृतम्, काठकादिपुरुषविशेषकृतत्वेन वर्णानुपूर्व्या अनित्यत्वेऽप्येकरूपत्वात् प्रलयपर्यन्तस्थायित्वेन नित्यत्वोपचार इति केचित्। यद्यपि कठादीनां प्रवक्तृत्वेनैव काठकादिसमाख्या, न तु तत्कर्तृकत्वेनेति निरूपितमेव, तथापि नित्यानां विभूनां वर्णानामानुपूर्व्यसम्भवात् कण्ठताल्वादिजनितध्वनिविशिष्टवर्णव्यक्तीनामनित्यत्वेन पौर्वापर्यसम्भवेऽपि शिष्याचार्यव्यक्तीनां भिन्नत्वेन आनुपूर्वीणां भिन्नत्वेऽप्यनन्तानन्तसृष्टिप्रलयादिष्वपि समानरूपत्वेनैकरूप्यात् प्रवाहरूपेण नित्यत्वमिति पूर्वानुपूर्वीसमानानुपूर्वीकत्वेन प्रथमोच्चरितत्वाभावेन स्वतन्त्रोच्चरितत्वाभावेन चापौरुषेयत्वमेव। लक्षणैकचक्षुष्कैः सर्वैर्लक्षणानामनुवर्तनीयत्वेऽपि न लक्ष्यैकचक्षुष्कानां तदनुवर्तनम्। अत एव वैदिकेष्वार्षेषु च वाक्येषु लक्षणानुसारित्वं प्रायिकमेव, क्वचिदन्यथापि प्रयोगदर्शनात्। पाणिन्यादिसूत्रेष्वपि क्वचिल्लक्षणानुसरणं दृश्यते 'युष्मदस्मदोः षष्ठी चतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वां नावौ' (पा० सू० ८।१।२०) इत्यादौ। तत्कस्यचिज्ज्ञापकमित्यन्यत्। शाकल्यादीनामृषित्वेन तत्कृतावार्षप्रयोगस्यापि सम्भवात्। पदकारैर्लक्षणमनुवर्त्यमिति तु प्रायिकमेव।

यदपि—'ऐतरेयादिब्राह्मणग्रन्थेषु स्वरचिह्नानुपलम्भात् प्राचीनकाले च ब्राह्मणग्रन्थानामपि सस्वरत्वात् सम्प्रदायविच्छेदेनाव्याप्तेश्च' इति, तन्न, एकदेशविकृतमनन्यवदिति स्वरराहित्येऽपि पठनपाठनसम्प्रदायाविच्छेदस्य सत्त्वात् यथा समाजिपठिता वेदमन्त्राः स्वरसम्प्रदायशून्या अपि तैर्मन्त्रा अभ्युपेयन्ते, तद्वत्। किञ्च, अत्यल्पमिदमुच्यते। शाकला-

पौरुषेय है। कैयट ने यहां स्पष्ट किया है कि संहिता ही नित्य होती है, पदच्छेद तो पौरुषेय माना जाता है। अतः पद-पाठ पौरुषेय ही माना जायगा, नित्य नहीं', किन्तु इसका उत्तर 'तेन प्रोक्तम्' इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए स्वयं भाष्यकार ने दे दिया है कि वर्णानुपूर्वी अनित्य मानी जाती है। इस वचन की व्याख्या करते हुए नगेशभट्ट कहते हैं कि वेद की आनुपूर्वी अनित्य है। इस तरह से संहिता की भी अनित्यता और पौरुषेयता स्वीकृत हो जाती है। आप इस वाक्य को काठक प्रभृति संहिताओं के साथ जोड़ सकते हैं, किन्तु इसका सही उत्तर हमने पहले ही दे दिया है कि कुछ लोग इसका समाधान यह करते हैं कि काठक प्रभृति विशेष पुरुष की कृति होने से वर्णानुपूर्वी के अनित्य होने पर भी प्रलय पर्यन्त स्थायी होने से इनमें नित्यत्व का औपचारिक प्रयोग होता है। वस्तुतस्तु कठ प्रभृति के प्रवचन के आधार पर ही काठक प्रभृति संज्ञा संहिताओं की रखी गई है, कृति के आधार पर नहीं। नित्य और विभु वर्णों में आनुपूर्वी नहीं बन सकती, तो भी कण्ठ, तालु प्रभृति से उत्पन्न ध्वनिविशिष्ट वर्णों की अनित्यता के आधार पर उनमें यह आनुपूर्वी औपचारिक मानी जाती है। इस स्थिति में शिष्य और आचार्य की भिन्नता के आधार पर यह आनुपूर्वी भी भिन्न भिन्न मानी जायगी, किन्तु यह आनुपूर्वी एक ही प्रकार की होगी और अनन्तानन्त सृष्टि-प्रलय परम्परा में भी यह आनुपूर्वी बदलेगी नहीं। अतः प्रवाह रूप से यह नित्य मानी जायगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि पूर्वानुपूर्वी के समान आनुपूर्वी का उच्चारण न होने के कारण ही यह अपौरुषेय है। लक्षणों का अनुसरण करके चलने वालों को लक्षण का अनुवर्तन करना ही चाहिये, किन्तु लक्ष्य मात्र की दृष्टि वाले ऋषियों के लिये यह आवश्यक नहीं है। इसीलिये वैदिक आर्ष वाक्यों में लक्षण का अनुसरण प्रायिक है, कभी-कभी इच्छानुसार वे लक्षण का अनुवर्तन भी करते हैं। पाणिनि प्रभृति के सूत्रों में भी कहीं-कहीं प्राचीन लक्षण का अनुवर्तन देखा जाता है।' युष्मदस्मदोः' इत्यादि सूत्रों में यह देखा जा सकता है। शाकल्य प्रभृति ऋषि हैं, इनकी कृति में आर्ष प्रयोग मिलने ही चाहिये। पदकार लक्षण का अनुवर्तन करें ही, यह आवश्यक नहीं है।

'ऐतरेय प्रभृति ब्राह्मण ग्रन्थों में अब स्वरों के चिह्न उपलब्ध नहीं होते, किन्तु प्राचीन काल में इनका पाठ सस्वर उपलब्ध था। इस तरह से ब्राह्मण ग्रन्थों में सम्प्रदाय का विच्छेद हो जाने से उक्त वेद लक्षण इनमें नहीं घटता, यह कहना भी इसलिये ठीक नहीं है कि 'एक देश के विकृत होने पर भी वह भिन्न नहीं हो जाता' इस न्याय के अनुसार स्वर के अभाव में भी पठन-पाठन के

दिकतिचिच्छाखाभ्योऽतिरिक्ताः सहस्राधिकाः शाखा अपि लुप्ता एवेति, तावतापि सूर्यलोके तासां सम्प्रदायाविच्छेदस्य सत्त्वेनापौरुषेयत्वानपायात्। अन्यथा समाजिसम्मता वेदा अपि सहस्राधिकनगरग्रामादिषु कोटिकोटिमनुष्येषु विच्छिन्नसम्प्रदायत्वेन पौरुषेया एव स्युः। अन्यादृशस्यापौरुषेयत्वस्य समाजिभिरपि वक्तुमशक्यत्वात्। ईश्वरनिर्मितत्वरूपाऽपौरुषेयत्वसिद्धिस्तु दुर्लभैव। कस्यचिदृषेर्वचनेन तथात्वाभ्युपगमे तु बुद्धजिनादिवचनस्य तथैव प्रामाण्यं किन्न स्याद् इत्युक्तौ प्रत्युत्तरासम्भवात्। सूर्यलोके वेदास्तिष्ठन्तीत्यत्र तु वायुपुराणस्य वचनमेव प्रमाणम्। युधिष्ठिरमीमांसको लौकिकवाग्व्याहारेष्वपि सस्वरत्वसाधनाय यतते। परं समाजिनस्तु वेदमन्त्राणामपि सस्वरोच्चारणं कर्तुं न पारयन्ति।

यच्च—'यथा स्वररहितकल्पसूत्राणामाम्नायवत् प्रामाण्यं नास्ति, तथैव स्वररहितब्राह्मणग्रन्थानामप्याम्नायवत् प्रामाण्यं नास्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथात्वे समाज्युच्चरितमन्त्राणामपि स्वरहीनत्वेनाप्रामाण्यापत्तेः। वस्तुतस्तु स्वरराहित्यं स्वरसाहित्यं वा न प्रामाण्याऽप्रामाण्यप्रयोजकं यथा पौरुषेयत्वम्। तदेवं नाम्नायवत्प्रामाण्यप्रयोजकम्, अन्यथा सस्वरस्य कल्पसूत्रस्याम्नायवत्प्रामाण्यापत्तेः। न च तदसम्भव एव, स्वरप्रक्रियया प्रकृष्टपक्षैः साधयितुं शक्यत्वात्। त्वदनभिमतानां काठकादिसंहितानां सस्वरत्वेऽपि त्वया तासामाम्नायवत् प्रामाण्यानभ्युपगमात्। पण्डितरामावतारशर्मभिरनेके नवीनाः सस्वरा मन्त्रा निर्मिताः। एका संहिता सस्वरा एवोपलभ्यते। न च प्रसिद्धाम्नायवत्तादृशमन्त्राणां प्रामाण्यं शक्यसमर्थनम्, सम्प्रदायाभावात्, ऐतरेयादिब्राह्मणानां स्वरराहित्येपि पठनपाठनतदर्थानुष्ठानपारम्पर्याविच्छेददर्शनात्, तत्रैकदेशविकृतमनन्यवदिति रीत्याऽपौरुषेयत्वमेव मन्तव्यम्।

सम्प्रदाय में अविच्छिन्नता बनी ही है। जैसे आर्यसमाजी बिना स्वर सम्प्रदाय के ही वेदों का पाठ करते हैं और उनको मन्त्र मानते हैं, उसी तरह से यहाँ भी समझना चाहिये। यह तो आपने कम ही कहा, शाकल प्रभृति कुछ शाखाओं को छोड़कर वेद की सहस्राधिक शाखाएँ लुप्त हो गई हैं, तो भी सूर्यलोक में इनका सम्प्रदाय अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है और इस तरह से इनकी अपौरुषेयता में कोई बाधा नहीं पड़ती। अन्यथा आर्यसमाजियों के द्वारा स्वीकृत वेद भी सहस्राधिक नगरों और ग्रामों में करोड़ों-करोड़ मनुष्यों में बंटे हुए हैं, इस तरह से विच्छिन्न रूप से विद्यमान होने से ये भी पौरुषेय माने जायंगे। हमने अपौरुषेयता का जो लक्षण कर दिया है, उससे भिन्न प्रकार का इसका लक्षण आप बना नहीं सकते। ईश्वर निर्मित होने से ये अपौरुषेय हैं, इसको सिद्ध कर पाना असंभव है। किसी ऋषि के कथन के आधार पर ऐसा मानने पर तो बुद्ध, जिन प्रभृति के वचनों को भी प्रमाण मानना पड़ेगा और इसका आपके पास कोई उत्तर नहीं मिलेगा। सूर्यलोक में वेद विद्यमान है, इसमें तो वायु-पुराण का वचन प्रमाण है। युधिष्ठिर मीमांसक लौकिक बातचीत में भी स्वर की सत्ता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, परन्तु समाजी विद्वान् तो मन्त्रों का भी सस्वर उच्चारण नहीं कर सकते।

'जैसे स्वर रहित कल्प सूत्रों का वेद के समान प्रामाण्य नहीं है, उसी तरह से स्वररहित ब्राह्मणों का भी प्रामाण्य नहीं माना जायगा' यह कथन भी निःसार है, क्योंकि समाजियों के द्वारा उच्चरित मन्त्र भी स्वरहीन होने से इसी पद्धति के अनुसार अप्रमाण मान लिये जायंगे। वास्तव में स्वरसाहित्य अथवा स्वरराहित्य प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का प्रयोजक नहीं है। इसका निश्चायक तो पौरुषेयत्व और अपौरुषेयत्व धर्म ही है। यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो अस्वर कल्पसूत्र को भी आपको वेद के समान प्रमाण मानना पड़ेगा। इसमें असंभावना की कोई बात नहीं है, क्योंकि स्वर प्रक्रिया के उत्कृष्ट नियमों के आधार पर ऐसा ही किया जा सकता है। फिर आप तो स्वर की विद्यमानता होने पर भी काठक संहिता प्रभृति को वेद के समान प्रमाण नहीं मानते। पण्डित रामावतार शर्मा ने अनेक सस्वर मन्त्रों का निर्माण कर दिया था। एक पूरी संहिता ही उन्होंने सस्वर बना दी है, किन्तु सम्प्रदाय के अभाव में वेद के समान उसका प्रामाण्य कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत ऐतरेय प्रभृति ब्राह्मणों में स्वर के अभाव में भी पठन-पाठन और उसके अर्थ का अनुष्ठान करने की परम्परा के अक्षुण्ण चलते रहने के कारण 'एकदेश विकृत'—न्याय से अपौरुषेयता का लक्षण घटित होने से उनका प्रामाण्य अव्याहत माना जायगा।

यत्तु—'यत्र ब्राह्मणग्रन्थेषु वेदशब्दव्यवहारस्तत्र वेदशब्देन न ब्राह्मणग्रहणम्' इति, तदसङ्गतम्, तथात्वे मन्त्रेषु यत्र मन्त्रव्यवहारस्तत्रापि मन्त्रपदेन मन्त्रग्रहणानापत्तेः। त्वद्रीत्या, मन्त्र-वेदा-म्नाय-श्रुतिशब्दानां पर्यायत्वोपगमात्। यदपि—(वस्तुतः शङ्कास्वरूपमित्थम्) 'एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सपुराणाः' (गोपथब्रा० १।२।१) इत्यत्र न वेदशब्देन ब्राह्मणानां ग्रहणं सम्भवति, पृथग् ब्राह्मणग्रहणवैयर्थ्यापातात् इति, तदपि न मनोज्ञम्, ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन वशिष्ठब्राह्मणन्यायेन वा तत्र समाधानसम्भवात्। तथा च सपरिव्राजका ब्राह्मणाः सवशिष्ठा ब्राह्मणा आयाता इतिवत् सब्राह्मणा वेदा इति प्रयोगे बाधाभावात्। यथा ब्राह्मणविशेष एव परिव्राजको भवति, ब्राह्मणविशेष एव वशिष्ठः प्रसिद्धः। तत्र ब्राह्मणे परिव्राजकस्य वशिष्ठस्य वा वैशिष्ट्यद्योतनायैव तथा प्रयोगः सम्भवति, तथैव ब्राह्मणस्य वैशिष्ट्यद्योतनायैव पार्थक्येन ब्राह्मणग्रहणम्। ब्राह्मणस्य नियोक्तृत्वेन राजस्थानीयत्वेन मन्त्राणां विनियोज्यत्वेन प्रजास्थानीयत्वात्।

यत्तु—'यत्र वक्तृश्रोत्रोर्वशिष्ठस्य ब्राह्मणत्वं ज्ञातं भवति तत्रैव ब्राह्मणवशिष्ठ-न्यायप्रवृत्तिः। तथैव यदि वशिष्ठस्य ब्राह्मणेतरत्वमेव निश्चितं स्यात्तदा नास्य न्यायस्य प्रवृत्तिः, तथैव यदि ब्राह्मणग्रन्थानां वेदत्वेन स्वीकृतिः स्यात्तदैव तन्न्यायप्रवृत्तिः। ब्राह्मणग्रंथेषु च ब्राह्मणग्रंथो वेदोऽस्तीति नोक्तम्, तस्मान्नात्र न्यायस्य प्रवृत्तिः इति, तदेतदरण्यरोदनमेव, 'नह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' इति न्यायविषयत्वात्। तादृशशब्दप्रयोगाच्च तथात्वविज्ञानात्। सर्वत्र वैदिकेषु मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च वेदत्वं पारम्पर्येणैव निश्चितम्। बुद्धिप्रयत्नानपेक्षत्वेन निःश्वासस्याकृत्रिमत्ववन्मन्त्रब्राह्मणादीनां परमेश्वरस्य निःश्वसितत्वेनाकृत्रिमत्वाच्चापौरुषेयत्वं वेदत्वं च सिद्धमेव। एवमिमे वेदाः सब्राह्मणा इति प्रयोगदर्शनेन सन्दिहानस्य ब्राह्मण-विशिष्ठन्यायेन समाधानम्। यदि कश्चिद् वेदरामायणमहाभारतादिसिद्धब्राह्मण्यतच्छ्रेष्ठत्वस्य। ब्राह्मणस्यापि वशिष्ठस्य ब्राह्मणे-

'ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ वेद शब्द का व्यवहार मिलता है, वहाँ वेद शब्द से ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण नहीं होता' (पृ० ८०) यह कथन भी असंगत है, क्योंकि इसी तरह से कोई कहने लगेगा कि मन्त्रसंहिताओं में जहाँ मन्त्र शब्द का व्यवहार है, वहाँ मन्त्र शब्द से मन्त्र का ग्रहण नहीं होता। आपने मन्त्र, वेद, आम्नाय, श्रुति इन शब्दों को पर्यायवाची माना है। आपकी शंका का स्वरूप यह है—'एवमिमे०' इस गोपथ ब्राह्मण के वचन में वेद शब्द से ब्राह्मण का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ पर वेद के अतिरिक्त ब्राह्मण शब्द भी जोड़ा गया है, यदि ब्राह्मण भी वेद ही है, तो उसी से ब्राह्मणभाग का भी ग्रहण हो जाता और उस स्थिति में यहाँ पठित ब्राह्मण पद व्यर्थ हो जाता', किन्तु यह कथन इसलिये रुचिकर नहीं है कि 'बाह्मणपरिव्राजक' न्याय अथवा 'वसिष्ठ बाह्मण न्याय' से इसका समाधान किया जा सकता है। सपरिव्राजक बाह्मण अथवा सवशिष्ठ बाह्मण के समान सबाह्मण वेद का प्रयोग किया जाय, तो इसमें क्या आपत्ति हो सकती है। जैसे परिव्राजक भी बाह्मण ही है और वसिष्ठ भी बाह्मण ही है, तो भी ब्राह्मण पद से उनका ग्रहण कर उनको आदर देने के लिये उनका नाम भी लिया जाता है, उसी तरह से ब्राह्मण वेद होने पर उसको विशेष आदर देने के लिये गोपथ के उक्त वचन में ब्राह्मण का वेद से अलग पाठ किया गया है। ब्राह्मणभाग विनियोजक होने से राजा का स्थान रखता है और मन्त्र कर्म में विनियुक्त होने से यहाँ पर प्रजा स्थानीय हैं। इस परिस्थिति में ब्राह्मण भाग का अलग से उल्लेख कर उसको विशेष आदर दिया जाय, यह उचित ही है।

'जहाँ वक्ता और श्रोता को वशिष्ठ ब्राह्मण है, यह ज्ञात रहता है, तभी उक्त न्याय की प्रवृत्ति होती है। वसिष्ठ ब्राह्मणेतर है, यह निश्चित हो जाने पर इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। उसी तरह से ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद मान लेने पर ही उस न्याय की प्रवृत्ति होगी। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद हैं। अतः इस न्याय की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होगी, यह कथन भी अरण्यरोदन मात्र है। 'यह स्थाणु (सूखा पेड़) का अपराध नहीं है कि अन्धा उसको नहीं देख पाता'। वैदिक सम्प्रदाय में सर्वत्र ब्राह्मणों का वेद के रूप में परम्परा से स्वीकार किया गया है। बुद्धि प्रयत्न की अपेक्षा के बिना ही निःश्वास के समान अकृत्रिम रूप से मन्त्र-ब्राह्मणात्मक पूरा वाङ्मय परमेश्वर के निःश्वास से निकला है, अतः वह अकृत्रिम और अपौरुषेय है। इस तरह से इस पूरे वाङ्मय की वेद संज्ञा है। 'एवमिमे०' 'इस गोपथ वचन से जिसके मन में सन्देह पैदा हो गया है, उसका समाधान ब्राह्मण

तरत्वं मनुते, तथाप्यास्तिकं प्रति भवत्येव ब्राह्मणवशिष्ठन्यायस्य प्रवृत्तिः। 'वेदाः सब्राह्मणाः' इत्यत्र सब्राह्मण इति विशेषणस्याऽनुपपत्त्या ब्राह्मणस्य वेदाद् भिन्नत्वं सिषाधयिषति। ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेन वा विशेषणस्योपपत्त्याऽनुपपत्तिर्निवारितेति न तदनुपपत्त्या ब्राह्मणभिन्नत्वं सिद्ध्यति। ब्राह्मणस्य वेदाद् भिन्नत्वं सिद्धं स्याच्चेत् तदा तत्सिषाधयिषया प्रमापकत्वेनोक्तवचनस्योपादित्सा न स्यात्। यत्तूक्तवचने 'सकल्पाः सरहस्याः', आदिपदैः सह यत्, स, इति पदं श्रुतम्, तद् वेदापेक्षया ब्राह्मणग्रन्थस्य हीनत्वं द्योतयति' इति, तदपि ब्राह्मणविषयकदूषितबुद्धिविलसितम्। यदपि 'सच्छात्रो गुरुरागतः, सपुत्रः पिता' इतिवत् सकल्पाः सरहस्या इत्यत्र 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (पा० सू० २।३।१९) इति तृतीयाविधायकसूत्रेण वेदापेक्षया ब्राह्मणादीनामप्राधान्यावगमो भवतीति, तदपि यत्किञ्चित्, 'देव्या हते तत्र महासुरेन्द्रे सेन्द्राः सुरा वह्निपुरोगमास्ताम्' इत्यादौ इन्द्रस्य प्राधान्यवद् ब्राह्मणादीनां प्राधान्यावगमेऽपि बाधाभावात् 'ऋचः सामानि जज्ञिरे' (वा० सं० ३१।७) 'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः' (अथर्व ११।९।२४), 'पुराणं यजुषा सह' (अथर्व० ११।९।२४) इत्यत्र त्वद्रीत्या पुराणापेक्षया प्रधानेऽपि यजुषि तृतीयादर्शनात्।

यदपि 'सेतिहासाः सपुराणाः' इत्यादिपदेषु कल्पसूत्रेतिहासपुराणग्रंथानां निर्देशात् तेषां च वादिभिः पौरुषेयत्वस्वीकाराद् अपौरुषेये च ब्राह्मणवाक्ये पौरुषेयग्रंथानां निर्देशासम्भवाच्च ब्राह्मणानां पौरुषेयत्वमेव। ब्राह्मणसम्बन्धे ब्राह्मणवशिष्ठन्यायप्रयोगे सकल्पाः सेतिहासा इत्यादिष्वप्येकयोगनिर्दिष्टत्वात् समानन्यायत्वेन तन्न्यायप्रयोगात् पुराणेतिहासादिग्रंथानां वेदापेक्षया वैशिष्ट्यं समुदेति न च तदिष्यते वैदिकैः। तस्मान्न ब्राह्मणग्रंथानां वेदत्वम्' इति, तदपि तुच्छम्, सहस्राधिकमन्त्रसंहिताब्राह्मणादीनां वेदत्वापलापपापमलिनमतिविलसितम्। 'पुराणं यजुषा सह' (अथर्व० ११।९।२४) इति वेदमन्त्रेणैव पुराणस्य प्राधान्यप्रतिपादनात्। 'श्रुतीस्मृती उभे नेत्रे विप्राणां परिकीर्तिते। एकेन हीनः

वशिष्ठन्याय से हो जायगा। यदि कोई वेद, रामायण, महाभारत प्रभृति में श्रेष्ठ ब्राह्मण के रूप में प्रसिद्ध वसिष्ठ को ब्राह्मणेतर मानना चाहे तो माने, तो भी आस्तिक जनों के प्रति ब्राह्मण वसिष्ठ न्याय की प्रवृत्ति प्रमाण मानी ही जायगी। 'वेदाः स ब्राह्मणाः' इस वचन में सब्राह्मण इस विशेषण की अनुपपत्ति के आधार पर आप ब्राह्मणभाग की मन्त्र भाग से भिन्नता सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु ब्राह्मण परिव्राजकन्याय अथवा ब्राह्मणवशिष्ठन्याय से जब विशेषण की आपत्ति बन जाती है और अनुपपत्ति का निवारण हो जाता है, तब उसके आधार पर ब्राह्मण भाग को आप मन्त्र भाग से पृथक् सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि आपका आधार ही समाप्त हो गया। यही आप लिखते हैं—उक्त वचन में 'सकल्पाः सरहस्याः आदि पदों के साथ जो 'स' श्रुत है, वह वस्तुतः वेद की अपेक्षा ब्राह्मण ग्रंथों की हीनता का बोधक है' (पृ० ८१)। यह कथन केवल ब्राह्मणों के विषय में आपके मन की कलुषता का विलास मात्र है। 'सच्छात्रो गुरुरायातः', सपुत्रः पिता' प्रभृति वाक्यों के समान ही 'सकल्पाः सरहस्याः यहाँ पर भी 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इस पाणिनि सूत्र से अप्रधान अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है। इससे भी वेद की अपेक्षा ब्राह्मणभाग का अप्राधान्य बोधित होता है' यह कथन भी निस्सार है, क्योंकि दुर्गासप्तशती में 'सेन्द्राः सुराः' इस प्रयोग में इन्द्र का ही प्राधान्य है, उसी तरह से उक्त वाक्य में भी ब्राह्मण भाग की ही प्रधानता बताई जाय तो कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। ब्राह्मण भाग की प्रधानता का कारण हम उपर बता चुके हैं। 'पुराणं यजुषा सह' इस वाक्य में आपके मत के अनुसार पुराण की अपेक्षा प्रधान यजुर्वेद के साथ तृतीया विभक्ति लगाई गई है। इससे सिद्ध है कि तृतीया विभक्ति अप्रधान अर्थ को ही द्योतित करे, यह कोई सार्वऽत्रिक ध्येय के रूप में मान्य नहीं है।

'सकलाः सेतिहासाः पुराणाः' पदों में कल्पसूत्र, इतिहास और पुराण ग्रन्थों का उल्लेख है। इन्हे वादी भी पौरुषेय मानते हैं। उनके मत में ब्राह्मण ग्रन्थ अपौरुषेय हैं, (तब भला यथा अपौरुषेय ब्राह्मणवाक्य में इन पौरुषेय ग्रन्थों का निर्देश कैसे हो सकता है? इतना ही नहीं, यदि वादी के मतानुसार ब्राह्मणवशिष्ठन्याय का उक्त वचन में प्रयोग करें, तो ब्राह्मण ग्रन्थों के समान पौरुषेय कल्पसूत्र, इतिहास और पुराण ग्रन्थों की भी मन्त्रों से अधिक महत्ता सिद्ध होगी, जो किसी भी समझदार आस्तिक को स्वीकार नहीं हो सकती। इससे भी सिद्ध होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं माने जा सकते' (पृ० ८१–८२), किन्तु यह कथन भी निराधार है। सहस्राधिक मन्त्रसंहिता, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों को वेद न मानने का पातक बुद्धि को मलिन कर देता है। नहीं तो इतनी सी बात

काणः स्याद् द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः ॥' इति । 'श्रुतीस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम् । पुराणहीनाद्धृच्छून्यात्काणान्धावपि तौ वरौ ॥' इति च पुराणस्य हृदयरूपत्वेन तद्धीनस्य काणान्धाभ्यामप्यधिकनिन्दितत्वात् पुराणस्य श्रेष्ठत्वमेवोक्तम् । यथा आम्रवृक्षापेक्षयापि तत्फलस्य तत्रापि परिपक्वफलस्योत्कर्षः, तथैव निगमकल्पतरोरप्यपेक्षया निगमकल्परोः परिपक्वफलस्य तत्रापि शुकतुण्डस्पृष्टस्य माधुर्यातिशयेनोत्कर्षः, तथैव शुकमुखोच्चरितस्य श्रीमद्भागवतमहापुराणस्योत्कर्षं उक्त एव । यथेक्षुदण्डापेक्षयापि तद्विकारस्य शर्करादेः, तदपेक्षया शर्करायाः, तदपेक्षया सितायास्तदपेक्षयापि कन्दस्योत्कर्षः, तथैवाऽपौरुषेयवेदविकारस्यापि पौरुषेयस्यापि पुराणादेरुत्कर्षः सम्भवत्येव । अपौरुषेये मन्त्रे ब्राह्मणे च तत एव तदुल्लेखः सम्भवत्येव, पृथिव्यादीनामिव पुराणादीनां प्रतिकल्पं सत्त्वेन प्रवाहरूपेण नित्यत्वेनापौरुषेये मन्त्रे ब्राह्मणे च तद्वर्णने बाधानुपपत्तेः । अभ्युपगम्य चेदं समाधानमुक्तम् । वस्तुतः प्रकृते 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ० उ०२।४।१०) इति बृहदारण्यकवचनेतु कल्पेतिहासपुराणशब्दा ब्राह्मणविशेषबोधका एव । तच्च तद्वचनव्याख्याने स्पष्टमेव । अत्रापि पूर्वं विवृतमेव ।

यत्तु 'ब्राह्मणभागस्यावेदत्वं पुराणेतिहाससंज्ञकत्वात्' इत्युक्तम्, तदपि यत्किञ्चित्, अप्रयोजकत्वात् । यत्तु ब्राह्मणस्य पुराणत्वे वात्स्यायनभाष्यप्रमाणत्वमुक्तम्, तदपि तुच्छम्, गौतमवात्स्यायनाभ्यां न्यायसूत्रभाष्यकाराभ्यां ब्राह्मणभागस्य वेदत्वाभ्युपगमात् । तथाहि—तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः (२।१।५७) इति सूत्रेण वेदप्रामाण्यदार्ढ्याय स्थूणानिखननन्यायेन वेदस्याप्रामाण्यमाशङ्कितम् । तत्राप्रामाण्यहेतुत्वेनानृत-व्याघात-पुनरुक्तदोषा उक्ताः, वात्स्यायनमुनिना गौतमानुसारेणैवोदाहरणान्युदाहृतानि । पुत्रकामः पुत्रेष्ट्यां यजेत, उदिते होतव्यम्, (ऐ० ब्रा० ५।२९) श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति, 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' (ऐ० १।१३, शत-११।२।१।४, गोपथ २।३।११), सर्वाण्येतानि

क्यों न समझ में आती कि 'पुराणं यजुषा सह' इस अथर्ववेदीय मन्त्र ने ही पुराणों की प्रधानता प्रतिपादित कर दी है । 'श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे' प्रभृति श्लोकों में पुराण को हृदयस्थानीय माना है । अतः हृदयहीन व्यक्ति को श्रुति और स्मृति रूपी नेत्रों के अभाव में काने और अन्धे व्यक्ति से भी अधिक निन्दनीय माना है और इस तरह से पुराणों की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है । जैसे आम के वृक्ष की अपेक्षा उसका फल और उससे भी पका हुआ फल श्रेष्ठ माना जाता है, उसी तरह से निगम कल्पतरु की अपेक्षा उसके परिपक्व फल और उसकी भी अपेक्षा शुक (तोता और शुकदेव) की तुण्ड (चोंच और मुख) से स्पृष्ट होने से जिसकी मधुरता स्पष्ट परिलक्षित होती है ऐसे श्रीमद्भागवत पुराण की उत्कृष्टता मानी ही जायगी । जैसे इक्षु दण्ड (गन्ना) की अपेक्षा उस रस से बनी शर्करा और शर्करा की अपेक्षा मिश्री और उससे भी अधिक मीठा कन्द होता है, उसी तरह से अपौरुषेय वेद का विकारभूत पुराण पौरुषेय होने पर भी उससे उत्कृष्ट हो, इसमें क्या आपत्ति है ? इसी आधार पर अपौरुषेय मन्त्र अथवा ब्राह्मण भाग में उसका उल्लेख भी हो ही सकता है । पृथिवी प्रभृति के समान ही प्रतिकल्प में पुराण प्रभृति की भी सृष्टि होती हैं, तो भी प्रवाह रूप से उनमें नित्यता विद्यमान है और इस तरह से अपौरुषेय मन्त्र अथवा ब्राह्मण भाग में उसका वर्णन मिलने में भी कोई बाधा नहीं है । आपकी बात को ही मानकर यह समाधान दिया गया है । वास्तव में तो प्रकृत स्थल में 'अस्य महतो भूतस्य' इस बृहदारण्यक वचन में कल्प, इतिहास और पुराण शब्द ब्राह्मणविशेष के बोधक हैं । यह बात उसके शांकर भाष्य में स्पष्ट है और उसका विस्तृत विवरण हम पहले ही प्रस्तुत कर चुके हैं ।

'ब्राह्मण भाग को वेद इसलिये नहीं कह सकते कि इसमें इतिहास और पुराण भाग सम्मिलित है, इस कथन में भी कोई दम नहीं है, क्योंकि इतिहास और पुराण भाग का रहना वेद की सत्ता में बाधक नहीं है । ब्राह्मण भाग का समावेश पुराण में बताने के लिये वात्स्यायन भाष्य का प्रमाण दिया जाता है, वह भी गलत है, क्योंकि न्यायसूत्र और भाष्यकार गोतम और वात्स्यायन ने ब्राह्मण भाग को वेद माना है । गोतम ने 'तदप्रामाण्य०' सूत्र में वेद के प्रामाण्य की दृढ़तापूर्वक स्थापना के लिये स्थूणा-निखनन न्याय से उसके ऊपर आशंका प्रकट करते हुए अनृत व्याघात और पुनरुक्त दोषों की उद्भावना की है, और वात्स्यायन मुनि ने तदनुसार ही इन दोषों के उदाहरण दिये हैं । वेद के प्रामाण्य पर आशंका प्रकट करते हुए उद्धृत ये सब वचन ब्राह्मण भाग से लिये गये हैं । यदि ब्राह्मण भाग भी

ब्राह्मणवचनानि। यदि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं न स्यात् तदा ब्राह्मणेऽनृतादिदोषसत्वेऽप्यवेदस्य कुतोऽप्रामाण्यमाशङ्क्येत। तस्माद् ब्राह्मण-भागस्य वेदत्वं मत्वैव तत्राप्रामाण्यमाशङ्क्य समाहितम्। एतदेव सूत्रकारस्याभिमतम्, तत एव पुत्रेष्टेर नृतत्वमाशङ्क्य 'न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्' (गो० सू० २।१।५८) इति कर्मकर्तृसाधनवैगुण्येनानृतदोषपरिहार उक्तः। 'उदिते होतव्यम्'-इति व्याघातदोषनिराकरणाय 'अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्' (२।१।५९) इति समाधानमुक्तम्। 'त्रिः प्रथमाम्' इति पुनरुक्तदोषनिराकरणाय—"अनुवादोपपत्तेश्च" (गो० सू० २।१।६०) इति सूत्रमुक्तम्।

नहि समाजिभिरद्य यावत् मन्त्रभागस्योदाहरणानि समुपस्थापितानि । स्वामिदयानन्देन सत्यार्थप्रकाशे वात्स्यायनभाष्यस्य प्रामाण्यमङ्गीकृतमेव, वात्स्यायनेन च ब्राह्मणभागस्य मन्त्रभागस्येव सर्वथा वेदत्वमङ्गीकृतम्। पुराणेतिहासयोश्च ब्राह्मणभागाद् भिन्नत्वमेवोरीकृतम्। तद्यथा—(गो० सू० ४।१।६२) "अन्यो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः अन्यश्च इतिहास-पुराण-धर्मशास्त्राणाम्"। अत्र मन्त्रभागब्राह्मणभागयोः समानत्वं पुराणेतिहासयोश्च ततो भिन्नत्वमुक्तम्। तत्र यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य विषयः, लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः। तत्र एकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते—इति यथाविषयमेतानि प्रमाणानि, इन्द्रियवदिति । तदनन्तरं ततोऽप्यधिकस्पष्टतया, "प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेन इतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते" इति ब्राह्मणभागादितिहासपुराणयोर्भिन्नत्वं ब्राह्मणेन प्रमाणभूतेन तयोः प्रामाण्यं चोक्तम्।

यत्तु—'सूत्रेणाप्तवचनस्यैव प्रामाण्यमाक्षेपपरिहाराभ्यां स्थापितमिति ब्राह्मणमाप्तवचनत्वेनाङ्गीकृतम्, तत्र न वेदस्य चर्चेति' तदपि यत् किञ्चित्। तथात्वे सूत्रकारभाष्यकारयो र्ब्राह्मणभागस्यैव प्रामाण्यं, न वेद प्रामाण्यं स्यादित्यापत्तेः तथात्वे च ब्राह्मणमूलकत्वेन स्मृतीनामेव प्रामाण्यं शब्दप्रमाणत्वेन ब्राह्मणमेवाङ्गीकृतं स्यात्, मन्त्रभागस्य च प्रामाण्यमसिद्धमेव स्यात्।

वेद न माना जाता, तो उस पर आशंकित अनृत आदि दोषों की स्थिति वेद में क्यों मानी जाती। इससे यही सिद्ध होता है कि ब्राह्मण भाग को भी यहाँ वेद माना गया है और उसके अप्रामाण्य की आशंका उठाने के बाद समाधान भी प्रस्तुत किया गया है। सूत्रकार को भी यही अभीष्ट है। इसीलिये पुत्रेष्टि में अनृतता दोष की आशंका उठा कर कर्म, कर्ता अथवा साधन की विगुणता के आधार पर दोष का परिमार्जन किया है। व्याघात दोष के निराकरण के निर्धारित समय का कालातिक्रम न किया जाय, यह समाधान दिया है और पुनरुक्ति दोष के निराकरण के लिये 'अनुवादोपपत्तेश्च' सूत्र से समाधान किया गया है।

आर्यसमाजियों ने आज तक इनके उदाहरण मन्त्र भाग में खोज कर नहीं दिखाये हैं। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में वात्स्यायन भाष्य को प्रमाण माना है और वात्स्यायन मुनि ने ब्राह्मण भाग को भी मन्त्रभाग के ही समान प्रमाण माना है और पुराण-इतिहास को ब्राह्मण भाग से भिन्न माना है। जैसे कि—'मन्त्र-ब्राह्मण का प्रतिपाद्य विषय भिन्न है और इतिहास-पुराण, धर्मशास्त्र का भिन्न। यज्ञ, मन्त्र-ब्राह्मण का प्रतिपाद्य और लोकवृत्त, इतिहास-पुराण का विषय है, तथा धर्मशास्त्र का विषय है लोक व्यवहार की व्यवस्था करना। इसी एक शास्त्र में ये सब विषय व्यवस्थापित नहीं हो सकते, अतः अपने अपने विषय में ये सब प्रमाण हैं। जैसे कि इन्द्रियाँ अपने अपने विषय में प्रमाण होती हैं'। इतना कह चुकने के बाद और भी स्पष्ट रूप से 'प्रमाणभूत ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर इतिहास-पुराण का प्रामाणिकत्व सिद्ध होता है' यह कहकर वात्स्यायन मुनि ने ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर ही इतिहास-पुराण की प्रामाणिकता मानी है।

'सूत्र में आप्तवचन का प्रामाण्य ही आक्षेप और परिहार द्वारा स्थापित किया गया है और उक्त स्थल पर ब्राह्मणभाग को आप्त वचन ही माना गया है। इसमें वेद की चर्चा है ही नहीं' यह कथन भी अप्रामाणिक है, क्योंकि ऐसा मानने पर उसका यह तात्पर्य निकलेगा कि सूत्रकार और भाष्यकार को ब्राह्मण भाग का ही प्रामाण्य इष्ट है, वेद का नहीं। यदि आपको इष्ट हो, तो उस स्थिति में ब्राह्मण मूलक स्मृतियों का ही प्रामाण्य होगा और शब्द-प्रमाण के रूप में ब्राह्मण भाग का ही ग्रहण होगा और उस स्थिति में मन्त्रभाग की प्रामाणिकता सिद्ध न हो पावेगी।

वस्तुतस्तु वेदस्यैव शब्दत्वेन प्रामाण्यमूरीकृतम्। मन्त्रब्राह्मणयोश्च वेदत्वाद् ब्राह्मणप्रामाण्यनिरूपणेन मन्त्रभागस्यापि तत्त्वोक्तेः। अत एव शङ्करमिश्रेण वैशेषिकदर्शनं (१।१।३) तदित्यनुपक्रान्तमपि प्रसिद्धिसिद्धतया ईश्वरं परामृशतीति। यथा 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' (गो० सू० २।१।५७) इति गौतमीये सूत्रे तच्छब्देनानुपक्रान्तोऽपि वेदः परामृश्यते' (उपस्कारे, पृ० ७) इति वेद एव तत्पदेन परामृष्टः। दयानन्दोऽपि सत्यार्थप्रकाशस्य तृतीयसमुल्लासे ३३ पृष्ठे 'आप्तोपदेशः शब्दः' (वै० द० १।१।७) इति सूत्रस्य व्याख्यानं कुर्वन् पूर्णस्याप्तस्य परमेश्वरस्योपदेशो वेद इति तस्यैव वेदत्वं मन्तव्यमिति वेदप्रामाण्यपरीक्षार्थं 'तदप्रामाण्यम्' इत्यादीनि सूत्राणि भाष्याणि च। वृत्तिकारश्च तथैवाह—अदृष्टार्थवदस्य प्रामाण्यं परीक्षितुं पूर्वपक्षयति—तदप्रामाण्यमिति। वेदान्तदर्शनेऽपि शब्दपदेन वेदस्यैव ग्रहणमिष्यते। एतेनात्र शब्दप्रमाणपरीक्षाप्रवृत्तशब्दप्रमाणान्तर्गता वेदब्राह्मणस्मृत्यादयोऽपि, नातो ब्राह्मणोदाहरणमसङ्गतम्' इति, तदप्यपास्तम्, मूलपरीक्षणेनैव मूलिपरीक्षाया युक्तत्वात्। अत एव नात्र भाष्ये स्मृत्युदाहरणमुपन्यस्तम्, गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययस्यौचित्यात्। अत एवाह वात्स्यायनो मुनिः—'न भिद्यते लौकिकाद् वाक्याद् वैदिकं वाक्यम्। प्रेक्षापूर्वकारिपुरुषप्रणीतत्वेन' (४।१।६०) इति। यास्केनापि निरुक्ते (१।१६) कौत्समतखण्डनावसरे मन्त्रभागस्य सार्थकत्वेन लौकिका दृष्टान्ता उक्ताः। न तावतापि तेषामवेदत्वं सिद्ध्यति।

किञ्च, ब्राह्मणभागस्य लौकिकत्वे तत्र छान्दसानि कार्याणि न स्युः। भवन्ति तु तानि ब्राह्मणेऽपीति दर्शयिष्यते। 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके इति भाष्यस्यायमेवार्थः—यथा लौकिकाः शब्दाः प्रमाणं तथा वैदिका अपीति। यास्केनापि तथैवोक्तम्—'अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्' (नि० १।१६)। तत्रैव दुर्गाचार्यः—'य एव गोशब्दो लोके स्वरसंस्कारयुक्तः, स एव मन्त्रेष्वपि' इति। नैतावता वेदस्य लौकिकत्वमायाति। ततः परस्तादग्रिमसूत्रावतरणिकायां ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधो विभागो

किन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। शब्द प्रामाण के रूप में वेद का प्रामाण्य ही स्वीकृत है। मन्त्र और ब्राह्मण दोनों वेद हैं, अतः ब्राह्मण का प्रामाण्य निरूपित हो जाने पर मन्त्रभाग का भी प्रामाण्य सिद्ध हो ही जायगा। इसीलिये शङ्करमिश्र ने वैशेषिक सूत्र (१।१।३) की व्याख्या करते हुए अपने उपस्कार ग्रन्थ में लिखा है कि 'तत् शब्द से अनुपक्रान्त ईश्वर का भी परामर्श प्रसिद्धि के आधार पर किया जाता है। जैसे 'तदप्रामाण्य०' इस गोतम सूत्र में तत् शब्द से अनुपक्रान्त वेद का परामर्श होता है। इस प्रकार शंकरमिश्र के कथनानुसार भी उक्त न्याय-सूत्र में वेद ही परामृष्ट है। स्वामी दयानन्द ने भी सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास (पृ० ३३) में 'आप्तोपदेशः' इस वैशेषिक सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'पूर्ण आप्त परमेश्वर का उपदेश ही वेद है। उस वेद के प्रामाण्य की परीक्षा के लिये ही 'तदप्रामाण्य०' इत्यादि गोतम सूत्र और भाष्य प्रवृत्त हैं। 'अदृष्टार्थ वेद की प्रामाण्य परीक्षा के लिये 'तदप्रामाण्य०' प्रभृति सूत्र में पूर्वपक्ष किया गया है' यह कहकर वृत्तिकार ने भी यही बात कही है। वेदान्तदर्शन में भी शब्द पद से वेद का ही ग्रहण अभिप्रेत है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'शब्द प्रमाण की परीक्षा के प्रसंग में आये शब्द प्रमाण के अन्तर्गत वेद, ब्राह्मण, स्मृति की भी परीक्षा की गई है, अतः पुराणों का उदाहरण देना असंगत नहीं है' यह कथन भी असंगत है, क्योंकि मूल की परीक्षा होने पर उसके आश्रित की परीक्षा अपने आप हो जाती है। इसीलिये यहाँ भाष्य में स्मृति के वचनों के उदाहरण नहीं दिये गये, क्योंकि गौण और मुख्य दोनों पदार्थों के उपस्थित होने पर मुख्य कार्य को ही स्वीकार किया जाता है। लौकिक दृष्टान्त से मन्त्रभाग के प्रामाण्य को सिद्ध करने मात्र से वह लौकिक अथवा अवैदिक नहीं सिद्ध हो सकता। इसीलिये वात्स्यायन मुनि ने कहा है कि 'लौकिक वाक्य से वैदिक वाक्य भिन्न प्रकार का नहीं होता, क्योंकि वह आप्त पुरुष के द्वारा प्रणीत है। यास्क ने भी निरुक्त (१।१६) में कौत्स मुनि के मत का खण्डन करते समय मन्त्र भाग की सार्थकता को सिद्ध करने के लिये लौकिक दृष्टान्त दिये हैं। इसलिये वे अवैदिक नहीं सिद्ध हो जाते।

ब्राह्मण भाग को लौकिक मान लेने पर एक दोष यह आवेगा कि तब उसमें छान्दस कार्यों की प्रवृत्ति न होने पावेगी। छान्दस कार्यों की प्रवृत्ति ब्राह्मणों में भी होती है, ऐसा हम पहले भी बता चुके हैं और आगे भी बतावेंगे। 'प्रमाणं शब्दः' इस वात्स्यायन भाष्य का अभिप्राय यही है कि जैसे लौकिक शब्द प्रमाण हैं, उसी तरह से वैदिक शब्द भी प्रमाण हैं। यास्क ने भी यही कहा है कि

भवतीत्युक्तम्, तेन ब्राह्मणभागस्य शब्दता (वेदता)। 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' इति वात्स्यायनभाष्ये यथा शब्द उपमावाचकः, वाक्यगता श्रौती चैवोपमा। उपमा च भिन्नवस्तुनोः साधर्म्ये भवति। चन्द्रवन्मुखमित्यत्रोपमानोपमेयत्वयोर्भेद एव। 'साधर्म्यमुपमाभेदे' (काव्यप्रकाशे, १० समुल्लासे)। लौकिकप्रामाण्योपमानेन ब्राह्मणभागस्य लोकभिन्नत्वमेव सिद्धयति। अन्यथा वेदप्रकरणे ब्राह्मणभागस्य वर्णनमप्रकृतमेव स्यात्। गोतममुनिना (२।१।६२) सूत्रेण विधिः, अर्थवादः, अनुवाद इति ब्राह्मणभागस्य त्रयो भेदा उक्ताः १६ सूत्रे विधेः, ६४ सूत्रे अर्थवादस्य, ६५ सूत्रेऽनुवादस्य च लक्षणमुक्तम्। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इति विधेरुदाहरणम्, 'सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन्' इत्यर्थवादस्य, 'एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्ते पतति' इत्यनुवादस्य चोदाहरणमुक्तम्। ६५ सूत्रे ब्राह्मणवाक्यानां सार्थकत्वनिरूपणाय लौकिकविध्यर्थवादानुवादानामुदाहरणान्युपन्यस्तानि—(१) ओदनं पचेत्, (२) आयुर्वर्चः प्रतिमानं चान्ने प्रतिष्ठितम् (३) पचतु पच भवान्—इति ब्राह्मणभागस्य त्रिविधानां विभागानां सार्थक्याय त्रीणि लौकिकान्युदाहरणान्युपन्यस्तानीत्यनेनैव ब्राह्मणभागस्य लौकिकत्वं नेष्यते इति स्पष्टमेव प्रतीयते।

तदनन्तरं वादिप्रतिमान्येन तेनैव वात्स्यायनेन यथा लौकिके वाक्ये ओदनं पचेदित्यादिपूर्वोक्तेन विभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वम्, एवं वेदवाक्यानामपि अग्निहोत्रं जुहुयात् इत्यादिब्राह्मणवाक्यानामपि विभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वं भवितुमर्हति (गो० सू० २।१।६५) इति कण्ठरवेणैव ब्राह्मणवाक्यानां वेदत्वमुक्तम्। यदि ब्राह्मणभागो लौकिकः स्यात्तदा तदुदाहरणानां समन्वयार्थं लौकिकानां भिन्नानामुदाहरणानामावश्यकतैव न स्यात्। वात्स्यायनेनोदाहृतेषु लौकिकवाक्येषु नैकमपि वाक्यं ब्राह्मणवाक्यम्, वेदवाक्येषु यान्युदाहृतानि वाक्यानि तेष्वेकमपि मन्त्रवाक्यं नास्ति, अपि तु सर्वाणि ब्राह्मणवाक्यान्येव, उपसंहारानुरोधेनोपक्रमोपसंहारयोरैक्यात्। न्यायसूत्रभाष्याभ्यां ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमेव सिद्धयति। यदि

लौकिक और वैदिक दोनों ही शब्द अर्थवान् हैं, क्योंकि सामान्य रूप से इन दोनों में शब्दत्व विद्यमान है। इसी स्थल पर दुर्गाचार्य ने कहा है—'स्वर संस्कार युक्त जो गो शब्द लोक में है, वही मन्त्र में भी प्रयुक्त है।' इससे वेद में लौकिकता नहीं आ जाती। न्यायदर्शन में इससे आगे के सूत्र की अवतरणिका में कहा गया है कि ब्राह्मण वाक्यों का त्रिविध विभाग होता है। इससे भी ब्राह्मण भाग की वेदता सिद्ध होती हैं। 'प्रमाणं शब्दः' इस वात्स्यायन भाष्य में यथा शब्द उपमा का वाचक है। उपमा दो प्रकार की होती है—वाक्यगत और श्रौती। भिन्न वस्तुओं में समानता दिखाने के लिये उपमा का प्रयोग होता है। 'चन्द्रवन्मुखम्' यहाँ पर उपमान और उपमेय में भेद ही है। काव्यप्रकाश में 'साधर्म्यमुपमाभेदे' यह उसका लक्षण बताया है। अतः लौकिक प्रामाण्यरूपी उपमान से उपमेय रूप ब्राह्मण की लोकभिन्नता ही सिद्ध होगी। अन्यथा वेद के प्रकरण में ब्राह्मण भाग की चर्चा अप्रसांगिक हो जायगी। गोतम मुनि ने विधि, अर्थवाद और अनुवाद के रूप में ब्राह्मण भाग के तीन भेद कर बाद में उनका लक्षण बताया है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' यह विधि का, 'सर्वजिता' यह अर्थवाद का और 'एतेनानिष्ट्वा' यह अनुवाद का उदाहरण है। आगे ब्राह्मण वाक्यों की सार्थकता को सिद्ध करने के लिये लौकिक विधि, अर्थवाद और अनुवाद वाक्यों के उदाहरण दिये हैं। वे हैं—१. ओदनं पचेत्, २. आयुर्वर्चः, ३. पचतु। इस प्रकार ब्राह्मण भाग के त्रिविध विभाग की सार्थकता के लिये तीन लौकिक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, इसी से भाष्यकार वात्स्यायन ब्राह्मण भाग को लौकिक वाङ्मय के अन्तर्गत न मानकर वेदान्तर्गत ही मानते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है।

इसके बाद आर्यसमाजी द्वारा आप्तपुरुष के रूप में स्वीकृत वात्स्यायन मुनि ने कहा है कि 'जैसे ओदनं पचेत्' इत्यादि लौकिक वाक्यों में पूर्वोक्त विधि से अर्थ का ग्रहण होने पर उसको प्रमाण माना जाता है, उसी तरह से 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' प्रभृति वाक्यों का भी प्रामाण्य विभागशः अर्थ ग्रहण के आधार पर मान्य होगा'। इस तरह से स्पष्ट रूप में ब्राह्मण वाक्यों को वेद की मान्यता दी है। यदि ब्राह्मणभाग भी लौकिक वाङ्मय के अन्तर्गत ही होता, तब उसके उदाहरणों की संगति के लिये उससे भिन्न प्रकृति के लौकिक उदाहरणों की आवश्यकता ही न रह जाती। वात्स्यायन के द्वारा उदाहृत लौकिक वाक्यों में एक भी वाक्य ब्राह्मणभाग का नहीं है और वैदिक वाक्यों के जो उदाहरण दिये हैं, उनमें एक भी मन्त्रवाक्य नहीं है, किन्तु सभी वाक्य ब्राह्मण भाग के ही हैं। उपसंहार के आधार पर ही उपक्रम और उपसंहार की एक वाक्यता मानी जाती है। इस प्रकार न्यायसूत्र और

लौकिकोदाहरणेन ब्राह्मणभागस्य प्रमाणत्वसाधनेन ब्राह्मणभागस्यावेदत्वं सिद्धयेत्तदा यास्केन लौकिकोदाहरणप्रदर्शनेन मन्त्रभागस्य प्रमाणत्वसाधनान्मन्त्रभागस्याप्यवदेत्वमेव स्यात् ।

किञ्चैवं 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम्' (गो० सू० २।१।६८)· इति न्यायसूत्रेण लौकिकायुर्वेददृश्रान्तेन वेदस्य प्रमाणत्वसाधनाद् वेदस्यापि लौकिकत्वमवेदत्वं च स्यात्, न चैतदिष्टमाक्षेप्तृणामपि, तस्माद् वेदनाम्ना सम्पूर्णस्य प्रकरणस्य समन्वयेन ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं सिद्धयति ।

यदपि च ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां ८५ पृष्ठे 'न चतुष्ट्वमैतिह्य' (गो० सू० २।२।१) इति न्यायदर्शनसूत्रे न चत्वार्येव प्रमाणानि किं तर्हि ऐतिह्यादीन्यपि प्रमाणानि' इति तत्रत्यं वात्स्यायनभाष्यं चोद्धृत्य वात्स्यायनोक्तम् 'इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकप्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम्' इत्यैतिह्यलक्षणमुद्धृत्य दयानन्देन 'अनेन प्रमाणेनापि इतिहासादिनामभिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते नान्य' दिति लिखितम्, तत्तु महत्साहसमेव, तत्र सूत्रे भाष्ये वा ब्राह्मणभागस्याऽचर्चितत्वात् प्रक्तत्वाच्च । तदानेन प्रमाणेन ब्राह्मणभागस्येतिहासपुराणत्वं वेदत्वमिति कथनमपि प्रवञ्चनामात्रम्, तस्माद् ब्राह्मणभागस्य पुराणेतिहाससंज्ञा सिद्धैवेति ब्राह्मणस्यावेदत्वसाधको हेतुरसिद्ध एव । यत्र तु—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेद', 'इतिहासपुराण·······' इत्यादिष्वष्टविधब्राह्मणेष्वितिहासपुराणनिर्देशेन ब्राह्मणस्येतिहासपुराणसंज्ञकत्वमिति तत्र निःश्वसितत्वोक्त्या ऋग्वेदादीनामिवाष्टविधब्राह्मणस्याप्यपौरुषेयत्वनित्यत्वसिद्धयैव वेदत्वं सिद्धयति, तदानीं तु हेतोरप्रयोजकत्वमेव । इतिहासपुराणत्वमस्तु वेदत्वाभावो मा भूत्, तर्हि किं दूषणमिति पर्यनुयोगेऽनुकूलतर्काभावाद् हेतोरहेतुत्वमेव । यत्र छान्दोग्यादौ निःश्वसितत्वोक्तिर्नास्ति, तत्रत्वितिहासपुराणपदाभ्यां रामायणमहाभारतब्राह्मनारदादीन्येव गृह्यन्ते । तेषामपि प्रामाण्यम्

वात्स्यायन भाष्य के प्रमाण पर ब्राह्मण भाग की वेदता सिद्ध होती है । यदि लौकिक उदाहरण से ब्राह्मण भाग के प्रामाण्य की सिद्धि को देखकर उसको वेद भिन्न माना जाता है, तो उसी पद्धति से यास्क के द्वारा लौकिक उदाहरणों से मन्त्र की प्रामाणिकता के आधार पर मन्त्रभाग को भी क्यों न वेदभिन्न माना जाय ?

फिर 'मन्त्रायुर्वेद०' प्रभृति न्यायसूत्र में लौकिक आयुर्वेद के दृष्टान्त से वेद की प्रामाणिकता सिद्ध की है, अतः इसी आधार पर वेद को भी लौकिक और वेद भिन्न मानना पड़ जायगा । यह तो आपको भी अभीष्ट नहीं है । इस तरह से सम्पूर्ण प्रकरण का यदि समन्वय किया जाता तो वेद के नाम से ब्राह्मण भाग का भी ग्रहण मानना ही पड़ेगा ।

ऋग्वेदभाष्यभूमिका के ८५ वें पृष्ठ पर 'न चतुष्ट्वं०' इस न्यायदर्शन को और 'न चत्वार्येव' इस वात्स्यायन भाष्य को उद्धृत करके तथा वात्स्यायन कृत 'ऐसा सुना जाता है, इस तरह से जिसके कहने वाले का तो पता नहीं रहता, किन्तु परम्परा से प्रवाद चला आ रहा हो, उसे ऐतिह्य कहते हैं' इस ऐतिह्य के लक्षण को भी उद्धृत कर स्वामी दयानन्द ने कहा है कि इस प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि इतिहास प्रभृति के नाम से ब्राह्मणों का ही ग्रहण होता है, इनसे भिन्न इतिहास आदि के ग्रन्थों की पृथक् कोई सत्ता विद्यमान नहीं है', किन्तु यह कथन दुःसाहस मात्र है, क्योंकि सूत्र मे अथवा भाष्य में ब्राह्मण भाग की कोई चर्चा नहीं है, और इसका यहाँ कोई प्रसंग भी नहीं है । ऐसी स्थिति में 'इस प्रमाण के द्वारा ब्राह्मण भाग इतिहास पुराण है, वेद नहीं है' यह कहना भी प्रतारणा करना ही है । तस्मात् ब्राह्मण भाग की इतिहास पुराण संज्ञा तो सिद्ध ही है, इस कारण ब्राह्मण के वेद न होने में दिया गया हेतु असिद्ध ही है । और जहाँ 'अस्य-महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेद वे इतिहास पुराण·······' इत्यादि-अष्टविधब्राह्मणों में इतिहास पुराण का निर्देश होने से ब्राह्मण का इतिहास पुराणसंज्ञकत्व है, उसी वाक्य में निःश्वसितत्व के कहने से ऋग्वेदादि की तरह अष्टविधब्राह्मण का भी अपौरुषेयत्व, नित्यत्व सिद्ध होने के कारण ही वेदत्व सिद्ध हो जाता है, तब तो हेतु में 'अप्रयोजकत्व' दोष हो जाता है । यदि यह कहें कि ब्राह्मणभाग मे इतिहास-पुराणत्व तो रहे और वेदत्वाभाव न रहे, तो कौन दोष है ? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जायगा कि अनुकूल तर्क न होने से हेतु ही अहेतु सिद्ध हो जायगा । जिन छान्दोग्य आदि मे निःश्वसितत्वोक्ति नहीं है, वहाँ तो इतिहास पुराणशब्दों से रामायण, महाभारत, ब्राह्म, नारद आदि का ही ग्रहण किया जाता है, उनका भी प्रामाण्य होगा, अथवा 'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणे-

'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणप्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते' इति वात्स्यायनवचनात्। अत एव ब्राह्मणभागस्येतिहासपुराणसंज्ञकत्वेऽपि न तस्य वेदत्वक्षतिः। एकसंज्ञाया अपरसंज्ञाबाधकत्वाभावात्। अत्र 'आकडारादेका संज्ञा' (पा० सू० १।४।१) इति पाणिनिसूत्राधिकाराभावात्। अन्यथा ऋग्यजुःसामसंज्ञात्वेन मन्त्रसंज्ञात्वेन च वेदसंज्ञाबाधप्रसङ्गात्। तस्माद्यथा ऋगादिसंज्ञासत्त्वेऽपि वेदसंज्ञायां न बाधः, तथैव ब्राह्मणभागस्य पुराणेतिहाससंज्ञकत्वेऽपि वेदसंज्ञायां न बाधः।

यदपि—'ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामोल्लेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति, न चैवं मन्त्रभागेषु, तेनेतिहासाल्लेखान्न ब्राह्मणभागस्य वेदत्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रभागेष्वप्युर्वशीपुरूरवोयमयम्यादीनां बहूनां लौकिकानामुल्लेखस्य समत्वात्। मन्त्रव्याख्यानरूपं ब्राह्मणमिति दयानन्देनाप्यभ्युपगमात्। मन्त्रगतानामितिहासानां व्याख्यानरूपा एव ब्राह्मणगता इतिहासाः। तद्यथा ऋग्वेदसंहितायां १०।९५ सूक्ते पुरूरवस उर्वश्याश्च संवादरूप इतिहासोऽस्ति। शतपथे ११।५।१ इत्यत्र तस्यैव स्पष्टीकरणम्। ऋग्वेदसंहितायां १।११७।१३ च्यवनमहर्षेरितिहासः। शतपथे ४।१।५ तस्य वैशद्येनाख्यानम्। ऋग्वेदसंहितायां १।११७।२२ दधीचोऽश्वशिरोयोजनेतिहासः। शतपथे (१४।१।१।१८-२४) तस्य विवरणम्। ब्राह्मणभागस्तु तंतमितिहासमुक्त्वा तत्साक्षित्वे मन्त्रमुदाहरति। 'तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्' (श० १२।७।३।४), (श० १४।१।१।२५), (श० १४।५।५।१६)। ऋग्वेदसंहितायां शौनःशेपाख्यानं येन क्रमेणायातं तेनैव क्रमेणैतरेयब्राह्मणे प्रोक्तम्। यदि मन्त्रभागस्येतिहासानामर्थवादत्वं यौगिकार्थत्वं सुखावबोधार्थाख्यायिकामात्रत्वं भविष्यद्रूपत्वं वा मन्येत, तदा तथैव ब्राह्मणभागेऽपि मन्तुं शक्यत एव। अत एव मीमांसायां शाबरभाष्ये ब्राह्मणभागस्थस्येवेतिहासस्य शब्दसामान्यमात्रत्वमेवं यौगिकत्वमेवोक्तम्। 'ववरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) इति ब्राह्मणवाक्यमेव तदुत्तरम्। 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जै० सू० १।१।३१) इत्यनेन पुरुषविशेषो ववरः, किन्तु व व इत्येवं शब्दकरो वायुरेवात्र विवक्षितः।

नेतिहासपुराणप्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते' इस वात्स्यायन के वचनसे उसका प्रामाण्य होगा। अतएव ब्राह्मणभाग की इतिहास पुराण सज्ञा रहने पर भी उसके वेद होने में कोई क्षति नहीं है : क्योंकि एक संज्ञा, अन्य संज्ञा की बाधक नहीं हुआ करती। यहाँ पर कोई 'आकाडारादेकासंज्ञा'–(पा० सू० १।४।१) इस पाणिनिसूत्र का अधिकार नहीं है। अन्यथा ऋग्यजुः साम संज्ञा और मन्त्रसंज्ञा होने से वेद-संज्ञा का बाध होने लगेगा। तस्मात् ऋगादिसंज्ञा के रहने पर भी वेद-संज्ञा के होने में कोई बाधा नहीं होती, वैसेही ब्राह्मणभाग की पुराण-इतिहास संज्ञा रहने पर भी उसकी वेदसंज्ञा होने में कोई बाधा नहीं है।

जो यह कहना है कि 'ब्राह्मणग्रन्थों में मनुष्यों के नामों का स्पष्ट उल्लेख करते हुए लौकिक इतिहास दिये गये हैं, वैसा मन्त्र भागों में नहीं है, इस कारण इतिहास के होने से ब्राह्मणभाग में वेदत्व नहीं है'—वह भी उचित नहीं है, क्योंकि मन्त्रभागों में भी उर्वशी-पुरुरवा, यमयमी आदि अनेक लौकिक बातों का उल्लेख ब्राह्मण भाग के समान ही स्पष्ट है। ब्राह्मणभाग, मन्त्रव्याख्यानरूप हैं, यह दयानन्दने भी स्वीकार किया है। मन्त्रगत इतिहासों के व्याख्यानरूप ही ब्राह्मणगत इतिहास है। जैसे—ऋग्वेदसंहिता के १०।९५ सूक्त में दिये हुए पुरुरवा और ऊर्वशी के संवादरूप इतिहास का ही स्पष्टीकरण शतपथ (११।५।१) में किया गया है। ऋग्वेदसंहिता (१।११७।१३) में च्यवनमहर्षि का इतिहास है, उसका शतपथ (४।१।५) में विशद व्याख्यान किया गया है। ऋग्वेदसंहिता (१।११७।२२) में दधीचऋषि के अश्वशिरोयोजन का इतिहास है, उसका शतपथ (१४।१।१।१८-२४) में विवरण किया है। ब्राह्मणभाग तो उन उन इतिहासों को बताकर उनके साक्षी के रूप में मन्त्र का उद्धरण देता है। 'तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्'—(श० प० १२।७।३।४), (श० प० १४।१।१।२५) (श० प० १४।५।५।१६) ऋग्वेदसंहिता में शौनः शेपाख्यान जिस क्रम स आया है, उसी क्रम से ऐतरेयब्राह्मण में उसे बताया गया है। यदि मन्त्रभाग में आये हुए इतिहासों को अर्थवाद, यौगिकार्थ, सुखावबोधार्थ आख्यायिकामात्र या भविष्यद्रूप आप मानते हों तो उसी प्रकार ब्राह्मणभाग में भी माना जा सकता है। अतएव मीमांसाके शाबरभाष्य में ब्राह्मण भाग के इतिहास को ही शब्दसामान्यमात्र तथा यौगिक बताया गया है 'ववरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) यह ब्राह्मण वाक्य ही उसका उत्तर है। 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जै० सू० १।१।३१) इस सूत्र ने यह बताया है कि 'ववर' कोई पुरुष विशेष नहीं है, किन्तु व व इस प्रकार शब्द करने वाला वायु ही यहाँ विवक्षित है।

प्रावाहणिरित्यस्य न प्रवाहणस्य पुत्र इत्यर्थः, किन्तु प्रवहणशील इत्येवार्थः। तेनेतिहासत्वे ब्राह्मणभागस्यावेदत्वशङ्का सर्वथोन्मूलिता भवति।

यत्तु—'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषमिति मन्त्र इतिहासत्वमाशङ्क्य दयानन्देन 'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः' इति शतपथवचनबलाज्जमदग्निशब्दस्य चक्षुरर्थं कृत्वा समाहितं; तदसङ्गतमेव, तस्य गौणार्थत्वात्। वेदे आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकार्थत्वेन ऋषिविशेषार्थताया अपलापासम्भवात्। अन्यथा—'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। ……यज्ञस्तस्मादजायत' (वा० सं० ३१।७) इति मन्त्रेण वर्णितस्य ऋग्वेदादीनामुत्पत्तीतिहासस्याप्यपलापापत्तेः। शतपथानुसारेण 'वागेव ऋग्वेदः, मनो यजुर्वेदः, प्राणः सामवेदः' (श० १४।४।२।१२) इति वाङ्मनःप्राणानामेव ऋग्वेदादित्वापत्तेश्च। तथा च तस्माद्यज्ञात् सच्चिदानन्दलक्षणात् पूर्णात् पुरुषाद् ऋग्वेदादयश्चत्वारोवेदाः प्रकाशिता इति वेद्यम्' इति दयानन्दीयोऽर्थो मिथ्यैव स्यात्। यदि तत्र मन्त्रे ऋग्वेदादीनामुत्पत्तिरभिप्रेयते, तदा त्र्यायुषमित्यत्रापि जमदग्न्यादीनां मृषीणामपलापो न शक्यते कर्तुम्। ब्राह्मणग्रन्थेष्वेकैकशब्दस्यानेकेऽर्था निर्दिश्यन्ते। निरुक्तकारोऽप्यत्र तथैवाह 'बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणानि भवन्ति। अग्निर्वैश्वानरः, संवत्सरो वैश्वानरः, ब्राह्मणो वैश्वानरः' (नि० ७।२४) ब्राह्मणे 'आयुर्वैघृतम्' (तै० सं० २।३।२।२) किमेतावता वेदे घृतशब्दस्य आयुरेवार्थः? 'तेजो ब्रह्मवर्चसं गायत्री' (श० १७।२) किं वेदे गायत्रीशब्दस्य तेज एवार्थः? 'आत्मा वै अग्निः' (श० ७।३।१।२) इत्यात्मशब्दस्य सर्वत्राग्निरेवार्थः स्यात्? यदि नैवमभ्युपेयते तदा 'चक्षुर्वै जमदग्निः' इत्यत्रापि न जमदग्न्यादोनामृषीणामपलापो युक्तः। वस्तुतस्तु यथा 'अन्नं वै प्राणाः' अत्रान्नस्य प्राणत्वमुक्तमिति नान्नप्राणयोः पर्यायत्वम्, तथैव जमदग्निर्ऋषिश्चक्षुःस्थानीयश्चक्षुस्तुल्यः श्रेष्ठ उक्तो न तयोरपि

'प्रावाहणि' का अर्थ प्रवहण का पुत्र नहीं है, किन्तु प्रवहणशील ही अर्थ है। इस विवेचन से 'ब्राह्मण भाग में इतिहास होने के कारण वह वेद नहीं है' इस शंका का सर्वथा उन्मूलन हो जाता है।

'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्' इस मन्त्र में जो इतिहास की आशंका करके दयानन्द ने 'चक्षुर्वैजमदग्नि ऋषिः' इस शतपथ के वचन को देखकर 'जमदग्नि' शब्द का 'चक्षु' अर्थ करके समाधान किया है, वह भी असंगत ही है, क्योंकि वह गौण अर्थ है। वेद में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थों के रहने से ऋषिविशेष अर्थ का अपलाप असम्भव है। अन्यथा 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे।……यजुस्तस्मादजायत'—(वा० सं० ३१।७) इस मन्त्र के द्वारा वर्णित परमात्मा से ऋग्वेदादिकों की उत्पत्ति के इतिहास का भी अपलाप करना होगा। शतपथ के अनुसार 'वागेव ऋग्वेदः' 'मनो यजुर्वेदः' 'प्राणः सामवेदः'—(श० प० १४।४।२।१२) वाक्, मन, प्राणों को ही ऋग्वेदादि कहना होगा। तब 'उस पूर्ण पुरुष सच्चिदानन्दरूप यज्ञ से ऋग्वेदादि चरों वेद प्रकाशित हुए हैं यह समझना चाहिये' यह दयानन्दीय कथन मिथ्या ही होगा। यदि उस मन्त्र में ऋग्वेदादिकों की उत्पत्ति अभिप्रेत हो, तो 'त्र्यायुषम्' इस मंत्र में भी जमदग्नि आदि ऋषियों का अपलाप नहीं किया जा सकता। ब्राह्मण ग्रंथों में एक एक शब्द के अनेक अर्थ निर्दिष्ट किये गये हैं। इस विषय में निरुक्तकार भी उसी तरह कहते हैं 'बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणानि भवन्ति। अग्निर्वैश्वानरः, संवत्सरो वैश्वानरः ब्राह्मणो वैश्वानरः'—(निरु० ७।२४) ब्राह्मण में 'आयुर्वैघृतम्' (तै० सं० २।३।२) इतना कह देने मात्र से क्या सब जगह वेद में 'घृत' शब्द का अर्थ 'आयु' ही समझा जायेगा? 'तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री' (श० प० २।५।५) इस वाक्य को देखकर वेद में सर्वत्र 'गायत्री' शब्द का 'तेज' ही अर्थ होगा? 'आत्मा वै अग्निः' (श० प० ७।३।१।२) कहने से आत्मन् शब्द का सर्वत्र 'अग्नि' ही अर्थ लिया आयगा? यदि यह नियम नहीं है, तो 'चक्षु र्वै जमदग्निः' यहाँ भी जमदग्नि आदि ऋषियों का अपलाप करना उचित न होगा। वस्तुतस्तु जैसे 'अन्नं वै प्राणाः' इस वाक्य में 'अन्न' को प्राण कहा गया है किन्तु 'अन्न' और 'प्राण' एक दूसरे के पर्याय नहीं कहे जाते, उसी तरह जमदग्नि ऋषि, चक्षुः स्थानापन्न अर्थात् चक्षु के तुल्य होने से, उसे श्रेष्ठ बताया गया है, इतना ही तात्पर्य है। अतः उन दोनों को पर्याय वाचक मानना उचित नहीं है। जैसे घृत और आयु दोनों भिन्न-भिन्न हैं, उसी तरह चक्षु और जमदग्नि भी

पर्यायवाचकत्वम्। यथा घृतायुषोर्भेदो भवति तथा चक्षुर्जमदग्न्योरपि भेद एव सिद्धयति। अन्नमपि प्राणाद् भिन्नमेव भवति। मृद्घट इत्यत्र कार्यकारणभावेनाप्यभेदव्यवहारो दृश्यत एव।

यदपि 'हे जगदीश्वर भवत्कृपया नोऽस्मान् जमदग्निसंज्ञस्य चक्षुषः कश्यपाख्यस्य प्राणस्य त्र्यायुषं त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत् तावदायुर्भवति तन्नोऽस्तु। देवेषु विद्वत्सु यद्विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवति तन्नोऽस्तु' (ऋ० भा० ८१ पृष्ठे) तत्तु पूर्वमेव खण्डितम्। वस्तुतस्तु चतुर्थपादसम्बद्धस्य नोऽस्त्विति पूर्वार्धेन सम्बन्धोऽसङ्गत एव। वेदादितिहासापसारणाय सर्वमेतदकाण्डताण्डवम्। देवशब्दस्य विद्वानर्थ इत्यपि निरस्तमेव। नहि दयानन्दस्य न वा तदनुयायिनां त्रिशतवर्षं चतुःशतवर्षं वायुरासीत्। ते विद्वांस आसन्नवेति समाजिभिरेव विचारणीयम्। तस्माद्देवशब्दस्य तदुक्तोऽर्थोऽशुद्ध एव। किञ्च, विद्वांस इमेऽस्मान्मन्त्रात्पूर्वमासन् पश्चाद्वा जाताः? यदा पूर्वं तदा मन्त्रस्य तत्पश्चाद्भावित्वादितिहासत्वमेवायातम्। यदि मन्त्रात्पश्चात्तदापि भावीतिहासत्वं स्यात्। तथा सति ब्राह्मणेष्वपीतिहासत्वे का क्षतिः स्यात्? कथं वा ब्राह्मणभागस्य वेदभिन्नत्वम्? 'अग्ने देवेषु प्रवोचः' (ऋ० सं० १।२७।४) इत्यत्रोक्तं दयानन्देन भाष्ये—'अग्ने अनन्तविद्यामयपरमेश्वर, देवेषु सृष्टयादौ जातेषु पुण्यात्मस्वग्निवाय्वादित्याङ्गिरस्सु मनुष्येषु प्रवोचः प्रोक्तवान् (वेदान्)' इति। अयं तदुक्तोऽर्थो यद्यशुद्धस्तदा तदुक्तार्थानुसारेण न वेदादितिहासापसारणं युक्तम्। यदि शुद्धोऽर्थस्तदा मन्त्रभागेषु सिद्ध एवेतिहासः। तथा च मन्त्रार्थपरिवर्तनस्य किं प्रयोजनं स्यात्? तथा च सैव रीतिर्ब्राह्मणेष्वपि मन्तव्या।

'लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते। ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥' इत्युत्तररामचरितरीत्या यदा ऋषीणां वाचमर्थोऽनुधावति तदा परमेश्वरस्य मन्त्रब्राह्मणरूपां वाचमर्थोऽनुधावेदित्यत्र कः सन्देहः? सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य वाग्रूपो वेदः सर्वज्ञदृष्टौ भूतं वर्तमानं भविष्यच्च समानमेव भवति। तत एव वेदशब्दपूर्विका सृष्टिरिति सिद्धान्तः।

भिन्न भिन्न ही हैं। अन्न भी प्राण से भिन्न ही है। 'मृद्घटः' यहाँ पर कार्य-कारणभाव होने से अभेदव्यवहार भी होता पाया जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्न भी प्राण से भिन्न ही है।

यह जो कहा था कि 'हे जगदीश्वर! आपकी कृपा से हमें अर्थात् जमदग्निसंज्ञक चक्षु और कश्यपसंज्ञक प्राण को त्रिगुणित अर्थात् तीन सौ वर्षों तक की दीर्घायु प्राप्त हो। ज्ञानियों को उनकी विद्या के प्रभाव से जो त्रिगुणित रहती है, वह हमें प्राप्त हो'—(ऋ० भा० भूमि० ८१)। उसका खण्डन तो पहले हो कर दिया गया है। वस्तुतः चतुर्थपदसम्बद्ध का 'नोऽस्तु' इस पूर्वार्ध के साथ सम्बन्धजोडना संगत ही नहीं है। वेद से इतिहास का अपसारण करने के लिये यह सब अकाण्डताण्डव है। 'देव' शब्द का जो 'विद्वान्' अर्थ किया है, उसका भी निरसन हो चुका है। दयानन्द या उनके अनुयायियों की तीन सौ या चार सौ वर्ष की आयु नहीं थी। वे विद्वान् थे अथवा नहीं थे इसका विचार समाजी ही करें। एवंच उनका बताया हुआ 'देव' शब्द का अर्थ अशुद्ध ही है। किञ्च ये विद्वान् इस मन्त्र से पूर्व थे, या मन्त्र के पश्चात् हुए? यदि मन्त्र से पूर्व ये विद्वान् हों और मंत्र इनके पश्चात् हुए तो इतिहास का होना तो अर्थात् सिद्ध हो गया। यदि मंत्र के पश्चात् कहें, तब भी आगे का इतिहास सिद्ध होगा। तब उदाहाण में भी इतिहास हो तो कौन क्षति होगी? ब्राह्मणभाग को वेद से भिन्न कैसे माना जा सकता है? 'अग्ने देवेषु प्रवोचः' (ऋ० सं० १।२७।४) इस मंत्र के भाष्य में दयानन्द ने कहा है कि 'हे अग्ने अनन्त विद्यामय परमेश्वर! सृष्टि के प्रारम्भ में देवों के पैदा होने पर तथा पुण्यात्मा अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरस मनुष्यों के पैदा होने पर तुमने उन्हें वेद बताये'। यह उनका किया हुआ अर्थ यदि अशुद्ध है तो उनके कहे हुए अर्थ के अनुसार वेद से इतिहास का अपसारण करना उचित नहीं है, और यदि उनका किया हुआ अर्थ शुद्ध है तो मंत्रभाग में भी इतिहास का होना स्पष्ट हो जाता है। तथा च मंत्र के अर्थ में परिवर्तन का क्या प्रयोजन होगा? एवं च वही रीति ब्राह्मण ग्रन्थों में भी होती है, यह समझना चाहिये।

'लौकिक सज्जन पुरुषों की वाणी, 'अर्थ' का अनुसरण करती है, किन्तु इसके विपरीत आद्य-ऋषियों की वाणी का अनुसरण 'अर्थ' किया करता है' इस उत्तर रामचरित के कथनानुसार ऋषियों की 'वाणी' का अनुसरण अर्थ करता है, तो परमेश्वर की मन्त्र-ब्राह्मण रूप वाणी का अनुसरण 'अर्थ' करता है, इसमें सन्देह का अवसर ही कहाँ है? सर्वज्ञ परमेश्वर की वाणी ही वेद है, सर्वज्ञ की

किञ्च, वेदेषु देवतानामृषीणां च वर्णनं दृश्यते। यथा प्रतिकल्पं चन्द्रसूर्यादीनामुत्पत्तयो भवन्ति, तथैव देवतानामृषीणामुत्पत्तौ न कश्चिद् विरोधः। अध्यात्मादिभेदेन त्रैविध्यात् त्रिष्वपि कालेषु सत्त्वाद् देवा ऋषयश्च नित्या एव। 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' (वा० सं० ३४।५५) अत्र सप्त प्राणा एवाध्यात्मिका ऋषयः। आकाशस्थं सप्तर्षिमण्डलं च आधिदैविकरूपेण वर्तते। इतिहाससूचिता विश्वामित्रादयश्च सप्तर्षय आधिभौतिकाः। आग्नेयाः प्राणा अपि देवता, तारामण्डलेऽपीन्द्रादयो देवताः, मनुष्यदेहेष्वपि सूक्ष्मा देवताः, दिव्यलोकेष्वपि दिव्यदेहाश्चेतना देवता भवन्ति, तथैव सौम्याः प्राणाः पितरः, तदनुसारेण ऋतवोऽपि पितरः प्रतिशरीरं विद्यमानाः सन्तानोत्पादका भावा अपि पितरः, देहत्यागानन्तरं सूक्ष्मदेहगम्यचन्द्रलोकस्था जीवा अपि पितरः, तेषां परस्परं सम्बन्धोऽपि भवति। अन्यथा महाप्रलयेष्वध्ययनाध्यापनादिविच्छेदेन वेदानामपि तिरोभावेन कल्पान्तरे पुनरुद्भवेन तेषामप्यनित्यत्वं स्यात्। न चैवमिष्यते। तस्मान्न तादृशेतिहासस्वीकारेऽपि मन्त्रब्राह्मणरूपस्य वेदस्य नित्यत्वं बाध्यते।

किञ्च, ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां ८२-८३ पृष्ठे दयानन्देनापि लिखितम्—'तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्' (अथर्व० १५।३०।१), 'इतिहासस्य च वै स पुराणस्य वै प्रियं धाम भवति' (अथर्व० १५।२०।४) एतैः प्रामाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते न श्रीमद्भागवतादीनामिति। तत्रेदं प्रष्टव्यम्—यद्यत्रेतिहासपुराणशब्देन ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं तदा मन्त्रोऽयं ब्राह्मणभागनिर्माणात् पूर्वं निर्मितः पश्चाद्वा ? यदत्र दयानन्दस्य समाजिनां वोत्तरं भविष्यति, तदेव ब्राह्मणभागस्येतिहासस्योत्तरम्। अन्यथा मन्त्रभागस्य वेदत्वात् पृथक्करणीयता स्यात्। अत्र मन्त्रे परमात्मनैवेतिहासादियुक्तस्य ब्राह्मणभागस्य मन्त्रभाग उल्लेखाद् मन्त्रभाग इतिहास आयात एव। यदि भविष्यद्विचारेण नेतिहासत्वं मन्यते ब्राह्मणस्य तदा ब्राह्मणभागस्यावेदत्वे इतिहासपुराणसंज्ञकत्वादिति हेतुर्बाधित एव। आश्वलायनगृह्यसूत्रे (अध्याय

दृष्टि में भूत, वर्तमान और भविष्य सब समान ही रहता है। यही कारण है कि वेद शब्द पूर्विका सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त ही बन गया। किञ्च वेदों में देवताओं का और ऋषियों का वर्णन उपलब्ध होता है। जैसे प्रत्येक कल्प में चन्द्र-सूर्य आदि की उत्पत्तियाँ होती हैं, उसी तरह देवताओं की एवं ऋषियों की उत्पत्ति में भी कोई विरोध नहीं है। अध्यात्मादि भेद से त्रैविध्य के कारण तथा तीनों कालों में उनकी सत्ता रहने से देवता और ऋषियों को नित्य ही माना जाता है। 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'—(वा० सं० ३४।५५) इसमें यह कहा गया है कि सात प्राण ही आध्यात्मिक ऋषि हैं और आकाशस्थ सप्तर्षिमण्डल आधिदैविक रूप से हैं। इतिहास के द्वारा सूचित किये जाने वाले विश्वामित्रादि सप्तर्षि आधिभौतिक हैं। आग्नेय प्राण भी देवता हैं, तारामण्डल में भी इन्द्रादि देवता हैं, मनुष्य देहों में भी सूक्ष्म देवता हैं, दिव्यलोकों में भी दिव्यदेह सम्पन्न चेतन देवता होते हैं। उसी तरह सौम्य प्राण पितर हैं, तदनुसार ऋतुएं भी पितर हैं, प्रत्येक शरीर में विद्यमान सन्तानोत्पादक भाव भी पितर हैं, देहत्याग के अनन्तर सूक्ष्म देह से गम्य चन्द्रलोकस्थ-जीव भी पितर हैं, उनका परस्पर सम्बन्ध भी होता है। अन्यथा महाप्रलयों में अध्ययनाध्यापनादि का विच्छेद हो जाने से वेदों का भी तिरोभाव होने से अन्य कल्प में उनका पुनः उद्भव होने से उन्हें भी अनित्य कहना होगा। किन्तु वह अभीष्ट नहीं है। एवञ्च वेदों में इतिहास का स्वीकार करने पर भी मन्त्र-ब्राह्मणरूप वेद की नित्यता में कोई बाधा नहीं होती।

किञ्च ऋग्वेद भाष्य भूमिका में ८२-८३ पृष्ठ पर दयानन्द ने भी लिखा है कि 'तमितिहासश्च पुराणंच गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्' (अथर्व सं० १५।३०।१), इतिहासस्य च वै स पुराणस्य वै प्रियं धाम भवति'—(अथर्व० सं० १५।२०।४) इत्यादि प्रमाणों से ब्राह्मण ग्रन्थों का ही ग्रहण किया जाता है, न कि श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों का।' इस पर हम यह पूछना चाहते हैं कि यदि यहाँ पर इतिहास, पुराण शब्द से ब्राह्मण ग्रन्थों का ही ग्रहण किया जाता है, तो यह मंत्र ब्राह्मण भाग के निर्माण से पूर्व निर्मित हुआ है, या पाश्चात् ? इस प्रश्न पर दयानन्द का या समाजियों का जो उत्तर होगा, वही ब्राह्मण भाग के इतिहास का उत्तर होगा। अन्यथा मन्त्र भाग को वेद से पृथक् करना होगा। इस मन्त्र में परमात्मा ने ही इतिहासादि से युक्त ब्राह्मण भाग का मन्त्र भाग में उल्लेख किया है, जिससे मन्त्र भाग में इतिहास आ ही गया। यदि भविष्यत्कालिक विचार के कारण ब्राह्मण भाग को इतिहास नहीं मानते हो तो ब्राह्मण भाग के वेद न होने में दिये गये 'इतिहासपुराणसंज्ञकत्वात्' हेतु को बाधित ही कहना होगा। आश्वलायन

३ पञ्चयज्ञप्रकरणे) ऋचो यजूंषि सामानि अथर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानि—इतिहास पुराणानि' इति । अत्रेतिहासपुराणानि ब्राह्मणात् पृथगुक्तानि । तैत्तिरीयारण्यके (प्रपाठक २ अनुवाक ९ मन्त्र २) ब्राह्मणानि, इतिहासान् पुराणानि' इति । अत्रापि ब्राह्मणभागात् पृथगेवेतिहासपुराणान्युक्तानि । गोपथब्राह्मणे च 'सर्वे वेदा निर्मिताः सब्राह्मणाः सेतिहासाः स पुराणाः' (१।२।१०) इति ब्राह्मणात्पृथगेवेतिहासपुराणोल्लेखो दृश्यते । तस्मात् पुराणेतिहाससंज्ञकत्वाद् ब्राह्मणभागो न वेद इति दयानन्दोक्तिः सर्वथापि खण्डितैव ।

यदपि ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां ८६ पृष्ठे वेदव्याख्यानाद् ब्राह्मणानि वेदव्याख्यानान्येव सन्ति, नैव वेदाख्यानीत्युक्तं दयानन्देन । तदपि तुच्छम्, परमात्मनैव कृता स्ववचनव्याख्या न वेद इत्यस्य निर्युक्तिकत्वात् । परमेश्वरोक्तत्वान्मन्त्रश्चेद्वेदस्तदा परमेश्वरोक्तत्वात् तद्व्याख्यानरूपं ब्राह्मणं कथं न वेदः ? न संस्कृतोल्लिखिताया ऋग्वेदभाष्यभूमिकाया व्याख्यानभूता हिन्दीव्याख्या ऋग्वेदभाष्यभूमिका न भवतीति ? यदि मन्त्रव्याख्या अवेदत्वे हेतुस्तदा मन्त्रव्याख्यारूपो मन्त्रान्तरोऽपि वेदो न स्यात् । ननु न मन्त्रस्य मन्त्रान्तरं व्याख्या भवतिति चेन्न, 'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय' (नि० ३।२।२२।१।१) इत्यादिस्थलेषु निरुक्तकारैर्मन्त्रस्य मन्त्रान्तरेण व्याख्याप्रदर्शनात् । तद्यथा—'परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम । न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य' (ऋ० सं० ७।४।७) अस्य मन्त्रस्य व्याख्यानम्—'नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योऽदर्यो मनसा मन्तवाउ ।···आनो वाज्यभीषाळे तु नव्यः ।' (ऋ० स० ७।४।८) इति, तथैव 'आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान् ।····अपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि ॥' (ऋ० सं० १०।९८।५) अस्य मन्त्रस्य व्याख्यानमग्रिमे मन्त्रे 'यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन् अदीधेत् । देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो' (ऋ० सं० १०।९८।७), तथैव शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्ता पितृभ्यः' (ऋ० सं० १०।१६।२) किमेवं मन्त्रान्तरस्य व्याख्यानान्मन्त्रोऽपि वेदो न स्यात् ? यद्यत्र व्याख्यानमनभ्युपगम्य इतरेतरशेषपूर्तिरेव मन्यते, तदा ब्राह्मणभागेऽपि सैवेतरेतरशेषपूर्तिः कुतो न मन्यते ?

गृह्यसूत्र में (अ० ३ पञ्चयज्ञ प्रकरण) 'ऋचोयजूंषि सामानि अथर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानि, इतिहास पुराणानि' इति । यहाँ इतिहास पुराणों को ब्राह्मणों से पृथक् बताया है । तैत्तिरीयारण्यक में—(प्रपाठक २ अनुवाक ९ मन्त्र २) 'ब्राह्मणानि, इतिहासान्, पुराणानि' इति—भी ब्राह्मण भाग से पृथक् ही इतिहास पुराणों को बताया है । गोपथ ब्राह्मण में भी 'सर्वे वेदा निर्मिताः सब्राह्मणाः सेतिहासाः सपुराणाः'—(१।२।१०) के द्वारा ब्राह्मण से पृथक् ही इतिहास, पुराणों का उल्लेख किया गया है । इससे दयानन्द का जो कथन है 'पुराणेतिहाससंज्ञक ब्राह्मण भाग, वेद नहीं हैं'—उसका सर्वथा खण्डन हो जाता है ।

दयानन्द ने अपनी ऋग्वेद भाष्य भूमिका के ८६ पृष्ट पर जो कहा है कि 'वेद का व्याख्यान करने के कारण ब्राह्मण भाग को वेद की व्याख्या रूप ही समझना चाहिये, वे, वेद नहीं हैं' वह भी निःसार है । परमात्मा के द्वारा ही की गई उसके वचनों की व्याख्या को वेद न मानने में कोई युक्ति नहीं है । परमेश्वर के द्वारा उक्त होने से मन्त्रों को यदि वेद कहा जाता है, तो उसी के द्वारा किये गये मन्त्र व्याख्यानरूप ब्राह्मण को वेद क्यों नहीं समझा जा सकता है ? संस्कृत में लिखित ऋग्वेद भाष्य भूमिका को व्याख्यानरूप हिन्दी व्याख्या को क्या ऋग्वेदभाष्य भूमिका नहीं कहा जाता ? यदि मन्त्र व्याख्या को वेद न होने में कारण कहा जाय तो मन्त्रव्याख्यारूप मन्त्रान्तर को भी वेद नहीं कहा जायगा । यदि कहें कि एक मन्त्र दूसरे मन्त्र की व्याख्या नहीं हुआ करती, तो वह भी ठीक न होगा । क्योंकि 'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय'—(निरु० ३।२।२२।१।१) इत्यादि स्थलों में निरुक्तकार ने मन्त्र की व्याख्या मन्त्रान्तर से प्रदर्शित की है । जैसे—'परिषद्यंश्चरणस्य०'— (.ऋ० सं० ७।४।७) इस मंत्र की व्याख्या 'नहि प्रभाय अरणः'······(ऋ० सं० ७।४।८) मंत्र से की गई है । उसी तरह 'आर्ष्टिषेणोहोत्रमृषिः'—(ऋ० सं० १०।९।८।५) इस मन्त्र की व्याख्या 'यद्देवापि शन्तनवे ···(ऋ० सं० १०।९८।७) मन्त्र से, तथा 'यदा शतं कृणवो०'—(ऋ० सं० १०।१६।२) तो क्या इस प्रकार मन्त्रान्तर व्याख्यानरूप होने से मन्त्र को भी वेद नहीं कहा जायगा ? यदि यहाँपर उसे व्याख्यानरूप न मानकर इतरेतरशेषपूर्तिरूप ही मान लिया जाय तो ब्राह्मण भाग में भी उसी इतरेतरशेषपूर्ति को क्यों नहीं माना जाय ? वस्तुतस्तु मन्त्रों का मुख्य अर्थ तो यज्ञप्रक्रियाही है । प्रसङ्गतः किसी मंत्र या मंत्रखंड का व्याख्यान भी विनियोगोपयोगी होने से संस्कार ही है । एतावता ब्राह्मण केवल मंत्रानुवाद मात्र नहीं है, किन्तु

वस्तुतस्तु मन्त्राणां यज्ञप्रक्रियैव मुख्योऽर्थः। प्रसङ्गेन कस्यचिन्मन्त्रस्य मन्त्रखण्डस्य वा व्याख्यानमपि विनियोगोपयोगित्वात् संस्कार एव। एतावता न ब्राह्मणं मन्त्रानुवादमात्रम्, किन्तु शेषपूरकबृंहकं च। अतो वेदव्याख्यानादितिहेतुरपि न ब्राह्मणभागस्यावेदत्वसाधनायालम्। सन्तुष्यतु न्यायेन ब्राह्मणभागस्य वेदव्याख्यानत्वेऽभ्युपगतेऽपि नावेदत्वं सिद्ध्यति। नहि व्याकरणसूत्राणां महाभाष्यं व्याकरणं न भवति। .व्याकरणं–तत्र द्वौ ग्रन्थौ अष्टाध्यायीव्याकरणमहाभाष्यौ सत्यौ वेदितव्यौ इति दयानन्दोक्तिविरोधात्। यस्तु सूत्रं व्याकरणमिति महाभाष्योक्त्या महाभाष्यं न व्याकरणमिति वक्ति, तद्रीत्या वार्तिकस्याप्यसूत्रत्वादव्याकरणत्वमेव स्यात्, तथापि शेषपूरकत्वाद् यथा वार्तिकस्य व्याकरणत्वमभ्युपेयते, तथैव शेषपूरकत्वाद् भाष्यस्यापि व्याकरणत्वमुपेयमेव। अत एव त्रिमुनि व्याकरणमुच्यते। तदेव सूत्रविगृहीतं व्याख्यानं भवति। 'सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्च वार्तिके इति महाभाष्यवचनम्। यथा तद्भाष्यमपि व्याकरणम्,' तथैव परमेश्वरकृतं परमेश्वरवाक्यव्याख्यानमपि वेद एव। यदि परमात्मव्याख्यानरूपं ब्राह्मणं न वेदस्तर्हि मन्त्रव्याख्यानरूपं मन्त्रान्तरमपि वेदो न स्यादित्युक्तमेव।

यदि तु ब्राह्मणभाग ऋषिकृतं व्याख्यानं न परमेश्वरकृतमित्युच्येत, तदप्यसङ्गतम्, तद्रीत्या परमेश्वरस्यैव वेदार्थप्रकाशकत्वात्। तथाहि—परमात्मनैव वेदार्थस्य ज्ञापितत्वाद् यदा यदा धर्मात्मानो महर्षयो यस्यार्थस्य जिज्ञासया ध्यानावस्थिताः परमेश्वरस्वरूपे समाहिता भवन्ति स्म तदा तदा परमात्मना अभीष्टानां मन्त्राणामर्था ज्ञापिताः। तेषामेव नाम ब्राह्मणमासीत्' (सत्यार्थप्रकाशे ७ समुल्लासे १२६ पृष्ठे। यथेश्वरेण ऋषीणां मनःसु मन्त्रभागाः प्रादुर्भावितास्तथैव तदर्थभूता ब्राह्मणभागा अपि प्रादुर्भाविताः। यथा तन्त्रीप्रेषितं वृत्तं तन्त्रीग्राहको लिखति, तथैव समाधौ परमात्मना दत्ता वेदवाच ऋषयो गृह्णन्ति, न तास्तत्कृताः। यथा समाधिना प्राप्ता मन्त्रा दृष्टाः प्रोक्ता वा मन्त्रभागा न ऋषिकृताः, किन्तु ऋषिदृष्टा

वह शेषपूरक और उपबृंहक है। अतः 'वेदव्याख्यानात्' यह हेतु भी ब्राह्मण भाग का वेदत्व साधनार्थ पर्याप्त नहीं है। 'सन्तुष्यतु न्याय के अनुसार ब्राह्मण भाग को वेदव्याख्यानरूप मान लेने पर भी उसका अवेदत्व सिद्ध नहीं हो पाता है। क्या व्याकरण सूत्रों के महाभाष्य को व्याकरण नहीं कहते? व्याकरण में अष्टाध्यायी और महाभाष्य ये दो ही ग्रंथ सत्य सनझने चाहिये। इस उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूत्र व्याख्यानरूप महाभाष्य को भी संपूर्ण विश्व व्याकरण ही मानता है, दयानन्द भी उसे व्याकरण ही मानते हैं, किन्तु यह उनका मानना उन्हीं की उक्ति के विरुद्ध है। जो यह कहता है कि 'सूत्रं व्याकरणम्' इस महाभाष्योक्ति के अनुसार महाभाष्य व्याकरण नहीं है। उसके कथनानुसार तो वार्तिक भी सूत्ररूप न होने के कारण उसे भी व्याकरण न कहना होगा। किंतु जैसे वार्तिक को शेषपूरक होने से व्याकरण माना जाता है, उसी तरह शेषपूरक होने से भाष्य को भी व्याकरण मानना ही होगा। अतएव 'त्रिमुनि व्याकरणम्' यह कहा जाता है। उसी को सूत्र विगृहीत व्याख्यान कहते हैं। 'सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके' यह भाष्य वचन भी उसी को पुष्ट कर रहा है। एवंच जैसे व्याकरण महाभाष्य भी व्याकरण कहलाता है, उसी तरह परमेश्वरकृत परमेश्वरवाक्यरूप व्याख्यान भी वेद ही है। यदि परमेश्वरकृत व्याख्यानरूप ब्राह्मण को वेद नहीं कहा जायगा तो मंत्र व्याख्यानरूप मंत्रान्तर को भी बेद नहीं कह सकेंगे. यह पूर्व कही चुके हैं।

यदि यह कहा जाय कि ब्राह्मणभाग तो ऋषिकृतव्याख्यान है, परमेश्वरकृत नहीं है। किन्तु यह कहना असंगत है, क्योंकि उनकीरीति से तो परमेश्वर ही वेदार्थ का प्रकाशक है। तथाहि—'वेदार्थ परमात्मा के द्वारा ही ज्ञापित हुआ है। जब जब धर्मात्मा महर्षियों को जिस जिस अर्थ की जिज्ञासा हुई, तभी तभी उन्होंने ध्यान लगाया और ध्यानावस्थित होकर परमेश्वर के स्वरूप में अपने चित्त को समाहित किया, तब परमेश्वर ने उन्हें अभीष्ट मंत्रों के अर्थों का ज्ञापन किया, और उन्हीं का नाम ब्राह्मण हुआ'—(सत्यार्थप्रकाश ७ समुल्लास १२६ पृ०) जैसे परमेश्वरने ऋषियों के मन में मन्त्रभागों को प्रादुर्भूत किया, उसी तरह उसके अर्थरूप ब्राह्मणभागों को भी प्रादुर्भूत किया। जैसे तंत्रीप्रेषित वृत्त (तार से भेजी गई वार्ता) को तंत्रीलेखक लिखता है, उसी तरह परमात्मा के द्वारा प्रदत्त वेदवाणियों का ऋषियों ने समाधि अवस्था में ग्रहण किया। वे वेदवाणियां ऋषियों की निर्मित नहीं है। जैसे समाधि में

एव भवन्ति, तथैव मन्त्रार्थंभूता ब्राह्मणभागा अपि ऋषिदृष्टा एव भवन्ति, न ऋषिप्रणीताः। यथा मन्त्राणां परमेश्वर एव प्रणेता, तथैव ब्राह्मणभागस्यापि परमेश्वर एव प्रणेता। समानकर्तृकं मूलपुस्तकं तद्व्याख्यानं च समानमेव प्रमाणं भवति समानविषयं च भवति, तथैव मन्त्रब्राह्मणानि च समानविषयत्वात् समानकर्तृकत्वाच्च समानमेव प्रमाणम्। मन्त्रा ब्राह्मणानि चेत्येकदेशिनां संज्ञा, वेदत्वं तूभयभागस्य। मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि प्रवक्तार ऋषयः, प्रणेता परमेश्वर एव। परमेश्वरनिःश्वसितत्वान्नित्यत्वमपौरुषेयत्वं च। वस्तुतस्तु क्वचिन्मन्त्राणां विनियोगोपयोगिस्पष्टीकरणरूपसंस्कार एव व्याख्यानवत् प्रतीयते। न ब्राह्मणानां मन्त्रव्याख्यानरूपत्वम्। तत एव ब्राह्मणस्य विधिरूपत्वं, मन्त्राणां च विधेयरूपत्वमुक्तम्। अत एव च ब्राह्मणानां विधायकत्वं, मन्त्राणां द्रव्यदेवतास्मारकत्वमेव।

यत्तु केनचिद् 'ब्राह्मणस्य भाष्यरूपत्वाद् असमसमयत्वाच्च न वेदत्वम् इति; तदपि तुच्छम्, तथात्वे ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसां क्रमदर्शनात् कालभेदस्यानिवार्यत्वेन तत्राप्यसमसमयत्वेनावेदत्वापत्तेः। ऋग्वेदसंहिताया एव २, ३, ४ मण्डलानामप्यवेदत्वापत्तेश्च। अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋ० सं० १।१।१) इति मन्त्रान्तरभाविनां समेषां मन्त्राणामप्यवेदत्वापत्तेश्च। पौर्वापर्यलक्षणक्रमाभावे मण्डल-काण्डा-ध्याया-नुवाक-सूक्त-मन्त्रादिसंख्यानुपपत्तेश्च। यदि तथात्वेऽपि नित्यत्वादेककालिकता स्यात् तर्हि तथैव ब्राह्मणभागस्यापि नित्यत्वेन मन्त्रसमानकालिकत्वं नित्यत्वमपौरुषेयत्वं वेदत्वं चाव्याहतमेव। शब्दार्थसम्बन्धानामौत्पत्तिकत्वेन नित्यत्वाद् ब्राह्मणभागस्य मन्त्रभागार्थत्वेन व्याख्यानरूपत्वेऽपि नित्यत्वमेव। यथा भिन्न-भिन्नकालेषु महर्षीणां समाधिवशान्मन्त्राणां ब्राह्मणानां च प्राप्तत्वेन भिन्नकालिकत्वव्यवहारोऽपि नानुपपन्नः। तत एव

प्राप्त हुए मन्त्र, ऋषियों के द्वारा दृष्ट या प्रोक्त कहलाते हैं, उन्हें ऋषिकृत नहीं कहा जाता, उसी तरह मन्त्रार्थभूत ब्राह्मणभाग भी ऋषियों द्वारा दृष्ट ही कहे जाते हैं, वे ऋषि प्रणीत नहीं हैं। जैसे मंत्रों का प्रणेता परमेश्वर ही कहा जाता है, उसी प्रकार ब्राह्मणभाग का भी परमेश्वर ही प्रणेता है। मूलपुस्ततक और उसका व्याख्यान दोनों का कर्ता एक ही रहने से दोनों को समानरूप से प्रमाण माना जाता है, और दोनों का विषय भी समान रहता है, उसी तरह मंत्र-ब्राह्मणों का विषय समान होने से और दोनों का कर्ता एक रहने से दोनों को ही समान रूप से प्रमाण मानना चाहिये। मंत्र और ब्राह्मण ये संज्ञायें तो एक-एक भाग की है। किन्तु 'वेदत्व' दोनों भागों पर विद्यमान है, अर्थात् दोनों भागों को 'वेद संज्ञा दी गई है। मंत्र और ब्राह्मण दोनों के ही प्रवक्ता ऋषि हैं, किन्तु प्रणेता परमेश्वर ही है। वेद, परमेश्वर के निःश्वसितरूप होने से वे नित्य एवं अपौरुषेय हैं। मंत्रों के विनियोग में उपयोगी स्पष्टीकरणरूप संस्कार ही व्याख्यान की तरह प्रतीत होता है। ब्राह्मण मन्त्र के व्याख्यारूप नहीं हैं, यही कारण है कि ब्राह्मण को विधिरूप और मंत्रों को विधेयरूप कहा गया है। अत एव ब्राह्मणों का विधायकत्व और मंत्रों का द्रव्य-देवतास्मारकत्व ही रहता है।

यह जो किसी ने कहा है—'मन्त्र का भाष्य रूप होने से और दोनों का काल एक न होने से ब्राह्मण को वेद नहीं कहा जा सकता'—वह भी निःसार है। उसके कथनानुसार ऋक्, यजुस्, साम, अथर्वांगिरस् में भी क्रम रहने से कालभेद को अनिवार्य रूप से मानना होगा, तब उनमें भी असमसमयता होने के कारण उन्हें भी वेद शब्द से नहीं कहा जा सकेगा। ऋग्वेद संहिता के ही २, ३, ४ मंडलों को भी वेद शब्द से नहीं कह सकेंगे। 'अग्निमीळे पुरोहितम्'—(ऋ० सं० १॥१।१) इस मन्त्र के अन्तर्गत आनेवाले सभी मन्त्रों में अवेदत्वापत्ति होगी। पौर्वापर्यलक्षण क्रम के न रहने पर मंडल, कांड, अध्याय, अनुवाक, सूक्त, मन्त्र आदि की संख्या में भी अनुपपत्ति होगी। वैसा रहने पर भी नित्य होने के कारण यदि एककालिक उन्हें मान लिया जाय तो उसी तरह ब्राह्मण भाग भी नित्य होने से उसमें मन्त्रसमानकालिकत्व, नित्यत्व, अपौरुषेयत्व और वेदत्व के होने में कोई क्षति नहीं है। उपर्युक्त सभी धर्म ब्राह्मण भाग में भी अव्याहतरूप से रह सकते हैं। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध औत्पत्तिक होने से नित्य है। ब्राह्मणभाग मन्त्रार्थरूप होने के कारण व्याख्यानरूप रहने पर भी उक्त नियम के अनुसार वह नित्य ही है। जैसे भिन्न भिन्न काल में महर्षियों को समाधि के बलपर मन्त्र और ब्राह्मणों को प्राप्ति होने से उनमें भिन्न कालिकत्व का व्यवहार भी अनुपपन्न नहीं है। यही कारण है कि ऋषियों के लिये नूतन और पुरातन का व्यवहार किया जाता है। स्तोमों में नवीनत्व का तथा ब्राह्मणों में पुराणत्व, नवीनत्व का व्यवहार भी

ऋषीणां नूतनत्वं पुराणत्वं च। स्तोमानां नव्यत्वम्। ब्राह्मणानां च पुराणत्वनवीनत्वव्यवहारोऽपि भवति। तस्माद्यथा मन्त्राणां भिन्नकालिकत्वेपि नाऽवेदत्वम् तथैव ब्राह्मणानामपि भिन्नकालिकत्वेन न वेदत्वाशङ्कापि।

वस्तुतस्तु वेदव्याख्यानादिति हेतुरशुद्ध एव, ब्राह्मणस्यापि वेदत्वाविशेषात्। तस्मान्मन्त्रव्याख्यानादित्येवं वक्तव्यमासीत्। यदपि 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (पा० सू० ४।३।१०५) इति सूत्रानुसारेण पुराणैः प्राचीनैर्ब्रह्मर्षिभिः प्रोक्ता ब्रह्मणकल्पाः, तस्मादृषिभिरुक्तत्वाद् ब्राह्मणस्य वेदभिन्नत्वम्। इति तदपि तुच्छम्, ब्राह्मणभागस्येव मन्त्रभागस्यापि ऋषिप्रोक्तत्वेन तदयुक्तत्वात्। तथाहि 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' (पा० सू० ४।३।१०६) अत्र शौनकादिभिर्ऋषिभिश्छन्दसां (वेदानां) प्रोक्तत्वोक्तेः। तत एव शौनकेन प्रोक्ता संहिता शौनकी इति रूपं भवति। अतस्त्वदभिमतस्याथर्ववेदस्य वक्ता शौनक ऋषिरुक्तः। शौनकादिगणान्तर्गतत्वादेव वाजसनेयेन प्रोक्तत्वाद् वाजसनेयी संहिता भवति। एवं त्वदभिमता शुक्लयजुः संहिता वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन महर्षिणा प्रोक्ता। अत एव न्यायसूत्र (४।१।६२) भाष्ये महर्षि वात्स्यायन आह—'य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च' इति। तेन मन्त्राणां ब्राह्मणानां च विशेषेण द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ऋषयो भवन्ति। यथैव ऋषिप्रोक्तत्वाद् ऐतरेय-वाजसनेय (शतपथ) ताण्ड्यादिब्राह्मणग्रन्थाः प्रसिद्धाः, तथा शाकल्यर्षिप्रोक्तत्वात् ऋग्वेदसंहिता, शाकल्यसंहिता, वाजसनेयसंहिता (शतपथब्राह्मणम्), कुथुमप्रोक्तत्वात् सामवेदसंहिता कौथुमीसंहिता, शौनकप्रोक्तत्वाद् अथर्ववेदसंहिता शौनकी संहिता, इमे ग्रन्था एव त्वदभिमता वेदाः। अन्यथा केन ऋषिणा कदा किं ब्राह्मणं रचितमिति को वक्तुं शक्नुयात्? ऐतरेयादिनामसम्बन्धादेव तु यथा ब्राह्मणभागे कर्ता कल्प्यते, तथैव मन्त्रसंहितास्वपि शौनकादीनां कर्तृत्वकल्पनस्य समत्वात् तत्कल्पनं को निवारयेत्? यदि प्रोक्तत्वं न कृतत्वं तदा ब्राह्मणभागेऽपि तत्समानमेव

होता है। अतः जैसे मन्त्रों के भिन्न कालिक रहने पर भी उनमें अवेदत्व नहीं है, वैसे ही ब्राह्मणों के भिन्नकालिक रहने पर भी उनमें भी अवेदत्व नहीं है।

वस्तुतस्तु 'वेदव्याख्यानात्' यह हेतु अशुद्ध ही है, क्योंकि ब्राह्मण में भी वेदत्व समान रूप से है। इसलिये 'मन्त्रव्याख्यानात्' इस प्रकार हेतु का उपन्यास करना चाहिये था। यह जो कहा है—'पुराण प्रोक्तेषुब्राह्मणकल्पेषु'—(पा० सू० ४।३।१०५) सूत्र के अनुसार पुराण अर्थात् प्राचीन ब्रह्मर्षियों के द्वारा प्रोक्त ब्राह्मणकल्प हैं, इसलिये अर्थात् ऋषियों द्वारा उक्त होने से 'बाह्मण भाग वेद से भिन्न है'—वह भी सारहीन है। क्योंकि बाह्मण भाग की तरह मंत्र भाग भी ऋषियों द्वारा प्रोक्त है। अतः उसे भी वेद से भिन्न कहना होगा। तथाहि—'शौनकादिभ्यश्छन्दसि'—(पा० सू० ४।३।१०६) इस सूत्र में शौनकादि ऋषियों द्वारा छन्दों (वेदों) का प्रोक्त होना बताया गया है। यही कारण है कि शौनक के द्वारा प्रोक्त (कही हुई) संहिता को शौनकी शब्द से कहा जाता है। अतः तुम्हारे अभिमत अथर्ववेद का वक्ता शौनक ऋषि बताया गया है। शौनकादिगण के अन्तर्गत होने से वाजसनेय के द्वारा प्रोक्त होने के कारण वाजसनेयी संहिता कहलाती है। इस रीति से तुम्हारी अभिमत शुक्लयजुः संहिता, वाजसनेय याज्ञवल्क्य महर्षि के द्वारा प्रोक्त हुई है। अतएव न्यायसूत्र (४।१।६२) भाष्य में महर्षि वात्स्यायन कहते हैं—'य एव मंत्र-ब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च' इति। इससे स्पष्ट होता है कि मंत्र और ब्राह्मणों के विशेष रूप से द्रष्टा और प्रवक्ता ऋषि होते हैं। जैसे ऋषिप्रोक्त होने से ऐतरेय, वाजयसनेय (शतपथ) ताण्ड्यादि ब्राह्मण ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, वैसे ही शाकल्य ऋषि से प्रोक्त होने के कारण ऋग्वेद संहिता शाकल्य संहिता, वाजसनेय संहिता (शतपथ ब्राह्मण), कुथुम प्रोक्त होने से सामवेद संहिता कौथुमी संहिता, शौनक प्रोक्त होने से अथर्ववेद संहिता, ये ही ग्रंथ तुम्हारे अभिमत वेद हैं। अन्यथा किस ऋषि ने कब कौन से ब्राह्मण की रचना की, यह कौन कह सकेगा? ऐतरेयादिनाम के सम्बन्ध से ही तो जैसे ब्राह्मण भाग के कर्ता की कल्पना की जाती है, उसी तरह मंत्र संहिताओं के कर्तृत्व की कल्पना शौनकादिकों में भी की जा सकती है, इस कल्पनासाम्य का निवारण कौन कर सकेगा? यदि 'प्रोक्त' को 'कृत' न कहो तो वही समाधान ब्राह्मण भाग में भी समान रूप से लागू होगा। शाकली, शौनकी, वाजसनेयी, कौथुमी संहिताओं की तरह ही काठक-

समाधानम्। शाकली-शौनकी-वाजसनेयी-कौथुमीसंहितानामिव काठकतैत्तिरीयकादीनामेकत्रिंशदुत्तरैकादशशतसंख्याकानां संहितानां ब्राह्मणानां च तथैव प्रोक्तत्वान्नित्यत्वं वेदत्वं चाव्याहतमेव।

यत्तु केनचिदुक्तम्—'ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससङ्ग्रहम्। चक्रे सपरिशेषं च हर्षेण परमेण ह॥' (म० भा० शा० प० ३१८।१६) इति वचनेन शतपथस्य याज्ञवल्क्यकर्तृकत्वं स्पष्टं विज्ञायते। तेन ब्राह्मणभागस्य ऋषिकृतत्वे कथमपौरुषेयत्वं वेदत्वं चेति। तदपि तुच्छम्, चक्रे इत्यस्य प्रकथनार्थत्वेन प्रवचनार्थत्वानतिरिक्तत्वात्। 'गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः' (पा० सू० १।३।३२) इति सूत्रेण कृञः प्रकथनार्थत्वसिद्धेश्च। कृञ्धातुः क्रियासामान्यवाची भवति। तत एव भावयाञ्चकार, गणयाञ्चकार इत्यादिप्रयोगा भवन्ति। 'ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।' (म० २।७४) इति मनुवचने कृञः प्रकथनमेवार्थः, प्रणवोच्चारणं कुर्यादित्येवार्थः। कथां प्रकुरुते कथां कथयतीत्यर्थः। तद्वदेव महाभारतवचने अहं याज्ञवल्क्यः शतपथं चक्रे शतपथं प्रोक्तवानित्येवार्थः। अत एव शतपथब्राह्मणस्यान्ते 'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते' (१४।९।४।३३) इत्युक्तम्। आख्यानमपि प्रवचनमेव 'ख्या प्रकथने' इति धात्वर्थानुरोधात् तस्मादादित्यात्प्राप्तानि शुक्लानि यजूंषि याज्ञवल्क्येन प्रकथ्यन्ते प्रोच्यन्ते इत्येवार्थः। महाभारतस्य पूर्वापरप्रसङ्गोऽपि ज्ञातव्यः। तत्र याज्ञवल्क्यः सूर्यं प्रत्याह—'यजूंषि चोपयुक्तानि क्षिप्रमिच्छामि वेदितुम्' (म० भा० शा० प० ३१८।५) अत्र यजूंषीत्यनेन यजुर्वेदीयं शतपथब्राह्मणमिष्टम्। तत्तद्वेदीयब्राह्मणमपि तत्तन्नाम्नैव व्यपदिश्यते। 'ततो मां भगवानाह वितरिष्यामि ते द्विज। सरस्वती ह वाग्भूत्वा शरीरं ते प्रवेक्ष्यति॥' (म० भा० शा० प० ३१८।६) इति सूर्योक्तिर्याज्ञवल्क्यं प्रति। 'मयादित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप' (म० भा० शा० प० ३१८।२) इति जनकं प्रति याज्ञवल्क्योक्तिः। अर्थान्मया यजुर्वेदस्य शतपथब्राह्मणमादित्यादवाप्तम्। एतेनेदं स्पष्टं यत्सूर्येण सरस्वतीद्वारा

तैत्तिरीयक आदि। (११३१) ग्यारह सौ इकत्तीस संहिताएं और ब्राह्मण भी प्रोक्त होने के कारण उनका नित्यत्व और वेदत्व अव्याहत ही है।

यह जो किसी ने कहा है—'ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससङ्ग्रहम्। चक्रे सपरिशेषञ्च हर्षेण परमेण ह।' (म० भा० शा० प० ३१८।१६) इस महाभारत के वचन से शतपथ की याज्ञवल्क्यकर्तृकता स्पष्ट प्रतीत होती है। तब ब्राह्मणभाग के ऋषिकृत होने से उसको अपौरुषेय और वेद कैसे कहा जा सकता है' ? किन्तु वह भी निःसार है। उपर्युक्त वचन में आये हुए 'चक्रे' पद का अर्थ प्रकथन (प्रवचन) है। 'गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः'—(पा० सू० १।३।३२) इस पाणिनि सूत्र के द्वारा 'कृञ्' को प्रकथनार्थक बताया गया है। 'कृञ्' धातु क्रियासामान्य का वाचक है, यही कारण है कि 'भावयाञ्चकार', 'गणयाञ्चकार' इत्यादि प्रयोग हुआ करते हैं। 'ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्तेच सर्वदा'—(म० २।७४) इस मनुवचन में 'कृञ्' का 'प्रकथन' अर्थ ही किया गया है। 'प्रणवोच्चारण करे' यही अर्थ किया गया है। 'कथां प्रकुरुते' कथां कथयतीत्यर्थः कथा कहता है। उसी तरह महाभारत के वाक्य में 'अहं याज्ञवल्क्यः शतपथं चक्रे' शतपथं प्रोक्तवानित्यर्थः अर्थात् मुझ याज्ञवाल्क्य ने शतपथ को कहा, यही अर्थ होता है। यही कारण है कि शतपथ ब्राह्मण के अन्त में 'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते' (१४।९।४।३३) कहा गया है। 'ख्या प्रकथने' इस धात्वर्थ के अनुरोधानुसार आख्यान भी प्रवचन ही कहा जाता है। अतः आदित्य से प्राप्त शुक्ल यजुओं को याज्ञवल्क्य के द्वारा प्रकथन अर्थात् अच्छी तरह कहे जाते हैं, यही अर्थ होता है। महाभारत के पूर्वापर प्रसङ्ग को भी जान लेना चाहिये। इस प्रसङ्ग में याज्ञवल्क्य सूर्य से कहते हैं—'यजूंषि चोपयुक्तानि क्षिप्रमिच्छामि वेदितुम्।' (म० भा० शां० प० ३१८।५) यहां पर 'यजूंषि' पद से यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण का ग्रहण अभीष्ट है। तत्तद्वेदीय ब्राह्मण भी तत्तन्नाम से ही कहा जाता है। 'ततो मां भगवानाह वितरष्यामि ते द्विज' सरस्वती ह वाग् भूत्वा शरीरं ते प्रवेक्ष्यति।'—(म० भा० शां० ३१८।६) यह सूर्य की उक्ति, याज्ञवल्क्य के प्रति है। 'मयादित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप।'—(म० भा० शा० प० ३१८।२) यह याज्ञवल्क्य की उक्ति जनक के प्रति है। अर्थात् मैंने यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण को आदित्य से प्राप्त किया है। इससे यह

शतपथब्राह्मणं याज्ञवल्क्याय दत्तम्। याज्ञवल्क्येन तदुच्चार्यं लोके प्रकटितम्। तत एव सूर्येण मुखव्यादानाय याज्ञवल्क्य-उक्तः। ततो मामाह भगवान् (सूर्यः) आस्यं स्वं विवृतं कुरु। विवृतं च ततो मेऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती ॥'' (म० भा० शा० प० ३१।८।७) एतेन सूर्यात् प्राप्तस्य शतपथस्य याज्ञवल्क्येन प्रवचनमेव ज्ञायते। 'सूर्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोऽहं नराधिप' (म० भा० शा० प० ३१८।८८), 'कर्त्तु शतपथं चेदमपूर्वं च कृतं मया' इत्यादिवचनमपि पूर्वोक्तार्थकमेव। अत एव शतपथ-ब्राह्मणे पदे पदे 'तदु होवाच याज्ञवल्क्यः' (श० १।३।४।२१), 'इति ह स्माह याज्ञवल्क्यः' (श० ३।३।३।१०)। अत एव महाभारतटीकाकृन्नीलकण्ठः 'चक्रे कर्मकर्तरि प्रयोगः, स्वयमेवाविरभूदित्यर्थः। कर्तुं प्रकटीकर्तुम्।' इत्युक्तवचनगतयोः 'चक्रे' 'कर्तुं' इति पदयोर्व्याख्यानं कृतवान्। अत एव 'सूर्यं ऋषिर्मन्त्रकृत्' (ऐ० ब्रा० ६।१), यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत' (ऋ० सं० १०।७१।२), 'ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानाम्' (नि० ३।११।५), 'ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः' (ऋ० सं० ९।११४।२), 'मन्त्रकारः' (अथर्व ३।२।२३), 'यामृषयो मन्त्रकृतः' (तै० ब्रा० २।८।८।४) अत्र सर्वत्र मन्त्रभागैः साकमपि कृञः प्रयोगः। तथापि न मन्त्राणां तावतापि ऋषिकृतत्वमभ्युपेयते। य एव दोषः स्वपक्षेऽपि तमेवान्यत्रासञ्जयन् न मनागपि जिह्रेति। तेनात्र प्रकथनमेव प्राकरणिकोऽर्थः। 'ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः' (नि० ३।११।५) अत्रौपमन्यव-मृषिविशेषं स्तोमानां कर्तारमाह। तत्रैव 'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्श' (नि० २।११।१) इत्यनुरोधेन कृधातोर्दर्शनमर्थो न निर्माणम्, अन्यथा 'ततः स ऋचमुद्धृत्य ऋग्वेदं कृतवान् मुनिः। यजुर्वेदतरोः शाखाः सप्तविंशन्महामतिः। वैशम्पायन-नामासौ व्यासशिष्यश्चकार वै ॥' (विष्णुपुराणे, ३।५।१-२) इति रीत्या वेदानामपि वैशम्पायनकर्तृकत्वं कथं न सिद्ध्येत्? तस्माद्यथा शाकल्य-वाजसनेय-कुथुमशौनकादिभिर्ऋषिभिः प्रोक्तत्वादेव वर्तमानानामृग्यजुःसामाथर्वसंहितानां शाकलवाजसनेय-कौथुमशौनकसंहितानामभिप्रसिद्धिस्तथैव ब्राह्मणानामपि वाजसनेय-ऐतरेयादिनामभिः प्रसिद्धिः। समानमेवोभयत्राप्युत्तरम्।

स्पष्ट है कि सूर्य ने सरस्वती के द्वारा शतपथ ब्राह्मण, याज्ञवल्क्य को दिया। याज्ञवल्क्य ने उसका उच्चारण कर लोक में उसे प्रकट किया। यही कारण है कि सूर्य ने याज्ञवल्क्य से मुख खोलने के लिये कहा। 'ततो मामाह भगवान् (सूर्यः) आस्यं स्वं विवृतं कुरु। विवृतं च ततो मयाऽऽस्यं, प्रविष्टा च सरस्वती।'—(म० भा० शा० प० ३१।८।७) इस कथन से यह समझ में आता है कि सूर्य के द्वारा प्राप्त हुए शतपथ का प्रवचन ही याज्ञवल्क्य ने किया। 'सूर्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोऽहं नराधिप।'—(म० भा० शा० प० ३१८।८८) 'कर्तुं शतपथं चेदमपूर्वंच कृतं मया।' इत्यादि वचन भी पूर्वोक्त अर्थ को ही कह रहे हैं। अतएव शतपथ ब्राह्मण में 'पदे पदे तदुहोवाच याज्ञवल्क्यः—(श० प० १।३।४।२१) 'इति ह स्माह याज्ञवल्क्यः'—(श० प० ३।३।३।१०)। अतएव महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने 'चक्रे कर्मकर्तरि प्रयोगः। स्वयमेवाविरभूदित्यर्थः। कर्तुं प्रकटीकर्तुम्।' इन वचनों में प्रयुक्त 'चक्रे' 'कर्तुम्' इन दोनों पदों की व्याख्या की है। अतएव 'सूर्य ऋषिर्मन्त्रकृत्'—(ऐ० ब्रा० ६।१), 'यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत'—(ऋ० सं० १०।७१।८), 'ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानाम्' (नि० ३।२), ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः'—(ऋ० सं० ९।११४।२), 'मन्त्रकारः'—(अथर्व वे० सं० ३।२।८३), यामृषयो मन्त्र कृतः'—(तै० ब्रा० २।८।८।४) इन प्रदर्शित सब स्थानों में मन्त्र भागों के साथ भी 'कृञ्' का प्रयोग किया गया है। तथापि कृञ् का प्रयोग रहने मात्र से ही मन्त्रों में ऋषिकर्तृकत्व नहीं माना जाता। अतः जो दोष अपने पक्ष में है, उसी को अन्यत्र प्रदर्शित करने में क्या किंचिन्मात्र भी त्रपा का अनुभव नहीं हो रहा है। इस कारण यहां 'प्रकथन' ही प्राकरणिक अर्थ है। 'ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः'—(नि० ३।११।५)। यहां औपमन्यव ऋषिविशेष को स्तोमों का कर्ता बताया है। वहीं पर 'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्श'—(नि० २।११।१) इत्यादि वचनों के अनुरोध से 'कृ' धातु का 'दर्शन' अर्थ करना ही उचित प्रतीत होता है, 'निर्माण' अर्थ करना ठीक नहीं है। अन्यथा 'ततः स ऋच मुद्धृत्य ऋग्वेदं कृतवान् मुनिः। यजुर्वेदतरोः शाखाः सप्तविंशन्महामतिः।' वैशम्पायननामासौ व्यासशिष्यश्चकार वै।'—(वि० पुराण ३।५।१-८) इसके अनुसार वेदों में भी वैशम्पायनकर्तृकत्व क्यों नहीं कहते? तस्मात् जैसे शाकल्य, वाजसनेय, कुथुम, शौकनादि ऋषियों के द्वारा प्रोक्त होने से ही वर्तमान ऋक्, यजुः, साम, अथर्व संहिताओं की शाकल, वाजसनेय, कौथुम, शौनक संहिता के नाम से प्रसिद्धि है, वैसे ही ब्राह्मणों की भी वाजसनेय, ऐतरेय आदि नामों से प्रसिद्धि है। दोनों पक्षों में उत्तर समान ही है। तथाच वैसे स्थलों में 'कृ' धातु का 'प्रवचन'

तथा च तादृशस्थले कृधातोः प्रवचनं दर्शनं वार्थो न निर्माणमिति। सायणाचार्योऽपि 'करोति धातुस्तत्र दर्शनार्थः' (ऐ० ब्रा० ६।१)। 'शूरोऽसि कृतविद्योऽसि' इति पञ्चतन्त्रश्लोके कृतविद्योऽसीत्यस्य अधीतविद्योऽभ्यस्तविद्यो वा भवत्यर्थः, न निर्मितविद्य इति। तैत्तिरीयारण्यके मन्त्रकृद्भ्य इत्यस्य मन्त्राणां द्रष्टृभ्य इत्येवार्थः। दर्शनमेव कर्तृत्वमिति भट्टभास्करः। 'मन्त्रकृतः' (रघुवंशे १।६१) अत्र मन्त्राणां स्रष्टुः प्रयोक्तुर्वा इति मल्लिनाथः। 'मन्त्रकृतः' मन्त्रदृश इत्युच्यन्ते। नहि मन्त्राणां करणं भवति, अनित्यत्वप्रसङ्गात्। तेन दर्शनार्थः कृञ् इत्यध्यवसीयते' इति (का० श्रौ० सू० ३।२।९) इत्यत्र कर्काचार्यः। 'अकृतास्त्रश्च राघवः' (वा० रा० ३।३८।६) इत्यत्र अशिक्षितास्त्र इत्यर्थः। लौकिकेषु वैदिकेषु दृष्टान्तेषु कृतान्तेषु इति प्रयोगो दृश्यत इति दृष्ट इत्यर्थः। 'प्रत्यक्षकारिग्रहणं कर्त्तव्यम्' (पा० सू० ४।३।१०४) इत्यस्य महाभाष्यकारेण प्रत्यक्षाध्यायीत्यर्थ उक्तः। मन्त्रकृतोऽध्वर्युर्वृणीते' (सत्याषाढ़ श्रौ० सू०), 'उदङ्मुखो मन्त्रकारः' (मानवगृह्यसूत्र १।८।२) इत्यत्र मन्त्राध्यायीत्यर्थः। तस्मात् 'शतपथं चक्रे' (म० भा० शा० प० ३१८) इत्यत्र कृञः प्रकथनमर्थः।

दयानन्देनोक्तम्—'ऋषिभिः परमात्मस्वरूपे समाधिः कृतः तेन मन्त्राः प्राप्ताः। तदर्था ब्राह्मणान्यपि।' (सत्यार्थप्रकाश पृ० १२५-१२६) इति। यदप्युक्तम्—'ब्राह्मणभागे ऋग्वेदादिनामानि लभ्यन्ते; न तथा मन्त्रेषु ब्राह्मणभागस्य नामोल्लेखः, तेन तस्यार्वाचीनत्वमनीश्वरोक्तत्वमवेदत्वं च' इति, तदपि तुच्छम्, 'तमितिहासश्च पुराणञ्च' (अथर्व १५।३०।१) एभिः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते' (ऋ० भा० भू० ८२-८३ पृष्ठयोः) इति दयानन्देनैवाथर्ववेदे इतिहासपुराणनामभिर्ब्राह्मणनिर्देशाभ्युपगमात्। संस्कारविधिग्रन्थे प्रथमप्रकरणे दयानन्देन 'तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठम्'

अथवा 'दर्शन' अर्थ ही होगा। 'निर्माण' नहीं। सायणाचार्य ने भी—'करोति धातुस्तत्र दर्शनार्थः'—(ऐ० ब्रा० ६।१)—'करोति' का अर्थ 'दर्शन' ही किया है। 'शूरोऽसि कृतविद्योऽसि' इस पंचतन्त्र के श्लोक में 'कृतविद्योऽसि' का अर्थ 'अधीतविद्यः' या 'अभ्यस्त विद्यः भवति' ही किया जाता है। न कि 'निर्मितविद्यः'—विद्या का निर्माण करने वाला—अर्थ कोई नहीं करता है। तैत्तिरीयारण्यक में 'मन्त्रदृभ्यः का अर्थ 'मन्त्राणां द्रष्टृभ्यः'—अर्थात् मन्त्रों के द्रष्टाओं के लिये—ही किया गया है। 'दर्शनमेव कर्तृत्वम्'—दर्शन ही कर्तृत्व है—ऐसा भट्ट भास्कर कहते हैं। 'मन्त्रकृतः—(रघु० १।६१) यहां 'मन्त्राणां स्रष्टुः प्रयोक्तुर्वा'—मन्त्रों के स्रष्टा या प्रयोक्ता—अर्थ मल्लिनाथ ने किया है। 'मन्त्रकृतः' मन्त्रदृश इत्युच्यन्ते—मन्त्रकारों को मन्त्रदर्शी कहा जाता है, न कि मन्त्रकर्ता या निर्माता। मन्त्रों को किया नहीं जाता अर्थात् उनका निर्माण नहीं होता। उनका निर्माण होना यदि माना जाय तो उनमें अनित्यत्व प्रसङ्ग प्राप्त होगा, अर्थात् उन्हें अनित्य कहना होगा। अतः कृञ् दर्शनार्थक है, यह निश्चय किया जाता है—(का० श्रौ० सू० ३।२।९) यह कर्काचार्य का कथन है। 'अकृतास्त्रश्च राघवः'—(वा० रा० ३।३८।६) यहाँ पर भी 'अशिक्षितास्त्रः'—अस्त्र विद्या में अशिक्षित—अर्थ किया गया है। 'लौकिक-वैदिक दृष्टान्तों में' इस अर्थ में 'कृतान्तेषु' का प्रयोग उपलब्ध होता है, अतः 'कृत' का अर्थ दृष्ट ही यहाँ समझना चाहिये। 'प्रत्यक्षकारि ग्रहणं कर्तव्यम्' (पा० सू० ४।३।१०४) इसका अर्थ महाभाष्यकारने 'प्रत्यक्षाध्यायी' किया है। 'मन्त्रकृतोऽध्वर्युर्वृणीते'—(सत्या० श्रौ० सू०) 'उदङ्मुखो मन्त्रकारः'—(मानव गृ० सू० १।९२) यहाँ पर भी मंत्राध्यायी' अर्थ किया गया है। 'तस्मात् शतपथं चक्रे'—(म० भा० शां० प० ३१८) यहाँ पर भी 'कृञ्' का अर्थ 'प्रकथन' किया गया है।

दयानन्द ने कहा है—'ऋषिभिः परमात्मस्वरूपे समाधिः कृतः। तेन मन्त्राः प्राप्ताः तदर्था ब्राह्मणान्यपि—(सत्यार्थ प्रकाश पृ० १८५-१८६)—ऋषियों ने परमात्मस्वरूप में समाधि लगाई। उससे उन्हें मन्त्रों की प्राप्ति हुई और मन्त्रार्थरूप ब्राह्मणों की भी प्राप्ति हुई। यह जो कहा है—ब्राह्मणभागे ऋग्वेदादिनामानि लभ्यन्ते, न तथा मन्त्रेषु ब्राह्मणभागस्य नामोल्लेखः, तेन तस्यार्वाचीनत्वमनीश्वरोक्तत्वमवेदत्वञ्चे' ति। जैसे—ब्राह्मणभाग में ऋग्वेदादि के नाम उपलब्ध होते हैं, वैसे मन्त्रों में ब्राह्मण भाग के नाम का उल्लेख नहीं है। इस कारण उसमें अर्वाचीनत्व, अनीश्वरोक्तत्व और अवेदत्व है। किन्तु यह कहना भी निःसार है। 'तमितिहासश्च पुराणञ्च'—(अथर्व सं० १५।३०।१) इन प्रमाणों से ब्राह्मणग्रन्थों का ही

(अथर्व॰ ११।५।३३) इति मन्त्रे नपुंसकलिङ्गान्तब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मणभाग एवार्थः कृतः। तत्र 'ब्रह्म'(मन्त्रभागः) ज्येष्ठमभिगतम्। तेन ऋग्वेदादिषु शतपथादिविशेषनामाभावेऽपि सामान्यं नाम ब्राह्मणमित्यस्त्येव। तथैव शतपथादिब्राह्मणेष्वपि ऋग्वेदादिसामान्यं नामास्त्येव। शाकल्येतिऋग्वेदादिविशेषनामानि न सन्त्येव। तस्मादृषिभिरुक्तत्वादिति हेतुरपि हेत्वाभास एव।

यदपि च ब्राह्मणभागस्यावेदत्वे 'अनीश्वरप्रोक्तत्वात् इति हेतुरुक्तः, सोऽपि स्ववचनविरुद्ध एव, सत्यार्थप्रकाशे दयानन्देनैव परमात्मद्वारैव ऋषीणां मन्त्राणां मन्त्रार्थरूपस्य ब्राह्मणस्य च प्राप्तिस्वीकारात्। 'ऋचः सामानि जज्ञिरे। पुराणं यजुषा सह उच्छिष्टाज्जज्ञिरे' (अथर्व॰ ११।९।७) इत्यत्रोच्छिष्टात् परमात्मन ऋग्वेदादीनामिव पुराणस्याप्युत्पत्तिरुक्ता। पुराणं च पूर्वोक्तरीत्या दयानन्देन ब्राह्मणमेव स्वीकृतम्। तस्माद् ब्राह्मणभागस्य परमात्मनः सकाशादुत्पत्तिस्वीकारात् तद्विरुद्धमेव तस्यानीश्वरोक्तत्वकथनम्।

यदपि ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां ८६ पृष्ठे लौकिकास्तावद् गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण, वैदिकाः खल्वपि 'शन्नो देवीरभिष्टय', 'इषे त्वोर्जेत्वा', 'अग्निमीळे पुरोहितम्', 'अग्न आयाहि वीतये' इति महाभाष्ये पस्पशाह्निके। यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसंज्ञाभीष्टा स्यात्तदा तेषामप्युदाहरणं दद्यान्महाभाष्यकारः। अत एव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि। किन्तु यानि 'गौरश्व' इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि ब्राह्मणग्रन्थेष्वेव घटन्ते कुतः ? तेषु ईदृशशब्दव्यवहारदर्शनात्' इति, तदप्यविचाररमणीयम्, वक्ष्यमाणरीत्या महाभाष्यकारस्य मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि वेदसंज्ञाया अभीष्टत्वेन समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इति न्यायेन

ग्रहण होता है'—(ऋ॰ भा॰ भू॰ पृ॰ ८२-८३) इस प्रकार दयानन्द ने ही अथर्ववेद में इतिहास, पुराण के नाम से ब्राह्मण का निर्देश किया जाना स्वीकार किया है। संस्कारविधिग्रन्थ के प्रथम प्रकरण में दयानन्द ने 'तस्माज्जातं ब्राह्मणं, ब्रह्म ज्येष्ठम्'—(अथर्व॰ सं॰ ९१।५।३३) इस मन्त्र में नपुंसकलिङ्गान्त ब्राह्मण शब्द का ब्राह्मण भाग ही अर्थ किया है। वहाँ पर 'ब्रह्म' (मन्त्रभाग) को ज्येष्ठ माना है। इस कारण ऋग्वेदादिकों में 'शतपथादि' विशेष नाम के न रहने पर भी 'ब्राह्मण' यह सामान्य नाम तो है ही। उसी तरह शतपथादिब्राह्मण में भी ऋग्वेदादि सामान्य नाम है ही। 'शाकल्य' इस प्रकार ऋग्वेदादि विशेष नामों का उल्लेख नहीं है। इसलिये 'ऋषिभिरुक्तत्वात्' यह हेतु भी सद्धेतु न होकर हेत्वाभास ही है।

ब्राह्मण भाग के वेद न होने में 'अनीश्वरप्रोक्तत्वात्' यह जो हेतु दिया है, वह भी स्व-वचन विरुद्ध ही है। क्योंकि सत्यार्थप्रकाश में परमात्मा से ही ऋषियों को मन्त्र और मन्त्रार्थरूप ब्राह्मणों की प्राप्ति होना दयानन्द ने स्वीकार किया है। 'ऋचः सामानि जज्ञिरे। पुराणं यजुषा सह उच्छिष्टात् जज्ञिरे'—(अथर्व॰ सं॰ ११।९।७) यहाँ पर परमात्मा के उच्छिष्ट से ऋग्वेद आदि की तरह पुराण की भी उत्पत्ति बताई गई है। पूर्वोक्त रीति से दयानन्द ने पुराण को ब्राह्मण के रूप में ही स्वीकार किया है। इसलिये ब्राह्मणभाग की उत्पत्ति को परमात्मा से ही मानने के कारण उसका अनीश्वरोक्तत्व कथन उसी के विरुद्ध हो रहा है।

ऋग्वेदभाष्यभूमिका के ८६ पृष्ठ पर कहा है—'महाभाष्य पस्पशाह्निक में लौकिक शब्दों के उदाहरण के रूप में गौः, अश्व, पुरुष, हस्ती, शकुनि, मृग ब्राह्मण और वैदिकशब्दों के उदाहरण के रूप में 'शन्नोदेवीरभिष्टय', 'इषेत्वोर्जेत्वा', 'अग्निमीळे पुरोहितम्', 'अग्नआयाहि वीतये', महाभाष्यकार ने बताया है। यदि ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा अभीष्ट होती तो उसके भी उदाहरणों को महाभाष्यकार अवश्य देते। इसलिये ही महाभाष्यकार ने मन्त्रभाग की ही वेदसंज्ञा मानकर मन्त्रों के प्रथम प्रतीकों को ही वैदिकशब्दों के उदाहरणों में दिये। किन्तु जो 'गो, अश्व आदि लौकिक उदाहरण दिये हैं, वे ब्राह्मणग्रन्थों में ही घटित होते हैं। क्योंकि उनमें (ब्राह्मणभाग में) ऐसे लौकिक शब्दों का ही व्यवहार (प्रयोग) किया हुआ पाते हैं।'—वह भी अविचाररमणीय ही है। क्योंकि वक्ष्यमाणरीति के अनुसार महाभाष्यकार को मन्त्र-ब्राह्मण दोनों के लिये ही 'वेद' यह संज्ञा अभीष्ट होने से 'समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दाः अवयवेष्वपि वर्तन्ते'—समुदाय को बतानेवाले शब्द, अवयवों को भी बता देते हैं—इस नियम के अनुसार मन्त्रभाग के मन्त्रप्रतीकों के

मन्त्रभागमन्त्रप्रतीकोदाहरणस्योपलक्षणत्वेन ब्राह्मणभागस्याप्युदाहृतत्वात्। यथात्र 'वैदिकाः खल्वपी' ति वेदनाम गृहीत्वा केवलमन्त्रभागस्योदाहरणं दत्तम्, तथैव 'वेदे खल्वपि' इति वेदनाम गृहीत्वा 'पयोव्रतो ब्राह्मणः' इति केवलब्राह्मणभागस्येवोदाहरणं दत्तम्। उपलक्षणानङ्गीकारे उदाहृतमन्त्राणामेव वेदत्वं सिद्ध्येत्। तथा च तदतिरिक्तमन्त्राणामवेदत्वापातः स्यात्। 'वेदशब्देन ऋग्यजुः सामादीनि ब्राह्मणसहितान्युच्यन्ते' इति मनु (२।६) भाष्ये मेधातिथिः। 'वेदः सर्वो विध्यर्थवादमन्त्रात्मा धर्मे प्रमाणम्' (मनु० ३।२) इत्यत्र कुल्लूक भट्टः।

समाजिभिः शौनकसंहिताया अथर्ववेदत्वमभ्युपेयते। न च तत्र 'शन्नो देवीरभिष्टय' इति प्रथममन्त्रप्रतीकम्। तत्र 'ये त्रिषप्ता परियन्ति' इत्यस्यैव प्रथममन्त्रत्वात्। यत्र पिप्पलादसंहितायां 'शन्नो देवीरभिष्टय' इति प्रथममन्त्रोऽस्ति, तस्यास्तैर्वेदत्वमेव नाभ्युपेयते। 'गोरश्वः पुरुष इत्युदाहरणानि ब्राह्मणग्रन्थेष्वेव घटन्ते, तेष्वेवेदृशशब्दव्यवहारदर्शनात्' इत्यपि दयानन्दोक्तिरशुद्धैव। केषुचिद् ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रारम्भेषु 'गौः, अश्वः' इत्यादिप्रयोगादर्शनात्। तदभावे कथमुदाह्रियेरन्? अन्यथा कथमेते शब्दाः स्वामिदयानन्देन ब्राह्मणभागेन सम्बन्धिताः। न चैते शब्दा मन्त्रभागे न सन्ति, मन्त्रभागेषु तेषां प्रयोगदर्शनात्। तद्यथा—'गोरश्वः' इत्येतौ शुक्लयजुर्वेदसंहितायां (३।१८) इत्यत्र। 'पुरुषः' (३१।१), हस्ती (३।२२।६), अथर्ववेदसंहितायां, 'शकुनिः' ऋग्वेदसंहितायाम् (२।४२।१), मृगशब्दः ऋग्वेदसंहितायां (१०।१८०।२), यजुर्वेदसंहितायां (१८।७१), 'ब्राह्मणः', यजुर्वेदसंहितायां (२२।२२) इत्यत्रदृश्यते। गोरश्वः पुरुषः—त्रयोऽपि शब्दाः 'गोरश्वः पुरुषः पशुः' (अथर्व ८।२।२५) इत्यत्र वर्तन्ते। किं दयानन्दरीत्या एतेषां शब्दानां व्यवहारदर्शनान्मन्त्रभागस्यावेदत्वं मन्यते समाजिभिः? यदि मन्त्रभागेष्वेतेषां शब्दानां प्रयोगेऽपि नावेदत्वं तदा ब्राह्मणभागे कथमेतेषां शब्दानां प्रयोगेणावेदत्वं स्यात्?

दिये हुए उदाहरण तो उपलक्षणमात्र हैं। अतः ब्राह्मणभाग को भी उदाहृत के रूप में समझ लेना चाहिये। जैसे 'वैदिकाःखल्वपि यहाँ पर 'वेद' इस प्रकार नामतः ग्रहण कर केवल मन्त्रभाग का उदाहरण दिया, वैसे ही 'वेदे खल्वपि' यहाँ पर वेद यह नाम लेकर 'पयोव्रतो ब्राह्मणः' यह केवल ब्राह्मणभाग का ही उदाहरण दिया है। मन्त्रप्रतीकों के उदाहरणों को उपलक्षण यदि न माना जाय तो उदाहरण के रूप में दिये हुए मन्त्रों में ही 'वेदत्व' रहेगा। उसका दुष्परिणाम यह होगा कि तदतिरिक्त मन्त्रों में—'अवेदत्व' प्राप्त होगा, अर्थात् तदतिरिक्त मन्त्रों की 'वेद' संज्ञा नहीं रहेगी। 'वेदशब्देन ऋग्यजुः सामादीनि ब्राह्मणसहितान्युच्यन्ते' ऐसा मनु (२।६) के भाष्यकार मेधातिथि कह रहे हैं। उसी तरह 'वेदःसर्वो विध्यर्थवादमन्त्रात्मा धर्मे प्रमाणम्'—ऐसा मनु (३।२) के अन्य व्याख्याकार कुल्लूकभट्ट भी कह रहे हैं।

समाजीलोग 'शौनकसंहिता' को अथर्ववेद मानते हैं। उसमें 'शन्नोदेवीरभिष्टय' यह प्रथममन्त्रप्रतीक नहीं है। उसमें 'ये त्रिषप्ता परियन्ति' यही प्रथममन्त्र है। और जिस पिप्पलादसंहिता में 'शन्नोदेवीरभिष्टयः यह प्रथम मन्त्र है, उसे ये समाजी वेद ही नहीं मानते। 'गोरश्वः पुरुषइत्युदाहरणानि ब्राह्मणग्रन्थेष्वेव घटन्ते, तेष्वेवेदृशशब्दव्यवहारदर्शनात्' यह दयानन्द की उक्ति भी अशुद्ध ही है। कतिपय ब्राह्मणग्रंथों के प्रारंभ में 'गौः अश्वः' इत्यादि प्रयोग पाये जाते हैं। यदि प्रयोग न होता तो उनको उदाहरण के रूप में कैसे दिया जाता? अन्यथा इन शब्दों को स्वामी दयानन्द ब्राह्मणभाग से कैसे जोड़ते? ये शब्द मन्त्रभाम में नहीं हैं, सो भी नहीं। मन्त्रभाग में उनका प्रयोग दिखाई देता हे। वह इस प्रकार है—'गोरश्वः' ये दो शब्द शुक्लयजुर्वेद संहिता में (३।१८) हैं। 'पुरुषः' (३।१।१), 'हस्ती' अथर्ववेदसंहिता में (३।२२।६), 'शकुनिः' ऋग्वेदसंहिता मे (२।४२।१), 'मृग' शब्द ऋग्वेदसंहिता में (१०।१८०।२), यजुर्वेदसंहिता में (१८।७१), 'ब्राह्मणः' यजुर्वेदसंहिता में (२३।२२) दिखाई देता है 'गोरश्वः पुरुषः' ये तीनों, शब्द और 'गोरश्वः पुरुषःपशुः' अथर्ववेदसंहिता में (८।२।२५) हैं। दयानन्दप्रदर्शितरीति के अनुसार इन शब्दों का व्यवहार देखकर क्या समाजीलोग मंत्रभाग को भी अवेद मानने के लिये तयार हैं? यदि मंत्रभागों में इन शब्दों का प्रयोग रहने पर भी मंत्रभाग में अवेदत्व नहीं आ पाता तो ब्राह्मणभाग में इन शब्दों के प्रयुक्त होने मात्र से अवेदत्व कैसे हो सकेगा? दयानन्द और उनके समाजीलोग महाभाष्य को प्रमाण मानते हैं। अपना पक्ष सिद्ध करने के लिये महाभाष्य के प्रामाण्य का सहारा लेते हैं। और महाभाष्यकार तो पग-पगपर ब्राह्मणभाग के वचनों को वेद कहकर उदाहरण के रूप में देते हैं। जैसे पस्पशाह्निक में शास्त्रधर्मनियमप्रकरण में कहते हैं कि वेद में भी

दयानन्दः समाजिनश्च महाभाष्यस्य प्रामाण्यं मन्यन्ते। स्वपक्षसाधनाय तदाश्रयन्ते। महाभाष्यकारस्तु पदे पदे ब्राह्मणभागवचनानि वेदरूपेणोदाहरति। यथा पस्पशाह्निके शास्त्रधर्मनियमप्रकरणे वेदे खल्वपि 'पयोव्रतो ब्राह्मणः', 'बैल्वः खादिरो वा यूपः स्यात्', 'अग्नौ कपालान्यधिश्रित्य अभिमन्त्रयते भृगूणामङ्गिरसाम्' (श० १।२।१।१३)। संस्कारविधौ ७५ पृष्ठे 'पयोव्रतो ब्राह्मणः' इति शतपथवचनमङ्गीकृतम्। 'बैल्वः खादिरः' इत्यैतरेय ब्राह्मणे द्वितीयपञ्चिकायाम्। यथा अत्र 'वेदे खल्वपि' इत्युक्त्वा ब्राह्मणवाक्योदाहरणेन न मन्त्रभागस्य वेदत्वं बाध्यते, तथैव 'वैदिकाः खल्वपि' इत्युक्त्वा 'अग्निमीळे' इति केवलमन्त्रोदाहरणेनापि न ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमपगच्छति, 'समुदायेषु प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्त' इति न्यायात्। तथैव पस्पशाह्निके—'आचारे ऋषिर्नियमं वेदयते तेऽसुरा हेलय इति ब्राह्मणवचनं वेदत्वेनोदाहृतम्। शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयः, तत्तुल्यं वेदशब्देन' अस्य वार्त्तिकस्य वेदोदाहरणं 'योऽग्निं नाचिकेतम्' (तै० ब्रा० ३।११।९) इति ब्राह्मणवाक्यमेवोदाहृतम्। प्रत्याहाराह्निके महाभाष्ये 'ऋलृक्' सूत्रे 'अनुकरणं शिष्टाशिष्टाप्रतिषिद्धेषु यथा लौकिकवैदिकेषु, इत्यस्य वैदिकोदाहणं 'य एवं विश्वसृजः सत्राण्यध्यासते' इति ब्राह्मणवाक्यमेवोद्धृतम्। महाभाष्यकारेणान्यैर्वा प्राचीनैर्लौकिकोदाहरणत्वेन ब्राह्मणवाक्यं क्वापि नोद्धृतम्, तेन वेदव्याख्यानरूपत्वेन ब्राह्मणस्य वेदत्वोक्तिरुपचारेणेति भगवद्दत्तयुधिष्ठिरादीनां समाजिनामुक्तिर्निर्मूलैव।

तृतीयाह्निके (१।१।१) सूत्रे 'यथा लौकिकवैदिकेषु' इत्यस्य वैदिकोदाहणे—वेदेऽपि याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति स्फ्योयूपश्चषाल इति लोकभिन्नं ब्राह्मणमेवोदाहरति महाभाष्यकारः। (पा० सू० १।१।५६) सूत्रभाष्ये वेदेऽपि 'सोमस्य स्थाने पूतीकतृणान्यभिषुणुयात्' इत्युच्यते। अत्रापि वेदनाम्ना न मन्त्रभाग उदाहृतः, किन्तु ब्राह्मणमेवोदाहृतम्। एतेन यथा 'वृद्धिरादैच्', 'अदेङ्गुण' इति गुणवृद्धिसंज्ञा यथा व्याकरण एवाद्रियते, तथैव कृष्णयजुर्वेदिनामेव मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञा नान्यत्रेति

'पयोव्रतो ब्राह्मणः' 'बैल्वः खादिरो वा यूपः स्यात्' 'अग्नौकपालान्यधिश्रित्य अभिमंत्रयते——भृगूणामङ्गिरसाम्'—(श० प० १।२।१।१३)। संस्कारविधि में ७५ पृष्ठ पर 'पयोव्रतो ब्राह्मणः' इस शतपथवचन का अंगीकार किया है। ऐतरेय-ब्राह्मण के द्वितीय पञ्चिका में 'बैल्वः खादिरः'। जैसे यहाँ पर 'वेदे खल्वपि' वेद में भी—यह कहकर ब्राह्मणवाक्यों के उदाहरण दिये हैं, तथापि मन्त्रभाग का वेदत्व बाधित नहीं हो पाता, उसी तरह 'वैदिकाः खल्वपि' = वैदिक शब्द भी—यह कहकर 'अग्निमीळे' इत्यादि केवल मन्त्रों के उदाहरण देने से ब्राह्मणभाग का वेदत्व भी नष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि 'समुदायवाचक शब्द अवयववाचक भी हुआ करते हैं' यह नियम है। उसी तरह पस्पशाह्निक में 'आचारे ऋषिर्नियमं वेदयते तेऽसुरा हेलयो हेलय' इस ब्राह्मणवाक्य को वेद कहकर बताया है। 'शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन' इस वार्तिक के वैदिक उदाहरण के रूप में 'योऽग्निं नाचिकेतम्—(तै० ब्रा० ३।११।९) इस ब्राह्मणवाक्य को ही दिया है। प्रत्याहाराह्निकमहाभाष्य में 'ऋलृक्' सूत्र पर 'अनुकरणं शिष्टाशिष्टाप्रतिषिद्धेषु यथा लौकिकवैदिकेषु'—शास्त्रसिद्ध शब्दों का अनुकरण उचित होता है, जो शास्त्रसिद्ध या शास्त्रनिषिद्ध न हों, ऐसे शब्दों के अनुकरण से कोई दोष या कोई उत्कर्ष भी नहीं होता। जैसे लौकिक-वैदिक उदाहरणों में—कहकर वैदिक उदाहरण के रूप में 'य एवं विश्वसृजः सत्राण्यध्यासते' इस ब्राह्मणवाक्य को ही दिया है। महाभाष्यकार या अन्य प्राचीनों ने लौकिक उदाहरण के रूप में ब्राह्मणवाक्य का उद्धरण कहीं भी नहीं दिया है। उस कारण 'वेद के व्याख्यानरूप ब्राह्मणभाग में 'वेद' शब्द का प्रयोग औपचारिक है' इस प्रकार भगवद्दत्त, युधिष्ठिर आदि समाजियों के कथन को निर्मूल ही समझना चाहिये।

महाभाष्य के तृतीय आह्निक में सूत्र 'वृद्धिरादैच्'—(पा० सू० १।१।१) पर 'यथा लौकिकवैदिकेषु' के वैदिक उदाहरण के रूप में महाभाष्यकार ने 'वेदेऽपि याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति स्फ्यो यूपश्चषाल' इस लोकभिन्न ब्राह्मण वाक्य को ही उद्धृत किया है। पाणिनिसूत्र 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'—(१।१।५६) सूत्र के भाष्य में 'वेदेऽपि सोमस्य स्थाने पूतीकतृणान्यभिषुणुयात्' कहा है। यहाँ पर भी 'वेद' के नाम पर मन्त्रभाग को उदाहृत नहीं किया है, किन्तु ब्राह्मण वाक्य को ही उद्धृत किया है। इस उल्लेख से जिस प्रकार 'वृद्धिरादैच्' 'अदेङ्गुणः' इत्यादि गुण-वृद्धि संज्ञाओं को केवल व्याकरण में ही माना जाता है, अन्यत्र नहीं। उसी प्रकार

युधिष्ठिराद्युक्तिः सर्वथा पराहता वेदितव्या। महाभाष्यकारैर्व्यासजैमिन्यादिभिश्च मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाऽभ्युपगमात् 'गापोष्टक्' (पा० सू० ३।२।८) इति सूत्रस्य 'संज्ञाछन्दसोर्ग्रहणम्' इति भाष्यवार्त्तिके छन्दउदाहरणे 'या ब्राह्मणी सुरापा भवति नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति' इति ब्राह्मणमेवोदाहृतम्। यदि भाष्यकारोद्धृतोदाहरणानि समुपलब्धासु चतसृषु संहितासु ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि नोपलभ्येरन्, तथा तानि लुप्तमन्त्रसंहितासु लुप्तब्राह्मणेष्वासन्निति मन्तव्यम्। महाभाष्यरीत्या त्रयस्त्रिंशदुत्तरैकादशशतशाखात्मकस्य मन्त्रब्राह्मणसमुदायस्य वेदत्वस्वीकारात्। समाजिनां दृष्ट्या सर्वोऽपि वेदः पूर्णं उपलभ्यते। न तत्र प्रक्षेपो न वा न्यूनतास्ति। तर्हि वेदनाम्ना भाष्योदाहृतानि वचनानि स्वसम्मतेषु वेदेषु तैर्दर्शनीयानि। नोपलभ्यन्ते चेत्, तदा वेदसंहिताविषये समाजिमतमशुद्धमेव मन्तव्यम्।

(पा० सू० ५।२।९४) इत्यत्र 'सन्मात्रे चर्षिदर्शनात्' इति वार्त्तिकविवरणे सन्मात्रे च पुनर्ऋषिः (वेदः) दर्शयति मतुपम्, 'यवमतीभिरद्भिः यूपं प्रोक्षति' इति। अयं पाठोऽपि ब्राह्मण एव। ऋषिशब्देन वेद एव गृह्यते, 'तस्मात् तदृषिणाभ्यनूक्तम्' (श० १४।१।१।२५) इति शतपथोक्तेः। 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' (पा० सू० १।१।१६) इत्यत्रापि ऋषिशब्देन वेदस्यैव ग्रहणम्। (पा० सू० ६।१।८४) भाष्ये—'वेदे खल्वपि वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुभिर्यजेत' अत्रापि ब्राह्मणस्य वेदत्वमुक्तम्।

'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) इति सूत्रीये 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वाच्ये'ति वार्त्तिके' छन्द-उदाहृणे 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः' (तै० सं० २।५।१।७) इति ब्राह्मणमेवोदाहृतम्। 'वा छन्दसि' (पा० सू० ५।१।१९) इत्यत्र निर्वीर्यतां वै यजमान आशास्ते अपशुतां गौः' इत्यपि ब्राह्मणमेव। बहून्येतादृशान्युदाहरणानि महाभाष्य उपलभ्यन्ते, यानि समाजिसम्मताभ्यश्चतसृभ्यः संहिताभ्यो भिन्नानां संहितानां ब्राह्मणानां च वचनानि। यथा 'छन्दसि निष्टर्क्य·······' (पा० सू० ३।१।१२३) इत्यस्य भाष्ये निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः' इति ब्राह्मणोदाहरम्। छन्दो वेद एवेति दयानन्दोऽपि

'कृष्णयजुर्वेदियों के ही मन्त्र-ब्राह्मण दोनों को वेदसंज्ञा दी गई है, अन्यत्र नहीं' इस युधिष्ठिरोक्ति को सर्वथा पराहत समझना चाहिये। महाभाष्यकार, व्यास, जैमिनि आदि महर्षियों ने मन्त्र-ब्राह्मण दोनों की 'वेद' संज्ञा होना स्वीकार किया है। (पा० सू० ३।२।८) सूत्र पर 'संज्ञाछन्दसोर्ग्रहणम्' वार्तिक के छदोदाहरण के रूप में 'या ब्राह्मणी सुरापा भवति नैनां पतिलोकं नयन्ति' इस ब्राह्मणवाक्य को ही दिया है। यदि महाभाष्यकार के उद्धृत उदाहरण, साम्प्रत उपलभ्यमान चार संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में भी उपलब्ध नहीं होते हैं तो उन्हें लुप्त हुई मन्त्र संहिताओं एवं लुप्त हुए ब्राह्मणों में वे थे यह स्वीकार करना ही चाहिये, क्योंकि महाभाष्य की रीति के अनुसार (११३३) ग्यारह सौ तैंतीस शाखा वाले मन्त्र-ब्राह्मण समुदाय को महाभाष्यकार ने 'वेद' शब्द से कहा है। समाजियों की दृष्टि से समूचा वेद पूर्णरूपसे उपलब्ध माना जाता है। उसमें कहीं कोई प्रक्षेप या न्यूनता नहीं है। ऐसी स्थिति में वेद के नाम पर महाभाष्यकार के द्वारा उदाहृत किये गये वचनों को अपने सम्मत वेदों में उन्हें दिखाना चाहिये। यदि साम्प्रत उपलभ्यमान वेदों में महाभाष्यकारोद्धृत वाक्य उपलब्ध नहीं होते हैं तो वेद संहिता के विषय में समाजियों का मत अशुद्ध ही समझना चाहिये।

(पा० सू० ५।२।९४) के 'सन्मात्रेचर्षिदर्शनात्' इस वार्तिक विवरण में 'सन्मात्रे च पुनर्ऋषिः (वेदः) दर्शयति मतुपं यवमतीभिरद्भिः यूपं प्रोक्षति' यह पाठ भी ब्राह्मण में ही है। 'ऋषि' शब्द से 'वेद' का ही ग्रहण किया गया है। क्योंकि 'तस्मात् तदृषिणाभ्यनूक्तम्'—(श० प० १४।१।१।२५) ऐसा शतपथ में कहा है। 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे'—(पा० सू० १।१।१६) यहाँ पर भी 'ऋषि' शब्द से 'वेद' का ही ग्रहण किया गया है। (पा० सू० ६।१।८४) के भाष्य में 'वेदे खल्वपि वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुभिर्यजेत' कहा गया है, यहाँ पर भी 'ब्राह्मण' को 'वेद' कहा गया है।

'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि'—(पा० सू० २।३।६२) इस वार्तिक के छन्दोदाहरण में 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः'—(तै० सं० २।५।१।७) इस ब्राह्मणवाक्य को ही दिया गया है। 'वा छन्दसि'—(पा० सू० ५।१।१९) यहाँ पर 'निर्वीर्यतां वै यजमान आशास्ते अपशुतां गौः' यह ब्राह्मण वाक्य ही दिया गया है। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण महाभाष्य में पाये जाते हैं, जो समाजियों की अभिमत चारों संहिताओं से भिन्न संहिताओं और ब्राह्मणों के हैं। जैसे 'छन्दसि निष्टर्क्य·······'—(पा० सू० ३।१।१२३) के

मनुते । 'छन्दोवेदनिगमश्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्' इति ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां ७९-८० पृष्ठे तद्वचनम् । छन्दोमन्त्रनिगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति । छन्दआदीनां पर्यायत्वे सिद्धे यो भेदं ब्रूते तद्वचनमप्रमाणमेवास्ति' (पृ० ८०) । तस्माद्युधिष्ठिरादयो यच्छ्रुतिछन्दआदीनां वेदभिन्नत्वं मन्यन्ते तद्दयानन्दरीत्याप्यशुद्धमप्रमाणं च । युधिष्ठिरस्तु मीमांसासूत्रेषु बहुत्र वेदशब्दमप्यवेदपरं मन्यते, तदप्यशुद्धमेव ।

यदपि 'द्वितीया ब्राह्मणे' (पा० सू० २।३।६०) 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) अत्रापि पाणिन्याचार्यैर्वेदब्राह्मणयोर्भेदेन प्रतिपादनं कृतमस्ति । यदि छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाभीष्टाऽभविष्यत् तदा, 'द्वितीया ब्राह्मण' इति सूत्राद् ब्राह्मणानुवृत्तौ कार्यनिर्वाहे चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीत्यत्र छन्दोग्रहणं व्यर्थमभविष्यत् । अतो विज्ञायते न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञास्तीति ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां ८६-८७ पृष्ठयोरिति । तदपि भ्रान्तिमूलकमेव, तदर्थानवबोधात् । तथाहि— 'द्वितीया ब्राह्मणे' (पा० सं २।३।६०) इति सूत्रं केवलब्राह्मणार्थं न मन्त्रब्राह्मणार्थम्, 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) इति सूत्रं तु मन्त्रब्राह्मणोभयार्थमतश्छन्दोग्रहणं सार्थकमेवेति । छन्दोग्रहणाभावे 'ब्राह्मणे' इत्यस्यानुवृत्तावपि ब्राह्मण एव कार्यं स्यान्न मन्त्रे, छन्दोग्रहणेन तु मन्त्रब्राह्मणयोरुभयत्र सूत्रकार्यं भवति । यदि छन्दसीति स्थाने मन्त्र इति स्यात्तदा मन्त्र एव तत्कार्यं स्यान्न ब्राह्मणे । अत उभयत्र कार्यसिद्ध्यर्थं छन्दसीति ग्रहणं युक्तमेव । पाणिनिर्यदा वेदैकदेशे मन्त्रभागे किञ्चित्कार्यं विधित्सति, तदा 'मन्त्रे' इति वक्ति । यदा च वेदैकदेशे ब्राह्मणभागे किञ्चिच्चिकीर्षति तदा 'ब्राह्मणे' इति वक्ति । यदा सम्पूर्णे मन्त्रब्राह्मणात्मके वेदे किञ्चित्कार्यं चिकीर्षति तदा मन्त्रे ब्राह्मणे इत्यनुक्त्वा छन्दसि, निगमे, वेदे इति वा वक्ति । क्वचिच्च छन्दःशब्देन मन्त्रभागमेव गृह्णाति । क्वचित्तु छन्दःशब्देन ब्राह्मणभागमेव गृह्णाति । यथा 'द्वितीया ब्राह्मणे' (पा० सू० २।३।६०) इत्यत्र दिवुधातोर्विशेषार्थे कर्मणि द्वितीया ब्राह्मणभागे

not quoted in the RBS. X

भाष्य में 'निष्टवर्यं चिन्वीत पशुकामः' यह ब्राह्मण का उदाहरण दिया है। दयानन्द ने भी छन्दस् को वेद ही माना है। 'छन्दोवेदनिगमश्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्' यह ऋग्वेद भाष्यभूमिका के ७९-८० पृष्ठ पर दयानन्द का वाक्य है। छन्द, मन्त्र, निगम पर्यायवाचि शब्द हैं। छन्द आदि शब्दों में पर्यायत्व सिद्ध होने पर भी जो व्यक्ति भेद कहता है अर्थात् उन्हें भिन्न समझता है, उसके कथन को अप्रमाण ही समझना चाहिये, पृ० ८०। तस्मात् युधिष्ठिर आदि जो श्रुति, छन्द आदि को वेद से भिन्न मान रहे हैं, वह दयानन्द की रीति से ही अशुद्ध और अप्रमाण है। युधिष्ठिर तो मीमांसा सूत्रों में अनेक स्थलों पर 'वेद' शब्द को भी अवेदपरक मानते हैं, किन्तु वह अशुद्ध ही है।

और यह जो कहा है कि 'द्वितीया ब्राह्मणे'—(पा० सू० २।३।६०), 'चतुर्थ्यर्थेबहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) यहाँ पर भी आचार्य पाणिनि ने वेद और ब्राह्मण का भेदेन प्रतिपादन किया है। यदि छन्द और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा-अभीष्ट होती, तो 'द्वितीया ब्राह्मणे' इस सूत्र से 'ब्राह्मण' की अनुवृत्ति होही जाती, और उसीसे कार्य का निर्वाह हो जाता, तब 'चतुर्थ्यर्थेबहुलं छन्दसि' में छन्दोग्रहण व्यर्थ हो जाता। अतः यह समझ में आता है कि 'ब्राह्मणों' की संज्ञा 'वेद' नहीं हैं, यह ऋग्वेदभाष्य भूमिका के (८६–८७) छयासी-सतासी पृष्ठपर लिखा है। किन्तु वह भी भ्रान्तिमूलक ही है। सूत्रार्थ न समझ पाने से भ्रम हो गया है। तथाहि—'द्वितीया ब्राह्मणे' (पा० सू० २।३।६०) यह सूत्र केवल ब्राह्मण के लिये है, मन्त्र-ब्राह्मण दोनों के लिये नहीं। 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि'—(पा० सू० २।३।६२) यह सूत्र तो मन्त्र ब्राह्मण दोनों के लिये है। अतः छन्दोग्रहण सार्थक ही है, निरर्थक नहीं है। छन्दोग्रहण यदि न किया जाय तो 'ब्राह्मणे' की अनुवृत्ति होने पर भी 'ब्राह्मण' में ही कार्य होता, मन्त्र में नहीं। छन्दोग्रहण करने पर तो मन्त्र-ब्राह्मण दोनों में सूत्रकार्य हो पाता है। यदि 'छन्दसि' के स्थान में 'मन्त्रे'—कह दिया जाय तो मन्त्र में ही वह कार्य होगा, ब्राह्मण में नहीं होगा। अतः दोनों जगह कार्य हो सकने के लिये 'छन्दसि' का ग्रहण करना उचित ही है। पाणिनि जब वेद के एकदेश मन्त्र भाग में किसी कार्य का विधान करना चाहते हैं, तो 'मन्त्रे' कह देते हैं। और जब वेद के एकदेशभूत ब्राह्मण भाग में कुछ विधान करना चाहते हैं तब 'ब्राह्मणे' कह देते हैं। और जब सम्पूर्ण मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद में कुछ करना चाहते हैं तब 'मन्त्रे'—'ब्राह्मणे' ऐसा न कहकर 'छन्दसि, निगमे, या वेदे' कह देते हैं। कहीं-कहीं 'छन्दः' शब्द से मन्त्र भाग का ही ग्रहण करते हैं। और

भवति, न मन्त्रभागे। तथैव 'मन्त्रे श्वेतवहोक्थ········' (पा० ३।२।७१) इत्यत्र मन्त्रभाग एव ण्विन्प्रत्ययं विदधाति, न ब्राह्मणभागे। तथैव 'जनिता मन्त्रे' (ब्रा० सू० ६।४।५३) इत्यादिषु छन्दसि इत्यनुक्त्वा मन्त्रे इति कथयति। निरुक्तेऽपि कौत्सेन 'अनर्थका मन्त्राः' (नि० १।१५) इत्युक्तम्, न अनर्थका वेदा इत्युक्तम्। तत्र ब्राह्मणभागस्य निराचिकीर्षितत्वात्। वेद छन्दो-निगम-श्रुत्याम्नायादिशब्दा मन्त्रब्राह्मणसमुदायवाचकाः सन्ति। मन्त्रब्राह्मणशब्दौ तु तत्तद्भागस्यैव वाचकौ। तथैव वेदशब्दः समुदितसर्ववेदानां बोधको भवति। ऋग्वेदयजुर्वेदादिशब्दास्तु एकस्यैव वेदस्य बोधका न सर्ववेदबोधकाः। समाजिरीत्या यदि छन्दसीत्यत्र छन्दःपदं मन्त्रस्यैव बोधकं स्यान्न ब्राह्मणभागस्य, तर्हि 'या खर्वेण पिबति' (तै० सं० २।५।१।७) इति ब्राह्मणोदाहरणमनर्थकं स्यात्। अतो महाभाष्यकारस्य ब्राह्मणमपि छन्दस्त्वेनाभीष्टमेव।

यदपि—'भाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि प्रयुक्तान्यन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वात् छन्दोग्रहणमनर्थकं स्यात् इति ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां ७७ पृष्ठे दयानन्दीयं वचनम्; तदप्यसङ्गतमेव, निर्मूलत्वात् पूर्वोक्तप्रमाणविरोधाच्च। अत एव 'सुपां सुलुक्·····' (पा० सू० ७।१।३९) अत्र सूत्रे 'क्त्वापि छन्दसि' (पा० सू० ७।१।३८) इत्यतश्छन्दसीत्यनुवर्तते। 'सुपां सुलुक्' इति सूत्रेण यथा 'सविता प्रथमेऽहन्' (वा० सं० ३९।६) इति यजुर्वेदमन्त्रे ङिविभक्तेर्लुक्, तथैव ,यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः' (श० १४।६।८।३) इति यजुर्वेदब्राह्मणेऽपि। अनङ्प्रत्ययवतोऽक्षिशब्दस्य ङिविभक्तेर्लुग्भवति। 'न ङिसम्बुद्धयोः' (पा० सू० ८।२।८) इति नलोपाभावः। ङौ तु छन्दस्युदाहरणमिति दीक्षिताद्युक्तेः।

'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (पा० सू० ७।२।८८) इत्याकारस्य प्रत्युदाहरणं यथा लोकभिन्ने मन्त्रभागे 'युवं सुराम्' (वा० सं० २०।७६) इत्यत्र दृश्यते, तथैव 'युवं वै ब्राह्मणौ भिषजौ' (श० ८।२।१।३, ५।५।४।२५), 'युवमिदं

कहीं-कहीं 'छन्द शब्द से ब्राह्मणभाग का ही ग्रहण करते हैं। जैसे 'द्वितीया ब्राह्मणे'—(पा० स० २।३।६०) यहाँ पर 'दिवु' धातु से विशेष अर्थ की विवक्षा होनेपर कर्म में जो द्वितीया का विधान है, वह ब्राह्मण भाग में किया गया है, मन्त्रभाग में नहीं। उसी तरह 'मन्त्रे श्वेत वहोक्थ········' (पा० सू० ३।२।७१) यहाँ पर मन्त्रभाग में ही 'ण्विन्' प्रत्यय का विधान है, ब्राह्मणभाग में नहीं। तथैव मन्त्रे'—(पा० सू० ६।४।५३) इत्यादि स्थलों में 'छन्दसि' न कहकर 'मन्त्रे' कह दिया है। निरुक्त में भी कौत्स ने 'अनर्थका मन्त्राः'—(निरु० १।१५) कहा है, 'अनर्थका वेदाः' नहीं कहा। क्योंकि वहाँ ब्राह्मणभाग का निराकरण करना चाहते हैं। वेद, छन्दस्, निगम, श्रुति, आम्नाय आदि शब्द, मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय के वाचक होते हैं। और मन्त्र, ब्राह्मण शब्द तो तत्तद्भाग के ही वाचक होते हैं। तथैव 'वेद' शब्द समुदित सम्पूर्ण वेदों का बोधक होता है। ऋग्वेद, यजुर्वेदादिशब्द एक ही वेद के बोधक होते हैं, सम्पूर्ण वेदों के नहीं। समाजियों की रीति के अनुसार यदि 'छन्दसि' में छन्दः पद मन्त्र ही का बोधक हो, ब्राह्मणभाग का न हो तो 'या खर्वेण पिबति' (तै० सं० २।५।१।७) यह ब्राह्मणोदाहरण देना व्यर्थ होगा। अतः महाभाष्यकार को 'छन्दस्' शब्द से ब्राह्मणभाग भी अभीष्ट ही है।

और यह जो ऋग्वेदभाष्य भूमिका के ७७ पृष्ठपर दयानन्द ने कहा है—'भाष्यकार ने छन्द की तरह मानकर ब्राह्मणों के उदाहरणों को दिया है, अन्यथा ब्राह्मणग्रन्थ का ही प्रकृत प्रसंग रहने से 'छन्दोग्रहण' निरर्थक होगा'—वह भी निर्मूल एवं पूर्वोक्त प्रमाणों के विरुद्ध होने से असंगत ही है। अतएव 'सुपां सुलुक्········' (पा० सू० ७।१।३९) इस सूत्र में 'क्त्वापि छन्दसि'—(पा० सू० ७।१ ३८) सूत्र से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति होती है। 'सुपां सुलुक्' सूत्र से जैसे 'सविता प्रथमेऽहन्'—(वा० सं० ३९।६) यजुर्वेद के मन्त्र में 'ङि' विभक्ति का लुक् होता है, वैसे ही 'यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः'—(श० प० १४।६।८।३) इस यजुर्वेद ब्राह्मण में भी 'अनङ्' प्रत्ययवाले 'अक्षि, शब्द के 'ङि' विभक्ति का लुक् होता है। और 'न ङिसम्बुधोः'—(पा० सू० ८।२।८) इससे 'न' का लोप नहीं होता। 'ङि' परे रहते नलोप का उदाहरण छन्द में मिलेगा, यह दीक्षित आदि का कथन है।

'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्'—(पा० सू० ७।२।८८) इस सूत्रसे आकार का प्रत्युदाहरण जैसे लोक से भिन्न मन्त्रभाग में 'युवं सुराम्'—(वा० सं० २०।७६) में दिखाई देता है, वैसे ही 'युवं वै ब्राह्मणौ भिषजौ'—(श० प० ८।२।१।३।५।५।४।२५),

निष्कुरुवम्' (ऐ० ब्रा० २।२८) इति ब्राह्मणभागेष्वपि दृश्यते। समाजिरीत्या ब्राह्मणस्य भाषात्वात् (लौकिकत्वात्) युवामिति स्यात्, न युवमिति।

'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८०) इति वैदिकसूत्रे 'आमन्द्रैरिन्द्रहरिभिर्याहि' (ऋ० सं० ३।४।१) इति मन्त्रभागे प्रवृत्तं तथैव 'समिधं सोम्य आहर उप त्वा नेष्ये' (छा० उ० ४।४।५) इति ब्राह्मण उपनिषदादावपि प्रवृत्तम्। यथा 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इति वैदिकसूत्रं न मन्त्रभागे प्रवृत्तम्, तथैव 'आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथ्वी पूता पुनातु माम्। पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम्॥' (तै० आ० १०।२३) अत्र ब्रह्मणस्पतिरित्यत्र अम्स्थाने सुः। 'सुपां सुलुक्·······' इति छान्दससूत्रेण ब्रह्मपूता इत्यत्र पूतमित्यस्य लिङ्गव्यत्ययः। उपनिषद आरण्यकं च ब्राह्मणान्तर्गतत्वाद् वेद एव। 'आरण्यकं च वेदेभ्यः' (म० भा० शा० प० ३४३।१३) तथा (म० भा० १।१।१६५) इति सिद्धम्। अत्र छान्दसकार्यं न मन्त्र एव, किन्तु ब्राह्मणेऽपि दृश्यते। तेन ब्राह्मणानां मुख्यमेव वेदत्वं नौपचारिकम्। एतेन छान्दसकार्याणि तु गृह्यसूत्रेष्वपि दृश्यन्ते, पुराणेतिहासेष्वपि दृश्यन्ते आर्षोऽयं प्रयोग इति तत्र समाधीयते। यच्च काव्येष्वपि छान्दसप्रयोगो दृश्यते, तथापि पाणिनिसूत्राणि पुराणेतिहासकाव्यानि यथा न वेदा भवन्ति, तथैव ब्राह्मणभागेऽपि छान्दसकार्यसत्त्वेऽपि न वेदत्वं किन्तु सूत्रादिवल्लौकिकत्वमेवे'ति कुचोद्यमपास्तं वेदितव्यम्। गौण-मुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय इति न्यायेन पूर्वोक्तप्रमाणैर्मुख्यवेदत्वसम्भवे गौणार्थस्यान्याय्यत्वात्। अन्यथा मन्त्रेऽपि गौणमेव वेदत्वमापद्येत। किञ्च, सूत्रार्थं छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीति परिभाषा प्रसिद्धा। तेन तानि छन्दोवत्, न छन्दांसि। अत एव तेषु छान्दसं कार्यं क्वचिदेव भवति न सर्वत्र। पुराणेतिहासाद्यर्थमपि 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' इति पृथगेव भाष्ये वचनमस्ति। तेन तेषां मुख्यं वेदत्वं नास्ति। 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति, छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति, इतिवत् छन्दोवद् ब्राह्मणानि भवन्तीति

'युवमिदं निष्कुरुतम्'--(ऐ० ब्रा० २।२८) ब्राह्मणभागमें भी दिखाई देता है। समाजियों की रीति के अनुसार ब्राह्मणभाग--भाषारूप (लौकिक) होने से 'युवाम्' रूप होगा, 'युवम्' नहीं।

'व्यवहिताश्च'--(पा० सू० १।४।८०) यह वैदिकसूत्र 'आमन्द्रैरिन्द्रहरिभिर्याहि'--(ऋ० सं० ३।४।१) इस मन्त्रभाग में प्रवृत्त हुआ है, तथैव 'समिधं सोम्य आहर उपत्वा नेष्ये'--(छा० उ० ४।४।५) ब्राह्मण में उपनिषदादि में भी प्रवृत्त होता है। जैसे 'व्यत्ययोबहुलम्'--(पा० सू० ३।१।८५) यह वैदिकसूत्र मन्त्रभाग में प्रवृत्त नहीं होता, उसी तरह 'आपः पुनन्तु पृथिवी-पृथ्वी पूता पुनातु माम्। पुनन्तु ब्रह्मणस्पति र्ब्रह्मपूता पुनातु माम्॥'--(तै० आ० १०।२३) यहाँ ब्रह्मणस्पति में अम् के स्थान में 'सु' होता है। 'सुपांसुलुक्·····' इस छान्दस सूत्र से 'ब्रह्मपूता' में 'पूतम्' का लिङ्गव्यत्यय हुआ है। उपनिषद् और आरण्यक ये दोनों ब्राह्मण के अन्तर्गत होने से 'वेद' ही हैं। 'आरण्यकं च वेदेभ्यः'--(म० भा० शा० प० ३४३।१२) तथा (म० भा० १।१।२६५) इन प्रमाणों से भी उसका वेदत्व सिद्ध होता है। यहाँ पर जो छान्दसकार्य है, वह मन्त्र भाग में जैसे होता है, वैसा ही ब्राह्मणभाग में भी दिखाई देता है। अतः ब्राह्मणभाग में 'वेदत्व' मुख्यरूप से ही है, औपचारिक नहीं। ये छान्दसकार्य तो गृह्यसूत्रों में तथा पुराण-इतिहासों में भी दिखाई देते हैं, और वहाँ 'आर्षोऽयं प्रयोगः' यह समाधान दिया जाता है।

अतः 'यद्यपि--काव्यों में भी छान्दसप्रयोग दीखते हैं, तथापि पाणिनिसूत्र और पुराण, इतिहास, काव्यों को जैसे वेद नहीं कहा जाता, वैसे ही ब्राह्मणभाग में छान्दसकार्य के होने पर भी उन्हें वेद नहीं कहेंगे, किन्तु सूत्र आदि की तरह उन्हें लौकिक ही कहेंगे' इत्यादि कुचोद्य का निरसन हो जाता है। 'गौण-मुख्ययोर्मुख्येकार्यसम्प्रत्ययः' इस नियम के अनुसार पूर्वोक्त प्रमाणों से मुख्यवेदत्व के संभव होते गौणार्थ की कल्पना करना उचित नहीं है। अन्यथा मन्त्र में भी गौण वेदत्व कहना पड़ेगा। किंच सूत्रार्थ के सम्बन्ध में 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति, यह परिभाषा प्रसिद्ध है। उस कारण वे सूत्र छन्दों के तुल्य हैं, वे छन्द नहीं हैं। अतएव उनमें छान्दस क्वचित् ही होता है, सर्वत्र नहीं। पुराणइतिहास आदि के लिये भी 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' यह पृथक् वचन ही भाष्य में है। इस कारण उनमें मुख्य वेदत्व नहीं है। 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति, छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' इन वचनों के समान 'छन्दोवत् ब्राह्मणानि

परिभाषाया असत्त्वेन ब्राह्मणेषु छन्दोवद्व्यवहाराभावेन साक्षाद्वेदत्वोपपत्तेः। नद्यादि संज्ञावद् ब्राह्मणानां वेदसंज्ञाविधायकसंज्ञासूत्रस्य परिभाषासूत्रस्य वाऽभावान्न ब्राह्मणभागे आतिदेशिकं वेदत्वम्, किन्तु साक्षादेव वेदत्वम्। आयुर्वेदादिवदुपवेदत्वादपि न तेषां वेदत्वम्, उपवेदेषु ब्राह्मणानामनन्तर्भावात्। छान्दसं कार्यमपि पुराणादिष्विव न ब्राह्मणेषु क्वाचित्कम्, किन्तु मन्त्रे इति त्यक्त्वा छन्दसि निगमे इत्यादिवैदिककार्याणां ब्राह्मणेषु सर्वत्रैव दर्शनात् भाषायामित्यस्य प्रत्युदाहरणत्वेन मन्त्रभागस्येव ब्राह्मणभागस्यापि वचनान्युदाह्रियन्ते। 'मन्त्रे घसह्वरणश……' (पा० सू० २।४।८०) इति च्लिलुग्विधायकस्य सूत्रस्य मन्त्रविषयकत्वेऽपि सूत्रस्थजनधातूदाहरणरूपेण मन्त्रस्योपलक्षणं मत्वा 'अज्ञत वा अस्य दन्ताः' इत्यैतरेयब्राह्मणमेवोदाहृतम्। तथैव निरुक्ते मन्त्रभागस्य सार्थकत्वसिद्धये कृते पूर्वपक्षे 'अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यति' इत्युक्त्वा 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' (श० १।३।२।३) इति ब्राह्मणभागस्य प्रमाणत्वं मन्त्रभागस्य स्थाने उक्तम्। तदा पक्षपातमन्तरा को वा वक्तुं शक्नोति यत् स्तुत्या ब्राह्मणभागे वेदशब्दप्रयोगः। तेन ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं न गुणवादकृतं न वा पारिभाषिकम्, न वा पारिषत्कृतिः, न वा ऐकदेशिकम्, नाप्यर्वाचीनम्, किन्तु यावदारभ्य मन्त्रभागस्य वेदत्वं तावदारभ्यैव ब्राह्मणभागस्यापि वेदत्वं, तच्च प्राचीनं सार्वत्रिकं वास्तविकं च। यथा मन्त्र इत्युक्त्वा मन्त्रभाग एव विधिर्न ब्राह्मणे, तथा ब्राह्मण इत्युक्त्वा ब्राह्मण एव विधिर्भवति न मन्त्रे, तादृशविधेरैकदेशित्वात्। अन्यथा वेदविशेषकार्यं सर्ववेदेष्वपि स्यात्, न चैवं दृश्यते। यजुर्वेदसामवेदयोः र श ष स ह इत्यक्षराणां परत्वे अनुस्वारस्यँ कारोभवति, न ऋगथर्ववेदयोः। तावता किं यजुर्वेदसामवेदयोरेव वेदत्वं नर्ग्वेदाथर्ववेदयोरिति। तथैव 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' (पा० सू० ७।४।३८) इतिसूत्रं यजुर्वेदस्य कठशाखायामाकारविधायकं नान्यत्र प्रवर्तते। 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५), 'यजुष्युरः' (पा० सू०

भवन्ति' ऐसी परिभाषा नहीं है, अतः ब्राह्मणभागों मे छन्दोवत् व्यवहार न होने से साक्षात् वेदत्व उपपन्न हो जाता है। नदी आदि संज्ञाओं की तरह ब्राह्मणभागों के लिये कोई वेदसंज्ञा-विधायक संज्ञासूत्र या परिभाषासूत्र के न होने से तथा ब्राह्मणभाग के लिये छन्दोवत् व्यवहार न होने से उनमें साक्षात् वेदत्व की उपपत्ति हो जाती है। अतएव नदी आदि संज्ञाओं के समान ब्राह्मणभाग के लिये वेदसंज्ञाविधायक संज्ञासूत्र या परिभाषासूत्र के न होने से ब्राह्मणभाग में आतिदेशिक वेदत्व नहीं कह सकते, अपितु उनमें साक्षात् ही वेदत्व है। आयुर्वेदादि के समान उपवेद के होनेसे भी उनमें वेदत्व नहीं है, क्योंकि उपवेदों में ब्राह्मणों का अन्तर्भाव नहीं हैं। पुराणादि के समान ब्राह्मणों में छान्दसकार्य भी क्वाचित्क नहीं है। किन्तु 'मन्त्रे' इति त्यक्त्वा 'छन्दसि निगमे' इत्यादि वैदिककार्य ब्राह्मणों में सर्वत्र ही दिखाई देता है। अतः 'भाषायाम्' के प्रत्युदाहरण के रूप में मन्त्रभाग की तरह ब्राह्मणभाग के भी वचनों को उदाहरण के रूप में दिया गया है। 'मन्त्रे घसह्वरणश……' (पा० सू० २।४।८०) यह 'च्लि' लुग्विधायक सूत्र मन्त्रविषयक रहने पर भी सूत्रस्थ 'जन' धातु के उदाहरण के रूप में मन्त्र को उपलक्षण मानकर—'अज्ञत वा अस्य दन्ताः' इस ऐतरेयब्राह्मणवचन को ही उदाहरण के रूप में दिया है। उसी तरह निरुक्त में मन्त्रभाग को सार्थक सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष करने पर 'अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यति' कहकर 'अग्नये समिद्धमानायानुब्रूहि'—(श० प० १।३।२।३) इस ब्राह्मणभाग की प्रमाणता मन्त्रभाग के स्थान में बताई गई है। ऐसी स्थिति में पक्षपात ग्रस्त व्यक्ति को छोड़कर कौन व्यक्ति यह कह सकता है कि ब्राह्मणभाग की स्तुति करने के लिये उसे 'वेद' शब्द से कहा गया है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणभाग का वेदत्व न गुणवादकृत है, और न ही पारिभाषिक है, तथा न पारिषत्कृति है और न ऐकदेशिक है एवं न ही अर्वाचीन है। किन्तु जब से मन्त्रभाग को 'वेद' कहते आ रहे हैं, तभी से ब्राह्मणभाग को भी वेद कहते आ रहे हैं। ब्राह्मणभाग की वेदसंज्ञा प्राचीन है, सार्वत्रिक है और वास्तविक है। 'यथा मन्त्रे' कहने से मन्त्रभागों में विधि होता है, ब्राह्मण में नहीं, उसी तरह 'ब्राह्मणे' कहने से ब्राह्मण में विधि होता है, मन्त्र में नहीं, इस प्रकार के 'विधि' एकदेशी होते हैं। अन्यथा वेदविशेष का कार्य सभी वेदों में होने लगेगा। किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। यजुर्वेद और सामवेद में 'र श ष स ह' इन अक्षरों के परे रहते अनुस्वार को ँ कार होता है। वह ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में नहीं होता। इससे क्या निष्कर्ष निकाला जायगा कि यजुर्वेद और सामवेद ही 'वेद' है, ऋग्वेद और अथर्ववेद 'वेद' नहीं। वैसे ही 'देवसुम्नयोर्यजुषिकाठके'—(पा० सू० ७।४।३८) यह सूत्र यजुर्वेद की काठकशाखा में आकार विधायक है, इसकी अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं होती। 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) 'यजुष्युरः' (पा०

६।१।११७) इति प्रकृतिभाव ऋग्वेदाद्यजुर्वेदाच्चान्यत्र वेदे न भवति। तथैव 'ऋचि तुनु……', (पा० सू० ६।३।१३३), 'ऋचि त्रेरुत्तर' (पा० सू० वा० ६।१।३४) इत्यत्र ऋक्पदं साभिप्रायम्। एतानि विधानानि ऋग्भ्योऽन्यत्र न भवन्ति, 'ड' इत्यस्य वैदिको 'ल' इति ऋग्वेदादन्यत्र न भवति, तथापि न समानविधित्वाभावे यजुषामवेदत्वं भवति। तथैव मन्त्रब्राह्मणयोः समानविधित्वाभावेऽपि न कस्याप्यवेदत्वं भवति। यथा ऋग्यजुरादिनामानि मन्त्रैकदेशवाचकानि सन्ति तत्कार्याणि पृथक् पृथग् भवन्ति, तथैव मन्त्रो ब्राह्मणं चेति नामाप्येकदेश्येव। यथा 'अनर्थका मन्त्राः (नि० १।१५) इति कौत्सोक्तमनर्थकत्वं मन्त्र एव प्रसञ्जितं न ब्राह्मणे। तत्कस्य हेतोः, चोद्यस्यैकदेशिकत्वाद् यदि दयानन्दरीत्या यथा (पा० सू० २।३।६०) सूत्रे 'ब्राह्मणे' इत्युक्त्यै (पा० सू० ३।३।६२) सूत्रे छन्दसीत्युक्त्या ब्राह्मणभागस्य छन्दोभिन्नत्वमाशङ्क्यते, तथैव 'मन्त्रे श्वेतवहोक्थशरा……' (पा० सू० ३।२।७१) सूत्रे मन्त्र इत्युक्त्या 'विजुपे छन्दसि' (पा० सू० ३।२।७२) इति सूत्रे छन्दोग्रहणेन मन्त्रभागस्यापि वेदभिन्नत्वं कथं न स्यात् ? तथैव च 'मन्त्रे सोमाश्व……' (पा० सू० ६।३।१३१) इति सूत्रतोमन्त्रपदानुवृत्तौ सत्यां 'ऋचि तनुघ' (पा० सू० ६।३।१३३) इति ऋग्वेदस्यापि वेदभिन्नत्वं स्यात्। यदि नेदमिष्यते तदा तादृश्यः सर्वा अपि दयानन्दोक्तयो निरर्थिका एव।

यच्चोक्तम्—'छन्दोमन्त्रयोर्भेदोऽस्ति' इति, तदप्यसङ्गतम्, कुतः छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्' (ऋ० भा० भू० पृ० ७९) इति दयानन्दोक्तेः। छन्दांसि वेदा मन्त्राश्चेत्पर्यायः पृ० ७९, तथा व्याकरणेऽपि 'मन्त्रेघस्……' (पा० सू० २।४।८०), 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) 'वा षपूर्वस्य निगमे' (पा० सू ६।४।९) 'अत्रापि छन्दोमंत्रनिगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति' (ऋ० भा० भू० पृ० ८०)इति दयानन्दरीत्या छन्दोमंत्रयोः पर्यायवाचकत्वेन पाणिनेः (३।२।७१, ७३) सूत्रयोर्मन्त्रछन्दसोर्भिन्नभिन्नशब्दयोः सन्निवेशस्य नैरर्थक्यमेव स्यात्। यदि तत्त्वेऽपि मन्त्रभागस्य वेदत्वम-

सू० ६।१।११७) इससे प्रकृतिभाव होता है, किन्तु वह ऋग्वेद-यजुर्वेद के अतिरिक्त अन्य किसी वेद में नहीं होता। 'ऋचितनु……'—(पा० सू० ६।३।१३३), 'ऋचित्रेरुत्तरः—(पा० सू० वा० ६।१।३४) यहाँ पर 'ऋक्' पद साभिप्राय है। ये विधान ऋक् के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं होते हैं। 'ड' के स्थान में वैदिक 'ल' ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं होता। तथापि समान विधि के होनेपर भी 'यजुस्' को अवेद नहीं समझा जाता। तथैव मन्त्र और ब्राह्मण में समान विधि के न रहने पर भी किसी में अवेदत्व नहीं माना जाता। जैसे ऋक्, यजुस् आदि नाम मन्त्रैकदेश के वाचक हैं और उनके कार्य भी पृथक् पृथक् होते हैं, वैसे ही मन्त्र और ब्राह्मण ये नाम भी एकदेशी ही हैं। जैसे 'अनर्थका मन्त्राः'—(नि० १।१५) यह कौत्सकथित अनर्थकत्व मन्त्र में हीं प्रसक्त होता है, ब्राह्मण में नहीं। प्रश्न हमेशा एकदेशी हुआ करता है। अतः यह प्रश्न हो सकता है कि क्या कारण है कि वह प्रसक्ति मन्त्र में ही होती है, ब्राह्मण में नहीं। (पा० सू० २।३।६०) सूत्र में 'ब्राह्मणे, कहा गया है तथा पा० सू० (३।३।६२) में 'छन्दसि' कहा गया है। यहाँ पर यदि दयानन्द की रीति के अनुसार 'ब्राह्मणभाग, छन्द से भिन्न है,' यह शंका की जाती है, तो उसी प्रकार 'मन्त्रेश्वेतवहोक्थशत……' सूत्र में 'मन्त्रे' कहा गया है और 'विजुपे छन्दसि'—(पा० सू० ३।२।७३) इस सूत्र में छन्दोग्रहण किया है, तब मन्त्रभाग को भी वेद से भिन्न क्यों नहीं कहा जा सकेगा ? उसी तरह 'मन्त्रे सोमाश्व……' (पा० सू० ६।३।१३१) इस सूत्र से 'मन्त्र' पद की अनुवृत्ति होने पर 'ऋचितुनुघ'—(पा० सू० ६।३।१३३) से ऋग्वेद को भी वेद से भिन्न कहना होगा। यदि यह अभीष्ट नहीं है, तो इस प्रकार की सभी दयानन्दोक्तियों को निरर्थक ही समझना चाहिये।

यह जो कहा था कि 'छन्दोमन्त्रयोर्भेदोऽस्ति'—छन्द और मन्त्र भिन्न-भिन्न है—वह भी असङ्गत है। क्योंकि 'छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्' (ऋ० भा० भू० पृ० ७९) ऐसा दयानन्द ने ही कहा है। 'छन्दांसि वेदा मन्त्राश्चेत्पर्याय……पृ० ७९, तथा व्याकरण में भी 'मन्त्रे घसह्वरण……' (पा० सू० २।४।८०) 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'—(पा० सू० ३।४।६) 'वा षपूर्वस्य निगमे'—(पा० सू० ६।४।९) 'अत्रापि छन्दमन्त्रनिगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति'—(ऋ० भा० भू० पृ० ८०) इस दयानन्द की रीतिके अनुसार छन्द और मन्त्र पर्यायवाचक होने से पाणिनि के (३।२।७१–७३) दो सूत्रों में मन्त्र और छन्दस् इन भिन्न भिन्न शब्दों का

बाधितमेव स्यात्तदा ब्राह्मणछन्दःशब्दयोरपि भिन्नभिन्नतया सन्निवेशेऽपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं कथमबाधितं न स्यात्। यदि छन्दः शब्दस्य वेदोऽर्थः, तर्हि छन्दःशब्देन पूर्वोक्तस्थलेषु ब्राह्मणवचनानां महाभाष्यकारैरुद्धृतत्वात् कथं न ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं स्यात् ?

यत्तु केनचित्—'नित्यं मन्त्रे' (पा० सू० ६।१।२१०) इत्यत्र छन्दोबद्धतारहितयजुषामर्थे मन्त्रशब्दः 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' (पा० सू० ६।१।२०९) इत्यत्र छन्दः शब्दो गायत्र्यादिछन्दोबद्धमन्त्रार्थे' इति, तदपि तुच्छम्, छन्दोबद्धत्वहेतोः छन्दःशब्दस्य वेदेऽप्रयोगात् । 'छादनाच्छन्दः' (नि० ७।१२) इति यास्कोक्तिविरोधात् । तत्र हि अन्यप्रमाणानां छादकत्वात् प्रलयकालेऽर्थस्य छादनाद्वा वेदे छन्दःशब्दप्रयोगः । तत्र प्रथमार्थे 'प्रमाणं परमं श्रुतिः' (म० २।१३) इति मनुवचनं प्रमाणम् । द्वितीयेऽर्थे 'भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति' (म० १२।९७) इति मनुवचनं प्रमाणम् । वस्तुतस्तु यजुर्वेदे 'होता यक्षद्', 'वनस्पतिमभि' इति द्वावेव मन्त्रौ छन्दोहीनौ । तत्र च जुष्ट-अर्पितशब्दौ न स्तः । तथा च 'नित्यं मन्त्रे' (पा० सू० २।५।१०) 'मंत्रे श्वेतवहोक्थ.......' (पा० सू० ३।२।७१) इत्यादिसूत्राणां नैरर्थक्यापातात् छन्दःशब्दस्य पद्यार्थत्वे 'ढश्छंदसि' (पा० सू० ४।४।१०६) इत्यादिविषयः 'सभेयोयुवास्य' (वा० सं० २२।२२) इति गद्ये न प्रवर्तेरन् । तथा च कथं सभेय इति सिद्धयेत् ? 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः' (तै० सं० २।५।१।७) इति ब्राह्मणवाक्ये गद्येऽपि (पा० सू० वा० २।३।६२) इति छान्दसचतुर्थी न स्यात् । एवं च 'मन्त्रपदघटितसूत्राणि छन्दोबद्धमन्त्रेषु न प्रवर्तेरन् ।

② भुरिगाभि-
छन्दसा
यु. द.

See
cla
यजु
22/3
T.A.C
21.4
(are
ma

यदपि ब्राह्मणभागस्यावेदत्वे कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्; कात्यायनादन्यैर्ऋषिभिरपरिगृहीतत्वात्' (ऋ० भा० भू० पृ० २७) इति हेतुरप्यहेतुरेव, ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे कात्यायनसाक्षित्वस्य दयानन्देन

सन्निवेश करना निरर्थक ही रहेगा । निरर्थक मानकर भी यदि मन्त्रभाग में वेदत्व अबाधित ही रह सकता है, तो ब्राह्मण, छन्दःशब्द दोनों का भिन्न भिन्न सन्निवेश रहने पर भी ब्राह्मणभाग का वेदत्व क्यों नहीं अबाधित रह सकेगा ? यदि छन्दस् शब्द का वेद अर्थ है तो पूर्वोक्त स्थलों में छन्द शब्द से महाभाष्यकार के द्वारा ब्राह्मणवाक्य उद्धृत किये गये हैं, अतः ब्राह्मणभाग में वेदत्व क्यों नहीं रह सकेगा ?

यह जो किसी ने कहा है कि "नित्यं मन्त्रे—(पा० सू० ६।१।२१०) यहाँ पर छन्दोबद्ध न रहनेवाले यजुस् के अर्थ में 'मन्त्र' शब्द, तथा 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' (पा० सू० ६।१।२०९) यहाँ पर 'छन्दः' शब्द गायत्रीआदिछन्द से बद्ध मन्त्र के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है" वह भी तुच्छ है । क्योंकि छन्दोबद्धता के कारण ही छन्दः शब्द का वेद में प्रयोग होता है, और 'छादनाच्छन्दः' (नि० ७।१२) इस यास्क की उक्ति के साथ भी विरोध है । वहाँ तो अन्य प्रामाणों के छादक होने से अथवा प्रलयकाल में अर्थ का छादन होने से वेद में छन्दः शब्द का प्रयोग किया गया है । उनमें भी प्रथम अर्थ में 'प्रमाणं परमं श्रुतिः'—(मनु० २।१३) यह मनुवचन प्रमाण है । द्वितीय अर्थ में 'भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति'—(मनु० २।१३) यह मनुवचन प्रमाण है । वस्तुतस्तु यजुर्वेद में 'होता यक्षद्'—वनस्पतिमभि' ये दो ही मन्त्र छन्दोहीन हैं । और उनमें जुष्ट-अर्पित ये दोनों शब्द नहीं हैं । तथाच 'नित्यं मन्त्रे'—(पा० सू० २।५।१०) 'मन्त्रेश्वेतवहोक्थ.........' (पा० सू० ३।२।७१) इत्यादि सूत्रों के निरर्थक होने के भय से छन्दः शब्द का पद्यार्थ में 'ढश्छन्दसि'—(पा ० सू० ४।४।१०६) इत्यादि विधियों की 'सभेयोयुवास्य' (वा० सं० २२।२२) इस गद्य में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी । तथाच 'सभेय' कैसे सिद्ध हो सकेगा ? 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः'—(तै० सं०) इस ब्राह्मणवाक्य रूप गद्य में भी (पा सू० वा० २।३।६२) से छान्दसचतुर्थी भी नहीं हो पायगी । एवंच मन्त्रपदघटित सूत्रों की छन्दोबद्धमंत्रों में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी ।

ब्राह्मणभाग के वेद न होने में जो हेतु दिया है कि कात्यायन के अतिरिक्त अन्य ऋषियों ने उसकी वेदसंज्ञा का स्वीकार नहीं किया है—'कात्यायनादन्यैर्ऋषिभिरपरिगृहीतत्वात्' (ऋ० भा० भू० पृ० ८७) वह हेतु भी वास्तव में हेतु नहीं है, अर्थात् अहेतु ही है । ब्राह्मणभाग के वेद होने में दयानन्द ने कात्यायन को साक्षी के रूप में स्वीकार किया है । इतना ही नहीं कात्यायन भिन्न (कात्यायन के अतिरिक्त) अन्य ऋषि जैसे न्यायशास्त्र के सूत्रकार गोतमऋषि, उसके भाष्यकार वात्स्यायन ऋषि उसी तरह

स्वीकृतत्वात् । न्यायशास्त्रस्य सूत्रभाष्यकारयोः, अष्टाध्याय्याः सूत्रकार-वार्तिककार-भाष्यकाराणां च साक्षित्वस्य पूर्वत्र प्रदर्शितत्वात् ।

'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' (जै० सू० २।१।३२) इति मीमांसासूत्रेण वेदैकदेशस्य मन्त्रभागस्य लक्षणमुक्त्वा 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० सू० २।१।३३) इति मन्त्रभागावशिष्टस्य वेदैकदेशस्य ब्राह्मणभागस्य लक्षणं च जैमिनिमहर्षिणोक्तम् । अन्यथा शेषपदस्य वैयर्थ्यापातः स्यात् । नहि शिशुपालवधस्य शेष उत्तरमीमांसा भवति । तस्माद्वेदैकदेशस्य मन्त्रभागस्य शेषो ब्राह्मणभागो न वेदादन्यो भवति ।

जैमिनिसूत्राणां व्याख्यात्रा शबरस्वामिनापि 'मंत्राश्च ब्राह्मणं च वेदः' इति स्पष्टं मंत्रब्राह्मणयोर्वेदत्वमुक्तम् । तत्र मंत्रलक्षणे उक्ते परिशेषसिद्धत्वाद् ब्राह्मणलक्षणमवचनीयम्, मंत्रलक्षणेनैव सिद्धम्' (जै० सू० २।१।३३) इति शाबरभाष्योक्तेश्च । 'आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च' (कौ० सू० १।३) इत्यथर्ववेदीयकौशिकमुनिसूत्राच्च । 'मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (बौधायनीयसूत्रं ३।२।६३), इदमेवसूत्रमापस्तम्बश्रौतसूत्रे (२४।१।३१), इदमेव च सत्याषाढ़ श्रौ० सू० (१।१।७), शुक्लयजुःप्रातिशाख्यप्रतिज्ञासूत्रे (१।२), बौधायनधर्मसूत्रे (२।९।७), तन्त्रवार्तिके (१।३।१०) सर्वानुक्रमणीवृत्तिभूमिकायाम् । षड्गुरुशिष्ये—'मंत्रब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः ।' इति । मंत्रब्राह्मणात्मत्वं तावद्वेदस्यादुष्टं लक्षणमिति ऋग्वेदभाष्योपोद्घाते सायणाचार्यश्च । 'मंत्रब्राह्मणसमष्टिर्वेदः' इति सामवेदभाष्योपक्रमणिकायाम् । यास्कीयनिरुक्तेऽपि वेदत्वेन ब्राह्मणोद्धरत्वं दर्शितमेव । 'वेदान्तदर्शने (ब्र० सू० ३।१।५) भाष्ये वैदिकप्रयोगदर्शनात् 'श्रद्धा वा आपः' इति शङ्करभगवत्पादोक्तिश्च ब्राह्मणस्य वेदत्वे प्रमाणम् । 'स्याद्वा आम्नायधर्मित्वात् छंदसि नियमः' (१।४) इति वाजसनेयिप्रातिशाख्यसूत्रव्याख्याने आम्नायो वेद इत्युक्त्वा ब्राह्मणं विध्यर्थवादरूपं मन्त्रस्तु कर्माङ्गभूतद्रव्यदेवतास्मारकमित्युव्वटाचार्यः । धर्मब्रह्मप्रतिपादकमपौरुषेयप्रमाणवाक्यं वेदः, स च मंत्रब्राह्मणात्मक इति मधुसूदनसरस्वती ।

अष्टाध्यायी व्याकरण के सूत्रकार पाणिनिऋषि, उसके वार्तिककार कात्यायनऋषि, और उसके भाष्यकार पतञ्जलिऋषि ये सभी कात्यायनभिन्नऋषि ब्राह्मणभाग को वेद कह रहे हैं । अतः ब्राह्मणभाग के वेद होने में इन सभी ऋषियों का साक्षी होना पहले बता चुके हैं ।

'तच्चोदकेषु मंत्राख्या'—(जै० सू० २।१।३२) इस मीमांसा सूत्र के द्वारा वेद के एकदेशभूत मन्त्रभाग का लक्षण बताकर 'शेषे ब्राह्मण शब्दः' (जै० सू० २।१।३३) इस सूत्र से मन्त्रभागावशिष्ट वेदैकदेशभूत ब्राह्मणभाग का लक्षण भी जैमिनि महर्षि ने बताया है । अन्यथा 'शेष' पद व्यर्थ हो जायगा । 'शेष' पद को चाहे जिस किसी से नहीं जोड़ा जा सकता । शिशुपालवधकाव्य का शेष उत्तर-मीमांसा को नहीं कहा जा सकता । तस्मात् वेदैकदेशभूत मंत्रभाग का शेष 'ब्राह्मणभाग' वेद के अतिरिक्त नहीं हो सकता ।

जैमिनिसूत्रों के व्याख्याता शबरस्वामी ने भी 'मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः' कहकर मन्त्र-ब्राह्मण दोनों का वेदत्व स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है । शबरस्वामी तो दृढ़ विश्वास के साथ कहते हैं कि मंत्र का लक्षण कह देने पर पारिशेष्यात् अवशिष्ट भाग ब्राह्मण है । यह बात विचारशील बुद्धिमान् कोई भी व्यक्ति समझ सकता है, तदर्थ ब्राह्मण का लक्षण करने की कोई आवश्यकता नहीं है, वह मन्त्र के लक्षण से ही स्पष्ट होता हैं । जै० सू० २।१।३३ का शाबरभाष्य देखने योग्य है । 'आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च'—(कौ० सू० १।३) इस अथर्ववेदीय कौशिकमुनि के सूत्र से तथा 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'—(बौ० सू० ३।२।६३), यही सूत्र आपस्तंबश्रौतसूत्र में (२४।१।३१) तथा सत्याषाढ श्रौतसूत्र में (१।१।७), और शुल्कयजुः प्रातिशाख्य प्रतिज्ञासूत्र में (१।२), बोधायनधर्मसूत्र में (२।९।७), तन्त्रवार्तिक में सर्वानुक्रमणीवृत्ति भूमिका में, षड्गुरुशिष्य ने 'मन्त्रब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः ।' स्पष्ट कहा है । सायणाचार्य ने अपने ऋग्वेद भाष्योपोद्घात में 'मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं तावद् वेदस्य अदुष्टं लक्षणम्' कहा है । सामवेदभाष्य की उपक्रमणिका में 'मन्त्र-ब्राह्मणसमष्टिर्वेदः' तथा यास्क के निरुक्त में भी वेद के रूप में ब्राह्मण के उद्धरण दिये गये हैं । और 'वेदान्तदर्शन में ब्र० सू० ३।१।५ के भाष्य में "वैदिकप्रयोगदर्शनात्—'श्रद्धा वा आपः' इति" यह शंकरभगवत्पादोक्ति ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है । 'स्याद्वा आम्नायधर्मित्वात् छन्दसि नियमः' (१।४) इस वाजसनेयिप्रतिशाख्यसूत्र के व्याख्यान में आम्नायो वेद इत्युक्त्वा ब्राह्मणं विध्यर्थवादरूपं मन्त्रस्तु कर्माङ्गभूतद्रव्यदेवतास्मारकम्' ऐसा कहकर उव्वटाचार्य ने ब्राह्मणभाग का वेदत्व स्पष्ट किया है । उसी तरह 'धर्म-ब्रह्मप्रतिपादकमपौरुषेयप्रमाणवाक्यं वेदः, सच मन्त्रब्राह्मणात्मकः' यह मधुसूदन सरस्वती ने कहा है ।

'उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्तते यज्ञः इतीयं वैदिकी श्रुतिः (म० २।१५) इत्यैतरेयादि-ब्राह्मणभागस्य (५।२९) वैदिकी श्रुतित्वोक्त्या ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमुक्तम्। 'राज्ञश्च दद्युरुद्धारमितीयं वैदिकी श्रुतिः' (म० ७।९७) इति श्रुतिरपि ब्राह्मणभाग एव, न मंत्रेषूपलभ्यते। मनुस्मृतिः सृष्ट्यादावासीत्। तस्याः प्रामाण्यं दयानन्देन सत्यार्थप्रकाशे ११ समुल्लासे १७५ पृष्ठे स्वीकृतम्। तेन सृष्ट्यादावेव ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं प्रसिद्धमासीदिति गम्यते। मनु-स्मृतिप्रवक्तुर्भृगोरपि दृष्ट्या मनुस्मृतेः (१।३५) सृष्ट्यादौ सत्त्वं सिद्ध्यति।

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (म० २।६) इत्यत्र वादिगणमान्येन मेधातिथिना लिखितं यद्वेदशब्देन ऋग्यजुःसामानि ब्राह्मणसहितान्युच्यन्ते। स वेदो बहुधा भिन्नः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः सात्यमुग्रिराणायनीयादिभेदेन। एकशतमध्वर्यूणां भेदः काठकवाजसनेयकादिभेदेन। एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, आश्वलायनैतरेयादिभेदेन। नवधाऽथर्वाणः, मोदकपैप्पलादकादिभेदेन। स वेदो विशिष्टः शब्दराशिरपौरुषेयो मन्त्रब्राह्मणाख्योऽनेकशाखाभिन्नो धर्मस्य मूलम्। 'एकदेशं तु वेदस्य' (म० २।१४१) इत्यत्र वेदस्यैकदेशं मंत्रं ब्राह्मणं चेति कुल्लूकभट्टः। तथैवान्येऽपि मनुटीकाकाराः। 'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः' (म० २।१६५) सामवेदो मंत्रब्राह्मणात्मकः सोपनिषत्क इति कुल्लूकभट्टः। वेदो मंत्रब्राह्मणसमुदायात्मिकां शाखामाचष्टे' इति मेधातिथिः। 'अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि' (म० ४।९८), छन्दांसि मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदमिति कुल्लूकभट्टः। मन्त्रब्राह्मणवाक्यसमुदायात्मकान् वेदान् पठेदिति मेधातिथिः।

'छन्दसि अर्थान् बुध्वा' (का० गृ० सू० ३।१) इति काठकगृह्यसूत्रे। 'छन्दसि वेदे ऋग्यजुःसामलक्षणमन्त्र-ब्राह्मणार्थंवादनामधेयभेदयुक्ते' इति देवपालः। 'विध्यर्थवादवचनविनियोगात्' (गो० सू० २।१।६१) इति न्यासूत्रवृत्तौ

'उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्तते यज्ञः इतीयं—वैदिकी श्रुतिः'—(मनु० २।१५) इस प्रकार मनु ने ऐतरेयादि ब्राह्मणभाग—(५।२९) के लिये 'वैदिकी श्रुति' शब्द का प्रयोग करते हुए ब्राह्मणभाग का वेदत्व स्पष्ट किया है। और 'राज्ञश्च दद्युरुद्धारमितीयं वैदिकी श्रुतिः'—(मनु० ७।९७) यह श्रुति भी ब्राह्मणभाग के लिये ही उपलब्ध हो रही है, मन्त्रभाग के लिये नहीं। 'मनुस्मृति' सृष्टि के आदि में थी। दयानन्द ने अपने सत्यार्थ प्रकाश के (११) ग्यारहवें समुल्लास के (१७५) एक सौ पचहत्तर पृष्ठ पर मनुस्मृति के प्रामाण्य का स्वीकार किया है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि के आदिकाल से ही ब्राह्मणभाग का वेदत्व प्रसिद्ध है। मनुस्मृति के प्रवक्ता भृगु की सम्मति के अनुसार भी मनुस्मृति (१।३५) का सत्त्व सृष्टि के आदि में सिद्ध है।

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (मनु २।६) पर वादिगणमान्य मेधातिथिने लिखा है कि 'वेदशब्द से ब्राह्मण के सहित ऋक्, यजुस्, साम कहे जाते हैं। वह वेद अनेक प्रकार से भिन्न हुआ है, सात्यमुग्रि, राणायनीय आदि भेदों से सामवेद के एक सहस्र प्रकार हैं। काठक, वाजसनेयक आदि भेद से अध्वर्युवेद (यजुर्वेद) के एकशत (सौ) प्रकार हैं। आश्वलायन ऐतरेय आदि भेद से बाह्वृच्य (ऋग्वेद) के (२१) इक्कीस प्रकार हैं। मोदक, पैप्पलादक आदि भेद से अथर्ववेद के नव (नौ) प्रकार हैं। वह वेद, विशिष्ट शब्दराशिरूप एवं अपौरुषेय और मन्त्र-ब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध तथा अनेक शाखाओं में विभक्त है, और वही धर्म का मूल है। 'एकदेशं तु वेदस्य' (मनु २।१४१) यहाँ पर 'वदस्य एकदेशं मन्त्रं ब्राह्मणं च' ऐसा कुल्लूकभट्ट ने कहा है। उसी तरह मनु के अन्य टीकाकार भी कहते हैं। 'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः'—(मनु० २।१६५) यहाँ पर भी 'सामवेदो मन्त्रब्राह्मणात्मकः सोपनिषत्कः' ऐसा कुल्लूकभट्ट ने कहा है। मेधातिथि भी 'वेदो मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मिकां शाखामाचष्टे' ऐसा ही कहते हैं। 'अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि' (मनु ४।९८) यहाँ पर 'छन्दांसि' का अर्थ 'मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद' कुल्लूकभट्ट ने किया है। और 'मन्त्र-ब्राह्मणवाक्यसमुदायात्मक वेदों को पढ़े' इस प्रकार मेधातिथि ने अर्थ किया है।

'छन्दसि अर्थान् बुध्वा' (का० गृ० सू० ३।१) इस काठकगृह्यसूत्र के 'छन्दसि' का अर्थ 'ऋग्यजुःसामलक्षण मन्त्रब्राह्मणार्थ-वादनामधेय भेद से युक्त वेद में' ऐसा देवपाल ने किया है। 'विध्यर्थवादवचनविनियोगात्' (गो० सू० २।१।६१) इस प्रकार न्यायसूत्रवृत्ति में मन्त्रब्राह्मण भेद से वेद के दो भाग हैं। उनमें यह विभाग ब्राह्मण का है, यह कहा है। दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के (६) छठें

मन्त्रब्राह्मणभेदाद् द्विधा वेदः। तत्र ब्राह्मणस्यायं विभागः। शुक्रनीतिर्दयानन्देन सत्यार्थप्रकाशे ६ समुल्लासेऽन्ते प्रमाणिता। तत्र 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनाम प्रोक्तमृगादिषु' (शु० नी० ४।२७१) अत्रापि मन्त्रभागेन समानमेव ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमुक्तम्। 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च' इति पुराणश्लोकः। समाजिभिर्लज्जया पुराणनाम्ना नोद्घ्रियते शुक्रनीतिनाम्नोद्घ्रियते।

'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वै० सू० ६।१।१) इत्यस्य भाष्ये 'स्वर्गकामो यजेत' इति ब्राह्मणवाक्यस्य वेदनाम्ना स्मरणात्। कणादमुनिदृष्ट्यापि ब्राह्मणस्य वेदत्वमेव। याज्ञवल्क्यस्मृतौ प्रायश्चित्तप्रकरणे (३।२४९) इत्यत्र मिताक्षरायां मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदम्, तत्रैव श्राद्धप्रकरणे वेदार्थविद् इत्यस्य मिताक्षरायां मन्त्रब्राह्मणयोरर्थं वेत्तीति वेदार्थविद् इत्युक्तम्। 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' (ब्र० सू० २।१।२७) इत्यादिषु बहुत्र श्रुतिप्रमाणरूपेण उपनिषद उदाह्रियन्ते। 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः' (म० २।१०) इति श्रुतिर्वेद एव। वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (म० २।६), 'श्रुतिप्रमाणो धर्मः' (म० भा० वनपर्व २०६।४१), वेद एव धर्मस्य मूलम्', 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (जै० सू० १।१।२), 'विहितकर्मजन्यो धर्मः' इति तर्कसंग्रहः। 'स्वर्गकामो यजेत', 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत', अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इत्यादिवाक्यान्येव चोदनापदेन व्यपदिश्यन्ते। 'कुर्यात्', 'क्रियेत' 'कर्त्तव्यं' 'भवेत्' 'स्या' दितिपञ्चमम्। एतत् स्यात् सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम् ॥' (मीमांसादर्शने ४।३।३) इत्युक्तानां विधीनां मन्त्रभागे सत्त्वमेव नास्ति, ब्राह्मणेष्वेव सत्त्वात्। अन्यथा 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इत्यादिकं निर्विषयमेव स्यात्। 'श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः। ……प्रेत्य चानुत्तमां गतिम् ॥' (म० २।९) इत्यादिकं च निर्विषयं स्यात्। 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' (म० २।१) ब्राह्मणभागस्यैव ग्रहणम्, इत्यत्र श्रुतिशब्देन धर्मविधेस्तत्रैव सत्त्वात्। मीमांसादर्शनस्य द्वादशाध्याये षष्टिपादेषु ९०० अधिकरणेषु सर्वत्र ब्राह्मणवाक्यान्येवोद्धृत्य विचार्यन्ते। मन्त्रभागवाक्यान्यल्पीयांस्येव सन्ति। यदि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं न स्यात्तदा मीमांसा नाम वेदविचार एव। वेदवाक्यान्येवैभिर्व्याख्यास्यन्ते, (मीमांसाशाबरभाष्ये १।१।१) इति निरर्थकान्येव स्युः। तेनापि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमेव।

समुल्लास के अन्त में 'शुक्रनीति' को प्रमाण माना है। उस शुक्रनीति में भी 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद नाम प्रोक्तमृगादिषु' (शु० नी०४।२७१) कहकर मन्त्रभाग के समान ही ब्राह्मणभाग का वेदत्व बताया है। 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च' यह पुराण का श्लोक है। किन्तु समाजियों ने लज्जा से अभिभूत होने के कारण उसे पुराण का न बताकर शुक्रनीति का बताया है।

'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वै० सू० ६।१।१) के भाष्य में 'स्वर्गकामो यजेत' इस ब्राह्मणवाक्य का 'वेद' के नाम से स्मरण करने से कणादमुनि की दृष्टि में भी 'ब्राह्मण' का वेदत्व स्पष्ट है। याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रायश्चित्तप्रकरण में (३।२४९) मिताक्षराकार 'मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदम्', उसी के श्राद्धप्रकरण में 'वेदार्थवित्' की व्याख्या—'मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के अर्थ को जो जानता है, वह वेदार्थवित् है'—करते हैं। 'श्रुतेस्तुशब्दमूलत्वात्' (ब्र० सू० २।१।२७) इत्यादि अनेक स्थलों पर उपनिषदों को श्रुतिप्रमाण के रूप में उद्धृत किया गया है। 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः' (मनु० २।१०) के अनुसार वेद ही श्रुति है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (मनु०२।६), 'श्रुतिप्रमाणोधर्मः;' (म० भा० व० प० २०६।४१), 'वेद एव धर्मस्य मूलम्', 'चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः' (जै० सू० १।१।२), 'विहितकर्मजन्यो धर्मः' (त० सं०), 'स्वर्गकामो यजेत', अहरहः संध्यामुपासीत', 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इत्यादि वाक्यों को ही 'चोदना' शब्द से कहा जाता है। 'कुर्यात्' 'क्रियेत' 'कर्तव्यं' 'भवेत्' 'स्या' दिति पञ्चमम्। एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियतं विधिलणम् ॥' (मो० दर्श० ४।३।३) इन उक्त विधियों की सत्ता मन्त्रभाग में कहीं है ही नहीं। केवल ब्राह्मणों में ही उनकी सत्ता दृष्टिगोचर होती है। अन्यथा 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्', 'श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः……प्रेत्य चानुत्तमां गतिम् ॥' (मनु २।९) इत्यादि वाक्यों का कोई विषय ही नहीं रहेगा। 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' (मनु २।१३) यहाँ पर श्रुतिशब्द से ब्राह्मणभाग का ही ग्रहण किया जाता है। क्योंकि समस्त धर्मविधियाँ ब्राह्मणभाग में ही होती हैं। मीमांसादर्शन के बारह अध्यायों के (६०) साठ पादों के (९००) नौसो अधिकरणों में सर्वत्र ब्राह्मणवाक्यों को ही उद्धृत कर विचार किया गया है। मन्त्रभाग के वाक्य तो अल्प ही हैं। यदि ब्राह्मणभाग को 'वेद' न माना जाय तो मीमांसाशाबरभाष्य में (१।१।१) जो 'वेदवाक्यान्येवैभिर्व्यास्यास्यन्ते' कहा गया है उसे निरर्थक ही कहना होगा। 'मीमांसा' शब्द का अर्थ 'वेदविचार' है। वेदविचार को ही मीमांसा कहते हैं। इस कारण भी ब्राह्मणभाग का वेदत्व स्पष्ट

उत्तरमीमांसायामपि प्रायेणौपनिषदवचनानि विचार्यन्ते। अतो मंत्रब्राह्मणयोः समानमेव वेदत्वम्, न कस्यचिदातिदेशिकत्वम्। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' (जै० सू० १।२।१) अर्थवादात्मकब्राह्मणभागस्याम्नायत्वम्। अर्थवादाः प्राधान्येन ब्राह्मणभाग एव सन्ति। यदि तेषां वेदत्वं न स्यात्तदा तत्सम्बद्धमीमांसा प्रमत्तप्रलाप एव स्यात्। उत्तरपक्षे तेषां वेदत्वं रक्षित्वैव समाधानमुक्तम्। जैमिनि (१।२।६ इत्यत्र) भाष्येऽर्थवादानां वेदभागत्वमुक्तम्।

'श्वस्त्वेषां तत्र प्राक् श्रुतिर्गुणार्था' (जै० सू० ३।६।२०) अत्र 'आग्नेयं पशुमालभेत' (   ) इति ब्राह्मणवचनं श्रुतित्वेनोक्तम्। 'श्रुतितो व्यपदेशाच्च' (जै० सू० ४।४।३४) 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' (   ) इति ब्राह्मणं श्रुतिरित्युक्तम्। 'कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात्' (जै० सू० ६।१।५) इत्यत्र विधिवाक्यानि श्रुतिशब्देनोक्तानि। सांख्यदर्शनेऽपि 'श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य' (सां० सू० ५।१२) इति सूत्रे 'अजामेकां लोहित—शुक्लकृष्णाम्' (श्वे० ४।५) इत्युपनिषद्वाक्यं श्रुतिशब्देनोक्तम्। 'अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्राणां प्रतीयते' (जै० सू० ६।१।३३) इति सूत्रे, वेदे हि त्रयाणां निर्देशो भवति 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, वर्षासु वैश्यम्' इति ब्राह्मणवचनस्यैव वेदवचनत्वमुक्तम्। विधौ तु वेदसंयोगात्' (जै० सू० ६।७।२९) इति सूत्रे 'माषान्मे पचत' (श० १।१।१।१०) इति ब्राह्मणवचनस्य वेदशब्देन ग्रहणं कृतम्। 'आम्नायवचनं तद्वत्' (जै० सू० ११।२।४१) इति सूत्रे 'यदेवाध्वर्युः करोति' (   ) इति ब्राह्मणवचनस्य आम्नायवचनत्वमुक्तम्। (जै० सू० ३।४।२८) इति सूत्रे 'पौण्डरीकेऽश्वसहस्रं दक्षिणा, ज्योतिष्टोमे गौश्च अश्वश्च' इति वैदिकोऽश्वप्रतिग्रह उक्तः।

दयानन्देन ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं यत्प्रतिषिद्धं तदपि प्राप्तस्यैव सम्भवति नाप्राप्तस्य। अप्राप्तौ सत्यां निषेधाऽयोगात्। यदि सा प्राप्तिर्नार्वाचीनलोकव्यवहरात्; (यतो हि प्राचीनलोकव्यवहारस्तु साधित एव), यदि तु 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति कात्यायनादिवाक्याद् व्यवहार इति, तदप्ययुक्तम्, कात्यायनवाक्येन वेदसंज्ञाविधानाभावात्, किन्तु

हो ही जाता है। उत्तरमीमांसा में भी प्रायः उपनिषद् के वाक्यों का विचार किया जाता है। अतः मन्त्र-ब्राह्मण दोनों में 'वेदत्व' समान रूप से है, किसी में भी वह आतिदेशिक नहीं है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' (जै० सू० १।२।१) अर्थवादात्मक ब्राह्मणभाग को 'आम्नाय' कहते हैं। अर्थवाद प्रधानतया ब्राह्मणभाग में ही होते हैं। यदि उन्हें 'वेद' न माना जाय तो उससे सम्बन्धित मीमांसा को प्रमत्तप्रलाप ही कहना पड़ेगा। उत्तरपक्ष में उनके वेदत्व की रक्षा करके ही समाधान दिया गया है। जैमिनिसूत्र (१।२।६) के भाष्य में अर्थवादों को वेद का एक भाग कहा गया है।

'श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक् श्रुतिर्गुणार्था' (जै० सू० ३।६।२०) यहां पर 'आग्नेयं पशुमालभेत' (   ) इस ब्राह्मण वाक्य को 'श्रुति' कहा है। 'श्रुतितोव्यपदेशाच्च'—(जै० सू० ४।४।३४) यहां पर 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामोयजेत'—(श्वे० उ० ४।५) इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' कहा है। 'कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात्'—(जै० सू० ६।१।५) यहां पर विधिवाक्यों को श्रुति' शब्द से कहा गया है। सांख्यदर्शन में भी 'श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य'—(सा० सू० ५।१२) इस सूत्र में 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' (   ) इस उपनिषद्वाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा है। 'अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्राणां प्रतीयते' (जै० सू० ६।१।३३) इस सूत्र में 'वेदे हि त्रयाणां निर्देशोभवति, वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यं, वर्षासु वैश्यम्' इस ब्राह्मण वचन को ही वेदवचन कहा गया है। विधौ तु वेदसंयोगात्' (जै० सू० ६।७।२९) इस सूत्र में 'माषान्मे पचत' (   ) इस ब्राह्मणवाक्यय का वेदशब्द से ग्रहण किया है। आम्नायवचनं तद्वत्' (जै० सू० ११।२।४१) सूत्र में 'यदेवाध्वर्युः करोति' (   ) इस ब्राह्मणवचन को आम्नायवचन कहा है। 'वेदसंयोगात्' (जै० सू० ३।४।२८) सूत्र में 'पौण्डरीकेऽश्वसहस्रं दक्षिणा, ज्योतिष्टोमे गौश्च अश्वश्चे' ति वैदिक अश्वप्रतिग्रह को बताया गया है।

दयानन्द ने ब्राह्मण भाग के 'वेदत्व' का जो निषेध किया है, वह भी प्राप्त का ही सम्भव हो सकता है, अप्राप्त का तो हो नहीं सकता, क्योंकि प्राप्ति न रहने पर निषेध नहीं हुआ करता। यदि अर्वाचीन लोगों के व्यवहार से उस 'प्राप्ति' को सिद्ध नहीं कर सकते हैं क्योंकि प्राचीन लोगों के व्यवहार से उस 'प्राप्ति' को सिद्ध कर चुके हैं। यदि कहें कि 'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस

मन्त्र—ब्राह्मणयोर्वेद इति नामधेयमस्तीत्येवोक्तम् । तदभावे मन्त्रभागस्यापि वेदव्यवहारोऽर्वाचीन एव स्यात्। 'एक योगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः', 'सन्नियोगशिष्टानामन्यतराभावे उभयोरप्यभावः ।' इति न्यायेनानादिकालात् दयानन्दात् पूर्वकालपर्यन्तं मन्त्रभाग-ब्राह्मणभागयोरुभयोरपि वेदत्वमभिमतम् । सनातनधर्मविरोधिना दयानन्देन ब्राह्मणभागस्यावेदत्वकथा प्रारब्धा । तथात्वे मन्त्रभागस्यापि सह निर्दिष्टत्वात् तथैव वेदत्वनिवृत्तिः स्यात् । दयानन्दीयवैदिकसन्ध्यायां 'ॐ भूः पुनातु शिरसि' इति मन्त्रः, 'ॐ वाक् वाक्' इति मत्रः, 'ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः, ॐ महः, ॐ जनः ॐ तपः, ॐ सत्यम्' इति सप्तव्याहृतियुक्तो मंत्रश्च तदभिमतेषु वेदेषु नास्त्येव। तथा च कथं सा सन्ध्या वैदिकी स्यात् । अन्यसंहितासु ब्राह्मणेषु वा तेषां सत्वं तेनापि मन्तव्यमेव ।

यदपि मनुष्यवृद्धिरचितत्वात् ब्राह्मण-भागस्यावेदत्वमुक्तम्, तदपि तुच्छम्, का सा मनुष्यबुद्धिर्या ब्राह्मणेऽस्ति, मंत्रे च नास्ति, कथङ्कारं सा ब्राह्मणेऽस्ति मंत्रे च नास्तीत्यस्याद्याप्यसाधितत्वात् । साध्यसमत्वात् हेत्वाभास एव स हेतुः ।

'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (पा० सू० ४।३।१०५) इति सूत्रेण तु ब्राह्मणभागस्य ऋषिप्रोक्तत्वमुच्यते, न ऋषिकृतत्वम् । प्रोक्तता तु यथा ब्राह्मणभागस्य तथैव मन्त्रभागस्यापि । आख्या प्रवचनात्' (जै० सू० १।१।३०) इति सूत्रेण जैमिनिना मन्त्र-ब्राह्मणयोरुभयोरपि प्रोक्तत्वमेवोच्यते । यथा काठकं माध्यन्दिनीयं शाकलमित्यादिकम् । तेन ब्राह्मणभागस्य मनुष्यबुद्धिरचितत्वोक्तिरज्ञानमूलिकैव ।

कात्यायन आदि के वाक्य से उसमें 'वेद' शब्द का व्यवहार किया जाता है, किन्तु वह भी ठीक न होगा, किन्तु कात्यायन के वाक्य से 'वेद' संज्ञा का विधान नहीं किया गया है । केवल मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदइति नामधेयमस्ति'=मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का 'वेद' यह नाम है, इतना ही उनके वाक्य से कहा गया है । उसके अभाव में मन्त्रभाग के लिये भी जो वेदव्यवहार किया जाता है उसे भी अर्वाचीन ही कहना होगा । 'एक योगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः' सह वा निवृत्तिः'—'सन्नियोगशिष्टानामन्यतराभावे उभयोरप्यभावः ।' इस न्याय के अनुसार अनादिकाल से ही दयानन्द के पूर्वकालतक मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भागों का 'वेदत्व' सभी को सम्मत रहता आ रहा है, किन्तु सनातन वैदिक धर्म विरोधी दयानन्द ने ब्राह्मण भाग के गेद् न होने (अवेदत्व) की कहानी गढ़ना प्रारंभ किया । कहानी गढ़ने के दुष्परिणाम को उसने नहीं सोचा । उस कहानी से उन्मत्तप्रलाप की तरह वदतोव्याघात होने लगा । मन्त्र भाग भी सहनिर्दिष्ट होने से उसके भी वेदत्व की निवृत्ति ब्राह्मण भाग के वेदत्व निवृत्ति के साथ ही हो जायगी । एक ओर तो मन्त्र भाग को वेद बता रहे हैं और दूसरी ओर कहानी गढ़कर उसके वेदत्व को मना भी कर रहे हैं । इसे उन्मत्त प्रलाप के अतिरिक्त और क्या कहा जायगा । दयानन्द की वैदिक सन्ध्या में 'ओं भूः पुनातु शिरसि' यह मन्त्र, 'ओं वाक् वाक्' यह मन्त्र, 'ओं-भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम्' यह सप्तव्याहृतियुक्त मन्त्र ये सब उनके अभिमत वेदों में हैं ही नहीं । तब इनकी संव्या 'वैदिक' कैसे होगी ? अन्य संहिताओं या ब्राह्मणों में उन मन्त्रों का होना उसे भी स्वाकार करना ही होगा । तभी अपनी संध्या को वैदिक कह पायगा ।

ब्राह्मणभाग को वेद न मानने (अवेदत्व) में 'मनुष्यबुद्धिरचितत्वात्' हेतु दिया है, किन्तु वह ठीक नहीं है, उस हेतु से ब्राह्मणभाग का अवेदत्व सिद्ध नहीं किया जा सकेगा । कौन सी वह मनुष्य बुद्धि है, जो ब्राह्मणभाग में है, और मन्त्र भाग में नहीं है । तथा वह मनुष्यबुद्धि ब्राह्मणभाग में है और मन्त्रभाग में नहीं है, यह अभी तक किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हुआ है । अतः दयानन्द के द्वारा बताया गया हेतु (मनुष्यबुद्धिरचितत्वात्) तो साध्यसम होने से हेत्वाभास (असद्धेतु) ही है । उससे ब्राह्मणभाग का अवेदत्व सिद्ध नहीं हो सकता ।

'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (पा० सू० ४।३।१०५) इस सूत्र से ब्राह्मणभाग को ऋषिप्रोक्त कहा गया है, ऋषिकृत नहीं । 'प्रोक्तता' तो जैसे ब्राह्मणभाग की है वैसे ही मन्त्रभाग की भी है । 'आख्या प्रवचनात्'—(जै० सू० १।१।३०) इस सूत्र से जैमिनि ने मन्त्र-ब्राह्मण दोनों को 'प्रोक्त' ही कहा है । जैसे काठक, माध्यन्दिनीय, शाकल इत्यादि । उपर्युक्त प्रमाणों के देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणभाग को मनुष्य-बुद्धिरचित कहना अज्ञानमूलक ही है ।

'यत्तु ऋग्वेदादिषु वेदशब्दप्रयोगात् संहितापदप्रयोगाच्च शतपथादिब्राह्मणग्रंथेषु वेदशब्दाप्रयोगादवेदत्वमिति तदपि तुच्छम्, तथात्वे—आयुर्वेद-धनुर्वेद-गान्धर्ववेद-अथर्ववेद-सर्पवेद-पिशाचवेद-पुराणवेदादिभिः सार्धं वेदशब्दयोगात् तेषामपि वेदत्वापत्तेः। सुश्रुतसंहिता-चरकसंहिता-भेलसंहिता-हारीतसंहिता-सनत्कुमारसंहिता-कश्यपसंहितादीनामपि वेदत्वापत्तेश्च। 'ऋचः सामानि जज्ञिरे' (वा० सं० ३१।७) इत्यत्र वेदशब्दप्रयोगाभावात् ऋगादीनामवेदत्वापत्तेश्च। शाकल-माध्यन्दिन-कौथुम-शौनकसंहितासु वेदशब्दप्रयोगाभावात् तेषामवेदत्वापत्तेश्च। संहिताशब्दयोगेन वेदत्वे तु काठकसंहितामैत्रायणीसंहितादीनामपि वेदत्वस्य वक्तव्यत्वात्। किञ्च, दयानन्दोपि ब्राह्मणभागं भागशब्दवाच्यं मनुते। भागस्य च भागित्वेन भाव्यम्। न च मन्त्रभागस्य भागित्वं सम्भवति, तस्य भागत्वात्। तद्यथा—१ वेदो मंत्रभागः, ब्राह्मणभागो व्याख्याभागः' (सत्यार्थ प्रकाशे ७ समुल्लासे, १२७ पृष्ठे)। 'ईश्वरप्रणीतः संहिताभागः' (सत्यार्थप्रकाशे समुल्लासे ३६३ पृ०)। महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञा मता (ऋ० भा० भू० पृष्ठ ८६)। अतो नात्र मन्त्रभागे इतिहासलेशोऽपि' (ऋ० भा० भू० पृष्ठ ८१।८२) इति मन्त्र भागः। तथैव ब्राह्मणभागमपि भागत्वेन व्यवहरति दयानन्दः। तथाहि 'ब्राह्मण भाग को, (ऋ० भा० भू० ८१ पृष्ठ), 'उस ब्राह्मण भाग का नाम पुराण है' (ऋ० भा० भू० ८४ पृष्ठ। कात्यायनेनोक्ते ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो नाङ्गीक्रियते (ऋ० भा० भू० ८० पृष्ठे), अमरकोषेऽपि—'वेदभेदे गुह्यवादे मन्त्रः' (अ० को० ३।३।१६७) मेदिनीकोषे च—'मन्त्रो वेदविशेषे) (भेदे भागे वा) तथैव 'ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्' (अमरकोष २।४।९) इत्याद्यमरकोषरीत्या मन्त्रभागस्य यथा वेदभागत्वं तथैव ब्राह्मणभागस्यपि वेदभागत्वमेव। त्रिकाण्डशेषे नानार्थवर्गे 'मन्त्रा वेदे विप्रौघे क्लीबं ना ब्राह्मणो द्विजे ? (त्रिका० शे० ३।३।११५) इत्यत्र ब्राह्मणस्य मन्त्रभिन्नवदत्वमेवोक्तम्। वैशेषिकसूत्रस्योपस्कारे (वै० सू० ६।१।२) ब्राह्मणमिह वेद

यह जो कहा है कि ऋग्वेद आदि के लिये 'वेद' शब्द का और 'संहिता' शब्द का प्रयोग होने से और शतपथादिब्राह्मणग्रन्थों के लिये 'वेद' शब्द का प्रयोग न किये जाने के कारण वह 'अवेद' हैं। किन्तु यह कथन भी सारहीन है। इसके अनुसार तो आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थवेद, सर्पवेद, पिशाचवेद, पुराणवेद आदि के साथ भी 'वेद' शब्द का प्रयोग रहने से उन सबको भी 'वेद' मानना होगा। उसी तरह सुश्रुतसंहिता चरकसंहिता, हारीतसंहिता, सनत्कुमारसंहिता, कश्यपसंहिता घेरण्डसंहिता आदि ग्रन्थों के साथ 'संहिता' शब्द का प्रयोग रहने से उन्हें भी 'वेद' कहना होगा। 'ऋचः सामानि जज्ञिरे' (वा० सं० ३१।७) यहाँ पर 'वेद' का प्रयोग न होने से ऋगादिकों को भी 'अवेद' कहना होगा। शाकल, माध्यन्दिन, कौथुम, शौनक संहिताओं में 'वेद' शब्द का प्रयोग न रहने से उन्हें भी 'अवेद' कहना पड़ेगा। यदि उन्हें 'संहिता' शब्द के संसर्ग से 'वेद' कहें तो काठकसंहिता, मैत्रायणीसंहिता आदि को भी 'वेद' कहना होगा। किञ्च दयानन्द ने भी 'ब्राह्मणभाग' कहकर उसे 'भाग' शब्द से ही कहना उचित माना है। यह सर्वविदित है कि 'भाग' भागी के बिना हो नहीं सकता। 'भाग यदि है तो भागी आवश्य ही होना चाहिये। 'ब्राह्मण' यदि भाग है तो उसका 'भागी' कौन होगा ? 'मन्त्रभाग' को उसका 'भागी' कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह स्वयं 'भाग' रूप है। सत्यार्थप्रकाश के (७) सांतवे समुल्लास में (१२७) एक सौ सत्ताईसवें पृष्ठ पर दयानन्द ने लिखा है कि " 'वेद' मन्त्रभाग है, और 'ब्राह्मणभाग' व्याख्याभाग है।" " 'संहिताभाग' ईश्वरप्रणीत है"—(सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ३६३ पृ०), महाभाष्यकार ने मन्त्रभाग की ही वेदसंज्ञा मानी है (ऋ० भा० भू० ८६), अतः मन्त्रभाग में इतिहास की गन्ध भी नहीं है' (ऋ० भा० भू० पृ० ८१।८२), इस प्रकार का यह मन्त्रभाग है। उसी तरह ब्राह्मणभाग को भी भाग शब्द से दयानन्द ने कहा है। तथाहि—'ब्राह्मणभाग को (ऋ० भा० भू० ८१ पृ०), उस ब्राह्मणभाग का नाम पुराण है'—(ऋ० भा० भू० पृ० ८४)। कात्यायन के द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ में आये हुए ब्राह्मणभाग की भी वेदसंज्ञा क्यों नहीं मानी जाती' (ऋ० भा० भू० ८० पृ०), अमरकोष में भी 'वेदभेदे गुह्यवादे मन्त्रः' (अ० को० ३।३।१६७) और मेदिनीकोष में 'मन्त्रो वेदविशेषे' (भेदे भागे वा), तथैव 'ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्' (अमरकोष २।४।८९) इत्यादि अमरकोष की रीति के अनुसार जैसे 'मन्त्रभाग'; वेद का भाग है, वैसे ही 'ब्राह्मणभाग' भी वेद का ही भाग है। त्रिकाण्डशेष के नानार्थवर्ग में 'मन्त्रा वेदे विप्रौघे क्लीबं ना ब्राह्मणे द्विजे।'—(त्रिका० शे० ३।३।११५) के द्वारा ब्राह्मणभाग को मन्त्रभिन्न वेद

भागः न्यायमालाविस्तरकारिकायांच—'मन्त्रश्च ब्राह्मणं चेति द्वौभागौ' इत्यादिना वेदस्यैव द्वौ भागौ मन्त्रभागो ब्राह्मण भागश्चेति सिद्ध्यतः। भागी वेद एव। ब्राह्मणभागेन सनातनधर्मसिद्ध्या समाजिमतं खंडितमेव भवति। तस्मादेव समाजिभिर्ब्राह्मणभागस्यावेदत्वमुच्यते।

किञ्च, दयानन्देन ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां शतपथप्रमाणेन ऋग्वेदादिमन्त्राणां परमात्मनिःश्वसितत्वमुक्तम्। तत्रैवान्तिमांशे ब्राह्मणभागस्यापि परमात्मनिःश्वसितत्वमुक्तम्। तच्च वचनमिदम्—'अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि अस्यैव एतानि (श० १४।५।४।१०), तथेतिहासादिरूपेण अष्टविधं ब्राह्मणमुक्तम्। वेदो हि मन्त्र-ब्राह्मणभेदेन द्विविधः। ब्राह्मणं चाष्टधा भिन्नम्। तद्भेदास्तु वाजसनेयिभिः शतपथेनाम्नायन्ते। इतिहासः, पुराणम्, विद्या, उपनिषदः, श्लोक-इत्यादि (तैत्तिरीयारण्यक ८ प्र पा० २ अनुवाक) सायणभाष्यम्। शङ्कराचार्यव्याख्यानं त्वन्यत्रोद्धृतम्। यत्तु केनचिदुक्तम्—श्लोकसूत्राणां वेदत्वे नास्तिकनिर्मितानां सूत्रश्लोकानामपि प्रामाण्यापत्त्या एतान्यस्यैव निःश्वसितानीति' इति, तदप्ययुक्तमेव, अष्टधा भिन्नस्य ब्राह्मणस्याज्ञानात्। प्राकरणिकार्थस्य शङ्कराचार्यसायणादिभिरेवोक्तत्वात्, नास्तिकानामनीश्वरवादित्वेन तदुक्तश्लोकादीनामीश्वरनिःश्वसितत्वानभ्युपगमाच्च। 'अस्य महतो भूतस्येति इदं शब्देनोपक्रमात्, इदं शब्देनैवोपसंहारात् उपक्रमोपसंहारयोरैक्यस्यानिवार्यत्वेन इदंशब्दबोध्यस्य महतोभूतस्य 'परमात्मन एव ग्रहणम्। अत एव पूर्वोक्तार्थदार्ढ्यायैव अस्यैवेत्यत्र एवशब्दप्रयोगः। अत्र जीवस्याप्रकृतत्वादेवाग्रहणम्। यदि ऋग्वेदादिप्राकट्यकर्तुस्तस्येति तत्पदेन ग्रहणं स्यात्तदा कथञ्चित् सम्भाव्येताप्यस्येति पदेन जीवस्य ग्रहणम्। प्रकृते तु अस्येत्यपरोक्षवाचिना इदमैव परमेश्वरस्य·

ही कहा है। वैशेषिकसूत्र के उपस्कार में (वै० सू० ६।१।२) 'ब्राह्मणमिह वेदभागः'=ब्राह्मणभाग को वेद का भाग कहा है। न्यायमालाविस्तर और कारिका में मन्त्रश्च ब्राह्मणं चेति द्वौ भागौ' कहकर मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग ये वेद के ही दो भाग हैं यह सिद्धान्त किया गया है। भागी तो 'वेद' ही है। ब्राह्मणभाग के द्वारा सनातनधर्म का ही समर्थन तथा समाजियों के मत का पूर्णरूप से खण्डन ही हो जाता है। यही कारण है कि समाजियों ने ब्राह्मणभाग को 'अवेद' कहना शुरू कर दिया। अर्थात् 'ब्राह्मणभाग' वेद ही नहीं है कहने लगे।

किञ्च—दयानन्द ने ऋग्वेद भाष्यभूमिका में शतपथ का प्रमाण देकर बताया है कि 'मन्त्र', परमात्मा के निःश्वसित हैं। वहीं पर अन्तिम अंश में 'ब्राह्मणभाग को भी निःश्वसितरूप कहा है। वह वचन यह है—'अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदःसामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि अस्यैव एतानि'–(श० प० १४।५।४।१०) प्रमाणरूप में दिये हुए इस शतपथ वचन में इतिहासादिरूपों में अष्टविध ब्राह्मण को बताया है। मन्त्र और ब्राह्मण के भेद से 'वेद द्विविध है। तथा 'ब्राह्मण' अष्टधा (आठ प्रकार से) भिन्न है। उन भेदों को वाजसनेयी लोग 'शतपथ' के नाम से कहते हैं। यहाँ का सायणभाष्य इस प्रकार है—इतिहासः, पुराणं, विद्या, उपनिषदः, श्लोकः इत्यादि (तैत्ति० आर० ८ प्रपा० २ अनु०)। शंकराचार्य का व्याख्यान अन्यत्र उद्धृत है। यह जो किसी ने कहा है कि 'श्लोक, सूत्रों को भी वेद मानने पर नास्तिक के सूत्र, श्लोकों को भी प्रमाण कहना होगा, 'एतानि अस्यैव निःश्वसितानि' इस वचन में 'अस्यैव' का अर्थ 'जीवात्मा का' है। इस कारण पौरुषेय होने से उसका प्रामाण्य परतः सिद्ध होता है।' किन्तु वह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि अष्टधा भिन्न ब्राह्मण का उसे ज्ञान नहीं है। प्राकरणिक अर्थ तो शंकराचार्य, सायण आदि ने ही कह दिया है। और नास्तिक लोग अनीश्वरवादी हैं, अतः उनके कहे हुए श्लोक आदि को ईश्वरनिःश्वसित कहा ही नहीं जा सकता। 'अस्य महतो भूतस्य' ऐसा 'इदम्' शब्द से उपक्रम किया गया है और 'इदम्' शब्द से ही उपसंहार किया गया है। उपक्रम और उपसंहार दोनों में एकता रहना आवश्यक होता है। अतः 'इदम्' शब्दबोध्य महान् भूत परमात्मा का ही 'अस्य' शब्द से ग्रहण किया गया है, जीवात्मा का नहीं। अतएव पूर्वोक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये ही 'अस्यैव' में 'एव' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ पर 'जीव' का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है, इस कारण वह अप्रकृत है। अप्रकृत होने से उसका (जीव का) ग्रहण नहीं किया जा सकता। यदि ऋग्वेदादि को प्रकट करने वाले 'तस्य' के तत् पद से ग्रहण हो तो कथञ्चित् 'अस्य' पद से जीव का ग्रहण करना सम्भव भी हो,

ग्रहणं दृश्यते। उपसंहारे अस्यैवेति एवकारप्रयोगाच्च प्रकृतस्य महतो भूतस्यैव ग्रहणम्। तत एव अयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि भूतानि अस्यैव एतानि सर्वाणि निःश्वसितानि' इति प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयोर्लोकयोः सर्वभूतानां च तस्यैव निःश्वसितत्वमुक्तम्। न चैतत्सर्वभूतकारणत्वं जीवे सम्भवति। तस्मादस्येति पदेन जीवात्मनो ग्रहणमत्यन्तमसङ्गतमेव।

दयानन्देनापि ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां ८२–८३ पृष्ठयोः पुराणेतिहासशब्देन ब्राह्मणभागस्यैव ग्रहणं कृतम्। 'पुराणं यजुषा सह' (अथर्व ११।९।२४) इत्यत्रापि पुराणशब्देन शङ्कराचार्यसायणाचार्याभ्यां ब्राह्मणभागस्य ग्रहणं कृतम्। कैश्चिदुच्यते–'बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणानि भवन्ति' (नि० ७।२४) इत्युक्त्याऽर्थवादबाहुल्येन ब्राह्मणभागस्यानादर एव सूचितो यास्केन' इति, तदपि तुच्छम्, तदुक्त्याऽर्थवादाश्रयेण यथेच्छार्थकरणस्यैव तिरस्कृतत्वात्। प्रकरणत्यागेन ब्राह्मणाश्रयेण यथेच्छार्थग्रहणे विनिगमनाविरहात्। यास्कस्तु स्वोक्तेः समर्थनाय मन्त्रभागस्य सार्थकत्वसाधनाय च ब्राह्मणभागमेवाश्रयते। वेदवाचिनिगमशब्देन ब्राह्मणोद्धरणस्य बहुधा दर्शितत्वात्। यथा क्वचिद् ब्राह्मणमिति प्रयुङ्क्ते तथैव क्वचिद् ऋक्शब्दमपि प्रयुङ्क्ते। 'मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च' (नि० २।१६) इति। यथा वेदशब्दाप्रयोगेऽपि मन्त्रभागस्य वेदत्वं तथैव ब्राह्मणभागस्यापीति विज्ञेयम्। यत्तु— 'ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं सूत्रकालात्प्रवृत्तं ततः पूर्वं नासीत्' इति, तदपि तुच्छम्; तथात्वे सूत्रकालात् पूर्वं ब्राह्मणभागस्येव मन्त्रभागस्यापिवेदत्वासिद्ध्यापत्तेः। मन्त्रब्राह्मणात्मकेन-वेदेन यदा स्वस्य वेदसंज्ञा नोक्ता तदा सूत्रैः सा प्रसृता, तदा सा कथं मन्त्रभागस्यैव स्यान्न ब्राह्मणस्य। यथा मन्त्रैर्मन्त्राणां वेदसंज्ञा नोक्ता तथैव ब्राह्मणैरपि वेदसंज्ञा स्वस्मिन्न प्रयुक्तेति। तदा वेदत्वं भवेच्चेत्तदोभयोरपि स्यात्, न स्यात्तदोभयोरपि न स्याद्वेदसंज्ञा। एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिरिति न्यायात्। सूत्रकाले ब्राह्मणभागस्य वेदसंज्ञोक्ता, तथैव मन्त्रभागस्यापि।

किन्तु प्रकृत में 'अस्य' कहकर अपरोक्षवाची 'इदम्' शब्द से ही परमेश्वर का ग्रहण किया गया दीख रहा है। 'अस्यैव' यहाँ 'एव' का प्रयोग करने से प्रकृत महान् भूत का ही ग्रहण किया गया है। उसी से यह लोक, और परलोक, सम्पूर्णभूत ये सब 'अस्यैव' इसी के निःश्वसित हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष, और अप्रत्यक्ष लोक और समस्त भूतवर्ग को उसी का निःश्वसित कहा गया है। इन सबकी कारणता 'जीव' में होना सम्भव नहीं। तस्मात् 'अस्य' पद से जीवात्मा का ग्रहण करना अत्यन्त ही असङ्गत है।

दयानन्द ने भी ऋग्वेदभाष्यभूमिका में (८२-८३) ब्यासी, तिरासीवें पृष्ठ पर पुराण, इतिहास शब्द से ब्राह्मणभाग का ही ग्रहण किया है। 'पुराणं यजुषा सह'—( ) यहाँ पर भी पुराण शब्द से शंकराचार्य और सायणाचार्य दोनों ने ब्राह्मणभाग का ग्रहण किया है। कुछ लोगों का कहना है कि बहुभक्तिवादीनि 'ब्राह्मणानि भवन्ति'—(नि० ७।२४) यह कहकर अर्थवाद की बहुलता के कारण ब्राह्मणभाग का अनादर ही यास्क ने सूचित किया है। किन्तु वह कहना भी ठीक नहीं है। अर्थवाद का आश्रयण कर इच्छा के अनुसार अर्थ करने का तिरस्कार ही उसकी उक्ति से प्रतीत होता है। प्रकरण का त्याग करके ब्राह्मण का आश्रय कर यथेच्छ अर्थ का ग्रहण करने में कोई विनिगमना (युक्ति) नहीं है। यास्क ने अपनी उक्ति के समर्थनार्थ एवं मन्त्रभाग की सार्थकता को सिद्ध करने के लियें ब्राह्मणभाग का ही आश्रय किया है। वेदवाचक निगम शब्द से प्रायः ब्राह्मणभाग के उद्धरण ही प्रदर्शित किये हैं। कहीं-कहीं जैसे 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग करते हैं; वैसे ही कहीं-कहीं ऋक् शब्दों का भी प्रयोग करते हैं, 'मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च'—(निरु० २।१६)। जैसे वेद शब्द का प्रयोग न करने पर भी मन्त्रभाग का वेदत्व स्थिर है वैसे ही ब्राह्मणभाग का भी समझना चाहिये। यह जो कहा है—'ब्राह्मणभाग का वेदत्व, सूत्रकाल से प्रवृत्त हुआ है, उसके पहले नहीं था', वह भी तुच्छ है। वैसा मानने पर सूत्रकाल के पूर्व ब्राह्मणभाग की तरह मन्त्रभाग का भी वेदत्व-असिद्ध होने लगेगा। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद ने ही जब अपने लिये वेद संज्ञा नहीं बताई और सूत्रों से उसका प्रसार हुआ तब मन्त्रभाग के लिये ही उसका प्रसार हुआ और ब्राह्मणभाग के लिये नहीं हुआ, यह कैसे कहा जायगा? जैसे मन्त्रों ने मन्त्रों की वेदसंज्ञा नहीं बताई उसी तरह ब्राह्मणों ने भी अपने लिये वेदसंज्ञा का प्रयोग नहीं किया। ऐसी स्थिति में वेदत्व होगा तो दोनों को ही होगा और यदि वेदसंज्ञा नहीं होगी तो दोनों की ही नहीं होगी, क्योंकि 'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' यह नियम है। सूत्रकाल में ब्राह्मणभाग के लिये वेदसंज्ञा जैसे प्रदान की गई वैसे मन्त्रभाग के लिये भी दी गई।

यत्तु ब्राह्मणभागस्य मन्त्रभागादर्वाचीनत्वोक्तिः, तत्तु पाश्चात्त्यानामन्धानुकरणमेव । तद्रीत्या ऋग्वेदीयानां मण्डलानामपि भिन्नकालत्वेन मन्त्रभागानामपि पौरुषेयत्वापत्तेः । किञ्च, ब्राह्मणकालः सूत्रकालात्प्राचीनोऽर्वाचीनो वा ? नान्त्यः, स्वापेक्षयाऽर्वाचीनकालिकानां वेदत्वाऽवेदत्वप्रतिपादनासम्भवात् । नाद्यः, विकल्पानुपपत्तेः । सूत्रकालात्प्राचीनः कः कालः, स्मृतिकालो वेदकालो वा ? नाद्यः, प्रतिपक्षिभिः, स्मृतिकालस्य सूत्रकालादर्वाचीनत्वाभ्युपगमात् । नान्त्यः, ब्राह्मणकालस्य वेदकालत्वेन तेषां वेदत्वस्य स्वतः सिद्धेः । दयानन्देनापि स्वग्रन्थेषु वेदछन्दआद्युदाहरणरूपेण शाखान्तरवचनानि ब्राह्मणवचनानि चोदाहृतानि । तद्यथा ऋग्वेदभाष्यभूमिकायाम्—'उपसंवादाशङ्कयोश्च' (पा० सू० ३।४।८) इति वैदिकसूत्रस्योदाहरणम् 'नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम' इति । नैतद्वाक्यं तदभिमतेषु वेदेषूपलभ्यते, किन्तु ऋक्परिशिष्टे (अष्टक ८ अध्याय ६ वर्ग २) उपलभ्यते । आख्यातिके 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ३।२।८८) इति वैदिकसूत्रस्योदाहरणं 'मातृहा सप्तमं नरकं विशेत्' नेदमपि वाक्यं मन्त्रेषूपलभ्यते । आख्यातिके ९४ पृष्ठे हनस्तश्चित्स्त्रियाम्' (पा० सू० वा० ३।१।१०८–२) इत्यस्योदाहरणम् 'अस्यै त्वा ब्रह्महत्यायै चतुर्थं प्रतिपद्यते' इति । नेदमपि वाक्यं तदीयेषु वेदेषु विद्यते किन्तु ब्राह्मणवाक्यमेतत् । 'छन्दसि निष्टर्क्य·····'। (पा० स ३।१।१२३) इत्यस्य निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः' इत्युदाहरणम् । एतदपि न तदीयेषु वेदेषु किन्तु ब्राह्मणवाक्यमेवैतत् 'बहुलं तणि (संज्ञाछन्दसोः) (पा० सू० ३।२।८) इति वार्तिकोदाहरणम्, 'या ब्राह्मणी सुरापी नैनं देवाः पतिलोकं नयन्ति' (आख्यातिके ३१ पृष्ठे) तदपि न तद्वेदे । आख्यातिके ३२५ पृष्ठे 'विजुपे छन्दसि' (पा० सू० ३।२।७४) इति सूत्रे 'छन्दोग्रहणं ब्राह्मणं ब्राह्मणविषयार्थम्' इति तदुक्तिः । आख्यातिके ३६३ पृष्ठे 'भाव लक्षणे' (पा० सू० ३।४।१६) अस्योदाहरणम् 'काम भाविजनितोःसम्भवाम' इति । इदमपि तदीयवेदेषु नोपलभ्यते । किन्त्विदं तैत्तिरीयसंहितावचनम् (२।५।५।१५) ब्राह्मणम् । तथा च ब्राह्मणानामपि वेदत्वं तद्रीत्यापि सिद्ध्यति । आख्यातिके ३९० पृष्ठे 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (पा० सु० ३।३।१३०)

मन्त्रभाग की अपेक्षा ब्राह्मणभाग के लिये अर्वाचीन बताना तो पश्चात्यों का अन्धानुकरणमात्र है । उनकी रीति के अनुसार ऋग्वेद के मण्डल भी भिन्नकालिक होने से मन्त्रभागों को भी पौरुषेय कहना होगा । किञ्च—ब्राह्मणकाल सूत्रकाल; से प्राचीन है या अर्वाचीन ? अर्वाचीन तो कह नहीं सकते, क्योंकि अपनी अपेक्षा अर्वाचीनकालिकों के लिये वेद या अवेद का प्रतिपादन करना सम्भव ही नहीं है । ब्राह्मणकाल को सूत्रकाल से प्राचीन भी नहीं कह सकते, क्योंकि विकल्पानुपपत्ति है । सूत्रकाल से प्राचीनकाल स्मृतिकाल है या वेदकाल है ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है ? क्योंकि प्रतिपक्षियों ने स्मृतिकाल को सूत्रकाल से अर्वाचीन माना है । अन्तिम पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ब्राह्मणकाल वेदकाल होने से उनका वेदत्व तो स्वतः सिद्ध हो जाता है । दयानन्द ने भी अपने ग्रन्थों में वेद छन्द आदि के उदाहरणों के रूप में शाखान्तरीय वचनों को और ब्राह्मण वचनों को दिया है । जो इस प्रकार हैं—ऋग्वेदभाष्यभूमिका में—'उपसंवादाशङ्कयोश्च' (पा० सू० ३।४।८) इस वैदिकसूत्रका उदाहरण 'नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम' दिया है । किन्तु यह वाक्य उसके अभिमत वेदों में उपलब्ध नहीं है । यह वाक्य ऋक्परिशिष्ट (अष्टक ८ अध्या० ६ वर्ग २) में मिलता है । आख्यातिक प्रकरण के 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ३।२।८८) इस वैदिक सूत्र का उदाहरण 'मातृहा सप्तमं नरकं विशेत्' दिया है, किन्तु यह वाक्य भी मन्त्रों में नहीं मिलता । आख्यातिक प्रकरण के ९४ पृष्ठ पर 'हनस्त च' 'हनस्तश्चित्स्त्रियाम्' (पा० सू० वा० ३।१।१०८) का उदाहरण 'अस्यै त्वा ब्रह्महत्यायै चतुर्थं प्रतिपद्यते' दिया है । किन्तु यह वाक्य भी उनके वेदों में नहीं है, यह तो ब्राह्मण वाक्य है । 'छन्दसि निष्टर्क्य······(पा० सू० ३।१।१२३) का उदाहरण 'निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः' दिया है । यह भी उनके वेदों में नहीं है, यह तो ब्राह्मण वाक्य है । 'बहुलं तणि' (पा० सू० ३।२।८) इस वार्तिक का उदाहरण 'या ब्राह्मणी नैनं देवाः पतिलोकं नयन्ति' आख्यातिक प्रकरण के ३१ पृष्ठ पर दिया है, किन्तु वह भी उनके वेद में नहीं है । आख्यातिक प्रकरण के ३२५ पृष्ठपर 'विजुपेछन्दसि' (पा० सू० ३।२।७४) इस सूत्र पर 'छन्दोग्रहणं ब्राह्मणविषयार्थम्' यह उन्होंने कहा है । आख्यातिक प्रकरण के ३६३ पृष्ठपर 'भावलक्षणे' (पा० सू० ३।४।१६) का उदाहरण 'काममाविजनितोः सम्भवाम' दिया है, किन्तु वह भी उनके वेदों में उपलब्ध नहीं है । वह तो तैत्तिरीयसंहिता का ब्राह्मण वाक्य (२।५।५।१५) है । तथा च ब्राह्मणभाग का वेदत्व उनकी रीति से भी सिद्ध होता है । आख्यातिक प्रकरण के (३९०) तीन सौ नब्बे पृष्ठ पर 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (पा० सू० ३।३।१३०)

'सुदो नाम कृणोद् ब्रह्मणे गाम्' इति वैदिकोदाहरणम् । नेदमपि तदभिमते पुस्तकचतुष्टये विद्यते । आख्यातिके ३९४ पृष्ठे 'क्वापि छन्दसि' (पा० सु० ७।१।३८) इत्यस्य वैदिकोदाहरणं 'कृष्णं वासो यजमानं परिधापयित्वा' इति ब्राह्मणवचनम् । पाणिनिर्यदा ब्राह्मणमपि वेदं मन्यते तदा दयानन्दादीनां तद्विरुद्धोक्तिर्निर्मूलैव । सामासिके ५८ पृष्ठे 'छन्दसि च' (पा० सू० ६।३।१२६) इत्यस्योदाहरणं 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्, अष्टा हिरण्या दक्षिणा' इत्यपि दयानन्देन वेदत्वेन ब्राह्मणमेवोदाहृतम् । सामासिके 'छन्दसि' (पा० सू० ५।४।१४२) इत्युदाहरणं 'पत्र दन्तमालभेत, उभयदन्तमालभेत' इति बाह्मणवाक्यमेव । अव्ययार्थे २१ पृष्ठे 'तवै तुमर्थे छन्दसि' इति छान्दसं प्रत्ययस्योदाहरणम्, 'बाह्मणेन न म्लेच्छितवै, नापभाषितवै' इति नैतद् दयानन्दसम्मतवैदिकोदाहरणं सम्भवति । 'मन्त्रे घसजनिभ्योलेः' (पा० सू० २।४।८०) मन्त्रविषय इदं सूत्रं प्रवर्तते । तत्र दयानन्दस्तदुदाहरणं 'अज्ञत' इति । तच्च ऐतरेयब्राह्मणे (७।१४) इत्यत्र लभ्यते न मन्त्रभागे । 'उत्सर्गश्छन्दसि' (पा० सू० ३।१।१७१) इति वार्त्तिके छन्दसि वेदे इति दयानन्दः । तदुदाहरणं तु 'सेदिः' इति । नैतत्पदं तद्वेदे, किन्तु शतपथबाह्मणे (श० ७।३।१।२३) । 'णेश्छन्दसि' (पा० सु० ३।२।१३७) इत्यत्र छन्दसि वेदविषये इति दयानन्दः । तदुदाहरणं धारविष्णुः' इति । तच्च शाङ्खायनारण्यके (१२।२।७) 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ३।२।८८) अत्र छन्दसि वेदविषये इति दयानन्दः । तदुदाहरणं 'मातृहा' इति । एतदपि तद्वेदे नास्ति, किन्तु छान्दोग्योपनिषदि (७।१५।२३) 'ईदूतौ सप्तम्यर्थे' (पा० सू० १।१।१८) छन्दोविषयमिदमिति दयानन्दः । तदुदाहरणं तु मामकी तनूः इति । यत्तु कैश्चित् समाजिभिः स्वपक्षबाधं दृष्ट्वा आख्यातिकादीनि पुस्तकानि न दयानन्दकृतानीत्युच्यते, तच्च पलायनमेव, तत्र दयानन्दनामोल्लेखात् ।

यत्तु परिभाषाप्रकरणे पठितत्वात् 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यापस्तम्बसूत्रस्य यज्ञ एव मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञा नान्यत्र' इति, तदपि तुच्छम्, सङ्कोचे मानाभावात् । मन्त्राणामपि तत्त्वापत्तेश्च । वेदानां यज्ञ एव मुख्यो

का वैदिक उदाहरण 'सुदो नाम कृणोद् ब्रह्मणे गाम्' दिया है, किन्तु वह भी उनके अभिमत चारों पुस्तकों में नहीं है । आख्यातिक के (३९४) तीन सौ चौरानबे पृष्ठपर 'क्त्वापि छन्दसि' (पा० सू० ७।१।३८) का वैदिक उदाहरण 'कृष्णं वासो यजमानं परिधापयित्वा' यह ब्राह्मण वाक्य दिया है । जब कि पाणिनि स्वयं ब्राह्मणभाग को भी 'वेद' मान रहे हैं, तब उनके विरुद्ध दयानन्दादिकों की उक्ति निर्मूल होने से अप्रमाण ही है । सामासिक प्रकरण के (५८) अठावनवें पृष्टपर 'छन्दसि च' (पा० सू० ६।३।१२६) का वैदिक उदाहरण 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्, अष्टाहिरण्या दक्षिणा' इस ब्राह्मण वाक्य को ही दयानन्द ने दिया है । सामाजिक प्रकरण के 'छन्दसिच' (पा. सू. ५।४।१४२) का उदाहरण 'पत्रदन्तमालभेत, उभयदन्तमालभेत' इस ब्राह्मण वाक्य को ही दिया है । अव्ययार्थ प्रकरण के (२१) इक्कीसवे पृष्ठ पर 'तवै तुमर्थे छन्दसि' तथा ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै, नापभाषित वै' यह छान्दस उदाहरण; प्रत्यय का दिया है, किन्तु वह दयानन्दसम्मत वेद का उदाहरण नहीं हो सकता । 'मन्त्रे घस''''जनिभ्यो लेः (पा. सू. २।४।८०) मन्त्र के विषय में यह सूत्र प्रवृत्त होता है । वहाँ पर दयानन्द ने उसका उदाहरण 'अज्ञत' दिया है । किन्तु वह ऐतरेय ब्राह्मण (७।१४) में उपलब्ध होता है, मन्त्र भाग में नहीं । 'उत्सर्ग श्छन्दसि' (पा. सू. ३।२।१७१) इस वार्तिक पर दयानन्द 'छन्दसि वेदे' छन्दसि का अर्थ 'वेदे' करते हैं; और उसका उदाहरण 'सेदिः' देते हैं । किन्तु यह पद उनके वेद में नहीं है, अपितु शतपथ ब्राह्मण (श. प. ७।३।१।२३) में है । 'णेश्छन्दसि' (पा. सू. ३।२।१३७) यहां पर 'छन्दसि' का अर्थ 'वेदविषये' दयानन्द ने किया है । और उसका उदाहरण 'धारविष्णुः' दिया है । यह उदाहरण शाँखायन के आरण्यक (१२।२।७) में है । 'बहुलं छन्दसि'—(पा. सू. ३ २।८८) यहां पर 'छन्दसि का अर्थ 'वेदविषये' दयानन्द ने किया है । और उसका उदाहरण 'मातृहा' दिया है । यह भी उनके वेद में नहीं हैं, किन्तु छान्दोग्योपनिषद् में (७।१५।२३) है । 'ईदूतौ —सप्तम्यर्थे (पा. सू. १।१।१८) यह छन्दोविषयक है, ऐसा दयानन्द ने लिखा है, और उसका उदाहरण 'मामकी तनूः' दिया हैं, जो उनके वेद में नहीं है । अपने पक्ष का बाध होता देखकर किन्हीं समाजियों द्वारा जो यह कहा जाता है कि आख्यातिक आदि पुस्तकें दयानन्द की निर्मित नहीं है । किन्तु यह कथन तो पलायन का एक प्रकार है, क्योंकि उन पर दयानन्द के नाम का स्पष्ट उल्लेख है ।

यह जो कहना है कि आपस्तम्ब सूत्र के परिभाषाप्रकरण में पठित होने से 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इससे प्रतिपादित

विषय इति वेदयज्ञयोर्नित्यसम्बन्धात्—नित्यैव मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञा युक्ता। 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः' इति लगधज्योतिषे ७ खण्डे। 'वेदास्तावद्यज्ञकर्मप्रवृत्ताः' इति सिद्धान्तशिरोमणौ कालमानाध्याये, 'चत्वारो वेदास्तैर्यज्ञस्तायते' (गोपथ ब्रा० १।४।२४), 'यज्ञो वेदेषु प्रतिष्ठितः' (गोपथ ब्रा० १।१।३८), 'एदमगन्म देवयजनं·······ऋक्सामाभ्यां सन्तरतो यजुर्भिः' (वा० सं० ४।१) अत्र यज्ञ ऋग्वेदादिभिः पूर्यत इत्युक्तम्। 'यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये' (ऋ० सं० ८।१९।५) अत्र वेदमन्त्रैरग्निपरिचरणरूपो यज्ञः सूचितः। 'यज्ञं मित्राय कवयो मनीषा ऋक्सामाभ्यां प्रवर्तयन्ति' (ऋ० सं० १०।११४।६) इत्यत्रापि यज्ञ एवोक्तः। निरुक्तेऽपि 'यजुर्यजतेः' (नि० ७।१२) तेन हि विशेषत इज्यत इति दुर्गाचार्यः। 'यजूंषि एनं नयन्ति' (नि० ३।१९) यत्र यजुर्भिर्यज्ञपूर्तिरुक्ता। तेनात्र यजन्ति एभिरिति व्युत्पत्त्या सर्वेऽपि ऋग्यजुः सामाथर्वाणो मन्त्रा यजूंष्युच्यन्ते। अत एव यास्काचार्येण 'ऋग् यष्टुं भवती'ति (नि० ३।१९) ऋत्विक् शब्दस्य विग्रह उक्तः। ऋग्भिर्ह्यसौ यजतीति दुर्गाचार्यः। अर्चन्ति आभिरिति ऋचो मन्त्राः। एतेन सर्वेषामपि मन्त्राणां यज्ञो विषयः। 'यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य (वेदस्य) विषयः' (गो० सू० ४।१।६२) इति वादिप्रतिवादिसम्मतो वात्स्यायनमुनिः। 'मन्त्रब्राह्मणे यज्ञस्य प्रमाणम्' (आपस्तम्ब—श्रौ० सू० ३३) 'दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्' (म० १।२३) इति सर्वस्यैव वेदस्य यज्ञार्थमेवाविर्भावः स्मर्यते। एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे' (भ० गी० ४।३२), यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः कर्म ब्रह्मोद्भवंविद्धि' (भ० गी० ३।१४-१५), 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' (जै० सू० १।२।१), 'वेदैर्यज्ञाः समुत्पन्नाः' (म० भा० व० प० १५०।५८), 'यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद् यदृचा तद् दृढम्' (तै सं० ६।५।१०।३) तस्मात् सर्वेषां वेदानां यज्ञसम्बन्धः। चत्वारि शृङ्गा इति वेदा वा एते उक्ताः, त्रिधा बद्ध इति मन्त्रः, कल्पो ब्राह्मणम्, एव ह वै महान् देवो यज्ञः' (गोप० ब्रा० १।२।१६) इति गोपथवचनेनापि यज्ञो मन्त्रकल्पब्राह्मणैः सम्बन्धो विज्ञायते। तत एष गोपथे (२।२।५) इत्यत्र मन्त्रकल्पब्राह्मणानामप्रयोगाद् यज्ञछिद्रमुक्तम्। निरुक्तेऽपि-यज्ञस्य चत्वारि शृङ्गा इति वेदा वा एते उक्ताः। त्रिधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैः' (नि० १३।७) महाभाष्ये (पा० सू० १।१।१) इति सूत्रे 'वेदेऽपि याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति स्फ्यो यूपश्चषाल इति वेदस्यासाधारणो यज्ञसम्बन्ध उक्तः। 'न सर्वैर्लिङ्गैनं च

'वेद' संज्ञा यज्ञ में ही उपयुक्त होती है, अन्यत्र नहीं। वह भी सारहीन है, क्योंकि वैसा संकोच करने में कोई प्रमाण नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि 'मन्त्रों' को भी वैसा ही मानना होगा अर्थात् यज्ञ के अतिरिक्त मन्त्रों' की भी संज्ञा नहीं रहेगी। वेद और यज्ञ का नित्य सम्बन्ध रहने से वेदों का मुख्य विषय 'यज्ञ' ही है। अतः मन्त्र-ब्राह्मण दोनों की 'वेद' संज्ञा नित्य ही है, और वह उचित भी है। क्योंकि लगधज्यौतिष के (७) सांतवे खण्ड में 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः' कहा है। सिद्धान्तशिरोमणि के कालमानाध्यायसंज्ञक नवें (९) अध्याय में 'वेदास्तावत् यज्ञकर्मप्रवृत्ताः' कहा हैं। 'चत्वारो वेदास्तैर्यज्ञस्तायते'—(गोपथ ब्रा. १।४।२४), 'यज्ञो वेदेषु प्रतिष्ठितः'—(गोपथ ब्रा. १।१।३८), 'एदमगन्मदेवयजनम्'·······ऋक्सामाभ्यां सन्तरतो यजुर्भिः'—(वा. सं. ४।१ यहां ऋग्वेद आदि के द्वारा यज्ञ की पूर्ति बताई गई है। 'यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये'—(ऋ. सं० ८।१९।५) इससे वेद मन्त्रों के द्वारा अग्निपरिचरणरूप यज्ञ सूचित किया गया है। 'यज्ञं मिमाय कवयो मनीषा ऋक्सामाभ्यां प्रवर्तयन्ति'—(ऋ. सं० १० ११४।६) यहां भी यज्ञ ही बताया गया है। निरुक्त में भी 'यजुर्यजतेः'—(निरु. ७।१२) इसका विवरण 'तेन हि विशेषत इज्यते' ऐसा दुर्गाचार्य कर रहे हैं। 'यजूंषि एनं नयन्ति'—(निरु. ३।१९) यहां पर यजुओं से यज्ञ पूर्ति कही गई है। अतः यहां पर 'यजन्ति एभिः' इस व्युत्पत्ति से ऋक्, यजुस्, साम, अथर्व के सभी मन्त्रों को 'यजुस्' कहते हैं। अतएव यास्काचार्य ने 'ऋग् यष्टुं भवति'—(निरु. ३।१९) यह ऋत्विक् शब्द का विग्रह किया है। ऋचाओं द्वारा वह याग करता है, ऐसा दुर्गाचार्य कहते हैं। 'अर्चन्ति आभिरिति ऋचो मन्त्राः' अर्थात् ऋक् शब्द का अर्थ मन्त्र है। इससे यह स्पष्ट है कि सभी मन्त्रों का विषय 'यज्ञ' है। 'यज्ञ' मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद का विषय है, इस बात को गोभिल, वात्स्यायन, आपस्तम्ब, मनु, श्रीमद्भगवद्गीता, जैमिनि, महाभारतकार व्यास आदि सभी ने यज्ञ को ही मन्त्र—ब्राह्मणात्मक वेद का विषय बताया है। सभी वेदों का यज्ञ से सम्बन्ध है यह तैत्तिरीय संहिता भी बता रही है। मन्त्रकल्प ब्राह्मणों का प्रयोग न करने पर यज्ञ का सछिद्र

सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः। याज्ञे कर्मणि स नियमः, इत्येतेनापि वेदस्य यज्ञो विषय इति स्पष्टं भवति।

वेदाध्ययनाधिकारार्थं यज्ञोपवीतं धार्यते। यज्ञोपवीतं च यज्ञस्य वस्त्रमेव भवति। तस्माद् युक्त्यापि यज्ञो वेदस्य विषयः। 'वेदे नाशमनुप्राप्ते यज्ञो नाशं गमिष्यति। यज्ञे नष्टे देवनाशस्ततः सर्वं प्रणश्यति॥' (वायुपुराणे ६०।६) इत्यत्रापि वेदयज्ञयोरसाधारणः सम्बन्धः। 'आध्वर्यवं यजुर्भिस्तु अग्निहोत्रं तथैव च। औद्गात्रं सामभिश्चेति ब्रह्मत्वं चाप्यथर्वभिः॥' (वायुपुराण ६०।१८) 'ऋचां त्वः पोषमास्ते' (ऋ० सं० १०।७१।११) इत्यत्रापि तदेवोक्तम्। 'यज्ञः प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः। यजुरुन्नो भवतीति वा यजूंष्येनं नयन्तीति वा' (नि० ३।१९।६), 'अग्निहोत्रफला वेदाः' (म० भा० स० प० ५।११२) इति महाभारते। 'स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते, मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्, यजुर्वेदेन अध्वर्युः करोति, ऋग्वेदेन होता, 'सामवेदेनोद्गाता, सर्वैर्ब्रह्मा' (सत्याषाढ श्रौ० सू० १।१), 'अध्वर्युक्रतुः' (पा० सू० २।४।३) इतिसूत्रेण यजुर्वेदीयो यज्ञ उक्तः। अत्रैकवचनं कर्त्तव्यम्, इषुवज्रौ सामवेदे' इति सामवेदीययज्ञेषु नैकवचम्। इत्यनेनापि वेदानां यज्ञो विषयः। 'छन्दांसि च दधतोऽध्वरेषु' (ऋ० सं० १०।११४।५) इति यज्ञेषु वेदानामुपयोग उक्तः। चतसृषु संहितासु यज्ञशब्दस्य यजधातोश्च बाहुल्येन प्रयोगो दृश्यते। स्वामिविश्वेश्वरानन्दीयर्ग्वेदानुक्रमण्यां ३२२-३२५ पृष्ठानां नवस्वनुच्छेदेषु तथा प्रयोगो दृश्यते। यजुर्वेदीयपदानुक्रमण्यां च ७८-७९ पृष्ठेषु, सामवेदपदानुक्रमण्यां ७४ पृष्ठे, अथर्ववेदपदानुक्रमण्यां सार्धचतुष्कानुच्छेदेषु च तत्प्रयोगः। मख-क्रतु-सत्रशब्दानां तु प्रयोगाः पृथगेव। एतेनापि वेदानां यज्ञविषयता सिद्ध्यति।

शतपथब्राह्मणादिषु वेदनामसम्बन्धाभावान्न तेषां वेदत्वम्। ऋग्वेदादिषु वेदनामसम्बन्धाद्वेदत्वं तेन मन्त्रभागस्य वेदत्वं सिद्धम्, न ब्राह्मणभागस्य इति, तदप्यज्ञानविजृम्भितम् समानयोगक्षेमत्वात्। यथा ब्राह्मणभागस्य शतपथब्राह्मण-ऐतरेयब्राह्मण-ताण्ड्यब्राह्मण-गोपथब्राह्मणादिविशेषनाम्नामुल्लेखः, तथैव मन्त्रभागेऽपि शाकल्यसंहिता-वाजसनेयिसंहिता-कौथुमसंहिता-शौनकसंहितेत्यादिविशिष्टनाम्नामुल्लेखः समान एव। यथा शाकल्यसंहिता शाखा ऋग्वेदनाम्ना व्यवह्रियते। वाजसनेयिसंहिता शुक्लयजुर्वेदसंहिता यजुर्वेदनाम्ना ख्यायते। कौथुमशौनकसंहिते च सामाथर्वसम्बन्धित्वात्

होना गोपथ ने बताया है। निरुक्तकार एवं महाभाष्यकार ने भी यज्ञ के साथ वेद का असाधारण सम्बन्ध बताया है। इन सभी उल्लेखों से 'वेद का विषय यज्ञ है' यह स्पष्ट हो जाता है।

वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त करने के लिये यज्ञोपवीत को धारण किया जाता है। यह यज्ञोपवीत यज्ञ का वस्त्र ही है। एवंच युक्ति से भी वेद का विषय यज्ञ ही है। वायु पुराण, ऋक् संहिता, निरुक्त, महाभारत, सत्याषाढश्रौतसूत्र, आदि ग्रन्थों से भी वेद और यज्ञ के असाधारण सम्बन्ध को बताया गया है। 'अध्वर्युक्रतुः'–(पा. सू. २।४।३) इस सूत्र ने यजुर्वेदीय यज्ञ को बताया। यहां एकवचन करना चाहिये, 'इषुवज्रौ सामवेदे' इससे सामवेदीय यज्ञों में एकवचन का निषेध बताया गया है, इससे भी सिद्ध होता है कि वेदों का विषय यज्ञ है। 'छन्दांसि च दधतोऽध्वरेषु' (ऋ० सं० १०।११४।५) के द्वारा यज्ञों में वेदों का उपयोग बताया गया है। चारों संहिताओं में 'यज्ञ' शब्द का और 'यज्' धातु का बहुल प्रयोग दिखलाई पड़ता है। स्वामी विश्वेश्वरानन्द की ऋग्वेदानुक्रमणी में ३२२-३२५ पृष्ठों के नौ अनुच्छेदों में वैसा प्रयोग दिखाई देता है। यजुर्वेद की पदानुक्रमणी में ७८-७९ पृष्ठ पर, सामवेद की पदानुक्रमणी में ७४ पृष्ठ पर, अथर्ववेद की पदानुक्रमणी में साढ़े चार अनुच्छेदों में यज्ञ और यज धातु का बहुल प्रयोग किया गया है। मख, क्रतु, सत्र शब्दों का प्रयोग तो पृथक् ही किया गया है। इससे भी वेदों की यज्ञविषयता सिद्ध होती है।

'शतपथ ब्राह्मण आदि में वेदनाम का सम्बन्ध न होने से उनमें वेदत्व नहीं है अर्थात् उनको वेद नहीं कहते। ऋग्वेदादिकों में वेद नाम का सम्बन्ध होने से उन्हें वेद कहते हैं, अतः मन्त्रभाग का वेदत्व और ब्राह्मणभाग का अवेदत्व सिद्ध होता है।' किन्तु ऐसा कहना समान योगक्षेम रहने के कारण अज्ञानविजृंभित ही है। जैसे ब्राह्मणभाग का शतपथब्राह्मण, ऐतरेयब्राह्मण, ताण्ड्यब्राह्मण, गोपथब्राह्मण आदि विशेष नाम से उल्लेख है, वैसे ही मन्त्रभाग का भी शाकल्यसंहिता, वाजसनेयी संहिता, कौथुमसंहिता, शौनकसंहिता आदि विशिष्ट नाम से उल्लेख समान ही हुआ है। जैसे शाकल्यसंहिता शाखा ऋग्वेद के नाम से, वाजसनेयि संहिता शुक्लयजुर्वेदसंहिता

सामवेदाथर्ववेदनामभ्यां व्यवह्रियेते। तथैव ऐतरेयब्राह्मणस्य ऋक्संहितासम्बन्धेन ऋग्वेदनाम्ना व्यवह्रियते। ताण्ड्यब्राह्मणं सामवेदनाम्ना गोपथब्राह्मणमथर्ववेदनाम्ना व्यवह्रियते। तद्यथा न्यायभाष्ये वात्स्यायनेन—'ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यवदन् इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' इति ब्राह्मणसम्बन्धेन अथर्वाङ्गिरस इति नाम्नो व्यवहारः। 'अथर्वाङ्गिरसो मुखम्' (अथर्व १०।७।२०) इति मन्त्रेऽप्यथर्वाङ्गिर इति नामप्रयोगः। तथैव यजुर्वेदसंहिता वाजसनेयीति नाम्ना व्यवह्रियते। 'वाजसनेयिनश्च आमनन्ति तद् यद् इदमाहुः, अमुं यज' (श० १४।४।२।१२) इति शतपथब्राह्मणेऽपि वाजसनेयिपदप्रयोगः सायणेन कृतः। 'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' (शतपथब्राह्मणेऽन्ते) इति शतपथब्राह्मणमपि वाजसनेयिनाम्ना व्यवह्रियते। यथा मन्त्रभागस्य संहितेति विशेषनाम भवति, तथैव ब्राह्मणभागस्य ब्राह्मणमिति विशेषनाम भवति। वेद-छन्दः-श्रुत्या-म्नायनामानि तूभयोः समानान्येव। ऋचः सामानि यजुरित्यादिषु वेदनामसंयोगाभावेऽपि यथा न वेदत्वहानिस्तथैव ब्राह्मणमित्यादिषु वेदनामयोगाभावेऽपि न वेदत्वहानिः। वेदविरुद्धमतखण्डने दयानन्देनापि ब्राह्मणवेद इति नाम गृहीतम्। अन्यत्र पुराणवेदः, इतिहासवेद इत्यपि लिखितम्। तत्र त्रयीमन्त्रसंहितादिशब्दा मन्त्रेष्वेव प्रयुज्यन्ते, न ब्राह्मणेषु। तथैव ब्राह्मण-विध्यर्थवादादिशब्दा ब्राह्मणेष्वेव प्रयुज्यन्ते, न मन्त्रभागेषु। वेदाम्नायनिगमछन्द आदिशब्दास्तूभयत्र मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च प्रयुज्यन्ते। समुदाये प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते पूर्वे पाञ्चालाः, उत्तरे पाञ्चालाः, घृतं युक्तम्, (पा० सू० ५।१।११५) इति महाभाष्यरीत्या वेदादिशब्दा मन्त्रब्राह्मण-समुदायेऽपि प्रवर्तन्ते। केवले ब्राह्मणे केवले मन्त्रे च प्रयुज्यन्ते।

यत्तु—'यत्र पादव्यवस्था सा ऋक्, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुः शब्दः', इति जैमिनिना ऋग्वेदादीनां लक्षणान्युक्तानि। तानि च ऐतरेयादिब्राह्मणेषु न घटन्त इति तेषां न वेदत्वम् इति, तत्तु मूर्खजनप्रतारणमेव, जैमिनिना ऋगादिमन्त्राणामेव लक्षणोक्तेः, ऋग्वेदादिलक्षणानुक्तेश्च। अत एव लक्ष्यप्रयोगे 'सा ऋक्' इत्युक्तम्, न स ऋग्वेद इति। 'सामाख्या' इत्युक्तं न सामवेद इति। 'यजुः शब्द' उक्तः, न यजुर्वेदशब्द इति। अत एव नाथर्ववेदस्य पृथग्लक्षणमुक्तम्,

यजुर्वेद के नाम से, कौथुम और शौनकसंहिता साम और अथर्व से सम्बन्धित होने के कारण सामवेद, अथर्ववेद के नाम से, कही जाती है, तथा ऐतरेय ब्राह्मण का ऋक् संहिता के साथ सम्बन्ध रहने से ऋग्वेद के नाम से, ताण्ड्यब्राह्मण सामवेद के नाम से, गोपथब्राह्मण अथर्ववेद के नाम से कहा जाता है। जैसे न्यायभाष्य में वात्स्यायन ने गोपथ ब्राह्मण के साथ अथर्व का सम्बन्ध होने से उसका अथर्वांगिरस नाम से व्यवहार किया है। 'अथर्वाङ्गिरसो मुखम्' (अथर्व वे० सं० १०।७।२०) इस मन्त्र में भी 'अथर्वाङ्गिरस' नाम का प्रयोग किया है। उसी तरह यजुर्वेदसंहिता को 'वाजसनेयी' नाम से कहा गया है। उसी तरह शतपथ ब्राह्मण के लिये भी वाजसनेयी शब्द का प्रयोग सायण ने किया है। जैसे मन्त्रभाग के लिये 'संहिता' यह विशेष नाम दिया है, वैसे ही ब्राह्मणभाग के लिये 'ब्राह्मण' यह विशेष नाम दिया गया है। 'वेद, छन्द, श्रुति आम्नाय ये नाम दोनों के लिये समान ही हैं। जैसे 'ऋचः सामानि यजुः' यहाँ 'वेद' इस नाम के न रहने पर भी वेदत्व की हानि नहीं होती, उसी तरह 'ब्राह्मणम्' इत्यादि में 'वेद' के नाम का सम्बन्ध न रहने पर भी वेदत्व की हानि नहीं है। वेदविरुद्ध-मतखण्डन में भी दयानन्द ने 'ब्राह्मणवेद' इस नाम का उल्लेख किया है। अन्यत्र पुराणवेद, इतिहासवेद ये नाम भी लिखे हैं। वहाँ पर 'त्रयी, मन्त्र-संहिता आदि शब्दों का प्रयोग मन्त्रों में ही किया जाता है, ब्राह्मणों में नहीं।' उसी तरह ब्राह्मण विधि, अर्थवाद आदि शब्दों का प्रयोग ब्राह्मणों में ही किया जाता है, मन्त्रभागों में नहीं। किन्तु वेद, आम्नाय, निगम, छन्द आदि शब्दों का प्रयोग तो मन्त्रब्राह्मण दोनों के लिये किया जाता है। महाभाष्यकार ने भी उपर्युक्त अभिप्राय का समर्थन किया है।

यह जो कहा है कि जैमिनि का किया हुआ ऋग्वेद आदि का लक्षण ऐतरेयादि ब्राह्मणों में घटित न हो पाने से उन्हें 'वेद' नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह कहना केवल मूर्ख प्रतारणा मात्र है। जैमिनि ने तो ऋगादि मन्त्रों के ही लक्षण कहे हैं, ऋग्वेद आदि के नहीं। अतएव लक्ष्य के प्रयोग में 'सा ऋक्' कहा है, 'स ऋग्वेदः' नहीं कहा है। 'सामाख्या' कहा है; 'सामवेदः' नहीं कहा, उसी तरह 'यजुः शब्दः' कहा है, 'यजुर्वेदः' नहीं कहा। अतएव अथर्ववेद का पृथक् लक्षण नहीं कहा, क्योंकि तीन प्रकार के मन्त्रों में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है। उसी तरह ब्राह्मणभागों में वैसा कोई लक्षण न होने पर भी उन्हें ऋग्वेद आदि कहने में कोई बाधा नहीं होती।

त्रिविधमन्त्रेष्वेव तदन्तर्भावात्। तथव ब्राह्मणभागेषु तादृशलक्षणाभावेऽपि न ऋग्वदादित्वबाधः। अन्यथा ऋग्लक्षणस्य ऋग्वेदस्थयजुःष्वसम्भवात् तेषु ऋग्वेदत्वाभावप्रसक्तेः। तथैव यजुर्वेदस्थासु ऋक्षु यजुर्लक्षणाभावाद् यजुर्वेदत्वाभावप्रसङ्गः, अथर्ववेदे तादृशलक्षणानामसत्त्वाद् वेदत्वाभावप्रसङ्गश्च प्रसज्ज्येयाताम्। ऋग्वेदस्थानां यजुषां यद्यपि ऋङ्मन्त्रत्वं नास्ति, तथापि ऋग्वेदत्वमस्त्येव। एवमेव ब्राह्मणानामृगादि मन्त्रत्वाभावेऽपि ऋग्वेदादिनाम्ना व्यवहारो भवत्येव।

यदप्युक्तम्—'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' (जै० सू० २।३।३२), 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० सू० २।१।३३) इति पूर्वं वेदलक्षणमुक्तम्, द्वितीयेन सूत्रेण ब्राह्मणं लक्षितमिति ब्राह्मणस्य वेदभिन्नेत्वमेव' इति, तदपि सूत्रार्थाऽज्ञानमूलकमेव। यतो हि पूर्वसूत्रेण मन्त्रलक्षणमुक्तं न वेदलक्षणम्। अत एव 'मन्त्राख्या' इत्युक्तम्, न 'वेदाख्या' इति।

यदपि च—'अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते' (नि० १।१५), 'अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च' (नि० २।१६) इत्यत्रापि ब्राह्मणभागस्य मन्त्रभिन्नत्वान्न वेदत्वम्' इति, तदपि प्रमत्तप्रलपितमेव, ब्राह्मणभागस्य मन्त्रभिन्नत्वेऽपि वेदत्वानपायात्। अन्यथा ब्राह्मणभागभिन्नत्वेन मन्त्रभागस्यावेदत्वापत्तेः। अत एव 'शेषे' मन्त्रभागावशिष्टे भागे ब्राह्मणशब्द इति ब्राह्मणलक्षणोक्तिः। अत एव ब्राह्मणेन रूपसम्पन्नाः के मन्त्रा इत्युत्तरं न वेदा इति। तथैव अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा इत्युक्तम्, न वेदवर्णा इति। सायणाचार्येण मन्त्रब्राह्मणरूपौ द्वावेव वेदभागा इत्यङ्गीकारात्। मन्त्रलक्षणस्य पूर्वमभिहितत्वाद् अवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणमित्येतल्लक्षणम्।

कश्चित्तु—'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० सू० २।१।३३) इत्यत्र शेषशब्दस्य 'अथातः शेषलक्षणम्, शेषः परार्थत्वात्' (जै० सू० ३।१।१-२) इति सूत्रानुसारेण परार्थत्वमर्थः। तथा च ब्राह्मणभागो मन्त्रभागस्याङ्गमेव न वेदः' इति, तदपि तुच्छम्, भिन्नाधिकरणत्वाद् विप्रकृष्टत्वाच्च। यथा 'शेषे यजुः शब्दः' (जै० सू० २।१।३७) इत्यत्र शेषशब्दोऽवशेषार्थक एव तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्, अन्यथा यजुषामपि तथात्वापत्तेः।

अन्यथा 'ऋक्' का लक्षण, ऋग्वेदस्थ यजुओं में सम्भव न होने से उनमें ऋग्वेदत्व का अभाव प्रसक्त होगा। उसी तरह यजुर्वेदस्थ ऋचाओं में यजुर्लक्षण के न होने से उनमें यजुर्वेदत्वाभाव प्रसक्त होगा। और अथर्ववेद में तो वैसा कोई लक्षण ही न होने से उसमें वेदत्वाभाव ही प्रसक्त हो जायगा। ऋग्वेदस्थ यजुओं में यद्यपि ऋङ्मन्त्रत्व नहीं है, तथापि ऋग्वेदत्व तो है ही। उसी प्रकार ब्राह्मणों में ऋगादिमन्त्रत्व के अभाव में भी उनका ऋग्वेद आदि नाम से व्यवहार होता ही है।

यह जो कहा है कि 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या'—(जै० सू० २।१।३२) 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० सू० २।१।३३) इस प्रकार पहले वेदलक्षण बताया, और द्वितीयसूत्र से ब्राह्मण का लक्षण बताया है, इस कारण ब्राह्मणभाग, वेद से भिन्न ही है।' किन्तु यह कथन भी सूत्रार्थ का ज्ञान न होने से ही है। क्योंकि पूर्वसूत्र से मन्त्र का लक्षण बताया गया है, वेद का नहीं। अतएव 'मन्त्राख्या' कहा है, 'वेदाख्या' नहीं कहा।

निरुक्त का उद्धरण (नि० १।१५, २।१६) देकर, ब्राह्मणभाग, मन्त्र से भिन्न होने के कारण वह वेद नहीं है।' यह जो कहा है, वह भी प्रमत्तप्रलाप के समान ही है। यद्यपि ब्राह्मणभाग, मन्त्र से भिन्न है तथापि उसका वेदत्व नष्ट नहीं हो पाता। अन्यथा मन्त्रभाग भी भिन्न होने के कारण उसका भी वेदत्व नष्ट होने लगेगा। अतएव 'शेषे' का अर्थ 'मन्त्रभागावशिष्टे भागे' यह अर्थ किया जाता है। उस अवशिष्ट भाग को ही ब्राह्मण शब्द से कहतेहैं—यह ब्राह्मण का लक्षण कहा गया है। सायणाचार्य ने मन्त्र-ब्राह्मण ये दो ही वेद के भाग माने हैं।

किसी का यह कहना है कि 'शेषे ब्राह्मणशब्दः'—(जै० सू० २।१।३३) यह 'शेष' शब्द का 'अथातः शेषलक्षणम्' 'शेषः परार्थत्वात्' (जै० सू० ३।१।१-२) सूत्र के अनुसार 'परार्थत्व' अर्थ है। तथाच ब्राह्मणभाग, मन्त्रभाग का अङ्ग ही है, 'वेद' नहीं है।' किन्तु इस कथन में भी कोई सार नहीं है। क्योंकि भिन्नाधिकरण और विप्रकृष्ट होने से उसमें कोई सार ही नहीं है। जैसे 'शेषे यजुः शब्दः' (जै० सू० २।१।३७) यहाँ 'शेष' का अर्थ अवशेष है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। अन्यथा यजुओं को भी वैसा मानना होगा।

यत्तु—'बुद्धिपूर्वा कृतिर्वेदे' (कणाद० ६।१।१) 'ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिर्लिङ्गम्' (कणाद० ६।१।२) इत्यत्र वेदब्राह्मणशब्दग्रहणाद् ब्राह्मणस्य वेदाद्भिन्नत्वं ज्ञायते' इति, तदपि तुच्छम्, गोबलीवर्दन्यायेन विशेषविवक्षया पृथक् प्रयोगोपपत्तेः। अन्यथा 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' (पा० सू० ६।१।२०९), 'नित्यं मन्त्रे' (पा० सू० ६।१।२१०) इति भिन्नप्रयोगेण मन्त्रस्याप्यवेदत्वापत्तिः।

यत्तु—'निरुक्ते निपातप्रकरणेऽन्वध्यायमित्यस्योदाहरणेषु मन्त्रभागीयनिपातानामुदाहरणाद् ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं नेष्टं निरुक्तकारस्य इति, तदपि यत्किञ्चित्, यास्कदृष्ट्या अन्वध्यायमिति वेदनाम। अधीयते गुरुमुखादित्यध्यायो वेदः। अन्वध्यायं वेदे इत्यर्थः। वेदस्य द्वौ भागौ मन्त्रभागो ब्राह्मणभागश्चेति। तथा च मन्त्रभागीयनिपातोदाहरणेनैव ब्राह्मणभागीयनिपातोदाहरणानि वेदितव्यानि। समुदायेषु प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि प्रवर्तन्त इति न्यायात्। यथा न्यायदर्शने 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' (गो० सू० १।२।५७) इति वेदैकदेशब्राह्मणभागीयाक्षेपपरिहारेणैव वेदानामाक्षेपपरिहारोऽपि जातः। यथा महाभाष्ये पस्पशाह्निके—'वेदे खल्वपि पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य इति केवलब्राह्मणभागीयोदाहरणेनैव वेदोदाहरणं जातमेव, तथैव प्रकृतेपि ज्ञातव्यम्। यदि निरुक्तकारो निपातप्रकरणे वेदोदाहरणे, न ब्राह्मणभागमुदाहरेत्तदैव ब्राह्मणभागस्यावेदत्वशङ्का सम्भाव्यते। न चैवं तस्मान्न तथा, किन्तु—'अन्वध्यायम्' इत्युक्त्वा यास्केन येषां निपातानां यस्मिन्नर्थे मन्त्रभागस्योदाहरणं दत्तम्, ते तस्मिन्नेवार्थे ब्राह्मणभागेऽपि लभ्यन्ते। यथा—'अग्निरिव', 'इन्द्र इव', इत्युपमार्थे मन्त्रभागे सुलभास्तथैव ब्राह्मणभागेऽपि। यस्मिन्नर्थे 'नूनम्' इति निपातो मन्त्रभागे लभ्यते तस्मिन्नेवार्थे ब्राह्मणभागेऽपि। तत्रैव यास्केन 'शिशिरं जीवनायकम्' (नि० १।१०) इत्यकम्, इत्यनर्थकताया उदाहरणं दत्तम्, न चेदमुदाहरणं समाजिसम्मते पुस्तकचतुष्टयात्मके वेदे समुपलभ्यते। किन्तु कस्यचिल्लुप्तब्राह्मणस्येदमुदाहरणम्। यद्यपि 'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनायकम्' (ऋ० सं० १०।१६।१) इति प्रतिपक्षिसम्मतमप्युदाहरणं दातुं शक्यते स्म, तथाप्यन्यशाखीयब्राह्मणोदाहरणदानेन सर्वाः शाखा मन्त्रब्राह्मणरूपा वेदा इति दर्शयितुमेवेदमुदाहरणं दत्तम्। एवमेव 'नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम:' (नि० १।११) इत्यत्र 'नेत्' इति निपातोदाहरणमपि भिन्नशाखीयब्राह्मणमेवोक्तम्। तदपि समाजिसम्मते वेदे नोपलभ्यते। निरुक्तदृष्ट्या निगम-आम्नाय-समाम्नायादिशब्दा वेदवाचका एव।

यह जो वैशेषिक सूत्रों (६।१-२) को उपस्थित कर उनमें 'वेद' और 'ब्राह्मण' दो शब्दों के देखने मात्र से ब्राह्मण को वेद से भिन्न कह दिया है, वह भी निःसार है। क्योंकि गोबलीवर्दन्याय से विशेष विवक्षा से पृथक् प्रयोग की उपपत्ति हो जाती है। अन्यथा 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' (पा० सू० ६।१।२०९) 'नित्यं मन्त्रे' (पा० सू० ६।१।२।१।१०) यहाँ पर भी भिन्न प्रयोग करने के कारण मन्त्र को भी अवेद कहना होगा।

यह जो कहा गया है कि 'निरुक्तकार को ब्राह्मणभाग का वेदत्व इष्ट नहीं है' यह कथन भी ठीक नहीं है। यास्कदृष्टि में 'अन्वध्यायम्' शब्द, वेद की संज्ञा है। गुरुमुख से जो अध्ययन किया जाता है उसे 'अध्याय' कहते हैं, एवं च अन्वध्याय का अर्थ 'वेद' है। वेद के दो भाग होने से मन्त्रभागीय निपात के उदाहरण से ही ब्राह्मणभागीयनिपातोदाहरणों को समझ लेना चाहिये। समुदायबोधक शब्द, अवयवों के भी बोधक होते हैं। न्यायदर्शन में ब्राह्मणभागसे सम्बन्धित आक्षेप के परिहार से ही सम्पूर्ण वेद पर किये गये आक्षेप का परिहार अर्थात् सिद्ध हो जाता है। उसी तरह महाभाष्य के पस्पशाह्निक में भी ब्राह्मणभाग के उदाहरण से ही वेद का उदाहरण मान लिया गया है, उसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिये। और उपर्युक्त शंका इस लिये भी नहीं की जा सकती कि यास्क ने मन्त्रभाग में से जिन निपातों के जिन अर्थों में उदाहरण दिये हैं, उन्हीं अर्थों में ब्राह्मणभाग में भी वे उपलब्ध हो रहे हैं। यास्क ने ऐसे भी उदाहरण दिये हैं, जो समाजियों के सम्मत चार पुस्तक के वेद में नहीं हैं। किन्तु वे उदाहरण किसी लुप्त ब्राह्मण के ही कहने होंगे। निरुक्तकार, प्रतिपक्षीसम्मत उदाहरण को भी दे सकते थे, तथापि उन्होंने अन्यशाखीय ब्राह्मण का उदाहरण देकर यह प्रदर्शित किया है कि समस्त शाखायें मन्त्र-ब्राह्मणरूप वेद ही हैं। निरुक्त की दृष्टि में निगम, आम्नाय, समाम्नाय आदि शब्द वेद के वाचक ही हैं।

कश्चित्तु—'समाम्नायः समाम्नातः' इत्यत्र निरुक्तकारो मन्त्रमेव समाम्नायपदेनाभिप्रैति। 'छन्दोभ्यः समाहृत्य समाम्नाताः' इत्यत्रापि छन्दः पदेन मन्त्रा एव विवक्षिताः। 'अथो एतद् रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः, आम्नायवचनादेतद्भवति' अत्र ब्राह्मणे गौण्या वृत्त्या आम्नायशब्दः प्रयुक्तः, न मुख्यया वृत्त्या। एतादृशी आतिदेशिकवाच्यता 'सोऽयमक्षरसमाम्नाय इति व्याकरणाद्यङ्गेष्वपि प्रवर्तते' इति, तदपि निर्मूलमेव, 'समाम्नायः समाम्नातः' इत्यत्र समाम्नायशब्दस्य निघण्टुविषयत्वविरोधात्। नहि निघण्टुगतानि सर्वाणि पदानि प्रतिपक्षिसम्मते वेदे लभ्यन्ते। समाजिनां मते क्षेपकरहिता अन्यूनानतिरिक्ताः सर्वेपि चत्वारो वेदाः शाकल्यादिपुस्तकचतुष्टयान्तर्गता एव। तस्मान्निघण्टुगतैः पदैरपि तत्रावश्यमुपलब्धैर्भाव्यम्। न चोपलभ्यन्ते। तद्यथा—'वर्वुर' (निघ० १।१२) जलवाचकं नैतद्वेदेषूपलभ्यते। यहः (निघ० १।१२) भविष्यद् इति जलवाचकौ। 'मल्मला भवन्' (निघ० १।१७) ज्वलनपर्यायः। 'करन्ती' (निघ० २।१) कर्मनामसु। एते शब्दाः समाजिसम्मते वेदे नोपलभ्यन्ते। अन्यत्रापि निघण्टुप्रोक्तेऽर्थे च न लभ्यन्ते। अतएव तत्र तत्र निघण्टुव्याख्यायां तद्व्याख्यात्रा देवयज्वनोक्तम्—'निगमोऽन्वेषणीयः' इति। तस्मात् ११३१ शाखासु विभक्ता मन्त्रब्राह्मणात्मका वेदाः। तेषु मुख्यया वृत्त्यैव वेदाम्नायनिगमादिशब्दाः प्रयुज्यन्ते। अक्षरसमाम्नायशब्दोऽपि 'अ इ उ ण्' आदिमाहेश्वरसूत्राणां सम्बन्धे प्रयुक्तः, न व्याकरणाङ्गार्थे। चतुर्दशसूत्राणि माहेश्वराणि—'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्। कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तम्' इति पाणिनिशिक्षानुसारेण नित्यत्वादाम्नायरूपाण्येव। अत एव अल्वेद इति प्रसिद्धम्। (१)

केचित्तु 'अथो एतद्ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते इत्युदितानुवादः स भवति' (नि० १।१६) इति निरुक्तरीत्या ब्राह्मणभागो वेदानुवादत्वाद् व्याख्यानमेव। यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः, तथापि ब्राह्मणस्य व्याख्यानरूपत्वान्मन्त्र एवादौ समाम्नातः।' इति तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिकास्थितसायणवाक्येन 'ऋगादीन् मन्त्रानधीते। अधीत्य ब्राह्मणेभ्यो विधिं च श्रुत्वा कर्माणि कुरुते। (छा० उ० ७।१४।१) इति शाङ्करभाष्येण च ब्राह्मणभागो मन्त्रभागस्य व्याख्यानरूपो न

किसी का जो यह कहना है कि 'समाम्नायः समाम्नातः' यहाँ पर निरुक्तकार को समाम्नाय पद से मन्त्र ही अभिप्रेत हैं। 'छन्दोभ्यः समाहृत्य समाम्नाताः' यहाँ भी छन्दः पद से मन्त्र ही विवक्षित हैं। 'अथो एतद् रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः, आम्नायवचनादेतद्भवति' इस ब्राह्मण में गौणीवृत्ति से आम्नाय शब्द का प्रयोग किया गया है, मुख्यवृत्ति से नहीं। इस प्रकार की आतिदेशिकवाच्यता 'सोऽयमक्षरसमाम्नायः आदि व्याकरणादि अङ्गों में भी प्रवृत्त होती है। किन्तु यह कहना भी निर्मूल ही है। 'समाम्नायः समाम्नातः' के समाम्नाय शब्द को निघण्टुविषयक नहीं कह सकते। निघण्टुगत समस्तपदों की उपलब्धि, प्रतिपक्षिसम्मत वेद में नहीं है और समाजियों के मत से तो क्षेपकरहित, अन्यूनानतिरिक्त समस्त चारों वेद, शाकल्यादि चार पुस्तकों के अन्तर्गत ही होंगे। तस्मात् निघण्टुगत पद भी उसमें अवश्य प्राप्त होने चाहियें। किन्तु नहीं उपलब्ध हो रहे हैं। जैसे—'बर्बुर' (निघ० १।१२) जल वाचक इनके वेदों में नहीं है। 'यहः' (निघ० १।१२) और 'भविष्यत्' ये दोनों जल वाचक हैं। ऐसे कितने ही नैघण्टुक शब्द इन समाजियों के वेद में नहीं मिलते हैं। अन्यत्र भी निघण्टु प्रोक्त अर्थ में नहीं हैं। इसीलिये जहाँ तहाँ उसके व्याख्याकार देवयज्वा ने निघण्टु की व्याख्या में कहा है कि 'निगमोऽन्वेषणीयः'। तस्मात् (११३१) ग्यारह सौ इकत्तीस शाखाओं में मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद विभक्त हैं। उनमें मुख्यवृत्ति से ही वेद, आम्नाय, निगम आदि शब्दों के प्रयोग किये गये हैं। अक्षरसमाम्नाय शब्द का प्रयोग भी 'अ इ उ ण्' आदि महेश्वर सूत्रों के सम्बन्ध में है, न कि व्याकरण रूप अङ्ग के अर्थ में। १४ माहेश्वर सूत्र तो पाणिनि शिक्षा 'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य' के अनुसार नित्य और आम्नायरूप ही हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि निघण्टु-निरुक्त, और तैत्तिरीय संहिताभाष्यभूमिका स्थित सायणभाष्य एवं छान्दोग्य के शांकरभाष्य के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि मन्त्रभाग का व्याख्यानरूप ब्राह्मणभाग, मुख्य वेद नहीं है। किन्तु उनका यह कथन निःसार है। उन उल्लेखों का अभिप्राय ही वे नहीं समझ पाये। 'ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते' इससे मन्त्र के आनर्थक्य की आशंका की जाती है। 'रूप' शब्द का अर्थ लिङ्ग है अर्थात् ब्राह्मण के द्वारा लिङ्गयुक्तों का विधान किया जाता है। प्रकट लिङ्ग शब्दों को भी

मुख्यो वेदः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भावार्थानवबोधात् । ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते इत्यनेन मन्त्रानर्थक्य-माशङ्क्यते । रूपं लिङ्गम् । ब्राह्मणेन लिङ्गयुक्ता विधीयन्ते । प्रकटलिङ्गा अपि सन्तस्तदविवक्षितं कृत्वा कर्मसु विधीयन्ते । यदि ह्यर्थवन्तः स्युस्तदा स्वेनैन लिङ्गेन स्वात्मानमेते कुतो न विनियोक्तुं समर्थाः स्युः । तथा सति ब्राह्मणेन न तेषां विधानं स्यात् । विधानं तु दृश्यते 'उरु प्रथस्वेति' (श० १।१।६।८) अत्र प्रथनलिङ्गो मन्त्रः प्रथनकर्मणि विहितः । तथा च 'उरु प्रथा उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्' (वा० सं० १।१२) हे पुरोडाश, त्वं विस्तीर्णप्रथनः सन् विस्तारयात्मानम् । ते तव यज्ञपतिश्चायं यजमानः प्रजा-पशु-हिरण्यादिभिश्चोरुप्रथतां विस्तीर्यताम् । एवमेव प्रोहाणीति प्रोहति । (श०) इति प्रोहणलिङ्गो मन्त्रः प्रोहणकर्मणि विहितः । मन्त्रं विदधद् ब्राह्मणमर्थवत् । अनर्थकाश्च मन्त्राः । नह्यर्थवन्तो दासवद् ब्राह्मणेन विधीयेरन् । विहिताश्च, तस्मादनर्थका एते । ब्राह्मणस्यानर्थकत्वाभ्युपगमे देश-काल-कर्तृ-दक्षिणादि-कर्माङ्गभूतं कुत उपलभ्येत ? तथा च ब्राह्मणस्यानर्थक्येऽभ्युपगम्यमाने वेदैकदेशस्यात्यन्तमेवानर्थकत्वमभ्युपगतं स्यात् । मन्त्राणां तु वाच्यवाचकत्वेनानर्थकानामपि विनियोगमात्रेणाप्यर्थवत्ता स्यादेव द्रव्यदेवतास्मारकत्वेन । ब्राह्मणेनापि द्रव्यदेवतास्मरणं यद्यपि सम्भवति, तथापि विनियोगसामर्थ्यान्मन्त्रैरेव द्रव्यदेवते स्मर्तव्ये इति नियमोऽदृष्टार्थकः । अर्थवन्तः शब्दसामान्यादेतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्भिर्वाभिवदतीति च ब्राह्मणम् (नि० १।१६) इत्यादिभिस्तत्समाधानमुक्तम् । यथा लोके स्वरसंस्कारयुतो गोशब्दोऽर्थवान् तथा वेदेऽपि । य एव लोके गोशब्दः स एव वेदेऽपीति । असति च विशेषहेतौ मन्त्रा अपि शब्दसामान्यादर्थवन्त एव । प्रयोगानियमस्तु लोकेऽपि पितापुत्रौ इत्यादिषु भवत्येव । किञ्च, 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्भिर्वाभिवदतीति, (गो० ब्रा०२।२।६, २।४।२) इति ब्राह्मणमृग्यजुर्भिरभ्युदितं कर्म समृद्धं वदति । तथा च शब्दसामान्याद्ब्राह्मणप्रामाण्याच्च सार्थका एव मन्त्राः । कथमनर्थकाः सन्तो मन्त्राः कर्माभिवदेयुः । कथं चानभिवदन्तः कर्म समर्धयेयुः ? अर्थवत्त्वं चाभ्युपगतं ब्राह्मणभागस्य पूर्वपक्षिणा । अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते इत्यत्र 'इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्' इत्यादौ समृद्धरूपत्वमुक्तम् ।

यदुक्तम्—'ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते' इति, तत्रोच्यते—कस्यचनांशस्य तथात्वेऽपि सर्वस्य ब्राह्मणस्याऽतथात्वात् । तदुक्तं दुर्गाचार्येण—'उदितानुवादः स भवति, नासमर्था आत्मानमेते स्वेन रूपेण विधातुमित्यतो ब्राह्मणेन

अविवक्षित मानकर कर्मों में उनका विधान किया जाता है । यदि ये अर्थवान् होते तो अपने ही लिङ्ग से अपने को विनियुक्त करने में क्यों नहीं समर्थ होते ? यदि समर्थ होते तो ब्राह्मण के द्वारा उनका विधान न हुआ होता । किन्तु विधान हुआ तो दिखाई देता है । मन्त्र का विधान करने वाला ब्राह्मण सार्थक है, और मन्त्र अनर्थक हैं । यदि ब्राह्मण को अनर्थक कहा जाय तो देश, काल, कर्ता, दक्षिणा आदि जो कर्माङ्ग हैं, उनकी उपलब्धि कैसे हो सकेगी ? और मन्त्र वाच्यवाचक होने के कारण यद्यपि अनर्थक प्रतीत हो रहे हैं तथापि उनके एक मात्र विनियोग होने से भी उनमें द्रव्य-देवतास्मारकत्व आता है, उस कारण उनकी सार्थकता भी हो जाती है । ब्राह्मण से भी द्रव्य देवता का स्मरण यद्यपि हो सकता है तथापि विनियोग के बल पर 'मन्त्रों से ही द्रव्य-देवता का स्मरण करना चाहिये' इस प्रकार का नियम बन जाता है, जिसका अदृष्ट फल माना जाता है । जैसे लोक-व्यवहार में स्वर-संस्कारयुक्त 'गो' शब्द अर्थवान् है, वैसे ही वेद में भी उसे वैसे ही समझा जाता है । जो लोक मे 'गो' शब्द है, वही वेद में भी है । किसी विशेष हेतु के न रहने पर मन्त्रों को भी शब्द सादृश्य के बल पर अर्थवान् मान ही लिया जाता है । प्रयोग का अनियम तो लोक में पिता-पुत्र आदि स्थलों पर हुआ ही करता हैं । किञ्च गोपथब्राह्मण ने ऋग्यजु के द्वारा अभ्युदित कर्म को समृद्ध कहा हैं । तथा शब्द-सादृश्य और ब्राह्मणप्रामाण्य से मन्त्रों को सार्थक ही समझना'चाहिये । यदि मन्त्रों को अनर्थक कहा जाय तो वे कर्मों को कैसे बता सकेंगे ? और जब वे कर्मों को नहीं बता सकेंगे तो लोग उन कर्मों का अनुष्ठान भी कैसे कर सकेंगे ? इस रीति से यह स्पष्ट होता है कि पूर्वपक्षी ने ब्राह्मण भाग की अर्थवत्ता को मान लिया है ।

यह जो कहा है कि 'ब्राह्मणेन रुपसम्पन्नाविधीयन्ते' । उस पर समाधान यह है कि कोई अंश वैसा होने पर भी समस्त

विधीयन्ते। किन्तर्हि आत्मनियोगाश्रयमुक्तमेव सन्तं मन्त्रेणार्थं ब्राह्मणमनुवक्ति विस्तरेण प्रकृत्यर्थं सन्तुष्टूषया। नह्यनुक्तं स्तोतुं शक्यते। तस्मादर्थभूतं ब्राह्मणं मन्त्रार्थमनूद्य संस्तौति। नैतावता सर्वं ब्राह्मणवचनमनुवादमात्रमेव। नियामकश्च विधिर्भवति। यतोऽनेके समानलिङ्गाः प्रकरणे मन्त्रा भवन्ति। ते ह्यहंपूर्विकया एकं प्रयोगं प्रति खले कपोतवत्सन्निपतन्ति। तेषां समुच्चये विकल्पे च प्राप्तेऽभिमत एको नियमार्थं ब्राह्मणेन विधीयते। यदुक्तम्—'रूपसम्पन्नविधानान्मन्त्रानर्थक्यं मन्त्रार्थवत्त्वे वा ब्राह्मणानर्थक्यमिति, तदप्ययुक्तम्, पूर्वोक्तरीत्योभयोरपि सार्थक्यात्। कर्म-तदङ्गभूतदेशकालकर्तृदक्षिणादिविधानाच्च ब्राह्मणानामर्थवत्त्वं युक्तमेव। अत एव विधिबलादैन्द्री ऋग् गार्हपत्योपस्थाने विनियुज्यते—'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' (मैत्रायणी सं० ३।२।४) इति श्रुतेः। तस्माल्लिङ्गानुगुणविधायकब्राह्मणवचनमेवोदितानुवाद इति न सर्वविधीनामनुवादकत्वम्, 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति' इत्यादिविरोधात्। क्वचिन्मन्त्रव्याख्यानं तु मन्त्राणां विधानवद् विधानानुगुणं मन्त्रसंस्कारकरणमेव। व्याख्यानापेक्षया व्याख्येयस्य पूर्वभावित्वमपि न तयोः पृथक्कालत्वं साधयति, मन्त्रेष्वपि व्याख्यानव्याख्येयभावदर्शनात्। शब्दान्तरेण तदर्थकथनमेव व्याख्यानम्, तच्च भिन्नशाखीयपुरुषसूक्तेषु स्पष्टमेव। अथोत्तराभूयसे निर्वचनायेति निरुक्तोक्तेश्च। अत एव केषाञ्चिन्मन्त्रखण्डानां पदानां वा व्याख्यानेऽपि न ब्राह्मणानां मन्त्रव्याख्यानमात्रत्वम्, कर्मतदङ्गतत्फलादिविधानस्यैव प्राधान्येन तत्र दर्शनात्। अत एव परिबृंहकत्वं पूरकत्वं च तत्र स्पष्टं दृश्यते। शाङ्करभाष्यं तु न त्वदर्थसाधकं तस्य भावानवबोधात्। ऋगादीनधीतेऽधीत्य च तदर्थमिति पूर्वेणान्वयात्। ब्राह्मणेभ्यो विधिं च श्रुत्वा कर्माणि कुरुते, मन्त्रेषु विध्यदर्शनात्।

यत्तु युधिष्ठिरेणोक्तम्—'ब्राह्मणेषु वेदत्वमापस्तम्बादिपरिभाषितमेव न मुख्यमिति, तदपि खण्डितमेव, अनादिसिद्धस्यैव तैरनूदितत्वात्। अत एव मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाऽस्तीत्युक्तम्, न वेदसंज्ञा भवेदित्युक्तम्। अत एव 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्युक्तम्। नाम तु प्रसिद्धमेव भवति। तच्च यथा मन्त्रभागस्य तथैव ब्राह्मणभागस्यापि। यदि मन्त्राणां वेदसंज्ञासीद् ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा नासीत्, ब्राह्मणानां नवीनैव वेदसंज्ञा विहिता स्यात् तदा तत्र विधायकसूत्रे मन्त्रब्राह्मणयो-

ब्राह्मण को वैसा मान लेना उचित नहीं है। दुर्गाचार्य ने इस विषय को सविस्तर और स्पष्ट कर दिया हैं। यह जो कहा है कि रूपसम्पन्न का विधान करने से मन्त्रों की अनर्थकता और मन्त्रों को अर्थवान् मानने पर ब्राह्मण की अनर्थकता होती है। किन्तु वह भी ठीक नहीं क्योंकि पूर्वोक्त रीति से दोनों की सार्थकता हो जाती है। कर्मांगभूत दक्षिणादि का विधान करने से ब्राह्मणों की अर्थवत्ता उचित ही है। अतएव विधि के बल पर ही ऐन्द्री ऋक् का विनियोग गार्हपत्योपस्थान में किया जाता है। अतः लिङ्गानुगुणविधायक ब्राह्मणवाक्य को ही उदितानुवाद कहते हैं। एवंच समस्त विधिवाक्यों को अनुवादक कहना उचित नहीं है। जहां कहीं मन्त्र का व्याख्यान पाया जाता है, वह मन्त्रों के विधान की तरह विधान के अनुगुण मन्त्रसंस्कार रूप ही है व्याख्यान की अपेक्षा व्याख्येय पूर्व भावी रहने पर भी उन दोनों की पृथक्कालिकता उससे सिद्ध नहीं होती, क्योंकि मन्त्रों में भी व्याख्यान–व्याख्येयभाव दिखाई देता है। शब्दान्तर से उसी अर्थ को कहना ही तो व्याख्यान है। ऐसा व्याख्यान भिन्नशाखीय पुरुषसूक्तों में स्पष्ट ही है। 'अथोत्तरा भूयसे निर्वचनाय' के द्वारा निरुक्त ने भी वही कहा है अतः कतिपय मन्त्रखण्डों या पदों की व्याख्या करने मात्र से ब्राह्मण को केवल मन्त्रव्याख्यान मात्र समझना अनुचित है। ब्राह्मण में कर्मतदङ्गतत्फल आदि का ही विधान प्रधानतया किया गया है। इसी कारण उसमें परिबृंहकत्व और पूरकत्व स्पष्ट दिखाई देता है। शाङ्करभाष्य से भी तुम्हारे मत का समर्थन नहीं हो पा रहा है, शांकरभाष्य के अभिप्राय को तुमने समझा नहीं है।

युधिष्ठिर ने जो कहा है कि 'आपस्तम्बादि के द्वारा परिभाषित हुआ वेदत्व ही ब्राह्मणों में है, मुख्य वेदत्व नहीं है' उसका भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि अनादि सिद्ध अर्थ का ही उनके द्वारा अनुवाद किया जाता है। अतएव 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाऽस्ति' यह कहा गया है, 'वेदसंज्ञा भवेत्' नहीं कहा। 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् कहा गया है। नाम तो प्रसिद्ध ही होता है। वह नाम जैसे मंत्र भाग का वैसे ही ब्राह्मण का भी है। यदि मन्त्रों की वेद संज्ञा थी, ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा नहीं थी, ब्राह्मणों की नवीन ही वेद संज्ञा यदि विहित होती तो विधायकसूत्र 'मंत्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' में 'मन्त्र' ग्रहण किसलिये किया? दोनों का सहनिर्देश करने से तो

वेंदनामधेयमिति मन्त्रग्रहणं किमर्थं कृतम् ? उभयोः सहनिर्देशेन तु एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिरिति परमप्रसिद्धेन न्यायेन पूर्वंत एव वेदत्वे उभयोरपि वेदत्वमभावे उभयोरपि वेदत्वाभाव एव प्रसक्तः स्यात् ।

किञ्च, मन्त्रब्राह्मणयोरिति इतरेतरयोगद्वन्द्व एव समाजिनां पक्षं खण्डयति, परस्परनिरपेक्षत्वाभावें द्वन्द्वानुपपत्तेः । सत्याषाढसूत्रे तु—'यज्ञं व्याख्यास्यामः, स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते, मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (स० श्रौ० सू० १।१) । अत्र त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्य विधानं मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोर्वेदनाम चोक्तम् । यदि कृष्णयजुर्भिन्नेषु वेदेषु ब्राह्मणानां मिश्रणं नासीत्, तदा श्रौतसूत्रकारैस्त्रयाणां वेदानामनुसारेण मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वं किमर्थमुक्तम् ? तेन स्पष्टं विज्ञायते यन्न केवलं कृष्णयजुर्वेद एव, किन्तु चतुर्ष्वपि वेदेषु मन्त्रा ब्राह्मणानि च सन्ति । तथा च मन्त्रब्राह्मणसमुदायस्यैव वेदसंज्ञास्तीति । अत एव कृष्णयजुर्वेद एवेयं संज्ञेत्युक्तिरपार्थैव । किञ्च, यदि मन्त्रभागस्य वेदत्वमुपेयते तदा कृष्णयजुर्वेदीयमन्त्रभागस्य कुतो न वेदत्वमङ्गीक्रियते ? वस्तुतस्तु कृष्णयजुर्वेदस्य वेदत्वापलापायैवायं दुष्प्रयासः । शुक्लयजुर्वेदस्य वेदत्वं प्रथमत एव प्रसिद्धमासीत् कृष्णयजुर्वेदब्राह्मणमिश्रणाद् वेदत्वमप्रसिद्धमिति तत्र वेदत्वसाधनायेदं मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाविधायकं सूत्रमिति कथनं तु सर्वथाप्ययथार्थमेव । ऐतिहासिकानां दृष्ट्या शुक्लयजुर्वेदस्य पश्चाद्भावित्वेन कृष्णयजुर्वेदस्यैव पूर्वं प्रसिद्धत्वोपपत्तेः । अत्र शतपथोक्तो याज्ञवल्क्येतिहासः प्रमाणम् । भागवतवायुपुराणादिभिश्च तदेव सिद्ध्यतीत्युक्तत्वात् । अत एव याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानीत्यत्र प्रत्ययवारणार्थं 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (पा० सू० ४।३।१०५) इत्यत्र पुराणग्रहणसार्थक्यमुक्तम् । प्रतिपक्षिभिः कृष्णयजुर्वेदस्य यज्ञादिकर्मकाण्डेन विशिष्टः सम्बन्धो मन्यते । तत एव यज्ञप्रधानमीमांसाशास्त्रेऽपि जैमिनिना समानतन्त्रत्वात् कृष्णयजुर्वेदिनां पारिभाषिकी मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञा स्वीकृतेत्यप्युच्यते । तस्मान्नैतत् सम्भवति यत्पूर्वतनस्य कृष्णयजुर्वेदस्य वेदत्वं प्रसिद्धं नासीत्, पश्चाद्भाविनः शुक्लयजुर्वेदस्य वेदत्वं स्वतः प्रसिद्धं स्यात् । किञ्च प्रतिपक्षिदृष्ट्या

'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' इस नियम के अनुसार पहले से ही वेदत्व के रहने के कारण दोनों को ही वेदत्व होगा और यदि उसका अभाव होगा तो दोनों में ही वेदत्वाभाव भी प्रसक्त होगा ।

किञ्च 'मन्त्रब्राह्मणयोः इस इतरेतरयोगद्वन्द्व समास से ही समाजियों का पक्ष खण्डित हो जाता है, क्योंकि दोनों को परस्पर निरपेक्ष न मानने पर तो द्वन्द्व की उपपत्ति ही नहीं हो सकेगी । सत्याषाढ सूत्रकार तो तीनों वेदों से यज्ञ का विधान और मन्त्र-ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा बताते हैं । यदि कृष्णयजुर्भिन्न वेदों में बाह्मणों का मिश्रण नहीं था तो श्रौतसूत्रकार तीनों वेदों के अनुसार मन्त्र-बाह्मण दोनों का वेदत्व क्यों बताते ? उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि केवल कृष्णयजुर्वेद में ही नहीं किन्तु चारों वेदों में मन्त्र और बाह्मण हैं । तथाच मन्त्र-बाह्मण समुदाय की ही वेद संज्ञा है । अतएव 'कृष्णयजुर्वेद की ही यह संज्ञा है, यह कहना भी व्यर्थ है । किञ्च यदि मन्त्र भाग का वेदत्व आप मानते हैं तो कृष्णयजुर्वेदीय मन्त्रभाग को वेद क्यों नहीं मानते ? वस्तुतस्तु कृष्णयजुर्वेद के वेदत्व का अपलाप करने के लिये ही समाजियों का यह दुष्प्रयास है। 'शुक्लयजुर्गेद तो पहले से ही वेद नाम से प्रसिद्ध था, 'किन्तु कृष्णयजुर्गेद में बाह्मण का मिश्रण रहने से उसे 'वेद' नाम से नहीं कहा जाता था । अतः उसे वेद के नाम से कहा जाय, एतदर्थ वेदसंज्ञाविधायक सूत्र 'मन्त्रबाह्मणयोर्वेदनामधेयम्' किया गया है, किन्तु यह कथन तो सर्वथैव अयथार्थ है । ऐतिहासिकों की दृष्टि से शुक्लयजुर्वेद का पश्चाद्भावित्व होने के कारण कृष्णयजुर्गेद की ही पूर्वप्रसिद्धि कही जा सकती है । इसमें शतपथ के द्वारा प्रतिपादित याज्ञवल्क्य का इतिहास ही प्रमाण है । भागवत, वायुपुराण आदि से भी वह सिद्ध होता है । अतएव 'याज्ञवल्क्यानि बाह्मणानि' यहां पर प्रत्ययवारणार्थ 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (पा० सू० ४।३।१०५) में पुराणग्रहण की सार्थकता बताई है । प्रतिपक्षी समाजियों का कहना है कि कृष्णयजु का यज्ञादिकर्मकाण्ड के साथ विशिष्ट सम्बन्ध रहने से ही यज्ञप्रधान मीमांसाशास्त्र में भी जैमिनि ने समान तन्त्र होने से मन्त्र-बाह्मण के लिये कृष्णयजुर्वेदियों के द्वारा दी गई पारिभाषिक 'वेद' संज्ञा का स्वीकार कर लिया है । तस्मात् यह सम्भव ही नहीं होता कि पूर्गतन कृष्णयजुर्गेद का नेदत्व प्रसिद्ध नहीं था, और पश्चाद्भावी शुक्लयजुर्गेद का वेदत्व स्वतः प्रसिद्ध हो जाय । किञ्च प्रतिपक्षी की दृष्टि से भी कृष्णयजु में मन्त्र भाग

कृष्णयजुर्वेदेऽपि मन्त्रभाग आसीत्। तस्य च वेदत्वं प्रसिद्धमासोत्, तन्मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमित्यत्र मन्त्रग्रहणस्य किं प्रयोजनम्? इत्यस्योत्तरं न किमपि वक्तुं शक्यते।

वस्तुतस्तु शुक्लयजुर्वेदापेक्षया कृष्णयजुर्वेदस्यातिप्राचीनत्वेन तत्र च मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदत्वस्य प्रसिद्धत्वेन पश्चाद्भाविभिः शुक्लयजुर्वेदीय कल्पसूत्रकारैः पूर्वसिद्धस्य साधनाय यत्नो न कृत इति तद्रीत्योत्तरम्। दयानन्दरीत्या तु कात्यायनेन मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमित्युक्तमेव सूत्रम्। तेनापि युधिष्ठिरोक्तिर्मिथ्यैव। शुक्लयजुर्वेदे ब्राह्मणमिश्रणं नास्तीत्यपि मिथ्यैव, उव्वटमहीधरादिभिस्तत्रापि ब्राह्मणमिश्रणाभ्युपगमात्। संहितान्तर्गतत्वाद् यजुर्धर्मेणाधीयमानत्वाच्च तत्र यजुर्मन्त्रत्वव्यवहार इत्यादिना पूर्वमेतत्प्रत्याख्यानात्। 'अग्नये समिद्धमानायानुब्रूहि' इति कृष्णयजुर्वेदीयमैत्रायणीसंहिता (१।४।४५) स्थितब्राह्मणभागस्य निरुक्तकारेण मन्त्रानर्थक्यविचारे मन्त्रत्वेनोपस्थापितत्वात्। न च ब्राह्मणस्य यजुरादिकथनेऽपि सिद्धान्तहानिः। तत एव शतपथस्य ब्राह्मणत्वेऽपि यजूंषीति व्यपदेशः।

'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि' इत्यस्य शतपथब्राह्मणत्वेऽपि यास्केन ऋक्त्वेनोद्धरणं कृतम्। प्रतिपक्षिरीत्या सामवेदेऽथर्ववेदे च ब्राह्मणमिश्रणं नास्ति, किन्तु तयोर्ब्राह्मणानि ततः पृथगेव सन्ति। यद्येवं तर्हि अथर्ववेदीयसूत्रकारैः किमर्थमाम्नाये ब्राह्मणानां सन्निवेशः कृतः। स्पष्टतया च 'आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च' (कौशिकगृह्यसूत्रे १।३) इति मन्त्राणां ब्राह्मणानां चाम्नायत्वमुक्तम्। सत्याषाढश्रौतसूत्रकारैस्तु त्रिभिर्वेदैर्यज्ञनिष्पत्तिरुक्ता। तद्रीत्या त्रयाणामपि वेदानां मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमित्येव लक्षणमुक्तम्। न च त्वया त्वदीयैर्वा ऋक्सामाथर्वसु ब्राह्मणमिश्रणमभ्युपेयत इति त्वद्रीत्या कथं तेषां तादृशलक्षणं स्यात्। नहि यास्कपाणिनिपतञ्जलिप्रभृतयोऽपि कृष्णयजुर्वेदिनः। तैश्च सर्वैरपि मन्त्रब्राह्मणयोः समानमेव वेदत्वमुक्तम्।

यत्तु परिभाषोदाहरणे 'अदेङ्गुणः' (पा० सू० १।१।२) इति सूत्रमुपन्यस्तम्, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, तस्य संज्ञासूत्रत्वेन परिभाषासूत्रत्वाभावात्। तथात्वे च 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्, इत्यापस्तम्बसूत्रस्य कथं परिभाषात्वम्? यद्येताः संज्ञा लोकाऽप्रसिद्धत्वाद्रचिता इत्युच्येत, तर्हि पाणिनिप्रोक्ताः 'परः सन्निकर्षः संहिता' (पा० सू० १।४।१०९), 'सुप्तिङन्तं

तो था ही और उसका वेदत्व भी प्रसिद्ध था। तब 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' में मन्त्र ग्रहण की आवश्यकता क्यों हुई? इसका उत्तर समाजी कुछ भी नहीं दे सकेंगे।

एवं च वास्तविक रीति से तथा दयानन्द की रीति से भी युधिष्ठिर का कथन सर्वथैव मिथ्या सिद्ध होता है। 'शुक्लयजु में बाह्मण का मिश्रण नहीं है। यह कथन भी मिथ्या है। उव्वट-महीधर आदि ने उसमें भी बाह्मण का मिश्रण माना है। संहिता के अन्तर्गत रहने से और यजुर्धर्म से उसका अध्ययन होने से उसमें यजुर्मन्त्रत्व का व्यवहार किया जाता है। कृष्णयजुः संहिता में स्थित ब्राह्मण को निरुक्तकार ने मन्त्र शब्द से कहा है। ब्राह्मण को यजु कहने में कोई सिद्धान्त हानि नहीं होती है, इसी कारण शतपथ ब्राह्मण को यजुशब्द से भीं कहा जाता है।

'अंगादङ्गात्संभवसि' यह शतपथ ब्राह्मण है, तथापि यास्क ने इसे ऋक् शब्द से कहा है। प्रतिपक्षी की रीति से सामवेद और अथर्ववेद में ब्राह्मण का मिश्रण नहीं है, किन्तु उन दोनों के ब्राह्मण पृथक् ही हैं। यदि ऐसी बात है तो अथर्ववेदीयसूत्रकारों ने आम्नाय में ब्राह्मणों का सन्निवेश क्यों किया? मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लिये आम्नाय शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया है। तीनों वेदों से यज्ञ की निष्पत्ति सत्याषाढश्रौतसूत्रकार ने बताई है। उन्होंने तीनों वेदों का 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यही लक्षण किया है। किन्तु दयानन्द और उनके अनुयायियों ने ऋक्सामाथर्व में ब्राह्मण का मिश्रण होना नहीं माना है, तो उनके मत में तीनों वेदों का एक अनुगत लक्षण कैसे हो पायगा? यास्क, पाणिनि, पतञ्जलि आदि कोई कृष्णयजुर्वेदी नहीं थे। किन्तु उन्होंने मन्त्र-और ब्राह्मण को समानरूप से 'वेद माना है।

परिभाषा के उदाहरण के रूप में 'अदेङ् गुणः' सूत्र को प्रस्तुत किया है, ऐसा करना व्याकरण के अज्ञान को स्पष्ट कर रहा है। 'अदेङ्गुणः' सूत्र तो संज्ञासूत्र है, परिभाषासूत्र नहीं है। तब 'मन्त्रब्राह्मणयोः' इस आपस्तम्बसूत्र को परिभाषा कैसे कहते हैं? यदि इन संज्ञाओं को लोक प्रसिद्ध होने से रचित कहा जाय तो पाणिनिप्रोक्त संहिता, पद आदि संज्ञाओं को भी वैसा क्यों न माना जाय?

पदम्' (पा० सू० १।४।१४) इति संहितापदादिसंज्ञास्वपि तथात्वं किन्न स्यात् ? नहि संहिता—पदादिसंज्ञा लोकप्रसिद्धाः। तस्मादत्र संज्ञाबोधनमेव संज्ञाविधानम्। अप्रसिद्धसंज्ञाविधानमेवेत्याग्रहे मन्त्राणामपि वेदसंज्ञाया अप्रसिद्धत्वापत्तेः। न चेष्यते युष्माभिस्तथा। यदि मन्त्राणां सा लोकप्रसिद्धा तर्हि ब्राह्मणानामपि तथैव मन्तव्या, विनिगमनाविरहात्। किञ्च, यद्येषा संज्ञा कृष्णयजुर्वेदीयानामेव तर्हि कात्यायनेन प्रतिज्ञापरिशिष्टे कथं तादृशी संज्ञा बोधिता ? तादृशसूत्रस्य प्रक्षिप्तत्वकथनमन्यद्वा किञ्चित्कथनं समाजिमतदौर्बल्यमेव सूचयति। यथा पाश्चात्त्या युक्ति विनैव ऋग्वेदसंहितायाः प्रथमदशममण्डलयोः प्रक्षिप्तत्वं प्रलपन्ति, तद्वदेव त्वदुक्तिरपि। कात्यायानश्रौतसूत्रे तादृशसूत्राभावेऽपि न क्षतिः, सर्वशास्त्रेषु मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदव्यवहारत्वप्रसिद्धेः। समानतन्त्रत्वे कृष्णयजुर्वेदीयसूत्रेभ्योऽपि तद्ग्रहणाङ्गीकारसम्भवाच्च। यद्यपि त्वया तु समानतन्त्रत्वाज्जैमिनिनापि मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञा तत एव गृहीतेत्युच्यते, तर्हि कात्यायनेन कुतो ना सा कृष्णयजुर्वेदीयात्सूत्रात् स्वीकृता। वस्तुतस्तु जैमिनिव्यास-पाणिनिपतञ्जलिप्रभृतीनां शास्त्राणि तु न श्रौतसूत्रेण समानतन्त्राणि।

यत्तु 'कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमिष्यते' इति हरदत्तधूर्तस्वामिवचनेन मन्त्राणामेव वेदत्वमिति पक्षसमर्थनं तदपि तुच्छमेव, कौत्सादिभिर्ब्राह्मणानामेव वेदत्वोपगमनेन तुल्यत्वात्। तादृशं मतमेकदेश्येव न सार्वदेशिकमिति तूभयत्र समानमेव, वादिप्रतिवादिसम्मतैर्व्यास-जैमिनिपाणिनिपतञ्जलिगोतमकणादवात्स्यायनादिभिर्मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि वेदत्वाभ्युपगमान्मुख्यमेतयोर्वेदत्वम्।

यत्तु—'यत् स्वयं वेदप्रतीकं दत्त्वा तस्य व्याख्यानं करोति कथं तस्य वेदत्वम्' इति, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, दत्तोत्तरत्वात्। मन्त्रान्तरैर्मन्त्राणां व्याख्यानस्य दर्शितत्वाच्च। किञ्च, मन्त्रस्य व्याख्यानमिति वक्तव्यम् न वेदस्येति, ब्राह्मणस्यापि वेदत्वाविशेषात्। यदि प्रतीकोद्धरणाद् ब्राह्मणभागस्यावेदत्वं स्यात्तदा 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' (वा० सं० ३२।३)

संहिता, पद आदि संज्ञाएँ लोक प्रसिद्ध नहीं हैं। अतः यहाँ पर संज्ञा बोधन को ही संज्ञाविधान समझना चाहिये। अप्रसिद्ध संज्ञाओं का ही विधान है, ऐसा यदि आग्रह हो तो मन्त्रों की वेद संज्ञा को भी अप्रसिद्ध कहना होगा। किन्तु वैसा कहना तुम्हें इष्ट न होगा। यदि मन्त्रों की वेद संज्ञा को प्रसिद्ध कहो तो ब्राह्मणों की वेद संज्ञा को भी प्रसिद्ध कहना होगा, क्योंकि वैसा न कहने में कोई युक्ति नहीं है। यदि इस संज्ञा को केवल कृष्ण यजुर्वेदियों की ही कहो तो कात्यायन ने प्रतिज्ञापरिशिष्ट में उस संज्ञा को कैसे बताया ? उस सूत्र को प्रक्षिप्त या और कुछ कह देना समाजियों की दुर्बलता को ही सूचित करता है। जैसे पाश्चात्य लोग बिना युक्ति के ही ऋग्वेद संहिता के प्रथम-दशम मण्डल की प्रक्षिप्तता का प्रलाप करते हैं वैसे ही तुम्हारा भी कथन होगा। श्रौतसूत्र में उस सूत्र के न होने पर भी कोई क्षति नहीं होगी। क्योंकि समस्त शास्त्रों में मन्त्रब्राह्मण के लिये वेद शब्द से व्यवहार होता है। समाजियों के कथनानुसार समानतन्त्र होने से कृष्णयजुर्वेदीय सूत्रों से भी उसका ग्रहण और स्वीकार कर लेना सम्भव है। यह जो समाजियों का कहना है कि समान तन्त्र होने से जैमिनि ने भी मन्त्र-ब्राह्मण के लिये वेद संज्ञा वहीं से ली है, तो हम पूछते हैं कि कात्यायन ने कृष्णयजुर्वेदीयसूत्र से उसे क्यों नहीं लिया ? वस्तुतः जैमिनि, व्यास, पाणिनि, पतञ्जलि प्रभृतियों के शास्त्र तो श्रौतसूत्र के समानतन्त्र नहीं है।

यह जो कहा गया है कि 'कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमिष्यते' इस हरदत्त, धूर्तस्वामि के वचन से मन्त्रों के ही वेदत्वपक्ष का समर्थन होता है। किन्तु यह कथन भी सारहीन है। क्योंकि कौत्स आदि ने ब्राह्मण को ही वेद कहा है। अतः दोनों पक्ष तुल्य हैं। किन्तु इस प्रकार का मत एकदेशी ही है, सार्वदेशिक नहीं। अतः वादि-प्रतिवादिसम्मत व्यास, जैमिनि, पाणिनि, पतञ्जलि, गोतम, कणाद, वात्स्यायन आदि महर्षियों ने मन्त्र-ब्राह्मण दोनों में ही वेदत्व माना है, एवंच दोनों में वेदत्व मुख्यरूप से ही है, गोण नहीं।

यह जो कहना है कि 'स्वयं प्रतीक देकर वह (वेद) उसका व्याख्यान करता है, अतः उसे वेद कैसे कहा जाय ? किन्तु यह कथन, अज्ञान से ही ओत प्रोत है। इसका उत्तर दे चुके हैं। एक मन्त्र के द्वारा भी दूसरे मन्त्र का व्याख्यान किया गया है, यह प्रदर्शित कर चुके हैं। किञ्च 'मन्त्र' का व्याख्यान ऐसा करना चाहिये, 'वेद का व्याख्यान' नहीं, क्योंकि ब्राह्मण में भी वेदत्व समानरूप से है यदि प्रतीक का उद्धरण देने मात्र से ब्राह्मणभाग का अवेदत्व कहें तो 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' (वा० सं० ३२।३) इस मन्त्र में भी

इति मन्त्रेऽपि 'हिरण्यगर्भं इत्येष' (वा० सं० २५।१०–१३), 'मा मा हिंसीरित्येषा' (वा० सं० १२।१०२) 'यस्मान्न जात' इत्येषा' (वा० सं० ८।३६–३७), इति मन्त्राणां प्रतीकोद्धरणदर्शनेन कथमस्य वेदत्वम् ? दयानन्देनापि यज्ञकर्मसु पाठाय तत्रोपन्यासस्य स्वीकाराच्च। 'तं प्रत्नथा—अयं वेनः' इति प्रतीकयोरपि कर्मकाण्डविशेषे पाठार्थं तत्राङ्गीकारात्। न च प्रतीकोद्धरणमात्राद् यजुर्वेदस्याऽवेदत्वमङ्गीक्रियते वादिभिः।

यदपि च 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति कात्यायनश्रौतसूत्रस्य प्रतिज्ञापरिशिष्टे परिभाषाप्रकरणेऽसत्त्वात् कात्यायनेन मतान्तरप्रदर्शनार्थमेव लिखितम् इति, तदपि पलायनमात्रम्, परिभाषाप्रकरणे तल्लेखेऽपि तस्य पारिभाषिकत्वेन सङ्कुचितत्वस्य वक्तुं शक्यत्वेन परिभाषाप्रकरणाभावेन तस्य सार्वत्रिकत्वाय तदन्यत्रोल्लेखस्यौचित्यात्। 'एके'; 'केचित्' इत्यादिप्रयोगादर्शनेन तस्य अन्यमतप्रदर्शनोक्तिरपि निर्मूलैव। कथञ्चित् परमतत्वेऽपि 'अप्रतिषिद्धं परमतमनुमतं भवति' इति न्यायेनानुमतमेव कात्यायनस्य भवति, अन्यथा वादिनेव खण्डितमेव स्यात्। यथाद्यत्वे लेखकैः स्वपुस्तकेषु लिखितं परिशिष्टं लेखकीयमेव भवति, नान्यस्य कस्यचित्, तथैव कात्यायनसूत्रलिखितं परिशिष्टं कात्यायनस्यैव भवति, नान्यस्य कस्यचित्। दयानन्देनापि 'मृतश्चाहं पुनर्जातः' इत्यादिनिरुक्तस्य पुनर्जन्मसाधकं परिशिष्टं यास्ककृतमेव स्वीकृतम्। ऋग्वेदभाष्यभूमिकायाम् ऋक्परिशिष्टस्य 'भद्रं वद दक्षिणतः, इत्यादयो मन्त्रा निरुक्ते (९।५) ऋक्त्वेन स्वीकृताः, न मतान्तरम्। 'तर्कमृषिं प्रायच्छन्' इति निरुक्तपरिशिष्टवचनं यास्कस्यैवेति समाजिभिरप्युच्यते ऋ० भा० भू० रीत्या। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् इति वचनं शुक्लयजुःश्रौतसूत्रकारस्य कात्यायनस्यैवेति भ्रमोच्छेदनग्रन्थेऽपि स्वामिदयानन्देन तदभ्युपगतमेव। तस्मान्मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञा शाश्वतीति वादिप्रतिवादिसम्मतैर्विद्वद्भिर्ऋषिभिश्च स्वीक्रियते। कृत्रिमसिद्धान्तावलम्बने नानाविधा दोषा भवन्त्येव।

तस्मात् ११३१ शाखानामपि महाभाष्यादिरीत्या वेदत्वमेव। ननु 'तदु हैके अन्वाहुः होता यो विश्ववेदस इति

तीन भिन्न भिन्न मन्त्रों के प्रतोकों के उद्धरण दिये गये हैं, तो बताओं कि इन मन्त्रों को वेद कहते हो या नहीं। दयानन्द ने भी यज्ञकर्मों में पाठार्थ वहाँ उपन्यास करना स्वीकार किया है। 'तं प्रत्नथा–अयं वेनः' इन दोनों प्रतीकों को भी कर्मकाण्ड विशेष में पाठार्थ स्वीकृत किया है। प्रतीकोद्धरण करनेमात्र से समाजियों ने यजुर्वेद को अवेद नहीं माना है।

यह जो कहना है कि 'कात्यायन श्रौतसूत्र के प्रतिज्ञापरिशिष्ट के परिभाषाप्रकरण में 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह नहीं कहा है, उसे मतान्तरप्रदर्शनार्थ ही लिख दिया है।' किन्तु इस प्रकार कहना भी पलायनमात्र ही है। यदि परिभाषा प्रकरण में उसे लिख भी दिया जाता तो उसे पारिभाषिक होने से संकुचित कहना भी शक्य हो जाता। एवंच परिभाषाप्रकरण में उसके न होने से उसकी सार्वत्रिकता सूचित करने के लिये उसका अन्यत्र उल्लेखकरना ही उचित समझा गया। 'एके', 'केचित्' इत्यादि प्रयोगों को न देखके कारण उसे अन्य का मत प्रदर्शन' कहना भी निर्मूल ही है। कथंचित् उसे पर-मत भी समझ लिया जाय तो भी 'अप्रतिषिद्धं परमतमनुमतं भवति' इस नियम के अनुसार कात्यायन को भी वह सम्मत ही है, यह समझना चाहिये। अन्यथा वादी की तरह खण्डित ही हो जायगा। जैसे आजकल लेखकगणों के द्वारा अपने पुस्तकों में परिशिष्ट जोड़ा जाता है, और उसे लेखकीय ही समझा जाता है, किसी दूसरे का नहीं। उसी तरह कात्यायनसूत्र में लिखा हुआ परिशिष्ट कात्यायन का ही है, अन्य किसी का नहीं। दयानन्द ने भी 'मृतश्चाहं पुनर्जातः इत्यादि निरुक्त के पुनर्जन्म साधक परिशिष्ट को यास्ककृत ही स्वीकृत किया है। ऋग्वेद भाष्य भूमिका में ऋक्परिशिष्ट के मन्त्रों को निरुक्त में ऋक् के रूप में स्वीकृत किया है। उन्हें मतान्तर नहीं कहा। 'तर्कमृषिं प्रायच्छन्' इस निरुक्तपरिशिष्टवचन को समाजियों ने भी यास्क का ही माना है। ऋग्वेदभाष्यभूमिका की रीति के अनुसार 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह वचन, शुक्लयजुः श्रौतसूत्रकार कात्यायन का ही है—यह भ्रमोच्छेदन ग्रन्थ में स्वामी दयानन्द ने भी स्वीकार किया है। तस्मात् 'वेद' यह संज्ञा मन्त्र-ब्राह्मण दोनों की शाश्वतिक है—यह बात वादि-प्रतिवादि सम्मत विद्वानों और ऋषियों ने कही है। अतः कृत्रिम सिद्धान्तों को नहीं अपनाना चाहिये, उसके अपनाने में नाना प्रकार के दोष उपस्थित होते हैं।

महाभाष्य की रीति के अनुसार ११३१ शाखाओं का वेदत्व सुस्थिर हो ही जाता है। शंका करने वाले फिर भी प्रश्न

नेतरमिममात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयात् मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति तस्माद्यथैवर्चानूक्तमेव अनुब्रूयात् होतारं विश्ववेदसम्' (श० १।४।१।३५) इति प्रमाणेन (ऋ० सं० १।१२।१) होतारं विश्ववेदसमित्येव पाठं ब्रूयात्। तद्भिन्नं 'होता यो विश्ववेदस इति पाठं नानुब्रूयात्, तस्य मानुषत्वात्, तस्मात् शाखाभ्योऽन्यो मूलवेदो ज्ञायते' इति चेन्न, मूलवेदत्वेन समाजिसम्मतानां वेदानामपि शाकल्यवाजसनेयी-कौथुमीशौनकीसंहितानामपिं शाखात्वाविशेषात्। अन्यसंहितापाठस्य मानुषत्वोक्तिस्तु स्वशाखानिष्ठादार्ढ्याय निन्दार्थवाद एव, नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपि तु विधेयं स्तोतुमिति न्यायात्। 'यः स्वशाखोक्तमुत्सृज्य परशाखोक्तमाचरेत्। अप्रमाणमृषिं कृत्वा सोऽन्धे तमसि मज्जति ॥' इति (२।६।३) गृह्यसङ्ग्रहवचनात्। यदि मानुषत्वोक्त्याऽवेदत्वं स्यात्तदा तु 'यजुर्वेदस्तु मानुषः' (म० ४।१२४) इत्युक्त्या यजुर्वेदस्यावेदत्वापत्तिः स्यात्। शतपथोक्तपाठस्यैव मूलवेदत्वे तु 'इत्येतदुक्तप्रत्युक्तं पञ्चदशर्चं बह्वृचाः प्राहुः; (श० ११।५।१।१०) इति शतपथब्राह्मणरीत्या उर्वशीपुरुरवस्सूक्तस्य पञ्चदशर्चस्यैव मूलवेदत्वं स्यात्। तथात्वे च प्रसिद्धाया ऋग्वेदसंहिताया अवेदत्वमेव स्यात्। तत्र तत्सूक्तस्याष्टादशर्चत्वात्। 'होता यो विश्ववेदसः' इति पाठः कस्याः संहितायां इति दर्शयितुमशक्यत्वाच्च। तथात्वे च निरुक्त (६।२८) रीत्या यास्कमतेन समाजिसम्मतायाः शाकल्यसंहिताया मूलवेदभिन्नत्वापत्तिश्च स्यात्। तद्रीत्या 'वा' 'य' इति पाठस्य मानुषत्वमेव। समाजिसम्मतविश्वेश्वरानन्दीयऋग्वेदीयपदसूच्यां यास्कसम्मतस्य 'वा' 'य' इति पाठस्याभावाद् इति प्राग् दर्शितमेव। ऋग्वेदशौनकीयशाखायामपि (२०।७६।१) 'वाय' इति पाठो नास्ति, 'वा' 'य' इति पाठ एव विद्यते। शतपथे 'स होतुरिह निलिम्पति' इत्यारभ्य 'देवाय इदं हविर्जुषताम्' (१।४।८।१) इत्यन्तस्य १४-३७ इति चतुर्विंशतिखण्डैस्तैत्तिरीय बाह्मणे (३।५।१३) पठितानां मन्त्राणामाशीर्वादादिकर्मसु विधानमुक्तम्। तस्मात् सर्वाः शाखा मिलित्वैव वेदो भवति। कृष्णयजुर्वेदसंहितायाः सत्त्वं पूर्वमेवासीत्। शुक्लसंहितास्तु याज्ञवल्क्येन सूर्यादवाप्ताः। तस्मान्मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूप एकत्रिंशदुत्तरैकादशशतशाखात्मको मानवबुद्धिग्राह्यो वेदः। परमात्मबुद्धिस्थास्तु अनन्ता एव वेदाः, 'अनन्तावै वेदाः' (तै० ब्रा० ३।१०।११।४) इति तैत्तिरीयब्राह्मणवचनात्।

करते हैं कि शतपथ (१।४।१।३५) के प्रमाण से प्रतीत होता है कि ऋ० सं० १।१२।१ 'होतारं विश्ववेदसम्' इस प्रकार के पाठ को ही बोले। उससे भिन्न 'होता यो विश्ववेदस' इस पाठ को न बोले, क्योंकि वह मानुष है। तस्मात् शाखाओं से अन्य कोई मूलवेद होगा ऐसा ज्ञात होता है। किन्तु यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि मूलवेद के रूप में समाजिसम्मत वेदों की भी शाकल्य, वाजसनेयी, कौथुमी, शौनकी संहिताओं में शाखात्व समानरूप से है। अन्यसंहिता पाठ को मानुषत्वोक्ति कहना अपनी शाखा में निष्ठा की दृढ़ता के लिये निन्दार्थवाद के रूप में ही है। और उससे विधेय की स्तुति ही प्रतीत होती है। यदि मानुषत्वोक्ति से अवेदत्व होता हो तो 'यजुर्वेदस्तु मानुषः' (म० ४।१२४) इस उक्ति के अनुसार यजुर्वेद को भी अवेद कहना होगा। शतपथोक्त पाठ को मूलवेद माना जाय तो 'इत्येतदुक्तप्रत्युक्तं पञ्चदशर्चं बह्वृचाः प्राहुः' (श० प० ११।५।१।१०) इस शतपथ ब्राह्मण की रीति के अनुसार पन्द्रह ऋचा वाले उर्वशी-पुरुरवस सूक्त को ही मूलवेद कहना होगा। तब प्रसिद्ध ऋग्वेद संहिता को अवेद मानना पड़ेगा। क्योंकि उसमें वह सूक्त अठारह ऋचा का है, और 'होता यो विश्ववेदसः' यह पाठ किस संहिता का है यह बताना भी अशक्य है। तब निरुक्त (६।२८) की रीति के अनुसार यास्क के मत से समाजियों की सम्मत शाकल्यसंहिता को मूलवेद से भिन्न कहना होगा। क्योंकि उनकी रीति से तो 'वा' 'य' ये पाठ तो मानुष ही है। समाजियों को सम्मत विश्वेश्वरानन्दीय ऋग्वेदीय पद सूची में यास्कसम्मत 'वा' 'य' यह पाठ नहीं है, यह पहले बता ही चुके हैं। ऋग्वेद की शौनकीयशाखा में भी (२०।७६।१) 'वाय' पाठ नहीं है, 'वा' 'य' यही पाठ है। शतपथ में 'सहोतुरिह निलिम्पति' आरंभ कर 'देवाय इदं हविजुषताम्' तक चौबीस खण्डों में तैत्तिरीय ब्राह्मण पठित मन्त्रों का अशीर्वादादि कर्मों में विधान बताया गया है। तस्मात् समस्त शाखा मिलकर ही वेद है। कृष्णयजुर्वेद की संहिता का सत्त्व पूर्व से ही था। शुक्लयजुर्वेद की संहिताओं को याज्ञवल्क्य ने सूर्य से प्राप्त किया था। तस्मात् मन्त्र-ब्राह्मण समुदायरूप (११३१) एकत्रिंशदुत्तरैकादशशतशाखात्मक मानवबुद्धिग्राह्य वेद है। परमात्मा की बुद्धि में स्थित तो अनन्त वेद हैं, इसमें 'अनन्ता वै वेदाः' यह तैत्तिरीय वचन प्रमाण है।

युधिष्ठिरमीमांसकः पूर्वोक्तमेवार्थं मीमांसाशाबरभाष्ये (१० २० पृ० १२७) प्रतिपादितवान् । वस्तुतस्तु पूर्वमीमांसानाम्नाऽयं स्वमन्तव्यमेव प्रतिपादयति; न मीमांसासिद्धान्तम् । दयानन्दस्वामिना स्वग्रन्थे शाबरभाष्यस्य प्रामाण्यमङ्गीकृतम् । आद्यशङ्कराचार्यः शास्त्रतात्पर्यविद, इति रूपेण यं स्मरति, तस्यायं स्वेच्छया व्याख्यानं खण्डयति, स्वार्थपूर्तये च तस्य वचनान्यप्युद्धरति । सर्वथाऽप्ययं पूर्वमीमांसा-विरोधी शबरस्वामि-कुमारिल-शङ्कराचार्यादिविरोधी, तथापि निर्लज्जतया स्वपक्षसमर्थनाय तानाश्रयतेऽपि ।

यदपि (१।१।२७।२८ पृ० १०२) विगतेऽधिकरणद्वये शब्दानित्यत्व-वाक्यरचनाभ्यां वेदानित्यत्वं समाहितम्, तदशुद्धम् । अनित्यताया निराकरणं कर्तव्यं भवति, न समाधानमिति ज्ञातव्यत्वात् । यदपि च तत्र वेदसंहितानां शाकल्यादिनामप्रयोगैरनित्यदोषस्य समाधानं क्रियते, तदप्यशुद्धमेव, अस्पष्टत्वाद्, भ्रामकत्वाच्च । काठकादिसमाख्याजनितदोषनिराकरणेनैव शाकलादिसमाख्योत्थितभ्रमस्यापि निराकृतत्वात् ।

यदप्युक्तं तेन—'जैमिनिना स्वग्रन्थे वेदाम्नायश्रुतिशब्दानां प्रयोगः कृतः' इति, तदप्यशुद्धम्, जैमिनिना न स्वग्रन्थे वेदादिशब्दानां प्रयोगः कृतः, किन्तु मन्त्रब्राह्मणयोर्जैमिनिना वेदाम्नायश्रुतिशब्दानां प्रयोगः कृत इत्येव स्पष्टं वक्तव्यत्वात् । तथा चाङ्गीकृतमेतद्यत् जैमिनिनापि—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति' याज्ञिकानामेव सिद्धान्तः प्रतिपादितः, याज्ञिकाश्च वैदिका एव, तथा चायमेव वैदिकः सिद्धान्तः इत्यपि वक्तव्यम् । यदपि यज्ञसम्बन्धिग्रन्थेषु वेदशब्देन मन्त्रब्राह्मणयोर्ग्रहणमिति मयापि (यु० मीमांसकेनापि) स्वीक्रियते, तदपि छद्ममात्रम् । सत्यञ्चेत् समाप्तः शास्त्रार्थः, किमर्थं समयोऽपयाप्यते निरर्थकेन प्रलापेन। न केवलं जैमिनिना, किन्तु व्यासेन, पाणिनिना, पतञ्जलिना, गौतमेन, कणादेन, वात्स्यायनेन,

युधिष्ठिर मीमांसक अपने मन्तव्य को ही पूर्वमीमांसा के नाम पर बता देता है, पूर्वमीमांसा शास्त्र के सिद्धान्त को नहीं बताता । इसके दादा गुरु दयानन्दस्वामी ने अपने ग्रन्थ में शाबरभाष्य को प्रमाण माना है, तथा आद्य शंकराचार्य शास्त्रतात्पर्यवित् शब्द से जिसका स्मरण करते हैं, उसकी की हुई व्याख्या का खण्डन अपने को मीमांसक माननेवाला युधिष्ठिर (मीमांसक) अपनी इच्छा के अनुसार कर रहा है । और कहीं-कहीं अपनी स्वार्थपूर्ति के लिये उनके वचनों को उद्धृत भी करता है । अतः मीमांसा शाबर भाष्य पर इसने जो कुछ हिन्दी व्याख्या के रूप में लिखा है, वह प्रामाणिक न होने से विश्वास के योग्य नहीं है । मीमांसा शाबरभाष्य पर लिखी हुई इसकी हिन्दी व्याख्या को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यह सर्वथा पूर्वमीमांसाशास्त्र का विरोधी है । शबरस्वामी, कुमारिलभट्टपाद, आद्यशंकराचार्य आदि प्रामाणिक विद्वानों का यह पूर्णरूप से विरोधी है । यत्र तत्र अपने पक्ष के समर्थनार्थ निर्लज्ज होकर उनका आश्रय (सहारा) लेने में भी वह हिचकता नहीं है ।

(१।१।२७-३२) पिछले दो अधिकरणों में शब्दानित्यत्व और वाक्यरचना के द्वारा वेद की अनित्यता का जो भी (१०२ पृ०) समाधान किया है, वह भी अशुद्ध है ।इतना तो इन्हें समझना चाहिये था कि अनित्यता का निराकरण कर्तव्य होता है, न कि समाधान । वेदसंहिताओं के साथ शाकल्य आदि ऋषियों के नाम जुड़ने के कारण प्रतीत होनेवाले अनित्यदोष का जो समाधान किया है, वह भी अशुद्ध है, क्योंकि वह अस्पष्ट और भ्रामक है । काठकादि समाख्या के कारण उत्पन्न हुए दोष का निराकरण करने से ही शाकल आदि समाख्या से उत्पन्न हुए भ्रम का भी निराकरण हो जाता है ।

यह जो कहा है कि जैमिनि ने अपने ग्रन्थ में वेद, आम्नाय, श्रुति शब्दों का प्रयोग किया है, वह भी अशुद्ध है । जैमिनि ने अपने ग्रन्थ में वेदादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया है, किन्तु मन्त्र और ब्राह्मण में वेद, आम्नाय, श्रुति शब्दों का प्रयोग जैमिनि ने किया है—इस प्रकार स्पष्ट कहना चाहिये । तथा च यह स्वीकार कर लिया है कि जैमिनि ने भी 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' वेद संज्ञा, मन्त्र-ब्राह्मण दोनों की है—यह याज्ञिकों का सिद्धान्त ही बताया है । याज्ञिक भी वैदिक ही हैं । तथाच यही वैदिक सिद्धान्त है, यह भी कहना चाहिये । यह जो कहा है कि यज्ञसम्बन्धिग्रन्थों में वेद शब्द से मन्त्र और ब्राह्मण का ग्रहण किया जाता है, उसे मैं (युधिष्ठिर मीमांसक) भी स्वीकार करता हूँ, किन्तु उनका यह कथन केवल छद्म है । यदि वह कथन सत्य हो तो शास्त्रार्थ (वाद-विवाद) ही समाप्त होता है । तो क्योंकर निरर्थक प्रलाप के द्वारा समय का दुरुपयोग कर रहे हो ? केवल जैमिनि ने ही नहीं, बल्कि व्यास,

तदनुयायिभिः शबर-कुमारिल-शंकर-वाचस्पति-रामानुजादिभिरपि तथैवाङ्गीक्रियते। त्वदीयाचार्येण दयानन्देनापि वेदाम्नायश्रुतीनां पर्यायवाचकत्वमुक्तम्। "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" (जै० १।२।१) इत्यत्र मन्त्रब्राह्मणेष्वाम्नायशब्दप्रयोगेणापि तेषां वेदत्वमेव सिद्ध्यति। "आम्नायः पुनर्मन्त्रा ब्राह्मणानि च" इति कौशिकसूत्रमपि मन्त्रब्राह्मणानां वेदत्वं बोधयति। नेदं यजुर्वेदीयं सूत्रमेतावता येषां ग्रन्थेषु मन्त्रब्राह्मणानां मिश्रणमासीत्तैरेव तादृशं वेदसंज्ञाविधायकं सूत्रं विनिर्मितमिति युधिष्ठिरमीमांसकमतं सर्वथा खण्डितं भवति। अथर्ववेदीयमिदं सूत्रम्, न चाथर्ववेदसंहितायां मन्त्रब्राह्मणमिश्रणं विद्यते। एवमेव 'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः' (पारस्कर गृह्यसूत्रे २।६।५) इति पारस्करगृह्यसूत्रम्। पारस्करोऽपि न कृष्णयजुर्वेदीयः। सोऽपि विधिपदेन विधिवाक्यानि, विधेयपदेन मन्त्रान्, तर्कपदेनार्थवादवचनानि गृह्णाति। षडङ्गानां वेदत्ववचनमेतस्य मतमौपचारिकमेव।

यत्तु श्रुतिपदमपि याज्ञिकानां पारिभाषिकम्, तेन मन्त्रब्राह्मणयोर्ग्रहणमिति, तदपि निर्मूलत्वादुपेक्ष्यम्। यत्तु (अ० २४) इति उत्तरं श्रुतिरूपा मन्त्रा आश्वमेधिकानां पशूनां द्रव्य-देवता-सम्बन्धाभिधायिनः' इति वचनेन चतुर्विंशाध्यायस्य प्रथममन्त्रमारभ्य पञ्चविंशाध्यायस्य नवममन्त्रपर्यन्तं सर्वे मन्त्राः श्रुतिरूपा ब्राह्मणरूपा उच्यन्ते' इति, तदपि निरर्थकम्, त्वयैवोव्वटादिविरोधिना तत्प्रामाण्यानभ्युपगमात्।

यत्तु—"वेदो वा प्रायदर्शनात्" (जै० सू० ३।३।२) इत्यधिकरण उक्तम्—"उच्चैर्ऋचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा", इत्यत्र ऋग्यजुःसामशब्दानां को वार्थ इति विचारणीयम्, "यत्रार्थवशात् पादव्यवस्था सा ऋक्, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुः शब्द" इत्यादि लक्षणलक्षिता मन्त्रा चतुर्णां वेदानां संहितासु शाखासु च लभ्यन्ते, यथा यजुःसंहितासु गद्यात्मकाः पद्यात्मकाश्च मन्त्राः पठिताः, अतः पूर्वपक्षरीत्या उक्तवचने ऋक्सामयजुःशब्दा जातिवाचकाः, तेन यत्र क्वापि

पाणिनि, पतञ्जलि, गौतम, कणाद, वात्स्यायन तथा उनके अनुयायी शबर, कुमारिल, शंकर, वाचस्पति और रामानुजाचार्य आदिकों ने भी उसी तरह मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद शब्द से कहा है। तुम्हारे आचार्य दयानन्द ने भी वेद, आम्नाय, श्रुति शब्दों को पर्यायवाचक कहा है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्'—(जै० सू० १।२।१) इस सूत्र में मन्त्र-ब्राह्मण दोनों के लिये 'आम्नाय' शब्द के प्रयोग करने से भी उनका (मन्त्र-ब्राह्मण दोनों का) वेदत्व स्पष्ट हो जाता है। उसी तरह 'आम्नायः पुन र्मन्त्रा ब्राह्मणानि च' इस कौशिक सूत्र से भी मन्त्र-ब्राह्मण दोनों में वेदत्व बताया गया है। यह कृष्णयजुर्वेद का सूत्र नहीं है, इतने कथनमात्र से ही युधिष्ठिर मीमांसक के मत—'जिनके ग्रन्थों में मन्त्र-ब्राह्मणों का मिश्रण था, उन्हीं लोगों ने उस प्रकार का वेद संज्ञाविधायक सूत्र रच दिया'—का खण्डन अच्छी तरह हो जाता है। उपर्युक्त सूत्र अथर्ववेद का है। अथर्व वेद की संहिता में मन्त्र और ब्राह्मण का मिश्रण नहीं है। उसी प्रकार "विधिर्विधेयस्तर्कश्चवेदः' (पारस्कर गृयसूत्र २।६।५) यह पारस्करगृह्यसूत्र है। पारस्कर भी कृष्णयजुर्वेदीय नहीं है। किन्तु उसने भी 'विधि पद से विधिवाक्यों को, 'विधेय' पद से मन्त्रों को, 'तर्क' पद से अर्थवाद वाक्यों को बताया है। षडङ्गों का वेदत्वप्रतिपादक मत तो औपचारिक है।

यह जो कहा है कि 'श्रुति' पद, तो याज्ञिकों की परिभाषा मात्र है, उसमें मन्त्र-ब्राह्मण दोनों का ग्रहण किया जाता है।' वह कथन मी निर्मूल होने से उपेक्षणीय है। उसी तरह '[अ० २४] के आगे वाले श्रुतिरूप मन्त्र, आश्वमेधिक पशुओं के द्रव्य-देवता सम्बन्ध को बताते हैं, इस उव्वट के वाक्य से चौबीसवे अध्याय के प्रथम मन्त्र से प्रारम्भ कर पचीसवे अध्याय के नवम मन्त्र तक सभी मन्त्र श्रुतिरूप ब्राह्मणरूप कहे जाते हैं।'—यह कहना भी तुम्हारी दृष्टि से निरर्थक ही होगा क्योंकि उव्वट आदि प्रामाणिक विद्वानों से विरोध रखने वाले एकमात्र तुम ही उन्हें प्रमाण नहीं मान रहे हो।

"वेदो वा प्रायदर्शनात्"—(जै० सू० ३।३।२) इस अधिकरण में जो कहा गया है कि—उच्चैर्ऋचा क्रियते, उच्चैःसाम्ना, उपांशु यजुषा इन वाक्यों में प्रयुक्त ऋक्, यजुस्, और सामन् शब्दों का क्या अर्थ है? इसका विचार करना चाहिये। "जहां अर्थ के कारण पाद व्यवस्था रहती है उसे 'ऋक्', तथा 'गीति को सामसंज्ञा दी गई है और 'अवशिष्ट के लिये यजुस् शब्द का प्रयोग करना चाहिये। इन लक्षणों से लक्षित मन्त्र, चारों वेदों की संहिताओं और शाखाओं में प्राप्त होते हैं। पूर्वपक्षी का कहना है कि ऋक्-साम-शब्द,

तादृशा मन्त्राः पठिताः, तत्र तत्र पूर्वोक्तवचनरीत्या उच्चैस्त्वादिधर्मेणोच्चारणीयाः, उत्तरपक्षरीत्या तु ऋगादिवचनैर्ऋगादिवेदा ग्राह्याः। कुतः ? आदिवचने वेदशब्ददर्शनात् "तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा असृज्यन्त, अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेद·······", "उच्चैर्ऋचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा" इति। तथा च स्वस्ववेदपठिता मन्त्रा उच्चैस्त्वादिधर्मेणोच्चारणीयाः। ते मन्त्राः पद्यात्मका, गद्यात्मका, गानात्मका वा भवेयुः। "लिङ्गाच्च" (जै० सू० ३।३।३) इति सूत्रे शबरस्वामिवचनम्—"ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्येऽह्नः सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः॥" (तै० ब्रा० ३।१२।९) इति।

"वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत" (मी० ३।३।८) यदुक्तं 'ऋगादिशब्दैर्ऋगादिजातीयमन्त्राणां ग्रहणे प्रकरणमनुगृहीतं स्यादिति; तदपिन, वेदसंयोगाद् वाक्येन प्रकरणस्य बाधितत्वान्न दोषः, वाक्यापेक्षया प्रकरणस्य दुर्बलत्वात्', इति तदेतत्सर्वमसत्, पूर्वोत्तरपक्षासङ्गतेः।

त्वद्रीत्या ऋङ्मन्त्रा एव ऋग्वेदः, यजुर्मन्त्रा एव यजुर्वेदः, साममन्त्रा एव सामवेदस्तदा स्वत एव ऋक्पदेन ऋग्वेद एव ग्रहीष्यते, यजुःपदेन यजुर्वेद एव ग्रहीष्यते, तदा पूर्वोत्तरपक्षौ निरालम्बनौ स्याताम्; सूत्राणि च तदर्थं निरर्थकान्येव स्युः। कथं च त्वद्रीत्या यजुर्वेदे ऋङ्मन्त्राणां साङ्कर्यम्, साङ्कर्यंचेन्न ऋगेव ऋग्वेदः, यजुरेव यजुर्वेदः। अत एव न मन्त्रा एव वेदाः। तथात्वे तदधिकरणनैरर्थक्यापातात्। कथञ्चिद् यजुर्वेदे ऋङ्मिश्रणाभ्युपगमेऽपि ऋक्संहितायां तु ऋच एव सन्ति, सामसंहितासु च ऋच एव सन्ति, न च तत्र यजुषां संमिश्रणमस्ति, तथात्वे "उच्चैर्ऋचा, उपांशु यजुषा' इत्येव स्यात् 'उच्चैः साम्ना' इति व्यर्थमेव स्यात्, ऋग्ग्रहणेनैव साम्नां गृहीतत्वात्। तस्माद् ऋचां बाहुल्यं ऋचो वा पठनीया यत्र मन्त्रब्राह्मणा-

जातिवाचक हैं। अतः जिस किसी भी वेद में उन मन्त्रों के पठित रहने पर पूर्वोक्त विधान के अनुसार उन उन मन्त्रों को उच्चैस्त्वादि धर्म से ही बोलना चाहिये। किन्तु उत्तर पक्षी कहता है कि नहीं, उपर्युक्त वाक्य में आये हुए 'ऋक् आदि शब्दों का अर्थ मन्त्र न होकर 'वेद' है। क्योंकि उपक्रम वाक्य में 'वेद' शब्द पढ़ा गया है। अतः अपने अपने वेद में पठित मन्त्रों को उच्चैस्त्वादि धर्म के साथ कहना चाहिये। चाहे वह मन्त्र पद्यात्मक हों या गद्यात्मक हों अथवा गानात्मक हों। "लिङ्गाच्च"—(जै० ३।३।४) इस सूत्र पर शबरस्वामी का वचन है—प्रातः आकाश में सूर्य देव ऋग्वेद के द्वारा गमन करता है, और मध्यान्ह में यजुर्वेद के द्वारा स्थिर रहता है तथा अस्तमनकाल में सामवेद के द्वारा पूजित होता है, इस प्रकार तीनों वेदों से सम्बन्धित हुआ सूर्यदेव गमन करता रहता है। (तै० ब्रा० ४।१२।९)

"वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत" (मी० सू० ३।३।८) यह जो कहा गया था कि 'ऋगादि' शब्दों से ऋगादिजातीयमन्त्रों का ग्रहण करने पर प्रकरण अनुगृहीत हो सकेगा। किन्तु वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपक्रमस्थ वाक्य में वेद शब्द का सम्बन्ध रहने से वाक्य प्रमाण के द्वारा प्रकरण प्रमाण का बाध हो जाता है। अतः कोई दोष नहीं है। वाक्य की अपेक्षा प्रकरण दुर्बल होता है। यह सब असत् है क्योंकि पूर्वोत्तरपक्ष की संगति नहीं बैठ पाती।

तुम्हारी रीति से ऋङ्मन्त्र ही ऋग्वेद हैं, और यजुर्मन्त्र ही यजुर्वेद हैं तथा साममन्त्र ही सामवेद हैं, तब स्वत एव ऋक् पद से ऋग्वेद का ही ग्रहण होगा और यजुः पद से यजुर्वेद का ही ग्रहण होगा, तब पूर्वोत्तर पक्ष दोनों ही निराधार हो जायेंगे एवं उसके लिये जो सूत्र हैं वे भी निरर्थक हो जायेंगे। तुम्हारी रीति से यजुर्वेद में ऋङ् मंत्रों का सांकर्य कैसे हो जायगा ? यदि सांकर्य मानोगे तो ऋक् को ही ऋग्वेद और यजुष् को यजुर्वेद कैसे कहा जा सकेगा ? अतएव मन्त्र ही वेद नहीं है। ऐसी स्थिति में तत्सम्बन्धित अधिकरण व्यर्थ होंगे। कथञ्चित् यजुर्वेद में ऋचाओं के मिश्रण को मान लेनेपर भी ऋक् संहिता में तो ऋचाएँ ही हैं और साम संहिताओं में भी ऋचाएँ ही हैं, उनमें यजुर्मन्त्रों का मिश्रण नहीं है। तब 'उच्चैर्ऋचा, उपांशु यजुषा' इतना ही कहा होता, 'उच्चैः साम्ना' यह कहना तो व्यर्थ ही रहता। क्योंकि ऋक् का ग्रहण करने से ही साम का ग्रहण हो ही जाता। इसलिये जिस मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद में ऋचाओं का बाहुल्य या ऋचाएँ पठनीय हों, वह ऋग्वेद है। तथा जिस मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद में यजु या साम

त्मके वेदे स ऋग्वेदः, यजुषां साम्नां वा बाहुल्यं तादृशा मन्त्राः पठनीया वा यत्र तौ यजुर्वेद-सामवेदौ इति रीत्या ऋग्वेद-पदेन मन्त्र-ब्राह्मणात्मको वेद ऋग्वेद इत्याख्यायते ।

तथा च केवलमृग्यजुःसामशब्दैः केवला ऋगादयो मन्त्रा अभिप्रेयन्ते, ऋग्वेदादिशब्देन तु मन्त्रब्राह्मणात्मका वेदा आख्यायन्ते । उपक्रमे वेदपदप्रयोगाल्लक्षणया ऋगादिशब्दा अपि ऋग्वेदादिपरा मन्तव्याः, तत एव सामपदसार्थक्य-मन्यथा सामपदेन मन्त्राणामेव ग्रहणे ऋग्ग्रहणेनैव तद्ग्रहणसंभवेन सामपदं व्यर्थमेव स्यात् । सामपदं सामब्राह्मणग्रहणार्थमेव । अत एव शबरस्वामिनात्राधिकरणे—"किं ऋगादिजातिमधिकृत्यैते शब्दाः प्रवृत्ता उत वेदमधिकृत्य" इति पूर्वपक्षे एषां शब्दानां श्रवणादेव जातिं प्रतिपद्यामहे । तेनोपांशुत्वं जात्याधिकृतया संबद्ध्यते ।" तन्त्रवार्तिके च मन्त्रब्राह्मणतर्काणां समूहे काठकादिके वेदत्वं वर्तते नित्यमनेकक्रतुगामिनि । अत्र विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः" इति पारस्कररीत्या विधिशब्दोक्तस्य ब्राह्मणस्य विधेयशब्दोक्तानां मन्त्राणां तर्कपदोक्तस्य—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्युपनिषद्भागस्य वेदत्वं स्मृतं, तत्समूहे काठकाद्याख्ये क्रतुविषये वेदत्वं व्यासज्य वर्तत इत्युक्तम् ।

"वेदो वा प्रायदर्शनात्" (जै० सू० ३।३।२) इति सिद्धान्तसूत्रे तु वेदशब्देनोपक्रम्य उपसंहारे—"उच्चैर्ऋचा क्रियते" इत्यादीनां श्रवणाद् वेदवचनैरेवोपसंहारेण भाव्यम् । "लिङ्गाच्च" (जै० सू० ३।३।३) इति सूत्रेणापि ऋगादिशब्दै-र्लक्षणया वेदा एव बोध्यन्ते । "ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव इयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अह्नः । सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः । (तै० ब्रा० ३।१।२९।५) इत्यत्र ऋक्शब्दो वेदवचनो ज्ञायते । धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण सम्बन्धः, 'उच्चैः साम्ना' इति साम्नो धर्मोपदेशः । जाताधिकारे तु ऋच उच्चैस्त्वेन साम्न उच्चैस्त्वं सिद्धमेव, वेदग्रहणेन तु साम-ब्राह्मणग्रहणार्थमेव उच्चैः साम्न इति सङ्गतं स्यात् ।

का बाहुल्य अथवा तादृश मन्त्र पठनीय हों जो क्रमशः यजुर्वेद और सामवेद हैं । इस रीति के अनुसार 'ऋग्वेद' पद से मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद को ऋग्वेद कहा गया है ।

तथा च केवल ऋक्, यजुःसाम शब्दों से केवल ऋगादि मन्त्र अभिप्रेत हैं । और ऋग्वेद आदि शब्द से मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद कहे जाते हैं । उपक्रमस्थवाक्य में 'वेद' पद का प्रयोग किया होने से लक्षणा के द्वारा ऋगादि शब्दों को भी ऋग्वेदादिपरक ही स्वीकार करना चाहिये । तभी 'साम' पद की सार्थकता हो सकेगी; अन्यथा 'साम' पद से मन्त्रों का ही ग्रहण करने पर 'ऋक्' शब्द से भी उन मन्त्रों का ग्रहण सम्भव रहने से 'साम' पद व्यर्थ ही हो जायगा । 'साम' पद, सामब्राह्मण के ग्रहणार्थ ही हैं । अतएव शबरस्वामी ने इस अधिकरण में—'क्या ऋगादि जाति को लक्ष्य कर ये शब्द प्रवृत्त हुए हैं, अथवा वेद को लक्ष्य कर" ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष में कहा है कि इन शब्दों के सुनते ही जाति की प्रतीति होती है । इस कारण अधिकृत जाति के साथ इन शब्दों का सम्बन्ध प्रतीत होता हैं' इससे 'उपांशुत्व धर्म का सम्बन्ध अधिकृत जाति के साथ होगा, उसी तरह तन्त्रवार्तिक में नित्य और अनेक क्रतुगामी मन्त्र, ब्राह्मण, तर्कों के समूह रूप काठकादि में वेदत्व रहता है । वहीं पर 'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः' इस पारस्कर की रीति के अनुसार 'विधि' शब्द से बताये गये—ब्राह्मण में, और विधेय' शब्द से बताये गये मन्त्रों में तथा 'तर्क' शब्द से बताये गये 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'—जिससे ये प्राणि पैदा होते हैं—इस उपनिषद् भाग में वेदत्व' बताया है, क्रतु को विषय करनेवाले तत्समूहरूप काठक आदि नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ में 'वेदत्व' व्यासज्य वृत्ति से रहता है, यह कहा गया है ।

किन्तु 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' (जै० सू० ३।३।२) इस सिद्धान्तसूत्र में 'वेद' शब्द से उपक्रम कर उपसंहार में 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' इत्यादि वाक्यों केसुनाई देने से उपसंहार भी 'वेद' शब्द से ही होना चाहिये । 'लिङ्गाच' (जै० सू० ३।३।३) इस सूत्र के द्वारा भी ऋगादि शब्दों से लक्षणा के द्वारा 'वेदों को ही बताया गया है । उसी तरह ऋग्भिः प्रातर्दिविदेव ईयते……।'—(तै० ब्रा० ३।१२।९) यहाँ पर भी 'ऋक्' शब्द वेदवाचक ही प्रतीत हो रहा है । 'धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण सम्बन्धः'—(जै० सू० ३।३।४), उच्चैः साम्ना' यह कहकर साम के धर्म का उपदेश किया गया है । जाताधिकार में तो ऋचाओं का उच्चैस्त्वधर्म होने से साम का उच्चैस्त्वधर्म अर्थात् सिद्ध हो ही जाता है, और ऋगादि शब्दों का 'वेद' अर्थ करने पर सामब्राह्मण के ग्रहणार्थ ही 'उच्चैः साम्ना' यह कथन संगत हो सकेगा ।

सूत्रे तु तत्र यदि ऋग्वेदव्यतिक्रान्तानामृचां यजुर्वेद उपांशुत्वं भवति न तद्दूषणाय, वेदधर्मः स न ऋग्धर्मः। यत्तु "उच्चैस्त्वादिकं तु सर्वथा मन्त्रेष्वेव विधीयते, न ब्राह्मणेष्विति" तदपि यत्किञ्चित्—"य एवं विद्वानग्निमाधत्ते", इति याजुर्वैदिक-अग्न्याधानविधाने—"य एवं विद्वान् वारवन्तीयं गायति, य एवं विद्वान् यज्ञायज्ञियं गायति, य एवं विद्वान् वामदेव्यं गायति" इत्यत्र उच्चैरेतानि सामानि गेयानीति प्राप्ते– "मुख्यानुरोधेन गुणो व्यतिक्रमितव्यो मुख्यश्चानुग्रहीतव्यः" इति सिद्धान्तितम् मुख्यार्थत्वाद् गुणस्य। उत्पत्तिविधिमालोच्य साम्नां वेदान्तरीत्या 'साङ्गप्रधानसम्बन्धादुपांशुत्वं तु गम्यते' (तन्त्रवार्तिके) इत्युक्तत्वात्। अन्यत्र च आधानयजुषां तु याजुर्वैदिकप्रधानविधिविहितत्वादेवोपांशुत्वम्, "य एवं विद्वान् वामदेव्यं गायति"—इत्यादीनि यजुर्वेदवाक्यान्येव। ननु याजुर्वैदिकज्योतिष्टोमाङ्गानां स्तोत्रशस्त्रादीनामप्येतेनैव न्यायेनोपांशुत्वं प्राप्नोति, सत्यं प्राप्नोति, वचनात्तु सर्वत्र स्वरान्तरलाभः, "मन्द्रं याज्यभागान्तं, परं मध्यमया, उत्तमयानुयाजादि"— इति वचनस्य तत्र प्रमाणत्वात्।

यतूक्तम्– 'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्व०" (ऋ० सं० १०।७१।११) "ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे" (निरुक्ते, १।८) इति मन्त्रे निरुक्तरीत्या ऋत्विक्कर्मणां विधानमस्ति, चतुर्थचरणव्याख्याने एकऋत्विग्यज्ञस्य मात्रां विमिमीते सोऽध्वर्युः। एवं यज्ञस्वरूपनिष्पादकऋत्विगध्वर्युः, यज्ञस्वरूपनिष्पादकानां कर्मणां मन्त्रा यजुर्वेदे पठिताः। अतो यजुर्वेदस्याध्वर्यवो वेद इति याज्ञिकानां समाख्या। यजुर्वेदमन्त्रैः क्रियमाणानां कर्मणां विधानं यजुर्वेदस्य ब्राह्मणेऽस्ति। एवं रीत्या मन्त्राणां विनियो-

सूत्र के अनुसार यदि ऋग्वेद की ऋचाएँ यजुर्वेद में आ जांय तो उनके साथ 'उपांशुत्व' धर्म का ही सम्बन्ध होगा। यजुर्वेद में ऋचाओं को उपांशु कहने में कोई दोष नहीं है। क्योंकि 'उपांशुत्व' धर्म वेद का है, ऋचाओं का नहीं। यह जो कहा गया है कि "उच्चैस्त्वादि" धर्म का सर्वथा मन्त्रों में ही विधान किया जाता है, ब्राह्मणों में नहीं। वह कथन भी निरर्थक है। क्योंकि "य एवं विद्वानग्निमाधत्ते" इस याजुर्वैदिक अग्न्याधान का विधान करते समय "य एवं विद्वान् वारवन्तीयं गायति……"। जो विद्वान् इस प्रकार वारवन्तीयसामगान करता है, जो विद्वान् यज्ञायज्ञिय सामगान करता है, जो विद्वान् वामदेव्यसामगान करता है, इत्यादि वाक्य पढ़े गये हैं। इन वाक्यों के देखने से इन सामों को उच्चस्वर से गाना चाहिये ऐसा प्राप्त होता है। किन्तु 'मुख्यानुरोधेन गुणो व्यतिक्रमितव्यो मुख्यश्चानुग्रहीतव्यः' मुख्य के अनुरोध से अमुख्य (गुण) में व्यतिक्रम किया जाता है और मुख्य को अनुगृहीत किया जाता है— यह सिद्धान्त किया गया है। क्योंकि गुण, मुख्य के लिये होता है। उत्पत्तिविधि को देखते हुए वेदान्त की पद्धति के अनुसार सामों का 'साङ्गप्रधानसम्बन्धादुपांशुत्वं तु गम्यते'—सांग प्रधान के साथ सम्बन्ध रहने से उनमें उपांशुत्व प्रतीत होता है, ऐसा तंत्रवार्तिक में कहा गया है।

अन्यत्र भी कहा गया है कि 'आधानयजुष्' याजुर्वैदिकप्रधानविधि से विहित होने से ही उनको 'उपांशु' स्वर से कहा जाता है। "य एवं विद्वान् वामदेव्यं गायति" इत्यादिवाक्य, यजुर्वेद के ही हैं। इस रीति से याजुर्वैदिक ज्योतिष्टोमाङ्गभूत स्तोत्र, शस्त्रादिकों का भी क्या उपांशुस्वर होगा। हाँ, होना चाहिये था, किन्तु वचनविशेष के बल से सर्वत्र अन्यस्वर (स्वरान्तर) होता है। "मन्द्रयाज्यभागान्तं परं मध्यमया, उत्तमयानुयाजादि" यह वचन स्वरान्तर करने में प्रमाण है।

यह जो कहा है कि "ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीपु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः ॥" (ऋ० सं० १०।७१।११) "ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे" (निरु० १।८) इस मंत्र में निरुक्त की रीति से ऋत्विक्कर्मोंका विधान है, चतुर्थचरण के व्याख्यान में एक ऋत्विक् यज्ञ की मात्रा (विस्तार) को मापता है, वह अध्वर्यु कहलाता है, अर्थात् यज्ञ स्वरूप के निष्पादक ऋत्विक् को अध्वर्यु कहते है। यज्ञस्वरूप के निष्पादक कर्मों के मन्त्रों को यजुर्वेद में पढ़ा गया है। इस कारण याज्ञिकों ने यजुर्वेद को 'आध्वर्यववेद' यह नाम दिया है। यजुर्वेद के मन्त्रों से किये जानेवाले कर्मों का विधान यजुर्वेद के ब्राह्मण में है। इस रीति से मन्त्रों के विनियोजकरूप के व्याख्यानरूप यजुर्वेद ब्राह्मण को भी 'आध्वर्यव' शब्द से कहा जाता है।

जकरूपव्याख्यानत्वाद् यजुर्वेदब्राह्मणमपि आध्वर्यवमित्युच्यते' इति। तदेतत्सवं मूढ़जनप्रतारणमेव । त्वदभिमते मन्त्रात्मकवेदे कर्मणां विधानाऽभावात्, चरमया पङ्क्त्या त्वयाऽपि तत्स्वीकारात् ।

यद्यपि यथा पाणिनीयव्याकरणस्याध्येतारोऽपि पाणिनीया उच्यन्ते, पाणिनीये महाभाष्यादयोऽपि पाणिनीयनाम्ना व्यवह्रियन्ते, यथा वा व्याख्यारूपयोगात् पाणिनिसूत्रव्याख्याग्रन्थेष्वपि पाणिनीयशब्दः प्रयुज्यते, तद्वद् ब्राह्मणस्वरूपव्याख्यानग्रन्थेष्वपि वेदशब्दप्रयोगो भाक्तो भवति, मुख्यस्तु वेदशब्दो मन्त्रेष्वेव । अतः—"वेदसंयोगात्" (मी० ३।४।२८) इत्यत्र वेदशब्दो भाक्त एवेति तदपि निःसारम् निर्मूलत्वात्, भाष्यादिषु तथाऽस्वीकारात्। "गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात्" (जै० सू० ३।८।१२) श्येनयागे श्रुतम्—"लोहितोष्णीषा लोहितवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति" इतिश्येने श्रुतम्, हिरण्यमालिनः ऋत्विजः प्रचरन्ति" इति वाजपेये श्रुतम् । एवं लोहितोष्णीषत्व-हिरण्यमालित्वादयो धर्माः क्रमेणौद्गात्रे आध्वर्यवे च वेदे निर्दिष्टास्तत्तद्वेदसंबद्धानामृत्विजामेव धर्माः समेषां वा धर्मा इत्येवं विचारे सिद्धान्तसूत्रमिदम्—लोहितोष्णीषत्वादयो गुणाः सन्ति, तेन नैषामौद्गात्राऽऽध्वर्यवादिसंज्ञाद्वारा व्यवस्थानं भवति, तेन सर्वेषामेवैते गुणाः । (४, ५, ६,) संख्यातेषु पठितस्य वेदशब्दस्यात्राऽऽभिप्रायोऽपि ३ संख्यासूत्रस्येव ज्ञातव्यः । 'अत्र तद्वेदसम्बद्धेषु ब्राह्मणेषु भाक्तो वेदशब्दप्रयोगः' इति, तदपि निर्मूलम्, मुख्यबाध एव भाक्तः प्रयोगः सम्भवति, न चात्रबाधो दृश्यते, मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि वेदशब्दस्य मुख्यत्वोपपत्तेः । ये ये बाधकास्ते तु निरस्ता एव । व्यासजैमिन्यादिमहर्षीणां निःसङ्कोचेन मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च वेदाम्नायश्रुत्यादिशब्दप्रयोगाच्च तत्र मुख्य एव प्रयोग इति निश्चप्रचम् ।

'विधौ तु वेदसंयोगात्' (जै० सू० ६।७।२९) अत्रापि शाबरभाष्यरीत्या वेदशब्दो ब्राह्मणवचने प्रवृत्तः । अत्रापि भाक्ता (गौणा) र्थाश्रयणमसङ्गतमेव, मुख्यगौणार्थयोर्मुख्यार्थसम्प्रत्ययस्यैव न्याय्यत्वात् ।

किन्तु तुम्हारा यह सब कथन मूढ़जनों को भुलावा देना अर्थात् उनकी प्रतारणा करना मात्र है । क्योंकि तुम्हारे मत में जो मन्त्रात्मक वेद हैं उनमें कर्मों का विधान नहीं हैं, इस बात को तुमने स्वयं चरम पङ्क्ति में स्वीकार भी किया है ।

यह जो तुमने कहा है कि जैसे—पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन करनेवाले 'पाणिनीय' कहलाते हैं, पाणिनीय व्याकरण में महाभाष्यादिकों को भी 'पाणिनीय' नाम से कहते हैं, अथवा व्याख्यात्मक सम्बन्ध के कारण पाणिनिसूत्र के व्याख्याग्रन्थों के लिये भी 'पाणिनीय' शब्द का प्रयोग किया जाता है । उसी तरह ब्राह्मणात्मक व्याख्या ग्रन्थों के लिये भी 'वेद' शब्द का प्रयोग भाक्त (लाक्षणिक) है और वेद शब्द का मुख्य प्रयोग मन्त्रों के लिये ही है । अतः 'वेदसंयोगात्'—(मी० सू० ३।४।३८) इस सूत्र में 'वेद' शब्द का प्रयोग भाक्त (लाक्षणिक) ही है । वह भी निर्मूल होने से निःसार है । भाष्यादिग्रन्थों में उसे स्वीकार नहीं किया गया है ।

"गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात्' (जै० सू० ३।८।१२) श्येनयाग में यह वाक्य श्रुत है—'लोहितोष्णीषा लोहितवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति' तथा 'हिरण्यमालिनः ऋत्विजः प्रचरन्ति' यह वाक्य वाजपेय में श्रुत है । लोहितोष्णीषत्व, हिरण्यमालित्व आदि धर्म हैं, इन धर्मों को क्रमशः औद्गात्र और आध्वर्यव वेद में बताया गया है । ऐसी स्थिति में संदेह होता है कि ये धर्म, तत्तद्वेद-ऋत्विजों के ही हैं अथवा सभी ऋत्विजों के हैं ? इस प्रकार विचार चलने पर उपर्युक्त सिद्धान्त सूत्र निर्णय देता है कि 'लोहितोष्णीषत्वादि' गुण हैं । इस कारण इन गुणों (धर्मों) की औद्गात्र, आध्वर्यव आदि संज्ञा द्वारा व्यवस्था नहीं होगी । अतः ये सभी ऋत्विजों के धर्म हैं । ४।५।६ संख्या पर पूर्वपठित वेद शब्द का अभिप्राय भी ३ संख्या के सूत्र के समान समझना चाहिये । 'यहाँ पर तद्वेदसम्बद्ध ब्राह्मणों में वेद शब्द का प्रयोग भाक्त है' यह जो कहा, वह भी निर्मूल है । मुख्यका बाध होने पर ही भाक्त प्रयोग का संभव रहता है, किन्तु यहाँ मुख्य का बाध नहीं हो रहा है । मन्त्र-ब्राह्मण दोनों में भी वेद शब्द की मुख्यता उपपन्न है । ब्राह्मण में वेद शब्द के मुख्य प्रयोग करने में जो जो बाधक उपस्थित किये गये, उन सबका खण्डन हो ही गया है । मन्त्र और ब्राह्मण दोनों में व्यास, जैमिनि आदि महर्षियों ने निःसंकोच होकर वेद, अम्नाय श्रुति शब्दों का मुख्य अर्थ में ही प्रयोग किया है, यह निश्चित हो जाता है ।

'विधौ तु वेदसंयोगात्'—(जै० सू०।६।२९) यहाँ भी शाबरभाष्य के अनुसार 'वेद' शब्द ब्राह्मणरूप मुख्य अर्थ को बताने के लिये ही प्रयुक्त हुआ है । यहाँ पर भाक्त (गौण) अर्थ का आश्रय करना असङ्गत ही है, क्योंकि मुख्यार्थ और गौणार्थ दोनों प्राप्त होने पर मुख्यार्थ का आश्रय करना ही उचित माना गया है ।

यत्तु—'स्वीकृतमेवैतत् 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति सूत्रेण विधीयमानपारिभाषिकसंज्ञा यज्ञसम्बन्धिग्रन्थेषु मन्तव्या, पूर्वमीमांसाऽपि यज्ञकर्मणा सहैव संबद्धा, अतः पारिभाषिक-संज्ञानुसारेणैव भगवता जैमिनिना स्वशास्त्रे सा स्वीकृता' इति, तदपि न संगतम्, त्वदुक्त्यैव त्वत्पक्षस्य समूलोन्मूलनात्। संज्ञा चेयं मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि समानैव, अन्यथा मन्त्रस्य वेदत्वे स्वतः सिद्धे संज्ञाविधायके सूत्रे ब्राह्मणग्रहणस्य वैयर्थ्यापातात्। किञ्च, पूर्वमुक्तमायुष्मता कृष्णयजुर्वेदीयानामियं संज्ञा तच्छास्त्र एवोपयुज्यते, पाणिन्यादिसर्वनामसंज्ञावत्, तथात्वे कथं जैमिनिनापि स्वशास्त्रे सा संज्ञा स्वीकृता, तेन त्वत्पक्षः खण्डित एव। किञ्च, यज्ञ यागादिः किं कृष्णयजुर्वेदीयानामेवोत सर्ववेदीयः। यदि सर्ववेदीयस्तर्हि कथं तत्र कृष्णयजुर्वेदीयानां तच्छास्त्र एवोपयोक्तव्याया वेदसंज्ञाया उपयोगः, एतेनापि त्वदीयः पक्षः खण्डितः, न प्रथमः पक्षः, 'अग्निहोत्रफला वेदा' इति महाभारतवचनविरोधात्, किञ्च, मीमांसाऽपि किं जैमिनिना कृष्णयजुर्वेदीययज्ञविचारार्थं निर्मिता, सर्ववेदसामान्ययज्ञविचारार्थं वा ? नाद्यः, निर्मूलत्वात्, अन्त्यश्चेत् खण्डित एव त्वत्पक्षः। यज्ञाः सर्ववेदसंमताः तद्विचारार्थं मीमांसाशास्त्रमपि न केवलं कृष्णयजुर्वेदसंबद्धम्, अतएव तदङ्गीकृतवेदसंज्ञापि न 'कृष्णयजुर्वेदीया, कात्यायन-कौशिक-पारस्कर-व्यास-जैमिन्यादिभिः सर्वैरपि मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च वेदशब्दप्रयोगात्।

यत्तु—'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या' (मी० १।१।२७) इति सूत्रे पारिभाषिक-संज्ञा 'जैमिनिनाऽभिप्रेता' इति तदप्यर्धजरतीयमेव। नहि स्वशास्त्रे सर्वत्र यो मन्त्रेषु ब्राह्मणेष्वविशेषेण वेदशब्दं प्रयुङ्क्ते स एव वेदापौरुषेयत्वसाधनावसरे वेदशब्दं केवले मन्त्रें प्रयुञ्जीत इति। यदपि 'मीमांसाशास्त्रं द्वितीयपादादारभ्यते, प्रथमपादस्तु भूमिकारूप' इति, तदपि विरुद्धमेव। सूत्रभाष्यादिविरुद्धत्वात्, धर्मविचार-प्रतिज्ञा-धर्मलक्षण-तत्प्रमाणादिनिरूपणस्यावश्यं मीमांस्यत्वात्! यथा

यह जो तुमने कहा है—'यह स्वीकृत हो ही चुका है कि "मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनाम" सूत्र से बताई गयी पारिभाषिक संज्ञा को यज्ञसम्बन्धि ग्रंथों में मानना चाहिये, पूर्वमीमांसा भी यज्ञकर्म से ही सम्बद्ध है, अतः पारिभाषिक संज्ञा के अनुसार ही भगवान् जैमिनि ने अपने शास्त्र में उसे स्वीकृत किया है'—वह भी सङ्गत नहीं है। तुम्हारे कथन से ही तुम्हारे पक्ष का समूल उन्मूलन हो जाता है। मन्त्र-ब्राह्मण दोनों के लिये यह 'वेद' संज्ञा समान रूप से ही है। अन्यथा 'मन्त्र' का वेदत्व तो स्वतः सिद्ध है, तब संज्ञाविधायक सूत्र में 'ब्राह्मण' का ग्रहण करना ही व्यर्थ होगा। किञ्च—तुमने पहले कहा है कि यह संज्ञा यजुर्वेदीयों की है, इस कारण उनके शास्त्र में ही उसका उपयोग होता है, जैसे पाणिनि की दी हुई सर्वनाम संज्ञा का उपयोग पाणिनीयशास्त्र में ही किया जाता है। तब जैमिनि ने भी स्वशास्त्र में उस संज्ञा का स्वीकार क्यों किया ? जैमिनि से उस संज्ञा का स्वीकार किये जाने के कारण तुम्हारा पक्ष तो खण्डित हो ही गया। किञ्च—क्या यज्ञयागादि कृष्णयजुर्वेदियों के लिये ही हैं, या सभी वेदियों के लिये हैं ? यदि सर्ववेदियों के लिये हों तो कृष्णयजुर्वेदियों के शास्त्र में ही उपयुक्त होने वाली 'वेदसंज्ञा' का सर्वत्र उपयोग कैसे होगा ? इस तर्क से भी तुम्हारे पक्ष का खण्डन हो जाता है। अब रहा प्रथम पक्ष, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अग्निहोत्रफला वेदाः' इस महाभारत के वचन से विरोध होता है। किञ्च—क्या कृष्णयजुर्वेदीय यज्ञविचार के लिये ही जैमिनि ने मीमांसा का निर्माण किया है, या सर्ववेदसामान्य यज्ञविचार के लिए उसका निर्माण किया गया है ? प्रथम पक्ष तो इसलिये ठीक नहीं है कि वह निर्मूल है। यदि द्वितीय (अन्तिम) पक्ष हो तो उसका खण्डन पहले ही हो चुका है। यज्ञों का सम्बन्ध तो सभी वेदों से है। उन यज्ञों के विचारार्थ प्रवृत्त हुए मीमांसाशास्त्र को भी सभी वेदों से सम्बद्ध कहना होगा, तब उस मीमांसाशास्त्र के द्वारा स्वीकार की गयी 'वेद' संज्ञा को केवल कृष्णयजुर्वेद मात्र से ही सम्बद्ध समझना बड़ी भूल है। कात्यायन, कौशिक, पारस्कर, व्यास, जैमिनि आदि सभी महर्षियों ने 'वेद' शब्द का प्रयोग मन्त्र और ब्राह्मण दोनों अर्थों में किया है।

यह जो कहा है कि 'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या'—(मी० सू० १।१।२७) 'इस सूत्र में जैमिनि को पारिभाषिक संज्ञा अभिप्रेत है' वह भी अर्धजरतीय है। क्योंकि जो अपने शास्त्र में सर्वत्र मन्त्रब्राह्मणों में समानरूप से 'वेद' शब्द का प्रयोग करता रहा है, वही वेदाऽपौरुषेयत्व साधन के समय वेद शब्द का प्रयोग केवल 'मन्त्र' के लिये ही कैसे करेगा, और यह भी जो कहा है कि 'मीमांसाशास्त्र तो प्रथमाध्याय के द्वितीयपाद से आरंभ होता है, और प्रथम पाद तो उसका भूमिकारूप है', वह भी नितान्त विरुद्ध है। उपर्युक्त कथन

उत्तरमीमांसाशास्त्रे ब्रह्मविचार-प्रतिज्ञा-ब्रह्मलक्षणम्, तत्र प्रमाणोपन्यासादिकमपि मीमांसाशास्त्रमेव, न तद् भूमिकामात्रम्, तथैव प्रकृतेऽपि।

यदपि "यतो यज्ञसम्बन्धिनां ब्राह्मणवचनानां विचारारम्भस्तस्य द्वितीयपादस्य प्रथमसूत्रे आम्नायस्य क्रियार्थत्वादित्यत्र आम्नायेतिविशेषपदप्रयोगः। आम्नायस्य क्रियार्थकता च निर्दिष्टा, एतेन विज्ञायते सम्पूर्णेऽग्रिमे शास्त्रे आम्नायवचनान्येव विचारयिष्यन्ते' (पृ० १०८) इति, तदपि त्वदीयाचार्यविरुद्धमेव, त्वदीयेन स्वामिना तु वेदाम्नायश्रुतीनां पर्यायवाचकत्वोक्तेः। यदपि सूत्रकारेण पारिभाषिकसंज्ञाया विधानमकृत्वा याज्ञिकसम्प्रदायप्रसिद्धा 'आम्नायः पुनः मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च' (कौशिक सूत्र १-३) इति सूत्रनिर्दिष्टाम्नायसंज्ञा निर्दिष्टा, समानतन्त्रे प्रसिद्धसंज्ञायाः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धनिर्देशमन्तरापि शास्त्रकृतां व्यवहारदर्शनात्।

पाणिनिः "वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदविशेषः' (पा० सू० १।२।६५) इति सूत्रे स्वशास्त्रीयवृद्धसंज्ञाया भिन्नार्थकत्वेऽपि पूर्वाचार्याणां वृद्धसंज्ञायाः पाणिनिना व्यवहृतत्वात्" इति तदप्यशुद्धमेव, तादृशविचारस्य मीमांसकसम्प्रदायबाह्यत्वात्। "वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्" इति पाणिनीयसूत्रेण विहिताया वृद्धसंज्ञायाः प्राचां वृद्धसंज्ञापेक्षया भिन्नार्थत्वावगमेऽपि कौशिककात्यायनापस्तम्बादिकृत-वेदाम्नायसंज्ञापेक्षया जैमिनिकृतवेदसंज्ञाया भिन्नार्थकत्वानवगमात्। यदि जैमिनीयमीमांसाशास्त्रेणापस्तम्बश्रौतसूत्रस्य समानतन्त्रताभ्युपगम्यते, तदा कात्यायनगोभिलाश्वलायनादिसूत्रैः समानतन्त्रतावश्यमभ्युपगन्तव्या। तथात्वे चापस्तम्बादिकृता वेदसंज्ञा समानतन्त्रत्वात्तैरप्यङ्गीकृतैवेति कुतो नाङ्गीक्रियते। अङ्गीक्रियते चेद् अन्यैः सूत्रकारैर्वैदिकैश्च मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञा नाङ्गीकृतेति त्वदीयकथनं त्वद्रीत्यैव कथं न खण्डितं स्यात्।

सूत्र, भाष्य आदि के विरुद्ध है। धर्मविचार, प्रतिज्ञा, धर्मलक्षण, उसके प्रमाण आदि का निरुपण करना अवश्य विचारणीय है। जैसे उत्तरमीमांसाशास्त्र में ब्रह्मविचार, प्रतिज्ञा, ब्रह्मलक्षण, उसमें प्रमाण का उपन्यास आदि करना भी मीमांसाशात्र ही है, वह केवल भूमिका मात्र नहीं है, उसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिये।

यह जो कहा कहा है कि—"यज्ञ से सम्बन्धित ब्राह्मणवाक्यों के विचार का आरंभ, प्रथमाध्याय के द्वितीयपाद के प्रथम सूत्र 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' से किया गया है, इसी कारण 'आम्नाय' इस विशेष पद का प्रयोग किया है। आम्नाय की क्रियार्थकता भी निर्दिष्ट की गई है। इससे यह समझ में आ जाता है कि सम्पूर्ण अग्रिम शास्त्र में आम्नाय के वाक्यों का ही विचार किया जाएगा" (पृ० १०८)। किन्तु वह भी तुम्हारे आचार्य के विरुद्ध ही है। तुम्हारे स्वामी ने तो वेद, आम्नाय, श्रुति इनसब को पर्यायवाचक बताया है। सूत्रकार ने जो पारिभाषिक संज्ञा का विधान न करके याज्ञिकसम्प्रदायप्रसिद्ध 'आम्नयाः पुनः मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च'—(कौशिकसूत्र १-२) इस सूत्र से निर्दिष्ट 'आम्नाय' संज्ञा का निर्देश किया है। वह भी उचित ही है, क्योंकि समानतन्त्र में प्रसिद्ध संज्ञा का व्यवहार, संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध निर्देश के बिना भी शास्त्रकार करते दिखलाई पड़ते हैं।

यह जो कहा है कि 'वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' (पा० सू० १।२।६५) इस सूत्र में स्वशास्त्रीय वृद्धसंज्ञा का भिन्न अर्थ रहने पर भी पूर्वाचार्यों की वृद्ध संज्ञा का पाणिनि ने व्यवहार किया है" वह भी नितान्त अशुद्ध है। ऐसी विचारसरणि तो मीमांसासम्प्रदाय के बहिर्भूत है। "वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्" इस पाणिनीय सूत्र से विहित 'वृद्ध' संज्ञा का अर्थ, प्राचीनों की वृद्ध संज्ञा की अपेक्षा भिन्न है, यह ज्ञात रहने पर भी कौशिक, कात्यायन, आपस्तम्ब आदि कृत 'वेद-आम्नाय' संज्ञा की अपेक्षा जैमिनिकृत वेद संज्ञा के भिन्न अर्थ होने का ज्ञान नहीं है। यदि जैमिनीय मीमांसाशास्त्र के साथ आपस्तम्ब श्रौतसूत्र की समानतन्त्रता स्वीकार है तो कात्यायन, गोभिल, आश्वलायन आदि सूत्रों के साथ भी जैमिनीय मीमांसा की समानतन्त्रता अवश्य स्वीकार करनी होगी। ऐसी स्थिति में समानतन्त्रता के कारण आपस्तम्बादिकृत वेदसंज्ञा का अंगीकार उन्होंने भी करलिया होगा, यह क्यों नहीं मानते हो? यदि तुम्हें आपस्तम्बादिकृत 'वेद' संज्ञा का स्वीकार जैमिनि ने कर लिया, यह मान्य हो तो तुम्हारा पूर्व वक्तव्य—'अन्य सूत्रकारों ने एवं वैदिकों ने मन्त्र-ब्राह्मण दोनों की वेदसंज्ञा का होना स्वीकार नहीं किया है—का तुम्हारी ही रीति से खण्डन हो जाता है। यह जो तुमने कहा है कि 'जै० सू० ११।२।४१ और १२।४।३० दोनों स्थलों में आम्नायवाचक शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। और भाष्य के अनुसार

यदपि 'आम्नायवचनशब्दप्रयोग: जैमिनिसूत्रेषु (११।२।४१।१२।४।३०) उभयत्र लभ्यते । तस्य च भाष्यानुसारेण ब्राह्मणवचनमेवार्थः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यथायोग्यं सर्वत्र वेदाम्नायश्रुत्यादिशब्दानां मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च प्रयोगस्यास्तिकसम्मतत्वात् ।

यत्तु वेदापौरुषेयत्वाधिकरणं "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" (जै० सू० १।१।३१) इत्यत्रैव समाप्यते, पूर्वपक्षोद्भावितयोर्वेदानित्यत्वसाधकयोः पुरुषाख्यादर्शनाऽनित्यदर्शनरूपयोर्हेत्वोस्तावतैव निराकृतत्वात् । "कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात्" (१।१।३२) इति संगतिदर्शनार्थं सूत्राऽनारूढं पूर्वपक्षमुत्थाप्य 'कृते वा' इति सूत्रेण समाधानं कृतम् इति, तदेतच्चिन्त्यम्, पूर्वपक्षोदाहृतानां "वनस्पतयः सत्रमासत", "सर्पाः सत्रमासत" इति वचनानामर्थवादत्वोक्त्या क्रियाप्रशंसाद्वारा विधिवाक्यैकवाक्यतां प्रदर्श्य पूर्वपक्षसमाधानं कृतम् । तदेतत् पुनरुक्तदोषदूषितम्, विधिनात्वेकवाक्यत्वादिति गतार्थत्वादिति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदापौरुषेयत्वाधिकरणं वेदानामप्रामाण्यकारणनिराकरणद्वारा प्रामाण्यप्रतिपादनायैव प्रवृत्तम्, तत्र यथा 'बवरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यादिवचनेन चाप्रामाण्यमाशङ्क्यते, तथैव "वनस्पतयः सत्रमासत" इत्यादिवचनान्यपि तथैवाऽप्रामाण्यहेतुत्वेन शक्यशङ्कान्येवेति तन्निराकरणमपेक्षितमेव । अत एवैतद् युक्तमेव, अथ कथमवगम्यते नायमुन्मत्तबालवाक्यसदृश इति । तथा हि पश्यामः "वनस्पतयः सत्रमासत" 'सर्पाः सत्रमासत', 'जरद्गवो गायति मद्रकाणि', इति । कथं नाम जरद्गवो गायेत्, कथं वा वनस्पतयः सर्पा वा सत्रमासीरन्निति पूर्वपक्षोत्थापनम्, ननु नायं सूत्रारूढः पूर्वपक्ष इति, उत्तरपक्षेणापि पूर्वपक्षकल्पनासंभवात्, पूर्वोत्तरमीमांसयो र्व्याकरणशास्त्रे शब्दरत्ने भूत्यादौ च उत्तरपक्षेणैव पूर्वपक्षकल्पनाया दृष्टचरत्वात् ।

यदुक्तं यदि शबरस्वामिरीत्या वेदशब्दस्य मन्त्रा ब्राह्मणानि चार्थः, तदा वेदप्रसङ्गस्याव्यवहितपूर्वत्र

उसका अर्थ 'ब्राह्मण' ही है ।' वह भी ठीक नहीं है । आस्तिक लोग जहाँ जैसा उचित हो उस दृष्टि से वेद, आम्नाय, श्रुति आदि शब्दों का मन्त्र और ब्राह्मण के अर्थ में प्रयोग किया करते हैं ।

यह जो कहा है कि वेदाऽपौरुषेयत्वाधिकरण "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्"—(जै० सू० १।१।३१) इस सूत्रपर ही समाप्त होता है, क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा उपस्थित किये गये वेद की अनित्यता के साधक पुरुषाख्यादर्शन और अनित्यदर्शनरूप दोनों हेतुओं का उसी से निराकरण हो जाता है । "कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात्"—(१।१।३२) यह सूत्र, सङ्गति का प्रदर्शन करने के लिये सूत्रानारूढ़ पूर्वपक्ष की कल्पना कर उसका समाधान कर रहा है । किन्तु यह सब, विचार अभी परिपक्व नहीं है, अतः चिन्तनीय है । क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा उदाहृत "वनस्पतयः सत्रमासत", "सर्पाः सत्रमासत", इत्यादि वाक्य अर्थवादरूप हैं, अतः क्रिया की प्रशंसा द्वारा विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता को प्राप्त करते हैं, यह प्रदर्शित कर पूर्वपक्ष का यहाँ समाधान किया गया है ।' यह सब कथन पुनरुक्तदोष से दूषित है । क्योंकि 'विधिनात्वेकवाक्यत्वात्' इससे वह सब गतार्थ है । किन्तु यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि वेदाऽपौरुषेयत्वाधिकरण वेदों के अप्रामाण्य का निराकरण करते हुए उनके प्रामाण्य का प्रतिपादन करने के हेतु प्रवृत्त हुआ है । जैसे 'ववरः प्रावाहंणि रकामयत' इस वाक्य से अप्रामाण्य की आशंका की गई है, वैसे ही "वनस्पतयः सत्रमासत" इत्यादि वाक्यों को देखकर वेदों के अप्रामाण्य की शंका होने लगती है । अतः उस अप्रामाण्य की शंका के निराकरणार्थ वेदाऽपौरुषेयत्वाधिकरण की यहाँ आवश्यकता है ही, इस कारण यहाँ पुनरुक्तिदोष न होकर उसका यहाँ कहा जाना उचित ही है । यह कैसे हम समझें कि "वस्नपतयः सत्रमासत, सर्पाः सत्रमासत, जरद्गवो गायति मद्रकाणि" इत्यादि वाक्यसमूह उन्मत्तवाक्य, या बालवाक्य के समान नहीं हैं ? क्योंकि जरद्गव (बूढ़ा बैल) कैसे गा सकता है ? वनस्पतियों अथवा सर्पों ने कैसे सत्र (यज्ञ) कर पाया होगा ? इस प्रकार पूर्वपक्ष को उपस्थित किया गया है । यह पूर्वपक्ष सुत्रारूढ़ इस लिये नहीं है कि उत्तरपक्ष से भी पूर्वपक्ष की कल्पना की जाती है । पूर्वोत्तर मीमांसाओं में तथा शब्दरत्न, भूति आदि व्याकरणशास्त्र में भी उत्तरपक्ष से ही पूर्व पक्ष की कल्पना की गई है, यह प्रायः सभी के प्रत्यक्ष है ।

यह जो कहा है कि 'यदि शबरस्वामी के अनुसार 'वेद' शब्द का अर्थ मन्त्र और ब्राह्मण दोनों हैं, तब वेद का प्रसङ्ग तो

विद्यमानत्वात् आम्नायशब्दस्य पुनः प्रयोगः कथम्, अनुवर्तमानवेदशब्दस्य विभक्तिव्यत्ययेन सम्बन्धसम्भवात्, पुनश्चवेदशब्दमप्रयुज्याम्नायशब्दप्रयोगः किमर्थमिति; तदपि तुच्छम्, अनुवर्तमानो वेदशब्दो द्वितीयाबहुवचनान्तः। स च न क्रियार्थत्वादित्यनेन सम्बन्धाऽर्हः, व्यत्ययेन विभक्त्यन्तरपरिणामस्तु विलष्टकल्पनैव। वस्तुतस्त्वनेकसूत्रव्यवधानादनुवृत्तिरेव दुर्लभा।

यत्तु वेदमप्रयुज्याम्नायशब्दस्य प्रयोगे किं कारणमिति; तदपि तुच्छम्, वेदाम्नायशब्दयोः पर्यायवाचकत्वेऽप्याम्नायशब्दप्रयोगे मुनेरिच्छाया एव हेतुत्वात्। दयानन्देनापि वेदाम्नायादिशब्दानां पर्यायवाचकत्वमऽभ्युपगतमित्यसकृदावेदितत्वात्। यत्तु—"वेदांश्चैके" इत्यत्र प्रयुक्तो वेदशब्दो मन्त्रमात्रवाचकः।' इति तदपि तुच्छम्, निर्मूलत्वात्।

'शास्त्रेऽस्मिन् सर्वमन्त्रब्राह्मणसमुदाये जैमिनिना वेदशब्दः प्रयुक्त इति त्वदुक्तिविरोधाच्च। बहुत्र तथा प्रयोगस्य संप्रतिपन्नत्वे क्वचिदेकत्र मन्त्र एव वेदपदस्यार्थं इत्युक्तेरुन्मत्तप्रलपितत्वात्। यत्तु, 'अग्रिमे शास्त्रे मन्त्राणां ब्राह्मणानां च वाक्यानि विचारयिष्यन्ते, अतोऽत्र विशिष्य पारिभाषिकसंज्ञायाः प्रयोगः कृतः' इति; तदपि तुच्छम्, वेदशब्देनापि मन्त्राणां ब्राह्मणानां च ग्रहणसम्भवात्। "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति" इति सर्वर्षिसम्मतत्वात्, त्वयापि तथाऽभ्युपगमाच्च। यत्तु 'उपलब्धे सम्पूर्णवैदिकवाङ्मये किञ्चिदपि तादृशं वचनं नोपलभ्यते, यस्मिन् ब्राह्मणानामपि ईश्वरस्य प्रजापतेर्महाभूतस्य वा निःश्वसितत्वमुक्तं स्यात्' इति; तत्तुच्छम्, वेदानां प्रजापत्यादिभ्यः प्रादुर्भाववर्णनेनैव तदीयमन्त्रभागस्येव तदीयब्राह्मणभागस्यापि तत एवाविर्भावोपपत्तेः। "शेषे ब्राह्मणशब्दः" इति जैमिनिनैव मन्त्रभागेतरभागस्य ब्राह्मणत्वोक्तेः, ऋग्वेदयजुर्वेदादिशब्दैरेव मन्त्रब्राह्मणोभयभागस्यापि ग्रहणात्। "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत्" इति वाक्य एवेतिहास-पुराण-कल्पसूत्रादिशब्दैरष्टविधब्राह्मणस्यैव निःश्वसितत्वोक्तेः, श्रीशङ्कराचार्यैस्तथैव व्याख्यातत्वात्।

अव्यवहित पूर्व से बराबर चल ही रहा है, ऐसी स्थिति में 'आम्नाय' शब्द का पुनः प्रयोग कैसे किया गया? अनुवर्तमान वेद शब्द का सम्बन्ध विभक्तिव्यत्यय करके भी किया जा सकता है। और दूसरी बात यह है कि 'वेद' शब्द का प्रयोग न कर 'आम्नाय' शब्द का प्रयोग क्यों किया? किन्तु ये सब व्यर्थ के प्रश्न हैं। अनुवर्तमान 'वेद' शब्द, द्वितीया बहुवचन में है। उसका सम्बन्ध 'क्रियार्थत्वात्' से करना उचित न होगा। व्यत्यय करके विभक्त्यन्तर परिणाम आदि करना विलष्टकल्पना ही होगी। वास्तव में तो अनेक सूत्रों का व्यवधान होने के कारण अनुवृत्ति के द्वारा उसकी उपलब्धि होना ही दुर्लभ है।

यह जो कहना है कि 'वेद' शब्द का प्रयोग न कर 'आम्नाय' शब्द के प्रयोग करने में क्या कारण है? यह तो तुच्छ प्रश्न है। 'वेद' और 'आम्नाय' दोनों शब्द पर्याय रहने पर भी 'आम्नाय' शब्द के प्रयोग करने में मुनि की इच्छा ही कारण है। दयानन्द ने भी वेद, आम्नाय आदि शब्दों को पर्यायवाचक माना है, यह कई बार हम बता चुके हैं। यह जो कहा है कि "वेदांश्चैके" सूत्र में प्रयुक्त वेद शब्द, केवल मन्त्र का ही वाचक है।' किन्तु यह कथन भी निर्मूल होने से निःसार ही है।

'इस शास्त्र में सर्वत्र जैमिनि ने समस्त मन्त्र-ब्राह्मण समुदाय को बताने के लिये ही 'वेद' शब्द का प्रयोग किया है' तुम्हारी इस उक्ति के साथ विरोध भी होगा। और अनेक जगह वैसा प्रयोग किया है, क्वचित् एकाध जगह मन्त्र के अर्थ में ही 'वेद' शब्द का प्रयोग किया है, ऐसा कहोगे तो उसे उन्मत्तप्रलपित ही कहना होगा। यह जो कहा है कि 'अग्रिम शास्त्र में मन्त्र और ब्राह्मणों के वाक्यों का विचार किया जायगा। अतः यहां विशेष रूप से पारिभाषिक संज्ञा का प्रयोग किया है' वह भी सारहीन है। 'वेद' शब्द से भी मन्त्र और ब्राह्मणों का ग्रहण हो सकता है, क्योंकि "मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस सिद्धान्त को समस्त ऋषियों के समान तुमने भी स्वीकार किया है। यह जो कहा है कि—उपलब्ध सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में कोई भी वैसा वचन उपलब्ध नहीं हो रहा है, जिसमें "ब्राह्मणों" के लिये भी ईश्वर, प्रजापति या महाभूत के निःश्वसित के रूप में कहा हो।'—वह भी निःसार है, क्योंकि—प्रजापति आदिकों से वेदों के प्रादुर्भाव वर्णन से ही, उसके मन्त्र भाग के समान उसके ब्राह्मण भाग का आविर्भाव भी उसीसे है। "शेषे ब्राह्मणशब्दः" सूत्र के द्वारा जैमिनि ने ही मन्त्र भाग से अन्य (इतर) भाग को 'ब्राह्मण' शब्द से बताया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि शब्दों से ही मन्त्र-ब्राह्मणात्मक दोनों भागों का ग्रहण किया है। "अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतत्" इस वाक्य में ही बताया गया है कि इतिहास, पुराण, कल्पसूत्र आदि शब्दों से अष्टविध ब्राह्मण भी उसके निःश्वसित हैं। श्रीशङ्कराचार्य ने उसी प्रकार उसकी व्याख्या की है।

यत्तु मन्त्रविशेषा एवेतिहासादयस्तत्रेतिहासशब्देनोक्ता इति; तदपि तुच्छम्, पुनरुक्त्यापत्तेः। त्वद्रीत्यापि त्वदभिमते यजुर्वेदेऽपि ब्राह्मणवचनानां सत्त्वस्य त्वयाभ्युपगमात्। ऋग्बाहुल्यं यस्मिन् मन्त्रब्राह्मणसमुदाये स ऋग्वेदः, यजुर्बाहुल्यं यत्र स यजुर्वेद इत्यादिव्युत्पत्तिभ्योऽनेकैर्मन्त्रब्राह्मणसमुदाये वेदपदस्वारस्यस्वीकारात्। यत्तु—"शश्वद्धैतदारुणिनोपज्ञातं यद् गोतमब्रुवाणेति" (शत० ३।३।४।१) "अथ ह वा एके कौशिकब्रुवाणा गोतमब्रुवाणेति आह्वयन्ति तदु ह वा आरुणिनैव यशस्विनोपज्ञातम्" (जै० ब्रा० २।७९।८०) इत्यादिब्राह्मणवचनैः सुब्रह्मण्यानिगदसम्बन्धिवचनानाम् आरुणिना उपज्ञातत्वमुक्तम्, शतपथे तु अधुनैवोपज्ञातत्वमुक्तम्। स्वप्रतिभया ज्ञातमेवोपज्ञातमुच्यते, उपज्ञानं मानुषधर्मः। एतेनेदं स्पष्टं यत् सूत्रकारो ब्राह्मणग्रन्थानामपौरुषेयत्वं न मन्यते, तर्हि स कथं मन्त्रब्राह्मणसमुदायस्य वेदत्वं न मन्वानो वेदाऽपौरुषेयत्वाधिकरणे मन्त्रब्राह्मणयोरपौरुषेयत्वं साधयेत्' इति, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, पाश्चात्यगुरूणामन्धानुकरणञ्च। मन्त्रेऽपि तादृशाक्षेपस्य सम्भवात्। तथाहि—"कुत्सः स्तोमानां कर्त्ता स्तोमं जनयामि नव्यम्" (ऋ० १।१०.९।२), "द्वे सृती अश्रृणवम्" (ऋ० १०।४८।१५), "इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद्विचचक्षिरे" (यजु० ४०।१०), "अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्योनूतनैरुत" (ऋ० १।१।२), "मन्त्रकृत्" (तै० ब्रा० २।८।७४) "यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते" (निरु० ७।१।४) अत्र स्तुतिकर्तृत्वमृषेरुक्तम्। "कुत्सः कर्ता स्तोमानाम्" (नि० ३।११।५), "ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति" "ऋषिर्नरो भवति", "एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति" (निरु० ७।३।८), "सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्ति" (नि० ७।४।१०), निरुक्तदृष्ट्या—"प्रतद्वोचेम" (१।१२७) इत्यादिमन्त्रेषु 'अवस्रवेत' इत्यादिपदानां वारद्वयोच्चारणम्। 'तत्परुच्छेषस्य शीलम्' परुच्छेषनामकस्य ऋषेः शीलं शोभा (निरु० १०।४२।३) इत्यादिप्रमाणैर्मन्त्राणां स्पष्टमेव कृतत्वं विज्ञायते। पुराणादिप्रसिद्धयोरुर्वशीपुरुरवसोर्नामनिर्देशाच्च कृतकत्वं विज्ञायते। शाकल्य-मध्यन्दिन-कुथुम-शौनकादिनामभिः शाकल्यादिसमाख्याभिश्च समाज्यभिमतानां वेदानां स्पष्टमेवार्वाचीनत्वं विज्ञायते। शतपथरीत्या याज्ञवल्क्य एव

यह जो कहा है कि—'कुछ मन्त्रविशेष ही इतिहासादि हैं, उन्हीं को 'इतिहास, शब्द से कहा गया है'—वह भी ठीक नहीं है। वैसा मानने पर पुनरुक्ति का प्रसंग प्राप्त होगा। तुम्हारी रीति के अनुसार भी तुम्हारे अभिमत यजुर्वेद में ब्राह्मण वाक्यों का होना तुमने स्वीकार किया है। जिस मन्त्र-ब्राह्मण समुदाय में ऋग्बाहुल्य हो वह ऋग्वेद है, और जिस मन्त्र-ब्राह्मण समुदाय में यजुर्बाहुल्य हो, वह यजुर्वेद है इत्यादि व्युत्पत्तियों से अनेकों ने मन्त्र-ब्राह्मण समुदाय में वेद पद का स्वारस्य स्वीकार किया है। जो यह कहा है कि "शश्वद्धैतदारुणिनोपज्ञातं यद् गोत्रमब्रुवाणेति"—(शत प० ३।३।४।१), "अथ ह वा एके कौशिक बुवाणा गौतम ब्रुवाणेति आह्वयन्ति तदुह वा आरुणिनैव यशस्विनोपज्ञातम्" (जै० ब्रा० २।७९।८०) इत्यादि ब्राह्मणवचनों से सुब्रह्मण्यानिगदसम्बन्धित वाक्यों को आरुणिने उपज्ञात कहा हैं, शतपथ में तो अभी अभी उपज्ञातत्व कहा गया है, स्वप्रतिभा से ज्ञात को ही उपात्त कहते हैं। 'उपज्ञान' मानुषधर्म है, इससे यह स्पष्ट हुआ कि सूत्रकार ब्राह्मण ग्रंथों को अपौरुषेय नहीं मानता है। तब वह मन्त्र-ब्राह्मण समुदाय को 'वेद' न माननेवाला वेदाऽपौरुषेयत्वाधिकरण में मन्त्र-ब्राह्मण दोनों में अपौरुषेयत्व की सिद्धि क्यों करेगा ?' किन्तु यह कथन भी अज्ञान विजृम्भित ही है, यह केवल पाश्चात्यगुरुओं का अन्धानुकरणमात्र है। ऐसा आक्षेप तो मन्त्र में भी किया जा सकता है। तथाहि—"कुत्सः स्तोमानां कर्ता स्तोमं जनयामि नव्यम्"—(ऋ० १।१०९।२) "द्वे सृती अश्रृणवम्"—(ऋ० १०।४८।१५) "इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद्विचचक्षिरे"—(यजु० ४०।१०) "अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत" (ऋ० १।१।२) "मन्त्रकृत……………………" (तै० ब्रा० २।८।७४) "यत्कामऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते" इसमें ऋषि को स्तुतिकर्ता कहा गया है।—(निरु० ७।१।४) "कुत्सः कर्ता स्तोमानाम्" (निरु० ३।११।५) "ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति", "ऋषिर्नरो भवति", "एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवंति"—(निरु० ७।३।२) "सत्त्वानां प्रकृतभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्ति", (निरु० ७।४।१०) निरुक्त की दृष्टि से "प्रतद्वोचेम"—(१।१२७) इत्यादि मन्त्रों में 'अवस्रवेत' इत्यादि पदों का दो बार उच्चारण हुआ है। 'तत्परुच्छेपस्य शीलम्', 'परुच्छेप' का अर्थ है किसी ऋषि का शील अर्थात् शोभा।—(निरु० १०।४२।३) इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट हो रहा है कि 'मन्त्र' किसी के द्वारा कृत हैं। पुराणादि में प्रसिद्ध उर्वशी और पुरूरवा के नाम निर्देश से भी वेदों में कृतकता स्पष्ट हो रही है। शाकल्य, मध्यन्दिन, कुथुम, शौनक

वाजसनिस्तन्नाम्ना प्रसिद्धा संहितैव वाजसनेयी प्रख्यातकृष्णयजुर्वेदापेक्षया तस्या अर्वाचीनत्वं स्पष्टमेव सिद्धयति। अतो येन मार्गेण मन्त्राणामपौरुषेयत्वं सिद्धयति, तेनैव मार्गेण ब्राह्मणानामपि तत्सिद्धयत्येव। यथा शाकल्य-वाजसनि-शौनक-कुथुमादीनां न कर्तृत्वं किन्तु प्रवक्तृत्वमेव, तथैव याज्ञवल्क्य-गौतम-जैमिन्यादीनामपि न कर्तृत्वम्, किन्तु प्रवक्तृत्वमेव, मन्त्राणां नूतनत्वप्रत्नत्वसमाधानस्येवोपज्ञानस्यापि समाधानसम्भवात्। शील (शैली) स्य मानुषत्वेऽपि यथा न मन्त्रस्य मानुषत्वं तथैव ब्राह्मणस्यापि मानुषत्वासंस्पर्शात्।

यदपि 'इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना। लोककर्मगृहं कृत्स्नं यथावत्संप्रकाशयेत्॥' इति रीत्येतिहासदृष्ट्या ब्राह्मणानां वेदशाखानां चानादित्ववेदत्वविवेचनं युक्तमिति; तदपि तुच्छम्, दत्तोत्तरत्वात्। त्वया वेदे इतिहासानभ्युपगमात्, तद्भिन्नानामार्षाणामपि ग्रन्थानां प्रामाण्यानभ्युपगमात्, स्वाभिमतविपरीतवाक्यानां प्रक्षिप्तत्वाद्यभ्युपगमेन शास्त्रस्य व्याकुलीकृतत्वात्, पाश्चात्त्येतिहासदृष्ट्या त्वदभिमतवेदेऽपि प्रक्षेपोऽस्त्येव। ब्राह्मणानां शाखानां चेश्वरनिःश्वसितत्वबोधकमेकमपि वचनं वैदिकवाङ्मये नोपलभ्यत इत्यरण्यरोदनमेव। त्वद्रीत्या ब्राह्मणशाखादीनां वैदिकवाङ्मयत्वमपि न सिद्धयति, किन्तु वेदा एव वैदिकवाङ्मया भवन्ति। वेदसम्बन्धित्वेन वैदिकवाङ्मयत्वे षडङ्गधर्मशास्त्रदर्शन-रामायण-पुराणादीनामपि तत्त्वापत्तेः। न चेष्टापेत्तिस्तवापसिद्धान्तापातात्। न च मन्त्रब्राह्मणातिरिक्ता वेदाः, न वा शाखाभ्यो भिन्ना वेदाः, तन्तुभ्योऽन्यस्य पटस्येव मन्त्रब्राह्मणभिन्नानां शाखाभ्यो भिन्नानां वा वेदानामनुपलम्भात्, केनापि दर्शयितुमशक्यत्वाच्च। तथा च वेदानां परमेश्वरनिःश्वसितत्वोक्त्यैव सर्वेषां निःश्वसितत्त्वसिद्धिः।

मन्त्राणां यथा ऋषयो द्रष्टारस्तथैव ब्राह्मणानामपि प्रजापत्यादयो द्रष्टार उक्ता एव। यच्च शाखानां ब्राह्मणानां

आदि के नामों से और शाकल्यादि संज्ञाओं से समाजियों के अभिमत वेदों का अर्वाचीनत्व स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। शतपथ के अनुसार 'याज्ञवल्क्य' ही वाजसनि है, उसके नाम पर प्रसिद्ध संहिता को ही 'वाजसनेयी' कहा गया है, कृष्णयजुर्वेद की अपेक्षा उस संहिता की अर्वाचीनता तो स्पष्ट ही है। अतः जिस मार्ग से 'मन्त्रों' का अपौरुषेयत्व सिद्ध किया जाता है, उसी मार्ग से ब्राह्मणों का भी अवौरुषेयत्व सिद्ध हो ही जाता है। जिस प्रकार शाकल्य, वाजसनि, शौनक, कुथुम आदि में वेदकर्तृत्व न होकर 'प्रवक्तृत्व' ही सिद्ध है। मन्त्रों के नूतनत्व—प्राचीनत्व के समाधान की तरह 'उपज्ञान' का समाधान भी सम्भव है। शील (शैली) में मानुषत्व (मनुष्य कृतत्व) रह सकने पर भी जैसे मन्त्र का मानुषत्व सिद्ध नहीं है वैसे ही ब्राह्मण का भी मानुषत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

यह जो कहा है कि 'इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना। लोककर्मगृहं कृत्स्नं यथावत् सम्प्रकाशयेत्'—मोहरूप आवरण को नष्ट करनेवाले प्रदीप के द्वारा सम्पूर्ण लोककर्म गृह को यथावत् प्रकाशित करे—इस रीति से इतिहास के अनुसार ब्राह्मणों की और वेदशाखाओं की अनादिता और वेदत्व का विवेचन करना उचित है,—वह भी ठीक नहीं है, उसका उत्तर पहले दे चुके हैं। तुम वेद में इतिहास को नहीं मानते हो। तद्भिन्न (वेद भिन्न) आर्षग्रन्थों को भी प्रमाण नहीं मानते हो, स्वामी के मत के विपरीत वाक्यों को प्रक्षिप्त कह कर शास्त्र की मर्यादा को तहस नहस कर रहे हो, पश्चात्य इतिहास के अनुसार तुम्हारे अभिमत वेद में भी प्रक्षेप है ही। ब्राह्मणों और वेद शाखाओं को ईश्वर-निःश्वसित कहने वाला एक भी वचन वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं है', यह कथन तो केवल अरण्यरोदन ही है। तुम्हारे मत के अनुसार ब्राह्मण तथा शाखाओं का वैदिकवाङ्मय होना भी सिद्ध नहीं होता, किन्तु वेद ही वैदिकवाङ्मय में आते हैं। वेद से सम्बन्धित होने से वैदिकवाङ्मय के अन्तर्गत षडङ्ग, धर्मशास्त्र दर्शन, रामायण, पुराणादिकों को भी कहना होगा, किन्तु तुम ऐसा स्वीकार कर नहीं सकते। अन्यथा तुम्हारी सिद्धान्तहानि होगी। मन्त्र-ब्राह्मण के अतिरिक्त तो कोई वेद है नहीं और ना ही शाखाओं के अतिरिक्त कोई वेद हैं, जैसे तन्तुओं के अतिरिक्त पट उपलब्ध नहीं होता उसी तरह मन्त्र-ब्राह्मण के अतिरिक्त या शाखाओं के अतिरिक्त अन्य किसी वेद की उपलब्धि नहीं है, और ना ही कोई दिखला सकता है। एवञ्च वेदों को परमेश्वर का निःश्वसित कह देने मात्र से ही पूर्वोक्त सभी में निःश्वसितत्व सिद्ध हो जाता है।

ऋषिगण मन्त्रों के जैसे द्राष्टा हैं, वैसे ही ब्राह्मणों के भी प्रजापति आदि द्रष्टा हैं, यह कह ही चुके हैं। यह जो कहा गया है कि शाखाओं का और ब्राह्मणों का प्रवचन कब प्रारम्भ हुआ? इस विषय में कोई वचन उपलब्ध नहीं है, तथापि यह

च प्रवचनं कदा प्रारब्धमित्यत्र किञ्चिद्वचनं नोपलभ्यते, तथाप्येतन्मन्तुं शक्यते यत् कृतयुगान्ते यदा यज्ञानां प्रचलनं जातम्, तत्र त्रेतायुगकाले यज्ञविधीनां विस्तारो जातः। तदानीं यज्ञकर्मसौविध्यदृष्ट्या शाखानां ब्राह्मणानाञ्च प्रवचनमारब्धमिति, तदपि नास्तिक्यमूलकत्वेन सर्वथा त्याज्यमेव, यज्ञानामनादिमन्त्र-ब्राह्मणमूलकत्वेन कालविशेषे यज्ञतत्प्रमाण-प्रवृत्तत्वोक्तेः शुद्धनास्तिक्यमूलकत्वात्। लोके कश्चित् प्रत्यक्षानुमानागम्यधर्मानुष्ठाने कस्यचिदाप्तस्य वचनमाश्रित्य प्रवर्तते। जैना जिनवाक्यम्, बौद्धाश्च बुद्धवाक्यम्, मौहम्मदा मुहम्मदवाक्यम्, ख्रिष्टीयाः ख्रिष्टवाक्यमनुसृत्य प्रवर्तन्ते, तद्वन्नात्र वैदिके धर्मे जनानां प्रवृत्तिर्भवति। पुरुषविशेषमननुसृत्य वेदवाक्यमनुसृत्यैव प्रवर्तन्तेऽत्रत्या जनाः। अनादिकालमारभ्य मन्त्र-ब्राह्मणात्मकानां वेदानामाचार्यपारम्पर्येणाध्ययनं तदर्थानुष्ठानञ्च प्रवर्तमानं दृश्यते। ततएव सम्प्रदायाऽविच्छेदेन मन्त्र-ब्राह्मणात्मक-वेदाध्ययनादर्थग्रहणतदर्थानुष्ठानं प्रवर्तमानं दृष्ट्वैव वेदानामपौरुषेयत्वं निर्णयन्ति। यज्ञानुष्ठानं च ब्राह्मणमन्तरा नोपपद्यते, यज्ञविधयस्तत्रैव वर्तन्ते इति युधिष्ठिरमीमांसकोऽपि स्वीकरोत्येव। तस्माद् ब्राह्मणं परित्यज्य सर्वमपि धर्मानुष्ठानमशक्यमेव। युगकल्पनमपि समाजिनां न भारत-प्रचलित-धर्मशास्त्रपुराणेतिहासानुरूपम्, भारतीयपञ्चाङ्गानुरूपं वा। दयानन्दस्तदीयाश्च यज्ञान् यज्ञशास्त्राणि च न मन्यन्ते, न वाऽनुतिष्ठन्ति। केवलं वायुशुद्ध्यर्थमग्नौ घृतादिकं निक्षिपन्ति।

यदपि 'वायुपुराणे (अ० २४-, ११५-२१८) श्लोकेषु द्वापरयुगे वेदशाखानां प्रवक्तॄणां २८ व्यासानां नामोल्लेखः, व्यासशब्दस्य वेदानां विस्तारकृदित्येवार्थः। द्वापरयुगीनव्यासानामन्तिमो व्यासः कृष्णद्वैपायनः। वेदस्य ११२७-११३१ वा शाखा या महाभाष्ये प्रोक्तास्ताः सर्वा अपि कृष्णाद्वैपायनस्य शिष्यैः प्रशिष्यैश्च प्रोक्ताः, कृष्णद्वैपायना-

माना जा सकता है कि कृतयुग के अन्त में जब यज्ञों का प्रचलन हुआ तब अर्थात् त्रेतायुग में यज्ञविधियों का बिस्तार हुआ। उस समय यज्ञकर्म की सुविधा की दृष्टि से शाखाओं और ब्राह्मणों का प्रवचन प्रारम्भ हुआ होगा, किन्तु यह सब कल्पनाएँ नास्तिकता के कारण प्रादुर्भूत होने वाली हैं, अतः किसी प्रकार से भी ये कल्पनायें ग्राह्य कोटि में नहीं आ सकतीं, इसलिये ये सर्वथा त्याज्य ही हैं। अनादिकाल से प्रवाहित मन्त्र-ब्राह्मण जिनके मूल हैं, उन यज्ञों को और उनके प्रमाणों को किसी काल विशेष में प्रवृत्त हुआ बताना, पूर्णनास्तिकता से भरी बातें करना है। लोकव्यवहार में कोई भी व्यक्ति, प्रत्यक्षप्रमाण या अनुमान प्रमाण से ज्ञात न हो सकने वाले धर्म के अनुष्ठान में जो प्रवृत्त होता है, वह किसी न किसी आप्तवचन पर विश्वास करके ही प्रवृत्त होता है। जैसे—जैन लोग जिनवाक्य, पर बौद्धलोग बुद्धवाक्य, मुहम्मदानुयायी (मुसलमान) लोग मुहम्मदवाक्य पर, ख्रिस्त (ईसाई) लोग ख्रिस्त (ईसामसीह) के वाक्य पर विश्वास रख कर ही प्रवृत्त होते हैं। उस तरह से इस वैदिकधर्म में लोगों की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती, किन्तु आर्यों (भारतीयों) की धर्म में जो प्रवृत्ति होती है, वह किसी पुरुषविशेष के वाक्य से न होकर वेदवाक्य के विश्वास पर ही हुआ करती है। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदों का अध्ययन और उसमें प्रतिपादित अर्थ (कर्म) का अनुष्ठान केवल आचार्य परम्परा के द्वारा अनादिकाल से होता चला आ रहा है। इसी कारण अध्ययन-अध्यापनसम्प्रदाय कभी विच्छिन्न नहीं हुआ है। एवं च अविच्छिन्न सम्प्रदाय के कारण, मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों के अध्ययन से अर्थज्ञान और उसके अर्थ का अनुष्ठान होता देखकर ही वेदों की अपौरुषेयता का निर्णय हो जाता है। यज्ञों का अनुष्ठान, ब्राह्मणग्रन्थों के विना उपपन्न हो नहीं सकता, क्योंकि यज्ञों की विधियां उन्हीं ब्राह्मणग्रन्थों में ही हैं, इस बात को युधिष्ठिर मीमांसक ने भी स्वीकार किया है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणभाग को 'वेद' न मानने पर सम्पूर्ण धर्मानुष्ठान ही अशक्य हो जायगा। समाजियों की युग कल्पना भी भारतीय धर्मशास्त्र, पुराण-इतिहास अथवा भारतीय पंचांग के अनुरूप नहीं है। दयानन्द और उसके अनुयायी यज्ञों को और यज्ञशास्त्रों को नहीं मानते हैं, और न उनका अनुष्ठान ही करते हैं। केवल वायु शुद्धि के लिये अग्नि में घृतादि डालते हैं।

यद्यपि 'वायुपुराण के (अ० २४, ११५-२१८) श्लोकों में द्वापरयुगीन वेदशाखाओं के प्रवक्ता २८ व्यासों के नामोल्लेख हैं, 'व्यास' शब्द का अर्थ वेदों का विस्तार करने वाला ही है। द्वापरयुग के व्यासों में अन्तिम व्यास कृष्णद्वैपायन हैं। वेद की ११२७ या ११३१ शाखायें जो महाभाष्य में बतायीं गयीं हैं, वे सभी कृष्णद्वैपायन के शिष्य-प्रशिष्यों ने कहीं हैं। कृष्णद्वैपायन से प्राचीन पूर्ववर्ती

त्पुराणैः पूर्ववर्तिभिः २७ व्यासैः प्रोक्तानां शाखानां मध्ये वाल्मीक्यादिप्रोक्तानां कतिपयानां शाखानां नामानि प्रातिशाख्येषु लभ्यन्ते। ऐतरेय-शांखायन भालविप्रोक्ताः शाखा ब्राह्मणानि वा कृष्णद्वैपायनात् पुराणानि। तदेतत्—'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (अष्टा ४।१।१०५) सूत्रे काशिकादिवृत्तिभ्योऽवगम्यते। सम्प्रति पुराणेषु ब्राह्मणेषु शाखासु वा केवलमैतरेयं लभ्यते। परन्तु तस्यैतरेयस्य वर्तमानरूपमाश्वलायनशिष्येण शौनकेन प्रोक्तम्, इति, तदेतत्सर्वं भगवद्दत्त-लिखित-'वैदिक वाङ्मय का इतिहास'-पुस्तकरीत्या प्रोक्तम्, तदेतत्सर्वमप्रामाणिकम् पक्षपातपूर्णमशुद्धमार्यसमाजिमत-पोषणायैवोक्तम्। यथोलूकैः स्वप्रकाशेऽपि सूर्येऽन्धकारबाहुल्यमित्युक्त्वा तत्साक्षित्वाय च वृक्षशाखाऽवलम्बिता घूका (चमगादड़पदवाच्या) उपस्थाप्येरन्निति तद्वत् समाजिनो दयानन्दस्यान्धभक्ता भवन्ति। दयानन्देन च पुराणानां सर्वथाऽप्रामाण्यमेवोक्तम्, निर्लज्जत्वादेव स्वार्थसाधनाय भ्रमोत्पादनाय वा वायुपुराणवचनानि समाजिभिरुत्थापितानि, तदनभिज्ञत्वाच्च तदर्थोऽप्यन्यथैवावगतः। नह्येकस्मिन्नेव द्वापरे सर्वेषां व्यासानामवतरणम्। न च तद्वर्णितं व्यासस्य सार्वज्ञ्यं समाजिभिरङ्गीक्रियते। भगवद्दत्तेन युधिष्ठिरेण च कतिचित्सहस्रवर्षपरिमिताः काला ब्राह्मणानां काठकादि-संहितानां चाभ्युपेयन्ते। किञ्च, भवता वेदा नित्या मन्यन्ते। ये च भावत्का वेदास्तेऽपि ११३१ शाखास्वेवान्तर्भवन्ति। शाकली-कौथुमी-माध्यन्दिनी (वाजसनेयी) शौनकी च शाखा एव। तत्रैता नित्याः, अन्या व्यासशिष्यकृता इत्यत्र शपथमन्तरा किं प्रमाणं भवत्सविधे।

एतेन 'मीमांसाशास्त्रकारो भगवान् जैमिनिः कृष्णद्वैपायनशिष्यः। एतेन स्वयं जैमिनीयसंहिता-ब्राह्मणारण्यकानि श्रौतगृह्यसूत्राणि च प्रोक्तानि। तदानीमेवान्ये' कृष्णद्वैपायनशिष्याः प्रशिष्याश्च ऋग्वेद-सामवेद-यजुर्वेदाथर्ववेद-सम्बन्धि-शाखा-ब्राह्मणादीनां प्रवचनानि कुर्वाणा आसन्। तथा सति स जैमिनिः कथं शाखा ब्राह्मण-समुदायस्यापौरुषेयत्वं मन्यते' इत्यप्यपास्तम्, शाकल्यादिशाखानां सम्बन्धेऽपि तादृशस्यैव चोद्यप्रसरस्य सम्भवात्।

२७ व्यासों द्वारा प्रोक्त शाखाओं में वाल्मीकि आदि के द्वारा प्रोक्त कतिपय शाखाओं के नाम प्रतिशाख्यों में उपलब्ध होते हैं। ऐतरेय-शांखायन- भाल्लविप्रोक्त शाखायें या ब्राह्मण कृष्णद्वैपायन से पुरातन हैं। यह बात "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (पा० सू० ४।१।१०५) सूत्र पर काशिकादिवृत्तियों से अवगत होती है। वर्तमान समय में पुराण, ब्राह्मण, अथवा शाखाओं में केवल ऐतरेय उपलब्ध है। परन्तु उस ऐतरेय का वर्तमान रूप आश्वलायन के शिष्य शौनक के द्वारा कहा गया है।' उपर्युक्त वक्तव्य भगवद्दत्तरचित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' नामक पुस्तक का है। पाठकों को चाहिये कि वे उस सम्पूर्ण वक्तव्य को अप्रामाणिक समझे। पक्षपात पूर्ण और अशुद्ध वक्तव्य को आर्यसमाजियों के मत पोषणार्थ ही उसने लिखा है। जैसे उलूक (उल्लू) पक्षी स्वप्रकाश सूर्य के प्रकाश में भी घना अन्धकार बताकर और वृक्ष की शाखाओं पर लटकने वाले चमगोदड़ों को अपने वक्तव्य के समर्थनार्थ उपस्थित करे, ठीक उसी तरह समाजी लोग दयानन्द के अन्धभक्त हुआ करते हैं। दयानन्द ने पुराणों को सर्वथा अप्रमाण कहा है, तथापि समाजियों ने वायुपुराण के वचनों को अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये या भ्रम पैदा करने के लिये अथवा निर्लज्जता के कारण ही उपस्थित किया है, किन्तु पुराणों से अनभिज्ञ होने के कारण उन पुराण वचनों का अर्थ भी उन्हें अन्यथैव ज्ञात हुआ। समाजी पहले इस बात को समझ लें कि एक ही द्वापर में सभी व्यासों का अवतरण नहीं हुआ है। और न ही तद्वर्णित व्यास की सर्वज्ञता को समाजियों ने स्वीकार किया है। भगवद्दत्त और युधिष्ठिर दोनों ने ब्राह्मण और काठकादिसंहिताओं का काल कतिपय सहस्र वर्ष परिमित माना है। किञ्च वेदों को आपने नित्य माना है। और जो आप के वेद हैं, उन सबका अन्तर्भाव ११३१ शाखाओं में ही हो जाता है। उनमें शाकली आदि चार शाखाओं को ही नित्य कहना और अवशिष्ट अन्य शाखाओं को व्यास के शिष्य द्वारा रचित बताने में शपथ के अतिरिक्त आप के पास कौन सा प्रमाण है?

कृष्णद्वैपायन के शिष्य जैमिनि ने स्वयं जैमिनीयसंहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्रों को बताया, उसी समय अन्य शिष्य-प्रशिष्य सभी वेदों की शाखाओं का प्रवचन कर रहे थे। ऐसी स्थिति में शाखा ब्राह्मण समुदाय को जैमिनि अपौरुषेय कैसे मान सकते हैं' इस कथन का भी निरसन हो जाता है। शाकल्यादि शाखाओं के सम्बन्ध में भी वैसा ही प्रश्न किया जा सकता है, क्योंकि शाकल्यादि भी पुरुष ही हैं। फिर भी तुमने अपने अभिमत वेदों के साथ उनका सम्बन्ध रहने पर भी जैसे अपौरुषेय माना है वैसे ही

शाकल्यादयः पुरुषा एव। तेऽपि क्वचित्काले समुत्पन्नाः, कानिचित्कार्याणि कृतवन्तो मृताश्च। तैः सह यादृशः सम्बन्धस्तवाभिमतानां वेदानां, तादृश एव सम्बन्धो व्यासशिष्यप्रशिष्याणां तैस्तैर्ब्राह्मणशाखादिभिरिति समाधानसाम्यात्। यदपि च भगवता जैमिनिना स्वसामयिकप्रोक्तशाखाब्राह्मणादिग्रंथेषु तात्कालिकानामृषीणां मुनीनां यज्ञघटनानांच वर्णनान्युपलभ्यन्तेस्म, स्वयमपि ब्राह्मणग्रंथेषु जैमिनीयब्राह्मणेषु ऐतिहासिकघटनानामुल्लेखः, तदा कथं तेन शाखा ब्राह्मणादीनां नित्यत्वमपौरुषेयत्वञ्च स्वीक्रियेतेति, तदपि तुल्यसमाधानमेव, शाकल्यादिष्वपि तादृशाक्षेपस्य तुल्यत्वात्। त्वदीयवेदत्वेनाभिमतासु शाकल्यादिशाखासु च ऋषिमुनिराजघटनादिप्रभृतीनां तथैवोपलम्भात्। उर्वशीपुरूरवोयम-यम्यादीतिहासानां नूतनानां पुरातनानाञ्चर्षीणां पृथुवेनादिनृपतीनां घटनानाञ्च बाहुल्येन तत्र वर्णनं दृश्यत एव।

यत्तु भगवान् पतञ्जलिर्यश्चरकचरणान्तर्गतकाठकशाखाया अध्येता भारतीयेतिहासस्याद्भुतज्ञाताऽसीत्, स शाखाया अर्थं तु नित्यं मन्यते, परन्तु शाखाया वर्णानुपूर्वीमनित्यां मन्यते। एतया (प्रवचननिमित्तकया) वर्णानुपूर्व्यैव काठक-कालापक-मौदक-पैप्पलादकादिप्रयोगा भवन्ति। 'ननु चोक्तं नहि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्यानि हि छन्दांसि इति, यद्यप्यर्थो नित्यः, या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सा अनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकमिति', तदप्यनेकधा खण्डितमेव, आश्चर्यमेवैतद्यच्छतधा खण्डितमपि पक्षं निर्लज्जतया समाजिनः पुनःपुनरुद्भावयन्ति। भाष्यकृता शाखात्वछन्दस्त्वाविशेष्येण शाकली-कौथुमीवाजसनेयी-शौनक्यादिष्वपि तद्रीत्या वर्णानुपूर्व्या अनित्यत्वाभ्युपगमात्। काठकादिनामानि तु सर्वासां शाखानामुपलक्षणार्थान्येव, अन्यथा काठक-कालापक-मौदक-पैप्पलादकभिन्नानां राणायनीय-मैत्रायणी-तैत्तिरीयादीनामानुपूर्व्या नित्यत्वापौरुषेयत्वाद्यापत्तेः। तस्मात्त्वयाऽकामेनापि काठकं कालापकमित्यादिकं सर्वासां शाखानामुपलक्षणार्थमेव मन्तव्यम्। तथात्वे शाकल्यादीनामपि तत्रैवान्तर्भावात् समं समाधानम्—'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारश्च तादृशः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृशार्थविचारणे॥' इत्युक्तेः।

'यत्तु अन्यत्र स एव पतञ्जलिर्महाभाष्ये (५।२।५९) इत्यत्र ऋग्वेद (१।१६४।१) इत्यस्य अस्यवामीयसूक्तस्य

ब्राह्मण शाखादिकों के साथ व्यास-शिष्य प्रशिष्यों का सम्बन्ध रहने पर भी उन्हें अपौरुषेय माना जा सकता है। जो समाधान आप अपने पक्ष में देते हैं ठीक वही समाधान इस पक्ष में भी तुल्य है। यह जो कहा है कि स्वसामयिक प्रोक्त शाखा ब्राह्मणादि ग्रन्थों में उसी काल के ऋषि मुनियों के यज्ञों के तथा अन्य घटनाओं के वर्णन उपलब्ध होते हैं, स्वयं जैमिनि ने भी अपने जैमिनीय ब्राह्मण में ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख किया है, तब उन शाखा-ब्राह्मण आदि को वे जैमिनि कैसे भला नित्य-अपौरुषेय के रूप में स्वीकार करेंगे? इस आशंका का समाधान भी तुल्य है। तुम्हारे अभिमत वेदों में भी अनेक घटनाओं के उल्लेख, उर्वशी-पुरूरवा, यमयमी आदि के इतिहास, नूतन-पुरातन ऋषियों तथा पृथु-वेन आदि राजाओं की घटनाओं के उल्लेख उपलब्ध हैं।

यह जो कहा है कि भगवान् पतञ्जलि चरक शाखान्तर्गत काठकशाखा के अध्येता एवं भारतीय इतिहास के अद्भुत ज्ञाता थे। वे शाखा के अर्थ को तो नित्य मानते हैं, किन्तु शाखा की वर्णानुपूर्वी को अनित्य मानते हैं। इस प्रवचननिमित्तक वर्णानुपूर्वी के कारण ही तत्तच्छाखाओं के लिये काठक-कालापक-पैप्पलादक आदि शब्दप्रयोग किये जाते हैं। अर्थात् वर्णानुपूर्वी के भिन्न भिन्न रहने से काठकादि नाम उनके पड़े हैं।' किन्तु इस कथन का भी अनेक बार खण्डन हो चुका है। आश्चर्य तो यह है कि शतधा खण्डित हुए पक्ष को ये समाजी पुनः पुनः उपस्थित करते हैं, इन्हें लज्जा नहीं आती। काठक-कालापक आदि नामों को उपलक्षक माना गया है। अन्यथा काठकादि शाखाओं से भिन्न राणायनीय-मैत्रायणी आदि शाखाओं की आनुपूर्वी को नित्य, अपौरुषेय तुम्हें मानना पड़ेगा। एवं च काठकादि नामों को समस्त शाखाओं के उपलक्षणार्थ मान लेने पर शाकल्यादिशाखाओं का भी उसी में अन्तर्भाव हो जाने से समाधान तुल्य होता है। अतः एक पक्ष से ही प्रश्न करते रहना उचित नहीं है।

यह जो कहा है कि 'अन्यत्र वही पतञ्जलि महाभाष्य में (५।२।५९) अस्यवामीय सूक्त की स्वरानुपूर्वी को नित्य

स्वरानुपूर्वीणां नित्यत्वमाह। नागेशभट्टस्तु पूर्वोदाहृतया अनित्यया वर्णानुपूर्व्या विरोधमाशङ्क्य कथयति, तत्तत्कल्पेषु महर्षिभिर्यादृशी वर्णानुपूर्वी रचिता सा कल्पसमाप्तिपर्यन्तस्थायित्वान्नित्येति। वस्तुतस्तु भाष्यकारवचनेषु न विरोधः। पूर्ववचनेन (महा० ४।३।१०१) इत्यत्र भाष्यकारेण शाखानां वर्णानुपूर्व्या अनित्यत्वमुक्तम्। (५।२।५९) इत्यत्र मूलसंहितास्थस्यास्यवामीयसूक्तस्य वर्णानुपूर्व्या नित्यत्वं वक्ति' इति, तत्सर्वं भाष्याऽज्ञानविजृम्भितमेव। भावार्थानवबोधान्मन्ये लज्जया युधिष्ठिरेण स्वरो नियत आम्नाये अस्यवामशब्दस्य वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता। अस्यवामशब्दस्य (पा० ५।२।१।५९) इति भाष्यं नोद्धृतम्। पूर्वमनेनाम्नायस्य क्रियार्थत्वादित्यत्र आम्नायशब्दस्य ब्राह्मणवचनान्येवार्थो, न वेद इत्युक्तमिदानीन्तु भाष्यकारीयाम्नायशब्दस्य वेद एवार्थं इत्युच्यते। नागेशभट्टस्तु छन्दोवेदाम्नायशब्दानां पर्यायवाचकत्वमेव मन्यते। तेन छन्दसां वर्णानुपूर्वी अनित्या, आम्नाये वर्णानुपूर्वी नियता इति भाष्ययोर्विरोधं कथं न मन्येत। युधिष्ठिरस्य परमाराध्यो दयादन्दोऽपि छन्दो-वेद-निगम-मन्त्र-श्रुतीनां पर्यायवाचकत्वं (ऋ० भा० भू० ७९ पृ०) इति छन्दोवेदयोरभेदमेव मनुते, तर्हि कथमयं छन्दसां वर्णानुपूर्व्या अनित्यतां वेदस्य वर्णानुपूर्व्या नित्यताञ्च वर्णयति, विरोधं च न मन्यते। अनित्या अपि सर्वकल्पेषु एकरूपत्वान्नियता इति वक्तुं शक्यन्ते, तथापि कठादिकर्तृकत्वपक्षे कल्पसमाप्तिपर्यन्तं स्थायित्वमेव, 'तेन प्रोक्त' (पा० सू० ४।३।१०) मिति सूत्ररीत्या तु काठकादीनां प्रवक्तृत्वेनैव काठकादिसमाख्या, तद्रीत्या नित्यानां विभूनां वर्णानां पौर्वापर्य्यासंभवात् कण्ठताल्वादिजनितवर्णव्यक्तीनामेव पौर्वापर्यम्! तस्मादानुपूर्व्या अनित्यत्वेऽपि सर्वकल्पेष्वेकरूपत्वादानुपूर्वी नियता भवति। कठशाकल्यादीनां प्रतिसर्गं विशिष्टप्रवक्तृत्वादेव काठकशाकल्यादिसमाख्या, न तैः कृतत्वात्। ग्रामे ग्रामे काठकादीनां प्रवचनेऽपि न सौशर्मणीत्यादिसमाख्या भवति। सर्गादिकालिक विशिष्टप्रवचनमूलकसमाख्यादिभिरेव निर्वाहेऽन्यसमाख्यानामनुपयोगात्, भवति हि मित्राया बहूनां मातृत्वेऽपि देवदत्तमातेति व्यवहारः। सिद्धान्ते तु 'आख्याः प्रवचनात्' (जै० सू० १।१।३०) इति सूत्रविरोधात् तेन प्रोक्त मिति सूत्रप्रत्याख्यानपरं भाष्यमेकदेश्येव 'स्वरो नियत आम्नाये अस्यवामशब्दस्य' इत्यादिभाष्यमेव सिद्धान्तभाष्यम्। ततश्छन्दसां समेषामस्यवामेत्याद्याम्नायानां च शब्दानुपूर्व्या अनित्यत्वेऽपि सर्वदा ऐकरूप्यान्नियतत्वेन प्रवाहरूपेण नित्यत्वमेवेत्यन्यत्र विस्तरः। एतत्समन्वयस्त्वन्यत्रैहैव द्रष्टव्यः। सर्वथापि वेदाम्नायछन्दसां भेदप्रकल्पनं मूढ़जनप्रतारणायैव। शाखाश्च वेदा एव, तदतिरिक्तानां मूलवेदानां

बताते हैं, और नागेशभट्ट पूर्वोदाहृत वर्णानुपूर्वी को अनित्य कहते हैं।' आपाततः देखने पर विरोध की आशंका होती है, उसका समाधान इस प्रकार हैं कि तत्तत्कल्पों में महर्षियों ने जैसी वर्णानुपूर्वी रची, उसे कल्पसमाप्तितक स्थायी रहने से नित्य कहा गया है। वस्तुतः भाष्यकार के कथन में कहीं कोई विरोध नहीं है। 'पूर्ववचनेन'—(महाभाष्य ४।३।१०१) यहाँ पर भाष्यकार ने शाखाओं की वर्णानुपूर्वी को अनित्य कहा है। ५।२।५९ पर मूलसंहितास्थ अस्यवामीयसूक्त की वर्णानुपूर्वी को नित्य कहते हैं। यह सब कथन भाष्य के अज्ञान के कारण है। ग्रन्थकार ऋषियों के अभिप्राय से अनभिज्ञ ही प्रतीत हो रहा है। अतएव लज्जा का अनुभव करते हुए युधिष्ठिर ने आम्नाय में स्वर को नियत बताया, और अस्यवाम शब्द की वर्णानुपूर्वी को भी आम्नाय में नियत बताया। अस्यवामशब्दस्य (पा० ५।२।१।५९) का भाष्य उद्धृत नहीं किया। पहले इसने यह कहा कि 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' यहाँ पर 'आम्नाय' शब्द का अर्थ ब्राह्मणवाक्य ही हैं, वेद नहीं, और अब भाष्यकार के आम्नाय शब्द का अर्थ 'वेद' ही है, कह रहा है। नागेशभट्ट तो छन्द, वेद, आम्नाय शब्दों को पर्यायवाचक ही कहते हैं। ऐसी स्थिति में छन्दों की वर्णानुपूर्वी को अनित्य, और आम्नाय के वर्णानुपूर्वी को नित्य, इन दो भाष्यों में क्यों नहीं विरोध मान रहा है? युधिष्ठिर के परमाराध्य दयानन्द भी छन्द, वेद, निगम, मन्त्र, श्रुति सबको पर्यायवाचक ही मानते हैं—(ऋ० भा० भू० पृ० ७९), इस प्रकार छन्द और वेद में अभेद ही मान रहे हैं, तब छन्दों की वर्णानुपूर्वी को अनित्य और वेद की वर्णानुपूर्वी को नित्य कैसे कह रहा है, दोनों में विरोध क्यों नहीं मान रहा है? समझने की बात तो यह है कि आनुपूर्वी के अनित्य रहने पर भी सब कल्पों में एक रूप होने से आनुपूर्वी को नित्य कहा जाता है। काठकादि संज्ञाएँ उनके सर्गादिकालिक विशिष्ट प्रवक्तृत्व के कारण हैं, उनके कर्तृत्व के कारण नहीं।

क्वाप्यनुपलम्भात् । समाज्यभिमता वेदा अपि शाकल्यादिशाखारूपा एव । शाकल्यादिवदेव सर्वा अपि शाखा वेद एव । तदुक्तम्—'शाखाभेदाश्च ये केचित् याश्च शाखासु गीतयः । स्वरवर्णसमुच्चाराः सर्वांस्तान्विद्धि मत्कृतान् ॥' (शान्तिपर्व ३४२।१००-१०१) 'तस्माद्यज्ञात् सर्वंहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (वा० सं० ३१।७) इति मन्त्रवर्णाद् वेदाः परमेश्वरकृता एव । किञ्च, अस्यवामीयसूक्तमप्यन्यसूक्तानामुपलक्षणं मन्तव्यम् । अन्यथा तदतिरिक्तानां सूक्तानामनित्यत्वापत्तिरिति, तथैव काठकादिनामान्यपि सर्वशाखानामुपलक्षणान्येवेति मन्तव्यम् ।

यच्च 'यत्र 'एष वोऽमी राजा' (यजु० ९।४०) इत्यत्र 'एष' 'अमी' इति सामान्यवाचकः शब्दः, शाखान्तरेषु 'एष वः कुरवो राजैष पञ्चाला राजा' इति काण्वसंहितायाम्, तैत्तिरीयसंहितायाम्—'एष वो भरता राजा', काठकसंहितायाम्, मैत्रायणीसंहितायां च । (पृ० ११२) 'एष वो जन ते राजा' इति पाठे स्पष्टं विज्ञायते, यत्र यत्र यासां शाखानां प्रचलनमासीत्तत्र कुरवः पाञ्चाला भरता इति नामानि निर्दिष्टानि । राजानः परिवर्तनशीला इति 'एष' पदं तथैव रक्षितम् । यत्र राजतन्त्रन्नासीत् तत्र काठकसंहिता-तैत्तिरीयसंहिताप्रचलनस्थलेषु "जनते" इति जनतन्त्रनिर्देशकं नामोपात्तम् । वस्तुतस्तु शाखाप्रवक्तॄणां 'कुरवः, पाञ्चालाः, भरताः' इत्यादिविशेषशब्देषु तात्पर्यं नासीत्; काण्वसंहिता, तैत्तिरीयसंहिताद्यनुसारेण यत्र कुरवः पाञ्चाला भरता न भवेयुस्तत्र आन्ध्रादिशब्दानामपि संनिवेशः कर्तुं शक्यः । तथा च भरताः, पञ्चालाः कुरव इत्युपलक्षणमात्रम् । एतेन शाखानां प्रवचनं मन्त्रार्थबोधनार्थमेवेति'. तदपि बालभाषितमेव । तथा सति त्वदभिमतवेदेष्वपि व्याख्यानव्याख्येयभावापत्तेः । 'सहस्रशीर्षापुरुषः', 'सभूमिं विश्वतोवृत्वा इत्यतिष्ठद् (ऋ० १०।९०।१), 'स भूमिं सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् (यजुर्वेद ३१।१), 'स भूमिं सर्वतोवृत्वात्यतिष्ठद्' (सामवेद, कौथुम) 'स भूमिं विश्वतो वृत्वा इत्यतिष्ठत् (आरण्यकपर्व ६।४।३), 'सहस्रबाहुः पुरुषः स भूमिं विश्वतो वृत्वा', तथैव—'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' (ऋ० १०।९।९), 'छन्दो ह जज्ञिरे तस्मात्' (अथर्व सं० १९।६।१३), 'त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः तत्तो विष्वङ् व्यक्रामत्' (ऋ० सं० ४) 'त्रिभिः पद्भिर्द्यामारोहत् तथा व्यक्रामत् विष्वङ्' (अथर्व० २) 'एतावानस्य महिमातो (ऋ० ३) 'तावन्ताऽस्य महिमानः ततो' (आरण्य ३), 'उतामृतत्वस्येशान' (ऋ० २), 'उतामृतत्वस्येश्वरो' (अ० ४), ऊरू तदस्य यद्वैश्य' (ऋ० १२), 'मध्यं तदस्य यद्वैश्य कौ बाहू का ऊरूपादा', 'किं बाहू किमूरू पादा' (शु० वा० सं० ३१।१०),

एवं च वेद, आम्नाय, छन्दों को परस्पर भिन्न बताना सर्वथा मूढ़जनप्रतारण ही है । शाखाओं को वेद ही समझना चाहिये, शाखा के अतिरिक्त मूल वेद कहीं कोई उपलब्ध नहीं है । समाजियों के अभिमत शाकल्यादि वेद, शाखारूप ही हैं । शाकल्यादि के समान ही सभी शाखाएँ वेद रूप ही हैं । महाभारतकार ने भी इसी का समर्थन किया है । अस्यवामीय सूक्त भी अन्य सूक्तों का उपलक्षण है । उसी तरह काठकादि संज्ञाएँ भी समस्त शाखाओं की उपलक्षण हैं । अन्यथा तदतिरिक्तों को अनित्य मानना पड़ेगा ।

यह जो कहा है कि जहाँ 'एषः, अमी' आदि सामान्य वाचक शब्द हैं, उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जहाँ जहाँ जिन शाखाओं का प्रचलन था वहाँ कुरवः, पांचालाः, भरताः इत्यादि नामों का निर्देश किया गया है । राजा लोग परिवर्तनशील हैं इसलिये 'एष' पद वैसे ही सुरक्षित रखा । जहाँ राजतन्त्र नहीं था वहाँ काठक-तैत्तिरीयसंहिताओं के प्रचलन स्थलों में 'जनते' इस जनतंत्रनिर्देशक नाम को रखा है । वस्तुतः शाखा प्रवक्ताओं का तात्पर्य कुरवः आदि विशेष शब्दों में नहीं था । तैत्तिरीयसंहिता आदि के अनुसार जहाँ 'कुरवः' आदि विशेष शब्द न हों वहाँ 'आन्ध्राः' आदि शब्दों का भी सन्निवेश किया जा सकता है । तथा च भरताः अदि शब्द उपलक्षण मात्र हैं । इससे यह प्रतीत होता है कि शाखाओं का प्रवचन, मन्त्रार्थ बोधन के लिये ही है ।' किन्तु यह सब बालभाषित ही है । क्योंकि तुम्हारी रीति के अनुसार तुम्हारे अभिमत वेदों में भी व्याख्यान-व्याख्येयभाव मानना पड़ेगा । वेद के अनेक स्थलों पर शब्द भेद रहने पर भी जैसे व्याख्यान-व्याख्येयभाव नहीं है, और न किसी का अवेदत्व ही है, वैसे ही पाठ भेद रहने पर भी किसी को शाखा कहना और किसी शाखा को वेद कहना सम्भव नहीं ।

यह जो कहा है कि 'शाखान्तर पाठ मनुष्य प्रोक्त होने से वेदोक्त पाठ 'होतारं विश्ववेदसम्' को ही बोले । किन्तु यह कथन भी

'विराडग्रे समभवत्' (अ० ९), 'ततो विराडजायत' (ऋ० ५), इत्यादौ शब्दभेदेऽपि यथा व्याख्यानव्याख्येयभावो नास्ति, कस्याप्यवेदत्वं यथा न भवति, तथैव पाठभेदेऽपि कस्याश्चिच्छाखात्वं कस्याश्चिच्छाखायाश्च वेदत्वं वा न संभवति।

यदपि 'तदुहैके अन्वाहुः, 'होता यो विश्ववेदसः' इति नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति। तदु तथा न ब्रूयात्। मानुषं हते यज्ञे कुर्वन्ति। व्यृद्धं वै तद् यज्ञस्य यन्मानुषम्। नेद् यज्ञे व्यृद्धं करवाणीति, तस्माद्यथैवर्चानूक्तमेवानुब्रूयात् होतारं विश्ववदसमिति' (श० १।५।१।३५) (पृ० ११२) शाखान्तरपाठस्य मानुषत्वोक्त्या वेदोक्तं होतारं विश्ववेदसमिति वदेदित्युक्तमिति; तदपि तुच्छम्, भावार्थानवगमात्। तत्र स्वशाखोक्तपाठप्रशंसार्थमेवान्यशाखोक्तपाठस्य मानुषत्वोक्तिः। 'नहि निन्दा निन्द्यान् निन्दितुं प्रवर्तते, अपि तु विधेयं स्तोतुम्' इति न्यायात्। यथा देवानां बहुत्वेन कुलपारम्पर्येणेच्छया वा कस्मिंश्चिन्निष्ठातिशयसम्पादनायेतरनिन्दनं क्रियते; तद्वत्। किञ्च 'होतारो विश्ववेदसः' इति कस्याः शाखायाः पाठ इत्यपि न दर्शयितुं शक्यते, विस्तरस्त्विहैवान्यत्र द्रष्टव्यः।

यदपि वेदो नित्यः, शाखास्त्वनित्याः, वेदशब्दानां पाठान्तरत्वात्। शाखा भिन्नाः, अर्थस्तु सर्वासामेकः, प्राजापत्यश्रुतेः, पाठान्तरमूलकाः शाखाभेदा इत्येतत्तथ्यं वर्तमानपुराणेष्वपि, सुरक्षितम्। 'सर्वास्ता हि चतुष्पादाः सर्वाश्चैकार्थवाचकाः। पाठान्तरे पृथक् भूता वेदशाखा यथा तथा॥ (वायु पु० ५९।६१) 'प्राजापत्याश्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे स्मृताः' (वायु पु० अ० ६१) इति, तदपि तुच्छम्, 'प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या' इति पाठस्य तत्रादर्शनात्। 'शाखाभेदाश्च ये केचिद् याश्च शाखासु गीतयः। स्वरवर्णसमुच्चारा सर्वांस्तान् विद्धि मत्कृतान्। (शान्ति पर्व ३४२।१००।१०१) इति विरोधाच्च।

सारहीन है, क्योंकि उसका भावार्थ नहीं समझ पाये। वहाँ इसलिये ऐसा कहा गया है कि स्वशाखोक्त पाठ के प्रशंसार्थ ही अन्य शाखोक्त पाठ में मानुषत्व कहा गया है। उस निन्दा का तात्पर्य विधेय की प्रशंसा में ही है।

यह जो कहा है कि वेद ही नित्य हैं, और शाखाएँ तो अनित्य हैं, क्योंकि वे वेद के शब्दों के ही पाठान्तर मात्र हैं। इसमें पुराणों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। किन्तु यह कथन भी निःसार है। क्योंकि 'प्राजापत्याश्रुतिर्नित्या' यह पाठ वहाँ वायुपुराण (अ० ६१) में नहीं है। और महाभारतशान्तिपर्व (३४२।१००।१०१) के साथ विरोध भी होगा। स्वबुद्धिकल्पित सङ्गति लगाने का जो प्रयत्न किया है, वह भी व्यर्थ ही है। जैसे 'भ्रातृव्यस्य' (१।१७) इस वाजसनेय पाठ में स्वर की उपेक्षा करने पर भ्रातृव्य शब्द में सन्देह होता है कि 'भ्रातृव्य' का अर्थ शत्रु है या भतीजा (भ्रातुष्पुत्र)? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये काण्व ने 'द्विषतो वधाय' पाठ किया है। 'मनोजूति' (वा० सं० २।१३) की जगह तैत्तिरीयसंहिता में 'मनोज्योतिर्जुषतामाज्यम्' (१।५।३) 'जूति' शब्द, मन का विशेषण है, यह ज्योतिःशब्द से स्पष्ट है। 'आज्यस्य' में कर्मणि षष्ठी है, यह 'आज्यम्' इस पाठ से स्पष्ट है इत्यादि।

शतपथ के अनुसार तैत्तिरीय पाठ तो प्राचीन ही है। उसकी अपेक्षया वाजसनेय पाठ अर्वाचीन है यह बता चुके हैं।

मूलवेद और शाखाओं के भेदसाधनार्थ हरि स्वामी का जो उद्धरण दिया है, वह भी बालभाषित ही है। उससे भी प्राचीन शबर, शंकर, भट्टपाद, व्यास, जैमिनि, मनु आदिकों ने शाखासमूह को ही वेद कहा है। वेद के अपौरुषेय होने से उसका स्वतः प्रामाण्य सिद्ध है, तद्धेतुत्वात् उसकी शाखाओं का भी प्रामाण्य बादरायणादिकों ने बताया है, यह शतपथभाष्य की मेरी हस्तलिखित प्रति में आदि वाक्य भी हरिस्वामी के ही हैं। उनके इस वचन का अर्थ बदरायण की रीति से ही समझना चाहिये। भगवान् बादरायण ने तो 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (ब्र० सू० १।३।२८) के भाष्य में वेद को मंत्र-ब्राह्मणात्मक ही कहा है। वेद और उसके शाखाओं के भेद की उपपत्ति 'राहुके शिर' की तरह अभेद में भी भेद विवक्षा से या अवयवावयवि भेद के द्वारा भी हो सकती है। तन्तु के व्यतिरिक्त पट के न रहने पर भी 'इह तन्तुषु पटः' तन्तुओं में पट, जैसे यह भेद व्यवहार होता है, वैसे ही शाखाओं के अतिरिक्त वेदों के न रहने पर भी 'वेद की शाखा' इस व्यवहार की उपपत्ति हो जाती है। जैसे तन्तु के रूप से ही पट की रूपता, उसी तरह वेद की अपौरुषेयता से ही शाखाओं का भी अपौरुषेयत्व और स्वतः प्रामाण्यादि सिद्ध होता है।

यदपि 'भ्रातृव्यस्य (१।१७) इति वाजसनेय पाठे स्वरोपेक्षायां भ्रातृव्यपदे सन्देहो भवति, भ्रातृव्यपदस्य शत्रु : भ्रातृजो वार्थं इति, तत्सन्देहनिवृत्तये काण्वेन' द्विषतो वधाय' इति पाठः कृतः। 'मनोजूतिर्जुषतामाज्यस्य (वा० सं० २।१३) इति स्थाने तैत्तिरीय संहितायां 'मनोज्योतिर्जुषतामाज्यम्' (१।५।३)। जूतिशब्दो मनोविशेषणम्, तज्ज्योतिः शब्देन स्पष्टम्। आज्यस्येत्यत्र कर्मणि षष्ठी, तद् आज्यमितिपाठेन स्पष्टमित्यादिक (पृ० ११३) मिति, तदपि यत्किञ्चित्। पुरुषसूक्तपाठभेदोपन्यासेन तादृशचोद्यस्य परिहृतत्वात्। शतपथरीत्या तैत्तिरीयपाठस्य प्राचीनत्वमेव, वाजसनेयपाठस्य तदपेक्षयाऽर्वाचीनत्वस्योक्तत्वाच्च।

यत्तु मूलवेदस्य शाखानाञ्च भेदसाधनाय हरिस्वाम्युद्धरणम्, तदपि बालभाषितम्, ततोऽपि प्राचीनैः शबर-शङ्कर-भट्टपादैर्व्यासजैमिन्यादिभिर्मन्वादिभिश्च शाखासमूहस्यैव वेदत्वोक्तेः। वेदस्याऽपौरुषेयत्वेन स्वतः प्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यं बादरायणादिभिः प्रतिपादितमिति शतपथभाष्ये मदीयहस्तलिखितप्रताविति, तदपि हरिस्वामिवचनं बादरायणरीत्यैव नेयम्। भगवान् बादरायणो हि—'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (ब्र० सू० १।३।२८) इत्यादौ मन्त्रब्राह्मणात्मकमेव वेदमभिप्रैति। वेदानां तच्छाखानां भेदोऽपि 'राहोः शिरः' इति वद-भेदेऽपि भेदविवक्षया अवयवावयविभेदेनापि भेदव्यपदेशोपपत्तिः। इह तन्तुषु पट इति तन्तुव्यतिरेकेण पटाऽभावेऽपि यथा भेदव्यवहारस्तथैव शाखाव्यतिरेकेण वेदानामभावेऽपि वेदस्य शाखेति व्यवहारोपपत्तिः। यथा तन्तुरूपेणैव पटस्य रूपत्वं तथैव वेदापौरुषेयत्वस्वतः-प्रामाण्यादिसिद्धिः।

यदपि 'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः' (२७) इति सूत्रेण पाणिनीयाष्टाध्यायीति निर्देशेन अष्टाध्याय्याः पाणिनिकृतत्ववद् वेदसंहितानामपि शाकलवाजसनेयवाजपेयादिपुरुषसम्बद्धनामत्वेन पुरुषकर्तृत्वम्, द्वितीयेन अनित्यदर्शनात्' (२८) इति, 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमे सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया' (ऋ० १०।७५।५) इति वेदे गङ्गायमुनादिनदीनां नामोल्लेखात् (१०।९८) सूक्ते कुरुकुलसम्बन्धि देवापिशन्तनुवर्णनात्, यास्केनापि तत्र 'इतिहासमाचक्षते' (निरुक्त० २।१०) इतिहासोल्लेखः कृतः। वेदेष्वनेकत्र ऋषीणां राज्ञां च नामान्युपलभ्यन्ते। अतः पुरुषकर्तृकत्वं मन्त्राणां सिद्धम्' इति पूर्वपक्षस्य 'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' (१।१।२९), 'आख्या; प्रवचनात्' (१।१।३०) 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (१।१।३१) इति सूत्रैः समाधानमुक्तम्। 'तु' शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। वेदो न पौरुषेयः, शब्दपूर्वत्वं वैदिकशब्दानां पूर्वत्वम्, नित्यत्वमुक्तम्। अर्थात् वैदिकशब्दा नित्याः सन्ति, तेषामर्थसम्बन्धो न पौरुषेयः। शाकलवाजसनेयादिसमाख्या तु प्रवचनात्, परम् अनित्यदर्शनन्तु नास्ति, कुतः, वैदिकशब्दानां श्रुतिसामान्यमात्रम् अर्थाद् यौगिक इति।

यह भी जो कहा है कि 'वेदांश्चैके' (२७ जै० सू०) इस जैमिनि सूत्र से तथा 'पाणिनीयाष्टाध्यायी' इस निर्देश से अष्टाध्यायी को पाणिनिकृत समझा जाता है, उसी तरह वेदसंहिताओं के भी साथ शाकल, वाजसनेयवाजपेयादि पुरुषों के नाम जुड़े हुए हैं। अतः उनकी पुरुषकर्तृकता स्पष्ट होती है। ततः पश्चात् द्वितीय 'अनित्यदर्शनात्' (जै० सू० २८) इस सूत्र के अनुसार 'इमं मे गंगे यमुने सरस्वति' (ऋ० १०।७५।५) इस वेद मंत्र में गंगा-यमुना आदि के नामों का उल्लेख होने से एवं (१०।९८) सूक्त में कुरुकुलसम्बन्धी देवापि शन्तनु के वर्णन को देखकर तथा यास्क ने भी वेद में 'इतिहासमाचक्षते' (निरु० २।१०) इतिहास का उल्लेख किया है। वेदों में अनेकत्र ऋषियों और राजाओं के नाम उपलब्ध होते हैं। अतः मन्त्र पुरुषकर्तृक हैं, इस पूर्वपक्ष का 'उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वम्' (जै० सू० १।१।२९) 'आख्याःप्रवचनात्' (जै० सू० १।१।३०) 'परन्तु-श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जै० सू० १।१।३१) इन सूत्रों से समाधान किया गया है। 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है। अतः वेद को पौरुषेय नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वैदिक शब्द नित्य हैं, उन शब्दों का अर्थ के साथ सम्बन्ध भी पुरुषकर्तृक नहीं है, अर्थात् अपौरुषेय है। शाकल, वाजसनेयादि समाख्यायें (नाम) तो प्रवचन के कारण हुई हैं। अनित्य दर्शन कहीं नहीं है, वैदिक शब्द तो

तदेतत्सर्वं दुरभिसन्धिमूलकं शाबरभाष्यमेवान्यथाकृत्वोल्लिखितमशुद्धं च । शाबरभाष्ये तु—'वेदाँश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः' इति सूत्रेण सर्वाः शाखाः सर्वाणि ब्राह्मणानि च वेदं मत्वा सर्वेषामेवापौरुषेयत्वसिद्धये पूर्वपक्ष उत्थापितः । त्वया युधिष्ठर-मीमांसकेन तु केवलस्य पुस्तकचतुष्टयस्यापौरुषेयत्वसिद्धये यत्किञ्चिदुक्तम् । तथाहि उक्तम्–'चोदनालक्षणोऽर्थः' (मी० १।१।२) यतो न पुरुषकृतः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः तत्र पदवाक्याश्रय आक्षेपः परिहृतः । इदानीमन्यथा क्षेप्स्यामः, पौरुषेयाश्चोदना इति वदामः, सन्निकृष्टकालाः कृतका वेदा इदानीन्तनाः, ते च चोदनानां समूहाः, तत्र पौरुषेयाश्चेद् वेदा असंशयं पौरुषेयाश्चोदनाः,'''यतः पुरुषाख्या । पुरुषेण हि समाख्यायन्ते वेदाः, काठकं कालापकं पैप्पलादकं मौद्गलकम्, न हि सम्बन्धादृते समाख्यानम्, न च पुरुषेण शब्दस्यास्ति सम्बन्धोऽन्यदतः कर्ता पुरुषः, कार्यः शब्दः । ननु प्रवचनलक्षणा समाख्या, नेति ब्रूमः । असाधारणं हि विशेषणं भवति, एक एव हि कर्त्ता, बहवोऽपि प्रब्रूयुः', कर्त्ता स्यात्, तस्मान्न प्रमाणम्, 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति । अत्र काठकादिकमुपलक्षणं शाकलादीनामपि यथा, तथैव तेन प्रोक्तमित्यत्र महाभाष्येऽपि, काठक कालापकमित्यादिकमपि शाकलादीनामप्युपलक्षणार्थमेवेत्युक्तमेव । अनित्यदर्शनादित्यत्र च जननमरणवन्तो वेदार्थाः श्रूयन्ते । 'ववरः प्रावाहणिरकामयत' (तैत्तिरीयसंहिता ५।१।१०)—'कुरुविन्द औद्दालकिरकामयत' (तैत्तिसं० ७।२।२) इत्येवमादयः । उद्दालकस्यापत्यमौद्दालकिः, यद्येवं प्राक् औद्दालकिजन्मनो नायं ग्रन्थो भूतपूर्वः, एवमप्यनित्यता । अत्रापि शाकलवाजसनेयिकौथुमशौनकादिगतनां राज्ञामृषीणां च घटनानामपि संग्रहो वेदितव्यः ।

'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् (३९) इत्युत्तरसूत्रमपि व्याख्यातम् शास्त्रतात्पर्यविदा शबरस्वामिना । उक्तमस्माभिः शब्दपूर्वत्वमध्येतॄणाम् । यत्तु शब्दपूर्वत्वमित्यस्य शब्दनित्यत्वमित्यर्थः कृतः, तच्चिन्त्यम्, निर्मूलत्वात् । अध्येतॄणां शब्दपूर्वत्वं तु वैदिकानां प्रसिद्धमेव, वेदानामनुश्रवत्वप्रसिद्धेः गुरोर्मुखादनुश्रूयते इत्यनुश्रवोवेदः, श्रूयत एव न परं केनापि क्रियते इत्यर्थः । ननु न तज्जैमिनिना पूर्वमुक्तमिति चेन्न, 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्वन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं, बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' (जै० सू० १।१।५) इति सूत्रे उपदेशपदेन तादृशार्थस्योक्तत्वात् । उपदेशविशिष्टस्य शब्दस्योच्चारणम्, विशिष्टः शब्दो वेद एव, स च गुरोर्मुखादनुश्रूयत इत्यनुश्रव उच्यते । ज्ञानशब्दश्च करणार्थे व्युत्पन्न उपदेशपदसमानाधिकरणो भवितुमर्हति । तथा चायमर्थः—तस्याग्निहोत्रादिलक्षणस्य श्रेयःसाधनस्य ज्ञापकीभूतम् उपदेशः–'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादिवाक्यरूपं यस्माद्विद्यतेऽतस्तत्प्रमाणं भवितुमर्हति । अनेन विधिवाक्यस्य ज्ञानानुत्पादकत्वरूपमप्रामाण्यकारणं निरस्तम् । बाधकः ज्ञानरूपमप्रामाण्यकारणमपि नास्तीति बोधयितुम्—'अव्यतिरेकश्च', अग्नि-

श्रुतिसामान्यमात्र अर्थात् यौगिक हैं । किन्तु यह सब कथन दुरभिसन्धिमूलक है । शाबरभाष्य को ही अन्यथा करके लिखा है और वह सब अशुद्ध भी है । शाबरभाष्य में तो 'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः' इस सूत्र से समस्त शाखा और समस्त ब्राह्मणों को वेद मानकर सभी का अपौरुषेयत्व साधने के लिये पूर्वपक्ष का उत्थापन किया गया है । तुमने (युधिष्ठिर मीमांसक ने) तो वेद की चार पुस्तकों का अपौरुषेयत्व सिद्ध करने के लिये कुछ तो भी—'मृखमस्तीतिवक्तव्यम्' उक्ति के अनुसार कह डाला है । वे कहते हैं कि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' यह प्रमाण नहीं है । वेदार्थ को उत्पत्ति-विनाशशील माना है ।

'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' (जै० सू० ३९) इस सूत्र की भी व्याख्या शास्त्रतात्पर्यवित् शबरस्वामी ने की है । 'शब्दपूर्वत्व' का शब्दनित्यत्व अर्थ जो किया है, वह निर्मूल होने से चिन्त्य है । अध्येताओं का शब्दपूर्वत्व तो वैदिक विद्वान् जानते हैं, वेदों को अनुश्रव कहते हैं । वेद को सुना जाता है, किसी व्यक्ति के द्वारा रचा नहीं जाता । जैमिनि ने इस बात को पंचम सूत्रगत 'उपदेश' शब्द से बताया है । उपदेशविशिष्ट शब्द का उच्चारण, वह विशिष्ट शब्द, वेद ही हो सकता है । गुरुमुख से वेद का अनुश्रवण किया जाता है, उसी कारण उसे 'अनुश्रव' कहते हैं । करणार्थ में व्युत्पन्न 'ज्ञान' शब्द उपदेश पद का समानाधिकरण है । तब अर्थ होगा कि उस अग्निहोत्रादि लक्षण श्रेयः-साधन का ज्ञापक जो हो उसे उपदेश कहते हैं । जब कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यरूप उपदेश है, अतः उसे प्रमाण मानना ही होगा । इस विवेचन से विधिवाक्य का ज्ञानानुत्पादकत्वरूप अप्रामाण्य—कारण का

होत्रहोमः स्वर्गसाधनमित्याकारकं ज्ञानं कदापि केनापि प्रमाणेन नोत्पद्यत इति भवति, तेन गुरुपारम्पर्येण श्रूयमाणत्वात्। अत एव भाष्योक्तोर्थोऽस्पष्टोऽसङ्गतश्चेत्युक्तिरपार्थैव। 'वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्। वेदाध्ययनसामान्यादधुनाऽध्ययनं यथा ॥' उत्पाद्यार्थस्योपदेशपदेन जैनिनिनैवोक्तत्वात्।

केषाञ्चिद्रीत्या शब्दपूर्वत्वमित्यत्र शब्दशब्देन शब्दजन्यमध्ययनं विवक्षितम्। तथा च सर्वेषां पुंसामध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकमित्यौत्पत्तिकसूत्रादावुक्तम्, सर्वे हि यथैव गुरुणाधीतं तथैवाधिजिगांसन्ते। न पुनः स्वातन्त्र्येण कश्चिदपि प्रथमोऽध्येता। तस्मात् कर्तृस्मरणाभावादपौरुषेया वेदाः, एवं पूर्वमेव वेदापौरुषेयत्वस्य सिद्धत्वात् तद्विषये पुनः प्रयत्नो न करणीयः। केवलं समाख्याद्यवलम्बनेन कृतस्याक्षेपस्य परिहार एव कर्तव्य इत्याहुः। यत्तु शब्दस्य नित्यत्वेन वेदस्यापि नित्यत्वम्, तत्तु सर्वथाऽसंगतमेव। अस्मदादिवाक्येष्वपि शब्दानां नित्यत्वेन नित्यत्वापातात्। 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्वन्ध' इति शब्दार्थयोस्तत्सम्बन्धस्य नित्यत्वमुक्त्वा उपदेश इति तत्रानुश्रवस्य प्रमाणत्वमुक्तम्। एतेन अस्माभिरित्यनेन भाष्यकारस्य सूत्रकारस्य वा ग्रहणमित्यादिविकल्पो निरस्तो वेदितव्यः।

'आख्याः प्रवचनात्' इति सूत्रार्थे यदुक्तं कर्तृलक्षणसमाख्याः काठकाद्याः, तदुच्यते नेयमर्थापत्तिः। अकर्तृभिरपि ह्येनामाचक्षीरन्। प्रकर्षेण वचनमनन्यसाधारणम्, कठादिभिरनुष्ठितं स्यात्, तथापि समाख्यातारो भवन्ति। स्मर्यते च वैशम्पायनः सर्वशाखाध्यायी। कः पुनरिमां केवलं शाखामध्मापयाम्बभूवेति। स बहुशाखाध्यायिनां सन्निधावेकशाखाध्यायी, अन्यां शाखामनधीयानस्तस्यां प्रकृष्टत्वादसाधारणमुपपद्यते विशेषणम्।

यत्त्वत्र टिप्पण्याम्—वैशम्पायनस्य सर्वशाखाध्यायित्वस्य मीमांसकानां पारम्पर्य्येण सिद्धत्वेऽपि वस्तुस्थितिविपरीतत्त्वाच्चिन्त्यम्, शाखाप्रवचनेतिहासविरुद्धत्वात्। इतिहासरीत्या कृष्णद्वैपायनो वैशम्पायनाय कृष्णयजुः प्रवचनं कृतवान्। वैशम्पायनस्तु आलम्बि-पलङ्ग- कमल-आरुणि-ताण्ड्य-श्यामायन-कठ-कलापिभ्यस्तमेव प्रोक्तवानिति काशिका। तैत्तिरीयकाण्डानुक्रमानुसारेण यास्कोऽपि वैशम्पायनशिष्यः। यास्कस्य शिष्यो वैशम्पायनस्य लघु-भ्राता तित्तिरिः।

निरसन हो जाता है। दूसरा बाधकज्ञानरूप अप्रामाण्य कारण भी नहीं है, यह बताने के लिये 'अव्यतिरेकश्च' पद दिया गया है। अग्निहोत्र होम, स्वर्ग का साधन है, यह ज्ञान कदापि किसी भी प्रमाण से उत्पन्न नहीं हुआ है। वह तो गुरु परम्परा से ही सुना जाता है। इसीसे स्पष्ट है कि भाष्योक्त अर्थ को अस्पष्ट और असंगत कहना व्यर्थ है। 'वेदस्याध्ययनं सर्वम्' इत्यादि अर्थ को जैमिनि ने उपदेश शब्द से कहा है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'शब्दपूर्वत्वम्' यहाँ पर 'शब्द' शब्द से शब्दजन्य—अध्ययन विवक्षित है। तथा च सभी पुरुषों का अध्ययन, अध्ययनान्तरपूर्वक ही होता है, यह औत्पत्तिक सूत्र में कहा गया है। सभीलोग गुरु ने जैसा पढ़ा वैसा ही अध्ययन करना चाहते हैं। कोई भी प्रथम अध्येता, स्वतन्त्र अध्ययन करना नहीं चाहता। तस्मात् कर्तृस्मरण के अभाव में वेदों को अपौरुषेय कहा जाता है। इस रीति से पहले ही वेद की अपौरुषेयता को सिद्ध किया जा चुका है। उसे सिद्ध करने के लिये पुनः प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। अब तो केवल 'समाख्या' का सहारा लेकर जो आक्षेप किये गये हैं, उन्हीं का परिहारमात्र करना है। यह जो कहा है कि 'शब्द' के नित्य होने से वेद भी नित्य हैं' वह भी सर्वथा असंगत ही है। क्योंकि शब्दों के नित्य होने से हमलोगों के वाक्यों को भी नित्य कहना होगा। औत्पत्तिक सूत्र के द्वारा शब्द, अर्थ और दोनों के सम्बन्ध को नित्य बताकर, उसी सूत्र में आये हुए 'उपदेश' शब्द से अनुश्रव (वेद) का प्रामाण्य भी बता दिया। अतः यह जो शंका है कि 'अस्माभिः' से भाष्यकार या सूत्रकार दोनों में से किसका ग्रहण किया जाय ? उसका भी निरसन हो जाता है।

यह जो टिप्पणी में लिखा है कि 'वैशम्पायन का सर्वशाखाध्यायी होना मीमांसक परम्परा से सिद्ध हैं' किन्तु वह वस्तुस्थिति के विपरीत होने से चिन्त्य है। और शाखाप्रवचन के इतिहास के भी विरुद्ध है। इतिहास तो यह बता रहा है कि कृष्णद्वैपायन ने वैशम्पायन को कृष्णयजु का प्रवचन (अध्यापन) किया था। तदनन्तर वैशम्पायन ने आलम्बि, पलंग, कमल, आरुणि, ताण्ड्य, श्यामायन, कठ, कलापि नामक शिष्यों को उसे ही पढ़ाया, इस प्रकार काशिका कह रही है। तैत्तिरीय काण्डानुक्रम के अनुसार यास्क

कठादिभिः शिष्यैर्वैशम्पायनात् प्राप्तानि यजूंषि स्वशिष्येभ्यो विशिष्टपाठवत्त्वेन प्रोक्तानि। तानि च कठकलापादिनामभिः काठककालापकादिरूपेण प्रसिद्धानि, कठादीनां शाखाप्रवचनानि यज्ञादिकर्मदृष्ट्या कृतानि, वैशम्पायनप्रवचनात् पर्याप्तभिन्नानि। कठादिशिष्यैश्च पुनस्तानि विशिष्टपाठत्त्वेन प्रोक्तानि। एवं रीत्या कृष्णयजुर्वेदस्य विभिन्नचरणैश्चतुरशीतिसंख्याकाः शाखाः प्रवृत्ताः। सामान्यरूपेण ताश्चरकनाम्ना प्रसिद्धाः। ताभिर्यज्ञेष्वाध्वर्यवकर्मकरणात् चरकाध्वर्यव उच्यन्ते। वैशम्पायनः सर्वशाखाध्ययीत्यस्य शाबरभाष्यस्य मूलं कृष्णयजुःशाखानां चरकनामसामान्यमेवेति। तत्सर्वमपि निर्मूलमशुद्धं च, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि मीमांसकसम्प्रदायसिद्धस्य शाबरभाष्यवचनस्य विरोधी कोऽयमितिहासोऽभिमत आयुष्मतः। न चाधुनिकः, तस्य त्वयाप्यनभ्युपगतत्वात्। तद्रीत्या त्वदभिमतेषु ऋग्वेदादिष्वपि प्रक्षिप्तत्व-पौरुषेयत्वादिसिद्ध्यापत्तेः। नापि भगवद्दत्तीयेतिहासः, तस्य समाजित्वेन पक्षपातपूर्णत्वेन सनातनिभिरनभ्युपगमात्। नापि पुराणादिकम्, तत्प्रामाण्यस्य त्वयानभ्युपगमादभ्युपगमे वा मूर्तिपूजावतारवादश्राद्धादिस्वीकारापत्तेः। न चानुक्रमण्यादीनामपि त्वया प्रमाण्यमुपेयते। न च तद्रीत्या पाठभेदस्य तत्तदृषिकृतत्वम्। 'सर्वांस्तान्विद्धिमत्कृतान्' इतिशान्तिपर्ववचनेन सर्वशाखाभेदानां भगवत्कृतत्वावगमात् विशिष्टपाठवत्त्वेन न भिन्नानि प्रवचनानीति तु सर्वथा निर्मूलमेव।

टिप्पण्याम्—'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' यच्च प्रावाहणिरिति तन्न, प्रवाहणस्य पुरुषस्यासिद्धत्वात्। न प्रवहणस्यापत्यं प्रावाहणिः। 'प्र' शब्दः प्रकर्षे सिद्धो वहतिश्च प्रापणे, न त्वस्य समुदायः क्वचित्सिद्धः। प्रावाहणिशब्दस्य ववरशब्दस्य कुत्राप्यसिद्धेः। किन्तु प्रतीयमानयौगिकार्थपर्यालोचनया प्रावाहणिशब्दः प्रकर्षेण वाहयतीत्यर्थपरः। नित्यसिद्धवाय्वादिपरः। बवर इति वायोः शब्दानुकृतिरेव। नित्यार्थाभिधायित्वमेव। इकारस्तु यथैवापत्ये सिद्धस्तथा क्रियायामपि कर्तरि, तस्माद्यः प्रवाहयति स प्रावाहणिः……तेन यो नित्योऽर्थस्तमेवैतौ वदिष्यतः। सूत्रार्थस्तु 'अनित्यदर्शनादि

भी वैशंपायन के शिष्य हैं। यास्क का शिष्य वैशंपायन लघुभ्राता तित्तिरि था। कठादि शिष्यों ने वैशम्पायन से प्राप्त हुए यजुओं को अपने शिष्यों को विशिष्ट अध्यापन प्राणाली से पढ़ाया। विशिष्ट अध्यापन प्रणाली के कारण वे ही 'यजु' कठ, कलापादि नामों से जुड़कर काठक, कालापक रूप में प्रसिद्ध हुए। कठादिकों ने यज्ञकर्म की दृष्टि से शाखाओं के प्रवचन (अध्यापन) किये थे। अतः वे वैशम्पायन के प्रवचन से पर्याप्त भिन्न थे। पुनः कठादि के शिष्यों ने भी उन्हीं का विशिष्टाध्यापन प्रणाली से प्रवचन करना प्रारंभ किया। इस रीति से कृष्णयजुर्वेद की विभिन्न शाखायें हुईं और उनकी संख्या चतुरशीति (८४) तक हो गई। सामान्यतः वे ही 'चरक' नाम से प्रसिद्ध हुईं। यज्ञों में उन्हीं से आध्वर्यव कर्म का अनुष्ठान किया जाता है, इस कारण उन्हीं को 'चरकाध्वर्यु' कहा जाता है। 'वैशम्पायन सर्वशाखाध्यायी है' इस शाबरभाष्य का मूल, कृष्णयजुः शाखाओं का 'चरक' यह सर्वसाधारण नामकरण करना ही है।' किन्तु यह सभी निर्मूल और अशुद्ध है। क्योंकि विकल्प की उपपत्ति नहीं बैठती है। तथाहि—मीमांसकवर्ग को मान्य शाबरभाष्य के वचन से विरोध रखनेवाला ऐसा कौन सा इतिहास है, जो आपको सम्मत हो। आधुनिक इतिहास को तो आप मानते नहीं, क्योंकि उनके अनुसार तो आपके अभिमत ऋग्वेदादिकों में भी प्रक्षिप्तत्व पौरुषेयत्वादि मानने होंगे। भगवद्दत्त का इतिहास भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें समाजीपन एवं पक्षपातपूर्णता रहने से सनातनी उसे नहीं मानते। पुराण आदि को भी नहीं कह सकते, क्योंकि पुराणों के प्रामाण्य को तुम नहीं मानते, अगर उन्हें प्रमाण मानोगे तो मूर्तिपूजा, अवतारवाद, श्राद्ध आदि का स्वीकार करना होगा। अनुक्रमणी आदि को भी तुम प्रमाण नहीं मानते, क्योंकि उसके अनुसार पाठभेद आदि ऋषिकृत नहीं हैं। 'सर्वांस्तान् विद्धिमत्कृतान्' इस महाभारतीय शान्ति पर्व के वचन के अनुसार समस्तशाखाभेदों को भगवत्कृत माना गया है। एवं च विशिष्ट पाठ के रूप में भिन्न-भिन्न प्रवचनों को बताना सर्वथा निर्मूल है।

टिप्पणी में—'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' और जो 'प्रावाहणिः' कहा गया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रवाहण नाम का कोई पुरुष ही नहीं है। अतः प्रवाहण का अपत्यरूप प्रावहाणि नहीं है। प्रकर्ष अर्थ में 'प्र' शब्द है और 'वहति' शब्द प्रापण (प्राप्त कराना) अर्थ में है। इसका समुदाय कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। प्रावाहणि शब्द और बवर शब्द कहीं पर भी प्रसिद्ध नहीं है। किन्तु प्रतीयमान यौगिक अर्थ के पर्यालोचन से प्रावाहणि शब्द का अर्थ 'प्रकर्ष से ले जाता है' यह प्रतीत होता है। नित्य सिद्ध वायु

यदपरं कारणमुक्तं तत्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्। श्रुतेः शब्दस्य साम्यमात्रम्, न तु प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणिरित्याद्यर्थपरम्। यत्तु 'इण् अजादिभ्यः' (वा० ३।३।१०७)। इति कर्त्राद्यर्थे अणि 'वसिवपि वारभ्य इण्' (३.४।१२६) इति च विहित इणि सत्यपि प्रवाहिशब्दस्यैवोपपत्तिः, न प्रावाहणिरिति। कथञ्चित् प्रवाहण इवाचरति इति प्रवाहणशब्दस्य नामधातुत्वेऽपि इणि वा इञि वा न प्रावाहणिशब्दनिष्पत्तिः। 'अत उपधायाः (पा० ७।२।११६) इति नियमादुपधाया एव वृद्धिः, प्र इत्यकारस्य वृद्धिस्तु 'तद्धितेष्वचामादेः' (पा० ७।२।११७) तद्धितप्रत्यये सत्येव वृद्धिः सम्भवति, इति चेन्न, व्यत्ययेन इण इञो वा तद्धितकार्यंकरत्वेन तदुपपत्तेः। प्रकर्षेण आसमन्तादित्यर्थे आङ्योगात्तदुपपत्तेश्च।

अथ कथमवगम्यते नायमुन्मत्तबालसदृश इति; तथाहि पश्यामः—वनस्पतयः सत्रमासत, सर्पाः सत्रमासत, जरद्गवो गायति मद्रकाणि। कथं वा वनस्पतयः सर्पा वा सत्रमासीरन्, कथं वा जरद्गवो गायेत्? इति, उच्यते। विनियुक्तं हि दृश्यते परस्परसंबद्धार्थम्। कथं ज्योतिष्टोम इत्यभिधाय कर्त्तव्य इत्युच्यते, केनेत्याकाङ्क्षिते सोमेनेति। किमर्थं स्वर्गायेति। इत्थमनयेतिकर्तव्यतया। एवमवगच्छन्तः; पदार्थैरेभिः संस्कृतं पिण्डितं वाक्यार्थं कथमुन्मत्तबालसदृशमिति वक्ष्यामः। नन्वनुपपन्नमिदं दृश्यते 'वनस्पतयः सत्रमासीरन्निति'। नानुपपन्नम्, नानेन 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्येवमादयोऽनुपपन्नाः। 'वनस्पतयः सत्रमासत' इत्येवमादयोऽपि नानुपपन्नाः। स्तुतयो ह्येताः सत्रस्य। वनस्पतयो नामाचेतना इदं सत्रमुपासितवन्तः; किं पुनर्विद्वांसो ब्राह्मणाः। तद्यथा सन्ध्यायां मृगा अपि चरन्ति, किं पुनर्विद्वांसो ब्राह्मणाः। अपिच, अविगीत-सुहृदुपदेशः सुप्रतिष्ठितः। कथ मिवाशंङ्क्येत उन्मत्तबालवाक्यसदृश इति। तस्माच्चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति। अत्रत्यः पूर्वपक्षः सूत्रानारूढः। भाष्यकाररीत्या सूत्रार्थकरणे विधिनात्वेकवाक्यत्वादित्यनेन पुनरुक्तञ्चेत्यादि कुचोद्यमिहैवान्यत्र निरस्तम्। अन्यदपि कुचोद्यमनधिकारचेष्टितमेव।

यत्तु ११५ पृष्ठत आरभ्य प्रवचनभेदमुपन्यस्य वेदानां शाखानां च प्रवचनभेदेन प्रामाण्यभेद उक्तः, तथाहि पूर्वतो विद्यमाने ग्रन्थे न्यूनाधिकतया नव्यरूपेणोपस्थापनमित्येकं प्रवचनम्, यथाग्निवेशकृतस्य आयुर्वेदीयतन्त्रस्य

आदि अर्थ को बतानेवाला 'बबर' शब्द, वायु के शब्द का अनुकरण मात्र है। अतः वह नित्य अर्थ का ही अभिधायक है। यह जो कहा है कि व्याकरण की दृष्टि से 'प्रवाहि' शब्द की ही उपपत्ति हो पाती है 'प्रावाहणि' की नहीं। कथंचित् प्रवाहण शब्द को नामधातु मान कर इण् या इञ् करने पर भी प्रावाहणि शब्द की निष्पत्ति नहीं हो सकती। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि इण् अथवा इञ् भी व्यत्यय से तद्धित कार्यकारी होने से उसकी उपपत्ति हो जायगी।

वनस्पतियों ने सत्र किया, सर्पो ने सत्र किया, जरद्गव मन्द्रक गीतों को गाता है, इन वैदिक वाक्यों को उन्मत्तप्रलाप या बालभाषित के समान क्यों न माना जाय? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जों विनियुक्त होता हैं वह परस्पर सम्बद्धार्थक अवश्य रहता है 'जोतिष्टोमः' ऐसा कह कर 'कर्तव्यः' यह कहा जाता है, तब 'केन' ऐसी आकांक्षा होने पर 'सोमेन' कहा जाता है, 'किमर्थम्' ऐसी आकांक्षा होने पर 'स्वर्गाय' कहा जाता है, 'कथम्' ऐसी आकांक्षा होने पर 'इत्यमनया इतिकर्तव्यतया' कहा जाता है। इस रीति से परस्पर सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति जब होती है तब आकांक्षित पदार्थों से संस्कृत होकर प्रतीयमान संपिण्डित वाक्यार्थ को उन्मत्त प्रलपित या बालभाषित केतुल्य कैसे मान सकते हैं।' वनस्पतयः सत्रमासीरन्' इत्यादि वाक्यार्थ को अनुपपन्न भी नहीं कहा जा सकता और न ही 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादिको ही अनुपपन्न कहा जा सकता है। 'वनस्पतयः' इत्यादि वाक्य सत्र की स्तुतियां है। जबकि अचेतन वनस्पतियों ने भी इस सत्र का अनुष्ठान किया तब विद्वान् ब्राह्मणों के सम्बन्ध में कहना ही क्या है। दूसरी बात यह है कि आप्तोपदेश सुप्रतिष्ठित और अनिन्दित हुआ करता है, उसमें उन्मत्त या बाल वाक्य की तुल्यता का संभव कैसे किया जा सकता है। अतः 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' यह ठीक ही कहा गया है। इसी प्रकार 'विधिनात्वेकवाक्यत्वात्' के द्वारा अन्यान्य उपहास्य प्रश्नों के निरसन यथा स्थान किये गये हैं।

पृष्ठ ११५ से आरम्भ कर प्रवचन भेद का उपन्यास किया है और वेद तथा शाखाओं के प्रवचन भेद से प्रामाण्य भेद

चरकेण प्रवचनं वा प्रतिसंस्कारो वा 'विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम्। संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्।' (चरकसिद्धिकल्प--१२।६५) द्वितीयं तु कस्मिश्चिद्विषये ग्रन्थानामंशान् गृहीत्वा स्वोपज्ञातांशं संयोज्य प्रवचनम्, यथा पाणिनीयाष्टाध्याय्याः खिलपाठानां प्रवचनम्। तद्रीत्यैव चन्द्राचार्यकृतं चान्द्रव्याकरणम्, उपलब्धशाखानांञ्च तथैव प्रवचनम्। इह तु वैशम्पायनेन स्वशिष्येभ्यो यास्ककठादिभ्यो यस्याः संहितायाः प्रवचनं कृतं तस्यामेव क्रमभेदेन प्रकरणभेदेन नव्यानंशान् संयोज्य वैशम्पायनशिष्यैः स्वशिष्येभ्यः प्रवचनानि कृतानि। ता एव कठकलापादिशाखाः सञ्जाताः। सर्वेषां प्रवचनानां मूलं वैशम्पायनापरनामकस्य चरकस्य प्रवचनमेव। अत एवैताश्चरकेतिसामान्येन नाम्ना व्यवह्रियन्ते। अनयैव दृष्ट्या पतञ्जलिना शाखानां वर्णानुपूर्व्या अनित्यत्वमुक्तम्।

मन्त्रसंहितानां पदसंहितारूपेण प्रवचनं तृतीयं प्रवचनम्। एतस्य प्रसिद्धमुदाहरणं शाकल्येन ऋक्संहिसायाः, आत्रेयेण च औरव्याः संहितायाः पदविभागेन प्रवचनं कृतम्। पदविभागकरणात् मूलसंहताग्रन्थस्य पदकाररूपेण व्यवहारः, यथा तैत्तिरीयसंहितायाः काण्डानुक्रमण्याम्, 'वैशम्पायनो यास्कायैतां (तथा) प्राह पैङ्गये। यास्कस्तित्तिरये प्राह उषसे प्राह तित्तिरिः। (२५) उषाः शाखामिमाम्प्राह आत्रेयाय यशस्विने। तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयीति च सोच्यते।२६। यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः।' (काण्डानुक्रमणी अ० ३) शाकल्येन ऋक्संहितायाः पदपाठः कृतः। तदेतद् यास्केन 'वनेन वायः' (निरुक्त ६।२८) इत्यनेन ऋक्संहितायाः शाकल्येन पदकारत्वेनैव संबन्धः। अनेन पदप्रवचनेन ऋक्संहिता शाकलीत्युच्यते। अध्ययनाध्यापनाभ्यां विलुप्तयाः संहितायाः पुनर्विशेषेण प्रचारश्चतुर्थं प्रवचनम्, यथा शुक्लयजुःसंहितायाः। वाजसनेयो याज्ञवल्क्यः स्वमातुलस्य वैशम्पायनस्य शिष्यः, स्वतन्त्रप्रकृतित्वाद् गुरुणा मतभेदे कृष्ण-यजुःसंहितां परित्यज्यादित्यसम्प्रदाये कथञ्चिदवशिष्टां शुक्लयजुः-संहितामधीत्य सा पुनरुज्जीविता, तामाश्रित्यैव बृहत्कायस्य शतपथब्राह्मणस्य प्रवचनं कृत्वा तद् याज्ञिकसंप्रदाये पुनः प्रतिष्ठापितम्। 'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' इति शतपथोक्तेः। याज्ञवल्क्येनादित्यसम्प्रदायगुरोः यजुःसंहिताधीता। तस्याः संहितायाः शतपथरूपेण व्याख्यानेन प्रवचनं कृतम्। तेन संहितायाः परिवर्तनं न

बताया है। जैसे आग्निवेशकृत आयुर्वेदीय तन्त्र में कुछ न्यूनाधिक करके चरक ने उसका प्रवचन या प्रति संस्कार किया, यह एक प्रकार हुआ। दूसरा प्रकार यह है कि किसी विषय में ग्रन्थ के अंशों को लेकर उसी के साथ स्वोपज्ञ अंशों को जोड़कर प्रवचन करना। जैसे पाणिनीय अष्टाध्यायी के खिल पाठों का प्रवचन। उसी तरह चन्द्राचार्यकृत चान्द्रव्याकरण। उपलब्ध शाखाओं का भी उसी तरह प्रवचन किया गया है। समस्त प्रवचनों का मूल वैशंपायन (चरक) का प्रवचन ही है। यही कारण है कि इन सबको 'चरक' नाम से ही कहा जाता है। इसी अभिप्राय से पञ्जलि ने शाखाओं की वर्णानुपूर्वी को अनित्य कहा है।

मंत्रसंहिताओं का पदसंहिता के रूप में प्रवचन का तीसरा प्रकार है। जैसे शाकल्य ने ऋक्संहिता का और आत्रेय ने औरवीसंहीता का पदविभाग करके प्रवचन किया। मूलसंहिता ग्रन्थ का पदविभाग करने के कारण उन्हें पदकार कहा जाता है। शाकल्य के द्वारा ऋक्संहिता का पदप्रवचन करने के कारण ऋक्संहिता को शाकली कहा जाता है। अध्यायनाध्यापन न होने के कारण विलुप्त हुई संहिता का पुनः विशेष रूप से प्रचार करना यह चौथे प्रकार का प्रवचन है, जैसे शुक्लयजुः संहिता का। वाजसनेय याज्ञवल्क्य अपने मातुल वैशंपायन का शिष्य था। वह परप्रत्ययनेय बुद्धि न होने के कारण गुरु से उसका मतभेद हुआ। गुरु के द्वारा अपनी विद्या वापस मांगने पर उसने कृष्णयजुः संहिता का परित्याग कर दिया और आदित्य सम्प्रदाय में कथञ्चित् अवशिष्ट रही शुक्लयजुः संहिता का अध्ययन कर उसे पुनरुज्जीवित किया, एवं उसी का आश्रय कर बृहत्काय शतपथ ब्राह्मण का प्रवचन करते हुए याज्ञिक सम्प्रदाय में उसकी पुनः प्रतिष्ठा की। 'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' यह शतपथोक्ति उपर्युक्त इतिहास में प्रमाण है। याज्ञवल्क्य ने आदित्यसंप्रदाय के गुरु से यजुः संहिता का अध्ययन किया और उसका शतपथरूप व्याख्यान से प्रवचन किया। उसने संहिता में कोई किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया। इस विषय में शतपथ के अनेक वचन उपलब्ध होते हैं। स्पष्ट प्रमाण तो यह है:

कृतम् । अत्र शतपथेऽनेकानि वचनानि लभ्यन्ते, तत्रेदं मुख्यं प्रमाणं यद् गुरोः प्राप्तायां यजुःसंहितायाम् प्रारम्भे दर्शेष्टिमन्त्राः पठिताः, परन्तु याज्ञवल्क्येन शतपथे दर्शपूर्णमासेष्ट्योः समाना मन्त्राः पौर्णमासेष्टिमन्त्राश्च व्यख्याताः। तद्रीत्या पूर्वं पौर्णमासेष्टिः, पश्चाच्च दर्शेष्टिरुचिता। अतस्तेन पौर्णमासेष्टिमन्त्रव्याख्यानानन्तरं दर्शेष्टिमन्त्राणां व्याख्यानं कृतम् । यदि स कामयेत तदा स्वमन्तव्यानुसारेणैव संहितायाः प्रवचनं कुर्यात्, दर्शेष्टिमन्त्राणामुपन्यासं पौर्णमासमन्त्राणामनन्तरमेव कुर्यात् । एवमेवान्यत्रापि मन्त्रपाठे मन्त्रव्याख्याने च क्रम-भेद उपलभ्यते । अस्माद्विशिष्टप्रवचनादेव पूर्वतः प्राप्तायाः शुक्लयजुःसंहितायाः वाजसनेयी संहितेति नामकरणं जातम् । याज्ञवल्क्येन येभ्यो मध्यन्दिनकण्वादिशिष्येभ्यः प्रवचनं कृतम्, तैस्तस्याः संहितायाः प्रवचनभेदात् पञ्चदश शाखाभेदाः कृताः। तेषु मध्यन्दिनेन याज्ञवल्क्याद्यथा प्राप्ता यजुःसंहिता तथैव सुरक्षिता। केवलं कुत्रचिद्यज्ञकर्मदृष्ट्या केषाञ्चिन्मन्त्राणां यथास्थानं योजना कृता। अतएव शुक्लयजुःसम्प्रदाये माध्यन्दिनी संहिता सर्वसाधारणी।

'माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा' इति वसिष्ठेनोक्तम् । तत एव तस्या माध्यन्दिनीसंहिताया हस्तलेखेषु अन्ते वाजसनेयी-संहिता वाजसनेयसंहिता वा इति लेखो लभ्यते' इति, तदेतत्सर्वं निर्मूलं कल्पनामूलं प्रमाणविरुद्धं चेति तत्र तत्र खण्डितमिहापि किञ्चित् क्रमेण खण्ड्यते। तथा हि—प्रथमन्तु न प्रवचनं, किन्तु प्रतिसंस्कार एव। अतएव तत्र—'संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्' इत्युक्तम् । न तत्र प्रवचननामापि दृश्यते। द्वितीयस्य प्रवचनत्वमेवासिद्धम्, निर्मूलत्वात्। वैशम्पायनशिष्याणां प्रवचनमपि न तादृक्, तत्र नवीनांशयोजने मानाभावात्। किञ्च, कृष्णद्वैपायनेन वैशम्पायनाय या संहिताऽध्यापिता सा कृष्णयजुःसंहितेति त्वया ९५ पृष्ठे विवरणे स्वीकृतम् ! तस्या मूलवेदत्वं त्वया मन्यते। यस्याश्चाध्ययनाध्यापनाभ्यां विलोपप्राय असीत्तस्याः शुक्लयजुःसंहिताया मूलवेदत्वाङ्गीकारे का नाम वाचोयुक्तिः। यस्याः पारम्पर्यमक्षुण्णं तस्या अवेदत्वम्, यस्याः पारम्पर्यं लुप्तं तस्या वेदत्वमिति सर्वथा प्रमाणबहिर्भूतम्।

कि गुरु से प्राप्त हुई यजुः संहिता के आरम्भ में ही दर्शेष्टिमंत्र पठित हैं, परन्तु याज्ञवल्क्य ने शतपथ में दर्श और पूर्णमास दोनों इष्टियों के समान मंत्रों की तथा पौर्णमासेष्टि के मंत्रों की व्याख्या की है। उस रीति के अनुसार पहले पौर्णमासेष्टि और पश्चात् दर्शेष्टि उचित है, इसी कारण उसने पौर्णमासेष्टि के मन्त्रों की व्याख्या के अनन्तर दर्शेष्टि के मंत्रों की व्याख्या की है। यदि वह चाहता तो अपने मन्तव्य के अनुसार ही संहिता का प्रवचन करता, पौर्णमास मन्त्रों के अनन्तर ही दर्शेष्टि के मन्त्रों का उपन्यास करता। इसी प्रकार अन्यत्र भी मन्त्रपाठ और उसके व्याख्यान में क्रमभेद उपलब्ध होता है। इस विशिष्ट प्रवचन के कारण ही पूर्वतः प्राप्त शुक्लयजुः संहिता का 'वाजसनेयी संहिता' नाम पड़ा। याज्ञवल्क्य ने मध्यन्दिन, कण्व आदि जिन शिष्यों के प्रति प्रवचन किया, उन शिष्यों ने भी उस संहिता का भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रवचन किया, उस कारण पञ्चदश शाखा भेद हुए। उन शिष्यों में से मध्यन्दिन ने याज्ञवल्क्य से यथा प्राप्त संहिता को वैसे ही सुरक्षित रखा। केवल कहीं-कहीं यज्ञकर्म की दृष्टि से कतिपय मन्त्रों की……यथास्थान योजना कर दी है। अत एव शुक्लयजुः सम्प्रदाय में माध्यन्दिनी संहिता को सर्वसाधारणी कहा जाता है।

वसिष्ठ ने कहा भी है—'माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा'। यही कारण है कि माध्यन्दिनी संहिता के हस्तलेखों के अन्त में 'वाजसनेयी संहिता' अथवा 'वाजसनेय संहिता' यह लेख उपलब्ध होता है। किन्तु यह सब कथन निर्मूल है, केवल मनगढ़न्त कल्पना मात्र है, प्रमाण विरुद्ध भी है। जहाँ-तहाँ यथावसर इसका खण्डन कर चुके हैं, तथापि क्रमशः कुछ खण्डन यहाँ भी कर देते हैं। तथाहि—प्रथम तो प्रवचन ही नहीं है, किन्तु प्रतिसंस्कार ही है। अतएव वहाँ कहा है 'संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणञ्च पुनर्नवम्'। वहाँ पर 'प्रवचन' का नाम भी नहीं दिखाई देता। द्वितीय का निर्मूल होने से प्रवचनत्व ही असिद्ध है। वैशंपायन के शिष्यों का वैसा कोई प्रवचन भी नहीं है, जिसमें नवीन अंश कोई जोड़ा गया हो। किञ्च कृष्णद्वैपायन ने वैशंपायन को जो संहिता पढ़ाई वह कृष्णयजुःसंहिता थी, इसे तुमने पृ० ९५ पर विवरण में स्वीकार किया है। उसे मूल वेद के रूप में तुमने माना है। अध्ययनाध्यापन में जिसका प्रायः लोप हो गया था, उसे शुक्लयजुःसंहिता का मूलवेद मानने में कौन-सी युक्ति या प्रमाण है ? जिसकी परम्परा अक्षुण्ण है, उसे 'वेद' न मानना और जिसकी परंपरा लुप्त है उसे 'वेद' मानना तो सर्वथा प्रमाणबहिर्भूत है। क्या कारण था

किं कारणं याज्ञवल्क्येन मध्यन्दिनेन च यथा प्राप्ता संहिता तथैव परिरक्षिता, अन्यैश्च परिर्वत्तिता। प्रमाणं च तत्र किं विद्यते। मन्त्रे तद्व्याख्यानरूपे शतपथे च क्रमभेदस्तु न तत्र कारणं संभवति, शतपथस्य तत्कर्तृकत्वासिद्धेः। शतपथे मन्त्राणां व्याख्यानं व्रीहीणां प्रोक्षणमिव संस्कार एव। शतपथादिब्राह्मणानां नित्यत्वस्य साधितत्वात्। शाखात्वाऽविशेषेऽपि माध्यन्दिन्या वाजसनेय्या मूलवेदत्वमपरिर्वाततत्वमन्यत्रावेदत्वं परिर्वत्तितत्वञ्चेत्यत्र शपथमन्तरा न किमपि प्रमाणम्। माध्यन्दिनी शाखा साधारणीत्यत्र किं प्रमाणम्, कोऽयं वसिष्ठो यद्वचने त्वया प्रामाण्यमुपेयते। कथं च सा साधारणी, को वाऽर्थस्तद्वचनस्य। नहि सा ऋग्वेदिसामवेदिसाधारणी। वस्तुतस्तु उत्तरभारतेऽन्यशाखानां लोपादस्या एव साम्प्रतं प्रचलनात्तस्याः साधारण्यमुक्तम्।

त्वदुक्त आदित्यसम्प्रदायोऽपि निर्मूल एव। श्रीमद्भागवतादिपुराणेषु महाभारते च तपोबलाद् याज्ञवल्क्येन भगवन्तमादित्यमाराध्य ततोऽयातयामानि यजूंषि प्राप्तानि तच्च त्वया त्वदीयैश्च नास्तिक्यान्नाभ्युपेयते। स्वार्थसाधनाय तु कानिचित्पुराणवचनानि भगवद्दत्तेन त्वया चाऽभ्युपेयन्ते। तत्र श्रीमद्भागवते। (१२ स्कन्धे ६ अध्याये) 'ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद्भगवानजः। अन्तस्थोष्मस्वरस्पर्शह्रस्वदीर्घादिलक्षणम्॥ (४३) तेनासौ चतुरो वेदांश्चतुर्भिर्वदनैर्विभुः सव्याहृतिकान् सोंकारांश्चातुर्होत्रविवक्षया। (४४) पुत्रानध्यापयामास ब्रह्मर्षीन्ब्रह्मकोविदान्। ते तु धर्मोपदेष्टारः स्वपुत्रेभ्यः समादिशन्। (४५) ते परम्परया प्राप्तास्तत्तच्छिष्यैर्धृतव्रतैः। चतुर्युगेष्वथ व्यस्ता द्वापरादौ महर्षिभिः।' (४६) व्यासेन अविभक्ता वेदा व्यस्ताः, विभक्ता इत्यर्थः। एतेन वेदविस्तारकत्वाद् व्यास इति युधिष्ठिरोक्तिः पराहता।

किमर्थं व्यस्ता इति तत्र हेतुमाह—'क्षीणायुषः क्षीणसत्वान् दुर्मेधान् वीक्ष्य कालतः वेदान् ब्रह्मर्षयोव्यस्यन् हृदिस्थाऽच्युतचोदिताः॥ (४७) अस्मिन्नप्यन्तरे ब्रह्मन् भगवान् लोकभावनः। ब्रह्मेशाद्यैर्लोकपालैर्याचितो धर्मगुप्तये॥ पराशरात् सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः। अवतीर्णो महाभागो वेदं चक्रे चतुर्विधम्॥ (४९) ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः। चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव॥ (५०) पैलाय संहितामाद्यां वह्वृचाख्यामुवाचह। वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम्॥ ५२॥ साम्नां जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम्। अथर्वाङ्गिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे॥ ५३॥

कि याज्ञवल्क्य और माध्यन्दिन ने यथाप्राप्त संहिता की परिरक्षा की और अन्यों ने उसमें परिवर्तन किया। ऐसा करने में कोई प्रमाण नहीं है? मन्त्र और उसके व्याख्यानरूप शतपथ में जो क्रमभेद है, उसे उपर्युक्त परिवर्तन में कारण नहीं कह सकते। क्योंकि शतपथ तत्कर्तृक नहीं है। शतपथ में मन्त्रों का जो व्याख्यान है वह व्रीहि के प्रोक्षण के समान संस्काररूप ही है। शतपथादि ब्राह्मणों की नित्यता पहले सिद्ध कर चुके हैं। माध्यन्दिनी शाखा को साधारण कहने में कोई प्रमाण नहीं है। वसिष्ठ का जो प्रमाण दिया है, वह वसिष्ठ कौन है? और उस वचन का अर्थ क्या है? वह माध्यन्दिनी शाखा ऋग्वेदी, सामवेदी के लिये तो साधारण नहीं है। वस्तुतः उसे साधारण कहने का तात्पर्य यह है कि उत्तर भारत में अन्य शाखाओं का लोप हो जाने से और वर्तमानकाल में इसी का प्रचलन होने से उसे साधारणी कह दिया गया है।

तुम्हारा कहा हुआ आदित्य सम्प्रदाय भी निर्मूल ही है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में और महाभारत में याज्ञवल्क्य ने अपने तपोबल से भगवान् आदित्य की आराधना कर उससे अयातयाम यजुओं को प्राप्त किया यह उल्लेख है। किन्तु तुम और तुम्हारे समाजी अपनी नास्तिकता के कारण उसे नहीं मानते हो, तथापि अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये मात्र कुछ पुराण वचनों को तुम और भगवद्दत्त मान लेते हो। श्रीमद्भागवत में १२ स्कन्ध के ६ठे अध्याय के श्लोक (४३—४६) के द्वारा यह बताया गया है कि व्यास के द्वारा अविभक्त वेदों को व्यस्त (विभक्त) किया गया। एवं च वेद के विस्तारक होने से उन्हें व्यास कहा गया, इस युधिष्ठिरोक्ति का पूर्णतया निरास हो जाता है।

श्रीमद्भागवत के ४७—५२ तक के श्लोकों द्वारा वेदों का विभाग करने में हेतु बताया गया है। अतः वैशम्पायन प्रोक्त-

एतेन वैशम्पायनप्रोक्तो न मूलवेद इति मतमपास्तम्। ततः परं पैप्पलादिभिः स्वशिष्येभ्यो व्यासदत्ता एव संहिताः प्रोक्ताः (५४-६०) इति।

'वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्वर्यवोऽभवन्। यच्चेरुर्ब्रह्महत्यांहः क्षपणं स्वगुरोर्व्रतम्' (६१) ॥ एतेन श्वेतगलितकुष्ठरोगाद्वैशम्पायन एव चरक इति युधिष्ठिरोक्तिरशुद्धैव। व्रतचरणाद्वैशम्पायनशिष्या एव चरका इति निर्वचनस्य स्पष्टत्वात्।

वायुपुराणेऽपि तदेव स्पष्टम्, ब्रह्महत्यारूपं च तत्र स्पष्टम्, उपोद्घाते ६१ अध्याये—'कार्यमासीदृषीणां च किञ्चिद् ब्राह्मणसत्तमाः। मेरुपृष्ठं समासाद्य तैस्तदात्विति मन्त्रितम्॥ यो नोऽत्र सप्तरात्रेण नागच्छेद् द्विजसत्तमः। स कुर्याद् ब्रह्महत्यां वै समयोऽत्र प्रवर्तितः॥ ततस्ते सगणाः सर्वे वैशम्पायनवर्जिताः। प्रययुः सप्तरात्रेण यत्र सन्धिः कृतोऽभवत्॥ ब्राह्मणानां तु वचनाद् ब्रह्मवध्यां चकार सः। (ब्रह्मवध्याव्रतं चकारेत्यर्थः) शिष्यानत्र समानीय स वैशम्पायनोऽब्रवीत्। ब्रह्मवध्यां चरध्वं वै मत्कृते द्विजसत्तमाः॥ सर्वे यूयं समागत्य ब्रूत मे तद्धितं वचः।' याज्ञवल्क्य उवाच—अहमेव चरिष्यामि तिष्ठन्तु मुनयस्त्विमे। बालञ्चोत्थापयिष्यामि तपसा स्वेन भावितः॥ तथैव श्रीमद्भागवतेऽपि; तत्रैव (१२-६)—याज्ञवल्क्यश्च तच्छिष्य आहाहो भगवन् कियत्। चरितेनाल्पसाराणां चरिष्येऽहं सुदुश्चरम्॥ ६२॥ इत्युक्तो गुरुरप्याह—कुपितो याह्यलं त्वया विप्रावमन्त्रा शिष्येण मदधीतं त्यजाश्विति' (६३)। एतेन स्वतन्त्रविचारत्वाद्विरोधो जात इति युधिष्ठिरोक्तिरपास्ता। 'देवरातसुतः सोऽपि छर्दित्वायजुषां गणम्। ततो गतोऽथ मुनयो ददृशुस्तान् यजुर्गणान् (६४) (योगबलाद्याज्ञवल्क्यो मूर्तरूपान् मन्त्रान् कृत्वा छर्दितवान्। तांश्च तित्तिरा भूत्वा मुनयो जगृहुः)—यजूंषि तित्तिरा भूत्वा तल्लोलुपतयाऽददुः। तैत्तिरीया इति यजुःशाखा आसन् सुपेशलाः' आस्तिक्यादेतज्ज्ञातुं शक्यम्। 'याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मन् छन्दांस्यधिगवेषयन्। गुरोरविद्यमानानि सूपतस्थेऽर्कमीश्वरम्॥ युधिष्ठिरस्तु आदित्यसम्प्रदायस्थात् कस्माच्चिद् गुरोरित्याह, तच्चाशुद्धं निर्मूलत्वात्पुराणादिविरुद्धत्वाच्च। 'ओं नमो भगवते आदित्यायाखिलजगतामात्मस्वरूपेण कालस्वरूपेण चतुर्विधभूतनिकायानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि चाकाश इवोपाधिना व्यवधीयमानो भवानेक एव क्षणलवनिमेषावयवोपचितसंवत्सरगणेनापामादानविसर्गाभ्यामिमां लोकयात्रामनुवहति (६७, ६८, ६९, ७०'७१) इति। इत्यादिभिः स्तुत्वा भगवन्त-

वेद, मूल वेद नहीं है, इस मत का भी खण्डन हो गया इसके आगे पैप्पलादिकों ने अपने शिष्यों को व्यास द्वारा प्रदत्त संहिताओं को ही बताया, यह बात ५४—६० तक के श्लोकों में कही गई है। ६१ वें श्लोक में बताया है कि वैशम्पायन के कतिपय शिष्यों का ही नाम 'चरकाध्वर्यु' था। इन शिष्यों ने अपने गुरु के ब्रह्महत्याजनित पाप का प्रायश्चित करने के लिये एक व्रत का अनुष्ठान किया उस कारण इनका नाम चरकाध्वर्यु पड़ा। इससे स्पष्ट है कि युधिष्ठिर का जो कहना है कि 'श्वेतगलित कुष्ठरोगग्रस्त होने से वैशम्पायन का ही नाम चरक है' वह नितान्त अशुद्ध है। 'व्रतचरणात् वैशम्पायनशिष्या एव चरकाः' यह निरुक्ति सुस्पष्ट है।

वायु पुराण से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। वहीं पर उपोद्घात के ६१ वें अध्याय में ब्रह्महत्या का स्वरूप भी स्पष्ट किया है। उसी तरह श्रीमद्भागवत के द्वादशस्कन्ध के ६ वें अध्याय के ६२-६३ श्लोकों के द्वारा उक्त इतिवृत्त को बताया गया है। अतः युधिष्ठिर का जो कहना है कि 'याज्ञवल्क्य स्वतन्त्र विचार के होने से गुरु-शिष्य में विरोध हुआ उसका पूर्णरूप से निरसन हो जाता है। ६४ वें श्लोक के द्वारा बताया है कि देवरातसुत याज्ञवल्क्य ने अपने योगबल से मन्त्रों को मूर्तरूप देकर वमन कर दिया। उन वान्त मन्त्रों को अन्य मुनियों ने तित्तिर पक्षी का रूप धारण कर स्वीकार किया। तभी से वह तैत्तिरीय शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह सब बातें आस्तिकता होने पर ही समझ में आ सकती हैं। उसके बाद याज्ञवल्क्य ने विचार किया कि मैं ऐसे छन्दों को प्राप्त करूँ, जो मेरे गुरु के पास भी न हों, इसलिये वे भगवान् सूर्य की उपासना करने लगे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि युधिष्ठिर का कथन 'आदित्यसम्प्रदायस्थित किसी गुरु से' नितान्त अशुद्ध है, निर्मूल है, तथा पुराणों के विरुद्ध भी है। ६७, ६८, ६९, ७०, ७१ श्लोकों से यह बताया गया है कि याज्ञवल्क्य ने भगवान् आदित्य की स्तुति की और भगवान् आदित्य ने प्रसन्न होकर अयातयाम यजुओं को मुनि के लिये दिया। यह

मादित्यं तुष्टाव। स प्रसन्नोभूत्वा 'एवं स्तुतः स भगवान् वाजिरूपधरोहरिः। यजूंष्ययातयामानि मुनये ऽदात् प्रसादितः॥' नात्र नास्तिक्यात्समाजिनां विश्वासो भवति। नहि लुप्तप्रायाणि च्छन्दांसि अयातयामानि भवन्ति। तस्माद्युधिष्ठिरमतं सर्वथाऽशुद्धम्। 'यजुर्भिरकरोच्छाखा दशपञ्चशतैर्विभुः। जगृहुर्वाजसन्यस्ता काण्वमाध्यन्दिनादयः॥ (७३-७४) इति।

भगवद्दत्तस्य युधिष्ठिरस्य च प्रमाणभूते वायुपुराणेऽपि तथैव ६१ अध्याये—'एवमुक्तस्ततः क्रुद्धो याज्ञवल्क्यमथाब्रवीत्। उवाच यत्त्वयाऽधीतं सर्वं प्रत्यर्पयस्व मे॥ एवमुक्तः सरूपाणि यजूंषि प्रददौ गुरोः। अचिरेण तथान्यानि छर्दित्वा ब्रह्मवित्तमः॥ ततः स ध्यानमास्थाय सूर्यमाराधयद्द्विजः। सूर्यं ब्रह्म यदुच्छिष्टं खं गत्वा प्रतितिष्ठति॥ ततो यानि गतान्यूर्ध्वं यजूंष्यादित्यमण्डलम्। तानि तस्मै ददौ तुष्टः सूर्यो वै ब्रह्मरातये॥' अनेन भगवान् सूर्यश्चेतनो न जडरूपस्समाजिसंमतः। ये च मन्त्रा अत्र लुप्यन्ते ते सर्वे सूर्यलोके प्रतितिष्ठन्ति, सर्वेषां नित्यत्वात्। लोके तु अध्यायनाऽध्यापनादिनियमातिक्रमणाद्यातयामानि गतरसानि भवन्ति छन्दांसि, सूर्यलोके तु सर्वथा अयातयामान्येव भवन्ति, अधिष्ठानप्रभावात्। सूर्यश्च वाजिरूपधराय याज्ञवल्क्याय यजूंषि ददौ। भागवतरीत्या स्वयं च वाजिरूपधरो भूत्वा 'अश्वरूपो मार्तण्डो याज्ञवल्क्याय धीमते।' वायुपुराणे तत्रैव—'यजूंष्यधीयते यानि ब्राह्मणा येन केन च। अश्वरूपाय दत्तानि ततस्ते वाजिनोऽभवन्' वायुपुराणेऽपि व्रतचरणादेव ते चरका अभवन्। 'ब्रह्महत्यास्तु यैश्चीर्णाश्चरणाच्चरकाः स्मृताः। वैशम्पायनशिष्यास्ते चरकाः समुदाहृताः॥ याज्ञवल्क्यस्य शिष्यास्ते कण्ववैधेयशालिनः। माध्यन्दिनश्च शापेयी विधिग्धश्चाप्य ऊदलः॥ ताम्रायणश्च वात्स्यायश्च तथा गालवशेषिरी। आटवी च तथा पार्णी वीरणी रूपरायणः॥ इत्येते वाजिनः प्रोक्ता दशपञ्च च संस्मृताः। शतमेकाधिकं कृत्स्नं यजुषां वै विकल्पकाः॥' इति वायुपुराणदृष्ट्या एकोत्तरशतसंख्याकानां यजुषां समानमेव वेदत्वम्, न कस्यचिदेकस्य मूलवेदत्वमिति। वायुपुराणरीत्यैव—'वैशम्पायनगोत्रोऽसौ यजुर्वेदं व्यकल्पयत्। षड्शीतिस्तु येनोक्ता संहिता यजुषां शुभाः॥ (६१।४।५), तथैव वायुपुराणेऽन्यत्र ऋग्वेदादिशाखाश्चोक्ताः—'सर्वास्ताहि चतुष्पादाः सर्वाश्चैवार्थवाचिकाः। पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा॥' इति सर्वासामेव शाकल-वाजसनेयि-कौथुम-शौनकादीनामपिकृते समानो न्यायः। 'प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे स्मृताः। अनित्यभावाद्देवानां मन्त्रोत्पत्ति पुनः पुनः' (वायुपु० ७५)

स्पष्टतया प्रतिपादित होने पर भी उस पर इन नास्तिक समाजियों को विश्वास नहीं हो पाता। लुप्तप्राय छन्द अयातयाम नहीं हुआ करते। अतः युधिष्ठिर का मत सर्वथा अशुद्ध है। यह इतिवृत्त ७३.७४ श्लोकों के द्वारा बताया गया है। उसी में कहा गया है कि याज्ञवल्क्य मुनि ने यजुर्वेद के असंख्य मन्त्रों से यजुर्वेद की पन्द्रहशाखाओं की रचना की। वही वाजसनेय शाखा के नाम से प्रसिद्ध है। उन्हें कण्व, माध्यन्दिन आदि ऋषियों ने ग्रहण किया।

भगवद्दत्त और युधिष्ठिर दोनों के द्वारा प्रमाण माने गये वायु पुराण में भी इसी उपर्युक्त इतिहास को बताया गया है। याज्ञवल्क्य के द्वारा छर्दित वेद, आदित्य मण्डल में जाकर प्रतिष्ठित हुआ, और उसे सूर्य ने उसे दिया। इससे यह स्पष्ट है कि भगवान् सूर्य चेतन हैं, जड़ नहीं हैं, यह समाजियों को भी सम्मत है। जो मन्त्र यहां लुप्त होते हैं, वे सब सूर्यलोक में प्रतिष्ठित होते हैं। क्योंकि वे सब नित्य हैं। लोक व्यवहार में तो अध्ययन-अध्यापनादि नियमों के अतिक्रमण से वेद, यातयाम-गतरस हो जाते हैं, किन्तु सूर्यलोक में सर्वथा आयातयाम ही रहते हैं, क्योंकि अधिष्ठान का प्रभाव है। एवंच वायु पुराण की दृष्टि से भी एकोत्तरशतसंख्याक यजुओं का वेदत्व समान है। अतः उनमें से किसी एक को मूलवेद कहना ठीक नहीं है। प्रजापति परमेश्वर से एकरूप से ही श्रुति का आविर्भाव हुआ है। ऋषियों ने उसी से भिन्न-भिन्न शाखाएँ की हैं। शाकलादि शाखा भेद भी ऋषियों के ही किये हुए हैं। शाखाओं के भेद में हेतु तत्तच्छाखाओं के भिन्न-भिन्न कर्ता (द्रष्टा) ही हैं। सभी मन्वन्तरों में ये शाखाभेद समान ही रहते हैं। ये मन्त्रकर्ता (मन्त्रद्रष्टा) दीर्घायु होते हैं, परमेश्वर से उन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई रहती है, वे सभी ज्ञान सम्पन्न रहते हैं, प्रत्यक्षधर्मा और गोत्रप्रवर्तक रहते हैं, युग का क्षय होने पर येही मन्त्र-ब्राह्मण के कर्ता होते हैं। सभी शाखाएँ ईश्वरकृत ही हैं। महाभारत के शान्ति पर्व के वचन से सर्वप्रथम मन्त्र-ब्राह्मणरूप श्रुतियों का प्रादुर्भाव परमात्मा से होना ही बताया गया है। और द्वापर शाखाभेद सहित उन श्रुतियों का प्रादुर्भाव तत्तदृषियों से हुआ है। मन्त्रों का दर्शन जैसे ईश्वर को होता है, वैसे ही ईश्वरदृष्ट मन्त्रों का दर्शन तत्तद् ऋषियों को भी होता है। एवंच शाकलादि

इत्यस्यत्वयमर्थः, प्रजापतेः परमेश्वरादेकरूपैव श्रुतिराविर्भवति, तस्या एव तु ऋषिभिः शाखाभेदाः क्रियन्ते। शाकलादयः शाखाभेदा अपि ऋषिभिरेव कृताः। 'कर्तारश्चैव शाखानां भेदे हेतुस्तथैव च। सर्वमन्वन्तरेष्वेव शाखाभेदाः समाः स्मृताः॥ (वायु० ७४), तत्रैव—'दीर्घायुषो मन्त्रकृत ईश्वराद्दिव्यचक्षुषः। बुद्धाः प्रत्यक्षधर्माणोगोत्रप्रवर्तकाश्च ये॥ मन्त्रब्राह्मणकर्तारो जायन्ते हि युगक्षये।' अत्र सर्वत्र 'कर्तारः' इति द्रष्टृषु प्रयुज्यते। 'द्वापरेष्विह सर्वेषु संहिताश्च श्रुतर्षिभिः। तेषां गोत्रेष्विमाः शाखा भवन्तीह पुनः पुनः। ताः शाखास्तत्र कर्तारो भवन्तीह युगक्षयात्', सर्वा अपि शाखा ईश्वरकृता एव—'शाखाभेदास्तु ये केचित् याश्च शाखासु गीतयः। स्वरवर्णसमुच्चाराः सर्वां स्तान्विद्धि मत्कृतान्।' इति शान्तिपर्ववचनेन मन्त्रब्राह्मणरूपाणां तासामादौ परमात्मन एव प्रादुर्भावः। द्वापरे तु शाखाभेदेन तासां तत्तदृषिभ्यः प्रादुर्भावः। यथेश्वरदृष्टानामपि मन्त्राणां तैस्तैर्ऋषिभिर्दर्शनं भवतीति तद्वत्। तस्माद्यथा शाकलादीनां परस्परपाठभेदेऽपि न कस्याश्चिन्नित्यत्वमनित्यत्वं वा, तथैव सर्वासामपि शाखानां परस्परपाठभेदेऽपि सर्वासामेव नित्यत्वं वेदत्वं च। तृतीयोऽपि प्रवचनप्रकारोऽसंगत एव, शाकलस्य पदपाठकर्तृत्वेन पदपाठस्य शाकलत्वसमाख्यानोपपत्तावपि। तत्र यास्कवचनेन शाकल्यस्य पदकारत्वेन संहितायाः शाकलत्वं सिद्धयति। तत्र तु "वने न वायः" इति मन्त्रे 'वा' इति 'य' इति पदभेदं चकार शाकल्य इत्येवोक्तम्। अद्यापि समाजिनामन्येषां च मुद्रणालये मुद्रितायां संहितायां 'वा' 'य' इत्येव पाठ उपलभ्यते। कामं भवतु शाकल्यः पदकारो, भवतु च तेन पदपाठस्य शाकलत्वम्, संहितायास्तु पदकारत्वेन शाकलत्वं सर्वथाऽसंभवमशुद्धं च'औखीशाखाया अपि आत्रेयीत्वं न पदकारत्वेन, किन्तु 'तेन शाखाप्रणीतेयमित्यनेन शाखाप्रणयनहेतोस्तत्र आत्रेयीत्वं विज्ञायते। तस्या आत्रेयः पदकृदिति तु तदनन्तरभाविना वाक्येन विज्ञायते। तेन उखप्रोक्तायाः शाखायाः प्रणयनादात्रेयी सोच्यते। चकारेण तस्या एव औखी आत्रेयी इति च नामकरणम्। तस्मात् शाकल्येन पदपाठरचनात् पदपाठस्य शाकलत्वसम्भवेऽपि संहितायाः शाकलत्वानुपपत्त्या शाकल्येन विशेषतोऽध्यापितत्वात् शाकलीति समाख्या। यथा कठेन प्रोक्तत्वात् काठकमिति समाख्या तद्वत्। तदेव शबरस्वामिनाऽन्यैश्च मीमांसकैरभ्युपगम्यते। तथैव सर्वासामपि शाखानां तत्तदृषिभिर्विशिष्टप्रवचनात् तत्तन्नामभिः समाख्येतियुक्तम्। किञ्च, यदि शाकल्यस्य पदकारत्वेन ऋक्संहितायाः शाकलत्वं तर्हि कौथुमशौनकसमाख्ययोरपि कुथुमशौन-

शाखाओं में परस्पर पाठभेद के रहने पर भी सभी नित्य हैं। किसी को नित्य और किसी को अनित्य कहना ठीक नहीं है। सभी शाखाओं में परस्पर पाठभेद रहने पर भी सभी नित्य और सभी में वेदत्व समान है।

समाजियों का बताया हुआ तृतीय प्रवचन प्रकार भी असंगत है। पद पाठ के कर्ता शाकल हैं, इस कारण शाकलकृत पदपाठ यह प्रसिद्धि भी है। यास्क के वचन के अनुसार शाकल्य को पदकार माना जाता है। अतः संहिता का शाकलत्व सिद्ध हो जाता है। उस शाकल संहिता के 'वने न वायः' मन्त्र में 'वा' और 'यः' ऐसा पदभेद शाकल्य ने किया है—इतना ही कहा है। अद्यापि समाजियों के तथा अन्य लोगों के मुद्रणालय में मुद्रित संहिता में 'वा' य' ही पाठ उपलब्ध हो रहा है। शाकल्य भले ही पदकार रहें और उसकारण पदपाठ में शाकलत्व भी रहे, पदकार होने से संहिता को भी शाकल कहना सर्वथा असंभव और अशुद्ध है। औषोशाखा में भी जो आत्रेयीत्व है, वह पदकार होने के नाते नहीं है, किन्तु 'तेन शाखा प्रणीतेयम्' उसने इस शाखा का प्रणयन किया है। अतः शाखा प्रणयन रूप हेतु से उस संहिता में आत्रेयोत्व प्रतीत हो रहा है। उस संहिता के पदकार आत्रेय हैं' यह तदनन्तर आनेवाले वाक्य से जाना जाता है। अतः उस प्रोक्त शाखा के प्रणयन से वह संहिता आत्रेयी कही गयी है। 'चकार' के प्रयोग से उसी संहिता को औषी और आत्रेयी भी कहा जाता है। एवंच शाकल्य ने पदपाठ की रचना की, इस कारण पदपाठ में शाकलत्व के संभव रहने पर भी उसी से संहिता को भी शाकल कहना अनुपपन्न है। किन्तु शाकल्य ने उसका अध्यापन विशेष रूप से किया, उस कारण उस संहिता का नाम शाकली पड़ा, जैसे कठ के द्वारा प्रोक्त होने से (विशिष्ट अध्यापन करने से) संहिता को काठक कहा जाता है, ऐसा शबर स्वामी तथा अन्य मीमांसकों ने भी माना है। इसी प्रकार सभी शाखाओं का तत्तद् ऋषियों के द्वारा विशिष्ट प्रवचन करने के कारण तत्तद् ऋषियों के नाम तत्तद् शाखाओं के साथ जुड़ गये, यही मानना समुचित है। किन्तु यदि शाकल्य के पदकार होनेके कारण ऋक् संहिता

कादिकर्तृकपदपाठमूलकत्वमेव मन्तव्यम्। न च तत्र तयोः पदकारत्वं प्रमाणसिद्धम्। न च शाकल्योदाहरणेन तत्रापि तयोः पदकारत्वमनुमीयते, तथात्वे कठादीनामपि पदपाठकारत्वानुमानेन तत्रापि समाख्यायाः पदपाठकरणमूलकत्वोपपत्तेः।

चतुर्थोऽपि प्रवचनप्रकारो निर्मूल एव, पूर्वोक्तरीत्या अध्ययनाध्यापनपारम्पर्यविलोपेऽयातयामत्वानुपपत्तेः पुनर्जीवनमपि निर्मूलम्। त्वद्रीत्या प्रमाणत्वेनाऽभिमते वायुपुराणे याज्ञवल्क्यस्य तपोबलादादित्याद्भगवतः प्राप्तत्वात्। नहि शबरस्वमिना भाष्यकरणान्मीमांसाजैमिनिसूत्राणां शाबरत्वं सम्भवति। तथैव न वाजसनेयेन शतपथाख्यभाष्यलेखनेन संहिताया वाजसनेयीत्वं सम्भवति। किन्त्वत्रापि वाजसनेयेन प्रोक्तत्वादेव वाजसनेयी समाख्या युक्ता। 'आख्या प्रवचनात्' इति सूत्रोक्तस्य प्रवचनस्य वैरूप्ये मानाभावात्। शतपथब्राह्मणं तु याज्ञवल्क्येन दृष्टं, न कृतमिति वक्ष्यते। 'आदित्यानीमानि यजूंषि याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' इति शतपथवचनेनापि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन यजूंषि प्रोक्तानि तेन तान्येव वाजसनेयानीत्युच्यन्ते। याज्ञवल्क्येन स्वशिष्येभ्यो यजूंषि प्रोक्तानि, तेन शुक्लयजुषां पञ्चदशभेदा जाता इत्युक्तम्, न तत्र शतपथस्य पञ्चदशभेदा उक्ताः।

यदुक्तं विभिन्नकालिकानां सामगानानां संहिताक्रमेण संग्रहे सामगानानां लयेषु नवीनत्वानयनमप्येकः प्रवचनप्रकार इत्यपि निर्मूलम्, तथात्वे अनुश्रवत्वविरोधात्। 'गीतिषु सामाख्या' (जै० सू० २।१।३६) इति रीत्या गीतिभेदेन सामभेदस्य युक्तत्वेऽपि तत्राविच्छिन्नपारम्पर्यप्राप्तिरेव मूलम्, न कस्यचिदभ्यूहमात्रम्। दयानन्देन चत्वारि पुस्तकानि मूलवेदत्वेनाभ्युपगतानीत्यपि यत्किञ्चित्, तदभ्युपगमस्य प्रमाणशून्यत्वात्।

यत्तु (११५ पृष्ठे) 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' इति सूत्रस्थप्रकरणविशेषादिदं स्पष्टं भवति यत्तदानीं वेदविरोधिनो वेदानामप्रामाण्यायेतिहासमाश्रयन्ते स्म। तेन च वेदानामनतिचिरकालोत्पन्न-व्यक्तिविशेषनिर्मितत्वं साधयितुं

को शाकल कहा जाता हो तो कौथुम, शौनक संहिताओं को भी कौथुम, शौनककर्तृक पदपाठ मूलक मानना होगा, किन्तु कौथुम, शौनक को पदकार कहने में कोई प्रमाण नहीं है।

इसी तरह चतुर्थ प्रवचन प्रकार भी निर्मूल ही है। पूर्वोक्तरीति से अध्ययन का लोप मानने पर अयातयामत्व नहीं बनेगा। पुनर्जीवन की कल्पना में भी कोई प्रमाण नहीं है। तुम्हारी रीति से प्रमाणत्वेन अभिमत वायु पुराण में कहा गया है कि याज्ञवल्क्य के तपोबल से भगवान् आदित्य से उन्हें प्राप्त हुए हैं। शबरस्वामी ने भाष्य की रचना की एतावता जैमिनि के मीमांसा सूत्रों को शबर निर्मित नहीं कहा जायगा। उसी तरह वाजसनेय के द्वारा शतपथ संज्ञक भाष्य के लेखन मात्र से संहिता को वाजसनेयी कहा जाना संभवनीय नहीं है। किन्तु यहां भी वाजसनेय के द्वारा प्रोक्त होने से ही संहिता की वाजसनेयी समाख्या का होना उचित कहा जा सकता है। 'आख्याः प्रवचनात्' इस सूत्र में बताये हुए प्रवचन के वैरूप्य में कोई प्रमाण नहीं है। शतपथ ब्राह्मण तो याज्ञवल्क्य ने देखा है, किया नहीं है। 'आदित्यानीमानि यजूंषि याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' इस शतपथ के वचन से भी स्पष्ट है कि वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने यजुओं को कहा, उस कारण उन्हीं को 'वाजसनेयानि यजूंषि' वाजसनेयी यजु कहा जाने लगा। याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों से यजुओं को कहा, इस प्रकार शुक्लयजुओं के पन्द्ररह (पञ्चदश) भेद हुए, यह कहा। शतपथ के पंचदश भेद हुए, यह नहीं कहा है।

यह जो कहा है कि विभिन्न कालिक सामगानों का संहिता क्रम से संग्रह करने में सामगानों का लय होने पर नवीन सामगानों का करना (नवीनत्वानयन) भी प्रवचन का एक प्रकार है। किन्तु वह भी निर्मूल है। क्योंकि वैसा मानने में अनुश्रवत्व का विरोध होता है। 'गीतिषु सामाख्या' इस जैमिनिसूत्र की रीति के अनुसार गीतिवेद से साम की भिन्नता की युक्तता में भी अविच्छिन्न पारम्पर्य प्राप्ति ही मूल है। किसी का कथन (अभ्यूहन) मात्र मूल नहीं है। दयान्द ने चार पुस्तकों को मूलवेद के रूप में माना है, यह कहना भी तुच्छ है, क्योंकि उसका वह अभ्युपगम, प्रमाण रहित है।

यह जो पृ० ११५ पर कहा है कि 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' इस सूत्रस्थ प्रकरण विशेष से यह स्पष्ट होता है कि उस समय के वेद विरोधी लोगों ने वेदों का अप्रामाण्य सिद्ध करने के लिये इतिहास का आश्रय लिया था। उस कारण यह कहा गया था कि

चेष्टन्ते स्मेति, तदपि यत्किञ्चित्, पाश्चात्त्यानुयायिनां भवद्विधानामद्यापि वेदार्धभागस्य ब्राह्मणभागस्य तादृशव्यक्तिविशेषनिर्मितत्वसाधनप्रवर्त्तमानत्वात्। यत्तु—'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' (निरुक्त १०।१०।४६, निरु० १०।२६) 'तत्रेतिहासमाचक्षते' इत्यस्य व्याख्यायाम्, एतस्मिन्नर्थे इतिहासमाचक्षते आत्मविदः इतिवृत्तं परकृत्यर्थवादरूपेण। यः कश्चिदाध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिकोवार्थं आख्यायते दिष्ट्युदितार्थावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो नित्यमविवक्षितस्वार्थस्तदर्थप्रतिपत्तॄणामुपदेशपरत्वात् (दुर्गाचार्यटीका) औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः, नित्यत्वविरोधात्, परमार्थत्वेन नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः।

(वररुचिकृतनिरुक्तसमुच्चये पृष्ठे ८६ संस्क० २ स्कन्द निरुक्तटीका) इति तदपि सर्वशाखासु समान एव, निरुक्तकारेण ब्राह्मणानां शाखान्तराणां च निगमपदेन व्यपदिष्टत्वात्, तदिहैवान्यत्रोक्तम्। तदेवच शबरस्वामी—'बवरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यादि ब्राह्मणसम्बन्धेष्वपि वक्ति। श्रीशंकराचार्यस्तु केनोपनिषद्भाष्येऽन्यत्र च सुखावबोधार्थाख्यायिकेति वक्ति। तस्मादाहुनवतदस्ति यद् दैवासुरं यदिदमन्वाख्यायते त्वदुद्यते इतिहासेत्वतः (शतपथे ११।१।६।९, निरुक्ते २।१६), अपरञ्च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्णकर्म जायते, तत्र उपमार्थेन युद्धवर्णनानि भवन्ति इत्यस्यापि, तथैव मन्त्राणां ब्राह्मणानां चेतिहासवर्णनेन प्राप्तस्य सादित्वस्य निराकरणे समानएवोपयोगः। देवताधिकरणे—'तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्' (ब्रह्मसूत्र १।३।२६) इत्यत्र मनुष्यादुपरि ये देवादयस्तानप्यधिकरोति शास्त्रमिति सिद्धान्त उक्तः, तेषामप्यर्थित्वात्, समर्थत्वाच्च। मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यस्तेषां विग्रहवत्त्वमप्रतिहतज्ञानत्वं च प्रतिपादितम्। तत्र विग्रहवत्त्वेन देवादीनां विद्यास्वधिकाराऽभ्युपगमेऽपि स्वरूपसन्निधानेन इन्द्रादीनां कर्माङ्गभावविरोधमाशङ्क्यानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनाद् विरोधः परिहृतः। विरोधःकर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्' (ब्रह्मसूत्रे १।३।२७) विग्रहवत्त्वे देवादीनामभ्युपगम्यमाने कर्मणि कश्चिद्विरोधो मा भूत्, शब्दे तु विरोधः स्यादेव। शब्दार्थसम्बन्धानामौत्पत्तिकत्वाभ्युपगमात्।

वेद, कुछ ही समय पूर्व के व्यक्ति विशेष ने रचे हैं। किन्तु यह कहना भी निःसार है। क्योंकि पाश्चात्यों का अनुकरण करने वाले आप जैसे लोग आज भी वेद के अर्धभाग रूप ब्राह्मण भाग को किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा रचित सिद्ध करने में प्रयत्नशील हैं। 'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' (निरु० १०।१०।४६, निरु० १०।२६) 'तत्रेतिहासमाचक्षते' की व्याख्या में आत्मविद् लोग इस अर्थ में इतिहास बताते हैं। वह इतिहास (इतिवृत्त) परकृतिरूप अर्थवाद के रूप में हैं दिष्टचुदित अर्थ के अवभासनार्थ जो कोई आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक अर्थ बताया जाता है, उसे इतिहास कहते हैं। वह इतिहास हमेशा अविवक्षितस्वार्थवाला होता है। उसके अर्थ को जाननेवालों को वह उपदेशपरक होता है (दुर्गाचार्यटीका)। नित्यत्व के साथ विरोध के कारण मन्त्रों में इस आख्यानसमय को औपचारिक माना जाता है। वस्तुतः नित्यपक्ष ही नैरुक्तों का सिद्धान्त है।

(वररुचिकृत निरुक्त समुच्चय पृ० ८६, संस्क० २ स्कन्दनिरुक्तटीका) भी समस्त शाखाओं के लिये तुल्य ही है। निरुक्तकार ने ब्राह्मणों और अन्य शाखाओं को निगम पद से कहा है। उसी को शबरस्वामी ने "बवरः प्रावाहणिरकामयत" इत्यादि ब्राह्मण सम्बन्ध में भी कहा है। शंकराचार्य ने भी केनोपनिषद् भाष्य में तथा अन्यत्र भी 'आख्यायिका' को सुखावबोधार्थ कहा है। उसी तरह युद्धवर्णन उपमा के लिये होते हैं। एवंच मन्त्र और ब्राह्मणों के इतिहास वर्णन से प्राप्त हुए सादित्व के निराकरण करने में सबका उपयोग समान रूप से है। देवताधिकरण में "तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्"—(ब्र० सू० १।३।२६) सूत्र से बताया गया है कि मनुष्य से ऊपर देव आदि हैं, उनके लिये भी यह शास्त्र है, यह बादरायण का सिद्धान्त है। क्योंकि वे भी अर्थी हैं और समर्थ भी हैं। मन्त्र-अर्थवाद-इतिहास-पुराण और लोक व्यवहार के द्वारा देवताओं का विग्रहवान् (शरीरी) होना एवं अप्रतिहतज्ञानसम्पन्न रहना बताया गया है। देवताओं के विग्रहसम्पन्न होने से विद्याओं में उनका अधिकार यद्यपि माना गया है, तथापि इन्द्रादि देवताओं का यज्ञादि कर्मों में युगपत् स्वरूपतः सन्निधान न हो सकने से उन कर्मों में उनका अङ्गभाग नहीं हो सकेगा, ऐसी आशंका करके कहा है 'अनेक प्रतिपत्तेर्दर्शनात्'—एकही समय में एकही देवता अनेक स्वरूप धारण कर सकती है, इस प्रकार विरोध का परिहार किया है। "विरोधः कर्मणीतिचेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्"—(ब्र० सू० १।३।२७) देवता आदि को विग्रहवान् (शरीरी) मानकर कर्म में यद्यपि विरोध नहीं होगा, तथापि शब्द में तो विरोध होगा ही। क्योंकि अर्थ के साथ शब्द का नित्यसम्बन्ध माना है।

यद्यप्यैश्वर्ययोगाद्विग्रहवती देवता युगपदनेककर्मसम्बन्धीनि हवींषि भुञ्जीत, तथापि विग्रहयोगादस्मदादिवज्जननमरणवती सेति नित्यस्य शब्दस्य नित्येनार्थेन नित्ये सम्बन्धे प्रतीयमाने शब्दे यत्प्रामाण्यं स्थितं तस्य विरोधो भविष्यत्येवेत्याशङ्क्य समाधानं कृतम्—"शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" ॥ (ब्र० सू० १।३।२८) नायमस्ति विरोधः; कस्मात्, अतः प्रभवात्, अतएव वैदिकाच्छब्दादेव देवादेर्जगतः प्रभवात्। ननु 'जन्माद्यस्य यतः', (ब्रह्मसू ०१।१।२) ब्रह्मप्रभवत्त्वं जगतोऽवधारितम्, तथा चोत्पत्तिमतामनित्यत्वेन तद्वाचिनां वैदिकानां शब्दानामनित्यत्वं केन वार्यते। प्रसिद्धं हि लोके देवदत्तस्य पुत्र उत्पन्ने यज्ञदत्त इति नाम क्रियते, तस्माद्विरोधोऽस्त्येव शब्दे, इति चेन्न, गवादिव्यक्तीना मुत्पत्तिमत्त्वेऽपि गवादिजातीनामनित्यत्वाभावात्। द्रव्यगुणकर्मणां व्यक्तय एवोत्पद्यन्ते नाकृतयः (जातयः), आकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः, व्यक्तीनामानन्त्यात् सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः। तथा च देवादिव्यक्तिप्रभवाऽभ्युपगमेऽपि आकृतिनित्यत्वान्नेन्द्रवस्वादिशब्देषु विरोधः। आकृतिविशेषस्तु मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहवत्त्वावगमादवगन्तव्यः। स्थानविशेषसम्बन्धनिमित्ताश्चेन्द्रादिशब्दाः सेनापत्यादिशब्दवत्। अतश्च यो यस्तत्स्थानमधिरोहति स स इन्द्रादिशब्दैरभिधीयते। इन्द्रादीनां शब्दप्रभवत्वं ब्रह्मप्रभवत्त्ववन्नोपादानकारणाभिप्रायेणोक्तम्, किन्तु स्थिते वाचकात्मना नित्ये शब्दे नित्यार्थसम्बन्धिनि शब्दव्यवहारयोग्यार्थव्यक्तिनिष्पत्तिः, अतः प्रभव इत्युच्यते।

ननु कथं शब्दात्प्रभवति जगदिति प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्, प्रत्यक्षं श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षितत्वात्, अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्। ते हि शब्दपूर्वां सृष्टिं दर्शयतः। 'एत इति वैप्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄँस्तिरः पवित्रमिति ग्रहानाशव इतिस्तोत्रं विश्वानीतिशस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः' इति श्रुतिरुद्धृता श्रीशङ्करा-

देवताओं को शरीरी स्वीकार करने से यद्यपि वे एक ही समय में अनेक कर्मों के साथ सम्बन्ध रखते हुए अनेक हवियों का ग्रहण कर सकते हैं, तथापि शरीर के साथ सम्बन्ध होने से हम लोगों के समान वे भी जन्म-मरण शील हो जायँगे। इसलिये नित्य शब्द का नित्य अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध प्रतीयमान वैदिक शब्दों में जो प्रामाण्य था, उसका अब विरोध हो जायगा ऐसी आशंका कर के उसका समाधान किया कि "शब्द इतिचेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षाऽनुमानाभ्याम्"—(ब्र० सू० १।३।२८) वैदिक शब्द से ही देवादि जगत् उत्पन्न होता है। किन्तु "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र० सू० १।१।२) सूत्र से यह निश्चय किया गया है कि ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है। जब कि उत्पत्तिमान् पदार्थ अनित्य होते हैं, तब उनके वाचक वैदिक शब्दों का अनित्यत्व कौन रोक सकता है ? लोकव्यवहार में प्रसिद्ध ही है कि देवदत्त के पुत्र उत्पन्न होने पर ही उसका नाम यज्ञदत्त रक्खा जाता है, इसलिये शब्द में विरोध है ही। किन्तु यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि गो आदि शब्दों और अर्थों का सम्बन्ध नित्य दिखाई देता है। गो आदि व्यक्तियों की उत्पत्ति होनेपर उनमें रहनेवाली जातियों की भी उत्पत्ति हो यह नियम नहीं है। द्रव्य, गुण, और व्यक्तियाँ ही उत्पन्न होती हैं, द्रव्यत्व आदि जातियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। शब्दों का सम्बन्ध जातियों के साथ है, व्यक्तियों के साथ नहीं है। क्योंकि व्यक्तियाँ अनन्त हैं। अतः उनके साथ शब्दों का सम्बन्ध ग्रहण नहीं हो सकता। देवादि व्यक्तियों के उत्पन्न होनेपर भी जातियों के नित्य होने से इन्द्र, वसु आदि शब्दों में कोई विरोध नहीं है। मन्त्र, अर्थवाद आदि से देवताओं के शरीर आदि की प्रतीति होने से उनकी जाति का भी स्वीकार करना चाहिये। अथवा सेनापति आदि शब्दों के समान इन्द्र आदि शब्द, विशिष्ट स्थान के सम्बन्ध में प्रवृत्त होते हैं। इसलिये जो कोई उस स्थानपर आरूढ होता है, उसे इन्द्र आदि शब्द से कहा जाता है। अतः कोई दोष नहीं है। शब्द से जगत् उत्पन्न होता है, यह कथन ब्रह्म से उत्पन्न होने के समान उपादान कारण के अभिप्राय से नहीं है। शब्द से जगत् की उत्पत्ति बताने का अभिप्राय यह है कि नित्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रखनेवाला नित्य शब्द जब वाचकस्वरूप से स्थित रहता है, तभी उससे शब्दव्यवहारयोग्य अर्थ की निष्पत्ति होती है। इस आशय से जगत् को शब्दप्रभव कहा गया है।

परन्तु शब्द से जगत् उत्पन्न होता है, यह कैसे माना जाय ? तो उत्तर दिया कि प्रत्यक्ष और अनुमान से। प्रत्यक्ष अर्थात् श्रुति, क्योंकि उसके प्रामाण्य के लिये अन्य किसी की अपेक्षा नहीं होती। अनुमान अर्थात् स्मृति, क्योंकि उसके प्रामाण्य के लिये श्रुति की अपेक्षा होती है। ये दोनों प्रमाण यह दिखलाते हैं कि सृष्टि, शब्द पूर्वक है। इसी अभिप्राय के समर्थन में "एत इति प्रजापतिः"—

चार्येण, तथान्यत्रापि 'समनसा वाचं मिथुनं समभवत्' (बृ० १।२४) इत्यादिना तत्र तत्र श्राव्यते। स्मृतिरपि—'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।' उत्सर्गश्चायं वाचः सम्प्रदायप्रवर्तनात्मकः। 'नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥' (मनु० १।२१) 'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' इति च। अपि च चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठन् वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात्तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेव। तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान् ससर्जेति गम्यते। 'स भूरिति व्याहरत्, स भूमिमसृजत्' (तै० ब्रा० ३।२।४।२) इत्येवमादिका श्रुतिर्भूरादिशब्देभ्य एवं मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान् सृष्टान् दर्शयति। अत्र प्रत्यक्षशब्देन मन्त्रब्राह्मणरूपा श्रुतिर्गृहीता।

'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३।२९) स्वतन्त्रस्य कर्तुरस्मरणादिभिः स्थित एव वेदस्य नित्यत्वे देवादिव्यक्तिप्रभवाऽभ्युपगमेन तस्य विरोधमाशङ्क्य, 'अतः प्रभवात्' इति परिहृत्येदानीं तदेव वेदनित्यत्वं स्थितं द्रढयति। अतएव च नित्यत्वम्—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्' (ऋ० १०।७१।३) इति मन्त्रः स्थितामेववाचमनुविन्नां दर्शयति। 'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान्महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा॥' इति पुराणमिति देवताधिकरणे शङ्कराचार्याः।

'समाननामरूपत्वादावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च' (ब्र० सू० १।३।३०) ननु यदि पश्वादिव्यक्तिवद्देवादिव्यक्तयोऽपि संतत्यैवोत्पद्येरन्, निरुध्येरंश्च, ततोऽभिधानाभिधेयाभिधातृव्यवहाराविच्छेदात् संबन्धविरोधेन शब्देऽनित्यत्वपरिहारेऽपि प्रलये तन्नोपपद्यते। तदा तु सकलं त्रैलोक्यं परित्यक्तनामरूपं निर्लेपं प्रलीयते, प्रभवति चाभिनवमिति तदा कथमविरोध इति चेन्न, समाननामरूपत्वादिति। अनादौ संसारे यथा स्वापप्रबोधयोः प्रलयप्रभवश्रवणेऽपि पूर्वप्रबोधवदुत्तर-

(ऋ० सं० ९।६२।१, साम-छन्दोग ब्रा० ८३०) तथा 'स मनसा वाचम्'—(बृ० उ० १।२।४) श्रुति को भी श्रीशंकराचार्य ने उद्धृत किया है। तथा अन्यत्र स्मृति भी 'अनादि निधना नित्या'—(म० भा० शां० २३३।२४) यही बता रही है। वाणी का यह उत्सर्ग भी सम्प्रदायप्रवर्तन स्वरूप ही है, क्योंकि अनादि और अनन्त वाणी का अन्य किसी प्रकार से उत्सर्ग नहीं हो सकता। उसी प्रकार मनु ने भी वेद शब्द से ही सृष्टि का होना बताया है। और यह सभी का प्रत्यक्ष अनुभव भी है कि जब कोई पुरुष किसी वस्तु को बनाना चाहता है तब वह पहले उसके वाचक शब्द का स्मरण करता है, पश्चात् उस वस्तु को बनाता है। उसी प्रकार सृष्टि करनेवाले प्रजापति के मन में सृष्टि से पहले वैदिक शब्द प्रादुर्भूत हुए, उसके पश्चात् शब्द के अनुगत अर्थों (वस्तुओं) की उसने रचना की। तै० ब्रा० (३।२।४।२) की श्रुति भी इसी अभिप्राय को स्पष्ट बता रही है।

"अत एव च नित्यत्वम्"—(ब्र० सू० १।३।२९) इस सूत्र पर श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि स्वतन्त्र कर्ता का स्मरण न होने से वेद की नित्यता सिद्ध होने पर देवता आदि व्यक्तियों की उत्पत्ति मानने से वेद की नित्यता नहीं बन सकेगी इस आशंका का "अतः प्रभवात्" से परिहार करके अब पूर्वसिद्ध उसी वेदनित्यता को दृढ़ करते हैं। उसी प्रकार "यज्ञेन वाचः"—(ऋ० सं० १०।७१।३) यह मन्त्र भी पूर्वसिद्ध वेदरूप वाणी की प्राप्ति दिखा रहा है। उसी तरह वेदव्यास भी कहते हैं—'युगान्तेऽन्तर्हितान्"—प्राचीन काल में महर्षियों ने ब्रह्मा की अनुज्ञा पाकर युग के अन्त में गुप्त हुए इतिहाससहित वेदों को तप से प्राप्त किया। यह सब श्रीशंकराचार्य ने देवताधिकरण में बताया है।

"समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च"—(ब्र० सू० १।३।३०) यदि पशु आदि व्यक्तियों के समान देवता आदि व्यक्तियों के भी उद्भव और लय अविच्छिन्न होते तो नाम, विषय और वक्ता के व्यवहार का विच्छेद न होने के कारण सम्बन्ध नित्य रहने से शब्द में विरोध का (शब्दाऽनित्यत्वका) परिहार हो जाता, परन्तु जब श्रुतियाँ और स्मृतियाँ कहती हैं कि सम्पूर्ण त्रैलोक्य नाम और रूप का परित्याग करके समूल नष्ट हो जाता है अर्थात् प्रलय हो जाता है, और पुनः नवीन उत्पन्न होता है, तब अविरोध कैसे कह सकते हैं ? यह शंका मन में उठती है, किन्तु वह ठीक नहीं है। उसी को उपर्युक्त सूत्र का भाष्य करते हुए श्रीशंकरा-

प्रबोधेऽपि व्यवहारान्न कश्चिद्विरोधः, एवं कल्पान्तरप्रभवप्रलययोरपि द्रष्टव्यम् । 'स्वापप्रबोधयोश्च प्रलयप्रभवौ श्रूयेते, यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति, तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति, चक्षुः सर्वैरूपैः सहाप्येति, श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति, मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति, यदा प्रतिबुध्यते, यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते, प्राणेभ्यो देवाः, देवेभ्यो लोकाः' (कौषो० उ० ३।३) इति । ननु स्वापे पुरुषान्तरव्यवहाराविच्छेदात्, स्वयं च सुप्तप्रतिबुद्धस्य पूर्वप्रबोधव्यवहारानुसन्धानसंभवादविरुद्धम्, महाप्रलये तु सर्वव्यवहारोच्छेदाज्जन्मान्तरव्यवहारवच्च कल्पान्तरव्यवहारस्यानुसन्धातुमशक्यत्वाद्वैषम्यमिति चेन्न, सर्वव्यवहारोच्छेदिनि महाप्रलये सत्यपि परमेश्वरानुग्रहादीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानोपपत्तेः । प्राकृतप्राणिषु जन्मान्तरीयव्यवहारानुसन्धानाऽभावेऽपि हिरण्यगर्भादिषु तत्संभवात् । मनुष्यादिस्तम्बपर्यन्तेषु मनुष्यादिषु हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रतिबन्धाप्रतिबन्धतारतम्यसिद्धेः । ततश्चातीतकल्पानुष्ठितप्रकृष्टज्ञानकर्मणामीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्तप्रतिबुद्धवत् कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानमुपपद्यत एव । 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥' (श्वे० ६।१८) इति श्रुतेः । स्मरन्ति च शौनकादयो मधुच्छन्दः प्रभृतिभिर्ऋषिभिर्दाशतय्यो दृष्टाः । प्रतिकाण्डं चैवमेव काण्डर्ष्यादयः स्मर्यन्ते । श्रुतिरप्यृषिज्ञानपूर्वकमेव मन्त्रेणानुष्ठानं दर्शयति—'यो ह वा अविदितार्षेयछन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति, गर्त्तं वा प्रतिपद्यते' इत्युपक्रम्य—'तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात् ।'

किञ्च, सुखप्राप्तय धर्मो विधीयते, दुःखपरिहाराय चाधर्मः प्रतिषिध्यते । दृष्टानुश्रविकविषयौ च रागद्वेषौ-

चार्य कहते हैं कि—संसार को अनादि मानने पर सुषुप्ति में प्रलय और जाग्रदवस्था में उत्पत्ति के होने पर भी जैसे पूर्व जाग्रदवस्था के समान ही उत्तरजाग्रदवस्था में व्यवहार होने में कोई विरोध नहीं होता है, उसी प्रकार पूर्वकल्प के लय और उत्तर कल्प की उत्पत्ति से भी वेद की नित्यता में कोई विरोध नहीं है । इसी तरह अन्यान्य कल्पों की उत्पत्ति और प्रलय के विषय में भी समझना चाहिये । सुषुप्ति और जाग्रत् में संसार के प्रलय और उद्भव को श्रुति (कौषी० उ० ३।३) ने बताया है ।

परन्तु सुषुप्ति में अन्य पुरुषों का व्यवहार विच्छिन्न नहीं होता और स्वयं सुषुप्ति से जागने पर पूर्व की जाग्रदवस्थाओं के व्यवहारों को स्मरण करता है, इसलिये विरोध नहीं है । महाप्रलय में तो सब व्यवहारों का उच्छेद हो जाता है, इसलिये अन्यजन्म के व्यवहारों के समान अन्य कल्प के व्यवहारों का स्मरण नहीं हो सकता । इसलिये दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है, यह उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है । जिसमें समस्त व्यवहारों का उच्छेद हो जाता है ऐसे महाप्रलय को यदि मान भी लिया जाय, तो भी परमेश्वर के अनुग्रह से हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरों को अन्य कल्प के व्यवहार का स्मरण हो सकता है । यद्यपि प्राकृत प्राणी अन्य जन्म के व्यवहारों का स्मरण करते नहीं दिखाई देते, तो भी ईश्वरों को भी प्राकृतों के समान ही नहीं समझना चाहिये । सभी में प्राणित्व समान रहनेपर भी जैसे मनुष्यादि से लेकर स्तम्बपर्यन्त प्राणियों में ज्ञान, ऐश्वर्य आदिका प्रतिबन्ध (प्रतिरोध) उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ दिखाई देता है, वैसे ही मनुष्यादि से लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त में ज्ञान, ऐश्वर्य आदि की अभिव्यक्ति (आविर्भाव) उत्तरोत्तर अधिक होती है । अतः मनुष्य से स्तम्ब तक और मनुष्य से हिरण्यगर्भ तक के ज्ञानादि में प्रतिबन्ध अप्रतिबन्ध का तारतम्य है । इसलिये विगतकल्प में जिन्होंने सर्वोत्तम ज्ञान और कर्मों का अनुष्ठान किया है । और वर्तमान कल्प के आरम्भ में जो प्रादुर्भूत हुए हैं, उन हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरों को परमेश्वर के अनुग्रह से सुषुप्ति से जागे हुए पुरुष के समान अन्य कल्प के व्यवहारों का स्मरण होना उचित है । श्वेताश्वर श्रुति (६।१८) में भी यही बात कही गई है । 'मधुच्छन्द आदि ऋषियों ने दस मण्डलवाले ऋग्वेद की ऋचाएँ देखीं—इस प्रकार शौनक आदि भी कहते हैं । प्रत्येक वेद में भी इसी प्रकार काण्ड, ऋषि आदि का स्मरण किया गया है । 'यो ह वा अविदितार्षेय०' ऐसा उपक्रम करके "तस्मादेतानि" कहकर श्रुति भी ऋषिज्ञान पूर्वक ही मन्त्र से अनुष्ठान दिखलाती है ।

प्राणियों को सुख की प्राप्ति हो इसलिये धर्म का विधान है और दुःख के परिहार के लिये अधर्म का प्रतिषेध है । ऐहिक और पारलौकिक सुख-दुःख में राग एवं द्वेष हुआ करते हैं, अन्य विषय में नहीं । इसलिये धर्म और अधर्म की फलभूत जो उत्तरोत्तर

भवतः, न विलक्षणविषयावित्यतो धर्मा-धर्मफलभूतोत्तरोत्तरा सृष्टिर्निष्पद्यमाना पूर्वसृष्टिसदृश्येव निष्पद्यते। 'तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे। तान्येव ते प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते ॥' इति स्मृतेश्च। प्रलीयमानमपि जगदिदं शक्त्यवशेषमेव प्रलीयते, शक्तिमूलमेव च प्रभवति, इतरथाऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गात् शक्तिमूलमेव च प्रभवति। यथेन्द्रियविषयसम्बन्धादेर्व्यवहारस्य नियतत्वमेव न प्रतिसर्गमन्यथात्वम्, न वा षष्ठेन्द्रियविषयकल्पनं शक्यमुत्प्रेक्षितुम्, तथैव सर्वकल्पानां तुल्यव्यवहारत्वात् कल्पान्तरव्यवहारक्षमत्वाच्चेश्वराणां समाननामरूपा एव प्रतिसर्गं विशेषाः प्रादुर्भवन्ति। समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि सर्गमहाप्रलयलक्षणायां जगत्यामभ्युपगम्यमानायां न कश्चिच्छब्दप्रामाण्यविरोधः—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥' (अ० १०।१९०) इति श्रुतिभ्यः, 'ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः ॥ यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥' इत्यादि स्मृतिभ्यश्च। तस्मान्मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु राज्ञामृषीणां पर्वतादीनां वर्णनेऽपि न तेषामनित्यत्वम्, जातिरूपेण स्थानरूपत्वेन वा तेषां नित्यत्वात्। तथा च न औत्पत्तिकसूत्रविरोधो न वा तेन मन्त्रब्राह्मणादीनामनित्यत्वम्।

'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६), 'पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः' (तै० सं०) इति श्रुतिभ्यः 'ज्योतिषि भावाच्च' (ब्र० सू० १।३।३२) इति सूत्रेण च 'यदिदं ज्योतिर्मण्डलं द्युस्थानमहोरात्राभ्यां बम्भ्रमज्जगदवभासयति तस्मिन्नेवादित्यादयो देवतावचनाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते, लोकप्रसिद्धेर्वाक्यशेषप्रसिद्धेश्च। न च ज्योतिर्मण्डलस्य हृदयादिना, विग्रहेण चेतनतयाऽर्थित्वादिना वा योगः संभवति, मृदादिवदचेतनत्वात्। एतेनैवाग्निपृथिव्यादयोऽपि व्याख्याताः। यच्च मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वमुक्तमिति, तदपि न, मन्त्राणां श्रुत्यादिविनियुक्तानां प्रयोगसमवेतार्थ-

सृष्टि उत्पन्न होती जाती है, वह पूर्व सृष्टि के समान ही होती है। महाभारत शान्तिपर्व (१२।८५ और २५।७) में भी (स्मृति में भी) इसी प्रकार कहा गया है। जगत् का नाश होने पर भी उसकी शक्ति शेष रहती है, उसी शक्ति से वह पुनः उत्पन्न होता है। अन्यथा जगत् की सृष्टि निष्कारण हुई है, यह अनिष्ट प्रसंग प्राप्त होगा। शक्तियाँ अनेक प्रकार की हैं, यह कल्पना भी नहीं कर सकते। इसलिये पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाले भू आदि लोक, देव, पशु और मनुष्यरूप प्राणियों का प्रवाह वर्ण, आश्रम, धर्म और फल की व्यवस्थाएं भी अनादि संसार में इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध के समान नियत है, ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि छठे इन्द्रिय (मन) के विषय के समान प्रत्येक सृष्टि में इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध से होनेवाले व्यवहार के भेद की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः सब कल्पों में एक सा व्यवहार होने से और हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरों के अन्य कल्प के व्यवहार का स्मरण करने में समर्थ होने से प्रत्येक सृष्टि में समान नाम और रूपवाली ही भिन्न-भिन्न व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। नाम और रूपों के समान होने से महासृष्टि और महाप्रलयस्वरूप जगत् की आवृत्ति स्वीकार करने में भी शब्दप्रामाण्य आदि में कोई भी विरोध नहीं है। श्रुति और स्मृति भी सब कल्पों में नाम और रूप की समानता दिखलाती है। अतः मन्त्रों और ब्राह्मणों में राजाओं के, ऋषियों के, पर्वत आदि के वर्णन रहने पर भी वेदों का अनित्यत्व उससे सिद्ध नहीं होता। जातिरूप से अथवा स्थानरूप से उनका नित्यत्व है ही। एवं च न तो औत्पत्तिकसूत्र से विरोध है और न मन्त्रब्राह्मण आदि का अनित्यत्व ही हो पाता है।

किञ्च, 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६) तथा 'पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः' (तै० सं०) इन श्रुतियों में और 'ज्योतिषि भावाच्च' (ब्र० सू० १।३।३२) सूत्र में भी यह बताया गया है कि द्युलोक में रहनेवाला जो यह ज्योतिर्मण्डल दिन-रात पुनः पुनः भ्रमण करता हुआ जगत् को प्रकाशित करता है, उसमें आदित्य आदि देवतावाचक शब्द प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि ऐसी लोक प्रसिद्धि है और वाक्य-शेष से भी यही सिद्ध होता है। ज्योतिर्मण्डल का हृदय आदि शरीर के साथ अथवा चेतना और कामना आदि के साथ सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि मृत्तिका आदि के समान वे अचेतन हैं, ऐसा ज्ञात होता है। यही प्रकार अग्नि, पृथ्वी आदि के विषय में भी समझना चाहिये। मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और लोकव्यवहार से देवताओं का विग्रहवत्त्व (शरीरी होना) जो प्रतीत होता है, उसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि श्रुति आदि से विनियुक्त होनेवाले तथा अनुष्ठानकालीन पदार्थों को बताने

भिधायिनां विधिनैकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थानामर्थवादानां च न पार्थगर्थ्येन देवादीनां विग्रहादिसद्भावे प्रामाण्यम्, इतिहासपुराणस्य पौरुषेयत्वात् प्रमाणान्तरसापेक्षित्वेन लोकस्य च प्रत्यक्षादिव्यतिरिक्तप्रमाणत्वम्' इति मीमांसकाः।

'भावं तु बादरायणोऽस्ति हि' (ब्र० सू० १।३।३३) इति सूत्रेण देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारस्य भाव उक्तः। मध्वादिविद्यासु देवतादिव्यामिश्रास्वधिकाराभावेऽपि शुद्धायां विद्यायामस्त्येवाधिकारः। 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० उ० १।४।१०), 'इन्द्रो वै देवानामभिवव्राज, विरोचनोऽसुराणाम्' (छा० ८।७।२), 'ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विष्यामो यमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्' (छा० ८।७।२)। आदित्यशब्दोऽपि चेतनावन्तमैश्वर्याद्युपेतं तं तं देवतात्मानं समर्पयति, मन्त्रार्थवादेषु तथा व्यवहारात्। 'अस्ति ह्यैश्वर्ययोगाद्देवतानां ज्योतिराद्यात्मभिश्चावस्थातुं यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम्, श्रूयते हि सुब्रह्मण्यार्थवादे मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार' (षड्विंशब्राह्मणे, १।१), स्मर्यते च आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम। मृदादिष्वपि चेतना अधिष्ठातारोऽभ्युपगम्यन्ते। 'मृदब्रवीत्, आपो अब्रुवन्' इत्यादिदर्शनात्।

यदुक्तमर्थवादादयोऽन्यार्थत्वान्न देवताविग्रहादिप्रकाशनसमर्था इति, तत्राप्युच्यते, प्रत्ययाप्रत्ययौ हि सद्भावासद्भावयोः कारणम्, नान्यार्थत्वमनन्यार्थत्वं वा, नह्यन्यार्थं प्रस्थितः पथि पतितं तृणपर्णादि न प्रतिपद्यते। ननु तृणपर्णादिविषयं प्रत्यक्षं प्रवृत्तमिति तदस्तित्वं सिद्ध्यति, न पुनर्विध्युद्देश्यैकवाक्यभावेन स्तुत्यर्थेऽर्थवादे पार्थगर्थ्येन वृत्तान्तविषया प्रवृत्तिः शक्याऽध्यवसातुम्। नहि महावाक्येऽर्थप्रत्यायकेऽवान्तरवाक्यस्य पृथक् प्रत्यायकत्वमस्ति। 'न सुरां पिबेत्' इति नञ्वति वाक्ये पदत्रयसम्बन्धात् सुरापानप्रतिषेध एक एवार्थोऽवगम्येत, न पुनः सुरां पिबेदिति पदद्वयसम्बन्धात् सुरापान-

वाले मन्त्रों की विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता रहती है, अर्थवाद भी विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता के कारण स्तुत्यर्थक ही हैं। अतः वे भी स्वतन्त्रता से देवता आदि के शरीर का प्रतिपादन करने में समर्थ नहीं हो सकते। इतिहास, पुराण भी पुरुष प्रणीत होने से मूलभूत अन्य प्रमाण की अपेक्षा रखते हैं। लोक कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। यथार्थतः पदार्थ का ज्ञान कराने वाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से प्रसिद्ध हुआ अर्थ ही लोक-प्रसिद्धि कहा जाता है। वह कोई प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के अतिरिक्त स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। अतः विद्या में देवता आदि का अधिकार नहीं है, ऐसा मीमांसक कहते हैं।

इसका उत्तर बादरायण व्यास 'भावं तु बादरायणोऽस्ति हि' (ब्र० सू० १।३।३३) सूत्र से देते हैं। बादरायण कहते हैं कि देवता आदि का भी विद्या में अधिकार है। यद्यपि देवता आदि से सम्बन्ध रखनेवाली मधुविद्या आदि में देवता आदि का अधिकार असम्भव है, तथापि शुद्ध ब्रह्मविद्या में उनका अधिकार हो सकता है। ब्रह्मविद्या के प्रकरण में देवता आदि का अधिकार सूचित करने वाली श्रुतियाँ (बृ० उ० १।४।१०, छां० उ० ८।७।२) हैं। ज्योतिर्मण्डल आदि में प्रयुक्त होने पर भी देवतावाचक आदित्य आदि शब्द चेतना वाले ऐश्वर्यशाली उन उन देवताओं का बोध कराते हैं, क्योंकि मन्त्र, अर्थवाद आदि में ऐसा व्यवहार है। ऐश्वर्य के योग से देवता ज्योतिर्मण्डल बन सकते हैं और अपनी इच्छानुसार अनेक शरीर भी धारण कर सकते हैं, क्योंकि षड्विंश ब्राह्मण (१।१) के अनुसार सुब्रह्मण्यार्थवाद में इन्द्र के प्रति मेधातिथि का 'मेष' ऐसा सम्बोधन है। इस प्रकार की श्रुति तथा स्मृति भी है। उसी प्रकार मृत्तिका का आदि में भी चेतन अधिष्ठाता माने जाते हैं, क्योंकि 'मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्' (श० ब्रा० ६।१।३।२।४) आदि श्रुतियाँ देखी जाती हैं। आदित्य आदि में भी ज्योतिर्मण्डलरूप भूतांश अचेतन माना जाता है; किन्तु मन्त्र, अर्थवाद आदि के व्यवहार से देवतात्मा अधिष्ठाता चेतन ही है।

मन्त्र और अर्थवाद अन्यार्थक हैं, अतः उनमें देवता के विग्रह आदि पर प्रकाश डालने की सामर्थ्य नहीं है, ऐसा जो कहा है, उस पर कहते हैं कि वस्तु के सद्भाव और असद्भाव के प्रति उसकी प्रतीति और अप्रतीति कारण है। उसके वाचक पद का अन्यार्थकत्व या अनन्यार्थकत्व कारण नहीं है। जैसे किसी प्रयोजन के लिये निकले हुए पुरुष को मार्ग में पड़े हुए घास-पत्तों आदि की प्रतीति भी होती है। इस पर कहते हैं कि जो दृष्टान्त दिया गया है, वह विषम है। वहाँ तो घास-पत्ते आदि का प्रत्यक्ष होता है, उससे उसके अस्तित्व की प्रतीति होती है, परन्तु यहाँ तो विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता प्राप्त करने से अर्थवाद स्तुत्यर्थक है। अतः

विधिरपीति चेन्न, उपन्यासवैषम्यात्। युक्तं यत्सुरापानप्रतिषेधे पदान्वयस्यैकत्वादवान्तरवाक्यार्थस्याग्रहणम्, विध्युद्देशार्थवादयोः स्तुत्यर्थवादस्थानि पदानि पृथगन्वयं वृत्तान्तविषयं प्रतिपद्यानन्तरं कैमर्थ्यवशात् कामं विधेः स्तावकत्वं प्रतिपद्यन्ते। यथा हि—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यत्र विध्युद्देशवर्तिना वायव्यादिपदानां विधिना सम्बन्धः, नैवं 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति' इत्येषामर्थवादगतपदानाम्। नहि भवति 'वायुर्वा आलभेत' इति। वायुस्वभावसंकीर्तनेन त्ववान्तरमन्वयं प्रतिपद्यैव विशिष्टदैवत्यमिदं कर्मेति विधिं स्तुवन्ति। तद्यत्र सोऽवान्तरवाक्यार्थः प्रमाणान्तरगोचरो भवति, तत्र तदनुवादे नार्थवादः प्रवर्तते। यत्र प्रमाणान्तरविरुद्धस्तत्र गुणवादेन, यत्र तु तदुभयं नास्ति तत्र किं प्रमाणान्तराभावाद् गुणवाद आहोस्वित् प्रमाणान्तराविरोधाद् विद्यमानवाद इति प्रतीतिबलाद् विद्यमानवाद आश्रयणीयो न गुणवादः। एतेन मन्त्रो व्याख्यातः।

अथ विधिभिरेवेन्द्रादिदैवत्यानि हवींषि चोदयद्भिरपेक्षितमिन्द्रादीनां स्वरूपम्, नहि स्वरूपरहिता इन्द्रादयश्चेतस्यारोपयितुं शक्यन्ते। नहि चेतस्यनारूढायै तस्यै तस्यै देवतायै हविः प्रदातुं शक्यते। श्रावयति च—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' (ऐ० ब्रा० ३।८।१) इति। न च शब्दमात्रमर्थस्वरूपं भवति, शब्दार्थयोर्भेदात्। तत्र यादृशं मन्त्रार्थवादयोरिन्द्रादीनां स्वरूपमवगतं न तत्तादृशं शब्दप्रमाणकेन प्रत्याख्यातुं युक्तम्। इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण संभवन्मन्त्रार्थमूलत्वात् प्रभवत्येव देवतादिविग्रहं साधयितुम्। प्रत्यक्षादिमूलमपि संभवति। भवति ह्यस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षम्। तथा च व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते। 'स्वाध्यायादिष्ट-

स्वतन्त्रतया वह भूतार्थ का प्रतिपादक है, ऐसा निश्चय नहीं हो सकता। अर्थ की प्रतीति कराने वाले महावाक्य में अवान्तरवाक्य भिन्न प्रतीति नहीं करा सकता। जैसे 'न सुरां पिवेत्'—सुरा न पीए—इस 'न'कार वाले वाक्य में तीन पदों के सम्बन्ध से सुरापान का प्रतिषेधरूप एक ही अर्थ प्रतीत होता है, 'सुरां पिवेत्' इन दो पदों के सम्बन्ध से सुरापान की विधि की प्रतीति नहीं होती। इस पर कहते हैं कि दृष्टान्त विषम है। सुरापान के प्रतिषेध में पदान्वय एक होने के कारण अवान्तर वाक्यार्थ का ग्रहण न होना उचित है, परन्तु विधिवाक्य और अर्थवाद में से तो अर्थवाद में रहने वाले पद भूत (सिद्ध) अर्थ में पृथक् अन्वित होकर पश्चात् कैमर्थ्य से विधिवाक्य के स्तावक होते हैं। जैसे—'ऐश्वर्य चाहने वाला पुरुष वायुदेवता के लिये श्वेत पशु का आलम्भन करे' इसमें विधिवाक्यगत वायव्य आदि पदों का विधि के साथ सम्बन्ध है, उस प्रकार 'वायु सब की अपेक्षा अतिशय शीघ्र गतिशील देवता है, यजमान अपने वायु के भाग से वायु का ध्यान करता है, वही इसको ऐश्वर्यशाली बनाता है' इन अर्थवादस्थ पदों का विधि के साथ सम्बन्ध नहीं है। 'वायुरालभेत' या 'क्षेपिष्ठा देवता आलभेत' ऐसा अन्वय नहीं होता। अर्थवाद के वायु पद का अथवा 'क्षेपिष्ठा देवता' इन पदों का 'आलभेत' विधि के साथ संबन्ध नहीं होता, किन्तु वायु का उसके स्वभाव कथन द्वारा अवान्तर अन्वय प्राप्त करके ही इस प्रकार विशिष्ट देवता वाला यह कर्म है, इस प्रकार विधि की स्तुति करते हैं। जहाँ वह अवान्तर वाक्यार्थ अन्य प्रमाण का विषय होता है, वहाँ उसके अनुवाद से अर्थवाद प्रवृत्त होता है और जहाँ प्रमाण से विरोध है, वहाँ गुणवाद से। जहाँ वे दोनों नहीं होते, वहाँ अन्य प्रमाण के अभाव से गुणवाद हो अथवा अन्य प्रमाण के अविरोध से विद्यमानवाद हो, ऐसा सन्देह उपस्थित होने पर विचारशीलों को विद्यमानवाद का आश्रयण करना चाहिये, गुणवाद का नहीं। इसी प्रकार मन्त्र में समझना चाहिये।

इन्द्र आदि देवताओं को हवि देने की प्रेरणा करनेवाली विधियाँ ही इन्द्र आदि के स्वरूप की अपेक्षा रखती हैं। यदि इन्द्र आदि देवता वस्तुतः स्वरूपरहित हों, तो उनका ध्यान नहीं किया जा सकता और ध्यान न होने से उन्हें हवि भी नहीं दिया जा सकता। ऐतरेय ब्राह्मण श्रुति (३।८।१) कहती है कि 'जिस देवता के लिये हवि का ग्रहण किया हो, उसका वषट्कार करने से पहले ध्यान करना चाहिये'। केवल शब्द, अर्थ का स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द और अर्थ का भेद है। मन्त्र और अर्थवाद में इन्द्र आदि का जैसा स्वरूप बताया गया है, वह वैसा ही है। उसका प्रतिषेध करना शब्दप्रमाण मानने वालों के लिये उचित नहीं है। इतिहास और पुराण भी मन्त्रमूलक और अर्थवादमूलक होने के कारण प्रमाण होने से उपर्युक्त रीति से देवता के विग्रह आदि सिद्ध करने में समर्थ होते हैं। देवता आदि के शरीर होने में प्रत्यक्षादि भी मूल है। जो हमको अप्रत्यक्ष हैं, वे भी प्राचीनों को प्रत्यक्ष हो सकते हैं, जैसे कि व्यास आदि देवताओं के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते हैं, ऐसी स्मृति है। आज के लोगों के समान प्राचीन लोग भी

देवतासंप्रयोगः' (यो० सू० २।२४) इति वचनाच्च। योगो ह्यणिमाद्यैश्वर्यफलः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्। तथैवाख्यायिकानां सुखार्थावबोधार्थत्वेऽपि प्रमाणान्तराविरुद्धोऽसिद्धश्च प्रमाणान्तरेण भूतार्थ एवेति मन्तव्यः। यद्यपि वैदिकाः शब्दा न घटनापूर्वकास्तथापि वैदिकशब्दपूर्विका घटनास्तु न निवारयितुं शक्यन्ते, सृष्टेर्वैदिकशब्दपूर्वत्वाभ्युपगमात्। तस्मादैतिहासिकपक्षोऽपि निरुक्तेष्वाध्यात्मिकपक्षवदभ्युपेयत एव।

अयमभिप्रायः—लोके विशिष्टार्थबोधनाय प्रयुक्तानि पदानि न स्वार्थमात्रस्मारणे पर्यवस्यन्ति। न चैतान्यस्मिन् स्वार्थानि साक्षाद्वाक्यार्थं बोधयितुं समर्थानि, तेन स्वार्थस्मारणं वाक्यार्थबोधेऽवान्तरव्यापारः। न च नञ्वति वाक्ये विधानपर्यवसानम्, तथा सति नञ्पदानर्थक्यापातात्। तदुक्तम्—'साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्। शब्दास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले॥ वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्। पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥' सेयमेकस्मिन् वाक्ये गतिः। यत्र तु वाक्यस्यैकस्य वाक्यान्तरेण सम्बन्धस्तत्र लोकानुसारतो भूतार्थव्युत्पत्तौ सिद्धायामेकैकस्य वाक्यस्य तद्विशिष्टार्थप्रत्यायनेन पर्यवसितवृत्तिना पश्चात्कुतश्चिद् हेतोः प्रयोजनान्तरापेक्षायामन्वयः कल्प्यते। यथा—'वायुर्वेति', 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इति। इह हि यदि न स्वाध्यायाध्ययनविधिः स्वाध्यायशब्दवाच्यवेदराशिं पुरुषार्थतामनेष्यत्, ततो भूतार्थमात्रपर्यवसिता नार्थवादा विध्युद्देश्यवाक्येनैकवाक्यमगमिष्यन्। तस्मात् स्वाध्यायविधिवशात् कैमर्थ्याकाङ्क्षायां वृत्तान्तादिगोचराः सन्तस्तत्प्रत्यायनद्वारेण विधेयप्राशस्त्यं लक्षयन्ति, न पुनरविवक्षितस्वार्था एव तल्लक्षणे प्रभवन्ति।

देवताओं के साथ व्यवहार करने में समर्थ न थे, ऐसा जो कहेगा, वह जगत् की विचित्रता का अपलाप करेगा और आजकल के समान अन्य समय में भी सार्वभौम क्षत्रियों की सत्ता का निषेध करेगा, तब राजसूय आदि विधि में भी वर्णाश्रमधर्म अव्यवस्थित ही था, ऐसी प्रतिज्ञा करनी होगी, तब व्यवस्थापक शाखा ही व्यर्थ हो जायेगी। इससे स्पष्ट हुआ कि धर्म के उत्कर्ष के कारण प्राचीन लोग देवताओं के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे। 'स्वाध्याय से इष्ट देवता के साथ सम्प्रयोग और संभाषण आदि सम्बन्ध होता है' इत्यादि स्मृति भी है। अणिमा आदि ऐश्वर्य के साधन स्मृतिसिद्ध योग का भी सहसा निषेध नहीं किया जा सकता। उसी तरह अनायास अर्थज्ञानार्थ आख्यायिकाओं के होने पर भी यदि वे प्रामाणान्तर के विरुद्ध न हों तथा प्रमाणान्तर से सिद्ध हों तो उन्हें भूतार्थ (सत्यार्थ) ही समझना चाहिये। यद्यपि वैदिक शब्द घटना पूर्वक नहीं हैं, तथापि घटना तो वैदिक शब्दपूर्वक माननी होगी, इसे तो मना नहीं कर सकते, क्योंकि सृष्टि को वैदिक शब्दपूर्वक कहा गया है। तस्मात् ऐतिहासिक पक्ष को भी आध्यात्मिक पक्ष के समान निरुक्त में मानना ही पड़ता है।

अभिप्राय यह है—लोकव्यवहार में विशिष्ट अर्थ के बोधनार्थ प्रयुक्त पद केवल अपने अर्थ के स्मरण कराने में ही पर्यवसित नहीं समझे जाते और न ही ये पद साक्षात् वाक्यार्थ का बोधन करने में समर्थ हैं। अतः वाक्यार्थ में स्वार्थस्मरण को अवान्तर व्यापार माना जाता है। 'न' का नञ्घटित वाक्य के विधान में पर्यवसान नहीं होता, विधान में यदि उसका पर्यवसान माना जाय तो नञ्पद ही व्यर्थ हो जायगा। इसी बात को श्लोकवार्त्तिक के सातवें वाक्याधिकरण में श्लोक ३४२-३४३ के द्वारा कुमारिल भट्ट ने बताया है। यहाँ एक वाक्य का उपाय बताया गया है, किन्तु जहाँ वाक्य का अन्य वाक्य के साथ सम्बन्ध रहे, वहाँ लोकव्यवहारानुसार भूतार्थ में व्युत्पत्ति सिद्ध रहने पर एक एक वाक्य के द्वारा उसके अपने एक विशिष्ट अर्थ का बोध न कराने के कारण उसका व्यापार विश्रान्त होने से पश्चात् किसी कारण अन्य प्रयोजन की अपेक्षा होने पर उसके अन्वय की कल्पना की जाती है। जैसे—'वायुर्वा' इति, 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इति। यहाँ पर यदि स्वाध्यायाध्ययन विधि स्वाध्यायशब्दवाच्य वेदराशि की पुरुषार्थता न कहे तो भूतार्थमात्र में पर्यवसित होने वाले अर्थवाद विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता को नहीं प्राप्त करते। तस्मात् स्वाध्यायविधि के कारण भावना, कैमर्थ्याकांक्षा के होने पर वे अर्थवादवाक्य अपने प्रतिपाद्य अर्थ को बोधन कराते हुए विधेय के प्राशस्त्य को लक्षणा के द्वारा बताते हैं। अपने अभिधेय अर्थ को बिना बताये वे विधेय के प्राशस्त्य को लक्षित नहीं कर सकते। अपने अर्थ की विवक्षा न करने पर तो लक्षणा ही नहीं हो सकेगी, क्योंकि लक्षणा करने में बीज (कारण) अभिधेयाविनाभाव है। उक्त कारण के होने पर ही लक्षणा होती है, अन्यथा नहीं। अत एव 'गङ्गायां घोषः' यहाँ पर गङ्गा शब्द अपने स्वार्थ से सम्बद्ध गङ्गातीर को ही लक्षित करता है।

तथा सति लक्षणैव न भवेत्, अभिधेयाविनाभावस्य तद्बीजस्याभावात्। अत एव गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गाशब्दः स्वार्थसम्बद्धमेव गङ्गातीरं लक्षयति, न तु समुद्रतीरम्, स्वार्थप्रत्यासत्त्यभावात्। न चैतत्सर्वं स्वार्थाविवक्षायां कल्पते।

अत एव यत्र प्रामाणान्तरविरुद्धार्था अर्थवादा दृश्यन्ते 'आदित्यो यूपः', 'यजमानः प्रस्तरः' इत्येवमादयः, तत्र यथा प्रमाणान्तराविरोधः, यथा च स्तुत्यर्थता, तदुभयसिद्ध्यर्थं—'गुणवादस्तु' इति 'तत्सिद्धिः' इति चासूत्रयज्जैमिनिः। 'यथा प्रमाणान्तराविरोधः तथाऽसूत्रयज्जैमिनिः' (जै० १।२।१०)। यथा च स्तुत्यर्थता, येन गुणेन स्तुत्यर्थता तथा सूत्रयत् 'तत्सिद्धिः' (जै० १।४।२२) इति। 'यजमानः प्रस्तरः' इति किं गुणविधिरुतार्थवाद इति संशये, विधिरपूर्वार्थलाभादिति प्राप्ते, सिद्धान्तः—यदि प्रस्तरकार्ये यजमानो विधीयेत तदा प्रस्तरं प्रहरतीति शास्त्राद्यजमानोऽग्नौ हूयेत। ततः प्रयोगो न समाप्येत। अथ यजमानकार्ये प्रस्तरो विधीयेत तदानीमशक्यविधिः। नहि प्रथमलूनदर्भमुष्टिः प्रस्तरः शक्नोति चेतनयजमानकार्यं कर्तुम्, तस्मात् प्रस्तरं बर्हिषा उत्तरं सादयतीत्यस्य विधेरर्थवादः। द्वितीयादिमुष्टिर्बर्हिः, कथं तर्हि 'यजमानः प्रस्तरः' इति सामानाधिकरण्यम्, तत्राह 'गुणवादस्तु'। को गुण इत्यपेक्षायां च तत्सिद्धिरिति सूत्रम्। तस्य यजमानस्य कार्यं क्रतुनिर्वृत्तिः। तत्प्रस्तरादपि सिद्ध्यति। स हि जुह्वाधारतया क्रतुं निर्वर्तयति। 'आदित्यो यूपः' इत्यत्र तेजस्वित्वं गुणः। तेजसा गुणेन घृताक्तत्वाद्यूपस्य। तस्माद्यत्र सोऽर्थोऽर्थवादानां प्रमाणान्तरविरुद्धस्तत्र गुणवादेन प्राशस्त्यलक्षणेति लक्षितलक्षणा। यत्र तु प्रामाणान्तरसंवादस्तत्र प्रामाणान्तरादिवार्थवादादपि सोऽर्थः प्रसिद्ध्यति, द्वयोः परस्परानपेक्षयोः प्रत्यक्षानुमानयोरिवैकार्थे प्रवृत्तेः प्रमात्रपेक्षयाऽनुवादकत्वम्। प्रमाता ह्यव्युत्पन्नः प्रथमं यथा प्रत्यक्षादिभ्योऽर्थमवगच्छति, न तथाऽऽम्नायतः, तत्र व्युत्पत्त्या अपेक्षितत्वात्। न तु प्रमाणापेक्षया, द्वयोः स्वार्थेऽनपेक्षणात्।

ननु मानान्तरविरोधेऽपि कुतो गुणवादः स्यात्, मानान्तरमेव कुतो न शब्दविरोधाद् बाध्येत, वेदान्तैरिवाद्वैतविषयैः प्रत्यक्षादयः प्रपञ्चगोचराः, वेदान्ता वा अर्थवादवत्कुतो न गुणवादेन नीयन्त इति चेत्, तत्रोच्यते—द्विविधो हि

समुद्रतीर को नहीं, क्योंकि उसकी स्वार्थ से प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) नहीं है। स्वार्थ को अविवक्षित रखनेपर यह सब संगत नहीं हो पाता।

अत एव जहाँ प्रमाणान्तर विरुद्धार्थवाले अर्थवाद दिखाई देते हैं, जैसे 'आदित्यो यूपः', 'यजमानः प्रस्तरः' आदि स्थलों में जिस प्रकार प्रमाणान्तर से विरोध न हो सके और जिस तरह विधेय की स्तुत्यर्थता इनमें आ सके, इन दोनों कार्यों के सिद्ध्यर्थ जैमिनि मुनि ने 'गुणवादस्तु', 'तत्सिद्धिः' ये दो सूत्र रचे और 'यजमानः प्रस्तरः' इस वैदिक वाक्य को लेकर विचार किया कि यहाँ गुण विधि है या अर्थवाद ? यह सन्देह होने पर पूर्वपक्षी ने कहा कि गुण विधि है, क्योंकि विधि मानने से अपूर्व अर्थ का लाभ होगा। तब सिद्धान्ती ने कहा कि यदि पूर्वपक्षी के कथनानुसार विधि मानेंगे तो प्रस्तर के उचित कार्य में यजमान रूप गुण का विधान होगा तब 'प्रस्तरं प्रहरति' इस शास्त्र वचन के अनुसार अग्नि में यजमान की आहुति देनी होगी। तब तो अनुष्ठान की समाप्ति ही न हो सकेगी। यदि यजमान के उचित कार्य में प्रस्तर का विधान करें, तो वैसा करना ही संभव ही नहीं होगा, क्योंकि प्रथम छिन्न दर्भमुष्टिरूप प्रस्तर तो जड़ पदार्थ है, उससे चेतन यजमान के द्वारा करने योग्य कार्य का सम्पादन कैसे होगा। तस्मात् 'प्रस्तरं बर्हिषा उत्तरं सादयति' इस विधि का उसे अर्थवाद ही मानना उचित होगा, यह सिद्धान्त किया गया। उसी तरह 'आदित्यो यूपः' यहाँ पर घृताक्त यूप में तेजोगुण के कारण तेजस्वित्व उपलब्ध है। इस गुण के कारण प्राशस्त्य में लक्षणा करके लक्षित-लक्षणा मानी जाती है। जहाँ प्रमाणान्तर के साथ संवाद रहता है, वहाँ प्रमाणान्तर के समान अर्थवाद से भी उस अर्थ की अवगति होती है, क्योंकि परस्परानपेक्ष दोनों की प्रत्यक्ष और अनुमान की तरह एक ही अर्थ में प्रवृत्ति रहती है। प्रमाता की दृष्टि से दोनों में अनुवादकता रहती है, क्योंकि प्रमाता तो अव्युत्पन्न रहता है। प्रथमतः जैसे वह प्रत्यक्षादि से अर्थ को जानता है, वैसे आम्नाय से नहीं जानता, क्योंकि वहाँ व्युत्पत्ति की अपेक्षा होती है। प्रमाण की अपेक्षा नहीं, क्योंकि दोनों अपने स्वार्थ बोधन में निरपेक्ष हैं।

यदि यह कहें कि प्रमाणान्तर का विरोध रहने पर भी गुणवाद क्यों माना जाय ? शब्द का विरोध रहने से मानान्तर (प्रमाणान्तर) को ही बाधित क्यों न माना जाय ? अद्वैतविषयक वेदान्त वाक्यों की तरह प्रपञ्चविषयक प्रत्यक्ष आदि को अथवा अर्थ-

विषयः शब्दानाम्—द्वारतः, तात्पर्यतश्च। यथैकस्मिन् वाक्ये पदानां पदार्थो द्वारतः, वाक्यार्थश्च तात्पर्यतो विषयः, एवं वाक्यद्वयेनैकवाक्यतायामपि। यथेयं देवदत्तीया गौः क्रेतव्येत्येकं वाक्यम्, एषा बहुक्षीरेत्यपरं वाक्यम्। तदस्य बहुक्षीरत्वप्रतिपादनं द्वारम्, तात्पर्यं तु क्रेतव्येति वाक्यार्थे। तत्र यद् द्वारतस्तत्प्रमाणान्तरविरोधेऽन्यथा नीयते। यथा 'विषं भुङ्क्ष्व' इति वाक्यम् 'माऽस्य गृहे भुङ्क्ष्व' इति वाक्यान्तरार्थपरम्। यत्र तु तात्पर्यं तत्र मानान्तरविरोधे पौरुषेयमप्रमाणमेव भवति, वेदान्तास्तु पौर्वापर्यपर्यालोचनया निरस्तसमस्तभेदप्रपञ्चब्रह्मप्रतिपादनपरा अपौरुषेयतया स्वतःसिद्धतात्त्विकप्रमाणभावाः सन्तस्तात्त्विकप्रमाणभावात् प्रत्यक्षादीनि प्रच्याव्य व्यावहारिके तस्मिन् व्यवस्थापयन्ति।

न चादित्यो यूप इति वाक्यमादित्यस्य यूपत्वप्रतिपादनपरम्, अपि तु यूपस्तुतिपरम्। तस्मात् प्रमाणान्तरविरोधे द्वारभूतो विषयो गुणवादेन नीयते। यत्र तु प्रमाणान्तरं विरोधकं नास्ति, यथा देवताविग्रहादौ, तत्र द्वारतोऽपि विषयः प्रतीयमानो न शक्यः परित्यक्तुम्, न वा गुणवादेन नेतुम्। को हि मुख्ये संभवति गुणवादमाश्रयेत, अतिप्रसङ्गात्। ननु तथा सत्यनधिगतं विग्रहमपि प्रतिपादयद् वाक्यं भिद्येतेति चेत्, सत्यम्, वाक्यस्य भिन्नत्वादेव। ननु तथा सति तात्पर्यभेदोऽपि स्यादिति चेन्न, द्वारतोऽपि तदवगतौ तात्पर्यान्तरकल्पनायोगात्। न च यत्र न तात्पर्यं तत्राप्रामाण्यम्, तथा सति विशिष्टपरं वाक्यं विशेषणेष्वप्रमाणमिति विशिष्टपरमपि न स्यात्, विशेषणविषयत्वात्। विशिष्टविषयत्वेन तु तदाक्षेपे परस्पराश्रयत्वम्। आक्षेपाद्विशेषणप्रतिपत्तौ सत्यां विशिष्टविषयता, विशिष्टविषयत्वाच्च तदाक्षेपः। तस्माद्विशिष्टप्रत्ययपरेभ्योऽपि विशेषणानि प्रतीयमानानि तस्यैव वाक्यस्य विषयत्वमनिच्छताप्यभ्युपगन्तव्यानि यथा, तथाऽन्यपरेभ्योऽप्यर्थवादवाक्येभ्यो देवताविग्रहादयः प्रतीयमाना असति प्रमाणान्तरविरोधे न युक्तास्त्यक्तुम्। नहि 'मुख्यार्थसंभवे गुणवादो युक्तः, न च भूतार्थमप्यपौरुषेयं मानान्तरापेक्षकं स्वार्थे, येन प्रमाणान्तरासंभवे भवेदप्रामाण्यम्। नन्वेवं तात्पर्यैक्येऽपि यदि वाक्यभेदः कथं तर्ह्यर्थैकत्वादेकवाक्यमिति चेन्न, वाक्यैकवाक्ये सत्यपि प्रयाजादिवाक्यानामिव अर्थवादानामवान्तरभेदे बाधाऽभावात्। स्तुतिं लक्षयितुं त्वयापि तत्रत्यपदार्थविशिष्टस्तुतेरभ्युपेयत्वात्, अन्यथाऽभिधेयाविनाभावाभावात् स तु पदार्थान्तरविशिष्टः पदार्थ एकः क्वचिद् द्वारभूतः क्वचिद् द्वारीत्येतावान् विशेषः। स्तुतिप्रतिपत्तिद्वारं विग्रहादिप्रयाजादिवाक्यं तु नान्यप्रतीतौ द्वारम्, किन्तु तद् द्वारि, स्वयं तात्पर्यविषयः। नन्वेवमोदनं भुक्त्वा ग्रामं गच्छतीत्यत्रापि वाक्यभेदप्रसङ्गः, अन्यो हि संसर्गः, ओदनं भुक्त्वेति, अन्यस्तु ग्रामं गच्छतीति चेन्न, एकत्र प्रतीतेरपर्यवसानात्। भुक्त्वेति हि समानकर्तृता भूतकालता च प्रतीयते, न चेयं प्रतीतिरपरकालक्रियान्तरप्रत्ययमन्तरेण पर्यवस्यति। तस्माद्यावति समहे पदाहिताः

वाद की तरह वेदान्तवाक्यों को ही गुणवाद क्यों नहीं कहते ? इन प्रश्नों के उत्तर में यह कहा जा रहा है कि शब्दों का विषय द्विविध होता है, एक द्वारतः (किसी माध्यम से) और दूसरा तात्पर्यतः। जैसे किसी एक वाक्य में पदों का विषय जो पदार्थ होता है, वह द्वारतः होता है और वाक्यार्थ जो विषय होता है, वह तात्पर्यतः होता है। उसी प्रकार वाक्यद्वय के साथ एकवाक्यता में भी समझना चाहिये। जैसे यह देवदत्त की गौ क्रयण करने योग्य है, यह एक वाक्य है और वह बहुक्षीरा है, यह दूसरा वाक्य है। यहाँ पर बहुक्षीरत्व प्रतिपादन तो द्वार है, तात्पर्य क्रेतव्या इस वाक्यार्थ में है। द्वारतः जो विषय है, उसका प्रमाणान्तर के विरोध में अन्यथानयन होता है। जैसे 'विषं भुङ्क्ष्व' यह वाक्य 'माऽस्य गृहे भुङ्क्ष्व' इस वाक्यान्तरार्थपरक होता है। जहाँ तात्पर्य होता है, वहाँ प्रमाणान्तर विरोध रहने पर पौरुषेय को अप्रमाण ही माना जाता है। वेदान्त वाक्य पौर्वापर्य की दृष्टि से समस्त भेद प्रपञ्च का निरसन कर ब्रह्मप्रतिपादनपरक होते हैं, वे अपौरुषेय होने से उनका वास्तविक प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है। अपने क्षेत्र से लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों को हटाकर उन्हें व्यावहारिक क्षेत्र में व्यवस्थापित करते हैं।

'आदित्यो यूपः' यह आदित्य में यूपत्व का प्रतिपादन नहीं कर रहा है, अपि तु यूप की स्तुति में उसका तात्पर्य है। तस्मात् प्रमाणान्तर का विरोध रहने पर सारभूत विषय गुणवाद के द्वारा बताया जाता है। किन्तु जहाँ विरोधक प्रमाणान्तर न हो, जैसे देवता विग्रह आदि में, वहाँ पर द्वारतः प्रतीयमान होनेवाले विषय को भी त्यागा नहीं जा सकता और न गुणवाद के द्वारा उसका

पदार्थस्मृतयः पर्यवस्यन्ति तावदेकं वाक्यम्। अर्थवादवाक्ये चैताः पर्यवस्यन्ति, विनैव विधिवाक्यं विशिष्टार्थप्रतीतेः। न चैवमपि द्वाभ्यां द्वाभ्यां पदाभ्यां विशिष्टार्थपर्यवसानात् पञ्चषट्पदवति वाक्ये एकस्मिन्नानात्वप्रसङ्गः, विशेषणानां नानात्वेऽपि विशेष्यस्यैकत्वात्। तस्य सकृच्छ्रुतप्रधानभूतस्य गुणभूतविशेषणानुरोधेनावर्तनायोगात्। प्रधानभेदे तु वाक्यभेदो भवत्येव। तस्माद्विधिवाक्यादर्थवादवाक्यमन्यदिति वाक्ययोरेव स्वस्ववाक्यार्थप्रत्ययावसितव्यापारयोः पश्चात् कुतश्चिदपेक्षायां परस्परान्वय इति।

देवतामुद्दिश्य हविरवमृश्य तद्विषयस्वत्वत्याग इति यागशरीरम्। न च चेतस्यनालिखितदेवतोद्देष्टुं शक्या, न च रूपरहिता चेतसि शक्यत आलेखितुमिति यागविधिनैव तद्रूपापेक्षिणा यादृशमन्यपरेभ्योऽपि मन्त्रार्थवादेभ्यस्तद्रूपमवगतं स्यात्तदभ्युपेयते, रूपान्तरकल्पनायां मानाभावात्, मन्त्रार्थवादयोरत्यन्तपरोक्षवृत्तिप्रसङ्गात्। यथा हि—'व्रात्यो व्रात्यस्तोमेन यजेत' इति व्रात्यस्वरूपापेक्षायां यस्य पिता पितामहो वा सोमं न पिबेत् स व्रात्य इति व्रात्यस्वरूपमवगतं व्रात्यस्तोमविध्यपेक्षितं तद्विधिप्रमाणकमेव भवति, तथा देवतारूपमपि।

ननूद्देशो रूपज्ञानमपेक्षते न पुना रूपसत्तामपि, देवतायाः समारोपेणापि रूपज्ञानमुपपद्यत इति समारोपितमेव रूपं देवताया अर्थवादैरुच्येतेति चेत्; सत्यं रूपज्ञानमपेक्षते, तच्चान्यतोऽसंभवान्मन्त्रार्थवादेभ्य एव, तस्य रूपस्यासति वा बाधकेऽनुभवारूढं तथाभावं परित्यज्यान्यथात्वमननुभूयमानमसाम्प्रतं कल्पयितुम्। तस्माद्विध्यपेक्षितं देवतारूपं मन्त्रार्थवादैरन्यपरैरपि बुद्धावुपनिधीयमानं विधिप्रमाणकमेवेति मन्त्रेषु निरुक्तकारास्तत्र तत्रैतिहासिकमपि पक्षमुपस्थापयन्ति। तदाधारेणैव पुराणेतिहासेष्विन्द्रादिदेवानां युद्धादिव्यापारा अपि पूर्वोक्तब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य-भामतीकल्पतरुवचनैः प्रामाणिका एवेति मन्तव्यम्।

अन्यथा नयन किया जा सकता है। मुख्यार्थ के संभव रहते गुणवाद का आश्रय कौन करेगा? अन्यथा अतिप्रसंग होगा। वाक्यभेद, तात्पर्यभेद, अन्योऽन्याश्रय आदि दोषों की आशंकाओं का समाधान संस्कृत भाष्य से अवगत कर लेना चाहिये। तस्मात् बिधिवाक्य और अर्थवादवाक्य भिन्न-भिन्न वाक्य हैं, दोनों अपने अपने पृथक् पृथक् व्यापार से अपने अर्थों का बोध करा देते हैं, पश्चात् किसी कारण-वश अपेक्षा होने पर दोनों वाक्यों का परस्पर अन्वय हो जाता है।

देवता को उद्देश्य कर और हवि का अवमर्श कर तद्विषयक स्वत्व का त्याग करना ही याग का शरीर है, अर्थात् स्वरूप है। देवता को तभी उद्देश्य बनाया जा सकता है, जब कि चित्त में वह चित्रित रहे। किन्तु कोई भी रूपरहित वस्तु चित्त में चित्रित नहीं हो सकती। अतः यागविधि को ही जब उस देवता के रूप की अपेक्षा रहती है, तब अन्यार्थपरक मन्त्र का अर्थवादवाक्यों से जैसा भी उसका रूप अवगत हो, वैसा मान लिया जाता है। क्योंकि रूपान्तर कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है। रूपान्तर की कल्पना करने पर मन्त्र और अर्थवाद में अत्यन्त परोक्षवृत्ति का प्रसंग प्राप्त होगा। जैसे 'व्रात्यो व्रात्यस्तोमेन यजेत' अर्थात् व्रात्य व्रात्यस्तोम याग करे। व्रात्य का स्वरूप क्या है, यह जिज्ञासा होने पर 'यस्य पिता पितामहो वा सोमं न पिबेत् स व्रात्यः'—जिसके पिता-पितामह ने सोम का पान न किया हो वह व्रात्य है—इस वाक्य से अवगत हुआ व्रात्यस्वरूप, व्रात्यस्तोमविधि को अपेक्षित है, अतः वह स्वरूप विधिप्रमाणक ही हुआ, उसी तरह देवतारूप भी विध्यपेक्षित होने से विधिप्रमाणक ही है।

इस पर कोई कह सकता है कि उद्देश को रूपज्ञान की अपेक्षा रहती है, रूपसत्ता की नहीं। देवता का समारोप रहने पर भी रूपज्ञान उपपन्न हो सकता है। अतः देवता के समारोपित रूप को ही अर्थवाद बताते हैं। इस पर समाधान यह है कि उद्देश को रूपज्ञान की अपेक्षा रहती है, यह बात सत्य है, किन्तु वह रूपज्ञान अन्यतः सम्भव न रहने से मन्त्र-अर्थवाद से ही होता है। मन्त्रार्थवाद से अभिहित देवतारूप ठीक वैसा ही अनुभवारूढ हो जाता है। उस अनुभवारूढ हुए रूप का किसी बाधक के न रहने पर भी त्याग करना और अननुभूयमान रूप की कल्पना करना नितान्त अनुचित है। अतः देवतारूप भी विधिप्रमाणक ही है। इसी कारण निरुक्तकार ने जहाँ-तहाँ मन्त्रों के ऐतिहासिक पक्ष को भी उपस्थित किया है। उसी के आधार पर पुराण, इतिहास आदि में वर्णित इन्द्रादि देवताओं के युद्धादि व्यापारों को भी पूर्वोक्त ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य, भामती, कल्पतरु आदि के वचनों से प्रामाणिक मानना चाहिये।

यत्तु—'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥' (मनु० १।१२) इत्यस्य वचनस्य वेदप्रादुर्भावानन्तरं लोके सर्वेषां पदार्थानां व्यक्तीनां च नामानि तत्तच्छब्दधात्वनुसारीणि कर्माणि दृष्ट्वा वेदेभ्य आदाय निर्दिष्टानीति, तत्तु सर्वथाऽशुद्धमेव, पदवाक्यतदर्थाननुसारित्वात् । किन्तु देवताधिकरणरीत्या परमेश्वरो वैदिकैः शब्दैस्तांस्तानर्थान् संस्मृत्य सर्वेषां रचनां करोति । तथा च श्रुतिः—'स भूरिति व्याहरद् भुवमसृजत्' इति ।

यत्तु १२०-१२१ पृष्ठोक्तरीत्या अविकृतसोमात्मकजलानुरोधेन गङ्गेति नामनिरूपणम्, तद् नानिष्टम् । दिष्टया समाजिनस्तव पुराणेषु विश्वासः समजनि । 'परिवर्तक्रमाद्विप्रा, भाभिरालोकयन्दिशः । सूर्यः किरणजालेन वायुयुक्तेन सर्वशः ॥ जगतो जलमादत्ते कृत्स्नस्य द्विजसत्तमाः । आदित्यपीतं सूर्याग्नेः सोमं संक्रमते जलम् ॥ नाडीभिर्वायुयुक्ताभिर्लोकाधानं प्रवर्तते ॥ यत्सोमात् स्रवते सूर्यं तदभ्रेष्ववतिष्ठते । मेघा वायुनिघातेन विसृजन्ति जलं भुवि ॥ एवमुत्क्षिप्यते चैव पतते च पुनर्जलम् । न चान्तमुदकस्यास्ति तदेव परिवर्तते ॥ संधारणार्थं भूतानां मायैषा विश्वनिर्मिता । अनया मायया व्याप्तं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ विश्वेशो लोककृद्देवः सहस्रांशुः प्रजापतिः । धाता कृत्स्नस्य लोकस्य प्रभविष्णुर्दिवाकरः ॥ सार्वलौकिकमम्भो वै यत्सोमान्नभसश्च्युतम् । सोमाधारं जगत्सर्वमेतत्तथ्यं प्रकीर्तितम् ॥ सूर्यादुष्णं निस्रवते सोमाच्छीतं प्रवर्तते । शीतोष्णवीर्यौ द्वावेतौ युक्तौ धारयतो जगत् ॥ सोमाधारा नदी गङ्गा पवित्रा विमलोदका । (सोमधारा इति पाठस्तु नास्ति) । सोमपुत्रपुरोगाश्च महानद्यो द्विजोत्तमाः ॥ सर्वभूतशरीरेषु आपो अनुगताश्च याः । तेषु सन्दह्यमानेषु जङ्गमस्थावरेपु च ॥ धूमभूतास्तु ता आपो निष्क्रामन्तीह सर्वशः । (२२), ते चैवाभ्राणि जायन्ते स्थानमत्राम्भसां स्मृतम् । आर्कं तेजो हि भूतेभ्यो ह्यादत्ते रश्मिभिर्जलम् ॥' इत्येवमादिभिः श्लोकैर्वायुपुराणे (५१) अध्याये । सुश्रुतचरकभावप्रकाशेषु वर्णितं गाङ्गं जलमपि गङ्गासम्बन्धादेवोत्तमं भवति । तदुक्तम्—'आकाशगङ्गासम्बन्धि जलमादाय दिग्गजाः । मेघैरन्तरिता वृष्टिं कुर्वन्तीति मतं सताम् ॥ गाङ्गमाश्वयुजे मासि प्रायो वर्षति वारिदः । सर्वथा तज्जलं ज्ञेयं तथैव चरके वचः ॥ स्थापिते हेमजे पात्रे राजते मृण्मयेऽपि च । शाल्यन्नं येन संसिक्तं भवेदक्लेदिवर्णं यत् ॥ तद् गाङ्गं सर्वदोषघ्नं ज्ञेयं सामुद्रमन्यथा ॥' (भावप्रकाशे वारिवर्गे, सुश्रुते सूत्रस्थाने च । गाङ्गमाश्वयुजे मासि मेघः प्रायेण वर्षति । शाल्योदनम क्वथितमविदग्धं च राजतभाजनोपहितं वर्षति देवे बहिष्कुर्वीत । स यदि स्थितस्तादृश एव भवति तदा गाङ्गं पततीत्यवगन्तव्यम् । (३५।३) । 'खातात् तत् सोमवाय्वर्कैः स्पृष्टं कालानुवर्तिभिः । शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्यथासन्नमहीगुणैः ॥' (चरकसूत्रस्थान २७।१९७) इति प्रकारभेदेऽपि तत्त्वमेकरूपमेव । यत्तु "तमु आकृण्वन् मेघं भुवेकम्' (ऋ० सं० १०।८८।१०) इत्यस्या ऋचो व्याख्याने यास्केन—'तमकुर्वंस्त्रेधा भावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः' (निरुक्त ७।२८) इत्युक्तम् ।

'सर्वेषां तु स नामानि०' (मनु० १।१२) इस मनुवचन को प्रदर्शित कर समाजियों ने जो कहा है कि वेद के प्रादुर्भाव के पश्चात् संसार के समस्त पदार्थ और व्यक्तियों के नाम और तत्तच्छब्द-धातु के अनुरोध से कर्मों को जानकर उनका वेदों से संग्रह करके वे निर्दिष्ट किये गये हैं । किन्तु इस प्रकार कहना सर्वथा ही अशुद्ध है, क्योंकि पद, वाक्य और उनके अर्थ का इसमें अनुसरण नहीं हो पाता है । अतः देवताधिकरण की रीति के अनुसार यह समझना चाहिये कि परमेश्वर वैदिक शब्दों के द्वारा तत्तद् अर्थों का स्मरण कर सबकी रचना करता है । इसी बात को श्रुति भी कह रही है—'स भूरिति व्याहरद् भुवमसृजत्' इति ।

बड़े सुदैव से समाजियों के मुख से एक बात उचित निकल पड़ी है, उससे प्रतीत होता है कि समाजी पुराणों पर भी अब विश्वास करने लगे हैं । वे १२०-१२१ पृष्ठ पर कही गई रीति के अनुसार अविकृत सोमात्मक जल के अनुरोध से 'गङ्गा' इस नाम का निरूपण करते हैं । यह सब निरूपण उन्होंने (समाजियों ने) वायुपुराण के ५१ वे अध्याय के श्लोकों को उद्धृत करके किया है । सुश्रुत, चरक, भावप्रकाश आदि ग्रन्थों में वर्णित गांग जल भी गंगा के सम्बन्ध से ही उत्तम माना गया है । ऋग्वेद के 'तमु अकृण्वन्०' (१०।८८।१०) मन्त्र का जो अर्थ समाजियों ने किया है कि देवताओं ने अग्नि को त्रिधा विभक्त किया; वह ठीक नहीं है, क्योंकि

तदर्थस्तु 'तमग्निं देवास्त्रेधाभावाय प्रयतितवन्तः, अर्थाद् अग्निं त्रिधा विभक्तवन्तः—पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि चेति ।' तदपि यत्किञ्चित्, समाजिनां दृष्ट्या देवा विद्वांसो मनुष्या एव, न तेऽग्निं त्रिषु लोकेषु त्रिधा विभक्तुं समर्थाः । दुर्गाचार्यरीत्या त्वस्य वचनस्यायमर्थः—तमकृण्वन् तमेवाग्निं कृतवन्तः, त्रेधा भवेकं त्रेधाभावाय, पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि चेति । सम्पूर्णमन्त्रस्तु—'स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनन् शक्तिभिः रोदसिप्राम् । तमू अकृण्वन् त्रेधाः भुवे कं स ओषधी पचति विश्वरूपाः ॥' (ऋ० सं० १०।८८।१०) स्तोमेन स्तुतिभिः, शक्तिभिः कर्मभिः अग्निहोत्रादिभिः, दिवि द्युलोके, एतमग्निमादित्यात्मना, रोदसि रोधस्योः द्यावापृथिव्योः, देवा अजीजनन् यजमाना अजनयन् । ते हि हविषो दातारः, यदेतामग्नावाहुतिं न जुहुयात्तदिति 'आहुतिभिरेवैनं जनयन्ति' इति श्रुतेः । स एवमवस्थितो जगद्यात्रासिद्धये सर्वावस्थः सर्वावस्था ओषधीः पचति सर्वरूपाः । निरुक्तवचनस्य तादृशार्थाऽभ्युपगमोऽपि ।

यत्तु—'प्रसुव आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वो चाति सदने विवस्वतः । प्रसप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमु प्रसृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा ॥' इत्यस्य व्याख्याने उक्तम्—हे आपः, कारुः स्तुतिकर्ता, यस्तवोत्तमो महिमा विवस्वतो गृहेऽस्ति तं कथयति—सप्त सप्त विभागेन, त्रेधा त्रिषु स्थानेषु गतिशीला भवन्ति, तासु गतिशीलासु सिन्धुरोजसा गतिमती । पूर्वोक्तनिरुक्तप्रकाशे कथमस्य व्याख्यानं संभवति, पूर्वस्मिन्मन्त्रे सूर्यरूपस्याग्नेस्त्रेधाभाव उक्तः, अत्र त्वपां प्रसङ्ग इति किं केन श्लिष्यते । त्रेधा चक्रमुरिति तु मूल एवोक्तम् । त्वदुक्तो मन्त्रार्थोऽपि न मनोज्ञः । महिमानमुत्तम……सदने विवस्वत इत्यसम्बन्धात्, अन्वयविप्रकर्षाच्च । 'प्रसुव सिन्धुक्षित्प्रियमेघो नदीस्तुतिर्जागतं तु' इत्यनुक्रमणीरीत्या प्रियमेघपुत्रस्य सिन्धुक्षित आर्षं जागतं नदीदेवताकमिदं नवर्चं सूक्तम् । ततो नदीस्तुतिरेवाऽस्यार्थः । मन्त्रार्थस्तु सायणरीत्या—हे आपः, वः युष्माकम्, महिमानं महत्त्वं स्तोत्रम्, उत्तमम् उत्कृष्टतमम्, कारुः स्तोता, सिन्धुक्षिदहं विवस्वतः परिचरणवतो यजमानस्य सदने यज्ञगृहे, सुष्ठुवो चाति प्रब्रवीमि । ता नद्यः सप्त सप्त भूत्वा त्रेधा पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि चेति त्रिप्रकारं चक्रमुः प्रावहन् । सृत्वरीणामासां मध्ये सिन्धुरेतन्नामिका नदी ओजसा स्वबलेन, अति सर्वा अपि नदीरतिक्रम्य, प्रवहतीति शेषः ।

कामं गङ्गाद्यास्त्रिषु लोकेषु प्रवहेरन्, न तावतापि सावयवत्वेन तासां न जननमरणराहित्यम्, तेनाऽनित्यपदार्थप्रतिपादनेन वेदस्याप्यनित्यत्वं प्रसज्यत एव । समाधानमपि वस्वादित्याग्निप्रभृतीनां विग्रहवतां देवानामिव स्थानवाचकत्वेन जातिवाचकत्वेन वा सुगममेव । 'आपः' इति 'आप्लृ व्याप्तौ' इति धातुनिष्पन्नत्वेन व्यापनशीला

समाजियों की दृष्टि से देवता भी विद्वान् मनुष्य ही हैं । इस कारण तीनों लोकों में अग्नि को त्रिधा विभक्त करने में समर्थ नहीं है । अतः दुर्गाचार्य की रीति के अनुसार उक्त मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ संस्कृत (मूल) में देखना चाहिये । उपरि निर्दिष्ट मन्त्रांश का (१०।८८।१०) अर्थ यह है कि स्तुतियों के द्वारा अथवा अग्निहोत्रादि कर्म की शक्तियों द्वारा द्युलोक में इस अग्नि को आदित्यरूप से और द्यावापृथिवी पर देवताओं ने उत्पन्न किया, अथवा यजमानों ने उत्पन्न करवाया । इस अर्थ के करने में अन्य श्रुति 'ते हि हविषो दातारः' का तथा निरुक्त वचन का समर्थन भी प्राप्त होता है ।

'प्रसुव आपो महिमान··' मन्त्र की व्याख्या में जो कहा है, उसकी संगति निरुक्त के प्रकाश में कैसे हो सकेगी ? पूर्व मन्त्र में सूर्यरूप में अग्नि का त्रिधाभाव कहा है और इस मन्त्र में जल का प्रसंग वर्णित है । अतः किसी का किसी से कोई सम्बन्ध नहीं बैठ पाता । 'त्रेधा हि चक्रमुः' तो मूल में ही कहा गया है । तुम्हारा कहा हुआ मन्त्रार्थ उचित नहीं प्रतीत हो रहा है, क्योंकि 'सदने विवस्वतः' से कोई सम्बन्ध नहीं बैठ रहा है और दूरान्वय भी होता है । सर्वानुक्रमणी के अनुसार इस नौ ऋचा वाले सूक्त का नदीस्तुति ही अर्थ है । अतः सायणाचार्य का अर्थ ही श्रुति, निरुक्त तथा युक्ति से संगत है । सायणाचार्य के अनुसार प्रवहणशील नदियों में से सिन्धु नाम की नदी अपनी वेगशक्ति से सभी नदियों का अतिक्रमण कर प्रवाहित होती है ।

यदि कोई यह सन्देह करे कि तीनों लोकों में गंगादि नदियां भले ही प्रवाहित होती रहें, उनकी नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि वे सावयव हैं । एवं च गंगा आदि सावयव नदियों के प्रतिपादन से वेद में भी अनित्यत्व की प्रसक्ति हो रही है । किन्तु

इत्यर्थोऽपि न तिरोहितः। द्युलोकव्याप्ता इन्द्रस्य सप्त किरणा एवाप इति तु मूर्खजनप्रतारण एव। तेजसामपाञ्च भेदस्य लोके वेदे च प्रसिद्धत्वात्, तथात्वे नदीसूक्तत्वानुपपत्तेश्च। तैत्तिरीयारण्यके नहि सप्तसंख्याकत्वेन सवषां सप्तसंख्याकानामनेनैव मन्त्रेण सम्बन्धोऽनिवार्यः, सप्तानां महदादीनां सप्तानां रङ्गानामप्यनेन सम्बन्धापातात्। 'वराहवः स्वतपसो विद्युन्महतो धूपयः स्वापयो गृहमेधाश्चेत्येते पर्जन्याः सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति'। (तैत्तिरीयारण्यके, १।९।४।५) इति सप्तविधानां मेघानां सप्तविधप्रवाहादीनां सत्त्वेऽपि तेषां नदीत्वेन स्तोतव्यत्वाभावात्। किञ्च, तैत्तिरीयारण्यकवचनेन पर्जन्यानां न वर्णनम्, किन्तु तत्र सप्त वातानामेव वर्णनम्। 'यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून्। यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः॥' (ऋ० २।१२।१२) इत्यत्रापि सप्तरश्मिरिन्द्र उक्तः। पूर्वोक्ताः सप्तवायुप्रेरिताः सप्तमेघा एवास्य रश्मिरूपाः। स इन्द्रः सूर्यरूपः तुविष्मान् वृद्धिमान् बलवान् वा सप्त सर्पणस्वभावान् सिन्धूनपः सर्तवे सरणाय अवासृजत् सृष्टवान्। यद्वा गङ्गाद्याः सप्त मुख्या नदीरसृजत। यश्च वज्रबाहुः द्यामारोहन्तं रौहिणमसुरं अस्फुरत् जघान। सर्वथापि वायवो वा पर्जन्या वा नद्यो वा अनित्यास्तु सर्व एव, तथापि जातिवाचकत्वेन स्थानवाचकत्वेन वा शब्दार्थसम्बन्धानामौत्पत्तिकत्वे न विरोधः।

यदपि १२२ पृष्ठे देवापिशन्तनुशब्दानामपि सामान्यार्थवाचकत्वमेव। यदि यास्कोद्धृतेतिहासो व्यक्तिविशेषाणां स्यात्तदा कुरुकुलसम्बन्धिनोर्देवापिशन्तन्वोरितिहासेन महान् विरोधः स्यात्। निरुक्तरीत्या ऋष्टिषेणस्य ज्येष्ठं पुत्रं देवापिं वञ्चयित्वा शन्तनू राजा सम्पन्नः, देवापिर्वनं गतः, ऋषिभिः शन्तनुरुक्तः—तवाधर्माचरणाद् राज्ये द्वादशवार्षिक्यनावृष्टिर्जाता। शन्तनुर्वनं गत्वा क्षमां प्रार्थ्य देवापिं राज्यपालनार्थमुक्तवान्। देवापिना कथितम्—यदहं पुरोहितो भूत्वा वर्षां कारयिष्यामि। यज्ञं कारयित्वा वर्षा कारिता। बृहद्देवतारीत्या ऋष्टिषेणस्य पुत्रस्त्वग्दोषेण दूषित आसीत् (७।१५६)। तेनोक्तं नाहं राज्यार्हः (७।१५७), शन्तनू राजा भवतु (८।१)। यद्ययं लेखः सत्यः स्यात्तदा शास्त्रमर्यादारीत्या कुष्ठी राज्यानधिकृतः। तदनुमत्यैव शन्तनू राजा संजातः। तदा तेन कथमधर्मः कृतः। कुतश्चानावृष्टिः संजाता, कथं चाधर्माचरणात् क्षमा प्रार्थिता।

उक्त सन्देह का समाधान वसु, आदित्य, अग्नि प्रभृति विग्रहधारी देवताओं के समान स्थानवाचक अथवा जातिवाचक मान कर सरलता से किया जा सकता है। 'आपः' शब्द के 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से निष्पन्न होने से व्यापनशील अर्थ भी सर्वप्रसिद्ध है। द्युलोक में व्याप्त इन्द्र के सप्त किरण ही 'आपः' हैं, यह कहना तो मूर्खजनों की प्रतारणा करना ही है। तेज और अप (जल) का भेद तो अत्यन्त स्पष्ट है। यदि तेज और जल को भिन्न भिन्न न माना जाय तो नदी-सूक्त ही अनुपपन्न हो जायगा। '........पर्जन्याः सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति' (तै० आर० १।९।४।५) इस आरण्यक वचन में सप्त संख्या का निर्देश रहने से समस्त सप्त संख्याओं का इसी मन्त्र के साथ सम्बन्ध करना अनिवार्य है। अन्यथा सप्त महानदी तथा सप्त रंगों का भी इस मन्त्र से सम्बन्ध होने लगेगा। सप्त प्रकार के मेघ तथा सप्तविध प्रवाह आदि के रहने पर भी वे नदी के रूप में स्तोतव्य नहीं हैं। किञ्च, तैत्तिरीयारण्यक के वचन में पर्जन्यों का वर्णन नहीं है, किन्तु वहाँ सप्त वायुओं का वर्णन है। ऋ० सं० २।१२।१२ के मन्त्र में भी सप्तरश्मि शब्द से इन्द्र को बताया गया है। पूर्वोक्त सप्त वायुओं से प्रेरित सप्त मेघ ही इसके रश्मिरूप हैं। वह इन्द्र सूर्यरूप है। उसी ने वृद्धिमान् अथवा बलवान् सप्त सर्पणस्वभाव के सिन्धुओं (जलों) का सरण के लिये निर्माण किया। अथवा गंगादि मुख्य नदियों का निर्माण (उत्पन्न) किया। जो वज्रबाहु इन्द्र है, उसने द्युलोक में आरोहण करने वाले असुर को मार दिया। तात्पर्य यह है कि सर्वथापि वायु, पर्जन्य, अथवा नदी सभी कुछ अनित्य हैं, तथापि उन्हें जातिवाचक अथवा स्थानवाचक मान कर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की औत्पत्तिकता (नित्यता) में कोई विरोध नहीं है।

पृ० १२२ पर जो कहा है कि 'देवापि' और 'शन्तनु' शब्द भी सामान्य अर्थ के वाचक ही हैं। यदि यास्क के द्वारा उद्धृत इतिहास व्यक्तिविशेषों से सम्बन्ध रखता हो तो कुरुकुल से सम्बन्ध रखने वाले देवापि और शन्तनु के इतिहास के साथ महान् विरोध होगा। निरुक्त के अनुसार ऋष्टिषेण के ज्येष्ठ पुत्र देवापि को वञ्चना कर शन्तनु राजा हुआ, देवापि वन को गया, ऋषियों ने शन्तनु से कहा—तुम्हारे अधर्माचरण से राज्य में द्वादशवार्षिकी अनावृष्टि हुई। तब शन्तनु ने वन जाकर देवापि से क्षमा माँगी और उससे राज्य का पालन करने के लिये कहा, तब देवापि ने कहा कि मैं पुरोहित बनकर वर्षा करवाऊँगा और तदनुसार यज्ञ कराकर

निरुक्तस्थेतिहासस्य भारतस्थदेवापिशन्तन्वोः शुद्धेतिहासेन भयङ्करो विरोधः। निरुक्तबृहद्देवतयोरपि कथानके परस्परं विरोध एव। वेदे देवापेः शन्तनोश्च कुरुकुलेन सम्बन्धो भ्रातृत्वञ्च न संकेतितम्। अतो निरुक्तकारेण बृहद्देवताकारेण च मन्त्रस्थदेवापिशन्तनुशब्दयोर्लौकिकनामभिः सादृश्यमाधृत्य ऋग्वेदीयवृष्टिविज्ञानपरकसूक्तस्यार्थविबोधनाय तादृशं कथानकं कल्पितम्। अत एव निरुक्तबृहद्देवतयोरुक्तस्येतिहासस्य पुराकल्परूपार्थवादरीत्या वेदेन कुरुकुलसम्बन्धिनोस्तयोरितिहासनिर्देशः संभवति। अत एव स्कन्दस्वामिना नित्यपक्षे ऋष्टिषेणो मध्यमस्थानीयः पर्जन्यः, तत्रोत्पन्नो देवापिः विद्युत्, वृष्टिरूपः शन्तनुः। प्रथमं विद्युत् विद्योतते, पश्चाद् वृष्टिर्भवतीत्युक्तम्। दुर्गाचार्येणापि तथैवोक्तमिति तदपि सर्वतोऽभिशङ्कि काकचेष्टितमेव, भट्टपादेन सत्यमेवोक्तम्–'अल्पेनापि निमित्तेन विरोधं योजयन्ति च'। यो निरुक्तकारं यास्कमाप्तं मन्यते, तदर्थानुसारेणैव दयानन्दीयं भाष्यं समर्थयितुं यतते, स एव तमपि न तृणाय मन्यते। व्यासो जैमिनिः शवरस्वामी, कुमारिलः, पतञ्जलिः, पाणिनि; कात्यायनादयस्तावदेव मान्या यावद्दयानन्दीयस्योच्छृङ्खलस्य मतस्य तद्वचनैः पोषणं स्यात्तदपघातकत्वे तु दयानन्दस्तदीयाश्च वेदानप्यवेदान् मन्यन्ते, स्वाभिमतवेदेष्वपि बलात्कार एव क्रियते। नास्तिकाः सर्वत्र विरोधमुद्भावयन्ति, व्याकुलीकुर्वन्ति च शास्त्राणि। आस्तिकास्तु सर्वथाऽऽर्षवचनानां विरोधवत्प्रतिभासमानानामपि समन्वयं कुर्वन्ति। महाभारते (उद्योगपर्वणि १४९ अध्याये) प्रतीपस्य देवापिबाह्लीकशन्तनुनामानस्त्रयः पुत्रा उक्ताः। देवापिस्त्वग्दोषी धार्मिकः, सत्यवादी, पितृशुश्रूषुः सर्वहृदयङ्गम आसीत्। तदभिषेकार्थमुद्यतं राजानं वृद्धा ब्राह्मणाः पौरजानपदैः सह मिलित्वा देवापेरभिषेचनं निवारयामासुः, हीनाङ्गं पृथिवीपालं नाभिनन्दन्ति देवताः' इति। ततो देवापिर्वनं गतः, बाह्लीकस्तु मातुलकुलं गतः। पितर्युपरते शन्तनू राजा सञ्जातः। श्रीभागवते (९।२२) पूर्वोक्तमेव वृत्तमुक्त्वा—'समा द्वादश तद्राज्ये न ववर्ष यदा विभुः। शन्तनुर्ब्राह्मणैरुक्तः परिवेत्तायमग्रभुक्॥ राज्यं देह्यग्रजायाशु पुरराज्यविवृद्धये। एवमुक्तो द्विजैर्ज्येष्ठं छन्दयामास सोऽब्रवीत्॥ तन्मन्त्रिप्रहितैर्विप्रैर्वेदाद्विभ्रंशितो गिरा॥ (१६) वेदवादातिवादान् वै तदा देवो ववर्ष ह। (१७)। 'दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजेस्थिते। परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवृत्तिस्तु पूर्वजः॥' इति स्मृतिरीत्या ज्येष्ठे सभुवोऽग्रजे भुनक्ति स त्वं परिवेत्तोक्तस्तद्दोषपरिहाराय राज्यमग्रजाय देहि, ततो वृष्टिर्भविष्यतीत्युक्तः शन्तनुर्वनं गत्वा ज्येष्ठं छन्दयामास—प्रजापालनादिः परो धर्मोऽतो राज्यं स्वीकुर्विति प्रार्थितवान्। ततः पूर्वमेव तस्य मन्त्रिणा अस्म-

वर्षा करवा दी। बृहद्देवता के अनुसार ऋष्टिषेण का पुत्र चर्मरोग से रुग्ण था, (७।१५६) उसने कहा कि मैं अब राज्य करने योग्य नहीं हूँ, (७।१.५७) अब शन्तनु राजा हों, (८।१)। यदि इस लेख की सत्यता हो तो शास्त्र की मर्यादा के अनुसार कुष्ठी राज्य का अनधिकारी होने से उसकी अनुमति से ही शन्तनु राजा बना था। तब उसने अधर्माचारण किया, यह कैसे कहा जायगा? अनावृष्टि का होना किस कारण से संभव है? अधर्माचरण के कारण क्षमा की प्रार्थना करना कैसे उपपन्न होगा। निरुक्तवर्णित इतिहास का महाभारत वर्णित देवापि शन्तनु के शुद्ध इतिहास से भयंकर विरोध है। निरुक्त और बृहद्देवता के कथानक में भी परस्पर विरोध है। वेद में देवापि और शन्तनु का कुरुकुल के साथ सम्बन्ध तथा भ्रातृत्व की ओर कोई संकेत नहीं है। अतः प्रतीत होता है कि निरुक्तकार तथा बृहद्देवताकार ने मन्त्रस्थ देवापि और शन्तनु शब्द का लौकिक संज्ञाओं के साथ सादृश्य मानकर ऋग्वेदीय वृष्टिविज्ञानपरक सूक्त के अर्थविबोधनार्थ वैसे कथानक की कल्पना की है। अत एव निरुक्त और बृहद्देवता में उक्त इतिहास के पुराकल्परूप अर्थवाद की रीति के अनुसार वेद में कुरुकुल से सम्बन्ध रखने वाले उन दोनों के इतिहास का निर्देश सम्भव होता है। अत एव स्कन्दस्वामी ने नित्य पक्ष में कहा है कि ऋष्टिषेण मध्यमस्थानीय पर्जन्य है और देवापि उससे उत्पन्न विद्युत् है, वृष्टिरूप है। प्रथम विद्युत् चमकती है, पश्चात् वृष्टि होती है। दुर्गाचार्य ने भी उसी तरह कहा है। उन सभी में सर्वदा शंका करते रहना काकचेष्टित के तुल्य ही है। भट्टपाद ने सत्य ही कहा है—'अल्पेनापि निमित्तेन विरोधं योजयन्ति च' दुष्ट लोग अल्पस्वल्प निमित्त को पाते ही विरोध बना लेते हैं—जो कोई निरुक्तकार यास्क को आप्त मानकर उसके किये हुए अर्थ के अनुसार दयानन्दीय भाष्य को समर्थित करने का प्रयत्न करता है, वही व्यक्ति उसका कभी अनादर नहीं करेगा, किन्तु व्यास, जैमिनि, शबरस्वामी, कुमारिल, पतञ्जलि, पाणिनि, कात्यायन आदि परमाप्त

रावसंज्ञेन पाषण्डीकृत्य राज्यानर्हं कर्तुं ये प्रहिता विप्रास्तैः पाषण्डमताश्रयया गिरा वेदाद्विभ्रंशितः सन् वेदवादस्यातिवादान् निन्दावचनानि सोऽब्रवीत्, ततस्तस्य पातित्येन राज्यानर्हत्वे जाते शन्तनोर्दोषाभावाद् देवो ववर्षेति। निरुक्तकारस्तु तत्रेतिहासमाचक्षते—देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः। स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे। देवापिस्तपः प्रतिपेदे। ततः शन्तनो राज्ये द्वादशवर्षाणि देवो न ववर्ष। तमूचुर्ब्राह्मणा अधर्मस्त्वया चरितो ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितम्, तस्मात्ते देवो न वर्षतीति, स शन्तनुर्देवापिं शिक्षितो राज्येन, तमुवाच देवापिः पुरोहितस्तेऽसानि याजयानि च त्वेति तस्यैतद्वर्षकामस्य सूक्तम्। (निरुक्त २।१०)। शौनकस्तु बृहद्देवतायाम्—'आर्ष्टिषेणस्तु देवापिः कौरव्यश्चैव शन्तनुः। भ्रातरौ कुरुषु त्वेतौ राजपुत्रौ बभूवतुः॥ ज्येष्ठस्तयोस्तु देवापिः कनीयांश्चैव शन्तनुः। त्वग्दोषी राजपुत्रस्तु ऋष्टिषेणसुतोऽभवत्॥ राज्येन छन्दयामासुः प्रजाः स्वर्गं गते गुरौ। स मुहूर्तमिव ध्यात्वा प्रजास्ताः प्रत्यभाषत॥ (१५५।१५७)। न राज्यमहमर्हामि नृपतिर्वोऽस्तु शन्तनुः। तथेत्युक्त्वाऽभ्यषिञ्चस्ताः प्रजा राज्याय शन्तनुम्॥ ततोऽभिषिक्ते कौरव्ये वनं देवापिराविशत्। न ववर्षाथ पर्जन्यो राज्ये द्वादश वै समाः॥ (१-२)। ततोऽभ्यगच्छद्देवापिं प्रजाभिः सह शन्तनुः। प्रसादयामास चैनं तस्मिन् धर्मव्यतिक्रमे॥ (३)। शिशिक्ष चैनं राज्येन प्रजाभिः सहितः स ह। तमुवाचाथ देवापिः प्रह्वं तु प्राञ्जलिं स्थितम्॥ न राज्यमहमर्हामि त्वग्दोषोपहतेन्द्रियः। याजयिष्यामि ते राजन् वृष्टिकामेज्यया स्वयम्॥ ततस्तं तु पुरोऽधत्त आर्त्विज्याय स शन्तनुः। स चास्य चक्रे कर्माणि वार्षिकाणि यथाविधि॥ बृहस्पते प्रतीत्यृग्भिः ईजे चैव बृहस्पतिम्। द्वितीययास्य सूक्तस्य बोधिते जातवेदसा॥ (७)। आस्येते द्युमतीं वाचं दधामि स्तुहि देवताः। ततः सोऽस्मै ददौ प्रीतो वाचं देवीं तया च सः॥ ८॥ ऋग्भिश्चतसृभिर्देवाञ्जगौ वृष्ट्यर्थमेव तु। अग्निं च सूक्तशेषेण कर्मेन्द्रं सूक्तमुत्तरम्॥ (१९)। एवं महाभारते, श्रीभागवतादिपुराणेषु, निरुक्ते, शौनकीयबृहद्देवतायामुपलभ्यमानमितिहासमपलप्य यथेष्टं प्रलपति कश्चिन्मीमांसकंमन्यः। सर्वे चैते आर्षग्रन्थाः। तेषां समन्वयो युक्तो न विरोधोद्भावनेनापलापः। महाभारतेऽनावृष्टिर्नोक्ता। भागवते, निरुक्ते, बृहद्देवतायाञ्चानावृष्टिरुक्ता। तत्र बहूनामनुरोधादनावृष्टिरैतिहासिकी मन्तव्या, उतैकत्राभावात् सा मिथ्या कल्पना मन्तव्येति संशये

महर्षि लोग इन समाजियों को तभी तक मान्य हैं, जब तक दयानन्द के उच्छृङ्खल मत का उनके वचनों से समर्थन कर पाते हैं। किन्तु दयानन्द के मत का जब महर्षियों के वचनों से खण्डन होता है, तब तो दयानन्द के अनुयायी और दयानन्द वेदों को भी अवेद कहने लगते हैं, अर्थात् वेदों को भी नहीं मानते हैं। यहाँ तक कि स्वाभिमत वेद की चार पुस्तकों पर भी बलात्कार करने लगते हैं। नास्तिक लोग सर्वत्र विरोध किया करते हैं और शास्त्रों को व्याकुल (अव्यवस्थित) करते हैं। किन्तु आस्तिक लोग ऋषियों के वाक्यों में आपाततः विरोध प्रतिभासित होनेपर उनका समन्वय किया करते हैं, न कि अव्यवस्था। महाभारत में (उ० प० १४९) प्रतीप के देवापि, बाल्हीक और शन्तनु नाम के तीन पुत्र बताये गये हैं। उनमें से देवापि धार्मिक, सत्यवादी, पितृभक्त और सर्वहृदयंगम था, तथापि वह चर्मरोगी (त्वग्दोषी) था। उसके अभिषेकार्थ उद्यत हुए राजा को देखकर वृद्ध ब्राह्मणों ने एवं नागरिकों ने उसे मना किया। द्वितीय पुत्र बाह्लीक अपने मामा के यहाँ गया था। ऐसी स्थिति में पिता की मृत्यु के पश्चात् 'शन्तनु' राजा बना। उसके राज्य करते समय जब अनावृष्टि सहसा उपस्थित हुई, तब राज्य के विद्वान् ब्राह्मणों ने उसे समझाया कि धर्मशास्त्र के अनुसार यह बात है कि ज्येष्ठ सहोदर भ्राता के रहते तुम राज्य का उपभोग (राजा बने हो) कर रहे हो। अतः तुम परिवित्ति दोष से दूषित हो गये हो, अर्थात् तुम 'परिवेत्ता' हो गये हो। अब तुम अपने परिवित्ति दोष के परिहारार्थ अपने ज्येष्ठ भ्राता को राज्य अर्पित करो, तब वृष्टि अवश्य होगी। ब्राह्मणों के मुख से जब यह सुना तब शन्तनु तपोवन में जाकर अपने ज्येष्ठ भ्राता को कहने लगा कि प्रजापालन आदि ही परम धर्म है, अतः आप राज्य को स्वीकार करें, इस प्रकार प्रार्थना करने लगा। किन्तु उसके पूर्व ही अस्मराव संज्ञक उसके मन्त्री ने पाखण्ड रचकर उसे राज्य के अयोग्य ठहराने के लिये जिन ब्राह्मणों को भेजा, उन्होंने पाखण्ड मत की बातें बताकर उसे वेद के सिद्धान्तों से भ्रष्ट कर दिया था, अतः वह वैदिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल निन्दा वचनों को बोलने लगा, जिस कारण वह पतित हो गया था, उसके इस प्रकार पतित हो जाने से वह राज्य के अनर्ह (अयोग्य) हो गया था। ऐसी स्थिति में शन्तनु का कोई दोष न होने से पर्जन्य वृष्टि हुई। निरुक्तकार ने भी इनका इतिहास बताया है। बृहद्देवता में शौनक ने भी इनका इतिहास लिखा है। इस प्रकार महाभारत, श्रीमद्भागवतादि पुराण,

गुणोपसंहारन्यायेन ऐतिहासिकी सा मन्तव्या। यथा पञ्चाग्निविद्यायां षष्ठमपरमग्निं केचिच्छाखिन आमनन्ति, अन्ये तु पञ्चैव पठन्ति। तथा प्राणसंवादादिषु केचिदूनान् वागादीनामनन्ति, केचिदधिकानिति तत्र समन्वये येषां शाखिनां येऽनुक्ता अंशास्तेऽन्यत उपसंहर्तव्या भवन्ति, तद्वत् प्रकृतेऽपि। तत्र महाभारते वर्षकामयागप्रसङ्गाभावेन तदकीर्तनं संगच्छते। निरुक्ते बृहद्देवतायां च तत्प्रसङ्गात्तत्कीर्तनं युक्तमेव। यत्तु 'हीनाङ्गं पृथिवीपालं नाभिनन्दन्ति देवताः' इति भारतवचनेन तस्य राज्यानर्हस्य देवापे राज्येऽनभिषेकस्य दोषत्वाऽभावे कुतो धर्मव्यतिक्रमः, कुतो वा धर्मव्यतिक्रमाद् द्वादशवार्षिकी स्यादनावृष्टिरिति, तन्न, बहुसंमताया आर्षवचनाच्छ्रुताया अनावृष्टेरुपपत्तये श्रुतार्थापत्त्या तस्य साधारणत्वग्दोषित्वे इन्द्रियोपघातकत्वग्दोषाभावकल्पनात्। पामादयोऽनेके त्वग्दोषा भवन्ति, ये गलितकुष्ठवन्नेन्द्रियोपघातिनो भवन्ति। अत एव हीनाङ्गत्वं विकलेन्द्रियत्वं वा देवापेरासीदेवेत्यनावृष्टिबलादेव कल्पनीयम्। यथा जीविनो देवदत्तस्य गृहेऽसत्त्वश्रवणेन बहिः सत्त्वं कल्प्यत इति तद्वत्।

अत एव श्रीमद्भागवतेऽपि तस्य वेदवादातिवादित्वापादनेन पातित्यापादनेन राज्याभिषेकानर्हत्वेन शन्तनोर्दोषाभावेन वृष्टिर्जाता। निरुक्तादिरीत्या तु वर्षकामेष्टिसम्पादनेन वृष्टिर्जाता। कल्पभेदेनात्रापि व्यवस्था कर्तव्या। तदितिहासस्यैवापलापे तु मन्त्राणां प्रसिद्धार्थापलापः क्लिष्टकल्पनया विद्युदादिपरत्वं मन्त्राणां कल्पनीयं स्यात्। मीमांसादृष्ट्यापि य एव लौकिकाः शब्दास्तदर्थाश्च त एव वैदिकाः। अत एव क्लिष्टकल्पनया देवापिशब्दस्य विद्युदाद्यर्थकल्पनमसंगतमेव। अत एव निरुक्तकारैरपि प्रसिद्धार्थपरतया ऐतिहासिकदृष्टया मन्त्रार्था उक्ताः। किञ्चानुक्रमणीरीत्यैवान्येषामपि सूक्तानां मन्त्राणाञ्च ऋष्यादिकं निर्णीयते। तथैव चानुक्रान्तमनुक्रमण्यां शौनकेन—'बृहस्पते द्वादशार्ष्टिषेणो देवापिर्वृष्टिकामो देवाँस्तुष्टाव। सूक्तस्य प्रथममन्त्रेऽपि वातापिर्ब्रह्मत्वे प्रवृत्तो बृहस्पतिमनुधावति, हे बृहस्पते! मे मम वृष्ट्यर्थं प्रति देवतां प्रति, इहि प्रतिगच्छ। यष्टव्या देवताः प्रतिगच्छ, यदि त्वं मित्रोऽसि, अथवा वरुणोऽसि, यद्वा पूषाऽसि, अथवा आदित्यैः द्वादशादित्यैरुणादिभिः वसुभिर्वा ध्रुवादिभिः सह मरुतो देवतास्तद्वानसि, स त्वं पर्जन्यं तर्पयितारं मेघं शन्तनवे राज्ञे वृषाय वर्षाय। देवापिपदेन विद्युतो ग्रहणेन न तस्य ऋषित्वं स्तावकत्वं वा संभवति, अचेतनत्वात्। शन्तनवे पर्जन्यमिति पदमपि सामञ्जस्यमश्नुते।

द्वितीये मन्त्रे देवः कश्चिदितः अजिरः गमनशीलः चिकित्वान्। हे देवापे, त्वत् त्वत्तः, प्रेषितः सन् माम् अभि आ अगच्छत् अभ्यागच्छतु। हे बृहस्पते, प्रतीचीनः अस्मदभिमुखः सन् मां प्रति आववृत्स प्रत्यागच्छ। ते तुभ्यम्, त्वदर्थम्, द्युमतीं दीप्तियुक्तां वाचं स्तोत्रात्मिकां आसन् आस्ये स्वमुखे दधामि। तृतीये मन्त्रेऽपि—हे बृहस्पते, त्वम्, अस्मे अस्मासु द्युमतीं वाचं स्तोत्रात्मिकां आसन्, आस्येऽस्मदीये धेहि स्थापय, कीदृशीं वाचम्, अनमीवां गद्गदादिदोषरहिताम्, इषिरां गमन-

निरुक्त, शौनकीय बृहद्देवता आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होने वाले इतिहास का भी अपलाप कर यह मीमांसकम्मन्य यथेष्ट प्रलाप करता है। उपर्युक्त सभी ग्रन्थ आर्ष हैं, अतः उनमें समन्वय प्रदर्शन करना ही उचित रहता है, न कि विरोध का उद्भावन कर अपलाप करना। एक ग्रन्थ में अनावृष्टि नहीं बताई, किन्तु अनेक ग्रन्थों में बताई है। अतः अनेक ग्रन्थों के उल्लेखों से अनावृष्टि को ऐतिहासिक समझना, अथवा एक ग्रन्थ में उसका उल्लेख न होने से अनावृष्टि की घटना को मिथ्या कल्पना समझना? इस प्रकार संशय होने पर गुणोपसंहारन्याय से उसे ऐतिहासिक ही समझना होगा। जैसे पंचाग्निविद्या तथा प्राणसंवादादिकों में अनुक्त अंश का उपसंहार किया जाता है, उसी तरह प्रकृत प्रसंग में भी समझना होगा। जीवित देवदत्त को घर पर न देखकर उसके बाहर होने की कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण से जिस प्रकार की जाती है, उसी प्रकार अनावृष्टि के बल पर देवापि में हीनाङ्गत्व अथवा विकलेन्द्रियत्व की कल्पना कर लेनी चाहिये।

अत एव श्रीमद्भागवत में बताया गया है कि देवापि के वेदवादातिवादी हो जाने से वह पतित हो गया था, पतित हो जाने से राज्याभिषेक के योग्य नहीं था। अतः शन्तनु में परिवित्ति दोष न होने से वृष्टि हो गई। निरुक्तादि ग्रन्थों के अनुसार वर्षकामेष्टि

शीलां यया वाचा देवानिष्ट्वा शन्तनवे वृष्टिकामाय, वनाव वृष्टिं त्वं चाहश्च संभजेवहि, दिवः द्युलोकात् त्वयाधिष्ठितः, द्रप्स उदकस्यन्दः, मधुमान् माधुर्योपेतः, आविवेश आविशति। तां वाचं धेहीत्यर्थः।

'आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिं निषीदन् देवापिः देवसुमतिं चिकित्वान्। स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि ॥' (१०।९८।५) यास्क इमं मन्त्रं व्याचक्षाण आह—आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य पुत्रः, इषितसेनस्य वा, सेश्वरा सेना समानगतिर्वा। पुत्रः पुरु त्रायते निपरणाद्वा पुन्नरकं ततस्त्रायत इति वा। होत्रमृषिर्निषीदन्। ऋषिर्दर्शनात्। सोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः·····। देवापिः देवानामाप्त्या स्तुत्या च प्रदानेन च देवसुमतिं देवानां कल्याणीं मतिं चिकित्वान् चेतनावान्। स उत्तरस्मादधरं समुद्रम् उत्तर उद्धततरो भवति, अधरोऽधो न धावतीत्यूर्ध्वंगतिः। प्रतिषिद्धा मन्त्रपदानुसारेणैव व्याख्या। न केवलं निरुक्तकारो बृहद्देवताकारश्चैव देवापिमृषिं गदतः, मन्त्रोऽपि, ऋषिर्निषीदन् इति। निरुक्तकारस्तु ऋष्टिषेणस्यापत्यं पुमान् आर्ष्टिषेणः, इषितसेनस्य वा अन्यकल्पान्तरीणोऽन्यकल्पान्तरीयस्यैव शन्तनोर्वर्षार्थीत्येव कर्मणि होतृत्वे वृतो हौत्रं कर्म प्रति निषीदन् उपविष्टवान्। ततो देवापिं नाम नाम्ना देवसुमतिं देवानां सुमतिं कल्याणीमुदकसम्प्रदानोन्मुखीं कर्तुं चिकित्वान् जानानः। स हि तथाऽस्तौद्यथा देवानामुदकसम्प्रदानोन्मुखी मतिरभूत्। ततः परितुष्टेषु देवेषु स देवापिः, उत्तरस्मादधरम्, उत्तरस्मादन्तरिक्षरूपादधरं समुद्रं पार्थिवं प्रति। एष विभागः समुद्रयोः। अपो दिव्याः प्रशस्ताः सस्यसंपत्करीः असृजत्। किंरूपाः ? वृष्याः वर्षभूताः, अभि सर्वभूतानामुपरि, स देवाप्यधिकारे वर्तमान एतदकरोत्। अन्यस्मिन् कल्पे स देवापिर्ममाप्येतदेव मास्त्वित्येवं वर्तमानेनाभिसंबध्यते। ऋष्टिरायुधविशेषः, तद्बहुला सेना यस्य स इषितसेनः प्रेषितसेनः, शत्रून् प्रति। इनेतीश्वरनाम। तेन हि सा नित्यं युक्ता, समानगतिर्वा, समानमेकमर्थमुद्दिश्य जयाख्यमिति। पुत्रा पुरु त्रायते बह्वपि यत्पित्रा पापं कृतं भवति, पुत्रः निपरणाद्वा, निपृणाति ददाति ह्यसौ पिण्डान् पितृभ्यः, अथवा पुत् इति नरकस्थानम्, ततस्त्रायते। ऋषिर्दर्शनात् पश्यत्यसौ सूक्ष्मानप्यर्थान्···इत्यादिका निरुक्तकृतो यास्काचार्यस्य दुर्गाचार्यस्य चात्रत्याः सर्वेऽप्यर्थाः समाजिनां सिद्धान्तविरुद्धाः, तत एव ते इतिहासमेवापलपन्ति। अनेकत्र निरुक्तकारोऽध्यात्मादिपक्षमिवेतिहासपक्षमपि निर्दिशत्येव। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—'यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्। देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ॥' (ऋ० सं० १०।९८।७)। शन्तनोऽस्त्विति वा, शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा। पुरोहितः पुर एनं दधाति, होत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्वध्यायाद्देवश्रुतं देवा एनं शृण्वन्ति, वृष्टिवनिं वृष्टियाचिनम्। रराण रातिरभ्यस्तो बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत्, सोऽस्मै वाचमयच्छत्। बृहदुपव्याख्यातम् (२।१२)। तस्यैवार्थस्य प्रकृतस्य यथोत्तरस्मात् समुद्राद् वृष्टिमयाचत, देवभ्यो देवापिर्यथा च पौरोहित्यमकरोद्यथा वाऽयाजयच्छन्तनुं वर्षीयार्थेन कर्मणा भूयसे बहुतराय निर्वचनाय निर्विच्य वचनाय। मन्त्रार्थः—यद् यस्माद्देवापिः शन्तनवे राज्ञे पुरोहितः, पुरोहितो ह्यवाग्निकर्मणि व्याप्रियते, स पुरोहितः सन् देवापिः, होत्राय होत्रकर्मणे वर्षार्थीये कर्मणि वृतः सन् कृपयमाणो राज्ञेऽदीधेत् अन्वध्यायत वृष्टिर्भवेदिति। तं देवश्रुतं देवापिमेवं वृष्टिवनिं वृष्टियाचिनं मत्वा रराणो ददत्। इह बृहस्पतिस्तस्मिन्नेव कर्मणि ब्रह्मत्वेऽवस्थितः। सोऽसौ वर्षसाधिकां वाचमयच्छत् अददादित्यर्थः। तया वाचा तदनुगृहीतया देवान् स्तुत्वा तेभ्यो वर्षमलभत इति निरुक्तानुसारी समस्तार्थः। शन्तनुः कस्मात्? उच्यते। स हि कञ्चिद्रोगार्तं दृष्ट्वा ब्रवीति—हे तनो, शन्तवास्त्विति। ततोऽसावगदो भवति।

के अनुष्ठान से वृष्टि हुई। कल्पभेद की दृष्टि से दोनों की संगति लगा लेनी चाहिये। ऐतिहासिक तथ्य का ही अपलाप करने पर मन्त्रों के प्रसिद्ध अर्थ का ही अपलाप हो जायगा। मन्त्रों का विद्युदादि परक अर्थ करने में क्लिष्ट कल्पना करनी होगी। मीमांसाशास्त्र की दृष्टि से जो लौकिक शब्दार्थ हैं, वे ही वैदिक भी हैं। वैदिक शब्द और अर्थ कोई पृथक् नहीं हैं। अतः क्लिष्ट कल्पना का आश्रय कर देवापि शब्द का विद्युदादि अर्थ करना असंगत ही होगा। अत एव निरुक्तकार ने भी लौकिक प्रसिद्ध अर्थों का अनुसरण करते हुए ऐतिहासिक दृष्टि से मन्त्रों के अर्थ किये हैं। इस रीति का अनुसरण करने से अनुक्रमणी में शौनक का कथन भी संगत होता है। देवापि का अर्थ

अथवा शमस्तु तन्वा इत्येवमसावाशास्ते । शमिति सुखनाम, तनुः शरीरं तदसौ नित्यं शरीरायाशास्ते । पुरोहितः शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकेषु कर्मसु पुर एवं दधाति । राजानः पुरस्कुर्वन्ति हि एवं स्तुतीरुच्चारयन्तं शृण्वन्ति इति देवश्रुत्, तं रराण, रातिः दानार्थमभ्यस्तः । मन्त्रनिदानेन धर्मोऽयमत्र दर्शितो ज्येष्ठे तिष्ठति कनीयसो राज्यप्राप्तिर्धर्मातिक्रमः । धर्मातिक्रमे च मेघो न वर्षति । एवमैतिहासिकपक्षं सम्यगुपपाद्य श्रीदुर्गाचार्यो नैरुक्तपक्षे निराह—ऋष्टिषेणो मध्यमस्तदपत्यमग्निः, पार्थिवः, आर्ष्टिषेणो देवापिः, शंतनवे सर्वस्मै यजमानाय बृहस्पतिर्वाचस्पतिरिति मध्यमः स्तनयित्नुलक्षणां वाचं…… इत्यादि, तन्नानेन प्रघट्टकेन समाजिनां मनीषितोऽर्थो लभ्यते ।

यत्तु शबरस्वामिनां भट्टपादकुमारिलस्वामिनां तदनुयायिनां च नवीनमीमांसकत्वोक्तिः, सा तु दुरभिसन्धिमूलिका, कृतघ्नता चैषा, सनातननिष्ठानां मीमांसकानां सकाशाद् मीमांसामधीत्य तन्मान्यानां नवीनमीमांसकपदेन स्मरणम्, निर्लज्जतायाः पराकाष्ठा चैषा । शाबरभाष्यस्य हिन्दीभाषान्तरकरणप्रसङ्गेन तत्तच्छिद्रान्वेषणं धूलिप्रक्षेपादिकञ्च । कुमारिलस्वामिनामीश्वरवादित्वसम्बन्धे पूर्वमुक्तमेव । दयानन्दस्तदीयास्तु प्राचीननवीनोभयभ्रष्टा एव । यदपि 'नवीनमीमांसकैः सृष्टिमभ्युपगम्यापि 'बवरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यादिब्राह्मणवचनरीत्या प्रवाहणपुत्रबवरादीनां प्रतिकल्पमुत्पत्तिस्वीकारेण ऐतिहासिकव्यक्तिनां प्रवाहनित्यतया नित्यत्वेनाऽनित्यदोषपरिहारः कृतः, तथात्वे च शास्त्राणां सम्पूर्णः सिद्धान्त एव भज्येत । परमपुरुषार्थो मोक्ष एव सर्वशास्त्राणामुद्देश्यम् । पूर्वोक्तसिद्धान्तानुसारेण सर्वेषां प्रवाहनित्यत्वाऽभ्युपगमेऽनिर्मोक्ष एव स्यात्, एकस्याऽशुद्धसिद्धान्तस्य (शाखाब्राह्मणादीनां नित्यत्वस्य) स्वीकारे सकलशास्त्र-

विद्युत् करने पर उसे ऋषि और स्तावक कैसे कहा जा सकेगा ? क्योंकि विद्युत् तो अचेतन होती है । अनेक मन्त्रों से उसका ऋषि होना और स्तावक होना सिद्ध हो रहा है, उन मन्त्रों को ऊपर के मूल संस्कृत में देखने से अवगत होगा । किन्तु ये समाजी दयानन्दानुयायी क्यों कर उपर्युक्त मन्त्रों को देखने तथा समझने का कष्ट करेंगे, क्योंकि निरुक्तकार यास्क तथा दुर्गाचार्य के किये अर्थ समाजियों के सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ते हैं । यही कारण है कि ये समाजी इतिहास का ही अपलाप करने का प्रयत्न करते हैं । निरुक्तकार ने अनेकत्र अध्यात्मादि पक्ष के समान इतिहास पक्ष का भी निर्देश किया है । उस इतिहास पक्ष को देखना हो तो ऊपर के मूल संस्कृत में देखिये । किन्तु उस ऐतिहासिक पक्ष से समाजियों का अभिलषित पूर्ण नहीं हो पाता ।

शबरस्वामी, भट्ट कुमारिलस्वामी और उनके अनुयायियों को नवीन मीमांसक कहना तो दुरभिसन्धिमूलक ही है । जिन सनातननिष्ठ मीमांसकों से मीमांसाशास्त्र का अध्ययन किया, उनके भी सम्मान्य एवं पूज्य शबर, कुमारिल स्वामी प्रभृति मीमांसकों को नवीन मीमांसक कहने का दुःसाहस करना पूर्णरूप से कृतघ्नता को ही प्रकट करना है । शाबर भाष्य का हिन्दी भाषान्तर करने का बहाना बनाकर (हिन्दी भाषान्तर के मिष से) तत्तच्छिद्रान्वेषण तथा धूलिप्रक्षेप आदि करके तो निर्लज्जता की पराकाष्ठा ही कर दी है । दयानन्द के ये अनुयायी तो प्राचीन तथा नवीन दोनों मार्गों से भ्रष्ट हो गये हैं । इनकी भ्रष्टता का एक नमूना (उदाहरण) देखिये—'नवीन मीमांसकों ने 'सृष्टि' को स्वीकार करते हुए भी 'बवरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य के अनुसार प्रत्येक कल्प में प्रवाहण के पुत्र बवरादिकों की उत्पत्ति को स्वीकार कर प्रवाह-नित्यता की दृष्टि से उन ऐतिहासिक व्यक्तियों को (बवरादिकों को) नित्य मानकर अनित्य दोष का परिहार जो किया है, उससे तो शास्त्रों का सम्पूर्ण सिद्धान्त ही भंग हो जायगा । समस्त शास्त्रों का उद्देश्य एकमात्र परम पुरुषार्थ मोक्ष ही है । यदि पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार सभी में प्रवाह-नित्यता मान ली जाय, तो कभी भी मोक्ष नहीं हो सकेगा ।' एक अशुद्ध सिद्धान्त को (शाखा ब्राह्मणादि को प्रवाह-नित्य) स्वीकार करने पर सकल शास्त्र-विपरीत कल्पना प्रसक्ति का यह एक उदाहरण है । अतः समाजियों की सभी अटकल पच्चू कल्पनाएं, उनके अपने अज्ञान का ही विलास मात्र है । किसी अनित्य पुरुष के प्रावाहणि, बवर आदि नाम कहीं भी प्रसिद्ध नहीं हैं । उस कारण 'प्रवाहणस्य अपत्यं प्रावाहणिः' समझकर प्रावाहणि को प्रवाहण का अपत्य कहना ठीक नहीं है । किन्तु प्रतीयमान यौगिक अर्थ के पर्यालोचन से यही कहना उचित होगा कि 'प्रावाहणि' शब्द का तात्पर्य 'प्रकर्षेण वाहयति' इस अर्थ में है, अतः वह 'नित्यसिद्ध वायु' का वाचक है और 'बवर' शब्द उसी वायु के शब्द का अनुकरण मात्र है । इस रीति से 'बवरः प्रावाहणिरकामयत' आदि वाक्य नित्यार्थ के ही अभिधायक हैं । अतः पहले अनित्य व्यक्तियों की कल्पना

विपरीतकल्पनाप्रसक्तेरिदमेकं निदर्शनम्' इति, तदेतत्सर्वमज्ञानविजृम्भितम्, 'प्रवाहणस्य पुरुषाख्यानित्यत्वान्न प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणिः, प्रशब्दः प्रकर्षे, वहतिश्च प्रापणे, न त्वस्य समुदायः क्वचित्सिद्धः' इति शबरस्वामिवचनविरुद्धत्वात् ।

केश्चित्तु सन्तुष्यतु दुर्जनन्यायेन प्रतीकार्थमभ्युपगम्यापि समाधानमुक्तं पूर्वोक्तोत्तरमीमांसकरीत्या। तद्रीत्या वस्वादित्येन्द्रादिव्यक्तीनामनित्यत्वेऽपि जातौ शक्त्यङ्गीकारेण जातेर्नित्यत्वेन नानित्यवस्तुप्रतिपादनमापद्यते। नहि जातिनित्यत्वेन व्यक्तीनामनिर्मोक्षापत्तिः स्यात्। न ह्याम्रत्वनित्यत्वेनाम्रवृक्षाणां प्रातिस्विकत्वेन नित्यत्वमनिर्मोक्षत्वं वा भवति। प्राड्विवाकसेनापत्यादिवत् पदनामत्वेनापि समाधानमुक्तम्। यथा प्रतिकल्पमिन्द्रादयोऽन्येऽन्ये भवन्ति, इन्द्रत्वजातिस्तु सर्वत्र समाना; तथैव पदं समानं भवति, तत्र ये ये समायान्ति सर्वेऽपि सेनापत्यादिशब्दैर्व्यवह्रियन्ते। न चात्र कस्यचिदनिर्मोक्षापत्तिः। वस्तुतस्तु दयानन्द एवोपालम्भनीयः। स एव स्वर्गादिवदनित्यं मोक्षं मन्यते, मोक्षात् पुनरावृत्त्यभ्युपगमात्। सीसकाचभवने स्थित्वा ग्रावभिर्योधनायितमेतत्।

यदपि च 'कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात्' (जै० १।१।३२) इति सूत्रस्य ब्राह्मणप्रामाण्यसाधनपरत्वेन योजनम्, तत्तु अव्यापारेषु व्यापारमात्रम्, 'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या' (जै० १।१।२७) इत्यादिसूत्रैरेव गतार्थत्वात्। वेदशब्देन जैमिन्यादिभिर्मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि गृहीतत्वात्। अत एव मन्त्रान् लक्षयित्वा जैमिनिना 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० सू० २।१।३३) इति सूत्रेण ब्राह्मणलक्षणं कृतम्। भागशेषादिशब्दानामेकस्यैव भागान्तरे प्रयोगो भवति। नहि कलिन्दफलस्य शेषो भागो वा कर्कटिकाफलं भवति। अत एव मन्त्रभागो ब्राह्मणभागश्चेति वैदिकानां प्रसिद्धिः। तथा च वेदस्यैको मन्त्रभागः, शेषो ब्राह्मणभागो भवति। यथा मन्त्राणां यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्द इति, तद्वत्। अत एव चोदना द्विविधा—मन्त्रगता, ब्राह्मणगता चेत्यप्यशुद्धम्, मन्त्राणां

करना, फिर उन्हें प्रवाहनित्य कहना आदि कल्पना करते बैठना, शाबर भाष्य—'प्रशब्दः प्रकर्षे······क्वचित् सिद्धः'—के नितान्त विरुद्ध है।

कुछ लोगों ने 'सन्तुष्यतु दुर्जनन्याय' से प्रतीकार्थ मानकर भी (व्यक्तिपरक मानकर भी) समाधान किया है। उत्तर मीमांसकों के (वेदान्तियों के अनुसार वसु, आदित्य, इन्द्र आदि व्यक्तियों के अनित्य होने पर भी 'जाति' में वसु आदि शब्दों की शक्ति मान ली जाती है और 'जाति' नित्य होती है। उसके नित्य होने से अनित्य वस्तु प्रतिपादन का प्रसङ्ग भी वेद में नहीं हो सकेगा और जाति के नित्य होने से ही किसी व्यक्ति के अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग भी उपस्थित नहीं होगा। आम्रत्व जाति के नित्य होने पर भी आम्र वृक्षों की प्रातिस्विक (व्यक्ति) रूप से नित्यता नहीं रहती है और न ही उनका अनिर्मोक्ष होता है, अर्थात् जाति को नित्य मानने से उन आम्र वृक्षों का मोक्ष भी हो जाता है। एक अन्य प्रकार से भी समाधान किया जा सकता है—प्राड्विवाक, सेनापति आदि के समान उन शब्दों को पदों के नाम मान लिये जायँ। जैसे प्रत्येक कल्प में इन्द्रादि पदों पर अन्य-अन्य व्यक्ति आया करते हैं, उन व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न रहने पर भी उन सभी पर 'इन्द्रत्व' जाति तो समान रूप से (एक सी) स्थिति रहती है, इसी प्रकार सेनापति पद आदि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। कहीं पर भी अनिर्मोक्षापत्ति नहीं होती है। वास्तव में तो दयानन्द ही उपालम्भ के पात्र सिद्ध हो रहे हैं। उन्होंने ही मोक्ष को स्वर्गादि के तुल्य अनित्य माना है। क्योंकि मोक्ष होने पर भी उन्होंने पुनरावृत्ति का होना स्वीकार किया हैं। किन्तु यह प्रयत्न वैसे ही है, जैसे कांच के कमरे में बैठकर पत्थर फेंकना।

और जो 'कृते वा विनियोग·· ·········' जै० (सू० १।१।३२) सूत्र को ब्राह्मण भाग के प्रामाण्य का साधक बताया है, वह भी केवल अनधिकार चेष्टा मात्र ही है, क्योंकि ब्राह्मण भाग का प्रामाण्य तो (जै० सू० १।१२।७) जैमिनि पहले ही से सिद्ध मानकर चल रहे हैं। जैमिनि आदि सभी मीमांसकों ने मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को ही 'वेद' शब्द से सर्वत्र माना है। अत एव मन्त्रों का लक्षण करते ही 'शेषे ब्राह्मणशब्दः'—(जै० सू० २।१।३३) सूत्र के द्वारा ब्राह्मण का लक्षण जैमिनि ने बताया। लोक व्यवहार में भी किसी एक ही वस्तु के अन्य भाग के लिये 'भाग', 'शेष', 'अवयव' शब्दों का प्रयोग किया जाता है। कलिन्द फल का शेष या भाग कर्कटिका फल नहीं कहा जाता। अत एव 'मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग' यह वैदिकों में प्रसिद्ध है। तथा च वेद का एक मन्त्रभाग और शेष ब्राह्मण-

द्रव्यदेवतास्मारकत्वेन चोदनासत्त्वाभावात्। अत एव महर्षिभिः—'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः' इत्यत्र विधिपदेन ब्राह्मणमुक्तम्, विधेयपदेन मन्त्रा उक्ताः। 'कपिञ्जलानालभेत' इत्यादिकं तु ब्राह्मणमेव मन्त्रधर्मेण पठ्यत इति वैदिकैरभ्युपगमात्। अत एव 'औत्पत्तिकस्तु' इति सूत्रेण सम्पूर्णस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्यैव प्रामाण्यमुक्तम्, न मन्त्ररूपस्य भागविशेषस्य। अत एव शबरस्वाम्यादिभिः सर्वैर्मीमांसकैर्वेदापौरुषेयत्वाधिकरणे ब्राह्मणवचनान्येव विषयत्वेनोपस्थापितानि। तत्रैव चानित्यत्व-वाक्यरचना-पुरुषनाम-संयोगानित्यपदार्थवर्णनेनानित्यत्वं पौरुषेयत्वञ्चाशङ्कितम्। समानन्यायेन तु मन्त्रेष्वपि तानि सूत्राणि योजयितुं शक्यन्ते। तदुच्छिष्टभोजिना त्वयापि तदनुसारेणैव सूत्राणि स्वपक्षे योजितानि।

यत्तु—'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व' (ऋ० १०।३४।१३), 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' (यजु० ४०।१), 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः' (यजु० ४०।२) इति चोदना महाभूतनिःश्वसितत्वात् प्रमाणम्। ब्राह्मण-चोदनास्तु पौरुषेयत्वान्न धर्मे प्रमाणमिति, तत्सर्वं मीमांसकबाह्यमेव, उक्तमन्त्राणां चोदनात्वाभावात्। नहि लिङ्-लोट्-तव्य-प्रत्ययदर्शनमेव चोदनाज्ञापकं भवति। 'जर्तिलयवाग्वा जुहुयात्' इति लिङ्प्रत्ययस्यापि चोदनात्वानभ्युगपमात्, 'आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति' इति लिङ्राहित्येऽपि चोदनात्वाभ्युपगमाच्च। 'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमिद् कृषस्व' इत्यादिकं तु लिङ्गमेव। सत्यामप्राप्तौ लिङ्गबलेन चोदना कल्पयितुं शक्यते। इह त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामुभयोरिष्टानिष्टकरत्वं विज्ञायत इति न विधिः। 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इति नियमात्। अनधिगतगन्तृत्वेन खलु प्रमाणानां प्रामाण्यमधिगतगन्तृत्वे त्वनुवादकत्वेनाऽप्रामाण्यमेव। 'मा गृधः' इत्यपि न चोदना, 'ईशा वास्यम्' इत्यनेन सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वावगतौ तद्भिन्नस्य धनस्याभावेन गृद्धेरभावस्य

भाग हुआ करता है। जैसे मन्त्रों में जहाँ अर्थवशात् पादव्यवस्था होती है, उसे 'ऋक्' कहते हैं, गीति (गान) को 'साम' कहते हैं और इन दोनों से जो शेष बचा उसे 'यजुः' शब्द से कहते हैं, उसी तरह प्रस्तुत प्रसंग में समझना चाहिये। अत एव यह जो कहा है कि 'चोदना' दो प्रकार की है। एक मन्त्रगत और दूसरी ब्राह्मणगत, वह भी अशुद्ध है। क्योंकि मन्त्र तो देवता के स्मारक होते हैं, अतः मन्त्रों में चोदना के अस्तित्व का कोई प्रश्न ही नहीं है। अत एव महर्षियों ने 'विधिर्विधेय' वचन के विधि शब्द का अर्थ 'ब्राह्मण' बताया है और विधेय पद से 'मन्त्रों' को बताया है। 'कपिञ्जलानालभेत' इत्यादि ब्राह्मण को ही मन्त्र धर्म से पढ़ा जाता है, ऐसा वैदिकों का अभ्युपगम है। अत एव 'औत्पत्तिकस्तु' सूत्र के द्वारा मन्त्र-ब्राह्मणात्मक सम्पूर्ण वेद का ही प्रामाण्य बताया गया है। केवल मन्त्ररूप भागविशेष का नहीं। इसी कारण शबरस्वामी आदि सभी मीमांसकों ने वेदाऽपौरुषेयत्वाधिकरण में ब्राह्मण वाक्यों को ही विचारणीय विषय बनाया है। उन्हीं ब्राह्मण वाक्यों के सम्बन्ध में अनित्यत्व, वाक्यरचना, अर्थात् पुरुषनाम संयोग के कारण अनित्य पदार्थ का वर्णन रहने से अनित्यत्व, पौरुषेयत्व आदि की आशंका की गई है। तत्समान न्याय से मन्त्रों में भी उन सूत्रों को लगाया जा सकता है। आपने भी इन सूत्रों की योजना उन्हीं के अनुसार स्वपक्ष में की है। अतः जो समाधान वहाँ है, उसी समाधान से आपके पक्ष का खण्डन हो जायगा। अपि च, (ऋ० सं० १०।३४।१३, यजु० ४०।१, यजु० ४०।२) मन्त्रगत चोदनाओं को महाभूत-निःश्वसित होने से आपने प्रमाण माना है, किन्तु ब्राह्मणगत चोदनाओं को पौरुषेय होने से उन्हें धर्म में प्रमाण नहीं माना है, किन्तु यह सब मीमांसक सम्प्रदाय के विरुद्ध है, क्योंकि उक्त मन्त्रों में चोदनात्व (विधित्व) नहीं है। लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय का होना ही चोदनात्व (विधित्व) का बोधक नहीं। 'जर्तिलयवाग्वा जुहुयात्' में लिङ् प्रत्यय के रहने पर भी चोदनात्व (विधित्व) नहीं माना गया है। और 'आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति' में लिङ् प्रत्यय के न रहने पर भी चोदनात्व (विधित्व) माना जाता है। 'अक्षैर्मा दीव्यः०' इत्यादि वाक्य तो लिङ्ग ही है। विधि की प्राप्ति न रहने पर लिङ्ग के बल से विधि (चोदना) की कल्पना की जाती है। यहाँ तो अन्वय-व्यतिरेक से दोनों में इष्टानिष्टकरत्व प्रतीत होता है। इस कारण यहाँ विधि नहीं है। विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इस नियम के अनुसार विधि को पहचाना जाता है। अनधिगत को अधिगत कराने के कारण ही प्रमाणों का प्रामाण्य माना जाता है। अधिगत को ही यदि अधिगत कराता हो तो उसे अनुवादक कहा जाता है, किन्तु अनुवादक होने से उसे अप्रमाण ही कहा जाता है। इसी तरह 'मा गृधः' यह भी विधि (चोदना) नहीं है, क्योंकि 'ईशा वास्यम्' से सबकी ब्रह्मरूपता का बोध हो जाने पर उससे (ब्रह्म से) भिन्न धन का अभाव होने के कारण गर्धा (आकांक्षा) का अभाव तो स्वतः प्राप्त है, उसके लिये विधि (विधान) की आवश्यकता नहीं है। उसी तरह 'जिजीविषेत्' यह भी विधि (चोदना) नहीं है, क्योंकि जिजीविषा (जीने की इच्छा) किसे नहीं रहती; वह तो रागप्राप्त

स्वतःप्राप्तत्वेन विधानानर्हत्वात्। 'जिजीविषेत्' इत्यपि न चोदना, जिजीविषाया रागप्राप्तत्वेन विधातुमशक्यत्वात्। पुराणेतिहासाद्यष्टविधब्राह्मणस्यापि महाभूतनिःश्वसितत्वात्। ब्राह्मणस्य पौरुषेयत्वकथनमप्यज्ञानमूलकमेव, श्रीशङ्कराचार्येण तथोक्तत्वात्, न च तदप्रमाणम्, त्वया तद्वचनेन चतुर्विधमन्त्रजातस्य वेदत्वसाधनात्। अयमाक्षेपः सूत्रबहिर्भूत इत्युक्त्वा त्वया स्वपक्ष एव खण्डितः। प्रकृतसूत्रशाबरभाष्योक्तपूर्वपक्षस्य त्वया सूत्राऽनारूढत्वेन खण्डितत्वात्। 'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारश्च तादृशः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे॥' इति विरोधाच्च।

यत्तु—'वा' इति पूर्वपक्षनिवृत्त्यर्थः, कृते मन्त्रेषु यज्ञानां दर्शने कर्मणः कर्मभिः सह मन्त्राणां सम्बन्धात् विनियोगः, विनियोजकं ब्राह्मणं प्रमाणं स्यादिति सूत्रार्थवर्णनम्। तत्तु सर्वथाऽशुद्धमुपहासास्पदञ्च, व्याकरण-काव्य-कोशादिभिस्तेषां शब्दानां तदर्थत्वासिद्धेः। 'कृते' इत्यस्य 'मन्त्रेषु यज्ञानां दर्शने' इत्यर्थः समाजिनामेव गलेऽवतरिष्यति, तथैव 'कर्मणः' इत्यस्य 'कर्मभिः सह मन्त्राणाम्' इत्यर्थोऽपि मीमांसकम्मन्यस्य तवैव शोभते, विनियोगशब्दस्य ब्राह्मणमर्थं इत्यपि सर्वथा निर्मूलम्, पूर्वैर्विनियोजकं ब्राह्मणमुक्तं न विनियोगः, प्रमाणमित्यपि सूत्रबहिर्भूतम्। अनयैव बुद्धया शाबरभाष्यकौमारिलवार्त्तिकखण्डनमभिलष्यत इति महच्चित्रम्।

यत्तु—'तदेतत्सत्यम्, 'मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि' इति मन्त्रेषु ऋषिभिः कर्माणि दृष्टानि। तेनाग्निहोत्रादियज्ञानां विधानं मन्त्रेषु दृष्टमिति।' तदप्यशुद्धम्, मन्त्रार्थानवबोधात्। श्रीशङ्कराचार्यरीत्याऽयं मन्त्रार्थः—तदेतत्सत्यमवितथम्, किम्? मन्त्रेषु ऋग्वेदाद्येषु, कर्माण्यग्निहोत्रादीनि मन्त्रैरेव प्रकाशितानि, कवयो मेधाविनो वसिष्ठादयः, यान्यपश्यन् दृष्टवन्तः, यत्तदेतत्सत्यमेकान्तपुरुषार्थसाधनत्वात्। तानि वेदविहितानि ऋषिदृष्टानि कर्माणि त्रेतायां त्रयीयोगलक्षणायामाध्वर्य्यवौद्गात्रप्रकाराधिकरण-

है। अतः उसके लिए विधान की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि विधान तो अप्राप्त का ही होता है। पुराण, इतिहासादि अष्टविध ब्राह्मण भी महान् भूत के ही निःश्वसित रूप हैं। तब ब्राह्मण भाग को पौरुषेय कहना अपने अज्ञान को प्रकट करना ही है। श्रीशंकराचार्य ने भी ब्राह्मण को अपौरुषेय बताया है। उनके कथन (वचन) को अप्रमाण नहीं कह सकते हो, क्योंकि आपने उनके वचनों को प्रमाण मान कर ही चतुर्विध मन्त्रसमुदाय में वेदत्व सिद्ध किया है। इस आक्षेप को सूत्रबहिर्भूत बताकर आपने अपने पक्ष को ही खण्डित कर डाला, क्योंकि प्रकृत सूत्र पर शाबरभाष्योक्त पूर्वपक्ष को आपने सूत्राऽनारूढ होने से खण्डित किया है और 'यत्रोभयोः समो दोषः' इस उक्ति से विरोध भी हो रहा है।

यह जो कहा है कि 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, मन्त्रों में यज्ञों का दर्शन करने पर कर्म के साथ मन्त्रों का सम्बन्ध करने से विनियोजक ब्राह्मण प्रमाण है। इस प्रकार किया हुआ सूत्रार्थवर्णन सर्वथा अशुद्ध और उपहासास्पद है, क्योंकि शब्दों का अर्थ व्याकरण, काव्य, कोष आदि से जाना जाता है। किन्तु मीमांसकजी का किया हुआ सूत्रार्थ व्याकरण, काव्य, कोषादि किसी से भी नहीं निकल रहा है। 'कृते' का अर्थ जो किया है कि 'मन्त्रेषु यज्ञानां दर्शने'—वह अर्थ तो समाजियों के ही गले में उतरेगा। उसी तरह 'कर्मणः' का अर्थ 'कर्मभिः सह मन्त्राणाम्' जो किया है, वह भी आप जैसे मीमांसकम्मन्य को ही शोभा देता है। 'विनियोग' शब्द का अर्थ 'ब्राह्मण' किया है, वह भी सर्वथा निर्मूल है, पूर्ववर्ती पारम्परिक विद्वानों ने 'ब्राह्मण' को विनियोजक बताया है, विनियोग नहीं। आगे चलकर 'प्रमाणम्' कहा है, वह भी सूत्रबहिर्भूत है। क्या आप इसी प्रकार की विपर्यय बुद्धि से शाबरभाष्य और कौमारिल वार्त्तिक के खण्डन करने का दुःसाहस करने जा रहे हैं? महान् आश्चर्य है!

यह जो कहा है कि 'तदेतत्सत्यं……सन्ततानि'। इससे प्रतीत होता है कि 'ऋषियों ने अग्निहोत्रादि यज्ञों का विधान मन्त्रों में देखा। किन्तु वह भी मन्त्रार्थ का ज्ञान न होने से अशुद्ध है। श्रीशंकराचार्य की रीति के अनुसार मन्त्रार्थ इस प्रकार है—यह जो कुछ है वह सत्य है। वह क्या है? ऋग्वेद के प्रारम्भिक मन्त्रों में अग्निहोत्रादि कर्मों से ही प्रकाशित किया गया है, जिन्हें वसिष्ठादि मेधावी कवियों ने देखा था। जो कुछ निर्दिष्ट किया गया है, वह सत्य है, क्योंकि उसमें पुरुषार्थ-साधनता निश्चित रूप से है। उपर्युक्त कर्मों का अनुष्ठान त्रेता युग में प्रायशः होता रहता था। अतः तुम लोग भी उनका अनुष्ठान करो, फल की इच्छा रखनेवाले तुम लोगों

भूतायाम्, बहुधा बहुप्रकारं सन्ततानि प्रवृत्तानि क्रियमाणानि कर्मभिः क्रियमाणानि, त्रेतायां युगे वा प्रायशः प्रवृत्तानि। अतो यूयं तान्याचरथ निर्वर्तयथ, नियतं सत्यकामा यथाभूतकर्मफलकामाः सन्तः। एष वो युष्माकं पन्थाः सुकृतस्य लोके इत्यादिकम्। तत्र मन्त्रैः कर्माणि प्रकाश्यन्तेऽनुष्ठानसौविध्याय, न विधीयन्ते। अत एव मूले विधानमिति पदं नास्ति, त्वया व्याख्याने बलात्प्रवेशितम्। कालान्तरे विधिविधानानामवान्तरभेदानामुत्पन्नत्वात्, वेदानां बहुविधानां शाखानां ब्राह्मणानां वा प्रवचनानि जातानीत्यादिकं तु निर्मूलमशुद्धं बहुधा खण्डितञ्च। यत्तु कर्मसमृद्ध्यर्थं केवला मन्त्राः समर्थाः, न केवलं ब्राह्मणानि, उभयसहभावादेव यज्ञकर्मनिष्पत्तेः। अत एव श्रौतसूत्रकारैर्मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति परिभाषितमित्यादिकन्तु पिष्टपेषणमेव, परस्परविरुद्धं च। केवलं मन्त्रा एव समर्थाः, उभयोः सहभावादेव यज्ञस्वरूपनिष्पत्तेः, इति विरोधोऽपि कथन्न दृश्यते।

यदपि 'मन्त्रानुसृतब्राह्मणानामेव प्रामाण्यम्—'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धम्, यत्कर्म क्रियमाणमृग्वा यजुर्वा अभिवदति' (एतरेयब्राह्मण १।४।१३-१६) इति वचनात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भावार्थानवबोधात्। तेषु वचनेषु मन्त्रमूलकत्वेन ब्राह्मणानां प्रामाण्यम्, तदभावाच्चाप्रामाण्यमिति नोक्तम्, तद्वचने तद्बोधकानां पदानामभावात्, किन्तु मन्त्रैरेव कर्मणां विधाने प्रकाशने च ब्राह्मणानां वैयर्थ्यापत्तेः। त्वया च किमर्थमुभयोः सहभावेनैव यज्ञकर्मनिष्पत्तिरुच्यते, किमर्थं च कर्ममीमांसायां त्वद्रीत्या ब्राह्मणानां वेदत्वमाम्नायत्वं च स्वीकृतम्, त्वद्रीत्या मन्त्रैरेव तन्निर्वाहोपपत्तेः। वस्तुतस्तु कर्मप्रकाशनार्थं मन्त्राणामुपयोगो मीमांसकैर्वर्ण्यते, तच्च ब्राह्मणैरेव सम्पद्यत इति मन्त्रवैयर्थ्यापत्त्या मन्त्रैरेव द्रव्यदेवते स्मर्तव्ये इति नियमादृष्टलाभो मन्त्रप्रयोजनमभ्युपेयते मीमांसकैः। तदेवैभिर्वचनैरुच्यते। मन्त्रोच्चारणजन्यैरदृष्टैर्यज्ञकर्मसमृद्ध्यत इत्युक्तम्, तदभावे वैगुण्येन तत्समृद्ध्यभावापत्तेः। परन्तु दयानन्देन तदीयैश्च नादृष्टं नाम किमप्यभ्युपेयते, तद्रीत्या यज्ञसमृद्धिः कथं मन्त्रैः सम्पद्यत इति दुर्निरूपमेव। मन्त्रार्थानुसरणादेव ब्राह्मणोक्तविनियोगो भवतीति कथनं तु प्रमत्तप्रलपितमेव, निर्मूलत्वात्। अन्यत्तु पिष्टपेषणमेव। यदपि ब्राह्मणप्रतिपादितमिदं मूलतत्त्वमनुसृत्यैव दयानन्देनोक्तम्—

के लिये अनुष्ठान सौकर्यार्थ उन कर्मों को मन्त्रों से प्रकाशित मात्र किया गया है, उनका विधान नहीं है। इसी कारण मूल में 'विधान' पद नहीं है, किन्तु आपने व्याख्या करते समय उसे बलात् प्रविष्ट किया है। कुछ समय के पश्चात् विधि-विधानों के अवान्तर भेद उत्पन्न हो जाने से वेदों की बहुविध शाखाओं के तथा ब्राह्मणों के प्रवचन हुए—इत्यादि जो तुम्हारा कथन है, वह निर्मूल और अशुद्ध है, उसका बहुधा खण्डन हो चुका है।

यह जो कहा है कि कर्मसमृद्धि के लिये समर्थ केवल मन्त्र हैं, केवल ब्राह्मण नहीं, दोनों के सहभाव से ही यज्ञकर्म सम्पन्न होता है। अत एव श्रौतसूत्रकारों ने 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' कह कर वेद की परिभाषा बताई है, किन्तु यह सब पिष्टपेषण ही है और परस्पर विरुद्ध भी है। एक ओर तो यह कहना कि केवल मन्त्र ही समर्थ हैं और दूसरी ओर कहना कि दोनों के सहभाव से ही यज्ञस्वरूप की निष्पत्ति होती है, इस परस्पर विरोध को आप क्यों नहीं देखते? आपने यह जो कहा है कि ऐतरेय ब्राह्मण (१।४।१३-१६) के अनुसार मन्त्रों का अनुसरण करने वाले ब्राह्मणों का ही प्रामाण्य होता है, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आप ऐतरेय ब्राह्मण का अभिप्राय समझ नहीं पाये हो। उन वचनों में मन्त्रमूलक होने से ब्राह्मणों का प्रामाण्य है और मन्त्रमूलक न होने से ब्राह्मणों का अप्रामाण्य है, यह किसी भी शब्द से नहीं कहा गया है। मन्त्रों से ही कर्मों का विधान और प्रकाशन यदि हो, तो ब्राह्मण भाग के लिये कोई कार्य ही नहीं बचेगा, तब उसे व्यर्थ कहना होगा। ऐसी स्थिति में क्यों आपने दोनों के सहभाव से यज्ञकर्म की निष्पत्ति कही है? कर्ममीमांसा में क्योंकर ब्राह्मणभाग का वेदत्व और आम्नायत्व स्वीकृत किया है? आपके मत के अनुसार तो मन्त्रों से ही उसका निर्वाह हो जायगा। वास्तव में तो मन्त्रों का उपयोग कर्मप्रकाशनार्थ मीमांसकों ने बताया है। ब्राह्मण वाक्यों से ही यदि वह सम्पन्न हो जाता है, तब मन्त्र की व्यर्थता प्रसक्त होती है, अतः 'मन्त्रों से ही द्रव्य और देवता का स्मरण करना चाहिये' इस प्रकार नियमादृष्ट का लाभ होना ही मन्त्र का प्रयोजन है, ऐसा मीमांसकों ने माना है। मन्त्रोच्चारणजन्य अदृष्ट से यज्ञकर्म की समृद्धि होती है। अदृष्ट

'परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत्कर्तव्यं तत्तदत्र वेदभाष्ये विस्तरशो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्, पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति। तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तो विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति' (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, भाग० १, पृ० ३८८) इति।

एतेन दयानन्दो वैदिकं कर्मकाण्डं न मन्यते स्मेति सनातनानुयायिकथनं मिथ्येति। तदपि मिथ्यैव। पूर्वोक्ततदुक्तेरेवायुक्तत्वात्। तथाहि—यस्मिन्नग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते विनियोजिता मन्त्रास्तैः कर्माणि प्रतिपाद्यन्ते न वा? न चेत्; कथं ते तत्र विनियुक्ताः। प्रतिपाद्यन्ते चेत्कथं न तदनुगुणोऽर्थः क्रियते। न च पुनरुक्तिप्रसङ्गः, कुतः? नहि ब्राह्मणैः सूत्रैश्च मन्त्रार्था व्याख्यायन्ते? व्याख्यायन्ते चेत्तदार्षाणि व्याख्यानान्येवानुसर्तव्यानि, किं मनुष्यकृतेन व्याख्यानेन। किञ्च, विस्तरशो वर्णनं मा भूत्, संक्षेपेण तु कर्मानुगुणेन भवितव्यमेव। दयानन्दरीत्या तु केवलं वायुशुद्ध्यर्थमेव हवनादिकम्, मन्त्रोच्चारणं तु केवलमभ्यासार्थमेवेति कुतोऽग्निहोत्रादिवर्णनप्रत्याशा। किञ्च, युक्तिसिद्धो वेदार्थो यदि, कृतं वेदेन तदनुवादिना। न च युक्तिः प्रमाणम्, तेषु तदगणनात्। न च प्रमाणमन्तरा प्रमेयसिद्धिः। न ज्ञातज्ञापकस्य प्रमाणस्य प्रामाण्यं सम्भवति, अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानस्यैव प्रमाणत्वात्।

यत्तु 'याज्ञिकैर्ब्राह्मणानामत्यधिकप्रामाण्यप्रतिपादनस्यायं दुष्प्रभावो यद् यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनाय अनर्थकं भवतीति कौत्स इति रीत्या कौत्सादिभिर्मन्त्राणामानर्थक्यं मन्यते स्म। महायाज्ञिकः कौत्सो यास्क-जैमिनि-याज्ञवल्क्य-समकालिक एव। मन्त्रानर्थक्यवादस्य मूलमुपर्युक्तमेवेति।

तदपि यत्किञ्चित्, धूर्तस्वाम्यादिरीत्या यथा कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमभिप्रेयत इति यथा पूर्वपक्षोपस्थापनमेव, न सिद्धान्तः, तथैव कौत्सादिरीत्या मन्त्राणामानर्थक्यप्रतिपादनमपि पूर्वपक्ष एव, सिद्धान्ते तस्य खण्डितत्वादेव।

के अभाव में यज्ञकर्म में विगुणता आ जाती है, उससे कर्मसमृद्धि नहीं हो पाती। परन्तु दयानन्द और उसके अनुयायी 'अदृष्ट' को नहीं मानते। अदृष्ट के अभाव में मन्त्रों के द्वारा यज्ञ की समृद्धि कैसे हो सकेगी? इस प्रश्न का उत्तर आप नहीं दे सकते हैं। मन्त्रार्थ का अनुसरण करने से ही ब्राह्मणोक्त विनियोग 'विनियोग' हो पाता है, यह कथन तो निर्मूल होने से प्रमत्त का प्रलाप ही कहलायेगा, अन्यान्य बातें तो पिष्टपेषण के तुल्य ही हैं।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, भाग १, पृ० ३८८ पर कहा गया है कि दयानन्द ने ब्राह्मण-प्रतिपादित जो भी यह कहा है, वह मूल तत्त्व का अनुसरण करके ही कहा है, परन्तु 'कर्मकाण्डविनियोजित इन वेदमन्त्रों के द्वारा जहाँ जहाँ अग्निहोत्रादि अश्वमेधान्त में जो जो कर्तव्य है, उसे इस वेद भाष्य में विस्तरशः न बतायेंगे। क्योंकि ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौतसूत्रादि में कर्मकाण्डानुष्ठान को यथार्थ रूप से बताया गया है। पुनश्च उसका कथन करने से साधारण मनुष्य के निर्मित ग्रन्थ की तरह पुनरुक्ति पिष्टपेषणादि दोष होंगे। तस्मात् युक्तिसिद्ध और वेदादिप्रमाणानुकूल एवं मन्त्रार्थ का अनुसरण करने वाला तदुक्त विनियोग स्वीकार करने योग्य है। अतः दयानन्द ने वैदिक कर्मकाण्ड को नहीं माना है, यह कहना मिथ्या है, ऐसा समाजी लोग कहते हैं।

किन्तु समाजियों का यह कहना भी नितान्त मिथ्या है। क्योंकि अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध तक जिन कर्मों में मन्त्रों का जो विनियोग किया जाता है, उन मन्त्रों से कर्मों का प्रतिपादन किया जाता है, या नहीं? अगर नहीं किया जाता है तो उन मन्त्रों का उन कर्मों में विनियोग क्यों किया जाता है? यदि प्रतिपादन किया जाता है कहें, तो तदनुगुण अर्थ क्यों नहीं बताया जाता? पुनरुक्ति का भी कोई प्रसंग नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण और सूत्रों के द्वारा मन्त्रों का अर्थ नहीं बताया जाता और यदि बतायें भी तो आर्ष व्याख्यान का ही उन्हें अनुसरण करना चाहिये। मनुष्यकृत व्याख्या की क्या आवश्यकता है? किञ्च, विस्तरशः वर्णन भले ही न हो,

यास्केन पूर्वोद्धृतवचने गोपथवचनेन ब्राह्मणानां मन्त्रानुगामित्वमुक्तमित्यपि निर्मूलम्, न च सब्राह्मणा इति तत्प्रतिपादनम्, गुरुमनुगच्छति शिष्य इतिवद् मन्त्रमनुगच्छति ब्राह्मणमित्युक्तमिति वाच्यम्, सेन्द्राः सुरा इत्युदाहरणेन सब्राह्मणा मन्त्रा इति विपरीतस्यैव संभवात्। यत्तु लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत् त्रिभिः सूत्रैर्हेतुत्रयेण ब्राह्मणानां मन्त्रार्थानुगामित्वमुक्तम्, प्रथमेन हेतुना विनियोगस्य मन्त्रानुगामित्वमेवोक्तमित्यपि सूत्रार्थानवबोधमूलकमेव। सूत्रार्थश्च शबरस्वामिनोक्त एव।

‘लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्’, ‘आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठते’ इति विधानाद् विवक्षितार्थानामेव मन्त्राणां भवति लिङ्गेनोपदेशः। यदि तेऽग्निप्रयोजनास्ततस्त आग्नेय्याः, नाग्निशब्दसन्निधानात्।

नात्र ब्राह्मणानां मन्त्रानुगामित्वेन प्रामाण्यमुक्तम्। तत्रैव भट्टपादस्तन्त्रवार्त्तिके आग्नेय्येत्यग्निना देवतया लिङ्गेन तदभिधानसामर्थ्येन वा य उपदेशः, स तदर्थार्हतां मन्त्रस्य द्योतयति। देवतातद्धितो ह्येष स्मर्यते, यं चार्थं प्राधान्येन मन्त्रः प्रकाशयति, सा तस्य देवता, नाभिधानमात्रेण, एकदैवत्येऽपि मन्त्रेऽनेकदेवतापदप्रयोगे सति तद्दैवत्यव्यपदेशाभावात्; प्राधान्याभिधानञ्च नार्थपरत्वेन विनोपपद्यते। एवमेव ‘ऊहः’ (४४), ‘विधिशब्दाश्च’ (४५) इति

संक्षेप में ही कर्मानुकूल वर्णन तो होना ही चाहिये। दयानन्द की रीति के अनुसार तो केवल वायुशुद्धि के लिये ही हवनादि हैं और मन्त्रों का उच्चारण केवल अभ्यास के लिये ही होता है। अतः अग्निहोत्रादि के वर्णन की आशा ही कौन कर सकेगा ? किञ्च, वेदार्थ यदि युक्ति से ही सिद्ध हो तो तदनुवादी वेद की आवश्यकता ही क्यों होगी ? प्रमाणों में गणना न होने से युक्ति को ‘प्रमाण’ नहीं कह सकते। प्रमाण के विना प्रमेय की सिद्धि नहीं हुआ करती। ज्ञात वस्तु के ज्ञापक प्रमाण का प्रामाण्य सम्भव नहीं। अनधिगत और अबाधित अर्थविषयक ज्ञान को ही ‘प्रमाण’ शब्द से कहा जाता है।

यह जो कहा है ‘याज्ञिकों ने ब्राह्मणभाग का अत्यधिक प्रामाण्य बताया, उसी का यह दुष्प्रभाव हुआ कि कौत्स ने कह दिया—मन्त्रार्थ का ज्ञान यदि ब्राह्मण से ही हो जाता है, तो उस अर्थज्ञान के लिये मन्त्र की कोई आवश्यकता नहीं, एवं च कौत्स के मत से मन्त्र अनर्थक हैं। महायाज्ञिक कौत्स जैमिनि, याज्ञवल्क्य के समकालिक ही हैं। तस्मात् मन्त्रानर्थक्यवाद का मूल ब्राह्मणभाग को प्रमाण समझना ही है, अतः ब्राह्मणभाग को प्रमाण नहीं मानना चाहिये’।

किन्तु यह कथन उचित नहीं है। जैसे धूर्तस्वामी आदि के अनुसार पूर्वपक्ष के रूप में कहा गया है कि ‘कतिपय मन्त्रों में ही ‘वेदत्व’ है। यह कोई सिद्धान्त के रूप में नहीं कहा गया है। उसी तरह कौत्स ने जो मन्त्रानर्थक्य बताया है, वह भी पूर्वपक्ष के रूप में ही बताया है, सिद्धान्त के रूप में नहीं। सिद्धान्त के रूप में तो आनर्थक्य पक्ष का खण्डन ही किया है।

यह जो कहा है कि यास्क ने पूर्वोद्धृत वाक्य में गोपथवचन के द्वारा ब्राह्मणों को मन्त्रानुगामी बताया है। किन्तु इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है। यदि ‘सब्राह्मणाः’ इस प्रतिपादन को ही मूल समझकर ‘गुरुमनुगच्छति शिष्यः’ के समान ‘मन्त्रमनुगच्छति ब्राह्मणम्’ कहा गया है, यह कहो तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ‘सेन्द्राः सुराः’ इस उदाहरण को देखो और उसी तरह ‘सब्राह्मणा मन्त्राः’ कहा गया है, यह समझो। जो ‘लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्’ इत्यादि तीन सूत्रों के द्वारा तीन हेतु बताकर ब्राह्मणों को मन्त्रार्थानुगामी बताया है, उनमें प्रथम हेतु से विनियोग को मन्त्रानुगामित्व होना ही जो समझ रहे हो, उसका कारण सूत्र का अर्थ न समझ पाना ही है। सूत्र का अर्थ शबरस्वामी ने ही कह दिया है।

‘लिङ्गोपदेशः’ तथा ‘आग्नेय्याग्नीध्रः’ ऐसा विधान होने से विवक्षितार्थक मन्त्रों का ही लिङ्ग के द्वारा उपदेश होता है। यदि वे अग्नियोजक हों तो वे आग्नेयी के हैं, केवल अग्नि शब्द के सन्निधान से नहीं।

यहाँ पर ब्राह्मणों का प्रामाण्य मन्त्रानुगामी होने से नहीं है। तन्त्रवार्त्तिक में भट्टपाद ने बताया है कि अग्नि देवतारूप अर्थप्रकाशन का सामर्थ्य रखने वाली आग्नेयी ऋचा के द्वारा जो उपदेश किया गया है, उस कारण मन्त्र में उस कार्य (प्रयोजन) सम्पादन की योग्यता सूचित होती है। ‘आग्नेय्या’ पद में देवता अर्थ में तद्धित प्रत्यय किया गया है, याचनारूप अर्थ को प्रधानतया मन्त्र ने प्रकाशित किया है। एकदेवताक मन्त्र में अनेक देवताक पदों का प्रयोग रहने पर एकदेवताकत्वेन उसका व्यवहार नहीं होता और

सूत्राभ्यामपि न त्वदभिमतोऽर्थो निरूप्यते । तत्रापि शाबरभाष्यम्—'ऊहदर्शनं च विवक्षितार्थानामेव भवति । किमूहदर्शनम् ? न पिता वर्धते, न मातेति । अन्ये वर्धन्त इति गम्यते । प्रत्यक्षं कौमारयौवनस्थविरैर्वर्धन्ते मात्रादयः । शब्दो न वर्धत इति ब्रूते । का पुनः शब्दस्य वृद्धिः, यद्द्विवचनबहुवचनसंयोगः' अत्रापि मन्त्राणां विवक्षितार्थत्वमूहदर्शनं प्रमाणितम् ।

'विधिशब्दाश्च' (४५) । विधिशब्दाश्च विवक्षितार्थानेव मन्त्राननुवदन्ति । शतं हिमाः, शतं वर्षाणि जीव्यासमित्येतदेवाहेति' । विधिशब्देन मन्त्रसंस्कारपरं ब्राह्मणमुच्यते । ब्राह्मणं च तादृशं मन्त्रस्याभिप्रायं वक्ति, यदि मन्त्रस्यार्थ एव न स्यात्तदा प्रमाणभूतं सार्थकं ब्राह्मणं कथं तदर्थमभिदध्यात् । नैतेन सूत्रेण सर्वेषां ब्राह्मणानां मन्त्रानुगामित्वं तत्त्वेन च प्रामाण्यमुक्तम् ।

वस्तुतस्तु वेदापौरुषेयत्वाधिकरणेऽवधृतप्रामाण्यस्य वेदस्यैव विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयात्मकस्य यथाविभागं धर्मं प्रत्युपयोगः प्रतिपाद्यते । 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' इत्यारभ्य 'विध्यर्थाश्च' इत्यन्तेन द्वितीयपादेन । तत्र पूर्वमर्थवादादीनामानर्थक्यविरुद्धत्वादिकमाशङ्क्य, त्रिंशत्सूत्रैः सार्थक्यं प्रामाण्यमुपपाद्य, तदर्थशास्त्रादित्यारभ्य मन्त्राणामविवक्षितत्वेऽनेकान् हेतूनुपन्यस्यानर्थक्यमप्रामाण्यं चाशङ्क्य सार्थकत्वमुक्तम्, तत्रावधृतप्रामाण्येन ब्राह्मणेन तदर्थनिरूपणेनावश्यमेव मन्त्राणामर्थवत्त्वमुक्तम् ।

अत्र ब्राह्मणकर्तृकानुवादेन मन्त्राणां सार्थक्यमुक्तं न मन्त्रार्थानुवादित्वेन ब्राह्मणस्य सार्थक्यप्रामाण्यादिकमुक्तम् । यथा कस्यचित् संशयितस्य प्रामाणिकत्वायावधृतप्रामाणिकत्वस्य वचनेनाऽसंदिग्धत्वव्यवस्थापनमिति तद्वद् दुःसंस्कारवशादेव स्पष्टार्थोऽप्यन्यथैव भात्यस्य हृदये ।

यदपि याज्ञवल्क्येन १८ अध्यायस्थमन्त्राणां प्रतिपदमर्थनिर्देशेन ब्राह्मणप्रवचनविधेर्नव्यैव दिग्दत्तेत्यादिकम्, तदप्यपरिशीलितमीमांसावृत्तान्तस्यैव शोभते । विधेयानां व्रीहीणां 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इति संस्कारविधानवदेव विधेयानां

प्राधान्य का अभिधान अर्थपरक हुए बिना उपपन्न नहीं होता । उसी प्रकार 'ऊहः', 'विधिशब्दाश्च' (जै० सू० १।२।५२-५३) इन दो सूत्रों से भी आपने अभिमत अर्थ को नहीं बताया जा रहा है । शाबरभाष्य भी इसी बात को बता रहा है ।

कौमार आदि अवस्थाओं की तो वृद्धि होती दिखाई देती है, 'शब्द' की वृद्धि नहीं होती । द्विवचन, बहुवचन के संयोग को ही शब्द की वृद्धि कह देते हैं । इस विषय में भी मन्त्रों का विवक्षितार्थत्व और ऊहदर्शन को प्रमाण रूप में दिया गया है ।

'विधिशब्दाश्च'—विधि शब्द विवक्षितार्थक मन्त्रों का ही अनुवाद करते हैं । विधि शब्द के द्वारा मन्त्रसंस्कारपरक ब्राह्मण बताया जाता है और ब्राह्मण मन्त्र के उस अभिप्राय को कहता है । यदि मन्त्र का कोई अर्थ ही न हो तो प्रमाणभूत सार्थक ब्राह्मण उसके अर्थ को कैसे बता पावेगा । अतः पूर्वोक्त सूत्र समस्त ब्राह्मणों की मन्त्रानुगामिता और उसके कारण प्रामाण्य को नहीं बता रहा है ।

वस्तुतः वेदाऽपौरुषेयाधिकरण में विध्यर्थवादनामधेयात्मक प्रमाणभूत वेद का यथाविभाग धर्म में उपयोग बताया गया है । प्रमाणभूत ब्राह्मण के द्वारा मन्त्रार्थ का जब कि निरूपण किया गया है, तो मन्त्रों का अर्थवान् होना अपरिहार्य ही है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि मन्त्रों की सार्थकता (अर्थवत्त्व) ब्राह्मणकर्तृक अनुवाद के कारण है । इसके विपरीत ब्राह्मण की सार्थकता और उसका प्रामाण्य मन्त्रार्थ का अनुवादक होने से नहीं है । इतना स्पष्ट अर्थ होते हुए भी दुःसंस्कारवशात् ही इन्हें अन्यथा ही अर्थ प्रतीत होता है ।

यह जो कहा कि 'याज्ञवल्क्य ने १८ अध्यायस्थ मन्त्रों के प्रत्येक पद का अर्थ निर्देश कर ब्राह्मण-प्रवचन का एक नवीन प्रकार प्रदर्शित किया है ।' यह कथन भी उसी को शोभा देता है, जिसने मीमांसा शास्त्र का परिशीलन कभी न किया हो । विधेय व्रीहियों का 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इस वचन से संस्कार विधान के समान कर्मोपयुक्त व्याख्या के द्वारा विधेय मन्त्रों का संस्कार ही कहा गया है । अन्य-

मन्त्राणां कर्मोपयुक्तव्याख्याने मन्त्राणां संस्कारस्यैवोक्तत्वात्, ब्राह्मणान्तरेष्वपि तथा संस्कारस्य दर्शनात्। तस्मात् 'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः' इत्यादिरीत्याऽनादिकालादारभ्याद्यपर्यन्तं वैदिकेषु याज्ञिकेषु महर्षिष्वाचार्येष्वपि मन्त्राणां ब्राह्मणानां च वेदत्वं प्रसिद्धमेव, आम्नायस्य क्रियार्थत्वेनेति रीत्या पूर्वमीमांसाया यज्ञप्राधान्येनैव प्रवृत्तेः।

श्रुतिसंज्ञाविचारप्रत्याख्यानम्

यदपि श्रुतिशब्दस्याऽनेकार्थत्वमाशङ्क्य प्रलपितम्, तदपि यत्किञ्चित्। श्रूयते एव, परं न केनापि क्रियत इत्यर्थविशेषे श्रुतिशब्दप्रयोगाद्वेदशब्दवच्छ्रुतिशब्दस्यापि मन्त्रब्राह्मणसमुदायपरत्वमेव। तदनुसारमेव—'श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ। 'उदितेऽनुदिते चैव समयाऽध्युषिते तथा। सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥' (म० २।१५), 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः॥' (२।१०), 'श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादिति विचारयन्' (११।३३), 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' (२।१३) इति वचनानि तदनुगुणान्येव।

यत्तु धर्मशास्त्रं कल्पसूत्रान्तर्गतं भवति, अतः श्रुतिशब्देन मनुस्मृतौ मन्त्रब्राह्मणयोर्ग्रहणं भवतीति हि पलायनमेव। पूर्वं तु कृष्णयजुर्वेदीयैरेव कल्पसूत्रकारैर्मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञोक्ता न शुक्लयजुर्वेदीयैः, ऋक्सामवेदीयैर्वा। पश्चाज्जैमिनिनापि समानतन्त्रत्वाद् मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाऽङ्गीकृता। दयानन्देन तु कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञा नाङ्गीकृतेत्युक्तम्। इदानीं कल्पसूत्रसामान्यस्य तन्मतमङ्गीकृत्य मनुस्मृतेरपि स एव सिद्धान्त इत्यङ्गीकृतम्। 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० ३।३।१४) अत्र तु श्रुतिशब्देन न मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदो विवक्षितः, लिङ्गादीनामपि श्रुतित्वाविशेषात्, किन्तु निरपेक्षसम्बन्धश्रवणमेव श्रुतिः।

तदुक्तं शबरस्वामिना—'का पुनरत्र श्रुतिः, किं लिङ्गम्, श्रुतिर्गार्हपत्यशब्दश्रवणम्। लिङ्गं पुनः—'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चासि दाशुषे' इतीन्द्रशब्दस्य विशिष्टदेवताभिधानसामर्थ्यम्। अथ किं वाक्यं नाम ? संहत्य अर्थमभिदधति पदानि वाक्यमिति। व्याख्यातं च वार्त्तिककृता—'एकलक्ष्यमाणार्थप्रयुक्ततया संघातत्वमापादितानि यदा स्वार्थमभिदधति तदा तद्भूतान्येव सन्ति वाक्यत्वं प्रतिपद्यन्ते' इति। यच्छब्दस्यार्थमभिधातुं सामर्थ्यं तल्लिङ्गम्, यदर्थस्याभिधानं शब्दस्य श्रवणमात्रादेवावगम्यते स श्रुत्याऽवगम्यते। एकार्थमनेकपदं वाक्यमिति।

त्रिविधा श्रुतिर्विध्युक्तिविनियोगाख्या, वाक्यं तु प्राङ् निर्दशितम्। यद्यपि 'ऐन्द्रया गार्हपत्यम्' इत्यत्रापि शब्दसामर्थ्यमस्ति, कदाचन स्तरीरसीत्यत्रापि इन्द्राभिधानसामर्थ्यमस्ति, तथापि ऐन्द्रयां गार्हपत्यस्याङ्गत्वं शक्त्या नावगम्यते, अस्या इन्द्राङ्गत्वं तु नाक्षरश्रुतिजन्यम्। अत एवाह भाष्यकारः—न त्वेतस्यामृचि कस्यचित्सामर्थ्याद् गार्हपत्योपस्थानं

ब्राह्मणों में भी वैसा ही संस्कार दिखाई देता है। तस्मात् 'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः' इस रीति से अनादि काल से लेकर आज तक वैदिक, याज्ञिक, महर्षि, आचार्य सभी लोग मन्त्रों और ब्राह्मणों को 'वेद' शब्द से कहते आ रहे हैं। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' यह सूत्र बता रहा है कि पूर्वमीमांसा की यज्ञप्रधान दृष्टि है।

श्रुति शब्द पर विचार का खण्डन

'श्रुति' शब्द में अनेकार्थता की आशंका कर जो कहा है, वह भी प्रलापमात्र ही है। 'केवल सुना ही जाता है, किसी के द्वारा किया नहीं जाता' इस अर्थविशेष में 'श्रुति' शब्द का प्रयोग होता है, अतः 'वेद' शब्द के समान 'श्रुति' शब्द को भी मन्त्र-ब्राह्मणपरक ही समझना चाहिये। मनु ने भी द्वितीयाध्याय के १४-१५, १० तथा १३ और ११।३३ श्लोकों के द्वारा उक्त मन्तव्य का समर्थन किया है।

यह जो कहा है कि 'धर्मशास्त्र तो कल्पसूत्र के अन्तर्गत हैं, अतः श्रुति शब्द से मनुस्मृति में मन्त्र-ब्राह्मण का ग्रहण किया जाता है।' किन्तु यह कथन भी पलायनमात्र है, क्योंकि यह समझना चाहिये कि कृष्ण यजुर्वेदीय कल्पसूत्रकारों ने ही मन्त्र-ब्राह्मण के

भवति, श्रवणादेव तु गार्हपत्यं वयमग्निं प्रतीमो न लिङ्गात्। 'विनियोक्त्री श्रुतिस्तावद् सर्वेष्वेतेषु संमता। धीस्तस्याः सन्निकर्षेण विप्रकर्षेण च स्थिता॥ नापेक्षा यस्य यत्रास्ति स तस्माद् बलवान् भवेत्। यः पराधीनवृत्तिः स तद्बाधं कथमाचरेत्॥ न श्रुतेर्विनियोक्तृत्वं लिङ्गाधीनं प्रतीयते। विज्ञाते विनियोगे तु तद्वशाच्छक्तिनिर्णयः॥' एतेन श्रूयते सम्बन्धो येनेति व्युत्पत्त्या श्रुतिशब्देन विनियोगो विधीयत इत्यप्यसाम्प्रतम्, विनियोगस्य श्रुतिकार्यत्वात्। अत एव याज्ञिकानां मतेन विनियोजकवाक्यस्य पारिभाषिकी श्रुतिसंज्ञेत्यपि निरस्तम्, श्रुतिलिङ्गवाक्यादीनां सर्वेषामेव श्रुतित्वाविशेषेण तन्निरस्तत्वात्। अत एवात्र श्रौतानामेव श्रुत्यादीनां बलाबलं विचार्यते। तथा च भाष्यकारः—'उक्तानि विनियोगकारणानि श्रुतिर्लिङ्गं वाक्यं प्रकरणं स्थानं समाख्यानमिति। तेषां समवाये किं बलीय इति चिन्त्यते' इति। मद्विचारे मन्त्रा एव श्रुतिशब्दस्य प्रधानभूतोऽर्थ इति निर्मूलं पिष्टपेषणं च।

आम्नायसंज्ञाविचारनिरासः

यदपि—आम्नाय एकः सामान्यः संज्ञाशब्दः। अस्य शब्दस्य प्रयोगो मन्त्रसंहितामारभ्य वेदाङ्गानां मूलभूते भागे दृश्यते। यथा निघण्टौ—'समाम्नायः समाम्नातः' (नि० १।१) इति, प्रत्याहारसूत्रेषु—'अक्षरसमाम्नायः' इति। मन्त्रब्राह्मणसमुदाये आयुर्वेद धर्मशास्त्र-नाट्यशास्त्रादीदां मूलभूते शास्त्रे च प्रयोगो भवति। मन्त्रब्राह्मणसमुदाये—'आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च' (कौशिकसूत्र १।३) इति। 'पृच्छा तन्त्राद् यथाम्नायविधिना प्रश्न उच्यते' (चरकसंहिता, सूत्रस्थान, ३०।६७) अत्राम्नायशब्द आयुर्वेदविषयकमूलागमे प्रयुक्तः। 'यत्र चाम्नायो विदध्यात्' (गो० ध० सू० १।५१), 'आम्नायैरविरुद्धा' (गो० ध० सू० १०।२२) इति धर्मशास्त्रस्य मूलागमे आम्नायशब्दप्रयोगः।

लिये 'वेद' संज्ञा बताई है, शुक्ल यजुर्वेदियों ने अथवा ऋग्वेदियों ने या सामवेदियों ने नहीं। पश्चात् जैमिनि ने भी समानतन्त्र होने के कारण मन्त्र-ब्राह्मण की 'वेद' संज्ञा को स्वीकार किया है। किन्तु दयानन्द कहते हैं कि कात्यायन भिन्न ऋषियों ने मन्त्र-ब्राह्मण की 'वेद' संज्ञा को स्वीकार नहीं किया है और अब आप यह कह रहे हैं कि यावत् कल्पसूत्रों के मत को स्वीकार कर मनुस्मृति का भी वही सिद्धान्त है। जैमिनिसूत्र (३।३।१४) का उल्लेख कर कहते हैं कि इस सूत्र में श्रुति शब्द से मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद की विवक्षा नहीं की गई है, क्योंकि 'लिङ्ग' आदि भी श्रुति के ही तुल्य हैं। अतः 'श्रुति' का अर्थ तो निरपेक्ष सम्बन्ध श्रवण ही है। भाष्यकार और वार्त्तिककार के अभिप्राय को न समझकर उन्हें अपना ही समर्थक समझ रहे हैं। 'श्रूयते सम्बन्धो येन' इस व्युत्पत्ति से 'श्रुति' शब्द को विनियोगपरक बताना भी उचित नहीं है, क्योंकि विनियोग तो श्रुति का 'कार्य' है। अत एव याज्ञिकों के नाम पर 'श्रुति' को विनियोजक वाक्य की पारिभाषिक संज्ञा कहना भी सर्वथा असंगत है। आप का यह जो कहना है कि 'मेरे विचार में 'श्रुति' शब्द का प्रधान अर्थ मन्त्र ही हैं', वह भी निर्मूल है, एवं पिष्टपेषण ही है।

आम्नाय शब्द पर विचार का खण्डन

यह जो कहा है कि 'आम्नाय' शब्द तो एक सामान्य संज्ञा शब्द है। इस शब्द का प्रयोग मन्त्रसंहिता, मन्त्र-ब्राह्मण समुदाय में और आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि के मूलभूत शास्त्र में भी 'आम्नाय' शब्द का प्रयोग किया जाता है। मीमांसाशास्त्र में भी बहुधा 'आम्नाय' शब्द का प्रयोग किया गया है।' किन्तु यह सब प्रलाप मात्र है, इससे उन्होंने स्वयं का अज्ञान ही प्रकट किया है। आपकी रीति के अनुसार भी देखा जाय तो भी जैसे 'वेद' शब्द को अन्यत्र अन्यार्थक आप कहते हैं तथा 'वेदांश्चैके सन्निकर्ष' यहाँ पर वेद शब्द को मन्त्रार्थक ही मानते हैं, उसी तरह आम्नाय शब्द अन्यत्र अनेकार्थक रहने पर भी वैदिक वाङ्मय में उसका मन्त्र-ब्राह्मण समुदाय ही अर्थ माना गया है। वस्तुतः आम्नाय शब्द का मुख्य अर्थ मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय ही है और तन्मूलक होने से ही अन्यत्र उसका प्रयोग किया जाता है। किञ्च, जैसे लक्ष्मी और गृहलक्ष्मी शब्दों में भेद है, वैसे ही आम्नाय और समाम्नाय शब्दों में भी भेद है ही। आयुर्वेद का भी मूल आम्नाय ही है। अन्त में 'भूतं भवद् भविष्यच्च' इस मनु वचन के अनुसार नाट्यशास्त्र, धर्मशास्त्र और मीमांसाशास्त्र भी आम्नायमूलक होने से उनमें भी 'आम्नाय' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

'छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचजटाञ्ञ्यः' (पा० सू० ४।३।१२९) इति सूत्रेण नटस्य धर्म आम्नायो वा नाट्यम्, नटशब्दादपि 'धर्माम्नाययोरेव' (काशिका ४।३।१२९) । मीमांसाशास्त्रेऽपि बहुधाम्नायशब्दः प्रयुक्तः' इति, तदपि सर्वमज्ञानविजृम्भितम्, त्वद्रीत्यैव यथा वेदशब्दस्यान्यत्रान्यार्थत्वेऽपि वेदांश्चैके सन्निकर्षमित्यत्र मन्त्रा एवार्थं इति, तथैव आम्नायशब्दस्यान्यत्रानेकार्थत्वेऽपि वैदिकवाङ्मये मन्त्रब्राह्मणसमुदाय एवार्थं इत्युत्तरस्य जागरूकत्वात् । वस्तुतस्तु मन्त्रब्राह्मणसमुदाय एव आम्नायशब्दो मुख्योऽन्यत्र तन्मूलत्वात्तच्छब्दप्रयोगः । तद्यथा निरुक्ते 'समाम्नायः समाम्नातः' इत्युक्त्वा समाम्नायनिघण्टव इत्याचक्षत, इत्युक्त्वा कस्मान्निगमा इमे भवन्ति छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नातास्ते । किञ्च, यथा लक्ष्मीगृहलक्ष्मीशब्दयोर्भेदो भवति, तथैव आम्नायसमाम्नायशब्दयोरपि भेद एव । आयुर्वेदस्यापि मूलमाम्नाय एव । अन्ते "भूतं भवद्भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिद्धयतीति' मनुरीत्या नाट्यशास्त्रे धर्मशास्त्रे मीमांसाशास्त्रे चाम्नायमूलत्वादेवाम्नायशब्दप्रयोगः । यथा विवाहसंस्कारपूर्वकं मैथुनं न व्यभिचारकोटौ निविशते । ऋतुकालाभिगामी गृहस्थोऽपि पारिभाषिको ब्रह्मचारी भवति, तथैव यज्ञशिष्टमांसाशी न मांसाशी भवति । तदभिप्रायेणैव—'अत्रापि विधिरुक्तश्च मुनिभिर्मांसभक्षणे । देवतानां पितॄणाञ्च भुङ्क्ते दत्त्वापि यः सदा ॥ यथाविधि यथाश्रद्धं न प्रदुष्यति भक्षणात् । अमांसाशी भवत्येवमित्यपि श्रूयते श्रुतिः ॥ भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति ब्राह्मणः ।' (म० भा० वनपर्व २०८।१४-१५) इति भारतोक्तेः । 'यज्ञियमांसभुजोऽपि ऋतुगामिनो ब्रह्मचर्यमिव औपचारिकमांसाशित्वमिति भावः' इति नीलकण्ठोक्तेश्च ।

अद्यत्वेऽपि मनुष्यघाती मृत्युदण्डभाग्भवति । युद्धे तु बहूनां हनने पुरस्कारो लभ्यते । यथा च दुश्चिकित्स्यं व्रणं भिन्दन् चिकित्सकः पूज्य एव भवति न द्वेष्यः, तथैव याज्ञिकपशुवधोऽपि पशूनां स्वर्गप्रापकत्वात् पशुयोनिनिवारणपूर्वकहिरण्यशरीरप्राप्तिहेतुत्वात् पशूपकारक एव भवति । तत एव बाह्यदृष्ट्या हिंसापि यथार्थतोऽहिंसैव सम्पद्यते, 'तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः' (म० ५।३९) इति मनूक्तेः । 'यज्ञे यो वधः सोऽवधो विज्ञेयः, हिंसाजन्यपापनिवृत्तेः' इति मेधातिथिवचनात् । 'यज्ञे वधोऽवध एव वधजन्यदोषाभावात्' इति कुल्लूकभट्टवचनाच्च । 'आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत' (नि० १।१६) इति श्रीयास्कोक्तेः । तत्रैव श्रीदुर्गाचार्यः—'आह कथमहिंसा, प्रत्यक्षतो हि छिद्यते वृक्षः, हिंस्यते च पशुः, शृणु, इयमहिंसा इयं हिंसा इति आगमत एतत्प्रतीयते । प्रतिविशिष्टश्च, अयमेव वैदिक आम्नाय आगमः, एतत्पूर्वकत्वादन्येषामागमानाम् । स एष कृत्स्नस्य जगतः प्रतिविशिष्टाय श्रेयसे अभ्युद्यतः सन् हिंसायां कर्तारं विनियोक्ष्यत इति कुत एतत् सम्भवति ? नूनमियमहिंसैव, यतोऽस्यां युनक्ति कर्तारम् । तस्माद् धर्माधर्मव्यवस्थायां वेद एव प्रमाणम् ।' इति । तदेव मनुनाप्युक्तम्—'या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिन् चराचरे । अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ ॥' (म० ५।४४), 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' (ब्र० सू० ३।१।२५) इति बादरायणोक्तेश्च । अत्राद्यः शङ्कराचार्यः—'यत्पुनरुक्तं पशुहिंसादियोगाद् अशुद्धमाध्वरिकं कर्म, तस्यानिष्टमपि फलं कल्पते, तत्परिह्रियते, न, शास्त्रहेतुत्वात् धर्माधर्मविज्ञानस्य । अयं धर्मः, अयमधर्म

जैसे विवाह संस्कारपूर्वक मैथुन को व्यभिचार में नहीं गिना जाता, ऋतुकालाभिगामी गृहस्थ को भी पारिभाषिक ब्रह्मचारी कहा जाता है, वैसे ही यज्ञशिष्ट मांसाशी को भी मांसाशी नहीं समझा जाता, ऐसा श्रुति ने कहा है, तथा महाभारत और उसके टीकाकार नीलकण्ठ ने भी कहा है।

आज भी मनुष्यघाती मृत्युदण्ड का पात्र माना जाता है। और मनुष्यघाती डाकुओं को मारने पर मारने वाले को पुरस्कार मिलता है। जैसे दुश्चिकित्स्य व्रण को चीरने वाला चिकित्सक प्रशंसा का ही पात्र बनता है, उसे कोई बुरा नहीं कहता। उसी तरह यज्ञ में किया जाने वाला पशुवध भी पशुओं का स्वर्गप्रापक होने से तथा पशुयोनिनिवारण पूर्वक दिव्य शरीर प्राप्ति कराने में कारण होने से पशु का उपकारक ही होता है। अत एव बाह्यदृष्ट्या हिंसा की प्रतीति होनेपर भी वस्तुतः उसे अहिंसा ही माना गया है। मनुने भी 'तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः' (मनु० ५।३९) आपाततः प्रतीयमान वध को अवध ही कहा है। इसी अभिप्राय का समर्थन मेधातिथि

इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम्, अतीन्द्रियत्वात्तयोः, अनियतदेशकालनिमित्तत्वाच्च । यस्मिन् देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव देशकालनिमित्तान्तरेषु अधर्मो भवति । तेन शास्त्राद्धयेव धर्माधर्मविषयं ज्ञानं कस्यचित्' इति । श्रीरामानुजाचार्यस्तु हिंसनीयाननुग्राहकं प्राणवियोगानुकूलव्यापारमेव हिंसामुक्तवान् । यज्ञे पशूपयोगस्तु पशुकल्याणाय भवति । 'न उ वा एतन्म्रियसे', 'हिरण्यशरीर ऊर्ध्वं लोकमेति' इत्यादिश्रुतिभ्यः । अध्वरशब्दव्युत्पत्तौ—'ध्वरतिर्हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः' (नि० १।८) इति निरुक्तवाक्यव्याख्याने दुर्गाचार्यः—'नन्वत्र हन्यन्ते पशवः, छिद्यन्ते तृणवनस्पतयः । तत्कथमहिंस्रोऽध्वर उच्यते ? अभ्युदय एव हि सः । 'न उ वा एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवान् इद् एषि' (वा० सं० २३।१६) तस्मादभ्युदययोगाद् अहिंस्रः । युक्तं चैतत् । यस्मात्पशुरपकृष्टयोनेर्विमुक्तः देवयोनौ जायते ।

यत्तु कैश्चित् कुचोद्यमुद्भावितम् 'पिता कस्मान्न हन्यते' इति, अधुना तु समाजिनोऽपि चार्वाकप्रायास्तदेव वदन्ति, तदपि प्रमादविलसितम्, तथा विधानादर्शनात् । देशरक्षार्थमद्यापि पितृपितामहादयः पुत्रपौत्रादयश्च प्राणार्पणं कुर्वन्त्येव । प्राचीनकालेऽपि क्षत्रिया गुरुगोविन्दसिंहपुत्रादयश्चानेके महापुरुषा देशधर्मादिरक्षणार्थं शिरः कर्तयन्ति स्म, प्राणांश्चार्पयन्ति स्म । यथा मातुः पितुश्च बलिदानं न भवति, तथैव गोर्वृषभस्य चालम्भनं न भवति । 'गौर्मे माता वृषभः पिता मे' (म० भा० अनुशासनपर्व ७६।७) इति भारतवचनात् । 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः' (मनु० ५।३९) इति रीत्या पशूनामेव यज्ञ उपयोगः, यागादिलक्षणस्य धर्मस्य चोदनालक्षणत्वात् ।

मुक्त्यर्थं भगवत्पदप्राप्त्यर्थं नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यमतिसुन्दरम् । तदसम्भवे सन्तानार्थं विवाहितासम्बन्धोऽपि नानुचितः । असंस्कृतया सम्बन्धस्तु व्यभिचार एव । तथैव अहिंसायज्ञः सर्वोत्तमः । मन्त्रसंस्कृतयाज्ञिकपश्वालम्भो मध्यमः । उदरपोषणार्थं पशुवधस्तु तामसोऽधमः । पशूनां प्रतिनिधित्वेनान्यवस्तूनामपि प्रयोगो भवति, 'दधि, मधु, घृतम्, आपो, धाना एतद्वै पशूनां रूपम्' (तै० सं० २।३।२।८), 'पशवो वै धानाः' (गोपथब्रा० २।४), 'पुरुषं ह वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे तस्यालब्धस्य मेधः अपचक्राम । स गां प्रविवेश ते गामालभन्त तत आलब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽविं प्रविवेश······सोऽजं प्रविवेश ते अजमालभन्त तस्य मेधोऽपचक्राम' (श० १।२।३।६) 'सह इमां पृथिवीमाविवेश तं खनन्त इव अन्वीयुः । तौ इमौ

कुल्लूकभट्ट, यास्क, दुर्गाचार्य, बादरायण, आद्यशंकराचार्य रामानुजाचार्य आदि विश्वप्रसिद्ध जगन्मान्य विद्वानों ने भी किया है, क्योंकि वह यज्ञीय पशु अपकृष्ट योनि से विमुक्त होकर देवयोनि में उत्पन्न होता है । इस रीति से उस पशु का अभ्युदय होता है, अतः कोई विचारशील व्यक्ति दूसरे के अभ्युदय को देखकर या सोच कर बुरा नहीं मानता ।

कतिपय स्वैराचारी ऊटपटांग प्रश्न करते हैं कि 'पिता को क्यों नहीं मारा जाता' ? आज समाजी भी चार्वाक जैसे ही हैं, इस कारण वे भी इसी तरह प्रलाप करते हैं, किन्तु यह सब उनके प्रमाद का विलास मात्र ही समझना चाहिये, क्योंकि जैसा वे अपने मन में सोचते हैं, वैसा किसी वेद में विधान नहीं है । देश की, राष्ट्र की रक्षा हेतु आज भी पिता, पितामह, पुत्र, पौत्र आदि अपने प्राणों को निछावर करते ही हैं, कौन नहीं जानता । प्राचीनकाल में भी गुरु गोविन्दसिंह आदि अनेक क्षत्रिय महापुरुषों ने देश की, धर्म की रक्षा हेतु अपने शिर तक कटवाये तथा अपने प्राणों को भी अर्पण किया है । प्रश्नकर्ताओं को समझना चाहिये कि माता-पिता का बलिदान नहीं किया जाता, गाय और वृषभ का आलंभन नहीं किया जाता । 'पशु की उत्पत्ति यज्ञ के लिये ही हुई है' इस मनुवचन के अनुसार पशुओं का ही यज्ञ में उपयोग बताया गया है, क्योंकि यागादिलक्षण धर्मशब्द प्रमाणक है ।

मुक्ति के लिये अथवा भगवत्पदप्राप्ति के लिये नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यन्त सुन्दर है, किन्तु वह यदि सम्भव न हो सके तो सन्तानार्थ विवाहिता स्त्री से सम्बन्ध करना भी अनुचित नहीं है । असंस्कृता (अविवाहिता) स्त्री से सम्बन्ध करना तो व्यभिचार ही है । वैसे ही अहिंसा यज्ञ तो सर्वोत्तम ही है । मन्त्रसंस्कृत याज्ञिक पश्वालंभ मध्यम है और उदरपोषणार्थ पशुवध तो तामस अधम है । पशुओं के प्रतिनिधित्वेन अन्य वस्तुओं का भी प्रयोग किया जा सकता है । तैत्तिरीय संहिता, गोपथ ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण ने अनेक वस्तुओं को पशु के प्रतिनिधि के रूप में बताया है । व्रीहि और यव को तो सम्पूर्ण पशुओं के प्रतिनिधि के रूप में माना गया

व्रीहियवौ स यावद्वीर्यंवद् ह वा अस्यैते सर्वे पशव आलब्धाः स्युः, तावद् वीर्यंवद्ध वै अस्य हविरेव भवति' (श० १।२।३।७) इति । एते व्रीहियवाः सर्वेषां पशूनां प्रतिनिधित्वेन गृह्यन्ते । 'तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावः, अश्वाः, पुरुषाः, अजावयः' (अथर्ववे० सं० ११।२।९) । अतो व्रीहियवनिर्मितचरुपुरोडाशहोमेन सर्वपशूनामालम्भनकार्यं सिद्ध्यति । यदा यजमानो यज्ञे दीक्षितो भवति तदा स देवताभ्यः पशुरूपेणात्मानं समर्पयितुं निश्चिनोति । देवताभ्यः प्राप्तः पशुयागो निष्क्रम्य गवि, गोर्निष्क्रम्य गवये, ततोऽजे, तत उष्ट्रे, ततो हव्यभागे, ततो निष्क्रम्य पृथिवीं प्रविवेश । पृथिवीमाविश्य व्रीहियवरूपो भवति इत्येवमैतरेयकेऽपि वर्णितम् । तेन तन्निर्मितचरुपुरोडाशेषु पशुकल्पनया यज्ञो निष्पद्यते । यद्यप्यर्थवादभूतान्येव तादृशानि वचनानि, तथापि प्रथमकल्पा(मुख्या)सम्भवे प्रतिनिधयो गृह्यन्त एव ।

'नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्धयति । आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥' (म० ५।८७) इत्यत्र निःस्नेहनारास्थिस्पर्शे गवालम्भो विहितः । परमत्र स्पर्श एवालम्भः, सर्वैरपि टीकाकारैस्तथाभ्युपगमात् । अत एव गवालम्भेऽपि न गवां वधः, किन्तु व्रीहिमयादिगोनिर्माणेनैव तन्निर्वर्त्यते । कलियुगे भावदोषशङ्कया सोऽपि निषिद्ध एव । साङ्गोपाङ्गविधिपालनासम्भवात् सार्वभौमक्षत्रियासम्भवाच्चाश्वालम्भोऽपि निषिद्धः । मैथुनमन्तरा सृष्टिसामर्थ्याभावात् कलौ देवरात् सुतोत्पत्तिश्च निषिद्धा । वर्णाश्रमलोपबाहुल्याद् वित्तैषणापुत्रैषणालोकैषणादिव्युत्थानदुष्करत्वात् संन्यासोऽपि निषिद्धः । क्वचित् प्रतिप्रसवोऽपि दृश्यते—'यावद्वर्णविभागः स्याद् यावद्वेदः प्रवर्तते । अग्निहोत्रं च संन्यासं तावत्कुर्यात्कलौ युगे ॥' तथैव पलपैतृकमपि कलौ निषिद्धम्, जिह्वालौल्यात् पलपैतृकनाम्ना विनापि श्राद्धं मांसभोजनादौ प्रवृत्तेः ।

ब्रह्मसूत्र (१।४।२)शाङ्करभाष्ये—'प्रकृतिशब्दश्च विकारे दृष्टः, तथा 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० सं० ९।४६।४) इति । अत्र गोदुग्धेन सोमरसश्रपणमुक्तम् । अतो यत्र गोहवनोल्लेखः स्यात्तत्र गोदुग्धघृतादिकमेव प्रत्येतव्यम् । तद्यथा—'आज्येन पयसा दध्ना सम्भरत्येव गौर्मखम् ।' (म० भा० शा० प० २६३।३८) । 'रघुवंशेऽपि—'होतुराहुतिसाधनम्' (रघु० १।८२) इति गोराहुतिसाधनत्वमुक्तम् । तत्रैव द्वितीयसर्गाष्टमे नन्दिन्या होमधेनुत्वमुक्तम् । 'धाना धेनुरभवद्

है । अतः व्रीहि-यव से बनाये गये चरु-पुरोडाश के होम करने से समस्त पशुओं के आलंभन कार्य की सिद्धि हो जाती है । जब यजमान यज्ञ में दीक्षित होता है, तब वह देवताओं के निमित्त पशु रूप से अपने को अर्पण करने का निश्चय करता है । देवताओं के लिये किया गया पशुयाग उनसे निकल कर गो में, उससे निकल कर गवय में, उससे निकल कर अज में, उससे निकल कर उष्ट्र में, उससे निकल कर हव्यभाग में, उससे निकल कर पृथिवी में प्रविष्ट हुआ । पृथिवी में प्रविष्ट होकर वह व्रीहि-यवरूप हो जाता है, यह बात ऐतरेयक ने बताया है । उस कारण तन्निर्मित चरु-पुरोडाशों में पशु की कल्पना कर यज्ञ का निष्पादन किया जाता है । यद्यपि ये सब वचन अर्थवाद रूप हैं, तथापि प्रथम कल्प (मुख्य) का सम्भव न हो सकने पर प्रतिनिधियों का ग्रहण किया ही जाता है ।

मनु ने निःस्नेह नरास्थि का स्पर्श करने पर गवालम्भ का विधान किया है । यह आलम्भ स्पर्शरूप ही है । सभी व्याख्याकारों ने उसे स्पर्शरूप ही बताया है । अत एव गवालंभ में भी गौ का वध नहीं किया जाता, अपि तु व्रीहिमय गौ का निर्माण करके ही गवालंभ को सम्पन्न किया जाता है । कलियुग में भावदोष के कारण गवालंभ का भी निषेध ही किया गया है । उसी तरह सांगोपांग विधिपालन करना संभव न हो सकने से और किसी सार्वभौम क्षत्रिय के न रहने के कारण अश्वालंभन का भी निषेध किया गया है । मैथुन के बिना सृष्टि करने का सामर्थ्य न रहने से कलियुग में देवर से सुतोत्पत्ति (नियोग) का भी निषेध किया गया है । वर्णाश्रमलोप की बहुलता के कारण वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा आदि से निवृत्ति होना अत्यन्त कठिन होने से संन्यास का भी निषेध किया गया है । तथापि 'यावद् वर्णविभागः स्याद् यावद् वेदः प्रवर्तते । अग्निहोत्रं च संन्यासं तावत् कुर्यात् कलौ युगे ॥' इत्यादि वचनों से उसका प्रतिप्रसव भी किया गया है । उसी तरह पलपैतृक का भी कलि में निषेध किया गया है, क्योंकि जिह्वालौल्य से पलपैतृक के नाम पर बिना श्राद्ध के भी मांस भोजनादि में मानव-प्रवृत्ति दिखाई देती है ।

वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत्' (अथर्व० १८।४।३२), 'अश्वाः कणाः गावस्तण्डुलाः' (अथर्व० ११।३।५), 'अन्नं हि गौः' (श० ४।३।१।२५) अत्र ओदनोऽपि गौरुच्यते। तेन तैर्गोयागो निष्पद्यते। ओषधीभिस्तथा ब्रह्म यजेरंस्तेन तादृशाः। (म० भा० शा० प० ३६३।३३) 'नमस्कारेण हविषा····स्वाध्यायैरोषधैस्तथा। पूजा स्याद्देवतानां तु यथा शास्त्रनिदर्शनम् ॥' (म० भा० शा० प० २६३।८)। 'अहिंसैव परो धर्मस्तत्र वेदेऽस्ति कीर्तितः। साक्षात्पशुवधो यज्ञे नहि वेदस्य सम्मतः ॥' (स्कन्दपुराण-वैष्णवखण्ड ६।४।४९)। 'ब्रह्मणा तु पुरा सृष्टा ओषध्यः सर्ववीरुधः। यज्ञार्थं तत्तु भूतानां भक्ष्यमित्येव वै श्रुतिः ॥ निघण्टुरत्नाकरे—'उक्षा ऋषभश्च ओषधिविशेषः। अष्टवर्गप्रकरणे ऋषभस्य गुणा उक्ताः। 'ऋषभो मधुरः शीतो वृष्यः पुष्टिकरस्तथा।' उक्षा, ऋषभः, वृषभो, गौः, एते शब्दा गोपर्यायवाचकाः। तस्मादेतेषां हवनेनापि गोयज्ञपूर्तिर्भवति। ऋषभपर्यायवाचका अनडुद्गवादयोऽपि ऋषभौषधिरूपा एव। ऋषभपाको गोपाकशब्देनाप्युच्यते। वृषभमांसपदेन ऋषभसार एव बोध्यते। 'कपित्थमुद्धृते मांसे मूत्रेणाजेन पूरयेत्।' अत्र कपित्थसारो मांसपदेनोक्तः। 'खर्जूरमांसान्यथनारिकेलम्' अत्र-खर्जूरसारभाग एव मांसत्वेनोक्तः। अस्थिबीजादिकमस्थिशब्देनोच्यते। वल्कलं चर्मोच्यते। रसो रुधिरम्, मांसं मांसलं दुग्धसारादिकमुच्यते। रामायणीयमांसभूतौदनेन चेति इत्थं व्याख्यातं शिरोमणिकृता—मा नास्ति अंसो राजभागो यस्यां सा भूः पृथिवी, उतं वस्त्रम्। मांसभूश्च, उतश्च, ओदनश्चैतेषां समाहारो मांसभूतौदनं तेन त्वां यक्ष्ये। 'माशब्दाद्रसना ज्ञेया तदंशान् रसनाप्रियान्। सदा यो भक्षयेन्नित्यं स भवेन्मांससाधकः ॥' (आगमसारः)। प्रजापतिस्मृतिरीत्या माषोऽपि मांसो भवति। अज इति अन्नम्। वीजं वीरुद्। तमालभ्य उपयुज्य प्रजाः पशून् प्राप्नोति। गौणाः शब्दाः। (मीमांसादर्शने शावरभाष्ये १।२।१०) 'अजसंज्ञानि बीजानि' (म० भा० १२।३३७।४), 'पशोरन्नस्य भूमानं गवां स्फातिं नियच्छति' (अथर्व० १९।३१।८) अत्र गवां वृद्धिः प्रार्थिता। 'महांस्त्वेव गोर्महिमा' (श० ३।३।३।१), 'गोस्तु मात्रा न विद्यते' (वा० सं० २३।४८); 'आगावो अग्मन् उत भद्रमक्रन्। सीदन्तु गोष्ठे रणयन्तु अस्मे' (ऋ० सं० ६।२८।१) अत्र गोष्ठे स्थिताभ्यो गोभ्यो भद्रमीप्सितम्। 'गावः स्तेन ईशत मा अघशंसः' (ऋ० सं० ६।२८।७), 'हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्। दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं' (ऋ० सं० १।१६४।२७) ऋग्वेदसंहिताभाष्ये (१।१२४।११) गवामश्वानामिति सायणाचार्यः।

यदुक्तम्—'यज्ञे हिंसा अहिंसैव भवतीति याज्ञिकानां रीत्याऽसंगततैव। यतो हि सर्वस्यैव वेदस्य यज्ञार्थमेव प्रवृत्तिः। 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः' 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १।२।१) इत्यादि प्रमाणेभ्यः। तेन 'मा हिंसी रदिति विराजम्' (वा० सं० १३।४३) इत्यादिमन्त्राणां यज्ञप्रवृत्तहिंसाप्रतिषेधार्थमेव प्रवृत्तिः, यज्ञभिन्नकर्मसु याज्ञिकैर्विधानानभ्युपगमात्। तथा च यज्ञादन्यत्र हिंसानिषेधो नोपपद्यत एवेति, तदपि तुच्छम्, 'मा हिंस्यात्' इत्यादिवाक्यानां रागप्राप्तहिंसानिषेधार्थं प्रवृत्तेः। इष्टप्रेप्सूनामिष्टप्राप्त्युपायोपदेशवदनिष्टपरिजिहीर्षूणामनिष्टपरिहारोपायोपदेशस्यापि वेदार्थत्वात्। 'न सुरां पिबेत्', 'नानृतं वदेत्' इत्यादिनिषेधानां रागप्राप्तनिषेधेनैव सार्थक्यात्। यज्ञपर्यवसायित्वात्तु तेषामपि यज्ञार्थत्वोपपत्तेः। ब्रह्मपर्यवसायित्वेन तु यज्ञानामपि तत्रैव पर्यवसानम्। नैतावता 'मा हिंस्यात्'

ब्रह्मसूत्र (१।४।२) शाङ्करभाष्य में 'प्रकृति' शब्द को विकार अर्थ में बताया है, ऋग्वेद, महाभारत, रघुवंशकाव्य, अथर्ववेद, स्कन्दपुराण वैष्णवखण्ड, निघण्टुरत्नाकर, आगमसार, मीमांसादर्शन, शावरभाष्य, शतपथ, वाजसनेयसंहिता, सायणाचार्य आदि सभी ने उसका समर्थन किया है।

यह जो कहा कि—यज्ञीय हिंसा को अहिंसा कहना असंगत है, वह भी निःसार है। 'मा हिंस्यात्' यह हिंसासामान्य निषेध तो रागप्राप्त हिंसा का ही है। इस कारण वह निषेध यज्ञिय हिंसा का नहीं है। अन्यथा 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' आदि विधियां अनवकाश होंगी। किञ्च, निषेध के लिये विधान नहीं किया जाता, अन्यथा विधान करना ही व्यर्थ होगा।

इत्यादीनामपि यज्ञविहितनिषेधकत्वम्, 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' (तै० सं० ६।१।११।६) इत्यादिविधीनामनवकाशत्वापत्तेः। किञ्च नहि निषेधाय विधीयते, नैरर्थक्यात्। 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति न्यायापाताच्च।

यदपि 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (वा० सं० ६।१०) इति विपरीतार्थकं मन्त्रमुक्त्वा पशूनामङ्गच्छेदनम्' (का० श्रौ० सू० ६।६।८) इति, तदपि तुच्छम्, आम्नायबाह्यदृष्ट्याहिंसाया अपि शास्त्रदृष्ट्याऽहिंसात्वावगमेन तदुपपत्तेः, 'आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत' (नि० १।१६) इत्यादिना यास्कादिभिः समाहितत्वात्। 'या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे। अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ ॥' (म० ५।४४) 'तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः' (म० ५।३९) इति मन्वाद्युक्तेश्च। किञ्च, मन्त्रोऽपि तथैव ब्रूते—'न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवां इदेषि' (वा० सं० २३।१६) इति। तस्माद् योगात् हिंसाप्यहिंसैव।

यदपि च—'दधिक्राव्णो अकारिषमित्याग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्य' (आश्वला० श्रौ० सू० ६।१३) इति मन्त्रार्थाननुसृतो विनियोगः, मन्त्रगतदधिकावन्नीति शब्दस्याश्वपरत्वेन तदेकदेशस्य दधिशब्दस्य दूरतो दधिसम्बन्धाभावात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, दधिवाचकत्वाभावेऽपि द्रव्यविधया मन्त्रप्रयोगस्य 'दण्डी प्रैषानन्वाह' इत्यत्र दण्डस्येवादृष्टार्थत्वाभ्युपगमेनादोषात्।

किञ्च, यथा इन्द्रार्थाया अपि 'कदाचन स्तरीरसि' इति ऋचः, 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' (मैत्रायणीसंहिता ३।२।४) इति श्रुत्या लिङ्गं बाधित्वापि गार्हपत्योपस्थाने विनियोगाद् लिङ्गापेक्षया श्रुतेर्बलीयस्त्वात्। मन्त्रलिङ्गं तु श्रुत्यानुगुण्येन नीयते, तथैवार्षविनियोगवशाद् मन्त्रार्थोऽपि नेयः। सर्वथाप्यर्थसम्बन्धराहित्ये द्रव्यरूपेण विनियोग उक्त एव। तथैव नवग्रहमन्त्राणामपि विनियोगवशाद् ग्रहपरत्वेन नयनं युक्तमेव। 'मन्त्राणां विनियोगभेदादर्थभेदोऽपि मन्तव्यः।' इति समाजिनोऽपि वदन्ति। तद्यथा अथर्ववेदभाष्ये २२ पृष्ठे राजारामशास्त्री आह—'श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों में मन्त्रों के जो विनियोग बताये गये हैं, उनसे भी मन्त्रों के अर्थों पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है, क्योंकि विनियोग भी अर्थ सम्बन्ध को देखकर ही किये जाते हैं' इति। तादृशा अपि विनियोगा भवन्ति, यत्र मन्त्राणां मुख्योऽर्थो न घटते। अन्यथैकस्यैव मन्त्रस्यानेके विनियोगा न भवेयुः। दृश्यन्ते च विनियोगभेदाः। अन्यथा वेदे एकैकस्य मन्त्रस्यानेकवारोल्लेखेन पौनरुक्त्यमेव स्यात्। तथा 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' (गो० सू० २।१।५७) इति वेदानामप्रामाण्यमेव स्यात्।

ब्रह्मदत्तजिज्ञासुरपि यजुर्वेदभाष्ये विवरणभूमिकायां ५५ पृष्ठे दुर्गाचार्यवचनमुद्धरति—'तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्यान्येनार्थेन भवितव्यम्। त एते वक्तुरभिप्रायवशात् अन्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। नहि एतेषु इयत्तावधारणमस्ति। महार्था एते दुष्परिज्ञानाश्च। यथा अश्वारोहवैशिष्ट्यात् अश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेव वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ते। तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् अधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्वं एव ते योज्याः। नाना-

यह जो कहा है कि—'विपरीतार्थक मन्त्र को बोलकर पशु के अङ्गच्छेदन को किया जाता है'—वह भी निःसार है। वेदबाह्यदृष्टि से जिसे हिंसा समझ रहे हैं, वस्तुतः वह शास्त्रदृष्टि से अहिंसा ही रहती है।

यह जो कहा है कि—'दधिक्राव्णोः' मन्त्र के अर्थ का अनुसरण बिना किये ही विनियोग किया जाता है—वह भी निःसार है, क्योंकि मीमांसा सिद्धान्त के अनुसार द्रव्यविधया मन्त्र प्रयोग को अदृष्टार्थ माना गया है। किञ्च, विनियोगभेद से मन्त्रों का अर्थभेद भी समाजी मानते ही हैं। ऐसे कितने ही विनियोग रहते हैं, जहाँ मन्त्रों का मुख्यार्थ घटित नहीं रहता। अन्यथा एक ही मन्त्र के अनेक विनियोग नहीं हुए होते। भिन्न-भिन्न विनियोग के लिये एक ही मन्त्र का अनेक बार उल्लेख किया गया है, फिर भी उसे पुनरुक्ति नहीं कहते हैं। पुनरुक्ति मानने पर तो वेद को अप्रमाण ही कहना पड़ेगा।

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने भी यजुर्वेद भाष्य विवरण भूमिका में पृ० ५५ पर दुर्गाचार्य के वचन को उद्धृत किया है और दयानन्द ने 'तरुतारम्' (ऋ० सं० १।११९।१०) मन्त्र में 'तार' शब्द को देखकर उसका अर्थ 'तार' नामक यन्त्र कर दिया है। 'द्वादश

पराधोऽस्ति ।' इति । दयानन्दस्तु 'तरुतारं' (ऋ० सं० १।११९।१०) इति मन्त्रे तारं दृष्ट्वा ताराख्यं यन्त्रमित्यर्थं कृतवान् । 'द्वादशप्रधयः' इति मन्त्रस्य 'षष्ठिश्च वै त्रीणि च शतानि च संवत्सरस्याहोरात्राणि, (नि० ४।२७) इत्यनेन निरुक्तकारो वर्षस्य ३६० दिनानि इत्यर्थं वक्ति । दयानन्दस्तु, वायुयानस्य ३६० शङ्कव इत्यर्थं कृतवान् । सनातनधर्मे तु याज्ञवल्क्यस्मृतावाचाराध्याये ग्रहशान्तिप्रकरणे (१) आकृष्णेन, (२) इमं देवा, (३) अग्निर्मूर्धा, (४) उद्बुध्यस्वेति ऋचो यथासंख्यं प्रकीर्तिताः । (५) बृहस्पते अति यदर्यः, (६) तथैवान्नात्परिस्रुतः, (७) शन्नोदेवी तथा (८) काण्डात् (९) केतुं कृण्वन्निमास्तथा ॥ इति विनियोग उक्तः ।

वेदेऽपि ग्रहाणां वर्णनं दृश्यते—'शन्नोग्रहाश्चान्द्रमसा शमादित्यश्च राहुणा । शं नु मृत्युर्धूमकेतुः' (अथर्ववे० सं० १९।९।१०) 'शन्नो दिविचरा ग्रहाः' (अथर्ववे० सं० १९।८।७) इतिप्रमाणदर्शनात् ।

'द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम् । धर्मशास्त्रस्याप्रामाण्यानुपपत्तिः ।···य एवाप्तावेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनामित्यायुर्वेदप्रामाण्यवद्वेदप्रामाण्यम्' (न्या० द० वात्स्यायनभाष्य २।१।६८) । भगवद्दत्तोऽपि 'वैदिकवाङ्मय का इतिहास' ग्रन्थे १८० पृष्ठे आह—'वही ऋषि ब्राह्मण का प्रवचन करते हैं, वही याज्ञवल्क्यादि स्मृति का निर्माण करते हैं' इति । तत्रैव ग्रन्थे ७३ पृष्ठे स उपर्युद्धृतं वात्स्यायनमुनिवचनमपि उद्धृतवान् । तस्मात् पुराणादिप्रोक्तोऽपि विनियोग आदरणीय एव ।

बृहत्पराशरस्मृतौ च (९।६४) 'आकृष्णेनेति तीव्रांशोरिमं देवा निशाकरम् ।' इत्यादिना विनियोगा उक्ताः । तथैव मत्स्यपुराणे—'आकृष्णेनेति सूर्याय होमः कार्यो द्विजन्मना' (मत्स्यपु० ९३।३३) । एवमेवान्यत्रापि दृश्यते विनियोगः । अर्थोऽपि तत्र सङ्गच्छत एव, तद्यथा शन्नोदेवीरिति । तत्रेदं ज्ञातव्यम्—ग्रहाः पञ्चतत्त्वात्मका भवन्ति । तत्र अप्तत्त्वप्रधानः शनिः । शन्नोदेवीरित्यत्रत्य 'आप' इत्यस्यार्थः जलमिति । जलस्य शनेश्च सूर्यादुत्पन्नत्वात् । तत एव शनैश्चरो मन्द उच्यते । अपां शीतस्पर्शवत्त्वेन शनेरालस्यवत्त्वात् मन्दगामित्वम् । शीतं करोतीतिशीतकः अलसः । मन्दगत्या स एकराशौ सार्धद्वयवर्षं यापयति । शनैश्चरस्य गतिमान्द्य तस्य परिधिमहत्त्वमिति तु प्रकारभेदः । 'अग्नेरापः' इति तेजसो जलोत्पत्तिरुक्ता । इदमेव शनैश्चरस्य सूर्यपुत्रत्वम् । बृहत्पराशरहोराशास्त्रे २९ पद्ये 'कूर्मो भास्करपुत्रस्य' इति शनेः कूर्मरूपत्वमुक्तम् । के जले ऊर्मिगतिर्यस्य स कूर्मः । के जले मठः स्थानं यस्य स कमठः । तत्र संस्थानैकत्वेन संभोगैकत्वञ्च उपेक्षितव्यम् (उपपत्तित ईक्षितव्यम्) यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशव इति सहस्थानतयैकत्वम्, सम्भोगः इतरेतरोपकारित्वम् समानकार्यता । सा पुनः भिन्नस्थानानामपि भवति किमङ्ग पुनः समानस्थानानाम् ? यथा पृथिव्याः पर्जन्येन वाय्वादित्याभ्याञ्च । सम्भोगः पृथिवी ओषध्युत्पत्तौ पर्जन्यवाय्वादित्यकृतमुपकारमपेक्षते । अतोऽप्शब्देन शनैश्चरग्रहणं सर्वथा युक्तमेव । सूर्यवत् शनिरपि वृष्टिकर्ता प्रोच्यते । 'त्रिधावृष्टिः शनैश्चरे' इति ज्यौतिषम् । तथा चापो देव्यः अब्रूया देवता नः शं कल्याणं कुर्वन्त्विति प्रार्थनायुक्तेव । यदि मन्त्रप्रभावेण पाषाणा देवप्रतिष्ठया देवप्रतिमा भवन्ति तदा कल्पप्रवक्तॄणां विनियोगानुसारेण मन्त्रेषु शनैश्चरग्रहस्य प्रतिष्ठा कथं न स्यात् ? अत्र गृह्यसूत्र-स्मृतिपुराणादीनाम् ऐकमत्यमेव । सर्वेऽप्येते शन्नो देवीरिति शनिमन्त्रं मन्यन्ते । यस्तु अप्रमत्तगीतः स प्रमाणम् इति महाभाष्यरीत्या शन्नो देवीरिति मन्त्रः शनिपरः सम्भवत्येव ।

प्रधयः' इस मन्त्र का अर्थ (नि० ४।२७) निरुक्तकार ने तो 'वर्ष के ३६० दिन' किया है । किन्तु दयानन्द ने 'वायुयान के ३६० शंकु' अर्थ किया है । सनातन धर्म में तो याज्ञवल्क्य स्मृति के आचाराध्याय के ग्रहशान्ति प्रकरण में (१) आकृष्णेन, (२) इमं देवा, (३) अग्निर्मूर्धा, (४) उद्बुध्यस्व (५) बृहस्पते अति यदर्यः, (६) अन्नात् परिस्रुतः, (७) शन्नो देवी, (८) काण्डात्, (९) केतुं कृण्वन्' आदि ऋचाओं का ग्रहों के शान्त्यर्थ यथासंख्य (यथाक्रम) विनियोग बताया गया है । वेद में भी ग्रहों का वर्णन उपलब्ध

बुधोऽग्नितत्त्वप्रधानः। अत एव अग्निसम्बद्धमन्त्रो बुधमन्त्रः। अत्रापि याज्ञवल्क्य-बृहत्पराशर-बोधायनगृह्यशेषसूत्रवैखानसगृह्यसूत्राग्निवेश्यगृह्यसूत्र-भविष्यपुराणादिरीत्या 'उद्बुध्यस्वाग्ने' (वा० सं० १५।५४) इति बुधमन्त्रः। मत्स्यपुराणरीत्या 'अग्ने विवस्वदुषसः' इत्यग्निमन्त्रो बुधमन्त्रः। तत एव बुधस्य शीघ्रगतित्वम्। अतो यत्रैकराशौ शनिः सार्धंद्वयवर्षं यापयति तत्र बुधः २१ दिनं यापयति। ऐतरेयारण्यके 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० आ० २।४।२४) इत्यग्निरूपो बुधो वागधिष्ठाता भवति। 'वाचां बह्नेर्मुखं क्षेत्रम्' (श्री० भा० म० पु० २।६।१), 'वाच्यग्निः (म० १२।१२१), वृहत्पराशरहोराशास्त्रे—'बुधो वाणीप्रदायकः' इत्युक्तम्। बुद्धिप्रदायकत्वाद् गायत्र्यग्निरूपाभ्युपेयते। अग्नेः सकाशान्मेधा-प्रार्थ्यते। 'यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाग्ने·····'।

तथैव केतुरपि ग्रहः। उणादिकोषे (१।७४) केतुर्ग्रहः पताकावेति दयानन्दः। तथैव उज्ज्वलदत्तोऽपि। दशपाद्यामुणादिवृत्तौ (१।१२६) केतुर्ध्वजो ग्रहश्चेति। उणादिश्च दयानन्ददृष्ट्या वेदाङ्गभागः। यदि तस्य वेदाङ्गनिर्दिष्टकेतोर्बोधकः 'केतुं कृण्वन्निति मन्त्रो नास्ति कथं तर्हि वेदाङ्गे तदुल्लेखः ? एवमेव 'शमादित्यश्च राहुणा शन्नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः' (अथर्व० १९।९।१०) इत्यथर्ववेदे राहोः केतोश्च वर्णनं स्पष्टं दृश्यते। दयानन्दाभिमते वेदप्रकाशे उणादिप्रकरणे 'दृशजनि·······रहिभ्यो गुणः' (उ० १।३) इत्युणादिटीकायां राहुर्ग्रहविशेषः, केतुर्ग्रहः पृष्ठ १८ इति। यदि वेदे च तन्नामोल्लेखस्तदा 'राहोश्छायास्मृतः केतुः' इत्यादिशास्त्रानुसारेण 'राहुः केतुश्च कुतो न ग्रहौ स्यातामिति।

अपिच, मन्त्रे केतुशब्दस्य पताकार्थत्वेऽपि राहु-केतुग्रहसिद्धिरनिवार्यतया सिद्ध्यति। लिङ्गेनापि लिङ्गिनो व्यपदेशः सम्भवति, दण्डी दण्डेन व्यपदिश्यते, छत्रिणश्छत्रेण। अद्यत्वे व्यवहारे लघुशकट्या जीवन्तः 'ओ रिक्शे ओ, ताङ्गे' इति सम्बोधनेन आहूयन्ते। केतुग्रहस्य रूपं पताका प्रसिद्धा। केतुस्तस्य लिङ्गम्। केतोराकृतिरपि तथैव निर्मीयते। जैमिनीयगृह्यसूत्रे—'अथाकारा' इत्युक्त्वा 'केतोर्ध्वजम्' (२।९), 'केतवे ध्वजम्' (बोधायनगृह्यसूत्रे (१।१६।५) इति बोधायन····गृह्यसूत्रोक्तेः। पञ्चाङ्गेष्वपि तथैव ग्रहाकारा दृश्यन्ते। तथा च केतुवर्णनेन केतुलिङ्गस्य केतुग्रहस्य प्रतिपादनं नानुपपन्नम्। केतुग्रहस्य दयानन्दरीत्यापि वैदिकत्वसिद्धेः। अद्यत्वे ध्वजस्य पूजया राष्ट्रमेव पूज्यते, तिरस्कारेण च तिरस्क्रियते। यद्वा केतुं कृण्वन्निति मन्त्रस्य देवता अग्निः। बृहत्पराशररीत्या 'केतुं कृण्वन्नग्निसूनोः' (बृ० प० स्मृ० ९।६६) अग्निसूनुः केतुरप्यग्निस्तुत्या स्तूयत एव, 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेः। अग्निरपि धूमकेतुरित्युच्यते। अग्निपुत्रस्य केतोरपि तमोमयं रूपम्। केतुस्तु राहोश्छायारूपः। अत एव सप्तमराशौ राहोः सम्मुखे तिष्ठति। तदर्थं मन्त्रकल्पनमयुक्तमित्यपि निरस्तम्, केतो राहुभिन्नदिक्स्थत्वेन षड्राशिव्यवहितत्वेन च पृथग्ग्रहत्वसिद्धेः। एकवस्तुव्यवधानेन छायासम्भवात्। अत एव ग्रहणमपि कदाचिद्राहुणा कदाचित् केतुना च भवति। पौर्णमास्यां चन्द्रः सूर्यात् षड्राशिव्यवधानेन तिष्ठति, तेनैव च प्रकाश्यते, तस्य स्वीयप्रकाशाभावात्। दयानन्देनापि राहोः पृथक् केतोरङ्गीकारात्, एकत्वे नामभेदस्यायुक्तत्वात्। अत एव शिरोभागो राहुः शेषः कबन्धभागः केतुः। 'कयानश्चित्र आभुवत्' इति 'राहुमन्त्रः। 'अग्निर्मूर्धादिवः' (वा० सं० ३।१२) इति भौममन्त्रः। नामशब्दसादृश्यात्तत्कल्पनम्। तस्मात् क्वचिद् ग्रहस्य गुणानुसारेण मन्त्रसम्बन्धः, यथा शनिबुधयोः। क्वचिल्लिङ्गदर्शनेन

होता है। वेद और धर्मशास्त्रों (स्मृतियों) के द्रष्टा तथा प्रवक्ता समान (एक) रहने से धर्मशास्त्र को अप्रमाण भी नहीं कहा जा सकता। इस वक्तव्य का समर्थन न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन महर्षि ने किया है। भगवद्दत्त ने भी 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' ग्रन्थ के १८० पृष्ठ पर इसका समर्थन करते हुए पृ० ७३ पर उपर्युक्त वात्स्यायन मुनि का वचन भी दिया है। अतः पुराणादिप्रोक्त

यथा भौमकेत्वोः। क्वचिच्च ग्रहदेवतामभिलक्ष्य मन्त्रसम्बन्धः। यथा दयानन्देन नामकरणसंस्कारे तिथीनां नक्षत्राणां च देवता लिखिताः। तथैव ग्रहाणामपि देवता, अधिदेवताः, प्रत्यधिदेवताश्च भवन्ति। 'आकृष्णेन रजसा' (वा० सं० ३३।४३) इति सूर्यमन्त्रः प्रसिद्ध एव। इमं देवा···· विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' (वा० सं० ९।४०) इति मन्त्रेण चन्द्रसम्बन्धोऽपि स्पष्ट एव। अनेन मन्त्रेण ब्राह्मणः क्षत्रियस्य राज्ञो राज्याभिषेकं कुर्वन् वदति, एष वो राजा। अस्माकं ब्राह्मणानां तु सोमो राजा। सोमपदेन सोमरसो गृह्यते। तस्याधिपतिश्चन्द्रमाः। अमरकोष (१।३।१५) रीत्या चन्द्रमा द्विजराज उच्यते। गृह्यसूत्रकारैरस्य मन्त्रस्य सोमपूजायां विनियोग उक्तः। 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपांसि रेतांसि जिन्वति॥' (वा० सं० ३।१२) इति भौमसम्बन्धः, स च भूमेरंशोऽभिप्रेयते। अत एव पृथिव्या अयं पतिरिति तत्सम्बंधः सूच्यते। अत्यन्ततेजोरूपत्वाद्रक्तत्वाच्चाग्निवर्णत्वं तस्य स च दिवः ककुद् आकाशस्य भूषणम्। अपां पतिः 'चलत्यङ्गारके वृष्टिः' इति ज्योतिषप्रसिद्धेश्च। यथा निरुक्ते (३।११) कुत्सस्य ऋग्वेदसम्बन्धे वधार्थककृतीधातोश्चारितार्थ्यमुक्तम्। यद्यपि तस्मिन् वधकर्तृत्वं नास्ति, तथापि तत्सख्युरिन्द्रस्य शुष्णासुरवधकर्तृत्वेन तत्रापि तदुपचारः। 'बृहस्पतेरति यदर्यो' (वा० सं० २६।३) इति मन्त्रेण बृहस्पतिसम्बन्धोऽपि स्पष्ट एव। सर्वापेक्षया बृहत्त्वात् तस्य बृहस्पतित्वमपि सङ्गच्छते। 'वाग् हि बृहती तस्या एष पतिः' (छा० उ० १।२।११) इति स वाचामधिष्ठाता। 'कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु' (पा० सू० वा० ६।३।३५) इति पुंवद्भावः। ज्योतिषशास्त्रे बृहस्पतेर्विद्याधिष्ठातृत्वमुक्तम्। एवमेव—'ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रम्' (वा० सं० १९।७५) इति शुक्रमन्त्रः। सोऽयं विशिष्टदीप्तिमत्त्वात् शुक्रः शुक्लो वा उच्यते। तेन लिङ्गेनात्र लिङ्गी ज्ञाप्यते।

अन्ये तु 'असितः शनिग्रहः' इति हलायुधकोषरीत्या शनिरसितपदेन व्यपदिश्यते। असितः कृष्णसर्पोऽपि गद्यते। शनेश्चतुर्दिक्षु कुण्डलवत्परिधिदर्शनात् कृष्णसर्पतुल्यत्वात् शनिरसित उच्यते। तस्य च वर्णनम् 'अमु दुमा उ अंशवे हिरण्यं प्रतिसूर्यंस् व्यख्यञ्जिह्वया सित' (ऋ० सं० १।४९।१०) यदा सूर्यं उत्पद्यते किरणप्रसारणार्थं देदीप्यमानो भवति, तदा शनिग्रहो जिह्वया सार्धं प्रख्यायते। अत्र सूर्यात् शनेः प्राकट्यमुक्तम्। अत एव ज्योतिषशास्त्ररीत्या शौरिपदेन शनेर्बोधनं दृश्यते।

राहुसम्बन्धेन मन्त्रद्वयं प्रसिद्धम् (१) 'काण्डात्काण्डात् प्ररोहन्ती', (२) 'कयानश्चित्र आभुवत्' इति च। उदुम्बरः, शमी, दूर्वाः, कुशाश्च समिधः क्रमात्।' इति याज्ञवल्क्यस्मृतिरीत्या दूर्वा राहुहोमद्रव्यम्। 'यद्देवतः स यज्ञो यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति' (नि० ७।४) इति यास्करीत्या यस्मिन् यज्ञे यज्ञाङ्गे वा ते अनाविष्कृतदेवतालिङ्गा मन्त्रा विनियुज्यन्ते ते तद्देवता भवन्ति। किञ्च, मन्त्राणां द्रव्यदेवतास्मारकत्वपक्षेऽपि दधिशब्दः समुदायप्रसिद्धया दध्न एव स्मारको भवति। दधाति धारयति नरमिति दधिः। दधिः सन् क्राम्यतीति दधिक्रावा। अस्याश्वबोधकत्वं त्ववयवव्युत्पत्त्या योगाद्रूढिर्बलीयसीति न्यायात्। आर्षविनियोगबलाद् दध्ना दधिभक्षणजन्येन वीर्येण क्राम्यतीति दधिक्रावा अश्वो भवतु। दधिशब्दे दध्नोऽपि वर्णनं जातमेव। किञ्च, 'दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः सुरभि नो मुखाकरत्॥' इति मन्त्रो मेध्यस्याश्वस्य बोधकः। स चाश्वमेधीयोऽश्वः कालात्मा प्रजापतिरूपेण स्तूयते। 'उषा वा मेध्यस्याश्वस्य शिरः' (बृ० उ० १।१।१) प्रजापतिश्च सर्वात्मत्वात् सर्वदेवतारूपत्वाच्च सर्वरूप इति तन्मन्त्रेण दधिद्राप्साप्राशनमपि कथं न सम्बद्धयेत ?

यथा—'आग्नेयोऽग्निष्टोम' इति श्रूयते। तत्र योऽनाविष्कृतलिङ्गो मन्त्रः स्यात् स आग्नेय एव भवति। प्रातः-

विनियोग का आदर करना ही होगा। यदि मन्त्र के प्रभाव से पाषाण भी देव प्रतिमा बन जाते हैं, तो कल्पप्रवक्ता ऋषियों के बताये विनियोगानुसार मन्त्रों में ग्रह की प्रतिष्ठा क्यों नहीं हो सकेगी। इस विषय में गृह्यसूत्र, स्मृति, पुराणादि का एक मत है। सभी लोग

सवने यज्ञाङ्गे यो विनियुज्यते स आग्नेयः। यो माध्यन्दिने स आदित्यः। यद्दैवतप्रधानं हविः स तद्दैवतो युक्त एव। व्याख्यान्तरे यद्दैवतं प्रधानं हविस्तद्दैवतो भवति। तद्यथा प्रकृतौ 'ऐन्द्रं सांनाय्यं माहेन्द्रं वा' (तै० सं० २।५।३।४) तत्संस्कारपरा इषे त्वादयो मन्त्रा ऐन्द्रा भवन्ति, तथैव दूर्वाया राहोर्हविष्ट्वेन दूर्वाप्रतिपादकमन्त्रस्य राहुदेवताकत्वं सुतरां सिद्ध्यति। 'कया नश्चित्र' इति मन्त्रस्तु शिष्टाचारपारम्पर्येण राहौ विनियुज्यते। 'शन्नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा' (अथर्व १९।९।१०) इति मन्त्रेण राहोः सकाशात् कल्याणस्य प्रार्थितत्वात् कया न इति मन्त्रस्य इन्द्रो देवता। 'इन्द्रः सर्वा देवता' (श० ३।४।२।२) इति प्रमाणेनेन्द्रस्य सर्वदेवतात्मकत्वेन राहुरप्यस्य मन्त्रस्य देवता सिद्धयति। 'माहाभाग्याद्दैवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते' (नि० ७।४) इति यास्कोक्तेः।

यद्यपि केतू राहोच्छायात्वेनोक्तस्तथापि न तयोरभेदः, षड्भी राशिभिर्व्यवहितत्वात्। अतश्छायावत्तदनुसारित्वमेव केतोर्मन्तव्यम्। एवं नवग्रहमन्त्राणां ग्रहैः सम्बन्धः स्पष्टं सिद्धयति। अर्थसम्बन्धाभावेऽपि यथा श्रुतिबलाद् गार्हपत्याग्नौ ऐन्द्रया विनियोगो भवति, तथैवाश्वलायनकात्यायनाद्यार्षविनियोगबलादपि विनियोगो भवत्येव। अन्यथा एकमन्त्रस्यानेके विनियोगा न दृश्येरन्। दृश्यन्ते चानेके विनियोगाः। 'शनिराहुकेतूरगरक्षो' (मैत्रायणीयारण्यक ७।६) इति मैत्रायणीयारण्यके शनिराहुकेतूनां वर्णनं दृश्यते। कल्पो वेदाङ्गभूत इति न तस्याधुनिकत्वम्, तथात्वेऽङ्गिनो वेदस्यापि तथात्वापत्तेः। 'इतिहासपुराणस्यापि त एव स्मर्तारो ये मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य प्रवक्तारः' इति वात्स्यायनवचनात् तदुक्तविनियोगोऽप्यादरणीय एव। किञ्च, ये समाजिनो नामकरणसंस्कारे तिथिनक्षत्रदेवताभ्यस्तदनुसारीणि हवींषि ददति, न तद्विनियोगो वेदे दृश्यते। तथात्वे च तदवैदिकत्वमेव स्यात्। अथर्ववेदीयसायणभाष्योपोद्घातरीत्या अथर्ववेदस्य नवसंहितानां मध्ये षण्णां संहितानां विनियोगा नक्षत्रकल्पादिषु पञ्चसु सूत्रग्रन्थेषूक्ताः। 'नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः। तुर्य आङ्गिरसः कल्पः (आभिचारिकः) शान्तिकल्पस्तु पञ्चमः॥' (वायुपुराण ६१।५४) उपवर्षप्रणीतकल्पसूत्राधिकरणे पञ्चसूत्रानुसारिणो विनियोगा उक्ताः। तत्र नक्षत्रकल्पानुसारेण नक्षत्राणां शान्तयः पूजाश्चोक्ताः। वैतानसूत्रे दर्शपूर्णमासाग्न्याधानादिविधानान्युक्तानि। संहिताविधि(कौशिक)सूत्रे शत्रूच्चाटनभूतप्रेतपिशाचबालग्रहापसारण-पापनक्षत्रोत्पत्तिशान्ति-अपशकुनशान्ति-आभिचारिककर्म-परकर्तृकाभिचारनिवृत्तिप्रभृतीनि कर्माण्युक्तानि। चतुर्थे आङ्गिरसकल्पेऽभिचारकर्मणां स्वातन्त्र्येण निरूपणं तन्निवारणविधयश्चोक्ताः। पञ्चमे शान्तिकल्पे विनायकपूजा-ग्रहपूजा-ग्रहयज्ञादयो वर्णिताः। तथैवाथर्ववेदीये नक्षत्रग्रहोत्पातलक्षणे ग्रन्थे च ग्रहनक्षत्रादिशान्तय उक्ताः। तेषु ग्रहाणां पूर्वोक्ता एव मन्त्रा वर्णिताः। तदनुसारेणैव स्मृतिष्वपि ते ते मन्त्रा ग्रहाणामुक्ताः। नाधुनिकत्वकथनेन ततः पिण्डमोचनं सम्भवति। अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाम्—'सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शम् आर्द्रापुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे पुण्यं पूर्वाफाल्गुन्यौ चात्र हस्तः चित्रा शिवा स्वातिसुखो मे अस्तु राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा स नक्षत्रमरिष्टमूलम् अन्ना पूर्वा रासतां मे अषाढ़ा ऊर्जं देवी उत्तरा आवहन्तु अभिजित् मे रासतां पुण्यं मे श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम् आ मे महत शतभिषक् वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म आ रेवती अश्वयुजौ भगं मे आ मे रयिं भरण्य आवहन्तु' (अथर्व०१९।७ ५) इति प्रमाणेन नक्षत्रादीनि सिद्धयन्ति। 'यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः' (वात्स्यायनभाष्य, गो० सू० ४।१।६२), 'चत्वारो वेदास्तैर्यज्ञस्तायते' (गो० ब्रा० १।४।२४), 'दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्' (म० १।१३), 'एदमगन्म देवयजनम्.........ऋक्सामाभ्यां सन्तरतो यजुर्भिः।' (वा० सं० ४।१), 'वेदे मन्त्रा अवश्यं यज्ञगतेन यथायथं विपरिणमयि-

---

'शन्नो देवी' मन्त्र को शनि का मन्त्र मानते हैं। 'यस्तु अप्रमत्तगीतः स प्रमाणम्' इस महाभाष्य के अनुसार 'शन्नो देवी' मन्त्र का शनिपरक होना सम्भव हो ही सकता है। इसी तरह तत्तन्मन्त्रों का विनियोग तत्तद् ग्रहों के लिये जो होता आ रहा है, वह उचित ही है। उसी

तव्याः। याज्ञे कर्मणि स वेदप्रोक्तो नियमः।' (म० भा० पस्पशाह्निकम्) इत्यादिरीत्या वेदानां यज्ञो मुख्यो विषयः। यज्ञशब्दश्च यजधातोर्निष्पद्यते। यजधातुश्च देवपूजार्थकः। 'यज्ञे यज्ञे समर्त्यो देवान् सपर्यति (पूजयति) (अथर्व० १०।९३।२)। सूर्यचन्द्रादयश्च वेदानुसारिण्यो देवताः। तस्माद् वेदे देवपूजासत्त्वेन ग्रहपूजापि सुतरां सिद्धयति। वेदमन्त्रैर्विना कश्चिद्विधिर्नास्ति द्विजन्मनाम् ।' (बृ० परा० स्मृति० ९।६७) इति रीत्या वेदमन्त्रमन्तरा न काचन पूजा सम्भवति। तस्माद् ग्रहसम्बन्धिनो मन्त्रा अवश्यं मन्तव्याः। 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्निति ह विज्ञायते।' इति देवताध्यानं यज्ञेऽपेक्षितम्। मन्त्राश्च हविर्दानेऽपेक्ष्यन्ते, 'पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे·····'। (अथर्व० ११।९।२४)। इति पुराणानामप्यनादित्वमेव मन्तव्यम्। व्यासस्तु प्रतिद्वापरं पुराणानामाविर्भावमेव करोति। 'पुरापि नव' इति पुराणशब्दव्युत्पत्तिः प्रसिद्धा। पुराणेषु ग्रहाणां पूजादिकं विस्तरेणोक्तम्। शिवमहापुराणरीत्या शिवं प्रति पार्वतीवचनम्—'दक्षकन्या यदाहं वै पित्रा दत्ता यदा तव। यथोक्तविधिना तत्र विवाहो न कृतस्त्वया॥ न ग्रहाः पूजितास्तेन दक्षेण जनकेन मे। ग्रहाणां विषयस्तेन सच्छिद्रोऽयं महानभूत्॥' (शिवमहापुराणे रुद्रासंहितायां पार्वतीखण्डे २९।१२-१३) इति ग्रहपूजावैधुर्यनिमित्तकमनर्थपारम्पर्यम् ईश्वरेष्वपि प्रतिफलति।

'नक्षत्राणि च सर्वाणि ग्रहाश्च सह देवतैः'। पान्तु त्वां पुत्र·····।' (वाल्मीकीयरामायणे अयोध्याकाण्डे २५ १४) 'ग्राह्या ग्रहाः संसृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः'। (अथर्व १।२।३९) इत्यथर्ववेदे ग्रहाणां ग्राह्या विशेषदशायोगे स्त्रिया वैधव्यमुक्तम्। 'शन्नो दिविचरा ग्रहाः' (अथर्व० १९।९।७) तस्माद् ग्रहपूजा वैदिकी, तन्मन्त्रा अपि वैदिका एव पूर्वोक्ताः।

देवयोनिः

ननु 'विद्वांसो वै देवाः' विद्वांसो मनुष्या एव देवा इति चेन्न, 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।' (भगवद्गी० ३।११) इति श्रीमद्भगवद्गीतायां मनुष्यभिन्नानां देवानां स्मरणात्। 'विश्वेदेवा अमर्त्याः' (वा० सं० २१।१७) इति मनुष्येभ्यो भिन्नानां देवानां सत्त्वावगमात्। 'सु प्रावीरिन्द्र मर्त्यस्तवऊतिभिः' (अथर्व० २०।२५।१) हे इन्द्र, मर्त्यस्तव ऊतिभिः रक्ष्यते। 'इन्द्र ओजिष्ठस्त्वं देवेषु असि ओजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्' (वा० सं० ८।३९) अत्रापि भेदो विज्ञायते। न चाभेदे (च), (वा), (उत) शब्दा भवन्ति। 'अमृतानामुत मर्त्यानाम्, (ऋ० सं० १०।३३।८), 'देवेषु उत मानुषेषु' (ऋ० सं० ६।१५।१३), 'यं देवा उत मर्त्यासः' (ऋ० सं० ८।४८।१) 'मानुषीणां विशां देवीनामुत' (अथर्व० २०।११।२), 'देवानामुत मानुषाणाम्' (अथर्व ४।३०।३), 'यस्मिन् देवा अमृजत यस्मिन् मनुष्या उत' (अथर्व०

तरह तत्तद् ग्रहों के शान्त्यर्थ जो जो द्रव्य बताये गये हैं, वे भी युक्तियुक्त ही हैं। उसमें वैज्ञानिक रहस्य सुरक्षित है। इस विषय में विस्तृत विवेचन पढ़ने की इच्छा हो तो ऊपर दिये गये महाराज श्री के संस्कृत विवेचन में पढ़ सकते हैं। तस्मात् नवग्रह पूजन वैदिक हैं और तत्तन्मन्त्र भी वैदिक हैं।

देवयोनि

कुछ लोग कहते हैं कि 'विद्वांसो वै देवाः' विद्वान् ही देव हैं। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता में (३।११) श्लोक के द्वारा देवों को मनुष्य से भिन्न बताया है। उसी तरह वाजसनेयी संहिता (२१।१७), अथर्ववेदसंहिता (२०।२५।१) में भी देवों को मनुष्य से भिन्न बताया है। यह जो कहना है कि अभेद को बताने के लिये 'च', 'वा', 'उत' शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अमृतानामुत मर्त्यानाम्' (ऋ० सं० १०।३३।८), 'देवेषु उत मानुषेषु' (ऋ० सं० ६।१५।१३), 'यं देवा उत मर्त्यासः' (ऋ० सं० ८।४८।१), 'मानुषीणां विशां देवीनामुत' (अथर्वसं० २०।११।२), 'देवानामुत मानुषाणाम्' (अथर्व०सं० ४।३०।३) इत्यादि सभी स्थलों में सर्वत्र 'उत' शब्द से भेद को ही बताया गया है। 'देवो वा

१२।२।१७) इत्यादिषु सर्वत्र 'उत' इति शब्दप्रयोगेण भेदो बोध्यते। 'देवो वा मानुषो वा त्वम्' (वा० रा० २।१२।४३) नहि समानजातीयानां निर्देशे 'च' 'वा' दयः शब्दाः प्रयुज्यन्ते। चकारप्रयोगो यथा—'यत्र देवाश्च मनुष्याश्च' (श० २।३।४।४)। 'दैवीश्च विशो मानुषीश्च' (वा० सं० १७।८६)। 'तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या देवानां या च मनुष्याणाम्' (नि० १३।९), 'ये च देवा असुरा ये च मर्त्याः' एवमेव 'पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः' (अथर्व० ५।१७।१०)। अत्र पुनः शब्दोऽपि द्विरुच्चरितस्तेषां भेदं बोधयति। तथैव 'वा' शब्दद्वयमपि। यथा—'देवस्य वा मरुतो मर्त्यस्य 'वा' ईजानस्य' (ऋ० सं० ६।४८।२०), 'चक्षुर्वै देवानामुत मर्त्यानामित्युभयेषां ह एतद्देवमनुष्याणां चक्षुः' (श० ९।२।३।२८) एवमेव नहिशब्दद्वयेनापि भेदः। यथा 'नहि त्वा शूरदेवा न मर्तासः दित्सन्त' (सामवेदसंहिता २।२।२।३) 'देवो न मर्त्यो' (ऋ० सं० १०।२२।५) इत्यनेनापि भेदो बोध्यते। 'न तु देवेष्वहं स्थाता न मनुष्येषु कर्हिचित्।' (म० भा० उद्योगपर्व ३५।२०), 'न ते वर्तासि राधस इन्द्र देवो वा मर्त्यं' (अथर्व २०।२७।४), 'देवा मृत्युमुपाघ्नत' (अथर्व० ११।५।१९), 'अमृता देवाः' (श० २।१।३।४)। यत्तु केनचित् 'नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।' इति यशोऽमरत्वादमृतत्वमुक्तम्, तन्न, तादृशकविषु यशःस्वपि अमृतशब्दप्रयोगादर्शनात्। तेऽपि मनुष्या एवोच्यन्ते।

यत्तु—'अग्ने यज्ञेषु मानुषः' (ऋ० सं० १।४४।१०), (ऋ० सं० १।८४।२०), (ऋ० सं० २।१८।१) इति मन्त्रेष्वग्न्यादिषु मानुषशब्दप्रयोगाद् देवत्वेनाभिमतानामपि मानुषत्वमेव' इति, तदपि तुच्छम्, तत्र मनुष्येभ्यो हितो मानुष इति तदर्थत्वात्। 'तस्मै हितम्' (पा० सू० ५।१।५) इति स्मरणात्। 'सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः' (अथर्व० ११।७।२७), 'द्युस्थानो देवगणः' (नि० १२।४०) इति देवानां द्युस्थानत्वेनापि मनुष्यभिन्नत्वं सिद्ध्यति। 'दिवौकसः'। 'दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (ऋ० सं० १०।१९०।३) इति द्युलोकस्य पृथिव्यादिलोकाद् भिन्नत्वं स्पष्टं विज्ञायते। 'न वै देवा अश्नन्ति' (छा० उ० ३।६।१), 'न वै देवाः स्वपन्ति' (श० ३।३।२।२२)। अत्र देवानां भोजन-स्वापराहित्येनापि मनुष्यवैलक्षण्यं विज्ञायते। 'द्राघीयो देवायुषम्' (श० ७।३।) 'ह्रसीयो मनुष्यायुषम्' 'तिर इव हि देवा मनुष्येभ्यः' (श० ३।१।१।८) इति देवतानां मनुष्येभ्यस्तिरोहितत्वं विज्ञायते। 'मनो ह वै देवा मनुष्यस्य आजानन्ति' (श० २।१।४।१) इत्यत्र देवानां मनुष्यमनोऽभिज्ञत्वमुक्तम्। नैवं मनुष्येषु सम्भवति। 'परो हि मर्त्तैरसि समो देवैः'

मानुषो वा त्वम्' (वा० रा० २।१२।४३) यहाँ पर भी वैसे ही है। समानजातियों के निर्देश करने के लिये 'च' 'वा' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। 'चकार' प्रयोग का उदाहरण, जैसे—'यत्र देवाश्च मनुष्याश्च' (श० ब्रा० २।३।४।४), 'दैवीश्च विशो मानुषीश्च' (वा० सं० १७।८६), तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या देवानां या च मनुष्याणाम्' (निरु० १३।९) इत्यादि अनेक उदाहरण हैं, जिनमें च, वा, उत शब्द के प्रयोग के सारा भेद का ही बोधन किया गया है।

यह जो कहा है कि—'अग्ने यज्ञेषु मानुषः' (ऋ० सं० १।४४।१०), (ऋ० सं० १।८४।२०), (ऋ० सं० २।१८।१) इत्यादि मन्त्रों में अग्नि आदि के लिये 'मानुष' शब्द का प्रयोग किया गया है, अतः जो देवत्वेन अभिमत रहने पर भी उनमें 'मानुषत्व' ही मानना चाहिये, वह भी उचित नहीं है। वहाँ पर 'मनुष्येभ्यो हितो-मानुषः' यह अर्थ है। 'सर्वे दिवि देवा दिवि श्रितः' अथर्व० सं० ११।७।२७),द्युस्थानो देवगणः' (नि० १२।४१) इन प्रमाणों से देवों का स्थान द्युस्थान बताया गया है, इस से भी स्पष्ट है कि मनुष्यों से देव पृथक् हैं। 'दिवौकसः' 'दिवंच पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः (ऋ० सं० १०।१९०।३) इन प्रमाणों से भी स्पष्ट है कि पृथ्वी लोक भिन्न है। 'न वै देवा अश्नन्ति' (छा० उ० ३।६।१), 'न वै देवाः स्वपन्ति' (श० प० ३।३।२।२२) इन प्रमाणों से देवों का भोजन-स्वापराहित्य भी बताया गया है, इससे स्पष्ट है कि मनुष्यों से वे विलक्षण हैं। 'द्राघीयो देवायुषम्' (श० ७।३) 'ह्रासीयो मनुष्यायुषम्' 'तिर इव हि देवा मनुष्येभ्यः' (श० प० ३।१।१।८) मनुष्यों से देवताओं का तिरोहितत्व बताया गया है। इत्यादि अनेक प्रमाणों से स्पष्ट है कि मनुष्यों से देवगण भिन्न हैं।

(ऋ० सं ६।४८।१९) अत्र पूष्णो देवस्य मर्त्यैर्भिन्नत्वं देवैरभिन्नत्वमुक्तम् । 'एको देव दयसे मर्त्यान्' (अथर्व० १२।१।७) अत्र देवस्येन्द्रस्य मानुषानुग्राहकत्वं विज्ञायते । 'देवा वै नाकसदः' (श० ८।६।१।१), 'द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम्' (श० १४।३।२।८) अत्रापि देवानां द्युलोकवासित्वेन दिव्यत्वं मनुष्याणां तद्भिन्नत्वं विज्ञायते । 'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, न चान्तं जगाम' । अत्र वर्षस्य दिव्यत्वमुक्तम् । न च वर्षसहस्रं कस्यचिदायुर्भवति मनुष्यस्य । 'यावतीर्वै देवतास्ता वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति''''वेदविद्भ्यो''''नमस्कुर्याद् नाश्लीलं कीर्तयेत् एता एव देवताः प्रीणाति ।' (तै० आ० २।१५) नहि ब्राह्मणे वेदविदि मनुष्या निवसन्तीति सिद्धं मनुष्येभ्यो देवानां पार्थक्यम् । 'तस्य यज्ञस्य सम्पत्त्या तुतुषुर्देवता अपि । विस्मयं परमं जग्मुः किमु मानुषयोनयः ।।' (म० भा० शल्यपर्व ३८।१०) अत्र मानुषयोनयो देवताभ्यो भिन्ना उक्ताः । 'न देवा वारयन्ते न मर्ता' (ऋ० सं० ४।१७।१९), 'न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्च न शवसोऽन्तमापुः' (ऋ०सं० १।१००।१५) अत्रापि देवमनुष्ययोर्भेदः सिद्धः । 'देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये' (अथर्व० १०।९।९) अत्र देवाः पितरो मनुष्या इत्यादयो भिन्नयोनय उक्ताः । 'देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि मनुष्यकृतस्य पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि' (वा० सं० ८।१३), 'पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्' (म० १२।९४) । 'ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा । नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ।।' (म० ४।२१) इत्यादौ यजुर्वेदे मनुवचनेषु च देवानां मनुष्याणां च भेद उक्तः । 'यो देवो मर्त्या अति' (अथर्व० २०।१२७), 'प्राची देवानां दिक् उदीची मनुष्याणाम्' (श० १।७।१।१२), 'देवो भूत्वा देवानप्येति' (बृ० ४।१।२) अन्ते देववद्भूत्वा देवानप्येतीत्यर्थः । 'अग्ने वह हविरद्य देवान्' (ऋ० सं० ७।११।५) अत्राग्नितृप्त्या देवानां तृप्तिरुक्ता । 'अग्निर्देवानां जठरम्' । (तै० ब्रा० २।७।१२) न चाग्नितृप्त्या विदुषां मनुष्याणां तृप्तिर्भवति नवाग्निस्तेषां जठरं भवति । 'ऋणं देवैर्जायते' 'स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः ? (श० १।७।२।१), 'अन्नहोमान् जुहोति देवानेव तत्प्रीणाति' (श० १३।२।१।१) । नाग्निहोमेन समाजिसम्मता विद्वांसो देवास्तृप्यन्ति, न वा तेषामृणं होमेन निवर्तते । तस्मान्न विद्वांसो मनुष्या एव देवाः । 'न ऋते त्वद् अमृता मादयन्ते' (ऋ० सं० ७।११।१), 'इमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहि' (ऋ० सं० ७।११।५), 'अग्नौ सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति' (श० ३।१।३।१), 'देवा अग्निमुखा अन्नमदन्ति' 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' (श० ३।४।१।१९) न सर्वे विद्वांसोऽग्निरूपा न चाग्निहोमेन तृप्यन्ति । 'अमर्त्या मर्त्या अभि नः सचध्वमायुर्धत्त' (अथर्व० ६।४१।२) देवताभ्य आयुः प्रार्थ्यते न च मनुष्येषु विद्वत्स्वपि तत्सामर्थ्यम् । 'देवताभ्यो वरं प्राप्य समुत्थाप्य च वानरान् ।' (वा० रा० १।१।८६) विद्वत्सु मनुष्येषु दृश्यते । 'इन्द्राग्नीद्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्मसोमं इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ।' (अथर्व० १४।१।५४) अत्र विवाह्यमानाया नार्याः प्रजावृद्धिः प्रार्थ्यते । यदि इन्द्रादयो मनुष्या एव तर्हि ते स्वस्त्रियां सन्तानजननाय कथं प्रार्थ्येरन् ? अत इन्द्रादयो मनुष्येभ्यो भिन्ना एव । 'उभौ लोकौ जयेयं देवलोकं च मनुष्यलोकं च' (श० १३।२।४।१) "अयं वै लोको मनुष्यलोकः" तथा असौ देवलोकः' इति लोकभेदेनापि देवानां मनुष्याणां च भेदः । यदि विद्वांसो मनुष्या एव देवास्तदा लोकभेदो नोपपद्यते । 'ऊर्ध्वेभ्यः प्राणेभ्यो देवानसृजत येऽवाञ्चः प्राणास्तेभ्यो मर्त्याः प्रजाः' (श० १०।१।३।१) अत्रोत्पत्तिहेतु(उपादान)भेदेनापि तयोर्भेद उक्तः । 'त्रेधा भागो निहितो यः पुरा देवानां पितॄणां मर्त्यानाम् । अंशान् जानीध्वं विभजामि तान् ।।' (अथर्व० ११।१।५) अत्रापि त्रेधापदेन तेषां भेद एव सिद्ध्यति । 'एव ह वै देवा ननुविद्वान् यद्ध्यग्निः' (श० १।५।२।६) अत्र विद्वान् देवाश्च भिन्ना विभक्तिभेदेन विज्ञायन्ते । 'अग्निर्हि यत्र देवेभ्यो मनुष्यानायुषावर्तत' (श० २।२।१।१२) अत्रापि भेदः । 'स यदग्नौ जुहोति तद् देवेषु जुहोति तस्माद् देवाः सन्ति, अथ यत्सदसि भक्षयन्ति तन्मनुष्येभ्यो जुहोति तस्मान्मनुष्याः सन्ति ।' (श० ३।६।२।२५) इत्यत्र देवानां पितॄणां मनुष्याणां च भेदः स्पष्ट-

मुकः । 'इन्द्रस्तु यो नृवत्' (अथर्व० २०।११।५), 'साधर्म्यमुपमा भेदे' (का० प्र०) इति काव्यप्रकाशरीत्या भेद एवोपमानं भवति । तस्मादिन्द्रादयो देवा मनुष्यभिन्ना एव ।

दयानन्दोऽपि नामकरणसंस्कारे तिथिनक्षत्रदेवतानां नामभिर्हवनं विहितवान् । किं विद्वांसो मनुष्या एव देवाः ? 'ननु विद्वांसो हि देवा' इति शतपथवचनेन विद्वांस एव देवा भवन्ति । 'देवा एतज्ज्ञातुमर्हन्ति' (२।४।६२) 'दिव्यदृशो देवा इति' (महाभाष्य) अत्र 'पण्डिता इत्यर्थः' इति कैयटवचनेनापि विदुषां पर्यायवचनो देवशब्दः सत्यसंहिता देवा अनृतं मनुष्याः' (ऐ० ब्रा०) इति सत्यवक्ता एव देवो भवतीति चेन्न, पूर्ववचनैर्देवानां मनुष्यभिन्नत्वावगमात् । अत एवानिच्छतापि दयानन्देन तदभ्युपगमः कृतः । तथाहि सत्यार्थप्रकाशे '(प्रश्न) स्वर्ग नरक है अथवा नहीं ? (उत्तर) सब कुछ है, क्योंकि परमेश्वर से रचे असंख्यात लोक हैं। उनमें से जिन लोकों में सुख अधिक है और दुःख थोड़ा है, उनको स्वर्ग कहते हैं। जिन लोकों में दुःख अधिक है, सुख थोड़ा है, उनको नरक कहते हैं। जिनमें सुख और दुःख तुल्य हैं, उनको मर्त्यलोक कहते हैं।……फिर परमेश्वर के राज्य में स्वर्ग-नरक……की व्यवस्था कैसे न होगी ?' (पृ० २।६४) और जब पुण्य अधिक करता है, पाप थोड़ा तब देवलोक और देवादि का शरीर उस जीव को मिलता है, (नवम समुल्लास २८४ पृ०), 'जो साक्षी सत्य बोलता है, वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म और उत्तम लोकान्तर में जन्म को प्राप्त होता है।' (सत्यार्थ प्रकाश, ६ समुल्लास, १०३५) इति ।

'प्रजापति वै भूतान्युपासीदन् प्रजा वै भूतानि विनो धेहि यथा जीवाम इति' ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्य उपासीदन् । तानब्रवीत् । 'यशो वो अन्नम् अमृतत्वं वः ऊर्गवः सूर्यो वो ज्योतिरिति ।' (श० २।४।२।१), 'अथैनं पितरः……तानब्रवीत्—मासि मासि वो अशनम् स्वधा वः मनो जवो वः' (श० २।४।२।२), 'अथैनं मनुष्या तानब्रवीत् सायं प्रातर्वोऽशनम्, प्रजा वः मृत्युर्वः' (श० २।४।२।३) अत्र मनुष्याणां प्रतिदिनं द्विर्भोजनं पितॄणां मासि मासि भोजनं देवानाममृतत्वं चोक्तम् । 'अथैनं पशवः अथैनं शश्वदपि असुराः, नैव देवा अतिक्रामन्ति न पितरो न पशवो मनुष्या एके अतिक्रामन्ति' (श० २।४।२।६) एतेन देवमनुष्यादीनां स्पष्टं भेदो विज्ञायते । यदि मनुष्यभेदा एव देवास्तदा मनुष्यभेदा एव पशवोऽपि मन्तव्याः । 'विद्वांसो हि देवाः' इति शतपथवचनेन मनुष्याणां देवत्वसाधनं भ्रान्तिमूलकमेव, छद्म वा ? 'उशिजो वह्नितमानिति विद्वांसो हि देवा एतस्मादाह उशिजो वह्नितमानिति ।' (श० ३।७।३।१०) हि शब्दोऽत्र हेत्वर्थकः ।

नामकरण संस्कार में दयानन्द ने भी तिथि नक्षत्र आदि की देवताओं के नामों से हवन करना बताया है । क्या इससे विद्वान् मनुष्य और देवता एक ही प्रतीत हो रहे हैं ? जिस शतपथ के वचन और महाभाष्य तथा कैयट के वचनों को न समझपाने से भ्रमवशात् मनुष्य और देवताओं को एक समझ रहे हो, वह उचित नहीं है । क्योंकि उन वचनों से भी मनुष्यों से देवता, भिन्न ही सिद्ध हो रहे हैं । अत एव इच्छा न रखते हुए भी दयानन्द को मनुष्य और देवों में भेद मानना पड़ा । सत्यार्थ प्रकाश में वे लिख रहे हैं—'(प्रश्न)स्वर्ग-नरक है अथवा नहीं ? (उत्तर) सब कुछ है, क्योंकि परमेश्वर से रचे असंख्यात लोक हैं । जिन लोकों में सुख अधिक है और दुःख थोड़ा हैं, उनको स्वर्ग कहते हैं । जिन लोकों में दुःख अधिक हैं, सुख थोड़ा है, उनको नरक कहते हैं । जिनमें सुख और दुःख तुल्य हैं, उनको मर्त्यलोक कहते हैं ।……फिर परमेश्वर के राज्य में स्वर्ग-नरक……की व्यवस्था कैसे न होगी ?—पृ० २।६४। और जब पुण्य अधिक करता है, पाप थोड़ा तब देवलोक और देवादि का शरीर उस जीव को मिलता है, नवम समुल्लास २८४पृ० । 'जो साक्षी सत्य बोलता है, वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म और उत्तम लोकान्तर में जन्म को प्राप्त होता है, इति । (सत्यार्थ प्रकाश ६ समुल्लास १०३५) दयानन्द की इस उक्ति के विरुद्ध मनुष्य और देवों को एक समझकर दयानन्द के प्रति ये समाजी अपने विश्वास को प्रकट कर रहें हैं । शतपथ के कितने ही वचनों से मनुष्य और देवों में भेद का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है शतपथ वचन का तात्पर्य यह है कि देवता जन्म से ही विद्वान् होते हैं, वे अविद्वान् नहीं होते । मनुष्यों में तो अविद्वान् भी होते हैं । अतः

वस्तुतस्तु 'देवान् देवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान् ।' (वा० सं० ६।७) इति मन्त्रविवरणरूपमुक्तशतपथवाक्यम् । उशिजो मेधाविनो देवाः, कुत इत्यपेक्षायामाह—'विद्वांसो हि देवाः, तस्मादाह उशिजो वह्नितमान्' (श० ३।७।३।१०) । हि यतो देवा विद्वांसो विज्ञातारो भवन्ति, तस्मात् ऋषिर्मन्त्रो देवानुशिजो मेधाविन आह । अत एव वयुनानि विद्वान् इत्यत्र विद्वानित्यस्य प्रजानन्नित्यर्थ उक्तः । 'यन्मनुष्याणां परोक्षं तद्देवानां प्रत्यक्षम्' (ताण्ड्यमहाब्राह्मणम् २२।१०।३) इति श्रुतेः । 'मनो देवा मनुष्यस्य आजानन्ति' (श० ३।४।२।६), 'न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति' (ऋ० सं० १०।१०।८) एवं देवाः परोक्षा मनुष्यस्य मन आजानन्ति, तस्मात्ते, उशिज उच्यन्ते । हि यतो यत्र क्वापि मनुष्यास्तेभ्यो हविः समर्पयन्तो ध्यायन्ति तत्सर्वं दूरत एव ते जानन्ति, हविर्ग्रहणे आगच्छन्ति च । ततो विद्वद्भ्यो मनुष्येभ्यो भिन्ना एव देवाः । विद्वांसो न केवलं मनुष्याः, किन्तु पशवोऽपि, विद्वांसो ज्ञातारो भवन्ति । त्वद्रीत्या तेऽपि देवा भवेयुः । पूर्वोक्तार्थानभ्युपगमे देवशब्दस्य देवयोनिपरत्वार्थानभ्युपगमे उशिज इति निरर्थकं स्यात् । किञ्च, 'देवाः', 'उशिज' इति द्वयोरपि शब्दयोर्विशेषणत्वे विशेष्याभावापत्तिश्च । विदुषो मनुष्यान् देवीर्विशः प्रागुः' इति तदर्थोऽपि न सङ्गच्छते । 'दैवीश्च विशो मानुषीश्च' (वा० सं० १७।८६), 'मानुषीणां विशां देवीनामुत' (अथर्व० २०।११।२) । मानुषीणां प्रजानां तदनुगत्वसम्भवेऽपि तद्भिन्नानां देवीनां विशां तदनुगमनासम्भवात् । तथा च शतपथरीत्या देवा जन्मनैव विद्वांसो भवन्ति । न तेऽविद्वांसो भवन्ति । मनुष्येष्वविद्वांसोऽपि भवन्ति । अतः 'विद्वांसो हि देवा, इत्यत्र देवा इति विशेष्यपदम्, 'विद्वांस' इति तेषां विशेषणम् । 'उशिज' इति मेधाविनामसु (२४ नामनिघण्टौ १३।१५) । नहि मनुष्या विद्वांसो युगपत् समाह्वातॄणां मनो ज्ञात्वा गन्तुं प्रभवन्ति, अल्पज्ञानशक्तित्वात् । एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुशत आहूतो युगपत् सर्वत्र गतो भवति' (महाभाष्ये १।२।६४) । किञ्च, यदि विद्वांसो हि देवा, इति शतपथवाक्ये विदुषां मनुष्याणां देवत्वमभीष्टं स्यात्, देवशब्दस्य विद्वत्पर्यायवाचकत्वं वा स्यात् तदा 'विद्वांसो ये शतक्रतुदेवाः सत्रमतन्वत' (श० ११।५।५।१२) अत्र विद्वांसो देवा इति पुनरुक्तिरेव स्यात् । 'यो देवस्य प्रियो विद्वान्' (बोधायनीय गृ० सू० १।२२।१५) अत्र विदुषां मनुष्याणां देवत्वाद् भेद एव विभक्तिभेदः सिद्ध्यति । 'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्' (भ० गी० १७।१४) इत्यत्र तथा सत्येव पुनरुक्त्यभावः । किञ्च, महाभारते—'विश्वेदेवास्तथादित्या वसवोऽथाश्विनावपि ।' (म० भा० आ० प० १।३४) अत्र पूर्वं देवानामुत्पत्तिं बोधयित्वा पुनरादित्यवस्वादीनामुत्पत्तय उक्ताः । 'ततः प्रसूता विद्वांसः शिष्टा ब्रह्मर्षिसत्तमाः' (म० भा० प० १।३५) । किञ्च, देवविदुषोः पर्यायवाचकत्वे निघण्ट्वादिषु विद्वत्पर्यायवाचकेषु शब्देषु देवशब्दोऽप्यागच्छेत् । परं न च तत्रास्ति देवशब्दः । यास्केनापि क्वचिद् देवशब्दस्य विद्वानर्थं, इति नोक्तम् । तथैव विद्वानित्यस्य पर्यायरूपतया कविर्मनीषी विपश्चिदादिशब्दा आगताः परं देवशब्दश्च नागतः । देवशब्दस्य पर्यायरूपतया विद्वदादिशब्दा नागताः । कथं तर्हि—'पुरुषाः प्रतिपद्यन्ते देवत्वं यदनुग्रहात् । सरस्वतीं च तां नत्वा वागधिष्ठातृदेवताम् ॥' इति महाभाष्यव्याख्याप्रारम्भे कैयटीयश्लोके देवत्वं

'विद्वांसो हि देवाः, इस वाक्य में 'देवाः' यह विशेष्य पद है और 'विद्वांसः' यह पद देवों का विशेषण है । किञ्च महाभारत में पहले देवों की उत्पत्ति बताकर पुनः आदित्य, वसु आदि की उत्पत्ति को बताया है, तदनन्तर विद्वान् शिष्ट, ब्रह्मर्षिसत्तमों की उत्पत्ति को बताया है । किञ्च देव और विद्वान् मनुष्य दोनों परस्पर पर्यायवाचक रहते तो निघण्टु में विद्वत्पर्यायवाचक शब्दों में 'देव' शब्द को भी दिया होता, किन्तु नहीं दिया । यास्क ने भी कहीं देव शब्द का अर्थ विद्वान् नहीं बताया । तथैव 'विद्वान्' शब्द के पर्यायवाचक शब्दों में कविः, मनीषी, विपश्चित् आदि शब्दों का तो उल्लेख आया है, किन्तु 'देव' शब्द का नहीं । 'देव' शब्द के पर्यायों में भी 'विद्वत् आदि शब्द नहीं आते । इसपर यदि कहें कि महाभाष्य की व्याख्या के आरंभ में कैयट के श्लोक मे 'देवत्वं पाण्डित्यम्' ऐसी व्याख्या नागेश ने क्यों की ? इस प्रश्न का तो उत्तर यह है कि 'विद्वांसो वै देवाः' इस श्रुति के अनुसार यह समझना चाहिये कि देवगण स्वभाव से ही पण्डित होते हैं, देवताओं का तो धर्म ही पाण्डित्य है, उस देव-धर्म की मनुष्य (पुरुष) प्राप्त करते हैं, वे स्वयं, देवता नहीं हैं । किंच समाजी लोग 'विद्वान्'

पाण्डित्यमिति नागेशव्याख्यानम् ? इति, चेत् उच्यते—'विद्वांसो वै देवाः' इति श्रुतेः स्वभावत एव देवाः पण्डिता भवन्ति। पाण्डित्यं च देवधर्मः। तं देवधर्मं पुरुषाः प्राप्नुवन्ति, न तु स्वयं देवा भवन्तीति। किञ्च, समाजिनः 'विद्वान्, देवता, ब्राह्मण-इत्यादिशब्दानामपि पर्यायत्वमिच्छन्ति, तदप्यसङ्गतम्, तथात्वे 'सम्पूजयेद् देवान् ब्राह्मणांश्च' (म० ७।२०१), 'देवांश्च ब्राह्मणांश्च (श० ३।३।४।२०), 'गां ब्राह्मणांश्च सम्पूज्य देवतामश्विनौ' (चरके कल्पस्थाने १।१२) इत्यादिषु पुनरुक्तिर्दुर्निर्वारा। यदि विद्वच्छब्देन विद्वान् मनुष्यो गृह्येत तदा ब्राह्मणा अविद्वांसो भवेयुः। अन्यथा विद्वानित्यस्य द्वयोः पर्यायवाचकयोरुल्लेखो व्यर्थ एव स्यात्। अविदुषामपि ब्राह्मणत्वे गुणकर्मणा वर्णव्यवस्था बाध्येत। ब्राह्मणशब्दस्य विद्वत्पर्यायित्वे देवशब्दस्य विद्वत्पर्यायित्वं न स्यात्। सेयमुभयतः पाशारज्जुः। 'देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा। नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च॥' (म० ४।१३०) अत्राचार्यादिपदैर्विद्वांसो विवक्ष्यन्ते। यदि देवता अपि विद्वांस एव उच्यन्ते, तदा कथं न पुनरुक्तिः स्यात् ? तस्मान्न देवशब्दो विद्वद्बोधकः। 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।' (भ० गी० १०।२) इत्यत्र देवपर्यायः सुरशब्दो दृश्यते। तस्यापि विद्वदर्थकत्वे महर्षिशब्दस्य मूर्खार्थकत्वमेव स्यात्। यदि देवविद्वच्छब्दयोः पर्यायवाचकत्वमेव स्यात्तदा कथम् अमरकोषे स्वर्गवर्गे वर्णितेषु देवपर्यायेषु विद्वच्छब्दो मनुष्यवर्गस्य अवान्तरवर्गे ब्रह्मवर्गे वर्णितेषु विद्वत्पर्यायेषु च देवशब्दो न निर्दिष्टः। कामं देववाचकेषु शब्देषु विबुधादिविद्वद्बोधकशब्दा आयान्ति। एतेन देवयोनयो विद्वांसो भवन्तीत्येवायाति। परन्तु विद्वांस एव देवा न भवन्ति, उभयोः पर्यायवाचकत्वे एकत्रैव पाठस्य युक्तत्वात्। न चैकत्र देवविद्वच्छब्दयोः पाठः कोषेषु दृश्यते। तस्मान्न तयोर्वाचकत्वम्। यदि विद्वांस एव देवा भवेयुस्तदा यास्कपाणिनिपतञ्जलिप्रभृतयो देवा उच्येरन्। किन्तु ते मनुष्या एवोच्यन्ते। किञ्च, 'मनुष्यदेवाः' (श० ४।३।४।४) इति वचनस्य को वार्थः ? किं मूर्खविद्वानित्यर्थः स्यात् ? यदि देवशब्दस्य विद्वांसो मनुष्या इत्येवार्थस्तर्हि किं महादेव इत्यस्यापि विद्वान् मनुष्य एवार्थः ? 'दिव्यदृशो देवाः' इत्यत्रापि देवा दिव्यदृष्टयो भवन्तीत्येवार्थः, विशेषणविशेष्ययोः पर्यायवाचकत्वाभावात्। पण्डितशब्दस्यपि सदसद्विवेचनी बुद्धिः पण्डा, तद्वान् इत्यर्थः। 'देवा एतज्ज्ञातुमर्हन्ति' इति मूलवाक्यसिद्ध्यर्थं 'दिव्यदृशः' इति दिव्यगर्भितविशेषणम्। अतः 'दिव्यदृश' इत्यस्यैव व्याख्या कैयटेन पण्डिता इत्यर्थ इत्युक्त्वा कृता। 'सत्यसंहिता देवा अनृतसंहिता मनुष्याः' (ऐ० ब्रा० १।६) इत्यैतरेयब्राह्मणेनापि देवाः सत्यवादिनो भवन्तीत्येवार्थः सिद्ध्यति। मनुष्याश्च अनृतसंहिता भवन्ति, नात्र देवा इत्यस्य पर्यायवाची सत्यसंहिताशब्दः। वैशब्दप्रयोगेणापि पर्यायवाचकता बाध्यते। 'आयुर्वै घृतम्' (तै० सं० २।३।२।२) इति यजुर्वेदवाक्यवत्। नात्र आयुर्घृतयोः पर्यायबोधकत्वम्। नह्यायुर्वृद्ध्या घृतं वर्धते। देवशब्दो विशेष्यम्, सत्यसंहिता इति विशेषणम्। अत एव सत्यवादी हरिश्चन्द्रो न देवतोच्यते। मनुष्यदेवशब्दो ब्राह्मणे प्रयुज्यते। किं तस्य सत्यासत्यवक्ता अर्थः स्यात् ? तत्र मनुष्येषु देवा इव इत्येवार्थः। अतो मनुष्ययोनेर्भिन्नैव देवयोनिर्भवति। दिवि भवत्वात्ते दिव्या अपि। परमेश्वरस्याङ्गभूता देवा उपास्या भवन्ति। माता-

देवता, ब्राह्मण आदि शब्दों को भी पर्याय कहते हैं, किन्तु वह संगत नहीं हो सकता, क्योंकि उन्हें पर्याय मानने पर 'सम्पूजयेद् देवान् ब्राह्मणांश्च' (म० ७।२०१), 'देवांश्च ब्राह्मणांश्च' (श०प० ३।३।४।२०), 'गां ब्राह्मणांश्च सम्पूज्य देवतामश्विनौ' (चरक-कल्पस्थान १।१२) इत्यादि वचनों में पुनरुक्तिदोष मानना पड़ेगा। यदि 'विद्वत्' शब्द से विद्वान् मनुष्य का ग्रहण किया जाय तो 'ब्राह्मण' को अविद्वान् कहना होगा। अन्यथा 'विद्वान्' शब्द के पर्यायवाचक दो शब्दों का उल्लेख करना व्यर्थ ही होगा। अविद्वान् को भी ब्राह्मण मानने पर 'गुण-कर्मणा से वर्णव्यवस्थावाला आपका सिद्धान्त ही नष्ट हो जायेगा। ब्राह्मण शब्द को यदि विद्वत् शब्द का पर्याय कहेंगे तो देवशब्द को विद्वत् शब्द का पर्याय नहीं कह सकेगें, इस प्रकार उभयतः पाशारज्जु से आप बँध जायेंगे अतः देवशब्द विद्वान् का बोधक नहीं है। 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः (श्री० भ० गी० १०।२) यहाँ पर देव का पर्याय 'सुर' शब्द दिया गया है, उसे भी यदि विद्वदर्थक मानोगे तो महर्षि शब्द को मूर्खार्थक ही कहना पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि मनुष्य और देवता भिन्न-भिन्न ही हैं।

पितरो गुरवश्च पूज्यन्ते। तथैव देवा अपि पूज्यन्ते। न च पुराणेष्वेव तेषां पूज्यता, किन्तु वेदेष्वपि तेषां पूज्यतोक्ता। 'न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधिकामा अयसन' (ऋ० सं० १०।६४।२) अत्र देवानां सुखकारित्वमुक्तम्। यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड' (अथर्व० ११।२।८८) इति देवसत्त्वश्रद्धावतां चतुष्पदे द्विपदे देवा दयावन्तो भवन्ति। 'सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्ति' अथर्व० ११।१५।२) अत्र तपसा देवानां तर्पणमुक्तम्। 'यजाम देवान् यदि शक्नवाय' (ऋ० सं० १।२७।१३) अत्र सति सामर्थ्ये देवानां पूजनमुक्तम्। एष ह वा अनद्धा पुरुषो यो न देवा न वति (अर्चति) न पितॄन्' (श० ६।३।१।२४), (ऐ० ब्रा० ८।२।८) अत्र देवाना पितॄणां चापूजने निन्दोक्ता। 'यज्ञयज्ञे स मर्त्यो देवान् सपर्यति' (ऋ० सं० १०।९३।२) अत्र यज्ञे देवपूजेवोक्ता। 'देवान् वसिष्ठो अमृतान् ववन्दे' (ऋ० सं० १०।६५।१५) अत्र देवपूजने वशिष्ठस्येतिहास उक्तः।

आनन्दमात्राभेदेनापि देवमनुष्याणां भेद उक्तः। 'अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दः' (श० १४।७।१।३२) अत्र मानुषानन्दाच्छतगुणित आनन्दः पितॄणामुक्तः। 'अथ ये शतं पितॄणामानन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दः। ये स्वर्गे कर्मणा देवत्वमुपगतास्तेषामानन्दः पित्रानन्दाच्छतगुणः। ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दः। अत्र कर्मदेवानन्दापेक्षया आजानदेवानां शतगुणित आनन्द उक्तः। 'ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एको देवलोक आनन्दः। अथ ये शतं देवलोक आनन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दः। 'ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दः। अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दः। एष ब्रह्मलोकः सम्राट्' (श० १४।७।१।३९) इति स्पष्टमेव मनुष्यापेक्षया देवयोनयो भिन्ना मन्तव्याः।

यच्च याज्ञिकप्रक्रियायां परिवर्तनम्, नवनवानां यज्ञानां परिकल्पना, यज्ञानां रोचकत्वातिशयार्थं बाह्याडम्बरवृद्धिः, तत एव नव्यानां यज्ञानां होमानां च सृष्टयः' इत्यादिकम्, तदेतत्सर्वं नास्तिक्यमूलकमेव, वेदार्थानभिज्ञतया वेदार्थान्यथाकरणेन वा। तथाहि—श्रौतस्मार्तभेदेन यज्ञानां द्वैविध्यं शास्त्रसम्मतम्। तत्र मन्त्रब्राह्मणश्रौतसूत्राश्रिता यज्ञा एकविधाः, गृह्यसूत्र-तन्त्रपुराणादिमूलका यज्ञा अपरविधाः। ग्रन्थाश्च ते निश्चप्रचाः। मन्त्रब्राह्मणसूत्रमूलका यज्ञास्तद्विपरीता न भवन्त्येव। तथैव स्मार्ता अपि नियता एव। तत्र सर्वथा शास्त्रपरतन्त्रा आस्तिका न मनागपि कल्पना प्रवणा भवन्ति। न केनचिदपि स्वतन्त्रा नवीना यज्ञाः पर्वाचिदपि दर्शयितुं शक्यन्ते। समाजिनस्तु स्वतन्त्राः शास्त्रानपेक्षाः सर्वं कर्तुं प्रभवन्ति। अर्धनास्तिकाः समाजिनोऽपौरुषेयानपि ग्रन्थान् पौरुषेयान् वदन्ति। तत उच्छृङ्खलतायै मन्त्रान् ब्राह्मणानि तन्मूलकान्

यह जो कहा गया है कि याज्ञिक प्रक्रिया में बहुत परिवर्तन हो गया है। नवीन-नवीन यज्ञों की कल्पना की गई है, यज्ञों की रोचकता बढ़ाने के लिये बाह्य आडम्बर की वृद्धि की गई है। उसी से नवीन-नवीन यज्ञ और होमों (हवनों को सृष्टियां हुई हैं किन्तु यह सब कथन नास्तिक्य बुद्धि के कारण ही है। या तो वेद के अर्थ को न जानने से या वेदार्थ को अन्यथा करने से ये नास्तिकता से भरे विचार उमड़ पड़े हैं। तथाहि—श्रौत-स्मार्त भेद से यज्ञों की द्विविधता शास्त्रसम्मत है। उनमें से एक प्रकार तो यह कि मन्त्र-ब्राह्मण और श्रौतसूत्र के आश्रय से जो यज्ञानुष्ठान किया जाता है। और दूसरा प्रकार वह है कि गृह्यसूत्र-तन्त्र-पुराणादि के आश्रय से जो यज्ञानुष्ठान किया जाता है। वे ग्रन्थ भी निश्चित हैं। मन्त्र-ब्राह्मण-सूत्रमूलक यज्ञ कभी भी उन ग्रन्थों के विपरीत नहीं हुआ करते। उसी तरह स्मार्त यज्ञ भी निश्चित ही हैं। इन यज्ञों के अनुष्ठान में आस्तिक लोग सर्वदा और सर्वथा शास्त्र-परतन्त्र ही रहा करते हैं। कभी भी वे अपनी ओर से यत्किंचित् भी कल्पना नहीं किया करते। कोई भी ऐसा आस्तिक न कभी हुआ और न है और न होगा, जिसने स्वतन्त्र नवीन यज्ञों को कभी बताया हो। समाजी तो स्वतन्त्र हैं, उन्हें न शास्त्र की जरूरत है और न वेद की। वे वेद-शास्त्र के अधीन अपने को नहीं समझते। ये अर्धनास्तिक समाजी अपौरुषेय ग्रन्थों को पौरुषेय बताते हैं। वे अपनी उच्छृङ्खलता की सिद्धि के लिये (अपनी मनमानी करने के लिये) मन्त्र-ब्राह्मण और तन्मूलक यज्ञों को नवीन कह देते हैं, इन्हें तो पाश्चात्यों का शिष्य कहना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार बेसिर-पैर के आरोप करने की पद्धति, पाश्चात्यों की ही है। उन्हीं का यह आरोप है, यह कोई नवीन

यज्ञांश्च नवीनान् वदन्ति ते पाश्चात्त्यानां शिष्या एव । पाश्चात्त्यानामेवैषाऽऽरोपणपद्धतिः । तेषामेवायमारोपो न नवीनः । ते ऋग्वेदसंहितायामप्यनेकमण्डलानामर्वाचीनत्वं वदन्ति । शुक्लयजुर्वेदसंहितास्वप्यनेकानध्यायान् प्रक्षिप्तान् मन्यन्ते ।

यदपि 'याज्ञिकप्रक्रिया और वेदार्थ' इति शीर्षकेणोक्तम्—'भारतीयेतिहासरीत्या सृष्ट्यादौ कृतयुगे वेदानां प्रादुर्भावो जातः, द्रव्यमययज्ञानामुदयः कृतत्रेतयोः सन्धिकाले जातः । अनेनैतिहासिकतथ्येनेदमपि स्पष्टं भवति यद्वेदमन्त्रेषु द्रव्ययज्ञानां साक्षाद्विधानं नास्ति, न वा तत्र यज्ञप्रक्रियायाः साक्षान्निर्देशो विद्यते । यद्यपि वेदेषु केषाञ्चिद् द्रव्यमययज्ञानां कतिचिन्नामानि तत्साधनानां केषाञ्चिद्यज्ञपात्राणामपि नामान्युपलभ्यन्ते, न तावता वेदेषु तादृशयज्ञानां प्रक्रियाणां पात्राणां वा निर्देश इति भ्रमितव्यम् । वेदमन्त्रस्थयज्ञानां पात्राणां क्रियाणां च तेषां सृष्टियज्ञानां पात्राणां कर्मणाञ्च बोधकत्वात्' इति । तदपि न क्षोदक्षमम्, तथात्वे ब्राह्मणानां श्रौतसूत्राणाञ्चाप्रामाण्यापत्तेः । यद्याध्यात्मिकाधिदैविकयज्ञबोधन एव वेदानां तात्पर्यं स्यात्तदा तद्बोधकैरपि ब्राह्मणैः सूत्रैश्च भवितव्यमेव । यथा द्रव्यमययज्ञानां बोधकानि मन्त्रब्राह्मणसूत्राण्युपलभ्यन्ते, तथैवाध्यात्मिकाधिदैविकयज्ञयोर्विधायकानि मन्त्रब्राह्मणसूत्राण्यप्युपलभ्येरन् । यथा द्रव्यमयस्य यज्ञस्य निरूपणं साङ्गोपाङ्गं ब्राह्मणेषु सूत्रेषु चोपलभ्यते, न तथा सृष्ट्यादियज्ञस्य किञ्चित्फलमुद्दिश्य विधानमुपलभ्यते । तयोर्यज्ञयोः का देवता, कानि विधानानि, कानि द्रव्याणि, के च तत्र मन्त्राः क्व निक्षेपः, कानि च फलानि ?

किञ्च, वेदानां यज्ञ एव पर्यवसानं प्रमाणसिद्धम्, 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू०) इत्यत्र मीमांसायां विचारितं चैतत् । तस्य भ्रान्तिमूलिकोक्तिरेव भ्रान्तिमूलिका ।

नाट्यं च विनोदाय क्रियते । न च तेन स्वर्गब्रह्मलोकादिप्राप्तिर्भवति । इह तु फलान्यपि श्रूयन्ते । तस्मान्नाट्येन यथा सीतारामादिवृत्तान्तादिकं विज्ञायते, तथैव द्रव्यमयेन यज्ञेन सृष्ट्यादियज्ञो ज्ञायते' इत्यपि निर्मूलम्,

आरोप नहीं है । पाश्चात्यलोग ऋग्वेदसंहिता में भी अनेक मण्डलों को अर्वाचीन बताते हैं । शुक्लयजुर्वेद संहिताओं में भी अनेक अध्यायों को प्रक्षिप्त मानते हैं ।

'याज्ञिक प्रक्रिया और वेदार्थ' इस शीर्षक में जो लिखा है कि 'भारतीय इतिहास के अनुसार सृष्टिप्रारंभ के समय कृतयुग में वेदों का प्रादुर्भाव हुआ, और द्रव्यमय यज्ञों का उदय, कृत-त्रेता के सन्धिकाल में हुआ । इस ऐतिहासिकतथ्य से यह भी स्पष्ट होता है कि वेद-मन्त्रों में द्रव्य-यज्ञों का साक्षात् विधान नहीं है, और न ही वहाँ यज्ञप्रक्रिया का साक्षात् निर्देश है । यद्यपि वेदों में कतिपय द्रव्यमय-यज्ञों के कुछ नाम तथा उनके साधनभूत कतिपय यज्ञपात्रों के नाम भी उपलब्ध होते हैं, किन्तु इतनी उपलब्धिमात्र से तादृश यज्ञों की प्रक्रिया अथवा पात्रों का निर्देश वेद में होने का भ्रम नहीं करना चाहिये । वेदमन्त्रस्थ यज्ञ, पात्र, और क्रियाओं का उल्लेख तो सृष्टियज्ञ, उनके पात्र और कर्मों के बोधक हैं ।'

किन्तु यह कथन भी विचार की कसोटी पर नहीं ठहर पा रहा है । उक्त कथन के अनुसार तो ब्राह्मण और श्रौतसूत्र तो अप्रमाण सिद्ध होंगे । यदि आध्यात्मिक, आधिदैविक यज्ञों के बोधन करने में ही वेदों का तात्पर्य होता तो तद्बोधक ब्राह्मण, सूत्रों को भी होना चाहिये था । जैसे द्रव्यमय यज्ञों के बोधक-मन्त्र-ब्राह्मण-सूत्र उपलब्ध होते हैं, वैसे ही आध्यात्मिक, आधिदैविक यज्ञों के विधायक मन्त्र-ब्राह्मण-सूत्र भी उपलब्ध रहते । जैसे द्रव्यमय यज्ञ का सांगोपांग निरूपण ब्राह्मण और सूत्रों में उपलब्ध होता है, वैसे किसी फल को उद्देश्यकर सृष्ट्यादि यज्ञ के विधान की उपलब्धि नहीं हो रही है । उन दो यज्ञों की कौन देवता है, क्या विधान है, क्या द्रव्य है, उनमें कौन से मन्त्र हैं, कहाँ निक्षेप है, क्या फल है ?

मीमांसाशास्त्र 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' के अनुसार वेदों का पर्यवसान यज्ञ में ही माना गया है। जो प्रमाण-सिद्ध है, उसे भ्रान्तिमूलक उक्ति कहना ही भ्रान्तिमूलक है ।

नाट्य, विनोद के लिये किया जाता है । उससे स्वर्ग या ब्रह्मलोक आदि की प्राप्ति नहीं होती । यहाँ तो फल भी सुनाई पडते हैं । 'तस्मान्नाट्येन यथा सीतारामादिवृत्तान्तादिकं विज्ञायते, तथैव द्रव्यमयेन यज्ञेन सृष्ट्यादियज्ञो ज्ञायते' यह कथन भी निर्मूल है क्योंकि सृष्ट्यादि यज्ञ के ज्ञान का कोई फल नहीं बताया गया है, न बताने के कारण वे निरर्थक हैं । सिद्धान्त में तो 'फलवत्सन्निधौ अफलं

सृष्ट्यादियज्ञज्ञानफलानुक्त्या निरर्थकत्वात्। सिद्धान्ते तु 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायेन तस्य ब्रह्मविद्याङ्गताऽभिप्रेता। 'तस्माद्यज्ञानुसारेण कृतोऽर्थो न मुख्यो वेदार्थ इत्येतदसङ्गतमेव। प्रकरणानुरोधेन प्रकृतिप्रत्ययाद्यनुरोधेन ज्ञातस्यार्थस्यामुख्यार्थत्वायोगात्। आध्यात्मिकाधिदैविकादितत्त्वज्ञानार्थानां मन्त्राणां त्वध्यात्मादिपरत्वं स्पष्टमेव। अतो निरुक्तकारादिभिराध्यात्मिक्य ऋचोऽपि दर्शिता एव। सिद्धान्तेऽपि बुद्ध्यादिशुद्धिक्रमेण यज्ञानां तथा यज्ञपराणां मन्त्राणामपि ब्रह्मणि पर्यवसानमित्यन्यदेतत्। वस्तुतो वेदा अपि नित्या इति न तेषां कृतादिः कालः। तथैव तदर्थभूता यज्ञा अपि नित्या एव, शब्दार्थतत्सम्बन्धानामौत्पत्तिकत्वात्।

यदुक्तम्—'यज्ञानामारम्भकाले पूर्वोक्तनाट्यरीत्याध्यात्मिकार्थबोधनार्थमेव यज्ञेषु मन्त्राणां विनियोगो भवति स्म। उत्तरकाले यथा यथा यज्ञानां प्रधानता जाता, तथा तथा आधिदैविकाध्यात्मिकप्रक्रियाऽनुगुणो मुख्योऽर्थो गुणतामुपगतः। याज्ञिकप्रक्रियानुसार्येवार्थो मुख्यतामुपगतः। यज्ञवादस्यान्त्या परिणतिः मन्त्रानर्थक्यवादः' इति, तदपि सर्वं निष्प्रमाणम्। त्वदभिमतोऽर्थो दयानन्दीयभाष्ये व्यक्तः। तस्य कीदृशं महत्त्वमिति विदुषां न तिरोहितम्।

यदपि—'याज्ञिकमहत्त्ववृद्ध्यनन्तरं यदा विविधक्रियानुरूपा मन्त्रा नोपलब्धास्तदामन्त्रार्थापेक्षया विनियोगाः प्रवृत्ताः। ब्राह्मणेषु सूत्रग्रन्थेषु तादृशा मन्त्रार्थाननुसारिणो विनियोगा दृश्यन्ते' इति। तदुदाहरणञ्च तत्रैव टिप्पण्याम्—'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इत्युद्धृतम्। तदेतत्सर्वं नास्तिक्यमूलकमेव। वैदिकास्तु मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वमभ्युपगच्छन्ति। तत्रापि ब्राह्मणस्य विनियोजकत्वं मन्त्रस्य विनियोज्यत्वम्। लिङ्गबलात्तु मन्त्रार्थानुसारिणी श्रुतिः कल्पयितुं शक्यते। सा च प्रत्यक्षश्रुत्या बाध्यते। तत्र ब्राह्मणभागस्य वेदत्वानभ्युपगममूलकमेवैतत् चोद्यम्। तत एव मीमांसासूत्रभाष्यादिकृतामपि समाधानं न रोचते। तदनुसारेणैव 'कदाचन स्तरीरसि' इत्यैन्द्रया ऋचो गार्हपत्योपस्थाने विनियोगः। तत्र श्रुतेः प्राबल्यादेव

तदङ्गम्' इस नियम के अनुसार उनमें ब्रह्मविद्यांगता अभिप्रेत है। 'तस्माद्यज्ञानुसारेण कृतोऽर्थो न मुख्यो वेदार्थः'—यज्ञ के अनुसार किया हुआ अर्थ, मुख्य वेदार्थ नहीं है—यह कथन तो असंगत ही है। प्रकरण के अनुरोध से अथवा प्रकृति-प्रत्ययादि के अनुरोध से ज्ञात हुए अर्थ को मुख्यार्थ नहीं कहा जाता। आध्यात्मिक-आधिदैविकादितत्त्वज्ञानार्थक मन्त्रों की अध्यात्मादिपरता स्पष्ट ही है। अतः निरुक्तकारादिकों ने आध्यात्मिक ऋचाओं को भी दिखाया ही है। यह बात पृथक् है कि सिद्धान्त में भी क्रमशः बुद्ध्यादि की शुद्धि के द्वारा यज्ञों का तथा यज्ञपर मन्त्रों का भी ब्रह्म में पर्यवसान माना जाता है। वस्तुतः वेद नित्य हैं, उनका कृतादिकाल मानना उचित नहीं है। उसी तरह तदर्थभूत यज्ञ भी नित्य ही हैं, क्योंकि शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध, तीनों को नित्य कहा गया है।

यह जो कहा है कि 'यज्ञों के आरंभकाल में पूर्वोक्त नाट्यरीति के अनुसार आध्यात्मिक अर्थ के बोधनार्थ ही यज्ञों में मन्त्रों का विनियोग हुआ करता था। आगे चलकर जैसे-जैसे यज्ञों की प्रधानता होती गई वैसे-वैसे आधिदैविक-आध्यात्मिक-प्रक्रिया के अनुगुण मुख्यार्थ गौण होता गया। याज्ञिक प्रक्रिया का अनुसरण करने वाले अर्थ को ही मुख्यार्थ माना जाने लगा। 'यज्ञवाद की अन्तिम परिणति ही मन्त्रानर्थक्यवाद है', किन्तु यह सब कथन, प्रमाणशून्य है। तुम्हारा अभिमत अर्थ, दयानन्दीय भाष्य में व्यक्त है। उसका कैसा महत्त्व है, वह विद्वानों से छिपा नहीं है।

यह जो कहा है कि 'याज्ञिक महत्त्व की वृद्धि होने के पश्चात् जब विविध क्रियाओं के अनुरूप मन्त्रों की उपलब्धि का होना असंभव होने लगा, तब मन्त्रार्थ की अपेक्षा विनियोग होने लगे। ब्राह्मणों में और सूत्रग्रन्थों में मन्त्रार्थ का अनुसरण न करनेवाले कितने ही मन्त्र दिखलाई पड़ते हैं।' उसके उदाहरणरूप में वहीं पर टिप्पणी में 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' वाक्य दिखाया है। किन्तु यह सब नास्तिक्यमूलक ही है। वैदिकविद्वान् तो मन्त्र-ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं। उसमें भी ब्राह्मण को विनियोजक और मन्त्र को विनियोज्य कहते हैं। लिङ्गप्रमाण के बल पर मन्त्रार्थ का अनुसरण करने वाली श्रुति की कल्पना की जा सकती है। किन्तु उसका प्रत्यक्षश्रुति के द्वारा बाध हो जाता है। ब्राह्मणभाग को वेद न मानने के कारण उक्त कुशंका की गई है, और उसी कारण मीमांसासूत्रकार, भाष्यकार आदि के द्वारा किया गया समाधान इन्हें अच्छा नहीं लग रहा है। सूत्र भाष्यकार के अनुसार तो श्रुति की प्रबलता के कारण

विनियोगानुकूल्याय गुणसंयोगाद्गौणमभिधानमङ्गीकृतम् । सिंहो देवदत्तः, अग्निर्माणवक इतिवत् । अनिन्द्रेऽपि गार्हपत्ये इन्द्रशब्दः प्रयुक्तः । बलीयस्या श्रुत्या लिङ्गं बाधित्वा गुणकल्पनयापि विनियोगः सम्भवति । तत्र हि ऐन्द्रमन्त्रे इन्द्रशब्दस्य गौणीं वृत्तिमाश्रित्य गार्हपत्योपस्थाने विनियोगः कृतः' इति ।

'दधिक्राव्णो अकारिषम् इति दा संबुभूषन् दधिभक्षम्' (साङ्ख्यायन श्रौ० सू० ४।१३।२), 'दधिक्राव्णो अकारिषम्' इत्याग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्य' (आश्वलायन श्रौ० सू० ६।१३) इत्याद्यपि यत्किञ्चित्, नास्तिक्यमूलकत्वात् । पूर्वमनेन पण्डितानां 'सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः' इति वचनेन ऋषीणामवमानमुक्तम् । स्वयं त्वयं सांख्यायनाश्वलायनसदृशानामृषीणां विनियोगवचनानि स्वपाण्डित्येन दूषयति । मन्त्रस्यास्य प्रजापतिदेवताकत्वेन प्रजापतेश्च सर्वात्मत्वादृषिभिर्दधिक्राव्ण इत्यस्य दधिभक्षणेऽपि विनियोगः कृतः । विनियोगबलाच्च दधिशब्दस्य यौगिकमर्थमश्वं परित्यज्य रूढमर्थं गृहीत्वापि विनियोगो युक्त एव ।

न केवलं कात्यायनाश्वलायनसांख्यायनादिविनियोगमयं दूषयति, किन्तु यं यास्कं पदे पदेऽवलम्बते तमपि स्वाभिमतविरोधे दूषयति । तदेतदेकमेव जातवेदसगायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते । यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते । स न मन्येतायमेवाग्निरप्येते उत्तरे ज्योतिषी उच्येते' (नि० ७।२०) इति युक्तियुक्तं यास्कवचनमपि स्वमतविरुद्धत्वादयं दूषयति । दयानन्दस्तु स्वभाष्ये सर्वत्र गौणाद् गौणतरमेवार्थं वक्ति । तत्र निरुक्तपद्धतिमेव समाजिनः प्रमाणयन्ति । यदि तेषां यास्केऽपि वेदज्ञत्वबुद्धिर्नास्ति, तेषां तत्र तत्र यास्कवचनोत्थापनमपि वञ्चनमेव ।

तथैव—'तदेतदेकमेव वैश्वदेवगायत्रं तृचं दाशतयीषु विद्यते, यत्तु किञ्चिद्बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते तदेवविश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः' (नि० १२।४०) इत्यपि यास्कवचनं स दूषयत्येव ।

वस्तुतस्तु सर्व एव ऋषयो मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वं मत्वा आम्नायस्य क्रियार्थत्वं च मत्वा ब्राह्मणविहितयागानुगुण्याय मन्त्राणां गौणमप्यर्थं स्वीकृत्य कथञ्चिदपि यज्ञानुगुणं बिनियोगं कुर्वन्ति । सर्वथार्थाननुगुण्येऽपि द्रव्यविषयापि मन्त्रान् विनियुञ्जते ।

विनियोग की ओर ध्यान देकर गौण अभिधान ही स्वीकार किया है। जैसे 'सिंहो देवदत्तः' अथवा 'अग्निर्माणवकः' में गुणसंयोगात् गौणार्थ को माना जाता है। उसी तरह अनिन्द्र गार्हपत्य के लिये भी इन्द्र शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रबल श्रुति के द्वारा लिङ्गप्रमाण का बाधकर गुणकल्पना से भी विनियोग किया जा सकता है।

नास्तिक्य से बुद्धि दूषित होने के कारण इन्हें मन्त्रार्थ से अननुसृत विनियोगों में शंका हो रही है। ऋषियों का विद्वान् पण्डितों का अपमान करने में भी इन्हें संकोच नहीं होता। दिव्यदृष्टि ऋषियों के द्वारा बताये गये विनियोग के बल पर दधि शब्द के अश्वरूप यौगिक अर्थ का परित्याग कर रूढार्थ का स्वीकार करके भी विनियोग समुचित ही है। कात्यायन-आश्वलायन-सांख्यायनादि ऋषियों के द्वारा निर्दिष्ट विनियोगों को ही इसने अपने बुद्धिदोष से दूषित नहीं किया, बल्कि जिसके अवलम्ब की जरूरत इन्हें प्रतिपद आवश्यक रहती है, उस यास्क महर्षि पर भी, अपना अभिमत जब सिद्ध नहीं होता दीखता तब अपने बुद्धिदोषों को आरोपित ये कर देते हैं। जैसे निरु० ७।२० में यास्क वचन के युक्तियुक्त रहने पर भी अपने मत के विरुद्ध होने से उसे दूषित बताया है। दयानन्द ने तो अपने भाष्य में सर्वत्र गौण से भी गौणतर अर्थ को बताया है। ऐसे अवसर पर ये समाजी लोग निरुक्त पद्धति को प्रामाणिक कह देते हैं। अपने मत के विरुद्ध यास्क वचन जब दिखाई पड़ता है तब उसे प्रामाणिक नहीं मानते। यदि यास्क में भी तुम्हारी वेदज्ञत्व बुद्धि नहीं है, तो जहाँ तहाँ उनके वचनों को प्रमाण रूप में उद्धृत कर जनता को वञ्चना, प्रतारणा क्यों किया करते हो।

वस्तुतस्तु सभी ऋषियों ने मंत्रों के गौण अर्थ का भी स्वीकार कर यज्ञ के अनुगुण विनियोग को बताया है। सर्वथा अर्थ का आनुगुण्य के न होनेपर भी द्रव्यविषया मंत्रों का विनियोग बताया है।

यदपि—'उत्तरोत्तरं काल्पनिकविनियोगानामाधिक्यात् प्रभावितेन कौत्सेन महायाज्ञिकेन स्पष्टं घोषितं मन्त्रा अनर्थकाः' इति, तदपि तुच्छम्, ब्राह्मणानां वेदत्वानङ्गीकारमलकत्वात् । सिद्धान्ते तु मन्त्रा ब्राह्मणानि च वेदाः । तेषामनादित्वसाम्येन तादृशविनियोगानामनादित्वेन तत्र कालभेदकल्पनाया निर्मूलत्वात् । कौत्सादयो मन्त्रानर्थक्यवादिनोऽपि मन्त्रोच्चारणेनादृष्टं तु मन्यन्ते । समाजिनश्च सहस्राधिकशाखात्मकवेदानप्यवेदान् मन्यन्ते । न केवलं मन्त्रोच्चारणात्, किन्तु यज्ञादप्यदृष्टोत्पत्तिमपलपन्तश्चार्वाकानप्यतिक्रामन्ति । समाजिनामुच्छृङ्खलस्य मतस्य पोषणं क्वापि मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु सूत्रेषु च नोपलभ्यते, प्रत्युत विविधशाखात्मकेषु तेषु विरोध एव दृश्यते । विपरीतबुद्धित्वादेव युधिष्ठिर-तैत्तिरीयादिशाखात्मकेषु वेदेषु तद्विपरीतवचनानि याज्ञिकानां मन्त्रानर्थक्यवादप्रभावमूलकानि मन्यते । तच्च सर्वथाऽसङ्गतमेव, शाकलीकौथुम्यादिशाखानामिव तैत्तिरीयादिशाखानामप्यनादित्वाविशेषात् । युधिष्ठिरोपन्यासेनैव तन्मतस्य वेदविरुद्धत्वावगमात् ।

यदपि—याज्ञिकोद्भावितमन्त्रानर्थक्यवादप्रभावो वेदानां तात्कालिकीषु शाखासु ब्राह्मणग्रन्थेषु च स्पष्टं परिलक्ष्यते । तत एव शतपथमपहायान्यशाखासु ब्राह्मणग्रन्थेषु च विनियोगा एव प्राधान्येनोल्लिख्यन्ते' (पृ० ११८) इति, तदपि सर्वथाप्यशुद्धमेव, तैत्तिरीयादिशाखानां शाकल्यादिशाखानामिवानादित्वावैश्रेष्यात् । वेदमन्त्रैरेव वेदानां यज्ञपरत्वसाधनेन यज्ञयाज्ञिकादीनां वैदिकपार्थक्यासिद्धेः ।

यदपि 'ब्रह्मणां मन्त्राणां व्याख्यानं ब्राह्मणम्' इति मूलार्थं तिरोधाय 'कर्मचोदका ब्राह्मणानि, विनियोजकं ब्राह्मणम्' इत्यङ्गीकृतम्, शतपथव्यतिरिक्तेषूपलब्धब्राह्मणग्रन्थेषु यत्र तत्र मन्त्रार्था उपलभ्यन्ते, ते चानुषङ्गिकाः । न मन्त्रार्थपरिज्ञानार्थं ब्राह्मणग्रन्था रचिताः । अत एतेषु शतपथमपहाय वैदिकयाज्ञिकार्थानामपि बोधो न भवति । केवलं ब्राह्मणप्रदर्शितं विनियोगमाधृत्य याज्ञिकप्रक्रियानुसारिवेदार्थकल्पनैव क्रियते' (पृष्ठ ११९) इति, तदपि तदुक्त्यैव खण्डयते, यतो हि

यह जो कहा है कि 'उत्तरोत्तर काल्पनिक विनियोग की अधिकता से प्रभावित हुए महायाज्ञिक कौत्स ने मंत्रों को अनर्थक बताया है' वह कथन भी निःसार है, क्योंकि वह कथन, ब्राह्मणों को वेद न मानने के कारण है । सिद्धान्त में तो मन्त्र-ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं । दोनों की अनादिता समान है, तत्कृतविनियोग भी अनादि हैं, अतः उनके कालभेद की कल्पना करना निर्मूल है । मंत्रानर्थक्यवादी कौत्सादिकों ने भी मन्त्रोच्चारण का प्रयोजन अदृष्ट माना है । समाजी लोग तो सहस्राधिकशाखात्मक वेदों को भी अवेद कहते हैं । केवल मन्त्रोच्चारण से नहीं अपि तु यज्ञ से भी अदृष्टोत्पत्ति का अपलाप कर चार्वाकों से भी एक पद आगे बढ़ते हैं । समाजियों के उच्छृङ्खल मत का पोषण, मन्त्र ब्राह्मण या सूत्र ने कहीं पर भी नहीं किया है, प्रत्युतविविधशाखात्मक उन ग्रन्थों में विरोध ही दिखाई देता है । युधिष्ठिर मीमांसक अपनी विपरीत बुद्धि के कारण ही तैत्तिरीयादिशाखात्मक वेदों में तद्विपरीतवचनों को याज्ञिकों के मन्त्रानर्थक्यवाद के प्रभाव से प्रभावित मानते हैं । किन्तु वैसा मानना सर्वथा असंगत ही है । क्योंकि शाकली, कौथुमी, आदि शाखाओं की तरह तैत्तिरीयादि शाखायें भी अनादिकालीन हैं । युधिष्ठिर के उपन्यास करने से भी उस मत की वेदविरुद्धता का ज्ञान हो जाता है ।

यह जो कहा है कि 'याज्ञिकों द्वारा उद्भावित मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रभाव वेदों की तात्कालिक शाखाओं तथा ब्राह्मणग्रंथों में स्पष्ट लक्षित होता है । यही कारण है कि इन शाखाओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में शतपथ को छोड़कर विनियोग का ही उल्लेख प्रधानता से मिलता है' (पृ० ११८) किन्तु यह कथन भी सर्वथा अशुद्ध ही है, क्योंकि शाकल्यादि शाखाओं की तरह तैत्तिरीयादि शाखाओं की अनादिता समान है । वेदमन्त्रों से ही वेदों की यज्ञपरता का साधन किये जाने के कारण यज्ञ-याज्ञिक आदि का वेदों से पार्थक्य नहीं कहा जा सकता ।

यह जो कहा है कि ब्राह्मण शब्द का 'ब्रह्मणां मन्त्राणां व्याख्यानं ब्राह्मणम्' इस मूल अर्थ को तिरोहित करके ब्राह्मण का लक्षण 'कर्मचोदका ब्राह्मणानि, विनियोजकं ब्राह्मणम्' मात्र याज्ञिकों ने स्वीकार कर लिया । शतपथ के अतिरिक्त अन्य उपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थों में जहाँ कहीं मन्त्रों के अर्थ उपलब्ध होते हैं, वे प्रायः आनुषङ्गिक हैं । अर्थात् मन्त्रार्थ के परिज्ञान के लिये ब्राह्मणग्रन्थों की रचना नहीं हुई है । अतः इन ब्राह्मणग्रन्थों (शतपथ को छोड़कर) से वेद के याज्ञिक अर्थ का भी बोध नहीं होता । केवल ब्राह्मण

तद्रीत्या तदुक्तब्राह्मणलक्षणस्य शतपथातिरिक्तब्राह्मणेष्वसत्त्वात् । स्वयमेवायं स्वीकरोति यत् तत्र मन्त्रार्थं आनुषङ्गिक एव । तथा च व्याख्यानाभावात् तदुक्तं ब्राह्मणलक्षणमव्याप्तम्, विनियोगानां च तत्र प्राधान्यात् 'कर्मचोदका ब्राह्मणानि, विनियोजकं ब्राह्मणम्' इत्येव ब्राह्मणलक्षणं युक्तम्, तदुक्तलक्षणस्य शतपथेऽतिव्याप्तेः । शतपथेऽपि चोदनानामेव प्राधान्यम् । अर्थवादा मन्त्रव्याख्यानानि तु तदङ्गत्वेनैवोक्तानि । अन्तिमेष्वनेककाण्डेषु मन्त्रव्याख्यानादर्शनात्, आद्येष्वपि मन्त्रव्याख्यानापेक्षया विध्यर्थवादानामेव बाहुल्येन मन्त्रव्याख्यानस्याप्राधान्याविशेषात् । एतेन शाकल्यादिपुस्तकचतुष्टयातिरिक्तसहस्राधिकसंख्यानां मन्त्रसंहितानां ब्राह्मणग्रन्थानां चावेदत्वाप्रमाणत्वाभ्यां विना युधिष्ठिरस्यान्येषां च समाजिनां दयानन्दस्य च मतं न सिद्ध्यति ।

यदपि च—'याज्ञिकप्रक्रियासूत्तरोत्तरपरिवर्तनपरिवर्धनाभ्यां वेदार्थोपरि गम्भीरः प्रभावः प्रतिफलितः' (पृ० ११९) इति, तदपि मोहविजृम्भितम्, त्वदभिमतस्य वेदार्थस्य वेदार्थाभासत्वात् । सर्वशाखात्मकमन्त्रब्राह्मणस्वरूपवेदकल्पसूत्र-जैमिनि-शबर-कुमारिलादिसम्मतस्यैवार्थस्य वेदार्थत्वात् ।

याज्ञिकप्रक्रियासु परिवर्तनपरिवर्धनकल्पनापि निर्मूलैव, यज्ञप्रक्रियाया अनादिमन्त्रब्राह्मणमूलकत्वेन याज्ञिकैस्तत्र परिवर्तनपरिवर्धनयोः प्रत्यवायजनकत्वाभ्युपगमात् । समाजिभिरेव पुण्याद्यदृष्टानभ्युपगमात् । तेषां स्वाभ्यूहितवेदार्थकल्पनया वेदव्यापादकत्वदर्शनाच्च ।

यदपि—'या याज्ञिकप्रक्रिया प्रारम्भे वेदस्याधिदैविकस्याध्यात्मिकस्य वा मुख्यार्थस्य ज्ञापनार्थं कल्पितासीत्, तयैवान्ते वेदानां नैरर्थक्यमापादितम् । यास्क-जैमिनि-याज्ञवल्क्यप्रभावेण मन्त्रानर्थक्यवादस्य कथञ्चित् प्रतिवादे जातेऽपि ततः प्राचीनेषु तत्समकालिकेषु च ग्रन्थेषु ये मन्त्रार्थासम्बद्धा याज्ञिका मन्त्रविनियोगाः प्रवृत्तास्तेषां परिमार्जनं न जातम् । तेन प्रदर्शित विनियोग के आधार पर याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की कल्पना की जाती है ।" (पृ० ११९) । किन्तु यह कथन भी तुम्हारी उक्ति से ही खण्डित हो जाता है, क्योंकि उक्त ब्राह्मणलक्षण शतपथातिरिक्त ब्राह्मणों में घटित नहीं हो पाता । इसने स्वयं स्वीकार किया है कि मन्त्रार्थ तो आनुषङ्गिक ही है । तथा च व्याख्यानरूप न होने से तदुक्त ब्राह्मणलक्षण अव्याप्त होता है । वहाँ विनियोग की प्रधानता होने से 'कर्मचोदकानि ब्राह्मणानि, विनियोजकं ब्राह्मणम्' ऐसा ही लक्षण करना उचित है । क्योंकि तदुक्त लक्षण की शतपथ में अतिव्याप्ति होती है । शतपथ में भी चोदनाओं की ही प्रधानता है । मन्त्रव्याख्यानरूप अर्थवादरूप तदङ्गरूप में कहे गये हैं । अन्तिम के अनेक काण्डों में मन्त्रों का व्याख्यान नहीं दिखाई देता, प्रारंभिक काण्डों में भी मन्त्रव्याख्यानापेक्षया विध्यर्थवादों की ही बहुलता दृष्टिगोचर होती है, मन्त्रव्याख्यान की अप्रधानता तो समान ही है । इससे यह प्रतीत होता है कि शाकल्यादि-पुस्तकचतुष्टय के अतिरिक्त सहस्राधिकसंख्याकमन्त्रसंहिताओं को तथा ब्राह्मणग्रन्थों को अवेद और अप्रमाण माने बिना युधिष्ठिर, अन्य समाजी तथा दयानन्द का अभिमत सिद्ध नहीं हो पाता ।

यह जो कहा है कि 'याज्ञिक प्रक्रियाओं में हुए उत्तरोत्तर परिवर्तन और परिवर्धन का वेदार्थपर भी गहरा प्रभाव पड़ा ।' (पृ० ११९), वह भी मोहविजृम्भित ही है । तुम्हारा अभिमत जो वेदार्थ है वह वेदार्थाभास ही है । सर्वशाखात्मक मन्त्र-ब्राह्मणस्वरूप वेद, कल्पसूत्र, जैमिनि, शबर, कुमारिल, आदि के द्वारा सम्मत अर्थ ही वास्तविक वेदार्थ है । याज्ञिक प्रक्रियाओं में परिवर्तन-परिवर्धन की कल्पना भी निर्मूल ही है । यज्ञ प्रक्रिया तो अनादि मन्त्र-ब्राह्मणमूलक होनेसे उसमें परिवर्तन-परिवर्धन को तो याज्ञिकों ने प्रत्यवायजनक माना है । पुण्यादि अदृष्ट का अनभ्युपगमतो समाजियों ने ही किया है । स्वकपोलकल्पित वेदार्थ की कल्पना करने के कारण इन समाजियों को वेदव्यापादक ही समझना चाहिये ।

यह जो कहा है कि 'जो याज्ञिक प्रक्रिया प्रारम्भ में वेद के आधिदैविक वा आध्यात्मिक मुख्यार्थ का ज्ञान कराने के लिये कल्पित की गई थी, उसने अन्त में वेदों को भी अर्थरहित (निरर्थक) बना दिया । यास्क, जैमिनि, और याज्ञवल्क्य के प्रभाव से मन्त्रानर्थक्यवाद का यद्यपि कुछ प्रतिवाद हुआ, तथापि उससे प्राचीन या तत्समकालीन ग्रन्थों में मन्त्रार्थ से असम्बद्ध जो याज्ञिक मन्त्रविनियोग हो चुका था, उसका परिमार्जन न हुआ, अर्थात् उसका खण्डन नहीं किया गया । अतः याज्ञिक लोग उसी प्रकार

याज्ञिकास्तद्वदेवमन्त्रार्थासम्बद्धान् नवनवान् विनियोगान् उत्तरकालेऽपि कुर्वन्ति स्म' (पृ० ११९) इति, तदति तुच्छम्, त्वद्वचनेनैवास्यार्थस्य खण्डितत्वात्। सर्वस्यैव त्वदुक्तस्य निर्मूलत्वात्। यज्ञप्रक्रियाया नित्यवेदमूलकत्वेन तत्कल्पनाकालासम्प्रतिपत्तेः। सर्वस्यापि त्वदुक्तस्य प्रलपितत्वाविशेषात्। यदि याज्ञिकप्रक्रियया वेदस्य नैरर्थक्यमापद्येत, तदा वेदनैरर्थक्यपरिहाराय यास्कजैमिन्यादिभिर्याज्ञिकप्रक्रियैव खण्डनीया स्यात्। परं यास्कादिकर्तृकयाज्ञिकप्रक्रियाखण्डनं त्वयापि नाङ्गीक्रियते, प्रत्यक्षविरोधभयात्। यास्कजैमिन्यादिभिस्तत्प्रक्रियाया आदृतत्वात्। तैश्च मन्त्रब्राह्मणात्मकसर्वशाखात्मकस्य वेदस्य वेदत्वाङ्गीकारात्। तेनैव यज्ञप्रक्रिया मन्त्रानर्थक्यवादहेतुरिति त्वन्मतं सर्वथाप्यशुद्धमेव। त्वत्पूर्वोद्धरणरीत्या यास्कजैमिनिभ्यामपि मन्त्रब्राह्मणात्मकवेदपद्धत्यैव यज्ञानुगुण्येन मन्त्रविनियोगस्याङ्गीकृतत्वात्।

यच्च 'यच्च यास्कादिभिर्मन्त्रानर्थक्यवादस्य प्रवलखण्डनेन याज्ञिकप्रक्रियानुसारी विशृङ्खलितो यथाकथञ्चित् वेदार्थ उपलभ्यते। अन्यथा मन्त्राः सर्वथा तान्त्रिकमन्त्रवद् अनर्थका एव मताः स्युः' इति, तदपि दौर्जन्यमूलकमेव, यास्कजैमिन्याद्यनुसारेणैव याज्ञिकानां यज्ञेषु प्रवृत्तेः। द्रव्यदेवतास्मरणाय मन्त्राणामुपयोगो याज्ञिकैरभ्युपेयत एव। क्वचित्तु विनियोगानुसारं गौणोऽप्यर्थो जैमिन्यादिरीत्यैवाङ्गी क्रियते। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वं जैमिनिनैवोक्तम्।' अर्थवादानां मन्त्राणां च क्रियानुगुण्येनैव सुतरां प्रामाण्यं सर्वैरभ्युपेयते। दयानन्दस्तु विध्यनुरोधमन्तराऽपि सर्वत्रैव वेदानां गौणार्थकतयैव व्याख्यानं करोति। यज्ञानुसारिवेदार्थव्याख्यानं तु मन्त्रब्राह्मणकल्पमीमांसासम्मतम्। दयानन्दीयव्याख्यानं तु सर्वविरुद्धम्, अतस्तदेव विशृङ्खलितम्।

यदपि १२०पृष्ठे 'पुरुषाश्वगवाजादयः पशवो द्रव्ययज्ञे प्रोक्ताः। ते न लौकिकाः पशवः, किन्तु केषाञ्चिदन्यपशूनां प्रतीकभूताः। द्रव्यमया यज्ञा आधिदैविकसृष्टियज्ञस्य प्रतीकात्मका नाटकरूपा व्याख्यानरूपा वा। द्रव्ययज्ञे प्रयुक्तानि सर्वाणि

मन्त्रार्थ से असम्बद्ध नये-नये विनियोग उत्तरकाल में भी करते रहे (पृ० ११९)' किन्तु यह कथन अत्यन्त निःसार है, क्योंकि इसका खण्डन तो उसी के कथन से हो जाता है। तुमने जो कुछ भी कहा, वह सभी निर्मूल है। यज्ञ प्रक्रिया तो नित्य वेदमूलक है, अतः उसकी कल्पना का काल निर्धारण किया ही नहीं जा सकता। इस कारण तुम ने जो कुछ कहा है, वह सब प्रलाप ही है। सोचने की बात है कि यदि याज्ञिक प्रक्रिया के कारण वेद का नैरर्थक्य प्राप्त होता तो उसकी निरर्थकता का परिहार करने के लिये यास्क, जैमिनि आदि के द्वारा यज्ञप्रक्रिया का ही खण्डन कर दिया गया होता, और प्रत्यक्ष विरोध के भय से यास्कादिकर्तृक याज्ञिकप्रक्रिया का खण्डन तुमने भी नहीं माना है। यास्क, जैमिनि आदिकों ने तो उस प्रक्रिया का आदर किया है, और उन्होंने मन्त्र-ब्राह्मणात्मक सर्वशाखात्मक वेद का वेदत्व स्वीकार किया है। इसी से यह स्पष्ट है 'यज्ञप्रक्रिया, मन्त्रानर्थक्यवाद का हेतु है' यह तुम्हारा मत सर्वथा अशुद्ध है। तुम्हारे द्वारा पूर्व दिये गये उद्धरण के अनुसार भी यह सिद्ध हो जाता है कि यास्क, और जैमिनि ने भी मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद की पद्धति से ही यज्ञानुगुण मन्त्रविनियोग का स्वीकार किया है।

पृ० ११९ पर युधिष्ठिर ने जो अपना विचार लिखा है कि 'यदि यास्क, जैमिनि और याज्ञवल्क्य आदि मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रबल खण्डन न करते, तो जो कुछ याज्ञिकप्रक्रियानुसारी टूटा-फूटा वेदार्थ उपलब्ध होता है, वह भी न मिलता, और वेदमन्त्र सर्वथा तान्त्रिक मन्त्रों के समान निरर्थक समझे जाते।' यह विचार भी दौर्जन्यमूलक ही है। यास्क, जैमिनि आदि के अनुसार ही याज्ञिकों की यज्ञों में प्रवृत्ति होती है। द्रव्य-देवता के स्मरणार्थ मन्त्रों का उपयोग याज्ञिक लोगों ने माना ही है। कहीं-कहीं विनियोग के अनुसार गौण अर्थ को भी जैमिनि आदि के द्वारा प्रदर्शित रीति से स्वीकार किया ही जाता है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वम्' जैमिनि ने ही कहा है। अर्थवाद और मन्त्रों का प्रामाण्य क्रिया के आनुगुण्य से ही सबलोग मानते हैं। दयानन्द तो विधि के अनुरोध के बिना भी सभी जगह गौण अर्थपरक ही वेदों का व्याख्यान करते हैं। किन्तु मन्त्र-ब्राह्मणकल्प मीमांसा को तो यज्ञानुसारी वेदार्थ-व्याख्यान ही सम्मत है। दयानन्दीय व्याख्यान तो सर्वविरुद्ध है, अतः उसे ही विशृङ्खल समझना चाहिये।

पृष्ठ १२० पर जो लिखा है कि 'द्रव्य यज्ञ में जो पुरुष, अश्व, गो, अवि और अज आदि पशु बताये गये हैं, वे लौकिक पशु नहीं हैं, किन्तु किन्हीं अन्य पशुओं के प्रतीकभूत हैं। द्रव्यमय यज्ञ, आधिदैविकसृष्टियज्ञ के प्रतीकात्मक नाटकरूप अथवा व्याख्यान-

पात्राणि द्रव्याणि च सृष्टियज्ञगतानां विविधानामाधिदैविकानां तत्त्वानां प्रतीकभूतान्येव । तेन पुरुषादयः पशवोऽपि प्रतीकात्मकाः' इति, तदपिनिर्मूलम्, त्वदुक्तस्य तथाकथितस्य सृष्टियज्ञस्य पूर्वमेव खण्डितत्वात् । वस्तुतोऽस्य मीमांसकम्मन्यस्य निर्मूलकल्पनाबहुल एव सर्वोऽपि लेखः । यासां मन्त्रब्राह्मणात्मकशाखानां वेदत्वमपौरुषेयत्वं निरपेक्षप्रामाण्यं च खण्डयितुं प्रयतते, तासामेव बलेन किमपि प्रलपति । पुराणेतिहासानामप्रामाण्यं च सर्वे समाजिनः प्रलपन्ति, तथापि निर्लज्जतया स्वकल्पितमतसाधनाय तान्येवावलम्बतेऽयम् । एतत्कल्पनाप्रासादोऽपि तदाधारित एव ।

'वेदप्रतिपादितः पशुयज्ञः सृष्टियज्ञः' (पृ० १२०) इत्यपि निर्मूलमेव, सृष्टेरतीतत्वेन तद्विधानासम्भवात् । सृष्टौ तु यज्ञस्यारोपं एव कर्तुं शक्यते । यज्ञानां लिङ्लोटतव्यादिभिर्विधानं भवति । न चेतिहासस्य धर्मे प्रामाण्यम्, दौर्भाग्यपूर्णस्यापीतिहासस्य सम्भवात् । रामस्येव रावणस्यापीतिहासोऽस्त्येव । न च तस्यादरणीयत्वम् । तत्कस्य हेतोः ? विधिविरोधादेव । रामस्येतिहासस्तु विध्यनुगुणत्वादेवाद्रियते । लोकेऽपि नेतिहासस्याचरणे प्रामाण्यम्, किन्तु संविधानस्यैव प्रामाण्यम्, निग्रहानुग्रहस्य तदधीनत्वात् । तत एव विधिना त्वेकवाक्यत्वाद् विध्यर्थस्तावकत्वेनैवार्थवादानां प्रामाण्यम् । तत एव विध्यनुरोधेनैव क्वचिन्मन्त्राणां मुख्यार्थत्यागेन गौणार्थे विनियोगो दृश्यते, आद्रियते च 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' (मैत्रायणी सं० ३।२।४।) इत्यनया प्रमाणान्तरनिरपेक्षया श्रुत्या 'ऐन्द्रया इन्द्रमुपतिष्ठते' इति मुख्यार्थानुसारिलैङ्गिकं विनियोगं बाधित्वापि गार्हपत्योपस्थाने विनियोगो मीमांसकैरूरीकृतः । उत्तरमीमांसायामपि 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० ११।१२) इत्यत्र शङ्कराचार्येण श्रुत्यनुसारं सूत्रं नीतम्, न सूत्रानुसारेण श्रुतयो नीताः, गुणे त्वन्याय्यकल्पनात् ।

अग्नीषोमीये पशावेकपाशके 'अदितिः पाशान् प्रयुक्तोक्त्वेतान्' 'अदितिः पाशं प्रयुमोक्त्वेतम्' इति च मन्त्रौ श्रुतौ । तत्र बहुवचनवान् मन्त्रः किं प्रकरणादुत्क्रष्टव्यो न वेति संशये बहुवचनस्यासमवेतार्थत्वादुत्कर्षे प्राप्ते विशेष्यस्य प्रधानभूतपाशवाचि प्रातिपदिकस्याग्नीषोमीये समवेतार्थत्वात् तदनुरोधेन बहुवचनं पाशगुणत्वेन तद्विशेषणभूतबहुत्ववाचकरूप हैं । द्रव्यमय यज्ञों में प्रयुक्त सभी पात्र और द्रव्य, सृष्टियज्ञगत विविध आधिदैविक तत्वों के प्रतीक हैं । इस दृष्टि से द्रव्यरूप पुरुषआदि पशु भी प्रतीकात्मक ही हैं ।' किन्तु यह कथन भी निर्मूल है । क्योंकि त्वदुक्त तथाकथित सृष्टियज्ञ का खण्डन पहले ही कर चुके हैं । वस्तुतः इस मीमांसकम्मन्य युधिष्ठिर के सभी लेखों में निर्मूलकल्पनाओं की ही बहुलता रहती है । जिन मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शाखाओं के वेदत्व अपौरुषेयत्व और निरपेक्षप्रामाण्य (स्वतः प्रामाण्य) के खण्डन करने का प्रयत्न करता है, उन्हीं वेदशाखाओं के बल पर कुछ कुछ प्रलाप करता रहता है । सभी समाजी पुराण, इतिहासों का अप्रामाण्य अलापते ही रहते हैं, तथापि निर्लज्ज होकर अपने काल्पनिक मत के पोषणार्थ उन्हीं पुराणादिकों का यह अवलम्ब लेता है । इसके कल्पना की उड़ान भी उन्हीं पर तो आधारित है ।

पृ० १२० पर जो लिखा है कि 'वेदप्रतिपादित पशुयज्ञ सृष्टि यज्ञ है', यह कथन भी निर्मूल है । सृष्टि के अतीत रहने से उसका विधान करना संभव नहीं हो सकता । सृष्टि पर तो यज्ञ का आरोप ही किया जा सकता है । यज्ञों का विधान तो लिङ्, लोट् तव्य आदि प्रत्ययों से ही होता है । दौर्भाग्यपूर्ण इतिहास का भी संभव रहने से उसे धर्म में प्रमाण नहीं माना जाता । राम की तरह रावण का भी इतिहास है ही, किन्तु उसे कोई आदरणीय नहीं मानता । उसके अनादरणीय होने में हेतु क्या है ? तो कहना होगा कि विधि विरोध ही हेतु है । राम का इतिहास विधि के अनुगुण होने के कारण लोग उसे आदरणीय समझते हैं । लोकव्यवहार में भी आचरण, इतिहास को प्रमाण मानकर नहीं किया जाता, अपितु विधि (विधान) मानकर ही किया जाता है, क्योंकि निग्रह, अनुग्रह उसी के अधीन रहते हैं । यही कारण है कि अर्थवादवाक्यों को विध्यर्थस्तावक के रूप में तभी प्रमाण माना जाता है, कि जब उनकी विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता होती है । कहीं कहीं विधि के अनुरोध से ही मुख्यार्थ का त्याग करके गौण अर्थ में मन्त्रों का विनियोग हुआ दिखाई देता है, और उसी को माना जाता है । जैसे ऐन्द्री ऋचा का गार्हपत्योपस्थान में विनियोग करना मीमांसकों ने बताया है । उत्तरमीमांसा में भी 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० १) सूत्र की व्याख्या श्रुत्यनुसार ही शंकराचार्य ने की है, न की सूत्र के अनुसार श्रुतियों को लगाया है, क्योंकि 'गुणेत्वन्याय्यकल्पनात्' । अतः विधिविरोध को बचाने के लिये अर्थवाद और मन्त्र, विध्यनुगामी हुआ करते हैं, इस दृष्टि से विधिप्राप्त पशुयागों में सृष्टिबोधक मन्त्र और ब्राह्मण के सहारे विपरीत कल्पना नहीं करनी चाहिये । किञ्च तुम्हारी

मन्त्राख्यया लक्षणया पाशावयवांल्लक्षयतीति नवमे निर्णीतम्। तथाहि–'विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात्समत्वाद् गुणे त्वन्याय-कल्पनैकदेशत्वात्' (जै० सू० ९।३।१५) इत्यत्र उत्कर्षोऽनुत्कर्षो वेति विप्रतिपत्तौ पाशम्, पाशान् इति, मन्त्रयोर्विकल्पः स्यात्, पाशप्रातिपदिकस्योभयत्र समत्वात्, गुणे प्रत्ययार्थे त्वन्याय्यकल्पना, न तद्वलात् मन्त्रोत्कर्षः, प्रत्ययस्य पदैकदेशत्वात् प्रातिपदिकपारतन्त्र्येणोत्कर्षकत्वायोगात्। तथैव श्रुत्यनुरोधेन मन्त्रा विनियोगानुसारेण नेतव्याः। अतो विधिविरोधाद् अर्थवादा मन्त्राश्च विध्यनुगामिनो भवन्तीति सृष्टिबोधकैर्मन्त्रैर्ब्राह्मणैश्च न विधिप्राप्ताः पशुयागा अन्यथायितव्याः। किञ्च त्वद्रीत्यापि वाजसनेयिसंहितायां (यजुर्वेदे) ३१ एकत्रिंशोऽध्यायः ऋग्वेदसंहितायां दशममण्डले न नवतितमं सूक्तं च पुरुषमेधे विनियुक्ते। न च विनियोगविरुद्धार्थप्रतिपादने तस्य तात्पर्यं कल्पयितुं शक्यते, तत्प्रधानानामतत्प्रधानेभ्यो बलीयस्त्वात्। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायात्। 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति मीमांसासिद्धान्तेन नार्थवादमन्त्रानुरोधेन विधीनां गौणोऽर्थो भवितुमर्हति।

यत्तु—'ततो विराडजायत विराजोऽधि पूरुषः। स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥' (वा० सं० ३१।५) इत्यस्य व्याख्यानं कुर्वतोक्तम्—'ततः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थारूपायाः प्रकृतेर्विराडुत्पन्नः, विराजः पुरुष उत्पन्नः, तत उत्पन्नो विराड् अत्यरिच्यत अतिरिक्तः (रिक्तः) सञ्जातः। स भूमिं तथा अन्याः पुरो लोकान् प्रकटितवान्। अर्थात् सर्गोन्मुखायाः प्रकृतेः प्रधानभूतौ द्वौ विकारावुत्पन्नौ। विराट्शब्देनात्र सांख्योक्तो महान् अहङ्कार एवं तदुत्पन्नाः पञ्चतन्मात्राश्च गृह्यन्ते। तेषामुत्पत्तिपर्यन्तं प्रथमसर्ग उक्तः। अत्र प्रथमस्य देवयुगस्य निर्देशः। पुरुषशब्देन च हिरण्यगर्भ-प्रजापति-प्रभृतिभिर्विविधनामभिः स्मृतस्य महदण्डस्योत्पत्तिरुक्ता' इति, तदप्यशुद्धम्, 'ततः' इत्यस्य प्रकृतादित्येवार्थः। न च पूर्वं प्रकृतिः प्रकृता। 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।' (वा० सं० ३१।१) इति प्रथममन्त्रेण सहस्रशीर्षादिपरव्यपदेश्यस्य विराज एव प्रकृतत्वात्। इतिऽव्यवहिते चतुर्थमन्त्रे तु 'त्रिपादूर्ध्वं उदैत् (वा० सं० ३१।४) इति शुद्धः परमात्मैव प्रकृतः। न च विराट्पदेन महान् अहङ्कारः पञ्चतन्मात्राश्चोच्यन्ते, प्रमाणाभावात्। तथैव प्रथमदेवयुगनिर्देशोऽपि निर्मूल एव। पुरुषशब्दस्य महदण्डार्थतापि निर्मूलैव। न चैतेषां देवत्वमपि निर्मूलत्वादेव। वस्तुतस्तु 'सहस्रशीर्षा' (वा० सं० ३१।१) इति प्रथममन्त्रेण सहस्रोपलक्षितानन्तशीर्षानन्ताक्षानन्तपादादिः सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्ड-

रीति से भी वाजसनेयिसंहिता (यजुर्वेद) के ३१वें अध्याय तथा ऋग्वेदसंहिता में दशममण्डल के (९०) नवतितम सूक्त का पुरुषमेध में विनियोग होता है। विनियोगविरुद्ध अर्थ के प्रतिपादन में उसके तात्पर्य को नहीं कह सकते, क्योंकि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियम के अनुसार अतत्प्रधान से तत्प्रधान बलवान् होता है। 'न विधौ परः शब्दार्थः' ऐसा मीमांसा सिद्धान्त है, अतः अर्थवाद तथा मन्त्र के अनुरोध से विधि का गौण अर्थ में पर्यवसान करना उचित नहीं है। वा० सं० ३१।५ का व्याख्यान करते हुए जो कहा है कि 'सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था रूप प्रकृति से विराट् उत्पन्न हुआ, विराट् से पुरुष उत्पन्न हुआ। उससे उत्पन्न हुआ पुरुष, अतिरिक्त (खाली) हुआ। उसने भूमि तथा अन्य लोकों को प्रकट किया। अर्थात् प्रकृति के सर्गोन्मुख होने के पश्चात् उत्पन्न दो प्रधान विकारों का उल्लेख किया है। 'विराट्' शब्द से यहाँ सांख्यकथित महान्, अहंकार और उससे उत्पन्न पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति पर्यन्त प्रथम सर्ग अर्थात् प्रथम देवयुग का निर्देश है, और 'पुरुष' शब्द से हिरण्यगर्भ प्रजापति आदि विविध नामों से स्मृत 'महदण्ड' की उत्पत्ति बताई गई है, किन्तु यह कथन भी अशुद्ध है। 'ततः' का अर्थ युधिष्ठिर ने पूर्वापर मन्त्रों को न समझपाने से 'प्रकृति' लिख दिया है। वस्तुतः 'ततः' पद से शुद्ध परमात्मा ही यहाँ लिया गया है। और न 'विराट्' पद से महान्, अहंकार, पञ्चतन्मात्राओं को बताया गया है, 'विराट्' पद का वैसा अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। उसी तरह प्रथमदेवयुग का निर्देश करना भी निर्मूल है, और 'पुरुष' शब्द का महदण्ड अर्थ करना भी निर्मूल ही है। निर्मूल होने से ही इनका देवत्व भी नहीं है। वस्तुतस्तु 'सहस्रशीर्षा' इस प्रथम मन्त्र से सर्व-प्राणिसमष्टिरूप ब्रह्माण्डदेह 'विराट्' संज्ञक पुरुष बताया गया है। 'पुरुष एवेदम्' इस द्वितीयमन्त्र से उसकी अतीतानागत वर्तमान सर्व-प्रपञ्चात्मता बताई गई है। 'एतावान्' इस तृतीय मंत्र से समस्त प्रपञ्च उसका एकपाद है, यह बताया गया है, और उसी के माध्यम से यह

देहो विराडाख्यः पुरुष उक्तः। 'पुरुष एवेदम्' (वा० सं० ३१।२) इति द्वितीयेन मन्त्रेण तस्यैवातीतानागतवर्तमानसर्वप्रपञ्चात्मत्वमुक्तम् । 'एतावान्' (वा सं० ३१।३) इति तृतीयेन सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य तदेकपादत्वोक्त्या स्वतस्तस्य' 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' (तै० उ० २।१।१) इति श्रुत्यनुसारेणानन्तब्रह्मरूपत्वमुक्तम् । 'त्रिपादूर्ध्वं' (वा० सं० ३१।४) इति चतुर्थेन त्रिपात्, अर्थात् संसाररहितब्रह्मस्वरूप एव स स्वयमस्मादज्ञानकार्यात् संसाराद् ऊर्ध्वं उदेत् संसाराद्बहिर्भूतस्तद्गुणदोषैरस्पृष्टः, उत्कर्षेण स्थितवान् । तस्य सोऽयं पादलेश इह मायायां पुनरभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति । 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥' (भ०गी० १०।४२) इति भगवदुक्तेः। मायायामागत्यानन्तरं साशनानशने साशनं भोजनादिव्यवहारोपेतं प्राणिजातम्, अनशनं भोजनरहितं सचेसनं गिरिनद्यादिकमभिलक्ष्य व्यक्रामद्, देवतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्याप्तवान् । 'ततो विराट्' (वा० सं० ३१।५) इति पञ्चमेन मन्त्रेण 'विष्वङ् व्यक्रामत' इति यदुक्तम्, तदेव प्रपञ्चितम् । ततस्तस्मादादिपुरुषात् परमात्मनो विराट् ब्रह्माण्डदेहः, अजायत उत्पन्नः । विविधानि वस्तूनि राजन्तेऽत्रेति विराट् । विराजो अधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषः तद्देहाभिमानी अजायत । सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वयमेव स्वकीयया मायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवात्मा जीवोऽभवत् । 'स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव' (नृ० ता० २।१।९) इति श्रुतेः। स जातो विराट् पुरुषः, अत्यरिच्यत अतिरिक्तोऽभवत्, विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत् । पश्चात् देवादिजीवभावादूर्ध्वंभूमिं स्थूलां ससर्जेति शेषः। अथो भूमिसृष्ट्यनन्तरम्, पुरः पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः, तेषां जीवानां शरीराणि ससर्जेति । न चात्यरिच्यतेत्यस्य रिक्तता (शून्यता) अर्थः, अतिपूर्वकस्य रिचेराधिक्यार्थस्यैव लोकेऽपि दर्शनात् ।

सांख्यवेदान्तदृष्ट्या महदादिक्रमेणाव्यक्तान्महत्तत्त्वं ततोऽहङ्कारस्ततः सात्त्विकादहङ्कारान्मनोदेवताः, राजसादिन्द्रियाणि प्राणाश्च, तामसादहङ्कारात् पञ्चतन्मात्रा उत्पद्यन्ते । ततः पञ्चतन्मात्राभ्यः स्थूलभूतान्युत्पद्यन्ते ।

वेदान्तरीत्या तु परमेश्वरस्येक्षणमेव महत्तत्त्वस्थानीयम् । सिसृक्षाया अहन्तत्त्वं तत आकाशादिक्रमेण पञ्च-

बताया है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्त०' इस श्रुति के अनुरोध से वह स्वयं अनन्त ब्रह्मरूप है । 'त्रिपादूर्ध्वं' इस चतुर्थ मन्त्र से 'त्रिपात्' अर्थात् संसाररहित ब्रह्मस्वरूप स्वयं वही अज्ञानकार्य रूप इस संसार के गुण-दोषों से अस्पृष्ट रहता हुआ सर्वोत्कृष्ट रूप में स्थित है । उसका यह प्रसिद्ध पादलेश इस माया में सृष्टि-संहार के रूप में पुनः पुनः आता रहता है । गीता में (१०।४२) भगवान् ने इसी बात को स्पष्ट रूप से कह दिया है । इस प्रकार माया में आकर भोजनादिव्यवहार करने वाले प्राणियों को तथा भोजनादि न करनेवाले अचेतन गिरि, नदी आदि को लक्ष्यकर देव-तिर्यंक् आदि रूपों से विविध होता हुआ सम्पूर्ण चराचर जगत् को उसने व्याप्त कर डाला । 'ततो विराट्' इस पञ्चममन्त्र से पूर्व अर्थ को ही प्रपञ्चित किया है । उस आदिपुरुष परमात्मा से ब्रह्माण्डदेह (विराट्) उत्पन्न हुआ । उस विराट् देह को ही आधार बनाकर पुरुष उस देह का अभिमानी बना । वह सर्ववेदान्तवेद्य परमात्मा स्वयं ही अपनी माया के द्वारा ब्रह्माण्डरूप विराट् देह को उत्पन्न कर, उसमें जीवरूप से प्रविष्ट होकर ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीव हो गया । इसी बात को नृसिंहतापिनी उपनिषद् ने भी बताया है । उत्पन्न हुआ वह विराट् पुरुष, देव, तिर्यक्, मनुष्यादिरूप में होगया, पश्चात् देवादिजीवभाव से स्थूल, ऊर्ध्व भूमि को उसने उत्पन्न किया । भूमिसृष्टि के अनन्तर जीवों के सप्तधातु पूर्ण शरीरों को उत्पन्न किया । 'अतिरिच्यते' का अर्थ रिक्तता (शून्यता) जो युधिष्ठिर ने किया है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अतिपूर्वक रिचिधातु का 'आधिक्य' अर्थ, लोकव्यवहार में दिखाई देता है ।

यद्यपि सांख्य-वेदान्त की दृष्टि से महदादिक्रमेण अव्यक्त से महत्तत्त्व, उससे अहंकार, ततः सात्त्विक अहंकार से मनो देवता, राजस अहंकार से इन्द्रिय और प्राण, और तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्रा उत्पन्न होती हैं, पश्चात् उन पञ्चतन्मात्राओं से स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं ।

वेदान्त की दृष्टि से तो परमेश्वर का ईक्षण अर्थात् सिसृक्षा का अहंकार ही महत्तत्त्वस्थानापन्न है, उससे आकाशादि क्रम

सूक्ष्मभूतानि । अपञ्चीकृतेभ्यस्तेभ्यः समष्टिसात्त्विकांशात् अन्तःकरणं व्यष्टिभ्यः सात्त्विकेभ्यः पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि समष्टिराजसभूतेभ्यः प्राणाः व्यष्टिभ्यः कर्मेन्द्रियाणि तामसभूतेभ्यः पञ्चीकरणादिक्रमेण स्थूलानि भूतानि लोकाः शरीराणि चोत्पद्यन्ते, तथापि प्रकृतमन्त्रे विराट्पदेन महदादिसृष्टिर्जातेति कथनं तु सर्वथाप्यशुद्धमेव । महदादिसृष्टिक्रमेण विराडजायतेति त्वार्थिकोऽर्थः ।

यदपि 'अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि । देवाँ उप प्रैत सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत ॥' (ऋ० सं० १०।७२।८), 'सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत पूर्व्यं युगम् । प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥' (ऋ० सं० १०।७२।९) इति मन्त्ररीत्या देवानां माता प्रकृतिरदितिः । तस्या अष्टौ पुत्रा जाताः । तेषु सप्त पूर्वस्मिन् युगे जाताः । अष्टमो मार्ताण्डो मरणधर्मा विनश्वरोऽण्डोऽन्ययुगे जातः । अयं वैदिको मार्ताण्ड एव पुरुषः प्रजापतिः । महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राभ्योऽस्योत्पत्तिर्भवति । यथाण्डजानां प्राणिनामण्डेष्वेवाङ्गप्रत्यङ्गानि जायन्ते, तथैव महदण्डेषु लोकलोकान्तराणि निर्मीयन्ते । वेदेष्वेष एव यज्ञो विश्वकर्मा भौवनश्चोच्यते । यदा मार्ताण्डेऽन्तस्तापेन तदन्तर्गतानां भुवनानां निर्माणं समाप्तिमुपगच्छति, तदा स मार्ताण्डः सहस्रांशुसमप्रभहिरण्यवद्दीप्यते हिरण्यगर्भश्चोच्यते' (पृ० १२२) इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० उ० ३।१), 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० उ० २।१।१), 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१२) इत्यादि श्रुतिसूत्रादिभिःब्रह्मकारणवादस्यैव वैदिकत्वेन 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १।१।) इत्यादिभिः प्रकृतिकारणवादस्य निरस्तत्वात् । नहि जडे तत्कार्ये च मातृपुत्रादिव्यवहारः सम्भवति, तादृशव्यवहारस्य चेतनधर्मत्वात् । तन्वस्परि इत्यंशस्य देवाँ उपप्रैत इत्यंशस्य चाव्याख्यातत्वात्, प्रकृतिपक्षेऽसङ्गतेश्च । नहि प्रकृतेस्तन्वन्तरं भवति । न चाचेतना प्रकृतिस्तैः सह देवानुपागन्तुं शक्नोत्यचेतनत्वादेव । महदादिषु देवत्वव्यपदेशोऽपि चिन्त्यः, निर्मूलत्वात् । न च पुत्रेष्वेव सौक्ष्म्यासौक्ष्माभ्यां युज्यते । द्वितीयमन्त्रस्योत्तरार्धमप्यव्याख्यातमेव । 'देवानां नव लौक्यो वा बृहस्पतिर्दाक्षायण्यदितिर्वा देवमानुष्टुभमिति' इत्यनुक्रमणीरीत्या तु देवदेवत्यमिदं सूक्तम् । लौक्यो बृहस्पतिर्दक्षस्य दुहिताऽदितिर्वा

से पञ्चसूक्ष्मभूत, उन अपंचीकृत सूक्ष्मभूतों की सात्त्विक अंशसमष्टि से अन्तःकरण और सात्त्विक अंशव्यष्टि से पंचज्ञानेन्द्रिय, उसी तरह उनकी राजस अंश समष्टि से प्राण हुए और राजस अंश व्यष्टि से कर्मेन्द्रिय हुए, और तामस भूतों से पंचीकरणादि क्रम से स्थूलभूत, लोक और शरीरों की उत्पत्ति हुई । तथापि प्रकृत मन्त्र में 'विराट्' पद से महदादि सृष्टि हुई' यह कथन तो सर्वथा अशुद्ध ही है । महदादि सृष्टिक्रम से विराट् हुआ, यह तो आर्थिक अर्थ है ।

आगे चलकर युधिष्ठिर कहते हैं—"अष्टौ पुत्रासो०" (ऋ० सं० १०।७२।८), "सप्तभिः पुत्रैरदिति०" (ऋ० सं० १०।७२।९) इस अदिति सूक्त के अनुसार अदिति = देवों की माता प्रकृति के आठ पुत्र उत्पन्न हुए । उनमें सात, पूर्वयुग में हुए, और आठवाँ मार्तण्ड = मरणधर्मा, विनश्वर अण्ड = महदण्ड, दूसरे युग में हुआ । यह वैदिक मार्तण्ड ही महदण्ड पुरुष प्रजापति है । इसकी उत्पत्ति महत्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राओं से होती है । जैसे अण्डज प्राणियों के अण्डों के भीतर उनके अंग-प्रत्यंग बनते रहते हैं, वैसे ही महदण्ड के भीतर लोक-लोकान्तरों का निर्माण होता है । इसी को वेद में यज्ञ और विश्वकर्मा भौवन (भुवनों का उत्पन्न करनेवाला) भी कहा है । जब मार्तण्ड (महदण्ड) के अन्तस्ताप से तदन्तर्गत भुवनों का निर्माण समाप्त होने को होता है तब वह मार्तण्ड (महदण्ड) सहस्रांशुसमप्रभ हिरण्य के समान प्रदीप्त होने से 'हिरण्यगर्भ' कहलाता है' (पृ० १२२) । किन्तु युधिष्ठिर का यह कथन भी निःसार ही है । क्योंकि 'यतो वा०' (तै० उ० ३।१), 'तस्माद् वा०' (तै० उ० २।१।१), 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इत्यादि श्रुति, सूत्र आदि के द्वारा ब्रह्मकारणवाद ही वैदिक होने से 'ईक्षतेर्ना' (ब्र० सू० १।१) के द्वारा प्रकृति कारणवाद का खण्डन कर दिया गया है । मातृ-पुत्रादि व्यवहार, जड़ में या जड़कार्य में नहीं हुआ करता, वह व्यवहार तो चेतन धर्म है । 'तन्वस्परि' और 'देवाँ उपप्रैत' ये दो अंश बिना व्याख्या के ही रह गये । और प्रकृति पक्ष में असंगति भी है । कोई भी तत्त्व, प्रकृति से पृथक् नहीं है । वह अचेतन प्रकृति उन तत्त्वान्तरों के सहित देवों तक नहीं पहुच सकती, क्योंकि वह अचेतन है । महदादिकों में जो देवत्वव्यपदेश किया

ऋषिरनुष्टुप्छन्दः। श्रीसायणाचार्यरीत्या मन्त्रयोर्द्वयोरेवमर्थः—अदितेर्दक्षदुहितुरष्टौ मित्रादयः पुत्रा भवन्ति। ये च अदितेस्तन्वः शरीरात् परितो जाताः। ते चाध्वर्युब्राह्मणे परिगणिताः। तथाहि—'ताननुक्रमिष्यामो मित्रो वरुणश्च धाता चार्यमा चांशश्च भगश्च विवस्वानादित्यश्च' (तै० आ० १।३३।३) तत्रैवान्यत्राप्यदितिं प्रस्तुत्याम्नातम्—'तस्या उच्छेषणमददुस्तत्प्राश्नात्। सा रेतोऽधत्त तस्यै चत्वार आदित्या अजायन्त। सा द्वितीयमपचत्' (तै० सं० ६।५।६।१) इत्यादिना अष्टानामादित्यानामुत्पत्तिर्वर्णिता। 'सप्तभिः पुत्रैः सा देवान् उपप्रैत् उपागच्छत् अष्टमं पुत्रं मार्तण्डं परा अस्यत् उपरि प्रास्यत् प्राक्षिपत्। द्वितीये मन्त्रेऽपि पूर्वोक्तार्थस्यैव प्रपञ्चः। सप्तभिर्मार्तण्डव्यतिरिक्तैर्मित्रादिभिरदितिः पूर्व्यं पुराणं युगम् उपप्रैत उपगता। अथ प्रजायै प्राणिनामुत्पत्तये मृत्यवे मरणाय च तेषां मार्तण्डं मृतात् व्यृद्धात् अण्डाज्जातं मार्तण्डं सूर्यं पुत्रं पुनः आभरत् आहरत् द्युलोकेऽधारयत्। प्राणिमरणजननादीनां सूर्योदयास्तमयात्तत्तायाः स्फुटत्वात्। 'तस्यै व्यृद्धभाण्डमजायत' (तै० सं० ६।५।६।१) इत्यादिब्राह्मणोक्तेः। नात्र जडा प्रकृतिरदितिः, किन्तु चेतना महैश्वर्यवती परमेश्वरस्य विशिष्टा शक्तिरेव।

यदपि—'पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहेण च। महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति च॥' (वायुपुराणे ४।७४) इति, तत्तु ब्रह्माण्डोत्पादने तमोमहदहं खचराग्निर्वा भुवां हेतुत्वप्रतिपादनपरम्। न पूर्वोक्तप्रमाणसिद्धवैदिकार्थापलापपरम्। 'तत्रेतिहासमाचक्षते विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार' (नि० १०।२६) इति निरुक्तेनापि न त्वदभिप्रेतोऽर्थः सिद्ध्यति। समाजिनस्तु ऐतिहासिकं पक्षमपलपन्त्येव। परन्तु निरुक्तदृष्ट्या स्पष्टमैतिहासिकपक्षो जागर्त्येव।

वस्तुतस्तु सुखावबोधार्थैवाख्यायिका। सर्वस्मिन्नेतस्मिन् प्रघट्टके 'विश्वकर्मा विमना आद्विहाय धाता विधाता परमोत संदृक्। तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा ऋषीन् पर एकमाहुः॥' (ऋ० सं० १०।८।२२) इत्यस्या ऋचो व्याख्यानं प्रवृत्तम्। तस्य आधिदैवतमध्यात्मं च व्याख्यानं कृत्वा मन्त्रस्य आत्मगतिपरत्ववर्णनप्रसङ्गे इतिहासमाचक्षते इति आत्मविद इतिवृत्तं परकृत्यर्थवादरूपेण कथयन्ति। यः कश्चिदाध्यात्मिको वाधिदैविकोवाधिभौतिको वार्थं आख्यायते, दिष्ट्युदितार्थविभासनार्थं इतिहास उच्यते स चाविवक्षितस्वार्थः, तदर्थप्रतिपत्तॄणामुपदेशपरत्वात् दिष्टिरुपदेशः। 'विश्वकर्माह भौवनः' यथोदितमिदं वैदिकं कर्मसम्बन्धदर्शनेन यः सर्वं करोति सर्वात्मकत्वात् सर्वस्य वैश्यकर्मणीमवस्थामात्मन्युन्नीय स यजमानो विश्वकर्मा भुवनानां भूतानामात्मनि होता भूतेषु चात्मानम्। तथाहि विज्ञायते—'हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि

है, वह भी निर्मूल होने से चिन्त्य है। पुत्रों में भी सूक्ष्मता, असूक्ष्मता के कारण उस तरह का व्यपदेश करना उचित नहीं है। द्वितीय मंत्र के उत्तरार्ध की भी व्याख्या नहीं की। 'देवानां नव' इस अनुक्रमणी के अनुसार तो यह सूक्त देव-देवत्य है। उपर्युक्त दो मंत्रों का वास्तविक अर्थ सायणाचार्य ने किया है। उसे ऊपर मूल संस्कृत में दिया गया है। प्रकृत प्रसंग में जड़ प्रकृति को 'अदिति' नहीं कहा गया है. किन्तु चेतन, महैश्वर्यशालिनी पारमेश्वरी विशिष्ट शक्ति को ही बताया गया है। वायुपुराण के वचन से तो इतना ही बताया गया है कि ब्रह्माण्ड के उत्पादन में तमोमहदहंकारादि सहायक होते हैं। वह वायुपुराण का वचन, पूर्वोक्त प्रमाणसिद्ध वैदिक अर्थ का अपलाप नहीं कर रहा है। (निरु० १०।२६) इस निरुक्तवचन से भी तुम्हारा अभिप्रेत अर्थ, सिद्ध नहीं हो पा रहा है। समाजी तो ऐतिहासिक पक्ष का अपलाप ही करते हैं, किन्तु निरुक्त की दृष्टि में ऐतिहासिक पक्ष सदा जागरूक रहता है।

वस्तुतस्तु आख्यायिका सुखावबोधार्थ हुआ करती हैं। इस सम्पूर्ण प्रघट्टक में 'विश्वकर्मा विमना०' (ऋ० सं० १०।८२।२) इस ऋक् का व्याख्यान प्रवृत्त हुआ है। उसका आधिदैवत और अध्यात्म व्याख्यान करके मन्त्र को आत्मगतिपरक बताने के प्रसंग में आत्मविद् लोग इतिहास बता रहे है। अर्थात् परकृत्यात्मक अर्थवाद के रूप में इतिवृत्त कह रहे हैं। जो भी आध्यात्मिक, आधिदैविक या आधिभौतिक अर्थ बताया जाता है, वह दिष्ट्युदित अर्थ के अवगमार्थ बताया जाता है, उसे ही इतिहास कहते हैं। उसकी अपने स्वार्थ (अभिधेयार्थ में कोई विवक्षा नहीं रहती, उसका तात्पर्य तो श्रोतृवर्ग को उपदेश देने का है, क्योंकि 'दिष्टि' शब्द का अर्थ ही 'उपदेश'

भूतानि चात्मनि' (श० १३।७।१।१)। तथा विदुषो दर्शनकृता सर्वमेधसंयतं सर्वकर्मसु विज्ञायते ह्यग्निहोत्रमधिकृत्य 'स यत्सायं जुहोत्यग्निमेव तदनेन सर्वेणादित्ये जुहोत्यग्निमेवेति सर्वमनु सर्वं तद्यथानेन सकृत्सर्वं तेनेष्ट्वा लोकं जयेत तावदुहप्रातराहुत्या लोकं जयते यस्यैते आहुती''''''इत्यादिना विदुषः सर्वकर्मसु सर्वमेधः सम्यग्ज्ञानेन सम्पद्यते इत्युक्तम्। तदेव यस्मिन् कस्मिश्चित् कर्मण्यग्निहोत्रादौ सर्वः सर्वेण सर्वस्मिन् सर्वस्यैव सर्वार्थं हुत्वा आत्मानं सर्वमेव भवतीति समासार्थः। निरूढसंज्ञात् सर्वमेधादयं सर्वमेधो भिन्नः। अहीने निरूढसंज्ञे सर्वमेधे तु त्रीण्याश्वमेधिकानि पञ्च पौरुषमेधिकानि वाजपेयाप्तोर्यामौ च भवन्ति। तत्र स 'आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार' इत्यत्र तदात्महोमस्याविधानान्नोपपद्यते। दर्शनशास्त्रतस्तु सर्वमुपपद्यते। सर्वभूतानि विशेषान् सामान्यात्मनि जुहाव पश्यन् सामान्यं चात्मानं विशेषे जुहाव पश्यन् सर्वकर्मसु स्वयमेव भवति। अयमात्मयाजीत्युच्यते आत्मयाजी श्रेयान् न देवयाजी' (श० ११।२।२।१३), 'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः। स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छद वराँ आविवेश ॥' अत्र सर्वमेधसम्पद् दृश्यते। सर्वथाप्याध्यात्मिकेऽपि यज्ञे प्रसिद्धवैदिकद्रव्ययज्ञानुसारेणैव दर्शनमुपासनं विहितम्। अत एव स मानसो यज्ञो भवति। तद्दुर्गाचार्यविवृतौ स्पष्टमेव। 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (ऋ० सं० १०।१२१।१) इति मन्त्रस्यापि न त्वदुक्तोऽर्थः संगतः, 'वयम् अन्तर्वर्तमानाः प्राणरूपा भूतगणाः हविषा आत्मीयेन हव्येन अंशेन विधेम निर्माणकार्यं कुर्मः' इति भावस्य जडे प्राणरूपे भूतगणेऽसम्भवात्। न च महदण्डे लोकाः प्राणिनश्चाण्डजन्यायेन स्वयमेवान्तस्तापेन भवन्ति, तथात्वे चेतनकारणवादस्य दत्तजलाञ्जलित्वप्रसङ्गात्। अण्डजानामप्यङ्गप्रत्यङ्गनिर्माणस्य अन्तर्यामिकर्तृकत्वाभ्युपगमात्। अत एव विश्वमिदं परमेश्वरशिल्पयिष्यते। न 'अत्यरिच्यत' इत्यनेन रिक्तः सञ्जातः, अर्थाद् ग्रहोपग्रहा बहिरागता इत्यर्थो ग्राह्यः। अण्डस्य द्यावापृथिव्यात्मकत्वेन। तद्भेदे ग्रहोपग्रहाणां तद्बहिर्गतत्वानुपपत्तेः। अति पूर्वस्य रिचेराधिक्यार्थे प्रसिद्धिः। सत्वान् भूमिमन्यांश्च लोकान् प्रकटितवान् इति त्वदुक्तिविरोधाच्च। वस्तुतो मन्त्रार्थस्तु—हिरण्यगर्भः हिरण्मयस्याण्डस्य गर्भभूतः प्रजापतिः, हिरण्मयोऽण्डो गर्भवद् यस्योदरे वर्तते स सूत्रात्मा हिरण्यगर्भो वा, अग्रे प्रपञ्चोत्पत्तेः प्राक् समवर्तत मायाध्यक्षात् सिसृक्षोः परमात्मनः समजायत। यद्यपि परमात्मैव हिरण्यगर्भः, तथापि तदुपाधिभूतानां वियदादीनां ब्रह्मण उत्पत्तेस्तदुपहितोऽप्युत्पन्न उच्यते। स च जातः जातमात्र एव, एकः अद्वितीयः सन्, भूतस्य विकारजातस्य ब्रह्माण्डादेः सर्वस्य जगतः पतिः ईश्वर आसीत्। न केवलं

है। यथोदित वैदिक कर्म के अनुष्ठान से विद्वान् सर्वमेध अर्थात् सम्यग् ज्ञानसम्पन्न हो जाता है। लोक प्रसिद्ध (लोकरूढ) सर्वमेध से यह सर्वमेध भिन्न है। यह सर्वमेध विद्वान् 'आत्मयाजी' कहलाता है। आध्यात्मिक यज्ञ में भी प्रसिद्ध वैदिक द्रव्ययज्ञ के अनुसार ही दर्शन (उपासना) का विधान किया गया है। अत एव उसे मानस यज्ञ कहते हैं। यह सब दुर्गाचार्य की विवृति में स्पष्ट किया गया है।

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे०' (ऋ० सं० १०।१२१।१) इस मन्त्र का अर्थ भी जो तुमने किया है, वह संगत नहीं है। क्योंकि अन्तर्वर्तमान प्राणरूप भूतगणों के द्वारा अपने हव्य अंश से निर्माण कार्य कर पाना सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि प्राणरूप भूतगण तो जड़ हैं, अतः उनके लिये यह निर्माण कार्य करना सर्वथा असंभव है। उसी तरह महदण्ड में लोक और प्राणिवर्ग अण्डजन्याय से स्वयमेव अन्तस्ताप से तप्त नहीं होते हैं। अन्यथा 'चेतनकारणवाद' को जलाञ्जलि देने का ही प्रसंग प्राप्त होगा। अण्डजों में भी अंग-प्रत्यंग निर्माण, अन्तर्यामिकर्तृक ही माना गया है। अतएव इस विश्व को परमेश्वर का शिल्प माना जाता है।

'अत्यरिच्यत' का जो अर्थ तुमने किया है, वह भी ठीक नहीं है। 'अत्यरिच्यत' का 'रिक्त हुआ, अर्थात् ग्रह-उपग्रह बाहर आ गये'—यह अर्थ नहीं है। क्योंकि वह 'महदण्ड' द्यावा-पृथिवीरूप है। अतः उसके भिन्न होनेपर फूटनेपर ग्रहोपग्रहों का उसके बाहर निकल पाना संभव ही नहीं हो सकता। क्योंकि अति पूर्वक रिच धातु 'आधिक्य' अर्थ में प्रसिद्ध है और तुम्हारी 'भूमि और अन्य लोकों को प्रकट किया'—इस उक्ति से भी विरोध हो रहा है। यद्यपि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है, तथापि तदुपाधिभूत

पतिरेवासीत् किं तर्हि, स पृथिवीं विस्तीर्णां द्यां दिवम् उत अपि अस्माभिर्दृश्यमानाम् इमां पुरोवर्तिनीं भूमिं पृथिवीमन्तरिक्षं द्यां दिवं भूमिं चेति वा दाधार धारयति । सार्वकालिको लिट् । कस्मै अभिज्ञातस्वरूपाय प्रजापतये सृष्ट्यर्थं कामयते इति कः, तस्मै वा सुखरूपाय वा । यौगिकपक्षे व्यत्ययेन स्मैभावः । देवाय दानादिगुणकाय हविषा पुरोडाशेन विधेम परिचरेम । वयमृत्विज इति शेषः । विधतिः परिचरणकर्मा ।

यदपि—'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् । पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ।' (वा० सं० ३१।६) इति मन्त्रस्य व्याख्याने लिखितम्—तस्मात् यज्ञात् सङ्गतिकरणात् निर्मितात् विराट्पुरुषरूपात् यस्मिन्नन्तः वर्तमानाः सर्वे प्रकृत्यंशा हुताः कार्यरूपेण परिणताः, तस्मात् यज्ञात् पृषदाज्यं क्वचिदन्धकारः क्वचित्प्रकाशः सम्भृतः धारितः । तेनैव सर्वहुता यज्ञेन वायव्या वायुषु बिचरणशीला ग्राम्या आरण्याः पशवः, अर्थात् स्वरूपेण दृश्यमानानि यानि लोकलोकान्तराणि तान्युत्पादितानि । एते वायौ विचरन्तो ग्राम्यपशुसमूहा एकस्थानस्थिते सूर्यात्मके यूपे तद्रश्मिभिराकर्षणरूपे रज्जुभिर्वा नियमिताः । कक्षासु भ्राम्यन्तो बुधशुक्रादिग्रहा आरण्याः पशवः स्वातन्त्र्येण विचरन्तो धूमकेत्वादय उच्यन्ते । नात्र भूलोकवासिनः पशुपक्ष्यादयोऽभिप्रेताः ।' इति, एवमेव 'तस्मादश्वा अजायन्त' (वा० सं० ३१।८) इति मन्त्रे उभयादतः अश्वाः, एकदतः गवाजादयोऽपि न लौकिकाः पशवः' इति, तथा 'यत्पुरुषेण हविषा देवा' (वा० सं० ३१।१४) इति मन्त्रेऽपि यस्मात् सर्वहुतः पुरुषात् देवैः भौतिकशक्तिभिः यज्ञा वितताः, तेषामाज्यम् (व्यक्तेः कान्तेर्वा साधनानि) वसन्त आसीत् । इध्मः दीपकः ग्रीष्म आसीत् हविः शरद् आसीत् इति वर्णनेनायं यज्ञो न भौतिकः । अस्य पुरुषाध्यायोक्तस्य सृष्टियज्ञस्य द्रष्टा यजमानो नारायणः । नारा आपः प्रकृतिस्तत्र यस्यामतं व्याप्तिः स परमपुरुषो नारायणः' इति, तदपि सर्वं यत्किञ्चित्, धात्वर्थादिविरोधात् । यजधातोः सङ्गतिकरणार्थत्वाङ्गीकारेऽपि सङ्गतिकरणनिर्मितविराजस्तदर्थत्वानुपपत्तेः । नहि सङ्गतिकरणनिमितात् कस्माच्चित् । ऋगादिवेदानामश्वादीनाञ्चोत्पत्तिः संभवति ।

उत्तरत्र तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जायन्ते । तस्माद् देवादयो ब्राह्मणादयश्चोत्पन्नाः । न तत्र प्रकृत्यंशानां होमः प्रमाणसिद्धः, विज्ञानघने परमात्मनि निरवकाशत्वेनान्यप्रवेशासम्भवात् । न च प्रकृतेः कार्यरूपेण परिणमनमेव हवनमिति साम्प्रतम्, तथात्वे पृथिव्यादिकारणानां घटपटाद्यात्मना परिणतेरपि होमपदवाच्यत्वापत्तेः । न च पृषदाज्यपदेन क्वचित् प्रकाशः क्वचिदन्धकार इत्यर्थः सम्भवति, निर्मूलत्वात् । यज्ञकर्मणि दधिसहितमाज्यं पृषदाज्यमुच्यत इति त्वदुक्तिविरोधाच्च । न च साम्यमात्रेण प्रमाणमन्तरा अन्धकारप्रकाशयोः पृषदाज्यपदप्रयोगो युक्तः, साम्येन रज्ज्वां सर्पपदप्रयोगापत्तेः । साम्यमपि न विद्यते, अन्धकारप्रकाशयोर्मिश्रणानुपपत्तेः । न वा लोकलोकान्तराणि वायव्यपशुपदेन व्यपदेष्टुं शक्यन्ते, तेषु पशुपदस्य सङ्गतिग्रहायोगात् । सन्तुष्यतु दुर्जनन्यायेन तथाभ्युपगमेऽपि ग्राम्यारण्यपदयोर्वैयर्थ्यापत्तेः । वायव्यपदेनैव तेषां ग्रहणोपपत्तेः । किञ्च, वायौ सत्त्वेन वायव्यत्वेऽपि पशुत्वं तु कुतस्त्यम् ? न च ग्रामे भवानां मनुष्याणामरण्यानां वृक्षादीनां पशुत्वं सम्भवति । य एव

आकाशादिकों की ब्रह्म से उत्पत्ति होने के कारण उनसे वह उपहित हुआ भी 'उत्पन्न' हुआ कहा जाता है । उत्पन्न होते ही एकाकी अद्वितीय वह, विकारात्मक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पति अर्थात् ईश्वर हुआ । केवल पति (ईश्वर) ही नहीं हुआ, बल्कि उसने विस्तीर्ण पृथ्वी और द्यौ को भी धारण किया । यहां सार्वकालिक 'लिट्' है । ऐसे उस प्रसिद्धस्वरूप वाले प्रजापति की पुरोडाश के द्वारा हम ऋत्विग्गण परिचर्या करें । ऊपर मूलसंस्कृत में मन्त्र का सम्पूर्ण अर्थ दिया गया है ।

इसी प्रकार 'तस्माद्यज्ञात्' (वा० सं० ३१।६) मन्त्र की तथा 'तस्मादश्वा०' (वा० सं० ३१।८) मन्त्र की, और 'यत्पुरुषेण हविषा देवा' (वा० सं० ३१।१४) इत्यादि मन्त्रों की उटपटांग व्याख्या युधिष्ठिर ने की है, व्याख्या करते समय उसे यह भी ध्यान नहीं रहा कि व्याख्या में वदतोव्याघात हो रहा है, पहले कुछ कहा अब उसके विरुद्ध ही कुछ कह रहे हैं । धात्वर्थ के साथ

लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव तेषामर्था इति मीमांसासिद्धान्तविरोधाच्च। सूर्यश्च किमर्थं यूपपदव्यपदेश्यः, यूपवत् स्थिरत्वादिति चेन्न, 'सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्' (वा० सं० ३३।४३) इति विरोधात्। न च स्थिरत्वमात्रेण यूपत्वं सम्भवति, पर्वतादीनामपि तत्त्वापत्तेः। किमर्थं कथं सूर्यो यूपः किमर्थं च ग्रहोपग्रहादयः, पशवो यज्ञत्वनिर्वाहमिति चेन्न, अव्यापारेषु व्यापारयितत्वेन नैरर्थक्यात्।

वस्तुतस्तु कल्पनापि विहितैव फलवती भवति। न च क्वचिद्विधानं दृश्यते, यत् सूर्ये यूपदृष्टिः कर्तव्या, ग्रहोपग्रहेषु पशुदृष्टिः कर्तव्येति। यथा सिंहभिन्ने सिंहगतशौर्यक्रौर्यादिगुणयोगात् सिंहत्वकल्पना भवति, तथैव यज्ञभिन्ने यज्ञत्वकल्पनायै यज्ञगतयूपपश्वादिकल्पना अन्यत्र कर्त्तव्या भवति। तथात्वे च सिंहभिन्नो देवदत्तादिर्न मुख्यो सिंहः, किन्तु गौणसिंहो भवति, तथैव प्रसिद्धयूपपश्वादिविशिष्टो यज्ञ एव मुख्यो यज्ञः, सृष्ट्यादियज्ञस्तु कल्पितो गौण एव। तत्र मुख्ययज्ञगुणानां कल्पनात् सूर्ये यूपत्वकल्पनया ग्रहोपग्रहेषु पशुत्वकल्पनया सृष्टौ यज्ञत्वकल्पना, अहोमे होमकल्पनेति गौण एव यज्ञो भवति। ज्ञानेऽपि तथैव अर्पणहविरग्न्यादिकल्पनया यज्ञत्वकल्पनैव भवति। तथात्वे रामायणभारतकल्पनायां यथा ऐतिहासिकाः सीतारामादय एव मुख्यनायकाः। नाट्ये प्रकृतानि पात्राणि तु मुख्यार्थबोधनाय प्रयुज्यन्ते, तथैव मुख्या यज्ञा मन्त्रब्राह्मणसूत्रसम्मता एव। सृष्टौ तेषु तेष्वाधिदैविकेष्वाधिभौतिकेषु क्रियाकलापेषु यज्ञभावना विहिता चेदवश्यं महाफलदायिनी भवेत्। स्वेच्छाकल्पना तु निरर्थकैव। तस्माद् द्रव्ययज्ञा नाटकरूपा मुख्ययज्ञास्तु सृष्टियज्ञादय इति यत्पूर्वमुक्तं युधिष्ठिरेण तत्सर्वं निर्मूलं मोहमूलकं प्रसिद्धयज्ञद्वेषमूलकं वा। मिथ्यावादस्य पदाभावादेव नावस्थानमित्याभाणकं सत्यमेव। लोकेषु वायव्याः पक्ष्यादयो ग्राम्या अजाव्यादयः, आरण्या हरिणादयः प्रसिद्धभेदभिन्नाः। उभयादतोऽश्वादयः, एकदतो गवादयः प्रसिद्धाः। ग्रहोपग्रहेषु समानेष्वपि कथं केषाञ्चिद् वायव्यत्वं केषाञ्चिद् ग्राम्यत्वम् अन्येषामारण्यत्वम् ? केषामुभयादत्त्वम् ? केषाञ्चैकदत्त्वम् इति। भौतिकशक्तिषु देवत्वमपि काल्पनिकमेव। न च जडासु भौतिकशक्तिषु यज्ञविस्तारकत्वमपि सम्भवति। आज्यम् इध्मं हविश्च यज्ञे प्रसिद्धम्। प्रकृते वसन्तस्य तु न मुख्यमाज्यत्वम्। न वा ग्रीष्मस्येध्यत्वं न वा शरदो हविष्ट्वम्। केनचिद्गुणेन असिंहंसिंहमिव अनाज्ये वसन्ते आज्यत्वमनिध्मे ग्रीष्मे इध्मत्वमहव्ये शरदि हव्यत्वं च कल्पितमेव। 'असौ वा आदित्यो यूपः' इत्यादित्यस्य यूपत्वमिव क्वचित्कस्यचिद् ग्रहस्य पशुत्वयजत्वमुक्तमपि स्यात्तदापि तस्य गौणत्वमेव, नहि वाच ऋक्त्वे मनसो मनुष्ये यजुष्ट्वे प्राणस्य सामत्व उक्तेऽपि मुख्यमेव ऋक्त्वादिकं तत्र भवति।

विरोध होने का भी ध्यान नहीं रक्खा। अतिप्रसंगादिदोषों का भी ध्यान नहीं रक्खा, पदप्रयोग के औचित्य को भी नहीं देखा। साम्य कैसे बताया जाता है, उसे भी नहीं समझ पाये। अपने को मीमांसक कहलाने वाले स्वयं ही मीमांसा के सिद्धान्तों को भूल गये। तात्पर्य यह है कि युधिष्ठिरजी 'अव्यापारेषु व्यापारः' कर बैठे।

वस्तुतः स्वैरकल्पना (स्वेच्छानुसार कल्पना) नहीं की जाती, किन्तु विहित कल्पना ही फलवती होती है। कल्पना भी किसी आधार पर ही की जाती है, निराधार कल्पना नहीं हुआ करती। रामायण—भारत की कल्पना में ऐतिहासिक सीता-राम आदि ही मुख्य नायक हैं। नाट्य में प्रकृतपात्रों का प्रयोग, मुख्यार्थबोधन के लिये किया जाता है, उसी तरह मुख्य यज्ञ वे ही कहलाते हैं, जो मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्र से सम्मत हों। तत्तद् आधिदैविक—आधिभौतिक क्रियाकलापों में यज्ञ भावना यदि की जाती है, तो वह अवश्य महाफलदायिनी होती है। किन्तु स्वेच्छा से की हुई कल्पना तो निरर्थक ही होती है। अतः द्रव्ययज्ञों में नाटक की कपोलकल्पना करना और सृष्टियज्ञादिकों में मुख्य यज्ञ की स्वैर कल्पना करना यह सब निरर्थक प्रयास युधिष्ठिर ने किया है, क्योंकि वह निर्मूल है, केवल मोहमूलक अथवा प्रसिद्ध यज्ञद्वेषमूलक भी हो सकती है। उसी तरह भौतिक शक्तियों में देवत्व भी काल्पनिक है। जड़ भौतिक शक्तियों में यज्ञविस्तारकत्व भी संभव नहीं है। आज्य, इध्म, और हवि तो यज्ञ में प्रसिद्ध हैं। प्रकृत में 'वसन्त' में मुख्य आजत्व, तथा 'ग्रीष्म' में मुख्य इध्मत्व, और 'शरद्' में मुख्य हविष्ट्व तो संभव हो नहीं सकता। किसी गुण को लेकर असिंह में सिंह की

परमपुरुषे नारायणे यजमानत्वमारोपितमेव, तस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तपूर्णत्वेन सर्वनिरपेक्षत्वात् ।

सायणरीत्या त्वयं मन्त्रार्थः—सर्वहुतः सर्वात्मकः पुरुषो यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुतः, वसन्ताज्यादिरूपस्य बाह्यद्रव्यस्याद्याप्यनुत्पन्नत्वेन हविरन्तरासम्भवात् पुरुषरूपमेव मनसा हविषा इव सङ्कल्प्य तेन पुरुषाख्ये हविषा देवा मानसं यज्ञमकार्षुरित्युत्तरत्र लक्ष्यमानत्वात् । तस्मान्मानसाद् यज्ञात् पृषदाज्यं दधिमिश्रमाज्यं सम्भृतं सम्पादितम् । दधि च आज्यं चेत्येवमादि सर्वं सम्पादितम् । तथा वायव्यान् वायुदेवताकान् तान् लोकसिद्धान् पशून् चक्रे उत्पादितवान् । ये आरण्या द्विखुरादयः, ये च ग्राम्या ग्रामे भवा गवाश्वादयः तानुत्पादितवान् । पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेवताकत्वं मन्त्रान्तरव्याख्याने समाम्नातम् । तथाहि—'वायवः स्थेत्याह वायुर्वान्तरिक्षस्याध्यक्षः, अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः, वायव एवैतान् परिददाति ।' (तै० ब्रा० ३।२।१।३) ।

यद्यपि—'अग्निः पशुरासीत् । तेनायजन्त । वायुः पशुरासीत् । तेनायजन्त ।' (वा० सं० २३।१७ (तै० सं० ५।७।२६) नह्यग्निवायुसूर्यरूपैः पशुभिर्लौकिकद्रव्यमयेषु यज्ञेषु यजनं सम्भवति । अत एव निरुक्तकारोऽपीदमेव तत्त्वं मन्यते । तथाहि—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥' (वा० सं० ३१।१६), 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाग्निमयजन्त देवाः, अग्निः पशुरासीत् । तमालभन्त तेनायजन्त' इति ब्राह्मणम्, तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् तेह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः । द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः । पूर्वं पूर्वयुगमित्याख्यानम्' (नि० १२।४१) (ऐतरेयब्राह्मणे १।१६) तथैव व्याख्यातोऽयं मन्त्रः । 'द्युस्थानो देवगणः' इत्युक्त्वा आदित्यरश्मयः साध्या देवा इति यास्केनोक्तम् । छन्दांसि वै साध्या देवा इति ऐतरेयेऽपि तदेव सङ्केतितम् । पुराणेषु छन्दसामादित्यस्थरूपेण वर्णनं दृश्यते। 'प्रजापतेर्वा एतान्यङ्गानि यच्छन्दांसि' (ऐ० ब्रा० १।१८), 'छन्दोभिरश्वरूपैः' (वायुपुराण ५२।४५), 'हयाश्च सप्त छन्दांसि' (विष्णुपुराण २।८।७) । आधिदैविकानि तत्त्वान्यत्र पशव उच्यते । अत एव शाखासु ब्राह्मणग्रन्थेषु यत्र क्वापि पशुयागवर्णनं दृश्यते, तत्र सर्वत्र ततः पूर्वं पश्चाद्वा पुराकल्पार्थवादरूपेण सर्गकालिकघटनावर्णनं दृश्यते । यथा—'प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत् सोऽकामयत प्रजाः पशून् सृजेयेति । स आत्मनो वपामुदखिदत् । तामग्नौ प्रागृह्णात् । ततोऽजस्तूपरः समभवत् । तं स्वायै देवताया आलभत । ततो वै स प्रजाः पशूनसृजत ।' (तै० सं० २।१।१) । सर्वोऽयं कथानकः सर्गकालिकः । आचार्यशबरस्वामिनापि सृष्टिपरमेव तद् व्याख्यातम् । (मी० १।२।१०) भाष्ये । तथैव तैत्तिरीयसंहितायाम्—'यो वरुणगृहीतः स्यात् स एतं वारुणं कृष्णमेकशितिपादमालभेत' (तै० सं० २।१।२) इति विधेः पूर्वं विस्तृतः पुराकल्पार्थवादो वर्णितः । उक्तदृष्ट्या पुरुषमेधाश्वमेधगोमेधादिषु लौकिकाः पशवः सृष्टियज्ञस्य सर्गकालीना अथवा आधिदैविकपदार्थस्य वर्तमानकालीनाः प्रतिनिधिस्वरूपा एव'

तरह अनाज्य बसन्त में आजत्व, अनिध्म ग्रीष्म में इध्मत्व, अहव्य शरद् में हव्यत्व को कल्पित ही कहना होगा । 'असौ वा आदित्यो यूपः' इस वचन से आदित्य में यूपत्व की तरह कहीं किसी ग्रह में पशुत्व, अजत्व कहा भी हो तो वह गौण ही होगा । वाणी ऋक्त्व, मनमें यजुष्ट्व: प्राण में सामत्व यद्यपि बताया गया है, तथापि वहां ऋक्त्व आदि को मुख्य रूप में नहीं समझना चाहिये । परम पुरुष नारायण तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, पूर्ण हैं, अतः सर्वनिरपेक्ष हैं, इस कारण उनमें यजमानत्व का केवल आरोपमात्र ही किया गया है । मन्त्र का वास्तविक अर्थ सायण के अनुसार ऊपर मूल संस्कृत में दिया गया है ।

उसी प्रकार 'अग्निः पशुरासीत्०' (वा० सं० २३।१७,–तै० सं० ५।७।२६) मन्त्र की व्याख्या करते हुए पृ० १२४ से पृ० १२६ तक युधिष्ठिर ने जो लिखा है, उसके पढ़ने से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि युधिष्ठिर को शास्त्रतात्पर्य का ज्ञान नहीं है । शास्त्रतात्पर्य (रहस्य) का ज्ञान न होने से यह सब उटपटांग लिख दिया है। तथापि वास्तविक शास्त्रतात्पर्य बताते हुए सबका उत्तर हम पहले ही दे चुके हैं । यह पहले ही बता चुके हैं कि अग्नि आदि में पशुत्व का आरोप, मानस ही है, क्योंकि सर्गकाल में

इति, तदेतत्सर्वं शास्त्रतात्पर्याज्ञानविजृम्भितम्, दत्तोत्तरत्वात् । उक्तमेतद् यद् अग्न्यादिषु पशुत्वारोप एव मानसः, सर्गकाले प्रत्यक्षपश्वादीनामभावात् । अग्न्यादिषु पशुबुद्धिं कृत्वा मानसयज्ञनिर्वाहः क्रियते स्म । 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' (बृ० उ० १।१।१) इति बृहदारण्यकेऽश्वमेधोपासने प्रत्यक्षस्याश्वस्याभावे भावमयेनैवाश्वमेधेन यजनं भवति । यत्र विधिर्भवति तत्र तु यूपेष्वादित्यबुद्धिरिव प्रस्तरेषु यजमानबुद्धिरिवाग्न्यादिषु पशुबुद्धिरुपासनार्थैव 'सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते । परार्थं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधार्यताम् ।' (श्लो० वा०) इति भट्टपादोक्तेः । यत्र विधिस्तत्र तु मानसीभावनैव क्रियते । पुराकल्पार्थवादस्य तु वाच्येऽर्थे तात्पर्याभावेन विधिप्राशस्त्यबोधन एव तात्पर्यात् ।

निरुक्तव्याख्यानस्य त्विदं तात्पर्यं यत्—स्थावरजङ्गमभावमापन्नेन हविर्भूतेन अग्निं सर्वदेवतात्मभूतमादित्यं प्रनाडिकया महान्तमात्मानमयजन्त । देवा देवभाविनः पूर्वे ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायिनो यजमानभावमापन्नाः साध्या विश्वसृजः ऋषयः प्राणाः, तानि धर्माणि कर्माणि तथाविधज्ञानयुक्तानि प्रथमानि मुख्यानि महदात्मप्राप्तये पूर्वमासन् । ते च तानि कृत्वा नियमेनानन्यभावित्वात् फलस्य महिमानस्तदानुपूर्व्येण जातमहदात्मभावाः सन्तस्तमेव नाकं महान्तमात्मानमेकान्तसुखमसचन्त । तद्भावमेव ते आपेदिरे । न केवलं त एव, किन्तु पूर्वे साध्याः शब्दार्थोपदेशनित्यत्वाद् यत्र पूर्वे पूर्वतरे च ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायिन आसते, 'विश्वसृजः प्रथमे सत्रमासत' (तै० ब्रा० ३।१२।९) इति श्रुतेः । 'तमुन्निन्यथुः सर्वगणं सर्वनामानम्' (नि० ६।३६) इत्यत्र स्पष्टमेवाग्नेः स्थावरजङ्गमभावापत्तिर्विज्ञायते ।

'हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथा पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम् । ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीत मुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति ॥' (ऋ० सं० १।११६।८) । कक्षीवत आर्षम् । प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते । तदर्थस्तु दुर्गाचार्येण एवमुच्यते—हे अश्विनौ, हिमेन उदकेन अभिवृद्धं ग्रीष्मान्ते अग्निं घ्रंसम् अहर्लक्षणम् इमांल्लोकान् दिधक्षन्तमिव युवाम् अवारयथाम् । वारयित्वा च पितुमतीम् अन्नवतीम् पुरोडाशाद्यन्नसहिताम् ऊर्जमाज्यलक्षणां युवामधत्तम् । अस्मै अग्नये हविर्भाजे वर्षानुग्रहपूर्विकयौषधिनिष्पत्त्या युवामेव हे अश्विनौ, योऽयं ऋबीसे पृथिव्यामग्निरनुप्रविष्टोऽन्तर्येनेमानि पृथिवीगर्भेषूपनिहितानि तिन्दुकादीनि पच्यन्ते । यमवेक्ष्योक्तम्—'ऋबीसपक्वं नाश्नीयात्' (मानवधर्मसूत्र १।५।६।१४) युवां तमुन्निन्यथुः । ओषध्याद्यन्तर्वर्तिनमोषध्यादिरूपेणैव सर्वगणं सर्वनामानम् । अग्निरेव ह्ययमनेनोषध्यादिरूपेणावस्थितिः सर्वैर्नामभिरभिधीयते, अग्नेः सर्वत्रोत्पत्तिदर्शनात् । किमर्थं स्वस्ति, अस्य जगतः स्वस्त्ययनाय, ओषध्याद्यभावे सर्वस्य विनाशसम्भवात् । तस्मान्न निरुक्तव्याख्यानेन 'अग्निः पशुरासीत् तमालभन्ते, इति ब्राह्मणमपि तमेवार्थमाह । अग्नेः पशुत्वस्य प्रत्यक्षविरोधात् । पशुरत्र साधनमुच्यते । तच्च पूर्वोक्तरीत्याग्निरेवौषध्यादिस्थावरजङ्गमरूपेण परिणतः । तमग्निमालभन्त अजादिरूपेण व्रीहियवादिरूपेण च परिणतम् अलभन्त तेनायजन्त इत्येवार्थः । दुर्गाचार्येण तथैव व्याख्यातत्वात् । यथा नहि कोऽपि घटं पटयितुमीष्टे, तथा नहि कश्चिद् वाक्यशतैरप्यग्निं पशयितु(पशुं कर्तुं)मीष्टे । त्वयापि ७० तमेपृष्ठे 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायं व्याकुर्वता लिखितं यत् शब्दस्य अपरिभाषितः (विशेषवचनद्वाराऽप्रकाशितः) अर्थः स्वाभाविकत्वान्मुख्यः । यश्च वचनविशेषद्वारा परिभाषितोऽर्थः, स कृत्रिमः, अत एव गौणः । छन्दःसु च गौण एव देवपदप्रयोगः, यष्टृत्वासंभवात् । दुर्गाचार्यरीत्या कर्मोपासनसमुच्चयानुष्ठायिनो देवभावमापन्ना द्युस्थानादेवा एव वैदिका अर्था अधिकारिणां हृदयेषु छन्दोभिः प्राप्यन्त इति छन्दःस्वश्वादिव्यवहारोऽपि गौण एव । नहि छन्दोऽश्वयोरैक्यं पर्यायवाचकत्वं वा । विष्णोर्भगवतो वाहनस्य गरुडस्यापि तत्र तत्र

प्रत्यक्ष पशु आदि का अभाव था । अग्नि आदि में पशुबुद्धि करके मानस यज्ञ का निर्वाह किया जाता था । 'उषा वा०' (बृ० उ० १।१।१) इस बृहदारण्यकवचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अश्वमेधोपासन में प्रत्यक्ष अश्व के अभाव में भावनामय अश्वमेध से ही यजन किया गया । जहाँ विधि होती है, वहाँ तो यूप में आदित्यबुद्धि की तरह, प्रस्तर में यजमान बुद्धि की तरह, अग्नि आदि में पशु बुद्धि

छन्दोभयत्वमुक्तम् । तत्राप्ययमेवाभिप्रायः । भक्तिसिद्धान्ते तु छन्दसां लीलाविग्रहोऽपि गरुडो भवतीत्यन्यदेतत् । पुराकल्पार्थवादानां सुखावबोधार्थाख्यायिकारूपत्वाद् विध्यर्थंस्तुतावेव तात्पर्यम् । तदर्थेषु क्वचिद् यज्ञहोमादिशब्दसत्त्वेऽपि विधिमन्तरा न तच्चिन्तनमुपासनम् । तादृशचिन्तनविधाने छान्दोग्योपनिषदुक्तोद्गीथाद्युपासनवत्तत्र तत्र केनचिद्गुणयोगेन यूपपश्वादिबुद्धयः कर्त्तव्या भवन्ति । न सृष्टेर्न वा आधिदैविकपदार्थानां मुख्यं यज्ञत्वं सम्भवति, पशुयूपादिशब्दानां वैदिकेषु तेषु तेष्वर्थेष्वेव प्रसिद्धत्वात् । वचनबलात्तु त्वद्रीत्यापि गौणमेव तेषु पशुयूपत्वादिकमिति । जैमिनिनापि 'गुणवादस्तु' (जै० सू० १।२।१०) इति सूत्रेण तदेवोक्तम् । शबरस्वामिनापि गुणवादत्वेनैवार्थवादानां सङ्गतिरुक्ता । 'प्रजापतिर्वा इदमेवमासीत्' इति पुराकल्पसम्बन्धेऽपि स आह—'यः प्रजाकामः पशुकामो वा स्यात् स एतं प्राजापत्यं तूपरमालभेत' इत्याकाङ्क्षितत्वादस्य विधेः शेषोऽयम् ।

'स आत्मनो वपामुदखिद दिति' कथं गुणवादः ? इत्थं नाम, नासन् पशवो यदात्मनो वपामुदखिददिति । एतच्च कर्मणः सामर्थ्यं यदग्नौ प्रहृतमात्रायां वपायां तूपर उदगात् । इत्थं बहवः पशवो भवन्तीति । कथं पुनरनुत्खिन्नायां वपायां प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिददित्याह—उच्यते, असद्वृत्तान्तान्वाख्यानं स्तुत्यर्थेन प्रशंसाया गम्यमानत्वात् । इहान्वाख्याने वर्तमाने द्वयं निष्पद्यते । यच्च वृत्तान्तज्ञानं यच्च कस्मिंश्चित् प्ररोचना द्वेषो वा । तत्र वृत्तान्तज्ञानं न प्रवर्तकं न निवर्तकं चेति प्रयोजनाभावादनर्थकमित्यविवक्षितम् । प्ररोचनया तु प्रवर्तते द्वेषान्निवर्तत इति तयोर्विवक्षा । नात्रत्येन शाबरभाष्येण त्वदीयः पक्षः सिद्ध्यति, प्रत्युत खण्ड्यत एव, वाच्यार्थस्याविवक्षितत्वोक्तेः । तत एव न सृष्टियज्ञादिकमाधिदैविकं यज्ञादिकं वात्र विवक्षितम्, इति सन्तुष्यतुदुर्जनन्यायेन वृत्तान्तान्वाख्यानसमाधानमुक्तम् । वृत्तान्तान्वाख्याने विधीयमाने वेदस्यादिमत्ता प्रसज्येत । तथापि निरालम्बनं कथमाख्यानमित्याग्रहिणं प्रत्युच्यते । नित्यः कश्चिदर्थः प्रजापतिः स्याद्वायुराकाश आदित्यो वा । स आत्मनो वपामुदखिददिति । वृष्टिं वायुं रश्मिं वा । तामग्नौ प्रागृह्णात् । वैद्युत आलौकिके वा । ततोऽज उत्पन्नं वीजं वीरुद्वा । तमालभ्य उपयुज्य प्रजाः पशून् प्राप्नोति । इत्थं सृष्टेराधिदैविकानां पदार्थानां प्रतिपादनेऽपि यदि कश्चित्तत्र सृष्टियज्ञमाधिदैविकं वा यज्ञं विवक्षित्वाऽकाण्डताण्डवं कुर्यात्तं प्रत्याह—गौणाः शब्दाः, गौण्यावृत्त्यैव तादृशोऽर्थः, तात्पर्यानुरोधेन स्तुत्यर्थतैव । तत्रैव भट्टपादः—'एतस्मिंस्तु प्रक्रमे सत्यं सालम्बनता, किन्तु स्तुतित्वं हीयते, अतः स्तुतित्वात्यागेनैव स्वार्थसत्यतां वर्णयामः । मन्त्रार्थवादप्रामाण्यात् सृष्टिप्रलयाविष्येते । तत्र सृष्ट्यादौ प्रजापतिरेव योगी । तस्मिन् काले पुण्यकर्मोद्भवाभ्युपगमे पशूनामभावात् स्वमाहात्म्येन आत्मन एव पशुरूपमिति मयि वपोत्खननादिकृतवांस्ततोऽसमाप्त एव कर्मणि तूपरः पशुरुत्थितः । इतीदृशमिदं कर्म प्रत्यासन्नफलम् । एवं च महता प्रजापतिना चरितमिति सर्वं सत्यमेव । ननु चैवं वेदानामादिमत्ता दोष इति चेत्, तत्राह भट्टपादः—'प्रतिसृष्टि चतुर्लिङ्गन्यायेन तुल्यनामप्रभावव्यापारवस्तूत्पत्तेर्नातिव्याप्तिप्रसङ्गः' इति । अयमेव सिद्धान्त उत्तरमीमांसायां वादरायणेन समाननामरूपेतिसूत्रेण दर्शितः । तद्व्याख्यातृभिः श्रीशङ्कराचार्यादिभिस्तथैव विवृतः । यत्त्वत्रापि युधिष्ठिरेण कुचोद्यं कृतम्—'न्यायसुधायां व्याजेन श्लोकवार्त्तिके ईश्वरस्य सृष्टिप्रलययोश्च निषेधादत्र स्वीकाराच्च स्ववचनविरोधः' इति, तदपि तुच्छम्, पूर्वोत्तरवचनयोस्तात्पर्यभेदस्योक्तत्वात् ।

उपासनार्थ ही की गई है । भट्टपाद ने भी इसका समर्थन किया है । जहां विधि होती है वहां तो मानसीभावना ही की जाती है । पुराकल्परूप अर्थवाद का वाच्यार्थ में तात्पर्य न रहने से विधिप्राशस्त्य के बोधन करने में ही तात्पर्य रहता है । निरुक्तकार के व्याख्यान का तात्पर्य ऊपर मूल संस्कृत में दिया गया है ।

प्रथमाध्याय के द्वितीयपादीय दशमसूत्र के व्याख्यान में पृ० १५२ पर तैत्तिरीय संहिता के वचन का अर्थ करते हुए युधिष्ठिर कहते हैं—'महदण्ड ही प्रजापति है, उसने प्रजा की इच्छा से अपने शरीर की वपा को स्वान्तर्विद्यमान अग्नि से सम्बद्ध किया, उससे अवयवविभागरहित तूपर अज गतिशील घन अंश उत्पन्न हुआ । उसको उसकी देवता के लिये प्राप्त कराया (अण्डस्य वायुतत्त्व

श्रीरामानुजाचार्यादिभिः 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति सूत्रे कृतस्येश्वरखण्डनस्यानुमानिकेश्वरखण्डन एव तात्पर्यं न वैदिकेश्वरखण्डन इति स्वीकारात्। तथैव प्रकृतेऽपि समाधानात्।

यत्तु प्रथमाध्याये द्वितीयपादे दशमस्य सूत्रस्य व्याख्याने १५२ पृष्ठे तैत्तिरीयसंहितावचनं व्याकुर्वतोक्तम्—'महदण्ड एव प्रजापतिः प्रजाकामनया स्वशरीरस्य वपां सारभूतांशं स्वान्तर्विद्यमानेनाग्निना संबद्धं चकार। ततस्तूपरः अवयवविभागरहितः अजः गतिशीलः घनोंऽशो जातः। तं तद्देवतायै प्रापितवान् (अण्डस्थवायुतत्त्वेन संयुक्तः) स प्रजाः पशूनुत्पादितवान्। वायुसंयोगेन स घनांशो विभक्तः। तेन ग्रहोपग्रहसहितस्य सौरमण्डलस्य निर्माणं जातम्। तस्माद् भूतिकामो वायुदेवत्यं तूपरमजं स्पृशेत्। स वायुस्तथा सत्येनं भूतिं गमयति' इति, तत्सर्वं मीमांसादिप्रमाणविरुद्धमेव। जडे महदण्डे चेतनधर्मस्य कामस्यासम्भवात्। तूपराजशब्दयोः शृङ्गरहिते छागे च प्रसिद्धिः, नावयवविभागे गतिशीले घनांशे तत्प्रवृत्तिः सम्भवति, न च मुख्येऽर्थे सम्भवति गौणार्थतायुक्ता। न वा वपाशब्दस्य सारभूतोऽर्थो मुख्यः। लक्षणायां बीजाभावाच्च। न च त्वया वायुश्चेतनोऽभ्युपेयते, यत्प्रसादाय तूपरोऽजः स्प्रष्टव्यः। स्पर्शनेन को लाभो वायोः? अन्यच्च 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति मीमांसासिद्धान्ताच्च न विधौ लाक्षणिकोऽर्थो ग्राह्यः। अतः 'तूपरमालभेत' इति विधौ कथं तूपरशब्दस्य गौणोऽर्थः स्यात्।

सृष्टिप्रतिपादनमुपनिषत्सु प्राधान्येन दृश्यते, ब्रह्मसूत्रेषु च तद्विचारः। तत्र विगानदर्शनेन ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वं वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणिसमन्वयश्च सन्दिह्यते—प्रतिवेदान्तमन्या सृष्टिरुपलभ्यते। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० उ० २।१) इत्याकाशादिका सृष्टिराम्नायते। क्वचिच्च 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० उ० ६।२।३) इति तेजआदिका, क्वचिच्च स प्राणमसृजत, प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्र० उ० ६।४)। इति प्राणादिका, क्वचिच्च 'स इमाँल्लोकानसृजत अम्भो मरीचीर्मरमापः' (ऐ० उ० ४।१।२) इत्यत्राक्रमेणैव लोकानामुत्पत्तिः समाम्नायते। क्वचिच्च 'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' (तै० उ० २।३) इत्यसत्पूर्विका सृष्टिराम्नायते। क्वचिदसद्वादनिराकरणेन सत्पूर्विका प्रक्रिया आम्नाता 'तद्धैकमाहुरसदेवेदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य, 'कुतस्तु खलु सोम्य एवं स्यात्''''कथमसतः सज्जायेत, सत्त्वेव सोम्येदमासीत्' (६।६।२।१-२) क्वचिच्च स्वयंकर्तृका व्याक्रिया 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्, तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते' एवं

से संयुक्त हुआ), उसने प्रजा और पशुओं को उत्पन्न किया। वायु के संयोग से वह घनाअंश विभक्त हुआ। उससे ग्रहोपग्रहसहित सौरमण्डल का निर्माण हुआ। इसलिये भूतिकामनावाला वायुदेवतावाले तूपर अज का स्पर्श करे। वैसा करने पर वह वायु उसे भूति प्रदान करता है।' किन्तु यह सब, मीमांसादि प्रमाण के विरुद्ध ही है। जड़भूत महदण्ड में चेतनधर्म काम (इच्छा) का होना संभव ही नहीं। 'तूपर' और 'अज' दोनों शब्द शृङ्गरहित और छाग के अर्थ में प्रसिद्ध हैं, अवयवविभागरहित, गतिशील, घनांश आदि अर्थों में उस (तूपर, अज) शब्द की प्रवृत्ति नहीं है। मुख्यार्थ के संभव रहते शब्द को गोणार्थक मानना उचित नहीं है। उसी तरह 'वपा' शब्द का सारभूत अंश अर्थ करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह मुख्यार्थ नहीं है। और लक्षणा करने में कोई बीज (कारण) नहीं है। और तुम, वायु को चेतन भी नहीं मानते हो, जिसकी प्रसन्नता के लिये तूपर अज का स्पर्श करना होगा। उसके स्पर्श कर देने मात्र से वायु को कौन-सा लाभ होगा? और 'न विधौ परः शब्दार्थः' इस मीमांसा सिद्धान्त के अनुसार विधि में लाक्षणिक अर्थ का ग्रहण नहीं किया जाता। अतः 'तूपरमालभेत' इस विधि में 'तूपर' शब्द का गौण अर्थ कैसे किया जा सकेगा।

उपनिषदों में प्रधानतया सृष्टि का प्रतिपादन किया हुआ दिखाई देता है और ब्रह्मसूत्रों में उसका विचार किया गया है। किन्तु इस विषय में विगान (विरोध) दिखाई देता है। ब्रह्म की जगज्जन्मादिकारणता और वेदान्तवाक्यों का ब्रह्म में समन्वय जो बताया गया है, उसमें सन्देह होता है। प्रत्येक वेदान्त में अन्य सृष्टि उपलब्ध होती है। कहीं तो आकाशादिका सृष्टि, तो कहीं तेज आदिका सृष्टि, कहीं प्राणादिका सृष्टि, कहीं अक्रम से ही लोकोत्पत्ति बताई गई है, कहीं असत्पूर्विका सृष्टि, तो कहीं सत्पूर्विका सृष्टि बताई

विप्रतिपत्तौ वस्तुनि विकल्पानुपपत्तेर्न वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मकारणावधारणपरता इत्याशङ्क्य समाधानमुक्तम्, प्रतिवेदान्तं सृज्यमानेष्वाकाशादिषु क्रमद्वारके विगाने सत्यपि न स्रष्टरि किञ्चिद्विगानमस्ति, यथाव्यपदिष्टोक्तेः। यथाभूतो हि एकस्मिन् वेदान्ते सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वात्मा एकोऽद्वितीयः कारणत्वेनाभिप्रेतः। तथैव वेदान्तान्तरेष्वपि व्यपदेशः—'नवियदश्रुतेः' (ब्र० सू० २।३।१) इत्यत्र कार्यविषयमपि विगानमुक्तम्। भवेदपि कार्यस्य विगीतत्वम्, अप्रतिपाद्यत्वात्। नह्ययं सृष्ट्यादि-प्रपञ्चः प्रतिपिपादयिषितः। नहि तत्प्रतिबद्धः कश्चित् पुरुषार्थो दृश्यते श्रूयते वा। न वा कल्पयितुं शक्यते, उपक्रमोपसंहाराभ्यां तत्र ब्राह्मणवाक्यैः साकमेकवाक्यताया गम्यमानत्वात्। 'अन्नेन सोम्यशुङ्गेनापोमूलमन्विच्छद्भिः सोम्यशुङ्गेन तेजामूलमन्विच्छ तेजसा सोम्यशुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ' (छा० उ० ६।८।४)। मृदादिदृष्टान्तैश्च कार्यस्य कारणेनाभेदं वदितुं सृष्ट्यादिप्रपञ्चवर्णनम्, फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति न्यायात्। 'मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा। उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन॥' (मा० का० २।१५) इति श्रुतेः। ब्रह्मप्रतिपत्तिसंबद्धं च फलं श्रूयते, तरति शोकमात्मवित्' (छा० उ० ७।१।३), 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' (श्वे० उ० ३।८) इति श्रुतिभ्यः। कर्मप्रकरणेऽप्युक्तायाः सृष्टेर्विधिस्तुत्यर्थता जैमिनिना शबरस्वामिना च स्वीकृता। तदपि दर्शितमेव। तस्मान्मुधैव सृष्टियज्ञादिकल्पनया मुख्ययज्ञस्य तदनुकरणत्वकल्पना। प्रत्युत प्रसिद्धयज्ञातिरिक्तेषु सर्वेष्वपि यज्ञेषु गौणी एव यज्ञकल्पना द्रष्टव्या।

यदपि—'अस्य सौरमण्डलस्य स्थितिप्रलयकालौ चतुःषष्टिकोटयुतअर्बुदवर्षपरिमितौ' इति, तदपि न समीचीनम्, अस्य दैनन्दिनकालत्वात्। ब्रह्मणो मासवर्षायुख्यकालपर्यालोचनया तु निम्नोक्ताः काला भवन्ति। तथा च मनुः—'निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला। त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः॥ ६४॥, 'पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः।' 'दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः। अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥ ६७॥, 'चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्। तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥ ६९॥ इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु। एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥ ७०॥ यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्। एतद् द्वादससाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१॥ दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया। ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीरात्रिरेव च॥ ७२॥' (म० १ अध्याय) अर्थाद् 'उत्तरायणदक्षिणायनात्मकं मानववर्षं देवानामहोरात्रम्। त्रिंशताहोरात्रेण देवानां मासः। तादृशैर्द्वादशमासैर्देवानां वर्षः। देवमानेन चतुःसहस्रवर्षाणि कृतयुगम् तद्दशमांशः सन्ध्याकालः, तावानेव सन्ध्यांशकालः। अर्थात् कृतयुगकालात् पूर्वं देवमानेन चतुःशतवर्षाणि सन्ध्याकालः, युगकालानन्तरं च तावानेव कालः सन्ध्यांशकालः। सन्ध्यासन्ध्यांशसहितस्य कृतयुगस्य कालो देवमानेन ४८०० वर्षाणि, मानवमानेन च ४८०० × ३६० = १७२८००० अष्टाविंशतिसहस्रोत्तरसप्तदशलक्षवर्षाणि। त्रेतायुगकालो देवमानेन सहस्रत्रयवर्षाणि। सन्ध्यासन्ध्यांशसहितस्य त्रेतायुगस्य कालो देवमानेन ३६०० वर्षाणि, मानवमानेन १२९६०००

गई है। इन विप्रतिपत्तियों के सामने रहने पर तथा वस्तु में विकल्प न बन सकने के कारण वेदान्त वाक्यों से ब्रह्म में सृष्टिकारणता का कैसे निश्चय किया जा सकता है। ऐसी आशंका करके समाधान यह किया गया है कि सृज्यमान आकाशादिकों के क्रम में विरोध रहने पर भी उनके स्रष्टा के विषय में कोई विरोध नहीं है। मृदादि के दृष्टान्तों से यह बताया गया है कि कार्य का कारण से अभेद है, इस अभेद को बताने के लिये ही सृष्टचादि प्रपञ्च का वर्णन किया गया है, 'फलवत्सन्निधौ अफलं तदङ्गम्' यह नियम है, इसी का समर्थन माण्डूक्यकारिका से भी किया गया है। ब्रह्म-प्रतिपत्ति (ज्ञान) का तो फल श्रुत है। यद्यपि कर्म के प्रकरण में सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है, तथापि उसे विधिस्तुत्यर्थ ही समझना चाहिये, ऐसा जैमिनि और शबरस्वामीने कहा है। अतः सृष्टियज्ञ आदि की कल्पना करके मुख्ययज्ञ में तदनुकरणत्व की कल्पना करने का व्यर्थ प्रयास तुमने किया है। कल्पना तुम्हें इस प्रकार करनी चाहिये की प्रसिद्धयज्ञातिरिक्त सभी यज्ञ गौण हैं।

यह जो पृ० १२६ पर कहा है कि 'इस सौर मण्डल का स्थितिकाल और प्रलयकाल (८ अरब ६४ करोड़ वर्ष) चतुःषष्टिकोटियुत अर्बुद वर्ष परिमित हैं' किन्तु इस तरह काल निर्धारण करना युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि यह दैनन्दिनकाल है। ब्रह्मा

वर्षाणि षण्णवतिसहस्रोत्तरद्वादशलक्षवर्षाणि। द्वापरयुगकालो देवमानेन सहस्रद्वयवर्षाणि। सन्ध्यासन्ध्यांससहितस्य द्वापरयुगस्य कालो देवमानेन २४०० वर्षाणि मानवमानेन चतुःषष्टिसहस्रोत्तराष्टलक्षवर्षाणि ८६४००० वर्षाणि। कलियुगकालश्च देवमानेन एकसहस्रवर्षपरिमितः। सन्ध्यासन्ध्यांशसहितस्य कलियुगस्य कालो देवमानेन १२०० वर्षाणि, मानवमानेन च ४३२००० द्वात्रिंशत्सहस्रोत्तरचतुर्लक्षवर्षाणि। सम्भूय च ४३२०००० वर्षाणि, अर्थाद् विंशतिसहस्रोत्तरत्रयश्चत्वारिंशद्वर्षाणि यावद् मानवमानेन १२००० वर्षाणि द्वादशसहस्रवर्षाणि च देवमानेन चतुर्युगी कालः। एषा चतुर्युगी देवयुगशब्देनोच्यते। यावता कालेन देवयुगं सहस्रधा परिवर्तते, अर्थाद् देवमानेन १२०००००० विंशतिलक्षोत्तरैककोटिवर्षपरिमितो मानवमानेन च ४३२०००००००० द्वात्रिंशत्कोटयुत्तरवृन्दचतुष्कवर्षपरिमितः कालो ब्रह्मस्यैकस्याह्नः। एतपेव परिमाणं ब्रह्मरात्र्याः। ब्राह्माहोरात्रस्य कालस्तु देवमानेन २४०००००० वर्षाणि चत्वारिंशल्लक्षोत्तरकोटिद्वयवर्षपरिमितः, मानवमानेन च चतुःषष्टिकोट्युत्तरवृन्दाष्टवर्षपरिमितः। एतस्मिन् प्रमाणं तूपरिष्टान्मनोर्वचनमुद्धृतम्। एतदेवोक्तं ब्रह्मवैवर्तमहापुराणे प्रकृतिखण्डे ५४ अध्याये, यथा—'कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्चेति चतुर्युगम् ॥३३॥ दिव्यैर्द्वादशसाहस्रैः सावधाना निशामय। चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथायुगम् ॥ ३४ ॥ तेषां च सन्ध्या सन्ध्यांशौ द्वे सहस्रे प्रकीर्तिते। त्रिचत्वारिंशल्लक्षेण विंशत्सहस्राधिकेन च ॥ ३५ ॥ चतुर्युगं परिमितं नरमानक्रमेण च। सप्तदशलक्षमितमष्टाविंशत्सहस्रकम् ॥ ३६ ॥ नृमानेन कृतयुगं संख्याविद्भिः प्रकीर्तितम्। द्विषड्लक्षपरिमितं षण्णवतिसहस्रकम् ॥ ३७ ॥ त्रेतायुगं परिमितं कालविद्भिः प्रकीर्तितम्। अष्टलक्षपरिमितं चतुःषष्टिसहस्रकम् ॥ ३८ ॥ परिमितं द्वापरं च प्रोक्तं संख्या विपश्चिता। चतुर्लक्षपरिमितं द्वात्रिंशच्च सहस्रकम् ॥ नृमानाब्दं कलियुगं विदुः कालविपश्चितः ॥ ३९ ॥ यथा सप्त च वाराश्च तिथयः षोडशस्मृताः। दिवा रात्रिश्च पक्षौ द्वौ मासो वर्षं च निर्मितम् ॥ ४० ॥ यथा भ्रमति सततमेवमेव चतुर्युगम्। यथा युगानि राजेन्द्र तथा मन्वन्तराणि च ॥ ४१ ॥ मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः। एवं क्रमाद् भ्रमन्त्येव मनवश्च चतुर्दश ॥ ४२ ॥

यत्तु तत्र प्रलयारम्भेऽसुराणां ध्वंसनात्मिकाः प्रवृत्तय उत्तरोत्तरं वृद्धिं गच्छन्ति, प्रलयमध्ये ताः पूर्णतामुपयन्ति, ततो दैवीनां प्रवृत्तीनामुत्तरोत्तरं विकासे आसुरप्रवृत्तीनां चोत्तरोत्तरह्रासे वर्तमानसृष्टेः प्राक् प्रलयकाले आसुरप्रवृत्तिभिर्ध्वंसनात्मिका यज्ञा बभूवुः। अत एव प्रलयात्मका यज्ञा आसुरशक्तिज्ञानां सविधे आसन्। अत एव 'असुरेषु वै यज्ञ आसीत्। तं देवास्तूष्णीं होमेनापवृञ्जन्' (तै० सं० ६।३।७) अर्थात् सर्गोन्मुखकाले दैवीभिः शक्तिभिः शनैः शनैः सर्जनरूपयज्ञारम्भः कृतः, एवं यज्ञोऽसुराणां हस्ताद् देवानां हस्तमुपगतः''''इत्यादि, तत्सर्वं प्रलापमात्रमेव, ध्वंसस्य निर्माणस्य वा यज्ञपदवाच्यत्वे मानाभावात्। तथात्वे ध्वंसका अग्निदा गरदा लुण्टाका अपि याज्ञिकत्वेन धार्मिका एव व्यपदिश्येरन्। आधुनिका भौतिकास्तत्तदुत्पादकपालकध्वंसकयन्त्रादिनिर्माणपरायणा अपि याज्ञिका

की आयु के मास-वर्षात्मक काल का विचार करने पर मनुलिखित काल निश्चित होते हैं। युगकाल के अनन्तर उतनाही काल सन्ध्यांश काल होता है। इस प्रकार ब्रह्मा के अहोरात्र का काल देवमान से २४०००००० इतने वर्ष का होता है। और मानवमान से चतुःषष्टिकोटयुत्तरवृन्दाष्टवर्ष परिमित होता है। यह निर्दिष्ट काल परिमाण मनु से प्रमाणित है, यही बात ब्रह्मवैवर्तमहापुराण के प्रकृतिखण्ड ५४वें अध्याय में भी कही गई है।

यह जो कहा है कि—'प्रलय के आरंभ में असुरों की विध्वंसात्मक प्रवृत्तियां उत्तरोत्तर बढ़ती रहती हैं, और प्रलय के मध्य में वे पूर्णता को प्राप्त होती हैं, पश्चात् दैवी प्रवृत्तियों का उत्तरोत्तर विकाश होता है और आसुर प्रवृत्तियां घटती जाती हैं। इस कारण वर्तमान सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में आसुरप्रवृत्तियों के कारण ध्वंसनात्मक यज्ञ हो रहे थे। अतएव प्रलयात्मक यज्ञ, आसुरशक्तिज्ञों के पास था। इसीका निर्देश तैत्तिरीयसंहिता (६।३।७) में किया है। अर्थात् सर्गोन्मुखकाल में दैवीशक्तियों ने शनैः शनैः सर्जनरूप यज्ञ आरंभ किया। इस रीति से यज्ञ, असुरों के हाथ से देवताओं के हाथ पहुँचा''''इत्यादि'—

उच्येरन्। यत्र महाभारतादौ युद्धादिषु यज्ञत्वव्यपदेशः, तत्र तु कयाचिद्व्यपेक्षया गौण्यावृत्त्यैव तन्मन्तव्यम्। तैत्तिरीयवचने तु 'यत् तूष्णीमाधारमाधारयति भ्रातृव्यस्यैव तद्यज्ञं वृङ्क्ते, इति तूष्णीमाधारस्य प्रशंसार्थमेवोक्तम्। तूष्णीं होमेनासुराणां यज्ञो देवैर्यथा वृक्तः, तथैव तूष्णीमाधाराधारेण भ्रातृव्यस्य यज्ञो वृज्यत इति। सायणरीत्या तु असुरा गूढचारिणो भूत्वा देवैरनुष्ठितमवगत्य स्वयमपि तथैवानुतिष्ठन्ति, 'देवा वा यद्यज्ञे अकुर्वत तदसुरा अकुर्वत' इति श्रुतेः। तं वृत्तान्तमवगत्य देवा गूढचारिणां समीपे प्रथममाधारममन्त्रकं हुतवन्तः। तं दृष्टवन्तोऽसुराः सहसा गत्वा कृत्स्नं यज्ञं तूष्णीं कृत्वा पराभूताः। तमभिप्रेत्य देवास्तूष्णीं होमेनाववृञ्जन्तेत्युच्यते।

यदपि च—'सर्गोन्मुखकाले दैवीनां प्रवृत्तीनां लघुत्वादासुरीणां च प्रवृत्तीनां महत्त्वात् श्लेषेण शतपथे 'कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः, (श० १४।४।१।१) (पृ० १२७) इत्युक्तम्, तदपि तुच्छम्, तथात्वे सर्गमध्ये देवानां ज्यायस्त्वेनासुराणां कनीयस्त्वेन तदपाकरणप्रयासनैरर्थक्यापत्तेः, तादृशोपदेशस्य किञ्चित्कालिकत्वापत्तेश्च। वस्तुतस्तु नात्र ध्वंसशक्त्योऽसुरा निर्माणशक्तयो वा देवाः, ब्रह्मविद्याप्रकरणे तदनुपयोगात्।

प्रकृते देवानामसुराणां च प्राजापत्यत्वमुक्तम्। 'द्वया ह वै प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च' न च प्रजापतेर्ध्वंसशक्त्योऽ-

वह सब प्रलापमात्र ही है, क्योंकि ध्वंस या निर्माण को 'यज्ञ' पद का वाच्यार्थ मानने में कोई प्रमाण नहीं है। ध्वंस को भी यज्ञ कहने पर अग्निद, गरद, लुण्टाक आदि ध्वंसकों में भी याज्ञिकत्व प्राप्त होने से उन्हें धार्मिक ही कहना होगा। निर्माण का 'यज्ञ' पद का वाच्यार्थ माननेपर आधुनिक भौतिकों को अर्थात् तत्तदुत्पादक, पालक, ध्वंसक यन्त्रादिनिर्माणपरायणों को भी याज्ञिक कहना होगा। महाभारतादिग्रन्थों में युद्धादिकों के लिये जो 'यज्ञत्व' व्यपदेश (व्यवहार-प्रयोग) किया गया है, वह सापेक्ष है, अर्थात् गौणी वृत्ति का आश्रय लेकर ही किया गया है। तैत्तिरीयवचन में जो कहा गया है, वह तूष्णी आधार की प्रशंसा के लिये ही कहा गया है।

यह जो कहा कि—'सर्गोन्मुखकाल में दैवी प्रवृत्तियाँ छोटी थीं, और आसुरी प्रवृत्तियाँ बड़ी थीं। इसको श्लेष से शतपथ में कहा है, पृ० १२७।' वह भी सारहीन है, क्योंकि सर्ग के मध्य में देवताओं के श्रेष्ठ रहने से और असुरों के कनिष्ठ रहने से उसके अपाकरण का प्रयास' करना व्यर्थ ही है। तादृश उपदेश किञ्चित्कालिक ही कहा जायगा। वस्तुतः यहाँ पर न ध्वंसशक्तियों को असुर कहा गया है, और न ही निर्माणशक्तियों को देव कहा गया है, कारण यह है कि ब्रह्मविद्या का प्रकरण चल रहा है, उसमें उसका कोई उपयोग नहीं है। प्रकृत में देवता और असुरों को 'प्राजापत्य बताया गया है। प्रजापति की ध्वंसशक्तियों को असुर और निर्माणशक्तियों को देव, नहीं कह सकते, क्योंकि प्रजापति तो पालक हुआ करते हैं, उन्हें ध्वंसशक्तियों की अपेक्षा नहीं हुआ करतीं। शाङ्करभाष्य के अनुसार प्रजापति के अपत्य देव और असुर हैं। प्रजापति के प्राण वाक् आदि हैं। उनमें शास्त्रीयज्ञान और कर्म से सुसंस्कृत और उन्हें प्रकट करनेवाले देव कहलाते हैं, और जो स्वाभाविकप्रत्यक्षानुमानजनित दृष्टप्रयोजन से युक्त ज्ञानकर्म विशिष्ट हैं, वे असुर कहलाते हैं। अपने ही प्राणों में रमण करते रहने से 'सुर' कहलाते हैं, और उन सुरों (देवों) से भिन्न जो हैं, वे असुर कहलाते हैं। तथा वे अदृष्टप्रयोजनकज्ञान-कर्मभावित होने से 'कनीयस' कहलाये, वेही कानीयस कहे जाने लगे, (कनीयांस एव कानीयसाः, स्वार्थ में अण् और वृद्धि)। देवता तो अल्प ही हैं और असुर बहुत हैं। प्राणों की महत्तर ज्ञान-कर्म प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक है। क्योंकि शास्त्रविहित कर्मज्ञान प्रवृत्ति का प्रयोजन 'अदृष्ट' होता है। इस कारण देवताओं का कनीयस्त्व हुआ। क्योंकि शास्त्रजनित प्रवृत्ति अल्प होती है। वह अत्यन्त यत्नसाध्य हुआ करती है। तथैव राग-द्वेष से होनेवाली प्रवृत्तियाँ असंख्य रहती हैं, किन्तु शास्त्रीयप्रवृत्तियाँ नियत रहती हैं' इस कारण देवों की संख्या भी अल्प है और असुरों की संख्या बहुत है। स्वाभाविकप्रवृत्ति, अयत्नसाध्य होती है, क्योंकि वह पूर्व से ही सिद्ध है। अवस्था में भी असुर ज्येष्ठ हैं। शास्त्रीयप्रवृत्ति, यत्नसाध्य होने से देवताओं में कनीयस्त्व है। तस्मात् यहां ध्वंस शक्तियाँ 'असुर' शब्द से अभिप्रेत नहीं हैं। और न ही उनकी ध्वंसप्रवृत्तियाँ ही 'यज्ञ' शब्द से अभिप्रेत हैं, तथैव न निर्माणशक्तियां अथवा 'निर्माणप्रवृत्तियाँ ही 'यज्ञ' हैं। यह सब युधिष्ठिर की निर्मूल कपोलकल्पना मात्र है। ध्वंस—निर्माणादि तो स्वाभाविक हैं, विधिप्राशस्त्यबोधन में उनका सर्वथा अनुपयोग है।

पृ० १२७ पर जो कहा गया है कि—'मानुष सर्ग के आरंभ में प्रजापति कश्यप की असुर और देवसंज्ञकसन्ततियाँ

सुरनिर्माणशक्तयो देवा इति वक्तुं शक्यम्, प्रजापतेः पालकत्वेन ध्वंशशक्तीनामनपेक्षत्वात्। शाङ्करभाष्यानुसारेण तु वर्तमानप्रजापतेर्वृत्तजन्मावस्थस्यापत्यानि प्राजापत्यानि। के ते देवाश्चासुराश्च। प्रजापतेः प्राणा वागादयः। तत्र शास्त्रजनितज्ञानकर्मभाविता द्योतनाद्देवा भवन्ति। त एव स्वाभाविकप्रत्यक्षानुमानजनितदृष्टप्रयोजनकर्मज्ञानभाविता असुरा भवन्ति। स्वेष्वेवासुषु रमणात् सुराः, देवेभ्योऽन्यत्वाद्वा असुराः।

यस्माच्च दृष्टप्रयोजनज्ञानकर्मभावितास्तस्मात् कानीयसाः। कनीयांस एव कानीयसाः। स्वार्थेऽणि वृद्धिः। अल्पा एव देवा ज्यायांसोऽसुराः। स्वाभाविकी हि ज्ञानकर्मप्रवृत्तिर्महत्तरा प्राणानाम्। शास्त्रजनितायाः कर्मज्ञानप्रवृत्तेः अदृष्टप्रयोजनत्वात्। कनीयस्त्वं देवानाम्। शास्त्रजनितप्रवृत्तेरल्पत्वात्। अत्यन्तयत्नसाध्या हि सा रागादीनां स्वाभाविकत्वंवैराग्यादीनांयत्नसाध्यत्वात्। तथैव रागद्वेषप्राप्तानां प्रवृत्तीनामसंख्यत्वात्, शास्त्रीयप्रवृत्तीनां नियतत्वात् संख्ययापि देवानामल्पत्वम्, असुराणाञ्च बहुत्वम्। स्वाभाविक्याः प्रवृत्तेरयत्नसाध्यत्वात् पूर्वत एव सिद्धत्वात्। वयसाप्यसुराणां ज्येष्ठत्वम्, शास्त्रीयप्रवृत्तेर्यत्नसाध्यत्वात् देवानां कनीयस्त्वम्। तस्मान्नात्र ध्वंसशक्तयोऽसुरा अभिप्रेताः। नवा तदीया ध्वंसप्रवृत्तय एव यज्ञाः, न वा निर्माणशक्तयो निर्माणप्रवृत्तयो वा यज्ञाः, निर्मूलत्वात् स्वाभाविकत्वाच्च, विधिप्राशस्त्यबोधने सर्वथाऽनुपयोगित्वाच्च।

यदपि च—'मानुषसर्गारम्भे कश्यपस्य प्रजापतेः असुरा देवाश्च पुत्रा आसन्, तेषु असुरा वयसा ज्येष्ठाः, ज्येष्ठत्वादेव ते पृथिव्याः शासका आसन्। 'असुराणां वा इयमग्र आस यावदासीन परापश्यति तावद्देवानां ते देवा अस्त्वेव नोऽस्याम्' (तै० सं० ६।२।४) इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यैतस्य वेदिविधानार्थवादत्वेन विधिशेषत्वात्। विध्यर्थस्तावकत्वेन स्वार्थे तात्पर्याभावात्।

यदपि च—'पूर्वं असुरैर्वर्णाश्रममर्यादा स्थापिता, यज्ञानाञ्च प्रवर्तनं कृतम् इति। प्रह्लादपुत्रेण कपिलेनासुरेण वर्णाश्रमविभागः कृतः, इति बौधायनधर्मसूत्रे (बौ०ध० सू०२।१२।३०) इत्यत्रोक्तम्, तत्रोदाहरन्ति–'प्राह्लादिर्वै कपिलो नायासुर आस। स एतान् भेदान् चकार देवैः स्पर्धमानः' (बौ० ध० सू० २।१२।३०) इति, 'देवा पराजिग्यमाना असुराणां वैश्यमुपायन्' सम्भाव्यते यत् असुराणां सम्पत्तीरधिकर्तुं तेषां वैश्यमुपागमन्' 'प्रजापति वै देवासुरानसृजत। तदनुयज्ञोऽसृज्यत, यज्ञं छन्दांसि। ते विश्वञ्चो व्यक्रामन्। सोऽसुराननुयज्ञोऽपाक्रामत। यज्ञं छन्दांसि' (तै० सं० ३।३।७) (पृ० १२८)। एतेन प्रथमं यज्ञोऽसुराणां पार्श्वे आसीत्। 'असुरेषु एषोऽग्रे यज्ञ आसीत्, सौत्रामणी स देवान् उपप्रैत' (श० १३।९।३।७) इति सौत्रायणीयागस्यासुरेषु सत्त्वमुक्तम्, यच्च देवानुपागत एतेनेदं सिद्ध्यति। देवा असुरेभ्य एव यज्ञान् प्राप्तवन्तः। पश्चाद्देवा यज्ञविद्यायामसुरेभ्योऽधिकं कौशलं प्राप्तवन्तः। अन्ततः यज्ञसम्बन्धे असुरादेवानन्वकुर्वन्—'देवा वै यत् यज्ञे अकुर्वत' (तै०सं० ६।४।६) (पृ० १२८) किञ्चित्कालानन्तरं यज्ञो देवेभ्यो मनुष्यानुपागमन्। ऐलः गन्धर्वेभ्योऽग्निविद्यारहस्यं ज्ञात्वा यज्ञस्यैकमग्निं त्रिधा विभक्तवान्। ऋषिभिः यज्ञस्य विधिक्रियाकलापानाम् सूक्ष्मता विविधता च परां काष्ठां प्रापिता। मनुष्येषु त्रेतायुगे यज्ञ प्रारम्भः। असुरेषु देवेषु च कृतयुगोत्तरार्धंश्वयज्ञप्रारम्भः। अत एव भारतीयेतिहासानुसारेण नासुरा

थीं। उनमें 'असुर' वयसा ज्येष्ठ थे' और ज्येष्ठ होने से ही वे पृथ्वी के शासक हुए, अपने इस कथन में (तै० सं० ६।२।४) का प्रमाण दिया है।

किन्तु वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह उपर्युक्त कथन, वेदिविधान का अर्थवादरूप है, अतः वह विधिशेष ही है। विध्यर्थ का स्तावक होने से उसका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है।

यह जो कहा है कि बौधायनधर्मसूत्र के अनुसार पूर्वकाल में वर्णाश्रम मर्यादा की स्थापना और यज्ञों का प्रवर्तन असुरों ने किया। इस मन्तव्य का समर्थन तैत्तिरीयसंहिता, शतपथब्राह्मण, पुराण, कौटलीय अर्थशास्त्र से भी हो रहा है।

राक्षसपिशाचतुल्या वैदिकमर्यादाविहीनाः, किन्तु पुरुषजा तावेव दवासुरमनुष्यभेदेन त्रीणि कुलान्यासन्। प्रारम्भे प्रजापतेः कश्यपात् दितौ अदितौ दनौ च यान्यपत्यानि जातानि तानि मातृनामभिः दैत्याः, आदित्याः, दानवाः आदि शब्दभाञ्जि जातानि। दैत्या एव भारतीयेतिहासे असुरा उक्ताः। पश्चात् दानवा अपि तत्सहयोगिनो जाताः। अदितेर्द्वादशपुत्राः। असुरा अपि प्रारम्भे श्रेष्ठाः सुचरित्रा आसन्। ज्येष्ठश्रेष्ठत्वाभ्याञ्च कश्यपेन शासनेऽधिकृतास्ते। एभिरेवासुरैर्वेदानुसारं वर्णाश्रमविभागः यज्ञप्रवर्तनञ्च विहितम्। लब्धे च निरङ्कुशे विशेषाधिकारे शनैः शनैः विकरोति जनमानसम्। इन्द्रादयोऽपि निरङ्कुशं शासनं प्राप्य अमर्यादितानि कर्माणि कृतवन्त इति पुराणादिषु स्पष्टम्। ऋषीणां व्यवस्थासु राज्ञां नियन्त्रणमुक्तम्। तेनैव वशिष्ठतुल्यसमर्थस्य नियन्त्रणे रघुकुलमासीत्। 'तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यः स्वामिनामिवचानुवर्तेत' (कौटलीयअर्थशास्त्र अधिकरण १ अध्याय ९) 'मर्यादां स्थापयेत् आचार्यान् अमात्यान् वा। य एनं अपायस्थानेभ्यो वारयेयुः। छायानालिकया प्रतोदेन वा रहसि प्रमाद्यन्तमभितुदेयुः।' (कौटलीयअर्थशास्त्र अधिकरण १ अ० ७ पृ० १२९-१३०) इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथात्वेऽपि ब्राह्मणेष्वितिहासपुराणेषु चासुरराक्षसादीनां यज्ञादिबाधकत्वस्यैव बाहुल्येन श्रवणात्। अत एव तदपाकरणार्थं दर्भजलब्राह्मणाग्नीनामाश्रयणं दृश्यते। मन्त्रेष्वपि 'प्रत्युष्ट रक्षः' इति। तत्र तत्र तदपाकरणं दृश्यते। 'देवान् ह वै यज्ञेन यजमानांस्तानसुररक्षांसि ररक्षुर्न यक्ष्यध्वमिति तद्यद-रक्षंस्तस्माद्रक्षांसि' (श० १।२।१।१६) 'ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः यदपो वज्रो वा आपो वज्रो हि वा आपस्तस्माद्येनैता-यन्ति निम्नं कुर्वन्ति, यत्रोपतिष्ठन्ति निर्दहन्ति तत् एतं वज्रमुदयच्छंस्तस्याभयेऽनाष्ट्रेनिवाते यज्ञमतन्वत इत्येव-मादिरीत्या पदे पदे असुरराक्षसादीनां यज्ञबाधकत्वम् (श० १।२।१।१७) 'देवा हवै यज्ञं तन्वाना स्ते असुर राक्षसेभ्यः आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुस्तद्यज्ञमुखोदेवैतन्नाष्ट्राः रक्षास्यपहन्ति' (श० १।१।२।३) 'वृत्रो हवा इद सर्वं वृत्वा शिश्ये। तमिन्द्रो जघान सह पूतिः सर्वत एवापोऽभिसुस्राव…तस्मादुहैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे ता उपर्युपर्यति पुप्रु विरेऽत एते दर्यास्ताहैता अनापूयिताः (श० १।१।२।५) तैत्तिरीयकेऽपि 'इन्द्रो वृत्रमहन् सोऽपोऽभ्यम्रियत। तासां यन्मेध्यं यज्ञियं प्रसरदेवमासीत्तदपोदक्रामत ते दर्भा अभवन्' (तै० ब्रा० ३।२।५।१)। तस्माद्वा एताभ्यामुत्पन्नानि 'मनो ह वा ऋषभ आसीत् तस्मिन्नसुरघ्नी वाक् प्रविष्टा। तस्य ह स्म श्वसथादसुरराक्षसानि मुद्यमानानि यन्ति तेहासुराः समूदिरे पापं वत नोऽय-मृषभः स च त कथंन्विम दभ्नुयामेति' (श० १।१।४।१३)। सा यज्ञपात्राणि प्रविवेश, ततो हैनां न शेकुर्निहन्तु सैषासुरघ्नी सपत्नघ्नी वाग्वदति' (श० १।१।४।१७) 'स समाहन्ति कुक्कुटोऽसि तस्मादसुरराक्षसादयो यज्ञविरोधिनः शक्तिविशेषा एव।

'देवाश्चासुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवा अनुव्ययिवासु रथ हा सुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति, ते होचुः हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै तां विभज्योपजीवामेति तामौक्ष्णैश्चर्मभिः पश्चात् प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः तद्वै देवाः शुश्रुवुः विभजन्ते ह वा इमा असुराः पृथिवीं प्रेत तदेष्यामः…ते होचुः नोऽस्यां पृथिव्यामाभजतांस्त्वेनोऽ-प्यस्यां भाग इति। ते हासुरा असूयन्त इवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वोदद्म इति वामनो ह विष्णुरास………' (श०)

किन्तु यह कथन भी निःसार है क्योंकि ब्राह्मणादिवेद, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ असुरों राक्षसों को यज्ञों के विघातक के रूपमें ही पाया जाता है।

मन्त्रों और ब्राह्मणों में असुर–राक्षसों के अनेक आख्यान अर्थवाद के रूप में भी उपलब्ध होते हैं, जिनका उपयोग, विधि की स्तुति के रूप में हुआ करता है। आश्चर्य तो इस बात का है कि यह दयानन्दानुयायी एक ओर तो ब्राह्मणों को वेद के व्याख्यानरूप मानता है और वेदों में इतिहास के होने का सर्वथा खण्डन करता है, और दूसरी ओर वेदव्याख्यानभूत ब्राह्मणों के सहारे तद्विरुद्ध इतिहास की कल्पना करता है। इधर दयानन्द ने तो विषसम्पृक्तमधुरान्न की तरह पुराणों को त्याज्य माना है। किन्तु उनके

किं बहुना सर्वत्रैव मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च असुरराक्षसादीनामर्थवादरूपेणानेकान्याख्यानानि समुपलभ्यन्ते । तत्तद्विधिस्तुतावेव तेषां तात्पर्यम् । आश्चर्यमेतद्यदयं दयानन्दानुयायी ब्राह्मणानि वेदव्याख्यानानि मन्यते । वेदेषु चेतिहासं सर्वथा खण्डयति परं वेदव्याख्यानभूतानि ब्राह्मणान्याश्रित्य तद्विरुद्धमितिहासं कल्पयति । दयानन्दस्तु विषसम्पृक्तमधुरान्नमिव पुराणं त्याज्यं मनुते । अयं च पुराणाश्रयेणैव काल्पनिकमितिहासप्रासादं रचयति । सत्यम्, 'एकां लज्जां परित्यज्य सर्वत्र विजयी भवेद् इति । यदि मन्त्रोक्तोर्वशीपुरूरवात्तेरन्यथार्थः कल्पयितुं शक्यते तदा ब्राह्मणपुराणादिवचनानामन्यथार्थकल्पने काबाधा ? यदि तेषां नान्यथार्थः शक्यकल्पनस्तदा मन्त्रोक्तोक्तार्थान्यथाकरणदुराग्रहः कथं क्रियते । वेदानादित्वं तु भट्टपाद-शङ्कराचार्योक्तरीत्या सर्गप्रलयप्रवाहाङ्गीकारेण सिद्ध्यत्येव ।

सिद्धान्तदृष्ट्या तु मन्त्रार्थवादानुसारेण चेतनावन्तः परमैश्वर्यवन्तो देवा यथाङ्गीक्रियन्ते तथैवासुरा अपि स्वीक्रियन्ते । यद्यपि वैदिक्य आख्यायिकाः सुखावबोधार्था नित्यत्वान्न घटनापूर्विकाः किन्तु विश्वसृष्टेः शब्दपूर्वकत्वाभ्युपगमात् आख्यायिकानुसारिण्यो घटना न निवार्यन्ते । ततश्च पुराणादिरीत्या ऐतिहासिका अपि प्रह्लादादयः सम्भवन्त्येव । असुरेष्वपि दैत्यादिषु प्रह्लादादयो भगवद्भक्ताः आस्तिका आसन्, अतस्तादृशेष्वसुरेषु यज्ञस्य सत्त्वं वर्णाश्रमव्यवस्थापकत्वं न विरुद्धम् । तावतापि सिद्धान्ते मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य सर्वस्यैव वेदस्यानादित्वेन तत्प्रतिपादितयज्ञवर्णाश्रमादीनां नव्यक्तिविशेषजातिविशेषकर्तृकत्वम्, किन्तु कदाचिद् कदाचित् प्रचारवैरल्ये जाते तत्प्रचारकत्वमेव मन्तव्यम् । परमेश्वरस्यापि वेदकर्तृत्वं नाम सर्गादौ तत्सम्प्रदायप्रवर्तकत्वमेव, नित्ये वेदेऽन्यादृशस्य कर्तृत्वस्य सम्भवात् । तथा सति केषाञ्चिदसुराणां यज्ञवर्णाश्रमरक्षकत्वेऽपि यज्ञादिबाधकत्वेन बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायेन व्यपदेशात् । तत्र तु ब्राह्मणेषु तेषां निराकरणाय उपाया आश्रियन्ते । सायणाचार्यस्य प्राचीनेतिहासानभिज्ञत्वोक्तिस्तु युधिष्ठिरस्य क्षुद्रत्वमेव बोधयति । त्वत्कल्पितेतिहासस्य त्वन्मतेनैव विरोधात् । 'असुराणामियमग्र आसीद्' इत्यादितैत्तिरीयवचनानां तु वेदिविधानार्थवादत्वमेव । पूर्वोक्तशतपथवचनस्यापि तत्रैव तात्पर्यम् । सायणाचार्येण शतपथभाष्ये तदभिप्राय एवमुक्तः । देवाश्चासुराश्च स्पर्धां कृतवन्तः । स्पर्धमानानां तेषां मध्ये देवास्ततः तेभ्योऽसुरेभ्यो ऽनुव्यम् अनुगमनं न्यग्मूर्तिं प्राप्ता इव बभूवुः ।

अनुयायी ये युधिष्ठिरजी, अपने गुरु दयानन्द के द्वारा परित्यक्त किये गये उन्हीं पुराणों का आश्रय लेकर काल्पनिक इतिहास के प्रासाद का निर्माण करने में प्रयत्नशील रहा करते हैं । एक दृष्टि से इनका इस प्रकार आचरण ठीक ही है, क्यों कि 'एकां लज्जां परित्यज्य सर्वत्र विजयी भवेत्' यह कहावत प्रसिद्ध ही है । यदि मन्त्रोक्त ऊर्वशी-पुरूरवा के अन्य अर्थ की कल्पना की जा सकती है, तो ब्राह्मण–पुराणादि के वचनों के अन्यअर्थ की कल्पना करने में कौन सी बाधा सामने आती है ? यदि ब्राह्मण–पुराण आदि के अन्यर्थ की कल्पना नहीं कर सकते तो मन्त्रोक्तअर्थ के अन्यथाकरण का दुराग्रह क्यों कर रहे हो ? वेद का अनादित्व तो भट्टपाद–शङ्कराचार्य की रीति से सर्ग–प्रलयप्रवाह का अङ्गीकार करके सिद्ध हो ही जाता है ।

सिद्धान्तदृष्ट्या तो मन्त्रार्थवाद के अनुसार चेतनावान् और परमैश्वर्यवान् देवताओं का अंगीकार किया जाता है, तथैव असुरों का भी स्वीकार किया जाता है । यद्यपि बैदिक आख्यायिकाएँ सुखावबोधार्थ हैं, वे नित्य हैं, अतः घटनापूर्वक नहीं है, तथापि विश्वसृष्टि को शब्दपूर्वक माना जाता है, अतः आख्यायिकाओं के अनुसार जो घटनाएँ हैं, उनका निवारण नहीं किया जा सकता । ततश्च पुराणादि के अनुसार ऐतिहासिक प्रह्लादादिकों का होना भी संभव है । दैत्यादि असुरों में भी प्रह्लादादि, भगवद्भक्त और आस्तिक थे । अतः इस प्रकार के असुरों के यहाँ यज्ञ का सत्त्व एवं उनमें वर्णाश्रमव्यवस्थापकत्व का होना कोई विरुद्ध नहीं है । ऐसी आख्यायिकाओं से भी अनादि मन्त्र-ब्राह्मणात्मक सम्पूर्ण वेद एवं तत्प्रतिपादित यज्ञ, वर्णाश्रमादिकों में किसी व्यक्तिविशेष या जातिविशेषकर्तृकत्व सिद्ध नहीं हो पाता । कदाचित् प्रचार के विरक्त होनेपर उन्हें तत्प्रचारक ही मानना चाहिये । परमेश्वर में जो वेदकर्तृत्व श्रुत हैं, वह भी तत्सम्प्रदायप्रवर्तकत्वरूप ही है । क्योंकि नित्य वेद का अन्यादृश कोई कर्ता नहीं हो सकता । तथा सति कुछ असुर, वर्णाश्रम और यज्ञ के रक्षक होने पर भी यज्ञादि में बाधा उत्पन्न करनेवाले अधिक थे, अतः 'बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति'

अथ हते ऽसुरा मन्यन्ते स्म । इदं सर्वं जगदस्माकमेवेति । यतो देवा एवं न्यग्भूताः । अतो निष्प्रत्यूहैं वयं इमां पृथिवीं विभजामहै यथाभागं विभजामेति । एवमुक्त्वा तैश्चर्मभिः प्रतीचीं दिशमारभ्य प्राचीमभिजग्मुः । देवाश्च तेष्वेवं कृतवत्सु अस्माकं तूष्णीमवस्थानमनुचितमिति अस्माभिरपि प्रयतितव्यम् इति विचार्य देवा अपि यज्ञात्मकं विष्णुं पुरोधाय गतवन्तः । गत्वा च अस्यां पृथिव्याम् अस्माकमपि भागो भवतित्युक्तवन्तः । तेहासुराः असूयां कुर्वन्तः असहमाना यावन्तं देशं विष्णुर्व्याप्य वर्तते तत्परिमितस्थानं युष्मभ्यं प्रयच्छाम इत्युक्तवन्तः । देवास्तदङ्गीचक्रुः । विष्णुर्हि तदानीं वामनः खर्वो बभूव । अत एवासुरास्तेनाक्रान्तं स्थानं प्रयच्छाम इत्यब्रुवन्, तथापि नानादृतं चक्रुः । विष्णुर्हि यज्ञः । अतो यज्ञसम्मितं स्थानमस्मभ्यं दत्तवन्त इति परिजगृहुः । तं विष्णुं प्राञ्चं प्राक् शिरसं निपात्य दक्षिणतः पश्चादुत्तरतश्च गायत्र्यादिछन्दोभिः सर्वतः पर्यगृह्णन् । तं विष्णुं गायत्र्यादिछन्दोभिः सर्वतः परिगृह्य पूर्वस्यां दिशि आहवनीयाख्यमग्नि प्रज्वाल्य तेन विष्ण्वात्मकेन यज्ञेन पूजयन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः । तेन यज्ञात्मकस्य विष्णोराधारभूतेन स्थानेन देवाः सर्वामेवेमां पृथिवीं सम्यगालभन्त । अतो विद्यते लभ्यतेऽनेनेति वेदिर्यज्ञस्थानमिति वेदिनामनिर्वचनेन वेद्याः सर्वपृथिवीलाभरूपत्वम् । अतो यत्परिमाणविशिष्टा वेदिः तत्परिमाणैव पृथिवीति । तदेतत्सर्वं तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः, तेनेमां सर्वां पृथिवी समविन्दन्तैव ह वा तद्यदेनेनेमा सर्वा समविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवीत्येतया हीमा सर्वा समविन्दन्तैव ह इमा सर्वा सपत्नाना सम्वृङ्क्त निर्भजत्यस्यै सपत्नान् य एवमेतद्वेद' (श० १।२।५।७) इति ॥

वस्तुतस्तूत्तानमेव ब्राह्मणानामर्थं वेदार्थं युधिष्ठिरो न तदभिप्रायम्, नास्तिक्यास्तेषु प्रामाण्यबुद्धयभावात् । ① यज्ञानां खण्डनायैव तेषामुपयोगमयं करोति । बहवोऽद्यत्वे महाभाष्यानुसन्धातारो महाभाष्यस्य गम्भीराशयमज्ञात्वा ② तत्रेतिहासमेवान्वेषते । तथैवायं ब्राह्मणानामभिप्रायमज्ञात्वा नामोल्लेखमेव दृष्ट्वा पाश्चात्त्या इवेतिहासमन्वेषते । यज्ञानुपूर्वमसुराणामेवासीन्तत एव देवा यज्ञप्राप्नुवन्त इत्यस्य समाधानेन यततूष्णीमाधा रमाधारयति भ्रातृव्यस्यैतद्यज्ञं वृङ्क्ते इति तूष्णीमाधारस्य प्रशंसार्थमेवोक्तमिति पूर्वमेवोक्तम्, यदपि यस्मिन् काले पृथिव्याः सलिलावस्थायाः पश्चात् संसारस्योच्चतमो भागः त्रिविष्टप (तिब्बत)स्थानम् जलाद्बहिरभिव्यक्तम् प्राणिनामुत्पत्तियोग्यं जातम्, तात्कालिकस्य वृत्तान्तस्येदंवर्णनम् । देवाश्चासुराश्च अत्रत्या एव शासका आसन्' इति, तदपि सर्वं निर्मूलमेव, तादृशार्थबोधकस्य वचनस्यात्र प्रघट्टकेऽभावात् । 'देवानामसुराणां न्यूनातिन्यूनं शतत्रयवर्षाणि यावत् युद्धं संवृत्तम्' इत्येतदपि निर्मूलमेव, त्रिविष्टप—तिब्बत-

इस न्याय से असुरादि कों को यज्ञ विघातक कहा गया है । ब्राह्मणादि वेद ग्रन्थों में उन असुरों के निराकरणार्थ उपाय भी बताये गये हैं । सायणाचार्य जैसे महान् पण्डित को प्राचीन इतिहास से अनभिज्ञ बताकर युधिष्ठिर मीमांसक ने अपनी क्षुद्रता का ही परिचय दे दिया है । क्योंकि तुम्हारे कल्पित इतिहास का तुम्हारे ही मत के साथ विरोध हो रहा है । 'असुराणामियमग्र आसीत्' इत्यादि तैत्तिरीय वाक्य तो वेदविधान का अर्थवादरूप है । पूर्वोक्त शतपथवाक्य का भी उसी में तात्पर्य हैं । सायणोक्त अभिप्राय को मूल संस्कृत में समझा जा सकता है । किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक अपनी नास्तिकता तथा ब्राह्मणग्रन्थ में अप्रामाण्य बुद्धि के कारण वास्तविक अभिप्राय को समझ नहीं पाये, और यज्ञों के खण्डन में ही उनका उपयोग कर रहे हैं । आजके युगमें महाभाष्यका अनुसन्धान करने वाले बहुत से लोग महाभाष्य के गंभीर आशय को बिना जाने उसमें इतिहास को ही खोजते रहते हैं । अतः तिब्बत को ही त्रिविष्टप कहना तथा देव तथा असुरों को यहाँ के शासक कहना आदि सब कथन निर्मूल है । देवासुर संग्राम की कम से कम तीन सौ वर्ष तक चलते रहने की बात भी निर्मूल है । त्रिविष्टप् और तिब्बत शब्दों का साम्य तो· स्वजन और श्वजन, सकृत और शकृत् आदि शब्दों की तरह भ्रान्तिमूलक ही है । ब्राह्मण–पुराण आदि ग्रन्थों में त्रिविष्टप् शब्द को स्वर्ग का बोधक बताया है ।

सच बात तो यह है कि ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, पुराण यज्ञ आदि से विरोध रखने से उनके अभिप्राय को ये समाजी समझ नहीं पा रहे हैं । पदे पदे (पग-पग पर) ये बेचारे ठोकर खा रहे हैं । देव और असुरों को पुरुषजातीय मनुष्य समझना, उनमें

इत्यनयोः शब्दसाम्यन्तु स्वजन श्वजन सकृत् शकृत् आदिशब्दानामिव भ्रान्तिमूलकमेव । त्रिविष्टपशब्देन ब्राह्मणेषु पुराणेषु च स्वर्गादीनां बोधनात् ।

वस्तुतस्तु ब्राह्मणारण्यकोपनिषत्पुराणयज्ञादिविरोधादेव ब्राह्मणानां पुराणानां यज्ञानाञ्चाभिप्रायमयं ज्ञातुं न पारयति । पदे पदे च स्खलति । देवासुरा मनुष्या पुरुषजातीया एव कुलभेद एव तेषा मित्यप्यशुद्धमेव, पूर्वमेव तेषां भेदस्य योनिभेदस्य च प्रतिपादितत्वात् । निरङ्कुशत्वञ्च सर्वत्रैव निन्द्यम्, वेदशास्त्रनियन्त्रितजीवनस्यैव शिष्टसम्मतत्वात् ।

देवा असुराणां वैश्यमुपायन्निति पाठस्त्वशुद्ध एव वेशत्वमुपायन्नित्यस्यैव पाठस्य सत्त्वात् ।

आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्तेस्म । ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नारिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः ।' (चरके चिकित्सा-स्थान १९।४) इति रीत्या त्वयापि आलभ आलम्भ । इति स्वतन्त्रं धातुद्वयमङ्गीकृत्य आलम्भस्य हिंसार्थोऽङ्गीकृत एव । अत्र यदुक्तम्—'पाणिनीयव्याकरणरीत्या शभिन्ने अजादिप्रत्यये परे 'लभेश्च' (पा० सू० ७।१।६४) इत्यनेन सम्आङ् पूर्वकस्य लभधातोरनीयर्प्रत्ययेपरे नुमागमेन समालम्भनीयपदनिष्पत्तिर्भवति । आलम्भाय इत्यत्रापि प्रोक्तनियमानुसारेण आङ्पूर्वस्य लभते घंञिनुमिरूपसिद्धिः । चरकसंहितायां नुम्रहितसमालभनीयनुम्सहितालम्भपदप्रयोगेण स्वतन्त्ररूपेण लभ्लभिस्वतन्त्रधातुद्वयमङ्गीकरणीयम् । उत्तरकाले यदा लम्भप्रयोगा अधिकांशतया नष्टास्तदा पाणिनिप्रभृतिभिर्वैयाकरणैर्लम्भधातोर्निष्पन्नानां पदानां भाषायामल्पावशिष्टत्वात् लभधातोर्नुमागमान्वाख्यानं कृतम् । अनया

केवल कुलभेद है कहना, यह सब अशुद्ध है । उनकी भिन्नता और उनकी योनियाँ भिन्न हैं, यह पूर्व बता चुके है । बिना अंकुश की बाते करतें रहना निन्दनीय समझा जाता है । वेद-शास्त्र से नियन्त्रित जीवन को ही शिष्टसम्मत कहा जाता है ।

'देवा असुराणां वैश्यमुपायन्' यह पाठ भी अशुद्ध है, 'वैशत्वमुपायन्' यही पाठ वास्तुतः है ।

'आदिकाल में यज्ञों में पशु' समालभनीय हुआ करते थे । उनका 'आलम्भन' नहीं किया जाता था' आदि । किन्तु चरक के चिकित्सास्थान के अनुसार तुमने भी 'आलभ' और 'आलम्भ' इन दो धातुओं को भिन्न भिन्न मानकर 'आलम्भ' को हिंसार्थक स्वीकार किया है । पुनश्च पूर्वकाल, उत्तरकाल को बताते हुए अपनी कपोलकल्पना की उड़ान लगाकर दोनों धातुओं को एक कर दिया । किन्तु यह निर्मूल है । क्योंकि आगमविधि के अनित्य होने से 'समालभनीया' इस प्रयोग की उपपत्ति लग जाती हैं, इसीलिये वैयाकरणों ने धात्वन्तर की कल्पना करने के गौरव का स्वीकार नहीं किया । किञ्च मीमांसकों ने शब्दार्थसम्बन्ध को नित्य माना हैं, अतः पूर्वोत्तर कालभेद से अर्थभेद की कल्पना करना अनुपयुक्त हैं । एक हो आङ्पूर्वक लभ धातु का प्रकरण के अनुसार हिंसा और स्पर्श इन दो भिन्न अर्थों के समझने में कोई बाधक नहीं है । जैसे 'व्रीहिभिर्यजेत' यहां पर अर्थापत्तिप्रमाण से 'व्रीहि' से व्रीहिनिष्पत्ति का आक्षेप किया जाता है तथा 'व्रीहीनवहन्ति' में नियम माना जाता है, उसीतरह 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यहां पर 'यज्ञ' की प्रतीति होती है । उसमें स्वरूपतः 'पशु' याग का अंग नहीं होता, किन्तु तत्तद् होमीय अंगप्रकृतित्वेन उसका याग में उपयोग किया जाता है । अतः यहां पर 'आलभ' का अर्थ विशसन ही किया जाता है । किन्तु 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' यहां पर पर्यग्निकरण के अनन्तर ब्राह्मण का उत्सर्ग ही किया जाता है । क्योंकि पुरुषमेध में अवदान आदि का श्रवण नहीं है । तुमने अपने पक्ष की सिद्धि के लिये जिनका सहारा लिया था, उन्हीं का खण्डन अब कर रहे हो । तुम या तुम्हारे बन्धुगण, कात्यायन आश्वलायन को ब्राह्मणको मीमांसासूत्रों को प्रमाण नहीं मान रहें हो । तब केवल लोकवंचनार्थ क्यों उनके नामों की दुहाई देते रहते हो ।

'दक्षिणासमाधिहृदयमालभते' इत्यादि अनेक स्थलों में 'आलम्भ' शब्द का 'स्पर्श' आदि अर्थ हुआ करता हैं, यह बात सनातनधर्माचार्यो ने जहां तहाँ प्रदर्शित की हैं । 'आलम्भ' शब्द का अर्थ 'हिंसा' है ही नहीं, यह कहना तो निर्मूल ही है । क्योंकि उस अर्थ को तुमने ही चरकमें किया हुआ बताया है । हिंसार्थक उस प्रकार के प्रयोगों को उत्तरकालिक कहना भी असंगत है । क्योंकि 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' (तै० सं० ६।१।११।६) हिंसार्थक प्रयोग तो श्रुति में भी प्रदर्शित किया गया है । इस श्रुति वचन को भी यदि उत्तरकालिक कहो, तो वह कहना नास्तिक्यमूलक ही कहा जायगा । क्योंकि 'नास्तिको वेदनिन्दकः' यह मनु कहते हैं ।

धात्वैक्यकल्पनया आलम्भधातोर्योऽर्थं आसीत् स एव आलभधातोरप्यर्थः स्वीकृतः। तत एवोत्तरकाले आलभते, आलभेत इति पदानां आलम्भनं कुर्यादितिव्याख्या सञ्जाता।' (पृ० १३३) इति, तदपि यत्किञ्चित् निर्मूलत्वात्। आगमविधेरनित्यत्वादेव समालभनीया इति प्रयोगोपपत्तौ धात्वन्तरकल्पनागौरवस्य वैयाकरणैरनङ्गीकारात्। किञ्च मीमांसकैः शब्दार्थ-सम्बन्धस्यौत्पत्तिकत्वाङ्गीकारेण पूर्वोत्तरकालभेदेनार्थभेदकल्पनानुपपत्तेश्च। एकस्यैवालभतेः प्रकरणानुसारेण हिंसास्पर्श इति भिन्नार्थाङ्गीकारे बाधाभावाच्च। यथा व्रीहिभिर्यजेतेत्यत्र व्रीहीणां पुरोडाशप्रकृतित्वेन यागाङ्गत्वश्रवणात्। पुरोडाशप्रकृतित्वान्यथानुपपत्त्या व्रीहिनिष्पत्तिराक्षिप्यते 'व्रीहीनवहन्ती'त्यवघातेनैव तण्डुलनिष्पत्तिं कुर्यात् न तु नखविदलनादिनेति नियमोऽभ्युपेयते, तथैव 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेतेत्यत्र' अपूर्वद्रव्यदेवताश्रवणेन देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागरूपो यज्ञो विज्ञायते। पशोर्यागाङ्गत्वं न स्वरूपेण किन्तु 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति अथ जिह्वाया अत वक्षसः, इति तत्तदङ्गानामवदानश्रवणात्। छागस्य मेदसो वपाया अनुब्रूहीति वपाहोमश्रवणाच्च। तत्तद्धोमीयाङ्गप्रकृतित्वेनैवोपयोगः सिद्ध्यति। तदर्थञ्च विशसनं लभतेरर्थः गृह्यते 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेते'त्यादौ तु पुरुषमेधेऽवदानाद्यश्रवणात्, पारम्पर्येण कात्यायनादिरीत्या पर्यग्निकरणानन्तरं ब्राह्मणादीनामुत्सर्ग एवभवति।

यच्च 'बृंहेरच्यनिटि। बृंहेरच्यनिटि उपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। निबर्हयति, निबर्हकः। अचि इति किमर्थम्? निबृंह्यते। अनिटि इति किमर्थम्? निबृंहिता, निबृंहितुम्। तत्तर्ह्युपसंख्यानं कर्त्तव्यम्? न कर्त्तव्यम्। बर्हिः प्रकृत्यन्तरम्, कथं ज्ञायते? अचीति लोप उच्यते, अनजादावपि दृश्यते-निबृह्यते। अनिटीत्युच्यते, इडादावपि दृश्यते निबर्हिता, निबर्हितुम्। अजादावित्युच्यतेऽजादावपि न दृश्यते निबृंहयति, निबृंहकः' (म० भा० १।१।४) (पृ० १३२) इति महाभाष्यमुद्धृत्य इड्भिन्ने अजादिप्रत्यये परे ब्रंह इत्यस्यानुनासिकलोपो भवति यथा निबर्हयति, निबर्हकः। अचीति किमर्थमुक्तम्? निबृंह्यते इत्यत्र यकि परे यथा लोपो नस्यात्। इड्भिन्ने इति विशेषणम् किमर्थम्? निबृंहिता, निबृंहितुम् अत्र इट् परे यथा लोपो नस्यात्। तथा सतीदं वार्तिकं कर्त्तव्यमिति पूर्वपक्षयन् महाभाष्यकारः 'बृहिः' इति प्रकृत्यन्तरं कल्पयित्वा वार्तिकं प्रत्याचख्यौ। कुतः प्रकृत्यन्तरं कल्प्यते इति तत्राह कथं ज्ञायते वार्तिकेन अचि परे लोपो विधीयते परन्तु अनजादौ प्रत्यये परेऽपि अनुनासिकलोपो दृश्यते यथा निबृह्यते इति। इड्भिन्ने अजादौ प्रत्यये अनुनासिकलोपो वार्तिक उक्तः, परन्तु इट्परेऽपि लोपो दृश्यते यथा निबर्हिता निबर्हितुम्, वार्तिकेन अजादौ अनुनासिकलोपः क्रियते, किन्तु अजादौ प्रत्ययेऽपि लोपो न दृश्यते यथा निबृंहयति, निबृंहकः। इति प्रकृत्यन्तरकाल्पननियमोऽत्यन्तं स्पष्टः। तद्वदेव 'लभेश्च' (पा० सू० ७।१।६४) 'आङो यि' (पा० सू० ७।१।६५) इति सूत्राभ्याम् लभ्धातोः शपि लिड्भिन्ने अजादौ प्रत्यये च सति नुमागमो विधीयते। तेन लम्भयति लम्भकः, तथा आङुत्तरलभेः यकारादिप्रत्यये सति नुमागमो यथा—आलम्भ्या गौः, आलम्भ्या बडवा' इति तत्र प्रथमनियमानुसारम् लभधातोरनीयरिप्रत्यये नुमागमेन 'लम्भनीये'ति प्रयोगेण भाव्यम्। परन्तु चरकसंहिताया उद्धृते (१९।४) स्थले 'समालभनीयाः' इति नुमभावविशिष्टप्रयोगदर्शनात्, द्वितीयनियमानुसारम् यति ण्यति वा प्रत्यये आलंभ्या' इति प्रयोगेण भाव्यम्, परन्तु काशिकायां (१।१।७५) 'अग्निष्टोम आलभ्यः' इति उद्धरणे नुमभावविशिष्टप्रयोगदर्शनात् प्रकृत्यन्तरं कल्पनीयम्। पाणिनीयव्याकरणादपि प्राचीने काशकृत्स्नधातुपाठेडुलभष प्राप्तौ, (१।५६४) 'लभिधारणे'

मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय की 'वेद' संज्ञा तो अनादिकाल से चली आ रही हैं। कोषकारों को भी यह बात पूर्णरूपेण सम्मत हैं, जैसे—मेदिनीकोष में 'ब्राह्मणो ब्रह्मजातौ स्याद् वेदभागे नपुंसकम्' ,और अमरकोष में 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' विश्वकोष में 'श्रुति. क्षेत्रे तयाम्नाये वार्तायां श्रौतकर्मणि' इति।

पृ. १३५ पर अग्नि-पशु का आलम्भन और उससे यज्ञ' यह शीर्षक देकर जो तुमने कहा है कि अग्नि को ही पशु

(१।३६२) इवि स्वतन्त्रधातुद्वयपाठदर्शनात्। प्राप्त्यर्थंकस्य धातो रूपं लभते लभनमिति, धारणार्थंकस्य रूपं लम्भति लम्भनमिति' (पृ० १३३) आलभते, आलभेत इति शब्दाश्रितो यूयान् शब्दजाल उपस्थापित इति, तदपि निरर्थकम्, सर्वत्रालम्भनशब्दस्य वध एवार्थं इतियाज्ञिके रप्यनुक्तत्वेनानुक्तोपालम्भात्। 'कपिञ्जलादीनुत्सृजन्ति पर्यग्निकृतानि (का० श्रौ० सू० २०।६।९) इति कपिञ्जलादीनामुत्सर्गोक्तेः। 'तेष्वारण्याः सर्वे उत्स्रष्टव्या नतु हिंस्या' इति उव्वटमहीधराद्युक्तेः। 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते' (वा० सं० ३०।५-२२) इत्यादिषु कपिञ्जलादिवत् उत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन् (का० श्रौ० सू० २१।१।११) इति कात्यायनसूत्रात् पर्यग्निकरणानन्तरम् इदं ब्रह्मणे इदं क्षत्रायेत्येवं . सर्वेषां यथास्वं देवतोद्देश्येन त्यागः। ततः सर्वान् ब्राह्मणादीन् यूपेभ्यो विमुच्योत्सृजन्ति' (महीधरभाष्ये) इत्यादिवचनैर्याज्ञिकैरपि तथाभ्युपगमात्। त्वया तु स्वपक्षसिद्धये येषामाश्रयणं स्वप्रतिकूलतावसरे तेषामेव खण्डनं विधीयते। न च त्वया त्वदीयैर्वा कात्यायनाश्वलायनादि-सूत्राणि ब्राह्मणानि मीमांसासूत्राणि वा प्रमाणानि मन्यन्ते। ततश्च व्यर्थमेव तेषामाश्रयणम् लोकवञ्चनपर्यवसायित्वात्।

दक्षिणासमाधिहृदयमालभते अनेकत्र आलम्भशब्दस्य स्पर्शादयोऽर्था भवन्ति, इति सनातनधर्माचार्यैरेव तत्र तत्र प्रदर्शिताः। आलम्भशब्दस्य हिंसाऽर्थ एव नास्तीत्युक्तिर्निर्मूलैव, नालम्भायेति चरके त्वयैव तदर्थस्य प्रदर्शितत्वात्। हिंसार्थास्तादृशप्रयोगा उत्तरकालिका इत्यप्यसङ्गतम् 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति श्रुतावपि तादृशप्रयोगदर्शनात्। नच तदपि वचनमुत्तरकालिकम्, तादृशोक्तेर्नास्तिक्यमूलकत्वात्। 'नास्तिको वेदनिन्दकः' इति मनूक्तेः। मन्त्रब्राह्मणसमुदायस्य वेदत्वानादित्वाभ्युपगमात्। कोषकारैरपि 'तथाभिप्रेतम्' तथाहि 'मेदिनीकोषे'—'ब्राह्मणो ब्रह्मजातौ स्याद्वेदभागे नपुंसकम्।' इति॥ अमरकोषे च—'श्रुतिः स्त्रीवेद आम्नायः इति विश्वकोषे च श्रुतिः 'क्षेत्रे तथाम्नाये वार्तायां श्रौतकर्मणि।' इति। यदपि 'अग्निपशोरालम्भनं तेन च यज्ञः' (पृ० १३५) इति शीर्षकेणोक्तम्। 'अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त' (वा० सं० २।३।१७) इति मन्त्रार्थद्योतकं 'अग्निः पशुरासीत्, तमालभन्त, तेनायजन्त, इति च ब्राह्मणम्' (नि० १२।२४) इति निरुक्तोद्धृतब्राह्मणेन अग्नेः पशुत्वम्, तेन यजनञ्चेति, तत्खण्डनं तु पूर्वमेव कृतम्। अग्नेः पशुत्वं तु प्रत्यक्षविरुद्धमेव।

मानकर, उससे यज्ञ किया गया' उसका खण्डन तो पहले ही किया जा चुका है। पहले तो 'अग्नि' को पशु कहना ही प्रत्यक्षविरुद्ध है। दूसरी बात—निरुक्त का जो संकेत दिया गया हैं, वह भी शुद्ध नहीं है। दुर्गाचार्य ने निरुक्त जो अर्थ किया है, उसे अच्छी तरह समझो।

पृ. १३५ से १३८ तक जो तुमने देवताओं के द्वारा अग्नि-पश्वालम्भनकर अनुष्ठित यज्ञ का वर्णन प्रदर्शित किया है, वह भी भोली-भाली जनता की प्रतारणा करने के उद्देश्य से ही किया है। यह समझने की बात है कि प्रकृति के परिणाम आदि को भी यज्ञ कहोगे तो लौकिक भोजन-पानादिव्यापारों को भी 'यज्ञ' शब्द से कहना होगा। अग्नि, वायु, सूर्य आदि को पशु कहना तो प्रत्यक्षविरुद्ध है। ज्ञान आदि में जैसे 'यज्ञ' शब्द का व्यवहार किया जाता है, उसी तरह वह व्यवहार किया गया है। जल या पञ्चतन्मात्राएँ जड़ होने से वे स्वतन्त्ररूप से कुछ कर हो नहीं सकतीं। उन्हें तो परमेश्वर अपनी शक्ति से यथेष्ट परिणत करता है। जड़ पदार्थों में दर्शनक्षमता हो नहीं सकती। तुमने भी पृ. १३६ पर परमेश्वर की शक्ति से ही उनमें चेतन के समान उपचार को माना है। उसी तरह इसे प्रसंग में भी यज्ञत्व को औपचारिक ही समझना चाहिये। जैसे औपचारिक सिंह से मुख्य सिंह भिन्न ही रहता है, उसी तरह तुम्हारे कल्पित औपचारिक यज्ञ से वैदिकों का मुख्ययज्ञ भिन्न ही है। अतः अन्यान्य पदार्थों में की गई पशुत्व—यज्ञत्वादि की कल्पना को केवल विधिस्तुत्यर्थ ही समझना होगा। मन्त्र का अर्थ' सायणाचार्य ने जो किया है, वही शुद्ध एवं यथार्थ है। उसी तरह 'तस्माद् यज्ञात्' इस मंत्र के विवरण और तत्सम्बन्धित कुचोद्य का खण्डन पहले किया जा चुका है।

'स्तोमेन' इससे भी यज्ञ आदि की विवक्षा नहीं की गई हैं, किन्तु पूर्वमन्त्र में कथञ्चित् होमसम्बन्ध है। 'यं देवासो०, (ऋ० सं० १०।८८।९) मंत्र का तथा 'स्तोमेन' मन्त्र का शुद्ध अर्थ ऊपर मूल संस्कृत में दिया गया है। 'अग्निः पूर्वेभिः' यहां पर भी भौतिक शक्तियों को 'ऋषि' नहीं कहा है, उसी प्रकार 'वायवा याहि:' का भी अर्थ अशुद्ध और निर्मूल है, क्यों कि योग को अपेक्षा

अयमुपर्युक्तो निरुक्तसङ्केतोऽप्यशुद्ध एव (१२।४१) इति सङ्केतस्य शुद्धत्वात् । तथा च देवदत्तस्य सिंहत्वमिव माणवकस्याग्नित्वमिव अग्नेः पशुत्वविरोधं परिलक्ष्य बीजपश्वादिपन्नेनैवाग्निना पशुना देवा अयजन्त इत्येवार्थस्तत्र दुर्गाचार्येण कृतः ।

यदपि—'आपो ह यद्बृहती विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्त्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ७ ॥
यश्चिदापो महिना पर्यपश्यत् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वपि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥ (ऋ० सं० १०।१२१)

सर्गारम्भे यदा प्रकृतिविकारभूताभिः बृहतीभिः पञ्चतन्मात्राभिः गर्भं धारयन्तीभिः महदण्डरूपेण संहन्यमानाभिरग्निरुत्पादितः । पश्चात् देवानामसुर्गतिशील एकः महदण्डो जातः । याभिरद्भिः स्वमहिम्ना (दक्षम्) अग्निं धारयन्तीभिः यज्ञ उत्पादितः । यो देवेषु अधिदेवः (महादेवः) आसीत् तस्मै प्रजापतये वयं महदण्डस्यान्तर्वर्तमानाः प्राणरूपा देवगणाः हविः प्रदानरूपेण कर्मणा स्वसहयोगेन महदण्डकार्यं साधयामः । तथा—

'स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनन् शक्तिभिः रोदप्रसितम् ।
तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवेकं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः ॥' (ऋ० सं० १०।८८)

भौतिका देवाः स्वसामर्थ्येन द्यावापृथिव्योर्व्यापकमग्निमुत्पादितवन्तः । तं त्रेधा व्यभजन् । स विविधा ओषधीः पचति ।

जगन्निर्माणे संल्लग्नाः शक्तयः कथयन्ति वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरं कृताः । तेषां पाहि श्रुधि हवम् ॥' (ऋ० सं० १।२।१) । हे दर्शनीय वायो आयाहि, इमे सोमा उत्पादकतत्त्वानि अलङ्कृतास्तान् पाहि स्वोदरसात्कुरु । अस्माकम् आकाङ्क्षाः शृणु पूरय च ।

रूढि बलवान् होती हैं । 'या' धातु से भी जो संग्रहण होगा, वह भी गौण अर्थ होगा । श्रवण, आकांक्षापूरण आदि भो—जड़ में संभव नहीं हैं । क्योंकि वह तो चेतन का धर्म है । अतः सूर्य को पशु समझना और उसका आलंभन करना भी गौण ही है । (वा० सं० २३।१७) मंत्र में सूर्य पशु के द्वारा याग का वर्णन करना भी तुच्छ है, क्योंकि 'अग्निः पशुरासीत्' आदि में 'आदित्यो यूपः' में यूपका आदित्यत्व जैसे गौण है वैसे ही अग्नि, वायु, सूर्य का पशुत्व गौण है क्योंकि प्रत्यक्ष विरुद्ध है । उसके पूर्व वाजसनेयी संहिता के २३।१६ की कण्डिका में विशस्यमान पशु बताया गया है । उसी अर्थ को दृढ़ करने के लिये आगे चलकर बताया है कि पशुभाव को प्राप्त हुए अग्नि ने इस पृथिवीलोक को जीता था । जिस लोक में अग्नि है, वह तुम्हारा लोक होगा, उस लोक को तुम जीतोगे तात्पर्य यह है कि जैसे पशुभाव को प्राप्त होकर अग्नि, वायु, सूर्य ने तत्तत् लोकों पर विजय प्राप्त किया और विशिष्ट ऐश्वर्य प्राप्त किया, उसी तरह हे पशो ! तुम्हें भी उन लोगों की तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी ।

'तं यज्ञं बर्हिषि०' यहाँ पर यज्ञसाधन में 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग किया गया है । यहाँ पर मानस यज्ञ के अनुगुण ही साधन बताये गये हैं । 'वसन्तोऽस्यासीदाज्यम्' इस मन्त्र के द्वारा प्रतिपादित अर्थ का ही उपसंहार संक्षेप से 'यज्ञेन यज्ञः'—मन्त्र के द्वारा किया गया है ।

यह जो कहा है कि 'महद् अण्ड के विभक्त होनेपर ग्रहोपग्रह जब उससे बाहर आये, तब ये सब एक दूसरे से दूर हुए । पृथिवी और आदित्य की समीपता का वर्णन मन्त्रों और ब्राह्मणों में बहुत मिलता है । कुछ काल के पश्चात् आदित्य, अग्नि और प्रबल वात के कारण झटके के साथ पृथिवी से दूर हुआ । स्व-स्थान से विचलित सूर्य दोले (झूले) के समान एक स्थान पर स्थिर नहीं हुआ । कई बार पृथिवी के समीप आया और दूर हुआ । वह न्यूनातिन्यून दो तीन बार पृथिवी से दूर होने के पश्चात् अपने स्थान पर स्थिर हुआ । आदित्य की इस सरण—दूर होने की क्रिया के कारण ही आदित्य का सूर्य नाम हुआ । ('सूर्यः सरतेर्वा' निरु० १२।१४) । वह भी ठीक नहीं है । तुम्हारी यह सब समझ भ्रमपूर्ण है । तुमने जिन वचनों का उल्लेख किया है, उनका अर्थ दूसरा ही है ।

वायुपशोः पुनरालभनम्—जगतः सर्गे स्थितिकाले च एतादृशा यज्ञाः सततं भवन्ति। सर्गोत्पत्त्यनन्तरं वायोः पुनरालभनं जातम्, पृथिव्याः सूर्यस्य च मध्ये विद्यमानो वायुस्तस्य कार्यभेदेन स्थानभेदेन च सप्तविभागा जाताः। एकैकस्य विभागस्य पुनः सप्तभेदा जाताः। एकोनपञ्चाशद्भेदेन मरुतां नामानि वैदिकवाङ्मये प्रसिद्धानि, (पृ० १३५-१३८) इति। तदेतत्सर्वं मूर्खजनप्रतारणमेव, प्रकृतिपरिणामादीनां यज्ञत्वेन लौकिकानां भोजनपानादिव्यापाराणामपि यज्ञपदव्यपदेश्यत्वापत्तेः। अग्निवायुसूर्यादिपशुत्वस्य प्रत्यक्षविरोधात्।

पशुत्वं तादृशालम्भनजनितयज्ञस्य काल्पनिकत्वमेव ज्ञानादिषु यज्ञत्वव्यपदेशवत्। न चापः पञ्चतन्मात्रा वा स्वातन्त्र्येण किञ्चित्कर्तुं समर्थाः जडत्वात्। परमेश्वरस्तु स्वशक्त्या ताः यथेष्टं परिणमयति न च जडानां दर्शनक्षमता सम्भवति। न च महदण्डान्तर्गता भूतगणा हविः प्रदाने समर्थाः, न वा प्रार्थनाक्षमा जडत्वादेव। परमेश्वरशक्त्यैव त्वयापि 'यश्चिदापो महिना पर्यपश्यत्, इत्युद्धृते ऋग्वेदसंहितामन्त्रे (१३६ पृष्ठे)। द्वितीयटिप्पण्यां 'पर्यपश्यत्' इत्यस्य चेतनवदुपचार एवाङ्गीकृतः। एतेनात्र यज्ञत्वमप्यौपचारिकमेव मन्तव्यम्। यथोपचारिकात्सिंहात् भिन्नो मुख्यः सिंहः भवति तथैव त्वत्कल्पितादौपचारिकात् यज्ञात् भिन्न एव मुख्यो यज्ञो वैदिकानाम्। तथात्वे केवलविधिस्तुत्यर्थमेव तत्र तत्र पशुत्वयज्ञत्वादिकल्पना ज्ञातव्या। मन्त्रार्थस्तु सायणाचार्याद्युक्त एव समीचीनः। सूक्तस्यास्य प्रजापतिपुत्रः हिरण्यगर्भऋषिः कशब्दाभिधेयः प्रजापतिर्देवता त्रिष्टुप् छन्दः, बृहतीः बृहत्यः महत्यः आपः अग्न्युपलक्षितं सर्वं वियदादिभूतजातं जनयन्तीः जनयन्त्यः, तदर्थं गर्भं हिरण्मयाण्डस्य गर्भभूतं प्रजापतिं दधाना धारयन्त्यः यत् यस्मात्कारणात् आपो ह आप एव विश्वमायन् सर्वं जगत् व्याप्नुवन् ततः तस्मात् देवानां देवादीनां सर्वेषां प्राणिनाम् असुः प्राणभूतः एकः प्रजापतिः समवर्तत। यद्वा यत् यं गर्भं दधाना आपो विश्वात्मनात्रस्थिताः ततो गर्भभूतात् प्रजापतेः देवादीनां प्राणात्मा वायुरजायत। अथवा यत् इत्यस्य लिङ्गवचनयोर्व्यत्ययेन उक्तलक्षणा या आपः विश्वमावृत्य स्थिताः, ततस्ताभ्योऽद्भ्यः सकाशात् एकोऽद्वितीयः प्राणात्मकः प्रजापतिः समवर्तत निश्चक्राम तस्मै कस्मै वयमृत्विजः परिचरेम परिचरणकर्मविधातुमुद्युक्ता भवेम।

अत्र 'आपः' इति पदेन परमेश्वराधिष्ठिताः कर्मसमवेता महदाद्याः सप्तप्रकृतिविकृतय उच्यन्ते। द्वितीयमन्त्रस्याप्ययमर्थः—यज्ञं यज्ञोपलक्षितं विकारजातं जनयन्तीः उत्पादयन्तीः दक्षं प्रजापत्यात्मना वर्धिष्णुं प्रजापतिमात्मनि दधानाः धारयन्तीः अपः व्यत्ययेन प्रथमा आपः प्रलयकालीनाः महिना महिम्ना स्वमाहात्म्येन यश्चित् यश्च प्रजापतिः

टिप्पणी में जो तुमने 'जामी सयोनी' मन्त्र से पृथिवी और सूर्य की समीपता का वर्णन किया है, वह भी ठीक नहीं है। यह सम्पूर्ण मंत्र (ऋ० सं १।१५९।४) ऋक् संहिता में है, उसे और उसके अर्थ को अच्छी तरह समझो। उस मन्त्र में कहीं भी सूर्य-पृथ्वी के समीपागमन को नहीं बताया है। किन्तु वहाँ द्यावा-पृथ्वी का वर्णन किया गया है। 'द्यौ' का अर्थ सूर्य नहीं है। पृथिवी की तरह 'दिव्' भी लोक है। एक ही आकाश में दोनों के अवस्थान को ही सहावस्थान कहा गया है।

जो तुमने तैत्तिरीय संहिता और ब्राह्मण का वचन देकर सूर्य और पृथिवी के सहावस्थान को बताया है, वह भी तुम्हारे अज्ञान का ही विजृम्भण है। वहां भी द्युलोक और पृथिवीलोक की ही चर्चा की गई है, सूर्य और पृथिवी की तो वहाँ चर्चा ही नहीं है। द्युलोक और पृथिवीलोक की चर्चा भी उषासम्भरण विधि के अर्थवाद रूप में ही की गई है। आपके उद्धृत किये हुए मन्त्र-ब्राह्मण के वचनों से आपका अभिप्रेत अर्थ किसी तरह भी नहीं निकल पा रहा है।

पृ० १३८ पर टिप्पणी में उद्धृत तैत्तिरीयसंहिता के वचन से भी सूर्यगोलक का गमनागमनादि सिद्ध नहीं हो रहे हैं। उक्त तैत्तिरीय संहिता वचन का अर्थ मूल संस्कृत में दिया गया है। तैत्तिरीयसंहिता में वहीं पर होम विशेष के अर्थवाद रूप में 'आदित्य' पद को प्राप्त करके भी उन आदित्यों ने वहाँ की समृद्धि को अपर्याप्त मानकर पुनः भूमि पर यजमान रूप से आकर अग्नि का आधान कर इन प्रशस्त होमों को करके समृद्धि को प्राप्त किया। यह भाव उस वचन में बताया गया है। आदित्य गोलक का ही पृथिवी पर आगमन

पर्यपश्यत् परितो दृष्टवान्, यश्च देवेष्वधिदेवः देवेषु मध्ये देवः तेषामपीश्वरः सन् एकः अद्वितीय आसीत् भवति तस्मै कस्मै हविषा विधेम। प्रकृतः प्रजापतिरीश्वरश्चेतनो न जडः। अत एव चेतनावद् व्यवहारोऽपि नोपचारिकः। नात्र यज्ञः प्राधान्येन व्यपदिष्टः, यज्ञादिविकारजातस्योपलक्षकत्वात्। 'तस्माद्यज्ञा'दितिमन्त्रस्य विवरणमेवं तत्सम्बन्धि कुचोद्यं तु पूर्वमेव खण्डितम्।

'स्तोमेने' त्यनेनापि न यज्ञादिकं विवक्षितम्, किन्तु पूर्वस्मिन्मन्त्रे कथञ्चित् होमसम्बन्धोऽस्ति 'यं देवासोऽजनयन्तत्राग्नि यस्मिन्नाजुहुवुर्भुवनानि विश्वा। सोऽर्चिषा पृथिवीं द्यामुतेमामृजूयमानो अतपन्महित्वा॥' (ऋ० सं० १०।८८।९) यं वैश्वानरमग्नि देवासः देवाः अजनयन्त उत्पादितवन्तः। यस्मिन्नुत्पन्ने वैश्वानरेऽग्नौ विश्वाभुवनानि आजुहुवुः, सर्वमेधे स वैश्वानरोऽग्निः अर्चिषा तेजसा पृथिवीमन्तरिक्षं आपः पृथिवी इत्यन्तरिक्षनामसु। इमां भूमिञ्च ऋजूयमानः ऋजुगमनः महित्वा महत्त्वेन अतपत् सर्वं तपति। 'स्तोमेने'ति मन्त्रस्य त्वयमर्थः देवासः शक्तिभिःकर्मभिः रोदसिप्राम् द्यावापृथिव्योः पूरयितारम् अग्नि सूर्यात्मकं दिवि द्युलोके स्तोमेन स्तुत्या हि अजीजनत् उत्पादितवन्तः, अपि च तमु तमेव कं सुखकरमग्नि यज्ञे त्रेधाभुवे त्रेधाभावाय अकुर्वन् कृण्वन्ति स पृथिव्यां वर्तमानः विश्वरूपाः सर्वरूपाः ओषधीः व्रीह्याद्यास्तेन तेनोपकारेण पचति। 'स्तोमेन यं हि दिवि देवासोऽग्निमजनयन् शक्तिभिः कर्मभिर्द्यावापृथिव्योः पूरणं तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः, यदस्य दिवि तृतीयं तदसावादित्य इति हि ब्राह्मणम्' (नि० ७।२८) 'अग्निः पूर्वेभिरित्यत्रापि न भौतिकशक्तीनामृषित्वं तत्र दर्शनासम्भवेनेषित्वायोगात्। 'वायवाया ही' त्यत्रापि न केवलस्य जडस्य वायोः सम्बोध्यत्वम् सोमपदेनापि तत्तदुत्पादकतत्त्वानां ग्रहणमपि निर्मूलमेव रूढेर्योगाद् बलीयस्त्वात्। यातेरपि तेषां सङ्ग्रहणं गौणमेवार्थः। श्रवणमाकाङ्क्षापूरणादिकमपि जडेन सम्भवति, तस्य चेतनधर्मत्वात्। तेन सूर्यस्यापि पशुत्वं तदा लम्भनादिकमपि गौणमेव। (वा० सं० २३।१७) मन्त्रे सूर्यपशुना यजनस्य वर्णनमित्युक्तम्, यदपि यत्किञ्चित्। 'अग्नः पशुरासीत्तेनायजन्त, स एवं लोकमजयन्नग्निः स ते लोको भविष्यति, ते जेष्यति, वायुः पशुरासीत् इत्यादिषु 'आदित्यो यूप, इति यथा यूपस्य गौणमेवादित्यत्वं तथैवाग्निवायुसूर्यादीनामपि गौणमेव पशुत्वं प्रत्यक्षविरोधात्। ततः पूर्वं न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः। यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु (वा० सं० २३।१६)। इति कण्डिकायां विशस्यमानः पशुरुक्तः—हे अश्व अस्माभिः यत्त्वं संज्ञप्यसे एतत् त्वं न म्रियसे मरणं न प्राप्नोषि। न च रिष्यसि न विनश्यसि विशस्यमानः। यत् यस्मात् सुगेभिः सुगमनैर्मार्गैः देवान् प्रति एषि गच्छसि। किञ्च सुकृतः साधुकारिणः नरा यत्र लोके आसते तिष्ठन्ति यत्र च ते सुकृतो ययुर्गताः तत्र लोके सविता देवः त्वां दधातु स्थापयतु। 'सविता वैन स्वर्गे लोके दधाति' (श० १३।२।७।१२) इति श्रुतेः। तस्यैवार्थस्य दृढीकरणायोत्तरत्र अथ यदि योऽयमद्य प्रसिद्धोऽग्निर्देवः सोऽपि पूर्वं पशुरासीत्। तेनाग्निरूपेण पशुना पूर्वं देवा अयजन्त। स पशुभावमुपगतोऽग्निः एतं पृथिवीलोकमजयत् यस्मिल्लोके अग्निः स ते लोको भविष्यति। तं लोकं त्वं जेष्यसि। एताः प्रोक्षणीरपः पिब। तथा च श्रुतिः—'यावानग्नेर्विजयो यावांल्लोको यावदैश्वर्यं तावांस्ते विजयस्तावांल्लोकस्तावदैश्वर्यं भविष्यतीत्येवैनं तदाह यथैव वायुः सूर्यश्च पशुरासीत् वायुलोकोऽन्तरिक्षं सूर्यलोकः स्वर्गः तावपि ते भविष्यतः। यद्वा सर्गकाले यदा पशवो

नहीं। क्योंकि अग्न्याधान, होम आदि का कर्तृत्व उसमें उपपन्न नहीं हो सकता। रात्रि में अग्नि का प्रकाश अधिक रहने से रात्रि को आग्नेयी कहा गया है। पशुओं का स्वामी अग्नि होने से पशुओं को भी आग्नेय कहा गया है। अर्थवाद श्रुति का विधि की प्रशंसा में तात्पर्य हुआ करता है।

और यह जो कहा है कि—शतपथब्राह्मण (१।४।१।२२) की श्रुति में पृथिव्यादि लोकों के साथ सूर्य का सहावस्थान

नासन् तदा सृष्टिदेवा मानसे यज्ञे अग्नि वायुं सूर्यं च पशुत्वेन परिचिन्त्य तैरेव मानसं यज्ञं कृतवन्तः। तत एव तेषां पशुभूतानां तत्तल्लोकविजयः विशिष्टैश्वर्यप्राप्तिश्च यथा तथैव तवापि तेषांल्लोकानामैश्वर्याणाञ्च प्राप्तिर्भविष्यतीति।

'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषञ्जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥' (वा० सं० ३१।९) अत्र यज्ञसाधने यज्ञशब्दः। यज्ञं यज्ञसाधनं तं पुरुषं पशुत्वमाभाव्य यूपे वद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रौक्षितवन्तः प्रोक्षणादिसंस्कारैः संस्कृतवन्तः। कीदृशं पुरुषं अग्रतः सृष्टेः पूर्वं जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नं 'ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः इत्युक्तत्वात्। तेन पुरुषेण पशुना देवा अयजन्त मानसं यज्ञं कृतवन्तः। के ते ये साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयो ये च तदनुगुणा ऋषयो मन्त्रद्रष्टास्ते सर्वे अयजन्त। तत्र मानसयज्ञानुगुणान्येव साधनान्युक्तानि। 'वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः। सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्तसमिधः कृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबघ्नन् पुरुषं पशुम्॥' (वा०सं० ३१।१५) एतस्यैवार्थस्य संक्षेपेण 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' (वा० सं० ३१।१६) इत्युपसंहारः कृतः। यच्च 'सूर्यस्य महद्दण्डाद्विभागानन्तरं ग्रहोपग्रहास्ततो बहिरागताः। तदा सर्वे चैते लोका एकैकस्माद्दूरं याताः पृथिव्यादित्ययोः सामीप्यस्य वर्णनं मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च दृश्यते। किञ्चित्कालानन्तरं आदित्योग्नेर्वातस्य च प्राबल्यात् पृथिव्याः सकाशात् दूरं गतः स्वस्थानाद्विचलितः सूर्यः दोलावन्नैकत्रस्थित आसीत्। अनेकधा सूर्यः पृथिव्याः समीपमागतः पुनश्च दूरं गतः। न्यूनान्यूनं द्वित्रवारानन्तरं सूर्यः पृथिव्या दूरमपसृत्य स्थिरः सञ्जातः। ततः सरणात् दूरगमनक्रियायोगात् आदित्यस्य सूर्यं इति नामकरणं जातम्। 'सूर्यः सरतेर्वा' (नि० १२।१४) इति यास्कोक्तेः।' (पृ० १३८) इति, तदपि यत्किञ्चित्, आभाससमानयोगक्षेमत्वात् त्वदुद्धृतवचनानामन्यार्थत्वात्।

यच्च टिप्पण्याम् 'जामी सयोनी मिथुना समोकसा' इति मन्त्रेण सूर्यपृथिव्योः समीपागमनं साधितम्, तदपि यत्किञ्चित्, तथाहि सम्पूर्णोऽयं मन्त्रः, 'ते मायिनो ममिरे सुप्रचेतसो जामी सयोनी मिथुना समोकसा। नव्यं नव्यं तन्तुमातन्वते दिवि समुद्रे अन्तः कवयः सुदीतयः।' (ऋ० सं० १।१५९।४) इति। एतदर्थस्तु ते प्रसिद्धे द्यावापृथिव्यौ मायिनः मायाप्रज्ञा तद्वन्तः स्वविषयप्रज्ञावन्तः प्रज्ञोपलक्षितकर्मवन्तो वा सुप्रचेतसः सुप्रकर्षेण चेतितुं शक्ताः रश्मयः ममिरे मिमते

रहता है, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि अन्यार्थवाले वचनों को देखकर निर्मूल इतिहास की कल्पना करना उचित नहीं है। उद्धृत किये हुए निरुक्तवचन (नि० १२।१४) से तो प्रतिदिन सूर्य का सरण ही बताया गया है, क्योंकि मन्त्रवर्ण से भी यहीं ज्ञात होता है।

पृ० १३८—३९ पर जो कहा—जब सूर्य स्वस्थान में टिक गया, उसके पश्चात् सूर्य के जाज्वल्यमान भाग पर जैसे पिघले हुए लोहे पर कुछ क्षण पश्चात् मैल जम जाता है, वैसे ही मैल जम गया। उससे सूर्य का प्रकाश अवरुद्ध हो गया वह पृथिवी का स्वरूप था, 'वशा अवि' रूप। (सम्पूर्ण उद्धरण मूल संस्कृत में दिया गया है।) वह कथन भी भ्रम से पूर्ण है। क्योंकि उनके अपने सिद्धान्त से ही विरोध हो रहा है। उस विरोध को मूल संस्कृत में बताया गया है। समाजी लोग देवताओं को चेतना और ऐश्वर्ययुक्त और उसी प्रकार असुरों को तो मानते नहीं। किन्तु उनके मत में पृथिवी आदि प्राकृत पदार्थ ही देव है और वे ही असुर हैं। केवल मिथ्या इतिहास लिखने में निपुण युधिष्ठिर ने यहाँ पर युक्त्याभास और वचनाभासों को उपस्थित कर कुछ तो भी प्रलापमात्र किया है। यज्ञ परक ब्राह्मणों को वेद न कहने में तथा उनकी निरपेक्ष प्रमाणता के स्वीकार न करने में और उनके विषय का अपलाप करते हुए अर्थ का अनर्थ करने में उसे किञ्चित् लज्जा का भी अनुभव नहीं हो रहा है। किञ्च-देवताओं ने किन उपायों से चार चरणों में तम को दूर किया ? और उससे उनका कौन सा प्रयोजन सिद्ध हुआ ? किसलिये यह सब वर्णन किया गया है ? इत्यादि के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। किन्तु अर्धजरतीय न्याय से अपनी स्वेच्छा के अनुसार ही किसी एक का तात्त्विक वर्णन तो किसी का आलंकारिक वर्णन अलग कर अपने विचारों को व्यक्त करने की केवल धृष्टता की है।

सिद्धान्त में तो (तैत्तिरीय संहिता के २।२।१) स्थल पर 'वायव्यं……ग्रामकामः'। आदि वचनों से विविध यज्ञों को बताया गया है। सायणाचार्य ने उसे स्पष्ट किया है। तथापि युधिष्ठिर ने विधि और अर्थवादों के अभिप्राय को न जानकर सैद्धान्तिक अर्थ

प्रमाणेन परिच्छिन्दन्ति। कीदृश्यौ द्यावापृथिव्यौ जामी परस्परं भगिनी भगिन्यौ, एतत् कुतः सयोनी समानोत्पत्तिस्थाने एकस्यैवाण्डस्य द्विधा विभागेन जनितत्वात्। मिथुना मिथुनभूते परस्परमवियुक्ते इत्यर्थः। सनोकसा समानस्थाने द्यावापृथिव्योरुभयोरपि एकस्मिन्नवकाशरूपेऽवस्थानात्। समीचीनस्थाने वा कीदृशा मायिनः कवयः मेधाविनः स्वव्यापारविषयज्ञानवन्तः सुदीतयः सुष्ठुद्योतनाः रश्मयः समुद्रेऽन्तरिक्षे अन्तर्मध्ये समुद्रशब्दस्य अन्तरिक्षनामसु पाठात्। नव्यं नव्यं तन्तुं तनीयं विस्तारणीयम् जातावेकवचनम्। रश्मीनातन्वते सर्वत्र विस्तारयन्ति इति। नात्र मन्त्रे सूर्यपृथिव्योः समीपागमनमुक्तम्, किन्तु द्यावापृथिव्योरत्र वर्णनम्। नहि द्यौरेव सूर्यः, पृथिव्या इव दिवोऽपि लोकत्वात्। उभयोश्चैकस्मिन्नाकाशेऽवस्थानमेव सहावस्थानम्।

यदपि द्यावापृथिवी सहास्ताम्' (तै० सं० ५।२।३) (तै० ब्रा० १।१।३।२) (दृ० १३८) इत्यनेन सूर्यपृथिव्योः सहावस्थानमुक्तम्' इति, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, तत्रापि द्युलोकपृथिवीलोकयोश्चर्चितत्वात्। न सूर्यपृथिव्योस्तत्र चर्चा। द्युलोकपृथिवीलोकयोश्चर्चापि ऊषासम्भरणस्यार्थवाद एव। तथाहि—'ऊषान् निवपति। पुष्टिर्वा एषा प्रजननं यदूषाः पुष्ट्यामेव प्रजननमग्नि चिनुतेऽथो संज्ञानं यवसंज्ञानं ह्येतत् पशूनां यदूषा। द्यावापृथिवी सहास्तां ते वियती अब्रूतामस्त्वेव नौ सह यज्ञियमिति। यदमुष्या यज्ञियमासीत् तदस्यामधात्। त ऊषा अभवन्। यदस्यायज्ञियमासीत्तदमुष्यामधात् ततश्चन्द्रमसि कृष्णम् ऊषान् निवपन्नदोध्यायेत् द्यावापृथिव्योरेव यज्ञिये अग्निमाधत्तेरन्धाग्नेरेवैतेन 'प्रियं धामावरुन्धे' (तै० ब्रा० १।१।३।) अत्र सायणः—'पशवो' ह्यषरक्षेत्रोत्पन्नं तृणादिकं रसान्तरयुक्तत्वादादरेण भक्षयित्वा पुष्टाः सन्तोऽपत्यान्युत्पादयन्ति। तस्मादूषा लवणाम्भसा मिश्रिताभिश्चिता भूम्यवयवा इति यावत्। सैषा पुष्टिः प्रजननम्। तद्रूपोषानिवापेन तदुभयप्राप्तिः। अपिच संज्ञानप्रदेश एवाग्निराहित्ये भवति। एतच्चोषरं क्षेत्रं पशूनां संज्ञानम्। पशवो ह्याघ्राणेन तत्संस्थानं जानन्ति। तस्मादूषा आधानस्थाने वपनीयाः।

सृष्टिकाले द्यावावृथिव्यौ मध्यगते अन्तरिक्षव्यवधानरहिते अभूताम्। तदा प्राणिनामवकाशार्थमीश्वरानुज्ञया परस्परं वियोगं गते वियोगकाले स्नेहातिशयान् परस्परमेवमब्रूताम्, आवयोर्यज्ञयोग्यं यत्सारमस्ति तत्सहैव तिष्ठतु। भूसारस्य दिवो वियोगो मा भूत् द्युसारस्य च भूमेर्वियोगो मा भूदिति। ततोऽमुष्याः दिवः सम्बन्धि यत् यज्ञियं सारं तदस्यां पृथिव्यां साधौरस्थापयत्। ते च द्युलोकसारा एते दृश्यमाना भूम्यवयवा ऊषरूपा अभवन्। तस्याः पृथिव्या यत् यज्ञियं सारमासीत् तत् अमुष्यां दिवि भूमिरास्थापयत्। तच्च स्थापितं भूसारमदो दृश्यमानं चन्द्रमसि कलङ्करूपं कृष्णं तस्मात् भूसारत्वात् ऊषाणां निवपनकाले तत् कृष्णरूपमत्र तिष्ठतीति ध्यायेत्। तथा सति द्युलोकसम्बन्धिन्यूषे भूलोकसम्बन्धिनि कृष्णे चाग्निराहितो भवति। 'सह हैवेमावग्रे लोका आसतुः' (श० ७।१।२।२३) इत्यनेनापि न सूर्यस्य पृथिव्याः समीपगमनादिकमुक्तम्, किन्तु भूस्वर्गलोकयोरेकभावस्थायित्वमुक्तम्। पौर्वापर्यालोचनयात्रायं भावः—गार्हपत्याग्नीध्रीयाहवनायानां क्रमेण पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकात्मकत्वात् क्रमेणैव तेषां संस्कारो युक्त इत्याशङ्क्य तेषां व्युत्क्रमानुष्ठानं समर्थ्यते—सह हैवेमाविति।

पर धूलिप्रक्षेप करके नितान्त मिथ्या काल्पनिक इतिहास गठन में प्रयत्न किया हैं। क्या ऐसे ही पाण्डित्य के बल पर सायणाचार्य को इतिहासानभिज्ञ कहने की धृष्टता कर रहे हो?

मीमांसासूत्रकार जैमिनि के अनुसार तो अर्थवाद वाक्यों की विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता रहने से उनका उपयोग विध्यर्थ के स्तावक के रूप में किया जाता है किन्तु युधिष्ठिर तो मीमांसासिद्धान्त के विपरीत ही बात करते हैं—कि अर्थवादों के द्वारा इतिहास का प्रतिपादन किया जाता है। और विधिवाक्यों में आलङ्कारिकता की कल्पना करते हैं। अहो! कैसी यह इनकी नवीन मीमांसा है। इनकी मीमांसा में तो 'अवियों' को ही काल्पनिक बताया गया है। किन्तु जैमिनि की मीमांसा में 'अवि' काल्पनिक नहीं है।

इमौ भूस्वर्गाख्यौ लोकौ अग्रे प्राक्अण्डकटाहभेदात्प्राक् सहासतुः। तयोः वियतोर्विविधं गच्छतोर्वियुज्यमानयोर्मध्येऽवकाश आसीत्। तदन्तरिक्षमभवत्। ततः पूर्वं द्यावापृथिव्योर्विगमनात्पूर्वम्। ईक्षमित्याकाशस्य नाम। द्यावापृथिव्योर्विश्लेषे सति तयोर्मध्ये खलु इदमीक्षमभूत्तदेवान्तरिक्षम्। एवं लोकद्वयानन्तरभावित्वात् गार्हपत्यचयनानन्तरं अन्तरिक्षसंस्तुतान् धिष्ण्यरूपान् आग्नीध्रीयानतिक्रम्य आहवनीयं चिनोति चयनेन संस्करोति। यस्मात्तौ भूस्वर्गलोकौ अग्रे खलु असृज्येताम् तस्मादाहवनीयचयनानन्तरम् प्रति निवृत्य सदसि धिष्ण्यान् निवपति निर्मिमीते। तस्मात् गार्हपत्यचयनानन्तरम् आहवनीयस्यैव चयनम्।

यदपि च—'आदित्या वा अस्माल्लोकादमुं लोकमायन्, तेऽमुष्मिंल्लोके व्यतृष्यन्त, इमं लोकं पुनरेत्य ……'सुवर्गंलोकमायन्' (तै० सं० १।५।४।), 'आदित्यो वा 'अस्माल्लोकादमुं लोकमैत्, सोऽमुं लोकं गत्वा पुनरिमं लोकमभ्यायत् ……सोऽग्निमस्तौत्। स एनं स्तुतः सुवर्गं लोकमगमयत्' (तै० सं० १।५।९।) (पृ० १३८) इति टिप्पण्यामुद्धृतम्, तेनापि सूर्यगोलकस्य न गमनागमनादिकं सिद्ध्यति। किन्तु तस्य वचनस्यायमर्थः—आदित्याः आदित्याधिष्ठातृदेवताः आदित्यपदप्राप्तेः पूर्वं यजमानावस्थायाम् आधानपुनराधाने अनुष्ठाय सुवर्गं गत्वा तत्र व्यतृष्यन्, विशेषेण तृषां प्राप्ताः। समृद्धिर्न पर्याप्तेति मत्वा पुनर्भूमिमागत्य अग्निमाधाय एतान् होमानजुहुवुस्त आर्ध्नुवन् ते सुवर्गंलोकमायन्। यः पराचीनं पुनराधेयादग्निमादधीत स एतान् होमान् जुहुयात् यामेवादित्या ऋद्धिमार्ध्नुवन् तामेवर्ध्नोति, इति, तत्रैव होमविशेषार्थवादरूपेण आदित्यपदं प्राप्याप्यादित्यास्तत्रत्यां समृद्धिमपर्याप्तां मत्वा पुनर्भूमौ यजमानरूपेणागत्याग्निमाधाय प्रशस्तानेतान् होमान् कृत्वा समृद्धिं प्राप्तवन्त इति। नात्र आदित्यगोलस्यैव पृथिव्यामागमनमुक्तम्, तस्याग्न्याधानहोमादिकर्तृत्वानुपपत्तेः। तथैव आदित्यो वा अस्माल्लोकात् अमुं लोकमैदित्यस्याप्ययमर्थः, यत् असुरा देवानां पूर्वलब्धं लब्धुं योग्यं च पशुरूपधनमपहृत्य तेन सह रात्रीं प्राविशन् अन्धकारे क्वापि गताः। ततः पशुहीना वयं खिद्यन्तो देवा उपायमपश्यन्। रात्रावग्नेः प्रकाशाधिक्याद्रात्रिराग्नेयी। अग्नेः पशुस्वामित्वात् पशवोऽप्याग्नेयाः।

'देवा अग्निमस्तुवन्। स्तुतः सोऽग्निरेभ्यो देवार्थं रात्रेराहृत्य तान् पशून् निराजन् निरगमयत्।' इति। तथैवादित्यो देवः पुण्यप्रभावादस्माल्लोकादमुं स्वर्गं लोकं प्राप्तवान्। अमुं लोकं गत्वा पुनरियं लोकं फलभोगानन्तरमागतः। आगत्य चात्र मृत्योरबिभेत्। मृत्युसंयुत इव। यं लोकः सोऽमन्यत। इममेवाग्निं स्तवानि। स मास्तुतः सुवर्गं लोकं गमयिष्यतीति। सोऽग्निमस्तौत्। स एनं स्तुतः सुवर्गं लोकमगमयत्।' इति तत्रैव फलमप्युक्तम्—'य एवं विद्वानग्निमुपतिष्ठते सुवर्गं लोकमेति सर्वमायुरेत्यभिव एषोऽग्नी आरोहति' इत्येवमर्थवादश्रुतेः विधिप्रशंसायां तात्पर्यात्। यदपि च शतपथब्राह्मणे (१।४।१।२२) श्रुतौ सूर्यस्य पृथिव्यादिलोकैः सहावस्थानमुक्तम्, तदपि न किञ्चित्, 'अग्न आयाहि वीतय' इति मन्त्रे समन्तिकमिव ह वा इमेऽग्रे लोका आसुरित्युन्मृश्या हैवं घोरास।' (श० १।४।१।२२, इत्युक्तम्। तत्र वीतय इति पदं व्याख्यातुमितिहासमाह—समन्तिक इति। समन्तिकमिव सन्निकृष्टतरमिवेमे लोका आसुः। अभिनयेन सन्निकर्षमेव दर्शयति—

यह जो कहा कि—'अविशब्द से मेष के तुल्य अकठिन आर्द्रभूमि बताई गई हैं—वह भी अशुद्ध है। क्योंकि 'न विधौ परः शब्दार्थः' इस नियम के अनुसार विधि में गौण अर्थ नहीं लिया जाता।

'यत्वासूर्यस्वर्भानुस्तमसा०' (तै० सं० २।१।२।५) और 'स्वर्भानोरधः'—(तै० सं० २।१।२।६) तथा 'मामियं तवसन्तमत्र०—(तै० सं० २।१।२।७) और 'प्राणोब्रह्मा युयुजात'—(५।४०।८) इन सबके वास्तविक अर्थ मूल संस्कृत में दिये गये हैं। सभी आख्यायिकाएँ अर्थवादरूप हैं, उनका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं रहता, किन्तु उनका तात्पर्य विध्यर्थ की स्तुति में ही रहता है।

विधि में गौण अर्थ की संभावना न रहने से 'अविमेष' आदि शब्दों के अन्यार्थ की कल्पना करना भी असंगत ही है।

इत्युन्मृश्येति। यथोर्ध्वंबाहुना शाखाग्रं स्पृश्यते एवं द्यौरपि हस्तस्पृश्येव बभूवेत्यर्थः। देवा अकामयन् कथमु इमे लोका विप्रकृष्टा भवेयुः। ते च वीतये विश्लिष्टा इति वीतिः तस्यै वीतये, अर्थात् 'वीतये' इत्येतदक्षरत्रयप्रयोगात् इमे लोकाः परस्परं विदूरं विप्रकर्षं गताः। तत्र यथा बीजावस्थापन्नस्य वटस्य मूलं शाखाः शाखाग्रञ्च सन्निकृष्टतरमिव भवति, कार्यावस्थां प्राप्य विप्रकृष्टा एव भवन्ति। तथैवाण्डावस्थायां सर्वे लोकाः सन्निकृष्टा एव भवन्ति। ते चाण्डपरिपाके भेदनावस्थायां विप्रकृष्टा एव भवन्ति। तस्मान्नैतादृशैरन्यपरैर्वचनैर्निमूलेतिहासकल्पनं युक्तम्। 'सरतेर्वा सूर्यः (नि० १२।१४) इति निरुक्तवचनेन तु प्रतिदिनं सरणमेव सूर्यस्य विज्ञायते, 'देवो याति भुवनानि पश्यन्' (वा० सं० ३४।३१) इति मन्त्रवर्णात्।

यदपि च 'सूर्यस्थैर्यानन्तरं तस्य जाज्वल्यमानभागोपरि द्रवीभूतलोहस्योपरि मालिन्यमिव कियत्कालानन्तरं मालिन्यं जातम्, तेन प्रकाशोऽवरुद्धः। तदेव तैत्तिरीयसंहितायाम् असुरस्वर्भानुद्वारकं सूर्यस्य तमसा वेधनमुक्तम् 'स्वर्भानुरासुरः सूर्यं तमसा विध्यत्' (तै० सं० २।१।२।) इति। सूर्यस्यायं दोषो देवोभिः शक्तिभिः चतुर्भिः पादैरपसारितः। 'तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन्। तस्य यत् प्रथम् तमोऽपाघ्नन् सा कृष्णाविरभवत्, यद् द्वितीयं सा फल्गुनी, यत् तृतीयं सावलक्षी, यदध्यस्थात् अपाकृन्तन् सा विर्वशा समभवत् (तै० सं० २।१।२।) अर्थात् देवाः स्वर्भानुनाऽसुरेण सूर्यस्योपर्युत्पादितस्य तमोजन्मावरणरूपदोषस्य प्रायश्चित्तिं (निवृत्तिम्) ऐच्छन्। तत्र प्रथमवारं तदपवारणे कृष्णवर्णाविर्जाता, द्वितीयवारं तदपवारणे फल्गुनी (रक्तवर्णा) अविर्जाता, तृतीयवारं श्वेतवर्णा अविर्जाता, चतुर्थे पर्यायि तदपवारणे वशा

उसी प्रकार 'साविर्वशा भवत्'—(तै० सं० २।१।२) और 'अथवा इयं तर्ह्युक्षासीद्०' (मै०सं० २।५।२) इनकी भी पूर्ववत् ही व्याख्या होगी।

पृ० १४४ पर अथर्ववेद (१।१६।४) तथा यजु के कतिपय मन्त्रों को उद्धृत कर समस्त पशुओं की अहिंसा को बताने का जो प्रयास किया है, वह भी व्यर्थ है। क्योंकि उद्धृत मन्त्रों के अभिप्राय को नहीं समझ पाये हो और हमने समाधान भी पहले कर दिया है। हरिण्यशरीर की प्राप्ति में हेतु होने से वेद विहित हिंसा को 'अहिंसा' ही कहा गया है। किंच अपना स्वार्थसाधन करने के लिये जैसे कात्यायन-महीधर आदि वचनों को उपस्थित कर पशुओं के उत्सर्ग को सिद्ध करते हो, उसी तरह उन्हीं के वचनों से माध्यस्थ्य का अवलंब कर प्रकृत में भी क्यों नहीं दृष्टिपात कर रहे हो? 'अश्वरीर ईशाने उपदधाति', 'नैर्ऋत्येऽजमुपदधाति' आदि वचनों की क्या गति होगी? किंच तुमने और दयानन्द ने भी निरुक्त को परम प्रमाण माना है। यास्काचार्य तो 'आम्नायवचनात् अहिंसैव प्रतीयेत' (नि० १।१६) कह रहे हैं। और दुर्गाचार्य ने उसकी व्याख्या भी की है, जो मूल संस्कृत में दी गई है। वेद ने यज्ञीयवध को 'अवध' ही बताया है। जैसे व्रीहि आदि का पुरोडाश प्रकृतित्वेन याग में उपयोग होता है, उसी तरह पशुओं का वपाविप्रकृतित्वेन उपयोग होता है। अत एव कोषकार ने. 'आलम्भन' शब्दका मरण के पर्यायशब्दों में उल्लेख किया है। कोषादि अनेक प्रमाणों से प्रसंगानुसार 'आलम्भ' शब्द का वध अथवा स्पर्श अर्थ ग्रहण किया जाता है। अत एव चरकवाक्य में वधार्थक स्पर्शशब्द को तुमने भी माना है अतः जैसे निषेधवशात् हिंसा में अधर्मत्व प्रतीत होता है, वैसे ही विधिबलात् हिंसा में धर्मत्व का भी संभव हो सकता है। जैसे बिना विवाह के स्त्री-स्पर्श पाप का कारण समझा जाता है किन्तु शास्त्र-सम्मत विवाहपूर्वक स्पर्श, धर्म समझा जाता है, वैसे ही प्रकृत प्रसंग में भी समझना चाहिये। शङ्कर-रामानुजादि जैसे वीतराग आचार्यरत्नों ने भी वैदिकसंज्ञपन (आलंभन, वध) को धर्म ही बताया है। 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते' 'क्षत्राय राजन्यम्' इत्यादि स्थलों में तो 'कपिञ्जलादिवत् उत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन्'—(का० श्रौ० सू० २१।१।१२) सूत्र से उनका उत्सर्ग विहित ही है। धर्म-अधर्म का निर्णय करने में शास्त्र को ही प्रमाण माना जाता है। शास्त्रने जहाँ उत्सर्ग का विधान किया हो, वहाँ उसी को धर्म, और जहाँ संज्ञपन कहा है वहाँ उसी को धर्म कहा जाता है। संन्यास में सर्वविध यज्ञादि कर्मों का त्यागकर ब्रह्मानुसन्धानपरायणता को ही मुख्यधर्म कहा गया है। उसका अधिकार जब तक प्राप्त नहीं है तब तक तो कर्मकर्तव्य ही रहते हैं। सङ्ग्राम, हिंसा से पूर्ण रहने के कारण उसमें क्रूरता सर्वविदित ही है। तथापि उसके न करने पर भगवान् स्वयं संग्राम न करनेवाले के लिये प्रत्यवाय बताते हैं। 'अधेन्वा चरति माययैषवाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्।।'—(ऋ० सं० १०।७१।५) यहाँ पर फलरहित-पुष्परहित वाणी को 'मायाधेनु' शब्द से कहा

अविर्जातेति। अर्थात् प्रकृते स्वर्भानुद्वारा सूर्यस्योपरि तमस आरोपस्य आरोपापाकरणस्य अपाकरणाच्च कृष्णवर्णाया लोहिन्या श्वेताया वशाधर्मिण्या अवेरुत्पत्तेरुल्लेखः। तत्र पुनः पुनः आवरणतदपाकरणयोः सत्यत्वेऽपि अवीनां वर्णनमालङ्कारिकम्। अद्यापि सूर्ये कृष्णवर्णस्थासकस्य विद्यमानत्वात्। साम्प्रतमपि कृष्णवर्णस्थासकाः प्राकृतिकघटनाचक्रानुसारेण नियतसमये यदा दूरीभवन्ति तदानीं सूर्ये अत्यधिकोच्चानां ज्वालानां प्रादुर्भावेन रेडियोक्रमो नश्यतीति वैज्ञानिकानां दृष्टिः।

चतुःकृत्वः क्रमशः सूर्यावरणापक्रमेण पृथिव्या यादृशी स्थितिर्दृश्यासीत् तस्या एव आलङ्कारिकभाषया अविरूपेण वर्णनम्। नाविशब्दः पृथिवीमात्र वाचकः किन्तु आर्द्रावस्थापन्ना अवितुल्या अकठिना या पृथिवी तामेव बोधयति। एतच्च अविमेधप्रसङ्गे स्पष्टयिष्यते। प्रथमवारं धनः सूर्यावरकः यः पदार्थोऽपसृतः सोऽत्यन्तं कृष्णवर्णः। तदानीं प्रकाशस्य सर्वथाऽभावात् पृथिव्यादयो लोका अन्धकारनिमग्ना न दृश्यावस्थायामासन्। प्रथमवारं घनावरणापसरणेन पृथिव्यादिषु अतिक्षीणं ज्योतिरागतम् येन ते कृष्णवर्णा अदृश्यन्त। द्वितीयवारमावरणापगमेन सूर्यप्रकाशोऽधिकं स्फुटो जातः। स च रक्तवर्णः, तेन पृथिव्यादयो लोका रक्तवर्णा दृष्टाः। तृतीये पर्याये आवरणापगमे अधिकमात्रायां प्रकाशात् श्वेतवर्णवत् ते दृष्टाः। चतुर्थे च पर्याये आवरणापगमे स्वकीयवास्तविकरूपेण पृथिव्यादयो लोकाः प्रकाशमुपगताः। सैव पृथिव्या अविवशारूपता' इति, (पृ० १३८-१३९) तदपि भ्रान्तिविलसितमेव, स्वसिद्धान्तविरोधात्। तथाहि समाजिनो देवान् चेतनानैश्वर्यवतोऽसुरांश्च तादृशान् नाभ्युपगच्छन्ति। किन्तु तेषां मते पृथिव्यादयः प्राकृतपदार्था एव देवाः, त एवासुराः। इह तु युधिष्ठिरः केवलं मिथ्येतिहासप्रासादनिर्माणप्रावीण्येन युक्त्याभासैर्वचनैर्यत्किञ्चित्प्रलपति। यज्ञपराणां ब्राह्मणानां वेदत्वनिरपेक्षप्रमाणत्वानभ्युपगमेन तद्विषयापलापेन चार्थानर्थकरणेऽपि न मनागपि जिह्रेति। कोऽयमसुरः स्वर्भानुः, चेतनो वा अचेतनो वा? नाद्यः, तस्य क्रमेण नियतग्रहेषु नियतावरणप्रक्षेपकत्वायोगात्। नान्त्यः, निष्प्रयोजनप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। देवा अपि चेतना अचेतना वा? नान्त्यः, तेषां तदपाकरणे नियतप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नापि चेतनाः तादृशासाधारणशक्तिमतां देवानां युष्माभिरनभ्युपगमात्। किञ्च कैरुपायैः देवाश्चतुर्भिः पर्यायैः तमोऽपसारितवन्तः? किञ्च तेन तेषां किं प्रयोजनं सिद्धम्? किमर्थञ्च तद्वर्णनमित्यादि सर्वं तु न वर्णितम् किन्तु स्वेच्छयैवार्धजरतीयन्यायेन कस्यचिदेकस्य तात्त्विकवर्णनं कस्यचिदालङ्कारिकवर्णनमभ्युपेत्य धाष्टर्यमेव करोति।

सिद्धान्ते तु तैत्तिरीयसंहितायां (२।२।१) स्थले 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामो वायुर्वा क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति……वायवे नियुत्वत आलभेत ग्रामकामः' इत्येवमादिभिः पश्वादिभिर्विविधा यज्ञा विहिताः। तदुक्तं सायणेन—'भूतिकामो ग्रामकामः प्रजार्थी दीर्घरोगवान्। प्रजापश्वर्थिनां चेषां श्वेताद्याः पशवः श्रुताः॥' तानेतान् पशून् प्रथमानुवाके विधाय द्वितोये वरुणगृहोतादीनां पशव उच्यन्ते, प्रजापतिः प्रजा असृजत। ता

है। इससे उसमें वन्ध्यात्व भी गौण ही बताया है। यहाँ केवल अर्थज्ञान शून्य पाठक की निन्दा की गई है। आधिदैविक-भौतिकयज्ञेषु आज्य-समिदादि जैसे गौण हैं, वैसे ही यज्ञत्व भी गौण ही है। अतएव मुख्य यज्ञ उसके प्रतिनिधि नहीं हो सकते हैं। अध्यात्मज्ञानमय यज्ञ में ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म का ही स्रुक्-स्रुवादि के रूप में अर्पण, ब्रह्म की ही हवि, ब्रह्म का ही होम, और ब्रह्म ही फल होता है। इतना कह देने मात्र से कर्मकाण्ड प्रकरण में भी ब्रह्मरूप अग्नि आदि का ग्रहण नहीं होता है।

पृ० १४८ पर जो कहा है—'अश्व आदि के बांधने के लिये यूप हुआ करते हैं, क्योंकि उनका भागजाना संभव है। मनुष्यों का रज्जु से बाँधना उचित नहीं है।'—वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि नियोजन, पर्यग्निकरण आदि संस्कारविशेष हैं, अतः लौकिकपलायननिवृत्ति ही उनका प्रयोजन नहीं है। और अधिदेव में तो सूर्य पर यूपत्व का, रश्मियों पर रज्जुत्व का आरोप ही किया जाता है।

मानव श्रौतसूत्र के अनुसार पुरुषमेध में यूप में ही नियोजन करने के लिये कहा गया है। तुमने भी पृ० १४९ पर

अस्मात् सृष्टाः पराचीरायन् ता वरुणमगच्छन् ता अन्वैत्…… (तै० सं० २।२।२) इत्यादिभिः। अर्थात् प्रजापतिना सृष्टाः प्रजाः पराचीः पराङ्मुख्यः अपरक्ताः सत्यः अस्मात् प्रजापतेः आयन् अपगच्छन्। गत्वा च वरुणं प्राप्ताः। स च प्रजापतिः ताः प्रजा अनुगम्य मदीयाः प्रजाः पुनरेव मह्यं देहीति वरुणमयाचत। वरुणस्तु न ददौ। ततो वरुणमिदमब्रवीत्। एतासां प्रजानां मध्ये वरं श्रेष्ठं गृहीत्वा अवशिष्टास्ताः प्रजाः मह्यं देहीति। वरुणस्तासां प्रजानां मध्ये वरं श्रेष्ठं कञ्चित्पशुं मदीयोऽयमिति हस्तेनास्पृशत्। स च परीक्ष्यमाणः कृष्णः वर्णः सन्नेकेन श्वेतेन पादेन युक्तोऽभूत्। स च वरुणगृहीतः। यो जलजन्येन महोदरव्याधिना गृहीतः स्यात्तदर्थं (तद्रोगनिवारणार्थं) तेन वरुणदेवताकेन पशुना यजेत। इति वरुणयागविधानमुक्तम्। अनन्तरं वशां विधातुं प्रस्तौति—'स्वर्भानुरासुरः सूर्यं तमसा विध्यत्। तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन्। तस्य यत्प्रथमं तमः……' (तै० सं० २।१।२।२)। स्वर्भानुरित्यसुरस्य कस्यचिन्नाम सिद्धान्ते देवा असुराश्च चेतनाः ऐश्वर्यवन्तोऽभ्युपेयन्ते। देवाः सृष्ट्यनुकूलाः सात्त्विकाः, असुराः सृष्टिप्रतिकूला राजसास्तामसाश्च। तेषां सङ्घर्षस्तत्र तत्र वेदेषु दृश्यते। स्वर्लोकगतां प्रभां नुदतीति स्वर्भानुः। स च पृथिव्या रूपं धृत्वा कृष्णवर्णः तमःपुञ्जो भूत्वा स्वीयेन तमसा सूर्यमाच्छाद्य जगदान्ध्यंकृतवान्। तमःपुञ्जरूपत्वं 'य त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः' इत्यस्यामृचि स्पष्टमाम्नातम्। पृथिव्याश्च कृष्णरूपत्वं लोके बहुलं दृश्यते। छन्दोगाश्च 'यत्कृष्णं तदन्नस्येत्यन्नकारणभूतायाः पृथिव्याः कृष्णरूपत्वमामनन्ति। देवास्तस्मै तस्य सूर्यप्रभाच्छादकस्य तमसः प्रायश्चित्तिं परिहारं विचिन्त्य नानाविधैः प्रकाशरूपैर्मण्यादिद्रव्यैः तमोऽघ्नन्। चतुर्भिः पर्यायैः अपसारितवन्तः। वस्तुतस्तु युधिष्ठिरः सायणभाष्यमवलोक्य विकृतं कृत्वा अनर्गलं प्रलपति स्वीयां नूत्नामिव कल्पनां दर्शयन्। तत्र प्रथमपर्याये अपसृतं तमः कृष्णवर्णा काचिदवि (मेषी)रभूत्। द्वितीयपर्याये फल्गुनीलोहितवर्णा काचिदविरभूत्। तृतीये पर्यायेवलक्षी वेतवर्णा काचिदविरभूत्। अस्थ्नोऽप्युपरि वर्तमानः प्रकाशोऽध्यस्थः। कस्यचिन्मृतदेहस्य दीप्यमानमस्थि समादाय तदीयात्प्रकाशात् चतुर्थपर्याये तमोऽपाकृतवन्तः। तच्च तमोवशा वन्ध्या काचिदविरभूत। ततो देवा विचार्य परस्परमिदमब्रुवन् दैव्यादस्थ्नो जातत्वादयमुत्तमो देवपशुः। तमेतं कस्मै कामायोत्तमप्रयोजनाय आलब्धं करिष्याम इति। अथ विचारादूर्ध्वं तर्हि तदानीं पृथिव्या अल्पत्वं ओषधीनामनुत्पत्तिं च दोषद्वयमवेक्ष्य तत्परिहाररूपाय कामाय समर्थेभ्य आदित्येभ्यः तां वशामालभ्य पृथिवीविस्तारमोषध्युत्पत्तिं च सम्पादितवन्तः। 'देवा अब्रुवन् 'देवपशुर्वा अयं समभूत् कस्मा इममालप्स्यामहे इत्यथ वै तर्ह्यल्पा पृथिव्यासीदजाता ओषधयः। तामविं वशामादित्येभ्यः कामायालभन्त नवो वा अप्रथत पृथिव्यजायन्तौषधयः' एवमर्थवादेन प्रशस्य 'यः कामयेत प्रथेय पशुभिः प्रजया जायेयेति स एतामविं वशामादित्येभ्यः कामाय आलभेत। आदित्यानेव कामं स्वेन भागधेयेनोपधावति त एवैनं प्रथयन्ति पशुभिः प्रजया च जनयन्ति ईदृग्विधान्यन्यान्यपि तत्रोक्तान्याख्यानानि।

तमोवेधरहितोऽप्यादित्यः कदाचित् प्रकाशमान्द्यात् विशेषेण न दीप्तवान्। तदर्थमेता वक्ष्यमाणा दृल्हा गललम्बितस्तनान्विता अजाः श्वेतास्तिस्रः आलभन्त।

अश्वमेध के स्वरूप का निरूपण करते हुए स्वीकार किया है कि आरण्य पशुओं का उत्सर्ग होता है और शेष बचे ग्राम्य पशुओं का आलंभन किया जाता है। यह सब अनुष्ठान ब्राह्मण और श्रौतसूत्र के अनुसार ही किया जाता है। परन्तु तुम्हारे मत में तो उन्हें प्रमाण नहीं माना जाता। तथापि जो वैदिक आस्तिक हैं, उनके मत के अनुसार तो मन्त्र-ब्राह्मण दोनों समान-रूप से वेद हैं, और दोनों का प्रामाण्य तथा अपौरुषेयत्व भी तुल्य है।

यह जो कहा है—'अश्वमेध, किसी आधिदैविक यज्ञ का प्रतिरूपक ही है। वह भी तुच्छ है, क्योंकि इसके विपरीत कहना ही उचित होगा। जहाँ अश्वादिकों का आरोप नहीं किया जाता, उसी को मुख्य अश्वमेध कहते हैं। किन्तु जहाँ सभी समारोपित ही हैं, उसे मुख्य अश्वमेध कैसे कहा जा सकेगा? यह जो कहा है—'लौकिक अश्वमेध में सार्वभौम राजा पृथक् और अश्वमेध पृथक् है,

सर्वथा विधीनामर्थवादानाञ्चाभिप्रायमविज्ञायैव सैद्धान्तिकेऽर्थे धूलिप्रक्षेपं कृत्वा मिथ्याकल्पितेतिहासप्रासादनिर्माणस्य यततेऽयं युधिष्ठिरः। ईदृशेनैव पाण्डित्येन सायणाचार्यमितिहासानभिज्ञं वक्तुं धृष्टतां करोति।

जैमिनिरीत्या तु आम्नायस्य क्रियार्थत्वादतदर्थानामर्थवादानामानर्थक्यप्राप्तौ विधिनात्वेकवाक्यत्वाद् विध्यर्थंस्तावकत्वेन तदुपयोगो भवति। अयं तु तद्वैपरीत्येनार्थवादानामेव इतिहासप्रतिपादकत्वमातिष्ठते। विधीनां त्वालङ्कारिकमेव कल्पयति। इत्यहो नव्यमीमांसकत्वमस्य। द्रव्यदेवते कर्मस्वरूपं भवति। वशाभूताया अवेः प्रादुर्भावार्थवादरूपतया तु स्वर्भानुकृतावरणस्य देवताकृतमपसारणमुक्तम्। अयन्तु अवीनामेव काल्पनिकत्वं वक्ति।

तथापि अश्व जो है, वह राजा के तेज का प्रतीक होने से उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध है। आधिदैविक अश्वमेध में तो सूर्य ही सार्वभौम राजा है और वही अश्व भी है।'—(पृ० १५० पर)। किन्तु वह भी ठीक नहीं है क्योंकि सूर्य में सार्वभौमराजत्व और अश्वत्व दोनों काल्पनिक ही हैं। उसमें मुख्य अश्वत्व और राजत्व का स्वीकार तुमने भी नहीं किया हैं। तथाहि—सूर्योदय से डेढ़ घण्टा पूर्व रात्रि का तम होता है। पूर्वदिशा में शकटाकार खड़ी, और आकाश में व्याप्त उषा की किरणें दिखाई देती हैं। वे ही अश्व के पूर्व-कृष्णभाग में ललाटपर श्वेतचिन्ह है। उषःकाल के पश्चात् सूर्योदय होने पर प्रकाश होता है। वही अश्व का पश्चात् अर्धश्वेत भाग है। आगे आगे उषःकालयुक्त रात्रि होती है। उसके पीछे-पीछे सूर्य का प्रकाश चलता है। अश्व की रशना का परिमाण १२ या १३ अरत्नि कहा है। 'अरत्नि' नाप-विशेष का नाम है। सूर्य की एक परिक्रमा में १२ मास होते हैं, और तृतीयवर्ष मलमास अथवा अधिकमास होने से १३ मास होते हैं। इसीं १२ या १३ मास लम्बी रशना से बंधा हुआ सूर्य होता है। अश्वमेधीय अश्व की रशना को घृत से चिकना किया जाता है। सूर्य के अश्व की ये रशनायें (घृ क्षरणदीप्त्योः) इस रीति के अनुसार तेजस्वी प्रकाश से व्याप्त होती हैं।

राजा की चार पत्नियाँ हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चार दिशाएँ ही चार पत्नियाँ हैं। पूर्वदिशा महिषी पटरानी है, इसीके साथ सूर्य का अभिषेक प्रसव होता हैं। पश्चिम दिशा वल्लभा है, सूर्य इसी दिशा में डूबता (विश्राम करता है)। इसी को रूपक के द्वारा कहा है—राजा, वल्लभा के ऊरुओं के मध्य शिर रखकर सोवें। उसकाल में ब्रह्मचर्य का विधान किया है। हमारी दृष्टि में सूर्य, वल्लभा पश्चिम दिशा में अस्त हो रहा है, परन्तु उस भाग की प्रजाओं की दृष्टि से सूर्य का उदय हो रहा है। इस प्रकार हमारी पश्चिम दिशा तद्देशस्थ मनुष्यों की पूर्वदिशा हो रही है, अर्थात् वल्लभा पश्चिम दिशा में सूर्य के अस्त होने पर भी उसके साथ सम्बन्ध नहीं कर रहा है। इसी प्रकार अवल्लभा और दूतपुत्री पत्नियाँ उत्तर-दक्षिण दिशाएँ हैं, जिनके साथ सूर्य का उत्तरायण और दक्षिणायन में ही संयोग होता है, सर्वदा नहीं।'—(पृ० १५०)। यहाँ यह स्पष्ट ही है कि आधिदैविक यज्ञ में याज्ञिक पदार्थों का आरोप ही किया जाता है। आरोप भी एक क्लिष्ट कल्पना करना ही है। द्वादश मासों में रशनात्व को कथञ्चिदेव सम्पादन किया जाता है। मासों में अप्रकाशरूपता रहने से उनमें प्रकाशव्याप्तता का होना संभव नहीं।

जो यह कहा है पृ० १५१ पर कि—'अश्व का एक वर्ष परिभ्रमण सूर्य की वार्षिक गति का ही उपलक्षक है। अश्व की रक्षा के लिये, बाधा को दूर करने वाले ४०० शस्त्रास्त्र सम्पन्न कवची राजपुत्र भी सूर्य किरण ही है। वर्षाकाल में मेघों की रुकावट के कारण सूर्य की किरणों का पृथिवी पर्यन्त प्रसार नहीं होता। अश्व के विचरण से शत्रुरूपी रुकावट को दूर करने के लिये ४०० शस्त्रधारी कवची सैनिक साथ रहते हैं।' इत्यादि, यह भी 'अश्वमेध के अश्व के अवयवों को रस्सी से बाँधते हैं और तत्तत् स्थानीय रस्सी के छोरों से अन्य पशुओं को बांधा जाता है।' तथैव 'सूर्यमण्डल से सब ओर सूर्यरश्मियाँ प्रसृत होती हैं उनसे सूर्यमण्डल पूर्णरूप से बंधा है, अर्थात् आच्छादित है, इन्हीं सूर्यरश्मियों के दूसरे छोर के साथ सौरमण्डल के पृथिवी आदि ग्रहोपग्रह बंधे हुए हैं।'—वह भी सब सारहीन है। क्योंकि रज्जु तो अश्व से भिन्न होती है, किन्तु रश्मियाँ तो सूर्य की अंशभूत ही हैं, अतएव उनसे सूर्य का बंधना संभव नहीं, और न ही उनसे ग्रह-उपग्रहों का बन्धना संभव है। उनसे बद्ध होने का सिद्धान्त अभीतक सर्वसम्मत नहीं हुआ है। अत एव तुमने भी 'बद्धाः' का 'आच्छन्नाः' ऐसा औपचारिक अर्थ ही किया है। रश्मियों में रज्जुत्व, सूर्य में अश्वत्व, ग्रहोपग्रहों में भी पशुत्व आरोपित ही है। इस प्रकार आरोप की कल्पना कर किसी पुष्ट अर्थ की कल्पना करना शक्य नहीं है।

यत्तु—'अविशब्देन मेषतुल्या अकठिना आर्द्रा भूमिरेवोच्यते' इति, तदप्यशुद्धम्, 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति न्यायेन विधौ गौणार्थग्रहणायोगात् ।

'य त्वा सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः । अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः ॥' (तै० स० २।१।२।५) हे सूर्यदेव, त्वा त्वां यदा आसुरः असुरस्य प्राणापहर्तुः पुत्रः स्वर्भानुस्तत्संज्ञकः तमसा मायानिर्मितेन आवृणोत् तदा भुवनानि सर्वाणि अदीधयुः यथा तत्रत्यो जनः अक्षेत्रवित् स्वस्वस्थानमजानन् मुग्धो भवति, तथा दृश्यन्त इत्यर्थः 'स्वर्भानोरथयदिन्द्रमाया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्, गूलह सूर्यंतमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणा विन्ददत्रिः' (तै० सं० २।१।२।६) अथ जगन्मौढ्यानन्तरं स्वर्भानोरसुरस्य यत् याः मायाः दिवो द्योतमानादादित्यात् अवः अवस्तात् वर्तमानाः तदुपरि तिरोधानासामर्थ्यात् ताः सर्वा हे इन्द्र, त्वम् अवहंसि । अथात्रेरेव परोक्षवादः—'तमसा अन्धकारेण अपव्रतेन अपगतकर्मणा अन्धकारस्यावरणरूपत्वादपव्रतत्वम् तादृशेन अन्धकारेण गूलहं गूढं आवृतं सूर्यमत्रिर्ऋषिः यत्वा सूर्यं इत्यपेक्ष्य तुरीयेण ब्रह्मणा ग्राव्णो ब्रह्मा इत्यनेन मन्त्रेण अविन्दत निरावरणं शुद्धं सूर्यं लब्धवान् । एकैकं मायांशमेकैकेन मन्त्रेणापनोद्य चतुर्थेन मन्त्रेण निलीनं तमोऽप्यपनुददित्यर्थः ।

'मामिमं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धोमियसा निगारीत । त्वं मित्रो असि सत्यराधास्तौ मेहावतं वरुणश्च राजा' (तै० सं० २।१।२।७) इदं सूर्यवाक्यम् । हे अत्रे मामिममीदृगवस्थं तव सन्तं स्वभूतं इरस्या अन्नेच्छया द्रुग्धः द्रोग्धा असुरः मियसामयजनकेन तमसा मा निगारीत मा गिरतु । किञ्च हे मित्र त्वं मित्रः असि । प्रमीतेः सकाशात् त्राता भवसि सत्यराधाः सत्यधनश्च तौ राजा वरुणश्च त्वं च युवां मा मामिहावतम् रक्षतम् ।

पृ० १५१ पर जो कहा है—'अश्वमेध में विजित राजाओं से भेंट (उपहारादि) ग्रहण करने के समान सूर्य भी स्वसम्बद्ध प्रदेशों से अपनी रश्मियों के द्वारा जल का ग्रहण करता है ।'—वह भी सारहीन है । क्योंकि यह विषमउपन्यास तुमने किया है । क्योंकि प्रदीयमान वस्तु के ग्रहण को उपहार स्वीकार कहते हैं । जलग्रहण इस प्रकार का नहीं है । किन्तु स्वेच्छया बलात् उसका ग्रहण किया जाता है । अश्वमेधमें राजा यजमान हुआ करता है और अश्व तो यज्ञ का साधन होता है । किन्तु सूर्य में यजमानत्व, अश्वत्व, यूपत्व सभी काल्पनिक ही है । अतः उसके अनुकरण को 'अश्वमेध' कहना अत्यन्त असंगत है । प्राणाग्निहोत्रादि में कहीं मुखमें आहवनीयत्व की कल्पना, उर में वेदित्व की कल्पना, लोभ में दर्भत्व की कल्पना, जाठराग्नि में गार्हपत्यत्व की कल्पना की जाती है । अथवा जैसे पञ्चाग्निविद्या है, वैसे ही जहाँ यज्ञचिन्तन कहा है, वहाँ तत्तद् यज्ञांगों का अध्यास करके चिन्तन करना चाहिये, किन्तु जहाँ विधान हो, वहाँ कल्पना करना निरर्थक ही है ।

'पृ० १५१ पर 'ऋग्वेदीय अश्वसूक्त' शीर्षक में कतिपय संकेत देकर जो स्पष्ट किया है कि अश्वमेध के १६३वें सूक्त में उक्त अश्व, सूर्य ही है ।' तथा 'सूक्त १६४ का आरंभ 'अस्य वामस्य पलितस्य' से होता है । आदि में 'अस्य' सर्वनामपद है । सर्वनाम पूर्वनिर्दिष्ट के स्मारक अथवा अभिधायक होते हैं । इस अस्यवामीय सूक्त (१।१६४) में सूर्य और उसकी रश्मियों का ही वर्णन है । निरुक्तकार यास्क ने भी वैसे ही व्याख्या की हैं । १६२वें सूक्त में यद्यपि अनेक ऐसे मन्त्र और पदसमूह हैं, जो आपाततः अश्वमेधयज्ञसम्बन्धी पदार्थों का ही वर्णन करते प्रतीत होते हैं । परन्तु पूर्वोक्त दोनों सूक्तों के प्रकाश में विचार करनेपर उनका भी आधिदैविक ही अर्थ करना चाहिये । और बृहदारण्यकोपनिषद् में वह १।१६२ सूक्त में निर्दिष्ट अश्वांगों की आधिदैविक व्याख्या ही की है (पृ० १५२) किन्तु यह सब कथन, अज्ञानविजृंभित भ्रम से ही पूर्ण है । वस्तुतः अश्वस्तवरूप इस सूक्त की देवता 'अश्व' है । आश्वमेधिक मध्यम दिन में उपाकरण संस्कार के लिये स्थित हुए अश्व की आद्य की ११ ऋचाओं से स्तुति की जा रही है । मन्त्रार्थ को देखते हुए अश्वपक्ष में ही वह संगत होता है ।

किञ्च 'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट'—(ऋ० सं० १।१६३।२) इस मंत्र में भी 'सूरात्' सूर से अश्व का निर्माण कहा

'ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजातः सपर्यन् कीरिणादेवान्नयसोपशिक्षन् ।
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानो माया अघुक्षत ॥'

ब्रह्मा ब्राह्मणः अत्रिः ग्राव्णः अभिषवसाधनानि युयुजानः युञ्जन् इन्द्रार्थं सोममभिषुण्वन् । कीरिणः कीर्यते विक्षिप्यते इति कीरिः स्तोत्रं तेन देवान् सपर्यन् पूजयन् नमसा हविर्लक्षणेनान्नेन नमस्कारेण वा उपशिक्षन् प्रसाधयन् । शिक्षतिर्दानार्थोऽप्यत्र प्रसाधनार्थः । एवमुक्ते साधनैः सूर्यस्य सर्वप्रेरकस्य चक्षुः सर्वस्य व्यापकं मण्डलं दिवि अन्तरिक्षे आधात् । निस्तमस्कं कृतवानित्यर्थः । अत्रिर्ब्राह्मण इन्द्रार्थं सोमाभिषवेण हविर्लक्षणेनान्नेन स्तोत्रैश्च इन्द्रादीन् देवान् पूजयन् सूर्यस्य चक्षुः मण्डलं दिवि निस्तमस्कमाधात् । स्वर्भानोरसुरस्य मायाः स्वाश्रयमव्यामोहयन्तीः मायाः अत्रिसहाय इन्द्रः अप्रधुक्षत अपजुगोपन्यवारयदित्यर्थः ।

यद्वा सूर्यस्य दिवि पूर्वमावृते प्रकाशे तदपनोद्य स्वकीयं चक्षुराधात् । निरावरणं तेजः सस्त्यापं दृष्ट्वानिति ।

स्वर्भानुमायया सूर्यस्यावृतिः हारिद्रविके ब्राह्मणेऽप्याम्नाता । 'स्वर्भानुश्चासुरः सूर्यं तमसाविध्यत् । तस्मै देवाः

गया है, सूर्य का निर्माण नहीं । अन्तरिक्ष से या पुरीष से सूर्य का जन्म होना कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है । तथा उसका महाशब्दकर्तृत्व भी कहीं प्रसिद्ध नहीं है ।

ऋ० १।१६३।२ मन्त्र भी अश्वपक्ष में ही संगत होता है । जैसे देवशुनी सरमा के द्वारा सारमेयों की, मनु के द्वारा मानवों की स्तुति की जाती हैं, उसी तरह इस अश्वमेधीय विशिष्ट अश्व की इन्द्राधिष्ठित अश्वरूप से स्तुति किया जाना उचित ही है । उसी तरह ऋ० १।१६३।३ मंत्र भी अश्व की स्तुति में ही संगत होता हैं, सूर्य की स्तुति में नहीं । मंत्रगत 'अर्वन्' संबोधन भी सूर्य में संगत नहीं हो रहा है । ऋ० १।१६३।५ मंत्र में भी 'वाजिन्' सम्बोधन भी अश्व के ही अनुकूल पड़ता हैं । शफ, अश्व के ही होते हैं, सूर्य के नहीं । ऋ० १।१६३।६ मंत्र में अश्वमेधीय अश्व की संवत्सर प्रजापति के रूप में उपासना बताई गई है । अतः द्युलोकगमन-श्रवण करने मात्र से उसे आदित्य समझलेना उचित नहीं है । सप्तम मन्त्र में भी उसके उत्तम रूप को ध्येय बताया है । अष्टम मंत्र में भी 'अर्वन्' सम्बोधन कहा गया हैं । नवम मंत्र में अश्व का ही स्पष्ट लिंग प्रतीत हो रहा है ।

पृ० १५२ पर जो कहा हैं 'लौकिक अश्व के शृङ्ग ही नहीं होते, किन्तु यहाँ उसकी हिरण्यशृङ्गता कही गई है ।' किन्तु यह कथन भी सायण व्याख्या देखने से निःसार प्रतीत होती है ।

यह जो कहा है 'ईर्मान्तासः' इस दसवें मन्त्र की व्याख्या निरुक्तकार ने सूर्यरश्मिपरक की हैं ।'—(पृ० १५२) । वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि निरुक्तकार ने भी आदित्य के रूप में अश्व की स्तुति को ही कहा है । इस मन्त्र में 'ईर्मान्तास' आदि पद अश्व के विशेषण हैं । एवंच निरुक्तकार की दृष्टि से भी यह मन्त्र, अश्वस्तुतिपरक ही है । १६४वें सूक्त प्रथम मन्त्रमें, 'अस्यवामस्य' इस मन्त्र में भी 'अस्य' सर्वनाम के द्वारा सूर्य का अभिधान नहीं हैं, अपितु वहाँ १६३वें सूक्त में अश्व की स्तुति ही की गई है । १६४वें सूक्त में प्रायः संशयोत्थापनादि अनेक अर्थ बताये गये हैं, तथाच अस्यवामस्य सूक्त के सूर्यपरक लगाने पर भी सिद्धान्त में कोई हानि नहीं है । क्योंकि 'मानो मित्र' आदि २२ ऋचाओं वाले दैर्घतमस की देवता 'अश्व' है, अतः उससे अश्व की स्तुति की गई है । इस सम्पूर्ण सूक्त के प्रत्येक ऋचा का अर्थ मूल संस्कृत में दिया गया है । तात्पर्य यह है कि दैर्घतास सूक्त के द्वारा भी तुम्हारा अभिलषित सिद्ध नहीं हो रहा है । बृहदारण्यक उपनिषद् कां वचन जो तुमने दिया है, उससे भी तुम्हारा पक्ष सिद्ध नहीं हो पा रहा है । उसमें तो अश्वमेध की उपासना बताई गई है । उसपर जो भाष्यकार ने कहा हैं, उसे मूल संस्कृत में दिया गया है । जैसे प्रतिमा में विष्णुबुद्धि की जाती है, वैसे ही पशु में प्रजापतित्व बुद्धि करने के लिये कहा गया है । चक्षु की देवता सूर्य है, इसकार चक्षु में सूर्य बुद्धि करनी चाहिये । मुख की देवता अग्नि है, अतः मुख में वैश्वानराग्नि बुद्धि करनी चाहिये । संवत्सर आत्मा है, संवत्सर बारह या तेरह महीने का होता है, वह उसका आत्मा (शरीर) है । काल के अवयवों का संवत्सर ही शरीर है, और "इन सब अंगों का मध्यभाग आत्मा है" इस श्रुति के अनुसार शरीर ही आत्मा है । 'अश्वस्य मेध्यस्य' इसकी पुनरुक्ति सबके साथ सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिये की गई है ।

प्रायश्चित्तिमैच्छन् । तस्य तत्प्रथमं तमोपाघ्नन् साकृष्णाविरभवत् । यत् द्वितीयं साफाल्गुनीयत्तृतीयं सा वलक्षी, यदस्यादपाकृन्तन्नित्यादि । 'यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः । अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन्' (५।४०।९) अत्रिकृतं सामर्थ्यमनुवदति—यं वा इति । यं वै सूर्यं स्वर्भानुरासुरस्तमसाविध्यत, अत्र यस्तं सूर्यमन्वविन्दन् इन्द्रार्थं सोमयागदेवतास्तुतिनमस्कारैरनुक्रमेण इषदीषत तमोऽवरुद्ध्य लब्धवन्तः, अन्ये नहि अशक्नुवन्, आदित्यो व्यरोचत ।·····' इत्यादिकमप्युक्तरीत्यैव समाधेयम् ।'स्वर्भानुरासुर आदित्यं तमसा विध्यत तद्देवाश्चर्षयश्च भिषज्यन् तेऽत्रिमब्रुवन् ऋषे त्वमिदमपजहीति' (जै० ब्रा० १।८०) तादृशमेव व्याख्यानमत्राप्युक्तम् । सर्वासामाख्यायिकानामर्थवादत्वाद्यद्यपि स्वार्थे तात्पर्यं नास्ति, विध्यर्थस्तुतावेव तात्पर्येण स्वार्थे विगानमकिञ्चित्करम् । महावाक्याविरुद्धद्वारभूतस्यार्थस्यापि प्रामाण्याभ्युपगमे तु आदित्यविषये बह्वः प्रायश्चित्तयः कल्पभेदेन व्यवस्थापनीयाः' इति तैत्तिरीयसंहिता (२।१।८) सायणभाष्यानुसारेण व्यवस्थापनं युक्तमेव । यत्तु अविमेधादिशब्दानामन्यथार्थकल्पनं तदप्यसङ्गतमेव, विधौ गौणार्थस्यासम्भवात् । एवमेव 'साविर्वशाभवत्' (तै० सं० २।१।२) 'अथवा इयं तर्ह्यृक्षासीद् अलोमिका ते अब्रुवन्, तस्मै कामायालभामहै, यथास्यामोषधयो वनस्पतयश्च जायन्त इति' (मै० सं० २।५।२) इति मैत्रायणीसंहितापि पूर्ववदेव व्याख्येया । 'अविरासीत् पिलिप्पिला' (वा० सं० २०।१२) 'ऊर्णायुः' (वा० सं० १३।५०) 'ओषधिवनस्पतयो लोमानि, (मै० सं० २।५।२) इत्यादिशब्दभेदैरन्यैश्चान्यैश्च वाग्जालैर्विध्यर्थस्यान्यथानयनं सर्वथाप्यवैदिकमेव, विधौ गौणार्थाश्रयणस्य मीमांसाऽसम्मतत्वात् । 'शिथिरा वा इयमग्र आसीत् तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत्' (मै० सं० १।६।३) 'आर्द्रेवहीयमासीत् तां देवाः शर्कराभिरदृंहन् तेजोऽग्नावदधुः' (का० सं० ८।२) इत्यादिना कामं पृथिव्या अनेकावस्थाः सिद्ध्यन्तु, नतु तावतापि तत्रालम्भनयज्ञादिकं मुख्यं सम्भवति क्वचिद्यज्ञत्वोक्तिस्तु गौण्यावृत्त्यैव । यदपि—

'यदि नो गां हिंसीः यद्यश्वं यदि वा पूरुषम् । तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नो ऽसो वीरहाः ॥ (अ० वे० सं० १।१६।४)'इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुंसहस्राक्षो मेधाय चीयमानः' (वा० सं० १३।४७) 'अश्वं जज्ञानं सरिरस्य मध्ये अग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्' (वा० सं० १३।४२) 'इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु (वा० सं० १३।४८) । 'गां मा हिंसीरदितिं विराजम्' (वा० सं० १३।४३) 'इमं साहस्रं शतधारमुत्सं ······घृतं दुहानामदितिं जनाय माहिंसीः परमे व्योमन्' (वा० सं० १२।४९) 'अविं जज्ञानां······अग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्' (वा० सं० १३।४४) 'इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनाम् द्विपदां चतुष्पदाम् । त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्' (वा० सं० १३।१५) मन्त्रैरमीभिः समेषां पशूनामहिंसनमेवोक्तमिति (पृ० १४४) तदपि यत्किञ्चित्, भावार्थानवबोधात् । पूर्वमुक्तमेवसमाधानम् । 'तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः' (म०) 'न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसे पथिभिः सुगेभिर्देवानिदेषि' इत्यादिभिर्हिरण्यशरीरप्राप्तिहेतुत्वेन वेदविहिता हिंसाप्यहिंसैव । किञ्च स्वार्थसाधनाय यथा कात्यायनमहीधरादिवचनैस्तेषां तेषां पशूनामुत्सर्गं साधयसि तथैव तेषामेव वचनैर्माध्यस्थ्यमवलम्ब्य प्रकृते किमिति दृष्टिं कथं न ददासि ? 'अश्वशिर ईशाने उपदधाति', 'नैर्ऋत्येऽजमुपदधाती'त्यादिवचनानां का गतिः ? किञ्च, त्वयापि दयानन्देनापि निरुक्तस्य परमं प्रामाण्यमङ्गीक्रियते । यास्काचार्यस्तु 'आम्नायवचनादहिंसैव प्रतीयेते' (नि० १।१६) त्याह । व्याख्यातं चैतत् दुर्गाचार्येण—'यदपि चोक्तं स्वधिते मैनं हिंसीरित्याह हिंसन्, अत्र ब्रूमः, आम्नायवचनादहिंसा एषा प्रतीयते । कथमहिंसा प्रत्यक्षतो हि छिद्यते वृक्षः, शृणु, इयं हिंसेयमहिंसेत्यागमादेतत् प्रतीयते

ऊर्ध्वत्व में समानता होनेके कारण द्युलोक उसका पृष्ठभाग है । अवकाश या छिद्ररूपता में समानता होनेके कारण अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी, पैर रखने का स्थान है, (पृथिवी पाजस्यम्) पादस्य' के वर्ण (द) का 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) सूत्र के अनुसार जकार के रूप में व्यत्यय होने से 'पाजस्य' हो गया है । चारों दिशाएँ पार्श्वभाग हैं, क्योंकि पार्श्व से दिशाओं का सम्बन्ध है ।

पाठकों की उत्सुकता को देखते हुए द्वितीय खंड के प्रकाशन की त्वरा हेतु बाध्य होना पड़ा, अतः पृष्ठ २०३३ से केवल जटिल अंशों का ही अनुवाद किया गया है । फलतः मूल और अनुवाद के मुद्रण-क्रम-विपर्यास को विज्ञ पाठक स्वयं ही अर्थानुसन्धान करेंगे ।—सम्पादक

प्रतिविशिष्टश्चायमेव वैदिकआम्नायआगमः। एतत्पूर्वकत्वादन्येषामागमानाम्। स एष कृत्स्नस्य जगतः प्रतिविशिष्टाय श्रेयसेऽभ्युद्यतः सन् हिंसायां कर्तारं विनियोक्ष्यत इति कुत एतत्? नूनमियमहिंसैव, यतोऽस्यां नियुनक्ति कर्तारम्। तदेतदागमप्रत्यक्षमेव यथेयमहिंसेति। अपि चैतदोषधिवनस्पतिपशुमृगपक्षिसरीसृपाः सम्यगुपयुक्ताः सन्तो यज्ञे परमुत्कर्षं प्राप्नुवन्ति, सोऽयमभ्युदय एव सम्पद्यते न हिंसा तस्माद्युपुक्तम् 'हिंसन्नेव मैनं हिंसीरित्याह हिंसन्निति। नह्यसौ हिनस्ति किंतर्हि अनुगृह्णाति यज्ञविनियोगार्थविधानतच्छिन्दनं तस्मादुपपन्नार्था' इति। तथैव प्रकृतेऽपि श्रुतिसूत्रानुसारेण हिंसन्नेव मैनं हिंसीरित्याद्युक्तिभिः तस्य वधस्य अवधत्वमेव वक्ति वेदः। गवां तु विशेषताऽघ्न्यत्वोक्तेस्तत्स्थानेऽजादय एव गृह्यन्ते। अव्यादीनामालभनं तु 'वायव्यं श्वेतमालभेत' 'वायवे नियुत्वत आलभेत' 'प्राजापत्यं तूपरमालभेत" (तै० सं० २।१।१) इत्येवमादिभिः स्पष्टमेव पशूनामालम्भनं विहितम्। पशूनां द्रव्यविधयैव याग उपयोगो भवति। यथा व्रीह्यादीनां पुरोडाशप्रकृतित्वेन यागोपयोगस्तथैव पशूनां वपादिप्रकृतित्वेनोपयोगः स्वाभाविकः। अत एव हृदयस्याग्रे अवद्यत्यथ जिह्वाया अथवक्षसो यद्वै हृदयेनाभिगच्छति' (तै० सं० ६।३।१०।) इत्यादिभिस्तदवदानश्रवणात् क्वचिदुत्सर्गेऽपि आलम्भनमेव प्रायिकम्। अत एव कोषकारैः 'आलम्भन' शब्दस्य मरणपर्यायेषूल्लेखः कृतः। 'प्रमापणं निबर्हणं निकारणं विशारणम्। आलम्भपिञ्जविशरधातोन्माथवधा अपि ॥' (अमरकोष २।८।११२-११५) त्रिशन्नामानि मारणस्य। आलम्भनम् आलम्भः। 'भावे' (पा० सू० ३।३।१८) इति घञ्। 'लभेश्च' (पा० सू० ७।१।६४) इति सहकारेण 'उपसर्गात् खल्घञोः' (पा० सू० ७।१।६७) इति नियामकान्नुम्। इति रामाश्रयीयटीकायाम्। 'वियोगे विप्रलम्भः स्यात् आलम्भः प्रतिघातनम्। उपलम्भस्त्वनुभवो विलम्भस्त्वतिसर्जनम्' (शब्दरत्नाकरे सङ्कीर्णाध्याय ३४१७)। 'निर्वापणनिर्वासनकदनव्यापादनानि तुल्यानि। निग्रन्थनमालम्भः प्रमया हिंसा च संज्ञपनम् ॥' (२।४७८) इति हलायुधः। 'आलम्भः स्पर्शहिंसयोः' (७।१।१०) इति यादवः। इत्यादिप्रमाणैः प्रसङ्गानुसारेण आलम्भशब्दस्य वधः स्पर्शो वा अर्थो भवत्येव। अत एव चरकवचनेऽपि वधार्थकः स्पर्शशब्दस्त्वयापीष्यत एव। तत्र यथा निषेधवशात् हिंसाया अधर्मत्वं विज्ञायते तथैव विधिबलात् हिंसाया धर्मत्वमपि सम्भवत्येव। यथा विवाहमन्तरा योषित्स्पर्शस्य पापहेतुत्वेऽपि शास्त्रसम्मतविवाहपूर्वकस्पर्शो धर्म एव भवति, तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्। अत एव श्रुतिः—'अहिंसन् सर्वाणि भूतान्यन्यत्रतीर्थेभ्यः' (छा० उ०) सामान्यतया निषेधवचनानि सामान्यशास्त्रं यज्ञाङ्गत्वेन विधायकं वचनं विशेषशास्त्रम्। विशेषशास्त्रेण सामान्यशास्त्रस्य बाधो भवत्येवोत्सर्गापवादन्यायेन। तस्माद्यज्ञादन्यत्रैव उत्सर्गभूतानिषेधाः प्रवर्तन्ते। 'अशुद्धमितिचेन्न शब्दात्' (ब्र० सू०) इत्यत्र शङ्कररामानुजादिभिराचार्यरत्नैर्वीतरागैरपि वैदिकसंज्ञपनस्य धर्मत्वमेवोक्तम्। 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते, क्षत्राय राजन्यम्' इत्यादिषु तु 'कपिञ्जलादिवत् उत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन् (का० श्रौ० सू० २१।१।१२) इत्युत्सर्गो विहित एव। धर्माधर्मयोः शास्त्रमेव प्रमाणम्। यत्रोत्सर्गो विहितः तत्र स एव धर्मः। यत्र तु संज्ञपनमुक्तं तत्र तदेव धर्मः। सन्यासे तु सर्वविधयज्ञादिकर्माणि त्यक्त्वा ब्रह्मानुसन्धानपरायणतैव मुख्यो धर्मः। तदनधिकारे तु कर्माणि कर्त्तव्यान्येव। सङ्ग्रामस्य हिंसापूर्णत्वात् क्रूरता सर्वविदितैव, तथापि तदकरणे प्रत्यवाय उक्तो भगवता—'अथचेत्त्वमिमं

यदि यह कहा जाय कि पार्श्व और दिशाओं की संख्या में समानता न होने के कारण ऐसा कहना उचित नहीं है, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि उसके पार्श्वों का सभी दिशाओं से सम्बन्ध होने के कारण कोई दोष नहीं है। आग्नेयी आदि अवान्तर दिशाएँ पार्श्वभाग की अस्थियाँ (पसलियाँ) हैं, ऋतुएँ अङ्ग हैं, क्योंकि संवत्सर के अवयव होने के कारण अंगों से उनकी समानता है। मास और अर्धमास पर्व (सन्धियाँ) हैं, क्योंकि सन्धि से उनकी समानता है। दिन और रात्रि प्रतिष्ठा (पाद) है। 'अहोरात्राणि इस पद में बहुवचन होने के कारण प्रजापति, देवता, पितृगण और मनुष्य सभी के दिन-रात प्रतिष्ठा (पाद) हैं, क्योंकि इनसे वह प्रतिष्ठित होता है, कालात्मा

धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि । ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥' (श्री० भ० गी०) इति गीतोक्तेः । 'अधेन्वाचरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥' (ऋ० सं० १०।७१।५) इत्यत्र तु अफलायामपुष्पायां वाचि मायाधेनुत्वमेवोक्तम् । इति गौणमेवात्रवन्ध्यात्वमपि । अत्र केवलपाठकोऽर्थज्ञानशून्यो निन्द्यते । एष अविज्ञातार्थः पुरुषः अधेन्वा धेनुत्ववर्जितया कामानामदोग्ध्र्या देवमनुष्यस्थानेषु वाक्प्रतिरूपया मायया चरति । अफलामपुष्पाम् वाचोऽर्थः पुष्पं फलम्, अर्थवर्जिताम् । यद्वा वाचोऽर्थे याज्ञदेवते यज्ञे भवं ज्ञानं याज्ञम्, देवतासु भवं ज्ञानं दैवतम्, तद्वर्जितां कर्मादिविषयज्ञानवर्जिताम् वाचं शुश्रुवान् केवलं पाठमात्रेणैव श्रुतवान् सञ्चरति, तथा वन्ध्या पीना गौः किं द्रोणमात्रं क्षीरं दोग्धीति मायामुत्पादयन्ती चरति तथा पाठं प्रब्रुवाणश्चरति । ऊषभूमिर्वशा भवतु तत्र वशात्व(वन्ध्यात्व)गुणयोगात् गौणत्वमेव । आधिदैविकेषु भौतिकेषु यज्ञेषु यथा आज्यसमिदादयो गौणाः तथैव यज्ञत्वमपि गौणमेव । अत एव नहि मुख्या यज्ञास्तत्प्रतिनिधयः सम्भवन्तीति । अध्यात्मज्ञानमये यज्ञे ब्रह्मैवाग्निर्भवति ब्रह्मैव स्रुक्स्रुवाद्यर्पणं ब्रह्मैव हविर्ब्रह्मैव होमः ब्रह्मैव फलं च भवति । न च तावता कर्मकाण्डप्रकरणेऽपि ब्रह्मरूपा एवाग्न्यादयो ग्राह्या भवन्ति ।

यदुक्तम्—'अश्वादीनां बन्धनार्थं यूपा भवन्ति, तेषां पलायनसम्भवात्, न मनुष्याणां रज्जुभिर्बन्धनं युक्तम्' (पृ० १४८) इति, तदपि तुच्छम्, नियोजनपर्यग्निकरणादीनां संस्कारविशेषत्वेन लौकिकपलायननिवृत्तेरेवप्रयोजनत्वाभावात् । अधिदेवे तु सूर्ये यूपत्वं रश्मिषु रज्जुत्वं चारोपितमेव । पुरुषमेधे तु मानवे श्रौतसूत्रे यूप एव नियोजनमुक्तम् । कपिञ्जलादीन् पृषतान्तांस्त्रयोदश यूपान्तरेषु' (का० श्रौ० सू० २०।६।६) इत्युक्तेः । त्वयापि १४९ पृष्ठे अश्वमेधस्वरूपं निरूपयता स्वीकृतं यत् आरण्यानां पशूनामुत्सर्गो भवति शेषाणां ग्राम्याणां पशूनामालम्भनं भवति । तच्च सर्वं ब्राह्मण-श्रौतसूत्रानुसारेणैव क्रियते । त्वया तु तेषां प्रामाण्यं नाभ्युपेयते इति त्वदीयः पन्थाः । ये वैदिका आस्तिकास्तेषां रीत्या अविशेषेण मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वमपौरुषेयत्वं प्रामाण्यञ्च । पुरुषमेधे नियुक्तान् पुरुषान् ब्रह्मादक्षिणतः पुरुषेण नारायणेनाभिष्टौति सहस्रशीर्षापुरुषः सहस्राक्षः सहस्रापादित्येतेन षोडशर्चेन षोडशफलं वा इदं सर्वं सर्वं पुरुषमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै तत्पर्यग्निकृताः पशवो बभूवुरसंज्ञप्ताः अथ हैतं वागभ्युवादपुरुषान् मासन्तिष्ठि यो यदि संस्थाययिष्यसि पुरुष एव पुरुषमत्स्यतीति तान् पर्यग्निकृतानेवोदसृजत' (श० १३।६।२।११-१२-१३) इति पुरुषमेधश्रुत्यैवोत्सर्ग उक्तः । एतान् पुरुषपशून् मा सन्तिष्ठिपः, उदङ्निनयनादिकानि अङ्गानि मा कृथाः । यदि संस्थापयिष्यसि ततः शेषभक्षानुसारेण लोकेऽपि पुरुषः पुरुषं भक्षयिष्यतीति । तस्मात् पर्यग्निकृतानेवोदसृजत । यदुक्तम्—'अश्वमेधः कस्यचिदधिदैविकयज्ञस्य प्रतिरूपक एवेति, तदपि तुच्छं विपरीतस्यैव सुवचत्वात् । यत्राश्वादयोऽनारोपिताः स एव मुख्योऽश्वमेधः । यत्र तु सर्वे समारोपिता एव तस्य कथं नाम मुख्यमश्वमेधत्वं सम्भवति । यद्यपि—'लौकिकेऽश्वमेधे सार्वभौमोराजा पृथक् अश्वश्च पृथक् । तथापि अश्वस्य राज्ञस्तेजः प्रतीकत्वात् परस्परमनयोः सम्बन्धो भवति । आधिदैविके चाश्वमेधे सूर्य एव सार्वभौमो राजा स एव चाश्वः ।' (पृष्ठ १५०) इति, तदपि यत्किञ्चित्, सूर्ये सार्वभौमराजत्वमश्वत्वञ्च काल्पनिकमेव, तत्र मुख्याश्वत्वराजत्वयोस्त्वयाप्यनभ्युपगमात् । तथाहि

दिन-रात्रि के द्वारा प्रतिष्ठित होता है और अश्व पैरों के द्वारा प्रतिष्ठित होता है । शुक्लत्व की समानता होने के कारण नक्षत्र अस्थियाँ हैं । आकाश अर्थात् आकाशस्थित मेघ—क्योंकि अन्तरिक्ष (आकाश) को उदर कहा जा चुका है,—मांस है, क्योंकि जलरूप रुधिर बरसाने से उनकी मांस से समानता है । अवयवों के पृथक् पृथक् रहने की समानता होने के कारण बालू (सिकता) उदरस्थित अधजीर्ण अन्न (ऊवध्य) है । सिन्धु अर्थात् स्यन्दन (बहने) में समानता होने के कारण नदियाँ नाड़ियाँ (गुदा) हैं, क्योंकि यहाँ 'सिन्धवः'

सूर्योदयाद् सार्धघण्टाकालात्पूर्वं नैशं तमो भवति । पूर्वस्यां दिशि शकटाकारेण स्थितायाः उषसः आकाशव्यापिनः किरणा दृश्यन्ते । स एवाश्वस्य पौरस्त्ये कृष्णभागे ललाटे श्वेतचिह्नम् । उषःकालानन्तरं सति सूर्योदये प्रकाशो जायते । स एवाश्वस्य पाश्चात्यः अर्धश्वेतो भागः । अग्रेऽग्रे उषःकालयुक्ता रात्रिर्भवति । पश्चात्सौरः प्रकाशस्तामनुसरति । अश्वरशना द्वादशारत्निपरिमिता त्रयोदशारत्निपरिमिता वा भवति । सूर्यस्यैकपरिक्रमणे द्वादशमासा भवन्ति । तृतीये वर्षे अधिकमासमादाय त्रयोदशमासा भवन्ति । तद्रूपामीरशनाभिर्बद्धः सूर्याश्वो भवति । अश्वमेधीयाश्वस्य रशना घृताक्ता भवन्ति । सूर्याश्वस्य रशनास्तु (घृ क्षरणदीप्त्योः) इति रीत्या तेजस्विप्रकाशव्याप्ता भवन्ति । राज्ञश्चतस्रः पत्न्यो भवन्ति । अत्र प्राच्याद्याश्चतस्रो दिश एव सूर्यस्य पत्न्यः । पूर्वा दिक् पट्टमहिषी भवत्यनयैव तदभिषेकप्रसवात् । प्रतीची दिक् वल्लभा, तस्यामेव विश्रामदर्शनात् । तत्र वल्लभाया ऊरौ शिर आधाय राज्ञः शयनं विहितम् । तदानी ब्रह्मचर्यव्रतं विहितम् । अस्मद्दृष्ट्या सूर्यः प्रतीच्यामस्तमेति परन्तु तत्रत्यायाः प्रजाया दृष्ट्या सूर्यं उदेत्येव । सैव च तेषां दृष्ट्या प्राची भवति यास्माकं दृष्ट्या प्रतीची, अर्थात् वल्लभायां पश्चिमायां दिशि अस्तमयन्नपि न तया सम्बध्नाति अर्थात् न तया सङ्गच्छेत । तथैवोदीची दक्षिणा च दिक् अवल्लभा दूतपुत्र्यश्च भवन्ति । याम्यामुत्तरायणे दक्षिणायन एव सूर्यसंयोगो भवति न सर्वदा' (पृ० १५०) इति, स्पष्टमेवात्र कथञ्चित् आधिदैविके यज्ञे याज्ञिकाः पदार्था आरोप्यत एव । आरोपोऽपि क्लिष्टकल्पनयैव । द्वादशादिमासेषु रशनात्वं कथञ्चिदेव सम्पाद्यते । मासानामप्रकाशरूपत्वमप्यस्तीति न तेषां प्रकाशव्याप्तत्वं सम्भवति ।

यदपि—'अश्वस्य वर्षभ्रमणं सूर्यस्य वार्षिकीगतिरेव । चतुःशतसंख्याकाः शस्त्रास्त्रसम्पन्नाः कवचिनो राजपुत्रा अपि सूर्यकिरणा एव, वर्षाकाले मेघानामवरोधकत्वात् सूर्यकिरणानां पृथिवीपर्यन्तप्रसारे शत्रुकृता अवरोधाः ·······' (पृ० १५१) इत्यादिकम् तथा, यदपि 'अश्वमेधीयाश्वस्यावयवा रशनाभिर्बध्यन्ते तत्तत्स्थानीयरज्जुप्रान्तेषु अन्ये पशवो बध्यन्ते, तथैव सूर्यमण्डलात् रश्मयः प्रसरन्ति, तैः सूर्यमण्डलं पूर्णरूपेण बद्धमर्थात् आच्छन्नं भवति, तैरेव पृथिव्यादयो ग्रहोपग्रहा अपि निबद्धाः सन्ति' (पृ० १५१) इति, तदपि यत्किञ्चित्, रज्जवोऽश्वाद्भिन्ना भवन्ति । रश्मयस्तदंशभूता एव, अत एव तैः न सूर्यस्य बन्धनं सम्भवति न वा तैर्ग्रहोपग्रहा बद्धाः, तादृशसिद्धान्तस्य अद्यापि विप्रतिपन्नत्वात् । अत एव त्वयापि बद्धा इत्यस्य 'आच्छन्ना' इत्यौपचारिक एवार्थः कृतः । रश्मिषु रज्जुत्वम् । सूर्येऽश्वत्वम् । ग्रहोपग्रहेषु अपि पशुत्वमारोपितमेव । नैवमारोपकल्पनया कश्चन पुष्टोऽर्थः प्रतिपादयितुं शक्यः । यद्यपि—'अश्वमेधे विजितनृपेभ्य उपहारादिग्रहणं यथा भवति तथैव सूर्यः स्वसम्बद्धप्रदेशेभ्यो रश्मिभिर्जलं गृह्णाती' (पृ० १५१)ति, तदपि यत्किञ्चित्, विषमोपन्यासात् । प्रदीयमानस्य ग्रहणमुपहारस्वीकारः, नैवंविधं जलग्रहणं किन्तु स्वेच्छया बलाद् ग्रहणं तत् । अश्वमेधे राजा यजमानो भवति, अश्वस्तु यज्ञसाधनम् । सूर्ये तु यजमानत्वमश्वत्वं यूपत्वं सर्वमपि काल्पनिकमेव, अतस्तस्यानुकरणम् अश्वमेध इति कथनम् नितान्तमसङ्गतम् । प्राणाग्निहोत्रादिषु क्वचिन्मुखस्य हवनीयत्वमुरसो वेदित्वं लोमसु दर्भत्वं जाठराग्नेर्गार्हपत्यत्वं कल्प्यते यथा वा पञ्चाग्निविद्यास्ति तथैव यत्र यज्ञत्वचिन्तनमुक्तम् तत्रतत्र यज्ञाङ्गानामध्यासं कृत्वा चिन्तनीयं यत्र विधानं तत्र तु यज्ञत्वकल्पन निरर्थकमेव ।

और 'गुदाः' दोनों ही पद बहुवचनान्त हैं । कठिन और ऊँचे उठे हुए होने के कारण पर्वत, यकृत और क्लोमा (हृदय के अधोभाग में सीधे और बायें दो मांसखण्ड) हैं । 'क्लोमानः' यह एकही अर्थ में नित्य बहुवचनान्त होता है । ओषधि (क्षुद्र स्थावर) और वनस्पति (महान् स्थावर) ये यथासंभव लोम और केश हैं । सूर्य जो मध्यान्हकालपर्यन्त उदित होता ऊपर की ओर जाता है, वह अश्व का पूर्वार्ध (नाभि से ऊपर का भाग) है, और निम्लोचन् (मध्याह्नकाल से अस्तकी ओर जाता) हुआ वह सूर्य, जघनार्ध अर्थात् अपरार्ध (नीचे का भाग) है, क्योंकि पूर्वत्व और अपरत्व में उन (उदित और अस्त होते हुए सूर्य) की समानता है । तथा

यद्यपि 'ऋग्वदेसंहितायां प्रथममण्डले १६२-१६३-१६४ इति सूक्तानि अश्वमेधे नियुक्तानि। १६२तमे सूक्ते प्रथमे मन्त्रेऽश्वस्य समुद्रात्पुरीषाच्चोत्पत्तिरुक्ता। द्वितीये च मन्त्रे यमेन दत्तं त्रितेन युक्तं तमश्वं प्रथममिन्द्र आरुरोह, गन्धर्वोऽभीषुं गृहीतवान्, वसुभिः सुरादयमश्वस्तक्षित्वा निर्मितः, इत्युक्तम्। चतुर्थेच मन्त्रे द्युलोके अप्सु समुद्रेषु च त्रीणि त्रीणि बन्धनान्युक्तानि। षष्ठे च मन्त्रे पतङ्गस्य (गतिशीलस्याश्वस्य) द्युलोके गतिरुक्ता। दशमं मन्त्रं निरुक्तकारः (नि० ४।१३) सूर्यरश्मिपरत्वेन व्याख्यातवान्। एकादशे मन्त्रे अश्वस्य देदीप्यमानश्रृङ्गाणामरण्ये विचरणमुक्तम्। लौकिकेऽश्वे श्रृङ्गाभावात् कथमेतदुपपद्यते। अत एभिः सङ्कैतैर्निर्णीयते यत् १६३ तमे सूक्ते वर्णितोऽश्वः सूर्य एव। 'अस्य-वायस्य पलितस्ये(१६४)तिमन्त्रेण सूक्तमिदं प्रारभ्यते। तत्र अस्येति सर्वनामपदम्, पूर्वनिर्दिष्टस्यैव स्मारकमभिधायकं वा १६४ सूक्ते स्पष्टमेव सूर्यरश्मीनामेववर्णनम्, निरुक्तकारेणापि तथैवव्याख्यातम्। १६२ तमे सूक्ते यद्यपि तादृशानि पदसमूहानि सन्ति यैरापाततः अश्वमेधयज्ञसम्बन्धिपदार्थवर्णनमेव प्रतीयते परन्तु पूर्वोक्तयोः सूक्तयोः प्रकाशे विचारे क्रियमाणे तस्याप्याधिदैविक एवार्थः। बृहदारण्यकोपनिषदिच एतत्सूक्तनिर्दिष्टानामश्वाङ्गानामाधिदैविकी व्याख्यैव कृता' (पृ० १५२) इति, तदपि शास्त्रार्थाज्ञानविजृम्भितो भ्रम एव, वस्तुतस्तु दैर्घतमसस्य त्रैष्टुभस्यास्य सूक्तस्य अश्वस्तवरूपस्य अश्वदेवत्यत्वम् आश्वमेधिके मध्यमेऽहनि उपाकरणायावस्थितमश्वं आद्याभिरेकादशभिःस्तौति। 'तमवस्थितमुपाकरणाय यदक्रन्द इत्येकादशभिः स्तौत्यप्रणुवन्' (आश्व० श्रौ० सू० १०।८) इत्युक्तेः। 'यदक्रन्दः प्रथमं जायमानः उद्यन् समुद्रादुत वा पुरीषात्। श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महिजातं ते अर्वन्' (ऋ० सं० १।१६२।१) अस्य मन्त्रस्य सायणाचार्यरीत्या अर्थस्तु—हे अर्वन्! अरणकुशलाश्व, ते तव जातं जन्य जननं उपस्तुत्यं उपेत्य सर्वैः स्तोतुं योग्यम्। कथमिति तदाह—यत् यस्मात् समुद्रात् अन्तरिक्षात् यक्षगन्धर्वादिसम्मोदनाधिकरणात् प्रथमं पूर्वं जायमानः। यद्वा समुद्रआदित्यः समुन्दनाद् वृष्टया तस्माद्वा जायमानः 'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट' (ऋ० सं १।१६३।२) इति वक्ष्यमाणत्वात् उत वा पुरीषात् सर्वकामानां पूरकात् उदकात् प्रथमम् उद्यन् जायमानः स एतादृशस्त्वं यत् यस्मै यं यजमानमनुग्रहीतुं अक्रन्दः महाशब्दमकरोः। किञ्च ते तव पक्षापक्षौ पतनसाधनौ श्येनस्य पक्षाविव तौ यथाशीघ्रपतनसाधनौ तादृशावित्यर्थः। तव बाहू हरिणस्य बाहू इव तौ यथा वेगवन्तौ तादृशावित्यर्थः। यस्मादेवं तस्मात्ते जन्म स्तुत्यं अत्र स्पष्टमश्वपक्षे मन्त्रोऽयं सङ्गच्छते। स्तुतिस्त्वारोपेणापि-भवत्येव। रविरिव राजते राजा, इति भवत्येवस्तुतिः। सूर्यपक्षे तु न सा सङ्गच्छते। अनुक्रमणिकया आश्वलायनसूत्रेण चाश्वस्तुतिरेवानेन मन्त्रेणोच्यते।

'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट' (ऋ० सं० १।१६३।८) इति मन्त्रेणापि सूरादश्वस्य निर्माणम् उक्तम्, न सूर्यस्य निर्माणम्। नचान्तरिक्षात्पुरीषाद्वा सूर्यस्य जन्मप्रसिद्धम्। न च तस्य महाशब्दकर्तृत्वमपि प्रसिद्धम्।

'यमेन दत्तंत्रित एनमायुनगिन्द्र एनं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वोअस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट ॥' (ऋ० सं० १।१६३।२)

वह जो जमुहाई लेता अर्थात् अंगों को फैलाता (उन्हें विशेष रूप से झाड़ता) है, वह बिजली का चमकना है। क्योंकि विद्योतन और मुख एवं मेघ के विदारण में समानता है। तथा वह जो हिलाता (शरीर को कम्पित करता) है वह मेघन का गर्जन है, क्योंकि इन दोनों ही में गर्जन शब्द रहने में समानता है। और वह अश्व, जो मूत्रत्याग करता है, वही वर्षा होना है, क्योंकि भिगोने में इन दोनों की समानता है। वाक् (शब्द) ही इस अश्व की वाणी है, तात्पर्य यह है कि यहाँ कोई कल्पना नहीं है। 'अहर्वा' इत्यादि। अश्व के आगे और पीछे महिमा नामके सोने और चान्दी के दो ग्रह (यज्ञीयपात्रविशेष) रक्खे जाते हैं, उन्हीं से सम्बन्ध रखने वाली यह दृष्टि है। दीप्ति में समानता होने के कारण दिन ही सुवर्णमय ग्रह है। दिन ही इस अश्व के

अयमपि मन्त्रः अश्व एव सङ्गच्छते। यमेन नियामकेन अग्निना दत्तं एनम् अश्वम् त्रितः पृथिव्यादिषु त्रिषु स्थानेषु वर्तमानस्तीर्णतमो वा वायुः अयुनक् रथे योजितवान्। किञ्च एनमश्वम् इन्द्रः प्रथमस् प्रतमः प्रकृष्टतमः। प्रथम इति मुख्यनाम अध्यतिष्ठत् अधिष्ठितवान्। अस्य अश्वस्य गन्धर्वः सोमः रशनां नियमनरज्जुं अगृभ्णात् अग्रहीत्। ईदृशोऽश्वः कुत उत्पन्न इतिचेत्तत्रोच्यते—हे वसवः रश्मयः यूयं सूरादादित्यात् अश्वं एवं महानुभावम् निरतष्ट निःशेषेण साधु सम्पादितवन्तः। यद्वा वसुशब्देनोक्ता यमादयः परामृश्यन्ते—हे वसवः स्वस्वव्यापारेण सर्वस्याच्छादयितारः यूयं सूरादादित्यात् अश्वं निरतष्ट अतक्षत्। निरितिसमित्येतस्य स्थाने तक्षतिः करोतिकर्मा। सच क्रियासामान्ये वर्तते। अत्रौचित्यात् धारणे। सम्यक् धारितवन्तः। तक्षेर्यङि छान्दसो लोपः। अयमपि मन्त्रः अश्वस्तुतिपक्षे सङ्गच्छते। यथा सरमयादेवशुन्यासारमेयाः स्तूयन्ते मनुना मानवाः तथैवाश्वमेधीयो विशिष्टोऽश्वः इन्द्राधिष्ठिताश्वरूपेण स्तूयते इतियुक्तमेव। न च सूर्यस्य मुख्यमश्वत्वम्, न च तस्य त्रितेन वायुना रथे नियोजनम्, न वा इन्द्राधिष्ठितत्वम् प्रसिद्धम्, नवा गन्धर्वेणाश्वस्य नियमनरज्जुग्रहणम्, नवा सूर्यस्य सूर्यादुत्पादनमपि सम्भवति।

'असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन असि सोमेन समयाविपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥' (ऋ० सं० १।१६३।३) हे अर्वन् अश्व त्वं यमोऽसि नियमिता अग्निरसि तेन दत्तत्वान् तच्छब्दव्यपदेशः। तथा आदित्योऽसि 'सूरान्निरतष्टे'त्युक्तत्वात्। तथा गुह्येन व्रतेन गोपनीयेन दुर्निरूपेण वा कर्मणा, सर्वत्रव्याप्तिरूपेणेत्यर्थः। तेन त्रितः त्रिषुस्थानेषु तायमानो वायुरसि 'त्रितएनमयुनक्' इत्युक्तत्वात् तद्रूपत्वम्। अथवा गुह्येन गोपनीयेन व्रतेन कर्मणा योगादिसाधनरूपेण त्रितनामकऋषिरसि। किञ्च हे अश्व, त्वं सोमेन सह विपृक्तः सम्पृक्तोऽसि। वीति समित्येतस्यार्थे तेन गृहीतत्वात्। हे अश्व, एवं रूप त्वम् द्युलोके आदित्ये वा वर्त्तमानस्य ते तव त्रीणि बन्धनानि उत्पत्तिकारणानि आहुः पुराविदः। वसवः, आदित्यः, द्युस्थानं चेति त्रीणि स्थानानि। इत्थम् अश्वस्तुतो सङ्गतोऽयं मन्त्रो न सूर्यस्तुतो। अर्वन् इति सम्बोधनमपि न सूर्ये सङ्गच्छते। अश्वस्य स्तुतये तु तस्य प्रजापतिरूपेण आदित्ये द्युलोके वर्तमान त्वं भवत्येव। बृहदारण्यके संस्कारार्थे संवत्सरप्रजापतिरूपेण तस्य वर्णनात्। स्तुत्यै यूपोऽप्यादित्य उच्यत एव 'आदित्यो यूप' इत्यादौ। नह्यादित्य आदित्योऽसीति स्तुत्यै निगद्यते। एवमेव चतुर्थेऽपि मन्त्रे—हे अर्वन्, ते तव दिवि त्रीणि बन्धनानि यथोक्तानि तथैव अप्सु पृथिव्याम्। अबुपजीवितत्वात् भूलोकोऽपि अप्शब्देनाभिधीयते। त्रीणि बन्धनान्याहुः। अन्नं स्थानं बीजमिति। तथा समुद्रे अन्तःसमुद्रमध्ये समुद्रवणादपादानात् समुद्रमन्तरिक्षम् तस्मिन् त्रीणि वृष्ट्युत्पत्तिनिमित्तानि मेघो विद्युत् स्तनितमिति त्रीणिबन्धनान्याहुः। उतेव इवशब्दश्चार्थे, अपि च हे अर्वन् वरुणः पापस्य वारकः फलस्यापवर्जयिता त्वं मे मह्यम् छन्त्सि कथयसि। किं कथयामीति चेत्तत्राह—ते तव परमं जनित्रं निरतिशयं, जन्येति। इहापि अर्वन्नित्यश्वस्य सम्बोधनम्। 'इमा ते वाजिन्नव मार्जनानीमाशफानां सनितुर्निधाना। अत्रा ते भद्रा रशना अपश्य मृतस्य या अभिरक्षन्ति गोपाः।' (ऋ० सं० १।१६३।५) हे वाजिन् अश्व ते तव सम्बन्धीनि अवमार्जनानि अङ्गसंशोधकानि स्थानानि इमा इमानि उक्तानि द्युलोकादीनि सनितुर्यागसम्भक्तुः तव इमानि शफानां निधानानि स्थानानि सञ्चारप्रदेशाः। किञ्च अत्रैव ते तव भद्राः कल्याणाः रशनाः ग्रीवादिप्रसक्तारज्जूः एषु उक्तेषु स्थानेषु अपश्यम्। कीदृश्यो रशनाः ऋतस्य सत्यभूतस्य यज्ञसाधनस्य वा अश्वस्य। कर्मणि षष्ठी। ऋतमभिक्षरन्ति पालयन्ति ता अपश्यम् दृष्टवानस्मि, इहापि वाजिन्निति

सामने महिमारूप से प्रकट हुआ, क्योंकि यह अश्व प्रजापतिरूप हैं, आदित्यादिरूप प्रजापति ही दिन से लक्षित होता है। जिस प्रकार वृक्ष को लक्ष्य बनाकर बिजली चमकती है, उसी प्रकार इस अश्व को लक्षित कराकर दिनरूप सुवर्णमय महिमासंज्ञक ग्रह प्रकट हुआ है। उस ग्रह का 'पूर्वे समुद्रे' अर्थात् पूर्वसमुद्र योनि (प्राप्तिस्थान) है यहाँ वैदिक प्रक्रिया के अनुसार प्रथमा विभक्ति का सप्तमी विभक्ति के रूप में व्यत्यय हुआ है। अतः 'पूर्वे समुद्रे' का 'पूर्वः समुद्रः' अर्थ किया गया है इसी प्रकार वर्ण में और निकृष्टता में समानता होने के कारण रात्रि, राजत (चांदी का) ग्रह है। यह अश्व के पीछे की ओर (पृष्ठभाग में) महिमारूप से प्रकट हुई। उसका पश्चिमसमुद्र

सम्बोधनम् अश्वानुकूलम् । शफाश्च अश्वस्यैव भवन्ति न सूर्यस्य। 'आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्ग शिरोऽपश्यम् । पथिभिः सुगेभिररेणुभिर्जेहमानं पतत्रि ॥' (ऋ० सं० १।१६३।६) हे अश्व, ते तव आत्मानं शरीरं मनसा अस्मदीयेन प्रकृष्टगमनवता चेतसा आरात् अतिदूरे स्थितं अजानाम् जानामि अतिव्याप्तं भावयामीत्यर्थः। कथम् अवः अवस्तात् सामर्थ्यात् भूमेः भूमिभारस्य दिवा अन्तरिक्षेण मार्गेण पतङ्गमादित्यं पतयन्तं गच्छन्तं व्याप्नुवन्तम् । यद्वा यतो दिवा अन्तरिक्षेण मार्गेण दिवि च पतयन्तं गच्छन्तं पतङ्गमादित्यं अवःव्याप्नोषि अतो व्याप्तं जानामि । किञ्च तव शिरः सुगेभिः शोभनगमनसाधनैः अरेणुभिः अपापैः पथिभिर्मार्गैः आदित्यमण्डलादपि उपरिभूतैः सत्यलोकमार्गैः तत्र प्रतिबन्धकाभावात् तथाविधैस्तैः जेहमानम् उपरि व्याप्नुवत् पतत्रिपतनवत् पश्यामि । एवं लोकत्रयव्याप्तं शिरो भावयामि । यद्वा ते आत्मानम् एवं भावयामि मनसा दिवा द्योतनात्मकेन अन्तरिक्षमार्गेण दिवः सकाशात् वा अवः अवस्तात् अवाङ्मुखं पतयन्तं यागदेशं प्रतिव्याप्नुवत् अत एव पतङ्गं पतनशीलं अधः पतदादित्यसदृशं वा एवं ते तव शिरो भावयामि । उक्तरूपैर्देवयजनमार्गैः जेहयानं यज्ञप्रदेशं व्याप्नुवत् पतत्रि शीघ्रगामि शिरः पश्यामि । यद्यपि आत्मशब्देन सशिरस्कं शरीरयुक्तं तथापि देहात्पूर्वं शिरसो दृश्यमानत्वात् शिरःदेहात् पृथगभिधीयते । अश्वमेधीयाश्वः संवत्सरप्रजापतिरूपत्वेनोपास्यते । अत एव आदित्यादप्युपरिष्टात् सुगेभिः पथिभिर्जेहमानस्य तस्य ध्यानं क्रियते । अत एव न द्युलोकगमनश्रवणमात्रेण तस्यादित्यत्वमध्यवसेयम् । सप्तमेऽपि मन्त्रे तस्य उत्तमं रूपं ध्येयत्वेनोक्तम् । गोः भूमेः पदे देवयजनप्रदेशे आजिधावनप्रदेशे वा जिगीषमाणस्य प्रशस्तिरुक्ता । ओषधीः अजीगः ओषधीः गिरसि भक्षयसीत्याद्युक्तम् । अष्टमेऽपि मन्त्रे अर्वन्निति सम्बोधनमुक्तम् । नवमे मन्त्रे य इन्द्रः अर्वन्तं त्वां प्रथमः सन्नद्धतिष्ठत् इत्यश्वस्यैव लिङ्गं स्पष्टं प्रतीयते । यदुक्तं 'शृङ्गेन भवत्यश्व, अत्र तु हिरण्यशृङ्गत्वमुक्तम्' इति, तदपि तुच्छम्, अयमश्वः हितरमणीयशृङ्गो वा उन्नतशिरस्कः हृदयरमणशृङ्गस्थानीयः शिरोरुहो वा यस्य स इति सायणेन व्याख्यातत्वात्। यदुक्तम् 'ईर्मान्तासः' इति निरुक्तकारेण सूर्यरश्मिपरत्वेन 'व्याख्यातम्' इति, तदपि । यत्किञ्चित्, निरुक्तकारेणापि आदित्यात्मना अश्वस्यैव स्तुत्यत्वाङ्गीकारात् । 'ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः संशूरणासो अत्याः हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदा क्षिप्रदिव्यमज्ममश्वाः (ऋ० सं० १।१६३।१०) अत्र दुर्गाचार्यः—'दीर्घतमस आर्षम्' अश्वस्तोमीयत्वात् ते चाश्वाः स्तूयंतेऽश्वमेधे। आदित्यस्य रथे येऽश्वायुक्तास्त उच्यन्ते। तेषां सप्तानां मध्ये येऽश्वाश्चत्वारः ते इर्मान्तासः समीरितमारुताः विक्षिप्तान्ताः प्रसृतान्ताः प्रविरला इत्यर्थः। पृथ्वन्ता वा तेषामश्वानां पृथवोऽन्ताः पृथूरस्का पृथुजघना वा । सिलिकमध्यमाः संसृतमध्यमाः संश्लिष्टमध्यमाः। तेषां सप्तानां ये मध्यमास्त्रयस्ते परस्परमुत्पत्यादय संश्लेषेणावस्थिताः। अथवा पृथुजघनोरस्कानां सतां मध्यमाः शरीरप्रदेशाः सप्तानामपि संश्लिष्टा। । संल्लग्नास्तनवो निरुदराः। योहि तेषां मध्यमः स शिरोभूत प्रधानइत्यर्थः। अपिवा एवमन्यथास्यात् शिर आदित्यः यदनुशेते सर्वाणि भूतानि मध्ये चैषां तिष्ठन्ति'

उद्गमस्थान है । वे ये महिमासंज्ञक ग्रह ही अश्व के आगे पीछे प्रकट हुए हैं । इस प्रकार यह अश्व महत्त्वयुक्त हैं, यह पुनरुक्ति अश्व की स्तुति के लिये है । तथा 'हयो भूत्वा' इत्यादि वाक्य भी अश्व की स्तुति के ही लिये है । यहाँ यह शंका हो सकती है कि वाहन होना तो निन्दा ही है, तब स्तुति के लिये उसे कैसे बताया ? यह कोई दोष नहीं है, अश्व का वाहन होना तो स्वाभाविक ही है। स्वाभाविक होने के कारण देव आदि से सम्बन्ध होना तो उच्च पद की प्राप्ति ही है, अतः यह उसकी स्तुति ही है । इसी प्रकार वाजी आदि भी जातिविशेष हैं । अतः इसका सम्बन्ध इस प्रकार है—वाजी होकर उसने गन्धर्वों का वहन किया तथा अर्वा होकर असुरों का और अश्व होकर मनुष्यों का वहन किया । समुद्र अर्थात् परमात्मा ही इसका बन्धु (बन्धन) है, क्योंकि इसी में यह बांधा जाता है,

'मूर्धाराजेतिवा अहमेतमुपासे इति हविर्ज्ञायते' (बृह० उ० २।१।२) यस्माच्चासौ अनुप्रविश्य प्राणभावेन सर्वभूतानि शेते आस्ते सर्वभूताश्रयणात् शिर आदित्यः। स च एतेषामश्वानां मध्ये तिष्ठति। शीर्षमध्यमाः इत्युक्ताः सन्तः सिलिकमध्यमा उच्यन्ते। इदमपीतरच्छिरः एतस्मादेव इति प्रासङ्गिकम्। समाश्रितानि हि एतदुत्तमाङ्गं इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि इति शिरः शब्दोपपत्तिः। संशूरणासः संगताः शूरणादित्येन भगवता संशूरणासः। ते अत्याः अतनाः मुहूर्त्तमपि नावतिष्ठन्ति। ते हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते गच्छन्ति, कदा यदा यस्मिन् काले आक्षिषु आयन् आप्नुवन्ति किं दिव्यमज्मम् अजनिम् अज्यते गम्यतेऽस्यामिति अज्मं स्वर्गपथः एवमेतानि ईर्मान्तास इत्यादीनि अश्वविशेषणानि। 'आत्मैवेषां रथो भवत्यात्माश्वा'। इत्येवं प्रक्रमेण 'सूर्यदेवत' एषमन्त्रः स पुनरयमश्वस्तुतौ विनियुक्तस्तमसमञ्जस इति मन्यमानो भाष्यकारः प्रतिसमाधित्सुराहअस्त्यादित्यस्तुतिरश्वस्य स्यादश्वोनिरतष्ट इति। 'सूरादश्वंबसवो निरतष्टेत्यपि निगमोभवति' (नि० ४।१३) अत्राश्व आदित्या आदित्यात्मना स्तूयते कया उपपत्त्या उच्यते आदित्यादश्वो निरतष्ट इति अनया उपपत्या सूर्यात्मनाऽश्वः स्तूयते तत्रैव निगमं प्रमाणयति सूरादश्वंवसवो निरतष्टेति। सूक्तस्यास्य द्वितीयस्यामृचि आदित्यादश्वो निरतष्ट इत्युच्यते यमेन एनमस्माकं दत्तं अश्वं त्रितः त्रिस्थानो वायुः युनक्ति यत्रायं योक्तव्यः। वायुना युक्तमेनं इन्द्रः प्रथमः सर्वदेवानां मुख्यः अध्यतिष्ठत्। कोन्यएवमास्थातुं शक्नुयात्। वायुना युक्तस्येन्द्रेणाधिष्ठितस्यास्य गन्धर्वराजः रशनामगृह्णात्। कुतः पुनरयमश्व उच्यते सूरात्सूर्यादितमेवं लक्षणमश्वं वसवो निरतष्ट निःकृष्टवन्तः एवमेतस्मिन् मन्त्रे सूर्यप्रभवोऽश्वः स्तूयते। कारणाच्च कार्यमनन्यत् इत्युपपद्यते सौर्येणमन्त्रेणाश्वस्य स्तुतिरिति। तथाच निरुक्तदृष्ट्यापि मन्त्रस्याश्वस्तुतिपरत्वमेव। यदुक्तम् '१६४ तमसूक्तस्य प्रथममन्त्रे अस्यवायस्येतिमन्त्रेऽपि अस्येति सर्वनाम्ना पूर्वोक्तस्य सूर्यस्यैवाभिधान' (पृ० १५२) इति, तदपि तुच्छम्, १६३ सूक्तस्याश्वस्तुतिपरत्वेन तददोषात्। १६४ तमसूक्तेतु प्रायः संशयोत्थापनादयो बहवोऽर्थाः प्रतिपादिताः। तथाच अस्यवामस्येत्यस्य भवतु सूर्योऽर्थः। न तेन सिद्धान्तहानिः। 'मानोमित्र' इति द्वाविंशत्यृचस्य दैर्घतमसस्य सूर्यस्य भवत्यश्वोदेवता तेनाश्वस्य स्तूयमानत्वात्। 'मानोद्व्यधिकविंशत्यश्वस्तुतितृतीयषष्ठ्योजगत्यौ, इत्यनुक्रमणिकावचनात्। तद्यथा 'मानोमित्रोवरुणोअर्यमायुरिन्द्रऋभुक्षाः परिख्यन्। यद्वाजिनोदेवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि, (ऋ० सं० १।१६२।१) नोऽस्माकमश्वं स्तोतुं प्रवृत्तानां मित्रादयो देवा मा परिख्यानं कुर्वन्तु। महानुभावं देवजातं अश्वं तुच्छानराः स्तुवन्तीति मा निन्दन्त्वित्यर्थः। अहरभिमानी देवो मित्रः, रात्र्यभिमानी वरुणः, तयोरन्तरालाभिमानी अर्यमा, आयुः सततगन्तावायुः वकारलोपो वा, इन्द्रः प्रसिद्धः, ऋभुक्षाः देवानां निवासभूतः प्रजापतिः, यत् यस्मात् वाजिनो वेगवतो बह्वन्नवतो देवजातस्य बहुदेवतास्वरूपेणोत्पन्नस्य देवेभ्योजातस्य गन्धर्वकुले उत्पन्नत्वात् सप्तेः सर्पणशीलस्य अश्वस्य महानुभावस्य वीर्याणि वीरकर्माणि सामर्थ्यानि विदथे यज्ञे प्रवक्ष्यामः अतो, मा परिख्यन् प्रत्युत अनुगृह्णन्त्वित्यर्थः। 'यद्वाजिनो दामसन्दानमर्वतोनाशीर्षण्या रशना रज्जुरस्य। यद्वाघास्यप्रभृतमास्ये तृणं सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु॥' (ऋ० सं० १।१६२।८) इत्यत्र वाजिनः गमनवतोऽश्वस्य यत् दाम ग्रीवाबद्धा रज्जुः यच्चसन्दानं सम्यगवच्छेदकं पादबन्धनम् यावा अस्य शीर्षण्या शिरसि बद्धा खलीनरज्जुरस्ति अस्य अश्वस्य आस्ये मुखे प्रभृततृणमस्ति सर्वा सर्वाणि तानि ते तव देवेष्वस्तु देवेषु मध्ये सन्तु देवत्वं प्राप्नुवन्तु। 'यदस्य क्रविषो मक्षिका यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति। यद्धस्तयोः शमितुं यन्नखेषु सर्वाता अपि

समुद्र ही इसकी योनि (उत्पत्ति में कारण) है। इस प्रकार यह शुद्ध योनि और शुद्ध स्थिति वाला है। ऐसा कहकर इसकी स्तुति की जाती है। अथवा 'अप्सु योनिर्वा अश्व' इस श्रुति के अनुसार प्रसिद्ध समुद्र ही इसकी योनि है। एतावता यह स्पष्ट है कि अश्वमेध के अश्व का ही कालादिदृष्टि स संस्कार कर उसमें प्रजापतित्व बुद्धि करना यज्ञ में वीर्यवत्तरता की सिद्धिकी सम्पत्ति के निमित्त किया जाता है। उक्त मन्त्रों से अश्वमेधयज्ञ का अपलाप करना शक्य नहीं है। संवत्सरादि के यज्ञत्व प्रतिपादन में उन मन्त्रों का तात्पर्य नहीं

देवेष्वस्तु ॥' (ऋ०सं० १।१६८।९) अस्य अश्वस्य अर्थात्तदवयवभूतस्य क्रविषः उत्तममांसस्य यत् अङ्गं मक्षिका आश अभक्षयत्। यद्वा कर्मणि षष्ठ्यौ। अश्वस्य यन्मांसं मक्षिका भक्षयति। वा अथवा स्वरौ पश्वञ्जनकाले यत् रिप्तं लिप्तमस्ति। 'स्वरुणा पशुमनक्ति' इति श्रुतेः। स्वधितौ छेदनकाले वा यत् रिप्तमस्ति शमिनः हस्तयोर्लिप्तमस्ति, विशसनकाले यन्नखेषु लिप्तं तत्सर्वं ताः सर्वाः तानि सर्वाणि, हे अश्व ते तव सम्बन्धीनि देवेषु अस्तु 'यदूवध्यमुदरस्यापवाति य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति। सकृता तच्छमितारः कृण्वन्तु मेधे शृतपाकं पचन्तु' (ऋ० सं० १।१६२।१०) उदरस्य सम्बन्धि यत् ऊबध्यं ईषज्जीर्णं तृणं पुरीष्यम् अपवाति अपगच्छति यश्च आसस्य अपकृष्य क्रविषो मांसस्य गन्धो लेशोऽस्ति पाकस्य समये यत्किञ्चित् ऊबन्ध्यं अपक्वस्य च गन्धो लेशोऽस्ति तत्सर्वं शमितारः विशसनकर्तारः सुकृता कृण्वन्तु सुकृतमुक्तदोषरहितं कुर्वन्तु। उतापि मेधं मेध्यं यज्ञार्हं पश्ववयवं शृतपाकं देवयोग्यपाकोपेतं यथा भवति तथा पचन्तु, पितृमनुष्यादियोग्यं अतिपक्वं ईषत्पक्वच माकुर्वन्त्वित्यर्थः।

एवमेव एकादशे मन्त्रे यत्ते गात्रादग्निना पच्यमानात् यत् ऊष्मरूपं रसोवा यत् किञ्चित् अवधावति तथा निहतस्य निःशेषेण हतस्य तव यदङ्गं रसरूपं शूलमभिलक्ष्य अवधावति तत् भूम्यां मा आश्रिषत् आश्लिष्टं माभूत्। तथा या तृणेषु विशसनसमये दमेषु मा अपगच्छतु, किन्तु तत् उशद्भ्यः कामयमानेभ्यः देवेभ्यः रातं दत्तमस्तु। द्वादशे च मन्त्रे ये च वाजिनं पक्वमश्वावयवं परिपश्यन्ति पावनवुद्धया ईक्षन्ते, य ई येचैनं सुरभिः शोभनगन्धः किञ्चित् अस्मभ्यं देहीत्याहुः, यतः सुरभिः देवयोग्योऽयमिति, ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासते तेषामुक्तविधानां अभिगूर्तिः अभितः उद्यमनं नोऽस्मान् इन्वतु व्याप्नोतु। ये देवा वाजिनं पक्वं परिपश्यन्ति। त्रयोदशे च मन्त्रे मांस्पचन्याउखायाः स्थाल्याः नीक्षणं पाकपरीक्षासाधनं काष्ठं तथा यानि पात्राणि या यानि यूष्णोरसस्य क्वथितस्य आसेचनानि तथा ऊष्मण्या ऊष्मनिवारणार्हाणि पात्राणि चरूणां मांसपूर्णानाम् अपिधानाः अपिधानसाधनानि, तथा अङ्का हृदयाद्यवदानसाधना वेतसशाखाः सूना अवदानसाधनाः स्वधित्यादयः एतं मखं मूषन्ति स्वस्वव्यापारेण साधयन्ति। यन्निष्क्रमणं यन्निषदनं, विवर्तनं लुण्ठनं यच्चार्वतं पड्वीशं पादबन्धनम् सर्वत्रैतेषु मन्त्रेषु देवार्थस्य अश्वस्य रोमादीनामपि निरर्थकत्वाभावाय तत्स्थानमिति स्वीक्रियते। यच्च ययौ यच्च धावसि तृणादिकं जघास, हे अश्व, ते तव ताः सर्वास्तानि सर्वाणि निष्क्रमणादीनि देवेष्वस्तु तान्यपि निरर्थकानि माभूवन्। षोडशे मन्त्रे यदश्वाय संज्ञप्यमानाय वास उपस्तृणन्ति यानि हिरण्यानि कल्पयन्ति अर्वतोऽश्वस्य सन्दानं शिरोबन्धनं पड्वीशं पादेषु प्रविष्टं बन्धनं एतानि देवानां प्रियतराणि चात्वाले बद्ध्वा स्थापितानि देवेषु, आयामयन्ति प्रापयन्ति। सप्तदशे मन्त्रे-यत्ते महसा बलेन शूकृतस्य शूत्कारं कुर्वन्तं त्वां सादे सदने अगमने पार्ष्ण्या वा कशया तुतोद, ते तव तानि सर्वाणि ब्रह्मणा मन्त्रेण सूदयामि आहुतित्वेन कल्पयामि। अष्टादशे मन्त्रे—अश्वस्य देवबन्धोः चतुस्त्रिंशत् वङ्क्राः एतत्संख्यानि उभयपार्श्वास्थीनि स्वधितिः समेति, इतरेषामजादीनां षड्विंश तरेव। हे विशसनकर्तारः अस्याश्वस्य गात्राणि अछिद्राणि यथाभवन्ति तथा वयुनानि कृणोत कृणुत, हृदयजिह्वावक्षःप्रभृतीनि प्रज्ञाय मध्ये छिन्नानि मा कुरुत। तदर्थं परुः परुः प्रतिपर्वं प्रत्यवयवं अनुघुष्य शस्तविशसनं कुरुत। एकान्त्रिंशेमन्त्रे—एकस्त्वष्टुरश्वस्य एक एव ऋतुः कालः विशस्ता तथा द्वौ

है और न ही आदित्य को ही यहां अश्व या अश्वमेध कहा है। तै० सं० ३ ३।७ में सोम के अंगरूप में आश्रावय आदि मन्त्रों को बताया गया है, यहाँ अर्थवाद समझना भूल है। आश्रावय इत्यादि पाँच मन्त्र, उसका वीर्य है। इन मन्त्रों के अर्थों को तै० सं० १।६।११ के अनुवाक में प्रपंचित किया गया है। वहाँ इष्टि के अंगरूप में विधि है, किन्तु यहाँ सोम के अंगरूप में विधि है। सायणाचार्य के किए अर्थ

अहोरात्रे नियन्तारौ हे अश्व ते तव गात्राणां मध्ये यानि हृदयाद्यवदानानि ऋतुथाकाले कृणोमि छिनद्मि सम्पादयामि अग्नौ प्रजुहोमि। विंशे च मन्त्रे—हे अश्व त्वामपि यन्तं देवान् प्रतिगच्छन्तं प्रियः आत्मा भोगायतनत्वात् मा तपत, तप्तं माकार्षीत्, तद्वियोगजनिता व्यथा माभूत्। स्वधितिः शस्त्रं ते तव तन्वः अङ्गानि मा आतिष्ठिपत चिरमास्थितानि माकार्षीत् ते तव गात्राणि गृध्नुः विशसनेऽकुशलः असिना अतिहाय न्यूनातिरेकभावेन तत्तदङ्गमतिक्रम्य मध्ये मिथु मिथ्या व्यर्थं तिपर्वं छिद्राणि माकः कार्षीत्। एकविंशे च—नवा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः।' ननु प्रत्यक्षतो मृतिरवयवनाशश्च दृश्यते कथमेवमुच्यते इति तत्रोच्यते सुगेभिः देवान् इदेषि। ते त्वां वोढुं हरी इन्द्रस्याश्वौ ते तव रथे युञ्जा युक्तौ अभूताम् भविष्यतः। देवत्वं गच्छतस्तव गमनाय इन्द्रादयः स्वस्ववाहनानि प्रेषयिष्यन्ति। द्वाविंशे मन्त्रे—वाजी अश्व: आलभ्यमानोऽस्माकं सुगव्यं शोभनेन गोसमूहेन युक्तम् विश्वायुषं रयिं विश्वस्य पोषकं धनं करोतु। पुंसः पुत्रान् बन्ध्वादीन् स्त्र्यपत्यादीन् करोतु। अदितिः अदीनः अश्वः अनागस्त्वं सर्वतो निष्पापत्वं करोतु। हविष्मान् हविर्भूतावयवोपेतः अश्वः नोऽस्माकं क्षात्रं तेजः कुरुताम्। एवमेतेन दैर्घतमसेन सूक्तेन न त्वदभिलषितं सिद्ध्यति।

बृहदारण्यकवचनमपि नत्वत्पक्षसाधकम्। तथाहि 'उषावा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्मा अश्वस्य मेध्यस्य द्यौः पृष्ठभूतमन्तरिक्षमुदरं पृथिवीपाजस्यं दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शवः ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नमोमांसानि ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वताः ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि उद्यन् पूर्वार्धः निम्लोचद् जघनार्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधुनुते ततस्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमान्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनम् पश्चान्महिमान्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा महिमानावभितः सम्बभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वान् अर्वाऽसुरान् अश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रा योनिः? (बृ० उ० १।१।१-२) अत्र अश्वमेधोपासनमुच्यते। अत्र भाष्यकारः—'तत्र अश्वविषयमेव दर्शनमुच्यते प्राधान्यादश्वस्य प्राधान्याच्च तन्नामाङ्कितत्वात् क्रतोः प्राजापत्यत्वाच्च। उषा ब्राह्मो मुहूर्तः वै प्रसिद्धिः। मेध्यस्य मेधाहस्य यज्ञियस्याश्वस्य शिरः दिनावयवेषु उषःकालस्य प्राधान्यम्, अश्वावयवेषु च शिरसः प्राधान्यम्, तेनाश्वमेधिकाश्वशिरसि उषसो दृष्टिः कर्त्तव्या। ननु कालादिदृष्टिरश्वाङ्गेषु किमितिकर्त्तव्येतिचेत्तत्रोच्यते, कर्माङ्गस्य पशोः संस्कर्त्तव्यत्वात् कालादिदृष्टयः शिरादिषु कर्त्तव्याः। प्रजापत्यध्यारोपणात् प्राजापत्यत्वं तत्र सम्पद्यते। काललोकदेवतात्वाध्यारोपणाच्च प्रजापतित्वकरणं पशोः, यथा प्रतिमायां विष्णुबुद्धिस्तथैवात्र प्रजापतित्वबुद्धिः। अश्वमेधाधिकारी सत्याश्वे कर्मणा वार्यंवत्तरार्थं कालादिदृष्टीः अश्वावयवेषु करोति। तदनधिकारी ब्राह्मणादिस्तु अश्वाभावे

को मूल संस्कृत में बताया गया है। आसुर पक्ष के उत्कर्ष का वर्णन करते हुए युधिष्ठिर ने सायणाचार्य पर इतिहास की अनभिज्ञता का आरोप कर उनके किये हुए अर्थ को अशुद्ध बताया है। सायण के द्वारा प्रतिपादित अर्थ सरल, प्राञ्जल और स्पष्ट है, उसमें क्या और किस प्रकार अशुद्ध है, यह नहीं बता पा रहे हैं। दयानन्द भी उसी तरह कुछ कहकर सायण की निन्दा करते हैं। उसके अन्य अनुयायी

स्वात्मानमेवाश्वं कल्पयित्वा स्वशिरःप्रभृतिषु कालादिदृष्टिकरणेन प्रजापतित्वं सम्पाद्य प्रजापतिरस्मीति भावनया तद्भावं प्रतिपद्यते ।' इति । स्पष्टार्थं भाष्यम् । सूर्यश्चक्षुः शिरसोऽनन्तरत्वात् सूर्याधिदैवतत्वाच्चक्षुषोः सूर्यदृष्टिः कर्त्तव्या । वातो वायुः। प्राणः, तदीये व्यात्ते मुखे वैश्वानराग्निबुद्धिः कर्त्तव्या मुखस्याग्निदैवतत्वात् । संवत्सरो द्वादशमासस्त्रयोदशमासो वा आत्मा शरीरम् । आत्मापदेनात्र मध्यदेह उक्तः, 'मध्यो ह्येषामङ्गानामात्मा'इति शाङ्करभाष्योद्धृतश्रुतेः। अश्वस्य मेध्यस्य पुनर्वचनं सर्वत्र अनुषङ्गार्थम्, द्यौः पृष्ठम् ऊर्ध्वत्वसामान्यात् । अन्तरिक्षमुदरम् सुषिरत्वसाम्यात् । पृथिवी अस्य पाजस्यम्, वर्णव्यत्ययेन पादासनस्थानम्, दिशश्चतस्रोऽस्य पार्श्वे पार्श्वेन दिशां सम्बन्धात् ।

ननु दिशां संख्यावैषम्यादयुक्तमिदमिति चेन्न, अश्वस्य सर्वमुखत्वेन तदुपपत्तेः। अवान्तरदिशः पर्शवः पार्श्वास्थीनि ऋतवोऽङ्गानि संवत्सरावयवत्वात् । मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाणि सन्धयः सन्धिसामान्यात् । अहोरात्राणि प्रतिष्ठाः बहुवचनात् प्राजापत्यदैवपित्र्यमानुषाणि अहोरात्राणि प्रतिष्ठाः पादाः । प्रतितिष्ठत्येतैरिति । अहोरात्रैः संवत्सरात्मा प्रतितिष्ठति पादैश्चाश्वः प्रतितिष्ठति । नक्षत्राणि अस्थीनि शुक्लत्वसाम्यात् नभः नभःस्था मेघा मांसानि, अन्तरिक्षस्योदरत्वेनोक्तेः। उदकं रुधिरं सेचनसामान्यात् । ऊवध्यमुदरस्थमर्धजीर्णमशनं सिकताः, विश्लिष्टावयवत्वसाम्यात् । सिन्धवः स्यन्दनसामान्यान्नद्यो गुदा नाड्यः, बहुवचनाद्य । यकृच्चक्लोमानश्च हृदयस्याधस्तात् दक्षिणोत्तरौ मांसखण्डौ क्लोमान इति नित्यबहुवचनमेकस्मिन्नेव । पर्वताः काठिन्यादुच्छ्रितत्वाच्च ओषधयश्च क्षुद्राः स्थावरा-वनस्पतयो महान्तो लोमानि केशाश्च यथायोग्यम् । उद्यन्नुद्गच्छन् सविता आमध्याह्नात् अश्वस्य पूर्वार्धः। नाभेरूर्ध्वमित्यर्थः। निम्लोचन्नस्तं यन्नामध्याह्नाज्जघनार्धोऽपरार्धः, पूर्वापरत्वसाधर्म्यात् । यद्विजृम्भते गात्रं विनामयति विक्षिपति तद्विद्योतते विद्योतनम् मुखघनविदारणसाम्यात् । यद्विधूनुते गात्राणि कम्पयति तत्स्तनयति गर्जनशब्दसाम्यात् । यन्मेहति मूत्रंकरोत्यश्वस्तद्वर्षति वर्षण तत् सेचनसाम्यात् । वागेव शब्दएवास्यवाक् नात्रकल्पनेत्यर्थः।

'अहर्वा' सौवर्णराजतौ महिमाख्यौ ग्रहौ अश्वस्य अग्रतः पृष्ठतश्च स्थाप्येते तद्विषयमेतद्दर्शनम् । अहः सौवर्णो ग्रहः, दीप्तिसामान्याद्वै अश्वस्य पुरस्तान् महिमान्वजायत, अश्वस्य प्रजापतित्वात् प्रजापतिर्ह्यादित्यलक्षणोऽह्ना लक्ष्यते । तस्य ग्रहस्य पूर्वे पूर्वः समुद्रः योनिः । विभक्तिव्यत्ययः। योनिरित्यासादनस्थानम् । रात्रीराजतोग्रहो वर्णसामान्यात् जघन्यसामान्याद्वा । एनं मखं पश्चात्पृष्ठतो महिमान्वजायत । तस्य अपरः समुद्रो योनिः स्थानम् । तावेतौ महिमानौ ग्रहौ अभितः सम्बभूवतुः । इत्थमसावश्वो महत्वयुक्त इतिपुनर्वचनं स्तुत्यर्थम् । तथाच हयोभूत्वेत्यादिकं स्तुत्यर्थम् । वाहनत्वमस्य स्वाभाविकम् । देवादिसम्बन्धोऽश्वस्य स्तुतिः। वाज्यादयो जातिविशेषाः। समुद्रः परमात्मा एवास्य बन्धुः । बध्यते अस्मिन्निति बन्धुः । योनिः कारणमुत्पत्तिं प्रति । एवमसौ शुद्धयोनिः, शुद्धस्थितिरितिस्तूयते 'अप्सुयोनिर्वा अश्वः' इतिश्रुतेः । प्रसिद्ध एव समुद्रोऽस्ययोनिः । स्पष्टमन्त्राश्वमेधीयाश्व एव कालादिदृष्ट्या संस्कृत्य तत्र प्रजापतित्वसम्पादनम् यज्ञस्य वीर्यवत्तरत्वसिद्ध्यर्थं क्रियते । नैभिर्मन्त्रैरश्वमेधयज्ञस्यापलापः कर्तुं पार्यते । संवत्सरादेर्वा यज्ञत्वप्रतिपादने नैषां तात्पर्यम् । न वात्रादित्यस्यैव अश्वत्वम् अश्वमधस्त्वंवा निरूप्यते ।

'प्रजापतिर्देवासुरानसृजत । तदनुयज्ञोऽसृज्यत । यज्ञं छन्दांसि । ते विष्वञ्चोव्यक्रामन् । सोऽसुरा ननु यज्ञोऽपक्रामद्यज्ञं छन्दांसि । ते देवा अमन्यत । इदमभूवन् यद्वयंस्म । ते प्रजापतिमुपाधावन् । सोऽब्रवीत् प्रजापतिः छन्दसां

भी 'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते'—उन्नत पद को पाने में असमर्थ होने पर वे लोग निन्दा करने लगते हैं—इस नियम का अनुसरण कर उटपटांग प्रलाप करने लगते हैं । अतः 'देवों के पास यज्ञ नहीं थे, किन्तु असुरों के पास से ही देवों के पास यज्ञ आये' इस प्रलाप का खण्डन हो ही चुका । यहाँ स्पष्ट है कि 'ते दवा विष्वञ्चो व्यक्रामन्.........कृतार्थताधिगता' यह सब छन्दों के वीर्य की प्रशंसा के लिये अर्थवाद है । तात्पर्य यह है कि सायणाचार्य को प्राचीन इतिहास का सम्यक् ज्ञान था । अतः सायणाचार्य पर युधिष्ठिर के

वीर्यमादाय तद्वः प्रदास्यामीति । स छन्दसा(वीर्य)मादाय तदेभ्यः प्रायच्छत् । तदनु छन्दांस्यपाक्रामन् । छन्दांसियज्ञस्ततोदेवा अभवन् परासुरा य एव छन्दसां वीर्यं वेदाश्रावयास्तुश्रौषट् यज ये यजामहे वषट्कारोभवत्यात्मना परास्य भ्रातृव्यो भवति ....' (तै सं० ३।३।७) अत्र सोमाङ्गत्वेनाश्रावयेत्यादयोमन्त्रा विधीयन्ते तत्रार्थवादः । कदाचित् प्रजापतिर्देवानसुरांश्च पुरा असृजत सृष्टवान् । ताननु यज्ञोऽसृज्यत । यज्ञमनु छन्दांसि च ससर्ज । तदानीं ते देवाः परस्परमैकमत्याभावात् विष्वञ्चो नानागतयो भूत्वा व्यक्रामन् विविधं देशंगताः । अथ स यज्ञोऽसुराननुसृत्य देवेभ्योऽपाक्रामत । तञ्च यज्ञमनुसृत्य छन्दांस्यपि देवेभ्योऽपाक्रामन् । तदानीं ते देवाः परस्परमैकमत्यं प्राप्यैव विचारितवन्तः—यदैश्वर्यं प्राप्य स्थितास्म, तदिदंसर्वं प्राप्यासुरा एवेदानीमवस्थिता इति विचार्य च ते देवाः तथाविधपराभवमसहमानाः प्रजापतिमुपाधावन् । अथदेवैरुपासितः प्रजापतिस्तानब्रवीत् । छन्दसां वैदिकमन्त्राणां मध्ये वीर्यसारमादाय युष्मभ्यं तत्प्रदास्यामीत्युक्त्वा तथैवकृतवान् । अथ तद्वीर्यमनु सर्वाणि छन्दास्यसुरेभ्योऽपक्रम्य देवान् प्राप्नुवन् । तानि छन्दांस्यनुसृत्य यज्ञोऽप्यसुरेभ्योऽपक्रम्य देवान् प्राप्नोत् । ततो देवा विजयिनोऽभवन्, असुरास्तु पराभूताः । योवीर्यंवेद स स्वयमेव विजयी भवति । तस्य भ्रातृव्यः पराभवति । तस्माद् वीर्यं विदित्वा प्रयुञ्जीत । आश्रावयेत्यादिमन्त्रपञ्चकं तद्वीर्यम् । एतेषां मन्त्राणां अर्थाः—यो वै सप्तदशमित्यस्मिन्ननुवाके । (तै० सं० १।६।११) प्रपञ्चिताः । इष्ट्यङ्गत्वेन तत्र विधिः, अत्र तु सोमाङ्गत्वेन । इत्ययं श्रीसायणाचार्योक्तोऽर्थः उक्तप्रघट्टकस्य । आसुरपक्षस्योत्कर्षं वर्णयन् युधिष्ठिरस्तु सायणाचार्ये इतिहासानभिज्ञत्वमारोपयन् तत्कृतमर्थमशुद्धं वदति । सरलः प्राञ्जलः स्पष्टः सायणोक्तोऽर्थस्तत्रकथमशुद्धिरिति नोक्तवान् । दयानन्दोऽपि तथैव किञ्चिदुक्त्वा सायणं निन्दति । तदीया अन्येऽपि 'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' इति न्यायमनुसरन्तः यत्किञ्चित्प्रलपन्ति । 'एतेन देवानां सविध एव यज्ञा नासन् किन्तु असुराणां सकाशादेव यज्ञःदेवानागतः' इति सर्वं प्रलपनमपास्तमेव । अत्र स्पष्टं 'ते देवाविष्वञ्चो व्यक्रामन् । ततःसोऽसुराननु यज्ञोऽपाक्रामत्, यज्ञापक्रमणात् देवैरैश्वर्यहीनत्वादैकमत्यं प्राप्य प्रजापतिमुपस्तुत्य तद् द्वारा छन्दसां वीर्यं प्राप्य पुनश्छन्दांसि यज्ञञ्च प्राप्य कृतार्थताधिगते'ति छन्दसां वीर्यस्य प्रशंसाऽर्थोऽयमर्थवादः । तस्मात् सायणाचार्येण प्राचीनेतिहासस्य सम्यगज्ञानात् (तै० संहितायां ३।३।७) स्थले भाष्ये अशुद्धं व्याख्यातमिति युधिष्ठिरोक्तिरपास्ता, युधिष्ठिरस्यैवेतिहासानभिज्ञत्वात् । एवमेव तत्रतत्रवचनाभासानुपन्यस्यानर्गलं प्रलपति ।

एवमेव—'प्राह्लादिर्वै कपिलो नामासुर आस । स एतान् भेदान् चकार देवैः सह स्पर्धमानः' (बौधायनधर्मसूत्र २।१२।३०) इति वचनमुपन्यस्यता युधिष्ठिरेण अशुद्धोऽभिप्रायः प्रदर्शितः, स्थलसङ्केतोऽपि अशुद्धोदत्ताः । बौधायनधर्मसूत्रे (२।११।२८) इति स्थलसङ्केतेन भाव्यम् । न तत्र सूत्रे वर्णाश्रमभेदवर्णनं केवलमाश्रमभेदस्यैव तत्र विवक्षितत्वात् । तथाहि एतस्मात् पूर्वस्मिन् 'ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजनत्वादितरेषाम्' (बौधायनधर्मसूत्र २।११।२७) इति सिद्धान्तपक्षमुक्त्वा कपिलासुरमतेन तद्भेदं प्रतिपाद्य तत्रैव 'तान्मनीषोनाद्रियेत' (बौधायनधर्मसूत्र २।११।२८) इति तन्मतखण्डनमेव दृश्यते । तथैव 'देवाः पराजिग्यमाना असुराणां वेशत्वमुपायन्' (मैत्रायणीसंहिता २।३।७) इति स्थाने 'वैश्य' मितिमिथ्यापाठं परिकल्प्यायमनर्गलं स्वार्थं साधयितुं प्रवृत्तः । 'दिशोवायूरविश्चन्द्रः पृथ्व्यग्नी विष्णुरेव च । इन्द्रः प्रजापतिर्मित्रमग्नयो दश भामिनि । दशेन्द्रियाणि होतॄणि हवींषि दशभामिनी । विषयानामसमिधो दृश्यन्ते (हूयन्ते) तु दशाग्निषु । चित्तं स्रुवश्च वित्तं च पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् । सुविभक्तमिदं सर्वं जगदासीदिनिश्रुतम् ॥' 'शरीरभृद्गार्हपत्यस्तस्मादन्यः प्रणीयते । मनश्चाहवनीयस्तु तस्मिन् प्रक्षिप्यते

द्वारा किये आक्षेप का खण्डन हो जाता है । वस्तुतः युधिष्ठिर ही इतिहास से अनभिज्ञ हैं । जहाँ तहाँ प्रमाणाभासों का उपन्यास कर अनर्गल प्रलाप मात्र करता है । इसी प्रकार 'प्राह्लादिर्वै कपिलो स्पर्धमानः'—(बौधा० ध० सू० २।१२।३०) इस वचन को उद्धृत कर युधिष्ठिर ने उसका अभिप्राय अशुद्ध प्रदर्शित किया है, और स्थलसंकेत भी अशुद्ध किया है । स्थलसंकेत २।१२।३०

हविः ॥ ततो वाचपतिं यज्ञे तं मनः पर्यवेक्षते' (म०भा० आश्वमेधिकपर्व २१।३८) तथैव पञ्चाग्निविद्यायां 'अयं वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित् रश्मयो धूमश्चन्द्रमा अङ्गाराः नक्षत्राणि विस्फुल्लिङ्गाः तस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा भवति' (छा० उ० ५।४।१–२) 'पर्जन्यो वाव गौतमाग्निः वायुरेव समित् अभ्रं धूमो विद्युदग्निरशनिरङ्गारा ह्लादनयो विस्फुलिङ्गाः, तस्मिन्नग्नौ देवाःसोमं राजानं जुह्वति तस्या आहुतेः वर्षं भवति' (छा०५।५) 'पृथिवी वाव गौतमाग्निः, तस्या संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिरवान्तरदिशो स्फुलिङ्गाः तस्मिनग्नौ देवावर्षं जुह्वति तस्या अन्नं भवति ।' 'पुरुषो वाव गौतमाग्निः तस्य वागेव समित् प्राणो धूमः जिह्वार्चिः श्रोत्रं विस्फुल्लिङ्गाः तस्मिन्नग्नौदेवा अन्नं जुह्वति तस्या अङ्गात् रेतः सम्भवति ।

'योषावावगौतमाग्निः तस्या उपस्थ एव समित् यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गाराः अभिनन्दाः विस्फुलिङ्गाः तस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतगर्भः सम्भवति' (छा० उ० ५।८।१–२) इत्यादिषु गौणमेवाग्नित्वादिकमारोप्यत उपासनार्थम् । तथैव प्राणाग्निहोत्रे तस्य वा एतस्यात्मा वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येवपादा वुरएव वेदिः लोमानि बर्हिः हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचनः आस्यमाहवनीयः' (छा० उ० ५।१८) इत्यादिषु वेदिर्बर्हिगार्हपत्यान्वाहार्यपचनाहवनीयादिकं काल्पनिकमेवारोप्यते । तथैव युद्धेऽपि यज्ञकल्पनं दृश्यते । यथा—'……धार्तराष्ट्रस्य शस्त्रयज्ञो भविष्यति । आध्वर्यवं च ते कृष्ण क्रतावस्मिन् भविष्यति । होता चैवात्र बीभत्सुः सन्नद्धः सकपिध्वजः । गाण्डीवं स्रुक् तथा चाज्यं वीर्यं पुसां भविष्यति ॥ ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं स्थूणा कर्णं च माधव । मन्त्रास्तत्र भविष्यन्ति प्रयुक्ताः सव्यसाचिना ॥ गीतं स्तोत्रं स सौभद्रः सम्यक् तत्र भविष्यति । उद्गाता च पुनर्भीमः प्रस्तोता सुमहाबलः ॥ विनदन् स नरव्याघ्रो नागानीकान्तकृद्रणे । स चैव तत्र धर्मात्मा शश्वद्राजा युधिष्ठिरः । जपैर्होमैश्च संयुक्तो ब्रह्मत्वं कारयिष्यति । शङ्खशब्दाः समुरजा भेर्यश्च मधुसूदन ॥ उत्कृष्टसिंहनादश्च सुब्रह्मण्यो भविष्यति । नकुलः सहदेवश्च माद्रीपुत्रौ यशस्विनौ ॥ शामित्रं तौ महावीर्यौ सम्यक् तत्र भविष्यतः । कल्माषदण्डा गोविन्द विमला रथपङ्क्तयः ॥ यूपाः समुपकल्पन्तामस्मिन् यज्ञे जनार्दन । कर्णिनालीकनाराचा वत्सदन्तोपबर्हणाः ॥ तोमराः सोमकलशाः पवित्राणि धनूंषि च । असयोऽत्र कपालानि पुरोडाशाः शिरांसि च ॥ हविस्तु रुधिरं कृष्ण तस्मिन् यज्ञे भविष्यति । इध्माः परिधयश्चैव शक्तयो विमला गदाः । सदस्या द्रोणशिष्याश्च कृपस्य च शरद्वतः ॥ इषवोऽत्र परिस्तोमा मुक्ता गाण्डीवधन्वना । प्रति प्रास्थानिकं कर्म सात्यकिश्च करिष्यति । दीक्षितो धार्तराष्ट्रोऽत्र पत्नी चास्य महाचमूः ॥ घटोत्कचोऽत्र शामित्रं करिष्यति महाबलः । अतिरात्रे महाबाहो वितते यज्ञकर्मणि ॥ दक्षिणात्वस्य यज्ञस्य धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् । वैतानिके कर्ममुखे जातो यत्कृष्णपावकात् । यदा द्रक्ष्यसि मां कृष्ण निहतं सव्यसाचिना ॥ पुनश्चितिस्त्वदाचास्य यज्ञस्याथ भविष्यति । दुःशासनस्य रुधिरं यदा पश्यति पाण्डवः ॥ आनदं नर्दतस्तस्य तदा सूयं भविष्यति । यदा द्रोणं च भीष्मञ्च पाञ्चाल्यौ पातयिष्यतः ॥ तदा यज्ञावसानं तद्भविष्यति जनार्दन । दुर्योधनं यदा हन्ता भीमसेनो महाबलः ॥ तदा समाप्स्यते यज्ञो धार्तराष्ट्रस्य माधव । स्नुषाश्च प्रस्नुषाश्चैव धृतराष्ट्रस्य सङ्गताः ॥

नहीं है, बल्कि २।१।२८ है । इस सूत्र में वर्णाश्रम के भेद का वर्णन नहीं है, केवल आश्रमभेद ही वहाँ विवक्षित है । तदैव मैत्रायणी संहिता २।३।७ में 'वैशत्व' की जगह 'वैश्यम्' इस मिथ्यापाठ की कल्पना कर अनर्गल स्वार्थसाधन में इसकी प्रवृत्ति दिखाई दे रही है । छां० उपनिषद् आदि में उपासनार्थ गौण अग्नित्व आदि का आरोप किया गया है । उसी तरह वेदि-बर्हि-गार्हपत्य-अन्वाहार्यपचन-आहवनीय आदि सब काल्पनिक ही आरोपित किये गये हैं । युद्ध में भी यज्ञ की कल्पना की हुई महाभारत में दिखाई पड़ती है । तै० ब्रा० में यूप के अन्तरालों में रखे हुए जो आरण्य पशु हैं, उन पशुओं के समाप्तिपर्यन्त-प्रयाग का निन्दामुखेन निषेध किया गया है । रोहितादि

हतेश्वरा हतपुत्रा हतनाथाश्च केशव। रुदन्त्यः सह गान्धार्या श्वगृध्रकुरराकुले॥ स यज्ञेऽस्मिन्नवभृथः भविष्यति जनार्दन॥' (म० भा०) सर्वत्रात्र प्रसिद्धयज्ञगता एव भावा युद्धे परिकल्प्यन्ते। यूपान्तरालेषु धारिता आरण्या ये पशवः तेषां पशूनां समाप्तिपर्यन्तं प्रयोगं निन्दामुखेन निषेधति—'यदारण्यैः संस्थापयेत व्यवस्येतां पितापुत्रौ व्यध्वानः क्रामेयुः विदूरं ग्रामयोर्ग्रामान्तौ स्याताम्। ऋक्षीकाः पुरुषव्याघ्राः परिमोषिणः आव्याधिनीस्तस्करा अरण्येष्वाजायेरन्' (तै० ब्रा० ३।९।१ इति)। 'इन्द्राय राज्ञे सूकरः' इत्याद्यनुवाकेषूक्ता आरण्याः पशवो यूपान्तरालेषु धारयित्वोपाकृताः। तैः पशुभिर्यद्यन्यपशुवत् पाशुकप्रयोगं समापयेत् तदानीमेते दोषाः प्रसज्येरन् तदेवोदाह्रियते—पितापुत्रौ परस्परं व्यवस्येयाताम् विरुद्धाध्यवसायौ कलहकारिणौ भवेताम्। अध्वानश्च विक्रामेयुः। अध्वशब्देन मार्गे गच्छन्तो जना उपलक्ष्यन्ते। ते च परस्परं विरुद्धं क्रामेयुः। परस्परं बाधकाः स्युः। आरण्यपशूनां तथाविधत्वात्। किञ्च ग्रामान्तौ ग्रामसीमानौ तयोर्ग्रामयोर्विदूरं यथा भवति तथा स्याताम्। ग्रामसीम्नोरत्यन्तदूरत्वे मध्येमार्गं भयकारणं महारण्यमुत्पद्यते इत्यभिप्रायः, तथा सति आरण्यकेषु ऋक्षीकादयः सर्वत उत्पद्येरन्। ऋक्षीकाः भल्लूकप्रभृतयो हिंसका मृगाः, व्याघ्रा इवातिक्रूराः पुरुषव्याघ्राः, परिमोषिणः मार्गचौराः चौरप्रभूणां सेना आव्याधिन्यः तस्करा मायावित्वेनापहर्तारः। तत्र पूर्वपक्षे तदाहुः अपशवो वा एते यदारण्याः यदारण्यैः संस्थापयेत्। क्षिप्रं यजमानमरण्यं मृतं हरेयुः अरण्याय ह्यारण्याः पशव इति यत्पशूनालभेत अनवरुद्धा अस्य पशवः स्युः। यत्पर्यग्निकृतानुत्सृजेत यज्ञवैशसं कुर्यात्' (तै० ब्रा० ३।९।३) आक्षेपवादिन एवमाहुः, यत एते आरण्यास्ते कर्मयोग्याः पशवो न भवन्ति पशुकार्याभावात्। तथाहि किमेते पशवः समाप्तिपर्यन्तमनुष्ठेयाः किं तेषामालम्भ एवमाभूत्, अथवा प्रारब्धानां तेषां पर्यग्निकरणादूर्ध्वमुत्सर्ग इति विचारणीयम्। तत्र समाप्तिपर्यन्तं प्रयोगे क्षिप्रं स्वल्प एवकाले मृतं यजमानं दाहार्थमरण्ये पुत्रादयो हरेयुः, आरण्यपशुवधस्याल्पायुष्ट्वहेतुत्वात्। यस्मादारण्यानां पशूनामरण्यमेवायतनम् अतो यजमानस्यापि तत्रैवायतनम्। नापि द्वितीयः पक्षो युक्तः—आरण्यानामालम्भाभावे यजमानेन पशवो न प्राप्येरन्। पर्यग्निकरणादूर्ध्वमुत्सर्गे तु पशुप्रयोगसमाप्त्यभावात् यज्ञविघातं कुर्यात्। अथसमाधानपक्षः—'यत्पशूनालभते तेनैव पशूनवरुन्धे यत्पर्यग्निकृतानुत्सृजत्ययज्ञवैशसाय अवरुद्धा अस्य पशवो भवन्ति न यज्ञवैशसं भवति न यजमानमरण्यं मृतं हरन्ति' (तै० ब्रा० ३।९।१।) इति। आरण्यान् पशूनुपालब्धुमुपाकरणं करोति। तेनालम्भदोषाभवात् पशुप्राप्तिर्भवति। उपाकृतेषु पर्यग्निकरणस्यानुष्ठितत्वान् न यज्ञवैशसं भवति तदेतद्दोषद्वयराहित्यमुपसंहर्तुमवरुद्धा अस्य पशवो भवन्तीत्यादिकयुक्तम्। आरण्यपशूनां वधाभावात् यजमानस्य शीघ्रमरणादिकं न भविष्यति। अग्निष्ठयूपव्यतिरिक्तेषु यूपेषु नियुक्ता रोहितधूम्ररोहित इत्यनुवाकोक्तानामष्टादशिनां ग्राम्यपशूनां समाप्तिपर्यन्तं प्रयोगं विधत्ते —ग्राम्यैरिति। ग्राम्यैः संस्थापयति एते वै पशवः क्षेमानाम स पितापुत्राववस्यत समध्वानं क्रामन्ति समन्तिकं ग्रामयोर्ग्रामान्तौ भवतः नर्क्षीकाः पुरुषव्याघ्राः परिमोषिणः आव्याधिनीस्तस्करा अरण्येष्वेव जायन्ते। (तै० ब्रा० ३।९।१।४) रोहितादिभिः पशुभिः प्रयोगं समापयेत्। तेषां पाशुकं तत्तदङ्गावदानपूर्वकं देवयजनं कुर्यात्।

पशुओं से प्रयोग की समाप्ति करनी चाहिये। गवालम्भ और अविमेध के सम्बन्ध में पहले बहुत बता चुके हैं। चातुर्मास्य के वरुण प्रघासपर्व में ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्र ने पिष्टमय मेष-मेष्यादि के प्रयोग का विधान किया है।

जो अज शब्द को लक्ष्य कर 'अजति सातत्येन गच्छति इति अजः, न जायते इत्यजः' इन दो व्युत्पत्तियों से दो अर्थ सम्भव होते हैं—एक सतत गतिशील पदार्थ, और दूसरी व्युत्पत्ति से जो उत्पन्न नहीं होता, नित्य वर्तमान है जैसे—आत्मा, परमात्मा और प्रकृति। सूर्यमण्डल के चारों ओर भ्रमणशील पृथिवी ही 'अज' शब्द से कही गई है। दृढ़तारहित भूमि, अवि के समान कोमल होने से उसे 'अवि' कहा गया है। वैसे ही अग्नीषोमीय अज भी अग्नीषोमगुणवाली प्रारंभिक अकृष्टपच्या पृथिवी का वाचक है। गोमय आदि सामप्रधान द्रव्यों के योग से ऊसर भूमि को अग्नीषोमीय धर्मवाली कृषियोग्य बनाना अग्नीषोमीय पशु का आलभन है। किन्तु

एते ग्राम्याः पशवः क्षेम इत्येतन्नामार्हन्ति, तैः प्रजोपकारदर्शनात्। तस्मादारण्यपशुस्थापने पितापुत्रविरोधादयो ये दोषाः पूर्वमुपन्यस्तास्तेऽत्र न भवन्ति। संस्थापनं वधः। सम्पूर्वकस्य तिष्ठतेर्वधार्थत्वात्। 'अथ पत्नीभ्यः पत्नीयूपमुच्छ्रयन्ति सर्वत्वाय न्वेपत्नीयूप उच्छ्रीयते तत्त्वाष्ट्रपशुमालभते त्वष्टावैसिक्तं रेतोविकरोति तदेषएवैतत्सिक्तं रेतो विकरोति मुष्करो भवत्येषवै प्रजनयितायन्मुष्करस्तस्मान्मुष्करो भवति तन्न संस्थापयेत् पर्यग्निकृतमेवोत्सृजेत् सयत्संस्थापयेत् प्रजावैहान्तमियात्तत्प्रजामुत्सृजति तस्मान्न संस्थापयेत् पर्यग्निकृतमेवोत्सृजेत्' (श० ३.७।३।२) अत्रापि वधो निषिद्धः। पर्यग्निकृतस्य उत्सर्ग एव विहितः। यथा तैत्तिरीये अश्वमेधप्रसङ्गे ग्राम्यपशूनां संस्थापनमारण्यानान्तूत्सर्ग उक्तः, तथैव शतपथेऽपि।

'स यद्ग्राम्यैः संस्थापयेत् समध्वानः क्रामेयुः समन्तिकं ग्रामयोर्ग्रामान्तौ स्याताम् नर्क्षीकाः पुरुषव्याघ्राः परिमोषिणः आव्याधिन्यस्तस्करा अरण्येष्वाजायेरन् यदारण्यैर्व्यध्वानः क्रामेयुर्विदूरं ग्रामयोर्ग्रामान्तौ स्याताम्' (श० १३।२।४२) 'तदाहुः अपशुर्वा एष यदारण्योनैतस्य होतव्यं यज्जुहुयात् क्षिप्रं यजमानमरण्यं मृतं हरेयुररण्यभागाह्यारण्याः पशवो यन्नजुहुयाद्यज्ञवेशसं स्यादिति पर्यग्निकृतानेवोत्सृजन्ति तत्रैव हुतन्नाहुतन्न यजमानमरण्यं हरन्ति न यज्ञवेशसं भवति' (श० १३।२।४।३) 'ग्राम्यैः संस्थापयति विपितापुत्रावयस्यत समध्वानः क्रामन्ति समन्तिकं ग्रामयोर्ग्रामान्तौ भवतो नर्क्षीकाः पुरुषव्याघ्राः परिमोषिण आव्याधिन्यस्तस्करा अरण्येष्वाजाय' (श० १३।२।४।४) तत्र हरिस्वामिनः—आरण्यान् पशून् पर्यग्निकृतानेवोत्सृजन्ति, ग्राम्यैः संस्थापयतीत्येतावदत्र विधीयते अभिप्रायस्तु पूर्ववदेव। किंच स्पष्टमेव शतपथे अश्वादिसंज्ञपनीयपशूनां शासे भेदउक्तः। 'हिरण्मयोऽश्वस्य शासोभवति लोहमयाः पर्यङ्ग्यानामायसा इतरेषाञ्ज्योतिर्वैहिरण्यं राष्ट्रमश्वमेधः ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधाति' (श० १३।२।२।१६) हिरण्यपरिष्कृतं विशसनसाधनं विहितमश्वस्य। अन्येषां पशूनान्तु ताम्रपरिष्कृताः शासा विहिताः। 'स्वयंवाजिस्तन्वं कल्पयस्वेति स्वयं रूपं कुरुष्व यादृशमिच्छसीत्येवेनम्' (श० १३।२।७।११)। 'न वा उ एतन्म्रियसे नरिष्यसीति प्रश्वासयत्येवेनन्तद्देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिरिति देवयानमेव पथो दर्शयति' (श० १३।२।७।१२) इत्यवमादिभिरश्वं महिम्ना समर्धयति प्रश्वासयति देवयानमार्गं च दर्शयति। 'अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त स एतं लोकमजयत्। यस्मिन्नग्निः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि। वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त स एतं लोकमजयत यस्मिन् वायुः स ते लोकः……।' 'सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त…यस्मिन् सूर्यः सते लोको भविष्यति तं जेष्यसि' (श० १३।२।७।१३–१४–१५) अग्निवायुसूर्यास्ते पूर्वं पशव आसन्। एभिर्यजन जातम्। तेनैव ते अग्नि-वायु-सूर्यपदानि प्राप्य महर्धयः सञ्जाताः। हे अश्व तवापि यज्ञ उपयुक्तत्वेन तद्वदेव तेषां लोकान् त्वमपि प्राप्स्यसि एवमाश्वास्य प्रोक्षणादिभिः संस्कृत्य देवा वा उदश्च स्वर्गं लोकन्न प्राजानंस्तमश्वः प्राजानात् यदश्वेनोदञ्चो यन्ति स्वर्गस्य

यह सब कुशकाशावलम्बन मात्र ही है। क्योंकि अज शब्द छाग में रूढ़ है। योग से रूढ़ि बलवान् होती है। मुख्यार्थ के संभव रहते गौणार्थ का स्वीकार करना उचित नहीं रहता।

पृ० १५६ पर ऐतरेय ब्राह्मण के वचनों को देकर जो यह बताने का प्रयत्न किया है कि 'समस्त पशु अयज्ञीय हैं, केवल पुरोडाश ही यज्ञीय है।' किन्तु वह प्रयत्न भी विफल है। क्योंकि पशुपुरोडाश की प्रशंसा में तात्पर्य रहने से स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है। अन्यथा तुम्हारे मत में भी उससे पूर्व तत्तत्पशुओं का आलभन सिद्ध रहने से पृथिव्यादि प्राकृत पशुओं के आलंभन से 'अधिदेव मुख्य यज्ञ होता है' इत्यादि कथन निराधार ही होगा। किञ्च—तत्तत् आलम्भनों के विधान, स्वार्थपर्यवसायी रहने से उनमें आलंभन की ही प्रधानता है। और अर्थवाद तो स्तुत्यर्थ रहने से उसका स्वार्थ में पर्यवसान नहीं है, अतः उसमें स्वार्थ की प्रधानता नहीं है। एवं च 'अतत्प्रधानों की अपेक्षा तत्प्रधानों की प्रबलता हुआ करती है, इस नियम के अनुसार तत्प्रधानविधि के विरुद्ध होने से अर्थवाद की

लोकस्य प्रज्ञात्यै वासोऽधिवासंहिरण्यमित्यश्वायोपस्तृणन्ति यथा नान्यस्मै पशवे तस्मिन्नेनमधिसंज्ञपयन्त्यरेवैनन्तत्पशुभिर्व्याकुर्वन्ति ।

'घ्नन्ति वा एतत्पशुं यदेनं संज्ञपयन्ति प्राणायस्वाहा व्यानायस्वाहेति संज्ञप्यमाने आहुतीर्जुहोति प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति तथाह्यस्यैतेनजीवतैव पशुनेष्टं भवति' (श० १३।२।८।१-२) इति श्रुतौ स्पष्टमश्वस्य संज्ञपनमुक्तम् ।

गवालम्भसम्बन्धेतु पूर्वं बहुप्रपञ्चितम् । अविमेधसम्बन्धेऽपि पूर्वमेव बहूक्तम् । चातुर्मासस्य वरुणप्रधासपर्वणि (श० ५।५।२।१५-१६ तथा कात्यायनश्रौतसूत्र ५।३।७) इत्यादिषु तथाविधानादेव पिष्टमयमेषमेष्यादिप्रयोगः ।

यत्तु अजशब्दं प्रकृत्य—अजतिसातत्येन गच्छतीत्यजः, न जायत इत्यजः, इति व्युत्पत्तिद्वये गतिमत्पदार्था आत्मपरमात्मप्रकृतयो गृह्यन्ते । सूर्यमण्डलस्य चतुर्दिक्षुभ्रमणशीलायाः पृथिव्या एवाजशब्दवाच्यता । अदृढाया भूमेरवेरिवकोमलत्वादवित्वम् । अकृष्टपच्याभूमिरजा । तथा च सोमप्रधानैर्गोमयादिभिः ऊषरभूमेः कृषियोग्यतासम्पत्तिरेव अग्नीषोमीयपश्वालम्भन(पृ० १५५)मिति, तदेतत्सर्वं कुशकाशावलम्बनम्, अजपदस्य छागेरूढत्वात् । रूढ्याच योगापहारात् । नहि सम्भवति मुख्यार्थत्वे गौणार्थाभ्युपगमो युक्तः ।

यत्तु—पुरुषं हवै देवाःपशुमालभन्त । तस्मादालब्धान्मेध उदक्रामत् । सोऽश्वं प्राविशत् । तस्मादश्वो मेध्योऽभवत् । अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जंत सकिंपुरुषोऽभवत् । तेऽश्वमालभन्त । सोऽश्वादालब्धादुदक्रामत् । स गां प्राविशत् । तस्माद् गौर्मेध्योऽभवत् । अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जंत सगौरमृगोऽभवत् । ते गामालभन्त स गोरालब्धादुदक्रामत् । सोऽविं प्राविशत् । तेनाविर्मेध्योऽभवत् । अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जंत सगवयोऽभवत् । तेऽविमालभन्त । सोऽवेरालब्धादुदक्रामत् । सोऽजंप्राविशत् । तस्मादजोमेध्योऽभवत् । अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जंत सउष्ट्रोऽभवत् । सोऽनेज्योकूतभामिवारमत । तस्मादेष एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमोयदजः । तेऽजमालभन्त । सोऽजादालब्धादुदक्रामत् स इमां प्राविशत् । तस्मादियं मेध्याऽभवत् । अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जंत स शरभोऽभवत् । ते उत्क्रान्तमेधा अमेध्याः पशवः । तस्मादेतेषां नाश्नीयात् । तमस्यान्वगच्छन्त । सोऽनुगतोव्रीहिरभवत् । तद्यत्पशौ पुरोडाशमनुनिर्वपन्ति समेधेन नः पशुनेष्टमसत्.......' (ऐ० ब्रा० २।८) 'सवा एष पशुरेवालभ्यते यत्पुरोडाशः' (ऐ० ब्रा० २।९) अत्र 'आलब्धादित्यस्य आलब्धुमुद्युक्तादित्यर्थः । 'अत्यार्जंत' इत्यस्य अतिशयेन वर्जितवन्त इत्यर्थः । इतिब्राह्मणमुद्धृत्योक्तम् 'याज्ञिकानां मतेन यशुयागात् पश्चात् क्रियमाणस्य पशुपुरोडाशस्य प्रशंसानेन क्रियते । किन्तु तावतापि स्पष्टमेतद्विज्ञायते यत् पुरुषः, अश्वः, गौः, अविः, अजः इतिसर्वेऽप्ययज्ञीयाः । केवलं पुरोडाश एव यज्ञीय इति' (पृ० १५६) तदपि यत्किञ्चित् । पशुपुरोडाशस्य प्रशंसायां तात्पर्येण स्वार्थे तात्पर्याभावात् । अन्यथा त्वन्मतेऽपि ततःप्राक् तत्तत्पशूनामालम्भनसिद्ध्या पृथिव्यादिप्राकृतपश्वालम्भनेनाधिदेवो मुख्यो यज्ञोभवतीत्याद्युक्तिर्निरालम्बनैव स्यात् ।

किञ्च तत्तदालम्भनविधानानि स्वार्थपर्यवसायित्वेन तत्प्रधानानि । अर्थवादस्तु स्तुत्यर्थेन स्वार्थापर्यवसायित्वादतत्प्रधानः । 'तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसीतिन्यायेन तत्प्रधानविधिविरुद्धत्वादर्थवादस्य दुर्बलत्वेन बाध एव

दुर्बलता सिद्ध हो जाती है, इसलिये उसका बाधित होना उचित ही है । किच—अर्थवाद को देखकर जबतक पश्वालंभन निषेध की कल्पना करेंगे उसके पूर्व ही प्रत्यक्ष जो आलभन विधि है, उससे उसका विधान हो जायगा । एवं च शीघ्र उपस्थित होने वाले विधानों से विलम्बोपस्थितिक निषेधों का बाध ही सिद्ध होता है । इससे अजादि पशुओं में जो तुम्हारी अमेध्यत्वोक्ति है, उसका खण्डन हो जाता है। क्योंकि निन्दावाक्य की प्रवृत्ति निन्द्य की निन्दा के लिये नहीं हुआ करती, अपितु विधेय की स्तुति के लिये हुआ करती है ।

यह जो कहा है कि 'यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः' नियम से पशु देवता के लिये ही पुरोडाश का विधान भी किया

युक्तः। किञ्च यावदनेनार्थवादेन पश्वालम्भननिषेधः परिकल्प्यते तावत्प्रत्यक्षालम्भनविधिभिः तद्विधानं सिद्ध्यतीति, शीघ्रोपस्थितिकैर्विधानैर्विलम्बोपस्थितिकस्य निषेधस्य बाध एव सिद्ध्यति। एतेन अजादीनान्मेध्यत्वोक्तिरपास्ता, नहि निन्दानिन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुमितिन्यायात्।

यत्तु—'यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाश' इति नियमानुसारेण छिद्रपिधानार्थं पुरोडाशो नोपपद्यते। यदि यज्ञे मारितः पशुः स्वर्गे जीवितो भवति पशोर्यान्यङ्गानि निष्कासितानि तेषां छिद्राणि पुरोडाशेन पूर्यन्ते, येन प्रमाणेन स्वर्गो लभ्यते तेनैव तदङ्गपूर्तेरपि सम्भवात्। यदि स्वर्गेऽपि स पशुरेवभवेत्तदा को विशेषः स्यात्? 'किं स्वर्गेऽपि पशवो भवन्ति' (पृ० १५६-१५७)। इत्यादिकं यदधिक्षिप्तं तत्तु नास्तिक्यमेव, ब्राह्मणप्रामाण्यानुपगमहेतुत्वात्। नहि श्रुत्युक्तेऽर्थे चोद्यं भवति? तत्तु श्रुतिरेवाह—'यद्देवत्यः पशुर्भवति तद्देवत्यं पुरोडाशमनुनिर्वपति तद्यत्पुरोडाशमनुनिर्वपति तद्यत्पुरोडाशमनुनिर्वपति। सर्वेषां वा पशूनां मेधो यद्व्रीहियवौ तेनैवैनमेतन्मेधेन समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मात् पुरोडाशमनु निर्वपति' (श० ३।८।३।१) या देवता पशोः पुरोडाशोऽपि तद्देवताकः कर्त्तव्यः पुरोडाशानुनिर्वापं पूर्णमासस्य पशोः समृद्धिहेतुत्वेन प्रशंसति-समर्धयतीति। सर्वपशूनां मेधरूपत्वमैतरेयब्राह्मणे 'पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त तस्मादालब्धान्मेध उदक्रामत्' (ऐ० ब्रा० २।८) इत्यादिनोक्तम्। त्वद्रीत्या तु पुरोडाशनिर्वापोऽपि निरर्थक एव। होमस्य वायुशुद्धिहेतुत्वेन देवतातृप्त्याद्यनुपगमात्। सिद्धान्ते तु पशोः समृद्धिहेतुत्वेन पुरोडाशनिर्वाप उक्तः। शास्त्रैकगम्येऽर्थे कुचोद्यस्य निरवकाशत्वात्।

'अथ यद्वपया प्रचर्य पुरोडाशेन प्रचरति मध्यतो वा इमां वपामुत्खिदन्ति मध्यत एवैनमेतेन मेधेन समर्धयन्ति कृत्स्नं करोति तस्माद् वपया प्रचर्यैतेन पुरोडाशेन प्रचरति' (श० ३।८।३।२)। पुरोडाशस्य पशुच्छिद्रपूर्तिप्रयोजनन्तु श्रुत्युक्तमेव। श्रुतिस्तु दर्शिता। वस्तुतस्तु पुरोडाशनिर्वापोऽयं पाशुककर्मप्रकरणगतत्वेन संस्कारार्थो न स्वतन्त्रः।

'अश्वालम्भं गवालम्भं सन्यासं पलपैतृकम्। देवराच्च सुतोत्पत्ति कलौ पञ्च विवर्जयेत्।' इति वचनन्तु बहुनिबन्धकृच्चर्चितत्वात् प्रमाणभूतमेव। यत्तु 'आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः। नालम्भाय प्रक्रियन्तेस्म।' (चरकसंहिताचिकित्सास्थान १९।४) इत्यतीसाररोगोत्पत्तिप्रसङ्गे 'अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण

है। याज्ञिकजन इस पशुपुरोडाश को छिद्र अपिधान (काटे गये अंगों के छिद्र को ढकने पूर्ण करने) के लिये मानते हैं। उनका कहना है कि जब यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग में जीवित होता है, तब उस पशु के शरीर से जो निकाले गये अंगों के छिद्र हैं, उनकी पूर्ति इस पशुपुरोडाश से होती है। वस्तुतः यह कल्पना मात्र है। क्योंकि यदि यज्ञ मे हुत पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तो क्या उसीके प्रभाव से वह सर्वाङ्गपूर्ण न हो जायेगा? और यज्ञ-हत पशु को स्वर्ग में भी यदि पशुयोनि ही प्राप्त होती है, तो वह उसे यहाँ भी प्राप्त ही है, फिर विशेषता क्या हुई? साथ ही यह भी चिन्त्य है कि क्या स्वर्ग में पशु भी होते हैं? पृ० १५६-१५७।

इत्यादि जो अधिक्षेप युधिष्ठिर ने किया है, उसमें हेतु एकमात्र उसका नास्तिक्य (नास्तिकता) ही है। वेद का जो दूसरा भाग 'ब्राह्मण' है, उसे प्रमाण न मानने के कारण ही युधिष्ठिर की यह नास्तिकता है। जैसे सैनिक शासन (मिलिट्रि-आर्डर) में 'क्यों' (चोद्य) इस प्रकार प्रश्न करना मूर्खता समझी जाती है, वैसे ही भगवती श्रुति के द्वारा बताये गये अर्थ में कुचोद्य करते बैठना भी निरी मूर्खता ही है। शतपथब्राह्मण बता रहा है कि 'जो देवता, पशु की हो, पुरोडाश भी उसी देवता का होता है। ऐतरेय ब्राह्मण समस्त पशुओं को मेध्य (यज्ञ के योग्य) बता रहा है। पशु की समृद्धि का कारण होने से पुरोडाशानुनिर्वपण की प्रशंसा की गई है। तुम्हारी दृष्टि से तो पुरोडाश निर्वाप भी निरर्थक ही है। होम (हवन) को तो तुमने वायुशुद्धि का कारण माना है, उससे देवता की तृप्ति को तो तुम मानते नहीं हो। सिद्धान्त तो यही है कि पशु की समृद्धि का कारण होने से पुरोडाशनिर्वाप करने के लिये कहा गया है। शास्त्रैकगम्य अर्थ में कुचोद्य का अवसर ही कहाँ होगा?। पुरोडाश से पशु छिद्रपूर्ति करना तो श्रुति ने ही बताया है। वस्तुतस्तु यह पुरोडाशनिर्वाप, पाशुक-कर्मप्रकरणगत होने से संस्कारार्थ है, स्वतन्त्र नहीं है।

'अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्। देवराच्च सुतोत्पत्ति कलौ पञ्च विवर्जयेत्' इस वचन की अनेक निबन्धकारों ने चर्चा की है, इसलिये उसे प्रमाण ही मानना चाहिये। और जो 'आयुर्वेदीय चरकसंहिता चिकित्सास्थान १९।४ में अतीसार रोग की उत्पत्ति प्रसंग

यजता पशूनामभावात् गवालम्भः प्रवर्तितः……अतिसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे' (चरकसंहिताचिकित्सास्थान १९।४)। एतेन विज्ञायते यदादिकाले यज्ञे पशवो न हिंस्यन्तेस्मेति' तदपि यत्किञ्चित्, अपौरुषेयमन्त्रब्राह्मणात्मकवेदविरुद्धस्यार्षवचनस्यपि तदानुगुण्येनैव व्याख्येयत्वात्। पूर्वोक्तरीत्या ब्राह्मणेषु ऋग्वेदसंहितायां प्रथममण्डले १६२तमसूक्ते च स्पष्टमेवाश्वादिपशूनामश्वमेधादावालम्भ उक्तः। ते मन्त्रास्तानि ब्राह्मणानि चेदनादीनि तदाऽवश्यं तदनुसारेण तत्सिद्ध्यति, सृष्ट्यारम्भे तत्प्रचारो न भवतीत्येव वक्तुं शक्यते। यथा वर्णाश्रमव्यवस्थाया वेदोक्तत्वादनादित्वेऽपि सृष्ट्यादौ स्वल्पप्रचारः, तथैव कृतयुगे प्रायेण सर्वेषां ब्रह्मविद्वरिष्ठत्वात् ब्रह्मनिष्ठाया एव प्राधान्यमासीत्। गवां तु सर्वथा अघ्न्यत्वात् तद्वधाभावः पूर्वमुक्त एव। अतीसारहेतुत्वादपि तद्वधो निषिद्धो वेदितव्यः।

एतेन 'पश्वालम्भनाभावे यज्ञपूर्तिःपुरोडाशेन' (पृ० १५७) इत्यादिकमपि खण्डितं वेदितव्यम्, पश्वालम्भनस्योत्सर्गस्य च शास्त्रैकसमधिगम्यत्वेन तदपलापासंभवात्। यत्रोत्सर्गविधानं तत्रोत्सर्गस्य यत्रालम्भनविधानं तत्रालम्भनस्यैव युक्तत्वात्। यदपि च—'पिष्टपशुभिरेव पाशुककर्मसम्पत्तिबोधनं तदपि वचनानुसारेणैवेति मन्तव्यम्। यत्र प्रतिनिधिविधानं स्यात्तत्रैवतस्य युक्तत्वात्। तत्रापि यः प्रथमकल्पे प्रभुर्नस्यात् तस्यैव कृतेऽनुकल्पस्यादरो नान्यस्य। तथा च मनुः—'प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते। नसाम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम्।' (म० ११।३०) इतिमनूक्तेः। यत्त्वितिहासबलेन वैदिकपाशुकयज्ञविरोध उक्तः, तदपि नक्षोदक्षमम्। प्राचीनवैदिकवाङ्मयेतिहासाधारेण त्वदितिहासोऽशुद्ध इति किमु वक्तव्यम्। आधुनिकेतिहासदृष्ट्यापि त्वदितिहासस्य सर्वथाप्यशुद्धत्वात्। इदानीं यावत् सर्वैरास्तिकैर्विद्वद्भिः मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य नित्यत्वमपौरुषेयत्वञ्चाभ्युपेयते। यदि मन्त्राणां ब्राह्मणानाञ्चानादित्वं तदापश्वादियागस्य को ह्यमूढः सादित्वं वक्तुं प्रभवेत्। अन्यत्तु सर्वं पिष्टपेषणमेव। उपरिचरवसुसम्बन्ध्याख्यानस्य गवालम्भाभास-

में किये गये वर्णन से स्पष्ट है कि आदिकाल में यज्ञ में किसी भी पशु की हिंसा नहीं होती थी' इत्यादि पृ० १५३-५४ पर जो लिखा है, वह भी निःसार है। क्योंकि अपौरुषेय मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद के विरुद्ध यदि कोई आर्षवचन आपाततः प्रतीत होता है तो उसकी व्याख्या वेद के अनुगुण ही करनी चाहिये। ब्राह्मण और चरकसंहिता के प्रथम मण्डल के १६२वें सूक्त में स्पष्ट बताया गया है कि 'अश्वमेधादि में अश्वादि पशुओं का आलम्भ होता है।' वे मन्त्र और वे ब्राह्मण यदि अनादि, अपौरुषेय हैं, तो अवश्य ही तदनुसार उक्त कथन सिद्ध हो जाता है। हाँ, इतना ही कह सकते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में उसका अधिक प्रचार नहीं रहा होगा। जैसे वर्णाश्रमव्यवस्था वेदोक्त है, अनादि है, तथापि सृष्टि के आदिकाल में उसका प्रचार स्वल्प था, उसी तरह कृतयुग में प्रायः सभी ब्रह्मविद्वरिष्ठ थे, अतः ब्रह्मनिष्ठा की ही प्रधानता थी। गौ तो सर्वथा अघ्न्या (अवध्या) है, अतः उसके वध का अभाव पूर्व कह ही चुके हैं और अतीसार का हेतु होने से भी उसके वध को निषिद्ध समझ लेना चाहिये।

अतः पृ० १५७ पर जो कहा है कि 'पश्वालंभनके अभाव में यज्ञपूर्ति पुरोडाश से होती है।' उसका भी खण्डन हो जाता है। कहां पश्वालंभ करना चाहिये और कहां पशु का उत्सर्ग करना चाहिये, यह सब एकमात्र शास्त्रैकसमधिगम्य है, अतः उसका अपलाप करना संभव नहीं। जहाँ पर पिष्टपशु से ही पाशुककर्मानुष्ठान करना बताया गया है, वह वचन के अनुसार ही बताया गया है, इसे भूलना नहीं चाहिये। जहां प्रतिनिधि का विधान होगा, वहीं पर उसका औचित्य रहता है। उसमें भी जो व्यक्ति प्रथमकल्प का अनुष्ठान करने में समर्थ न हो, उसी के लिये अनुकल्प का आदर किया जाता है, अन्य के लिये नहीं। (मनु० ११।३०) ने भी इसी बात को कहा है। इतिहास का आश्रय लेकर वैदिकपाशुकयज्ञ का जो विरोध बताया है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्राचीन वैदिक वाङ्मय के इतिहास को देखते हुए तुम्हारा इतिहास अशुद्ध है, यह सुनिश्चित है। तथा आधुनिक इतिहास की दृष्टि से भी तुम्हारा इतिहास सर्वथा अशुद्ध है। आजतक सम्पूर्ण आस्तिक विद्वान् लोग मन्त्र-ब्राह्मणात्मकवेद को नित्य और अपौरुषेय मानते चले आ रहे हैं। ऐसी स्थिति में कौन विचारशील व्यक्ति पश्वादियाग को सादि कहेगा। अन्य बातें तो सब पिष्टपेषण के ही तुल्य हैं। पूर्वोक्त आख्यान का और गवालम्भाभासवचन आदि का समाधान पूर्व कर ही चुके हैं। युधिष्ठिर यदि

वचनस्य च समाधानं पूर्वमेवोक्तम् । युधिष्ठिरः स्याद्वादमञ्जरीकारस्य जैनाचार्यस्य सम्मतिं मनुते चेत्, तदा तु तद्रीत्या तेन वेदाः परमेश्वरश्च त्याज्या भवेयुः । तद्रीत्या तदभ्युपगमस्य मौर्ख्यप्रयोजकत्वात् ।

यत्तु—'पञ्चतन्त्रे एतेऽपि याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति । तत्र किलैतदुक्तम् । 'अजैर्यष्टव्यम्' अजाव्रीहयः सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते, न पुनः पशुविशेषः ।' (पृ० १६८) इत्यादिकम्, तदपि निवृत्तिमार्गप्रशंसापरत्वेन नेतव्यम्, अश्वमेधादिविधानाविरोधात् । 'अशुद्धमितिचेन्न् शब्दात्' इति ब्रह्मसूत्रस्य श्रीभाष्ये श्रीरामानुजाचार्येण पशुयागस्य समर्थितत्वाच्च ।

यदपिच—लभलम्भ इतिस्वतन्त्रधातुद्वयकल्पनया यत्किञ्चित् प्रलपितं तदप्यसङ्गतम्, तथात्वेऽनेकेषां पाणिनिसूत्राणां नैरर्थक्यापातात् । तथाहि आङ्पूर्वकात् लभधातोर्भावे ल्युटि सति आलम्भनम्, आलभनमिति रूपद्वयं भवति । 'उपसर्गात् खल्घञोः' इति पाणिनिसूत्रे नुम्विधायकम् । तत्र 'लभेश्च' (पा० सू० ७।१।६४) इत्यनेनैव खल्घञोरपि नुमः सिद्धौ 'उपसर्गात् खलघञोः' इति सूत्रं नियामकं भविष्यति 'सिद्धौ सत्यामारभ्यमाणो विधिर्नियमाय कल्पते' इतिसिद्धान्तात् । नियमश्चोभयथा भविष्यति । 'उपसर्गादेव लभेर्नुम्स्यात् खल्घञोः' इतिप्रथमः । तेन ईषत्प्रलम्भः, सुप्रलम्भः, उपालम्भ इतिप्रयोगाः सिध्यन्ति । नियमात् नुमो व्यावृत्तिः 'ईषल्लभः, लाभः इत्यनयोर्भवति । अस्मिन् पक्षे आलम्भनमित्यत्र 'लभेश्च' (पा० सू० ७।१।६४) इत्यनेन नुम् स्यादेव ।

द्वितीयो नियमः–'भावकर्मान्यतरार्थके अजादौ कृत्प्रत्यये परतः उपसर्गात्परस्य लभेर्नुम् स्यात् तर्हि खल्घञोरेव । अतश्च भावे ल्युटि आलभनमिति सिद्धयति ।

'क्षय्यजय्यौशक्यार्थे' (पा० सू० ६।१।८१) इतिसूत्रमुद्दिश्य महाभाष्यकृता उभयथा नियमः प्रदर्शितः ।

स्याद्वादमञ्जरीकार जैनाचार्य की सम्मति मानते हों तो उनके मतानुसार वेदों को और परमेश्वर को तुम्हें भी त्यागना होगा । क्योंकि उनके नियम के अनुसार विरुद्ध सिद्धान्त का स्वीकार करना तो मूर्खता ही कहलायेगी ।

पृ०१६८ पर यह जो कहा है कि पञ्चतन्त्र में 'ये याज्ञिक भी यज्ञ कर्म में पशुओं को मारते ;हैं, वे मूर्ख वेदवचन के ठीक अर्थ को नहीं जानते । वेद में कहा है—'अजों से यज्ञ करना चाहिये' । अज सात वर्ष पुराने व्रीहि कहे जाते हैं, न कि पशुविशेष (बकरा) ।' पञ्चतन्त्र के उस उल्लेख को निवृत्तिमार्ग की प्रशंसापरक समझना चाहिये । अन्यथा अश्वमेधादि के विधान से विरोध होगा । 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्'—(ब्र० सू० ३।१।२५) सूत्र के श्रीभाष्य में श्रीरामानुजाचार्य ने पशुयाग का समर्थन किया है ।

पृ० १३१ तथा १६९ पर जो लभ और लम्भ दो स्वतन्त्र धातुओं की कल्पना करके जो कुछ प्रलाप किया है, वह भी असंगत ही है । क्योंकि वैसा मानने पर पाणिनि के अनेक सूत्र निरर्थक हो जाएँगे । तथाहि आङ्पूर्वक लभ धातु से भाव अर्थ में ल्युट् करने पर 'आलम्भनम्, और आलभनम्' ऐसे दो रूप निष्पन्न होते हैं । 'उपसर्गात् खल्घञोः'—(पा०सू०७।१।६७) यह सूत्र नुम्-विधायक है । किन्तु 'लभेश्च' (पा० सू० ७।१।६४) सूत्र से ही नुम् हो सकने पर भी (७।१।६७) सूत्र नियामक हो जायगा, क्योंकि 'सिद्धौ सत्यामारभ्यमाणो विधिर्नियमाय कल्पते' यह सिद्धान्त है । नियम उभयथा होगा । एक प्रकार तो यह होगा कि 'उपसर्गादेव-लभेर्नुम् स्यात् खल्घञोः' । इस नियम के अनुसार 'ईषत्प्रलम्भः', 'सुप्रलम्भः', उपालम्भः', ये प्रयोग सिद्ध होंगे । नियम होने से नुम् की जब व्यावृत्ति होगी तब 'ईषल्लभः', 'लाभः' इन प्रयोगों की सिद्धि होगी । इस पक्ष में 'आलम्भनम्' में 'लभेश्च' (पा० सू० ७।१।६४) से नुम् होगा ही ।

नियम का दूसरा प्रकार यह होगा—'भावकर्मान्यतरार्थ के 'अजादौ कृत्प्रत्यये परतः' उपसर्गात् परस्य लभेर्नुम्स्यात् तर्हि खल्घञोरेव' । अतः भावेल्युट् करने पर 'आलभनम्' रूप सिद्ध होगा ।

'क्षय्यजय्यौशक्यार्थे' (पा० सू० ६।१।८१) इस सूत्र को उद्देश्यकर महाभाष्यकार ने उभयथा नियम प्रदर्शित किया है

(१) 'शिज्योरेवैचः,' (२) 'शक्यार्थे एव,' इतिच। एष् प्रकारः प्रकाशित 'एचोऽयवायावः' (पा० सू० ६।१।७८) इतिसूत्रेभाष्ये। नहि मया कश्चन नूतनः पन्थाः प्रदर्शितः। अस्यां पद्धतौ नहि किमपि वैमत्यम् 'आलम्भ्या गौः, 'आलम्भ्या वडवा' इतितु 'आङोयि' (पा० सू० ७।१।६५) इत्यनेन सिद्धयत्येव। चरकसंहितायां प्रयुक्तः 'समालभनीयाः' इतिप्रयोगः साधुरेव द्वितीयनियमपक्षतः। 'अग्निष्टोम आलभ्यः' इतिकाशिकाप्रयोगोऽपि साधीयानेव। लब्धुं योग्यःशक्यो बालभ्यः। 'पोरदुपधात्' (पा० सू० ३।१।९८) इतियत्प्रत्ययः पूर्वं कार्यः। पश्चात् आङुपसर्गेण सम्बन्धः। यथा प्रकृष्टोभावः-प्रभावः, इत्युक्तम् सिद्धान्तकौमुद्याम् 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे, (पा० सू० ३।३।२४) इतिसूत्रे। अनेन हि सूत्रेण श्रि-णी-भू-धातुभ्योऽनुपसृष्टेभ्यो घञ् प्रत्ययो भवति। प्रभाव इति कथं सिद्धयति ? तदोच्यते—भवनंभावः इतिभावशब्दं प्रसाध्य प्रकृष्टो भाव इतियोजना कार्या। तथैवात्रापि लभ्यइति साधयित्वा आङुपसर्गो योज्यः।

यदि लभिधातुरन्यः कल्प्यते तदा 'लभेश्च' (पा० सू० ७।१।६४) 'आङोयि' (पा० सू० ७।१।६५) 'उपात्प्रशंसायाम्' (पा० सू० ७।१।६६) 'उपसर्गात्खल्घञोः' (पा० सू० ७।१।६७) इत्यादीनि सर्वाणि पाणिनीयसूत्राणि निष्फलानि प्रसज्येरन्। नुम्घटितानां प्रयोगाणां लभिधातुनैव सिद्धेः, अतः प्रकृत्यन्तरकल्पने भगवतः पाणिनेः तात्पर्यं नास्तीत्येव सिद्धान्तः। यदुक्तम्–भट्टपादस्यानीश्वरवादो न्यायमञ्जरीकारेणोद्धृतम्, तदप्यशुद्धम्, तादृशानीश्वरवादस्येश्वरवादिरपि प्रतिपादितत्वात्। न्यायमञ्जरीकारस्य वचनानित्विमानि, तथाहीश्वरसद्भावो न प्रत्यक्षप्रमाणकः, नह्यसावविज्ञाने सर्पादिरिवभासते।

नच मानसविज्ञानसंवेद्योऽयं सुखादिवत्। योगिनामप्यप्रसिद्धत्वान्तप्रत्यक्षगोचरः। प्रत्यक्षप्रतिषेधेन तत्पूर्वकमनुमानमपाकृतम्। अविज्ञाते तस्मिन् व्याप्त्यनुपग्रहात्। नच सामान्यतो दृष्टम् लिङ्गमस्यास्ति किंचन। क्षित्यादीनां तु कार्यत्वमसिद्धं सुधियः प्रति। शैलादिसन्निवेशोऽपि नैव कर्त्रनुमापकः। कर्तृपूर्वककुम्भादिसन्निवेशविलक्षणः॥ दृष्टः कर्त्रविनाभावी सन्निवेशो हि यादृशः। तादृङ्नगादौ नास्तीति कार्यत्ववदसिद्धता॥ सिद्धत्वेऽपि नसिद्धत्वमनैकान्त्यात्तृणादिभिः। अकृष्टजातैः कर्त्तारमन्तरेणाप्तजन्मभिः॥ तेषामुत्पत्तिसमये प्रत्यक्षत्वं न लक्ष्यते। कर्त्तदृश्यत्वमप्येवमभावोऽनुपलब्धितः॥ नच क्षितिजलप्रायदृष्टहेत्वतिरेकिणः। कस्यापि कल्पनं तेषु युज्यतेऽतिप्रसङ्गतः॥ तेन कर्त्तुरभावेऽपि सन्निवेशादिदर्शनात्।

(१) 'क्षिज्योरेवैचः' (२) 'शक्यार्थे एव'। 'एचोऽयवायावः' (पा० सू० ६।१।७८) इस सूत्र के भाष्य में इस प्रकार को प्रकाशित किया गया है। यह कोई नवीन मार्ग नहीं हैं और इस पद्धति में किसी की कोई विप्रतिपत्ति भी नहीं है। 'आलम्भ्या गौः, 'आलम्भ्या वडवा' ये रूप 'आङो यि' (पा० सू० ७।१।६५) सूत्र से सिद्ध होते ही हैं। चरक संहिता में प्रयुक्त 'समालभनीयाः यह प्रयोग भी द्वितीयनियमपक्ष के अनुसार साधु ही हैं। 'अग्निष्टोम आलभ्यः' यह काशिका प्रयोग भी साधु है ही। 'लब्धुं योग्यः शक्यो वा लभ्यः', यहाँ पर 'पोरदुपधात्' (पा० सू० ३।१।९८) सूत्र से 'यत्' प्रत्यय पहले कर लेना चाहिये। पश्चात् 'आङ्' उपसर्ग से सम्बन्ध करना चाहिये। जैसे 'प्रकृष्टो भावः प्रभावः' यह सिद्धान्तकौमुदी में 'श्रिणी भुवोऽनुपसर्गे' (पा० सू० ३।३।२४) सूत्र पर बताया है। उक्त सूत्र से अनुपसृष्ट धातुओं से 'घञ्' प्रत्यय होता है। तब 'प्रभावः' कैसे सिद्ध होगा ? उत्तर यह है कि 'भवनं भावः' इस प्रकार 'भाव' शब्द पहले साध लिया जाय पश्चात् 'प्रकृष्टो भावः—प्रभावः किया जाय। उसी तरह यहाँ भी 'लभ्यः' बनाकर पश्चात् 'आङ्' उपसर्ग जोड़ना चाहिये।

यदि एक अन्य 'लभि' धातु की कल्पना की जाती है तो 'लभेश्च '(७।१।६४), 'आङोयि' (७।१।६५), 'उपात्प्रशंसायाम्' (७।१।६६), 'उपसर्गात्खल्घञोः' (७।१।६७) इत्यादि सभी सूत्र निरर्थक होने लगेंगे। नुम्घटितप्रयोगों की सिद्धि 'लभि' धातु से ही हो जाती है। अतः एक और अन्य प्रकृति की कल्पना करने में भगवान् पाणिनि का तात्पर्य-कदापि नहीं है, यही सिद्धान्त है।

पृ० ४७ पर जो कहा है कि 'जयन्त ने न्यायमञ्जरी में भट्टपाद कुमारिल के अनीश्वरवाद का सोद्धरण खण्डन किया है।' किन्तु यह भी अशुद्ध है। वैसे अनीश्वरवाद का प्रतिपादन तो अन्य ईश्वरवादियों ने भी किया है। न्यायमञ्जरीकार के वचनों को

अनैकान्तिकताहेतोर्विप्रत्वे पुरुषत्ववत् ॥ किञ्च व्याप्त्यनुसारेण कल्प्यमानः प्रसिद्ध्यति । कुलालतुल्यः कर्तेति स्याद्विशेषविरुद्धता ॥ व्यापारवानसर्वज्ञः शरीरी क्लेशसंकुलः । घटस्य यादृशः कर्त्ता तादृगेव भवेद्भवः ॥ विशेषसाध्यतायां तु साध्यहीनं निदर्शनम् । कर्तृसामान्यसिद्धौ तु विशेषावगतिः कुतः ॥ अशरीरस्य कर्तृत्वं दृश्यते नहि कस्यचित् । देहोप्युत्पत्तिमानस्य देहत्वाच्चैत्रदेहवत् ॥ स्वयं निजशरीरस्य निर्माणमितिसाहसम् । कर्त्रन्तरकृते तस्मिन्नीश्वरानन्त्यमापतेत् ॥ व्यापारेण जगत्सृष्टिः कुतो युगशतैरपि ॥ तदिच्छां चानुवर्तन्ते न जडा परमाणवः । अवाप्तसर्वानन्दस्य रागादिरहितात्मनः । जगदारभमाणस्य न विद्मः किं प्रयोजनम् ॥ सर्गात्पूर्वं हि निःशेषक्लेशसंस्पर्शवर्जिताः । नास्य मुक्ता इवात्मानो भवन्ति करुणास्पदम् ॥ करुणामृतसंसिक्तहृदयो वा जगत्सृजन् । कथं सृजति दुर्वारदुःखप्राग्भारदारुणम् ॥ किमीश्वरतयेश्वरो यदि न वर्त्तते स्वेच्छया । नहि प्रभवतां क्रिया विधिषुहेतुरन्विष्यते ॥ नच क्रीडापि निःशेषजनतातङ्ककारिणी । आयासबहुला चेयं कर्त्तुं युक्ता महात्मनः ॥ तस्मान्न जगतां नाथः ईश्वरः स्रष्टा संहर्त्ता भवति । नह्यस्य म्रियमाणेषु पूर्यन्ते जन्तुकर्मसु । सकृत्समस्तत्रैलोक्यनिर्मूलनमनोरथाः ॥ कर्मोपरमपक्षे तु पुनः सृष्टिर्न युज्यते । न कर्मनिरपेक्षो हि सर्गवैचित्र्यसंभवः । उद्भवाभिभवौ तेषां स्यातां चेदीश्वरेच्छया । तर्हि सैवास्तु जगतां सर्गसंहारकारणम् ॥

इत्येवमादिरीत्या न्यायमञ्जरीकारो जयन्तभट्ट ईश्वरसिद्धौ पूर्वपक्षमुपस्थापितवान् । सच न केवलं भट्टपादोक्त एव । विधिविवेकन्यायकणिकादावपि तादृशस्य पक्षस्य प्रतिपादनात् । तथाच नेदं भट्टपादस्यैवोद्धरणम् ।

नचेदृशः पक्ष ईश्वरवादिभिर्नोपस्थाप्यते शास्त्रयोनित्वाधिकरणे ईश्वरवादिभिरुत्तरमीमांसकैरपि परमेश्वरस्य शास्त्रैकगम्यत्वसिद्धयेऽनुमानसिद्धेश्वरनिराकरणदर्शनात् । कल्पतरुकारादिभीरामानुजाचार्यादिभिश्चैवमेवानुमानसिद्धस्येश्वरस्य निराकरणं कृतम् । नच, तावतैव तेऽनीश्वरवादिनः, वेदैकगम्येश्वरस्य तैरभ्युपगमात् । अनुमानानि च युक्तिरूपतया असंभावनानिवृत्त्यर्थं तैरप्यभ्युपगतान्येव । असंभाविते चार्थे प्रमाणप्रवृत्तिः 'न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पन्नेव यो हतः ।' इतिन्यायात् । अतोलक्षणैर्युक्तिभिश्च संभाविते ऽर्थएव प्रमाणानि प्रवर्त्तन्ते । सर्वथाऽपि मीमांसकाः वैदिकाः वेदसिद्धमीश्वरं मन्यन्ते, तथापि कर्मणि शुद्धातिशयोत्पादनाय कचिद्देवता अपि शब्दरूपा एव तैरङ्गीकृताः । न च वेदान्ताश्च वेदोपनिषदाः । सृष्टिसंहाराभावान्नतदर्थत्वेनेश्वरोऽपेक्षणीयः । फलञ्च कर्मभिरेव संपद्यते । परमेश्वरप्रतिपादकानि वचनान्यर्थवादरूपाण्येवेति वदन्तो दृश्यन्ते । कर्मनिष्ठायां बुद्धिशुद्धिवैराग्यादिक्रमेण भगवदाराधनादिक्रमेण च ब्रह्मात्मसाक्षात्कारः संभवत्येव । तत एवोक्तं श्रीभागवतादौ—

नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः ।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं लभते रोचनार्था फलश्रुतिः ॥ (श्री० भा० म० पु०)

मूल संस्कृत में दिया गया है ।

न्यायमञ्जरोकार जयन्तभट्ट ने ईश्वरसिद्धि में अनेक वचनों को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया है । उस पूर्वपक्ष में केवल भट्टपादोक्त वचनों को ही नहीं लिया है, अपितु विधिविवेक, न्यायकणिका आदि ग्रन्थों में भी उसी प्रकार कहा गया है । ईश्वरवादियों के द्वारा उस प्रकार का पक्ष नहीं उपस्थापित किया जाता, सो नहीं । शास्त्रयोनित्वाधिकरण में ईश्वरवादी उत्तरमीमांसकों के द्वारा भी परमेश्वर को शास्त्रैकगम्य सिद्ध करने के लिये अनुमानसिद्ध ईश्वर का निराकरण किया गया है । कल्पतरुकार आदिने, रामानुजाचार्य आदि ने भी इसी प्रकार अनुमान सिद्ध ईश्वर का निराकरण किया है । इतने करनेमात्र से उन्हें अनीश्वरवादी नहीं कहा जाता । वेदैकगम्य ईश्वर को वे मानते हैं । अनुमान भी युक्तिरूप होने से उन्हें असंभावना निवृत्यर्थ सभी लोग मानते ही हैं । असंभावित अर्थ मे प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हुआ करतो । एवं च लक्षणों से तथा युक्तियों से संभावित अर्थ में भी प्रमाणों की प्रवृत्ति हुआ

संभावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साधयेत हेतुना ।
न तस्य हेतुभिस्त्राणं

धर्मोऽधर्मश्च वेदैकलभ्यो वेदश्च मन्त्रब्राह्मणरूप एव। अग्निहोत्रादिरूपो यज्ञोऽपि ब्राह्मणोक्त एव। अतः पूर्वमृजवो यज्ञा आसन् पश्चाद्वाह्याडम्बरः प्रधानतो जात इत्येतत्सर्वमुन्मत्तप्रलपितमेव। अनसो यज्ञोपयोगिव्रीहियवादिग्रहणं कर्त्तव्यमिति सहेतूपपादितमेव। शतपथब्राह्मणेन तदप्रामाण्ये पौर्णमासेष्टिनिर्वाहार्थं द्वादशमुष्टि परिमितानामेव व्रीहीणां यवानां वा ग्रहणमपेक्षितमिति कथनमपि निर्मूलमेव स्यात्।

वितस्तिपरिमितैरप्यनोभिर्हविग्रहणपारम्पर्यमपि याजुषामनुरोधेनैव, तत्रानसस्तदवयवानाञ्चोल्लेखात्। तेनात्र मन्त्रार्थानुसरणमेव न बाह्याडम्बरोऽभिप्रेतः। यत्तु प्राचोना यज्ञाः सर्वथाऽवैदिकतत्त्वासंस्पृष्टा उत्तरकाले दर्शपूर्णमाससदृशेषु विशुद्धयज्ञेष्वप्यवैदिकतत्त्वसम्मिश्रणम्, इति तदप्यशुद्धम्, मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वस्यासकृदुक्तत्वेन मन्त्रब्राह्मणप्रतिपादितस्य कस्याप्यंशस्य क्वापि यज्ञे संमिश्रणाभावात्। भूमावा अनः। भूमाहि वा अनस्तस्माद्यदावहुभवत्यनो वाह्यमभूदित्याहुस्तस्माद्भूमानमेवैतदुपैति तस्मादनस एव गृह्णीयात्' (श० १।१।२६) यज्ञो वा अनः। यज्ञोहिवा-अनस्तस्मादनसएव यजूंषि सन्ति न कौष्ठस्य न कुम्भ्यैभस्त्रायैहस्मर्षयो गृहणन्ति तदृषीन् प्रतिभस्त्रायै यजूंष्यासुस्तान्येतर्हि प्राकृतानि यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमा इति तस्मादनस एव गृह्णीयात्? (श० १:१।२७) इति श्रुतेः। यस्मादनस एव ग्रहणं तस्माद् ग्रहणमन्त्राः 'धूरसि' (वा० सं० १।८) 'अह्रुतमसि हविर्धानम्' (वा० सं० १।९) इत्यादयोऽनोऽवयवलिङ्गा दृश्यते।

करती है। सर्वथापि मीमांसक वैदिक हैं, अतः वे वेदसिद्ध ईश्वर को मानते हैं। तथापि कर्म में श्रद्धातिशय के उत्पादनार्थ क्वचित् देवताओं को भी शब्दरूप ही उन्होंने माना है। मीमांसा सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि और संहार का अभ्युपगम न होने से उसके कर्तृत्व का भार ईश्वर पर थोपने की मीमांसकों को आवश्यकता ही नहीं हुई, इस कारण ईश्वर की चर्चा की उन्हें अपेक्षा ही नहीं थी। फलप्रदातृत्व का भी भार कर्म पर ही है, ईश्वर पर नहीं। अतः उसकी चर्चा का कोई अवसर ही नहीं था। इसी कारण ईश्वरप्रतिपादक वचनों को अर्थवादरूप ही माना गया है। जिनका तात्पर्य कर्म में ही रहने से कर्म की प्रधानता कर्म में श्रद्धोत्पादनार्थ सिद्ध हो पाती है। इस रीति से कर्मनिष्ठा होने पर बुद्धिशुद्धि, वैराग्यादि के क्रम से और भगवदाराधनादि के क्रम से अवश्य ही ब्रह्मात्मसाक्षात्कार संभव हो जाता है। इसी बात को श्रीमद्भागवत में भी बताया गया है।

धर्म और अधर्म दोनों एकमात्रवेद से हो जाने जाते हैं। और वेद तो मन्त्र-ब्राह्मणरूप ही हैं। अग्निहोत्रादिरूप यज्ञ भी ब्राह्मणोक्त ही है। अतः 'पूर्व समय में ऋजुयज्ञ थे, पश्चात् उन यज्ञों में वाह्याडम्बर की प्रधानता हो गई।' किन्तु यह कथन भी उन्मत्त प्रलपित के तुल्य ही है। 'अन्न से भरे शकट से यज्ञोपयोगी ब्रीहि-यवादिका ग्रहण करे' इस बात का सहेतुक उपपादन किया जा चुका है। शतपथ के द्वारा उसका अप्रामाण्य प्रदर्शित करने पर पौर्णमासेष्टि के लिए १२ मुष्टि परिमित ब्रीहि या यवों का ही ग्रहण स्वीकार किया गया है।' किन्तु यह कथन भी निर्मूल है।

वितस्तिपरिमित शकट से हविर्ग्रहण की परंपरा भी यजु के अनुरोध से ही है। उसी में शकट और उसके अवयवों का उल्लेख किया गया है। अतः मन्त्रार्थ का अनुसरणमात्र ही किया गया हैं, उसमें बाह्याडम्बर कथमपि अभिप्रेत नहीं है।

यह जो कहा है कि 'प्राचीन यज्ञ, अवैदिक तत्वों से सर्वथा असंस्पृष्ट रहे, किन्तु आगे चलकर उत्तरकाल में दर्शपूर्णमास सदृश विशुद्ध यज्ञों में भी अवैदिक तत्वों का सम्मिश्रण हुआ।' किन्तु वह भी अशुद्ध है। क्योंकि मन्त्र-ब्राह्मण दोनों मे वेदत्व का होना बार बार बताया जा चुका है। मन्त्र-ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य किसी का कोई भी अंश किसी भी यज्ञ में संमिश्रित नहीं है।

यह जो कहा है कि 'अंगादङ्गात् संभवसि' इस मन्त्र से और 'अविशेषेण पुत्राणां दायः' इस मनुवचन से तथा यास्क ने भी पुत्रों और पुत्रियों में भेदभाव का अपनोदन किया है। किन्तु श्रौतयज्ञों मे तो पुत्रियों के प्रति हीनभावना का ही प्रदर्शन किया हैं। जैसे—प्रयाजसंज्ञक यागों में 'एको मम, एका तस्य, योऽस्मान् द्वेष्टि, यंच वयं द्विष्मः'—(श० प० १।५।४।१२)। वह कामना (इच्छा) उत्तरोत्तर प्रयाजों में बढ़ती हुई दिखाई देती है। यहां अपने लिये पुत्रकामना और द्विष्ट या द्वेषी शत्रु के पुत्री (कन्या) की कामना की जाती है।

यत्तु—'अङ्गादङ्गात् संभवति' इति मन्त्रेण 'अविशेषेण पुत्रीणां दायः' इति मनुवचनेनच यास्केन पुत्रेषु पुत्रीषुच भेदभावोऽपनोदितः। किन्तु श्रौतयज्ञेषु तु पुत्रीषु हीनभावनैव प्रदर्शिता। तद्यथा प्रयाजसंज्ञकेषु यागेषु 'एको मम-एका तस्य, योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः' (शत० १।५।४।१२) इति। साच कामनोत्तरोत्तरप्रयाजेषु वर्धमाना दृश्यते। अत्र स्वस्य पुत्रकामनाद्विष्टस्य द्वेषिणो वा कृते पुत्रीकामना दृश्यते।

पञ्चमे प्रयाजे स्वस्य पञ्च पुत्राः कामिताः। शत्रोः कृते न तस्य किञ्चन इत्याशीः पठितेति, तदपि नास्तिक्यमूलकमेव शतपथस्य वेदत्वेनानतिशङ्कनीयत्वात्।

लोके पुत्रजन्मनि यादृशोल्लासो दृश्यते पुत्रीजन्मनि तादृशोल्लासादर्शनात्। स्त्रियोऽपि यथा पुत्रजन्मनि प्रहृष्यन्ति न तथा पुत्रीजन्मनि। अत एव 'दुहितरइत्येके' इत्यादिना तत्रैव यास्कः पक्षान्तरं प्रदर्शयति। तस्मात् पुमान् दायादस्त्र्यदायादेतिविज्ञायते। 'यदृच्छन्ति स्थालीं न दारुमयं तस्मात् पुमान् दायादोऽदायादा स्त्रीति विज्ञायते' (मैत्रा० सं० ४।६।४) इति ब्राह्मणोक्तेः। 'तस्मात् स्त्रियंजातां परास्यन्ति न पुमांसमिति च (मै० सं० ४।६।४)। अथ च स्थालीं परास्यन्ति हवनकर्मणो न तया जुह्वति न दारुमयं परास्यन्ति दहनकर्मणो दारुमयेनैव जुह्वति तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति परस्मै प्रयच्छन्ति तस्मात् पुमानेव पैतृकस्येष्टे न दुहिता। नच 'अङ्गादङ्गात् संभवति हृदयादधिजायसे' इत्यस्य समाजिरीत्या मन्त्रत्वम्, निरुक्तेतु—'तदेतदृक्श्लोकाभ्यामभ्युक्त'मिति ऋक्त्वाभिधानम्, 'अदायादास्त्रीति तु ब्राह्मणम् प्रतिपक्षसंमतऋग्वेदे अङ्गादङ्गात्संभवसोतिमन्त्रस्यादर्शनात्। नचान्यास्वपि तत्संमतासु संहितासु तदुपलम्भः केवलं कौषीतकि आरण्यके तदुपलम्भः। यास्केन तु तादृशारण्यकवचनस्यैव ऋक्त्वमुक्तम्। तेन मन्त्राणामेव वेदत्वं न ब्राह्मणानामित्यप्यपास्तम्।

ननु तथापि परस्परविरुद्धब्राह्मणवचनानां कथं विरोधपरिहार इति चेन्न, अभ्रातृमतीवाद (नि० ३।४) मित्यपरमित्यनेन तत्रैव तत्समाधानस्योक्तत्वात्'।

तस्माद्येवाभ्रातृका सैवपित्र्यंधनर्महतिनेतरा सभ्रातृकेति। पुरुषेषु हि पिण्डदातृषु सत्सु न कन्याधनमर्हति। अभ्रातृकायास्तु पिण्डदानाधिकारात् दायेऽप्यधिकारः। पिण्डं दत्वा धनंहरेदिति सिद्धान्तात्।

'अभ्रातरइव योषास्तिष्ठन्तु हतवर्त्मन' इति नियमात्। अभ्रातृका इव योषास्तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय। अथर्ववेदीयाचेयमृक्। 'अमूर्यायन्तिजामयः सर्वा लोहितवाससः। अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्तु हतवर्त्मनः' (अ० सं० १।१।७।१)। तत्र दुर्गाचार्यः प्रसवभागे वहनरोगिणी या स्त्री भवति तस्मात्तत्प्रतीकारकर्मणीयं विनियुज्यते। अमूर्यायन्ति स्रवन्ति नाड्यो रक्तमजस्रमविरतास्त्रिय इवातिलोहितवस्त्रा सर्वा एतास्तिष्ठन्तु उपरमन्तु हतलोहितवहनमार्गा अस्यमन्त्रस्य

पञ्चम प्रयाज में अपने लिये पांच पुत्र चाहे गये हैं, और शत्रु के लिये 'न तस्य किञ्चन' इस प्रकार आशीः (इच्छा) की गई है।' किन्तु यह सब नास्तिक्यमूलक है। शतपथ भी वेद होने से उसमें शंका के लिये अवकाश ही कहां है। लोक व्यवहार में भी पुत्रजन्म होने पर जैसा उल्लास अनुभव किया जाता है, वैसा उल्लास पुत्री (कन्या) के पैदा होने पर नहीं होता। स्त्रियाँ भी पुत्र के पैदा होने पर जैसी हर्षित होती हैं, वैसी पुत्री (कन्या) के पैदा होने पर नहीं। अतएव 'दुहितरमित्येके' कहकर यास्क ने दूसरा पक्ष प्रदर्शित किया है। तस्मात् पुमान् (पुत्र) दायाद है और स्त्री (कन्या) अदायादा (दायाद नहीं) है यह ज्ञात होता है। मैत्रायणासंहिता और ब्राह्मण में भी इसी आशय को बताया गया है। 'हृदयादधिजायसे' इस समाजीलोग 'मन्त्र' कहते हैं। किन्तु निरुक्तकार उसे ऋक् कहते है। समाजियों के सम्मत ऋग्वेद में 'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि' यह मन्त्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है। और न ही उनकी अभिमत अन्य संहिताओं में उसको उपलब्ध है। केवल कौषीतकि आरण्यक में उसे पाया गया है। यास्कने उस आरण्यकवचन को ही ऋक् शब्द से बताया है। इससे समाजियों का जो मन्तव्य है कि 'मन्त्र ही वेद हैं, ब्राह्मण वेद नहीं है', उसका अच्छी तरह खण्डन हो जाता है।

वीर्येण। कथं पुनस्ताः तिष्ठन्तु अभ्रातरइव योषाः। यथा काश्चिदभ्रातृका योषा हतभर्तृवंशमार्गास्तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय एवमेता नाड्यास्तिष्ठन्तु एवमस्यामृचि अभ्रातृकाया अनिर्वाहः (अविवाहः) उपमायादारेतिः।

यास्काचार्योऽपि तदेववक्ति—'अभ्रातृका इवयोषास्तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय हतवर्त्मनि इत्यभ्रातृकाया अनिर्वाह 'औपमिक' इति। (नि० ३।४)।

तस्योत्तरा भूयसेनिर्वचनायेत्युक्ता 'अभ्रातेव पुंस एति प्रतीचीगर्त्तारुगिवसनमेधनानाम्। जायेव पत्ये उशती-सुवासा उषा हस्रेवनिरिणते अप्सः। (ऋ० सं० १।१२४।७)

अभ्रातृकेव पुंसः पितॄनिवेत्यभिमुखी सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय न पतिं गर्त्तारोहिणीव धनलाभाय दक्षिणा-जीगर्त्त (निरु० ३।५)।

यथा अभ्रातृकाकन्या दत्तापि सती पित्रारूढापि भर्त्रापुनः पुंसः पितॄनिव पितृवंशमेवाभिमुखी एति सन्तानकर्मणो पिण्डदानाय न पतिवंशमित्यर्थः। तस्मादभ्रातृकापैतृकं दायाद्यमर्हति। 'नाभ्रात्रीमुपयच्छेत्, तोकं ह्यस्यतद्भवती' (नि० ३।५)त्यभातृकाया उपयमनप्रतिषेधः प्रत्यक्षः। तोकमित्यपत्यनाम। यदपत्यमभ्रातृकायाः पितुर्भवति नेतरस्य वोढुरिति शासद्वह्निरित्ययमर्थर्योऽप्यभ्रातृमतीवादपक्षेणैव योजयितव्यः। तत्रैवोत्तरोऽप्यधेर्चः।

अङ्गादङ्गादित्यत्र दुहितुः पुत्रत्वं गौणमेव। अन्यथा, दुहिता दूरेहिता दोग्धेवा (नि० ३।४) इति विशेष-निर्वचनानुपपत्तिः। मनुवचनमप्यभ्रातृमती पक्ष एवयोज्यः, वेदस्मृत्योर्विरोधे वेददृष्टस्यधर्मस्यैव ज्यायस्त्वात्। "नगामग्ने तान्वोरिक्थमारैक् चकारगर्भं सवितुर्निधानम्। यदीम्रातरो जनयन्त वह्निमत्यः कर्त्ता सुकृतोरत्य ऋन्धन् (ऋ० स० ३।३१।२)।

नजामये भगिन्ये……'आत्मनः पुत्रोरिक्थं प्रारिचत् चकारेनां गर्भधानीसवितुर्हस्तग्रामस्य—इति स्पष्टमेव दायनिषेधो दृश्यते।

तस्माद्भेदभावः पुत्रीषु पुत्रेषु च नासीत्पूर्वमिति रिक्तं वचः। प्रयाजवाक्यानान्त्वर्थवादाभिप्रायेणान्य एवाभि-प्रायः। तथाहि—

'देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे दण्डैर्धनुभिर्न व्यजयन्त ते हा विजयमाना ऊचुर्हन्त वाच्येव ब्रह्मन् विजिगीषामहे योनो वाचां व्याहृतां मिथुनेन नानुनिक्रामात् ससर्वं पराजयाना अथ सर्वमितरे 'जयानितितथेति देवा अब्रुवन्स्तेदेवां इन्द्रमब्रुवन् व्याहरेति—स इन्द्रोऽब्रवीत्—एको ममेत्यथास्माकमेकेतीतरेऽब्रुवन् तदुतन्मिथुनमेवाविन्दन् मिथुनं ह्येकश्चैकाच 'द्वौ ममेतीन्द्रो ब्रवीत्। अथास्माकं इतीतरेऽब्रुवंस्तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन् मिथनुं हि द्वौ च द्वेच' (श० १।५।४।८) त्रयोमम…… अथास्माकं तिस्र……त्रयश्च तिस्रश्च' (श० १।५।४।९)।

तथापि परस्पर विरुद्ध ब्राह्मण वचनों का विरोध परिहार कैसे होगा ? इस प्रश्न का समाधान निरुक्तकार ने वहीं कर दिया है। तस्मात् अभ्रातृका कन्या ही पितृधन की अधिकारिणी है, सभ्रातृका कन्या नहीं। पिण्ड प्रदान करने वाले पुत्रों के रहते कन्या, पितृधन की अधिकारिणी नहीं हुआ करती। किन्तु अभ्रातृक कन्या को पिण्डदान का अधिकार होने से दाय में भी उसका अधिकार माना गया है क्योंकि 'पिण्डं दत्वा धनं हरेत्' यह सिद्धान्त है। अथर्वसंहिता, ऋक्संहिता, निरुक्तादि से भी उपर्युक्त सिद्धान्त की ही पुष्टि हो रही है। 'अंगादङ्गात्' यहाँ पर दुहिता में गौण पुत्रत्व कहा गया है अन्यथा 'दुहिता, दूरेहिता दोग्धेवा' (नि० ३।४) इस विशेष निर्वचन की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। आपाततः विरुद्ध प्रतीत होने वाले स्मृति वचनों को अभ्रातृमती कन्या के पक्ष में ही लगाना चाहिये। क्योंकि वेद और स्मृति दोनों में परस्पर विरोध प्रतीत होने पर वेददृष्टधर्म को ही प्रबल बताया गया है। 'न जामये तान्वो', 'ना जामये भगिन्यै', इत्यादि श्रुतियाँ कन्या के लिये स्पष्टतया दाय का निषेध कर रहीं हैं। अतः पूर्वकाल में पुत्र और कन्या

चत्वारो ममेतीन्द्रोऽब्रवीत्, अथास्माकं चतस्र इतीतरे.... पञ्च ममेतीन्द्रोऽब्रवीत्तत इतरे मिथुनं नाविन्दन् नोह्यत ऊर्ध्वं मिथुनमस्ति। पञ्च पञ्चेति ह्येवैतदुभयं भवति। ततो हासुरा सर्वं पराजयन्त सर्वस्माद्देवा असुरानजयन् सर्वस्माद् सपत्नानसुरान्निरभजन् (श० ब्रा० १।५।४।६-११)। उभये प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च स्पर्धित्वा दण्डधनुरादिभिर्हननसाधनैर्विजयमलभमानाः सामर्थ्यस्य समानत्वात्। विजयप्राप्त्यै वाग्रूप एव मन्त्रे विवदमाना जेतुमिच्छामहे इत्यूचुः। नोऽस्माकं निरुक्तं पुल्लिङ्गवचनं मिथुनेन स्त्रीलिङ्गान्तप्रतिवचनाभिधानेन मिथुनं कृत्वा अनुक्रमेण न निष्क्रामेत नितरां न आक्रामति स सर्वं पराजयं प्राप्नुयात्। अथ मिथुनेन वक्तारो जयान् जयेयुरित्येवं सङ्केतमङ्गीकृत्य देवा इन्द्रमब्रुवन् व्याहरेति। 'इन्द्रोऽब्रवीत् एकः पुत्रो ममास्त्विति। असुरा ऊचुः—अस्माकमेका लिङ्गसामर्थ्यात् पुत्रीति गम्यते। तत्र एकः एका, द्वौ द्वे, त्रयः तिस्रः, चत्वारः चतस्र इति चतुर्षु पर्यायेषु प्रतिज्ञाऽविरोधेन असुरा मिथुनं लब्धवन्तः।

लोके स्त्रीपुरुषयोर्मिथुनत्वव्यवहारात्। पञ्चमे तु पर्य्याय इन्द्रः पञ्च ममेत्यब्रवीत् तत इतरे असुरा मिथुनं नान्वविन्दन्। पञ्च षट् सप्त इत्यादि लिङ्गद्वयेऽपि रूपाविशेषात् व्यावर्त्तकस्य रूपविशेषस्याभावात्। तेनासुराः पराजयन्। देवाः सर्वस्माद् नामविषयस्तानजयन्। यस्मादिन्द्रेण एको ममेत्युक्तम्, असुरैरेका ममेत्युक्तम्, तस्मात् प्रथमे प्रयाजे एको ममेत्यादि ब्रूयात्। एवं द्वितीयादिष्वपि द्वौ मम द्वे तस्येति द्रष्टव्यम्। अहं यं द्वेष्मि तस्यैका पुत्री स्यादिति। पुत्र्या रक्षणप्रदानादौ बहुतरदुःखसंभवात् तच्छ्रोराशा।

पञ्चमे प्रयाजे पञ्च ममेति ब्रूयात् द्वेष्टरि विपरीतफलकामनायां प्राप्तायां न तस्य किञ्चनेति असुरैः पञ्चसंख्यायां मिथुनरूपस्य वचनस्यादर्शनात्, तस्मान्नात्र पुत्रेषु पुत्रीषु च भेदभाववर्त्तनमभीष्टम्, पूर्वोक्तरीत्या दायभेदभावे सत्यपि असुरैः एका द्वे इत्यादिशब्दैः पुत्रीणामेव कामितत्वात्, सर्वैरपि मातृरूपेण पत्नीरूपेण तासां समादरणदर्शनात्। "पतिभिर्देवरैश्चैव पितृभिर्भ्रातृभिस्तथा। पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥" इति मनूक्तेः।

यदपि च 'आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकाले मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्य्यातीत्यादीनाञ्च क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् 'पशवः प्रोक्षणमापुः' (चरकसं०चिकित्सास्थान १९।४)। तेन यज्ञे पशुवधप्रवृत्तिः न पूर्वमासीत्। उत्तरकाले तादृशी प्रवृत्तिः लोभमोहादिभिरेव जाता। (शान्तिपर्वणि ३३७, अनुशासनपर्वणि ६।३४, ११६।५६-५८, वायुपुराणे ५७।९१-१२५) इत्यादिषु तद्वर्णनम्। उपरिचरवसुकथयापि तत्पुष्टिः। 'लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम्। वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवान्ततम्॥' शान्तिपर्वणि (२६३।६) इत्युक्तेः। बौद्धत्रिपिटके ब्राह्मणधम्मियसुत्त १८।१९ इत्यनेनापि विज्ञायते यल्लुब्धैः ब्राह्मणैः मिथ्याभूतान् मन्त्रान्निर्माय इक्ष्वाकोः समीपं गत्वा पशुयागाय प्रोत्साहितवन्त इति, तदपि शास्त्रतात्पर्य्याज्ञानमूलकम्। 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत', 'हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः' इत्यादि श्रुतिशतविरोधात्।

में कोई भेदभाव नहीं था, यह कहना व्यर्थ है। प्रयाज वाक्यों का अर्थवादाभिप्राय से अन्य ही अभिप्राय है। शतपथ ने उसे अच्छी तरह अभिव्यक्त किया है। इस रीति से पुत्र और कन्या के प्रति भेदभाव रहने पर भी असुरों ने 'एका, द्वे' आदि शब्दों से कन्याओं की ही इच्छा की है। सभी लोग कन्याओं का आदर मातृरूप में या पत्नी रूप में किया करते हैं मनु ने भी इसका समर्थन किया है। और जो चरक, महाभारत, वायुपुराण, उपरिचर वसुकथा, बौद्धत्रिपिटक आदि ग्रन्थों के उल्लेखों से 'यज्ञ में पशुवध की प्रवृत्ति पूर्वकाल में नहीं थी, किन्तु उत्तरकाल में लोभ-मोह आदि कारणों से वह प्रवृत्ति पैदा हुई।' बताने का जो प्रयत्न किया गया है, वह भी शास्त्र के तात्पर्य को न जानने के कारण ही हुआ है। क्योंकि तुम्हारे इस कथन के साथ सैकड़ों श्रुति वचनों का विरोध प्रत्यक्ष है।

6.1.11

आस्तिकास्तु मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वाभ्युपगमाद् धर्माधर्मव्यवस्थायां वेदमेव प्रमाणं मन्यन्ते। यथा 'न हिंस्यादिति' निषेधबलेन हिंसायाः पापजनकत्वमभ्युपगच्छन्ति, तथैव 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इतिविधिबलात् क्रत्वर्थाया हिंसायाः पुण्यजनकत्वेनाहिंसात्वमेव मन्यन्ते। 'तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः' इति मनुवचनात्। 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' (ब्र० सू० ३।१।२५) इति वेदान्तदर्शनसूत्रात्।

पशुयागनिन्दावचनानि तु बोद्धसांख्यादिमतरीत्या पूर्वपक्षतयैव नेतव्यानि। यथास्मिन्नेव ब्रह्मसूत्रे वैदिकं कर्म हिंसादिदोषोपेतत्वादशुद्धमिति सांख्यादिरीत्या पूर्वपक्षमुत्थाप्य शब्दाद् वैदिकशब्दप्रामाण्यात्तन्निराकरणं कृतम्।

शब्दप्रमाणका आस्तिकास्तस्मात् यदाह शब्दस्तदेव कर्मादरणीयं धर्मञ्च मन्यन्ते। शास्त्रबलादेव दुहितृभगिन्यादीनामन्यगोत्रे विवाहः। असगोत्राया असपिण्डायाश्च कन्यकायाः पत्नीत्वेन वरणं क्रियते। अविवाहिताया गमने पातकं विवाहितायाश्चार्त्तवेऽगमनमेव पातकम्, शास्त्रबलादेव। गङ्गाजलस्य पापनाशकत्वं कर्मनाशाजलस्य च पुण्यनाशकत्वमुपेयते। मांसभक्षिणामपि व्याघ्रसिंहादीनां चर्माणि ध्यानधारणादावासानायाद्रियन्ते, दूर्वाभक्षकस्यापि गर्दभस्य चर्म न स्पृश्यते। शङ्खः पूजायामुपयुज्यते। मनुष्यास्थिस्पर्शनाच्च सचैलस्नानं क्रियते। मनुष्यमूत्रस्पर्शनेन मृज्जलाभ्यां शौचं विधीयते, गोमूत्रादिपञ्चगव्यप्राशनं तु पापशोधकत्वेनाद्रियते।

यथा रूपवीक्षणे चक्षुषैव नैरपेक्ष्येण प्रामाण्यम्। तत एव चक्षुषैव रूपमुपलभ्यते न श्रोत्रादिना। आलोकादिसहकृतेन दोषरहितेन मनःसंयुक्तेन चक्षुषा रूपमुपलभ्यत एव, न नोलपभ्यते। तेनैव चाक्षुषं रूपमुच्यते। तथैव धर्मो वेदेनैव विज्ञायते, नान्यैः प्रत्यक्षानुमानादिभिः। अधिकारिभिरुपक्रमादिलिङ्गैर्मीमांसापद्धत्या विचार्यमाणैर्वेदैस्तु धर्मो विज्ञायत एव, न न विज्ञायते। अत एव, तयोरसाधारणः सम्बन्धो भगवताप्युक्तः—

आस्तिक लोग तो मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं, अतः उनके मत में धर्माऽधर्म की व्यवस्था, वेदप्रमाण से ही की जाती है। जैसे 'न हिंस्यात्' इस निषेधवचन के बल पर हिंसा को पापजनक माना जाता है, वैसे ही 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस विधिवचन के बल पर क्रत्वर्थ हिंसा के पुण्यजनक होने से उसे अहिंसा ही माना जाता है। 'तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः' मनु ने भी कहा है। 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' इस ब्रह्मसूत्र से वेदान्तदर्शन भी यही बता रहा है।

बौद्ध एवं सांख्यमत के अनुसार पशुयाग के सम्बन्ध में जो निन्दावचन हैं उन्हें पूर्वपक्ष के रूप में समझना चाहिये। जैसे उपर्युक्त ब्रह्मसूत्र में सांख्यमत के अनुसार हिंसादि दोषदूषित होने से वैदिक कर्म की अशुद्धि का पूर्वपक्ष कर वैदिक शब्द के प्रामाण्य के बल पर पूर्वपक्ष के द्वारा बताई गई अशुद्धि का निराकरण किया गया है। शब्दप्रामाण्य को मानने वाले आस्तिक विद्वान् शब्द प्रमाण प्रतिपादित कर्म का आदर करते हैं और धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। शास्त्र वचन के बल पर ही दुहिता, भगिनी आदि का अन्य गोत्र में विवाह किया जाता है, असगोत्र और असपिण्ड कन्या को ही पत्नी के रूप में स्वीकार किया जाता है। शास्त्र के बल पर ही अविवाहिता के पास गमन को पातक और विवाहिता के समीप ऋतुकाल में अगमन को पातक माना जाता है। गंगाजल को पापनाशक और कर्मनाशा जल को पुण्यनाशक माना जाता है। व्याघ्र, सिंह आदि के मांसभक्षी रहने पर भी उनके चर्म को ध्यान-धारणा के लिये आसन के रूप में स्वीकार किया जाता है। और गर्दभ के दूर्वाभक्षी होने पर भी उसके चर्म का स्पर्श भी नहीं किया जाता। शंख का उपयोग पूजा में किया जाता है, किन्तु मनुष्य की अस्थि का स्पर्श होने पर सचैल स्नान करना होता है। मनुष्य मूत्र के स्पर्श होने पर मिट्टी और जल से पवित्र होना पड़ता है, किन्तु गोमूत्रादि पञ्चगव्य के प्राशन को पापशोधक कहा जाता है।

जैसे रूपदर्शन में चक्षु को ही प्रमाण माना जाता है, श्रोत्रादि अन्य इन्द्रियों को नहीं। इसी कारण रूप को चाक्षुषरूप कहते हैं। उसी तरह धर्म को उपक्रमादि लिङ्गों को ध्यान में रखकर मीमांसा पद्धति से विचार किये जाने वाले वेदों से ही जाना जाता है, प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों से नहीं। अतएव भगवान् ने वेद और धर्म के असाधारण सम्बन्ध को 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य' के द्वारा बताया है। जैसे चक्षु के द्वारा रूप का ज्ञान होने पर, अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती, उसी तरह वेद से धर्म का ज्ञान होने पर, पुनः उसमें प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रहती।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥ (श्री० भ० गी० १६।२३–२४)
कर्मंब्रह्मोद्भवं 'विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् । (श्री० भ० गी०३।१५)

यथा न चक्षुषा विदितं रूपं प्रमाणान्तरमपेक्षते । तथैव न वेदेनावगतो धर्मः प्रमाणान्तरमपेक्षते । 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते । एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥' नहि वेदोक्तस्यार्थस्यौचित्य-सम्यक्त्वादिसिद्धये प्रमाणान्तरापेक्षा भवति, प्रमाणानां प्रामाण्यस्वतत्वाभ्युपगमात् ।

युक्तयस्तु वेदार्थस्य बुद्ध्यारोहाय क्वचित् क्वचिन्निरूप्यन्ते, न वेदप्रामाण्याय तदुपकाराय वा । तत एव कैश्चिदाचार्य्यैः हिंसनीयाननुग्राहकत्वविशिष्टप्राणवियोगानुकूलव्यापारस्यैव हिंसात्वमुक्तम् । यथा दुश्चिकित्स्यव्रणादि-निराकरणाय मर्मच्छेदकोऽपि चिकित्सकः पूज्यते समाद्रियते च, तथैव पशुयागैरपि पशूनामुपकारो भवत्येव 'याज्ञिकः हिरण्यशरीर ऊर्ध्वंलोकमेति', ' न उ वा एतन्म्रियसे नरिष्यसि', 'सुगोभिः पथिभिः' इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

वेदघातकाः समाजिनस्तु मोहाद् द्वेषाद् वा मन्त्रभागस्यैव भागान्तरस्य ब्राह्मणभागस्यावेदत्वसाधनाय प्रयतन्ते । मन्त्रेष्वपि शाकल्यादिसंहिताचतुष्टयस्यैव वेदत्वमुद्घोष्य महाभाष्यादिप्रोक्त-अष्टाविंशत्युत्तरैकादशशतमन्त्रसंहितानां तद्ब्राह्मणानाञ्च वेदत्वमपलपन्ति । तेनैव तेषां मतदौर्बल्यं स्पष्टं विज्ञायते । ततोऽप्यधिकनास्तिकैस्तदभ्युपगतवेदेष्वप्यधिकांशस्याधुनिकत्वं प्रक्षिप्तत्वमुच्यते । अन्यैश्च वेदानां भण्डधूर्त्तनिशाचरकर्तृकत्वमप्युच्यते ।

आस्तिकदर्शनेष्वपि सांख्या योगाश्च यद्यपि समस्तस्यैव वेदस्य प्रामाण्यमङ्गीकुर्वन्ति । अत एव ते मन्त्र-ब्राह्मणसाध्यैर्यज्ञैः स्वर्गादिप्राप्तिमभ्युपगच्छन्ति, तथापि क्षयातिशययुक्तत्वेनानुश्रविकस्यापि यागाद्युपायस्य शुक्लकृष्णत्व-मुपेत्यैकान्तिकात्यन्तिकनिःश्रेयससाधनत्वं नाभ्युपगच्छन्ति । 'दृष्टवदानुश्रविक····नैकान्तात्यन्ततोभावात्', 'कर्माशुक्ला-कृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' । तेषां रीत्या 'न हिंस्यात्', 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति वचनयोरुत्सर्गापवादभावेन

युक्तियों का कहीं कहीं जो निरूपण किया है, वह वेदार्थ को बुद्धिगत करने के लिये किया गया है, वेद का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये नहीं । ततश्च कुछ आचार्यों ने हिंसनीय प्राणी के अननुग्राहकत्वविशिष्ट प्राणवियोगानुकूल व्यापार को ही 'हिंसा' कहा है। जैसे दुश्चिकित्स्य व्रणादि के निराकरण के लिये मर्मच्छेदन करने वाले भी चिकित्सक की प्रशंसा ही की जाती है, उसी तरह पशुयाग से भी पशुओं पर उपकार ही होता है, ऐसा श्रुतियों का कथन हैं ।

वेदघातक समाजी, मोह से अथवा द्वेष से मन्त्रभाग के एवं भागान्तरस्वरूप ब्राह्मणभाग के अवेदत्व साधने में ही लगे रहते हैं । मन्त्रों में भी शाकल्यादिसंहिता चतुष्टय को वेद कह कर ढिंढोरा पीटते और महाभाष्यकार के बताये हुए ग्यारहसौ अठाईस मन्त्र संहिताओं तथा उनके ब्राह्मणों के वेदत्व का अपलाप करते हैं । उसी से इन समाजियों के मत की दुर्बलता स्पष्ट हो जाती है। नास्तिकों का एक कदम उनसे भी अधिक है, वे स्वसम्मत वेदों में भी अधिकांश भाग को आधुनिक और प्रक्षिप्त बताते हैं । इनसे भी बढ़कर कुछ ऐसे भी हैं, जो वेदों को भाण्ड, धूर्त, निशाचरकर्तृक कहते फिरते हैं ।

आस्तिक दर्शनों में भी सांख्य और योग यद्यपि सम्पूर्ण वेद का ही प्रामाण्य स्वीकार करते हैं । अतएव वे मन्त्र-ब्राह्मण-साध्ययज्ञों से स्वर्गादि फल प्राप्ति का होना भी मानते हैं, तथापि वह फल क्षयातिशय से युक्त होने के कारण आनुश्रविक (वैदिक) होते हुए भी उस यागात्मक उपाय में शुक्लत्व-कृष्णत्व की कल्पना कर उसे निःश्रेयस का ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक साधन नहीं मानते । इनकी रीति से 'न हिंस्यात्' और 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इन दो वचनों में विरोध का अभ्युपगम न करने के कारण उत्सर्गापवाद

न बाध्यबाधकभावः, तयोर्विरोधानभ्युपगमात् । न प्रबलमित्येव प्रबलेन दुर्बलं बाध्यते, किन्तु सति विरोधे । नात्र विरोधः । 'न हिंस्यात्' इति वचनं हिंसायाः पुरुषानर्थकरत्वं वक्ति न यागानुपकारकत्वमपि । तथैव 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेती' इति वाक्यं पश्वालम्भस्य (हिंसायाः) यागोपकारकत्वं वक्ति न पुरुषार्थानर्थकरत्वाभावमपि, वाक्यभेदप्रसङ्गात् । तथा च हिंसायाः पुरुषानर्थकरत्वेऽपि यागोपकारकत्वमस्त्येव । तथैव विहितहिंसाया यागोपकारकत्वेऽपि निषिद्धत्वात्पुरुषानर्थकरत्वमप्यस्त्येव । यथामतक्रं कण्ठे कफं करोति कोष्ठे च कफं हन्ति, तथैव हिंसा यागस्योपकरिष्यति पुरुषस्यानर्थञ्च करिष्यति । तत एव शुक्लकृष्णं वैदिकं कर्म स्वर्गमपि प्रापयति दुःखञ्च जनयति । स हि स्वल्पः संकरः सप्रत्यवमर्शः कियतापि प्रायश्चित्तेनापाकर्तुं शक्यः । तेनैव सुधामहाह्रदावगाहनकुशलाः पापमात्रोपपादितां दुःखवह्निकणिकां सहन्ते । अश्वमेधशतेन माहेन्द्रं पदं प्राप्यापि देवाः वृत्ररावणादिभिस्त्रस्ताः संतप्यन्ते । भगवताऽपि— 'त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः' (श्री० भ० गी० १८।३) इति तन्मतमनूदितम् ।

चरकसुश्रुतादिग्रन्थेषु सांख्यमतस्यैव प्राधान्यमस्तीति तद्रीत्यैव चरकेण पूर्वकाले पशूनामालम्भो न भवति स्मेत्युच्यते । यदा वेदा नित्यः, वेदे च 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति विधानमनाद्येव तदा पूर्वं नासीदालम्भ इत्यस्य तस्मिन् युगविशेषे नरिष्यन्तादि पूर्वं नासीदित्येवार्थः । तत्पूर्वं तस्मिन्नेव मन्वन्तरे त्रेताकालेऽपि नासीदिति नार्थः, वैदिकविधानानामनादित्वात् । कदाचित्तदनुष्ठानेऽपि ततोऽपि पूर्वं तदनुष्ठानस्यानिवार्यत्वात् । 'न चाहिंसावादिनोऽपि सांख्यादयो वेदनित्यत्वतत्प्रामाण्यवादिनस्तथा वदन्ति वदितुं वा शक्नुवन्ति ।

अत एव—'अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान् । सच छागोऽप्यजो ज्ञेयः नान्यः पशुरिति स्थितिः ।।' इति देवानां मतमुक्तम् । ऋषभ ऋचुः—'बोजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः । अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ' ।। नैष धर्मः सतां देवाः यत्र वध्येत वै पशुः । इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः ।।' एवं महाभारते शान्तिपर्वणि (३३७।३-५) देवानामृषीणाञ्च मतमुद्धृतम् ।

तन्मूलं तु 'तस्मादेष एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमो यदजस्तेऽजमालभन्त । सोऽजादालब्धादुदक्रामत् । स इमां प्राविशस्तस्मादियं मेध्याभवत्तस्यामन्ववायन् सोऽनुगतो व्रीहिरभवत्' इति बह्वृचब्राह्मणम् ।

भाव (सामान्य-विशेष भाव) से यहाँ बाध्य-बाधक भाव नहीं होता । प्रबल होने मात्र से ही वह, दुर्बल का बाधक नहीं हो सकता, अपितु परस्पर विरोध रहने पर ही वह बाधक बनता है । किन्तु यहाँ विरोध तो है नहीं । क्योंकि 'न हिंस्यात्' यह वचन, हिंसा में पुरुषानर्थकरत्व को बताता है, यागानुपकारकत्व को नहीं । उसी तरह 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यह वाक्य, पश्वालम्भ (हिंसा) में केवल यागोपकारकत्व ही को बताता है, न कि पुरुषानर्थकरत्वाभाव को भी, अन्यथा वाक्यभेद होगा । तथाच हिंसा, पुरुषानर्थकारिणी होने पर भी यागोपकारिका तो है ही । तथैव विहित हिंसा, यागोपकारिका रहने पर भी निषिद्ध होने से पुरुषानर्थकारिणी तो है ही । जैसे खट्टा मठा, कण्ठ में कफ करता है और कोष्ठ में कफ का विनाश करता है, वैसे ही हिंसा याग पर उपकार भी करेगी और पुरुष का अनर्थ भी करेगी । उस कारण शुक्ल-कृष्ण यह वैदिक कर्म, स्वर्गप्राप्ति भी करावेगा और दुःख भी पैदा करेगा । भगवान् ने भी 'त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः' कहकर उनके मत का अनुवाद कर दिया है ।

चरक–सुश्रुतादि ग्रन्थों में सांख्यमत का ही प्राधान्य होने से उन्हीं के अनुसार चरक ने भी 'पूर्वकाल मे पशुओं का आलम्भ नहीं होता था' कह दिया है । जब कि वेद नित्य हैं और उसी मे 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यह विधान है, तो उसे भी अनादि कहना ही होगा । तब 'पूर्वकाल में आलम्भ नहीं था' अर्थात् उस युगविशेष में 'नरिष्यन्तादि पूर्वं नासीत्' यही उसका अर्थ होगा । तत्पूर्वं अर्थात् उसी मन्वन्तर में त्रेताकाल में भी नहीं था, यह अर्थ नहीं होगा क्योंकि वैदिकविधान अनादि हैं । कदाचित् उस समय उसका अनुष्ठान न होने पर भी उससे पूर्व उसका अनुष्ठान अनिवार्य भी हो सकता है । अहिंसावादी होते हुए भी सांख्यादि वेद की नित्यता और प्रमाण्य का उद्घोष करते हैं, अतः वे वैसा न कहते हैं और न कहने में समर्थ हैं ।

सर्वेषां पशूनां स मेध्यतारूपो यज्ञ इमां पृथिवीं प्रविष्टः। अन्ववायन् अन्वेषितवन्तः। इयं श्रुतिः पुरोडाशस्तुतिमात्रपरा, न तु पशूनाममेध्यत्वप्रतिपादनपरा। 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्त्तते, अपि तु विधेयं स्तोतुम्' इति न्यायात् इति देवानां मतम्। ऋषीणां तु मानान्तराविसंवादादहिंसाशास्त्रानुग्रहाच्च। अवान्तरतात्पर्येण तात्पर्य्यमन्तरापि द्वारतः प्रतीयमानोऽर्थो यथाभूत एव। न तु स स्वार्थोऽप्रमाणम्—

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः॥

'यजमानः प्रस्तरः' इति प्रस्तरयजमानयोरभेदस्य प्रत्यक्षविरोधात् प्रस्तरस्तुत्यर्थं गुणवादः। 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इति लोकावगतार्थत्वादनुवादः'। 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' इत्यत्र विरोधानुवादयोरभावात् भूतार्थवादः। न चात्रापि क्रत्वर्थेनालम्भविधिना पुरुषार्थनिषेधस्य विरोधोऽस्ति, अतोऽर्थवादोऽप्ययं स्वार्थेऽवान्तरतात्पर्यविषया देवताधिकरणन्यायेन प्रमाणमेव, अन्यथा भारतरामायणादीनामपि स्वार्थे प्रामाण्यं विहन्येत। तस्मादजस्थस्य मेधस्य बीजेषु संक्रमाद्बीजान्येवाजसंज्ञानीति ऋषीणामभिप्रायः। वस्तुतस्तु 'छागस्य मेदसो वपाया' इति श्रुत्या छागस्यापि यज्ञ उक्तः। न च छागशब्देन छिन्नगतिकोऽश्वो गृह्यते, 'योगाद्रूढिर्बलीयसी' इति न्यायात्।

एवं तेषां विवादे सहसायान्तमन्तरिक्षगं वसुं दृष्ट्वा ऋषयस्तं निर्णयाय पप्रच्छुः। स च धान्यैर्यष्टव्यमित्यस्माकं पक्षः, पशुना यष्टव्यमिति देवानां पक्ष इति ऋषिवचः श्रुत्वा—'देवानां तु मतं ज्ञात्वा वसुना पक्षसंश्रयात्। छागेनाजेन यष्टव्यम्.....' इत्युत्तरमुक्तम्। तच्छ्रुत्वा ऋषयः कुपिताः। अद्यप्रभृति ते राजन्नाकाशगतिः प्रतिहतास्तु, भूमिं भित्त्वा विवरं प्रवेक्ष्यसीति शेपुः। तच्छापाच्च स भूमिविवरगोऽभूत्। देवास्तु संहृष्टमनस उपरिचरवसुं वसोर्धारावरप्रदानेनानुगृहीतवन्तः।

अतएव महाभारत के शान्तिपर्व ३३७।३-५ में देव और ऋषियों का बह्वृचब्राह्मण मूलक मत बताया गया है। यह बह्वृचब्राह्मणश्रुति-पुरोडाशस्तुतिमात्रपरक है, पशुओं को अमेध्यता प्रतिपादनपरक नहीं है। 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते-अपितु विधेयं स्तोतुम्' इस नियम के अनुसार यह देवों का मत है। ऋषियों का मत, अन्य मतों से अविसंवाद होने से और अहिंसाशास्त्र का अनुग्राहक होने से उसका अवान्तर तात्पर्य है, तात्पर्य के द्वारा भी प्रतीयमान अर्थ यथाभूत ही है। और वह अर्थ अप्रमाण भी नहीं है।

अर्थवाद तीन प्रकार का होता है—

"विरोधे गुणवादः स्यात् अनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानात् अर्थवादस्त्रिधा मतः॥

'यजमानः प्रस्तरः' यहाँ पर प्रस्तर और यजमान दोनों को अभिन्न समझना तो प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, इस कारण उक्त वाक्य को प्रस्तर को स्तुति के लिये गुणवाद रूप अर्थवाद माना जाता है। उसी तरह 'अग्निर्हिमस्यभेषजम्' यहाँ पर समस्त लोगों के अवगत अर्थ को ही बताया गया है, अतः उक्तवाक्य को अनुवादरूप अर्थवाद माना जाता है। तथा 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' यहाँ पर विरोध या अनुवाद दोनों ही नहीं है, अतः इस वाक्य को भूतार्थवादरूप अर्थवाद कहा जाता है। क्रत्वर्थ आलम्भविधि के साथ पुरुषार्थ निषेध का कोई विरोध नहीं है। अतः यह अर्थवाद होता हुआ भी स्वार्थ में अवान्तरतात्पर्यविषया देवताधिकरण न्याय से प्रमाण ही है। अन्यथा भारत-रामायणादि ग्रंथों का भी स्वार्थ में प्रामाण्य नष्ट होने लगेगा। तस्मात् अजस्थ मेध का बीजों में संक्रम हो जाने से बीजों को ही 'अज' यह संज्ञा दी गई। यह ऋषियों का अभिप्राय है। वस्तुतस्तु 'छागस्यमेदसो वपाया' इस श्रुति ने प्रत्यक्ष छाग का भी यज्ञ बताया है। छाग शब्द से छिन्नगतिवाले अश्व का ग्रहण नहीं किया जाता, क्योंकि 'योगाद् रूढिर्बलीयसी' यह नियम है। देव और ऋषियों के विवाद चलते समय अकस्मात् उपस्थित होने वाले वसु को देखकर ऋषियों ने उसे निर्णय करने के लिये कहा। ऋषियों ने अपना 'धान्यैर्यष्टव्यम्' पक्ष बताया और देवताओं ने 'पशुना यष्टव्यम्' अपना पक्ष बताया। दोनों पक्षों को सुनकर वसु ने देवताओं के पक्ष (छागेन यष्टव्यम्) का समर्थन किया। उसे सुनकर ऋषिगण क्रुद्ध हुए और उस वसु को शाप दिया। उनके शाप से उसकी आकाशगति प्रतिहत हुई और वह भूमिविवर में प्रविष्ट हुआ। देवताओं ने प्रसन्न होकर उस वसु को वसोर्धारा का वर देकर

तत्तपस्तुष्टस्य विष्णोरनुग्रहाच्च स पुनरुपरिचरो भूत्वा ब्रह्मलोकं जगाम। नानयापि कथया समाजिमतपुष्टिः, किन्तु तन्मतबाध एव। समाजिभिश्चेतनानां मनुष्यभिन्नानां देवानामनभ्युपगमात्।

देवतोद्देश्येन द्रव्यत्याग एव यागः। यदि देवाः पशुयागमनुमन्यन्ते तदा सुतरामनया कथयापि पशुयागः समर्थ्यते। अत एव देवानां मतमाज्ञाय वसुना पशुयागपक्षः समर्थितः।

सांख्ययोगानुसारिणामृषीणां शापेऽपि देवानां देवदेवस्य विष्णोश्च प्रसादेन वसुधाराप्राप्तिरन्ते च तस्य ब्रह्मलोकप्राप्तिर्जाता। पूर्वोक्तमीमांसाऽपि मीमांस्यैव, विधिविरोधेऽर्थवादस्य स्वार्थे प्रामाण्यायोगात्। यथा प्रत्यक्षविरोधेन यजमानः प्रस्तर इत्यर्थवादवाक्यस्य न प्रस्तरयजमानयोरभेदे प्रामाण्यम्, तथैव 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इतिप्रत्यक्षपश्वालम्भविधायकवाक्यविरोधान्न मेधोत्क्रमणार्थवादस्य पशूनाममेध्यत्वबोधने प्रामाण्यम्, किन्तु पुरोडाशस्तुतावेव तात्पर्यम्, 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्त्तते' इति न्यायात्। सांख्यरीत्या पुरुषार्थक्रत्वर्थभेदेनाविरोधेऽपि नाग्नीषोमीयं पश्वालम्भनस्य यागानुपकारकत्वं सिद्ध्यति, प्रत्यक्षविधिदर्शनात्। न हिंस्यादित्यनेन हिंसायाः पुरुषानर्थकरत्वबोधनेऽपि अहिंसाया यागानुपकारकत्वानवबोधनात्। अस्मिन्नाख्याने 'कृते कथं पशुवध' इत्युक्त्यापि कृते तदनभिमतत्वेऽपि प्राचीनेषु भाविषु च त्रेतादियुगेषु तदनुमतत्वात्।

किञ्च, महाभारते शान्तिपर्वणि ११५-११६ अध्याययोः यज्ञश्राद्धादिसम्बन्धे पशुविचारो दृश्यते।

तथाहि—युधिष्ठिरस्य प्रश्नः—

अहिंसा परमो धर्म इत्युक्तं बहुशस्त्वया।
श्राद्धेषु च भवानाह पितॄनामिषकाङ्क्षिणः॥
मांसैर्बहुविधैः प्रोक्तस्त्वया श्राद्धविधिस्तथा।
अहत्वा च कुतो मांसमेवमेतद्विरुध्यते॥

इत्यादिप्रश्नानामुत्तरप्रसङ्गे अहिंसाया माहात्म्यातिशय उक्तः।

अनुगृहीत किया। उसके तप से सन्तुष्ट हुए विष्णु के अनुग्रह से वह पुनः उपरिचर होकर ब्रह्मलोक में गया। किन्तु इस कथा का सहारा लेकर भी समाजियों के मत की पुष्टि नहीं हो पा रही है, अपितु उनके मत का बाध ही हो रहा है। क्योंकि मनुष्यों के अतिरिक्त चेतन देवताओं को तो समाजी मानते ही नहीं।

देवता के उद्देश्य से द्रव्य के त्याग को ही याग कहते हैं। यदि देव, पशुयाग को मानते हैं, तो उक्त कथा से भी पशुयाग का ही सुतरां समर्थन हो रहा है। अतएव देवों के मत को अच्छी तरह जानकर वसु ने पशुयाग के पक्ष का समर्थन किया।

सांख्य-योगानुसारी ऋषियों का शाप रहने पर भी देवों तथा देवदेव विष्णु के, प्रसाद से वसु को वसुधारा की प्राप्ति और अन्त में ब्रह्मलोक की भी प्राप्ति हो गई। पूर्वोक्त मीमांसा भी मीमांसा करने योग्य ही है, विधि के साथ विरोध रहने पर अर्थवाद वाक्य का स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं माना जाता। जैसे प्रत्यक्ष के साथ विरोध रहने के कारण 'यजमानः प्रस्तरः' इस अर्थवाद वाक्य को प्रस्तर और यजमान दोनों के अभेद में प्रमाण नहीं माना जाता, वैसे ही 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस प्रत्यक्षपश्वालम्भविधायक वाक्य के साथ विरोध रहने से मेधोत्क्रमणरूप अर्थवाद वाक्य का पशुओं के अमेध्यत्व बोधन में प्रामाण्य न होकर पुरोडाश की स्तुति में ही उसका तात्पर्य है, क्योंकि 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते निन्दा' यह न्याय है। सांख्य की दृष्टि से पुरुषार्थ-क्रत्वर्थ भेद से विरोध न रहने पर भी अग्नीषोमीय पश्वालम्भन, याग का अनुपकारक सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि प्रत्यक्षविधि दिखाई पड़ रहा है। 'न हिंस्यात्' वाक्य से हिंसा का पुरुषानर्थकरत्व बोधित होने पर भी उसका यागानुपकारकत्व का बोधन नहीं किया जा रहा है। उक्त आख्यान में 'कृते कथं पशुवधः' इस उक्ति से भी यह व्यक्त हो रहा है कि कृतयुग में उसके अनभिमत रहने पर भी उसके पूर्व और आगे त्रेतादि युगों में उसका अनुमत रहना संभव है।

रूपमव्यङ्गतामायुर्बुद्धिं सत्त्वं बलं स्मृतिम् ।
प्राप्तुकामैर्नरैर्हिंसा वर्जिता वै महात्मभिः ॥
यो यजेताश्वमेधेन मासि मासि यतव्रतः ।
वर्जयेन् मधुमांसञ्च सममेतत् युधिष्ठिर ॥ (११५।१-३-८-१०)
न भक्षयति यो मांसं न च हन्यान्न घातयेत् ।
तन्मित्रं सर्वभूतानां मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

इत्यादि मांसभक्षणे बहून् दोषानभक्षणे च बहून् गुणानुक्त्वा भीष्मः विहितमांसभक्षणं विहितवधं च समर्थितवान् । 'हविर्यत्संस्कृतं मन्त्रैः प्रोक्षिताभ्युक्षितं शुचि । वेदोक्तेन प्रमाणेन पितृणां प्रक्रियासु च ॥ अतोऽन्यथा वृथा मांसमभक्ष्यं मनुरब्रवीत् ॥ (५१।५२) । 'प्रजानां हितकामेन त्वगस्त्येन महात्मना । आरण्याः सर्वदैवत्याः प्रोक्षितास्तपसा मृगाः ॥५९॥ क्रिया ह्येवं न हीयन्ते पितृदैवतसंश्रिताः । प्रीयन्ते पितरश्चैव न्यायतो मांसतर्पिताः ॥ ६० ॥ विधिना वेददृष्टेन तद्भुक्त्वेह न दुष्यति । यज्ञार्थं पशवः सृष्टा इत्यपि श्रूयते श्रुतिः ॥ १४ ॥ आरण्याः सर्वदैवत्याः सर्वशः प्रोक्षिता मृगाः । अगस्त्येन पुरा राजन् मृगया येन पूज्यते (११।१६।६) । समता उपसंगम्य भूतं हन्यति हन्ति वा । अतो राजर्षयः सर्वे मृगयां यान्ति भारत । नहि लिम्पन्ति पापेन न चैतत्पातकं विदुः ॥ यद्यपि 'य इमे ब्राह्मणा प्रोक्ता मन्त्रा वै प्रोक्षणे गवाम् । एते प्रमाणं भवत उताहो नेति वासव ॥ नहुषो नेति तानाह तमसा मूढचेतनः ।' (म० भा० उद्योगप० १७।१)

'देवांश्च याभिर्यजते ददाति च' (अथर्ववे० सं० ४।२१।३), 'गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः' (अ० वे० सं० ४।२१।४) एभिः प्रमाणैर्गवामपि प्रोक्षणमुक्तम्, तथाप्यनिष्टपरिणामात्तद्दानमेवानुमतम् ।

'उपाकृतानां (हतानां) गवां गौरवात् असात्म्यात् उपाहताग्नानां उपाहतमनसां अतीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्नयज्ञे ।' (चरकचिकित्सास्थान १९।३) 'उत्सृजेद् वा एनां ब्राह्मणाय वा दद्यात् दत्ता त्वेव श्रेयसे भवति' (बोधायनीयपितृमेधसूत्र १।१०।२)। तस्माद्गवां क्षीरादिकमेव यागादौ प्रयोज्यम्, तदेव क्वचिन्मांसादिशब्देनापि बोद्धयते । 'एतद्वा उस्वादीयो यत् अधिगवं क्षीरं वा मांसं तदेव (अतिथेः पूर्वं) नाश्नीयात् । आतिथ्यादावन्यमांसोपयोगेऽपि गवां मासं निषिद्धमेव, अघ्न्यत्वोक्तेः ।

य एवं विद्वान् अतिथये मांसमुपसिच्य उपहरति' (अथर्ववे० सं० ९।६।४३)

'अपूपवान् मांसवान् चरुदेह सीदति' (अ० वे० सं० १८।४।२०), 'यं ते मन्थयमोदनं यत्मांसं निध्वामि ते' (अ० वे० सं० १८।४।४२)। 'यत्ते मज्जा यदस्थि यन्मांसं यच्च लोहितं आमिक्षां दुस्कृता दात्रे क्षीरसर्पिरथो मधु' (अ० वे० सं० १०।९।८)। 'मांसमेकः पिंशातिसूत्रपा' । (ऋ० सं० १।१६१।१०) । ये 'चार्वतो मांसभिक्षामुपासते' (ऋ० सं० १।१६१।२), 'यन्नोक्षणं मांस्यचन्या उखायाः' (ऋ० सं० १।१६२।१३), 'अतिथिग्वः' (अ० सं० २०।२१।८) 'देवांश्च याभिर्यजते' (ऋ० सं० ८।२८।३) अत्र 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पा० सू० ५।२१।१२७) इति सूत्रेण

किञ्च, महाभारत में यज्ञ, श्राद्ध आदि के सम्बन्ध में पशु विचार किया गया दिखाई देता है । युधिष्ठिर धर्मराज के प्रश्न करने पर उत्तर देते हुए अहिंसा के माहात्म्य का अतिशय बताया है । इस प्रकार भीष्मपितामह ने मांस भक्षण में अनेक दोष तथा अभक्षण में अनेक गुणों को बताकर विहित मांस भक्षण और विहित पशुवध का समर्थन किया है । अथर्ववेदसंहिता आदि के प्रमाणों से गौओं का भी प्रोक्षण कहा गया है, और उनका दान कर देना ही माना गया है, अन्यथा अनिष्ट परिणाम होगा । इसी कारण गौओं के क्षीर आदि का ही याग में प्रयोग किया गया है, उसी को कहीं-कहीं मांसादि शब्द से भी बोधन किया गया है ।

आतिथ्य आदि के लिये अन्य मांस का उपयोग रहने पर भी गोमांस का तो निषेध ही किया है, क्योंकि गौ को अघ्न्या कहा गया है । किन्तु आर्य समाजी युधिष्ठिर न ब्राह्मणग्रंथों को प्रमाण मानते हैं और न ही अपनी चार पुस्तकों वाली संहिता के अतिरिक्त संहिताओं को उनके मन्त्रों का प्रमाण मानते हैं । इस कारण कहना पड़ रहा है कि सचमुच हो उसने जैमिनि की मीमांसा को अपनी नास्तिकता से भर दिया है ।

अच्प्रत्ययविधानात्। मांसम् अस्ति अनेन इति मांसमिति व्युत्पत्त्या शरीरे येन मांसमुत्पद्यते तन्मांसपदेनोच्यते। मांसलमिति पदं तात्पर्याय भूतम्। मांसं लातीति तदर्थः। तथैतेन सारभागो मांसमुच्यते। खर्जूराम्रादिसारोऽपि मांसः।' कुमारिकामांसमपि तत्सार उच्यते। 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम् (ऋ० सं० ९।४६।४) इति निरुक्तोद्धृतमन्त्रे गोदुग्धमपि गोपदेनोच्यते। 'गोभिः श्रीणन्तः' (ऋ० सं० ८।२।३) इति मन्त्रे 'गोभिः गवि भवैः क्षीरादिभिः श्रपणद्रव्यैः श्रीणन्तः मिश्रीकुर्वन्तः' इति सायणोक्तेः।

'अथाप्यस्यातद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' (नि० रु० २।५।४) इति रीत्या मूलशब्दस्तद्धितप्रत्ययान्तार्थको भवति। तद्रीत्या वृक्षशब्दो वृक्षनिर्मिते धनुषि गौशब्दो गोभवे क्षीरे प्रयुज्यते। 'गोज्या' (ऋ० सं० १०।१७।२२) इत्यत्र गोचर्मनिर्मितायां ज्यायामपि गोशब्दः प्रयुज्यते।

'अंशुं दुहन्तो अध्यास्ते गवि' (ऋ० सं० १०।९४।९) इत्यत्र गोचर्मनिर्मितं पात्रं गोशब्दार्थः। 'गोभिः सन्नद्धो असि' (ऋ० सं० ६।४७।२६) गोश्लेष्मा गोपदार्थः। 'गोभिः सन्नद्धा' (यजुः) इत्यत्र गोस्नावा गोपदार्थः। 'वृक्षे नियता गौः (अ० वे० सं० १०।२७।२२)। अत्र गोचर्मरज्जुः गोपदार्थः।

तेन गोशब्दस्य दुग्धार्थकत्वे गोमांसपदस्य गोदुग्धसार एवार्थो भवितुमर्हति। 'मांसं मांसेन रोहतु' (अथर्ववे० सं० ४।१२।४) इत्यत्र कस्यचिदोषधस्य सारेण मांसवृद्धिरुक्ता। कदलीफले वल्कलं त्वगुच्यते। तदन्तस्थः सारभागो मांसशब्देन बोध्यते। गोशब्देन गोधूमोऽपि गृह्यते। गोधूमशब्दात् धूम इत्यस्य 'विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदलोपो वक्तव्यः' (पा० सू० ५।३।८३) इति वार्त्तिकेन लोपे गोशब्द एवावशिष्यते, तथा च गोमांसपदस्य गोधूमचूर्णोऽर्थः। 'गावः तण्डुलाः' (अथर्ववे० सं० ११।३।५), 'अन्नं हि गौः' (शत० ब्रा० ४।३।१।२५) इत्यादौ गोपदस्य तण्डुला अन्नञ्च अर्थो भवति।

गोशब्दस्यानेकार्थत्वेन गोशब्दस्य पशुसामान्यमर्थः। तत एव ऋग्वेदसंहितायाम् (१२४।११) इत्यत्र गवामश्वानामिति सायणभाष्यं दृश्यते। गवाम्—अघ्न्या इति नाम प्रसिद्धं तेन सर्वथा तद्वधो निषिद्धः। तथा च मन्त्रवर्णः 'मा गामनागामदितिं वधिष्ठ'।

'अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वा लभेत्तु यः॥ (म० शा० २६२।४७)।

मीमांसकम्मन्यः समाजी युधिष्ठिरस्तु न ब्राह्मणानां न वा संहिताचतुष्टयेतरसंहितामन्त्राणाञ्च प्रामाण्यं मन्यते। तेन सत्यमेव तेन मीमांसा लोकायतीकृता।

यत्तु—'शाखाब्राह्मणश्रौतसूत्रपूर्वमीमांसायुक्तिविरुद्धवेदादिप्रमाणविरुद्धमन्त्रार्थविपरीतमन्त्रार्थाननुसारि विनियोगानां दयानन्दः स्वामी प्रामाण्यं न मन्यते' इति, तत्तु समाजिनां नग्नचित्रप्रदर्शनमेव। स्वच्छन्दचारिणस्तस्य तदभिमतकतिचिन्मन्त्रसमूहातिरिक्तमन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य तदङ्गानां कल्पसूत्रमीमांसानां प्रामाण्यानभ्युपगमस्यैव वेदनिन्दकत्वेन नास्तिक्यात्। अश्वमेधीयाश्वमेधराजमहिषीसम्बन्धाश्लीलभाषणादिसम्बद्धदुस्तर्कस्य तु पूर्वमेव निराकरणं जातमेव।

यह जो कहा है कि 'शाखा ब्राह्मण, श्रौतसूत्र, पूर्वमीमांसायुक्तिविरुद्ध, तथा वेदादिप्रमाणविरुद्ध, मन्त्रार्थ विपरीत, मन्त्रार्थाननुसारी, किये जाने वाले विनियोगों का प्रामाण्य स्वामी दयानन्द नहीं मानते हैं'। वह तो समाजियों का नग्नचित्र है। स्वच्छन्दचारी समाजियों के अभिमत कतिपय मन्त्रसमूह के अतिरिक्त मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद और उनके अंगभूत कल्पसूत्र, मीमांसा आदि

तथा च शास्त्रान्तरेऽपियोगशास्त्रे हठयोगप्रदीपिकायाम्—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् । (हठयोगप्र० ३।४७)

न यथाश्रुतार्थो गृह्यते, किन्तु—

गोशब्देनोदिता जिह्वा यत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥
जिह्वाप्रवेशसञ्जातः सुषुम्णासोमसंभवः ।
चन्द्रात् स्रवति यः सारः सैवेहामरवारुणी ॥ (हठयोगप्रदीपका ३।४८-४९)

प्रस्थं कुमारिकामांसमित्यस्यापि न यथाश्रुतार्थग्रहणम्, किन्तु मांसशब्देनौषधविशेषस्य सार एव गृह्यते । 'कण्टकारिद्वयं छित्वा मधुना भक्षयेन्निशि ।।' इत्यत्र कण्टकारिपदेन औषधविशेषः कण्टकारिपदार्थो न चर्मपादत्राणम् ।

यत्तु—'कर्हिस्वित् सा त इन्द्र चेत्यासद् अघस्य यद् भिनदो रक्ष एषत् । मित्रक्रुवो यच्छसने न गावः पृथिव्या आपृग् अमुया शयन्ते ।।' (ऋ० सं० १०।८९।१४) ।

हे इन्द्र ! यद् अस्त्रं बाणं वा प्रक्षिप्य त्वया पापानि रक्षांसि छिन्नानि तदस्त्रं प्रक्षेप्तुं योग्यम् । यथा गवां वधस्थाने गावो भिद्यन्ते, तथैव त्वदीयेनास्त्रेण मित्रद्विषो राक्षसादयः पतित्वा मृत्वा शेरते इतिवेदे गोवधशाला वर्णनमिति, तदपि तुच्छम्, 'इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योते अदिते सरस्वति महिविश्रुति एता ते अघ्न्ये नामानि' (वा० सं० ८।४) इत्यत्र गवामघ्न्येति मुख्यनामश्रवणविरोधात् ।

वैदिकनिघण्टुग्रन्थेऽपि 'गोनामानि' इति प्रकृत्य 'अघ्न्या उस्रा उस्रिया मही अही अदितिः' (निघ० २।४) इति नामान्युक्तानि । 'गवां यः पतिरघ्न्यः' (अथर्ववे० सं० ९।४।१७) इति वृषभस्यापि अघ्न्य इति नामोक्तमतो नासौ हन्तुं योग्यः । 'अघ्न्यो भवति' (नि० ११।४३।२) इति निरुक्तेऽपि तथैवाभ्युपगमात् । सर्वत्र वेदे गवामघ्न्यापदेन व्यवहारः । तद्यथा—'अघ्न्या भरति क्षीरम्' (ऋ० सं० १०।८७।१६) (वा० सं० १।१) सामसंहिता उत्तरार्चि (३।१५।३) (अथर्व वे० सं० १९।१६।२) तथा च तत्र वेदे—गवां हननस्य गोवधशालायाश्च दर्शयितुमशक्यत्वात् । अनेकार्थकानां शब्दानामर्थनिर्णायिकेषु संयोगादिषु औचितीपदार्थोऽपि भवति । यथा—'गौरेका तु मनस्विनः' नात्र मनस्विपुरुषस्यैकैव गोर्भवतीत्यर्थः, मनस्विन एकैव वाग्भवति, 'रामो द्विर्नाभिभाषते' इतिवत् । मृगशब्दस्य हरिणोऽर्थः प्रसिद्धस्तथापि पशवोऽपि मृगाः । (अमरको० ३।३।२०) इति रीत्या पशुसामान्यमपि मृगपदार्थः । अत एव 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति' (नीतिशतक) इति प्रयोगः । तैलशब्दस्य तिलस्नेहोऽर्थस्तथापि सार्षपेऽपि तैलशब्दः प्रयुज्यते । गोष्ठशब्दस्य गोस्थानवाचकत्वेऽपि 'गोष्ठजादयः स्थानादिषु पशुनामभ्यः' (पा० सू० ५।२।२९) इति कात्यायनवार्त्तिकरीत्या सर्वपशूनां स्थानस्य बोधकत्वं दृश्यते । तथैव गोशब्दः

को प्रमाण न मानना ही नास्तिकता है और वेदनिन्दकता है । अश्वमेधीय अश्व-राजमहिषी सम्बन्ध, अश्लीलभाषणादि से सम्बद्ध दुस्तर्क का निराकरण पहले ही किया जा चुका है ।

तथाच अन्यान्य शास्त्रों में भी जैसे योगशास्त्र की हठयोगप्रदीपिका में ऐसे शब्दों का प्रयोग है, जिनका यथाश्रुत अर्थ नहीं लिया जाता । जैसे 'कण्टकारि' शब्द का यथाश्रूत अर्थ, आयुर्वेद में नहीं लिया जाता । यह जो कहा कि 'ऋ० सं० १०।८९।१४ में गोवधशाला का वर्णन किया गया है ।' वह भी निःसार है । क्योंकि वाज० सं० ८।४ में गो का 'अघ्न्या' यह मुख्य नाम बताया गया है ।

वैदिक निघण्टु ग्रन्थ में भी गो के नाम परिगणन में अघ्न्या आदि अनेक नामों की गणना की गई है । अथर्ववेद में वृषभ को भी 'अघ्न्य कहा है । निरुक्तकार ने भी वैसे ही कहा है । वेद में सर्वत्र तथाच वेद में गौ का हनन और गो वधशाला का वणन कहीं भी नहीं है । अनेकार्थक शब्दों के अर्थ निर्णायक संयोगादि में एक 'औचिती' पदार्थ को भी बताया गया है । जैसे 'गौरेका तु मनस्विनः' का अर्थ यह मनस्वी पुरुष को एक ही गाय होती है,—नहीं किया जाता । किन्तु अर्थनिर्णायक औचिति पदार्थ के बल पर गोपद का अर्थ 'वाक्' किया जाता हैं, और उक्त वाक्य का अर्थ—रामो द्विर्नाभिभाषते, के समान मनस्वी पुरुषको एक ही वाक् होती है—किया जाता है । मृग

प्रसिद्धगोवाचकोऽपि पशुसामान्यबोधको भवति। स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले। लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गोः' (अमर० ३।३।२५) इति कोषात्। 'गौर्वाहीकः' अत्रापि गोशब्दः पशुबोधकः। अत एव (ऋ० सं० १।११।५) इत्यत्र गोमत इत्यस्य गृहीतपशोरिति वेङ्कटमाधवभाष्यम्।

'अथापि गौरिति पशुनाम भवति एतस्मादेव' (नि० २।५।३) इति यास्काचार्यः। (ऋ० सं० १०।१४६।३) इति मन्त्रे गाव इत्यस्य गवयाद्या मृगा इति व्याख्यानं सायणभाष्ये। महाभारते वनपर्वणि रन्तिदेवकथाप्रसङ्गे—

'अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तदा' २०८।९। इत्यत्र गोशब्दप्रयोगः। द्रोण पर्वणि तस्यामेव कथायाम्—

उपस्थिताश्च पशवः स्वयं यं शंसितव्रतम्।
बहवः स्वर्गमिच्छन्तः विधिवत्सत्रयाजिनम्॥ (६७।४)

अत्र गोस्थाने पशव उक्तास्तेन पूर्वत्रापि गोपदेन पशव एवोक्ता न गावः। गोपशुशब्दयोः पर्य्यायत्वञ्च सिद्ध्यति। अत एव गोयुगच्प्रत्ययेन उष्ट्रगोयुगं गोगोयुगमित्यादिप्रयोगाश्च भवन्ति। अन्यथा उष्ट्रगोयुगमित्यन्तगोपदप्रयोगस्य को वा अर्थः स्यात्? गोशब्देन साकं गोयुगप्रयोगवैयर्थ्यञ्च। तथैव 'अश्वषड्गवम्' (पा० सू० ५।२।२९) आदिपाणिनिप्रयोगात्। हितोपदेशे च—'अनेकगोमानुषाणां वधाद् मे पुत्रा मृताः' इति कथापि गोशब्दस्य पशुसामान्यवाचकत्वं सिद्ध्यति, 'पशूनामेव मनुष्यप्रतिद्वन्द्वित्वोपपत्तेः। अन्यथैकस्य विशेषवाचकत्वमपरस्य सामान्यवाचकत्वं न स्यात्, 'गोब्राह्मणवधात्। इतिवदुभयोः विशेषवाचकत्वेन गोपदेन गवामेव बोधात्। तस्मादुक्तमन्त्रे गोशब्दस्य पशुसामान्यवाचकत्वमेव, गवां वेदेषु अघ्न्यापदवाच्यत्वेन हननासंभवात्।

अत एव सायणाचार्येण 'शसने विशसनस्थाने गावो न पशव इव' इति व्याख्यातम्। गोशब्दस्य पशुसामान्यार्थत्यागेन गोविशेषार्थग्रहणे उपमेये विशेषत्वानुपपत्तेः। न चोपमानेन विधिः सिद्ध्यति। अन्यथा न 'जारं कन्या।' (ऋ०

शब्द का प्रसिद्ध अर्थ 'हरिण' है, तथापि सर्वसाधारण पशुओं के लिये भी 'मृग' कहा जाता है। अतएव 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति' कहा गया है। 'तैल' शब्द का अर्थ, तिलस्नेह है, तथापि सार्षप में भी तैल शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'गोष्ठ' शब्द, गो स्थान का वाचक है, तथापि कात्यायनवार्तिक के अनुसार वह सम्पूर्ण पशुओं के स्थान का बोधक है। उसी तरह 'गो' शब्द, प्रसिद्ध गो वाचक होता हुआ भी पशु सामान्य का भी बोधक होता है।'गौर्वाहीकः' में भी गौ शब्द, पशु बोधक है। अतएव ऋ० सं० १।११।५ के मन्त्रों में 'गोमतः' का अर्थ 'गृहीतपशोः' वेङ्कट माधव भाष्य में किया है।

इसी प्रकार निरुक्त (२।५।३), ऋ० सं० (१०।१४६।३), का सायणभाष्य, महाभारत के वनपर्व में रन्तिदेव की कथा केप्रसंग में गो शब्दका प्रयोग, पशु सामान्य के अर्थ में ही किया गया है। इन सबसे गो और पशु शब्दों का पर्यायत्व सिद्ध होता है। अतएव 'द्वित्वे गोयुगच्' वार्तिक के अनुसार 'गोयुगच्' प्रत्यय लगाकर छबुष्ट्रो—उष्ट्रगोयुगम्, गोगोयुगम् इत्यादि प्रयोग हुआ करते हैं। अन्यथाउष्ट्रगोयुगम् में 'गो' पदप्रयोग का क्या अर्थ होगा? गो गोयुगम् में गो शब्द के साथ गोयुग का प्रयोग.व्यर्थ ही होगा। उसी तरह 'अश्वषड्गवम्' में 'षट्त्वे षड्गवच्' वार्तिक से षड्गवच् प्रत्यय लगाने से गो शब्द का पशुसामान्य अर्थ स्पष्ट हो जाता है। हितोपदेश में भी 'अनेक गोमानुषाणां वधान्मे पुत्रा मृताः' इस कथा से गो शब्द की पशुसामान्य वाचकता स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि पशुओं में ही मनुष्य की प्रतिद्वन्द्विता उपपन्न होती है। अन्यथा एक की विशेषवाचकता और दूसरे की सामान्यवाचकता नहीं बन सकेगी। क्योंकि दोनों के विशेष वाचक होने से गो पद से गाय का ही बोध होगा। तस्मात् उक्तमन्त्र में गो शब्द की पशुसामान्यवाचकता ही हैं, गाय को तो वेदों में अघ्न्या पद से बताया गया है, अतः उसका हननतो संभव ही नहीं हैं।

अतएव सायणाचार्य ने 'शसने' विशसने स्थानेगावो पशव इव' ऐसी व्याख्या की है। गोशब्द का पशुसामान्य अर्थ त्यागकर गोविशेष अर्थ का यदि ग्रहण किया जाय तो उपमेय में विशेषता उपपन्न नहीं हो पायगी। उपमान से विधिसिद्ध नहीं होता। अन्यथा 'जारं न कन्या' (ऋ० सं० ९।५६।५) इत्यादि उपमानों के बलपर स्त्रियों के जार सम्बन्ध को भी वेद सम्मत कहनाहोगा। वस्तुतः उक्त मन्त्र में युद्धवर्णन ही है, अतः 'शसने शत्रुपक्षीय युद्धस्थले' इसी प्रकार व्याख्या की है। तथाच जैसे मृगया स्थल में बाणों से पशु सो जाते हैं, वैसेही युद्धस्थल में

सं० ९।५६।५) इत्यादिभिरुपमानैः स्त्रीणां जारसम्वन्धस्य वेदसम्मतत्वापत्तेः । वस्तुतस्तूक्तमन्त्रें युद्धवर्णनमेव । अतः शसने शत्रुपक्षीययुद्धस्थले इत्येव व्याख्यातम् । तथा च यथा शसने मृगयास्थले बाणैः पशवः शेरते, तथैव शसने युद्धस्थले त्वया हताः शत्रवः शेरते ।

अतो राजर्षयः सर्वे मृगयां यान्ति भारत ।
नहि लिप्यन्ति पापेन न चैतत्पातकं विदुः ॥

(म० भा० अनु० ११६।१८-१९)

नात्र यथा गोवधस्थाने गावो हन्यन्ते इत्यर्थः, किन्तु मृगयास्थले यथा मृगाद्याः पशवो हताः शेरते तथा त्वया युद्धस्थले हता शत्रवः शेरते इत्येवार्थः । 'अनागा वै भीमा' (अथर्ववे० सं० १०।१।२९) इति निरपराधहत्यायाः भयङ्करत्वोक्तेः । यथा श्रीकृष्णेन वृषासुरधेनुकासुरादयः श्रीरामेण च मारीचाद्या मृगा हतास्तद्वत्तदुपपत्तेः । मृगयास्थलेऽपि प्रायेण वृकव्याघ्रादय एव हन्यन्ते । 'हम क्षत्रिय मृगया वन करहीं । तुम जस खल मृग खोजत फिरहीं ॥' इति रामचरितमानसे गोस्वामितुलसीदासोक्तेः । तस्मादत्र मन्त्रे गाव इति पदेन वृकव्याघ्रादयः पशव एव विवक्षिताः ।

वेदेषु गावो यथा अघ्न्या अहन्तव्या उच्यते, तथैवादितिः (वा० सं० ८।४३) अखण्डनीया अपि उच्यन्ते । 'गावो गोष्ठे असदन्' (ऋ० सं० १।१९१।४) गावो गोशालायां तिष्ठन्तीत्येवं वेदे दृश्यते । यदि प्रतिपक्षसम्मतोऽप्यर्थोऽभ्युपगम्येत, तदापि तादृशी गोवधशालाऽपि राक्षसानामेव स्यात् । तथात्र यथा राक्षसानां गोवधशालासु राक्षसैर्हता गावः शेरते तथा हे इन्द्र युद्धस्थले त्वया हता राक्षसाः शेरते इत्यर्थेऽपि न क्षतिः । तावताऽपि गोघातो राक्षसानामेव कार्यं न मनुष्याणामित्येव सिद्धयति । गोघातकानां तु वध एव युज्यत इति । 'यो नो गां हंसि……तं त्वा सीसेन विध्यामः' (अथर्ववेदसं० १।१६।४) इति मन्त्रोक्तेः । इति सनातनधर्मालोके ।

तत एव 'औक्षेण वा आर्षभेण वा' (बृ० उ० ६।४।१८) इत्यत्रापि न वृषभमांसविधानमस्ति, वृषभस्याप्यघ्न्त्याविशेषात् । औक्षेण आर्षभेणेति पुनरुक्तिदोषापाताच्च । यत्तु—औक्षेण लघुबृहद्भेदेन तद्भेद इति तदप्यसंगतम्, तथात्वे मांसभेदानुपपत्तेः । देहि मे वाजिनं राजन् गजेन्द्रं वा मदालसमितिवद्दुष्क्रमदोषापत्तेश्च । आर्षभेण तदभावे औक्षेण इति क्रमस्य वक्तव्यत्वापाताच्च । तत्रैव १४ कण्डिकायां क्षीरौदनं पाचयित्वा १५ कण्डिकायां दध्योदनं पाचयित्वा इत्युक्तम् १६ कण्डिकायामुदौदनं पाचयित्वा इत्युक्तम् । १७ कण्डिकायां दुहितुः प्राप्त्यर्थं तिलौदनं पाचयित्वोक्तमिति कथमष्टादशकण्डिकायां सर्ववेदवक्तृपुत्रप्राप्त्यर्थं मांसौदनं पाचयित्वेति वदेत् । किञ्च, औक्षेण वा आर्षभेण वा इति तृतीययोर्न मांसेन विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धोऽपि संभवति, समानविभक्तिकत्वाभावात् ।

तुम्हारे द्वारा मारे गये शत्रु सोते हैं । अतः यहाँ पर जैसे 'गोवध स्थान में गौऍं मारी जाती हैं' यह अर्थ नहीं है । किन्तु मृगया स्थल में जैसे मृगादि पशु मारे जाने पर सोते रहते हैं, वैसेही तुम्हारे द्वारा युद्धस्थल में मारे गये शत्रु सो रहे हैं, यही अर्थ है । क्योंकि अथर्ववेदने निरपराधहत्या को भयङ्कर बताया है । जैसे श्रीकृष्ण ने वृषासुर, धेनुकासुर आदि श्रीराम ने मारीच आदि मृगों को मारा उसी तरह यहाँ पर उपपत्ति हो जाती है । मृगयास्थल में भी प्रायः वृक-व्याघ्र आदि ही मारे जाते हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी यही कहा है—"हम क्षत्रिय मृगया वन करहीं । तुम जस खल मृग खोजत फिरहीं ।" तस्मात् इस मन्त्र में गो पद से वृक, व्याघ्रादि पशुओं की ही विवक्षा की गई है ।

वेदों में गाय को जैसे अवध्य कहा गया है, उसी तरह उसे अखण्डनीय भी कहा गया है । 'गावो गोष्ठे असदन्' (ऋ० सं० १।१२१।४) के अनुसार स्पष्ट,हैं कि वेद में गौएँ गोशाला में स्थित रहती है । यदि समाजीसम्मत अर्थ को भी मानलें तो भी राक्षसों की ही वह गोवधशाला होगी तथा च जैसे राक्षसों की गोवधशालाओं में राक्षसों के द्वारा मारी गई गौएँ सोती हैं, वैसे ही हे इन्द्र ! युद्धस्थल में तुम्हारे द्वारा मारे गए राक्षस सो रहे हैं, इस प्रकार अर्थ करने में भी कोई हानि नहीं है । इससे भी यही सिद्ध होता है कि गोवध, राक्षसों का ही कार्य है, मनुष्यो का नहीं । वेद कहता है कि गोघातकों का तो वध ही उचित है ।

किञ्च मांसौदनमित्यत्र न समाहारद्वन्द्वः संभवति। तिलौदनमित्यत्र तु 'विभाषा मृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुनि' (पा० सू० २।४।१२) इति सूत्रे व्रीहियवम् इतिवत् धान्यत्वात् सम्भवति। मांसस्य धान्यत्वाभावात्। तेनात्र मांसपदेन धान्यस्यैव ग्रहणे संगतिर्भवति नान्यथा। तस्मात्

अतो माषान्नमेवैतद् मांसार्थे ब्रह्मणा स्मृतम्।
पितरस्तेन तृप्यन्ति श्राद्धं कुर्यान्न तद्विना॥
यथा बलिष्ठं मांसत्वाद् माषान्नमपि तत्समम्।
सौगन्धिकञ्च स्वादिष्ठं मधुरं द्रव्यभेदतः॥

(प्रजापतिस्मृतिः, १५२-१५३)

पौष्टिकपदार्थस्यापि मांसलत्वात् 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पा० सू० ५।२।१२७) इत्यच्प्रत्ययान्तमांसशब्देन तस्य ग्रहीतुं शक्यत्वात्। तथा ओक्षेण आर्षभेण स्वरसेन युक्तस्य घृताक्तमाषौदनस्यैवात्र ग्रहणं युक्तम्। उपवेदभूतायुर्वेदे उक्षन् इत्यस्य सोमात्मकमौषधमर्थः। तत एव सायणेन (ऋग्वेदसंहितायां १।१६४।४३) इति मन्त्रभाष्ये सोम उक्षाऽभवत् इत्युक्तम्। ऋषभक शब्दोऽप्यौषधवाचक एव।

यानि भद्राणि वीजानि ऋषभा जनयन्ति च।
तैस्त्वं पुत्र विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव॥

(अथर्ववे० सं० २।२।३३)

इति ऋषभौषधसेवनेन पुत्रप्राप्तिश्रवणात्।

ऋषभो मधुरः शीतो गर्भसन्धानकारकः।
शुक्रधातुकफानाञ्च कारको बलदायकः॥
वृष्यः पुष्टिकरः प्रोक्तः पित्तरक्तातिसारजित्।

इति निघण्टुरत्नाकरवचनाच्च।

'जीवकर्षभको बल्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ।' (२।१)

इति भावप्रकाशवचनाच्च। सोमस्य वेदसम्बन्धाद् औक्षेण रसेनाक्तस्य माषौदनभक्षणेन वेदवक्तृ पुत्रजनिरुपपद्यतेतराम्। तत एव सौक्षेणेत्यस्य प्राथम्यम्।

न बृहदारण्यकवचनेन वृषभमांसभक्षणं विधातुं शक्यते, अघ्न्यत्वबोधकमन्त्रविरोधात्। यथा भुक्तस्यान्नादेः प्रथमपरिणामो रसो भवति, द्वितीयो रुधिरो धातुर्भवति, तृतीयो मांसधातुश्चतुर्थो वसाधातुः, पञ्चमोऽस्थिधातुः, षष्ठो मज्जाधातुः, सप्तमो वीर्यधातुर्भवति, तथैव वृक्षफलादिष्वपि। मनुष्यस्य त्वच उत्पाटने रुधिरस्येव, आम्रस्य वल्कलापसारणे रसो दृश्यते। तस्य घनीभूतांशो मांसस्थानीयः कठिनोऽष्टिरस्थिस्थानीयः।

अत एव कादम्बर्यां 'शिलाशकलप्रहारसञ्चूर्णिताष्टिसञ्चय' इत्यत्र अष्टेरस्थित्वमुक्तम्। यदपि च 'राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा। पचेत एवमस्मै एतदातिथ्यं करोति' (श० ३।४।१।२), 'अथापि ब्राह्मणाय वा राजन्याय वा

इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वृषभमांस का भी विधान नहीं है। क्योंकि गौ के तुल्य वृषभ को भी अघ्न्य बताया है। यह जो कहा है कि औक्षेण कहने से छोटे बड़े का भेद होने से उसका भेद होगा कि यह कहना भी उचित नहीं हैं। क्योंकि वैसा माननेपर मांसभेद अनुपपन्न होगा और दुष्क्रम दोष भी होगा। और वहीं पर बृहदारण्यक के १४वीं कण्डिका में

अभ्यागताय महोक्षं वा महाजं वा पचेत । एवमस्य आतिथ्यं कुर्वन्ति ।' (वशिष्ठस्मृति ४।८) 'यथैवादो मनुष्यराजे आगते अन्यस्मिन् वा अर्हति उक्षाणां वा वेहतं क्षदन्ते । (ऐतरेयब्रा० १।१५) गोघ्नः, गां हन्ति अस्मै 'दासगोघ्नौ सम्प्रदाने' (पा० सू० ३।४।७३) इत्यादिवचनैर्यद्यपि राज्ञां वा ब्राह्मणानां वाऽन्येषां वार्हतामातिथ्ये गवामालम्भः प्रतीयते, तथापि नात्र गवां वधोऽर्थः, यतो हि वसिष्ठस्मृतौ 'न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः' इत्युक्तम् । मनुस्मृतौ च 'न च प्राणिवध' इत्युक्तम् । तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ।

शतपथस्य याज्ञवल्क्यः प्रवक्ता, स एव च याज्ञवल्क्यस्मृतेः कर्ता । तदीयस्मृतावपि—'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत् । सत्क्रियान्वासनं स्वादुभोजनं सूनृतं वचः ॥' (याज्ञवल्क्यस्मृति, १।१०९) । अनया स्मृत्या श्रुत्यभिप्रायो ज्ञातुं शक्यते । 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' (रघु० म० का० २।२) इति महाकविसूक्तेः । इत्थं स्मृतिवचनमिदं व्याख्यातं मिताक्षराकारैः—महान्तमुक्षाणं धौरेयं महाजं वा श्रोत्रियाय उपकल्पयेद् भवदर्थमयमस्माभिः परिकल्पित इति तत्प्रीत्यर्थं यथा सर्वमेतद्भवदीयमिति न तु दानाय व्यापादनाय वा, प्रतिश्रोत्रियमुक्षाऽसंभवात् । 'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु' इति निषेधाच्च । तस्मात् सत्क्रिया ह्येव कर्तव्या ।

शतपथेऽपि 'पचेत्' इत्यस्य व्यक्तीकुर्याद् इत्येवार्थः । 'पचि व्यक्तीकरणे' इति धात्वर्थानुरोधात् । बालमनोरमायां चौखम्भासंस्करणे पचेत्येके पचिधातोः पाठभेदः पच इत्यपीत्यर्थः । तेन व्यक्तीकरणमर्थः । तथात्वे स्मृतिवचनेनैकवाक्यतापि । व्यत्ययेन शतपथे परस्मैपदप्रयोगः । सायणसम्मतश्चायमर्थः । 'उक्षाणं पृश्निमपचन्त' (ऋ० सं० १।१६४।४३) इति मन्त्रे उक्षाणं फलस्य सेक्तारं सोमम् ऋत्विजः अपचन्त पचधात्वर्थानादरेण पचिः करोत्यर्थकः । स च क्रियासामान्यवचनः, अत औचित्यात् सम्पादितवन्त इति सायणाचार्यव्याख्यानम् । न केवलं सायणः पचधातोः पाकार्थतामुपेक्ष्य क्रियासामान्यवचनतया सम्पादितवन्त इति व्याख्यातवान्, किन्तु दिङ्नागोऽपि सम्पादनार्थे पचिधातुं प्रयुक्तवान् । 'इक्ष्वाकूणाञ्च सर्वेषां क्रियाः पुंसवनादिकाः । अस्माभिरेव पच्यन्ते·····' (कुन्दमाला १।३१) अत्र स्पष्टं पुंसवनादिक्रियासम्पादनमेवार्थः । 'नमो मत्स्यकूर्मादिनानास्वरूपैः मखादिक्रियापाककर्त्रे' इति पुराणस्तोत्रेऽपि पाककरणस्य उपकल्पकः साधको वार्थः । तस्मात् शतपथवचने पचेदित्यस्य उक्षादीवां सारमुपकल्पयेदित्यर्थो न पाकं

क्षीरौदन पकाकर, १५वीं कण्डिकामें दध्योदन पकाकर कहा है, १६वीं कण्डिकामें उदौदन पकाकर कहा, १७वीं कण्डिकामें विदुषी कन्या के प्राप्त्यर्थ तिलौदन पकाकर कहा । और १८ वीं कण्डिका में पहुँचकर सर्ववेदप्रवक्ता पुत्र के प्राप्त्यर्थ मांसौदन पकाकर कहे, यह कैसे संभव हो सकता है ? किञ्च औक्षेण, आर्षभेण इन तृतीयान्त पदों का मांस के साथ विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्ध भी संभव नहीं है, क्योंकि समानविभक्ति नहीं है । किञ्च 'मांसौदनम्' में समाहार द्वन्द्व भी नहीं हो सकता । 'तिलौदनम्' में तो विभाषावृक्षमृग०' (पा० सू० २।४।१२) सूत्र से 'व्रीहियवम्' की तरह धान्य होने के कारण हो सकता है । इसलिये यहाँ पर मांस पद से धान्य के ग्रहण करने पर ही संगति हो सकती है, अन्यथा नहीं । मांस का प्रयोजन माषान्न से भी सम्पन्न होता है, ऐसा प्रजापति स्मृति में १५२-५३ में कहा है । उसी तरह आयुर्वेद में ऋषभ शब्द औषधवाचक बताया गया है । जैसे भुक्त अन्न का प्रथम परिणाम 'रस', द्वितीय 'रुधिर धातु' तृतीय 'मांसधातु', चतुर्थ 'वसाधातु', पंचम 'अस्थिधातु' षष्ठ 'मज्जाधातु, सप्तम 'वीर्यधातु', होता है, वैसे ही वृक्षफल आदि में भी है । मनुष्य की त्वचा का उत्पादन करने पर रुधिर की तरह आम्र के वल्कल को हटाने पर 'रस' दिखाई देता है, उसका घनीभूत अंश, मांसस्थानीय है, कठिन अष्टि (गुठली), अस्थिस्थानीय है ।

अतएव स्मृति, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी आदरणीय अतिथि के आतिथ्य के लिये गवालम्भ सुनाई देता है, वहाँ 'गौ का वध' उसका अर्थ नहीं समझा जाता है, क्योंकि वसिष्ठ स्मृति में ही कहा है कि 'न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः' । अतः मांस का वर्जन करना ही समुचित है । एवं च अतिथि का सत्कार करना चाहिये, इतना ही उसका तात्पर्य है ।

उसी तरह शतपथ में भी 'पचेत्' का अर्थ 'व्यक्तीकुर्यात्' ही किया गया है । तभी स्मृतिवचन के साथ एकवाक्यता भी हो सकती है । जहाँ कहीं 'पच्' को करोत्यर्थक बताया है वहाँ उसे क्रियासामान्य का वाचक समझना चाहिये । इसी कारण सायणाचार्य ने 'सम्पादितवन्तः' यह अर्थ करने में ही औचित्य का अनुभव किया । दिङ्नाथ ने भी सम्पादन अर्थ में पच् धातु का प्रयोग किया है ।

कुर्यादित्यर्थः। अत एव शतपथस्याभिप्राय एव याज्ञवल्क्यस्मृतौ ज्ञेयम्, याज्ञवल्क्येनैव स्पष्टं उपकल्पयेदिति व्याख्यानात्। न चायं स्मृतिकारो याज्ञवल्क्यः शतपथद्रष्टुरन्य इति कल्पनं युक्तं मानाभावात्। 'द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्च धर्मशास्त्रस्य अप्रामाण्यानुपपत्तिः। ये एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खलु इतिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य च' (४।१।६२) इति गोतमसूत्रे वात्स्यायनभाष्यविरोधाच्च।

तेन याज्ञवल्क्यदृष्टायाः शतपथश्रुतेर्याज्ञवल्क्यप्रोक्तस्मृतिसम्मत एवार्थो ग्राह्यः, न चात्र भाषाभेदस्तयोरैक्ये बाधकः, श्रुतिस्मृतिभेदेन भाषाभेदस्य स्वाभाविकत्वात्।

शतपथब्राह्मणं याज्ञवल्क्येन सूर्यादवाप्तम्। 'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' (श० १४।९।४।३३) इति शतपथोक्तेः।

'मयादित्यादवाप्तानि यजूंषि वसुधाधिप' (म० भा० शा० प० ३१८।१)। ततः शतपथं कृत्स्नं चक्रे…।(प्रकाशितवान्) सपरिशेषं च (म० भा० शा० प० ३१८।११९)।

याज्ञवल्क्यस्मृतिरपि तन्निर्मिता 'मिथिलास्थः स योगीन्द्रः (याज्ञवल्क्यः) क्षणं ध्यात्वाऽब्रवीन्मुनीन्॥' (१।२) इति। तस्माद् याज्ञवल्क्यस्मृतिप्रोक्त एव शतपथवचनस्यार्थः।

वसिष्ठस्मृतेरपि तदनुसार्येवार्थो व्याख्यातः टीकाकृता श्रीकृष्णधर्माधिकारिणा गृहागताय अस्य गृह आगताय महोक्षाणां वलीवर्दं महाजं वा पचेत्। भवदर्थमित्युपकल्पयेत्, न पाकं कुर्यात्, प्रत्यभ्यागतमुक्षासंभवात्। 'एवमस्मै अभ्यागताय आतिथ्यं सत्क्रियां क्रियासुः' (व० स्मृ० ४।८)।

अतिथिग्वशब्दस्यापि तादृश एवार्थः सायणेनोक्तः। अतिथ्यर्था गावो यस्यासौ अतिथिग्वः (अथर्ववे० सं० २०।२१।८)। अतोऽतिथिसत्कारार्था एव गावो न वधार्था उक्ताः, उपकल्पयेदिति याज्ञवल्क्यस्मृतिवचनस्य दद्यादित्यर्थसंभवात्।

उत्तररामचरितस्य चतुर्थाङ्के—'श्रोत्रियाय अभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा निर्वपन्ति गृहमेधिनः' इत्युद्धृते धर्मसूत्रवचने 'निर्वपन्ति' इत्यस्य 'ददति' इति टीकाकारैर्व्याख्यातत्वात्। (२।७।३०) इति अमरकोषे निर्वपणशब्दस्य दानपर्यायवाचकेषु पठनाच्च।

वेदेषु सर्वत्र गवां वृषभाणाञ्च अघ्न्या, अघ्न्यः, अदितिः—इत्यादिशब्दैर्व्यवहरणान्न क्वापि वधो विहितः।

'गौर्मधुपर्कः स्यात् स्नातकाय उपस्थिताय राज्ञे वा' (२।८।८) इत्यापस्तम्बसूत्रेऽपि गोदानमेवेष्टम्, न वधः।

'अर्हयेत् प्रथमं गवा' (मनु० ३।३) इत्यत्रापि गोदानेन अर्हणं पूजनमेवोक्तम्, गौर्मधुपर्क इत्यत्रापि लुप्ततद्धितप्रक्रियया गवां नवनीतघृतदुग्धादिभिः सत्कार एवेष्टः। 'नामांसो मधुपर्कः स्यात्' इत्यस्यापि मधुपर्कस्य मांसलत्वं पुष्टि-

इसी प्रकार 'अतिथिग्व' शब्द का भी अर्थ सायण ने किया है। 'अतिथ्यर्था गावो यस्यासौ अतिथिग्वः' अतः अतिथि के सत्कार के लिये ही गाय है, वधार्थ नहीं। याज्ञवल्क्यस्मृतिगत 'उपकल्पयेत्' का अर्थ 'दद्यात्' किया गया है।

उसी तरह उत्तररामचरित के चतुर्थ अङ्क में उद्धृत किये हुए धर्मसूत्र के वचन में 'निर्वपन्ति' शब्द का प्रयोग किया है, और टीकाकार ने उसकी व्याख्या 'ददति' शब्द से की है। और अमरकोषकार ने भी दानपर्यायवाचक शब्दों में उसे (निर्वपणशब्द को) पढ़ा है।

वेदों में सर्वत्र गाय वृषभ के लिये 'अघ्न्या', 'अघ्न्यः', 'अदितिः' आदि शब्दों का व्यवहार किया गया है, अतः कहीं भी उसका वध विहित नहीं है। 'गौर्मधुपर्कः स्यात्ः' इस आपस्तम्ब सूत्र में भी 'गोदान' ही इष्ट हैं, वध नहीं।

'अर्हयेत् प्रथमं गवा' (मनु० ३।३) में भी गोदान से अर्हण (पूजन) ही कहा गया है। 'गौर्मधुपर्कः' में भी लुप्ततद्धित प्रक्रिया से गौ के नवनीत, घृत, दुग्ध आदि के द्वारा सत्कार करना ही इष्ट है। 'नामांसो मधुपर्कः स्यात्' यहाँ भी मधुपर्क का मांसलत्व (पुष्टिकारकत्व) ही अभिप्रेत है, निःसारत्वनिषिद्ध है। 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पा० सू० ५।२।१२७) सूत्र से मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय लगाकर 'मांसमस्ति भवति येन तस्य' इस प्रकार 'मांस' शब्द के अर्थ भी उपपत्ति लग जाती है।

करत्वमेवाभिप्रेनम्, निःसारत्वं निषिद्धम् । 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पा० ५।२।१२७) इति मत्वर्थीयेनाच्प्रत्ययेन मांसमस्ति भवति येन तस्येति मांसशब्दार्थोपपत्तेः ।

'परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षविद्विषः' (गोपथब्राह्मण १।१।१) इति न्यायेन वेदे परोक्षभाषयाऽनेकार्थानामुक्तत्वात् । अत एव पाकः 'अहम्' (ऋ०सं० १०।२८।५) इत्यत्र न पाकार्होऽहमित्यर्थः, किन्तु सायणानुसारेण 'पक्तव्यप्रज्ञः' इत्येवार्थः । निरुक्ते विपक्वप्रज्ञः (३।१२।१) इत्यर्थ उक्तः । पक्वमन्त्रमित्यर्थे सिद्धमन्नमित्यपि प्रयोगो दृश्यते । विदग्धोऽयमित्यस्य चतुरोऽयमित्यर्थो भवति, न विशेषदग्ध इत्यर्थो भवति ।

'पचन्ति ते वृषभान् अत्सि तेषां' (ऋ० सं० १०।२८।३), 'वृषभं पचानि' (ऋ० सं० १०।२७।२) इत्यादिमन्त्रेष्वपि वृषभाणां दानमुपकल्पनं त्वदर्थमिति प्रकटीकरणम् सम्पादनं साधनं अलङ्करणं वार्थः, न पाककरणं हिंसनं वा । 'मा गामनागामदितिं वधिष्ठेति' विशेषनिषेधात्, अघ्न्यादिपदैरहन्तव्यत्वोक्तेश्च । अत्सीत्यस्यापि भक्षणं नार्थः, किन्तूपयोग एवार्थः । दायाद इत्यत्र दायस्योपयोग एवोक्तः, न भक्षणम् ।

यद्वा प्रकृते वृषभशब्देन वृषभनामकमौषधमेव विवक्षितं तस्यैवादनीयत्वात् । 'सोम उक्षाभवत्' (ऋ० सं० १।१६४।४३) इत्यत्र उक्षा सोम इत्यप्युक्तमेव । तथा चातिथीनां कृते सोमसम्पादनमेव उक्षाणं पृश्निमपचन्त इति मन्त्रस्यार्थः । उक्षा ऋषभकन्दोऽपि भवति । वृषभादिशब्दैरपि स उच्यते । मांसलोऽपि स इत्यप्युक्तमेव ।

राजनिघण्टुग्रन्थे उक्षा, गौः, वृषभः—इत्येते तस्य पर्यायवाचकाः शब्दा उक्ताः । अज इत्यस्यार्थः अजमोदा प्रोच्यते । महाजा बृहती अजमोदा (बड़ी अजवायन) । सा च भोजनपाकार्थमतिथीनामुपयोगिनी । बलवर्धनार्थमौषधीनां दानमपि युक्तमेव ।

'अजा व्रीहयः सप्त वार्षिका धाना उच्यन्ते' इति पञ्चतन्त्रकाकोलूकीयरीत्या—

अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि नो छागं हन्तुमर्हथ ।।

परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्ष विद्विषः' (गो० ब्रा० १।१।१) इस न्याय से वेद में परोक्षभाषा से अनेक अर्थों को बताया गया है । अतएव 'पाकः अहम्' (ऋ० सं० १०।२८।५) यहाँ पर 'मैं पाक के योग्य हूँ' यह अर्थ नहीं किया जाता, किन्तु सायण के अनुसार 'पक्तव्य प्रज्ञ' अर्थ ही किया जाता है । 'पक्वमन्नम्' इस अर्थ में 'सिद्धमन्नम्' ऐसा प्रयोग भी दिखाई देता है । 'विदग्धोऽयम्' का अर्थ 'चतुरोऽयम्' किया जाता है, न कि 'विशेष दग्ध' । जैसे 'दायाद' का अर्थ 'दाय का उपयोग' होता है, भक्षण नहीं ।

वैसे ही मन्त्रगत 'पचन्ति, पचानि, अत्सि' का अर्थ दान, सम्पादन, साधन, अलङ्करण आदि होता है, न कि पाककरण या हिंसन । क्योंकि 'मागामनागामदितिं वधिष्ट' इस प्रकार विशेषरूप में वध का निषेध किया गया है । और 'अघ्न्या' आदि पदों से उसे अहन्तव्य' भी कहा गया है । 'अत्सि' का भी अर्थ 'भक्षण' नहीं है, किन्तु 'उपयोग' ही अर्थ है । अथवा प्रकृत में 'वृषभ' शब्द से वृषभ नामक औषध ही विवक्षित है, क्योंकि वही खाने योग्य है । 'सोम उक्षाभवत्' (ऋ० सं० १।१६४।४३) मन्त्र में 'उक्षा' को 'सोम' कहा ही है । तथा च अतिथियों के लिये सोमसम्पादन करना ही 'उक्षाणं पृश्निमपचन्त' मन्त्र का अर्थ है । 'उक्षा नाम का ऋषभ कन्द भी होता है । वृषभ आदि शब्दों से भी उसे ही कहा जाता है । मांसल भी वह है, यह कही चुके हैं ।

राजनिघण्टु ग्रन्थ में उक्षा, गौः, वृषभः ये पर्याय शब्द उसके कहे गये हैं । 'अज' का अर्थ अजमोदा किया है । महाजा बृहती, अजमोदा (बडी अजवायन) है, अतिथियों के भोजन पकाने में उसका उपयोग किया जाता है । बलवर्धनार्थ औषधियों का देना भी उचित ही है ।

पञ्चतन्त्र के काकोलूकीय तथा महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार अजशब्द से सप्तवार्षिक चावल विवक्षित हैं,

(म० भा० शा० प० ३३७।४) इति रीत्याऽजशब्देन सप्तवार्षिकास्तण्डुला विवक्षिताः। तेषां पाकः, वृषभकन्दस्य सोमरसस्य वा पाक इष्टः।

वेदे गवां 'अघ्न्या' (वा० सं० २।८३) वृषस्य अघ्न्यः' (अथर्व वे० सं० ९।४।१७) इति नामोल्लेखात्। निघण्टौ 'अही २।११' (अहन्तव्या) इति नामनिर्देशात् अदितिः (अखण्डनीया) 'गां मा हिंसीरदितिं विराजम्' (वा० सं० १३।४३) इति निर्देशादन्येषां पशूनां तादृशानुल्लेखाच्च। 'गोघ्न' इति पदेनापि गोहननं न विज्ञायते, किन्तु अतिथिपूजायामर्थवाद एव गोघ्नशब्दः। अतिथिरेव प्रियो भवति यदर्थं गावोऽपि निर्मञ्छ्यन्ते। अथर्ववेदे अतिथिसूक्ते (१५।३।१-१०।९।६।२-६) मन्त्रेऽतिथिमाहात्म्यं स्पष्टम्। अतिथीनां सर्वाधिक्ये पूज्यत्वोक्त्या सर्वाधिकपूजनीयाया गोरपकर्षबोधनं तस्या वध एव, तेनातिथिर्गोघ्न उच्यते। अर्थवादे वाच्यार्थो न गृह्यते, किन्तु तात्पर्य्यार्थं एव गृह्यते।

महाभारते कर्णपर्वणि स्वप्रतिज्ञानुसारेण गाण्डीवं गर्हयन्तं युधिष्ठिरं हन्तुं प्रवृत्तमर्जुनं महत्सु त्वंपदप्रयोग-एव वधो नास्त्रवध इत्युक्त्वा कृष्णो निवारयामास (६९।८३-८६), अर्जुनस्तथैव कृतवान्। तदनन्तरं गुरौ युधिष्ठिरे त्वम्पदप्रयोगेण तदपमानग्लान्यात्मघाताय प्रवृत्तमर्जुनमात्मश्लाघैवावात्मवध इत्युक्त्वा तमात्मघातादपि निवर्तितवान् भगवान्। तस्माद् हिंसाऽपि नैकविधा भवति। तेनातिथिः स्वसत्कारसमये सर्वोत्कृष्टानां गवां स्वापेक्षया निम्नत्वख्यापनेन हिंसनं करोति, तेन गोघ्न उच्यते।

न गवां मरणहेतुत्वादतिथेर्गोघ्नत्वप्रसिद्धिः। पृषघ्नस्तु घोरे तपसि व्याघ्रभ्रान्त्या गुरोर्गां हत्वा चाण्डालत्वमुपजगाम। यद्यपि यथा निषिद्धत्वाद्धिंसाऽधर्मस्तथैव विहितत्वाद्धिंसा धर्मोऽपि भवति। अत एव हरदत्तादिभिरतिथये विहितत्वान्मांसस्य भक्षणीयत्वं सत्कर्तुस्त्वभक्षणीयत्वमेवोक्तम्, स्वात्मार्थं रागप्राप्तत्वेनाविहितत्वादिति। तथापि न हिंस्यादिति निषेधे सत्यपि विशेषेण गवामघ्न्यत्वोक्त्या 'मा गामनागामदितिं वधिष्ट' इति विशेषनिषेधस्य वैयर्थ्यापत्त्या च तद्धिंसायाः सर्वथाऽपि विद्धयगोचरत्वमेव ज्ञाप्यते, विधीनामन्यपरत्वेन विध्यसत्त्वेन हिंसाविधानतात्पर्यसिद्धेः।

उनका पाक अथवा वृषभकन्द या सोमरस का पाक इष्ट है। तात्पर्य यह है कि वेदों में, निघण्टु में गोवध का निषेध क्रिया होने से और अन्य पशुओं का तादृश उल्लेख न होने से 'गोघ्न' पद से भी गोहनन की प्रतीति नहीं होती, किन्तु वह अतिथिपूजा का अर्थवाद ही है। अथर्ववेद के अतिथिसूक्त में अतिथि का माहात्म्य स्पष्ट बताया गया है। अतिथि को सर्वाधिक पूजनीय बताया होने से सर्वाधिक पूजनीय गो का अपकर्षबोधन करना उसका एक प्रकार से वध है, इस कारण 'अतिथि' को गोघ्न कहा गया है। अर्थवाद में वाच्यार्थ का ग्रहण नहीं किया जाता, किन्तु तात्पर्यार्थ का ही ग्रहण किया जाता हैं।

महाभारत की कथा से भी स्पष्ट होता है कि हिंसा भी एकविध ही नहीं होती। एवञ्च अतिथि अपने सत्कार के समय सर्वोत्कृष्ट गौओं की अपनी अपेक्षया निम्न ख्यापन करने से हिंसा करता है, इसलिये उसे 'गोघ्न' कहते हैं।

गौओं के मरने में हेतु होने से 'अतिथि' को 'गोघ्न' नहीं कहते हैं। पृषध्र ने तो घने अन्धकार में व्याघ्र के भ्रम से गुरु की गाय को ही मार दिया था, जिस कारण वह चाण्डाल हो गया। यद्यपि हिंसा का निषेध होने से उसे अधर्म और जहां हिंसा का विधान हो वहां उसे ही धर्म कहते हैं। अत एव हरदत्त आदि ने अतिथि के लिये विहित होने से मांस को भक्षणीय किन्तु सत्कार करने वाले के लिये मांस को अभक्षणीय कहा है। क्योंकि वह (मांसभक्षण) अपने लिये रागप्राप्त होने से विहित नहीं हैं। तथापि 'न हिंस्यात्' इस निषेध के कारण विशेषतः गौ को 'अघ्न्य' कहने के कारण, और 'मा गामनागामदितिं वधिष्ट' इस प्रकार विशेष निषेध रहने के कारण वह अहिंस्य है, अन्यथा ये सभी निषेध व्यर्थ हो जायेंगे। इससे यही ज्ञापित होता हैं कि गाय की हिंसा किसी भी प्रकार से विधि का विषय नहीं हो सकती। विधि जैसे जहां कहीं दीखते हैं, उन्हें अन्यपरक समझना चाहिये। कथमपि हिंसा के विधान में थकान तात्पर्य नहीं है।

किञ्च वैदिकनिघण्टु २।१४ रीत्या हनधातोर्गत्यर्थकत्वेन २।१९ रीत्या वधार्थकेषु धेनुषु हन्तेः प्रयोगस्य सर्वथाऽभावात् गत्यर्थकेषु हनति हन्ति हन्तात् २।१४ इति प्रयोगदर्शनात् सर्वथाऽपि वैदिके गोघ्नशब्दे हनधातोर्न हिंसार्थकता किन्तु गत्यर्थतैव । तथा च दुग्धाद्यर्थं गां हन्ति गोः पार्श्वे गच्छति अस्मै अतिथये इति गोघ्नोऽतिथिः । अतिथीनां दुग्धदधिघृतनवनीतकूर्चादिदानार्थमेव गां प्रति गच्छति, तद्यथा गां हन्ति ताडयति अतिथये दानार्थं ताडनद्वारा गमयति इति गोघ्नोऽतिथिः । हन्तेस्ताडनमर्थो लोके दृश्यते ।

'हिंसा हन्तेः घ्नन्ति अध्वानम् (नि० ४।१३।१) इति नात्र हननं प्राणवियोगानुकूलव्यापारः मार्गस्य तदसंभवात् । अत एव 'यत्र' वैद्युतः (अग्निः) शरणमभिहन्ति' (निरु० ७।२३।९) अत्र शरणं भूमिं गच्छति निहन्ति अभिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः ।

कृदन्ते हनधातोः निष्पन्नस्य घनशब्दस्य काठिन्यमर्थः । (पा० सू० ३।३।७७) 'अन्तर्घन' (पा० सू० ३।३।६७८) अत्र देशार्थः । 'प्रघाणः प्रघणः ७६ गृहैकदेशे उद्धतः ८० स्थापनार्थः अपघन ८१ अङ्गार्थः अयोघन८२ ताडनार्थः स्तम्बघ्नः ८३ गमनार्थः उपघ्नः ८५ आश्रयार्थः सङ्घः ८६ समूह उद्धः प्रशंसितार्थः (निघण्टु) मितार्थः क्वचिदप्यत्र हन्तेर्न प्राणवियोगानुकूलव्यापारोऽर्थः । पर्वतेन उपहन्यते सामीप्येन गम्यते इति पर्वतोपघ्नः (कृ० ३।३।८५) भट्टोजिदीक्षितः । अत्र हन्तिर्गमनार्थः । पद्धतिः पद्भ्यां हन्यते गम्यते अत्र हनधातोर्गमनमर्थो विश्वविश्रुत एव ।

कुञ्जं हन्ति तीर्थं हन्ति इत्यत्रालङ्कारिका मासमर्थदोषाभिधानान्न प्राचीनकालिकम्, किन्त्वाधुनिकमेव । उद्घनः कृ० ३।३।८६ इत्यत्र उद्धन्यत्वे उत्कृष्टो ज्ञायते इत्यत्र कौमुद्यां ज्ञानार्थे हन्तिः प्रयुक्तः । गत्यर्थानां बुद्ध्यर्थत्वात् हन्तिर्ज्ञाने हन्ति सदा गच्छतीति हंसो वायुः । 'तृतीयं च हंसं' (तै० आ० २।१५) सायणाचार्यः, अत एव राज्ञश्च श्रोत्रियस्य मधुपर्कः (गौतमधर्मसूत्रे १।५।२२) अश्रोत्रियस्य आसनोदके २९ श्रोत्रियस्य तु पाद्यमर्घ्यमन्त्रविशेषांश्च प्रकारयेत् ३० । अत्र श्रोत्रियस्य पायसापूपाददोऽन्नविशेषा उक्ता न मांसम् । 'मघासु हन्यन्ते गावः अर्जुन्यो पर्य्युंहते' (ऋ० सं० १।८५।१३) इत्यत्र मघासु गावः सविस्रा दत्ता सोमगृहं प्रति हन्यन्ते दण्डैस्ताड्यन्ते प्रेरणार्थमिति सायणाचार्यः । विवाहदिने कन्यापित्रा दत्ता गावः वरगृहं प्रेषणार्थं दण्डैः हन्यन्ते । 'दण्डेन गो—गर्दभौ' इति प्रसिद्धेश्च । एवं गां हन्ति ताडयति अस्मै प्रदानाद्यर्थमिति विग्रहेण 'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने' (पा० सू० ३।३।७३) इति सूपपद्यते । गावो यत्र तिष्ठन्ति ततोऽन्यत्र न जिगमिषन्ति । अतोऽन्यगृहप्रेषणार्थं हन्यन्ते ताडयन्ते ।

किञ्च वैदिकनिघण्टु २।१४ के अनुसार 'हन' धातु के गत्यर्थक होने से, और २।१९ के अनुसार वधार्थक धातुओं में 'हन' धातु के प्रयोग का सर्वथा अभाव रहने से तथा गत्यर्थकों में हनति, हन्ति, हन्तात् २।१४ इन प्रयोगों के देखने से वैदिक 'गोघ्न' शब्द में कथमपि हिंसार्थक 'हन्' धातु नहीं है, किन्तु गत्यर्थक ही है । तथाच दुग्ध के लिये 'गां हन्ति' गाय के समीप जाता है 'अस्मै अतिथये' इस अतिथि के निमित्त, इस कारण अतिथि को 'गोघ्न' कहा जाता है । उसी तरह ताडनार्थक भी हन धातु है ।

कृदन्त प्रकरण में हन धातु से निष्पन्न घन शब्द का अर्थ काठिन्य भी है । कहीं देशार्थ भी घन शब्द है । घर के एक देश के अर्थ में, स्थापन अर्थ में, शरीर के अवयव (अंग) अर्थ में, आश्रय अर्थ में, समूह अर्थ में प्रशंसा अर्थ में, मित अर्थ में भी घन शब्द का प्रयोग होता है । प्रदर्शित उदाहरणों में कहीं पर भी हन धातु का प्राणवियोगानुकूलव्यापार अर्थ नहीं है । गौतमधर्मसूत्रकार अश्रोत्रिय के लिये आसन और उदक, किन्तु श्रोत्रिय के लिये पाद्य, अर्घ्य और अन्नविशेष देने के लिये कहा है । अन्नविशेष में पायस अपूप आदि ही कहे हैं, मांस नहीं । यदि सर्वत्र प्राणवियोगानुकूल व्यापार अर्थ ही 'हिंसा' का हो तो प्रदर्शित अनेक अर्थ और उनके यत्र तत्र किये गये प्रयोग सभी व्यर्थ होंगे । उपरि प्रदर्शित अर्थ और उनमें प्रमाण एवं यत्र तत्र किये गये प्रयोगों को मूल संस्कृत में देखा जा सकता है ।

'मा त्वं विकेशी उरद्यावधिष्ठा' (काठकगृह्यसूत्रे २८।४) अत्रोरस्ताडनार्थो हन्तिः। 'त्रिः स्मान्हो वैतसेन दण्डेन हतात्' (श० ५।४।४।७) इत्यत्र उर्वश्या पुरूरवोद्वारा पुंस्प्रजननेन वराङ्गताडनार्थे हन्तिः प्रयुक्तः। 'त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेन' (ऋ० सं० १०।९५।५) श्नथधातुः वैदिकनिघण्टु २।१९ वधकर्मकेषु पठितः। औचित्यात् वराङ्गताडनमेवार्थो न वधः।

'अथैनं पृष्ठतस्तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति' (श० ५।४।४।७) अत्र हन्ते राज्ञः पृष्ठताडनमेवार्थो न वधः। 'स हि देवान् जिघांसति' (रा० १।४।२।२१) अत्र हन्तिर्गमनार्थः। प्राप्तुमिच्छतीति तत्र सायणः। अतिथेः समीपे नयनार्थं ताडनमपि तस्या महनीयाया हिंसैव ततोऽप्यतिथिर्गोघ्नो भवति। न सर्वत्र हिंसायाः प्राणवियोग एवार्थः। अत एव मोङ्हिंसायामित्यत्र दिवादिगणे हिंसा अत्र वियोग इति दीक्षितः। यदि सर्वत्र हिंसायाः प्राणवियोग एवार्थस्तदा तदुक्तिर्व्यर्थैव स्यात्। 'गन्धनावक्षेपणे' (पा० सू० १।३।३३) इत्यत्र पैशुन्यमपि हिंसा। 'आहन्ति गभे पसो' (वा० सं० २३।२२) इति मन्त्रे आहन्ति आगच्छतीत्यर्थः। 'यथाङ्ग वर्धतां शेपस्तेन योषितमिदं जहि (अथर्व० वे० सं०६।१०१।१) तेन प्रवृद्धेन शेपसा योषितं सुरतार्थिनीं स्त्रियं जहि गच्छ इति सायणः।

'अस्य मुखे जहि' (अ० वे० सं० ६।६।२) जहि ताडय इति सायणः। तथैव गोघ्न इत्यत्रापि हन्त्यर्थो ज्ञेयः। 'अप दुर्मतिं हतम्' (ऋ० सं० १०।४०।१३) अत्र हतम् अपगमयतम् इति सायणः। 'अपजहि' (ऋ०सं० १।४२।२) इत्यत्र अपाकुरु इति सायणभाष्यम्। 'हस्तघ्नः' (ऋ० सं० ७।७५।१४) ज्यया हन्यते ताड्यते इत्येवार्थः, न व्यापाद्यते इति निरुक्ते। 'ज्याया वधात् परित्रायमाणः' (ऋ० सं० ९।१५।१) अत्र वधशब्दस्यापि आघात एवार्थो न मारणम्। अत एव हस्तघ्नः हस्तरक्षको भवति।

यदि क्वचिद् गवां मारणमेवार्थः स्यात्तथापि गोपदस्य पशुसामान्यमर्थः न गावस्तासां तेषाञ्च अघ्न्यत्वोक्तेः। 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले। लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः' (३।३।२५) इत्यमरोक्तेः। 'अथापि गौरिति पशुनाम भवति, एतस्मादेव (२।५।३) यास्कोक्तेश्च। अन्येषां छागादिपशूनां यज्ञे वधोऽवध एव भवति। तेनैव न्यायेन गवामपि वधस्यावधत्वे प्रसक्ते अघ्न्या इति विशेषनाम्ना तदपबाध्यते। यज्ञायज्ञादिषु सर्वत्रैव गवामवध्यत्वात्। गोमेधेऽपि न साक्षाद्गवां वध्यता, व्रीहिमयस्य पशोरेव होम उपयोगात्। (अथर्व० सं० (१०।९) सूक्ते शतौदनाया गोर्याग उक्तस्तत्रापि शतसंख्याकैः तण्डुलैर्निर्मिताया गोरुपयोगः।

श्रूयते हि पुराकाले नृणां व्रीहिमयः पशुः।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः॥

(महाभारत अनुशासने ११५।५६) इति भारतोक्तेः। व्रीहिनिर्मितायां शतौदनायां गवि अस्थिमांसलोहितवधादिशब्दा (अथर्ववेदसंहितायाम् १०।९।१८) इत्यत्र औपचारिका एव। तथैव तिलधेनुयवधेनुघृतधेनुप्रभृतानामपि वर्णनं महाभारते दृश्यते। यज्ञसम्बन्धात्तत्र तादृशवधोऽप्यवध एव।

उसी तरह 'गो' शब्द के भी यावत् पशु (पशु सामान्य) अर्थ हैं, केवल गाय ही अर्थ नहीं है।

अतः किसी वचन को देखकर 'गाय का मारना' अर्थ नहीं समझना होगा, क्योंकि उसे (गाय) तो 'अघ्न्या' कहा गया है। यदि यह कोई कहे कि अन्य छाग आदि अन्य पशुओं के यज्ञीय वध को जैसे अवध माना जाता है, वैसेही गोमेध-यज्ञमें गाय के वध को भी अवध क्यों न कहा जाय? किन्तु यह शंका सर्वथापि नहीं की जा सकती, क्योंकि गाय को तो यज्ञ-अयज्ञ कहीं भी अर्थात् सर्वत्र, सार्वकाल ही 'अवध्य' हा बताया गया है। गोमेध में भी साक्षात् गौ का वध नहीं किया जाता, किन्तु व्रीहिमय पशु का ही होम में उपयोग किया जाता है।

अथर्ववेदसंहिता महाभारतीय अनुशासनपर्व को देखने से यह सब स्पष्ट हो जाता है। व्रीहिनिर्मित गौ में अस्थि, मांस,

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ ॥ (मनु० ५।४४)

तत्रैव—

कुर्याद् घृतपशुं यज्ञे कुर्यात् पिष्टपशुं तथा।
न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥ (मनु० ५।३७)

उत्तररामचरित्रेऽपि मडमडायिता इत्यस्यापि ताडिता इत्येवार्थः, न मारणम् अघ्न्यत्वादेव।

यत्तु ऐतरेयवचने क्षदन्ते इति प्रयोगेण गर्भघातिन्या गोवंध एवेति क्षदधातोर्हिंसार्थकत्वात् वेहत् इत्यस्य 'पोटायुवति' (पा० सू० २।१।६५) इतिसमाससूत्रे दीक्षितेनापि गोर्वेहद् गर्भोपघातिनीत्युक्तत्वात् अमरकोषे २।९।६९ इत्यत्र गोर्वेहद् गर्भघातिनीति पाठः' इति, तदपि न संगतम्। उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते इत्यत्र उक्षप्रतियोगितया वेहत्पदेनापि सामान्यगोरेवेष्टत्वात्। यथा गोवशा इत्यत्र दीक्षितेनामरेण च वन्ध्या गौरेव गृहीता, तथाप्यथर्ववेदीये वशासूक्ते न वन्ध्या गौरित्यर्थो विवक्षितः, किन्तु सामान्यगौरेव तत्रेष्टा। तथैव ऐतरेयब्राह्मणात्मके वेदे वेहत्पदस्य न गर्भघातिनो गौरर्थः, किन्तु सामान्यगौरेव। छदधातुस्तु पाणिनिधातुपाठे नोपलभ्यते किन्तु 'तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यःसंज्ञायां चानिटौ' इत्युणादिसूत्रे पञ्चपाद्यां च क्षदधातोरुल्लेखो दृश्यते। तेन सौत्रो धातुः क्षदिः। परन्तु सूत्रेणास्यार्थो न विज्ञायते। दीक्षितस्तु क्षदिः सौत्रो धातुः शकलीकरणे भक्षणे च वृक्ये चक्षदानं' (ऋ० सं०) इतिमन्त्रात् 'उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते' इति ब्राह्मणाच्च। ऋग्वेदीयसायणभाष्याधारेणैव दीक्षितस्तथाह, परन्तु ब्राह्मणव्याख्याने सायणाचार्यः क्षद्धातोस्तदनुगुणं न व्याख्यानं कृतवान्। निघण्टुग्रन्थे (२।८) भक्षणार्थकधातुषु २।१९) वधकर्मकेषु क्षदधातोः पाठो न दृश्यते। 'चक्षदे' (ऋ० सं० १०।७८। ७) इत्यत्र शकलीकरोतीति सायणेन व्याख्यातं तच्चौचित्यात् अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति इति। (ऋ०सं०१।२५।८) इति मन्त्रे हविः क्षदसे अश्नासि इति भक्षणार्थस्वीकारेऽपि भक्षणस्य उपयोग एवार्थः। दायादा दिपदेष्वक्तेर्भक्षणार्थत्वासंभवात्। 'वेहतं वा क्षदन्ते' इति ब्राह्मणस्य राजनि श्रोत्रिये वा आगते उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते भक्षयन्ति इति तु नार्थः संभवति। नह्यतिथिभोग्यान् परिचारका भक्षयन्ति। यदि तेष्वागतेषु क्षदन्ति उपयुञ्जते तदा दुग्धादिसमर्पणादौ तदुपयोगो युज्यते। यदि सायणरीत्या हिंसन्ति इत्यप्यर्थःस्यात्तदापि अघ्न्यत्व दिबलात् हिंसाया अपि ताडनमेवार्थः। ताडनमपि दुग्धाद्यर्थं तत्समीपप्रापणार्थमेव। 'अघासु हन्यन्ते गावः' इत्यत्रापि ताडनमेवार्थः सायणेन स्वीकृतः। स्कन्दस्वामी तु क्षत्पदनिर्वचनावसरे क्षद स्थैर्य्ये सौत्रो धातुरित्याह। (नि० १।१२।३) इत्यत्र देवराजयज्वापि स्वकार्ये स्थिरं भवतीत्याह, जलाशयं व्याप्य स्थिरीभवतीति वा, तथात्वे अतिथिभ्यो दानार्थमुक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते स्थिरीकुर्वन्ति इत्याह। सुबोधिनीकारः (क्षदि गतिहिंसनयोः) इति धातुमङ्गीकृत्य क्षदति हिनस्ति पिपासां उष्णतामिति, अभीप्सितं वा पुरुषं गच्छति इति व्युत्पत्या जलवाचकस्य क्षदशब्दस्य निर्वचनं कृतवान्। तथा सति क्षदन्ति अतिथिपार्श्वे गामुक्षाणं वा गमयन्ति इत्येवार्थः। क्षत्ता इतिपदस्य सिद्धयर्थममरकोषटीकायां क्षद संवरणे सौत्रः २।८।५९ इति संवरणार्थः क्षदधातुरङ्गीकृतः २।८।१ इत्यत्र क्षत्रियपदमपि तथैव व्याख्यातम्। दयानन्दोऽपि उणादिकोषे क्षद् धातोरमुमेवार्थं स्वीकृतवान्। तथा च प्रकृते उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते अतिथिसत्कारार्थं संवरणं सम्यक् वरणं कुर्वन्ति। अमरकोषे २।१०।३ इत्यत्र

लोहित, वध आदि शब्दों को औपचारिक ही कहा गया है। तथैव तिलधेनु, यवधेनु, घृतधेनु आदि का भी वर्णन महाभारत में दृष्टिगोचर होता है। यज्ञ से संबन्धित होने के कारण तादृश वध को भी अवध ही माना जाता है।

उत्तररामचरित्र में भी 'मडमडायिता' का अर्थ 'ताडिता' ही है, 'मारना' नहीं, क्योंकि गो को 'अघ्न्या' कहा गया है। ऐतरेयब्राह्मणात्मक वेद में 'वेहत्' पद का अर्थ 'सामान्य गो' ही है, गर्भघातिनी गो नहीं है। जैसे अथर्ववेदीय

भानुजीदीक्षितेन क्षदति क्षदतेर्वा क्षत्ता (क्षद सम्भृतौ) इति स्वीकृत्य क्षदतेः सम्भरणार्थता स्वीकृता । तथा च अर्हति इत्यत्र निमित्तार्थी सप्तमीमाश्रित्य अघ्न्यादिश्रुत्यनुरोधेन पूज्यातिथिनिमित्तं वेहतं उक्षाणं सम्भरन्ति पोषयन्ति उक्षणः कृष्यादिद्वारा गोश्च दुग्धादिद्वारा तत्सत्कारोपयोगित्वात् । 'क्षत्ता वामस्य देवभूरेः' (ऋ०सं० ६।१३।२) अत्रापि क्षत्ता इति क्षदधातोरेव रूपम् । ऋतस्य यज्ञस्य वा क्षत्ता दाता । क्षदतिरत्र दानकर्मा दाता भवसि इति सायणाचार्यः। सायणरीत्या हिंसार्थस्यापि क्षदतेर्हिसार्थेऽनन्वितत्वादेव दानार्थकता स्वीकृता, तथैव ब्राह्मणवाक्येऽपि अघ्न्यायामघ्न्ये च गवि क्षदतेर्हिसार्थस्यानन्वयादेव दानमेवार्थः । तथा उक्षाणं वृषभं वेहतं गां क्षदन्ते ददतीत्येवार्थः । एवञ्च सति—'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्' (या० स्मृ० १।१९९) इति याज्ञवल्क्यवचनेनैकवाक्यता भवति । उपकल्पनमपि दानमेव । यद्यपि उक्षेति गवेन्द्रो बोद्धयते । वेहदिति गर्भघातिनी गौः । तयोश्चादानं ग्रहणं श्रोत्रियादीनां निरर्थकमशक्यपालनं च स्यात्तथाप्युक्षपदेन वृषभसामान्यस्य वेहदित्यनेन गोसामान्यस्य च विवक्षितत्वेन न दोषः । तस्मात् क्षदन्ते ददति इत्येवार्थः ।

गोदानस्य वेदादिशास्त्रेषु प्रशस्ततमत्वात् । वेदैर्यास्कादिभिश्च अघ्न्या अहन्तव्या गौरुक्ता (नि० ११।४२।२) सा सर्वस्यैव अहन्तव्या भवति इति दुर्गाचार्योक्तेश्च । तस्मात् क्षदन्ते इत्यस्य प्रकृते हिंसन्ति भक्षयन्ति शकलीकुर्वन्तीत्यादिव्याख्यानमपव्याख्यानमेव, किन्तु स्वीकुर्वन्ति स्थिरीकुर्वन्ति सम्यग् वरणं कुर्वन्ति सम्भरन्ति अतिपार्श्वे गमयन्ति दुग्धाद्यर्थं गां प्रति गच्छन्ति ददति इत्यादय एवार्थाः। हिंसार्थत्वेऽपि अतिथिसमीपनयनार्थं दण्डैस्ताडनं तत्र नयनमवार्थः ।

किं वा, यथा 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते' (वा० सं० ३०।५) इत्यादि मन्त्रेषु हिंसार्थकस्याप्यपालभतेरुत्सर्ग एवार्थो न वधस्तथैव क्षदतेर्हिसार्थत्वेऽपि त्याग एवार्थः । 'त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं समम् ।' (वाल्मीकि रा० ७।१०५।१३) इत्युक्तेः । अत एव महीधराचार्यः—तत आलभनक्रमेण यथादैवतं प्रोक्षणादि । ब्राह्मणादीनां पर्यग्निकरणानन्तरमिदं ब्रह्मणे; इदं क्षत्राय इत्येवं सर्वेषां स्वस्वदेवतोद्देश्येन त्यागः । ततः सर्वान् ब्राह्मणादीन् यूपेभ्यो विसृज्योत्सृजति । 'मानुषा मानुषानेव दासभावेन भुञ्जते ।' (म० भा० शा० २६२।३८) अत्र यथा भोजनमुपयोग एव, तथैव क्षदतेर्भक्षणार्थत्वेऽपि उपयोग एवार्थः ।

यथा नृयज्ञस्य न नृहिंसार्थस्तथैव गोयज्ञस्यापि गोहननं नार्थः । 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ०वे० सं०) इत्यादि यथा गोपदस्य गोदुग्धादिकमर्थस्तथैव गोपाक इत्यस्य गोदुग्धपाक एवार्थः । उक्षपाकस्य सोमरसपाकोऽर्थः । ऋषभपाकस्य ओषधविशेषपाक एवार्थः । यत्तु केनचिदुक्तम्—अथैनं शालां प्रपादयति स धेन्वै च अनडुहश्च नाश्नीयात् धेन्वनडुहौ वै इदं

वशासूक्त में 'गोवशा' का अर्थ वन्ध्यागौ नहीं किया जाता, अपितु 'सामान्यगौ' ही किया जाता है, वैसे ही 'वेहत्' का अर्थ भी सामान्य गौ ही होता है । उसी प्रकार 'क्षदन्ते' का अर्थ 'ददति' ही करना चाहिये ।

क्योंकि गोदान करना वेद-शास्त्रों में प्रशस्त कहा गया है । तस्मात् 'क्षदन्ते की 'हिंसन्ति, भक्षयन्ति, शकलीकुर्वन्ति' व्याख्या करना, कुव्याख्या ही कहलायेगी, अतः 'क्षदन्ते' की व्याख्या 'स्वीकुर्वन्ति, स्थिरी कुर्वन्ति, सम्यक् वरणं कुर्वन्ति, संभरन्ति अतिपार्श्वे गमयन्ति, दुग्धाद्यर्थं गाँ प्रति गच्छति, ददति' इस प्रकार करनी चाहिये । हिंसार्थक मानने पर भी उसकी व्याख्या 'अतिथि के समीप पहुँचाने के लिये दण्डे से ताडन करते हुए उसके समीप ले जाना ही अर्थ करना चाहिये । किंवा जैसे 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते' (वा० सं० ३०।५) इत्यादि मन्त्रों में हिंसार्थक आलभति का अर्थ, 'उत्सर्ग' ही किया गया है, वध नहीं । उसी तरह 'क्षदति' के हिंसार्थक होने पर भी उसका अर्थ 'त्याग' ही किया गया है । 'मानुषा मानुषानेव दासभावेन भुञ्जते' यहाँ पर जैसे 'भोजन' का अर्थ, उपयोग किया जाता है, वैसे ही 'क्षदते' का भक्षण होने पर भी उसका अर्थ, उपयोग ही किया जाता है ।

जैसे 'नृयज्ञ' का अर्थ नरहिंसा नहीं है, वैसेही 'गोयज्ञ' अर्थ 'गोहनन' नहीं है । गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' में 'गो' पद का गो-दुग्ध आदि अर्थ है, वैसे ही 'गोपाक' का अर्थ 'गो-दुग्धपाक' ही किया जाता है । 'उक्षपाक' का अर्थ 'सोमरसपाक' किया जाता है । 'ऋषभपाक' का अर्थ, ओषधिविशेष का पाक किया जाता है । यह जो किसी ने कहा है—'शतपथ के बचन में याज्ञवल्क्य

विभृतः। ते देवा अब्रुवन् धेन्वनडुहौ वै इदं सर्वं बिभृतः। यदन्येषां वयसां वीर्यमासीत् तद् धेन्वनडुहोरदधुस्तस्माद् धेनुश्च अनड्वांश्च भूयिष्ठं भुङ्क्तः। 'तद् एतत् सवाश्यमिव यो धेन्वनडुहोरश्नीयात् अन्तगतिरिव तं ह अभिद्रुतमभिजनितो जायायै गर्भं निरवधीदिति पापमकद् इति पापी कीर्तिः। तस्माद् धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात् तदुह उ वा याज्ञवल्क्य अश्नाम्येव अहम् अंसलं चेदं भवतीति' (श० ३।१।२।२१) इति शतपथवचने याज्ञवल्क्यरीत्या धेन्वनडुहयोर्मांसभक्षणमेवोक्तमिति, तदप्यज्ञानविजृम्भितमेव, कण्डिकायां मांसशब्दानुल्लेखात्, उपपत्त्या तद्भक्षकस्य गर्भहन्तृत्वसर्वभक्षित्वोक्त्या तद्भक्षणस्य निषिद्धत्वात् 'धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्' (का०श्रौ० सू० ७।२।२२) इत्यस्य कर्कभाष्ये धेन्वनडुहयोर्मांसं नाशितव्यमिति विवरणोक्तेश्च।

सायणाचार्यरीत्या शतपथकण्डिकाया अयमर्थः—

कृतक्षारं कृतस्नानं कृतवस्त्रपरिधानं यजमानमध्वर्युः शालां प्रवेशयति। तत्र स यज्ञदीक्षापूर्त्यर्थमुपवासं कुर्यात्। गोदुग्धनिर्मितं कूर्चादिकं वृषभकृष्टमन्नादिकञ्च नाश्नीयात्। अस्यापि शालाप्रवेशकर्त्तुर्यजमानस्याशनकालत्वात्। अत्र—अशने कञ्चित् नियममाह—धेन्वै धेनोः क्षीरादिकं अनडुत्सम्बन्धिकर्षणसाध्यमित्यर्थः। नाश्नीयात्, तद् अश्नतः सर्वाशनं भवति। तस्य च जायाया गर्भसंभवे सति सर्वाशनं तं रेतोरूपेण परिणतं गर्भं हिंस्यात्, तत् पापकीर्तिः स्यात्। तद् उभयोः धेन्वनडुहयोः (पायस) मन्नञ्च नाश्नीयात्। तत्र याज्ञवल्क्यपक्षमाह—चेत् यस्मात् उभयान्नाशने शरीरमसलं (बलवत्) भवति, तस्मात् तयोरन्नमश्नीयामेव। धेन्वै इत्यत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। सायणभाष्यरीत्या—गोदुग्धनिष्पन्नपायसादिकं वृषभनिष्पन्नमन्नादिकमेव व्रतेऽन्यमतेन निषिद्धम्, याज्ञवल्क्यमतेन भक्षणमनुमतम् इति। केषाञ्चिद्रीत्या सोमयागप्रसङ्गे उपोषणमेव कार्य्यम्। यज्ञसमाप्तेः पूर्वं भोजनेन देवतानामवमानं स्यात्। तथात्वे यज्ञकर्त्ता चेत्सर्वथोपोषणमेव कुर्यात्। तदा कार्श्यातिशयात् कथं यज्ञपूर्तिं करिष्यति? तस्मात् किञ्चित् पायसादिकमन्नं वा किञ्चिदेव भक्षणीयम्। तत्र केषाञ्चिद्रीत्या सर्वथा त्याग एव। याज्ञवल्क्यरीत्या तु दुग्धादिभिः शरीरं बलवत् यज्ञनिर्वर्तनक्षमं भवति। तस्माद् दुग्धमन्नं वाऽल्पमात्रं भक्षणीयमेव। यथा 'तस्माद्दाहुनं दीक्षितस्याश्नीयात्' (ऐ० ६।९) इत्यत्र दीक्षितस्य मांसभक्षणं न निषिद्धं तस्याप्राप्तत्वादेव। अंसलमित्यस्य बलकारकमर्थः, न कोमलमांसम् 'वत्सांसाभ्यां कम्बले' (पा० सू० ५।२।९८) इति बलार्थं एव अंसब्दात्तलप्रत्ययविधानात्।

यत्तु 'श्वाविच्छल्यगोधा भक्ष्या;। नक्रकुलीरा अविकृतरूपाः। सर्पशीर्षाश्च गौगवयशरभाद्याश्चानुदिष्टाः। तथा धेन्वनड्वाहौ मेध्यौ वाजसनेयके विज्ञायेते। खड्गे तु विवदन्ते अग्रामसूकरे च।' इति (वशिष्ठस्मृतिः १४।३०–३५) इति वाजसनेयकरीत्या गोवृषभौ भक्षणीयत्वेनोक्ताविति, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्। पौर्वापर्यानवेक्षणात्। तथाहि १४।३०-३५ इति स्थलीयानि वचनानीमानि। तत्र सर्पशीर्षाश्च ३२ अत्र च पूर्वं श्वावित्शल्लकशशककच्छपगोधापञ्चनखानां भक्ष्याः इति (१४।३०) इति सूत्रस्थेन भक्ष्या इत्यनेन संबद्धाः, 'सन्ति' क्रिया चात्राध्याह्रियते। तेन पञ्चनखानां मध्ये श्वाविधादयः भक्ष्याः। भक्ष्या इत्यस्य ३१ सूत्रे अनुवृत्तिः। ३२ सर्पशीर्षाश्चेत्यत्रापि चकारेण तदनुवृत्तिः। अध्यायादौ 'अथातो भाज्या-भोज्यञ्च वर्णयिष्यामः' इत्यप्युक्तम्, तेनात्र भक्ष्याभक्ष्यवर्णनम्। नात्र सर्वे भक्ष्या एव। प्रतिपक्षिणा च असंबद्धतया

के मतानुसार गाय और बैल का मांस भक्षण विहित हैं।' वह भी अज्ञानविजृम्भित ही है। क्योंकि कण्डिका में मांस शब्द का कहीं उल्लेख नहीं है। और मांस भक्षक के लिये गर्भहन्तृत्व आदि कहा होने से मांस भक्षण को निषिद्ध ही माना गया है। 'धेन्वनडुह्योर्नाश्नीयात्' (का० श्रौ० सू० ७।२।२२) के कर्कभाष्य में 'धेनु और अनडुह् का मांस भक्षण नहीं करना चाहिये' यही उसका विवरण किया गया है।

सायण के अनुसार शतपथ की कण्डिका का अर्थ ऊपर मूल संस्कृत में दिया गया है। सायणभाष्य के अनुसार गोदुग्ध से बने पायस आदि पदार्थ तथा वृषभ के परिश्रम से निष्पन्न अन्न आदि का भक्षण कुछ लोगों के मत से निषिद्ध है, किन्तु याज्ञवल्क्य के मत से

वचनान्युद्धृतानि। 'अनुद्दिष्टाः' इति स्थाने अनुदिष्टा इत्यपि लिखितम्। अनुद्दिष्टा इति नवीनक्रियायोगात् सन्तीति क्रिया व्यावर्त्तते, सजातीयं दृष्ट्वा सजातीयो निवर्तत इतिन्यायात्। तथा च गौगवयाद्याश्च भक्ष्या अनुद्दिष्टाः, अतोऽभक्ष्याः वर्णिताः। तेन गौगवयाद्या भक्ष्या अनुद्दिष्टाः भक्ष्या न मताः। अत एव श्रीकृष्णधर्माधिकारिमहाशयेन विद्वन्मोहिन्यां टीकायामभक्ष्यानाह—गौरिति। तथा धेन्वनडुहौ मेध्यौ वाजसनेयके विज्ञायेते १४।३४, अत्र गोवृषभयोरभक्ष्यत्वमेवोक्तम्। तत्र मेध्यौ इति मेधावर्धनं दुग्धादिहेतुत्वेन। मेध्यौ तत एव न भक्षणीयौ इत्युक्तम्। अत एव बौधायनधर्मसूत्रे—'वधे च धेन्वनडुहोरन्ते चान्द्रायणं चरेत्।' (१।१९।६) इति गोवृषभयोर्वधे प्रायश्चित्तविधानदर्शनात् तयोरवध्यत्वेनाभक्षणीयत्वमेव। 'अभक्ष्याः पशवो ग्राम्याः (१।११।१) इत्यनेनापि गवादीनामभक्ष्यत्वमेव। मेधृधातुर्न हिंसार्थक एव। (मेधृ संगमे च) इति संगमार्थकत्वस्यापि मेधतेर्दर्शनात्। नहि गृहमेधिशब्दस्य गृहिणो हिंसार्थः। न च पवित्रत्वादेव भक्ष्यता भवति। वाजसनेये तु स्पष्टमेव 'धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्' (श० ३।१।२।२१), 'धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्' (का० श्रौ० सू० ७।२।२२) धेन्वनडुहमांसं नाशितव्यमिति कर्कभाष्याच्च गोवृषमांसनिषेधावगमात्। अत एव 'तद्ध एतत् सर्वाश्यभि ग्रो धेन्वनडुहयोरश्नीयाद् गर्भं निरवधीत् पापमकत्' (श० ३।१।२।२२) इति गोभक्षकस्य सर्वाशित्वं गर्भघातकत्वं पापित्वञ्चोक्तम्।

तत्र वशिष्ठस्मृतौ भक्ष्यौ इति पाठोऽपि शतपथविरुद्धत्वादुपेक्षणीय एव। गौतमधर्मसूत्रेऽपि 'धेन्वनडुहौ च' (२।८।३०) इति गोवृषभयोरभक्ष्यत्वमुक्तम्। आपस्तम्बधर्मसूत्रेऽपि 'एकखुरोष्ट्रगवयग्रामसूकरशरभगवाम्' (१।१७।२९) इतिसूत्रे गवामिति पदेन गवादीनामभक्ष्यत्वमेवोक्तम्। 'धेन्वनडुहयोर्भक्ष्यं मेध्यमानडुहम्' इति वाजसनेयकं मतम् (१।१७।३०-३१)। अत्र कश्चित् 'धेन्वनडुहयोर्मांसं भक्ष्यं गोप्रतिषेधस्य प्रतिप्रसवः' इति तन्न, पूर्वोक्तनिषेधविरोधात्। न च प्रतिप्रसवोऽपि। विहितस्य निषिध्य पुनर्विधानञ्च प्रतिप्रसवः। न च प्रकृते पूर्वं विधानं, किन्तु काण्वशाखीयशतपथीयसायणभाष्यरीत्या (श० ३।१।२।२१) इत्यत्र केषाञ्चिन्मतेन सोमदीक्षाव्रते धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात् इति धेनुसम्बन्धि पायसादि अनडुत्सम्बन्धि तत्कृष्टान्नादिकं न भक्षणीयमित्युक्तम्। याज्ञवल्क्येन तु अंसलत्वात् बलप्रदत्वात् यज्ञनिर्वाहार्थं भक्षणीयमित्युक्तम्। तथैवापस्तम्बसूत्रेऽपि। याज्ञवल्क्यमतेनात्र ३०।३० सूत्रयोरपि तदेवोक्तम्। आनडुहमित्यत्र अनड्वांश्चानडुही च तयोः सम्बन्धि पायसादिकमन्नञ्च भक्षणीयम्। 'अंसलं भोजनं वा' (का० श्रौ० सू० ७।२।२४) अत्रापि शतपथानुसार्येव व्याख्यानम्। 'सङ्गे तु विवदन्ति' इत्यनेन गोवृषभयोरभक्ष्यत्वं तु निर्विवादमेव सिद्धम्। 'न चासां मांसमश्नीयात्' (महाभारतेऽनुशासने (७८।१७), वेदे च गवामघ्न्यत्ववर्णनात्तद्वधस्तन्मांसभक्षणादिकं सर्वथा निषिद्धमेव।

यत्तु मनुवर्जितमांसेषु गोमांसस्यासंनिवेशात् भक्ष्यत्वमिति, तदपि यत्किञ्चित्, नरमांसस्यापि तत्रादर्शनेन तस्यापि भक्ष्यत्वापत्तेः।

'योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते॥' —(मनुः ५।४५)

उसका भक्षण सम्मत है। यह जो कहा है कि वशिष्ठस्मृति और वाजसनेयक के अनुसार 'गाय और बैल को भक्षणीय बताया है, किन्तु इस प्रकार का कथन भी पौर्वापर्य प्रसंग के न जानने से अज्ञानविजृम्भित ही है। पौर्वापर्य सन्दर्भ के देखने पर स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि गो, वृषभ को अभक्ष्य ही वहाँ बताया गया है। वहां गोभक्षक को सर्वाशी, गर्भघातक, और पापी तक कह दिया है। यह जो कहना है कि मनु के द्वारा वर्जित किये किये मांसों में गोमांस का सन्निवेश न रहने से उसे भक्ष्य क्यों न कहा जाय? किन्तु यह आशंका भी निःसार है।

क्योंकि मनुवर्जित मांसों में नर मांस का भी सन्निवेश नहीं है, तो उसे भी भक्ष्य कहने का प्रसंग प्राप्त होगा। एवं च श्रुति, स्मृति, सूत्र, पुराण आदि ग्रन्थों का आलोडन करने पर सर्वत्र ही गोहिंसा (गोवध) के होने पर प्रायश्चित का विधान किया गया दिखाई देता है, अतः सर्वथापि गोवध को निषिद्ध ही माना गया है।

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥
समुत्पत्तिञ्च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्त्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥
वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥
अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥
फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥
मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ (मनु० ४५–५५)
....'गोघ्नो मासं यवान् पिबेत्।
कृतवापो वसेद् गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥
चतुर्थकालमश्नीयात् अक्षारलवणं मितम्।
गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥
दिवानु गच्छेद् गास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत्।
शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥
तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वनु संव्रजेत्।
आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः ॥
वृषभैकादशा गाश्च दद्यात् सुचरितव्रतः।
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥' मनु० ११।१०८-११६

इत्यादिना गवां वधे प्रायश्चित्तादिविधानात् सर्वथाऽपि गवां वधो निषिद्ध एव।

ननु यदि रन्तिदेवादिकथासु मांसभक्षणमविवक्षितं तर्हि कथं रन्तिदेवस्य महानसे गवां बन्धनादिकं स्मर्यते, इति चेन्न, महाभारतकूटश्लोकानां कूटत्वेन सर्वज्ञानागोचरत्वात्।

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा न वा ॥ (म० भा० १ १।४१) इति भारतोक्तेः।

यदि कोई कहे कि रन्तिदेव की कथा में मांस भक्षण यदि विवक्षित नहीं है, तो उसके महानस में गौएँ क्यों बन्धी रहती थीं ? किन्तु इस शंका का समाधान सरल है कि महाभारत के कूटश्लोकों का वास्तविक अर्थ, सर्वज्ञ ही समझ सकता है, अल्पज्ञ मानव की बुद्धि के परे वे सब हैं। महाभारतकार व्यास स्वयं कह रहे हैं—

"अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा न वा ॥"

तद्यथा—

'गोकर्णासुमुखीकृतेन इषुणा गोपुत्रसम्प्रेषिता
गोशब्दात्मजभूषणं सुविहितं सुव्यक्तगोऽसुप्रभम्।
दृष्ट्वा गोगतकं जहार मुकुटं गोशब्दगोपूरि वै
गोकर्णासनमर्दनश्च न ययौ अप्राप्य मृत्योर्वशम् ॥' (म० भा० कर्णपर्व ९०।४२)

अत्र पद्ये सप्तवारं गोशब्दः प्रयुक्तः, परं तत्र न कोऽपि गोबोधकः। तथैव रन्तिदेवकथायामपि गोशब्दः कूट एव। क्वचित् स पशुसामान्यबोधकः,क्वचिच्च गोदुग्धादिपरः। यदि रन्तिदेवोऽतिथीन् मांसं दद्यात्तदा यज्ञशिष्टं स्वयमपि खादेत्। परन्तु 'रैवते रन्तिदेवेन..........। एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र पुरा मांसं न भक्षितम् ॥ (अनुशासनपर्व ११५।७२-७७) इति स्पष्टं तस्यामांसाशित्वं विज्ञायते।

गृहानभ्यागतान् विप्रान् अतिथीन् परिवेषकाः।
पक्वापक्व दिवारात्रं वरान्नममृतोपमम् ॥ (द्रो० प० ६७।२)

अत्रामृतोपमान्नवरान्नपरमान्नादिप्रदानमेव विज्ञायते। तस्मात्—

'राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज।
द्वे सहस्रे तु वध्येते पशूनामन्वहं सदा॥
अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तदा।
स मांसं ददतो ह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः ॥' (वनपर्व २०८।८९)

इत्यत्रापि गोपदेन पशव एव ग्राह्याः। 'आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः' (शान्तिपर्व २९।१२४) अत्रापि पशुसामान्यमेव गोपदार्थः, अमरकोषे गोपदस्य पश्वर्थत्वावगमात्।

'उपस्थिताश्च पशवः स्वयं यं शंसितव्रतम्।
बहवः स्वर्गमिच्छन्तो विधिवत्स्वर्गयाजिनम् ॥' (द्रोणपर्व ६६।४)

गोपदानां गोवृषाद्यर्थत्वेऽपि बद्धयेते इत्यस्य बन्धनार्थत्वेन वधार्थकत्वाभावात्। बन्धनं च दुग्धदोहनार्थमेव, न वधार्थम्। हन्तेर्लिङि लुङि च वधादेशविधानात्। तस्माद् बन्ध बन्धने इत्यस्यैव बध्येते इति रूपम्।

यदि रन्तिदेव अतिथियों को मांस देता तो यज्ञशिष्ट मांस को स्वयं भी खाता, परन्तु 'रैवते रन्तिदेवेन............एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र पशुमांसं न भक्षितम् (अनु० प० ११५।७२-७७) इससे उसका अमांसाशित्व स्पष्ट हो रहा है। उसके महानस में दुग्ध दोहन के लिय गोएं बंधी रहती थीं, वध के लिये नहीं। लिङ् और लुङ् लकार में हन धातु को वधादेश का विधान होने से बन्ध बन्धने का 'बध्येते' रूप है। कूटपद्यों के अर्थ समझ में न आने के कारण आधुनिकों को उनमें गोमांस भक्षण ही प्रतीत होता है।

आयुर्वेदग्रन्थेषु 'चूतफलेऽपक्वे केसरमांसास्थिमज्जानो न पृथक् दृश्यन्ते ।' (सुश्रुतशारीर ३) अत्र सारो मांसमष्टिरस्थि, अंशान्तरं मज्जा उच्यते । 'समांसं मधुरं प्रोक्तम्' इत्यत्र मदनपालेन निघण्टौ बदरीफलस्य सारांशो मांसमुक्तम् । 'स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांसं मारुतपित्तजित्' (सुश्रुतसूत्र ४६।१२) अत्र मातुलुङ्गफलस्य सारो मांसत्वेनोच्यते । 'भल्लातकास्थ्यग्निसमं त्वङ्मांसं स्वादु शीतलम्' (चरक सू० २७।१६५) अत्र भल्लातकस्य बीजमस्थित्वेन वल्कलं त्वक्त्वेन सारं मांसत्वेनोच्यते । 'खर्जूरमांसान्यथ नारिकेलम्' (चरकचिकित्सा २०।२७) अत्र खर्जूरस्य भक्ष्यभागस्य मांसत्वमुक्तम् । तथैव दुग्धसारभागः कूर्चादिकं मांसपदवाच्यं भवति । गोशब्देन दुग्धमुच्यते इत्यपि पूर्वमुक्तमेव । 'आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः ।' इति विंशतिलक्षगवां रन्धने भोक्तारः प्रतिपशु शतसंख्याकाश्चेत् कथं तेषामेकत्रावस्थानं भोजनञ्च सम्भाव्येत, तावतीनां दुग्धकूर्चाद्यर्थं तु बन्धने न काचिदनुपपत्तिः ।

सहस्रशश्च सौवर्णान्वृषभान्गोशतानुगान् ।
अध्यर्धमासमददद् ब्राह्मणेभ्यो शतं समाः ॥ (द्रोणपर्व ६७।१०-११)

अत्र तु गवां वृषभाणाञ्च दानमेवोक्तम् । 'महोक्षञ्च महाजञ्च श्रोत्रियायोपकल्पयेत्' इति याज्ञवल्क्यवचनेनैकवाक्यता भवति ।'वध्येते इत्यस्य वधार्थत्वेऽपि वधोऽपि दण्डैस्ताडनमतिथीनां पार्श्वे नयनार्थमेव ।

'अघासु हन्यन्ते गावः' इति मन्त्रव्याख्याने दण्डैस्ताडयन्ते प्रेरणार्थम्, इतिसायणोक्तेः । न हननं प्राणवियोगापादनम् । 'आलभ्यन्त शतं गावः' (म० भा०) इत्यत्रापि स एवार्थः । पाकशालायां द्विसहस्रगवां वधो नोपपद्यते । पाकशालासु पाकस्यैवोपपन्नत्वात् । 'उपस्थिताश्च पशवः स्वयं यं शंसितव्रतम् । बहवः स्वर्गमिच्छन्तः विधिवत्स्वर्गयाजिनम् ॥' (म० भा० द्रो० ५०) इत्यत्रापि स्वर्गप्राप्त्यर्थं दुग्धदानार्थमेव स्वयमेव पशव उपस्थिता भवन्ति स्म । 'ब्राह्मणेभ्यः शतं समाः' (म० भा० १०।६७।११) प्रतिदिनं वनपर्वरीत्या द्विसहस्राणां द्रोणपर्व ६७।१६ रीत्या २१ सहस्राणां शान्ति २९।१२७ विंशतिलक्षाणां गवां मारणं सहस्रशश्च गोशतानुगानां वृषभाणां दानं कथं वा सम्भाव्येत ? शतपथविरोधश्च उक्त एव ।

(हन् हिंसागत्योः)—हनधातोश्च गमनमर्थः । निघण्टौ (२।१४) गतिकर्मकेषु हन्तेः पाठाच्च । वधकर्मकेषु हन्तेरालभतेश्च पाठादर्शनाच्च न हन्तेरालभतेश्च प्रकृते वधार्थता । निघण्टुनिर्वचनं कुर्वता 'निगमा इमे भवन्ति' (१।१३) इति गम्धातोः प्रयोगः । 'आहननादेव स्युः' (१।१) इह च गम् इति स्थाने हन्तेः प्रयोगः समानार्थकतावशात् टीकाकारैः हन्तेः पठनार्थताऽङ्गीकृता । 'हन्तेः पठनार्थ वर्तमानस्यानेकार्थत्वाद्धातूनाम् । प्रसिद्धश्च पाठार्थे हन्तेः प्रयोगः । एवं हि वक्तारो भवन्ति ब्राह्मणे इदमाहतम् सूत्रे इदमाहतमिति' दुर्गाचार्यः ।

तथा च गावः आलभ्यन्त इत्यत्र न गवां मारणमर्थः, किन्तु दानार्थं स्पर्श एवार्थः, (डुलभष प्राप्तौ) इति स्मरणात् । यथा महाभारते उद्योगपर्वणि 'ऋषभं पृष्ट आलभ्य ब्राह्मणान् अभिवाद्य च ।' (८३।१०) 'गामालभ्य विशुद्ध्यति' (मनु० ५।८७) अत्र स्पर्श एवार्थः । 'स्त्रीणां प्रेक्षणालम्भे' (मनु० २।१७९) अत्रापि स्पर्श एवार्थः । यजमानमालभते 'कोऽसि' (वा० सं० २०।४) उव्वटमहीधरौ । 'का० श्रौ० सू० १९।४।१९' अत्र आलभनं स्पर्श एव । 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते' (तै० ब्रा० ३।४।१-१९) अत्र सर्वत्रोत्सर्ग एव भवति न मारणम् । 'अथास्यै हृदयमालभते' (पारस्करगृह्यसूत्र १।८५) अथास्य

किञ्च रन्तिदेव की कथा में वधिकों की संख्या नहीं बताई गई, किन्तु पाचकों की दो लाख संख्या बताई है । कूटपद्यों में चर्मण्वती नदी का वर्णन भी दिखाई देता है । वहां यह समझना चाहिये कि दुग्धसारनिर्मित रसमोदक पदार्थ भी गोविकार होने से गो शब्द से कहे जा सकते हैं । उनके ऊपरी भाग को चर्म शब्द से कहा जा सकता है । उनको हटाकर उन्हें (भीतरी भाग को) ब्राह्मण

हृदयमालभते' (पा० गृ० २।२।१६) अत्र सर्वत्र स्पर्श एव। 'अक्षान् यद बभ्रून् आलभे' (अथर्ववे० सं० ७।११४।७) अत्रापि अक्षाणां स्पर्श एव।

कुमारं जातं पुरा अन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्येन प्राशयेत्' (आश्व० गृ० सू० १।१५।१) एवं सनातनधर्मालोके षष्ठे पुष्पे बहूनि प्रमाणान्युद्धतानि। तथा दानार्थं दुग्धदोहनार्थं स्पृश्यन्ते स्म गावः। ततः शतं समाः, अपरिगणितानामतिथीनां भोजने दुग्धदधिघृतकूर्चादिप्राप्त्यर्थं गवां स्पर्श एव।

अत एव— तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति .सुमृष्टमणिकुण्डलाः।
सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा॥ (म० भा० द्रो० प० ६७।१८)

यदि २१ लक्षपरिमितानां गवां प्रतिदिनं वधोऽभिप्रेतः स्यात्तदा मांसमद्य नास्ति सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वमित्यस्य कथं संगतिः स्यात्, तस्मादत्रापि मांसमित्यस्य दुग्धसारकूर्चादिकमेव मन्तव्यम्। मांसमस्त्येनेति व्युत्पत्त्या अर्शआद्यच् प्रत्यये मांसशब्दस्य मांसलं दुग्धसारादिकमेवार्थः, श्लोकस्य कूटरूपत्वाच्च।

'अर्हयेत् प्रथमं गवा' (मनु० ३।३) इत्यनेन यथा स्नातकस्य गवा सत्कारो गोदुग्धादिनैव भवति, तथैव प्रकृतेऽपि 'न चासां मांसमश्नीयात्' (अनु० प० ७८।१७) इत्यत्र गोभक्षणं निषिद्धमेव। कूटपद्यानामर्थानभिज्ञानादेवाधुनिकानां तत्र गोमांसभक्षणं प्रतीयते रन्तिदेवकथायाम्।

किञ्च, रन्तिदेवकथायां वधिकानां संख्या नोक्ता, किन्तु पाचकानां द्विलक्षसंख्योक्ता। (द्रोणपर्व ६७।२) कूटपद्यत्वादेव तत्र चर्मण्वतीनदीवर्णनं दृश्यते। तत्रापि दुग्धसारनिर्मितरसमोदक (रसगुल्ला) (गुलाबजामुन) आदिपदार्थान्तरमेव। गोविकारत्वात् गोपदवाच्यता, गोभिः श्रीणीत मत्सरमितिवत्। तेषामुपरिभागाश्चर्माण्युच्यन्ते तान्यनपसार्य ब्राह्मणाः भक्षयन्ति स्म। तेषामपसारितानां चर्मणां रसेन चर्मण्वती नदी प्रवर्तिता। यथाऽद्यत्वेऽमुकदेशे घृतदुग्धनद्यः प्रवहन्ति। घृतकुल्यामधुकुल्यादिचर्चा वेदेऽपि दृश्यते। पाश्चात्येषु सुराकुल्याचर्चा भवति। अत एव—नदी महानसाद् यास्य प्रवृत्ता चर्मराशितः। तस्माच्चर्मण्वती पूर्वम्···॥ (द्रो० ६७।५) अन्यथा चर्मणा प्रवृत्ता नदी अद्ययावत् प्रवहतीत्युक्तिः कथं संगच्छेत ?

गोमेधः

ननु यद्यपि 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इति श्रुत्यनुसारेण यज्ञादन्यत्र सर्वेषामपि प्राणिनामवध्यत्वमेवोक्तं तथापि यज्ञे विहितानां पशूनां वधो भवत्येव, तथैव गोमेधयज्ञे गवां वधोऽभ्युपगन्तव्य एवेति चेन्न, गवामघ्न्यपदव्यपदेश्यतायाः वैशेष्यात्। न च सर्वेषां पशूनामघ्न्यत्वव्यपदेशो दृश्यते वेदे, न चाश्वमेधसाहचर्य्यादश्वस्येव गवामपि गोमेधे वधोऽभ्युपगन्तव्य इति वाच्यम्, तथात्वे सर्वमेध इत्यत्र सर्वस्येव वध्यत्वापत्तेः। गृहमेध इत्यत्रापि न गृहवधोऽर्थः स्यात्।

खाते थे। उन अपसारित किये चर्मों के रस से चर्मण्वती नदी बहने लगी। जैसे आज भी कहते हैं किसी जगह घी, दूध की नदियाँ बह रह रहीं हैं। घृतकुल्या, मधुकुल्या आदि की चर्चा वेद में भी दिखाई देती है। पाश्चात्य देशों में सुराकुल्या की चर्चा होती है। यही कल्पना उचित प्रतीत होती है, अन्यथा चर्म से प्रवृत्त हुई नदी का प्रवाहित रहना आज तक कैसे संगत हो सकता है ?

गोमेध

कुछ लोग यह जिज्ञासा करते हैं कि यद्यपि 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि; इस श्रुति के अनुसार (यज्ञ के अतिरिक्त) सभी प्राणी अवध्य बताये गये हैं। तथापि यज्ञ में विहित पशुओं का तो वध किया ही जाता है। उसी तरह 'गोमेध यज्ञ' में 'गोवध' को भी

'न हिंस्यात्' इति वचनेन सर्वस्याहिंस्यत्वोपपत्त्या पुनस्तत्र तत्र गवामघ्न्यत्वव्यपदेशाद् गवां यज्ञेऽयज्ञे सर्वत्रैवाघ्यत्वं सिद्धयति। तस्मादन्यत्र न हिंस्यादिति हिंसानिषेधेऽपि 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति विशेषवचनाद् यागे विहितपशूनां वधो भवति तथैव गवामपि वध्यत्वप्राप्तौ तन्निषेधार्थमेव पुनस्तेषामवध्यत्वबोधनाय अघ्न्यत्वोक्तिः। 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इतिवद्विशेषनिषेधात्। अत एव 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' इत्यादावुत्सर्ग एव।

अतो महाभारतेऽपि—

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति।
महच्चकाराकुशलं वृषं गामालभेत्तु यः॥ (शान्तिपर्व २६३।४७)

यज्ञपूर्त्यर्थं व्रीहिमयेन पशुना तत्पूर्त्तिः। तदपि महाभारते प्रोक्तम्—

श्रूयते हि पुराकाले नृणां व्रीहिमयः पशुः।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः॥ (म० भा० अनुशासनपर्व ११५।५६)
'विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मस्तेषु महान् भवेत्।
यज्ञ बीजैः सहस्राक्ष त्रिवर्षभरमोषितैः॥'

'पशवो वै धानाः' (गो० ब्रा० २।४।६) इति गोपथोक्तेः, (श० १।२।३।७) इति शतपथोक्तेश्च। 'व्रीहिधेनुरपि भवति' अनुशासन ७१।४०, ७३।३७। तिलधेनुवर्णनञ्च दृश्यते। ७१।३९, घृतधेनुः ७१।४१ जलधेनुस्तथैव यवधेनु-मृत्तिकाधेनु-सुवर्णधेनु-प्रभृतीनां दानवर्णनं दृश्यते। शातातपस्मृतौ च (२।४८) शर्कराधेनुघृतधेनु रत्नधेनुवर्णनं, दधिधेनुः ४।९, दुग्धधेनुः ४।८, मधुधेनुः ४।१०, गुडधेनुः ४।११, रौप्यधेनुः ५।२७, पिष्टपश्वादिकमपि दृश्यते।

गोयज्ञे गोधूमशब्दं मत्वा 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदलोपः' इति वार्त्तिकेन धूमलोपं कृत्वा गोधूमपिष्टनिर्मितपशुना कृतो यज्ञो गोयज्ञ उच्यते। तत्र व्रीह्यादिनिर्मितया गवा होमो भवति। यद्यपि तादृशेऽपि यज्ञे हिंसा भवति, तथापि यज्ञिया तादृशी हिंसा अहिंसैव भवति।

अथर्ववेदस्य नवमसूक्ते शतौदनाया गोर्याग उक्तः। तत्र शतसंख्याकैस्ततोऽप्यधिकैर्वा ओदनैर्गौर्निर्मीयते। शतशब्दोऽनेकार्थवाची। तस्याः शमनं (मारणं) पाकः (स्वर्गगमनम्) अस्थिलोहितादिशब्दा उपचारेण वर्तन्ते। तद्यथा—

मान लेना चाहिये। किन्तु उक्त जिज्ञासा का समाधान यह है—अन्य प्राणियों की अपेक्षया 'गौ' की यह विशेषता है कि उसे 'अघ्न्य' शब्द से बताया गया है। अन्य पशुओं को 'अघ्न्य' शब्द से नहीं कहा गया है। यदि यह कहा जाय कि अश्वमेध के साहचर्य से अश्व के समान 'गो' का भी गोमेध में वध क्यों न हो? किन्तु ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि वैसा कहने पर 'सर्वमेध' यज्ञ में सभी को वध्य समझना होगा। गृहमेध' यज्ञ का 'गृहवध' अर्थ किसी ने नहीं किया है। तथापि पुनः शंका हो सकती है कि 'न हिंस्यात्' वचन से यद्यपि सभी प्राणी अवध्य माने जाते हैं, तथापि 'गौ' की जहाँ जहाँ 'अघ्न्यता' बताई गई है, उस कारण यज्ञ में अयज्ञ में सर्वत्र ही 'गौ' की अवध्यता तो स्पष्टतया सिद्ध हो जाती है।

अन्य सभी प्राणियों की अवध्यता 'न हिंस्यात्' इस वचन से जब कही गई है तब पुनः 'अघ्न्य' कहने की आवश्यकता नहीं, तथापि जैसे 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस विशेष वचन से यज्ञ में विहित पशुओं का वध किया जाता है, वैसे ही 'गोमेध' यज्ञ में गौ के विहित होने से उसकी वध्यता भी प्राप्त हो सकती है, अतः उसके निषेधार्थ (निवारणार्थ) ही पुनश्च उन (गौओं) के अवध्यत्व को बताने के लिये बार बार सर्वत्र 'अघ्न्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' के समान विशेषरूप से यह निषेध किया गया है। अतएव 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' में ब्राह्मण का उत्सर्ग ही किया जाता है। गोवध विना किये ही गोमेध यज्ञ की पूर्ति का विधान महाभारत, गोपथब्राह्मण, शतपथब्राह्मण आदि अनेक ग्रन्थों में बताया गया है।

'गोयज्ञ' में 'गोधूम' शब्द को मानकर 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वाच्यः' (पा० अ० ५।३) वार्तिक से 'धूम' पद का लोप कर गोधूमपिष्टनिर्मित पशु के कृत यज्ञ को 'गोयज्ञ' कहा गया है। उसमें व्रीहि आदि से निर्मित गो से होम किया जाता

'ये त्वा देवि शयितारः पत्यारो ये च ते जनः ।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मा एभ्यो भैषीः शतौदने ।।' (अथर्ववे० सं० १०।९।७)

तस्माद् गोमेधेन जोवितप्रत्यक्षगोरूपयोगः । यत्र च हवनीयपशवङ्गानां ऋत्विग्भ्यो विभाग उक्तस्तत्रापि व्रीहिनिर्मितपशोरेव विभागो विज्ञेयः । यथा 'ब्रह्मणे मनो दद्यात्, अध्वर्यवे प्राणं, होतृभ्यः श्रोत्रम् ।' (आपस्तम्ब श्रौ० सू० १३।६।६) इति मनआदिदानं न हिंसापूर्वकम्, किन्तु भावमयमेव, तथैव गोयज्ञेऽपि वेदा गवामघ्न्यत्वं घोषयन्ति ।

'अन्नं हि गौः' (शत० ४।३।४।२५), 'आज्यं मेघः गावस्तण्डुलाः' (अथर्ववे० सं० ११।२।५) तेन तण्डुलानां होमोऽपि गोमेधः संभवति ।

अश्वमेधयज्ञे यद्यप्यश्वस्य प्रत्यक्षस्य प्रयोगो भवति, तथापि विशिष्टैर्विधानैरौषधैश्च तस्य कायकल्पेन दिव्यत्वमापद्यते । न च सर्वेऽश्वा अश्वमेधार्हा भवन्ति, किन्तु श्यामकर्णसंज्ञकोऽतिदुर्लभ एवाश्वस्तत्रोपयुज्यते । प्रजापत्यभेदबुद्ध्या तदुपासनमपि बृहदारण्यकादौ विहितम् । 'उषा वा मेध्यस्य अश्वस्य शिरः' इत्यादिना कायाकल्पेन दिव्यभावापन्नस्य तस्य रक्तादयः सर्वेऽपि धातवः शुद्ध्यन्ति । तद्वपाया होमे वपाधूमगन्धः पापापहो भवति ।

'तं वपा धूपगन्धं तु धर्मराजः सहानुजैः ।
उपाजिघ्रद् यथाशास्त्रं सर्वपापापहं तदा ।।'

(महाभारत आश्वमेधिकपर्व ८९।४)

साधारणाश्ववसामांसादीनामग्नौ दुर्गन्धमसह्यं भवति । परन्तु वैधानिकप्रक्रियया तस्य रक्तादेर्दिव्यत्वे सत्येव वपाहोमधूम आघ्रेयः पापनाशकश्च भवति ।

'ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति' (ऋ० सं० १।१६२।१५ ।)

अत्राग्निपक्वस्याश्वस्य शोभनगन्धत्वमुक्तम् ।

'ततो धौम्यो हयस्याशु वामं कर्णं न्यपीडयत् ।
ततो दुग्धस्य धारा तु निर्गता जनमेजय ।।' (जै० अ० ६४।१९-२०)

एवमपि तस्यासाधारण्यं व्यज्यते । विशसनेन शिरः सूर्यं प्रविष्टं देहस्तु कर्पूरमयो जातः । 'ऊर्ध्वगतं तच्च शिरो न चाधः सूर्यं प्रविष्टं किल वह्निरूपम् ।' (६४।२२) ।

है । यद्यपि उस जैसे यज्ञ में भी व्रीहियों की हिंसा कही जा सकती है, तथापि यज्ञविहित होने से उसे हिंसा न कहकर अहिंसा ही कहा गया है । गोमेध में या गोयज्ञ में प्रत्यक्ष गौ का उपयोग नहीं होता है । जहाँ कहीं हवनीय पश्वंगों का ऋत्विजों के लिये विभाग कहा गया है, वहाँ व्रीहिनिर्मित पशु का ही विभाग होता है । जैसे 'ब्रह्मणे मनो दद्यात्', 'अध्वर्यवे प्राणं, होतृभ्यः श्रोत्रम्' (आ० श्रौ० सू० १३।६।६) इस वचन से मन आदि का दान, हिंसापूर्वक नहीं किया जाता, किन्तु केवल भावमय ही किया जाता है । वेदों ने तो 'गौ' के अघ्न्य होने की घोषणा कर दी है । 'अन्नं हि गौः (श० प० ४।३।४।२५), 'गावस्तण्डुलाः' (अथर्व सं० ११।२।५) इन वचनों से तण्डुलों से होम करने पर भी 'गोमेध' का अनुष्ठान हो सकता है ।

अश्वमेधयज्ञ में यद्यपि अश्व का प्रत्यक्ष उपयोग किया जाता है, तथापि विशिष्ट विधानों से तथा औषधियों से उसका कायाकल्प किया जाता है, उस कारण दिव्यता प्राप्त होती है । सभी अश्व, अश्वमेध के योग्य नहीं होते । केवल श्यामकर्ण अश्व ही उस यज्ञ के योग्य रहता है, जो अत्यन्त दुर्लभ है । बृहदारण्यक में प्रजापति और अश्व दोनों में अभेद बुद्धि करके उसकी उपासना भी बताई है । कायाकल्प होने से दिव्यभावापन्न हुए उस अश्व के रक्तादि सभी धातु शुद्ध हो जाते हैं । उसकी वपा का होम करने पर निकलनेवाला वपाधूम गन्ध, पापनाशक माना गया है । साधारण अश्व की वसा, मांस आदि अग्नि में जलने पर अत्यन्त दुर्गन्ध फैलती है, किन्तु

शुद्धं ज्ञात्वा हृषीकेशस्तुतोदैनमुरःस्थले ।
वैल्वेन कण्टकेनापि भिन्नः कृष्णेन पावनः ॥

अत्र·······मेध्यस्याश्वस्य शुद्धत्वं पावनत्वञ्चोक्तम् । .

ततो दुग्धधाराप्रवाहः, देहस्य कर्पूरत्वापत्तिः—

निर्गता दुग्धधारातु तुरगस्य कलेवरात् ।
एवंविधो न कस्यापि शुद्धपूर्वस्तुरङ्गमः ॥ ६४।२३–२५
तेषां संवदतामेवं तुरङ्गमकलेवरात् ।
निर्गतं सुमहत्तेजः प्रविष्टं केशवानने ॥
पश्चाच्छरीरं भूत्वा कर्पूरमेव तत् ।
विभूतिरिव रुद्रस्य च्युता गात्रादशोभत ॥ २७—२८
विस्मिता मुनयस्ते तु कर्पूरं वीक्ष्य तेऽभवन् ।
कर्पूरं जुहुवुस्ते तु होमकुण्डे तु तत्क्षणात् ॥ ६४ ॥
मोचिताः पशवः सर्वे ये च यूपे नियोजिताः । ६४।५२

यथाद्यत्वे वैद्या वृद्धस्यापि कायाकल्पेन युवत्वमापादयन्ति, तद्वद् विशिष्टैर्विधानैर्भोजनैर्मन्त्रैश्चाश्वस्य दिव्यत्वमापाद्यते स्म । कलियुगे तदसंभवं दृष्ट्वाऽश्वमेधो निषिद्धः । यथा योगिनो विविधाभिः क्रियाभिः नेतिधोतीवस्त्रवस्ति-वज्रोल्यादिप्राणायामैर्देहशोधनं कुर्वन्ति । तेन शरीरं शुद्धं प्रतिश्यायादिरहितं भवति ।

अश्वमेधे राजमहिष्या सहवासे अश्लीलसम्बन्धिसमाधानं तु पूर्वमेवोक्तम् । वाल्मीकिरामायणेऽपि—

पतत्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः ।
ऋत्विक्परमसम्पन्नः श्रावयामास शास्त्रतः ॥
धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः ।
यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन् पापमात्मनः ॥
हयस्य यानि चाङ्गानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः ।
अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत् समस्ताः षोडशर्त्विजः ॥ १।१४।३६–३८

राजमहिषी तं परिचर्य्य चक्रवर्तिपुत्रं जनयति । वाजीकरणवैशेष्यञ्च ततो लक्ष्यते । कलियुगे तादृशसाधनाभावादेव

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम् ।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥ इत्युक्तम् ।

वेदोक्त वैधानिक प्रक्रिया से उसके रक्तादि धातुओं में दिव्यता आने के कारण ही वपाहोम धूम, आघ्रेय और पापनाशक हो जाता है । उसके शरीर से दूध की धार प्रवाहित होती है, उसका शरीर कर्पूरमय हो जाता है, कर्पूर की सुगन्ध सर्वत्र महकने लगती है । उसके शरीर से निकला तेज भगवान् के मुख में प्रविष्ट हो जाता है । जैसे धन्वन्तरी के समान महान् वास्तविक आयुर्वेदवेत्ता वैद्य लोग वृद्ध को भी कायाकल्प के द्वारा युवा बना देने की क्षमता रखते हैं, और वृद्ध को युवा बना देते हैं, उसी तरह वेद विहित विशिष्ट विधानों से भोजनों से, मन्त्रों के द्वारा ऋषिगण अश्व में दिव्यत्व प्राप्त करा देते थे, किन्तु आज कलियुग में 'यह सब यथाविधि-विधान का होना संभव न देखकर कलियुग में इस यज्ञ के अनुष्ठान का निषेध कर दिया गया है । जैसे योगी लोग नेति, धौती, वस्त्रवस्ति, बज्रोली, प्राणायाम आदि विविध यौगिक प्रक्रियाओं से अपने देह का शोधन कर अपने शरीर को शुद्ध प्रतिश्यायादिरहित करते हैं ।

गोमेधस्तु—गवामघ्न्यत्वाद् व्रीह्यादिमयेन गोदेहेनैव निर्वर्त्यते। कलियुगे तु व्रीह्यादिमयगोमेधोऽपि निषिद्धः। नरमेधेऽपि नरो न हन्यते किन्तूत्सृज्यते, शुनःशेपस्यान्ते मोक्षदर्शनात्। यदपि गृह्यसूत्रेषु शूलगवे उक्ष्णो वृषभस्य वाऽऽलम्भनं भवति, 'रुद्राय वलिः समर्प्यते' आश्वलायनगृह्यसूत्रे इति, तदपि तुच्छम्, अघ्न्यपदप्रयोगविरोधात्। तत्र तदङ्गानां स्पर्शपूर्वकं तदङ्गानां रुद्राय निमंञ्छनमेव क्रियते। तस्याप्युत्सर्ग एवालम्भः। त्यागस्य मरणरूपत्वोक्तेः। तदङ्गानां स्पर्श एवात्राप्यालम्भनम्।

'पशुना रुद्रं यजेत' इत्यस्य पशुं रुद्राय ददातीत्येवार्थः। 'यजेः कर्मणः करणसंज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा' (वार्त्तिक १।४।३२) यजतेश्च संगतिकरणमर्थः। तच्च देवस्य नाम्ना तद्दानमेव। यत्तु तदङ्गानामग्नय उपहारो दर्शितः, तत्रापि अग्निपदेन रुद्र एवेष्टः। 'तस्मै रुद्राय नमो अस्तु अग्नये' इति श्रुतेः। 'तस्मात्तस्यैतान्यङ्गानि रुद्राय' रुद्रनाम्ना दानमेव बलिः। रुद्रो वृषभध्वजः पशुपतिश्च। शूलगवे प्रयुक्तस्योक्ष्णोऽरण्ये उत्सर्गः। न ग्रामे तदानयनम्। अतः प्राचीनकालेऽपि गोमेधे न गवां हननं भवति स्म।

किञ्च 'मुग्धा देवा उत शुना अयजन्त उत गोभिरङ्गैः। पुरुषा अयजन्त' (अथर्व० वे० सं० ७।५।५) अत्र गोभिर्यं यजन्ति तेषां मूढत्वमुक्तम्। देवा इत्यनेन पिशाचरूपा एव देवा विवक्षिताः 'पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः।' (अमरको० १।१।११) इत्यमरोक्तेः। वस्तुतस्त्वत्र पूर्वार्धर्चे कर्मयज्ञनिन्दा, उत्तरार्धर्चे च ज्ञानयज्ञप्रशंसा।

यत्रापि गोमेधो गोयागो वा दृश्यते तत्र सर्वत्र व्रीह्यादिनिर्मितेनैव गोपशुना यजनं मन्तव्यम्। 'अवध्यानां परमावधिर्गौः' इति प्रकृतमन्त्रभाष्ये सायणोक्तेः। उपवेदभूते चरके—आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालम्भनीयाः (प्राप्तव्या) बभूवुः। न आलम्भाय (वधाय) प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञे प्रत्यवरकाले मनोः पुत्राणां नाभागेक्ष्वाकुवादीनां क्रतुषु पशूनामभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः। अत एव तत्प्रत्यवरकाले पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजमानेन पशूनामलाभात् गवामालंभः प्रवर्तितस्तेन ततः पूर्वं गवामालम्भो वर्जित एव। तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणा उपाकृतानां (हतानां) गवां गौरवात् असात्म्यात् उपहताग्नीनां उपहतमनसां अतीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे (चिकित्सास्थान १९।३) तेनास्य वैयक्तिकत्वं क्वाचित्कत्वं रोगोत्पादकत्वं मनोघातकत्वमेव सिद्ध्यति। गोमेधादौ तु व्रीह्यादिमयेनैव यजनं भवति स्म। कलियुगे सोऽपि निषिद्धः।

अनुस्तरण्या अपि उत्सर्गो दानमेव वा भवति स्म। तद्यथा बौधायनीयपितृमेधसूत्रे उत्सृजेद् वा एनां ब्राह्मणाय वा दद्यात्, दत्ता त्वेव श्रेयसे भवति' (१।१०।२)। आश्वलायनगृह्यसूत्रे अनुस्तरणीम् (४।२।४) अत्र गार्ग्यनारायणवृत्तिः— 'अत्रापि एके ग्रहणं सम्बद्धयते। तेन अनुस्तरणी अनित्या।' इति कात्यायनेनापि 'न वा अस्ति संदेहादिति······तस्मान्न भवति।' इत्युक्तम्, केषाञ्चिद्रीत्या अनुस्तरणी वर्करी। यत्तु—

'गवां द्वादशलक्षाणां ददौ नित्यं मुदान्वितः।
सुपक्वानि च मांसानि ब्राह्मणेभ्यश्च पार्वति॥
षट्कोटिं ब्राह्मणानाञ्च भोजयामास नित्यशः।'

उसी तरह अश्वमेधीय अश्व का शरीर वेदविहित विविधविधियों से मलरहित शुद्ध किया जाता है। अश्वमेध के विषय में जो अन्यान्य आक्षेप किये गये है, उन सबका समाधान पहले ही किया जा चुका है। 'नरमेध' मे भी 'नर' का बध नहीं किया जाता, किन्तु उसका (नरका) उत्सर्ग (त्याग) किया जाता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र का नाम लेकर जो कहा गया है कि 'शूलगव' में उक्षा या वृषभ का

प्रकृतिखण्डे ५०।१३।१४ ब्रह्मवैवर्त्ते—

गोमेधं च चतुर्लक्षं विधिवन्महदद्भुतम् ।
ब्राह्मणानां त्रिकोटिञ्च भोजयामास नित्यशः ॥
पञ्चलक्ष गवां मांसैः सुपक्वै घृतसंस्कृतैः। (२।५४।४८-४९)

इति स्वायम्भुवमनोरातिथ्यसत्कारः ।

तथैव—पञ्चकोटि गवां मांसं सपूपं सान्नमेव च । एतेषाञ्च नदीराशीत् भुञ्जते ब्राह्मणा मुने ॥ २।६१।९९ । इति । चैत्रस्य राज्ञः कृत्यम् । 'यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च'। इति सीतारामायणे अयोध्या ५५।२० ।

रुक्मिणीविवाहे च—

गवां लक्षं छेदनञ्च हरिणानां द्विलक्षकम् ।
चतुर्लक्षं शशानाञ्च कूर्माणां च तथा कुरु ॥

इत्यादिभिश्च गोवधगोमांसभक्षणसमर्थनमपि यत्किञ्चित्, वेदे गवां वधनिषेधानुरोधेन पूर्वोक्तवचनानामन्यपरत्वनिर्णयात् ।

पुराणानां वेदोपबृंहणात्मकानां वेदानुगुणमेव तद्व्याख्यानस्य युक्तत्वात् । यथा वेदानां क्वचिद्यौगिकार्थाश्रयणे समाधानं तथैव पुराणवचनानामपि समाधानं युक्तमेव ।

यास्करीत्या सर्वाणिआख्यातजानि नामानि । न चेदं यास्कोयं मतं केवलं वेदार्थं किन्तु सार्वत्रिकमेव । अत एवामरकोषसुधाटीकाकृता भानुजीदीक्षितेनापि शाकटायनादिरीत्या लोकेऽपि नाम्नामाख्यातजत्वं मत्वा तथैव व्याख्यातम् । यास्कोऽप्याख्यातानुरूपां व्युत्पत्तिमभ्युपगच्छन्नपि परिव्राजक-तक्षन्-भूमिज–अश्व–तृणादिपदानां योगरूढितामभ्युपगतवान् । 'पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां 'नैकेषां' (निरु० १।१४) व्युत्पत्तौ समानायामपि कश्चित्परिव्रजन्नपि न परिव्राजको भवति । तक्षन्नपि न सर्वः तक्षा भवति । अपरिव्रजन्नपि अतक्षन्नपि कश्चिदेव तक्षा भवति । '

यथा मांसभक्षणप्रपञ्चो दृश्यते वेदेऽपि तथैव दृश्यते ।

'एते वै प्रियाश्च अप्रियाश्च ऋत्विजः स्वर्गलोकं गमयन्ति' (अथर्व वे० सं० ९।६।२३) अत्रातिथीनां स्वर्गदातृत्वमुक्तं ऋत्विक्त्वञ्च ब्राह्मणजातीयानामेव भवति नान्येषाम् । 'स्मृतेर्वा स्याद् ब्राह्मणानाम्' (जै० सू० १२।४।३८) । 'ब्राह्मणानां वा इतरयोरार्तिज्याभावात्' (जै० सू० ६।६।१८) अत एव पाणिनिसूत्रमहाभाष्ये ऋत्विक्कर्म अर्हतीति आर्त्विजीनं ब्रह्मकुलम् । अत्र ब्राह्मणकुलस्य ऋत्विक्त्वं स्पष्टमेवोक्तम् ।

आलंभन होता है । किन्तु यह कथन भी तुच्छ है । क्योंकि 'अघ्न्य' पद के प्रयोग से विरोध होगा । उसमें तो उसके अंगों का स्पर्श कर रुद्र के लिये उसके अंगों का निर्मञ्छन (न्योछावर) ही किया जाता है । उसका उत्सर्ग (विसर्जन) करना ही आलंभ है । क्योंकि त्याग को मरण के समान ही माना गया है । उसके अंगों का स्पर्श ही यहाँ आलंभन माना गया है । अतः प्राचीन काल में भी गोमेध में गौओं का हनन नहीं हुआ करता था । पुराणों का नाम लेकर मांस भक्षण, गोवध आदि बताना अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि पुराणों को वेदोपबृंहक कहा गया है, अतः वेदों के अनुगुण (अनुकूल) ही उनकी व्याख्या करना समुचित होगा ।

यास्क ने व्याख्या करने की रीति जो बताई है, वह केवल वेद के लिये ही नहीं है, अपितु सर्वत्र उसका उपयोग किया जा सकता है । अतएव अमरकोष के सुधाटीकाकार भानुजीदीक्षित ने यास्क शाकटायनादि की रीति को अपनाकर व्याख्या की है । संज्ञाओं को आख्यातज मानते हुए भी अनेक संज्ञा विशेषों में योगरूढिता को भी आवश्यकता का ध्यान न रखकर बताया है । जैसे 'तक्षन्

'सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके। अन्नञ्चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥' (मनु ३।९९) 'शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः। सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥ (म० ३।१००) इत्यतिथि-सत्कारस्तपस्विनामपि विहितः। तदकरणे सुकृतक्षयश्चोक्तः। 'इष्टं च वा एष पूर्तञ्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति एष वा अतिथिर्यत् श्रोत्रियः तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात्' (अथर्व ९।६।३१–९।६।६७) इति श्रोत्रियातिथेः पूर्वभोजनं निषिद्धम्। श्रोत्रियलक्षणञ्च—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्चते ॥ (अत्रिस्मृति १३८) इति स्मृतावुक्तम्।

'अशितवति अतिथो अश्नीयात्' (अथर्व वे० सं० ९।६।३८) अतिथिभोजनानन्तरमेव भोक्तव्यम्। 'एतद् वा उ स्वादीयो यद् अधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव अतिथेः पूर्वं नाश्नीयात्' (अथर्व वे० सं० ९।६।३९) अत्रातिथेः पूर्वं दुग्धं मांसं वा न भक्षणीयमित्युक्तम्। अत्र च मांसमपि अतिथिभोजनानन्तरं न निषिद्धं यथा दुग्धं घृतं मधु उदकमतिथये दानत्वे-नोक्तं तथैव 'एवं विद्वान् (तिथये) मांसमुपसिच्य उपहरति' (अथर्व वे० सं० ९।६।४३) अत्रातिथये मांसोपहारः स्पष्ट मेवोक्तः। 'अपूपवान् मांसवान् चरुरेह सीदतु' (अ० वे० सं० १८।४।२०)।

'यं ते मन्थमयोदनं यन्मांसं यच्च लोहितम्। आमिक्षां दुहुता दात्रे सीरं सर्पिरथो मधु ॥' (अ० वे० सं० १०।९।१८) 'मांसमेकः पिंशति सूत्रपा' (ऋ० सं० १।१६१।१०) 'ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासते' (ऋ० सं० १।१६२।१२) 'यन्नीक्षणं मांस्पचन्या उखायाः' (ऋ० सं० १।१६२।१३) इत्यादिमांसप्रतिपादकवैदिकवचनानां यादृशोऽर्थो भवति, तादृश एव वेदानुसारिपुराणानामप्यर्थो भवति। 'अतिथिग्वा' (अथर्ववे० सं० २०।२१।८) इत्यत्र अतिथिग्वशब्दोऽपि वेदे समायाति।

तत्र यथार्थस्तथैव पुराणेऽपि।

'यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण' इति सीतावचनस्यापि वेदानुसार्येवार्थः—'इमं मे गङ्गे यमुने' (ऋ० सं० १०।७५।५) इति वेदसिद्धगङ्गादेवतायाः स्तवनं यजनमुक्तम्। 'देवांश्च याभिर्यजते' (ऋ० सं० ८।२८।३) अत्र यथा गोभिर्देवानां यजनमुक्तं तथैव रामायणेऽपि गोसहस्रेण गङ्गायजनमुपपद्यत एव। सीतावचनन्तु पूर्वोक्तवैदिकवचनस्य व्याख्यानमेव। सुराघटसहस्रेण इत्यत्रापि सुरापदेन सोमो विवक्षितो न मद्यम्। 'सोमो भूत्वा द्विजातीन् या (सुरा) भुङ्क्ते श्रेयोभिरुत्तमैः।' (चरके चिकित्सास्थाने २४।५) 'सुरया सोमः' (वा० सं० १९।५) तादृशसोमात्मकसुराघटसहस्रेण गङ्गायजनमपि नानुपपन्नम्।

तृण, परिव्राजक, पङ्कजादि शब्दों को—योगरूढ़ कहा जाता है। 'पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषाम्।' (निरु० १।१४।३) जैसे तक्षणकर्म सभी के करने पर भी सभी को तक्षा नहीं कहा जाता, 'तृण्यते भक्ष्यत इति तृणम्' सभी भक्ष्यपदार्थों का भक्षण होने पर भी सभी भक्ष्य पदार्थ को तृण नहीं कहा जाता, परिव्रजन कर्म सभी के करने पर भी सभी को परिव्राजक नहीं कहा जाता। पङ्क में कितने ही पदार्थों के पैदा होने पर भी सभी को पंकज नहीं कहा जाता। प्रत्युत परिव्रजन, तक्षण, आदि कर्म न करने पर भी किसी व्यक्ति विशेष को ही परिव्राजक, तक्षा आदि कहा जाता है।

अथर्ववेद में अतिथियों का स्वर्गदातृत्व और ऋत्विक्त्व, ब्राह्मण जाति का ही होता है, बताया है। अतएव महाभाष्य में 'ऋत्विक् कर्म अर्हतीति आर्त्विजीनं ब्रह्मकुलम्' ब्राह्मणकुल का ऋत्विक्त्व स्पष्ट रूप से कहा है। मनु ने अतिथिसत्कार करना तपस्वियों के लिये भी बताया है, उसके न करने पर सुकृत का क्षय बताया है। श्रोत्रिय-अतिथि के पूर्व भोजन करने का निषेध किया है। अत्रि-स्मृति में श्रोत्रिय का लक्षण बताया गया है। मांसप्रतिपादक वैदिक वचनों का जैसा अर्थ है, ठीक वैसा ही वेदानुसारी पुराणों का भी अर्थ होता है। 'अतिथिग्व' शब्द भी वेद में आया है, वहाँ जो अर्थ है, वही पुराण में भी है।

'यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण' इस सीतावचन का भी वेदानुसारी ही अर्थ है। 'इमं मे गङ्गे यमुने' इससे वेद सिद्ध—गङ्गा देवता का स्तवन, यजन बताया गया है 'देवांश्च याभिर्यजते' इस वचन में जैसे गौओं के द्वारा देवों का यजन बताया है, वैसे ही रामायण में भी गोसहस्र के द्वारा गङ्गा का यजन भी उपपन्न हो जाता है। सीतावचन तो पूर्वोक्त वैदिकवचन का व्याख्यान ही है।

मांसशब्दात् 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पा० सू०) प्रत्ययेन मांसमस्ति अनेन इति मांसमिति व्युत्पत्त्या मांसोत्पादकदुग्धदधिघृतकूर्चादिकमपि ग्रहीतुं शक्यते, इत्यप्युक्तमेव। तदेव मांसैर्लातीति व्युत्पत्त्या मांसलं भवति। न तत्र जीवितपशुमांसं विवक्षितम्। खर्जूरवदरीफलाम्रकुमारिकादिसारभूतानि च मांसशब्दवाच्यानि भवन्तीत्यप्युक्तमेव।

'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' इत्यादिरीत्या गोपदेन क्वचित् क्षीरादिकं क्वचित् तान्तवी ज्या रज्जुः क्वचित् गोचर्मनिर्मितं पात्रं गृह्यते इत्यप्युक्तमेव। तद्रीत्या ब्रह्मवैवर्त्तेऽपि—'पञ्चकोटिगवां मांसैः' इत्यत्र तावतीनां गवां दुग्धादिकमेव मांसपदवाच्यमिष्टम्। गोपदेन क्षीरं गृह्यते तस्य सारो गोमांसमुच्यते।

ब्राह्मणानां त्रिकोटिं स भोजयामास नित्यशः।
पञ्चलक्ष गवां मांसैः सुपक्वैः घृतसंस्कृतैः॥

इत्यत्रापि घृतादिसंस्कृतदुग्धसारकूर्चादिनिर्मितापूपादिकं विवक्षितम्। गोधूमादिसारोऽपि मांसमुच्यते। 'गावः तण्डुलाः अन्नं गौः' इत्यादिरीत्या अन्नतण्डुलादयोऽपि गावो भवन्ति। तत्सारोऽपि मांसमुच्यते।

सर्वथाऽपि पुराणेषु न गोमांसादिभक्षणं न तेन सत्कारश्चोक्तः। यस्य गोवंशस्य रक्षणार्थं दिलीपः स्वदेहमामिषपिण्डवत्सिंहाय दत्तवान् "स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत् पिण्डमिवामिषस्य।" (रघुवंश २।५९)।

गवां पूजनार्थमेव श्रीकृष्णेन—इन्द्रमानभङ्गेन गोवर्धनपूजा चालिता। स्वयञ्च वृन्दावने श्रीकृष्णेन गोचारणं कृतम्। यद्रक्षणार्थं यस्य च पालनार्थमज्ञातवासस्थितेनाऽप्यर्जुनेन कौरवैर्विराटनगरे युद्धं कृतम्, तस्य पुराणप्रसिद्धस्य गोवधः कथं वेदे पुराणे वा समर्थयितुं शक्यते।

तस्माद्यथा 'गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्' इत्यादियोगवचनानां न प्रातीतिकोऽर्थः, तथैव वेदेषु पुराणेषु च गोमांसादिशब्दस्य पूर्वोक्तो गूढ एवार्थः। प्रस्थं कुमारिकामांसमित्यस्य प्रातीतिकमर्थं कश्चिदनभिज्ञ एव गृह्णाति, न विचारशीलः।

'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' (गो० ब्रा०) इति रीत्या गूढ एवार्थः। -लोके उच्छिष्टशब्देन भुक्तशिष्टान्नादिकमिष्यते। वेदे तूच्छिष्टपदस्य परमात्मार्थो भवति।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः।
ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह॥

व्रात्यपदेनाधमब्राह्मणादय उच्यन्ते, (अथर्ववे० संहितायाम् १५।३।१) इति वेदे तु परमात्मैव व्रात्यः। लोके वन्ध्या

'सुराघट-सहस्रेण यहाँ भी सुरापद से सोम विवक्षित है, मद्य नहीं। यह बात चरक ने चिकित्सास्थान (२४।५) में स्पष्ट है। 'सुरया सोमः' (वा० सं० १९।५) के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि सोमात्मक-सुराघटसहस्र से गङ्गायजन भी अनुपपन्न नहीं है। मांस—शब्द से अच् प्रत्यय जोड़ने पर 'मांसमस्ति अनेन इति मांसम्' इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न मांस शब्द से दूध, दही, घृत, कूर्च आदि का भी ग्रहण किया जा सकता है। 'मांसं लाति' व्युत्पत्ति से वही मांसल होता है।

वहाँ जीवित पशुमांस विवक्षित नहीं है। खजूर, बदरीफल, आम्र, कुमारिकादिसारभूत पदार्थ, भी मांसशब्दवाच्य होते हैं। इसी प्रकार सब व्यवस्था लगा दी गई है। निष्कर्ष यही है कि पुराणों में कहीं पर भी गोमांसभक्षण अथवा उससे सत्कार करना नहीं बताया है। जिस गो वंश को रक्षा के लिये सम्राट् दिलीप ने सिंह के सामने आमिषपिण्ड के समान अपने शरीर को अर्पण कर दिया था उस गोवंश के वध की तथा उस मांसभक्षण की चर्चा करना भी अत्यन्त निन्दनीय है।

लोग वन्ध्यागो को 'वशा कहते हैं, किन्तु वेद में 'सर्वोत्तम गो' समझो जाती है। लोकव्यवहार में अपान शब्द से पायुवायु (पादना) कहा जाता है, किन्तु वेद में 'व्रात्यस्य-अपानम्' कहने से पौर्णमासी, अष्टका, अमावास्या, श्रद्धा, दीक्षा, दक्षिणा बताई गई है। लोक में वृषण को अण्डकोष कहते हैं, किन्तु वेद में 'अश्विनौ कामानां वर्धितारौ' अश्विनीकुमार समझे जाते हैं। प्रतिपक्षियों के द्वारा जिस ब्रह्मवैवर्त-पुराण में गोमांसभक्षण के वचनों को प्रदर्शित किया जा रहा है, उसी पुराण में गोवध करने पर प्रायश्चित्त बताया

गोवंशा भवति, वेदे तु सर्वोत्तमा गोरुच्यते। लोके अपानशब्देन पायुवायुरुच्यते, परन्तु वेदे व्रात्यस्य अपानमिति पौर्णमासी अष्टका अमावास्या श्रद्धा दीक्षा दक्षिणा प्रोच्यते। लोके वृषणौ अण्डकोषः, वेदे अश्विनौ कामानां वर्धितारौ उच्येते।

यत्र ब्रह्मवैवर्त्ते गोमांसभक्षणस्य वचनानि प्रतिपक्षिभिः प्रदर्श्यन्ते, तत्रैव गोवधे प्रायश्चित्तमुक्तम्—

'कामतो गोवधे राजन् वर्षं तीर्थे भ्रमेन्नरः। यवयावकभोजी च करेण च जलं पिबेत्॥
तदा धेनुशतं दिव्यं ब्राह्मणेभ्यो सदक्षिणम्। दत्त्वा मुञ्चति पापाच्च भोजयित्वा द्विजं शतम्॥
प्रायश्चित्ते च क्षीणे च सर्वपापान्न भुञ्जति। पापावशेषाद्भवति दुःखी चण्डाल एव च॥, (२।५१।२५—२७)
गवां द्वादशलक्षाणां ददौ नित्यं मुदान्वितः। (२।५०।१३—१४)

इत्यत्र तु दानमेवोक्तं गवां न वधः। तत्रैव च—

पूपमन्नं च सूपान्नं सगव्यं मांसवर्जितम्।
विप्रा भोजनकाले च मनुवंशसमुद्भवम्॥ (ब्र० वै० २।५१।१६)

इति मांसवर्जितपूपादिभोजनमेवोक्तम्। 'अतो माषान्नमेवैतत् मांसार्थे ब्रह्मणा स्मृतम्।' (१५२ प्रजापतिस्मृतिः)

पञ्चकोटिगवां मांसं सापूपं स्वन्नमेव च। ब्रह्मवैवर्ते 'अपूपवान् मांसवान् चरुदेहः सीदतु' इत्यस्य व्याख्या तत एव चैत्रस्य राज्ञः—

शतनद्यो घृतानाञ्च दध्नो नद्यः शतानि च।
शतानि नद्यो दुग्धानां मधुनद्यश्च षोडश॥
मिष्टानां स्वस्तिकानाञ्च लक्षराशिश्च नित्यशः। (ब्र० वै० २।६१।९६-९८) इति।

न चैतत्सर्वं गवां हनने संभवति। पञ्चकोटिगोमांसभक्षणाय भोक्तारः कियन्तो भवेयुरित्यपि विचारणीयम्।

रुक्मिणीविवाहे तु तादृशप्रस्तावः रुक्मिण एव। स तु शिशुपालभक्तोऽसुरप्रकृतिक एवासीत्। अत एव श्रीकृष्णेन निगृहीत एव। भीष्मकस्तु कृष्णभक्त आसीत्। तत्र तु—

समागत्य सुरान् विद्वान् भूतांश्च प्रणनाम सः।
ददौ योग्याश्रमं तेभ्यो भक्ष्यपूर्णं सुधोपमम्॥
दिवानिशं चाप्युवाच दीयतां दीयतामिति। (श्रीकृष्णजन्मखण्ड—१०७।३३—३४)।

गया है। और वहीं पर गौओं का दान बताया गया है, वध नहीं। तथा वहीं पर मांसवर्जित-अपूपादि भोजन बताया गया गया है। क्या ये सब बातें गोवध होने पर संभव हो सकती हैं? पञ्चकोटिगामांसभक्षणार्थ भोक्ता लोग कितने होंगे यह भी बुद्धि से सोचना चाहिये।

गौओं की पूजा के लिये ही श्रीकृष्ण ने इन्द्र का अभिमान भंगकर गोवर्धन की पूजा प्रचलित की। और वृन्दावन में स्वयं श्रीकृष्ण ने गोचारण किया। जिस गोवंश की रक्षा के लिये और पालन के लिये अज्ञातवास में रहते हुए भी अर्जुन ने विराट नगर में कौरवों के साथ युद्ध किया। पुराणप्रसिद्ध उस गोवंश के वध का वेद या पुराण में समर्थन कैसे हो सकता है। तस्मात् 'गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्' इत्यादि योगवचनों का प्रातीतिक अर्थ जैसे नहीं लिया जाता, वैसे ही वेदों और पुराणों में गोमांसादिशब्द का पूर्वोक्त गूढ़ अर्थ ही है, और उसे ही लिया जाता है। 'प्रस्थं कुमारिकामांसम्' इसके प्रातीतिक अर्थ को कोई अनभिज्ञव्यक्ति ही स्वीकार कर सकता है, विचारशील व्यक्ति कभी नहीं उसे स्वीकार करेगा।

'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' इस गोपथब्राह्मण वचन के अनुसार ये सब गूढ अर्थ ही हैं। लोकव्यवहार में 'उच्छिष्ट' शब्द से भुक्तशिष्ट अन्न समझा जाता है, किन्तु वेद में 'उच्छिष्ट' शब्द से 'परमात्मा' अर्थ समझा जाता है। 'व्रात्य' शब्द से अधम ब्राह्मण आदि समझे जाते हैं, किन्तु वेद में व्रात्य शब्द से परमात्मा ही समझा जाता है।

रुक्मिणी के विवाह में तो वैसा प्रस्ताव रुक्मी ने ही किया था। वह तो शिशुपाल का भक्त असुरप्रकृतिका ही था। अतएव श्रीकृष्ण के द्वारा वह निगृहीत किया गया था। भीष्म तो कृष्णभक्त थे।

आर्यसमाजिनां सत्यार्थप्रकाशेऽपि मांसादिभक्षणं दृश्यते । आधुनिकसमाजिभिस्तादृशांशानां प्रक्षिप्तत्वमुच्यते । तत्र प्रथमसंस्करणे 'जो वन्ध्या गाय होती है, उसको भी गोमेध में मारना लिखा है—"स्थूलपृषतीमग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत" यह ब्राह्मण की श्रुति है । इसके स्त्रीलिङ्ग और स्थूलपृषती विशेषण से वन्ध्या गाय ली जाती है, क्योंकि वन्ध्या से दुग्ध और वत्सादिकों की उत्पत्ति नहीं होती । जो मांस खाय अथवा घृतादि से निर्वाह करे वे भी सब अग्निहोम किये बिना न खायँ, क्योंकि जीव को मारने के समय पीड़ा होती है । उसमें कुछ पाप भी होता है । फिर जब अग्नि में होम करेंगे तो तब परमाणु से उस प्रकार सब जीवों को सुख पहुँचेगा । एक जीव की पीड़ा से पाप भया था सो भी थोड़ा सा गिना जायगा, अन्यथा नहीं ।' (सत्यार्थप्रकाश १० समुल्लास, पृ० ३०३) अत एवार्यसमाजे मांसपार्टी सञ्जाता ।

तथैव प्र० स० प्र० ४५ पृष्ठे—मांस के पिण्ड देने में कुछ पाप नहीं । पृ० १४९ यज्ञ के वास्ते जो पशुओं की हिंसा है, सो विधिपूर्वक हनन है । पृ० १७१ बहुत पशुओं वाला होम करके हुतशेष भोक्ता प्रशंसा को प्राप्त होता है । यजु० स्वा ७ भाष्य १९।२० । स० प्र० द्वितीयावृत्तावपि १० समुल्लासे मांसभक्षणं लिखितम् । मुंशीसमर्थदानमहाशयेन तन्निष्काशितमिति सनातनधर्मालोके षष्ठपुष्पे ।

यत्तु प्राचीनधर्मशास्त्रेषु गृह्यसूत्रेषु च गोचर्मणि सोमलताभिषव उक्तः, विवाहसमाप्तौ चानडुहे आर्षभरोहिते चर्मणि वधूमुपवेशयति (सरिता) इति तदपि तुच्छम्, स्वयंमृतचर्मणि सोमाभिषवस्यैव तत्रेष्टत्वात् । मृतपशुचर्मपादत्राणमद्यापि हिन्दुभिर्धार्यत एव । गोपदस्य तु निरुक्तरीत्या पशुसामान्यमेवार्थः । 'अंशं दुहन्तो अध्यासते गवि इति अधिषवणचर्मणः' (निरु० २।५।५) अत्र गोशब्दोऽधिषवणचर्मश्लेष्मस्नावाज्या-इषु-सूर्यसूर्यरश्मिप्रभृतीनां वाचकोऽभिप्रेतः । अद्यापि तैलादिरक्षणार्थं छागोष्ट्रादिचर्मकूपिका उपयुज्यन्त एव ।

स्वयं मृतार्षभचर्मणि वध्वा उपवेशनेऽपि न दोषः । वस्तुतस्तु—

अनड्वान् वृषभः प्रोक्तस्त्वनड्वान् मुख्य आलये । नारीयुक्प्रज्वलद्दीपमनडुत् कौतुकं गृहम् ॥

इति रन्तिकोषानुसारेण तत्रानडुत्शब्दो मुख्यालयस्य विवाहमण्डपस्य कौतुकागारस्य वाचकः । अनो वहतीत्यनड्वत् पतिपत्नीरूपस्य रथस्य धारकत्वाद् मुख्यनिवासगृहमनड्वद् भवति । वाचस्पत्यकोषे तु—अनडुत् आसन्न-

आर्यसमाजियों के सत्यार्थप्रकाश में भी मांसादि का भक्षण बताया गया है । किन्तु आधुनिक समाजी उन जैसे अंशों को प्रक्षिप्त बताते हैं । उसके प्रथमसंस्करण (सत्यार्थ प्रका० १० समु० पृ० ३०३) में दयानन्दीय मत को देखा जा सकता है । अतएव आर्यसमाज में मांसपार्टी हुई थी । तथैव प्र० स० स० प्रका० पृ० ४५ एवं पृ० १४९ यजु० स्वा० ७ भाष्य १९।२० भी देखिये । सत्यार्थप्रकाश की द्वितीय आवृत्ति में भी १० वें समुल्लास में मांस भक्षण लिखा गया है, किन्तु उसे मुन्शी समर्थदान महाशय ने निष्कासित कर दिया, यह बात सनातन धर्मालोक के षष्ठ पुष्प में बताई गई है ।

'सरिता' पत्रिका में जो लिखा गया है कि 'प्राचीन धर्मशास्त्रों में और गृह्यसूत्रों में गोचर्म पर सोमाभिषव करना बताया है, तथा विवाह समाप्ति पर बैल के, ऋषभ, रोहित के चर्म पर वधू को बैठाते हैं ।' किन्तु यह लिखना निःसार है, क्योंकि स्वयं मृत हुए के चर्म पर सोमाभिषव करना इष्ट है । मृत पशु के चर्म के बने हुए पादत्राण को आज भी हिन्दु लोग धारण करते ही हैं । उक्तरीति से गोपद का 'पशुसामान्य' ही अर्थ होता है । निरुक्त २।५।५ मे जो गो शब्द आया है, उसके इषु, सूर्यरश्मि आदि अनेक अर्थ अभिप्रेत हैं । आज भी तैलादि की रक्षा के लिये छाग, उष्ट्र आदि के चर्म की बनी कुप्पी का उपयोग किया ही जाता है । स्वयं मृत हुए ऋषभ के चर्म पर वधू के बैठाने में भी कोई दोष नहीं है ।

वस्तुतस्तु रन्तिकोष के अनुसार 'अनडुत्' शब्द मुख्यालय, विवाहमण्डप, कौतुकागार का वाचक है । 'अनो वहतीत्यनड्वत्'—पति-पत्नीरूप रथ का धारक होने से मुख्यनिवास गृह को 'अनड्वत्' कहते हैं । वाचस्पत्यकोष के अनुसार 'अनडुत्-आसन्न-

देशादौ इति लिखितम्, विवाहमण्डपासन्नदेशस्तु कौतुकागार एव। तथा चानुडुहे मुख्यगृहे कौतुकागारे वा आर्षभे ऋषिभिः ऋषभतया श्रेष्ठतया स्वीकृते आर्षभे पुरुषर्षभ इत्यादिस्थलेषु ऋषभशब्दस्य श्रेष्ठार्थत्वदर्शनात्। यदि च ऋषभशब्दस्य वृषभार्थता स्यात्तदा आनडुहे इति पुनरुक्तिरेव स्यात्। रोहिते चर्मणि मृगचर्मणि वधूमुपवेशयतीत्येवार्थः। रौहिते इत्यस्य स्थाने रोहित इति वृद्धिरहितप्रयोगः संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वात्। लोहिते इति पाठे तु सूर्यस्य प्रथमकिरणेनारुणे रक्तासने वधूमुपवेशयतीत्यर्थः।

कैश्चिद्विवाहपद्धतौ चर्मशब्दः शणवाचकोऽभिप्रेतः। वाचस्पत्यरीत्या तु शणपर एव चर्मपदार्थः। गोचर्मणि इति पाठे तु पारिभाषिकमेव तद् ग्राह्यम्। तद्यथा याज्ञवल्क्यस्मृतिमिताक्षरायाम्—

'दशहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डनिवर्तनम्। दश तान्येव गोचर्म'। गृह्यासंग्रहेऽपि—

'ऋषभैकं शतं यत्र गवां तिष्ठति संवृतम्। बालवत्सप्रसूतानां गोचर्म इति संविदुः॥ १।३९॥

तथैव चन्द्रकान्तभाष्ये—

गवां शतं वृषश्चैको यत्र तिष्ठेदयन्त्रितः। एतद् गोचर्ममात्रं तु प्राहुर्वेदविदो जनाः॥

तथा च गोचर्ममित्यनेन पृथिवीपरिमाणविशेष उक्तः पद्मचन्द्रकोषे १३६ पृ०। बृहस्पतिस्मृतौ च—

सवृषं गोसहस्रं तु यत्र तिष्ठत्यतन्द्रितम्। बालवत्सप्रसूतानां तद् गोचर्म इति स्मृतम्॥

एवं गोचर्मशब्देन स्थानविशेष एव गृह्यते। तथैव—'इह गावो निषीदन्तु इह अश्वा इह पूरुषाः'
(पारस्कर १।८।७)

नहि अपरिभाषितगोचर्मणि गवाश्वादीनामुपासनं भवति। तस्मात्पारिभाषिकमेव गोचर्मात्र ग्राह्यम्।

'दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वान्' (वा० सं० २२।२२) इति यस्य गोवंशस्य महत्त्वमुक्तम्, मन्वादिभिर्यस्य वधे प्रायश्चित्तं विधीयते, तद्वधेन तच्चर्मण्युपवेशनं सर्वथाऽसंगतमेव।

उत्तररामचरिते 'वत्सतरी मडमडायिता' इत्यत्रापि न वध उक्तः, किन्तु विषादमुपगतेत्येवार्थः। यदि वशिष्ठः स्वसत्काराय मांसमपेक्षेत, तदा विश्वामित्राय स तथैव समांसं मधुपर्कं दद्यात्।

देशादौ' और विवाह मण्डपासन्न देश को 'कौतुकागार' ही कहते हैं। 'ऋषभ' शब्द का अर्थ 'श्रेष्ठ' भी है। यदि 'ऋषभ' का अर्थ यहाँ वृषभ किया जाय तो 'आनडुहे' कहने मे पुनरुक्ति होगी। 'रोहिते—चर्मणि का अर्थ मृगचर्मणि। मृगचर्म पर वधू को बैठाना ही अर्थ है। संज्ञापूर्वक विधि के अनित्य होने से 'रौहिते' के स्थान में—'रोहिते' यह वृद्धिरहित प्रयोग है। 'लोहिते' पाठ में सूर्य की प्रथम किरण से अरुण प्रतीत होनेवाले आसन पर अर्थ होगा।

विवाह पद्धति के अनुसार कुछ लोगों ने 'चर्म' शब्द को 'शण' वाचक माना है। वाचस्पत्य के अनुसार तो 'शणपट ही चर्म पदार्थ है। गोचर्म शब्द से पारिभाषिक चर्म ही ग्रहण करना चाहिये, ऐसा मिताक्षरा, चन्द्रकान्तभाष्य, बृहस्पतिस्मृति, पारस्कर आदि ने कहा है। जिस गोवंश का महत्त्व वेद बता रहे हैं, जिसके वध होने पर मन्वादिकों ने प्रायश्चित का विधान किया है, ऐसी स्थिति में उसका वधकर उसके चर्म पर बैठाने की बात तो सर्वथा असंगत ही है। उत्तररामचरित्र में 'वत्सतरी मडमडायिता' से 'वध' नहीं बताया गया है, किन्तु 'विषादमुपगता' इतना ही अर्थ है। यदि वशिष्ठ अपने सत्कार के लिये मांस की अपेक्षा रखते होते तो वे विश्वामित्र के लिये समांस मधुपर्क किये होते। किन्तु वैसा उन्होंने नहीं किया, अपितु उन्होंने फलमूल आदि ही अर्पण किये। कल्पसूत्र मे जहाँ 'महोक्षं निर्वपन्ति' आया है, वहाँ 'निर्वपन्ति' का अर्थ 'ददति' ही कर्तव्य है, 'घ्नन्ति' नहीं।

उत्तररामचरित्र में भी वत्सतरी का विरासन इष्ट नहीं है। इसी कारण तो सत्कारार्ह व्यक्तियों का व्याघ्र-वृकादि की उक्ति से उपहास प्रदर्शित किया गया है। अतिथिसत्कारार्थ गो दुग्ध का उपयोग रहने से वत्सतरी के लिये दुग्धावशेष न रहने के कारण वह वत्सतरी भूख से पीडित हुई, इस अर्थ में ही 'वत्सतरी मडमडायिता' कहकर उसका हंभारना बताया गया है।

स्वागतं तव चेत्युक्त्वा वशिष्ठेन महात्मना। आसनं चास्य भगवान् वशिष्ठो व्यादिदेश ह ॥
उपविष्टाय च तदा विश्वामित्राय धीमते। यथान्यायं मुनिवरः फलमूलमुपाहरत् ॥
(रामा० १।५२।२–३)

न च तथा कृतवान्, फलमूलादिकमेव तु समर्पितवान् ।

यत्र तत्र 'श्रोत्रियाय अभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा निर्वपन्ति गृहमेधिनः' इति कल्पसूत्रवचनमुद्धृतम्, तत्रापि निर्वपन्तीत्यस्य ददतीत्यर्थो भवति न घ्नन्तीत्यर्थः ।

उत्तररामचरितस्यापि न वत्सतरीविशसनमिष्टम् । तत एव सत्करणीयस्य व्याघ्रवृकाद्युक्त्योपहासप्रदर्शनम् । तत्र गवां दुग्धस्यातिथिसत्कारार्थोपयोगेन वत्सतर्य्याः कृतेऽनवशेषात् । सा क्षुधया विषण्णा जाता तदर्थिका एव वत्सतरी मडमडायिता ।

जनकस्तु क्षत्रियत्वाद्वानप्रस्थत्वाच्च दुग्धादिकं न गृहीतवानिति तदर्थं वत्सतरी विसर्जिता ।

यद्यपि 'न त्वेव अमांसोऽर्घः स्यात्' (पारस्कर गृ० सू० १।४।२९) इति मधुपर्के मांससाहित्यं युक्तमिति तदपि न, तत्र समांसस्य मांसलतार्थत्वात् । मांसलत्वं तु दुग्धसारादौ विद्यमानत्वेनैव अदितेरखण्डनीयाया अघ्न्याया गोरातिथ्याय हननस्याप्राप्तत्वात् । 'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।·······मा गामनागामदितिं वधिष्ट ।' (ऋ० वे० सं०) 'मम चामुष्य च पाप्मानं हनोमि' (पारस्कर गृ० सू० १।३।२७) इति तत्रैव गोरुद्राणां मातृत्वाद् वसूनां दुहितृत्वाद् आदित्यानां स्वसृत्वात्तन्महामहिमवर्णनाद् अनपराधित्वेन हननानिषेधदर्शनाच्च । तत्र तस्या वधस्याभीष्टत्वे यदि उत्सिसृक्षेत् इत्युत्सर्गो नोच्यते । न च गवामिवान्यपशूनामध्यत्वव्यपदेशो वेदे दृश्यते । तस्मात् शुद्धानां दधिमधुघृतानां संयोजनेन मांसलो मधुपर्को निर्मातव्यो न निःसारदध्यादिभिरिति समासत्वोक्तेस्तात्पर्यम् ।

गौर्गौर्गौरित्यनेन तु दक्षिणार्थं गोरुल्लेखः । तत्रादरातिशयायावृत्तिः । उत्सृजत तृणान्यत्तु इतिं तस्यै घासादिसमर्पणमेवाभिप्रेतम् । किंच—

'यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तम् आहरामि निर्ऋतेरुपस्थाद् अस्यार्षमेनं शतशारदाय ॥' (अथर्व वे० सं० ३।११।२)

इत्यादिमन्त्रैर्विज्ञायते मृतकानामप्युज्जीवनसामर्थ्यमासीत् पूर्वं नाद्यत्वे तादृशी शक्तिर्दृश्यते । तत एवाश्वालम्भनादिकं कलियुगे निषिद्धम् ।

अन्यच्च— स्वयं चैषामनडुहो युज्यन्ति च वहन्ति च ।
स्वयमुस्राश्च दुह्यन्ते मनःसंकल्पसिद्धिभिः ॥ (म० भा० १२।२६३।३१)

राजा जनक क्षत्रिय थे और वानप्रस्थ थे, इसलिये उन्होंने दुग्ध नहीं लिया, अतः उनके लिये वत्सतरी का विसर्जन बताया है । यद्यपि पारस्कर ने समांस मधुपर्क बताया है, तो वहाँ भी मांसलतार्थक ही मांस शब्द का प्रयोग है । दुग्धसारादि के विद्यमान रहने पर ही मांसलत्व हो सकता है । आतिथ्य के निमित्त अदिति, अघ्न्या आदि शब्दों से संबोधित की जाने वाली गो का हनन तो प्राप्त ही नहीं है । वहाँ पर उसका वध यदि अभीष्ट रहता तो 'उत्सिसृक्षेत्' कहकर उत्सर्ग न कहा होता । तस्मात् शुद्ध दधि, मधु, घृत का सम्मिश्रण कर मांसल मधुपर्क तैयार करना चाहिये, निःसार दधि आदि से नहीं, यह बात कही गई है । तीन बार 'गौः गौः गौः' उल्लेख दक्षिणा के लिये किया गया है । आदरातिशय प्रकाशित करने के लिये आवृत्ति की गई है । 'उत्सृजत, तृणानि अत्तु' इससे उसके लिये घास आदि का समर्पण करना ही वहाँ अभिप्रेत है । अथर्ववेद सं० ३।११।२ आदि मन्त्रों से ज्ञात होता है कि उस समय मृतों को जिलाने का सामर्थ्य भी था, आज वैसा सामर्थ्य किसी में नहीं दिखाई देता । यही कारण है कि कलियुग में गवालंभ अश्वालंभनादि का निषेध कर दिया गया है । किञ्च अपने को मीमांसक समझनेवाले युधिष्ठिर जी वेदाध्ययन में चातुर्वर्ण्य का अधिकार मान रहे हैं, जो मीमांसाशास्त्र के एकदम विरुद्ध है । इसे सविस्तर समझने के लिये मूल संस्कृत को पढ़ लेना चाहिये ।

'यस्तथा भावितमा स्यात् स गां (पशुं) आलब्धुमर्हति ।' (म० भा० १२।२६३।३२) इत्यादिनापि गवामालम्भो निषिद्धः, तादृशसामर्थ्याभावादधुनातनानां जनानाम् । अत एव 'महच्चकाराकुशलं वृषं गां वालभेत्तु यः' इति पूर्वोदाहृतं महाभारतवचनं न विस्मर्तव्यम् ।

किञ्च, कथमयं मीमांसकम्मन्यो पूर्वोत्तरमीमांसाविरुद्धं वेदाध्ययने चातुर्वर्ण्यमधिकृतं मन्यते ? तथाहि—'चातुर्वर्ण्यनामविशेषात्' (जै० सू० ६।१।२५) इति चातुर्वर्ण्यस्य वैदिककर्माधिकारमाशङ्क्य 'निर्देशाद्वा त्रयाणां स्यादाग्नेये' (जै० सू० ६।१।२६) इति सूत्रेण 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत । ग्रीष्मे राजन्यः । शरदि वैश्यः' इत्यादिविधिवाक्यैस्त्रयाणामेषामाधाने निर्देशादग्नेश्चतुर्थवर्णस्य नाधिकार इत्युक्तम् । पूर्वमीमांसायाम्—

'निमित्तेनार्थेन बादरिस्तस्मात् सर्वाधिकारः स्यात्' (जै० सू० ६।१।२७) इत्यादिसूत्रैः 'य एवं विद्वानग्निमाधत्त' इति वाक्येन सर्वसाधारणे विहिते वसन्तादिवाक्यानि ब्राह्मणादिनिमित्तेन वसन्तादिकालविधायकानि, तेन शूद्रस्यानग्नित्वासिद्धया कर्मानधिकारो न सिद्ध्यतीति पूर्वोक्तां युक्तिं दूषयित्वा 'अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्रः प्रतीयेत' (जै० सू० ६।१।३३) इति सूत्रे वेदाध्ययनार्थोपनयने 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनीयत' इत्यादिवाक्यैस्त्रयाणामेव निर्देशादुपनयनहीनश्चतुर्थोऽध्ययनाभावान्न कर्मस्वधिकारीति सिद्धान्तयुक्तिः प्रदर्शिता ।

'गुणार्थत्वान्नेति चेत्' (जै० सू० ६।१।३४) इति सूत्रेण पुनः कर्मानुष्ठानार्थित्वादुपनयनाभावेऽपि स्वयमेव गत्वाध्येष्यत इति चोद्यमुद्भाव्य 'संस्कारस्य तदर्थत्वात्' (जै० सू० ६।१।३५) इति सूत्रेणोपनयनसंस्कारस्याध्ययनार्थत्वादुपनयनाभावे स्वयमेव गत्वाध्ययनं विगुणं स्यादिति पूर्वोक्तचोद्यं परिहृत्य 'विद्यानिर्देशान्नेति चेत्' (जै० सू० ६।१।३६) इति कर्मानुष्ठानार्थमवश्यग्राह्यया विद्ययाऽऽक्षेपाल्लौकिकाध्ययनं भविष्यतीत्युपनयनपूर्वकवैधाध्ययनाभावेन न किञ्चिद्वैगुण्यमित्याशङ्क्य 'अवैधत्वात्' (जै० ६।१।३७) इति न शूद्रेणाध्येतव्यमित्यध्ययनमात्रनिषेधाद् विद्यारहितस्य न कर्मस्वधिकार इत्युक्त्वा 'तथा चान्यार्थदर्शनम्' (जै० सू० ६।१।३८) इति सूत्रेण 'यद्यु ह वा एत्' इति श्रुतेः शूद्रसमीपेऽध्ययनप्रतिषेधात् । शूद्रस्य कथञ्चिदप्यध्ययनं न संभवतीति कैमुतिकन्यायेनावैधादिति सूत्रोक्तयुक्तिदृढीकरणम् ।

एवमेतेषु प्रमाणेषु सत्सु कथं दयानन्दतदीयानां वचनं तद्विरुद्धमादरणीयं स्यात् । उत्तरमीमांसायामपि अर्थित्वादिनाऽध्ययननियमस्य पुरुषार्थत्वेन लौकिकाध्ययनेन वैधत्वात् ।

'अह हारे त्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु' (६।४।२।३) इति विद्याधिकारिणि शूद्रशब्दप्रयोगाच्च ब्रह्मविद्यास्वधिकारमाशङ्क्य—'शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि' (ब्र० सू० १।३।३४) इति सूत्रेण शूद्रशब्दस्य शुचा दुद्रावेति यौगिकार्थत्वमुक्त्वा 'क्षत्रियत्वं गतेश्चेति' (ब्र० सू० १।३।३५) सूत्रेण तस्य क्षत्रियत्वमुपपाद्य 'संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च' (ब्र० सू० १।३।३६) इति सूत्रेण 'त होपनिन्ये' (श० ब्रा० ११।५।३।१३) 'अधीहि भगव इति होपससाद' (छा० ७।१।१) इति विद्याप्रदेशेषु संस्कारपरामर्शात् ।

'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः' (१०।४) इत्येकजातित्वस्मरणात् 'न च संस्कारमर्हति' (मनु० १०।१२–६) इत्यादिभिश्च संस्काराभावाभिलापाच्च शूद्रस्य न वेदाध्ययनाधिकार उक्तः । 'तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः' (ब्र० सू० १।३।३७), 'श्रवणाध्ययनार्थं प्रतिषेधात् स्मृतेश्च' (ब्र० सू० १।३।३८) इत्यादिभिरनधिकार उक्तः । तथात्वेऽपि समर्थनं समाजिनां साहसमेव ।

ऋषिप्रणीत ग्रन्थों की प्रमाणता की दुहाई देनेवाले आर्यसमाजी जैमिनि महर्षि के ही वचनों का अनादर कर ऋषियों का अपमान कर रहे हैं, और ऋषि वचनों के विरुद्ध प्रलाप करनेवाले दयानन्दीय वचनों को मान रहे हैं, कैसा आश्चर्य है ? मीमांसा सूत्रकार जैमिनि महर्षि, ब्रह्मसूत्रकार व्यास महर्षि, मनु आदि सभी ने चतुर्थवर्ण को वेदाध्ययन के अधिकार का स्पष्ट निषेध किया है। तथापि ये आर्यसमाजी उनके विरुद्ध समर्थन करने का प्रयत्न करते रहते हैं, इसे दुःसाहस ही कहा जायगा ।

यागेषु प्रकृतिविकृतिविचारः

शावरभाष्यभूमिकायाः पृष्ठे ९२ 'श्रौतयज्ञों का प्रकृति-विकृति भेद' इति शीर्षके लेखे लेखकेन यल्लिखितं तत्परिशीलयामः। प्रथमं तेन भेदत्रयं प्रदर्शितं, तदशुद्धम्। चत्वारोऽत्रभेदा वर्तन्ते—(१) केचनयागाः प्रकृतय एव। यथा दर्शपूर्णमासौ, अग्निष्टोमसंस्थाकज्योतिष्टोमश्च। (२) केचन विकृतय एव। यथा सौर्यादयः। (३) केचन प्रकृतयो विकृतयश्च। यथा-अग्नीषोमीयः पशुयागः, उक्थ्यषोडश्यतिरात्रसंस्थाका ज्योतिष्टोमयागाश्च। (४) केचन न प्रकृतयो भवन्ति, नापि विकृतयः। यथा दर्वी होमाः गृहमेधीयेष्टिश्च।

सर्वत्र लेखकोऽयं साङ्ख्यमतपोषकोऽपि प्रकृति-विकृतिविषये साङ्ख्यमतं नानुसरतीति विचित्रमिदम्। 'प्रकृतियाग का लक्षण' इत्यारभ्य प्रकृतेः त्रीणि लक्षणान्ययं लिखति। तत्र प्रथमलक्षणम्—'यत्र कृत्स्नं क्रियाकलापमुच्यते सा प्रकृतिः' इति। एवं लक्षणं मीमांसकैःकदापि न क्रियेत, ते हि 'कलाप' शब्दं पुंल्लिङ्गे जानन्ति न क्लीबलिङ्गे। मीमांसकास्तु—'यत्र-समग्राङ्गोपदेशःसा प्रकृतिरि'ति कथयन्ति। अस्यैव लक्षणस्य परिष्कृतं रूपम्—यः पदार्थो यादृशोपकारद्वारा यदङ्गत्वेनावधारितः तस्य पदार्थस्य तत्सम्बन्धित्वेन रूपेण तादृशोपकारद्वारैवान्याङ्गताबोधकं प्रमाणमतिदेशः। यः पदार्थः—प्रयाजानूयाजादिः, यादृशोपकारद्वारा—अदृष्टार्थानामदृष्टउपकारः, दृष्टार्थानाञ्च दृष्टउपकार इति रीत्या, यदङ्गत्वेनावधारितः—आग्नेयाङ्गत्वेनावधारितः, तस्य पदार्थस्य प्रयाजानूयाजादेः, तत्सम्बन्धित्वेन-आग्नेयादिसम्बन्धित्वेन रूपेण, तादृशोपकारद्वारा-दृष्टादृष्टोपकारद्वारा, अन्याङ्गताबोधकम्—सौर्याद्यङ्गताबोधकं 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या' इत्येवमादिकं वाक्यं प्रमाणम्। प्रयाजानूयाजादेराग्नेयसम्बन्धित्वं न स्वरूपेण, किन्त्वाग्नेयेतिकर्तव्यतात्वेन। अतश्चाग्नेयेतिकर्तव्यतात्वमेव विकृतिसम्बन्धितावच्छेकं सिध्यति। यथा प्रकृतौ प्रयाजानूयाजादय इतिकर्तव्यताकाङ्क्षापूरकत्वेन भावनायामन्वियन्ति, तथा विकृतिभावनायामपि

यागों में प्रकृति-विकृतिविचार

शावरभाष्यभूमिका के पृष्ठ ९२ पर 'श्रौतयज्ञों का प्रकृति-विकृतिभेद' इस शीर्षक के लेख में लेखक ने जो लिखा है, उसी पर हम विचार करते हैं। पहली बात तो यह है कि उसने तीन भेद प्रदर्शित किये हैं, वही अशुद्ध है। श्रौत यज्ञों के चार भेद होते हैं (१) कुछ भाग तो केवल 'प्रकृति' ही होते हैं, जैसे–दर्शपूर्णमास और अग्निष्टोमसंस्थाकज्योतिष्टोम। (२) कुछ याग विकृति ही होते हैं, जैसे–सौर्यादियाग (३) कुछ याग प्रकृति-विकृति उभयात्मक होते हैं, जैसे–अग्नीषोमीयपशुयाग और उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्रसंस्थाक-ज्योतिष्टोमयाग। (४) कुछ याग न प्रकृति और न विकृति ही होते हैं, जैसे–दर्वीहोम और गृहमेधीयेष्टि।

लेखक महोदय सर्वत्र सांख्यमत के पोषक दिखाई देते हैं, तथापि प्रकृति-विकृति के विषय में सांख्यमत का अनुसरण करते नहीं दिखाई देते, कैसे विचित्र हैं? 'प्रकृतियाग का लक्षण आरंभकर प्रकृति के तीन लक्षण ये लिख रहे हैं। उनमें प्रथम लक्षण—'जहां सम्पूर्ण क्रियाकलाप कहा गया हो उसे प्रकृति' कहा है। "यत्र कृत्स्नं क्रियाकलापमुच्यते सा प्रकृतिः"। इस प्रकार का लक्षण मीमांसकों ने कहीं भी और कभी भी नहीं किया है। मीमांसक लोग तो 'कलाप' शब्द को पुंलिङ्ग में जानते हैं, नपुंसकलिङ्ग में नहीं। किन्तु युधिष्ठिरजी ने 'कलाप' शब्द को नपुंसकलिङ्ग में समझ रक्खा है। मीमांसकों ने 'यत्र समाग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः' यह प्रकृति का लक्षण किया है। इसी लक्षण का परिष्कृतरूप यह होगा– 'जो पदार्थ, जिस प्रकार के उपकार के द्वारा जिसका अंग हुआ है, उसके सम्बन्धि के रूप में उसी प्रकार के उपकार के द्वारा उस पदार्थ में अन्यांगत्व बोधकप्रमाण को अतिदेश कहा गया है। तथाहि—जैसे प्रयाज-अनुयाजादि पर अदृष्ट उपकार और दुष्टार्थों पर दृष्ट उपकार के पदार्थ, अदृष्टार्थों द्वारा आग्नेयादि के अंगरूप में अवधारित हुआ है, अतः उस प्रयाजानूयाजादि पदार्थ में आग्नेयादि के सम्बन्धी के रूप से दृष्टाऽदृष्टोपकार द्वारा सौर्यादियाग-निरूपित अंगत्व का बोधक 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'-प्रकृति के समान विकृति का अनुष्ठान करना चाहिये––यह वाक्य प्रमाण होता है। प्रयाजानूयाजादि का आग्नेयादि से सम्बन्धित होना स्वरूपतः नहीं है, किन्तु वे प्रयाजानूयाजादि पदार्थ आग्नेय की इतिकर्तव्यता के रूप में आग्नेय से सम्बन्धित होते हैं। अतः विकृतियाग के साथ होने वाली प्रयाजानूयाज की सम्बन्धिता का अवच्छेदक धर्म 'आग्नेयेतिकर्तव्यतात्व ही होगा यह स्पष्ट है। जैसे प्रकृति में भावना की इतिकर्तव्यताकांक्षा के पूरक बनकर प्रयाजानूयाजादि का भावना में अन्वय (सम्बन्ध) होता है, जैसे ही विकृति

तत्तदुपकारद्वाराऽन्वियन्तीत्यर्थः। अतश्च स्वेतिकर्तव्यताकाङ्क्षापूरकाणामङ्गानां समग्राणामाम्नानं सा प्रकृतिशब्देनोच्यत इति सिध्यति।

अन्यद्यल्लक्षणद्वयमिति प्रदर्शितं, तदज्ञानमूलकम्। आपदेवेन न्यायप्रकाशे वाक्यप्रमाणनिरूपणावसरेऽनारभ्याधीतानामङ्गानां क्व निवेशः—किं प्रकृतौ विकृतौ च? अथवा प्रकृतावेव? इति संशयमुत्थाप्य 'प्रकृतौवाऽद्विरुक्तत्वात्' इति जैमिनिसूत्रानुसारेण द्विरुक्तत्वरूपदोषनिवारणायानारभ्याधीतानां प्रकृतिगामित्वमेवेति स्वीकृत्य प्रकृतिस्वरूपनिश्चयाय 'अत्र विकृतिर्यतोऽङ्गानि गृह्णाति सा प्रकृतिरिति न प्रकृतिशब्देन विवक्षितम्' इत्युक्त्वा अनारभ्याधीतानां गृहमेधीयेष्टौ प्राप्तिसिध्यर्थं 'चोदकाद्यत्र नाङ्गप्राप्तिः तत्कर्म प्रकृतिशब्देन विवक्षितम्' इत्युपसंहृतम्। गृहमेधीयेष्टेः प्रकृतिविकृतित्वाभावात् तत्रानारभ्याधीताङ्गानां सन्निवेशाय ग्रन्थकारेणोपायस्सूचितः, न तु प्रकृतेर्लक्षणं कृतम्। अत एव प्रकरणविभागावसरे (पृ० ५३) तच्च (महाप्रकरणं) प्रयाजादीनां ग्राहकम्, तच्च प्रकृतावेव, यत्र समग्राङ्गोपदेशस्सा प्रकृतिः' इति प्रकृतेर्लक्षणमुक्तम्। इदञ्च लक्षणं सूत्रारूढम् कृत्स्नविधानाद्वाऽपूर्वत्वम्' (जै० सू० ८।१।५) इति सूत्रम् अग्निष्टोमस्यापूर्वत्वे—प्रकृतित्वे कृत्स्नविधानम् अभिषवादिसकलाङ्गविधानं हेतुरिति सूत्रकारो वदति। अतः 'यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः' इत्येव प्रकृतेर्लक्षणम्।

लक्षणद्वयप्रदर्शनस्याज्ञानमूलकत्वेऽयं हेतुः—गृहमेधीयेष्टिश्चातुर्मास्येषु वरुणप्रघासपर्वणि 'मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः सर्वासां दुग्धे सायमोदनम्' इति वाक्येन विहिता। तत्र 'आज्यभागौ यजति यज्ञतायै' इत्याम्नातम्। अत्राष्टौ पक्षाः सन्ति। तेषु सप्त पूर्वपक्षाः, अष्टमपक्षश्च सिद्धान्तः। ओदनद्रव्यकत्वादिदं कर्म 'इष्टिः' इत्युच्यते। इष्टीनां प्रकृतिः दर्शपूर्णमासौ।

भावना में भी तत्तदुपकार द्वारा वे (प्रयाजानूयाजादि) अन्वित होते हैं। अतः अपनी इतिकर्तव्यताकांक्षा के पूरक समग्र अङ्गों का अम्नान (पाठ) जहां हो, उसे 'प्रकृति' शब्द से कहा गया है।

और जो दो लक्षण (प्रकृतिके) प्रदर्शित किये हैं, वे अज्ञानवश ही किये गये प्रतीत हो रहे हैं। आपदेवने न्यायप्रकाश में वाक्यप्रमाणनिरूपणके अवसर पर अनारम्याधीत अंगों का निवेश कहां करना चाहिये? क्या प्रकृति और विकृतिदोनों में, अथवा प्रकृति में ही? इस प्रकार संशय जागरित कर 'प्रकृतौवाऽद्विरुक्तत्वात्' इस जैमिनि सूत्र के अनुसार द्विरुक्तत्वदोष के निवारणार्थं अनारम्याधीत अंगों का प्रकृतिगामित्व वताकर प्रकृति के स्वरूप का निश्चय करने के लिये 'अत्र विकृतिर्यतोऽङ्गानि गृह्णाति सा प्रकृतिः' विकृति जहां से अंगों का ग्रहण करती है, वह प्रकृति शब्द से यहाँ विवक्षित नहीं है, यह कहकर अनारम्याधीतों की गृहमेधीयेष्टिमें प्राप्ति हो सके, एतदर्थ 'चोदकाद्यत्र नाङ्गप्राप्तिः तत्कर्म प्रकृतिशब्देन विवक्षितम्'-अतिदेश से जहां अंगों की प्राप्ति न हो उस कर्म को प्रकृति-शब्द से यहां विवक्षित किया गया है। इस प्रकार उपसंहार किया है। 'गृहमेधीयेष्टि' न किसी की प्रकृति है, और न किसी की विकृति है, अतः उसमें अनारम्याधीत अंगों के सन्निवेशार्थ ग्रन्थकार ने उपायमात्र सूचित किया है, वह कोई प्रकृति का लक्षण नहीं बताया है। अत एव प्रकरण विभाग करते समय (पृ. ५३) 'तत्र प्रयाजादीनां ग्राहकम्, तच्च प्रकृतावेव,'—वह महाप्रकरण प्रयाजादिकों का ग्राहक होता है, वह भी प्रकृति में ही होता है। प्रकृति किसे कहते है? तो बताया 'यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः'—जहां समग्र (सम्पूर्ण) अंगों का उपदेश किया गया हो, वह प्रकृति है—इस प्रकार प्रकृति का लक्षण ग्रन्थकार ने बताया है और यह लक्षण सूत्रारूढ भी है। 'कृत्स्नविधानाद्वाऽपूर्वत्वम्' (जै० सू० ८।१।५) यह सूत्र अग्निष्टोम की अपूर्वता में तथा प्रकृतित्व को प्रदर्शित करने के लिये कृत्स्नविधान कर रहा है, अर्थात् अभिषवादि सकल अंगों का यहां विधान रहने के कारण अग्निष्टोम, एक अपूर्वकर्म है, वह प्रकृति रूप कर्म है। अतः अभिषवादिसकलाङ्गविधान (कृत्स्नविधान) ही अग्निष्टोम में अपूर्वता तथा प्रकृतित्व होने में हेतु है, यह सूत्रकार ने बताया है। इस कारण 'यत्र समग्रांगोपदेशः सा प्रकृतिः' यही प्रकृति का लक्षण है।

इसके अतिरिक्त दो लक्षणों को अज्ञानमूलक इसलिये कह रहे हैं कि 'चातुर्मास्ययाग'के वरुणप्रघास पर्व में 'गृहमेधीयेष्टि' का विधान किया गया है। वहां 'आज्यभागौ यजति यज्ञतायै' यह पढा गया है। यहां पर आठ पक्ष हैं। उनमें सातपक्ष पूर्वपक्ष के रूप में हैं, और आठवां पक्ष सिद्धान्तपक्ष है। ओदनद्रव्यक होनेसे इस कर्म को 'इष्टि' कहते हैं। इष्टियों की प्रकृति, 'दर्शपूर्णमासेष्टि' है। दर्शपूर्णमास में अग्नि सोमदेवताक दो आज्यभाग किये जाते हैं। दर्शपूर्णमास से ही इन दो यागों की प्राप्ति अतिदेश

दर्शपूर्णमासयोः अग्निसोमदेवताकौ द्वौ आज्यभागयागौ स्तः। दर्शमासाभ्यामेवानयोर्यागयोरतिदेशेन प्राप्तौ सत्यामस्मिन् प्रकरणे समाम्नानमाज्यभागयोः कस्मै प्रयोजनायेत्याकाङ्क्षायामिमे पक्षाः तस्मिन्नधिकरणे प्रदर्शिताः (पू० मी० १०.७.९)। तेषु पञ्चमाष्टमपक्षौ परिसङ्ख्याविधिपरौ—अर्थात् प्रकृतितः विकृतेरितिकर्तव्यताकाङ्क्षापूरणाय प्राप्तानामङ्गानां बाधाय विकृतावस्मिन् 'आज्यभागौ यजति' इति श्रुतम्। गृहमेधीये आज्यभागातिरिक्तप्रयाजानूयाजादयो नानुष्ठेयाइत्येतदर्थमिदं वाक्यम्। अतिदेशेन प्राप्तेष्वङ्गेषु विधिरयं तदितराङ्गपरिसङ्ख्यार्थत्वेन स्वसजातीयेतराङ्गानां यागरूपाणां प्रयाजानूयाजादीनां निवर्तक इति प्राप्तबाधोऽत्र पक्षे स्वीकृतः। एवं सति 'आज्यभागौ यजति' इत्यस्य प्रयाजादयो यागा न कर्तव्या इत्यर्थस्सम्पद्येत। तथा च स्वार्थहानिः परार्थस्वीकारः प्राप्तबाधश्चेति त्रैदोष्यं स्यात्। अतोऽष्टमः पक्षः। अस्मिन् पक्षे गृहमेधीयप्रकरणपठितम् 'आज्यभागौ यजति' इति वाक्यं प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्येत्यतिदेशमेव निरुणद्धि। अतिदेशतः प्राप्तान् पदार्थान् न परिसञ्चष्टे, किन्त्वप्राप्तानामेव प्रयाजादीनां पदार्थानां बाधकं भवतीत्यप्राप्तबाधः। अर्थात् स्वप्रकरणाधीतैरेव-आज्यभाग-स्विष्टकृदिडोपश्वेडाभक्षणादिभिरेवेष्टेरितिकर्तव्यताकाङ्क्षोपशमात् आज्यभागादिपठिताङ्गभिन्नप्रयाजादीनां परिसङ्ख्येत्यप्राप्तबाधः। अतः पञ्चमपरिसङ्ख्यापक्षे विकृतित्वं गृहमेधीयेष्टेस्सिध्यति, अतिदेशेन पदार्थानां प्राप्तत्वात्। अष्टमपक्षे च चोदकस्यैवपरिलोपात् विकृतित्वशङ्काया अवसर एव नास्ति। आज्यभागाद्यतिरिक्तप्रयाजानूयाजादिसमग्राङ्गोपदेशाभावान्न प्रकृतित्वमपि। तर्ह्यनारभ्याधीतायाः पर्णताया निवेशः कथं गृहमेधीयेष्टौभवतु ? इतिशङ्कायास्समाधानाय 'चोदकाद्यत्र नाङ्गप्राप्तिः तत्कर्म प्रकृतिशब्देन विवक्षितम्' इत्युक्तम्। एवञ्च गृहमेधीयेष्टिः चोदकादङ्गानि न गृह्णाति, नापि च विकृत्यन्तरं गृहमेधीयेष्टितोऽङ्गानि गृह्णातीति गृहमेधीयेष्टिः न प्रकृतिः नापि विकृतिरिति सम्प्रदायः।

किञ्च लेखकोऽयं ९३ पृष्ठे 'प्रथम दो लक्षण प्राचीन मीमांसकों के हैं' इति विलिख्य तत्रो १ अङ्कं टिप्पण्यर्थं प्रदाय

से जब हो ही जाती है, तब इस प्रकरण में आज्यभाग का आम्नान (पाठ) किस प्रयोजन के लिये है ? यह आकांक्षा होनेपर इन पक्षों को उस अधिकरण में प्रदर्शित किया गया है (पू० मी० १०।७।९) उनमें से पांचवां और आठवां पक्ष परिसंख्याविधिपरक है, अर्थात् विकृति की इतिकर्तव्यताकांक्षा की पूर्ति करने के लिये प्रकृति से प्राप्तहुए अंगों के बाध का इस विकृतियाग में 'आज्यभागौ यजति' यह कहा गया है। अर्थात् गृहमेधीय में आज्यभागातिरिक्त प्रयाजानूयाजादिका अनुष्ठान न करने के लिये उक्त वाक्य को पढा गया है। अतिदेश से अंगों के प्राप्त होनेपर भी 'आज्यभागौ यजति' यह विधि स्वेतरांगों की परिसंख्या करने के लिये किया गया है, इस कारण वह स्वसजातीय (स्वसमान) प्रयाजानूयाजादि यागरूप इतरांगों का निवर्तक होता है, इसप्रकार इस पक्ष में इसे प्राप्तबाध कहाजाता है। तब 'आज्यभागौ यजति' का अर्थ 'प्रयाजादियागों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये' होगा। ऐसा अर्थ करनेपर स्वार्थहानि, परार्थस्वीकार, और प्राप्तबाध ये तीन दोष होंगे। अतः अष्टमपक्ष को स्वीकार किया गया है। इस पक्ष में गृहमेधीय प्रकरण में पठित 'आज्यभागौ यजति' वाक्य, 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस अतिदेश को ही रोक देता है। अर्थात् अतिदेशतः प्राप्त हुए पदार्थों का वह परिसंख्यान (वर्जन) नहीं करता. बल्कि अप्राप्त प्रयाजादि पदार्थों का ही वह बाधक (निवर्तक) होता है, इस कारण यह 'आप्राप्तबाध' कहा जाता है। अर्थात् स्वप्रकरणाधीत आज्यभाग, स्विष्टकृत्,इडाभक्षणादिसे ही इष्टि की इतिकर्तव्यताकांक्षा का उपशम होजाने से आज्यभागादिपठितअंगों से भिन्न प्रयाजादि अंगों की परिसंख्या होने से यह अप्राप्तबाध है। अतः पञ्चम परिसंख्यापक्ष में गृहमेधीयेष्टि का विकृतित्व सिद्ध होता है। क्योंकि अतिदेश से पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं। और अष्टमपक्ष में अतिदेशका ही लोप रहने से विकृतित्व की शंका के लिये अवसर ही नहीं है। आज्यभागादि के अतिरिक्त प्रयाजानूयाजादिसमग्रांगोपदेश का अभाव रहने से उसमें प्रकृतित्व नहों है। अनारम्याधीत पर्णताका निवेश गृहमेधीय इष्टि में कैसे हो पायगा ? इस शंका के समाधानार्थ 'चोदकाद् यत्र नाङ्गप्राप्तिः तत्कर्म प्रकृतिशब्देन विवक्षितम्'—अतिदेश से जहां अंगप्राप्ति नहीं होती, उसकर्म को 'प्रकृति' शब्द से विवक्षित किया गया है—ग्रन्थकार ने बताया है। एवञ्च गृहमेधीयेष्टि, चोदक (अतिदेश) से अंगों का ग्रहण नहीं करती और न अन्य कोई विकृति ही गृहमेधीयेष्टि से अंगों का ग्रहण करती है, इस कारण 'गृहमेधीयेष्टि' न प्रकृति है और न विकृति ही है, यही मीमांसकों का सिद्धान्त है।

किञ्च लेखक ने पृ० ९३ पर लिखा है कि 'प्रथम दो लक्षण प्राचीन मीमांसा के हैं' इतना लिखकर वहीं पर टिप्पणी लिखने के

टिप्पण्यां लिखति—'मीमांसासूत्रकार के विकृतौ प्राकृतस्य विधेर्दर्शनातु पुनः श्रुतिरनर्थिका स्यात् (१०.७.२४) अर्थात्, इत्यादि। इदं सर्वं लेखनमनन्वितम्। किं लिखामि, किं लेखनीयमित्यविज्ञायैव लिखति। जैमिनिः आज्यभागाधिकरणे (१०.७.९) प्रथमपक्षनिरूपणायेदं सूत्रं प्रणीतवान्। अस्मिन्नधिकरणेऽष्टौ पक्षा इति पूर्वमुक्तम्। तत्रायं प्रथमःपक्षः—गृहमेधीयेष्टिगतं 'आज्यभागौ यजति' इति वाक्यं चोदकतः प्राप्तेषु पदार्थेषु केवलमाज्यभागस्यानुवादमात्रं करोतीति।

सूत्रस्यायमर्थः—अष्टसु पक्षेष्वाज्यभागवाक्यं गृहमेधीयेष्टिगतमनुवादमात्रं करोतीति प्रथमः पक्षः। विकृतौ-विकृतिभूतायां गृहमेधीयेष्टौ, प्राकृतस्य विधेः—प्राकृताङ्गकलापस्य ग्रहणात्—अतिदेशत एव ग्रहणसम्भवात्, पुनः श्रुतिः—पुनस्तत्राज्यभागश्रुतिः अनर्थिका स्यात्—अप्राप्तप्रापणरूपप्रयोजनशून्या स्यात्। अनुवादमात्रं स्यादिति। अत्रैवं लिखति—'इस न्याय से गृहमेधीयेष्टि में यावदुक्त कर्मता मानी जाती है'। दूसरे शब्दों में यह विकृति याग है' आदि। 'यावदुक्त कर्मता मानी जाती है' इत्यस्य कोऽर्थः? यावदुक्तमङ्गजातं तदनुष्ठेयमिति तस्यार्थः। तमिममर्थं सूत्रकारोऽत्र सूत्रेण किं वदति? उपरिष्टाल्लिखति—'सूत्र कार के उक्त वचन से प्रथमलक्षणानुसार गृहमेधीयेष्टि प्रकृति कर्म के अन्तर्गत परिगृहीत होती है' इति। किमनेन सूत्रेण सूत्रकारो गृहमेधीयेष्टि प्रकृत्यन्तर्गतां प्रतिपादयति? प्रथमलक्षणन्तु तव 'यत्र कृत्स्नं क्रियाकलापमुच्यते सा प्रकृतिः' इति। (लेखकेन यथोक्तं लक्षणं तथैवात्र लिखितम्) किमनेन सूत्रेण प्रकृतेरेवं लक्षणं सूत्रकारः सूचयति? अहह! सर्वथा जैमिनिर्हतः।

तस्मिन्नेत्र ९३ पृष्ठे 'नवीन मीमांसकों ने द्वितीय लक्षण के……………तृतीय लक्षण बनाया है। यह (तृतीयलक्षण) न केवल क्लिष्ट है अपितु लक्षणपरिगृहीत प्रकृति-विकृति के अन्योन्याश्रय होने से अन्योन्याश्रित दोष दुष्ट भी है' इति। भोः लेखक! सावधानेन मनसा स्वीयं लेखं निरीक्षस्व। त्वदीयं तृतीयं लक्षणं 'चोदकाद्यत्र नाङ्गप्राप्तिः सा प्रकृतिः' इति। किमस्मिन् लक्षणे प्रकृति-विकृतिशब्दौ परिगृहीतौ? उपनेत्रं धारय, लक्षणञ्चावलोकय। अत्रान्योन्याश्रयदोषञ्चोद्भावयसि। न्यायप्रकाशसन्दर्भस्य स्थितिः पूर्वमेवावबोधिता।

लिये अंक (१) देकर लेखक ने टिप्पणी में लिखा है—"मीमांसासूत्रकार के 'विकृतौ प्राकृतस्य विधेर्दर्शनात् पुनः श्रुतिरनर्थिकास्यात्' (१०।७।२४) अर्थात्" इत्यादि। किन्तु यह सब लेख असम्बद्ध है। क्या लिख रहा हूँ, आगे क्या लिखना चाहिये? इसका विना विचार किये ही लिखता जा रहा है। प्रथमतः इसे देखो, सोचो—जैमिनि ने आज्यभागाधिकरण (१०।७।९) में प्रथम पक्ष के निरूपणार्थ इस सूत्र की रचना की है। इस अधिकरण में आठ पक्ष प्रदर्शित किये गये हैं। उनमें प्रथम पक्ष—गृहमेधीयेष्टिगत 'आज्यभागौ यजति' यह वाक्य, अतिदेश के द्वारा पदार्थों के प्राप्त कराये जाने पर आज्यभाग का केवल अनुवादमात्र करता है। उपर्युक्त सूत्र का अर्थ यह है—विकृतौ-विकृतिभूत गृहमेधीयेष्टि में, 'प्राकृतस्यविधेः दर्शनात्'—प्राकृत अंगकलाप का अतिदेश से ही ग्रहण संभव होने से, पुनः श्रुतिः—वहां पर पुनः आज्यभाग का श्रवण, अनर्थिका स्यात्-अप्राप्तप्रापणरूपप्रयोजन से शून्य होगा अर्थात् केवल अनुवादमात्र होगा। किन्तु लेखक इस प्रकार लिखता है—'इस न्याय से गृहमेधीयेष्टि में यावदुक्तकर्मता मानी जाती है। दूसरे शब्दों में यह विकृतियाग है' इत्यादि। 'यावदुक्तकर्मता मानी जाती है'- इस कथन का क्या अर्थ है? 'क्या यावत् अंगजात उक्त है, सबका अनुष्ठान करना' यह अर्थ है, क्या इसी अर्थ को यहां पर उक्तसूत्र से सूत्रकार कह रहे हैं? आगे चल कर लेखक महोदय पुनः लिखते हैं—'सूत्रकार के उक्तवचन से प्रथम लक्षणानुसार गृहमेधीयेष्टि प्रकृति कर्म के अन्तर्गत परिगृहीत होती है' इति। क्या इस सूत्र से सूत्रकार ने गृहमेधीयेष्टि को प्रकृति के अन्तर्गत बताया है? लेखक महोदय का लिखा हुआ प्रथम लक्षण तो यह है—'यत्र कृत्स्नं क्रियाकलापमुच्यते सा प्रकृतिः' इति। क्या सूत्रकार ने प्रकृति का लक्षण इस सूत्र से इस प्रकार सूचित किया है? अरे तुमने तो सूत्रकार जैमिनि की हत्या ही कर डाली।

उसी ९३ पृष्ट पर लेखक ने पुनः लिखा है—'नवीन मीमांसकों ने द्वितीय लक्षण के……………तृतीय लक्षण बनाया है। यह (तृतीय लक्षण) न केवल क्लिष्ट है, अपितु लक्षणपरिगृहीत प्रकृति-विकृति के अन्योन्याश्रय होने से अन्योन्याश्रयदोष दुष्ट भी है' इति। लेखक महोदय अपने लेख को किञ्चित् सावधानी से देखते तो अच्छा रहता। तुम्हारा तृतीय लक्षण 'चोदकाद् यत्र नाङ्गप्राप्तिः सा प्रकृतिः' इति। क्या इस लक्षण में प्रकृति-विकृति शब्दों का परिग्रह किया गया है? जरा आँखों से लक्षण को देखो, यहां पर अन्योन्याश्रय दोष की उद्भावना कर रहे हो। न्यायप्रकाशसन्दर्भ को हम पहले ही बता चुके हैं।

तस्मिन्नेव ९३ पृष्ठे 'विकृति याग का लक्षण' इत्यारभ्य लक्षणं प्रदर्श्योदाहरति—'यथा दाक्षायणेष्टि, मित्रविन्देष्टि' इति । किमहं ब्रवीमि लेखकस्य बुद्धिप्रकर्षम् ! द्वितीयतृतीयपादस्य चतुर्थमधिकरणं 'दाक्षायणयज्ञाधिकरणम्' इति व्यवह्रियते । तत्र शबरस्वामी भाष्यकारो लिखति—'तस्मात् प्रकृतयोर्दर्शपूर्णमासयोर्गुणात् फलमुच्यते, न यागान्तरं विधीयते' इति (शा० भा० पृ० १२४ चौ० सं०) । लेखकमहाभागो यज्ञशब्दस्य यत्र प्रयोगः कर्तव्यस्तत्र तं न करोति, यत्र च न कर्तव्यस्तत्र तं प्रयुङ्क्ते । यथा—'दाक्षायणेष्टिः' इति 'सृष्टियज्ञः' इति । अस्य क्रतोः दाक्षायणेष्टिरिति न व्यवहारो मीमांसकयाज्ञिकेषु, किन्तु दाक्षायणयज्ञ इत्येव व्यवहारः । तपस्वी अयं व्यवहारमिमं कथं जानातु ? शाबरभाष्यस्यानुवादं परं कर्तुं प्रवृत्तः, किन्तु दाक्षायणयज्ञं विकृतिं लिखति । अत्रायं विषयविवेकः—द्वितीयाध्यायो मीमांसायां कर्मभेदाध्याय इत्युच्यते । तत्र कर्मभेदं प्रति षट्प्रमाणानि स्वीकृतानि । द्वितीय-द्वितीयपादे पञ्चानां प्रमाणानां विचारो जातः—शब्दान्तरम्, अभ्यासः, सङ्ख्या, संज्ञा, गुण इति । तृतीयपादे संज्ञया कर्मभेदस्यापवादो विचार्यते । तत्रेदमुदाहरणम्—'दाक्षायणयज्ञेन स्वर्गकामो यजेत' 'साकम्प्रस्थायीयेन यजेत पशुकामः' इत्यादि । अत्र किं कर्मान्तरविधिः ? अथवा गुणफलविधिः ? इति सन्देहः । दर्शपूर्णमाससंज्ञापेक्षया दाक्षायणयज्ञ इति संज्ञान्तरमस्ति । अतः ज्योतिः विश्वज्योतिः सर्वज्योतिरित्यत्र यथा संज्ञया कर्मभेद उपपादितः, तथैवात्र दाक्षायणयज्ञ इति संज्ञाभेदात् कर्मान्तरमिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु गुणफलविधिः । यत्रा 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' गुणफलविधिः, न कर्मान्तरम्, तथा प्रकृतदर्शपूर्णमासयोरेवैतादृशगुणयुक्तयोरनुष्ठाने फलमिदं भविष्यतीति नेदं कर्मान्तरम् । कोऽयं दाक्षायणयज्ञबोधितो गुण इति चेत्, तत्रेदं वाक्यमाम्नायते—'त्रिंशतं वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत, यदि दाक्षायणयज्ञी स्यात् पञ्चदश वा वर्षाणि यजेत तर्ह्येवं सम्पद्येत' इति । त्रिंशतं वर्षाणि दर्शपूर्णमासयाजिनो यावती दर्शपूर्णमासप्रयोगसंख्या तावत्सङ्ख्याकदर्शपूर्णमासप्रयोगसम्पत्तिं पञ्चदशवार्षिकदाक्षायणयज्ञिनो दर्शयति । तत्रायं वाक्यशेषः—'द्वे पौर्णमास्यौ

उसी ९३ पृष्ठ पर 'विकृति याग का लक्षण' ऐसा आरंभ करके लक्षण प्रदर्शित करते हुए लेखक ने उदाहरण दिया है—'यथा दाक्षायणेष्टि, मित्रविन्देष्टि' इति । लेखक की बुद्धि को क्या हो गया है ? द्वितीय के तृतीय पाद का चतुर्थ अधिकरण 'दाक्षायणयज्ञाधिकरण' है । वहाँ भाष्यकार शबरस्वामी लिखते हैं—'तस्मात् प्रकृतयोर्दर्शपूर्णमासयोर्गुणात् फलमुच्यते, न यागान्तरं विधीयते' इति (शा. भा. पृ. १२४ चौ. सं.) । लेखक महोदय यज्ञ शब्द का जहाँ प्रयोग करना चाहिये, वहाँ तो उसका प्रयोग नहीं करते, किन्तु जहां नहीं करना चाहिये वहां उसका प्रयोग अवश्य करते दिखाई पड़ते हैं । जैसे—'दाक्षायणेष्टिः' इति 'सृष्टियज्ञः' इति । मीमांसकयाज्ञिकों में इस क्रतु का दाक्षायणेष्टि शब्द से व्यवहार कहीं भी नहीं किया जाता, अपितु 'दाक्षायणयज्ञ' शब्द से ही व्यवहार होता पाया जाता है । यह तपस्वी लेखक मीमांसासम्प्रदायप्रसिद्ध व्यवहार को क्याजाने ? शाबरभाष्य का अनुवाद करने प्रवृत्त हुए हैं, और दाक्षायणयज्ञ को विकृति लिखरहे हैं । यहाँपर विषयविवेक इसप्रकार है—मीमांसा में द्वितीयाध्याय को कर्मभेदाध्याय कहते हैं । उसमें कर्मभेद बताने वाले ये प्रमाण कहे हैं । द्वितीयाध्याय के द्वितीयपाद में पांच प्रमाणों का विचार कियागया है—(१) शब्दान्तर, (२) अभ्यास, (३) संख्या, (४) संज्ञा, (५) गुण—ये पाँच कर्मभेदक प्रमाण है । तृतीयपाद में संज्ञासे होने वाले कर्मभेद के अपवाद का विचार किया गया है । वहाँ यह उदाहरण—'दाक्षायणयज्ञेन स्वर्गकामो यजेत पशुकामः' देकर विचार किया है कि यहाँ पर कर्मान्तर का विधान है, या गुणफल का विधान है ? इस पर पूर्वपक्षी ने कहा कि 'दर्शपूर्णमास' इस संज्ञा की अपेक्षया 'दाक्षायणयज्ञ' यह संज्ञान्तर है । अतः 'ज्योतिः विश्वज्योतिः सर्वज्योतिः' यहाँ पर जैसे संज्ञा से भिन्न होने से कर्मभेद का उपपादन किया जाता है, वैसे ही यहाँ पर भी 'दाक्षायणयज्ञ' यह संज्ञा, 'दर्शपूर्णमास' इस संज्ञा से भिन्न होने के कारण इसे कर्मान्तर ही कहना चाहिए । यह पूर्वपक्ष हुआ । उस पर सिद्धान्ती ने कहा कि उक्त यज्ञ को कर्मान्तर कहना उचित नहीं, वह तो 'गुणफलविधि' है । जैसे 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' में गुणफलविधि माना गया है, उसे कर्मान्तरविधि नहीं कहा, वैसे ही एतादृशगुण-विशिष्ट प्रकृति दर्शपूर्णमास के ही अनुष्ठान से यह फल सम्पन्न हो जायगा, अतः उस दाक्षायणयज्ञ को कर्मान्तर कहना उचित नहीं है, यह सिद्धान्त किया गया । दाक्षायणयज्ञ से बोधित किया जाने वाला गुण कौन सा है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर, वहाँ यह वाक्य पढ़ा गया है—'त्रिंशतं वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत, यदि दाक्षायणयज्ञी स्यात् पञ्चदशवर्षाणि यजेत तर्ह्येवं सम्पद्येत' इति । दर्शपूर्णमासयाजी की तीस वर्ष तक जितनी दर्शपूर्णमास प्रयोग संख्या होगी, उतनी दर्शपूर्णमास-प्रयोग संख्या सम्पत्ति दाक्षायणयज्ञी को पन्द्रह वर्ष तक अनुष्ठान करने मात्र से ही हो जाती है ।

यजेत द्वे अमावास्ये' इति। प्रतिपर्व द्वयोर्द्वयोः प्रयोगयोरनुष्ठाने पञ्चदशवर्षेषु त्रिंशत्सङ्ख्यासम्पत्तिरित्यर्थः। एवञ्च दर्शपूर्णमासक्रतुः प्रयोगावृत्तिरूपगुणयुक्तो यदि क्रियते तर्हि निर्दिष्टं फलमितिभावः। तथाच दाक्षायणयज्ञो न क्रत्वन्तरम्। क्रत्वन्तरत्वाभावे तस्य विकृतित्वं कथं स्यादिति लेखक एव जानातु।

किञ्च 'प्रकृति-विकृति याग का लक्षण' इत्यारभ्य ९४ पृष्ठे तस्योदाहरणं ददाति—'यथा अग्निष्टोम' इति। अहो मीमांसापाण्डित्यं लेखकस्य। हं हो! श्रौतयज्ञवैदुष्यं श्रौत-यज्ञ-मीमांसाकर्तुः! लेखकस्य दयनीयां शोचनीयाञ्च दशां विलोक्य म० म० चिन्नस्वामिशास्त्रिचरणाः यदि जीवदवस्थायां वर्तेरन् तर्हि नूनं मन्येरन् यन्मया क्षीरप्रदानेन सर्पः पालित इति। 'अग्निष्टोम' शब्दोऽग्निष्टोमसंस्थाकज्योतिष्टोमवाचीति लेखकोऽङ्गीकुर्यादेव। अग्निष्टोमे चेष्टयस्सन्ति पशुयागाश्च सन्त्यङ्गभूताः। इष्टयश्च दर्शपूर्णमासविकृतयः, पशुयागश्च दर्शविकृतिः पश्वन्तराणाञ्च प्रकृतिः। अग्निष्टोमश्चोक्थ्यादिसंस्थानां प्रकृतिः। विकृतिश्चायं कस्य यागस्य? समग्राङ्गोपदेशस्यात्र सत्वात् प्रकृतित्वमभ्युपेत्यानन्तरं लिखति—'परन्तु उसके एकदेश उपसदिष्टि, दीक्षणीयेष्टि, आतिथ्येष्टिरूपअवान्तरहविर्याग अपने क्रियाकलाप को दर्शपूर्णमास से ग्रहण करते हैं' इति। अग्निष्टोमस्वरूपज्ञानरहितस्येदं लेखनम्। अग्निष्टोमोक्थ्यषोडश्यतिरात्रशब्दानां तत्तत्संस्थायां शक्तिः, तादृशसंस्थावति ज्योतिष्टोमे निरूढलक्षणा, तद्वति क्रत्वन्तरे च साम्प्रतिकी, ग्रहणे स्तोत्रे च गौणीति विभागः। ततश्चाग्निष्टोमशब्दस्य तन्नामकसंस्थायां रूढिः। दीक्षणीयादीष्टीनां तदेकदेशत्वं न, किन्तु तदङ्गत्वम्। तदङ्गानामिष्टीनामग्निष्टोमपदं न बोधकम्। किन्तु तत्संस्थाकयागस्यैव ज्योतिष्टोमस्य बोधकम्। अतोऽस्य प्रकृतित्वमेव, न तु प्रकृतिविकृतित्वम्।

सद्गुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः

अविच्छेदेन शिष्याचार्यपरम्परया विद्याप्राप्तिस्सम्प्रदायशब्दार्थः। अनिदंप्रथमताकात्कालात्प्रवर्तमानः कश्चन

इसी सम्बन्ध में यह वाक्य शेष भी है—'द्वे पौर्णमास्यौ यजेत, द्वे अमावास्ये इति।' प्रत्येक पर्व पर दो-दो प्रयोगों का अनुष्ठान करने पर पन्द्रह वर्षों में तीस की संख्या सम्पन्न होती है। एवञ्च दर्शपूर्णमासक्रतु को प्रयोगावृत्तिरूपगुण से युक्त यदि किया जाता है, तो निर्दिष्ट फल प्राप्त होता है, यह अभिप्राय है। तथा च 'दाक्षायणयज्ञ' कोई क्रत्वन्तर (कर्मान्तर) नहीं है। जब वह क्रत्वन्तर ही नहीं है, तब उसमें विकृतित्व कैसे संभव हो सकेगा? इसे लेखक ही जाने।

किञ्च 'प्रकृति-विकृति याग का लक्षण' यह आरम्भकर पृ० ९४ पर लेखक ने उसका उदाहरण दिया है—'यथा अग्निष्टोम' इति। अहो! लेखक का मीमांसापाण्डित्य देखते ही बनता है! श्रौतयज्ञ की मीमांसा करने वाले लेखक का श्रौतयज्ञसम्बन्धी वैदुष्य की प्रशंसा तो जितनी की जाय उतनी कम (न्यून) ही प्रतीत होगी। यदि आज म० म० चिन्नस्वामिशास्त्रिपाद जीवित होते तो वे निश्चितरूप से यह कहते कि मैंने दूध पिलाकर सर्प पाला। अग्निष्टोमसंस्थाकज्योतिष्टोम का वाचक 'अग्निष्टोम' शब्द है, इतना तो लेखक को कबूल करना ही होगा। अग्निष्टोम में अंगभूत अनेक इष्टियाँ और पशुयाग होते हैं। इष्टियाँ, दर्शपूर्णमास को विकृतिरूप हैं, और पशुयाग, दर्श की विकृति हैं और पश्वन्तरों का प्रकृतिरूप भी हैं। अग्निष्टोम, उक्थ्यादि-संस्थाओं का प्रकृतिरूप है। ऐसी स्थिति में 'अग्निष्टोम' को किस याग का विकृति समझ रहे हो? वहाँ पर समग्र अंगों का उपदेश रहने से उसका प्रकृतित्व भी स्वीकार कर रहे हो, और आगे लिख रहे हो कि 'परन्तु उसके एक देश उपसदिष्टि, दीक्षणीयेष्टि आतिथ्येष्टिरूप अवान्तर हविर्याग अपने क्रियाकलाप को दर्शपूर्णमास से ग्रहण करते हैं'। इस प्रकार का लेख, अग्निष्टोम, के स्वरूप का ज्ञान न रखनेवाला व्यक्ति ही लिख सकता है। अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र आदि शब्दों की तत्तत्संस्था में शक्ति है, और तादृशसंस्था वाले ज्योतिष्टोम में निरूढ़लक्षणा है, और तत्संस्थाविशिष्ट क्रत्वन्तर में साम्प्रतिकी लक्षणा, एवं ग्रह और स्तोत्र में गौणी है। ततश्च अग्निष्टोम शब्द, तन्नामक संस्था में रूढ़ है। दीक्षणीयादि इष्टियाँ उसकी एकदेशभूत नहीं है, अपितु उसकी अंग हैं। तदङ्गभूत इष्टियों का अग्निष्टोमपद बोधक नहीं है, अपितु तत्संस्थाक याग का ही (ज्योतिष्टोम का ही) बोधक है। अतः अग्निष्टोम में प्रकृतित्व ही है। अर्थात् अग्निष्टोम प्रकृतिरूप ही है, प्रकृति-विकृतिरूप (उभयरूप) नहीं है।

सद्गुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः

अविच्छिन्न शिष्याचार्यपरम्परा से जो विद्या प्राप्ति होती है, उसे सम्प्रदाय कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है—

सम्प्रदायः, सन्निकृष्टकालश्चापरः। तत्र मीमांसासम्प्रदायश्चातिपुरातनः। निरुपपदं मीमांसापदं पूर्वमीमांसाया वाचकमिति प्रसिद्धमिदम्। यथा हि 'विज्ञान' पद संयोजनेनाधुनिकाः स्वप्रतिपाद्यविषयस्य नूतनत्वद्योतनाय 'भाषाविज्ञानम्' 'मूर्तिविज्ञानम्' इत्यादीनि नामानि परिकल्प्य पुस्तकानि रचयन्ति प्रकाशयन्ति च, तथैव सन्निकृष्टकालतः प्राप्तसम्प्रदायानुगताः केचन पूज्यविचारार्थकं 'मीमांसा' पदं संयोज्य 'शास्त्रावतारमीमांसा' श्रौतयज्ञमीमांसा' इत्यादीनि नामानि कल्पयन्तः ग्रन्थान् लिखन्ति लोकान् सम्मोहयितुं वञ्चयितुं वा।

सन्निकृष्टकालेषु सम्प्रदायेषु दयानन्दप्रवर्तितः कश्चन, तदनुगतश्च नाम्ना युधिष्ठिरः। यथा हि स्वरचितविषयनाम्नामन्ते 'मीमांसापदं' योजयति, तथैव स्वनाम्नोऽप्यन्ते 'मीमांसकपदं' योजयन् लोकान् प्रतारयति। तत्रापि जगति लब्धप्रतिष्ठानां मीमांसकमूर्धन्यानां म० म० चिन्नस्वामिचरणानां शिष्यत्वेनात्मानं कथयन् मीमांसाशास्त्रसिद्धपदार्थान् अन्यथानयन्नसौ नूनं महावञ्चकः। यथा लिखत्ययं न तथा पूज्याः श्रीशास्त्रिण एनं पाठयाम्बभूवुरिति विश्वसिमि। यज्ञेषु पशुवधाद् बिभ्यदयं मीमांसाया वधं करोति। तेन च सत्यमेव गुरोरात्मानं पीडयति। स्वयं शाबरभाष्यस्य हिन्दीभाषानुवादं कर्तुं प्रवृत्तः मूलभूतं भाष्यं विस्मरन् दयानन्दस्याशयं भूमिकायां विशदयति। अश्वमारूढोऽश्वं विस्मरति यथा, तथायं शबरस्वामिनं तत्सिद्धान्तञ्च विस्मृत्य भूमिकायां विचरति। सम्प्रति भूमिकायां निबद्धान् विषयान् कतिपयान् विचारयामः—

'श्रौतयज्ञमीमांसा' इतिशीर्षके 'यज्ञों का क्रमिक विकास' इति लघुशीर्षकमुल्लिख्य यज्ञविकासोपपादनाय प्रथममेकाग्निसाध्यत्वेनाग्निहोत्रं गृह्णाति लेखकः। अग्निहोत्रमेकाग्निसाध्यमेकं कुर्वन्त आसन्, यतश्च तदेकवेदसाध्यम्, तदनन्तरं

(१) अनादिकाल से चला आने वाला सम्प्रदाय, और दूसरा (२) कुछ समय पूर्व से प्रारम्भ हुआ सम्प्रदाय। उनमें से मीमांसा का सम्प्रदाय अनादिकालीन हैं। उपपदरहित मीमांसा शब्द पूर्वमीमांसा का वाचक है, यह सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। जैसे 'विज्ञान' पद जोड़कर आजकल के लोग अपने प्रतिपाद्य विषय की नवीनता बताने के लिये 'भाषाविज्ञानम्' 'मूर्तिविज्ञानम्' इत्यादि नामों की कल्पनाकर पुस्तकों की रचना करते हैं और प्रकाशित करते हैं वैसे ही कुछ समय से प्रारम्भ हुए सम्प्रदाय का अनुसरण करने वाले कतिपय लोग पूज्यविचारार्थक मीमांसा पद को जोड़कर 'शास्त्रावतारमीमांसा' श्रौतयज्ञमीमांसा' इत्यादि नामों की कल्पनाकर साधारण जनता को मोहित करने हेतु अथवा उनकी प्रतारणा हेतु ग्रन्थों को लिखते रहते हैं।

कुछ समय पूर्व से प्रारम्भ हुए सम्प्रदायों में से दयानन्द के द्वारा प्रवर्तित भी एक सम्प्रदाय हैं, उस सम्प्रदाय के अनुयायी ये महोदय हैं। ये स्वरचित विषयों के नाम के पीछें (अन्त में) 'मीमांसा' शब्द को जोड़ा करते हैं, उसी तरह अपने नाम के अन्त में भी 'मीमांसक' शब्द को जोड़कर साधारण जनता की वञ्चना करते रहते ;हैं और अपने को भारत-विश्रुत मीमांसकमूर्धन्य म० म० चिन्नस्वामी शास्त्रीजी का शिष्य बताते हुए मीमांसाशास्त्रसिद्ध पदार्थों का अनादिकालीन मीमांसासम्प्रदाय के विरुद्ध अर्थ का प्रचार-प्रसार कर मीमांसाशास्त्र की पवित्रता को नष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसा दुष्कार्य तो एक महान् वञ्चक ही कर सकता है। मेरा पूर्ण विश्वास हैं कि परमपूज्यपाद गुरुजी (म० म० श्री चिन्नस्वामी जी) ने कभी भी इसे ऐसा नहीं पढ़ाया होगा, जैसा इसने उटपटांग लिखा हैं। पशुयाग की वैदिकता और उसके महत्त्व को न समझ पाकर मीमांसाशास्त्र के वध करने पर ही उतारू हो गया है। इस कुकर्म से सममुच ही इसने पूज्यपाद मीमांसकगुरुचरणों की आत्मा को महान् कष्ट पहुँचाया है। शाबरभाष्य का हिन्दी भाषा में अनुवाद करने के लिये स्वयं प्रवृत्त हुए, किन्तु मूलभूत भाष्य को ही भूल गये, और उसकी जगह दयानन्द के आशय को ही भूमिका में स्पष्ट करने लगे। जैसे घुड़सवार घोड़े को ही भूलजाय ठीक उसी तरह लेखक महोदय भी भगवान् शबरस्वामी और उनके सिद्धान्त को भूलकर भूमिका में विचरण कर रहे हैं।

इन्होंने मीमांसाशाबरभाष्य की स्वरचित भूमिका में जिन विषयों को निबद्ध किया है, उनमें से ही कतिपय विषयों पर अब हम विचार करते हैं—'श्रौतयज्ञमीमांसा' शीर्षक में ही 'यज्ञों का क्रमिक विकास' इस लघुशीर्षक का उल्लेख कर यज्ञविकास के उपपादनार्थ लेखक ने प्रारम्भ में एकाग्निसाध्य होने से अग्निहोत्र को लिया है, अर्थात् प्रारम्भ में एक अग्नि के होने से एकाग्निसाध्य यजुर्वेदमात्र से सम्पन्न होनेवाले अग्निहोत्र आदि होमों का ही प्रचलन हुआ। तदनन्तर दो वेदों से किये जाने के कारण दर्शपूर्णमास को अग्निद्वयसाध्य

दर्शपूर्णमासयोः वेदद्वयसाध्यत्वेनाग्निद्वयसाध्यतामवगत्य दर्शपूर्णमासावनुष्ठातुं लोकाः प्रावर्तन्त, अनन्तरञ्च त्रिभिर्वेदैस्साध्यान् ज्योतिष्टोमादीन् जानन्तो याज्ञिका अग्नित्रयेण तानन्वतिष्ठन्, तत्पश्चात् पञ्चाग्निसाध्यानि विविधानि कर्माणि कर्तुमारभन्त याज्ञिका इति यज्ञविकासक्रमोऽभिप्रेतो भद्रपुरुषस्य लेखकस्य। एवं लिखतस्तस्यायमाशयो नूनं स्यात्—यदग्निसिद्धिः दीपशलाकया भवति। एकां शलाकां प्रज्ज्वाल्यैकमग्निम्, शलाकाद्वयं प्रज्ज्वाल्याग्निद्वयम्, शलाकात्रयं प्रज्ज्वाल्याग्नित्रयं सम्पाद्य कर्माण्यक्रियन्त याज्ञिकैरिति। तदेव खलु विकासस्यावसरः। विकासो नामोत्तरोत्तरं वृद्धिः। यथा हि कृमि-कीट-सरीसृप-द्विजादिक्रमेण कपिपर्यन्तमागत्य कपिभ्यो मानवा जाता इति विकासस्तथैव यज्ञानां विकास इति 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा'। दयानन्दसम्प्रदायादियं स्यान्मीमांसा, न तु शबरस्वामिनां, म० म० चिन्नस्वामिनां वा सम्प्रदायात्। सुदृढं विश्वसिमि-यत् चिन्नस्वामिन एवं विषयान् लेखकं न ग्राहयामासुरिति। अत्रेयं प्रक्रिया—

सपत्नीकस्य साग्निकस्य विद्यावतस्समर्थस्य द्विजस्य श्रौतकर्मस्वग्निहोत्रादिष्वधिकारः। विवाहावसरे प्रवेशहोमाख्येन कर्मणा योऽग्निस्साध्यते तस्योपासनाग्निरिति संज्ञा। अनेनाग्निना गार्ह्याणि कर्माणि क्रियन्ते। अयमग्निः नित्यं धार्यते, प्रातस्सायं तण्डुलैरौपासनहोमा भवन्ति, पर्वणि समागते स्थालीपाक इति क्रमेण योऽग्नी रक्ष्यते तादृशाग्निमतः श्रौतकर्मस्वधिकारः। श्रौतकर्मणामनुष्ठानार्थं प्रथममाधानाख्येन कर्मणाग्नयः साधनीयाः। ते चाग्नयस्त्रयोभवन्ति—आहवनीयः, गार्हपत्यः, दक्षिणाग्निरिति। आधानाख्ये कर्मणि पक्षद्वयं भवति—असर्वाधानम्, सर्वाधानमिति। क्षौमे वसानौ जायापती औपासनाग्निं सन्दीप्य ततोऽर्धं गृहीत्वा गृहीतेऽर्धग्नावेवाधानाङ्गभूतब्रह्मौदनपाकादिकं कृत्वा तमग्निं संवत्सरादिकालपर्यन्तमवस्थाप्य 'तस्मिन्नुपव्युषमरणी निष्टपेत्' (आप० श्रौ० ५.८.५) इति विध्यनुसारेण तस्मिन्नग्नावरणी प्रतप्य तमग्निमुद्वाप्य

समझकर उसका अनुष्ठान करना लोगों ने आरम्भ किया। उसके पश्चात् तीन वेदों से किये जाने वाले ज्योतिष्टोमादि को अग्नित्रयसाध्य समझकर याज्ञिक लोग उसका अनुष्ठान करने लगे। उसके पश्चात् पञ्चाग्निसाध्य विविधकर्मों का अनुष्ठान करना याज्ञिकों ने आरम्भ किया, यह क्रमिक यज्ञ विकास, लेखक ने बताया है, और यही इसे अभिप्रेत है। इस प्रकार लिखने में लेखक निश्चित रूप से यह समझा होगा कि यज्ञीय अग्नि की सिद्धि दीपशाला का (दियासलाई की सींक) से हुआ करती है। अर्थात् एक शलाका को प्रज्वलितकर एक अग्नि, दो शलाकाओं को प्रज्वलितकर दो अग्नि, तीनशलाकाओं को प्रज्वलितकर तीन अग्नि का सम्पादन करके याज्ञिक लोग कर्मानुष्ठान किया करते थे। तभी तो विकास कहा जाय। विकास का अर्थ है—उत्तरोत्तर वृद्धि। डार्विन के मत में जैसा—कृमि, कीट, सरीसृप, द्विज आदि के क्रम से कपि (बन्दर) तक पहुँचकर उससे मनुष्य हुए—विकास माना गया है, ठीक उसी तरह यज्ञों का भी विकास हुआ होगा, बस यही 'श्रौतयज्ञमीमांसा' लेखक महोदय की है। किन्तु श्रौतयज्ञों के सम्बन्ध में इस प्रकार मीमांसा दयानन्दीसम्प्रदाय के अनुसार ही की जा सकती है। भगवान् शबरस्वामीं और तदनुगामी म० म० श्री चिन्नस्वामी शास्त्रीजी के सम्प्रदाय के अनुसार तो ऐसी हो ही नहीं सकती। मुझे सुदृढ विश्वास है कि पूज्यपाद श्री चिन्नस्वामी शास्त्रीजी ने लेखक को इस प्रकार नहीं पढ़ाया होगा। मीमांसासम्प्रदाय प्रसिद्ध श्रौतयज्ञों की प्रक्रिया तो इस प्रकार है, जिसे वेदानुकूल कहा जाता है।

अग्निहोत्रादि श्रौतकर्मों में उसी द्विज को अधिकारी बताया है, जो सपत्नीक, साग्निक, विद्यावान् और समर्थ हो। विवाहें के समय 'प्रवेशहोम' संज्ञक कर्म से जिस अग्नि की सिद्धि की जाती है, उसे 'औपासनाग्नि' नाम से कहा जाता है। इस अग्नि के द्वारा गृह्यकर्मों का सम्पादन करते हैं। इस अग्नि को नित्य सुरक्षित रक्खा जाता हैं, प्रातः और सायं तण्डुलों से औपासन होमों का अनुष्ठान होता है। पर्व के समय स्थालीपाक किया जाता है। इस क्रम से सुरक्षित अग्नि जिसका हो उस द्विज का ही श्रौतकर्मों में अधिकार बताया गया है। श्रौतकर्मों के अनुष्ठानार्थ प्रथमतः आधानसंज्ञक कर्म से अग्निस्थापन करना होता है। इस प्रकार स्थापन किये हुए अग्नियों की संख्या तीन है—(१) आहवनीय, (२) गार्हपत्य; (३) दक्षिणाग्नि। आधानसंज्ञककर्म के दो पक्ष हैं, (१) असर्वाधान, (२) सर्वाधान। रेशमी वस्त्र पहने हुए पति-पत्नी औपासनाग्नि को सन्दीप्त कर, और उससे आधा अग्नि लेले। आधे लिये हुए उस अग्नि में ही आधानाङ्गभूत ब्रह्मौदनपाक आदि करके उस अग्नि को एक संवत्सर तक रक्खे। और उस अग्नीपर 'तस्मिन्नुपव्युषमरणीनिष्टपेत्' (आप० श्रौ० ५।८।५) इस विधि के अनुसार दोनों अरणियों को तपाकर पश्चात् उस अग्नि को बाहर हटाकर पुनः मन्थन करें तब मथित किये हुए अग्नि से

पुनर्मथित्वा मथिताग्निना गार्हपत्याद्याधानं कुर्यात् । अवशिष्टमर्धौपासनाग्निं गृह्यकर्मानुष्ठानार्थं संरक्षेत् । अयमसर्वाधानपक्षः। सर्वमप्यौपासनाग्निं ब्रह्मौदनपाकार्थं परिगृह्य तस्मिन् पाकादिनिष्टपनान्तं कृत्वा तं सर्वमुद्वाप्य ततो मथित्वा गार्हपत्यादेराधानम्। सोऽयं सर्वाधान पक्षः। अनयोः पक्षयोरयं निष्कर्षः—अरार्वाधानपक्षे गार्ह्यकर्मणां यथावदनुष्ठानम्, सर्वाधानपक्षे तु तेषां निवृत्तिः। अयं पक्षः कलौ स्मृतिकारैर्निषिद्धः। एतेनेदं सिध्यति—यद् गार्ह्याणां श्रौतानाञ्च कर्मणामनुष्ठानं प्रवाहनित्यत्वन्यायेन ऋतुलिङ्गन्यायेन च युगयुगान्तराद् याज्ञिकमीमांसकैरक्रियतेति । तत्राप्याधानेन त्रयोऽग्नयस्सिध्यन्ति—'गार्हपत्यमादधाति, आहवनीयमादधाति, दक्षिणाग्निमादधाति' इति विधानात्। एवमग्नीन् त्रीन् आधानेन संस्कृत्य तत्र तिस्रः पवमानेष्टीरनुष्ठाय यजमानः प्राप्ते कालेऽग्निहोत्रादीनि कर्माण्यनुतिष्ठेदिति स्थितिः।

अत्राग्निहोत्रस्यैकाग्निसाध्यत्वं कस्मात्सम्प्रदायादिति वक्तव्यं लेखकेन—किं दयानन्दप्रवर्तितसम्प्रदायात् ? उत याज्ञिकमीमांसकसम्प्रदायात् ? इति। यदि प्रथमः कल्पः तर्हि तदीयग्रन्थभूमिकायामयं प्रलापः कामं स्थानमर्हति, न तु शाबरभाष्यभूमिकायाम्। द्वितीयः कल्पस्तु सर्वथा निराधारः। यद्येतिहासिकीं दृष्टिमवलम्ब्यायं लेख इति लेखको ब्रूयात्, ऐतिहासिकी दृष्टिरपि शास्त्राविरोधेनैव प्रसारणीया। इदानीं वयमष्टाविंशतितमे कलियुगे वर्तामहे। सप्तविंशतिकलियुगास्समाप्ताः। तावन्तः कृतत्रेताद्वापरयुगा न्यवर्तन्त। कस्माद्युगादयं श्रौतयज्ञ-विकासः प्रारब्धः ? किमैतिहासिकदृष्टया निर्णेतुं शक्यते ? महाभारत-वाय्वादिपुराणानां कतिपयवाक्योद्धरणमात्रेण नायं विकासः साधयितुं शक्यः। 'विविधक्रियाकलाप की प्रकल्पना हुई' (पृ० १०५) इति लिखति भूमिकाकारः। कस्मात्कालादियं प्रकल्पना ? केन चेयं प्रकल्पना कृता ? प्रकल्पयितुरत्र किमुद्देश्यम् ? विविधक्रियाकलापप्रकल्पकः कस्मिन्देशे तिष्ठन् प्रकल्पयामास ? इत्यादयश्शतशः प्रश्नाः प्रादुर्भवेयुः। प्रथममग्निहोत्रं कल्पयित्वा तदनुष्ठानाय कश्चन लोकान् प्रवर्तयामास। तदनन्तरं दर्शपूर्णमासौ प्रकल्प्या-

गार्हपत्यादि का आधान करे। अवशिष्ट औपासनाग्नि का गृह्यकर्म के अनुष्ठानार्थ संरक्षण करे, यह असर्वाधान पक्ष है। समग्र औपासनाग्नि का ब्रह्मौदनपाकार्थ परिग्रह करके उस अग्नि पर पाकादिनिष्टपनान्त कर्म करे, तदनन्तर सब का उद्वाप करे (बाहर निकाल के) तदनन्तर पुनः मन्थन कर के गार्हपत्यादिका आधान करे, यही सर्वाधानपक्ष है।

उक्त दोनों पक्षों का निष्कर्ष यह है—असर्वाधानपक्ष में गृह्यकर्मों का यथावत् अनुष्ठान होता है, किन्तु सर्वाधानपक्ष में उनकी निवृत्ति होती है। कलियुग में स्मृतिकारों ने इस पक्ष को निषिद्ध माना है। इससे यह सिद्ध होता है कि गृह्य और श्रौतकर्मों का अनुष्ठान प्रवाहनित्यत्वन्याय से एवं ऋतु लिङ्गन्याय से युगयुगान्तर से याज्ञिकमीमांसा करते आ रहे थे। और आधान से ही तीनों अग्नियों की सिद्धि होती थी। क्योंकि 'गार्हपत्यमादधाति, आहवनीयमादधाति, दक्षिणाग्निमादधाति' यह अग्नियों के आधान का विधान है। इसी प्रकार तीन अग्नियों का आधान से संस्कार कर वहाँ तीन पवमानेष्टियों का अनुष्ठानकर यजमान समय के प्राप्त होने पर (यथाकाल) अग्निहोत्रादिकर्मों का अनुष्ठान करे, यह स्थिति है। ऐसी स्थिति में अग्निहोत्र की एकाग्निसाध्यता किस सम्प्रदाय से लेखक को ज्ञात हुई ? क्या दयानन्द प्रवर्तित सम्प्रदाय से ? अथवा याज्ञिकमीमांसक सम्प्रदाय से ? यदि प्रथम कल्प हो तो उन्हीं के ग्रन्थ की भूमिका में स्थान पाकर लेखक का प्रलाप शोभा देगा। शाबरभाष्य की भूमिका में उसकी शोभा कदापि नहीं होगी। द्वितीय कल्प तो सर्वथा निराधार ही है। यदि लेखक महोदय ऐतिहासिक दृष्टि के आधार पर अपने लेख को बतावें तो उसे भी शास्त्र के अविरोध से ही अपनाकर उसका उपयोग करना चाहिये। इस समय हमलोग अठ्ठाइसवें कलियुग में बरत रहे हैं। सत्ताईस कलियुग समाप्त हो चुके और उतने ही कृत, त्रेता, द्वापर नामके युग भी बीत चुके। किस युग से श्रौतयज्ञ के विकास का आरम्भ हुआ ? क्या इसका निर्णय ऐतिहासिक दृष्टि से किया जा सकेगा ? महाभारत, वायुपुराण आदि के कतिपय वाक्यों के उद्धरणमात्र से इस विकास को बताना सम्भव नहीं है। लेखक महोदय पृ० १०५ पर 'विविधक्रियाकलाप की प्रकल्पना हुई' लिखते हैं। किस काल से यह प्रकल्पना हुई ? किसने यह प्रकल्पना की ? कल्पना करने वाले का क्या उद्देश्य था ? विविध क्रियाकलाप की कल्पना करके वाले ने किस देश में स्थित होकर कल्पना की ? इत्यादि सैकड़ों प्रश्न पैदा हो सकेंगे। प्रथमतः अग्निहोत्र की कल्पना कर उसके अनुष्ठापनार्थ किस ने लोगों को प्रेरित किया। तदनन्तर दर्शपूर्णमास की कल्पना कर उसके अनुष्ठापनार्थ कोई दूसरा प्रेरक हुआ। तदनन्तर प्रथमयज्ञ की कल्पनाकर उसके अनुष्ठापनार्थ तीसरा प्रेरक आया। तदनन्तर उक्थ्यादिसंस्थाक क्रतुओं की कल्पनाकर

नुष्ठातुमपरः प्रेरकः कश्चनाभूत्। तदनन्तरं प्रथमयज्ञं कल्पयित्वा तदनुष्ठानाय तृतीयस्समागतः। तदनन्तरमुक्थ्यादिसंस्थाकान् क्रतून् कल्पयित्वा तदनुष्ठानाय चतुर्थ आगतः। एवं ऐष्टिकान् पशुकान् सौमिकांश्च क्रतून् प्रकल्प्य पञ्चमोऽनुष्ठापयामास। एष एव खलु क्रमो विकासस्य। एवं निरूपयन् महाभागो न जिह्रेतीति महदाश्चर्यम्। नित्यस्स आत्मा गुरुः सर्वमिदं निशम्य नूनमवाङ्मुखो रुदेदित्येव मे प्रतिभाति।

विषयमेनं परिष्कर्तुं मीमांसका राजमार्गं प्रवर्तयाम्बभूवुः। अयञ्च सिद्धान्तस्सर्वैरवैष्टव्यः—यन्महर्षयो लक्ष्यैकचक्षुष इति। यथा-यथा लक्ष्याणि तथा-तथा लक्षणानि महर्षिभिरक्रियन्त। श्रुतिरिति श्रुतमिति च वेदानां शास्त्राणाञ्चाभिधायकम्। अस्मच्चिरन्तनाः श्रुत्वा तदवधार्य वेदान् शास्त्राणि च संरक्षितवन्तः, वेदोदितानि कर्माणि च यथायथमन्वतिष्ठन्। सन्दिग्धांश्च विषयान् गोष्ठीषु सम्भूय सुविचार्य निर्णीतवन्तः। एवं गच्छति काले आयतौ लोकानां विस्मरणशक्तिमवधार्य सूत्रैर्विषयान् जग्रन्थुः। सूत्राध्ययनेन विषयावबोधे तद्धारणे च क्लिश्यतो लोकानवगत्य भाष्यप्रभृतयो ग्रन्था रचिताः। एवं विकासो ग्रन्थानामेव जातः, न तु श्रौतस्मार्तयज्ञानां विकासः। यज्ञानां सङ्कोचविकासावनुष्ठानरूपेण निर्णेतव्यौ भवतः। अनुष्ठानार्थमेवोच्चावचा यज्ञा वेदेषु विहिताः, न तु केवलं ग्रन्थेभ्योऽवगत्यर्थम्। पुस्तकविरचनानन्तरं लोकैस्तदनुष्ठानं कृतमिति कल्पनं न साधु, किन्त्वनुष्ठानविषयीभूतानां कर्मणां सङ्ग्रहः पुस्तकरूपेण सञ्जात इति कल्पनमुचितम्। अयमेव न्यायस्सर्वेषु शास्त्रेष्वतिदेष्टव्यः। जगतो नित्यत्वं प्रसाधयतां मीमांसकानामयमेव पन्थाः। अस्मिन्नेव पथि श्रीशबरस्वामिनो विचरन्ति। मीमांसाशास्त्रेऽधीयमाने स्पष्टमवगम्यते, यत्सूत्ररचनाकाले यज्ञानां विस्तारः कियानासीदिति। प्रत्यधिकरणं तत्सम्बन्धि विषयवाक्यं सूत्रेष्वन्तर्हितं वयं पश्यामः। तानि च वाक्यानि प्रायःकर्मविधायकानि। कर्मणामनुष्ठानावसरे यदि कश्चन सन्देहः, तन्निर्णयायैव मीमांसान्यायाः प्रवृत्ताः। न्यायाश्चेमे तासु तासु महर्षीणां गोष्ठीषु निर्णीता एव जैमिनिनोपनिबद्धाः।

उसके अनुष्ठापनार्थ चौथा प्रेरक आया। एवं ऐष्टिक, पाशुक, सौमिकक्रतुओं की कल्पनाकर उनके अनुष्ठापनार्थ कोई पाँचवा आया। यही विकास का क्रम होगा। इस प्रकार विकास क्रम को बताते हुए लेखक महोदय को लज्जा का अनुभव क्यों नहीं हुआ, यह भी एक महान् आश्चर्य है। मुझे लग रहा है कि लेखक महोदय के प्रलाप को सुनकर पूज्य गुरूजी की आत्मा निश्चित ही अवाङ्मुख होकर अवश्य रोती होगी।

यज्ञीय विषय को परिष्कृत करने के लिये मीमांसकों ने राजमार्ग का निर्माण कर दिया था। हमारे महर्षिगण लक्ष्यैकचक्षुष्क थे, यह सिद्धान्त सभी को मानना ही होगा। जैसे-जैसे लक्ष्यों को देखा तदनुसार वैसे-वैसे ही लक्षणों को महर्षियों ने किया। श्रुति और श्रुत शब्द वेदों और शास्त्रों के वाचक हैं। हमारे पूर्वजों ने श्रवण तथा अवधारण कर वेदों और शास्त्रों का संरक्षण किया था। ओर वेदोदित कर्मों का यथाविधि वे लोग अनुष्ठान किया करते थे। और जब कभी सन्देह उपस्थित होता था तब गोष्ठियां किया करते थे, उनमें सम्मिलित होकर सन्दिग्ध विषयों पर विचार करते हुए निर्णय किया करते थे। इस रीति से कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात् भविष्य में लोगों की स्मरणशक्ति की क्षीणता का विचार कर ऋषियों ने अपने विचारित, निर्णीत विषयों को सूत्ररूप में ग्रथित कर दिया। आगे चल कर पुनः बढ़ती हुई विचारशक्ति की क्षीणता तथा विस्मरण शक्ति के कारण सूत्रों से विषय का आकलन तथा उसे ठीक-ठीक निर्णय कर पाने में लोगों को जब कठिनाई होने लगी, तब तत्कालीन महान् कर्मठ विद्वानों ने उन सूत्रों पर भाष्य-रचे, वृत्तियां रचीं, टीकाएँ, टिप्पणियां-रचीं, वार्तिक रचे। इस प्रकार विकाश जो हुआ, वह ग्रन्थों का ही हुआ, श्रौत-स्मार्त यज्ञों का नहीं। यज्ञों-के संकोच-विकास का निर्णय तो उनके अनुष्ठान से ही किया जा सकता है। अनुष्ठान के लिये ही छोटे-बड़े यज्ञों का विधान वेद में किया गया है। ग्रन्थों से केवल उन्हें जान लेने मात्र के लिये नहीं। पुस्तक की रचना होने के बाद लोगों ने उन कर्मों का अनुष्ठान किया, ऐसी कल्पना करना उचित न होगा बल्कि अनुष्ठान किये जाने वाले कर्मों का सङ्ग्रह पुस्तकरूप से किया गया, यह कल्पना करना समुचित होगा। इसी नियम को सभी शास्त्रों के सम्बन्ध में समझना चाहिए। जगत् की नित्यता सिद्ध करने वाले मीमांसकों का यही मार्ग हैं। इसी मार्ग पर श्री शबरस्वामी विचरण करते हैं। मीमांसा शास्त्र के अध्ययन करने पर स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि सूत्ररचना काल में यज्ञों का विस्तार कितना था। प्रत्येक अधिकरण में तत्संबंधित विषय वाक्य को सूत्र में अन्तर्हित हुआ हम देखते हैं। वे वाक्य प्रायः कर्म विधायक हैं। कर्मानुष्ठान के अवसर पर यदि कोई सन्देह उत्पन्न हो जाय तो उसके निर्णय के लिये ही मीमांसा-के न्याय प्रवृत्त हुए हैं। समय-समय

जैमिनिसूत्राणां पूर्वं समाजे कर्मणामनुष्ठानमेव नासीत् सत्यप्यनुष्ठाने तद्विपरीतमेवासीदित्युपपादनं दुष्करम् । 'यज्ञोपवीतिना कर्तव्यम्' 'दक्षिणाचारेण कर्तव्यम्' इत्यादिस्मृतीनामाविष्कारात्पूर्वं याज्ञिका एव नासन्, सत्स्वपि तेषु विनैव यज्ञोपवीतेन, दक्षिणं शयं परित्यज्य वामहस्तेन कर्माण्यनुष्ठीयन्ते स्मेति प्रसाधनं कठिनम् । अतो यज्ञानां विकास इत्यैतिहासिकदृशोपपादनं युक्तिविहीनम् ।

अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानीति त्रिविधानामेव यज्ञानां प्राचीनत्वं महाभारतश्लोकेनोपपादयति १०५ पृष्ठे । यज्ञानां स्वरूपनिरूपणाय न खलु व्यासाचार्येण महाभारतं लिखितम् । यज्ञस्वरूपाणामवगमाय ब्राह्मणानि श्रौतसूत्राणि कल्पा एवाद्रियन्ते, न तु पुराणानि । तत्राप्ययं श्लोकः किं प्रतिपादयति ? 'धीमतः' तस्य राज्ञो वान्यस्य वानुष्ठानविषयत्वेनाग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि चासन् । 'तेषु धर्मस्सनातनः' इत्ययमंशस्तेषां प्राचीनत्वप्रतिपादनाय न प्रवृत्तः, किन्तु सोऽनुष्ठाता इमान्येवानुतिष्ठन्नासीदिति बोधयितुं प्रवृत्तः । 'इन तीन यज्ञों को ही प्राचीन यज्ञ कहा है' इति लेखकस्य पंक्तिः । लेखकेनोद्धृते पद्ये त्रयाणां यज्ञत्वं न कीर्तितम् । पद्ये प्रयुक्तं धर्मपदं यज्ञपरं मत्वा लिखति । न खलु धर्मयज्ञशब्दौ पर्यायौ भवतः । मीमांसासिद्धान्तरीत्या याग-दान होम-द्रव्य-गुण-जातयो धर्मा भवन्ति । न हीमे यज्ञाः । लेखकवाक्ये 'यज्ञों को ही' इति 'ही' पदं व्यावर्तकं प्रयुक्तम्, न तूद्धृतपद्ये विद्यमानमेवपदमिममर्थं ब्रवीति 'धीमत इमान्येव कर्माण्यासन्' इति । न तु 'तेष्वेव धर्मः' इत्यन्वयः । यज्ञानां प्राचीनत्वमर्वाचीनत्वमिति विभागो हास्याय भवेत् ।

तस्मिन्नेव पृष्ठे 'प्रारम्भिक यज्ञों में सादगी तथा सात्त्विकता' इति शीर्षके प्रारम्भिकयज्ञानाम् अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्यानां 'सादगी' सामान्यरूपताम् सत्त्वगुणसम्पन्नताञ्चोपपादयति लेखकः । 'प्रारंभ में जिन यज्ञों की कल्पना की गई वे यज्ञ अत्यन्त सादे तथा सात्त्विक थे' इति पङ्क्तिः । अनयेदमवगम्यते—यदग्निहोत्रदर्शपूर्णमास-चातुर्मास्यानि सत्त्व-

पर हुई महर्षियों की तत्तद्गोष्ठियों में निर्णीत कियेगये ये न्याय हैं, उन्हीं न्यायों को जैमिनि ने सूत्रों में निबद्ध किया है । जैमिनि की सूत्ररचना के पूर्व समाज में कर्मानुष्ठान ही नहीं होता था, और यदि होता भी हो तो कुछ विपरीत ही होता होगा, यह कहना कठिन है । 'यज्ञोपवीतिना कर्तव्यम्' दक्षिणाचारेण कर्तव्यम् इत्यादि स्मृतियों के आविष्कार के पूर्व याज्ञिक ही नहीं थे, और यदि हों भी तो दाहिने हाथ के बजाय बाँये हाथ से ही कर्मानुष्ठान करते होंगे, यह सिद्ध करपाना बड़ा कठिन है । अतः ऐतिहासिकदृष्टि से यज्ञों के विकास का उपपादन करना युक्तिहीन है ।

पृ. १०५ पर लेखक महोदय ने महाभारत का श्लोक देकर अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य इन तीन प्रकार के यज्ञों की ही प्राचीनता बताने का विफल प्रयास किया है । लेखक को इतना तो सोचही लेना था कि व्यासाचार्य ने यज्ञों के स्वरूपनिरूपणार्थ महाभारत नहीं लिखा । यज्ञका स्वरूप जानने के लिये तो याज्ञिकलोग, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र कल्पादिग्रन्थों को ही देखा करते हैं, पुराणों को नहीं । फिर भी जिस श्लोक को उद्धृत कियागया है, वह क्या बता रहा है ? 'धीमतः' उस राजा या किसी अन्यव्यक्ति के अनुष्ठान का विषय अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, और चातुर्मास्य था । अर्थात् बुद्धिमान् राजा या अन्य व्यक्ति अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्ययाग किया करता था । 'तेषु धर्मः सनातनः' यह अंश, उनकी प्राचीनता को नहीं बता रहा है । अपितु 'वह अनुष्ठाता इन्हीं कर्मों का अनुष्ठान करता रहता था' यह बताने के लिये यहाँ दिया गया है ! 'इन तीन यज्ञों को ही प्राचीन यज्ञ कहा है' यह लेखक की पंक्ति है । लेखक के द्वारा उद्धृत किये गये पद्य में तीनों को यज्ञ नहीं कहा है । पद्य में प्रयुक्त धर्म पद को यज्ञ परक मानकर लेखक ने लिखा है । धर्म और यज्ञ शब्द दोनों पर्याय नहीं है । मीमांसा सिद्धान्त के अनुसार याग, दान, होम, द्रव्य, गुण, जाति को धर्म कहते हैं, ये यज्ञ तो नहीं हैं । लेखक के वाक्य में 'यज्ञों को ही' लिखा है, उसमें व्यावर्तक 'हि' पद का प्रयोग किया गया है । उद्धृत पद्य में विद्यमान 'एव' पद इस अर्थ को बता रहा है—'बुद्धिमान् के ये ही कर्म थे' इति । 'उन्हीं में (वे ही) धर्म' नहीं हैं—यह अन्वय है । यज्ञों का प्राचीनत्व, अर्वाचीनत्व विभाग करना उपहासास्पद है ।

उसी पृष्ठ पर 'प्रारम्भिकयज्ञों में सादगी तथा सात्त्विकता' इस शीर्षक में लेखक ने अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य इन प्रारम्भिकयज्ञों की सामान्यरूपता और सत्वगुणसम्पन्नता को बताया है । 'प्रारम्भ में जिन यज्ञों की कल्पना की गई, वे यज्ञ अत्यन्त सादे

गुणसम्पन्नानि सामान्यरूपाण्याडम्बररहितानि, एतदतिरिक्तानि च कर्माणि रजस्तमोगुणभूयिष्ठानि न साधारणरूपाणि आडम्बरसहितानीति। नहि भेरीपटहादिवाद्यवादनपुरस्सरं क्वचिदाडम्बरेण कर्माणि क्रियन्ते, नापि विविधस्यूतवस्त्रपरिधानेन कर्माण्यनुष्ठीयन्ते, न चापि संवादपत्रेषु कर्मणां रूपाणि प्रकाश्य साडम्बरं कर्माण्याचरन्ति। 'आडम्बर' इत्यस्य कोऽर्थः; ? किं विहिताङ्गानां यथावदनुष्ठानम् ? तत्तु कर्तव्यमेव । तत्राडम्बरस्य कः प्रसरः ? यथाग्निहोत्रादयः पूर्वोत्तराङ्गसहिता अनुष्ठीयन्ते, तथैव तदतिरिक्ता अपि क्रतवः। अङ्गानामनुष्ठाने विधिरेव खल्वस्माकमवलम्बः। तेषां विकासे सङ्कोचे वा न वयं स्वतन्त्राः। अनुष्ठानम् अननुष्ठानं वा विधिप्रयुक्तं भवति। एष मीमांसकानां पन्थाः। सत्त्वादयोगुणाश्चेतनसम्बद्धाः, न कर्मसम्बद्धाः। सात्त्विकाः प्राणिनो भवन्ति, न कर्माण्यचेतनानि भवन्ति। पशुद्रव्यसम्बन्धेन कर्मणां साडम्बरत्वम् तमोगुणसम्पन्नत्वञ्च न भवति। पशुद्रव्यसम्बन्धरहितानां कर्मणामनुष्ठानाय यः प्रयोजकः, स एव तत्सम्बद्धकर्मणामनुष्ठायापि। कर्मणो द्वे रूपे—द्रव्यं देवता च। उभयमपि विधिगम्यम्। विधिमतिक्रम्य विधिञ्चानादृत्य द्रव्यस्य देवताया वा ग्रहणं न याज्ञिकमीमांसकाः कुर्वन्ति। पशुद्रव्यसम्बन्धेन कर्मणस्तमोगुणयुक्तत्वकथनं लेखकस्यैवावैदिकत्वं ज्ञापयति। वैदिकत्वमवैदिकत्वं वा निर्णेतुं वेद एवावलम्बः। अवैदिकत्वेन परिगण्यमानः पशुः वैदिक एव। यस्मादेव प्रमाणादग्निहोत्रादयोऽनुष्ठेया इति निश्चीयते, तस्मादेव प्रमाणात्पशुद्रव्यसम्बद्धयागा अपि। नानाशाखासु लक्षशस्सोमयागा विहिता अनुष्ठेयत्वेन। तेष्वेकोऽपि सोमयागस्तादृशो न भवति यत्र पशुयागोऽङ्गं न भवति। मीमांसायां शतशोऽधिकरणानि सन्ति, यत्र पशुयागसम्बन्धिनः पदार्थाः परीक्षिताः। अनुष्ठानस्यैव रूपान्तरं श्रौतसूत्रं नाम। आपस्तम्बकात्यायनाश्वलायनादयो महर्षयः पशुयागानां स्वरूपं निरूपयन्ति स्वस्वसूत्रेषु। न हीमे जनसंग्रहाय द्रव्यप्राप्तये कीर्तिप्रसाराय वा प्रभूतान् ग्रन्थान् लिखितवन्तः। न हीमे समाजवञ्चकाः।

तथा सात्त्विक थे, यह लेखक की पङ्क्ति है। इस पङ्क्ति से यह बोध होता है कि अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य ये तीन सत्त्वगुणसम्पन्न और सामान्यरूप के तथा आडम्बररहित थे। इनके अतिरिक्त जो कर्म हैं, वे रजस्तमोगुण बहुल हैं, साधारणरूप के नहीं हैं और आडम्बर सहित हैं। क्या क़हीं भेरी, पटह आदि वाद्यों को बजाकर आडम्बर के साथ कर्म किये जाते हैं ? क्या कहीं विविध प्रकार से सिले कपड़ों को पहनकर कर्मानुष्ठान किये जाते हैं ? क्या संवाद पत्रों में (वृत्तपत्रों में) कर्मों के रूपको प्रकाशित कर बड़े आडम्बर के साथ कर्म किये जाते हैं ? 'आडम्बर' शब्द से क्या तात्पर्य है ? क्या विहित अङ्गों का यथावत् अनुष्ठान करना आडम्बर है ? अङ्गों का यथावत् अनुष्ठान करना तो क़र्तव्य ही है। उसमें आडम्बर का प्रश्न ही कहां है ? जैसे अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान पूर्वोत्तराङ्गसहित किया जाता है, वैसे ही तदतिरिक्त क्रतुओं का भी अनुष्ठान किया जाता है। विधि के आधार पर ही अङ्गों का अनुष्ठान याज्ञिकलोग करते हैं। उनके विकास या संकोच करने में याज्ञिक लोग स्वतन्त्र नहीं होते। अनुष्ठान या अननुष्ठान विधिप्रयुक्त हुआ करता है, यही मीमांसकों का मार्ग है। सत्त्वादि गुण तो चेतन से सम्बद्ध रहते हैं, कर्म से नहीं। सात्त्विक प्राणि हुआ करते हैं, अचेतन कर्म नहीं। पशुद्रव्य से सम्बन्धितहोने मात्र से ही कर्मों को आडम्बरपूर्ण या तमोगुण सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। पशुद्रव्य सम्बन्ध रहित कर्मों के अनुष्ठान में जो प्रयोजक (अनुष्ठापक) है, तत्सम्बद्ध कर्मों के अनुष्ठान में भी वही प्रयोजक है। द्रव्य और देवता ये दो रूप कर्म के हुआ करते हैं। वे दोनों ही विधिगम्य रहते हैं। विधिका उल्लङ्घन या अनादर करते द्रव्य या देवता का ग्रहण (स्वीकार) याज्ञिक—मीमांसकों के द्वारा कभी नहीं किया जाता। पशुद्रव्य का सम्बन्ध रहने मात्र से कर्म को तमोगुणयुक्त कहना लेखक की अवैदिकता को ही प्रकट कर रहा है। वैदिकता अथवा अवैदिकता का निर्णय वेद के आधार पर ही किया जाता है। अवैदिक समझा जाने वाला पशु वैदिक ही है। जिस प्रमाण के आधार पर—अग्निहोत्रादि कर्मों को अनुष्ठेय माना जाता है, उसी प्रमाण के आधार पर पशुद्रव्य सम्बद्ध यागों को भी अनुष्टेय कहा जाता है। नानाशाखाओं में लाखों सोमयाग अनुष्ठेयरूप में विहित हैं। उनमें एक भी सोमयाग ऐसा नहीं है, जिसमें पशुयाग का अंगत्वेन अंगरूप में विधान न हो। मीमांसा में शतशः अधिकरण ऐसे हैं, जिनमें पशुयाग सम्बन्धी पदार्थों का परीक्षण किया गया है। अनुष्ठान का ही रूपान्तर श्रौतसूत्र है। आपस्तम्ब, कात्यायन, आश्वलायनादि महर्षियों ने अपने अपने सूत्रों में पशुयागों के स्वरूप का निरूपण यथाविधि किया है। इन महर्षियों ने जनसङ्ग्रहार्थ या द्रव्यलाभार्थ अथवा यशकी पिपासा से नानाग्रन्थों की रचना नहीं की है। और ये समाजवञ्चक भी नहीं है।

यज्ञेषु बाह्याडम्बरविषये शतपथवाक्यं ''यज्ञो हि वा अनः'' इत्याद्युद्धृत्य लेखको यत्किञ्चिद्वदति तत्सर्वं प्रलापरूपम्। तन्मतेनेदं वाक्यं यज्ञेषूत्तरोत्तरं परिवर्तनबोधकम्. बाह्याडम्बरा भावप्रदर्शकञ्च। अत्रेयं स्थितिः—दर्शपूर्णमासयागे हविर्निर्वापार्थं गार्हपत्यस्य पश्चाद्भागे व्रीहिभिर्यवैर्वा पूरितं शकटमवस्थितं भवति। 'धूरसि धूर्व धूर्वन्तम्' इत्यादिमन्त्रेण दक्षिणां युगधुरमभिमृश्य 'त्वं देवानामसि' इत्यादि मन्त्रेण उत्तरामीषां स्पृष्ट्वा 'विष्णुस्त्वाऽऽक्रूंस्त' इति सव्ये चक्रे दक्षिणं पादं निक्षिप्य 'अह्रुतमसि' इत्यादिमन्त्रेणारुह्य 'उरू वाताय' इति धान्योपर्याच्छादितं कटमपसार्य 'मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रेक्षे' इति पुरोडाशार्थं ग्रहणयोग्यान् व्रीहीन् प्रेक्ष्य 'निरस्तंरक्षः' इत्यादिना मन्त्रेण पुरोडाशानर्हान् तृणान् तुषांश्च निरस्य 'उर्जाय वः पयो मयि धेहि' इत्यभिमन्त्र्य 'चित्तिः स्रुक्' 'चित्तमाज्यम्' इत्यादि दशहोतृमन्त्रान् जपित्वा पवित्रं शूर्पे निधाय, पवित्रवत्या वा अग्निहोत्रहवण्या चतुर्वारं हविषां निर्वापः कर्तव्यः। तत्र मुष्टित्रयं समन्त्रकं चतुर्थश्च तूष्णीं गृह्यत इति। अस्यां स्थितौ शतपथवाक्यं पश्यामः—'यज्ञो वा अनः। यज्ञो हि वा अनस्तस्मादनस एव यजूंषि सन्ति, न कौष्ठस्य न कुम्भ्यै भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति तद्वृषीन् प्रति भस्त्रायै यजूंष्यासुः तान्येतर्हि प्राक्तानि यज्ञाद्यज्ञं निर्ममा इति तस्मादनस एव गृह्णीयात्' (श० ब्रा० १.१.२,७), इति समग्रं ब्राह्मणम्। अत्र लेखको लोकान् वञ्चयितुं ब्राह्मणस्यान्तिमं 'यज्ञाद्यज्ञं निर्ममा इति तस्मादनस एव गृह्णीयात्' इति भागं न प्रदर्शितवान्। स्वप्रतिपाद्यविषयस्य यावान् भागोऽनुकूलस्तावन्मात्रस्य ग्रहणम् अवशिष्टस्य च परित्याग इति वञ्चकानां सरणिः। ब्राह्मणभागेऽनसो यज्ञरूपत्वमुपक्रम्योपसंहारे 'तस्मादनस एव गृह्णीयात्' कीर्तितम्। प्रथमं शकटाद्धविर्ग्रहणेऽनसो यज्ञरूपत्वं प्रतिपाद्य तस्माद्धविर्ग्रहणं कर्तव्यम्, तत्र हेतुः प्रतिपादितः—'अनस एव यजूंषि सन्ति' इति। अर्थात् 'धूरसि' इत्यादीनां यजुर्मन्त्राणां शकटसम्बन्धित्वमस्तीति। अत एव तैत्तिरीयशाखायां 'यथायजुरेव तत्' (तै० ब्रा० ३.२.४) इत्युक्तम्। अनन्तरं भस्त्राप्रसङ्गमुत्थाप्य तत्रयजुस्साङ्गत्यं प्रतिपाद्य 'तान्येतर्हि प्राक्तानि' इत्यंशेन भस्त्राया यज्ञसम्बन्धित्वाभावमुक्त्वा अनसो यज्ञरूपत्वात्तस्मा देव हविर्गृह्णीयादित्युपसंहारः कृतः। इयं स्थितिः शतपथ-

यज्ञों में बाह्याडम्बर बताने के लिये ''यज्ञो हि वा अन;'' इस शतपथ वाक्य को उद्धृतकर लेखक ने जो कुछ कहा है, वह सब प्रलापमात्र है। लेखक उक्त वाक्य को यज्ञगत-उत्तरोत्तर परिवर्तन का बोधक और बाह्य आडम्बर के अभाव का प्रदर्शक समझ रहा है। प्रस्तुत प्रसंग इस प्रकार है—दर्शपूर्णमास याग में हविर्निर्वाप करने के लिये गार्हपत्य के पश्चिम भाग में (पीछे) व्रीहि या यव से भरा एक शकट स्थित रहता है। 'धूरसि' मन्त्र से दक्षिण युगधुरा का स्पर्श करना होता है। ततः 'त्वं देवानामसि' मन्त्र से उत्तर ईषा का स्पर्श करते हैं। अनन्तर 'विष्णुस्त्वाऽऽक्रंस्तः इस मन्त्र से सव्य (वाम) चक्र पर दक्षिण पैर रखा जाता है। तब 'अह्रुतमसि' मन्त्र से उस पर चढ़ते हैं। पश्चात् 'उरुवाताय०' मन्त्र से धान्य पर आच्छादनार्थ डाली हुई चटाई को दूर करना होता है, तब 'मित्रस्यत्वा चक्षुषा प्रेक्षे' मन्त्र से पुरोडाशार्थ ग्रहण करने योग्य व्रीहियों को अपनी दृष्टि से देखता हैं तदनन्तर 'निरस्तल्रक्षः' इस मन्त्र से पुरोडाश के अयोग्य तृणों और तुषों को निरस्त किया जाता है। 'ऊर्जाय वः पयो मयि धेहि' इस मंत्र से अभिमन्त्रण किया जाता है, 'चित्तिः स्रुक्' 'चित्तमाज्यम्' इत्यादि दश होतृमन्त्रों का जपकर पवित्र को शूर्प में रखकर, पवित्रवती या अग्निहोत्र-हवणी से चार बार हवि का निर्वाप किया जाता है। निर्वाप करते समय तीन मुठ्ठियों को समन्त्रक और चौथी को तूष्णीं ग्रहण करते हैं। इतना होने पर शतपथवाक्य 'यज्ञो वा अनः' का विचार करें। ''यज्ञो हि वा अनस्तस्मादनस एव यजूंषि सन्ति, न कौष्ठस्य न कुम्भ्यै भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति तद्वृषीन् प्रतिभस्त्रायै यजूंष्यासुः तान्येतर्हि प्राक्तानि यज्ञाद्यज्ञं निर्ममा इति तस्मादनस एव गृह्णीयात्'' (श० ब्रा० १।१।२।७) यह सम्पूर्ण ब्राह्मण है। लेखक महोदय ने लोगों की वञ्चना करने के लिये ब्राह्मण के अन्तिम 'यज्ञाद् यज्ञं निर्ममा इति तस्मादनस एव गृह्णीयात्' भाग को प्रदर्शित नहीं किया। वञ्चकों की यही पद्धति होती है कि अपने प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल जितना भाग होता है, उतने को ही वे दिखाते हैं और अवशिष्ट भाग को छिपालेते हैं। ब्राह्मणभाग में शकट (अनस्) की यज्ञरूपता बताने का उपक्रम (आरंभ) कर उपसंहार में 'तस्मादनस एव गृह्णीयात्' कहा। शकट से हविर्ग्रहण कर्तव्य होने पर प्रथमतः शकट को यज्ञरूप बताया, और उस यज्ञरूप शकट से हविर्ग्रहण करने को कहा, उसमें हेतु यह है कि 'अनस एव यजूंषि सन्ति' शकट ही यजु होते हैं। अर्थात् 'धूरसि' इत्यादि यजुर्मन्त्र शकटसम्बन्धी हैं। अतएव तैत्तिरीयशाखा में 'यथा यजुरेव तत्' (तै० ब्रा० ३।२।४) कहा है। इसके अनन्तर भस्त्राप्रसंग को उठाया गया है, और उसमें यजु की संगति बताकर 'तान्येतर्हि प्राक्तानि' इस अंश से भस्त्रा में यज्ञसम्बन्धित्व का अभाव बताया गया है। एवंच अनस् (शकट) की यज्ञरूपता के कारण उसी

ब्राह्मणस्य । गार्हपत्यस्य पश्चादनोऽवस्थाप्य तस्माद्धविर्ग्रहणे आडम्बरो दोषः, भस्त्रातो हविर्ग्रहणे 'सादगी' साधारणरूपो गुण इति लेखकस्याभिप्रायः । 'तस्मादनस एव गृह्णीयात्' इत्युपसंहारभागस्य का गतिरिति न चिन्तितं लेखकेन । तस्य भागस्य प्रच्छादनेन परवञ्चनाप्रावीण्यं प्रदर्शितम् । 'तान्येतर्हि प्राकृतानि' इति भागस्यार्थस्तेन क्रियते—'इसलिए ये याजुषमन्त्र सामान्य हैं (कहीं पर भी इनका विनियोग हो सकता है) इति । 'एतर्हि' एवं सति 'तानि' यजूंषि 'प्राकृतानि' असम्बद्धानि भवेयुः, कुत इति चेत् 'यज्ञाद्यज्ञं निर्ममा इति' 'यज्ञो वा अनः' इत्यनसो यज्ञरूपत्वकथनाद्यज्ञाद्यज्ञस्य निर्माणं यतः, 'तस्मादनस एव गृह्णीयात्' इति सङ्गतिः । उपक्रमानुसारेणोपसंहारः कर्तव्य इति मीमांसान्यायः । उपक्रमेऽनसो यज्ञरूपत्वम् 'अनस एव यजूंषि सन्ति' यजुषामनोऽर्थप्रकाशकत्वञ्चाभिधायोपसंहारः क्रियते 'तस्मादनस एव गृह्णीयात्' इति । श्रुतेर्मातुः मीमांसाया भगिन्याश्च केशाः लेखकहस्ते संलग्नाः । स्वेच्छानुसारेण मातरं भगिनीञ्च कर्षतीव लेखकः । द्रौपद्याःकेशाकर्षणेन वस्त्राकर्षणेन च दुश्शासन इव मे प्रतिभाति युधिष्ठिरः । कथमन्यथा न वदेत् 'कहीं पर भी इनका विनियोग हो सकता है' इति श्रुत्या लिङ्गेन वाक्येन समाख्यया वा मन्त्राणां विनियोग इति मीमांसकमर्यादा । एभिः प्रमाणैर्मन्त्राणां विनियोगे स्थिते 'कहीं पर भी इनका विनियोग हो सकता है' इत्यनर्गलं प्रलपति ।

अनन्तरं 'याज्ञिक क्रियाओं में उत्तरोत्तर परिवर्तन हुआ है' इत्यारभ्य तत्र निरुक्तं प्रमाणयति—'असावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः' (७.२३) इति । वैश्वानरशब्दार्थप्रसङ्गे निरुक्तमिदम् । पूर्वे याज्ञिकास्साक्षात्कृतधर्माणः असौ पुरोदृश्यमान आदित्य एव वैश्वानर इति वदन्तीति निरुक्तस्यार्थः । चतुर्विंशखण्डे आदित्यस्य वैश्वानरत्वोपपादनाय 'यथो एतद्' 'यथो एतद्' इत्येवं पूर्वेषां याज्ञिकानां ब्राह्मणवाक्यानि प्रदर्श्य तस्य तस्य समाधानं कृतं निरुक्तकारेण । लेखकोक्तप्रकारेण याज्ञिकक्रियाणां परिवर्तनं भवतीतिनोक्तम् । केवलं वैश्वानरशब्दार्थविषये विवादः प्रदर्शितः । स्वोक्तस्य किमपिकिमपि प्रमाणं

से हविर्ग्रहण करना चाहिये, यह कह कर उपसंहार किया है, यह शतपथब्राह्मणोक्त प्रसंग इस प्रकार बताया गया । लेखक को गार्हपत्य के पृष्ठभाग में शकट को स्थापितकर उससे हविर्ग्रहण करने में आडम्बर दिखाई देता है और भस्त्रा से हविर्ग्रहण करने में 'सादगी' दिखाई देती है । किन्तु लेखक ने यह नहीं सोचा कि 'तस्मादनस एव गृह्णीयात्' इस उपसंहारभाग की क्या गति होगी ? इस उपसंहार भाग को छिपाकर अपनी परवञ्चनाकुशलता को ही लेखक ने प्रदर्शित किया है । 'तान्येतर्हि प्राकृतानि' इस अंश का अर्थ लेखक इस प्रकार करते हैं कि 'इसलिये ये याजुषमन्त्र सामान्य हैं (कहीं पर भी इनका विनियोग हो सकता है) । उपर्युक्त अंश का वास्तविक अर्थ इस प्रकार होगा— 'एतर्हि' ऐसा होने पर 'तानि' वे यजु 'प्राकृतानि' असम्बद्ध होंगे, क्योंकि 'यज्ञाद् यज्ञं निर्ममा' इति । 'यज्ञो वा अनः' से अनस् की यज्ञरूपता कथन करने के कारण जब कि यज्ञ से यज्ञ का निर्माण है, उस कारण शकट से ही हविर्ग्रहण करना चाहिये, 'तस्मादनस एव गृह्णीयात्' यह सङ्गति हो जाती हैं । 'उपक्रम के अनुसार उपसंहार करना होता है' यह मीमांसा का न्याय है । उपक्रम में अनस् की यज्ञरूपता और यजुओं की अनोऽर्थप्रकाशकता बताकर उपसंहार में 'तस्मादनस एव गृह्णीयात्' कहा गया है । द्रौपदी के केशाकर्षण और वस्त्राकर्षण करनेवाले दुःशासन के समान भगवती श्रुतिमाता तथा मीमांसाभगिनो की चोटी पकड़कर उन्हें मनमाने खींचा जा रहा हैं । माँ-बहिनों के स्वरूप को बिगाड़ने वाले लोग 'कहीं पर भी इनका विनियोग हो सकता हैं' इस प्रकार की कौन सी अन्यथा बात नहीं कह सकते ? विनियोग करने की एक मर्यादा मीमांसकों ने बताई है— कहीं श्रुति से तो कही लिङ्ग से, क्वचित् वाक्य से अन्यत्र समाख्या से मन्त्रों का विनियोग हुआ करता हैं मनमानें कहीं पर भी विनियोग तो मनचले लोग किया करते हैं ।

आगे चलकर 'याज्ञिक क्रियाओं में उत्तरोत्तर परिवर्तन हुआ है; यह लिखकर उसमें निरुक्त का प्रमाण लेखक ने दिया है — 'असावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः' (७।२३) इति । उक्त निरुक्तवाक्य को वैश्वानर शब्द का अर्थ बताने के प्रसंग में कहा गया है । निरुक्तकार ने बताया कि शब्द प्रमाण के द्वारा धर्म का साक्षात्कार करनेवाले याज्ञिकों ने सामने दिखाई देनेवाले इस आदित्य को ही 'वैश्वानर' शब्द से कहा हैं । 'चौबीसवें खण्ड में आदित्य के वैश्वानरत्व का उपपादन करने के लिये पूर्ववर्ती याज्ञिकों के 'यथो एतद्' 'यथो एतद्' ब्राह्मण वाक्यों को प्रदर्शित कर तत्तद् वाक्यों का समाधान निरुक्तकार ने किया है । लेखक के समान 'याज्ञिक क्रियाओं में परिवर्तन होता हैं' यह नहीं कहा । निरुक्तकार ने तो केवल वैश्वानर शब्द के अर्थविषयक विवाद को प्रदर्शित किया है । लेखक महोदय

प्रदर्शनीयम्, तदाकरनिर्देशः कर्तव्यः, येन च लोका मन्येरन्—अयं बहुश्रुत इति।

अनन्तरं यदेव शतपथब्राह्मणाद्वाक्यमुद्धृतं तस्य द्वितीयनिष्कर्षो लिखितः—'पुराकाल में यज्ञों में बाह्याडम्बर नहीं था' इत्यादि। यथायथमस्योत्तरं दत्तमेव। इदमत्राश्चर्यम्-शतपथवाक्यस्य भस्त्रांशः यज्ञेषु 'सादगी' साधारणरूपता-बोधकत्वेन ग्राह्यः, तत्पूर्वं तदुत्तरञ्च शकटसम्बन्धी अंशः आडम्बरबोधकत्वेनाग्राह्यः। कुक्कुटाण्डस्याधो भागः प्रसवाय, अर्धश्च भक्षणायेतिवल्लेखकस्य सरणिः। यज्ञेषु हविर्ग्रहणं शकटाद्वा भवतु भस्त्रातोवा। द्वयोरपि प्रमाणगम्यतावश्यिकी। यदग्राह्यं तद्गृह्णाति यच्चग्राह्यं तत्परित्यजतीति लेखकस्य गतिः।

पौर्णमासेष्टौ प्रधानयागानां त्रयाणां सम्पादनायैकैकस्य प्रधानस्य मुष्टिचतुष्टयक्रमेण द्वादशमुष्टिपरिमितानामेव द्रव्याणां निर्वापः कर्तव्यः, तदर्थं शकटस्य का आवश्यकता? यस्मात्कस्माच्चित् लघुसाधनाद् घटादेर्निर्वापः कर्तुं शक्यते, शकटोपस्थापनमाडम्बरद्योतकमित्यादि लिखति। नं प्रष्टुमिच्छामि—चतुर्मुष्टिपरिमिता व्रीहयो ग्राह्या इति भद्रपुरुषेण त्वया कथं ज्ञातमिति। यदि स्वेच्छयेति ब्रवीषि तर्हि चतुस्सङ्ख्यातो न्यूनाधिकसङ्ख्याया आपादने तन्निवारकसामग्री का तव वर्तते? यदेव प्रमाणं चतुर्मुष्टिनिर्वापावबोधकं तदेव शकटाद् हविर्ग्रहणस्यापि। तर्ह्याडम्बरस्य का कथा। आडम्बरपरित्यागाय वस्त्रमुत्तरीयञ्च परिहाय कौपीनं धृत्वा सञ्चरेत्युक्ते किमप्युत्तरं तवास्ति?

इदमत्र ज्ञातव्यम्—कर्माण्यैहिकफलकानि ऐहिकसंवलितामुष्मिकफलकानि, आमुष्मिकफलकानि च भवन्ति। तत्रैहिकफलकेषु ऐहिकसंवलितामुष्मिकफलकेषु च कर्मसु परिवर्तनं देशकालानुरोधेन किञ्चिदिव परिलक्ष्येत, आमुष्मिकफलकेषु

ने तो मन में यह ठान लिया है कि कुछ भी कहना और उसके औचित्य को किसी तरह सिद्ध करने के लिये कुछ भी प्रमाण दे देना, और आकर निर्देश कर देना, जिससे लाग समझें कि यह लेखक महोदय बड़े बहुश्रुत हैं। लेखक ने तो हिन्दी की इस उक्ति 'कहीं की ईट और कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबाजोड़ा; को सचमुच चरितार्थ करके दिखा दिया।

इसके बाद पुनः लेखक ने पहले उद्धृत किये हुए शतपथब्राह्मण बाक्य का ही निष्कर्ष भी लिखा है— 'पुराकाल में यज्ञों में वाह्याडम्बर नहीं था' इत्यादि। इसका यथार्थ उत्तर देही चुके हैं। यहाँ एक आश्चर्य की बात यह है कि शतपथवाक्यस्थ भस्त्रांश, यज्ञों की सादगी (साधारणरूपता) का बोधक समझना और उसके पूर्व तथा उसके उत्तर जो शकटसम्बन्धी अंश हैं, उसे आडम्बर बोधक समझना कहा है। जैसे कोई अण्डभक्षी व्यक्ति कहे कि कुक्कुण्टाण्ड का अर्धभाग प्रसव के लिये और अर्धभाग भक्षण के लिये है, ठीक उसी तरह लेखक की यह लेखनसरणि है। यज्ञेषु हविर्ग्रहण शकट से हो चाहे भस्त्रा से, दोनों में प्रमाणगम्यता तो आवश्यक ही है। किन्तु लेखक महोदय तो स्वबुद्धिविपर्यास के वशीभूत होकर जो अग्राह्य है, उसे तो ग्रहण कर रहे हैं और जो ग्राह्य है उसे त्याग रहे हैं। यही आश्चर्य है।

लेखक महोदय का कहना है कि पौर्णमासेष्टि में तीन प्रधान यागों के सम्पादनार्थ प्रत्येक प्रधान के लिये चार चार मुष्टिक्रम से बारह मुष्टिपरिमित द्रव्यों का ही निर्वाप कर्तव्य है। तव उसके लिये शकट की क्या आवश्यकता? जिस किसी साधनभूत छोटे घड़े से भी निर्वाप किया जा सकता है, उसके लिये शकट का उपस्थापन करना आडम्बर का ही द्योतक है।

लेखक महोदय से हम पूछना चाहते हैं—चतुर्मुष्टिपरिमित ही व्रीहि का ग्रहण करना आपने कैसे जाना? अपनी इच्छा से, यदि कहो तो चार से न्यून अथवा अधिकमुष्टिपरिमित व्रीहि का निर्माण क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर लेखक के पास कुछ नहीं है, अतः स्वीकार करना होगा कि चतुर्मुष्टिनिर्वाप का बोधन जिस प्रमाण से हुआ, वही प्रमाणशकट से हविर्ग्रहण करने के लिये बता रहा है ऐसी स्थिति में पाठक ही स्वयं विचार करलें कि इसमें आडम्बर की कौन सी बात है। यदि कोई लेखक से ही कह बैठे कि धोती, दुपट्टा, कुर्ता ये सब आडम्बर है, उस आडम्बर को हटाने के लिये इन वस्त्रों का परित्याग करो और कौपीन (लंगोटी) धारण कर घूमा करो, तो लेखक के पास क्या उत्तर होगा?

यहाँ पर ज्ञातव्य है—कतिपय कर्म, ऐहिकफलक होते हैं, और कुछ कर्म, ऐहिक-आमुष्मिकफलक तथा कुछ कर्म आमुष्मिक फलक ही होते हैं। उनमें से ऐहिकफलक और ऐहिकामुष्मिकफलक कर्मों में देश-कालानुरोधेन किञ्चिन्मात्र परिवर्तन देखा जा सकता

तेषु किमपि परिवर्तनं नाभूदिति वक्तुं शक्यते। तत्रापि श्रौतकर्मसु सर्वेषु परिवर्तनस्य प्रसङ्ग एव नास्ति। हविश्शकटविषये सोमयागमण्डपविषये च यदुक्तं पृष्ठे १०६ तत्रदेमुच्यते—नात्र पदार्थानां परिवर्तनम्, त एव शकटमन्त्रा अधुनापि जप्यन्ते, त एव च मण्डपनिर्माणप्रकाराः, किन्तु प्रयोगे कियानिव भेदः परिलक्ष्यते, सोऽपि सकारणकः। 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्यादिविधिभिः यावज्जोवं कर्तव्यत्वेन विहितानामग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां सायंप्रातःकालयोः पर्वणि चानुष्ठानं भवति। नात्र पदार्थानां परिवर्तनं भवति। किन्तु सकारणकः प्रयोगः सायंप्रातःकालावच्छिन्नः पर्वकालावच्छिन्नश्च सङ्कोच्यते। तथैव प्रत्यक्षं धान्यपूरितं शकटमवस्थाप्य हविर्ग्रहणाभावेऽपि यथाविधिपदार्था अनुष्ठीयन्त एव, तथैव मण्डपनिर्माणेऽपि। तत्काले यदि मण्डपनिर्माणाय यजमानः प्रवर्तेत तर्हि प्रयोगसमवेतं कालमतिक्रामेत्। अतः प्रथमं मण्डपं निर्माय तत्स्पर्शनमनुष्ठीयते। अत्र पदार्थपरिवर्तनस्य कः प्रसङ्गः। देशकालयोर्भेदेन तदवच्छिन्नपदार्थानां परिवर्तनमिव लक्ष्यते। 'पूर्वाह्णो वै देवानाम् अपराह्णः पितॄणाम्' इति विध्यनुसारेण पूर्वाह्णादिकालसंग्रहाय प्रयोगस्य क्वचिद्भेदः परिदृश्यते। न तावता परिवर्तनमापादयितुं शक्यम्।

तदनन्तरं 'श्रौतयागों में पुत्री के प्रति हीन भावना के निदर्शक वचन पठित हैं, जिन्हें यजमान प्रयाजसंज्ञक याग के पश्चात् आशीः के रूप में पढ़ता है' इति लिखति। उद्देशत्यागानन्तरं तत्तद्यागमनु यजमानेन पठ्यमानोमन्त्रः अनुमन्त्रण मन्त्र इति कथ्यते न त्वाशीर्मन्त्रः। तत्र पञ्चानामपि प्रयाजानां पञ्चानुमन्त्रणमन्त्रास्सन्ति—'एको ममैका तस्य, यश्च नो द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः, द्वौ मम द्वे तस्य, यश्च नो द्वेष्टि, त्रयो मम तिस्रस्तस्य, यश्च नो द्वेष्टि, चत्वारो मम चतस्रस्तस्य, यश्च नो द्वेष्टि, पञ्च मम न तस्य किञ्चन' इति मन्त्राणामाकाराः। अत्र लेखको दोषमुद्भावयति—यत् श्रौतयज्ञेषु पुत्रीणां विषये हीन-

है, किन्तु आमुष्मिकफलक कर्मों में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है। तत्रापि किन्हीं भी श्रौतकर्मों में परिवर्तन का तो कोई प्रसंग ही नहीं है।

पृ० १०६ पर हविश्शकट के विषय में और सोमयाग के मण्डप के विषय में जो लिखा है, उसका उत्तर तो यह है—यहाँ पदार्थों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, वे ही शकटमन्त्र, जो पहले कहे जाते थे, उन्हीं को आज भी कहते हैं। मण्डप-निर्माण का प्रकार जो पहले था, उसी को आज भी किया जाता है। यद्यपि प्रयोग में किञ्चिन्मात्र भेद लक्षित हो सकता है तथापि वह, सकारणक है, निष्कारण नहीं है। 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्यादि विधियों से यावत् जीवन कर्तव्यरूप से विहित अग्निहोत्र- दर्शपूर्णमासादिकर्मों का सायं प्रातःकाल में और पर्व में अनुष्ठान किया जाता है। यहाँ पदार्थों का कोई परिवर्तन नहीं किया जाता। किन्तु सायं-प्रातःकाल में, और पर्वकाल में उक्त कर्मों का सकारण संकोचमात्र किया जाता है। उसी तरह हविर्ग्रहण के अभाव में भी धान्य से पूर्ण प्रत्यक्ष शकट को वहाँ स्थापित कर पदार्थों का यथाविधि अनुष्ठान तो किया ही जाता है। उसी तरह मण्डप-निर्माण में भी। यह संकोच इसलिये किया जाता है कि यदि उसी समय यजमान मण्डप-निर्माण कराने में लग जाय तो प्रयोगसमवेत (अनुष्ठान से सम्बन्धित) काल का उल्लङ्घन हो जायगा। अतः प्रथमतः मण्डप का निर्माण कराकर अनुष्ठान के समय उससे केवल स्पर्श किया जाता है। इसमें पदार्थ-परिवर्तन का प्रसंग ही क्या है? देश-काल के भिन्न होने से तदवच्छिन्न (देश-काल से सम्बन्धित) पदार्थों में परिवर्तन सा लक्षित होता है। 'पूर्वाह्णो वै देवानाम्' 'अपराह्णः पितॄणाम्' इस विधि के अनुसार पूर्वाह्णादिकाल के सङ्ग्रहार्थ प्रयोग में क्वचिद् भेद दिखाई देता है। उतने मात्रा से उसे परिवर्तन कहना उचित नहीं है।

तदनन्तर लेखक ने लिखा है– 'श्रौतयागों में पुत्री के प्रति हीनभावना के निदर्शक वचन पठित हैं, जिन्हें यजमान प्रयाजसंज्ञक याग के पश्चात् आशीः के रूप में पढ़ता है' इति। उद्देशत्याग के अनन्तर तत्तद्याग के बाद यजमान के द्वारा पढ़े जाने वाले मन्त्र को अनुमन्त्रण मन्त्र कहते हैं, वह आशीर्मन्त्र नहीं है। वहाँ पर पाँचों प्रयाजों के पाँच अनुमन्त्रण मन्त्र हैं—"एको मम एका तस्य; यश्च नो द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः। द्वौ मम द्वे तस्य; यश्च नो द्वेष्टि। त्रयो मम तिस्त्रस्तस्य; यश्च नो द्वेष्टि। चत्वारो मम चतस्त्रस्तस्य; यश्च नो द्वेष्टि। पञ्च मम न तस्य किञ्चन"। ये मन्त्रों के आकार हैं। इन मन्त्रों को देखकर लेखक महोदय ने कल्पना की है—'श्रौत यज्ञों में पुत्रियों के विषय में (कन्याओं के प्रति) हीनभावना के प्रकाशक मन्त्र पढ़े जाते हैं। वस्तुतः इस प्रकार के पुत्र-पुत्री के

भावनाप्रकाशका मन्त्राः पठ्यन्ते। पुत्राणां पुत्रीणाञ्च विषये भेदभावजनकाः प्राचीनकाले नासन्, अर्वाचीनकाल एवाभवन्। अस्य च भेदभावस्य परिणामोऽद्यतनेष्वनुभूयते-यद् जातमात्रायाः पुत्र्या हननं क्रियत इति। वक्रतायामप्रतिहता गतिर्लेखकस्य। मन्त्रे सङ्ख्यावाचकशब्देषु एकः एका, द्वौ द्वे एवं पुंलिङ्गस्त्रीलिङ्गवाचकाः प्रत्ययास्सन्ति। तत्र पुंलिङ्गवाचकैश्शब्दैः पुत्रा उच्यन्ते स्त्रीलिङ्गवाचकैश्च तैः पुत्र्य उच्यन्ते। अत्र पुंलिङ्गशब्दैर्वृक्षा उच्यन्ताम्, स्त्रीलिङ्गशब्दैश्च लता- उच्यन्ताम् इति प्रश्ने कृते किमप्युत्तरमस्ति लेखकस्य। मन्त्रेषु पुत्रः पुत्री वा नोक्तः, पुंस्त्वस्त्रीत्वपरिचायकप्रत्ययमात्रं वयं पश्यामः। तत्र पुत्रपुत्र्योरेवग्रहणं कर्तव्यमिति न निर्बन्धः। संख्यावाचकशब्देषु चतुश्शब्दपर्यन्तमेव लिङ्गद्वये भिन्नरूपाणि भवन्ति, पञ्चप्रभृतिषु शब्देषूभयत्र समानं रूपमिति प्रदर्शयितुं मन्त्रा इमे सन्तीति कथने को दोषः ? अत एव शतपथब्राह्मण- इयमाख्यायिका—असुरराक्षसैस्सह देवा अस्त्रैश्शस्त्रैश्च युद्धं कुर्वन्तः पराजयमवाप्य सम्भूय निश्चितवन्तः यद् वाग्युद्धं कुर्म इति। तादृशाश्शब्दा उच्चारणीयाः यैश्च मिथुनभावः प्रतीयेत इति समयं विधाय प्रथममिन्द्रं व्याहर्तुं प्रवर्तितवन्तः। स आह- एको ममेति। इतरे च एका ममेति। द्वौ मम द्वेमम, त्रयो मम तिस्रो मम, चत्वारो मम चतस्रो ममेति क्रमेणोक्ते इन्द्रः पञ्च- ममेत्युक्तवान् इतरेऽपि पञ्च ममेत्युक्तवन्तः। अनेन वाग्युद्धेन पराजिता असुरराक्षसा इति। अस्तु ! एकः एका इत्यादिशब्दैः पुत्रः पुत्री च गृह्यत इति। तत्र पुत्र्या हीनभावः कथमुन्नीयते ? अहं पुत्रं कामये न कन्याम्। अपरः कन्यां कामयते न पुत्रम्। एतावता मन्त्रोऽयं समाजे पुत्रीविषयं हीनभावं जनयतीति कथं साध्यते ? किञ्च युधिष्ठिर एकोऽजातशत्रुः, अन्ये सर्वे जात- शत्रवः। शत्रूणां हानिर्भवत्विति कामना नासमीचीना। तेन पुत्र्यां हीनभावोऽनेन बोध्यत इति कथनं कथं सङ्गच्छताम्। अजातशत्रुरेव युधिष्ठिरो लेखकः श्रुतिं मातरं भगिनीञ्च मीमांसां केशेषु गृहीत्वा कर्षति यदा, तदा पुत्र्यां हीनभावो नानुचितः।

भेद का प्रादुर्भाव वहुत उत्तरकाल में हुआ, यह भेद-भाव प्राचीन काल में नहीं था। इस भेद-भाव की परिणति उत्तरकाल में सद्यः उत्पन्न कन्या (पुत्री) की हत्या में हुई'। किन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है। श्रौतयज्ञों का ज्ञान न होने से लेखक ने इस प्रकार लिखा है। मन्त्र के संख्यावाचक शब्दों में 'एकः एका, द्वौ-द्वे' इस प्रकार पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग वाचक प्रत्यय हैं। उनमें से पुंलिङ्ग वाचक शब्दों से पुत्र बताये गये हैं और स्त्रीलिंग वाचक शब्दों से पुत्रियाँ बताई गई हैं। इसी प्रसंग में यदि लेखक से पूछा जाय कि यहाँ पर पुंल्लिङ्ग शब्दों से वृक्ष क्यों नहीं कहे जाते, और स्त्रीलिङ्ग शब्दों से लताएँ क्यों नहीं कहीं जातीं ? तो लेखक के पास क्या कोई उत्तर होगा ? मन्त्रों में पुत्र या पुत्री तो कही नहीं है, पुँस्त्व, स्त्रीत्व के परिचायक प्रत्ययमात्र को हम देख रहे हैं हैं। वहाँ पर पुत्र-पुत्री का ही ग्रहण किया जाय ऐसा कोई निबन्ध तो है नहीं। संख्यावाचक शब्दों में चतुःशब्द तक ही दो लिंगों के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। पञ्च से लेकर आगे के शब्दों में दोनों लिंगों के रूप समान होते हैं, यह बताने के लिये 'मन्त्रा इमे सन्ति' इस प्रकार कहने में क्या दोष है ? अतएव शतपथ ब्राह्मण में यह आख्यायिका है– असुर-राक्षसों के साथ देवताओं ने अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा जब युद्ध किया और देव पराजित हुए, तब सबने मिलकर निश्चय किया कि अब इनके साथ वाग्युद्ध करें। ऐसे शब्दों का उच्चारण किया जाय कि जिनसे मिथुनीभाव प्रतीत हो, ऐसी मन्त्रणा (समय) करके उन्होंने प्रथमतः इन्द्र से कहना प्रारम्भ किया। देवों में से एक ने कहा– 'एको मम', औरों ने कहा– 'एका मम। एक ने कहा– 'द्वौ मम' तब औरों ने कहा– 'द्वे मम'। इसी प्रकार 'त्रयो मम', 'तिस्रो मम' 'चत्वारो मम', 'चतस्रो मम' इस प्रकार क्रमशः कहने पर इन्द्र ने 'पञ्च मम' कहा। तब औरों ने भी 'पञ्च मम' कहा। इस प्रकार के वाग्युद्ध से असुर-राक्षस पराजित हुए। अस्तु ! एकः, एका इत्यादि शब्दों से पुत्र और पुत्री का भी यदि ग्रहण किया जाय तो भी पुत्री के प्रति आपकी हीनभाव की कल्पना क्योंकर हुई ? मैं पुत्र चाहता हूँ, कन्या नहीं, अन्य व्यक्ति कन्या चाहता है, पुत्र नहीं। इतनी इच्छा करने मात्र से यह मन्त्र समाज में पुत्री के प्रति हीनभाव को पैदा करता है, यह कहाँ सिद्ध हो रहा है ? किञ्च युधिष्ठिर एक अजात शत्रु है, बाकीके सभी जातशत्रु हैं। शत्रुओं की हानि हो, यह इच्छा करना तो असमीचीन नहीं है। 'इससे पुत्री के प्रति हीनभाव का बोधन हो रहा है', यह कथन कहाँ संगत हो रहा है ? धर्मराज युधिष्ठिर तो अजातशत्रु ही हैं, किन्तु लेखकमात्र भगवती श्रुतिमाता की और मीमांसा भगिनी की चोटी पकड़ कर जब खींचता है, तब पुत्री के प्रति हीनभाव की कल्पना उसे अनुचित प्रतीत नहीं होती ?

पश्वालम्भविषये १७७ पृष्ठे चरकस्य प्रमाणमुद्धृत्य पश्वालम्भो न कर्तव्यः; पशुयागाः प्राचीनकाले नाक्रियन्त, अधुनैव ते श्रौतयागेषु प्रवेशिता इत्यादिकं लिखितं लेखकेन। लेखकः–अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यानां सात्त्विकत्वमनुष्ठेयत्वञ्च स्वीकरोति। तं यदि कश्चन पृच्छेत्-अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनामनुष्ठेयत्वेन चरके न कीर्तितम्, तर्हि कथं तेषामनुष्ठेयत्वमङ्गीकरोषि इति। लेखकोऽत्र किमुत्तरं दद्यात्? विधिनिषेधयोस्स्वरूपं किञ्चिदिवावगन्तव्यं लेखकेन—विधयः प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारमभिदधतः पुरुषान् इष्टसाधनीभूते कर्मणि प्रवर्त्तयन्ति। निषेधाश्चानिवर्तनामभिदधतः पुरुषान् अनिष्टसाधनीभूतात्कर्मणो निवर्त्तयन्तीति स्थितिः। तत्र निषेधवाक्येषु नञो लक्षणया निवर्तनार्थकत्वम्, धात्वर्थस्य च तत्र तात्पर्यग्राहकता। तेन निषेध्यस्यानर्थहेतुत्वाक्षेपद्वारा पुरुषनिवर्तकत्वेन तेषामर्थवत्वम्। यथा 'नानृतं वदेत्। 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि। अत्र नञर्थस्य प्रत्ययार्थशब्दभावनायामन्वयः।

अत्र प्रत्ययार्थशब्दभावनायामन्वये 'तस्य व्रतम्' इति बाधकं भवति तत्र 'नेक्षेतोद्यन्तम्' इत्यादौ पर्युदासः-ईक्षणभिन्नस्सङ्कल्पः कर्तव्य इति।

यत्र तथान्वये विकल्पप्रसक्तिर्बाधिका 'नानूयाजेषु' इत्यत्र तत्रापि पर्युदासः–अनूयाजव्यतिरिक्तेषु 'ये यजामहः' कर्तव्य इति।

विकल्पप्रसक्तावपि यत्र क्रत्वर्थविधिनिषेधयोः पर्युदासस्यासम्भवः तत्र 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यादौ विकल्प एव। यथा ग्रहणस्य क्रतूपकारकत्वं तथा ग्रहणाभावस्यापि।

यत्र प्राप्ती रागतः निषेधश्च पुरुषार्थतया तत्र 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादौ न विकल्पः किन्तुप्रतिषेध एव।

यत्र पुरुषार्थतया शास्त्रतः प्राप्तिः निषेधश्च शास्त्रतः क्रत्वर्थतया तत्र 'दीक्षितो न ददाति न पचति' इत्यादौ न विकल्पः प्रतिषेधएव। निषेध्यानुष्ठाने तु क्रतोर्वैगुण्यम्।

पृ० १०७ पर लेखक ने पश्वालंभ के विषय में चरक के प्रमाण का उद्धरण देकर 'पश्वालम्भ नहीं करना चाहिये, पशुयागों का अनुष्ठान—प्राचीन काल में नहीं किया जाता था। अर्वाचीनकाल में ही श्रौतयागों में उनका सन्निवेश किया गया है', इत्यादि प्रलाप किया है। लेखक ने अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य यागों की सात्त्विकता और अनुष्ठेयता को स्वीकार किया है, किन्तु यदि कोई उससे पूछ बैठे कि चरकने अपने ग्रन्थ में कहीं भी अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि यागों की अनुष्ठेयता तो बताई नहीं है, तब उनकी अनुष्ठेयता को तुम कैसे स्वीकार कर रहे हो? इस प्रश्न पर लेखक महोदय क्या उत्तर दे पायेंगे? पहले तो विधि-निषेध के स्वरूप को लेखक महोदय थोड़ा सा समझ लें। विधियाँ प्रवृत्त्यनुकूलव्यापार को बताने वाले पुरुषों को इष्टसाधनीभूत कर्म में प्रेरित करती हैं, और निषेध निवर्तना बताने वाले पुरुषों को अनिष्टसाधनीभूत कर्म से निवृत्त (मना-रोकते) हैं। निषेध वाक्यों में लक्षणया 'नञ्' निवर्तनार्थक कहा जाता है, और धात्वर्थ में तात्पर्यग्राहकता रहती है। उस कारण निषेध्यवस्तु में अनर्थहेतुत्व का आक्षेप करते हुए पुरुषनिवर्तकत्वेन निषेधों की अर्थवत्ता (सप्रयोजनता) मानी गई है। यथा—'नाऽनृतं वदेत्', 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि। यहाँ पर नञर्थ का प्रत्ययार्थ शब्द भावना में अन्वय होता है।

जहाँ पर प्रत्ययार्थ शाब्दभावना में नञर्थ का अन्वय करने में 'तस्यव्रतम्' बाधक होता है, ऐसे 'नेक्षेतोद्यन्तम्' इत्यादि स्थलों में पर्युदास माना जाता है। अर्थात् 'ईक्षणभिन्नः सङ्कल्पः कर्तव्यः' इति। और जहाँ नञर्थ का प्रत्ययार्थ शाब्दभावना के साथ अन्वय करने में विकल्प प्रसक्ति बाधिका होती है; जैसे 'नानूयाजेषु' में, वहाँ पर भी पर्युदास माना जाता है। अर्थात् अनूयाजव्यतिरिक्तेषु ये यजामहः कर्तव्यः इति। विकल्पप्रसक्ति में भी जहाँ क्रत्वर्थविधि-निषेधों में पर्युदास का संभव न होता हो, जैसे 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यादिस्थलों में विकल्प ही माना जाता है। जैसे ग्रहण, क्रतूपकारक हैं, वैसे ही ग्रहणाभाव भी क्रतूपकारक होता है। जहाँ रागतः प्राप्ति रहती है और निषेध, पुरुषार्थ रहता है, जैसे 'न कलञ्जं भक्षयेत्' आदि स्थलों में विकल्प न मान कर—प्रतिषेध ही माना जाता है। जहाँ पर शास्त्र से पुरुषार्थतया प्राप्ति है और शास्त्र से ही निषेध, क्रत्वर्थतया प्राप्त है, वहाँ पर जैसे 'दीक्षितो न ददाति न पचति' आदि स्थलों में विकल्प न मानकर प्रतिषेध ही माना जाता है। क्योंकि निषेध्य का अनुष्ठान करने पर क्रतु में वैगुण्य

यत्र रागतः प्राप्तिः निषेधश्च कत्वर्थः तत्र 'न स्त्रियमुपेयात्' इत्यादौ निषेधातिक्रमे क्रतोर्वैगुण्यं पुरुषस्य न प्रत्यवायः।

यत्र रागतः प्राप्तिः निषेधश्च पुरुषार्थतया तत्र क्रतुमध्ये निषेधातिक्रमे सति क्रतोर्न वैगुण्यम्, यथाचोदितस्य क्रतोरनुष्ठानात्। पुरुषः परं प्रत्यवैति, यथा 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इति।

यत्र शास्त्रतः क्रत्वर्थतया प्राप्तिः निषेधश्च पुरुषार्थस्तत्र तस्य तदतिरिक्तविषयत्वम्। यथा 'नहिंस्यात्सर्वभूतानि'।

विधीनां निषेधानाञ्च क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वव्यवस्था चतुर्थाध्याये जैमिनिना कृता। तदिदं सर्वं समवलोक्य विधिनिषेधानां समन्वयः कर्तव्यो भवति। निषेधाः प्राप्तिमपेक्षन्त इत्यविवादम्। प्राप्तिश्च किं रागतः उत शास्त्रतः? अथवा क्रत्वर्थतया? आहोस्वित्पुरुषार्थतया? इत्यपि चिन्तनीयम्। सर्वत्र कल्पेषु सुमहद्वैलक्षण्यमस्ति। तत्र पशुयागाः स्वतन्त्रफलका अपि सन्ति केचन, अपरे चाङ्गभूताः क्रतुफलाः। क्वचन सङ्कोचः, क्वचिद्विकासः, कुत्रचिदुपसंहार इति विविधा गतिरस्ति। चरके सुश्रुतेवा निषेधा वर्तेरन्, तेषां श्रौतयज्ञानाञ्च कस्सम्बन्धः? दयानन्देन निषेधः क्रियत इति चेत्करोतु सः, तस्य शाबरभाष्यस्य च कस्सम्बन्धः? बौद्धत्रिपिटकस्य श्रौतयागैस्सह कस्सम्बन्धः? विना सम्बन्धेन निषेधा न प्रवर्तेरन्निति यथाजातोऽपि जानीयात्। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां 'तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादिविषयप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्यः' इत्यत्र अहो! 'तदुक्तोऽपि' इति कथयन् दयानन्दो महदौदार्यं प्रकटीकरोतीव (पृ० ३८८)। स एवान्यत्र लिखति—'एतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डादिविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र (=वेदभाष्ये) विस्तरशो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्' (ऋ० भा० भू० प्रतिज्ञाविषय पृष्ठ ३८८; शा० भा० भू० पृ० १०८) इति। किं नेदं वचनद्वयं मिथो विरुद्धार्थप्रतिपादकम्?

प्राप्त होता है। जहाँ पर रागतः प्राप्ति है और निषेध क्रत्वर्थ है, जैसे 'न स्त्रियमुपेयात्' आदि स्थलों में क्रत्वर्थनिषेध ही माना जायगा, निषेध का अतिक्रमण करने पर पुरुष को कोई प्रत्यवाय न होने पर क्रतु में वैगुण्य अवश्य होगा। जहाँ पर रागतः प्राप्ति हो और पुरुषार्थतया निषेध हो, ऐसे स्थल पर क्रतु में निषेधातिक्रमण करने पर भी क्रतु में कोई वैगुण्य नहीं होगा, क्योंकि यथाविहित क्रत्वनुष्ठान उसने किया है, तथापि पुरुष, प्रत्यवाय का भागी अवश्य होगा, जैसे—'न कलञ्जं भक्षयेत्' यह पुरुषार्थनिषेध है, क्रत्वर्थ नहीं। जहाँ पर शास्त्र से क्रत्वर्थतया प्राप्ति है, और निषेध, पुरुषार्थतया प्राप्त है, वहाँ पर उस निषेध को तदतिरिक्तविषयपरक माना जाता है, जैसे—'न हिंस्यात् सर्वभूतानि'। यह पुरुषार्थनिषेध क्रत्वतिरिक्त स्थल पर लागू होगा।

विधि और निषेध की क्रत्वर्थ पुरुषार्थव्यवस्था को जैमिनिने चतुर्थाध्याय में बताया है। इस क्रत्वर्थपुरुषार्थ विचार को अच्छी तरह समझकर विधि-निषेधों का समन्वय किया जाता है। इतना तो निर्विवाद है कि निषेध सर्वदा ही प्राप्ति की अपेक्षा रखता है। तथापि यह सोचना-विचारना पड़ता है कि यहाँ पर रागतः प्राप्ति है 'या शास्त्रतः प्राप्ति है? अथवा क्रत्वर्थतया प्राप्ति है? किंवा पुरुषार्थतया प्राप्ति है? सभी पक्षों में विलक्षणता है। कुछ पशुयाग स्वतन्त्र फल वाले हैं। कुछ अंगभूत पशुयाग हैं, जिनका अपना स्वतन्त्र फल न होकर क्रतु (अंगी) के फल से ही वे फलवान् समझे जाते हैं। किसी में संकोच है तो किसी में विकास है, कहीं उपसंहार है, इस प्रकार अनेक प्रकार के मार्ग हैं। चरक या सुश्रुत में निषेध भी हो सकते हैं। किन्तु उनका श्रौतयज्ञों से क्या सम्बन्ध है? स्वामी दयानन्द निषेध करते हैं, भले ही करते रहें। उसका शाबरभाष्य से क्या सम्बन्ध है? बौद्धत्रिपिटक का श्रौतयाग से क्या सम्बन्ध है? विना किसी सम्बन्ध के निषेध लागू नहीं होता, इतनी बात तो एक बालक भी जानता है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में 'तस्माद्युक्तिसिद्धो विषयप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्यः'—इसलिये युक्ति से सिद्ध वेदादि प्रमाणों के अनुकूल और मन्त्रार्थ का अनुसरण करने वाला उन (शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्र-पूर्वमीमांसा) में कहा गया विनियोग ग्रहण करने योग्य है।' इन पङ्क्तियों में 'तदुक्तोऽपि' कहकर दयानन्द तो बड़ी उदारता प्रकट करते हुए से प्रतीत हो रहे हैं, पृष्ठ ३८८। उसी पृष्ठ पर उन्होंने और भी लिखा है कि 'एतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डादिविनियोजितैर्यत्रयत्राग्निहोत्राश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र (=वेदभाष्ये) विस्तरशो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मण-पूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थंविनियोजितत्वात्' (ऋ० भा० भू० प्रतिज्ञाविषय पृष्ठ ३८८, शा० भा० भू० पृ० १०८) इति। क्या ये दोनों वचन परस्पर विरुद्धार्थ प्रतिपादक नहीं हैं? इन दोनों

तदिदं वचनद्वयं लेखकोऽपि प्रमाणयति । एक एव ग्रन्थो यथार्थं विनियोजकः, अयथार्थश्च विनियोजक इति कथनं किं न विरुद्धम् ? ग्रन्थस्य योंऽशः स्वपक्षप्रतिकूलः स प्रक्षिप्तः, यश्च साधकस्स समीचीन इति कोऽयं न्यायः ? सर्व एव ब्राह्मणसन्दर्भः कर्मकाण्डप्रतिपादकः, स च संहितागतानां मन्त्राणां कार्यं प्रतिपादयति । विना ब्राह्मणभागेन केवलं मन्त्रार्थावगतिमात्रेण कार्यं निश्चेतुं न शक्यते । महर्षीणां विशिष्टमननव्यापारप्रसूता भवन्ति मन्त्राः, तेषां यथायथं विनियोगाय तैरेव महर्षिभिस्सम्प्रदायतोऽधिगता ब्राह्मणभागाः । मन्त्रब्राह्मणयोर्मिथो नियतस्सम्बन्धः । उभयोरप्यध्ययनाध्यापनपारम्पर्यं चिरात्प्राप्तम् । एवं स्थिते पाशुकमन्त्रास्संहिताभागे पाशुकब्राह्मणानि ब्राह्मणभागे केनापि समायोजितानि, अतएवेमान्यवैदिकानि तमोगुणयुक्तानि चेति कथनं कथं युक्तियुक्तं भवेत् ? वादनक्षत्रमालायां श्रीमदप्पय्यदीक्षितेन्द्रैः हिंसातत्त्वविषये विशेषतः परिशीलनं कृतम् । मीमांसानिकेतनस्य स्तम्भभूतैर्भट्टपादैरस्मिन्विषये भूयान् विचारः कृतः । क्वचिच्चरके सुश्रुते च पशुहिंसाया निन्दा, क्वचिच्च मन्त्रेषु तन्निन्दोल्लेखः कृत इति भूयसो ब्राह्मणभागस्य तन्मूलकश्रौतसूत्राणां कल्पानाञ्च तदवलम्ब्य कृतस्य विचारस्य चाप्रामाण्यम् अथवा प्रक्षिप्तत्वकथनं लेखकस्य दुराग्रहमूलकमित्यत्र कस्सन्देहः ? तत्रापि किं कर्तुमहं प्रवृत्तवानिति सुपर्यालोच्य लेखिन्या उपयोगः कर्तव्यः । शास्त्रेषूत्सर्गापवादानुच्चावचा भवन्ति । अपवादरहितान्येव शास्त्राणि प्रवर्तन्त इति साधनं दुष्करम् । ऐष्टिकान्येव कर्माणि प्राचीनानि, सौमिकानि पाशुकानि चार्वाचीनानीति कथयतो लेखकस्य जिह्वा किं न विशीर्यते ?

निस्सङ्कोचं पृष्ठे १०८ लिखति—'स्वामी दयानन्द और याज्ञिकप्रक्रिया' इति । दयानन्दस्य याज्ञिकप्रक्रियायाश्च कस्सम्बन्धः । किमनेन श्रौतसूत्राणि विरचितानि कल्पा वा प्रणीताः ? किमयमनूचानः श्रोत्रियो वा ? किमयं कृताधानोऽग्निहोत्रादिकमाचरन् याजकोऽभूत् ? कुतोऽयं याज्ञिकप्रक्रियां प्रवर्तयामास ? सन्निकृष्टकालोऽयं दयानन्दः । अस्य

वचनों को लेखक ने भी प्रमाण माना है । एक ही ग्रन्थ को यथार्थ विनियोजक और अयथार्थ विनियोजक कहना क्या विरुद्ध नहीं है ? ग्रन्थ का जो अंश, अपने पक्ष के प्रतिकूल हो उसे प्रक्षिप्त कहना और जो अंश, अपने पक्ष के—अनुकूल हो उसे समीचीन (उचित) कहना, यह कौन सा न्याय है ? सम्पूर्ण ब्राह्मण सन्दर्भ ही कर्मकाण्ड का प्रतिपादक है, और यह संहितागत मन्त्रों के कार्य का प्रतिपादन करता है । ब्राह्मण भाग के विना केवल मन्त्रार्थ के ज्ञानमात्र से कार्य का निश्चय नहीं किया जा सकता । मन्त्र तो महर्षियों के विशिष्टमननव्यापार से प्रसूत हैं । उनके यथोचित विनियोग के लिये उन्हीं महर्षियों के द्वारा सम्प्रदायपूर्वक अधिगत किये हुए ब्राह्मण भाग हैं । मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का परस्पर नियत सम्बन्ध है । दोनों की ही अध्ययनाध्यापनपरम्परा चिरकाल से चली आ रही है । ऐसी वस्तुस्थिति में पाशुकमन्त्रों को संहिताभाग में और पाशुक ब्राह्मणों को ब्राह्मणभाग में किसी ने जोड़ दिया है, अतएव ये अवैदिक है, और तमोगुण से युक्त हैं, इत्यादि कथन को कैसे युक्तियुक्त कहा जा सकेगा ? वादनक्षत्रमाला में श्रीमदप्पय्यदीक्षितेन्द्र जी ने हिंसातत्त्व के सम्बन्ध में विशेष विचार किया है । मीमांसाभवन के स्तंभभूत भट्टपाद ने भी इस विषय पर विशद सविस्तर विचार किया है । अतः चरक–सुश्रुतादि ग्रन्थों में कहीं पर पशुहिंसा की निन्दा, उसी तरह मन्त्रों में कहीं पर निन्दा के उल्लेख को देखकर विपुल ब्राह्मण भाग और तन्मूलक श्रौतसूत्रों और कल्प के आधार पर किये गये विचार को अप्रमाण बताना या प्रक्षिप्त कह देना लेखक का दुराग्रहमात्र ही है, इसमें किचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है । लेखक को प्रथमतः यह सोच लेना चाहिये था कि वह क्या करने जा रहा है, तब लेखनी का उपयोग करना चाहिये था । शास्त्र परिशीलन करने वालों को–अच्छी तरह ज्ञात है कि शास्त्रों में उत्सर्गापवाद न्यूनाधिकरूप में रहा करते हैं । शास्त्रों की प्रवृत्ति अपवादरहित ही हुआ करती है, यह सिद्ध करना कठिन है । ऐष्टिक कर्मों को ही प्राचीन कहना और सौमिक तथा पाशुक कर्मों को अर्वाचीन कहना विद्वान् को तो शोभा नहीं देता ।

पृ० १०८ पर लेखक महोदय संकोच का परित्याग करके लिख रहे हैं—'स्वामी दयानन्द और याज्ञिकप्रक्रिया' । जरा सोचिये तो, दयानन्द का और याज्ञिकप्रक्रिया का परस्पर सम्बन्ध ही क्या है ? क्या दयानन्द ने श्रौतसूत्रों की रचना की है ? क्या कल्पग्रन्थों का निर्माण किया है ? क्या वे स्वयं अनूचान श्रोत्रिय हैं ? क्या वे आहिताग्नि हैं ? क्या उन्होंने अग्निहोत्र, दर्शपूर्ण, चातुर्मास्येष्टियों का अनुष्ठान किया था ? किस अधिकार से उन्होंने याज्ञिक प्रक्रिया का प्रवर्तन किया ? ये दयानन्द स्वामी तो आधुनिक युग के हैं । याज्ञिक प्रक्रिया का प्रदर्शन करते समय कोई यज्ञप्रक्रिया तो चलती ही रही होगी । उसके रहते एक और नूतन

याज्ञिकप्रक्रियाप्रदर्शनकाले काचन प्रक्रियाऽऽसीदेव। सत्यां तस्यां नूतनप्रक्रियाप्रदर्शने को हेतुः ? पूर्वं प्रवर्तितप्रक्रियायाः सङ्कोचं वैपरीत्यञ्च सम्पादयितुमस्य प्रवृत्तिरिति वक्तव्यम्। एवं प्रवृत्तौ जनसङ्ग्रहः, लोभः द्रव्यलिप्सा, कीर्तिप्रसारः वञ्चना च मूलं स्वीकर्तव्यम्। श्रुतिस्मृतिविरुद्धाया अस्याः प्रक्रियाया लोभादिमूलकत्वेन हेत्वधिकरणन्यायेनाप्रामाण्यं भाष्यकारैः शबरस्वामिभिः प्रतिपादितं स्वीकर्तव्यम्।

अस्मिन्नेव सन्दर्भे उपरि पृ० १०९ ‘वेदादिप्रमाणों के प्रतिकूल-वेदमें गौ अश्व अवि पुरुष आदि की न केवल हिंसा का प्रतिषेध ही किया है, अपि तु इनको मारने वालों को गोली से उड़ा देने का आदेश दिया है’ इति लिखित्वा कांश्चन मन्त्रान् प्रदर्श्यान्तेऽथर्ववेदमन्त्रं ‘यदि नो गां हिंसीः’ इति प्रादर्शयत्। इमानि प्रमाणानि प्रदर्शयतोऽस्य स्वबुद्धिरेव प्रमाणम्, शिष्टं जगत् सर्वमप्रमाणमित्यभिनिवेशः। हिंसां निषेद्धुमागतोऽयं मन्त्रः भुसुण्डीप्रयोगद्वारा हिंसितारं मारयितुमादिशति। क्रत्वङ्गत्वेन पशुयागविधायकवाक्यानामर्वाचीनकाले केनापि समावेशः कृतः, प्राचीनकाले पशुयागानामभावादिति तव हेतुः, अयं न्यायो मन्त्रेऽस्मिन् योजयितुं किं न शक्यते ? सीसेन वेधनं नाम न पुष्पवृष्टिः। इदं वेधनं त्वयानुमन्यते क्रत्वङ्गत्वेन प्रवृत्तं विधायकं वाक्यं नानुमन्यते। कस्य केन सम्बन्धः ? अस्मिन् मन्त्रे ‘नः’ इत्यस्मच्छब्दः स्यास्माकमित्यर्थः। अस्मत्सम्बन्धिनो गवादेः हिंसितारं त्वां विद्वेषिणं सीसेन विध्याम इति मन्त्रस्यार्थः। विद्वेषी वा भवतु मित्रं वा, सीसेन वेधनं (गोली से उड़ाना) हिंसैव खलु। ‘न हिंस्यात्सर्वाभूतानि’ इति निषेधोऽत्र किं न प्रवर्तेत ? मन्त्रार्धस्यास्य केनापि समायोजनं कृतमिति तवन्यायोऽत्र कुतो न प्रवर्तेत ? मन्त्रेऽस्मिन् प्राचीनत्वमर्वाचीनत्वञ्चेति रूपद्वयं किं त्वयानुमन्यते ? समाजे तामसिकानीमानि कर्माणि निषेद्धुं प्रवृत्तो दयानन्दः किमित्यपत्योत्पादनं कर्म न निवारितवान् ? अपत्यात्पादनकर्मणि सहस्रशः कीटा म्रियन्त

यज्ञ-प्रक्रिया प्रदर्शन करने में कौन सा हेतु था ? इन प्रश्नों के उत्तर में यही कहना होगा कि पूर्वकाल से चली आई हुई कण्ठस्थ-तथा अर्थज्ञ वैदिक एवं श्रौतसूत्र, कल्पादि ग्रन्थों के रचयिताओं तथा स्वयं यज्ञानुष्ठान करने वाले आहिताग्नियों की यज्ञप्रक्रिया में संकोच और वैपरीत्य (उलट फेर, परिवर्तन) करने के लिये दयानन्दजी प्रवृत्त हुए। किन्तु इस प्रवृत्ति के मूल (ओट) में क्या रहा होगा ? तो यही कहना होगा कि इस प्रकार की प्रवृत्ति में मूल रहा होगा--(१) जनसङ्ग्रह (२) लोभ (३) द्रव्यलिप्सा (४) कीर्ति-प्रसार और (५) जनता को ठगना, इन सब दुर्भावनाओं के सिवाय अन्य मूल (हेतु) हो ही क्या सकता है ? श्रुति-स्मृतिविरुद्ध इस दयानन्द प्रवर्तित-यज्ञ प्रक्रिया को लोभादि हेतुमूलक होने से हेत्वधिकरण न्याय के अनुसार अप्रमाण ही कहना होगा, क्योंकि लोभादि-मूलक ऐसी प्रक्रियाओं को भाष्यकार शबरस्वामी ने अप्रमाण कहा है।

इसी सन्दर्भ में पृ० १०९ पर लेखक ने लिखा है--‘वेदादि प्रमाणों के प्रतिकूल—वेद में गौ, अश्व, अवि, पुरुष आदि की न केवल हिंसा का प्रतिषेध ही किया है, अपितु इनको मारनेवालों को गोली से उड़ा देने का आदेश दिया है।’ इतना लिखकर कतिपय मन्त्रों को प्रदर्शित किया है, एक अथर्ववेद के मन्त्र ‘यदि नो गां हिंसीः’ को भी प्रदर्शित किया है। इन प्रमाणों को प्रदर्शित करते समय लेखक को यह अभिनिवेश हो गया है कि उसकी अपनी ही बुद्धि एकमात्र प्रमाण है और उसके सिवाय अव-शिष्ट सम्पूर्ण शिष्ट जगत् अप्रमाण है। अरे; सोचो तो जरा, हिंसा का निषेध करने उपस्थित हुआ मन्त्र, बन्दूक की गोली से हिंसक को मारने का आदेश दे रहा है। क्रत्वंगत्वेन पशुयागविधायक वाक्यों का अर्वाचीन काल में किसी ने समावेश कर दिया है, क्योंकि प्राचीनकाल में पशुयागों का अभाव था, यह तुमने हेतु बताया है। क्या इसी न्याय को उक्त मन्त्र में नहीं लगाया जा सकता ? सीसे से वेधन करना कोई पुष्पवर्षा नहीं है। इस वेधन को तुम मान रहे हो, किन्तु क्रत्वङ्गत्वेन प्रवृत्त विधायक वाक्य को नहीं मान रहे हो। किसी का किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस मन्त्र में ‘नः’ इस अस्मत् शब्द का अर्थ ‘अस्माकम्’ है। हमारी गौओं के हिंसक तुम जैसे विद्वेषी को सीसे से वेध देंगे। यह मन्त्रार्थ है। विद्वेषी हो चाहे मित्र हो, सीसे से वेधना (गोली से उड़ाना) तो हिंसा ही है। ‘न हिंस्यात् सर्वा भूतानि’ यह निषेध क्या यहां प्रवृत्त नहीं होगा ? इस मन्त्रार्थ को किसी ने जोड़ दिया होगा’ यह तुम्हारा न्याय यहाँ क्यों नहीं प्रवृत्त हो रहा है ? इस मन्त्र में प्राचीनता और अर्वाचीनता इन दो रूपों को क्या तुम मान रहे हो ? समाज में इन तामसिक कार्यों का निषेध करने के लिये प्रवृत्त हुए दयानन्द ने अपत्योत्पादन कर्म का निवारण क्यों नहीं किया ?

इति किं चरके सुश्रुते च नोल्लिखितम् ? यदि तथा तर्हि समायोज्यताम् । किमपत्योत्पादनं कर्म सात्विकम् ? प्राचीनकाले सात्विकान्येव कर्माण्यासन् । किमपत्योत्पादनमर्वाचीनकाले केनापि प्रवर्तितम् ? किमनेनासम्बद्धप्रलापेन ?

अनन्तरं 'तथा आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' (मी० १.२.१) । अतः ये मन्त्र भी यज्ञों में प्रवृत्त हिंसा के प्रतिषेधक हैं, न कि यज्ञ से अन्यत्र' इत्यादि लिखति तस्मिन्नेव पृष्ठे १०९। इदं पूर्वपक्षिणस्सूत्रम् । पूर्वस्मिन् प्रथमपादे विधिभागस्य प्रामाण्यं व्यवस्थाप्यास्मिन् द्वितीयपादेऽर्थवादादीनां प्रामाण्यव्यवस्थापनायोपक्रमः । यद्यपि प्रथमपाद एव सर्वस्यापि वेदस्य विधिमन्त्रनामधेयनिषेधात्मकस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापितम्, तथापि विध्यादीनां प्रामाण्यप्रकारः कथ्यत इति भाष्यवार्तिकादीनामभिप्रायः । तत्र विधीनामप्राप्तस्य प्रयोजनवतश्चार्थस्य विधानेन, अर्थवादानां विधेयार्थस्तावकत्वेन, मन्त्राणां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वेन, नामधेयानां विधेयार्थपरिच्छेदकत्वेन, निषेधानामनर्थफलकेभ्यः कर्मभ्यो निवर्तकत्वेन चोपयोग इति स्थितिः । 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' इति सूत्रप्रवृत्तिवेलायां मन्त्राणां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वरूपक्रियार्थत्वं न साधितम्, तच्च मन्त्राधिकरणे साधयिष्यते । एवं स्थिते लेखकः 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' इति सूत्रं विलिख्य 'अतः ये मन्त्र भी यज्ञों में प्रवृत्त हिंसा के प्रतिषेधक हैं, न कि यज्ञ से अन्यत्र' इति कथं लिखति । न हीदं सूत्रं मन्त्रभागं स्पृशति । यद्यप्याम्नायपदं मन्त्रब्राह्मणसाधारणम्, तथाप्यत्राम्नायपदं विधिभागमात्रपरम्, तस्यैव पूर्वस्मिन्पादे साधितत्वात् । यद्यत्रत्याम्नायपदं मन्त्रपरमपि तर्हि 'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति त्वयाङ्गीकृतं स्यात् । यदि वात्रत्याम्नायपदं मन्त्रपरमेव तर्हि नाद्यावधि मन्त्राणां क्रियार्थत्वं साधितमिति कथमनेन सूत्रेण । मन्त्राणां क्रियार्थत्वमङ्गीकृत्य वाक्यं लिखसि ? मन्त्राधिकरणसिद्ध एव सिद्धान्तोऽत्र लिखित इति चेत् 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' इति सूत्रं कथं प्रमाणीक्रियते ?

'अपत्योत्पादन कर्म में तो सहस्रशः' कीट मरते हैं; क्या यह चरक और सुश्रुत में नहीं लिखा है ? यदि वैसा है तो विचार करो, कि क्या अपत्योत्पादन कर्म सात्त्विक हैं ? प्राचीनकाल में सात्त्विक कर्म ही थे । तो क्या अर्वाचीनकाल में अपत्योत्पादन कर्म को किसी ने प्रवर्तित किया ? इस प्रकार के असम्बद्ध प्रलाप से क्या लाभ ?

अनन्तर 'तथा आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' (मी० १।२।१) अतः ये मन्त्र भी यज्ञों में प्रवृत्त हिंसा के प्रतिषेधक हैं; न कि यज्ञ से अन्यत्र' इत्यादि उसी पृ० १०९ पर लेखक ने लिखा है । यह पूर्वपक्षी का सूत्र है । इसके पूर्व 'प्रथमपाद में विधिभाग का प्रामाण्य व्यवस्थापित कर इस द्वितीयपाद में अर्थवादादि वाक्यों के प्रामाण्य का व्यवस्थापन करने के लिये प्रारम्भ किया गया है । यद्यपि प्रथमपाद में ही विधि-मन्त्र नामधेय-निषेधात्मक सम्पूर्ण वेद का प्रामाण्य व्यवस्थापित किया गया है, तथापि विध्यादिकों के प्रामाण्य का प्रकार अब कहा जा रहा है । यह भाष्य–वार्तिक आदि ग्रन्थों का अभिप्राय है । उनमें से विधि का उपयोग तो प्रमाणान्तर से प्राप्त (ज्ञात) न हो सकने वाले और सप्रयोजन अर्थ के विधान करने से, तथा अर्थवादवाक्यों का विधेयार्थ का स्तावक होने से, एवं मन्त्रों का प्रयोग समवेत (अनुष्ठानकालीन) पदार्थों का स्मारक होने से, और नामधेयों का विधेयार्थ का परिच्छेदक होने से उसीतरह निषेधों का अनर्थफलक कर्मों की ओर से निवृत्ति कराने के कारण (वेद के तत्तद्भागों का उपयोग) होता है, यह वस्तु स्थिति है । 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' इस सूत्र की प्रवृत्ति के समय मन्त्रों का अनुष्ठेयपदार्थस्मारकत्वरूप क्रियार्थत्व सिद्ध नहीं हो पाया है । उसे तो मन्त्राधिकरण में सिद्ध किया जायेगा । इस वस्तुस्थिति के होते हुए भी लेखक महोदय 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' इस सूत्र को लिखकर 'अतः ये मन्त्र भी यज्ञों में प्रवृत्त हिंसा के प्रतिषेध हैं, न कि यज्ञ से अन्यत्र' यह क्यों लिख रहे हैं ? उक्त सूत्र का मन्त्रभाग से सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि 'आम्नाय' पद मन्त्र-ब्राह्मण दोनों के लिये साधारण है, तथापि 'आम्नाय' पद यहां पर विधिभागमात्रपरक है । क्योंकि पूर्वपाद में उसी को सिद्ध किया गया है । यदि यहां के 'आम्नाय' पद को मन्त्रपरक मानोगे तो 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' का तुमने स्वीकार कर लिया, कहा जायगा । इस पर भी यहां के आम्नाय को यदि मन्त्रपरक ही कहो, तो भी अद्यावधि मन्त्रों का क्रियार्थत्व सिद्ध ही नहीं हो पाया है, अतः उक्त सूत्र से मन्त्रों पद का क्रियार्थत्व स्वीकार कर कैसे लिख रहे हो ? इसपर भी यदि कहो कि मन्त्राधिकरणसिद्धसिद्धान्त को ही हमने यहाँ लिख दिया है, तो बताओ 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' सूत्र को तुमने प्रमाण कैसे मान लिया ? यह सूत्र तो जैमिनि का है, और वह तुम्हारे मत के अनुसार

इदञ्च सूत्रं जैमिनेः। तच्च त्वन्मतेन न स्वतः प्रमाणम्, त्वमेवोपरि लिखसि दयानन्दमतत्वेन—'शाखाब्राह्मण-श्रौतसूत्र और पूर्वमीमांसा आदि समस्त वैदिक वाङ्मय को परतः प्रमाण (=वेदानुकूल होने पर ही प्रमाण) स्वीकार करना है' आदि। इदञ्च जैमिनिसूत्रं परतः प्रमाणम्। आम्नायस्य क्रियार्थत्वं बोधयतोऽस्य सूत्रस्य मूलभूतो वेदः कः ? येन तस्य प्रामाण्यमङ्गीक्रियते। मूलभूतेन वेदेन संहितारूपेण भवितव्यम्, तस्यैव त्वन्मते स्वतःप्रमाणत्वात्। कच्चिदस्य सूत्रस्य तादृशं मूलं प्रदर्शयितुं शक्यते ? यदि न शक्यते, तर्हि किमिति सूत्रं प्रमाणीक्रियते त्वया ? यदि शक्यते तर्हि किं तन्मन्त्रवाक्यम् ? यच्चाम्नायस्य क्रियार्थत्वं प्रतिपादयति। एवं दयानन्दो मर्त्यः, मृतश्च। तदीयं मतं मन्त्रसंहिता एव वेदाः, तेषाञ्च स्वतः प्रामाण्यमिति। एवं कथयितुः किमपि प्रमाणं कच्चिदस्ति, यच्च मन्त्रवाक्यं स्यात् ? यावदिदं न प्रदर्श्यते, तावदस्य वाक्यस्य प्रामाण्यं कथं सिध्यतु ? यच्च वाक्यं स्वतो न प्रमाणम्, नापि त्वदभिमतवेदमूलकं, तच्चेत्त्वया प्रमाणीक्रियते तर्हि कथमिव त्वद्वाक्ये विश्वासः क्रियताम् ?

तस्मिन्नेव ११० पृष्ठे टिप्पण्यां लिखति—'स्वामीदयानन्दसरस्वतीने……………जो पाठविधि लिखी है, उसमें सभी विषयों में प्राचीन ऋषिमुनियों के ग्रन्थों का ही उल्लेख किया है' इति। दयानन्देन स्वीये पाठविधौ प्राचीनैः ऋषिभिर्मुनिभिश्च विरचितानामेवग्रन्थानामुल्लेखेन महाननुग्रहः कृतः। किमिमेग्रन्थाः त्वदभिमतसात्विकानामाडम्बररहितानामेवाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां प्रतिपादकाः ? उत तामसिकाडम्बरयुक्तकर्मणामपि प्रतिपादकाः ? यदि द्वितीयः कल्पस्तर्ह्यप्रमाणम्। यदि च प्रथमः कल्पः तर्ह्यवैदिकाडम्बरयुक्तकर्मणामुल्लेखः कथमागतः ? किं तैरेव ग्रन्थकारैः कालान्तर इमानि कर्माणि स्वग्रन्थेषु योजितानि ? उत तदितरैस्तत्तद्ग्रन्थकर्तृनाम्ना योजितानि ? कालनिर्णये कुशलः खल्वसि। युगसन्धिकाले सात्त्विकानिकर्माण्यासन्निति निर्णीतवानसि। एवं निर्णीतवतस्तव कालान्तरनिर्णयस्तु न दुष्करः। ब्रूहि ? कस्मिन् काल

स्वतः प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि तुमने ही ऊपर लिखा है कि दयानन्द के मत के अनुसार 'शाखा ब्राह्मण-श्रौतसूत्र और पूर्वमीमांसा आदि समस्त वैदिकवाङ्मय को परतः प्रमाण (वेदानुकूल होने पर ही प्रमाण) स्वीकार करना है; इत्यादि। यह जैमिनिसूत्र तो परतः प्रमाण है। आम्नाय की क्रियार्थता को बोधन करनेवाले इस सूत्र का मूलभूत वेद कौन सा है ? जिससे उसका प्रामाण्य तुम स्वीकार कर रहे हो। मूलभूत वेद भी संहिता रूप होना चाहिये, क्योंकि तुम्हारे मत में वही स्वतः प्रमाण है। क्या इस सूत्र का वैसा कोई मूल दिखा सकते हो ? यदि नहीं दिखा सकते तो सूत्र को प्रमाण क्यों मानते हो ? यदि प्रदर्शित कर सकते हो तो बताओ कि कौन सा वह मन्त्र वाक्य है ? जो आम्नाय के क्रियार्थत्व को बता रहा हो। उसी प्रकार दयानन्द तो एक मर्त्यदेहधारी प्राणी हैं, और वह मर भी चुके हैं। उन्हीं का मत है कि मन्त्रसंहिता ही वेद हैं और उनका स्वतः प्रामाण्य है। इस प्रकार कहने वाले का कथन कहीं प्रमाण हो सकता है ? क्या उस कथन का मन्त्रवाक्य कहा जा सकेगा ? जब तक उसे सिद्ध नहीं कर सकोगे तब तक इसके वाक्य का प्रामाण्य कैसे सिद्ध हो जायगा ? जो वाक्य स्वतः प्रमाण नहीं और न त्वदभिमतवेदमूलक ही है, ऐसे वाक्य को भी यदि तुम प्रमाण मानो, तो तुम्हारे वाक्य पर कैसे भला विश्वास किया जाय ?

उसी ग्रन्थ के पृ० ११० पर टिप्पणी में लेखक ने लिखा है कि 'स्वामी दयानन्द सरस्वती ने……………………जो पाठविधि लिखी है, उसमें सभी विषयों में प्राचीन ऋषि मुनियों के ग्रन्थों का ही उल्लेख किया है' इति। दयानन्द ने अपने पाठविधि में प्राचीन ऋषियों ने एवं मुनियों ने ही रचित ग्रन्थों का उल्लेख करके महान् अनुग्रह किया है। क्या इन ग्रन्थों में तुम्हारे अभिमत सात्त्विक एवं आडम्बररहित अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासादिकर्मों का ही प्रतिपादन किया गया है ? या तामसिक आडम्बरयुक्त कर्मों का भी प्रतिपादन किया ? यदि द्वितीय पक्ष हो तो उन ग्रन्थों को तुम्हारे ही मत के अनुसार अप्रमाण कहना होगा। और यदि प्रथम पक्ष हो तो अवैदिक आडम्बरयुक्त तामस कर्मों का उल्लेख उन ग्रन्थों में कैसे किया गया ? क्या उन्हीं ग्रन्थकारों ने इन कर्मों को कुछ काल के पश्चात् अपने ग्रन्थों में जोड़ दिया ? अथवा अन्य लोगों ने उस ग्रन्थकार के नाम पर इन कर्मों को उनके ग्रन्थों को जोड़ दिया ? लेखक-महोदय कालनिर्णय करने में तो बड़े कुशल हैं। युग के सन्धिकाल में सात्त्विक कर्मों का प्रचलन था, ऐसा निर्णय लेखक महोदय दे चुके हैं। इस प्रकार का निर्णय देने वाले लेखक के लिये कालान्तर का निर्णय करना भी कोई कठिन नहीं है। अतः लेखक से हम पूछ रहे हैं

इमानि कर्माणि ग्रन्थेषु योजितानि ? यदि तत्तद्ग्रन्थकर्तृभ्य इतरे योजितवन्तस्तर्हि के ते वञ्चका एवमकुर्वन् ? सर्वेयं तवकथाऽऽनुमानिकी यदि, तत्राव्यभिचरितो हेतुर्वक्तव्यः। पदे पदे चरकवाक्यमेवावर्तयसि, क्वचिञ्च दयानन्दं निर्दिशसि, बौद्धस्य जिनाचार्यस्य वा।

किञ्च दयानन्देन यः पाठविधिः प्रवर्तितः, तत्र मूलं किं विधिवाक्यम् (ब्राह्मणभागः) ? उत संहितावाक्यम् ? ब्राह्मणवाक्यन्तु न प्रमाणं दयानन्दमते, तन्मतावलम्बिनस्तवापि। तस्य च प्रामाण्यं वेदमूलकत्वेन वक्तव्यम्। वेदश्च संहिताभाग एव। संहिताभागस्तु केवलमर्थाभिधायकः। नह्यभिधानमात्रेण कस्यापि प्रवृत्तिर्लोके दृष्टचरा। एवमर्थमयं मन्त्रोऽभिदधाति,अतोऽनेनेदं कर्तव्यमिति दयानन्देन कल्पिते त्वादृशस्य तच्छिष्यस्य तत्र प्रवृत्तिर्भवेत्। पाठविधिं प्रवर्तयता तेन केवलमर्थोनाभिहितस्स्यात्। इदमेवं कर्तव्यमित्युपदिष्टंस्यात्। ततश्च त्वादृशस्य तत्रप्रवृत्तिरित्यङ्गीकर्तव्यम्। तत्प्रवर्तितपाठविधेः पूर्वं लोकेऽध्येतार एव किं नासन् ? तेषामध्ययने प्रवृत्तिः कथं समुदभूत् ? सर्वोऽयमत्रत्यस्सन्दर्भो लेखकस्य प्रलापः।

एतदग्रे 'काल्पनिकविनियोग' इतिशीर्षकं विधाय लिखति—'उत्तर काल में जब देश में यज्ञों का मान तथा प्रभाव बढ़ा, और प्रत्येक कामना की सिद्धि के लिये यज्ञों की सृष्टि हुई'। अत्र लेखक उदाहरति—'निवेशनस्सङ्गमनो-वसूनाम् इत्यैन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति। पूर्वमीमांसायामैन्द्रीन्यायस्य विषयवाक्यमिदम्। तृतीयद्वितीयपादस्य प्रथमे लिङ्गाधिकरणे सति सम्भवे मन्त्रलिङ्गं मुख्य एवार्थेविनियोजकमिति व्यवस्थाप्य द्वितीयोऽस्मिन्नैन्द्रयाधिकरणे (ऐन्द्रीन्याये)

कि वे जरा बतावें तो कि ग्रन्थकार ऋषि मुनियों ने उन आडम्बर वाले कर्मों को किस समय अपने ग्रन्थों में जोड़ा ? यदि तत्तद्ग्रन्थकारों के अतिरिक्त (भिन्न-इतर) लोगों ने उनके ग्रन्थों में इन कर्मों को जोड़ दिया, कहो तो बताओ, कि वे वञ्चक कौन हैं, जिन्होंने यह कुकर्म किया ? असल बात तो यह है कि सारी कहानी तुम्हारी मनगढन्त है, कपोलकल्पित है, कुतर्कों से भरी हुई है तथा असद्धेतुओं (हेत्वाभासों) से परिपूर्ण है। यदि अपने अनुमानों पर तुम्हें विश्वास हो, तो उनमें अव्यभिचरित हेतु (सद्धेतु) का प्रदर्शन करो। पग पग पर (प्रतिक्षण) चरकवाक्य, का सहारा ले रहे हो तो कहीं दयानन्द का निर्देश कर देते हो, और कहीं पर बौद्ध या जिनाचार्य के नामका जप कर लेते हो। यह तुम्हारी सारी चेष्टा डूबते को तिनके के सहारेवाली कहावत को चरितार्थ कर रही है।

किञ्च दयानन्द के द्वारा प्रवर्तित किये गये पाठविधि में विधिवाक्य (ब्राह्मण भाग) मूल (आधार) है, या संहितावाक्य मूल है ? दयानन्द और उनके तुम जैसे अन्धभक्त अनुयायी ब्राह्मणवाक्य को तो प्रमाण मानते ही नहीं हो। अपनी सुरक्षा के लिये यदि उसे प्रमाण कहो तो वेदमूलकत्वेन ही कहना होगा। और वेद तो तुम्हारे मत से केवल संहिताभाग ही है। लेकिन संहिता भाग तो केवल अर्थ का अभिधायक मात्र होता है, किन्तु लोक व्यवहार में केवल अभिधान करने मात्र से किसी की भी प्रवृत्ति होतीं नहीं दिखाई देती। यह मन्त्र इस अर्थ को कह रहा है, अतः 'अनेन इदं कर्तव्यम्'- इस मन्त्र से यह कर्म करना चाहिये इस प्रकार दयानन्द के द्वारा कल्पना किये जाने पर ही तुम जैसे उसके शिष्य को उस कर्म में प्रवृत्ति हो पायगी, अन्यथा नहीं होगी। एवञ्च पाठविधि का प्रवर्तन करने वाले दयानन्द के द्वारा केवल अर्थ का अभिधान न कर, 'इसे इसप्रकार करो' कहने पर ही तुम जैसे की उसमें प्रवृत्ति होती, यह स्वीकार करना ही होगा। दयानन्द प्रवर्तित पाठविधि के पहले इस संसार में क्या अध्ययन करने वाले थे ही नहीं ? यदि थे तो अध्ययन करने की ओर उनकी प्रवृत्ति कैसे हुआ करती थी ? उत्तर में कहना ही होगा कि 'इदं कर्तव्यम्; कुर्यात्' इन विधियों के कारण ही उनकी प्रवृत्ति हुआ करती थी। अतः यहाँ का सम्पूर्ण सन्दर्भ, लेखक का प्रलापमात्र ही है।

आगे चल कर लेखक महोदय पृ० ११२ पर 'काल्पनिक विनियोग' शीर्षक देकर लिख रहे हैं—'उत्तरकाल में जब देश में यज्ञों का मान तथा प्रभाव बढ़ा, और प्रत्येक कामना की सिद्धि के लिये यज्ञों की सृष्टि हुई'। यहाँ पर लेखक महोदय उदाहरण दे रहे हैं– 'निवेशनस्सङ्गमनो वसूनाम् इत्यैन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति। पूर्वमीमांसा में ऐन्द्रीन्याय का यह विषय वाक्य है। तृतीयाध्यायस्थ द्वितीयपाद के प्रथम लिङ्गाधिकरण में यह व्यवस्था दी गई है कि यथा संभव मन्त्रलिङ्ग, मुख्यार्थ में ही विनियोजक होता है, तदनन्तर इस द्वितीय ऐन्द्रयधिकरण में (ऐन्द्रीन्याय में) पूर्वाधिकरणोक्त का अपवाद बता रहे हैं कि क्वचिद् गौण अर्थ में भी मन्त्रलिङ्ग विनियोजक होता है। जैमिनि सूत्रों में यह एक

पूर्वोक्तस्यापवादः प्रतिपादनीयः। क्वचिद्गौणेऽप्यर्थे मन्त्रलिङ्गं विनियोजकमिति प्रतिपाद्यतेऽस्मिन्नधिकरणे। जैमिनिसूत्रेष्विदं वैचित्र्यम्—यत्प्रायस्सूत्रेषु विषयवाक्यमन्तर्निहितमिति। मन्त्रस्तु इन्द्रं प्रतिपादयति, विनियोगस्तु तस्य गार्हपत्योपस्थाने। पूर्वाधिकरणन्यायेन इन्द्रदेवताप्रकाशिकया ऋचा इन्द्रोपस्थानमेव कर्तव्यम्, तदनुसारेण गार्हपत्यशब्दस्य गौण्यावृत्त्येन्द्रबोधकत्वं स्वीकर्तव्यम् तेन च मन्त्रलिङ्गं मुख्येऽर्थे विनियोजकं भवतीति पूर्वपक्षे सति सिद्धान्तयति सूत्रकारो जैमिनिः—'वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात्' इति। अयथार्थमिति क्रियाविशेषणम्। अयथा=असदृशो बाधितोऽर्थोयस्य तद्यथा भवति तथा ऐन्द्री ऋगेव स्यात्। अत्र हेतुः—वचनादिति। 'इत्यैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति वचनादित्यर्थः। इद वचनमत्र मन्त्रस्य विनियोजकम्। इदं वचनं किं जैमिनिना कल्पितम्? उत जैमिनेः पूर्ववर्तिना? विनियोगो नामाङ्गत्वेनान्वयः। तत्र च प्रमाणानि षड्वर्तन्ते। तेषु श्रुत्या सामर्थ्येन वचनेन समाख्यया च यथायथं मन्त्राणां विनियोगः स्वीकृतो मीमांसकैः।

मन्त्रार्थानुसारेण तेषां विनियोग इति सत्यपि उत्सर्गे तदपवादोऽपि भवितुमर्हति। अपवादप्रदर्शनार्थं जैमिनिरिदं वाक्यं कल्पयामासेति कथयन् लेखको न लज्जते। अथवा यथाजातस्य कुतो लज्जा? इन्द्रान्महेन्द्रो भिन्न एव। इममर्थं प्रदर्शयितुं 'तस्माद्देवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः'. (शा० भा० २-१-१६) इति शाबरं भाष्यं प्रदर्शयति लेखकः। भाष्यकारात्पूर्वं सूत्रकार एवेममर्थमङ्गीकरोति 'न श्रुतिसमवायित्वात्' इति स्तुतशस्त्राधिकरणे सूत्रयन्। यथा लेखको निर्मर्यादं गच्छति, न तथा खलु शबरस्वामी गच्छेत्। शबरस्वामी तु जानाति—यद्विधिगतशब्दा एव निगमेषु प्रयोक्तव्या इति। अयञ्च न्यायो दाशमिकः। लेखकस्य न विधेरावश्यकता, न नियमस्य, नापि मर्यादायाः। न तथा खलु भवन्ति मीमांसासूत्रभाष्यकारादयः। 'तस्माद्देवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः' इति भाष्यं प्रदर्शयन् लेखको मन्यते—यदिन्द्रान्महेन्द्रस्य भेदं भाष्यकारः पश्यति तदा इन्द्राद्गार्हपत्यस्य भेदं कुतो न पश्यति भाष्यकारः? कथमैन्द्रीमन्त्रं गार्हपत्योपस्थाने विनियुङ्क्ते इति। काल्पनिकं विनियोगं साधयन् लेखक-

वैचित्र्य पाया जाता है कि उनमें विषयवाक्य प्रायः अन्तर्निहित रहता है। मन्त्र तो इन्द्र का प्रतिपादन कर रहा है, किन्तुउस मन्त्र का विनियोग मात्र गार्हपत्योपस्थान में किया जाता है। पूर्वाधिकरण न्याय से इन्द्र देवता प्रकाशक ऋचा (मन्त्र) के द्वारा इन्द्रोपस्थान ही करना चाहिये, और तदनुसार गौणीवृत्ति से गार्हपत्य शब्द को इन्द्रबोधक स्वीकार करना चाहिये। ऐसा करने पर ही मुख्यार्थ में मन्त्रलिङ्ग विनियोजक हो पाता है, इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सूत्रकार जैमिनी सिद्धान्त करते हैं—"वचनात्त्वयथार्थमैन्द्रीस्यात्" इति। 'अयथार्थम्' यह क्रियाविशेषण है। अयथा=असदृश, बाधितःअर्थः यस्य तत्—अयथार्थम्, अर्थात् बाधित अर्थ वाले को 'अयथार्थ' शब्द से कहा गया है, इस प्रकार का अयथार्थ, जिस प्रकार से भी बने उस प्रकार से 'यथा स्यात् तथा', ऐन्द्री ऋक् ही हो सकेगी, क्योंकि 'वचनात्' अर्थात् 'इत्यैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' यह वचन है। एवञ्च यह वचन ही यहाँ पर मन्त्र का विनियोजक है। क्या यह वचन जैमिनि का अपना कल्पित है? अथवा जैमिनि के किसी पूर्ववर्ती का कल्पित है? 'विनियोगो नाम अङ्गत्वेनान्वयः' अंगरूप से किये जाने वाले अन्वय को विनियोग कहते हैं। छह प्रमाणों की सहायता से विनियोग (अङ्गत्वेन अन्वय) किया जाता है। उन छह विनियोजक प्रमाणों में से औचित्य के अनुसार तत्तत्प्रमाण से किये जाने वाले मन्त्रों के विनियोग को मीमांसकों ने माना है।

'मन्त्रार्थ के अनुसार मन्त्रों का विनियोग' इस प्रकार का उत्सर्ग रहने पर भी उसका अपवाद भी हुआ करता है। 'अपवाद प्रदर्शनार्थं जैमिनि ने इस वाक्य की कल्पना की' ऐसा कुतर्क मीमांसक तो कभी नहीं कर सकता। टिप्पणी में इन्द्र से महेन्द्र को भिन्न—बताने के लिये 'तस्माद् देवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः' (शा० भा० २।१।१६) इस शाबरभाष्य को लेखक ने प्रदर्शित किया है। किन्तु भाष्यकार से पूर्व सूत्रकार ही स्तुतशस्त्राधिकरण में 'न श्रुतिसमवायित्वात्' सूत्र से उक्तार्थ को बता चुके हैं। शबरस्वामी, लेखक के समान न चलकर मर्यादा का पालन करते हुए चलते हैं। शबरस्वामी जानते हैं कि विधिगत शब्दों का ही·······प्रयोग करना चाहिये। यह दाशमिक न्याय है। किन्तु आजकल के जो प्रलापी पण्डित हैं, उन्हें न नियम की, न विधि की और न मर्यादा की आवश्यकता होती है। इन पण्डितों के समान मीमांसासूत्रकार, भाष्यकार आदि तो थे नहीं। 'तस्माद् देवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः' इस भाष्य को प्रदर्शित करते हुए लेखक महोदय समझ रहे हैं कि भाष्यकार को इन्द्र और महेन्द्र में भेद यदि दिखाई दे रहा है, तो इन्द्र और गार्हपत्य में भेद क्यों नहीं दिखाई दिया? ऐन्द्रीमन्त्र का गार्हपत्योपस्थान में विनियोग भाष्यकार ने कैसे कह दिया। अतः यह

स्तस्मिन्नेव ११३ पृष्ठे लिखति टिप्पण्याम्—'ऐसा साक्षात् वचन हमें उपलब्ध संहिता तथा ब्राह्मणग्रन्थों में कहीं नहीं मिला' इति। एवं लिखतोऽस्याशयः—यदयं विनियोगः काल्पनिक इति। यथाजातस्यास्य जैमिनेश्च मध्ये कियान् कालो व्यतीतः। अद्यतनोऽयं यथाजातः, अनेन वाक्यमिदं नोपलब्धमितिहेतोः काल्पनिकोऽयं विनियोग इति साधनं किं युक्तिसङ्गतम् ? स्वयमेकः चक्षुष्मान् महर्षिजैमिनिमारभ्य म० म० चिन्नस्वामिशास्त्रिचरणपर्यन्तं सर्व एव मीमांसका अन्धाः। अहो ! मौर्ख्यस्य पराकाष्ठा ! बिडालचक्षुर्निमीलनन्यायेनायं सर्वानिवान्धान् पश्यति। स्वस्मै यथा रोचते तथा निर्मर्यादं वाक्यानि रचयति। नूनमुन्मत्त इवाभाति।

काल्पनिकविनियोगे 'दधिक्राव्णो अकारिषम्, नवग्रहमन्त्रांश्च पदे पदे कीर्तयन् तत्रासम्बद्धविनियोगं प्रदर्शयति। एवं प्रदर्शयतोऽस्य मनसीदं विपरिवर्तमानं स्यादिति ज्ञायते यत्—क्लृप्तविनियोगाः केचन काल्पनिकविनियोगाश्चापरे। तत्र काल्पनिकविनियोगा भूयांसः, क्लृप्तविनियोगाश्चाल्पीयांस इति। क्लृप्तविनियोगेषु पृच्छामि किं मन्त्रार्थमनतिक्रम्य मन्त्रार्थमनुसृत्य वा विनियोगो वर्तते ? त्वदभिमतास्सात्त्विका आडम्बररहिताश्च यागा दर्शपूर्णमासादयः। तत्र किं याज्यापुरोनुवाक्यात्वेन विनियुज्यमानानां मन्त्राणां किं तथात्वमस्ति ? स्तोत्रशस्त्रेषु ये विनियुक्ता मन्त्रास्तेष्वपि बुद्धिः प्रसारणीया, तत्र यादृशं कार्यं क्रियते तादृशार्थप्रतिपादकता किं तेषामस्ति ? त्वन्मते सोमयागश्च तामसिकः, तत्र स्तोत्राणां शस्त्राणाञ्च काल्पनिको विनियोग इति निस्सङ्कोचं त्वं ब्रूयाः। एकेनैव वाक्येन ब्रूहि—यद्दयानन्देन यः पाठविधिः प्रवर्तितस्स एव यथार्थः, आश्वलायनकात्यायनद्राह्यायणलाट्यायनबौधायनापस्तम्बप्रभृतिभिः यः प्रवर्तितः क्रमस्स सर्वोऽप्ययथार्थ इति। श्रौतेषु स्मार्तेषु च कर्मसु यः प्रथमः पदार्थ आचमनम्, तस्य समन्त्रकत्वममन्त्रकत्वं वेति यो न जानाति यज्ञोपवीतस्वरूपञ्च यो न वेत्ति, आश्वलायनादींश्च महर्षीन् तृणायापि मन्यते, सोऽपि यथाजातः शाबरभाष्यमनुवदति, तत्र च लिखति—'मदीयगणनानुसारेणोपलब्धब्राह्मणग्रन्थेषु ऐतरेयब्राह्मणं प्राचीनम्, तदिदं मदीयव्याकरणेतिहासे समुपपादितम् तद्द्रष्टव्यमिति (पृ० ११५)। सत्यमेवायं

विनियोग काल्पनिक है, यह कहते हुए लेखक उसी ११३ पृ० पर टिप्पणी में लिख रहे हैं—'ऐसा साक्षात् वचन हमें उपलब्ध संहिता तथाब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं नहीं मिला' इति। इस प्रकार लिखते हुए लेखक का आशय इस विनियोग को काल्पनिक बताने में है। लेखक और जैमिनि के मध्य कितना काल व्यतीत हुआ होगा,—इसे लेखक ने कभी नहीं सोचा होगा। आज के आधुनिक लेखक को वाक्य उपलब्ध नहीं हुआ, अतः विनियोग को काल्पनिक कह देना क्या युक्तिसंगत होगा ? लेखक महोदय स्वयं अपने को ही एकमात्र चक्षुष्मान् समझते हैं, और महर्षि जैमिनि से लेकर म० म० चिन्नस्वामी शास्त्री जी तक सभी मीमांसकों को वे अन्ध समझ रहे हैं। विडालचक्षुर्निमीलन न्याय से लेखक महोदय अपने सिवाय सभी को अन्धा समझते हैं। लेखक महोदय अपनी रुचि के अनुसार मर्यादा रहित वाक्यों की यथेष्ट रचना करते हैं।

काल्पनिक विनियोग के विषय में 'दधिक्राब्णो अकारिषम्' और नवग्रह के मन्त्रों को बार बार बताकर उनका असम्बद्ध विनियोग हैं, लेखक ने कहा है। इसे प्रदर्शित करते हुए लेखक के मन में कदाचित् यह विचार चल रहा होगा कि कुछ मन्त्रों का विनियोग क्लृप्त है, और कुछ मन्त्रों का विनियोग काल्पनिक है। उनमें भी काल्पनिक विनियोग वाले मन्त्र अधिक हैं, और क्लृप्त विनियोग वाले मन्त्र कम हैं। क्लृप्त विनियोगों में हम पूछते हैं कि विनियोग, मन्त्रार्थ का अतिक्रमण (उल्लङ्घन) करके है अथवा मन्त्रार्थ का अनुसरण करके है ? तुम्हारे मत के अनुसार तो सात्विक और आडम्बर रहित याग दर्शपूर्णमासादि हैं। उनमें याज्यापुरोनुवाक्या के रूप में विनियुज्यमान मन्त्र क्या वैसे हैं ? स्तोत्र-शस्त्रों में विनियोग किये जाने वाले मन्त्रों को भी देख लो, वहाँ पर जैसा कार्य किया जाता है, तादृशार्थ प्रतिपादकता क्या उनमें है ? तुम्हारे मत में सोमयाग तो तामसिक है, उसमें स्तोत्र, शस्त्रों के विनियोग को कल्पनिक ही तुम निःसङ्कोच कहोगे। साथ साथ यह भी कह दो कि दयानन्द ने जो पाठविधि प्रवर्तित किया, वही यथार्थ है, और आश्वलायन, कात्यायन, द्राह्यायण, लाट्यायन, बौधायन, आपस्तम्ब प्रभृति महर्षियों के द्वारा प्रवर्तित किया सभी क्रम अयथार्थ है। श्रौत और स्मार्त कर्मों में जो प्रथम पदार्थ आचमन है, वह समन्त्रक है या अमन्त्रक है, यह भी जो नहीं जानता, यज्ञोपवीत के स्वरूप को भी जो नहीं जानता, और आश्वलायनादि महर्षियों को जो········वह व्यक्ति शाबरभाष्य का अनुवाद कर रहा है और लिखता है—"मेरी गणना के अनुसार उपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थों में ऐतरेय ब्राह्मण प्राचीन है, यह मेरे व्याकरण के इतिहास में अच्छी तरह बताया

कालगणनायां महाकालः, अत एवाश्वलायनादीनपि महर्षीन् कबलयति। त्रिकालज्ञः खल्वयम्। भोः! त्रिकालज्ञतपस्विन्! महामहर्षे! ब्रूहि—किमैतरेयब्राह्मणात्पूर्वं किमपि ब्राह्मणं नासीत्? उपलब्धब्राह्मणग्रन्थेष्वपीदं ब्राह्मणं प्राचीनमिति किमुपपादयितुं शक्यते? ब्राह्मणग्रन्थेष्वधीयमानेषु सुमहद्रहस्यमन्तर्निहितमस्तीति विज्ञायते। तच्च रहस्यमन्वेषणयोग्यम्। अद्य जातो यथा जातस्तिष्ठन्मूत्रः कच्छविहीनो झटिति ब्रूयात्—तैत्तिरीयशाखार्वाचीना माध्यन्दिनशाखा च प्राचीनेति। यश्च मन्त्रानपि विरच्य याज्ञिकास्तेषु तेषु ग्रन्थेषु योजितवन्त इति निरर्गलं वदति, तेनेदं रहस्यं कथमवगम्यताम्? स्वैरं ब्रूयादिदमपि विरच्य लोकैः समायोजितमिति। इदमत्रान्वेषणीयमस्ति रहस्यम्—सर्वत्र ब्राह्मणग्रन्थेषु 'तद्धैके', 'तदु तथा न कुर्यात्' 'तत्तन्नादृत्यम्' 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' इत्यारभ्य तेषां कथनमभिधाय 'तत्तथा न कार्यम्' 'तदाहुः' 'तत्तन्नादृत्यम्' इत्येवं खण्डनरूपाणि स्थलान्युच्चावचानि दृश्यन्ते। एतेषु विचार्यमाणेषु नूनं प्रतीयेत—'यद्ब्राह्मणग्रन्थाः पूर्वापरकालवर्तिन' इति। किन्त्वस्माभिर्धैर्यमवलम्ब्य विचारः कर्तव्यः। सहसा बालचापल्यं नावलम्बनीयम्—अयमर्वाचीनः, अयं प्राचीन इति। इदमपि निश्चेतव्यम्—तत्तच्छ्रौतसूत्राणि तत्तच्छाखीयब्राह्मणग्रन्थानुसारेण महर्षिभिः कृतानीति। श्रौतसूत्राणामाविर्भावात्पूर्वं देशे श्रौतकर्माणि याज्ञिकैर्नानुष्ठीयन्तेस्मेति निश्चेतुं न शक्यते, ब्राह्मणग्रन्थानधीयाना याज्ञिका यथायथं कर्मण्यन्वतिष्ठन्नित्यत्र सुलभान्युदाहरणानि। स्मृतिशक्तिस्तेषां विलक्षणाभवत्। यदा हि सामाजिकानां स्मृतिशक्तौ न्यूनतां तेऽपश्यन् सूत्राणि रचयितुमारभन्त। शाखान्तराधिकरणन्यायमनुसर्तुं ते शाखान्तरगतपदार्थोपसंहाराय शाखान्तराण्यप्यालोड्य तद्गतान् मन्त्रान् पदार्थांश्च स्वस्वसूत्रेषु सङ्गृहीतवन्तः। सौत्रमन्त्रत्वेनाद्यापि याज्ञिकेषु प्रसिद्धिः। प्रायस्तत्तत्सूत्रकाराः स्वस्वशाखागतान् मन्त्रान् प्रतीकरूपेण परशाखागतांश्च समग्रान् सूत्रेषूल्लिखन्ति।

गया हैं", उसे देख-लेना चाहिये—पृ० ११५। सचमुच कालगणना करने में तो यह महाकाल ही होगा, अतएव आश्वलायनादि महर्षियों को भी निगल रहा हैं। अरे! यह तो त्रिकालज्ञ प्रतीत हो रहा है। :अजी त्रिकालज्ञ तपस्वीमहर्षिजी! जरा यह तो बताइये, क्या ऐतरेयब्राह्मण के पूर्व कोई ब्राह्मण नहीं था। क्या उपलब्ध ब्राह्मणग्रंथों में भी यह ब्राह्मण प्राचीन है, ऐसा उपपादन कर सकोगे? ब्राह्मणग्रन्थों के अध्ययन करने पर ही ज्ञान हो पाता हैं कि उनमें महान् रहस्य अन्तर्निहित है, जो अन्वेषण के योग्य है। आज का आधुनिक, बैल की तरह खड़े खड़े मूत्रोत्सर्ग करने वाला कच्छविहीन चट से कह देगा कि तैत्तिरीय शाखा अर्वाचीन है, माध्यन्दिन शाखा प्राचीन है। जो व्यक्ति 'मुखमस्तीति वक्तव्यम्' न्याय से बेधड़क होकर यह कह देता है कि 'याज्ञिकों ने भी मन्त्रों की रचना कर उन ग्रन्थों में उन मन्त्रों को जोड़ दिया है' वह वेदरहस्य को कैसे अवगत कर पायगा? वह तो स्वैर होकर यह भी कह देगा कि लोगों ने अपनी रचना करके उसमें जोड़ दी हैं। ज्ञातव्य रहस्य तो यह है—ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वत्र 'तद्धैके', 'तदु तथा न कुर्यात्', 'तत्तन्नादृत्यम्', 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' ऐसा आरम्भ करके और उनके कथन को बताकर 'तत्तथा न कार्यम्', 'तदाहुः' 'तत्तन्नादृत्यम्' इस प्रकार खण्डनरूप स्थल न्यूनाधिकरूप में दिखाई देते हैं। इनको देखने पर ब्राह्मणग्रन्थों की पूर्वापरकालवर्तिता अवश्य आपाततः प्रतीत होगी। किन्तु विद्वान् लोग धैर्य के साथ विचार करते हैं, बालकोचित चञ्चलता का अवलम्बन नहीं किया करते। अधीर होकर अमुक अर्वाचीन हैं और अमुक प्राचीन है, ऐसा निर्णय नहीं किया करते।

यहाँ पर यह भी ज्ञातव्य है कि तत्तच्छाखीय ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार महर्षियों ने तत्तच्छ्रौतसूत्रों की रचना की। श्रौतसूत्रों की रचना होने के पूर्व याज्ञिक लोग श्रौतकर्मों का अनुष्ठान नहीं किया करते थे, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों के अध्येता याज्ञिकलोग श्रौतयज्ञों का अनुष्ठान यथाविधि किया करते थे, इस बात के अनेक उदाहरण सुलभतया उपलब्ध हो सकते हैं। उनकी स्मरणशक्ति विलक्षण हुआ करती थी। जब उन्होंने समाज में लोगों की स्मरणशक्ति का ह्रास होते हुए देखा, तब उन्होंने सूत्रों की रचना करना आरम्भ किया। शाखान्तराधिकरणन्याय का अनुसरण कर उन्होंने अन्यान्यशाखाओं के पदार्थों के उपसंहारार्थ अन्यान्यशाखाओं का सम्यक् आलोडन किया और तद्गत मन्त्रों और पदार्थों का अपने-अपने सूत्रों में संग्रह किया। आज भी याज्ञिकसमाज में सौत्रमन्त्र के रूप में उनकी प्रसिद्धि है। प्रायः तत्तत्सूत्रकार अपनी अपनी शाखा के मन्त्रों को प्रतीक रूप में और अन्य शाखागत मन्त्रों को समग्रतया अपने सूत्रों में लिखा करते हैं।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यत्र स्वाध्यायपदस्य स्वशाखार्थः। तस्या एवाध्ययनविषयत्वम्। स्ववेदगतशाखान्तराणि नाधीयन्ते वेदान्तरगतशाखायास्तु अध्ययनं भवति, तदपि स्वशाखाध्ययनानन्तरमेव। अतस्ववेदगतशाखान्तरमन्त्राणां वा पदार्थानां वा आवश्यकतायां सत्यां सूत्रकाराः समग्रमन्त्रानुपूर्वीं लिखन्ति। तदिदमजानानोऽद्यतनो द्रागब्रवीति—मन्त्रोऽयं सूत्रकारेण कल्पित इति। स्वाध्यायाध्ययनञ्च कर्मानुष्ठानायैव याज्ञिकैरक्रियत, तदपि गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणद्वारैव। आसीत्कश्चन कालो यस्मिन् लेखनसामग्र्यभावेन सर्वं वैदिकवाङ्मयं वाचोविधेयमभवत्। संहिताब्राह्मणयोरध्ययनद्वारा यादृशी वाचोविधेयता पूर्वजानामासीत् तथैव कल्पानां सूत्राणामपि। अत एव कल्पसूत्राधिकरणे (१।३।७) वेदवाक्यैश्चैषां कल्पानां सूत्राणाञ्च तुल्यमादरं विलोक्य पूर्वपक्षी वेदवत्तेषां प्रामाण्यं स्वीकरोति।

तत्र जैमिनिः 'नासन्नियमात्' इति सूत्रेण वेदवदेतेषां स्वरादिनिबन्धनाभावात् वेदमूलकत्वेनैव प्रामाण्यं सिद्धान्तयति। अत्रेदं पर्यालोचनीयम्—यत्कियन्ति शतकान्येवं व्यतीतानि भवेयुरिति। अद्यतनदृष्ट्या नेदं विलोकनीयम्। एषु दिनेषु आयसाक्षरैर्वाक्यानि संयोज्य सद्य एव मुद्रणालये मुद्राप्य कतिपयैरेव दिनैः सर्वत्र भारते तत्पुस्तकं प्रचारयितुं शक्यते। प्राक्तनकाले नासीदियं सामग्री। वाचोविधानमेकमेव साधनं तदानीम्। नात्र मन्त्राणां वा विनियोगस्य वा समायोजनस्यावसरः। यदि वाचोविधाने न विश्वासः, तर्हि समायोजनकार्येऽपि कथं विश्वासः क्रियताम्। अद्य वयं यान् सन्दर्भान् पुस्तकाकारेण पश्यामस्ते तदानीं वाचोविधेयरूपेणासन्नित्यत्र सन्ति सम्प्रत्यपि बहून्युदाहरणानि। अद्यापि जीवन्ति सलक्षणाध्यायिनो याज्ञिकाः, येऽग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधान्तानां कर्मणां कारयितारः। पुस्तकसहायेन विनैव यथायथं कारयितुं समर्थाः। अस्यां स्थितौ वयं ब्राह्मणभाग आरम्भावस्थायां सङ्कुचितगात्र आसीत् कालान्तरे चोपचयं प्राप्त इति,

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यहाँ पर स्वाध्याय पद का 'स्वशाखा' अर्थ है। वही अध्ययन का विषय हुआ करती है, अर्थात् सर्वप्रथम अपनी शाखा का ही लोग अध्ययन करते हैं, अपने ही वेद की अन्य शाखा का अध्ययन नहीं करते। अन्य वेद की शाखा का अध्ययन तो किया जा सकता है, किन्तु उसे भी स्व-शाखा के अध्ययन के पश्चात् ही। यही कारण है कि आवश्यकता पड़ने पर स्व-वेद गत शाखान्तर के मन्त्रों या पदार्थों की समग्र आनुपूर्वी को सूत्रकार लिखा करते हैं। किन्तु आज के आधुनिक अल्पज्ञ लोग इस रहस्य को न जानकर चट से कह बैठते हैं कि यह मन्त्र सूत्रकार का कल्पित है। याज्ञिकलोग कर्मानुष्ठानार्थ ही स्वाध्यायाध्ययन किया करते थे, और वह भी गुरुमुखोच्चारणानुच्चारण द्वारा ही किया करते थे। एक समय था, जिस समय लेखनसामग्री का अभाव रहने से समग्र वैदिक-वाङ्मय को कण्ठस्थ रखा जाता था। संहिता-ब्राह्मण के समान ही कल्पसूत्रों को भी हमारे पूर्वजोंने कण्ठस्थ कर रक्खा था। अत एव कल्पसूत्राधिकरण में (१।३।७) पूर्वपक्षी, वेद और कल्पसूत्र दोनों का समान आदर देखकर वेद के तुल्य ही सूत्रों का स्वतः प्रामाण्य समझ रहा है। तब जैमिनि ने सिद्धान्त किया है—'नासन्नियमात्' इति।

जैमिनिसूत्र से बता रहे हैं कि वेद के समान सूत्रों में स्वरादिनिबन्धन न होने से वेदमूलकत्वेन ही सूत्रों का प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिये। यहांपर यह भी पर्यालोचन करना उचित होगा कि कितनी शताब्दियां इस प्रकार बीती होंगी। आज की दृष्टि से मत देखिये। आज तो कम्पोजीटर्स लोग आयसाक्षरों से वाक्यों को संयोजित कर (कम्पोज कर के) तत्काल ही मुद्रणालय में मुद्रित कराकर कुछ ही दिनों में पुस्तक का प्रचार प्रसार सर्वत्र किया जाता है। किन्तु प्राचीनतर काल में यह सब व्यवस्था तो नहीं थी। ग्रन्थों को सुरक्षित रखने का साधन एकमात्र मुखोद्‌गत करना ही था। ऐसी स्थिति में मन्त्रों को अथवा विनियोग को उनमें जोड़ने (समायोजित करने) का अवसर ही कहाँ था? यदि मुखोद्‌गत रखने की वात पर विश्वास न किया जाय तो समायोजन कार्य की कहानी पर भी विश्वास कैसे किया जाय? आज हम जिन सन्दर्भों को पुस्तकाकार देखते हैं, वे ही सन्दर्भ उस काल में मुखोद्‌गत किये जाते थे। आज भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण अपनी आंखों देखे जा सकते हैं। आज भी ऐसे याज्ञिक जीवित हैं, जिन्होंने सम्प्रदाय पूर्वक सलक्षण वेदाध्ययन कर उसे कण्ठस्थ कर रक्खा है। जो अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्तकर्म का यथाविधि अनुष्ठान पुस्तक की सहायता के बिना ही करा सकते हैं। ऐसी स्थिति में यह कह देना कि 'यह ब्राह्मणभाग, आरम्भकाल में संकुचित गात्र या तदनन्तर कालान्तर में उसमें परिवर्तन-परिवर्धन किया गया, उसी तरह इतना भाग प्राचीन है और इतना भाग अर्वाचीन है,

अयं प्राचोनोऽयञ्चार्वाचीन इति च साधनं कथङ्कारं भवितुमर्हति।

अत्रेदं द्रष्टव्यम्—शतपथब्राह्मणे दर्शपूर्णमासप्रकरणे 'तद्धैके स्रुक्सम्मार्जनान्यग्नावभ्यादधति·······तदु तथा न कुर्यात्·······तस्मादु परास्येदेवैतानि' (श० ब्रा० १।२।४।११) इति दृश्यते। वेदाग्रैः जुहूपभृद्ध्रुवाणां सम्मार्जनं विहितम्—'स्रुचस्सम्मार्ष्टि' इति। वेदस्य शयानवत्सजान्वाकृतिविशिष्टस्य दर्भमुष्टेरग्रभागाः सम्मार्जनानि कथ्यन्ते। स्रुचां सम्मार्जनं विधाय कृतकार्याणि तानि केचनाग्नौ जुह्वति, तत्तथा न कर्तव्यम्, किन्तु तेषां प्रासनमेव कर्तव्यमिति सन्दर्भार्थः। तैत्तिरीयब्राह्मणे 'स्रुक्संमार्जनान्यग्नौ प्रहरति'·······'तान्येके वृथैवापास्यन्ति, तत्तथा न कार्यम्' 'तस्मादेतान्यग्नावेव प्रहरेत्' (तै० ब्रा० ३।३।२) इति दृश्यते।

सन्दर्भद्वयेनेदं निश्चितं भवति यदनयोर्ब्राह्मणयोः पौर्वापर्यं निश्चेतुं न शक्यत इति। एवंविधं नेदमेकमेव स्थलम्। सन्त्यन्यानि भूयांसि स्थलानि। सति चैवं कथं पौर्वापर्यनिश्चयः क्रियताम्। एतादृशेषु स्थलेषु समायोजनं परिवर्धनं वा कथमुपपादयितुं शक्यम्? शतपथब्राह्मणं तैत्तिरीयब्राह्मणमेव, तैत्तिरीयब्राह्मणञ्च शतपथब्राह्मणमेव खण्डयितुं प्रवृत्तमिति न साधयितुं शक्यम्, आसन् बहूनि ब्राह्मणानि यानि चेदानीं नोपलभ्यन्ते। इयमेव स्थितिरैतरेयब्राह्मणस्यापि। ज्योतिष्टोमे द्वितीयदिने प्रायणीयेष्टिः। अत्र पथ्या अग्निः सोमः सविता अदितिश्चेति पञ्च देवता भवन्ति। इयमिष्टिः दर्शपूर्णमासयोर्विकृतिः। एवमन्तिमदिने उदयनीयेष्टिः, तत्रापीमा एव देवताः याः प्रायणीयेष्टेः। इयमपि दर्शपूर्णमासविकृतिः। प्रकृतितोऽतिदेशेन प्रयाजानूयाजादयः पदार्थाः प्राप्यन्ते। तथापि प्रायणीयेष्टिप्रकरणे वाक्यमेवं श्रूयते—'प्रयाजवदननूयाजं कर्तव्यं प्रायणीयमित्याहुः·······तत्तन्नादृत्यम् प्रयाजवदेवानुयाजवत्कर्तव्यम्' (ऐ० ब्रा० २।५)। केचन शाखिनः प्रायणीयं यथा प्रयाजयुक्तं क्रियते तथा अनुयाजयुक्तं न कर्तव्यमित्याहुः, तत्खण्डयते तन्नादृत्यमिति। यथा प्रयाजयुक्तं क्रियते तथाऽनुयाजयुक्तं कर्तव्यम् इति सन्दर्भार्थः।

इत्यादि कथन मीमांसक कहलाने वाले को शोभा नहीं देता।

यहां पर हम लेखक से पूछते हैं कि शतपथब्राह्मण के दर्शपूर्ण मास प्रकरण में 'तद्धैके स्रुक्सम्मार्जनान्यग्नावभ्यादधति·······तदु तथा न कुर्यात्·······तस्मादु परास्येदेवैतानि'—(श० ब्रा० १।२।४।११) यह वाक्य दृष्टिगोचर होता है। वेद (सम्मार्जन कुशमुष्टि) के अग्रभाग से जुहू, उपभृत्, ध्रुवा (यज्ञीय काष्ठपात्र) का सम्मार्जन विहित है—'स्रुचः सम्मार्ष्टि' इति। सम्मार्जन कर चुकने पर उनका काम समाप्त हो जाता है, तब कुछ लोग उन्हें अग्नि में होम कर देते हैं, किन्तु वैसा न करके उनका प्रासन (त्याग) करना ही उचित है, यह पूरे सन्दर्भ का अर्थ है। तैतिरीय ब्राह्मण में 'स्रुक् सम्मार्जनान्यग्नौ प्रहरति·······तान्येके वृथैवापास्यन्ति तत्तथा न कार्यम् तस्मादेतान्यग्नावेव प्रहरेत्'—(तै० ब्रा० ३।३।२) यह वाक्य दृष्टिगोचर होता है।

इन परस्पर विरुद्ध दोनों सन्दर्भों को देखने से यह निश्चित होता है कि इन दोनों ब्राह्मणों का पौर्वापर्य नहीं है। इस प्रकार का यह एक ही स्थल नहीं है, बहुत से ऐसे स्थल हैं। तब ऐसे स्थलों को देखने पर पौर्वापर्य का निर्णय कैसे कोई कर सकता है? ऐसे स्थलों में समायोजन या परिवर्धन का उपपादन भी कैसे कोई कर सकता है? शतपथब्राह्मण· तैत्तिरीयब्राह्मण के खण्डनार्थ या तैत्तिरीयब्राह्मण, शतपथब्राह्मण के खण्डनार्थ प्रवृत्त हुआ है, यह भी सिद्ध नहीं किया जा सकेगा। किसी समय अनेकानेक ब्राह्मण थे, जो आज उपलब्ध नहीं हैं। यही स्थिति ऐतरेय ब्राह्मण की भी है, उसमें ज्योतिष्टोम के द्वितीय दिन 'प्रायणीयेष्टि' का अनुष्ठान बताया है। उस दृष्टि में पथ्या, अग्नि, सोम, सविता और अदिति ये पांच देवता हैं। यह इष्टि, दर्श-पूर्णमास की विकृतिरूप है। एवं अन्तिम दिन उदयनीयेष्टि बताई गई है। जो प्रायणीयेष्टि की देवता हैं वे ही देवता इस उदयनीयेष्टि में भी हैं। यह दृष्टि भी दर्शपूर्णमास की विकृति है। प्रकृति से अतिदेश के द्वारा प्रयाजानूयाजादिपदार्थ विकृति में प्राप्त होते हैं। तथापि प्रायणीयेष्टि के प्रकरण में 'प्रयाजवदनुयाजं कर्तव्यं प्रायणीयमित्याहुः·······तत्तन्नादृत्यम्, प्रयाजवदेवानुयाजवत्कर्तव्यम्' (ऐ० ब्रा० २।५) अन्य शाखा के कुछ विद्वान् कहते हैं कि 'प्रायणीय को जैसे प्रयाजसहित किया जाता है, वैसे उसे अनुयाजयुक्त नहीं करना चाहिये' इस मत का 'तन्नादृत्यम्' से खण्डन करते हैं। अर्थात् जैसे प्रयाज से युक्त करते हैं, वैसे ही अनुयाजयुक्त उसे भी करना चाहिये' यह सम्पूर्ण सन्दर्भ का अर्थ है।

तैत्तिरीयशाखायां षष्ठकाण्डस्य प्रथमप्रपाठके पञ्चमानुवाके सन्दर्भोऽयं तथैव दृश्यते—'ब्रह्मवादिनो वदन्ति प्रयाजवदननूयाजं प्रायणीयं कार्यमनूयाजवत् अप्रयाजमुदयनीयमिति·······तत्तथा न कार्यम्········प्रयाजवदेवानूयाजवत्प्रायणीयं कार्यं प्रयाजवदनूयाजवदुदयनीयम्' (तै० सं० ६।१।५।३, ४)। अनयोर्ब्राह्मणयोरयं भेदः—ऐतरेयेऽनुयाज इति ह्रस्वः, तैत्तिरीये चानूयाज इति दीर्घः, 'प्रयाजवदनूयाजवदुदयनीयम्' इत्यैतरेये नास्ति तैत्तिरीयेतु वर्तते। अत्रापस्तम्बाचार्यः—'आज्यग्रहणकालेऽननूयाजे प्रायणीये चतुर्जुह्वां गृह्णाति, चतुरूपभृतिसमानयनार्थम्' 'अप्रयाजउदयनीये न जुह्वां गृह्णाति, चतुरूपभृत्यनूयार्थम्' 'प्रयाजवदननूयाजमित्युक्तम्' (आप० श्रौ० सू० १०।२१।७-१०) इति सूत्रयति। आश्वलायनश्च 'तदहः प्रायणीयेष्टिः' इति राजक्रयदिने प्रायणीयेष्टिं विधाय तत्र पञ्चस्वपि यागेषु याज्यापुरोनुवाक्याः प्रदर्श्यान्ते 'शंखन्नेयम्' इत्युक्त्वा 'अनाज्यभागा' इति सूत्रयामास।

अत्रायं विषयविवेकः—दर्शपूर्णमासयोः प्रयाजार्थं पात्रद्वये आज्यग्रहणं भवति–जुह्वां चतुर्वारम्, उपभृतिचाष्टवारम्। तत्तथैव प्रायणीयेऽतिदिष्टम्। किन्तु प्रायणीयेऽनूयाजाभावपक्षे उपभृतिचतुर्वारमेवाज्यग्रहणं कर्तव्यमत्रानूयाजाभावात्। उदयनीये प्रयाजाभावपक्षे जुह्वामाज्यग्रहणमेव न कर्तव्यं प्रयाजाभावात्, उपभृतितु चतुर्वारमनूयाजार्थतया ग्राह्यम्। प्रयाजवदननूयाजमिति ब्राह्मण उक्तमित्यापस्तम्बसूत्रार्थः। एवं सूत्रयत आपस्तम्बाचार्यस्याशयोऽयं यदत्रानयोः पक्षयोर्विकल्प इति, यतश्च तैत्तिरीयशाखायां पक्षद्वयस्याप्युक्तत्वात्। आश्वलायनस्त्वेकमेव पक्षं स्वीकरोतीति। इयता सन्दर्भेणेदं निर्गलितम्—यदैतरेयब्राह्मणात्पूर्वं ब्राह्मणान्तरमासीत्, तच्च तैत्तिरीयब्राह्मणं वा भवतु ब्राह्मणान्तरं वेति। ब्राह्मणग्रन्थविषये पौर्वापर्यनिश्चयः कथमपि कर्तुं न शक्यते। तत्र खण्डनविषयस्थलानि पर्यालोचनीयानि—किमत्र तात्पर्यमिति। युगयुगान्तराद् ब्राह्मणभागाः संहिताभागाश्चाध्ययनसम्प्रदायेनागच्छन्ति, सम्प्रदायविच्छेदेन च लुप्ता अनेकाश्शाखा इति मीमांसकानां यः

तैत्तिरीयशाखा में षष्ठकाण्ड के प्रथम प्रपाठक में जो पञ्चम अनुवाक है, उसमें यह सन्दर्भ ठीक वैसे ही दिखाई पड़ता है—'ब्रह्मवादिनो वदन्ति प्रयाजवदननूयाजं प्रायणीयं कार्यमनूयाजवत् अप्रयाजमुदयनीयमिति········तत्तथा न कार्यम्········प्रयाजवदेवानूयाजवत्प्रायणीयंकार्यं प्रयाजवदनूयाजवदुदयनीयम्' (तै० सं० ६।१।५।३।४) उक्त दोनों ब्राह्मणों में भेद इतना ही है कि ऐतरेय में 'अनुयाज' ह्रस्व है, और तैत्तिरीय में 'अनूयाज' दीर्घ है, 'प्रयाजवदनूयाजवदुदयनीयम्' ऐसा ऐतरेय में नहीं है, तैत्तिरीय में तो है। यहाँ पर आपस्तम्वाचार्य ने इस प्रकार सूत्रित किया है—'आज्यग्रहणकालेऽननूयाजे प्रायणीये चतुर्जुह्वां गृह्णाति, चतुरुपभृति समानयनार्थम्' 'अप्रयाज उदयनीये न जुह्वां गृह्णाति, चतुरुपभृत्यनूथाजार्थम्' प्रयाजवदननूयाजम् इत्युक्तम्' (आप० श्रौ० सू०—१०।२१।७-१०)। और आश्वलायन ने इस प्रकार सूत्रित किया है—'तदहः प्राणीयेष्टिः' राजक्रय के दिन प्रायणीयेष्टि का अनुष्ठान कर वहाँ पाँचों यागों में याज्यापुरोनुवाक्याओं को प्रदर्शित किया जाता है 'शंख्वन्तेयम्' कहकर 'अनाज्य भागा' इति।

यहाँ का त्रिषयविवेक इस प्रकार है—दर्श और पूर्णमास दोनों में प्रयाजार्थ दो पात्रों में आज्य का ग्रहण किया जाता है—जुहूपात्र में चार वार और उपभृत्पात्र में आठ बार। उसको ठीक उसी तरह प्रायणीय में अतिदिष्ट किया जाता है। किन्तु प्रायणीय में जब अनूयाजाभाव रहे तब उपभृत् में चार ही बार आज्यग्रहण कर्तव्य होता है, क्योंकि इसमें अनूयाज का अनुष्ठान नहीं करना है। और उदयनीय में जब प्रयाजाभाव रहे तब 'जुहू' में आज्यग्रहण करना ही नहीं है, क्योंकि उसमें प्रयाज का अनुष्ठान नहीं होना है। किन्तु उपभृत् में अनूयाजार्थ चारबार आज्यग्रहण कर्तव्य है। 'प्रयाज के समान अनूयाजरहित यह है' यह सूत्रार्थ है। इस प्रकार सूत्रकार आपस्तम्ब का आशय यह है कि यहाँ इन दो पक्षों में विकल्प है। क्योंकि तैत्तिरीयशाखा में दोनों ही पक्ष बताये हैं। किन्तु आश्वलायन ने एक ही पक्ष को स्वीकार किया है। इतने संदर्भ से क्या यह निष्कर्ष निकला कि–ऐतरेयब्राह्मण के पूर्व कोई अन्य ब्राह्मण रहा होगा, चाहे वह तैत्तिरीयब्राह्मण हो या अन्य कोई ब्राह्मण रहा हो। वास्तव में तो ब्राह्मणग्रन्थों के पौर्वापर्य का निर्धारण हो ही नहीं सकता। जहाँ परस्पर खण्डन सा प्रतीत होता हो, उन स्थलों के तात्पर्य का पर्यालोचन पूर्व परम्परा से प्राप्त शास्त्रीय शैली से करना चाहिए। आज युगयुगान्तर से संहिताभाग और ब्राह्मणभाग के अध्ययन की अविच्छिन्न परम्परा, गुरुसम्प्रदाय पूर्वक चली आरही है। अनेक

पन्थाः स एवोपादेयः। सर्वमिदं परिशील्यैव जैमिनिस्सूत्रयति—'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' इति।

अनन्तरं ११५ पृष्ठे 'काल्पनिक मन्त्रों की रचना' इति शीर्षके मन्त्ररचनायाः काल्पनिकत्वे 'चरण'चतुष्टयं प्रदर्शयति—प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थं इति। तत्र प्रथमे साधारणपरिवर्तनम्—'एष वो अमी राजा' (मा० सं ९-४०; १०.१८) अत्रामी इति स्थाने 'एष वो भरता राजा' इति (तै० सं० १-८-१०-१२) 'एष वः कुरवो राजा' 'एष पञ्चाला राजा' (मै० सं० २-६-९, काठक १५-१७) इति प्रदर्शयति। अयि तपस्विन्? 'भरता' इति स्थान एव माध्यन्दिनशाखायां 'अमी' इति परिवर्तनं कुतो न जातम्? 'अमी' पद स्थान एव 'भरता' इति परिवर्तनावसरे किं त्वमुपस्थितस्तत्रासीः? उत त्वां पृष्ट्वा पदं परिवर्तितमृषिभिः। यदिदानीं स्मरसि कच्चित्? तव गणना माध्यन्दिनशाखानन्तरं तैत्तिरीयशाखा केनचन प्रवर्तिता, तदनन्तरं मैत्रायणीयशाखा, तदनन्तरञ्च काठकशाखेति। पूर्वमेवास्य प्रलापस्योत्तरं दत्तम्।

द्वितीये लिखति—विभिन्नस्थानेषु विभिन्नवाक्यानां संयोजनेन मन्त्रा रचिता इति। अत्र ऋग्वेदस्य खिलपाठ उदाहृतः। लेखकेन महाभागेन किमिति सङ्कोचः क्रियते? पाश्चात्यैस्तदनुसारिभिर्भारतीयैश्चोपदिष्टः प्रशस्तो मार्गो वर्तते एव। तमवलम्ब्य द्वितीये चतुर्थेऽष्टमे वा मण्डले एतावन्ति सूक्तानि, इयन्तस्तृचाः एतावन्तो मन्त्राश्च विरचिताः, ते च संयोजिता इति स्पष्टं किमिति न लिखति महाभागः। अथवा गुरुणा दयानन्देन खिलपाठ एवैतादृश इति पाठितवान् स्यात्। खिलपाठोऽयमिति मुद्रितपुस्तके लिखितं भागमवलोक्य खलु लिखसि त्वम्। कच्चित्सम्प्रदायेनाध्येतारस्त्वया पृष्टाः? कथमयं खिलपाठ इति व्यवह्रियत इति? वेदाध्ययनस्य गुर्वध्ययनपूर्वकत्वं तावदङ्गीकर्तव्यम्। त्वं यथा मुद्रितं पुस्तकमवलोक्य पठसि तदध्ययनं न भवति। :अध्ययनं हि नाम—गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणं भवति। तदिदमध्ययनं देशेविभिन्नसम्प्रदायेन प्रवृत्तमभवत्। सम्प्रदायश्चाविच्छेदेन गुरुशिष्यपारम्पर्येण विद्याप्राप्तिः। तत्र क्वचन प्रान्ते सम्प्रदाये वैकल्ये

शाखाओं का सम्प्रदायविच्छेद हो जाने से लोप भी हो गया है, यही सिद्धान्त मीमांसकों ने किया है, यही उपादेय एवं सर्वमान्य है। इसी अभिप्राय को जैमिनि ने 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' सूत्र से बताया है।

पृष्ठ ११५ पर लेखक महोदय 'काल्पनिक मन्त्रों की रचना' शीर्षक देकर काल्पनिक मन्त्रों की रचना को चार चरणों में प्रदर्शित कर रहें हैं–प्रथमचरण–आरंभ में साधारण परिवर्तन–जैसे, 'एष वो अमी राजा'(मा० सं० ९।४०; १०।१८) इस मंत्र के 'अमी' पद के स्थान में 'एष वो भरता राजा' (तै० सं० १।८।१०।१२), 'एष वः कुरवो राजा' 'एष पञ्चाला राजा'—(मैत्रा० सं० २।६।९; काठ० सं० १५।१७)। किन्तु लेखक से यह पूछा जाय कि 'भरता' के स्थान में ही माध्यन्दिन शाखा में 'अमी' यह परिवर्तन नहीं हुआ, इसे लेखक ने कैसे जान लिया? 'अमी' के स्थान में 'भरता' पद को रखते समय क्या लेखक महोदय वहाँ उपस्थित थे? या इनको पूछकर ऋषियों ने पदपरिवर्तन किया, जो लेखक को याद आरहा है? लेखक ने जो मनगढ़न्त कालक्रम का निर्धारण किया है कि माध्यन्दिनशाखा के अनन्तर तैत्तिरीयशाखा का प्रवर्तन किसी ने किया, तदनन्तर मैत्रायणीयशाखा, तदनन्तर काठकशाखा का प्रवर्तन किया इत्यादि, यह सब लेखक का प्रलापमात्र है, इसका उत्तर हम पहले ही दे चुके हैं।

द्वितीय चरण में लेखक लिखते हैं कि मन्त्रों के विभिन्न स्थानों के विभिन्न वाक्य जोड़कर मन्त्रों की रचना की गई है, इसमें ऋग्वेद के खिलपाठ को उदाहरण के रूप में रखा है। लेखक ने इतना संकोच क्यों किया? पाश्चात्य और उनके अनुयायी कतिपय भारतीयों के द्वारा उपदिष्ट प्रशस्त मार्ग है ही, उसके सहारे द्वितीय, चतुर्थ या अष्टम मण्डल में इतने सूक्त, इतनी ऋचायें, इतने मन्त्र विरचित हैं, और उन्हें जोड़ दिया गया है, ऐसा स्पष्ट ही क्यों नही लिख मारा? अथवा तुम्हारे गुरु दयानन्द ने खिलपाठ ही ऐसा है, ऐसा कदाचित् कहा होगा। मुद्रित पुस्तक में 'खिलपाठोऽयम्' इसप्रकार लिखित भाग को देखकर ही तुम लिख रहे हो। क्या कभी तुमने सम्प्रदायपुरःसर अध्ययन करने वालों से पूछा है कि इसे 'खिलपाठ' क्यों कहा जाता है? वेदाध्ययन तो गुर्वध्ययनपूर्वक ही हुआ करता है। तुम मुद्रित पुस्तक को देखकर जैसे पढ़ते हो, उसे अध्ययन नहीं कहा जायगा, वह अध्ययन ही नहीं है। अध्ययन तो गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणरूप ही हुआ करता है। इसप्रकार का यह अध्ययन देश में अनेक भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के द्वारा प्रवृत्त हुआ। अविच्छिन्न गुरु-शिष्यपरम्परा से विद्याप्राप्ति को सम्प्रदाय कहते हैं। किसी प्रान्त में सम्प्रदाय-वैकल्य होने पर अन्यसम्प्रदाय का अवलम्बन

जाते सम्प्रदायान्तरावलम्बिभिः खिलपाठ इति व्यवहारः कृतस्स्यात्। एवञ्च व्यवहारप्रयुक्तमिदं नाम, न तु केनापि मन्त्रान् विरच्य योजितत्वात्खिलपाठ इति। सूत्रकार आश्वलायन इमान् मन्त्रान् विनियुङ्क्ते।

तृतीये लिखति—'तदनन्तर वैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों का सन्निवेश मात्र करके (जिससे वे वैदिक मन्त्रवत् प्रतीव हों) मन्त्र रचे गये' इति (पृ० ११६)। तत्र टिप्पण्यां सावित्रीमन्त्रगतं 'नः प्रचोदयात्' इति भागमुदाहरति। किमङ्ग ? त्वदभिमतसावित्रीमन्त्रगतः 'नः प्रचोदयात्' इति भागोऽपि तत्र केनापि योजित इति कथं न ब्रूषे। तेन मन्त्रेण किं पुण्यमाचरितम् ? मैत्रायणीयसंहितागतैश्च तैः किं पापमाचरितम् ? अत्र किं किमपि विनिगमकमुपस्थापयितुं शक्नोषि ? अभ्यासाधिकरणन्यायेनात्र मन्त्रभेदः किमिति नाङ्गीक्रियते ? कर्मकाण्डम्, अध्यात्मवादञ्च मिश्रीकृत्य क्वचित्किञ्चिदिति कृसरान्नवद्व्यवहारो न कर्तव्यः। उभावपि पन्थानौ भिन्नौ। यदेव निवृत्तिं प्रति कारणं तदेव न प्रवृत्तिं प्रत्यपि। मन्त्रसिद्धिः मन्त्रगतदेवतासिद्धिरिति कर्मकाण्डे सन्ति नैकविधाः पन्थानः। तत्र रामगायत्री दुर्गागायत्री रुद्रगायत्रीत्यादयो मन्त्रास्सम्प्रदायागता नैकविधाः। चतुर्णां वेदानां तत्तच्छाखानाञ्चाध्येतॄणां गायत्रीमन्त्र एक एवोपनयनकाल उपदिश्यते पच्छशः, मन्त्रस्यास्य जपस्त्वन्यादृशः। सायंप्रातर्मध्यन्दिनेषु कालेषु सन्ध्यायां मन्त्रस्य रूपमेकमेव। वन्दनञ्च प्रकारान्तरम्। सन्ध्यावन्दनमिति-व्यवहारे सन्ध्यायाः प्रकारो वन्दनस्य च प्रकारो भिन्नः। इदञ्च सम्प्रदायादेवावगन्तुं शक्यम्।

वीरमित्रोदयकारेण सत्यं रामगायत्री प्रदर्शिता, किन्तु रामगायत्र्या पुष्पाञ्जलिर्देयेति न कथितं स्यात्। तवैवेदं वाक्यं पुष्पाञ्जलिर्देयेति। वीरमित्रोदयकारेण किम्, ततः पूर्वं कृत्यकल्पतरुकारोऽपि गायत्रीमिमां लिखति। त्वं तु न राममङ्गीकरोषि, न दुर्गाम्, न रुद्रम्। निस्सङ्कोचं पुष्पाञ्जलिर्देयेति लिखसि। किं दयानन्देनाञ्जलिशब्दः स्त्रीलिङ्ग, इति ग्राहितः ? यथा वदति सः तदेव प्रमाणं तव। अथर्ववेदे परिशील्यमाने नाना गायत्र्यः पठिता दृश्यन्ते। सर्वमिदं

करने वालों ने उसे 'खिलपाठ' शब्द से व्यवहार करना आरंभ कर दिया हो, यह कह सकते हैं। एवञ्च व्यवहारप्रयुक्त यह नामकरण हैं। किसी ने मन्त्रों की रचनाकर पहले में उन्हें जोड़ दिया, इसलिये उसे 'खिलपाठ' नहीं कहने लगे। क्योंकि सूत्रकार आश्वलायन-महर्षि ने उन मन्त्रों का विनियोग बताया है।

पुनः लेखक महोदय पृ० ११६ पर तृतीय चरण में लिखते हैं कि 'तदनन्तर वैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों का सन्निवेशमात्र करके (जिससे वे वैदिकमन्त्रवत् प्रतीत हों) मन्त्र रचे गये'। वही पर टिप्पणी में सावित्रीमन्त्रगत 'नः प्रचोदयात्' भाग को उदाहरण के रूप में उपस्थित किया है। किन्तु लेखक जी ! जरा यह तो बताइये, कि क्या तुम्हारे अभिमत सावित्रीमन्त्रगत 'नः प्रचोदयात्' भाग को भी किसी ने जोड़दिया है ? यह क्यों नहीं कह रहे हो ? क्या उस मन्त्र ने कोई पुण्य किया है ? और मैत्रायणीयसंहिता के मन्त्रों ने कोई पाप किया है क्या ? इस विषय में क्या कोई विनिगमक उपस्थित कर सकोगे ? अभ्यासाधिकरण न्याय से यहां मन्त्र-भेद को क्यों नहीं स्वीकार करते ? कर्मकाण्ड और अध्यात्मवाद दोनों का कहीं किञ्चित् सम्मिश्रण कर खिचड़ी करदेना उचित नहीं हैं। दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। जो निवृत्ति के प्रति हेतु हैं, वही प्रवृत्ति के प्रति हेतु नहीं हो सकता। मन्त्रसिद्धि, मन्त्रगतदेवतासिद्धि आदि अनेक मार्ग कर्मकाण्ड में हुआ करते हैं। उसी में रामगायत्री, दुर्गागायत्री, रुद्रगायत्री इत्यादि अनेकविधमन्त्र सम्प्रदायगत हैं। किन्तु चारों वेदों की तत्तत्शाखाओं के अध्ययन करने वालों का गायत्रीमन्त्र एक ही है, और उसका पादशः उपदेश उपनयनकाल में ही किया जाता है। और इस मन्त्र के जप का प्रकार भी कुछ अन्य ही है। साय, प्रातः, मध्याह्नकाल की संध्या में मन्त्र का रूप एक सा ही है। किन्तु वन्दन का प्रकार भिन्न है। 'संध्यावन्दनम्' इस व्यवहार में संध्या का और वन्दन का प्रकार भिन्न हा है। यह सब सम्प्रदाय से ही जाना जा सकता है।

वीरमित्रोदयकार ने रामगायत्री को प्रदर्शित किया है, इतना तो सच है, किन्तु रामगायत्री से पुष्पाञ्जलि देने को उसने नहीं कहा होगा। 'पुष्पाञ्जलिर्देया' यह वाक्य तुम्हारा ही है। वीरमित्रोदयकार ने ही क्यों, उसके भी पूर्व कृत्यकल्पतरुकार ने भी इस गायत्री को लिखा है। तुम तो राम, दुर्गा या रुद्र किसी को मानते नहीं हो, किन्तु 'पुष्पाञ्जलिर्देया' वाक्य निःसंकोच लिख रहे हो। क्या दयानन्द ने 'अञ्जलि' शब्द को स्त्रीलिङ्ग में तुम्हें बताया है ? क्योंकि जैसा वह बतावें वही तुम्हारे लिये प्रमाण है। अथर्ववेद का

केनापि समायोजितमिति कथनं निर्मूलम्, अध्ययनसम्प्रदाये तेषामध्ययनमधुनापि वर्तते। सम्प्रदायस्त्वन्धश्रद्धाविजृम्भित इति त्वं ब्रूयाः, तथापि त्वं यद्यद् वदसि लिखसि च तत्रान्धश्रद्धाविजृम्भितत्वं किं नास्ति ? यदेव दयानन्देन बोधितं तदेव खलु त्वमपि वदसि लिखसि च। उलूखलकिसलयमते यथा जात ? 'चतुर्थं' इत्यारभ्य लिखसि 'ओं ह्रीं हुं फट् स्वाहा, आदि सर्वथा अर्थरहित तान्त्रिक मन्त्रों की रचना में परिणत हुई' (पृ० ११७) इति। धूर्तशिरोमणिः ओङ्कारमपि न परित्यक्तवान्, तस्याप्यर्थरहितत्वमुल्लिखति। यद्यमीषामक्षराणां वर्णानाञ्चार्थं ज्ञातुमिच्छसि, तर्ह्यागच्छ, तान्त्रिकान् शुश्रूषस्व। अस्मिन् जन्मनि तव कदाचिदर्थावबोधो न जायेत, तर्हि जन्मान्तरं गृह्णीष्व। जन्मान्तरे च त्वादृशस्य कथं विश्वासः ? अमीषां बीजाक्षराणामर्थापरिज्ञानेन म्रियस्व, अथवा ब्रह्मराक्षसो भव। तव बुद्धेर्विषयो न जात इत्येतावन्मात्रेण निरर्थकानीमानि बीजाक्षराणि न भवेयुः।

'याज्ञिकवाद की मन्त्रानर्थक्यवाद में परिणति' इत्युपक्रम्य (पृ० ११७) भगिन्या मीमांसायाः शीलभङ्गमपि चिकीर्षति हठः। तत्र लिखति—'ब्राह्मण ग्रन्थों की मुख्यता यहां तक बढ़ी कि 'उरु प्रथस्व' आदि मन्त्रों में विद्यमान साक्षात् विधायक लोट् लिङ् और लेट् लकारों को विधायक न मानकर ब्राह्मण ग्रन्थों के 'प्रथयति' आदि पदों को ही विधि-अर्थवाला माना गया'. इति। लिङ्लोट्लेट्श्रवणमात्रेण सर्वत्र विधायकत्वमङ्गीकुर्वंस्त्वं मातरि भगिन्यां वध्वां भार्यायाञ्च स्त्रीत्वं समानं पश्येः। स्त्रीत्वमुपभोगसाधनम्, तच्च सर्वत्र समानं दृश्यत इति महदनिष्टं भवेत्। मन्त्राधिकरणे मन्त्राणामविवक्षितार्थत्वपूर्वपक्षावसरे मन्त्रोऽयमुदाहृतः—'उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्' इति अस्य मन्त्रस्य विनियोजकं ब्राह्मणम्—'उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति' इति यदा वर्तते तदा मन्त्राणां विवक्षितार्थत्वं कुत इति पूर्वपक्षः। अत्रत्यं पूर्वपक्षं समर्थयन् ब्राह्मणभागस्य कल्पितत्वं द्रढयितुमिच्छति लेखकः। 'उरु प्रथस्व' इति मन्त्रे सत्यमेव लोट् लकारः, सच विधायक इत्यपि सत्यमेव, किन्त्वत्र मध्यमपुरुषैकवचनमस्ति। तच्च हे पुरोडाश, त्वं प्रथस्वेति पुरोडाशं सम्बोध्य वदति। अर्थात् पुरोडाश ? त्वं प्रथस्व-वृद्धिगतो भवेति विधत्ते। किं पुरोडाशः स्वयं वृद्धिगतो भवेत्, पुरोडाशस्तु

परिशीलन करने पर अनेक गायत्रियाँ उससे पढी हुई दिखाई देंगी। 'यह सत्र किसी ने जोड़ दिया है' इत्यादि कथन निर्मूल है। अध्ययनसम्प्रदाय में उनका अध्ययन आज भी किया जाता है। यद्यपि तुम सम्प्रदाय को अन्धश्रद्धाविजृम्भित कहोगे, तो क्या तुम्हारा बोलना और लिखना अन्धश्रद्धाविजृम्भित नहीं है ? जो कुछ दयानन्द ने समझा दिया, उसीको तुम भी बोलते लिखते हो पृ० ११७ पर 'चतुर्थ' ऐसा आरंभकर लेखक लिख रहें हैं कि ओं ह्रीं ह्रं फट्' स्वाहा आदि, सर्वथा अर्थरहित तान्त्रिकमन्त्रों की रचना में परिणत हुई' इति। इस धूर्तशिरोमणि ने ओंकार को भी नहीं छोड़ा, उसे भी अर्थरहित लिख रहा है। यदि इन अक्षरों का वर्णों का अर्थ जानना चाहते हो तो आओ, तान्त्रिकों की सेवा करो। इस जन्म में तुम्हें कदाचित् अर्थज्ञान न हो पाय तो दूसरा जन्म लो। किन्तु तुम जैसे को पुनर्जन्म में विश्वास कैसे हो पायगा ? तुम्हें इन बीजाक्षरों का अर्थज्ञान नहीं हो पाया, इस कारण ये बीजाक्षर निरर्थक नहीं हो जायेंगे।

'याज्ञिकवाद की मन्त्रानर्थक्यवाद में परिणति' ऐसा उपक्रमकर लेखक महोदय ने लिखा है कि 'ब्राह्मणग्रन्थों की मुख्यता यहाँ तक बढ़ी कि 'उरु प्रथस्व' आदि मन्त्रों में विद्यमान साक्षात् विधायक लोट्, लिङ् और लेट् लकारों को विधायक न मानकर ब्राह्मणग्रन्थों के 'प्रथयति' आदि पक्षों को ही विधि-अर्थवाला माना गया।' लिङ्, लोट्, लेट् के श्रवणमात्र से ही सर्वत्र विधायकत्व समझना, माँ, बहन, भार्या, पुत्रवधू, कन्या आदि सभी में स्त्रीत्व को समानरूप से देखने के बराबर ही होगा। उपभोग के साधनभूत 'स्त्रीत्व' को सबमें तुल्य देखने के समान अन्य महापाप नहीं। मन्त्राधिकरण में मन्त्रों की अविवक्षितार्थता का पूर्वपक्ष करते समय मन्त्र का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—'उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिःप्रथताम्' इति। इस मन्त्र का विनियोजक ब्राह्मण—'उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति' है। ऐसी स्थिति में मन्त्रों की विवक्षितार्थता कैसे हो सकती है ? यह पूर्वपक्षी ने पूर्वपक्ष किया है। किन्तु लेखक महोदय इतनी सी बात को नहीं समझ पाये, अतः पूर्वपक्ष का ही समर्थन करने लग गये, और ब्राह्मणभाग को कल्पित कहने लगे। 'उरु प्रथस्व' मंत्र में लोट् लकार है, यह तुम्हारा कहना सच है, और वह विधायक है, यह भी सच है किन्तु वह यहाँ पर मध्यमपुरुष के एक वचन में है। वह पुरोडाश को संबोधित कर यह बता रहा है कि 'हे पुरोडाश ! त्वं 'प्रथस्व' अर्थात् हे पुरोडाश। तुम 'प्रथस्व' वृद्धि को प्राप्त हो, यानी विस्तृत हो जाओ, अब सोचना यह है कि क्या पुरोडाश, स्वयं अपने आप बढ़ जायगा ? सम्यक्

सम्यक्संयुतेन पिष्टेन निर्मितं द्रव्यम्, तस्य प्रथनञ्चाग्नौ सेकेन भवितुमर्हति। किं स्वयं पुरोडाशोऽग्निसेकं स्वस्य कृत्वा प्रथनं कुर्यात्? पुरोडाशस्य प्रथनकार्यमध्वर्युः कुर्यात्। अध्वर्युः मन्त्रार्थं जानाति—'त्वं उरु विपुलं यथा स्याः तथा प्रथस्वेति।' किं मन्त्रस्यास्य जपेन पुरोडाशस्य प्रथनं स्यात्। अध्वर्युणा सेकक्रियायां क्रियमाणायां पुरोडाशस्य प्रथनं भवेत्। तदर्थं विधेरावश्यकतायां 'इति पुरोडाशं प्रथयति' इति। अनेन मन्त्रेण अर्थादिकं मन्त्रमुच्चार्याध्वर्युः पुरोडाशं प्रथयेदिति विधिः प्रवृत्तः। मन्त्राणां विनियोगे सामर्थ्यं प्रमाणम्। तच्च सामर्थ्यं श्रुतिं कल्पयित्वैव विनियोजकम्। कल्प्यमानायाः श्रुतेरेव विधायकत्वम्—अनेन मन्त्रेणेदं कार्यं कर्तव्यमिति। अत्र च कल्पनाया आवश्यकता नास्ति, 'इति पुरोडाशं प्रथयति' इति प्रत्यक्षविधेरेव सत्वात्। लेखको मन्यते—यदयं सर्वोऽपि विधिभागः केनचन कल्पित इति। 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इति मन्त्रो बर्हिर्लवनप्रकाशनसमर्थः, अत्रानेन मन्त्रेण बर्हिर्लवनं कुर्यादिति विधिः कल्प्यत एव। मीमांसकेन यद्वाक्यं कल्प्यते तच्छ्रुतिवाक्यमेव। अत एवोक्तं न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकारैः—

> 'मीमांसासंज्ञकस्तर्कस्सर्वो वेदसमुद्भवः।
> सोऽतो वेदो रुमाप्राप्तकाष्ठादिलवणात्मवत्॥

पूजितविचारवचनो हि मीमांसाशब्दः। अयुक्तप्रतिषेधेन युक्ताभ्यनुज्ञानं तर्कः। प्रमाणेतिकर्तव्यतात्वेन च प्रमाणाद्वेदादभेद उक्तः, सोऽतो वेद इति' (पृ० ४१)।

महर्षिर्जैमिनिः तानि द्वैधाधिकरणे गुणकर्मविधानेन प्रधानकर्मविधानेन चाख्यातानां द्वैविध्यमभिधायप्रसङ्गात् तृतीयमपि प्रकारान्तरमनुवादकत्वरूपं केषाञ्चिदाख्यातानां निरूपयितुं विधिमन्त्राधिकरणं प्रवर्तयामास। तत्रत्यमिदं सिद्धान्तसूत्रम्—'अपि वा प्रयोगसामर्थ्यात् मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्' इति। सूत्रस्यायमर्थः—अपि वेति पदद्वयं पूर्वपक्षव्यावर्तकम्।

जलमिश्रित पिष्ट से निर्मित द्रव्य को पुरोडाश कहते हैं। उसका प्रथन (विस्तार, फूलना) अग्नि में सेकने पर होता है। क्या पुरोडाश स्वयं अग्निसेक कर अपना प्रथन कर लेगा? पुरोडाश का प्रधनकार्य अध्वर्यु करता है। अध्वर्यु मन्त्रार्थ -'त्वं उरु विपुलं यथा स्याः तथा प्रथस्व' - को जानता है। क्या मन्त्र का जप करते रहने से पुरोडाश का प्रथन हो जायगा? अध्वर्यु जब अग्नि से पुरोडाश पर सेकक्रिया करेगा तब पुरोडाश का प्रथन होगा। तदर्थविधि की आवश्यकता पड़ने पर 'इति पुरोडाशं प्रथयति' यहाँ 'इति' का अर्थ होगा 'अनेन मन्त्रेण' इस मन्त्र से अर्थात् इस मन्त्र का उच्चारण करके 'अध्वर्यु पुरोडाश का प्रथन करे' यह कहने के लिये विधि प्रवृत्त हुआ है। मन्त्रों के विनियोग में सामर्थ्य को प्रमाण माना गया है। सामर्थ्य में स्वतन्त्ररूप से विनियोजक शक्ति नहीं रहती, अपितु उसे श्रुति की कल्पना करनी पड़ती है, श्रुति की कल्पना करने पर ही सामर्थ्य विनियोजक हो पाता है। कल्प्यमान श्रुति में ही विधायकत्व शक्ति-रहती है। 'अनेन मन्त्रेण इदं कार्यं कर्तव्यम्' यही विधान का स्वरूप है। प्रस्तुत प्रसंग में कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि 'इतिपुरोडाशं प्रथयति' यह प्रत्यक्षविधि हो विद्यमान है। लेखक महोदय समझ रहे हैं कि सम्पूर्ण विधिभाग ही किसी से कल्पित किया गया है। 'बर्हिर्देवसदनं दामि' यह मन्त्र बर्हिर्लवनरूप अर्थ का प्रकाश करने में समर्थ है। इस प्रकार मन्त्र में सामर्थ्य रहने पर भी, उस सामर्थ्य को विनियोजक बनने के लिये 'अनेन मन्त्रेण बर्हिर्लवनं कुर्यात्' इस प्रकार के विधि की कल्पना करनी ही पड़ती है। मीमांसक जिस वाक्य की कल्पना करता है, उसे ही श्रुतिवाक्य कहते हैं। अत एव न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकार ने कहा है—

> "मीमांसासंज्ञकस्तर्कः सर्वो वेदसमुद्भवः।
> सोऽतो वेदो रुमाप्राप्तकाष्ठादिलवणात्मवत्॥"

'मीमांसा' शब्द पूजित विचार का वाचक है, अर्थात् पूजित विचार को 'मीमांसा' कहते हैं। 'पूजित विचारवचनो हि मीमांसाशब्दः। अयुक्तप्रतिषेधेन युक्ताभ्यनुज्ञानं तर्कः। प्रमाणेतिकर्तव्यतात्वेन च प्रमाणाद्वेदादभेद उक्तः, सोऽतो वेद इति'—(पृ० ४१)।

महर्षिजैमिनि ने 'तानि द्वैधाधिकरण' में गुणकर्म के विधान और प्रधान कर्म के विधान के द्वारा आख्यातों के द्वैविध्य को बताकर प्रसंगात् आख्यातों के अनुवादकत्वरूप एक तृतीय प्रकार को भी बताने के लिये 'विधिमन्त्राधिकरण' की रचना की। वहाँ का यह सिद्धान्तसूत्र है—'अपि वा प्रयोगसामर्थ्यात् मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्' इति। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—'अपि' और 'वा' ये

मन्त्रः—मन्त्रगताख्यातशब्दः, अभिधानवाची–विधायकाख्यातशब्दाभिहितस्यानुवादकस्स्यात्। अत्रैव हेतुः—प्रयोगसामर्थ्यादिति। प्रयोगोऽनुष्ठानम्, तन्मध्ये प्रयोक्तृपुरुषस्यान्यस्य वानुष्ठेयार्थे बोधनीये सामर्थ्यात् विधौ चासामर्थ्यादिति। मन्त्राः प्रयोक्तृपुरुषाणामन्येषां वा श्रोतॄणामनुष्ठेयार्थबोधनाय प्रयुज्यन्ते, तत्रैव तेषां सामर्थ्यम् न तु विधान इति भावः। अतश्च मन्त्रगताख्यातम् अभिधायकम् न विधायकमिति सिध्यति। यत्कार्यं मन्त्रेण विधातव्यम् तच्चेत्प्रमाणान्तरेण विहितम् तर्हि मन्त्रः केवलं तमर्थमभिधत्त इत्यभिधायकम् प्राप्तस्य बोधकमित्यर्थः। भाष्यकारः ‘प्रयोगसामर्थ्यात्’ इत्यस्यार्थं लिखति—‘प्रयोगे क्रियमाणे अस्य (मन्त्रस्य) सामर्थ्यं विद्यते गोयागं गोदानञ्च प्रत्याययितुम्, न विधातुम्’ इति। लेखकस्य सूत्रार्थं पश्यामः—‘अर्थात् प्रयोग=ब्राह्मणवचन के सामर्थ्य से (ब्राह्मणवचन अनर्थक न हो जावे, इसलिये)’ इति लिखति। ‘प्रयोग’ शब्दस्य ब्राह्मणवचनमर्थ इति कस्माधीतं लेखकेन ? किं दयानन्दात् ? उत म० म० चिन्नस्वामिशास्त्रिभ्यः ? शास्त्रिचरणास्तु नैवमध्यापितवन्तः स्युः। यदि मन्त्राणां विधायकत्वं स्वीक्रियते तर्हि विधिमन्त्राधिकरणस्य का गतिः ? विधिमन्त्राधिकरणभाष्यस्यानुवादं कथं कुर्याः ?

दधिक्राव्णन् शब्दस्याश्ववाचकत्वमुक्त्वा पदे पदे तं मन्त्रमुदाहृत्य तद्विनियोगे त्रुटिं विनियोजकवाक्यस्य काल्पनिकत्वञ्च वारं वारं वदसि। अस्तु तस्य शब्दस्याश्वोऽर्थः। दधिप्राशने तस्य मन्त्रस्य विनियोगे क्रियमाणे शास्त्रतोऽसङ्गतिः का ? यथा मन्त्रोऽर्थं वदति न तथा कार्यं क्रियत इत्येव खलु तवारोपः। शास्त्रदृष्ट्यात्रेदमुच्यते—मन्त्रा भवन्ति नैकविधाः, जपानुमन्त्रणाभिमन्त्रणाप्यायनोपस्थानकरणक्रियमाणानुवादिशस्त्रस्तोत्रयाज्यापुरोनुवाक्यादिभेदेन। चिरन्तनैरेतेषां लक्षणान्यपि सन्ति कृतानि।

‘जपमुच्चारणं विद्यात्कृत्वर्थमपि तद्भवेत्।
अर्थतः कार्यलाभश्चेदर्थे एव क्रतोर्भवेत्॥
मन्त्रमुच्चारयन्नेव मन्त्रार्थत्वेन संस्मरेत्।
शेषिणं तन्मना भूत्वा स्यादेतदनुमन्त्रणम्॥

दोनों पद, पूर्वपक्ष के व्यावर्तक हैं। मन्त्रः = मन्त्रगत आख्यातशब्द, अभिधानवाची = आख्यातरूप विधायक शब्द से अभिहित (विहित) का अनुवादक होगा, क्योंकि प्रयोगसामर्थ्यात्=प्रयोगः = अनुष्ठान, उस समय (अनुष्ठान करते समय) अनुवादक बना हुआ मन्त्रगत आख्यात शब्द ही अनुष्ठान करनेवाले को तथा अन्य व्यक्ति को भी अनुष्ठेय अर्थ (पदार्थ) का बोध-कराने में समर्थ रहता है, विधान करने में उसका सामर्थ्य नहीं होता। अर्थात् मन्त्रों का प्रयोग, अनुष्ठाताव्यक्ति और अन्य श्रोताओं को अनुष्ठेय पदार्थ का बोध कराने के उद्देश्य से ही किया जाता है। लोगों को बोध कराने का सामर्थ्य मन्त्रों में ही रहता है, विधान करने में नहीं। इस कारण मन्त्रगत आख्यात शब्द को अभिधायक कहते हैं, विधायक नहीं। जो कार्य मन्त्र से विधातव्य है, वह यदि अन्य प्रमाण (प्रमाणान्तर) से विहित होगया हो, तो मन्त्र, उस अर्थ का केवल अभिधान करता है, इसीलिये उसे अभिधायक अर्थात् प्राप्त हुए का बोधक कहते हैं। भाष्यकार ‘प्रयोगसामर्थ्यात्’ का अर्थ लिखते हैं—‘प्रयोगे क्रियमाणे अस्य (मन्त्रस्य) सामर्थ्यं विद्यते, गोयागं, गोदानञ्च प्रत्याययितुं, न विधातुम्’ इति। प्रयोग (अनुष्ठान) करते समय मन्त्रोच्चारण से यह गोयाग है, यह गोदान है इतना ज्ञान सबको हो जाता है, सबको पदार्थज्ञान कराने का ही सामर्थ्य मन्त्रों में है, विधान करने का नहीं। अब इसी सूत्र का अर्थ, जो लेखक ने किया है, उसे देखिये—‘अर्थात् प्रयोग=ब्राह्मणवचन के सामर्थ्य से (ब्राह्मण वचन अनर्थक न हो जावे, इसलिये)। लेखक महोदय ‘प्रयोग’ शब्द का ब्राह्मण वचन अर्थ करते हैं। यह अर्थ लेखक ने किससे पढ़ा ? क्या दयानन्द से पढ़ा ? अथवा म० म० चिन्नस्वामी शास्त्री जी से पढ़ा ? हमारे स्व० गुरुचरण म० म० चिन्नस्वामी शास्त्री जी ने तो कभी भी ऐसा अर्थ नहीं पढ़ाया होगा, यह हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं। यदि मन्त्रों को विधायक मानोगे तो विधिमन्त्राधिकरण की क्या गति होगी ? विधिमन्त्राधिकरण के भाष्य का अनुवाद कैसे करोगे ?

‘दधिक्राव्णन्’ शब्द को अश्व का वाचक बताकर और जहाँ तहाँ उस मन्त्र को सामने रख रहे हो, और उसके विनियोग में त्रुटि बतलाते हुए बार बार विनियोजक वाक्य को काल्पनिक बतारहे हो। तुम्हारे कथन के अनुसार उस शब्द का अर्थ भले ही

एतदेवाभिमन्त्रस्य लक्षणञ्चेक्षणाधिकम् ।
अद्भिस्संस्पर्शनाधिक्यात्तदेवाप्यायनं स्मृतम् ॥
उपस्थानं तदेव स्यात्प्रणतिस्थानसंयुतम् ।
बाह्यं कार्यं यदेतेषु मन्त्रकाले क्रियेत तत् ॥
कर्मणः करणास्तेस्युर्विहितार्थप्रकाशनात् ।
मन्त्रेण कृत्वा मन्त्रान्ते क्रियते कर्म येषु तु ॥
इदं कार्यमनेनेति न क्वचिद्दृश्यते विधिः ।
लिङ्गादेवेदमर्थत्वं येषां ते मन्त्रसंज्ञिताः ॥

तन्त्रसारे—

'इत्याहोपनिबन्धश्च मन्त्राणां दृश्यते विधिः ।
ब्रूमादेशश्चाहशब्दः सोऽभिधानाभिधायकः' ॥
उद्देश्याभिमुखत्वे तु स्यात्तदेवाभिमन्त्रणम् ।
उपस्थितिस्तु बोधस्याद्बोधान्तोच्चारणं जपः ॥ इति ।

स्तोत्रशस्त्राणां स्तौतिशंसतिशब्दाभ्यामभिधानार्थता । स्तुतशस्त्राधिकरणे स्तोत्रशस्त्रयोरदृष्टार्थत्वं यद्यपि व्यवस्थापितम्, तथापि तन्मन्त्राणामभिधानरूपदृष्टार्थत्वं न विरुध्यते । हुम्फडादीनां न निरर्थकत्वम्, कात्यायनादिकृतस्तोमभाष्यरीत्या अर्थाभिधानार्थतास्त्येव । नवमे यद्यपि स्तोभानामनर्थकत्वं वक्ष्यते, तथापि साम्नां योनिभूतऋगेकवाक्यत्वाभिप्रायक नवमाधिकरणमिति तात्पर्यं कल्पनीयमिति न दोषः । एवञ्च कृत्स्नस्य मन्त्रभागस्य विवक्षितार्थत्वं मन्त्राधिकरणन्यायसिद्धम् ।

अत्रेदं विचारणीयम्—मन्त्रार्थप्रतीतिः किं प्रयोक्तुः ? उत श्रोतुः ? इति । तत्रानुष्ठानहेतुभूतानुष्ठेयस्मरणार्थत्वं करणमन्त्राणामस्तीति मन्त्रजन्यः शाब्दबोधो मन्त्रप्रयोक्तुरेवेति ज्ञायते, किन्तु विचार्यमाणे श्रोतुरेवेति प्रतीयते, शब्दोच्चार-

'अश्व' रहे । किन्तु दधिप्राशन में उस मन्त्र का विनियोग करने में शास्त्रतः कौन सी असङ्गति है ? मन्त्र के अर्थानुसार कार्य नहीं किया जारहा है, यही तुम्हारा आरोप है न ? शास्त्रदृष्टि से हम यह बता रहे हैं—मन्त्र अनेक प्रकार के होते हैं, कुछ जपमन्त्र, तो कुछ अनुमन्त्रणमन्त्र, कुछ अभिमन्त्रणमन्त्र, कुछ आप्यायनमन्त्र, कुछ उपस्थानमन्त्र, कुछ करणमन्त्र, कुछ क्रियमाणानुवादीमन्त्र, कुछ शस्त्रमन्त्र, कुछ स्तोत्रमन्त्र, कुछ याज्यामन्त्र, कुछ पुरोनुवाक्यामन्त्र इत्यादि अनेक भेद हैं । प्राचीन विद्वानों ने उनके लक्षण भी किये हुए हैं उन सब लक्षणों को ऊपर मूल संस्कृत में दिया गया है ।

'स्तौति-शंसति' शब्दों से स्तोत्र-शस्त्र मन्त्रों की अभिधानार्थता बताई जाती है । स्तुतशस्त्राधिकरण में स्तोत्र-शस्त्र की अदृष्टार्थता यद्यपि व्यवस्थित की गई है । तथापि स्तोत्रमन्त्र तथा शस्त्रमन्त्रों की अभिधानरूपदृष्टार्थता से कोई विरोध नहीं है । हुम् फडादि मन्त्र भी निरर्थक नहीं है, कात्यायनादिकृतस्तोभभाष्य के अनुसार उनकी अर्थाभिधानार्थता ही मानी गई है । नवमाध्याय में यद्यपि स्तोभमन्त्रों को अनर्थक कहा गया है, तथापि उसका अभिप्राय सामको योनिभूतऋचा के साथ एकवाक्यता के न होने में है । इस प्रकार नावमिकाधिकरण के तात्पर्य को समझने पर कोई दोष नहीं दिखाई देता । एवञ्च समस्त मन्त्रभाग विवक्षितार्थक है, यह मन्त्राधिकरणन्याय से सिद्ध होता है ।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि मन्त्रार्थप्रतीति, प्रयोक्ता को होती है या श्रोता को होती है ? विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि अनुष्ठानहेतुभूत अनुष्ठेयस्मरण तो करणमन्त्रों से होता है, उस कारण मन्त्रजन्य शाब्दबोध तो मन्त्रप्रयोक्ता को ही होता होगा, किन्तु सूक्ष्म विचार करने पर वह शाब्दबोध श्रोता को ही होता है, यह कहना पड़ेगा, क्योंकि दूसरे को शाब्दबोध

णस्य परं प्रत्येव शाब्दबोधजनकत्वस्वाभाव्यात्। 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' इति सूत्रयन् जैमिनिः लौकिकस्य वैदिकस्य च वाक्यस्य चार्थावबोधं निर्विशेषं स्वीकरोति, श्रोतुरेव च मन्त्रजन्यं शाब्दबोधमभ्युपगच्छति। अन्यथा लोके श्रोतुः, वेदेचोच्चारयितुरिति वैरूप्यापत्तेः। 'इषे त्वोर्ज्जेत्वा' 'विष्णो हव्यं रक्षस्व' 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' 'उरु प्रथा उरु प्रथस्व' इत्यादयः करणमन्त्राः सम्बोध्यविषयाः। सम्बोधनं नाम ज्ञापनम्। शाखां प्रत्यध्वर्युर्ज्ञापयति—हे शाखे इषे त्वा छिनद्मि इति शाखा चात्र तदभिमानिनी देवता भेदेनोपचर्यते। ततश्च छेदनस्य तज्ज्ञापनस्य चान्वयस्तत्र न विरुध्यते। सर्वमिदं 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' इति बादरायणसूत्रे तद्भाष्यादौ स्पष्टम्।

किञ्च 'मन्त्राणां करणार्थत्वान्मन्त्रान्तेन कर्मादिसन्निपातः स्यात्सर्वस्य वचनार्थत्वात्' इति द्वादशाध्यायाधिकरणे करणमन्त्रेषु मन्त्रान्तेन कर्मादिसन्निपात इति सिद्धान्तः कृतः। मन्त्रार्थस्मरणस्य प्रयोक्तृगतस्यानुष्ठानहेतुत्वे चादौ मन्त्रोच्चारणम् ततोऽनुष्ठेयार्थस्मरणम् ततोऽनुष्ठानमिति क्रमः स्यात्। ततश्चानुष्ठेयार्थस्मरणेन व्यवहितत्वात्कथं मन्त्रान्तेन कर्मादिसन्निपातो घटेत। यदि मन्त्रबोध्यदेवताया एव मन्त्रतः शाब्दबोधाभ्युपगमे तु न कश्चिद्विरोधः। एवं सति करणमन्त्राणामदृष्टार्थत्वापत्तिस्स्यात् मन्त्रजन्यदेवतागतशाब्दबोधस्यानुष्ठानहेतुत्वाभावात् तथापि देवतागतं शाब्दबोधमादायैव दृष्टार्थत्वसम्भवात्) जपानुमन्त्रणमन्त्रादिषु कर्मसमवेतानभिधायिषु तथैवाभ्युपगमात्।

इयानत्र विशेषः—लोके वाक्यरचनायाः प्रयोक्तृपुरुषाधीनत्वादज्ञाते चार्थे वाक्यरचनायोगात्प्रयोक्तुरर्थज्ञानं नान्तरीयकम्, न तु तत्प्रयोक्तृतात्पर्यविषयीभूतम्, परप्रत्यायनेच्छयैव वाक्यप्रयोगात्। मन्त्राणान्त्वपौरुषेयत्वेन नित्यसिद्धतया तत्प्रयोक्तुरर्थज्ञानं नावश्यकम्। अतोऽव्युत्पन्नस्यापि मन्त्रप्रयोगो न विरुध्यते, वक्तुरर्थज्ञानस्य श्रोतुर्वाक्यार्थबोधे प्रयोजकत्वाभावात्। 'देवदत्त घटमानय' इत्यत्र सम्बोधने प्रथमा। सम्वोधनं नामाभिमुखीकृत्य ज्ञापनम्। ज्ञानं श्रोतृनिष्ठम्, ज्ञापनञ्च

कराना ही शब्दोच्चारण का स्वभाव होता है। 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' इस सूत्र को बनाकर जैमिनि ने लौकिक और वैदिक वाक्य से समान अर्थावबोध का होना ही स्वीकार किया है। मन्त्रजन्यशाब्दबोध श्रोता को ही होगा, अन्यथा लोकव्यवहार में श्रोता को और वेद में उच्चारयिता को मानने पर वैरूप्यापत्ति होगी। 'इषेत्वोर्ज्जेत्वा' 'विष्णो हव्यलं्‌ रक्षस्व' 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' 'उरु प्रथा उरु प्रथस्व' इत्यादि करणमन्त्र हैं। इनका विषय, सम्बोध्य हुआ करता है। सम्बोधन का अर्थ है ज्ञापन। शाखा के प्रति अध्वर्यु ज्ञापन करता है—हे शाखे इषे त्वा छिनत्ति, कहकर यहाँ उसकी अभिमानिनी देवता को अभेद से उपचरित किया गया है। अतः छेदन और उसके ज्ञापक का अन्वय वहाँ विरुद्ध नहीं है। बादरायणसूत्र 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' और उसके भाष्य से यह सब स्पष्ट हो जाता है।

किञ्च 'मन्त्राणां करणार्थत्वान्मत्रान्तेन कर्मादिसन्निपातः स्यात्सर्वस्य वचनार्थत्वात्' इस द्वादशाध्याय के दशमाधिकरण के सूत्रानुसार मन्त्र की समाप्तिपर ही कर्मानुष्ठान करने का सिद्धान्त किया गया है। मन्त्रार्थस्मरण में प्रयोक्ता के अनुष्ठान की हेतुता रहने से प्रथमतः मन्त्रोच्चारण, ततः अनुष्ठेयार्थस्मरण, ततः अनुष्ठान यह क्रम रहेगा। ततश्च मन्त्रान्त और कर्मादिसन्निपात दोनों के बीच अनुष्ठेयार्थ के स्मरण का व्यवधान उपस्थित हो जाने से मन्त्रान्त के साथ कर्मादिसन्निपात कैसे घटित होगा ? यदि मन्त्र से मन्त्रबोध्यदेवता का ही शाब्दबोध माना जाय तो कोई विरोध नहीं होगा। यद्यपि मन्त्रबोध्य देवता के शाब्दबोध में अनुष्ठान की हेतुता न होने से करणमन्त्रों में अदृष्टार्थत्वापत्ति होती है, तथापि देवतागत शाब्दबोध को लेकर दृष्ट्यर्थत्व भी संभव है। कर्मसमवेत पदार्थों के अनभिधायक जप मन्त्र और अनुमन्त्रण मन्त्र आदि में भी वैसा ही स्वीकार किया गया है।

यहाँ पर विशेष इतना ही है कि लोक व्यवहार में वाक्य की रचना, प्रयोक्तृ पुरुष के अधीन होने से, और अर्थ के ज्ञान न रहने पर वाक्य की रचना न बन पाने से अर्थज्ञान, प्रयोक्ता के लिये व्यवधायक नहीं बनता, और न हीं उसमें प्रयोक्ता का तात्पर्य रहता है, क्योंकि दूसरे व्यक्ति के बोधनार्थ ही वाक्य प्रयोग किया जाता है। किन्तु मन्त्रों के अपौरुषेय रहने से वे नित्य हैं, उनका प्रयोग करने वाले को अर्थज्ञान रहने की आवश्यकता नहीं है। अतः अव्युत्पन्न व्यक्ति के मन्त्र प्रयोग करने पर भी कोई विरोध नहीं है। क्योंकि अर्थज्ञान में वक्ता और वाक्यार्थबोध में श्रोता, प्रयोजक नहीं है। 'देवदत्त घटमानय' यहाँ पर सम्बोधन में प्रथमा है। सम्बोधन अर्थ है

प्रयोक्तरि। एवञ्चाभिमुखीभूतदेवदत्तनिष्ठं यद्घटानयनज्ञानं तदनुकूलप्रयोक्तृगतव्यापारो वाक्यार्थः। एतादृशबोधश्च सम्बोध्यस्य तदितरेषां श्रोतॄणां प्रयोक्तुश्च सम्भाव्यमानोऽपि न सर्वेषां कार्यकारी, सम्बोध्यगतं घटानयनज्ञानमेव कार्यकारि, एवं मन्त्रेऽपि। मन्त्रार्थज्ञानाभावेऽपि सर्वानुक्रमणिकातः ऋषिच्छन्दोदेवतापरिज्ञानं सुलभमेव। सङ्कर्षकाण्डे चतुर्थतृतीयपादे सर्वमिदमुपपादितम्। तत्र हि 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' इति वाक्यमुदाहृत्य सिद्धान्तितम्—'आग्नेयम्' 'ऐन्द्रम्' इत्यादिदेवताप्रतिपादकस्याग्न्यादिशब्दस्य श्रवणात् तस्य त्यागे प्रमाणाभावात् शब्दे कार्यासम्भवे सत्येवार्थे कार्यविज्ञानात् इह च शब्दे ध्यानसम्भवाद्देवताशब्दस्यैव ध्यानमिति। अनेन न्यायेन 'तस्मादेतानि (ऋषिच्छन्दोदैवतानि) मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्' इत्यत्रापि देवताशब्दस्यैव ध्यानम्, न मन्त्रजन्यवाक्यार्थज्ञानमिति सिध्यति। मन्त्रजन्यशाब्दबोधस्य देवतागतस्यानुष्ठेयक्रियानुपयोगात् कथं मन्त्राणां करणमन्त्रत्वव्यवहार इति चेत् यथा तादृशशाब्दबोधस्य प्रयोक्तृगतत्वे मन्त्राणां करणत्वोपपत्तिस्तथैवास्मिन्नपि पक्ष इति न दोषः। 'इषे त्वा' इति मन्त्रस्साकाङ्क्षः, 'छिनद्मि' इत्यध्याहारेणाकाङ्क्षा पूरणीया। अध्याहारश्च 'इति शाखामाच्छिनत्ति' इति विनियोजकवाक्यलभ्यः। प्रथमं विनियोजकवाक्यत एव शाखाच्छेदनेऽवगते पुनर्मन्त्रतस्स्मरणमदृष्टार्थमवश्यमास्थेयम्, नियमविध्याश्रयणात्। अतश्चातिशयविशेषवत्त्वेनैव मन्त्राणां तत्तत्क्रियासाधनता वक्तव्या।

अत एव माहेन्द्रस्तोत्रोपाकरणस्य रथघोषोऽङ्गं भवति—'रथघोषेण माहेन्द्रस्तोत्रमुपाकरोति' इति। एवमनुमन्त्रणमन्त्रा अपि तत्स्तुत्यदेवताया एव शाब्दबोधजनकाः, न तु प्रयोक्तुः। एवञ्च कर्मकाले कल्पसूत्रादितो विनियोगमात्रं जानानस्यार्थज्ञानशून्यस्यापि मन्त्रप्रयोग एष्टव्यः। किञ्च शस्त्रसम्बन्धिनीनामृचां सान्तत्यं विहितम्—'सन्त-

कि दूसरे को अपने सम्मुखकरके ज्ञापन करना। ज्ञान, श्रोतृनिष्ठ होता है और ज्ञापन, प्रयोक्ता में रहता है। एवञ्च 'देवदत्त घटमानय' इस वाक्य का अर्थ होगा कि 'अभिमुखीभूत देवदत्तनिष्ठ जो घटानयनज्ञान, तदनुकूलप्रयोक्ता का व्यापार।' यह बोध (ज्ञान) सम्बोध्य को, उससे भिन्न श्रोताओं को और प्रयोक्ता को होना यद्यपि संभव है, तथापि वह सबके लिये कार्यकारी नहीं होता, अपितु सम्बोध्य को होनेवाला जो घटानयन ज्ञान है वह उसके लिये कार्यकारी होता है, उसी प्रकार मन्त्र में भी। मन्त्रार्थ का ज्ञान न रहने पर भी सर्वानुक्रमणिका से ऋषि, छन्द, देवता का ज्ञान होना सुलभ ही है। सङ्कर्षकाण्ड के चतुर्थाध्याय के तृतीय पाद में यह सब बताया गया है। वहाँ पर 'जिस देवता के लिये हविर्ग्रहण किया गया हो, उसी देवता का वषट्पूर्वक ध्यान करे' इस वाक्य को उदाहरण के रूप में रखकर सिद्धान्त किया है—'आग्नेयम्' 'ऐन्द्रम्' इत्यादि देवताप्रतिपादक अग्नि आदि शब्द का श्रवण होने से, उसका त्याग करने में प्रमाण के न होने से, शब्द में कार्य का असंभव होने पर ही अर्थ में कार्य का ज्ञान होने से और यहाँ शब्द में ध्यान का संभव होने से देवता शब्द का ही ध्यान किया जाता है। इसी नियम के अनुसार 'तस्मादेतानि (ऋषिच्छन्दोदैवतानि) मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्' यहाँ भी देवता शब्द का ही ध्यान करना बताया गया है, मन्त्रजन्यवाक्यार्थ का ज्ञान नहीं, यह सिद्ध होता है। मन्त्रजन्य शाब्दबोध का देवता पर की जानेवाली में कोई उपयोग न होने से मन्त्रों में करणमन्त्रत्व का व्यवहार कैसे हो सकेगा? इस प्रश्न के होने पर उत्तर यह होगा कि वह शाब्दबोध प्रयोक्तृगत होने से मन्त्रों में करणत्व उपपन्न हो जाता है, उसी तरह इस पक्ष में भी समझने पर कोई दोष नहीं दिखाई देगा। 'इषे त्वा' यह मन्त्र साकांक्ष है, अतः 'छिनद्मि' का अध्याहार करके आकांक्षापूर्ण करनी होती है। और अध्याहार 'इति शाखामाच्छिनत्ति' इस विनियोजकवाक्य से लब्ध होता है। प्रथमतः विनियोजकवाक्य से ही शाखाच्छेदन का जब ज्ञान होगया, तब भी पुनः मन्त्र से उसी का स्मरण करने के लिये जो नियम विधान किया गया है, उसे अदृष्टार्थ ही अवश्य मानना चाहिये। अतश्च मन्त्रों में अतिशयविशेष के रहने से उन्हें तत्तत् क्रिया का साधन अवश्य करना होगा।

अतएव माहेन्द्रस्तोत्रोपाकरण को रथघोष का अंग कहते हैं। कहा भी है—'रथघोषेण माहेन्द्रस्तोत्रमुपाकरोति' इति। इसी प्रकार अनुमन्त्रण मन्त्र भी उनके द्वारा स्तुति किये जानेवाले (तत्स्तुत्य) देवता को ही शाब्दबोध कराते हैं, प्रयोक्ता को नहीं। एवञ्च कर्मानुष्ठान के समय कल्पसूत्र-आदि की सहायता से विनियोगमात्र जाननेवाला किन्तु अर्थज्ञान से शून्य व्यक्ति भी मन्त्र प्रयोग कर सकता है। किञ्च शस्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली ऋचाओं के सतत बोलते रहने (सान्तत्य) का विधान किया गया है—'सन्ततमन्वाह' इति।

तमन्वाह' इति। पूर्वपूर्वस्या ऋच उत्तरमुत्तरमर्धर्चं प्रणवान्तमुक्त्वा अविरतमेवोत्तरोत्तरस्या ऋचः पूर्वपूर्वमर्धर्चमुक्त्वा विरमतीति सान्तत्यलक्षणम्। अत्र शंसितुर्होतुः प्रत्यृचमर्थावबोधः कथं सम्भवेत्? तत्तदृगवसाने तत्तदर्थावबोधव्यापृतचित्तस्योत्तरोत्तरस्या ऋचः सान्तत्येन स्फुरणासम्भवात्, स्तुत्यदेवतामात्रस्य प्रत्यृचमर्थावबोधे तु न किञ्चिद्विरुध्यते।

अत एव भट्टपादाः दृष्टफलकेषु कर्मसु 'गुरुरनुगन्तव्यः' इत्यादिष्वप्यदृष्टार्थत्वं व्यवस्थापयन्ति—अस्माकं लेखकस्य बुद्धाविदं सर्वं कथं स्थानं लभते। येषु च मन्त्रेषु तत्तदर्थप्रकाशनसामर्थ्ये सत्यपि विनियोजकवाक्यैर्विना विनियोगो नावबोद्धुं शक्यः, श्रुतिकल्पनाद्वारैव तस्य विनियोजकत्वात्। इदं कार्यमनेन मन्त्रेण कर्तव्यमिति यत्र विधिर्नास्ति तत्रैव मन्त्रगतसामर्थ्यं विनियोजकम्, तदपि श्रुतिकल्पनाद्वारैव। एवं सति 'दधिक्राव्णः' इत्यस्य 'शन्नो देवीरभीष्टये' इत्यादेश्च विनियोजकवाक्यानुसारेण विनियोगे स्वीक्रियमाणे कामापत्तिं पश्यति लेखकः? वेदमन्त्राणां विनियोगे न वयं स्वतन्त्राः, अलौकिकार्थावबोधकत्वात्तेषाम्।

आयुर्दा अग्ने हविषा गृणानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि।
घृतं पीत्वा मधुचारु गव्यं पितेवपुत्रमभिरक्षतादिमम्॥

इति मन्त्रे कीर्तितं घृतप्रतीकत्वं घृतयोनित्वञ्चाग्नेर्न वयं जानीमः, दीपशलाकिकया समुत्पादितं दाहकमग्निमेव वयं पश्यामः। मन्त्रस्त्वलौकिकमेवाग्निं कीर्तयति। आयुर्दातृत्वेनाग्नेः परिचयोऽस्माकं किमस्ति? 'आयुर्घृतम्' इति लोके गौणीलक्षणायां प्रयुज्यमानमवगत्य मन्त्रस्य किं विनियोगः क्रियते? 'अभिरक्षतान्' 'एधि' इति विधिस्त्वत्र वर्तते। किमनेन विधिना मन्त्रस्य विनियोगः प्रतीयते? 'इदमनेन कर्तव्यम् इति खल्वाकारो विनियोगस्य। पित। यथा पुत्रं रक्षति तथा पूर्वार्धविशेषणविशिष्टस्त्वं वर्धस्व, हे अग्ने, त्वं घृतं पीत्वा गव्यं च मधु संसेव्येमं पुत्रमभिरक्षतात्। कं पुत्रम् कुत्र?

पूर्व-पूर्व ऋचा की उत्तर-उत्तर आधी ऋचा को प्रणवान्त बोलकर विना साँस टूटे (अविरत) ही उत्तरोत्तर ऋचा की पूर्व-पूर्व आधी ऋचा को बोलकर ही साँस तोड़ना (विराम लेना)—यह 'सान्तत्य' का स्वरूप है। इस परिस्थिति में शंसन करते हुए होता को प्रत्येक ऋचा का अर्थावबोध होना कैसे संभव हो सकता है? प्रत्येक ऋचा के अर्थज्ञान में ही यदि उसका चित्त लगा (व्यापृत) रहेगा तो उसे तत्तद् ऋचा की समाप्ति पर उत्तर-उत्तर ऋचा का निरन्तर (सान्तत्येन) स्फुरण होना संभव कैसे हो सकेगा? और केवल स्तुत्य देवता को ही प्रत्येक ऋचा से अर्थावबोध मानने पर किसी प्रकार कोई भी विरोध नहीं होता है।

अतएव भट्टपाद कुमारिल स्वामी ने 'गुरुरनुगन्तव्यः' जैसे दृष्टफलवाले कर्मों में भी अदृष्टार्थता का व्यवस्थापन किया है। गुरुसम्प्रदायगम्य यह सब ग्रन्थरहस्य हमारे लेखक महोदय की बुद्धि में कैसे भला आसकता है? जिन मन्त्रों में यद्यपि तत्तदर्थ के प्रकाशन का सामर्थ्य रहता है, तथापि उनका विनियोग विनियोजक वाक्यों के बिना नहीं जाना जा सकता। विनियोजकत्व श्रुतिकल्पना के द्वारा ही प्राप्त होता है। 'इदं कार्यमनेन मन्त्रेण कर्तव्यम्' इस प्रकार का विधि जहाँ नहीं रहता वहीं पर मन्त्रगतसामर्थ्य-विनियोजक होता है, किन्तु वह भी श्रुतिकल्पना के द्वारा ही होता है। इस प्रकार के नियमों के रहते 'दधिक्राव्णः' तथा 'शन्नोदेवीरभिष्टये' मन्त्रों का विनियोग, विनियोजकवाक्य के अनुसार मान लेने पर लेखक को कौन सी आपत्ति दिखाई पड़ती है? वेदमन्त्रों के विनियोग करने में कोई वैदिकधर्मावलम्बी स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि वेदमन्त्र, अलौकिकार्थ के बोधक होते हैं। "आयुर्दा अग्ने हविषा गृणानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि। घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभिरक्षतादिमम्।"

इस मन्त्र में अग्नि को घृतप्रतीक और घृतयोनि बताया गया है। क्या हम जैसे चर्मचक्षु उसके घृतप्रतीकत्व और घृतयोनित्व को जान सकते हैं? हम तो दीपशलाकिका से उत्पन्न किये गये दाहक अग्नि को ही देखते हैं। किन्तु मन्त्र, अलौकिक अग्नि को बता रहा है। आयुर्दाता के रूप में क्या अग्नि का परिचय हमें है? लौकिक व्यवहार में गौणीलक्षणा के द्वारा प्रयोग किये जानेवाले 'आयुर्घृतम्' के समान क्या मन्त्र का विनियोग किया जायगा? मन्त्र में 'अभिरक्षतात्' 'एधि' यह विधि तो है, तो क्या इस विधि के बल पर मन्त्र का विनियोग प्रतीत होगा? 'इदमनेन कर्तव्यम्'—यह विनियोग का आकार है। जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है, वैसे पूर्वार्धविशेषणविशिष्ट हुए तुम वृद्धिङ्गत हो, हे अग्ने! तुम घृत पीकर, तथा मधुर-सुन्दर

कथम् ? रक्षतात् इति साकाङ्क्ष एव खलु मन्त्रो भवति। स्वबुध्यनुसारेण विनियोगे क्रियमाणे हे अग्ने ! अग्निवत्प्रकाशमान हे राजन्, अथवा प्रधानमन्त्रिपदे वर्तमान, अथवा दयानन्द ? त्वमायुर्दाता असि, प्राणदण्डमस्मै न देहि, एनमपराधिनं दण्डार्हमपि रक्षस्व इत्यर्थकस्यास्य प्राणदण्डार्हस्यापराधिनस्तस्मान्मोचने विनियोग इति कुतो न कल्प्यते ? तत्रापि विनियोजकवाक्यं कल्पनीयमेव। कर्मकाण्ड एव कुतो मन्त्राणां सम्बन्धः क्रियते ? अन्येष्वपि कार्येषु तेषां सम्बन्धः कुतो नेष्यते ? अतो याज्ञिकैः स्वेच्छानुसारं विनियोगाः कल्पिता इति लेखको लिखति। लेखकस्य तव कर्मकाण्डेन सह न कोऽपि सम्बन्धः। निराकारस्येश्वरस्य भजनमुपदिष्टं गुरुणा। तदेव त्वं कुरु। कुतो याज्ञिकविषये दत्तमना भवसि ? तत्रापि वारं वारं 'दधिक्राव्ण' इति मन्त्रमावर्तयसि, तत्र याज्ञिकेषु सूत्रकारेषु मीमांसकेषु च दोषानुद्भावयसि। इदानीं 'दधिक्राव्ण' इति मन्त्रं पश्य, श्रृणु यदहं ब्रवीमि, अनन्तरं स्वलेखमवधारय। त्वञ्च न केवलं सूत्राणां ब्राह्मणानाञ्च कल्पितत्वमङ्गीकरोषि, मन्त्रा अपि रचिताः समायोजिताश्चेति। मदीयाश्शब्दास्तव कर्णविवरं न प्रविशेयुः। तथापि वच्मि।

मन्त्राणां स्वरूपं पूर्वमवोचम्। 'दधिक्राव्णो अकारिषम्' इति मन्त्रः ऋग्वेदे यजुर्वेदे सामवेदे अथर्ववेदे च वर्तते। यजुर्वेदेऽपि काण्वशाखायां माध्यन्दिनशाखायां तैत्तिरीयशाखायाञ्च वर्तते। किं सर्वत्र मन्त्रोऽयं कल्पितस्समायोजितश्च ? अस्य मन्त्रस्य किं रचयितारोऽनेके ? उत एक एव रचयिता ? रचयित्वा च तत्र तत्र योजनानन्तरं किं विनियोगकर्तारोऽनेके ? उत एक एव ? प्रायस्सर्वेषु श्रौतसूत्रेष्वस्य मन्त्रस्य विनियोगो दृश्यते। द्राह्यायणाश्वलायनकात्यायनबौधायनापस्तम्बप्रभृतयो 'दधिक्राव्णः' इति प्रतीकं गृहीत्वा विनियोगं दर्शयन्ति। त्रिहविष्केष्टौ 'दधिक्राव्णे चरुम्' इति तृतीयहविषः पुरो-

गव्य का सेवन कर इस पुत्र की रक्षा करो। किन्तु किस पुत्र की, कहाँ कैसे रक्षा करें ? इत्यादि विषयों में मन्त्र साकांक्ष ही है। तथापि शास्त्रीय विनियोग करने पर आकांक्षा शान्त हो जाती है। किन्तु साकांक्ष मंत्र की आकांक्षाशान्त्यर्थ शास्त्रीय विनियोग को न मानकर अपनी अल्प स्वल्प बुद्धि के अनुसार विनियोग यदि करने लगें तो यही कह सकेंगे कि हे अग्ने ! अग्निवत्प्रकाशमान हे राजन्, अथवा प्रधानमन्त्री के पद पर वर्तमान ! अथवा हे दयानन्द ! तुम आयुर्दाता हो, इसे प्राणदण्ड मत दो, इस दण्डार्ह अपराधी की भी रक्षा करो इत्यादि अर्थवाले मन्त्र का प्राणदण्डार्ह अपराधी को प्राणदण्ड से मोचन करने (छुड़ाने) में विनियोग किया जारहा है। क्या इस प्रकार का विनियोग कोई करता है ? इस प्रकार के विनियोग में भी विनियोजक वाक्य की कल्पना करनी ही पड़ेगी। मन्त्रों का सम्बन्ध, कर्मकाण्ड में ही क्यों किया जाता है ? अन्यान्य कार्यों में भी उनका सम्बन्ध क्यों नहीं किया जाता ? इत्यादि अनेक प्रश्न हैं, जिनका समाधान लेखक कर ही नहीं सकता। अत एव लेखक ने लिखा है कि 'याज्ञिकों ने स्वेच्छानुसार विनियोगों की कल्पना कर ली है।' तुम जैसे लेखक का कर्मकाण्ड के साथ क्या सम्बन्ध है ? कोई सम्बन्ध ही नहीं है। तुम्हारे गुरु ने तो तुम्हें निराकार ईश्वर के भजन करने का उपदेश दिया है, उसी को तुम किया करो। याज्ञिकों के विषय में तुम अपना मन क्यों लगा रहे हो ? तत्रापि बार बार 'दधिक्राव्णः' मन्त्र को ही दोहरा रहे हो, और याज्ञिकों में, कभी सूत्रकारों में तो कभी मीमांसकों में न होते हुए भी दोषों की उद्भावना कर रहे हो। अब 'दधिक्राव्ण' मन्त्र को देखो, और जो मैं बतारहा हूँ, उसे सुनो, उसके बाद अपने लिखे लेख पर विचार करो। तुमने केवल सूत्रों और ब्राह्मणों को ही कल्पित नहीं माना है, अपि तु मन्त्रों को भी रचे हुए और जोड़ दिये गये कहते हो। मैं जानता हूँ कि मेरे शब्द तुम्हारे कर्णविवर में प्रवेश नहीं करेंगे, तथापि तुम्हारे हित की दृष्टि से तुम्हें बता रहा हूँ।

मन्त्रों के स्वरूप को मैं पहले बताचुका। 'दधिक्राव्णो अकारिषम्' यह मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में भी उपलब्ध होता है। यजुर्वेद में भी उसकी काण्वशाखा तथा माध्यन्दिनशाखा में और तैत्तिरीयशाखा में यह मन्त्र पाया जाता है। क्या सभी जगह यह मन्त्र, कल्पित किया गया है और जोड़ दिया गया है ? इस मन्त्र के अनेक रचयिता हैं अथवा एक ही हैं ? अच्छा; इस मन्त्र को रचकर और जहाँ-तहाँ उसे जोड़ देनें पर उसके विनियोग कर्ता अनेक हैं, या एक ही हैं ? प्रायः सभी श्रौतसूत्रों में इस मन्त्र का विनियोग दिखाई पड़ता है। द्राह्यायण, आश्वलायन, कात्यायन, बौधायन, आपस्तम्बप्रभृतियों ने 'दधिक्राव्णः' इस प्रतीक को लेकर उक्त मन्त्र का विनियोग बताया है। त्रिहविष्केष्टि में 'दधिक्राव्णे चरुम्' कहकर तृतीय हवि के पुरोनुवाक्या के रूप में इस मन्त्र का

नुवाक्यात्वेनास्य मन्त्रस्य विनियोगो दृश्यते (तै० सं० २-२-५)। ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पठितस्यास्य मन्त्रस्य (तां० ब्रा० १-७-१७) द्राह्यायणेन दधिभक्षे विनियोगः कृतः। आश्वलायनोऽप्येवमेव विनियुङ्क्ते (आ० श्रौ० ६.१२)। माध्यन्दिनसंहितायां पठितस्यास्य मन्त्रस्य (मा० सं० २३-३१) कात्यायनेनापि दधिद्रप्सप्राशने विनियोगः कृतः। दधिक्रावन् शब्दस्याश्वोऽर्थो वर्तताम्, तथा दधिक्रवन् शब्दस्य देवताप्यर्थः। दधिप्रिया सा देवता भवितुमर्हति। प्रयोगसमवेतार्थबोधकत्वं मन्त्रस्य नावश्यकमिति पूर्वमुक्तं शास्त्रीयदृष्ट्या। विनियोजकवाक्याधीन एव च विनियोग इत्यपि प्रतिपादितम्। 'दधिक्राव्णा पुनाति' (तै० सं० २-२-५) इति वाक्येन पावनकर्मण्यपि मन्त्रस्यास्य विनियोगो दृश्यते। एतानि सर्वाणि प्रमाणानि तवाप्रमाणानि, त्वदुक्तिरेव प्रमाणमिति कोऽयं पन्थाः। वेदनिन्दकस्य कृते सर्वमप्रमाणमेव।

स एवायं लेखकः यश्च दिल्लीनगरे अखिलभारतसंस्कृतसाहित्यसम्मेलनतत्त्वावधाने श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिणाध्यक्ष्ये सम्पन्नायां वेदपरिषदि परिषदध्यक्षेभ्यः क्षमां याचितवान्। वैदिकस्वरविषयेऽनेनकृतस्य प्रलापस्य केनचन विदुषा खण्डने कृते स्वयं क्षमां प्रार्थितवान्। अयं यद्वा तद्वाऽन्यत्र प्रलपतु, शाबरभूष्यभूमिकायां म० म० चिन्नस्वामिशास्त्रिचरणानां शिष्य इत्यात्मानं कीर्तयन् शास्त्रविरुद्धमनर्गलं प्रलपनं महते दुःखाय। न केवलमेकैका पङ्क्तिः, अस्य लेखस्य प्रत्यक्षरं खण्डनयोग्यम्। भूमिकायामस्येयं गतिश्चेत् भाष्यानुवादे कीदृशी गतिस्स्यादित्यूहितुमपि न शक्यते। दयानन्दकालादेव खल्विमे प्रलापाः। ततः पूर्वं संख्यातीतानि शतकानि व्यतीतानि सम्प्रदायादागताया वेदतदङ्गाध्ययनपरम्परायाः। अद्यैवायं महासमीक्षकस्समागतः, यश्च मन्त्रान् विरचय्य तत्र तत्र योजितवन्तः, विरचितानां मन्त्राणां विनियोजकसूत्राणि ब्राह्मणानि च कल्पयित्वा आडम्बरेण यज्ञाननुष्ठातुं लोकान् प्रेरयामासुरिति कथयति। तत्रापि स्वोन्नीतगणनैव प्रमाणमिति निस्सङ्कोचं वदति।

विनियोग हुआ दिखाई देता है (तै० सं० २।२।५)। ताण्डय-महाब्राह्मण में पढ़े गये इस मन्त्र का (तां० ब्रा० १।७।१७) द्राह्यायण ने दधिभक्षण में विनियोग किया है। आश्वलायन ने भी इसी प्रकार विनियोग किया है (आ० श्रौ० ६।१२)। माध्यन्दिन संहिता में पढ़े गये इस मन्त्र का (मा० सं० २३।३१) कात्यायन ने भी दधिद्रप्सप्राशन में विनियोग किया है। दधिक्रावन् शब्द का अर्थ, 'अश्व' रहे, किन्तु उसी प्रकार 'दधिक्रावन्' शब्द का अर्थ 'देवता' भी होता है। वह देवता दधिप्रिया है। शास्त्रीय दृष्टि से मन्त्र का प्रयोग समवेतार्थ बोधकत्व होना आवश्यक नहीं है, यह पहले कह चुके हैं। और विनियोग, विनियोजक वाक्य के अधीन होता है, यह भी बता चुके हैं। 'दधिक्राव्णा पुनाति' (तै० सं० २।२।५) इस वाक्य से पावनकर्म में भी इस मन्त्र का विनियोग दिखाई दे रहा है। इतने सभी प्रमाणों को अप्रमाण मानना और अपनी कपोलकल्पित उक्ति को ही प्रमाण कहना, यह कौन सा मार्ग है? वेद निन्दक के लिये तो सब अप्रमाण ही है।

यह वही लेखक है, जिसने दिल्लीनगर में सम्पन्न हुए अखिलभारतीयसंस्कृतसाहित्यसम्मेलन के तत्त्वावधान में हुई वेदपरिषद् में उसके अध्यक्ष श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी से क्षमा याचना की थी। वैदिक स्वर के विषय में इसके द्वारा कुछ प्रलाप किये जाने पर किसी विद्वान् ने जब इसके प्रलाप का खण्डन कर समुचित उत्तर दिया तब इसने स्वयं क्षमा प्रार्थना की थी। यह लेखक अन्यत्र भलेही यद्वा तद्वा प्रलाप 'मुखमस्तीति वक्तव्यम्' न्याय से करता रहे, हमें उसकी परवाह नहीं। किन्तु जब इसने शाबरभाष्य की भूमिका में अपने को महामहोपाध्याय श्रीचिन्नस्वामी शास्त्रिचरणों का शिष्य बताकर शास्त्रविरुद्ध अनर्गल प्रलाप करना शुरू किया तब हमें अकथनीय महान् दुःख हुआ। इस लेखक की एक एक पङ्क्ति ही नहीं, किन्तु एक एक अक्षर खण्डन करने योग्य है। भूमिका में ही इस लेखक की यह दुर्दशा है तो भाष्य के अनुवाद करने में इसकी क्या दुर्गति हुई होगी, इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। दयानन्द के समय से ही अनर्गल प्रलाप करना आरम्भ हुआ है। दयानन्द के जन्म से भी पूर्व संख्यातीत शतकों से गुरुसम्प्रदायपूर्वक सांगवेदाध्ययन की परम्परा चली आरही है, किन्तु आज ही यह महान् समीक्षक प्रकट हुआ है, जो कह रहा है कि 'मन्त्रों को रचकर जहाँ तहाँ जोड़ दिया गया है, और विरचित मन्त्रों के विनियोजक सूत्र और ब्राह्मणों की कल्पना कर महान् आडम्बर के साथ यज्ञानुष्ठान करने में लोगों को प्रेरित किया गया है।' और उसमें अपनी कपोल कल्पित गणना को ही प्रमाण बताने में जरा भी संकोच नहीं होता।

एवं वदतोऽस्य मनसीदमेव विपरिवर्तते—यद् यज्ञेषु पशुयागाः क्रियन्ते। हिंसारूपाणि कर्माणि याज्ञिकैर्योजितानि, तदनुकूलांश्च मन्त्रास्तैर्विरचिता इति। अत एव 'श्रौत-पशुयाग-मीमांसा' इति (पृ० १२०) प्रकरणमारभते। अनन्तरञ्च 'वेदप्रतिपादित पशुयज्ञ सृष्टियज्ञ हैं'। पशुयज्ञानां 'सृष्टियज्ञ' नामधेयमनेन सृष्टमिति प्रतिभाति। प्रथमं 'पशुयाग' शब्दः अनन्तरञ्च 'पशुयज्ञ'शब्दः प्रयुक्तः। किमनयोरुभयोः सृष्टियज्ञ इति नामधेयं कृतम्? उत पशुयज्ञस्यैव तन्नाम कृतम्? अलङ्कारप्रियः खलु लेखकः। उत्तरत्र श्लेषालङ्कारं मन्त्रस्य कीर्तयिष्यति। ततः पूर्वं पशुयज्ञः सृष्टियज्ञ इति शब्दालङ्कारोऽपि सिध्यत्विति दृष्ट्या किं लिखितम्? यागयज्ञशब्दौ यद्येकार्थवाचिनौ तर्हि य एवार्थो यागशब्दस्य स एव यज्ञशब्दस्यापि। यागस्तु देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागे वर्तते, यज्ञशब्देनापि तथैव वर्तितव्यम्। 'पशुयज्ञ' शब्दे 'यज्ञ'शब्दस्तथा, 'सृष्टियज्ञ'शब्दे च 'यज्ञ'शब्दो न तथेति वक्तुं न शक्यते। समार्थकावुभावपि शब्दौ। यज्ञस्य च रूपं द्रव्यं देवता च। सृष्टियज्ञे किं द्रव्यम्? का च देवता? यष्टा च कः? यश्च देवतामुद्दिश्य द्रव्यं त्यजेत्। सृष्टियज्ञस्य किमुत्पत्तिवाक्यम्? किञ्चाधिकारवाक्यम्? सृष्टियज्ञः किं कस्याप्यङ्गत्वेनानुष्ठीयते? उत स्वातन्त्र्येण? यद्यङ्गतया तर्हि कोऽयमङ्गी? यदि स्वातन्त्र्येण तर्हि किं सः प्रकृतियज्ञः? उत विकृतियज्ञः? प्रकृतिश्चेत्तदङ्गानि कानि? विकृतिश्चेत्कस्य? एवमादिप्रश्नानामुत्तराणि देयानि भवेयुः। त्वञ्च 'पशुयाग-मीमासां' करोषि। मीमांसायाञ्चैवमादय एव विचारा भवन्ति। शाबरभाष्ये चेम एव विचाराः कृताः। तस्य भूमिकायास्तदानुरूप्यसिद्धये विचारोऽपि तादृश आवश्यकः। पशुयागविचारस्तु शबरस्वामिना भूयस्स्वधिकरणेषु कृतः, सृष्टियज्ञविचारस्तु त्वदीयमीमांसायां त्वयैव क्रियते। उभयोरपि वैरूप्यं दृश्यते। अन्ततः सृष्टियज्ञशब्देन त्वं किमभिप्रैषि? कस्यापि वाक्यस्यार्थनिर्णयाय पूर्वोत्तरसन्दर्भा वीक्षणीया भवन्ति। पशुयज्ञं सृष्टियज्ञशब्देन व्यवहर्त्तुमिच्छसि। पशुयज्ञाः कुत्र

इस प्रकार अनर्गल प्रलाप करते हुए इसके मन में यही विचार चल रहा होगा कि यज्ञों में पशुयाग किये जाते हैं। याज्ञिकों ने हिंसारूप कर्मों को जोड़ दिया हैं। तदनुकूल मन्त्रों की रचना की गई। अत एव पृ० १२० पर 'श्रौत-पशुयाग-मीमांसा' शीर्षक प्रकरण का आरंभ किया है। उसके बाद 'वेदप्रतिपादित पशुयज्ञ सृष्टियज्ञ हैं' पशुयज्ञों का नामकरण 'सृष्टियज्ञ' करने की कल्पना लेखक की प्रतीत होरही है। प्रथम 'पशुयाग' शब्द को अनन्तर 'पशुयज्ञ' शब्द को प्रयुक्त किया है। क्या इन दोनों को 'सृष्टियज्ञ' नाम दिया है? या पशुयज्ञ का ही सृष्टियज्ञ शब्द से नामकरण किया है।

लेखक महोदय अलङ्कारप्रिय प्रतीत होरहे हैं। आगे चलकर मन्त्र के श्लेषालङ्कार को लेखक महोदय बतावेंगे, उसके पूर्व 'पशुयज्ञ-सृष्टियज्ञ' इसमें शब्दालङ्कार की भी सिद्धि कर लीजिये। याग और यज्ञ दोनों शब्द यदि एक ही अर्थ के वाचक हैं तो जो अर्थ, याग शब्द का है, वही यज्ञ शब्द का भी होगा। याग तो देवता के उद्देश्य से किये जानेवाले त्याग में रहता है, यज्ञ शब्द को भी उसी तरह रहना चाहिये। यज्ञ की उक्त परिभाषा के अनुसार 'पशुयज्ञ' शब्द में 'यज्ञ' शब्द वैसा ही पाया जाता है, किन्तु 'सृष्टियज्ञ' शब्द में 'यज्ञ' शब्द वैसा नहीं है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों का अर्थ एक (समान) ही है। यज्ञ का रूप द्रव्य और देवता बताया गया है। अब बताओ, कि सृष्टियज्ञ में 'द्रव्य' कौन है? और 'देवता' कौन है? और 'यष्टा' (यज्ञ करनेवाला) कौन है? जो देवता को उद्देश्य करके द्रव्य का त्याग करे। सृष्टियज्ञ का उत्पत्तिवाक्य कौन सा है? और अधिकार-वाक्य कौनसा है? सृष्टियज्ञ का अनुष्ठान क्या किसी के अंगरूप में किया जाता है? अथवा स्वतन्त्ररूप से? यदि अंगरूप में किया जाता है तो 'अङ्गी' कौन है? यदि स्वतन्त्ररूप में किया जाता है तो क्या वह प्रकृतियज्ञ है? या विकृतियज्ञ है? यदि प्रकृतियज्ञ हो तो उसके अंग कौन कौन हैं? और यदि विकृतियज्ञ हो तो किसकी विकृति है? इत्यादि अनेक प्रश्नों के उत्तर आपको देने होंगे। आप तो 'पशुयागमीमांसा' करने चल पड़े हैं। मीमांसा में तो इसी प्रकार ही विचार किये जाते हैं। शाबरभाष्य में ये ही विचार किये गये हैं। अतः उसकी भूमिका में उसका आनुरूप्य लाने के लिये वैसा हो विचार करना आवश्यक है। पशुयाग का विचार तो शबरस्वामी ने अनेक अधिकरणों में किया है, किन्तु सृष्टियज्ञ का विचार तो तुम्हारी मीमांसा में और तुमने हो किया है। दोनों में विरूपता दीखरही है। आखिर यह तो बताओ कि 'सृष्टियज्ञ' शब्द से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? किसी भी वाक्य के अर्थनिर्णयार्थ पूर्वोत्तर सन्दर्भों को देखना होता है। पशुयज्ञ का 'सृष्टियज्ञ' शब्द से व्यवहार करना चाहते हो। कहाँ पशुयज्ञ बताये गये हैं और कहाँ

समाम्नाताः, सृष्टिश्च कुत्र वर्तते ? अनयोरैक्ये किं प्रमाणम् ? इत्यादिकमनालोच्य 'अधिदैविकम्' 'आध्यात्मिकम्' इति शब्दानावर्त्तयन् लोकान् मोहयसि । सर्वमिदमुपपादनं त्वदीयक्षेत्रे सङ्गच्छेत, किन्तु व्यावहारिके कर्मकाण्डे तन्निर्णायकमीमांसाशास्त्रे तत्रापि शाबरभाष्ये कथमिदं सर्वमुपपन्नं भवेत् ?

स्वाभिमतसृष्टियज्ञस्योपपादनाय 'आलभति' शब्दार्थचर्चा त्वया कृता । एकस्यास्य शब्दस्यार्थनिर्णयमात्रेणैतत्सम्बन्धिनां सर्वेषां पदार्थानामुपपत्तिः किं त्वया सम्पादिता स्यात् ? त्वत्सकाशे शस्त्रमेकं वर्तते—यदिदं केनापि परिकल्प्य संयोजितमिति । यदेव स्वपक्षाननुकूलं तत्सर्वं कृत्रिमम्, यच्चानुकूलमिव तत्प्रमाणमिति केयं नीतिः ? आलभितिशब्दार्थनिर्णयाय पदे पदे चरकवाक्यं प्रमाणमुपस्थापयसि । किं शब्दार्थनिर्णयाय चरकस्य प्रवृत्तिः ? क्वचिच्चाधुनिकभाषाविज्ञानानुसारेण शब्दानां परिवृत्तिं प्रदर्श्य तदनुसारेण शब्दार्थनिर्णयं करोषि । एकस्यालभतिशब्दस्य स्वानुकूलार्थनिर्णयाय प्रवृत्तस्त्वं शतशः सहस्रशो वा स्थलेषु किं कुर्याः ? सर्वं तत् कृत्रिमम्, प्रक्षिप्तम्, केनापि संयोजितम् इत्येव खलूत्तरं वदेः ।

पृष्ठे १२१ लिखसि—'इसकी व्याख्या सांख्यदर्शन और वेदके अन्यत्र निर्दिष्टप्रकरण के आधार पर करनी चाहिए' इति । किमेवं कर्तुमाज्ञापयसि ? अथवा किञ्चिदस्ति प्रमाणम् ? 'सबसे पूर्व पुरुषमेध को उपस्थित करते हैं' इति लिखित्वा यजुर्वेदगतं मन्त्रं पुरुषसूक्तभिधमुपस्थापयसि, अपि च सांख्यदर्शनानुसारेण मन्त्रस्यार्थः कर्तव्य इत्यादिशसि । किं सांख्यदर्शनं मन्त्रार्थप्रदर्शनाय प्रवृत्तम् ? मन्त्रार्थनिर्णयाय वाक्यशास्त्रं प्रवृत्तमिति शास्त्रविदो जानन्ति । 'ततो विराडजायत' इत्यत्र 'ततः' इत्यस्य 'उस प्रारम्भिक अजायमान सत्त्वरजतम की साम्यावस्थारूप प्रकृति से) इत्यर्थं वर्णयसि । प्रथममन्त्रचतुष्टये किमजायमानस्सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थारूपः प्रकृतिपदार्थः कीर्तितः ? तच्छब्दस्य बुद्धिस्थत्वावच्छिन्नपदार्थे शक्तिरिति न्यायविदः । पूर्वं यत्प्रधानं तत् तच्छब्दः परामृशति । किमत्र पूर्वं प्रकृतेः प्राधान्येन निर्देशो वर्तते ? 'पुरुष' पदार्थ

सृष्टि बताई गई है ? दोनों को एक समझने में प्रमाण क्या है ? यह सब बिना विचारे ही केवल 'आधिदैविक' 'आध्यात्मिक' आदि शब्दों को पुनः पुनः लिखकर या बोलकर लोगों को ठगना चाह रहे हो ? तुम्हारा किया हुआ यह सब उपपादन तुम्हारे क्षेत्र में ही चल सकेगा । व्यावहारिक कर्मकाण्ड में तन्निर्णायक मीमांसाशास्त्र में तत्रापि शाबरभाष्य में वह सब कैसे उपपन्न हो सकता है ?

स्वाभिमत सृष्टियज्ञ के उपपादनार्थ 'आलभति' शब्द के अर्थचर्चा तुमने की है । इस एक शब्द के अर्थ का निर्णय कर लेने मात्र से क्या तत्सम्बन्धित समस्त पदार्थों की उपपत्ति लग जायगी ? तुमने तो एक वाक्य रट लिया है कि 'यह तो किसी ने कल्पना करके जोड़ दिया है' । यह वाक्य ही तुम्हारे पास एक शस्त्र है । 'जो अपने पक्ष के अनुकूल न हो, उसे 'कृत्रिम' कह देना, और जो अनुकूल सा प्रतीत हो उसे 'प्रमाण' मान लेना'—यह कौन सी नीति है ? 'आलभति' शब्द के अर्थ का निर्णय करने के लिये जहाँ तहाँ चरकवाक्य को प्रमाण के रूप में उपस्थित करते हो । क्या शब्दार्थनिर्णय के लिये चरक प्रवृत्त हुए हैं ? कहीं पर आधुनिक भाषा विज्ञान के अनुसार—शब्दों की परिवृत्ति (परिवर्तन) को प्रदर्शित कर तदनुसार शब्द के अर्थ का निर्णय करने लगते हो' अच्छा, एक 'आलभति' शब्द का अपने अनुकूल अर्थ निर्णय कर भी लो, तो उससे क्या होगा ? सैकड़ों, हजारों स्थलों पर क्या करोगे ? वहाँ पर यही उत्तर दोगे न ! कि वह सब कृत्रिम है, प्रक्षिप्त है, किसी ने जोड़ दिया है, इसके सिवाय और क्या उत्तर दे पाओगे ।

पृष्ठ १२१ पर लिख रहे हो कि 'इसकी व्याख्या सांख्यदर्शन और वेद के अन्यत्र निर्दिष्ट प्रकरण के आधार पर करनी चाहिये' इति । क्या यह आज्ञा दे रहे हो ? अथवा तुम्हारे कथन में कोई प्रमाण भी है ? 'सबसे पूर्व 'पुरुषमेध' को उपस्थित करते हैं'—यह लिख कर यजुर्वेदगत पुरुषसूक्त के मन्त्र को उपस्थित कर रहे हो, और दूसरी ओर यह आज्ञा दे रहे हो कि 'सांख्यदर्शन के अनुसार मन्त्रार्थ करना चाहिये' । जरा सोचो तो सही कि क्या सांख्यदर्शन, मन्त्रार्थको प्रदर्शित करने प्रवृत्त हुआ है ? 'मन्त्रार्थ—निर्णय के लिये 'वाक्यशास्त्र' प्रवृत्त हुआ है'—यह तो शास्त्रवेत्ता जानते हैं । 'ततो विराडजायत' यहां के 'ततः' का अर्थ (प्रारम्भिक अजायमान—सत्त्व-रज-तम की साम्यावस्थारूप प्रकृति) से—तुम बता रहे हो । क्या प्रथम चार मन्त्रों में अजायमान सत्त्व-रज-तम की साम्यावस्थारूप प्रकृतिपदार्थ बताया गया है ? 'तत्' शब्द की बुद्धिस्थ पदार्थ शक्ति होती है—यह तो न्यायविदों ने बताया है । पूर्व जो प्रधान रहा होगा उसी का परामर्श तच्छब्द करेगा । क्या 'पहले 'प्रकृति' का प्राधान्येन निर्देश किया गया है ? पहले मन्त्रों में तो

एव पूर्वं मन्त्रेषु निर्दिष्टः। किं साङ्ख्यमते पुरुष एव प्रकृतिः? प्रकृतिस्त्वचेतना, पुरुषस्तु चेतनः। उभयोः किमैक्यम्? स्वोक्तपदार्थनिर्णयायोपरिष्टान्निर्दिशसि—'इस सूक्त में श्लेषालङ्कार से प्राकृतिक विराट् पुरुष (=महद्दण्ड=हिरण्यगर्भ) का' इत्यादि। किमलङ्कारस्वरूपं जानन् 'श्लेषालङ्कार' इति लिखसि? अथवा दयानन्दानुसृतं पन्थानमवलब्य श्लेषालङ्कार इति लिखसि? अलङ्कारस्वरूपमवबोधयामि, शृणुष्व।

सर्वस्य पदार्थस्य विवेचनाय शास्त्रकारा विविधं पन्थानमाशिश्रियिरे। विवेचका इमे स्वशास्त्रस्य निरूपणीयं विषयं निश्चित्य तदुपपादनाय शास्त्रन्तरविरुद्धामपि रीतिं काञ्चन परिकल्प्य स्वस्वसिद्धान्तव्यवस्थापनाय चेष्टन्ते। शास्त्रकारेषु मिथः खण्डनमण्डनव्यापारः स्वाभाविकः। अपरेण मदीयं मतं खण्डितमिति स्वमते हेयदृष्टिं निक्षिप्य नोदासते। स्वमतमण्डनायाजस्रं यतन्त एव। नैयायिकेनाद्वैतं खण्डितम्, अद्वैतिना नैयायिकमतं खण्डितमिति मन्वानोऽपरो मतद्वयमपि लुप्तमिति नावधारयति, किन्तु तत्र तत्र विद्यमाना युक्तीः परिशीलयन् यदेव युक्तियुक्तं तन्मतं गृह्णाति। यथा दार्शनिकेषु शास्त्रकारेषु च विवेचकाः तथालङ्कारिकेष्वपि सन्त्युच्चावचा वादाः। तेऽपि शोभनं कञ्चन पन्थानं निर्माय रीतिञ्च मनोरमामाश्रित्य गच्छन्ति।

नात्र काव्यस्वरूपविवेचका आलङ्कारिका शब्दमयं काव्यमिति शब्दार्थोभयमयं तदित्यास्थिषत। शब्दमयेऽपि काव्ये रमणीयार्थप्रतिपादकत्वं शब्दस्य विशेषणमभिप्रयन्ति ते। 'काव्यं परिशीलयति' 'काव्यार्थं परिशीलयति' इति द्वेधा प्रयोगात् शब्दतदर्थयोः प्रधानोपसर्जनभाव एतेषां मते। अन्ये च काव्यशरीरेऽर्थस्यापि प्राधान्यमङ्गीकृत्य तदुपसर्जनतया शब्दमङ्गीकुर्वन्ति। एतेषां मते शब्दस्य प्राधान्येऽर्थो गुणभूतः, अर्थस्य च प्राधान्ये शब्दो गुणभूतः। माधुर्यमोजःप्रसादश्चेति त्रयो गुणाः शब्दस्य यथा स्वीक्रियन्ते तथार्थस्यापि। गुणा इमे रसपरिपोषकाः परिगण्यन्ते। एवम् अलङ्काराः

'पुरुष' पदार्थ का ही निर्देश हुआ है। किं सांख्यमत में—पुरुष को ही प्रकृति कहते हैं? प्रकृति' तो जड़ (अचेतन) है, किन्तु—'पुरुष' चेतन है। क्या जड़ और चेतन दोनों की एकरूपता है? पृ० १२० पर स्वोक्तपदार्थ के निर्णयार्थ लेखक महोदय लिख रहे हैं—'इस सूक्त में श्लेषालङ्कार से प्राकृतिक विराट् पुरुष (=महद्दण्ड=हिरण्यगर्भ) का' इत्यादि। स्वयं को अलङ्कारस्वरूप का ज्ञाता समझ कर यहाँ 'श्लेषालङ्कार' लिख रहे हो? अथवा दयानन्द के अनुसृत मार्ग का अवलम्बन कर यहाँ 'श्लेषालङ्कार' बता रहे हो। अलङ्कारस्वरूप को मैं समझता हूँ, सुनो—

समस्त पदार्थों के विवेचनार्थ शास्त्रकारों ने विविध मार्ग अपनाये हैं। ये विवेचक निश्चित किये हुए स्वशास्त्र के निरूपणीय विषय के उपपादनार्थ शास्त्रान्तर से विरुद्ध भी किसी एक रीति को मानकर अपने अपने सिद्धान्त को स्थापना के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। परस्पर खण्डन-मण्डन की परम्परा शास्त्रकारों में स्वाभाविकगति से चली आ रही है। दूसरे ने मेरे मत का खण्डन कर दिया, इस कारण स्वमत में हेयदृष्टि करके वे उदासीन नहीं होते। स्वमत के मण्डनार्थ वे निरन्तर प्रयत्न करते ही रहते हैं। नैयायिक ने अद्वैत का खण्डन किया, तो अद्वैती ने नैयायिकमत का भी खण्डन किया, यह देखकर कोई जिज्ञासु प्रेक्षक यह नहीं समझ लेता कि परस्पर दोनों खण्डित होने से दोनों लुप्त हो गये। किन्तु उन दोनों मतों में विद्यमान युक्तियों का परिशीलन करते हुए जो युक्तियुक्त मत उसे प्रतीत होता है, उसे वह स्वीकार करता है। जैसे दार्शनिकों में और शास्त्रकारों में विवेचक हैं, वैसे ही आलङ्कारिकों में भी उच्चावचवादों के विवेचक हैं। वे भी किसी एक सुन्दर मनोहर पद्धति की कल्पना कर, उसके सहारे विवेचना किया करते हैं।

काव्यस्वरूप के विवेचक आलङ्कारिकों ने शब्दमयकाव्य को ही शब्दार्थोभयमय नहीं माना। शब्दमय काव्य में भी रमणीयार्थ-प्रतिपादकत्व को उन्होंने शब्द का विशेषण ही माना है। 'काव्यं परिशीलयति' 'काव्यार्थं परिशीलयति' दोनों प्रकार के इन प्रयोगों से इनके मत के अनुसार शब्द और उसके अर्थ में प्रधानोपसर्जन भाव माना जाता है।

'शब्दार्थोभयमयं काव्यम्' पक्ष के लोगों ने काव्यशरीर में अर्थ की भी प्रधानता को मानकर उसके उपसर्जन रूप में शब्द को माना है। इसके मत में शब्द की प्रधानता रहने पर अर्थ गुणभूत रहता है, और अर्थ की प्रधानता रहने पर शब्द गुणभूत रहता है। माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन गुण जैसे शब्द के वैसे ही अर्थ के भी हैं। गुणों को रसपरिपोषक माना जाता है। इसी प्रकार अलङ्कारों को शब्दगत और अर्थगत माना गया है। इन अलंकारों से काव्य में चमत्कार पैदा होता है। इसी कारण अलङ्कारों को

शब्दगता अर्थगताश्चानुप्रासादयः, उपमादयश्च परिगणिताः। इमेऽलङ्कारा: काव्यस्य चमत्कृतिजनका इष्यन्ते। अनुप्रासादिविशिष्टशब्दज्ञानेन केचन चमत्कृतिमनुभवन्ति उपमादिविशिष्टार्थज्ञानेन च काव्यगतचमत्कृतेरनुभवोऽपरेषाम्। एवञ्च काव्यगतचमत्कृतिजनकम् अनुप्रासादिविशिष्टशब्दज्ञानम् एवमुपमादिविशिष्टार्थज्ञानञ्चेति निर्गलितम्। काव्यगतचमत्कृतिजनकता अनुप्रासादिविशिष्टशब्दज्ञाने उपमादिविशिष्टार्थज्ञाने च वर्तत इति पर्यवसन्नम्। जनकतावच्छेदकत्वं शब्देऽर्थे च। तदवच्छेदकता अनुप्रासादौ उपमादौ च। तेनालङ्काराणां लक्षणमिदं पर्यवस्यति—रसादिभिन्नव्यङ्ग्यभिन्नत्वे सति शब्दार्थान्यतरनिष्ठा या विषयित्वसम्बन्धावच्छिन्ना चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता तदवच्छेदकत्वमिति। अत्रेदं ज्ञातव्यं भवति—यदलङ्कारा वाच्या अपि भवन्ति व्यङ्ग्या अपि। व्यङ्ग्यावसरे तेषामलङ्कारत्वं ब्राह्मणश्रमणन्यायेनोपपाद्यते। रसस्तु सर्वत्र व्यङ्ग्य एव भवति, न वाच्यः। रसभावादीनां मिथोऽङ्गाङ्गिभावदशायां रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहित इति चत्वारो रसवदाद्यलङ्कारा इष्यन्ते। एतेषां लक्षणेन सङ्ग्रहः, उपमादीनां व्यङ्ग्यदशायामलङ्कारत्वाभावात्तेषां व्यावृत्तिरिति हेतोः लक्षणे 'रसादिभिन्नव्यङ्ग्यभिन्नत्वे सति। इति भेदद्वयगर्भे सत्यन्तं पदम्। तथा च रसादिविशिष्टशब्दज्ञानात् उपमादिविशिष्टार्थज्ञानाच्च चमत्कारोदयात् तेषु लक्षणसमन्वयः। शब्दार्थयोर्ज्ञाननिष्ठचमत्कृतिजनकताया विषयितयावच्छेदकत्वेन तद्विशेषणीभूतानुप्रासोपमादेः तन्निष्ठावच्छेदकतावच्छेदकत्वम्।

एवमलङ्कारलक्षणे स्थिते दयानन्दकृतवेदव्याख्याने तत्र तत्र लिखिता अलङ्काराः परिशील्यन्ते, दयानन्देन तत्र तत्रोल्लिखिता अलङ्काराः प्रायशः पञ्चषा एव—उपमा लुप्तोपमा श्लेषः रूपकञ्चेति। वेदमन्त्रेषु क्वचिदिवशब्दो भवति क्वचिदिवार्थको 'न' शब्दो भवति। यत्र यत्र मन्त्रे इवशब्दो वा न शब्दो वा न भवति तत्र लुप्तोपमा, अथवा रूपकम्, यत्र च भवति तत्रोपमा, यत्र चोपमाया रूपकस्य वा कापि सामग्री न निर्द्धार्यते तत्र स्वोन्नीतार्थान्तरं समादाय श्लेष इति तदीयः पन्थाः। तमेवानुसरन् त्वमत्र लिखसि 'श्लेषालङ्कार' इति। किमङ्ग! अत्र शब्दश्लेषोऽभिप्रेतः? उतार्थश्लेषः? अर्थभेदेन भिन्नाश्शब्दाः एकोच्चारणविषयास्सन्तो यत् श्लिष्यन्ति स श्लेष इति शब्दश्लेषस्य लक्षणं मम्मटाचार्यमतम्। स च श्लेषः वर्ण-

काव्य का चमत्कृति जनक माना गया है। कुछ लोगों को अनुप्रासादिविशिष्ट शब्दों को सुनने मात्र से ही चमत्कार का अनुभव होने लगता है और कुछ लोग उपमादिविशिष्ट अर्थ का ज्ञान होने पर काव्यगत चमत्कार का अनुभव करते हैं। एवञ्च अनुप्रासादिविशिष्ट शब्द ज्ञान को उसी प्रकार उपमादिविशिष्ट अर्थज्ञान को काव्यगतचमत्कृति का जनक कहा गया है अतः काव्यगतचमत्कृतिजनकता, अनुप्रासादिविशिष्ट शब्दज्ञान में और उपमादिविशिष्ट अर्थज्ञान में रहती है। और जनकतावच्छेदकता शब्द तथा अर्थ में रहती है। और तदवच्छेदकता (जनकतावच्छेदकता की अवच्छेदकता) अनुप्रासादि में और उपमादि में रहती है। तदनुरोधेन अलंकार का लक्षण इस प्रकार निष्पन्न हुआ—'रसादिभिन्नव्यङ्ग्यभिन्नत्वे सति शब्दार्थान्यतरनिष्ठा, या विषयित्वसम्बन्धावच्छिन्ना चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता, तदवच्छेदकत्वम्'। इति। यहाँ पर ज्ञातव्य है कि अलङ्कार वाच्य भी होते हैं और व्यङ्ग्य भी होते हैं। व्यङ्ग्य के समय उनका अलङ्कारत्व ब्राह्मण-श्रमणन्याय से बताया जाता है। रस तो सर्वत्र व्यङ्ग्य ही होता है, वाच्य नहीं। रस-भावादि में जब परस्पर अंगाङ्गिभाव रहता है, उस समय रसवत्. प्रेय, ऊर्जस्वि, और समाहित—ये चार रसवदादि अलंकार कहे गये हैं। व्यङ्ग्यदशा में उपमादिकों में अलङ्कारत्व के न रहने से, उनके व्यावर्तनार्थ लक्षण में भेदद्वयगर्भित सत्यन्तपद का निवेश किया गया है। तथा च रसादिविशिष्टशब्दज्ञान से और उपमादिविशिष्ट अर्थज्ञान से चमत्कार उपपन्न होने के कारण उनमें अलङ्कारत्व सिद्ध हो जाता है।

अब दयानन्दकृत वेदव्याख्यान में जहाँ तहाँ लिखे गये अलङ्कारों का परिशीलन करते हैं। दयानन्द ने प्रायः उपमा, लुप्तोपमा, श्लेष और रूपक आदि पांच-छह ही अलंकारों का ही उल्लेख किया है। वेदमन्त्रों में कहीं पर 'इव' शब्द तो कहीं पर 'इव' के अर्थ में 'न' शब्द आता है। जहाँ जहाँ मन्त्र में 'इव' शब्द या 'न' शब्द नहीं रहता, तब वहाँ लुप्तोपमा, अथवा जहाँ रूपक रहता है वहाँ उपमा, और जहाँ उपमा, या रूपक की किसी भी सामग्री का निर्धारण—नहीं करते बनता वहाँ स्वकल्पित अर्थान्तर को लेकर 'श्लेष'—यह उनका मार्ग है। उसी मार्ग का अनुसरण कर तुम यहाँ श्लेषालंकार लिख रहे हो। किन्तु भाई! जरा यह तो बताओ कि यहाँ तुम्हें शब्दश्लेष अभिप्रेत है, या अर्थश्लेष अभिप्रेत है? मम्मटाचार्य ने तो शब्दश्लेष का लक्षण इस प्रकार किया

पद-लिङ्ग-भाषा-प्रकृति-प्रत्यय-विभक्ति-वचनभेदेनाष्टधा विभक्तः। अयंश्लेषः सभङ्गोऽभङ्गश्चेति द्विविधः। किमेतेषु त्वदीयं पुरुषसूक्तमन्तर्भवति ? अर्थश्लेषस्य च परिवृत्तिसहानां श्लिष्टानां शब्दानां प्रकरणादिनियमाभावादनेकार्थप्रतिपादकत्वं लक्षणमस्ति। शब्दश्लेषे शब्दाः परिवृत्त्यसहाः, अर्थश्लेषे च परिवृत्तिसहा भवन्तीति नियम आलङ्कारिकाणाम्। त्वदीयं पुरुषसूक्तं पश्यामः—प्रथमं तवेयं प्रतिज्ञा—'पुरुषमेध में यजुर्वेद का ३१वाँ अध्याय, तथा ऋग्वेद का १०।९० पुरुषसूक्तविनियुक्त है' इति। तवानया पङ्क्तया प्रतीयते—ऋग्यजुर्वेदयोर्विद्यमानयोः पुरुषसूक्तयोरुभयोः पुरुषमेधे विनियोग इति। त्वद्वाक्ये 'तथा' इति पदमस्ति। तस्य च हिन्दीभाषायां समुच्चयोऽर्थः। तेन च पुरुषसूक्तद्वयस्य विनियोगो ज्ञायते। किमेवमभिप्रैषि ? पुरुषमेधेऽनयोस्सूक्तयोर्विनियोग इति कथं जानाति भवान् ? किं पुरुषमेधप्रकरणे सूक्तमिदमधीतम् ? यद्यधीतम् तर्हि नार्थश्लेषः, तल्लक्षणे प्रकरणादिनियमाभावस्योल्लेखात्। यदि नाधीतं तर्हि पुरुषमेधे विनियुज्यत इति कथं वदसि ? यदि च ब्राह्मणेन श्रौतसूत्रकारवचनेन वा विनियुज्यत इति त्वं वदसि, तर्हि प्रकरणानुसारेणैव ब्राह्मणं वा सूत्रकारो वा विनियोगं ब्रवीति। तथा च प्रकरणादिनियमे सति कथमर्थश्लेषस्य सम्भवः ? यथाकथञ्चिदर्थश्लेषमभ्युपेत्य विचारयामः। त्वदुदाहृतो मन्त्रः—'ततो विराड् अजायत' इति। 'ततः' इति तच्छब्दात् तसिलप्रत्ययान्तं पदम्। तच्च पूर्वप्रकृतप्रधानपरामर्शकम्। पूर्वञ्च मन्त्रचतुष्टयेन नारायणाख्यः परब्रह्मरूपः पुरुषः प्रतिपादितः। एवञ्च 'ततः' इति तच्छब्देन नारायणाख्यः पुरुष उच्यत इत्यागतम्। त्वञ्च तस्य शब्दस्यार्थान्तरं वदसि—साङ्ख्यमतसिद्धप्रकृतिरिति। त्वयापि पूर्वपरामर्शकत्वं तच्छब्दस्याङ्गीकर्तव्यमेव। पूर्वञ्च 'पुरुषः' इत्येवोपात्तम्। पूर्वमुपात्तस्य 'पूरुषः' इत्यस्य किं प्रकृतिरर्थो वा ? उतान्यो वा ? यदि प्रथमः पक्षः, तर्हि तादृशोऽर्थः कथं लब्धः श्रीमता ? द्वितीयपक्षपरिग्रहेऽर्थश्लेषो न भवेत्। कथं ब्रवीषि श्लेषालङ्कार इति। एकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन द्वावर्थौ स्वातन्त्र्येण यत्र भासेते द्वयोरन्यतरस्य नियमने यत्र प्रमाणं किमपि न भवति तत्र

हैं—'अर्थभेदेन भिन्नाः शब्दा एकोच्चारणविषयास्सन्तो यत्श्लिष्यन्ति सश्लेषः'। उस श्लेष के वर्ण-पद-लिङ्ग-भाषा-प्रकृति-प्रत्यय-विभक्ति वचन के भेद से आठ भेद होते हैं। यह श्लेष, सभङ्ग और अभङ्ग भेद से दो प्रकार का होता है। क्या इन भेदों में से किसी भेद में पुरुषसूक्त का अन्तर्भाव होता है ? अर्थश्लेष का लक्षण इस प्रकार किया गया है—'परिवृत्तिसहानां श्लिष्टानां शब्दानां प्रकरणादिनियमाभावादनेकार्थप्रतिपादकत्वम्'। शब्दश्लेष में शब्द, परिवृत्यसह हुआ करते हैं, और अर्थश्लेष में शब्द, परिवृत्तिसह होते हैं—यह आलङ्कारिकों का नियम है। अब तुम्हारे पुरुषसूक्त को देखते हैं—प्रथम तुमने यह प्रतिज्ञा की है—'पुरुषमेध में यजुर्वेद का ३१ वाँ अध्याय, तथा ऋग्वेद का१०।९० पुरुषसूक्त विनियुक्त हैं' इति। तुम्हारी इस पङ्क्ति से यह प्रतीत होता है—ऋग्वेद और यजुर्वेद दोनों में स्थित दोनों पुरुषसूक्तों का पुरुषमेध में विनियोग है। तुम्हारे वाक्य में 'तथा' पद है। हिन्दी भाषा में उस (तथा) का समुच्चय अर्थ होता है। इस कारण दो पुरुषसूक्तों का विनियोग किया जाना ज्ञात हो रहा है। क्या यही तुम्हें अभिप्रेत है ? पुरुषमेध में इन दो सूक्तों का विनियोग होता है, यह तुमने कैसे जाना ? क्या पुरुषमेध प्रकरण में का यह सूक्त पढ़ा गया है ? यदि पढ़ा गया हो तो अर्थश्लेप कैसे कहा जायगा ? क्योंकि उसके लक्षण में प्रकरणादिनियम के न रहने का उल्लेख है। यदि नहीं पढ़ा गया है तो तुमने कैसे जाना कि पुरुषमेध में उसका विनियोग किया जाता है। क्यों मिथ्या विनियोग बता रहे हो। यदि ब्राह्मण या श्रौतसूत्रकार के वचन से विनियोग को बता रहे हो, तो ब्राह्मण या सूत्रकारप्रकरण के अनुसार ही विनियोग बताया करते हैं। तथा च प्रकरणादिनियम के रहने पर अर्थश्लेष का होना कैसे सम्भव है ? अच्छा अब यथाकथञ्चित् अर्थश्लेष को मान कर भी विचार कर लें। तुमने 'ततो विराड् अजायत' मन्त्र को उद्धृत किया है। 'ततः' में 'तत्' शब्द से 'तसिल्' प्रत्यय लगाया गया है। अतः तसिल्प्रत्ययान्त 'ततः' पद है। वह पूर्व प्रकृत प्रधान का परामर्शक है। पूर्व में चार मन्त्रों से नारायणाख्य पर ब्रह्मरूप पुरुष का प्रतिपादन किया गया है। एवञ्च 'ततः' के तच्छब्द से नारायणाख्य पुरुष बताया जा रहा है। किन्तु तुम तो 'तत्' शब्द का कुछ भिन्न ही अर्थ 'सांख्यमतसिद्ध प्रकृति' बता रहे हो। तुम्हें भी तच्छब्द का पूर्वपरामर्शकत्व तो स्वीकार करना ही होगा। पूर्व में 'पुरुष' ही बताया गया है 'पूर्व में उपात्त 'पुरुष' का क्या प्रकृति अर्थ है, या और कुछ ? यदि प्रथम—पक्ष है, तो उस अर्थ की उपलब्धि आपको कैसे हो पाई ? यदि द्वितीय पक्ष का परिग्रह कर रहे हो तो अर्थश्लेष नहीं कह सकोगे। ऐसी स्थिति श्लेषालंकार कैसे कह रहे

खल्वर्थश्लेष इत्यालङ्कारिका आस्थिषत। अत्र पुरुषपदस्य प्रकृतिरर्थः परंब्रह्म चेति केन प्रमाणेनावधार्यते। तत्रापि साङ्ख्यमते पुरुषपदार्थस्तु न प्रकृतिः, व्यक्ताव्यक्तभेदेन तयोर्भिन्नार्थकत्वात्। सृष्टिक्रम एव तव सृष्टियज्ञः, स एव पशुयज्ञः। कः केन सम्बध्यत इति किं चिन्तयसि? किञ्च श्लेषालङ्कारेऽर्थद्वयस्योपस्थितिरभिधयैवेति नियमः। 'पृषदाज्यम्' इति मन्त्रगतं पदं दधिमिश्रिताज्यस्य वाचकम्। अर्थान्तरं त्वयोच्यते—'कहीं अन्धकार और कहीं प्रकाश' इति। किमस्मिन् अर्थे पृषदाज्यपदं शक्तम्? एवं मन्त्रगतपदानामर्थान्तरं यदुच्यते तत्सर्वं लक्षणयैव खलु वक्तव्यम्। तत्र लक्षणायां किं बीजम्? यत्र शक्यार्थस्य विरोधो भवति तत्रैव हि वृत्त्यन्तराश्रयणं भवति। एवं लाक्षणिकमर्थमुन्नीय विनियोगाय विधिस्त्वया कल्पनीयः। 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति न्याये जाग्रति तमुल्लङ्घ्य तत्र तत्रालङ्कारयोजनाय लक्षणा समाश्रयणीया भवति। किमिदमुचितम्?

किञ्च सर्वत्र मन्त्रे श्लेषालङ्कारेणार्थान्तरं वदतस्तव प्रकृतोऽप्रकृतश्चेति विभागाभावादर्थद्वयं त्वया स्वीक्रियते न वा? यदि स्वीक्रियते, तर्हि त्वदभिमतसृष्टियज्ञेन पशुयज्ञस्य निषेधो न स्यात्। यदि न स्वीक्रियते, तर्हि श्लेषालङ्कारो न सिध्येत्। एवं १२३ पृष्ठे 'भूलोकवासी पशु-पक्षी यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं' इति निषेधसि। निषेधः प्राप्तिपूर्वको भवति। श्रौतयज्ञेषु पशूनां भूलोकवासिनामङ्गत्वेन प्राप्तानाम् आधिदैविकत्वमङ्गीकृत्य निषेधः कर्त्तव्यस्त्वया। मन्त्रे च निषेधो नोपलभ्यते—'पशूं स्तां चक्रे' इत्येव मन्त्रः। 'यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं' इति त्वद्वाक्य एव निषेधः, निषेधस्वरूपञ्च प्राक्सविस्तरं निरूपितम्।

हो? 'एकवृन्तफलद्वयन्याय' से दो अर्थ स्वतन्त्र रूप से जहाँ भासते हैं, और दो में से किसी एक के नियम में जहाँ कोई प्रमाण नहीं होता वहाँ अर्थश्लेष को आलंकारिकों ने माना है। यहाँपर 'पुरुष' पद का प्रकृति और परंब्रह्म अर्थ है, यह किस प्रमाण से आपने निर्धारित किया? तत्रापि सांख्यमत में 'पुरुष' पदार्थ तो 'प्रकृति' नहीं है' व्यक्त और अव्यक्त के भेद से दोनों के अर्थ भिन्न भिन्न हैं। सृष्टिक्रम को ही तुम सृष्टियज्ञ कह रहे हो, और वही तुम्हारा पशुयज्ञ है। क्या किसी से भी कोई सम्बद्ध है? किञ्च श्लेषालङ्कार में दो अर्थों की उपस्थिति अभिधा से ही होने का नियम है। मन्त्रगत 'पृषदाज्य' पद, दधिमिश्रित आज्य का वाचक है। तुम उसका कुछ अन्य ही अर्थ बता रहे हो—'कहीं अन्धकार और कहीं प्रकाश'। क्या इस अर्थ में पृषदाज्य शब्द की शक्ति है? मन्त्रगत पदों का अर्थान्तर यदि बताना हो तो उसे लक्षणा के द्वारा ही बताना होगा। लक्षणा करने में कारण भी बताना होगा। जहाँ शक्यार्थ का विरोध होता हो वहींपर वृत्त्यन्तर का आश्रयण किया जाता है। इसप्रकार लाक्षणिक अर्थ की कल्पनाकर विनियोग के लिये तुम्हें विधि की कल्पना करनी होगी। क्या तुमने यह कभी नहीं सोचा? कि 'न विधौ परः शब्दार्थः' यह न्याय भी है। इस न्याय के रहते हुए भी उसकी परवाह न कर जहाँ तहाँ अलङ्कार की योजना करने के लिये न्याय के विरुद्ध लक्षणा का आश्रय करना पड़ेगा। क्या लक्षणा का आश्रय करते रहना उचित है?

किञ्च-सर्वत्र मन्त्रगण शब्दों में श्लेषालङ्कार बताकर अर्थान्तर प्रदर्शित करते हुए प्रकृत-अप्रकृत का विभाग न होने के कारण दो अर्थों का स्वीकार तुम्हें करना होगा या नहीं? प्रथम पक्ष में तुम्हारे अभिमत सृष्टियज्ञ से पशुयज्ञ का निषेध नहीं हो सकेगा। और दूसरे पक्ष में श्लेषालङ्कार सिद्ध नहीं होगा। उसी प्रकार पृ० १२३ पर लेखक ने लिखा है—'भू लोकवासी पशु-पक्षी यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं' इस प्रकार लेखक ने निषेध प्रदर्शित किया है। किन्तु निषेध तो प्राप्तिपूर्वक हुआ करता है। श्रौतयज्ञों में भूलोकवासी तथा अंगरूप से प्राप्त पशुओं की आधिदैविकता को स्वीकार करके उनका निषेध तुम्हें करना होगा। और मंत्र में निषेध, उपलब्ध हो नहीं रहा है—'पशूꣳस्ताꣳचक्रे' यही मन्त्र है किन्तु वह यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं' इस प्रकार तुम्हारे वाक्य में ही निषेध और उसका स्वरूप पहले बताया गया है।

तृतीयं परिशिष्टम्

शास्त्रसम्मतः शाब्दबोधप्रकारः

'पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधोः। शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ॥' इति न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीरीत्या पदज्ञानं शाब्दवोधे करणम्, पदजन्यपदार्थस्मृतिर्व्यापारः, शक्तिबुद्धिस्तत्र सहकारिकारणम्। पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः शक्तिः। सा च पदार्थान्तरमिति मीमांसकाः। ईश्वरेच्छारूप ईश्वरसंकेत इच्छारूपः सङ्केतो वा शक्तिरिति नैयायिकाः। भेदाभेदरूपं तादात्म्यं शक्तिरिति सांख्या योगा अद्वैतिनश्च। तत्रापि भेदस्तात्त्विकोऽभेद आध्यासिक इति प्रथमे उभये। अभेदस्तात्त्विको भेदस्त्वाध्यासिक इत्यद्वैतिनः। बोधकत्वं शक्तिरिति प्राञ्चो वैयाकरणाः। वाच्यवाचकभावः सेति नव्याः। बौद्धादयस्तु इन्द्रियाणामप्राप्यकारित्वपक्षे यथा तत्तदिन्द्रियाणि विषयमप्राप्तान्यपि स्वभाववशादेव स्वस्वविषयं गृह्णन्ति, स्वभावादेव चान्यार्थसम्बन्धेऽपि तेषां तदग्राहकत्वम्, तथैव शब्दार्थयोः परस्परं सम्बन्धाभावेऽपि स्वभावादेव तत्तदर्थानुभावकत्वम्। न शब्देभ्यस्तदर्थस्मरणम्, स्मृतिकारणाभावात्, किन्तु वाक्याद् वाक्यार्थस्येव पदात्पदार्थानुभव एव तादृशस्य स्वभावस्यापि नियामकत्वेन सम्बन्धस्याङ्गीकर्त्तव्यत्वेन सम्बन्धपक्ष एव युक्तः।

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥' (वाक्यपदीय १।२३) इति वाक्यपदीयरीत्या सर्वस्य विचारजातस्य शब्दानुविद्धत्वं विज्ञायते। घटकुण्डलादिषु मृत्सुवर्णादिप्रकृत्यन्वयदर्शनेन रूपादयोऽपि शब्दतत्त्वविकारा एव। विषया भिन्नेन्द्रियग्राह्या अभिन्नेन्द्रियग्राह्यमभिन्नरूपं च शब्दतत्त्वमिति गौरिति शब्दः, गौरित्यर्थः, गौरिति ज्ञानमिति सर्वत्र शब्दानुवेधदर्शनाद् अर्थानां शब्दतत्त्वस्य च प्रकृतिविकृतिभावो विज्ञायते, रज्ज्वां

शास्त्रसंमत शाब्दबोध का प्रकार

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के अनुसार शाब्दबोध में पद का ज्ञान करण, पद से होने वाली पदार्थ की स्मृति व्यापार और शक्ति बुद्धि (इस पद की इस अर्थ में शक्ति है, इस बात की जानकारी। सहकारी कारण है। पद के साथ पदार्थ के संबन्ध को शक्ति कहते हैं। मीमांसक इस शक्ति को एक भिन्न पदार्थ मानते हैं। नैयायिकों के मत के अनुसार ईश्वर की इच्छा या सामान्य इच्छा के द्वारा विहित संकेत को ही शक्ति कहा जाता है। सांख्य, योग और अद्वैतदर्शन में भेदाभेदात्मकतादात्म्य को ही शक्ति कहते हैं। इनमें भी सांख्य और योग-दर्शन के अनुसार भेद वास्तविक है और अभेद कल्पित। अद्वैतवादी अभेद को वास्तविक और भेद को काल्पनिक जानते हैं। प्राचीन वैयाकरण बोधकता में शक्ति मानते हैं और नवीन वैयाकरण वाच्यवाचकभाव में। बौद्ध प्रभृति दार्शनिकों का कहना है कि कुछ दार्शनिक इन्द्रियों की अप्राप्यकारिका तो स्वीकार करते हैं, उनके मत से जैसे इन्द्रियाँ विषय देश में गये बिना भी स्वभावतः कुछ विषयों का ग्रहण करती हैं और कुछ का नहीं, उसी तरह से शब्द और अर्थ का परस्पर संबन्ध न रहने पर भी स्वभावतः उनके अर्थों की प्रतीति हो जाती है। शब्द से अर्थ की स्मृति नहीं होती, क्योंकि यहाँ स्मृति का कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु वाक्य से वाक्यार्थ का बोध होता है, उसी तरह से पद से पदार्थ का अनुभव होने पर स्वभाव की नियामकता मानी जायगी। यह भी एक प्रकार का संबन्ध ही है, अतः संबन्ध को माने विना काम नहीं चलेगा।

वाक्यपदीयकार का कहना है कि लोक में ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं, जिसके साथ कि शब्द न जुड़ा हो। समस्त ज्ञान शब्द के द्वारा ही भासित होता है। घट, कुण्डल प्रभृति में मिट्टी, सुवर्ण आदि की जैसे अनुस्मृति रहती है, उसी तरह से रूप प्रभृति में शब्द की अनुस्यूति रहने से शब्द तत्त्व ही इन सबका उपादान कारण है। विषयों का ग्रहण भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से होता है, किन्तु शब्दतत्त्व अभिन्न इन्द्रियों से गृहीत होने से अभिन्न स्वरूप माना जाता है। शब्द, अर्थ ज्ञान—इन सबमें गो शब्द सर्वत्र अनुस्यूत है, अतः अर्थ और शब्द तत्त्व का प्रकृति विकृतिभाव ज्ञात होता है, किन्तु रज्जु में सर्प

सर्पादीनामिव शब्दतत्त्वे ब्रह्मणि रूपादीनामर्थानां कल्पितत्वेन भिन्नरूपताया भ्रान्तिविलसितत्वात् । तदुक्तम्—'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥' (वाक्यपदीय १।१) । वर्णात्मकानामक्षराणां निमित्तत्वादुपादानत्वाच्च ब्रह्मणोऽप्यक्षरत्वम् । ज्ञानरूपे ब्रह्माभिन्ने प्रत्यक्चैतन्येऽन्तरविद्यया सूक्ष्मरूपेण स्थितम् । पदवाक्यरूपा वर्णाः परप्रत्यायनाय प्रयत्नेनाभिव्यज्यन्ते । 'आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया । मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः । वर्णान् जनयते (पा०शि० ६, ९) सेयं' ब्रह्मरूपस्यात्मनोऽभिष्यन्दमाना ब्रह्मोपादानात्मिका वर्णव्यक्तिः मृदुपादानात्मिका घटव्यक्तिरिवेति वेदान्तिनां वैयाकरणानां च रीत्या तादात्म्यरूप एव शब्दार्थसम्बंन्धः । अत एव वेदान्तिनां रीत्या शक्तिर्नाम पदानामर्थेषु मुख्या वृत्तिरेव । यथा घटपदस्य पृथुबुध्नोदराद्याकृतिविशिष्टे वस्तुविशेषे वृत्तिः, सा च शक्तिः कारणेषु कार्यानुकूलशक्तिरिव पदेषु (कारणेषु) पदार्थोपस्थित्यनुकूला शक्तिः । शक्तिग्रहश्च व्याकरणशास्त्रादिभ्यो भवति । तथ चाहुरभियुक्ताः—'शक्तिग्रहो व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च । वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥' इति ।

धातु-प्रकृतिप्रत्ययादीनां शक्तिग्रहो यद्यपि व्याकरणशास्त्राद् भवति, तथापि प्राधान्येन शक्तिग्रहो वृद्धव्यवहारादेव भवति । अतः शक्तिग्राहकेषु स एव मूर्धन्यः । तथाहि—व्युत्पित्सुर्बालो 'गामानय' इत्युत्तमवृद्धवाक्यश्रवणानन्तरं मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्तिमुपलभ्य गवानयनं च दृष्ट्वा मध्यमवृद्धप्रवृत्तिजनकज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यजन्यत्वं निश्चित्य 'अश्वमानय गां बधान' इति वाक्यान्तरे आवापोद्वापाभ्यां गोपदस्य गोत्वजातौ तद्विशिष्टव्यक्तौ वा शक्तिं गृह्णाति । तत्र

की भ्रान्ति की तरह शब्द तत्त्व ब्रह्म में रूपादि अर्थ भी भ्रान्ति के द्वारा कल्पित है, अतः इनकी भिन्नरूपता वास्तविक न होकर भ्रान्तिजन्य मानी जाती है । वाक्यपदीयकार ने इस बात को इस तरह से व्यक्त किया है—'अनादि निधन (आदि और अन्त से रहित । अक्षर ब्रह्म को ही वैयाकरण शब्दतत्त्व कहते हैं । यह शब्दतत्त्व अर्थ के रूप में परिणत होता है, जिससे कि जगत् का सारा व्यवहार चलता है । वर्णात्मक अक्षरों का निमित्त और उपादान होने से ब्रह्म भी अक्षर कहा जाता है । ज्ञानरूप ब्रह्म से अभिन्न प्रत्यक् चैतन्य में अविद्या के कारण अर्थमय जगत् की सूक्ष्म रूप से अभिव्यक्ति होती है । इसके बाद ही दूसरे को समझाने के लिए इन वर्णों को पद और वाक्य के रूप में अभिव्यक्ति होती है । पाणिनीय शिक्षा में इसका क्रम इस तरह से बताया गया है—आत्मा बुद्धि की सहायता से विभिन्न भावों से संपर्क स्थापित करने के बाद कुछ कहने की इच्छा से मनको प्रेरित करता है । मन कायिक अग्नि को और यह अग्नि शरीरस्थित पवन को प्रेरित करती है । पवन ऊपर उठकर शिर पर जाकर टकराता है और वहाँ से मुंह तक आते-आते विविध वर्णों की उत्पत्ति करता है । वैयाकरण और वेदान्ती ब्रह्मस्वरूप आत्मा से प्रवाहित ब्रह्मोपादानक वर्ण की अभिव्यक्ति उसी तरह की मानते हैं; जैसे कि मिट्टी से घट की अभिव्यक्ति मानी जाती है । अतः इनके मत से शब्द और अर्थ का तादात्म्य संबन्ध माना जाता है । इसीलिये वेदान्तियों के मत के अनुसार पदों की अर्थों में मुख्यवृत्ति ही 'शक्ति' कहलाती है । जैसे कि घट पद की गोलमटोल पेट के समान आकारवाले पात्रविशेष में वृत्ति होती है । कारण में कार्य को पैदा करने की शक्ति के समान ही पदों में पदार्थ को उपस्थित करने की शक्ति रहती है । इस शक्ति का ग्रहण व्याकरणप्रभृति शास्त्रों की सहायता से होता है । जैसा कि किसी अभियुक्त (प्रामाणिक व्यक्ति) ने कहा है—'व्याकरणशास्त्र, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण और प्रसिद्ध पद की सन्निधि से पदों की शक्ति का बोध होता है ।

धातु, प्रकृति, प्रत्यय आदि में शक्ति का बोध यद्यपि व्याकरणशास्त्र से होता है, तथापि प्रधान रूप से वृद्ध व्यवहार से ही शक्तिग्रह होता है । इसलिये शक्तिग्राहक उपायों में वृद्ध व्यवहार ही मुख्य है । जैसे कि सीखनेवाला बालक 'गामानय' (गाय लाओ) उत्तम वृद्ध पुरुष के इस वाक्य को सुनने के बाद मध्यम वृद्ध पुरुष को जाते हुए और गाय लाते हुए देखता है । इसको देखकर वह निश्चित् करता है कि मध्यम वृद्ध की उक्त प्रवृत्ति उत्तम वृद्ध के वाक्य को सुनने के बाद हुई । बाद में 'अश्वमानय गां बधान' इस दूसरे वाक्य को सुन कर और आनय किया के साथ अश्व का आवाप (ग्रहण) और गो का उद्वाप (परिहार) कर वह जान जाता है कि गोपद की गोत्वजातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति है । घटादि पद कार्यान्वित घटादि का ही बोध कराते हैं, अतः कार्य में ही

तावद् घटादिपदानां कार्यान्वितघटादिबोधे सामर्थ्यावधारणात् कार्य एव शक्तिः। नयायिकादयस्तु कार्यान्वितघटादौ शक्तिग्रहेऽपि लाघवेन पदार्थ एव शक्तिरित्याहुः। अत एव चैत्र पुत्रस्ते जातः, कन्या ते गर्भिणो जातेत्यादौ मुखप्रसादमालिन्याभ्यां सुखदुःखे अनुमाय तत्कारणत्वेन परिशेषाच्छाब्दवोधमनुमाय तद्धेतुतया तं शब्दमवधारयति। उपमानादपि शक्तिग्रहः। तद्यथा—आरण्यकेन केनचिद् गोसदृशो गवय इत्युक्तो ग्रामीणः क्वचिदरण्ये गवयपिण्डं दृष्ट्वा गोसदृशो गवय इत्यतिदेशवाक्यं स्मृत्वा गोसादृश्यं तत्रोपलभ्य अयं गवय इति यज्जानीतेऽसावुपमानात् शक्तिग्रहः। कोशादपि शक्तिग्रहो यथा—'प्रचेता वरुणः पाशी' (अमरकोषे १।१६१) इति कोशात् प्रचेतस —पाशिन्शब्दयोर्वरुणरूपेऽर्थे शक्तिग्रहः, एते शब्दा एकार्थवाचका इत्यध्याहारात्। आप्तवाक्यादपि शक्तिग्रहः। यथा—कोकिलः पिकपदवाच्य इत्याद्याप्तशब्दात् पिकादिशब्दानां कोकिले शक्तिग्रहः। व्यवहाराद्यथा शक्तिग्रहस्तथोपरिष्टाद् दर्शितम्। वाक्यशेषादपि शक्तिग्रहो यथा 'यवमयश्चरुर्भवति' इत्यत्र यवपदस्य दीर्घशूकविशेष आर्याणां प्रयागः, कङ्गौ तु म्लेच्छानाम्। तत्र हि 'अथान्या ओषधयो म्लायन्तेऽथैते मोदमानास्तिष्ठन्ति,' 'वसन्ते सर्वसस्यानां जायते पत्रशातनम्। मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः॥' इति वाक्यशेषाद् दीर्घशूके यवपदस्य शक्तिनिर्णीयते। कङ्गौ तु शक्तिभ्रमात्प्रयोगः। नानाशक्तिकल्पने गौरवात्। हर्यादिपदे विनिगमकाभावाद् नानाशक्तिकल्पना। प्रकृते वाक्यशेषस्यैव विनिगमकत्वात्। विवृतेरपि शक्तिग्रहः। विवृतिर्विवरणम्, समानार्थकपदान्तरेण पदस्यार्थकथनमेव विवरणम्। यथा घटोऽस्तीत्यस्य कलशोऽस्तीति विवरणाद् घटपदस्य कलशे शक्तिग्रहः। प्रसिद्धपदस्य सान्निध्यादपि शक्तिग्रहः। यथेह सहकारतरौ मधुरं पिको रौतीत्यादौ पिकशब्दस्य कोकिले शक्तिग्रहः।

शक्ति मानो जाती है। नैयायिक प्रभृति का कहना है कि कार्यान्वित घटादि में शक्तिग्रह होने पर भी लाघव के कारण पदार्थ में ही शक्ति माननी चाहिये। इसीलिये 'चैत्र, तुम्हारे घर पुत्र उत्पन्न हुआ है, तुम्हारी कन्या गर्भिणी हो गई है, इत्यादि वाक्यों को सुनने के बाद मुख की प्रसन्नता और मलिनता से उसके सुख दुःख का अनुमान करके और उनके कारण के रूप में शाब्दबोध का अनुमान करके व्यक्ति उक्त वाक्यगत शब्दों में इनकी कारणता को निश्चित कर लेता है। उपमान प्रमाण भी शक्तिग्रह में सहायक है। जैसे कि किसी जंगली आदमी से यह सुनकर कि गवय गाय सरीखा होता है, कोई गांव का आदमी जंगल में जाता है और वहाँ गवय को देखकर उस जंगली आदमी की बात को याद करता है। गाय की सी आकृति देखकर वह इस निश्चय पर पहुंच जाता है कि यह गवय है। यहाँ उपमान प्रमाण के आधार पर गवयपद की गवय पिण्ड में शक्ति ज्ञात होती है। कोश की सहायता से भी शक्तिग्रह होता है। जैसे कि 'प्रचेता वरुणः पात्री' इस अमर कोप के वाक्य से प्रचेता और प्राची शब्द की वरुण रूप अर्थ में शक्तिगृहीत होती है। आप्तवाक्य से भी शक्ति गृहीत होती है। जैसे कि 'कोकिल को पिक कहते हैं। इस आप्तवाक्य से पिक प्रभृति शब्दों को कोकिल प्रभृति अर्थों में शक्ति गृहीत होती है। व्यवहार से शक्तिग्रह की विधि का प्रतिपादन किया जा चुका है। वाक्य शेष से भी शक्ति का ग्रहण होता है। जैसे कि चरु यव का बनाया जाता है इस वैदिक वाक्य में आये यव पद का आर्य लोग दीर्घ शूक (जौ) और म्लेच्छ लोग कंगु (कंगनी) अर्थ करते हैं, ऐसी स्थिति में संशय उत्पन्न हो जाता है कि यव शब्द का यहाँ क्या अर्थ किया जाय ? इस संशय की निवृत्ति वाक्य शेष से होती है। इसी प्रसंग में यहाँ ऐसे वाक्य देखने को मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि जब अन्य ओषधियां म्लान हो जाती है, तब जौ हरे-भरे दिखाई पड़ते हैं', 'वसन्त ऋतु में सारी सस्यसंपत्ति सूख जाती है, उस समय भी जौ की फ़सल लहलहाती रहती है, उसकी वालियों में दाने भर जाते हैं'। इस तरह के वाक्यों की सहायता से दीर्घ शूक (जौ) में एक यव शब्द की शक्ति निश्चित हो जाती है। कंगु में इस शब्द का प्रयोग भ्रान्त माना जायगा, क्योंकि पदों की नाना शक्ति मानने में गौरव होगा। विनिगमक के अभाव में हरि प्रभृति शब्दों में नाना शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है। प्रकृत में तो वाक्यशेष विनिगमक है। इसकी सहायता से दीर्घसूक में ही यव शब्द की शक्ति सीमित हो जायगी। विवृत्ति (व्याख्या) से भी शक्ति का बोध होता है। विवृति का अर्थ है विवरण। समान अर्थवाले शब्दान्तर से किसी शब्द का अर्थ बताना ही विवरण कहलाता है। जैसे घट शब्द का अर्थ कलश करने से कलश में घट पद का शक्तिग्रह होता है। प्रसिद्ध पद के सांनिध्य से भी शक्तिग्रह होता है। जैसे कि 'आम के पेड़ पर पिक (कोयल) कूक रही हैं इस वाक्य में पिक शब्द से कोयल का बोध प्रसिद्ध पद की सन्निधि के कारण होता है।

वेदान्तिरीत्या तु यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद्वाक्यमेव प्रमाणम्। वाक्यजन्यज्ञाने च आकाङ्क्षायोग्यतासत्तयस्तात्पर्यज्ञानं च सहकारिकारणानि। तेन वाक्यपदं न वाक्यसामान्यपरम्, किन्त्वाकाङ्क्षायोग्यतादिमद्वाक्यविशेषपरम्। तत्रापि पक्षद्वयम्—अन्विताभिधानम्, अभिहितान्वयश्च। तत्र प्रथमपक्षे पदैः पदार्थानां संसर्गोऽपि पदैरेव बोध्यते। एतद्रीत्या पदे चैका स्मारिका शक्तिर्या ज्ञायमानैव पदार्थं स्मारयति, अपरा चान्वयानुभाविका या स्वरूपसती वाक्यार्थान्वयं बोधयति। तेन वाक्यमेवार्थप्रमामकत्वात् प्रमाणम्। अभिहितान्वयपक्षे च पदेभ्यः पदार्थानुभाविका शक्तिरेका, यया पदार्थानामनुभवः। अनुभवश्चायमनुभवस्मृतिविलक्षणोऽभिधापदाभिधेयः। अत एव पदैः पदार्था अभिधीयन्ते। अभिहितेषु पदार्थेषु चैका शक्तिर्या स्वरूपसती वाक्यार्थं भावयति। एतद्रीत्या वाक्यं न वाक्यार्थं प्रमापयति, किन्तु पदैरभिहिताः पदार्था एव प्रमापकाः। वाक्ये पदार्थद्वारा परम्परयैव वाक्यार्थप्रमाजनकत्वेन प्रमाणत्वव्यवहारः। तदुक्तं भट्टपादैः—'साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्। ३४२॥……………'पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥' (३४३) (श्लो॰ वा॰ वाक्याधिकरणे)

तत्र कर्ममीमांसकानां रीत्योभयत्र वाक्यसामान्यस्य संसर्गविषयकत्वमेव। वेदान्तिरीत्या तूभयत्र तात्पर्यविषयार्थबोधकत्वम्। तात्पर्यविषयश्च 'गामानय', 'स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादौ संसर्गः, 'सोऽयं देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' (छा॰ ६।८।७) इत्यादौ अखण्डस्वरूपमेव। सा च शक्तिर्मीमांसकरीत्या जातावेव, व्यक्तीनामानन्त्येन गौरवात्, जातेर्व्यक्तिसमानसंवित्संवेद्यत्वाद् व्यक्तिभानमपि सम्पद्यत एव। यद्वा गवादिपदानां व्यक्तौ शक्तिः स्वरूपसती न तु ज्ञाता, जातौ तु ज्ञाता। न व्यक्त्यंशे शक्तिज्ञानमपि कारणम्, गौरवात्। जातिशक्तिमत्त्वज्ञाने सति व्यक्तिशक्तिमत्त्वज्ञानं विना व्यक्तिधी-

वेदान्ती के मत से जिस वाक्य का तात्पर्यार्थ किसी दूसरे प्रमाण से बाधित नहीं होता, उसी को प्रमाण माना जाता है। वाक्य से होने वाले ज्ञान में आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति की तथा तात्पर्यज्ञान की सहकारिकारणता मानी जाती है। इसलिये वाक्य पद केवल वाक्यसामान्य का वाचक नहीं है, किन्तु आकांक्षा, योग्यता आदि से युक्त वाक्य विशेष का ही बोधक होता है। इसमें भी दो पक्ष है—एक अन्विताभिधानवादी का और दूसरा अभिहितान्वयवादी का। इनमें से प्रथम पक्ष में पदों से पदार्थ का स्मरण होता है और स्मृत पदार्थों का संसर्ग भी पदों से ही होता है। इनके मत से पद में एक स्मारिका शक्ति रहती है, जो कि ज्ञात होने पर ही पदार्थ का स्मरण कराती है। दूसरी शक्ति अन्वय का अनुभव कराती है। इसके रहने से ही वाक्यार्थ के अन्वय का बोध होता है। इस मत के अनुसार वाक्य ही अर्थ का ज्ञान कराता है, अतः उसी को प्रमाण माना जाता है। अभिहितान्वयवाद में पदों से पदार्थ का अनुभव करानेवाली शक्ति एक ही मानो जाती है, जिससे कि पदार्थों का अनुभव होता है। यह वाक्यजन्य अनुभव प्रत्यक्षादि प्रमाण से होने वाले अनुमव और स्मृति सं विलक्षण है। अभिधा के नाम से इसको जाना जाता है। इसलिये कहा जाता है कि पद से पदार्थ अभिहित होता है। अभिहित पदार्थों में स्वरूपतः रहनेवाली शक्तिही वाक्यार्थ का भान कराती है। इनके मत से वाक्य वाक्यार्थ का प्रमापक न होकर पदों से अभिहित पदार्थ ही वाक्यार्थ का भी प्रमापक होता है। वाक्य में पदार्थ के द्वारा परम्परा से वाक्यार्थ का बोधक होने से प्रमाण व्यवहार किया जाता है। जैसा कि भट्ट कुमारिल ने श्लोकवार्त्तिक के वाक्याधिकरण स्थित 'साक्षाद् यद्यपि' प्रभृति दो श्लोकों में प्रतिपादित किया है।

कर्ममीमांसा शास्त्र के अनुसार उक्त दोनों पक्षों में वाक्य सामान्य की संसर्गविषयता मानी जाती है और वेदान्त मत के अनुसार उक्त दोनों स्थलों पर तात्पर्यविषयक अर्थ की बोधकता मानी गई है 'गामानय' प्रभूति वाक्यों में संसर्ग में तात्पर्यविषयता मानी जाती है और 'सोऽयं देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' प्रभृति में अखण्ड स्वरूप में। यह शक्ति मीमांसकों के मत के अनुसार जाति में मानी जाती है, व्यक्ति में नहीं। व्यक्ति अनन्त हैं, उनमें से प्रत्येक में शक्ति मानने से गौरव होगा। समस्त व्यक्तिनिष्ट एक जाति में शक्ति मानने में लाघव है। जाति के साथ व्यक्ति का भान अपने आप हो जाता है। अथवा गोप्रभृति पद को व्यक्ति में स्वरूपतः शक्ति मानी जायगी और जाति में यह बात मानी जायगी। इसीलिये नैयायिकों के यहाँ स्वरूपतः अन्वय में शक्ति मानी जाती है। इस मत में

विलम्बाभावाच्च। अत एव न्यायमतेऽप्यन्वये शक्तिः स्वरूपसतीति सिद्धान्तः। ज्ञायमानशक्तिविषयत्वमेव वाच्यत्वमिति जातिरेव वाच्या। लक्षणया व्यक्तीनां बोधः। यथा नीलो घट इत्यत्र नीलशब्दस्य नीलगुणविशिष्टे लक्षणा, तथा जातिवाचकस्य तद्विशिष्टे लक्षणा, अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वादिति वेदान्तपरिभाषायां स्पष्टमेव।

नैयायिकास्तु सकलव्यक्तावेकस्या एव शक्तेः स्वीकाराद् शक्तिमभ्युपगच्छन्ति। शक्तं पदम्। तच्च यौगिक-रूढ-योगरूढ-यौगिकरूढभेदेन चतुर्विधम्। यत्रावयवार्थ एव बुध्यते तद्यौगिकम्, यथा पाचकादिपदम्। यत्रावयवशक्तिनैरपेक्ष्येण समुदायशक्तिमात्रेणार्थो बुध्यते तद्रूढम्, युथा नूपुर-मणि-मण्डलादिपदम्। यत्रावयवशक्त्या सह समुदायशक्तिरप्यस्ति तद्योगरूढम्, यथा पङ्कजादिपदम्। तथाहि पङ्कजपदमवयवशक्त्या पङ्कजनिकर्तृत्वरूपमर्थं बोधयति, समुदायशक्त्या च पद्मत्वेन रूपेण पद्मं बोधयति। न च केवलयाऽवयशक्त्या कुमुदे पङ्कजशब्दप्रयोगः स्यादिति युक्तम्, रूढिज्ञानस्य केवलयौगिकार्थज्ञानप्रतिबन्धकत्वात्। न चैवं रूढ़िज्ञानस्य यौगिकार्थबुद्धौ प्रतिबन्धकत्वे पद्मेऽपि योगार्थस्य पङ्कजनिकर्तृत्वस्य बोधो न स्यादिति वाच्यम्, पद्मत्वावच्छिन्नविशेष्यत्वानिरूपितपङ्कजनिकर्तृत्वावच्छिन्नविषयताशालिबोधं प्रति रूढिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वेन पद्मधर्मिकयोगार्थबुद्धेः प्रतिबध्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वात्। चिन्तामणिरीत्या तु समुदायशक्त्युपस्थितपद्मेऽवयवार्थस्य पङ्कजनिकर्तुरन्वयो भवति, सान्निध्यात्। यत्र तु रूढ्याऽस्य बाधः प्रतिसन्धीयते तत्र लक्षणया कुमुदादेर्बोधः। यत्र तु कुमुदत्वेन रूपेण बोधेन तात्पर्यज्ञानं पद्मत्वस्य च बाधः, तत्रावयवशक्तिमात्रेण निर्वाहः। यत्र तु स्थलपद्मादाववयवार्थबाधः, तत्र समुदायशक्त्या पद्मत्वेन रूपेण बाधः। यदि च स्थलपद्मं विजातीयमेव तदा लक्षणयैव। यत्र तु यौगिकार्थरूढ्यर्थयोः स्वातन्त्र्येण बोधस्तद् यौगिकरूढम्, यथोद्भिदादिपदम्। तत्र हि उद्भेदनकर्ता तरुगुल्मादिरपि बुद्ध्यते, तथा यागविशेषोऽपीति मुक्तावलोकारः।

केचित्तु—मुख्या-लक्षणा-गुणभेदेन त्रिधा शब्दप्रवृत्तिः। मुख्यापि रूढियोंगभेदेन द्विधा। रूढिश्च स्वरूपेण जात्या गुणेन वा निर्देशार्हे वस्तुनि संज्ञासंज्ञिसङ्केतेन प्रवर्तते यथा डित्थे डवित्थे च। 'डित्थः काष्ठमयो हस्ती डवित्थस्तन्मयो मृगः। गौः शुक्ल इत्यादि। लक्षणा चैतेन सङ्केतेनाभिहितार्थसम्बन्धिनि यथा गङ्गायां घोषः। गौणी चाभिहितार्थलक्षित-

जाति ही वाच्य है। व्यक्ति का बोध लक्षणा से होता है। जैसे 'नीलो घटः' इस वाक्य में नील शब्द की नीलगुणविशिष्ट पदार्थ में लक्षणा मानी जाती है, उसी तरह से जातिवाचक शब्द की जातिविशिष्ट व्यक्ति में लक्षणा होगी, क्योंकि मीमांसक के मत के अनुसार शब्दार्थ को अनन्यलभ्य माना जाता है। इस तरह की विस्तृत विवेचन वेदान्तपरिभाषा में देखना चाहिये।

नैयायिक समस्त व्यक्तियों में एक ही शक्ति मानते हैं, अतः इनके मत में व्यक्ति में भी शक्ति मानी जायगी। पद ही शक्ति का आधार है। यह पद यौगिक, रूढ, योगरूढ और यौगिक रूढ भेद से चार प्रकार का होता है। पाचक प्रभृति पद यौगिक हैं, क्योंकि इनके अवयवों से अर्थ का बोध होता है। अवयव शक्ति की उपेक्षा कर समुदाय शक्ति से जहाँ अर्थ का बोध होता है, उसे रूढ कहते हैं, जैसे कि नूपुर, मण्ड़ि, मण्डल प्रभृति पद हैं। अवयव की शवित के साथ जहाँ समुदाय शक्ति भी जहाँ कार्य करती है, वह पद योगरूढ माने जाते हैं, जैसे कि पंकज प्रभृति पद। पंकज शब्द अवयव की शक्ति से पंक में उत्पन्न अर्थ का और समुदाय शक्ति से यम अर्थ का बोधक है। चिन्तामणि ग्रन्थ के अनुसार समुदाय शक्ति से उपस्थित पद्म में अवयवार्थ पंक में पैदा होनेवाले पदार्थ का संनिधि के आधार पर अन्वय होता है। रूढ़ि का बाध होने पर लक्षणा से इस पद से कुमुद प्रभृति का भी बोध होता है। जहाँ यौगिक और रूढि दोनों अर्थों का स्वतन्त्र रूप से बांध होता है, वह यौगिक रूढ पद कहलाता है। जैसे कि उद्भिज प्रभृति पदों में तरु, गुल्म प्रभृति का नया योगविशेष का भी बोध होता है। इस विषय का विवेचन मुक्तावलीकार ने भलीभांति किया है।

कुछ लोग—मुख्या-लक्षणा-गौणो भेद से तीन प्रकार की शब्द प्रवृत्ति मानते हैं। रूढि और योग भेद से मुख्या दो प्रकार की होती है। रूढि शब्द स्वरूप, जाति, या गुण द्वारा निर्दिष्ट वस्तु संज्ञासंज्ञिसङ्केत से प्रवृत्त होता है जैसे डित्थ, डवित्थ, आदि। काष्ठमय हाथी को डित्थ और काठ के मृग को डवित्थ कहते हैं। उसी तरह गौ शुक्ल ये क्रमशः जाति गुण के उदाहरण हैं। संज्ञासंज्ञि-संकेत से उक्त अर्थ के सम्बन्धी शब्द में लक्षणा होती है। गौणी उक्तार्थ लक्षित गुणों से युक्त या तत्सदृश में होती है जैसे देवदत्त

गुणयुक्ते तत्सदृशे यथा सिंहो देवदत्तः। 'अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते। लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥' इति। योगवृतिस्तु एतत्त्रिविधवृत्तिप्रतिपादितपदार्थयोः प्रकृतिप्रत्ययार्थयोर्वा योगेन यथा पङ्कजम्, औपगवः, पाचक इति। तत्र पङ्कजमिति रूढिवृत्त्या प्रतिपादितयोः पङ्केति जेतिशब्दयोः कर्दम-जनितपदार्थयोः कर्दमोपादान-जनिकर्तृत्वरूपेण योगात् पङ्कजपदं तामरसे यौगिकम्। औपगवः पाचक इति पदद्वयं प्रकृतिप्रत्ययार्थयोर्योगस्योदाहरणम्। गौणीप्रतिपादितयोर्योगस्य तु सिंहोऽग्निर्माणवक इति।

नैयायिकानां रीत्या 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ गङ्गापदस्य भगीरथरथखाताद्यवच्छिन्नप्रवाहे शक्यार्थे घोषस्यान्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिर्वा यत्र प्रतिसन्धीयते तत्र लक्षणया तीरस्य बोधः। सा च शक्यसम्बन्धरूपा। यत्र शक्यार्थस्य परस्परासम्बन्धरूपा लक्षणा सा लक्षितलक्षणा। यथा, द्विरेफादिपदाद् रेफद्वयसम्बन्धो भ्रमरपदे ज्ञायते, भ्रमरपदस्य च सम्बन्धः षट्पदरूपेऽर्थे ज्ञायते।

वेदान्तिनां रीत्या लक्षणा द्विविधा—केवललक्षणा लक्षितलक्षणा चेति। साक्षात् शक्यसम्बन्धे केवललक्षणा, यथा गङ्गायां घोष इति। यत्र शक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धेनार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षितलक्षणा, यथा द्विरेफपदस्य रेफद्वये शक्तस्य भ्रमरपदघटितपरम्परासम्बन्धेन मधुकरे वृत्तिः। यद्यपि रेफद्वयं शर्कराशब्देऽप्यस्ति, तथापि भ्रमरपदे द्विरेफशब्दस्य निरूढा लक्षणाऽङ्गीक्रियते। गौण्यपि लक्षितलक्षणेव, यथा सिंहो माणवक इति। अत्र सिंहशब्दवाच्यसम्बन्धिशौर्यक्रौर्यादिसम्बन्धेन माणवकस्य प्रतीतिः। प्रकारान्तरेण लक्षणा त्रिविधा–जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा चेति। शक्यार्थमनन्तर्भाव्य यत्रार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र जहल्लक्षणा, यथा विषं भुङ्क्ष्वेति। अत्र स्वार्थं विहाय शत्रुगृहभोजननिवृत्तिरिष्टा। अत्र समुदाय एव लक्षणा न प्रत्येकपदे, प्रत्येकं तात्पर्यज्ञापकत्वाभावात्। यदि त्वेकस्यैव पदस्य लक्षणा तदा विषपदं विषसदृशशत्रुगृहभोजनलक्षकम्। तस्मिन् पक्षेऽर्थात् शत्रुगृहभोजननिवृत्तिर्भवति। यत्र च शक्यार्थमन्तर्भाव्यार्थान्तरप्रतीतिस्तत्राजहल्लक्षणा, यथा नीलो घटः। अत्र नीलपदं नीलवति द्रव्ये लक्षणया वर्तते। यत्र विशिष्टार्थवाचकः शब्द एकदेशं विहाय एकदेशे वर्तते तत्र जहदजहल्लक्षणा, यथा सोऽयं देवदत्त इति। अत्र हि पदद्वयवाच्ययोर्विशिष्टयोरर्थयो-

सिंह है। अभिधेय (अर्थ) से अवश्य संयुक्त शब्द में लक्षणया प्रवृत्ति होती है। शक्ति का लक्ष्यमाण गुणों से योग होने पर गौणी वृत्ति मानी जाती है। योगवृत्ति तो उक्त तीन प्रकार की शक्तियों से प्रतिपादित दो पदार्थों (पद + अर्थ) या प्रकृति प्रत्ययार्थ के योग से होती है। पङ्कज, औपगव, पाचक आदि क्रम से उदाहरण हैं। रूढि के द्वारा पंक, + ज इन दो पदों, या कर्दमजनित पदार्थों, या कर्दम से उत्पन्न होने वाला वस्तु के योग से पंकज शब्द कमल अर्थ में यौगिक है। औपगव और पाचक ये दो पद प्रकृति प्रत्ययार्थ योग के उदाहरण हैं। गौणीवृत्ति द्वारा प्रतिपादित योग का उदाहरण— सिंहो माणवकः, तथा अग्निर्माणवकः, हैं।

नैयायिकमतानुसार 'गंगा में घोष' है। 'घोष आभीरपल्ली स्यात्'। इस वाक्य में गंगा पद का भगीरथ के रथ के पहियों से खनी गयी पृथ्वी में जो नदी की धारा गयी उस धारा रूप शक्यार्थ (वाच्यार्थ) में अन्वय न होना या वक्ता के तात्पर्य का स्पष्ट न होना जहाँ प्रतिसंहित की जाय वहां लक्षणा होती है और उससे तीर अर्थ का ज्ञान होता है। वह लक्षणाशक्ति शक्तिवाच्य अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाली होती है। जहाँ शक्यार्थ का परम्परा सम्बन्ध से उपस्थिति हो वह लक्षित लक्षणा है। जैसे द्विरेफ पद से रकार द्वयका सम्बन्धी भ्रमर पद का अर्थ षट्पद मधुकर (भौंरा) ज्ञात होता है।

वेदान्त मतानुसार लक्षणा के दो भेद हैं। केवल लक्षणा और लक्षित लक्षणा। सीधे शक्यार्थ के सम्बन्ध रहने पर केवल लक्षणा जैसे 'गंगायां घोषः'। जहां शक्यार्थ का सीधा सम्बन्ध न होकर परम्परया दूसरा अर्थ प्रतीत हो वहां लक्षितलक्षणा होती है। जैसे द्विरेफ पद दो रकार का वाचक होता हुआ भ्रमर पद का स्मरण कराता हुआ मधुकर अर्थ देता है। यद्यपि दो रकार शर्करा पद में भी है तो भी द्विरेफ शब्द निरूढलक्षणा शक्ति से भ्रमर का वाचक है। गौणी लक्षणा भी लक्षित लक्षणा ही है जैसे—'लड़का सिंह है'। यहा सिंह शब्द अर्थ जो सिंहव्यक्तितन्निष्ठ जो शूरता, क्रूरता, वैसा लड़का है ऐसा बोध होता है। प्रकार भेद से लक्षणा तीन प्रकार की है—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा। शब्द के अर्थ को अन्तर्निविष्टन करती हुई जो दूसरे अर्थ को कहे वह

रैक्यानुपपत्त्या पदद्वयस्य विशेष्यमात्रपरत्वम्। यथा वा ‘तत्त्वमसि’ (छा० ६।८।७) इत्यादौ तत्पदवाच्यस्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य त्वंपदवाच्येनान्तःकरणविशिष्टेन ऐक्यायोगाद् ऐक्यसिद्ध्यर्थं स्वरूपे लक्षणा। ‘काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्’ इत्यत्र शक्यार्थस्य काकपदार्थस्य परित्यागेनाशक्यार्थस्य दध्युपघातकत्वस्य पुरस्कारेण काकेऽकाकेऽपि काकशब्दस्य प्रवृत्तेः। एतद्रीत्या तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजम्। गङ्गायां घोष इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि सत्त्वात्।

लक्षणा च न पदमात्रवृतिः, किन्तु वाक्यवृत्तिरपि। यथा ‘गम्भीरायां नद्यां घोषः’ इत्यत्र गम्भीरायां नद्यामिति पदद्वयसमुदायस्य तीरे लक्षणा। ननु वाक्यार्थस्याशक्यतया कथं तत्र शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा? शक्त्या यत्पदसम्बन्धेन ज्ञाप्यते,तत्सम्बन्धो लक्षणा। शक्तिज्ञाप्यश्च यथा पदार्थस्तथा वाक्यार्थोऽपीति न काचिदनुपपत्तिः। तत एवार्थवादवाक्यानां प्रशंसारूपाणां प्राशस्त्ये लक्षणा। ‘सोऽरोदीत्’ (तै० सं० १।५।१) इत्यादिनिन्दार्थवादानां निन्दितत्वे लक्षणा। अर्थवादगतपदानां प्राशस्त्यादिलक्षणाभ्युपगमे एकेनैव पदेन लक्षणया तदुपस्थितिसम्भवे पदान्तरवैयर्थ्यं स्यात्। तथा च विध्यपेक्षितप्राशस्त्यरूपपदार्थप्रत्यायकतया अर्थवादसमुदायस्य पदस्थानीयतया विधिवाक्यैनैकवाच्यत्वं भवतीत्यर्थवादानां पदैकवाक्यता। यत्र प्रत्येकं भिन्नभिन्नसंसर्गप्रतिपादकयोर्वाक्ययोराकाङ्क्षावशेन महावाक्यबोधकत्वम्, तत्र वाक्यैकवाक्यता। यथा ‘दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत’ इत्यादिवाक्यानां ‘समिधो यजति’ (तै० सं० २।६।१।१) इत्यादिप्रयाजादिवाक्यानां परस्परा-

पहली है जैसे—‘विष खालो’ यहाँ विष शब्द अपने अर्थ को बिलकुल न कहता हुआ शत्रु के घर न खाओ इस भिन्न अर्थ का प्रत्यायक है। यहां समुदाय में ही लक्षणा है न कि प्रत्येक पद में, क्योंकि प्रत्येक पद में तात्पर्य ज्ञापकता का अभाव है। यदि एकपद में लक्षणा का आग्रह करें तो विष पद का अर्थ विषसदृश शत्रुगुह भोजन का त्याग है, और ऐसे पक्ष में आर्थिक दृष्टि से शत्रुगृहभोजननिवृत्ति रूप फल प्राप्त हो जाता है। जहां शक्यार्थ को अपने में रखते हुए दूसरा अर्थ निकले वह-अजहल्लक्षणा है जैसे ‘नीला घड़ा’। यहां नील शब्द नीले रंग वाला घड़ा इस अर्थ में उक्त लक्षणा के सहारे हो गया है। जहां विशिष्ट अर्थ वाचक शब्द एक देश को छोड़कर दूसरे देश अर्थात् दूसरे एक देश में हो जाय वहां तोसरी जहदजहल्लक्षणा है। जैसे—वह यह देवदत्त। यहां तत् शब्द विप्रक्रष्टकालवाचक व्यक्ति अर्थ का है और इदम् शब्द संन्निकृष्टकालवाचक व्यक्ति अर्थ में है, दोनों का एकान्वय संभव न होने से पुरः उपस्थित व्यक्तिरूपविशिष्ट व्यक्ति के रूप में अन्वय हो जाने से विशेष्टामात्रपरक अर्थ हो जाता है। अथवा जैसे—‘तत्त्वमसि’ (छा० ६।८।७) इस श्रुति में तत्पदवाच्यसर्वज्ञत्वयुक्तका त्वं पदवाच्य अन्तःकरणविशिष्ट के साथ एकान्वय न होने से स्वरूप में लक्षणा मानी जाती है। ‘काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्’ इस वाक्य में काक पद के शक्यार्थ का परित्याग कर देने से अशक्यार्थ दध्युपघातक में लक्षणा है। इस प्रकार तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणा का बीज है। ‘गङ्गायां घोषः’ इस वाक्य में भी तात्पर्यानुपपत्ति ही मान ली जाती है।

लक्षणा पदमात्र में रहने वाली शक्ति नहीं अपितु वाक्य वृत्ति भी है। जैसे ‘गभीरायां नद्यां घोषः’ इस वाक्य में गहरी नदी इन दो पदों की लक्षणा तीर में होती है। यदि कहें कि वाक्यार्थ में शक्ति न होने से उसमें लक्षणा कैसे होगी? जिस पद के सम्बन्ध से शक्ति ज्ञापित होती है वह सम्बन्ध ही लक्षणा कहलाता है। जैसे पदार्थ शक्ति ज्ञाप्य होता है वैसे वाक्यार्थ भी होगा अब कोई दोष नहीं आता। इसीलिए अर्थवाद वाक्यों का प्राशस्त्य अर्थ में लक्षणा होती है। ‘सोऽरोदीत्’ (तै० सं० १।५।१) इस निन्दार्थवाद वाक्य का निन्दा अर्थ में लक्षणा मानी जाती है। अर्थवादघटकप्रशंसादि अर्थों में लक्षणा मानने से यदि एकपद से ही उक्तार्थ आ जाय तो दूसरा पद व्यर्थ होगा। और विधिवाक्य में अपेक्षित प्राशस्त्यरूप अर्थ पद द्वारा ही प्रतीत हो सके तो अर्थवादी समुदाय पद के स्थान का होगा और उसका अन्वय (सम्बन्ध) विधिवाक्य से हो जायगा। इस तरह विधिवाक्यों का अर्थवाद वाक्यों के साथ पदैकवाक्यता होगी। जहाँ प्रत्येक वाक्य का भिन्न-भिन्न संसर्ग प्रतिपादक दो वाक्यों का आकाङ्क्षा के कारण महावाक्य के साथ अर्थ सम्बन्ध होता है इसे वाक्यैकवाक्यता कहते हैं। जैसे—“दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत’ आदि वाक्यों का ‘समिधो यजति’ (तै० सं० २।६।१।१) आदि प्रयाजादि वाक्यों के आपस में अपेक्षित अङ्गाङ्गिभाव बोधक वाक्य होने के कारण एकवाक्यता हो जाती है। क्योंकि तन्त्रवार्तिक में भट्ट कुमारिल ने कहा है कि “जिन वाक्यों का अर्थ अपना अर्थबोध करा चुकने के बाद समाप्त हो जाय उनका पुनः अङ्गाङ्गिभाव की

पेक्षिताङ्गाङ्गिबोधकवाक्यतयैकवाक्यता। 'स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया। वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते॥' (त० वा० पृ० ३६६) इति भट्टपादोक्तेः। सर्वमेतद्वेदान्तपरिभाषायां स्पष्टम्।

आसत्ति-योग्यताऽऽकाङ्क्षातात्पर्यज्ञानानां च वाक्यार्थबोधहेतुत्वमुक्तम्। तत्रान्वयप्रतियोग्यनुयोगिपदयोरव्यवधानमासत्तिः, क्वचिद् व्यवहितेऽप्यव्यवधानभ्रमात् शाब्दबोधात्। दयानन्दस्तु सर्वत्र सम्भवत्यवधानेऽपि व्यवहितैः पदैरेव सम्बन्धं योजयति। यत्पदार्थेनान्वयोऽपेक्षितस्तयोरव्यवधानेनोपस्थितिः शाब्दबोधे कारणम्। तेन 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' इत्यादौ न शाब्दबोधः। तात्पर्यगर्भा चासत्तिः। 'नीलो घटो द्रव्यं पटः' इत्यादावासत्तिभ्रमाच्छाब्दबोधः। आसत्तिभ्रमाभावेऽपि न क्षतिः।

ननु यत्र 'छत्री कुण्डली वासस्वी देवदत्तः' इत्युक्तम्, तत्रोत्तरपदस्मरणेन पूर्वपदस्मरणस्य नाशादव्यवधानेन तत्तत्पदस्मरणासम्भव इति चेन्न, प्रत्येकपदानुभवजन्यसंस्कारैश्चरमस्य तावत्पदविषयकस्मरणस्याव्यवधानेनोत्पत्तेः, नानासन्निकर्षैरेकप्रत्यक्षस्येव नानासंस्कारैरेकस्मरणोत्पत्तेरपि सम्भवात्, तावत्पदसंस्कारसहितचरमवर्णज्ञानस्योद्बोधकत्वात्। कथमन्यथा नानावर्णैरप्येकपदस्मरणं स्यात्? तावत्पदार्थानां स्मरणादेकदैव खलेकपोतन्यायात् तावत्पदार्थानां क्रियाकर्मभावेनान्वयबोधरूपः शाब्दबोधो भवतीति केचित्। अपरे तु—'यद्यदाकाङ्क्षितं योग्यं सन्निधानं प्रपद्यते। तेन तेनान्वितः स्वार्थः पदैरेवावगम्यते॥' तथा च खण्डवाक्यार्थबोधानन्तरं तथैव पदार्थस्मृत्या महावाक्यार्थबोध इत्याहुः। यत्र द्वारमित्युक्तं तत्र पिधेहीति पदस्य ज्ञानादेव बोधः, न तु पिधानादिरूपार्थज्ञानात्, पदजन्यपदार्थोपस्थितेस्तच्छाब्दबोधे हेतुत्वात्, क्रियाकर्म-

अपेक्षा के होने पर दूसरे से मिलकर एकवाक्यता हो जाती है। (पृ० ३३६)। यह सभी बातें वेदान्तपरिभाषा में विशेषरूप से विचारित हुई हैं।

आसत्ति-योग्यता-आकाङ्क्षा-तात्पर्यज्ञान, ये चारों वाक्यार्थबोधके कारण माने गये हैं। इनकी परिभाषा पृथक्-पृथक् रूप से दी जाती है। वाक्य में प्रयुक्त प्रतियोगि-अनुयोगीरूप से अर्थात् विशेषणविशेष्यभाव से स्थित पदों के बीच में व्यवधान अर्थात् प्रतिबन्धक न होना आसत्ति कहलाता है। कहीं व्यवधान रहने पर भी न रहने के भ्रम से वाक्यार्थ ज्ञात हो जाता है। दयानन्दने तो सर्वत्र व्यवधान न रहने पर भी व्यवहित पदों से ही सम्बन्ध जोड़ लेने का ढंग अपना लिया है। जिन पदों का सम्बन्ध अभीष्ट है उनके बीच व्यवधान न पड़ना ही वाक्यार्थज्ञान का हेतु होता है। अत एव "गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन" इस व्यवह्रित वाक्य का अर्थबोध नहीं होता। आसत्ति के भीतर तात्पर्यज्ञान निविष्ट रहता है। "नीलो घटो द्रव्यं पटः" आदि वाक्यों में आसत्ति के भ्रम से अर्थज्ञान हो जाता है। आसत्ति के भ्रम से यदि वाक्यार्थज्ञान में भ्रम न हो तो भी कोई आपत्ति नहीं है।

यदि "छत्री कुण्डली वासस्वी देवदत्तः" ऐसा कहा गया है, तो उत्तरपद के स्मरण से पूर्वपद का ज्ञान नष्ट हो जाने से व्यवधान रहित उन उन पदों का स्मरण संभव नहीं होगा फिर वाक्यार्थज्ञान भी कैसे होगा? उत्तर है कि प्रत्येक पदजन्य जो अनुभव उससे होनेवाले संस्कार से अन्तिमपद तक के उन सभी पदों का अर्थज्ञान अव्यवहित रूप से हो जाता है। जैसे कई संनिकर्षों की सहायता से एक वस्तुविषयकप्रत्यक्ष हो जाता है उसी तरह नाना संस्कारों से एक विषयक अर्थज्ञान हो जाना संभव ही है। उतने पदों के संस्कारसहित अन्तिमवर्ण के ज्ञान को सबका उद्बोधक मान लिया जाता है। यदि ऐसा न माने तो अनेक वर्णोंवाले पद में स्मरण क्योंकर होगा? अथवा अनेक पदों का स्मरण एक बार ही खले कपोतन्याय से मानकर सर्व का अर्थज्ञान हो जाता है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। दूसरों का कहना है कि जो-जो पद योग्य होने के कारण आकांक्षित होंगे उन-उनसे योग प्राप्त कर पदों से ही अर्थज्ञान हो जाता है एसी स्थिति में खण्ड वाक्य का अर्थज्ञान हो जाने के बाद उसी क्रम से पदों के अर्थ स्मरण पथ में आते जायेंगे और वाक्य महावाक्य सबका अर्थज्ञान अञ्जसा होता जायगा। जहाँ द्वार कहा जाय वहाँ 'बन्द करो' का अध्याहार करके वाक्यार्थबोधसुसम्पन्न हो जायगा। न कि बन्द करना इस पद का वहाँ रहना जरूरी है। जिस वाक्य का अर्थज्ञान आवश्यक है उस वाक्यघटक पदों के अर्थज्ञान का रहना होना वाक्यार्थज्ञान में अपेक्षित है। क्योंकि क्रिया; कर्म; कर्त्ता आदि पद जैसे-जैसे अपेक्षित होंगे वैसे उपस्थित होने

पदानां तेन तेनैव रूपेणाकाङ्क्षिततत्वात्, पुण्येभ्य इत्यादीनां स्पृहयतीत्यादिपदाध्याहारं विना चतुर्थ्यनुपपत्तेः पदाध्याहारस्यावश्यकत्वात् । एतच्च मुक्तावल्यां स्पष्टमेव ।

वेदान्तिनोऽप्यव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिमेवासत्तिं मन्यन्ते (तत एव 'इषे त्वा' वा० सं० १।१) इत्यादिमन्त्रे छिनद्मीति पदाध्याहारः । विकृतिषु च 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' इति पदप्रयोगः । 'एकपदार्थेऽपरपदार्थसम्बन्धो योग्यता' इति मुक्तावली । तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गाबाधो योग्यता' इति वेदान्तिनः । वह्निना सिञ्चतीत्यादौ तादृशज्ञानाभावात् संसर्गबाधाद्वा न शाब्दबोधः । नन्वेवं योग्यताज्ञानं शाब्दबोधात् प्राक् सर्वत्र न भवति, वाक्यार्थस्यापूर्वत्वादिति चेन्न, तत्तत्पदार्थस्मरणे सति क्वचित्संशयरूपस्य क्वचिन्निश्चयरूपस्य योग्यताज्ञानस्य सम्भवात् । 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' (तै० सं० २।१।१।४) इत्यादावपि तात्पर्यविषयीभूतपशुप्राशस्त्याबाधाद् योग्यताऽस्त्येव । तत्त्वमस्यादिवाक्येषु वाचाभेदबाधेऽपि लक्ष्यस्वरूपाभेदे बाधाभावाद् योग्यताऽस्त्येव ।

आकाङ्क्षा येन विना यत्पदस्यान्वयाननुभावकत्वं तेन पदेन सह तस्याकाङ्क्षेत्यर्थः । क्रियापदं कारकपदं विना नान्वयबोधं जनयतीति तेन तस्याकाङ्क्षा । यद्वा क्रियाकारकपदानां सन्निधानमासत्त्या चरितार्थम्, परन्तु घटकर्मताबोधं प्रति घटपदोत्तरद्वितीयाकाङ्क्षाज्ञानं कारणम्, तेन घटः कर्मत्वम्, आनयनं कृतिरित्यादौ न शाब्दबोधः । 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इत्यादौ तु पुत्रेण सह राजपदस्य तात्पर्यग्रहसत्त्वात् तेनैवान्वयः । पुरुषेण तात्पर्यग्रहे तु तेन सहान्वयबोधः ।

वेदान्तिनां रीत्या तु पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकाङ्क्षा । क्रियाश्रवणे कारकस्य, कारकश्रवणे क्रियायाः, करणश्रवणे इतिकर्त्तव्यतायाश्च जिज्ञासाविषयत्वाद् अजिज्ञासोरपि वाक्यार्थबोधाद् योग्यत्वमुपात्तम् । तदवच्छेदकं च क्रियात्वकारकत्वादिकमिति नातिव्याप्तिः । गौरश्व इत्यादौ अभेदान्वये च समानविभक्तिप्रतिपाद्यत्वं तद-

चाहिए । पुष्पेभ्य इसमें स्पृहयति इस पद के अध्यहार के बिना चतुर्थी विभक्ति नहीं आयेगी, अतः पदध्याहार हर हालत में करना ही होगा । यह प्रसङ्ग मुक्तावली में सुविचारित है ।

वेदान्ती लोग भी व्यवधानरहित पदजन्यपदार्थोपस्थिति को ही आसक्ति मानते हैं । इसीलिये 'इषे त्वा' (वा० सं० १।१) इस मन्त्र में छिनद्मि इस क्रिया का अध्याहार होता है । विकृतिसंज्ञकयाग में 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' इस पद का प्रयोग होता है । 'एक पद के अर्थ के साथ दूसरे पद के अर्थ का सम्बन्ध योग्यता है ऐसा मुक्तावली ग्रन्थ का मत है । तात्पर्य का विषय जो सम्बन्ध उसमें बाधा न पड़ना ही योग्यता है ऐसा वेदान्ती लोग मातते हैं । 'वह्निना सिञ्चति' इस वाक्य में उक्त दोनों तरह का अभिप्रेत अर्थ न होने से वाक्यार्थज्ञान नहीं माना जाता । यदि कहें कि वाक्यार्थज्ञान के पूर्व योग्यताज्ञान सब जगह नहीं होता क्योंकि योग्यताज्ञान व्यवस्थापूर्वक होता है, तो उत्तर है कि उन-उन पदों के अर्थों के स्मरण होने पर कहीं संशय कहीं निश्चयरूप योग्यताज्ञान रहता ही है तो व्यवस्था है ही । 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' (तै० सं० २।१।१।४) इस मन्त्र में तात्पर्यस्वरूप पशु की प्रशस्तता का बाध न होने से योग्यता है ही । 'तत्त्वमसि' इस श्रुति में वाच्यार्थ के साथ अभेद न होने पर भी लक्ष्यार्थ के साथ तो है अतः बाध का प्रश्न न होने से योग्यता है ही ।

'आकांक्षा' जिस पद के बिना जिस पद का अन्वय न हो उस पद के साथ उस पद की आकांक्षा होती है । क्रियावाची पद कारक के बिना अन्वित नहीं हो सकता अतः क्रिया को कारक की आकांक्षा है । अथवा क्रियाकारक शब्दों का सामीप्य आसत्ति से ही चरितार्थ हो चुका है किन्तु घटमानय इस वाक्य में घटकर्मता बोध के प्रति घटपदोत्तर द्वितीया की आकांक्षा कारण है । इसलिए घट का कर्मत्व और आनयन क्रिया इस वाक्य का अर्थज्ञान नहीं होता है । ऊपमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम् । इस वाक्य में पुत्र का राजपद के साथ सम्बन्ध होने के कारण उसा से अन्वय होता है पुरुष के साथ सम्बन्ध इष्ट होने पर उसके साथ अन्वय होगा ।

वेदान्तमतानुसार पद और उसके अर्थ की आपसी जानने की इच्छा का विषय जो पदार्थ वह नहीं अपितु उसकी योग्यता आकांक्षा है । क्रिया के जानने पर कारक की, तथा कारक के सुनने पर क्रिया की, तथा करण के ज्ञान के बाद इतिकर्तव्यता की जिज्ञासा होती है, कभी किसी अजिज्ञासु को भी वाक्यार्थज्ञान हो जाने से लक्षण में योग्यत्व पद का निवेश किया गया है । उस

वच्छेदकमिति तत्त्वमस्यादिवाक्येषु नातिव्याप्तिः । तादृशाकाङ्क्षाभिप्रायेणैव बलाबलाधिकरणे 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' (तै० सं० १।८।२) इत्यत्र वैश्वदेवयागस्यामिक्षान्वितत्वेन न वाजिनाकाङ्क्षेति व्यवहारः। ननु तत्र वाजिनस्य जिज्ञासाऽविषयत्वेऽपि तद्योग्यत्वमस्त्येव, प्रदेयद्रव्यत्वस्य यागनिरूपितजिज्ञासाविषयतावच्छेदकत्वादिति चेन्न, स्वममानजातीयपदार्थान्वयबोधविरहसहकृतप्रदेयद्रव्यत्वस्यैव तदवच्छेदकत्वेन वाजिनद्रव्यस्य स्वसमानजातीयमिक्षाद्रव्यान्वयबोधसहकृतत्वेन तादृशावच्छेदकत्वाभावात् । आमिक्षायां तु नैवम्, वाजिनान्वयस्य तदाऽनुपस्थितत्वात् । उदाहरणान्तरेष्वप्याकाङ्क्षाविरह एव दुर्वलत्वप्रयोजक इति वेदान्तपरिभाषायां स्पष्टम् ।

तात्पर्यं तु तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वमिति नैयायिकाः । तच्च न सङ्गतम्, अर्थज्ञानशून्येन पुरुषेणोच्चारिताद्वेदादर्थप्रत्ययाभावप्रसङ्गात् । अयमध्यापकोऽव्युत्पन्न इति विशेषदर्शनेन तत्र तात्पर्यभ्रमस्याप्यभावात् । न च परमेश्वरीयतात्पर्यज्ञानात् तत्र शाब्दबोध इति वाचाम्, ईश्वरानङ्गीकर्तुरपि तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिदर्शनात् । किन्तु तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वमेव तात्पर्यम् । गेहे घट इति वाक्यं, गेहे घटसंसर्गप्रतीतिजननयोग्यम्, न तु पटसंसर्गप्रतीतिजननयोग्यमिति तद्वाक्यं घटसंसर्गपरम्, न पटसंसर्गपरमिति ।

ननु 'सैन्धवमानय' इत्यादिवाक्यं यदा लवणानयनप्रतीतीच्छया प्रयुक्तम्, तदाप्यश्वसंसर्गे प्रतीतिजनने स्वरूपयोग्यतात्त्वाल्लवणपरत्वज्ञानदशायामप्यश्वसंसर्गज्ञानापत्तिरिति चेन्न, तदितरप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वस्यापि तत्र विवक्षितत्वात् । तथा च तदन्यप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वे सति तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यमिति । शुकादिवाक्येऽव्युत्पन्नोच्चरितवेद-

योग्यता का अवच्छेदक (नियन्त्रक) क्रियात्व, कारकत्व, इतिकर्तव्यतात्व आदि ही हैं अतः लक्षण में अतिव्याप्ति नहीं आती । इसी प्रकार गौ,अश्व आदि शब्दों में समानविभक्तिकता अभेदान्वय का कारण है और वही अवच्छेदक है अत एव 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतिवाक्य में अतिव्याप्ति नहीं होती । उसी तरह की आकांक्षा के तात्पर्य से ही बला-बलाधिकरण में "सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' (तै० सं० १।८।२) इस श्रुति वाक्य में वैश्वदेवयाग का आमिक्षा से अन्वय है न कि वाजिन से ऐसा प्रयोग होता है । यदि कहें कि वाजिन जिज्ञासा का अविषय है तो भी याग के योग्य तो है ही क्योंकि प्रदेय द्रव्य यागनिरूपित जिज्ञासा का नियन्त्रक है, इसका उत्तर है कि—स्वसमान जातीय पदार्थ के सम्बन्ध के बिना जो प्रदेयद्रव्यत्व वही अवच्छेदक (नियन्त्रक) होता है वाजिन तो स्वसमानजातीय आमिक्षा द्रव्य बोध के साथ ही है अतः वह अवच्छेदक नहीं हो सकता । आमिक्षा में ऐसी बात नहीं है क्योंकि वाजिन का सम्बन्ध आमिक्षा के समय अनुपस्थित रहता है । दूसरे उदाहरणों में भी आकांक्षा का अभाव ही दुर्बलता का कारण है यह सब बातें वेदान्त परिभाषा में अधिक स्पष्टता से कही गयो है ।

उसके बोध की इच्छा से उच्चारण करना ही तात्पर्य है, ऐसा नैयायिक लोग मानते हैं । किन्तु यह ठीक नहीं है । क्योंकि अर्थज्ञानहीन पुरुष द्वारा उच्चारित वेद से अर्थज्ञान होना ही संभव नहीं होगा । यह अध्यापक अव्युत्पन्न (तात्पर्यज्ञानहीन) है, इस विशेषबोधजनक वाक्य से वहां तात्पर्य भ्रम भी नहीं होगा । यदि कहें कि परमेश्वर का जो तात्पर्यज्ञान वह लेकर वाक्यार्थज्ञान हो जायगा, यह नहीं कह सकते क्योंकि ईश्वर को जो नहीं मानते उन्हें भी उस वाक्य से ज्ञान देखा जाता है । अतः उस बोध उत्पादन योग्यता को ही तात्पर्य कहना उचित है । घर में घड़ा है यह वाक्य घर में घड़े के संसर्ग के बोध के योग्य है । पट के संसर्ग बोधोत्पादन योग्य नहीं है अतः वह वाक्य घड़े के संसर्गबोध का वाचक है पट संसर्गबोधक नहीं ।

'सैन्धवमानय' यह वाक्य जब नमक लाने के बोध की इच्छा से प्रयोग किया गया है तब भी उसमें घोड़े की संसर्गबोधजनकता स्वरूपयोग्यता से होने के नाते नमक लाने के तात्पर्य से प्रयुक्त दशा में भी घोड़े का ज्ञान अनिवार्यतः होने लगेगा ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वहां तदितरप्रतीतीच्छया अनुच्चरितत्व का भी निवेश है अतः नमक का ही बोध होगा घोड़े का नहीं । इस तरह 'तदन्यप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वे सति तत्प्रतीतीच्छयां प्रयुक्तत्व (तत्प्रतीतिजननयोग्यत्व) यही तात्पर्य का लक्षण स्थिर हुआ । सुग्गे की बोली या असंस्कृत व्यक्ति द्वारा उच्चरितवेदवाक्य आदि में तत्प्रतीतीच्छा के न रहने के कारण अतिव्याप्तिदोष नहीं होता ।

वाक्यादौ च तत्प्रतीतीच्छाया एवाभावेन तदन्यप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वाभावेन तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वेन नाव्याप्तिः । तादृशयोग्यताया अवच्छेदिका च शक्तिरेव, वेदान्तिरीत्या सर्वत्र कारणतायाः शक्तेरेवावच्छेदकत्वाभ्युपगमात् ।

तच्च तात्पर्यं वेदे मीमांसापरिशोधितन्यायात्, लोके तु प्रकरणादिनाऽवधार्यते । तत्रैवोपक्रमादीनामन्तर्भावः । ते च 'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ।' वेदान्तविचारे चैषामुपयोगः । लौकिकवाक्यानां मानान्तरावगतार्थत्वाद् अनुवादकत्वम् । वेदे तु वाक्यार्थस्यापूर्वतया नानुवादकत्वम् । दयानन्दस्तु सर्वत्र लौकिकार्थमेव प्रतिपादयतीति तद्रीत्यानुवादकत्वमेव वेदवाक्यानाम् । 'अर्थात् प्रकरणाल्लिङ्गादौचित्याद्देशकालतः । शब्दार्थास्तु विभिद्यन्ते न रूपादेव केवलात् ।। इति, अन्यथैव प्रवर्तन्ते प्रत्यक्षाद्युद्भवा धियः । अर्थं पूर्णमपूर्णं वा दर्शयन्त्यः पुरः स्थितम् ।। अन्यथैव मतिः शब्दे विषयेषु विजृम्भते । प्रतिपत्तुरनाकाङ्क्षप्रत्ययोत्पादनावधिः ।। अत एव पदं लोके केवलं न प्रयुज्यते । नहि तेन निराकाङ्क्षा श्रोतुराधीयते मतिः ।।' इति च ।

नन्वभिधानव्यतिरिक्तः कोऽन्यः शब्दस्य कृत्स्नफलपर्यन्तः प्रत्यायनात्मा व्यापार इति चेन्न, सर्वैरपि संसर्गवादिभिस्तस्याप्रत्याख्येयत्वेनाङ्गीकारात् । ननु संसृष्टाभिधाने सत्येव संसर्गः प्रतीयते नान्यथेति चेन्न, संहत्यकारित्वादेव संसर्गावगतिसिद्धेः । नहि संहत्यकरणमसंसृष्टं च कार्यं क्वचिद् दृष्टम् । किञ्च, यथा प्रकृतिप्रत्ययौ परस्परापेक्षमर्थमभिदधाते न च प्रकृत्या प्रत्ययार्थोऽभिधीयते, नियोगस्य धातुवाच्यत्वापत्तेः । न च प्रत्ययेन प्रकृत्यर्थोऽभिधीयते, यागादेर्लिङ्वाच्यत्वानुपपत्तेः । न च तौ पृथक् स्वकार्यं कुरुतः । एवं पदान्यपि परस्परापेक्षाणि संहृत्य कार्यं करिष्यन्ति, न च परस्परमर्थमभिधास्यन्ति । वाक्यान्यपि प्रकरणपतितान्येव । तदुक्तम्–'प्रकृतिप्रत्ययौ यद्वदपेक्षेते परस्पम् । पदं पदान्तरं तद्वद्वाक्यं वाक्यान्तरं तथा ।। अभिधात्री मता शक्तिः पदानां स्वार्थनिष्ठता । तेषां तात्पर्यशक्तिस्तु संसर्गावगमावधिः ।। वाक्यार्थं प्रत्यये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम् । पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ।' (न्या० म० पृ० ३७२) ।

ऐसी योग्यता की नियामिका शक्ति ही है । वेदान्त शास्त्र में निष्ठित लोगों के अनुसार कारणता की नियामिका शक्ति ही मानी गयी है इस विश्वास से ।

वह तात्पर्य वेद में मीमांसापरिशोधित न्याय से निर्णीत होता है और लोक में प्रकरण, लिङ्ग आदि से अवधारित होता है । उन्हीं 'अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः' आदि में ही वेदान्तप्रयुक्त 'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।' 'अर्थवादोपपत्ती च लिङ्ग तात्पर्यनिर्णये' । इन छह निर्णायकों का अन्तर्भाव होता है । मुख्य रूप से वेदान्त में इनका उपयोग होता है । लोकप्रसिद्ध वाक्यों का दूसरे प्रमाणों से भी अर्थावबोध होने के कारण ये वहां अनुवादक मात्र हैं । वेद में वाक्यार्थ अपूर्व होते हैं अतः वहां अनुवादकत्व नहीं होता अपितु वाचकत्व या अपूर्वार्थबोधकत्व होता है । दयानन्द सवंत्र लौकिक अर्थ ही मानते हैं अतः उनके मत से वेद के वाक्यों का भी अनुवादकत्व ही है । अर्थात् प्रकरण, लिङ्ग, देशकाल का औचित्य आदि से शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न हो जाता है केवल स्वरूप से भेद नहीं माना जा सकता है । ''प्रत्यक्ष उपस्थित वस्तु जो चाहे पूर्ण हो या अपूर्ण उन्हें विपरीत जताती हुई प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों से उत्पन्न की गयी बुद्धि भिन्न-भिन्न रूप से कार्यों में प्रवृत्त होती रहती हैं । 'प्रतिपत्ता या बोद्धा को जबतक निराकांक्ष बोध उत्पन्न न हो जाय तबतक बुद्धि शब्दादि विषयों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रवृत्ति-निवृत्ति की अनिश्चितता में पड़ी रहती हैं ।' यही कारण है कि लोक में केवल पद प्रयोग नहीं किया जाता. क्योंकि केवल उससे श्रोता की बुद्धि निराकांक्ष नहीं हो पाती ।' (न्या० म० पृ० ३७१) ।

यदि यह कहें कि शब्द का प्रयोजन अभिधान या कथन ही तो है प्रत्यायन ज्ञापन या प्रबोधन नहीं, यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि सभी संसर्गवादियोंने प्रत्यायन पर्यन्त शब्द-व्यापार माना है । यदि यह कहें कि संसर्गयुक्त अभिधान होने पर संसर्ग प्रतीत होता है अन्यथा नहीं यह भी ठीक नहीं क्योंकि सम्मिलित प्रयत्न से ही संसर्ग ज्ञान होता है । सम्मिलित प्रयत्न बिना संसर्ग का कहीं नहीं देखा जाता । अथ च, जैसे प्रकृति प्रत्यय अन्योन्य की अपेक्षा से अर्थ को कहते हैं, न कि केवल प्रकृति से प्रत्यय का अर्थ कहा जाता है, ऐसा मानने पर नियोग भी धात्वर्थ माना जाने लगेगा । उसी तरह प्रत्यय से प्रकृति का अर्थ भी नहीं कहा जाता, नहीं तो यागादि लिङ्वाच्य नहीं माना जायगा । प्रकृति और प्रत्यय पृथक्-पृथक् अपना कार्य नहीं करते ।

अन्ये तु 'यद्यपि वृद्धव्यवहारादेव व्युत्पत्तिः, वाक्येनैव तु व्यवहारः, शिबिकोद्वहनवत् सर्वाणि पदानि संहृत्य व्याप्रियन्ते' इत्यादिकं सत्यमेव, तथापि व्युत्पत्तोरेकघनाकारसंघातनिष्ठत्वे प्रतिवाक्यं व्युत्पत्तिरपरिहरणीयैव स्यात्, पदार्थपर्यन्तायां तु व्युत्पत्तौ इयानस्य पदस्यार्थ इति निर्धारणीयम् । यथा शकटावयवव्यापारनिर्धारणमेवं पदव्यापारनिर्धारणमप्यङ्गीकार्यमेव । इतरथा पदार्थनियमानवेक्षणे गामानयेति विवक्षावान् अश्वपदमपि निमित्तयोपाददीत । नहि मीमांसकानां वैयाकरणानामिवानपेक्षितपदार्थ एव वाक्यार्थप्रत्ययः । तस्माद् यावान् आवापोद्वापपर्यालोचनया गोपदस्यार्थो निर्धार्यते तावानेव सङ्घातकार्येऽपि व्याप्रियगाणस्य तस्यार्थः ।

नन्वाकाङ्क्षित-योग्य-सन्निहितार्थोपरक्तोऽस्यार्थ इत्युक्तमिति चेन्न, सर्वदा संहृतव्याप्रियमाणमेतत्पदमितिप्रतीतेर्भ्रान्तिरूपत्वात् । अस्य तावानेवार्थो यावत्यभिधात्री शक्तिः, नाभिधात्रीशक्तिरन्वितविषया किन्त्वन्वयव्यतिरेकावगतनिष्कृष्टस्वार्थविषयैव । तात्पर्यशक्तिस्तु तेषामन्वितावगमपर्यन्ता सह व्यापारात्, व्यापारस्य च तदीयस्य निराकाङ्क्षप्रत्ययोत्पादनपर्यन्तत्वात् । तदुक्तं न्यायमञ्जरीकृतौ—'अशाब्दत्वं च वाक्यार्थप्रतीतेरित्थमापतेत् । व्यवधानमयुक्तं च साक्षाच्छाब्दत्वसम्भवे ।' (न्या० म०, पृ० ३६७) । अङ्गुल्यग्रादिवाक्येषु योग्यताभावादसंसर्गः, संसर्गस्य आकाङ्क्षादित्रयसापेक्षत्वात् ।

इसी तरह पद भी अन्योन्याश्रित होने से मिलकर ही कार्य करेंगे । स्वतन्त्र रूप से एक दूसरे का अर्थ नहीं कह सकेंगे । वाक्य भी प्रकरण आदि के अधीन ही रहेंगे । कहा भा है—प्रकृति और प्रत्यय जैसे एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं वैसे ही पद दूसरे पदों की और वाक्य दूसरे वाक्यों की अपेक्षा करते हैं । पदों की स्वार्थनिष्ठ शक्ति ही अर्थाभिधात्री है । उनकी तात्पर्यशक्ति उनके पारस्परिक संसर्गज्ञान पर्यन्त रहती है । वाक्यार्थज्ञान में पदों की प्रवृत्ति अनिवार्य है पदार्थ ज्ञानपूर्वक ही पद प्रवृत्ति वाक्ययोजना में अपेक्षित है जैसे भोजन पकाने में काष्ठ की ज्वाला अनिवार्य है । (न्या० म० पृ० ३७३) दूसरे विद्वानों का अभिमत निम्नाङ्कित है—

'यद्यपि बड़े बूढ़ों का व्यवहार देखने से ही व्युत्पत्ति होती है और लोक में वाक्यों का ही प्रयोग व्यवहारार्थ होता है । शिविका से ले जाये जाने की तरह सभी वाक्यघटक पद मिलकर व्यापार करते हैं । शिबिका की बनावट तथा चार कहांरो द्वारा उसका कंधे पर ढोना उसके बांसो का उसके अंगों में संयोजन आदि संहृत्यक्रियाकारित्व का सयुक्तिक श्रेष्ठ उदाहरण है और यह सब सत्य है, तथापि व्युत्पत्ति एक घनीभूत संघातनिष्ठ है वैसे ही प्रत्येक वाक्य में व्युत्पत्ति का होना रहना अपरिहार्य ही है और उचित है । किं बहुना; वाक्यार्थ ज्ञान करने हेतु पदों का अर्थज्ञान नितान्त अपेक्षित है । इस पद का अमुक अर्थ है ऐसा स्पष्ट ज्ञान अनिवार्य है । जैसे शकट के प्रत्येक अवयव की क्रिया जरूरी है वैसे ही वाक्यावयव प्रत्येक पद का अर्थ जानना स्वीकरणीय है । नहीं तो पदों के अर्थज्ञानवाले नियम की उपेक्षा करने वाला 'गाय लाओ' इस वाक्य को कहने की इच्छा वाला घोड़े को भी कारणतया सन्निविष्ट समझने लगेगा । मीमांसकों का वाक्यार्थज्ञान वैयाकरणों की तरह पद पदार्थ ज्ञान निरपेक्ष नहीं अपितु तदपेक्ष माना गया है । अतः जितना ले आने ले जाने के अर्थज्ञान में गोपद का अर्थ जरूरी है उतना ही संघातार्थ (अर्थात् बड़े वाक्य में प्रयुक्त गो शब्द का अर्थ) ज्ञान में भी जरूरी है ।

यदि यह कहें कि सर्वदा आकांक्षित योग्य पद के सामीप्य में ही गो पद का अर्थ कहा गया है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि सदा संघातान्वित होकर ही प्रयुक्त होने वाले गो आदि पद को वादिगण भ्रान्तरूप प्रयोग की संज्ञा देते हैं । गोपद का वही स्वाभाविक शाश्वत अर्थ है जितना अभिधाशक्ति प्रतिपाद्य है । अभिधा अन्वित पदविषया नहीं अपितु अन्वयव्यतिरेकद्वारा निर्णीत केवल स्वार्थविषयिका ही है । तात्पर्यशक्तिपदान्वित अर्थज्ञानसापेक्षा अवश्य होती क्योंकि उसका व्यापार सहयोग सापेक्ष है । उसका व्यापार भी निराकांक्ष बोध उत्पन्न करने तक समर्थ है । न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट ने कहा है—निराकांक्षबोधोत्पादन में असमर्थ सिद्ध हो जाने पर तात्पर्य शक्ति को अशाब्दत्व दोष का पात्र बनना पड़ेगा अर्थात् उसकी शब्दशक्तिता ही व्याक्षिप्त हो जायगी । जब सीधे शाब्दत्व अर्थात् वाक्यार्थबोधजनकत्व उसका संभव है तो उसमें किसी तरह का व्यवधान होना, डालना, समझना अयुक्त अनुचित है । (न्याय० म० पृ० ३६७) । अङ्गुल्यग्रादि वाक्य मे योग्यता के न रहने के कारण संसर्ग (सम्बन्ध) भी नहीं माना जाता क्योंकि संसर्ग आकांक्षा योग्यता सन्निधान इन तीनों की अपेक्षा है ।

अन्विताभिधानवादिमतेऽपि पदानां योग्यतासन्नादिसंसृष्टार्थवाचित्वमिष्यते । यत्तु—'अन्विताभिधानवादिनोऽन्वयासम्भवादनभिधानं स्यात् । अभिहितान्वयवादिमते त्वनन्वयेऽप्यभिधानं न विरुद्धयत इति चेन्न, शब्दानां प्रकाशकत्वस्य नैसर्गिकत्वेऽपि पुंसां गुणदोषाभ्यामेव तत्र सदसदर्थत्वोपपत्तेः । क्रियाकारकसंसर्गबुद्धिर्यद्यप्यन्यैव भवति, तथापि नरबुद्धिप्रमादतस्तादृश्येवान्यापि बुद्धिर्भवति । शब्दे स्वतः प्रमाणत्वं तत्रापि भवत्येव, बाधकापसर्पणात् । अङ्गुल्यादिवाक्येऽपि शाब्दः समन्वयोऽस्त्येव । अन्यथा अकचटतादिवद् दशदाडिमानि, षडपूपा इत्यादिवदबोधकत्वमेव स्यात् । अतोऽन्विताभिधानं न विरुद्धयते । बाधकस्त्वन्यविषय एव ।

प्रथमं वर्णज्ञानं ततः संस्कारः, ततो द्विनीयवर्णज्ञानं तेन प्रथमवर्णज्ञानजनितेन च संस्कारेण पटुतरस्संस्कारः, ततस्तृतीयवर्णज्ञानं तेन प्राक्तनेन संस्कारेण पटुतरः संस्कारः । एवं यावदन्त्यवर्णज्ञानानन्तरं तु ततः संस्कारात् सकलपूर्ववर्णविषयमेकस्मरणम् । तेनान्त्यवर्णज्ञानस्य विनश्यत्ता विनश्यदवस्थग्रहणस्मरणविषयीकृतो वर्णसमूहः पदमिति ज्ञायते । ततः पदज्ञानात् संस्कारः, ततस्तथैव वर्णक्रमेण द्वितीयपदज्ञानम्, तेन प्रथमपदज्ञानजन्मना च संस्कारेण पटुतरः संस्कारो जन्यते । पुनस्तेनैव क्रमेण तृतीयपदज्ञानं तेन प्राक्तनेन च संस्कारेण पीवरतरः संस्कारः । एवं यावदन्त्यपदज्ञानमन्तरेण स्थवीयसा संस्कारेण सर्वविषयमेकस्मरणमुपजन्यते, संस्कारस्यैवैकत्वात् । सोऽयं स्मरणानुभवविषयीकृतवर्णसमूहो वाक्यमित्युच्यते । ततो वाक्यार्थप्रतिपत्तिः । संस्कारस्य संस्कारान्तरकरणकौशलमवश्यमोषितव्यम्, अन्यथा सर्वत्र क्रियाभ्यासोऽनर्थकः स्यात् ।

केचित्तन्न रोचयन्ते । अन्त्यपदार्थप्रतीतिसमये तदवच्छेदकतया प्रतिभासमानं पदं तावत् कारणमित्यत्र न

अन्विताभिधानवादी के मतानुसार भी पदों में योग्यतादि सामग्री समवधान में ही वाचकता मानी गयो है । जो कोई ऐसा मानते हैं कि 'अन्विताभिधानवादी के मत में अन्वय असंभव होने से अभिधान नहीं होगा । अभिहितान्वयवादी के मत में अन्वय न होने पर भी अभिधान विरुद्ध नहीं पड़ता, यह ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दों में प्रकाशकता नैसर्गिक रहते हुए भी पुरुषनिष्ठ, गुणदोष से ही शब्दों के सदर्थ असदर्थ की स्थिति बन जाती है । क्रियाकारकसंसर्गज्ञान (सम्बन्ध बोध) यद्यपि भिन्न भिन्न होती हैं तो भी पुरुष बुद्धि के प्रमाद आलस्य आदि के कारण वैसी ही अन्य बुद्धि भी हो जाती है । ऐसी स्थिति में भी शब्द स्वतःप्रामाण्य रहता ही है, क्योंकि बाधक हट जाने से उसमें कोई रुकावट नहीं । अङ्गुल्यादि वाक्य में भी शब्द सम्बन्धी समन्वय (सम्बन्ध) रहता ही है । नहीं तो अकचटत आदि की तरह दश दाडिम (अनार) षट् अपूप (छह पूए) इत्यादि शब्द कदम्ब की तरह अबोधकता ही रहेगी । अतः अन्विताभिधान दोषावह नहीं हैं, बाधक यदि है या होगा तो वह भिन्न विषयक हैं उक्त बिषयक नहीं ।

पहले वर्णज्ञान होता है अनन्तर तद्विषयःसंस्कार अनन्तर द्वितीय वर्ण का ज्ञान उससे अर्थात् प्रथमवर्णज्ञानोत्पन्नसंस्कार से अपेक्षाकृत तीव्रतर संस्कार होता है अनन्तर तीसरे वर्ण का ज्ञान और उस प्राक्तन संस्कार से भी तीव्रतर संस्कार होता है । इस तरह अन्तिम वर्णज्ञान के पश्चात् जो संस्कार होता है उससे पूरे वर्णों का एक पिण्डीभूत स्मरण बनता है । इस प्रक्रिया से अन्तिम वर्ण के ज्ञान का विनाश और विनाशकालिक ज्ञान को स्मरण का विषय बनाता हुआ वर्णों का समूह पद कहलाता हैं । फिर पद के ज्ञान से संस्कार और फिर उसी वर्णक्रम से दूसरे पद का ज्ञान और वह प्रथमपदज्ञानोत्पन्न संस्कार पूर्वापेक्षया पटुतर संस्कार उत्पन्न होता है । पुनः उसी क्रम से तृतीयपद ज्ञान और पुनः पूर्वापेक्षया गाढतर संस्कार होता चलता है इस क्रम से अन्तिम पद ज्ञान के माध्यम से गाढतर संस्कार से सर्वपदविषयक एक दृढ़ स्मरण उत्पन्न हो जाता है । वह संस्कार एक होता है । वह यह स्मरणानुभवविषयक पद समूह वाक्य कहलाता हैं । चूँकि वर्णसमूह ही पद है अतः पूर्वोक्तस्मरणानुभवविषयक वर्णसमूह भी वाक्य कहा जाता हैं । वाक्य प्रयोग के अनन्तर वाक्यार्थज्ञान होता है । संस्कार से संस्कारान्तर लाभ का कौशल अवश्य प्राप्त करना चाहिए, नहीं तो सर्वत्र क्रिया का अभ्यास अनर्थक हो जायगा ।

कुछ लोग उक्त मत नहीं मानते । अन्तिमपदार्थबोध के समय उसके सहयोगी के रूप में भासमान पद कारण है इस तथ्य को मानने में कोई मतभेद नहीं । स्वयं प्रतिभासित होता हुआ कर्म भी तो रहता है वह यदि उस समय कर्म के रूप में उपस्थित

विभतिः। स्वयं च प्रतिभासमानत्वात् कर्मापि भवत्येव। तस्य तदानीं कर्मत्वे कारणं चिन्त्यम्। तत्र न तावत् श्रोत्रं कारणम्, अन्त्यपदप्रतीत्यनन्तरमेतद्व्यापारस्य विरतत्वात्, विरम्य पुनर्व्याप्रियमाणत्वानुपपत्तेः। मनस्तु बाह्ये विषये स्वातन्त्र्येण प्रवर्तितुमसमर्थमेव। तत्प्रवृत्तौ सर्वाण्येव प्रथमपदात् प्रभृति पदानि मानसव्यवसायगोचरचारीणि भवन्तु, किं स्मर्यमाणत्वमन्येषामुच्यते। अथ तदन्त्यपदमर्थे इवात्मन्यपि तदवच्छेदकत्वप्रतिपत्तेः कारणत्वं प्रतिवत्स्यत इति मन्यसे चेत्? तदयुक्तमेव, स्वप्रतीतौ तस्य कर्मत्वात्। न चैकस्यामेव क्रियायां तदेव कर्म करणं च भवितुमर्हति।

अन्ये तु प्रथमं पदज्ञानं ततः संकेतस्मरणं ततः पदार्थज्ञानं पदार्थज्ञानात् पदज्ञानस्य विनश्यत्ता विनश्यदवस्थपदज्ञानमपेक्षमाणं श्रोत्रं प्रथमपदावच्छेदेन द्वितीयपदे ज्ञानमादधाति। द्वितीयपदज्ञानानन्तरं पुनः सम्बन्धस्मरणं ततः पदार्थज्ञानं तेन द्वितीयपदज्ञानस्य विनश्यत्ता विनश्यदवस्थपदज्ञानसहायाच्छ्रोत्रात् तथैव तदवच्छेदेनोत्तरोत्तरपदज्ञानं तावद्यावदन्त्यपदज्ञानमिति। तज्ज्ञानानन्तरं च प्राक्तनप्रक्रियावन्नात्र पूर्वपदस्मरणमुपयुज्यते। तत्फलस्य च विनाशदशापतितपदज्ञानकृतावच्छेदमहिम्नैव सिद्धत्वात् तस्य हि फलमन्त्यपदावगमसमये सकलपूर्वपदोपस्थानम्। तच्च विनश्यदवस्थपूर्वपूर्वपदज्ञानकृतोत्तरोत्तरपदानुरागबलादेव लब्धमिति किं तत्तत्स्मरणेन? तदभावाच्च नात्र यौगपद्यादिचोद्यावसरः। एवं वाक्यादेव वाक्यार्थप्रत्ययः सेत्स्यति (न्या० म० पृ० ३६१-३६२)।

अपरे तु—इयमपि कल्पना नानवद्येति। यतो हि पूर्वपदोपरागपूर्वकद्वितीयपदज्ञानोपजननानुपपत्तेः प्रथमपदज्ञानानन्तरं सम्बन्धस्मरणं तेनैव तस्य विनश्यत्ता। पदार्थप्रतिपत्तिकाले च परज्ञानं विनष्टमेव। विनश्यदवस्था च बुद्ध्यन्तरविरोधिनीति सामान्येन श्रवणात्। कार्यभूतया बुद्ध्या कारणभूता बुद्धिर्विरुद्ध्येत न बुद्धिमात्रेण बुद्धिमात्रमिति तदयुक्तम्, विशेषे प्रमाणाभावात्। तथाभ्युपगमेऽपि पदज्ञानं संस्कार इव समयस्मृतेः कारणमेव, संस्कारेणेव तेनापि विना तदनुत्पादात्।

है तो वह कारण भी रहे यह संभव नहीं। वहाँ श्रोत्र कारण नहीं हो सकता क्योंकि अन्तिम पद के बोध के बाद उसकी क्रिया समाप्त हो जाती है, एक बार विरत हो जाने के बाद पुनः उसकी क्रिया नहीं होती। मन तो बाहरी विषय में स्वतः स्वतन्त्रतापूर्वक प्रवृत्त होने में असमर्थ है। यदि उसकी प्रवृत्ति मानेंगे तो प्रथमपद से लेकर सभी पद मानस व्यापार के विषय हों, तब कुछ स्मर्यमाण और कुछ मनसा उपस्थित यह द्वैविध्य नहीं होगा। यदि अन्तिम पद जैसे अर्थबोध में सहायक है आत्मा में भी सहायक बोध का कारण मानोगे तो यह अनुचित है, आत्मबोध में वह कर्म ही रहेगा। एक ही क्रिया में वही कर्म और करण नहीं हो सकते।

दूसरे लोग तो ऊपर की बात को दूसरे ही तरह मानते हैं—पहले पद का ज्ञान होता है उसके बाद संकेतस्मरण ततः पदार्थ का ज्ञान और उससे पद ज्ञान की निवृत्ति, निवर्तमान पदज्ञान को रखनेवाला श्रोत्र प्रथम पद के साथ दूसरे पद में ज्ञान उत्पन्न करता है। द्वितीय पद के ज्ञान के बाद फिर सम्बन्ध का स्मरण होता है उसके बाद पदार्थ का ज्ञान उससे द्वितीय पद ज्ञान की निवृत्ति निवर्तमान पद ज्ञान के सहायक श्रोत्र से वैसे ही उसकी सहायता से उत्तरोत्तर पदों का ज्ञान चलेगा, जब तक अन्तिम पद का ज्ञान हो जाय। उस अन्त्यपद के ज्ञान के बाद पहली प्रक्रिया की तरह यहाँ पूर्वपद का स्मरण जरूरी नहीं होता। ऐसे ज्ञान के फल का विनाश दशा में पड़े पदज्ञान की सहायता से ही सिद्धि हो जाती है। उसका फल अन्तिमपद ज्ञान के समय सभी पूर्वपदों का उपस्थित कराना वह भी निवर्तमानपूर्व पूर्वपद ज्ञान से उत्तरोत्तर पदानुरागबल से ही प्राप्त हो जाता है अतः उन-उन प्राक्तन पदों के स्मरण की क्या जरूरत है। स्मरणाभाव में यहाँ एक काल में उपस्थित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस तरह वाक्य से ही वाक्यार्थ प्रत्यय सिद्ध हो जाता है। (न्या० म० पृ० ३६१-३६२)।

दूसरे लोग इस कल्पना को भी निर्दोष नहीं मानते हैं। क्योंकि पूर्वपद के छायापूर्वक दूसरे 'पद को ज्ञानोत्पत्ति संभव न होने से प्रथम पद के ज्ञान के बाद सम्बन्ध का स्मरण होगा और उसी से उसकी निवृत्ति हो जायगी। पदार्थज्ञान के समय में पदज्ञान-निवृत्त ही रहेगा। विनष्ट होती हुई अवस्था दूसरी बुद्धि की विरोधिनी होती है ऐसा सुना जाता है। कार्यरूपाबुद्धि से कारणरूप बुद्धि विरुद्ध होगी अतः बुद्धि होनेमात्र से अर्थात् तद्विषयकबुद्धि मात्र से बुद्धि का होना ऐसा मानना यह उचित नहीं है क्योंकि विशेष है या

संस्कारप्रबोधस्तद्व्यापार इति चेन्न, तेनापि द्वारेण यत्कारणं तत्कारणमेव। तदिह पदज्ञानं समयस्मरणं पदार्थज्ञानमिति त्रीणि ज्ञानानि युगपदवतिष्ठन्ते इति परः प्रमादः। अपि च, पदज्ञानमुपजायमानं वर्णक्रमेण जायते न सहसैव, निरंशपदवादस्य निरस्तत्वात्। द्वित्राणि त्रिचतुराणि पञ्चषाणि वाक्षराणि क्रमेणैकस्मिन् पदे ग्रहीष्यन्ते। तद्विषयाश्च क्रमभाविन्य, उपजननापायधर्मिण्यो बुद्धयः। अत्रान्तरे विनश्यदवस्थमन्त्यपदज्ञानमासिष्यते तदुपरागेण द्वितीयपदज्ञानमुत्पत्स्यत इति दुराशैव।

अपि च, व्यवहितोच्चरितेभ्योऽपि पदेभ्यो वाक्यार्थप्रत्ययो दृश्यते। यत्रानेककार्यालोचनव्यग्रहृदयः स्वामी रे कन्दलक कल्पितपर्याणमश्वमानयेति वाक्यस्य प्रतिपदं मध्ये मध्ये व्यवहारान्तरं कुर्वन् वक्ति, तत्रापि वाक्यार्थावगमो भवति। न च भवन्मते तदुपपद्यते। पदानुरागस्य तत्रासम्भवात्, सर्वपदानुस्मरणस्य चानभ्युपगमात्।

यदुक्तं चिरतिरोहितवर्णप्रबन्धानुसन्धानं दुर्घटमिति तत्र केचिदेवं निवेदयन्ति—चिरातिक्रान्तत्वमचिरातिक्रान्तत्वं वा न स्मृतिकारणम्। संस्कारकारणकं हि स्मरणम्। तच्च सद्यःप्रलीने चिरप्रलीने वा न विशिष्यत इति पूर्वेषां पदानां चिरतिरोहितानामपि व्यवहितोच्चरितानामपि संस्कारात्स्मरणं भवत्येव। अन्त्यपदस्यानुभूयमानत्वोपगमे ज्ञानयौगपद्यादिप्रमादप्रसङ्ग इति वरमन्त्यपदमपि स्मर्यमाणमस्तु। स्मृत्यारूढान्येव सर्वपदानि वाक्यार्थमवगमयिष्यन्ति। तत्र वर्णक्रमेण तावत्प्रथमं पदज्ञानं ततः संकेतस्मरणं संस्कारश्च युगपद् भवतः। ज्ञानयोर्हि यौगपद्यं शास्त्रे प्रतिषिद्धं न संस्कारज्ञानयोः। ततः पदार्थज्ञानं तेनापि संस्कारः पुनर्वर्णक्रमेण द्वितीयपदज्ञानं ततः संकेतस्मरणम्। पूर्वसंस्कारसहितेन तेन पटुतरः संस्कारः पुनः पूर्ववर्णक्रमेण तृतीयपदज्ञानं संकेतस्मरणं पूर्वसंस्कारापेक्षः पटुतरः संस्कारः

होता है इसमें कोई प्रमाण नहीं है। ऐसा मान लेने पर भी पदज्ञान संस्कार की तरह सम्बन्धज्ञान का कारण ही है संस्कार की तरह उसके बिना भी उसकी उत्पत्ति नहीं होगी। संस्कार का ज्ञान हीं उसकी क्रिया है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि संस्कार द्वारा भी जो कारण है वह कारण तो है ही। तो इस क्रम में पदों का ज्ञान, सम्बन्ध का स्मरण और पदार्थ का ज्ञान ये तीन ज्ञान एक साथ रहते हैं यह मानना भयङ्कर भूल है। और भी विचार कीजिए, पद का ज्ञान उत्पन्न होता हुआ वर्ण के द्वारा ही होगा। अकारण नहीं, पद निरंश होता है यह मत तो सर्वसम्मत्या अस्वीकार्य माना गया है। दो तीन या तीन चार या पाँच छः, अक्षरक्रम से एक पद में गृहीत होते हैं। तद्विषयिणी क्रमिक उत्पादविनाशशालिनी बुद्धियाँ होती हैं। इसी बीच में नष्ट होता हुआ अन्तिम पद का ज्ञान होगा उसकी छाया लिए दूसरे पद का ज्ञान उत्पन्न होगा यह दुराशामात्र है।

व्यवधान से भी उच्चरित पद वाक्यज्ञान करा देते हैं। जहां कोई घोड़े का स्वामी अनेक कामों में लगा होता है तो भी "ऐ कन्दलक जीन कसकर तैयार घोड़े को लाओ" ऐसा वाक्य बार-बार बीच-बीच में कार्य करता हुआ भी कहता रहता है ऐसी स्थिति में भी वाक्यार्थज्ञान होता है। और यह व्यवस्था पूर्वोक्तमत के चलते न हो पायेगी। पद की छाया वहाँ सम्भव नहीं और सभी पदों का स्मरण माना नहीं जाता।

जो लोग यह कहते थे कि "देर से कहे गये वर्णक्रम का अनुसन्धान दुर्घट है" इस विषय में कुछ लोग निम्नलिखित समाधान प्रस्तुत करते हैं—"बहुत समय पहले का कहा गया या तत्काल का कहा गया पद या वाक्य स्मृति का हेतु नहीं होता क्योंकि स्मरणात्मकज्ञान तो संस्कारमात्र जन्य होता है, वह संस्कार तत्काल उच्चरित या बहुत पहले के उच्चरित पद या वाक्य में कोई महत्व कहीं रखता, बहुत पहले का उच्चरित हो या बीच में रुक-रुक करके कहा गया हो संस्कार के बल से उनका स्मरण होता ही है। अन्तिम पद का अनुभव हो रहा है ऐसा मानने पर ज्ञान के एक काल के होने का जो असावधानी का प्रसंग आने की बात आती है अतः उत्तम है कि अन्तिम पद का अनुभव न मानकर उसका भी स्मरण ही माना जाय, स्मरण में आये सभी पद वाक्यार्थबोध में कारण होंगे। वर्णक्रम से पहले पदज्ञान होगा ततः सङ्केत का स्मरण, और संस्कार साथ-साथ होंगे। ज्ञान का एककालिकत्व शास्त्र में निषिद्ध है न कि ज्ञान और संस्कार का एककालिकत्व। पदज्ञान के बाद पदार्थज्ञान हो तो उससे भी संस्कार होगा और पुनः वर्णक्रम से दूसरे पद का ज्ञान होगा उससे सङ्केत का स्मरण होगा। पूर्व संस्कार के साथ होने के कारण उससे पटुतर संस्कार होगा इसी क्रम से पूर्ववर्ण के ज्ञान के बाद तीसरे पद का ज्ञान सङ्केत स्मरण आदि होंगे और पूर्व संस्कार की अपेक्षा अधिक पटुतर संस्कार इस क्रम से पदज्ञान से उत्पन्न

इत्येवं पदज्ञानजनितपीवरे संस्कारे पदार्थज्ञानजनिते च तादृशे संस्कारे स्थितेऽन्त्यपदार्थज्ञानानन्तरं पदसंस्कारात् सर्वपदविषया स्मृतिः पदार्थसंस्काराच्च पदार्थविषया स्मृतिरिति संस्कारक्रमेण द्वे स्मृती भवतः। तत्रैकस्यां स्मृतावुपारूढः पदसमूहो वाक्यमितरस्यामुपारूढः पदार्थसमूहो वाक्यार्थः।

ननु स्मृतेरप्रमाणत्वादप्रमाणं वाक्यार्थबोध इति चेन्मैवम्, तथा सम्बन्धग्रहणात्। यत्र ह्यन्यथासम्बन्धग्रहणमन्यथा प्रतिपत्तिस्तत्रायं दोषः। यथा धूमे गृहीतसम्बन्धे नीहाराद्दहनानुमितौ। इह तु क्रमवर्तिनां वर्णानामन्यथाप्रत्ययासम्भवाद् यथैव व्युत्पत्तिस्तथैव प्रतीतिरिति न किञ्चिदवद्यम्। अचिरनिर्वृत्तानुभवसमनन्तरभाविनी च स्मृतिरनुभवायते। अथवा कृतं स्मरणकल्पनया। अन्त्यपदार्थज्ञानान्तरं सकलपदार्थविषयो मानसोऽनुव्यवसायः शतादिप्रत्ययस्थानीयो भविष्यसि। तदुपारूढपदानि वाक्यम्। तदुपारूढश्च पदार्थो वाक्यार्थः। तथाविधश्च मानसोऽनुव्यवसायः सकललोकसाक्षित्वादप्रत्याख्येयः। एकाकारो हि वाक्यार्थप्रत्ययः प्रत्यात्मवेदनीयो न शक्योऽपह्नोतुम्। न चासौ स्मर्यमाणादनुव्यवसायाद्वा विना सम्पद्यते इत्यस्ति तदुपयोगः। इत्थं स्मर्यमाणारूढसङ्कलनाज्ञानविषयीभूतं चेदं पदनिकुरम्बं वाक्यं तथाविधश्चैष वाक्यार्थः।

किन्तु सर्वत्र कदम्बकरूपादुपायात् कदम्बकरूपमुपेयं प्रतीयत इति दुरवगमः पदार्थविभागः। ततश्च पदार्थानामनपेक्षणे गामानयेति वाक्यादश्वबन्धननियोगः प्रतीयेत। अपेक्ष्यते तु पदानामर्थः। सोऽपेक्ष्यमाण इयानिति नियतोऽवधारयितव्यः। तदवधारणं तु शुद्धाभिधायिषु पदेष्ववकल्पते। तस्मात् पदपदार्थयोरौत्पत्तिकः सम्बन्ध इष्यते। वृद्धव्यवहारेषु

दृढ संस्कार में तथा पदार्थज्ञानजनित दृढ संस्कार के रहते अन्तिम पदार्थ ज्ञान के बाद पद संस्कार से सभी पदों की स्मृति और पदार्थ संस्कार से पदार्थविषयक स्मृति होगी। इस संस्कार के क्रम से दो स्मृतियाँ होंगी। उनमें पहली स्मृति में उपारूढ पदों का समूह वाक्य और दूसरी में उपारूढ पदार्थसमूह वाक्य का अर्थ होगा।

यदि कहें कि स्मृति के अप्रामाण्य के कारण प्रमाण ही वाक्यार्थज्ञान कहलायेगा तो यह ठीक नहीं, क्योंकि स्मृति के अनुसार ही संकेतज्ञान माना जाता है। जहाँ दूसरे प्रकार का सम्बन्ध ज्ञान और दूसरे प्रकार का बोध होता है वहाँ के लिये उक्त दोष होता है। जैसे धुँआ में सम्बन्ध (संकेत) ज्ञान होने पर नीहार से जलने की अनुमिति होने लगे ऐसे स्थल में दोष होगा। यहाँ तो क्रम से उपस्थित वर्णों का भिन्न बोध होना संभव न होने से जैसी व्युत्पत्ति होगी वैसा ज्ञान होगा इसलिये कोई दोष नहीं है। ताजे अनुभव के तत्काल बाद होनेवाली स्मृति एक प्रकार का अनुभव ही है। अथवा स्मरण के विषय का विचार सर्वथा व्यर्थ है। अन्तिम पदार्थ के ज्ञान के बाद सभी पदार्थविषयक मानसज्ञान होगा जो सैकड़ों हजारों बोधों के समान होगा। मानसबोध के आश्रित जो पदसमूह हैं वे वाक्य कहलाते हैं। वैसे ही मानसबोध के आश्रित जो पदार्थ हैं वे वाक्यार्थ कहलाते हैं। वैसे मानस बोध के साक्षी सर्वजन हैं अतः उसका खण्डन नहीं हो सकता। वाक्यार्थज्ञान एक प्रकार का होता है जिसे प्रत्येक व्यक्ति जानते मानते हैं उसे झूठा नहीं कहा जा सकता। ऐसा ज्ञान स्मरण या ज्ञान चाहे वह अनुभवात्मक या मानस हो उसके बिना हो नहीं सकता अतः ऐसे ज्ञान का बहुत उपयोग है। इस तरह स्मृत्याश्रित ज्ञान का विषय पद समूह वाक्य है और उसी प्रकार का वाक्यार्थ है।

किन्तु सर्वत्र सामूहिक उपाय से सामूहिक उपेय प्रतीत हो रहा है अतः पदार्थ का विभाग दुर्ज्ञेय है। दुर्बोधता के कारण पदों में अर्थ न मानने पर गाय लाओ इसका अर्थ घोड़े को बाँधो ऐसा होने लगेगा। अतः प्रत्येक पद का अर्थ आवश्यक है। और वह 'इतना आवश्यक' है ऐसी कोई नियत सीमा निर्धारित होनी चाहिए। और वह अवधारण शुद्ध अभिधाशक्ति द्वारा वाचक पदों में हो सकता है। अतः पद और पदार्थ में एक औत्पत्तिक (जन्मजात) सम्बन्ध अपेक्षित है। वृद्धों के व्यवहार में वाक्य होनेवाला बोध पदों में भी माना गया है, नहीं तो प्रतिवाक्य में बोध मानना पड़ेगा। और ऐसा बोध अनन्त होने के कारण उसका उपपादन अशक्य होगा इस तरह वाक्यार्थज्ञान द्वारा चला आता व्यवहार उच्छिन्न हो जायगा। पदपदार्थ ज्ञाता लोगों को नवीन कविरचितश्लोक से भी बोध होता देखा जाता है। वह बोध पदपदार्थ के प्रत्येक के ज्ञान के आधार पर ही होता माना जाता है। वाक्य और वाक्यार्थ में प्रत्येक में बोध अपेक्षित होने पर बोध ही नहीं होगा। इसलिए अन्विताभिधानवाद समर्थनीय नहीं है। और उसके न मानने पर दूसरे पद का उच्चारण व्यर्थ ही है क्योंकि एक ही पद से पदान्तर का अर्थज्ञान हो जायगा। बिना परस्परान्वय के तो कोई पद होगा नहीं इस तरह

वाक्यादपि भवन्ती व्युत्पत्तिः पदपर्यन्ता भवति, इतरथा हि प्रतिवाक्यं व्युत्पत्तिरपेक्ष्येत । सा चानन्त्याद् दुरुपपादेति शब्दव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः । दृश्यते च पदार्थविदामभिनवकविनिर्मितश्लोकादपि वाक्यार्थप्रतिपत्तिः । सा पदतदर्थव्युत्पत्त्यैवावकल्पते । वाक्यवाक्यार्थयोस्तु व्युत्पत्तावपेक्षमाणायां सा न स्यादेव । तस्मान्नान्विताभिधानम् ।

अतश्चैवं पदान्तरोच्चारणवैफल्पयप्रसङ्गादेकस्मादेवपदात् । तदुपरञ्जकद्वितीयपदार्थावगतिः सिद्धैव । तदपि पदमन्यानुरक्तस्वार्थवाचीत्यनेनैव न्यायेनैकमेव पदमखिलपदाभिधेयार्थवाचि सम्पन्नमिति तेनैव व्यवहारोऽस्तु । न चासौ सम्पद्यते । गौरित्युक्ते सर्वगुणक्रियावगमान्न ज्ञायते किमुपादीयतामिति । सर्वावगमो ह्यनवगमनिर्विशेष एव, व्यवहारानुपपत्तेः । नहि रसविदां पूर्णोऽब्धिर्मरोरतिरिच्यते, सलिलकार्यानिष्पत्तेः । नियतगुणक्रियानुरक्तस्वार्थप्रतिपादने तु गोशब्दस्य हेतुं नोत्पश्यामः । पदान्तरसन्निधानं नियमहेतुरिति चेत्, किं स्वरूपमात्रेणार्थप्रतिपादनेन वा ? यदि स्वरूपमात्रेण तर्हि जपमन्त्रपदानामिव सन्निधानं भवदप्यसन्निधानान्न विशिष्यते, अगृहीतसम्बन्धस्य तत्कृतोपकारादर्शनात् । अर्थप्रतिपादनेन पदान्तरस्य नियमहेतुत्वे त्वभिहितानामर्थानामेवान्वय उक्तो भवति । तस्मात् पदेभ्यः प्रतिपन्नास्तावदर्था आकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावशेन परस्परमभिसम्बध्यन्ते । यो येनाकाङ्क्षितो यश्च सन्निहितो यश्च सम्बन्धुं योग्यः स तेन सम्बध्यते नातोऽपरः । अत एव 'अङ्गुल्यग्रे करिणां शतमास्ते' इति वाक्ये नास्ति सम्बन्धः, योग्यत्वाभावात् । अन्विताभिधानवादिनां तु अन्वितस्याभिधानात्तत्रान्वयः प्राप्नोत्येव । स च नास्ति । तस्मादभिहितानामेव पदार्थानामन्वयः । तदेवोक्तम्, 'पदानि हि स्वं स्वमर्थंमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि भवन्ति अथार्था अवगता वाक्यार्थं सम्पादयन्ति' (न्या० म० पृ० ३६५) इति ।

अपरे तु न व्युत्पत्तिनिरपेक्षो दीप इव शब्दोऽर्थमवगमयति व्युत्पत्तिश्च वृद्धव्यवहारात् । वृद्धानां च व्यवहारो वाक्यात् न पदात्, केवलस्य पदस्याप्रयोगात् । 'अर्थप्रकरणप्राप्तपदार्थान्तरवेदने । पदं प्रयुज्यते यत्तद्वाक्यमेवोदितं भवेत् ॥ वक्ता वाक्यं

एक पद दूसरे के अर्थ से उपरक्त होकर ही होगा । और वह दूसरा पद भी सभिन्न पद के अर्थ से अनुरक्त होता हुआ ही स्वार्थवाचक रहेगा इस प्रक्रिया से एक पद ही सभी पदों के अर्थ को कह सकेगा अतः एक पद से ही व्यवहार चले, क्या हर्ज है ? इस पक्ष को न मानकर अब खण्डन करते हैं—कि उक्त कथनानुसार व्यवहार सम्पन्न नहीं होगा । गौ शब्द कहने से ही सभी गुण और क्रिया का ज्ञान हो जाने से अब यह समझना दुष्कर होगा कि अब आगे क्या करना होगा ? क्योंकि सबकुछ जानना कुछ न जानने के समान ही है, व्यवहार तरतम भाव से चलता है सर्वज्ञ और अनभिज्ञ से नहीं । जो षड्विध रस का ज्ञान रखता है उसके लिये भरापूरा समुद्र मरुप्रदेश से कुछ भी भिन्न नहीं क्योंकि समुद्र का खारा जल न पोने योग्य है न सिंचाई के योग्य है । नियतगुण क्रिया· से उपरक्त या अनुरक्त गो आदि शब्द स्वार्थवाचक बने रहें इसका कोई विनिगमक कारण नहीं समझ में आता ? दूसरे पद का सामीप्य गमक मानें तो प्रश्न होगा कि वह पदसामीप्य स्वरूपमात्र से नियामक होगा या अर्थ प्रतिपादक रूप से ? पहला पक्ष सदोष है क्योंकि जपे जाने वाले मन्त्र के पद सन्निहित रहने पर भी दूर की तरह ही हैं क्योंकि जिन मन्त्रघटक पदों का अर्थ ज्ञात नहीं है वे परस्पर कैसे एक दूसरे के उपकारक होंगे ? नहीं होते न होंगे । दूसरा पक्ष भी उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि अर्थ प्रतिपादन द्वारा यदि दूसरे पद का सन्निधान नियमन का कारण होगा तब तो उक्त अर्थों का ही अन्वय होता है यह बात आ गयी । अतः पद से ज्ञात होने वाले अर्थ आकांक्षा योग्यता सन्निधि के द्वारा ही आपस में सम्बद्ध होते हैं । जो जिसका आकांक्षी है, जिसके पास है जिससे सम्बद्ध होना चाहता है वही उससे सम्बद्ध होता है उससे भिन्न नहीं । इसीलिए "अङ्गुलि के अग्रभाग में हाथियों का झुण्ड है अर्थात् सैकड़ों हाथी हैं इस वाक्य में कोई आपसी सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि योग्यता नहीं है । अन्विताभिधानवादियों के मत में तो अन्वित पद का दूसरे से सम्पर्क होता है तो उनके मत में अन्वय प्राप्त होगा ही । लेकिन होता नहीं, अतः अभिहित पदार्थों का ही अन्वय मान्य है । इसीलिए न्यायमञ्जरीकार ने कहा है कि "पद अपने-अपने अर्थ को कहकर विरत हो जाते हैं और उसके बाद अवगतार्थक होकर ही वाक्यार्थबोध कराते हैं" ।

दूसरे आचार्यों का मत है कि—जैसे दीपक अन्यवस्तुनिरपेक्ष होकर स्वयं वस्तु प्रकाशक है वैसे शब्द प्रकृति प्रत्यय निरपेक्ष होकर अर्थज्ञापक नहीं होते । बोधापरपर्यायव्युत्पत्ति वृद्धों के व्यवहार से होती है । और वृद्ध व्यवहार वाक्य द्वारा ही होता है पद से नहीं क्योंकि केवल पद का प्रयोग नहीं होता । न्यायमञ्जरीकार ने लिखा है कि—अर्थ,प्रकरण लिङ्ग आदि द्वारा दूसरे पद के

प्रयुङ्क्ते च संसृष्टार्थविवक्षया। तथैव बुद्ध्यते श्रोता तथैव च तटस्थितः॥' (न्या० म०, पृ० ३६६)। सेयमेव वाक्यस्य वाक्यार्थे व्युत्पत्तिः। संहत्यार्थमभिदधति पदानि वाक्यम्। एकार्थपदसमूहो वा वाक्यमिति। एवं हि न संहत्यार्थमभिदध्युः पदानि, यद्येकस्यैव पदस्य व्यापारः, यथा बाह्यानि करणानि काष्ठादीनि पाके व्याप्रियन्ते, यथा शिविकाया उद्यन्तारः सर्वे शिविकामुद्यच्छन्ति यथा त्रयोऽपि ग्रावाण उखां बिभ्रति तथा सर्वाण्येव पदानि वाक्यार्थमवबोधयन्ति। तदिदमन्विताभिधानमन्यानन्वितनिष्कृष्टस्वार्थपर्यवसायित्वे हि सति न सर्वेषां वाक्यार्थव्यापारः स्यात्। नन्वेवमेकैकस्य कृत्स्नकारित्वे सत्येकस्मादेव कृत्स्नसिद्धौ पदान्तरोच्चारणं व्यर्थं स्यादिति तन्न, पदान्तरं विनैवैकस्मात् कृत्स्नकारित्वसम्पत्त्यभावात्। न च तर्ह्येकं कृत्स्नकारीति चेन्मैवम्, एकैकस्य फलपर्यन्तव्यापारपतितत्वात्। एकैकस्मिन् सति फलपर्यन्तो व्यापारो निर्वर्तते, एकैकेन विना न निर्वर्तत इत्येवमेकैकं कृत्स्नकारि भवति।

तत्राभिहितान्वयवादे वर्णानां पदार्थप्रतिपत्तौ चरितार्थत्वान्न वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वम्। पदार्थास्त्वपरिम्लानसामर्थ्या वाक्यार्थबुद्धिविधातारः। वर्णानामर्थापत्त्या कार्येषु शक्तयः कल्प्यन्ते। पदार्थबुद्धेरन्यथाऽनुपपन्नत्वाद् वर्णानां तत्प्रतिपादने शक्तिरवगम्यते। वाक्यार्थप्रतीतेरन्यथाऽनुपन्नत्वान्न तत्र तेषां शक्तिरभ्युपगन्तव्या। वर्णानां वाक्यार्थप्रतिपत्तिजनकत्वेऽयं विकल्पः स्फुरति किमेकमेव संस्कारमादधाना वर्णाः पदार्थं च वाक्यार्थं च बोधयन्ति भिन्नं वा? नाद्यः पक्षः, एकया संस्कृत्या कार्यद्वयानुपपत्तेः। नान्त्यः, पूर्वसंस्कारादन्यस्य संस्कारस्यानुपलम्भात्। वाक्यार्थप्रतीतेरन्यथापि सम्भवान्न नानासंस्कारकल्पनाबीजमुपलभ्यते। किञ्च, पदेषु पूर्ववर्णेषु नातिदूरमतिक्रान्तेषु बुद्ध्योपसंहर्तुं शक्येषु घटमानमन्त्यवर्णवेलायामनुसन्धानं संभवति, वाक्येषु तु पुनरतिचिरतर-

अर्थावबोधन में जो पद प्रयुक्त होते हैं वे वाक्य सदृशही होते हैं। वक्ता संबद्ध अर्थ की विवक्षा से वाक्य का प्रयोग करता है और श्रोता या तटस्थ वैसा ही अर्थ समझते हैं। (पृ० ३६६) यही वाक्य का वाक्यार्थबोध में नियामिका व्युत्पत्ति है। सम्मिलित होकर अर्थवाची पद ही वाक्य हैं। अथवा एकार्थकपद समूह ही वाक्य है। यदि एक पद का व्यापार ही माना जाता तो मिलकर अर्थावबोधक पद कैसे होते ? जैसे बाहरी साधन काष्ठ भोजन पकाने के काम आते हैं, जैसे पालकी उठाने वाले संयुक्त रूप से मिलकर पालकी उठाते ढोते हैं, जैसे तीन-चार पत्थर मिलकर बटलोई धारण करते हैं, वैसे ही सभी पद मिलकर अर्थज्ञान कराते हैं। तो यदि अन्विताभिधानवाद के आधार पर दूसरे पदों से अन्वय रहित शुद्धस्वार्थवाची होते तो सबको वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता। फिर आशङ्का करते हैं कि यदि प्रत्येक पद सम्पूर्ण कार्य को करने लगें तो एक से ही पूर्ण अर्थ उक्त हो जायगा दूसरे पदों का उच्चारण व्यर्थ हो जायगा, ऐसी बात ठीक नहीं है क्योंकि दूसरे पदों के बिना एक पद ही सम्पूर्ण अर्थ को कहे ऐसा व्यवहार नहीं है। एक पद सम्पूर्ण अर्थ का बोधक नहीं हो सकता। यदि एक पूरा कार्यकारी नहीं है तो फिर वह व्यर्थ है ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि जब तक कार्य का फल नहीं प्राप्त हो जाता तब तक एक-एक पद का महत्व है ही। प्रत्येक के रहने से ही फल पर्यन्त कार्य व्यापार निष्पन्न होता है, एक-एक करके यदि वे उपस्थित न रहें तो कार्य नहीं हो पाता अतः एक को कृत्स्नकार्यकारित्व मान्य ही है।

हां, अभिहितान्वयवाद में वर्णों को पदार्थ बोधन में चरितार्थता हो जाने के कारण वाक्यार्थज्ञान जनकता नहीं मानी जा सकती। पदार्थों की शक्ति कभी क्षीण या म्लान नहीं होती और वे ही वाक्यार्थज्ञानजनक हैं। अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा वर्णों की कार्यों में शक्ति कल्पित की गयी है। दूसरे किसी उपाय से पदार्थज्ञान उपपन्न नहीं होने से वर्णों का ही पदार्थावबोध में शक्ति ज्ञान होती है। वाक्यार्थज्ञान दूसरे किसी उपाय से युक्तिसंगत नहीं होता अतः वर्णों को छोड़कर वाक्यों में कोई शक्ति नहीं मानी जा सकती। वर्ण ही वाक्यार्थबोधजनक हैं ऐसा मानने पर एक विकल्प उठ खड़ा होता है कि क्या एक ही संस्कार रखकर वर्ण पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों का बोध कराते हैं या भिन्न-भिन्न संस्कार रखते हैं ? पहला पक्ष संगत नहीं, क्योंकि एक संस्कार से दो कार्य नहीं हो सकते। दूसरा भी उचित नहीं, पूर्व संस्कार के अतिरिक्त दूसरा प्राप्त नहीं है। वाक्यार्थज्ञान दूसरे उपायों से भी हो सकता है अतः अनेक संस्कार का कोई कारण नहीं। और भी पद या वर्ण जो बहुत पहले के कहे गये हों और बुद्धि द्वारा जिनका बोध शक्य हो उनका अन्तिमवर्णोच्चारण के समय होने वाला ऐक्य ज्ञानसंभव नहीं है, वाक्य जो बहुत पहले के उक्त या उच्चरित हैं उनका भी ऐक्यज्ञान अत्यन्त क्लिष्ट तथा

तिरोहिताक्षरपरम्परानुसन्धानमतिक्लिष्टमदृष्टपूर्वमिति दुर्घटमेव । व्यवहितपदोच्चारणे तु दृश्यते वाक्यार्थप्रतीतिर्यत्र पूर्ववर्णानुसन्धानगन्धोऽपि न भवति । तस्मान्न वर्णानां वाक्यबुद्धिहेतुत्वमिति ।

किञ्च, पदार्थं वाक्यार्थं च प्रतिपादयन्तो वर्णा युगपत्प्रतिपादयेयुः क्रमेण वा ? नाद्यः पक्षः, क्षोदक्षमः, सकृदुच्चरितानां वर्णानां युगपदुभयकारणत्वानुपपत्तेः, अशक्यत्वात् । नान्त्यः, विकल्पानुपपत्तेः । पूर्वं वाक्यार्थप्रतिपादनं पदार्थप्रतिपादनं वा ? नाद्यः, अनवगतपदार्थस्य वाक्यार्थप्रत्ययादर्शनात् । नान्त्यः, तथात्वे पदार्थप्रत्ययादेव वाक्यार्थबुद्धेः सिद्धत्वात् । पुनर्व्यापारान्तरे श्रमवैयर्थ्यात् । तस्माद् पदार्थप्रतिपादनपर्यवसितसामर्थ्यानि पदानि, पदार्थेभ्यस्तु वाक्यार्थप्रत्ययः । किञ्चान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव स्पष्टं पदार्थपूर्वको वाक्यार्थप्रत्ययो ज्ञायते । यो हि प्रमादाच्छ्रुतेष्वपि पदेषु पदार्थान्नागवच्छति स नावगच्छत्येव वाक्यार्थम् । यस्तु अश्रुतेष्वपि पदेषु प्रमाणान्तरतः पदार्थान् जानीयात् स वाक्यार्थमपि जानत्येव । यथोक्तम्—'पश्यतः श्वेतिमारूपं ह्रेषाशब्दं च श्रृण्वतः । खुरविक्षेपशब्दं च श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः ॥ (श्लो० वा० पृ० ६६७) । तदेषा वाक्यार्थबुद्धिः पदार्थप्रतीतिं न व्यभिचरति, व्यभिचरति तु पदप्रतीतिमिति न पदप्रतीतिकार्या वाक्यार्थबुद्धिः। यदुक्तम्–'प्रत्येक व्यभिचारात्समुदितानामसाधारण्यान्न पदार्थानां वाक्यार्थावगतिहेतुत्वम्' इति तदप्ययुक्तम्, प्रत्येकं गमकत्वाभावे समुदितानामसाधारण्येऽपि वाक्यार्थावगतिहेतुत्वे बाधाभावात् । न च पदार्थाः लिङ्गवत्सम्बन्धग्रहणमपेक्षमाणा अवबोधकाः, येनासाधारण्यान्नावकल्पेत, किन्त्वगृहीतसम्बन्धाप्याकाङ्क्षासन्निधियोग्यतापर्यालोचनया परस्परं संसृज्यन्ते । स एव वाक्यार्थः संसृष्टः पदार्थसमुदायः समुदायविशिष्टो वा संसर्गो वाक्यार्थः । न चैवं वाक्यार्थप्रतीतेरशाब्दत्वापत्तिरिति वाच्यम्, शब्दावगतिमूलत्वेन तस्याः शाब्दत्वानपायात् ।

अदृष्टपूर्व ही है अतः वह दुर्घट ही है । जहाँ पूर्व वर्ण की एकता का लेशमात्र भी भान नहीं ऐसे व्यवधान से कहे गये पदों के द्वारा भी वाक्यार्थज्ञान हो जाता है ऐसी बात पहले भी कही जा चुकी है । अतः प्रतिफलित है कि वर्णवाक्यार्थबोध के जनक नहीं हैं ।

और भी सुनिए, पदार्थ या वाक्यार्थ को कहने वाले वर्ण एक काल में कहते हैं या क्रम से ? पहला पक्ष विचारसंगत नहीं, क्योंकि एक बार उच्चरित वर्णों को एक ही समय में दोनों की कारणता नहीं हो सकती क्यों कि उनका सामर्थ्य नहीं है । दूसरा भी संगत नहीं, क्यों कि उनमें विकल्प की सभावना ही नहीं है । पहले वाक्यार्थ कहा जाता है या पदार्थ ? पहला कल्प संभव नहीं, जिस वाक्य के पदों का ही ज्ञान न हो उसका अर्थज्ञान देखा नहीं जाता । दूसरा कल्प भी मान्य नहीं, ऐसा मानने पर पदार्थज्ञान से ही वाक्यार्थज्ञान सिद्ध हो जायगा फिर अन्य व्यापार मानने में केवल व्यर्थश्रम ही हाथ लगेगा । अतः पदार्थ प्रतिपादन में समाप्त शक्तिवाले पद और पदों के अर्थ से वाक्यार्थज्ञान होता है । और अन्वय व्यतिरेक से यह बात साफ है कि पदार्थज्ञान पूर्वक वाक्यार्थज्ञान सम्पन्न होता है । जो व्यक्ति प्रमादवश सुने गये या जाने गये पदों के अर्थ नहीं समझता वह वाक्य का अर्थ भी नहीं जानता । जो न सुने गये पदों के भी दूसरे प्रमाणों से पदार्थ जान सकेगा वह वाक्यार्थ भो जानेगा ही । जैसा श्लोक वार्तिककार ने कहा है—सफेद रूप देखने से और हिनहिनाहट के शब्द सुनने से तथा खुरों के फेंकने के शब्द भी सुनने से सफेद घोड़ा दौड़ता है यह ज्ञान होता है । (पृ० ६६७) । तो इस प्रकार वाक्यार्थज्ञान पदार्थज्ञान को नहीं लांघ सकता । हाँ पदज्ञान को उपेक्षित करता है । अतः पदज्ञानजन्य वाक्यार्थज्ञान नहीं है । जो कोई कहते हैं कि—"प्रत्येक की उपेक्षा से उत्पन्न असाधारण पदार्थों से वाक्यार्थज्ञान नहा होता" यह कथन युक्तिसंगत नहीं है, प्रत्येक में प्रामाण्य न होने पर भी समुत्पन्न पदार्थ यद्यपि असाधारणता रखते हैं तो भी उनके वाक्यार्थज्ञानजनकता में कोई बाधा नहीं है । पदार्थ लिङ्गज्ञान की तरह सम्बन्धज्ञान की अपेक्षा रखते हुए बोधक होते हैं ऐसी बात नहीं, असाधारणता के कारण उनकी कल्पना न की जाय यह उचित नहीं है । अपितु सम्बन्धज्ञान न होने पर भी आकांक्षा सन्निधि योग्यता आदि के ज्ञान से सम्बद्ध पदार्थ समूह या समूहयुक्त सम्बन्ध वाक्यार्थ होता है । यदि कहें कि इस प्रकार वाक्यार्थज्ञान वाक्यार्थज्ञान ही नहीं कहलायेगा, उत्तर है कि चूंकि वह शब्द ज्ञानमूलक है अतः उसे पृथक् मानना संभव नहीं है ।

अथाभिहितान्वयवादप्रकारः–पदानि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तिव्यापाराणि अथेदानीमवगताः पदार्था एव वाक्यार्थमवगमयन्ति । अन्ये तु वाक्यादेव पदार्थावगतिर्न पदार्थेभ्यः । अत एव वाक्यार्थप्रसिद्धिर्न पदार्थार्थम् । यथा काल्पनिकं वर्णसमूहात्मकं पदं पदार्थप्रतिपत्तिं जनयति, तथैव काल्पनिकपदसमूहात्मकं वाक्यं वाक्यार्थप्रतिपत्तिमादधात्येत्र । ननु पदसमूहात्मकं वाक्यं नास्त्येव, पदान्येव तु वाक्यम्, पदानां च स्वार्थे चरितार्थत्वान्न वाक्यार्थे सामर्थ्यमिति चेन्न, पदार्थानामपि स्वप्रतिपत्तौ चरितार्थत्वाविशेषात् । ननु पदानि स्वप्रतिपत्तौ चरितार्थान्यपि पदार्थप्रतिपत्तिमादधति, तान्येव कथं वाक्यार्थमाधास्यन्ति ? पदार्थास्तु स्वावगतेरूर्ध्वं न क्वचित्परत्र चरितार्था इति वाक्यार्थबुद्धिमाधास्यन्तीति चेदत्रोच्यते, अन्त्यपदस्यान्यत्र चरितार्थत्वाभावात् । अन्त्यपदमेव पूर्वपदार्थस्मरणोपकृतं वाक्यमुच्यते । तदर्थश्च पूर्वपदार्थविशिष्टो वाक्यार्थः । तस्माद् वाक्यादेव वाक्यार्थप्रत्ययः । कार्यभेदात्कारणभेदानुमानेन एकोऽप्यतीन्द्रियः संस्कारः कार्यात् कल्प्यते, यथा तथैव कार्यानैक्यादनेके संस्काराः कल्पयितुं शक्यन्त एव । यदुक्तम्—'चिरतिरोहितवर्णप्रबन्धानुसन्धानं दुर्घटम्' इति, तदपि न किञ्चित्, कयाचित्कल्पनया पदबुद्धौ वर्णानामिव वाक्यबुद्धौ पदानामप्युपारोहसम्भवात् ।

अन्विताभिधानवादिमते––व्यवहितनिरवयवौ वाक्यवाक्यार्थौ इति, तदपि न, संघातकार्यवत् स्वकार्यस्यपि दर्शनात् । अथ किं संघातकार्यं किञ्च स्वकार्यमिति चेच्छृणु, वाक्यार्थप्रतिपत्तिः सङ्घातकार्यं स्वं कार्यं तु पदार्थप्रतिपत्तिः । यथा पाकः सङ्घातकार्यम्, स्वकार्यं च ज्वलनभरणादि काष्ठस्थाल्यादीनाम् । ननु यदि पदानां पदार्थप्रतिपादनं स्वकार्यं शुद्धस्तर्हि पदस्यार्थः । न शुद्धः पदार्थः संघातकार्य एव प्रयोगात् । तत्र प्रयुक्तानामप्येषां स्वकार्यं न नावगम्यते । अत एव न निरवयवं

अब अभिहितान्वयवाद का विचार प्रारम्भ है—पद अपना अपना अर्थ कहकर विरत हो जाते हैं और तदनन्तर ज्ञात पदार्थ ही वाक्यार्थ का ज्ञान कराते हैं । दूसरे विचारक वाक्यज्ञान से पदार्थज्ञान मानते हैं, अत एव वाक्यार्थज्ञान पदार्थ ज्ञान के लिए नहीं मानते । जैसे काल्पनिक वर्णसमूहात्मक पद पदार्थ ज्ञान करा देता है, वैसे ही काल्पनिक पदसमूहात्मकवाक्य वाक्यार्थज्ञान करा देगा ही । यदि कहें कि पदसमूहात्मक वाक्य नहीं होता, पद ही वाक्य हैं, पद अपने अर्थ में सफल हैं अतः वाक्य के अर्थजनन में समर्थ नहीं रहे; यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि पद भी अपने अर्थज्ञान कराने में सफल नहीं हैं । अतः जिसका अर्थ स्वयं अस्पष्ट है वह दूसरे का सहायक कैसे बन सकता है । यदि कहें कि पद स्वज्ञान के लिये चरितार्थ (सफल) होते हुए भी पदार्थज्ञान कराते है फिर वे ही कैसे वाक्यार्थज्ञान करा सकेंगे ? उत्तर—पदार्थ स्वीयबोध करा देने के पश्चात् फिर अन्यत्र कहीं चरितार्थ नहीं हैं तो वे वाक्यार्थज्ञान करायेंगे ही इसपर विचार करना है—अन्त्य (अन्तिम) पद तो अन्यत्र कहीं चरितार्थ नहीं है । अन्त्य पद ही पूर्व पदार्थ का स्मरण कराता हुआ वाक्य कहा जाता है । अतः इसका अर्थ करना होना या जानना ही पूर्व पदार्थ के साथ वाक्यार्थ कहा जायेगा । इस तरह वाक्य से ही वाक्यार्थज्ञान होता है यह अभ्युपगम स्थिर है । कार्य के भेद से कारण का भेद होता है इस अनुमान द्वारा एक भी अतीन्द्रिय संस्कार कार्य को देखकर जैसे कल्पित कर लिया जाता है वैसे ही कार्य की अनेकता से संस्कारों की अनेकता कल्पित की जा सकती है । 'जो लोग यह कहते थे कि देर के कहे गये वर्णसमूहों का स्मरण या अनुसन्धान दुर्घट है' यह कथन अनर्थक है क्योंकि जैसे पदज्ञान करने हेतु वर्णों की कल्पना की जाती है वैसे वाक्यबोध के लिये पदों की कल्पना कोई दुरारूढ नहीं है ।

अन्विताभिधानवादी के मत का निरूपण—कुछ वादी आचार्यों का मत था कि 'वाक्य और वाक्यार्थ व्यवहित और निरवयव होते हैं इनमें दोनों दोनों गुणधर्म से युक्त हैं या क्रम से उभय गुण रहते हैं । इनकी पृथक् मीमांसा नहीं मिलती, यह मत भी ठीक नहीं । सामूहिक कार्य की तरह वैयक्तिक कार्य भी देखा जाता है । इनमें सामूहिक कार्य वाक्यार्थ ज्ञान है और पदार्थ ज्ञान व्यक्तिगत कार्य है । जैसे भोजन बनाना संघात कार्य है और लकड़ी जला देना बटलोई चूल्हे पर चढ़ा देना वैयक्तिक कार्य है । अब आशंका करते हैं कि यदि पदों का पदार्थकथन वैयक्तिक कार्य है तो पद का अर्थ शुद्ध अर्थात् अकेला है । उत्तर दिया कि नहीं, संघात कार्य में प्रयोग देखने से पद का अर्थ केवल नहीं होता । संघात कार्य में प्रयोग के कारण पदों का वैयक्तिक कार्य नहीं जान पड़ता । अतः वाक्य पदोंका समूह ज्ञात होता है निरवयव नहीं है । व्यक्तिगत कार्य की प्रतिज्ञा रहने पर भी पद मिलकर सामूहिक काम करते दिखाई पड़ते हैं संघबद्ध होकर भी वे पृथक् कोई कार्य करते हैं ऐसी प्रतीति नहीं है ।

वाक्यमिष्यते। स्वकार्यप्रतिज्ञानात् संहतास्ते सङ्घातकार्यं कुर्वन्तो दृश्यन्ते न सङ्घात एव। संहतेष्वपि कुर्वत्सु स्वकार्यं पृथगुपलभ्यते। यथा शकटाङ्गानामयमंशोऽनेन कृतोऽयमनेनेति न पृथक् प्रयुज्यमानानि शकटाङ्गानि मनागपि शकटकार्यं कुर्वन्तीत्येवं न केवलं पदं प्रयुज्यते प्रयुक्तमपि वा न तत्कार्याङ्गं पदान्तरेण तु सहव्यापारात्तदन्वितार्थकार्येव 'पदमिति युक्तम्। संहत्यार्थमभिदधति पदानि वाक्यम्। एकार्थः पदसमूहो वाक्यम्। तदिदमवयवकार्योपलम्भान्न वैयाकरणवन्निमित्तान्यपि निह्नुमहे। कृत्स्नफलसिद्धयवधि व्यापारनिश्चयाच्च नान्यमीमांसकवच्छुद्धपदार्थाभिधामुपगच्छामह इति।

अथरन्विताभिधानपक्षे दूषणनिरासः—यदुक्तम्—'प्रतिवाक्यं व्युत्पत्तिरपेक्षणीया, अन्यथा नवकविश्लोकादर्थो न प्रतीयेत' इति तदकिञ्चित्करम्। नहीयं व्युत्पत्तिः गोशब्दस्य शुक्लान्वितोऽर्थः सहि व्यभिचरति कृष्णान्वितस्यपि तदर्थस्य दर्शनात्। नापि सर्वान्वितस्तदर्थ आनन्त्येन दुरवगमत्वात्। किन्त्वाकाङ्क्षितयोग्यसन्निहितार्थानुरक्तोऽस्यार्थः। एतां च व्युत्पत्तिं वाक्यान्येवावापोद्वापरचनावैचित्र्यभाञ्जि सञ्जनयन्ति। पदार्थपर्यन्तापि भवन्ती व्युत्पत्तिरीदृशी दृश्यते न शुद्धपदार्थविषया, पदेन व्यवहाराभावात्। तथापि न ज्ञायते पदस्य कियानर्थ इति शकटाङ्गवदावापोद्वापाभ्यां तत्कार्यभेदस्य दर्शितत्वात्। तस्मान्न प्रतिवाक्यं व्युत्पत्तिरपेक्षिता। सन्निहितयोग्याकाङ्क्षितार्थोपरक्तस्वार्थाभिधेयत्वे नहि क्वचिद् गृहीतः सम्बन्धः सर्वत्र गृहीतो भवति। ततश्च नवकविश्लोकादप्यर्थप्रतिरत्तिरुपपत्स्यते। पदपदार्थयोस्तु न व्युत्पत्तिरूपायाभावात्।

पदान्तरसन्निधाने हि सर्वाणि पदानि कृत्स्नकारीणि भवन्तीति न पदान्तरोच्चारणमप्यफलम्। किं पदान्तरोच्चारणेन क्रियत इति चेत् सर्वकारकेष्वप्यस्यानुयोगस्य तुल्यत्वात्। संहृत्य तु सर्वाणि कुर्वन्ति कारकाणीत्युच्यन्ते तथा

जैसे बैलगाड़ी के भिन्न भिन्न उपकरण इसने यह कार्य किया, इसने यह कार्य किया, ऐसा प्रयोग (लोकव्यवहार) होने पर भी जरा सी देर के लिये भी वे पृथक् नहीं होकर ही गाड़ी का काम कर पाते हैं ऐसे ही पद भी केवल न प्रयुक्त होते हैं यदि प्रयुक्त हों तो भी वे कुछ कर नहीं पाते इसलिए अन्वित होकर ही पद भी कहलाते हैं और मिलकर ही अपने अर्थों को कहते हैं वे ही वाक्य हैं। एकार्थक अर्थात् सामूहिक कार्य परक पद समूह ही वाक्य हैं। अतः अवयव कार्य के रहने के कारण वैयाकरणों की तरह हम निमित्त कारण को असत्य नहीं कहते हैं। पूराफल सिद्ध हो जाने के समय तक क्रिया का ज्ञान आवश्यक होने के कारण अन्य मीमांसकों की तरह शुद्ध पदार्थ कथन ही एकमात्र उचित है यह मत ही स्वीकार कर रहे हैं।

अब अन्विताभिधानवाद के पक्ष में आने वाले दोषों का निराकरण करते हैं—जो लोग यह कहते थे कि 'प्रति वाक्य में व्युत्पत्ति आवश्यक है नहीं तो नये कवि के प्रणीतश्लोक का अर्थ नहीं ज्ञात हो सकेगा' यह कथन निरर्थक है। क्योंकि गो शब्द का शुक्ल रंग से युक्त होना यह व्युत्पत्ति नहीं है। वह तो काली रंग की गाय के होने के कारण गो शब्द के अर्थ देखने के कारण दोषयुक्त हो जाता है। सफेद काला लाल चित्र आदि सब रंगों के साथ युक्त होना गो शब्द का अर्थ भी नहीं माना जा सकता क्योंकि अनन्त अर्थ हो जाने के कारण ज्ञात होना दुष्कर है, हां, आकांक्षा योग्यता सन्निधान के अर्थ से उपरक्त गो शब्द का अर्थ हो सकता है, और इस व्युत्पत्ति को वाक्य ही जो आवाप उद्वाप (आनयन + नयन) की विचित्र रचना से संयुक्त हैं पैदा करते हैं। पदों के अर्थ करने समझने के उपयुक्त ऐसी व्युत्पत्ति पदार्थ में भी माननी ही है; केवल पदार्थवादी के मत में यह सब कल्पना अपेक्षित नहीं क्योंकि केवल पद से व्यवहार नहीं होता न चलता है। ता भी यह नहीं ज्ञात होता है कि पद का अर्थ कितना है क्योंकि गाड़ी के साधनों के दृष्टान्त से तथा लोकव्यवहार में आवाप उद्वाप आदि के द्वारा उसके कार्य का भेद दिखाया जा चुका है। अतः प्रति वाक्य व्युत्पत्ति आवश्यक नहीं है। आकांक्षादि वाक्यार्थज्ञान के कारण पदार्थ का जो अभिव्ञ्जन होता या उसका सम्बन्ध जो सर्वत्र ज्ञात होता है उसमें भी प्रतिवाक्य पदपदार्थ में प्रकृति प्रत्यय का अन्वेषण नहीं किया जाता। जब ऐसी बात मान्य कर ली जाय तो नये कवि की रचना का अर्थज्ञान भी माना ही जायेगा। दूसरी कल्पना का कोई अवकाश न होने के कारण पद पदार्थ में व्युत्पत्ति मानना अपेक्षित नहीं रहा।

दूसरे पद के सान्निध्य में ही सभी पद सब कार्य करते हैं अतः दूसरे पद को आवश्यकता नहीं यह मत भी व्यर्थ है, एक पद से ही जब सब कार्य हो जाते हैं तो पदान्तर का उच्चारण ही क्यों? उत्तर—इस तरह तो सभी कारक के विषय में भी प्रश्न

पदान्यपि। अर्थाभिधानेनापि चोपकुर्वत्सु पदेषु नाभिहितान्वयः, अनन्वितार्थे व्युत्पत्यभावात्। अनुपगमे वा दुरुपपादः पदार्थानामन्वयः, उपायाभावात्। नन्वाकाङ्क्षासन्निधियोग्यत्वान्यभ्युपाय इत्युक्तमिति चेन्न, कस्येयमाकाङ्क्षा ? शब्दस्यार्थस्य प्रमातुर्वेति विकल्पानुपपत्तेः। न तावच्छब्दार्थयोः, तयोरचेतनत्वेनाकाङ्क्षासम्भवात्। प्रमातुः स्वतन्त्रस्याकाङ्क्षा न प्रमाणम्, पुरुषेच्छया वस्तुस्थितेरघटमानत्वात्। शब्दः शब्दान्तरमाकाङ्क्षते, अर्थोऽर्थान्तरमिति तत्र तत्र वाचोयुक्तिस्तु फलत एव न वस्तुतः। शब्दाख्यं प्रमाणं पृष्ठभावेन तु पुरुषस्य आकाङ्क्षा भवन्ती भवत्यर्थानां संसर्गहेतुरित्येवं शब्दस्यायमियानिषोरिव दीर्घो दीर्घो व्यापारः। उपरतव्यापारे तु शब्दे पुरुषाकाङ्क्षामात्रं न कारणम्। पदानां यौगपद्येन पदार्थवाक्यार्थप्रत्यायकत्वाभावेऽपि क्रमेण तत्सम्भवत्येव। क्रमेऽपि प्रथमं पदार्थमवगमयन्ति पश्चाद् वाक्यार्थम्। यद्यप्येवं वाक्यार्थस्य पदार्थपूर्वकत्वमुपपद्यते। पदार्थानां प्रमेयत्वेन तथापि प्रमापकत्वासम्भवात्। नच पदार्थवाक्यार्थयोरत्यन्तं भेदो येन तयोर्धूमाग्न्योरिव सम्बन्धग्रहणसापेक्षयोस्तदनपेक्षयोर्वा रूपदीपयोरिव प्रत्याय्यप्रत्यायकभावः स्यात्। न स्वशरीर एव गम्यगमकभावः संभवति, स्वभावात् स्वभाववादिनो बौद्धस्य शिष्यत्वापत्तेः। ननु सामान्ये पदं वर्तते विशेषे वाक्यम्। सामान्यविशेषभेदस्तु प्रसिद्ध एव। 'सामान्यान्यथासिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि' (श्लो० वा० पृ० ३३२) इति प्रत्याय्यप्रत्यायकयोर्व्यतिरेकस्यैवोक्तत्वात्। तथा च स्यादेव पदार्थवाक्यार्थयोर्गम्यगम्यकभाव इति चेन्न, विरतव्यापारे चक्षुषीव शब्दे धूमादिवत् प्रमेयात्पदार्थादग्नेरिव वाक्यार्थस्यावगमाभावात्।

नहि पदार्थाः प्रमेयीभूतधूमवत् पुनः प्रमाणीभवितुमर्हंति, किन्तु पदान्येव पदार्थप्रतिपादनद्वारा वाक्यार्थप्रतिपत्तौ पर्यवस्यन्तीति वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम् 'पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्' (श्लो० वा०

सम्भव है लेकिन केवल एक कारक से व्यवहार नहीं चल सकता। यदि सभी कारक मिलकर कार्य करते हैं ऐसा माने तो पद के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। अर्थाभिव्यक्ति द्वारा उपकार करने वाले पदों में भी अभिहितान्वय नहीं होता, अनन्वित अर्थ में व्युत्पत्ति नहीं होती। मानने पर भी पदार्थ का परस्पर अन्वय कहना दुष्कर है क्योंकि कोई गमक या उपाय नहीं। यदि कहें कि आकांक्षा योग्यता सन्निधान ही अभ्युपाय हैं यह कहा जा चुका है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि तब जिज्ञासा होगी कि यह किसकी आकांक्षा है ? शब्द की या अर्थ की या प्रमाता की इन विकल्पों की उपपत्ति नहीं हो पाती। यदि शब्द या अर्थ की कहें तो इनके अचेतन होने के कारण इनकी आकांक्षा सम्भव नहीं। स्वतन्त्र प्रमाता की आकांक्षा हो भी तो प्रमाण नहीं है, क्योंकि पुरुष की इच्छा से वस्तु की स्थिति क्यों तदनुकूल हो जायेगी ? एक शब्द दूसरे शब्द को चाहता है, वैसे ही एक अर्थ अर्थान्तर को चाहता है यह जो भिन्न भिन्न स्थलों पर कहा जाता है वह फल या परिणाम देखकर कहा जाता है वस्तु को देखकर नहीं। शब्दप्रमाण के आधार पर पुरुष की आकांक्षा अर्थसम्बन्ध का कारण हो सकती है इस तरह शब्द की ही यह क्रिया वाण की तरह अधिक गहरी अर्थात् तीखी क्रिया है। शब्द की इस क्रिया के पश्चात् पुरुष की आकांक्षा दुर्बल हो जाती है वह कारण नहीं बन सकती। एककाल में पद पदार्थ वाक्यार्थ के बोधक भले न हों क्रम से तो हा ही सकते हैं। क्रम में भी पहले पद पदार्थ के बोधक होते हैं बाद में वाक्यार्थ का। यद्यपि प्रमेय होने के नाते पदार्थ वाक्यार्थ के सहायक हैं किन्तु पदार्थ प्रमापक नहों हैं। सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों स्थितियों में पदार्थ वाक्यार्थ में कोई बड़ा भेद नहीं है जैसे दीप रूप का प्रकाशक है और रूप प्रकाश्य होता है किन्तु रूप और दीप दोनों दो पदार्थ हैं शब्द और अर्थ दोनों एक हैं कहने में भिन्न हैं वस्तुतः एक हैं, ऐसी स्थिति में गम्यगमक भाव नहीं होता। यदि कहें कि पद सामान्य और वाक्य विशेष्य है सामान्य ही अगत्या विशेष को बताता है अतः पदार्थ वाक्यार्थ में गम्यगमकभाव हो सकता है, उत्तर है कि यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि जैसे आँख मूंद लेने पर रूप नहीं दीखता जैसे धूम दर्शन के बिना अग्नि का पता नहीं लगता वैसे पदार्थ ज्ञान के बिना वाक्यार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

जैसे धूम प्रमेय है वैसे ही पदार्थ प्रमेय है वह प्रमाण नहीं हो सकता। हाँ, पद ही पदार्थज्ञान कराता हुआ वाक्यार्थज्ञान में लीन होता है अतः पद वाक्यार्थज्ञान में अनिवार्य साधन है जैसे भोजन पकाने में लकड़ी की आंच (ज्वाला) अनिवार्य साधन है। कारक की भीतरी गतिविधि उसके प्रधान कार्य को नहीं रोक सकती। पद की दो शक्तियां हैं (१) अभिधात्री (२) तात्पर्यशक्ति।

पृ० ६६४) इति। नह्यवान्तरव्यापारः कारकस्य प्रधानव्यापारे कारकतां व्याहन्ति। पंदानां द्वयीशक्तिः (१) अभिधात्री शक्तिः (२) तात्पर्यशक्तिश्च। तत्राभिधात्री शक्तिः पदानां पदार्थेषूयुज्यते, तात्पर्यशक्तिश्च वाक्यार्थे पर्यवस्यति। यद्यपि पदानि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि, तथापि यदर्थपराणि तत्रानिवृत्तव्यापाराण्येव। एवं शाब्दता वाक्यार्थप्रत्ययस्य न हास्यते। सर्वात्मना तु विरतव्यापारे शब्दे साऽवश्यं हीयते। शब्दावगतिमूलत्वेन शाब्दत्वे तु श्रौत्रत्वमपि स्यात्, श्रोत्रस्यापि पारम्पर्येण मूलत्वानपायात्। शब्दे विरतव्यापारे कतमत्तत्प्रमाणं यस्य वाक्यार्थप्रतीतिः फलमित्यनिर्णयात्। पदार्थसंसर्गस्वभावत्वाद्वाक्यार्थस्य पदार्थपूर्वकत्वेऽपि वाक्यार्थप्रतिपत्तेस्तु न तज्जन्यत्वं शब्दव्यापारानुपरमात्। मानसे चापचारे वाक्यस्येव पदानामपि ग्रहणाभावात्। यत्तु–'पश्यतः श्वेतिमारूपम्' इति, तदापि न किञ्चित्, प्रत्यक्षेण शुक्लो गौरपि गच्छन् दृश्यत एव। न च स 'शुक्लो गौर्गच्छति, इति वाक्यस्यार्थः प्रत्यक्षभासात्तु प्रत्यक्षार्थः एव स मन्तव्यः। तथैव श्वेतोऽश्वो धावतीत्यानुमानिकोऽयं प्रत्ययः।

अभिहितान्वयवादे पदार्थप्रतिपत्तिपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थप्रतिपत्तेरभिहितानां पदार्थानामेवान्वयः। अनवगतपदार्थस्य वाक्यार्थप्रत्ययादर्शनात् पदार्थप्रविभागाच्चाभिहितान्वयवाद एव सिद्ध्यति। अस्य पदस्य जातिरर्थोऽस्य द्रव्यमस्य गुणोऽस्य क्रियेति पदार्थप्रविभागः। स च तदैवावकल्पते यदि सोऽर्थः पदैरभिधीयेत। पदान्तरार्थोपरक्ते तु तस्मिन्नभिधीयमाने तदर्थे यत्तैव नावधार्यते, कदम्बाकारार्थप्रतीतेः। आवापोद्वापाभ्यां तु तदवधारणमिति चेन्न, आवापोद्वापपरीक्षावसरे कदम्बप्रतीत्यनपायात्। नह्येकमेव किच्चिद्वाक्यमन्विताभिधायिपदग्रथितमिति। अन्यत्र तु शुद्ध एव पदानामर्थः। पर्युदासादिस्तु भाव्य एव। 'अर्थनित्यः परीक्षेत' (नि० २।१) इत्यस्यापि नायमर्थो यद्य एवार्थोऽभिमतो भवेत् तत्परत्वेन व्युत्पत्तिः कार्या, किन्तु प्रमाणप्रतिपन्नार्थनित्यः परीक्षेतेत्येवार्थः। 'अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते शब्दव्युत्पत्तिकर्मसु। बहूनां सम्भवेऽर्थानां निमित्तं किञ्चिदिष्यते ॥' (वाक्यप 2-)

पहली पदपदार्थविषयिणी है और दूसरी वाक्यवाक्यार्थ में उपयुक्त होती है। पद अपने -अपने अर्थ को कहकर विरत हो जाते हैं तौ भी जिस अर्थ के लिये प्रयुक्त होते हैं उससे निवृत्त नहीं होते। इस तरह वाक्यार्थज्ञान की बोधकता अक्षुण्ण है। यदि शब्द का व्यापार विरत हो जाय तो पूर्वोक्त बोधकता अवश्य ही विघ्नित होती। शब्दज्ञानमूलक बोधकता होती तो श्रोत्रता भी होती क्योंकि श्रोत्र का भी परम्परया शाब्दत्व है। शब्द विरतव्यापार हो गया तो किस प्रमाण के द्वारा वाक्यार्थज्ञानरूप फल प्राप्त हुआ इसका निर्णय नहीं है। वाक्य का अर्थ पदार्थ पूर्वक होने पर भी उसमें पदार्थों का सम्बन्ध स्वाभाविक होने के कारण वाक्यार्थज्ञान पदार्थजन्य नहीं है क्योंकि शब्द का व्यापार विरत नहीं हुआ है। मानसबोध में तो वाक्य की तरह पद का भी ज्ञान नहीं है। "पश्यतः श्वेतिमारूपम्" इस वाक्य के आधार पर कुछ लोग विप्रतिपत्ति खड़ी करते थे वह कोई दोष नहीं, क्योंकि सफेद गाय या बैल जाते हुए देखा जाता ही है। "शुक्लो गौर्गच्छति" इस वाक्य का अर्थ वह नहीं है क्योंकि जो प्रत्यक्ष दाखता है वह प्रत्यक्षार्थ है वाक्यार्थ नहीं। वैसे ही सफेद घोड़ा दौड़ा जा रहा है यह आनुमानिक बोध है।

अभिहितान्वयवाद के अनुसार पदार्थज्ञानपूर्वक ही वाक्यार्थज्ञान होता है अतः उक्त पदार्थों का ही आपस में अन्वय होता है। जिस पदार्थ का ज्ञान नहीं होता उसका वाक्यार्थज्ञान भी नहीं देखा जाता। पदार्थों के प्रविभाग के कारण अभिहितान्वय ही सिद्ध होता है। इस पद का जाति अर्थ है अमुक का द्रव्य और अमुक का गुण यही पदार्थ का प्रविभाग है। वह तभी माना जाता है जब वह अर्थ दूसरों से कहा जाता है। दूसरे पद के अर्थ को छाया से उसके कहे जाने पर उस अर्थ को सीमा नहीं निश्चित की जा सकती क्योंकि वहाँ सामूहिक अर्थबोध मानना पड़ता है। आवाप-उद्वाप से उसका निश्चय होता है यह बात नहीं हैं क्योंकि ले जाने ले आने की परीक्षा के समय सामूहिक प्रतीति है ही। कोई एक वाक्य हो अन्वितवाचक पद से युक्त है ऐसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि अन्यत्र तो पदों का ही अर्थ होता है। पर्युदास आदि तो भावी अर्थ है पदार्थ नहीं। "अर्थ नित्यः परीक्षेत" इस वचन का यह अर्थ नहीं है कि जो जो अर्थ अभिमत हो उसके अनुरूप व्युत्पत्ति की जाय अपितु प्रमाण के बल पर होनेवाला अर्थ ही स्वाभाविक अर्थ हो सकता है। कहा भो है कि "शब्द को व्युत्पति करने में व्याख्यान भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। जहाँ अनेक अर्थों की सम्भावना हो वहाँ कोई भेदक निमित्त मान लिया जाता है।"

सर्वे शब्दा यौगिका इति नैरुक्तानां केषाञ्चिद्वैयाकरणानामुक्तसु शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थताप्रदर्शनमात्रपरम् । अत एव औणादिकाः प्रायेण यौगिका एव मुख्योऽर्थस्तदुपयोगी च विशेषार्थं इति सिद्धमित्यप्यपास्तम्, महाभाष्यविरोधादेव । 'यत्र संज्ञाग्रहणमुपाधिग्रहणं वा क्रियते, तत्रापि बहुलग्रहणात् यौगिकार्थमाश्रित्य यथासम्भवमन्यत्रापि वृत्तिर्द्रष्टव्या । अत एव पक्षिण्यन्वाख्यातः पतङ्गशब्दोऽश्वे सूर्ये च दृश्यते । अन्नोदकयोर्व्युत्पादितः पाथः शब्दोऽन्तरिक्षेऽपि प्रयुज्यते । कर्माख्यायां निरुक्तोऽग्निशब्दो निघण्टावपत्यनामसु पठ्यते' इति, तदपि कुशकाशावलम्बनम्, बहुलसंज्ञावाचकत्वस्यापि बाहुल्यादेव सिद्धेः । निघण्ट्वादिप्रमाणेन यत्रैकशब्दस्यानेकत्रवृत्तिरिष्यते, तत्र तु तत्प्रमाणबलादेव । न च तावता त्वयाप्यश्वशब्दस्य गवादौ गोशब्दस्य वाऽश्वादौ वृत्तिर्बोधयितुमिष्टा । तत्रापि गौरवादेकत्रैव मुख्या वृत्तिरन्यत्र तु लक्षणैव । यथा प्रतिषेधो नञः स्वाभाविकोऽर्थः । 'स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा । वाच्यादयस्तदर्थाः स्युस्तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ।" इत्युक्तेः । (काव्यप्रकाशे) ।

आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिवशात् पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुः । वाच्याद्यर्थविलक्षणं संसर्गतारूपं वपुः शरीरं यस्य सः । यद्वा विशिष्य पूर्वाननुभूतं वपुः स्वरूपं यस्य स इत्यपदार्थोऽपि वाक्यार्थः । न च तात्पर्यरूपा वृत्तिः पदानामिव स्मारिका, किन्तु अनुभाविकैव । न च समुल्लसत्यभिहितान्वयवादिनां भट्टमीमांसकानां लाघवात् पदानां पदार्थमात्रे शक्तिर्न त्वन्वयांशेऽपि, गौरवादन्यलभ्यत्वाच्च । तदंशो हि तात्पर्यार्थो वाच्याद्यर्थविलक्षणशरीर आकाङ्क्षादिवशादपदार्थोऽपि प्रतीयते । एतेषां रीत्या घटं करोतीत्यत्र घटवृत्तिकर्मत्वानुकूला कृतिरित्यर्थो बोध्यते । तत्र घटशब्दस्य घटोऽर्थः, अम्प्रत्ययस्य कर्मतार्थः, वृत्तिता तु न कस्याप्यर्थः, किन्तु सा तात्पर्यवशादनयोः संसर्गविधया भासते ।

वाच्य एव वाक्यार्थं इत्यन्विताभिधानवादिनां मतम् । तद्रीत्या पदान्यन्वितानि भूत्वा पश्चाद्विशिष्टमर्थं

"सभी शब्द यौगिक हैं यह निरुक्त तथा व्याकरणशास्त्र वेत्ताओं का कथन शिष्यों की बुद्धि विस्तृत करने के तात्पर्य से माना जाता है । इसीलिये औणादिक शब्द प्रायः यौगिक हैं अर्थ ही मुख्य है । विशेष अर्थ मुख्य अर्थ का उपयोगी या सहायक है यह मत निरस्त हो गया । क्योंकि ऐसा मानने में महाभाष्य का विरोध है । जहाँ संज्ञा या उपाधि ज्ञान किया जाता है वहाँ पर भी बहुलग्रहण के बल से यौगिक अर्थ लेकर यथा स्थिति शक्तिज्ञान जानना चाहिए । इसीलिए पक्षी के लिये व्याख्यात पतङ्ग शब्द घोड़े और सूर्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । अन्न जल में रूढ पाथ शब्द अन्तरिक्ष अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। कर्म (क्रिया) अर्थ में वेद में प्रयुक्त अग्निशब्द निघण्टु में अपत्य अर्थ में पढ़ा गया है''' यह सब कथन भी दुर्बल ही प्रतीत होता है, क्योंकि कई संज्ञाओं के वाचक शब्दों को बहुल ग्रहण के बल से ही मान लिया जाता है । निघण्टु आदि के प्रमाण द्वारा जहाँ एक शब्द का अनेक अर्थ माना जाता है वहाँ प्रमाणों के बल से ही ऐसा होता है । इस दृष्टान्त से अश्व का अर्थ गौ और जो शब्द का अर्थ अश्व नहीं किया जा सकता । वहाँ भी एक अर्थ में मुख्य शक्ति और अन्य अर्थों में लक्षणा आदि मनना उचित है । जैसे निषेध नञ् का स्वाभाविक अर्थ अन्यार्थ लाक्षणिक हैं । क्योंकि शब्द की तीन शक्तियाँ अभिधा लक्षणा व्यञ्जना जैसे मान्य हैं वैसे हो वाच्य लक्ष्य व्यङ्ग्य ये तीन अर्थ भी, कहीं किन्हीं शब्दों में तात्पर्यार्थ भी माना जाता है ।

आकांक्षा योग्यता सन्निधि के आधार पर पदार्थों की व्यवस्था हो जाने पर कहीं-कहीं तात्पर्यार्थ यह विशेष अर्थ मान लिया गया है । वह प्रसिद्ध तीन अर्थों से भिन्न है । वह संसर्गतारूप शब्द शक्ति के आधार पर कल्पित है इस तरह वाक्यार्थ कहीं-कहीं पदार्थगम्य ही नहीं तद्भिन्न भी माना गया है । तात्पर्याख्या शक्ति पदों की तरह अर्थ स्मरणमात्र ही नहीं कराती है अपितु वह अनुभव करा देती है । भाट्टमीमांसक पदों में पदार्थवाचकताशक्ति मानते हैं अन्वय या सम्बन्ध नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर गौरव होना सम्बन्ध अन्यलभ्य हो जाता है उसे अर्थ मानना ठीक नहीं । तात्पर्य के बल से अपदार्थ भी भासित हो जाता है । उनके अनुसार घटं करोति का घटनिष्ठकर्मत्वजनिक क्रिया अर्थ है । घट शब्द का अर्थ घट व्यक्ति और अम् का कर्मत्व अर्थ है किन्तु घटवृत्तिकर्मत्व यह तात्पर्य के बल पर संसर्गमर्यादा से भासित हो जाता है ।

अन्विताभिधानवादी के अनुसार वाच्य अर्थ ही वाक्य का अर्थ है । उनके मत में पद पहले अर्थ से अन्वित होकर बाद में

कथयन्तीति। देवदत्त गामानयेत्युत्तमवृद्धप्रयोगात् सास्नादिमतीं व्यक्तिं मध्यमवृद्धे सञ्चारयति तच्चेष्टया तस्य वाक्यस्य तदर्थबोधकतामनुमायानन्तरं गां नयाश्वमानयेति प्रयोगे गवापसारणमश्वाहरणं दृष्ट्वाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां क्रियापदार्थान्विते कारके कारकपदस्य कारकपदार्थान्वितायां क्रियायां क्रियापदस्य शक्तिं बालोऽवधारयति। न च गौरवेणान्वयांशपरिहारः, प्रथमगृहीतान्वयशक्तेरुपजीव्यत्वेन तदपरित्यागात्। तेनाभिधयैवान्वयबोधोपपत्तौ किं तात्पर्यरूपवृत्त्यन्तरेणेत्यन्वितमेवाभिधत्ते। तद्रीत्यान्वितघटादावेव घटादिपदानां शक्तिः। शाब्दबोधे त्वाकाङ्क्षादिवशात् वृत्तितादिविशेषरूपमेव भासत इति नापदार्थो वाक्यार्थः।

न च शक्तिं बिना वाक्यात् संसर्गधीर्युक्ता, लक्षणादिस्तत्पूर्वकत्वात्। न च संसर्गमर्यादया तद्धीः, तस्याः शब्दवृत्तित्वाभावात्, शक्तिलक्षणयोरेव तत्वात्। न शब्दतात्पर्यगोचरत्वं शाब्दत्वम्, तदभावे शुकबालाद्युदीरिते वाक्येऽबोधकत्वापत्तेः। न च गां नयाश्वमानयेति व्यभिचारात् संसर्गे न शक्तिरिति वाच्यम्, वाक्यस्यैव प्रयोगार्हत्वेन पूर्वगृहीतसंसर्गशक्त्यवबाधेन तदन्वितस्वार्थे पदानां शक्तिग्रहादन्वितस्य संसर्गविशिष्टस्याभिधानमिति।

अन्ये तु न संसर्गविशेषेषु शक्तिः, गां नय, गां बधानेत्यादौ तेषामानन्त्येन गोपदस्य नानार्थत्वापत्तेः। न च संसर्गसामान्ये शक्तिः, विशेषस्यासङ्केतविषयत्वेऽशाब्दत्वापत्तेः। इतरान्वितयोर्द्वित्वेन गामानयेत्यत्र वाक्यार्थद्वयबुद्ध्यापत्तेः। संसर्गसामान्ये शक्तौ च सर्ववाक्यानां पर्यायत्वापत्तेः। विशेषस्य सम्बन्धिविशेषादेव सिद्धेर्न वाच्यत्वम्, तत्त्वे उक्तदोषादिति। आद्यसङ्केतग्रहस्य व्यवहारमात्राधीनतया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्यायां व्यक्तावेव तद्युक्तमिति। यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव, तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र संकेतो न कर्त्तुं शक्यत इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीतां विषयविभागो न प्राप्नोति तदुपाधावेव सङ्केतः।

विशिष्ट अर्थ कहते हैं। 'देवदत्त गाय लाओ' ऐसा बड़े बूढ़े के कहने पर गाय को देखकर और बूढ़े के करचरणादि चेष्टाओं को देखकर उस वाक्य का अर्थ ज़ानकर फिर गाय ले जाओ घोड़े को बांध दो आदि प्रयोगों में गाय का हटाना घोड़े का लाना आदि देखकर अन्वय व्यतिरेक द्वारा क्रियान्वित कारक में कारक पद की तथा कारकान्वित क्रिया में क्रियापद की शक्ति का बालक को ज्ञान हो जाता है। गौरव के डर से अन्वय का परिहार नहीं किया जा सकता क्योंकि पहले पहल ज्ञात जो अन्वयशक्ति वह उपजीव्य अर्थात् मूल कारणरूप है उसे छोड़ना संभव नहीं है। इस तरह अभिधा से ही अन्वयज्ञान उपपन्न हो जाता है फिर तात्पर्यरूप शक्त्यतन्र की कल्पना नहीं करनी पड़ती है और अन्वितार्थ को ही पद कहता है। आकांक्षा आदि के बल से सम्बद्ध अर्थ ही भासता है वाक्यार्थ पदार्थ रहित नहीं होता।

वाक्य से शक्ति के बिना संसर्गबोध होता नहीं, अतः लक्षणाआदि शक्तियाँ सदा सहायतार्थ उद्यत हैं। संसर्गज्ञान के बल पर वाक्यार्थज्ञान होना नहीं माना जा सकता क्योंकि संसर्ग शब्दशक्ति नहीं है। शक्ति और लक्षणा ही शक्तियां हैं। शब्द के तात्पर्य की बोधिका ही शक्ति है यह भी कहना संगत नहीं क्योंकि शब्दशक्ति के न मानने पर सुग्गे या शिशु बालक के शब्द से बोध नहीं होगा। वाक्य से ही बोध देखने के कारण संसर्गविशिष्ट अर्थका वाचक पद होता है अतः संसर्ग भी शक्तिभास्य माना जाता है।

दूसरे लोग—गाय लाओ, गाय बांधो, आदि वाक्यों में अनन्त संसर्ग मानने के कारण गोपद का अनेक अर्थ होने लगेंगे अतः संसर्ग विशेष में शक्ति नहीं मानते हैं। संसर्गता भी शक्ति नहीं हो सकती क्योंकि यदि विशिष्ट अर्थ शक्तिवाच्य नहीं है तो वह मान्य कैसे है? अन्यान्य में अन्वित पद+अर्थ दो चीजें हैं अतः गाय लाओ इसमें पद+अर्थ दोनों के तात्पर्य से दो वाक्यार्थ होने लगेंगे। वाक्यों में संसर्गता या शक्ति पर्याय है। दो सम्बन्धियों के कारण विशेष अर्थात् सिद्ध हो जाता है वह वाच्य नहीं हो सकता यह कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर वह अर्थ ही कैसे आ गया? व्यवहार ही एक मात्र आद्यसङ्केतज्ञान का कारण है अतः प्रवृत्ति या निवृत्ति व्यक्ति से ही सम्बद्ध मानी गयी है। यद्यपि प्रयोजन व्यक्ति का है तो प्रवृत्ति या निवृत्ति व्यक्ति के होंगे तो भी व्यक्ति असंख्य हैं और कहीं विपरीत भी सम्भव हो जाने से व्यक्ति में शक्ति नहीं जाति में ही मानना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

अयमभिप्रायः—'गौः शुक्लश्चलो डित्थः' इति महाभाष्यप्रयोगे गवादिभिश्चतुर्भिरपि शब्दैरेका सैव व्यक्तिरभिधीयते। तत्र व्यक्तिवादिमते व्यक्तेरेव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् तस्याश्च प्रकृत एकत्वात् सैव गोत्वरूपजातिमत्वेन गौः, शुक्लत्वरूपगुणवत्वेन शुक्लः, चलनरूपक्रियावत्वेन चलः, डित्थनामायमिति तात्पर्येण डित्थो भवति। विषयविभागाभावे गवादिशब्दानां घटः कलश इत्यादीनामिवैकार्थवाचकत्वेन पर्यायतया सहप्रयोगो न स्यात्। उपाधिवादिमते तु जातिगुणयदृच्छाशब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तानां भेदेन गवादिशब्दानां पर्यायत्वाभावाद् भवत्येव सह प्रयोगः।

उपाधिश्च द्विविधः—वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च। वस्तुनि व्यक्तौ समवेतो धर्मो जातिगुणक्रियारूपा वक्ता स्वेच्छया सन्निवेशितः संकेतसम्बन्धेन तद्धर्मिणि संस्थापितः, डित्थडवित्थचैत्र-मैत्र-देवदत्त-यज्ञदत्त-विष्णुमित्रादिनामरूप इति यावत्। संज्ञाशब्दादेव संज्ञाविशिष्टधर्मिरूपः। वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः—सिद्धः, साध्यश्च। साध्यस्तावत् साध्यत्वेन विवक्षितः कृदाख्यातप्रकृत्यर्थः। सिद्धोऽपि द्विविधः—पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। पदार्थस्य पदोद्देश्यस्य प्राणनं प्राणो व्यवहारयोग्यता तत्प्रदः, सर्वगोव्यक्तिवृत्तिजातिरित्यर्थः। प्राणं व्यवहारयोग्यतां प्रददाति सम्पादयतीति व्युत्पत्तेः, यावद्वस्तुस्थितिसम्बन्धित्वमित्यर्थः। आद्यो जातिः, यावद्गोव्यवहारं तत्र पिण्डे गोत्वस्य सत्वात् प्राणप्रदत्वम्। नहि गौः स्वरूपेण गौः, नाप्यगौः, गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौरिति वाक्यपदीयकारः। द्वितीयो गुणो लब्धसत्ताकं जात्या प्राप्तव्यवहारयोग्यताकं वस्तु (व्यक्तिः) शुक्लादिना विशिष्यते सजातीयेभ्यो व्यावर्त्यते, अत एवोत्पन्नस्य द्रव्यस्य पश्चाद्गुणेन योगः। तेनैव क्षणमेकं निर्गुणत्वं द्रव्यस्य। जातिस्तु जन्मना जायते। महाभाष्यरीत्या—'सत्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते। आधेयश्च क्रियाजश्च सोऽसत्वप्रकृतिर्गुणः॥' इति। चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति भाष्यरीत्या जाति-क्रिया-द्रव्यातिरिक्तं

"गौः शुक्लश्चलो डित्थः" इस महाभाष्यकार के शब्द से जातिगुण क्रिया यदृच्छा वाचक चार प्रकार के शब्दों की सत्ता के साथ-साथ इन चार शब्दों से एक ही व्यक्ति का बोध होता है। जातिपुरस्कारेण गोत्वयुक्त गो, शुक्लगुण से शुक्ल, चलन क्रिया से चल इसका नाम डित्थ है इस भाव से डित्थ प्रयुक्त हुआ है। विषयों का विभाग न किया जाय तो गो आदि शब्दों की घट कलश की तरह पर्यायता पूर्वक सह प्रयोग नहीं होगा। उपाधिवादी मत में जाति गुण क्रिया यदृच्छा शब्दों का प्रवृत्ति निमित्तों के भेद से गो आदि शब्दों की पर्यायता न होने के कारण सह प्रयोग होता ही है।

वस्तुधर्म और वक्ता की इच्छा सन्निवेश भेद से उपाधि दो प्रकार का होता है। पहले शब्द में सप्तमी तत्पुरुष समास के द्वारा व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाला धर्म गोत्व, ब्राह्मणत्व आदि। दूसरे भेद में वक्ता की अपनी इच्छा से जातिगुण क्रिया इन तीन भेदों द्वारा संकेत सम्बन्ध से धर्मी में संस्थापित अर्थात् निहित जो तत्तद् जाति गुण धर्म आदि जहां जैंसो स्थिति हो जैसे डित्थ डवित्थ चैत्र मैत्र देवदत्त आदि नामों में जो जो धर्म सम्भव हों वह। जैसे संज्ञा वाचक शब्द में संज्ञाविशिष्ट जो संज्ञी अर्थात् धर्मी वह समझा जाता है। सिद्ध और साध्य भेद से वस्तु धर्म भी दो प्रकार का होता है। साध्य का अर्थ है जो साध्य के रूप में वक्ता की इच्छा द्वारा कहा जाय जैसे कृदन्त और तिङन्त के प्रकृति का अर्थ। सिद्ध भी द्विविध है (१) पदार्थ को प्राणवान् बतानेवाला या बनानेवाला, (२) विशेष गुणों को आधान कराने का कारणभूत। पद से बोधनीयव्यवहार योग्यता ही प्राणप्रद नामक भेद है जो जाति रूप पड़ता है जैसे निखिलगोव्यक्ति में रहनेवाली गोत्व जाति। प्राण अर्थात् व्यवहार पात्रता को सम्पन्न करनेवाला ही प्राणप्रद कहलाता है। इस तरह जाति ही प्राणप्रद बस्तु है क्योंकि स्वरूप से गाय न गाय है न तद्भिन्न है अपितु गोत्व के अभिसम्बन्ध के कारण ही वह गाय है ऐसा वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का मत है। जाति के बाद दूसरा पदार्थ गुण है जो गुण के कारण व्यक्ति को विशेषित करता है। सजातीयों से पृथक् करता है यही गुण की विशिष्टता है। यही कारण है कि द्रव्य के उत्पन्न होने के अनन्तर उसका गुण से योग (सम्बन्ध) होता है। अतएव द्रव्य उत्पत्ति क्षण में निर्गुण होता है। जाति तो सहज वस्तु है। 'महाभाष्यकार पतञ्जलिने कहा है कि द्रव्य में गुण संनिबिष्ट होता है और दूर भी हो जाता है किन्तु जाति नित्य उपस्थित वस्तु है। गुण आधेय तथा क्रिया से उत्पन्न होता है अत एव गुण द्रव्यस्वभाव से भिन्न माना गया है। शब्द की चार विधाए हैं' इस भाष्यवचन के अनुसार जाति, क्रिया, द्रव्य, इन तीनों से भिन्न गुण माना गया जो धर्ममात्र रूप है यही निर्णीत होता है। यही कारण है कि अभाव भी गुण है

धर्ममात्रं गुण इति पर्यवस्यति । तेनाभावादेरपि गुणत्वं १६७ सूत्रे काव्यप्रकाश उक्तम् । साध्यं साध्यत्वेन प्रतीयमानत्वं क्रियात्वम्, साध्यत्वं चोत्पद्यमानत्वम् । तथा च पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपो बौद्धोऽधिश्रयणाद्यवतारणान्तव्यापारसमूहो हि पाकक्रिया, विक्लित्यनुकूलत्वे तेषामनुगमात् । डित्थादिशब्दाः संज्ञारूपाः ।

मीमांसकमते जातावेव शक्तिः । व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते । अन्ये त्वाक्षेपाद् व्यक्तिप्रतीतौ व्यक्त्यनुपस्थितत्वेन शाब्दबोधविषयत्वानुपपत्तिः तस्माज्जातिविशिष्ट एव शक्तिः ।

मुख्यार्थबाधः, मुख्यार्थयोगः, रूढिप्रयोजनान्यतरच्चेति त्रयं लक्षणायां हेतुः । रूढिलक्षणाप्रयोजनसूत्रे लक्षणा चेति विभागद्वयम् । 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिविशेषणे' । विशेषणे जातिरूपे उपाधौ, क्षीणशक्तिर्विगतव्यापारेति यावत् । नागृहीतविशेषणाबुद्धिर्विशेष्य उपजायत इति न्यायेन विशेषणं प्रत्याय्योपरमात् । अनन्यलभ्यः शब्दार्थ इति जातिरेव शब्दार्थः, व्यक्तेराक्षेपलभ्यत्वादिति भावः । कर्मणि कुशल इत्यादौ कुशशब्देन दर्भग्रहणायोगात्, गङ्गायां घोष इत्यादौ गङ्गादीनां घोषाधारत्वाद्यसम्भवाद् मुख्यार्थबाधे लक्षणा । कुशलपदं दक्षे रूढमेव । योगो हि शब्दस्य न प्रवृत्तिनिमित्तम् । तदाहुः—'पङ्कजादिष्वतिव्याप्तेर्मण्डपादिष्वसम्भवात् । तैलादिषु तथाऽव्याप्तेर्न च योगः प्रवर्तकः ॥' इति । व्याकरणव्युत्पत्तिस्तु साधुत्व मात्रं प्रतिपादयति न शक्तिम् । अन्यथा 'गमेर्डोः' इत्यादिना साधितो गोशब्दो गमनकर्तारम्, मण्डपकुशलादिशब्दो मण्डपायिकुशग्राहकादीन् बोधयेत् । कलिङ्गशब्दस्य तद्वासिनि पुरुषे, इन्द्रियवाचिनश्चक्षुः शब्दस्य तदधिष्ठाने गोलके शक्त्यभावेऽपि कलिङ्गः साहसिकः, कौवलयं चक्षुः—इत्यादिकं निरूढलक्षणायामुदाहरणम् ।

ऐसा काव्यप्रकाशकार का मत है । साध्य अपने धर्म साध्यत्व से युक्त होकर ही क्रिया कहलाता है । उत्पन्न होना ही साध्य का स्वरूप है । इसीलिए उसे क्रिया भी कहते हैं । जिसमें पूर्व और पर अवयव हों । जो क्रियारूप और बुद्धि का अर्थात् मन का धर्म हो वही क्रिया है, जैसे बटलोई के चढ़ाने से लेकर उतारने के बीच जितनी क्रियायें हैं वे क्रियायें ही पाकक्रिया कही जाती हैं । चावल और दाल में जो विक्लित्ति अर्थात् उसका कोमल या शिथिल हो जाना ही पाक होना है । काठ के हाथी को डित्थ कहते हैं यह डित्थ शब्द संज्ञा के अन्दर आता है ।

मीमांसक के मत में जाति में ही शक्ति है और व्यक्ति के बिना वह रह नहीं सकती अतः जाति से व्यक्ति का आक्षेप हो जाता है । दूसरे लोग कहते हैं कि आक्षेप से आयी व्यक्ति अनुपस्थित होने के कारण वाक्यार्थबोध का विषय ही नहीं होगा यह दोष पड़ेगा । अतः जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही शक्ति मानना ठीक है ।

लक्षणाशक्ति के तीन कारण हैं (१) मुख्यार्थ का बाध, (२) मुख्यार्थ का योग (सम्बन्ध) (३) रूढिया प्रयोजन में से किसी एक का अवश्य रहना । रूढि लक्षणा और प्रयोजन लक्षणा यह लक्षणा के दो भेद हैं । विशेषण के ज्ञापन में क्षीणशक्ति अभिधा विशेष्य का बोध नहीं करा सकती । विशेषण अर्थात् जातिरूप उपाधि में शक्ति के नष्ट हो जाने से । जो बुद्धि विशेषण का ज्ञान नहीं रखती उसमें विशेष्य का ज्ञान होना संभव नहीं, इस नियम के अनुसार विशेषण का ज्ञान कराकर बुद्धि निष्क्रिय हो जाती है । किसी शब्द का अर्थ दूसरे की सहायता से नहीं माना जाता, इस अनुगम के कारण जाति ही शब्द का अर्थ है, व्यक्ति तो आक्षेप से आ जाती है । 'कर्मणि कुशलः' काम में निपुण है, इस वाक्य में कुश शब्द का अर्थ दर्भ नहीं हो सकता, 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में गङ्गा का घोष का आधार बन पाना संभव नहीं है, अतः उक्त स्थलों में मुख्य अर्थ का बाधित होना ही लक्षणा का कारण है । कुशल पद दक्ष अर्थ में रूढ है । योग किसी शब्द का प्रवृत्ति-निमित्ति नहीं हो सकता क्योंकि कहा है—कि पङ्कज में अतिव्याप्त होने के कारण मण्डप में असंभव होने के कारण और तैल में अव्याप्त होने के कारण योग को प्रवर्तक अर्थात् प्रवृत्तिनिमित्त नहीं माना जाता । व्याकरण शास्त्र से प्रकृति-प्रत्यय के सहयोग से शब्द की सिद्धिमात्र हो पाती है उससे वाचकता या बोधकतारूप शक्ति का ज्ञान नहीं किया किया जा सकता । नहीं तो 'गमेर्डोः' इस उणादि सूत्र से निष्पन्न गो शब्द जानेवाला का बोधक होने लगेगा, उसी तरह मण्डं पिबति, कुशान् लाति, विग्रह से निष्पन्न मण्डप कुशल शब्द क्रमशः मण्ड पीनेवाला, कुश लानेवाला, ऐसे अर्थों के बोधक होने लगेंगे । कलिङ्ग शब्द का अर्थ उड़ीसा का निवासी पुरुष, इन्द्रियवाचक चक्षु शब्द का अर्थ आँख का आधार जो गोलाई, इन अर्थों मे शक्ति न होने पर भी कलिङ्ग साहसी है, आँख कमल की तरह लम्बी-चौड़ी है, यह निरूढ लक्षणा के उदाहरण दिये गये हैं ।

'मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते। रूढेः प्रयोजनाद्वापि लक्षणाशक्तिरर्पिता ॥' इति साहित्यदर्पणरीत्या कलिङ्गः साहसिक इत्यादौ कलिङ्गादिशब्दो देशविशेषरूपेऽसम्भवन् यथा शब्दशक्त्या संयुक्तान् पुरुषादीन् प्रत्याययति, यथा च गङ्गायां घोष इत्यत्र मुख्यार्थबाधे ययाऽन्यया शक्त्या मुख्यासम्बन्ध्यर्थः प्रतीयते, सा शब्देऽर्पिता शक्तिः स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता लक्षणेत्युच्यते। बाधस्यार्थस्त्वन्वयानुपपत्तिरित्येके, अपरे तात्पर्यानुपपत्तिरेव बाध इत्याहुः। (१) मुख्यार्थबाधः, (२) लक्ष्यार्थसम्बन्धः, (३) रूढिः, (४) प्रयोजनं चेति लक्षणायां चत्वारो हेतवः। तत्र प्रथमद्वयं सर्वत्रानिवार्यरूपेण समुचितरूपेणापेक्षितम्। अन्तिमद्वयं तु विकल्पेन। यथा 'कलिङ्गः साहसिकः' इत्यत्र कलिङ्गशब्दस्य देशविशेषवाचकत्वे देशस्य जडत्वेन तत्र साहसिकत्वस्य चेतनधर्मस्यासम्भवेन तद्युक्ते पुरुषे लक्षणा। तथैव गङ्गायां घोष इति वाक्ये भगीरथरथखातावच्छिन्नजलप्रवाहे घोषस्य आभीरपल्लीरूपस्यान्वयासम्भवेन तत्तीरे लक्षणा भवति। सा चानुपपत्तिरर्थ एव, गङ्गायां घोष इत्यादौ शब्दान्वयानुपपत्त्यभावाद् अर्थान्वयस्येवानुपपत्तेः। तेनैव हेतुना लाक्षणिके शब्दे स्ववाचकत्वसम्बन्धेनाशक्यार्थप्रतिपादकत्वमारोप्यते। तत्रापि यथेच्छसम्बन्धिमात्रे लक्षणायामव्यवस्थापत्त्या रूढेः प्रयोजनाद्वा लक्षणापि नियम्यते। तत्र कलिङ्गादिशब्दैस्तत्तद्देशवासिषु प्रसिद्धिरूपया रूढ्या तत्तद्देशवासिपुरुषा बोध्यन्ते। गङ्गायां घोष इत्यादौ तु शीतत्वपवित्रत्वादिबोधनप्रयोजनत्वाद् गङ्गापदेन गाङ्गं तटं बोध्यते। हेतुं विनापि यस्य कस्यचित्सम्बन्धिनो लक्षणेऽतिप्रसङ्गाद् रूढिः प्रयोजनं वा तत्र हेतुद्वयं विकल्पेनोक्तम्।

काव्यप्रकाशे तु—कर्मणि कुशल इति रूढेरुदाहरणमुक्तम्। कुशांल्लातीति व्युत्पत्तिलभ्यः कुशग्राहिरूपोऽर्थः प्रकृतेऽसम्भवन् विवेचकत्वादिसाधर्म्यसम्बन्धिनं दक्षरूपमर्थं बोधयति। तदन्ये न मन्यन्ते, कुशग्राहिरूपस्यार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैवार्थस्य मुख्यार्थत्वात्। अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम्, अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्। व्युत्पत्ति-

मुख्यार्थ के बाधित होने पर, मुख्यार्थ से युक्त जिस शक्ति के सहारे रूढि या प्रयोजनवश दूसरा अर्थ प्रतीत हो वह शब्द में ही स्थित लक्षणाशक्ति कही जाती हैं। इस उक्ति के अनुसार 'कलिङ्गः साहसिकः' इस वाक्य में कलिङ्गशब्द देशविशेष रूप अर्थ में असमर्थ होता हुआ भी जिस शब्दशक्ति से देशवासी पुरुष का बोध होता है वैसे हो 'गंगाग्यां घोषः' इस वाक्य में मुख्य अर्थ के बाधित होने से जिस दूसरी शक्ति के सहारे मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ प्रतीत होता है। वह स्वाभाविक से भिन्न ईश्वर से अनुद्भाषित शक्ति लक्षणा नाम से जानी जाती है। बाध का अर्थ अन्वित न होना यह एक आचार्य का मत है। दूसरे आचार्य तात्पर्य का बोध न होना ही बाध मानते हैं। (१) मुख्यार्थबाध, (२) लक्ष्यार्थ से सम्बन्ध, (३) रूढि (४) प्रयोजन ये चार लक्षणा के कारण माने गये हैं। उनमें पहले दो अनिवार्य हैं और आखिरी दो विकल्प से भी मान्य हैं। जैसे 'कलिङ्गः साहसिकः' इस वाक्य में कलिङ्ग शब्द देश विशेष का वाचक है और देश जड है उसमें साहस जो चेतन का धर्म है संभव नहीं, अतः देशवासी पुरुष में लक्षणा करनी पड़ी, इसी तरह 'गङ्गा में घोषः' इस वाक्य में भगीरथ के रथ के गढ्ढे में जो जलधारा बहती हो उसमें अहीर की मड़ैया नहीं रुक सकती अतः गङ्गापद की तीर में लक्षणा माननी पड़ी। बाधा अर्थ में होती है, शब्द के अन्वय में बाधा क्या होगी? यही कारण है कि लाक्षणिक शब्द में स्ववाचकत्व सम्बन्ध से अशक्यार्थप्रतिपादकत्व का आरोप किया जाता है। वह भी यथेच्छ होने या मानने पर अव्यवस्था खड़ी होने के भय से रूढि या प्रयोजन के द्वारा लक्षणा भी नियन्त्रित की गयी है। कलिङ्ग शब्द उड़ीसा निवासी में रूढ होने के कारण निवासी पुरुष में लक्षणा हुई। गङ्गा में मड़ई है कहने से शीतलता पवित्रता आदि भाव व्यक्त हो सके इस प्रयोजन से गङ्गा का अर्थ गङ्गा का तट है। बिना कारण के जिस किसी सम्बन्धी में लक्षणा करने से अतिव्याप्ति होगी अतः रूढि या प्रयोजन दो कारण विकल्प से माने गये।

काव्य प्रकाश में 'कर्मणि कुशलः' यह रूढि का उदाहरण कहा गया है। कुशांल्लातीति इस व्युत्पत्ति से प्राप्त कुश लाने वाला अर्थ यहां संभव न होने विवेचकत्वादि साधर्म्य सम्बन्धी दक्ष रूप अर्थ का बोधक वाक्य है। लेकिन दूसरे आचार्य इसे नहीं मानते क्योंकि कुश लानेवाला यह अर्थ व्युत्पत्ति से प्राप्त है फिर भी दक्ष रूप अर्थ ही यहां मुख्य है। व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त शब्दों के भिन्न भिन्न होते हैं। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को मुख्य मानने पर गौः शेते इस वाक्य में लक्षणा करनी पड़ेगी। क्योंकि

लभ्यस्य मुख्यार्थत्वे गौः शेत इत्यत्रापि लक्षणा स्यात्। 'गमेर्डोः' इति गम्धातोर्व्युत्पादितस्य गोशब्दस्य शयनकालेऽप्रयोगापत्तेः।

रुढित्वं त्वनादित्वम्। अन्यो व्युत्पत्तिनिबन्धनः शब्दः, अन्यः प्रवृत्तिनिबन्धनः। गौरित्ययं शब्दो मुख्यया वृत्त्या सास्नादिमन्तमर्थं प्रतिपादयति। स एव तिष्ठन्मूत्रत्वादिगुणसम्पदमपेक्ष्य वाहीकादौ प्रयुज्यमानो गौणीं वृत्तिमनुभावयति। उभयोरभावे लक्षणया स्वार्थाविनाभूतमर्थान्तरं लक्षयति यथा गङ्गायां घोष इति। 'आनन्त्येऽपि हि भावानामेकं कृत्वोपलक्षणम्। शब्दः सुकरसम्बन्धो न च व्यभिचरिष्यति ॥' इति गोत्वोपलक्षितायां यस्यां कस्यश्चिद् व्यक्तौ सङ्केतग्रहः समानप्रकारकत्वेन व्यक्त्यन्तरमपि बोधयति। नहि जातिर्गवोत्पत्तेः पूर्वमासीत्, अप्रतीतेः। नापि कुतश्चिदागच्छति, अमूर्तत्वात्, पूर्वाधारापरित्यागाच्च। नापि तत्रैवोत्पद्यते, जन्यत्वाननुभवात्। नापि गवि कात्स्न्येंन, अन्यत्रासत्त्वप्रसङ्गात्। नाप्येकदेशेन, निरवयवत्वात्। 'न याति न च तत्रासीन्न चोत्पन्नं न चांशवत्। जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः ॥' इति बौद्धरीत्या तदपलापे समानबुद्धिप्रसवहेतुत्वेन जातिरभ्युपेयैव, कार्यकारणभावार्थं बौद्धैरप्यभ्युपगमात्।

ef

Ref

गौरित्यादावौणादिकस्य क्वचिदप्यक्लृप्तवाचकभावस्य रुढ्यन्तरं कल्पयित्वा गोत्वविशिष्टे लक्षणाकल्पने गौरवात् समुदायस्यैव तत्र रूढिरुचिता। व्युत्पत्तिमात्रार्थं काल्पनिको ह्यौणादिकः प्रकृतिप्रत्ययविभागः। अत एव 'उणादयो बहुलम्' (पा० सू० ३।३।१) इत्येवसूत्रेण पाणिनिरुणादिगणं संचिक्षेप। पङ्कजादिपदे तु पाकजादौ क्लृप्तशक्तिकस्य डप्रत्ययस्यैव पद्मत्वादिविशिष्टे लक्षणा स्वीकर्तुमुचिता। न त्वलभ्ये समुदायशक्तिः, निरूढत्वादेव तत्र प्रचुरप्रयोगज्ञानापेक्षा। एवं मण्डपकुण्डलकुशलादिपदेष्वपि गृहविशेष-कर्णालङ्कार-दक्षेषु निरूढा लक्षणा। अप्रत्ययस्यैव ज्ञाप्यसम्बन्धो वा लक्षणा न तु शक्यसम्बन्धः। तथा च पङ्कजपदसमुदायादेरेव पद्मादौ निरूढलक्षणा। यत्र शक्यसम्बन्ध-

X

'गमेर्डोः' इस उणादि सूत्र से डो प्रत्यय करके गम धातु से निष्पन्न गो शब्द जाने वाले को कहेगा तो गाय सोती है यह प्रयोग ही नहीं होगा अतः व्युत्पत्ति से अर्थ का निर्णय ठीक नहीं बल्कि रूढि से ही निर्णय करना उचित है।

रूढिता अनादिता को कहते हैं। व्युत्पत्ति बताने वाला शब्द दूसरा होता है और प्रवृत्ति बताने वाला दूसरा होता है। गौः यह शब्द मुख्यशक्ति के अनुसार 'सास्ना' वाले प्राणी को कहता है। वही शब्द खड़े होकर पेशाब करने वाले वाहीक आदि के लिये भी गौणीवृत्ति के आधार पर प्रयुक्त होता है। गौणी और मुख्य दोनों वृत्तियों के अभाव में लक्षणा के द्वारा स्वार्थ से अविनाभूत अर्थान्तर का बोध कराता है। जैसे कि 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में गंगा से संबद्ध तट का बोध लक्षणा वृत्ति द्वारा होता है। गोत्व से उपलक्षित जिस किसी एक व्यक्ति में संकेत का बोध हो जाने पर वह तत्समान अन्य व्यक्ति का बोध करा ही सकता है। बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि जाति गौ की उत्पत्ति के पहले नहीं थी, क्योंकि तब उसकी प्रतीति नहीं होती। वह कहीं से आती भी नहीं, क्योंकि अमूर्त है और पूर्व आधार को छोड़ भी नहीं सकती। वह उसी व्यक्ति में उत्पन्न भी नहीं होती, क्योंकि वह नित्य मानी जाती है। वह एक ही गौ व्यक्ति में समग्र रूप से नहीं रहती, क्योंकि उसकी अन्यत्र उपलब्धि नहीं होगी। वह एक देश में भी नहीं रहती, क्योंकि निरवयव है। इस तरह से जाति का खण्डन कर देने के बाद भी समस्त गो व्यक्तियों में समान रूप से गो बुद्धि होती है। इसके कारण के रूप में सर्वत्र कार्यकारण भाव का निर्वाह करने के लिये बौद्धों को भी जाति माननी ही पड़ेगी।

गौ इत्यादि पद में औणादिक प्रत्यय है। यह प्रत्यय किसी के वाचक नहीं माने जाते। अतः किसी अन्य रूढि की कल्पना कर गोत्व विशिष्ट में लक्षणा करने में गौरव दोष का भय है। अतः पद और प्रत्ययात्मक समुदाय में ही रूढ़ि मानी जाती है। क्योंकि औणादिक प्रकृतिप्रत्ययविभाग केवल व्युत्पत्ति के प्रदर्शन मात्र के लिये हैं। इसीलिये इस पूरे प्रकरण को पाणिनि ने 'उणादयो बहुलम्' इस एक सूत्र में संक्षिप्त कर दिया। पङ्कज 'प्रभृति पदों में तो 'पाकज' प्रभृति शब्दों के समान प्रत्यय में भी शक्ति मानी जाती है, अत पद्मत्वादि विशिष्ट में लक्षणा स्वीकार की जाती है। इसी तरह से मण्डप, कुण्डल, कुशल प्रभृति पदों की

ज्ञानं विनापि पद्मान्वयधीस्तत्र शक्तेर्भ्रम एव । इयांस्तु विशेषः—पङ्कजादिपदे योगार्थः पङ्कजनिकर्ता लक्ष्यार्थे पद्मेऽन्वेति । अथवा डप्रत्ययेन लक्षिते पद्मे कर्तृत्वेन पङ्कजनिरन्वेति । मण्डपादौ तु न तथा । गृहमण्डकर्मकपानादेरन्वये बाधात् । प्रकृत्यर्थविशेषितस्यापि प्रत्ययार्थस्य पाने गोदोहनेन प्रणयेदित्यादौ प्रणयत्यर्थाविवक्षायामाख्यातार्थभावनायां मण्डपसमुदायस्य लाक्षणिकत्वेन न दोषस्य गन्धोऽपि ।

'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते । लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥' एवमपि योगरूढिस्थले रूढिज्ञाने योगापहारस्य सकलततन्त्रसिद्धतया रूढ्यनधिकरणस्य योगार्थालिङ्गितस्यार्थान्तरस्य व्यक्तिं विना प्रतीतिर्दुरुपपादा, 'अवलानां श्रियं हृत्वा वारिवाहैः सहानिशम् । तिष्ठन्ति चपला यत्र स कालः समुपस्थितः ॥' अत्राशक्तानां द्रव्यमपहृत्य जलवाहकैः पुरुषैः सह पुंश्चल्यो रमन्त इत्यर्थान्तरं न तावद् अवला-वारिवाह-चपलाशब्दैर्योगरूढ्या शक्यते बोधयितुम्, मेघत्वविद्युत्त्वादिघटितस्यैव तस्यार्थस्य प्रतीतेः । अन्यथा चमत्कारो न स्यात् । अत एव योगशक्त्यापि केवलया रूढ्यर्थासंवलितार्थबोधकत्वस्य तस्या रूढिसमानानधिकरणाया असङ्गतेः । पुंश्चलीत्वादेः सर्वथैव तदविषयत्वात् । यौगिकरूढिस्थलेऽप्येवं बोध्यम् । 'चाञ्चल्ययोगि नयनं तव जलजानां श्रियं हरतु । विपिनेऽतिचञ्चलानामपि मृगाणां कथं हरति ॥' अत्र नैवाश्चर्यकारी चाञ्चल्यगुणरहितानां कमलानां चाञ्चल्यगुणाधिकेन तव लोचनेन शोभायास्तिरस्कारः । आश्चर्यकृत्तु हरिणानां तद्गुणयुक्तानां तस्याः स इति वाच्येऽर्थे पर्यवसन्नेऽपि रूढिनिर्मुक्तकेवलयोगमर्यादया मूर्खप्रायाणामत एव प्रमत्तानां नेतृभिश्चौराद्यैः श्रियो धनस्य हरणं सुशकम्, न तु गवेषकाणामत एवाप्रमत्तानां जलजनयनमृगशब्देभ्यः प्रतीयमानोऽर्थः कथं व्यञ्जनाव्यापारं विनोपपादयितुं शक्यते । अत एव पङ्कजादिपदेभ्यः पङ्कजनिकर्तृत्वेन कुमुदाद्युपस्थितिर्लक्षणयैवेति नैयायिका मन्यन्ते । अत एव च—'ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः' इति, जीव एवेति पूर्वपक्षे च 'शब्दादेव प्रमितः' (ब्र० सू० १।३।२४) इति सूत्रितमुत्तरमीमांसाकारैर्बादरायणैः । तस्माद्रूढेर्योगापहारित्वादेवार्थान्तरं न शक्तिवेद्यमपि तु व्यक्तिव्यञ्जना-

भी गृहविशेष, कर्णालङ्कार, दक्ष प्रभृति में निरूढलक्षणा मानी जाती है । अतः पङ्कज शब्द में विद्यमान पद प्रकृति समुदाय की ही पद्म में निरूढ लक्षणा है । अन्तर इतना ही है कि पंकज आदि पद में पंकजनिकर्ता लक्ष्यार्थ पद्म में अन्वित होता है अथवा डप्रत्यय से लक्षित पद्म में कर्ता के रूप में पंकजनि का अन्वय होता है । इसके विपरीत मण्डप आदि में ऐसा नहीं होता, क्योंकि गृहमण्डकर्मक पानादि का वहां अन्वय नहीं हो सकता ।

यद्यपि लक्षणा और गौणीवृत्ति को भिन्न भिन्न माना गया है, तथापि योगरूढि स्थल में रूढ़ि के ज्ञान में योग के अपहारक सफल तन्त्रसिद्ध रूढ़ि का अधिकरण जो योगार्थ से संबद्ध अर्थान्तर है, उसकी व्यक्ति के बिना प्रतीति नहीं हो सकती । 'अबलानां' प्रभृति श्लोक में दुर्बल पुरुषों के द्रव्य का अपहरण कर कुलटाएं पानी भरने वाले पुरुषों के साथ रमण करती हैं, यह दूसरा अर्थ योगरूढ़ि द्वारा अथवा वारिवाह, चपला शब्दों से नहीं प्रतीत हो सकता, क्योंकि उससे तो मेघत्व, विद्युत्व घटित अर्थ की ही प्रतीति होगी । पुंश्चलीत्व की तो प्रतीति उससे किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती । यौगिक रूढ़ि स्थल में भी ऐसा ही होता है । 'चाञ्चल्ययोगि' प्रभृति उदाहरण श्लोक में चाञ्चल्य गुण से रहित कमलों की शोभा का चाञ्चल्य गुण से भरपूर तुम्हारे नेत्रों द्वारा तिरस्कार आश्चर्य का विषय नहीं है, किन्तु उन सब गुणों से युक्त हरिणों के नेत्रों की शोभा का अपहरण ही आश्चर्य का विषय हैं । यह वाच्य अर्थ प्रतीत होता है । किन्तु इसके साथ ही व्यंजना व्यापार द्वारा एक दूसरा अर्थ भी प्रतीत होता है कि चोर, गिरहकट आदि मूर्ख, असावधान व्यक्तियों का ही धन हरण कर सकते हैं, सदा सजग सावधान व्यक्तियों का नहीं । यह अर्थ जलज, नयन, मृग शब्दों से व्यंजना व्यापार द्वारा ही व्यक्त हो सकता है । इसीलिये पङ्क में उत्पन्न होनेवाले कुमुद की उपस्थिति पङ्कज पद में लक्षणा करने से ही होतो है । ऐसा नैयायिकों का मानना है । इसीलिये 'ईशानो भूतभव्यस्य' इस श्रुति में पूर्वपक्ष के अनुसार जीव का ही उल्लेख है, इसके समाधान में न 'शब्दोदेव' प्रभृति सूत्र की बादरायण ने रचना की। इससे यही मानना पड़ता है कि रूढि यौगिक अर्थ को बदल देती है, अतः अर्थान्तरशक्ति के द्वारा ज्ञात न होकर व्यंजना

वेद्यम् । 'योगरूढस्य शब्दस्य यो यो रूढ्या नियन्त्रिते । धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा ॥', 'रूढिर्योगापहारिणी' । एवं स्थिते नानार्थस्थलेऽप्युपमायाः प्रकरणिकार्थगतायाः प्रतिपत्तये वाच्यया व्यञ्जनयैवाप्राकरणिकस्याप्यर्थस्य प्रतिपत्तावलं क्लिष्टकल्पनयेत्याशयेन प्राचीनैरुक्तं नानाव्यञ्जकत्वमपि न दुष्यति ।

पण्डितराजो जगन्नाथोऽपि रसगङ्गाधरे—'केवलसमुदायशक्तिः, केवलावयवशक्तिः, समुदायावयवशक्तिः सङ्करश्चेत्यभिधायास्त्रैविध्यमुक्तवान् । आद्याया डित्थादिकमुदाहरणम्, तत्रावयवशक्तेरभावात् । द्वितीयायास्तु पाठकपाचकादिरुदाहरणम् । तृतीयायाः पङ्कजादिः । इह धातूपपदप्रत्ययरूपावयवशक्तिवेद्यानां पङ्कजनिकर्तॄणामाकाङ्क्षादिवशादन्वये प्रकाशमानात् पङ्कजनिकर्तृरूपादतिरिक्तस्य पद्मत्वविशिष्टस्य प्रत्ययेन तदर्थः समुदायशक्तिरपीति कल्पनादुभयोः सङ्करः । एता एव रूढि-योगरूढिशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते । अश्वगन्धा—अश्वकर्ण—मण्डपनिशान्तकुवलयादिपदेषु केषाञ्चिद्रीत्या 'अश्वगन्धारसं पिबेत्' इत्यादिषु विषयविशेषे केवलसमुदायशक्तिः । अश्वगन्धा, वाजिशाला इत्यादिषु केवलयोगशक्तिः । समुदायावयवशक्तिवेद्ययोरनन्वये तादृशशक्त्योः कैवल्यस्य साम्राज्यात् । अन्येषां रीत्या तु—अश्वकर्णादिशब्देषु नाभिधा । प्रथमद्वितीययोर्विधयोः प्रसक्तिः । परन्तु सङ्करस्य द्वौ भेदौ—योगरूढिः, यौगिकरूढिश्च । तत्राद्यस्योदाहरणं पङ्कजादिशब्दाः, द्वितीयं तु अश्वकर्णादयः । अन्येषां रीत्या तु चतुर्थ एवायमभिधाया भेदः । तद्रीत्या यौगिकरूढिनामकभेदान्तरं न सङ्करस्य, अपि त्वभिधाया एव ।

अखण्डा एव हि शब्दाः । तत्र समासेषु कृत्तद्धिततिङन्तेषु च प्रकृतिप्रत्ययविभागः काल्पनिक एवेति न क्वापि योगशक्तिः, विशिष्टस्य विशिष्टार्थेषु रूढेरेवाभ्युपगमात् । काल्पनिकभेदमङ्गीकृत्य तु रूढियोग-योगरूढियौगिकरूढ़ीत्यादयोऽभिधाया अनेके भेदाः सन्त्येव । अखण्डानां पदानां बोधकत्वे सत्यपि न तावता चमत्कारनिर्वाहः । यथा कल्पितानां पदार्थानां कल्पनाविशेषा रूढतया चमत्कारकारितास्तथा कल्पितानां प्रकृतिप्रत्ययादीनां तथाभूतानां तदर्थानां च व्यञ्जनावृत्त्युत्थापकतया चमत्कारित्वेनालङ्कारिकाणां कृते खण्डपक्ष एवाभिप्रेतः । अत एव 'गीष्पतिरप्याङ्गिरसो गदितुं ते गुणगणान् सगणः । इन्द्रः

के द्वारा ही जाना जाता है । इसीलिये अनेक अर्थों की उपस्थिति में उपमा के प्राकरणिक अर्थ को जानने के लिये उपयुक्त वाच्य व्यंजना से ही अप्राकरणिक अर्थ की भी जब जानकारी प्राप्त हो जाती है, तो अन्य क्लिष्ट कल्पना करना व्यर्थ है, इस आशय की प्राचीन आचार्यों की उक्ति निर्दोष है ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रसगंगाधर में अभिधा के तीन प्रकार बताए हैं—केवल समुदाय शक्ति, केवलावयव शक्ति और समुदायावयव शक्ति का संकर । डित्थादि शब्द प्रथम शक्ति के उदाहरण हैं, क्योंकि उनमें अवयव शक्ति का अभाव है । पाठक, पाचक प्रभृति द्वितीय के उदाहरण हैं और तृतीय के पङ्कज आदि शब्द । तृतीय उदाहरण में धातु, उपपद, प्रत्ययरूप अवयव शक्ति से पंक से उत्पन्न सभी पदार्थों का बोध होता है, किन्तु समुदाय शक्ति से केवल कमल में उसको रूढ कर देने से यहां पर उभय शक्तियों का सांकर्य है । इन्हीं तीन शक्तियों को रूढि, योग और योगरूढि नाम दिया जाता है । अश्वगन्धा, अश्वकर्ण, मण्डप, निशान्त, कुवलय प्रभृति पदों में कुछ लोगों के मत के अनुसार केवल समुदाय शक्ति और केवल योगरूढि दोनों की उपस्थिति मानी जाती है । अन्य विद्वान् अश्वकर्ण प्रभृति में अभिधा की उपर्युक्त प्रथम और द्वितीय शक्तियों की प्रवृत्ति नहीं मानते । उनके मत में संकर के दो भेद माने गये हैं—योगरूढि और यौगिकरूढि । इनमें से पंकज आदि शब्द प्रथम के और अश्वकर्ण प्रभृति शब्द द्वितीय के उदाहरण हैं । कुछ अन्य विद्वान् इसको अभिधा का ही चतुर्थ भेद मानते हैं उनके मत के अनुसार यौगिक रूढि नामक भेद संकर का न होकर अभिधा का ही माना जाता है ।

शब्द अखण्ड माने जाते हैं । समास में और कृत् तद्धित और तिङन्त में प्रकृति और प्रत्यय का विभाग काल्पनिक माना जाता है, अतः इस मत में योग शक्ति नहीं मानी जाती । विशिष्ट की विशिष्टार्थ में रूढि ही मानी जाती है । काल्पनिक भेद मानकर ही रूढ़ि, योग, योगरूढ़ि और यौगिक रूढ़ि प्रभृति अभिधा के अनेक होते हैं । अखण्ड पदों की बोधकता मानने पर इतनेमात्र से चमत्कार का निर्वाह नहीं होता । जैसे कल्पित पदार्थों की विशेष कल्पना चमत्कार की जननी मानी जाती है, उसी तरह से कल्पित प्रकृति, प्रत्ययों

सहस्रनयनोऽप्यद्भुतरूपं परिच्छेत्तुम्।' इत्यादौ रूढ्यर्थमादाय पुनरुक्त्यापत्तिः। न चैवंविधपदद्वयसमभिव्याहारस्थले योगरूढपदस्यावयवार्थमात्रबाधकत्वं तावन्मात्रस्यैव प्रकृतोपयोग्यतिशयविशेषसमर्पकत्वादिति वाच्यम्, एवमपि योगरूढपदस्य रूढिशक्तेरनियन्त्रणेन योगार्थमात्रप्रतिपादकताया अनुपपादनात्, एकैनेव पदेन योगार्थरूढ्यर्थयोरुभयोरप्यावश्यकयोरुपस्थितिसम्भवे द्वितीयपदप्रयोगस्य नैरर्थक्यापत्तेश्च।

अत्राहुः—एकपदोपात्तत्वादन्तरङ्गाकाङ्क्षावशेन प्रथमं योगार्थरूढ्यर्थयोरन्वये सति समुल्लसितस्य विशिष्टार्थस्यैव पदान्तरार्थेनान्वयः, न तु तयोरेव विशकलितयोः। एवं यद्यपि नाप्रसिद्धोऽर्थः, तथापि शक्यार्थस्य प्रतिपादने स्यादेवम्, लक्षणया तु योगरूढेन योगार्थमात्रप्रतिपादनेन न किञ्चिद् बाधकमस्तीत्यादिग्रन्थेन पण्डितराजेन बहुधोक्तत्वात्।

वृत्त्या पदप्रतिपाद्यः पदार्थः। 'इदं पदमिममर्थं बोधयतु' इति, 'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः' इति वेच्छा सङ्केतरूपा वृत्तिः। आधुनिकशास्त्रकारादिसङ्केतः परिभाषा, तया चार्थबोधकं पदं पारिभाषिकम्, यथा नदी-वृद्ध्यादिपदम्। ईश्वरसङ्केतः शक्तिः। तया चार्थबोधकं पदं वाचकं यथा गोत्वादिविशिष्टबोधकगवादिपदम्। तद्बोध्योऽर्थो गवादिबोध्यः। तत्र पदं गां वक्ति गां ब्रूते इत्यादिप्रयोगेषु वाच्यवाचकादिपदे ईश्वरेच्छाया बोधजनकत्वेन या विषयता सैव धात्वर्थः, तस्याश्रयत्वरूपं कर्तृत्वं पदे कर्तृपदेन बोध्यत इति शक्तिवादे गदाधरः।

अन्यैस्तु रूढशब्दस्यान्यादृशं भेदत्रैविध्यमुच्यते। 'अव्यक्तयोग-निर्योग-योगाभासैस्त्रिधादिमः। ते च वृक्षादि-भूवादि-मण्डपाद्या यथाक्रमम्॥' (१।१०) इति जयदेवकविप्रणीते चन्द्रालोके, योगार्थे सम्भवत्यपि तस्याव्यापकत्वेनाननुसन्धानाद् यत्र केवलं समुदायशक्त्यैवार्थप्रतीतिर्जायते, सोऽव्यक्तयोगो रूढः। यथा वृक्षः। वृश्चति छिनत्त्यातपबाधामिति वृक्ष इति योगार्थे सम्भवत्यपि पर्णपल्लवादिरहिते शुष्के वृक्षे तादृशातपच्छेदयोगस्याभावाद् वृक्षत्वजातिमादाय समुदायमात्रशक्त्या वृक्षशब्दः प्रयुज्यते। यत्र च सर्वथावयवार्थस्याननुसन्धानं स निर्योगो रूढः, यथा सत्तार्थकस्य भूधातोर्देवदत्तो भवतीत्यादौ

तथा उनके पदार्थों की भी चमत्काराधायकता व्यंजना वृत्ति के द्वारा मानी जाती है, अतः आलंकारिकगण खण्ड पक्ष को ही स्वीकार करते हैं। इसीलिये गीष्पति प्रभृति श्लोक में रूढ़िगत अर्थ को लेकर पुनरुक्ति की आपत्ति उठती है।

इसपर कुछ लोगों का कहना है कि एक पद से उपात्त होने से अन्तरंग आकांक्षा के कारण पहले योगार्थ और रूढ़चर्थ का अन्वय हो जाने के बाद प्रतीत होने वाले विशिष्ट अर्थ का ही पदान्तर के अर्थ के साथ अन्वय होता है, उनका अलग-अलग अन्वय नहीं होता। इस तरह से अर्थ यद्यपि अप्रसिद्ध नहीं रहता, तथापि शक्य अर्थ के प्रतिपादन में हो ऐसा होता है। लक्षणा से तो योगरूढ़ शब्द से भी योगार्थ मात्र के ही प्रतिपादन में कुछ बाधक नहीं है। इस विषय को पण्डितराज ने विस्तार से समझाया है।

वृत्ति की सहायता से पद के द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थ होता है। 'यह पद इस अर्थ को बतावे' अथवा 'इस शब्द से यह अर्थ जानना चाहिये' इस प्रकार की इच्छा ही संकेत अथवा वृत्ति कहलाती है। आधुनिक शास्त्रकारों के संकेत को परिभाषा कहते हैं। उसके द्वारा प्रतीत होने वाला अर्थ पारिभाषिक कहलाता है, जैसी कि नदी, वृद्धि आदि। ईश्वर के संकेत को शक्ति कहते हैं। उस शक्ति से अर्थ का बोध कराने वाला पद वाचक है जैसे कि गोपद गोत्वादिविशिष्ट व्यक्ति का वाचक माना जाता है। गो पद गाय को बताता, इत्यादि प्रयोगों में वाच्यवाचकभाव को बताते समय ईश्वरेच्छा की बोधजनकता के कारण जो विषयता बनती है, वही धात्वर्थ माना जाता है। उसका आश्रयरूप कर्तृत्वपद में कर्तृपद से बोधित होता है। शक्तिवाद में गदाधर ने इस विषय का प्रतिपादन किया है।

अन्य विद्वान् रूढ़शब्द के अन्यादृश तीन भेद मानते हैं। जयदेव प्रणीत चन्द्रालोक में बताया गया है कि योगार्थ के होने पर भी उसका व्यापक अनुसंधान न होने से जहां समुदायशक्ति से ही अर्थ की प्रतीति होती है, वह अव्यक्तयोग रूढ़शब्द है। जैसे कि वृक्ष शब्द में। योगार्थ के द्वारा आतप बाधा का छेदन करने वाला वृक्ष माना जाता है, किन्तु पल्लव रहित शुष्कवृक्ष में यह सामर्थ्य नहीं है, अतः ऐसे स्थल पर वृक्षत्व जाति के आधार पर समुदाय मात्र की शक्ति से वृक्ष शब्द प्रयुक्त होता है। जहां अवयवार्थ का सर्वथा अनुसन्धान नहीं होता, वहां निर्योग रूढ़ माना जाता है। जैसे कि सत्तार्थक भू धातु का 'देवदत्तो भवति' इत्यादि स्थल में व्युत्पत्तिलभ्य

व्युत्पत्तिलभ्यस्यार्थस्य सम्भवतोऽपि 'भूवादयो धातवः' (पा० सू०) इत्यादौ तस्यासम्भवेन 'भू' इत्यनेन धातुरेव गृह्यते न सत्तारूपोऽर्थः। सोऽयं निर्योगरूढः। यत्र पुनरवयवार्थे सम्भवत्यपि यस्तात्पर्यविषयः सोऽनन्वित एव भासते स योगाभासरूढः। यथा मण्डप इति। अत्र मण्डं पिबतीति योगवशाल्लब्धस्य मण्डकर्मकपानकर्तृकत्वरूपस्य योगार्थस्य तत्कर्तरि पुरुषे सम्भवत्यपि 'देवदत्तो मण्डपं प्रविशति' इत्यत्र गृहविशेषतात्पर्येणोच्चरिते मण्डपशब्दे मण्डपानकर्तृत्वरूपो योगार्थो नान्वेतीत्यतः समुदायशक्त्या गृहविशेषार्थस्य प्रतीतिरिति योगाभासात्मकोऽयं तृतीयो रूढशब्दप्रकारः। तद्रीत्या यौगिकस्यापि शब्दस्य शुद्धयौगिकः, यौगिकमूलयौगिकः, सम्भिन्नयौगिकश्चेति त्रैविध्यम्। प्रकृतिप्रत्यययोर्योगेन यत्रार्थप्रतीतिर्जायते स शुद्धयौगिकः। यथा 'भ्रमु' धातोर्गतिभ्रमोभयवाचकत्वेऽपि यावत् 'स्त्रियां क्तिन्' (पा० सू०) इति क्तिन् प्रत्ययो न भवति तावद् भ्रान्त्यर्थतावगतिर्न भवत्येव, केवलायाः प्रकृतेस्तादृशार्थानवगमात्। शुद्धयौगिकयोः समासेन यत्रार्थप्रतीतिर्भवति स यौगिकमूलयौगिकः, यथा स्फुरत्कान्तिपदम्। अत्र स्फुरधातोर्निष्पन्नः स्फुरच्छब्दः शतृप्रत्यययोगेनैव स्वार्थमवबोधयति, तथैव कमुधातोर्निष्पन्नः कान्तिशब्दश्च क्तिन्प्रत्ययेनैव स्वार्थं परिचाययति। उभावपि शब्दौ शुद्धयौगिकौ। तयोः समासेन स्फुरत्कान्तिपदं स्वार्थमवबोधयति। यौगिकायौगिकयोर्भेदेन यत्रार्थप्रतीतिः स सम्भिन्नयौगिकः, यथा कौन्तेयपदम्। अत्र कुन्तीशब्दौऽयौगिकः। 'कुन्त्या अपत्यं पुमान् कौन्तेयः' अत्र 'स्त्रीभ्यो ढक्' (पा० सू०) इति कुन्तीशब्दाद् ढकि कृतेऽयोगतद्धितयोगेन निष्पन्नस्य कौन्तेयशब्दस्यार्जुनवाचकत्वेन सम्भिन्नयौगिकत्वम्।

तथैव योगरूढस्यापि त्रैविध्यम्। सामान्यं च विशेषश्च सामान्यविशेषौ। सामान्यार्थप्रतीतिस्थले विशेषार्थप्रतीतिः, विशेषार्थप्रतीतिस्थले सामान्यार्थप्रतीतिरिति सामान्यविशेषयोर्विनिमयात् सामान्यं विशेषश्चेति द्वौ भेदौ। यत्र च पुनः सामान्यविशेषोभयार्थबोधस्तन्मिश्रत्वमिति योगरूढस्य तृतीयो भेदः। प्रथमस्योदाहरणं नीरधिपदम्। नीराणि जलानि दधातीति-नीरधिः। अयं शब्दो व्युत्पत्या तडागसरित्प्रभृतिसामान्यार्थं विहाय समुद्ररूपं विशेषमर्थं रूढ्या बोधयति, तथैव पङ्कजादिपदमपि पङ्कोत्पन्नसूक्ष्मकीटसारसादिसामान्यार्थं विहाय कमलरूपं विशेषमर्थमवगमयति। एवं सुधाया इदं सौधमिति शब्दः सुधाविनिर्मितयत्किमपि पदार्थान्तरसामान्यमपहाय राजसदनरूपविशेषमर्थं बोधयति। एवं सगरेण निर्वृत्तः सागर इति शब्दः

अर्थ हो सकता है, किन्तु 'भूवादयो धातवः' इत्यादि में वह नहीं हो सकता। अतः भू शब्द से धातु का ही ग्रहण होता है, सत्ता रूप अर्थ का नहीं। जहां अवयवार्थ के होने पर भी तात्पर्य विषयक अर्थ अनन्वित होते हुए भी भासित होता है, वह योगाभासरूढ़ शब्द है, जैसे कि मण्डप। यहां मण्डपान क्रिया के कर्त्ता के रूप में पुरुष के उपस्थित रहने पर भी 'देवदत्त मण्डप में प्रविष्ट होता है' यहां गृह विशेष को लक्ष्य कर उच्चरित मण्डप शब्द में उक्त योगार्थ का अन्वय नहीं हो सकता, अतः समुदाय शक्ति से गृह विशेष रूप अर्थ की प्रतीति होती है। जयदेव के अनुसार यौगिक शब्द के भी शुद्धयौगिक, यौगिकमूलयौगिक और संभिन्नयौगिक नामक तीन भेद होते हैं।

इसी तरह से योगरूढ़ शब्द भी त्रिविध है। सामान्य अर्थ की प्रतीति के स्थल में विशेष अर्थ की प्रतीति और विशेष अर्थ की प्रतीति के स्थल में सामान्य अर्थ की प्रतीति, इस तरह से सामान्य और विशेष के विनिमय से दो भेद होते हैं। जहां उभयविध अर्थ का ज्ञान होता है, वहां योगरूढ़ का मिश्र नामक तृतीय भेद माना जाता है। नीरधि पद प्रथम का उदाहरण है। यह शब्द तडाग, सरित् प्रभृति सामान्य अर्थ को छोड़कर रूढ़ि से समुद्ररूप अर्थ का बोधक है। इसी तरह से पंकज पद भी पंक से उत्पन्न सूक्ष्म कीट प्रभृति सामान्य अर्थ को छोड़कर कमलरूप विशेष अर्थ को बताता है। सौध शब्द भी सुधा से निर्मित सामान्य गृह आदि को छोड़कर प्रासाद (राजसदन) रूप विशेष अर्थ को बताता है। सागर शब्द भी राजा सगर से संबद्ध सामान्यपदार्थ को छोड़कर समुद्र रूप विशेष अर्थ का बोधक है। भूरुह पद भू से उत्पन्न सामान्य अर्थ को छोड़कर वृक्षरूप विशेष अर्थ का बोधक है। इसी तरह से शशि पद भी कर्पूर प्रभृति सामान्य अर्थ को न बताकर चन्द्ररूप विशेष अर्थ को जताता है। इसी तरह से 'आकाशपंकज' यह पद विशेष अर्थ को छोड़कर चन्द्ररूप अर्थ का बोधक है। नीरधि पद से नीर (जल) के अधिष्ठान भूत सामान्य अर्थ का ग्रहण करने पर क्षीर पद व्यर्थ हो जायगा,

सगरराजसम्बन्धिपदार्थान्तरं विहाय समुद्ररूपं विशेषार्थं प्रत्याययति। भूरुहपदमपि भूजातत्वमपहाय वृक्षत्वरूपं विशेषार्थं बोधयति। एवं शशिपदं कर्पूरशशधरपुरुषादिरूपं परित्यज्य चन्द्रत्वरूपं बोधयति। एवमेव आकाशपङ्कजमिति पदं विशेषार्थमपहाय चन्द्ररूपमर्थं बोधयति। नीरधिपदेन नीराधिष्ठानरूपे सामान्यार्थे गृहीते क्षीरपदस्य वैयर्थ्यं स्यादिति समुद्ररूपो विशेषार्थो गृह्यते। तथैवाकाशपङ्कजमित्यत्र कमलत्वरूपविशेषार्थस्वीकारे आकाशपदस्य तत्रानन्वयात् तेन पङ्कजपदस्य कमलत्वरूपविशेषार्थमुपेक्ष्य पङ्कजनित्वरूपः सामान्यार्थो गृह्यते। तेनाकाशपङ्कजमिति चन्द्रो बोध्यते। आकाशपदस्य आकाशगङ्गायां लक्षणामाश्रित्य पङ्कस्य तत्र सम्भवान्न बाधः। नीरधितया 'कूपः सागर इव राजते' अत्र कूपपक्षे नीरधिपदस्य जलाधिष्ठानरूपसामान्यार्थस्य सागरपक्षे च समुद्ररूपविशेषार्थस्याश्रयणादुभयार्थप्रतीत्या तन्मिश्रत्वमवगन्तव्यम्।

यद्यपि लोकवेदाधिकरणे य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकाः शब्दाः, य एव लौकिकानां शब्दानामर्थः स एव वैदिकानामिति निर्णीतम्, महाभाष्ये च लौकिकानां गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्यादीनाम् वैदिकानाम्—'शन्नो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्जे त्वा, अग्निमीडे पुरोहितम्, अग्न आयाहि वीतये' इत्यादीनां पार्थक्येनोदाहरणमुक्तम्। तेषामनुशासनं च व्याकरण-शास्त्रस्य विषयस्तथापि गौरित्यादीनां वैदिकत्वेऽपि लोके प्रयुज्यमानत्वाल्लौकिकत्वोक्तिः।

'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? किं सास्ना-लाङ्गूल-ककुद्विषाण्यर्थरूपः स शब्दः' इत्याशङ्क्य 'नेति द्रव्यं हि तत्' इत्युक्त्वा तस्य द्रव्यत्वेन तन्निराकृतम्। तदिङ्गितनिमिषितादीनां शुक्लो नील इत्यादीनां च क्रियागुणादिरूपत्वमुक्त्वा यद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यं तस्याप्याकृतिरूपत्वेनाशब्दत्वमुक्त्वा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द उच्यते, तद्यथा—शब्दं कुरु, शब्दं मा कार्षीरिति। तस्मात् ध्वनिः शब्द इत्युक्तम्। तथा च श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वाल्लोके पदार्थबोधकत्वेन प्रसिद्धः ध्वनिसमूहः शब्द इति। ध्वनिशब्देनात्र वैखरी ग्राह्या।

अतः समुद्ररूप विशेष अर्थ का उससे ग्रहण करना पड़ता है, उसी तरह से 'आकाशकमल' पद का भी कमलरूप विशेष अर्थ स्वीकार करने पर आकाशपद का उससे अन्वय नहीं बनेगा, अतः पङ्कज पद का कमलरूप विशेष अर्थ न लेकर 'पंक से उत्पन्न होने वाला' यह सामान्य अर्थ ही गृहीत होता है। अतः आकाशपंकज शब्द से चन्द्रमा का बोध होता है। आकाशपद की आकाशगंगा में लक्षणा करने पर उसमें उत्पन्न चन्द्रमा का बाध नहीं होगा। लबालब जल भरे रहने के कारण कूप सागर के जैसा प्रतीत होता है। यहां पर कूप के पक्ष में नीरधिपद की जलाधिष्ठान रूप सामान्य अर्थ में और सागर पक्ष में समुद्ररूप विशेष अर्थ को स्वीकार करने से उभयविध अर्थ की प्रतीति होने से यह मिश्ररूढ़ि का उदाहरण है।

यद्यपि लोकवेदाधिकरण में जो लौकिक शब्द हैं, वे ही वैदिक भी हैं; जो लौकिक शब्दों के अर्थ हैं, वे ही वैदिक शब्दों के भी अर्थ हैं; यह निर्णय किया गया है और महाभाष्य में गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती, शकुनि, मृग, ब्राह्मण इत्यादि को लौकिक तथा 'शन्नोदेवी' 'इषे त्वार्जे', 'अग्निमीले', अग्न आयाहि' इत्यादि को वैदिक शब्दों के उदाहरण के रूप में उपस्थित किया है और कहा है कि इनका अनुशासन व्याकरणशास्त्र करता है। यहाँ गौ प्रभृति शब्दों की वैदिकता के रहते हुए भी लोक में प्रयुक्त होने से इनको लौकिक भी माना जाता है।

महाभाष्य में 'गौ' के विषय में प्रश्न किया गया है कि यहाँ शब्द का स्वरूप क्या है ? क्या सास्ना, लांगूल, ककुद्, विषाण से युक्त आकार शब्द है ? नहीं यह तो द्रव्य है, ऐसा कहकर उसका निराकरण किया है कि यह तो द्रव्य है, शब्द नहीं। उसकी चेष्टा, नेत्र निमेष-उन्मेष और शुक्ल नील इत्यादि को क्रिया और गुण बताकर इनकी भी शब्दरूपता का निराकरण करने के बाद वहाँ कहा गया है कि तोड़ देने पर जो नहीं टूटता, फोड़ देने पर जो नहीं फूटता वह सामान्य भी आकृति रूप होने से शब्द नहीं हो सकता। अन्त में वहाँ बताया गया है अर्थ की प्रतीति करानेवाली ध्वनि को शब्द कहा जाता है। जैसे शब्द बोलो, शब्द मत बोलो, इत्यादि स्थलों पर ध्वनि के उच्चारण का निषेध किया जाता है, अतः यह ध्वनि ही शब्द माना जाता है। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य पदार्थबोधक ध्वनिसमूह को ही शब्द कहा जाता है। ध्वनि शब्द से यहाँ वैखरी वाणी का ग्रहण किया जाता है।

'यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् व्यवहारकाले। सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥' यथैव शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः। अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति भूयांसोऽपशब्दाः, एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपशब्दाः। नाज्ञानेन निर्वाहः, अजानतोऽपि सुरापानब्रह्महत्यादिभिर्दोषश्रवणात्। किन्तु विज्ञानं शरणम्। वाग्वित् शब्दान् प्रयुङ्क्ते नापशब्दान्। ज्ञानपूर्वकप्रयोगादभ्युदयभाग् भवति। तथा चापशब्दप्रयोग एवाधर्महेतुः, न ज्ञानमात्रम्। 'अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्। प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ॥' (वा० प०) इति भर्तृहरिर्वाक्यपदीये। संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यः स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिका शब्दा उपदिश्यन्ते।

किं पुनराकृतिः शब्द आहोस्विद् द्रव्यम्, उभयमित्याह। सङ्ग्रहनिर्णयोऽपि दर्शितो भाष्यकारेण—'यद्येव नित्यः, अथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यम्। नित्यशब्दवादे शास्त्रस्य धर्मजनकताधिकरणे विचारितम्—'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' (वा०) सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति महाभाष्यम्। प्रदीपरीत्या नित्यः शब्दो जातिस्फोटलक्षणः, व्यक्तिस्फोटलक्षणो वा। कार्यशाब्दिकानामपि प्रवाहनित्यतयाऽर्थस्यापि जातिलक्षणस्य नित्यत्वम्। द्रव्यपक्षेऽपि सर्वशब्दानामसत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं वाच्यमिति नित्यता। प्रवाहनित्यतया नित्यपर्यायः सिद्धशब्दः। कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु सिद्धा द्यौः सिद्धा पृथिवी सिद्धमाकाशमिति प्रयुज्यते। यद्यपि सिद्ध ओदनः सिद्धः सूप इत्यनित्येष्वपि सिद्धशब्दः प्रयुज्यते। सङ्ग्रहे कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यायिनः सिद्धशब्दस्य वार्त्तिके ग्रहणम्। अप एव भक्षयतीत्यब्भक्षः, वायुमेव भक्षयतीति वायुभक्षः, इतिवत् सिद्ध एव न साध्य इति, पूर्वपदलोपेनात्यन्तसिद्धः सिद्ध इत्यर्थः। तद्यथा देवदत्त दत्त इति। नित्यपर्यायिनो ग्रहणमिति

महाभाष्य के 'यस्तु प्रयुङ्क्ते' प्रभृति श्लोक में बताया गया है कि जैसे शब्द के ज्ञान से धर्म होता है, उसी तरह से अपशब्द के ज्ञान से अधर्म होता है। अधर्म ही ज्यादा होगा, क्योंकि अपशब्द बहुत से हैं, एक-एक शब्द के पर्यायवाची अपशब्दों की संख्या अधिक होती है। अनजान में सुरापान आदि करने से भी अधर्म होता ही है, अतः शब्दों का ज्ञान होना आवश्यक है। वैयाकरण शब्दों का ही प्रयोग करेगा, अपशब्दों का नहीं। अपशब्दों के प्रयोग से ही अधर्म होता है, उनके ज्ञान से नहीं। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने कहा है कि सही शब्दों का प्रयोग करनेवाला महान् ऋषभ शब्दब्रह्म का सायुज्य प्राप्त कर लेता है। यज्ञोपवीत संस्कार हो जाने के बाद ब्राह्मण व्याकरण का अध्ययन करते हैं। उसको स्थान,करण, नाद आदि का ज्ञान करा देने के बाद वैदिक शब्दों का उपदेश किया जाता है।

आकृति शब्द है या द्रव्य ? ऐसा प्रश्न करके महाभाष्यकार ने उत्तर दिया है कि दोनों को मिला देने पर शब्द का स्वरूप बनता है। उन्होंने संग्रहकार के निर्णय का भी उल्लेख किया है कि शब्द नित्य होते हुए भी कार्य भी है। दोनों स्थितियों को मानकर ही लक्षण की प्रवृत्ति होनी चाहिये। शब्द को नित्य मानकर उसके विषय में 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' प्रभृति भाष्यग्रन्थ में विचार किया गया है। प्रदीपकार कैयट का कहना है कि जाति स्फोटलक्षण अथवा व्यक्तिस्फोटलक्षण शब्द नित्य है। कार्य शब्द भी प्रवाहरूपेण नित्य है और जातिलक्षण उनका अर्थ भी नित्य है। द्रव्य पक्ष में भी सभी शब्दों का असत्य उपाधियों से अवच्छिन्न ब्रह्मतत्त्व ही वाच्य है, अतः उनको नित्य ही माना जायगा। प्रवाह नित्यता का प्रदर्शक होने से सिद्धशब्द नित्य शब्द का पर्यायवाची है। कूटस्थ, अविनाशी भावों के लिये सिद्ध शब्द प्रयुक्त होता है, जैसे कि 'सिद्धा द्यौ, सिद्धा पृथिवी, सिद्धम् आकाशम्' इत्यादि। यद्यपि 'सिद्ध ओदनः, सिद्धः सूपः' इत्यादि स्थलों पर अनित्य भावों के लिये भी सिद्ध शब्द का प्रयोग देखा जाता है, किन्तु इसीलिये संग्रहकार ने कहा है कि कार्य स्वभाव के विरोधी अर्थ में यहाँ सिद्ध पद का प्रयोग किया गया है, अतः हमारा मानना है,कि वार्त्तिककार ने यहाँ नित्य शब्द के पर्याय के रूप में इस शब्द का प्रयोग किया है। महाभाष्यकार का कहना है कि हम आगे विस्तार से समझावेंगे कि यहाँ नित्यपर्याय सिद्ध शब्द का प्रयोग किया गया है, क्योंकि व्याख्या से ही अर्थ स्पष्ट हो पाते हैं। प्रश्न होता है कि तब स्पष्ट रूप से नित्य शब्द का ही प्रयोग क्यों नहीं किया गया, जिससे कि किसी प्रकार का सन्देह न रह जाय। इसका उत्तर है कि सिद्ध शब्द का प्रयोग यहाँ मंगल के लिये किया गया है। सिद्ध शब्द मंगलसूचक है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में, मध्य में और अन्त में भी मंगल सूचक

व्याख्यास्यामः, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः। किन्न महता कण्ठेन नित्यः शब्द एवोपात्तः। यस्मिन्नुपादीयमानेऽसन्देहः स्यात्। मङ्गलार्थम् (महा०) मङ्गलादीनिशास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च भवन्ति।

नित्यशब्दोऽपि न कूटस्थेष्वेव भावेषु प्रवर्तते, नित्यप्रहसितं नित्यजल्पितमित्यादा आभीक्ष्ण्येऽपि प्रयोगात्। पदार्थः क इति शङ्कायामाकृतिमित्याह—आकृतिर्हि नित्या द्रव्यमनित्यम्। द्रव्ये पदार्थे कथं विग्रहः कर्त्तव्य इत्याक्षिप्य सिद्धे शब्दे, अर्थे, सम्बन्धे चेति नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः। पक्षान्तरे द्रव्यस्य पदार्थत्वमभ्युपगम्योक्तं तथा च सिद्धे शब्दे, अर्थे सम्बन्धे चेति। द्रव्यं हि नित्यमाकृतिश्चानित्या। लोके मृत् कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते, घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते। एवं सुवर्णस्य कटक-मुकुटकुण्डलादयो निर्मीयन्ते।

आकृतिपदार्थाभ्युपगमपक्षे त्वाकृतेर्नित्यत्वमुपगतम्। एकाकारपरामर्शहेतुत्वादाकृतेर्नित्यत्वम्, एकस्मिन् घटे नष्टे घटाकृतेरुपरतावपि घटान्तरे विद्यमानत्वात्। यस्मिन् तत्त्वं न विहन्यते तदपि नित्यम्। तद्भावस्तत्त्वम्। आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते। असत्यत्वेऽपि तत्त्वतो लोकव्यवहाराश्रयत्वे जातेर्लक्षणायां आकृतेर्नित्यता। लोकतः (वार्त्तिकम्) यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते नैषां निवृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति। यथा घटार्थी कुलालकुलं गत्वा कुरु घटमित्याह—न तद्वत् शब्दान् प्रयुयुक्षमाणो-वैयाकरणकुलं गत्वाह-कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति। लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः। यथा लौकिकवैदिकेषु—क्षुत्प्रतिघातार्थं भक्ष्यमुपादीयते। शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्। तत्र इदं भक्ष्यमिदमभक्ष्यमिति नियमः। खेदात् स्त्रीषु प्रवृत्तिः, तत्र नियम इयं गम्या इयमगम्येति। वेदे खल्वपि—पयोव्रतो ब्राह्मणः, यवागूव्रतो राजन्यः,

शब्दों की उपस्थिति रहने पर न केवल ग्रन्थ ही निर्विघ्न समाप्त होता है, अपितु उसके पढ़नेवालों को भी धर्म होता है और उनकी आत्मा पवित्र होकर वीर्य, शौर्य प्रभृति गुणों से युक्त होती है।

नित्य शब्द का प्रयोग भी केवल कूटस्थ भावों के लिये ही न होकर नित्य प्रहसित, नित्य प्रजल्पित आदि स्थानों में आभीक्ष्ण्य का वाचक माना जाता है कि यह बहुत हंसता रहता है अथवा बोलता रहता है। पदार्थ क्या है? इसके उत्तर में आकृति को ही पदार्थ माना गया है, क्योंकि द्रव्य अनित्य और आकृति नित्य होती है। द्रव्य को पदार्थ मानने पर कैसा विग्रह करना चाहिये, इस प्रश्न के उत्तर में शब्द, अर्थ और उसके सम्बन्ध को नित्य बताया गया है। पक्षान्तर में द्रव्य को पदार्थ मानकर भी यही व्युत्पत्ति की गई है। वहां बताया गया है कि द्रव्य नित्य हैं और आकृति अनित्य है। लोक में देखा जाता है कि मिट्टी को कोई आकृति देकर पिण्ड बना दिया जाता है, इस आकृति को मिटाकर घटिका और फिर उसको भी मिटाकर कुण्डिका बना दी जाती है। इसी तरह से सुवर्ण को भी कटक, मुकुट, कुण्डल प्रभृति विभिन्न आकृतियों में बदल दिया जाता है।

आकृति को पदार्थ माननेवाले आकृति को ही नित्य मानते हैं। एक समान आकारवाली वस्तुओं का बोध कराने के कारण आकृति को नित्य माना जाता है। एक घट के नष्ट हो जाने पर उसकी आकृति भी यद्यपि नष्ट हो जाती है, किन्तु साथ ही दूसरे में वह विद्यमान भी है। नित्य का लक्षण यही है कि तत्त्वतः जो नष्ट न हो। आकृति भी तत्त्वतः नष्ट नहीं होती, वह यद्यपि असत्य है तब भी लोक का व्यवहार उसी पर निर्भर है अतः उसकी जाति में लक्षणा कर देने पर आकृति की नित्यता सिद्ध हो जायगी। लोक में अर्थ को देखकर शब्द का प्रयोग किया जाता है; इनको बनाने का प्रयत्न नहीं किया जाता। घट को चाहनेवाला कुम्हार के घर जाकर कहता है कि मेरे लिये घड़ा बना दो। इस तरह से कोई व्यक्ति वैयाकरण के घर जाकर यह नहीं कहता कि मेरे लिये शब्द बना दो, मैं उनका प्रयोग करूंगा। लोक व्यवहार से शब्द प्रयोग सिद्ध है। शास्त्र केवल इतना कहता है कि साधु शब्द के प्रयोग से धर्म होता है। लोक में क्षुधा की शान्ति के लिये भोजन अपेक्षित है। कुत्ते के मांस से भी भूख मिट सकती है। किन्तु शास्त्र भक्ष्य और अभक्ष्य का विवेचन करता है। आवेग के कारण स्त्री के प्रति आकर्षण होता है। शास्त्र बताता है कि यह गम्य है, यह अगम्य। इसी तरह से वेद में व्रत के समय ब्राह्मण के लिये दूध, राजन्य के लिये यवागू और वैश्य के लिये आमिक्षा विहित है। व्रत में शरीर धारण के लिये कोई न कोई आहार अपेक्षित है। चावल,

आमिक्षाव्रतो वैश्यः व्रतं च नामाभ्यवहारार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन शालिमांसादिकमप्यादातुम् तत्र नियमः क्रियते। एवमिह समानायामर्थावगतौ शब्देनापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति। एवं क्रियमाण-मभ्युदयकारि भवति।

'अस्त्यप्रयुक्तः' (वार्तिक)। सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ताः। तद्यथा—ऊष, तेर, चक्र, पेचेति। (महाभाष्यम्)। "लोकेऽप्रयुक्ताः शास्त्रदृष्टया प्रकृतिप्रत्ययादिसद्भावादनुमितसत्त्वा व्यवहारे तु न दृश्यन्ते' (इति प्रदीपः)। प्रयोगान्यत्वात्—यदेतेषां शब्दानामर्थेऽन्यान् शब्दान् प्रयुङ्क्ते ऊष इत्यर्थे क्व यूयमुषिताः, तेर इत्यर्थे क्व यूयं तीर्णाः, चक्र इत्यस्यार्थे क्व यूयं कृतवन्तः, पेच इत्यर्थे क्व यूयं पक्ववन्तः। वेदेऽप्येते 'रेवती रेवपू ष्य 'यन्मेन्तरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्रौ (ऋ० सं० १।१६५।११) 'यत्रानश्चक्रा जरसं तनूनाम्'इति महाभाष्ये (वा० सं० २५।२२) अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत् तद्यथा दीर्घसत्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि। न चाद्यत्वे कश्चिदप्याहरति। केवलमृषिसम्प्रदायो धर्मं इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते। सर्वे देशान्तरे न चैवोपलभ्यन्ते। उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। तथा च श्रुतिः—'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः शास्त्रान्वितः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति' इति। ज्ञानात्सुप्रयोगः, सुप्रयोगादपूर्वं इत्येकस्य प्राधान्य-मपरस्याङ्गत्वम्। 'सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते। पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधार्यताम्॥' इति न्यायात्।

'ज्ञाने धर्म आहोस्वित् प्रयोगे ? ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मः·····अथवा भूयानधर्मः·····ज्ञानपक्षाभावे वार्तिकम्—आचारे पुनर्ऋर्षिर्नियमं वेदयते तेऽसुरा हेऽलयो हेऽलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। अस्तु तर्हि प्रयोगे (वा) प्रयोगे–सर्वलोकस्य कश्चेदानीं भवतो मत्सरः ? न मत्सरः' प्रयत्नानर्थक्यं तु भवति। फलवता च नाम यत्नेन भवितव्यम्,। ननु ये कृतप्रयत्नास्ते साधीयः शब्दान् प्रयोक्ष्यन्ते। अत एव साधीयोऽभ्युदयेन योक्ष्यन्ते। व्यतिरेकोऽपि वै लक्ष्यते दृश्यन्ते कृतप्रयत्नाश्चाप्रवीणा अकृतप्रयत्नाश्च

मांस का भी उसमें ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु उपर्युक्त वैदिक वाक्य उसको नियमित कर देते हैं। इसी तरह से साधु शब्द और अपशब्द से समान रूप से अर्थ की अवगति होने पर भी यह नियम बना दिया जाता है कि साधु शब्द के उच्चारण से ही धर्म होगा।

ऊष, तेर, चक्र, पेच प्रभृति अनेक वैदिक शब्द ऐसे हैं, जिनका कि उन अर्थों में लौकिक प्रयोग नहीं मिलता। लोक में इनके स्थान पर अन्य शब्द प्रयुक्त होते हैं। जैसे कि ऊष के स्थान में उषित, तेर के स्थान पर तीर्थ, चक्र के स्थान पर कृतवन्तः, पेच के स्थान पर पक्ववन्त शब्द प्रयुक्त होते हैं। महाभाष्य में बताया है कि दीर्घसत्र के समान ही इनकी स्थिति माननी चाहिये। सौ वर्ष या सहस्र वर्ष पर्यन्त चलनेवाले सत्रों का अनुष्ठान आज कल नहीं होता। केवल ऋषि सम्प्रदाय चलता रहे, इसके लिये याज्ञिकगण शास्त्रानुसार इनका विधान करते चले आ रहे हैं। अन्य देशों में इनकी उपलब्धि नहीं होगी, ऐसा हम नहीं कह सकते। इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। शब्द के प्रयोग के लिये बहुत विशाल क्षेत्र है। श्रुति में बताया गया है कि एक शब्द का भी सम्यग् ज्ञान और प्रयोग होने पर वह स्वर्गलोक की सभी कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ है। साधु शब्द का ज्ञान होने पर उसका सही प्रयोग होगा और इससे अपूर्व की उत्पत्ति होगी। इस तरह से शब्द की साधुता का ज्ञान ही प्रधान है, उसका प्रयोग हो ही, यह आवश्यक नहीं है।

शब्द के ज्ञान से धर्म होता है कि प्रयोग से ? यदि ज्ञान से धर्म माना जाता है, तो अपशब्द के ज्ञान से अधर्म भी होगा। यहां अपशब्दों की अधिकता के कारण अधर्म ही अधिक होगा। तब प्रयोग में ही धर्म मान लिया जाय, सभी प्रयोक्ताओं को धर्म की प्राप्ति हो तो इससे आप क्यों कुढते हैं ? हम मत्सर के मारे यह नहीं कहते, हमारा तो कहना यह है कि इस तरह का प्रयत्न व्यर्थ जायगा। कोई भी प्रयत्न फलवान् होना चाहिये। प्रश्न है कि जो परिश्रम करेंगे, वे साधु शब्दों का प्रयोग करेंगे और शुभ अभ्युदय को प्राप्त करेंगे। किन्तु इसके विपरीत भी देखा जाता

प्रवीणाः ⋯शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयः 'तत्तुल्यं वेदशब्देन' (वार्तिकम्) 'शास्त्रपूर्वकम्' (वार्तिकम्) शास्त्रपूर्वकं यः शब्दान् प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते। तत्तुल्यं वेदशब्देन' वेदशब्दा अप्येवं वदन्ति योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद, योऽग्नि नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद' अपर आह–(वा० तत्तुल्यं वेद शब्देन' इति। यथा वेदशब्दा नियमपूर्वमधीताः फलवन्तो' भवन्ति। एवं यः शास्त्रपूर्वकं शब्दान् प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यत इति।' तत्तुल्यमिति वेदःशब्दो यस्यार्थस्य स वेदशब्दः, तस्य यथा ज्ञात्वानुष्ठानम्, तथा शब्दानामपि प्रकृत्यादिविभागज्ञानपूर्वकः प्रयोग इत्यर्थः' (इति प्रदीपः)। 'अपर आह–तत्तुल्यं वेदशब्देन वेदशब्दा यथा नियमपूर्वकमधीताः फलवन्तो भवन्ति, एवं यः शास्त्रपूर्वकं शब्दान् प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते। ननु चोक्तं ज्ञान एव धर्मं इति चेत्, तथाऽधर्मं इति नैष दोषः। शब्दप्रमाणका वयं यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्। शब्दश्च धर्मज्ञाने धर्ममाह नापशब्दज्ञानेऽधर्मम्। 'यच्च पुनरशिष्टाप्रतिषिद्धम्' (वार्तिकम्) नैव तद्दोषाय भवति नाभ्युदयाय। तद्यथा हिक्कितहसितकण्डूयितानि नैव दोषाय भवन्ति नाभ्युदयाय। अथवा ज्ञाने धर्म इति ब्रुवतोऽर्थादापन्नं भवति अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः' (महाभाष्यम्)। अपशब्दज्ञाननान्तरीयकत्वाद् शब्दज्ञानस्य पृथक्फलमपशब्दज्ञाने नास्तीत्यर्थः। अथवा कूपखानकवदेतद्भविष्यति। तद्यथा कूपखानकः कूपं खनन् यद्यपि मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति सोऽप्सु सञ्जातासु तत एव तं गुणमासादयति येन स च दोषो निर्हन्यते भूयसाभ्युदयेन च योगो भवति एवमिहापि। यद्यप्यपशब्दज्ञानेऽधर्मः, तथापि यस्त्वसौ शब्दज्ञाने धर्मः स च दोषो निधानिष्यते, भूयसा चाभ्यु दयेन योगो भविष्यति।

रूढिशब्दप्रकारास्ताच्छीलिकाः। न च रूढिशब्दा गतिभिर्विशेष्यन्ते। नहि भवति देवदत्तः प्रदेवदत्त इति' (महाभाष्यम् ३।२।५५) यथा रूढिशब्देषु क्रिया केवलं व्युत्पत्यर्थमाश्रीयते गच्छतीति गौरिति, तेन गमनक्रियारहितोऽपि गौर्भवति। गोपिण्डाच्चान्योऽर्थो गमनविशिष्टोऽपि गौर्न भवति। 'उणादयो बहुलम्' (पा०सू० ३।३।१) इति। सूत्रेणोणादि-

है कि प्रयत्न कर अध्ययन करने वाले और बिना अध्ययन किये व्यक्ति भी समान रूप से शब्दों के प्रयोग में कुशल होते हैं। अतः मानना पड़ता है कि शास्त्र के अध्ययन पूर्वक शब्दों का प्रयोग करने पर ही अभ्युदय प्राप्त होता हैं। यहां पर वेद के समान ही न्याय की प्रवृत्ति होती है। वेद शब्द कहते हैं कि जो अग्निष्टोम यज्ञ करता है और जो इस नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, उनका समान फल है। जैसे वैदिक अनुष्ठान उसके पूरे विधि-विधान को जानने के बाद ही किया जाता हैं, उसी तरह से शब्दों का प्रयोग भी प्रकृति, प्रत्यय आदि के विभाग को जानने के बाद ही करना चाहिये। 'तत्तुल्यं वेदशब्देन' का एक दूसरा अर्थ भी हैं कि वेदशास्त्र का नियमपूर्वक अध्ययन करने से जैसे उसका शुभफल मिलता हैं, इसीतरह से शास्त्र का अध्ययन करके जो साधु शब्दों का प्रयोग करता हैं वह भी अभ्युदय से संयुक्त होता हैं। तब इसका क्या उत्तर है कि यदि साधु शब्द के दान से धर्म होता है, तो अपशब्दों के ज्ञान से अधर्म भी होगा ? उत्तर है कि ऐसी बात नहीं हैं। हम लोग शब्द को प्रमाण मानते हैं। यह शब्द साधु शब्द के ज्ञान से धर्म होता है, इतनी ही बात कहता हैं। अपशब्द के ज्ञान से अधर्म होता है, ऐसा कहीं नहीं कहा गया है (अपशब्द के ज्ञान से न तो धर्म होता है और न अधर्म ही। जैसे हिचकी लेना, हंसना, खुजलाना न तो दोष के लिये होता हैं और न अभ्युदय के लिपे ही। अथवा 'ज्ञाने धर्मः' इसका अर्थ यह कर लिया जायगा कि अपशब्द के साथ शब्द का भी ज्ञान होने से धर्म होता है। ज्ञान का ज्ञान अपशब्द के साथ जुड़ा हुआ है, अतः अपशब्द के ज्ञान का अलग से कोई फल नहीं विहित है। अथवा कूप खननेवाले का दृष्टान्त यहां लागू होगा। जैसे कूप को खोदने वाला पहले मिट्टी और धूल से भर जाता हैं, किन्तु पानी निकल आने के बाद उसी से नहाकर वह स्वच्छ हो जाता है। इसीप्रकार यहां भी होगा कि यद्यपि अपशब्द के ज्ञान से अधर्म होगा, किन्तु जैसे-जैसे उसके साधु शब्दों का ज्ञान बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे अपशब्दजनित दोष निवृत्त होते रहेंगे और वह महान् कल्याण से संयुक्त हो जायगा।

रूढि शब्दों का अपना विशिष्ट स्वभाव होता है। गति प्रभृति से इनमें विशेषता का आधान नहीं किया जा सकता। देवदत्त को कोई प्रदेवदत्त नहीं कहता। ऐसे रूढि शब्दों में क्रिया केवल व्युत्पत्ति के निमित्त निर्दिष्ट की जाती है। 'गच्छतीति गौः' यह केवल व्युत्पत्तिप्रदर्शन मात्र है। गमन क्रिया के अभाव में भी वह 'गौ' कही जाती है और गोपिण्ड से भिन्न पिण्ड के चलने पर

सिद्धा अपि शब्दाः सङ्गृहीता भवन्ति, विशेषतो नैगमानां रूढानां शब्दानां साधुत्वं तेन सिद्ध्यति। अपशब्देभ्यो भिन्नत्वात्तेषामपि साधुशब्दत्वमेव, वैदिकत्वात् शिष्टप्रयुक्तत्वाच्च। साधुत्वाच्च तत्प्रयोगेण पुण्यनिष्पत्तिः। 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः शास्त्रान्वितः स्वर्गेलोके च कामधुग्भवति' इति शास्त्रपूर्वकप्रयोगेण विशेषतः पुण्यजनकत्वमुक्तम्।

औणादिकाः शब्दा अव्युत्पन्नप्रातिपदिकत्वाद् रूढ़ा एव। 'उणादयो बहुलम्' (पा० सू० ३।३।१) इत्यत्र 'पुवः संज्ञायाम्' (पा० सू०) इत्यतः संज्ञाग्रहणमनुवर्त्य उणादिप्रत्ययान्ताः सर्वे संज्ञाशब्दा इति दयानन्दातिरिक्तैः सर्वैरपि वृत्तिकारैर्व्यवस्थापनात्। यत्तु-'उणादिशास्त्र एव सप्तकृत्वः संज्ञापदनिर्देशात् तदयुक्तमिति', तन्न, अवान्तरसंज्ञाबोधने तत्तात्पर्यावसानात्। यथा देवसंज्ञान्तर्गता अपि रुद्रादित्यवस्वादिसंज्ञाः सन्ति, प्रातिपदिकसंज्ञान्तर्गता अपि अवान्तरा अनेकाः संज्ञाः सन्ति, तथैव प्रकृतेऽपि वोद्धव्यत्वात्। 'नैगमरूढिभवं हि सुसाधु' इति महाभाष्येण नैगमरूढशब्दसाधुत्वार्थमेवोणादिकमिति कण्ठत एवोक्तत्वात्। यथा निरुक्तोक्तनिर्वचनेनापि प्रसिद्ध एवार्थो व्युत्पाद्यते, तथैवोणादिविधानैरपि प्रसिद्धार्थस्यैव व्युत्पादनात्। अत एव पायुशब्देनोणादिव्युत्पत्यापि गुदेन्द्रियमेवावबोधनीयम्, न रक्षकत्वेन परमेश्वर इति। तत्तदुपाधिविशिष्टः परमात्मैव सर्वशब्दाभिधेय इति त्वन्यदेतत्।

what is it

what is meant by [illegible]

यत्तु—'संज्ञाग्रहणेनोणादयः सामान्यार्थे यौगिका भवन्ति, संज्ञायास्तस्मिन्नर्थे रूढत्वात्। यदि च प्रकृतिप्रत्ययविभागेन औणादिकेभ्यो यौगिकार्थो न निःसरेत्, तर्हि सर्व उणादिस्थाः शब्दाः संज्ञावाचकाः स्युः, पुनः संज्ञाग्रहणमनर्थकं स्यात्।' इति, तदपि तुच्छम्, अवान्तरसंज्ञाबोधनार्थं संज्ञाग्रहणसार्थकत्वोपपत्तेः। प्रकृतिप्रत्ययविभागेन साधुत्वप्रदर्शनं तु शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थमेव।

भी उसको गौ नहीं कहा जाता। 'उणादयो बहुलम्' सूत्र से उणादि से सिद्ध शब्दों का संग्रह किया गया है। विशेषतः नैगम और रूढ शब्दों की सिद्धि उनसे होती है। अपशब्दों से भिन्न होने से ये भी साधु शब्द ही हैं। साधु शब्द होने से इनके प्रयोग से भी पुण्य की प्राप्ति होगी। 'एक शब्दः' श्रुति में शास्त्र से परिज्ञात शब्दों के प्रयोग में विशेष रूप से पुण्यजनकता बताई गई है।

औणादिक शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक होने से रूढ माने जाते हैं। 'उणादयो बहुलम्' इस सूत्र में 'पुवः संज्ञायाम्' इस सूत्र से संज्ञा पद की अनुवृत्ति मानकर उणादि प्रत्ययान्त सभी संज्ञा शब्द हैं, इस बात को दयानन्द को छोड़ बाकी सभी वृत्तिकारों ने माना है। उणादि शास्त्र में ही सात वार संज्ञा पद का निर्देश होने से इन वृत्तिकारों का उक्त अनुवृत्ति सही नहीं है, यह कथन स्वयं अपने में सदोष है। उनको अवान्तर संज्ञाओं के बताने में उनका तात्पर्य माना जाता है। जैसे देवसंज्ञा के अन्तर्गत रुद्र, आदित्य आदि संज्ञाएं होती हैं, अथवा जैसे प्रातिपदिक संज्ञा के अन्तर्गत भी अन्य अनेक संज्ञाएं होती हैं, उसी तरह से यहां समझना चाहिये। महाभाष्य में स्पष्ट ही कहा गया है कि नैगम और रूढ शब्दों की साधुता के प्रदर्शन के लिये ही उणादि प्रत्ययों का विधान है। निरुक्त के निर्वचन की तरह ही उणादि का विधान भी प्रसिद्ध अर्थ को बताने के लिये ही है।

यह कहा जाता है कि संज्ञा पद के ग्रहण से ऐसा प्रतीत होता है कि उणादि प्रत्यय सामान्य अर्थ में यौगिक होते हैं। यदि प्रकृति और प्रत्यय के विभाग से औणादिक शब्दों से यौगिक अर्थ न निकले। तो फिर सभी उणादि प्रकरण सिद्ध शब्द संज्ञावाचक ही होंगे, तब पुनः संज्ञा पद का ग्रहण व्यर्थ होगा। किन्तु आर्यसमाजियों का यह दृष्टिकोण सही नहीं है, क्योंकि अवान्तर संज्ञा का बोध कराने के लिये सं ा पद ग्रहण की सार्थकता है। प्रकृति-प्रत्यय के विभाग से शब्द की साधुता का प्रदर्शन तो केवल शिष्य की बुद्धि का विकास करने के लिये है।

[illegible] 1.143

यत्तु—'उज्ज्वलदत्तः संज्ञाधिकारे पुनःसंज्ञाग्रहणं प्रायेणौणादिकानां यौगिकत्वसिद्ध्यर्थम्' इति तदपि न मनोज्ञम्, उज्ज्वलदत्तोक्तेरुणादिव्युत्पत्तिसार्थकत्वोपपादनपरत्वात्। 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि' इति महाभाष्येण तद्यौगिकप्रतिक्षेपात्। न च तद्भाष्यं पक्षान्तरमूलकमिति वाच्यम्, असकृत्तादृशवचनानुपपत्तेः। न च तर्ह्यंग्रहणानि प्रातिपदिकानि, एतेषामपि स्वरूपवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थमुपदेशः कर्त्तव्यः' इति भाष्यं तु तेषामव्युत्पन्नप्रातिपदिकत्वे किमर्थं प्रकृतिप्रत्ययाद्युपदेश इत्याक्षेप निराकरणार्थमेव।

स्फोटवादिवैयाकरणानां रीत्या प्रकृतिप्रत्ययाद्यंशा असन्त एवार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वादुपेयन्ते, तेषां स्वरूपेणेयत्तानुपपत्तेः। भवतीत्यत्र भूशब्दः प्रकृतिः क्वचिदन्वाख्यायते क्वचिद् भवशब्दः। प्रत्ययादेशागमगुणवृद्धिवर्णलोपाद्यन्वाख्यानविसंवादम् कः पारमार्थिकः प्रकृतिप्रत्ययविभागः। कल्पनामात्रं त्वेतत्—इयं प्रकृतिरेष प्रत्यय इति। शब्दनित्यत्ववादिभिरपि प्रकृतिविकारभावः शिष्यबुद्धिवैशद्याय शास्त्रपूर्वकप्रयोगेण पुण्यविशेषोत्पादनायैवाभ्युपेयते। 'मधु-अरिः' इत्युच्चारयितव्ये मध्वरिरित्युच्चारयितव्यम् इत्येष नियमः, लोपागमादेशादिविकारोपदेशस्तु बुद्धिवैशद्यायैव। दध्यत्र मध्वत्रेत्यत्र दधिमधुपदयोरिकारोकारयोरदर्शनेऽपि तदर्थसम्प्रत्ययो दृश्यते। तस्मादपि न पारमार्थिकः पदवर्णविभागः। निरस्तावयवं वाक्यं तथाविधस्यैवार्थस्य वाचकम्। यथा पदेषु वर्णा न सन्ति वाक्येषु पदानि न सन्ति, तथा महावाक्येष्ववान्तरवाक्यान्यपि न स्युः। महावाक्यान्यपि प्रकरणापेक्षया न तात्त्विकानि सन्ति। प्रकरणान्यपि शास्त्रापेक्षया न स्युः। ततोऽपि किम् एकमेवेदं शास्त्रतत्त्वमविभागमद्वयमापतति। 'वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥' (वा० प०)। सर्वस्य ज्ञानस्य शब्दानुविद्धत्वाद् वाग्रूपताया अभावे प्रकाशो न प्रकाशेत, यतः सा वाग्रूपता प्रत्यवमर्शिनी सविकल्परूपा।

स्थान-करण प्रयत्न-क्रमव्यज्यमानगकारादिवर्णसमुदायात्मिका या वाक् सा वैखरी। विखरे देहादिसङ्घाते भवा वैखरी। 'स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा। वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना' (वा० प०)। अन्तः संकल्प्यमानक्रमवती श्रोत्रग्राह्यवर्णरूपा अभिव्यक्तिरहिता वा मध्यमा। 'केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी। प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते॥' (वा० प०)। ग्राह्यभेदक्रमादिरहिता स्वप्रकाशसंविद्रूपा वाक् पश्यन्ती। 'अविभागात्तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा। स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी॥' (वा० प०) इति।

पुनः कहा जाता है कि उज्ज्वलदत्त ने संज्ञा के अधिकार में पुनः संज्ञा शब्द के मध्य का प्रयोजन यह बताया है कि इससे औणादिक शब्दों को यौगिकता सिद्ध होती है। किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उज्ज्वलदत्त की उक्ति का तात्पर्य मात्र इतना है कि उणादि प्रकरण की व्युत्पत्ति की सार्थकता का प्रतिपादन किया जाय। महाभास्य में स्पष्ट उक्ति है कि उणादि प्रकरण सिंह शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक माने जाते हैं। 'तर्ह्यग्रहणानि' प्रभृति भाष्यवाक्य में इस संज्ञा का समाधान किया गया है कि इनके अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मान लिये जाने के बाद भी यहां पर प्रकृति-प्रत्यय का उपदेश क्यों किया गया है। महाभाष्यकार का कहना है कि इनके स्वरूप और वर्णानुपूर्वी का ज्ञान कराने के लिये ऐसा किया गया है।

स्फोटवादी वैयाकरणों के मत से प्रकृति, प्रत्यय आदि की वास्तविक स्थिति नहीं है, तो भी उनसे अर्थ प्रतीति होती है, अतः उनकी सत्ता मानी जाती है। 'भवति' पद में कोई भू को प्रकृति मानता है, कोई भव को प्रत्यय, आदेश, आगम, गुण, वृद्धि, वर्णलोप के उपदेश में भी वैयाकरणों में मतभेद है। अतः वास्तविक प्रकृति-प्रत्यय विभाग बड़ा है, इसका समाधान कर पाना कठिन है। अतः इतना अंश प्रकृति है और इतना अंश प्रत्यय यह सब वैयाकरणों की कल्पना मात्र है। शब्दनित्यतावादी भी प्रकृति विकृति मात्र को शिष्य की बुद्धि के विस्तार के लिये और शास्त्रपूर्वक प्रयोग से पुण्य विशेष के उत्पादन के लिये मानते हैं।

I quoted by [illegible] as from [illegible] 1.143

यत्तु कश्चित् 'पुराकाले यदा संस्कृतभाषायां समग्रा नाम (जाति-द्रव्य, गुण-शब्द)-अव्यय (स्वरादि-निपात)-शब्दा एकस्वरेण यौगिक एवाभिमता आसन्, तदानीमुणादिसूत्राणि शब्दानुशासनस्य कृदन्तप्रकरणान्तर्गतान्यासन्। परमुत्तरकाले धारणामेधादिशक्तिह्रासाद् यौगिकशब्दानां धातुप्रत्ययसम्बद्धयौगिकार्थाप्रतीत्या स्वरवर्णानुपूर्वीविशिष्टसमुदायादर्थविशेषप्रतीतौ च वैयाकरणाः संस्कृतभाषायां सहस्रशः शब्दान् रूढान् मन्यन्ते स्म, तथापि वैयाकरणेष्वपि शाकटायनः, नैरुक्तेषु गार्ग्यभिन्नाः सर्वे नैरुक्ता आचार्या रूढानपि शब्दान् यौगिकानेव मन्यते स्म। रूढवादिनोऽपि तेषां यौगिकत्वस्य प्राचीनपक्षस्य रक्षार्थं रूढशब्दानामपि धातुप्रत्ययनिदर्शनार्थमुणादिसूत्रात्मकं कृदन्तभागं शब्दानुशासनाद्बहिः खिलरूपेण परिशिष्टरूपेण योजितवन्तः'इति, तत्तु निर्मृलमेव, महाभाष्यादिविरुद्धत्वात्। व्याकरणशास्त्रेषु पाणिनीयमेव व्याकरणमूर्धन्यम्। तत्र च यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'इति रीत्या पतञ्जलेरनुपमं माहात्म्यं प्रसिद्धमेव। स चाव्युत्पन्नप्रातिपदिकान्युणादीनीत्याह।

निरुक्ते यास्काचार्यस्तट्टीकायां दुर्गाचार्यश्च नाम्नां यौगिकत्वायौगिकत्वसम्बन्धे चैवमाहतुः—'इतीमानि चत्वारि पदजातान्यनुक्रान्तानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके' (नि० १।१२-१३-१४)। पदचतुष्टये यानि नामानि तानि सर्वाण्यविशेषेणाख्यातजानीति शाकटायनो

मधु अरि के स्थान पर मध्वरि ऐसा उच्चारण करना चाहिये, यह नियम है, इसके अतिरिक्त लोप, आगम, आदेश आदि विचारों का उपदेश बुद्धि के विस्तार के लिये है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि पद, वर्ण का विभाग पारमार्थिक नहीं है। जैसे पदों में वर्ण नहीं है, वाक्य में पद नहीं है, उसी तरह से महावाक्यों में भी अवान्तर वाक्य नहीं माने जायंगे। महावाक्य भी प्रकरण की अपेक्षा अवास्तविक ही रहेंगे। प्रकरण भी शास्त्र की अपेक्षा पारमार्थिक नहीं माने जायंगे। इस तरह से अन्ततः एक शास्त्र ही अविभागात्मक अद्वय तत्व माना जायगा। वाक्यपदीपकार ने ठीक ही कहा है कि सभी ज्ञान शब्द से अनुविद्ध है, अनुस्यूत है, अतः वाणी के बिना प्रकाश भी प्रकाशित नहीं होगा, क्योंकि वाणी ही सभी सविकल्पक पदार्थों का ज्ञान कराती है।

स्थान, करण, प्रयत्न आदि से अभिव्यक्त होने वाली गकारादि वर्ण समुदायात्मक वाणी वैखरी कही जाती है, क्योंकि यह विखर अर्थात् देहादिसंघात में पैदा होती है। वाक्यपदीय में यही अर्थ किया गया है। मानसिक संकल्प में जिसका क्रम विद्यमान है, योगीजन जिसका अन्तरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष करते हैं, किन्तु साधारणजन के लिये जो अनभिव्यक्त है, वह मध्यमा वाणी है। इसका भी लक्षण वाक्यपदीय में बताया गया है। ग्राह्य भेद, क्रम आदि से रहित स्वप्रकाश संविद्रूपा वाणी पश्यन्ती कही गई है। इसका भी लक्षण वाक्यपदीयकार ने किया है।

आर्यसमाजियों का कहना है कि प्राचीन समय में संस्कृत भाषा में जब समग्र नाम (जाति, द्रव्य और गुणशब्द), अव्यय (स्वरादि निपात) समान रूप से यौगिक ही थे, उस समय उणादि सूत्र व्याकरण शास्त्र के कृदन्त प्रकरण के अन्तर्गत विद्यमान थे। वाद में धारणा और मेधाशक्ति के ह्रास से यौगिक शब्दों के धातु और प्रत्यय के विभागपूर्वक ज्ञान होनेवाले यौगिक अर्थ को लोग भूल गये और स्वर तथा वर्णानुपूर्वी विशिष्ट शब्द समुदाय से ही अर्थ की प्रतीति हो जाने के कारण वैयाकरणों ने भी संस्कृतभाषा में हजारों शब्दों को रूढ मान लिया। तथापि वैयाकरण शाकटायन और नैरुक्तों में भी गार्ग्यभिन्न सभी नैरुक्तों ने रूढ शब्दों को भी यौगिक माना है। रूढ शब्द वादी वैयाकरणों ने भी यौगिकता वादी प्राचीन पक्ष की रक्षा के लिये रूढ शब्दों के भी धातु, प्रत्यय आदि को बनाने के लिये उणादि सूत्रात्मक कृदन्त भाग को शब्दानुशासन के बाहर खिल भाग के रूप में अथवा परिशिष्ट के रूप में जोड़ दिया गया है। किन्तु उनका यह कथन निर्मूल है, क्योंकि महाभाष्य प्रभृति से इसका स्पष्ट विरोध है। व्याकरण शास्त्र में पाणिनीय व्याकरण प्रमुख है। इसमें यथोत्तर मुनियों का प्रामाण्य माना गया है, अतः पतंजलि का ही अनुपम सर्वोत्कृष्ट माहात्म्य है। उन्होंने स्पष्ट ही उणादिप्रकरण सिद्ध शब्दों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक माना है।

निरुक्तकार यास्काचार्य और निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य शब्दों के यौगिकत्व और अयौगिकत्व में संवन्ध में कहते हैं कि: नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार प्रकार के पद हैं। इनमें से सभी नाम आख्यात से बनते हैं, ऐसा शाकटायन आचार्य का कथन हैं और नैरुक्तों की भी यही प्रसिद्धि है। सभी नाम आख्यातज नहीं है, ऐसा गार्ग्याचार्य का कथन है, और वैयाकरणों में से भी पाणिनि

वैयाकरणेषु सर्वे गार्ग्यभिन्ना नैरुक्ताश्च वदन्ति। पाणिन्यादयो वैयाकरणा नैरुक्तेषु गार्ग्योऽन्ये च नैयायिका मीमांसका वेदान्तिनश्च बहूनि नामान्यव्युत्पन्नप्रातिपदिकान्यङ्गीकुर्वन्ति। व्युत्पन्नान्यपि यानि समुदायशक्त्या बोधकत्वेन रूढान्येवेति। तेषां रीत्या नाम्नां त्रिविधाव्यवस्था—प्रत्यक्षक्रियाणि, प्रकल्प्यक्रियाणि, अविद्यमानक्रियाणि च। कारको हारक इत्यादीनि नामानि प्रत्यक्षक्रियाणि। गौरश्व इत्यादीनि प्रकल्प्यक्रियाणि। डित्थः, डवित्थः, अरविन्दः, वाविडः (चार्विड) इत्यादीन्यविद्यमानक्रियाणि। तत्र येषु नामसु स्वरसंस्कारौ (स्वरः उदात्तादिः, संस्कारः प्रकृतिप्रत्ययादिश्च) समर्थौ (सङ्गतार्थौ) लक्षणशास्त्रविहितप्रक्रियया युक्तौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्, तेष्वाख्यातजत्वमविप्रतिपन्नमेव। अत्र प्रदिश्यतेऽनयेति प्रदेशः क्रिया या तस्मिन् द्रव्ये व्यवस्थिता यद्धेतुकस्तस्य नामधेयप्रतिलम्भोऽभिप्रेतः, तस्याः प्रदेशाख्यायाः क्रियाया अभिधायको धातुः स गुण इत्युच्यते। अन्यत्र हि गुणशब्दोऽप्रधाने शेषेऽङ्गे वा प्रयुज्यते, प्रधानं तु तत्र क्रिया प्रदेशाख्या तदभिधायको धातुरत्र गुणः। स प्रदेशवाचकत्वात् प्रादेशिको गुण उच्यते। तेन धातुरूपेणान्वितौ स्वरसंस्कारौ स्यातां येषां नाम्नां तानि संविदितानि ऐकमत्येन विज्ञातानीत्यर्थः। यथा कर्ता, कारकः, पक्ता, पाचक इत्यादयः। गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्यादिषु क्रियाः प्रकल्प्यन्ते न साक्षादुपलभ्यन्ते। कल्पयितुमपि शक्यन्ते। डित्थडवित्थादिषु पुनः कल्पयितुमपि न शक्यते, तस्मान्न सर्वाणि नामान्याख्यातजानि वक्तुं शक्यन्ते।

अथ चेत् सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युस्तत्रेमे दोषाः स्युः, यः कश्चित् तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत्सत्त्वं तथाचक्षीरन्, यः कश्चनाप्यध्वानमश्नुवीताश्वः स वचनीयः स्यात्, यत्किञ्चित्तृन्द्यात् तणं तदिति, कस्माद्वाश्वोऽश्नुवन्नश्व इत्युच्यतेऽन्योऽश्नुवन्नपि नोच्यते, विशेषहेतुस्तु नास्ति। अश्वोऽपि नैवाशनक्रियायोगाभिप्रायेणाश्व उच्यते, किं तर्हि शब्दव्यवहार एवायमर्थप्रत्यायनार्थं ईदृशक्रियानिरपेक्ष एव। यत्किञ्चित्तृन्द्यात्तदविशेषेण तत्सर्वंतर्दनक्रियायोगात्तृणमित्येवोच्येत। अथ भिन्नक्रियायोगादेकमेव द्रव्यं भिन्ननामभिरभिधीयेत, एवमनेकानि सत्त्वान्येकक्रियायोगादनेकनामानि स्युरेकं वानेकक्रियायोगादनेकनाम स्यात्। तस्मान्न सर्वाण्याख्यातजानि नामानि। अथापि य एषां न्यायवान् कार्मनामिकः संस्कारो यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैतान्याचक्षीरन् पुरुषं पुरिशयमित्याचक्षीरन्नष्टेत्यश्वं तर्दनमितितृणम्। न चैवमाचक्षते। न चासति कारणे विद्यमाना क्रिया परोक्षीकर्तुं न्याय्या। तस्मान्न सर्वाण्याख्यातजानि नामानि। किञ्च, ते शाकटायनादयोः निष्पन्नेऽभिव्याहारे विचारयन्ति प्रथनात्पृथिवीमाहुः, तत्रेदमाशङ्क्यते यदीयं स्वभावत एव पृथिवी नाभविष्यत्ततः क

प्रभृति इसी पक्ष को मानते हैं। नैयायिक, मीमांसक और वेदान्ती भी बहुत से नामों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक ही मानते हैं। अव्युत्पन्न प्रातिपादिक समुदाय शक्ति से अर्थ के बोधक होने से रूढ माने जाते हैं। उनके मत से नाम की व्यवस्था तीन प्रकार से होती है—प्रत्यक्ष क्रिया वाले, कल्पित क्रिया वाले और अविद्यमान क्रिया वाले। कारक, हारक प्रभृति नाम प्रत्यक्ष क्रिया वाले; गौ, अश्व प्रभृति नाम कल्पित क्रिया वाले; डित्थ, डवित्थ, अरविन्द, वाविड (चार्विड) इत्यादि अविद्यमान क्रिया वाले नाम हैं। इनमें से जिन नामों में उदात्तादि स्वर और प्रकृति-प्रत्ययादि संस्कार लक्षण शास्त्र विहित प्रक्रिया से युक्त हैं, उनके आख्यान से उत्पन्न होने में कोई सन्देह नहीं है। जैसे कि कर्ता, कारक, पक्ता, पाचक आदि। गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती प्रभृति में क्रिया की कल्पना की जाती है, इनमें साक्षात् क्रिया उपलब्ध नहीं होती। यहां क्रिया की कल्पना की जा सकती है, किन्तु डित्थ, डवित्थ प्रभृति में तो इनकी कल्पना भी नहीं हो सकती। अतः सभी नाम आख्यात से उत्पन्न होते हैं, यह कथन कथमपि संगत नहीं हो सकता।

यदि सभी नामों को आख्यातज माना जाय तो ये दोष उपस्थित होंगे। जो कोई भी उस क्रिया को करेगा, वे सभी उसी नाम से जाने जायेंगे। ज़ो कोई भी खाने वाला हो, सभी अश्व कहे जायंगे। खाने वाला कोई अश्व कहलावे और कोई नहीं, इसमें क्या विशेष कारण है? अश्व पद का प्रयोग भी खा रहे अश्व के लिये ही नहीं होता, किन्तु जब वह खाता नहीं रहता, तब भी केवल उसी के लिये इस शब्द का प्रयोग होता है। यहो स्थिति तृण-शब्द की भी है। भिन्न भिन्न क्रियाओं के योग से एक ही द्रव्य अनेक नामों से कहा जाय, तो अनेक प्राणी एक क्रिया के योग से अनेक नाम वाले हो जायंगे अथवा एक ही प्राणी अनेक क्रिया के योग से अनेक नाम वाला हो जायगा। अतः मानना पड़ेगा कि सभी नाम आख्यातज नहीं हो सकते। शाकटायन प्रभृति आचार्यगण पद की निष्पत्ति

एनामपृथिवीं सतीमप्रथयिष्यत् ? यदि कश्चित् पृथिव्याः प्रथनकर्ताऽभ्युपगम्येत ततोऽपि किमाधारः स स्यादिति प्रश्नः स्यात्। पृथिवी सर्वस्य प्राणिजातस्याधारः प्रतिष्ठा। नह्यनाधारेणाप्रतिष्ठितेन शक्येयं प्रथयितुम्। न चाधारः सम्भवति, तस्मादाख्यातजान्येव नामानीत्ययुक्तमेव। शाकटायनो नैरुक्ताश्च गार्ग्यवर्जं कानिचिदभिधानान्यनेकैर्धातुभिरनुविदधाति कानिचिदेकेनैव। प्रतिनियतो हि स्वेषु स्वेषु व्याकरणेषु शब्दानुविधानस्य समयः।

तद्यथा पाणिनिर्भूरिति प्रकृतिमुपादाय ततो लडिति प्रत्ययमुपादत्ते। ततः कृतानुबन्धलोपस्यानच्कस्य लस्य स्थाने तिबादीनादिशति। पाणिनिपरिक्लृप्ता सैषा शब्दानुविधानतन्त्रशैलीत्येतदेकमेव प्रयोजनमुक्त्वा नान्यत्प्रयोजनमस्ति लडादीनामनुबन्धाध्ययने लोपे च। अपरे वैयाकरणा लटमकृत्वा तिबादीनेवोपाददते। तेषामपि शब्दानुविधाने सा तन्त्रशैली। एवं प्रतिनियतया स्वया शैल्या समानमेव शब्दरूपं साधयन्ति। शाकटायनस्त्वनेकैश्च धातुभिरेकमभिधानमनविहितवानेकेन चैकमेव। तत्र यदनेकैरनुविहितवान् तदितरैर्गार्ग्यपाणिन्यादिभिर्न मृश्यते। अप्रसिद्धो हि स तेषां शब्दानुविधानमार्गः। धातुसमुदायमात्रमेव नामेति। अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान् सञ्चस्कार शाकटायनः। अनन्विते शब्देनानुगतेऽर्थे यत्र प्रतार्यमाणोऽपि शब्दोऽर्थमनुगन्तुं न शक्नोतयेवं संचस्कार। यया हि क्रियया तद् द्रव्यं प्रदिश्यते तदभिधायको यो धातुः स तदभिधानं विगृह्यमाणं विकर्तुं न शक्नोति। तत्र तत्र हीयमानप्रतिज्ञः शाकटायनः सर्वाण्याख्यातजानि नामान्युपपादयिष्यन्नसम्भवे स कुशकाशावलम्बनमिव कुर्वन् पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार, आख्यातपदेभ्यः समस्तेभ्योऽवयवानुपादाय पदेतरार्धानन्यांश्चेतरेतराख्यातपदावयवैरन्यैश्चान्यैश्चान्यमर्धनाम्नः संस्कृतवान्। तद्यथा—सत्यमित्येतदभिधानं संचस्कार। एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च। एतेः (इण् गतौ) इत्यस्य कारितान्तं (ण्यन्तं रूपं कृत्वा) ततो यकारमन्तमादाय मकारान्तं च कृत्वा सत्यशब्दस्य अन्त्यमर्धं संचस्कार। ततो यमिति भवति। अस्तेः शुद्धं च शुद्धमेव रूपं कृत्वा न कारितान्तं ततः सकारादिशब्दरूपं गृहीत्वा सदित्येतत् सत्यमित्येतस्य शब्दस्यादिमकरोत्। आद्यमर्धं सञ्चस्कार। तत्सदिति भवति। अत्र योऽमस्तेस्तकारः स यकारमधिरोहति। एवमेतदेकमभिधानं द्वयोर्धात्वोः सत्यमिति संचस्कार। अथ कोऽर्थः ? सन्तमर्थमाययति प्रत्याययति गमयतीति सत्यं तदेतदन्यायमकरोत्। तदेतदकृतपूर्वमन्यैर्विद्वद्भिः शाकटायनोऽतिपाण्डित्याभिमानात् पदान्यभिनत्। तत्र शङ्का भवति। अवश्यमसौ वर्णानपि भेत्स्यति, अनेकार्थांश्च करिष्य-

हो जाने के बाद उसकी व्युत्पत्ति पर विचार करते हैं कि प्रथन होने से पृथिवी कही जाती है। इस पर शंका यह उठती है कि यदि स्वभाव सें ही पृथिवी ऐसी न होती तो इसका प्रथन (विस्तार) किसने किया होता ? यदि कोई पृथिवी का प्रथनकर्ता माना जाता है, तो उसने कहाँ खड़े होकर इसका विस्तार किया। पृथिवी सारे प्राणिवर्ग की प्रतिष्ठा भूमि है। विना आधार के इसका कोई प्रथन नहीं कर सकता। इसके सिवाय दूसरा कोई आधार नहीं है। अत नाम आख्यातज ही हैं, ऐसा मानना सही नहीं है। शाकटायन और गार्ग्य से भिन्न सभी नैरुक्त कुछ नामों की निष्पत्ति अनेक धातुओं से करते है और कुछ की एक ही धातु से। व्याकरण शास्त्र में भी शब्द की निष्पत्ति का अपना अपना प्रकार है।

जैसे कि पाणिनि भू धातु से लट् प्रत्यय का विधान कर उसके स्थान पर तिप् प्रत्यय का विधान करते है। अन्य वैयाकरण लट् का विधान न कर सीधे तिप् प्रत्यय का ही विधान करते हैं। यहाँ पर अपनी अपनी शैली से 'भवति' प्रभृति पदों की निष्पत्ति की जाती है, इसके सिवाय हमारे पास इसका कोई उत्तर नहीं है कि यह अलग-अलग पद्धति क्यों स्वीकार की जाती है शाकटायन अनेक धातुओं से एक नाम की और एक धातु से अनेक नामों की निष्पत्ति बताते हैं। अनेक धातुओं से एक नाम की निष्पत्ति को गार्ग्य, पाणिनि प्रभृति आचार्य नहीं स्वीकार करते। धातुसमुदाय मात्र ही नाम है, इस पक्ष को वे सही पद्धति नहीं मानते। शाकटायन जब देखते हैं कि अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वे एक आख्यान से तदनुरूप अर्थ वाक्य शब्द नहीं बन रहा है, तो उस स्थिति में अनेक आख्यानों के एक एक अवयव को लेकर एक शब्द की सिद्धि करते है। जैसे इण् धातु के ण्यन्त रूप और अस् धातु के शुद्ध रूप को लेकर उन्होंने सत्य शब्द बनाया हैं। इस तरह से सत्य शब्द की निष्पत्ति दो धातुओं से उन्होंने बताई है। फिर इस शब्द का उन्होंने अर्थ भी अनोखी पद्धति से किया हैं ऐसा पहले किसी विद्वान् वैयाकरण ने नहीं किया। शाकटायन ने अपने पाण्डित्य के अभिमान में आकर पदों को ही

तीति। यो हि पदान्यभिनत् तस्य वर्णभेदे विशेषहेतुः को भविष्यति ? तस्मादतिप्रसङ्गान्न सर्वाणि नामान्याख्यातजानि।

स्वेनाभिधानेन क्रियानिरपेक्षेणाभिसम्बद्धमेव द्रव्यमुत्पद्यते। नित्यसम्बद्धौ हि शब्दार्थौ। 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' (जै० सू० १।१।४) इति। तस्मान्नापरकालेन भावेन (क्रियया) पूर्वोत्पन्नसत्त्वस्य प्रदेशनं संज्ञाप्रतिलम्भः सम्भवतीति गार्ग्यादिपक्षः। तदयं पक्षः 'यथो हि नु वा····' (नि० १।१४) इत्यादिना खण्डेन यास्केन समालोचितः। येनैवं प्रकारेणाख्यातजत्वं प्रतिषिद्धं नाम्नस्तत्प्रत्यनुभाव्य समीकरिष्यामीति। सर्वं प्रादेशिकमित्येवं सत्यनुपालम्भ एवं भवति। अर्थात् प्रदेशवाचिनो धातूनुत्प्रेक्ष्य तदाश्रयौ स्वरसंस्कारौ यावद्गम्यमनुविधेयौ। विभ्वी हि लक्षणगतिः। नैष शब्दापराधो नाप्यस्माकम्। भवत एवापराधो मन्दशिक्षितत्वात्, येन स्वरसंस्कारौ विद्यमानावपि नानुविधातुं शक्नोषि। व्याकरणेऽप्यष्टधाभेदर्भिन्ने लक्षणैकदेशो विक्षिप्तः। कश्चित् सौत्रो विधिः, कश्चित्तु शब्दगम्यः, चशब्दवाशब्दातिरिक्ताभिव्याहारयोगविभागादिगम्यः। तद्यथा मतान्तरेष्वप्यभिन्नेषु कश्चित् क्वचिद्विधिरुच्यते। ते च सर्वप्रयोगमिच्छता प्रयोगकाले उपसंहर्त्तव्याः, एवमिहापि सर्वाणि लक्षणशास्त्राण्यपेक्ष्याणि स्वरसंस्कारसिद्धयै। स त्वं यावदाविलशब्दानां स्वरसंस्कारावनुविधातुं सामर्थ्यलाभायानिर्विण्णस्तावच्छिक्षस्व।

यदुक्तम्—'यः कश्चन तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत्सत्त्वं तथा चक्षीरन् अनेकेषामेकक्रियायोगादनेकनामता प्रसज्येत'इति, तत्रोच्यते-तुल्यकर्मणामपि सतां कर्मकृतं नामप्रतिलम्भः केषाञ्चिद्भवति केषाञ्चिन्न भवतीति लोकप्रसिद्ध एव। तक्षन् कश्चित्तक्षेत्युच्यते, अन्यस्तक्षन्नपि न तक्षेत्युच्यते। कोऽत्र हेतुरिति पर्यनुयोगे लोकमेव पृच्छ, तमेवोपालभस्व, न मयैष नियमः कृत इत्येवोत्तरम्। अपि च, तद्यथा समानमीहमानानां कश्चिदेवार्थेन संयुज्यते कश्चिन्न। न चेदानीमेकोऽर्थेन संयुज्यत इत्यन्यैरपि संयोक्तव्यम्, एकेन वा लब्धमित्यन्यैरपि' लब्धव्यमिति। स्वभावतो हि शब्दानां क्रियाजत्वेऽपि सति काञ्चिदेव क्रियाभङ्गीकृत्यावस्थितिर्भवतीति। अथवा क्रियातिशयकृतो नियमः स्यात्। यो हि यदतिशयेन करोति तस्यानेकक्रियावत्त्वेऽपि सति

तोड़-मरोड़ दिया है। इस पर यह शंका उठना स्वाभाविक है कि वर्णों को भी तोड़-मरोड़ देंगे और उनके आधार पर पदों के अनेक अर्थ करेंगे। जिसने पदों के साथ छेड़-छाड़ की वह वर्णों को क्यों कर छोड़ देगा। इन सब कारणों से मानना ही पड़ेगा कि सभी नाम आख्यातज नहीं हैं, अर्थात् सभी शब्द यौगिक नहीं हैं।

मीमांसा सूत्र के अनुसार नाम (शब्द) का वस्तु (द्रव्य=अर्थ) के साथ स्वाभाविक शब्द माना जाता है, इसकी किसी क्रिया से उत्पत्ति नहीं होती। अतः बाद में होने वाली क्रिया से पूर्वोत्पन्न भाव का नामकरण कथमपि मान्य नहीं हो सकता, यही गार्ग्य प्रभृति का पक्ष है। यास्क ने इस मत की समालोचना की है। उनका कथन है कि प्रदेशवाची धातुओं की उत्प्रेक्षा करके तदाश्रित स्वर और संस्कार जहां तक बन सके, किये जाने चाहिये। लक्षणशास्त्र का क्षेत्र व्यापक है। यह न तो शब्द का अपराध है और न हमारा। कम शिक्षित व्यक्ति का ही यह अपराध है कि वह विद्यमान स्वर और संस्कार को भी जान नहीं पाता। व्याकरण के आठ भेद हैं। उनमें भी अनेक विधियां प्रयोग में लाई जाती हैं। कहीं सौत्रविधि और कहीं च शब्द, वाशब्द, योगविभाग आदि से विधि की प्रतीति होती है। मतान्तर हो या न हो सब जगह सभी विधियां स्वीकार नहीं की जातीं। सभी शब्दों की साधुता के नलिये इनका यथायोग्य प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। उसी तरह से स्वर और संस्कार की सिद्धि के लिये भी सभी लक्षण शास्त्रों की यथायोग्य सहायता ली जानी चाहिये। अतः सभी को समस्त शास्त्रों के स्वर और संस्कार के विधान की सामर्थ्य को प्राप्त कर लेने के लिये प्रसन्न मन से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

जो कोई भी उस क्रिया को करेगा, उन सबका उसी नाम से बोध होने लगेगा। अनेक व्यक्तियों का उस क्रिया से सम्बन्ध होने से एक ही नाम से अनेक व्यक्तियों का बोध होने लगेगा। इस शंका का समाधान यह है कि तुल्यक्रिया के रहते हुए भी किसी का उससे बोध होता है और किसी का नहीं होता, यह बात लोक से प्रसिद्ध है। तक्षण करने वाला कोई तक्षा कहा जाता है और दूसरा व्यक्ति इस कार्य को करता हुआ भी तक्षा नहीं कहाता। इसमें क्या कारण है ? इसका उत्तर लोक से ही पूछा जा सकता है। उसी को उपालम्भ भी दिया जा सकता है। किसी एक व्यक्ति ने यह नियम नहीं बनाया है। सामान्यतः देखा जाता है कि समान रूप से इच्छा रहने पर भी किसी को कोई वस्तु मिलती है, दूसरों को नहीं मिलती ऐसा कोई नहीं कह सकता कि एक व्यक्ति को कोई वस्तु मिली है,

तद्धेतुक एव नामप्रतिलम्भः। अथवा न ब्रूमो यो यत्र यदा च तक्षति स एव तक्षेति, किं तर्हि यो यदा यत्र तक्षा भवति स एव तक्षति। तदेतल्लक्षणमनियतं काममन्येष्वप्यस्तु। कदाचित् क्वचित्तेषामप्यन्याः क्रिया नियततराः सन्ति यद्धैतुको नामधेयप्रतिलम्भ इति। तेषां तु तक्षा नियमतस्तक्षतीति विशेषः। जीवन इक्षुरसः शाकजातिर्वा, भूमिजोऽङ्गारको वृक्षो वा। एतेनैवोत्तरः प्रत्युक्तः।

यदुक्तम्—'यावद्भिर्भावैः सम्प्रयुज्यते तावद्भ्यो नामधेयप्रतिलम्भः स्यात्' (नि० १।१२), तत्राप्येतदेवोत्तरम्, लोकेऽनेकक्रियायुक्तानामप्येकक्रियाकारिनामधेयप्रतिलम्भदर्शनात्। यथा परिव्राजक इत्येतान्येवोदाहरणानि। तक्षा ह्यन्यान्यपि कर्माणि करोति न पुनस्तस्य तत्कृतो नामधेयप्रतिलम्भः। तावताप्येकस्यानेकनामताऽनेकेषां चैकनामताप्रसक्तिर्व्यवहारासिद्धिश्चेति वाच्यम्, अनेकेषामेकक्रियायोगेऽप्येकस्यानेकक्रियायोगेऽपि सति शब्दनियमस्य स्वभावत एव लोके व्यवस्थितत्वात्। तस्मान्न व्यवहाराप्रसिद्धिरपि।

यदुक्तम्—'यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्' इति, तत्राप्युच्यते—शास्त्रेण यथावस्थितानां शब्दानामन्वाख्यानमात्रमेव क्रियते। नाहं शब्दानां कर्ता य एषां प्रयोक्तारस्तानुपालभस्व, निराकुरु वा यदि शक्नोषि। अभिधानस्वाभाव्यमेव कानिचित् प्रतीतार्थानि कानिचिदप्रतीतार्थानि। तान्यपि शास्त्रेण प्रतीतार्थान्येव कर्तव्यानि। एतदेव शास्त्रस्य शास्त्रार्थत्वं यदप्रतीतार्थान्यपि प्रकृत्यादिना प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्। आख्यायन्त एव कानिचिच्छास्त्रेण प्रतीतानि क्रियन्ते, रूढ्यनुविधायित्वाल्लक्षणशास्त्रस्य। गुणतस्तेषु लक्षणम्। सन्ति चाल्पप्रयोगाः प्रतीतार्थक्रियाः। तेषामिमान्युदाहरणानि-व्रततिः, दमूना, जाट्यः, अटणारः, जागरूकः, दर्वीहोमीति। व्रततिर्व्रीणातेः, वल्ली, दमूना दमनमना वा अग्निरतिथिर्वा, जाट्यः जटावान्, अटणारः अटनशीलः, जागरूकः जागरणशीलः, दर्वीहोमो दर्व्या जुहोतीति।

तो दूसरे को भी अवश्य मिल जानी चाहिये। स्वभावतः शब्द क्रिया से बनते हैं, किन्तु किसी विशेषक्रिया से ही उसकी निष्पत्ति होती है। अथवा जिस व्यक्ति की जिस क्रिया के साथ अधिक सम्बन्ध रहता है, अनेक क्रियाओं के रहते भी उस विशेषक्रिया से संबद्ध ही उसका नाम रक्खा जाता है। अथवा इसको अधिक स्पष्टता से इस रूप में कहा जा सकता है कि तक्षण क्रिया से संबद्ध व्यक्ति तक्षा नहीं होता, किन्तु तक्षानाम वाला व्यक्ति ही तक्षण क्रिया करता है। इस लक्षण की व्याप्ति भले ही आज हमें उपलब्ध न हो, किन्तु अनुमान द्वारा यह मान लिया जायगा कि किसी न किसी इसी तरह के आधार पर उन उन नामों की सृष्टि हुई है। विशेषता इतनी ही होगी कि नियमतः तक्षण करने वाला तक्षा कहा जायगा।

. जितने भावों से संबद्ध होगा, उन सब के आधार पर नाम रखा जायगा, इस शंका का समाधान यह है कि लोक में अनेक क्रियाओं से संबद्ध रखने पर भी व्यक्ति का किसी एक विशेष क्रिया के आधार पर ही नाम रखा जाता है। तक्षा परिव्राजक आदि शब्द उसके उदाहरण के रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं। तथा अन्य भी दूसरे बहुत से कार्य करता है, किन्तु उसके आधार पर उसका अन्य कोई दूसरा नाम नहीं रखा जाता। अनेक व्यक्ति एक क्रिया से और एक व्यक्ति अनेक क्रियाओं से युक्त रहते हैं, किन्तु लोक में शब्द का नियम स्वभावतः व्यवस्थित है, अतः व्यवहार की अप्रसिद्धि का प्रश्न ऐसे प्रश्नों में नहीं उठता।

अर्थ की प्रतीति के अनुसार ही उनका अन्वाख्यान होना चाहिये, इसका भी उत्तर यह है कि शास्त्र यथावस्थित शब्दों का अन्वाख्यान मात्र करता है। शास्त्रकार शब्दों को नहीं बनाते। इसके लिये तो उपालम्भ उनके प्रयोक्ताओं का दिया जाना चाहिये। सामर्थ्य हो तो ऐसा करने से उनको रोकना चाहिये। यह नांम का स्वभाव है कि उनमें से कुछ का अर्थ स्पष्ट है और कुछ का नहीं है। शास्त्र का प्रयोजन यही है कि जिसका अर्थ स्पष्ट नहीं है, उनकी प्रकृति आदि का विश्लेषण कर अर्थ को स्पष्ट कर दिया जाय। लक्षण शास्त्र रूढि का अनुसरण करते हैं, अतः तदनुसार ही शास्त्रों में उनकी अर्थप्रतीति भी कराई जाती है। जैसा कि व्रतति प्रभृति शब्दों का अर्थ निरुक्त में किया गया है।

यदुक्तम्—'निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति' इति, तत्राप्युच्यते-युक्तं कुर्वन्ति योगस्य परीक्षणात्। कथं चानुत्पन्नाभिधानयोगः परीक्ष्येत ? यदुक्तम्-'प्रथनात् पृथिवीत्याहुः क एनामप्रथयत् किमाधारश्चेति ?' तत्रापि न वयमेवं ब्रूमः प्रथितेयं केनचिदतः पृथिवीति। ननु कथमप्रथिता सती पृथिवीत्वमापेति चेन्न, दृश्यमाना हीयं पृथिवी। तस्माद्यप्यप्रथिता कैश्चिदन्यैस्तथापीयं पृथुदर्शनक्रियायोगात् पृथिव्यैव। अन्यथापि धात्वर्थ उपपद्यते। यथा न विरुद्धयेत तथा निर्वक्ष्यामः। यदि दृष्टेऽपि तस्याः पृथुत्वे वयमुपलभ्यामहे तर्हि सर्व एव दृष्टप्रवादा उपालभ्येरन्। यो यं दृष्ट्वा ब्रवीति स तत्र दोष एव स्यात्, तथा सति दृष्टहानं प्रसज्येत, तस्मात् पृथुदर्शनात्त् पृथिवीत्युपपद्यते। यदपि च 'पदेतरार्धान् संचस्कार' इति, तत्रोच्यते-अनेकैर्धातुभिर्नाम्नो व्युत्पत्तौ न कोऽपि दोषः। असमञ्जसेन असम्बद्धेन संस्कारेण गर्ह्यः। योऽनुगमय्य धातुभिरनेकैरेकाभिधानगतानर्थांस्ततः सञ्चस्कार न तु मौढ्येन। कश्चिदशिक्षितत्वादेकधातुजमपि न जानाति, किमुत बहुधातुजम्। हारककारकादीनि प्रकटक्रियाण्यपि कतमेभ्यो धातुभ्य एतान्यभिनिष्पद्यन्त इति न जानन्ति, पुरुषदोष एव न शास्त्रदोषः। अनुगत एवार्थं संचस्कार शाकटायनः। सन्तमेवार्थं गमयतीति सत्यम्।

किञ्च, रूढशब्दव्युत्पत्तिर्मन्त्रेष्वपि दृश्यते। यथा च लक्ष्यं तथा च लक्षणं भवितुमर्हति, इतरथा हि कस्य लक्षणं स्यात् ? 'यदसर्पत्तत्सर्पिः' (तै० सं० २।३।१०), 'यन्नवमैत् तन्नवनीतमभवत्' (तै० सं० २।३।१०।) ब्राह्मणेनाप्यनेकधातुजान्येव कृत्वा निरुच्यन्ते 'तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरम्। अभिहरन्त्यस्मै' स्वाश्चान्ये च य एवं वेद', 'द इत्येकमक्षरम्। ददन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद', 'यमित्येकाक्षरमेति स्वर्गलोकं य एवं वेद' (श० १४।८।४।१), (बृ० उ० ३।५।३।१) एवं हरतेर्ददातेरेतेर्हृदयशब्दः। तदर्थफलोपप्रदर्शनार्थं ब्राह्मणे चैव निरुक्तम्। तस्मात्तदपि न विरुद्धम्।

यदुक्तम्—'अपरस्माद् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यते'इति तत्र ब्रूमः—केषाञ्चिच्च पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानामपि पश्चात्कालीनेन भावेन नामप्रतिलम्भेऽपि न दोषः, यथा विल्वादो लम्बचूडक इति पश्चात्कालीनया चूड़ालम्बनक्रियया

नाम के निष्पन्न होने के बाद उसकी व्युत्पत्ति की जाती है, इसका समाधान निरुक्तकार यास्क ने दिया है कि यह ठीक ही है कि योग की परीक्षा की जाय। अनुत्पन्न नाम के योग की परीक्षा कैसे की जा सकती है। प्रथन के कारण पृथिवी नाम पड़ा तो किसने इसका प्रथन किया और प्रथन करते समय वह किस आधार पर खड़ा था ? इसका उत्तर यह है कि हमारा यह कहना नहीं है कि किसी ने इसका प्रथन किया, किन्तु यह बहुत विस्तृत दिखाई पड़ती है, अतः प्रथन क्रिया के योग से यह पृथिवी कहलाती है। इसके विस्तार को देखकर भी यदि नकार दिया जाय, तब तो सभी दृष्टप्रवादों की कोई स्थिति नहीं रह जायगी। इस तरह से दृष्ट हानि दोष उपस्थित होता। अतः पृथु दर्शन के आधार पर पृथिवी शब्द का निर्वचन उचित ही है। अनेक धातुओं से आधे आधे पदों की सिद्धि कर शब्द बनाये गये हैं। इसका भी समाधान यह है कि अनेक धातुओं से एक नाम की व्युत्पत्ति में कोई दोष नहीं है। असमञ्जस अथवा असंवद्ध व्युत्पत्ति ही निन्द्य हो सकती है। जब अनेक धातुओं के अर्थों का अनुगमन कर और किसी अभिधान के अर्थ का विश्लेषण कर शब्द का संस्कार किया जाता है, यह उचित ही है। कोई अशिक्षित व्यक्ति एक धातु से निष्पन्न नाम की भी व्युत्पत्ति नहीं जान जाता तो वह अनेक धातुओं से व्युत्पन्न नाम को क्या जानेगा ? हारक, कारक प्रभृति प्रगट क्रिया वाले शब्द किन धातुओं से निष्पन्न होते हैं, कुछ लोग यह भी नहीं जानते। इसमें शास्त्र का क्या दोष है ? यह तो पुरुष का ही दोष माना जायगा। शाकटायन ने अर्थ का अनुगमन क्ररके ही सत्य आदि पदों की व्युत्पत्ति बताई है, यह उचित ही है।

रूढ शब्दों की व्युत्पत्ति मन्त्रों में भी बताई गई है। लक्ष्य के अनुसार ही लक्षण होगा, अन्यथा वह लक्षण किसका होगा ? तैत्तिरीय संहिता में सर्पि और नवनीत की व्युत्पत्ति प्रदर्शित है। ब्राह्मणग्रन्थों में भी अनेक धातुओं से एक पद की निरुक्ति कही गई है। जैसे कि बृहदारण्यक उपनिषद् में तीन धातुओं से हृदय शब्द की निष्पत्ति की गई है। इस व्युत्पत्ति के ज्ञान का फल भी वहाँ वर्णित है।

आगे आने वाली स्थिति के आधार पर अभी नाम नहीं रखा जा सकता, इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि कुछ पूर्वोत्पन्न सत्त्वों के लिये ऐसा किया जाय तो उसमें कोई दोष नहीं है 'जैसे कि किसी का नाम लम्बचूड़क रख दिया गया। अभी उसकी चोटी

भविष्यता योगेन पूर्वोत्पन्नस्य सत्त्वस्य नामधेयप्रतिलम्भ उपपद्यमानो दृष्ट एव। विल्वं भरणाद्वा भेदनाद्वा भृतं हि तद्भवति वीजानाम्, बिभर्ति वा दुर्भिक्षादौ भक्ष्यमाणं जनम्, भिद्यते तदवश्यं भक्षणायेति वा।

नाम्नामाख्यातजत्वमधिकृत्य शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थमेतदुक्तम्। कथं नाम व्युत्पन्नबुद्धिः शिष्योऽप्रतिबुद्धयमानः सर्वतोमुखानेव लौकिकवैदिकान् शब्दान् निर्ब्रूयादिति। सर्वाण्येव हि व्याकरणानि निरुक्तानि च वेदाङ्गत्वाविशेषात् प्रमाणानि। तेषामिदं फल्गिवदं साध्विति एतदशक्यं वक्तुम्। यद्यपि शाकटायनस्य गार्ग्यभिन्ननैरुक्तानां च दृष्ट्या रूढा अपि शब्दा यौगिका एवेति स्पष्टम्, तथापि योगरूढत्वं तैरप्यभ्युपगम्यत एवं शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थम् सर्वेषामपि नाम्नां धातुजत्वमङ्गीकृत्य निर्वचनेऽपि न स्वेच्छया यत्र क्वापि व्युत्पत्तिबलात् तक्षपरिव्राजकादिशब्दानां प्रयोगः क्रियते, लोकस्य नियामकत्वाभ्युपगमात्। स्पष्टमेव निरुक्तकारो वक्ति—'समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषां यथा तक्षा परिव्राजको जीवनो भूमिजः' (नि० १।१२) इति। किं मूलकं वैषम्यमिदमित्यस्येदमेवोत्तरं लोकमेव पृच्छ लोक एव नियामक इत्यर्थः। यथा लोकव्यवहारादेव शब्दार्थसम्बन्धग्रहः, तथैव लोकव्यवहारेणैव तक्षन् कश्चित्तक्षोच्यते, अन्यस्तक्षन्नपि न तक्षोच्यते। कश्चिद् गच्छन् गौर्भवति, अपरो गच्छन्नपि गौर्नोच्यते। परिव्रजन् संन्यासी परिव्राजको भवति, नान्यः परिव्रजन्नपि परिव्राजकः। सरः पङ्कजनिकर्तृत्वेऽपि कुमुदस्य न सरसिजत्वं न वा पङ्कजत्वम्, तेनैव पद्मस्य सरसिजत्वं पङ्कजत्वं च भवत्येव। तत्रैवोपपत्तिः—समानमीहमानानां कश्चिदर्थेन युज्यते कश्चिन्नेति। न चेदानीमेकोऽर्थे न संयुज्यत इत्यन्यैरपि संयोक्तव्यम्, एकेन लब्धमित्यन्यैरपि लब्धव्यम्।

रूढशब्दव्युत्पत्तिमन्त्रेष्वपि दृश्यत इति ब्रुवताऽपि रूढेशब्दावेदेषु सन्त्येवेत्यङ्गीकृतम्। दयानन्दस्तु स्वातन्त्र्येण व्युपत्तिबलात् प्रसिद्धिविरुद्धेऽप्यर्थे शब्दान् योजयति। यथा शतक्रतुशब्दस्य शूरवीरे सूर्यलोके वा प्रयोगः (ऋ० सं० १।२।८), यथा सोमशब्दस्य सूयन्त उत्पद्यन्ते ये ते पदार्थाः। (ऋ० सं० १।२।१) क्रियातिशयकृतो वा नियमः। यो हि यदतिशयेन

लम्बी नहीं है, किन्तु बाद में हो सकती है। इसी आधार पर नाम रख दिया जाता है विल्व नाम इसलिए रख दिया जाता है कि वह दुर्भिक्ष काल में खाने वाले की रक्षा करता है, अथवा खाते समय उसको अवश्य तोड़ा जाता है।

नाम आख्यातज हैं, इस बात को यहाँ विस्तार से इसलिये समझाया गया है कि शिष्य की बुद्धि का विस्तार हो, वह व्युत्पन्न होकर अपरिचित लौकिक और वैदिक शब्दों की भी व्युत्पत्ति कर सके। सभी व्याकरण और निरुक्तग्रन्थ वेदांग होने से प्रमाण हैं। उनमें एक सही है और दूसरा गलत है, यह कहना कठिन है। यद्यपि शाकटायन और गार्ग्यभिन्न नैरुक्तों के अनुसार रूढ शब्द भी यौगिक हैं, यह स्पष्ट है, किन्तु उन्होंने योगरूढ शब्द माने ही हैं। इसका प्रयोजन वे शिष्य की बुद्धि की विशदता बताते हैं (सभी नाम आख्यातज हैं, ऐसा मानकर निर्वचन किया जाता है, तत्र भी मनमानी पद्धति से व्युत्पत्ति के आधार पर तक्षा, परिव्राजक प्रभृति शब्दों की प्रवृत्ति मनमाने अर्थों में नहीं की जाती, जैसा कि आर्यसमाजी कहते हैं। सभी शास्त्रकारों ने अर्थ की प्रवृत्ति में लोक को नियामक माना है। निरुक्त में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जैसे लोक व्यवहार से ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ज्ञात होता है, उसी तरह से लोक व्यवहार से ही तक्षा, गौ, परिव्राजक प्रभृति शब्दों की प्रवृत्ति निश्चित व्यक्तियों के लिये हो होती है, उस क्रिया के निष्पादक सभी व्यक्तियों के लिये नहीं (तालाब के पंक में पैदा होने पर भी कुमुद पंकज नहीं कहलाता, किन्तु कमल के लिये ही उसका प्रयोग होता है। निरुक्तकार ने इसी विषय को स्पष्ट किया है कि समान क्रिया से सम्बन्ध रहने पर भी एक व्यक्ति का उस अर्थ के साथ सम्बन्ध रहता है और दूसरे का नहीं रहता। यह आवश्यक नहीं है कि एक का अर्थ के साथ सम्बन्ध हो तो दूसरे का सम्बन्ध उससे अवश्य हो, एक को कुछ प्राप्त हो तो दूसरे को भी वह अवश्य मिले। रूढ शब्दों की व्युत्पत्ति मन्त्रों में भी मिलती है, इस नैरुक्तकथन से भी वेदों में रूढ शब्दों की स्थिति सिद्ध होती है।

स्वामी दयानन्द स्वतन्त्र रूप से व्युत्पत्ति के आधार पर प्रसिद्धि से विपरीत अर्थ में भी शब्दों की योजना करते हैं। जैसे कि शतक्रतु शब्द का वे शूरवीर या सूर्यलोक अर्थ करते हैं। सोम शब्द का अर्थ उत्पन्न होने वाले पदार्थ करते हैं। शब्द की प्रवृत्ति में क्रिया

करोति तस्यानेकक्रियावत्त्वेऽपि सति तद्धेतुक एव नामधेयप्रतिलम्भः। एवमेव कठादिभिरतिशयेन प्रोक्तत्वात् शाखाविशेषस्य काठकत्वादिसमाख्या भवति।

सामाजिकाः कर्मणा वर्णव्यवस्थामङ्गीकुर्वन्ति। सापि तथैव व्यभिचरति। योद्धारोऽपि परशुराम-कृप-द्रोणादयो ब्राह्मणा एवासन्। दान्ता ब्रह्मनिष्ठा अपि राम-कृष्ण-भीष्मादयः क्षत्रिया एवासन् न ब्राह्मणाः। सर्वोऽपि यथाकालं पूजापाठादिकं करोति, श्वादिवारणाय दण्डोद्यतकरो भवति, आपणाद् वस्तूनि क्रीणाति, स्वगृहमार्जनादिकं च करोति। न च तावतैव ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शद्रो वा भवति। तक्षा जातिविशेषः, तस्यैव तक्षणादावधिकारः। स एव तक्षन् तक्षा भवति, अन्यत्कुर्वन् तूष्णीं वा स्थितोऽपि तक्षा भवति। नान्यस्तक्षन्नपि तक्षा भवति। परिव्राजकशब्दः संन्यासिनि रूढः। अत एव आसीनोऽपि स परिव्राजक उच्यते। अत एव शास्त्रेषु ब्राह्मणादीनुद्दिश्य कर्माणि विधीयन्ते—ब्राह्मण इदं कुर्यात् क्षत्रिय इदमिति। न तु य एवं कुर्यात्स ब्राह्मणः, य एवं कुर्यात्स क्षत्रिय इति। दुहितृभार्यादीनुदिश्य कर्त्तव्यानि विधीयन्ते, न तु कर्त्तव्येन दुहितृत्वादिकम्, दुहित्रादीनां प्रसिद्धत्वात्। अन्यथा दुहितापि भार्याकर्मकर्तृत्वेन भार्या स्यात्। भार्यापि दुहितृकर्मकर्तृत्वेन दुहिता स्यात्। पृथुदर्शनादपि धरित्री एव पृथिवी भवति, न तु द्यौः। पृथुदर्शनादपि पृथिवी भवति, लोकरूढत्वादेव। अश्वतृणादिशब्दा अपि लोकव्यवहारादेव नियतार्था भवति, न तु क्रियायोगात्। अन्यथा अन्येषामपि तथात्वापत्तिः। स्थूणा एकैव सती दोशेते इति दरशया इत्युच्यते न चोच्यते च। तथा सज्यते तस्यां वंश इति सन्जनीत्युच्यते न चोच्यते च। लोकव्यवहार एवात्र शरणम्। इदमेवावयवप्रसिद्धेः समुदायसिद्धेर्बलवत्वात्।

वस्तुतस्तु शब्दार्थसम्बन्धबोधायैव व्युत्पत्तयोऽपेक्ष्यन्ते। तदर्थमेव धातुप्रत्ययादिविचारो भवति। वृद्धव्यवहार एव शब्दार्थसङ्गतिग्राहकेषु मूर्धन्यः। लोकव्यवहारादेव येषां शब्दान्तं सङ्गतिग्रहो जातस्तेषां व्युत्पत्तिप्रदर्शनं तु केवलं शिष्यबुद्धिवैशद्यायैव। अन्ते धात्वादयस्त्वव्युत्पन्ना एव मन्तव्याः, तेषामपि धातुजत्वेऽव्यवस्थाप्रसङ्गात्। अन्यथा यथाऽसौ पदेषु न

का बाहुल्य भी कारण है। व्यक्ति अनेक क्रिया करता है, किन्तु जिस क्रिया को वह बार-बार करता है, उसी के आधार पर उसका नाम बन जाता है। जैसे कि कठ प्रभृति के द्वारा अतिशय अध्ययन किये जाने से उस शाखा का नाम काठक रख दिया गया।

आर्यसमाजी कर्म से वर्णव्यवस्था मानते हैं। यह कथन भी सही नहीं है। परशुराम, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य योद्धा होते हुए भी ब्राह्मण ही थे। दान्त, ब्रह्मनिष्ठ होते हुए भी राम, कृष्ण, भीष्म प्रभृति क्षत्रिय ही थे, ब्राह्मण नहीं। सभी व्यक्ति समयानुसार पूजापाठ करते हैं, कुत्ते आदि को मारने के लिये दण्ड उठाते हैं, दुकान से खरीद-बिक्री करते हैं और अपने घर की सफाई करते हैं। इससे वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र नहीं कहे जाते। तक्षा (बढ़ई) एक जाति है, तक्षण में उसी का अधिकार है। तक्षण करे या न करे अथवा दूसरा काम करे, तब भी वह तक्षा ही कहाता है। दूसरा व्यक्ति तक्षण करता हुआ भी तक्षा नहीं कहा जाता। परिव्राजक शब्द संन्यासी के लिये रूढ़ है इसी लिये बैठा हुआ भी वह परिव्राजक कहाता है। शास्त्रों में ब्राह्मण प्रभृति को उद्दिष्ट कर कर्मों का विधान है कि ब्राह्मण यह करे, क्षत्रिय यह करे। शास्त्र में ऐसा नहीं कहा गया है कि ऐसा करने वाला ब्राह्मण और ऐसा करने वाला क्षत्रिय है। दुहिता, भार्या आदि को उद्दिष्ट कर कर्तव्यों का विधान किया जाता है, कर्तव्यों के आधार पर दुहिता, भार्या आदि का निर्धारण नहीं होता। इसी तरह से पृथुदर्शन से भूमि ही पृथ्वी कहलाती हैं, आकाश नहीं, अश्व तृण आदि शब्द भी लोक व्यवहार के आधार पर ही नियत अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, क्रिया के आधार पर नहीं। स्थूणा, सज्जनी प्रभृति शब्दों की भी प्रवृत्ति इसी तरह से होती है। केवल लोकव्यवहार को ही इससे प्रमाण माना जाता है। अवयव प्रसिद्धि से समुदाय प्रसिद्धि के बलवान् होने में लोक व्यवहार भी कारण है।

वस्तुतः शब्द और अर्थ के संबन्ध को बताने के लिये ही व्युत्पत्ति की आवश्यकता है इसी के लिये धातु, प्रत्यय आदि का विचार किया जाता है। शब्द और अर्थ की संगति में वृद्ध व्यवहार ही सर्वोत्कृष्ट उपाय है। लोक व्यवहार से जिन शब्दों की संगति का ज्ञान हो जाता है, उनकी भी व्युत्पत्ति केवल शिष्य बुद्धि को विशद करने के लिये ही की जाती है। अन्ततः धातु आदि को अव्युत्पन्न ही मानना पड़ता है। उनको भी यह धातुज माना जाय तो अव्यवस्था पैदा होगी। अन्यथा जो पदों को भेदन करने से न रुकेगा, वह

स्थास्यति, अवश्यमसौ वर्णानपि भेत्स्यति, अनेकार्थांश्च कल्पयिष्यति। धातूपसर्गादावपि धातुजत्वस्य प्रसक्तेर्दुर्वारत्वात् । अत एव सर्वाणि नामानि धातुजानीत्युक्तिरपि नैरुक्तानां शिष्यबुद्धिवैशद्यायैवेति।

'उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि' इति महाभाष्यकारेण 'आयनेयीनीयियः' (पा० सू० ७।१।२) इत्यत्रोणादीनामव्युत्पन्नप्रातिपदिकत्वमेवोक्तम्। 'उणादयो बहुलम्' (पा० सू० ३।३।१) इति सूत्रे बहुलवचनं किमर्थमित्याक्षिप्य महाभाष्यकारेण समाहितम् 'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्। कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवो हि सुसाधु ॥ 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ॥ 'संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे। कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु।' इति व्याख्यातं च महाभाष्यकारेणैव—तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते स सर्वाभ्यो दृश्यन्ते प्रायेण खल्वपि ते समुच्चिताः। कार्याणि खल्वपि सशेषाणि कृतानि न सर्वाणि लक्षणेन समापितानि' इति। अत्रैव प्रदीपकारः—प्रकृतेरिति जातावेकवचनम्। तनुशब्दोऽपि गुणमात्रवचनः। प्रकृतीनां तानवं (सूक्ष्मत्वमल्पत्वं) दृष्ट्वा बाहुलकं बहुलशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं बह्वर्थादानं युक्तम्। तेनापठिताभ्योऽपि प्रकृतिभ्य उणादयो भवन्ति, यथा 'हुरुलच्' (उ०) शकेरपि भवति शङ्कुलेति तथा तेषामुणादीनां प्रायेण समुच्चयनं कृतम्, न तु साकल्येन। बहुलवचनादविहिता अपि भवन्ति। अर्तेः फिडफिड्डौ भवतः ऋफिड ऋफिड्डु सशेषाणि कार्याणि उणादिभिर्विहितानि न निःशेषाणि बहुलवचनात्त्वविहितान्यपि भवन्ति। तेन 'षण्ढः' इत्यत्र सत्वाभावः।

'क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव। विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥' तत्रैव च 'किं पुनः कारणं तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते····इत्यादिना पूर्वोक्तं सर्वमाक्षिप्य नैगमाश्च रूढिभवाश्चौणादिकाः सुसाधवः स्युः। निगमश्छन्दस्तत्र भवा नैगमाः 'ऋगयनादिभ्यः' (पा० सू०) इत्यण्। रूढिः प्रसिद्धिः, तत्र भवाः संज्ञाशब्दास्ते सुष्ठु यथा स्युरित्येवमर्थमपरिपूर्णत्वं प्रकृतीनामुच्यते। अपरिपूर्णानां हि पूर्णत्वं बहुलग्रहणेन क्रियते। अशेषेण तेषां सङ्ग्रहश्चाशक्य एव। साधुत्वं च तेषां सर्वसम्मतमिति। सर्वाभ्यः प्रकृतिभ्यः सर्वप्रत्ययानां विधानं तु ब्रह्मणापि दुरुपपादमिति तेषां साधुत्वार्थं पाणिनिबोधितसाधुत्वबोधनार्थं बहुलग्रहणं युक्तमेव। 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे

अवश्य ही वर्णों का भी भेदन करेगा और उनके भेदन द्वारा अनेक अर्थों की सृष्टि करेगा। साथ ही धातु ओर उपसर्ग भी आख्यातज हैं; इस आपत्ति का हटाना भी कठिन हो जायगा। अतः सभी नाम आख्यातज हैं, निरुक्तकारों की यह उक्ति शिष्य की बुद्धि का विस्तार करने वाली ही मानी जानी चाहिये।

महाभाष्यकार ने 'आयनेयीनीयियः' प्रभृति सूत्र के भाष्य से उणादि सिद्ध पदों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक माना है। 'उणादयो बहुलम्' सूत्र में बहुबचन क्यों है। इस प्रकार का आक्षेप कर महाभाष्यकार ने तीन श्लोक उद्धृत कर उसका समाधान दिया है। उस भाष्य ग्रन्थ की व्याख्या करते हुए प्रदीपकार कहते हैं कि प्रकृति पद में जाति में एक वचन है। तनुशब्द भी गुणमात्र को बताता है। प्रकृति के मानव (सूक्ष्मता, अल्पता) को देख कर बाहुलक अर्थात् बहुल शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त अनेक अर्थों का ग्रहण उचित माना जाता है। अतः अपठित प्रकृतियों में भी उणाधि प्रत्यय किये जा सकते हैं। जैसे कि उलच् प्रत्यय विहित न होते हुए भी शब्द धातु से जुड़कर शङ्कुल शब्द की निष्पति कर देता है। इसी तरह से उणादि प्रत्ययों का समुच्चयमात्र किया गया है, साकल्पेन उनका उपदेश नहीं किया गया है। बाहुलक के आधार पर अविहित का भी विधान होता है। जैसे कि षण्ढ पद विहित होते हुए भी षत्व होता है।

कहीं प्रवृत्ति, कहीं अप्रवृत्ति, कही विभाषा और कहीं कुछ अन्यथा ही हो जाता है। इस तरह से विधि की बहुलता के आधार पर शास्त्रकार बाहुलक के चार भेद मानते हैं। अर्थात् 'उणादयो बहुलम्' प्रभृति सूत्रों में बहुल शब्द से उक्त चार प्रकार के कार्यों का विधान होता है। महाभाष्यकार ने वहीं पूछा है कि क्या कारण है कि तन्वी प्रकृतियों के साथ उणादि प्रत्यय विहित है फ़िर उसका समाधान दिया है कि यह इस लिये किया गया है नैगम और रूढिगत औणादिक पदों की साधुता दिखाई जा सके। निगम छन्द (वेद) को कहते है और रूढि प्रसिद्धि को। तन्वी (अल्प) अर्थात् अपरिपूर्ण प्रकृतियों का उणादिगण में पाठ होने से बहुल ग्रहण के आधार पर उनको परिपूर्ण बनाया जाता है। सम्पूर्ण रूप से उनका ग्रहण संभव नहीं हो सकता। इनकी साधुता में किसी को विवाद नहीं है। सभी

शकटस्य च तोकम् ।' नाम खल्वपि धातुजमाहुर्नैरुक्ताः । वैयाकरणानां च शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायने धातुजं नाम प्राह । पाणिनेस्तु तान्यव्युत्पन्नान्येवेति भावः' इत्युद्योतः । तन्मूलं तु 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि' इति आयनेयीनियियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ? (पा० सू० ७।१।२) इति सूत्रे महाभाष्यमेव । एवं च कृवापेत्युणादिसूत्राणि शाकटायनस्येति सूचितम् । शाकटायनः स्वकृते व्याकरणे धातुजं नामेत्याह । 'यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्' यस्य विशेषपदार्थो न समुत्थितः कथं तत्र भवितव्यमिति तदर्थमाह-यन्नेति । प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः, प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या । पदमर्थः प्रयोजनं यस्य व्युत्पाद्यत्वेन स पदार्थः । प्रकृत्यादिविशेषश्चासौ पदार्थः । तस्माद् व्युत्पाद्यात् शब्दात् यन्न समुत्थितं विशिष्टप्रकृतिप्रत्ययोत्पादनेन व्युत्पादितम्' इति नागेशः । साधुत्वेनाभिमतासु प्रसिद्धसंज्ञासु धातुप्रत्ययगतानि कार्याणि दृष्ट्वा अनुबन्धाश्च ज्ञातव्याः ।

यत्तु कश्चन—'वेदेषु यौगिका एव शब्दाः सन्ति न रूढाः' इति, तदपि तुच्छम्, लोके वेदे च समाना एव शब्दाः सन्ति । अन्यथा वैदिकपदपदार्थानामलौकिकत्वे सङ्गतिग्रहासिद्धया वेदार्थबोधानापत्तेः । धातुप्रत्ययादीनामपि लोकत एवार्थावगमः । व्याकरणकाव्यकोषादीनामपि लौकिकत्वाविशेषात् । लोके प्रमाणान्तरपरिच्छेद्यत्वाद्वाक्यार्थस्य तदवगमोपायत्वं शब्दानां योजयितुं शक्यते । वेदार्थस्त्वतीन्द्रियः । न च रागादिदोषकलुषमनसामस्मदादीनामतीन्द्रियार्थदर्शनकौशलम् । तद्दर्शिनां तत्र वृद्धव्यवहाराद् व्युत्पत्तिरेव न भवति । न च 'वृद्धिरादैच्' (पा० सू० १।१।१) इति पाणिनिवत्, मस्त्रिगुरुरिति पिङ्गलवत्, हस्तः करः पाणिरित्यभिधानकार इव वेद एव स्वयमुपदिशत्येषोऽस्य मामकस्य शब्दस्यार्थः । तदुक्तं धर्मकीर्तिना-'स्वयं रागादिमान्नार्थं वेत्ति चेत्तस्य नान्यतः । न वेदयति वेदोऽपि वेदार्थस्य कुतो गतिः ।' इति । यदि निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन तदर्थकल्पना क्रियते, तर्हि नानामतित्वादुपदेश्यानामनेकार्थत्वाच्च नाम्नामुपसर्गनिपातानां च न नियतः कश्चिदर्थो व्यवस्थापयितुं शक्यते, अन्यथा तत्कल्पनासम्भवात् । तदपि धर्मकीर्तिनोक्तम्-'तेनाग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति श्रुतौ । खादेच्छ्वमांसमित्येव नार्थ इत्यत्र का प्रमा ॥' इति ।

प्रकृतियों से सभी प्रत्ययों का विधान तो ब्रह्मा भी नहीं कर सकते, अतः उनकी साधुता के प्रदर्शन के लिये बाहुलक का सहारा लेना आवश्यक ही है । निरुक्तकार और वैयाकरण शाकटायन नाम को धातुज (आख्यातज) मानते हैं । पाणिनि के मत से सब अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं । इस कथन का आधार उणादि अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं, यह पूर्वोद्धृत महाभाष्य का वचन हो है । इससे यह सूचित होता है कि उणादि सूत्रों के रचयिता शाकटायन हैं । यहाँ प्रकृति को देखकर प्रत्यय की और प्रत्यय को देखकर प्रकृति की कल्पना करनी पड़ती है । प्रसिद्ध संज्ञाओं में जो कि साधु शब्दों के अन्तर्गत आती हैं, धातु और प्रत्ययगत कार्यों को देखकर अनुबन्धों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है ।

इस पूरे निरुक्तगत और महाभाष्यगत प्रकरण को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वेद में केवल यौगिक शब्द हैं, रूढ शब्द वहाँ हैं ही नहीं, आर्यसमाजियों का यह कथन एक दम व्यर्थ है । लोक और वेद में सभी शब्द समान हैं । अन्यथा वैदिक पद और उनके अर्थों की अलौकिकता मान लेने पर संगति का ग्रहण न होने से वेदार्थ का ज्ञान ही न होने पावेगा । धातु, प्रत्यय आदि के अर्थ की प्रतीति भी लोक से ही होती है । व्याकरण, काव्य, कोश आदि का लौकिक साहित्य में ही अन्तर्भाव है । लोक में वाक्यार्थ का ज्ञान अन्य प्रमाणों से भी हो सकता है । वेदार्थ तो अतीन्द्रिय है । हमारे जैसे रागादि दोषों से कलुषित हृदयवाले व्यक्ति अतीन्द्रिय अर्थ का निर्णय नहीं कर सकते । अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में वृद्धव्यवहार की प्रवृत्ति भी नहीं मानी जा सकती । पाणिनि, पिंगल अथवा कोशकार के समान वेद स्वयं कहीं पर यह नहीं बताते कि मेरे इस शब्द का यह अर्थ है इस स्थिति की चर्चा बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने भी अपने पक्ष में की है । यदि निगम, निरुक्त, व्याकरण के आधार पर उसके अर्थ की कल्पना की जाती है, तब नाम, उपसर्ग और निपातों की अनेकार्थता के कारण और उपदेशकों को बुद्धि की भिन्नता के कारण किसी निश्चित अर्थ की कल्पना ही न हो सकेगी । इस बात का भी उल्लेख धर्मकीर्ति ने किया है ।

All vedic words are
used in classical forms.

एतेषामाक्षेपाणामिदमेवोत्तरम्—नाभिनवाः केचन शब्दा वैदिकाः। रचनामात्रं तु वेदे भिद्यते न तु पदानि। सर्गात्प्रभृति प्रवृत्तोऽयं वेदविदां व्यवहारः। वेदश्चार्थश्च तदवगमश्च तदुपायश्च तदनुष्ठानं च नाद्यत्वे प्रवृत्तानि, किन्तु केषाञ्चिन्मतेऽनादीन्येवान्येषां मते सर्गात्प्रभृति प्रवृत्तानि। य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकाः। य एव लोके तेषामर्थः स एव वेदेऽपि। अन्यथा सङ्गविग्रहाभाव एव स्यात्। तस्याद् वेदे रूढाः शब्दा न सन्ति यौगिका एव सन्ति, तेषां च प्रसिद्धा अर्था न सन्ति किन्तु व्युत्पत्तिलभ्या एवार्थाः' इति दयानन्दीयं मतं सर्वथाप्यसमञ्जसमेव। लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि यानि पदानि तानि सत्यविरोधे तदर्थकान्येव सूत्रेष्ववगन्तव्यानीति शबरस्वामिरीत्या प्रसिद्धार्थस्यैव ग्रहणौचित्यात्।

तथाहि—'प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात्' (जै० सू० १।३।३०)। अर्थाद् गौरित्यादयः शब्दा विभागकृतेः प्रमाणभूतव्यक्तेरिति सन्देहः। किं य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिका उतान्य इति संशयः। तत्रान्ये लौकिकाः शब्दा अन्ये वैदिका अन्ये चैषामर्था इति पूर्वपक्षः। कुतः व्यपदेशभेदाद् रूपभेदाच्च। इमे लौकिका इमे वैदिका इति व्यपदेशभेदः, 'अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्' इत्यन्यदिदं रूपं लौकिकादग्निशब्दात्। शब्दान्यत्वाच्च न त एवार्थाः। अपि च समामनन्ति 'उप्ताना वा देवगवा वहन्ती' इति। ये देवानां गावस्त उत्ताना वहन्तीत्युक्ते गम्यत एव ये उत्ताना वहन्ति ते गोशब्देनोच्यन्ते। तस्मादन्य एव वैदिकगोशब्दस्यार्थः। तथा देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थमिति हिरण्यपर्णो देववनस्पतिर्वेदे, एतद्वै दैव्यं मधुयदधृतम् इति वेदे घृते मधुशब्दः। तस्मादमीषामन्येऽर्था इति पूर्वपक्षे प्राप्ते, सिद्धान्तः—य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एवैषामर्था इति। कुतः ? प्रयोगचोदनाभावात्। एवं हि प्रयोगचोदना सम्भवति यदि त एव शब्दास्त एवार्थाः। इतरथा शब्दान्यत्वेऽर्थो न प्रतीयेत, तस्मादेकशब्दत्वम्।

ननु प्रयोजनमिदमुक्तमेकशब्दत्वस्य हेतुरुच्यतामिति तत्रोच्यते—अविभागादिति। न तेषामेषां च विभागमुपल-

इन सब आक्षेपों का यही उत्तर हो सकता है कि वैदिक शब्द कोई अनोखे नहीं हैं। लोक और वेद में रचना मात्र का भेद है, पद तो सब एक से ही हैं। सृष्टि के प्रारम्भ से ऐसा ही व्यवहार प्रवृत्त है। वेद, उसका अर्थ, उसका ज्ञान, ज्ञान का उपाय और उसका अनुष्ठान आज नया नहीं प्रवृत्त हुआ है। किसी के मत से ये अनादि हैं और अन्य दार्शनिक इनकी प्रवृत्ति सर्ग के प्रारम्भ से मानते हैं। इन अनेक स्थानों पर कह चुके हैं कि लौकिक शब्द ही वेद में भी हैं। लोक में जो इसका अर्थ होता है, वही वेद में भी है। अन्यथा शब्दों की संगति ही नहीं बन पावेगी। अतः वेद में रूढ शब्द न होकर यौगिक शब्द ही हैं और उनके प्रसिद्ध अर्थ न होकर व्युत्पत्ति के आधार पर नये अर्थ भी हो सकते हैं, इस तरह का स्वामी दयानन्द का कथन सर्वथा असंगत है। लोक में जिन अर्थों में जो पद प्रसिद्ध हैं, विरोध न होने पर सूत्रों में भी उनका वही अर्थ मानना चाहिये, ऐसा कहकर शबर स्वामी ने प्रसिद्ध अर्थ को ही प्रमाण माना है।

'प्रयोग चोदना०' प्रभृति मीमांसासूत्र में संशय उठाया है कि लौकिक और वैदिक शब्दों का एक समान अर्थ है या भिन्न ? पूर्वपक्षी का कहना है कि लौकिक और वैदिक शब्द भिन्न हैं, अतः उसका अर्थ भी भिन्न ही है, क्योंकि एक तो लौकिक और वैदिक, इस तरह से इनके नाम भिन्न भिन्न हैं। दूसरे इनके शब्दों के रूप भी भिन्न भिन्न होते हैं। इस तरह से नाम और रूप के भेद से जब शब्द भिन्न हैं, तो उनके अर्थ भी अवश्य ही भिन्न होंगे। वैदिक गौ शब्द का अर्थ भिन्न बताया भी गया है। वेद में हिरण्यवर्ण देव वनस्पति का वर्णन है, घृत के लिये मधु शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी तरह से अन्य वैदिक शब्दों के भी अर्थ भिन्न ही मानने चाहिये। इस पूर्वपक्ष के निरूपण के वाद वहाँ सिद्धान्त पक्ष बताया गया है कि वैदिक और लौकिक शब्दों में और उनके अर्थों में किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं है। ऐसा मानने पर ही प्रयोग चोदना सार्थक हो सकती है, अर्थात् इनकी समानता के आधार पर वैदिक कर्मकाण्ड में प्रवृत्ति बन सकती है। यदि वैदिक शब्द लौकिक शब्दों से भिन्न माने जांयगे तो वैदिक शब्दों से लौकिक जनों को अर्थ का ज्ञान नहीं होगा और जब उनका ज्ञान नहीं होगा तो वैदिक विधि में लौकिकों की प्रवृत्ति कैसे होगी ? प्रवृत्ति तो होती है, अतः मानना पड़ेगा कि लौकिक और वैदिक शब्दों और उनके अर्थों में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं है।

लौकिक और वैदिक शब्दों की एकता का प्रयोजन पूर्व सूत्र में बताया गया है। 'अविभागात्' प्रभृतिसूत्र में उसका कारण दिखाया जाता है कि लौकिक और वैदिक शब्दों में कोई विभाग नहीं दिखाई पड़ता। अतः इसकी एकता ही मान्य है। लौकिक और

भामहे। अत एव एकशब्दत्वम्। तांश्च तांश्चार्थानवगच्छामः, अतो नान्यत्वं च वदामः। यच्चोक्तं ये उत्ताना वहन्ति ते देवगवाः, यद्धृतं तन्मधु, यो हिरण्यपर्णः स वनस्पतिः। नास्ति वचनं यदुत्तानं वहतां गोत्वं ब्रूयात्। ये गावस्त उत्ताना वहन्ति इत्येवं तत्। यदि चानेन वचनेन गोत्वं विधीयेत, उत्ताना वहन्तीत्यनुवादः स्यात्। न चोत्ताना वहन्तः प्रसिद्धाः केचित्। ते नियोगतो विधातव्याः। तेषु विधीयमानेषु न शक्यं गोत्वं विधातुं भिद्यते तथा वाक्यम्। यदि चान्ये वैदिकास्ततः उत्तानादीनामर्थो न गम्येत। तत्र न तरां शक्येताविज्ञातलक्षणं गोत्वं विधातुम्। न चोत्तानवहनवचनमप्यनर्थकं स्तुत्यर्थेनार्थवद् भविष्यति। एवं घृतस्य मधुत्वं हिरण्यपर्णता च वनस्पतेः। तस्मात्त एव शब्दा अर्थाश्च। आकृतिशक्त्यधिकरणान्तर्गतमिदमधिकरणम्।

'उणादिकोष' इत्यभिधाने ग्रन्थे १८१ पृष्ठे उणादिव्याख्यायाः प्रथमसूत्रस्य विवरणे ग्रन्थकारेण लिखितम्—'प्रायेण सर्वे वृत्तिकारा' 'उणादयो बहुलम्' इत्यत्र 'पुवः संज्ञायाम्' इत्यतः संज्ञाग्रहणमनुवर्त्य उणादिप्रत्ययान्ताः संज्ञाशब्दा इति सङ्गिरन्ते। तदयुक्तम्, अस्मिन्नुणादिशास्त्र एव सप्तकृत्वः संज्ञापदनिर्देशात्। यदि हि सर्वं औणादिकाः संज्ञाशब्दाः स्युर्त्तर्हि तत्र तत्र संज्ञाग्रहणं शकुन्याद्युपाधिग्रहणं चानर्थकं स्यात्। अत एवोपरिष्टाद्वक्ष्यत्याचार्यः—'अत्र संज्ञाग्रहणेन ज्ञायते उणादयः सामान्यार्थे यौगिका भवन्तीति, संज्ञायास्तस्मिन्नर्थे रूढत्वात्। यदि च प्रकृतिप्रत्ययविभागेन औणादिकेभ्यो यौगिकार्थो न निःसरेत्, तर्हि सर्वे उणादिस्थाः शब्दाः संज्ञावाचकाः स्युः, पुनः संज्ञाग्रहणमनर्थकं स्यात्'इति।

अत्र सर्वेषां वृत्तिकाराणां यन्मतम्—उणाणिप्रत्ययान्ताः संज्ञाशब्दा इति, तदेव साधीयः। तदयुक्तमित्यादिकथनं तु सर्वथाऽसङ्गतमेव, तथाहि—उणादिप्रत्ययान्तानां संज्ञाशब्दत्वस्यायुक्तत्वसाधने योऽयं हेतुरुपन्यस्तः 'अस्मिन्नुणादिशास्त्र एव सप्तकृत्वः संज्ञापदनिर्देशात्'इति', स तु न सद्धेतुरपि तु हेत्वाभासः। यतश्चाभ्यासार्थं सप्तकृत्वः पाठस्य सार्थक्यम्। अभ्यासो हि तात्पर्यनिर्णायकं लिङ्गम्। उक्तं च श्रीजिनेन्द्रबुद्धिना न्यासग्रन्थे 'प्रकृताया एव संज्ञाया दृढीकरणार्थं पुनः संज्ञाकरणम्। बहुलवचनादसंज्ञायामपि भवन्तीत्याशङ्कानिवृत्यर्थं वा। (काशिका० ३।३।१)'इति। नहि संज्ञापदमेव बहुत्र

वैदिक शब्दों के अर्थ भी भिन्न नहीं हैं। गो, घृत, वनस्पति शब्दों के अर्थ की भिन्नता का जो पहले उल्लेख किया गया है, वह भी सही नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि लौकिक शब्दों के आधार पर ही उक्त वैदिक शब्दों में कुछ विशेषताओं की विधान किया गया है। यदि वैदिक शब्दों को विलक्षण माना जाय, तो उनको न समझ पाने से उक्त विशेषताओं का विधान भी निरर्थक हो जायगा। अतः मानना पड़ेगा कि वैदिक और लौकिक शब्द में और उनके अर्थ में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं है।

उणादि कोष नामक ग्रन्थ में उणादि सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रथम सूत्र का विवरण प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि प्रायः सभी वृत्तिकार 'उणादयो बहुलम्' सूत्र में 'पुनः संज्ञायाम्' सूत्र से संज्ञा पद की अनुवृत्ति कर उणादि प्रत्ययान्त सभी पदों को संज्ञाशब्द मानते हैं। यह ठीक नहीं है। इस उणादि शास्त्र में ही सात बार संज्ञापद का निदेश हुआ है। यदि ये संज्ञा शब्द ही होते तो बार बार संज्ञापद की आवृत्ति शकुनि प्रभृति उपाधि का ग्रहण अनर्थक हो जायगा। इसी लिये आगे आचार्य ने कहा है कि यहाँ संज्ञापद के ग्रहण का यह अभिप्राय है कि उणादि सिद्ध पद सामान्य अर्थ में यौगिक होते हैं, क्योंकि संज्ञा पद उसी अर्थ में रूढ है। यदि प्रकृति और प्रत्यय के विभाग द्वारा औणादि.पदों से यौगिक अर्थ न निकले; तो सभी उणादिस्थ पद संज्ञावाचक ही होंगे, पुनः संज्ञा पद का यहां सातबार ग्रहण एकदम व्यर्थ होगा।

इस पर हमारा कहना है कि अन्य सब वृत्तिकारों का मत ही यहां सही है। उसको अयुक्त बताना ही असंगत है। अपनी बात को सिद्ध करने के लिये आप जो हेतु देते हैं, वह सही नहीं है। क्योंकि अभ्यास के लिये सातबार संज्ञा पद का पाठ यहां किया गया है। अभ्यास से भी तात्पर्य के निर्णय में सहायता मिलती है। काशिका ग्रन्थ के व्याख्याकार जिनेन्द्र बुद्धि न्यासनामक ग्रन्थ में कहते हैं कि प्रकृत संज्ञा को दृढ करने के लिये ही पुनः संज्ञा की जाती है। अथवा बहुल शब्द को देखकर कहीं यह आशंका न होने लगे कि असंज्ञा में भी प्रत्यय होते हैं, इसकी निवृत्ति के लिये भी संज्ञा पद की बार बार आवृत्ति की जाती है। केवल संज्ञापद का ही

कीर्तितम्, अपि तु बहुलग्रहणमप्यनेकस्थलेषु पठितम्। तदप्यस्यैव बहुलस्य स्मरणार्थम्। एवं हि विस्मरणशीलानामनुग्रहः कृतो भवति। त्वन्मते तु तदपि बहुलग्रहणातिरिक्तस्थलीयोणादीनां बाहुल्याभावज्ञापनार्थं स्यात्। तच्च महदनिष्टं स्यादिति स्वयमूहनीयम्। अत एवाह भगवान् पतञ्जलिः—'संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे। कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥' (म० भा० ३।३।१)। अत्र प्रदीपकृत्कैयटः—'न सर्वत्रोहः कर्त्तव्यः किं तर्हि साधुत्वेनाभिमतासु संज्ञास्विति प्रदर्शयति संज्ञास्विति। उद्योतकृदपि—प्रसिद्धसंज्ञाशब्देष्विति। पदमञ्जरीकारः श्रीहरदत्तोऽपि—स चायमूहोऽनादिप्रयुक्तास्वेव संज्ञासु न सर्वत्रेत्याह-संज्ञास्विति। न्यासकृदपि—'न यत्र क्वचिदूहः कर्तव्यः, अपि तु विशिष्ट एव विषये इति दर्शयन्नाह-संज्ञास्वित्यादि। य एते निरूढाः साधुत्वेन शब्दाः, तेष्वेव संज्ञातः सूहः कर्तव्यो नान्य इति। एतादृशानादिपरम्पराप्रसिद्धसंज्ञाशब्दानुद्दिश्य उणादिशास्त्रं प्रवृत्तमिति भाष्यकारिकया निश्चीयते। तत्र यदि संज्ञाग्रहणेन उणादयः सामान्यार्थे यौगिका भवन्तीति ज्ञाप्यते, तदा उद्देश्यस्वरूपमेव भज्येत। संज्ञाशब्दानुद्दिश्य प्रकृत्यादिकल्पना विधीयते। ततश्च संज्ञाशब्दा यौगिकाः सम्पद्यन्ते इत्यहो आचार्यस्य प्रकृष्टं पाण्डित्यम्।

अग्रे च यौगिकार्थनिःसारणे व्यग्र आचार्य आह—'तर्हि सर्वे उणादिस्थाः शब्दाः संज्ञावाचकाः स्युः'इति। अत्र 'संज्ञावाचकाः' इत्यस्य निगूढं तात्पर्यमाचार्य एव जानाति। किमत्र तत्पुरुषो बहुव्रीहिर्द्वन्द्वो वा। त्रिष्वप्यनन्वितार्थ एवायमार्षप्रयोगः। अस्तु यदि पृच्छ्यते भवन्मते तर्हि एषु संज्ञाशब्देषु प्रकृत्यादिकल्पना किमर्था? तत्रोच्यते—असंस्कृतत्वात् गाव्यादिशब्दानामिवासाधुत्वमेषां स्यात्। एवं चासाधुत्वभ्रमनिवारणार्थंवैषा कल्पना, न तु यौगिकार्थावबोधार्था। अत एवोक्तं भगवता भाष्यकारेण—'नैगमरूढिभवं हि सुसाधु' (३।३।१) इति। अत्र प्रदीपकारः—'निगमश्छन्दस्तत्र भव इति 'अणृगृयनादिभ्य' (पा० सू०) इत्यण्। रूढिः प्रसिद्धिः। तत्र भवाः संज्ञाशब्दा इत्यर्थः। ते सुष्ठु साधवो यथा स्युरिति।' (म० भा० प्र० ३।३।१)। अनयाप्युक्त्या संज्ञाशब्दानामेवोद्देश्यत्वमुणादिशास्त्रे सिद्ध्यति।

अनेक वार पाठ नहीं हुआ है, बहुल पद की भी अनेक वार आवृत्ति हुई है। इसका प्रयोजन भी बहुल शब्द की स्मृति बनाये रखने के लिये ही है। यह एक तरह से विस्मरणशील व्यक्तियों पर अनुग्रह है। आपके मन से भी संज्ञा पद के समान ही बहुल पद भी अन्यत्र उणादि प्रत्ययों की बाहुलकता का प्रतिषेवक माना जायगा। इससे कितना अनिष्ट होगा, आप स्वयं विचार कर लें। भगवान् पतंजलि ने उणादिप्रकरण के विषय में कहा है कि यहां संज्ञा के अनुसार धातु और प्रत्यय की तथा तदनुरूप अनुवन्धों की कल्पना की जाती है। प्रदीपकार कैयट कहते हैं कि सर्वत्र मनमाना ऊह नहीं करना चाहिये, किन्तु जिन संज्ञाओं को साधुता सभी तरह से सिद्ध हैं, वहीं तदनुरूप ऊह किया जाना चाहिये। उद्योतकार ने भी इसी को समर्थन दिया है। पदमञ्जरीकार हरदत्त कहते हैं कि यह ऊह अनादि काल से प्रयुक्त होती चली आरही संज्ञाओं के विषय में होने चाहिये, सर्वत्र मनमानी पद्धति से नहीं। न्यासकार भी कहते हैं कि विशिष्ट स्थलों पर ही ऊह करना चाहिये, अर्थात् जिन शब्दों की साधुता स्वीकृत है, उन्ही में उनके अर्थ के अनुरूप ऊह करना चाहिये, अप्रसिद्ध स्थलों पर नहीं। भाष्य की उक्त कारिका से यह निश्चित होता है कि इस तरह के अनादि परम्परा से प्रसिद्ध शब्दों को लक्ष्य कर के उणादिशास्त्र की प्रवृत्ति हुई है। अब यदि उणादिशब्दों को सामान्य अर्थों में प्रयुक्त यौगिक शब्द मान लिया जाय, तो इस प्रकरण का उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा।

आगे उणादि प्रकरण से यौगिक अर्थ को निकालने में व्यग्र आचार्य दयानन्द कहते हैं कि तब सारे उणादिस्थ शब्द संज्ञावाचक हो जायंगे। संज्ञावाचक शब्द का तात्पर्य वे ही जानें कि यहाँ तत्पुरुष, बहुव्रीहि और द्वन्द्व में से कौन सा समास है। यदि आप हमसे पूछते हैं कि यदि ये संज्ञा पद हैं तो फिर प्रकृति आदि की कल्पना का क्या प्रयोजन है, तो हमारा उत्तर है कि इनका संस्कार नहीं किया जायगा, तो गावी प्रभृति शब्दों के समान ये भी अपशब्द मान लिये जायंगे। अतः अपशब्द के भ्रम की निवृत्ति के लिये प्रकृति, प्रत्यय आदि की कल्पना की जाती है, यौगिक अर्थ को बताने के लिये नहीं। इसी लिये भगवान् भाष्यकार ने नैगम और रूढिगत शब्दों की साधुता बताई है। प्रदीपकार ने निगम का अर्थ छन्द किया है और रूढि का अर्थ प्रसिद्धि है। इन शब्दों की साधुता उणादि प्रकरण से सिद्ध होती है। इस उक्ति से भी उणादिशास्त्र की लक्ष्यसंज्ञा शब्द ही माने जाते हैं।

नन्वेवं तर्हि यौगिकोऽर्थः सर्वथोपेक्षणीय एवेति चेत्, उच्यते-संज्ञाशब्दा द्विविधाः—रूढिभवाः, योगरूढाश्च। आद्येषु योगार्थस्य नास्ति सम्भवः, यथा मणिनूपुरादयः। द्वितीयेषु यद्यपि योगार्थोऽपेक्ष्यते तथापि विशेषणतया, यथा वायु-साधु प्रभृतयः। वायुशब्दे वाति गच्छतीति व्युत्पत्तिलभ्योऽप्यर्थो विशेषणतया योज्यते, ततश्च गमनकर्त्रभिन्नो भूतविशेष इत्यर्थो लभ्यते। अत्र विशेषणांशो योगशक्त्या विशेष्यांशो रूढिशक्त्या लभ्यते। तत्र विशेषणतया लाभो भवतु मा वा न कापि क्षतिः। अव्याप्त्यतिव्याप्त्यादिदोषं विशेष्यांश एव निवारयिष्यति। यदि तु 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा० सू०) इति शिष्टोपदिष्टत्वम्' तदा नास्ति प्रकृत्यादिकल्पनाप्रयुक्तसंस्कारस्यावश्यकता। अत एवोक्तं भाष्यकृता-'उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि' (पा० सू० १।१।६०) इत्यत्र। अत एव च सूत्रितं भगवता पाणिनिना-'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपादिकम्' (पा० सू० १।२।४५) इति।

यत्तु—'उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपादिकानि' इति भाष्यस्य पक्षान्तरप्रयोज्यपरिहारतया लापनं कृतम्, तदतीव तुच्छम्, यतो हि-'पक्षान्तरमाश्रित्य निर्दर्शितदोषपरिमार्जनस्यैव तत्र तत्रेष्टत्वात्' इत्येव हेतुवाक्यं तत्रोपन्यस्तम्। अत्रोच्यते-एकस्मिन् पक्षे वादिना यदि कश्चन दोष उपस्थाप्यते, तदा प्रतिवादिना पक्षान्तरेणापि तस्य दोषस्य परिहारः कर्तुं शक्यते। यथा प्रकृते उणादीनां व्युत्पत्तिपक्षे शङ्खः, कण्ठः, गुल्फः, जङ्घ इत्यादिषु ईनाद्यादेशाशङ्का तस्याश्च अव्युत्पत्तिपक्षेण परिहारः। तत्राव्युत्पत्तिपक्षे नास्ति कश्चन दोषः, अपि चास्ति लाघवं गुणः।' (म० मा० ७।१।२) तत्र पक्षान्तराश्रयणेन निर्दर्शितदोषस्य, मार्जनं तु भवत्येव, एतदर्थमेव तत्पक्षस्योद्भावनं भवति। तद्विषये भवदुक्तवाक्येनायुक्तता कथमायास्यति ? निर्दर्शितदोषपरिमार्जनस्यैव तत्र तत्रेष्टत्वात्, इत्यत्र एवकारेण को व्यावर्त्यो भवदभिप्रेतः ? किं पक्षान्तराश्रयणरूपः, हन्त ? तर्हि मूलमेव विनाशितम्। यद्बलेन दोषपरिमार्जनं तस्यैव व्याहतिः। मन्ये तावदनेन हेतुनाऽपरितुष्यन् खलु भगवानाह 'यानि तर्हि अग्रहणानि प्रातिपदिकानि, एतेषामपि स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थमुपदेशः कर्तव्यः' इति। 'पस्पशाह्निकस्य स्ववचनविरोधाच्च। इत्ययमपि हेतुर्न सन्, यतो हि 'अयमपि हेतुर्न सन्, यतो हि स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थमुपदेशः कर्तव्य इत्युच्यते भगवता

इस तरह से तो यौगिक अर्थ की सर्वथा उपेक्षा हो जायगी ? इस शंका का समाधान यह है कि संज्ञा शब्द दो प्रकार के होते हैं—एक तो रूढ़िज दूसरे योगरूढ। मणि, नूपुर प्रभृति रूढिज शब्दों का यौगिक अर्थ नहीं हो सकता। योगरूढ शब्दों में विशेषण के रूप में योगार्थ की अपेक्षा रहती है, जैसे कि वायु, साधु प्रभृति शब्दों में। वायु शब्द में 'वाति गच्छति' इस व्युत्पत्ति के आधार पर प्राप्त होने वाला अर्थ भी विशेषण के रूप में जोड़ा जाता है। तब 'गमन क्रिया का कर्ता भूतविशेष' यह वायु शब्द का अर्थ निकलता है। यहाँ विशेषणांश योगशक्ति से और विशेष्यांश रूढ़ि शक्ति से प्राप्त होता है यदि पृषोदरादि गण के अन्तर्गत कोई शब्द शिष्य जन द्वारा उपदिष्ट है, तब वहाँ पर प्रकृति प्रत्यय, आदि के द्वारा उसको संस्कृत करने को भी आवश्यकता नहीं है। इसी लिये भाष्यकार ने उणादि प्रकरण सिद्ध शब्दों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक माना है। भगवान् पाणिनि ने भी धातु और प्रत्यय से भिन्न अर्थवान् पद को प्रातिपादिक संज्ञा की है।

आर्य समाजी उणादि अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं, इस भाष्यग्रन्थ को पक्षान्तर प्रयुक्त दोष के परिहार के लिये मानते हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह बात तो सर्वत्र लागू होती है कि पक्षान्तर प्रयुक्त दोष के परिहार के लिये कारण बनाये जाँय। जैसे प्रकृत में उणादि के व्युत्पत्ति पक्ष में शङ्ख, कण्ठ, गुल्फ प्रभृति में ईनादि आदेशों की शंका का अव्युत्पत्ति पक्ष का आश्रय कर परिहार किया जाता है। अव्युत्पति पक्ष में कोई दोष भी नहीं है और लाघव गुण भी है। यहाँ पक्षान्तर को स्वीकार करनें से निर्दिष्ट दोष का परिहार हो जाता है। इसी लिये पूर्वपक्ष की कल्पना की जाती है। इसमें केवल आपके कथनमात्र से अयुक्तता कैसे आ जायगी ? एवकार से किसकी व्यावृत्ति आप करना चाहते हैं ? पक्षान्तर के आश्रयण को व्यावृत्ति करने से तो मूल का ही विनाश हो जायगा। लगता है इसीलिये भगवान् पतंजलि ने कहा है कि ये जो अग्रहणप्रातिपदिक हैं, उन्हीं की स्वर और वर्णानुपूर्वी के ज्ञान के लिये उपदेश करना चाहिये। पस्पशाह्निक स्थित अपने वचन से विरोध भी होगा। यह आर्यसामाजी उक्ति भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि भाष्यकार यहाँ केवल इतना ही कहते हैं कि स्वर और वर्णानुपूर्वी के ज्ञान के लिये उपदेश करना चाहिये, वे यह नहीं कहते कि प्रकृति और

भाष्यकृता, न तु प्रकृतिप्रत्ययविभागः कर्तव्य इति। भवद्रीत्या त्विदमेव वचनीयं स्यात्। अस्मद्रीत्या त्वव्युत्पत्तिपक्षतया न प्रकृत्यादिविभागो दर्शितः, अपि तु शशः षष इति मा भूत् पलाशः पलाष इति मा भूत् इत्येवं प्रकारेण अव्युत्पत्तिपक्षावलम्बिनी वर्णानुपूर्वी एव दर्शिता। विभावयतु भवान् क्व वचनविरोधः? वस्तुतोऽस्यापि भाष्यस्य पृषोदरादिकल्पनायामेव तात्पर्यम्। द्रष्टव्यः प्रदीपग्रन्थः महाभाष्यपस्पशाह्निकस्यान्तिमो भागः।

यत्तु—'संज्ञाधिकारे पुनःसंज्ञाकरणं प्रायेणोणादीनां यौगिकत्वसूचनार्थम्' इत्युज्जलदत्तवचनमाश्रित्य स्वमतं साधयितं प्रयत्यते, तत्तु कुशकाशावलम्बनमात्रम्। नहि तावदुज्ज्वलदत्तेनोच्यते-यौगिकत्वस्यैव सूचनार्थमिति। अतश्च विशेषणतया सम्भवस्थले भवतु नाम यौगिकोऽर्थः, को विरोधः? यत्र क्वापि केवलो यौगिकोऽर्थ आश्रीयते यथा कारुशब्दस्य कारकरूपोऽर्थः, तत्र लक्षणा वृत्तिः, अप्रसिद्धा शक्तिर्वा स्वीकार्या, उणादीनां तत्र तात्पर्याभावात्। अनयैव रीत्या व्युत्पत्तिकारोक्तिरपि कथञ्चिन्नेया।

फलत औणादिकानां संज्ञाशब्दत्वं निर्विवादम्। यौगिकोऽर्थः सति सम्भवे ग्राह्यः, यश्च मुख्यार्थविरोधी न स्यात्। एतेन यौगिक एवं मुख्योऽर्थः, तदुपजीवी च विशेषार्थ इति कथनं निर्युक्तिकमेव सिद्धम्। बहुलग्रहणादपठिता अपि संज्ञाशब्दाः सङ्ग्राह्याः। सन्ति च संज्ञाशब्दा एकार्था अनेकार्थाश्च। तत्र पतङ्गशब्दः पक्षिणि व्युत्पादितोऽश्वे सूर्ये च नानार्थतया प्रवर्तते। को विरोधः? 'पतेरङ्गच् पक्षिणि' (उ० १।११९) इत्युणादिसूत्रे पक्षिणीत्युपलक्षणम्, न तु पक्षिण्येवेत्यवधारणपरम्। स्वीकृतं चोपलक्षणत्वं तस्य तत्त्वबोधिनीकृता।

एवमेव प्राधातोरसुन्प्रत्यये थुडागमे च कृते पाति रक्षतीति विग्रहे पाथस्शब्दो निष्पद्यते उदकरूपेऽर्थे, पुनश्चान्नरूपेऽर्थेऽपि। अनयैव व्युत्पत्त्याऽयं शब्दो निष्पादितोऽस्ति। तदर्थं चोणादौ सूत्रद्वयमस्ति। 'उदके थुट्च' (उ० ४।५०), 'अन्न च'

प्रत्यय का विभाग करना चाहिये। आप यदि वे दूसरी बात कहते तभी उनके दो वाक्यों में परस्पर विरोध दिखा सकते थे। हमारे मत के अनुसार तो अव्युत्पत्ति पक्ष को भाष्यकार स्वीकार करते हैं। इसीलिये प्रकृति, प्रत्यय का विभाग यहां नहीं दिखाया गया है, किन्तु शश षष न हो जाय, पलाश पलाष न बना दिया जाय, इसके लिये अव्युत्पत्ति पक्ष को दृढ करनेवाली वर्णानुपूर्वी का केवल वर्णन किया गया है। अब आप देखिये कि इनमें परस्पर विरोध कहाँ है। वस्तुतः देखा जाय तो इस भाष्य का भी तात्पर्य पृषोदरादि की कल्पना में ही है। इस सम्बन्ध में महभाष्य पस्पशाह्निक के अन्तिम भाग को प्रदीय व्याख्या देखियें।

संज्ञा के अधिकार में (पुनः संज्ञा पद ग्रहण का प्रायः उणादि प्रकरण की यौगिकता का साधक है, इस उज्ज्वलदत्त के वचन को जो अपने पक्ष की सिद्धि के लिये उपस्थापित किया गया है, वह भी तिनके के सहारे के समान है। उज्ज्वलदत्त ने यह नहीं लिखा है कि यह केवल यौगिक पदों की सूचना के लिये है। कहीं कहों विशेषण के रूप में उनकी यौगिकता भी मानी जा सकती है। इसमें विरोध ही क्या है। जहाँ कहीं केवल यौगिक अर्थ स्वीकार किया जाता है, जैसे कि कारु शब्द का कारक रूप अर्थ यौगिक है, ऐसे स्थलों में लक्षणा वृत्ति अथवा अप्रसिद्ध शक्ति को स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु उणादि प्रकरण का इसमें तात्पर्य नहीं माना जा सकता। व्युत्पत्तिसारकार की उक्ति का भो समाधान इसी तरह से कर लेना चाहिये।

अन्ततः निर्विवाद रूप से यही मानना पड़ेगा कि औणादिप्रकरण सिद्धपद संज्ञा शब्द है, कहीं कहीं यौगिक अर्थ भी उनका किया जा सकता है, जो कि मुख्यार्थ का विरोधी न हो। अतः यौगिक अर्थ ही मुख्य है और विशेष अर्थ उसका उपजीवी है, यह कथन प्रमाण शून्य है। बहुल पद का उपादान होने से अपठित संज्ञा पदों का भी संग्रह किया जाता है। ये संज्ञाशब्द एकार्थक भी हैं और अनेकार्थक भी। पतंग शब्द की व्युत्पत्ति तो पक्षी के अर्थ में बताई जाती है किन्तु अन्व और सूर्य का भी बोध अपनी नानार्थकता के कारण कराता है। इसमें विरोध कहा है। उणादि सूत्र में पक्षि पद उपलक्षण है, केवल पक्षी अर्थ में ही यह प्रत्यय होगा, ऐसा निर्धारण यहाँ नहीं किया गया है। तत्वबोधिनी टीकाकार ने इस विषय को स्पष्ट किया है।

इसी तरह के प्राधातु से असुन् प्रत्यय और थुट् आगम करने पर 'पाति रसति' इस विग्रह में पाथ्स शब्द जल के अर्थ में निष्पन्न होता है। इसका अन्न अर्थ भी होता है। उसकी भी व्युत्पत्ति वहीं है। इसके लिये उणादि में दो सूत्र हैं। यहाँ भी उदक

(उ० ४।५१) इति। अत्रापि उदके इत्युपलक्षणम्, तदेव च सूचितम् 'अन्ने च' इत्यग्रिमेण सूत्रेण। एतत्सूत्रव्याख्याने श्रीक्षीरस्वामिना 'कबन्धमुदकं पाथः' इत्यमरोक्तिं दर्शयता एतत्सूच्यते यदुदकमित्युपलक्षणमिति। अस्यां स्थितौ अन्तरिक्षस्यापि संज्ञात्वे का क्षतिः ? भवन्मते तु यौगिकार्थस्यैव प्राधान्येन सूत्रे उदकग्रहणम्। अन्ने चेति द्वितीयसूत्रकरणमनर्थकमेवास्ति, योगार्थेनैव तयोरन्तरिक्षस्यापि संग्रहात्। किञ्चैते त्रय एवार्थाः कथं पाथःशब्दवाच्या भविष्यन्ति ? घृतस्य, दुग्धस्य, वायोः, पृथिव्याः समेषां पदार्थानां रक्षणकर्तृत्वेन भवन्मते पाथःशब्दवाच्यत्वात्।

यत्तु—अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते…………। कैश्चिन्निर्वचनं मित्रं गिरतेर्गर्जतेर्मभेः ॥' (वा० प० २।१७५) इत्यादिभिर्हरिवचोभिर्व्युत्पत्तिपक्षस्य साधने प्रयत्नः क्रियते, तत्तु नास्मत्पक्षं विरुणद्धि। सति सम्भवे नानाव्युत्पत्तीनां स्वीकारात्। तत्र नास्माकं विरोधः। अत एव श्रीहरिणाप्यग्रे उक्तम्––'गौरित्येव स्वरूपाद्वा गोशब्दो गोषु वर्तते। व्युत्पाद्यते न वा सर्वं कैश्चिच्चोभयथेष्यते' (वा० प० २।१७५) इति। अत्र न वा सर्वं व्युत्पाद्यते, व्युत्पादयितुं शक्यमिति स्पष्टमेवोक्तमस्ति। किञ्च, 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' (म० भ० पस्पशाह्निके) इति वार्तिकेन भाष्यकारोऽपि शब्दस्य, अर्थस्य, तत्सम्बन्धस्य च नित्यत्वं प्रतिपादयन् अव्युत्पत्तिपक्षस्यैव सिद्धान्तत्वं बोधयति। किञ्चोणादीनां प्रत्ययानां कृत्संज्ञकत्वात् पञ्चानां वृत्तीनां मध्ये कृद्वृत्तिरेषा। वृत्तौ च एकार्थीभाव एवं सिद्धान्तितोऽस्ति, व्याकरणशास्त्रे। तत्र केवलरूढिस्थलेऽवयवार्थः सर्वथा त्याज्य एव। उक्तं च—'जहत्स्वार्था तु तत्रैव यत्र रूढिर्विरोधिनी' इति। यत्र त्ववयवार्थाऽविरुद्धोऽस्ति समुदायार्थः, तत्र सोऽपि विशेषणविधया सङ्ग्राह्य एव।

कृदन्तशब्दाः सर्वे एकशक्त्या एवार्थमुपस्थापयन्ति। सा च शक्तिः समुदायनिष्ठैव। एषैव रीतिः समासादिसकलवृत्तिषु। द्रष्टव्यं चैतत् समासशक्तिनिरूपणावसरे वैयाकरणभूषणसारे वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषादौ च। अत एव भवानपि—'शब्दसाधुत्वान्वाख्याने प्रवृत्ता व्याकरणशास्त्रप्रवक्तारः शब्दसाधुत्वमात्रप्रदर्शनधिया कामप्येकां व्युत्पत्तिं प्रदर्श्य

उपलक्षण मात्र है। इसी की सूचना 'अन्ने च' इस द्वितीय सूत्र से मिलती है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए क्षीरस्वामी 'कबन्धमुदकं पाथः' इस अमरकोश की उक्ति को उद्धत कर कहते हैं कि इससे यह सूचित होता है कि उदक उपलक्षण मात्र है। ऐसी स्थिति में इसके अन्तरिक्ष की संज्ञा होने में भी क्या क्षति है ? आपके मत से तो यौगिक अर्थ की ही प्रधानता होने से सूत्र में उदक का ग्रहण हुआ है, तब 'अन्ने च' यह द्वितीय सूत्र अनर्थक हो जायगा, क्योंकि योगार्थक होने से ही इनमें अन्तरिक्ष का भी ग्रहण हो जायगा। फिर इस शब्द के ये तीन ही अर्थ क्यों होंगे। घृत, दुग्ध, वायु, पृथिवी ये सब पदार्थ भी तो रक्षा करनेवाले हैं, अतः आपके मत के अनुसार ये सब पाथस् शब्द के वाच्य होने चाहिये।

'अन्वाख्यानानि' प्रभृति हरिकारिका के प्रमाण से व्युत्पत्ति पक्ष से सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है, यह हमारे मत से भी विपरीत नहीं है। सम्भव होने पर एक ही शब्द की अनेक तरह की व्युत्पत्तियां की जा सकती है। इसीलिये वाक्यपदीपकार भर्तृहरि ने आगे कहा है कि गोशब्द का प्रयोग स्वरूपतः समस्त गायों के लिये होता है। यहाँ 'न वा सर्वं व्युत्पाद्यते' का स्पष्ट तात्पर्य यही है कि सब शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं बताई जा सकती। 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' वार्त्तिक द्वारा भाष्यकार ने शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए अव्युत्पत्तिपक्ष की ही सिद्धान्तपक्ष के रूप में प्रतिष्ठा की है। उणादि प्रत्ययों का कृदन्त में अन्तर्भाव है, अतः पाँच वृत्तियों में से इनको कृद्वृत्ति कहा जायगा। व्याकरणशास्त्र में कृद्वृत्ति के लिये एकार्थीभाव विहित है। यहाँ केवल रूढि स्थल में अवयव का अर्थ पूरी तरह छोड़ दिया जाता है। जैसा कि कहा गया है कि जहत्स्वार्था लक्षणा वहां मानी जाती है, जहां रूढि से उसका विरोध होता हो। जहां पर समुदाय का अर्थ अवयव के अर्थ से विरुद्ध नहीं है, वहां विशेषण के रूप में उसका संग्रह किया ही जाना चाहिये।

सभी कृदन्त शब्द एक शक्ति से ही अर्थ की उपस्थिति करते हैं। वह शक्ति समुदायनिष्ठ मानी जाती है। समास प्रभृति सभी वृत्तियों की यही स्थिति है। इस विषय को विशेष रूप से समास शक्ति के निरूपण के अवसर पर वैयाकरणभूषणसार में और वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा प्रभृति ग्रन्थों में देखना चाहिये। आपने भी कहा ही है कि शब्द की साधुता का अन्वाख्यान करते

कृतार्था भवन्तीति नैव बहुधा व्युत्पादयन्ति'इत्याह। एतेन शब्दसाधुत्वमात्रप्रदर्शने व्याकरणशास्त्रस्य तात्पर्यमायाति। व्युत्पत्तिप्रदर्शने नास्त्याग्रहः, व्युत्पत्तेः समीहितार्थबोधनेऽनियतत्वात्। इदं त्ववश्यं ध्यानपथ आनेयं यत् अस्मिन्नेव ग्रन्थे तृतीयपृष्ठे भूमिकायां स्वामिदयानन्दसरस्वत्या लिख्यते—'क्योंकि वे संज्ञाशब्द जिस निज अर्थ के बोधक हैं, उसका बोध तो प्रकृतिप्रत्ययार्थ सम्बन्ध के बिना भी कराते ही हैं। वही पश्चात् होगा इसलिए (नाम च) इस विषय में निरुक्तकारों और वैयाकरणों में शाकटायन ऋषि का ऐसा मत है कि सब संज्ञा (रूढ) शब्द प्रकृतिप्रत्ययार्थ के सम्बन्ध से यौगिक तथा योगरूढ़ता से अर्थों के बोधक होते हैं। इनसे भिन्न अन्य ऋषियों के मतानुसार सब संज्ञाशब्दरूढ अर्थात् अव्युत्पन्न होते हैं।' इति। अस्मिन् स्थले संज्ञाशब्दानां स्वार्थैः सह सम्बन्धो यदि नित्योऽस्ति तर्हि तेषां व्युत्पादनस्य का आवश्यकता? इति प्रश्नं कृत्वा स्वामिमहाभागेन (नाम च····) इत्यादिरूपेणोत्तरं दीयते। तत्तु अत्यन्तमसमीचीनम्, भाष्यविरुद्धत्वात्. भाष्येतु 'नैगमरूढिभवं हि सुसाधु' इत्युत्तरितम्। नैगमरूढिभवानां व्याकरणेऽस्मिन् व्युत्पादनादसन्दिग्धं साधुत्वमवगम्यत इत्यर्थ इति प्रदीपकृतोक्तम्। एतेनेदं निश्चीयते यच्छान्दसशब्दानां संज्ञाशब्दानां च साधुत्वनिर्णयमात्रफलमेवैतद्व्युत्पत्तिप्रदर्शनम्, न त्वर्थबोधे मुख्यं तात्पर्यम् आनुषङ्गिकमेव तत्।

यत्तु कृधातुविषये सायणाचार्यस्य मतमुल्लिख्य विरोधः प्रदर्शितः, तदपि तुच्छम्। तनादिकत्व एव तत्तात्पर्यात्। कृञ्करणे भौवादिक इति कथनस्य त्विदमेव तात्पर्यं यत् शब्विकरणः कर्तव्यः, स तु भौवादिकत्वेन व्यत्ययेन वेति हेतुद्वयस्य प्राप्तौ द्वितीय एव हेतुः प्रामाणिकः। स चाग्रे निरूपितो भविष्यति। भौवादिक इत्यस्य भौवादिकसदृश इत्यत्र तात्पर्यात्। यत्रातद् तदित्युच्यते तत्र तत्सदृश इत्यर्थो गम्यते, यथा अब्राह्मणो यदि ब्राह्मण इत्युच्यते, तदा ब्राह्मणसदृश इति गम्यते। दृश्यतां महाभाष्यम्। सादृश्यं चात्र शब्विकरणत्वेन। अथवा उपसंहार एव तात्पर्यम्। उपसंहारश्च तनादिपाठे एव कृतोऽस्ति। तत्र सद्धेतुभिर्भौवादिकपाठो निराकृतोऽस्ति। निषेधाश्च वलीयांस इत्यपि द्रष्टव्यम्। यथा—'नियतं कुरु कर्म त्वम्', 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इति गीतायां भगवदुक्तिः।

समय वैयाकरण विद्वान् शब्द की साधुता मात्र का प्रदर्शन करने की बुद्धि से किसी एक व्युत्पत्ति का प्रदर्शन कर अपने को कृतार्थ मान लेते हैं, उसकी अन्य व्युत्पत्तियों को नहीं बताते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द की साधुता मात्र को बताना व्याकरण का प्रयोजन सिद्ध होता है। व्युत्पत्ति के प्रदर्शन में उनका आग्रह नहीं है, क्योंकि समीहित अर्थ के बोधन में व्युत्पत्ति नियत नहीं है। इतनी बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि इसी ग्रन्थ में स्वामी दयानन्द इस विषय में क्या कहते हैं। यहां संज्ञा शब्दों का स्वार्थ के साथ यदि नित्य सम्बन्ध है, तो फिर उनके व्युत्पादन का क्या प्रयोजन है? ऐसा प्रश्न कर स्वामी महाराज ने उसका उत्तर दिया है। यह समाधान भाष्य के विरुद्ध होने से अत्यन्त असमीचीन है। भाष्य में तो नैगम और रूढिभव शब्दों की साधुता बताई गई है। प्रदीपकार ने उसका अर्थ किया है कि इस व्याकरण में नैगम और रूढिभव शब्दों की व्युत्पत्ति बताई है, अतः उनकी साधुता असंदिग्ध है। इससे निश्चित होता है कि छान्दस और संज्ञा शब्दों की साधुता मात्र के प्रदर्शन के लिये इसकी व्युत्पत्ति बताई जाती है, उसके अर्थ को बताने में इसका मुख्य तात्पर्य नहीं है। यह तो उसका आनुषंगिक कार्य है।

कृधातु के सम्बन्ध में सायण के मत का उल्लेख कारके आपने उसको गलत बताया है, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि उनका तात्पर्य तनादिगण की धातु से सम्बद्ध है। भौवादिक कृञ् धातु का उल्लेख करने का तात्पर्य यह है कि उसको शब्दविकरण मानना चाहिये। भौवादिक मानकर यह किया जाय अथवा व्यत्यय के आधार पर इस तरह के विकल्प के उपस्थित होने पर द्वितीय हेतु ही प्रामाणिक है। इसका निरूपण आगे करेंगे। भौवादिक का तात्पर्य तब भौवादिक सदृश होगा। जहाँ तद्भिन्न को भिन्न कहा जाता है, वहाँ उसका अर्थ तत्सदृश माना जाता है। जैसे अब्राह्मण को ब्राह्मण कहने पर उसकी ब्राह्मणसदृशता ज्ञात होती है। यहाँ का महाभाष्य आप देखिये। शब्दविकरण के सदृश होने से यहाँ सादृश्य है अथवा उसका तात्पर्य उपसंहार में है। तनादि पाठ में उपसंहार किया गया है। यहाँ सही कारणों के आधार पर भौवादिक पाठ का निराकरण किया गया है। निषेध बलवान् होता है, इस बात को भी यहाँ देखना चाहिये। जैसे 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' गीता की इस उक्ति से 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' यह उक्ति अधिक बलवान् है।

अथवा 'करत्' इति प्रयोगमनुसृत्य केचनाचार्या भ्वादौ इमं धातुं मन्यन्ते, परन्तु तन्न साधुं, 'कृभृहृरहिभ्यः' (पा० सू०) इत्यङ्विधानसामर्थ्यात्। अत एव पूर्वं मया उल्लिखितोऽपि स निराक्रियते। पाठस्तु यथावत्स्थित एव। आचार्याः कृत्वा न निवर्तन्त इति स्मरणात्। भाषायां करत्यादीनां प्रयोगाणामसाधुत्वादपि न स भौवादिकः। देशभेदात् प्रयोगभेदविषये भाष्यकृता शव धातुः, हम्म धातुः, रंह धातुः, दाधातुः—इत्येवं परिगणिताः। यदि कृधातुविषयेऽपीयं स्थितिः स्यात् तर्हि भगवता प्रसिद्धत्वादस्याप्युल्लेखस्तत्र कृतः स्यात्। प्राकृतभाषायां प्रयुज्यमानः कृञ्धातुर्न भौवादिकत्वे लिङ्गम्, तेषां भ्वादिगणपठितत्वाभावात्, एतच्छास्त्रदृष्ट्याऽसाधुत्वाच्च। अधातुसम्बन्धेऽप्यकरदादिप्रयोगसिद्ध्यर्थमङ्विधानं सार्थकमेवेति कथनं न युक्तम्, तादृशप्रयोगस्यानुपलम्भात्। छन्दसि दृष्टानामेव विधानात्। अङि शपि च स्वरभेदोऽपि न, सति शिष्टस्वरवलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्य इति वार्त्तिकदर्शनात्। अपि शपि धातुस्वरः, अङि प्रत्ययस्वर इत्यपलापमात्रमेव। अत एव वेदे 'अकरत्' इति आद्युदात्त एवोपलभ्यते। एवं च भौवादिकत्वमेव निरसनीयं न तु तानादिकत्वम्। 'सहाव' 'सहतम्' इत्यनयोर्नाङ्स्वरः, उक्तवार्त्तिकविरोधात्। अतो व्यत्ययेनाकारस्योदात्तता बोध्या।

यत्तु अत्र ग्रन्थे ४२ पृष्ठे भट्टोजिदीक्षितस्योक्तिः—'स्वरादिपाठादव्ययत्वम्' इति, तस्याः समीचीनत्वमेव, ब्रह्मपरस्य तस्य सत्त्ववाचकत्वात्। आरम्भानुमत्योर्वर्त्तमानस्य ओम्शब्दस्य चादित्वे न क्षतिः, असत्त्वार्थकत्वात्। उत्तरमीमांसायाम्—

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥'

इत्यत्र अजाशब्दस्य कोऽर्थ इति विचारे अजाशब्दश्छाग्यां रूढः, तथापि तदर्थासम्भवाद् यौगिकार्थस्य चासम्भवात् सांख्यदृष्ट्या सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थापन्ना प्रकृतिः, वेदान्तरीत्या तु लोहितशुक्लकृष्णा तेजोऽबन्नलक्षणा भूतत्रयात्मिका प्रकृतिर्विवक्षिता। तदुक्तं श्रीमच्छङ्करभगवत्पादैः-'नन्वजाशब्दश्छाग्यां रूढः? बाढम्, सा तु रूढिरिह नाश्रयितुं शक्या। विद्याप्रकरणात्' (ब्र० सू० १।४।८)। 'ज्योतिरुपक्रमा तु ह्यधीयत एके' (ब्र० सू०) अजाशब्दो यद्यपि छाग्यां रूढः,

अथवा 'करत्' प्रयोग को देखकर कुछ आचार्य भ्वादिगण में इस धातु का पाठ करते है, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ कृभृ०' प्रभृति सूत्र से अङ्प्रत्यय का विधान हुआ है। इसीलिये पहले उल्लिखित विषय का यहाँ निराकरण किया गया है। पाठ तो जैसा का तैसा ही है। यह कहा जाता है कि आचार्यगण किसी कार्य को करने के बाद उसको वापस नहीं लेते। भापा में करति प्रभृति प्रयोग साधु नहीं माने जाते, इससे भी उसको भ्वादिगण का नहीं माना गया है। देशभेद से प्रयोग भेद के विषय में भाष्यकार ने शव, हम्म, रंह और दा धातु का परिगणन किया है। यदि कृ धातु के विषय में भी यदि यही स्थिति होती तो भगवान् पतंजलि उसका भी इन धातुओं के साथ परिगणन किया होता। प्राकृत भाषा में प्रयुज्यमान कृञ् धातु उसके भ्वादिगण के धातु होने में प्रमाण नहीं हो सकती, क्योंकि उसका वहाँ पाठ नहीं है और व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से वह अशुद्ध भी है। धातुका सम्बन्ध न रहने पर भी 'अकरत्' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि के लिये अङ् का विधान सार्थक है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसे प्रयोग कहीं उपलब्ध नहीं होते। छन्द में दृष्टविधि ही स्वीकार की जाती है। अङ् और शप् प्रत्यय में स्वरभेद भी नहीं होता। शप् प्रत्यय में धातुस्वर और अङ् में प्रत्ययस्वर मानना भी सही नहीं है। इसलिये वेद में 'अकरत्' पद आद्युदात्त ही उपलब्ध होता हैं। इस तरह से प्रस्तुत प्रयोग में भ्वादिगण की धातु का ही निषेध माना जायगा, तनादिगण की धातु का नहीं।

स्वामी दयानन्द ने प्रस्तुत ग्रन्थ में भट्टोजिदीक्षित की 'स्वरादि में पाठ होने से यह अव्यय है, इस उक्ति को ठीक नहीं माना है, किन्तु यह दीक्षित की उक्ति पूरी तरह से समीचीन है, क्योंकि ऊँकार ब्रह्म का बोधक होने से सत्त्ववाचक माना जाता है। आरम्भ और अनुमति अर्थ में प्रयुक्त ऊँ शब्द के चादि होने में कोई क्षति नहीं है, क्योंकि इन अर्थों में वह सत्त्व का बोधक नहीं है। उक्त मीमांसा में 'अजामेकां०' श्रुति में अजा शब्द के अर्थ का विचार करते समय कहा गया है कि यद्यपि 'अजा' शब्द छागी में रूढ है, तथापि वह अर्थ यहाँ संगत नहीं हो सकता, अतः सांख्य की दृष्टि से सत्व, रज और तम नामक त्रिविधगुणों की साम्यावस्थापन्न प्रकृति और वेदान्त की दृष्टि से लोहित, शुक्ल और कृष्ण; तेज, जल और अन्न लक्षण तीन भूत वाली प्रकृति अजा शब्द से विवक्षित है। जैसा कि भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है—'अजा शब्द तो छागी में रूढ़ है। अवश्य है, किन्तु यह रूढि यहाँ स्वीकार नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ विद्या

तथाप्यध्यात्मविद्याधिकारान्न तत्र वर्तितुमर्हति' इति। यदि वेदे यौगिक एव शब्दो ग्राह्यो न रूढस्तदा कृतं तादृशेन विचारेण।

पूर्वमीमांसायां विचारः—येषां शब्दानां पिक-नेम-तामरसादीनामार्येषु प्रसिद्धोऽर्थो नास्ति किं तेषां निगमादिभ्योऽर्थः कल्पनीयः, उत म्लेच्छप्रसिद्ध एवार्थो ग्राह्य इति सन्देहे शास्त्रस्थत्वान्निगमादिप्रसिद्ध एवार्थो ग्राह्यो म्लेच्छप्रसिद्धेरार्याणामर्थप्रतिपत्तौ विप्लवप्रसङ्गादिति प्राप्ते समुदायप्रसिद्धेरवयवप्रसिद्धितो बलवत्वात् पिकादिपदानि यद्रूपाणि वेदे दृश्यन्ते तद्रूपाणामेव तेषां म्लेच्छैरर्थविशेषेषु प्रयुज्यमानत्वात् तदर्थसम्बन्धे च पदानां बाधाभावाद् विप्लुतिशङ्कानुत्थानान्म्लेच्छप्रसिद्ध एवार्थो ग्राह्यः—पिकः कोकिलः, नेमः, अर्धम्, तामरसं पद्मम्—इति प्रमाणलक्षणे स्थितम्। यदि म्लेच्छरूढोऽप्यर्थो यौगिकाद् बलवान् भवति, तदा किमु वक्तव्यमार्यप्रसिद्धिरूपाया रूढेर्योगाद्बलवत्त्वे।

'यवमयश्चरुर्भवति' (वाराही उपानहौ) इत्यत्र यववराहशब्दयोर्म्लेच्छैः प्रियङ्गुवायसयोः प्रयोगात्, आर्यैश्च दीर्घशूकसूकरयोः प्रयोगात्, उभयोः प्रयोगयोरनादित्वेन तुल्यबलत्वाद् विकल्पेनाभिधानं प्राप्तमेतदप्युक्तं प्रमाणलक्षणे—'समाविप्रतिपत्तिः स्यात्' (जै० सू० १।३।८) इति। अभिधानविप्रतिपत्तिस्तुल्येत्यर्थः। तत्रैव सिद्धान्तोऽप्युक्तः—'शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्' (जै० सू० १।३।९)। यवमय इत्यस्य हि वाक्यशेषे यदान्या ओषधयो म्लायन्त्यथैते मोदमानास्तिष्ठन्ति' इति श्रूयते। यवाश्चान्यौषधिम्लानौ मोदन्ते न प्रियङ्गवः। वसन्ते ह्योषधीनां हि जायते पत्रशातनम्। मोदमानांश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः। प्रियङ्गवः शरत्पकास्तावद्गच्छन्ति हि क्षयम्। यदा वर्षासु मोदन्ते सम्यग्जाताः प्रियङ्गवः। तदा नान्यौषधिम्लानिः सर्वासामेव मोदनात्॥ 'वाराही उपानहौ' इत्यस्य वाक्यशेषः 'वराहं गावोऽनुधावन्ति' इति श्रूयते। सूकरं च गावोऽनुधावन्ति न वायसम्। तस्माद्यववराहशब्दयोदीर्घशूकसूकरावर्थौ इति।

'राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत' इति श्रूयते। तं प्रकृत्यामनन्ति—अवेष्टिं नामेष्टिम् आग्नेयोऽष्टाकपालो

का प्रकरण है, कर्मकाण्ड का नहीं 'अध्यात्म विद्या का अधिकार होने से यहाँ अजा का अर्थ छागी नहीं किया जा सकता'। यदि वेद में यौगिक शब्द ही ग्राह्य होता, तो सांख्य और वेदान्त दर्शन का इस तरह का विचार निरर्थक ही माना जाता।

पूर्वमीमांसा में विचार किया गया है कि जिन पिक, नेम, तामरस प्रभृति शब्दों की आर्यों में प्रसिद्ध नहीं है, उसका अर्थ निगम आदि की सहायता से करना चाहिये या म्लेच्छ प्रसिद्ध अर्थ ही उनका स्वीकार कर लेना चाहिये। इस तरह की सन्देह की स्थिति के उपस्थिति के होने पर शास्त्र में विद्यमान पदों का निगम आदि की सहायता से ही अर्थ करना उचित होगा, म्लेच्छ प्रसिद्धि के आधार पर अर्थ करने पर शास्त्र में विपर्यास उत्पन्न हो जासगा, यहाँ पूर्वपक्ष किया गया है। अन्त में सिद्धान्त पक्ष बताया गया है कि अवयव प्रसिद्धि से समुदाय की प्रसिद्धि बलवान् होती है। पिक प्रभृति शब्द वेद और म्लेच्छ प्रसिद्धि में समान रूप से प्रचलित हैं। म्लेच्छ प्रसिद्धि के आधार पर किये गये अर्थ का यदि शास्त्रीय वचनों से कोई विरोध न हो तो उस स्थिति में उसका ग्रहण किया जा सकता है। इसमें शास्त्र के विपर्यास का कोई भी प्रसंग नहीं उठता। तदनुसार पिक का अर्थ कोकिल, नेम का अर्थ अर्ध और तामरस का अर्थ पद्म किया जाय, तो यह प्रामाणिक ही माना जायगा। इस तरह से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जब म्लेच्छ रूढ़ि में प्रसिद्ध अर्थ भी जब यौगिक अर्थ से बलवान् माना जाता है, तब आर्य प्रसिद्धि रूप रूढि यौगिक अर्थ से बलवान् हो, इस विषय में सन्देह ही कहाँ रह जाता है।

यव और वराह शब्दों का अर्थ म्लेच्छप्रसिद्धि में प्रियङ्गु और वायस तथा आर्यप्रसिद्धि में दीर्घशूक और सूकर किया गया है। उभयविध प्रयोग अनादिकाल से चले आ रहे हैं, अतः इनका एक सा प्रामाण्य माना जायगा। इस विषय पर भी मीमांसा दर्शन में विचार किया गया है कि 'यवमयचरुर्भवति' इस वाक्य का अवशिष्ट वाक्य 'यदान्या' इत्यादि है। अन्य औषधियों के मुरझा जाने पर यव ही हरे-भरे रहते हैं, प्रियङ्गु नहीं। इसी तरह से 'वाराही उपानहौ' वाक्य का अवशिष्ट वाक्य 'वराहं गावः' प्रभृति वाक्य है। गायें सूकर के पीछे दौड़ती हैं, वायस के पीछे नहीं। अतः यव और वराह शब्दों का अर्थ दीर्घशूक और सूकर ही माना जायया, प्रियङ्गु और वायस नहीं।

श्रुति में बताया गया है कि स्वाराज्यकाम राजा को राजसूय यज्ञ करना चाहिये। इसी प्रकरण में अवेष्टि नामक इष्टि भी

हिरण्यं दक्षिणेत्येवमादि। तां प्रकृत्याधीयते यदि ब्राह्मणो यजेत् वार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिं हुत्वाभिधारयेद्यदि वैश्यो वैश्वदेवं यदि राजन्य ऐन्द्रमिति। तत्र संशयः—किं ब्राह्मणादीनां प्राप्तानां निमित्तार्थेन श्रवणमुत ब्राह्मणादीनामयं यागो विधीयत इति। अत्र यदि प्रजापालनकण्टकोद्धरणादिकर्म राज्यं तस्य कर्ता राजेति राजशब्दार्थः, ततो राजा राजसूयेन यजेतेति राज्यकर्तॄं राजसूयेऽधिकारः। तस्मात् सम्भवन्त्यविशेषेण ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या राज्यस्य कर्तार इति सिद्धं सर्व एवैते राजसूये प्राप्ता इति। यदि ब्राह्मणो यजेतेत्येवादयो निर्मित्तार्थाः श्रुतयः। अथ तु राज्ञः कर्म राज्यमिति राजकर्तृयोगात् तत्कर्म राज्यं ततः को राजेत्यपेक्षायामार्येषु तत्प्रसिद्धेरभावात् पिकनेमतामरसादिशब्दार्थावधारणाय म्लेच्छप्रसिद्धिरिवान्ध्राणां क्षत्रियजातौ राजशब्दप्रसिद्धिस्तदवधारणे कारणमिति क्षत्रिय एव राजेति न ब्राह्मणवैश्ययोः प्राप्तिरस्तीति राजसूयप्रकरणं भित्वा ब्राह्मणादिकर्तृकाणि पृथगेव कर्माणि प्राप्यन्ते न नैमित्तिकानि। तत्र पूर्वपक्षे नैमित्तिकान्येव कर्माणि। राज्यकर्तृमात्रे राजशब्द आर्यैरान्ध्रैश्च प्रयुज्यत इत्यविवादम्। राज्यमकुर्वति तु क्षत्रियजातिमात्रे।

'वचनाद्रथकारस्याधानेऽस्य सर्वशेषत्वात्' (जै० सू० ६।१।४४) इत्यधिकरणेऽवयवार्थलक्षणयोगापेक्षया समुदायार्थरूपाया रूढेरेव बलीयस्त्वमङ्गीकृतम्। यौगिकत्वाङ्गीकारेण रथकर्तृत्वेन त्रैवर्णिकानामेव ग्रहणं सम्भवति। 'माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते' (या० स्मृ० १।९५) इति समुदायप्रसिद्ध्या तु जातिविशेषोऽत्रैवर्णिक एव प्राप्यते। एतादृशे सन्देहे सिद्धान्तेऽत्रैवर्णिकस्यापि रथकारस्याधानमङ्गीकृतम्। वचनाद् वचनबलात्। 'नहि वचनस्यातिभारः', 'नहि वचनस्य किञ्चिदलभ्यम्' इति शवरस्वामिवचनात्। ब्राह्मणराजन्यविशां तूक्तमेव वचनान्तरेभ्य आधानम्। परिशेषादत्रैवर्णिको रथकारोऽत्र ग्राह्यः। तत्र पूर्वपक्षः—'न्याय्यो वा कर्मसंयोगाच्छूद्रस्य प्रतिषिद्धत्वात्।' (जै० सू० ६।१।४५) रथकर्मणा रथनिर्माणकर्मणा विशेषेण त्रैवर्णिको रथकार उच्यते। शूद्रो ह्यसमर्थत्वात् प्रतिषिद्धः। तस्मात् त्रैवर्णिको रथकारः१ 'अकर्मत्वात्तु नैवं स्यात्' (जै० सू० ६।१।४६) इत्यनेन पूर्वपक्षनिराकरणम्। नात्र त्रैवर्णिको रथकारो ग्राह्यः, तस्य शिल्पोपजीवित्वप्रतिषेधात्।

विहित हैं। वहाँ ब्राह्मण, वैश्य और राजन्य के लिये क्रमशः वार्हस्पत्य, वैश्वदेव और ऐन्द्र हवि का विधान हैं। यहाँ संशय उठता है कि प्रकृत में ब्राह्मण प्रभृति के लिये कोई नैमित्तिक विधि हैं अथवा इस याग में ब्राह्मण प्रभृति को भी अधिकार दिया गया है। यदि प्रजापालन और उनके कष्ट के निवारण को राज्यकर्म माना जाय तो इस कर्म का संपादक जो कोई भी होगा, उस राजा को राजसूय यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त हो जायगा। तब ब्राह्मण और वैश्य भी उक्त राज्यकर्म के सम्पादक होंगे और इस तरह से उनको भी राजसूय की उक्त विधि में मुख्य अधिकारी ही माना जायगा। इससे उक्त अवान्तर श्रुतियों की भी सार्थकता सिद्ध हो जायगी। अब यदि राजा के कर्म को राज्य कहा जायगा, राजारूप कर्ता के योग से उसके कर्म का निर्धारण होगा, तब यह राजा कौन है? इसको जानना आवश्यक हो जायगा। आर्यों में यह प्रसिद्ध नहीं, अतः पिक, नेम, तामरस प्रभृति शब्दों के अर्थ का निश्चय करने के लिये जैसे म्लेच्छप्रसिद्धि का सहारा लिया जाता है, उसी तरह से आन्ध्र देश में क्षत्रिय जाति के लिये प्रसिद्ध राजा शब्द से उसके अर्थ के निर्धारण में सहायता लेनी पड़ेगी। तब क्षत्रिय जाति का ही राजा माना जायगा, ब्राह्मण या वैश्य जाति का नहीं। इस स्थिति में यह निर्णय करना पड़ेगा कि उक्त अवान्तर प्रकरण में ब्राह्मण आदि द्वारा किये जाने वाले कार्य राजसूय के अंग न होकर उससे भिन्न ही कर्म हैं, राजसूय के अंगभूत नहीं। पूर्वपक्ष के अनुसार तो वे कर्म राजसूय के निमित्त ही विहित माने जायँगे। आर्य और आन्ध्रप्रसिद्धि में राज्य करने वाले के लिये समानरूप से यह शब्द प्रचलित है, इसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है। किन्तु जब वह राज्य नहीं करता, तब उस शब्द से केवल क्षत्रिय जाति का आन्ध्रप्रसिद्धि के अनुसार बोध होता है। यह इस प्रकरण का सारांश है। इससे भी यौगिक की अपेक्षा रूढि शब्दों की बलवत्ता सिद्ध होती है।

रथकाराधिकरण में अवयवार्थ बोधक योग की अपेक्षा समुदायबोधक रूढि की प्रबलता स्वीकार की गयी है। योगार्थ मानने पर रथकार तीन वर्णों में ही माना जायगा। समुदाय बोधक रूढि के अनुसार वह एक जातिविशेष त्रैवर्णिक से भिन्न ही ठहरता है। ऐसे सन्दिग्ध स्थलों में त्रिवर्णभिन्न रथकार का आधान वैध माना गया है। शबरस्वामी के अनुसार उक्त निर्णय है, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों का तो दूसरे वचनों से आधान विहित ही है। परिशेष के बल से यहाँ त्रिवर्णभिन्न रथकार मान लिया जाता है। वहाँ पूर्वपक्ष के रूप में संदेह किया जाता है कि रथ बनाने के कारण त्रैवर्णिक का ही रथकार होना उचित है। अनधिकारी होने के कारण शूद्र प्रतिषिद्ध

अत्रैवर्णिकस्तु 'वर्षासु रथकार आदधीत' (आपश्रौ० सू० ५।३।१८) इति वचनबलादाधास्यति। 'आनर्थक्यं च संयोगात्' (जै० सू० ६।१।४७) ब्राह्मणादिषु वसन्तादयो नियता आधानकालाः। 'ब्राह्मणो वसन्त आदधीत, क्षत्रियो ग्रीष्म आदधीत, वैश्यो वर्षासु आदधीत' (श० २।१।३।५) इति। तान् प्रति वर्षा उच्यमाना अप्यसम्बन्धादानर्थक्यं प्राप्नुयुः। तस्मादत्रैवर्णिको रथकारः। 'गुणार्थेनेति चेत्' (जै० सू० ६।१।४८) पुनः पूर्वपक्षः। शिल्पीपजीवित्वस्य प्रतिषिद्धत्वेऽपि गुणार्थेन कश्चिद् भविष्यति रथकारः। आपदि जीवनं भवत्येव रथकरणेनेति चैतस्य वाक्येनानेनाधानं विज्ञायते। तस्योत्तरम्—'उक्तमनिमित्तम्' (जै० सू० ६।१।४९)। उक्तमेतदस्माभिः, न निमित्तार्थान्येतानि श्रवणानीति। किमतो यदि न निमित्तार्थानि। एतदतो भवति प्रापकाणीति। प्रापितत्वात्तेषामाधानस्य पुनः प्रापकमनर्थकम्। तेन यस्याप्राप्तं तस्य भविष्यतीति। नैतदवकल्पते वसन्तादिसंयुक्तं कथमिव वर्षाभिः सम्बद्धयेत। अपि च प्रापकपक्षे आधानं विधीयते श्रुत्या। निमित्तपक्षे पुनर्वर्षाविधातव्या वाक्येन। श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी। तस्मादत्रैवर्णिकस्येदं विधानम्। 'सौधन्वनास्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णात्प्रतीयेरन्' (जै० सू० ६।१।५०)। न तु सर्व एवात्रैवर्णिको रथकारः। सौधन्वना इत्येष जातिवचनः शब्दः। हीनास्तु किञ्चित् त्रैवर्णिकेभ्यो जात्यन्तरम्, न तु शूद्रा न वैश्या न क्षत्रियाः। तेषामिदमाधानम्। प्रसिद्धेर्मन्त्रवर्णाच्च। 'सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः' (ऋ० सं० १।११०।४), 'ऋभूणांतु' (ऋ० सं० १०।१७६।१) इति रथकारस्याधानमन्त्रः। तस्मात् सौधन्वना ऋभव इति। ऋभवश्च रथकाराः। अपि च, 'नेमिं नयन्ति ऋभवो यथा' (तै० सं० २।६।११।१) इति। ये नेमिं नयन्ति ते ऋभव इत्युच्यन्ते। रथकाराश्च नेमिं नयन्ति। तस्मादत्रैर्वर्णिकानां शूद्राणामेतदाराधनम्। एवमवयवार्थापेक्षया समुदायार्थस्य बलवत्त्वमनेन रथकाराधिकरणन्यायेनापि सिद्धयति।

'वेदे यौगिका एव शब्दा भवन्ति न रूढा योगरूढा वा' इति दयानन्दः। तदनुयायिनां च प्रचारो वेदार्थाभिव्यक्तौ बाधक एव प्रमाणशून्यश्च। ननु तत्र 'सर्वाण्याख्यातजानि नामानि' इति निरुक्तकारयास्कवचनमेव मानमिति वाच्यम्, तस्य तैरप्यनङ्गीकारात् 'गोक्षीर·····' (अथर्ववेदसं० २।२६।४), 'सूर्यं' (अथर्व० १।१०।३४), पृथिवी (अथर्व० १२।१।१), पिप्पली (अथर्व० ६।१०९।१), 'गुग्गुल' (अथर्व० १९।३८।१), पृश्निपर्णी (अथर्व० २।२५।१), 'स्त्री' (ऋ० सं० ५।६१।६), क्रिमि'

है। उत्तरपक्ष—है कि त्रैवर्णिक रथकार नहीं हो सकता क्योंकि उसके शिल्पोपजीवित्व का निषेध है। अत्रैवर्णिक तो 'वर्षा में रथकार अग्न्याधान करें' इस वचन के बल से अधान करेगा। ब्राह्मण आदि के लिये आधान काल वसन्तऋतु नियत है। जैसे—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत,' 'ग्रीष्मे राजन्यः', 'शरदि वैश्यः' इत्यादि। ब्राह्मणाकि के लिये वर्षाऋतु कहा गया भी सम्बन्ध न होने से व्यर्थ ही है। अतः त्रिवर्णभिन्न ही रथाकर है यह निर्णीत हुआ। गौण अर्थ रथकार शब्द का मानने पर फिर संदेह है कि—शिल्प की जीविका के निषिद्धि होने पर भी गुणीभूत अर्थ के द्वारा त्रैवर्णिक भी रथकार हो सकता है। 'आपत्ति काल में रथ बनाकर जीवन निर्वाह किया जाय' इस वाक्य से आधान विज्ञापित है। इसका उत्तर यह है कि—उक्त श्रुतियां निमित्तार्थक नहीं अपितु प्रापक हैं। अतः एकबार आधान विहित हो गया तो पुनः विधान व्यर्थ होगा। अप्राप्त को विधान होता है। यह उत्तर भी सुसंगत नहीं प्रतीत होता। क्योंकि विधान वसन्त ग्रीष्म और शरद् में है तो वर्षा से उसका सम्बन्ध (अन्वय) क्लिष्ट कल्पना होगी। और प्रापकपक्ष में आधान विहित है श्रुति से। निमित्त पक्ष मानने पर वाक्य से वर्षा का विधान करना पड़ेगा। श्रुति वाक्य से बलवान् होती है। अतः श्रुतिबलात् त्रिवर्णभिन्न रथकार का ही विधान मान्य प्रतीत होता है। सौधन्वन जाति का ही रथकार त्रिवर्णभिन्नजात्यन्तरप्रतीत होता है न कि सभी रथकार त्रिवर्णभिन्न होते हैं। जात्यन्तर एक विशिष्ट जाति का वाचक है न कि शूद्र वैश्य क्षत्रिय है ऐसे के लिये 'वर्षासु रथकार आदधीत' यह विधि है। रथ की नेमि बनाने या प्राप्त कराने वाले ऋभु रथकार कहलाते हैं। अतः त्रिवर्णभिन्न शूद्रों के लिए 'वर्षासु' वाला विधि है। इसतरह रथकाराधिकरण न्याय से भी अवयवार्थ की अपेक्षा समुदायार्थ की बलवत्ता सिद्ध होती है।

श्री दयानन्दजी के अनुसार वेद में केवल यौगिक शब्द ही आये हैं रूढ या योगरूढ नहीं। उनका तथा उनके अनुयायियों का यह मत (प्रचार) वेद के अर्थ निर्वचन में बाधक और प्रमाणशून्य भी है। यदि कहें कि श्री दयानन्द के उक्त मत में 'सर्वाण्याख्यातजानि नामानि' यह यास्कवचन ही प्रमाण है, यास्क का मत अस्वीकार करने वाले दयानन्दियों के अनुसार वह भी प्रमाण नहीं है।

(अथर्व० ५।३३।३) 'आर्य' (ऋ० सं० ९।६३।५) प्रभृतीनां शब्दानां दयानन्देनापि रूढत्वयोगरूढत्वाङ्गीकारात्। वेदे यौगिका एव शब्दाः, लोक एव रूढा योगरूढाश्च भवन्तीति तेषां कथनं निःसारमेव। यास्काचार्येण वैदिकशब्दानामाख्यातजत्वाङ्गीकारेऽपि वेदे केवलं यौगिका एव, लोक एव रूढा भवन्तीति नोच्यते, तादृशवचनाभावात्। समेषां संस्कृतशब्दानामाख्यातजत्वेऽपि रूढत्वयोगरूढत्वयोर्बाधाभावात्।

अतएवामरकोषस्य सुधाटीकाकृताऽमरकोषगतानां रूढयोगरूढशब्दानामपि प्रकृतिप्रत्ययानाश्रित्य व्युत्पत्तयः प्रदर्शिताः। यत्राख्याताश्रितव्युत्पत्त्यनुसारेणार्थो न सङ्गच्छते तत्राख्यातजत्वेऽपि रूढत्वमेव मन्तव्यम्। अत एव श्रीदयानन्देनैव स्वकीयनामिकग्रन्थस्य द्वितीये पृष्ठे स्पष्टमुक्तम्—'यत्र प्रकृतिप्रत्यययोरर्थो न घटते तेषां शब्दानां रूढत्वं संज्ञाबोधकत्वमेवेति। यथा खट्वा-माला-शालादिशब्दाः। एतेन रूढशब्देष्वप्यन्येषां शब्दानामिव प्रकृतिप्रत्यययोः सत्त्वेऽपि प्रसिद्धार्थासङ्गतेः समुदायप्रसिद्ध्या रूढत्वमङ्गीक्रियते। यथा चित्रकर्मणि कुशल इत्यत्रापि सर्वाण्याख्यातजानि नामानीति सिद्धान्तानुसारेण कुशान् लातीति व्युत्पत्त्या कुशादानकर्तृत्वमर्थो भवति। तथा प्रकृते तादृशार्थस्यासङ्गच्छमानत्वेन कुशोत्पाटनचातुर्यसाम्येन चित्रकर्मणि चतुर इत्येवार्थो भवति। अत्राख्यातजत्वेऽपि रूढेर्नातिक्रमणम्। अतो मीमांसाभाष्ये शबरस्वामिनः·····'कुशलः प्रवीण इति बहुषु कुशानां लातुर्गुणेषु सत्सु निपुणतायां कुशलशब्दो रोहाद् रूढिशब्द एव भवति। बहुषु वीणावादकस्य गुणेषु सत्सु निपुण एव प्रवीणशब्दो वर्तमानो रूढ उच्यते तस्मात् सत्यपि लक्षणात्वे श्रुतिसामर्थ्याद् रोहतिशब्दः' (जै० सू० ६।७।२२) इत्याहुः।

यथा कस्यचिदन्धस्य कमलनयनेति नामप्रसिद्धावप्याख्यातजत्वसिद्धान्तवशाद् व्युत्पत्तिलभ्यस्यार्थस्यासङ्गतौ रूढत्वमेवाङ्गीक्रियते। अत एव महाभाष्ये प्रत्याहाराह्निके 'ऋलृक्' सूत्रे वार्त्तिककृता यदृच्छाशब्दान् प्रत्याख्याय जाति-गुण-क्रियाशब्दा एवाङ्गीकृताः। महाभाष्यकारैरपि तादृशवार्त्तिकसिद्धान्तमप्रत्याख्याय तत्रानुमतिः प्रदर्शिता। तथापि तेषां नायमाशयो यद् यदृच्छाशब्दा रूढशब्दा संस्कृतजगति न सन्त्येव, किन्तु यदृच्छाशब्दैरपि व्याकरणशास्त्रानुगृहीतैरेव भाव्यमित्येव तदाशयः। यथा 'ऋलृक्' इति कस्यचित् संज्ञामकृत्वा 'ऋलृक्' इत्येव नामसङ्केतः कर्तव्य इति। एवं यदृच्छाशब्दा-

ऋग्वेद, तथा अथर्ववेद के—'गोक्षीर, सूर्य, पृथिवी, पिप्पली, गुग्गुल, पृश्निपर्णी, स्त्री, क्रिमि, आर्य,' आदि शब्दों को श्रीदयानन्दजी ने भी रूढ तथा योगरूढ माना है। वेद में यौगिक तथा लोक में रूढ तथा योगरूढ प्रयुक्त होते हैं यह उसका मत निःसार ही है। वैदिक शब्दों को आख्यातज मानते हुए भी यास्काचार्य ने वेद में यौगिक और लोक में रूढ प्रयुक्त होते हैं ऐसा कहीं नहीं कहा है। संस्कृत शब्दों के आख्यातज होने पर भी रूढ या रूढ होने में कोई बाधा नहीं है।

इसीलिए अमर कोष के 'सुधा' नामक टीकाकार ने कोष में आये शब्दों में भी रूढ और योगरूढ को मानकर प्रकृति प्रत्यय की कल्पना की है। जहाँ आख्यातज शब्द के अनुसार अर्थ न घटे वहाँ रूढ मानना ही पड़ता है। इसीलिए श्री दयानन्द ने अपने नामिक ग्रन्थ के दूसरे पृष्ठ पर साफ तौर से कहा है 'जहाँ प्रकृतिप्रत्ययजन्य अर्थ संगत न प्रतीत हो वहां जैसे—खट्वा, माला, शाला, आदि संज्ञा शब्दों को रूढ मानना उचित है'। इसीलिए रूढ शब्दों में भी अन्य शब्दों की तरह प्रकृति प्रत्यय रहने पर भी प्रसिद्ध अर्थ की संगति न होने से समुदाय की प्रसिद्धि से ही रूढता मानी जाती है। जैसे 'चित्र कर्मणि कुशलः' यहाँ पर उक्त गमक के अनुसार कुश लाने वाला अर्थ है किन्तु वह अर्थ वक्ता के तात्पर्यानुकूल न होने से चित्र कर्म में चतुर यह अर्थ होता है आख्यातज होने पर भी रूढार्थ का अतिक्रमण संभव नहीं। इसीलिए मीमांसाभाष्य में शबरस्वामी ने कुशल शब्द का अर्थ प्रवीण, दक्ष, किया है।

जैसे किसी प्रज्ञाचक्षु का नाम कमलनयन होने पर भी आख्यातज अर्थ के असंगत होने से रूढार्थक मान कर उसे अन्धा ही माना जाता है। इसीलिए पातञ्जल महाभाष्य के प्रत्याहाराह्निक के 'ऋलृक्' सूत्र पर वार्तिककार ने यदृच्छा शब्दों का खण्डन कर जाति गुणक्रियावाचक शब्दों का समर्थन किया है। महाभाष्यकार ने भी वार्तिककारके मत का खण्डन न करते हुए उसका आदर किया है। इसका यह आशय नहीं है कि संस्कृत शब्दों में यदृच्छावाचक अर्थात् रूढ शब्द नहीं होते, होते हुए भी वे व्याकरणशास्त्र के नियमों से बँधे रहें यही भाष्य का अभिमत है। जैसे 'ऋलृक्' यह किसी की संज्ञा नहीं अपितु स्वयं अपनी ऋकारवर्ण की जो तीस

नामपि व्याकरणानुशिष्टत्वे तेषामपि गुणक्रियाजातिष्वन्तर्भाव एव भवति। न ते पृथक्त्वेन परिगणनीया भविष्यन्ति। गुणशब्दक्रियाशब्दाभ्युपगमेऽपि यत्र गुणक्रिये नोपलभ्येते तत्र यदृच्छाशब्दा रूढा एव भवन्ति। यथा ऋल्रुक्शब्दः। शब्दत्वेऽपि यदृच्छाशब्दा रूढा एव। एवं गुणक्रिययोर्बोध्यम्, ऌतक इव कस्यचित् संज्ञामकृत्वा ऋतद इत्येव संकेतः कर्तव्यः। यत्र ऋतकनामके पुरुषे ऋतिक्रिया न दृश्यते तदा स गुणक्रियाशब्दोऽपि रूढ एव मन्तव्यः।

यथा कस्यचित्तुलसीरामेति नामत्वेऽपि यदि तुलस्यां रमणं मनोरञ्जकत्वं च स्यात् तदा गुणशब्दत्वं क्रियाशब्दत्वं वा सम्भवति। यदि तादृशो गुणो वा तादृशी क्रिया वा न घटेत तदा गुणक्रियाशब्दत्वेऽपि यदृच्छाशब्दा एव। अत एव मम्मटाचार्येण काव्यप्रकाशस्य द्वितीयोल्लासे सङ्केतग्रहनिरूपणप्रसङ्गे 'न सन्ति यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः'इति महाभाष्यकारोक्तिं जानतापि 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इति महाभाष्यकारमतमुक्तम्। महाभाष्येऽपि सन्ति यदृच्छाशब्दा इति कृत्वा तत्प्रयोजनमुक्तम्। न सन्तीति परिहार उक्तः। समाने चार्थे शास्त्रान्वितोऽशास्त्रान्वितस्य व्यावर्तको भवतीति। यथा देवदत्तशब्दो देवदिण्णशब्दं गोशब्दो गाव्यादीन् व्यावर्तयति। अस्य पूर्वपक्षस्य नैष दोषः, पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्तीति शिथिलोत्तरेण रूढशब्दानां संज्ञात्वं सिद्ध्यति। यस्य शब्दस्याख्यातजत्वेऽपि यस्य वाच्ये आख्यातानुसार्यर्थो न घटते स रूढ एव। 'वेदेऽपि याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति स्फ्यो यूपश्चषाल इति। तत्रभवतामुपचाराद् अन्येऽपि जानन्ति इयमस्य संज्ञेति' (महाभाष्ये १।१।१) एतेन वेदेऽपि संज्ञाशब्दा इति सिद्ध्यति।

यत्तु केनचिदुक्तम्—'यास्को यौगिकतावादस्य परमपोषकः। तदीयानि समस्तानि निर्वचनानि तत्र प्रमाणम्' इति, 'अयमपि इतरः शिर एतस्मादेव' (नि०) इति यास्कानुसारेण वेदमात्रे शिरःशब्दः केवलस्य सूर्यस्य वाचको भवति न शिरसो वाचक इति तु न वक्तुं शक्यते। 'इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटम्' (अथर्व० ९।७।१) इत्यादिषु बहुषु मन्त्रेषु शिरःशब्दस्य

प्रकार का है संज्ञा है। वैसे ही लकार स्वयं अपनी संज्ञा हैं जो बारह प्रकार का है। इसी तरह यदृच्छा शब्द भी व्याकरणानुशासनानुसार जाति गुण क्रिया वाचक शब्दों में समाविष्ट हो जाते हैं। उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। गुणक्रियावाचक शब्दों की मान्यता रहने पर भी जहाँ गुण क्रिया नहीं संभव है वहाँ पर यदृच्छा शब्द रूढ ही होते और माने जाते हैं। जैसे 'ऋल्टक्' शब्द। शब्द होते हुए भी यदृच्छा शब्द रूढ ही होते हैं। इसी तरह गुण क्रिया वाचक शब्दों में भी रूढता मानी जाती है जहां 'ऋतद' नाम पुरुष में ऋति क्रिया नहीं है वहां वह गुण क्रिया वाचक ऋतद शब्द भी रूढ मानना पड़ता हैं। 'ऌतद' यह किसी की संज्ञा न मानकर 'ऋतद' यही संज्ञा मानना उचित है।

जैसे किसी का तुलसी राम यह नाम है और यदि उसमें तुलसी में रमण अर्थात् मनोरञ्जकता का गुण भी हो तब उसमें गुण क्रियावाचक शब्दता संभव है यदि उसमें वैसे गुण या क्रिया संभव न हो तो गुणक्रियावाचक शब्द होने पर भी वह यदृच्छा शब्द ही है इसीलिए काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने महाभाष्यकारका मत 'यदृच्छाशब्द नहीं होता है' यह जानते हुए भी महाभाष्यकार के मत के चौथे यदृच्छा शब्द की सत्ता माना है। महाभाष्य में भी यदृच्छा शब्द हैं मानकर उसका प्रयोजन कहा है और नहीं मान कर उसका परिहार भी कहा है। एकार्थक दो शब्दों में शास्त्रसम्मत तद् भिन्न का व्यावर्तक होता है यही उसका प्रयोजन है। जैसे देवदत्त शब्द देव, दिण्ण शब्दों का तथा गो शब्द गावी गोणी गोता आदि का व्यावर्तक माना जाता है। इस पूर्व पक्ष को दोषयुक्त नहीं कह सकते क्योंकि अन्य पक्षों से परिहार सम्भव है ऐसे शिथिल उत्तर से रूढ शब्दों का संज्ञात्व सिद्ध हो जाता है। आख्यातज शब्द का अर्थ का यदि सम्भव नहीं है तो उसे रूढ मानना ही पड़ता है। वेद में भी वैदिक लोग स्फ्य, यूप, चषाल, ऐसी संज्ञाएं मानते हैं महाभाष्कार आदि लोगों के व्यवहार से अन्यलोग 'यह अमुकवस्तु की संज्ञा है' ऐसा मानकर व्यवहार करते हैं।

जो किसी ने कहा कि 'यास्क यौगिकतावाद का परमपोषक हैं' उनकी सभी निरुक्तियाँ इसमें प्रमाण है, यह भी दूसरा शिर है इसीलिए ही' ऐसे यास्क वचन से वेदों में शिर शब्द सूर्य का वाचक है शिर का नहीं ऐसा नहीं कह सकते। 'इन्द्रः शिरोऽग्निर्ललाटम्' (अथर्व ९।७।१) आदि बहुत मन्त्रों में शिरशब्द लोकप्रयोगवत् शिर का ही वाचक है। यास्क ने भी लोकप्रसिद्ध शिर शब्द

लोकवत् शिर एवार्थः। यास्केनापि लोकप्रसिद्धशिरःशब्देऽपि स एव धातुरङ्गीकृतो य आदित्यवाचकशिरःशब्दे भवति। तेन लोके वेदे च सर्वत्रैव यौगिकता योगरूढिता च भवत्येव। लोके रूढशब्दो वेदेऽपि लोकरूढार्थक एव दृष्टः। वेदाङ्गनिर्माता पाणिनिरपि दयानन्दस्य मान्य एव। पाणिनेश्च औणादिकाः शब्दाः प्रकृतिप्रत्ययरहिता अव्युत्पन्ना एवाभिमताः। अत एव—'कृकमिकंस·····' (पा० सू० ८।३।४६) इति सूत्रे कमुधातोरेव ग्रहणेन कंस इत्यस्यापि ग्रहणं सम्भवत्येव, यथा 'कृ' इत्यनेन धातुना कार इत्यस्यापि ग्रहणं भवति। पुनर्गौरवं सोढ्वापि कंस इत्यस्य पृथग्ग्रहणं कृतम्, तस्येदमेव कारणं यद् औणादिकाः शब्दा ये वेदेऽपि समुपलभ्यन्ते, ये रुढा अव्युत्पन्ना एव भवन्ति तेन न कमिग्रहणेन कंस इत्यस्य ग्रहणं भवतीति पृथक् कंसशब्दग्रहणं कृतम्। अत एव पाणिनिना कृत्तद्धितभिन्नानामव्युत्पन्नशब्दानां 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' (पा० सू० १।२।४५) इत्यनेन सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञां कृत्वा विभक्तिः संयोजिता। अतः पाणिनिरीत्यापि वेदेऽपि रुढशब्दा सन्त्येव।

नहि वेदेषु सर्वे शब्दाः कृदन्तास्तद्धितान्ता एव वा भवन्ति। अत एव दयानन्देनापि नामिकग्रन्थस्य द्वितीये पृष्ठे 'पाणिन्यादयो रुढिमपि मन्यन्ते' इत्युक्तम्। पाणिनेरष्टाध्याय्या वेदाङ्गत्वाभ्युपगन्तृणां वादिनां तद्रीत्या रुढशब्दानां सत्तावश्यं स्वीकार्या। निरुक्तकारैरपि वैयाकरणेषु शाकटायनस्यैव सर्वशब्दानां यौगिकत्वाभ्युपगन्तृत्वमुक्तम्। नैरुक्तेष्वपि गार्ग्यस्य रुढत्वाभ्युपगन्तृत्वयुक्तम्। अत एव न सर्वाण्याख्यातजानि नामानीत्येतस्य पक्षस्य नैरुक्तेषु गार्ग्यस्योल्लेखं कृत्वा 'वैयाकरणानां चैके' (नि० १।१२) इत्युक्त्या स्वप्राग्भवानां वैयाकरणानामपि तत्पक्षपोषकत्वमुक्तम्। महाभाष्यकारैरपि 'आयनेयीनियियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' (पा० सू० ७।१।२) इति सूत्रे 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिदिकानि' इति स्पष्टमेवोक्तम्। 'आदेशः प्रत्यययोः' (पा० सू० ८।३।५९) इति सूत्रे तैरौणादिकशब्देषु प्रकृतिप्रत्ययविभागाः सन्ति न सन्तीति पक्षद्वयमप्युक्तम्। एतेन वेदेऽपि रुढा योगरुढाश्च शब्दाः सन्तीति पाणिनिः।

किञ्च, यस्य शब्दस्य व्युत्पत्तिलभ्योऽर्थो वाच्येऽन्यत्र चातिव्याप्नोति चेत्तत्रातिव्याप्तिवारणाय नियमनं' योगरूढ्यैव

में वही धातु स्वीकार किया है जो सूर्यवाचक शिर शब्द में है। अतः लोक और वेद सर्वत्र हो यौगिक और योगरूढ शब्द होते हैं। लोक में जो शब्द जिस अर्थ में रूढ है वेद में भी उसी अर्थ में रूढ देखा जाता है। वेदाङ्ग प्रणेता पाणिनिमुनि भी श्री दयानन्द के मान्य हैं। पाणिनि औणादिक शब्दों को प्रकृतिप्रत्ययरहित अव्युत्पन्न मानते हैं। इसीलिए 'कृकमिकंस·····(पा० अ० ८.३.४६) सूत्र में कमुधातु के ग्रहण से कंसशब्द का भी ग्रहण हो जाता है जैसे कृ धातु से कार का ग्रहण हो जाता है। फिर गौरव सहकर कंस का अलग से पाठ करना इस बात का ज्ञापक है कि औणादिक शब्द जो वेद में भी मिलते हैं जो रूढ और अव्युत्पन्न होते हैं उनसे कमि ग्रहण से कंस का बोध नहीं होगा अतः कंस का पृथक् पाठ करना सार्थक हुआ इसीलिए पाणिनि ने कृत्तद्धित भिन्न अव्युत्पन्न शब्दों की 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा करके उन्हें विभक्ति से जोड़ दिया। इससे सिद्ध हुआ कि पाणिनि के मत में भी वेद में रूढ शब्द हैं होते हैं।

वेद में भी सभी शब्द कृदन्त या तद्धितान्त ही नहीं होते। इसलिए श्री दयानन्द ने भी नामिक ग्रन्थ के दूसरे पृष्ठ पर 'पाणिनि आदि भी रूढि को मानते हैं' ऐसा कहा है। पाणिनि की अष्टाध्यायी को वेदाङ्ग मानने वाले वादियों को इस प्रकार रूढ शब्दों की सत्ता अवश्य माननी पड़ती है। निरुक्तकारों ने भी वैयाकरणों में शाकटायन को ही सभी शब्दों में यौगिकता वादी माना है। निरुक्तकारों में भी केवल गार्ग्य ही रूढता के पक्षधर हैं। इसीलिये सभी नाम आख्यातज नहीं हैं, इस पक्ष में निरुक्तकारों में गार्ग्य का जिक्र करके, 'वैयाकरणानां चैके' यह सूत्र कह कर अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों को भी उसपक्ष का पोषक बताया है। महाभाष्यकार ने भी '(आयनेयीनीयियः·········), इस सूत्र भाष्य में 'उणादि अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं, ऐसा साफ तौर पर कहा है। 'आदेशप्रत्यययोः' इस सूत्रभाष्य में औणादिक शब्दों में प्रकृतिप्रत्यय विभाग होते हैं नहीं भी होते हैं ये दोनों पक्ष कहे गये हैं। इस तरह वेद में रूढ और योगरूढ शब्द होते हैं यह महर्षि पाणिनि का मत है।

और भी, जिस शब्द का व्युत्पत्ति से प्राप्त होने वाले अर्थ वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ आदि में अतिव्याप्ति दोषग्रस्त होने लगें वहाँ दोष निराकरण के हेतु योगरूढ के नियम से ही चलना पड़ता है। दूसरे शब्दों में जब किसी शब्द के धातुज होने पर साधारण अर्थ

सम्पद्यते। अर्थात् शब्दस्य धातुजत्वेऽपि यदा सामान्यार्थाबोधकत्वे सति विशेषार्थबोधकत्वं स्यात्तदा योगरूढत्वमेव मन्तव्यम्। यथा धातुजत्वे सत्यपि रूढत्वविरोधो नास्ति तथा योगरूढत्वेऽपि न विरोधः। प्रकृतिप्रत्ययाश्रयेण यौगिकत्वप्रदर्शनं तु साधुत्वसिद्धयर्थमेव, शास्त्रपूर्वकशब्दप्रयोगस्य विशिष्टपुण्यजनकत्वात्। व्युत्पत्तिनिमित्तोऽन्योऽर्थः प्रवृत्तिनिमित्तस्त्वन्य इति शिष्टाभ्युपगमात्। अत एव पङ्कजपदस्य यौगिकत्वेन कीट-कुमुद-कमलाद्यनेकार्थवाचकत्वेन रूढ्या (समुदायशक्त्या) कमले शक्तिर्नियम्यते। तेनैव पङ्कजपदस्य योगरूढत्वम्। स्वामिदयानन्देन योगरूढस्योदाहरणतया नामिकग्रन्थस्य द्वितीयपृष्ठे दामोदरशब्द उक्तः। यास्काचार्येण च 'तक्षा, परिव्राजकः, भूमिजः' (नि० १।१४।७) इति शब्दा उक्ताः। विल्वादः, लम्वचूड़क इत्यादयोऽपि यास्कोदाहृता वेदितव्याः। परिव्रजन्नपि कश्चिन्न परिव्राजक उच्यते। अन्योऽपरिव्रजन्नपि शयानोऽपि परिव्राजक उच्यते। तक्षन्नपि ब्राह्मणो न तक्षोच्यते, कश्चिदतक्षन्नपि तक्षोच्यते। गच्छन्नपि मनुष्यो न गौर्गौरुच्यते। तेन धातुजोऽपि यः सर्वत्र विशेषणत्वेन प्रयुज्यते स यौगिको भववि। स्वामिदयानन्देन नामिकग्रन्थस्य द्वितीयपृष्ठे 'यत्र प्रकृतिप्रत्ययार्थो न घटते तस्य रूढत्वं संज्ञाबोधकत्वं चोक्तम्। तदुदाहरणतया खट्वा-माला-शालादिशब्दा उदाहृताः। यदि वेदेऽपि ते शब्दा उपलभ्येरन् तदा वेदेऽपि रूढाः शब्दाः सन्तीति तदनुयायिभिरभ्युपगन्तव्यमेव। वेदेऽपि 'शालाया विश्ववार' (अथर्ववेदसंहिता ९।३।१) इत्यत्र शालाशब्दः। संस्कारविधेः २१६ पृष्ठान्वेषणेन वहवो रूढा योगरूढाश्च शब्दा उपलप्स्यन्ते।

वेदारम्भसंस्कारे ११२ पृष्ठे धनवनादिशब्दा रूढा इत्यङ्गीकृतं दयानन्देन। वेदेऽपि वनशब्दो यजुर्वेदसंहितायां ४।३१, अथर्ववेदसंहितायां (११।१।२८, १२।२·५१) इत्यत्रोपलभ्यते। एवं वेदेऽपि तद्रीत्यापि रूढाः शब्दाः सन्त्येव। महाभाष्यस्य तृतीयाह्निके स्फ्य-यूप-चषालादिशब्दाः संज्ञा (रूढ) शब्दाः स्वीकृता एव। व्युत्पत्तौ क्रियमाणायामन्यार्थवाचकाः स्यू रूढितायामन्यार्थवाचकाः स्युस्ते यौगिकरूढा भवन्ति। तेऽपि वेदे सन्त्येव। 'उद्भिद्' पदं वेदे प्रसिद्धमेव। 'उद्भिदा यजेत' इति श्रुतिः मीमांसादर्शने (१।४।१-२) सूत्रभाष्ये समुद्धृता। उद्भिद्शब्दस्य यौगिकतायां वृक्षवाचकत्वं रूढितायां यज्ञविशेषस्य वाचकत्वम्। यदि वेदे रूढशब्दा न स्युस्तदा 'अपि वा नामधेयं स्यात्' (जै० सू० १।४।२) इति सूत्रे शबर-

न कहा जाय और विशिष्टार्थबोधकता ही होने लगे तब योगरूढ मानना ही पड़ता है। जब धातुज होने पर भी रूढि का विरोध न आवें तब योगरूढ होने पर भी कोई हर्ज नहीं है। प्रकृति प्रत्यय के सहारे यौगिक शब्द साधन साधुत्व ज्ञापनार्थ है क्योंकि साधु शब्द प्रयोग से पुण्य प्राप्ति होती है? अर्थाभिव्यक्ति में व्युत्पत्ति का निमित्त भिन्न और प्रकृति का निमित्त भिन्न होता है, ऐसा शिष्टजनों की मान्यता है। इसीलिए पङ्कज शब्द यौगिकता के आधार पर कीट, कुमुद, कमल आदि अनेकार्थ वाचक है फिर भी रूढि के वल पर कमल अर्थ में नियन्त्रित है। इसी लिए पङ्कज शब्द योगरूढ हैं। स्वामी दयानन्द ने योगरूढ का उदाहरण नामिक ग्रन्थ के दूसरे पृष्ठ में दामोदर शब्द को माना है। यास्क ने तक्षा, परिव्राजक, भूमिज आदि योगरूढ का उदाहरण दिया है। घूमता फिरता भी कोई परिव्राजक नहीं कहलाता। कोई सोता हुआ भो परिव्राजक कहलाता है। ब्राह्मण लकड़ी चीरता हुआ भी तक्षा नहीं कहा जाता दूसरा न चीरने पर भी तक्षा कहलाता है। मनुष्य चलता हुआ भी गौ नहीं है गाय बिना चलतो और सोती हुई भो गौ कहलातो है। इसलिये धातुज शब्द भी जो विशेषण होता हो वह यौगिक है। स्वामी दयानन्द ने नामिक के दूसरे पृष्ठ पर 'जिस शब्द में प्रकृतिप्रत्ययार्थ न घटे उसे रूढ और संज्ञा माना है। उदाहरण-खट्वा-माला-शाला आदि दिया है। यदि वेद में भो वे शब्द मिलें तो वेद में भी रूढ शब्द प्रयुक्त हैं ऐसा उनके अनुयायियों को मानना अनिवार्य होगा। संस्कार विधि के २१६ पृष्ठ के अन्वेषण से अनेक रूढ और योगरूढ शब्द मिल सकेंगे।

वेदारम्भ संस्कार के ११२ पृष्ठ पर धनवन आदि शब्दों को श्री स्वा० दयानन्द ने रूढ माना है। यजुर्वेद अथर्ववेद में भी वन शब्द मिलता है सिद्ध है कि वेद में भी उनके मतानुसार रूढ शब्द होते हैं। महाभाष्य के तीसरे आह्निक स्फ्य-यूप-चषाल आदि संज्ञा (रूढ) शब्द माने गये हैं। व्युत्पत्ति करने पर भिन्न अर्थ और रूढ होने पर भिन्न अर्थ वाले शब्द योगरूढ कहलाते हैं। ऐसे शब्द भी वेद में प्राप्त और प्रयुक्त हैं। उद्भिद् शब्द वेद में प्रसिद्ध ही है। 'उद्भिदा यजेत' यह श्रुति मीमांसादर्शन के (१।४।१-२) सूत्र के भाष्य में उद्धृत है। यौगिक उद्भिद् शब्द वृक्ष वाचक और रूढ यज्ञ विशेष का वाचक है। यदि वेद में रूढ शब्द न होते तो 'अपि वा

स्वामिना उद्भिदादिशब्दानां कर्मविशेषवाचकत्वं कथमङ्गीकृतं स्यात् ? तथा च रूढा योगरूढा यौगिका यौगिकरूढाश्चेति चतुर्विधा अपि शब्दा यथा लोके भवन्ति, तथैव वेदेऽपि सन्त्येव। तथा च वेदे यौगिका एव शब्दा भवन्तीति रिक्तं वादिनां वचः।

'मर्य इव योषाम्' (अथर्व० १४।२।३७) इति मन्त्रे मर्यशब्दो मनुष्ये रूढः। स एव मर्यशब्दो 'स मर्यः.....' (ऋ० सं० १।७७।३) इत्यत्राग्नेर्विशेषणत्वेन भारकार्थे यौगिकः। रूढो वा योगरूढो वा शब्दो यदि कस्यचिद्विशेषणत्वेन प्रयुक्तः स्यात्तदा स यौगिको भवति। अत एव 'यत्रा नरो देवयन्तः.....' (अथर्व० २०।१०७।१५) इति मन्त्रे नृशब्दो मनुष्येषु रूढः। 'दिवो नरः' (अथर्व० १।६४।४) इत्यत्र नेतार इत्यर्थे यौगिकोऽपि भवति। तथैव 'नृणां नृतम.....' (ऋ० सं० ६।३३।२) इतीन्द्रदेवताके मन्त्रे नेतॄणां मध्येऽतिशयेन नेत इत्यर्थे यौगिको भवति। 'पुरुषः पशुः' (अथर्व० ८।२।२५) इत्यत्र पशुशब्दो गजादिषु रूढः। 'विद्वान् अनष्टपशुः' (ऋ० सं० १०।१७।३) इति पूषदेवताके मन्त्रे पशुशब्दो ज्ञानार्थे यौगिक एव। अनष्टपशुरित्यस्य अप्रतिहतज्ञान इत्यर्थो भवति। 'तस्मै पावकः' (ऋ० सं० १।१३।९) अत्र पावकशब्दोऽग्नौ रूढः। 'समुद्रार्था याः शुचयः पावकाः ता आपो देवीरिह मामवन्तु' (ऋ० सं० ७।७९।२) अत्र पावकशब्दो यौगिकः। 'पुरन्धिर्योषा' (वा० सं० २२।२२) अत्र मन्त्रे योषाशब्दः स्त्रीषु रूढः। 'शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपः' (अथर्व० ११।१।१७) इत्यादिमन्त्रेषु योषित्-शब्दो जलार्थे यौगिकः। 'देवान् मनुष्यान् असुरान्' (अथर्व० ८।९।२४) अत्रासुरशब्दो देवविरोधिषु दैत्येषु रूढः। 'ये च देवा रक्षा नॄन् पाहि असुरत्वमस्मान्' (ऋ० सं० १।१७४।१) अत्र असुरशब्द इन्द्रविशेषणत्वेन बलवानित्यर्थे प्रयुक्तत्वाद् यौगिकः। 'मध्यस्थानं महिषे अवदानात्' (ऋ० सं० १०।१०६।२) इत्यत्र महिषशब्दः पशुविशेषे रूढः। 'अपामुपस्थे महिषा' (ऋ० सं० ६।८।४) इत्यत्र महानित्यर्थे यौगिकः, निरुक्ते 'महान्तो माध्यमिका देवगणा' (नि० ७।२६) इत्युक्तेः। वह्निशब्दोऽपि वेदे 'वह्नियशसम्' (ऋ० सं० १।६०।१) इत्यादिमन्त्रेषु अग्नौ रूढः। 'यदी मातरो जनयन्त वह्निम्' (ऋ० सं० ३।३१।२) इति मन्त्रे वह्निशब्दः पुत्रार्थे यौगिकः। तस्माद्वेदेषु यौगिका रूढा योगरूढा यौगिकरूढाश्च शब्दाः सन्त्येव।

नामधेयं स्यात्' इस सूत्र में शबर स्वामी उद्भिद् आदि शब्दों को कर्मविशेष वाचक क्यों स्वीकार करते ? इससे स्पष्ट है कि रूढ, योगरूढ, यौगिक, यौगिकरूढ, भेद से चार प्रकार के शब्द लोक की तरह ही वेद में, भी हैं। ऐसी स्थिति में 'वेद में केवल यौगिक शब्द ही होते हैं' ऐसी वादियों की कल्पना निरर्थक ठहरती है।

'मर्य इव योषाम्' (अथर्व० १४।७।३७।) इस मन्त्र में मर्यशब्द मनुष्य अर्थ में रूढ है। 'स मर्यः' (ऋ० सं० १।७७।३।) इस मन्त्र में आया मर्य शब्द अग्निका विशेषण होकर प्रयुक्त होने से मारक अर्थ में यौगिक है। रूढ या योगरूढ जो शब्द किसी के विशेषण रूप में प्रयुक्त हो तब वह यौगिक होता है। इसीलिए 'यत्रा नरो देवयन्तः' (अथर्व० २०।१०७।१५) इस मन्त्र में नृ शब्द मनुष्यवाची है। 'दिवो नरः' (अथर्व० १।६४।४) इसमें नेता के अर्थ में यौगिक है। उसी तरह 'नृणां नृतम्' (ऋ० सं० ६।३३।२) इस इन्द्र देवता वाले मन्त्र में नेताओं में अतिशय नेता अर्थात् श्रेष्ठ नेता अर्थ में यौगिक भी होता है। पशुशब्द गजबैल आदि चौपायों में रूढ है। किन्तु 'विद्वान् अनष्टपशुः' (ऋ० सं० १०।१७।३) इस पूष देवता वाले मन्त्र में ज्ञानार्थ में यौगिक है। अनष्ट पशु इसका अप्रतिहतज्ञान अर्थ होता है। 'तस्मै पावकः' (ऋ० सं० १।१३।९) इस मन्त्र में पावक शब्द अग्नि अर्थ में रूढ है। किन्तु 'समुद्रार्था या शुचयः पावकाः' (ऋ० सं० ७।७९।८) इस मन्त्र में यौगिक है। 'पुरन्ध्रिर्योषा' (वा० सं० २२।२२) में योषा स्त्री अर्थ में रूढ है। किन्तु 'शुद्धाः पूता योषितो यज्ञियः..........' (अथर्व० ११।१।१७) मन्त्र में जल अर्थ में यौगिक है। 'देवान् मनुष्यान् असुरान्' (अथर्व० ८।९।२४) यहाँ असुर शब्द दैत्य अर्थ में रूढ है। किन्तु 'ये च देवा..........असुरत्वमस्मान्' (ऋ० सं० १।१७४।१) यहाँ बलवान् अर्थ में यौगिक है। 'मध्यस्थानं महिषे अवपानात्' (ऋ० सं० १०।१०६) यहाँ पर महिष शब्द पशु विशेष में रूढ है। किन्तु 'अपामुपस्थे महिषा' (ऋ० सं० ६।८।४) यहाँ महान् अर्थ में यौगिक है। क्योंकि निरुक्त में 'महान्तो माध्यमिका देवगणा' (नि० ७।२६) इस वचन से उक्त अर्थ की पुष्टि होती है। वह्नि शब्द भी 'वह्नि यशसम्' (ऋ० सं० १।६०।१) आदि मन्त्रों में अग्नि अर्थ में रूढ है। किन्तु 'यदी मातरो जनयन्त वह्निम्' (ऋ० सं० ३।३१।२) यहाँ पुत्र अर्थ में यौगिक है। उपर्युक्त उद्धृत श्रुति वचनों के आधार पर वेदों में यौगिक रूढ, योगरूढ यौगिक रूढ, शब्दों का होना प्रमाणित है।

स्वामिदयानन्देनापि नामिकग्रन्थे लिखितम्-'शब्दास्त्रिविधाः, यौगिका रूढा योगरूढाश्च। परन्तु यास्कादि-निरुक्तकारैः, वैयाकरणेषु शाकटायनेन च सर्वे शब्दा धातुजा अर्था यौगिका योगरूढा एवाभ्युपगम्यन्ते। पाणिन्यादिभिस्तु रूढिरप्यङ्गीक्रियते। परन्तु सर्वे मुनयो वैदिकशब्दान् यौगिकान् योगरूढान् लोके रूढिं चापि मन्यन्ते।' इति, निघण्टुवैदिक-कोषनामकपुस्तकस्य भूमिकायां लिखितम्—'एते सर्वे वेदेषु यौगिका योगरूढाश्चायान्ति। केवलरूढिशब्दा वेदे न भवन्ति।' अत्र स्पष्टं दयानन्देन वेदेषु योगरूढशब्दा अङ्गीकृताः। आधुनिकाः सामाजिकास्तु तन्नाभ्युपगच्छन्ति, किन्तु पूर्वोक्तरीत्या केवलरूढशब्दा अपि वेदे सन्तीति प्रदर्शितमेव। ऐतरेयालोचने ३५ 'एवमपि एवमादिषु योगरूढ्यैवार्थः सर्वत्र विवक्षितः' इति। वैदिकवाङ्मय का इतिहास' इति ग्रन्थे १०९ पृष्ठे-'सर्वत्र वेदविदो मन्त्रेषु यौगिकानि योगरूढानि च पदानि मन्यन्ते' इति। निरुक्तभूमिकायामन्येन समाजिना स्पष्टमङ्गीकृतम्। योगरूढ़शब्दाः सङ्कुचितार्था भवन्ति। अत एव पङ्कजशब्दः कमलस्यैव वाचको भवति, न तु पङ्कोत्पन्नानां सर्ववस्तूनामिति। वस्तुतस्तु विशेषणानि प्रायेण यौगिकानि भवन्ति, विशेष्याश्च रूढशब्दा भवन्ति।

दयानन्देन तत्रैव लिखितम्—'वेदे पर्वतशब्दस्य यौगिकतायां मेघोऽर्थो भवति। पौराणिकैर्भूधरोऽ(पहाड़)र्थोऽभ्यु-पेयते' इति। परन्तु दयानन्देनापि यजुर्वेदस्य १७।१, १८।१३ इत्यादिमन्त्रेषु पर्वतशब्दस्य भूधरार्थको रूढोऽप्यर्थोऽङ्गीकृतः। अन्योऽप्याह—'अन्यार्थमन्तरा सम्पूर्णः शब्दः कस्मिंश्चिदर्थे प्रसिद्धः स्यात्तदा स रूढो भवति। यथा पर्वशब्दस्य योगोऽर्थः परमस्यावयवार्थोऽयं न भवति। सायणाचार्यैस्तु प्रकरणानुसारेण पर्वतशब्दस्य मेघार्थताप्यङ्गीकृता।

दयानन्देन लिखितम्—'वेदे अहिशब्दस्य मेघोऽर्थो भवति, पौराणिकैः सर्पार्थे प्रयुज्यतेऽहिशब्दः' इति, तदप्यसत्, वेदेऽप्यहिशब्दस्योभयार्थत्वदर्शनात्। 'अरसास इह अहयः' (अथर्व० १०।४।९) इहाहिशब्दस्य सर्पार्थतैव प्रतीयते। अत्रैव मन्त्रे वृश्चिकशब्दः प्रसिद्धवृश्चिकार्थ एव प्रयुक्तः। सायणाचार्येणाप्यहिशब्दस्य प्रकरणानुसारेण मेघार्थतापि स्वीकृता। वेदगतो

स्वामी दयानन्द ने भी नामिक में लिखा है—शब्द तीन प्रकार के होते हैं, यौगिक, रूढ, योगरूढ। किन्तु यास्क आदि निरुक्तकार, तथा शाकटायन नामक वैयाकरण सभी शब्दों को धातुज ही मानते हैं। अर्थ यौगिक और योगरूढ भी हैं। पाणिनि आदि शब्दों को रूढ भी मानते हैं। किन्तु सभी मुनियों ने शब्दों को यौगिक, योगरूढ तथा लौकिक शब्दों को रूढ माना है। निघण्टु वैदिक कोष नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है—'ये सभी शब्द वेदों में यौगिक और योगरूढ चले आरहे हैं। केवल वेद में रूढशब्द नहीं होते। इस ग्रन्थ में साफ शब्दों में वेदों में योगरूढ शब्दों का होना अङ्गीकार किया है। आधुनिक समाजी लोग उसे नहीं मानते लेकिन पूर्वोक्त रीति के अनुसार केवल रूढशब्दों को ही वेदों में माना है। ऐतरेयालोचन के ३५ पृष्ठ पर 'ऐसे सभी प्रसंगों में योगरूढ मानकर ही अर्थ करना वेदवक्ता को अभीष्ट हैं। वैदिक वाङ्मय का इतिहास नामक ग्रन्थ के १०९ वें पृष्ठ पर लिखा है—'सभी जगह वेदवेत्ता लोग मन्त्रों में यौगिक, योगरूढ पदों की सत्ता स्वीकृत करते हैं। निरुक्त की भूमिका में एक अन्य आर्यसमाजी ने सुस्पष्टतया स्वीकार किया है—'योगरूढ शब्द सङ्कुचित अर्थ के होते हैं। इसलिए पङ्कजशब्द कमल अर्थ में ही नियत है। न कि कीचड़ से उत्पन्न अन्य वस्तुओं के अर्थ में। वास्तव में विशेषण यौगिक और विशेष्य रूढ होते हैं।

स्वामी दयानन्द ने वहाँ लिखा है—'वेद में पर्वत शब्द को यौगिक मानने पर उसका मेघ अर्थ है। पौराणिकों ने पहाड़ अर्थ माना है। किन्तु दयानन्द ने भी यजुर्वेद के १७।१, १८।१३, आदि मन्त्रों में पर्वत का भूधर यह रूढ अर्थ माना है। दूसरे ने भी कहा है—'अन्य अर्थ को छोड़ कर यदि पूरा शब्द किसी अर्थ में रूढ हो तो वह मान्य है। जैसे पर्व शब्द का अर्थ 'योग' है लेकिन उसका अवयवार्थ यह नहीं है। सायणाचार्य ने प्रकरणानुसार पर्वत शब्द को मेघार्थक भी माना है।

दयानन्द ने लिखा है कि—'वेद में अहि शब्द का अर्थ 'मेघ' होता है लेकिन पौराणिक लोग सर्प अर्थ में प्रयोग करते हैं'। यह कथन ठीक नहीं, वेद में भी दोनों अर्थों में प्रयोग देखा जाता है। 'अरसास इह अहयः' (अथर्व १०।४।९) यहाँ अहिसा का अर्थ सर्प ही प्रकरणानुगत है। इसी मन्त्र में वृश्चिक शब्द का लोकप्रसिद्ध विच्छू अर्थ में ही आया है। सायण ने भी प्रकरणानुरोधेन अहि

वेदशब्दोऽपि रूढो न मन्तव्यः, किन्तु ज्ञानपर्यायवाचकत्वेन सर्वत्र यौगिक एव मन्तव्यः। तथा सति वेदशब्दस्य सर्वत्रैव ज्ञानं ज्ञानसाधनं वा अर्थः स्यात्। प्रसिद्धसंहिताचतुष्ट्ये त्वद्रीत्या वेदशब्दो नियमेन प्रयुज्येत। तस्माद् अष्टाध्याय्यां (पा० सू० ६।१।२०३) सूत्रे वृषादिगणे पठितो वेदशब्दो मन्त्रब्राह्मणात्मके वेदे रूढः। (पा० सू० ६।१।६०) इति सूत्रे उञ्छादिगणे पठितो वेदशब्दो यौगिकः। वेदे इडा, रन्ता, इत्यादिशब्दा यजुर्वेदे वाजसनेयिसंहितायां (८।४३) इत्यत्र गवां संज्ञावाचका (रूढा) एव सन्ति। सातवलेकरेणापि स्वीये वेदभाष्ये रूढान् यौगिकान् योगरूढान् शब्दानभ्युपगम्यैव व्याख्यानं कृतम्। महाभारतसमालोचनाग्रन्थे ११७ पृष्ठे तेनैवोक्तम्—'अस्माकमप्ययं पक्षोऽस्ति यदेषां शब्दानां यौगिकोऽर्थः, परन्तु सोऽर्थ आध्यात्मिकतत्त्वज्ञानविचारसमय उपयुज्यते, नैतिहासिकतत्त्वान्वेषणे। निरुक्तकारोऽप्याध्यात्मिकार्थसूचनायैव यौगिकार्थमङ्गीकृतवान्। ऐतिहासिकं तात्पर्यमपि तत्र तत्र वर्णयत्येव।

किञ्च, ये सामाजिका वेदे रूढोऽर्थो नास्तीति वदन्ति, त एव स्वार्थसिद्धये रूढार्थग्रहणेऽपि न सङ्कुचन्ति। 'हस्तग्राभस्य दिधिषोः' (ऋ० सं० १०।१८।८), 'पुनर्भुवा परः पतिः' (अथर्व० ९।५।२८) इत्यादिमन्त्रेषु मृतस्य पत्युर्विशेषणभूतस्य दिधिषोरितिपदस्य गर्भस्य निधातुरिति यौगिकमर्थमपहाय 'पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषूपतिः' (अमरकोषे २।६।२३) इत्यमरकोषमाश्रित्य विशेष्यत्वाभावेऽपि रूढशब्दमङ्गीकुर्वन्ति। तथैव पुनर्भूशब्दस्य कश्चन सामाजिकस्तुलसीरामो भास्करप्रकाशस्य चतुर्थे समुल्लासे नियोगप्रकरणे पुनर्विवाहप्रसङ्गे रूढमेवार्थमङ्गीकृतवान्। तथैव बुद्धदेवोऽपि मरुत्सूक्तेषु नरो नेतार इत्यर्थमुत्सृज्य रूढार्थमनुष्यमित्यर्थमङ्गीकृतवान्।

यत्तु—'यदि वेदे वशिष्ठादिपदानां संज्ञार्थत्वेऽभ्युपगम्यमाने तत्प्रतिपादकस्य वेदस्य अर्वाचीनत्वापत्तिः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परमात्मज्ञानरूपे वेदे भविष्यदृष्ट्या वर्णनेऽपि दोषाभावात्। वेदान्तदर्शने (१।३।२८) सूत्रभाष्ये—'चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठन् तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात्तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत्। तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं

शब्द का मेघ अर्थ भी माना है। वेद में आया वेद शब्द भी रूढ नहीं है। अपितु ज्ञानार्थक है, अतः यौगिक है। ऐसा मानने से वेद शब्द का अर्थ ज्ञान या ज्ञान का साधन होगा। प्रसिद्ध चारों संहिताओं में दयानन्द के मत से वेद शब्द केवल संहिता के अर्थ में ही आयेगा। वेद शब्द को रूढ और यौगिक उभयविध समझ कर ही पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी (६।१।२०३) सूत्र में वृषादिगण में पठित वेदशब्द मन्त्रब्राह्मणात्मक भाग में रूढ किया है। उच्छादिगण में आया वेद शब्द यौगिक है। इडा, रन्ता, आदि शब्द, यजुर्वेद वाजसने० सं० (८।४३) में गौ अर्थ में रूढ हैं। सातवलेकरने भी अपने वेदभाष्य में रूढ, यौगिक, योगरूढ, शब्दों को मानकर ही व्याख्यान किया है। महाभारत समालोचना नामक अपने ग्रन्थ के ११७ पृष्ठ पर उन्होंने कहा है कि हमारा भी यह मत है कि इन शब्दों का यौगिक भी अर्थ सम्भव है किन्तु वह अर्थ आध्यात्मिक तत्त्व विचार में ही उपयुक्त है, ऐतिहासिक तत्व की खोज में नहीं। निरुक्तकार ने भी आध्यात्मिक अर्थ को सूचित करने के लिये ही यौगिक अर्थ माना है। तत्तत्स्थलों पर निरुक्तकार ने भी ऐतिहासिक तात्पर्य वर्णन किया है।

जो आर्यसमाजी लोग वेद में रूढ अर्थ नहीं है ऐसा मानते हैं, वे ही स्वार्थ सिद्धि के लिये रूढ अर्थ स्वीकार करने में नहीं हिचकते। 'हस्तग्राभस्य दिधिषोः' (ऋ० सं० १०।१८।८) 'पूनर्भुवापरः पति' (अथर्व० ९।५।२८) आदि मन्त्रों में मृतपति के विशेषणभूत दिधिषु पद के गर्भाधान कर्ता इस यौगिक अर्थ को छोड़कर अमरकोष के सहारे विशेष्य पद की सम्भावना न रहने पर भी रूढ अर्थ स्वीकार करते हैं। तुलसीराम नामक एक आर्यसमाजी ने पुनर्भूशब्द का रूढ अर्थ माना है। उसी तरह बुद्धदेव विद्यालङ्कार ने भी मरुत् सूक्त में नरो नेतार इस अर्थ को छोड़कर मनुष्य इस रूढ अर्थ को ही माना है।

जो लोग ऐसी शङ्का उठाते हैं कि—'यदि वेद में वशिष्ठ आदि शब्दों को संज्ञार्थक माना जायगा तो वेद की पुराणता (प्राचीनता) दब जायगी' उनका यह मत निर्मूल है क्योंकि परमात्म ज्ञानरूप वेद में भविष्य की दृष्टि से कुछ' वर्णन कर देना कोई दोषावह बात नहीं है। त्रिकाल को जो हस्तामलकवत् जानता है उसके लिये प्राचीन नवीन कुछ मूल्य नहीं रखता। वेदान्त दर्शन (१।३।२८) सूत्र के भाष्य में 'अभीष्ट कार्य का अनुष्ठान करते हुए उसके अर्थ का पहले स्मरण करके बाद में उस वस्तु या कार्य का

वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः। पश्चात्तदनुगतानर्थान् ससर्जेति गम्यते। तथा च श्रुतिः—'स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत्' (तै० ब्रा० २।२।४।२) इत्येवमादिका भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यः भूरादिलोकान् सृष्टान् दर्शयति' इति शाङ्करभाष्यानुसारेण तत्समाधानसम्भवात्।

अथर्ववेदे—'सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शम् आर्द्रा पुनर्वसू सूनृता चारुपुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे १७।७।२ पुण्यं पूर्वाफाल्गुन्यौ चात्र हस्तः चित्रा शिवा स्वाति सुखोमे अस्तु 'राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्टमूलम्' (अथर्व० १९।७।३), 'अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देवी उत्तरा आवहन्तु अभिजिद् मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः (धनिष्ठा) कुर्वतां सुपुष्टिं' (अथर्व० १९।७।४), 'आ मे महत् शतभिषक् वरीय आ मे द्वया प्रौष्ठपदा (पूर्वाभाद्रपदाउत्तराभाद्रप्रदा। सुशर्म आ रेवती चाश्वयुजा (अश्विनी। भगं मे आ मे रयिं भरण्य आवहन्तु' (अथर्व० १९।७।५) इत्यादिमन्त्रेषु क्रमेण अष्टाविंशति (२८) नक्षत्राणां रूढनामभिः कल्याणार्थं प्रार्थना दृश्यन्ते। 'शन्नो ग्रहाश्चान्द्रमसा शमादित्यश्च राहुणा। शं नो मृत्युर्धूमकेतुः' (अथर्व० १९।९।१०) इत्यादौ रूढनाम्नैव ग्रहप्रार्थनापि।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां दयानन्देन यथा पूर्वकाले सूर्यचन्द्रादिरचनं कृतमिति व्याख्यातम्। तत्र भूतकालप्रयोगेण श्रीशङ्कराचार्येण च—'यथा पूर्वस्मिन् कल्पे सूर्यचन्द्रमः प्रभृति जगत् क्लृप्तं तथास्मिन् कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयत्' इत्यर्थः कृतः। अत्र सर्वत्र रूढानां शब्दानां प्रयोगः कृतः। भूतकालप्रयोगेणेतिहासश्च वर्णितः।

'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं (ऋ० सं० १।१२९।१), 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे अप्रकेतसलिलं सर्वम् आ (आसीत्) इदम्' इत्यत्र भूतकालिकवृत्तान्तवर्णनं स्पष्टमेव। 'अग्ने देवेषु प्रवोचः' इति मन्त्रस्य भाष्ये स्वामिदयानन्देन लिखितम्—'हे अनन्तविद्यामय जगदीश्वर, देवेषु सृष्ट्यादिजातेषु अग्निवाय्वादित्याङ्गिरस्सु मनष्येषु प्रवोचः प्रोक्तवान्'इति। अत्र तेन ऋषिकर्तृकवेदग्रहणमङ्गीकृतम्। यद्यपि अङ्गिरसमपहाय अग्न्यादयो देवता उक्ता न ऋषयस्तेषामृषीणामप्रसिद्धत्वात्। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता·······' (ऋ० सं० १०।१९०।३) इत्ययं मन्त्रः सूर्यचन्द्ररचनानन्तरं निर्मितः पूर्वं वा ? तथैव अष्टाविंशतिनक्षत्राणां निर्माणानन्तरम् अथर्ववेदो निर्मितः पूर्वं वा ? (ऋ० सं० १।२७।४) मन्त्रा अप्यग्न्यादि-

निर्माण या सम्पादन किया जाता है यह बात हम सभी के अनुभूत हैं। ऐसे ही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को भी सृष्टि के पूर्व वैदिक शब्दों का मन में पहले स्मरण हुआ बाद में उन्होंने उन उन वस्तुओं को बनाया, ऐसा ज्ञात होता है। श्रुति भी इसका समर्थन करती है। ब्रह्मदेव ने पहले भू शब्द का स्मरण तथा उच्चारण किया बाद में पृथ्वी की रचना की। (तै० ब्रा० २।२४।२) इस तरह किसी वस्तु की सृष्टि के पूर्व मन में उसका उच्चारण करना पश्चात् भू आदि लोकों की सृष्टि बतायी गयी है। इस शाङ्करभाष्य के बल पर उक्त शङ्का का समाधान हो जाता है।

अथर्ववेद के १७।७।२, १९।७।३, १९।७।४, ५, १० मन्त्रों में ग्रहों नक्षत्रों के रूढ नाम से ही प्रार्थना की गयी है।

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में श्री दयानन्द ने 'यथापूर्वमकल्पयत्' मन्त्र का 'जैसें पूर्व समय में सूर्य चन्द्र आदि को बनाया था' ऐसा अर्थ किया है। वहाँ भूतकाल के प्रयोग से श्री शङ्कराचार्य ने भी जैसे पूर्व कल्प में सूर्य चन्द्र आदि जगत् को बनाया था उसी तरह परमेश्वर ने इस कल्प में भी बनाया' ऐसा अर्थ किया है। यहाँ सब जगह रूढशब्दों का ही प्रयोग किया है। भूतकाल के प्रयोग से इतिहास भी बताया है।

'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' (ऋ० सं० १।१२९।१) आदि मन्त्रों में भूतकालिकवृत्तान्तवर्णन स्पष्ट ही है। 'अग्ने देवेषु प्रवोचः' इस मन्त्र के भाष्य में स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि—हे अनन्तविद्यामय जगदीश्वर! 'आपने देवताओं को तथा अग्निवायु सूर्य अङ्गिरा आदि मनुष्यों को सृष्टि का रहस्य बतलाया।' यहाँ उन्होंने ऋषिकर्तृक वेदज्ञान का स्वीकार कर लिया है। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता·······(ऋ० सं० १०।१९०।३) यह मन्त्र सूर्य चन्द्र को सृष्टि के बाद का है या पहले का? उसी तरह अठाईस नक्षत्रों के निर्माण के बाद अथर्ववेद बनाया पहले? मन्त्र भी अग्नि आदि ऋषियों के वेदज्ञान के पूर्व के बने हैं या बाद के?

ऋषोणां वेदग्रहणात् प्राङ् निर्मिताः पूर्वं वेति पर्यनुयोगे भविष्यद्दृष्ट्या समाधानं चेत्तथैव वशिष्ठादोनामपि, भविष्यद्दृष्ट्या वर्णनेन समाधानं भवत्येव। पुनर्यौगिकताव्याजेन मन्त्रार्थबाधः किमर्थं क्रियते ?

किञ्च, केवलयौगिकत्वाङ्गीकारेण सहस्रशो व्याख्यातारः सहस्राणि व्याख्यानानि करिष्यन्ति। अध्याहृतानां शब्दानामध्याहारे परस्परं विवदिष्यन्ते। लाहौरनगरस्य दैनिकमिलापपत्रे चमूपतिमहाशयस्य प्रियरत्नमहाशयस्य च परस्परं विवादो दृष्टचर एव, अतियौगिकार्थकरणसम्वन्धिनः परस्परमुपालम्भात्। तथा सति वेदे यौगिकतामालम्ब्य भर्तृपदस्य भ्रात्रर्थत्वं भ्रातृपदस्य भर्त्रर्थत्वं च स्याताम्। तथैव पितृपदस्य पत्यर्थता पतिशब्दस्य पित्रर्थता च स्यात्। भ्रातृभगिनीपदानां वेदे पत्न्यर्थता च स्यात्। तथा सत्यव्यवस्थया सर्वत्र वेदार्थेऽराजकतैव भविष्यति। तथा च वेदानां वेदत्वमेव न स्थास्यति। मानववुद्धीनां नृत्यशालामात्रं वेदो भविष्यति।

वस्तुतस्तु यौगिकताव्याजमनाश्रित्य सामाजिका वेदेपु न स्वसिद्धान्तं साधयितुं प्रभवन्ति। वेदेषु सर्वत्र पौराणिका भावा उपलभ्यन्ते। तदपाकरणायैव सामाजिकानामयमसफलः प्रयत्नः। 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥' (मत्स्यपुराणे ३।३-४ तथा ५३।३ ब्रह्माण्डपुराणे १।१।१।४०-४१) अस्मिन् वचने पुराणज्ञानस्य स्पष्टमेव वेदकालिकत्वमुक्तम्। तथाङ्गीकारे सामाजिकानां सिद्धान्ताः खपुष्पायिता एव भविष्यन्ति। श्रुतिषु बलात्काराय वेदेषु यौगिका एव शब्दाः सन्तीत्यपसिद्धान्तस्य प्रचारः। अनया रीत्या जैनैर्बौद्धैर्मौहम्मदैः क्रैस्तवैरपि यौगिकत्वमाश्रित्य वेदैरेव स्वसिद्धान्ताः साधयिष्यन्ते। धर्मकीर्तिना 'अग्निहोत्रं जुहुयादि'त्यस्य श्वमांसं भक्षयेदित्यर्थः कल्पित एव। दयानन्देनापि सौविध्यप्रियाणां सौविध्यसम्पादनायैव तादृशा अर्थाः परिकल्पिताः। आधुनिकानां सामाजिकानां नेदानीं दयानन्दीयेष्वर्थेषु सौविध्यं प्रतीयते। तत एव येषां मन्त्राणां दयानन्देन नियोगपरत्वं व्याख्यातम्, तेषामेवेदानीन्तनैः

इत्यादि प्रश्नों का समाधान यदि भविष्यकाल की दृष्टि से देना है तो उसी तरह वशिष्ठ आदि ऋषियों को भी भविष्यकाल की दृष्टि से ही समझना चाहिए। फिर वेद में यौगिक शब्द ही प्रयुक्त होते हैं इस बहाने से मन्त्रों के अर्थ में बाधा डालना कहाँ तक उचित है ?

और भी, केवल यौगिक शब्द ही वेद में प्रयुक्त हुए हैं ऐसा मानकर हजारों व्याख्याता हजारों व्याख्यान करेंगे। अध्याहृत होनेवाले शब्दों के अध्याहार को लेकर आपस में लड़ेंगे। लाहौर से प्रकाशित होनेवाले दैनिक पत्र 'मिलाप' में श्री चमूपति तथा श्री प्रियरत्न का आपसी कलह प्रसिद्ध हो है। फिर अतियौगिक अर्थ करने से सम्बद्ध विवाद का एक दूसरे का उलाहना सर्व विदित ही है। ऐसा होने पर वेद में यौगिकता के प्रश्न के सहारे पति पद का भाई, और भाई पद का पति अर्थ होने लगेंगे। उसी तरह पिता का पति और पति का पिता अर्थ भी सम्भव होगा। भाई बहिन शब्दों का वेद में पत्नी अर्थ होने लगेगा। ऐसी अव्यवस्था से सर्वत्र वेद के अर्थ में अराजकता ही फैल जायगी। तब वेद का महत्त्व नहीं रहेगा। वेद मानव की बुद्धि का मात्र नाच घर बनकर रह जायगा।

सच्चे अर्थों में यौगिक शब्द का बहाना लेकर आर्यसमाजी वेदों में अपना सिद्धान्त सिद्ध नहीं कर पायेंगे। वेदों में सर्वत्र पौराणिक आख्यानों के भाव वर्णित मिलते हैं। उसे दूर करने का ही आर्य समाजियों का यह अधूरा प्रयास है। "पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च व वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।" (मत्स्यपुराण ३।३-४, ५३।३, ब्रह्माण्ड पु० १।१।१।४०-४१) इस वचन में साफ तौर पर पुराणज्ञान को वेद का तिलक माना गया है। ऐसा मानने पर आर्यसमाजियों का सिद्धान्त आकाशकुसुम अर्थात् असंभव हो जाते हैं। वेदों की अनादिसिद्ध महत्ता को धूमिल करने के हेतु 'वेदों में केवल यौगिक शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं' यह अपसिद्धान्त प्रचारित किया जा रहा है। इस दुर्नीति के चलते जैन, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई सभी यौगिकता का बहाना पाकर वेदों से ही अपना-अपना सिद्धान्त सिद्ध करने को उद्यत हो जायेंगे। धर्मकीर्ति ने 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इस श्रुति का तात्पर्य कुत्ते का मांस खाओ ऐसी कुकल्पना करने की दुश्चेष्टा की ही है। दयानन्द ने भी आरामपसन्द लोगों को सुविधा देने के लिए ही ऐसे अर्थ सम्पादन का ढंग अपनाया है। वर्तमान आर्य समाजियों को अब दयानन्द के फरमाये अर्थों में कोई सुविधा नहीं

सामाजिकैर्विधवाविवाहपरत्वं व्याख्यायते। यथा सनातनधर्मविरोधाय स्वामिदयानन्देन यौगिकत्वमाश्रित्य यथेष्टोऽर्थः कृतस्तथैव तत्खण्डनायापि तादृशः प्रयासो भविष्यति।

किञ्च, सर्वत्र वेदेषु रूढि-योगरूढिशब्दानामनङ्गीकारे यौगिकाः शब्दा विशेषणभूता एव भविष्यन्ति। कश्चिद् विशेष्यो न भविष्यति। सर्वत्र रूढा योगरूढा वा शब्दा एव विशेष्यतामुपगच्छन्ति। यौगिकास्तु शब्दा गुणवाचिनः क्रियावाचिनो वा सर्वदा विशेषणभूता एव भवन्ति। तथा सति वेदानां कश्चिदपि व्यवस्थितोऽर्थ एव न भविष्यति। तदागोशब्दस्य गमनशीलार्थत्वेन सर्पा वृश्चिकाः सिंहा व्याघ्राश्च गोशब्दार्था भविष्यन्ति। तस्माद्विशेष्यत्वाय व्यवस्थितार्थस्वीकाराय च रूढा योगरूढाश्च शब्दा अङ्गीकर्त्तव्या एव। अन्यथा आर्यसमाजिनेतारोऽप्यध्वव्यापित्वादश्वा गमनशीलत्वाच्च गावो भविष्यन्ति। सूर्यशब्दस्य गमनशीला मनुष्याः पशवश्चार्था पशुमनुष्यादिशब्दानामर्था मनुष्या भविष्यन्ति। स्वामिदयानन्देन संस्कारविधिग्रन्थे वेदारम्भसंस्कारप्रसङ्गे ११२ पृष्ठे यौगिक-योगरूढ-रुढभेदेन शब्दानां त्रैविध्यस्वीकारात् पाचकयाजकादिशब्दा यौगिकाः, पङ्कजादिशब्दा योगरूढाः, धनवनादिशब्दा रूढा इत्यङ्गीकृतत्वात् तेषां शब्दानां वेदेऽपि दर्शनाद् वेदेषु रूढाः शब्दा न भवन्तीति मिथ्यैवोक्तिः। 'धनं न स्यन्द्रम्' (ऋ० सं० १०।४२।५), 'वनेषु वायः' (वा० सं० ४।३१) योगरूढास्तु दयानन्देनापि वेदेऽङ्गीकृता एवेत्युक्तमेव।

पारिभाषिकग्रन्थे १३ पृष्ठे २२ परिभाषायां तेनैवोक्तम्—'उणादि प्रातिपदिक अव्युत्पन्न होते हैं। अर्थात् उनका प्रकृति, प्रत्यय, कारक आदि से यौगिक यथार्थ अर्थ नहीं लगता। अर्थात् उणादि शब्द बहुधा रूढि होते हैं।' एवं च सत्युणादिशब्दा वेदेऽपि दृश्यन्त एवेति को नाम वक्तुं प्रभवति वेदे रूढा योगरूढाश्च शब्दा न सन्तीति। तदभावे वेदसम्बन्धिनिघण्टुशब्दकोषो निरर्थक एव स्यात्। निघण्टुग्रन्थे वेदगतरूढयोगरूढशब्दपर्यायाणामेव सङ्ग्रहः कृतोऽस्ति। यौगिकत्वमात्राङ्गीकारे केचनापि शब्दा नियतवस्तुवाचकाः कथमपि न सम्भविष्यन्तीति विदाङ्कुर्वन्तु विपश्चितः। यथाऽमरकोषो

मिल पा रही है। यही कारण है कि जिन मन्त्रों को दयानन्द ने नियोग के लिये उपयोग बतलाया था उन्हीं मन्त्रों को वर्तमान आर्यसमाजी लोग विधवा विवाह के लिये उपयोग करने लगे हैं। सनातनधर्म के विरोध के लिये स्वा० दयानन्द ने वेदों में यौगिक शब्द का सहारा लिया है उनके खण्डन के लिये भी वैसा ही प्रयत्न सम्भव है।

और भी, सर्वत्र वेदों में रूढ़ि-योगरूढि शब्दों को न मानने पर यौगिक शब्द विशेषण होकर रहेंगे कोई विशेष्य नहीं रहेगा। सर्वत्र रूढ या योगरूढ शब्द ही विशेष्य बनेंगे। यौगिक शब्द गुणवाचक या क्रियावाचक होकर सर्वदा विशेषण रहेंगे। ऐसी स्थिति में वेदों का कोई व्यवस्थित अर्थ ही नहीं हो पायेगा। तब गो शब्द का योगार्थ गमनशीलता को मानकर सांप विच्छू सिंह बाघ आदि भी गो शब्द के अर्थ होने लगेंगे। इस अनवस्था को रोकने के लिये विशेष्य शब्दों की स्थापना से व्यवस्थित अर्थ करने हेतु रूढ और योगरूढ़ शब्दों की सत्ता भी वेद में माननी होगी। नहीं तो, आर्य समाजी नेता भी रास्ता चलने के कारण घोड़े और गतिशील होने के कारण बैल कहे जायेंगे। सूर्य का अर्थ मनुष्य और पशुपक्षी मनुष्य सभी मनुष्य कहे जायेंगे। संस्कारविधि नामक ग्रन्थ के ११२ पृष्ठ पर स्वा० दयानन्द ने भी त्रिविध शब्द मानकर पाचक याजक आदि यौगिक, पङ्कज योगरूढ, धन वन आदि रूढ मान रखा है वे शब्द वेद में भी आये हैं फिर वेदों में रूढ शब्द न मानना यह एक अनर्गल प्रलाप है। योगरूढ तो दयानन्द ने भी माना है यह कहा जा चुका है।

पारिभाषिक नामक ग्रन्थ के १३वें पृष्ठ २२वीं परिभाषा में उन्होंने कहा है कि—'उणादि प्रातिपदिक अव्युत्पन्न होते हैं। अर्थात् उनका प्रकृति प्रत्ययकारक आदि से यौगिक यथार्थ अर्थ नहीं लगता। अर्थात् उणादि शब्द बहुधा रूढि होते हैं।' उणादिशब्द वेद में भी पाये जाते हैं तब वेद में रूढ योगरूढ शब्द नहीं होते हैं ऐसा कौन विचारशील कहेगा? ऐसा न होने पर वैदिक निघण्टु-कोष व्यर्थ हो जायगा। निघण्टु में रूढ, योगरूढ शब्दों के पर्यायशब्दों का संग्रह किया गया है। यौगिक मात्र के आग्रह पर कोई भी शब्द नियतवस्तुवाचक नहीं होगा और कितना अनिष्ट होगा इसे विद्वान् समझें और प्रतीकार करें। अमरकोष लौकिक शब्दों

लौकिकशब्दानां सङ्ग्रहः, तथैव निघण्टुर्वैदिकशब्दानां सङ्ग्रहः। तत्तदर्थेषु नियतत्वादेवामरकोषगताः शब्दा रूढा अङ्गीक्रियन्ते यथा, तथैव नियतार्थः बोधकत्वेन निघण्टुगता वैदिकाः शब्दाः अपि रूढा एव मन्तव्याः। यदि निघण्टुशब्दानां निर्वचनमात्रेण यौगिकत्वं योगरूढत्वं वा स्वीक्रियते तदा त्वमरकोषेपि तथैवाभ्युपगमापत्तिः स्यात्, तदीयशब्दानामपि निर्वचनदर्शनात्। तथात्वेऽमरकोषस्य केवलरूढत्वस्याक्षेपो निरर्थक एव स्यात्। महाभाष्यकारैर्लोकेऽपि न सन्ति यदृच्छाशब्दा इत्युक्त्वा रूढशब्दानां सत्तैव निषिद्धा। अत एव भानुजोदीक्षितेन अमरकोषस्य व्याख्यारम्भे लिखितम् 'यद्यपि चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति पक्षे संज्ञाशब्देषु व्युत्पत्तिर्नावश्यकी, तथापि शाकटायनाद्यभिमतत्रयीपक्षे व्युत्पत्तिः प्रदर्श्यते। एवं लोके वेदे च रूढशब्दानां सत्त्वमसत्त्वं च सममेव। तथा सत्यमरकोषस्य रूढिमात्रतारोपो व्यर्थ एव। अन्यथा सत्यार्थप्रकाश-स्वामिदयानन्दगुरुकुलआर्यसमाजादिशब्दानामपि निर्वचनं सम्भवत्येव, तथापि तेषां रूढत्वमेवाङ्गीक्रियते। केवलयौगिकत्वे तेषां पृथक्सत्तैव वाधिता स्यात्।

वस्तुतस्तु साधुत्वप्रदर्शनायैव व्युत्पत्तिः प्रदर्श्यते तत्र तत्र रूढशब्देष्वपि। अत एव व्युत्पत्तिनिमित्तार्थासम्भवे प्रवृत्तिनिमित्तोऽर्थ एव गृह्यते। लोके वेदे च सर्वत्रैव विशेषणभूताः शब्दा प्रायेण यौगिका एव भवन्ति, विशेष्यभूताश्च रूढा योगरूढा वा भवन्ति। तदेतत् सामाजिकेन भगवद्दत्तेनापि लिखितम्—'विशेषण यौगिक होते हैं' (वैदिक वाङ्मय का इतिहास द्वितीय भाग, पृ० १४५), वेदों के शब्द यौगिक या योगरूढ होते हैं, इसीलिये विशेष्य विशेषण की रीति से विशेषण धात्वर्थमात्र ही होता है। वही विशेषण दूसरे स्थान पर स्वयं नाम अर्थात् योगरूढ बन जाता है।' (वही पृ० १५२)।

पावकशब्दोऽग्निनामत्वेनामरकोषादिषु प्रसिद्धः। विशेष्यत्वे स एवार्थः। तद्यथा 'तस्मै पावक' (ऋ० सं० १।१२।९) यदि पावकशब्दः कस्यचिद्विशेषणं स्यात्तदा व्युत्पत्तिलभ्यार्थक एव स्यात्' तद्यथा—'समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता' आपो देवीरिह मामवन्तु' (ऋ० सं० ७।४९।२)। अत्र जलस्य विशेषणत्वात् पावकशब्दस्य पवित्रकारकत्वमर्थः। इन्द्रशब्द इन्द्रदेवतायां रूढः। स एव विशेषणत्वेन प्रयुक्तो यौगिकवृत्या ऐश्वर्यार्थक एव भवति। तद्यथा—'इन्द्रेण गणेन सन्दिदृक्षसे' (ऋ० सं० १०६।७)। निरुक्ते (४।१२ स्थले) उद्धृता ऋक्। अत्रेन्द्रशब्दो मरुद्गणस्य विशेषणत्वेन प्रयुक्तः।

का संग्रह है। निघण्टु वैदिक शब्दों का। जैसे अमरकोष के शब्द रूढ माने जाते हैं, वैसे ही निघण्टुगत वैदिक शब्द भी नियत (निश्चित) अर्थ के बोधक होने से रूढ ही माने जायेंगे। यदि निघण्टु गत शब्दों को उनका निर्वचन होने मात्र से यौगिक वा योगरूढ मानेंगे, तो अमरकोष के शब्द भी वैसे ही माने जायेंगे। उनका भी निर्वचन व्याख्याकारों ने किया है। ऐसी स्थिति में अमरकोष में केवल साठ शब्द हैं, ऐसा आक्षेप किस आधार पर होगा। महाभाष्यकार ने भी लोक में भी यदृच्छा शब्द नहीं हैं, ऐसा कह कर रूढ शब्दों की सत्ता को नहीं माना है। इसीलिये भानुजि दीक्षित ने अमरकोश की व्याख्या के आरम्भ में लिखा है कि यद्यपि शब्दों की प्रवृत्ति चार प्रकार से होती है, इस पक्ष में संज्ञा शब्दों की व्युत्पत्ति आवश्यक नहीं है, तथापि शाकटायन प्रभृति आचार्य शब्दों की त्रिविध प्रवृत्ति मानते हैं, अतः तदनुसार यहां व्युत्पत्ति बताई जा रही है। इस तरह से लोक और वेद में रूढ शब्दों की सत्ता और असत्ता की स्थिति समान है। इस तरह से अमरकोश पर उक्त आक्षेप व्यर्थ है। ऐसा न मानने पर सत्यार्थप्रकाश, दयानन्द, गुरुकुल, आर्यसमाज जैसे शब्दों का भी निर्वचन किया जा सकता है, किन्तु कोई ऐसा करता नहीं, उनका रूढ अर्थ ही सबको मान्य है।

वास्तव में रूढ शब्दों की भी साधुता को बताने के लिये व्युत्पत्ति बताई जाती है। लोक और वेद में सर्वत्र विशेषणभूत शब्द प्रायः यौगिक ही होते हैं और विशेष्यभूत शब्द रूढ अथवा यौगिक माने जाते हैं। आर्यसमाजी भगवद्दत्त ने भी अपने इतिहास ग्रन्थ में लिखा है कि विशेषण यौगिक होते हैं, इत्यादि।

पावक शब्द अमरकोश प्रभृति में अग्नि का नाम है। वेद में भी विशेष्य के रूप में इसका यही अर्थ होगा, किन्तु यदि यह किसी के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता, तब उसका अर्थ व्युत्पत्ति के आधार पर ही किया जायगा। 'समुद्रार्था' प्रभृति ऋङ्मन्त्र में जल का विशेषण होने से यहाँ 'पावक' शब्द का अर्थ 'पवित्रता सम्पादक' होगा। निरुक्त में उद्धृत 'इन्द्रेण गणेन' इस मन्त्र में इन्द्र शब्द मरुद्गण के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। यौगिक वृत्ति से इसको यहाँ ऐश्वर्यार्थक माना गया है। स्वसृ शब्द

स्वसृशब्दो भगिन्यर्थे रूढः। विशेषणत्वेन प्रयुक्तस्तु यौगिकार्थक एव भवति। तद्यथा—'सनात्सनीला अवनीरवाता व्रता रक्षन्ते अमृताः सहोभिः। पुरु सहस्रधा जनयो न पत्नीर्दुवस्यन्ति स्वसारो अह्रुयाणम् ॥' (ऋक् सं० १।६२।१०) अत्राङ्गुलिनामत्वेन रूढस्य 'अवनी' इत्यस्य विशेषणत्वेन पत्नीः पालयित्र्यः स्वसारः स्वयमेव सरन्त्य इति यौगिकोऽर्थो भवति। तथैव पुनर्भूशब्दो युवतीशब्दश्च विशिष्टस्त्रीषु रूढौ। ऋग्वेदसंहितायां (१।६२।९) स्थले उषसो विशेषणत्वेन प्रयुक्तौ पुनः पुनः प्रतिदिवसं जायमाने युवतीभिश्चिते अथवा नवयौवनोपेते इति यौगिकार्थकौ भवतः। हस्तिशव्दोऽपि गजार्थे योगरूढः। 'हस्ती मृगणां' (अथर्व० ३।२।६) अत्र योगरूढार्थ एव गृहीतः। 'अंशुं दुहन्ति हस्तिनः' (ऋ० सं० ३।३६।७) इत्यत्र केवलयौगिकत्वेन प्रशस्तहस्तानामृत्विजामर्थे प्रयुक्तः। योषित्शव्दोऽपि स्त्रियां रूढो विशेषणत्वेन यौगिकार्थो भवति। यथा—'शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपः' (अथर्व० ११।१।१७) अत्रापां विशेषणत्वेन योषितः सेवनार्हा इत्यर्थो भवति। तस्माद्वेदे यौगिका रूढा योगरूढा यौगिकरूढाश्चेति चतुर्विधा अपि शब्दाः सन्त्येव।

वस्तुतस्तु मन्त्रार्थनिर्णयाय पुराणेतिहासव्याकरणनिघण्टुकोषब्राह्मणभागविनियोगप्राचीनलोकव्यवहारमन्त्रभागदेवतावादस्मृतिदर्शननिरुक्तादयः सर्वेऽप्यपेक्षिता भवन्ति। आधुनिकाः सामाजिकब्रुवास्तु पुराणादिप्रसिद्धार्थनिराकरणाय स्वेच्छया क्वचिद् ब्राह्मणभागं क्वचिच्च निघण्टुमाश्रयन्ते। वैदिककोषं निघण्टुमपहाय कथं वैदिकार्थनिर्णयः स्यादिति च जल्पन्ति। वस्तुतस्तु वेदाधीना निघण्टवो न निघण्ट्वधीना वेदाः। निघण्टवोऽप्यन्यार्थानामुपलक्षणा एव। तत्रेयत्तावधारणं न युक्तम्। नहि सर्वेषां वैदिकशब्दानां निघण्टुषूपलम्भो भवति। अनेकासां संहितानां कालक्रमेण लोपस्तथा निघण्टूनामपि लोपः सम्भवति। यास्कसङ्गृहीतनिघण्टावपि तादृशा अनेके शब्दाः सन्ति येषां सामाजिकाभिमतासु चतसृष्वपि संहितासु नोपलम्भो भवति।

भगिनी के अर्थ में प्रयुक्त है, किन्तु इसको जब विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया जायगा तब इसका भी यौगिक अर्थ करना पड़ेगा। 'सनात्सनीला' प्रभृति मन्त्र में अंगुली के नाम से प्रसिद्ध 'अवनी' शव्द के विशेषण के रूप में प्रयुक्त 'स्वसृ' शव्द का 'स्वयमेव सरन्त्यः' यह यौगिक अर्थ किया जाता है। इसी तरह से पुनर्भू और युवती शव्द विशिष्ट प्रकार की स्त्रियों के लिये रूढ है। ये ही शव्द ऋग्वेद के मन्त्र में विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने पर बार-बार प्रतिदिवस जायमान तथा युवतियों के द्वारा संचित अथवा नवयौवन युक्त इन यौगिक अर्थों को अभिव्यक्त करते हैं। हस्ति शव्द गज के अर्थ में योगरूढ है। 'हस्ती मृणालम्' इस अथर्ववेद के मन्त्र में इसी अर्थ में यह प्रयुक्त है, किन्तु ऋग्वेदसंहिता के मन्त्र में (३।३६।७) यह केवल यौगिक अर्थ 'प्रशस्त हस्तवाले ऋत्विक्' में प्रयुक्त है (योषित् शव्द स्त्री के लिये रूढ है, किन्तु विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने पर यौगिक अर्थ को प्रकट करने लगता है। अथर्ववेद (११।१।१७) के मन्त्र में जल के विशेषण के अर्थ में, अर्थात् सेवन योग्य जल, इस अर्थ में प्रयुक्त माना जाता है। इस लिये वेद में यौगिक, रूढ, योगरूढ और यौगिकरूढ ये चारों प्रकार के शव्द उपलव्ध होते हैं। इसमें किसी को कोई सन्देह नहीं रहना चाहिये।

वस्तुतः मन्त्रों के अर्थ का निर्णय करने के लिये पुराण, इतिहास, व्याकरण, निघण्टु, कोश, ब्राह्मणभाग का विनियोग, प्राचीन बौद्ध के व्यवहार, मन्त्रभाग, देवतावाद, दर्शन, स्मृति, निरुक्त प्रभृति सभी शास्त्रों की अपेक्षा रहती है। आधुनिक आर्यसमाजी पुराण आदि में प्रसिद्ध अर्थ का खण्डन करने के लिये मनमानी करके कहीं ब्राह्मणभाग और कहीं निरुक्त-निघण्टु आदि का सहारा लेते हैं। वेद के कोश निघण्टु को छोड़कर वेद के अर्थ का निर्णय कैसे हो सकता है, ऐसा उनका कहना है। वस्तुतः निघण्टु वेद के लिये हैं, वेद निघण्टु के लिये नहीं है। निघण्टु भी अन्य अर्थों के उप-लक्षण ही हैं, क्योंकि निघण्टु में बताये अर्थ ही होंगे, ऐसी सीमा नहीं बाँधी जा सकती। सभी वैदिक शव्द वेद में उपलव्ध होते भी नहीं। वेद की अनेक संहिताएँ हैं। इनसे सम्बन्ध रखने वाले निघण्टु भी अनेक होंगे। जैसे कालक्रम से अनेक संहिताओं का बोध हो गया, उसी तरह से निघण्टुओं के लोप की भी सम्भावना है ही। यास्क के द्वारा संगृहीत निघण्टु में भी ऐसे अनेक शव्द मिलते हैं, जिनको सामग्रियों के द्वारा स्वीकृत चार संहिताओं में उपलब्धि नहीं होती।

सनातनधर्मालोके आष्ठा (१।६) दिङ्नामसु, शोकी (१।७) रात्रिनामसु, वलिशान (१।१०) मेघनामसु, वेकुरा (१।११) वाङ्नामसु, सर्णीकम्, स्वृतीकम्, वुर्वुरम्, यहः, भविष्यत् इति जलस्य पञ्चनामानि (१।१२) मल्मलाभवन (१।१७) इति ज्वन्नाम, करन्ती । कर्मनाम, साचीवित् (२।१५) क्षिप्रनाम, निघृष्वः (३।२) ह्रस्वनाम । निघण्टुगतान्येतानि नामान्यार्यसमाजाभिमतासु चतसृष्वपि संहितासु नोपलभ्यन्ते । यास्कीयनिरुक्तसन्निविष्टनिघण्टुः कस्याः संहितायाा इति न स्पष्टं विज्ञायते । वेदेषु निघण्टुनिर्दिष्टार्थव्यतिरिक्तोऽर्थ एव न भवतीति न वक्तुं शक्यते । निघण्टुग्रन्थे विश इति मनुष्यनामेत्युक्तम्, परं वेदे विश इत्यस्य गणः प्रजा वाऽर्थो दृश्यते । 'मानुषीणां विशां दैवीनामुत' (अथर्व २०।११।२), 'दैवीर्विशः' (वा० सं० ६।७), 'दैवीर्विशो मानुषीश्च' (वा० सं० १७।८६), 'मरुतो देवविशः' (शतपथब्राह्मणे २।५।१।२), 'यदि न घष्टुरी विशः इत्यस्य मनुष्य एवार्थः स्यात्तदा 'मानुषीणां विशां मानुषीर्विशश्च' उभयत्र मनुष्यशब्दस्य वैयर्थ्यमेव स्यात्, विशःशब्देनैव तत्कार्यसिद्धेः । 'दैवीश्च विशः', 'दैवीनां विशाम्' इत्यत्र विश इत्यस्योपादानं व्यभिचरति च । (अथर्व० २०।११।२) इत्यत्र उत शब्देन यजुः १७।८६ इति मन्त्रे च शब्देनोभयोः परस्परं भेद एव सिद्धयति । अतो विश इति शब्दस्य निघण्ट्वनिर्दिष्टोऽपि गणः प्रजा वाऽर्थो भवत्येव ।

निघण्टौ १।१४ इत्यत्र ब्रध्नशब्दस्य अश्वोऽर्थ उक्त इति स्वामिदयानन्दस्य निघण्टुग्रन्थस्य शब्दानुक्रमणिकायाः ४८ पृष्ठे स्पष्टं दृश्यते । दयानन्देनैव च सत्यार्थप्रकाशे ८ समुल्लासे १४३ पृष्ठे ब्रध्नशब्दस्य सूर्य इत्यर्थो लिखितः । न केवलमेतावदेव, किन्तु तत्रैव ११ समुल्लासे १७४ पृष्ठे निघण्ट्वनुसारेणैव कृतस्य मैक्समूलरोक्तस्यार्थस्य खण्डनमपि कृतम् । 'युञ्जन्ति ब्रध्नम्' (ऋ० सं० १।६।१) इति मन्त्रस्य मैक्समूलरेणाश्वोऽर्थः कृतः, एतदपेक्षया सायणोक्तः सूर्य एवार्थो युक्तः । अस्य शब्दस्य समीचीनस्त्वर्थः परमात्मैव । ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां द्रष्टव्यं दयानन्दभाष्यम् । ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां १७० पृष्ठे क्वचिन्निघण्टा अश्वस्यापि ब्रध्नारुषी नामनी पठिते । परन्त्वस्मिन् मन्त्रे तद् घटना नैव सम्भवति, शतपथादिव्याख्यानविरोधात्, मूलार्थविरोधात्, एकशब्देनानेकार्थग्रहणाच्च । एवं सति भट्टमोक्षमूलरैर्ऋग्वेदस्य इङ्गलैण्डभाषया व्याख्याने यद् अश्वस्य पशोरेव ग्रहणं कृतं तद्भ्रान्तिमूलकमेव, सायणाचार्येणास्य मन्त्रस्य व्याख्याने आदित्यस्य ग्रहणात् । एकस्मिन्नंशे तस्य व्याख्यानं सम्यक्कृतमस्ति, परन्तु न जाने भट्टमोक्षमूलरेणायमर्थः आकाशाद्वा पातालाद्वा गृहीत इति । तथैव भ्रान्तिनिवारणनामके ग्रन्थे शताब्दीसंस्करणे ८८२ पृष्ठे महेशप्रसादस्योत्तरं प्रयच्छता दयानन्देन लिखितम्—यद्युच्येत

सनातनधर्मालोक में निघण्टु में संगृहीत ऐसे शब्दों का संग्रह किया गया है, जिनकी आर्यसमाजी अभिप्रेत चार संहिताओं में स्थिति नहीं हैं । यास्क के निरुक्त में संन्निविष्ट निघण्टु किस संहिता का है, यह भी स्पष्ट नहीं है । वेदों में निघण्टु निर्दिष्ट अर्थ से भिन्न अर्थ नहीं होता, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता । निघण्टु में विश शब्द का अर्थ मनुष्य किया गया है, किन्तु वेद में गण अथवा प्रजा भी इसका अर्थ है । अनेक उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि विश शब्द के निघण्टु निर्दिष्ट अर्थ के अतिरिक्त उक्त अर्थ भी होते हैं ।

निघण्टु में ब्रह्म शब्द का अर्थ अश्व किया गया है, यह बात स्वामी दयानन्द के निघण्टु की शब्दानुक्रमणिका से भी स्पष्ट है । दयानन्द ने ही सत्यार्थप्रकाश में ब्रह्म शब्द का अर्थ सूर्य किया है । केवल इतना ही नहीं, किन्तु उसी ग्रन्थ में निघण्टु के आधार पर किये गये मैक्समूलर के अर्थ का खण्डन भी किया गया है । 'युञ्जन्ति ब्रध्नम्' इस मन्त्र के ब्रह्म शब्द का अर्थ मैक्समूलर ने अश्व किया है । सायण ने इसका अर्थ सूर्य किया है, वही अधिक उपयुक्त है । इस शब्द का सही अर्थ तो परमात्मा ही होता है । स्वामी दयानन्द का यह कथन ऋग्वेदभाष्यभूमिका में भी पाया जा सकता है । वहाँ वे कहते हैं कि निघण्टु में अश्व के लिये भी ब्रह्म नाम मिलता है । परन्तु इस मन्त्र में यह अर्थ घटित नहीं होता, क्योंकि यह अर्थ शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या और मूल के प्रकरण से भी असंवद्ध है । एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं । ऐसी स्थिति में भट्ट मोक्षमूलर ने ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद में अश्व का पशु अर्थ किया है, वह भ्रान्तिमूलक है । सायण ने यहाँ पर आदित्य अर्थ लिया है । एक अंश में यह सही है । किन्तु भट्ट मोक्षमूलर ने अर्थ किस आकाश-पाताल से निकाला, कुछ पता नहीं चलता । इसी तरह से भ्रान्तिनिवारक नामक ग्रन्थ के शताब्दी संस्करण

निघण्टुग्रन्थस्थेष्वीश्वरनामस्वग्निनामोल्लेखो नास्तीत्यतो नाग्निशब्दः परमेश्वरवाचकः। राष्ट्री, अर्यः, नियुत्वान्, इनः—इत्येतानि चत्वारि नामानि ईश्वरस्य प्रसिद्धानि सन्तीति, तन्न, निघण्टौ यानि नामानि तान्येव मन्तव्यानीति नियमाभावात्। परमेश्वरस्यासंख्यातानि नामानि, नहि चत्वार्येव नामानीश्वरस्य। ब्रह्म-परमात्मा-ईश्वरादिनामान्यपि निघण्टौ नोपलभ्यन्ते, तथापि तानि नामानि मन्तव्यान्येव।

तस्माद्वेदार्थनिरूपणे क्वचिन्निघण्टुग्रन्थस्योपयोगे शेषार्थनिरूपणेऽमरकोषादीनामप्युपयोगो युक्त एव। व्याकरणसूत्राण्यपि लौकिकान्येव, तथापि तेषामुपयोगो वेदार्थनिरूपणे सामाजिकैरप्यभ्युपेयते। अमरकोषोऽपि प्रसिद्धाग्निपुराणमूलक एव, 'समाहृत्यान्यतन्त्राणि संक्षिप्तैः प्रतिसंस्कृतैः। सम्पूर्णमुच्यते वर्गैर्नामलिङ्गानुशासनम्॥' इत्यमरसिंहेनैवोक्तत्वात्।

मीमांसादर्शने लोकवेदयोः शब्दैक्याधिकरणे 'प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात्' (जै० सू० १।३।३०) य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकाः, त एव तेषामर्था इति। न तेषामेषां च विभागमुपलभामहे। 'अविशिष्टश्च वाक्यार्थः' (जै० सू० १।२।४०) अविशिष्टस्तु लोके प्रयुज्यमानानां वेदे च पदानामर्थः। 'लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः' (सांख्यसूत्रे ५।४०) नहि लोके शक्तिभिन्ना वेदे च भिन्ना, य एव लौकिकाः पदार्थास्त एव वैदिका इति न्यायात्।

केचित्सामाजिका अप्यभ्युपगच्छन्ति यन्नहि ब्राह्मणानि मन्त्राणां व्याख्यानानि, ब्राह्मणेषु यज्ञप्रक्रिया यज्ञानां फलानि च निरूप्यन्ते। प्रसङ्गात् क्वचित् केषाञ्चिन्मन्त्राणां मन्त्रखण्डानां च व्याख्यानमपि दृश्यते। ब्राह्मणगतैर्विनियोगैश्च मन्त्रार्थः प्रभावितो भवति। तथापि ब्राह्मणे भक्तिवादबाहुल्यात् तदुक्तग्रहणे सावधानेन भवितव्यम्। 'आयुर्वै घृतम्' (तै० सं० २।३।२।२) नह्यनेन वचनेन घृतायुषोरभेदो मन्तुं शक्यते। यास्केनापि विचारितमेतत् 'आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः' इति ब्राह्मणप्रमाणेन सूर्यो वैश्वानर इत्याशङ्क्योक्तम्—यथो एतद् ब्राह्मणं भवतीति बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति।' पृथिवी

में महेशप्रसाद को उत्तर देते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं—यदि कहा जाता है कि निघण्टु में पठित ईश्वर के नामों में अग्नि का उल्लेख न होने से अग्नि शब्द परमेश्वर का वाचक नहीं हो सकता। राष्ट्री, अर्यः, नियुत्वान् और इनः—ये चार शब्द ही ईश्वर के अर्थ में पठित हैं, तो इसका उत्तर यह है कि निघण्टु में जितने नाम हैं, वे ही उस अर्थ में प्रयुक्त होंगे, ऐसा कोई नियम नहीं है। परमेश्वर के तो असंख्य नाम हैं, केवल चार ही नहीं। ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर प्रभृति नाम भी निघण्टु में उपलब्ध नहीं होते तो भी ये ईश्वर के नाम माने ही जाते हैं।

अतः वेदार्थ के निरूपण में कहीं-कहीं निघण्टु का उपयोग होते हुए भी शेष अर्थ के निरूपण में अमरकोश प्रभृति का भी उपयोग होता ही है। व्याकरण के सूत्र भी लौकिक ही हैं, किन्तु उनका उपयोग वेदार्थ के निरूपण में आर्यसमाजी भी करते हैं। अमरकोश का मूल प्रसिद्ध अग्निपुराण है। स्वयं अमरकोशकार अमरसिंह ने कहा है कि इस कोश की रचना अन्य शास्त्रों को संक्षिप्त और प्रतिसंस्कृत करके की गई है।

मीमांसादर्शन लौकिक और वैदिक शब्दों को और उनके अर्थों को अभिन्न माना है। वहां कहा गया है कि इनमें भिन्नता हम नहीं खोज पाते। लोक और वेद में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ समान ही है। सांख्यदर्शन में कहा गया है कि लोक में व्युत्पन्न व्यक्ति को वेदार्थ का भी बोध हो जाता है। लोक और वेद के शब्दों की शक्ति भिन्न भिन्न नहीं होती। लौकिक पदों के जो अर्थ हैं वे ही वैदिक पदों के भी होते हैं।

कुछ आर्यसमाजी मानते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्रों की व्याख्या नहीं है, किन्तु उनमें यज्ञीय पद्धति और उनका फल वर्णित है। प्रसंगवश कहीं कहीं कुछ मन्त्रों की अथवा उनके एक भाग की व्याख्या भी कर दी गई है। ब्राह्मणगत विनियोग से भी मन्त्रों का अर्थ प्रभावित है। तो भी भक्तिवाद की बहुलता के कारण इनके बताये अर्थ के प्रति सावधानी रखनी चाहिये। आयुर्वै घृतम्' इस उक्ति के प्रमाण पर घृत और आयु का अभेद नहीं माना जा सकता। 'आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः ; इस ब्राह्मण वाक्य पर निरुक्त में भी विचार किया गया है कि क्या सूर्य ही वैश्वानर है? वे कहते हैं कि ब्राह्मणों में बहुत से भाक्त (गौण) प्रयोग मिलते

वैश्वानरः' (श० १३।३।८।३), 'संवत्सरो वैश्वानरः' (श० ५।२।५।१५), 'ब्राह्मणो वैश्वानरः' (तै० ब्रा० ३।७।३।२) (निरुक्त-७-२४) अतो ब्राह्मणवचनाश्रयणेनापि न पुराणादिप्रसिद्धोऽर्थोऽपलपनीयः।

'लोकव्यवहारेणापि वेदार्थो विज्ञायते, लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतेः' (सां० सू० ५।४०) अथर्ववेदस्य षष्ठे काण्डे १४० सूक्तस्य शिशूनां प्रथमत ऊर्ध्वदन्तद्वयस्योद्गमदोषपरिहारार्थं तिलहोमादौ विनियोगः। तत्र तिलहोमो भवति। यवतिलमाषादिधान्यानामुक्तसूक्तेनाभिमन्त्रणं कृत्वा ताभ्यां दन्ताभ्यां कर्तनं कारयितव्यम्। तत्रैवायं मन्त्रो भवति। 'यौ व्याघ्रौ अवरूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः।' (अथर्व० ६।१४०।१) अत्रावरूढपदेनोपरिपङ्क्तौ निम्नाभिमुख्येन जातयोर्दन्तयोरशुभफलत्वेन पित्रोर्मृत्युरूपत्वमुक्तम्। दुष्फलनिराकरणार्थमत्र प्रार्थना क्रियते। अधःपङ्क्तौ प्रथमतः दन्तोत्पत्तिरेव शुभावहा। 'तस्मादधरे दन्ताः पूर्वे जायन्ते परे उत्तरे' (गो० ब्रा० १।३।७), 'व्रीहिमत्तं यवमत्तं युवामथो माषमथो तिलम्। एषां वो भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्ट पितरं मातरं च॥' (अथर्व० ६।१४०।२) अत्रैवोक्तविनियोगचारितार्थ्यम्। 'अन्यत्र वां घोरं तन्वः परैतु दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च' (अथर्व० ६।१४०।३) एतत्सर्वं व्यवहारज्ञाः स्त्रियो जानन्ति। 'यत्स्त्रिय आहुस्तत्कुर्वन्ति' (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।१५।९)। अग्निवेश्यगृह्यसूत्रेष्वप्युक्तम्। तदनभिज्ञास्तु 'हे दन्तौ युवां धान्यं यवं माषं तिलान् अत्तम्' इत्याहुस्तत्त्वसङ्गतमेव, द्विवचनवैयर्थ्यात्। गोधूमादीनामवर्णनात्तेषामभक्ष्यत्वापत्तिः, मातृपितृशक्तिरहितनपुंसक-वन्ध्यपशूनां खाद्यत्वापत्तिश्च स्यात्, तस्माद्विनियोगवशाद्वेदार्थो व्याख्यातव्यः। तत एव श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्र-धर्मसूत्रादीनां च सार्थक्यम्। विनियोगभेदादेव मन्त्राणां पुनरावृत्तयोऽपि सङ्गच्छन्ते। विनियोगाभावे पुनरुक्तिदोषापत्तिश्च स्यात्।

पदपाठेनापि सन्देहनिवृत्तिर्भवति। यथा—'उत शूद्र उतार्ये' (अथर्व० १९।६२।१) अत्र उत अर्ये इति च्छेदः, अथवा उत आर्ये इति सन्देहे पदपाठेन पाठो निर्णीयते। येषां पदपाठो न भवति तेषां खिलत्वं भवति। पदपाठानुसारेण उत शूद्रे उत आर्ये इति पदच्छेदो निश्चीयते। सामाजिकैरपि बहुभिस्तथैवाङ्गीकृतम्। एतेन शूद्रार्ययोर्भेद एव सिद्धयति। केश्चित्तु

हैं। पृथिवी संवत्सर और ब्राह्मण को भी वैश्वानर कहा गया हैं। अतः ब्राह्मणों के वचन के सहारे पुराणादि प्रसिद्ध अर्थ का अपलाप नहीं किया जा सकता।

लोक व्यवहार से भी वेदार्थ का ज्ञान होता है। लोक में व्युत्पन्न व्यक्ति को वेदार्थ का ज्ञान हो सकता है। अथर्ववेद के षष्ठकाण्ड के १४०वें सूक्त का विंनियोग बालक के पहले ऊपर के दांत निकलें तो उस दोष की शान्ति के लिये तिल होम के निमित्त किया जाता है। यहां बताया गया है कि उक्त सूक्त से यव, तिल और उड़द को अभिमन्त्रित कर बालक के ऊपर उगे दांतों से उनको कटाना चाहिये। ऊपर वाली पंक्ति में निम्नाभिमुख दातों को उगना माता-पिता के लिये अनिष्ट कर माना गया है। इस दुष्फल की निवृत्ति के लिये यहां प्रार्थना की गई हैं। पहले नीचे की पंक्ति में दांत निकलना हो शुभावह माना जाता है। गोपथ ब्राह्मण में भी इसका उल्लेख है। व्यवहार को जानने वाली स्त्रियां इन सब से परिचित हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में और अग्निवेश्य गृह्यसूत्र में बताया गया है कि इस तरह के व्यवहार के विषय में स्त्रियों को प्रमाण जानना चाहिये। आर्य समाजी इन सब विधि-विधानों से अपरिचित हैं, अतः इनका उलटा हो अर्थ हो जाता है। उनके अर्थ के अनुसार तो उक्त मन्त्र में गोधूम (गेहूँ) आदि का वर्णन न होने से वे अभक्ष्य मान लिये जायंगे। प्रजनन शक्ति रहित बन्ध्य पशुओं को उनकी व्याख्या के अनुसार खाद्य मानना पड़ेगा। अतः विनियोग के आधार पर ही वेदार्थ की व्याख्या की जाय, सही पक्ष यही है। इसी में श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र की सार्थकता है। विनियोग के भेद के आधार पर ही मन्त्रों की आवृति भी सार्थक मानी जा सकती है। विनियोग भेद के अभाव में तो ऐसी स्थिति में वेद में पुनरुक्ति दोष की आपत्ति होगी।

पद पाठ से भी संदेह की निवृत्ति होती है। जैसे 'उतार्ये' इत मन्त्र में 'उत अर्पे' यह पदच्छेद होगा या 'उत आर्ये' इसका निर्णय पद पाठ से हो जाता है। जिन मन्त्रों का पद पाठ नहीं है, उनको खिल कहा जाता है। अनेक आर्यसमाजी भी इस बात को स्वीकार करते हैं। इससे शूद्र और आर्य का भेद ही माना जाता है। कुछ लोग अर्य का अर्थ वैश्य कहते है। पद पाठ के विरुद्ध होने

अर्ये वैश्ये इत्यर्थः कृतः। स तु पदपाठविरोधाद्धेय एव। कैश्चिद् बृहदारण्यकस्य मांसौदनमित्यस्य स्थाने माषौदनमिति पाठः कल्प्यते। तथैव तैः 'अवसाय पद्वते रुद्र मृड' (ऋ० सं० १०।१६९।१) इति मन्त्रेऽवसशब्दस्य चतुर्थ्यन्तेऽवग्रहो न क्रियते। 'अवसाय अश्वान्' (ऋ० सं० १।१७४।१) अत्र ल्यबन्तस्य भिन्नपदत्वात् पदच्छेदः क्रियते। मन्त्रोऽपि स्वार्थबोधे प्रमाणम्। एकत्र यं सिद्धान्तं प्रतिपादयति स्थलान्तरे क्वचित् तदनूद्य सङ्केतयति। अत एव तात्पर्यनिर्णयेऽभ्यासस्यापि हेतुत्वं मीमांसायामुक्तम्।

वैदिकदेवतावादोऽपि वेदार्थनिर्णयोपयोगी भवति। प्रकरणमपि महत्त्वपूर्णं वेदार्थनिर्णये भवति। अनुक्रमणिकाकारैः प्रकरणानुसारेणैव देवताशब्देन वेदार्थो निर्धारितः। अत एव तत्तद्देवतानुसारेण वेदार्थव्याख्यानं युक्तम्। दयानन्दस्तु सर्वत्रैवाग्निवाय्वादित्यादिसूक्तान्यपि परमात्मपरत्वेनैव व्याख्याति। वेदे सर्वाणि सूक्तानि परमात्मपराण्येवेति न वक्तुं युक्तम्। यदि सर्वाणि सूक्तानि परमात्मपराण्येव भवेयुस्तदा सर्वानुक्रमण्यां बृहद्देवतायां च विभिन्नदेवतानिर्धारणानि निरर्थकान्येव स्युः। तदा तु लाघवानुसारेणैकः परमात्मैव देवता स्यात्।

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥ सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥' (वा० प० २।३१६-३१७) इति वाक्यपदीयपद्ये साहित्यदर्पणादावप्युद्धृते। तद्यथा—सशङ्खचक्रो हरिः, अत्र शङ्खचक्रयोगेन हरिशब्दो विष्णुमेवाभिधत्ते न सिंहवानरादीन्। अशङ्खचक्रो हरिः, इत्यत्र शङ्खचक्रवियोगेन च तमेव विष्णुम्। तथैव फणाहीनो नागः, अत्रापि फणावियोगेन सर्पवाचक एव नागशब्दो न गजवाचकः। भीमार्जुनौ इत्यत्र भीमसाहचर्यात् अर्जुनः पार्थः न वृक्षः। रामलक्ष्मणौ इत्यत्र रामो दाशरथिर्न बलरामः। कर्णार्जुनौ इत्यत्र विरोधात् कर्णः सूतपुत्रो वैकर्तनः, न श्रोत्रम्। 'स्थाणुं वन्दे भवच्छिदे' अत्रार्थ (प्रयोजन) वशात् स्थाणुशब्देन शिव एव ग्राह्यो न पत्रशाखादिहीनो वृक्षः। 'सर्वं जानाति देवः' इत्यत्र प्रकरणवशात् देवो राजादिर्न देवताविशेषः। वक्तृश्रोत्रोर्बुद्धिस्थमेव प्रकरणम्। 'कुपितो मकरध्वजः' इत्यत्र कोपरूपाल्लिङ्गान्मकरध्वजः कामो न समुद्रः।

से यह ग्राह्य नहीं हो सकता। कुछ लोग बृहदारण्यक के 'मांसौदनम्' के स्थान पर 'माषौदनम्' यह पाठ कल्पित करते हैं। इसी तरह से वे 'अवसाय' प्रभृति मन्त्र में चतुर्थ्यन्त पद न मान कर उसको ल्यबन्त पद मान लेते हैं। किन्तु उनको यह स्मरण रखना चाहिये कि मन्त्र भी अपने अर्थ के बोधन में प्रमाण होता है। एक स्थान पर संक्षेप में प्रदर्शित सिद्धान्त का अन्यत्र विशद निरूपण किया जाता है। इससे पूर्व मन्त्र का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इसी लिये मीमांसा शास्त्र में तात्पर्य के निर्णय में अभ्यास को भी कारण माना है।

वैदिक देवतावाद भी वेदार्थ के निर्णय में सहायक होता है। प्रकरण का भी इसमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनुक्रमणिकाकार प्रकरण का अनुसरण करके ही वेदार्थ का निर्धारण करते हैं। इसीलिये उन उन देवताओं की पृष्ठ भूमि में ही वेदार्थ करना उचित है। स्वामी दयानन्द तो सर्वत्र अग्नि, वायु, आदित्यपरक सूक्तों का भी परमात्मपरक अर्थ करते हैं। वेद में सभी सूक्त परमात्मपरक हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा होता तो सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता आदि ग्रन्थों में विभिन्न देवताओं का वर्णन निरर्थक हो जायगा। तब तो लाघव इसी में है कि एक परमात्मा ही सभी सूक्तों का देवता माना जाय।

वाक्यपदीय के पद्यों के अनुसार, जिनको कि साहित्यदर्पण प्रभृति में भी उद्धृत किया गया है, संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग अन्य शब्द को सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति स्वर—इन सबको शब्दार्थ के जानने में सहायक माना है। जैसे कि शंख और चक्र के योग से हरि शब्द विष्णु का वाचक है, सिंह, वानर आदि का नहीं। शंख और चक्र से वियुक्त हरि भी विष्णु ही कहे जायंगे। इसी तरह से फण से वियुक्त नाग शब्द सर्प का वाचक होगा, गज का नहीं। भीम के साहचर्य से अर्जुन शब्द पार्थ का वाचक होगा; वृक्ष का नहीं। लक्ष्मण के साहचर्य से राम दशरथ पुत्र का वाचक होगा, बलराम का नहीं। अर्जुन का विरोधी होने से उसके साथ पढ़ा गया कर्ण शब्द सूतपुत्र वैकर्तन का वाचक होगा, श्रोत्रेन्द्रिय का नहीं। भवच्छेद रूप अर्थ (प्रयोजन) के कारण स्थाणु शब्द शिव का वाचक होगा, पत्र शाखा आदि से रहित वृक्ष नहीं। 'सर्वं जानाति देवः' इस वाक्य में प्रकरण के अनुसार देव पद राजा आदि का वाचक होगा; देवता का नहीं। कुपितो मकरध्वजः' इस वाक्य में कोप रूप लिंग

अनेकार्थे शब्दे शब्दबोध्यो धर्मो लिङ्गम्। यद्यपि मकरध्वजशब्देन समुद्रोऽपि बोध्यते, तथापि न कोपरूपं लिङ्गं तत्र सम्भवतीति नात्र स बोध्यते। 'स्थलारविन्दश्रियम्' अत्र स्थलारविन्दशब्दसान्निध्येन श्रीः शोभा गृह्यते न लक्ष्मीः। 'देवः पुरारिः' अत्र देवशब्दसान्निध्यात् पुरारिशब्देन शिवो गृह्यते। 'मधुना मत्तः पिकः' अत्र सामर्थ्यात् कोकिलस्य वसन्त एव मत्तत्वान्मधुपदेन वसन्तर्तुर्गृह्यते न मद्यदैत्यादिः। औचिती योग्यता। 'गौरेका तु मनस्विनः' इत्यत्र औचित्यात् गोपदस्य वाणीरूपोऽर्थो न धेनुः। 'विभाति गगने चन्द्रः' अत्राकाशरूपदेशयोगाच्चन्द्रः शशी गृह्यते न कर्पूरम्। 'निशि चित्रभानुः' अत्र निशीथकालयोगाच्चित्रभानुरग्निर्न सूर्यः, रात्रौ सूर्यस्यासम्बन्धात्। 'मित्रो विभाति' अत्र व्यक्तिबलान्मित्रपदेन सूर्यो गृह्यते। व्यक्तिपदेन स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिङ्गादिव्यक्तिरुच्यते। यतोऽत्र मित्रशब्दः पुल्लिङ्गः प्रयुक्तः। मित्रमिति नपुंसकलिङ्गेन सुहृद् बोध्यते। 'भाति रथाङ्गम्' अत्र नपुंसकलिङ्गप्रयोगात् रथावयवभूतं चक्रं बोध्यते न चक्रवाकः पक्षी।

स्वरेणाप्यर्थो निर्णीयते। 'इन्द्रशत्रो वर्धस्व' इत्यत्र आद्युदात्तत्वे बहुव्रीहिसमासो भवति। तेनेन्द्रः शत्रुः शातयिता (घातको) यस्येत्यर्थो भवति। अत्र यजमानस्य इन्द्रस्य शत्रुः शातयितेति तत्पुरुषसमासोऽभीष्ट आसीत्। तथा सति 'समासस्य (पा० सू०) इत्यन्तोदात्तत्वप्रसक्तिः। आद्युदात्तस्वरप्रयोगेण तु विपरीतार्थत्वाद् विपरीतं फलं जातम्। 'गतासुमेतमुपशेष एहि' (ऋ० सं० १०।१८।८) अत्रोपशेषे इत्यत्र 'तिङ्ङतिङः' (पा० सू० ८।१।१८) इत्यनेन निघातेन (सर्वानुदात्तेन) शेषे इति क्रिया विज्ञायते, तेन शेते इत्यर्थो भवति। दयानन्देन तु 'शेषे' इति सुबन्तमङ्गीकृत्य पतिदाहार्थमागतेषु कश्चित् पतित्वेन स्वीकुरु इत्यर्थः कृतः। स च स्वरविरुद्धो जातः। शत्रुवाचको भ्रातृव्यशब्दो व्यन्प्रत्ययेन नित्त्वादाद्युदात्तो भवति। भ्रातुष्पुत्रबोधको भ्रातृव्यशब्दो व्यत्प्रत्ययेन तित्त्वात् स्वरितो भवति। एवं स्वरभेदेनार्थभेदो भवति। 'आद्युदात्तः क्षयशब्दो' (पा० सू० ६।१।२०१) निवासवाचको भवति। नाशवाचकः क्षयशब्दोऽन्तोदात्तो भवति। जठरशब्दोऽपि ठकारोपरिस्वरितस्वरयुक्तोऽग्निवाचको भवति, रेफोपरि स्वरितस्वरयुक्त उदरवाचकः। ठकारोपरि स्वरितोपेतो ज्येष्ठशब्दः प्रशस्तवाचको भवति। ज्ये इत्यत्र इनुदात्तस्वरत्वे महतां वाचको भवति।

के आधार पर मकरध्वज पद काम का वाचक होगा, समुद्र का नहीं। 'स्थलारविन्दश्रियम्' इस वाक्य में स्थलारविन्द शब्द की सन्निधि के कारण लक्ष्मी शब्द शोभा का वाचक होगा, लक्ष्मी का नहीं। देव शब्द की सन्निधि से पुरारि शब्द से शिव का ग्रहण होगा। कोकिल को मत्त करने की सामर्थ्य वसना ऋतु में ही है, अतः मधु शब्द से वसन्त ऋतु का ग्रहण होगा, मद्य, दैत्य आदि का नहीं। औचिती योग्यता को कहते हैं। 'गौरेका तु मनस्विनः' यहां औचित्य के आधार पर गोपद का वाणी अर्थ होगा, धेनु नहीं। 'विभाति गगने चन्द्रः' यहां आकाश रूप देश के योग से चन्द्रपद चन्द्रमा का वाचक होगा, कर्पूर का नहीं। 'निशि चित्रभानुः' यहां रात्रिरूप काल के योग से चित्रभानु पद अग्नि का वाचक होगा, सूर्य का नहीं। 'मित्रो विभाति' यहां व्यक्ति (लिंग) के आधार पर मित्र शब्द सूर्य का वाचक है, क्योंकि पुल्लिग मित्र शब्द सूर्य का और नपुंसक लिंग सुहृत् का बोधक होता है। रथाङ्ग शब्द नपुंसक लिंग के योग से रथ के अवयक चक्र का वाचक होता है, चक्रवाक पक्षी का नहीं।

स्वर से भी अर्थ का निर्णय होता है। 'इन्द्र शत्रु' शब्द में आद्युदात्त स्वर होने पर बहुव्रीहि समास होता है। तब इसका अर्थ होगा कि इन्द्र जिसका मारने वाला है। यजमान को इन्द्र का शत्रु, अर्थात् इन्द्र को मारने वाला, यह अर्थ अभीष्ट है। इसमें तत्पुरुष समास होगा और तब यह शब्द अन्तोदात्त हो जायगा। आद्युदात्त स्वर के प्रयोग से यजमान को विपरीत फल मिला। इस तरह से स्वर के आधार पर भी अर्थ का निर्धारण होता है। 'उपशेषे' पद में निघात (सर्वानुदात्त) स्वर के आधार पर यह निश्चय होता है कि 'शेषे' यह क्रिया है और उसका अर्थ 'सोता है' यह होगा। दयानन्द ने इसको सुबन्त माना है और उसका अर्थ किया है कि पति के दाह के लिये आये हुए पुरुषों में से किसी को अपना पति बना लो। यह अर्थ उक्त स्वर के विपरीत है। शत्रुवाचक भ्रातृव्य शब्द आद्युदात्त होता है और भाई के पुत्र का बोधक यही शब्द स्वरित होता है। इस तरह से स्वर के भेद से भी अर्थ भिन्न होता है। आद्युदात्त क्षय शब्द निवास का और अन्तोदात्त विनाश का बोधक होता है। जठर शब्द के ठकार पर स्वरित स्वर होने पर यह अग्नि का और रकार पर इसी स्वर के रहने पर वह उदर का वाचक होता है। ठकार के ऊपर स्वरित स्वर रहने पर ज्येष्ठ शब्द प्रशस्त का और ज्ये के ऊपर इसी स्वर के रहने पर महान् का वाचक होता है।

सनातनपरम्पराप्राप्तस्येतिहासपुराणादिप्रसिद्धस्यार्थस्यापह्नवाय यौगिकताछद्मनाऽर्थान्तरप्रदर्शनपरमेव स्वामिदयानन्दस्य तदनुयायिनां वेदार्थव्याख्यानम्। 'सर्वाण्याख्यातजानि नामानि' इति यास्कवचनस्येतावानेवार्थो यद् रूढा योगरूढाः सर्व एव शब्दा धातुजा एव भवन्ति। परन्तु दयानन्दस्तु तदाश्रयेण तांस्तान् धातून् आश्रित्य स्वेच्छयाध्याहृतैः पदैश्च परम्पराविरुद्धानेवार्थान् व्यञ्जयति। तथात्वे चाश्नुतेऽध्वानमिति व्युत्पत्त्याश्रयेणाश्वपदेन गो-गर्दभ-मनुष्य-मार्जार-महिष-हरिण-धूमयानादयोऽप्यर्था गृह्येरन्। अश्वोऽपि चाध्वानमनश्नुवानोऽनश्वो भविष्यति। तथात्वे निघण्टुक्तं नियमनं व्यर्थमेव भविष्यति। अतस्तादृशे स्थले यास्कोऽपि योगरूढिमेवाङ्गीकरोति।

अत एव मीमांसादर्शने (६।८।४१) इत्यत्र मीमांसा दृश्यते। 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' (तै० सं० ६।१।११।६) इति श्रुत्या यः कश्चन पशुरालम्भनीय उत छाग इति विमर्शप्रसङ्गे 'छागो वा मन्त्रवर्णात्' (जै० सू० ६।८।३१) इति सूत्रे मन्त्ररीत्या छागालम्भनं सिद्धान्तितम्। तत्रैव वादिना (६।८।३६) सूत्रे छिन्नगमनोऽश्वः छागः, छिदेर्गमेश्च छागशब्दः प्रसिद्ध इति यौगिकत्वावलाच्छागशब्देनाश्वग्रहणमाशङ्कितम्। परन्तु सिद्धान्ते 'छागेन कर्माख्यारूपलिङ्गाभ्याम्' (जै० सू० ६।८।३८) इति सूत्रेण छागशब्दोऽजे रूढोऽभ्युपगतः। तत्र भाष्यम्—'समुदायो ह्यसौ पृथगर्थान्तरे प्रसिद्धः, नासावयवप्रसिद्ध्या बाधितव्यः, तस्मान्नाश्वश्छागः। न चावयवप्रसिद्ध्या समुदायप्रसिद्धिर्बाध्यते'। (मीमांसादर्शन ६।८।४१)। एतेन स्पष्टं वेदे रूढाः शब्दाः सन्ति। रूढ्या योगस्य बाधो भवति न योगेन रूढिबाधः। अन्यथा स्वातन्त्र्येण यौगिकतामाश्रित्य व्याख्यायां यथेच्छव्याख्यानेऽनियता अव्यवस्थिता लक्षलक्षार्था भविष्यन्ति वेदस्येत्यनास्थैव स्यात्। अत एवार्यसमाजस्थविदुषामपि व्याख्यानेष्वैकमत्यं न भवति। वेदाः परमात्मना लोककल्याणार्थं लोकभाषयैव प्रादुर्भाविताः। यदि लोकभाषाऽनिश्चिता स्याच्चेत् तदा वेदार्थोऽप्यनिश्चित एव स्यात्। तथाऽव्यवस्थैव स्यात्। संस्कारविधिग्रन्थे १५५ पृष्ठे वरुणशब्दस्य दयानन्देनोत्कृष्टव्यवहारे विघ्नरूपोऽव्यसनपुरुषोऽर्थ उक्तः। ततः प्राक् १७ पङ्क्त्यां वरुणशब्दस्यैवोदानोऽर्थः कृतः। सत्यार्थप्रकाशे ६ समुल्लासे

सनातन परम्परा से प्राप्त इतिहास, पुराण आदि में प्रसिद्ध अर्थ का अपलाप करने के लिये यौगिक अर्थ के प्रतिपादन के छल से स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायी वैदिक शब्दों का मनमाना अर्थ करते हैं। केवल एक इसी प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये उन्होंने वेदों की व्याख्याएं की हैं। सभी नाम आख्यातज हैं, यास्क के इस कथन का इतना ही अर्थ है कि रूढ और योगरूढ सभी शब्द धातु से बनते हैं। परन्तु दयानन्द इस वचन को बहाना बनाकर मनमानी धातुओं का सहारा लेकर और मनमाने पदों की कल्पना कर उसका परम्पराविरुद्ध अर्थ निकालते हैं। उनकी इस पद्धति का अनुसरण करने पर तो अश्व पद से गो, गर्दभ, मनुष्य, मार्जार, महिष, हरिण, धूमयान (रेल) प्रभृति का भी बोध होना चाहिये। अश्व भी जब मार्ग पर नहीं चल रहा है, तब अश्व नहीं कहा जायगा। तब निघण्टु में बनाये गये नियम व्यर्थ हो जायंगे। ऐसे स्थलों में यास्क ने भी योगरूढि स्वीकार की हैं।

इसी आधार पर मीमांसा शास्त्र में चर्चा चलाई गई है कि 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इस श्रुति में जिस किसी पशु का आलतन विहित है या केवल छाग का और मन्त्रवर्ण के आधार पर यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि छाग का आलभन विहित है। पूर्वपक्षी यहाँ यौगिक उत्पत्ति के आधार पर पर छाग पद का अर्थ अश्व करता है। किन्तु सिद्धान्तवादी का कहना है कि छाग शब्द अज में रूढ है। शावरभाष्य में भी इस विषय पर विचार किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि वेद में रूढ शब्द भी होते हैं। रूढि से योग का बाध होता है, योग से रूढि का नहीं हो सकता। इसीलिये 'योगाद् रूढिर्बलीयसी' इस न्याय की प्रवृत्ति मानी जाती है। अन्यथा मनमानी पद्धति से यौगिकता का सहारा लेकर मनमाना अर्थ करने पर अनियत और अव्यवस्थित अर्थों के कारण वेद के प्रति अनास्था उत्पन्न हो जायगी। इसी कारण से आर्यसमाजी व्याख्याओं में कहीं एकता देखने को नहीं मिलती। लोक के कल्याण के लिये परमात्मा ने लोकभाषा में ही वेदों की प्रवृत्ति की है। यदि लोकभाषा अनिश्चित हो तो वेदार्थ भी अनिश्चित हो जायगा और तब अव्यवस्था ही हाथ लगेगी। संस्कारविधि में स्वामी दयानन्द ने वरुण शब्द का अर्थ 'उत्कृष्ट व्यवहार में विघ्न को दूर करने वाला पुरुष' किया है। इसी ग्रन्थ में पहले इस शब्द का अर्थ उदान किया गया हैं। सत्यार्थ प्रकाश में इसी शब्द का बन्धनकर्ता अर्थ किया है और यजुर्वेद भाष्य में वरुण का अर्थ श्रेष्ठ किया है। पुनः संस्कार विधि में इसका अर्थ 'उदान के तुल्य सर्वशक्तिमान्' लिया है।

८७ पृष्ठे वरुणशब्दस्य बन्धनकृत् इत्यर्थ उक्तः। यजुर्वेदीयभाष्ये २२।६मन्त्रे 'वरुणाय' इत्यत्र श्रेष्ठ इत्यर्थः कृतः। संस्कारविधिग्रन्थे २०३ पृष्ठे 'वरुणस्य' इत्यत्र उदानेन तुल्यः सर्वशक्तिमान् इत्यर्थः कृतः। एतन्निदर्शनमव्यवस्थायाः। आकाशमण्डलस्थजलव्यवस्थापकस्य देवस्य वाचको वरुणशब्दो देवतावादे प्रसिद्धः। तदपह्नोतुमयं दयानन्दस्य प्रपञ्चः।

यजुर्वेदे (३।५८-५९-६०) इति मन्त्रेषु रुद्रपदस्येश्वरोऽर्थ उक्तः। (३।६१) इत्यत्र रुद्रपदस्य शूरवीरोऽर्थः कृतः। (१६।१) इत्यत्र रुद्रपदस्य राजार्थः कृतः। सत्यार्थप्रकाशे १ समुल्लासे परमेश्वरवाचको रुद्रशब्दोऽङ्गीकृतः। यजुर्वेदे (३३।२४) इत्यत्र इन्द्रशब्दस्य ईश्वरोऽर्थः। (३३।२५) इत्यत्र इन्द्रशब्दस्यान्नेन तृप्तो विद्वानित्यर्थः। (३३।२६-२७) इत्यत्र तस्यैवेन्द्रपदस्य नानारूपः सभापतिरर्थः कृतः। ऋग्वेदे इन्द्रशब्दस्य सूर्योऽर्थः। इत्येवं पुराणप्रसिद्धदेवतार्थग्रहणवारणायैव दयानन्दस्यायं निरर्थको व्यापारः। आर्याभिविनये शकुनिशब्दस्य ईश्वरोऽर्थः, ऋग्वेदभाष्ये शक्तियुक्तः पुरुषोऽर्थः।

यत्र पुराणप्रसिद्धदेवताप्रसङ्गो नास्ति तत्र दयानन्दस्तदीयाश्च रूढ-योगरूढशब्दान् यथाप्रसिद्धि एवाङ्गीकुर्वन्ति। यथा-(गोक्षीर) (अथर्व० २।२६।४), 'सूर्यः' (अथर्व० १।१०।३४), 'पृथिवी' (अ० वे० सं० १२।१), 'पिप्पली' (अ० वे० सं० ६।१०९।१), 'पृश्निपर्णी' (अथर्व० २।२५।१), 'स्त्री' (अ० वे० सं० ५।६१।६), 'क्रिमि' (अ० वे० सं० ५।२३।३), 'चक्रवाकः' (अ० वे० सं० १४।२।६४), 'गृध्रः श्येनः' (अ० वे० सं० ११।१०।१२-२४), 'शरभः' (वा० सं० १३।५१), व्याघ्रः, श्वानः, सिंहः (अ० वे० सं० ४।३६।६), उष्ट्रः (वा० सं० १३।१५), 'गवयः' (वा० सं० १३।४९), 'आर्यः दस्युः' (अ० वे० सं० १५।१।८), 'गौः, अजा, अश्वः, अविः, (वा० सं० ३।४३, ३।१।८), 'वाङ्, मनः, चक्षुः, श्रोत्रम्' (वा० सं० १८।२), 'अस्थि' (वा० सं० १८।३), 'व्रीहिः, यवाः, माषाः, तिलाः, मुद्गाः, श्यामाकाः, नीवाराः, गोधूमाः, मसूराः, (वा० सं० १८।१२), 'अश्मा, मृत्तिका, गिरयः, पर्वताः, सिकताः, वनस्पतयः, हिरण्यम्, लोहम्, सीसम्, त्रपु' (वा० सं० १८।१३) इत्यादिषु रूढा योगरूढाश्च शब्दाः स्वीकृताः। यत्र पौराणिकस्यार्थस्य सिद्धिप्रसङ्गः स्यात्तत्रैते (दयानन्दस्तदनुयायिनश्च) यौगिकताश्रयेणाकाण्डताण्डवं कुर्वन्ति। बहुत्र मन्त्रेष्वविद्यमानानपि शब्दान् बलात् प्रवेशयन्ति। दयानन्दवत्तदनुयायिनोऽपि यमयमीसूक्तस्य भ्रातृभगिनीसंवादरूपस्य पतिपत्नीसंवादरूपत्वं कल्पितवन्तः। निरङ्कुशैः समाजिभिः 'गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि'

यह एक उदाहरण ही उनकी व्याख्या को अव्यवस्थित सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। देवतावाद में वरुण आकाश मण्डल स्थित जल का व्यवस्थापक अधिपति देवता माना जाता है। इस बात को नकारने के लिये ही स्वामी दयानन्द का यह सारा प्रयास है। ऐसा करते समय उन्होंने अपनी ही पूर्वापर उक्तियों पर भी विचार करने का कष्ट नहीं किया है।

इसी तरह से स्वामी दयानन्द ने यजुर्वेदभाष्य में रुद्र पद का कहीं ईश्वर, कहीं शूरवीर और कहीं राजा अर्थ दिया है। सत्यार्थप्रकाश में रुद्र पद का परमेश्वर अर्थ किया है। इन्द्रपद का यजुर्वेदभाष्य में ईश्वर, अन्न से तृप्त विद्वान् और नाना स्वरूप वाला सभापति अर्थ किया गया है। ऋग्वेद में इन्द्र पद का सूर्य अर्थ किया है। इस तरह से स्थान-स्थान पर पुराणों में प्रसिद्ध देवतावाद के निराकरण के लिये स्वामी दयानन्द निरर्थक व्यापार करते रहते हैं। आर्याभिविनय में शकुनि शब्द का ईश्वर और ऋग्वेदभाष्य में शक्तियुक्त पुरुष अर्थ किया है।

जहाँ पुराण प्रसिद्ध देवतावाद का कोई प्रसंग नहीं है, वहाँ स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायी रूढ और योगरूढ शब्दों का अर्थ प्रसिद्धि के अनुसार ही करते हैं। जैसे कि गोक्षीर, सूर्य, पृथिवी, पिप्पली, पृश्निपर्णी, स्त्री, क्रिमि, चक्रवाक, गृध्र, श्येन, शरभ, व्याघ्र, श्वान, सिंह, उष्ट्र, गवय, आर्य, दस्यु, गौ, अजा, अश्व, अवि, वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र, अस्थि, व्रीहि, यव, माष, तिल, मुद्ग, श्यामल, नीवार, गोधूम, मसूर, अश्मा, मृत्तिका, गिरि, पर्वत, सिकता, वनस्पति, हिरण्य, लोह, सीस, त्रपु प्रभृति शब्दों के रूढ और योगरूढ अर्थ ही स्वीकार किये गये हैं। आर्यसमाजी जहाँ देखते हैं कि इस वैदिक वाक्य से तो पौराणिक कथन की पुष्टि होती है, वहीं यौगिक अर्थ का सहारा लेने के लिये उछल-कूद मचाने लगते हैं। अनेक स्थलों पर मन्त्रों में अविद्यमान पदों को भी घुसेड़ देते हैं। इन लोगों ने यमयमी सूक्त को, जो कि भाई और बहिन का संवाद है, पति और पत्नी का संवाद बना दिया है। इन निरंकुश समाजियों ने गन्धर्व, पितर, देव, असुर, राक्षस, इन पञ्चजनों के प्रतिपादक निरुक्त वाक्य को ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ,

(नि० ३।८) इति पञ्चजनानां ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यासाश्रमाः, अनाश्रमश्चार्थः क्रियते। यत्र कथञ्चिदपि स्वानुकूलोऽर्थः कर्तुं न शक्यते तत्र प्रक्षेपोऽङ्गीक्रियते। यत्र तदपि कर्तुं न पारयन्ति तत्रालङ्कारिकमर्थं कल्पयन्ति। अद्यत्वे केचिद् दयानन्दीया वालखिल्यकुन्तापसूक्तसामवेदीयारण्यकपर्वादिवेदांशानामपि प्रक्षिप्तत्वं वदन्ति।

'इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा। बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ॥' (अथर्व० १४।१।५४) इति मन्त्रस्य संस्कारविधिग्रन्थे १५४ पृष्ठे दयानन्दो व्याख्यानं करोति—'हे मत्संबन्धिनो जना यथा विद्युत् प्रसिद्धोऽग्निश्च सूर्यो भूमिश्च अन्तरिक्षस्थो वायुः प्राणोदानौ भग ऐश्वर्यम् अश्विनौ सद्वैद्यौ सत्योपदेशकश्च बृहस्पतिः न्यायकृत् बृहत्याः प्रजायाः पालको राजा मरुतः सभ्या मनुष्या ब्रह्म सर्वेभ्यो महान् परमेश्वरः चन्द्रः सोमलता ओषधिगण इत्येते सर्वे सर्वप्रजाया वृद्धि पालनं च कुर्वन्ति, इमां मदीयां स्त्रियं च प्रजया वर्धयन्ति तथैव यूयमपि वर्धयत' इति। अत्र विचारणीयं यन्मन्त्रे 'यथा, तथा' इत्यादिशब्दा न सन्ति। किमेषा परमेश्वरस्य त्रुटिरासीत्? 'इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम्' (ऋ० सं० १।१६४।४०) इत्यत्र तेनैवेन्द्रमित्रवरुणशब्दानां परमेश्वर एवार्थ इत्युक्तम्। एवं परस्परविरुद्धार्थाभिधायित्वं तदीये वेदव्याख्याने पदे पदे दृश्यते। तद्रीत्या देवविशेषाणां प्रार्थना न सम्भवति परमेश्वरस्यैव प्रार्थनायोग्यत्वात्। परमत्र तेनैवेन्द्रपदस्य विद्युदर्थः कृतः, एवं निरङ्कुशत्वमेव तस्य। एवमेव 'इन्द्रः शिरः' (अ० वे० सं० ९।७।१-१) इत्यत्र मेध्यगो-प्रशंसायाः 'इन्द्रो गोः शिरसि विद्युत् जिह्वायां स्थितौ' इत्युक्तम्। एवं तद्रीत्यैव इन्द्रो विद्युतो भिन्नः सिद्ध्यति। ऋग्वेदे इन्द्रस्यानेकानि सूक्तानि, तद्रीत्या किं तानि विद्युत्स्तुतिरूपाण्येव? तथात्वे रूपान्तरेण मूर्तिपूजैवायाता। 'इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' अत्र वर्धनक्रियायाः कर्तृत्वेनेन्द्रादय उक्ताः। प्रार्थनायां च लोट्लकारोऽस्ति। तथा जडपदार्थानां प्रार्थना। तथा च कथं न दयानन्दो जडपूजको भवेत्? यदि जडप्रार्थनास्तुत्यादयो वेदानां कश्चित् शैलीति मन्येत तर्हि कथं न मूर्तिपूजाया वैदिकत्वं स्यात्।

संन्यासाश्रम और अनाश्रम के साथ जोड़ दिया है। जहाँ ये मनमाना अर्थ नहीं निकाल पाते तो उस प्रकरण को प्रक्षिप्त बता देते हैं। जिसको ये प्रक्षिप्त भी सिद्ध नहीं कर पाते, उसको ये आलंकारिक अर्थ कह देते हैं। आजकल के कुछ समाजी बालखिल्यसूक्त, कुन्तापसूक्त, सामवेदीय आरण्यक पर्व प्रभृति को भी प्रक्षिप्त कहने लगे हैं।

'इन्द्राग्नी' प्रभृति मन्त्र का संस्कारविधि में स्वामी दयानन्द ने यह अर्थ किया है—'हे मेरे सम्बन्धी मनुष्यों, जैसे विद्युत्, प्रसिद्ध अग्नि, सूर्य, भूमि, अन्तरिक्षस्थ वायु, प्राण, उदान, भग (ऐश्वर्य), सद्वैद्य अश्विनीकुमार, सत्योपदेशक बृहस्पति, न्याय करने वाला और सारी प्रजा का पालन करने वाला राजा, सभ्य मनुष्य, सबसे महान् परमात्मा, चन्द्र, सोमबल, ओषधिगण—ये सब सारी प्रजा का पालन करते हैं और उसकी उन्नति में सहायक होते हैं, साथ ही मेरी इस पत्नी को भी पुत्र आदि देकर इसका सम्मान बढ़ाते हैं, उसी तरह से आप लोग भी कीजिये'। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि मन्त्र में यथा और तथा शब्द नहीं हैं। क्या इसको परमेश्वर की त्रुटि माना जायगा? इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि शब्दों का उन्होंने केवल ईश्वर अर्थ किया है। इस तरह से परस्पर विरुद्ध अर्थों का प्रतिपादन उनके व्याख्यान में सर्वत्र देखने को मिलता है। उनके मत से केवल परमेश्वर ही प्रार्थना करने योग्य है, अन्य किसी की प्रार्थना नहीं की जा सकती। किन्तु उन्होंने ही संस्कारविधि के उक्त मन्त्र में इन्द्र पद का विद्युत् अर्थ कर उससे प्रार्थना भी की है। इस तरह से सर्वत्र इनकी निरंकुशता देखी जा सकती है। इसी तरह से मेध्य (पवित्र) गाय की प्रशंसा करते हुए स्वामी दयानन्द कहते हैं कि इसके शिर पर इन्द्र और जिह्वा में विद्युत् विराजमान हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकरण में उन्होंने इन्द्र को विद्युत् से भिन्न माना है। ऋग्वेद में इन्द्रपरक अनेक सूक्त हैं। क्या वे सब विद्युत् की स्तुति में विनियुक्त हैं? तब तो यह प्रकारान्तर से मूर्तिपूजा ही हो गई। 'इमां नारीं०' मन्त्र में वर्धन क्रिया के कर्ता इन्द्र प्रभृति माने गये हैं। यहाँ लोट् लकार प्रार्थना के लिये प्रयुक्त है। इस तरह से यह सब जड़ पदार्थों के प्रति ही तो प्रार्थना हुई। तब दयानन्द को जड़ पदार्थों का पूजक क्यों न माना जायगा। यदि जड़ पदार्थों की स्तुति आदि करना वेदों की एक विशेष शैली माना जायगा, तो मूर्तिपूजा वैदिक नहीं है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है।

'यत्र तत्र इन्द्रशब्देन परमेश्वरो गृह्यते' (स० प्र० १ समुल्लासपृष्ठ ३) अत्र तु विद्युद् गृह्यते। हे मत्संबन्धिनः मरुवः सभ्यमनुष्या इमां मदीयां स्त्रियं प्रजया वर्धयन्तु। हे सम्बन्धी लोगों जैसे सभ्य मनुष्य इस मेरी स्त्री को प्रजा से बढ़ाया करते हैं, वैसे तुम भो बढ़ाया करो।' विचित्रोऽयमर्थः। देवपूजापनोदने प्रवृत्तेन तेनैतदनौचित्यं नालोचितम्। सा स्त्री वरस्य पत्नी सर्वेषां सम्बन्धिनां वा? अन्यथा कथं सम्बन्धिनः सभ्या मनुष्याश्च कस्यचित् स्त्रियं प्रजया वर्धयेरन्। किं वरोऽसमर्थो येन सन्तानोत्पादनायान्ये प्रार्थ्यन्ते, किं पतिमेकादशं कृधीत्यस्य मन्त्रस्य स्वाभिमतार्थचारितार्थ्याय एष प्रयत्नः? वस्तुतस्तु मरुतो देवविशेषाः। 'अश्विनौ' इति शब्दस्य सद्वैद्यः सदुपदेशकश्च कथमर्थः? निरुक्तस्य प्रामाण्यमभ्युपगच्छता कथं तद्विपरीतोऽर्थोऽभ्युपगम्यते? 'अथातो द्युस्थाना देवताः, तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ। (निरु० १२।१) इति द्युलोकदेवतात्वेन निरुक्ते स्पष्टमेव। देवयोनिर्मनुष्येभ्यो भिन्नत्वेन सिद्धैव।

मरुतः पदस्यापि देवताविशेष एवार्थः। 'अथातो मध्यस्थाना देवताः। तासां मरुतः प्रथमागामिनो भवन्ति' (निरु० ११।३) 'सप्त सप्त मारुतो गणः' (शतपथे २।५।१।१३) किं मनुष्या एकोनपञ्चाशत्संख्याका एव भवन्ति? 'मरुतो देवताः' (वा० सं० १४।२०) किमेतानि प्रमाणवचनानि नावलोकितानि? किञ्च, 'इस मेरी स्त्री को प्रजा से बढ़ाया करते हैं, वैसे तुम भी बढ़ाया करो? इत्यर्थे 'जेसे' 'वैसे' इति पदद्वयं लिखितम्। कुत एतल्लब्धम्? मन्त्रे तु किमपि तादृशं तद्बोधकं वा पदं नास्त्येव। 'बृहस्पतिशब्दस्य राजा कथमर्थः? 'बृहस्पतिर्देवता' (वा० सं०.१४।२०), 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' (पा० सू० ६।१।१५७-१) इति वेद-वेदाङ्गवचनानि कथमुपेक्षितानि? तथैवाग्निपदस्य क्वचित्परमेश्वरः क्वचिद् भौतिकोऽग्निः क्वचिद् विद्वान् क्वचिद्राजा क्वचिदमात्यः क्वचित्सेनापतिरर्थः कृतः। किमत्र मूलम्? वस्तुतस्तु एकस्यासत्यस्य समर्थनायानेकेषामसत्यानायाश्रयणं कर्त्तव्यतयाऽऽपतत्येव। तथैवेन्द्रपदस्य क्वचिदीश्वरः क्वचिद्राजा क्वचित्सूर्यः क्वचिद्विद्युत् क्वचिदैश्वर्ययुक्तो नियोगी पुरुषः क्वचिदात्मा क्वचिद्वायुः क्वचिदन्योऽर्थः (संस्कारविधि पृष्ठ १८)। अश्विशब्दस्यापि

सत्यार्थप्रकाश में यत्र तत्र इन्द्र पद का अर्थ परमेश्वर किया है और संस्कारविधि में उक्त मन्त्र की व्याख्या में इसका अर्थ विद्युत किया है। 'हे सम्वन्धी लोगों, जैसे सभ्य मनुष्य इस मेरी स्त्री को प्रजा से बढ़ाया करते हैं, वैसे तुम भी बढ़ाया करो 'यह अर्थ भी बड़ा विचित्र है। देवपूजा के खण्डन करने में प्रवृत्त स्वामी दयानन्द को इस महान् अनौचित्य की प्रतीति नहीं हुई। वह स्त्री वर की पत्नी है या सभी संबन्धियों की? अन्यथा सम्बन्धी और सभ्यजन किसी की स्त्री में प्रजा की वृद्धि कैसे करेंगे। क्या वर प्रजा की वृद्धि करने में असमर्थ है कि वह इनसे प्रार्थना करता है। क्या 'पतिमेकादशं कृधि' इस मन्त्र के स्वाभिमत अर्थ को चरितार्थ करने के लिए यह सारा प्रयत्न किया गया है। वस्तुतः मरुद्गण एक विशेष प्रकार के देवताओं का समूह हैं। 'अश्विनौ' पद का भी सद्वैद्य या सदुपदेशक अर्थ नहीं हो सकता। जब आप निरुक्त को प्रमाण मानते हैं तो उसके विपरीत अर्थ आप यहाँ किस लिये करते हैं? अश्विनीकुमार द्युलोक के देवता हैं, यह निरुक्त में स्पष्ट है। देवयोनि मनुष्ययोनि से भिन्न है, इसका हम अनेक स्थलों पर सप्रमाण प्रतिपादन कर चुके हैं।

'मरुतः' पद का भी अर्थ देवता विशेष ही होता है। निरुक्त में मध्यस्थानीय (अन्तरिक्ष स्थित) देवताओं में मरुत को प्रधान देवता माना है। शतपथ ब्राह्मण में इनके सात सात गणों का वर्णन है। क्या मनुष्यों की संख्या ४९ ही है? 'मरुतो देवताः' जैसे श्रुतिवचन क्या आपकी दृष्टि से ओझल रहे हैं। आपने 'इस मेरी स्त्री के जैसे प्रजा से बढ़ाया करते हैं, वैसे तुम भी बढ़ाया करो' इस अर्थ में जैसे और तैसे इन दो पदों को लिखा है। ये कहाँ से आये? मन्त्र में तो इसके बोधक पद विद्यमान नहीं हैं। बृहस्पति शब्द का अर्थ आप राजा किस प्रमाण के आधार पर करते हैं? वाजसनेय श्रुति और पाणिनि सूत्र के आधार पर यह एक देवता हैं। इन वेद और वेदांग के वचनों की आप उपेक्षा किस प्रकार कर सकते हैं? आप अग्नि पद का अर्थ कहीं परमेश्वर, कहीं भौतिक अग्नि, कहीं विद्वान्, कहीं राजा, कहीं अमात्य और कहीं सेनापति करते हैं। इसमें क्या प्रमाण है? वस्तुतः एक असत्य बात का समर्थन करने के लिये अनेक असत्यों का सहारा लेना ही पड़ता है। इसी तरह से इन्द्र पद का कहीं ईश्वर, कहीं राजा, कहीं सूर्य, कहीं विद्युत्, कहीं ऐश्वर्ययुक्त नियोगी पुरुष, कहीं आत्मा, कहीं वायु और कहीं कुछ दूसरा ही अर्थ किया गया है। अश्वि शब्द का कहीं स्त्री और पुरुष,

क्वचित् स्त्रीपुरुषौ (सत्यार्थप्रकाशे, पृष्ठ ७१), क्वचिद् वैद्योपदेशकौ (संस्कारविधि १५५), क्वचित्सूर्यचन्द्रौ, पितृशब्दस्य क्वचित् प्रजारक्षकः (वा० सं० १९।४५), पित्रादयो महान्तः (वा० सं० १९।४९), क्वचिच्चान्नविद्यादीनां रक्षकः, जनकः, अध्यापकः (वा० सं० १९।५९), अन्यत्र विद्वान् । यमशब्दस्य क्वचिद्यथावन्न्यायकृद्राजा (वा० सं० १९।४५), क्वचिन्न्याययोगयुक्तः पुत्रादिः (वा० सं० १९।५९), क्वचिन्मण्डलशासकः (मजिस्ट्रेट), क्वचिद्वायुः, क्वचित्परमात्मा चार्थः कृतः । एवं प्रकारेण वेदे सर्वत्र प्रतिपादितस्य सनातनधर्मस्यापह्नवाय स्वकपोलकल्पिता अर्थाः प्रदर्शिताः । यौगिकताव्याजेन प्राचीनप्रामाणिकभाष्यविरुद्धा अर्थाः कल्पिताः ।

एवमेव निरुक्तव्याख्यानेऽपि तथैवासङ्गतयः । अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः' (निरु० ७।५) । पृथिवीस्थानोऽग्निर्लौकिकोऽग्निः, इन्द्रः अन्तरिक्षस्थानः विद्युतामधिष्ठातृदेवोऽपि । सूर्यो द्युलोकस्थो देवः, विस्तरेण तद्व्याख्यानमपि तत्रैव दृश्यते । 'अग्निः पृथिवीस्थानः, तं प्रथमं व्याख्यास्यामः' (निरु० ७।१४), तस्य अग्निः जातवेदाः वैश्वानर इति त्रीणि पदानि' (नि० ७।२१) इत्यग्नेरेव नामत्रयमुक्तम् । अत्रैव स न मन्येत अयमेवाग्निरिति, अपि एते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते' (नि० ७।१७) इत्यादिना यदि कथञ्चिदग्निशब्देन विद्युतमेव सूर्यमेव तमेव वा गृह्णीयान्न पार्थिवाग्निमिति । यतस्ततो नु मध्यमः (अग्निः) 'अभिप्रवन्त समनेव योषा अग्निः' (ऋ० ४।५८।८) इति मन्त्रेऽग्निपदेन मध्यमो विद्युद्रूपेण दृष्टः' (नि० ७।१७) समुद्रादूर्मिर्मधुमान् उदारत्' (ऋ० ४।५८।१) इत्यग्निलिङ्गके मन्त्रे सूर्योऽपि दृष्टः । तथैव विद्युद्वाचकस्य जातवेदसः 'अभिप्रवन्त……हर्यति जातवेदाः' (ऋ० ४।५८।८) इति मन्त्र उद्धृतः । सूर्यवाचकस्य 'उदुत्यं जातवेदसम्' (ऋ० १।५०।१) इत्ययं मन्त्र उदाहृतः । तस्मादग्नेर्न केवलं पार्थिवोऽग्निरर्थः, इत्याशङ्क्य यास्केन समाहितम्—'यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूप्यते, अयमेव सोऽग्निः । निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ।' (नि० ७।१८) वेदसूक्तेषु यस्याग्निशब्देन वर्णनं भवति, यस्मै च यज्ञेषु हविर्दीयते सोऽयं पार्थिवोऽग्निः । यदि क्वचिदग्निपदेन

कहीं वैद्य और उपदेशक, कहीं चन्द्र ओर सूर्य अर्थ किया गया है । पितृ शब्द का कहीं प्रजा का रक्षक, कहीं महान् पुरुष, कहीं अन्न और विद्या का रक्षक, जनक, अध्यापक और कहीं विद्वान् अर्थ किया गया है । यम शब्द का कहीं यथोचित न्याय करने वाला राजा, कहीं न्याय और योग से युक्त पुत्र आदि, कहीं मण्डल का शासक (मजिट्रेट), कहीं वायु और कहीं परमात्मा अर्थ किया गया है । इस तरह से वेद में सर्वत्र अपनी कपोल कल्पना के आधार पर अराजकता सी मचा दी गई है, एक मात्र इस क्षुद्र प्रयोजन के लिये कि वेद के किसी भी वाक्य से सनातन धर्म की गन्ध न आने पावे । यौगिकता के बहाने इन लोगों ने सभी प्राचीन प्रामाणिक भाष्यों के विपरीत अनोखे अर्थ निकाले हैं ।

इनके निरुक्त के व्याख्यान में भी इसी तरह की असंगतियां हैं । निरुक्त में बताया गया है कि अग्नि पृथिवी स्थान, वायु अथवा इन्द्र अन्तरिक्ष स्थान और सूर्य द्युस्थान का देवता है । अग्नि का तात्पर्य लौकिक अग्नि से है । इन्द्र विद्युत् का भी अधिष्ठाता है । निरुक्त में ही इसकी विस्तृत व्याख्या भी मिलती है कि पहले हम अग्नि की व्याख्या करते हैं । तब अग्नि, जातवेदा और वैश्वानर ये उसके तीन नाम बताये हैं । तब कहा है कि यह नहीं मान लेना चाहिये कि यह लौकिक अग्नि ही अग्नि है, किन्तु अन्य दो ज्योतियां भी अग्नि ही कहीं जाती हैं । अतः विद्युत् और सूर्य को भी अग्नि ही कह सकते हैं । 'समनेव योषा अग्निः' इस ऋङ्मन्त्र में मध्यम पद विद्युत् को अग्नि कहा गया है । अग्निलिंग वाले मन्त्र में सूर्य का भी उल्लेख मिलता है । इसी तरह विद्युत् वाचक अग्नि का उल्लेख 'अभिप्रवन्त०' प्रभृति ऋङ्मन्त्र में भी किया गया है । 'उदुत्यं जातवेदसम्' प्रभृति ऋङ्मन्त्र में भी सूर्यवाचक अग्नि उल्लिखित है । अतः अग्नि पद का अर्थ केवल पार्थिव अग्नि तक ही सीमित नहीं है । इस तरह से शंका उठाने के बाद स्वयं यास्क ने उसका समाधान भी किया है कि वैदिक सूक्तों में जिसका अग्नि शब्द से वर्णन है और यज्ञों में जिसको हवि अर्पित की जाती है, वह पार्थिव अग्नि ही है । यदि कहीं अग्नि पद से विद्युत् और सूर्य का भी ग्रहण किया जाता है, तो वहां अग्नि पद का प्रयोग गौण ही माना जायगा । इस निरुक्त वाक्य के स्पष्ट निर्देश के होते हुए भी इसकी उपेक्षा कर स्वामी दयानन्द कहीं ईश्वर, कहीं राजा और कहीं अग्नि इस तरह से स्वतन्त्र मनमाना अर्थ करते हैं । यास्क ने यहा पर 'अग्निमीले' प्रभृति मन्त्र को

विद्युत्सूर्यश्चाभिधीयते, तत्र गौणरूपेणाग्निशब्दः प्रयुज्यते। दयानन्दस्तु क्वचिदीश्वरः क्वचिद्राजा क्वचिदग्निरिति स्वातन्त्र्यमेत्र भजते। यास्केनात्र 'अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋ० सं० १।१।१) इति मन्त्र उद्धृतः। दयानन्देन तु मूर्तिपूजासिद्धिभीत्याऽत्रापि परमेश्वर एवाग्निशब्देन गृहीतः। किन्तु 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः' (ऋ० सं० १।१।२) इति मन्त्रे यास्कानुसारेण पार्थिवोऽग्निर्गृहीतः। दयानन्देन तु तद्विरुद्धमेव परमेश्वरोऽर्थो गृहीतः। 'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अथवा अङ्गं नयतीत्यग्निः पृथिवीस्थानः। तं प्रथमं व्याख्यास्यामः। स न मन्येतायमेवाग्निरिति। अपि एते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते' इति निरुक्तवाक्यस्य दयानन्दकर्तृकं बलात्कारेणान्यार्थकरणमपि स्पष्टं दृश्यते। अत्र प्रकरणमतिक्रम्य पूर्वपक्षमुत्तरपक्षतया योजयित्वाऽकाण्डताण्डवमेव कृतमेतेन। 'अग्निर्वा सर्वा देवताः' (नि० ७।१७) इति ब्राह्मणवाक्यमेतदर्थं निरुक्त उद्धृत्याग्निशब्दो न केवलपार्थिवाग्निवाचकः, किन्तु इन्द्र (विद्युत्)-सुपर्णगरुत्मदादीनामपि गौण्या वृत्त्याऽग्निपदेन बोधो भवत्येव। ब्राह्मणोक्तस्यार्थस्य पुष्ट्यै 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति मन्त्रोऽपि यास्केनोपस्थापितः। तेनेन्द्रसूर्यादिदेवतानामग्निशब्देन स्तुतिर्भवति।

'निपातमेव एते उत्तरे ज्योतिषी' (नि० ७।१८) अत्र दयानन्दः—'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः·····अग्निं यमं मातरिश्वानंमाहुः' इति मन्त्रेऽग्निपदस्य द्विरावृत्त्या एकेनाग्निपदेन भौतिकोऽग्निरपरेण परमेश्वरो गृह्यते' इत्याह, परन्तु यास्कीये प्रकरणे परमेश्वरस्य किञ्चिदपि वर्णनं नास्ति। तत्र तु अग्निविद्युत्सूर्यलक्षणानां ज्योतिषां त्रयस्यैव वर्णनं प्राकरणिकम्। उक्तमन्त्रस्य (वैदिकयन्त्रालय अजमेर संस्करण) ऋक्संहितायां सूर्यो देवता निर्दिष्टा न परमेश्वरः। तस्माद्यास्कनाम्नाऽन्यार्थकरणं निरुक्तकण्डिकया बलात्कार एव। दयानन्दरीत्या 'उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते' (नि०७।१८) अस्य वचनस्यायमर्थो यद् अग्निनाम्ना भौतिकः परमेश्वरश्चेति ज्योतिर्द्वयं गृह्यते। भ्रान्तिनिवारणे ग्रन्थेऽत्र स्पष्टं प्रकरणं गोपयित्वा धूलिप्रक्षेपः कृतः। अत्र विद्युत्सूर्यश्चेति ज्योतिर्द्वयमेव प्राकरणिकम्। परमेश्वरस्य मनागप्यत्र चर्चा नास्ति।

उद्धृत किया है, किन्तु दयानन्द ने कहीं इस मन्त्र से मूर्तिपूजा न सिद्ध होने लगे, इस भय के मारे यहां भी अग्नि पद का अर्थ परमेश्वर किया है। इसी तरह से निरुक्त के अनुसार 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋपिभिः' मन्त्र में भी पार्थिव अग्नि ही गृहीत होता है, किन्तु दयानन्द ने यहां भी उसका अर्थ परमेश्वर ही किया है। 'अग्नं यज्ञेपु प्रणीयते·······नामधेयेन भजेत' इस निरुक्त वाक्य का अर्थ दयानन्द ने जवर्दस्ती कुछ दूसरा ही किया है। उन्होंने विना प्रकरण को ध्यान में रखे पूर्वपक्ष की ही व्याख्या सिद्धान्त पक्ष के रूप में कर दी है। यह उनकी असमय की उछल-कूद है। 'अग्निर्वा सर्वा देवताः' इस निरुक्त उद्धृत ब्राह्मण वाक्य को इस प्रकरण के साथ जोड़कर वे कहते हैं कि अग्नि शब्द न केवल पार्थिव अग्नि का वाचक है, किन्तु इन्द्र (विद्युत्), सुपर्ण, गरुत्मान् प्रभृतिका भी गौणी वृत्ति के सहारे अग्नि पद से बोध होता है। इस ब्राह्मण वाक्य द्वारा प्रदर्शित अर्थ की पुष्टि के लिये वे 'इन्द्रं मित्रं वरुण०' प्रभृति मन्त्र को भी उद्धृत करते हैं और कहते हैं कि इस मन्त्र को निरुक्तकार भी उद्धृत करते हैं। इससे सिद्ध है कि अग्नि शब्द से इन्द्र, सूर्य, वरुण, सुपर्ण, गरुत्मान् प्रभृति सभी देवताओं की स्तुति की जाती है।

'निपातमेव' इस वाक्य खण्ड की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द कहते हैं कि 'इन्द्रं मित्रं' प्रभृति मन्त्र में अग्नि पद दो बार आया है। इनमें से एक अग्नि पद भौतिक अग्नि का तथा दूसरा परमेश्वर का बोधक है। परन्तु यास्क के निरुक्त के इस प्रकरण में परमेश्वर की कोई चर्चा नहीं है। वहां तो अग्नि, विद्युत और सूर्य इन तीन ज्योतियों का ही वर्णन किया गया है। उक्त मन्त्र का वैदिक यन्त्रालय, अजमेर के ऋग्वेद के संस्करण में भी सूर्य ही देवता बताया गया है, परमेश्वर नहीं। अतः यास्क के नाम पर उनके ग्रन्थ का मनमाना अर्थ करना निरुक्त की कण्डिका के साथ ज्यादती ही है। दयानन्द की पद्धति से 'उत्तरे ज्योतिषी' प्रभृति वाक्य का यह अर्थ है कि अग्नि के नाम से भौतिक अग्नि और परमेश्वर दोनों ज्योतियों का ग्रहण होता है। भ्रान्ति निवारण नामक ग्रन्थ में यहां के स्पष्ट प्रकरण को छिपा कर धूल झोंकने का प्रयास किया है। वस्तुतः यहां पर विद्युत और सूर्य इन दो

भौतिकोऽग्निस्तु प्रथमं ज्योतिर्नोत्तरम् । एवम्—'अग्निर्वा सर्वा देवता इति निर्वचनाय' (नि० ७।१८) इति निरुक्तवचनस्यार्थं दयानन्दो लिखति—इस वचन का अर्थ निरुक्तकार करते हैं, जिनको बुद्धिमान् लोग अनेक नामों से वर्णन करते हैं, जो कि अद्वितीय सबसे बड़ा सबका आत्मा है उसको अग्नि कहते हैं।' परमेतत्सर्वथाऽसत्यमेव, निरुक्तकारेण क्वापि तथाविधस्यार्थस्यानुक्तत्वात् । निरुक्तकारदृष्ट्या महान् आत्मा सूर्य एवेष्टः । एवं प्राकरणिकोऽर्थः । मन्त्रस्य देवतापि सूर्य एव । 'इस अग्नि नामधेय से दोनों उत्तर ज्योति, अर्थात् अनन्तज्ञानप्रकाशयुक्त परमेश्वर और जो विद्युत् रूप भौतिक अग्नि है इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है।' सर्वथाप्ययमर्थो दयानन्दकपोलकल्पित एव। निपातमित्यस्य निरुक्तदृष्ट्या गौणतैवार्थः। दयानन्देन तु सूर्यमपनोद्य तत्स्थाने परमेश्वरः स्थापितः । 'अग्ने यज्ञेषु प्रणीयते । अङ्गं नयतीति' यास्केन भौतिकस्याग्नेर्निर्वचनं कृतम् । दयानन्दस्तु—'अग्निशब्द परमेश्वर और भौतिक अर्थों मे लिया जाता है। यह निरुक्त का अभिप्रायार्थ है' इत्याह । किन्तु वस्तुदृष्ट्या निरुक्तस्यास्मिन् प्रकरणे परमेश्वरचर्चापि नास्ति ।

'अग्निः पृथिवीस्थानः' (नि० ७।५) इत्यत्र निरुक्तवाक्ये लौकिकस्याग्नेर्वर्णनं प्रकृतम् । दयानन्दस्तु प्रत्यक्षसिद्धेऽपि धूलिप्रक्षेपं कुर्वन् कथयति—'किं परमेश्वरः सर्वव्यापकत्वात् पृथिवीस्थानो न भवति ?' किन्तु प्रथमं तु परमात्मन उत्तरज्योतिष्ट्वं साध्यते स्म । इदानीं तस्यैव अधरज्योतिष्ट्वे पृथिवीस्थानत्वमपि साधयितुं प्रयत्यते । परन्त्वनेनायासेन मूर्तिपूजापि तेनाङ्गीकृताऽनिच्छतापि । यदि परमेश्वरः पृथिवीस्थानोऽप्यङ्गीकृतस्तदा 'यस्य पृथिवी शरीरम्' (बृ० ३।७।३) इति रीत्या कुतो न पार्थिवमूर्तावपि व्यापकत्वात् तत्र तत्पूजा स्यात् ? वस्तुतस्तु यास्कदृष्ट्या पृथिवीस्थान इत्यनेन पार्थिवोऽग्निरेव विवक्षितः । नात्र परमात्मगन्धोऽपि । तत्र तस्य चर्चा नास्तीत्युक्तमेव । 'यस्य पृथिवी शरीरम्' इत्यस्य व्याख्याने तत्रैवोक्तम्—'जिस परमेश्वर के शरीर के समान पृथिवी है, जो पृथिवी में व्यापक होकर उसमें नियम से रहता है' अत्र तेन परमेश्वरस्य

ज्योतियों का प्रकरण होने से उन्हीं का ग्रहण होना चाहिये । परमेश्वर की यहां कहीं भी थोड़ी सी भी चर्चा नहीं है। भौतिक अग्नि तो प्रथम ज्योति है, उत्तर नहीं। इसी तरह से 'अग्निर्वा०' प्रभृति निरुक्त वाक्य का दयानन्द यह अर्थ करते हैं—'इस वचन का अर्थ निरुक्तकार करते हैं, जिनको बुद्धिमान् लोग अनेक नामों से वर्णन करते हैं, जो कि अद्वितीय सबसे बड़ा सबका आत्मा है, उसको अग्नि कहते हैं। किन्तु यह सब असत्प्रलाप है, निरुक्तकार ने कहीं भी ऐसा अर्थ नहीं किया है। निरुक्तकार की दृष्टि से महान् आत्मा सूर्य ही माना गया है। यही प्राकरणिक अर्थ भी होगा। मन्त्र का देवता भी सूर्य ही है। इस अग्नि नामधेय से दोनों उत्तर ज्योति, अर्थात् अनन्तज्ञानप्रकाश युक्त परमेश्वर और जो विद्युत्रूप भौतिक अग्नि है, इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है। यह सारा अर्थ स्वामी दयानन्द की मात्र कपोल-कल्पना है। निपात पद का अर्थ निरुक्तकार की दृष्टि से गौणता होता है। दयानन्द ने यहां सूर्य का अर्थ परमेश्वर किया है। 'अग्रे यज्ञेषु' प्रभृति निरुक्त वाक्य में भौतिक अग्नि का निर्वचन किया गया है। दयानन्द कहते हैं कि 'अग्नि शब्द परमेश्वर और भौतिक अर्थों में लिया जाता है, यह निरुक्त का अभिप्रायार्थ है। हम अनेक बार लिख चुके हैं कि वस्तुतः इस प्रकरण में परमेश्वर की कोई चर्चा नहीं है।

'अग्निः पृथिवीस्थानः' इस निरुक्त वाक्य में लौकिक अग्नि का वर्णन है। दयानन्द इस प्रत्यक्ष सिद्धि विषय पर भी धूलिप्रक्षेप करते हुए कहते हैं कि क्या सर्वव्यापक परमेश्वर पृथिवी पर भी निवास नहीं कर सकता? पहले परमात्मा को उत्तरज्योति सिद्ध किया गया है। अब उसी को अधरज्योति, अर्थात् पृथिवी पर निवास करने वाला भी सिद्ध किया जा रहा है। स्वामी दयानन्द की इस व्याख्या से मूर्तिपूजा भी सिद्ध हो जायगी, इसका उनको ध्यान नहीं रहा। यदि परमेश्वर को पृथिवी पर निवास करने वाला मान लिया गया तो 'यस्य पृथिवी शरीरम्' इस श्रुति के अनुसार क्यों न वह पार्थिव मूर्ति में भी व्यापक माना जाय और क्यों न वहाँ उनकी पूजा की जाय। वस्तुतः यास्क की दृष्टि में 'पृथिवीस्थान' पद से पार्थिव अग्नि का बोध होता है, परमात्मा की यहाँ कोई चर्चा नहीं है। 'यस्य पृथिवी शरीरम्' इसकी व्याख्या दयानन्द ने यह की है—'जिस परमेश्वर के शरीर के समान पृथिवी है, जो पृथिवी में व्यापक होकर उसमें नियम से रहता है'। यहाँ उन्होंने परमात्मा का शरीर भी मान लिया है और परमेश्वर के देह के तुल्य पृथिवी को माना है। निरुक्तकार ने इसको हवि प्रदान करने की बात कही है। इस तरह से जब

शरीरमप्यङ्गीकृतम् । अथ च परमेश्वरस्य देहेन तुल्या पृथिवी स्वीकृता । निरुक्तकारेण यस्मै हविर्दीयत इत्यप्युक्तम् । तथा च मूर्तिपूजाविरोधी सन् मूर्तिपूजकोऽपि । यदि सोऽग्निर्मूर्तिद्वारा वरुणाय स्वाहा इन्द्राय स्वाहा इत्यादिमन्त्रैरीश्वराय हविः प्रयच्छति, तदा दयानन्दो मूर्तिपूजकोऽपि । तस्य सर्वथा मन्त्रस्यार्थापने पदे पदे प्रमादः । निरुक्तस्यार्थापने तस्यानभिज्ञता, छद्म, असत्यभाषणं वा सिद्धयति ।

आप यहाँ परमात्मा की चर्चा मानते हैं तो अगत्या उनकी हवि प्रदान रूप पूजा भी आपको माननी पड़ेगी । तब तो आप मूर्तिपूजा के विरोधी होते हुए मूर्तिपूजक भी बन गये । यदि आप अग्निमूर्ति की पूजा के द्वारा 'वरुणाय स्वाहा' 'इन्द्राय स्वाहा' इत्यादि मन्त्रों से ईश्वर को हवि प्रदान करते हैं, तो आप मूर्तिपूजक हो ही गये । इस तरह से स्वामी दयानन्द की वेदव्याख्या कहीं-कहीं स्वयं उनके मत के भी विपरीत पड़ती है । निरुक्त के उक्त अर्थ को देखने से भी उनकी अनभिज्ञता प्रकट होती है । अथवा यह प्रतीत होता है कि वे छलकपट पूर्वक असत्य भाषण कर लोगों को ठगने का प्रयास कर रहे हैं ।

चतुर्थं परिशिष्टम्

श्रीसूक्तभाष्यम्

हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह ॥१॥

हिरण्यवर्णामिति पञ्चदशर्चस्य सूक्तस्य आनन्द-कर्दम-चिक्लीतेन्दिरासुता ऋषयः, सूक्तेऽस्मिन्नाद्यास्तिस्रोऽनुष्टुभः कां सोऽस्मीति चतुर्थी बृहती, चन्द्रां प्रभासाम्, आदित्यवर्णे इति पञ्चमीषष्ठ्यौ त्रिष्टुभौ, ततोऽष्टावनुष्टुभः, तां म आवह इति पञ्चदशी प्रस्तारपङ्क्तिछन्दस्का इति नानाछन्दांसि, श्र्यग्नी देवते हिरण्यवर्णामिति ऋग्बीजम्, कां सोऽस्मितामिति शक्तिः, तां म आवह जातवेद इति ऋचौ कीलकम् । पृथ्वीधराचार्यरीत्या तां म आवह जातवेद इति शक्तिः, कीर्तिमृद्धिं ददातु मे इति कीलकम् । श्रीं बीजं ह्रीं शक्तिः क्लीं कीलकम् इत्यपरे । श्रीसूक्तस्थहलो बीजानि, स्वराः शक्तयः, बिन्दवः कीलकमिति परे । श्रीलक्ष्मीप्रसादसिद्ध्यर्थे जपे होमे वा विनियोगः ।

हे जातवेदः ! जात उत्पन्न वेदो ऋग्वेदो ज्ञानं वा यस्मादसौ जातवेदाः, तत्सम्बुद्धौ हे जातवेदः, हे जातप्रज्ञ ! अथवा जातानि भुवनानि धनानि वा वेद जानातीति जातवेदाः, तत्सम्बुद्धौ हे जातवेदः अग्ने, त्वं हिरण्यवर्णां हिरण्यस्य सुवर्णस्य वर्ण इव वर्णो (कान्तिर्वा) यस्याः सा हिरण्यवर्णा ताम् । तद्वत् पीतभास्वरवर्णविग्रहाम् । अनेन विग्रहस्य निर्मलत्वप्रतीत्या नित्यनिरस्तदोषत्वमवगम्यते । यद्वा हिरण्यमिव स्पृहणीयो वर्णः श्रीरिति शब्दो यस्यास्ताम्, स्थिरां सर्वाधारभूतामिति यावत् । हरिणीं हरितवर्णाम् । श्यामतेजोमयस्य हरेर्गौरतेजोमय्याः श्रियाः संवलनेन श्रीहरेर्हरितवर्णो भवति, तत्प्रतिफलितरूपत्वात् श्रीरपि हरितवर्णा भवतीति । हरिणीरूपधरां वा हरिणीं सुवर्णप्रतिमां तामिवौज्ज्वल्यसौन्दर्यलावण्यवतीं हरिणीवद्विशाललोचनां वा । 'योषिद्वृत्ताप्सरो भेदः सुवर्णप्रतिमा मृगी । हरिताश्च हरिण्यश्च स्युः' इति नानार्थरत्नमाला । हरिणीवदतिचपलस्वभावां वा । सुवर्णरजतस्रजां सुवर्णस्य पुष्पाणि सुवर्णानि रजतस्य पुष्पाणि रजतानि तेषां स्रजा माला यस्याः सा सुवर्णरजतस्रजा ताम् । अत्र स्रक्साहचर्यात् पुष्पाणीत्यवगम्यते । पुष्पसादृश्यात् 'फले लुक्'

'हिरण्यवर्णाम्' इस पन्द्रह मन्त्रों वाले श्री सूक्त के आनन्द, कर्दम, चिक्लीत और इन्दिरासुत ऋषि हैं । इस सूक्त की पहली तीन ऋचाएँ अनुष्टुप् छन्द में, चौथी बृहती, पाँचवीं और छठी त्रिष्टुप्, इससे आगे की आठ ऋचाएँ अनुष्टुप् छन्द में तथा पन्द्रहवीं प्रस्तार पंक्ति छन्द में निबद्ध है । इस तरह इस सूक्त के मन्त्र नाना छन्दों वाले हैं । इसके देवता अग्नि हैं । बीज, शक्ति और कीलकसम्बन्धी मत-मतान्तरों का उल्लेख मूल में उल्लिखित है । इस सूक्त का विनियोग लक्ष्मी की प्रसन्नता के लिये किये जानेवाले जप या होम में किया जाता है ।

श्रुति में बताया गया है कि अग्नि से ऋग्वेद की उत्पत्ति होती है । तदनुसार ही प्रस्तुत मन्त्र में अग्नि को 'जातवेदा' शब्द से संबोधित किया गया है । ज्ञान की भी उत्पत्ति अग्नि के प्रसाद से होती है । यह अग्नि उत्पन्न हुए सभी भुवनों और उनमें विद्यमान ऐश्वर्यों को जानता है । इस मन्त्र में उसी अग्नि से प्रार्थना की गई है कि हे अग्निदेवता, आप सुवर्णसदृश वर्ण अथवा कान्ति वाली, सुवर्ण के समान पीले चमकीले स्वरूपवाली, यहाँ लक्ष्मी के निर्मल शरीर की चर्चा यह दिखाने के लिये की गई है कि लक्ष्मी का विग्रह सदा समस्त दोषों से रहित होता है । लक्ष्मी का स्वरूप और यह लक्ष्मी शब्द भी अत्यन्त स्पृहणीय है । यह सबको सहारा देती है । हरितवर्णवाली, यद्यपि श्री (लक्ष्मी) गौर वर्ण की है, तब भी श्यामल शरीर हरि (विष्णु) के वर्ण के साथ उसके मिलने से श्री हरि हरितवर्ण के हो जाते हैं और श्री हरि के हरित वर्ण में प्रतिफलित श्री भी हरितवर्ण की हो जाती हैं । अथवा यह लक्ष्मी हरिणी का रूप धारण कर लेती है । अथवा यह सुवर्ण के समान उज्ज्वल सौन्दर्य और लावण्य से विभूषित है । अथवा हरिणी (मृगी के समान विशाललोचनों वाली हैं । नानार्थरत्नमाला में हरिणी शब्द के ये सब अर्थ बताये हैं ।

श्रीसूक्तभाष्य

(पा० सू० ४।३।१६३) इत्यादिना लुक्। स्रजेत्यत्र 'आपं चैव हलन्तानाम्' इति भागुरिवष्ट्या आप्। सुवर्णरजतनिर्मितभूषणोपेतां वा। यद्वा सुष्ठु वर्णं यस्य तत् सुवर्णं तादृशं यद्रजतं तत् सुवर्णरजतं तत्पुष्पस्रजां तत्तद्दिव्यावयवोपचितसुवर्णरजतादिमयदिव्यभूषणकलापाम्। यद्वा हरिं नयति चेतनामिति हरिणी ताम्, भगवदाश्रयणे पुरुषकारभूताम् हरिणीम्। यद्वा 'यद्वाभूद् भार्गवो रामस्तदा श्रीर्हरिणी स्वयम्' (विष्णुपुराणे, १।९।१४३) इति विष्णुपुराणात् परशुरामावतारकाले श्रियो हरिणीरूपधारणावगमात्। 'श्रीर्धृत्वा हरिणीरूपमरण्ये सञ्चचार ह' इति। चन्द्रां चन्द्रवत्प्रकाशमानां चन्द्ररूपेणावस्थितां वा। चन्द्रवत् षोडशकलापूर्णां चन्द्रमसो यथा पञ्चदशकला ह्रासविकाशशालिन्यः, एका तु कूटस्थनिर्विकाररूपाः तथैव श्रियोऽप्यनन्तानन्तप्रपञ्चरूपाः पञ्चदश कलाः। अधिष्ठानभूता निष्कला निर्विकारा क्षयातिशयरहिता षोडशी कला अनन्तब्रह्मसत्तासामान्यरूपा सीतोपनिषदादावुक्ता। अथवा चन्द्रां मुखे चन्द्रसदृशीं तद्वदाह्लादिनीं वा। हिरण्मयीं हिरण्यस्वरूपां परज्योतिर्ब्रह्मरूपां 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः तमसः परमुच्यते' (भ० गी० १३।१७), 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मु० २।२।१०) इत्यादिस्मृतिश्रुतिभ्यः। ज्योतिर्मयविग्रहां वा निर्गुणनिराकारब्रह्मरूपां सगुणनिराकारब्रह्मरूपां सगुणसाकाररूपां च हिरण्यप्रचुराभरणां लक्ष्मीं प्रशस्तलक्ष्मवतीं 'लक्ष्मी लाभाद्वा लक्षणाद्वा' (नि० ४।१०) इति यास्कोक्तेः। एवंरूपां श्रियं मे मह्यम् आवह आह्वय। अग्नेर्देवानामाह्वातृत्वात् तदाह्वानमपि तदधीनमिति तदर्थमपि स एव प्रार्थ्यते। 'अग्निर्मुखम् प्रथमो देवतानाम्' (ऐ० ब्रा० १।४) 'अग्निर्वै देवानां होता' (ऐ० ब्रा० ३।१४), 'अग्निर्वा देवानां दूत आसीत्' इत्यादिश्रुतिभ्यः। यद्वा जाता वेदाः सर्वेऽपि यस्मात् सोऽत्र सर्ववेदकारणभूतः परमेश्वर एव जातवेदःशब्देनोच्यते। 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत' (वा० सं० ३१।७) इति मन्त्रवर्णात्। परमेश्वरस्य विष्णोर्नारायणस्य सर्वजीवान्तर्यामिणः स्वरूपभूतायाः प्राणेश्वर्यास्तदीयहृदयेश्वर्याः। श्रियः समाह्वानं तदधीनमेव भवति। यद्वा हिरण्मयी 'अस्मिन् कामाः समाहिताः' (छा० ८।१।५) इतिवद् हिरण्यस्पृहणीयकल्याणगुणगणप्रचुरां हिरण्यप्रभृतिसकलधनप्रचुरां लक्ष्मीं भगवतश्चेतनानां च सम्पदम्।

अथवा यह लक्ष्मी हरिणी के समान अत्यन्त चंचल स्वभाव की हैं। सुवर्ण (सोना) और रजत (चाँदी) के पुष्पों की इसकी माला है (अथवा यह सोने-चाँदी के गहने पहने हुई हैं। लक्ष्मी ने हरिणी का स्वरूप धारण किया था, इसकी कथा विष्णुपुराण में भी वर्णित है। यह हरि को चेतना प्रदान करने वाली हैं और हरि के आश्रय में आनेवालों को पुरुषकार (उद्यम) में प्रवृत्त करती हैं, इसलिये भी इसको हरिणी कहते हैं। यह श्री चन्द्रमा के समान प्रकाशवाली है अथवा चन्द्रमा के रूप में विद्यमान हैं, चन्द्रमा के समान षोडशकलाओं से परिपूर्ण है। चन्द्रमा की पन्द्रह कलाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं, किन्तु उसको षोडशीरूपा जैसे निर्विकार कूटस्थ नित्य है, उसी तरह से श्री की भी पन्द्रह कलाओं से अनन्तानन्त प्रपंच की सृष्टि होती है, किन्तु अधिष्ठानभूत षोडशी कला निर्विकार और क्षयातिशय से रहित होती हैं। सीतोपनिषद् में इसको ब्रह्मसत्ता का ही सामान्य स्वरूप बताया गया है। अथवा यह लक्ष्मी चन्द्रमा के समान आह्लाद को देनेवाली है। हिरण्मयी शब्द का अर्थ है परमज्योति ब्रह्मस्वरूप। भगवद्गीता में यह ब्रह्म चन्द्र, सूर्य प्रभृति ज्योतियों का भी प्रकाशक कहा गया है और श्रुति कहती है कि इस ब्रह्म के प्रकाश से ही अन्य सभी ज्योतियाँ प्रकाशित होती हैं। अथवा इस लक्ष्मी का विग्रह ज्योतिर्मय है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह लक्ष्मी निर्गुण निराकार स्वरूप, सगुण निराकार ब्रह्मस्वरूप और सगुण साकार स्वरूप वाली भी हैं। ऐसी सुवर्ण प्रचुर आभूषणों की इस अधिष्ठात्री देवी को हे अग्निदेवता, आप मेरे पास ले आइये। अग्नि सभी देवताओं को यज्ञ में बुला के ले आने वाला देवता हैं। अतः उनसे श्रीसूक्त के इस प्रथम मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि आप मेरे पास उस श्री को ले आइये, जिससे कि मैं धन-धान्य से सम्पन्न हो जाऊँ। अथवा जिनसे सभी वेदों की उत्पत्ति हुई है, वे परमेश्वर यहाँ 'जातवेदा' शब्द से सम्बोधित हुए हैं। परमेश्वर विष्णुनारायण सभी जीवों के अन्तर्यामी हैं, लक्ष्मी उन्हीं का स्वरूप है। विष्णु की प्राणेश्वरी उनके हृदय की स्वामिनी श्री को बुला ले आना उन्हीं के वश की बात हैं। अथवा हिरण्य प्रभृति सकल धनधान्य से परिपूर्ण, हिरण्य के समान स्पृहणीय सभी कल्याण गुणगणों से परिपूर्ण लक्ष्मी भगवान् और चेतन भक्तों को सभी प्रकार की सम्पत्ति से भर देने वाली है। अथवा इस लक्ष्मी में उत्तम स्त्रियों के सभी

यद्वा लक्ष्माण्युत्तमस्त्रीलक्षणानि सन्ति यस्यां सा लक्ष्मीस्ताम् 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' (अमरको० १।३।१७) इत्यमरकोषात् ॥१॥

तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।
यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम् ॥२॥

हे जातवेदः अग्ने, त्वम् अनपगामिनीं अपगमनरहितामनपायिनीं सुस्थिरां तां लक्ष्मीं मे मह्यम् आवह आह्वय। यस्यां भगवत्यामावाहितायां हिरण्यं सुवर्णं मणिरत्नादिकं गां धेनुम् अश्वं वाजिनं पुरुषान् पुत्र-कलत्र-मित्र-दास-दासीरूपान् विन्देयं प्राप्नुयाम् ।

यद्वा हे जातवेदः, ऋग्वेदादिवेदचतुष्टयकारणभूत परमेश्वर, त्वम् अनपगामिनीम् अखण्डरूपेण त्वय्येव सुस्थिरामनपायिनीं सीता-राधा-श्री-लक्ष्म्यादिरूपेण विराजमानां मे मह्यमुपासनार्थम् आवह आह्वय। मम हृदये स्थापय। यद्वा अनपगामिनीं वात्सल्याद् दोषभूयस्त्वेऽप्यविमुक्तचेतनजातां भगवन्नित्यनपायिनीं शक्तिं मम हृदये स्थापय। स्वयं च तया परप्रेमास्पदभूतया सह विराजमानो भव। यस्यामागतायां हिरण्यं ज्योतिर्मयं ब्रह्मात्मविज्ञानं गां कामदुघां भक्तिम् अश्वमभीष्टशक्तिं पुरुषान् देवमनुष्याननुकूलान् त्वद्गुणस्मारकान् अहं विन्देयं प्राप्नुयाम्। तस्या भगवत्याः कृपाकटाक्षेणैव सर्वाभीष्टसौलभ्यात् ॥२॥

अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रबोधिनीम् ।
श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मा देवीर्जुषताम् ॥३॥

अश्वा हयाः पूर्वे प्रथमवाहनाः पुरोगमा वा यस्याः सा अश्वपूर्वा ताम्, रथमध्यां रथा रमणसाधनानि वाहनविशेषा मध्ये यस्याः सा रथमध्या ताम्, रथा मध्या मध्यवाहना वा यस्याः सा रथमध्या ताम्। यद्वा रथा मध्ये सेनायां यस्यास्ताम्। यद्वा अश्वाः पूर्वे प्रथमप्राकाराजिरस्थिता यस्याः सा अश्वपूर्वा ताम्, रथा मध्यमप्राकाराजिरस्था यस्याः सा रथमध्या ताम्। हस्तिनादप्रबोधिनीं हस्तिनां ततोऽपि तृतीयप्राकाराजिरस्थितानां दन्तिनां नादैर्बृंहितैः प्रबोधिनी जागरणशीलेति हस्तिनादप्रबोधिनी ताम्। लक्ष्म्या नगरे प्रथमप्राकारावृतवीथ्यामश्वाः, द्वितीयप्राकारावृतवीथ्यां रथाः, तृतीय-

सामुद्रिक शास्त्र में वर्णित लक्षण विद्यमान हैं। यह सर्वलक्षणसम्पन्न, समस्त कल्याणगुणसम्पन्न, धन्य-धान्य से परिपूर्ण शरीर वाली लक्ष्मी हमारे ऊपर कृपा करें, इस मन्त्र में अग्नि देवता से यही प्रार्थना की गई है ॥१॥

हे अग्निदेवता, आप कभी न जाने वाली सुस्थिर लक्ष्मी को मेरे लिये बुलाओ, जिसके आने पर कि मैं सुवर्ण, मणि, रत्न, गाय, घोड़ा, हाथी आदि धन-सम्पत्ति को तथा पुत्र, कलत्र (स्त्री), मित्र, दास, दासी प्रभृति जन सम्पत्ति को प्राप्त कर सकूं।

अथवा हे जातवेदा अग्ने, आप ऋग्वेद प्रभृति चारों वेदों के कारणभूत परमेश्वर हैं। आप अपने पास ही सदा रहने वाली सीता, राधा, श्री लक्ष्मी आदि रूपों में विराजमान देवी की स्थापना मेरे हृदय में सुस्थिर कर दीजिये, जिससे कि मैं उनकी उपासना कर सकूँ। अथवा मातृवात्सल्य के कारण अनेक दोषों के रहते हुए भी यह माता जीवों को नहीं छोड़ती और वह भगवान् से भी कभी अलग नहीं होती। उस मा शक्ति को आप मेरे हृदय में विराजमान कर दीजिये और उसी के साथ आप भी विराजमान होइये। उस माता के हृदय में निवास करने पर मैं ज्योतिर्मय ब्रह्मात्म विज्ञान, कामदुघा भक्ति, अभीष्ट भक्ति, देव मनुष्य प्रभृति की अनुकूलता और आपके गुणों को स्मरण करने की सामर्थ्य मैं प्राप्त कर सकूं। उस भगवती की कृपादृष्टि से ही सभी अभीष्ट पदार्थ सुलभ हो सकते हैं ॥२॥

जिसके आगे आगे घोड़े चलते हैं, रथ जिसके मध्य में हैं, अर्थात् जिसकी सेना के मध्य भाग में रथ चल रहे हैं। अथवा जिसके परकोटे के पहले आंगन में घोड़े और मध्य के आंगन में रथ विराजमान हैं। तृतीय प्राकारस्थित आंगन में बंधे हाथियों की चिंघाड़ में वह लक्ष्मी जागती है अर्थात् उस लक्ष्मी के निवास स्थान के पहले परकोटे से घिरी जगह में घोड़े, दूसरे परकोटे से घिरी जगह से रथ और तीसरे परकोटे से घिरी जगह में हाथी बाँधे जाते हैं। हाथी भगवती के शयनस्थान के पास में बँधे रहते हैं, अतः

प्राकारावृतवीथ्यां हस्तिनश्च निवसन्ति। तत्र हस्तिनां सान्निध्यात्तन्नादैः सुप्ता सती प्रातः प्रबुद्धा भवतीत्यर्थः। अनेन तस्या निरतिशयैश्वर्यं सूचितम्। यद्वा—'कोणपत्रगजैर्हेमकमलैरमृतोदकैः। सम्भृतैस्तर्प्यमाणां तां बोध्यमानां च तैर्गजैः ॥' इति स्वायम्भुववचनरीत्या स्वासनपद्मदलस्थितहस्तिनादैरहरहः प्रबुद्ध्यमानाम्, रथानां मध्यां रथसमूहमध्यस्थितां वा हस्तिनादप्रबोधिनीं हस्तिनां मदस्राविगजानां नादेन बृंहितेन गलपुष्करतुर्यनादेन प्रबोधिनीं प्रकर्षेण ज्ञापयित्रीम्। यद्वा मदस्राविगजानां नादैः प्रबोधनं निद्रातो ब्राह्मे मुहूर्त्ते जागरणं यस्यास्ताम्। गजस्थदुन्दुभिनादेन तद्घण्टानादेन वा प्रबोधवतीम्। यद्वा चरमवाहनगजनादेन विकस्वराम्। श्रियं श्रयति भगवन्तमिति श्रीस्ताम्, एवं निरङ्कुशैश्वर्येऽपि चेतनरक्षणलालसया भगवन्तमाश्रिताम्। देवीं देवयति क्रीडयति कान्तमिति देवी ताम्, भक्तदोषालक्ष्मीहरणाय भगवतः क्रीड़ापारवश्यमापादयन्तीम्। यद्वा देवीं देवनशीलां द्योतनात्मिकां नित्यस्वप्रकाशब्रह्मात्मसंविद्रूपाम्। यद्वा दीव्यति विजिगीषति अविद्यातत्कार्यात्मकं प्रपञ्चं ब्रह्मविद्यारूपेणेति देवी ताम्। यद्वा दीव्यति तत्तद्रूपेण महिषशुम्भनिशुम्भरक्तबीजमधुकैटभाद्यसुरैरिति देवी ताम्। अनन्तब्रह्माण्डनिर्माणादिलीलया सदैव क्रीडते या सा श्रीस्ताम्। श्रीयते वा या सा श्रीः, तां श्रियम्, सत्त्वैः शरण्यत्वेन आश्रयणीयां सेव्यमानां महालक्ष्मीं सेनारूपां वा उपह्वये स्वसमीपं प्रत्याह्वये। एतादृशी श्रीर्देवी मा मां अत्रागम्य जुषतां सेवतां प्रीयतां वा। विभक्त्यलोपश्छान्दसः।

अध्यात्मम्—अश्वपूर्वा सैव कमला लक्ष्मीः सीताराधारुक्मिण्यादिरूपेण वर्तमाना पूज्यते। अनन्तब्रह्माण्डजनकत्वेन परमैश्वर्यवत्त्वेन हस्त्यश्वरथाद्यैश्वर्याणि तस्या वर्ण्यन्ते श्रीराघवेन्द्रप्राणेश्वरीत्वेनापि श्रीरामस्य सर्वैश्वर्याण्येतस्या एव महासम्राज्ञीत्वेनाश्वरथहस्त्यादिमत्त्वं तन्मध्यस्थत्वं तन्नादप्रबोधवत्त्वादिकं तस्यामेव सूपपन्नम्। जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलत्वेन क्रीडित्रीत्वेन भक्ताविद्यादिविजिगीषावत्त्वेन स्वप्रकाशपरमात्मरूपत्वेन वा देवीत्वम्। तां देवीं श्रियमुपह्वये सामीप्येन परिचरितुमाह्वये। श्रयते सेवते हरिं या सा श्रीः। श्रयते भजते सर्वनैरपेक्ष्येण स्वानपेक्षमपि हरिं या सा श्रीस्तां श्रियं भक्ति वा, तस्या अपि तल्लक्षणत्वात्। 'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये। मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥'

उनके चिंघाड़ने से प्रातःकाल भगवती की निद्रा टूटती है। इससे भगवती के निरतिशय ऐश्वर्य का बोध होता है। अथवा स्वायम्भुवागम के वचन के अनुसार यह भगवती अपने आसन पद्मदल पर स्थित हाथियों के नाद से प्रतिदिन जागती है। यह भगवती रथों के समूह बीच में निवास करती है। अथवा मदमाते हाथियों के तेज नाद से यह अपने आने की सूचना देती है। अथवा हाथी के ऊपर विराजमान दुन्दुभि के अथवा उसके गले में लटके घण्टा के नाद से यह भगवती निद्रा त्याग करती है। भगवती लक्ष्मी भगवान् विष्णु का सहारा लेने से श्री कहलाती है। इनका अपना अनन्त ऐश्वर्य है, तो भी ये भगवान् का आश्रय जीवों के कल्याण के लिये लेती है। यह देवी लक्ष्मी भगवान् के साथ क्रीड़ा करती है। यह परवशता उन्होंने इसलिये स्वीकार की है कि इस तरह से भगवान् को प्रसन्न कर वे जीवों को सब प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न कर सके। अथवा लक्ष्मी देवी इसलिये है कि वह नित्य स्वप्रकाश ब्रह्मात्म संवित् स्वरूप है। अथवा यह अविद्या और उसके कार्य प्रपंच को ब्रह्मविद्या के सहारे जीत लेने का कारण देवी कहलाती है अथवा यह देवी इस लिये है कि यह महिष, शुम्भ, निशुम्भ, रक्तबीज, मधु-कैटभ प्रभृति असुरों को नष्ट कर देती है। अनन्तब्रह्माण्ड की सृष्टि, संहार लीला में यह सदा लगी रहती है, यह उनका खेल है, इसलिये भी यह देवी कहलाती है। अभावग्रस्त, दुःखी प्राणी इनका सहारा लेते हैं, इनकी शरण में आते हैं, इसलिये भी इनको श्री कहा जाता है। उस ऐश्वर्यशालिनी लक्ष्मी को मैं अपने समीप बुला रहा हूँ। यह श्री देवी यहाँ आकर मुझे धन-धान्य, ऐश्वर्य से सम्पन्न करे, जिससे कि मैं प्रसन्न, सुखी हो सकूँ।

इस मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार से होगा—अश्व आदि के साथ निवास करने वाली वह लक्ष्मी ही सीता, राधा, रुक्मिणी आदि के रूप में पूजी जाती है। यह अनन्त ब्रह्माण्ड की जननी हैं, परम ऐश्वर्यशालिनी है। हाथी, घोड़ा, रथ आदि ऐश्वर्य को देने वाली यही है। श्री राघवेन्द्र राम की प्राणेश्वरी यही है। श्रीराम के सारे ऐश्वर्य की यही स्वामिनी है। यह उनकी पट्टमहिषी है। अतः यह उनके उक्त सारे ऐश्वर्य के बीच में रहे और हाथी के नाद के साथ जगे, यह स्वाभाविक है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय की लीला करने वाली, इनके साथ खेलने वाली, भक्तों की अविद्या को जीतने वाली, स्वप्रकाशपरमात्मा के स्वरूप में विद्यमान यह लक्ष्मी देवी पद से संबोधन योग्य है। उस देवी लक्ष्मी को मैं अपने समीप बुलाता हूँ। यह श्रीहरि

(भा० पु० ३।२९।११)। यथा निर्मलस्य निष्कलङ्कस्य द्रवीभूतस्य गङ्गाम्भसोऽविच्छिन्नप्रवाहः समुद्राभिमुखोऽभिसरति, तथैवाह्लादिनीशक्तिविशिष्टस्य भगवद्गुणादिश्रवणेन द्रवीभूतस्य निर्मलस्य मनसो भगवदाभिमुख्येन योऽखण्डप्रवाहः सैव भक्तिरभिधीयते। राधारूपेणाराधनारूपापि सैव या हरिं श्रयते। सर्वैश्च श्रीयते सेव्यते या सा श्रीः। ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तपश्चरन्ति सान्यैः श्रयणीयेति कैमुतिकन्यायेन सिद्धयति,

ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता ॥ (श्री० भा० म० पु० १।१६।३२)

इति श्रीमद्भागवतोक्तेः। श्रीयते सर्वैर्गुणैर्वा या सा श्रीः सौन्दर्यमाधुर्यलावण्यसौरस्यसौगन्ध्यसौकुमार्याद्यधिष्ठात्रीणां महाशक्तीनां गृहीतदिव्यविग्रहाणां सौन्दर्यादयो गुणा लोकोत्तरा एव। ता अपि दास्यो भूत्वा यां श्रयन्ते सा श्रीः। म्रदिमाधिष्ठात्र्या महाशक्तेः पादारविन्दसौकुमार्यमालोक्य कमलान्यपि विलज्जन्ते, अरविन्दपरागा अपि तत्पादस्पर्शने सङ्कुचन्ति, कमलकोमलाङ्कुराणां मार्दवमपि यत्र कर्कशं प्रतीयते, तस्याः करसरोरुहयोः सर्वातिशायि सुस्पर्शत्वं लोकोत्तरमेव। सा म्रदिमाधिष्ठात्री महाशक्तिरपि यस्याः पादपङ्कजं सेवितुं कामयमाना स्वीयेषु करकमलेषु काठिन्यं मन्वाना तादृशैरपि स्वीयैः करकमलैस्तत् स्प्रष्टुं सङ्कुचती पादपीठमेव सेवते।

'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः। हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥' (श्री० भा० म० पु० ५।१८।१२) इति श्रीमद्भागवतोक्तेर्भक्तानां सर्वाभिप्रायान् परमवात्सल्येन शृणोति या सा श्रीः। भगवतोऽप्यधिकपरमवात्सल्येनाकारणकारुण्यात् शरणं श्रय इत्याद्युक्तिमप्यनपेक्ष्य रक्षित्रीमेवाश्रित्य यस्या अङ्कमवाप्य बाल इव सर्वोऽपि निःशङ्कं शेते सा श्रीः। अथवा शृणाति हिनस्ति निखिलान् भक्तदोषान् या सा श्रीः। अथवा पुरुषोत्तमो भगवान् यस्याः कान्तः फणिपतिः शेषो यस्याः शय्या वेदात्मा विहगेश्वरो भगवान् गरुत्मान् यस्या वाहनं, जगन्मोहिनी माया यस्या यवनिका, ब्रह्मेश्वरादिसुरव्रजः सदयितो यस्या आराधकः, श्रीरिति च लोकोत्तरं यस्या नाम, तस्या महत्त्वं को वर्णयितुं

की सेवा में सदा लगी रहती है। सर्वथा निरपेक्षभाव से यह हरि का भजन करती है। अतः इसको श्री या भक्ति के नाम से जाना जाता है। जैसे निर्मल स्वच्छ बहते हुए गंगा जल का अविच्छिन्न प्रवाह समुद्र की तरफ ही सदा दौड़ता है। उसी तरह से ह्लादिनी शक्ति से संवलित, भगवान् के गुणों के श्रवण से द्रवीभूत निर्मल मन की गति भगवान् की ओर ही सदा प्रवाहित होने लगती है। इसी स्थिति को भक्ति के नाम से जाना जाता है। राधा के रूप में आराधन योग्य भी यह लक्ष्मी ही है। अन्य सब प्राणी भी इसी की सेवा करते हैं। ब्रह्मा प्रभृति देवता गण भी जिसकी कृपादृष्टि की प्राप्ति के लिये अनन्तकाल तक तपस्या करते रहते हैं, उस लक्ष्मी को साधारण जन उपासना करें, यह तो कैमुतिक न्याय से ही सिद्ध है। भागवत में भी यह बात प्रतिपादित हैं।

सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य, सौरस्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य आदि गुणों की अधिष्ठात्री महाशक्तियाँ इन्हीं लोकोत्तर गुणों का विग्रह धारण करके अवतीर्ण होती हैं। ये सब महाशक्तियाँ लक्ष्मी की दासिया हैं और उन्हीं के आश्रय में रहती हैं। म्रदिमा (मृदुता) की अधिष्ठात्री महाशक्ति के चरणकमल की सुकुमारता को देखकर कमल भी लज्जित हो जाते हैं, अरविन्द का पराग भी उसके चरण का स्पर्श करने में संकोच का अनुभव करता है, कमल के कोमल अङ्कुरों की मृदुता भी जहाँ कर्कश प्रतीत होती है, उस लक्ष्मी के करकमलों का सर्वातिशायी कोमल अर्थ लोकोत्तर है। वह मृदुता की अधिष्ठात्री महाशक्ति भी उस लक्ष्मी के चरणकमलों की सेवा करते समय अपने करकमलों में कठोरता का अनुभव करती है और उनसे लक्ष्मी के चरणकमलों का स्पर्श करने में संकोच करते हुए केवल पादपीठ की ही सेवा करती है।

भागवत में बताया गया है कि जिसकी भगवान् में भक्ति है, उसके पास अपने सारे गणों के साथ देवगण निवास करते हैं। हरि में जिसकी भक्ति नहीं है, उसमें उत्कृष्ट गुणों का निवास कैसे हो सकता है। हरिभक्तों की सभी अभिलाषाओं को परम वात्सल्य के साथ पूरा करने वाली यह लक्ष्मी ही है। भगवान् से भी यह अधिक स्नेह करने वाली है। अपनी अकारण करुणा के कारण यह लक्ष्मी 'मेरी शरण में आओ' इस तरह की उक्तियों पर भी बिना विचार किये सर्वत्र रक्षक रूप में उपस्थित हो जाती है और उनको बालक

शक्नोति। तदुक्तं चतुःश्लोक्याम्—'कान्तस्ते पुरुषोत्तमः फणिपतिः शय्यासनं वाहनम्। वेदात्मा विहगेश्वरो यवनिका माया जगन्मोहिनी। ब्रह्मेशादिसुरव्रजः सदयितस्त्वद्दासदासीगणः। श्रीरित्येव च नाम ते भगवति ब्रूमः कथं त्वां वयम् ॥' तादृशी श्रीर्देवी मां मा शरणागतं लीलयैवायोग्यमपि निष्कारणकारुण्यात् जुषतां सेवतामनुगृह्यतां प्रीयतां वा। विभक्त्यलोपश्छान्दसः।

यद्वा श्रीयते हरिणा विष्णुरूपेण या सा श्रीः, सीतारूपेणाश्रीयते या रामेण सा श्रीः, राधारूपेणाश्रीयते कृष्णेनापि या सा श्रीः। यस्याः कृते समुद्रो मथितः यस्याश्च कृते समुद्रो बद्धः, सा श्रीः। सर्वं जगत् स्वगुणैः श्रीणाति वर्धयति या सा श्रीः। तदुक्तं सूरिभिः—'श्रितास्यन्यैः सर्वैः श्रयसि रमणं संश्रितगिरः शृणोषि प्रेयासं श्रितजनवचः श्रावयसि च। शृणास्येतद्दोषान् जननि निखिलान् सर्वजगतीं गुणैः श्रीणासि त्वं तदिह भवतीं श्रीरिति विदुः ॥' इति ॥३॥

कां सोऽस्मि तां हिरण्यप्राकारामार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम्।
पद्मे स्थितां पद्मवर्णां तामिहोपह्वये श्रियम् ॥४॥

कां ब्रह्मात्मसुखस्वरूपाम्, अथवा, कां काञ्चिद् मनोवचनातीतां दुर्निरूपस्वरूपां 'को ह वै प्रजापतिः' इति श्रुतेः, 'कं ब्रह्म', 'खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) इति श्रुतेश्च। यथा भूताकाशवाचकोऽप्याकाशशब्दः श्रुतौ 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० उ० ३।१) इत्यत्र 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१) इति ब्रह्मलक्षणलक्षितत्वेन ब्रह्मवाचको भवति, तथैवेह ब्रह्मलक्षणलक्षितत्वात् श्रीरपि ब्रह्मरूपैव भवति। यथा विष्णुपदेन निर्गुणं निराकारं सगुणं निराकारं सगुणं साकारं च ब्रह्माभिधीयते, श्रीपदेनापि तदेव त्रिविधं ब्रह्माख्यायते, 'सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि। बुद्धिं या नः प्रचोदयात्।' (श्रीमद्देवीभा० १।१।१) इति श्रीमद्देवीभागवतोक्तेः। अनन्तब्रह्माण्डकारणत्वेन सगुणनिराकारब्रह्मरूपा अनन्तप्रपञ्चाधिष्ठानत्वेन सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन सर्वभासकत्वेनाशेषविशेषातीतत्वेन वाङ्मनसयोरगोचरत्वेन

के समान अपनी गोद में बैठा कर भयमुक्त कर देती है। अथवा यह श्री अपने भक्तों के समस्त दोषों को नष्ट कर देती है। अथवा इस लक्ष्मी के पुरुषोत्तम भगवान् प्रियतम हैं, फणिपति (नागराज) शेषशय्या है, वेदात्मा विहगेश्वर गरुण वाहन है, जगन्मोहिनी माया यवनिका है, अपनी पत्नियों के साथ ब्रह्मा, ईश्वर (शिव) प्रभृति इसकी आराधना करते हैं। इस श्री के लोकोत्तर नाम और महिमा का वर्णन कौन कर सकता है? चतुःश्लोकी में श्री के उक्त स्वरूप का वर्णन किया गया है। यह लक्ष्मी मेरे जैसे शरणागत को सारी अयोग्यताओं के रहते हुए भी अपनी अकारण करुणा की लीला के कारण ही सर्वैश्वर्य सम्पन्न बना दे।

अथवा विष्णुरूप हरि के द्वारा लक्ष्मी के रूप में, भगवान् राम के द्वारा सीता के रूप में, श्रीकृष्ण द्वारा राधा के रूप में जो स्वीकार की जाती है, उसको श्री कहते हैं। जिसके लिये समुद्र मथा गया, जिसके लिये समुद्र बाँधा गया, उसको भी श्री कहते हैं। सारे जगत् को यह श्री अपने गुणों से बढ़ाने वाली है। किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि हे श्री, अन्य सब प्राणी आपकी ही सहारा लेते हैं और आप अपने प्रियतम श्री विष्णु का सहारा लेती हैं। आप अपने शरण में आये प्राणियों की बात सुनती है और उनकी बात को अपने प्रियतम को भी सुनाती है। हे जननि, आप शरणागत प्राणियों के सभी दोषों को नष्ट कर देती हैं और इस सारी पृथिवी को गुणों से भर देती हैं। इसीलिये विद्वद्गण आपको श्री के नाम से जानते हैं ॥३॥

हे श्री, आप ब्रह्मात्मक सुखस्वरूप है अथवा आप मन और वाणी के अगोचरस्वरूप वाली है। 'को ह वै प्रजापतिः। इत्यादि श्रुतियों द्वारा यह अर्थ प्रतिपादित है। जैसे भूताकाश का वाचक आकाश शब्द श्रुतियों में ब्रह्म के लक्षण से लक्षित होने के कारण ब्रह्म का वाचक हो जाता है, उसी तरह से ब्रह्म के रूप से लक्षित होने से प्रस्तुत स्थल में श्री को भी ब्रह्मरूप ही माना गया है। जैसे विष्णु पद से निर्गुण निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकार यह त्रिविध ब्रह्म प्रतिपादित है, उसी तरह से श्रीपद से भी वही त्रिविधब्रह्म बोधित होता है। देवी भागवत में देवी का यह स्वरूप वर्णित है। यह लक्ष्मी अनन्त ब्रह्माण्ड की जननी होने से सगुणनिराकार ब्रह्मस्वरूपा, अनन्त प्रपंच की अधिष्ठान स्वरूपा उनको सत्ता में लाने वाली तथा स्फूर्ति देने वाली, सबका प्रकाश करने वाली, समस्त विशेषताओं से अतीत, वाणी और मन की भी अगोचर होने से निर्गुण निराकार ब्रह्मस्वरूपा तथा श्रुतिरूपी सीमन्तिनी

च निर्गुणनिराकारब्रह्मरूपा श्रुतिसीमन्तसिन्दूरीकृतपादाब्जधूलिका श्रीसीताराधादिरूपेण सगुणसाकारब्रह्मरूपा च। ब्रह्मरूपत्वादेवानन्तत्वमनन्तमहामहिमवैभवत्वमपि। यथा श्रीहरिरप्यात्ममहिमानमनन्तत्वादेवेयत्तया न मातुमलं तथैव श्रियोऽप्यनन्तमहिमानं नेयत्तया मातुमलमिति। तदप्युक्तं चतुःश्लोक्याम्—'यस्यास्ते महिमानमात्मन इव त्वद्वल्लभोऽपि प्रभुर्नालं मातुमियत्तया निरवधिं नित्यानुकूलं स्वतः।' तामुक्तलक्षणां वक्ष्यमाणलक्षणां वा भगवतीमुपह्वये।

कीदृशीं तां सोऽस्मितां आ ईषदुद्गतेन स्मितेन सहिताम्। उदन्त्यलोपश्छान्दसः। यद्वा उत् अतिशयितं स्मितमुत्स्मितम्, उत्स्मितेन सहिता सोस्मिता। उदन्त्यलोपश्छान्दसः। तां निःसहापराधजननिश्शङ्कसंश्रयणाय नित्यव्यक्तमन्दहासादिपरमानुग्रहमयीमित्यर्थः। यद्वा 'कमु कान्तौ' इति धातोः, कां सोऽस्मिताम्, अर्थात् तां प्रति साकाङ्क्षोऽस्मि। अन्यत्र सर्वत्र निराशोऽपि तस्या गुणानाकर्ण्य तां प्रति आशावानस्मि तस्या आशाकल्पलताजननीत्वात्। हिरण्यप्राकारां हिरण्यस्य सुवर्णस्य प्राकारो दुर्गपरिखादिरूपो यस्याः सा हिरण्यप्राकारा ताम्, अथवा हिरण्यस्य प्राकारो वरणं गृहं वर्णो वा यस्याः सा हिरण्यप्राकारा ताम्, तप्तकाञ्चनसौधां तप्तकाञ्चनवर्णाभां वा। अथवा हिरण्यं प्राकारः प्रकृष्ट आकार आकृतिर्यस्याः सा हिरण्यप्राकारा ताम्। तथाभूतामनन्तवैभवामपि आर्द्रां क्लिन्नाम्, क्षीरसिन्धोराविर्भावात्। यद्वा आर्द्रानक्षत्ररूपां तस्य रुद्रदैवतत्वाद् रुद्ररूपामित्यर्थः। रुद्रशब्दोऽत्र मूर्धन्यस्वरादिर्बोध्यः, ऋद्र इति यावत्। 'आर्द्रया ऋद्रः प्रथमान एति' इत्यादौ तथा दर्शनात्। बाहुलकाद्रूपसिद्धिः। भक्तानां कष्टेन दयार्द्रहृदयां वा। ज्वलन्तीं प्रकाशमानां विश्वं भासयन्तीं स्वप्रकाशां ज्योतिषामपि ज्योतिःस्वरूपां तृप्तां नित्यतृप्तां स्वरूपभूतपरमानन्दसुधासिन्धुनैव परिपूर्णामाप्तसमस्तकामां तर्पयन्तीं तत्तन्मनोरथप्रापणेन भक्तानां तृप्तिमापादयन्तीं स्वस्वरूपानुभावनेन निःस्पृहान् अलंप्रत्ययान् सम्पादयन्तीम्।

यद्वा तृप्तां स्वकृतेन भगवत्स्वरूपगुणविभूत्यनुभवेन तत्संश्लेषजनितानन्देन वा तृप्ताम्। तर्पयन्तीं भगवत्कृतस्वरूपाद्यनुभवेन स्वसंश्लेषसुखेन वा तं तर्पयन्तीं स्वस्वकान्तोभयस्वरूपरूपगुणविभूत्यनुभवप्रापणेन संश्रितान् तर्पयन्तीम्। यद्वा

(सौभाग्यवती) जिसकी चरण की धूलि को सिन्दूर की जगह लगाती है, वह लक्ष्मी सीता, राधा आदि के रूप में सगुण साकार ब्रह्मस्वरूप में अवतरित होती है। ब्रह्मस्वरूपा यह लक्ष्मी अनन्तमहिमा और वैभव को धारण करने वाली है। जैसे श्री हरि अपनी अनन्त महिमा के कारण इयत्ता से परिमित नहीं हो सकते, उसी तरह से लक्ष्मी की भी अनन्त महिमा इयत्ता से परिच्छिन्न नहीं की जा सकती। चतुःश्लोकी में भी इसी बात का वर्णन किया गया है। अतः उक्त और वक्ष्यमाण सभी गुणों से सम्पन्न लक्ष्मी को मैं बुलाता हूँ।

यह लक्ष्मी कैसी है ? मन्दमुसकान से सुशोभित है। अथवा अतिशय स्मित से सुशोभित है। अपराधी जनों को भी बिना शंका के अपना सहारा देने के लिये नित्य मन्द हास के सारा अपना अनुग्रह प्रगट करती रहती है अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि मैं उस लक्ष्मी के प्रति साकांक्ष हूँ, उसका दर्शन करने के लिये लालायित हूँ। सब जगह से निराश होने के बाद भी उस लक्ष्मी के गुणों को सुन कर उसके प्रति आशावान् हूँ, क्योंकि वह लक्ष्मी आशारूपी कल्पलता की जननी है। यह लक्ष्मी सुवर्ण के प्राकारवाली है, अथवा इसका गृह अथवा वर्ण सुवर्ण का सा है। इसका प्रासाद सुवर्ण का है अथवा तपे हुए सोने के समान देदीप्यमान इसका वर्ण है। अथवा सुवर्ण ही इस लक्ष्मी की आकृति है। इस प्रकार अनन्त वैभव से सम्पन्न होते हुए भी यह लक्ष्मी करुणा से आर्द्र है, अथवा यह रुद्र स्वरूपवाले आर्द्रा नक्षत्र में प्रसन्न होती है। अथवा भक्तों का कष्ट देखकर कर यह दया से भर जाती है। स्वयंप्रकाशमान यह लक्ष्मी सारे विश्व को भी अपने प्रकाश से आलोकित करती है। क्योंकि चन्द्र, सूर्य प्रभृति ज्योतियों को भी प्रकाशित करने वाली है। यह लक्ष्मी नित्यतृप्त है, स्व-स्वरूपभूत परमानन्द सुधासिन्धु से परिपूर्ण है, इसकी समस्त कामनाएं तृप्त हैं और यह दूसरों की कामनाओं को भी पूरा करती है, उनको भी उनके वास्तविक स्वरूप का बोध करा देती है, जिससे कि वे भी सब प्रकार से निःस्पृह हो जाते हैं।

अथवा यह लक्ष्मी अपने द्वारा किये गये भगवान् के स्वरूप, गुण और विभूति के अनुभव से अथवा उसके आलिंगन से उत्पन्न आनन्द से परितृप्त है। वह अपने भक्तों को भी इन्हीं अनुभवों से परिपूर्ण कर तृप्त कर देती है। अथवा यह लक्ष्मी भगवद्गीता में प्रतिपादित आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी इन चार प्रकार के अधिकारियों को उनका मनोरथ पूरा कर तृप्त करने वाली है।

'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानो च भरतर्षभ ॥' इति भगवदुक्तेन चतुर्विधाधिकारिणस्तत्तदभिलषितप्रापणन तर्पयन्तीम्। पद्मे स्थितां स्वसौन्दर्यसौगन्ध्यसौकुमार्यानुगुणसुन्दरसुगन्धिसुकुमारसरसिजासीनाम्। पद्मवर्णां 'सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः ॥' (वा० रा० १।१।२७) इत्युक्तप्रकारेण उत्तमकान्तत्वेन पद्मारुणपाणिपादतलप्रान्तलोचनां पद्मवर्णविग्रहां वा श्रियं सर्वैराश्रयणीयाम्। चन्द्रां चन्दयत्यानन्दयति चेतनानीश्वरं च स्वगुणैरिति चन्द्रा ताम्। प्रभासां भासनं भासः प्रकृष्टो भासो यस्याः सा प्रभासा तां भगवदानन्दजनितहर्षसम्भूतप्रकृष्टकान्तिम्। यशसा संश्रितानां सर्वाभीष्टप्रापणकीर्त्या ज्वलन्तीं 'अभिषिच्य च लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम्। कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वरः प्रमुमोद ह ॥' (वा० रा० १।१।८५) इतिवल्लोके च प्रकाशमानां श्रियं जगद्गुणैर्योजयन्तीम्। देवजुष्टां देवे नारायणे 'दिव्यो देव एको नारायणः' (सुबालोपनिषद् ६) इति श्रुतेः। जुष्टां प्रीतां प्रेमसम्पन्नां देवैर्ब्रह्मादिभिस्तत्तदभिलपितलाभाय जुष्टां सेविताम् 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' देवं परमात्मानं 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इति श्रुतेर्जुषते प्रीत्या सेवते या सा जुष्टा। छान्दसत्वात् कर्तरि निष्ठा। यद्वा बाहुलकात् कर्तरि निष्ठा। यद्वा देवेन परमात्मना श्रीरामेण श्रीकृष्णेन वा जुष्टा सेविता देवजुष्टा ताम्। उदारां काङ्क्षाधिकदातृत्वलक्षणनिरतिशयौदार्यां तां तादृशवैभवयुक्ततया सर्ववेदान्तप्रसिद्धाम्।

पद्मे स्थितां कमलवनवासिनीं भक्तानां हृत्सरोजे वा विराजमानां पद्मवर्णां सरोजादप्यधिककोमलां सरोजकिञ्जल्कसमानवर्णां वा तां प्रसिद्धां श्रियं सर्वाश्रयणीयाम् इह मम समीपे हृदये वा उपह्वये आह्वये। यद्वा कां कं सुखमस्त्यस्यामिति का तां सुखस्वरूपां भगवतोऽपि सुखदात्रीं वा। यथा चाहुः—'देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी।' (वि०पु० १।९।१४२)। राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि। अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषानपायिनी ॥' (वि०पु० १।९।१४२) इति। इच्छाकृतोज्ज्वलानेकभगवदभिमतानुरूपविग्रहां हिरण्यप्राकारपरिवृतानन्दमयमहामणिमण्डपान्तर्वासिनीम्। आर्द्रामनुकूलविषये दयार्द्रदृशम् अनुकूलतेजसं प्रतिकूलविषये ज्वलन्तीं तदभिभावकतेजोयुक्ताम्, 'नित्यानुकूलमनुकूलनृणां परेषामुद्वेजनं तव तु तेज उदाहरन्ति' इत्युक्तेः ॥४॥

यह अपने सौन्दर्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य प्रभृति गुणों के अनुरूप सुन्दर, सुगन्धयुक्त, सकुमार कमल पर आसीन है। यह पद्मवर्णा है, वाल्मीकि रामायण के अनुसार सर्वलक्षण सम्पन्न उत्तम नारी है, इसके हाथ, पैर, लोचनप्रान्त अरुण वर्ण के हैं, अथवा यह पद्म के समान वर्ण और विग्रह वाली है। इसका सब कोई सहारा लेते हैं। यह अपने भक्तों और अपने प्रभु को अपने गुणों से चन्द्रमा के समान आह्लादित करती है। यह प्रभासमात्र है, भगवान् के आनन्द से जनित हर्प से इसकी कान्ति बढ़ गई है। यश को ही सब कुछ मानने वालों की सारी अभिलाषाओं को पूरा कर यह प्रकाशमान है, जैसा कि वाल्मीकिरामायण में वर्णित है—'वह राम लंका के राज्य पर राक्षसेन्द विभोषण को अभिषिक्त कर कृतकृत्य हो गये और सब प्रकार की चिन्ता से मुक्त हो कर प्रमुदित हो उठें। यह लक्ष्मी भगवान् नारायण के प्रेम से सम्पन्न हैं, अथवा ब्रह्मा प्रभृति देवगण अपने मनोरथ की पूर्ति के लिये इसकी सेवा करते हैं। यह सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी परमात्मा की प्रेम से सेवा करती है। अथवा भगवान् श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण इसकी सेवा करते हैं। यह उदार है, इच्छा से अधिक देने के कारण यह परम उदार है, इसका वैभव अनन्त है, सभी वेदान्त इसी का प्रतिपादन करते हैं।

अथवा यह लक्ष्मी कमल के वन में अथवा भक्तों के हृदय में निवास करने वाली है। कमल से भी अधिक कोमल है अथवा कमल की पराग के समान वर्णवाली है। उस प्रसिद्ध सर्वाश्रयणीय लक्ष्मी को मैं अपने हृदय में बुला रहा हूँ। अथवा यह सुख स्वरूप है, भगवान् को भी सुख देने वाली है। जैसा कि कहा गया है—'भगवान् के देवता का रूप धारण करने पर यह देवी और मनुष्य रूप धारण करने पर यह मानुषी बन जाती है। राघव का अवतार लेने पर सीता और श्रीकृष्ण का जन्म लेने पर यह रुक्मिणो बनी थी। इसी तरह से यह लक्ष्मी अन्य अवतारों में भो सदा उनके साथ रही हैं'। अपनी इच्छा से धारण किये गये अनेक उज्वल भगवान् को अभिप्रेत विग्रह को यह धारण करने वाली है। सुवर्ण के प्राकार (परकोटा) से परिवृत आनन्दमय महामणि के मण्डप में यह निवास करने वाली है। अनुकूल विषय में इसकी दृष्टि दया से भरी रहती है। प्रतिकूल विषय में इसकी दृष्टि उसको भस्म कर देने वाली रहती है। किसी ने कहा भी है—हे देवि, अनुकूल मनुष्यों पर आपकी दृष्टि दया से भरी रहती है जो आपसे द्वेष करते हैं, उनको आपकी वही दृष्टि उद्विग्न कर देती है ॥४॥

चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्वलन्ती श्रियं लोके देवजुष्टामुदाराम् ।
तां पद्मिनीमीं शरणं प्रपद्ये अलक्ष्मीर्मे नश्यतां त्वा वृणे ॥५॥

चन्द्रां चन्द्रवत्प्रकाशमानां चन्द्रवन्मनोज्ञां चन्द्रवदाह्लादयित्रीं वा । प्रभासां प्रकृष्टा भाः कान्तिर्यस्याः साः प्रभाः, ताम् प्रकृष्टतेजोयुक्तां 'आपं चैव हलन्तानाम्' इति भागुरिवृष्टेराप् । यशसा कीर्त्या ज्वलन्तीं प्रद्योतमानाम् । देवजुष्टां देवैरिन्द्रादिभिर्जुष्टां प्रीत्या सेवितां प्रीतां प्रसन्नां वा । उदारां वदान्यामौदार्यातिशयोपेतां प्रगल्भां वा । पद्मिनीं पद्मलतारूपां पद्माकारां पद्ममालिनीं वा । पद्मिनीलक्षणोपेतां वा । ईं कामकलारूपां सानुस्वारचतुर्थस्वररूपां वा । शुद्धप्रकाशबिन्दुना मुखं प्रकाशविमर्शाभ्यां स्तनौ तयोः सामरस्येन योनिरिति ब्रह्मचैतन्येन मुखं जीवेश्वरतत्त्वपदार्थाभ्यां स्तनौ तयोः सामरस्येन योनिरिति ध्येयाम् । यद्वा अस्य (अकारस्य) विष्णोरियं स्त्री ई तामीम् ईकारवाच्यां तां श्रियमिह लोके अहं शरणं आश्रयं रक्षित्रीं वा प्रपद्ये आश्रयत्वेन रक्षित्रीत्वेन वा त्वामहं प्रपन्नोऽस्मि । सर्वशेषित्वस्य सौलभ्यातिशयत्वस्य च शरण्यप्रयोजकत्वेन तद्वतीं सर्वोत्कृष्टां सदयहृदयात्वेन परमसुलभां शरणं त्वामहं प्रपन्नोऽस्मीति । हे श्रीः, मे मम अलक्ष्मीः अश्रीः नश्यतां तदर्थं त्वां वृणे सम्भजामि, त्वं शरणागतत्वेन मां प्रणिपतितं स्वीकुरुष्वेति । 'प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा । अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात् ॥' (वा० रा० सु० २७।३९) इति श्रीरामायणोक्तेः ॥५॥

आदित्यवर्णे तपसोऽधि जातो वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ विल्वः ।
तस्य फलानि तपसा नुदन्तु मायान्तरायाश्च बाह्या अलक्ष्मीः ॥६॥

आदित्यवर्णे आदित्यस्येव वर्णो यस्याः सा आदित्यवर्णा तत्सम्बुद्धौ आदित्यवर्णे, हे आदित्यवत्तेजःपुञ्जस्वरूपे तद्वदन्यप्रकाशानपेक्षस्वयंप्रकाशस्वरूपे वा । आदित्यः सजातीयप्रकाशानपेक्षोऽपि चक्षुर्मनआत्मादिप्रकाशसापेक्षो भवत्येव, किन्तु प्रत्यक्चैतन्याभिन्नपरब्रह्मस्वरूपा श्रीस्तु सजातीयविजातीयसर्वविधप्रकाशानपेक्षप्रकाशस्वरूपेति निरुपचरितमेव तस्याः स्वप्रकाशत्वम् । हे श्रीः, तव तपसा नियमाद्धेतोः वनस्पतिः 'अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः' (म० १।४७)

यह लक्ष्मी चन्द्रमा के समान प्रकाशमान, चन्द्रमा के समान मनोरम अथवा चन्द्रमा के समान आह्लाददायिनी, प्रकृष्ट तेजोमयी, यश से प्रकाशमान, इन्द्र प्रभृति देवताओं के द्वारा प्रीतिपूर्वक सेवित अथवा उन देवताओं पर प्रसन्न, अतिशय उदार अथवा प्रगल्भचित्त वाली, पद्मलतारूप, पद्म सदृश आकार वाली, पद्म की माला वाली अथवा पद्मिनी नारी के लक्षणों से युक्त, कामकला स्वरूपिणी अथवा अनुस्वार सहित चतुर्थ स्वर वाली है । इसका मुख शुद्धप्रकाशबिन्दु से, स्तन प्रकाश और विमर्शबिन्दुओं से और और उनके सामरस्य से इसकी योनि बनी है अथवा ब्रह्मचैतन्य से मुख, जीव और ईश्वर, तत् और त्वम् पदार्थों से स्तन तथा इनके सामरस्य से योनि बनी है । कामकला का यही स्वरूप तन्त्रशास्त्र में ध्येय के रूप में वर्णित है । अथवा अकार का अर्थ है विष्णु, उसकी पत्नी लक्ष्मी ई के नाम से बोधित होती है । ईकार से अभिहित होती है । उस श्री की मैं इस लोक में शरण में जाता हूँ, उसको अपना सहारा मानता हूँ । वह मेरी रक्षा करने वाली है, इस अभिप्राय से मैं उसकी शरण में हूँ । सबको उसी की शरण में जाना है और यह सबको सुलभ भी है, इसीलिये मैं उसकी शरण में हूँ । वह सर्वोत्कृष्ट है, उसका हृदय दया से भरा है, यह परम सुलभ है, अतः मैंने आपको शरण ली है । हे लक्ष्मी, मेरी दरिद्रता को आप दूर करो, इसलिये मैं आपकी सेवा करता हूँ । मुझ शरणागत को आप अपनी शरण में लो । रामायण में कहा गया है—'जनकपुत्री सीता प्रणाम करने मात्र से प्रसन्न हो जाने वाली है । ए राक्षसियों, आनेवाले महान् भय से हमारी रक्षा करने में यही समर्थ हो सकती है' ॥ ५ ॥

हे आदित्य के समान वर्णवाली, सूर्य के समान देदीप्यमान स्वरूप वाली, अथवा सूर्य के समान प्रकाशान्तर निरपेक्ष स्वयं प्रकाश स्वरूप वाली हे लक्ष्मी ! सूर्य को सजातीय प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती, तो भी चक्षु, मन, आत्मा प्रभृति की सहायता से ही उसका प्रकाश होता है, किन्तु प्रत्यक् चैतन्य स्वरूप से अभिन्न परब्रह्मस्वरूपिणी श्री सजातीय, विजातीय सर्वविध प्रकाश के बिना अपेक्षा किये ही स्वयं प्रकाश स्वरूपिणी है, अतः लक्ष्मी में विद्यमान प्रकाश निरुपाधिक है । हे श्री, तुम्हारे द्वारा प्रवर्तित नियम के

इत्युक्तलक्षणोऽपुष्पः सन् फलोपेतः विल्वनामा वृक्षः तरुः अधिजातः प्रादुर्भूतः। त्वदीयात्करादिति शेषः। 'विल्वो लक्ष्म्याः करोऽभवत्' इति वामनपुराणात्। अथ अनन्तरं तस्य श्रीवृक्षस्य विल्वस्य फलानि अपक्वानि पक्वानि वा तपसा त्वत्तपसा त्वदनुग्रहेण आन्तराः अन्तरिन्द्रियान्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहङ्कारसम्बन्धिन्यो यास्ता बाह्याश्च दारिद्र्यादिलक्षणाः माया विभक्तेराकारश्छान्दसः। अलक्ष्मीः अश्रियः। नुदन्तु अपनुदन्तु विनाशयन्तु। यद्वा तपसा फलसाधनहोमादिकर्मणा तत्फलाशनकर्मणा च। यद्वा मायान्तराः अन्तःकरणगां मायामज्ञानम्। यद्वा आन्तरा देहाद्यन्तर्गताः माया अलक्ष्मीः नुदन्तु। आन्तराः अन्तरिन्द्रियसम्बन्धिन्यो याः अविद्याः याश्च बाह्याः दारिद्र्यादिलक्षणा अलक्ष्मीस्ताश्च नुदन्तु दूरीकुर्वन्तु। त्वत्कृपया श्रीवृक्षफलानि मया हुतानि भक्षितानि वा ममाज्ञानदारिद्र्यदुःखादिनाशं कुर्वन्त्वित्यर्थः ॥६॥

उपैतु मां देवसखः कीर्तिश्च मणिना सह।
प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिमृद्धिं ददातु मे ॥७॥

हे श्रीः, देवसखः देवो महादेवस्तस्य सखा कुबेरः। कीर्तिः कीर्त्यभिमानिनी देवता दक्षकन्या कुबेरकोषागारवासिनी सम्पत्त्यधिष्ठात्री वा मणिना मणिभद्रेण कोषाध्यक्षेण चिन्तामणिना वा सह सार्धं माम् उपैतु उपागच्छतु। यद्वा देवानां सखीभूतः कल्पवृक्षः मणिना चिन्तामण्यादिरत्नेन सार्धं मामुपैतु। देवानां सखीभूतो नारायणो वा मणिना कौस्तुभेन साकं मामुपैतु। आगत्य च अहं यस्मिन् राष्ट्रे देशे उत्पन्नोऽस्मि तत्र कीर्तिं यशः कोषं वा ऋद्धिं रसवद्वस्तुसमृद्धिं च मे मह्यं ददातु। यस्मिन् यस्मिन् राष्ट्रे मम प्रादुर्भावः स्यात्तत्र तत्र मह्यं कीर्तिं समृद्धिं ददातु। यद्वा मे मह्यं मदीयराष्ट्राय च कीर्तिं समृद्धिं ददात्वित्यर्थः। सर्वेश्वर्याः सर्वकारणभूतायाः सर्वसमर्थत्वात् तदनुग्रहेण रुद्रो वा नारायणो वा सर्वैश्वर्येण भक्ताननुग्रहीतुमायात्येव ॥७॥

क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम्।
अभूतिमसमृद्धिं च सर्वां निर्णुद मे गृहात् ॥८॥

क्षुत्पिपासामलां क्षुत् क्षुधा बुभुक्षा पिपासा जलतृष्णा च मलं मालिन्यं यस्याः सा क्षुत्पिपासामलां ताम्। अश-

कारण ही वनस्पति में बिना पुष्प के ही फल लग जाते हैं। ऐसी वनस्पतियों में श्रेष्ठ विल्व फल आप से ही प्रादुर्भूत हुआ है। वामन पुराण में बताया गया है कि लक्ष्मी के हाथ से विल्व फल की उत्पत्ति हुई है। आप के हाथ से उत्पन्न होने के बाद इस विल्व वृक्ष के पके हुए अथवा बिना पके हुए फल आपके अनुग्रह के कारण ही आन्तर इन्द्रिय मन, बुद्धि, अहङ्कार नामक अन्तःकरण की और बाह्य दरिद्रता आदि अलक्ष्मी के निवारण में सदा समर्थ रहते हैं। अथवा उक्त फलों के द्वारा हवन आदि करने पर अथवा भोजन के रूप में उनका ग्रहण करने पर अन्तःकरण स्थित अज्ञान अथवा शरीर के भीतर विद्यमान रोग आदि अशुभों का निवारण हो जाता है। इससे दारिद्र्य भी नष्ट हो जाता है। आपकी कृपा मेरे उपर ऐसी हो कि बिल्व के हवन, भक्षण आदि से मेरा अज्ञान और दारिद्र्य नष्ट हो जाय ॥ ६ ॥

हे श्री, महादेव के मित्र कुबेर, कीर्ति की अभिमानिनी देवता दक्षकन्या, जो कि कुबेर के खजाने में निवास करती है, वह सारी सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी मणिभद्र नामक कोषाध्यक्ष के साथ अथवा चिन्तामणि के साथ मेरे समीप में आजाय। अथवा देवताओं का मित्र कल्पवृक्ष चिन्तामणि प्रभृति रत्नों के साथ मेरे पास आ जाय। अथवा उन देवताओं के मित्र भगवान् नारायण अपनी कौस्तुभमणि के साथ मेरे पास आ जांय। ये सब मेरे पास आकर मैं जिस राष्ट्र में अथवा देश में उत्पन्न हुआ हूं, वहाँ भी यश, कोष, धन्य-धान्य आदि से मुझे समृद्ध बनादें। जिस जिस राष्ट्र में मेरा जन्म हो, वहां वहां मेरे पास आकर ये मुझे कीर्ति और समृद्धि प्रदान करें। अथवा मुझे और मेरे राष्ट्र को भी कीर्ति और समृद्धि प्रदान करें। सर्वेश्वरी, सर्वकारणभूता भगवती लक्ष्मी सबसे अधिक सभी कार्यों को सम्पन्न करने में समर्थ है। उसका अनुग्रह होने पर रुद्र अथवा नारायण भी अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्य से भक्तों को अनुगृहीत करने आते ही हैं ॥ ७ ॥

क्षुधा और पिपासा रूपी मलिनता से भरी हुई, भूख और प्यास जीव के धर्म है। परब्रह्म इन मलिनताओं से अतीत है। इसी

नायापिपासे जीवधर्मः। परब्रह्मणोऽशनायातीतत्वात्। तत एवेदमैश्वर्यमलमविद्यामूलकम्। तादृशीमशनायातृष्णामलोपेतां ज्येष्ठां वृद्धां श्रियः प्रागुत्पन्नाम् अलक्ष्मीमश्रियं दारिद्र्यमिति यावत्, अहं नाशयामि नाशं प्रापयामि। यथा ज्ञानमज्ञानपूर्वकं भवति, तथैव लक्ष्मीरपि अलक्ष्मीपूर्विकैव भवति। देवानपेक्ष्य असुराणां ज्येष्ठत्वं वलवत्त्वं भूयस्त्वं च, अनादिकालादेव तेषां संसारे बद्धमूलत्वात्। यद्यपि यथा व्रीह्यादिभर्जनसाधने भ्राष्ट्रे व्रीहियवगोधूमादीनां स्थितिरपि दुर्लभा, तदङ्कुराद्युत्पत्तिस्तु सुतरां दुर्लभा, तथैव अविद्याऽशनायापिपासाकामक्रोधादिमये भ्राष्ट्रोपमेऽन्तःकरणे संसारे च ज्ञानभक्तिशान्तिसन्तोषादिदौर्लभ्यमेव, तथापि यथाऽनादिकालात् गिरिकन्दरादिषु बद्धमूलमपि तमः प्रथमप्रदीपप्रभयैव पलायते, प्रकाशेन सङ्घर्षाय न प्रतिभटो भवति, तथैवानाद्यविद्योपबृंहितं बद्धमूलमपि कामक्रोधविद्यातृषाशनायादयो भक्तिविद्याशान्तिदान्त्यादीनामाविर्भावमात्रादेवास्तं यान्ति, बुद्धेस्तत्त्वपक्षपातित्वात्। धर्मकीर्तिर्बौद्धोऽपि तथैवाह—'निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः। न बाधो यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः॥' (प्रमाणवार्तिके) इति। अत एवान्ते दैवपक्षस्य विजयोऽसुरपक्षस्य पराजयः। तथैव श्रियोऽनुग्रहेऽनादिप्ररूढाया अपि क्षुत्पिपासामलाया ज्येष्ठाया अपि अलक्ष्म्या नाश एव भवति।

हे श्रीः, त्वम् अभूतिम् असम्पत्तिं सर्वां चासमृद्धिम् असंवृद्धिं मे मम गृहाद् निर्णुद निवारय। त्वत्कृपाकटाक्षितस्यैवेश्वरत्वात्। यत्र भूयांसस्त्वदपाङ्गाः पतन्ति स एव परब्रह्म परमेश्वरो वा भवति। अमी अपाङ्गा यत्र द्वित्राः पतन्ति स इन्द्रादिर्भवति। तदुक्तं गुणरत्नकोशे—'अपाङ्गा भूयांसो यदुपरि परब्रह्म तदभूदमी यत्र द्वित्राः स च शतमखादिस्तदधरात्। अतः श्रीराम्नायस्तदुभयमुशंस्त्वां प्रणिजगौ प्रशस्तिः सा राज्ञो यदपि च पुरीकोशकथनम्॥' (३०)। हे श्रीः, भूयांसो बहुसंख्याका अपाङ्गाः कटाक्षा यदुपरि पतन्ति तद्वस्तु परब्रह्म अभूत्। तव कटाक्षविषयीभूतं वस्तु परब्रह्मत्वमुपागच्छदित्यर्थः। अमी अपाङ्गा यत्र द्वित्रा द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः प्रसरन्ति स तदधरात् परब्रह्मणोऽर्वाचीन इन्द्रादिर्भवति। अतस्त्वत्कटाक्षलब्धविभवत्वात् तदुभयं परब्रह्मशतमखादिरूपम् उशन् कामयमानः वदन्नाम्नायः त्वामेव प्रणिजगौ सुस्पष्टं

लिये यह सारा ऐश्वर्य मल अविद्यामूलक है। इस तरह की क्षुधा और पिपासा रूपी मलों से भरी हुई ज्येष्ठा, अर्थात् लक्ष्मी से पहले उत्पन्न हुई अलक्ष्मी का, अर्थात् दरिद्रता का मैं नाश कर देना चाहता हूं। जैसे ज्ञान अज्ञान पूर्वक है, उसी तरह से लक्ष्मी भी दरिद्रता के साथ ही रहती है। देवों की अपेक्षा असुर ज्येष्ठ और बलवान् होते हैं, उनका आधिक्य भी रहता है, क्योंकि अनादि काल से संस्कार में उनकी जड़ें गहरी जमी हुई हैं। जैसे चावल आदि को भूंजने वाली भाड़ में चावल, यव, गोधूम आदि भी अपने पूर्व रूप में नहीं रह पाते, तब उनसे अंकुर आदि की उत्पत्ति होना तो असम्भव ही है, उसी तरह से अविद्या, भूख, प्यास, काम, क्रोध रूपी भाड़ वाले अन्तःकरण में और इस संसार में ज्ञान, भक्ति, शान्ति, सन्तोष आदि गुणों की स्थिति भी अत्यन्त दुर्लभ है। इस स्थिति में भी अनादि काल से पहाड़ की गुफा में विद्यमान अन्धकार प्रदीप की प्रथम लौ के देखते ही जैसे भागा जाता है, प्रकाश के साथ वह संघर्ष नहीं कर पाता, उसी तरह से अनादि अविद्या के कारण बढ़ा हुआ काम, क्रोध, अविद्या आदि का आवेग भक्ति, विद्या, शान्ति आदि के प्रादुर्भाव के साथ ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि बुद्धि सदा सद्गुणों के साथ ही पक्षपात करती है। बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने भी अपने ग्रन्थ प्रमाणवार्तिक में इस बात को स्वीकार किया है। इसीलिये अन्त में देवपक्ष की विजय और असुरपक्ष की पराजय होती है। इसी न्याय से लक्ष्मी का अनुग्रह होने पर अनादि काल से प्ररूढ क्षुत्पिपासामयी ज्येष्ठा अलक्ष्मी का भी नाश हो ही जाता है।

हे लक्ष्मी, आप सारी अभूति (अनैश्वर्य) और असमृद्धि को मेरे घर से निकाल कर दूर भगा दीजिये। आपकी कृपादृष्टि जिस पर पड़ती है, वही ईश्वर अर्थात् समर्थ हो सकता है। जहाँ पर आपकी कृपादृष्टि अधिक रहती है, वह तो परब्रह्म अथवा परमेश्वर ही हो जाता है। जहाँ पर आप की कृपादृष्टि दो तीन बार पड़ती हैं, वह इन्द्र प्रभृति का स्थान ग्रहण करता है। इस विषय का प्रतिपादन गुणरत्नकोशकार ने 'अपाङ्गा भूयांसो' इत्यादि श्लोक में किया है। इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि हे लक्ष्मी, जहां आपके बहुसंख्यक कृपाकटाक्ष बरसते हैं, वह तो परब्रह्म ही बन जाता है। यह कृपा दृष्टि जहाँ दो तीन बार पड़ती है, वह परब्रह्म से नीचे के इन्द्र प्रभृति पदों को प्राप्त कर लेता है। इसलिये उक्त पदों की प्राप्ति के निमित्त के रूप में आप के कृपा कटाक्ष को ही शास्त्र प्रमुख कारण के रूप में वर्णित करते हैं। इस सम्बन्ध में आप की ही स्तुति में शास्त्र प्रवृत्त है। जैसे किसी राजधानी की धन सम्पत्ति का वर्णन करने से

गदितवान्, यथा पुर्या राजधान्याः कोशस्य धनसम्पदादेश्च यद्वर्णनं क्रियते । तद्यथा राजस्तत्परिपालकस्य प्रभोरेव प्रशस्तिर्भवति, तथैव परब्रह्मशतमखादिवर्णनमपि त्वन्माहात्म्यवर्णनमेव भवति । विष्णोः परमेश्वरस्य त्वदायत्तैश्वर्यत्वेऽपि न वैगुण्यम् । यथा माणिक्यं स्वकान्त्या महार्घं निरवधिकमूल्यं भवदपि न विगुणं भवति, तथैव कौस्तुभादेः कान्तिरिव त्वं स्वभावात्तस्य निरुपाधिकात्मस्वभावासि । तेन त्वदायत्तर्द्धित्वेऽपि सोऽपराधीनविभवोऽभवत् । तदपि तत्रैवोक्तम्—'स्वतः श्रीस्त्वं विष्णोः स्वमसि तव एवैष भगवांस्त्वदायत्तर्द्धित्वेऽप्यभवदपराधीनविभवः । स्वयं दीप्त्या रत्नं भवदपि महर्घं न विगुणं न कुण्ठस्वातन्त्र्यं भवति च न चान्याहितगुणम् ॥' इति ॥८॥

गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् ॥
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम् ॥९॥

गन्धो ग्राह्यो गुणो द्वारं लक्षणं प्रमापकं प्रमाणं भवति यस्यां सा गन्धद्वारा ताम् । शोभनानि गन्धानि शोभनगन्धवन्ति द्वाराणि पुरप्रवेशद्वाराणि गृहप्रवेशद्वाराणि वा यस्याः सा गन्धद्वारा ताम् । दुराधर्षां केनापि धर्षयितुमशक्याम् । दैव्यदानवाद्यनभिभूतप्रभावां नित्यपुष्टां सदा सस्यादिभिः समृद्धां करीषिणीं करीषोऽस्त्यस्या आश्रयत्वेनेति करीषिणी ताम् । 'गोमये वसते लक्ष्मीः' इति स्मृतेः । यद्वा करोषः शुष्कगोमयः, तद्वतीं गवाश्वादिबहुधनोपेतां सर्वभूतानां सर्वप्राणिनामीश्वरीं स्वामिनीम्, आधारभूताम् अधिष्ठानभूतां सर्वस्याप्यधिष्ठानस्यैव सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन स्वाध्यायस्तस्य नियामकत्वात् । भूमिरूपां भूशक्तिस्वरूपां वा उपह्वये ॥९॥

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि ।
पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः ॥१०॥

मनसः अन्तःकरणस्य कामं मनोरथमभिलाषम् आकूतिं सङ्कल्पं गमनागमनादिचेष्टां वा वाचः वागिन्द्रियस्य सत्यं यथार्थभाषणं पशूनां गोमहिषादीनां रूपं क्षीरादि अन्नस्य अदनीयस्य च रूपं भक्ष्यादिचतुर्विधं च अशीमहि लभेमहि । त्वदनुग्रहेण मनोवाक्कायसङ्कल्पचेष्टादिलक्षणानि कर्माणि शुभानि सफलानि च भवन्त्वित्यर्थः । श्रीः सम्पत् यशः कीर्तिश्च मयि त्वदुपासके श्रयताम् आश्रयताम् ॥१०॥

उसके परिपालक राजा की ही प्रशस्ति होती है । उसी तरह से परब्रह्म, शतमुख (इन्द्र) आदि के वर्णन से भी उस लक्ष्मी के माहात्म्य का ही वर्णन होता है । भगवान् विष्णु का सारा ऐश्वर्य लक्ष्मी के ही अधीन रहे, इससे उनमें कोई वैगुण्य नहीं आवेगा । जैसे माणिक्य अपनी कान्ति के कारण बहुमूल्य होता है, उसमें कोई वैगुण्य नहीं मिलता, उसी तरह से कौस्तुभ आदि मणियों की कान्ति भी लक्ष्मी की कान्ति के कारण ही है । अतः स्वयं लक्ष्मी ही निरुपाधिक कान्ति और ऐश्वर्यवाली है, अन्य सारी समृद्धियां उस लक्ष्मी के ही अधीन हैं । यह लक्ष्मी भगवान् का ही निरुपाधिक स्वरूप है, अतः सब कुछ लक्ष्मीके अधीन रहने पर भी भगवान् का सारा वैभव स्वायत्त ही रहता है, पराधीन नहीं । इसी बात को गुणरत्न कोशकार ने 'स्वतः श्रीस्त्वं' इस श्लोक में कहा है ॥ ८ ॥

घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य गुणगन्ध जिसका प्रमापक है अथवा जिसके पुर में या गृह में प्रवेश के साधन दरवाजे सुगन्ध से सुवासित हैं जो स्वयं दुराधर्ष है, देव, दानव प्रभृति जिसके प्रभाव को दबा नहीं सकते, जो स्वयं धन-धान्यादि से सदा सम्पन्न है, करीष अर्थात् गोमय में जो निवास करने वाली है अथवा शुष्क गोमय (गोहरी) वाली, अर्थात् गाय, घोड़ा आदि पशुधन से जो संपन्न है, उन सभी प्राणियों की स्वामिनी, सभी आधारों को सत्ता और स्फूर्ति देने वाली शक्तिस्वरूपिणी भगवती लक्ष्मी को मैं अपने पास बुलाता हूं ॥ ९ ॥

अन्तःकरण की अभिलाषा को, संकल्प को अथवा गमन, आगमन प्रभृति चेष्टाओं को, वाणी की सत्यता को, गो, महिष आदि को, क्षीर प्रभृति अदनीय चतुर्विध भक्ष्यादि पदार्थों को हम लक्ष्मी की कृपा से सदा प्राप्त कर सकें । हे लक्ष्मी' आपके अनुग्रह से ही हमारे मन, वाणी और शरीर की संकल्प, चेष्टा लक्षणक्रियाएं शुभ और सफल हों । आपके उपासकों को सम्पत्ति और यश की प्राप्ति सदा होती रहे ॥ १० ॥

कर्दमेन प्रजा भूता मयि सम्भव कर्दम।
श्रियं वासय मे कुले मातरं पद्ममालिनीम् ॥११॥

कर्दमेन कर्दमाख्यपुत्रेण प्रजा प्र प्रकृष्टा जा अपत्यं यस्याः सा। कर्दमाख्येन प्रकृष्टापत्येनापत्यवती सुपुत्रेत्यर्थः। 'जा अपत्यम्' (नि० ६।९) इति यास्कोक्तेः। भूता अभवत्। श्रीः कर्दमाख्येन प्रकृष्टपुत्रेण सपुत्रा अभवत्। अतः हे श्रीपुत्रकर्दम त्वं मयि मदीये गृहे संभव संवस। अतः पद्ममालिनीं कमलमालाधारिणीं मातरं त्वदीयां जननीं श्रियं मे मम कुले वंशे वासय निवासं कारय। कर्दमस्य प्रजापतेः महातपसः देवहूत्याः सुखार्थं दिव्यविमानगृहादिनिर्मितवतः प्रख्यातमहावैभवस्य श्रीपुत्रत्वादेव तथात्वं ज्ञातव्यम्। श्रियः पुत्रवात्सल्यात् तदिच्छया तदभिमते गृहे वासो नासम्भवः ॥११॥

आपः सृजन्तु स्निग्धानि चिक्लीत वस मे गृहे।
नि च देवीं मातरं श्रियं वासय मे कुले ॥१२॥

आपः उदकानि तदभिमानिन्यो देवता आप इत्युच्यन्ते। ताश्च स्निग्धानि स्नेहयुक्तानि कार्याणि सृजन्तु उत्पादयन्तु, सोमात्मकानामपां स्नेहमयत्वात्। अग्नीषोमात्मकस्य जगतः सर्वस्यैवाग्नीषोमकार्यत्वं प्रसिद्धम्। अग्निप्राधान्येन काठिन्यबलवत्त्वाद्युपेतं कार्यं भवति। सोमप्राधान्येन स्नेहप्रधानानि कार्याणि भवन्ति। नहि स्नेहमन्तरा किञ्चिदपि वस्तु वस्त्वन्तरेण संश्लिष्यते युज्यते च। स्नेहमन्तरा न परमाणुः परमाण्वन्तरेण द्व्यणुकं द्व्यणुकाभ्यां श्लिष्यते। स्नेहेनैव मित्राणि मित्रैः पत्न्यः पतिभिः संयुज्यन्ते। देवमनुष्यादयः सर्वेऽपि स्नेहाविष्टाः सन्तः स्निग्धानि कार्याणि यज्जनयन्ति तत्सोमात्मकानामपां स्नेहनादेवेति।

हे चिक्लीताख्य श्रीपुत्र, मे मम गृहे वस निवस। अपि च, देवीं क्रीडापरां मातरं श्रियं मम कुले वासय निवासय। वेदवेदान्तवेद्यं सच्चिदानन्दात्मकं मूलतत्त्वमेव सर्वस्य प्रपञ्चस्य निमित्तकारणमुपादानकारणं च। यथैव बीजेऽङ्कुरोत्पादिनी शक्तिर्भवति, तथैव ब्रह्मणि प्रपञ्चोत्पादिनी शक्तिर्भवति। साधिष्ठाना शक्तिः, शक्तिमद्ब्रह्म चानर्थान्तरमेव। तत्र साधिष्ठाना शक्तिरेव विमर्शप्रधाना प्रकाशः। शक्तिमद्ब्रह्मैव च प्रकाशप्रधानो विमर्शः। यथा शीतोष्णाभ्यां तन्त्रीभ्यामेव संयुज्य विद्युत्प्र-

हे लक्ष्मी, आप कर्दम नाम के प्रकृष्ट गुणसम्पन्न अपने पुत्र के कारण पुत्रवती हैं। यास्क के निरुक्त में 'जा' का अर्थ पुत्र (अपत्य) किया गया है। हे कर्दम, आप जैसे सुपुत्र के कारण लक्ष्मी पुत्रवती हुई थी। हे श्री पुत्र कर्दम, आप मेरे घर में निवास कीजिये और कमल की माला धारण करने वाली अपनी माता लक्ष्मी को भी आप मेरे घर ले आइये। कर्दम प्रजापति ने अपनी तपस्या से देवहूति की सुख-सुविधा के दिव्य विमान का घर बना दिया था और उसमें सारा वैभव इकट्ठा कर दिया था। इसका कारण यही था कि वे लक्ष्मी के सुयोग्य पुत्र थे। पुत्र के वात्सल्य के कारण लक्ष्मी उनकी इच्छा के अनुसार किसी घर में निवास करे, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है॥ ११ ॥

जल की अभिमानिनी देवता 'आपः' नाम से अभिहित है। यह जलदेवता स्नेह पूर्ण वातावरण की सृष्टि करें, क्योंकि सोमात्मक जल देवता स्नेह से ओत प्रोत हैं। यह जगत् अग्नीषोमात्मक है, अतः इसमें शोषण और आप्यायन क्रियाएं निरन्तर चलती रहती हैं अग्नि की प्रधानता में काठिन्य और बलसम्पन्न कार्यों की उत्पत्ति होती है और सोम की प्रधानता में स्नेहप्रधान कार्यों की। बिना स्नेह के कोई भी वस्तु एक दूसरे से मिल या जुट नहीं सकती। इसके बिना एक परमाणु दूसरे परमाणु से और एक द्व्यणुक दूसरे द्व्यणुक से नहीं जुट सकता। स्नेह के कारण ही एक मित्र दूसरे मित्र के साथ और पत्नी पति के साथ स्नेह से रहते हैं। देव, मनुष्य सभी प्राणी स्नेह से आविष्ट होकर सौहार्दपूर्ण वातावरण की सृष्टि करते हैं, यह सोमात्मक जल देवता का ही प्रसाद है।

हे चिक्लीत नामक लक्ष्मी के पुत्र, आप मेरे घर में निवास कीजिये और क्रीडनशीला देवी अपनी माता लक्ष्मी को भी आप मेरे ही घर निवास कराइये। वेद और वेदान्त से जानने योग्य सच्चिदानन्दात्मक मूलतत्त्व ही सारे प्रपंच का निमित्तकारण और उपादान कारण है। जैसे बीज में अंकुर को उत्पन्न करनेवाली शक्ति रहती है, उसी तरह से ब्रह्म में प्रपंच को उत्पन्न करने वाली शक्ति-

काशो दोप्यते, तथैव प्रकाशविमर्शयोर्ब्रह्मतच्छक्त्योरेवाग्नीषोमात्मनाऽभिव्यक्तिः। तयोरेव प्रसिद्धसूर्यचन्द्ररूपेणाग्निजलरूपेण चाभिव्यक्तिः। सृष्टिसमयेऽभ्युदयाय स्नेहप्रीतिसामञ्जस्यादिकमपेक्षितम्। मातृषु वात्सल्यं पत्नीषु मित्रेषु स्नेहादिकं यत् दृश्यते तत्सर्वं मूलभूतायाः श्रियः सकाशादेव सम्भवति। यथाधिष्ठानसत्त्वस्फूर्तिभ्यामेव तदध्यस्तानां सत्तावत्त्वं स्फूर्तिमत्त्वं च सम्भवति, तथैव साधिष्ठानायाः शक्तेः श्रिय एव स्नेहवात्सल्यप्रीत्यादयः सर्वत्र प्रसरन्ति। यथा अस्ति भातीति ब्रह्मण एव रूपद्वयं सर्वत्रानुभूयते, तथैवेष्टमिति वा प्रियमिति वा यद्भाति तदपि ब्रह्मरूपमेव, तस्यैव सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात्। प्रेमास्पदता च सर्वातिशायिनी प्रतीच्येव पर्यवस्यति, 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति', (बृ० उ० २।४।५) इति श्रुतेः।

स च प्रत्यगात्मा चितिरूपाया ब्रह्मात्मिकाया तत्पदार्थात्मिकाया एव रूपान्तरमिति तस्मिन्नेव तत्पुत्रत्वकल्पना भवति। तस्य च परप्रेमास्पदत्वादेव स्निग्धत्वात् प्रेमक्लिन्नत्वात् चिक्लीतकर्दमादिपदवाच्यता। तत एव चिक्लीतकर्दमयोरभेद एव मन्तव्यः। निरतिशयपरप्रेमास्पदत्वाभिप्रायेणैवान्यत्र प्रत्यक्परात्मनोरेव दिव्यदम्पतीत्वमपि। यथा व्याजहार तत्रभवान् कविकुलगुरुः श्रीकालिदासः—'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ॥' श्रीशङ्कराचार्यैः प्रत्यक्परात्मनोर्जलवीचिभाव उक्तः। तरङ्गाणां समुद्रोपर्युपलभ्यमानत्वाभिप्रायेणैव श्रियो विष्णुवक्षःस्थलस्थायित्वम्। राधायाः श्रीमत्कृष्णाङ्कपर्यङ्कस्थायित्वम्, राजराजेश्वर्यास्त्रिपुरसुन्दर्याः कामेश्वराङ्कनिलयात्वमुक्तम्। प्रकृते तु ब्रह्मचिद्रूपाया निरतिशयप्रेमास्पदत्वेन प्रत्यक्समूहरूपस्यैव कर्दमत्वं चिक्लीतत्वं चोक्तम्। पुत्रवात्सल्यातिशयाद्यथा जननी प्रियपुत्रपराधीना पुत्रेच्छयैव तत्र तत्र तिष्ठति, तथैव कर्दमस्य चिक्लीतस्य वा प्रसादेन तदभीष्टस्थले सर्वैश्वर्यपूर्णायास्तत्पदार्था-

विद्यमान है। अधिष्ठान के साथ शक्ति अथवा शक्ति के साथ ब्रह्म इन दोनों वाक्यों से एक ही अर्थ का बोध होता है। इनमें से अधिष्ठान के साथ शक्ति को विमर्शप्रधान प्रकाश और शक्ति के साथ ब्रह्म को प्रकाशप्रधानविमर्श के नाम से तान्त्रिकगण जानते हैं। जैसे ठंढे और गरम तारों के मिलने पर ही बिजली का प्रकाश होता है, उसी तरह से प्रकाश और विमर्श, ब्रह्म और उसकी शक्ति से ही अग्नीषोमात्मक जगत् की अभिव्यक्ति होती है। सूर्य और चन्द्र, अग्नि और जल के रूप में भी ये ही अभिव्यक्त होते हैं। सृष्टि के समय उसकी अभिवृद्धि के लिये स्नेह, प्रीति, सामंजस्य आदि की अपेक्षा रहती है। माता का वात्सल्य, पति, पत्नी, मित्र आदि का स्नेह यह सब लक्ष्मी के प्रसाद से ही प्राप्त होता है। जैसे अधिष्ठान की सत्ता और स्फूर्ति से ही उसमें अध्यस्त समस्त पदार्थ सत्तावान् और स्फूर्तिमान् दिखाई पड़ते हैं, उसी तरह से साधिष्ठान शक्ति अर्थात् लक्ष्मी से ही स्नेह, वात्सल्य, प्रीति प्रभृति का अन्यत्र स्फुरण (प्रसार) होता है। जैसे अस्ति (विद्यमान है) और भाति (प्रकाशित हो रहा है) ये दो ब्रह्म के ही स्वरूप सर्वत्र अनुभूत होते हैं, उसी तरह से इष्ट, प्रिय आदि रूपों में भासित हो रही वस्तु भी ब्रह्म का ही स्वरूप है। उक्त ब्रह्म ही सभी प्राणियों का परम प्रेमास्पद है। सर्वातिशायिनी प्रेमास्पदता अपनी आत्मा में ही पर्यवसित होती है बृहदारण्यक श्रुति भी कहती है कि अपने लिये ही सब कुछ प्रिय होता है।

यह प्रत्यगात्मा चितिस्वरूपिणी ब्रह्मात्मिका तत्पदार्थात्मिका लक्ष्मी का ही रूपान्तर है, इसीलिये तत्पदार्थबोध्य जीव को यहां लक्ष्मी का पुत्र कहा गया है। वह परम प्रेमास्पद है, उसके ऊपर माता का अत्यन्त स्नेह है, वह उसके प्रेम से क्लिन्न (आर्द्र) है अतः उस लक्ष्मी के पुत्र जीव को यहां चिक्लीत अथवा कर्दम के नाम से जाना जाता है। इस तरह से चिक्लीत और कर्दम का अभिन्न व्यक्ति है। निरतिशय परम प्रेमास्पद होने से ही प्रत्यक् और पराक् आत्मा का अन्यत्र दिव्य दम्पती के रूप में वर्णन मिलता है। जैसा कि कविकुलगुरु कालिदास ने रघुवंश के प्रथम श्लोक में कहा है—'वाणी (शब्द) और अर्थ के ज्ञान के लिये मैं शब्द और अर्थ के समान सम्पृक्त, जगत् के माता पिता, पार्वती और परमेश्वर (शिव) को प्रणाम करता हूं'। भगवान् शंकराचार्य ने प्रत्यक् (जीव) और पराग् (परमेश्वर), आत्मा का जल और उसकी तरंग के रूप में वर्णन किया है। तरङ्गें जैसे समुद्र के ऊपर लहराती हैं, उसी तरह से लक्ष्मी भी विष्णु के वक्षस्थल पर विराजमान रहती हैं। राधा श्री कृष्ण की गोद में और राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी कामेश्वर के अंक में निवास करती हैं। प्रस्तुत स्थल में ब्रह्म चित्स्वरूपिणी लक्ष्मी के परम प्रेम की आस्पद होने से प्रत्यक् स्वरूप जीवात्मा ही कर्दम अथवा चिक्लीत के नाम से कहा गया है। अतिशय पुत्रवात्सल्य के कारण माता अपने प्रिय पुत्र के अधीन होकर पुत्र की इच्छा के अनुसार ही सब कुछ करती है, उसी तरह से कर्दम अथवा चिक्लीत के प्रसाद से सब ऐश्वर्यों से परिपूर्ण तत्पदार्थात्मिका (ब्रह्मात्मस्वरूपिणी) भगवती लक्ष्मी भी उनकी इच्छानुसार ही जहां वे कहते हैं वहां निवास करती है। अतः चिक्लीत से यह प्रार्थना करना उचित ही है कि आप माता लक्ष्मी

त्मिकाया भगवत्याः श्रियो वासो भवतीति तदेव प्रार्थ्यते ॥१२॥

आर्द्रां पुष्करिणीं पुष्टिं पिङ्गलां पद्ममालिनीम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ॥१३॥

आर्द्रां क्लिन्नां क्षीरोदधेरुत्पन्नत्वात् । दयार्द्रहृदयां वा । रुद्ररूपां वा । पुष्करिणीं पुष्करं पदम् अस्ति अस्याः (हस्ते) इति पुष्करिणी ताम् । यद्वा पुष्करं गजशुण्डाग्रम् अभिषेकार्थम् उद्युक्तं दिग्गजानां पुष्करं शुण्डाग्रे यस्याः सा पुष्करिणी ताम् । 'पुष्करं द्वीपतीर्थाहिखगराजौषधान्तरे । तुर्यांशेऽसि फले काण्डे शुण्डाग्रे खे जलेऽम्बुजे ॥' (अनेकार्थसङ्ग्रह, ३।६१४-६१५) इति अनेकार्थसङ्ग्रहकोषात् पद्मलतारूपां वा । पुष्टिं पुष्टिमतीं चित्साररूपत्वाच्छक्तिरूपत्वाच्च पुष्टिप्रदां वा पुष्टिरूपां पुष्टाभिमानिनीं देवतां वा, 'या देवी सर्वभूतेषु पुष्टिरूपेण संस्थिता' इति सप्तशतीवचनात् । पिङ्गलां पिङ्गलवर्णाम्, तप्तकाञ्चनप्रभामित्यर्थः । पद्ममालिनीं पद्ममालाधारिणीम् । चन्द्रां चन्द्रवदाह्लादकारिणीं चन्द्रमुखीं वा । हिरण्मयीं ज्योतिर्मयीं सर्वज्योतिषां ज्योतिर्ब्रह्मरूपां वा । लक्ष्मीं दिव्यलक्षणोज्ज्वलां विष्णुपत्नीं मे मह्यं हे जातवेदः वेदाविर्भावक नारायण, आवह आवाहय ॥१३॥

'आर्द्रां यष्करिणीं यष्टिं सुवर्णां हेममालिनीम् ।
सूर्यां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ॥१४॥

आर्द्रां क्लिन्नाम् अकारणकारुण्यद्रवहृदयां यष्करिणीं यष्टियुक्तकराम् पृषोदरादित्वात् साधुत्वम् । वेत्रहस्तां रत्नाद्यलङ्कृतदण्डधारिणीं वा यष्टिदण्डविधात्रीं शिक्षणकर्त्रीं वा । यष्टिदण्डरूपां तद्युतां धर्मदण्डस्वरूपिणीं सतामालम्बनयष्टिरूपां वा । सुवर्णां शोभनवर्णां सुवर्णसमानवर्णां वा काञ्चनस्वरूपां हेममालिनीं हेम्ना हेमविकारैः सुवर्णाभरणैर्मलते शोभव इति हेममालिनी, तां हेमविकृतमणिश्रृङ्खलादिमालायुक्ताम् । सूर्यां सूर्यवत्प्रकाशमानां सूर्यवत् ज्ञानप्रकाशप्रदां सूर्यरूपां वा । अथवा सूर्यवज्जगतो जङ्गमशीलस्य तस्थुषः स्थावरस्य चात्मभूतां आदिकारणभूतां वा तां हिरण्मयीं ब्रह्मज्योतीरूपां लक्ष्मीं मे मह्यं हे जातवेदः, अग्ने परमेश्वर आवह आनय ॥१४॥

को मेरे कुल में निवास करने के लिये कहिये ॥ १२ ॥

क्षीर सागर से उत्पन्न होने के कारण लक्ष्मी सदा क्लिन्न रहती हैं । दया से इनका हृदय भरा रहता है । अथवा ये रुद्रदेवता आर्द्रा नक्षत्र स्वरूपिणी हैं । इनके हाथ में पुष्कर (पद्म) विराजमान है । अथवा हाथी की सूंड का अग्रभाग अभिषेक के लिये सदा इनके सामने रहता है । अभिधान चिन्तामणि में पुष्कर शब्द शुण्डाग्र के अर्थ में भी पठित है । तदनुसार दिग्गजों की सूंड का अग्रभाग सदा लक्ष्मी की सेवा में लगा रहता है, यह अर्थ होगा । अथवा यह लक्ष्मी प्रेमलता रूप हैं । यह लक्ष्मी चित्तत्व का सार और शक्तिस्वरूपिणी है, अतः यह पुष्टिमती है, पुष्टिप्रद, पुष्टिरूप अथवा पुष्टि की अभिमानिनी देवता है । दुर्गासप्तशती में बताया गया है कि यह देवी सभी प्राणियों में पुष्टि के रूप में रहती है । यह पिङ्गलवर्ण है, तपे हुए सोने के समान इनका वर्ण है । पद्म की माला धारण करने वाली, चन्द्रमा के समान आह्लादित करने वाली अथवा चन्द्रमा के समान मुख वाली, ज्योतिर्मयी सभी ज्योतियों को प्रकाशित करने वाली अथवा ब्रह्मस्वरूपिणी यह लक्ष्मी दिव्य लक्षण वाली विष्णु की पत्नी है । हे जातवेद, वेद के आविर्भावक नारायण आप मेरे लिये उस लक्ष्मी को बुला दीजिये ॥ १३ ॥

अकारण करुणा से दयार्द्र हृदयवाली, वेत्र दण्ड को हाथ में धारण करनेवाली अथवा रत्न आदि से अलंकृत दण्ड को धारण करने वाली अथवा सभी प्राणियों को शिक्षा देने वाली, यष्टि दण्ड को धारण करनेवाली, धर्मदण्ड का स्वरूप धारण करने वाली अथवा सज्जनों को सहारा देने वाली, शोभन वर्णवाली अथवा सुवर्ण के समान वर्णवाली अथवा काञ्चनस्वरूपिणी, सोने के गहनों से सुशोभित, सूर्य के समान प्रकाशमान, अथवा सूर्य के समान ज्ञान का प्रकाश देनेवाली, अथवा सूर्यस्वरूपिणी, अथवा सूर्य के समान स्थावर और जंगम जगत् की आत्मभूत, अथवा आदिकारणभूत, उस ब्रह्म ज्योतिस्वरूपिणी लक्ष्मी को, हे जातवेद अग्ने, परमेश्वर, मेरे लिये बुला दीजिये ॥ १४ ॥

तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।
यस्यां हिरण्यं प्रभूतं गावो दास्योऽश्वान् विन्देयं पुरुषानहम् ॥१५॥

हे जातवेदः, जातप्रज्ञ, जातोपलक्षित जाताजातसर्ववेदितः सर्ववेदकारणत्वेन सर्वज्ञानभुक् हे सर्वज्ञ परमेश्वर, तां पूर्वोक्तलक्षणां लोके वेदे च ब्रह्मविद्वरिष्ठगोष्ठ्यां वा सर्वकारणत्वेन सर्वैश्वर्यवत्त्वेन प्रसिद्धां वा अनपगामिनीम् अनपायिनीं नित्यां लक्ष्मीं मे मह्यम् आवह आनय आवाहय वा । यस्यां प्रसन्नायामावाहितायां वा प्रभूतं भूयिष्ठं हिरण्यं सुवर्णं गावो गाः धेनूः दास्यः दासीः सेविकाः । उभयत्र छान्दसत्वात् व्यत्ययेन प्रथमा । अश्वान् हयान् पुरुषान् पुत्रमित्रादीनहं विन्देयं लभेय ॥१५॥

यः शुचिः प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम् ।
श्रियः पञ्चदशर्चं च श्रीकामः सततं जपेत् ॥१६॥

यः पुमानधिकृत उपनीतस्त्रैवर्णिकः । श्रीकामः श्रियं लक्ष्मीं परब्रह्माकारां वृत्तिं वा कामयमानः शुचिः वाह्याभ्यन्तरं शुद्धः । मृज्जलाभ्यां बाह्यतः, कामक्रोधाहङ्कारादिपरिहारेणान्तरतः पवित्रः प्रयतः । जितेन्द्रियो भूत्वा अन्वहं प्रतिदिवसं पञ्चदशभिः पूर्वोक्ताभिर्ऋग्भिः, आज्यं घृतमाहवनीये आवसथ्ये यथोक्तसंस्कारसंस्कृते लौकिके वाग्नौ जुहुयात् होमं कुर्यात् सन्ततं निरन्तरं च श्रियः श्रीदैवतं पञ्चदशर्चं जपेत् तस्य पूर्वोक्तं वक्ष्यमाणं च फलं सम्पादय, हे जातवेद इति शेषः । स सकामश्चेदभीष्टफलसिद्धिं निष्कामश्चेन्निरावरणब्रह्मरूपं मोक्षं श्रियोऽनुग्रहं च प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१६॥

पद्मानने पद्मऊरु पद्माक्षि पद्मसम्भवे ।
तन्मे भजसि पद्माक्षि येन सौख्यं लभाम्यहम् ॥१७॥

पद्मानने पद्मवद्वर्तुलं सुन्दरं सुगन्धि आननं मुखं यस्याः सा पद्मानना तत्सम्बुद्धौ । हे लक्ष्मि, मे मह्यं तत् चतुर्वर्गं तत्तल्लोकोत्तरं प्रेमतत्त्वं वा त्वं भजसि यच्छसि, धातूनामनेकार्थत्वात् । येनाहं सौख्यं सुस्थत्वं लभामि प्राप्नुयाम् । पद्मऊरू पद्मवत् कोमले ऊरू यस्याः सा पद्मऊरूस्तत्सम्बुद्धौ, असन्धिरार्षः । पद्माक्षि पद्मवदक्षिणी यस्याः सा पद्माक्षी तत्सम्बुद्धौ ।

हे जातवेद, जातप्रज्ञ, जात (उत्पन्न) और अजात सभी पदार्थों को जानने वाले, सभी वेदों के कारणभूत अतएव सर्वज्ञानयुक्त हे सर्वज्ञ परमेश्वर, लोक, वेद और वरिष्ठ ब्रह्मवेत्ताओं की गोष्ठी में सभी जगत् के कारण के रूप में अथवा सारे ऐश्वर्य के देने वाली के रूप में जो प्रसिद्ध हैं, उस अनपायिनी नित्यलक्षणवाली लक्ष्मी को आप मेरे लिये बुला दीजिये अथवा मेरे पास ले आइये । उस लक्ष्मी के प्रसन्न होने पर अथवा पास में बुला लेने पर प्रभूत सुवर्ण, गाय, धेनु, दास, दासी, घोड़े और पुरुष अर्थात् पुत्र, मित्र, बान्धव आदि की प्राप्ति होती है ॥ १५ ॥

जो अधिकारी पुरुष, त्रैवर्णिक उपनीत व्यक्ति, लक्ष्मी को चाहता है अथवा परब्रह्म के आकार वाली चित्तवृत्ति को चाहता है वह वाह्य और आभ्यन्तर से पवित्र होकर, अर्थात् मिट्टी, जल आदि से बाह्य शरीर की शुद्धि और काम, क्रोध, अहंकार प्रभृति का त्याग कर अन्तःकरण की शुद्धि करके, अपनी इन्द्रियों को अपने वश में करले । तब प्रतिदिन पूर्वोक्त पन्द्रह ऋचाओं से आहवनीय आवसथ्य अथवा यथोक्त संस्कारों से संस्कृत, लौकिक अग्नि में हवन करे और सदा उक्त पन्द्रह ऋचाओं वाले श्री देवता वाले सूक्त का पाठ करे । हे जातवेद अग्ने, उसको आप पूर्वोक्त तथा आगे कहे गये फल को प्रदान करें । इस प्रकार श्रीसूक्त का पाठ और उसके हवन करने वाला व्यक्ति यदि सकाम है, तो अभीष्ट फल की सिद्धि होती है और यदि वह निष्काम है, तो उसको निरावरण मोक्ष की अथवा लक्ष्मी के अनुग्रह की प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

पद्म के समान वर्तुल, सुन्दर और सुगन्धयुक्त मुख वाली हे लक्ष्मि, आप मुझे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को अथवा लोकोत्तर प्रेमतत्त्व को देने वाली हैं । इससे मुझे सुख और स्थिरता मिलती है । हे पद्म के समान कोमल जंघा वाली, हे पद्म के समान नेत्र-वाली लक्ष्मि, अथवा पद अर्थात् भगवान् नारायण के चरण कमल के सदृशया शोभा जिनके नेत्रों की है, वह पद्माक्षी लक्ष्मी 'पद्माक्षि

यद्वा पदोर्नारायणपदयोर्या शोभा पद्मा तस्यामक्षिणी यस्याः सा पद्माक्षी तत्सम्बुद्धौ। अस्य शब्दस्य द्विरुक्तिरादरार्था। अतिविशालनेत्रत्वेन सर्वद्रष्ट्रीत्वं सर्वज्ञात्वं वा भगवत्याः। अर्थाद् हे सर्वज्ञे भगवति पद्मसम्भवे, पद्मात् सम्भवो यस्याः सा पद्मसम्भवा कमलोत्पत्तिका तत्सम्बुद्धौ। यद्वा—'पद्मो व्यूहे निधौ अहौ। संख्याब्जयोः पद्ममिभविन्दौ' (अनेकार्थसङ्ग्रह ३३२) इति अनेकार्थसङ्ग्रहकोशात् पद्मशब्दोऽसंख्यातवाचकः। आननशब्देन च मुखयुक्तं शिरो लक्ष्यते। पद्मानि पद्मसंख्यानि असंख्यातानि आननानि शिरांसि यस्याः सा पद्मानना तत्सम्बुद्धौ हे सहस्रशीर्षे। विराड्रूपत्वेन सर्वेषां प्राणिनां यानि शिरांसि तानि त्वदीयान्येव शिरांसि अनन्तशीर्षे। अनन्ताक्षि अनन्तपात्। पद्मसंख्याका ऊरुपदोपलक्षिताः पादा यस्या सा पद्मऊरुः, तत्सम्बुद्धौ, अर्थात् हे सहस्रपात्। पद्माक्षि पद्मसंख्यानि अक्षीणि यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ हे पद्माक्षि, हे सहस्रलोचने! पद्मसम्भवे पद्मानामनन्तानां जगतामुत्पत्तिर्यस्याः सकाशात् सा पद्मसम्भवा तत्सम्बुद्धौ। यद्वा पद्मपदं सर्वनिधीनामुपलक्षणं पद्मानामनन्तानां महापद्मादिनिधीनां सम्भव उत्पत्तिर्यस्याः सकाशात् सा पद्मसम्भवा तत्सम्बुद्धौ। सीतोपनिषदादौ निधीनां तद्विभूतित्ववर्णनात्। हे सर्वनिधीनामादिकारणभूते इत्यर्थः ॥१७॥

पद्मानने पद्मिनि पद्मपत्रे पद्मप्रिये पद्मदलायताक्षि।
विश्वप्रिये विश्वमनोऽनुकूले त्वत्पादपद्मं मयि सन्निधत्स्व ॥१८॥

हे पद्मानने पद्मवत्कोमलं सुगन्धि सुन्दरमाननं यस्याः सा पद्मानना तत्सम्बुद्धौ। हे पद्मिनि पद्ममस्ति अस्या आश्रयत्वेनेति पद्मिनी तत्सम्बुद्धौ, पद्मलतारूपे तन्नामिके हे महालक्ष्मि वा। पद्मपत्रे पतनं पत्, त्रायत इति त्रम्, पतस्त्रायत इति पत्रम्, स्थित्यधिकरणं पद्मं पत्रं यस्याः सा पद्मपत्रा तत्सम्बुद्धौ। 'पत्रं वाहनपक्षयोः' इति कोषात्। पद्मासने कमलारूढे वा। पद्मप्रिये पद्मस्य पत्रं पद्मम्, पद्मस्य पुष्पं वा पद्मम्, तत् प्रियं यस्याः सा पद्मप्रिया तत्सम्बुद्धौ। पद्मदलायताक्षि पद्मस्य दलं पद्मदलं तद्वद् आयते विस्तृते अक्षिणो नेत्रे यस्याः सा पद्मदलायताक्षी तत्सम्बुद्धौ कर्णान्तदीर्घनयने। विश्वप्रिये विश्वस्य जगतः प्रिया प्रीतिविषयेति विश्वप्रिया तत्सम्बुद्धौ। विश्वं प्रीणाति तर्पयति वा या सा विश्वप्रिया तत्सम्बुद्धौ। विश्वमनोऽनुकूले विश्वस्य जगतो मनसामनुकूलेति विश्वमनोऽनुकूला तत्सम्बुद्धौ। हे सर्वमनोरथपूरिके दयामयि। त्वत्पादपद्मं पादौ पङ्कमिवेति पादपद्मं तव पादपद्मं त्वत्पादपद्मं स्वचरणपङ्कजं पापतापनाशकं मयि मदुपरि सन्निधत्स्व स्थापय। येनाहं कृतार्थः स्यामित्यर्थः ॥१८॥

शब्द की इस मन्त्र में दूसरी आवृत्ति आदर प्रदर्शन के लिये है अथवा अतिविशाल नेत्र होने से यह भगवती लक्ष्मी सबको देखने वाली' अथवा सबको जानने वाली है। अर्थात् हे सर्वज्ञे भगवति, पद्मसम्भवे, कमल से उत्पन्न होने वाली लक्ष्मि! अथवा हेमकोश के अनुसार पद्म शब्द यहां असंख्यात वस्तु का वाचक है। आनन शब्द से मुख सहित शिर बोधित होता है। तब पद्मानना शब्द का अर्थ होगा असंख्य शिरवाली, अर्थात् सहस्रशीर्षा विराट के समान अनन्त मुखवाली। इसका अभिप्राय यह है कि सभी प्राणियों के शिर आपके हो शिर हैं ऊरु शब्द पादवाची भी है, अतः अनन्त पाद अर्थात् चरण वाली भी आप ही हैं, सहस्रपात् विराट आपका ही स्वरूप है। पद्म संख्या वाली आंखें आपके हैं, अतः आप पद्माक्षि अर्थात् सहस्रलोचन वाली हैं। अनन्त लोकों की उत्पत्ति भी आप से ही होती है, अतः आप पद्मसम्भवा हैं। अथवा पद्मपद सभी निधियों का बोध कराता है। आप अनन्त पद्मापद्म प्रभृति निधियों की उत्पत्ति करने वाली है। सीतोपनिषद् प्रभृति ग्रन्थों में निधियों का लक्ष्मी की विभूति के रूप में वर्णन है। हे सब निधियों की आदिकारणभूत लक्ष्मी आप मुझे वह सब कुछ दीजिये, जिससे कि मैं सारो सुख-सुविधाओं के साथ जी सकूं ॥ १७ ॥

हे पद्मानने, पद्म के समान कोमल सुगन्धमय सुन्दर मुख वाली लक्ष्मि, हे पद्मिनि, पद्म का आश्रय लेने वाली पद्मलता रूप नायिके महालक्ष्मि, पद्मपत्र पर आसन लगाकर बैठने वाली अर्थात् कमलासन पर आरूढ़ लक्ष्मी, पद्म के पत्र और पुष्प जिनको अत्यन्त प्रिय हैं जो पद्मपत्र के समान आयतन भौं वाली है, कर्णप्रान्त को जिसके नेत्र छूते हैं, जो सारे जगत् को प्रसन्न करने वाली है तृप्त करने वाली है, सारे जगत् के प्राणियों के जो मनोनुकूल है, सबके मनोरथों को पूरा करने वाली है, ऐसी हे दयामयि लक्ष्मी, आप सभी पापों का नाश कर देने वाले अपने चरण कमलों को मेरे ऊपर रखिये, जिससे कि मैं कृतार्थ हो जाऊं ॥ १८ ॥

अश्वदायि गोदायि धनदायि महाधने।
धनं मे जुषतां देवि सर्वकामांश्च देहि मे ॥१९॥

अश्वदायि अश्वान् ददाति प्रयच्छतीति अश्वदायी तत्सम्बुद्धौ। गोदायि गाः गोधनं ददातीति गोदायी तत्सम्बुद्धौ। धेनुदात्रि वाग्दात्रि पाटवादिगुणयुक्तेन्द्रियदात्रि वा। धनदायि धनं ददातीति धनदायी तत्सम्बुद्धौ। धनत्ववत्सर्वधनदात्रि। अत्र सर्वत्र 'कर्मण्यण्' (पा० सू० ३।२।१) इत्यण् 'आतो युक्.....' (पा० सू० ७।३।३३) इति युक्। 'टिड्ढाणञ्.....' (पा० सू० ४।१।१५) इति ङीप्। छान्दसत्वात् समाधानम्। महाधने महद् उत्कृष्टम्, अपरिमितम्, बहुमूल्यं परिमाणतोऽत्यधिकं वा धनं यस्याः सा महाधना तत्सम्बुद्धौ। धनं सर्वमपि धनपदवाच्यं सुवर्ण-मणि-रत्नगवाश्वगजपुरुषराज्यसाम्राज्यादि, मे मम-गृहम्, जुषतां सेवताम्। हे देवि क्रीडाकौतुकाय जगन्निर्मात्रि, मे मह्यं त्वदुपासकाय। च त्वरया दृढतया वा। सर्वकामान् काम्यन्ते इति कामा अभिलाषा विषया धर्मार्थकाममोक्षरूपाः पदार्थाः। सर्वे च ते कामाः सर्वकामास्तान्। देहि प्रयच्छ ॥१९॥

पुत्रपौत्रधनं धान्यं हस्त्यश्वाश्वतरीरथैः।
प्रजानां भवसी माता आयुष्मन्तं करोतु माम् ॥२०॥

हे श्रीः, पुत्रपौत्रधनं पूयते दुर्गन्धिव्रणादिघनतिमिरमयं दुःखमनुभूयते अस्मिन्निति पुत् तन्नामा नरकः। तस्मात् त्रायते रक्षतीति पुत्रः। पुत्रस्यायं पुत्रः पौत्रः। पुत्रश्च पौत्रश्च (नप्ता च) धनं चेति (हिरण्यादिं च) एतेषां समाहारः पुत्रपौत्रधनम्। तद् धान्यं व्रीहियवगोधूमादि। हस्त्यश्वाश्वतरीरथैः हस्तः शुण्डादण्डोऽस्ति येषां ते हस्तिनः। हस्तिनः करिणः च, अश्वा हयाश्च अश्वतर्यो वाम्यश्च रथाश्चेति हस्त्यश्वाश्वतरीरथास्तैः। अर्थाद् एतैर्युक्तं पुत्रादिकं प्रयच्छेति शेषः। हे लक्ष्मि, त्वं प्रजानां लोकानां माता निर्मात्री भवसि। ई इति निपात आश्चर्यार्थकः। आश्चर्यम् असाधना सर्वं निर्मिमीषे इति। सर्वशक्तिमतीत्वात्। अतो मह्यं पुत्रादिकं प्रयच्छ। तथा मां स्तोतारम् आयुष्मन्तं प्रशस्तदीर्घायुष्ययुक्तं करोतु विदधातु ॥२०॥

हे अश्वों को देने वाली, गायों को देने वाली, धन को देने वाली, अथवा धेनु, वाणी और पटुता (निपुणता) प्रभृति गुणों से युक्त इन्द्रियों को देने वाली, कुबेर के समान सभी प्रकार के ऐश्वर्य को देने वाली, हे महाधनवाली अपरिमित उत्कृष्ट बहूमूल्य धन-धान्य सम्पत्ति से परिपूर्ण करनेवाली हे लक्ष्मी आप मुझे धनपद वाच्य सुवर्ण, मणि, रत्न, गाय, घोड़ा, हाथी, नौकर-चाकर, राज्य, साम्राज्य आदि समस्त सम्पत्ति मेरे घर में जुटा दीजिये। हे देवि क्रीड़ा और कौतुक के लिये जगत् का निर्माण करने वाली लक्ष्मी मेरे जैसे तुम्हारे उपासक की आप जल्दी ही सब कामनाओं को पूरा कर दीजिये, धर्म, अर्थ काम और मोक्ष नामक चतुर्विध पुरुषार्थ को आप मुझे प्राप्त करा दीजिये ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मी, आप मुझे पुत्र, पौत्र, धन, धान्य, हाथी, घोड़ा, खच्चर, रथ आदि ऐश्वर्य से सम्पन्न कर दीजिये। पुत्र, पितरों को पुंनामक नरक से त्राण दिलाता है। दुर्गन्ध, घाव और भयानक अन्धकार से भरे दुःखमय स्थान को पुंनामक नरक कहा गया है। पुत्र के पुत्र को पौत्र कहते हैं। इसमें पुत्री के पुत्र दौहित्र का भी समावेश हो जाता है। सुवर्णादि सम्पत्ति धन कहलाती है। व्रीहि, यव, गोधूम (गेहूं) प्रभृति को धान्य कहते हैं। हाथी, अश्व, खच्चर और रथ प्रभृति समृद्धि से समन्वित पुत्रादिको हे लक्ष्मी, आप हमें दीजिये हे लक्ष्मि, आप सारी प्रजा की माता है। ई निपात आश्चर्य अर्थ में प्रयुक्त हैं। बिना किसी साधन-सम्पत्ति के अपने भक्तों को आप यह सब कुछ दे देती हैं। यह आश्चर्य की बात है। यह इसलिये सम्भव है कि आप समस्त शक्तियों से सम्पन्न हैं। अतः आप पुत्र प्रभृति ऊपर वर्णित सारे ऐश्वर्य को मेरे लिये जुटा दीजिये और आपकी स्तुति करने वाले मुझ जैसे प्राणियों को आप प्रशस्त दीर्घ आयु प्रदान कीजिये ॥ २० ॥

धनमग्निर्धनं वायुर्धनं सूर्यो धनं वसु।
धनमिन्द्रो बृहस्पतिर्वरुणं धनमश्विना ॥२१॥

अग्निस्तन्नामको देवो धनाभिमानी धनाधिष्ठाता वा। वायुः सर्वप्राणात्मा देवो धनम्। सूर्यः सर्वलोकैकचक्षुरपि धनम्। वसुः अष्टवसवोऽपि धनम्। इन्द्रः परमैश्वर्यशाली देवराजोऽपि धनम्। बृहस्पतिः बृहतां महामहीयसां पतिः बृहस्पतिस्तन्नामा देवोऽपि धनम्। वरुणः व्रियते सर्वैरिति वरुणः क्लीवत्वमार्षम्। सोऽपि धनम्। अश्विना अश्विनौ नासत्यदस्रौ तावपि धनम्। 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेराकारः। इति मन्त्रोक्ताः सर्वा देवता धनाभिमानिन्यो धनाधिष्ठात्र्यश्च। अतः सर्वं एवैते धनोत्पत्तिहेतवो धनदातारश्च। यद्वा भूरादीनां सप्तव्याहृतीनामग्न्यादिदेवताकत्वेन प्रसिद्धत्वात् ता एव तत्तादात्म्येन सप्तव्याहृतयो वा धनरूपत्वेन विवक्षिताः। सप्तलोका धनरूपा इत्यर्थः। व्याहृत्यादिद्वारा समस्तवेदादेः सकललोकादेः सकलस्थावरजङ्गमादेर्वा त्वं धनरूपासि। पृथिव्यामेव वज्रं (हीरकं) इन्द्रनीलं (नीलम) गारुत्मतं (पन्ना) सुवर्णं रजतं गोमेदः (पुखराज) इत्यादिरत्नान्याग्नेयद्रव्यम् (पेटोल), इङ्गालम् (कोयला) आदि धनमिति साम्प्रतिका अप्यभ्युपगच्छन्ति। अत एव कौटल्योऽर्थं परिभाषमाणः 'मनुष्यवती भूमिरर्थः' इत्युक्तवान्। धिनोति प्रीणाति जनोऽनेनेति धनमिति व्युत्पत्त्या प्रीणनहेतुत्वेन प्रीणनकर्त्री लक्ष्मीरपि धनमुच्यते ॥२१॥

वैनतेय सोमं पिब सोमं पिबतु वृत्रहा।
सोमं धनस्य सोमिनो मह्यं ददातु सोमिनः ॥२२॥

पूर्वोक्ताः सर्वा देवता धनरूपा उक्ताः। तेनैव धनेन यज्ञव्रतदानादयो भवति। तच्च धनमग्नेः प्रसादात्प्राप्तम्, तस्माद्यज्ञप्रशंसोच्यते वैनतेयेति। हे वैनतेय, विनताया अपत्यं पुमान् वैनतेयस्तत्सम्बुद्धौ हे विनतानन्दन गरुड, त्वं सोममस्माभिः सम्पादितं सोमरसं पिब सोमरसपानं कुरु। तथा वृत्रहा वृत्रं हतवानिति वृत्रहा वृत्रहननकर्ता इन्द्रः सोमं पिबतु। सोमिनः सोमः अस्ति येषां ते, सोमसम्बन्धिनो मह्यं मया साकम्। छान्दसो विभक्तिविपरिणामः। सोमिनः सोमयागकर्तारः, मह्यं सोमं ददातु ददतु। यद्वा सर्वे देवा धनरूपा उक्ताः। धनेनैव यज्ञादिकं भवति। तत्साधनं च सोमः। तल्लाभश्चेन्द्रगरुडाधीनः, अत-

अग्निनामक देवता धन का अभिमानी अथवा अधिष्ठाता है। सबको प्राणवायु प्रदान करने वाला वायु देवता भी धन का अधिपति है। इसी तरह से सारे जगत् के नेत्रों को शक्ति प्रदान करने वाला सूर्य, आठ वसु देवता, परम ऐश्वर्यशाली देवराज इन्द्र, महान् महिमाशाली देवों का स्वामी देवगुरु बृहस्पति, सबका वरणीय वरुण और दोनों अश्विनी कुमार—ये सब देवता भी हमारे लिये धन प्रदान करने वाले हैं, क्योंकि अग्नि के समान ही ये भी धन के अभिमानी अथवा अधिष्ठाता देवता हैं। इस तरह से ये सब धन की उत्पत्ति में कारणभूत तथा धन प्रदान करने वाले हैं। अथवा भू प्रभृति सात व्याहृतियों के देवता अग्नि प्रभृति हैं, अतः इन देवताओं के रूप में यहां सात व्याहृतियां ही धन के रूप में विवक्षित है। इसका अभिप्राय यह होगा कि भू प्रभृति सातों लोक धन-धान्य आदि से समृद्ध हैं। अथवा व्याहृति के द्वारा हे लक्ष्मि, आप समस्त वेदराशि, समस्त लोक स्थावर-जंगमात्मक समस्त जगत् के ऐश्वर्य के रूप में विराजमान हैं। इस पृथिवी में ही वज्र (हीरा) इन्द्रनील (नीलम), गारुत्मत (पन्ना), सुवर्ण, रजत, गोमेद (पोखराज) इत्यादि रत्न तथा पेट्रोल, कोयला आदि धन सम्पत्ति विद्यमान है, इस बात को आजकल के वैज्ञानिक भी मानते हैं। इसी लिये अर्थ की परिभाषा कौटल्य ने 'मनुष्य द्वारा सेवित भूमि' की है। मनुष्य जिसके द्वारा स्वयं प्रसन्न रहता है और दूसरों को भी प्रसन्न करता है इस व्युत्पत्ति के आधार पर प्रीणनहेतु और प्रीणनकर्त्री लक्ष्मी भी धन पद से बोधित होती है ॥ २१ ॥

पूर्वोक्त सभी देवताओं को धन स्वरूप बताया गया है। उसी धन से यज्ञ, व्रत, दान प्रभृति सत्कर्म सम्पन्न होते हैं। यह धन अग्नि के प्रसाद से प्राप्त होता है। अब इस मन्त्र में यज्ञ की प्रशंसा करते हुए गरुण से प्रार्थना की जा रही है कि हे वैनतेय, हे विनता को आनन्दित करने वाले गरुड़, आप हमारे द्वारा सम्पादित सोमरस का पान कीजिये। आपके साथ वृत्रासुर का वध करने वाले इन्द्र भी सोमपान करें। सोमयाग से संबद्ध सोमयाजी ऋत्विग् गण मुझे भी सोमरस का अपना भाग दें। अथवा पहले मन्त्र में देवताओं को धनस्वरूप बताया गया है धन से ही यज्ञ आदि सम्पन्न होते हैं। इस यज्ञ का साधन सोम है यह सोम गरुड़ और इन्द्र की कृपा से मिल-

स्तत्स्तुतिः। यद्वा वैनतेयो विष्णोरिव लक्ष्म्या अपि वाहनभूतः। तदुक्तमेव—'कान्तस्ते पुरुषोत्तमः फणिपतिः शय्यासनं वाहनम्, वेदात्मा विहगेश्वरो यवनिका माया जगन्मोहिनी।' इति। गरुडो लक्ष्म्या वाहनत्वान्निकटवर्तित्वाच्च तद्विशेषकृपाभाजनमिति गरुडप्रसादनमपि लक्ष्म्याः प्रसादहेतुः। अत्यार्तस्य भक्तस्येयमुक्तिः। हे वैनतेय त्वं सोम पिब। इन्द्रोऽप्युपेन्द्ररूपस्य लक्ष्मीपतेर्विष्णोर्भ्रातृत्वात् सोमं पिबतु। वृत्रहपदमन्येषामप्युपलक्षणम्। सोमिनः सोमकर्तार ऋत्विजः। सोमिनः सोमः अस्ति अस्येति सोमी तस्य, सोमयागसम्बन्धिनो यागार्थमुपकल्पितस्य धनस्य गवादिदशद्रव्यान्यतमस्य क्रयविक्रयरूपसम्बन्धेन सम्पादितस्य सोमस्य। यद्वा यागस्य निर्वर्तकं धनाभिन्नं सोमम् आहूतेभ्यो देवेभ्यः प्रयच्छतेति शेषः। यद्वा कायक्लेशादिसाध्यलक्ष्मीप्रसादजन्यत्वात् सोमे धनत्वारोप इत्यन्ये ॥२२॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां श्रीसूक्तं जपेत् ॥२३॥

कृतपुण्यानां पुण्यकर्तॄणां भक्तानामास्तिक्यबुद्ध्या श्रीसूक्तजापिनां क्रोधो न भवति। मात्सर्यं परोत्कर्षासहिष्णुत्वं न भवति। लोभः परकीयवस्तुग्रहणे मनसोऽतीव लौल्यं न भवति। तथा अशुभा मतिर्न भवति। यद्वा कृतपुण्यान्तं कृतं जन्मान्तरेऽनुष्ठितं पुण्यं धर्मकर्म यैस्ते कृतपुण्यास्तेषामिह जन्मन्यपि जपपाठादितत्पराणां वाक्चक्षुरादिविकारानुमेयो मनोविकारविशेषो न भवति। लक्ष्मीप्रसादात् श्रीसूक्तं जपेत् अर्थात् श्रीसूक्तस्य जप्तुः किमपि प्रतिबन्धकं न भवतीत्यर्थः ॥२३॥

सरसिजनिलये सरोजहस्ते धवलतरांशुकगन्धमाल्यशोभे।
भगवति हरिवल्लभे मनोज्ञे त्रिभुवनभूतिकरि प्रसीद मह्यम् ॥२४॥

सरसिजनिलये सरसिजं कमलं निलयो निवासस्थानं यस्याः सा सरसिजनिलया तत्सम्बुद्धौ। हे कमलालये!

सकता है। अतः इस मन्त्र की इतनी स्तुति को गयी है। अथवा गरुड़ विष्णु के समान लक्ष्मी का भी वाहन है। जैसा कि 'कान्तस्ते' इस श्लोक में प्रतिपादित है। गरुड़ लक्ष्मी का वाहन है और उनका निकटवर्ती है, इस लिये उसपर लक्ष्मी की विशेष कृपा रहती है। इस तरह से गरुड़ को प्रसन्न करना भी लक्ष्मो की प्रसन्नता का एक कारण है। अत्यन्त आर्त भक्त इस तरह की प्रार्थना करता है कि वैनतेय, आप हमारे यज्ञ में सोम पान कीजिये। इन्द्र उपेन्द्र का स्वरूप धारण करने वाले लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु के भ्राता हैं, अतः उनसे भी यहां सोम पान की प्रार्थना की जाती है। वृत्रहा पद अन्य देवताओं का भी उपलक्षक है। सोमी पद का अर्थ सोम याग करने वाले ऋत्विक् गण हैं। दूसरा सोमी पद सोमयाग संबन्धी इस अर्थ को अभिव्यक्त करता है। सोमयाग के सम्पादन के लिये संकल्पित धन गो प्रभृति दशविध द्रव्य में से किसी एक के साथ क्रय-विक्रय रूप संबन्ध से सम्पादित सोम का पान यहां विवक्षित है। अथवा इसका यह अर्थ कर सकते हैं कि याग के सम्पादक धन से अभिन्न रूप में विद्यमान सोमरस को देवताओं के लिये दिया जाय। अथवा शरीर को क्लेश देकर ही सोमरस निकाला जा सकता है और लक्ष्मी के प्रसाद से ही सोमरस प्राप्त हो सकता है, अतः सोम पद का अर्थ भी आरोप द्वारा धन किया जा सकता है, ऐसा कुछ लोगों का विचार है ॥ २२ ॥

जिन्होंने पूर्वजन्म में या इस जन्म में पुण्य कर्म किये हैं, ऐसे भक्तों को आस्तिक बुद्धि के साथ, श्रद्धा के साथ श्रीसूक्त का जप करने पर क्रोध नहीं आता, उनके मन में मात्सर्य अर्थात् दूसरे की उन्नति को देख कर उनका मन असहिष्णु नहीं बन पाता। दूसरे की वस्तु को अपनी बना लेनें की इच्छा के रूप में प्रकट होने वाला लोभ भी उनके मन को कलुषित नहीं कर पाता तथा उनके मन में अन्य भी किसी प्रकार के अशुभ विचार पैदा नहीं होते। अथवा जन्मान्तर में जिन्होंने धर्म-कर्म किये हैं, उनके मन में इस जन्म में भी उनके जप, पाठ आदि में लवलीन रहने से किसी प्रकार का विकार नहीं आता, जिसकी जानकारी वाणी या चक्षु के विकार से मिल सकती हो। ऐसा भक्त सदा निर्विकार भाव से श्रीसूक्त का जप करता रहे, अर्थात् उसके इस कार्य में लक्ष्मी के प्रसाद से कोई विघ्न उपस्थित नहीं होगा ॥ २३ ॥

हे कमल में निवास करने वाली, कमल को हाथों में धारण करने वाली लक्ष्मी, आपकी शोभा धवलतर (अत्यन्त सफेद) वस्त्र गन्ध और माला को धारण करने से और भी बढ़ गयी है। हे अतिशय सौभाग्यशालिनी भगवती लक्ष्मी, अथवा षड्विध ऐश्वर्य से संपन्न

सरोजहस्ते सरोजं हस्ते यस्याः सा सरोजहस्ता तत्सम्बुद्धौ। धवलतरांशुकगन्धमाल्यशोभे अंशुकश्च गन्धश्च माल्यं च शुकगन्धमाल्यानि, अतिशयं धवलानीति धवलतराणि, धवलतराणि च तान्यंशुकगन्धमाल्यानीति धवलतरांशुकगन्धमाल्यानि, तैः शोभत इति धवलतरांशुकगन्धमाल्यशोभा तत्सम्बुद्धौ। अथवा शोभनं शोभा, धवलतरांशुकगन्धमाल्यैः शोभा यस्याः सा धवलतरांशुकगन्धमाल्यशोभा तत्सम्बुद्धौ। भगवति भगः सौभाग्यं तदतिशयमस्ति यस्याः सा भगवती तत्सम्बुद्धौ। अतिशायने मतुप्। तदुक्तं शाब्दिकैः—'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥' इति। षड्विधैश्वर्यशालिनि वा। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥' (वि० पु०) इति। अथवा उत्पत्तिप्रलयादिज्ञानसम्पन्ने वा। तथा चोक्तम्—'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥' इति। हरिवल्लभे हरिर्वल्लभो यस्याः सा हरिवल्लभा तत्सम्बुद्धौ। अथवा हरेर्वल्लभा हरिवल्लभा तत्सम्बुद्धौ। हे हरिप्रियतमे! मनोज्ञे रमणीयतमे लोकोत्तरसौन्दर्येण नवनवायमानत्वेन अनेकरूपैर्भगवता सदानुभूताप्यपूर्णवत् विस्मयमादधाति। तदुक्तं स्तोत्ररत्ने—'स्ववैश्वरूपेण सदानुभूतयाऽप्यपूर्ववद्विस्मयमादधानया। गणेन रूपेण विलासचेष्टितैः सदा तवैवोचितया तव श्रिया॥' इति। त्रिभुवनभूतिकरि त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनं भूतिं करोतीति भूतिकरी त्रिभुवनस्य भूतिकरी त्रिभुवनभूतिकरी तत्सम्बुद्धौ। त्रिभुवनैश्वर्यकारिणि हे लक्ष्मि, मह्यं मदर्थं प्रसीद अनुकूलतया सदयहृदया भव॥२४॥

ऋणरोगादिदारिद्र्यं पापं क्षुदपमृत्यवः।
भयशोकमनस्तापा नश्यन्तु मम सर्वदा॥२५॥

हे लक्ष्मि, तव प्रसादात् तव भक्तस्य मम सर्वदा सर्वदेशेषु सर्वकालेषु च ऋणरोगादि ऋणं च रोगाश्चेति ऋणरोगास्ते आदौ यस्य तत्। दारिद्र्यं दरिद्राति दुर्गतिं सदानुभवतीति दारिद्रस्तस्य भावो दारिद्र्यम्। पापं पातकम्। क्षुत् क्षुधा तृष्णा च। अपमृत्यवः बन्धुबान्धवादिभिरितरैर्वा अपमानजनिता ऋणरोगादिभिः दुःस्थितिजनिता वा चाटुतस्करदुर्वृत्तादिभिः पराभवजनिता सम्पदपगमजनिता वा महासाहसिकादिभिः प्रसह्य वित्ताहरणजनिता वा ग्रहादिपीडाजनिता वा राजादिकोषनिबन्धना वा अपमृत्यवः, भयशोकमनस्तापाः। तप्यते एभिरिति तापाः, मनसः तापा मनस्तापाः, भयं च शोक-

लक्ष्मी, अथवा उत्पत्ति, प्रलय आदि के ज्ञान से सम्पन्न लक्ष्मी, हे हरिवल्लभे? हरि जिसका बल्लभ हैं अथवा हरि की जो बल्लभा है, इन दोनों ही अर्थों को यह संबोधन व्यक्त करता है। हे मनोज्ञे, लोकोत्तरसौन्दर्य के कारण प्रतिक्षण नये नये से प्रतीत हो रहे अनेक रूपों को आप दिखाकर सब लोगों को विस्मय में डाल देने वाली है। स्त्रोत्ररत्न में बताया गया है कि वह लक्ष्मी अपनी विश्वरूपता के कारण सदा सबके अनुभव में आती रहती है और सबको अपने नये नये रूपों से चकित करती रहती हैं, गुण, रूप और अपने हाव-भाव से सदा सबको भुलावे में डाले रहती है। यह भी सदा केवल आपके ही पास रह सकती हैं। इस तरह से यह लक्ष्मी सदा तीनों भुवनों के सारे ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री देवी है, सारा ऐश्वर्य इन्हीं के प्रसाद से प्राप्त हो सकता है। उस लक्ष्मी से इस मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि आप मेरे प्रति अनुकूल होइये। भगवती शब्द में अतिशय अर्थ में मतुप् प्रत्यय किया गया है। वैयाकरणों का कहना है कि भूम (बहुलता), निन्दा, प्रशंसा, नित्ययोग, अतिशयित करना, संबन्ध और अस्ति की विवक्षा में मतुप् आदि प्रत्ययों का विधान होना है। समग्र ऐश्वर्य धर्म, यश, ज्ञान और वैराग्य इन षड्विध गुणों को शास्त्र में भग के नाम से अभिहित किया गया है। उत्पत्ति, प्रलय, सभी प्राणियों के आगमन और गमन का स्थान, विद्या और अविद्या—इन सबको जानने वाले को भगवान् कहा जाता है॥ २४॥

हे लक्ष्मि, आपके प्रसाद से मेरे जैसे तुम्हारे भक्त के सदा सब देश और काल में ऋण, रोग, दारिद्र्य, पाप क्षुधा (भूख), प्यास और अपमृत्यु ये सब नष्ट हो जाय। सदा दुर्गति का अनुभव करने वाले को दरिद्र कहते हैं लक्ष्मी से इस मन्त्र में प्रार्थना की है कि यह दरिद्रता का भाव मेरा सदा-सदा के लिये नष्ट हो जायँ। अपमृत्यु के अनेक प्रकार होते हैं। जैसे कि बन्धु-बान्धव आदि अथवा दूसरे लोग अपमान कर दें, ऋण, रोग आदि के कारण मरण की ऐसी दुःस्थिति उत्पन्न हो जाय, चाटुकार, तस्कर (चोर) अथवा दुष्टों के द्वारा पराभूत कर दिये जाने पर अथवा सर्वस्व लूट लिये जाने पर, डाकू लोगों के द्वारा जबरदस्ती सब धन लूट लिये जाने पर, ग्रह-

श्चेति भयशोकौ ताभ्यां जनिता भयशोकजास्तादृशास्ते मनस्तापाश्चेति भयशोकमनस्तापाः। राजादिभिर्विहितं दण्डरूपं भयं प्रियवस्तुवियोगजः शोकः। तदुभाभ्यां जायमाना चिन्ता मनस्तापः। तत्सर्वं तव कृपया मम नश्यत्वित्यर्थः ॥२५॥

श्रीर्वर्चस्वमायुष्यमारोग्यमाविधात्पवमानं महीयते।
धान्यं धनं पशुं बहुपुत्रलाभं शतसंवत्सरं दीर्घमायुः ॥२६॥

श्रीसूक्तजप्तुरुपासकस्य श्रीः लक्ष्मीः, वर्चस्वं ब्राह्मादिविशिष्टं तेजः स्वीयं वा वर्चस्तेजः, आयुष्यमारोग्यं च आविधात् दध्यात् श्रीरित्यर्थः। किञ्च, पवमानम् उत्तमं लोकं पवित्रं स्थलं वा अतिपवित्रतां वा महीयते प्रशंसया सह प्राप्नोति स जापक इति शेषः। 'महीङ् पूजायाम्' इति कण्ड्वादिः। धातूनामनेकार्थत्वादत्र प्राप्त्यर्थता। किञ्च, धान्यं व्रीह्यादिकं धनं मणिहिरण्यादिकं पशुं गवाश्वादिकं बहुपुत्रलाभं बहुपुत्रपौत्रादिसन्ततीनां लाभम्। शतसंवत्सरं साग्रशतसंवत्सरं दीर्घमायुश्च प्राप्नोति श्रीसूक्तजापक इति शेषः ॥

यथा भक्तानां कृते भगवान् प्रतिक्षणमपूर्ववत् प्रतीयते—'यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतस्तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम्। पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्चलापि यच्छ्रीर्न जहाति यत्परम् ॥' (भा० पु० १।११।३३)। तद्वदनन्तमाधुर्यसौन्दर्यलावण्यादिगुणादिभिः श्रीर्भगवतोऽपि नवनवायमानत्वेन स्फुरति। स्वस्य विश्वशरीरत्वेन सदानुभूतया 'यो वेत्ति युगपत्सर्वं प्रत्यक्षेण सदा स्वतः।' इतीदृशेन सहजप्रत्यक्षेण सदा साक्षात्कृतया सदा गाढोपगूढयापि गुणेन रूपेण विलासचेष्टितैरपूर्ववद्विस्मयमादधानया सदा तवैवोचितया श्रिया सहासीनं भगवन्तमाश्रये इत्यर्थः। 'देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी। विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनुम् ॥ देवतिर्यङ्मनुष्येषु पुन्नामा भगवान् हरिः। स्त्रीनाम्नी श्रीश्च विज्ञेया नानयोर्विद्यते परम् ॥' एवं सर्वदा सर्वरूपैः सर्वरूपां तुल्यशीलवयोवृत्तां सदानुयायिनीं सार्वज्ञेनानुभवन्नप्यौत्सुक्यातिशयेन प्रतिक्षणमपूर्वमिव मन्यते।

अतिप्रियत्वादेव भक्ता भगवते श्रियो गुणगणार्णवश्रवणेन भगवतो हर्षातिशयेन भुजयोः कञ्चुकशतस्फुटनं मन्यन्ते।

आदि की पीडा से पराभूत होने पर अथवा राजा आदि के द्वारा सर्वस्व अपहरण कर लिये जाने पर मर्मान्तिक पीड़ा होती है। इन सबका अपमृत्यु में समावेश किया जाता है। इसी तरह से हे लक्ष्मी, भय और शोक से उत्पन्न होने वाले मानसिक ताप (दुःख) भी मेरे सदा सदा के लिये नष्ट हो जांय। राजा प्रभृति के द्वारा दिये जाने वाले दण्ड से भय की उत्पत्ति होती है और प्रिय व्यक्ति या वस्तु के वियोग से शोक उत्पन्न होता है। इनसे उत्पन्न होने वाली चिन्ता को ही मानसिक ताप (दुःख) कहा जाता है। यह सब नष्ट हो जाय, ऐसी इस मन्त्र से भगवती लक्ष्मी से प्रार्थना की गई है ॥ २५ ॥

श्री सूक्त का जप करने वाले उपासक को लक्ष्मी ब्रह्मा प्रभृति के अथवा अपने विशिष्ट तेज को, आयुष्य और आरोग्य को प्रदान करे। साथ ही उत्तम लोक, पवित्र स्थल अथवा अत्यन्त पवित्रता के साथ प्रशंसा को भी ऐसा व्यक्ति प्राप्त करता है। व्रीहि प्रभृति धान्य, मणि-हिरण्य प्रभृति धन, गाय, घोड़ा आदि पशु और पुत्र-पौत्र, नाती आदि के रूप में वह बहुसंख्यक सन्तति का लाभ भी करता है। साथ ही यह श्रीसूक्त का जापक पूरे सौ वर्ष की आयु पाता है ॥२६॥

भक्तों के लिये भगवान् जैसे प्रतिक्षण अनोखे से लगते हैं, उसी तरह से यह भगवती लक्ष्मी भी अपने अनन्त माधुर्य, सौन्दर्य, लावण्य प्रभृति गुणों के कारण नये-नये रूपों में उनके सामने उपस्थित रहती है। यह लक्ष्मी चंचला होते हुए भी कभी भी उनके चरण-कमल को नहीं छोड़ती। भगवान् विश्वशरीर हैं, सारे विश्व के साथ लक्ष्मी का भी शरीर उनका ही है, अतः वे उसको सदा देखते रहते हैं, अपने सहज प्रत्यक्ष से उसका सदा साक्षात्कार करते रहते हैं। यह लक्ष्मी सदा उनके गाढ़ आलिंगन में बँधी रहती है, तो भी गुण, रूप और अपने हावभाव से वह भगवान् को भी विस्मय में डाल देती है। इन सब बातों पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि यह लक्ष्मी सदा आपके पास रहे, यह उचित ही है।

उस लक्ष्मी के साथ विराजमान भगवान् विष्णु का मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ। यह लक्ष्मी भगवान् विष्णु के देवदेह

तद्यथा—'श्रियः श्री श्रीरङ्गेशय तव च हृद्यां भगवतीं श्रियं त्वत्तोऽप्युच्चैर्वयमिह फणामः शृणुतराम्। दृशौ ते भूयास्तां सुखतरलतारे श्रवणतः पुनर्हर्षोत्कर्षात् स्फुटतु भुजयोः कञ्चुकशतम् ॥' (गुणरत्नकोषः ९) सर्वेषां श्रियः समाश्रयणेन स्वरूपलाभः। श्रियोऽपि यदाश्रयेण स्वरूपलाभः स श्रियोऽपि श्रीः। हे रङ्गेशय, तव च हृद्यां हृदयङ्गमां वक्षःस्थलनिवासिनीं षाड्गुण्यपूर्णां भगवतीं श्रियं त्वत्तोऽप्युच्चैर्वयं फणामः। त्वत्तोऽप्युच्चैः श्रियो महत्त्ववर्णनेन श्रवणसुखेन चक्षुषोर्ववश्यम्। सन्तोषातिशयाद् अपरिमितकञ्चुकस्फुटनहेतुर्गात्रपरिपोषः। उत्तरनारायणसूक्तेऽपि—'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। इष्णन्निषाणामुम्म इषाण सर्वलोकम्म इषाण ॥' (वा० सं० ३१।२२), 'सुमज्ज्ानये विष्णवे' (तै० ब्रा० २।४।३।९), 'श्रद्धया देवत्वमश्नुते' (तै० ब्रा० ३।१२।३।१), 'वेदे रामायणे पुण्ये पुराणे भरतर्षभ। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥' (हरिवंशेऽन्तिमेऽध्याये ९३) इत्यादिरीत्या सकलसच्छास्त्रेषु यत् परमतत्त्वं प्रतिपाद्यते तदेव ब्रह्मविष्णुशिवादिशब्दैस्तत्र तत्र प्रतिपादितम्। तदपि श्रीतत्त्वमेव, तस्या एव सगुणनिर्गुणब्रह्मरूपत्वात्। रामायणमपि सीताचरित्रमेव, 'सीतायाश्चरितं महत्' (वा० रा० १।४।७) इति रामायणोक्तेः। पतिव्रतायाश्चरित्राङ्गत्वेन पतिवर्णनमप्यावश्यकमिति कृत्वा श्रीरामचरित्रमपि तदङ्गमेव। सीताचरित्रत्वादेव श्रीरामचन्द्रकर्तृकं तच्छ्रवणम्, अन्यथा धीरोदात्तनामकस्य स्वचरित्रश्रवणे प्रवृत्त्यसम्भव एव।

लक्ष्म्याः कृपाकटाक्षितस्यैश्वर्यभाक्त्वं तद्वञ्चितस्य विविधदौर्गत्यभाक्त्वमपि प्रसिद्धमेव। तदुक्तं गुणरत्नकोशकृता—एको मुक्तातपत्रप्रचलमणिघणात्कारिमौलिर्मनुष्यो दृप्यद्दन्तावलस्थो न गणयति नतान् यत्क्षणं क्षोणि-

धारण करने पर देवी और मानव शरीर धारण करने पर मानुषी देह धारण कर लेती है। इस तरह से भगवती लक्ष्मी भगवान् विष्णु के उस देह के अनुरूप देह धारण कर लेती हैं। देव, तिर्यक् अथवा मनुष्ययोनि में भगवान् पुरुष के रूप में और भगवती लक्ष्मी स्त्री के रूप में अवतरित होती है। इनसे बढ़कर इस विश्व में और कोई नहीं है। इस तरह से भगवान् विष्णु सदा अपने सभी रूपों से समान रूप वाली, शील वय (अवस्था) और वृत्त में समान, सदा अनुगमन करने वाली लक्ष्मी का अपनी सर्वज्ञता के आधार पर सदा साक्षात्कार करने वाले भी भगवान् विष्णु अत्यन्त उत्कण्ठा के कारण प्रतिक्षण लक्ष्मी को अपूर्व, अनोखे रूप में ही देखते रहते हैं।

भगवान् को लक्ष्मी अत्यन्त प्रिय है, यह जानकर ही भक्तगण लक्ष्मी के अनन्त गुणगणों को सुनाते हैं और कल्पना करते हैं कि लक्ष्मी के गुणों को सुनकर भगवान् की बाहें हर्षातिरेक में फूल उठती हैं और इस तरह से उनके कपड़े सैकड़ों बार फट जाते हैं। लक्ष्मी का सहारा लेने से ही भक्त को अपने स्वरूप का बोध होता है। लक्ष्मी को भी स्वरूपलाभ देनेवाले श्रीपति भगवान् नारायण हैं। हे रंगेशय, तुम्हारे वक्षस्थल पर निवास करनेवाली, षाड्गुण्य से परिपूर्ण भगवती लक्ष्मी को हम आप से भी बढ़कर मानते हैं। ऐसा करने से हमारे कानों को तो सुख मिलता है, किन्तु चक्षु विवश हो जाते हैं, निराश हो जाते हैं। लक्ष्मी के गुणों को सुनकर भगवान् विष्णु परम सन्तुष्ट हो जाते हैं। इससे अपरिमित कंचुकों के स्फुटन में समर्थ गात्रपरिपोष की सूचना मिलती है। उत्तरनारायण सूक्त के 'श्रीश्च ते' मन्त्र में तथा अन्य मन्त्रों और श्लोकों में कहा गया है कि लक्ष्मी और श्री आपकी ही पत्नियाँ हैं। वेद, रामायण, पुराण प्रभृति में सर्वत्र भगवान् के ही गुणों का वर्णन है।

ब्रह्मा, विष्णु, शिव प्रभृति शब्दों में इसी परम तत्व का वर्णन किया गया है। यह श्रीतत्त्व सगुण, निर्गुण ब्रह्मतत्व के रूप में सर्वत्र वर्णित है। रामायण में प्रधानतया सीता चरित्र ही वर्णित है। पतिव्रता के चरित्र के अंग के रूप में पति का वर्णन भी आवश्यक है, अतः श्रीराम का चरित्र अंगभूत है। सीता का चरित्र होने से ही श्री रामचन्द्र ने उसका वर्णन लव-कुश से सुना, अन्यथा रामचन्द्र जैसे धीरोदात्त नायक की अपने ही चरित्र के श्रवण में प्रवृत्ति कभी नहीं हो सकती।

लक्ष्मी के कृपा कटाक्ष से मनुष्य ऐश्वर्यशाली बन जाता है और उससे वंचित मनुष्य सदा नाना प्रकार की दुर्गति भोगता रहता है, इस बात को गुणरत्नकोशकार ने 'एको मुक्तातपत्र०' प्रभृति श्लोक में बहुत ही सुन्दर आलंकारिक भाषा में व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि कोई व्यक्ति मतवाले हाथी पर बैठकर घूमता है। उसके मस्तक पर मुक्ताजटित छत्र विराजमान रहता है। उसके

पालान्। यत्तस्मै तिष्ठतेऽन्यः कृपणमशरणो दर्शयन् दन्तपङ्क्तिं तत्ते श्रीरङ्गराजप्रणयिनि नयनोदञ्चितन्यञ्चिताभ्याम् ॥' (गुणरत्नकोश १६) एकः कश्चिज्जनो दृप्यद्दन्तावलस्थः दृप्यन् मत्तो यो दन्तावलो हस्ती दृप्यद्दन्तावलस्तत्र तिष्ठतीति दृप्यद्दन्तावलस्थः मत्तद्विरदमस्तकस्थितः, मुक्तातपत्रप्रचलमणिघणात्कारिमौलिः आ समन्ताद् तपतीति आतपो धूपः तस्मात् त्रायते इति आतपत्रं छत्रं मुक्तं विकसितं च तद् आतपत्रं मुक्तातपत्रम् अथवा मुक्ताग्रथितं यद् आतपत्रं तद् मुक्तातपत्रं तस्मिन् प्रचलाः गमनागमनेन चलन्तो ये मणयः, तैः परस्परं घट्टने घणात्कारी (घणादिति शब्दानुकरणम्) घणात् शब्दं कुर्वन् मौलिः किरीटं यस्याऽसौ, तादृशो यो मनुष्यः, नतान् प्रणतानञ्जलीन् कुर्वतः क्षोणिपालान् पृथिवीपतीन् न गणयति। इयमैश्वर्यस्य पराकाष्ठा। अन्यः अशरणः नास्ति शरणं गृहं यस्यासौ गृहादिहीनः कृपणं दीनदीनं यथा स्यात्तथा दन्तपङ्क्तिं दर्शयन् दन्तावलस्थिताय तिष्ठते स्वदैन्यं प्रकाशयति हे श्रीरङ्गराजप्रणयिनि लक्ष्मि, एतदुभयमपि यत् तत् ते नयनोदञ्चितन्यञ्चिताभ्यां उदञ्चितं च न्यञ्चितं चेति उदञ्चितन्यञ्चिते नयनयोरुदञ्चितन्यञ्चिते नयनोदञ्चितन्यञ्चिते ताभ्यां नयनकटाक्षोदयसङ्कोचाभ्यां भवति।

'इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिमयं यद्भावसाधनम्। तद्ब्रह्मसत्तासामान्यं सीतातत्त्वमुपास्महे ॥' इति सीतोपनिषद्रीत्या इच्छाज्ञानक्रियाशक्तित्रयेण यस्य भावः साध्यते यथाङ्कुरेण बीजमनुमीयते, तथैवानन्तब्रह्माण्डततिसमुद्भूतिर्यस्येच्छादिशक्त्यैव भवति तद्ब्रह्मसत्तासामान्यमेव सीतातत्त्वमिति ज्ञायते। न केवलं ब्रह्मसत्तासामान्यमेव, किन्तु मूलप्रकृतिरूपत्वात् सैव प्रकृतिरपि प्रणवप्रकृतिरूपत्वाच्च प्रकृतिः सीतेति त्रिवर्णात्मा साक्षान्मायामयी भवति। तत्र विष्णुः प्रपञ्चबीजं माया च ईकाररूपापि ईकारवाच्यापि च। सत्यममृतं प्राप्तिः सोमश्च सकाररूपाणि सकारवाच्यानि च। तारो लक्ष्म्यायुक्तो वैराजः प्रस्तरो विराड् वैभवं तकाररूपाणि तद्वाच्यानि च ईकाररूपिणी सीतैव सोमामृतावयवदिव्यालङ्कारस्रङ्मौक्तिकाद्याभरणालङ्कृता महामायाऽव्यक्तरूपिणी सती व्यक्ता भवति। एतेन सामान्यराजाद्यारभ्य आविर्भोरुत्तरोत्तरं यदैश्वर्यं यच्चोन्नतं मेर्वादि, मङ्गलं चन्दनकुसुमादि, उज्ज्वलं मणिद्युमणिदीपादि, यच्च गरिमवद् हिमवन्मन्दरादि, पुण्यं तत्साधनभूतं यज्ञादि, यच्च पावनं तीर्थं गङ्गादि, यच्च धन्यं भाग्यफलभूतम् अष्टसिद्धिनवनिध्यादि, यच्चान्यदप्यैश्वर्यं तत्सर्वमपि श्रियः कटाक्षकन्द-

छत्र में लगी मणियों के मस्तक के मुकुट पर जटित मणि के साथ संघर्ष होने पर उससे मधुर ध्वनि की सृष्टि होती है। वह अपने चरणों पर नतमस्तक सामान्य भूमिपालों को कुछ नहीं गिनता। यह ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है। इसके विपरीत एक दूसरा व्यक्ति भी है, जिसके पास अपना घर नहीं है। वह अपनी दीनहीन दशा के कारण सर्वत्र दाँत दिखाता रहता है, घिघियाता रहता है, अपनी दीनता का प्रदर्शन करता रहता है। हे रंगराजप्रणयिनि लक्ष्मी, ये दोनों ही स्थितियाँ आपके कृपाकटाक्ष के उन्मीलन और निमीलन के कारण होती हैं। जिस पर आपकी कृपा हो जाती है, वह पहली स्थिति में और जिस पर नहीं होती वह दूसरी स्थिति में रहता है।

सीतोपनिषद् की पद्धति से इच्छा, ज्ञान, क्रियारूप प्रत्यक्ष तीन शक्तियों के सहारे उस सीता तत्व का अनुमान उसी तरह होता है, जैसे कि अंकुर से बीज का अनुमान होता है। अनन्त ब्रह्माण्ड की सन्तति की उत्पत्ति सीता तत्व की इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्ति से ही होती है। ब्रह्म की सत्ता और सीतातत्व की सत्ता एक ही है। केवल ब्रह्मसत्ता सामान्य ही नहीं, किन्तु मूलप्रकृतिरूप होने से यही प्रकृति, अर्थात् प्रणव (ॐकार) की भी प्रकृति यह सीता तत्त्व ही है। यही मायातत्त्व भी है। इनमें से विष्णु प्रपंच के बीजरूप है और माया लक्ष्मी ईकाररूप और ईकार वाच्य भी है। सीता पदस्थित सकार सत्य, अमृत, प्रभृति और सोम का वाचक है। लक्ष्मी से युक्त प्रणव, विराट् का प्रस्तार और विराट् का वैभव ये सब तकारपद के वाच्य हैं। ईश्वररूपिणी सीता ही सोम और अमृत के अवयवभूत दिव्य अलंकार, माला, मुक्तामणि प्रभृति आभरणों से अलंकृत होकर महामाया के रूप में अव्यक्त रहते हुए भी लक्ष्मी के रूप में व्यक्त होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि सामान्य नृपति से लेकर सम्राड् पर्यन्त जो ऐश्वर्य की अभिवृद्धि दिखाई पड़ती है, मेरु प्रभृति में उन्नति दिखाई देती है, चन्दन, कुसुम प्रभृति में मंगलप्रद भाव, मणि, सूर्य, दीपक प्रभृति में उज्ज्वलता, हिमालय, मन्दर प्रभृति में गरिमा, यज्ञादि में पुण्यसाधनता, गंगा प्रभृति तीर्थों में पावनता, अष्टसिद्धि, नवनिधि प्रभृति में भाग्य की

लिता बिन्दव एवेति स्पष्टमुक्तं गुणरत्नकोशकृता। 'आकुग्रामनियामकादपि विभोरासर्वनिर्वाहकादैश्वर्यं यदिहोत्तरोत्तरगुणं श्रीरङ्गभर्तुः प्रिये। तुङ्गं मङ्गलमुज्ज्वलं गरिमवत्पुण्यं पुनः पावनं धन्यं यत्तददश्च वीक्षणमुतस्ते पञ्चषा विप्रुषः ॥'

"प्रथमा सकाररूपा शब्दब्रह्ममयी स्वाध्यायकाले प्रसन्ना उद्भावनकरी सात्मिका, द्वितीया भूतले हलाग्रे समुत्पन्ना, तृतीया ईकाररूपिणी अव्यक्तस्वरूपा भवतीति सीतेत्युदाहरन्ति। श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्दकारिणी। उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥ सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता। प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥' सा सर्ववेदमयी सर्वदेवमयी सर्वलोकमयी सर्वकीर्तिमयी सर्वधर्ममयी सर्वाधारा कार्यकारणमयी महालक्ष्मीर्देवेशस्य भिन्नाभिन्नरूपा चेतनाचेतनात्मिका ब्रह्मस्थावरात्मिका तद्गुणकर्मविभागभेदाच्छरीररूपा देवर्षिमनुष्यगन्धर्वरूपा असुरराक्षसभूतप्रेतपिशाचभूतादिभूतशरीररूपा भूतेन्द्रियमनःप्राणरूपेति च विज्ञायते।

सा देवी त्रिविधा—शक्त्यासनेच्छाशक्तिः, क्रियाशक्तिः, साक्षाच्छक्तिरिति। इच्छाशक्तिस्त्रिविधा भवति। श्रीभूमिनीलात्मिका भद्ररूपिणी प्रभावरूपिणी सोमसूर्याग्निरूपा भवति। सोमात्मिका ओषधीनां प्रभवति। कल्पवृक्षपुष्पफललतागुल्मात्मिका औषधभेषजात्मिका अमृतरूपा देवानां महस्तोभफलप्रदा ॥ अमृतेन तृप्तिं जनयन्ती देवानामन्नेन पशूनां तृणेन तत्तज्जीवानां सूर्यादिसकलभुवनप्रकाशिनी दिवा च रात्रिः कालकलानिमेषमारभ्य घटिकाष्टयामदिवसरात्रिभेदेन पक्षमासर्त्वयनसंवत्सरभेदेन मनुष्याणां शतायुःकल्पनया प्रकाशमाना चिरक्षिप्रव्यपदेशेन निमेषमारभ्य परार्धपर्यन्तं कालचक्रं जगच्चक्रमित्यादिप्रकारेण चक्रवत्परिवर्तमानाः सर्वस्यैतस्यैव कालस्य विभागविशेषाः प्रकाशरूपाः कालरूपा भवन्ति। अग्निरूपा अन्नपानादिप्राणिनां क्षुत्तृष्णात्मिका देवानां मुखरूपा वनौषधीनां शीतोष्णरूपा काष्ठेष्वन्तर्बहिश्च नित्यानित्यरूपा भवति। श्रीदेवी त्रिविधं रूपं कृत्वा भगवत्सङ्कल्पानुगुण्येन लोकरक्षणार्थं रूपं धारयति। श्रीरिति लक्ष्मीरिति लक्ष्यमाणा भवतीति विज्ञायते। भूदेवी सागराम्भःसप्तसमुद्ररूपा वसुन्धरा भूरादिचतुर्दशभुवनानामाधाराधेया प्रणवात्मिका भवति। नीला नाम मुखविद्युन्मालिनी सर्वौषधीनां सर्वप्राणिनां पोषणार्थं सर्वरूपा भवति। सकलभुवनस्याधोभागे जलाकारात्मिका मण्डूकमयेति भुवनाधारेति विज्ञायते।

क्रियाशक्तिस्वरूपं तु हरेर्मुखान्नादः, तन्नादाद्बिन्दुः, बिन्दोरोङ्कारः, ओङ्कारात् परतो रामवैखानसपर्वतः। तत्पर्वते कर्मज्ञानमयीभिर्बहुशाखा भवति। तत्र त्रयीमयं शास्त्रमाद्यं सर्वार्थदर्शनम्। ऋग्यजुःसामरूपत्वात् त्रयीति परिकीर्तिता····कार्यसिद्धेन चतुर्धा परिकीर्तिता ॥ ऋचो यजूंषि सामानि अथर्वाङ्गिरसस्तथा। चातुर्होत्रप्रधानत्वात् लिङ्गादित्रितयं त्रयी ॥ अथर्वाङ्गिरसं रूपं सामऋग्यजुरात्मकम्। तथा दिशन्त्याभिचारसामान्येन पृथक् पृथक् ॥ एकविंशतिशाखायामृग्वेदः परिकीर्तितः। शतं च नव शाखासु यजुषामेव जन्मनाम् ॥ साम्नः सहस्रशाखाः स्युः पञ्चशाखा अथर्वणः।

महिमा तथा इसके अतिरिक्त भी जो कुछ धन्य, यशस्य, ऐश्वर्यमय पदार्थ दिखाई पड़ते हैं, वह सब लक्ष्मी के कृपाकटाक्ष के केवल विन्दु मात्र हैं। 'आकुग्राम०' प्रभृति श्लोक में गुणरत्नकोशकार ने लक्ष्मी की इस महिमा का वर्णन किया है!

सीतोपनिषद् में सीतातत्त्व का वर्णन किया गया है। यह सीतातत्त्व लक्ष्मी के स्वरूप से अभिन्न हैं। इसीलिये पूरे सीतोपनिषद् को उद्धृत कर यहाँ उसकी व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। यह इसलिये आवश्यक है कि पूर्व प्रदर्शित इस बात को सिद्ध किया जाय कि भगवान् विष्णु के रामावतार के अवसर पर लक्ष्मी सीता के रूप में अवतरित होती है और पूरी रामायण में सीता का ही चरित मुख्य रूप से प्रतिपादित है। पूरो सीतोपनिषद् का संक्षेप में यह अभिप्राय है—

जिस संवित्तत्त्व (सीता तत्त्व) के आधार पर इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति की सत्ता स्फुरित होती है अथवा उक्त तीनों शक्तियां जिसकी सत्ता को सिद्ध करने में समर्थ होती हैं, वह सीतातत्त्व ब्रह्म की सत्ता से अभिन्न है। ब्रह्मतत्त्व सत्ता सामान्य स्वरूप माना जाता है। सीतातत्त्व का भी यही स्वरूप है। जगत् इससे भिन्न सत्ता विशेष के रूप में वर्णित है। जैसे मृद्विशेष घट प्रभृति मिट्टी के विकार और मिट्टी उनका सामान्य मूलतत्त्व है, जैसे जल की तरङ्गादि विशेष स्थितियाँ उसके विकार और जल

शश्वद्ब्रह्ममयं रूपं क्रियाशक्तिरुदाहृता॥" साक्षाच्छक्तिर्भगवतः स्मरणमात्ररूपाविर्भावप्रादुर्भावात्मिका निग्रहानुग्रहरूपा शान्तितेजोरूपा व्यक्ताव्यक्तकारणचरणसमग्रावयवमुखवर्णभेदाभेदरूपा भगवतः सहचारिणी अनपायिनी अनवरतसहाश्रयण्युदितानुदिताकारा निमेषोन्मेषसृष्टिस्थितिसंहारतिरोधानानुग्रहादिसर्वशक्तिसामर्थ्यात् साक्षाच्छक्तिरिति गीयते। इच्छाशक्तिस्त्रिविधा। प्रलयावस्थायां विश्रमणार्थं भगवतो दक्षिणवक्षःस्थलं श्रीवत्साकृतिर्भूत्वा विश्राम्यतीति सा योगशक्तिः। भोगशक्तिर्भोगरूपा कल्पवृक्षकामधेनुचिन्तामणिशङ्खपद्मनिध्यादिनवनिधिसमाश्रिता भगवदुपासकानां कामनयाऽकामनया वा भक्तियुक्ता नरं नित्यनैमित्तिककर्मभिरग्निहोत्रादिभिर्वा यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिभिर्वालमनण्वपि गोपुरप्राकारादिभिर्विमानादिभिः सह भगवद्विग्रहार्चापूजोपकरणैरर्चनैः स्नानादिभिर्वा पितृपूजादिभिरन्नपानादिभिर्वा भगवत्प्रीत्यर्थमुक्त्वा सर्वं क्रियते।

अथातो वीरशक्तिश्चतुर्भुजा अभयवरदपद्मधरा किरीटाभरणयुक्ता सर्वदेवैः परिवृता ब्रह्मादिभिर्वन्द्यमाना अणिमाद्यैश्वर्ययुता सम्मुखे कामधेनुना स्तूयमाना वेदशास्त्रादिभिः स्तूयमाना जयाद्यप्सरःस्त्रीभिः परिचर्यमाणा आदित्यसोमाभ्यां दीपाभ्यां प्रकाश्यमाना तुम्बुरुनारदादिभिर्गीयमाना राकासिनीवालीभ्यां छत्रेण ह्लादिनीमायाभ्यां चामरेण स्वाहास्वधाभ्यां व्यजनेन भृगुपुण्यादिभिरर्च्यमाना देवी दिव्यसिंहासने पद्मासनारूढा सकलकारणकार्यकरी लक्ष्मीर्देवस्य पृथग्भवनकल्पना। अलंचकारस्थिरा प्रसन्नलोचना सर्वदेवतैः पूज्यमाना वीरलक्ष्मीरिति विज्ञायते।' इत्युपनिषद्।

उपर्युक्तसीतोपनिषद्वचनानां संक्षेपेणायमभिप्रायः—इच्छाज्ञानक्रियाशक्तयो यस्य भावं सत्तां साधयन्ति, इच्छादिशक्तित्रयस्य वा सत्त्वं येन संविद्रूपेण सिद्धयति, तद्ब्रह्म सत्तासामान्यं सीतातत्त्वमिति। सत्ताविशेष एव जगत्। यथा मृद्विशेषा घटादयो विकारा मृत्सामान्यं मूलतत्त्वम्, जलविशेषास्तरङ्गादयो विकारा जलसामान्यात्मका एव, यथा वा सुवर्णविशेषाः कटकमुकुटकुण्डलादयः सुवर्णसामान्यमेव, यथा मृत्सामान्यमेव घटशरावोदञ्चनादिमृद्विशेषरूपेण, यथा वा सुवर्णसामान्यमेव कटकमुकुटकुण्डलादिसुवर्णविशेषरूपेण परिणमते, तथैव ब्रह्मसत्तासामान्यमेव सत्ताविशेषप्रपञ्चात्मना विवर्तते। यथा बीजे तदङ्कुरोत्पादिनी शक्तिर्भवति, तथैव ब्रह्मसत्तासामान्येऽपि प्रपञ्चोत्पादिनी शक्तिर्भवति। तस्यामेवानेके शक्तिभेदा भवन्ति। 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' (श्वे०उ० ६।८) इति श्रुत्यन्तरात्। ब्रह्मात्मसत्तारूपे सीतातत्त्वे च काचिन्मूलप्रकृतिरूपा काचिच्च प्रणवप्रकृतिरूपा शक्तिः। सापि सीतैव।

सीतेति त्रिवर्णरूपा विशुद्धसत्त्वरूपत्वात् सैव मायारूपाणि। तत्र प्रपञ्चबीजं माया विष्णुश्च ईकाररूपः सत्यममृतमभीष्टप्राप्त्यादिकं सकाररूपः। तारलक्ष्म्या सह प्रस्तरः विस्तृतः वैराजः स्थूलप्रपञ्चविशिष्टश्चेतनस्तकाररूपः। यथा प्रणवे अ उ म् इति मात्रात्रये विश्वतैजसप्राज्ञा विराड्ढिरण्यगर्भेश्वरा अन्तर्भवन्ति। अर्धमात्रा च तुरीयरूपा भवति। तथैव प्रकृतेऽपि

उनका सामान्य मूल तत्त्व है, अथवा जैसे कटक, कुण्डल प्रभृति सुवर्ण की विशेष स्थितियाँ और उनका मूलतत्व सुवर्ण सामान्य है, जैसे मृत्सामान्य ही घट, शराव आदि के रूप में, सुवर्ण सामान्य ही कटक, मुकुट, कुण्डलादि के रूप में परिणत होते हैं, उसी तरह से ब्रह्मसत्ता सामान्य ही सत्ता विशेष स्वरूप जागतिक प्रपंच के रूप में परिणत हो जाता है। जैसे बीज में अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान है, उसी तरह से ब्रह्मसत्ता सामान्य में प्रपंच को उत्पन्न करने की शक्ति वर्तमान है। उस ब्रह्मसत्ता में ही अनेक शक्तियाँ विद्यमान है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म में अनेक प्रकार की उत्कृष्ट शक्तियाँ विद्यमान है। सीतातत्त्व ब्रह्मसत्ता सामान्य है, अर्थात् इनकी पृथक् सत्ता न होकर एक ही सामान्य सत्ता है। इस सीतातत्त्व में मूल प्रकृतिरूप और प्रणव प्रकृतिरूप शक्तियाँ विद्यमान हैं। ये भी सीता के ही स्वरूप हैं।

सीतातत्त्व त्रिवर्णरूप है। यह विशुद्ध सत्त्वमयीहै। यही माया भी कहलाती है। माया इस प्रपंच का बीज है और विष्णु ईकारस्वरूप है। सत्य, अमृत और अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति, यह सकार का रूप है। तार लक्ष्मी के साथ विस्तृत विराट् अर्थात् स्थूल प्रपंच से विशिष्ट चेतन तकार का स्वरूप है। जैसे प्रणव (ॐकार) की अ, उ, म्—इन तीन मात्राओं में विश्व, तैजस और प्राज्ञ विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर का अन्तर्भाव माना जाता है और अर्धमात्रा की इनसे भिन्न तुरीय तत्त्व के रूप में गणना होती है, उसी

सीताशब्दगते स ई ता इति वर्णत्रये प्रकृतिविकारात्मकः प्रपञ्चोऽर्धमात्रारूपं च ब्रह्मसत्तारूपं मूलसीतातत्त्वम् ।

ईकाररूपिणी सोमामृतावयवदिव्यस्रङ्मौक्तिकदिव्याभरणालङ्कृता विग्रहवती व्यक्तरूपा भवति। सात्मिका सकाररूपा शब्दब्रह्ममयी स्वाध्यायकाले प्रसन्ना प्रपञ्चोद्भावनकरी भवति, सृष्टेः शब्दपूर्वकत्वात् 'स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत' (तै० ब्रा० २।२।४।२) इति श्रुतेः, 'वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः' इति स्मृतेः, 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (ब्र० सू० १।३।२८), 'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३।२९) इति सूत्रेभ्यश्च। द्वितीया भूतले हलाग्रे समुत्पन्ना। सा चाभ्युदयहेतुत्वात् कृष्यधिष्ठात्री शक्तिविग्रहवती जनकस्य यज्ञे चयनक्षेत्राकर्षणकाले हलाग्रादाविर्भूता सीता। तृतीया अव्यक्तरूपिणी ईकाररूपिणी भवति। शक्तिरूपैव सीता ब्रह्मसत्तात्मश्रीरामसान्निध्यवशाद् जगदानन्दकारिणी सर्वदेहिनां हिताय उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी भवति। सैव मूलप्रकृतिसंज्ञिता ज्ञेया। प्रणवरूपत्वाच्च सीता प्रकृतिरुच्यते। सैव च ब्रह्ममयी सर्ववेदमयी सर्वदेवमयी सर्वलोकमयी सर्वकीर्तिमयी सर्वधर्ममयी सर्वाधारा कार्यकारणमयी महालक्ष्मीः सर्वकारणत्वात् सर्वमयी भवति, कारण-सूक्ष्म-स्थूल-समष्टिव्यष्टिरूपत्वात्। प्रकारान्तरेण सैव इच्छाशक्तिः, क्रियाशक्तिः, साक्षाच्छक्तिरिति च गीयते। श्रीरूपा भूरूपा नीलारूपेति त्रिधा इच्छाशक्तेर्विस्तारः। पूर्वा भद्ररूपिणी, द्वितीया प्रमातृरूपिणी, तृतीया सोमसूर्याग्निरूपा। सोमरूपा सती ओषधीनां नियामिका भवति। सैव च कल्पवृक्षपुष्पफललतागुल्मात्मिका औषधभेषजात्मिका अमृतरूपा देवानां महत्स्तोमफलप्रदा अमृतेन देवानां तृप्तिं जनयन्ती मनुष्याणामन्नेन पशूनां तृणेन तत्तज्जीवानां कल्याणाय पोषणाय च सूर्यादिसकलभुवनप्रकाशिनी दिवारात्र्यादिखण्डकालमहाकालकल्पनया प्रकाशमाना जगद्व्यवहारहेतुर्भवति। सैव बाह्याभ्यन्तराग्निरूपेण किं बहुना सैव बुद्धिनिद्राक्षुधाछायातृष्णाक्षान्तिजातिशान्तिश्रद्धाकान्तिलक्ष्मीवृत्तिस्मृतिदयातुष्टिपुष्टिमातृ-भ्रान्त्यादिरूपेण सर्वाभ्युदयसर्वजीवनसर्वविश्रामहेतुर्भवति। सैव च भग-

तरह से प्रकृत में 'सीता' पद गत स ई ता इन तीन वर्णों में प्रकृति विकारात्मक प्रपंच और अर्धमात्रात्मक स्वरूप में ब्रह्मसत्ता सामान्य मूल सीता तत्त्व विद्यमान है।

ईकारस्वरूपिणी सीता सोम और अमृत से उत्पन्न दिव्य माला, मुक्तामणि जटित दिव्य अलंकारों से विभूषित व्यक्त शरीर को धारण करती है। सकारात्मिका शब्द ब्रह्ममयी सीता स्वाध्याय काल में प्रसन्न होकर सारे प्रपंच की सृष्टि करती है। सृष्टि की शब्दपूर्वकता 'स भूरिति' प्रभृति श्रुतियों में सुनी गई है। स्मृति में भी बताया गया है कि 'उस महेश्वर ने वैदिक शब्दों से प्रपंच की सृष्टि की'। ब्रह्मसूत्र में भी यह विषय प्रतिपादित है। यह सीतातत्त्व का प्रथम स्वरूप है। इसका द्वितीय स्वरूप पृथिवी लोक में हल के अग्रभाग से प्रादुर्भूत हुआ था। यह देवी का स्वरूप जगत् के अभ्युदय का हेतु है। कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में यह शक्ति मानुषी विग्रह धारण कर जनक के यज्ञ में अग्निचयन के स्थान को जोतते समय हल के अग्रभाग से निकली थी और इसका नाम भी सीता रखा गया था। सीता का तृतीय स्वरूप ईकार के रूप में अव्यक्त रहता है। ब्रह्मसत्ता सामान्य श्रीराम के सान्निध्य से शक्तिस्वरूपिणी यह सीता जगत् को आनन्द देने वाली सब प्राणियों के कल्याण के लिये जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहार की लीला करती है। इसलिये इसी को मूल प्रकृति कहते हैं। प्रणवरूप होने से भी सीता प्रकृति कहलाती हैं। यह सीता ही ब्रह्ममयी, सर्ववेदमयी, सर्वदेवमयी, सर्वलोकमयी, सर्वकीर्तिमयी, सर्वधर्ममयी, सबकी आधारभूत, कार्यकारणमयी महालक्ष्मी कहलाती हैं। सारे प्रपंच की कारण होने से यह सर्वमयी है। यही कारण शरीर, सूक्ष्म और स्थूल शरीर वाली तथा समष्टि और व्यष्टिस्वरूप वाली भी है। प्रकारान्तर से यही इच्छाशक्ति क्रियाशक्ति और साक्षात्छक्ति के रूप में परिणत होती है। इच्छाशक्ति का त्रिधा विस्तार श्री, भू और नीला देवी के रूप में होता है। श्री देवी भद्र (कल्याण) को देने वाली, भू देवी प्रमातृस्वरूपिणी और नीलादेवी सोम-सूर्य-अग्निस्वरूपिणी है। अपने सोमरूप के कारण यह औषधियों को पुष्टि प्रदान करती है। कल्पवृक्ष, पुष्प, फल, लता, गुल्म प्रभृति इसी के स्वरूप हैं। औषध, भेषज के रूप में यह भूलोक में अमृतस्वरूपिणी है। अमृतरूप होने से ही यह देवताओं को अमृत से, मनुष्यों को अन्न से, पशुओं को तृण (घास) से सन्तुष्ट करती है। अन्य जीवों के कल्याण के लिये और उनको पुष्ट करने के लिये भी यह सूर्य प्रभृति सारे लोकों को प्रकाशित करती है। दिन, रात्रि आदि के रूप में खण्डकाल और महाकाल की कल्पना के रूप में प्रकाशमान यह देवी सारे जगत् के व्यवहार का सम्पादन करती है। यही बाह्य और आभ्यन्तर

वत्सङ्कल्पानुगुण्येन लोकरक्षणार्थं श्रीलक्ष्मीभूदेवीरूपेण विश्वं पोषयति। तस्या एव जगन्निर्वाहाय एकविंशतिशाखात्मकर्ग्वेदात्मना नवोत्तरशतशाखात्मकयजुर्वेदात्मना सहस्रशाखात्मकसामवेदात्मना पञ्चशाखात्मना पञ्चाशत्शाखात्मना वा अथर्ववेदरूपेण प्रादुर्भावः। 'अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे।' (मुक्तिकोपनिषद् १३) इति मुक्तिकोपनिषदुक्तेः।

वस्तुतस्तु 'अनन्ता वै वेदाः' (तै०ब्रा० ३।१०।११।४) इति तैत्तिरीयसंहितानुसारेण वेदा अनन्ता ईश्वरज्ञानस्यानन्तत्वात् तदनुगता वेदा अप्यनन्ता एव। 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥' (वा० पदीय ब्रह्मकाण्ड १२३) इति वाक्यपदीयरीत्या अस्मदादिज्ञानान्यपि शब्दानुविद्धान्येव। ईश्वरज्ञानस्य नित्यत्वात् तदनुविद्धाः शब्दा अपि नित्या एव। नित्या अपौरुषेयाः शब्दा एव वेदाः। ईश्वरज्ञानपूर्विका एव सृष्टिर्भवति। तत एव वेदशब्दपूर्विकाः सर्वा अपि सृष्टयः। तत्र वेदा यद्यप्यनन्ता एव। तथापि मानवबुद्धिग्राह्या वेदा महाभाष्यादिरीत्या एकत्रिंशदुत्तरैकादशशतसंख्याकशाखात्मकाः, सीतोपनिषद्रीत्या पञ्चत्रिंशदुत्तरैकादशशतसंख्याकाः, मौक्तिकोपनिषद्रीत्या अशीत्युत्तरैकादशशतसंख्याकशाखात्मकाः। इदानीं तु नवशाखात्मका एवोपलभ्यन्ते वेदाः। देवेषु चतुर्मुखादिषु आदित्ये च सर्वा एव शाखास्तिष्ठन्तीति। कल्प-व्याकरण-शिक्षा-निरुक्तज्यौतिषछन्दोरूपाणि षडङ्गानि। न्यायवैशेषिकौ सांख्ययोगौ पूर्वोत्तरमीमांसे च धर्मशास्त्रमितिहासपुराणवास्तुवेदधनुर्वेदायुर्वेदगान्धर्वं चैते पञ्चोपवेदा भवन्ति। दण्डनीतिश्च वार्ता च वायुजयश्चैव सर्वाणि शास्त्राणि विष्णोर्वाणी।

शश्वद्ब्रह्ममयं रूपं क्रियाशक्तिरुदाहृता। साक्षाच्छ्रीर्भगवतः स्मरणमात्ररूपाविर्भावप्रादुर्भावात्मिका निग्रहानुग्रहरूपा शान्तितेजोरूपा व्यक्ताव्यक्तकारणचरणसमग्रावयवमुखवर्णभेदाभेदरूपा भगवत्सहचारिणी अनपायिनी अनवरतसहाश्रयिणी उदितानुदिताकारा निमेषोन्मेषसृष्टिस्थितिसंहारतिरोधानानुग्रहादिसर्वशक्तिसामर्थ्यात् साक्षाच्छक्तिरिति गीयते।

अग्नि के रूप में विद्यमान है। बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, छाया, तृष्णा, क्षान्ति, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, पुष्टि, मति, भ्रान्ति आदि रूपों में यही देवी सबके अभ्युदय, जीवन और विश्राम की हेतु है। यही भगवान् के संकल्प के अनुरूप लोक की रक्षा के लिये श्री, लक्ष्मी, भूदेवी का रूप धारण कर विश्व का पोषण करती है। जगत् का सुचारू रूप से संचालन करने के लिये यही देवी २१ शाखा वाले ऋग्वेद का, १०९ शाखा वाले यजुर्वेद का, एकसहस्रशाखा वाले सामवेद का, ५ अथवा ५० शाखावाले अथर्ववेद का रूप धारण करती है। अथर्ववेद की सीतोपनिषद् में ५ तथा मौक्तिकोपनिषद् में ५० शाखाएँ वर्णित हैं।

वस्तुतः तैत्तिरीय संहिता के वचन के अनुसार वेद अनन्त हैं। ईश्वर के ज्ञान का कोई अन्त नहीं है, अतः ईश्वर के ज्ञान से अनुगत वेद भी अनन्त हैं। वाक्यपदीयकार का कहना है कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, जिसके साथ शब्द न जुड़ा हुआ हो। इसी पद्धति से हमारा ज्ञान भी शब्द के साथ जुड़ा हुआ है। ईश्वर का ज्ञान नित्य है, अतः उससे अनुविद्ध शब्द भी नित्य ही हैं। नित्य अपौरुषेय शब्द ही वेद हैं। यह सृष्टि ईश्वर के ज्ञान के साथ जुड़ी हुई है, इसीलिये सारी सृष्टि ईश्वर के ज्ञान से अनुविद्ध वैदिक शब्दों से ही होती है। इस तरह से वेद यद्यपि अनन्त हैं, तथापि मानव बुद्धि से गृहीत हुए वेद महाभाष्यकार के कथन के अनुसार ११३१ शाखाओं वाले हैं। सीतोपनिषद् में शाखाओं की संख्या ११३५ और मौक्तिकोपनिषद् में ११८० हैं। आजकल वेद की केवल ९ शाखाएँ उपलब्ध हैं। चतुर्मुख ब्रह्मा प्रभृति देवता तथा आदित्य में लुप्त हुई सभी शाखाएँ विद्यमान हैं। कल्प, व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त, ज्यौतिष और छन्द—ये वेद के षडंग कहे गये हैं। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वोत्तर मीमांसा, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, वास्तुवेद, धनुर्वेद आयुर्वेद और गान्धर्ववेद—इनमें पाँच उपवेदों का भी समावेश है। दण्डनीति, वार्ता, वायुजय प्रभृति सभी शास्त्र भगवान् विष्णु की वाणी का विलास है।

क्रियाशक्ति भी उस शाश्वत ब्रह्म का ही स्वरूप है। भगवान् के स्मरण करते ही साक्षात् लक्ष्मी उनके सामने क्रियाशक्ति के रूप में आविर्भूत होकर आविर्भाव और तिरोभाव, निग्रह और अनुग्रह, शान्ति और तेज, व्यक्त और अव्यक्त, कर, चरण, मुख आदि समग्र अवयव के भेदाभेद के रूप में अवस्थित होकर इन सब कार्यों में उनकी सहायिका बनती है, उनसे कभी अलग नहीं होती, सदा उनके साथ रहती है तो भी कभी इसका स्वरूप दिखाई पड़ता है और कभी आँखों से ओझल हो जाता है। निमेष, उन्मेष, सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान, अनुग्रह आदि समस्त शक्तियों की सामर्थ्य इसी में निहित है। अतः इसी को साक्षात् शक्ति कहा जाता

इच्छाशक्तिस्त्रिविधा प्रलयावस्थायां विश्रमणार्थं भगवतो दक्षिणवक्षःस्थले श्रीवत्साकृतिर्भूत्वा विश्राम्यतीति सा योगशक्तिः। भोगशक्तिर्भोगरूपा कल्पवृक्षकामधेनुचिन्तामणिशङ्खपद्मनिध्यादिनवनिधिसमाश्रिता। अथातो वीरशक्तिश्चतुर्भुजा अभयवरदपद्मधरा किरीटाभरणयुता सर्वदेवैः परिवृता कल्पतरुमूले चतुर्भिर्गजै रत्नघटैरमृतजलैरभिषिच्यमाना सर्वदैवतैर्ब्रह्मादिभिर्वन्द्यमाना अणिमाद्यैश्वर्ययुक्ता सम्मुखे कामधेनुना स्तूयमाना वेदशास्त्रादिभिः स्तूयमाना जयाद्यप्सरःस्त्रीभिः परिचर्यमाणा आदित्यसोमाभ्यां प्रदीपाभ्यां प्रकाश्यमाना तुम्बुरुनारदादिभिर्गीयमाना राकासिनीवालीभ्यां छत्रेण ह्लादिनीमायाभ्यां चामरेण स्वाहास्वधाभ्यां व्यजनेन भृगुपुण्यादिभिरर्च्यमाना देवी सिंहासने पद्मासनारूढा सकलकारणकार्यकरी लक्ष्मीर्देवस्य पृथग्भवनकल्पना अलञ्चकार स्थिरा प्रसन्नलोचना सर्वदैवतैः पूज्यमाना वीरलक्ष्मीरिति विज्ञायते।

तारसारोपनिषद्रीत्या प्रणवार्थभूत एव साङ्गः सशक्तिः परमेश्वरः श्रीरामः। तत्र याज्ञवल्क्यो भरद्वाजायाह—ॐ यो ह वै श्रीपरमात्मा नारायणः स भगवानकारवाच्यो जाम्बवान् भुर्भुवःस्वस्तस्मै वै नमो नमः। ॐ उकारवाच्य उपेन्द्रस्वरूपो हरिनायकः। ॐ मकारवाच्यः शिवस्वरूपो हनुमान्। ॐ बिन्दुरूपः शत्रुघ्नः। ॐ नादस्वरूपो भरतः। कलास्वरूपो लक्ष्मणः। ॐ कलातीता भगवती सीता चित्स्वरूपा। ॐ यो वै श्रीपरमात्मा नारायणः स भगवांस्तत्परः परमपुरुषः पुराणपुरुषोत्तमो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वयपरिपूर्णः परमात्मा ब्रह्मैवाहं रामोऽस्मि भूर्भुवःसुवस्तस्मै नमो नमः। रामरहस्योपनिषदि पूर्वोत्तररामतापन्यादिषु च भगवतः श्रीसहितस्य अनन्तमाहात्म्यानि चरित्राणि नामानि मन्त्राश्च वर्णितानि। यथा कस्यचित्प्रभोः प्रीत्यै केनचित्प्रयत्नसाध्ये कर्मणि कृते प्रभुणा तद्दर्शनेन तदनुमोदनेन च कर्तुर्महानानन्दो भवति, तथा समस्तचिद्विधानव्यसनिनो हरेरपि तत्प्रयत्ने श्रिया तद्दर्शनेनानुमोदिते तस्यापि महानानन्दो भवति। हरिः सर्वपापानां

है। इच्छा शक्ति के भी तीन प्रकार हैं। पहला स्वरूप प्रलयावस्था में भगवान् के दक्षिण वक्षस्थल पर श्रीवत्स के रूप में विश्राम करता है। इसे योगशक्ति कहते हैं। दूसरा है भोगशक्ति, भोग का सम्पादन करने के लिये यह कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि के रूप में और शंख, पद्म प्रभृति निधि के रूप में अवतरित होता है। वीर शक्ति इसका तृतीय स्वरूप है। इसके चार भुजाएँ हैं, अभय, वरद मुद्रा और कमल इसके हाथों में है, किरीट पहने हुए हैं। यह सारे देवों से परिवृत है। कल्पतरु के नीचे चार हाथी रत्नघट में अमृत जल लेकर इसका अभिषेक करते हैं। ब्रह्मा प्रभृति सभी देवगण इसकी स्तुति करते हैं। अणिमा प्रभृति ऐश्वर्य इसके पास हैं। कामधेनु; समस्त वेदादि शास्त्र इसके सामने स्तुति कर रहे हैं, जया प्रभृति अप्सराएँ इसकी सेवा में लगी हुई हैं। आदित्य और सोमरूपी दीपक से यह प्रकाशमान है। तुम्बुरु, नारद प्रभृति इसका यशोगान कर रहे हैं। राका और सिनीवाली के हाथ में छत्र है, ह्लादिनी और माया चामर डुला रही हैं, स्वाहा और स्वधा पंखा झल रही हैं, भृगु प्रभृति इसकी पूजा कर रहे हैं। यह देवी (भोगशक्ति) सिंहासन पर पद्मासन मार कर बैठी हुई हैं, सकल कारण और कार्य जगत् की जननी है। यह देवी लक्ष्मी का ही स्वरूप है। इस रूप में यह भगवान् विष्णु के एक से अनेक बनने के संकल्प को साकार करती है। प्रसन्न लोचनवाली सभी देवताओं के द्वारा पूजित स्थिर स्वरूप वाली यह लक्ष्मी वीरलक्ष्मी के नाम से मानी जाती है।

तारसारोपनिषद् के अनुसार सपरिकर सशक्ति भगवान् श्रीराम प्रणवात्मक ही हैं। वहाँ याज्ञवल्क्य भरद्वाज को कहते हैं कि यह जो परमात्मा नारायण है, वही भगवान् अकार के रूप में जाम्बवान्, उकार वाच्य उपेन्द्रस्वरूप सुग्रीव, मकारवाच्य शिवस्वरूप हनुमान्, बिन्दुरूप शत्रुघ्न, नादरूप भरत, कलास्वरूप लक्ष्मण, कलातीता, भगवती सीता चित्स्वरूपिणी और श्री परमात्मा नारायण स्वयं भगवान् ही परमपुरुष, पुराण पुरुषोत्तम, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्दात्मक; अद्वयतत्त्व से परिपूर्ण परमात्मा परब्रह्मस्वरूप राम हैं। भूः, भुव और सुवः इस व्याहृतित्रय का उच्चारण कर मैं इन सभी स्वरूपों को प्रणाम करता हूँ। रामरहस्योपनिषद्, पूर्वरामतापिनी और उत्तररामतापिनी प्रभृति उपनिषदों में लक्ष्मी के साथ वर्तमान भगवत्स्वरूप के अनन्त माहात्म्य, चरित्र, नाम और मन्त्र वर्णित हैं। जैसे कोई व्यक्ति अपने स्वामी के लिये पूर्ण प्रयत्न कर कोई उत्तम कार्य करता हैं और यह जानकर उसको महान् आनन्द होता है कि मेरे स्वामी ने मेरे कार्य को देखा और उसको सराहा, उसी तरह से समस्त चित् और अचित् जगत् का विधान करनेवाले भगवान् के प्रयत्न को भी जब लक्ष्मी देखती है और उसका अनुमोदन करती हैं तो भगवान् को भी महान् आनन्द होता है। सब पापों का हरण करने वाले अथवा उनको अपने वश में करने वाले श्रीहरि हैं। वे समस्त चिदचित् जगत् को इन्द्रिय और देह से संयुक्त

हरणाद्वशीकरणाद्वा । समस्तानां चिदचितां करणकलेवरयोजनाय महदहङ्कारभूतकरणग्रामोत्पादनम् । समस्तबद्धमुक्तनित्यरूपाणां चेतनानां शुद्धसत्त्वमिश्रसत्त्वशून्यलक्षणानामचेतनानां भगवदिच्छात एव सृष्टिस्थितिलया भवन्ति । सूरीणां नित्यासङ्कुचितज्ञानतया सङ्कल्पनम्, मुक्तानामाविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकतया सङ्कल्पनम्, बद्धानां करणादिप्रदानकर्मतारतम्यज्ञानोत्पादनादिविधानं भवति । अचेतनविषये तु शुद्धसत्त्वस्य स्वेच्छया नित्यविभूतिविमानगोपुरमण्डपप्रासादादिरूपेण परिणामयितृत्वं मिश्रसत्त्वस्य संसारिचेतनान् प्रति भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानरूपेणाण्डतदावरणचतुर्दशभुवनसमस्तदेहेन्द्रियादिरूपेण चोत्पादनम्, सत्त्वशून्यस्य कालस्य चेतनकर्मानुगुण्येन कलाकाष्ठामुहूर्त्तयामदिनपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरादिरूपेण परिणमयितृत्वं च तदिच्छात एव विधानं श्रियः प्रमोदः । श्रीहरेस्तादृशचिदचिद्विधानव्यसनम्, श्रीश्च कटाक्षैरेव तदनुमोदते । 'स्मितविकसितगण्ड व्रीडविभ्रान्तनेत्रं मुखमवनमयन्ती स्पष्टमाचष्ट सीता ।' इतिवन्नयनलीलयैवाङ्गीकारः सूच्यते । तदेवोक्तं गुणरत्नकोशे—'श्रियै समस्तचिदचिद्विधानव्यसनं हरेः । अङ्गीकारिभिरालोकैः सार्थयन्त्यै कृताञ्जलिः ॥' इति । 'क्रीडेयं खलु नान्यथास्य रसदा स्यादेव रस्या तया' इति श्रीस्तवोक्तेः । तस्मात् सैव पोढा श्रीर्भवति 'श्रितास्यन्यैः सर्वैः श्रयसि रमणं संश्रितगिरः, शृणोषि प्रेयांसं श्रितवचः श्रावयसि च । शृणास्येतद्दोषान् जननि निखिलान् सर्वजगतीं गुणैः श्रीणासि त्वं तदिह भवतीं श्रीरिति विदुः ॥' इति । व्याख्यातमेतत् ।

श्रीहरेः स्थिरचरसृष्टौ यत्तारतम्यं दृश्यते तदपि श्रीभगवत्या भ्रूभङ्गापेक्षयैव । तत्र स्थावरसृष्टौ कल्पवृक्षचन्दनरसालाश्वत्थनारिकेलस्नुहीबबूराकीडिकण्टकिद्रुमाणां चरेषु देवमनुष्यब्राह्मणक्षत्रियादीनां हंसगरुडशुकपिकमयूरकोकिलकङ्कगृध्रकाकादीनां यदुच्चावचभावलक्षणं तारतम्यं दृश्यते, तत्सर्वं श्रियः कटाक्षमूलकमेव । यथा धातुर्जगत्सृष्टौ वेदाः प्रमाणं

करने के लिये महत् अहङ्कार, इन्द्रियगम्य और पंच महाभूत की सृष्टि करते हैं । समस्त बद्ध, मुक्त और नित्य चेतनों की सृष्टि शुद्ध सत्त्व और मिश्र सत्त्व से तथा सत्त्वशून्य अचेतनों की सृष्टि, स्थिति और लय भगवदिच्छा से ही होते हैं । नित्यमुक्त सूरीगण की संकल्पना नित्य असंकुचित ज्ञान से, मुक्तों की आविर्भूत अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टक से और बद्ध जीवों की इन्द्रिय, शरीर आदि की रचना के साथ ज्ञान के तारतम्य के विधान द्वारा सम्पन्न होती है । अचेतन पदार्थों में से शुद्ध सत्त्व को स्वेच्छया नित्यविभूति, विमान, गोपुर, मण्डप, प्रासाद रूप से परिणत कर देते हैं । मिश्रसत्त्व से संसारी चेतन जीवों के लिये भोग्य पदार्थ, भोग के उपकरण और भोगस्थान के रूप में अण्ड और उसके आवरणभूत चतुर्दशभुवन और समस्त देह, इन्द्रिय प्रभृति पदार्थों की उत्पत्ति करते हैं । सत्त्वशून्य काल की चेतन जीव के कर्मों के अनुसार कला, काष्ठा, मुहूर्त, मास, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर आदि के रूप में परिणति होती है । यह सब भगवान् की इच्छा से होता है । इससे लक्ष्मी प्रसन्न होती है । श्रीहरि को इस तरह के चिदचिद्विशिष्ट जगत् को बनाने की आदत है और लक्ष्मी इसका अनुमोदन करती है । 'लज्जा से अपना मुख नीचा करती हुई सीता ने अपने मनोभाव को स्पष्ट कर दिया' उत्तररामचरित की इस उक्ति के अनुसार लक्ष्मी अपने नेत्रों की लीला से ही भगवान् के इन सभी कार्यों का अनुमोदन करती हैं । 'श्रियै समस्त०' इस श्लोक में गुणरत्नकोशकार ने इसी भाव को व्यक्त किया है । श्रीस्तव में भी कहा गया है कि भगवान् की यह लीला लक्ष्मी को बड़ी हो सरस लगती है । इसीलिये इसको श्री कहते हैं । गुणरत्नकोशकार ने कहा है कि अन्य सभी प्राणी आपका ही सहारा लेते हैं और आप स्वयं लक्ष्मीरमण भगवान् विष्णु का आश्रय ग्रहण करती हैं । स्तुति करनेवालों की बात आप सुनती हैं और उन आश्रितों की प्रार्थना को आप भगवान् को भी सुनाती हैं । हे जननि! अपने आश्रितों के समस्त दोषों को आप नष्ट कर देती हैं और इस सारे जगत् को गुणों से परिपूर्ण कर देती हैं । इन्हीं सब गुणों की समष्टिस्वरूपा भगवती लक्ष्मी को श्री के नाम से जाना जाता है ।

श्री हरिद्वारा संपादित स्थावर और जंगम सृष्टि में जो तारतम्य दिखाई पड़ता है, वह भी भगवती के भ्रूभंग का ही विलास है । स्थावरसृष्टि में कल्पवृक्ष, चन्दन, आम्र, अश्वत्थ, नारिकेल, स्नुही तथा बबूल प्रभृति कांटे वाले वृक्षों में तरतम भाव देखने को मिलता है । इसी तरह से देव, मनुष्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय' हंस, गरुड़ शुक, पिक, मयूर प्रभृति में उच्चावच भाव देखने को मिलता है । यह सब लक्ष्मी के कटाक्ष का ही प्रभाव है । जैसे विधाता की सृष्टि में वेद प्रमाण हैं, उसी तरह से श्रीहरि के स्थिर

तथैव श्रीहरेः स्थिरचररचनातारतम्ये श्रीभ्रूभङ्गा एव प्रमाणम्। श्रीभ्रूभङ्गतारतम्ये च तत्तत्कर्मतपोयोगोपासनादितारतम्यसापेक्षमेव। तेनैव न तत्र वैषम्यनैर्घृण्यादयो दोषाः। तदुक्तमेव—'ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः' (भा० पु० १।१६।३२) इत्यादिषु। तत्कृपाकटाक्षाणां बाहुल्यतारतम्येनोत्कर्षतारतम्यम्, अल्पत्वतारतम्येनापकर्षतारतम्यम्। भगवतः श्रीहरेरुरसि यस्याः पादचिह्नैर्वेदान्तास्तत्त्वसंशयं तरन्ति यस्याः पादालक्ताङ्कैः श्रीहरेः परत्वं वेदान्ता निर्णयन्ति, लक्ष्मीचरणलाक्षाचिह्नैर्यस्य वक्षःस्थलमलङ्कृतम्, तस्यैव परतत्त्वत्वमिति। श्रीपदलाक्षालाञ्छनदर्शनेन अयमेव परतत्त्वमिति निश्चिन्वते। 'एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः' इतीतरनिषेधपूर्वकं भगवतः प्रलयसमयावस्थितिं प्रतिपाद्य 'अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेय' इति तस्य पुरुषशब्दवाच्यतां जगत्सृष्ट्यादिकर्तृतां च प्रतिपाद्य 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यारभ्य 'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः' इत्यन्तेन वाक्यजातेन नारायणपुरुषशब्दवाच्यस्य सहस्रशिरःपादादिमत्त्वं विश्वशरीरत्वं मोक्षप्रदत्वं महामहिमत्वं सर्वतो ज्यायस्त्वं सर्वभूतैकपादत्वं त्रिपाद्विभूतिमत्त्वं विश्वाक्रमणकर्तृत्वं चराचरोत्पादकनानावयवत्वं तमःपरवर्तित्वं सर्वनामरूपव्याकर्तृत्वं कर्मकृतजन्मरहितत्वं स्वेच्छाकृतावतारत्वं तदवतारहेत्वपारकारुणिकत्वानि प्रतिपाद्य, एवं विभवो नारायणशब्दवाच्यश्च भक्त इत्यपेक्षायां लक्ष्मीपतित्वप्रतिपादनाल्लक्ष्मीपतिरेव नारायणपुरुषशब्दवाच्यः पूर्वोक्तसर्ववैभवयुक्तः परतत्त्वं चेति श्रोतारो निश्चेष्यन्तीति वेदान्तपुरुषाश्चिन्तां मुञ्चन्ति। अनेन लक्ष्म्या वेदान्तवेद्यत्वमायाति। तदुक्तम्—'यद्भ्रूभङ्गाः प्रमाणं स्थिरचररचनातारतम्ये मुरारेर्वेदान्तास्तत्त्वचिन्तां मुरभिदुरसि यत्पादचिह्नैस्तरन्ति' इति।

यद्यपि 'एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' इति वचनेऽपीतरनिषेधपूर्वकं रुद्रस्यापि प्रलयकालावस्थायित्वादिकमुक्तमेव, यथा पुरुषसूक्ते नारायणस्य लक्ष्मीपतित्वम्, तथैव रुद्रस्योमापतित्वं चोक्तम् 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुम्' (मं०

और चर वस्तुओं निर्माणमें लक्ष्मीं की भृकुटिभंगिमा ही प्रमाण है। श्री के भ्रूभङ्ग के तारतम्य में उन उन प्राणियों के कर्म, उपासना आदि के तारतम्य का संनिवेश रहता ही है। इसी कारण से इनमें वैषम्य, नैर्घृण्य, प्रभृति दोषों की आपत्ति नहीं आती। भागवतपुराण में बताया गया है कि भगवती लक्ष्मी के कृपाकटाक्ष की कामना से ही ब्रह्मा प्रभृति देवताओं ने अनेक वर्षों तक तप किया। लक्ष्मी के कृपाकटाक्ष की बहुलता होने पर उत्कर्ष का तारतम्य तथा उनकी अल्पता होने पर अपकर्ष का तारतम्य बनता है। भगवान् विष्णु के उदरस्थल पर जिसके पदचिन्हों को देख कर वेदान्तशास्त्र का संशय नष्ट हो जाता है, जिसके चरण के अलक्तक से अंकित भगवान् श्रीहरि की सर्वोत्कृष्टता को वेदान्त निश्चित करते हैं, लक्ष्मी के चरण की लाक्षा के चिन्ह से जिनका वक्षस्थल अलंकृत है, वही वास्तव में वेदान्त ज्ञेय परमतत्व है, यह निश्चित हो जाता है। 'केवल एक नारायण ही उस समय विद्यमान थे, ब्रह्मा और शिव की उस समय (प्रलयावस्था में) स्थिति नहीं थी' ऐसा कहने के बाद श्रुति में बताया गया है कि 'आदि पुरुष नारायण ने संकल्प किया कि मैं एक से बहुत हो जाऊँ'। इस तरह से नारायण ही पुरुषपदवाच्य हैं और वही जगत् की सृष्टि करने वाला है, इतना बताने के बाद इसको 'सहस्रशीर्षा' आदि स्वरूप वाला बताकर कहागया है कि नारायण, पुरुष आदि शब्दों में बोधित होने वाला, सहस्रशरीर पाद आदि से युक्त, विश्वशरीर, मोक्षप्रद, महामहिमाशाली यह भगवान् सब से श्रेष्ठ हैं। इसके एक पाद के रूप में यह सारा जगत् है और यह स्वयं त्रिपाद ऐश्वर्य से संपन्न है। यह सारे विश्व को आक्रान्त करके अवस्थित है। इसीके शरीर के विभिन्न अवयवों से सारे चराचर जगत् की उत्पत्ति होती है। यह अन्धकार से से परे है। सभी नाम और रूप का व्याख्याता यही है। इसका जन्म स्वेच्छा से होता है, किहीं कर्मों के कारण नहीं। इस अवतार का प्रयोजन उसकी अपार करुणा ही है। श्रुति में यह सारा वैभव नारायण का वर्णित है। यह नारायण कौन है? इसके इत्तर में उसको लक्ष्मी बताया गया है। अतः इस इस प्रतिपादन से लक्ष्मीपति नारायण ही उपर्युक्त सभी प्रकार के वैभव से युक्त हैं और वही परतत्व है, ऐसा श्रोतागण अवश्य जान सकेगें, इतना निश्चय हो जाने पर वेदान्तशास्त्र सभी प्रकार कीचिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार अन्ततः यह सिद्ध हो जाता है कि यह लक्ष्मी भी वेदान्तवेद्य ही है। 'यद्भ्रूभङ्गाः', प्रभृति श्लोक में यही विषय वर्णित है।

यद्यपि 'एको रुद्रः' प्रभृति श्रुति में इतरनिषेधपूर्वक केवल रुद्र की ही प्रलयावस्था में स्थिति बताई गई है और जैसे पुरुष-

ब्रा० उ० १।४) इत्यादिश्रुतिषु। यथा सीताराधारुक्मिण्यादीनां पर्यवसान ऐक्यमेव, तथैव त्रिपुरेश्वर्या अपि तदैक्यमेव। यथा श्रीरामकृष्णविष्ण्वादिरूपभेदेऽपि तत्त्वमेकमेव, तथैव शिवविष्ण्वादीनामपि रूपभेदेऽपि तत्त्वैक्यमेवावगन्तव्यम्। 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ,' 'श्रियं लोके देवजुष्टामुदाराम्' इत्यादिवचनानि तु विष्णोः परत्वबोधकत्वेऽपि न तदभिन्नस्य शिवस्य परत्वे बाधकानि।

श्रीभगवतः प्राणेश्वरीत्वेन श्रियो महामहिमश्रवणेन भगवान् प्रसीदतितमाम्। इदं च महानुभावैर्गुणरत्नकोशकारैरुक्तमेव—'श्रियः श्रीः श्रीरङ्गेशय तव च हृद्यां भगवतीं श्रियं त्वत्तोऽप्युच्चैर्वयमिव फणामः शृणुतराम्। दृशौ ते भूयास्तां सुखतरलतारे श्रवणतः पुनर्हर्षोत्कर्षात् स्फुटतु भुजयोः कञ्चुकशतम्॥' (गुणरत्नकोश ९) हे श्रियः सर्वाश्रयणीयाया अपि श्रीः समाश्रयणीय श्रीभगवन् रङ्गेशय श्रीरङ्गनगरे श्रीरङ्गविमाने शयनशील सौलभ्यसीमाभूमे सर्वेषां शिष्टजनानां हृद्यत्वात्परमप्रेमास्पदत्वात् सर्वोत्तमत्वेन भवान् स्तूयते, तदा भवतोऽपि हृद्यत्वेन परमप्रेमास्पदभूताया नित्यमेव वक्षःस्थलनिवासिन्याः षाड्गुण्यपरिपूर्णायाः पुरुषकारत्वेन सर्वाश्रयणीयाया अनन्तब्रह्माण्डसौन्दर्यमाधुर्यैश्वर्याद्यधिष्ठात्र्यास्त्वत्प्राणप्रियतमायास्त्वत्तोऽप्यत्यधिकमुच्चैर्महामहिमैश्वर्यं वर्णयामः। तदपि न परोक्षं किन्तु त्वत्समक्षमेव फणामः। अत्र स्तुतिर्नाम नाविद्यमानगुणारोपः, किन्तु विद्यमानयावद्यथावज्ज्ञातगुणवर्णनं क्रियते तच्छृणुतराम्। तस्य वर्णनस्य त्वमेव साक्षी भव। न केवलं श्रीस्तुतिश्रवणेन तव कोपाभावः, प्रत्युत श्रवणसुखेन चक्षुषोर्वैवश्यं सन्तोषातिशयेनापरिमितहर्षोद्रेकाद् अपरिमितकञ्चुकस्फुटनहेतुगात्रपरिपोषश्च स्यात्। स्तुतिश्रवणात् ते दृशौ सुखतरलतारे सुखेन तरले तारे कनीनिके ययोस्ते तथाभूते भूयास्ताम्। तथैव हर्षोत्कर्षाद् भुजयोः कञ्चुकशतं स्फुटतु। प्रथममेककञ्चुकस्फोटे ततोऽपि पृथुत्वेनापरकञ्चुकधारणे गात्रजृम्भणेन तस्यापि स्फुटने ततोऽपि विपुलकञ्चुकधृतो विग्रहविवृद्ध्या अपरिमितकञ्चुकस्फोटो भवतु।

सूक्त में नारायण को लक्ष्मीपति बताया है, उसी तरह से श्वेताश्वतरश्रुति में रुद्र को उमापति कहा है, किन्तु जैसे सीता, राधा, रुक्मिणी को अन्ततः लक्ष्मी का ही अवतार माना जाता है, उसी तरह से त्रिपुरेश्वरी भगवती पार्वती और लक्ष्मी का भी अभेद ही माना जाता है। जैसे श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु का स्वरूप भेद होते हुए भी इनमें ऐक्य माना जाता है, उसी तरह से शिव, विष्णु आदि के स्वरूप भेद के रहते हुए भी इनमें एकता ही माननी चाहिये। विष्णु की परता को बतानेवाले वचन उससे अभिन्न रूप से अवस्थित शिव की भी परता के बोधन में बाधक नहीं बन सकते।

लक्ष्मी भगवान् की प्राणेश्वरी हैं, इनकी महिमा सुनकर भगवान् परम प्रसन्न होते हैं। इस स्थिति का वर्णन महानुभाव गुणरत्नकोशकारने 'श्रियः श्रीः' प्रभृति श्लोक में किया है। इसका यह अभिप्राय है—भगवान् विष्णु सबके द्वारा आश्रयणीय लक्ष्मी के भी आश्रय हैं। हे भगवन्, आप श्रीरङ्ग नगर में श्रीरंग विमान में शयन करने वाले हैं। इस तरह से सबके लिये सदा सुलभ हैं। समस्त शिष्ट जनों के आप परम प्रेम के आस्पद हैं। अतः सर्वोत्तम देव के रूप में आपकी स्तुति की जाती है। भगवती लक्ष्मी तो आप जैसे सर्वोत्तम देव के परम प्रेम की भी आस्पद हैं, सदा आपके वक्षस्थल पर निवास करती हैं, षाड्गुण्य से परिपूर्ण हैं, पुरुषकार के रूप में सबकी आश्रयणीय हैं, अनन्त ब्रह्माण्ड के सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री हैं और आपको प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं। अतः हमारे जैसे आप के भक्त आपसे भी अधिक महिमायुक्त लक्ष्मी ही है, ऐसा वर्णन करने का साहस करते हैं। यह कार्य हम परोक्ष में न कर आपके समक्ष ही करते हैं। इस स्तुति में अविद्यमान गुण का आरोप न होकर समस्त विद्यमान ज्ञात गुणों का यथावत् वर्णन किया गया है। इसको आप सुनिये। इस वर्णन के साक्षी आप ही बनिये। इस श्रुति के श्रवण से केवल आपका कोप ही दूर नहीं होगा, किन्तु इस स्तुति के श्रवण से आपको अत्यन्त सन्तोष भी मिलेगा और अतिशय सन्तोष के कारण अपरिमित हर्ष का उद्रेक होने से आपकी आँखों से हर्षाश्रु बहने लगेंगे, किसी वस्तु को देखने में विवश हो जायंगे। हर्ष के अतिरिक्त से आपको रोमांच हो जायगा और अपरिमित कंचुक के स्फोटन में समर्थ गात्रपरिपोष हो जायगा। स्तुति के श्रवण से आपके नेत्र की कनीनिका सुख के कारण तरल (गीली) हो जायगी और इसी तरह से हर्ष के उत्कर्ष से आपके कंचुक फट जांय। हर्षातिरेक से गात्र के पुष्ट (मोटा) होने पर एक कंचुक फटेगा, तब दूसरा बड़ा कंचुक बनेगा। गात्र के परिपोष से उसके भी फट जाने पर फिर नया बड़ा कंचुक बनेगा। इस तरह से लक्ष्मी के गुणगण के श्रवण से आपका गात्र अपरिमित कंचुक के स्फोटन में समर्थ होने तक बढ़ती रहे।

वशिष्ठवाल्मीकिपराशरव्यासादयो मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्यापौरुषेयत्वेनापास्तसमस्तपुंदोषशङ्काकलङ्कपङ्कत्वेन परमं प्रामाण्यमाहुः। वेदस्य परमं तात्पर्यं यस्मिन् ब्रह्मण्येव पर्यवस्यति परब्रह्मरूपेण तच्छक्तिरूपेण प्रकृतिमायादिरूपेण भगवत्या एव वर्णनं कुर्वन्ति वेदाः। 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' (वा० सं० ३१।२२), 'हिरण्यवर्णां हरिणीम्' 'सुमज्जानये विष्णवे' (तै० ब्रा० २।४।३।९), 'श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते' (तै० ब्रा० ३।१२।३।१) इत्यादिषु मन्त्रेषु ब्राह्मणेषूपनिषत्सु च विविधरूपेण तस्या एव गुणगणार्णवो वर्णितो लभ्यते। रामायणमहाभारतादय इतिहासाः, अष्टादशपुराणानि, उपपुराणानि, तन्त्राणि, आगमाः, दर्शनानि, धर्मशास्त्राणि च त्वय्येव पर्यवस्यन्ति। इतिहासपुराणादीनां वेदोपबृंहकत्वमुक्तम्। 'वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः' (श्री० वा० रा० १।४।६), 'काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्' (वा० रा० १।४।७) इति रामायणवचनात्। महाभारतादेरपि भगवन्माहात्म्यपर्यवसायित्वम्, 'मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां सखापि ते भारतमाह कृष्णः। यस्मिन्नृणां ग्राम्यसुखानुवादैर्मतिर्गृहीता नु हरेः कथायाम्' (श्री० भा० म० पु० ३।५।१२) इति श्रीमद्भागवतवचनात्। भगवतश्च तदभिन्नत्वात् सर्वेषां प्रमाणानां तस्यामेव पर्यवसानम्। तदप्युक्तं महानुभावैः—'उद्बाहुस्त्वामुपनिषदसावाह नैका नियन्त्रीं श्रीमद्रामायणमपि परं प्राणिति त्वच्चरित्रे। स्मर्तारोऽस्मज्जननि यतमे सेतिहासैः पुराणैर्निन्युर्वेदानपि च ततमे त्वन्महिम्नि प्रमाणम्॥' (गुणरत्नकोश १४) हे अस्मज्जननि, असौ उपनिषत् श्रीसूक्तादिरूपा एकैव वैतालिक इव उद्बाहुः उत् ऊर्ध्वं बाहू यस्याः सा उद्बाहुः उद्यतबाहुः सती त्वमेव जगत्स्वामिनीति शपथं कुर्वाणेव त्वां नियन्त्रीं जगत्स्वामिनीं नाह, किन्तु श्रीमद्रामायणमपि त्वच्चरित्रे तव चरित्रे सत्येव परं प्राणिति जीवति। त्वच्चरित्रप्रतिपादनरूपं प्राणधारणेनैव जीवति। यद्वा परमिति क्रियाविशेषणम्। सोत्कर्षं जीवतीत्यर्थः। रामादिचरित्रे तु प्राणिति जीवनमात्रं धत्ते त्वच्चरित्रे तु परं प्राणिति सोत्कर्षं जीवति। अतिशयितजीवनस्यैव फलत्वात्। तत्र टीकाकाराः श्रीवात्स्यवीरराघवाचार्याः—'त्वच्चरित्रे रामायणं परं प्राणितीत्यनेन 'काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्' (श्री० वा० रा० १।४।७) इति वाल्मीकिवचनं स्मारितम्। सीतायाश्चरितमहत्त्वं तु त्वत्पुरुषकारोपयुक्तकृपापारतन्त्र्यानन्यार्हत्वप्रतिपादनेन कृपाप्रकाशनं रावणापहारकृते भगवत्याः सीतायाः प्रथमवियोगे स्पष्टम्। तथाहि रावण-

वसिष्ठ, वाल्मीकि, पराशर, व्यास प्रभृति मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद को उसकी अपौरुषेयता के कारण समस्त पुरुषगत दोषों की शंका के कलंकरूपी पंक से रहित होने सें परम प्रमाण मानते हैं। वेद का परम तात्पर्य ब्रह्म में हो माना जाता है। परब्रह्म के रूप में, उसकी शक्ति, प्रकृति अथवा माया के रूप में ये सब वेद भगवती लक्ष्मी का ही वर्णन करते हैं। 'श्रीश्च०' प्रभृति मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद् के वाक्यों में विविध रूप में उसी का गुणगान वर्णित है। रामायण, महाभारत प्रभृति इतिहास, अष्टादश पुराण, उपपुराण, तन्त्र आगम, दर्शन, धर्मशास्त्र प्रभृति समस्त शास्त्रों का पर्यवसान लक्ष्मी की स्तुति में ही होता है। इतिहास, पुराण प्रभृति वेदार्थ के उपबृंहक माने जाते हैं। समस्त रामायण सीता का महान् चरित्र माना जाता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार समस्त महाभारत में भगवान् के माहात्म्य का ही वर्णन है। भगवान् लक्ष्मी से अभिन्न हैं, अतः समस्त प्रमाणों का पर्यवसान लक्ष्मी में ही होता है। गुणरत्नकोशकार ने 'उद्बाहुस्त्वा०' प्रभृति श्लोक में इसी विषय का वर्णन किया है। इस श्लोक का अभिप्राय इस प्रकार है—

हे जननि, श्रीसूक्त प्रभृति के रूप में विद्यमान अकेली उपनिषद् ही वैतालिक (चारण) के समान हाथ उठाकर केवल लक्ष्मी ही इस सारे जगत् की स्वामिनी है, ऐसा शपथपूर्वक नहीं कहती, किन्तु रामायण भी आपका चरित्र प्रतिपादित करने के कारण ही जीवित है, आपके चरित्र का प्रतिपादन करना ही, उसके जीवित रहने का मुख्य कारण है। अथवा 'पर' पद को क्रियाविशेषण माना जायगा। तब उसका अर्थ होगा कि यह उत्कृष्टग्रन्थ के रूप में मान्य है। राम प्रभृति का चरित्र वर्णन कर यह जीवित है, किन्तु आपके चरित्र का वर्णन करने से तो यह एक उत्कृष्टतम ग्रन्थ होगया है। यहाँ टीकाकार वात्स्यवीरराघवाचार्य का कहना है कि 'समस्त रामायण काव्य में सीता के ही महान् चरित्र का वर्णन है' इस वाल्मीकि की उक्ति का स्मरण कराया जाता है, सीता के चरित्र की महान् महत्ता उनके प्रथम वियोग काल में तब स्पष्ट होती है, जबकि भगवान् राम के पुरुषार्थ को किसी की कृपा की आवश्यकता नहीं है, इस बात को प्रसिद्ध करने के लिये भगवती सीता ने रावण द्वारा अपना अपहरण होने दिया और ऐसी अवस्था में अपनी कृपा दृष्टि का

वधानन्तरं रामविजयप्रियाख्यापकतया सन्निहितान्महोपकारात् स्वस्यामार्द्रापराधात् चित्रवधार्हा राक्षसीर्दृष्ट्वा तदपराधानुगुणंचित्रवधं कर्तुमुद्यताद् मारुतेः 'पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणां प्लवङ्गम। कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति ॥' (श्री० वा० रा० युद्धका० ११३।४३) इत्याद्युपदेशेन तासां संरक्षणाद् महती कृपा प्रकाशिता। स्वयं रावणगृहे वन्दीभूय वन्दीकृतसुरसुन्दरीविमोचनाद्वा भवती कृपा प्रकाशिता। द्वितीयविश्लेषे भर्तृनियमानतिक्रमेण वाल्मीक्याश्रमे तस्या निवासात् पारतन्त्र्यं प्रकाशितम्। तृतीयविश्लेषे पतिपरित्यक्तायास्तस्याः पृथगाश्रयानालम्बनेन भूमौ प्रवेशादनन्यादृशत्वं प्रकाशितमिति कृत्स्नस्य श्रीरामायणस्य सीताचरितत्वं स्पष्टम्' इति। यतमे ये स्मर्तारः स्मृतिरूपेण वेदार्थस्मर्तारः पराशरादयः, ततमे तेऽपि वेदान् तत्त्वहित-पुरुषार्थवेदकतया वेदशब्दवाच्यान् आम्नायान् सेतिहासैः, इतिहासैः सह वर्तमानानि सेतिहासानि, तैरितिहासशब्दवाच्यैर्भारतादिभिः, पुराणैः विष्णुपुराणादिभिः, सह त्वन्महिम्नि प्रमाणं भावप्रधाननिर्देशात् प्रमाणतां निन्युर्नयन्ति। नियोगाद्द्विकर्मत्वात् कर्मद्वयम्। तेन सर्वे वेदा अपि त्वय्येव पर्यवस्यन्ति, 'वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना ॥' इति रीत्या वेदानामेव रामायणात्मनावतीर्णत्वात्।

भगवत्याः श्रिया ह्यपेक्षणेन दौर्गत्यतारतम्यं तत्कृपाकटाक्षेण चैश्वर्यतारतम्यं दृश्यते। 'स श्लाघ्यः स गुणी धन्यः स कुलीनः स बुद्धिमान्। स शूरः स च विक्रान्तो यस्त्वया देवि वीक्षितः। सद्यो वैगुण्यमायान्ति शीलाद्याः सकला गुणाः। पराङ्मुखी जगद्धात्री यस्य त्वं विष्णुवल्लभे ॥' (विष्णुपुराण १।९।१२९-१३०) इति विष्णुपुराणवचनानि च तत्र प्रमाणभूतानि। 'आकुग्रामनियामकादपि विभोरासर्वनिर्वाहकादैश्वर्यं यदिहोत्तरोत्तरगुणं श्रीरङ्गभर्तुः प्रिये। तुङ्गं मङ्गलमुज्ज्वलं गरिमवत् पुण्यं पुनः पावनं धन्यं यत्तददश्च वीक्षणभुवस्ते पञ्चषा विप्रुषः ॥' (गुणरत्नकोश १५) हे श्रीरङ्गराजवल्लभे, श्रीः ग्रामवाटिकामारभ्य सर्वलोकशासितुर्विभोर्ब्रह्मपर्यन्तं यद् उत्तरोत्तरगुणमुत्तरोत्तरातिशयितं यदैश्वर्यं तुङ्गमुन्नतं मेर्वादि

संवरण नहीं किया। रावण का वध हो जाने के बाद रामविजय के प्रिय संवाद को सुनाने वाले हनुमान् के महान् उपकार को स्मरण करते हुए भी सीता ने अपने साथ दुर्व्यवहार करने वाली राक्षसियों को बड़ी दुर्गति के साथ मारने को उद्यत हनुमान को देखकर रोक दिया और उनको समझाया कि 'हे प्लवंगम; ये पापिनी राक्षसियां मार डालने योग्य हैं; किन्तु आप जैसे सज्जन को यह कार्य नहीं करना चाहिये। जगत् में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिससे कि अपराध न होता हो। इस तरह से हनुमान् के कोप से इन राक्षसियों को वचाकर भगवती सीता ने उन पर महती कृपा की। अथवा भगवती सीता ने रावण के गृह में वन्दी बन कर पहले से बन्दी बनाई गई सुरांगनाओं को बन्धन से मुक्त कराकर उन पर महती कृपा की। द्वितीय वियोगकाल में पति के द्वारा परित्यक्त होने पर भी पति के द्वारा निर्दिष्ट नियमों का बिना परित्याग किये वाल्मीकि आश्रम में रहकर अपना पारतन्त्र्य प्रकाशित किया और तृतीय वियोग काल में पति के द्वारा परित्यक्त स्त्री का दूसरा कोई सहारा नहीं हो सकता, यह दिखाने के लिये भूमि में प्रवेश कर अपनी उत्कृष्टता प्रख्यापित की। इस तरह से समस्त रामायण में सीता का चरित्र ही उत्कृष्टतम रूप से प्रतिपादित है, यह स्पष्ट हो जाता है। वेदार्थ को अपनी स्मृति में रखकर स्मृतिग्रन्थों की रचना करने वाले पराशर प्रभृति मुनि गण भी वेदों के ही समान वेद से निःसृत तत्व, हित और पुरुषार्थ के आवेदक अन्य आम्नायों को, इतिहास के साथ वर्तमान महाभारत प्रभृति को तथा पुराण साहित्य को भी आपकी महिमा के वर्णन में निरत प्रमाणभूत ग्रन्थ मानते हैं। इस तरह से सभी वेद और उससे निःसृत स्मृत्यादि समस्तवाङ्मय आपकी महिमा के वर्णन में ही पर्यवसित हैं। 'वेदवेद्य परम पुरुष पुरुषोत्तम राम जब दशरथ के पुत्र के रूप में अवतीर्ण हुए, जो वेद शास्त्र भी महर्षि वाल्मीकि के मुख से रामायण के रूप में अवतीर्ण हुए, इस वचन के अनुसार वेद ही रामायण बन गये थे।

भगवती लक्ष्मी की उपेक्षा के कारण दुर्गति का तारतम्य और उनकी कृपा होने पर ऐश्वर्य का तारतम्य बनता है। विष्णुपुराण में वर्णित है कि वही पुरुष श्लाघ्य, सुखी, धन्य, कुलीन, बुद्धिमान्, बलवान् और पराक्रमी बनता है, जिसको कि हे देवि, आप कृपा दृष्टि से देखती हैं। यदि जगद्धात्री, विष्णुवल्लभा लक्ष्मी किसी से विमुख हो जाती हैं, तो उसके शील प्रभृति सभी श्लाघ्य गुण दोष में बदल जाते हैं। ये वचन भी उक्त कथन का ही समर्थन करते हैं। 'आकुग्राम०' प्रभृति श्लोक में भी गुणरत्नकोशकार ने इसी विषय का वर्णन किया गया है। वे कहते हैं कि हे रंगराजवल्लभे लक्ष्मी, गांव की बगीची से लेकर समस्त लोक का शासन करने वाले ब्रह्मा तक जो उत्तरोत्तर ऐश्वर्य की उन्नति देखी जाती है, मेरु प्रभृति में ऊँचाई देखी जाती है, चन्दन कुसुमादि में जो मांगल्य

मङ्गलं चन्दनकुसुमादि पुण्यमामुष्मिकाभ्युदयहेतुभूतं यज्ञादि पुनर्भूयः पावनं पवित्रीकुर्वत् कावेरीप्रभृतितीर्थं धन्यभाग्यफलभूतं नवनिधिरूपं च यदैश्वर्यं कुग्रामाधिपत्यप्रभृति सर्वं प्रभुपर्यन्तमैश्वर्यम्, अदश्चेदं तुङ्गाद्यैश्वर्यादि तत्सर्वं तव वीक्षणभुवः कटाक्षकन्दलिताः पञ्चषाः पञ्च वा षड् वा मानं येषां ते विप्रुषो बिन्दवः लेशा एव। लोके समीचीनं सर्वं वस्तु त्वत्कृपाकटाक्षलेशायत्तमित्यर्थः। सुधासोदर्याः श्रियो भ्रूलता यदभिमुखी चलितुमिच्छेत् तदभिमुख्य एव रति-प्रीति-मति-सरस्वती-धृति-समृद्धि-सिद्धयोऽहमहमिकया उद्वेलाः प्रवर्तन्ते, पुत्रपौत्रादिपर्यन्तं वशंवदास्तिष्ठन्ति। तदप्युक्तम्—'रतिर्मतिसरस्वतीधृतिसमृद्धिसिद्धिश्रियः सुधासखि यतोमुखी चिचलिषेत्तव भ्रूलता। ततोमुखमथेन्दिरे बहुमुखीमहंपूर्विकां विगाह्य च वशंवदाः परिवहन्ति कूलङ्कषाः॥' लोके यावदुच्चावचं स्थावरजङ्गमात्मकं जगद् दृश्यते तत्सर्वमपि त्वदीयकटाक्षसङ्कोचविकासफलमेव। कटाक्षविकासतारतम्यादैश्वर्यतारतम्यं तत्सङ्कोचतारतम्यादनैश्वर्यतारतम्यम्।

केचित्तु परमेश्वरस्य अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकस्य सृष्टिस्थितिलयादिलीला अपि श्रियो विहारायैव सम्पद्यन्ते। पुराणपुरुषः शब्दादिविषयान् प्रदर्श्य गुणमय्या वैष्णव्या मायया जीवान् दास्यरूपं परमैश्वर्यं विस्मार्य पण्यवधूविडम्बिवपुषा वेश्यानुकारिशरीरवेषेण पुंसा धूर्तानिव विवशान् कुर्वन् तव नवरसमयाय परिहासाय केलये कल्पते। 'शब्दादीन् विषयान् प्रदर्श्य विभवं विस्मार्य दास्यात्मकं वैष्णव्या गुणमाययात्मनिवहान् विप्लाव्य पूर्वः पुमान्। पुंसा पण्यवधूविडम्बिवपुषा धूर्तानिवायासयन् श्रीरङ्गेश्वरि कल्पते तव परीहासात्मने केलये॥' (गुणरत्नकोश २०) यत्स्थानं ब्रह्मादिवाङ्मनसागोचरं यच्च तमसः प्रकृतितत्कार्यात्मकात् परस्तात् यच्चाकालकाल्यं यद्गच्छतः पुरुषस्य ब्रह्मादीनां पुरी वैराजामरावत्यादिरूपा निरयायिता 'एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः'। यच्चात्यद्भुतमत्याश्चर्यावहम्, यच्च परमपुरुषसाम्यापत्तिलक्षणस्य सायुज्यस्य यदेव सूतिः, यच्च सूरिगिरामप्यगोचरं परवासुदेवस्य तत्परमं पदं त्वन्निवासार्थं वेदाः समाम्नासिषुः। 'तद्विष्णोः परमं पदम्' (ऋ० सं० १।२२।२०) इति श्रुतेः। 'यद्दूरे मनसो यदेव तमसः पारे यदत्यद्भुतं यत्कालादपचेलिमं सुरपुरी यद्गच्छतो दुर्गतिः। सायुज्यस्य यदेव सूतिरथवा यद्दुर्ग्रहं मद्गिरां तद्विष्णोः परमं पदं तव कृते मातः समाम्नासिषुः॥' (गुरणत्नकोश २१)।

भाव देखा जाता है, यज्ञ प्रभृति में जो पुण्य और परलोक की उन्नति का तारतम्य देखा जाता हैं, कावेरी प्रभृति तीर्थों में जो पावनता का तारतम्य देखा जाता है, धन्य कर देने वाला भाग्यशाली को प्राप्त होने वाला जो नवनिधि पर्यन्त ऐश्वर्य का तारतम्य देखा जाता है, यह सारा ऐश्वर्य आपके कृपाकटाक्ष की पांच-सात बूंदों के समान है। वस्तुतः लोक में समस्त समीचीन वस्तु आपकी कृपा के लवलेश के ही अधीन है। सुधा की सगी बहिन लक्ष्मी भ्रूलता जिसकी तरफ घूम जाती है, उसी ओर रति, प्रीति, मति, सरस्वती, धृति, समृद्धि और सिद्धि भी होड़ लगाकर दौड़ पड़ती हैं, पुत्र, पौत्र प्रभृति सभी उसके कहने में रहते हैं। इसी विषय को 'रतिर्मति' प्रभृति श्लोक में भी बताया गया है। लोक में यावत् उच्चावच स्थावरजंगमात्मक जगत् दिखाई पड़ता है, वह सब भी आपके कृपा कटाक्ष के संकोच और विकास का ही प्रतिफल है। कृपा कटाक्ष के विकास से ऐश्वर्य का तारतम्य और संकोच से अनैश्वर्य का तारतम्य होता है।

कुछ लोगों के मतानुसार अनन्तकोटि ब्राह्माण्ड के नायक परमेश्वर की सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि लीलाएं भी भगवती लक्ष्मी के मन बहलाव के लिये है। पुराणपुरुष शब्द आदि विषयों का प्रदर्शन कर गुणमयी वैष्णवी माया के द्वारा जीवों के दास्य रूप में विद्यमान परम ऐश्वर्य को भुलवा देता है। जैसे कि वेश्या अपने हाव-भाव से पुरुषों को अपने वश में कर लेती है। भगवान् की यह लीला भी भगवती के परिहास के निमित्त ही है। 'शब्दादीन्' प्रभृति श्लोक में गुणरत्नकोशकार ने इसी स्थिति का वर्णन किया है। जो स्थान ब्रह्मा प्रभृति देवों के भी वाणी और मन के अगोचर है। जो प्रकृति और उसके कार्यरूपीतम से बहुत दूर हैं। जिसको काल खा नहीं सकता, जहाँ पर जाने वाले प्राणी के मार्ग में वैराज, अमरावती प्रभृति पुरियाँ प्रलोभन के रूप में बनाई गई हैं, जैसा कि कहा गया है।'—हे तात! परमात्मा के स्थान पर पहुँचने के लिये ये सब लोक निरय (नरक) के समान अथवा अन्तराय भूत हैं। जो अत्यन्त आश्चर्य पैदा करने वाली है। परम पुरुष के साथ साम्य दिलाने वाले सायुज्य की जिससे प्राप्ति होती है। भक्तगणों की वाणी भी जहाँ नहीं पहुँच सकती, उस परम पुरुष वासुदेव के परम पद को श्रुतियां आपका निवास स्थान बताती है। ,तद्विष्णोः परमं पदम्। इस श्रुति में उसी परम पवित्र धाम का वर्णन है। 'यद्दूरे मनसः' प्रभृति श्लोक में गुणरत्नकोशकार नें इसी परम पद का वर्णन किया है।

हे श्रीरङ्गेश्वरि निखिलं चराचरं परिदृश्यमानं जगत् क्रीडायां विनियुक्तम्। 'हरे विहरसि क्रीडाकन्दुकैरिव जन्तुभिः।' परमा महती विभूतिस्त्रिपाद्रूपा, 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' (ऋ० सं० १०।९०३) इति श्रुतेः। तव भोगे भोगोपकरणभोगस्थानत्वेन विनियुक्ता त्वां त्वत्प्रियं च ये सदा पश्यन्ति ते युष्मत्सदानुभवहेतुसुकृतशीलाः पुण्याः सूरयस्तव परिचारकर्मणि नियुक्ता वयं भोगमोक्षादिपरायणा तव केवलकृपानिर्वाह्यवर्गे विनियुक्ताः। परमः पुमान् त्वत्प्रियः तव शेषित्वे विनियुक्तः। ते पूर्वोक्ताः सर्वेऽपि तव स्फारणे त्वद्विभवे उपकरणभूता एवेत्याह गुणरत्नकोशकारः—'हेलायामखिलं चराचरमिदं भोगे विभूतिः परा पुण्यास्ते परिचारकर्मणि सदा पश्यन्ति ये सूरयः। श्रीरङ्गेश्वरदेवि केवलकृपानिर्वाह्वर्गे वयं शेषित्वे परमः पुमान् परिकरा ह्येते तव स्फारणे ॥' (गुणरत्नकोश २२)।

हे श्रीरङ्गविमानालङ्कारभूते श्रीरङ्गेश्वरराजगेहलक्ष्मि, या अयोध्या कैश्चिदपि योद्धुमशक्या अपराजितेति प्रख्याता या निग्रहानुग्रहघोराघोरपुरीपालैः पालिता या च भजतां प्रपन्नानां स्वतःपरमपुरुषार्थरूपा या च नाकं परेण परमाकाशस्योपरिष्टात् परमे व्योम्नि स्थिता या चामृतस्राविभिरद्भुतदिव्यभोगैः परिपूर्णा सा अपराजिताद्यनेकनामभिः प्रख्याता अयोध्या युवयो राजधानीति वेदा वदन्ति। 'देवानां पूरयोध्या विशाला अपराजिता' इति श्रुतेः, 'परेण नाकं निहितं गुहायाम्' इति श्रतेश्च। 'आज्ञानुग्रहभीमकोमलपुरीपाला फलं भेजुषां यायोध्येत्यपराजितेति विदिता नाकं परेण स्थिता। भावैरद्भुतभोगभूमगहनैः सान्द्रा सुधास्यन्दिभिः श्रीरङ्गेश्वरगेहलक्ष्मियुवयोस्तां राजधानीं विदुः ॥' (गुणरत्नकोश २३)।

तस्मिन्नेव मण्डपे शेषतल्पे विश्वरक्षादीक्षितेन स्वामिना सह श्रियः सर्वानन्दावहत्वमुक्तं तत्रैव—'तत्र स्रक्स्पर्शगन्धं स्फुरदुपरिफणारत्नरोचिर्वितानं विस्तीर्यानन्दभोगं तदुपरि नयता विश्वमेकाधिपत्यम्। तैस्तैः कान्तेन शान्तोदितगुणविभवैरर्हता त्वामसंख्यैरन्योन्याद्वैतनिष्ठाघनरसगहनान् देवि बध्नासि भोगान् ॥' (गुणरत्नकोश २५)। हे देवि, तत्र महा-

हे रंगेश्वरि, यह समस्त चराचर परिदृश्यमान जगत् आपको क्रीड़ा के लिये है। भगवान् खेलने की गेंद के समान प्राणियों से खेलते हैं। स्वर्गलोक में विद्यमान भगवान् की त्रिपाद्विभूति सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। हे भगवति, आपके भोग, भोगोपकरण और भोगस्थान के लिये विनियुक्त जो जीव आपको और आपके प्रिय भगवान् रंगेश्वर को सदा देखते हैं, वे आपके इस सांनिध्य के कारण परम पुण्य के भागी होते हैं और अपने इसी पुण्य के कारण वे सूरो गण आपकी सेवा के लिये परिचारक के रूप में नियुक्त किये जाते हैं। हमारे जैसे भोग और मोक्ष की इच्छा वाले तो केवल आपकी कृपा पर जीवित रहते हैं। आपके प्रियतम परम पुरुष भगवान् नारायण आपके शेषी हैं और ये सब पूर्वोक्त सूरीगण आपके ऐश्वर्य को बढ़ाने वाले उपकरण हैं, अर्थात् इन सबके साथ आप अपने प्रियतम की सेवा में सदा मनोयोग पूर्वक निरत रहती हैं "हेलायामखिलं०" प्रभृति श्लोक में गुणरत्नकोशकार ने इसी स्थिति का वर्णन किया है।

हे श्रीरंगराज के विमान की शोभा बढ़ाने वाली, श्रीरंगेश्वर के राजगृह की राजलक्ष्मी, अयोध्या आप लोगों की राजधानी है। इसका नाम अयोध्या इसलिये है कि इसके विरुद्ध युद्ध करने की किसी में शक्ति नहीं है। इसको कोई जीत नहीं सकता, इसीलिये इसको अपराजिता पुरी कहते हैं। निग्रह और अनुग्रह में समर्थ घोर और अघोर (शान्त) स्वभाव वाले द्वारपाल इसकी रक्षा करते हैं। शरणागत जीवों को यह स्वतः परम पुरुषार्थ को देने वाली है। स्वर्गलोक, परम आकाश के भी ऊपर परम व्योम में यह स्थित है। अमृत की वर्षा करने वाले अशुद्ध दिव्य भोगों से यह परिपूर्ण है। वह अपराजिता प्रभृति अनेक नामों से प्रसिद्ध अयोध्या पुरी आप लोगों की राजधानी है, इसका प्रतिपादन वेदों में भी मिलता है। 'आज्ञानुग्रह०' प्रभृति श्लोक में गुणरत्नकोशकार ने इस पुरी का उपर्युक्त वर्णन णिया है।

उसी अयोध्यापुरी में प्रासादमण्डप में शेषनाग के पर्यंक पर विश्व रक्षा के लिये सदा तत्पर अपने स्वामी के साथ वर्तमान लक्ष्मी सभी प्रकार के आनन्द ऐश्वर्य को प्रदान करती रहती है। 'तत्र स्रक्०' प्रभृति श्लोक में गुणरत्नकोशकार ने इसी स्थिति का वर्णन किया है। इसका यह अभिप्राय है—हे देवि, उस महामणि मण्डप में पुष्पमाला के समान स्पर्श और गन्ध से युक्त अनन्त भोग

मणिमण्डपे पुष्पमालिकाया इव स्पर्शगन्धयुक्तं स्फुरतामुपरिफणारत्नानां रोचिर्भिर्वितानवन्तमिवानन्तभोगकामं विस्तीर्य तदुपरि निवेश्य विश्वं पादविभूतित्रिपाद्विभूतिद्वयं सापत्न्यरहितमैकाधिपत्यमेकच्छत्राधिपत्यं नयता गमयता असंख्यैः संख्यातीतैरवाङ्मनसगोचरैः शान्तोदितगुणविभवैर्भगवच्छान्तोदितदशायाः स्ववैश्वरूप्यानुभवरूपाया गुणविभवैः गुणातिशयैस्त्वामेवार्हंता त्वदनुरूपेण कान्तेन प्रियेण हरिणा सह अन्योन्याद्वैतनिष्ठारसगहनान् अद्वैतनिष्ठया एकीभावेन परस्परगाढानुरागेण घनेन निबिडेन रसेनानन्देन गहनान् निर्भरान् भोगाननुभवान् बध्नासि धारयसि युवयोः सेवकानां सूरिपर्षदां च न केवलं पत्युस्त्वमेवानन्दवहा, किन्तु त्वमिव त्वत्पतेस्तव च भोग्यभूताः परःसहस्रं सपत्न्योऽप्यानन्दवहाः सन्तीति ।

'भोग्या वामपि नान्तरीयकतया पुष्पाङ्गरागैः समं निर्वृत्तप्रणयातिवाहनविधौ नीताः परीवाहताम् । देवि त्वामनुलीलया सह महीदेव्यः सहस्रं तथा याभिस्त्वं स्तनबाहुदृष्टिभिरिव स्वाभिः प्रियं श्लाघसे ॥' (गुणरत्नकोष २६) । हे देवि, भोग्यभूतयोर्युवयोरपि पुष्पाङ्गरागैः समं पुष्पस्रक्चन्दनाङ्गरागादिघनसारकुङ्कुमकस्तूर्यादितुल्यं नान्तरीयकतया स्वं भोग्यतोपयोगेन भोग्या निर्वृत्तप्रणयातिवाहनविधौ परिवाहतां प्राप्ता भूनीले इव त्वामनुसृत्य सहस्रमनन्तसंख्याकाः सपत्नीरूपा देव्यः सन्ति । याभिः स्वाभिः स्तनबाहुदृष्टिभिरिव प्रियं श्लाघसे सन्तोषयसि । यथा पुष्पाङ्गरागादीनां प्रधानभूतस्वभोग्यतोपयोगेन भोग्यत्वम्, तथैव तासामपि भोग्यत्वम् । प्रणयस्य प्रेमरसस्य अतिवाहनविधौ अतिप्रवाहणे ता अपि निर्गमप्रवाहतां नीताः । यथा तडागः परिपूर्णः सन् निर्गमप्रवाहं विना न निर्वहति, तथा श्री-श्रीशयोरत्युत्कटप्रेमरसो भूनीलादिसपत्नीमुखेन प्रवहणं विना न प्रवहतीति हृदयमिति तट्टीकाकृत् । एतेन न केवलं लक्ष्म्याः स्वाभिः समं सापत्न्यकलहाभावः, किन्तु भगवता सह ताभिः संश्लेषे स्वावयवसंश्लेष इव तस्या महती प्रीतिर्वर्धत इति भावः । यथा पुष्पाङ्गरागादयः स्वभोग्योपयोगिनोऽपि प्रियभोग्या भवन्ति, तथैव श्रियः सपत्न्योऽपि तद्भोग्योपयोगिन्योऽपि प्रियभोग्या भवन्ति । यथा स्वकाभिः स्तनबाहुदृष्टिभिरिव

जाल शेष पर्यंक पर फैलाकर जिस पर कि शेषनाग ने अपनी सहस्र फणाओं से छाया कर रखी है और उन फणाओं की कान्ति का ही वितान तान रखा है, आप सारे विश्व की पादविभूति और त्रिपादविभूति का किसी सपत्नी के न रहने से एक छत्र उपभोग करती हैं । वाणी और मन के अगोचर, संख्यातीत भगवान् की शान्तोदित दशा, अपनें विश्वरूप का अनुभव कराने वाली दशा के अनुरूप अनन्त गुणों के कारण केवल आपको ही चाहने वाले सर्वथा आपके अनुगुण प्रियतम हरि के साथ अद्वैत निष्ठा, एकीभाव और परस्पर गाढ अनुराग के कारण घने आनन्द रस में परिपूर्ण भोगों का आप उपभोग करती हैं । इस अद्वयावस्था में भी आप अकेली ही उनको आनन्द देने वाली नहीं हैं, किन्तु आप दोनों की सेवक-सेविकाएं, पार्षद सूरीगण भी आपके ही समान आपके पति के भोग्यभूत हैं । इस प्रकार इस अद्वयावस्था में भी आप अन्य किसी के न रहते हुए भी हजारों सपत्नियों से घिरी हुई हैं और उन सबके साथ निश्छल आनन्द का उपभोग करती रहती हैं, भगवान् को आनन्दित करती रहती हैं ।

'भोग्या वामपि, प्रभृति आगे के श्लोक में गुणरत्नकोषकार कहते हैं कि हे देवि, आप दोनों के भोग्यभूत मुख्यांगराग के साथ, पुष्प, माला, चन्दन, अंगराग, घनसार, कुंकुम, कस्तूरी आदि के साथ स्वयं अपने को भोग्य रूप में समर्पित करने वाली भू और नीला के साथ अन्य अनन्त संख्या वाली देवियां सपत्नी के रूप में प्रणय निवेदन के लिये सदा तत्पर रहती है, प्रणय के प्रवाह को सदा उद्वेलित करतो रहती है । ये देवियां अपने बाहु दृष्टि आदि अंगों का प्रदर्शन कर प्रभु को जो सन्तुष्ट करती हैं, वह सब आप की ही महिमा है । जैसे पुष्प, अंगराग आदि की प्रधान उपयोगिता भोग्य रूप से उनके उपयोग में है, उसी तरह उन देवियों की भी उपयोगिता उनका कोई उपयोग करें, इसी में है । प्रेम रस को बहाने में इन सबकी भी उपयोगिता है । जैसे तालाब के भर जाने पर जल की निकासी के लिये मार्ग की आवश्यकता पड़ती है, नहीं तो पूरा तालाब ही टूट जायगा, उसी तरह से श्री और श्रीश का अत्युत्कट प्रेम रस का प्रवाह भी भू, नीला प्रभृति सपत्नियों के तरफ से गुजरे बिना नहीं रह सकता । उस प्रेम रस के तालाब लबालब भरे रहने के लिये यह आवश्यक है कि यह प्रेम का बांध कहीं टूट न जाय, उसका अतिरिक्त प्रेम रस धीरे-धीरे बहता रहे । इसके साधन के रूप में ही लक्ष्मी को भू, नीला प्रभृति सपत्नियों की सार्थकता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि लक्ष्मी का अपनी सपत्नियों के साथ कभी कलह नहीं होता । इतना ही नहीं, भगवान् के साथ सपत्नियों का संश्लेष होने पर लक्ष्मी की प्रसन्नता ऐसी बढ़ती है, मानों उसके अपने ही अंगों के साथ भगवान् का संश्लेप हो रहा हो । जैसे पुष्प, अंगराग आदि का उपभोग कोई नायिका करती है किन्तु इनका

स्वावयवैरिह प्रेयांसं सन्तोषयसि, हे श्रीः, तथैव तव पत्युर्बह्वो द्योतमाना मोदमाना नित्यनिर्दोषगन्धा अपहतपाप्मत्वादिगुणैर्ज्ञानशक्त्यादिभिर्गुणैः शङ्खचक्राद्यलङ्कारैर्निरङ्कुशव्यापारैर्ज्ञानानन्दामलात्मस्वरूपैः सविभूतिकभगवत्कल्याणगुणानुभवैर्भोगैश्च युवाभ्यां निर्विशेषाः समानवयस्काः सखाय इव तव पत्युश्च श्रीपादकैङ्कर्यकरणाय प्रेमविह्वलहृदयाः सदा सोत्कण्ठा युवां प्रतीक्षन्ते।

हे चन्द्रे चन्द्रवदने आश्रितानन्दनमुखि मातः, त्वदाश्लेषोत्कर्षात् त्वन्नित्ययोगातिशयादेव परमेश्वरस्य दिव्यात्मस्वरूपं निरङ्कुशस्वातन्त्र्यं च तत्त्वविदो निर्णयन्ति। त्वां भगवति दृष्ट्वा त्वदाश्रयमीश्वरं निश्चिन्वन्ति। भगवत्स्वरूपनिरूपककोटावन्तर्भावादेव भगवतः पृथक्त्वेन श्रुतिस्त्वां नाभिधत्ते। 'स्वरूपं स्वातन्त्र्यं भगवत इदं चन्द्रवदने त्वदाश्लेषोत्कर्षाद् भवति खलु निष्कर्षसमये। त्वमासीर्मातः श्रीः कमितुरिदमित्थं त्वविभवस्तदन्तर्भावात्त्वां न पृथगभिधत्ते श्रुतिरपि॥' (गु० र० को० २८) कमितुः प्रेयसः त्वमिदमित्थत्वविभव आसीः अयमीश्वर इतीदन्त्वविभव ईदृश ईश्वर इतीत्थंत्वविभवः उभयमपि त्वमेवाभवः।

हे कमले परमेश्वरस्तव स्पर्शात् त्वत्सम्बन्धाद् मङ्गलपदं स्पृशति त्वयि चेदं मङ्गलत्वं नान्यहेतुकं किन्तु स्वतः सिद्धमेव, यतो भवती श्रीरसि स्वतो मङ्गलरूपासि यथा प्रसूनमतिशयितं कुर्वन्ती परिमलर्धिः गन्धसम्पदमेतादृशगुणयोगात् एवं स्वदते इत्थं हृद्या भवतीति न कश्चित् कवयते। पुष्पातिशयनिरूपणे परिमलापेक्षेव परिमलातिशयनिरूपणे गुणान्तरापेक्षा यथा न भवति, तथैव भगवन्मङ्गलत्वे श्रीसम्बन्धो नियामकः, न तु श्रियो मङ्गलत्वे नियामकान्तरापेक्षेत्यर्थः। 'तव स्पर्शादीशं स्पृशति कमले मङ्गलपदं तवेदं नोपाधेरुपनिपतितं श्रीरसि यतः। प्रसूनं पुष्यन्तीमपि परिमलर्द्धि जिगदिषुर्नं चैवं त्वां देवं स्वदत इति कश्चित् कवयते॥' (गु० र० को०)।

उपयोग अन्ततः प्रिय के उपभोग में होता है, उसी तरह से लक्ष्मी सपत्नियां यद्यपि लक्ष्मी की हो सेवा में लगी रहती हैं, तो भी अन्ततः उनका उपभोग भी लक्ष्मीपति ही करते हैं। जैसे लक्ष्मी अपने अंगों से प्रियतम को संतोष प्रदान करती है, हे श्री, उसी तरह से अन्य भी बहुत सी तुम्हारी सपत्नियां तुम्हारे ही समान प्रकाशमान, प्रसन्न वदन, समस्त दोषगन्ध से रहित अपहतपाप्मत्व प्रभृति आठ गुणों तथा ज्ञान शक्ति प्रभृति षड्गुणों, शंख, चक्र प्रभृति अलंकारों, निरङ्कुश चेष्टाओं, ज्ञानानन्दात्मक निर्मल स्वरूपों, समस्त ऐश्वर्य के साथ समस्त कल्याण गुणगणों से और भोग से भी आप दोनों के ही सदृश समान वय वाली सखियां तुम्हारे और तुम्हारे पति के चरण कमलों की सेवा करने के लिये प्रेम विह्वल मन से सदा उत्कण्ठा के साथ आज्ञा की प्रतीक्षा करती रहती हैं।

हे चन्द्रवदने, चन्द्रमा के समान अपने आश्रितों को आनन्द देने वाली माता, आप के साथ सदा संश्लिष्ट रहने के कारण ही परमेश्वर का अपना दिव्य स्वरूप और निरंकुश स्वतन्त्रता विद्यमान है, ऐसा तत्ववेत्तागण निर्णय देते हैं। आपको देखकर ही वे आपके आश्रय भूत ईश्वर का निश्चय करते हैं। भगवत्स्वरूप के निरूपक के रूप में ही आप की स्थिति होने से श्रुति भी आपका अलग से वर्णन नहीं करती। भगवती के इस स्वरूप का भी वर्णन गुणरत्नकोशकार ने ही 'स्वरूपं स्वातन्त्र्यं० प्रभृति श्लोक में किया है। आप के प्रियतम का इदम् और इत्थम् के रूप में, यह ईश्वर है और ऐसा ईश्वर है, इन उभय रूपों का निरूपण आपकी सहायता के बिना नहीं हो सकता।

'तव स्पर्शादीशं' प्रभृति श्लोक में वे ही कहते हैं कि हे कमले, परमेश्वर आपके स्पर्श के कारण ही, आपसे संश्लिष्ट होने से ही मंगलपद के आस्पद होते हैं। आप में विद्यमान यह मंगलपद कहीं अन्य से नहीं आया है, किन्तु आप में यह स्वभावसिद्ध है। आप तो श्री हैं, स्वतः मंगलस्वरूप हैं। पुष्प की शोभा को बढ़ानेवाली सुगन्धि की गुण सम्पत्ति की अपनी प्रशंसा होती है, पुष्प के कारण उसकी प्रशंसा कोई कवि नहीं करता। पुष्प की अतिशयिता के निरूपण के लिये परिमल की अपेक्षा रहती है, किन्तु परिमल की अतिशयिता के निरूपण के लिये किसी दूसरे गुण की जैसे अपेक्षा नहीं रहती, उसी तरह से भगवान् के मंगलमय होने में तो श्री का संबन्ध नियामक माना जाता है, किन्तु श्री के मंगलमय होने में किसी दूसरे नियामक की अपेक्षा नहीं है।

किंबहुनां, सर्वेश्वरस्य लोकपालानां च लक्ष्मीकटाक्षादेव लब्धविभवत्वम्। हे सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये यदुपरि तव भूयांसो बहुसंख्याकाः कटाक्षाः प्रसरन्ति, तद्वस्तु परब्रह्मभूतं तव भूयः कटाक्षविषयीभूतं वस्तु परब्रह्मत्वमगमत्। यत्र वस्तुन्यमी कटाक्षा द्वित्रा निपतन्ति तत् परब्रह्मणोऽर्वाचीनं शतमखादिकमभूत्। तेनाम्नायस्तदुभयमुशन् त्वामेवोच्चैः प्रणिजगौ। यथा पुर्या राजधान्या कोशस्य धनसञ्चयादेश्च या प्रशस्तिः सा राज्ञ एव प्रशस्तिः, तथैव वेदकृता परब्रह्मादिप्रशस्तिरपि तव श्रिय एव प्रशस्तिर्मन्तव्या। 'अपाङ्गा भूयांसो यदुपरि परंब्रह्म तदभूदमी यत्र द्वित्राः स च शतमखादिस्तदधरात्। अतः श्रीराम्नायस्तदुभयमुशंस्त्वां प्रणिजगौ प्रशस्तिः सा राज्ञो यदपि च पुरीकोशकथनम् ॥' (गुणरत्नकोश ३०)।

हे श्रीः, त्वं विष्णोः स्वतः स्वभावान्निरुपाधिकात्मस्वरूपात् स्वमसि शेषभूतासि। त्वयि भगवतः स्वत्वं भगवति च त्वयि स्वामित्वं स्वाभाविकमित्यर्थः। 'स्वत्वमात्मनि संजातं स्वामित्वं ब्रह्मणि स्थितम्। आत्मदास्यं हरेः स्वाम्यं स्वभावं च सदा स्मर ॥' इत्याद्यनेकप्रमाणसिद्धमेतत्। तत एव एष भगवान् त्वदायत्तर्द्धित्वेऽप्यपराधीनविभवोऽभवत्। यथा माणिक्यं स्वया दीप्त्या महार्घं निरवधिकमूल्यं भवदपि विगुणं प्रविहतस्वोत्कर्षं च न भवति, अन्याहितगुणं पराधीनातिशयं च न तद्वत् त्वत्प्रियतमोऽपि त्वदधीनसम्पत्तिमत्त्वेऽपि न विगुणो नाप्यन्याहितातिशयः। यथाहुः—'स्वतः श्रीस्त्वं विष्णोः स्वमसि तत एवैष भगवान् त्वदायत्तर्द्धित्वेऽप्यभवदपराधीनविभवः। स्वया दीप्त्या रत्नं भवदपि महार्थं न विगुणं न कुण्ठस्वातन्त्र्यं भवति च न चान्याहितगुणम् ॥'

हे इन्दिरे परमैश्वर्यप्रदे, प्रशकनं प्रकृष्टा शक्तिर्बलं सर्वजगद्भरणसामर्थ्यं ज्योतिरनुपमं तेजः सर्ववस्तुसाक्षात्कारलक्षणं ज्ञानं परमेश्वरत्वविजयप्रथाजयशीलत्वप्रशस्तिः प्रणतवरणमाश्रितविषया प्रीतिः, आश्रितेष्टप्रापकत्वलक्षणं क्षेमकरत्वं तदनिष्टनिवर्तकत्वं चेत्यादयो दिव्यात्मगुणाः परिमलः सौगन्ध्यं कान्तिः सौन्दर्यम् अवयवशोभा लावण्यं सर्वावयवशोभा अर्चिः

इतना ही नहीं, सर्वेश्वर भगवान् विष्णु और लोकपालों का वैभव लक्ष्मी के कृपा कटाक्ष से ही प्राप्त होता है। हे सर्वमंगलमांगल्ये, जिस पर आपकी कृपादृष्टि बहुलता से पड़ती है, वह तो परब्रह्म हो जाता है। जिस पर आपके दो तीन कृपा कटाक्ष पड़ते हैं, वह परब्रह्म से कम शतमुख (इन्द्र) इत्यादि पद को प्राप्त करता है। इसीलिये शास्त्र परब्रह्म पदवी और इन्द्र पदवी को छोड़कर उन पदवियों को देनेवाली के रूप में आपकी ही स्तुति करते हैं, आपको ही इन दोनों में से भी बड़ी मानते हैं। जैसे राजधानी और उसके वैभव, सम्पत्ति आद की स्तुति अन्ततः राजा की हो स्तुति में परिणत हो जाती है, उसी तरह वेद आदि में को गई परब्रह्म, इन्द्र आदि की प्रशस्ति भी अन्ततः लक्ष्मी की ही प्रशस्ति में बदल जातो है। गुणरत्नकोशकार ने इस स्थिति का वर्णन 'अपाङ्गा भूयांसो' प्रभृति श्लोक में किया है।

हे लक्ष्मी, आप भगवान् विष्णु के निरुपाधिक स्वरूप से स्वभावतः अभिन्न हैं, उनकी शेषभूत हैं, पूरक हैं। आप में भगवान् का स्वत्व है, भगवान् आपके स्वामी हैं। यह स्थिति अत्यन्त स्वाभाविकरूप से विद्यमान है। किसी प्रामाणिक वचन में बताया गया है कि प्राणीमात्र को स्वयं अपने में स्वत्व की और परमात्मा में स्वामित्व की भावना करनो चाहिये कि आत्मा दास है और भगवान् स्वामी हैं। इसीलिये भगवान् का वैभव अपराधीन इसलिये माना जाता है कि वह आपके हो अधीन है और आप में तो उसका स्वाभाविक स्वत्व है ही। जैसे कोई मणि अपनी ही कान्ति से बहुमूल्य बनती है, उस मणि की इस विशेषता को कोई नष्ट नहीं कर सकता और न यह विशेषता उसकी किसी दूसरी वस्तु से प्राप्त होने के कारण पराधीन ही है, उसी तरह से आपके प्रियतम की सारो सम्पत्ति आपके ही अधीन है, तो भी उसमें विगुणता अथवा पारतन्त्र्य नहीं आने पाता, क्योंकि आप में तो स्वयं उन्हीं का स्वत्व है, 'स्वतः श्रीस्त्वं' इत्यादि श्लोक में गुणरत्नकोशकार ने इसी स्थिति का वर्णन किया है।

हे परमऐश्वर्य को देने वाली इन्दिरे, प्रशकन अर्थात् प्रकृष्टशक्ति, वल अर्थात् सारे जगत् को पालन करने की सामर्थ्य, ज्योति अर्थात् अनुपम तेज, समस्त वस्तुओं के साक्षात्कार में समर्थ ज्ञान, परम ऐश्वर्य के विजय की प्रथा, अर्थात् विजयशील स्वभाव की प्रशंसा, प्रणत व्यक्ति को स्वीकार करना, अर्थात् अपने आश्रय में आये व्यक्ति से स्नेह करना और उसको अभीष्ट वस्तु प्रदान करना साथ ही उस पर आने वाले अनिष्ट की निवृत्ति करना, ये सब आपके अपने दिव्य गुण हैं। परिमल (अतिमधुर सुगन्ध), सौन्दर्य,

प्रकाशकत्वम् इत्येते द्विविधा अपि स्वरूपविग्रहाश्रितगुणराशयस्तव भगवतश्च समाना एव। भगवतोऽपि विजयप्रथा यथा रामायणे 'शत्रोः प्रख्यातवीर्यस्य रञ्जनीयस्य विक्रमैः।' (वा० रा० ६।१०४।६) इति रावणवचनाद् व्यक्ता। सीतायास्तु वाशिष्ठरामायणे शतकन्धरसंहारे विजयप्रथा सुव्यक्ता। तदुक्तम्—'प्रशकनबलज्योतिर्ज्ञानैश्वरीविजयप्रथा प्रणतवरणप्रेयक्षेमङ्करत्वपुरःसरा। अपि परिमलः कान्तिर्लावण्यमर्चिरितीन्दिरे तव भगवतश्चैते साधारणा गुणराशयः॥' (   )।

अन्ये च यौवनसौकुमार्यादयो भगवतस्तव च समानाः। तव गुणास्तस्मिन् तस्य च गुणास्त्वयि दर्पण इवाभिव्याप्य परस्परेण प्रकामं स्वदन्ते। भगवान् लक्ष्म्याः प्रकाशनबलादीनवलोक्य स्वकीया एवैते गुणा इत्यानन्दमनुभवति। तथैव श्रीरपि तान् भगवत्युपलभ्य स्वकीया एवैते इति मोदते। एवं युवत्वादौ युवयोस्तुल्येऽपि पुंस्त्वसुलभान् अपरवशता-शत्रुशमन-स्थिरत्वादीन् कृत्वा भेदकान् गुणान् भगवति स्त्रीत्वैकान्तान् म्रदिमपतिपारार्थ्यकरुणाक्षमादीन् कृत्वा भेदकान् गुणान् त्वयि चानुसन्धायताननुभवितुं भोक्तुं च भिदा भवतीति प्राहुः। स्वातन्त्र्यं शत्रुशयनसामर्थ्यमप्रकम्प्यत्वं भगवत्यसाधारण्येनानुभूयते। भगवत्यां दिव्याङ्गमार्दवं मृदुहृदयत्वं भर्तृपारतन्त्र्यं परदुःखासहिष्णुत्वरूपा करुणा अपराधसहनरूपा क्षमा इति स्त्रीत्वैकान्ता गुणा असाधारण्येन लक्ष्यन्ते। तस्माद्युवयोर्भिदाप्यनुभूयते। तथा चोक्तम्—'युवत्वादौ तुल्येऽप्यपरवशता शत्रुशमनस्थिरत्वादीन् कृत्वा भगवति गुणान् पुंस्त्वसुलभान्। त्वयि स्त्रीत्वैकान्तान् म्रदिमपतिपारार्थ्यकरुणाक्षमादीन् वा भोक्तुं भवति युवयोरात्मनि भिदा॥' (गुणरत्नकोश ३४)। नीलसरोरुहनीलमणिनीलनीरधराद्युपमिते भगवति विद्युत्काञ्चनचम्पकाद्युपमितायां त्वयि यौवनतारुण्यानुरूपभूषणवसनाङ्गरागालङ्कृतयोर्युवयोर्विभाजकगुणानुसन्धानेनैव युवयोरेवं भेदग्रहो भवति। अन्यथा भेदग्रहो न भवत्येव।

अनन्तब्रह्माण्डजनन्याः श्रीविष्णुप्राणेश्वर्या मङ्गलमयं वपुर्मृदुशीतमुग्धमधुरोदारैर्गुणैरलङ्कृतं वीक्ष्य कवीन्द्राः

अंगों का लावण्य और सबके प्रकाशन की सामर्थ्य, यह सब आपके स्वरूप और विग्रह के आश्रित द्विविधगुणराशि आप में और श्रीपति भगवान् में समान रूप से विद्यमान है। भगवान् की भी विजयप्रथा 'प्रसिद्ध पराक्रमी शत्रु को पराक्रम से ही प्रसन्न किया जाता है' इस रावण की उक्ति से स्पष्ट है। वासिष्ठ रामायण में शतकन्धर की संहारकथा में भगवती सीता की विजयप्रथा वर्णित है। उक्त आशय का वर्णन गुणरत्नकोश के 'प्रशकन०' प्रभृति श्लोक में किया गया है।

यौवन, सौकुमार्य प्रभृति गुण भी भगवती और भगवान् में समान रूप से विद्यमान हैं। आपके गुण भगवान् में और भगवान् के गुण आप में दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह संक्रान्त होकर भक्तजनों को अत्यन्त आनन्दित करते हैं। भगवान् लक्ष्मी के प्रकाशन, बल प्रभृति गुणों को देखकर आनन्दित होते हैं कि ये मेरे ही गुण हैं। इसी तरह से लक्ष्मी भी उन्हीं गुणों को भगवान् में देखकर प्रसन्न होती है कि ये तो मेरे ही गुण हैं। इसी तरह से यौवन, सौन्दर्य प्रभृति गुणों की समानता के रहते हुए भी पुंस्त्व सुलभ अपरवशता, शत्रुशमन प्रभृति और स्त्रीत्व सुलभ कोमलता, पतिपरायणता, करुणा, क्षमा प्रभृति भेदक गुणों के कारण इनका अनुसन्धान और अनुभव करने के लिये, इनका उपयोग करने के लिये इन दोनों में भेद की स्थिति का भी कुछ लोग वर्णन करते हैं। स्वातन्त्र्य, शत्रु के शमन की सामर्थ्य, निश्चय से अडिग रहना, ये गुण भगवान् में और भगवती में उनके दिव्य अंग की मृदुता, हृदय की मृदुता, पतिपरायणता, दूसरे के दुःख को न सह पाना (करुणा) और अपराध को सहन करने की सामर्थ्य (क्षमा) ये सब एकान्त रूप में स्त्रियों में पाये जाने वाले गुण अनुभूत होते है। अतः आप लोगों में भेदक और अभेदक दोनों प्रकार के गुणों की स्थिति के कारण अद्वय और द्वय दोनों प्रकार की स्थिति उपलब्ध होती है। 'युवत्वादौ०' प्रभृति गुणरत्नकोश के श्लोक में इसी द्वयाद्वयात्मक स्थिति का वर्णन है। अभिप्राय यह है कि नीलकमल, नीलमणि, नीलनीर (जल) और धरा (पृथिवी) के समान स्वरूप वाले भगवान् नारायण और विद्युत्, कांचन तथा चम्पक के समान स्वरूप वाली भगवती में यौवन (तारुण्य) के अनुरूप भूषण, वदन, अंगराग से अलंकृत हो जाने पर और उनके परस्पर संक्रान्त हो जाने पर उक्त विभाजक गुणों का अनुसन्धान होने पर ही इनमें भेद का अनुभव हो सकता है, अन्यथा इन दोनों में भेद कर पाना कठिन है।

अनन्त ब्रह्माण्डों की जननी, भगवान् विष्णु की प्राणेश्वरी लक्ष्मी के मंगलमय शरीर को मृदुल, शीतल मुग्धकारी, मधुर, उदार

क्षीराब्धिसारत्वमुत्प्रेक्षन्ते। चन्द्र-कल्पलता-सुधाप्रभृतीन् तदसारत्वेन कल्पयन्ति। तथात्वेऽप्यकृत्रिमस्य श्रीविग्रहस्य कृत्रिमवस्तुसारत्वोत्प्रेक्षणं न युक्तमिति न तुष्यन्ति। हे श्रीः, त्वत्सदयकटाक्षलेशप्रसरणवशात् शोभाविशेषजुष्टा लोकपालप्रभृत्याधुनिकपर्यन्तानां प्रभूणां दृष्ट्योऽनिर्वचनीया भवन्ति। सर्वदा त्वदीयसौन्दर्यमकरन्दपानवशात् तव पतिं भगवन्तं पुष्कराक्षमिति वर्णयन्ति। एवं सकललोचनातिशयस्य त्वदवलोकनाधीनत्वेन त्वदीयकटाक्षसौन्दर्यं कथं वर्ण्येत। हे पद्मे, यस्य कटाक्षलेशस्य ममायं ममायमिति प्रतिबिन्दु बद्धकलहा ब्रह्मादयो भवन्ति, तैः परमानन्दमयैः प्रियतमावगाहनमदालसैः प्रेमार्द्रैः उद्वेलया कृपया सम्प्लावितास्मादृशैरशरणं मां पालय।

श्रीलक्ष्म्याः सौकुमार्यातिशयमाचार्यवर्या वर्णयन्ति श्रीगुणरत्नकोशे—'पादारुन्तुदमेव पङ्कजरजश्चेटी भृशालोकितैरङ्गम्लानिरथाम्बसाहसविधौ लीलारविन्दग्रहः। दोला ते वनमालया हरिभुजे हा कष्टशब्दास्पदं केन श्रीरतिकोमला तनुरियं वाचां विमर्दक्षमा॥' (४२) हे अम्ब, पङ्कजरजोऽपि तव पादयोररुन्तुदमेव कण्टकं इव मर्मस्पृक् भवति। सहवासपरिचारिणीनां भृशालोकितैः तैजसत्वात् तत्तापैः त्वदीयाङ्गानां म्लानिरेव भवति। तव च लीलारविन्दग्रहोऽपि साहसकर्मविधानमेव भवति। प्रियतमस्य वक्षसि विराजमानायां त्वयि वनमालया विहरणं हाकष्टशब्दास्पदं हरिवक्षसि वनमालया सहैव लक्ष्मीर्विहरसीति वनमालायाः किञ्चित्स्पन्दने न तया तदाघातशङ्कया नित्यभुक्ताया हा कष्टमिति वचांसि सहसा निष्पद्यन्ते। तादृशी त्वदीया अतिसुकुमारा अप्राकृता तनूः कथं वाचां विमर्दक्षमा वाचां प्रतिपाद्यतया सङ्घर्षयोग्या न भवति। अतिसुकुमारस्य श्रीवपुषः पुरुषवचनस्तवनमप्ययुक्तमिति। हे श्रीः, परमैश्वर्यप्रदायास्तव कमलदलसदृशाङ्गुलियुक्तं वेदान्तवेद्यं पादयुग्मं प्रणतजनार्तिदावानलोपमम्। यदुपमर्दैः प्रेयसः कान्तवाहान्तराले हिमाम्भःप्लुतिभिरिव नवत्वं वहति।

गुणों से अलंकृत देखकर कवीन्द्रगण उत्प्रेक्षा करते हैं कि क्षीरसमुद्र के सार भाग से यह बना है। चन्द्र, कल्पलता, सुधा प्रभृति को वे क्षीर सागर का सार नहीं मानते। इतना कर लेने के बाद भी वे इसलिये सन्तुष्ट नहीं होते कि अकृत्रिम लक्ष्मी विग्रह की कृत्रिम वस्तु के सार के रूप में कल्पना ठीक नहीं हैं। हे श्री, आप की दयामय दृष्टि के लेशमात्र का प्रसार होने पर लोकपाल प्रभृति से लेकर आधुनिक समस्त प्रभुओं की दृष्टि विशिष्ट शोभा से संपन्न हो जाती है। सदा आप के सौन्दर्य रूपी मकरन्द का पान करने के कारण आप के प्रति भगवान् नारायण को पुण्डरीकाक्ष कहा जाता है। इस तरह से समस्त लोचनों से अतिशयिता के संपादन के लिये आपका अवलोकन ही प्रधान हेतु है। ऐसी स्थिति में आपके कटाक्ष के सौन्दर्य का वर्णन कैसे किया जा सकता है। हे पद्मे, जिसके कटाक्ष के एक लेश को लेकर ब्रह्मा प्रभृति देवतागण कलह करने लगते हैं कि यह मेरा है, यह मेरा हैं, उन परमानन्दमय, प्रियतम के अवलोकन से उत्पन्न मद के कारण मतवाले, प्रेम भरे नेत्रों से हमारे जैसे शरणाभिलाषी लोगों को आप रक्षा करें, हम लोगों को आप अपनी करुणा की उद्वेल तरंगों से नहवा दें।

लक्ष्मी की अतिशय सुकुमारता का वर्णन आचार्यवर्य पराशरभट्ट ने अपने गुणरत्नकोश के 'पादारुन्तुद०'प्रभृति श्लोक में किया है। हे अम्ब, कमल की पराग भी आपके चरणों को कण्टक के समान पीड़ा पहुंचाने वाली है। आपकी सेवा में लगी दासियों के बार-बार देखने से भी आप का शरीर म्लान हो जाता हैं, क्योंकि नेत्रेन्द्रिय में विद्यमान तेजस्तत्व का अत्यन्त सूक्ष्मताप भी आपके कोमल शरीर को सह्य नहीं है। लीला के लिये कमल को पकड़ना भी आपके कोमल शरीर के लिये एक साहस का ही कार्य है। प्रियतम के वक्षस्थल पर जब आप विराजमान होती हैं, उस समय उनकी वनमाला भी आपके लिये अत्यन्त पीड़ाकर हो जाती है। भगवान् के वक्षस्थल पर वनमाला के साथ ही लक्ष्मी भी विहार करती है। उस समय वनमाला यदि थोड़ी सी भी इधर-उधर हो जाती है, तो उसके आघात की आशंका से भय के मारे लक्ष्मी के मुंह से 'हाय' शब्द निकल पड़ता है। इस तरह का आपका अत्यन्त सुकुमार यह अप्राकृत शरीर वाणी के विमर्द को, वाणी के द्वारा विविध रूप में किये गये वर्णन को कैसे सहन कर सकता है! इस अत्यन्त सुकुमार लक्ष्मी के शरीर का नाना पुरुषों के द्वारा नाना प्रकार से किया गया वर्णन भी उनके कष्ट को बढ़ानेवाला ही है। हे लक्ष्मी ? आप परम ऐश्वर्य को प्रदान करने वाली हैं। आपके कमलदल के समान अंगुलीवाले, वेदान्तवेद्य, चरण कमल युगल प्रणतजनों के कष्ट को जला डालने के लिये दावानल के समान हैं।

तिथी.........
पु०सं०...1480
पुस्तकालय

श्रियः कटाक्षवैलक्षण्यं श्रीगुणकोशरत्नकारा एवमाहुः—'त्वत्स्वीकारकलावलेपकलुषा राज्ञां दृशो दुर्वचा नित्यं त्वन्मधुपानमत्तमधुपश्रीनिर्भराभ्यां पतिम्। दृग्भ्यामेव हि पुण्डरीकनयनं वेदो विदामास मे साक्षाल्लक्ष्मि तवावलोकविभवः काक्वा कया वर्ण्यते ॥' लोकपालप्रभृत्याधुनिकपर्यन्तानां प्रभूणां त्वत्कटाक्षलेशप्रसरणगर्वेण शोभाविशेषजुष्टा कविवागगोचरा भवन्तीति किमुत लोकपालानां पत्युस्तव पुण्डरीकनयनत्वं त्वद्विग्रहानुभवसमयसक्तविग्रहरक्तिमायत्तमिति नित्यं सर्वकालं त्वन्मधुपानमत्तमधुपयोः श्रिया सम्पदा निर्भराभ्यां पूर्णाभ्यां दृग्भ्यां तव पतिं वेदः पुण्डरीकनयनं पुष्कराक्षं विदामास विज्ञानवान् खलु। यथा मत्तमधुपो नैश्चल्यं रक्ततां चानुभवति तथा मधुरूपत्वदनुभवे मधुपतुल्यनैश्चल्यरागसम्पूर्णाभ्यां लोचनाभ्यामेव हेतुभूताभ्यां तव पत्युः पुष्कराक्षत्वम्। सकललोचनातिशयस्य त्वदवलोकनाधीनत्वेन त्वदवलोकसौन्दर्यं वर्णनातीतमेव। हे लक्ष्मि, तवावलोकविभवः कया काक्वा त्वदीयकटाक्षसौन्दर्यं वर्ण्यते ? 'विद ज्ञाने' इत्यस्माद् धातोः उषविद....' (पा० सू० ३।१।३८) इत्यादिना आम्प्रत्यये 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' (पा० सू० ३।१।४०) इत्यस्तेरनुप्रयोगे विदामास इति रूपम्।

पुनर्लक्ष्मीकटाक्षमेव वर्णयन् स्वरक्षणं प्रार्थयते—'आनन्दात्मभिरीश मज्जनमदक्षीबालसैरागलप्रेमार्द्रैरपि कूलमुद्वह-कृपासम्प्लावितास्मादृशैः। पद्मे ते प्रतिबिन्दुबद्धकलिकब्रह्मादिविष्कम्भकैरैश्वर्योद्गमगद्गदैरशरणं मां पालयालोकितैः ॥' (गु० र० को० ४१)। हे पद्मे तव आनन्दात्मभिरानन्दरूपैरीशस्य हरेर्मज्जनेन तेष्ववगाहनेन यो मदस्तेन क्षीबैर्मत्तैः अलसैः मन्दरैः आगलमाकण्ठं प्रेमार्द्रैः शिशिरैः कूलमुद्वहया तीररोधिन्या उद्वेलया कृपया सम्प्लाविता अस्मादृशा अकिञ्चना यैस्तैः। प्रतिबिन्दु प्रतिकटाक्षलेशं बद्धकलिका ममायं कटाक्षलेशोऽस्तु ममायमिति बद्धकलहा ब्रह्मादय एव विष्कम्भा निर्वाहका येषां तैः। विष्कम्भशब्दो नगररक्षार्थमर्गलादण्डवाची, 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' (अमरको० २।२।१७) इति कोषात्। ऐश्वर्यस्य सम्पद उद्गमेन उत्पादनेन गद्गदैर्विलासातिशयेन स्खलितगतिभिस्तादृशैरवलोकितैः कटाक्षैः अशरणं मां पालय।

लक्ष्मी के कटाक्ष की विलक्षणता का वर्णन गुणरत्नकोशकार ने 'त्वत्स्वीकार०' प्रभृति श्लोक में किया है। लोकपालों से लेकर आधुनिक प्रभुओं तक समस्त विशिष्ट जनों का मुख आप के कृपा कटाक्ष के लवलेश के स्फुरणमात्र से गर्वोन्नत विशिष्ट शोभा से सम्पन्न हो जाता है कि उनका वर्णन करने में कविगण असमर्थ हो जाते हैं। इतना ही नहीं, लोकपालों के भी पति भगवान् नारायण के नयन जो कमल के समान माने जाते हैं, उनको जो पुण्डरीकाक्ष कहते हैं, वह भी आप के शरीर को एक टक देखते रहने के कारण ही उनको प्राप्त हुए हैं। सदा आपके वदन कमल के मधु का पान करके मतवाले बने उनके लोचनों को भी आपकी कृपा दृष्टि के कारण ही यह महत्ता मिली है। जैसे मतवाला मधुप (भौंरा) राग के कारण निश्चल होकर कमल के मकरन्द का पान करता है, उसी तरह से भगवान् भी लक्ष्मी के मुख कमल के सौन्दर्य को एकटक निहारते रहते हैं और उसी रूप में परिणत हो जाते हैं। लक्ष्मी मुख कमल की इस सारूप्यता के कारण ही उनको पुण्डरीकाक्ष के रूप में जाना जाता है। इससे यह सिद्ध है कि भगवान् विष्णु के नयनों के सकललोचनों से श्रेष्ठता लक्ष्मी के अवलोकन के अधीन है। इस स्थिति में आपके अवलोकन का सौन्दर्य वर्णनातीत है। हे लक्ष्मी आपके अवलोकन का वैभव किस काकु के द्वारा व्यक्त हो सकता है, अर्थात् आपके कटाक्ष के सौन्दर्य का वर्णन कर पाना सम्भव नहीं है।

'आनन्दात्मभि' प्रभृति श्लोक से भी लक्ष्मी के कटाक्ष का वर्णन करते हुए गुणरत्नकोशकार उससे अपनी रक्षा की प्रार्थना करते हैं कि हे पद्मे, आनन्द की वर्षा करने वाले आपके नयनों में भगवान् नारायण स्नान करते रहते हैं, उनमें डूबते उतराते रहते हैं। इससे वे नेत्र और भी मतवाले हो जाते हैं और प्रेम से लबालब भर जाते हैं। इससे उनमें अत्यन्त शीतलता आ जाती है। आपकी इस किनारा छोड़कर बहनेवाली कृपादृष्टि से संप्लावित हमारे जैसे अकिंचन जनों की रक्षा ब्रह्मा प्रभृति देवताओं के परस्पर कलह के कारण ही हो पाती है। क्योंकि जब आप की करुणा का प्रवाह जब हम लोगों की तरफ आता है तो उसकी एक एक बूंद को समेट लेने के लिये ब्रह्मा प्रभृति देवताओं में होड़ लग जाती है कि यह मुझे मिले, यह मुझे मिले। इस तरह से इस तीव्र प्रवाह को रोकने में ब्रह्मा प्रभृति की भूमिका नगर की रक्षा के लिये लगाये गये अर्गलादण्ड के समान है। हे भगवति, सकलविध ऐश्वर्य की उत्पत्ति में समर्थ, हाव-भाव के उत्कर्ष के कारण स्खलित गति उन कृपा कटाक्षों से मेरे जैसे असहाय व्यक्ति की आप रक्षा करें।

हे मातः, त्वदीयं स्वरूपं परमाद्भुतसौगन्ध्येन व्याप्तम्, यौवनविकाशेनाम्लानम्, सौन्दर्यामृतसेकशीतलसौन्दर्यपूर्णम्, शिशिरलावण्यसूत्रकोमलाङ्गसुमनःसन्दर्भणं श्रीहरेर्वक्षोलङ्करणं भवतीति कथनमपि न शोभते। निरतिशयसौगन्ध्यसौकुमार्यलावण्ययुक्तश्रीवपुषः क्षयातिशययुक्तपुष्पदामत्वनिरूपणं दनुजवृषविषाणोल्लिखितकठिनहरिवक्षःपरिष्करणकल्पनं चायुक्तमिति त्वयि श्रीगुणरत्नकोशकाराणां लोकोत्तरप्रतिभावैलक्षण्यम् ।

हे देवि, कान्तोपभोगललितैर्लुलिताङ्गयष्टिः रसास्वादनचतुरचञ्चरीकेणोपभुक्ता समास्वादितरसा पुष्पावलीव त्वं प्रेयांसं मुकुन्दमभिनन्दयसे । 'मर्मस्पृशो रसशिराव्यतिविद्धय वृत्तैः कान्तोपभोगललितैर्लुलिताङ्गयष्टिः । पुष्पावलीव रसिकभ्रमरोपभुक्ता त्वं देवि नित्यमभिनन्दयसे मुकुन्दम् ॥' हे श्रीरङ्गराजजीवनौषधि, स्वर्णमेखलामौक्तिककर्णपत्रैर्मुक्ताहारः कनकमयं माणिक्यमयं वा तिलकं ललन्तीव मणिमालिका मणिमञ्जीरम् एतदादिप्रधानैः सुन्दराभरणैः प्रकृतिमधुरं ते गात्रं शर्कराभिर्दुग्धमिव पुष्पैः कल्पवल्लीव विशेषेण राजते ।

श्रीरूपाकारविभूतिमिश्रां हरेः सदृशीमित्युक्तरीत्या भगवतः परमतुल्यायाः कौस्तुभवैजयन्तीशङ्खचक्रगदानन्दकादिरमणः स्वयमेव त्वद्भारखेदमिव परिहर्तुकामस्त्वां संश्लिष्यतीत्याह—'सामान्ययोग्यमपि कौस्तुभवैजयन्तीपञ्चायुधादिरमणः स्वयमेव बिभ्रत् । त्वद्भारखेदमिव ते परिहर्तुकामः श्रीरङ्गधाममणिमञ्जरि गाहते त्वाम् ॥' (गुणरत्नकोश ४७) इति । तत्तदवतारानुरूपं यदि त्वं नावतरिष्यस्तदा त्वन्नाथस्य तत्तदवतारानुरूपं नर्म असरसमेवाभविष्यत् । 'यदि मनुजतिरश्चां लीलया तुल्यवृत्तीरनुजनुरनुरूपा देवि नावातरिष्यः । असरसमभविष्यन्नर्म नाथस्य मातर्दरदलदरविन्दोदन्तकान्तायताक्षि ॥' (गु०र०को० ४९) संश्रितार्थं समुद्रमथनायासं भजतो भगवतः श्रमापनयनाय क्षीरसिन्धोः समुद्भूतासि । 'स्खलितकटकमाल्यैर्दोर्भिरब्धि मुरारेर्भगवति दधिमाथं मन्थतः श्रान्तिशान्त्यै । भ्रमदमृततरङ्गावर्ततः प्रादुरासीः स्मितनयनसुधाभिः सिञ्चती चन्द्रिकेव ॥' हे भगवति, प्रतिहतकटकमाल्यैर्बाहुभिरब्धि दधिमाथं मथतो मुरारेः श्रान्तिशान्त्यै स्मितनयनसुधाभिः सिञ्चती चन्द्रिकेव भ्रमदमृततरङ्गावर्ततः त्वं प्रादुरासीः ।

हे मातः, आपका स्वरूप अद्भुत सुगन्ध से व्याप्त है। यवन विकास के कारण तरोताजा, सौन्दर्यामृत से सींचने से शीतल सुहावने सौन्दर्य से भरा है। (शिशिर शीतल) लावण्य के सूत्र से पिरोया गया कोमल अंगरूपी पुष्पों का अलंकार श्रीहरि के वक्षस्थल की शोभा बढ़ाता है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि निरतिशय सौन्दर्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य, लावण्ययुक्त लक्ष्मी के विग्रह का क्षय और अतिशय से युक्त पुष्पमाला के रूप में वर्णन करना और राक्षसरूपी वृषभों के विषाणों (सींग) की चोट से आहत भगवान् विष्णु के कठोर वक्षस्थल के अलंकार के रूप में चित्रित करना सर्वथा अनुचित है। इस तरह से श्री विग्रह का अलौकिक वैभव वर्णन करने वाले गुणरत्नकोशकार की लोकोत्तर प्रतिभा का हमें यहाँ दर्शन मिलता है।

हे देवि, आपकी अंगयष्टि कान्त के द्वारा उपयुक्त होने से अत्यन्त ललित हो उठी है। रसास्वादन में चतुर मधुकर द्वारा समास्वादित पुष्पावली के समान आप अपने प्रियतम नारायण को आनन्द विभोर कर देती हैं। हे रंगराज को जिलाने वाली संजीवनी औषधि, स्वर्णमेखला, मुक्तामणि, कर्णपत्र, मुक्ताहार, कनकमय किंवा माणिक्यमय तिलक, मणिमाला, मणिमंजरी प्रभृति सुन्दर आभूषणों से अलंकृत स्वभावतः मधुर आपका गात्र (शरीर) शर्करा से दूध के समान किंवा पुष्पों से कल्पवल्ली के समान विशेष शोभा से परिपूर्ण हो जाता है।

पहले बताया गया है कि श्रीहरि का स्वरूप लक्ष्मी की विभूति से संक्रान्त है और लक्ष्मी का स्वरूप श्रीहरि के सदृश है। ऐसी स्थिति में भगवान् से परम अभिन्न भगवती लक्ष्मी को समान स्थिति होते हुए भी कौस्तुभ, वैजयन्ती, शंख, चक्र, गदा, नन्दक प्रभृति आयुधों को केवल भगवान् ने ही इसलिये धारण कर रखा है कि इनके वहन करने के भार के खेद से भगवती लक्ष्मी को मुक्त रखना चाहते हैं। गुणरत्नकोशकार आगे वर्णन करते हैं कि मनुष्य, पशु, पक्षी जिस किसी योनि में भगवान् अवतीर्ण हुए उसी योनि, में यदि भगवती भी उनके साथ अवतीर्ण न हुई होती तो भगवान् की यह लीला असरस ही रह जाती। वे पुनः कहते हैं कि हे भगवति, समुद्र के मंन्थन के लिये कठिन परिश्रम करनेवाले भगवान् के श्रम (थकावट) को दूर करने के लिये आप चाँदनी के समान अपनी मन्द मुसकान से सबको आह्लादित करती हुई क्षीर सागर से उत्पन्न हुई हैं।

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी..........
पु०सं०...१५४...
भारती पुस्तकालय

भगवतः क्षमाया अपि श्रियः क्षमामतिशयितामुदाहृत्य कविस्तादृश्याः क्षमायाः सुखयित्रीत्वमाशास्ते—'मातर्मैथिलि राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठीकृता। काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्ष नः सा नः सान्द्रमहागसः सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी ॥' (गु०र०को० ५०)। हे मातर्मैथिलि जनकनन्दिनि, कृपैकमूर्तितया सीतावतारं कुर्वाणायां त्वयि त्वद्विषये तदैव हनुमदागमनाव्यवहितपूर्वसमय एव रावणस्य तदानीमेवाज्ञातो रावणनाशापरिज्ञानाद् हनूमदागमनपर्यन्तमतिशयापराधा राक्षसीः पवनात्मजात् तिर्यगुद्भूतात् स्वतो मर्कटाद् रक्षन्त्याः पालयन्त्याः काकं जयन्तं तं प्रसिद्धं विभीषणं च 'विभीषणस्तु धर्मात्मा न तु राक्षसचेष्टितः।' (श्री० वा० रा० ३।१७।२२) शरणमित्युक्तिक्षमौ 'त्रींल्लोकान् सम्परिक्रम्य तमेव शरणं गतः।' (श्री० वा० रा० ५।३८।३२), 'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः।' (श्री० वा० रा० यु० का० १७।१६), रक्षतः पालयतः। उभयोः शरणवरणं च रक्षणनिमित्तम् 'वध्यं ब्रह्मप्रपन्नं क्षत्रं न परिजिनाति' (ऐ० ब्रा० ७।२२) इति श्रुतेः। एवं श्रीरामस्य त्वत्प्रियस्य गोष्ठीपरिषद् लघुतरा लघीयसी कृता। रामो लघूकृत इति वक्तव्ये गोष्ठ्यां तदुक्तिरपचारभिया। रामस्य गोष्ठी गुणपरिषद्वा। मन्दबुद्धेर्दुःसाध्यान्निर्निमित्तमार्द्रापराधान् क्षमाशीलया त्वया निमित्तमपेक्ष्य रक्षतो रामस्य गुणगोष्ठीलघूकरणं युक्तमेव। सा आर्द्रापराधमहत्त्वरूपेण प्रसिद्धा आकस्मिकी निर्हेतुस्तव क्षान्तिः सान्द्रमहागसोऽस्मान् सुखयतु। 'प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा। अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात् ॥' (श्री० वा० रा० सुन्दरकाण्ड २७।३९) इति त्रिजटावचनं तु स्वबुद्ध्यैव, न तेन प्राणिपातप्रसन्नता मैथिलीधर्मः। हे भगवति, यावत्कालमविच्छिन्नमहापराधानस्मानवलोक्य मनाङ्निग्रहाभिमुखं मनः कुर्वति सति तदनुचितमिति तं ततः कर्मणो निवर्त्य वात्सल्यातिशयात्त्वमस्मान् स्वजनयसि।

'पितेव त्वत्प्रेयान् जननि परिपूर्णागसि जने हितस्रोतोवृत्त्या भवति च कदाचित् कलुषधीः। किमेतन्निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितैरुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः ॥' (गु० र० को० ५२)। हे जननि त्वत्प्रेयान् परिपूर्णागसि

भगवान् की क्षमा से लक्ष्मी की क्षमा अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की है, इस बात को उदाहरण से समझाकर कवि गुणरत्नकोशकार ने 'मातर्मैथिलि' प्रभृति श्लोक में लक्ष्मी की यह क्षमा सबके लिये सुखदायक हो, ऐसी आशंका व्यक्त करते हैं। हे मातः मैथिलि जनकनन्दिनि, आप कृपा की प्रधान मूर्ति होने के कारण ही सीता अवतार के अवसर पर जब आप रावण की लंका में निवास कर रही थीं, उस समय हनुमान् के आगमन से पहले राक्षसियों को यह भान नहीं था कि अब रावण का वध संनिकट है। अपने इसी अज्ञान के कारण वे आपके साथ बड़ा दुर्व्यबहार करती थीं। इस स्थिति में भी आपने पवनात्मज हनूमान् के कोप से इन राक्षसियों की रक्षा की। इसी तरह से अपराधी जयन्त नामक काक की और धर्मात्मा विभीषण की भी आपने रक्षा की। क्योंकि विभीषण राक्षस प्रकृति का नहीं था, वह भगवान् राम की शरण में आगया था। इसी तरह से जयन्त काक भी तीनों लोकों में कहीं शरण न पाकर अन्त में श्रीराम और जानकी जी की ही शरण में आ गया था। जयन्त को श्रीराम के कोप से भगवती सीता ने ही बचाया था। इन दोनों के शरण में आने पर आपने इनकी रक्षा की थी। इस प्रकार से आपने राम की गुणगोष्ठी को हलका कर दिया। राक्षसियों और जयन्त काक ने आपके साथ प्रत्यक्ष अपराध किया था और वह अभी ताजा ही था, तो भी आपने इनको क्षमा कर दिया, हनुमान् और श्रीराम के कोप से इनकी रक्षा की, इससे बढ़कर क्षमा का उदाहरण दूसरा कहाँ मिल सकता है। आपकी यह उत्कृष्ट क्षमा हमारे जैसे अपराधियों को भी सदा सुख पहुँचाती रहें। त्रिजटा राक्षसी ने अन्य राक्षसियों से कहा था कि जनकात्मजा प्रणिपात मात्र से प्रसन्न हो जाती हैं। राक्षसियों, आगे आने वाले महान् भय से यही हमारी रक्षा करेंगी। त्रिजटा के मुख से यह वाक्य स्वाभाविक रूप से निकल गया था। कवि प्रार्थना करता है कि हमारे जैसे निरन्तर अपराधशील व्यक्तियों को देखकर पहले आपकी इच्छा होती है कि इनको कुछ दण्ड दिया जाय, किन्तु तत्काल ही आप इस भाव को अनुचित मान कर ऐसा नहीं करती और वात्सल्यरस से अभिभूत होकर आप अपने निश्छल स्नेह से हमको अपना लेती हैं।

कवि आगे कहते हैं कि हे जननि; आपके प्रियतम अधिक अपराध करने वाले व्यक्ति पर उसकी हितदृष्टि से उसी प्रकार कुपित हो जाते हैं, जैसे कि पिता पुत्र पर कुपित होता है। यह उनका आगन्तुक धर्म है, स्वाभाविक नहीं। इतना होने पर भी आप

जने पितेव हितस्रोतोवृत्त्या तत्कालाप्रियपथ्यपर्यवसायि च हितं तदेव स्रोतः प्रवाहस्तत्र वृत्त्या वर्तनेन हितैकपरत्वेन कदाचित् कुपितमना भवति, न तु कुपितमनस्त्वं तस्य नैजम्। तदानीं तद्दृष्ट्वा एतत्कुपितमनस्त्वं किं निबन्धनम् ? अनुचितमिति कुत इति चेत्, इह दोषाश्रये जगति लीलाविभूतौ को निर्दोषः, न कोऽपीत्यर्थः। अतो दोषदर्शने मनःकालुष्यं न युक्तमित्येवं प्रकारेण उचितैः अपराधक्षमापनयोग्यैरुपायैः हावभावकटाक्षादिभिस्तद्विस्मार्य स्वजनयसि स्वत्वाभिमानगोचरान् करोषि पितुर्हितपरत्वं मातुश्च वात्सल्यपूर्णं हितपरत्वं सुप्रसिद्धं युवयोर्दृष्टमिति।

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥' (भ० गी० ४।८), 'अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषानपायिनी।' (वि० पु० १।९।१४२) इत्यादिप्रमाणैः संश्रितरक्षणाय श्रीश्रीशौ कृपास्वातन्त्र्याभ्यां हेतुभ्यां लीलाविभूताववतीर्य विरहक्लेशादिकमनुभूतवन्तौ इति कृपास्वातन्त्र्ये धिगिति तद्विग्रहप्रेमपारवश्यादित्याह—'नेतुर्नित्यसहायिनी जननि नस्त्रातुं त्वमत्रागता लोके त्वन्महिमावबोधबधिरे प्राप्ता विमर्दं बहु। क्लिष्टं ग्रावसु मालतीमृदुपदं विश्लिष्य वासो वने जातो धिक्करुणां धिगस्तु युवयोः स्वातन्त्र्यमत्यङ्कुशम्॥' (गु० र० को० ५३) हे जननि, नेतुः सर्वजगन्नियन्तुः परमेश्वरस्य नित्यसहायिनी नोऽस्मान् अशरणान् त्रातुं त्वन्महिमावबोधबधिरे त्वदीयवैभवज्ञानशून्येऽत्र लोके त्वमागता समवतीर्णा सती बहुविमर्दं सङ्घर्षमायासमिति यावत् प्राप्ता। तदेवोपपादयति—मालतीमृदुपदमिति। मालतीमृदुपदं जातिकुसुमसुकुमारपदद्वयं ग्रावसु पाषाणेषु क्लिष्टं क्लेशं प्राप्तवत्, वने विश्लिष्य विरहं प्राप्य वासो वर्तनम्, नित्यानपायिनोर्युवयोः पृथग्वर्तनम् अत्यङ्कुशम् अमर्यादं विग्रहसौकुमार्यविरोधिनीं करुणां प्रति तथाभूतमेव स्वातन्त्र्यं च प्रति धिगस्तु। तदुभयप्रयुक्तत्वात् युवयोस्तादृशस्य क्लेशस्येत्यर्थः।

संश्रितरक्षणोपयुक्तं श्रियः स्वाधीनपतिकात्वमुच्यते—'अधिशयितवानब्धिं नाथो ममन्थ बबन्ध तं हरधनुरसौ वल्लीभङ्गं बभञ्ज च मैथिलि। अपि दशमुखी लूत्वा रक्षःकबन्धमनर्तयत् किमिव न पतिः कर्ता त्वच्चाटुचुञ्चुमनोरथः॥' (गु० र० को० ५४) हे मैथिलि, असौ नाथः, त्वच्चाटुचुञ्चुमनोरथः त्वच्चाटुना त्वत्प्रियाचरणेन वित्तः सम्पन्नः त्वच्चाटुचुञ्चुस्तादृशो मनोरथो यस्य सः। 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' (पा० सू० ५।२।२६) इति चुञ्चुप्प्रत्ययः। त्वल्लाभाय अब्धिमधि अब्धौ शयित-

उस पर विचार करती हैं कि प्रियतम ने ऐसा क्यों किया ? आप इसको उचित नहीं मानती। यह सारा जगत् दोषों से भरा है, इसमें निरपराध व्यक्ति मिलना कठिन है। अतः किसी का दोष देखकर उस पर कुपित होना अनुचित है। ऐसा मान कर आप उचित हावभाव, कटाक्ष आदि से अपने प्रियतम को प्रसन्न कर लेती हैं और उस अपराधी व्यक्ति के अपराधों को भुलाकर उसको अपना लेती है। पिता अपनी सन्तति का हित चाहता है और माता उस पर अपना वात्सल्य लुटाती रहती है। यही स्थिति आप दोनों की भी है।

'परित्राणाय', 'अन्येषु' इत्यादि प्रमाणों के आधार पर शरणागत की रक्षा के लिये श्री और श्रीश दोनों अवतार लेते हैं, किन्तु उनको बहुत ही कष्ट उठाना पड़ता है। इस सम्बन्ध में कवि का कहना है कि हे जननि, सारे जगत् के नियन्ता परमेश्वर की आप सदा सहायता करती रहती हैं। हमारे जैसे असहाय व्यक्तियों की रक्षा के लिये आप इस लोक में अवतीर्ण होती हैं, किन्तु आपकी महिमा को ये समझ नहीं पाते। इसके लिये आपको बहुत कष्ट भी उठाना पड़ता है। आपके मालती पुष्प के समान सुकुमारचरण पत्थरों पर चलने के कारण छिल जाते हैं, वन में आपका भगवान् से वियोग हो जाता है, जब कि लक्ष्मी और लक्ष्मीपति का कभी वियोग नहीं होगा। अपनी करुणावृत्ति ;और स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण ही आप यह सब सहन करती हैं, किन्तु यह सब आपके शरीर की सुकुमारता को देखते हुए अनुचित है। हम ऐसी अमर्याद करुणा और स्वातन्त्र्य को अच्छा नहीं मानते, क्योंकि इन्हीं के कारण आप लोगों को अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं।

लक्ष्मी स्वाधीनपतिका नायिका है, इसीलिये वह अपनी शरण में आये प्राणियों की रक्षा करने में समर्थ है। कवि कहता है कि हे मैथिलि, वह आपके प्रियतम, आपकी चाटुकारिता करके अपने मनोरथ को सिद्ध करते रहते हैं। आपको पाने के लिये ये समुद्र में सोते रहते हैं, क्योंकि आपको प्रसन्न रखने के लिये ही उन्हें आपके पिता का घर अच्छा लगता है। आपके लाभ के लिये उन्होंने समुद्र

1480

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी............
पु०सं०............
भारती पुस्तकालय २७३

वान् । त्वज्जननभवनप्रीत्येति भावः । त्वल्लाभाय तं ममन्थ मथितवान् । त्वल्लाभाय बबन्ध च सेतुना बद्धवांश्च । त्वल्लाभायैव हरधनुः वल्लीभङ्गं वल्लीमिव उपमार्थे णमुल् बभञ्ज च भङ्गं कृतवान् । त्वल्लाभायैव दशमुखी दशानां मुखानां समाहारः दशापि मुखानि लूत्वा छित्त्वा रक्षःकबन्धं रावणशरीरमनर्तयत् नर्तितवांश्च रणरङ्ग इति शेषः । 'अत्यन्तभक्तियुक्तानां नैव शास्त्रं न च क्रमः ।' इति रीत्या क्रमातिक्रमणम् । नैतावदेव किन्त्वशक्यमपि कुर्यात् । त्वत्प्रियस्त्वल्लाभाय किमिव न कर्ता किं वा न कुर्यात् । इवशब्दो वार्थः । अघटितमपि सर्वं कुर्यादित्यर्थः । 'यदि रामः समुद्रान्तां मेदिनीं परिवर्तयेत् । अस्याः कृते जगच्चापि युक्तमित्येव मे मतिः ।।' (वा० रा० सुन्दरकाण्ड १६।१३) इति हनुमदुक्तेः ।

भगवतः सर्वप्रकारविभवोऽपि श्रीविलासलवानुभवेन पर्याप्त इत्याह—'दशशतपाणिपादवदनाक्षिमुखैरखिलैरपि निजवैश्वरूप्यविभवैरनुरूपगुणैः । अवतरणै रतैश्च रसयन् कमिता कमले क्वचन हि विभ्रमभ्रमिमुखे विनिमज्जति ते ।।' (गु० र० को० ५६) हे कमले, ते तव कमिता नायको हरिः सहस्रशीर्षा पुरुषः 'अनन्तबाहूदरवक्त्रनेत्रम्' इत्यादिरीत्याऽपरिमितपाणिपादवदनाक्षिमुखैः अनुरूपगुणैः त्वद्गुणानुरूपैः अखिलैः अन्यूनैः निजवैश्वरूप्यविभवैः निजं स्वकीयं नित्यं वा विश्वरूपमेव वैश्वरूप्यं विश्वरूपसम्बन्धि वा तस्य विभवैरतिशयैरपि, अतस्तद्भिन्नैः वैश्वरूप्यविभवभिन्नैरवतरणैर्वासुदेवादिचतुर्व्यूहैर्विरिञ्चिगिरीशमध्यवर्तिविष्णूपेन्द्रमत्स्यकूर्मादिरूपैश्च रसयन् त्वद्विभ्रमं क्वचन क्वापि समुद्रे तुषारवदेकदेश एव विभ्रमभ्रमिमुखे विलासावर्तगह्वरे विनिमज्जति निमग्नो भवति, न त्वदेकदेशमपि प्रयाति । भक्तानां रक्षणाय क्षीरार्णवपरमपदे अपि विस्मृत्य श्रीरङ्गधाम्नि वससीत्याह—'जननभवनप्रीत्या दुग्धार्णवं बहु मन्यसे जनति दयितप्रेम्णा पुष्णासि तत्परमं पदम् । उदधिपरमव्योम्नोर्विस्मृत्य मादृशरक्षणक्षममिति धिया भूयः श्रीरङ्गधामनि मोदसे ।।' (गु० र० को० ५६) इत्येवं श्रीगुणरत्नकारैस्तट्टीकाकृद्भिश्च श्रियो लोकोत्तरमाहात्म्यवर्णनेन श्रीसूक्तमेव निगदव्याख्यातं मन्तव्यम् ।

प्रमाणपथातीतवैभवाया मङ्गलानां मङ्गलरूपाया अशरणशरणभूतायाः श्रियः श्रीसूक्तेन लोकोत्तरं माहात्म्यमावेद्यते । क्षीरजलधावध्वरे यस्याः प्रादुर्भावः, अरविन्दवनं विष्णुवक्षःस्थलं वा, श्रीहरेः परमव्योमात्मकं दिव्यं पदं वा

का मन्थन और सेतु द्वारा उसका बन्धन भी किया । आपको पाने के लिये ही उन्होंने शिव के धनुष को लता-पत्र के समान तोड़ डाला और इसीके लिये युद्धस्थल में रावण के दसों मुखों को काट कर कबन्ध का नृत्य कराया । इतना ही नहीं, आपकी प्रसन्नता के लिये आपके प्रियतम क्या नहीं कर सकते ? अर्थात् अशक्य को भी शक्य बनाने में वे सदा तत्पर रहते हैं । बाल्मीकि रामायण में हनुमान् की उक्ति है कि भगवान् राम भगवती सीता को पाने के लिये समुद्रपर्यन्त पृथ्वी को भी यदि उलट दें, तो मैं इस कार्य को उचित ही मानूंगा ।

भगवान् का सारा वैभव लक्ष्मी के विलास के कण की भी बराबरी नहीं कर सकता । कवि कहता है कि हे कमले, आपके कान्त भगवान् नारायण श्रुति और स्मृति (गीता) के वर्णन के अनुसार अपरिमित पाणि, पाद, वदन, नेत्र, मुख वाले हैं और आपके गुणों के अनुरूप समस्त विश्व के वैभव से सम्पन्न हैं । इन्हीं की सहायता से वे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में प्रसिद्ध चतुर्व्यूहावतार के रूप में अथवा ब्रह्मा और शिव के मध्यवर्ती विष्णु के उपेन्द्र, मत्स्य, कूर्म, प्रभृति अवतारों के रूप में अवतरण कर विविध रसों की सृष्टि करते रहते हैं । किन्तु उनका यह सारा खिलवाड़ समुद्र के सामने तुषार कण के समान आपके लीलाविलास के सामने नगण्य है । उसके एक कण की भी वह बराबरी नहीं कर सकता । भक्तों की रक्षा के लिये आप क्षीरसमुद्र को छोड़ कर श्रीरंगधाम में निवास करती हैं । इस स्थिति का वर्णन 'जननभवन०' प्रभृति श्लोक में किया गया है । इस प्रकार गुणरत्नकोशकार और उसके टीकाकारों ने लक्ष्मी के लोकोत्तर माहात्म्य का वर्णन कर एक प्रकार से श्रीसूक्त की ही स्पष्ट और विशद व्याख्या की है ।

भगवती लक्ष्मी का वैभव किसी भी प्रमाण से पूरी तरह से नहीं जाना जा सकता । ये मंगलों का भी मंगल और अशरण को शरण देने वाली हैं । ऐसे लक्ष्मी के लोकोत्तर माहात्म्य का वर्णन श्रीसूक्त में किया गया है, क्षीरसागर के मन्थन के अवसर पर

यस्याः स्थानम्, वस्या महामहिमवैभवं को वा वर्णयितुं शक्नोति। यस्याश्च स्तवैर्जनः स्तोतव्यतामुपयाति, यत्सङ्कल्पाज्जङ्गमाजङ्गमानां सृष्टिस्थितिप्रलया भवन्वि, तत्पूर्णं तेजो योगिनां समाधौ त्वत्पादलाक्षारसाङ्कमवभातीति वर्णयन्ति ॥२६॥

लक्ष्मी का प्रादुर्भाव हुआ। कमल का वन, विष्णु का वक्षस्थल अथवा श्रीहरि का परम व्योमात्मक दिव्यपद इनका निवासस्थान है। उस लक्ष्मी के महान् वैभव का वर्णन कौन कर सकता है। जिसकी स्तुति में लगा हुआ व्यक्ति स्वयं स्तोतव्य हो जाता है, उसकी भी लोग स्तुति करने लगते हैं। जिसके संकल्प से स्थावर और जंगम जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय लीला होती है, वह परिपूर्ण ब्रह्मतेज भी योगियों की समाधि में, आपके (लक्ष्मी के) पैर की लाक्षा के राग से अंकित ही प्रतीत होता है, ऐसा वर्णन शास्त्रों में मिलता है ॥२६॥

मुनिलोकनभःपक्षसमासु विगतासु च। विक्रमार्कात् श्रीमुखेऽर्के देवत्ये परिवत्सरे ॥
ज्येष्ठेऽधिके सिते पक्षे गङ्गादशहरातिथौ। वेदार्थपारिजातस्य भूमिका पूर्णतामियात् ॥

पु०सं०.........
15180

1429
1556
1787

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान पीठ
तिथी..........
पु०सं०..........
* भारती पुस्तकालय *
1480

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी..........
पु०सं०..........
ग्रन्थ पुस्तकालय *

1482/9

938 ✓
974 ✓
1014 ✓
1022 ✓
1031 ✓
1033 ✓
1036
([illegible])
1037 ✓
1039 ✓
1040 ✓
1042 ✓
1050 ✓
1054 ✓
1073
1090 ✓
1098-[illegible] ✓
1107 ✓
1111 ✓

1604 ✓
1612 ✓
1613
1614
1620 ✓
1633
1637 ✓
1638 ✓
1632 ✓
1639 ✓
1647 ✓

1910
1911
1914
1921 ✓
1933 ✓
1943 ✓
1954 ✓
1992 ✓
1999 ✓
2001 ✓
2017 ✓
2021 ✓
2022 ✓
2044
2052 ✓
2053 ✓